॥ श्रीहरिः ॥ 627

कल्याण

संत-अङ्क

[बारहवें वर्षका विशेषाङ्क]

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR [SINCE 1923]
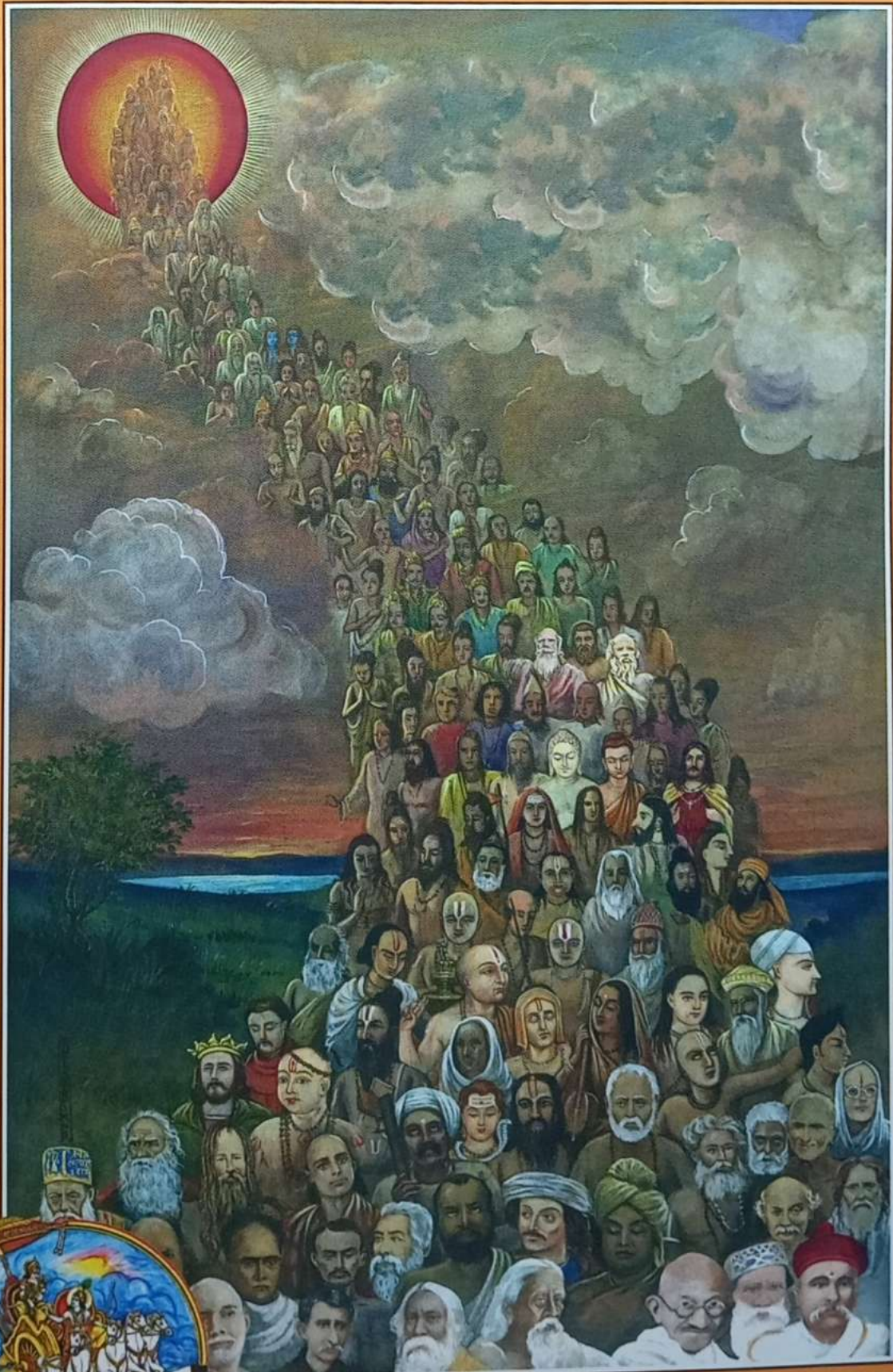
गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

संत-अङ्क

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गीताप्रेस, गोरखपुर

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा-रमा-ब्रह्माणी जय जय, राधा-सीता-रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश, जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवा-शिव जानकिराम। गौरीशंकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥

सं० २०७८ बारहवाँ पुनर्मुद्रण १,०००
कुल मुद्रण २९,०००

❖ मूल्य— ₹ 300
(तीन सौ रुपये)

कूरियर/डाकसे मँगवानेके लिये
गीताप्रेस, गोरखपुर—273005
book.gitapress.org
gitapressbookshop.in

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

web: gitapress.org | e-mail : booksales@gitapress.org | ✆ (0551) 2334721, 2331250; 2331251

॥ श्रीहरि: ॥

संत-अंक खण्ड १, २, ३ की विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

खण्ड २

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

तीसरा खण्ड

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

परिशिष्ट

पद्य-सूची

चित्र-सूची

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥
(श्रीमद्भागवत १०।२।२६)

वर्ष १२ | गोरखपुर, श्रावण १९९४, अगस्त १९३७ | संख्या १ पूर्ण संख्या १३३

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमा
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहाः पुण्याः समस्ताः क्रियाः।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिशिरो वाराणसी मेदिनी
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परब्रह्मणि॥
(श्रीशंकराचार्य)

जिस संतने परब्रह्मका साक्षात्कार कर लिया है, उसके लिये सारा जगत् नन्दनवन है, सब वृक्ष कल्पवृक्ष हैं, सब जल गंगाजल हैं, उसकी सारी क्रियाएँ पवित्र हैं, उसकी वाणी चाहे प्राकृत हो या संस्कृत वह वेदका सार है, उसके लिये सारी पृथ्वी काशी है और उसकी सभी चेष्टाएँ परमात्ममयी हैं।

व्यास-वन्दन

(रचयिता—कविसम्राट् पं० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध')

लौकिकतामें जब न अलौकिकता थी आई।
मूसाने जब दिव्य ज्योति थी देख न पाई॥
राजभोगको त्याग तिमिरमें कर उँजियाला।
बुद्धदेवने जब न ज्ञानदीपक था बाला॥
जब स्वाद पा सका था नहीं कलित कान ईरानका।
जिन्दावस्तासे ग्रन्थके बहु गौरवमय गानका॥ १॥

जब वह मरियम-सुअन न था भूतलमें आया।
जिसके पगको परस पूत योरप हो पाया॥
जब वह ज्योति न अरब अवनिमें थी जग पाई।
जिसको पा मणिमयी मरुमही थी कहलाई॥
उस काल वेद आलोकसे आलोकित भारत धरा।
पा एक महामहनीयको बनी पुनीत कलेवरा॥ २॥

वे थे दिव्य स्वरूप भारतीके सुत प्यारे।
भारतीय साहित्य गगनके उज्ज्वल तारे॥
संस्कृतिके सर्वस्व आर्यसभ्यता विधाता।
थे पावन आदर्शके अलौकिक व्याख्याता॥
विज्ञान ज्ञान विस्तारके वे अपूर्व आधार थे।
अनुभूत भावनासे भरित भक्तिभाव अवतार थे॥ ३॥

राजनीतिने परम रुचिर रंजनता पाई।
कूटनीतिमें कालकूटता नहीं समाई॥
हितकी बही समाज नीतिमें सुन्दर धारा।
मानव मानव बना मिले सद्भाव सहारा॥
उनकी विभूतिमय लेखनी बलसे बली बला टली।
वालुकावलित मरुमेदिनी सरस बनी फूली-फली॥ ४॥

वेदोंसे जो बही ज्ञानकी अनुपम धारा।
सारा भूतल सिक्त हुआ जिसके रसद्वारा॥
उनसे जो आलोक लोकलोचनने पाया।
जिससे भवका तिमिर-पुंज टलता दिखलाया॥
उनके प्रसारके हैं सरस साधन सत्यवती-सुअन।
यदि वे हैं सौरभसदृश तो ए हैं वरवाहक पवन॥ ५॥

है आदिम इतिहास मनुज कुलका बतलाता।
फिर क्रमशः है सकल समुन्नति कथा सुनाता॥
जीवनका कह तत्त्व गीत है भवके गाता।
पूत महाभारत है पंचम वेद कहाता॥
उसकी नाना सूक्तियाँ हैं समृद्धियोंसे भरी।
हैं भुक्ति मुक्तिकी सहचरी हैं भवसिन्धुतरण तरी॥ ६॥

व्यासदेवके लिखे महाभारतके अक्षर।
सुधाभरे हैं अतः असित होकर हैं सिततर॥
मसिद्वारा जो हुआ वह नहीं असि कर पाती।
अमर बनी है मरणशील मानवकी थाती॥
है सरस, असरसा लेखनीसे यद्यपि उत्पन्न है।
वह जड़ होकर भी जीवनी दिव्यशक्ति सम्पन्न है॥ ७॥

है उसमें वह दिव्य ज्योति, अनुभूति, विलोकी।
जैसी अपर न, जगत विलोचनने अवलोकी॥
परम अलौकिक मधुर गान उसमें वह पाया।
जैसा अबतक समय कानको नहीं सुनाया॥
किसने सुन पाई कहाँ पर वैसी स्वर लयसे सजी।
जैसी है वीणापाणिकी वरवीणा उसमें बजी॥ ८॥

किसने रच वेदान्त वेदका तत्त्व बताया।
किसने गिरा अतीत गीत गौरवसे गाया॥
प्रकृत प्रगति कर लाभ भेद भवपतिका पाया।
किसने सारी गहन गुत्थियोंको सुलझाया॥
किसने नास्तिकवादकी की कठोर आवर्जना।
ज्ञान उच्चतम शिखरपर किसने की गुरुगर्जना॥ ९॥

हैं पुराणके प्राण गीत गीताके गायक।
भारतभूके पूत भूत आदर्श विधायक॥
वसुन्धरा दार्शनिकवृन्दके वन्दित नायक।
अवनीतलकी वर विभूतियोंके उन्नायक॥
बहु पूजित सम्मानित नमित ऐसे कहीं न और हैं।
वसुधाके बुधजनोंके व्यासदेव सिरमौर हैं॥ १०॥

संतका स्वरूप

(पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके विचार)

जो भगवान्‌का स्वरूप है वही संतका स्वरूप है। संतका कोई लक्षण नहीं बतलाया जा सकता। जिसमें सब है, जो सब है, जो सबसे अलग है और जिसमें सबका अत्यन्ताभाव है वही संत है। उसे ब्रह्म कहो, ईश्वर कहो, जगत् कहो अथवा संत कहो, एक ही बात है। व्यवहारमें जिसे संत कहते हैं वह केवल उसका प्रतीक है। जिस प्रकार प्रतिमामें भगवद्भाव किया जाता है उसी प्रकार गुरु और महात्माओंमें भी संतत्वकी भावना की जाती है, किन्तु उपासककी यह भावना परमार्थत: उसका स्वरूप है; व्यवहारमें उसमें सच्चिदानन्दकी भावना की जाती है और परमार्थत: वही उसका स्वरूप है।

संतत्वकी प्राप्तिका प्रधान साधन संतोंकी उपासना है। संतकी उपासना भगवानकी उपासना है। संतमें गुण-दोष देखना उसका अपमान करना है। किसी भी प्रकारके आचरणोंसे संतकी पहचान नहीं हो सकती। संतके सम्प्रदाय या बाह्य वेषपर दृष्टि नहीं देनी चाहिये, उसके हृदयको देखना चाहिये। संतोंकी परीक्षा करना बड़े दु:साहसका काम है। किन्हीं-किन्हीं महात्माओंका बाह्य व्यवहार बहुत घृणित और उपेक्षणीय देखा जाता है; परन्तु उनके भीतर जो दिव्य तपोबल रहता है उससे सैकड़ों-हजारों पुरुष अकारण ही उनकी ओर आकर्षित होते रहते हैं। उनकी परीक्षा कोई कैसे कर सकता हैं? संतोंके आचरणके विषयमें यह प्रसिद्ध है—

क्वचिच्छिष्टाः क्वचिद्भ्रष्टाः क्वचिद्भूतपिशाचवत्।
नानारूपधरा योगी विचरन्ति महीतले॥*

किसी विशेष सम्प्रदायमें ही संत होते हों—ऐसी बात नहीं है। ईसा और मुहम्मद साहब क्या संत नहीं हैं? हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और यहूदी आदि सभी मतोंमें सच्चे संत देखे जाते हैं। हमें उनके सम्प्रदायपर दृष्टि न देकर उनके दिव्य गुणोंका अनुकरण करना चाहिये। इसी प्रकार किसी विशेष देश या विशेष कालसे भी संतोंका संकोच नहीं किया जा सकता। सभी देशोंमें सभी समय कोई-न-कोई सच्चे संत विद्यमान रहते ही हैं। संत ही समाजके जीवन हैं, कोई भी संतजनशून्य समाज जीवित नहीं रह सकता।

व्यवहारकी दृष्टिसे संतोंको दो कोटियोंमें विभक्त किया जा सकता है। आचार्यकोटि और अवधूतकोटि। अवधूतकोटिके संतोंके आचरण और उपदेश सर्वदा सबके लिये अनुकरणीय नहीं होते। कोई विरले पुरुष ही उन्हें पहचान पाते हैं। परन्तु उनका बाह्य आचरण आदर्श न होनेपर भी होते वे संत ही हैं। उनसे किसी प्रकारका द्वेष नहीं करना चाहिये। हाँ, संतत्वप्राप्तिके लिये अनुकरण आचार्यकोटिके संतोंका ही करना चाहिये। उनके आचरणके विषयमें ऐसा कहा गया है—

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥

अर्थात् जिनमें निरपेक्षता, भगवत्परायणता, शान्ति, समदृष्टि, निर्ममत्व, अहंकारशून्यता, द्वन्द्वहीनता और निष्परिग्रह आदि गुण रहते हैं वे संत हैं। जबतक ये गुण प्राप्त न हों तबतक अपनेको संत नहीं समझना चाहिये। किन्तु इन गुणोंका संतको स्वयं ही अनुभव हो सकता है, कोई अन्य व्यक्ति किसी प्रकारकी परीक्षा करके इनका पता नहीं लगा सकता। अतः सबको इन गुणोंके उपार्जनका यथासाध्य प्रयत्न करना चाहिये।

संत

(लेखक—जगद्गुरु स्वामीजी श्रीस्वरूपानन्दजी महाराज श्रीश्रीशंकराचार्य शारदापीठ, प्रभासपाटण)

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥

(श्रीमद्भा० ११।१२।१-२)

'हे उद्धवजी! अन्य सब संगोंको दूर करनेवाला

---

* योगी लोग नाना प्रकारके रूप धारण करके पृथिवीतलमें विचरते हैं। कहीं वे शिष्ट जान पड़ते हैं, कहीं भ्रष्ट-से दिखायी देते हैं और कहीं भूत या पिशाचोंके समान व्यवहार करते हैं।

सत्संग जैसे मुझे वशमें करता है वैसे योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्टापूर्त (अग्निहोत्रादि इष्ट, कूप-तडागादि पूर्त), दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, छन्द, तीर्थ, नियम और यम—ये सब साधन वशमें नहीं करते।'

उपर्युक्त भगवद्वचनोंसे पता लगता है कि जीवोंके साथ जो अनेकों प्रकारके दुःसंग लग रहे हैं, उन्हें दूर करनेके लिये सत्संगके सदृश दूसरा कोई उपाय नहीं है। संत-समागममें रहकर संतके कथनानुसार आचरण करनेसे और संतकी सेवा करनेसे लाभ हो इसमें तो कहना ही क्या है, निम्नलिखित महाभारतके वाक्यानुसार तो केवल संतके समीप रहनेमात्रसे ही लाभ होता है।

निरारम्भा ह्यपि वयं पुण्यशीलेषु साधुषु।
पुण्यमेवाप्नुयामेह पापं पापोपसेवनात्॥

(वनपर्व १। २८)

हम अग्निहोत्रादि कर्म नहीं करनेपर भी पवित्र स्वभाववाले महात्माओंका समागम करनेसे पुण्यको पावेंगे और यहाँ नगरमें रहकर तो अग्निहोत्रादि कर्म करते हुए भी पापियोंकी सेवासे हमें पापका ही भागी होना पड़ेगा।

संतोंके लक्षणके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमांजितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥

(११। ११। २९—३१)

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥
मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः॥
मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान् मद्गतचेतसः॥
त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते॥

(३। २५। २१—२४)

भगवान् स्वयं भक्त श्रीउद्धवजीसे कहते हैं—

संत सबपर दया करनेवाला, किसीसे भी द्रोह न करनेवाला, तितिक्षु, सत्यप्रतिज्ञा करनेवाला, निन्दादि दोषोंसे रहित, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें समान भाववाला, सबका उपकार करनेवाला, विषयोंसे विचलित न होनेवाला, जितेन्द्रिय, कोमलचित्त, पवित्र, अकिंचन, निष्कामी, मित भोजन करनेवाला, शान्त, स्थिर, मेरे परायण रहनेवाला, मननशील, सावधान, गम्भीर, संकटमें भी धैर्य रखनेवाला, भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मृत्यु इन छहों विकारोंको जीता हुआ, मान न चाहनेवाला, दूसरोंको मान देनेवाला, दक्ष, सबसे मैत्री रखनेवाला, कारुणिक और ज्ञानवान् होता है।

भगवान् कपिलदेवने माता देवहुतिजीसे कहा है—

जो सहनशील, दयालु, सबके सुहृद्, शत्रुहीन और शान्त हैं तथा सुशीलत्व ही जिनका भूषण है, वे ही सत्पुरुष हैं। और जो मुझमें अनन्यभावसे अटल भक्ति करते हैं, मेरे लिये कर्मोंका एवं अपने बन्धु-बान्धवोंका त्याग कर देते हैं और जो मेरी निर्मल कथाओंको सुनते हैं तथा कहते हैं, वे मुझमें चित्त लगानेसे मंगलचित्त हुए पुरुष नाना प्रकारके तापों (के दुःखों)-को नहीं प्राप्त होते। हे पतिव्रते मातः! वे ये सम्पूर्ण संगोंसे रहित, पूर्वोक्त सद्गुणोंसे सम्पन्न जो संत हैं उन्हींका संग तुझे करना चाहिये; क्योंकि वे ही आसक्तिरूप दोषको हरनेवाले हैं।

इसके सिवा गीताके १२ वें अध्यायमें श्लोक १३ से २० तक '**यो मद्भक्तः स मे प्रियः**' इन शब्दोंसे, एवं १४ वें अध्यायमें श्लोक २२ से २५ तक '**गुणातीतः स उच्यते**' कहकर और श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ के दूसरे अध्यायमें श्लोक ४५ से ५५ तक '**भागवतोत्तमः**' के नामसे जिन लक्षणोंका वर्णन है, वे सब संतमें होने चाहिये। ऐसे संतोंका संग भगवत्प्राप्तिके लिये भगवद्भक्तिकी वृद्धिके हेतुसे किया जाता है। भगवद्भक्तिके प्रतापसे ही संतोंमें ऐसे लक्षण देखे जाते हैं। भगवद्भक्ति न हो और कर्म, तप, योग आदि साधन हों, तथा वेदान्तवाक्योंकी धारा बहती हो वहाँ ये लक्षण नहीं देखनेमें आते। जिसके संगसे भगवान्पर भक्ति, श्रद्धा और निष्ठा इन तीनमेंसे एक भी न हो उसे संत नहीं कह सकते। जिसमें उपर्युक्त संतोंके गुण पूरे नहीं होते उसमें भगवद्भक्तिके परिणामस्वरूप भगवत्कृपासे पूर्ण हो सकते हैं '**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा**' यह भगवद्वाक्य प्रमाण है। परन्तु भक्तिहीन मनुष्यमें यदि ये लक्षण कुछ हों तो भी उनके नष्ट होनेकी सम्भावना है, और जो हैं वे

भी दम्भरूप ही हैं। अतएव ये लक्षण भक्तिसे ही प्राप्त होते हैं, स्थिर होते हैं, और जिसमें ये लक्षण हैं उसका संग करनेसे संग करनेवालेमें भी इन लक्षणोंका प्रादुर्भाव हो सकता है।

कुछ लोग चमत्कारके द्वारा महात्माओंके महात्मापनका निर्णय किया करते हैं। यह उनकी भूल है। प्रह्लाद-सुधन्वा-जैसे भक्तोंके लिये भगवान्ने स्वयं जो कुछ किया वह तो उनकी भक्तपर रहनेवाली अचल कृपाका चमत्कार है, और वह भक्तके लिये गौरवजनक है, उसको गिरानेवाला नहीं है। परन्तु योगादिके द्वारा प्राप्त सिद्धियोंका संग करनेवाले, योगीको—जो निर्विकल्प समाधिकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील है—तो सिद्धियाँ नीचे गिरा ही देती हैं।

भगवान्ने श्रीमद्भागवतमें कहा है—

अन्तरायान्वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः॥

(११।१५।३३)

'मेरे उत्तम योग (उपासना)-का अनुष्ठान करनेवाले, मेरी शीघ्र प्राप्ति कर लेनेके अधिकारी योगीको ये सिद्धियाँ जन्म-भोगादिके देनेवाली होनेके कारण मेरी प्राप्तिमें कालक्षेप करनेवाली हैं—अतः बुद्धिमान् पुरुष इन्हें विघ्न कहते हैं।'

अतएव योगी अथवा भक्त न तो कभी सिद्धियोंके फेरमें पड़ते हैं और न सिद्धियोंका अभिमान ही करते हैं। अवश्य ही अवस्थाविशेषमें सिद्धियाँ आती हैं, परन्तु बुद्धिमान् पुरुषको सदा यही मानना चाहिये कि मुझमें कोई सिद्धि है ही नहीं। जिनका उद्देश्य मोक्ष या भगवत्प्राप्ति नहीं है और जो विषयोंके ही चक्करमें पड़े हैं, वे भले ही सिद्धियोंका प्रदर्शन किया करें परन्तु यहाँ तो उन भगवत्प्राप्त अथवा भगवत्प्राप्तिके लिये पूर्णतया प्रयत्नशील संत-महात्माओंके सम्बन्धमें विचार करना है। अतएव यह कहा जा सकता है कि चमत्कारसे किसी महात्माकी पहचान नहीं हो सकती।

फिर किसी चमत्कारके दीखते ही उसे योगसिद्धिका चमत्कार मान बैठना भी भूल है; क्योंकि योगसूत्रकारने साफ कहा है—

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः।

लोकपरत्व अथवा जातिपरत्वसे जो आरम्भसे ही स्वाभाविक सिद्धि होती है उसे जन्मसिद्धि कहते हैं। स्वर्गादि लोकोंमें अणिमादि सिद्धि, पशु-पक्षी आदिमें घ्राणशक्ति और अँधेरेमें देखनेकी शक्तिरूप सिद्धियाँ भी जन्मसिद्धि ही हैं। रसायनप्रयोगके द्वारा अथवा जड़ी-बूटीसे होनेवाली सिद्धि ओषधिसिद्धि है। मन्त्र-जपादिसे तो सिद्धिका प्राप्त होना प्रसिद्ध ही है और प्रायः वह मलिनमन्त्रोंके प्रयोगसे हुआ करती है। तपसे संकल्पसिद्धि होती है। हठयोगके आसनादिसे और हिप्नोटिज्म या मेस्मेरिज्मकी जो संकल्पशक्ति (Will Power) देखनेमें आती है, वह भी एक प्रकारकी संकल्पसिद्धि ही है। समाधि अवस्थामें प्राप्त होनेवाली सिद्धियोंका वर्णन तो योगशास्त्रमें भरा ही पड़ा है। परन्तु सिद्धिमात्र ही समाधिसिद्धि है—सो बात नहीं। किसी भी साधनसे कोई सिद्धि प्राप्त करके मनुष्य अपनेको योगी सिद्ध करनेका दम्भ करने लगता है। इस विषयमें बहुत ही सावधान रहनेकी आवश्यकता है। आर्थिक लाभ प्राप्त करनेकी इच्छावाले लोग भी इस प्रकारकी दाम्भिक क्रियाओंसे ठगाते देखे जाते हैं, परन्तु इन सिद्धियोंमें कोई सत्यता भी हो तो भी मुमुक्षु अथवा भगवत्प्राप्तिकी इच्छावाले पुरुषको तो इनसे दूर ही रहना चाहिये। सिद्धिका दम भरनेवाले दम्भियोंकी अपेक्षा तो पाश्चात्यपद्धतिके अनुसार हिप्नोटिज्म और मेस्मेरिज्मके खुले आम खेल दिखलाकर पैसा कमानेवाले लोग कहीं अच्छे हैं। मुमुक्षु या भगवत्प्राप्तिके इच्छुकोंको तो सिद्धियोंके लोभको बिलकुल छोड़ ही देना चाहिये। अर्थार्थियोंको भी सावधान रहना आवश्यक है। 'लोभियोंमें ठग भूखों नहीं मरते' इस कहावतके अनुसार ठगोंका धन्धा चला ही करता है। इसलिये किसीमें कोई चमत्कार देखकर उसे संत, महात्मा या योगी मान लेना बुद्धिमानी नहीं है। ठगोंके समुदायमें संत-महात्माका निर्णय करनेकी भी बड़ी निर्मल बुद्धि और शुद्ध विचारकी आवश्यकता है।

मोक्ष अथवा भगवत्प्राप्तिके साथ इन चमत्कारोंका जरा भी सम्बन्ध नहीं है। मोक्ष पूर्णतया निःसंगता है और भगवत्प्राप्ति भगवान्के साथ एकतानता है। निःसंगको जब किसीसे सम्बन्ध ही नहीं होता, तब दुःख दूर करनेके लिये उसे सिद्धिकी क्या आवश्यकता होगी? और भगवद्भक्त तो भक्तिके आनन्दमें इतना सराबोर रहता है कि उसका ध्यान और कहीं जाता ही नहीं—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥

—इस वाक्यके अनुसार जो नारायणपरायण निःसंग भक्त है, वह न नरकसे डरता है, न स्वर्गकी इच्छा करता है और न मोक्ष ही चाहता है। तब फिर उसे अन्य किसी सिद्धिकी तो आवश्यकता ही क्यों होने लगी? भगवान् स्वयं कृपा करें और दुनियाको अपना चमत्कार दिखलावें—यह दूसरी बात है। पर भक्तकी तो इस विषयमें जरा भी इच्छा नहीं होती और जिसकी होती है वह पूरा भक्त नहीं है।

ज्ञानीको श्रुति भगवती पाण्डित्यमें भी वैराग्य करनेकी आज्ञा देती है। '**पाण्डित्यं निर्वेद्य**' अर्थात् ज्ञानीका पाण्डित्यमें भी राग नहीं रहता। जैसे—बालक सब विषयोंमें निर्दोष और अज्ञात-सा रहता है वैसे ही ज्ञानी भी रहे। इतना ही नहीं '**जडवदाचरेत्**', '**बालोन्मत्तपिशाचवत्**' आचरण करनेकी बात कही जाती है, फिर सिद्धियोंके चमत्कारोंका प्रदर्शन करनेकी तो बात ही कौन-सी है? फिर मुमुक्षुके लिये '**नानुध्यायेद् बहून् शब्दान् त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः**' आदि शब्दोंके द्वारा श्रुति अधिक पुस्तकोंके अध्ययन न करनेकी आज्ञा देती है और तत्त्वज्ञान होनेके बाद तो ग्रन्थोंसे अलग होकर नित्य ब्रह्मस्थित रहनेकी बात कहती है, फिर सिद्धि या चमत्कारोंको लेकर ज्ञानीके ज्ञानकी और संतके संतपनकी पहचान करना किसी तरहसे भी उचित नहीं जँचता। सच्ची बात तो यह है कि ज्ञान अथवा भक्तिके साथ तो सिद्धियों और चमत्कारोंका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। सिद्धियोंका सम्बन्ध तो योगादिमें है। ज्ञानी अथवा भक्तमें '**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' अथवा '**यो मद्भक्तः स मे प्रियः**' इन वचनोंके अनुसार परमात्मा स्वयं कभी किसी कारण कोई सिद्धि या चमत्कार-जैसी कोई चीज दिखला भी दे तो भी ज्ञानी अथवा भक्तको उसमें अपनी शक्तिका कोई अभिमान नहीं होता। यही नहीं, वह तो ऐसे प्रसंगसे दूर ही रहना चाहता है। अतएव यथार्थ ज्ञानी अथवा सच्चे भक्तके जीवनमें कभी कोई चमत्कार दिखलायी देता है तो यही समझना चाहिये कि भगवान् स्वयं उस ज्ञानी अथवा भक्तकी महिमा सबसे विशेष है—यह सिद्ध करनेके लिये ही वह चमत्कार दिखलाते हैं। उसमें ज्ञानी अथवा भक्तकी न तो कर्तव्यबुद्धि रहती है, न वह चमत्कार उनके किसी साधनका फल ही होता है। वह प्रारब्धके संयोगसे भगवत्प्रेरित होता है और उसमें ज्ञानी अथवा भक्तकी बाधितानुवृत्ति रहती है, कर्तृत्वबुद्धि नहीं। ज्ञानी अथवा भक्तमें कर्तृत्वबुद्धिका बाध तो होना ही चाहिये; अतएव उनमें चमत्कारप्रदर्शनकी कोई वृत्ति हो ही नहीं सकती। इसीलिये उनके जीवनमें चमत्कार बहुत कम देखनेमें आते हैं।

संतोंके उपर्युक्त लक्षणोंमें निम्नलिखित लक्षणोंपर विचार करनेसे पता चलता है कि ज्ञानी और भक्त संत-महात्माओंमें चमत्कार दिखलानेकी बात हो नहीं सकती। लक्षण ये हैं—कृपालु, अकृतद्रोह, तितिक्षु, कामैरहतधी, अकिंचन, शान्त, गभीरात्मा, मदाश्रय—उपर्युक्त रीतिसे किसीके प्रारब्धयोगसे उसका दुःख दूर करनेकी अनुकम्पा—कृपासे प्रेरित होकर कोई चमत्कार हो जाय तो वह कृपालुताका चिह्न है, परन्तु अकृतद्रोह होनेके कारण उस संतमें किसीको सन्ताप पहुँचाने या किसीका नुकसान करनेके लिये चमत्कार दिखलानेकी वृत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार वह अपना दुःख दूर करनेके लिये भी सिद्धिका प्रयोग नहीं करता, क्योंकि वह तितिक्षु होता है। अपनी इच्छाकी पूर्तिके लिये भी वह सिद्धिका उपयोग नहीं करता, क्योंकि वह कामैरहतधी है, अर्थात् उसकी बुद्धिनिष्ठाको इच्छा कभी बाध नहीं करती। द्रव्यादिके लिये भी वह सिद्धिका उपयोग नहीं करता क्योंकि वह अकिंचन होता है, अर्थात् वह अपनी उसी स्थितिमें रहनेकी इच्छा करता है, क्रोधमें भरकर किसीको डराने-धमकानेके लिये भी वह सिद्धिका प्रयोग नहीं करता; क्योंकि वह शान्त है। अपनी महिमा बढ़ानेके विचारसे केवल दिखलानेके लिये भी वह सिद्धिका प्रयोग नहीं करता क्योंकि वह गभीरात्मा है अर्थात् उसमें इतनी गम्भीरता है कि वह बाहर उछला नहीं पड़ता; अपनी सारी शक्तियोंको गुप्त रख सकता है और परमात्माको सब कुछ सौंपकर अर्थात् सारा बोझ परमात्माको देकर वह '**मदाश्रयः**' हो जाता है। फिर चमत्कार दिखलानेकी वृत्ति उसमें कैसे रह सकती है?

वर्तमान समयमें भगवान्के बतलाये हुए लक्षणोंसे पूर्ण सत्पुरुष संतका मिलना बहुत दुर्लभ है, परन्तु ऐसे संतोंका भारतमें कभी अभाव भी नहीं होता। मुमुक्षुओंको इस बातपर पूरा ध्यान रखना चाहिये कि संतमें काम, क्रोध और लोभका तो अभाव ही होता है क्योंकि इन तीनोंको भगवान्ने स्वयं नरकका द्वार बतलाया है (गीता १६। २०)। अतएव इन नरकके दरवाजोंमें फँसे हुए

पुरुषके संगसे मोक्षद्वारतक पहुँचनेकी आशा तो नहीं की जा सकती, चाहे वह दूसरी कोई भी चमत्कारी शक्ति रखता हो, पर उसकी वह शक्ति मुमुक्षुके लिये किसी कामकी नहीं है। जिसको चमत्कारसे ही लाभ उठाना हो और जिसमें मुमुक्षुता न हो वह चाहे उसका संग करे, पर याद रखना चाहिये कि यह संग वास्तविक सत्संग नहीं है।

वर्तमान समयमें जब सभी वर्णाश्रमोंमें धर्मका पूरा पालन नहीं देखा जाता, तब संतके धर्मोंमें भी यही न्याय लागू होता है। फिर आजकलके संत भी अपनी जठराग्निकी शान्तिके लिये अपूर्ण गृहस्थाश्रमियोंका ही अन्न ग्रहण करते हैं। फिर 'जैसा अन्न वैसी ही डकार' वाली कहावतका चरितार्थ होना स्वाभाविक ही है। और इसीलिये आजकल साधुलोग ऐसा कह भी देते हैं कि 'हमलोग आज-जैसे अपूर्ण गृहस्थोंके अंदरसे ही तो साधु हुए हैं और आप-जैसे अपूर्ण गृहस्थोंके अन्नसे ही पेट भर रहे हैं, तब हमलोगोंमें दोष देखना और अपनेमें दोष न देखना यह कहाँका न्याय है?' साधुका ऐसा कहना उचित न होनेपर भी यह बात विचारनेयोग्य तो है ही। परन्तु इतना जरूर याद रखना चाहिये कि संतमें काम, क्रोध और लोभ—इन तीन विकारोंका अभाव तो अत्यन्त आवश्यक है। ये तीनों दोष उपेक्षा करने योग्य नहीं हैं। दूसरी बातोंमें तो युगानुसार उपेक्षा भी की जा सकती है। परमात्मा वर्तमानकालके साधुओंको दोषमुक्त करें। खास करके इन तीन दोषोंको तो उनमें आने ही न दें—यही उन कृपालु भगवान्‌के प्रति प्रार्थना है।

संन्यासकी विधि और आचरण

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

संन्यासिनो विशुद्धान् हि यतींस्तानूर्ध्वरेतसः।
सर्वसङ्गविमुक्तांश्च नमामि तत्त्वदर्शिनः॥

एक कुत्ता मांससे सनी हुई हड्डी मुखमें लिये जा रहा था। हड्डीको देखकर कई कुत्तोंके मुखमें पानी भर आया और उन्होंने आकर कुत्तेको घेर लिया और सब-के-सब दाँत, पंजों आदिसे उसको मारने लगे। यह देखकर बेचारे कुत्तेने मुखसे हड्डी छोड़ दी। हड्डी छोड़ते ही सब कुत्ते उसे छोड़कर हड्डीके पीछे पड़ गये और वह कुत्ता अपनी जान बचा भाग गया। उन कुत्तोंमें हड्डीके पीछे बहुत देरतक लड़ाई होती रही और वे सब-के-सब घायल हो गये। अन्तमें एक बलवान् कुत्तेने उनसे हड्डी छीन ली और हड्डीको चाटकर उसने अपनी तृप्ति की!

यह तमाशा देखकर प्रजापतिके पुत्र आरुणि ऋषि इस प्रकार विचार करने लगे—

ओहो! जितना दुःख है, ग्रहणमें ही है, त्यागमें दुःख कुछ नहीं है, उलटा सुख है। जबतक कुत्तेने हड्डी न छोड़ी तबतक पिटता और घायल होता रहा और जब हड्डी छोड़ दी, तो सुखी हो गया। इसी प्रकार संसारमें जबतक किसीके पास धन होता है, तबतक चोर, डाकू, राजा आदि उसको लूटनेकी ताकमें रहते हैं और पुत्र, पौत्र आदि बान्धव भी नोचते रहते हैं। जिसके पास कुछ नहीं होता, उससे कोई नहीं पूछता कि तेरे मुखमें कितने दाँत हैं। जबतक वृक्ष हरा-भरा, फलता-फूलता रहता है, तबतक नोचा जाता है और वह ईंट-पत्थर खाता रहता है; जब सूख जाता है तो पशु, पक्षी, मनुष्य कोई भी उसके पास नहीं आता। जबतक सिरका बोझ न उतरेगा, तबतक अवश्य बोझों मरता रहेगा, बोझा उतारनेपर ही सुखी होगा, इसमें संशय नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि त्याग ही सुखरूप है और ग्रहणमें दुःख है। हाथसे ग्रहण करनेमें दुःख हो, इसका तो कहना ही क्या है; मनसे ध्यान करनेमें ही दुःख होता है। सच कहा है कि विषयोंका ध्यान करनेसे उनमें संग होता है, संग होनेसे उनकी प्राप्तिकी कामना होती है, कामनामें प्रतिबन्ध पड़नेसे क्रोध होता है। कामना पूरी होनेपर लोभ होता है, क्रोध और लोभसे मोह उत्पन्न होता है, मोहसे स्मृति नष्ट हो जाती है, गुरु-शास्त्रका उपदेश याद नहीं रहता, स्मृति नष्ट होनेसे बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि नष्ट होनेसे जीव नरकमें जाता है, इसलिये संग ही अनर्थका हेतु है। जहाँ स्नेह होता है वहाँ भय होता है, स्नेह योगका नाशक है। जो स्नेहका त्याग करता है वह निर्भय हो जाता है और विष्णुपदमें स्थित होता है। मुक्तिके मार्गको रोकनेवाला संग है, विद्वानोंको भी संग मोहित करनेवाला है। विषरूप इस

संगसे मुमुक्षुओंको अवश्य ही दूर रहना चाहिये। जो पुरुष विषरूप विषयोंको त्यागकर, मायाजालसे छूटकर, ज्ञाननेत्र लेकर एकाकी पृथिवीपर विचरता है वही सुखी होता है, यह मोक्षशास्त्रका कथन है। एक शिवका ही ध्यान करे, ध्यानमें सहायताकी आवश्यकता नहीं है, जिसको अद्वयपद प्राप्त करनेकी इच्छा हो, उसके लिये संग बहुत भय देनेवाला है। जैसे शब्द और अर्थ सर्वदा साथ-साथ रहते हैं, इसी प्रकार ब्रह्मका ध्यान और असंगपना नित्य युक्त ही रहते हैं, यह वेदवेत्ताओंका कथन है। इसलिये अब मुझे शरीरसहित विश्वका संग छोड़कर सुखी होना चाहिये।

इस प्रकार बहुत कुछ विचार करनेके बाद आरुणि प्रजापतिके लोकमें जाकर कहने लगे—

आरुणि—हे भगवन्! कर्मका चक्र महान् भयंकर है! क्रियामात्र दुःखरूप है। जबतक मनुष्य कर्म करता रहेगा, कर्मफल भोगनेके लिये शरीर रखना पड़ेगा, शरीर धारण करेगा; तो फिर कर्म करेगा! इस प्रकार जबतक कर्म न छूटेगा, चक्कीके समान मनुष्य संसाररूप चक्रमें घूमता रहेगा, कभी मुक्त नहीं हो सकता! कोई कर्म ऐसा नहीं है जो केवल पुण्यरूप ही हो, पापरूप न हो। सभी कर्म पुण्य-पाप-मिश्रित हैं और विचारकर देखा जाय तो पुण्य भी पापरूप ही है, क्योंकि पुण्यसे जन्म-मरणरूप संसार तो बना ही रहता है। इसलिये हे भगवन्! ऐसा उपाय बताइये कि जिससे मैं सम्पूर्ण कर्मोंको अशेषरूपसे त्यागकर आवागमनके चक्रसे छूटकर आनन्दरूप स्वस्वरूपमें स्थित हो जाऊँ।

आरुणि ऋषिकी बात सुनकर प्रजापति कहने लगे—

प्रजापति—हे आरुणि! जबतक इस ब्रह्माण्डकी किसी वस्तुकी भी इच्छा रहेगी, तबतक कर्म नहीं छूट सकते, जब किसी पदार्थकी कामना न रहेगी, तब कर्म भी आप ही छूट जायँगे। इसलिये हे आरुणि! अपने पुत्र, भाई, बन्धु आदिको, या बाहरी वेश-भूषाको, भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक इन सात ऊपरके लोकोंको और अतल, तलातल, वितल, सतल, रसातल, महातल, पाताल इन सात नीचेके लोकोंको और ब्रह्माण्डको त्याग दे। केवल दण्ड, आच्छादन और कौपीन ग्रहणकर शेष सबका त्याग कर दे!

त्यागनेकी विधि इस प्रकार है—गृहस्थ, ब्रह्मचारी अथवा वानप्रस्थ उपवीतको पृथिवीपर अथवा जलमें त्याग दे। लौकिक अग्नियोंको उदरकी अग्नियोंमें समर्पण कर दे। गार्हपत्य अग्नि, आहवनीय अग्नि और दक्षिणाग्नि ये लौकिक मुख्य अग्नियाँ हैं। जाठराग्नि उदर-अग्नि है। गायत्रीको अपनी वाणीरूप अग्निमें आरोपण करे। कुटीचर ब्रह्मचारी कुटुम्बको त्याग दे। पात्रको त्याग दे। पवित्र यानी कुशाको त्याग दे, दण्डोंको और लोकोंको त्याग दे! इसके बाद मन्त्ररहित आचरण, करे यानी अबतक भोजनादि मन्त्र उच्चारण करके किया करता था अब बिना मन्त्रके करे। ऊँचा चलना यानी वृक्षादिपर चढ़ना त्याग दे। औषधके समान भोजन करे यानी प्राणरक्षणमात्र आहार ले, अधिक न ले, स्वादके लिये न खाय, तीनों सन्ध्याओंमें स्नान करे, समाधिमें यानी आत्मामें सन्धि करे! सब वेदोंमें आरण्यककी आवृत्ति करे, उपनिषद्की आवृत्ति करे, उपनिषद्की आवृत्ति करे!

'ब्रह्मकी सूचना देनेसे निश्चय मैं सूत्र हूँ, मैं ही ब्रह्मसूत्र हूँ' जो इस प्रकार जानता है, वह विद्वान् तीन वृत्वाले सूत्रको त्याग दे और **'संन्यस्तं मया' 'संन्यस्तं मया' 'संन्यस्तं मया'** इस प्रकार तीन बार कहकर यह प्रतिज्ञा करे ***'सर्व भूतोंको अभय हो!' 'मुझसे ही सबकी प्रवृत्ति हो रही है!'*** पश्चात्—

'सखा मा गोपायौजः सखायोऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेति।'

'हे सखा! मेरे सामर्थ्यकी रक्षा कर, तू सखा है, तू वृत्रासुरको मारनेवाला इन्द्रका वज्र है, मेरा कल्याण हो, जो पाप हो उसको निवारण कर!' इस मन्त्रसे मन्त्रित किये हुए बाँसके दण्डको और कौपीनको ग्रहण करे! ओषधिके समान भोजनका आचरण करे यानी ओषधिके समान अन्न भक्षण करे। जितना मिल जाय उतना ही भोजन करे यानी उदरपूर्तिसे थोड़ा भी मिले तो भी संतुष्ट रहे। ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह और सत्यका यत्नपूर्वक पालन करे! पालन करे!! पालन करे!!!

परमहंस परिव्राजकोंका आसन, शयनादि भूमिपर होना चाहिये। ब्रह्मचर्यका उनको प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये। वेदवेत्ताओंका कथन है कि परात्पर ब्रह्ममें ही नित्य भक्तिपूर्वक विद्वान् विचरे और निरन्तर ब्रह्मचर्यका पालन करे। और भी कहा है कि ब्रह्मचर्यका स्खलन निश्चय मरणके समान है, इसलिये कामनापूर्वक शुक्र यानी वीर्यको न गिरावे, क्योंकि शुक्र ही मनुष्यका

सुदामाका महल

राजा भरत

भगवद्दर्शन
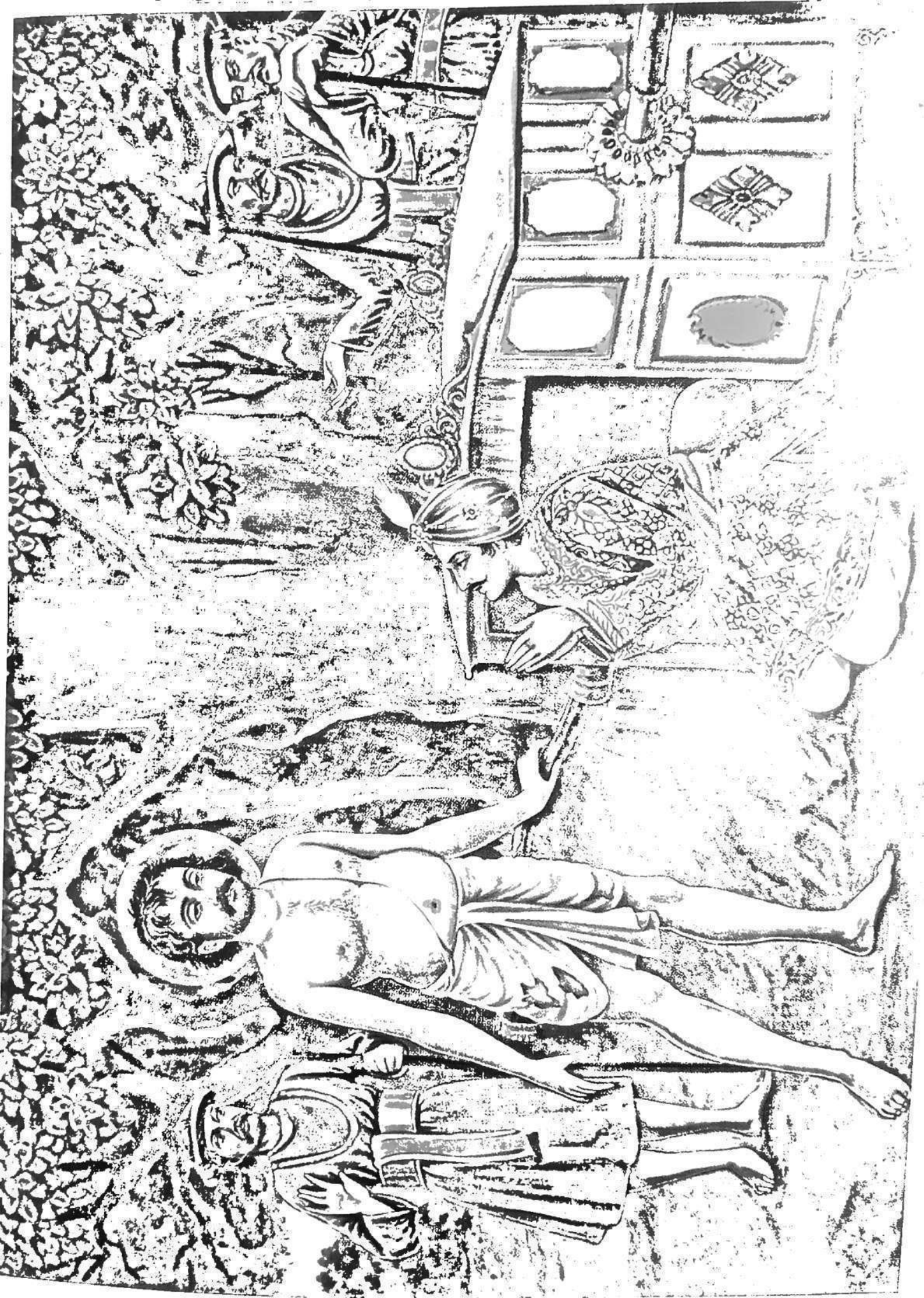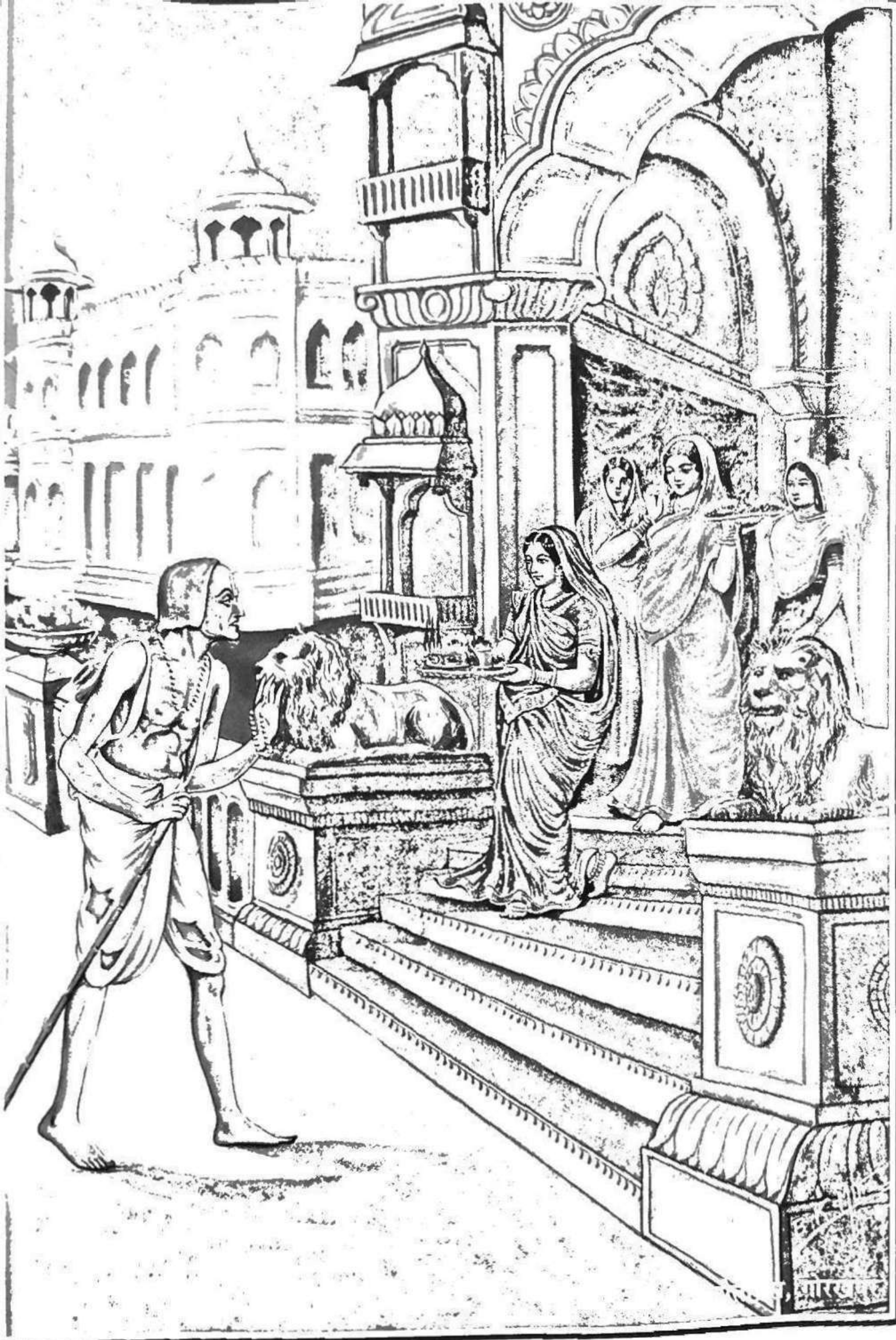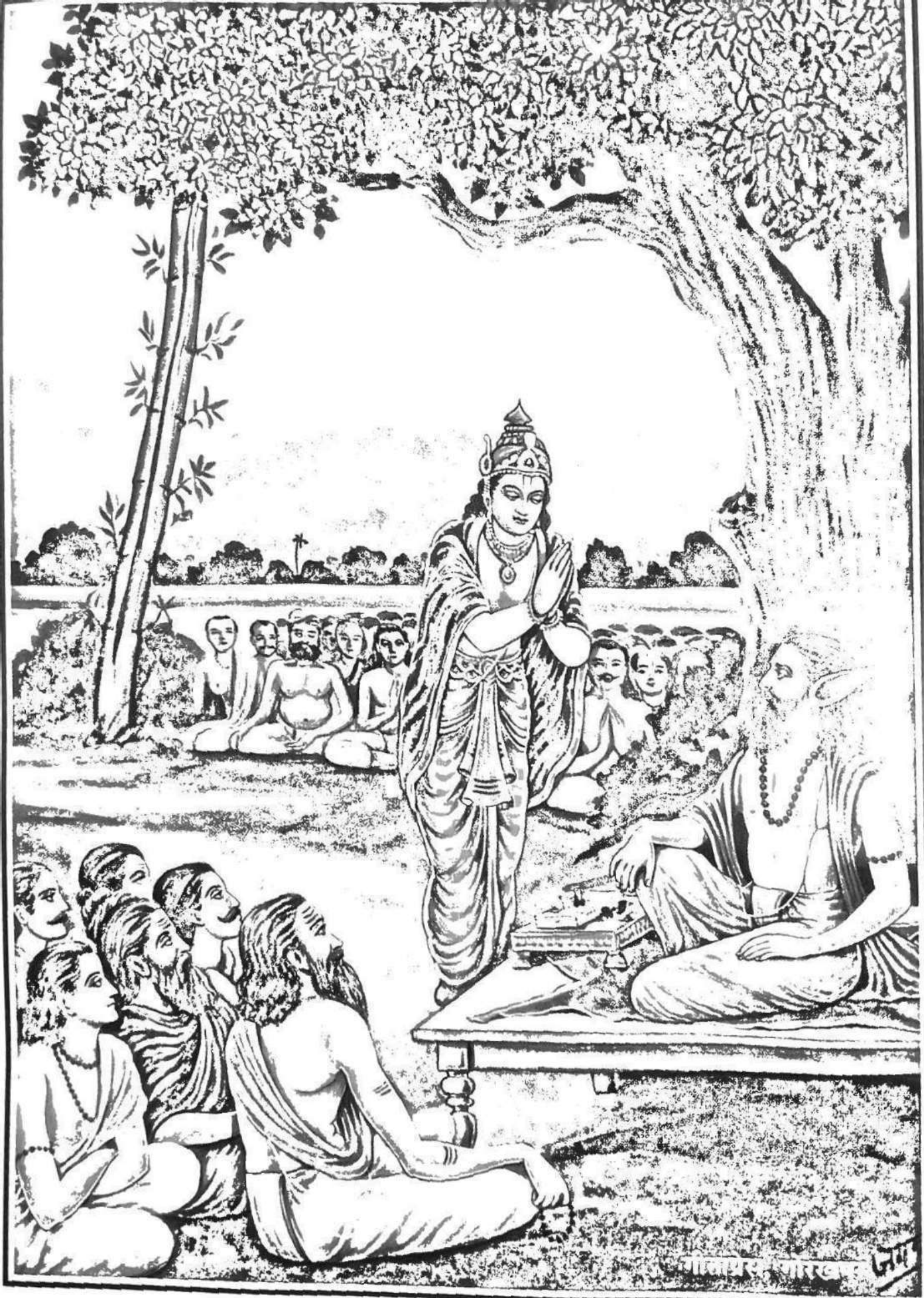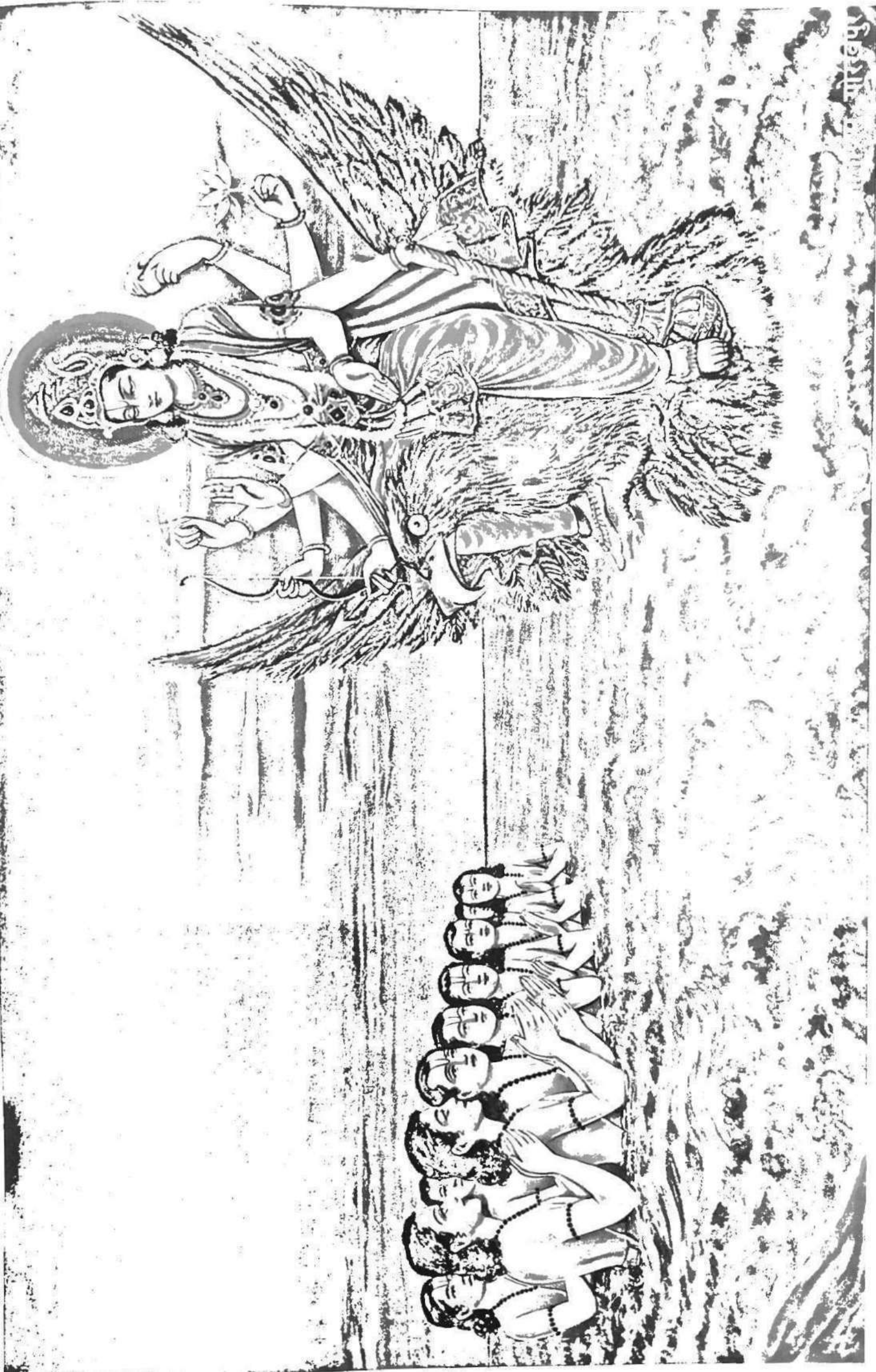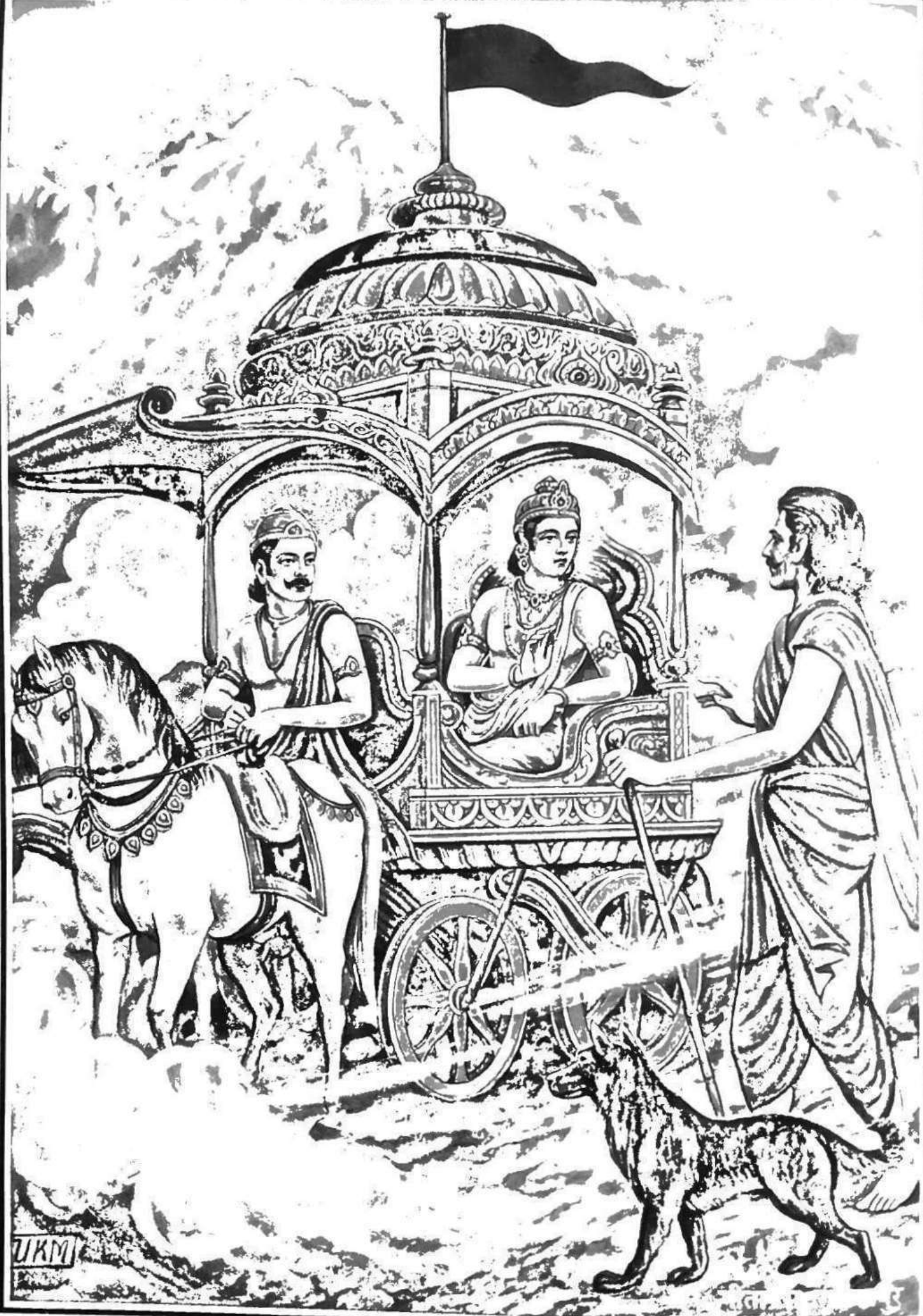
इन्द्र और युधिष्ठिर

निश्चय जीवन है। यतियोंको मिट्टीका पात्र, तुम्बा अथवा दारु लकड़ीका पात्र रखना चाहिये। काम, क्रोध, हर्ष, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, इच्छा, असूया, ममता, अहंकार इन सबको यती सर्वथा त्याग दे। वर्षामें यती एक स्थानपर रहे और आठ मास अकेला विचरे अथवा दो साथ-साथ विचरें।

उपनयनसे पूर्व अथवा पीछे विद्वान् पिता, माता, पुत्र, अग्नि, उपवीत कर्म, स्त्री और अन्यको भी त्याग दे। यती भिक्षाके लिये पाणिपात्र अथवा उदरपात्रसहित ग्राममें प्रवेश करते हैं। ॐ हि ॐ हि ॐ हि, यही उपनिषद् है। त्याग दे, यही उपनिषद है, जो इसको जानता है, वही विद्वान है। जो इस प्रकार जानता है, वह पलाश, बेल, पीपल, गूलरका दण्ड, मूँजकी मेखला और यज्ञोपवीतको त्याग देता है, वही शूर है। विष्णुके परमपदको सर्वदा ज्ञानी देखते हैं। जो सबका त्याग करते हैं वे विष्णुके परमपदको प्राप्त होते हैं! जिसको यती योगी प्राप्त होते हैं, वही विष्णुका परमपद है, यह इस प्रकार निर्वाणका अनुशासन है! वेदका अनुशासन है!! वेदका अनुशासन है!!! (आरुणिकोपनिषद्के आधारपर)

संतोंकी उलटी चाल

'संतोंकी उलटी चाल' का कुछ लोग यह अर्थ करते हैं कि संतोंका मनमाना आचरण होता है, वे बुरा कर्म करते भी नहीं डरते। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। संतोंकी उलटी चालका यह अर्थ है कि वे विषयी लोगोंके मार्गसे उलटे मार्गपर चलते हैं। विषयी पुरुष मान चाहते हैं, वे मानका त्याग करते हैं। विषयी लोग धनसे लिपटे रहते हैं, वे धनको तुच्छ समझते हैं। विषयी लोग सांसारिक उन्नतिको और शरीरके आरामको ही आराम मानते हैं, वे परमार्थके सामने सांसारिक उन्नतिको तुच्छ समझते हैं और दूसरेके आरामके लिये शरीरके आरामकी बलि चढ़ा देते हैं। बात यह है कि विषयी पुरुष संसारमें फँसा रहना चाहता है और वे उससे मुक्त होना। इससे उनकी उलटी चाल तो होगी ही। परन्तु यह बात साधक संतोंकी है। सिद्ध संत तो सर्वथा उलटे हुए हैं। वे तो जहाँसे आये थे, उलटे जाकर वहीं पहुँच गये हैं। इससे उनकी बात यदि उलटी हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। परन्तु वह उलटी भी सब संतोंकी नहीं होती। लोकसंग्रही संत तो यह उलटापन बाहर प्राय: आने ही नहीं देते। हाँ, बाह्याचारकी परवा न करनेवाले—अवधूतोंकी बात दूसरी है।

कल्याण

मनुष्यजीवनका अमोलक समय व्यर्थ बीता जा रहा है। मौतके मुँहमें बैठे हो, जब मौत दबोच डालेगी, फिर तुम कुछ भी नहीं कर सकोगे! जिस धन, मान, परिवार, विद्या, यश, प्रभुत्व आदिके भरोसे आज गर्वमें फूल रहे हो, उनमेंसे कोई भी उस समय तुम्हारी जरा भी मदद नहीं करेंगे, उन्हें हाथसे जाते देखकर तुम रोओगे, उनकी ओर निराश नेत्रोंसे तुम ताकते रह जाओगे! पर हाय! निरुपाय हो जाओगे—न तुम उन्हें अपने किसी काममें बरत सकोगे न वे ही तुम्हारी सेवा-सहायता करेंगे! उस समय समझोगे, हमने बड़ी गलती की; बड़े सौभाग्यसे, बहुत अरसेके बाद भगवत्कृपासे मिले हुए मनुष्यशरीरको हमने बेकाम खो दिया! पछताओगे—रोओगे, परन्तु ***'अब पछिताये का बनै जब चिड़िया चुग गई खेत!'***

इसलिये सावधान हो जाओ। अपने मनुष्यत्वको सम्हालो। तुम्हारा आदमीपन इसीमें है कि तुम भगवान्‌से प्रेम करना सीख लो। संतोंकी सीख मानकर उनकी आज्ञाका पालन करो। उनके बतलाये रास्तेपर चलकर उन-जैसे ही बननेका जतन करो। याद रक्खो, यों करोगे तो तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा। तुमपर भगवत्कृपाकी वर्षा होगी। तुम्हारे सारे पाप-संताप जल जायँगे। तुम्हारा हृदय आनन्द और शान्तिके सुधासागरमें डूब जायगा। तुम्हें भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति होगी। तुम कृतार्थ हो जाओगे!

परन्तु याद रहे, केवल संतोंकी बाहरी नकलसे कुछ भी नहीं बनेगा। आजकल लोग या तो संतोंकी ओर कोई नजर ही नहीं डालते या उनके मन संत कोई चीज ही नहीं हैं। और जो कुछ लोग संतोंकी ओर आकर्षित होते हैं उनमें ज्यादातर ऐसे ही होते हैं जो

संतोंके गुणोंपर, उनके भगवत्प्रेमपर, उनकी ऊँची आध्यात्मिक स्थितिपर नहीं रीझते, इन बातोंको वे प्राय: जानते ही नहीं, वे रीझते हैं संतके मान-सम्मानपर, उसकी पूजा-प्रतिष्ठापर, उसके चमत्कारोंपर, उसके बाहरी दिखावेपर, और स्वयं भी वैसा ही बननेकी चेष्टा करते हैं। मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा और यशकी कीर्तिका मोह उन्हें आ घेरता है और मोहग्रस्त वे इनकी प्राप्तिके लिये अपनेमें चमत्कारोंको लानेकी चेष्टा करते हैं। योगका अभ्यास किये बिना योगविभूतियाँ मिलती नहीं, तब मिथ्या चमत्कारोंका स्वाँग रचते हैं, स्वयं डूबते हैं, संतके नाम और वेशपर कलंक लगाते हैं, और सेवकोंके मनोंमें अश्रद्धा उत्पन्न करके उन्हें पुण्यपथसे विचलित करते हैं। योगविभूति तो मिले कैसे? योगके आठ अंगोंमें पहले दो अंग हैं—यम और नियम। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, यम हैं; और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान, नियम। ये दोनों योगरूपी महलकी नींव हैं। जैसे बिना नींवके महल नहीं खड़ा हो सकता वैसे ही बिना यम-नियमके योगसिद्धि नहीं हो सकती। इसीसे आजकल योगी बहुत मिलते हैं परन्तु सच्चे योगसिद्ध पुरुष प्राय: नहीं मिलते। इसलिये मान-सम्मान आदि पानेके उद्देश्यसे संतकी झूठी नकल मत करो। सच्ची नकल करो, उसके आचरणोंका अनुसरण करो, संत बननेके लिये। संत कहलानेके लिये नहीं।

संतोंकी लीला बड़ी विचित्र है, उनकी महिमा कौन गा सकता है। जो परमतत्त्व अनादि है, एक है, सर्वव्यापी है, सर्वाधार, सर्वनियन्ता और सर्वमय है, जिसके अस्तित्वसे सबका अस्तित्व है, जिसके स्वत:सिद्ध प्रमाणसे सबका प्रमाण है, जिसकी चेतनासे सबमें चेतनत्व है, जिसका आनन्द ही सबमें लहरा रहा है। जो इस अस्तित्व, प्रमाण, चेतना, आनन्द आदिसे पृथक् नहीं है, परन्तु जो स्वयं सत् है, प्रमाणस्वरूप चेतन और आनन्दरूप है। जिसकी ऐसी व्याख्या भी उसके एक ही अंगका वर्णन करती है, जो वर्णनातीत है, कल्पनातीत है, उस परम सत्में जिसकी नित्य अचल अभेद प्रतिष्ठा है वही सत् है और ऐसा सत् ही संत है।

परन्तु संतका स्वरूप वर्णन करना उसको अपने स्थानसे च्युत करनेकी चेष्टा करना है, अवश्य ही वह कभी च्युत होता नहीं, क्योंकि वह अच्युतमें अचलप्रतिष्ठ है तथापि अपनी बुद्धिसे उसकी माप-तौल करने जाना है लकड़पन ही। हाँ, यदि लड़कपन सरल हृदयका सचमुच लड़कपन ही हो तो इसमें भी बड़ा लाभ है। बुरी नीयतको छोड़कर अन्य किसी भी हेतुसे संतका स्मरण-चिन्तन करना लाभदायक ही होता है; क्योंकि संतोंका संग अमोघ है।

बस, तुम तो संतकी सेवा करो, संतकी आज्ञाका पालन करो, संतको तौलनेकी चेष्टा छोड़ दो। संत तुम्हारी तुलापर तुलनेवाले पदार्थ नहीं हैं। श्रद्धा-भक्ति करके उनकी कृपा प्राप्त करो तब वे तुम्हें अपना कुछ रहस्य बतलावेंगे। तुम उन्हें बहुत ही थोड़े अंशमें भी जान लोगे तो चकित हो जाओगे। जिन बातोंको तुम असम्भव मानते हो, जो तुम्हारी धारणामें नहीं आतीं, जो तुम्हारी कल्पनासे अतीत हैं, संत वैसी एक नहीं, अनेक बातोंका अनुभव करते हैं। उनका प्रत्यक्ष करते हैं। उन्हें काममें लाते हैं। अविश्वासी और अश्रद्धालु अथवा अज्ञानी लोग चाहे इस बातको न मानें परन्तु किसीके मानने न माननेसे संतको क्या मतलब! वे क्यों किसीको मनवाने लगे? कहने ही क्यों लगे? उनकी अपनी मौजसे मतलब है, न कि मोहमें फँसी दुनियाके प्रमाणपत्रसे! कोई भी संसारका प्रमाणपत्र उनकी सचाईके लिये प्रमाण नहीं है और कोई भी प्रमाणपत्र उनकी स्थितिको बतला नहीं सकता। जगत्के प्रमाणोंका—सर्टिफिकटोंका आसरा वही देखते हैं जो संत नहीं हैं, पर संतका बाना धारणकर जगत्से पूजा-प्रतिष्ठा चाहते हैं!

संत ब्रह्म हैं, ब्रह्मस्थित हैं, ब्रह्मज्ञानी हैं, ब्रह्मपरायण हैं, ब्रह्ममय हैं। संत परमात्माके आश्रय हैं, परमात्मा हैं, परमात्माके स्वरूप हैं, परमात्माके प्यारे हैं, परमात्माके पुत्र हैं, परमात्माके शिष्य हैं और परमात्माके आश्रित हैं। संत भगवान्की दिव्य नित्यलीलामें सहायक हैं, नित्यलीलाके नट हैं, लीलाके साधन हैं, लीलाके यन्त्र हैं, लीला हैं और लीलामयके हृदय हैं। वे सब कुछ हैं। अन्तर्जगत्, कारण-जगत् सबमें उनका प्रवेश है, और वे कारणजगत्के भी परे हैं। यह याद रहे, यह संतकी बात है, संत नामधारीकी नहीं। संत वही है, जो ऐसा है।

ऐसे संतको पानेकी इच्छा करो। भगवान्से प्रार्थना करो। भगवान्की दयासे ही ऐसे संत मिलते हैं। संतोंका मिलन संतोंकी दृष्टिमें भगवान्के मिलनसे भी बढ़कर है! क्योंकि भगवान्के रंगमहलकी बातें वे माहली संत

ही जानते हैं और उन्हींसे भगवान्‌के रहस्यका पता लगता है। इसीलिये संतलोग भगवान्‌से प्रार्थना करके भी संतका मिलन चाहते हैं और ऐसे संतमिलनको तरसनेवाले प्रेमीजनोंकी प्रेमपिपासाको और भी बढ़ानेके लिये—और भी अनन्य बनानेके लिये भगवान् अपने रसज्ञ संतोंको उनसे मिला देते हैं। वे परस्पर जब मिलते हैं और जब उनकी घुट-घुटकर छनती है, तब भगवान्‌को भी बड़ा मजा आता है। वे छिप-छिपकर अपनी ही ऐसी बातें—जिनको अपने मुँहसे कह नहीं सकते, परन्तु प्रकट भी करना चाहते हैं—उन प्रेमियोंको करते देखकर और भी खुल जाते हैं। प्रकट होकर, अपना पूरा हृदय खोलकर, सारे व्यवधानोंको मिटाकर उन्हें गले लगा लेते हैं। भगवान् संत बन जाते हैं और संत भगवान्! यह आनन्द लूटना हो तो बस, भगवान्‌से संतमिलनकी प्रार्थना करो!

ऐसे संतकी प्राप्तिसे तुम्हारे हृदयमें कल्याणका सागर उमड़ उठेगा। तुम उसमें अवगाहन कर, अनन्त आनन्दमें घुल-मिलकर आनन्द बन जाओगे। आनन्द फिर आनन्दसागर होगा—तुम्हारा हृदय आनन्द और कल्याणका सागर बन जायगा। उसमें जो कोई डुबकी लगायगा, जो कोई उसमेंसे एक चुल्लू भी पी पायगा वही आनन्द और कल्याणरूप हो जायगा।

प्राप्ति तो दूर रही, ऐसे संतकी स्मृति ही पाप-ताप और अज्ञान-अहंकारका नाश करनेवाली है।

ऐसे संत संसारमें थोड़े हैं, पर वे थोड़े भी बहुत हैं। उनका अस्तित्व ही जगत्‌में मंगल और कल्याण बनाये हुए है। पाखण्डियोंका उन संतोंपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। न पाखण्डी उनमें मिल ही सकते हैं। न पहचाननेवाले लोग काँचको हीरा भले ही समझ लें परन्तु पहचाननेवालोंसे काँच-हीरेका भेद छिपा नहीं रहता। इतना होनेपर भी संतकी पहचान भगवत्कृपाप्राप्त संत ही कर सकते हैं। इतर लोग तो दम्भियोंके फंदेमें फँस ही जाते हैं। परन्तु जो सचमुच संतोंके आश्रयमें रहना चाहते हैं, उनको छिपे संत पथभ्रष्ट होनेसे बचाते भी हैं। सच्चेकी रक्षा भगवान् भी करते हैं। इसलिये संतदर्शनके सच्चे अभिलाषी बनो!

कदाचित् मनसे ही नकली संत बन रहे हो तो इस धोखेकी टट्टीको दूर फेंक दो। इसमें तुम्हारा और जगत्‌का दोनोंका मंगल होगा। याद रक्खो—परमात्माको धोखा देनेकी चेष्टा करनेवाला जितना धोखा खाता है उतना धोखा प्रत्यक्ष पापीको नहीं खाना पड़ता।

सच्चे संतोंके चरणोंमें नमस्कार करो, उनका ध्यान करो, उनकी वाणीको वेदवाक्यसे बढ़कर समझो, उनके चरणरजको अपनी अमूल्य सम्पत्ति समझो, उनकी आज्ञाका प्राणपणसे पालन करो, उनकी इच्छाका अनुसरण करो, उनके इशारेपर उठो-बैठो। देखो, तुम्हारा कितना जल्दी मंगल होता है। **'शिव'**

भागवत संतोंके लक्षण

(बृहन्नारदीयपुराणसे)

संत और भागवत एक ही हैं। भगवान्‌ने स्वयं भागवतोंके लक्षण बतलाये हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं—

जो सब प्राणियोंका हित करते हैं, जिनके मनमें डाह और द्वेष नहीं है, जो जितेन्द्रिय, निष्काम और शान्त हैं। जो मन, वाणी, शरीरसे किसीको पीड़ा नहीं पहुँचाते। जो प्रतिग्रह नहीं लेते। भगवान्‌के गुण सुननेके प्रेमी हैं, गंगा और विश्वनाथ मानकर माता-पिताकी सेवा करते हैं, परनिन्दा नहीं करते। जो सबके हितकी बात ही कहते हैं, गुण ग्रहण करते हैं, सब प्राणियोंमें आत्मबुद्धि रखते हैं, शत्रु-मित्रमें समदर्शी हैं, सत्यवादी हैं तथा संतोंकी सेवा करनेवाले हैं, गो-ब्राह्मणकी सेवा करते हैं, तीर्थोंको मानते हैं, दूसरेकी उन्नति देखकर प्रसन्न होते हैं। वृक्षादि लगाते हैं, कुआँ-तालाब बनाते हैं, मन्दिर बनाते हैं, गायत्री जपते हैं, पुराणादिको श्रद्धापूर्वक सुनते-पढ़ते हैं। हरिनाम सुनते ही जिनको बड़ा आनन्द होता है। शरीर पुलकित होता है। तुलसीजीमें भक्ति है, जो अतिथिकी सेवा करते हैं। भगवान् शिवमें प्रीति, भक्ति रखते हैं। शिवका पूजन करते हैं। रुद्राक्ष और त्रिपुण्ड्र धारण करते हैं, हरिनाम और शिवनाम कीर्तन करते हैं। देवादिदेव शिव और परमात्मा विष्णुमें अभिन्न भाव रखते हैं। शिवपंचाक्षर जपते हैं, एकादशीव्रत करते हैं। गोदान करते हैं और सब कर्म केवल मेरे ही (भगवान्‌के लिये ही) करते हैं। ये सब लक्षण जिनमें हैं वे भागवतोंमें उत्तम हैं।

संन्यासी संतके सदुपदेश

(श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर श्रीस्वामी जयेन्द्रपुरीजी महाराजके सदुपदेश)

याद रक्खो! इन्द्रियोंके संयममें शान्ति एवं सुख प्रत्यक्ष है। ब्रह्मचर्य-सेवनसे कई लाभ तत्काल प्रत्यक्ष हो जाते हैं—स्मरणशक्ति, धारणाशक्ति, इच्छाशक्ति, उत्साहशक्ति, शरीरशक्ति महान् बलवती रहती है। ब्रह्मचर्यजीवन विलक्षण सौन्दर्य एवं अद्‌भुत सौगन्ध्यसे भरा रहता है। ब्रह्मचारीके प्रत्येक रोम-रोममें चमक एवं प्रफुल्लता नाचती फिरती है, उसको सारा विश्व नन्दनवनके समान नित्य नयी प्रसन्नतासे पूर्ण प्रतीत होता है। विश्वास रक्खो! इन्द्रियसंयमी कदापि रोगी नहीं होता। कहा भी है—

पथ्याशी व्यायामी स्त्रीषु जितात्मा नरो न रोगी स्यात्।

अर्थात् पथ्यसे यानी हितमितमेध्यान्नका संयमसे भोजन करनेवाला, यथाशक्य व्यायाम करनेवाला, एवं स्त्रीके विषयमें संयमी मनवाला मनुष्य कदापि रोगी नहीं हो सकता।

इधर इन इन्द्रियोंके दास एवं मनके गुलाम स्वेच्छाचारी उच्छृंखल मनुष्योंकी दुर्दशा प्रत्यक्ष देखो, आकाश-पाताल-सा अन्तर है। असंयमी मनुष्योंके मन, मस्तिष्क, हृदय एवं शरीर सड़ जाते हैं। उनके समीप अशान्ति, अस्थिरता, अस्वस्थता, दीनता, मलिनता एवं भयभीतता सदाके लिये अनिवार्यरूपसे डेरा डालकर रहती हैं। इन्द्रियोंके असंयमसे होनेवाले रोगोंको एवं दोषोंको कौन नहीं जानता? जहाँ-जहाँ असंयम वहाँ-वहाँ रोग, अशान्ति एवं दुःख। यह अव्यभिचरित व्याप्ति है। संयमविहीन जीवन शुष्क एवं पशुके समान निःसार है।

पूर्ण ब्रह्मचारी बनो। देशका, समाजका एवं आत्माका कल्याण ब्रह्मचर्यव्रतमें ही है। शुद्ध ब्रह्मचर्यमें आचार-विचारकी मलिनता कदापि नहीं होती, पूर्ण ब्रह्मचारी स्वप्नमें भी बुरे विचार नहीं करता। जबतक बुरे स्वप्न आया करते हैं, स्वप्नमें भी विकार प्रबल होता रहता है, तबतक यह मानना चाहिये कि अभी ब्रह्मचर्य बहुत ही अपूर्ण है।

ब्रह्मचर्य पालनसे मनुष्य रोग, शोक, मोह, प्रमाद, अकर्मण्यता, अकालमृत्यु, दरिद्रता, चिन्ता, हिंसा, द्वेष, ईर्ष्या, अशान्ति आदि तमाम दोषोंसे रहित हो जाता है। तमोगुण एवं रजोगुणके विकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, अभिमान आदि शत्रुओंका पराजयकर आत्मानन्दका अचल स्वाराज्य पा लेता है। ब्रह्मचर्यके विमल प्रतापसे ही मनुष्य वीर्यवान्, बलवान्, विद्वान्, तपस्वी, मनस्वी, त्यागी एवं तत्त्वविवेकी होता है। ब्रह्मचर्यमें अलौकिक दिव्य अमानुषी शक्ति है, उस शक्तिके सामने संसारको विस्मित होना पड़ता है। देशका अभ्युत्थान, एवं स्थायी अभ्युदय ब्रह्मचर्यके प्रचारसे एवं उसके पालनसे ही होगा, अन्यथा नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि—हमें अपनी इन्द्रियोंका मनमाना उपयोग करनेका पूरा अधिकार है, संयमका बन्धन लगाकर हम अपनी स्वतन्त्रतापर आक्रमण करना नहीं चाहते। परन्तु वे बुद्धिके शत्रु मूर्खलोग स्वतन्त्रताका अर्थ ही नहीं जानते। क्या इन्द्रियोंका गुलाम कभी स्वतन्त्र हो सकता है? विचार करो! स्वतन्त्र कौन है? जो संयमी है, इन्द्रियाँ जिसकी गुलाम हैं, जो इन्द्रियोंका गुलाम नहीं होता, इन्द्रियोंपर जिसका पूर्ण नियन्त्रण है, मन, वाणी एवं शरीरद्वारा जो विषयलोलुपतासे मुक्त रहता है, वही स्वतन्त्र है।

याद रक्खो! निश्चय करो!! ब्रह्मचर्यसेवन ही प्रभुप्रेम एवं आत्मज्ञानप्राप्तिका स्वच्छ राजमार्ग है। शारीरिक तितिक्षासे ब्रह्मचर्यका श्रीगणेशाय नमः यानी प्रारम्भ होता है, ब्रह्मचारीको अपनी रसना-जिह्वापर नियन्त्रण रखना अत्यन्त आवश्यक है। जीवित रहनेके लिये भोजन करना चाहिये, रसास्वादके लिये नहीं। कभी-कभी यथाशक्य उपवास भी करना चाहिये। नेत्र-चपलताका निरोध भी आवश्यक है, यानी चंचलतासे एक वस्तुसे दूसरी वस्तुपर आँखें नहीं नचाना चाहिये **'न नेत्रचपलो यतिः।'** नेत्रोंको पृथ्वीकी ओर झुकाकर चलना भी ब्रह्मचर्यका एक अंग है। ब्रह्मचारीको कदापि अश्लील-अपवित्र उत्तेजक बातें नहीं सुननी चाहिये, नहीं कहनी चाहिये एवं न पढ़नी चाहिये। किन्तु प्रतिदिन एकाग्रतासे उपनिषद्, गीता, रामायण आदि धर्मशास्त्रोंका, एवं वीर आदर्श ब्रह्मचारियोंके पवित्र चरित्रोंका पठन एवं श्रवण करना चाहिये। और ब्रह्मचर्यव्रतकी सफलताके लिये उस सर्वान्तर्यामी विश्वेश्वर प्रभुसे

हार्दिक प्रार्थना भी अवश्य करनी चाहिये।

× × × ×

केवल अपनी ही नहीं किन्तु सबकी उन्नति चाहो, सबसे निःस्वार्थ प्रेम करो, सबके प्रेमी बनो, प्रेमका असली स्वरूप निष्काम, परम पवित्र एवं स्वार्थशून्य है। भगवान्में प्रेम, संत-महात्माओंमें प्रेम, धर्ममें प्रेम, कुटुम्बमें प्रेम, नगरमें प्रेम, दीन-दुखियोंमें प्रेम, देशमें प्रेम, मानवसमाजमें प्रेम, पशु-पक्षियोंमें प्रेम, जिस ओर मनकी तरंगें दौड़ें उधर ही प्रेमकी विमल धारा प्रवाहित हो। भारतीय ऋषि-मुनियोंका-संत महात्माओंका यही उपदेश है। विश्वप्रेम एक ईश्वरीय अमोघ अस्त्र है, जिसके प्रभावसे मनुष्य तमाम संसारको अपने वशमें कर सकता है, विश्वविजयी हो सकता है।

× × × ×

याद रक्खो! सत् चित् एवं आनन्दस्वरूप एकमात्र परमात्मा है, वही जीवात्माका वास्तविक स्वरूप है। परमात्मा सर्वव्यापक, सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान्, प्रेमस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, आनन्दस्वरूप, दयालु, दीनबन्धु, भक्तवत्सल, नित्य, अनादि और अनन्त है। वह सब जगह सदा मौजूद है, इसलिये उसकी ज्ञान, प्रेम, आनन्द, प्रकाश, दया आदि दैवी शक्तियाँ भी सर्वत्र सर्वदा मौजूद हैं, इन शक्तियोंका सबमें अनुभव करो, फिर अज्ञान, द्वेष, दुःख, जड़ता, कठोरता और अन्धकार-अविवेकको जगह कहाँ? दो विरुद्ध गुण एक ही समय एक ही जगह कदापि नहीं रह सकते।

× × × ×

निश्चय करो! फूटे घड़ेमें भरे हुए जलके समान इन शरीरीकी आयु प्रतिक्षण क्षीण हो रही है, वृद्धावस्था सिंहिनीके समान समीपमें ही गर्जना कर रही है, मृत्यु सिरपर सदा नाच रही है, लक्ष्मी छायाके समान चंचल है, यौवन जलतरंगके समान क्षणभंगुर है। तमाम संसार स्वप्नके समान दृष्टनष्ट है, माता, पिता, पुत्र, भाई, स्त्री आदि बान्धवोंका सम्बन्ध धर्मशालामें एकत्र हुए पथिकोंके समान है, कोई किसीका नहीं, कुछ कालके लिये एकत्र हुए हैं, पीछे अपने-अपने भिन्न-भिन्न मार्गपर सभी लोग चल बसेंगे, रहेंगे कोई नहीं, अतः इस असार संसारके तुच्छ पदार्थोंसे अहंता-ममताको छोड़कर एकमात्र उस अचल सनातन आनन्दनिधि आत्मतत्त्वकी निरन्तर चिन्ता करनी चाहिये।

× × × ×

शिव, विष्णु आदि देवोंमें एवं रामकृष्ण आदि अवतारोंमें न्यूनाधिक भाव एवं भेद-भाव मत समझो। भगवान् आचार्य श्रीशंकरस्वामीप्रणीत विविध स्तोत्रोंको पढ़ो, उनसे निश्चय हो जायगा कि सभी देवता एवं तमाम अवतारोंका महत्त्व एक-सा ही है।

× × × ×

अथाह अमृतानन्दका शान्त समुद्र तो हृदयमें ही लहरें मार रहा है, लेकिन यह अज्ञ प्राणी ममत्वके पाशमें बद्ध हो बहिर्मुख होकर एक-एक तुच्छ बूँदके लिये व्याकुल बनकर रो रहा है, यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है। **'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्।'**

× × × ×

संत-महात्मा बनो, केवल वेष-भूषासे ही नहीं, किन्तु हृदयके समुन्नत पवित्र भावोंसे। वेष-भूषामात्रसे कोई संत-महात्मा नहीं बनता, संत-महात्मा वह है कि जिसके जीवनका प्रत्येक क्षण उस परब्रह्म परमात्माके आनन्दकी शुद्ध मस्तीमें ही व्यतीत होता हो, जिसके मानस-भवनमें शोक-मोहको ठहरनेके लिये स्थान न मिलता हो। मान हो या अपमान हो, निन्दा हो या स्तुति हो, इष्टका संयोग हो या वियोग हो, सुख हो या दुःख हो, सम्पत्ति हो या विपत्ति हो, हर हालतमें सदा सर्वथा सर्वत्र जो विशुद्ध आनन्दमें मग्न रहता है, वही संत-महात्मा है।

(प्रेषक—व्रजवासी स्वामी श्यामानन्दजी)

संत-महिमा

(लेखक—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामी भागवतानन्दजी मण्डलीश्वर, काव्यसांख्ययोगन्यायवेदवेदान्ततीर्थ, वेदान्तवागीश, मीमांसाभूषण, वेदरत्न, दर्शनाचार्य)

नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः।

(ऋग्वेद १०।१४।१५; अथर्ववेद १८।२।२)

विकराल महामोहज्वालाजालसन्तप्त प्राणी अनेक योनियोंमें भ्रमण करता हुआ भाग्यवशात् जब नरदेहको प्राप्त होता है तब इसका आवश्यक ध्येय और चरम लक्ष्य भोगविलास न होकर केवल भगवत्प्राप्ति ही

होना चाहिये। भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन 'सत्संग' है।'सत्संग' भी तभी सम्भव है जब 'सत्' 'संत' मिलें।

'सत्' शब्दके अर्थ **'सन् साधौ धीरशस्त्रयोः मान्ये सत्ये विद्यमाने'** इस मेदिनीकोषके आधारसे अनेक किये जा सकते हैं, परन्तु हमें इस प्रसंगमें 'सत्' का अर्थ 'संत' साधु पुरुष विवक्षित है।

'संत' किसको कहते हैं? 'संत' से क्या लाभ हैं? इत्यादि संतोंके सम्बन्धमें 'शास्त्र[१]' क्या कहता है? नीचे यह देखिये—

असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥

(तैत्ति० ब्रह्मवल्ली ६।४)

'ब्रह्म नहीं है ऐसा जाननेवाला 'असन्' 'असंत' है, ब्रह्म त्रिकालाबाध्य है ऐसा जाननेवाला 'संत' है।'

'आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणाः'

(महाभारत)

'आचार[२] ही धर्मका लक्षण है, सदाचारी होना ही 'संत' का लक्षण है।'

सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः॥

(महाभारत)

'सत्य ही संतोंका सदा धर्म है, सत्य ही सनातन धर्म है, संतजन सत्यको ही नमस्कार करते हैं, सत्य ही परम गति (आश्रय) है।'

आत्मन्यपि न विश्वासस्तथा भवति सत्सु यः।
तस्मात्सत्सु विशेषेण सर्वः प्रणयमिच्छति॥

(महाभारत)

'जिज्ञासु भगवत्प्रेमीजनोंका संतोंपर जितना विश्वास होता है उतना अपने ऊपर भी नहीं होता, इसी कारण बुद्धिमान् मनुष्य संतोंके साथ प्रेम करते हैं।'

सतां सदा शाश्वतधर्मवृत्तिः
सन्तो न सीदन्ति न च व्यथन्ते।
सतां सद्भिर्नाफलः सङ्गमोऽस्ति
सद्भ्यो भयं नानुभवन्ति सन्तः॥

(महाभारत)

'संत सदा धर्मका पालन करते हैं, संत घबराते नहीं तथा दुखी भी नहीं होते, संतोंका संतोंके साथ संग कभी व्यर्थ नहीं होता, संतोंसे संतोंको भय नहीं होता।'

सन्तो हि सत्येन तपन्ति सूर्यं
सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति।
सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन्
सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः॥

(महाभारत)

'संत ही अपने तपोबलसे सूर्यको सन्तापक बनाते हैं। संत ही पृथ्वीको धारण करते हैं, सबके आश्रय संत हैं, संतोंके मध्यमें संत दुखी नहीं होते।'

अलं प्रसन्ना हि सुखाय सन्तः।

(महाभारत)

'संत प्रसन्न हुए परम सुख (मोक्ष) के कारण होते हैं।'

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना-
नहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥

(विवेकचूडा० ३७)

'वसन्तऋतुके सदृश अपना किसी प्रकारका स्वार्थ न रखते हुए केवल परोपकारबुद्धिसे अन्य लोकोंके हित करनेवाले, शान्तचित्त, उदारहृदय, स्वयं भवसागरसे पार उतरे (जीवन्मुक्त) हुए, बिना स्वार्थ दूसरोंको भी भवसागरसे पार उतारनेवाले ऐसे 'संत' इस जगत्में निवास करते हैं, अतः हे जिज्ञासुजन! उनके पास जाकर अपने कल्याणके मार्गको जानो।'

सङ्गः सत्सु विधीयताम्। (साधनपंचक २)

'संतोंका संग करो।'

---

१. 'शास्त्र' पदका प्रयोग बाहुल्येन षड् दर्शनोंमें किया जाता है परन्तु 'शास्त्रयोनित्वात्' (वेदान्तदर्शन १।१।३), 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' (मीमांसादर्शन ३।७।८।१८) इत्यादि स्थलोंमें वेद आदि अर्थको भी बतलाता है; अतः श्रुति आदिका उद्धरण करना असंगत नहीं है।

२. 'आचारः प्रथमो धर्मः' (मनु० १।१०८) सदाचार ही पहला (मुख्य) धर्म है। 'यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैराचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' (वसिष्ठसंहिता ६।३) शिक्षा आदि छः अंगोंके सहित पढ़े हुए वेद भी सदाचाररहित पुरुषको पवित्र नहीं कर सकते।

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

(श्रीमद्भा० ३। २५। २५)

'जहाँ संतोंका समागम होता है वहाँ मेरे (भगवान्के) चरित्रकी हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली कथाएँ होती हैं, जिनको सुननेसे शीघ्र ही मोक्षमार्गमें श्रद्धा और प्रीति तथा भगवान्के भक्तिकी वृद्धि होती है।'

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च

(ना० भ० सू० ३९)

'महत्पुरुषों (संतों) का संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ (कभी व्यर्थ जानेवाला नहीं) है।'

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २६। ३२)

'जलमें डूबते हुए लोगोंके लिये दृढ़ नौकाके समान भयानक संसारसमुद्रमें गोते खानेवालोंके लिये ब्रह्मवेत्ता शान्तचित्त संतजन ही परम अवलम्ब (सहारा) हैं।'

कस्तरति मायां कस्तरति मायाम्? यः सङ्गांस्त्यजति, यो महानुभावान् सेवते, निर्ममो भवति।

(ना० भ० सू० ४६)

'मायाको कौन तरता* है? जो कुसंगका त्याग करता है और महानुभावों (संतों) का संग करता है, माया, मोह, आसक्तिका त्याग करता है।'

त्रीण्येव तु सतामाहुः सन्तः पदमनुत्तमम्।
न चैव द्रुह्याद्दद्यात्सत्यं चैव सदा वदेत्॥

(महाभारत)

'तीन लक्षणोंके कारण ही संतोंकी पदवी सबसे ऊँची है, १-किसीसे द्रोह नहीं करना, २-दान देना, ३-सदा सत्य बोलना।'

सर्वत्र दयावन्तः सन्तः करुणवेदिनः।
गच्छन्त्यतीव सन्तुष्टा धर्म्यं पन्थानमुत्तमम्॥

(महाभारत)

'संत सर्वत्र दयावान् तथा दयापूर्वक सबको ज्ञान देनेवाले, संतोषी रहते हुए उत्तम धर्ममें विचरते हैं, अर्थात् धर्मका अनुष्ठान करते हैं।'

सौहृदात्सर्वभूतानां विश्वासो नाम जायते।
तथा सत्सु विशेषेण विश्वासं कुरुते जनः॥

(महाभारत)

सब भूतोंमें निःस्वार्थ प्रेम होनेसे विश्वास उत्पन्न होता है, संतोंका सबसे निःस्वार्थ प्रेम होता है, अतः बुद्धिमान् मनुष्य संतोंपर विशेष विश्वास करते हैं। जो परम गोप्य हृदयका भाव जल्दी किसी प्रेमीपर भी प्रकट नहीं किया जाता वह संतोंके सामने प्रकाशित कर दिया जाता है। वैद्यके समक्ष अपना रोग प्रकाशित करनेसे उसके समूल उन्मूलन करनेकी ओषधि भी मिल सकती है।

आर्यजुष्टमिदं वृत्तमिति विज्ञाय शाश्वतम्।
सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ते प्रतिक्रियाम्॥

(महाभारत)

'संतजन यह शिष्टजनोंका परम्परागत आचरण है ऐसा समझकर प्रत्युपकारकी इच्छा न करके दूसरोंका उपकार करते हैं।'

गतिरात्मवतां सन्तः सन्त एव सतां गतिः।
असतां च गतिः सन्तो न चासन्तः सतां गतिः॥

(महाभारत)

'संत ही संयमीजनोंकी गति (आश्रय—सहारा) हैं, संत ही सत्पुरुषोंके सहारा हैं, संत ही दुष्टोंकी भी गति (अपने सदुपदेशद्वारा सन्मार्गमें लानेके कारण) हैं परन्तु असंत (दुष्टजन) संतोंकी गति नहीं हैं।'

विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः।
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः॥

(महाभारत)

विद्यामद, धनमद, सत्कुलमें उत्पन्न होनेका मद (अहंकार) ये तीन प्रकारके मद दुष्टोंमें अहंकार उत्पन्न करते हैं, परन्तु संतोंमें ये विपरीत (उलटे) हैं। 'मद' के दकारको पहले और मकारको आगे करके पढ़नेसे 'मद' 'दम' पढ़ा जाता है, अर्थात् 'मद' 'दम' होकर संतोंको शान्तिप्रद होता है, यही 'संतों' की

१. 'मायामेतां तरन्ति ते' (गीता ७। १४)
'तरति शोकमात्मवित्' (छा० उ० ७। १। ३)
इत्यादि स्मृति और श्रुतिमें 'तरति' का अर्थ बाधित (मिथ्यात्वनिश्चय) है, 'बाधो मिथ्यात्वनिश्चयः' (पंचदशी ६। १३) माया और मायाके कार्य प्रपंच (संसार) को मिथ्या (झूठा) समझना, यह झूठा है ऐसा निश्चय करना 'बाध' कहलाता है।

विशेषता है, बिना शोधा हुआ जो विष पुरुषोंके प्राणका नाशक होता है वही विष सद्वैद्यद्वारा अनेक जड़ी-बूटियोंके रससे भावित तथा शास्त्रीय पद्धत्यनुसार शोधित हुआ सन्निपातादि महारोगोंमें प्राणरक्षक सिद्ध होता है, ऐसे सद्वैद्य 'संत' हैं।

दुराचारा दुर्विचेष्टा दुष्प्रज्ञाः प्रियसाहसाः।
असन्तस्त्विति विख्याताः सन्तश्चाचारलक्षणाः॥

(महाभारत)

दुराचारी, बुरा कर्म करनेवाले, दुष्टबुद्धिवाले, दुःसाहसी 'असंत' कहलाते हैं। सदाचारसम्पन्न 'संत' कहलाते हैं।

सतां सङ्गतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम्।

(अध्यात्मरामायण ३।१०।२२)

श्रीरामचन्द्रजी शबरीसे कहते हैं कि हे शबरि! भक्तिके सब साधनोंमें श्रेष्ठ साधन 'संतों' का संग है।

क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका॥

(मोहमुद्गर १०)

भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि 'संतों' का एक क्षणका भी संग भवसागरसे पार उतारनेके लिये जहाज है।

'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम' (ऋग्वेद १।८९।९)

'भगवत्सम्बन्धी बातें कानोंसे सुनें।'

'भद्रं नो अपि वातय मनः'

(ऋग्वेद १।२०।१), (सामवेद ४।८।४)

'हे प्रभो! हमारे मनको भली बातोंकी ओर प्रेरित कीजिये।'

इत्यादि वैदिक प्रार्थना भी संतोंके संगकी ओर हमें आकृष्ट कर रही है, बिना संतोंके संगसे सद्भावनाका उत्पन्न होना असम्भव है। संतका ज्ञानी होना आवश्यक है जैसे चन्द्रमाका शीतल होना। ज्ञान ही शान्तिप्रद है अतः सर्वश्रेष्ठ है। भगवान् कृष्ण भी कहते हैं—

'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'

(गीता ४।३८)

ज्ञानके समान और कोई वस्तु पवित्र नहीं है। **'पवेः—वज्रात् संसाररूपात् त्रायते—इति पवित्रम्'** संसाररूपी वज्रसे या अज्ञानरूपी वज्रसे जो रक्षा करे उसका नाम है 'पवित्र'। यह भी पवित्रका अर्थ है। इस प्रकार ज्ञानका महत्त्व भगवान्ने प्रतिपादन किया है, वह ज्ञान यह है—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० उ० १।१४)

'यह सब चराचर ब्रह्मस्वरूप ही है।'

'इदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' (तै० आर० १०।२०)

'यह चराचर जगत् उस ब्रह्मसे पूर्ण है।'

जिसको सर्वत्र ब्रह्मात्मभाव निश्चय हो गया है, ऐसा ज्ञानी संत जो भी विचारता है, जहाँ भी इसका मन जाता है वहीं समाधि हो जाती है।

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥

(वाक्यसुधा ३)

'देह, इन्द्रिय आदिके अभिमान (अध्यास)* नष्ट होनेसे और परमात्माका ज्ञान होनेसे जहाँ-जहाँ जिस-जिस विषयमें ज्ञानीका मन प्रारब्धवशात् जाता है वहीं-वहीं भगवत्स्वरूपको देखनेसे समाधि (तन्मयता) हो जाती है।'

'संत' निवृत्तिपरायण होते हैं, इसलिये वह सदा सुखी रहते हैं—

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि॥

(संक्षेपशारीरक ३।३।६४)

'जैसे-जैसे पुरुष सांसारिक पदार्थोंसे निवृत्त होता है तैसे-तैसे वह दुःखोंसे मुक्त होता है, सबसे निवृत्त होनेसे थोड़ा भी दुःख नहीं होता है। सुरेश्वराचार्य कहते हैं—

'त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम्'

(बृहदारण्यकवार्तिक १।४)

राग आदिका त्याग ही मोक्षका साधन है। त्यागवृत्तिके कारण ही महात्माओंका विशिष्ट स्थान माना गया है। कल्याणप्रेमी सज्जनोंको संतोंके संगसे शीघ्र ही लाभ लेनेका प्रयत्न करना चाहिये। वेदमें लिखा है—

'न श्वः श्व उपासीत को हि पुरुषस्य श्वो वेद'

(शतपथ० २।१।३।९)

कल करूँगा, फिर करूँगा ऐसा नहीं कहना चाहिये, मनुष्यके कलकी कौन जानता है, कल होता है या नहीं, कल-कल करते कहीं काल ही न आ जाय। काँचके पात्रके सदृश यह क्षणभंगुर शरीर है, घड़ीकी सूईके

१. 'अध्यासो नाम—अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' (शारीरकभाष्य वेदान्तदर्शन १।१।१) जो पदार्थ जैसा है वैसा ज्ञान न होकर विपरीत होना, जैसे अनात्माको आत्मा समझना, शुक्तिको रजत समझना।

समान यह आयु जल्दी-जल्दी आ रही है। अतः—

युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम्।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति॥

(महाभारत)

जीवन अनित्य है इसलिये जवानी (जब समझे तभी) से धर्म करना शुरू कर देना चाहिये। कौन जानता है आज किसकी मृत्यु होगी, कल करूँगा फिर करूँगा ऐसे कहनेवालेका ही आज मरनेका नम्बर आ जाय, अतः '**शुभस्य शीघ्रम्**' यह स्मरण रखना चाहिये।

तुम्हारी आयुरूपी पूँजी भी तो बहुत थोड़ी है।

यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं जीवति।

(व्याकरण महाभाष्य १।१।१)

जो बहुत जीता है वह सौ वर्ष जीता है। अतः इस क्षणभंगुर जीवनको 'संतों' के संगसे शीघ्र ही सफल बना लेना चाहिये।

'साधु' 'संत' 'फकीर' फलतः एक ही अर्थवाले शब्द हैं।

फणीशभूषाङ्घ्रिनिविष्टचेताः
कीटादिषु ब्रह्ममतिप्रकाशी।
रक्षार्थभिक्षार्थविवर्णवासा
निगद्यतेऽसौ कविभिः फकीरः॥

आशुतोष शंकर आदिके भक्त, कीड़ेसे ब्रह्मातकको ब्रह्मस्वरूप जाननेवाले, शरीरकी रक्षा और भिक्षाके लिये मामूली (फैन्सी चटक-मटकवाला नहीं) वस्त्र रखनेवालेको विद्वानोंने 'फकीर' कहा है—

फिकर फाड़ कफनी करे वाका नाम फकीर।

'संसारके चिन्ताजालसे रहितका नाम 'फकीर' है।'

मैंने तो अपने बनाये हुए एक श्लोकमें 'संत' का यह लक्षण किया है—

त्रिकालाबाध्यसद्रूपपरिज्ञानान्निजात्मनः ।
सन्तो महान्त इत्युक्ता वेदवेदान्तकोविदैः॥

'त्रिकालाबाध्य ब्रह्मको अपना स्वरूप जाननेवालेको 'संत' कहते हैं।'

संतोंकी महिमा अपार है, अतः उसका पार पाना असम्भव है—

'नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्त्रिणः'

'अपनी ताकतके मुताबिक पक्षी आकाशमें उड़ते हैं।' के अनुसार कुछ शब्द 'संतों' की महिमाके सम्बन्धमें कहे हैं—

सन्तो वसन्तु सकले जगतीतलेऽस्मिन्।

यही प्रभुसे प्रार्थना है।

संतभावकी प्राप्तिमें जीवका अपना पुरुषार्थ एवं भगवत्कृपा

(श्रीअरविन्दके उपदेशोंसे संगृहीत)

जगत्‌में जितनी क्रियाएँ होती हैं उन सबके पीछे भगवान् अपनी शक्तिके द्वारा कार्य करते रहते हैं; परन्तु वे अपनी योगमायासे अपनेको आवृत किये रहते हैं और अपरा प्रकृतिमें जीवके अहंकारके द्वारा कार्य करते हैं।

योगमें भी साधक और साधनाके रूपमें भगवान् ही रहते हैं।......परन्तु जबतक साधकमें अपरा प्रकृति ही चालक है तबतक उसे अपने पुरुषार्थकी आवश्यकता रहती है।

प्रकाश और सत्यकी अवस्थाओंमें ही भगवत्कृपा अपना कार्य करती है; वे अवस्थाएँ ये हैं—

भगवान्‌के प्रति हमारा सच्चा एवं सर्वांगीण समर्पण होना चाहिये।

हमारे हृदयका द्वार सर्वथा खुला रहना चाहिये जिससे भगवान्‌की शक्तिका उसके अंदर अबाधरूपसे संचार हो सके।

जिस सत्यका प्रकाश हमारे अंदर उतर रहा है उसका हमें निरन्तर समग्ररूपसे वरण करते रहना चाहिये और मनोमय, प्राणमय तथा स्थूल अन्नमय स्तरकी जो शक्तियाँ और प्रातिभासिक रूप अब भी हमारी पार्थिव प्रकृतिपर प्रभुत्व जमाये बैठे हैं उनके मिथ्या स्वरूपका निरन्तर अथच समग्ररूपेण अपलाप करते रहना चाहिये।

(प्रेषक—पुराणीजी)

संतोंका सबसे प्रिय ग्रन्थ 'गीता'

(लेखक—गीताव्यास स्वामीजी श्रीविद्यानन्दजी)

संतोंका गुणगान

१-भरत बिनय सादर सुनिय करिय बिचार बहोरि।
करब साधुमत, लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥

साधुमत—संतमत

२-उमा संतकै इहै बड़ाई। मंद करत जे करहिं भलाई॥
३-संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन पै कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवै नवनीता। परदुख द्रवै सो संत पुनीता॥
४-प्रीति राम सो नीतिपथ, चलिय राग रिसि जीति।
तुलसी संतनके मते, इहै भगतिकी रीति॥
५-जड़ चेतन गुण दोषमय, बिश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुण गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार॥

क-संतोंके आचार्य—

जगद्गुरु श्री १०८ शंकराचार्यजी महाराज।

ख-संतोंके कवि—

गोस्वामी तुलसीदासजी।

ग-संतोंमें परमहंस—

श्रीरामकृष्ण परमहंस।

घ-संतोंका प्रिय मन्त्र—

'मामेकं शरणं व्रज'

× × × ×

यहाँ मैं थोड़ेमें यही कहूँगा कि यद्यपि संतके अनेक अर्थ होते हैं तो भी 'संत' का सर्वमान्य अर्थ है 'साधु' (और खासकर पहुँचा हुआ साधु)। और भी विचारकर देखें तो केवल विरक्त और त्यागी साधु ही नहीं, गृहस्थ और कर्मयोगी महात्मा भी संत कहे जाते हैं। और हमें यदि संतोंके गुण और लक्षण जानना है तो बालकी खाल निकालनेसे काम न चलेगा। हमें उनका गुणगान करना चाहिये और बड़े संतोंके उदाहरण लेकर उनपर विचार करना चाहिये।

यों तो देखा जाय तो संसारमें सभी जगह संतों (Saints) का प्राधान्य देख पड़ता है पर भारत तो संतों और महात्माओंकी खानि है। यहाँके प्रसिद्ध संतोंकी नामावली भी लिखने लगें तो एक (संतमाल अथवा भक्तमाल नामका) ग्रन्थ तैयार हो सकता है, अतः हम यहाँपर केवल दो-तीन भक्तोंको लेकर दो-एक बातें कहेंगे।

यदि यह देखना हो कि संत किस प्रकारके विद्वान्, विवेकी और परीक्षापटु आचार्य होते हैं तो जगद्गुरु शंकरको देखिये। ये संत ही गुण-दोष सदसत्के पहचाननेकी कसौटी होते हैं। कविकुलगुरु कालिदासने लिखा है—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा॥

अग्निके समान संत ही खरे-खोटेकी परख करते हैं। आचार्य शंकर ऐसे ही संत थे।

दूसरा गुण संतोंका है युगानुरूप भाषामें उपदेश करना। आचार्य शंकरने भी अपने युगके अनुरूप कार्य किया था पर इस बातका आदर्श हम कवि तुलसीदासको ही मानते हैं। क्योंकि कवि जनताके 'मानस' को परखता और समझता है; वह जनताकी बातोंको प्रिय शब्दोंमें कह सकता है, वही जनताके लिये अमृत दे सकता है, गोस्वामी तुलसीदासजी ऐसे ही अमृत देनेवाले अमर संत कवि थे।

तुलसीदासजीका चरित पढ़िये, उनके ग्रन्थोंको पढ़िये। आपको संत कविके सारे लक्षण एक ही स्थानमें मिल जायँगे। जिस प्रकार मध्ययुगमें आचार्य शंकरने धर्मसंस्थापन किया था उसी प्रकार अर्वाचीन युगमें धर्मका संस्थापन किया है गोस्वामी तुलसीदासने। आचार्यका ज्ञान और कविका काव्योपदेश हम देख चुके। अब यदि संतोंकी परमहंसी वृत्ति देखना हो तो रामकृष्ण परमहंसको देखिये। हमारे जगद्गुरु और गोस्वामीजीमें भी यह वृत्ति थी पर परमहंसजीमें केवल इसीका प्राधान्य था। उनका जीवन सबका जीवन था, पर उनको देखिये और उसी प्रकार रहिये, उनका कहा मानिये।

इन तीनों बड़े संतोंसे विश्वके सभी लोग परिचित हैं। अतः उनका नाम ले लेनाभर काफी है। इन तीनोंके जीवनमें संतोंके सभी गुण आ जाते हैं। अब हमारा प्रधान विषय आता है संतोंका गीतासे सम्बन्ध।

यों तो भारतके जितने बड़े-बड़े संत हुए हैं सभीने गीतापर कुछ-न-कुछ लिखा है, पर यदि विचारकर देखा जाय तो भारतके सभी सम्प्रदायों और विश्वके

सभी मतोंके महात्मा गीताके भक्त मिलेंगे। जिन लोगोंने गीताका नाम नहीं लिया है, उन्होंने भी गीताके सिद्धान्तको तो अपना मूलमन्त्र बनाया ही है, क्योंकि सभी संतोंका एक मन्त्र रहता है। 'एक बात मानो, एकका भजन करो, एककी शरण लो, बस, इतना ही जीवन है।' गीताका भी यही मन्त्र है—

'मामेकं शरणं व्रज'

केवल एक मेरी शरण लो।

इसीसे तो हम कहते हैं कि सभी संतोंका प्रिय (और एकमात्र मान्य) ग्रन्थ है गीता।

इस लेखको पढ़कर कहेंगे कि भूमिका इतनी बड़ी लिखी और मुख्य बात दो ही पंक्तियोंमें कही। बात भी ठीक है। भूमिका बड़ी होनेसे मनपर प्रभाव पड़ता है, लाभ होता है। बात तो वही साधारण बात है जो आप जानते हैं। हमने केवल उसका स्मरण दिला दिया है।

तुलसीदासका यह मत कि ज्ञान, भक्ति और कर्मका समुच्चय ही सच्ची रीति है इसे आप लोग पहलेसे जानते हैं और यही गीताका भी मत है। देखिये दोहा ऊपर दिया है।

तुलसी संतनके मते, इहै भगतिकी रीति॥

अतः यदि सभी संतोंका थोड़ेमें उपदेश पढ़ना है तो गीता पढ़िये।

बाबा रामदासजी महाराजके उपदेश

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

(१) सेवा सभी संतोंकी करनी चाहिये। सत्संग सभी संतोंका करना चाहिये। केवल एक ही संतका नहीं। परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराज भक्तिमती शबरीके प्रति कहते हैं—

प्रथम भगति संतन कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥

यहाँपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराज 'संतन' कहते हैं, एक संत नहीं। न जाने कौन-से संतके उपदेशसे अपना कल्याण हो जाय!

(२) 'कारे' नामक एक मुसलमान परमभक्त हो गये हैं। वे श्रीकृष्णके बड़े भारी भक्त थे। एक समय वे श्रीश्रीजगन्नाथजीको गये। वहाँ पहुँचनेपर श्रीभगवान् जगन्नाथजीके दर्शनार्थ वे मन्दिरमें गये। मन्दिरके पुजारियोंने मुसलमान देखकर द्वारपर ही उन्हें रोक दिया। वे भूखे-प्यासे द्वारपर पड़े रहे और भगवान्से इस प्रकार प्रार्थना करते हुए उन्होंने कहा—

मुशफक़ शफीक रफीक दिल दोस्त मेरा,
मेरे नज़दीकी हक़ीकी ख्याल कीजिये।
मेहरबान कदरदान आला तू जहान बीच,
मुझसे गरीबोंका गुनाह माफ कीजिये॥
'कारे' करार परा तेरे दरबार बीच,
अटकी है नाव अब तो ज़रा गौर कीजिये।
हिन्दूका नाथ तो हमारा कुछ दावा नहीं,
जगतका नाथ तो हमारी सुध लीजिये॥

भक्तहितकारी भगवान्से न रहा गया, उन्होंने तुरंत आकर उन्हें दर्शन दिये।

(३) साधु किसी भी मतका हो और कैसा ही हो, हमें उसकी अवश्य सेवा-शुश्रूषा कर देनी चाहिये।

(४) जब कोई श्रीभगवत्-प्रसाद पावे तो उसे कभी भी यह नहीं कहना चाहिये कि प्रसाद अच्छा बना है या इसमें नमक कम है या और कोई चीज कम है, खराब बना है। अच्छा बना है तो इसलिये नहीं कहना चाहिये कि जो चीज श्रीभगवान्को भोग लगायी गयी, उसकी प्रशंसा भला हम क्या कर सकते हैं? और खराब है या नमक कम है ऐसा इसलिये नहीं कहना चाहिये कि जो चीज श्रीभगवान्को भोग लग चुकी फिर उसमें कमी ही भला किस बातकी रह गयी?

(५) संसारके मनुष्य कैसे हैं, एक संत कहते हैं—

जोलौं ठठरी सीसपर राम राम है सत्त।
मानुष बैठ मसानमें ज्ञान कथै अलबत्त॥
ज्ञान कथै अलबत्त रहैगा रहा न कोई।
रहै रामका नाम यही जगमें खुशबोई॥
नहाय धोय कर घर चले ऐन ज्ञान भव गत्त।
जोलौं ठठरी सीसपर राम राम है सत्त॥

(६) जब हम अपना घोड़ा किसीको बेंच देते हैं तो फिर उस घोड़ेके लिये घास-दानेकी फिक्र हम नहीं करते। उसका मालिक आप ही उसे घास-दाना खिलावेगा। इसी प्रकार हमने जब अपना शरीर श्रीभगवान्के अर्पण कर दिया तो फिर हमें इसकी

फिक्र क्यों करनी चाहिये?

(७) परमात्मा भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराजके दास कभी बिगड़ते नहीं हैं। जिसने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी शरण ले ली वह भला कैसे बिगड़ सकता है? श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराज इसी सम्बन्धमें कहते हैं—

तुलसी सीताराम कह, दृढ़ राखो विश्वास।
कबहूँ बिगरत ना सुने, रामचन्द्रके दास॥

संत-परिचय

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०)

संत किसे कहते हैं, संतजीवनका वास्तविक आदर्श क्या है और बाह्य तथा आभ्यन्तरिक किन-किन लक्षणोंद्वारा संतभावका यथार्थ परिचय प्राप्त हो सकता है, इस तरहके प्रश्न बहुतोंके मनोंमें उत्पन्न हुआ करते हैं। संसार-तापसे तप्त मनुष्य नित्य आनन्द एवं पराशक्तिकी स्निग्ध छायामें विश्राम करनेके लिये सदासे ही लालायित है, परन्तु प्रवृत्तिकी ताड़ना और बाह्य वासना प्रशान्त हुए बिना चित्त अन्तर्मुख नहीं होता और इसीलिये शान्तिकी आकांक्षा होनेपर भी बाह्य मोहसे वह आकांक्षा ठीक-ठीक प्रकाशित नहीं हो सकती। जब सांसारिक भोगोंमें वैराग्य होता है और चित्त निवृत्तिमुखी होकर अन्तर्जगत्के तत्त्वकी खोजमें व्यग्र हो उठता है तब इस जगत्के रहस्यको खोलनेके लिये पथप्रदर्शक संत अथवा साधुके अन्वेषणके लिये व्याकुलता होती है। इस अवस्थामें संतका परिचय और संतके लक्षणोंको जाननेके लिये हृदयमें स्वाभाविक ही तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। यह किसी देशविशेष अथवा कालविशेषकी बात नहीं है। प्रकृतिके नियमानुसार सर्वदा और सभी देशोंमें ऐसा हुआ करता है। हम लोग बाहरी बातोंको देखकर अथवा बाहरी व्यवहारोंपर विचारकर एक साधारण मनुष्यको भी भलीभाँति नहीं समझ सकते; क्योंकि जिन जटिल शक्तियोंकी प्रेरणासे मनुष्य किसी कार्यविशेषको करता है अथवा करनेको बाध्य होता है उनका स्वरूप और प्रभाव ठीक-ठीक समझे बिना कार्य अथवा आचरणके नैतिक दायित्वके विषयमें निर्णय करना सम्भव नहीं होता। साधारण मनुष्य स्थूल अभिनिवेशमें बँधा होनेके कारण उसके कार्यका विस्तारक्षेत्र बहुत ही संकीर्ण होता है किन्तु जो महापुरुष हैं उनपर अलक्ष्य शक्तिपुञ्जका प्रभाव और भी अधिक व्यापकरूपसे पड़ा करता है अतएव उनको ठीक-ठीक समझ सकना और भी अधिक दुःसाध्य है। इसीलिये हमारे शास्त्रकारोंने लोकोत्तर महापुरुषोंके आचरणका जनसाधारणके लिये अनुकरण करना सिद्धान्त नहीं बतलाया। जिस निगूढ़ उद्देश्यकी सिद्धिके लिये एक महापुरुष किसी विशेष कार्यको करते हैं, उस कार्यके अनुकरण करनेकी चेष्टा करना एक क्षुद्रशक्ति अल्पज्ञ प्राकृत मनुष्यके लिये उपहासास्पद और हानिकारक ही होता है, अतएव संत या महापुरुष-परिचय कोई सहज बात नहीं है। जिनकी अन्तर्दृष्टि खुल गयी है, जो स्वयं संतभावपर आरूढ़ होने लगे हैं वे अवश्य ही अपनी स्वाभाविक विवेकशक्तिके द्वारा असत्से सत्को अलग करके ग्रहण कर सकते हैं। उनके लिये लक्षणनिर्देश अथवा स्वरूपवर्णनकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु साधारण मनुष्यके लिये वैसे परिचयकी नितान्त आवश्यकता प्रतीत होती है। जिनका आश्रय लेकर हम अन्धकारसे ज्योतिर्मय राज्यमें प्रवेश करना और सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं वे यदि स्वयं वैसे आधारसे सम्पन्न न हों तो उनके आश्रयसे हमारी हानिके सिवा कोई इष्टसिद्धि नहीं हो सकती।

अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे।

अन्धेको पकड़कर चलनेवाले अन्धेका पद-पदपर पतन ही होता है।

संत किसे कहते हैं? जो सत्यस्वरूप, नित्यसिद्ध वस्तुका साक्षात्कार कर चुके हैं अथवा अपरोक्षरूपसे उपलब्ध कर चुके हैं और इस उपलब्धिके फलस्वरूप अखण्ड सत्यस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो गये हैं वे ही संत हैं। सत्य ही चैतन्यस्वरूप है और चैतन्य ही आनन्दस्वरूप है अतएव यह कहना नहीं होगा कि जो सत्यमें प्रतिष्ठित हैं वे एक तरहसे सच्चिदानन्द परब्रह्ममें ही प्रतिष्ठित हैं, इसलिये जो ब्रह्मज्ञ हैं, ब्रह्मदर्शी हैं और ब्रह्मसंस्थ हैं वे ही संत हैं। आत्मा ब्रह्मसे अभिन्न है अथवा भिन्न, इस विषयपर विचार करनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है

परन्तु विकल्पभूमिमें भेद-अभेद सभीको अवस्था और आधिकारके अनुसार सत्य समझा जा सकता है। इसीके अनुसार जो ब्रह्म अथवा आत्माकी समस्त परिस्थितियोंको साक्षात्‌रूपसे जानकर तदनुरूप प्रतिष्ठित हो गये हैं वे ही संत हैं।

संतके इस प्रकार संक्षिप्त परिचयसे यह बात समझमें आती है कि आत्मा या ब्रह्मके परम भावमें स्थिति प्राप्त किये बिना यथार्थमें संतपदवाच्य नहीं हुआ जा सकता। अनन्त शक्तिशालिनी, अनन्तरूपा प्रकृतिके माहात्म्यसे बहिर्दृष्टिमें संत असंतके रूपमें दिखायी दिया करते हैं किन्तु इन बाह्य रूपोंके द्वारा संतकी सच्ची पहचान नहीं हो सकती। महापुरुषोंमें कोई जड़वत्, कोई उन्मत्तवत् और कोई कदाचारी पिशाचकी तरह जगत्‌में विचरण किया करते हैं। ऐसी अवस्थामें बाह्य दृष्टिसे संतोंके स्वरूपको पहचानना असम्भव कहा जाय तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। लौकिक व्यवहारके लिये शास्त्रोंमें साधुओंके लौकिक लक्षण भी बतलाये गये हैं परन्तु उनके द्वारा कार्यक्षेत्र कहाँतक तत्त्वनिर्णय हो सकता है इस बातको वही बतला सकते हैं जिन्होंने कभी परीक्षा की है। बौद्धग्रन्थादिमें महापुरुषोंके बत्तीस मुख्य लक्षण और चौरासी गौण लक्षण अथवा अनुव्यंजन बतलाये गये हैं, उनके सम्बन्धमें भी यह एक ही सिद्धान्त याद रखना चाहिये। जिसकी अन्तर्दृष्टि नहीं खुली है उसके लिये इन लक्षणोंका प्रयोग करना असम्भव है।

संत जीव-कोटिमें हैं या ईश्वर-कोटिमें, इस बातको लेकर आलोचना करनेसे कोई लाभ नहीं। कोई-कोई तो संतको वस्तुतः इन दोनों ही कोटियोंसे मुक्त बतलाते हैं और ऐसा कहना किसी प्रकार भी असंगत नहीं है, यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो निर्गुण परम पदमें प्रतिष्ठित हैं उनको न वस्तुतः जीव ही कह सकते हैं और न ईश्वर ही। हमारे देशके कबीर आदि निर्गुणसम्प्रदायोंमें संतका स्थान बहुत ही ऊँचा बतलाया गया है। कोई-कोई ऐसा मानते हैं कि केवल सत्य, ज्ञान और आनन्दमें स्वयं प्रतिष्ठित होना ही संतभावका पूर्ण आदर्श नहीं है, क्योंकि दूसरेके अंदर भी सत्य, ज्ञान और आनन्दका स्फुरण होना इसी आनन्दके अन्तर्गत है। अर्थात् जो स्वयं सत्यमें प्रतिष्ठित होकर भी दूसरोंको सत्यमें प्रतिष्ठित करना नहीं चाहता, नहीं कर सकता अथवा नहीं करता, वह संतका पूर्ण आदर्श नहीं है। ज्ञान और आनन्दके सम्बन्धमें भी ऐसा ही समझना चाहिये। प्रकारान्तरसे ऐसा कहा जा सकता है कि सत्य, ज्ञान और आनन्दको प्राप्त करना ही मनुष्यजीवनका चरम उद्देश्य नहीं है किन्तु उसे प्राप्त करके समस्त जगत्‌को उस सत्य, ज्ञान और आनन्दमें प्रतिष्ठित कर देना—यही मनुष्यजीवनका एकमात्र लक्ष्य है। परिच्छिन्नभावसे क्रमशः अपरिच्छिन्नकी ओर अग्रसर होना ही महापुरुषोंके जीवनका यथार्थ लक्षण है। लोकोत्तर पुरुष स्वभावके नियमानुसार अनादिकालसे इस आदर्शका अनुसरण करते आ रहे हैं और शायद अनियत कालतक करते रहेंगे। साधारण मनुष्य परिच्छिन्न फलकी इच्छा करके कर्मक्षेत्रमें अग्रसर होता है परन्तु महापुरुष स्वाभाविक ही क्रमशः आत्मविकासके अनुकूल आचरण किया करते हैं।

स्थूल, सूक्ष्म और कारणजगत् परस्पर संश्लिष्ट होनेपर भी कारणजगत्‌से ही स्थूल जगत्‌का नियन्त्रण होता है। साधारणतः अवतार आदि कारणजगत्‌से ही प्रयोजनके अनुसार स्थूलजगत्‌में अवतीर्ण हुआ करते हैं। कहना नहीं होगा कि वास्तविक संत पुरुष एक तरहसे कारणजगत्‌के निवासी-सरीखे प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः कारणसे भी अतीत हैं। कारणजगत् जीव और ईश्वरकी मिलनभूमि है। यहींसे ऐश्वरिक शक्तिकी धारा जीवके प्रयोजनकी सिद्धिके लिये अवस्थाके अनुसार प्रवाहित होती है। संतोंको ऐश्वरिक भूमिके अन्तर्गत समझनेसे उनको कारणजगत्‌के निवासी मानना पड़ता है और अनेकों कारणोंसे बहुतसे लोग इसीको ठीक बतलाते हैं। परन्तु प्रयोजनके भी ऊर्ध्वमें एकमात्र स्वाभावकी प्रेरणासे ही संतोंका जीवन नियमित होता है—इस दृष्टिसे देखनेपर संतोंको वस्तुतः कारण जगत्‌के अन्तर्गत समझना ठीक नहीं मालूम होता। स्थूल, सूक्ष्म और कारण सभी मायाचक्रके अन्तर्गत हैं, अतएव स्वभावमें स्थित मायातीत संत या महापुरुषको कारणजगत्‌के साथ सम्बन्धित न मानना ही युक्तियुक्त है। प्रकारान्तरसे संतोंके जीवनमें भी जब आत्मविकास है—यद्यपि वह विकास कर्मफलभोगकी धाराके अनुसार नहीं होता—तब मायातीत होनेपर भी वे महामायाके अन्तर्गत हैं ऐसा कहा जा सकता है और यदि एक ही पूर्ण सत्ताके

स्वाभाविक स्फुरणके अंदर महापुरुषके जीवनको मान लिया जाय तो फिर स्थूल, सूक्ष्म और कारण आदिके विचारकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती; क्योंकि पूर्णके अंदर सभी कुछ है और कुछ भी नहीं है।

जिन्होंने सत्यको उपलब्ध किया है वे समर्थ होनेपर और आवश्यक समझनेपर दूसरेको भी सत्यका उपदेश देते हैं। यह उपदेश श्रेष्ठ अधिकारीको प्रातिभ ज्ञानके रूपमें दिया जाता है। यह प्रातिभ ज्ञान अपने-आप ही हृदयमें उत्पन्न हुआ करता है। यह अनौपदेशिक ज्ञान होनेपर भी एक प्रकारसे उपदेशरूप भी है। बाह्य शब्दका आश्रय लेकर इसको अन्यत्र संचारित नहीं करना पड़ता। इस प्रकारके विशुद्ध ज्ञानके द्वारा ही हृदयका संशय सम्यक् प्रकारसे मिट जाता है। '**गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः**' इस कथनका यही तात्पर्य है। मध्यम अधिकारीको वे विशुद्ध चेतन शब्दके साथ उपदेश दिया करते हैं, इस चेतन शब्दमें इतना सामर्थ्य है कि यह कानोंमें प्रवेश करते ही मर्मस्थानमें प्रविष्ट हो जाता है और हृदयको असाधारणरूपसे आन्दोलित कर देता है। इस शब्दको सुननेके बाद बाह्य जगत्की ओर आकर्षण नहीं रह सकता। समस्त मन, प्राण और इन्द्रियाँ एकीभूत होकर प्रबल वेगसे और उद्दाम स्रोतसे अन्तरात्माके साथ मिलनेके लिये दौड़ पड़ते हैं। श्यामकी वंशीध्वनि सुनकर राधा अथवा गोपियोंका कैसा भाव होता था इस बातको वैष्णव महापुरुषोंने अपनी पदावलियोंमें कविताके द्वारा संक्षेपमें बतलाया है। तन्त्रशास्त्रके मन्त्र-चैतन्यकी व्यवस्था भी इसीलिये है; क्योंकि शब्दको चेतन किये बिना उस शब्दकी सहायतासे परब्रह्मका साक्षात्कार नितान्त असम्भव है, क्योंकि अचेतन शब्द शब्दब्रह्म नहीं कहा जा सकता। पृथिवीके सभी धर्मसम्प्रदायोंमें इस शब्दचैतन्यकी बात बड़ी गम्भीरताके साथ कही गयी है। शब्द चेतन होते ही कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो गयी, यह कहा जा सकता है। अचेतन शब्दका बार-बार जप करनेकी प्रकिया विशेषके द्वारा बहुत परिश्रमसे उसे चेतन किया जा सकता है अथवा संत-महात्मागण इच्छा करनेपर साक्षात्रूपसे चेतन शब्दका प्रयोग कर सकते हैं। यह मध्यम अधिकारीकी बात है। अधम अधिकारीको संत लोग अचेतन शब्दके द्वारा ही उपदेश दिया करते हैं पर उसके साथ ही ऐसी कोई क्रिया बतला देते हैं जिसके करनेसे वह अचेतन शब्द क्रमशः चेतन शब्दके रूपमें परिणत हो जाता है। अवस्थाविशेषमें क्रियाकौशलके बिना भी दीर्घकालके विचारादिके प्रभावसे अथवा अन्य किसी कारणसे तीव्र संघर्षवश अचेतन शब्द चेतन शब्दरूपमें प्रस्फुटित हो सकता है।

नाना प्रकारके उपायोंसे कुण्डलिनीका जागरण हो सकता है। व्यवहारभूमिमें पूर्वजन्मार्जित संस्कारोंके तारतम्यके अनुसार किसीके लिये साधन भक्ति, किसीके लिये श्रावणमननादि ज्ञानमार्गका अनुष्ठान और किसी-किसीके लिये हठयोग, मन्त्रयोग अथवा राजयोगका दीर्घकालव्यापी अभ्यास इस जागरणके अनुकूल साधन हुआ करता है। चित्तकी शुद्धि करनेवाले सभी कर्मोंको इसीके अन्तर्गत समझना चाहिये। भिन्न-भिन्न धर्मसम्प्रदायोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके अनुष्ठान और ध्यानादिका निर्देश किया गया है। तात्पर्य यह है कि किसी भी उपायसे हो जीवको मायिक, स्वप्न और सुषुप्तिसे प्रबुद्ध होकर सत्यके मार्गपर पदार्पण करना होगा। असार और असत्य प्रपंचसे चित्तको अलग करके उसे सत्यमें प्रतिष्ठित करना पड़ेगा। विक्षिप्तभूमिसे अपनी वृत्तियोंको लौटाकर एकाग्रभूमिमें स्थापित करना पड़ेगा—कुण्डलिनीचैतन्य अथवा शब्दचैतन्य करनेका यही एकमात्र पथ है। जागतिक भिन्न-भिन्न उपायोंके वैचित्र्यमें यह एक ही मार्ग दृष्टिगोचर होता है।

जबतक कुण्डलिनीरूपा महाशक्ति सत्यमार्गको ढककर घोर सुषुप्तिमें निमग्न हो रही है तबतक जीव जडभावको प्राप्त है, शिव शवरूपमें निष्क्रिय होकर अवसन्न हो रहा है; तबतक मिथ्याका प्रकोप, मायाका प्रलोभन और विचित्र प्रपंचकी मोहिनी शक्ति प्रकट होती ही रहेगी। कुण्डलिनीके जागते ही जीवकी घोर निद्रा टूट जाती है और वह अपने स्वरूप-दर्शनमें समर्थ होता है। पूर्ण जागरण होनेपर जीव जडत्वका परिहारकर शिवत्वको प्राप्त करता है अर्थात् उसकी अन्तर्निहित महाशक्ति जागृत होकर नित्य जागृत परशिवके साथ मिलनेके लिये दौड़ चलती है। अवश्य ही शिवशक्तिके इस मिलनकी पूर्णताके लिये दीर्घकालकी आवश्यकता है। एक दृष्टिसे आत्मदर्शन हुए बिना इस मिलनका सूत्रपात ही नहीं होता और दूसरी दृष्टिसे यह पूर्ण मिलन हुए बिना सम्यक् प्रकारसे आत्मदर्शन नहीं हो सकता। साधननिष्ठ पाठक कुछ विचार करेंगे तो वे इस

कथनकी सत्यताका अनुभव कर सकेंगे। शिवशक्ति मिलकर एक अद्वय ब्रह्मरूपमें प्रकाशित होनेपर ब्रह्मपथका प्रारम्भ होता है ऐसा कहा जा सकता है। इसके बाद ही असंख्य विचित्र अवस्थाओंमें होते हुए आगे चलकर भगवान्‌की अप्राकृत नित्यलीलामें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त होता है। इस लीलामें ही लीलासे अतीत, निरंजन और निष्कल तत्त्वका अथवा तत्त्वातीतका सन्धान आभासरूपसे प्राप्त होता है। इस अवस्थाका वर्णन असम्भव है।

एक अखण्ड ब्रह्मको क्रमविकासके नियमानुसार देखनेपर उसकी पहले सत्यरूपमें फिर चिद्घनरूपमें और अन्तमें आनन्दमय सत्ताके रूपमें उपलब्धि होती है। कुण्डलिनीजागरणके फलस्वरूप जिस नित्य सत्ताकी प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और जिससे किसी भी कारणसे वस्तुतः च्युत होनेकी सम्भावना नहीं रहती, उसीको सत्यमें स्थिति समझना चाहिये। साधक इस अवस्थामें शान्तपदपर प्रतिष्ठित होकर देख पाता है कि वह घोर कल्लोलमय अनन्त प्रसारित मायातरंगके उच्च स्थानपर स्थित हो रहा है। इस अवस्थाकी प्राप्तिके साथ-ही-साथ आत्मदर्शनकी सूचना होनेके कारण चैतन्यभावका उन्मेष होता रहता है, तदनन्तर शिवशक्तिके मिलनकी अवस्थासे ही आनन्दका सूत्रपात होता है। शिवशक्तिका मिलन पूर्ण होकर जो ब्रह्मभावमें प्रतिष्ठा होती है, लौकिक भाषामें उसीको ब्रह्मानन्द कहा जा सकता है। इसके बाद नित्यलीला और निरंजनपद हैं जो प्राकृतिक बुद्धिसे सर्वथा अगोचर होनेके कारण वर्णन करनेयोग्य नहीं।

जो साधनबलसे, पूर्वपुण्यके प्रभावसे और सद्गुरुके कृपाकटाक्षसे इन सारे स्तरोंको भेदकर परमभावको प्राप्त हो गये हैं और अहैतुकी करुणाके द्वारा निरन्तर जगत्‌का कल्याण करनेमें लगे हुए हैं वे ही संत या साधु हैं। इस पदकी तुलनामें बड़े-बड़े देवताओंका पद भी अति तुच्छ समझा जाता है। अतएव बाहरी अथवा भीतरी किसी भी लक्षणके द्वारा वास्तविक सत्पुरुषका यथार्थ परिचय नहीं मिल सकता।

हाँ! एक बात है, शिशु जैसे शास्त्र बिना पढ़े भी और दूसरेके द्वारा वर्णन बिना सुने भी सहज ज्ञानसे अपनी गर्भधारिणी जननीको पहचान सकता है वैसे ही जब हृदयमें सत्यके लिये प्रबल पिपासा जाग उठती है तब सहज ही सत्यका परिचय प्राप्त हो जाता है। उसके लिये शास्त्रीय लक्षणोंसे मिलान करनेकी आवश्यकता नहीं होती। जो जिज्ञासु नहीं है वह जैसे ज्ञानका अधिकारी नहीं, वैसे ही जिसके हृदयमें सत्यके लिये बड़ी भारी प्यास नहीं लगी वह भी सत्यको नहीं पहचान सकता। जो यथार्थ ही व्याकुल होकर सत्यकी खोज करता है, सत्यस्वरूप भगवान् उसके सामने कभी छिपकर नहीं रहते। वे उसके अधिकारानुसार उसके सामने अपने स्वरूपको खोल देते हैं और वह स्वाभाविक ज्ञानके प्रभावसे उनको पहचान लेता है और सदाके लिये धन्य हो जाता है।

संत

(लेखक—महात्मा श्रीबालकरामजी विनायक)

संत किसे कहते हैं? इसका समुचित उत्तर श्रीमुखवचन ही है—

बिषय-अलंपट सील गुनाकर। पर-दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूत रिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमल चित दीनन्हपर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहिं मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम तेइ प्रानी॥
बिगत काम मम नामपरायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मयित्री। द्विजपद प्रीति धरम-जनयित्री॥
सम-दम-नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

निंदा अस्तुति उभय सम, ममता मम पदकंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय, गुन मन्दिर सुखपुंज॥

यह उपदेश स्वयं भगवान्‌ने चतुर्व्यूहकोटिके परम संत श्रीभरतजीको दिया है। इसीसे इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है। इसमें जिन दिव्य गुणोंका उल्लेख हुआ है वे भगवदीय हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि संत और भगवन्त एक ही हैं। इनमें कुछ अन्तर नहीं है। एक और परिभाषा है जिसमें कुछ अन्तर बतलाया गया है! उसे भी सुनिये—

रोड़ा होरहु बाटका, तजि ममता अभिमान।
यही वेदका सार है, यही ज्ञान-विज्ञान॥
रोड़ा हुआ तो क्या हुआ, पंथीको दुख देह।
साधु ऐसा चाहिये, ज्यों जंगलका खेह॥

खेहौ हुआ तो क्या हुआ, उड़ि-उड़ि लागत अंग।
साधू ऐसा चाहिये, ज्यों पानीका रंग॥
पानी हुआ तो क्या हुआ, तात सीर हो जाय।
साधू ऐसा चाहिये, हरिमें रहे समाय॥
हरिहू हुआ तो क्या हुआ, हरिसे सब कुछ होय।
साधू ऐसा चाहिये, जाते कछू न होय॥

उपर्युक्त पद्यमें जो अन्तर बताया गया है उससे आत्मसमर्पण, तल्लीनता एवं संतके तत्सुखभावका परिचय मिलता है, जिससे अन्तरको गौणता प्राप्त होती है। अब प्रसिद्ध प्रकाण्ड विद्वान् श्रीदेवतीर्थस्वामीजी (श्रीकाष्ठजिह्वस्वामी)-की उक्ति सुनिये और विचार कीजिये। आप कहते हैं—

अनगढ़ मत है पूरोंका यहाँ न काम धतूरोंका।
कचड़ा औ मटमैला रस्ता झूठे कायर कूरोंका॥
निर्भय, साफ, अमीरी रस्ता सच्चे साहेब शूरोंका।
मुश्किल अगम पंथका चलना जैसे खाँड़े छूरोंका॥
अजगैबी यह मता बनाया भेदिया चकना-चूरोंका।
जप-तप करके स्वर्ग कमाया सो तो काम मजूरोंका॥
करना सही न लेना कुछ भी बाना झाँखर-झूरोंका।
बड़ो 'देव' गादी जब पाई तब क्या ढोना घूरोंका॥
मस्त हुआ जब अनहद सुनके तब क्या सुनना तूरोंका॥

'पूर्ण पुरुषोंका अर्थात् संतोंका मत अनगढ़ है, किसीने इसको गढ़ा नहीं, किसीने इसे नियम, आचार-पद्धति आदिसे जकड़कर, खरादपर खरादकर तैयार नहीं किया है। यहाँ वंचकोंका, ठगोंका, धतूरेबाज धूर्तोंका काम नहीं है। कायर, क्रूर एवं मिथ्यावादियोंका मार्ग कीचड़से पटा हुआ है। इसके विपरीत सत्पुरुषोंका, वीरोंका एवं मनसमेत इन्द्रियोंके स्वामियोंका मार्ग ही राजमार्ग है, भय और बाधासे रहित है, स्वच्छ है। इस अगम्य मार्गपर चलना तलवारकी धारपर चलनेके समान है अर्थात् अत्यन्त कठिन है। इस संतमतको, इस भागवत-धर्मको अजगैबी पुराणपुरुष स्वयं भगवान्ने ही संतरूपसे अर्थात् नारायण-ऋषिके रूपसे तपस्यापूर्वक प्रचलित किया है और इसके भेदिया अर्थात् रहस्य-ज्ञाता ऐसे लोग हैं जो उसी आनन्दमें मस्त हैं, चकनाचूर हैं, अपने अस्तित्वको भी मिटा चुके हैं। जप-तप करनेसे यदि किसीको स्वर्गकी प्राप्ति हो भी गयी तो उसको कुछ महत्त्व नहीं दिया जा सकता; क्योंकि यह तो मजदूरकी मजदूरी हुई। ***'जो जस करै सो तस फल चाखा।'*** कर्मकी प्रधानता हुई परन्तु झाँखर-झूरे खरे संतोंका बाना तो यह है कि करेंगे सही (जप-तप सब कृत्य करेंगे) किन्तु लेंगे कुछ नहीं, कर्मफलका त्याग करेंगे। ठीक ही है, जब ऊँची गादी प्राप्त हो गयी, निष्काम सन्तोषके तख्तपर, राजसिंहासनपर अभिषिक्त हो चुके तब कूड़ा ढोनेका काम क्यों किया जाय? जब अनाहत संगीत सुनकर मस्त हो गये तब नफीरीकी तान कौन सुनता है?'

संतलक्षणपरक एक प्राचीन श्लोक सुनिये—

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मान्यशून्यता।
आशाबद्धसमुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावांकुरे जने॥

ख़ुदाका इश्क़ जिसके मजरए दिलमें जमा होगा।
तमा व हिर्सके ख़ासाकसे वइ दिल सफ़ा होगा॥
ग़ज़बसे और तकब्बुरसे है उसको एक क़लम नफ़रत।
ख़याले वस्फ़े जानाँसे नहीं एकदम उसे फ़ुरसत॥
है उल्फ़त कूये-जानाँसे, ज़बाँपर नाम है उसका।
उम्मीदे वस्लमें जीना, यही बस काम है उसका॥

संत ही सृष्टिके आधार हैं। यदि कल्पके आदिमें सप्तर्षि न हों तो सृष्टिका उपक्रम और उपसंहार सम्पन्न नहीं हो सकता। इसीसे यह नियम है कि प्रत्येक देश एवं कालमें संतका होना आवश्यक है। यहाँतक कि तीर्थस्थानोंमें विशेषरूपसे एवं नगरोंमें सामान्यरूपसे, गुप्त या प्रकट, किसी भी वेष-भूषामें संतोंकी उपस्थिति मानी जाती है। फ़कीरी मुहाविरेमें उन्हें 'कुतुब' कहते हैं। उन्हींपर लोककल्याण निर्भर है। जैसे समुद्र-मन्थन-कार्यको सम्पन्न करनेके लिये भगवान्ने कच्छपरूप धारण किया था, उसी तरह लोक-कल्याणके हेतु सर्वत्र सर्वकालमें भगवान्ने ही संतरूप धारण किया है। सृष्टिके आदिहीमें स्वयं भगवान्ने ही संतरूप नारायण ऋषि होकर घोर तप किया है। अस्तु, पृथिवीके धारण और पारणके निमित्त संत सर्वदेश तथा सर्वकालमें पाये जाते हैं। भगवान्से भिन्न उनकी स्थिति ही नहीं। और उनका हृदय छोड़कर और कोई पवित्र स्थान भी उनके अवस्थानके लिये नहीं है। संत और भगवन्त सर्वथा एक एवं अभिन्न होते हुए भी प्रेम-राज्यमें द्वैतभाव धारण करते हैं और परस्पर सखा होकर प्रेम-लीला सम्पादन करते हैं। भगवान् और भक्तके बीच सख्यभावकी एक घटनात्मक नोक-झोंक देखिये—

बैठे अहमदशाह तरुतले मौजसे थे,
कम्बलका टोप सुविचित्र दिये शीशपर।
देख अटपट वेष, कौतूहलवश होके,
बोले हरि 'शाहजी' बेचोगे टोप मेरे कर?''
कहा अहमदजीने, 'हई क्या तुम्हारे पास,
लोक-परलोक सुख-सम्पदाको छोड़कर।
चाहिये न सो मुझे, बने हो बड़े ख़रीदार,
चले, मनचले! हो ख़रीदने कुलाह वर॥'
बोले क्रीड़ाशील भक्तभावन कृपालु देव,
'करो अविनय न अहमद इस प्रकार।
नहीं तो, मैं कह दूँगा, सर्वहृदि-वासी हूँ मैं,
कोई भी महात्मा न कहेगा तुमको पुकार॥'
'करुणाकी ख्याति, तो तुम्हारी मैं भी, कर दूँगा,'
बोले शाह, 'कोई न भजेगा तुमको उदार।'
कहा, हार हरिने, न तुम कहो मेरी, और,
मैं भी न तुम्हारे प्रतिकूल करूँगा प्रचार॥'

'ऊ नवाज़े अजबे, मन बन्याज़े अजबे'—

वह छल और प्रणयकोप करनेमें विलक्षण और अद्वितीय है, तो मैं उसपर बलिहार और न्योछावर होनेमें अद्वितीय और अद्भुत हूँ। यद्यपि भगवान् सबके हैं, तथापि मुख्यतः वे भक्तोंके ही हैं। जो जिसे छोड़ और कुछ भी नहीं चाहता और उसे सब कुछ त्याग करके भी चाहता है, तो वह पूर्णतया उसका हो जायगा, इसमें सन्देह ही क्या? भागवत अथवा संतजन भगवान्के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते। लोक-परलोकके वैभव-विलासकी ओर तो वे फूटी आँखों भी नहीं देखते। मोक्ष भी नहीं चाहते। वे केवल भगवत्को चाहते हैं, भगवत्त्वको नहीं, भगवान्के ऐश्वर्यको नहीं। अतः असल तत्त्वको उन्हींने पाया। ये राजारामको चाहते हैं, उनके राज्य और राज्यांग (कोष आदि)-को नहीं। इससे वह राजा ही उनका हो जाता है, उसपर उनका पूर्णाधिकार एवं स्वत्वाधिकार हो जाता है। वह उनके स्वाधीन हो जाता है। महात्मा अहमदशाह ऐसे ही संत थे। उनकी वाणीसे भी उनकी अनन्य भगवत्परायणता और उत्कृष्ट प्रेमिकता टपकती है—

काह करिय वैकुंठ लै कलप-बृच्छकी छाँह।
'अहमद' ढाक सुहावनो, जौं पीतम-गल बाँह॥
'अहमद' चिनगी प्रेमकी, सुनि महि-गगन डेराय।
धनि बिरहिन औ धनि हिया, जहँ वह आग समाय॥

धन्य है ऐसे पर प्रेमी संतोंको!

संत-महिमा

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

संतभावकी प्राप्ति भगवत्कृपासे होती है

संसारमें संतोंका स्थान सबसे ऊँचा है। देवता और मनुष्य, राजा और प्रजा सभी सच्चे संतोंको अपनेसे बढ़कर मानते हैं। संतका ही जीवन सार्थक होता है। अतएव सभी लोगोंको संतभावकी प्राप्तिके लिये भगवान्की शरण होना चाहिये। यहाँ एक प्रश्न होता है कि 'संतभावकी प्राप्ति प्रयत्नसे होती है या भगवत्कृपासे अथवा दोनोंसे? यदि यह कहा जाय कि वह केवल प्रयत्नसाध्य है तो सब लोग प्रयत्न करके संत क्यों नहीं बन जाते? यदि कहें कि भगवत्कृपासे होती है तो भगवत्कृपा सदा सबपर अपरिमित है ही, फिर सबको संतभावकी प्राप्ति क्यों नहीं हो जाती? दोनोंसे कही जाय तो फिर भगवत्कृपाका महत्त्व ही क्या रह गया, क्योंकि दूसरे प्रयत्नोंके सहारे बिना केवल उससे भगवत्प्राप्ति हुई नहीं?' इसका उत्तर यह है कि भगवत्प्राप्ति यानी संतभावकी प्राप्ति भगवत्कृपासे ही होती है। वास्तवमें भगवत्प्राप्त पुरुषको ही संत कहा जाता है। 'सत्' पदार्थ केवल परमात्मा है और परमात्माके यथार्थ तत्त्वको जो जानता है और उसे उपलब्ध कर चुका है वही संत है। हाँ, गौणी वृत्तिसे उन्हें भी संत कह सकते हैं जो भगवत्प्राप्तिके पात्र हैं, क्योंकि वे भगवत्प्राप्तिरूप लक्ष्यके समीप पहुँच गये हैं और शीघ्र उन्हें भगवत्प्राप्तिकी सम्भावना है।

इसपर यह शंका होती है कि जब परमात्माकी कृपा सभीपर है तब सभीको परमात्माकी प्राप्ति हो जानी चाहिये परन्तु ऐसा क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि यदि परमात्माकी प्राप्तिकी तीव्र चाह हो और भगवत्कृपामें विश्वास हो तो सभीको प्राप्ति हो सकती है। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति चाहते ही कितने मनुष्य हैं, तथा परमात्माकी कृपापर विश्वास ही कितनोंको है?

जो चाहते हैं और जिनका विश्वास है उन्हें प्राप्ति होती ही है। यदि यह कहा जाय कि परमात्माकी प्राप्ति तो सभी चाहते हैं, तो यह ठीक नहीं है; ऐसी चाह वास्तविक चाह नहीं है। हम देखते हैं जिसको धनकी चाह होती है वह धनके लिये सब कुछ करने तथा इतर सबका त्याग करनेको तैयार हो जाता है, इसी प्रकारकी भगवत्प्राप्तिकी तीव्र चाह कितनोंको है? धन तो चाहनेपर भी प्रारब्धमें होता है तभी मिलता है, प्रारब्धमें नहीं होता तो नहीं मिलता। परन्तु भगवान् तो चाहनेपर अवश्य मिल जाते हैं, क्योंकि भगवान् धनकी भाँति जड नहीं हैं। जड धन हमारी चाहके बदलेमें वैसी चाह नहीं कर सकता, परन्तु भगवान् तो, जो उनको चाहता है, उसको स्वयं चाहते हैं, और यह निश्चित सत्य है कि भगवान्‌की चाह कभी निष्फल नहीं होती, वह अमोघ होती है। अतएव भगवान्‌की चाहसे बिना ही प्रयत्न किये भक्तकी चाह अपने-आप पूर्ण हो जाती है। पर इतना स्मरण रखना चाहिये कि भक्तके चाहनेपर ही भगवान् उसे चाहते हैं। यदि यह कहें कि भक्तके बिना चाहे भगवान् क्यों नहीं चाहते? तो इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌में वस्तुतः 'चाह' है ही नहीं, भक्तकी चाहसे ही उनमें चाह पैदा होती है। इसपर यह शंका है कि जब भक्तकी चाहसे ही भगवान्‌में चाह होकर भगवान् मिलते हैं तब केवल भगवत्कृपाकी प्रधानता कहाँ रही? चाह भी तो एक प्रयत्न ही है? इसका उत्तर यह है कि—भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छामात्रको प्रयत्न नहीं कहा जा सकता। और यदि इसीको प्रयत्न मानें तो इतना प्रयत्न तो अवश्य ही करना पड़ता है। परन्तु ध्यान देकर देखनेसे मालूम होगा कि इच्छा करनेमात्रसे प्राप्त होनेवाले एक श्रीभगवान् ही हैं। दुनियामें लोग नाना प्रकारके पदार्थोंकी इच्छा करते हैं परन्तु इच्छा करनेसे ही उन्हें कुछ नहीं मिलता। इच्छा हो, प्रारब्धका संयोग हो और फिर प्रयत्न हो तब कहीं कोई भौतिक पदार्थ मिलता है पर भगवान्‌के लिये तो इच्छामात्रसे ही काम हो जाता है। इच्छा करनेपर जो प्रयत्न होता है वह प्रयत्न तो भगवान् स्वयं करा लेते हैं। साधक तो केवल निमित्तमात्र बनता है। अर्जुनसे भगवान्‌ने कहा—'ये सब मेरेद्वारा मारे हुए हैं तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा।' (गीता ११। ३३) इसी प्रकार अपनी प्राप्तिरूप कार्यकी सिद्धिमें भी सब कुछ भगवान् ही कर लेते हैं। इच्छा करनेवाले भक्तको केवल निमित्तमात्र बनाते हैं। जो लोग भगवत्प्राप्तिको अपने पुरुषार्थसे सिद्ध होनेवाली मानते हैं, उनको भगवान् दर्शन नहीं देते। हाँ, उन्हें बड़ी कठिनाईसे ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है परन्तु उसमें भी गुरुकी शरण तो ग्रहण करनी ही पड़ती है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'उन तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे भली प्रकार दण्डवत्-प्रणाम, सेवा और निष्कपटभावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान। वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझको उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

श्रुति कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया,
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

(कठ० १। ३। १४)

'उठो, जागो और महान् पुरुषोंके समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार छुरेकी धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी लोग उस पथको भी वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं।'

भगवत्प्राप्तिमें अपना पुरुषार्थ माननेको कारण—अहंकाररूपी दोष है। भक्तके इस अहंकार-दोषको नष्ट करनेके लिये भगवान् उसे भीषण संकटमें डालकर यह बात प्रत्यक्ष दिखला देते हैं कि कार्यसिद्धिमें अपनी सामर्थ्य मानना मनुष्यकी एक बड़ी गलती है। इस प्रकार अहंकारनाशके लिये जो विपत्तिमें डालना है, यह भी भगवान्‌की विशेष कृपा है। केनोपनिषद्में एक कथा है—इन्द्र, अग्नि, वायु देवोंने विजयमें अपने पुरुषार्थको कारण समझा, इसलिये उन्हें गर्व हो गया। तब भगवान्‌ने उनपर कृपा करके यक्षके रूपमें अपना परिचय दिया और उनके गर्वका नाश किया। जब अग्नि-वायु देवता परास्त हो गये और यह समझ गये कि हमारे अंदर वस्तुतः कुछ भी सामर्थ्य नहीं है, तब भगवान्‌ने विशेष दया करके उमाके द्वारा इन्द्रको अपना यथार्थ परिचय दिया। सफलतामें अपना पुरुषार्थ मानकर मनुष्य गर्व करता है परन्तु अनिवार्य विपत्तिमें जब वह अपने पुरुषार्थसे निराश हो जाता है तब निरुपाय होकर

भगवान्के शरण जाता है और आर्त होकर पुकार उठता है—'नाथ! मुझे इस घोर संकटसे बचाइये। मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। मैं जो अपने बलसे अपना उद्धार मानता था, वह मेरी भारी भूल थी। राग-द्वेष और काम-क्रोधादि शत्रुओंके दबानेसे अब मुझे इस बातका पूरा पता लग गया कि आपकी कृपाके बिना मेरे लिये इनसे छुटकारा पाना कठिन ही नहीं, वरं असम्भव-सा है।' जब अहंकारको छोड़कर इस तरह सरल भावसे और सच्चे हृदयसे मनुष्य भगवान्के शरण हो जाता है तब भगवान् उसे अपना लेते हैं और आश्वासन देते हैं, क्योंकि भगवान्की यह घोषणा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

'जो एक बार भी मेरे शरण होकर कहता है, मैं तुम्हारा हूँ, (तुम मुझे अपना लो) मैं उसे सब भूतोंसे अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।' इसपर भी मनुष्य उनके शरण होकर अपना कल्याण नहीं करता, यह बड़े आश्चर्यकी बात है!

दयासागर भगवान्की जीवोंपर इतनी अपार दया है कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं। वस्तुतः उन्हें दयासागर कहना भी उनकी स्तुतिके व्याजसे निन्दा ही करना है। क्योंकि सागर तो सीमावाला है, परन्तु भगवान्की दयाकी तो कोई सीमा ही नहीं है। अच्छे-अच्छे पुरुष भी भगवान्की दयाकी जितनी कल्पना करते हैं वह उससे भी बहुत ही बढ़कर है। उसकी कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। कोई ऐसा उदाहरण नहीं जिसके द्वारा भगवान्की दयाका स्वरूप समझाया जा सके। माताका उदाहरण दें तो वह भी उपयुक्त नहीं है। कारण, दुनियामें असंख्य जीव हैं और उन सबकी उत्पत्ति माताओंसे ही होती है, उन सारी माताओंके हृदयोंमें अपने पुत्रोंपर जो दया या स्नेह है, वह सब मिलकर भी उन दयासागरकी दयाके एक बूँदके बराबर भी नहीं है। ऐसी हालतमें और किससे तुलना की जाय? तो भी माताका उदाहरण इसीलिये दिया जाता है कि लोकमें जितने उदाहरण हैं, उन सबमें इसकी विशेषता है। माता अपने बच्चेके लिये जो कुछ भी करती है, उसकी प्रत्येक क्रियामें दया भरी रहती है। इस बातका बच्चेको भी कुछ-कुछ अनुभव रहता है। जब बच्चा शरारत करता है तो उसके दोषनिवारणार्थ माँ उसे धमकाती-मारती है और उसको अकेला छोड़कर कुछ दूर हट जाती है। ऐसी अवस्थामें भी बच्चा माताके ही पास जाना चाहता है। दूसरे लोग उससे पूछते हैं—'तुम्हें किसने मारा?' वह रोता हुआ कहता है 'माँने।' इसपर वे कहते हैं 'तो आइन्दा उसके पास नहीं जाना।' परन्तु वह उनकी बातपर ध्यान न देकर रोता है और माताके पास ही जाना चाहता है। उसे भय दिखलाया जाता है कि 'माँ तुझे फिर मारेगी।' पर इस बातका उसपर कोई असर नहीं होता, वह किसी भी बातकी परवा न करके अपने सरल भावसे माताके ही पास जाना चाहता है। रोता है, परन्तु चाहता है माताको ही। जब माता उसे हृदयसे लगाकर उसके आँसू पोंछती है, आश्वासन देती है, तभी वह शान्त होता है। इस प्रकार माताकी दयापर विश्वास करनेवाले बच्चेकी भाँति जो भगवान्के दया-तत्त्वको जान लेता है और भगवान्की मारपर भी भगवान्को ही पुकारता है, भगवान् उसे अपने हृदयसे लगा लेते हैं। फिर जो भगवान्की कृपाको विशेषरूपसे जान लेता है, उसकी तो बात ही क्या है?

लड़का नीचेके तल्लेसे ऊपरके तल्लेपर जब चढ़ना चाहता है तो माता उसे सीढ़ियोंके पास ले जाकर चढ़नेके लिये उत्साहित करती है। कहती है—'बेटा! चढ़ो, गिरोगे नहीं मैं साथ हूँ न? लो, मैं हाथ पकड़ती हूँ।' यों साहस और आश्वासन देकर उसे एक-एक सीढ़ी चढ़ाती है, पूरा खयाल रखती है, कहीं गिर न जाय; जरा-सा भी डिगता है तो तुरंत हाथका सहारा देकर थाम लेती और चढ़ा देती है; बच्चा जब चढ़नेमें कठिनाईका अनुभव करता है तब माँकी ओर ताककर मानो इशारेमें माँकी मदद चाहता है। माँ उसी क्षण उसे अवलम्बन देकर चढ़ा देती है और पुनः उत्साह दिलाती है। बच्चा कहीं फिसल जाता है तो माँ तुरंत उसे गोदमें उठा लेती है, गिरने नहीं देती। इसी प्रकार जो पुरुष बच्चेकी भाँति भगवान्पर निर्भर करता है, भगवान् उसकी उन्नति और रक्षाकी व्यवस्था स्वयं करते हैं, उसे तो केवल निमित्त बनाते हैं। सांसारिक माता तो कदाचित् असावधानी और सामर्थ्यके अभावसे या भ्रमसे गिरते हुए बच्चेको न भी बचा सके परन्तु वे सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ प्रभु तो अपने आश्रितको कभी गिरने देते ही नहीं। वरं उत्तरोत्तर उसे सहायता देते हुए, एक-एक सीढ़ी चढ़ाते हुए सबसे ऊपरके तल्लेपर, जहाँ

पहुँचना ही जीवका अन्तिम ध्येय है, पहुँचा ही देते हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रयत्न भगवान् ही करते हैं, भक्तको तो केवल इच्छा करनी पड़ती है, और उसीसे भगवान् उसे निमित्त बना देते हैं। बच्चा कभी अभिमानवश यह सोचता है कि मैं अपने ही पुरुषार्थसे चढ़ता हूँ तब माता कुछ दूर हटकर कहती है, 'अच्छा चढ़।' परन्तु सहारा न पानेसे वह चढ़ नहीं सकता। गिरने लगता है, तब माता दौड़कर उसे बचाती है। इसी प्रकार अपने प्रयत्नका अभिमान करनेवाला भी गिर सकता है। परन्तु यह ध्यान रहे, भगवान्‌की कृपाका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि मनुष्य सब कुछ छोड़कर हाथ-पर-हाथ धरकर बैठ जाय, कुछ भी न करे। ऐसा मानना तो प्रभुकी कृपाका दुरुपयोग करना है। जब माता बच्चेको ऊपर चढ़ाती है, तब सारा कार्य माता ही करती है, परन्तु बच्चेको माताकी आज्ञानुसार चेष्टा तो करनी ही पड़ती है। जो बच्चा माँकी इच्छानुसार चेष्टा नहीं करता या उससे विपरीत करता है उसको माता उसके हितार्थ डराती-धमकाती है तथा कभी-कभी मारती भी है।

इस मारमें भी माँके हृदयका प्यार भरा रहता है, यह भी उसकी परम दयालुता है। इसी प्रकार भगवान् भी दयापरवश होकर समय-समयपर हमको चेतावनी देते हैं। मतलब यह कि जैसे बच्चा अपनेको और अपनी सारी क्रियाओंको माताके प्रति सौंपकर मातृपरायण होता है, इसी प्रकार हमें भी अपने-आपको और अपनी सारी क्रियाओंको परमात्माके हाथोंमें सौंपकर उनके चरणोंमें पड़ जाना चाहिये। इस प्रकार बच्चेकी तरह परम श्रद्धा और विश्वासके साथ जो अपने-आपको परमात्माकी गोदमें सौंप देता है वही पुरुष परमात्माकी कृपाका इच्छुक और पात्र समझा जाता है और इसके फलस्वरूप वह परमात्माकी दयासे परमात्माको प्राप्त हो जाता है। सारांश यह कि परमात्माकी प्राप्ति परमात्माकी दयासे ही होती है; दयाकी प्रधानता नहीं, दया ही एकमात्र कारण है। परन्तु यह दया मनुष्यको अकर्मण्य नहीं बना देती। परमात्माकी दयासे ही ऐसा परम पुरुषार्थ बनता है। जीवका अपना कोई पुरुषार्थ नहीं, वह तो निमित्तमात्र होता है।

संतकी विशेषता

उपर्युक्त दयासागर भगवान्‌की दयाके तत्त्व और रहस्यको यथार्थ जाननेवाला पुरुष भी दयाका समुद्र और सब भूतोंका सुहृद् बन जाता है। भगवान्‌ने कहा है— '**सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।**' इस कथनका रहस्य यही है कि दयामय भगवान्‌को सब भूतोंका सुहृद् समझनेवाला पुरुष उस दयासागरके शरण होकर निर्भय हो जाता है तथा परम शान्ति और परमानन्दको प्राप्त होकर स्वयं दयामय बन जाता है। इसलिये भगवान् ठीक ही कहते हैं कि मुझको सबका सुहृद् समझनेवाला शान्तिको प्राप्त हो जाता है। ऐसे भगवत्प्राप्त पुरुष ही वास्तवमें संत-पदके योग्य हैं। ऐसे संतोंको कोई-कोई तो विनोदमें भगवान्‌से भी बढ़कर बता दिया करते हैं। तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥
मोरे मन प्रभु अस बिसवासा। रामते अधिक रामकर दासा॥

'भगवान् समुद्र हैं तो संत मेघ हैं, भगवान् चन्दन हैं तो संत समीर (पवन) हैं। इस हेतुसे मेरे मनमें ऐसा विश्वास होता है कि रामके दास रामसे बढ़कर हैं।' दोनों दृष्टान्तोंपर ध्यान दीजिये! समुद्र जलसे परिपूर्ण है, परन्तु वह जल किसी काममें नहीं आता। न कोई उसे पीता है औन उससे खेती ही होती है। परन्तु बादल जब उसी समुद्रसे जलको उठाकर यथायोग्य बरसाते हैं तो केवल मोर, पपीहा और किसान ही नहीं—सारे जगत्‌में आनन्दकी लहर बह जाती है। इसी प्रकार परमात्मा सच्चिदानन्दघन सब जगह विद्यमान हैं, परन्तु जबतक परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले भक्तजन उनके प्रभावका सब जगह विस्तार नहीं करते, तबतक जगत्‌के लोग परमात्माको नहीं जान सकते। जब महात्मा संत पुरुष सर्वसद्‌गुणसागर परमात्मासे समता, शान्ति, प्रेम, ज्ञान आदि गुण लेकर बादलोंकी भाँति संसारमें उन्हें बरसाते हैं, तब जिज्ञासु साधकरूप मोर, पपीहा, किसान ही नहीं, किन्तु सारे जगत्‌के लोग उससे लाभ उठाते हैं। भाव यह है कि भक्त न होते तो भगवान्‌की गुण-गरिमा और महत्त्व-प्रभुत्वका विस्तार जगत्‌में कौन करता? इसलिये भक्त भगवान्‌से ऊँचे हैं। दूसरी बात यह है कि जैसे सुगन्ध चन्दनमें ही है, परन्तु यदि वायु उस सुगन्धको वहन करके अन्य वृक्षोंतक नहीं ले जाता तो चन्दनकी गन्ध चन्दनमें ही रहती, नीम आदि वृक्ष कदापि चन्दन नहीं बनते। इसी प्रकार भक्तगण यदि भगवान्‌की महिमाका विस्तार नहीं करते तो दुर्गुणी,

दुराचारी मनुष्य भगवान्‌के गुण और प्रेमको पाकर सद्‌गुणी नहीं बनते। इसलिये भी संतोंका दर्जा भगवान्‌से बढ़कर है। वे संत जगत्‌के सारे जीवोंमें प्रेम, ज्ञान और आनन्दका विस्तारकर सबको भगवान्‌के सदृश बना देना चाहते हैं।

संतोंकी दया

उन महात्माओंमें द्वेषका तो नाम ही नहीं रहता। वे इतने दयालु होते हैं कि दूसरेके दुःखको देखकर उनका हृदय पिघल जाता है। वे दूसरेके हितको ही अपना हित समझते हैं। उन पुरुषोंमें विशुद्ध दया होती है। जो दया कायरता, ममता, स्वार्थ और भय आदिके कारण की जाती है वह शुद्ध नहीं है। जैसे भगवान्‌की अहैतुकी दया समस्त जीवोंपर है—इसी प्रकार महापुरुषोंकी अहैतुकी दया सबपर होती है। उनकी कोई कितनी ही बुराई क्यों न करे, बदला लेनेकी इच्छा तो उनके हृदयमें होती ही नहीं। कहीं बदला लेनेकी-सी क्रिया देखी जाती है, तो वह भी उसके दुर्गुणोंको हटाकर उसे विशुद्ध करनेके लिये ही होती है। इस क्रियामें भी उनकी दया छिपी रहती है। जैसे माता-पिता गुरुजन बच्चेके सुधारके लिये स्नेहपूर्ण हृदयसे उसे दण्ड देते हैं—इसी प्रकार संतोंमें भी कभी-कभी ऐसी क्रिया होती है, परन्तु इसमें भी परम हित भरा रहता है। वे संत करुणाके भण्डार होते हैं। जो कोई उनके समीप जाता है, वह मानो दयाके सागरमें गोते लगाता है। उन पुरुषोंके दर्शन, स्पर्श और चिन्तनमें भी मनुष्य उनके दयाभावको देखकर मुग्ध हो जाता है। वे जिस मार्गसे निकलते हैं, मेघकी ज्यों दयाकी वर्षा करते हुए ही निकलते हैं। मेघ सब समय और सब जगह नहीं बरसता, परन्तु संत तो सदा-सर्वत्र बरसते ही रहते हैं। उनके दर्शन, भाषण और स्पर्शसे सारे जीव पवित्र हो जाते हैं। उनके चरण जहाँ टिकते हैं वह भूमि पावन हो जाती है। उनके चरणोंसे स्पर्श की हुई रज स्वयं पवित्र होकर दूसरोंको पवित्र करनेवाली बन जाती है। उनके द्वारा देखे हुए और स्पर्श किये हुए पदार्थ पवित्र हो जाते हैं। फिर उनके कुलकी विशेषतः उन्हें जन्म देनेवाले माता-पिताकी तो बात ही क्या है। ऐसे महापुरुष जिस देशमें जन्मते हैं और शान्त होते हैं, वे देश तीर्थ माने जाते हैं। आजतक जितने तीर्थ बने हैं, वे सब परमेश्वर और परमेश्वरके भक्तोंके निमित्तसे ही बने हैं। इतना ही नहीं, सब लोकोंको पवित्र करनेवाले तीर्थ भी उनके चरणस्पर्शसे पवित्र हो जाते हैं।

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिन्
लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

'जिसका चित्त अपार संवित्सुखसागर परब्रह्ममें लीन है, उसके जन्मसे कुल पवित्र होता है, उसकी जननी कृतार्थ होती है और पृथ्वी पुण्यवती होती है।'

धर्मराज युधिष्ठिर महात्मा विदुरसे कहते हैं—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥

(श्रीमद्भा०१।१३।१०)

'हे स्वामिन्! आप-सरीखे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थरूप हैं। (पापियोंके द्वारा कलुषित हुए) तीर्थोंको आपलोग अपने हृदयमें स्थित भगवान् श्रीगदाधरके प्रभावसे पुनः तीर्थत्व प्रदान करा देते हैं।'

यह सब उनके द्वारा स्वाभाविक ही होता है, उन्हें करना नहीं पड़ता। भगवान् तो भजनेवालोंको भजते हैं, परन्तु वे दयालु संत नहीं भजनेवालेका, यहाँतक कि गाली देने और अहित करनेवालेका भी हित ही करनेमें तुले रहते हैं। कुल्हाड़ी चन्दनको काटती है, पर चन्दन उसे स्वाभाविक ही अपनी सुगन्ध दे देता है।

काटे परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगन्ध बसाई॥

प्रह्लाद, अम्बरीष आदिके इतिहास इसमें प्रमाण हैं। अतएव विनोदमें भक्तको भगवान्‌से बढ़कर बतलाना युक्तियुक्त ही है। संतजन सुरसरि और सुरतरुसे भी विशेष उपकारी हैं। गंगा और कल्पवृक्ष उनके शरण होनेपर क्रमशः पवित्र करते और मनोरथ पूर्ण करते हैं। परन्तु संत तो इच्छा करनेवाले और न करनेवाले सभीके घर स्वयं जाकर उनके इस लोक और परलोकके कल्याणकी चेष्टा करते हैं। इसपर यदि यह कहा जाय कि संत जब सबका कल्याण करते हैं तो सबका हो क्यों नहीं जाता? तो इसका उत्तर यह है कि सामान्यभावसे तो संतसे जिन लोगोंकी भेंट हो जाती है, उन सभीका हित होता है। परन्तु विशेष लाभ श्रद्धा और प्रेम होनेपर होता है। यदि यह कहा जाय कि जबरदस्ती सबका हित संत क्यों नहीं कर देते? तो इसका उत्तर यह है कि जबरदस्ती कोई किसीका हित नहीं कर सकता। पतंग

दीपकमें जलकर मरते हैं। दयालु पुरुष उनपर दया करके उन्हें बचानेके लिये उस दीपक या लालटेनको बुझाकर उनका परम हित करना चाहते हैं, परन्तु वे पतंग जहाँ दूसरे दीपक जलते रहते हैं, वहाँ जाकर जल मरते हैं। इसी प्रकार जिन लोगोंको कल्याणकी स्वयं इच्छा नहीं होती उनका कल्याण करना बहुत ही कठिन है।

यदि यह कहा जाय कि श्रद्धा-प्रेम करनेवालोंका तो विशेष कल्याण करते हैं और दूसरोंको सामान्यभावसे करते हैं तो इसमें विषमताका दोष आता है। इसका उत्तर यह है कि ऐसी बात नहीं है। श्रद्धा और प्रेमकी कमीके कारण यदि लोग संतोंकी सबपर छायी हुई समान अपरिमित दयासे लाभ नहीं उठा सकते तो इसमें उनका दोष नहीं है। सूर्य बिना किसी पक्षपात या संकोचके सभीको समानभावसे प्रकाश देता है, परन्तु दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ता है और सूर्यकान्त शीशा सूर्यके प्रकाशको पाकर दूसरी वस्तुको जला दे सकता है। इसमें सूर्यका दोष या पक्षपात नहीं है। इसी प्रकार जिनमें श्रद्धा, प्रेम नहीं है वे दर्पणकी भाँति कम लाभ उठाते हैं और श्रद्धा, प्रेमवाले सूर्यकान्त शीशेकी भाँति अधिक लाभ उठाते हैं। सूर्य सबको स्वाभाविक ही प्रकाश देता है, परन्तु उल्लूके लिये वह अन्धकाररूप होता है। चन्द्रमाकी सर्वत्र बिखरी हुई चाँदनीको चोर बुरा समझता है, इसमें सूर्य-चन्द्रमाका कोई दोष नहीं है, वे तो सबका उपकार ही करते हैं। इसी प्रकार महापुरुष तो सभीका उपकार करते हैं किन्तु अत्यन्त दुष्ट और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य उल्लूकी भाँति अपनी बुद्धिहीनताके कारण उनसे द्वेष करते हैं और चोरकी भाँति उनकी निन्दा करके अनिष्ट फलको प्राप्त होते हैं—इसमें संतोंका क्या दोष?

यदि कहा जाय कि ऐसे दयालु पुरुषोंसे जब प्रत्यक्ष ही सबको परम लाभ है, तब सभी लोग उनका संग और सेवन करके लाभ क्यों नहीं उठाते? इसका यह उत्तर है कि वे लोग संतोंके गुण, प्रभाव और तत्त्वको नहीं जानते। तत्त्व जाने बिना कोई लाभ नहीं उठा सकता। एक कुत्ता था। उसने चीनीके घड़ेमें मुँह डाल दिया। इतनेमें खड़खड़ाहटकी आवाज हुई। कुत्तेने भागना चाहा। इसी गड़बड़में घड़ा फूट गया। घड़ेकी गर्दनी कुत्तेके गलेमें रह गयी। कुत्तेको कष्ट पाते देखकर एक दयालु मनुष्य हाथमें लाठी लेकर इसलिये कुत्तेके पीछे दौड़ा कि लाठीसे घड़ेकी गर्दनी तोड़ दी जाय तो कुत्ता कष्टसे छूट जाय। कुत्तेने अपने पीछे लाठी लिये दौड़ते हुए आदमीके असली उद्देश्यको न समझकर यह समझा कि यह मुझे मारनेको दौड़ रहा है। वह और भी जोरसे भागा और उसका कष्ट दूर नहीं हो सका। इसी प्रकार महापुरुषोंके तत्त्वको न समझकर उनकी क्रियामें विपरीत भावनाकर सब लोग लाभ नहीं उठा सकते।

संतोंमें समता

ऐसे महापुरुषोंकी दया ही नहीं समता भी बड़ी अद्भुत होती है, उन्हें यदि समताकी मूर्ति कहें तब भी अत्युक्ति नहीं। भगवान् सम हैं और उन संतोंकी भगवान्में स्थिति है—इसलिये वे भी स्वाभाविक ही समताको प्राप्त हैं। जैसे सुख-दु:खकी प्राप्ति होनेपर अज्ञानी पुरुषकी शरीरमें समता रहती है वैसी ही संतोंकी चराचर सब जीवोंमें समता रहती है।

प्र०-अज्ञानियोंका देहमें जैसा प्रेम है, क्या संतोंका सारे चराचरमें वैसा प्रेम हो जाता है? या संतोंका जैसे देहमें प्रेम नहीं है, वैसे क्या चराचर भूतोंसे उनका प्रेम हट जाता है? उनकी समताका क्या स्वरूप है?

उ०-उनकी समता वस्तुत: इतनी विलक्षण है कि उदाहरणके द्वारा वह समझायी नहीं जा सकती क्योंकि अज्ञानीको देहमें जैसा अहंकार रहता है, संतका संसारमें वैसा अहंकार नहीं रहता। इसलिये यह कहना नहीं बनता कि संतका देहकी भाँति सबमें प्रेम हो जाता है, और सबमें प्रेमका अभाव इसलिये नहीं बतलाया जा सकता कि अज्ञानी लोग अपने देहके स्वार्थके लिये जहाँ दूसरेका अहित कर डालते हैं, वहाँ ये संत पुरुष दूसरोंके हितके लिये हँसते-हँसते अपने शरीरकी बलि चढ़ा देते हैं। परन्तु उनकी वह समता इतनी अद्भुत है कि दूसरेके हितके लिये शरीरका बलिदान करनेपर भी उसमें कोई विषमता नहीं आ सकती। इसलिये किसी उदाहरणके द्वारा इस समताका स्वरूप समझाना बहुत कठिन है। तथापि लोक और वेदमें समझानेके लिये ऐसा ही कहा जाता है कि जैसे अज्ञानीको सुख-दु:खकी प्राप्तिमें सारे शरीरमें समता होती है, वैसे ही संतोंको सब जीवोंके सुख-दु:खकी प्राप्तिमें ममता और अहंकार न होते हुए भी समता होती है। अर्थात् जैसे

अज्ञानी मनुष्य अपने सुख-दुःखसे सुखी-दुखी होता है, संतजन ममता और अहंकारसे रहित होनेपर भी और अपने सुख-दुःखसे सुखी-दुखी-से प्रतीत भी न होनेपर भी दूसरे समस्त जीवोंके सुख-दुःखमें सुखी-दुखी-से प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थिति मनुष्यको प्रतिपक्ष-भावनासे प्राप्त होती है। (अज्ञानी मनुष्य जैसे अपने देहमें अहंभावना और दूसरोंमें परभावना करते हैं—इससे विपरीत दूसरोंमें आत्मभावना और अपने शरीरमें परकी-सी भावना करनेका नाम प्रतिपक्ष (उलटी)भावना है।) बहुत-से लोग संतोंकी इस समदृष्टिके रहस्यको न जानकर समदृष्टिसम्बन्धी शास्त्र-वाक्योंका दुरुपयोग करते हैं। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(५।१८)

'ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समभावसे ही देखनेवाले होते हैं।'

इसका उलटा अर्थ करते हुए वे लोग कहते हैं कि 'खान-पान आदिमें समव्यवहार करना ही समदर्शन है।' परन्तु ऐसा समव्यवहार न तो सम्भव है, न आवश्यक है और न भगवान्‌के कथनका यह उद्देश्य ही है। क्योंकि हाथी सवारीके योग्य है, कुत्ता सवारीके योग्य नहीं। गौका दूध सेवनयोग्य है, कुतिया और हथिनीका नहीं। इन सबके खाद्य, व्यवहार, स्वरूप, आकृति, जाति और गुण एक दूसरेसे अत्यन्त विलक्षण और भिन्न होनेके कारण इन सबमें समान व्यवहार न हो सकता है, न करना चाहिये और न करनेके लिये कोई कह ही सकता है। जैसे अपने लिये सुख और सुखके साधनकी प्राप्ति, और दुःख और दुःखके साधनकी निवृत्तिके लिये प्रयत्न किया जाता है, वैसे ही सबमें एक ही आत्मा समरूपसे स्थित है, इस बातका अनुभव करते हुए सबके लिये उनका जिस प्रकारसे हित हो उसी प्रकारसे यथायोग्य व्यवहार करना ही वास्तविक समता है।

जैसे हम अपने देहमें हाथोंसे ग्रहण करनेका, आँखोंसे देखनेका, कानोंसे सुननेका—इस प्रकार विभिन्न इन्द्रियोंके द्वारा यथायोग्य विभिन्न व्यवहार करते हैं, परन्तु आत्मीयताकी दृष्टिसे सबमें समता है, वैसे ही सबके यथायोग्य व्यवहार करते हुए आत्मीयताकी दृष्टिसे सबमें समता रहनी चाहिये। शास्त्रीय विषमता व्यवहारमें दूषित नहीं है, बल्कि परमार्थमें सहायक है। जिस विषमतासे किसीका अहित हो वही वास्तविक विषमता है। स्त्रियोंके अवयव एक-से होनेपर भी माता, बहिन और पत्नीके साथ सम्बन्धके अनुसार ही यथायोग्य विभिन्न व्यवहार होते हैं और यह विषमता शास्त्रीय और न्यायसंगत होनेसे सेवनीय है। इतना ही नहीं, परम पूजनीया मातामें पूज्यभाव होनेपर भी रजस्वला या प्रसवकी स्थितिमें हम उसका स्पर्श नहीं करते, करनेपर स्नान करनेकी विधि है। ऐसी विषमता वस्तुतः विषमता नहीं है। इसके माननेमें लाभ है और न माननेमें हानि। घरमें कुत्तेको रोटी देते हैं, गायको घास देते हैं, बीमारको दवा दी जाती है परन्तु सभीको घास, दवा या रोटी समान नहीं दी जाती। यह विषमता नहीं है। जैसे कोई भी अपने आत्माका जान-बूझकर अहित नहीं करता, उसे दुःख नहीं देता और अपना कल्याण चाहता है एवं सुख तथा कल्याणके लिये चेष्टा करता है—इसी प्रकार किसीको दुःख न पहुँचाकर, अहित न चाहकर सबका कल्याण चाहना और सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना ही समता है। फिर व्यवहारमें यथायोग्य कितनी ही विषमता क्यों न हो।

मान लीजिये, हमसे कोई मित्रता करता है और दूसरा कोई वैर करता है। उन दोनोंके न्यायका भार प्राप्त हो जाय तो हमें पक्षपातरहित होकर न्याय करना चाहिये, बल्कि कहीं अपने मित्रको समझाकर उसकी सम्मतिसे शत्रुता रखनेवालेका कुछ पक्ष भी कर लें तो वह भी समता ही है।

अनुकूल हितकर पदार्थके प्राप्त होनेपर सबके लिये समभावसे विभाग करना चाहिये, परन्तु कहीं दूसरोंको अधिक और श्रेष्ठ वस्तु दे दें, स्वयं कम लें—निकृष्ट लें या बिल्कुल ही न लें तो यह विषमता नहीं है। क्योंकि इसमें किसीका अहित नहीं है, बल्कि अपने स्वार्थका त्याग है। इसी प्रकार विपत्ति और दुःखकी प्राप्तिमें सबके लिये न्याययुक्त समविभाग करते समय भी यदि कहीं दूसरोंको बचाकर विपत्ति या दुःख अपने हिस्सेमें ले लिया जाय तो यह विषमता भी विषमता नहीं है, बल्कि स्वार्थका त्याग होनेके कारण इसमें उलटा गौरव है। प्रभुमें स्थित होनेके कारण संतमें

प्रभुकी समताका समावेश हो जाता है। अतएव इस अनोखी समताका पूरा रहस्य तो प्रभुको प्राप्त करनेपर ही मनुष्य समझ सकता है।

मान-अपमान और निन्दा-स्तुतिमें भी संतमें समता रहती है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि व्यवहारमें सब जगह समताका ही प्रदर्शन हो। हृदयमें मान-अपमानकी प्राप्तिमें हर्ष, शोक आदि विकार नहीं होते।

प्र०-साधारण मनुष्योंको निन्दा और अपमानकी प्राप्तिमें जैसा दु:ख होता है, क्या संतोंको वैसा ही स्तुति या मानमें होता है? अथवा स्तुति या मानमें लोगोंको जैसी प्रसन्नता होती है, संतोंको निन्दा या अपमानमें क्या वैसी ही प्रसन्नता होती है? इन दोनोंमेंसे संतकी समतामें हार्दिक भाव कैसा होता है?

उ०-दोनोंसे ही विलक्षण होता है, अर्थात् मान-अपमान और निन्दा-स्तुतिमें यथायोग्य न्याययुक्त व्यवहारभेद होनेपर भी उन्हें हर्ष-शोक नहीं होते।

प्र०-तो क्या अपमान और निन्दाका प्रतिकार भी संत करते हैं?

उ०-यदि अपमान या निन्दा करनेवालेका या अन्य किसीका हित हो तो प्रतिकार भी कर सकते हैं?

प्र०-क्या वे मान-प्रतिष्ठाकी प्राप्तिको व्यवहारमें स्वीकार कर लेते हैं या उनका विरोध ही करते हैं?

उ०-देश, काल और परिस्थितिको देखकर शास्त्रानुकूल दोनों ही बातें कर सकते हैं। विरोध करनेमें हित होता है तो विरोध करते हैं और न्यायसे प्राप्त होनेपर स्वीकार भी कर लेते हैं।

प्र०-तब फिर व्यवहारमें महापुरुषकी पहचान कैसे हो?

उ०-व्यवहारकी क्रियासे महापुरुषको पहचानना बहुत कठिन है। इतना ही जान सकते हैं कि ये अच्छे पुरुष हैं। फिर चाहे वे सिद्ध हों या साधक! दोनोंको ही संत माननेमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि साधक भी तो सिद्ध संत बननेवाला है। वस्तुत: जिसका व्यवहार सत् है वही संत है।

लाभ-हानि और जय-पराजयमें भी संतकी विलक्षण समता होती है।

प्र०-साधारण मनुष्योंको जैसे लाभ और जयमें प्रीति-प्रसन्नता होती है, तो क्या संतको इसके विपरीत हानि और पराजयमें प्रसन्नता होती है? अथवा साधारण मनुष्योंको जैसे हानि-पराजयमें द्वेष, घृणा, भय, शोक आदि होते हैं, तो क्या संतको लाभ और जयमें द्वेष, घृणा, भय, शोक आदि होते हैं?

उ०-नहीं, उसकी समता इन सबसे विलक्षण है। क्योंकि वे हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि समस्त विकारोंसे सर्वथा रहित होते हैं।

प्र०-ऐसी अवस्थामें क्या हानि-पराजय होनेपर साधारण मनुष्योंकी भाँति संतका व्यवहार द्वेष, ईर्ष्या और भयका-सा भी हो सकता है?

उ०-यदि संसारका हित हो, या न्याययुक्त मर्यादाकी रक्षा हो तो हो भी सकता है। परन्तु उनके मनमें किसी प्रकारका विकार निश्चय ही नहीं होता।

प्र०-जो कुछ भी बाहरी क्रिया होती है वह पहले मनमें आती है। बिना मनमें आये बाहरी क्रिया कैसे सम्भव है?

उ०-नाटकके पात्रोंमें जैसे सभी प्रकारके बाहरी व्यवहार होते हैं, परन्तु उनके मनमें अभिनय-बुद्धिके अतिरिक्त कोई वास्तविकता नहीं होती, इसी प्रकार संतोंके द्वारा नाटकवत् बाहरी व्यवहार होनेपर भी उनके मनमें वस्तुत: कोई विकार नहीं होता।

इसी प्रकार शीतोष्ण, सुख-दु:ख आदि प्रिय-अप्रिय सभी पदार्थोंके सम्बन्धमें उनका समभाव रहता है। सबमें एक अखण्ड नित्य भगवत्स्वरूप समता सदा-सर्वदा सर्वत्र बनी रहती है।

संतोंमें विशुद्ध विश्वप्रेम

संतमें केवल समता ही नहीं, समस्त विश्वमें हेतु और अहंकाररहित अलौकिक विशुद्ध प्रेम भी होता है। जैसे भगवान् वासुदेवका सबमें अहैतुक प्रेम है वैसे ही भगवान् वासुदेवकी प्राप्ति होनेपर संतका भी समस्त चराचर जगत्‌में अहैतुक प्रेम हो जाता है। क्योंकि साधन-अवस्थामें वह सबको वासुदेवस्वरूप ही समझकर अभ्यास करता है। अतएव सिद्धावस्थामें तो उसके लिये यह बात स्वभावसिद्ध होनी ही चाहिये।

प्र०-ऐसा अहैतुक प्रेम भक्तिके साधनसे होता है या ज्ञानके साधनसे?

उ०-दोनोंमेंसे किसी एकके साधनसे हो सकता है। जो भक्तिका साधन करता है वह सब भूतोंको ईश्वर समझकर अपने देह और प्राणोंसे बढ़कर उनमें प्रेम करता है; और जो ज्ञानका साधन करता है वह सम्पूर्ण

भूतोंको अपना आत्मा समझकर उनसे देह, प्राण और आत्माके समान प्रेम करता है।

प्र०-जैसे एक अज्ञानी मनुष्यका अपने शरीर, घर, स्त्री, पुत्र, धन, जमीन आदिमें प्रेम होता है, क्या संत पुरुषका सारे विश्वमें वैसा ही प्रेम होता है?

उ०-नहीं, इससे अत्यन्त विलक्षण होता है। अज्ञानी मनुष्य तो शरीर, घर, स्त्री, पुत्र आदिके लिये नीति, धर्म, न्याय, ईश्वर और परोपकारतकका त्याग कर देता है तथा अपने देह, प्राणकी रक्षाके लिये स्त्री, पुत्र, धन आदिका भी त्याग कर देता है, परन्तु संत तो नीति, धर्म, न्याय, ईश्वर और विश्वके लिये केवल स्त्री, पुत्र, धनका ही नहीं, अपने शरीरका भी त्याग कर देते हैं। वे विश्वकी रक्षाके लिये पृथ्वीका, पृथ्वीकी रक्षाके लिये द्वीपका, द्वीपके लिये ग्रामका, ग्रामके लिये कुटुम्बका, कुटुम्ब और उपर्युक्त सबके हितके लिये अपने प्राणोंका आनन्दपूर्वक त्याग कर देते हैं! फिर धर्म, ईश्वर और समस्त विश्वके लिये त्याग करना तो उनके लिये कौन बड़ी बात है। जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने आत्माके लिये सबका त्याग कर देता है, वैसे ही संत पुरुष धर्म, ईश्वर और विश्वके लिये सब कुछ त्याग कर देते हैं, क्योंकि धर्म, ईश्वर और विश्व ही उनका आत्मा है। परन्तु अज्ञानीका जैसे देहमें अहंकार और स्त्री-पुत्रादि कुटुम्बमें ममत्व होता है, वैसा संतका अहंकार और ममत्व कहीं नहीं होता। उनका सबमें हेतुरहित विशुद्ध और अत्यन्त अलौकिक अपरिमित प्रेम होता है।

प्र०-भक्तिमार्गपर चलनेवाले भक्तका सम्पूर्ण चराचरमें प्राणोंसे बढ़कर अत्यन्त विलक्षण प्रेम क्यों और कैसे हो जाता है?

उ०-इसलिये होता है कि वे सारे विश्वको अपने इष्टदेवका साक्षात् स्वरूप समझते हैं।

सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर, रूपरासि भगवन्त॥

वे भक्त समस्त विश्वके लिये अपने तन, मन, धनको न्योछावर किये रहते हैं। अपनी चीजें स्वामीके काममें आती देखकर वे इस भावसे बड़े ही आनन्दित होते हैं कि स्वामीने कृपापूर्वक हमको और हमारी वस्तुओंको अपना लिया। भक्त अपना यह ध्येय समझता है कि हमारी सब चीजें भगवान्‌की ही हैं, इसलिये उन्हींकी सेवामें लगनी चाहिये। परन्तु जबतक भगवान् उनको काममें नहीं लाते तबतक भगवान्‌ने उनको स्वीकार कर लिया, ऐसा भक्त नहीं समझता, और जबतक भगवान्‌ने स्वीकार नहीं किया तबतक वह अपने ध्येयकी सिद्धि नहीं मानता। परन्तु जब वे वस्तुएँ प्रसन्नतापूर्वक विश्वरूप भगवान्‌के काममें आ जाती हैं तब वह अपने ध्येयकी सिद्धि समझकर परम प्रसन्न होता है। विश्वरूप भगवान्‌की प्रसन्नतामें ही उसकी प्रसन्नता है। इसीलिये वह अपने प्राणोंसे बढ़कर समस्त चराचर विश्वमें प्रेम करता है। यदि कहा जाय कि फिर उसका प्रेम हेतुरहित और विशुद्ध कैसे माना जा सकता है, जब कि वह अपने इष्टको सन्तुष्ट और प्रसन्न करनेके हेतुसे प्रेम करता है? तो इनका उत्तर यह है कि यह हेतु वस्तुतः हेतु नहीं है यह पवित्र भाव है। यही मनुष्यका परम लक्ष्य होना चाहिये।

जो प्रेम अपने व्यक्तिगत स्वार्थको लेकर होता है, वही कलंकित और दूषित है। परन्तु जब दूसरेके हितके लिये किया जानेवाला प्रेम भी पवित्र माना जाता है तब दूसरे सबको साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप समझकर ही उनसे प्रेम करना तो परम पवित्र प्रेम है।

प्र०-ज्ञानके मार्गमें चलनेवालेका देह, प्राण और आत्माके समान प्रेम क्यों और कैसे हो जाता है?

उ०-ज्ञानके मार्गमें चलनेवाला सबके आत्माको अपना आत्मा ही समझता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(गीता ६।२९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है।'

जब सबको वह आत्मा ही समझता है तब सारे विश्वमें आत्माके सदृश उसका प्रेम होना युक्तियुक्त ही है। इसीलिये जैसे देहको आत्मा माननेवाला अज्ञानी अपने ही हितमें रत रहता है वैसे ही संत पुरुष सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत रहते हैं; और ऐसे सर्वभूतहितमें रत ज्ञानमार्ग साधक ही निर्गुण परमात्माको प्राप्त होते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२। ३-४)

'जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको अच्छी तरह वशमें करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप, सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए उपासते हैं वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत हुए और सबमें समान भाववाले योगी भी मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

परन्तु जैसे अज्ञानी मनुष्यका देहमें अहंकार, अभिमान, ममता और आसक्ति होती है वैसे संतका विश्वमें अहंकार, अभिमान, ममता और आसक्ति नहीं होती। उनका विश्वप्रेम विशुद्ध ज्ञानपूर्ण होता है। अहंकार, अभिमान, ममता, आसक्ति आदि दोषोंको लेकर अथवा व्यक्तिगत स्वार्थवश जो प्रेम होता है वही दूषित समझा जाता है। क्षणभंगुर, नाशवान्, दृश्य पदार्थोंको सत्य मानकर उनके सम्बन्धसे होनेवाले भ्रमजन्य सुखको सुख मानकर उनमें प्रेम करना अज्ञानपूर्ण प्रेम है। ये दोनों बातें संतमें नहीं होतीं—इसलिये उस ज्ञानी संतका प्रेम विशुद्ध और ज्ञानपूर्ण होता है।

प्र०-जैसे भक्त सम्पूर्ण विश्वको साक्षात् अपना इष्टदेव भगवान् समझकर काम पड़नेपर विश्वहितके लिये प्रसन्नतापूर्वक अपने सम्पूर्ण ऐश्वर्यसहित अपने-आपको बलि-वेदीपर चढ़ा देता है, क्या ज्ञानमार्गपर चलनेवाला भी अवसर आनेपर ऐसा ही कर सकता है?

उ०-हाँ, कर सकता है। क्योंकि प्रथम तो उसकी दृष्टिमें ऐश्वर्य और देहका कोई मूल्य ही नहीं है। और दूसरे, अज्ञानी मनुष्य ऐश्वर्य और देहको आनन्ददायक मानकर मूल्यवान् समझते हैं। अतएव उनकी दृष्टिसे उन्हें सुख पहुँचानेके लिये ज्ञानी पुरुष ऐश्वर्य और देहका त्याग कर दें—इसमें आश्चर्य और शंका ही क्यों होनी चाहिये?

ज्ञानमार्गपर चलनेवाला पुरुष समस्त चराचर विश्वको अपने चिन्मय आत्मरूपसे ही अनुभव करता है। अतएव उसका सबके साथ आत्मवत् व्यवहार होता है। जैसे किसी समय अपने ही दाँतोंसे जीभके कट जानेपर कोई भी मनुष्य दाँतोंको दण्ड नहीं देना चाहता, वह जानता है कि दाँत और जीभ दोनों मेरे ही हैं। जीभमें तो तकलीफ है ही, दाँतोंमें और तकलीफ क्यों उत्पन्न की जाय। इसी प्रकार ज्ञानमार्गी संत सबको अपना आत्मा समझनेके कारण किसीके द्वारा अनिष्ट किये जानेपर भी उसे दण्ड देनेकी भावना नहीं करते। कभी-कभी यदि ऐसी कोई बात देखी जाती है तो उसका हेतु भी आत्मोपम प्रेम ही होता है। जैसे अपने दूसरे अच्छे अंगोंकी रक्षाके लिये मनुष्य समझ-बूझकर सड़े हुए अंगको कटवा देनेमें अपना हित समझता है, इसी प्रकार संतोंके द्वारा भी विश्वहितार्थ स्वाभाविक ही कभी-कभी ऐसी क्रिया होती देखी जाती है।

संतोंके उपर्युक्त विश्वप्रेमका तत्त्व और रहस्य बड़ा ही विलक्षण है। वास्तवमें जो संत होते हैं वे ही इसको जानते हैं। ऐसे संतोंके गुण, आचरण, प्रभाव और तत्त्वका अनुभव उनका संग और सेवन करनेसे ही हो सकता है।

संतोंके आचरण और उपदेश

प्र०-ऐसे संत-महात्माओंके आचरण अनुकरणीय हैं या उपदेश?

उ०-आचरण और उपदेश दोनों ही अनुकरणीय हैं। केवल आचरण और उपदेश ही क्यों, उनके एक-एक गुणको अपने हृदयमें भलीभाँति धारण करना चाहिये। हाँ, यदि आचरण और उपदेशमें भिन्नता प्रतीत हो तो वहाँ उपदेशको ही प्रधान समझा जाता है। यद्यपि महापुरुषोंके आचरण शास्त्रके अनुकूल ही होते हैं और शास्त्रानुकूल ही वे उपदेश-आदेश करते हैं, परन्तु उन पुरुषोंके तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण जो-जो आचरण शास्त्रके अनुकूल न प्रतीत हों उनका अनुकरण नहीं करना चाहिये।

यद्यपि उन महापुरुषोंके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथापि स्वाभाविक ही वे लोगोंपर दया कर लोकहितके लिये शास्त्रानुकूल आचरण करते हैं। उनसे शास्त्रविपरीत आचरण होनेका तो कोई कारण ही नहीं है। परन्तु शास्त्रके अनुकूल जितने कर्म होने चाहिये उनमें स्वभावकी उपरामताके कारण अथवा शरीरका बाह्यज्ञान न रहनेके कारण कमी प्रतीत हो तो उनको इसके लिये कोई बाध्य भी नहीं कर सकता, क्योंकि वे विधि-निषेधरूप शास्त्रसे पार पहुँचे हुए हैं। उनपर

'यह ग्रहण करो' और 'यह त्याग करो'—इस प्रकारका शासन कोई भी नहीं कर सकता। उनके गुण और आचरण ही सदाचार हैं। उनकी वाणी—उपदेश-आदेश ही वेदवाणी हैं। फिर उनके लिये विधान करनेवाला कौन? अतएव उनके द्वारा होनेवाले आचरण सर्वथा अनुकरणीय ही हैं, तथापि जिस आचरणमें सन्देह हो, जो शास्त्रके विपरीत प्रतीत होता हो उसके लिये या तो उन्हीं पुरुषोंसे पूछकर सन्देह मिटा लेना चाहिये अथवा उसको छोड़कर जो शास्त्रानुकूल प्रतीत हों, उन्हींके अनुसार आचरण करना चाहिये।

प्र०-जब ऐसे महापुरुषोंपर विधि-निषेध शास्त्रका कोई शासन ही नहीं, तब वे कर्मोंका आचरण क्यों करते हैं?

उ०-लोगोंपर दयाकर केवल लोकहितके लिये। स्वयं भगवान् वासुदेव भी तो अवतार लेकर लोकहितार्थ कर्माचरण करते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

(गीता ३। २१-२२)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसके अनुसार बर्तते हैं। अतएव हे अर्जुन! यद्यपि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा किंचित् भी प्राप्त होनेयोग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है तो भी मैं कर्ममें ही बर्तता हूँ।'

भगवान्‌के इस आदर्शके अनुसार यदि संत पुरुष आचरण करें तो इसमें उनका गौरव है और लोगोंका परम कल्याण है और इसीलिये संतोंके द्वारा स्वाभाविक ही लोकहितकर कर्म होते हैं। ऐसे संतोंका जीवन लोगोंके उपकारके निमित्त ही होता है। अतएव लोगोंको भी इस प्रकारके संत बननेके लिये भगवान्‌की शरण होकर पद-पदपर भगवान्‌की दयाका दर्शन करते हुए हर समय प्रसन्नचित रहना चाहिये। भगवान्‌को यन्त्री मानकर अपनेको उनके समर्पण करके उनके हाथका यन्त्र बनकर उनकी आज्ञानुसार चलना चाहिये और यह याद रखना चाहिये कि जो इस प्रकार अपने-आपको भगवान्‌के अर्पण कर देता है उसके सारे आचरण भगवत्कृपासे भगवान्‌के अनुकूल ही होते हैं—यही शरणागतिकी कसौटी है। इस शरणागतिसे ही भगवान्‌की अनन्त दयाके दर्शन होते हैं और भगवान्‌की दयासे ही देवताओंके द्वारा भी पूजनीय परम दुर्लभ संतभावकी प्राप्ति होती है।

संत-महिमा

प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः।
पुरो वा पश्चाद्वा तदिदमविपर्यासितरसं
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते॥

(भवभूति)

भगवान्‌के भक्त, भगवान्‌के प्यारे, भगवान्‌के तत्त्वको यथार्थतः जाननेवाले और भगवान्‌के ही स्वरूपभूत प्रातः-स्मरणीय पूज्यचरण संत-महात्माओंकी महिमा कौन गा सकता है? उनके अनन्त कल्याणगुणोंका बखान कौन कर सकता है? परन्तु उनकी स्मृति अन्तःकरणको पवित्र करती है, उनके आदर्श चरित्रोंका मनन हृदयको विशुद्ध भगवद्भावसे भर देता है और उनका गुणगान जिह्वाको पवित्र करके उसमें भगवद्गुणगानकी योग्यता प्रदान करता है, इन्हीं परम लाभोंकी ओर दृष्टि जानेसे संतोंकी कुछ चर्चा करनेका साहस हुआ है। संतजन ऐसी कृपा करें जिसके प्रभावसे इन पंक्तियोंके लेखकका चित्त उनके प्रियतम श्रीभगवान्‌के चरणोंमें कुछ अनुराग करना सीखे?

संत कौन हैं?

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने अपने प्रिय भक्तोंके निम्नलिखित चालीस लक्षण बतलाये हैं। ये लक्षण जिन पुरुषोंमें हों वे ही संत हैं। इन्हींका कुछ न्यूनाधिकरूपसे 'गुणातीत' और 'स्थितप्रज्ञ' आदि नामोंसे गीतामें वर्णन है।

१-किसी भी जीवसे द्वेष न होना।

२-सबके साथ मैत्रीभाव रखना।

३-बिना किसी भेदभावके दुखी जीवोंपर दया करना।

४-भगवान्‌के सिवा किसी वस्तुमें 'मेरापन' न रहना।

५-शरीर-मन-वाणीमें कहीं 'मैंपन' न होना।

६-सुख-दुःखमें समबुद्धि रहना।

७-अपना बुरा करनेवालेके प्रति, उसे दण्ड देनेकी सामर्थ्य होनेपर भी चित्तमें क्रोध न करना और भगवान्से उसका भला चाहना।

८-अनुकूल और प्रतिकूल वस्तु या स्थितिकी प्राप्तिमें सन्तुष्ट रहना।

९-चित्तका निरन्तर परमात्माके साथ योगयुक्त रहना।

१०-मन-इन्द्रियोंको जीत लेना।

११-परमात्मामें दृढ़ निश्चय होना।

१२-मन और बुद्धिको सर्वभावसे भगवान्के अर्पण कर देना।

१३-अपने किसी भी आचरणसे किसी भी जीवको उद्विग्न न करना।

१४-किसीके द्वारा कैसे भी व्यवहारकी प्राप्ति होनेपर कभी उद्विग्न न होना।

१५-सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें हर्ष न मानना।

१६-दूसरेकी उन्नतिमें डाह न होना।

१७-परमात्माको नित्य अपने साथ समझकर सदा निर्भय रहना।

१८-किसी भी अवस्थामें अशान्त न होना।

१९-किसी भी वस्तुकी अपेक्षा न होना।

२०-मन-वाणी-शरीरसे पवित्र रहना।

२१-अहितके त्याग और हितके ग्रहणमें चतुर होना।

२२-सबसे उदासीन—निरपेक्ष रहना।

२३-मानसिक व्यथाका सर्वथा अभाव।

२४-आसक्ति और कर्त्तापनके अभिमानसे कोई भी आरम्भ न करना। सब कर्मोंका आरम्भ परमात्माकी लीलासे होता है, ऐसा मानना।

२५-अनुकूलकी प्राप्ति और प्रतिकूलके विनाशमें हर्ष न होना।

२६-प्रतिकूलकी प्राप्ति और अनुकूलके विनाशमें द्वेष न होना।

२७-किसी भी स्थितिमें शोक न होना।

२८-किसी भी वस्तुकी कामना न होना।

२९-शुभ और अशुभ कर्मोंका फल त्याग कर देना।

३०-शत्रु-मित्रमें समभाव रखना।

३१-मानापमानमें समानभाव रखना।

३२-सरदी-गरमीमें समबुद्धि रहना।

३३-सुख-दुःखको समान समझना।

३४-किसी भी पदार्थमें आसक्ति न रहना।

३५-निन्दा-स्तुतिको समान मानना।

३६-वाणीसे सत्-चर्चाके सिवा और कोई बात न करना, मनसे सदा भगवान्के स्वरूपका मनन करते रहना।

३७-शरीरनिर्वाहके लिये जो कुछ भी मिल जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहना।

३८-घर-द्वारको अपना न मानना।

३९-सदा परमात्मामें स्थिरबुद्धि रहना।

४०-श्रद्धा और तत्परताके साथ भागवत-धर्मरूपी अमृतका सदा सेवन करना।

ये सब गुण सिद्ध संतमें स्वाभाविक होते हैं और साधक इनको प्राप्त करनेके प्रयत्नमें लगा रहता है; परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि संतमें इतने ही परिमितसंख्यक गुण हैं। सत्यस्वरूप परमात्मामें नित्य स्थित होनेके कारण संतकी अंदर-बाहरकी प्रत्येक चेष्टा और क्रिया एक-एक सद्गुण और सदाचार ही है, वस्तुतः संत सद्गुणोंके भण्डार होते हैं, उपर्युक्त चालीस गुण तो उन अनन्त सद्गुणोंके साररूप बतलाये गये हैं। और भी संक्षेपमें कहें तो ऐसा कहा जा सकता है, जिनमें निम्नलिखित छः लक्षण हों वे पुरुष निश्चय ही संत हैं—१-नित्य सत्य परमात्मस्वरूपमें या भगवत्प्रेममें अचल स्थिति, २-सर्वत्र समदृष्टि, जीवमात्रमें आत्मोपम प्रेम, ३-राग-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ-अभिमानादि मानसिक दोषोंका और मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छाका सर्वथा अभाव, ४-स्वाभाविक ही समस्त प्राणियोंके हितमें रति, ५-शान्ति, सरलता, शम, दम, शीतलता, त्याग, संतोष, दया, अहिंसा, सत्य, निर्भयता, अनासक्ति, निष्कामता, निरहंकारता, निर्ममता, स्वाधीनता, निर्मलता, क्षमा, सेवा, तप आदि सद्गुण और सदाचारोंका पूर्ण विकास और ६-हर एक स्थितिमें अखण्ड असीम आनन्द!

संतोंके हृदयमें पाप-तापके लिये स्थान नहीं है, उनके आचरणोंमें किसी प्रकारका भी दोष नहीं आ सकता। अज्ञान, असत्य, दम्भ, कपट, स्तेय, व्यभिचार आदि दुराचार उनके समीप भी नहीं रह पाते। उनका सरल जीवन सर्वथा सदाचारमय, दिव्य आदर्श गुणोंसे

युक्त, सबको सुख पहुँचानेवाला तथा सबका हित करनेवाला होता है। वे जहाँ रहते हैं, जहाँ विचरते हैं वहीं मंगल-सन्देश देते हैं, मंगलमय वायुमण्डल तैयार करते हैं और सबको मंगलमय बना देते हैं।

संतोंकी पहचान

यद्यपि संतके लिये शास्त्रोंमें इस प्रकारके अनेकों लक्षणोंका निर्देश मिलता है तथापि वस्तुतः संत समस्त लक्षणोंसे ऊपर उठे हुए हैं। किसी भी लक्षणके द्वारा कोई भी विषयी पुरुष संतको कभी नहीं पहचान सकता। प्रथम तो जिसने जिस वस्तुकी उपलब्धि ही नहीं की, वह केवल उसका नाम सुनकर ही कैसे उसके असली-नकली होनेका निर्णय कर सकता है? जिसने हीरा देखा ही नहीं, वह हीरे और काँचके अन्तरको कैसे समझ सकता है? संतोंके लक्षणोंमें कई तो ऐसे हैं जो स्वसंवेद्य हैं, और कई ऐसे हैं, जिनके स्वरूपका यथार्थ निर्णय स्वयं उनका आचरण करनेवाले केवल अनुभवी पुरुष ही कर सकते हैं, विषयी पुरुष अपनी विविध दोषमयी, विषयासक्तिसे भ्रमित और मोहसे आवृत मलिनबुद्धिके तराजूपर उनको नहीं तौल सकता। वह जिस बातको अपनी विपरीत और अज्ञानभरी दृष्टिसे दोष समझेगा, सम्भव है, वही संतका आदर्श गुण हो। ऑपरेशन करते हुए डॉक्टरकी क्रियामें, बच्चों और शिष्योंको वत्सलतापूर्ण हृदयसे धमकाते हुए माता-पिता और सद्गुरुकी शिक्षामें, और कराहते हुए रोगीको कुपथ्य न देनेमें अज्ञ पुरुष निर्दयताका आरोप कर सकते हैं, परन्तु क्या यह वास्तविक दया नहीं है? इसी प्रकार अन्यान्य गुणोंकी बातें हैं। मूर्ख मनुष्य यदि अनाज तौलनेके एक बड़े काँटेके एक पलड़ेपर बहुमूल्य हीरा रखकर और उसे सेर-दो-सेरके वजनका भी न पाकर उसको किसी भी कामका न समझे तो इससे जैसे हीरेकी कीमत कुछ भी कम नहीं हो जाती, इसी प्रकार असंतकी मलिन बुद्धि न तो संतको पहचान सकती है और न उसके किसी निर्णयसे संतका यथार्थ स्वरूपनिर्देश ही होता है। दूसरी बात एक यह भी है कि भोलेभाले नर-नारियोंको ठगनेके लिये दम्भी मनुष्य भी संतोंका-सा स्वाँग रचकर लोगोंको धोखा दे सकता है, बाहरी आचरणकी नकल करना कोई बड़ी बात नहीं। यद्यपि सत्यचेतन और ज्ञानस्वरूप परमात्मामें नित्यस्थित लोकहितनिरत संतके बाहरी आचरणोंके साथ दम्भीके संतों-जैसे बनावटी आचरणोंमें बहुत बड़ा भेद रहता है परन्तु उस भेदको पहचानना हर एक मनुष्यका कार्य नहीं है। योगसिद्धिप्राप्त या भगवत्प्रेरित संत पुरुष ही उस महत्त्वपूर्ण भेदको जानते हैं। अतएव किसी भी बाहरी लक्षणसे संत-असंतका निर्णय करना असम्भव नहीं तो कम-से-कम महान् कठिन तो अवश्य ही है। विषयी पुरुषोंके लिये तो असम्भव ही है।

संतोंका यथार्थ परिचय संतकृपासे ही मिल सकता है। किन्तु पहलेसे ही किसी-न-किसी दोषको खोज निकालनेकी बुरी इच्छासे, दोषारोपण हो सके, ऐसे छिद्रोंको ढूँढ़नेकी नीयतसे ही जो संतके पास जाता है या संतका सेवन करता है, उसको संतका यथार्थ परिचय मिलना और संतकृपाको प्राप्त करना बहुत ही कठिन है। श्रद्धा, सेवा और जिज्ञासासे ही मनुष्यको संतकृपाकी प्राप्ति हो सकती है। इतना होनेपर भी अकारणकृपालु संतोंका अज्ञात संग भी कभी व्यर्थ नहीं जाता, उस अज्ञात सत्संगसे, जिस महान् कल्याण-कल्पतरुका भगवत्-प्रेमरूपी अमर फल है, उसका अक्षय बीज तो हृदयक्षेत्रमें पड़ ही जाता है, जो अनुकूल वातावरण पाकर उगता है और फूलता-फलता है।

संत भगवान्के किस गुप्त संकेतको पाकर कब किस प्रकारका आचरण करते हैं इस बातको साधारण लोग नहीं समझ सकते। लोकोत्तर पुरुषोंके कार्य भी लोकोत्तर ही हुआ करते हैं, साधारण बुद्धिसे उनका समझना और अनुकरण करना सम्भव नहीं होता। इसलिये श्रुतिवाक्योंमें गुरु शिष्यसे कहते हैं—

यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि॥

(तैत्तिरीयोपनिषद् १।११।२)

'शास्त्रोक्त निर्दोष कर्मोंका ही आचरण करना चाहिये। शास्त्रविरुद्धका नहीं। हम लोगोंमें भी जो सुन्दर आचरण हैं, तुम्हें उन्हींका अनुकरण करना चाहिये, अन्य निन्दित आचरणोंका नहीं।'

वस्तुतः संतोंका एक भी आचरण किंचित् भी दोषयुक्त नहीं होता, वह स्वाभाविक ही सत्य ज्ञानसे ओत-प्रोत और लोकहितके उद्देश्यसे आचरित होता है, हम उसे अपनी अदूरगामिनी विपरीत दृष्टिके कारण ही दूषित या निन्दित मान लेते हैं! एक महात्माने मुझको

एक कहानी सुनायी थी—

संतकी आश्चर्य-कहानी

'किसी एक नगरमें राजकन्याका विवाह था, मंगलके बाजे बज रहे थे। उसी नगरमें एक सिद्ध महात्मा रहते थे। महात्मा बाजोंकी आवाज सुनकर राजदरबारमें गये। राजासे यह मालूम होनेपर कि राजकन्याका विवाह है, उन्होंने कन्याको देखना चाहा। राजाने कन्याको बुलाया। राजकन्याने आकर महात्माके चरणोंमें प्रणाम किया। महात्माने न मालूम किस अभिप्रायसे उसको नखशिख देखकर राजासे कहा—इस लड़कीका हमसे विवाह कर दो' राजा तो सुनते ही सहम गया; बुद्धिमान् था, महलमें जाकर एक जोड़ी बहुमूल्य मोती लाया, मोतीका आकार मुर्गीके अण्डेजितना था, और उनसे शारदीय पूर्णिमाके चन्द्रमाकी-सी ज्योति छिटक रही थी। राजाने नम्रतासे कहा—'भगवन्! हमारे कुलकी रीति है, जो इस तरहके १०८ मोतियोंका हार कन्याको देता है, उसीसे हम कन्याका विवाह करते हैं।' महात्माने निर्विकार चित्तसे, पर उत्साहसे कहा—'हाँ, हाँ तुम्हारी कुलकी प्रथा तो पूरी होनी ही चाहिये। ये दोनों मोतीके दाने मुझे दे दो, इसी नमूनेके एक सौ आठ मोती मैं लाता हूँ। परन्तु खबरदार! तबतक लड़कीको किसी दूसरेसे ब्याह न देना।' राजाने सोचा था, महात्मा मोतीकी बात सुनकर निराश हो लौट जायँगे, परन्तु यहाँ तो दूसरी ही बात हो गयी। राजा जानता था, महात्मा ऊँचे दर्जेके सिद्ध पुरुष हैं, उनकी आज्ञा न माननेसे अमंगल हो सकता है, अतएव राजाने दोनों मोती उनको दे दिये और कहा कि 'भगवन्! आगे लग्न नहीं है आप जल्दी लौटियेगा।' राजाने सोचा, 'ऐसे मोती कहीं मिलेंगे नहीं, महात्मा सच्चे पुरुष हैं, लौट ही आवेंगे, तब लड़कीका विवाह निर्दिष्ट राजकुमारके साथ कर दिया जायगा।' राजाने विवाह स्थगित कर दिया। महात्मा मोतीके दाने झोलीमें डालकर चल दिये!

तीन दिन हो गये। महात्मा समुद्रके किनारे बैठे कमण्डलु भर-भर समुद्रका जल बाहर उलीच रहे हैं। उन्हें खाना-पीना-सोना कुछ भी स्मरण नहीं है। न थकावट है, न विषाद है, न निराशा है, न विराम है। एक लगनसे कार्य चल रहा है। महात्माकी अमोघ क्रियासे प्रकृतिमें हलचल मची। अन्तर्जगत्में क्षोभ उत्पन्न हो गया। समुद्रदेव ब्राह्मणका रूप धरकर बाहर आये। पूछा, 'भगवन्! यह क्या कर रहे हैं?' समाधिसे जगे हुएकी भाँति उनकी ओर देखकर सहज सरलतासे महात्मा बोले—'एक सौ आठ मोतीके दाने चाहिये। समुद्रमें पानी नहीं रहेगा तब मोती मिल जायँगे।' ब्राह्मणने कहा—'समुद्र क्या इसी तरहसे और इतनी जल्दी बिना पानीका हो जायगा?'

'हाँ, हाँ, हो क्यों नहीं जायगा। पानी तो उलीच ही रहे हैं, दो दिन आगे-पीछे होगा। अपनेको कौन-सी जल्दी पड़ी है?'

'अगर समुद्र आपको मोती दे दे तो?'

'तो फिर क्या हमारा समुद्रसे कोई वैर है जो हम उसे बिना पानीका बनायेंगे।'

'अच्छा तो लीजिये।'

समुद्रकी एक तरंग आयी और मोतियोंका ढेर लग गया। महात्माने झोलीसे दोनों मोती निकाले। उनसे ठीक मिला-मिलाकर १०८ मोती चुनकर झोलीमें डाल लिये और चलनेके लिये उठ खड़े हुए! ब्राह्मणवेशधारी समुद्रने कहा 'भगवन्! कुछ मोती और ले जाइये न?' महात्मा बोले—'हमें संग्रह थोड़े ही करने हैं? जरूरत थी उतने ले लिये। अब हम व्यर्थ बोझ क्यों ढोयें?'

महात्माने आकर राजाको बुलाया और पहलेके दो दानेसमेत ११० मुर्गीके अण्डे-जैसे पूनमके चाँद-से चमकते मोतीके दाने राजाके सामने रख दिये। राजा आश्चर्यचकित हो गया। महात्माके परम सिद्ध होनेका उसे पूर्ण विश्वास हो गया। उसने सोचा 'ऐसे विलक्षण शक्तिशाली पुरुषसे लड़कीका विवाह करनेमें लड़कीको तो किसी दुःखकी सम्भावना नहीं है। परन्तु इनसे कुछ काम और क्यों न ले लिया जाय।' राजाकी एक दूसरे बड़े राजासे शत्रुता थी, वह राजा तो मर गया था, उसका छोटा कुमार था। इसने सोचा 'शत्रुका बीज भी अच्छा नहीं, महात्माके हाथों यह कंटक दूर हो जाय तो अच्छा।' ऐसा सोचकर राजाने कहा—'भगवन्! मोती तो बड़े अच्छे आप ले आये। एक काम और है, अमुक राज्यके राजकुमारका सिर आनेपर लड़कीका ब्याह होगा, ऐसा प्रण है। अतएव यदि हो सके तो आप इसके लिये चेष्टा करें।' महात्माने कहा—'अरे, इसमें कौन बड़ी बात है, अभी जाता हूँ। महात्माजी उस राज्यमें गये। राजमातासे मिले। राजमाताने महात्माका नाम सुन रक्खा था, इससे उसने बड़ी अच्छी आवभगत की।

इन्होंने कहा—'भाई! हम तो एक कामसे आये हैं, तुम्हारे कुमारका हमें सिर चाहिये। हमने एक राजासे कहा था, अपनी कन्याका ब्याह हमसे कर दो, उसने कहा है कि अमुक राजकुमारका सिर ला देंगे तब विवाह होगा। अतः तुम हमें अपने लड़केका सिर दे दो।' एकलौता लड़का था और वही राज्यका अधिकारी था। महात्माके वचन सुनकर राजमाताके प्राण सूख गये, परन्तु हृदयमें श्रद्धा थी, उसको विश्वास था कि सच्चे महात्मासे किसीका कोई अकल्याण नहीं हो सकता। उसने कहा—'भगवन्! लड़केका सिर मैं कैसे उतारूँ? आप इस लड़केको ही ले जाइये।' महात्मा बोले 'यह और अच्छी बात है, उसने तो सिर ही माँगा था, हम तो पूरा ले जाते हैं, फिर सिर उतारकर हमें क्या करना है।'

'भगवन्! इसे मैं आपके हाथोंमें सौंप रही हूँ।'

'हाँ, हाँ, भगवान् सब मंगल करेंगे।'

राजकुमारको लेकर महात्मा अपनी नगरीमें लौटे और राजमहलमें जाकर बोले—'लो, यह समूचा राजकुमार! अब पहले विवाह करो, खबरदार, जबतक विवाह न हो, लड़केको छूना मत।' राजाने आनन्दमग्न होकर कहा—'ठीक है भगवन्! ऐसा ही होगा' महात्माने कहा—'तो बस, अब देर न करो!'

विवाहमण्डप रचा हुआ था ही। चौकी बिछायी गयी। महात्माजी दूल्हा बने। कन्या आयी। कन्याको महात्माने एक बार फिर नखशिख देखा। अकस्मात् बोल उठे—'अरे! उस राजकुमारको तो यहाँ बुलाओ!' राजकुमार बुलाया गया। महात्माने उसे कन्याके बगलमें खड़ा कर दिया। फिर दोनोंको एक बार नखशिख देखकर बोले—'भई! जोड़ी तो यही सुन्दर है। राजा! बस, अभी इस राजकुमारसे राजकुमारीका ब्याह कर दो। खबरदार, जो जरा भी चीं-चपट की।' राजा नाहीं न कर सका। राजकुमारीका विवाह शत्रु राजकुमारसे हो गया। महात्माके विचित्र आचरणका रहस्य अब राजाके समझमें आया, राजाका मन पलट गया। शत्रु मित्र हो गया! महात्मा अपनी कुटियापर जाकर पूर्ववत् धूनी तपने लगे।'

इस कहानीसे यह मालूम हो गया होगा कि संत पुरुषकी क्रियाएँ किसी अज्ञात उद्देश्यसे बड़ी विलक्षण हुआ करती हैं, उनकी क्रियाओंसे उनकी स्थितिका पता लगाना बहुत ही कठिन होता है। तथापि आजकलके जमानेमें—जहाँ लोग नाना प्रकारसे ठगे जा रहे हैं—विशेष सावधानी रखना ही उत्तम है। श्रद्धा और सेवा करके सत्संग करना चाहिये और जिन संत पुरुषके संगसे अपनेमें दैवी सम्पदाकी वृद्धि, भगवान्‌की ओर चित्तवृत्तियोंका प्रवाह, शान्ति और आनन्दकी वृद्धि प्रतीत हो, उन्हींको संत मानकर उनसे विशेष लाभ उठाना चाहिये। अपनी बुद्धि जिनको संत स्वीकार न करे उनकी निन्दा तो नहीं करनी चाहिये परन्तु अपने उनसे कोई गुरु-शिष्यका सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। निन्दा तो इसलिये नहीं कि प्रथम तो किसीकी भी निन्दा करना ही बहुत बुरा है, दूसरे, हम संतका बाहरी आचरणसे निर्णय भी नहीं कर सकते। और गुरु-शिष्यका सम्बन्ध इसलिये नहीं कि, श्रद्धारहित और दोषबुद्धियुक्त ऐसे सम्बन्धसे कोई लाभ नहीं होता।

संत और चमत्कार

अहिंसा-सत्यादि यम-नियमोंकी पूर्ण प्रतिष्ठाके साथ ही परमात्माके स्वरूपमें सम्पूर्णतया स्थिति होनेके कारण संतोंके जीवनमें अलौकिक योगविभूतियोंका प्रकट होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। भगवान् स्वयं शुद्ध सत्त्वमयी और कल्याणमयी नित्य अनन्त दिव्य विभूतियोंसे सम्पन्न हैं। उनका 'ऐश्वर-योग' प्रसिद्ध है। और ऐसी सिद्धियाँ हेय भी नहीं हैं। संसारके प्राचीन और अर्वाचीन सभी धर्मोंके संत पुरुषोंके जीवनमें योगविभूतियोंका होना न्यूनाधिक रूपमें पाया जाता है। अवश्य ही सत्यके साथ-साथ संसारमें मिथ्या, दम्भ, धूर्तता भी रहती ही है और पाखंडी लोग अपने स्वार्थसाधनके लिये नकली सिद्धियाँ दिखलाकर अथवा लोगोंकी आँखोंमें धूल झोंककर अपना निकृष्ट व्यवसाय भी चलाते ही हैं, पर इससे योगविभूतियोंको दूषित नहीं किया जा सकता। तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अणिमादि सिद्धियाँ और ऐसी ही अन्यान्य योगविभूतियोंका प्राप्त करना संतजीवनका उद्देश्य कदापि नहीं है। संतकी महाविभूति तो भगवान्‌के साथ पूर्णतया एकात्मभाव है। इसीके लिये साधकदशामें संत अपने जीवनको महान् त्याग, वैराग्य और तपस्याकी प्रचण्ड आगमें तपाता रहता है, और इस परम सत्यको उपलब्ध करनेके बाद इसीमें रमकर तदाकार हो जाता है। सिद्धियाँ आनुषंगिक रूपमें आती हैं तो वह न तो इनको

कोई महत्त्व देता है, न इनकी प्राप्तिकी इच्छा करता है, न इनका प्रदर्शन करके देहपिण्डकी और मिथ्या नामकी पूजा ही करवाना चाहता है; क्योंकि वह जानता है सिद्धियोंमें संतभाव नहीं है बल्कि सिद्धियाँ तो साधनमें महान् विघ्नरूप हैं और परमार्थपथसे गिरा देती हैं और ये सिद्धियाँ राक्षसोंमें भी हो सकती हैं।

जो लोग सिद्धियोंका प्रदर्शनकर नाम-रूपकी पूजा कराना चाहते हैं, वे तो संत हैं ही नहीं। बल्कि आजकल तो बहुत लोग ऐसे भी मिल सकते हैं जिनको यथार्थ योगविभूतियाँ भी प्राप्त नहीं हैं, जो केवल धोखा देनेकी कलामात्र जानते हैं, और उसीके सहारे भोले लोगोंको ठगते हैं। संतका महान् चमत्कार तो उसका नित्य सत्य अखण्ड ईश्वरमय जीवन है, जिस जीवनके दर्शन, कथन, श्रवण और परिचय सभी आश्चर्यमय हैं।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

संतोंके स्वभावमें विभिन्नता

सिद्ध संतोंकी स्वरूपस्थिति एक-सी होनेपर भी व्यावहारिक जगत्में उनके स्वभावमें बहुत ही विभिन्नता रहती है। जो संत, जिस देशमें, जिस परिस्थितिमें, जिस शिक्षा-दीक्षामें, जिस वातावरणमें प्रकट हुए हैं और पले हैं, प्रायः उसीके अनुसार उनका स्वभाव भी होता है। कोई अत्यन्त एकान्तसेवी, निवृत्तिपरक होकर लोकालयसे सर्वथा अपनेको अलग रखना चाहते हैं, कोई दिन-रात विभिन्न प्रकारके लोगोंमें रहकर उनकी सहायाता करते, उन्हें मार्ग बतलाते, अन्याय-अत्याचारका सामना करते और सत्य धर्मकी प्रतिष्ठा करनेमें लगे रहते हैं। एकान्तवासी संत भी कम लोकसेवा नहीं करते। एकान्त स्थानमें उनका दिन-रात भगवान्के साथ आत्मासे ही नहीं,—शरीर-मन-वाणीसे भी संयोग रहना जगत्के लिये बहुत ही कल्याणकारी होता है। उनका अस्तित्व ही जगत्के लिये बहुत बड़ा आश्वासन और महान् लाभ है। लोकालयमें रहनेवाले संतोंमें गृहस्थ, संन्यासी दोनों ही होते हैं, और गृहस्थोंमें भी स्वभाव तथा रुचिभेदके अनुसार कोई त्यागमार्गी और अत्यागमार्गी होते हैं—कोई विषयोंके स्वरूपतः त्यागकी शिक्षा देते हैं तो कोई राग-द्वेषत्यागपूर्वक वशमें किये हुए मन-इन्द्रियोंसे भगवत्प्रीत्यर्थ विषयसेवनकी सम्मति देते हैं और तदनुसार ही दोनोंकी अपनी रहनी-करनीमें भी अन्तर होता है। ऐसे संत सभी देशों, सभी जातियों, सभी धर्मों और सभी सम्प्रदायोंमें प्रायः सभी युगोंमें होते आये हैं।

संत-जगत्में उपर्युक्त निवृत्ति और प्रवृत्तिपरक संतोंके सिवा कुछ ऐसे संत भी होते हैं, जिनके बाह्य आचरण बाल, जड, उन्मत्त या पिशाचवत् होते हैं। इन्हीं लोगोंको अवधूत आदि नामोंसे कहा जाता है। ऐसे लोग प्रायः शिक्षा नहीं देते, अपनी मौजमें रहकर ही जगत्की अनुपम सेवा करते रहते हैं। इनमेंसे कई देखनेमें बहुत ही घृणित आचरणवाले होनेपर भी अपनी सन्निधिमात्रसे लोगोंका अपार कल्याण कर देनेकी शक्ति रखते हैं। अवश्य ही बहुत-से पाखण्डी लोग भी बाहरसे इन लोगों-जैसा वेष बनाकर जगत्को ठगा करते हैं परन्तु इससे उन विधि-निषेधके परे पहुँचे हुए महात्माओंके निर्मल साधुचरित्रपर कोई कलंक नहीं आ सकता। जो लोग धन, स्त्री और पूजा-प्रतिष्ठाके लिये इन लोकोत्तर पुरुषोंकी नकल कर, अपने वर्णाश्रमविहित सन्ध्या-पूजन, माता-पिताका सेवन, परिवार-पालन, यज्ञ-दान, देश और धर्मकी सेवा, खान-पानकी शुद्धि एवं शास्त्रीय आचार-विचार आदिको छोड़कर म्लेच्छवत् मनमाना आचरण करते हैं वे तो नरकगामी ही होते हैं।

अवश्य ही विधि-निषेधके ऊपर ऐसे उच्च स्तरमें पहुँच जानेपर जहाँ परमात्माके सत्यस्वरूपमें इतनी प्रगाढ़ तल्लीनता हो जाती है कि समस्त नियमोंके बन्धन अपने-आप टूट जाते हैं, जहाँका नियम ही स्वाभाविक स्वच्छन्दता है, परन्तु उस स्थितिके पहले जान-बूझकर शास्त्र और सदाचारके आवश्यक बन्धनोंको तोड़नेवालेकी तो वही दशा होती है जो नदीके उस पार भूमिपर उतरे हुए पथिककी नकल करनेमें नदीकी बीच धारामें नौकाको छोड़ देनेवालेकी होती है। संतशिरोमणि प्रेममयी गोपियोंके सम्बन्धमें उद्धव कहते हैं—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।६१)

'अहो! इन गोपियोंकी चरणरजको सेवन करनेवाली

वृन्दावनमें उत्पन्न हुई गुल्म, लता और ओषधियोंमेंसे मैं कुछ हो जाऊँ, जिससे इन महाभागाओंकी चरणरज मुझे भी प्राप्त हो। क्योंकि इन गोपियोंने बहुत ही कठिनतासे त्याग किये जानेयोग्य स्वजनोंको और आर्यपथको त्यागकर भगवान् मुकुन्दके मार्गको पाया है। जिनको श्रुतियाँ अनादिकालसे खोज रही हैं (परन्तु पाती नहीं)।'

यह 'आर्यपथत्याग' उन कृष्णमयी गोपिकाओंके द्वारा ही हो सकता है जो घर-संसारकी दुस्त्यज ममताको सर्वथा छोड़कर, समस्त मोहके परदोंको फाड़कर अनन्यरूपसे सर्वथा-सर्वदा और सर्वत्र मुरलीमनोहर श्रीकृष्णमें ही रमण करती थीं। जिनके जीवनका प्रत्येक क्षण भगवान्में रमण करनेके लिये ही सुरक्षित था। उन नित्य परमात्मयोगमें अखण्ड रूपसे स्थित श्रीगोपीजनोंकी दिव्य लीलाओंकी नकल करनेवाले विषयी मनुष्य तो गहरे पतनके समुद्रमें गिरकर डूबते ही हैं!

गुप्त संत और उनके कार्य

अधिकांश सच्चे संत प्रायः अपनेको लोगोंमें प्रकट नहीं करके ही जगत्में विचरण किया करते हैं। संत-परम्पराके परम प्रसिद्ध चिरंजीवी संत आज भी हैं। और वे हमलोगोंके बीचमें आते भी हैं पर हम उन्हें पहचान नहीं सकते। भिन्न-भिन्न स्तरोंमें भगवान्का कार्य करनेवाले ऐसे हजारों संत पृथ्वीपर हैं, जो लोकचक्षुसे परे रहकर अपना महत् कार्य कर रहे हैं। कहते हैं कि संतजगत्में सब कार्य नियमपूर्वक होते हैं। नये संतोंकी दीक्षा, पुरानोंके द्वारा विभिन्न कार्योंका सम्पादन, संतजगत्में शासन, नवीन कार्योंकी सूचना, जगत्के विपत्तिनिवारणकी व्यवस्था, प्रकृतिकी क्रियाओंद्वारा यथायोग्य दण्डविधान आदि महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्ध संतोंके एक सुसंगठित मण्डल और उनकी विभिन्न अनेकों शाखाओंद्वारा सदा संचालित होते रहते हैं। ऐसे संतोंके सर्वोपरि संचालक परम सद्गुरु भगवान् शंकर हैं जो रुद्ररूपसे जगत्का संहार और सुन्दर शिवरूपसे सदा कल्याण करते रहते हैं। और उनकी अधीनतामें अनेकों सिद्ध-महात्मा संत पुरुष निरन्तर भगवल्लीलामें सहायक होकर भगवदाज्ञानुसार कार्य कर रहे हैं। इन संतोंको कुछ लेना है ही नहीं, पूजा करवानी ही नहीं, ख्याति और प्रशंसासे कोई सरोकार ही नहीं और लोगोंकी सर्टिफिकेट न होनेसे इनका कोई नुकसान होता ही नहीं, फिर ये क्यों किसी बहिर्वेशमें जगत्के लोगोंके सामने प्रकट होकर अपना परिचय दें? हाँ, अधिकारी पुरुषको इनमेंसे किन्हीं-किन्हींके दर्शन आज भी होते हैं, हो सकते हैं। कहा जाता है कि देवर्षि नारद, सनकादि, भगवान् दत्तात्रेय, शुकदेव, मैत्रेय आदि प्राचीन, और शंकराचार्य, रामानुजाचार्य तथा गोरखनाथ, भर्तृहरि, गोपीचन्द, कबीर, नानक, तुलसीदास, ज्ञानदेव, समर्थ गुरु रामदास आदिसे लेकर रामकृष्ण परमहंस, विजयकृष्ण गोस्वामी प्रभृति अर्वाचीन अनेकों संतोंके दर्शन आज भी उनके अन्तरंग भक्तोंको होते हैं। इसमें कोई आश्चर्यकी बात भी नहीं है। यह तो सिद्ध संतमण्डलकी बात रही। अस्तु।

इन संतोंके सिवा छिपे हुए ऐसे अनेकों संत—जो विविध स्थानोंमें विविध कार्य करते हुए हमलोगोंमें रह रहे हैं—हैं जो अज्ञातरूपसे इस मण्डलकी दृष्टि और शासनसूत्रमें बँधे रहनेपर भी विभिन्न स्थानोंमें अप्रकटरूपसे साधन कर रहे हैं। अतएव यह नहीं समझना चाहिये कि जितने और जो हमलोगोंकी जानकारीमें हैं वे और उतने ही संत हैं। संतोंके लिये यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि वे संसारमें प्रसिद्ध हों ही। वरं प्रसिद्ध तो उनमेंसे बहुत थोड़े ही होते हैं। और साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि संतकी प्रसिद्धि पाये हुए अनेकों पुरुष वस्तुतः संत होते भी नहीं। उनका केवल संतका ऊपरी बानामात्र होता है। मन असंत तथा विषयी ही होता है। ऐसे लोगोंसे संसारकी बहुत बुराई होती है। ये धर्मसंचालनके कार्यमें अयोग्य होते हुए भी जब उसमें अनधिकार प्रवेश कर बैठते हैं, तब अपने हृदयके विकारों और व्याधियोंको ही जगत्में फैलाते हैं, और अपने सम्पर्कमें आनेवाले नर-नारियोंके जीवनोंको पापमय, फलतः दुःख और अशान्तिपूर्ण बनानेमें सहायक होते हैं। सच्चे संत अधिकांश अप्रकट ही रहते हैं, उनकी कोई ख्याति या प्रसिद्धि नहीं होती। ऐसे सच्चे संतोंको पाने और उन्हें पहचाननेके लिये संत-साधनाका आश्रय करना परम आवश्यक है। संतोचित साधनोंका—उपर्युक्त गीतोक्त चालीस साधनोंका अभ्यास करनेसे—ज्यों-ज्यों हमारे अंदर उन गुणोंका विकास होगा, त्यों-ही-त्यों हम संत और संतकृपाके अधिकारी होंगे। कठिनता तो यह है कि हम संतोंके चमत्कारोंको ही पूजते हैं, उनकी साधनाको नहीं। जिसके बिना हम यथार्थ लाभसे वंचित ही रह जाते हैं।

संतभावकी प्राप्तिके साधन

भगवान् या भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति ही मनुष्यजीवनका उद्देश्य है और जो इस उद्देश्यमें सफल हो चुके हैं, वे ही संत हैं। अतएव इस संतभावकी प्राप्तिमें ही मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है। इसकी प्राप्तिके अनेकों उपाय शास्त्रों और संतोंने बतलाये हैं परन्तु इनमें प्रधान दो ही हैं।—१-भगवान्‌की नित्य असीम कृपाका आश्रय और २-लक्ष्य-प्राप्तिके लिये दृढ़ निश्चय और अटल विश्वासके साथ किया जानेवाला पुरुषार्थ!

भक्तिमार्गी साधक दोनोंमेंसे एकका, अथवा दोनोंका साधन कर सकते हैं। परन्तु ज्ञानमार्गी प्राय: दूसरेका ही करते हैं। योग तो दोनोंमें ही आवश्यक है। जबतक चित्तवृत्तिका अपने इष्टमें योग नहीं होता तबतक साधनमें सफलता मिल ही नहीं सकती। उपर्युक्त दोनों उपायोंमें भक्तिमार्गीको पहला अधिक प्रिय होता है, वह अपने पुरुषार्थका भरोसा नहीं करता, और वैसा करनेमें वह अपनेमें एक अभिमानका दोष आता देखकर सिहर उठता है; साथ ही उसकी यह भी धारणा है कि जीवके पुरुषार्थसे भगवान्‌का मिलना असम्भव है, वे तो स्वयं कृपा करके जब अपना दर्शन देकर कृतार्थ करना चाहते हैं, तभी जीव उनके दर्शन पा सकता है। इसीलिये वह उनकी कृपापर विश्वास करके तन-मन-धनसे उनके शरणापन्न हो जाता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह सब क्रियाओंको त्यागकर चुपचाप हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ जाता है, या आलसीकी भाँति तानकर सोता है। वह पुरुषार्थ नहीं करता, इसका अर्थ यही है कि वह पुरुषार्थका अभिमान अपने अंदर नहीं उत्पन्न होने देता, परन्तु अपने तन-मन-धन सबको भगवान्‌का समझकर अनवरत उनकी सेवामें तो लगा ही रहता है, क्षणभर भी स्वच्छन्द विश्राम नहीं लेता। वस्तुत: वही परम पुरुषार्थी होता है जो अपनेको भगवान्‌के परतन्त्र मानकर यन्त्रवत् उनकी सेवामें लगा रहता है। जो मनुष्य यह कहता है कि मैं भगवान्‌के शरणापन्न हूँ, मुझे तो उन्हींकी कृपाका भरोसा है, परन्तु जो भगवान्‌की आज्ञानुसार सेवा नहीं करता, वह या तो स्वयं धोखेमें है या दूसरोंको धोखा दे रहा है। शरणागतिमें साधनका या पुरुषार्थका अथवा यों कहें कि अभिमानयुक्त कर्मका सर्वथा अभाव है, क्योंकि शरणागतिके साधकको साधन या पुरुषार्थका आश्रय नहीं होता। परन्तु उसमें भगवत्सेवारूप कर्मका कभी अभाव नहीं होता। भगवत्सेवाके लिये तो उसका सब कुछ समर्पित ही है। परन्तु ऐसे भक्तको भी ज्ञानकी आवश्यकता है, ज्ञानकी सुदृढ़ नीवपर ही भक्तिकी विशाल और मनोहर अट्टालिका खड़ी हो सकती है और ज्ञानमें प्रेम तो है ही। अतएव यद्यपि इन दोनोंका समन्वय है, तथापि एककी प्रधानतामें दूसरा छिपा-सा रहता है। इससे वह स्पष्ट व्यक्त नहीं होता।

गीतोक्त निष्कामकर्मयोग तो अहैतुकी सक्रियभक्तिका ही एक रूपान्तरमात्र है। निष्कामकर्मयोगी कर्ममें आसक्ति और फलकी चाह न रखकर सब कुछ भगवान्‌के लिये ही करता है। वह समझता है कि कर्ममें ही मेरा अधिकार है, फलमें कदापि नहीं। सब साधनोंके एकमात्र परम फल तो भगवान् ही होने चाहिये, फिर मैं भगवदर्थ कर्म करनेसे वंचित क्यों रहूँ? यह समझकर वह ममता, आसक्ति और आशा-निराशाको छोड़कर मन-बुद्धि आदिको भगवान्‌के अर्पणकर नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करता हुआ भगवान्‌की पूजाके लिये ही अपने जिम्मेमें आये हुए कर्मोंका सुचारू रूपसे नि:संग होकर उत्साहपूर्वक सम्पादन करता रहता है।

तप-स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानात्मक पतंजल्युक्त क्रियायोगका भी भक्तियोगमें समावेश हो जाता है। भक्ति-साधनामें होनेवाले नाना प्रकारके कष्टोंको भक्त सत्कारपूर्वक सहन करता है, भगवान्‌की सेवामें प्राणतक देनेमें वह आनन्दका अनुभव करता है और प्रारब्धवश प्राप्त हुए प्रत्येक भीषण-से-भीषण संकटको वह भगवत्प्रसाद समझकर उसका सुखपूर्वक स्वागत करता है, यह उसका परम तप है। वह सदा-सर्वदा भगवद्-गुणानुवादके पढ़ने-सुननेमें तथा भगवान्‌के नाम-जपमें अपनेको लगाये रखता है, यह उसका स्वाध्याय है, और ईश्वरके अनन्य शरण तो वह है ही। अवश्य ही पतंजल्युक्त क्रियायोगका पृथक् साधन भी संतभावकी प्राप्तिमें प्रधान उपाय हो सकता है, परन्तु उसमें भी ज्ञान और भक्तिका सम्मिश्रण है ही। बहुत-से साधक अष्टांग योग और षडंग हठयोगका साधन करते हैं और वह भी बहुत ठीक है। परन्तु ये सारे साधन उपर्युक्त दूसरे साधनमें आ जाते हैं।

यद्यपि सबके लिये एकहीसे साधन समानरूपसे उपयोगी नहीं हो सकते, तथापि नीचे कुछ ऐसे उपाय लिखे जाते हैं, जिनके साधन करनेसे संतभावकी

प्राप्तिमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

१-शुद्ध सत्य कमाईका परिमित और नियमित लघु भोजन करना।

२-मीठी सत्य वाणी बोलना।

३-सबकी यथायोग्य सेवा करना, परन्तु मनमें ममत्व और अभिमान न आने देना।

४-शिष्य न बनाना।

५-पूजा-प्रतिष्ठा और ख्यातिसे यथासाध्य बचना।

६-तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, खण्डन-मण्डन और कलह न करना।

७-अपने इष्ट और साधनको ही सर्वोपरि मानना, परन्तु दूसरेके इष्ट और साधनको न नीचा समझना, न उनकी निन्दा करना।

८-शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिको सदा शुद्ध आध्यात्मिक वायुमण्डलमें रखनेकी चेष्टा करना। यथासाध्य इनको भगवत्सम्बन्धी कार्योंमें ही लगाये रखना।

९-भगवान्‌को सर्वत्र, सर्वदा विराजित देखना।

१०-प्रतिदिन कम-से-कम दो घंटे एकान्तमें भगवान्‌का ध्यान करना, भगवान्‌से भगवद्भावको पानेकी सच्ची प्रार्थना करना और ऐसा अनुभव करना मानो भगवान्‌की पवित्र शक्ति मेरे अन्दर प्रवेश कर रही है और मेरा हृदय पवित्रसे पवित्रतर और पवित्रतम होता जा रहा है, और अज्ञान, अहंता, ममता, राग-द्वेषादि दोषोंका नाश होकर उनके स्थानपर दैवी गुणोंका विकास बड़ी तेजीसे हो रहा है।

११-काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, दर्प, वैर, ईर्ष्या आदि मानसिक दोषोंको अपने अंदर जगह देनेसे इनकार कर देना, इनको जरा भी आदर न देना और पद-पदपर इनका तिरस्कार करना। याद रखना चाहिये कि ये सब दोष हमारी लापरवाही अथवा अज्ञात वा ज्ञात अनुमतिसे ही हमारे अंदर रह रहे हैं। जिस दिन हमारी आत्मा बलपूर्वक इनको अंदर रहनेसे रोक देगी उस दिनसे इनका अंदर रहना कठिन हो जायगा। बार-बार तिरस्कारपूर्ण धक्के खा-खाकर आखिर ये हमारे अंदरसे सदाके लिये चले जायँगे।

१२-मन जहाँ-तहाँ दौड़ता है और मनमानी करता है, इसमें प्रधान कारण हमारी कमजोरी ही है। वस्तुतः आत्माकी दृष्टिसे या अनन्तशक्ति परमात्माका सनातन अंश होनेके कारण—जीवमें अपार शक्ति है, उस आत्मिक या ईश्वरीय शक्तिके सामने मन-इन्द्रिय आदिकी शक्ति तुच्छ और नगण्य है, बल्कि मन-इन्द्रियादिमें जो शक्ति है, वह आत्माकी ही दी हुई है। शक्तिका मूल उत्स और एकमात्र भण्डार तो आत्मा ही है। वह आत्मा यदि अपने स्वरूपको सम्हालकर, उसमें प्रतिष्ठित होकर बलपूर्वक मन-इन्द्रियादिको आज्ञा दे दे कि 'खबरदार! अब तुम असत् विषयोंको अपने अंदर नहीं रख सकते' तो फिर इनकी ताकत नहीं है कि ये इन विषयोंको अपनेमें स्थान दे सकें। इसलिये मन-इन्द्रियोंको सदा आत्माका अनिवार्य आदेश देते रहना चाहिये। पूर्वाभ्यासवश आत्मासे अनुमति पानेकी इनकी चेष्टा एक-ही-दो बारके आदेशसे नष्ट नहीं हो जायगी। परन्तु जब-जब ये अनुमति माँगें, तभी तब इनसे स्पष्टतया कह देना चाहिये कि 'तुम हमारे अधीन हो-तुम्हें हमारी आज्ञानुसार चलना ही होगा।' और इन्हें बड़ी सावधानीसे निरन्तर भगवान्‌में लगाये रखना चाहिये।

१३-अपने इष्ट मन्त्रका या भगवन्नामका स्मरण-चिन्तन जितना अधिक-से-अधिक हो सके, श्रद्धा और विश्वासपूर्वक करना चाहिये।

१४-जहाँतक हो सके—स्त्रियोंसे मिलना-जुलना बंद कर देना चाहिये। संतभावको चाहनेवाली स्त्रियाँ भी पुरुषोंसे अनावश्यक और अधिक न मिलें।

१५-यथासाध्य सांसारिक वस्तुओंका संग्रह कम-से-कम करना चाहिये और संगृहीत वस्तुओंपर एकमात्र परमात्माका ही अधिकार मानना चाहिये।

संतभावकी प्राप्तिमें विघ्न

संतभावकी प्राप्तिमें प्रधान विघ्न है—कीर्तिकी कामना। स्त्री-पुत्र, घर-द्वार, धन-ऐश्वर्य और मान-सम्मानका त्याग कर चुकनेवाला पुरुष भी कीर्तिकी मोहिनीमें फँस जाता है। कीर्तिकी कामनाका त्याग तो दूर रहा, स्थूल मान-प्रतिष्ठाका त्याग भी बहुत कठिन होता है। जिस मनुष्यकी साधनधारा चुपचाप चलती है, उसको इतना डर नहीं है, परन्तु जिसके साधक होनेका लोगोंको पता चल जाता है, उसकी क्रमशः ख्याति होने लगती है, फिर उसकी पूजा-प्रतिष्ठा आरम्भ होती है, स्थान-स्थानपर उसका मान-सम्मान होता है, और इस पूजा-प्रतिष्ठा तथा मान-सम्मानमें जहाँ उसका तनिक भी फँसाव हुआ कि पतन आरम्भ हो जाता है। इन्द्रियाँ प्रबला हैं ही—मान-सम्मान तथा पूजा-प्रतिष्ठामें जहाँ

इन्द्रियोंको आराम पहुँचानेवाले भोग भक्तोंद्वारा समर्पित होकर इन्द्रियोंको उपभोगार्थ मिलने लगे, वहीं उनकी भोगवासना और भी विशेष जागृत होकर प्रबल हो उठती है, इन्द्रियाँ मनको खींचती हैं, मन बुद्धिको—और जहाँ बुद्धि अपने परम लक्ष्य परमात्माको छोड़कर विषयसेवनपरायणा इन्द्रियोंके अधीन हो जाती है वहीं सर्वनाश हो जाता है। अतएव संतभावकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेवाले साधकोंको बड़ी ही सावधानीके साथ ख्याति, मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा आदिसे अपनेको बचाये रखना चाहिये। इन सबको अपने साधनमार्गमें प्रधान विघ्न समझकर इनका विषवत् त्याग करना चाहिये। यह बात याद रखनी चाहिये कि विषयी पुरुषोंकी मनोवृत्तिसे साधककी मनोवृत्ति सर्वथा विपरीत होती है। विषयी धन-ऐश्वर्य, मान-यश आदिके प्रलोभनमें पड़ा रहता है तो साधक इनके त्याग या इनसे अलिप्त रहनेमें ही अपना कल्याण समझता है।

ऐसे साधकोंके भक्तों और अनुयायियोंको भी चाहिये कि वे संतसेवा—गुरुभक्तिके नामपर भ्रमवश इन्द्रियोंकी भूख बढ़ानेवाले मोहक भोग उनके चरणोंपर चढ़ाकर उनके लिये विलाससामग्रियोंका संग्रहकर उन्हें पवित्र मर्यादित संत-जीवनसे गिरानेकी चेष्टा न करें। संत और गुरुका सम्मान और उनकी पूजा करना शिष्यका परम कर्तव्य है और उसके लिये लाभदायक भी है, परन्तु उनकी सच्ची पूजा उसी कार्यमें है जो उनके लिये हानिकर नहीं है और जो आध्यात्मिक उन्नतिमें सहायक होनेके कारण हृदयसे उनका इच्छित है। जो मान-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठाके लिये ही संतका बाना धारण करता है वह तो संत ही नहीं है। इसलिये सच्चे साधक संत मान-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठाकी इच्छा क्यों करने लगे? यदि भ्रमवश करते हैं तो वह उनके साधनमें विघ्नरूप होनेके कारण उनके लिये महान् हानिकर है। अतएव भक्त और शिष्योंको संत और गुरुके लिये विलाससामग्री जुटानेमें आत्मसंयमसे काम लेना चाहिये, क्योंकि विलाससामग्रीसे संतका यथार्थ सम्मान कभी नहीं होता, बल्कि त्यागी महात्माको भोगपदार्थ देना या भोगपदार्थके लिये उनके मनमें लालच उत्पन्न करनेकी चेष्टा करना तो उनका अपमान या तिरस्कार ही करना है। शरशय्यापर पड़े हुए वीरशिरोमणि भीष्मके लटकते हुए मस्तकके लिये रूईका तकिया नहीं शोभा देता, उसके लिये तो अर्जुनके तीक्ष्ण बाणोंका तकिया ही प्रशस्त और योग्य है। इसी प्रकार संत-महात्माओंका यथार्थ सम्मान उनके आज्ञापालनमें, उनके आदर्श चरित्रके अनुकरणमें और उनके वेशके अनुरूप ही उनकी सेवा करनेमें है। पहुँचे हुए संत-महात्मा पुरुष कभी भक्तोंका अत्यन्त आग्रह देखकर उनकी प्रसन्नताके लिये किसी वैध भोगसामग्रीको स्वीकार कर लेते हैं, जो निषिद्ध न होनेपर भी उनके स्वरूपके अनुरूप शोभा देनेवाली नहीं है, तो इससे उनका अवश्य ही कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं; वे तो अपने स्वरूपके विपरीत वस्तुका स्वीकार करके अपने संत-स्वभावका ही सुन्दर परिचय देते हैं, परन्तु उनकी देखादेखी साधक संत यदि वैसा करने लगते हैं तो उनकी बड़ी हानि हो सकती है। अतएव साधक संतोंको इस विघ्नसे बचे रहना चाहिये।

विलास-सामग्री, मान-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठाका त्याग करनेपर भी इनके त्यागसे होनेवाली कीर्तिकी कामना तो किसी-न-किसी अंशमें साधकके मनमें प्रायः रह ही जाती है। इसीलिये सच्चे संत लोग त्यागका भी त्याग कर देना चाहते हैं, उनके लिये त्यागकी स्मृति भी रसहीन हो जाती है। इस प्रकार जिन संत-महात्माओंने मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठाके साथ ही कीर्ति-कामनाका भी कतई त्याग कर दिया है वे ही यथार्थ संत हैं। साधक-संतोंके लिये इस कीर्ति-कामनारूपी प्रधान विघ्नके त्यागकी तो आवश्यकता है ही—छोटे-छोटे निम्नलिखित विघ्नोंसे भी उन्हें बचे रहना चाहिये—ये छोटे विघ्न भी आश्रय पानेसे आगे चलकर बड़े हो जाते हैं और साधकको लक्ष्यच्युत करके उसका सर्वनाश कर देते हैं—

१-सभा-समितियोंमें शामिल होना और अनावश्यक अखबार पढ़ना।

२-किसी भी मनुष्यविशेष, स्थानविशेष या वस्तुविशेषमें विशेषरूपसे ममता होना।

३-मठ या आश्रमादिकी स्थापना करना।

४-साधनमें आलस्य, दीर्घसूत्रता, प्रमाद, अश्रद्धा, अविश्वास और निश्चयकी कमी।

५-शास्त्रार्थ करना।

६-अपनेको संत समझना और दूसरोंको असंत।

७-दूसरोंके दोष देखना और उन्हें प्रकट करना।

८-किसी भी मनुष्यका अपमान करना और किसीकी निन्दा करना।

९-परचर्चा।

१०-नाटक-सिनेमा आदि देखना-असत् साहित्य पढ़ना।

११-अशास्त्रीय कार्यमें रुचि।

१२-बड़ोंका असम्मान।

१३-किसी भी जीवसे घृणा करना।

१४-विपत्तिमें घबराकर और सम्पत्तिमें हर्षसे फूलकर कर्तव्यको भूल जाना।

१५-जगत्के विषयोंकी प्राप्तिमें जीवनकी सफलता समझना और इस सफलतामें भगवान्की कृपाका या किसी साधन-सिद्धिका अनुभव करना।

१६-किसी कारणवश किसी कार्यके अकस्मात् सिद्ध हो जानेपर या किसी बातके सत्य हो जानेपर अपनेको सिद्ध मानना और लोगोंको चमत्कार दिखलानेकी इच्छा करना।

संतसे जगत्का उपकार और संत-महिमा

संतका जीवन ही जगत्के कल्याणके लिये होता है, अतएव उनका जगत्पर जितना उपकार है, उतना और किसीका भी नहीं है। उनका लोकसेवाव्रत और उनका यथार्थ विश्वप्रेम जगत्में जिस कल्याणकी सुधाधारा बहाता रहता है, वह धारा यदि कभी सूख गयी होती तो अबतक सारा जगत् सर्वथा राक्षसोंका भयानक नरकागार बन गया होता। देवासुरयुद्ध चलता है। कभी-कभी असुरोंकी विजय होती है, राक्षसोंका अभ्युदय भी होता है परन्तु संतोंका अस्तित्व और उनका अनवरत कल्याण-वितरण राक्षसोंको स्थायी नहीं होने देता। संत जब निरुपाय-से हो जाते हैं या स्वयं अपनी तपःशक्तिसे कार्य न लेकर भगवान्से काम लेना चाहते हैं तब संतोंके रक्षणार्थ स्वयं भगवान्को अवतीर्ण होना पड़ता है, वस्तुतः भगवान्के अवतारमें प्रधान हेतु 'साधु-परित्राण' ही है। संत जगत्में जिन विशुद्ध सात्त्विक परमाणुओंको फैलाते रहते हैं, उसीसे सत्त्वगुण और सदाचारकी रक्षा होती है। संत प्रत्यक्ष भगवान्के विग्रह हैं। भगवान्से मिलना बहुत कठिन है परन्तु संत हमसे मिलनेके लिये ही संसारमें—हमलोगोंके बीचमें रहते हैं—इससे ये हमारे लिये भगवान्से बढ़कर उपादेय हैं; क्योंकि ये संसारसे सर्वथा पृथक् रहकर भी—प्रपंचसे सर्वथा उदासीन होनेपर भी हमारे बहुत ही निकट रहते हैं और हमें हाथ पकड़कर वैकुण्ठधाममें पहुँचा देते हैं। यही तो इनका सबसे बड़ा चमत्कार है। संतोंकी वेशभूषा, उनकी भाषा-भंगी, उनकी शिक्षा-दीक्षाकी ओर न देखकर उनकी नित्य समता, बुद्धिमत्तापूर्ण असाधारण सरलता, और प्रभुमय जीवनसे सबको लाभ उठाना चाहिये। संत विश्वके सूर्य हैं, उसके प्राण हैं, उसके आकाश हैं, उसके हृदय हैं, उसके अवलम्बन हैं, उसके आत्मीय हैं, और उसके आत्मा हैं। वे स्वयं सब समय परमात्मामें स्थित रहते हुए ही प्रत्येक प्रतिकूलतामें साक्षात् आत्मस्वरूप अनुकूलताका स्वाभाविक अनुभव करते हुए ही जगत्के प्राणियोंकी दुःखदायी प्रतिकूलताको अनुकूलतामें परिणत करनेके लिये प्रयत्नवान् रहते हैं। उनकी वाणीसे अमर ज्ञानामृत झरता है, उनके नेत्रोंसे प्रेमकी शीतल सुखद ज्योति निकलती है, उनके मस्तिष्कसे जगत्का कल्याण प्रसूत होता है, उनके हृदयसे आनन्दकी धारा बहती है। जो उनके सम्पर्कमें आ जाता है वह पाप-तापसे मुक्त होकर महात्मा बन जाता है। वे जिस देशमें रहते हैं वह देश पुण्यतीर्थ बन जाता है, वे जो उपदेश करते हैं वह पावन शास्त्र हो जाता है, वे जिन कर्मोंको करते हैं वही कर्म सत्कर्म समझे जाते हैं।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि, सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि, सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि।

(नारदभक्तिसूत्र ६९)

वह देश धन्य है जहाँ ये रहते हैं, वह माता धन्य है जिसकी कोखसे ये प्रकट होते हैं, वह मनुष्य धन्य है जो इनके सम्पर्कमें आता है, वह वाणी धन्य है जो इनका स्तवन करती है और वे कान धन्य हैं जिनको इनके उपदेशामृतपान करनेका अवसर मिलता है।

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँ-
ल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(स्कन्दपुराण)

संतोंकी महिमा गाते हुए स्वयं भगवान् कहते हैं कि जो अकिंचन, जितेन्द्रिय, शान्त, समबुद्धि संतपुरुष मुझको लेकर ही सन्तुष्ट है, उसके लिये सब ओर आनन्द-ही-आनन्द है। मुझमें ही चित्तको सदा लगाये रखनेवाला ऐसा पुरुष मुझको छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती राज्य, पातालादिका राज्य, योगकी

सिद्धियाँ और मोक्ष भी नहीं चाहता। इसीलिये हे उद्धव! तुम-जैसे संत भक्त मुझको जितने प्यारे हैं, उतने मेरे आत्मस्वरूप साक्षात् ब्रह्मा, शंकर, बलभद्रजी, लक्ष्मी और अपना आत्मा भी प्यारे नहीं हैं। मैं ऐसे निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर और समदर्शी संतके चरणरजसे अपनेको पवित्र करनेके लिये सदा ही उसके पीछे-पीछे फिरा करता हूँ—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१६)

गृहत्यागी संतके पालनीय धर्म

[महाभारत—शान्तिपर्व, अध्याय २७८ के आधारपर]

महाराज युधिष्ठिरके प्रश्न करनेपर परमभागवत श्रीभीष्मजी संन्यासीके धर्म बतलाते हुए कहते हैं—

जो पुरुष मोक्ष देनेवाले साधनोंमें परायण रहता है, सूक्ष्म आहार करता है, इन्द्रियोंको वशमें रखता है, वह प्रकृतिसे भी परे अविनाशी पदको प्राप्त होता है। संन्यासी घरको छोड़कर हानि-लाभमें समान रहे, विषयोंके सामने उपस्थित होनेपर भी उनकी इच्छा न करे और उनका पूर्णरूपेण त्याग करे। नेत्रसे, वाणीसे और मनसे भी किसीको दूषित न करे, किसीके सामने या परोक्षमें किसीकी बुराई न करे। किसी प्राणीकी हिंसा न करे, किसीके साथ वैर न करे। अतिवादोंको भी सह ले। किसीके सामने अभिमान न करे, किसीके क्रोध दिलानेकी चेष्टा करनेपर भी उससे मीठा बोले, किसीके द्वारा निन्दा किये जानेपर भी उसे आशीर्वाद ही दे। बहुत-से घरोंमें भिक्षा माँगने न जाय और पहले निमन्त्रण पाये हुए घरपर भी भिक्षा माँगने न जाय। मूर्ख पुरुषोंद्वारा अपने ऊपर धूल डाले जाने अथवा तिरस्कार किये जानेपर भी वृत्तियोंमें चंचलता न आने दे, अप्रिय न बोले, दयालु रहे, आततायीपर भी क्रोध न करे और निर्भय रहे। जब गृहस्थोंके घरोंमें पाकशालासे धुआँ निकलना बन्द हो जाय, मूसलकी आवाज सुनायी न पड़े, चूल्हे ठण्डे पड़ जायँ और सब मनुष्य भोजन कर चुकें, परोसनेवाले परोस चुकें, तब संन्यासी भिक्षा माँगनेकी इच्छा करे। जितनी भिक्षासे प्राणधारण कर सके उतनी ही भिक्षा ले। अधिक भिक्षा लेनेकी कभी इच्छा न करे। भिक्षा न मिलनेपर दुखी न हो और न मिलनेपर प्रसन्न ही हो। साधारण पुरुषोंद्वारा इच्छित पुष्प-चन्दनादिकी इच्छा न करे। किसीके द्वारपर जाकर सम्मानपूर्वक भोजनकी इच्छा न करे उसके सम्मानकी निन्दा ही करे। अन्नको बासी या रूखा देखकर उसकी निन्दा न करे और व्यंजनोंको पाकर उसकी स्तुति न करे। एकान्तमें ही प्रसन्नतापूर्वक शयन करे और एकान्तमें ही सदा रहे। वह किसी ऊजड़ घरमें, वृक्षके नीचे, वनमें, गुफामें अथवा किसी दूसरे गुप्त स्थानमें रहकर निरन्तर अपनेमें अपने आत्माका दर्शन करता रहे। अचल और स्थिर होकर मनको वशमें करनेके लिये योगाभ्यास करे। राग-द्वेषके कारण पुण्य अथवा पापकर्मकी इच्छा न करे। नित्यतृप्त और अति सन्तुष्ट रहे, मुख और इन्द्रियोंको सदा प्रसन्न रक्खे, निर्भय रहे, हर समय प्रणवका जप करता रहे एवं मौन रहे तथा वैराग्यकी भावनाको सदा मनमें जाग्रत् रक्खे। दृश्य जगत्के समस्त पदार्थोंसे आत्माको भिन्न समझे, प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाशका सतत चिन्तन करता रहे। इस प्रकार समदर्शी और निःस्पृह होकर पके या अधपके फलोंसे अपना निर्वाह करे, पच सकनेवाला शुद्ध सात्त्विक और अल्प भोजन करे। मन एवं इन्द्रियोंको वशमें रक्खे। तपस्वी संन्यासी पुरुष वाणी, मन, क्रोध, हिंसा, उदर और उपस्थके वेगोंको रोके रहे और किसीके द्वारा निन्दा करनेपर भी दुखी न हो। निन्दा-स्तुतिके विषयमें सर्वदा तटस्थ रहे, इन्द्रियोंका दमन करे और किसी भी विषयमें आसक्त न होवे। निश्चित घर या मठमें न रहे। सदा स्वस्थ (आत्मरूपमें स्थित) रहकर शान्तचित्त रहे। वानप्रस्थ और गृहस्थोंके व्यावहारिक झगड़ोंमें न पड़े, अपने-आप ही मिले हुए भोजनको बिना किसीके राग-द्वेषके ग्रहण कर ले। जिन पुरुषोंको आत्मतत्त्वका ज्ञान होता है वे ही मोक्षके अधिकारी होते हैं। अज्ञानी पुरुषोंके लिये तो संन्यास केवल परिश्रमरूप ही है। ये उपर्युक्त सब धर्म आत्मज्ञानी संन्यासीके मोक्षके लिये विमानस्वरूप हैं। जो पुरुष सब प्राणियोंको अभय प्रदान करता हुआ घरसे निकलकर संन्यास ग्रहण करके इन सब धर्मोंका यथावत् पालन करता है उसको अनन्त, तेजोमय और अविनाशी धामकी प्राप्ति होती है।

संत-सन्देश

(रचयिता—कविसम्राट् पं० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध')

चौपदे

(१)

भक्त-जन-रंजनकी वर-भक्ति। करेगी किस उरमें न प्रवेश॥
रुचिर-जीवन न बनेगा कौन। सुन सुरुचि-भरित संत-संदेश॥ १॥
जगेगा भला न किसका भाग्य। लगेगा किसे न प्यारा देश॥
बनेगा कौन न शुचिता-मूर्त्ति। हृदयसे सुने संत-संदेश॥ २॥
परम-भय-संकुलको सब काल। अभय करता है वर-आदेश॥
तरंगाकुल-भव-सिन्धु निमित्त। पोत है पूत-संत-संदेश॥ ३॥
दूर करता है तम-अज्ञान। हटाता है भव-रजनी-क्लेश॥
उरोंमें जगा ज्ञानकी ज्योति। भानु-कर-सदृश संत-संदेश॥ ४॥

(२)

सुन जिसे भव जाता है भूल। स्वर्गकी सरस-सुधाका स्वाद॥
भरित मिलता है किसमें भूरि। भारती-वीणाका वह नाद॥ १॥
सुन पड़ा जिसमें अनहद-नाद। हुआ जिसमें समाधि-धन गीत॥
सुरति है जिसकी सहज-विभूति। मिला किसमें वह श्रुति-संगीत॥ २॥
सुन जिसे मति होती है मुग्ध। उमग नर्त्तन करता है त्याग॥
विपुल-पुलकित बनती है भक्ति। मिला किसमें वह अनुपम-राग॥ ३॥
रूप किसका है भव-अनुराग। लोक-हित व्रत है किसका वेश॥
सुर-विटप-सदृश फलद है कौन। भूत-हित-पूत संत-संदेश॥ ४॥

(३)

चढ़ गया है विदेशका रंग। ढंग अपना है नहीं पसंद॥
आर्य-भावोंका व्यापक तेज। हो रहा है प्रतिवासर मंद॥ १॥
किसे अब है पर-हितसे प्यार। लोग भरते हैं अपने पेट॥
पुण्यका गला रहे हैं रेत। पापके पाँवके तले लेट॥ २॥
बढ़ रहे हैं ढकोसले ढोंग। कपटका फैल गया है जाल॥
बन गया है माताका दूध। इन दिनों लुटा पराया माल॥ ३॥
आँखमें धूल रहे हैं झोंक। फूँकसे उड़ा प्रपंच पहाड़॥
देश-हितके परदेमें लोग। गलाबाज़ी कर लेकचर झाड़॥ ४॥
भले, सीधे, सच्चे हैं नीच। किन्तु ऊँचे हैं कपटी लोग॥
क्यों गला दें औरोंका घोंट। बढ़ रहा है प्रतिपल यह रोग॥ ५॥
भर गया है रग-रगमें भोग। योगका रहा नहीं लवलेश॥
मची है भौतिकताकी धूम। सुनेगा कौन संत-संदेश॥ ६॥

वेदमें संत

(लेखक—वेददर्शनाचार्य श्रीमण्डलेश्वर श्रीस्वामीजी श्रीगंगेश्वरानन्दजी महाराज)

ऐसा हतभाग्य कौन प्राणी होगा जो त्रिविध दुःख-निवारणके लिये सचेष्ट न हो। त्रिविध दुःखका निवारण तभी होगा जब उसके कारण अज्ञानका ब्रह्मविद्याके द्वारा नाश हो। ब्रह्मविद्याका उदय संत-कृपापर निर्भर है। इसी भावसे गर्गसंहितामें कहा है—'**नृणामन्तस्तमोहारी साधुरेव न भास्करः**' अर्थात्—'बाह्य अन्धकारका नाश सूर्य निःसन्देह कर सकता है किन्तु मनुष्योंके आन्तरिक अन्धकारका नाश साधु (संत) ही कर सकते हैं, सूर्य नहीं।' उन संतोंके लक्षण, संत शब्दका अर्थ क्या है, वह शब्द साधु है वा अपभ्रंश, उसका वेदमें प्रयोग है या नहीं, यदि है तो कर्मयोगी, भक्त और ज्ञानी इन सबके लिये या किसी एकके लिये, इत्यादि विषयोंकी मीमांसा इस लेखद्वारा की जाती है।

संत शब्द चार तरहसे बन सकता है—'**षण् सम्भक्तौ**' ४६५ धातुसे औणादिक तन् प्रत्यय करनेसे निष्पन्न संत शब्दका अर्थ '**सनति सम्भवति लोकाननुगृह्णाति**' इस व्युत्पत्तिसे लोकानुग्रहकारी होता है। वह संत शब्द साधु तो है परन्तु शास्त्रमें प्रयुक्त नहीं है। (१) **शम् शब्दसे 'कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः'** (अष्टा० ५।२।१३८८) इस पाणिनीय सूत्रद्वारा त प्रत्यय होकर शान्त शब्द बनता है जिसका अर्थ '**शं सुखं ब्रह्मानन्दात्मकं विद्यते यस्य**' इस व्युत्पत्तिसे ब्रह्मानन्दसम्पन्न व्यक्ति है। इसीका अपभ्रंश संत शब्द है (२)—'**षणु दाने**' १४६५ धातुसे '**क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्**' (३।३।१७४)इस पाणिनीय सूत्रके अनुसार क्तिच् प्रत्यय होकर सन्ति शब्द बना, जिसका अर्थ '**सनोति प्रार्थितं फलं प्रयच्छति**' इस व्युत्पत्तिसे फलदाता है। उस सन्ति शब्दसे तत्र साधु अर्थमें यत् प्रत्यय होकर सन्त्य शब्द बनता है। 'फलदाताओंमें श्रेष्ठ' इसका अर्थ है। इस शब्दका ऋग्वेदमें बहुत स्थलोंमें प्रयोग हुआ है—

गार्हपत्येन सन्त्य ऋतुना यज्ञनीरसि। देवान् देवयते यज। (ऋ० मं० १ सू० १५ मं० १२)

'फलप्रदाताओंमें श्रेष्ठ अग्निदेव! आप गृहपति-सम्बन्धी रूपसे युक्त हैं, ऋतुदेवके साथ यज्ञके निर्वाहक हैं। देवकृपाकांक्षी यजमानके लिये देवयजनको निर्विघ्न सम्पादन करें।' इस मन्त्रमें अग्निदेवके लिये फलदाताओंमें श्रेष्ठ अर्थको लेकर सन्त्य शब्द प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्मवित् महात्माओंका देवदुर्लभ ब्रह्मविद्यारूपी फल देनेके कारण फलदाताओंमें सर्वोच्च स्थान है। अतः लोग अधिकतर उन्हें ही सन्त्य कहने लगे। वही शब्द कुछ विकृतिके साथ संत शब्दके रूपमें आजकल महात्माके अर्थमें प्रयुक्त होता है। '**अस भुवि**' से शतृ प्रत्यय होकर सत् शब्द बनता है, जिसके प्रधान अर्थ दो हैं—विद्यमान और श्रेष्ठ, यथा गीतामें—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।

'विद्यमान वस्तु तथा श्रेष्ठ वस्तुके बोधनके लिये सत् शब्द प्रयुक्त होता है।' अर्थात् सत्ता और श्रेष्ठता सच्छब्दका प्रवृत्तिनिमित्त है। वेदान्तसिद्धान्तमें किसी पदार्थकी भी ब्रह्मको छोड़कर स्वतन्त्र सत्ता नहीं, ब्रह्मकल्पित समस्त विश्वमें शुक्तिकल्पित रजतमें इदंताके समान अधिष्ठान ब्रह्मसत्ताका ही भान होता है, अतः त्रिकालाबाध्य ब्रह्मतत्त्व ही पारमार्थिक सत्तायुक्त होनेसे सत् शब्दका वाच्यार्थ है। अतएव गीतोक्त ब्रह्मत्रयीमें सत् शब्दकी गणना की गयी है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

जिस तत्त्वको ज्ञानी ब्रह्म कहते हैं, कर्मयोगी और भक्त उसीको ईश्वर कहते हैं। अतः मायाकी मोहक शक्तिको पददलित कर अशास्त्रीय पथमें प्रवर्तक लोभमोहादि राजस-तामस भावोंकी दासतासे मुक्त हो शास्त्रविहित मार्गकी ओर अग्रसर होनेका जो सतत प्रयास करते हैं वे महापुरुष, कर्मयोगी, भक्त, ज्ञानी, किसी कोटिके क्यों न हों, सत्—परम तत्त्वपर निष्ठा रखनेके कारण सत् शब्दद्वारा व्यपदिष्ट होते हैं। अर्थात् प्रथम सत्तारूप प्रवृत्तिनिमित्तको लेकर ब्रह्मवाचक सत् शब्दका प्रयोग उनमें लक्षणया होता है। सत् शब्दका प्रथमा विभक्तिके बहुवचनमें '**सन्तः**' ऐसा रूप बनता है। उसीका अपभ्रंश संत शब्द सत्पुरुषोंके लिये हिन्दीमें प्रयुक्त होता है। द्वितीय श्रेष्ठतारूप प्रवृत्तिनिमित्त पक्षमें सत् शब्दका प्रयोग उनमें मुख्य ही है, गौण नहीं है। कारण कि अष्ट आत्मगुण तथा वैराग्यादि सात्त्विकभावसम्पन्न होनेसे वे सर्वश्रेष्ठ हैं।

बस, किसी तरह भी संत शब्दको सिद्ध किया

जाय, सर्वथा उसका अर्थ सत्पुरुष है। वे सत्पुरुष दो प्रकारके हैं—प्रवृत्तिसेवी और निवृत्तिसेवी। कर्मियोंको प्रवृत्तिसेवी और ज्ञानियोंको निवृत्तिसेवी कह सकते हैं। भक्तोंका सम्बन्ध दोनों ओर है। अतएव भगवान्ने गीतामें कर्म और ज्ञानके मध्यमें भक्तिको स्थान दिया है। कर्मयोगी संतोंका ऋग्वेदके निम्ननिर्दिष्ट मन्त्रमें इस प्रकार वर्णन है—

विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाधतो
मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः।
सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः
संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः॥

(१।११०।४)

वाधतः=ऋत्विजोंके सहित, **सौधन्वना**=सुधन्वाके पुत्र, **ऋभवः**=ऋभु नामक, **सन्तो मर्तासः**=सत्पुरुष, **शमी**=यज्ञदानादि एवं तपश्चर्या परोपकारादि कर्मको, **विष्ट्वी**=अनुष्ठानकर, **तरणित्वेन**=शीघ्र ही, **अमृतत्वम्**=देवभावको, **आनशुः**=प्राप्त हुए।

अर्थात् ऋभु नामके सत्पुरुष कर्मानुष्ठानकी अलौकिक शक्तिके कारण मनुष्यसे देव बने। तदनु, **सूरचक्षसः**=सूर्यके समान दीप्तिमान् वा सूर्यसदृश अलौकिक प्रज्ञासम्पन्न इन्द्रादि देवोंके समान, **संवत्सरे**=वर्षके अवयव वसन्तादि भिन्न-भिन्न ऋतुकालमें अनुष्ठान करनेके योग्य, **धीतिभिः**=अग्निष्टोमादि यज्ञोंसे, **समपृच्यन्त**=सम्बद्ध अर्थात् हविर्भागके योग्य हुए। तात्पर्य यह कि कर्मयोगका अलौकिक सामर्थ्य है। आत्मोन्नतिप्रासादके उच्चाति-उच्च शिखरपर आरूढ़ होनेके लिये कर्मयोग ही प्रशंसनीय सोपान है। ऋभु नामके संत इसके ज्वलन्त निदर्शन हैं। वे मनुष्य ही थे परन्तु उनकी कर्मयोगके प्रभावसे देवोंमें गणना हुई। इतना ही क्यों, अग्निष्टोमादि बड़े-बड़े यज्ञोंमें यजमानदत्त हवियोंके भोजनमें इन्द्रादि देवोंके समान उन्हें अधिकार प्राप्त हुआ।

निवृत्तिसेवी संतोंका वर्णन अथर्ववेदमें इस प्रकार हुआ है—

पूर्णः कुम्भोधि काल आहितस्तं वै
पश्यामो बहुधा नु सन्तः।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ्
कालं तमाहुः परमे व्योमन्॥

(अ० कां० १९ सू० ५३ मं० ३)

भाष्य—**काले सर्वजगत्कारणभूते नित्ये अनवच्छिन्ने परमात्मनि स्वस्वरूपे, अधिशब्दः सप्तम्यर्थानुवादी। पूर्णः सर्वत्र व्याप्तः कुम्भः कुम्भवत् कुम्भ अहोरात्रमासर्तुसंवत्सरादिरूपः अवच्छिन्नो जन्यः कालः आहितः निहितो वर्तते सर्वस्य कार्यस्य स्वकारणेऽवस्थानात्। अत्र विद्वदनुभवश्रुतिं प्रमाणयति। तं जन्यं कालं सन्तः सत्पुरुषाः बहुधा नानाप्रकारं अहोरात्रादिभेदेन पश्यामो नु अनुभवामः खलु। अथवा तं जन्यकालाधारं परमात्मानं बहुधा बहुभिः श्रवणमननिदिध्यासनैः पश्यामः साक्षात्कुर्मः सन्तः सद्रूपब्रह्मोपासका वयम्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुः, इति हि श्रुतिः। (तै० आ० ८।६) वै-नु-शब्दौ प्रसिद्ध्यर्थौ। स कालः इमा इमानि परिदृश्यमानानि विश्वा विश्वानि व्याप्तानि भुवनानि भूतजातानि प्रत्यङ् प्रत्यंचनः अभिमुखांचनः आव्याप्नुवन् भवति तं कालं परमे उत्कृष्टे सांसारिकसुखदुःखादिद्वन्द्वदोषरहिते व्योमन् व्योमनि आकाशवन्निर्लेपे सर्वगते विविधं रक्षके परमानन्दप्रदायके स्वस्वरूपे वर्तमानम् आहुः विद्वांसः। व्योमन्निति 'सुपां सुलुक्०' इति सूत्रेण सप्तम्या लुक्, 'न ङिसंबुद्ध्योः' इति नलोपप्रतिषेधः।**

समस्त जगत्का कारण अपरिच्छिन्न नित्य परमात्मा जो जीवात्माका अपना स्वरूप है, भिन्न नहीं, काल नाम उसीका है। प्रत्येक वस्तुसे सम्बद्ध कुम्भकी तरह परिच्छिन्न अहोरात्र-मासादिरूप जन्यकाल उसीमें स्थित है, क्योंकि सम्पूर्ण कार्य अपने कारणमें रहा करते हैं। इस विषयकी पुष्टिमें वेदपुरुष विद्वदनुभवको प्रमाणित करते हैं। उस जन्यकालको **सन्तः**=सत्पुरुष हम अहोरात्रादिभेदसे अनन्त प्रकारका ठीक अनुभव करते हैं। अथवा जन्यकालका आधार उस महाकाल परमात्माको श्रवण, मनन और निदिध्यासन इन अनेक साधनोंसे **सन्तः**=सद्ब्रह्मके उपासक हम साक्षात्कार करते हैं। वै, नु शब्द श्रवणादिकोंकी ब्रह्मसाधनताकी प्रसिद्धिके प्रदर्शक हैं। इस पक्षमें संत इस शब्दका अर्थ सद्ब्रह्मके उपासक है। इस अर्थकी पुष्टि श्रुति स्वयं ही कर रही है। '**अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद। सन्तमेनं ततो विदुः।**' (तै० उ० २।६।१) वह सर्वाधार परमात्मा कालरूपसे इस दृश्यमान भूतवर्गको व्याप्त कर रहा है। विद्वान् उस कालको उत्कृष्ट सांसारिक सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे निर्मुक्त आकाशकी तरह निर्लेप सर्वव्यापी विविध प्रकारसे रक्षक परमानन्दप्रदायक स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित कहते हैं।

इस मन्त्रमें कैसी उत्तम रीतिसे निवृत्तिसेवी संतोंका कैसा चित्र खींचा गया है। वे सदा सद्‌ब्रह्मके ध्यानमें तत्पर एवं श्रवणादि साधनोंद्वारा ब्रह्मसाक्षात्कारके सम्पादनार्थ सदा सचेष्ट रहते हैं। मुनि, कवि, धीरादि अन्य नाम भी संतोंके वेदमें मिलते हैं। उनमेंसे मुनि शब्द निवृत्तिसेवी संतोंके लिये प्राय: प्रयुक्त होता है। निवृत्तिसेवी संत सदा प्रभुका अवलम्बन लेते हैं। वे कभी भूलकर भी अन्यकी ओर नहीं ताकते। उनमें कतिपय दिगम्बर और कुछ वल्कल, कषाय, अम्बरादि वस्त्र धारण किया करते हैं। वे अपने सतत प्रयाससे उस ब्रह्मपदको प्राप्त कर लेते हैं जिसे यम, हिरण्यगर्भ, प्रजापति प्रभृति देवोंने प्राप्त किया है। इस विषयका स्पष्टीकरण आगे उद्‌धृत मन्त्रके अवलोकनसे अच्छी तरह हो जाता है—

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मलाः।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥

(ऋ० मं० १० सू० १३६ मं० २)

वातरशनाः=ब्रह्मपरायण वा दिगम्बर, **मुनयः**= निवृत्तिसेवी संत होते हैं। और कतिपय संत **पिशङ्गाः**= कपिलवर्णयुक्त, **मलाः**=मलिन अर्थात् चमक-दमकसे रहित वल्कलादिके वस्त्रोंको, **वसते**=पहनते हैं, **वातस्य***= परब्रह्मके, **ध्राजिं**=उस पदको, **अनुयन्ति**= ब्रह्मसाक्षात्कारके अनन्तर प्राप्त होते हैं, **यत्**=जिस पदको, **देवासः**=देवोंने, **अविक्षत**=प्राप्त किया है।

संतोंके लक्षण

संतोंके जीवनमें आत्माके आठ गुणोंका विकास होता है। दशविध अशुभ प्रवृत्तियोंके त्यागपूर्वक दशविध शुभ प्रवृत्तियोंका अनुष्ठान संत सतत किया करते हैं। गौतमस्मृतिमें आत्माके आठ गुण यह लिखे हैं—

अथ अष्टावात्मगुणाः—'दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मंगलमकार्पण्यमस्पृहा' इति।

इनके लक्षण बृहस्पतिस्मृतिमें इस प्रकार दिये हैं—

परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टरि वा सदा।
आपन्ने रक्षितव्यं तु दयैषा परिकीर्तिता॥ १॥

दूसरा हो वा अपना, बन्धु अथवा मित्र हो वा शत्रु, विपद्‌ग्रस्त होनेपर उसके दुःख दूर करनेकी हार्दिक इच्छाको दया कहा है।

बाह्ये चाध्यात्मिके चैव दुःखे चोत्पादिते क्वचित्।
न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता॥ २॥

किसीके द्वारा शारीरिक वा मानसिक पीड़ा पहुँचाये जानेपर क्रोध न होना और न उसे मारनेकी चेष्टा करना, इसका नाम क्षमा है।

न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि।
नान्यदोषेषु रमते सानसूया प्रकीर्तिता॥ ३॥

गुणीके सद्‌गुणोंका हनन अर्थात् अपलाप न करना, थोड़े गुणवाले प्राणियोंकी भी प्रशंसा करना और दूसरेके दोषोंपर दृष्टि न डालना ही अनसूया है।

अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चापि निर्गुणैः।
स्वधर्मे च व्यवस्थानं शौचमेतत्प्रकीर्तितम्॥ ४॥

अभक्ष्य वस्तुका परित्याग, दुर्गुणरहित प्राणियोंके साथ संसर्ग रखना और स्वधर्ममें दृढ़ रहना ही शौच है।

शरीरं पीड्यते येन सुशुभेनापि कर्मणा।
अत्यन्तं तन्न कर्तव्यमनायासः स उच्यते॥ ५॥

जिस श्रेष्ठ कर्मसे भी शरीरको अधिक कष्ट हो उसे अत्यन्त करना उचित नहीं है। इसको विद्वानोंने अनायास कहा है।

प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविसर्जनम्।
एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥ ६॥

सदा शुभ कर्मका करना और अशुभ कर्मका न करना तत्त्वदर्शी मुनियोंने इसे मंगल कहा है।

स्तोकादपि प्रदातव्यमदीनेनान्तरात्मना।
अहन्यहनि यत्किंचिदकार्पण्यं हि तत्स्मृतम्॥ ७॥

स्वल्प वस्तुसे भी अन्तरात्माको प्रसन्न रखते हुए प्रतिदिन कुछ अवश्य देना चाहिये, ऐसी धारणाका नाम ही अकार्पण्य है।

यथालाभेन सन्तोषः कर्तव्यो ह्यर्थवस्तुना।
परस्याचिन्तयित्वार्थं सास्पृहा परिकीर्तिता॥ ८॥

दूसरेके वैभवकी इच्छा न रखते हुए यथाप्राप्त अभीष्ट वस्तुसे सन्तोष करना ही अस्पृहा है।

त्याज्य दशविध अशुभ प्रवृत्तिका वर्णन मनु भगवान्‌ने इस प्रकार किया है—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥

१ 'नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि' इस श्रुतिके अनुसार वात नाम ब्रह्मका है।

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्॥
त्रिविधं च शरीरेण वाचा चैव चतुर्विधम्।
मनसा त्रिविधं कर्म दश धर्मपथांस्त्यजेत्॥
(मनु० अ० १२।५-८)

परद्रव्यको अन्यायसे ग्रहण करनेकी भावना, शास्त्रप्रतिषिद्ध ब्रह्मवधादिकी आकांक्षा, परलोक नहीं, शरीर ही आत्मा है, ऐसा विपरीत विश्वास—यह तीन प्रकारका मानसिक अशुभ कर्म है। पारुष्य (कठोरता), **अनृत**=(मिथ्याभाषण), पैशुन्य (परनिन्दा), असम्बद्ध प्रलाप—यह चार प्रकारका वाचिक अशुभ कर्म है। बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण, हिंसा, परदाररति, यह तीन प्रकारका शारीरिक अशुभ कर्म है। पूर्वोक्त त्रिविध शारीरिक कर्म, चतुर्विध वाचिक कर्म, त्रिविध मानसिक कर्म, सब मिलकर दस हुए। धर्मप्रक्षेपकारी (धर्मविरोधी) होनेसे इनका नाम धर्मपथ है। इस स्थलमें पथ शब्द **'पथ प्रक्षेपे'** इस चौरादिक धातुसे बना है, अत: इसका अर्थ मार्ग नहीं है। अत: भद्र पुरुष इन दस धर्मपथोंका अवश्य त्याग करें।

मनु भगवान्‌के दशविध अशुभ प्रवृत्तिका कण्ठतः प्रतिपादन करनेसे तत्प्रतिद्वन्द्वी दशविध शुभ प्रवृत्ति अर्थतः सूचित हो जाती है। क्योंकि **'शुभाशुभफलं कर्म'** (मनु० अ० १२।३) इस उक्तिसे द्विविध प्रवृत्ति ही प्रस्तुत है। दशविध शुभाशुभ प्रवृत्तिका न्यायदर्शनके द्वितीय सूत्रके भाष्यमें वात्स्यायन महर्षि संक्षिप्त शब्दोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

दोषैः प्रयुक्तः=शरीरेण प्रवर्तमानो हिंसास्तेय-प्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति, वाचानृतपरुषसूचनासम्बद्धानि, मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति; सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय। अथ शुभा शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणं चेति, वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायं चेति, मनसा दयामस्पृहां श्रद्धां चेति; सेयं धर्माय।

रागादि दोषोंकी प्रेरणासे प्रवृत्त पुरुष शरीरसे हिंसा, परपीडन, स्तेय (चोरी), प्रतिषिद्ध मैथुन—परदारसेवा इन कुकर्मोंको करता है। वाणीद्वारा परनिन्दा, अनर्थक प्रलाप, मिथ्याभाषण, कठोरभाषण, इन चार कुकर्मोंको करता है। मनसे परद्रोह, अन्यायपूर्वक परद्रव्यग्रहणकी इच्छा और नास्तिकता, इन त्रिविध निन्दनीय कार्योंको करता है। पूर्वोक्त दशविध अशुभ प्रवृत्ति अधर्मका कारण है। अब शुभ प्रवृत्ति कहते हैं—शरीरद्वारा दान, परित्राण और परिचरण (वृद्धसेवा); वाणीसे सत्यभाषण, हितभाषण, प्रियभाषण, वेदादि सच्छास्त्रोंका अध्ययन और मनद्वारा दया, अस्पृहा, श्रद्धा इन सत्कर्मोंको प्राणी करता है। यह दशविध शुभ प्रवृत्ति धर्मका कारण है।

संतोंके स्वरूपपरिचयार्थ गीताके अनेक स्थलोंमें श्रीकृष्ण परमात्माने संतलक्षणोंका वर्णन किया है। वे लक्षण सिद्ध संत (ज्ञानी)-में अयत्नसिद्ध अर्थात् स्वाभाविक हैं। मुमुक्षु संतोंके लिये यत्नद्वारा सम्पादनीय हैं। विस्तारभयसे व्याख्यासहित श्लोकोंका उद्धरण अशक्य है।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् वेदव्यासने कई स्थलोंपर संतोंके लक्षण कहे हैं।

वैराग्य, तत्त्वबोध, उपरति भी संतोंके लक्षण हैं, परन्तु उनका सहावस्थान नियत नहीं। पंचदशीके चित्रदीपमें विद्यारण्य स्वामीने इसका वर्णन किया है।

संतोंके उद्‌गार

कर्मयोगी संत

कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम्।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्॥

हे परम गुरु परमात्मन्! इच्छा अथवा अनिच्छासे शुभ या अशुभ जो कर्म मैं कर रहा हूँ वे सब आपके श्रीचरणोंमें अर्पित करता हूँ। क्योंकि मेरी कोई भी क्रिया स्वतन्त्र नहीं है, प्रत्येक क्रियाके मूलमें आपका हाथ है।

भक्त संत

नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे
यद्भाव्यं तद् भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्।
एतत्प्रार्थ्यं मम बहु मतं जन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु॥

याग-दानादि धर्म, धनसंग्रह और सांसारिक विषयभोग इन सब पदार्थोंमें मेरी जरा भी रुचि नहीं है। भगवन्! पूर्वकर्मके अनुसार जो कुछ होना है वह भले ही हो। आपके समक्ष मुझ अनाथकी जोरदार शब्दोंमें एक ही प्रार्थना है। इस जन्ममें ही नहीं, अपितु जन्म-जन्मान्तरमें भी सर्वदा आपके चरणयुगलमें अटल प्रेम बना रहे।

ज्ञानी संत

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि॥

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित्।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य सम्पन्नम्॥

(पंचदशी-तृप्तिः श्लो० ९३-९४)

आज अविनाशी स्वात्मदर्शनसे सतत ब्रह्मानन्दका भान हो रहा है। ढूँढ़नेपर भी दुःखमय संसार कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता, हो भी क्यों? उसका कारण मेरा अज्ञान ब्रह्मबोधके त्राससे सदाके लिये कहीं भाग गया है, अतः मुझे बारंबार धन्यवाद है। मैं धन्य हूँ, धन्य हूँ, क्योंकि अब ऐसा कोई कार्य शेष नहीं रहा जिसके करनेकी मुझे अपेक्षा हो। समस्त प्राप्तव्य वस्तु मुझे प्राप्त हो गयी, ऐसी कोई वस्तु शेष नहीं है जिसकी मुझे लिप्सा हो, अतः मुझे कोटिशः धन्यवाद है।

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम्।
अस्य पुण्यस्य सम्पत्तेरहो वयमहो वयम्॥
अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम्॥

संतके क्या लक्षण हैं?

त्रिसूत्री

(लेखक—स्वामी श्रीतपोवनजी महाराज)

निम्नलिखित तीन सूत्रोंद्वारा संतके निष्कृष्ट लक्षण बतलानेका प्रयत्न किया जाता है। पहला सूत्र है—

वृक्षारोहणदक्षवत्॥ १॥

इसका तात्पर्य यह है कि वृक्षपर चढ़नेमें दक्ष किसी मनुष्यकी तरह मन्त्र, तन्त्र तथा चमत्कारोंको जाननेवाला व्यक्ति संत नहीं होता।

ऐसा देखा जाता है कि कोई मनुष्य एक बहुत ऊँचे वृक्षके ऊपर देखते-देखते अनायास चढ़ जाता है। वह पुरुष है या स्त्री, पण्डित है या पामर, भक्त है या अभक्त, ज्ञानी है या अज्ञानी, इससे उसको कोई वास्ता नहीं; उसके शरीरमें बल है और उसने अभ्यास किया है, इस कारण वह वृक्षपर चढ़नेमें समर्थ बन गया है। अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि किसी मनुष्यमें वृक्षपर चढ़नेकी जो सामर्थ्य है, वह उसके शरीरबल तथा अभ्यासका ही फल है, उसकी साधुता या संतपनका फल नहीं। सचमुच संसारमें कौन ऐसा मूर्ख होगा जो यह कहे कि संत ही वृक्षपर चढ़ सकता है?

इसी प्रकार जो लोग मन्त्र-तन्त्र तथा ओषधियोंके द्वारा अपनी या दूसरोंकी रोगनिवृत्ति अथवा और नाना प्रकारकी क्रियाएँ करते हैं, प्राणायामादिके अभ्यासद्वारा भिन्न-भिन्न चमत्कार दिखलाते हैं और वेद-शास्त्रोंका अनुशीलन करके अत्यन्त मधुर—अत्यन्त आकर्षक रीतिसे शास्त्र-सिद्धान्तोंका प्रवचन तथा शास्त्रमर्मोंका समुद्घाटन करते हैं, वे सब सामर्थ्य भी उनके मन-बुद्धिबल एवं उन-उन विद्याओंके अभ्यासके ही फल हैं, न कि उनकी साधुताके। वृक्षारोहणमें समर्थ व्यक्तिकी भाँति इन विभिन्न क्रियाओंमें पटुताप्राप्त मनुष्य भी इन क्रियाओंकी सामर्थ्य रखने मात्रसे संत नहीं कहला सकते। क्योंकि जैसे वृक्षपर चढ़नेकी क्रियासे साधुताका कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही इन कुशलताओंका भी साधुताके साथ कोई सम्पर्क नहीं है। संतपनका हेतु, स्वरूप अथवा फल कुछ भी न जाननेवाले अबुद्धिमान् लोग भले ही इन मन्त्र-तन्त्रविशारदों, पुत्र-धन आदि देनेवालों, श्वास रोककर अद्भुत क्रियाएँ रचनेवालों, पुस्तकें पढ़कर पात्र-अपात्र सबको ब्रह्मज्ञान बतानेवालों और बिना अन्न-वस्त्रके काष्ठखण्डकी तरह किसी निर्जन प्रदेशमें पड़े रहनेवालोंको सच्चे संत मानें, परन्तु बुद्धिमान् मनुष्योंकी दृष्टिमें इस प्रकारकी वृत्तियाँ, चाहे वे धन-मानकी प्राप्तिके लिये हों अथवा और किसी निमित्तसे हों, सच्ची साधुताके समीप पहुँचानेमें महान् प्रतिबन्धक हैं। सच्चे साधु या संतके लिये तो—

वर्चस्कवदुपेक्षाविषया विषयाः॥ २॥

सारे-के-सारे विषय स्वविष्ठाकी तरह उपेक्ष्य—त्याज्य हैं। श्रीसुरेश्वराचार्यजी कहते हैं—

वर्चस्के सम्परित्यक्ते दोषतश्चावधारिते।
यदि दोषं वदेत्तस्य किं तस्योच्चरितुर्भवेत्॥

अर्थात् त्याग किये हुए और दोषरूपमें निश्चित किये हुए मलको यदि कोई दोष बतलावे तो इसमें मलके त्याग करनेवाले पुरुषकी क्या हानि है? इसी प्रकार अपने आत्मस्वरूपसे अलग किये हुए एवं दोषरूपमें निर्णीत किये हुए स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंको कोई दोष बतलावे तो उनसे अलग हुए विवेकी पुरुषकी

क्या हानि है और वह क्योंकर इससे विक्षुब्ध हो सकता है? जो आत्मदर्शी पुरुष हैं, जिन्होंने देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिको अपने स्वरूपसे अलग जान लिया है, उनको लोग यदि ऐसा कहें—ये नीरोग नहीं, वज्रकाय नहीं, तेजस्वी नहीं, मन्त्र-तन्त्रादिके वेत्ता नहीं, नग्न-जटाधारी नहीं, योगाभ्यासी नहीं, इन्हें आकाशमें उड़ना नहीं आता, सिद्धियाँ इन्हें प्राप्त ही नहीं हैं, ये वेदान्तादि शास्त्रविषयोंपर प्रवचन नहीं कर सकते, आदि-आदि—तो इससे उनकी कुछ भी हानि नहीं होती। बात यह है कि देहादिकोंमें तन्मय होकर उनको अपना स्वरूप माननेवाला अविवेकी पुरुष ही उनके दोष-निरसन तथा गुणाधानमें सतृष्ण होता है। इस प्रकारकी तृष्णावाला पुरुष ही अपनी विद्या, शम, दम, तप, संयम, प्रेम, समाधि आदि सारी अध्यात्मसाधनाओंको देहादिके उत्कर्ष और विभूतिवर्धनके काममें लगाता है। ऐसा अविवेकी, तृष्णाकुल साधक अपनेको संत माननेपर भी यथार्थ संतभावमें कभी नहीं पहुँच सकता। क्योंकि अविवेक और तृष्णा ये दोनों यथार्थ संतभावके बहुत बड़े विघातक हैं। इनके रहते हुए जितनी भी साधनाएँ होती हैं, वे सभी तृष्णापूर्तिके लिये अर्थात् उपर्युक्त सांसारिक कुशलताओंके सम्पादनके लिये होती हैं। और साधक इसीमें अपनेको कृतार्थ भी मान लेता है। स्थूल अथवा सूक्ष्म देहोंकी सामर्थ्यसिद्धिके लिये तृष्णा रखना और तदनुसार व्यर्थ साधनाएँ करना महान् अनर्थका हेतु है। क्योंकि इससे उसकी अज्ञानग्रन्थि और भी मजबूत होती है और वह संसारमें ही फँसा रहता है। संतभावकी प्राप्ति चाहनेवाले साधकोंके लिये ऐसी तृष्णा आत्यन्तिक रूपसे त्याज्य है। जिस प्रकार बाह्य कनक और कामिनी आदिकी उपेक्षा करके विविध साधनाओंमें प्रवृत्त हुआ जाता है, उसी प्रकार आन्तरिक साधनाजन्य कुशलताओं एवं विभूतियोंकी भी सर्वथा विष्ठावत् उपेक्षा करना आवश्यक है। तभी सच्चे संतभावकी प्राप्ति हो सकती है।

अब प्रश्न यह है कि जब पूर्वोक्त नाना प्रकारकी कुशलताएँ एवं विशेष शक्तियाँ सच्चे संतभावके लक्षण नहीं हैं, तब फिर संतके और लक्षण क्या हैं? संतका व्यावर्तक धर्म क्या है? इसका उत्तर यह सूत्र दे रहा है—

सर्वकामानां विप्रमोक्षः। सर्वकामानां विप्रमोक्षः॥ ३॥

अर्थात् कामनाओंकी निःशेष निवृत्ति ही संतका लक्षण है, कामनाओंकी निःशेष निवृत्ति ही संतका लक्षण है।

कामनाएँ जब सम्पूर्णरूपसे नष्ट हो जाती हैं, तभी पुरुष सच्चे संतभावको प्राप्त होता है। तूर्ष्णींभाव, निद्रा, समाधि आदि अवस्थाओंमें अशेष कामनाओंका तात्कालिक नाश हो जानेपर भी उनका आत्यन्तिक नाश तो परमात्मभावमें अवस्थिति हुए बिना—चाहे वह प्रेमसे हो या ज्ञानसे हो—कभी नहीं होता। आकाशमें उड़ना, भूमिके अंदर रहना, मन्त्रादि अथवा आशीर्वादसे अर्थियोंको पुत्र-धनादि देना, विवस्त्र होकर शीतोष्णादि सहना, इत्यादि नाना प्रकारकी सिद्धियाँ रहें या न रहें, इनसे संतपदका सम्बन्ध नहीं है। संतपदपर तो परमात्मभावमें अवस्थिति, तन्निमित्तक सर्व कामनाओंकी निवृत्ति एवं तज्जन्य नित्य-निरतिशय शान्तिसे ही अधिरूढ़ हुआ जाता है। संतभावके साथ पूर्वोक्त विभूतियोंका कुछ भी व्याप्य-व्यापकभाव नहीं है, किन्तु सर्व कामनाओंकी निवृत्तिका अवश्य ही उसके साथ व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध है। इसलिये सर्वविद्वत्सम्मत सिद्धान्त यही है कि परमात्मनिष्ठा और तज्जनित समस्त कामनाओंकी निवृत्ति ही संतलक्षण है। सर्व तृष्णाओंका विध्वंस ही संतको असंतसे व्यावर्तित करानेवाला धर्म है।

श्रुति भी स्पष्ट शब्दोंमें संतका यही लक्षण बतलाती है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्॥

'जिस समय अन्तःकरणमें स्थित सारी कामनाएँ समूल विनष्ट हो जाती हैं, उस समय प्राणी मुक्तभावको अर्थात् संतभावको प्राप्त हो जाता है।' बस, सभी श्रुतियोंका यही उपदेश है, यहीं वे समाप्त हो जाती हैं, इसीमें उनकी चरितार्थता है। श्रीमद्भगवद्गीता भी 'स्थितप्रज्ञ' नामसे संतलक्षण बतलाती हुई—

'प्रजहाति यदा कामान्'

-इत्यादि वाक्योंद्वारा उन्हीं श्रुतिमन्त्रोंका अनुवाद करती है। भगवान्ने 'गुणातीत' के रूपमें भी संतलक्षणका ही विचार करते हुए 'सर्व कामनाओंकी निवृत्ति' उनका असाधारण धर्म बतलाया है। इसी 'सर्व कामनाओंकी निवृत्ति' रूपी महान् गुणके कारण ही दत्तात्रेय, व्यास, शुक, अक्रूर, विदुर आदि प्राचीन और ज्ञानेश्वर, कबीर,

सूरदास, मीराबाई आदि अर्वाचीन व्यक्तियोंने पूज्य संतभावको प्राप्त किया था। अत: यह सिद्ध हुआ कि 'सर्व कामनाओंकी विनिवृत्ति' ही संतका लक्षण है। तथा जो पुरुष अपनी सम्पूर्ण तृष्णाओंका नि:शेषरूपसे निवारण करके उस सर्वोच्च, सर्वोत्तम पदपर आरूढ़ है, वही मुख्य संत है। और जो पुरुष इस महोच्च संतभावमें पहुँचनेके लिये शुद्ध हृदयसे साधना करता है, वह भी गौणरूपसे संत ही है।

संततत्त्व

(लेखक—स्वामी श्रीशुद्धानन्दजी भारती)

संतवन्दना

आकाशमणि सूर्य पृथ्वीको ऊपरसे आलोक प्रदान करता है, किन्तु आपलोग पृथ्वीपर रहकर उसपर ईश्वरीय प्रकाशको प्रसारित करते हैं; अत: हम आपकी वन्दना करते हैं। भगवान् सविता पृथ्वीको ताप प्रदान करते हैं और आप लोग अपने भीतरी खजानेमेंसे ज्ञानरूपी अमृत देकर जीवात्माको सुखरूप उष्णता प्रदान करते हैं! हम जिधर आँख उठाकर देखते हैं, जिस किसी देशमें जाते हैं, हम आपके पावन पादपद्मोंसे आनन्दरूप मकरन्दको निरन्तर झरता हुआ पाते हैं। आपके चरणोंमें हमारे कोटिश: प्रणाम हैं! इस तापसंतप्त संसारको मुक्तिरूप निरतिशय आनन्दका सन्देश सुनानेवालो! यह पृथ्वी आपकी पावन चरणधूलिके सम्पर्कसे ही हमारे रहने योग्य बनी हुई है। मेसोपोटेमिया और अरबके सूखे रेगिस्तानमेंसे यदि मूसा, ईसा और रसूल-जैसे अमृतनिर्झर पैदा न होते तो वहाँकी तप्त बालुकामें झुलसने कौन जाता? योरपके रणक्षेत्रमें यदि हमें सुकरात, प्लेटो, अरस्तु और संत फ्रांसिस-जैसी महान् आत्माओंके दर्शन न होते तो वहाँके लोगोंको शान्तिका पाठ कौन पढ़ाता? ब्रह्मज्ञानी लॉत्शे और महात्मा कनफ्यूशसके नामको चीन देश अब भी गौरवके साथ स्मरण करना है, और उनके उपदेश उस देशकी एक अमर सम्पत्ति है। हमारा पवित्र भारतवर्ष भी शून्य प्रतीत होने लगेगा यदि व्यास-वाल्मीकि, शुकदेव-नारद, याज्ञवल्क्य-जनक, वसिष्ठ-दधीचि, बुद्ध-महावीर, शंकर-रामानुज, मध्व-चैतन्य, नानक-कबीर, सूर-तुलसी, नम्मलवार-माणिक्क वाशगर, ज्ञानदेव-तुकाराम और ज्ञानसम्बन्ध-रामकृष्ण प्रभृति संतोंको उसके इतिहासमेंसे निकाल दिया जाय। संत ही भारतवर्षके स्मृतिकार हैं, संत ही उसके कवि हैं, संत ही उसके सन्देशवाहक हैं और संत ही उसकी संतानको प्रेम, ज्ञान और शान्तिका पाठ पढ़ानेवाले हैं। उन संतोंको हमारा बार-बार प्रणाम है। संत ही मानवजातिके प्राण हैं, संत ही संसाररूपी पादपके अमृतफल हैं, संत ही सभ्यसमाजको प्रकाश देनेवाले प्रदीप हैं। वही पाप-तापसे पीड़ित मानवजातिको ऊपर उठानेवाली शक्ति हैं। अत: सभी जातियों और सभी देशोंके संतोंको हम नतमस्तक होकर प्रणाम करते हैं।

संतपूजा

जहाँ कहीं हमारी दृष्टि जाती है हम मानवजातिको किसी-न-किसी संतके चरणोंमें आबद्ध पाते हैं। पूर्वीय तथा पाश्चात्य सभी जातियाँ अपने-अपने संतोंके चरणोंमें श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती हैं। शत्रुके खूनका प्यासा सिपाही भी सेंट जार्जकी दुहाई देता है और उसीके नारे लगाता हुआ शत्रु-सेनापर आक्रमण करता है। किसी जातिकी आध्यात्मिक पिपासाको शान्त करनेके लिये संत वर्षाके रूपमें प्रकट होते हैं। संतोंकी वाणी, संतोंके बनाये हुए नियम, उनका स्थापित किया हुआ आदर्श और उनके व्यक्तित्वका प्रभाव मनुष्योंको पाशविकतासे अधिकाधिक ऊपर उठानेमें जादूका-सा काम करते हैं। किसी राष्ट्रके स्थूल राजनैतिक जीवनके पीछे भी संतका हाथ रहता है। शिवाजी-जैसे वीरको शक्ति और बल प्रदान करना स्वामी रामदासका ही काम था। फ्रांसकी उस किसान बालिका जोन-ऑफ-आर्क (Joan of Arc) को अपने देशको मुक्त करनेके कार्यमें सेंट माइकेल और सेंट कैथेरिनके उपदेशोंसे ही प्रोत्साहन मिला। वीरशिरोमणि गुरु गोविन्दसिंहके जीवनपर गुरु नानकके उपदेशोंकी ही छाप पड़ी थी। महामना सम्राट् अशोकके चरित्रपर भी समस्त एशियाको प्रकाश देनेवाले भगवान् बुद्धका ही प्रभाव पड़ा था। जगत्के कल्याणके लिये सूलीपर चढ़नेवाले महात्मा ईसाका ही सारा विश्व सम्मान करता है, राज्यलोलुप सीज़र अथवा नैपोलियनकी अदम्य हिंसावृत्तिको चरितार्थ करनेवाली तलवारका

नहीं। ईसाके मधुर शब्दोंने मानवहृदयपर जैसा आधिपत्य जमाया वैसा किसी भी जगद्विजयी सम्राट्की तोपें और तलवारें नहीं जमा सकीं। संसारमें सबसे बड़ा देश वही है जिसने सबसे अधिक संत पैदा किये हों। और सबसे अधिक उन्नतिशील और समृद्धिशाली जाति वही है जो अपने संतोंका आदर करती है और उनके उपदेशोंका और आदर्शका अनुसरण करती है। भारतवर्षके इतिहासका सबसे महान् युग वही था जब उसकी सन्तान—राजा और रंक सभी—अपने प्राचीन महर्षियोंका सम्मान करती थी और श्रद्धा एवं आदरके साथ उनके बनाये हुए नियमोंका और आचारका पालन करती थी। प्रत्येक आस्तिक हिन्दू अपनेको किसी-न-किसी प्राचीन महर्षिकी सन्तान मानता है और प्रत्येक धार्मिक कृत्यमें अपने गोत्र और प्रवरका स्मरण करता है। प्रत्येक सच्चा सनातनी दिनमें तीन बार अपने ऋषियोंका स्मरण करता है और उनकी वन्दना करता है। सारी हिन्दूजाति एक प्रकारसे संतोंके पवित्र विचारोंमें ही पली है। प्रत्येक त्रैवर्णिक हिन्दू नियमपूर्वक वैदिक मन्त्रोंका उच्चारण करता है जो हिन्दूजातिके संतोंकी ही दिव्य वाणी है। स्नान, सन्ध्या और प्राणायाम आदिसे निवृत्त होकर प्रत्येक सनातनी द्विज गायत्री मन्त्रका जप करता है, जो एक प्रकारसे उसकी जातीय सम्पत्ति है। समस्त जातिको ईश्वरीय ज्ञानका दिव्य आलोक प्रदान करनेके लिये ही महान् तपस्वी ऋषि विश्वामित्रने गायत्री मन्त्रका आविष्कार किया था। इस एक मन्त्रमें कितना ज्ञान भर दिया गया है!

'ॐ कारवाच्य सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म भूलोक (पृथ्वीमण्डल), भुवर्लोक (अन्तरिक्ष अथवा पितृलोक) और स्वर्लोक (स्वर्गादि सत्यपर्यन्त ऊपरके लोक) सबमें व्याप्त है। वह सत्य एवं ज्ञानका परात्पर स्वामी है। वह हमारे संकल्पों और कर्मोंको दिव्य बनाकर ईश्वरत्वकी ओर ले जाता है। हमलोग उसी परमात्माके तेजोमय रूपका ध्यान करें।' यह गायत्री मन्त्रका अर्थ है।

परमात्माके साथ सम्पर्क स्थापित करनेका यही मन्त्र है जिसने भारतीय संस्कृतिका पोषण किया है। प्रत्येक हिन्दू परमात्मसत्ताके इन तीन मूलमन्त्रोंसे परिचित है—(१) **ब्रह्मैव सत्यम्** (ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है), (२) **ब्रह्मार्पणम्** (ब्रह्मको मेरा सब कुछ अर्पण है) और (३) **ब्रह्मैवाहम्** (ब्रह्म ही मैं हूँ)। हमलोगोंके स्थूल शरीरके भीतर एक सूक्ष्म शरीर (मन) है और उसके परे बुद्धि और बुद्धिके भी परे मनुष्यके अन्दर रहनेवाला परमात्मतत्त्व—ब्रह्म अथवा आत्मा है। वही मैं हूँ; वही मेरा वास्तविक स्वरूप है; उसी जाज्वल्यमान सत्यके अन्दर मैं अपने-आपको हवन करता हूँ। जिस प्रकार एक डाइनेमोसे उत्पन्न हुई बिजली एक टॉकी मशीनकी फिल्मोंका संचालन करती है उसी प्रकार यह शरीर आत्माकी शक्तिसे संचालित होता है। वह आत्मा ही चरम तत्त्व है और यह जगत् उसीका लीलाक्षेत्र है। आत्माकी ज्योतिसे रहित यह चराचर विश्व एक थोथे बिजलीके लट्टूके समान है। मैं तभीतक जीवित हूँ जबतक वह आत्मा मेरे अन्दर है। उस ब्रह्मको मेरा यह जीवन समर्पित है। सनातनी हिन्दूसमाज इसी भावनासे अनुप्राणित है। इसी भावनासे प्रेरित होकर एक आस्तिक हिन्दू भगवान्से दीर्घायु, सुदृढ़ शरीर, मानसिक शक्ति और ईश्वरीय बलकी प्रार्थना करता है; इसीलिये वह परमात्मासे बल, वीर्य, तेज, ओज, साहस और वर्चस्की कामना करता है। ईश्वरीय शक्तिका अपने सारे शरीरमें संचार करनेके लिये वह अंगन्यास और करन्यास आदि करता है। इसीलिये वह ज्ञान, पवित्रता और ईश्वरीय तेजके मूर्तस्वरूप भगवान् सूर्यदेवकी उपासना करता है। इसीलिये वह शाश्वत सुखकी प्राप्तिके लिये बल और वीर्यके अधिष्ठातृ देवता अग्निकी उपासना करता है। वह सर्वतोमुख भगवान्की पूजाके लिये दिशाओंको नमस्कार करता है और ऋषि, महर्षि, आचार्य, माता-पिता और पितरोंका पूजन करता है और उपासनाके अन्तमें सारे भूतप्राणियोंके सुखकी प्रार्थना करता है। अहा! ज्ञानसागर वैदिक ऋषियोंके द्वारा निर्धारित किया हुआ यह पूजा-प्रार्थनाका जीवन कितना सुन्दर और आत्माको ऊपर उठानेवाला है!

संत-गरिमा

आधुनिक मुद्रणालयोंसे पुस्तकोंकी नदियाँ बहती हैं! परन्तु सच्चे ज्ञान और शान्तिके लिये हमें प्राचीन ऋषियों और संत-महात्माओंके उपदेशोंका ही श्रवण करना चाहिये। वे लोग समस्त विद्याओंके आचार्य थे। यही नहीं, वे स्वयं पढ़े हुए गुरु, क्रान्तदर्शी कवि और कलाओं तथा कलाकारोंके जन्मदाता थे। वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण, महाभारत, भागवत, ब्रह्मसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र, कल्पसूत्र, मानवधर्मशास्त्र, बाइबल, कुरान, जिन्दावस्ता,

ग्रन्थ साहेब, सुखमनी और अन्यान्य धर्मग्रन्थ जो आज भी मानवजातिको प्रकाश, आनन्द और शान्ति प्रदान करते हैं, उन्हीं अजर-अमर ऋषियों और संत-महात्माओंकी दिव्य वाणियाँ हैं। कार्लाइल, इमर्सन और ह्विट्मैन आदि पाश्चात्य विद्वान् भी गीताकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हैं और उसके अमर उपदेशोंके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं। पाश्चात्य देशवासी भारतको एक पवित्र तीर्थ मानकर उसके संतोंका दर्शन करने और उनके उपदेशोंसे लाभ उठानेके लिये इस देशमें आते हैं। उन परम नि:स्वार्थी और निरहंकारी कर्मयोगियोंके आदर्श कर्म, उन एकान्तवासी मुनियोंका पवित्र जीवन, उन अरण्यवासी वैखानसोंद्वारा प्रसारित दिव्य ज्योति और उन शान्तिके पुजारी संतोंके अमृतमय उपदेश अब भी मानवहृदयपर अपना आधिपत्य जमाये हुए हैं और पाप-तापपीड़ित मानवसमाजकी रक्षाके लिये कवचका काम करते हैं। ऋषियोंके नि:श्वासमें उस परम और नित्य तत्त्वकी गन्ध रहती है। वर्तमान युगमें भी स्वामी रामकृष्ण परमहंसके उपदेशोंके सामने सारा संसार सिर झुकाता है। वेदान्तकेसरी स्वामी विवेकानन्दके हृदयसे उन्हींकी वाणी प्रस्फुटित हुई है। एक सामान्य मन्दिरके पुजारीने, जो शास्त्रज्ञानसे बिलकुल कोरा था बल्कि जो आधुनिक दृष्टिसे एक प्रकारसे निरक्षर ही था, जिसने कभी धातुका स्पर्श नहीं किया और जो कीर्तिसे कोसों दूर भागता था, आज वह काम कर दिखाया जो संसारके बड़े-से-बड़े योद्धा और कर्मवीर मिलकर भी नहीं कर सके। उनकी इस विजयका क्या रहस्य है? कारण यह है कि उन्होंने आत्मापर विजय प्राप्त करनेके अतिरिक्त संसारपर विजय पानेकी कभी इच्छा नहीं की। उन्होंने भगवत्कृपारूप सम्पत्तिके अतिरिक्त और किसी सम्पत्तिकी परवा नहीं की। उन्होंने अपनेको जनानेकी परवा न कर उस एक परमात्माको जाननेकी ही चेष्टा की जो एकमात्र जाननेकी वस्तु है। आज समस्त संसार महाकालीके उस दीन-हीन पुजारीकी इसीलिये पूजा करता है कि उसने अपने जीवनको उस महाशक्तिके चरणोंमें सर्वभावेन समर्पित कर दिया था। आज उस मन्दिरके पुजारीको हम इस महान् जागृतिके जन्मदाताके रूपमें देखते हैं। परमात्माकी जो दिव्य ज्योति उसके हृदय-मन्दिरमें जगमगाती थी वह आज उसके हजारों भक्तोंके हृदयोंको आलोकित कर रही है। आज हम इस सत्यका अनुभव कर रहे हैं कि इस पुण्यभूमि भारतकी सच्ची सम्पत्ति और गौरव संत ही हैं और जबतक उसकी पवित्र भूमिमें एक संत भी विद्यमान रहेगा तबतक उसके गौरवकी ज्योति कभी फीकी नहीं पड़ सकती। संत, योगी, महात्मा और महर्षि आज भी इस भूमिको अलंकृत कर रहे हैं; उनमेंसे कुछको संसार जानता है और कुछ सर्वथा अप्रसिद्ध हैं। उनकी अहंकारशून्य शक्ति ही आज संसारको ध्वंससे बचाये हुए है। उनकी सर्वदेशीय आध्यात्मिक शक्ति—उनकी चैतन्यशक्ति—उनका तेज ही चुपचाप मानवजातिका कल्याण कर रहा है। उन संतोंकी सदा जय हो!

सत्संग

अहा! जिस भाग्यवान् पुरुषको इसी जन्ममें किसी सत्पुरुषका पावन संग मिल गया और जिसे उनकी चरणधूलिको मस्तकपर चढ़ाने और उनकी चरणसेवा करनेका सौभाग्य प्राप्त हो गया उससे बढ़कर सुखी और शान्तिका अधिकारी कौन होगा? तामिल संत तायुमानव अपने एक स्तोत्रमें भगवान्से प्रार्थना करते हैं—'हे परात्पर! मुझे आपके भक्तोंका दास्य प्रदान कीजिये, उसीसे मेरा सारा काम बन जायगा और आपकी कृपा और समाधि-सुख मुझे बिना माँगे मिल जायगा।' हमारे देशके प्रसिद्ध संत-कवि गोस्वामी तुलसीदासजी भी अपने रामचरितमानसके आरम्भमें श्रद्धापूर्वक संतोंकी वन्दना करते हैं और कहते हैं कि उनकी महिमाका श्रवण तीर्थस्नानसे भी बढ़कर है, उनके स्मरणमात्रसे आत्माको प्रकाश मिलता है, वे स्वयं कष्ट सहकर दूसरोंके कष्टोंका निवारण करते हैं। संतसमाजको उन्होंने चलता-फिरता तीर्थराज (प्रयाग) बताया है—

मुदमंगलमय संतसमाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥

—जिस तीर्थराजमें रामभक्तिरूपी सुरसरिकी निर्मल धारा ब्रह्मविचाररूपी सरस्वती और कर्मकाण्डरूपी यमुनाजीकी धाराओंसे मिलकर त्रिवेणीकी अद्भुत छटा दिखलाती है। सत्संग बिना सच्चे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती और श्रीरामकी कृपाके बिना सत्पुरुषोंका समागम बड़ा कठिन है*। सत्संगको गोस्वामीजीने सब प्रकारके सुख और आनन्दकी जड़ बताया है और यह भी कहा

* बिनु सतसंग बिबेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई॥

है कि सत्संग ही सारी साधनाओंका फल है, अन्य सब साधन फूलके समान हैं—

सतसंगति मुद मंगलमूला। सोइ सब सिधि सब साधन फूला॥

यही नहीं, सत्संगके प्रभावसे नीच-से-नीच मनुष्य भी साधु बन जाता है, जिस प्रकार पारसके स्पर्शसे लोहा भी सोना बन जाता है—

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस-परस कुधातु सुहाई॥

गोस्वामी तुलसीदासजी फिर कहते हैं—'सद्बुद्धि, विवेक, कीर्ति, ऊँचा पद, वैभव, ऐश्वर्य और सांसारिक सुख, जो कुछ भी, जहाँ-कहीं, जिस किसी प्रकार, जिस किसी कालमें और जितने अंशमें मनुष्यको प्राप्त हुआ है वह सब सत्संगके प्रभावसे ही समझना चाहिये—

मति कीरति गति भूति भलाई। जो जेहिं जतन जहाँ जहँ पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। ··· ··· ···॥

देवर्षि नारद तो संतोंकी सेवाके बड़े सुन्दर फल हैं। संत आरुणि भी हमारे इतिहासमें संतसेवाके महान् फलके एक जीते-जागते नमूने हैं। कबीर-नानक, सूरदास-मीराबाई, नामदेव-तुकाराम तथा दक्षिणके आळवार और नयन्मार संत, इन सबका एकमात्र सिद्धान्त यही रहा है—सद्विचार, सच्चे हृदयसे भगवान्‌के सामने रोना, और सत्पुरुषोंका संग, कल्याणके यही तीन मुख्य साधन हैं। दक्षिणमें पतनत्तार नामके एक तामिल संत हो गये हैं जो एक ही दिनमें अपने सारे राजसी ठाट और अतुल सम्पत्तिका परित्याग कर फकीर बन गये थे। उन्होंने भगवान्‌से इस प्रकार प्रार्थना की है—'हे भगवन्! मैं संसारमें भटकता-भटकता हार गया, अब ऐसी कृपा कीजिये कि मुझे और न भटकना पड़े; मुझे अब इन व्यर्थके पचड़ोंमें न डालो; अब तो ऐसी कृपा करो कि अपने नेत्रोंपर राग-द्वेषका चश्मा चढ़ाये हुए इन संसारासक्त मनुष्योंसे मेरा कोई सम्पर्क न रहे; मैं कभी क्रोधके वशीभूत न होऊँ, सचाईके मार्गसे कभी विचलित न होऊँ; मुझे आज और कलकी चिन्ता न रहे। और सबसे बड़ा वर तो मैं यह माँगता हूँ कि आपके सेवकोंका संग मुझे सदा प्राप्त होता रहे; हे ज्ञानके अखण्ड भण्डार! आप कृपाकर मुझे यह वरदान अवश्य दीजिये।' इस प्रकार यह महान् संन्यासी सांसारिक सम्पत्ति और ऐश्वर्यका परित्याग कर उसके बदलेमें महान् पुरुषोंके संगकी याचना करता है! ऐसे सत्संगकी कहाँतक महिमा गायी जाय! अब हमें यह देखना है कि संतोंमें ऐसी कौन-सी बात होती है जिसके कारण मानवजाति उनपर इतना लट्टू हुई फिरती है।

संतके लक्षण

किसी संतको उसके बाहरी वेषसे पहचानना बड़ा कठिन है। संतकी वृत्तियाँ सदा अन्तर्मुखी रहती हैं, वह अपने अन्तरात्मामें सदा भगवान्‌के स्पर्शके सुखका अनुभव करता रहता है। इस प्रसंगमें मुझे एक दृष्टान्त याद आ गया! एक बार कुछ छोटे-छोटे बच्चे रामनवमीके दिन भगवान् श्रीरामका जन्ममहोत्सव मनाते हुए बड़े आनन्दमें मग्न होकर रामनामका संकीर्तन कर रहे थे। इतनेमें ही एक मनुष्य क्रोधमें आगबबूला होता हुआ वहाँ आया। उसे देखकर सभी बच्चे चिल्लाने लगे—'देखो, पागल आया, पागल आया!' और उसे देख-देखकर हँसने और मुँह बनाने लगे। उनमेंसे एक लड़का, जिसका नाम शान्ति था, रामनामका गान भी करता रहा। वह पागल आदमी भी उसके स्वरमें मिलाकर 'श्रीराम जय राम जय जय राम' इस धुनको गाने और नाचने लगा। दूसरे सब लड़के शान्तिका भी मखौल उड़ाने लगे और उसे चिढ़ाकर कहने लगे, 'अच्छा, अब आप भी पागल हो गये।' उस दिनसे उसके साथी लड़के शान्तिको 'पागलकी दुम' के नामसे पुकारने लगे। उस पागल आदमीने शान्तिकी ओर प्रेमभरी दृष्टिसे एक बार देखा और यह कहता हुआ कि 'तुम्हें मैं मिठाई दूँगा' वह वहाँसे भाग गया। दूसरे लड़कोंने शान्तिके माता-पितासे इस बातकी शिकायत की। सारा शहर इस बातको जानता था कि वह पागल मन-ही-मन कुछ बड़बड़ाता रहता है और मरघटमें भूतकी तरह अकेला पड़ा रहता है। वह क्या खाता है, किस प्रकार निर्वाह करता है और कहाँ सोता है, इस बातको कोई नहीं जानता था। शान्ति भी एक अजीब-सा लड़का था। वह कभी अपनी पुस्तकोंमें हाथ नहीं लगाता था।

पाठशालाके गुरुजीको उसे अक्षर सिखानेमें कई बेंत तोड़ने पड़े। परन्तु लड़का इतना शान्त और सहनशील था कि चाहे घरपर तथा स्कूलमें उसे कितनी ही मार पड़ती वह मुँहसे कभी उफ भी नहीं निकालता, केवल राम-राम कहता रहता। उस पागलसे मिलनेके बाद अब इसके दिमाग और भी आसमानमें चढ़ गये। अब तो उसका अल्हड़पन और बेपरवाही और भी बढ़

गयी। वह उस पागलके पीछे पागल हुआ घूमने लगे। एक दिन उसके माँ-बापने जब यह सुना कि वह परीक्षामें फेल हो गया है और हिसाबमें उसे सुन्ना मिला है तो उन्हें बड़ा क्रोध आया और उन्होंने उस लड़केकी अच्छी तरह मरम्मत की। शान्तिके लिये अब घरमें रहना भारी हो गया, वह चुपचाप घरसे बाहर निकल गया और शहरसे दूर जंगलमें एक बड़ी झीलके किनारे बैठकर इस प्रकार रोकर भगवान्‌को पुकारने लगा—'हे राम! अब यह संसार मेरे लिये बहुत दुःखदायी हो गया है। मुझे किताबें तो काटनेको दौड़ती हैं, पाठशाला जानेको जी नहीं चाहता और घर भी मुझे नहीं सुहाता। मैं इस जीवनसे भी ऊब गया हूँ; इन संसारी गुरुओंसे मेरे चित्तका किसी प्रकार भी समाधान नहीं होता। संसारमें मुझसे प्रेम करनेवाला कोई नहीं है, मुझे तुम्हारे नामके सिवा और कोई बात अच्छी नहीं लगती। लोग कहते हैं—तुम सर्वत्र हो, तुम मेरी प्रत्येक बातको सुनते हो और मेरी प्रत्येक क्रियाको देखते हो। अच्छा तो मुझे अब और कुछ नहीं कहना है, मैं अब तुमसे विदा होता हूँ और इस तालाबमें गिरकर चिरशान्तिकी गोदमें जाना चाहता हूँ।' यों कहकर वह बालक पुलपरसे तालाबमें कूदनेको ही था कि इतनेमें वह क्या देखता है कि पीछेसे किसीने आकर अपने हाथोंसे उसकी दोनों आँखें मूँद लीं। उसने यह भी अनुभव किया कि मानो कोई बड़े प्यारसे उसे चूम रहा है। जब उसने आँख खोलकर देखा तो उसे अपने सामने वही पागल दिखायी दिया। उसने कहा 'मेरे प्यारे बच्चे! तुम किसी बातकी चिन्ता न करो, मैं तुम्हें एक ऐसी चीज दूँगा जिससे बढ़कर संसारमें कोई मधुर वस्तु नहीं है।' इन आश्वासनपूर्ण शब्दोंको सुनकर बालक बड़ा प्रसन्न हुआ, उसके दुःखभरे आँसू अब आनन्दके आँसुओंमें परिणत हो गये। वह कृतज्ञताभरे शब्दोंमें पागलसे कहने लगा, 'संसारमें मुझे चाहनेवाला तुम्हारे सिवा और कोई नहीं है, अब मैं तुम्हारे आशीर्वादसे इस तालाबके गर्भमें जाकर भगवान्‌की शान्तिदायिनी गोदमें चिरकालके लिये सो रहना चाहता हूँ। कृपाकर मुझे आज्ञा दो।' पागलने कहा—'तुम्हें इस प्रकार घबड़ाना उचित नहीं, तुम्हारे द्वारा मुझे संसारमें अभी बहुत कुछ करवाना है। तुम मेरे साथ चले आओ।' लड़का चुपचाप उसके पीछे हो लिया और उसने देखा कि जिसे वह पागल समझता था वह वास्तवमें पागल नहीं है किन्तु एक असाधारण पण्डित और कवि है। उसने अपने बनाये हुए कई सुन्दर पद उसे गाकर सुनाये और खानेको कुछ फल दिये। उसने शान्तिको अपने रहनेका स्थान बताया—वह एक टूटी-फूटी झोंपड़ी थी, जो बस्तीसे बहुत दूर एक ऐसे अपरिचित स्थानमें थी जहाँ कोई आता-जाता नहीं था। उसने बालककी जीभपर कुछ लिखा और उसी दिनसे उसे व्याकरण और साहित्य पढ़ाने लगा। उसने उसे भक्तिका पाठ भी पढ़ाया और अपने इष्टके चरणोंमें दृढ़ प्रीति करनेका उपदेश दिया। बालकके अन्दर सहसा कवित्वशक्तिका विकास हो गया और उसकी अपने समयके बहुत बड़े कवियोंमें गणना होने लगी। उसके प्रतिभाशाली मस्तिष्कसे ज्ञानकी जो सुधामयी धारा प्रवाहित हुई उसे देखकर बड़े-बड़े विद्वान् भी चकित हो गये। एक दिन जब वह बालक मदुराके मीनाक्षी देवीके मन्दिरमें स्वरचित पदोंको गाकर जगदम्बाको रिझा रहा था वह पागल आदमी फिर उसके पास आया और उसे इस प्रकार समझाने लगा—'इस सारे विश्वको भगवान्‌का मन्दिर समझो और सारे भूतप्राणियोंको उनका विग्रह समझकर पूजा करो। सारे धर्मोंको भगवान्‌के समीप ले जानेवाले मार्गके रूपमें देखो। अपने हृदय-मन्दिरमें उनकी प्रतिमाको स्थापितकर उन्हींके चिन्तनमें लवलीन हो जाओ। आज मुझे तुम्हें यही सन्देश सुनाना था, अच्छा तो अब मैं तुमसे विदा लेता हूँ।' इसके बाद फिर उसे उस पागलके दर्शन कभी नहीं हुए। थोड़े ही दिनोंमें उसने अपना एक ऐसा होनहार शिष्य पैदा कर दिया जो उसके सन्देशको सारे विश्वको सुनानेमें समर्थ हुआ! संतका यही स्वरूप है, संतका यही चमत्कार है!

संत भक्ति, ज्ञान अथवा निष्कामकर्मके द्वारा भगवान्‌में स्थित होता है। वह कर्तापनके अभिमानको छोड़कर सारे कर्म करता है। वह अपने आत्माके अन्दर ही सुख और स्वतन्त्रताका अनुभव करता है। वह प्रकृतिके तीनों गुणोंसे परे रहता है, जो समस्त विश्वको अपने अधीन किये हुए हैं। वह समचित्त एवं समदृष्टि होता है, उसे प्रिय वस्तुकी प्राप्तिमें हर्ष और अप्रियकी प्राप्तिमें विषाद नहीं होता। वह अभिमान, दर्प, अहंकार, अहम्मन्यता, क्रोध, राग, द्वेष और इन्द्रियलोलुपतासे सर्वथा शून्य होता है; उसे इस बातकी बिलकुल परवा नहीं होती कि अज्ञानी जीव उसे क्या समझते हैं; उसे

अपनी सिद्धि या चमत्कार दिखानेकी कभी इच्छा नहीं होती; वह कीर्ति, नाम अथवा प्रसिद्धिकी कभी इच्छा नहीं करता। वह सोने और मिट्टीके ढेलेको समान समझता है। संसार उसे भले ही पागल समझे, उसकी स्थिति सदा भगवान्‌में रहती है। संसारमें पागल कौन नहीं है? यह जगत् एक प्रकारका पागलखाना ही तो है। बहुत-से लोग तो धन, स्त्री, नाम, कीर्ति, घर और सम्पत्तिके पीछे पागल हुए घूमते हैं और अपना सारा जीवन इन्हीं अनित्य वस्तुओंकी खोजमें गँवा देते हैं। भगवान्‌के लिये तो कोई विरले ही भाग्यवान् पुरुष पागल होते हैं। परमात्माके पीछे पागल हुए ये महापुरुष ही मानवजातिको परमात्माके ज्ञानका दिव्य आलोक प्रदान करते हैं। नानकके माता-पिताने उसे पागल ही समझ रक्खा था। जब उनके पिता उन्हें गुरुके पास ले गये तो बालक नानकने अपने गुरुसे बड़ी निर्भीकताके साथ पूछा—'क्या आपकी पढ़ायी हुई विद्या मुझे भगवान्‌से मिला सकेगी?' जब नानकके पिताने देखा कि लड़केका रोग बढ़ रहा है तो उन्होंने उसका दिमाग ठीक करनेके लिये एक हकीमको नियुक्त किया। हकीमने नानकको बुलाकर कहा—'तुम्हारा दिमाग ठीक नहीं मालूम होता, इसलिये मैं तुम्हें एक ऐसी बढ़िया दवा दूँगा जिसको खाकर तुम्हारी बुद्धि ठिकाने आ जायगी।' नानकने बड़ी गम्भीरताके साथ हकीमसे कहा—'हकीमजी! लोग संसारके पीछे पागल हुए घूमते हैं, किन्तु मैं तो भगवान्‌के पीछे दीवाना हो रहा हूँ; अब मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या आपके पास कोई ऐसी दवा है जिससे मेरा यह बढ़ता हुआ रोग दूर हो जाय?'

संतका बाहरी वेष चाहे जैसा क्यों न हो, उसका हृदय स्वच्छ जलकी भाँति निर्मल होता है। तुलसीदासजी महाराजने कहा है—*'संत हृदय जस निर्मल बारी'*। उसका चित्त भलीभाँति वशमें किया हुआ रहता है और आत्मामें स्थिर रहता है। नौका जिस प्रकार समुद्रमें चलती है किन्तु समुद्रका जल नौकाके अन्दर नहीं आने पाता, इसी प्रकार संत इस संसारसागरमें रहते हैं किन्तु संसार उनके अन्दर नहीं रहता। उनके जीवनकी नौकाको भगवान् खेते हैं। वे आत्मामें सदा स्थित रहकर अपार शान्ति, आनन्द एवं सुखका अनुभव करते रहते हैं। वे आत्माके साथ एकान्तसेवन करते हुए अनासक्तभावसे संसारमें विचरते हैं। एक बार राजर्षि जनकने शुकदेवजीकी परीक्षा ली। उन्होंने शुकदेवजीको तेलसे लबालब भरा हुआ एक कटोरा दिया और कहा कि आप इसे हाथमें लिये हुए मेरे महलोंकी प्रदक्षिणा कर आइये; परन्तु याद रहे, कटोरेमेंसे एक बूँद तेल भी नीचे न गिरने पावे। जनकने इतना ही करके विश्राम नहीं लिया, उन्होंने शुकदेवजीकी एकाग्रताका भंग करनेके लिये उनके मार्गमें मनको आकर्षित करनेवाली अनेकों वस्तुएँ रखवा दीं। कहीं ढोल बज रहे हैं तो कहीं शहनाईकी मधुर ध्वनि कानोंको विवश कर रही है। कहीं गवैये सुन्दर तान अलाप रहे हैं तो कहीं इन्द्रकी अप्सराओंको भी लजानेवाली वारांगनाएँ नृत्य करती हुई दर्शकोंके मनको मोहे लेती हैं। किन्तु यह सब नामरूपका प्रपंच, मनके संकल्पका यह सारा खेल शुकदेवजीकी अखण्ड शान्ति और भीतरकी स्तब्धताका भंग नहीं कर सका। उन्होंने उन सारे पदार्थोंकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा, न वे मुँहसे एक शब्द बोले, न उनकी शान्त मुद्रामें एक भी बल पड़ा। इस प्रकार शुक्राचार्य राजा जनककी परीक्षामें खरे उतरे और जनकने उसी समय उन्हें ज्ञानी होनेका सर्टिफिकेट दे दिया। इस प्रकार संतलोग मन और इन्द्रियोंको आत्मामें लीन करके शान्तभावसे आत्मसंतुष्ट होकर संसारमें विचरते हैं। उनके मनपर किसी भी परिस्थिति अथवा घटनाविशेषका प्रभाव नहीं पड़ता; वे शीत-उष्ण, निन्दा-स्तुति, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंमें सदा सम रहते हैं। क्योंकि ये सारे द्वन्द्व मायाके गुणोंके कार्य हैं और संत उन गुणोंसे ऊपर उठे हुए रहते हैं।

संतका ज्ञान

अब प्रश्न यह होता है कि संतको यह अद्भुत शान्ति और ज्ञान कहाँसे प्राप्त होता है? क्या यह ज्ञान उसे पुस्तकोंद्वारा मिलता है? नहीं, गुलाबको खिलनेकी शिक्षा नहीं मिलती, कोयलको पंचम स्वरमें अलापना कोई सिखाता नहीं। इसी प्रकार संतका ज्ञान भी उसके भीतर जो ज्ञानका स्रोत छिपा हुआ है उसीमेंसे अपने-आप फूट निकलता है। वह ज्ञानका स्रोत विशुद्ध और आज्ञा नामक चक्रोंमें रहता है और गुरुके स्पर्शसे, भक्तिकी प्रखरतासे, ध्यानके दीर्घ अभ्याससे, मन्त्रजपसे अथवा उग्र तपस्यासे जब ये चक्र खुल जाते हैं तो वह साधक सर्वज्ञानसम्पन्न, अद्भुत कवि और दिव्य ज्ञानका आकर बन जाता है। संसारके बहुत-से पैगम्बर

और मसीहे अपढ़ थे। हजरत मुहम्मद जब हीरापर्वतकी गुहामें रहते हुए समाधिमग्न थे उस समय गेब्रील नामक एक खुदाका फ़रिश्ता एक दिन उनके पास आया और अल्लाहके पैग़ामको सुनहरी अक्षरोंमें अंकित कर उनके सामने लाया, तो हजरतने निष्कपट भावसे उस फ़रिश्तेसे कहा कि 'भाई! मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ।' उनके इस प्रकार अपने अज्ञानको स्वीकार करनेपर उनके अन्दर ईश्वरीय ज्ञानका विकास हुआ और उनके दिव्य सन्देशोंको अबूबक्र, उम्र आदि उनके शिष्योंने संगृहीत कर पुस्तकरूपमें लिख डाला। इसी प्रकार दक्षिणेश्वरके उस महान् अपढ़ संतके मुखसे जो ज्ञानके मोती निकले उन्हें सब लोग जानते ही हैं। नम्मलवार नामक संत बचपनसे ही एक इमलीके पेड़के कोटरमें चुपचाप पड़े रहे। वे बरसों निश्चलभावसे ध्यानकी गाढ़ स्थितिमें रहे, जिसके फलस्वरूप उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया और उनमें आत्माका प्रतिबिम्ब स्पष्ट झलकने लगा। उनके आध्यात्मिक प्रकाशने एक बहुत बड़े विद्वान् और महात्माको अपनी ओर आकर्षित किया। इनका नाम था मधुर कवि। मधुर कविने इनका शिष्यत्व ग्रहण किया और एक दिन इनसे पूछा कि आत्मा-जैसा सूक्ष्म पदार्थ इस स्थूल शरीरके अन्दर कैसे रहता है? संतने समाधिकी अवस्थामें ही उत्तर दिया कि वह अपनी ही महिमामें सदा स्थित रहता है, किसी दूसरेके आश्रयपर नहीं। उसी समयसे नम्मलवारने अपनी सुन्दर और प्रेमभरी कविताके रूपमें उस दिव्य आनन्दका स्रोत बहाया जिसका वे अपने हृदयदेशमें निरन्तर अनुभव करते थे। जीवात्माका इस प्रकार परमात्माके साथ नित्य परिणय हो जानेपर भक्तके हृदयमेंसे ज्ञानका प्रवाह फूट निकलता है। नम्मलवारने क्या सुन्दर उपदेश दिया है—

'सत्-असत् दोनों उसीके रूप हैं। हे जिज्ञासुओ! तुम उसीको खोजो। अपने क्षुद्र अहंकार और ममकारको त्याग दो। अपने चित्तमेंसे अहंबुद्धिको सर्वथा निकाल दो। अपनी इच्छाशक्ति, विचारशक्ति, वाणी और कर्मका नियन्त्रण करो और अपने हृदयस्थित भगवान्के अन्दर एकीभावसे स्थिर हो जाओ। यह जीवन विद्युत्प्रकाशके समान क्षणस्थायी है। परमात्मा ही एकमात्र नित्य वस्तु है। हे जिज्ञासुओ! सारी आसक्तियोंका परित्याग कर नारायणके चरणोंकी शरण ग्रहण करो। स्थावर-जंगम सभी मेरे प्रभुके ही स्वरूप हैं। तुमलोग उसीका गुणगान करो, प्रेमरूपी दिव्य सुमनसे उसीकी पूजा करो। उसीके नामका कीर्तन करो। उसकी कृपासे तुम्हारे सारे दुःख दूर होंगे, उसकी कृपाका कवच धारण किये रहनेपर कलियुग तुम्हारे ऊपर अपना प्रभाव नहीं डाल सकेगा। उसकी भक्तिके प्रचारसे तुम इस घोर कलिकालमें भी सत्ययुगका साम्राज्य स्थापित कर सकोगे। और यह भारतभूमि पुनः श्रीकृष्ण और उनके लीलासहचरोंकी लीलाभूमि बन जायगी।'

एक बालक बचपनमें ही पितृहीन हो गया था। जब वह अपने सखाओंके साथ खेल रहा था तो उसने अन्य सब बालकोंको अपने-अपने पिताकी चर्चा करते हुए सुना। इस चर्चाको सुनकर बालकके मनमें भी कौतूहल उत्पन्न हुआ और वह दौड़ा हुआ अपनी माताके पास जाकर उससे पूछने लगा—'माता! मेरे सभी साथी अपने-अपने पिताकी बात करते हैं, क्या मेरे पिता नहीं हैं? यदि हैं तो वे कहाँ हैं?' बालकके इस भोले-भाले प्रश्नको सुनकर माताके नेत्रोंमें जल भर आया, वह लड़केको हाथ पकड़कर पास ही गोपालजीके मन्दिरमें ले गयी और वहाँ भगवान्के विग्रहकी ओर संकेत करके कहा—'देखो, बेटा! तुम्हारे पिता यही हैं।' बालकके लिये माताका वह एक वाक्य जादूका काम कर गया। बालक उसी दिनसे अपने पिताके लिये चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा और कहने लगा, 'पिताजी! तुम मुझे दर्शन क्यों नहीं देते?' एक दिन वह मन्दिरके भीतर जाकर मूर्तिके पीछे छिप गया और जब आधीरात हुई तो पुजारीने मन्दिरके पट बन्द कर दिये। बालक अपने पिताका ध्यान करते-करते अपने शरीरकी सुधबुध भूल गया। वह भगवान्को पुकारकर कहने लगा—'जबतक तुम मेरे पास आकर मुझे अपनी छातीसे नहीं लगाओगे तबतक मैं यहाँसे नहीं हटनेका। मुझे मरना स्वीकार है, परन्तु तुम्हें पाये बिना मैं यहाँसे टल नहीं सकता।' इस प्रकार मनमें भगवान्से मिलनेका दृढ़ संकल्प कर वह वहीं मूर्तिके पीछे आसन लगाकर बैठ गया। भक्तकी सच्ची पुकार भगवान् अवश्य सुनते हैं। बालकके पुकारनेकी ही देर थी कि वहाँ भगवान् प्रकट हो गये। उन्होंने भक्तकी भावनाके अनुसार उसे अपने गले लगाया और अपने ज्ञानका उसके अन्दर संचार कर दिया। अब तो वह बालक सबेरा होते ही आत्माको आह्लादित करनेवाले पद बना-बनाकर गाने लगा। इस

संतके पद अब पुस्तकरूपमें संगृहीत हो गये हैं। संतके अन्दर ईश्वरीय ज्ञानका किस प्रकार विकास होता है इसका यह एक जीता-जागता प्रमाण है।

भक्त संत

गीता कहती है कि जो ब्रह्मभूत हो जाते हैं अर्थात् जो ब्रह्ममें मिल जाते हैं उनकी आत्मा निर्मल हो जाती है। उन्हें ब्रह्मके अतिरिक्त और किसी वस्तुका चिन्तन नहीं होता और न उन्हें परमात्माके अतिरिक्त और किसी वस्तुकी आकांक्षा ही रह जाती है। उनका समस्त भूतोंमें और सारी परिस्थितियोंमें समभाव हो जाता है और आत्मज्ञानकी उसी चरम अवस्थामें ज्ञानीको पराभक्तिकी प्राप्ति होती है*। ब्रह्मकी प्राप्ति हो जानेके बाद भी स्वामी रामकृष्ण परमहंस 'हरि, गोविन्द, गोपाल, राम, कृष्ण, ॐ, माँ काली' आदि भगवान्के दिव्य नामोंका उच्चस्वरसे कीर्तन किया करते थे और भक्तोंके साथ आवेशमें आकर नाचने लगते थे। संतका हृदय भगवान्का मन्दिर बन जाता है।

प्राचीनकालमें पूजालाल नामके एक संत हो गये हैं। वे बड़े विद्वान् और शंकरके अनन्य भक्त थे। परन्तु उन्हें धनका बड़ा अभाव था। शिवजीका एक अत्युत्तम मन्दिर बनवानेकी उनके मनमें बड़ी लालसा थी। उन्होंने इसके लिये लोगोंसे भिक्षा माँगनी शुरू की। जो कोई भी उनके इस प्रस्तावको सुनता वही हँस देता और कहता—'क्या तुम पागल तो नहीं हो गये हो जो पैसे-पैसेके मुहताज होकर इतने बड़े कामको उठाना चाहते हो? जाओ, इस प्रकारकी बे सिर-पैरकी बातें सुननेके लिये हमारे पास समय नहीं है।' लोग उन्हें वास्तवमें पागल समझते थे। परन्तु संत अपने संकल्पमें अडिग थे, उनका उत्साह मन्द नहीं हुआ। वे मनमें सोचने लगे—यदि पत्थरका मन्दिर बनवानेमें मेरी दरिद्रता बाधक होगी तो मैं अपने हृदयमें उनके लिये एक सोनेका मन्दिर बनवाऊँगा। उसी दिनसे उन्होंने अपने स्वर्णमय हृदयको प्रेमकी ज्वालासे द्रवीभूत कर उसमें आगम-शास्त्रके अनुसार भगवान्का बड़ा सुन्दर मन्दिर बनाना शुरू किया। थोड़े ही दिनोंमें मन्दिर तैयार हो गया और भक्तने अपने भगवान्को उसमें प्रतिष्ठित करनेके लिये उनका आवाहन किया। दैवयोगसे उसी समय उस नगरके राजाने एक सुन्दर मन्दिर बनवाया और उसकी प्रतिष्ठाके लिये भी वही दिन नियत हुआ जिस दिन पूजालालने भगवान्को अपने मन्दिरमें विराजमान होनेके लिये पुकारा। भगवान्ने स्वप्नमें राजाको दर्शन दिया और कहा—'अपने मन्दिरकी प्रतिष्ठाको कुछ दिन स्थगित रक्खो, आज मुझे अपने अनन्यभक्त पूजालालके द्वारा निर्मित प्रेममन्दिरमें प्रवेश करना है।' अपने भक्तके संकल्पको सिद्ध करनेके लिये भगवान्ने पूजालालके हृदयमन्दिरमें पदार्पण किया। उनका सारा शरीर भगवान्की दिव्य ज्योतिसे जगमगा उठा। राजाने उनके घर जाकर उनकी वन्दना की। जिन लोगोंने उन्हें पागल कहकर उनकी अवज्ञा की थी वे सभी अपनी मूर्खतापर पश्चात्ताप करने लगे। इस प्रकार संतलोग अपने हृदयदेशमें वह दिव्य मन्दिर बनाते हैं जिसमें भगवान् सदाके लिये आ विराजते हैं और फिर एक क्षणके लिये भी वहाँसे अलग नहीं होते।

महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव अपने समयके बहुत बड़े विद्वान् थे। जब निमाई पण्डित श्रीकृष्णचैतन्यके नामसे विख्यात हुए तो उन्हें यह अनुभव हुआ कि समस्त विद्याओंके सार श्रीकृष्ण ही हैं। 'कृष्ण' इस एक नामसे उन्होंने सैकड़ों आश्चर्य कर दिखाये। श्रीकृष्णके नाममें जो अलौकिक सुख है उसके सामने पुस्तकीय ज्ञान निरे अभिमानको सूचित करता है। उन्होंने देशभरमें श्रीकृष्णके प्रेमकी नदी बहा दी और हरिनामका कीर्तन करते हुए और प्रेममें मस्त होकर नाचते हुए सारे तीर्थोंका पर्यटन किया। एक बार जब वे दक्षिणभारतकी यात्रा कर रहे थे तो कई छोटे-छोटे बालक उनके प्रेमसे आकर्षित होकर 'हरि, हरि' बोलते हुए उनके पीछे दौड़ने लगे। यह देखकर उनमेंसे एक बालकका पिता क्रोधके आवेशमें आकर उनसे कहने लगा—'अरे पागल संन्यासी! तुम मेरे इस अबोध बालकको अपनी ही भाँति पागल बनाना चाहते हो? अच्छी बात है, यहाँ तुम्हारी अच्छी तरह खबर ली जायगी।' महाप्रभुने कहा—'कोई बात नहीं, तुम मुझे जितना चाहो मारो, परन्तु हरिका नाम उच्चारण करते जाओ।' इस उत्तरको सुनकर वह बड़ा लज्जित हुआ, वह महाप्रभुके चरणोंमें गिर पड़ा और उसी दिनसे उनका भक्त हो गया। इस

* ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

प्रकार संत अपने प्रेमके बलसे कठोर-से-कठोर मनुष्यको भी सहृदय बना लेते हैं। हम सब इस बातको जानते हैं कि यवन हरिदासको डिगानेके लिये दुष्टोंने जिस वेश्याको उनके पीछे लगाया था उसका वह गंदा विचार उनके दर्शनमात्रसे दूर हो गया और वह उनके मन्त्रजपकी शक्तिसे सदाके लिये उनकी भक्त बन गयी। चैतन्य महाप्रभुने सनातन गोस्वामीको गले लगाकर उनके बहुत दिनोंके चर्मरोगको कुछ ही क्षणमें दूर कर दिया। भक्त संत अपने भगवान्‌को सर्वत्र देखते हैं और सर्वथा अहंकारशून्य होकर सबके रूपमें उन्हींकी सेवा करते हैं। श्रीरामानुजाचार्यको उनके गुरुदेव श्रीनाम्बिमहाराजने अष्टाक्षर मन्त्रकी दीक्षा दी थी। दीक्षा देते समय गुरुने उन्हें सावधान कर दिया था कि वे किसी हालतमें इस मन्त्रको दूसरेके सामने प्रकट न करें। परन्तु दुखी जीवोंके प्रति दयापरवश हो उन्होंने उस मन्त्रको मन्दिरके शिखरपरसे सबको सुना दिया। इसपर उनके गुरु बहुत बिगड़े और उनसे कहा कि तुम्हें इस महान् अपराधके बदले नरक भोगना पड़ेगा। रामानुज गुरुके इस वचनको सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि यदि मेरे नरक जानेसे इतने मनुष्य नरकके त्राससे बच सकते हैं तो मुझे नरकका वास स्वर्गसे भी बढ़कर सुखकर प्रतीत होगा। उनके इस उत्तरको सुनकर गुरु बड़े प्रसन्न हुए और अपने महानुभाव शिष्यकी समदर्शिताकी बड़ी प्रशंसा करने लगे। इस दृष्टान्तसे यह बात सिद्ध होती है कि संतलोग अपने लिये नहीं बल्कि दूसरोंके लिये ही जीते हैं।

भगवान्‌के सच्चे भक्त भगवान्‌से उनके प्रेमके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं माँगते। कूरत्ताळवार भगवान् रामानुजके प्रधान शिष्य थे। उन्होंने अपने गुरुको गुप्तरूपसे मैसूर भेजकर उनकी उस समयके शैव राजाके अत्याचारोंसे रक्षा की। कूरत्ताळवार अपने गुरुका वेश धारणकर राजाके दरबारमें उपस्थित हुए और बड़ी निर्भीकताके साथ उसके प्रश्नोंका उत्तर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनकी आँखें निकलवा दी गयीं। कूरत्ताळवार अब नेत्रहीन हो जानेके कारण असहाय हो गये। उनका कुटुम्ब बहुत बड़ा था और उन्हें अयाचितरूपसे जो कुछ मिल जाता था उसीसे वे अपने कुटुम्बका भरण-पोषण करते थे। एक बार बरसातके दिनोंमें उनके सारे परिवारको सात दिनतक लगातार उपवास करना पड़ा। परन्तु भक्त कूरत्ताळवार इस कष्टको देखकर तनिक भी विचलित नहीं हुए और वे सदाकी भाँति भगवान्‌के नामको रटते रहे। उनकी पत्नीने आधीरातके समय भगवान् रंगनाथको स्मरण किया और दुखी होकर उनसे इस प्रकार प्रार्थना की—'भगवन्! आप स्वयं तो महलोंमें रहकर उत्तम-से-उत्तम पदार्थोंका भोग लगाते हैं और तुम्हारे भक्त यहाँ भूखों मरते हैं! क्या भक्तोंकी भूख तुम्हारी नहीं है?' उनका यह कहना था कि उसी समय श्रीरंगजीके मन्दिरका पुजारी वहाँ बढ़िया-से-बढ़िया प्रसादकी थालियाँ लेकर आया और कहा—'महाराज! मुझे आज स्वप्नमें श्रीरंगजीने आदेश दिया है, इसीलिये मैं यह प्रसाद आपलोगोंकी सेवामें लाया हूँ।' कूरत्ताळवारको जब यह पता लगा कि उनकी पत्नीने भगवान्‌से प्रार्थना की थी तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ और वे मन-ही-मन कहने लगे कि हाय, मैंने भगवान्‌को कितना कष्ट दिया! उस भक्तको धिक्कार है जो अपनी भक्तिके बदलेमें भगवान्‌से कुछ चाहता है। अहा, भक्त कैसा निष्कामी होता है? वह अपने प्रेमके बलसे भगवान्‌के साथ एक हो जाता है। संत फ्रांसिस ईसामसीहसे इतना प्रेम करते थे कि जब ईसामसीह सूलीपर चढ़ाये गये तो फ्रांसिसके शरीरमेंसे पसीनेकी जगह रक्तकी बूँदें निकलने लगीं।

संतोंकी समाधि

आत्मानुभवकी चरम अवस्थामें, जब नीचेके आधार खुल जाते हैं और आधारशक्ति सहस्रारचक्रमें परमशिवके साथ मिल जाती है तब साधक आत्मस्थितिके परम आनन्दमें डूब जाता है, वह ब्रह्मभूत हो जाता है। वह मौन होकर अपने भीतरके सहस्रदलकमलका आसव पीकर सदाके लिये छक जाता है। ऐसी स्थितिमें उसके लिये ओठोंसे एक शब्द भी निकालना भारी हो जाता है। संतके मुखका तेजोमण्डल ही जादूका काम करता है। स्वामी सदाशिव ब्रह्म इसी प्रकारके एक संत थे। वे वैराग्यके आवेशमें बचपनमें ही घरसे निकल पड़े और कुम्भकोणम् मठके अधिपति स्वामी श्रीपरमशिवेन्द्र सरस्वतीके चरणोंमें बैठकर उन्होंने वेदान्तका अध्ययन किया। वहाँ रहकर उन्होंने सुन्दर वेदान्तसम्बन्धी कीर्तनोंकी रचना की जिनका आज भी दूर-दूरतक प्रचार है, और आत्मानुभूतिविषयक कई पद्यग्रन्थ भी रचे। निमाई

पण्डितकी भाँति वे उस मठमें आनेवाले बड़े-बड़े पण्डितोंसे शास्त्रार्थमें भिड़ जाते थे और सदाशिवके सामने उन्हें नीचा देखना पड़ता था। इसपर पण्डितोंने उनके गुरुजीसे कहा कि 'सदाशिव बड़े ढीठ हो गये हैं और उन्हें लोगोंसे शास्त्रार्थ करने और उन्हें छकानेमें बड़ा मजा आता है।' इसपर गुरुजीने उन्हें एक दिन बड़े जोरसे डाँटकर कहा—'सदाशिव! आजसे तुम मौन हो जाओ।' गुरुजीकी यह बात सदाशिवको लग गयी। उन्होंने सोचा—'बात तो ठीक है, सत्यका आधार वाणी नहीं है, सत्य तो मौनमें ही है।' यह कहकर उस ज्ञानी महात्माने वाणीके साथ-साथ और सब वस्तुओंका भी परित्याग कर दिया। उसी दिनसे वे अवधूतवेशमें आत्मस्थित होकर गूँगेकी भाँति विचरने लगे। लोगोंने अब भी उनका पिण्ड नहीं छोड़ा। उन्होंने सदाशिवके गुरुजीसे जाकर फिर शिकायत की कि सदाशिव पागल हो गये हैं। इसपर गुरुजीने कहा—'यह तो बड़े सौभाग्यकी बात है, मैं स्वयं उस दिनकी बड़ी उत्सुकताके साथ बाट देख रहा हूँ जब मैं भी सदाशिवकी भाँति पागल हो जाऊँगा।' सदाशिवेन्द्र अब समाधिमें ही रहने लगे और कावेरी नदीके तटपर जंगलमें महीनों एक आसनसे बैठे रहते। एक बार वे इसी प्रकार कोडुमुड़ी (सीर) नामक स्थानके निकट कावेरीके वालुकामय पुलिनमें समाधिस्थ होकर बैठे थे कि अचानक नदीमें बाढ़ आ गयी और वे उसीमें बह गये। लोगोंको उनका कहीं खोज भी न मिला। बाढ़का पानी उतर जानेके कुछ दिन बाद एक आदमी नदीमेंसे बालू निकाल रहा था तो उसे अपनी कुदालमें कुछ रुधिर लगा हुआ देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने आसपासके लोगोंको एकत्र किया और मिट्टी हटानेपर लोगोंने देखा कि वहाँ सदाशिवेन्द्र समाधि लगाये हुए बैठे हैं। कई बार लोगोंने उन्हें एक ही समयमें कई स्थानोंमें देखा। अभी वे यहाँ बच्चोंके साथ खेल रहे हैं तो उसी समय दूसरे स्थानमें लोग उन्हें समाधि लगाये बैठा पाते हैं। वे बड़े-बड़े असाध्य रोगोंको स्पर्शमात्रसे दूर कर दिया करते थे। दृष्टिमात्रसे वे लोगोंकी हृदयग्रन्थिको खोल देते थे और अधिकारी मनुष्योंको ब्रह्मज्ञानमें परिनिष्ठित कर दिया करते थे। मूर्खलोग उन्हें बहुत सताया करते थे। एक बार किसी मनुष्यको उन्हें नग्न देखकर बड़ा क्रोध आया और उसने क्रोधके आवेशमें इनका एक हाथ काट दिया। महात्माने इसकी कुछ भी परवा नहीं की और उसी प्रकार मस्त होकर वे वहाँसे चल दिये। अब तो जिस मनुष्यने उनका हाथ काटा था उसे अपनी करनीपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने सोचा, ये तो कोई महात्मा हैं और दौड़कर उनके चरणोंमें लोट गया और उनसे क्षमाकी भीख माँगने लगा। महात्माने इशारेसे उसे पूछा—'मामला क्या है?' उस मनुष्यने कहा, 'महाराज! मैं बड़ा पापी हूँ, मैंने आपका हाथ काट डाला है।' महात्माने कहा—'अच्छा, यह बात है?' यों कहकर उन्होंने अपने दूसरे हाथसे अपने कटे हुए हाथको टटोला तो उसके स्पर्शसे ही उनका घाव अच्छा हो गया। इन्हीं महात्माने पुदुक्कोट्टा राजधानीके राजा विजय-रघुनाथको उपदेश दिया था और इनके आशीर्वादसे ही राजाकी सारी समस्याएँ हल हो गयी थीं। सदाशिव ब्रह्मकी पुदुक्कोट्टा राज्यमें अब भी पूजा होती है और उनके नामपर राज्यकी ओरसे बहुत-सा दान-पुण्य होता है। वे बहुत कालतक जीवित रहे। उन्होंने सारे देशका भ्रमण किया और अन्तमें जो दिन उन्होंने पहलेसे ही लोगोंको बता रक्खा था उसी दिन नैरूर नामक ग्राममें समाधि ले ली। लेखकने स्वयं उनके समाधिस्थानपर बैठकर दिनतक ध्यानका अभ्यास किया, जिससे उसे बड़ा लाभ हुआ। वहाँ अब भी उनका प्रभाव विद्यमान है और उस स्थानमें मनुष्यको एक अनूठी शान्तिका अनुभव होता है।

सद्‌गुरु संत

वर्तमान कालमें संसारको संतोंके उपदेशकी बड़ी आवश्यकता है। राष्ट्रीयता, युद्धप्रियता, व्यापारका प्रेम, कूट राजनीति, नाजीवाद, क्रान्तिवाद, रूसी साम्यवाद आदि अनेक भौतिकवादोंने, जो जडवादकी ही सन्तान हैं, मनुष्य-जातिपर आधिपत्य जमा रक्खा है और वे मनुष्यके एकमात्र रक्षक धर्मकी जड़को हिला रहे हैं। धर्मपर प्रहार करनेके लिये वे जिन-जिन शास्त्रोंका प्रयोग करते हैं उनसे उन्हींका गला कटता है। योरपको इस ध्वंसकारी युद्धवादसे कौन बचा सकता है—राजनीतिज्ञ अथवा योद्धा? नहीं, संत ही इस विपत्तिसे मनुष्यसमाजको बचा सकते हैं। वे ही एक ऐसी शक्तिके द्वारा मनुष्यके हृदयको प्रभावित कर सकते हैं जो विज्ञानके ध्वंसकारी प्रयोगोंकी अपेक्षा लाखों गुनी अधिक बलवती है। भारतवर्षको चाहिये कि वह पहले

अपने ही संतोंके ज्ञानका महत्त्व समझे। वह स्वयं ही अपने बन्धनोंसे मुक्त होकर संसारका आध्यात्मिक गुरु बन सकता है और जगत्‌को सर्वनाशसे बचा सकता है।

मनुष्यकी आत्मा जब इस अनन्त जीवनसंग्रामसे हार जाती है तब वह अन्तमें जाकर किसी संतके चरणोंमें ही विश्राम और शान्तिको खोजती है। क्योंकि संत ही मनुष्यके अन्दर ईश्वरत्वकी उस ज्वालाको प्रकट कर सकते हैं जो उसके सारे पाप-तापोंको भस्म कर डालती है और उसे नित्य एवं अजस्र सुखरूप परमात्माकी गोदमें बिठा देती है। संत ही अपने स्पर्शके द्वारा अथवा अपनी कृपादृष्टिकी कोरसे मनुष्यके हृदयमें आत्मज्ञानकी ज्योति जगा सकते हैं। संत ही मुखसे एक भी शब्द न कहकर मनुष्यको इस प्रकारका मौन उपदेश दे सकते हैं—जिस प्रकार भगवान् सविता सारे विश्वके चक्षुरूप हैं, वे इस बाह्य प्रपंचके पाप-ताप तथा दोषोंसे सर्वथा निर्लिप्त हैं, उसी प्रकार सारे भूतप्राणियोंके हृदयदेशमें रहनेवाला अद्वितीय आत्मा जगत्‌के दु:खों और क्लेशोंसे सर्वथा अलिप्त है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदु:खेन बाह्यः॥

वे ही शिष्यको हृदयकी वाणीसे कह सकते हैं—उस आत्माको ही देखो, वही सत्य है, वही अमृतस्वरूप है, वही एकमात्र जाननेकी वस्तु है! हे सोम्य, हे शान्तिको खोजनेवाले! उसीको जानो—

तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि।

वे ही त्रितापतप्त जीवको आत्माके अनन्त आनन्दकी ओर ले जा सकते हैं और उसे इस बातका अनुभव करा सकते हैं कि आत्मासे ही वीर्यकी प्राप्ति होती है और आत्मज्ञानसे ही अमृतत्वकी उपलब्धि होती है—

आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्।

ऋषि अथवा कल्मषहीन संत ही मानवजातिको जन्म-जन्मान्तरकी मोहनिद्रासे जगा सकते हैं, द्वन्द्वोंसे मुक्त कर सकते हैं और जिज्ञासुसे यह कह सकते हैं—उठो, जागो, उस परमतत्त्वको जानो जिसके द्वारा तुम इस संसाररूपी दु:खसागरके पार हो सकते हो! अपने हृदयमें जलती हुई ब्रह्माग्निको पहचानो! वही तुम्हारे सारे बन्धनोंको जला सकती है। उसीको जानो, वही हो जाओ! उसको जाननेवाला ही संसारमें सबसे बड़ा है, क्योंकि उससे बढ़कर संसारमें कोई वस्तु है ही नहीं—**'नातः परमस्ति'**। संतोंकी यही महिमा है और उनकी इसी गुणगरिमाका संसार आदर करता है। इस आत्मज्ञान, आत्मानुभूतिके द्वारा ही संत जगत्‌के पथप्रदर्शक—मानवजातिके ध्रुवतारे बन जाते हैं! आत्मस्थिति ही संतोंका पहला लक्षण है। उसे ब्रह्म, शिव, नारायण, सत्-चित्-आनन्द, पिता, माता, अल्लाह, जेहोवा आदि किसी नामसे पुकारो, उस एक आनन्दमय सत्य-ज्ञानानन्तस्वरूप परमात्माका अन्त:करणके द्वारा अनुभव करनेसे ही मनुष्य सारे दोषोंसे मुक्त होकर परमात्मस्वरूप बन सकता है। उसे प्राप्त करनेके भक्ति, ज्ञान, निष्कामकर्म, एकान्तप्रार्थना, ध्यान, तपस्या, योग आदि अनेक उपाय हैं। जो अपने अन्त:करणमें उस विश्वात्माका आत्मस्वरूपसे अनुभव करता है वही उन्हें अखिल विश्वमें व्याप्त पाता है। संतलोग हमें बार-बार चेतावनी देते हैं—उसी एकको जाननेसे तुम इसी संसारमें उस सत्यस्वरूपको प्राप्त कर सकते हो; उसे यदि यहींपर तुमने नहीं जाना तो समझ लो, तुम बड़े घाटेमें रहे। जो धीर पुरुष उस आत्माको सभी भूतोंमें देखता है वह सब कुछ जान लेता है और इस द्वन्द्वमय जगत्‌के बन्धनसे छूटकर वह अमृतत्वको प्राप्त होता है—

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।

संतको न उपदेशकी आवश्यकता होती है न आदेशकी और न उसे वाद-विवादकी ही जरूरत पड़ती है। उसके स्पर्शसे, उसकी दृष्टिसे तथ उसकी सन्निधिमात्रसे मनुष्य पवित्र हो जाता है। जो मनुष्य एक बार किसी संतके तेजोमण्डलके भीतर आ गया वह सदाके लिये निहाल हो गया। कोई भी सूर्यसे उपदेश सुनने नहीं जाता और न सूर्यको ही लंबे-लंबे व्याख्यान झाड़नेका अवकाश रहता है। भगवान् सूर्यदेव सदा शान्त, स्तब्ध एवं मूक रहते हैं; वे अपने प्रकाशसे कभी च्युत नहीं होते और संसार उनके विषयमें क्या सोचता है इसकी उन्हें तनिक भी परवा नहीं होती। वे जगत्‌की सारी घटनाओंके साक्षी होकर अनासक्त भावसे लोकमें पर्यटन करते हैं, और पृथ्वीमण्डलपर अपने किरणजालको फैलाकर उसके मुखमण्डलको विकसित एवं देदीप्यमान कर देते हैं। इसी प्रकार संत भी जीवोंके कल्याणके लिये अप्रत्यक्ष रूपसे अपने प्रकाशको सर्वत्र फैला देते

हैं। यही संतोंकी महिमा है। इसीलिये हमारा भारतवर्ष संतको भगवान्‌का ही प्रतिनिधि मानता है और भगवान्‌में और संतमें कोई अन्तर नहीं मानता। इसीलिये हिन्दूजाति ब्रह्मवेत्ताको अपना गुरु मानती है और बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् भी संतके सामने सिर झुकाते हैं। संतोंकी महिमा इतनी अधिक है कि सारी त्रिलोकी भी उसका थाह नहीं लगा सकती।

बोलो संत और भगवान्‌की जय!

संतमत

(लेखक—सर आनन्दसरूप साहबजी महाराज)

संतमत भक्ति, आत्मसमर्पण और ईश्वरके साथ घुल-मिल जानेकी—एक हो जानेकी शिक्षा देता है। संतमतके अनुयायीको सर्वप्रथम अपने गुरुकी भक्ति करनी होती है। गुरु उसे धीरे-धीरे उस अवस्थातक पहुँचा देता है जहाँ वह ईश्वरकी इच्छाके सर्वथा अनुकूल बन जाता है और अन्तमें वह परमात्मामें मिल जाता है अथवा उसकी परमात्माके साथ पूर्ण एकता हो जाती है। संतमतमें युक्ति अथवा अनुमानके लिये कोई स्थान नहीं है, वह तो सर्वथा अनुभवकी वस्तु है। संतमतमें प्रधान बातें हैं—संयम अथवा मनोनिग्रह, अहंकार अथवा खुदीको सर्वथा मिटा देना, अलौकिक अथवा इन्द्रियातीत अनुभव, और परमात्माका साक्षात्कार अथवा ईश्वरानुभूति।

संतमतके मूल सिद्धान्त तीन हैं—(१) ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास, (२) परमात्मा और जीवात्माकी स्वरूपगत एकता और (३) आत्माकी नित्यता। अतः संतमतका अनुयायी ईश्वरकी सत्तको केवल सिद्धान्तरूपमें ही नहीं मानता। उसके लिये ईश्वर उतना ही सत्य है जितना उसका आत्मा सत्य है। वह इस बातको अच्छी तरह समझता है कि जिस प्रकार समुद्र और समुद्रके जलका एक बिन्दु स्वरूपतः एक ही हैं, उसी प्रकार परमात्मा और जीवात्मा भी तत्त्वतः एक ही हैं। साथ ही उसे अपने मार्गमें किसी प्रकारकी शंका अथवा सन्देह नहीं होता। उसकी गति आत्माभिमुख होती है और साधकके लिये अपने आत्मासे अधिक ध्रुव और सत्य वस्तु क्या हो सकती है? साधकको गृहस्थाश्रममें रहते हुए प्रतिदिन बहुत-से विक्षेपोंका सामना करना पड़ता है, जिससे उसकी अध्यात्ममार्गमें गति रुक जाती है अथवा कम-से-कम मन्द अवश्य हो जाती है। परन्तु इन विक्षेपोंसे वह घबड़ाता नहीं, क्योंकि उसके मनमें यह निश्चय होता है कि हमारे वास्तविक आत्माका इस भौतिक शरीरके साथ विनाश नहीं होता, आत्मा अमर है और जो पार्थिव शरीर इस समय हमें मिला है उसके छूट जानेपर भी आत्माका अस्तित्व बना रहेगा और वह ईश्वरकी ओर बढ़ता रहेगा। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि उसे अपने साधनकी सफलतामें—अपने लक्ष्यतक पहुँचनेके विषयमें—किसी प्रकारका सन्देह अथवा शंका नहीं होती। उसका अपने गुरुमें विश्वास होता है और उन्हें वह एक सच्चे मित्र, ज्ञानी और पथ-प्रदर्शकके रूपमें देखता है और समझता है कि जिस लक्ष्यपर वह पहुँचना चाहता है वहाँतक वे पहुँचे हुए हैं। वह पूर्ण विश्वासके साथ उनके बताये हुए मार्गपर चलता है और परम सन्तुष्ट रहता है।

हम ऊपर कह आये हैं कि संतमतमें संयम अथवा मनोनिग्रहपर खूब जोर दिया गया है। जब हम वाणीसे कुछ कहते हैं अथवा उँगली हिलानेकी भी चेष्टा करते हैं तो इस कार्यमें हमारी आध्यात्मिक शक्ति खर्च होती है। इस प्रकार इन्द्रियों तथा शरीरके अवयवों तथा मानसिक शक्तियोंसे जो हम निरन्तर काम लेते रहते हैं उससे हमारी आध्यात्मिक शक्तिका ह्रास होता रहता है, जिसके कारण हममेंसे अधिकांश लोग आध्यात्मिक दृष्टिसे इतने क्षीण और दुर्बल हो गये हैं कि हमलोग क्षणभर भी अपने चित्तको निगृहीत अथवा एकाग्र नहीं कर सकते। अतः संतमतके अनुयायीके लिये यह आज्ञा है कि वह किसी प्रकारकी अनावश्यक झंझटोंमें न फँसे और किसी ऐसी वस्तुका सेवन न करे जिससे उसका शरीर और मन आवश्यकतासे अधिक उत्तेजित हो उठें। साथ ही उसे इस बातका भी पूरा ध्यान रखना चाहिये कि वह किस प्रकारके संग और वातावरणमें रहता है, क्योंकि इनका भी मनको स्थिर

अथवा अस्थिर करनेमें बड़ा हाथ रहता है। इस प्रकार संयम और इन्द्रियनिग्रहपूर्वक जीवन व्यतीत करता हुआ और आध्यात्मिक शक्तिकी रक्षा करता हुआ साधक प्रतिदिन प्रात:काल एवं सायंकाल कुछ नियमित समय साधन अथवा अभ्यासमें लगाता है। संतमतमें साधन अथवा अभ्यासकी जो प्रक्रिया बतायी गयी है वह सहज एवं सुगम होनेपर भी बहुत कामकी है। उससे संसारके कार्य करते रहनेसे जो आध्यात्मिक शक्तिका ह्रास होता है उसकी पूर्ति ही नहीं होती अपितु वह शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि साधक अपने भीतर रहनेवाली अध्यात्मधाराको बाहरसे भीतरकी ओर और नीचेसे ऊपरकी ओर ले जा सकता है।

संतमतके अनुसार यह मनुष्यपिण्ड ब्रह्माण्डका ही सूक्ष्म रूप है। यह एक ऐसी मशीन अथवा माध्यम है जिसके द्वारा ब्रह्माण्डके लोकों और आध्यात्मिक केन्द्रोंके साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। संतमतके अनुयायियोंका विश्वास है कि इस शरीरमें आध्यात्मिक शक्तिके कई केन्द्र हैं जिन्हें संतोंकी भाषामें चक्र, कँवल (कमल) या पद्म कहते हैं। इन चक्रोंमें बहुत बड़ी आध्यात्मिक शक्तियाँ सोयी हुई रहती हैं और यदि पिण्डमें रहनेवाली इन शक्तियोंको ठीक तरहसे जगाया जाय और उपयोगमें लाया जाय तो इनके द्वारा ब्रह्माण्डके लोकों और आध्यात्मिक केन्द्रोंके साथ उसी प्रकार सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है जिस प्रकार नेत्रोंके द्वारा सूर्यके साथ सम्बन्ध स्थापित है। परन्तु जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, साधारण आदमियोंके लिये, जिनकी आध्यात्मिक शक्ति बहुत क्षीण हो गयी है, ऐसा करना सम्भव नहीं है। इन केन्द्रोंसे लाभ उठाने और उनके अन्दर छिपी हुई आध्यात्मिक शक्तियोंको व्यक्त करनेके लिये बहुत ऊँची आध्यात्मिक स्थितिकी आवश्यकता है। संतमतमें बताये हुए साधनोंको करनेसे मनुष्यकी आध्यात्मिक स्थिति इतनी ऊँची हो जाती है कि वह उसके द्वारा अपनी सुप्त आध्यात्मिक शक्तियोंको जगाकर उनका उपयोग कर सकता है।

संतमतमें तीन प्रकारके साधन बताये गये हैं—'सुमिरन' (स्मरण), 'ध्यान' और 'भजन'। यहाँ यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि इन साधनोंके सम्बन्धमें सभी संतोंके उपदेश एक-से ही हैं, चाहे वे किसी समयमें हुए हों और चाहे उनका किसी जाति अथवा देशमें जन्म हुआ हो। इन्हीं साधनोंको फारसीमें 'ज़िक्र', 'फ़िक्र' और 'सुल्तानुलज़कार' कहते हैं। 'सुमिरन' का अभ्यास करनेवालेको भगवान्‌के किसी नामका मौन जप करते हुए चित्तकी वृत्तिको ऊपरके किसी चक्रमें लगाना पड़ता है और 'ध्यान' का अभ्यास करनेवालेको उसे उस चक्रमें स्थिर करना पड़ता है। इन दोनों साधनोंका अभ्यास शुरू करनेके कुछ ही दिन बाद साधकको अपने सारे शरीरमें फैली हुई आध्यात्मिक तरंगोंको बटोरकर उन्हें एक खास चक्रपर केन्द्रित करनेसे अपने भीतर एक विलक्षण आनन्दका अनुभव होने लगता है। कुछ अभ्यास करनेके बाद वह आध्यात्मिक शक्ति जो उस चक्रमें सोयी हुई रहती है जागती हुई-सी प्रतीत होने लगती है और इसके थोड़े ही दिन बाद साधकको दिव्य दृष्टि अथवा अलौकिक प्रत्यक्षकी सूक्ष्म शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इतना कर चुकनेके बाद वह 'भजन' नामक तीसरी साधनामें प्रवेश करनेका अधिकारी होता है और गुरुसे आवश्यक बातें समझकर वह शब्दब्रह्म अथवा चेतन शब्दके ध्यानमें लग जाता है। यह चेतन शब्द अध्यात्मकी उस सर्वशक्तिसम्पन्न धाराका व्यक्त रूप है जो अध्यात्मशक्तिके अनन्त ख़ज़ाने (परमात्मा)-से निकलती है और जो सारी सृष्टिका आधार है। इस चेतन शब्दका ध्यान करनेसे साधकके चित्तके सारे सूक्ष्म विकार धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं और उसकी आध्यात्मिक शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि वह अपने शरीर और मनका सहजहीमें निग्रह कर सकता है और ब्रह्माण्डके उच्चतम लोकोंसे सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। परन्तु ये साधनाएँ और उनसे होनेवाले अनुभव संतमतका गोपनीय विषय है, अत: इन पंक्तियोंका लेखक इस सम्बन्धमें और कुछ लिखनेमें असमर्थ है। इस विषयमें इतना बतला देना अलम् होगा कि संतमतके अध्यात्ममार्गमें चलनेवालेको सर्वप्रथम जिस चक्रको जाग्रत् करना होता है उसके जाग्रत् होते ही साधक अपने शरीर और मन दोनोंसे होनेवाली बाधाओंको लाँघ जाता है और अनेकों अलौकिक अनुभवोंके आनन्दका आस्वादन करता हुआ क्रमश: आगे बढ़ता है और बढ़ते-बढ़ते एक दिन उसे

ऐसा अनुभव होता है कि उसके आत्माको ज्ञानका पूर्ण प्रकाश प्राप्त हो गया है और जगत् और मन दोनोंसे वह निर्लिप्त हो गया है। इस स्थितिमें उसके आत्माको अपने स्वाभाविक गुणों और शक्तियोंका पता लग जाता है और वह शुद्ध चिन्मय ज्योतिके रूपमें प्रकाशित होता है। इसके आगे अन्तिम लक्ष्यकी प्राप्ति अर्थात् ईश्वर-साक्षात्कार अथवा परमात्माके स्वरूपमें मिल जाना उसके लिये एक ही छलाँगका काम रह जाता है।

श्रीरामचरितमानसमें संत-लक्षण

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

बालकाण्ड

साधुचरित सुभ सरिस कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा। बंदनीय जेहि जग जस पावा॥

बंदौं संत समानचित, हित अनहित नहिं कोउ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोउ॥
संत सरलचित जगतहित, जानि सुभाउ सनेहु।
बालबिनय सुनि करि कृपा, रामचरन रति देहु॥
जड-चेतन गुन-दोषमय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत-हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि-बिकार॥

वनकाण्ड

सुनु मुनि संतन्हके गुन कहऊँ। जेहिते मैं उनके बस रहऊँ॥
षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमितबोध अनीह मितभोगी। सत्यसार कबि कोबिद जोगी॥
सावधान मानद मदहीना। धीर धरमगति परम प्रबीना॥

गुनागार संसारदुख रहित बिगत संदेह।
तजि मम चरण-सरोज प्रिय, तिन्ह कहुँ देह न गेह॥

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। परगुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाव सबहिं सन प्रीती॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु गोबिंद बिप्रपद प्रेमा॥
सरधा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥
बिरति बिबेक बिनय बिज्ञाना। बोध जथारथ बेद-पुराना॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहितरत सीला॥
मुनि सुनु साधुनके गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥

किष्किन्धाकाण्ड

बुंद-अघात सहहिं गिरि कैसे। खलके बचन संत सह जैसे॥
सरिता-सर निरमल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद-मोहा॥
बिनु घन निरमल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥
सरदातप निसि ससि अपहरई। संत-दरस जिमि पातक टरई॥

सुन्दरकाण्ड

राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा। हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा॥
उमा संतकै इहै बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥
जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा॥
सबकर ममता-ताग बटोरी। ममपद मनहि बाँधु बटि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥

सगुन-उपासक परम हित, निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम, जिनके द्विजपद प्रेम॥

उत्तरकाण्ड

संतनके लच्छन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति-पुरान बिख्याता॥
संत-असंतनकी अस करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥
काटै परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥

ताते सुर-सीसन्ह चढ़त, जग-बल्लभ श्रीखंड।
अनल दाहि पीटत घनहिं, परसु-बदन यह दंड॥

बिषय अलंपट सील-गुनाकर। पर-दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामर्ष हर्ष भय त्यागी॥
कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगत अमाया॥
सबहि मानप्रद आप अमानी। भरत प्रानसम मम ते प्रानी॥
बिगतकाम मम नाम-परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विजपद प्रीति धर्म-जनयत्री॥
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

निंदा-अस्तुति उभय सम, ममता मम पदकंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय, गुनमंदिर सुखपुंज॥

पर-उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥
संत सहहिं दुख परहित लागी। परदुख हेत असंत अभागी॥
भूरज तरु सम संत कृपाला। परहित सह नित बिपति बिसाला॥
संत-उदय संतत सुखकारी। बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी॥
संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै करनी॥
संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह पै कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवै नवनीता। परदुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

अब श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसमें वर्णित इन उपर्युक्त संत-लक्षणोंका स्पष्टीकरण करनेके लिये मूल

पदोंके क्रमानुसार इनका सरलार्थ भी लिखा जा रहा है। संत-लक्षणका वर्णन मानसके आदिमें वन्दनाप्रसंगगत पद्योंसे ही आरम्भ हुआ है।

बालकाण्ड

तुलसीदासजी कहते हैं—'संतोंका शुभ चरित्र (सुन्दर व्यवहार) कपास (रूई)-की भाँति रसरहित किन्तु स्वच्छ, उज्ज्वल और गुणमय फलवाला होता है। जिस प्रकार कपास औटाई, धुनाई, कताई और बुनाई आदि क्रियाओंद्वारा नाना प्रकारके दुःखोंको सहकर भी दूसरे प्राणियोंके लिये वस्त्रादि बनकर उनके छिद्रोंको ढँकता तथा मर्यादा और सुख-साजका आधार बनता है, उसी प्रकार संतोंके समस्त कर्म कामना और स्वार्थसे रहित होते हैं, वे निर्विकार एवं निर्हेतुरूपसे अपनेको कष्ट दे-देकर भी पराये हितके लिये लोक-परलोक बनानेमें वन्दनीय होते हैं तथा इस जगत्में उन्हें महान् यशकी प्राप्ति होती है। उन संतोंकी समचित्तताकी वन्दना है, जिनका इस सम्पूर्ण विश्वमें न तो कोई हितू है और न बैरी है, बल्कि जो सभी जीवोंके साथ राग-द्वेषसे रहित होकर उसी प्रकार समानभाव रखते हैं, जिस प्रकार मनुष्यकी अंजलिमें पहुँचा हुआ पुष्प दायें-बायेंका कोई भेदभाव न रखकर उसके दोनों हाथोंकी हथेलियोंको एक ही तरहसे सुगन्धित करता है। संतोंका सरल चित्त जगत्भरका हितैषी होता है। (उनकी इस स्नेहशीलता और स्वभावको जानकर तुलसीदासजी उनसे बालविनय करते हैं और कहते हैं कि वे) इस बालविनयको सुनकर कृपा करके तुलसीदासको श्रीरामजीके चरणोंकी भक्ति प्रदान करें।' (यहाँ यह शंका होती है कि 'ऊपर तो यह कहा गया है कि संतोंका कोई हितू नहीं है और नीचे कहा जाता है कि सारा जगत् ही उनका हितू है—यह परस्पर विरोधी बात कैसी?' इसका समाधान यही है कि संतलोग अपना हितैषी अथवा बैरी किसीको नहीं मानते। तात्पर्य यह कि उनकी दृष्टिमें उनका हित अथवा अनहित करनेवाला कोई होता ही नहीं, बल्कि वे ही स्वयं संसारभरके हितमें लगे रहते हैं।)

'विधाताने इस विश्वको जड-चेतनमय अथच गुण-दोषमय रचा है—(बिधिप्रपंच गुन-अवगुन साना) परन्तु संतलोग इस जगत्में हंस पक्षीकी भाँति हैं जो गुणोंको दूधकी तरह निकालकर ग्रहण कर लेते हैं और दोषको जलके समान विलग करके त्याग देते हैं।'

वन (अरण्य) काण्ड

महर्षि नारदजीके द्वारा—

संतनके लच्छन रघुबीरा। कहहु नाथ भंजन भवभीरा॥

—इस प्रकार प्रश्न उपस्थित किये जानेपर श्रीरघुनाथजी अपने मुखारविन्दसे संत-लक्षण बतलाते हैं—

'हे मुने! सुनो, मैं संतोंके उन लक्षणोंको बतलाता हूँ जिनके कारण मैं स्वयं उन संतोंके वशमें रहा करता हूँ। संतलोग काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, मत्सर (डाह) इन छहों विकारोंको जीत लेते हैं तथा वे इनके वशमें कभी नहीं होते। वे निष्पाप और निष्काम होते हैं, निश्चल चित्तवाले, निर्धन (संग्रहहीन), अन्तर-बाह्य दोनोंसे शुद्ध और सुखके धाम होते हैं। उनके बोध (ज्ञान)-की सीमा नहीं होती, वे चेष्टा (इच्छा)-से हीन और थोड़ेमें अपना निर्वाह करनेवाले होते हैं, सत्य ही उनके लिये सार होता है तथा वे भगवद्गुणानुवादके रचयिता कवि, बड़े सुयोग्य पण्डित और योगारूढ़ भी होते हैं। वे बड़े ही सचेत, सबको मान देनेवाले परन्तु स्वयं मदसे हीन, सदा धैर्यवान् और धर्मपालनकी गतिमें पूरे प्रवीण होते हैं। वे गुणोंके तो केन्द्र ही होते हैं, संसारी सुखोंसे अलग तथा सन्देहसे बिलकुल रहित रहते हैं एवं मेरे चरणकमलोंके सिवा उनको अपना शरीर अथवा घर कुछ भी प्रिय नहीं होता। अपनी बड़ाई सुनते ही वे सकुच जाते हैं तथा दूसरेके गुणोंको सुनकर हर्षित हुआ करते हैं। वे 'सम' अर्थात् राग-द्वेषसे रहित, 'सीतल' अर्थात् त्रितापसे विमुक्त और नीतिमें सदैव रत रहते हैं। उनका स्वभाव सरल, सीधा एवं सभीसे प्रीति रखनेवाला होता है। संत जप-तपमें निरत, व्रत रखनेवाले, इन्द्रियोंका दमन करनेवाले, नियमबद्ध, गुरु-गोविन्द (भगवान्) तथा ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रेम रखनेवाले होते हैं। वे श्रद्धायुक्त, क्षमाशील तथा मैत्री और दयासे सम्पन्न होते हैं। वे सदा-सर्वदा अन्तर्बाह्य दोनों रूपोंसे प्रसन्न रहते हैं और मेरे चरणोंमें प्रीति (भक्ति) रखकर मायासे अलग रहते हैं। संत वैराग्य, ज्ञान, नम्रता और विज्ञानके तो स्वरूप ही होते हैं एवं वेद-पुराणोंका उन्हें भलीभाँति यथार्थ बोध रहता है। उनके पास दम्भ (छल-पाखण्ड), मान (बड़ाईकी चाह), मद (अहंकार) आदि कभी नहीं फटकते और वे कुमार्ग अर्थात् वेदनिषिद्ध पथपर भूलकर भी पग नहीं रखते। वे सदा

मेरे चरित्रोंको गाया और सुना करते हैं तथा परहितमें बिना कुछ उनसे लिये—निष्कामभावसे सदा रत रहते हैं। हे नारद मुने! सुनो, साधुओंके जितने गुण होते हैं उतने संत-लक्षणोंको श्रुति और शारदा भी कहनेकी सामर्थ्य नहीं रखतीं।'

किष्किन्धाकाण्ड

किष्किन्धापुरीके प्रवर्षण गिरिपर विराजमान होकर श्रीरघुनाथजी भाई लक्ष्मणजीको सम्बोधित करके वर्षा और शरद् ऋतुका वर्णन करते हुए कहते हैं—

'संतजनोंमें इतनी सहनशीलता होती है कि वे खलोंके वचनोंका सहन करनेके लिये अपने हृदयको पाषाणके सदृश बना लेते हैं। जिस प्रकार पर्वत वर्षाकी बूँदोंका आघात सह लेते हैं, उनमें पानीके बूँद प्रवेश नहीं कर पाते, उसी प्रकार संतोंके हृदयमें खलोंके वचनोंका प्रवेश नहीं हो पाता। खलोंके वचन और लोगोंके लिये वज्रके समान दुःखद होते हैं—*'बचन बज्र जेहि सदा पियारा'*—परन्तु वे ही संतोंके लिये पानीकी बूँदोंके समान होकर उन्हें कुछ भी बाधा नहीं पहुँचाते, बल्कि उनके सामने संतलोग पहाड़के सदृश अचल बने रहते हैं। शरद् ऋतुमें सरिताओं और तड़ागोंका जल इस तरह शोभा पाने लगता है जैसे संतोंके हृदय मद और मोहसे रहित होकर निर्मल बने रहते हैं। आकाश बादलोंसे रहित होकर उसी भाँति निर्मल होकर शोभायमान होता है जैसे संतलोग सब प्रकारकी आशाओंको हृदयसे त्यागकर शोभासम्पन्न रहते हैं। शरत्कालका चन्द्रमा रात्रिमें दिनकी धूपका ताप उसी प्रकार हरण करता रहता है जैसे संतोंके दर्शनसे जीवोंके पातक (पाप) दूर रहते हैं। (संतगण अपना दर्शन देकर तो जगत्‌को सुखी करते हैं और भगवान्‌का दर्शन करके अपने-आप सुखी होते हैं, यथा—

देखि इंदु चकोर समुदाई। चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई॥

यहाँ संत और भगवान् दोनोंको चन्द्रमाके समान बतलाकर समता सूचित करते हुए यह भाव दिखाया गया है कि संतोंको भगवान्‌के दर्शनसे जो सुख होता है वही सुख जीवोंको संतोंके दर्शनसे प्राप्त होता है।)'

सुन्दरकाण्ड

श्रीहनुमान्‌जी ब्रह्मवेलामें, प्रहरभर रात रहते विभीषणजीके द्वारपर उपस्थित होकर वहाँके बाह्य चिह्नोंको देखकर यह तर्क कर रहे थे कि 'इस लंकामें संतोंके स्थान-जैसा यह चिह्न क्यों? क्या यहाँ वास्तवमें कोई संत रहते हैं? तबतक विभीषणजी जग गये—

मन महँ तर्क करै कपि लागा। ताही समय बिभीषन जागा॥

—और जागते ही 'राम-राम' का उच्चारण करने लगे। तब श्रीहनुमान्‌जीने यह निश्चय कर लिया कि 'इनका योगियोंके जागनेके समयमें जागना और जागते ही रामनामके रटन-स्मरणमें लग जाना इनके संत-लक्षणोंका परिचायक है, अतः हो-न-हो विभीषणजी संत हैं।' और इस निश्चित पहचानके कारण हनुमान्‌जीके हृदयमें बड़ा ही हर्ष हुआ। जिस समय रावणने हितोपदेश देनेवाले विभीषणको लात मारी किन्तु विभीषणजीने उसपर रावणसे कोई द्वेष नहीं माना, बल्कि उन्होंने—

तुम्ह पितु सरिस भले मोहि मारा। राम भजे हित नाथ तुम्हारा॥

—अपनी यह प्रार्थना जारी रक्खी, उस समय विभीषणमें इस प्रकारके संत-लक्षण देखकर श्रीशिवजी पार्वतीजीसे कहते हैं—'हे उमे! संतोंका यही बड़प्पन है कि यदि कोई उनके साथ बुराई भी करता है, तब भी वे बुराई करनेवालेके साथ भलाई ही किया करते हैं। माता-पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, धन, घर, हितू (मित्र) और परिवार इन दसोंसे इस जीवने सम्बन्ध मान रक्खा है। इन सबके प्रति बनी रहनेवाली ममताके—जो तागे (धागे)-के समान कच्ची और स्वतः टूटनेवाली है—सम्बन्धमें महाराज श्रीरामचन्द्रजी विभीषणसे कहते हैं कि जीवको चाहिये कि वह मुझसे अखण्ड सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये इन सब पदार्थोंमें होनेवाली ममतारूप तागोंको सब जगहसे एक स्थानमें बटोरकर बटकर डोरी बना ले—पुष्ट कर ले और उसके द्वारा मेरे श्रीचरणोंमें अपने मनको मजबूतीके साथ बाँध दे। यही संतोंका लक्षण है। संत समदर्शी अर्थात् राग-द्वेषसे रहित होते हैं, उन्हें किसी बातकी इच्छा नहीं रहती तथा उनके मनमें न कभी हर्ष होता है, न कभी शोक होता है और न कभी वे भयभीत ही होते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी विभीषणसे फिर कहते हैं—'जो लोग सगुण ब्रह्मकी उपासनामें दृढ़ नियमयुक्त होते हैं, सदा नीतिमें रत रहते हैं एवं जीवोंके परमहितमें लगकर ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रेम रखते हैं, वे मनुष्य मुझको प्राणोंके समान प्रिय लगते हैं।'

उत्तरकाण्ड

श्रीभरतजीके संत-लक्षण श्रीरघुनाथजीके श्रीमुखका वचन है—

'हे भ्राता! सुनो, संतोंके लक्षण अगणित रूपसे वेद और पुराणोंमें विख्यात हैं। उन्हें कहाँतक कहा जा

सकता है? संत और असंतों (खलों)-की परस्पर ऐसी 'करनी' होती है जैसा कठोर (कुल्हाड़ी) और चन्दनमें पारस्परिक व्यवहार होता है। अर्थात् चन्दनको कुठाररूपी खल तो काटता है परन्तु वह चन्दनरूप संत उस काटनेवाले कुठारको भी अपना सुगन्धरूपी गुण देकर उसे सुगन्धित कर देता है। और इन दोनोंको अपनी-अपनी करनियोंका फल भी प्राप्त होता है। चन्दन जो संतस्वभाववाला है वह तो कट जानेपर देवताओंके मस्तकपर चढ़ाया जाता तथा संसारको प्रिय लगता है किन्तु उस खलस्वभाववाले कुठारको अग्निमें—भट्ठीमें भस्म करके लोहेके घनोंसे उसका मुँह खूब पीट-पीटकर थूरा जाता है, यही उस परशुवदन (कुठार)-के लिये दण्ड मिलता है। संतलोग विषयोंसे विरक्त रहते हैं, शील और शुभगुणोंकी खान होते हैं, पराये दुःखको देखकर दुखी तथा पराये सुखको देखकर सुखी हुआ करते हैं। वे सभी प्राणियोंमें समभाव रखते हैं, उनका कोई भी शत्रु नहीं होता, क्योंकि वे किसीका कोई अपकार करते ही नहीं। वे मदसे अलग और वैराग्यसे युक्त होते हैं एवं लोभ, अमर्ष, हर्ष, भय इत्यादि उनके पास जाते ही नहीं। उनका चित्त सदैव कोमल बना रहता है, दीनोंपर सदा उनकी दया बनी रहती है और वे मनसा-वाचा-कर्मणा मेरी भक्तिमें रत रहकर मायासे रहित रहते हैं। संत सबको मान देनेवाले परन्तु स्वयं अमानी होते हैं। हे भरतजी! ऐसे संत-लक्षणोंवाले प्राणी मुझको प्राणोंसे भी प्यारे होते हैं। संत सब प्रकारकी कामनाओंसे बिलकुल दूर रहकर मेरे नामके भजनमें परायण रहते हैं तथा शान्ति, वैराग्य और नम्रतासे युक्त होकर सदैव प्रसन्नचित्त रहा करते हैं। वे शीतल स्वभाववाले, सीधे और मित्रताके भावसे सम्पन्न होते हैं। ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रेम करनेमें तथा धर्मपालनमें सदा इस प्रकार चौकस रहते हैं मानो उन्होंने धर्मको तालेमें बन्द कर दिया हो। तात्पर्य यह कि वे धर्मसे कभी विचलित नहीं होते। हे तात! ये सब लक्षण जिस मनुष्यमें पाये जाते हों उसे सदैव सच्चा संत जानना चाहिये। संत मनको तथा इन्द्रियोंको निगृहीत रखनेवाले और नियम-नीतिमें अचल होते हैं, कभी किसीसे कठोर वचन बोलते ही नहीं। जिन्हें निन्दा-स्तुति दोनों ही बराबर मालूम होते हैं, मेरे चरण-कमलोंमें जिनका ममत्व (अनुराग) रहता है, ऐसे संतलक्षणसम्पन्न, गुणोंके केन्द्र और सुखोंकी राशि सज्जन मुझे प्राणोंके समान प्यारे होते हैं।'

गरुड़जीने श्रीभुशुण्डिजीसे संत-असंतका भेद पूछा था, उसके उत्तरमें भुशुण्डिजी गरुड़जीको सम्बोधित करके संत-लक्षण बतला रहे हैं—

'मन, वचन और काया तीनोंसे दूसरोंका उपकार करते रहना ही संतोंका सहज स्वभाव हुआ करता है। संत तो दूसरेके हितके लिये दुःख सहते हैं किन्तु अभागे खलजन दूसरोंको दुःख देनेके लिये ही दुःख उठाते हैं। संत भोजपत्रके वृक्षकी भाँति दूसरोंके कल्याणार्थ (यन्त्रादि बनवानेके लिये) अपनी खालतक कढ़वाकर भारी विपत्ति मोल लेते हैं। संतोंका उदय संसारके लिये सदैव उसी प्रकार सुखकारी होता है जैसे सूर्य और चन्द्रमा सदा-सर्वदा विश्वको सुखदायक होते हैं।'

इस प्रकार उत्तर पाकर जब गरुड़जी पूर्णरूपसे सन्तुष्ट हो गये तथा उनका मोह, संशय और भ्रम निवृत्त हो गया तब उन्होंने संतशिरोमणि श्रीभुशुण्डिजीकी स्तुति करते हुए स्वयं कहा—

'हे श्रीभुशुण्डिजी! संत, वृक्ष, नदी, पहाड़ और पृथ्वी, ये पाँचों पराये हितके लिये ही कर्म करते हैं। (यहाँ संत-चेतनको प्रथम स्थान देकर उनकी सत्ताद्वारा शेष चारों जड पदार्थोंमें चेतनताके लक्षणका आविर्भाव बतलाया गया है। और संतोंमें वृक्षवत् सहिष्णुता, नदीकी भाँति परोपकारिता, पहाड़ों-सरीखी निश्चलता एवं पृथ्वीके समान क्षमाशीलता होती है—इस बातका भी संकेत किया गया है।) इन पाँचोंमें स्वार्थका लेश भी नहीं होता। जैसे वृक्ष अपने खानेके लिये नहीं फलते, नदियाँ अपने पीनेके लिये जल नहीं बहातीं, पर्वत अपने प्रयोजनके लिये पाषाण नहीं बढ़ाते और पृथ्वी अपनी क्षुधाशान्तिके लिये अन्नादि नहीं पैदा करती, वैसे ही संतोंका भी कोई कार्य अपने लिये न होकर पराये हितार्थ ही होता है। संतोंके हृदयको कविलोग मक्खनके सदृश कोमल बतलाते हैं, परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि मक्खन तो तभी पिघलता है जब स्वयं उसपर आँच लगती है, किन्तु संतोंका हृदय इतना कोमल होता है कि वह परायेकी आँच—दुःखको दूरसे देखकर ही पिघल जाता है (अपने सन्तापसे नहीं पिघलता)। (ऐसे सुपुनीत संत धन्य हैं, धन्य हैं, धन्य हैं!) **सियावर रामचन्द्रकी जय!**

श्रीमद्‌भागवतमें सत्संगमहिमा

(लेखक—श्रीयुत पी० एन्० शंकर नारायण अय्यर, बी० ए०, बी० एल्०)

संतोंका स्वरूप और उनके व्यापार

सभी जीव परमात्माकी ओर जा रहे हैं। परमात्मा जीवोंके प्रति दयापरवश हो उन्हें अपने समीप ले आनेके लिये अपने ही कुछ अनुचरोंको उनके पास पथप्रदर्शनके रूपमें भेजा करते हैं। इन्हींको संत, साधु, महापुरुष और निष्किंचन आदि अनेक नामोंसे पुकारा जाता है। वे ही लोग ज्ञानपिपासु जीवोंको भगवत्साक्षात्कार करानेमें निमित्त होते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥
निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥
अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम्।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्॥
सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च॥

(श्रीमद्‌भा० ११।२६।३१—३४)

'जो मनुष्य सूर्यकी शरणमें चला जाता है वह शीत, भय और अन्धकारसे मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार साधुसेवा करनेवाले मनुष्यका भी जडत्व, भय और अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है। इस घोर संसारसमुद्रमें गोता खानेवाले जीवोंके लिये ईश्वरके तत्त्वको जाननेवाले शान्त महापुरुष दृढ़ नौकाका काम देते हैं। जिस प्रकार अन्नसे मनुष्यके प्राणोंकी रक्षा होती है, जिस प्रकार दुखी जीव मेरी शरणमें आकर सुखी हो जाते हैं, और जिस प्रकार धर्म मनुष्यकी परलोकमें सहायता करता है, उसी प्रकार हम जगत्‌के क्लेशोंसे भयभीत हुए मनुष्योंके लिये संत ही परम आश्रय हैं। जिस प्रकार भगवान् सविता हमारे बाह्य नेत्रोंको प्रकाश देते हैं, उसी प्रकार संत लोग हमारे भीतरी नेत्रोंको खोल देते हैं। संत ही मनुष्योंके लिये देवतास्वरूप हैं। वे ही उनके परम बान्धव हैं। संत ही उनकी आत्मा हैं, बल्कि यह भी कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी कि संत मेरे ही स्वरूप हैं।'

भगवान्‌के ये अनुचर आर्त जीवोंको सुख पहुँचानेके लिये संसारमें विचरते रहते हैं

विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि॥

(श्रीमद्‌भा० ११।२।२८)

'भगवान् विष्णुके दास समस्त जीवोंको पवित्र करनेके लिये संसारमें चक्कर लगाया करते हैं।'

भगवान् यम स्वयं कहते हैं—

भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि
दुर्दर्शलिङ्गानि महाद्‌भुतानि।
रक्षन्ति तद्‌भक्तिमतः परेभ्यो
मत्तश्च मर्त्यानथ सर्वतश्च॥

(श्रीमद्‌भा० ६।३।१८)

'भगवान् विष्णुके अनुचर देवताओंके भी पूज्य होते हैं। वे अपने स्वरूपको छिपाकर संसारमें विचरते हैं और भगवद्‌भक्तोंकी अभक्तोंसे, मेरे दूतोंसे और अन्य सभी भयके कारणोंसे रक्षा करते हैं।'

संतलोग तीर्थोंको पावन करनेके लिये ही उनमें भ्रमण किया करते हैं

श्रीमद्‌भागवतमें महाराज युधिष्ठिर अपने चचा विदुरजीसे कहते हैं—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥

(श्रीमद्‌भा० १।१३।१०)

'हे भगवन्! आप-जैसे परमभागवत स्वयं तीर्थस्वरूप होकर भी अपने हृदयस्थित भगवान्‌के प्रभावसे तीर्थोंको तीर्थत्व प्रदान करनेके लिये ही तीर्थोंमें पर्यटन किया करते हैं।'

जब भगवती भागीरथी स्वर्गसे इस पृथ्वीपर आयीं तब उन्हें यह भय हुआ कि जो असंख्य यात्री मेरे अन्दर स्नान करेंगे उनके पाप मेरे अन्दर चिपट जायँगे। इसपर महाराज भगीरथने उन्हें सान्त्वना देते हुए ये शब्द कहे—

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥

(श्रीमद्‌भा० ९।९।६)

'जो सर्वथा अपरिग्रही, शान्त, ब्रह्मनिष्ठ एवं संसारको पवित्र करनेवाले हैं ऐसे साधु जब तुम्हारे अन्दर स्नान करेंगे तब तुम्हारे सारे पाप धुल जायँगे, क्योंकि उनके अन्दर सारे पापोंका नाश करनेवाले श्रीहरि स्वयं विराजते हैं।'

अन्यत्र भी कहा है—

प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः
स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः॥

(श्रीमद्भा० १।१९।८)

'प्रायः संतलोग तीर्थयात्राके बहाने तीर्थोंको पवित्र करनेके लिये ही जाया करते हैं।'

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥

(श्रीमद्भा० १०।४८।३१)

तीर्थ और देवता चिरकालतक सेवन करनेसे फल देते हैं किन्तु साधु पुरुष दर्शनमात्रसे ही पवित्र करनेवाले होते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम्।
दर्शनान्नो भवेद्बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा॥

(श्रीमद्भा० १०।१०।४१)

'जिनकी दृष्टि सम हो गयी है और जिन्होंने अपना चित्त भलीभाँति मुझमें जोड़ दिया है उनके दर्शनमात्रसे मनुष्यके सारे बन्धन नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार सूर्यके उदय होते ही नेत्रोंके सामनेसे अन्धकारका आवरण दूर हो जाता है।'

यही नहीं, देवतालोग मनुष्यको उसके कर्मके अनुसार सुख-दुःखरूप फल देते हैं; परन्तु साधुलोगोंकी चेष्टा सदा जीवोंके कल्याणके लिये ही होती है, क्योंकि उनकी आत्मा भगवान्‌की आत्मामें मिल जाती है। मनुष्य देवताओंको जिस प्रकार भजता है देवता भी उसे उसी प्रकारका फल देते हैं, क्योंकि वे छायाकी भाँति मनुष्यके कर्मका अनुसरण करते हैं; परन्तु साधुलोग स्वाभाविक ही दीनोंपर कृपा किया करते हैं—

भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च।
सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम्॥
भजन्ति ये यथा देवान्देवा अपि तथैव तान्।
छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।५-६)

संतलोग अपने-आपको भूलकर अपनेको सर्वथा ईश्वरकी इच्छापर छोड़ देते हैं। इसीलिये भगवान् उनके पीछे-पीछे घूमते हैं और उनके प्रत्येक संकल्पको सिद्ध करते रहते हैं। भगवान्‌की कृपा जीवोंमें वितीर्ण करना ही उनका एकमात्र कार्य होता है।

अम्बरीषके उपाख्यानमें जब दुर्वासा वैकुण्ठमें भगवान् विष्णुकी शरणमें गये तो भगवान् उनसे कहने लगे—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन्येषां गतिरहं परा॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६३-६४)

'हे ब्राह्मण! मैं तो अपने भक्तोंके पराधीन हूँ, उन्होंने मेरी स्वतन्त्रता छीन रखी है। उन्होंने मेरे हृदयपर आधिपत्य कर लिया है, क्योंकि भक्तजन मुझसे बड़ा प्रेम करते हैं। अपने साधु भक्तोंके बिना लक्ष्मीकी तो बात ही क्या, मैं स्वयं अपनेको भी नहीं चाहता, क्योंकि मैं ही उनकी परम गति हूँ।'

यही नहीं, भगवान् श्रीकृष्ण तो यहाँतक कहते हैं कि मैं ऐसे संतोंकी चरणधूलिसे पवित्र होनेके लिये उनके पीछे-पीछे घूमा करता हूँ, जो निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर और समदर्शी होते हैं—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१६)

संत कैसे मिलें?

संत यदि हमें मिल भी जायँ तो हम उन्हें बहुधा पहचानते नहीं।

इस प्रसंगमें महाराज पृथुके सनकादि मुनीश्वरोंके प्रति निम्नलिखित वचन ध्यान देने योग्य हैं—

नैव लक्षयते लोको लोकान्पर्यटतोऽपि यान्।
यथा सर्वदृशः सर्व आत्मानं येऽस्य हेतवः॥

(श्रीमद्भा० ४।२२।९)

'यद्यपि वे संसारके कल्याणके लिये ही संसारमें विचरते हैं तो भी लोग उन्हें पहचानते नहीं, जिस प्रकार लोगोंकी दृष्टि बाह्य पदार्थोंकी ओर होती है, अपने आतमाकी ओर अथवा उन पदार्थोंके मूल कारणोंकी ओर कोई नहीं देखता।'

यही बात राजा रहूगणने जडभरतजीके प्रति कही है—

योगेश्वराणां गतिमन्धबुद्धिः
कथं विचक्षीत गृहानुबन्धः।

(श्रीमद्भा० ५।१०।२०)

'जिनकी बुद्धि घरमें आसक्त होनेके कारण अन्धी हो रही है वे आप-जैसे योगेश्वरोंके चरित्रको कैसे समझ सकते हैं?'

किन्तु जब हमारे अन्दर सच्ची जिज्ञासा उत्पन्न होती है तो संत हमें दर्शन देकर हमारी उस ज्ञानपिपासाको शान्त करते हैं। वे इसी हेतुको लेकर संसारमें विचरते हैं। हमलोग इतने अल्पज्ञ, क्षुद्र एवं अज्ञानी हैं कि उन्हें स्वयं नहीं ढूँढ सकते। उपनिषदोंमें जो यह कहा गया है कि समिधा हाथमें लेकर गुरुके पास जाना चाहिये, उसका अभिप्राय यही मालूम होता है कि हमें अपने गुरुके सामने हृदय खोलकर रख देना चाहिये। समिधासे यहाँ संकल्पशून्य मनका ग्रहण करना चाहिये जिसमें दूसरे किसी प्रकारकी वासनारूपी नमी न हो और जो सूखी लकड़ीकी भाँति ज्ञानकी चिनगारी ऊपर पड़ते ही तुरन्त जल उठे। उदाहरणार्थ जब बालक ध्रुव भगवान्‌से मिलनेके लिये व्याकुल होकर उनकी खोजमें घरसे निकल पड़े तब देवर्षि नारदने उन्हें दर्शन उनके हृदयमें भक्तिरूपी अग्नि सुलगा दी। (देखिये श्रीमद्भा० ४।८।२४-२५)

व्यासजीके चित्तका जब किसी प्रकार समाधान नहीं हुआ तो उन्हें नारदजीने दर्शन देकर उनके चित्तका समाधान किया। (देखिये श्रीमद्भा० १।५)

श्रीशुकदेवजीने ऐसी ही परिस्थितिमें महाराज परीक्षितको दर्शन देकर उन्हें श्रीमद्भागवतका उपदेश दिया। (१।१९।२५)

अंगिरा और नारदने चित्रकेतुको उपदेश दिया।

(श्रीमद्भा० ६।१४।१४, ६७ और ६।१५)

नारदने महाराज प्राचीनबर्हिको उपदेश दिया।

(श्रीमद्भा० ४।२५।३)

भगवान् रुद्रने प्रचेताओंको उपदेश दिया।

(४।२४।१४, १५,२०,२७,२८)

सनकादि योगीश्वरोंने महाराज पृथुको उपदेश दिया।

(श्रीमद्भा० ४।२२)

इसी प्रकार और भी कई उदाहरण गिनाये जा सकते हैं।

जब संसारमें चक्कर लगाते-लगाते मनुष्यका उससे मुक्त होनेका समय आता है तभी उसका किसी संतके साथ समागम होता है। और किसी संतसे मिलनेपर ही मनुष्यकी बुद्धि भगवान्‌की ओर लगती है, जो भगवान् संतोंकी गति और छोटे-बड़े सबके स्वामी हैं—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेत्-
जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥

(श्रीमद्भा० १०।५१।५४)

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञाश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥

(१२।१-२)

'मैं न योगसे इतना प्रसन्न होता हूँ न सांख्यसे, न धर्मके आचरणसे न स्वाध्यायसे, न तपसे न त्यागसे, न इष्टापूर्तसे न दक्षिणासे, न व्रतसे न यज्ञसे, न वेदाध्ययनसे न तीर्थाटनसे और न यम-नियमसे ही इतना वशीभूत होता हूँ जितना सत्संगसे वशीभूत होता हूँ, क्योंकि सत्संगसे अन्य सारी आसक्तियोंका नाश हो जाता है।'

आगे चलकर श्रीकृष्ण कहते हैं कि असुर, पशु, पक्षी, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज भी सत्संगके द्वारा मुझे प्राप्त हुए हैं। (देखिये श्रीमद्भा० ११।१२।३-६)

सत्संग मनुष्यको किस प्रकार पावन करता है? आगे चलकर भगवान् श्रीकृष्ण फिर कहते हैं—

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एतस्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः॥
सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥
तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः।
संभवन्ति हिता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम्॥
ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि॥
भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि॥

(श्रीमद्भा० ११।२६।२६-३०)

'अतः बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह दुःसंगका परित्याग कर सत्पुरुषोंका संग करे, क्योंकि सत्पुरुष अपने उपदेशोंके द्वारा उसकी आसक्तियोंका

नाश कर देते हैं। संतलोग सर्वथा निरपेक्ष होते हैं, उनका चित्त सदा मुझमें जुड़ा रहता है, वे शान्त और समदर्शी होते हैं, वे ममता और अहंकारसे सर्वथा शून्य होते हैं, वे सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे मुक्त होते हैं और सर्वथा अपरिग्रही होते हैं। इन लोगोंके यहाँ निरन्तर मेरी चर्चा होती रहती है जो मनुष्योंके लिये बड़ी कल्याणकारी होती है और श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेसे हृदयके कल्मषको धो डालती है। जो लोग मेरे परायण होकर श्रद्धा एवं आदरपूर्वक मेरी कथाओंको सुनते हैं, गाते हैं और उनका अनुमोदन करते हैं उन्हें मेरी भक्ति प्राप्त होती है। और मेरी भक्ति प्राप्त हो जानेपर और कोई वस्तु प्राप्त करनेके लिये नहीं रह जाती।'

श्रीमद्‌भागवत एकादश स्कन्धके ग्यारहवें अध्यायमें और तृतीय स्कन्ध पचीसवें अधयायके बीससे लेकर सत्ताईसवों श्लोकतक तथा अन्यत्र भी संतोंके गुणोंका वर्णन और उनका संग किस प्रकार मनुष्यको पवित्र करता है इसका वर्णन आता है।

हमारी ज्ञानपिपासा जितनी तीव्र होती है उतनी ही अधिक मात्रामें हमें सत्संगका लाभ मिलता है। श्रीमद्‌भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें महाराज निमि कहते हैं कि संतोंका क्षणभरका संग भी बहुत मूल्यवान् होता है—

संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम्॥

(११।२।३०)

अजामिल महान् पापी था, किन्तु एक क्षणके सत्संगसे उसे वैराग्य हो गया और वह भगवत्पथका पथिक बन गया—

इति जातसुनिर्वेदः क्षणसङ्गेन साधुषु।

(श्रीमद्‌भा० ६।२।३९)

राजा रहूगणको भी मुहूर्तभरमें (डेढ़ घंटेके अन्दर) ज्ञान हो गया। जिनकी कृपासे उन्हें भगवत्-तत्त्वका ज्ञान और भक्ति प्राप्त हुई उन्हें सम्बोधनकर वे इस प्रकार कहने लगे—

न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभि-
र्हतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला।
मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे
दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः॥

(श्रीमद्‌भा० ५।१३।२२)

'इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि आपकी चरणधूलिके स्पर्शसे जिसके पाप नष्ट हो गये हैं उसे भगवान् अधोक्षजकी निर्मल भक्ति प्राप्त हो। क्योंकि आपके मुहूर्तभरके संगसे मेरा दुस्तर्कमूलक अज्ञान नष्ट हो गया।'

बालक ध्रुवको नारदके साथ पाँच मिनटका संग होनेसे ही भगवद्‌भक्ति प्राप्त हो गयी और राजा परीक्षितको सात दिनमें तत्त्वज्ञान हो गया।

अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने कुरुक्षेत्रकी समरभूमिमें भगवद्‌गीताका उपदेश दिया, परन्तु अर्जुन उस उपदेशको भूल गये। भगवान् श्रीकृष्णके परमधाम पधार जानेपर जब अर्जुन उनके विरहमें व्याकुल हो गये तब वह ज्ञान उन्हें पुनः स्मरण हो आया—

एवं चिन्तयतो जिष्णोः कृष्णपादसरोरुहम्।
सौहार्देनातिगाढेन शान्तासीद्विमला मतिः॥
वासुदेवाङ्घ्र्यभिध्यानपरिबृंहितरंहसा।
भक्त्या निर्मथिताशेषकषायधिषणोऽर्जुनः॥
गीतं भगवता ज्ञानं यत्तत्संग्राममूर्धनि।
कालकर्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमद्विभुः॥
विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या संछिन्नद्वैतसंशयः।
लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः॥

(श्रीमद्‌भा० १।१५।२८-३१)

'जब अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका अतिशय प्रेमपूर्वक स्मरण किया तो उनका चित्त शान्त और निर्मल हो गया। भगवान् वासुदेवके चरणोंमें चित्तको भलीभाँति निवेशित करनेसे उनकी भक्ति और भी दृढ़ हो गयी, जिससे उनका सारा अज्ञान दूर हो गया और गीताका जो ज्ञान उन्हें कुरुक्षेत्रमें प्राप्त हुआ था और जिसे काल, कर्म और अज्ञानके कारण वे भूल-से गये थे वह उन्हें पुनः स्मरण हो आया। और उस ज्ञानको पुनः प्राप्तकर वे शोकरहित हो गये, उनका द्वैतजनित सारा सन्देह मिट गया और उनके सारे विकार नष्ट हो जानेके कारण उन्हें वह शाश्वत आनन्दमय स्थिति प्राप्त हुई जो गुणोंके प्रकाशके सर्वथा परे है।'

अर्जुन नरके अवतार माने जाते हैं और उन्हें इस प्रकार सारी मानवजातिका प्रतिनिधि कहा जा सकता है। भगवान् सदा हमारे हृदयरूपी सिंहासनमें विराजमान रहते हैं और अनादिकालसे हमें सावधान करते आये हैं। परन्तु हाय! हम अभागे जीव उनके प्रेमको पहचानते नहीं—

न यस्य सख्यं पुरुषोऽवैति सख्युः
सखा वसन् संवसतः पुरेऽस्मिन्।
गुणो यथा गुणिनो व्यक्तदृष्टे-
स्तस्मै महेशाय नमस्करोमि॥

(श्रीमद्भा० ६।४।२४)

भगवान्‌का यह नियम है कि जो लोग उनके लिये व्याकुल होते हैं उनसे मिलनेके लिये वे भी व्याकुल हो जाते हैं और उनकी जन्म-जन्मान्तरकी पिपासाको शान्त करनेके लिये वे समय-समयपर संतों और साधुओंको भेजा करते हैं। हमलोग भी अर्जुनकी भाँति अतिशय प्रेम एवं व्याकुलताके साथ भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें अपने चित्तको निवेशित करें। फिर वे हमें सत्संगद्वारा अपने पास स्वयं बुला लेंगे।

बोलो संत और भगवान्‌की जय!

संतोंद्वारा शास्त्ररक्षण

(लेखक—श्रीयुत वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, एम्० ए०)

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

'तर्कसे किसी बातका निर्णय नहीं हो सकता; श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न अर्थको कहती हैं; वह ऋषि नहीं जिसका मत भिन्न न हो; धर्मका तत्त्व (अन्तःकरणरूपी) गुहामें छिपा हुआ है; मार्ग वही है जिसपर कोई महाजन चला हो।'

ये महर्षि व्यासदेवके वचन हैं। यहाँ 'महाजन' शब्दका अर्थ निश्चय ही संत अथवा सत्पुरुष है। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवने इस शब्दका यही अर्थ लिखा है (देखिये चैतन्यचरितामृत, मध्यलीला, १७ वाँ परिच्छेद)। हमलोग 'क्षुद्रजन' हैं क्योंकि हमें अपनी इन्द्रियोंके द्वारा जैसा अनुभव होता है उसीके अनुसार हमारे भाव होते हैं। इसके विपरीत महाजनोंका सबके प्रति आत्मभाव होता है—श्रीकृष्णने इन्हें गीतामें '**सर्वभूतात्मभूतात्मा**' कहा है। उनका आत्मा शरीरसे ऊपर उठकर मनुष्यमात्रके—नहीं नहीं, प्राणिमात्रके शरीरोंमें व्याप्त हो जाता है, क्योंकि एक ही आत्मा उन सबमें व्याप्त है। इसीलिये उन्हें 'महाजन'—महान् पुरुष अथवा उदाराशय पुरुष कहते हैं। वे लोग एक ऐसे मार्गका निर्देश कर जाते हैं। जिसका अनुसरण कर हम क्षुद्र मनुष्य इस भवाटवीके चक्करसे छूट सकते हैं। इस भीम भवार्णवमें डूबते हुए जीवोंके लिये वे सुदृढ़ नौकाका काम देते हैं।

अब हमलोग ऊपरके श्लोकपर विचार करें। इस जीवनरूपी घोर जंगलमेंसे निकलनेका सच्चा रास्ता ढूँढ़नेके लिये मनुष्य प्रायः अपनी बुद्धिका ही भरोसा किया करता है। परन्तु राग-द्वेषसे अभिभूत होनेके कारण उसकी बुद्धि उसे ठीक रास्तेपर नहीं ले जा सकती। फिर जिस बातको एक मनुष्य अपनी युक्तियोंसे सिद्ध करता है उसका दूसरा मनुष्य, जो उसकी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् है, खण्डन कर सकता है और इस दूसरे मनुष्यके निर्णयको भी तीसरा आदमी, जो उससे भी अधिक बुद्धिमान् है, उलट सकता है। इसीसे यह सिद्ध होता है कि प्राकृत मनुष्योंकी बुद्धिके सहारे हम सच्चे मार्गका पता नहीं लगा सकते—'**तर्कोऽप्रतिष्ठः**' (अथवा जैसा कि ब्रह्मसूत्र २।१।११ में कहा है—'**तर्काप्रतिष्ठानात्**')। अतः हमारे लिये ईश्वरका आदेश प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकारका ईश्वरीय आदेश हमें वेदोंमें मिलता है। परन्तु वेद भी एक मार्गको नहीं बतलाते, वे भी अलग-अलग बात कहते हैं—'**श्रुतयो विभिन्नाः**'। यहाँ हमारे सामने एक समस्या खड़ी हो जाती है। क्या 'श्रुतयो विभिन्नाः' का अर्थ यह है कि श्रुतियोंमें परस्परविरोध है? यदि ऐसा है तो उन्हें प्रमाण कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि हमें इस बातको स्मरण रखना चाहिये कि हमारे सभी आचार्यों और संतोंने वेदोंको सर्वथा निर्भ्रान्त, स्वतः प्रमाण और सनातनधर्मका मूल बताया है। किसी भी ग्रन्थको प्रमाण माननेके लिये सबसे आवश्यक बात यह है कि उसके वाक्योंमें परस्परविरोध न हो। निःसन्देह शंकर एवं रामानुज प्रभृति हमारे पूज्य आचार्य इतने अन्धविश्वासी अथवा मूर्ख नहीं थे कि वे समस्त वेदोंको उनके अंदर परस्परविरोधी वाक्य रहनेपर भी सर्वथा निर्भ्रान्त स्वीकार कर लेते।

अतः यह स्पष्ट है कि ऊपरे श्लोकमें '**श्रुतयो**

विभिन्नाः' का अर्थ यह नहीं है कि वेदोंमें परस्परविरोधी वाक्य मिलते हैं। '**विभिन्नाः**' का अर्थ विरोधी नहीं हो सकता। '**विभिन्नाः**' का अर्थ भिन्न है। परस्परविरोधी न होते हुए भी दो वस्तुएँ विभिन्न हो सकती हैं। वेदोंके भिन्न-भिन्न अंश धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूपी पुरुषार्थ-चतुष्टयकी प्राप्तिके लिये भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाते हैं। उनका परस्परविरोध नहीं है। वे सभी सत्य हैं।

अब यदि वेदोंमें बताये हुए सभी मार्ग सच्चे हैं तो उनमेंसे एक मार्गका अनुसरण करनेमें क्या आपत्ति हो सकती है? एक ही स्थानपर पहुँचनेके अनेक मार्ग हैं, इस बातको जानकर हमें घबड़ानेकी आवश्यकता नहीं है। फिर यदि अनेक मार्ग माननेमें कुछ कठिनता मालूम होती है तो वह कठिनता '**महाजनो येन गतः स पन्थाः**' इस वाक्यसे कैसे दूर हो जायगी, क्योंकि सभी महाजनों अथवा संतोंने एक ही मार्गका अनुसरण थोड़े ही किया है। कुछ संतोंने ज्ञानमार्गका अनुसरण किया है और कुछ भक्तिमार्गके अनुयायी थे। भक्तिमार्गके अनुयायियोंमें भी कुछ श्रीकृष्णके उपासक हो गये हैं और कुछ कालीके।

इन सब प्रश्नोंका उत्तर यह है कि किसी भी मार्गका ठीक तरहसे अनुसरण करनेके लिये हमें केवल उस मार्गके सिद्धान्तोंको जाननेकी ही आवश्यकता नहीं है किन्तु हमें उसपर चलनेके लिये साधनकी प्रक्रिया मालूम होनी चाहिये। केवल सिद्धान्तज्ञान हमें वेदोंसे (जो अपौरुषेय एवं स्वतः प्रमाण हैं) और स्मृतियोंसे (जो वेदोंके ही आधारपर और उन्हींका आशय खोलनेके लिये भिन्न-भिन्न ऋषियोंद्वारा लिखी गयी हैं) हो सकता है। यद्यपि वेदों और स्मृतियोंमें ईश्वरप्राप्तिके अनेक मार्ग बताये गये हैं और यद्यपि ये सभी मार्ग ठीक हैं तथापि केवल वेदों और स्मृतियोंके ज्ञानसे हमें ईश्वरकी प्राप्ति नहीं हो सकती, हमें एक ऐसे अनुभवी सद्गुरुकी आवश्यकता होगी जिसने वेदों और स्मृतियोंमें बताये हुए किसी मार्गके अनुसार चलकर ईश्वरको प्राप्त कर लिया है। वही इस बातका निर्णय कर सकेगा कि हम किस मार्गविशेषपर चलनेके अधिकारी हैं और वही हमें उस मार्गपर चलनेकी प्रक्रिया बतायेगा। उसीकी सहायतासे हम वेदों और स्मृतियोंमें बताये हुए किसी मार्गका अनुसरण कर ईश्वरको प्राप्त कर सकेंगे। बिना गुरुकी सहायताके हमें सिद्धि नहीं मिल सकती। क्योंकि धर्मका तत्त्व गुहाके अंदर छिपा हुआ है। केवल सिद्धान्तको जान लेनेसे हमें सत्यकी उपलब्धि नहीं हो सकती। उसके लिये हमें किसी अनुभवी गुरुको खोजना होगा।

महर्षि वेदव्यासका उपर्युक्त श्लोक निम्नलिखित वेदमन्त्रके आधारपर लिखा गया मालूम होता है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान् नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। (मु० उ० १-२-१२)

'वेदविहित यज्ञादि कर्मोंके द्वारा प्राप्य (स्वर्गादि) लोकोंके स्वरूपका विचार कर (लेनेपर अर्थात् उनकी अनित्यताका अनुभव कर लेनेपर) ब्राह्मणको उन्हें प्राप्त करनेकी स्पृहा नहीं रह जायगी। उसे यह निश्चय हो जायगा कि 'कर्मके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म किसीका कार्य नहीं है। ब्रह्मके स्वरूपको जाननेके लिये उसे यज्ञकी सामग्री और दूसरे प्रकारके उपहार लेकर किसी ऐसे गुरुके पास जाना होगा जो वेदोंमें निष्णात और सदा ब्रह्ममें स्थित है।'

जो पुरुष सदा ब्रह्ममें स्थित है वह अवश्य ही संत होगा। एक अखण्ड, अद्वितीय ब्रह्मकी सत्ताका निरन्तर अनुभव होनेसे मनुष्यका हृदय विशाल हो जाता है। फिर उसपर हर्ष-शोकका कोई असर नहीं होता और उसकी आत्मा सारे विश्वमें व्याप्त हो जाती है, क्योंकि विश्वकी उत्पत्ति ब्रह्मसे ही होती है। इसीलिये व्यासजीने ऐसे पुरुषको 'महाजन' कहा है। वेद कहते हैं कि ब्रह्मनिष्ठ गुरुके बिना ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। वेदोंके इसी मतका अनुसरण करते हुए व्यासजी भी कहते हैं कि किसी 'महाजन' की सहायता प्राप्त किये बिना हम वेदों और स्मृतियोंमें बताये हुए मार्गपर नहीं चल सकते।

हम ऊपर कह आये हैं कि संत ही हमें वेदों और स्मृतियोंमें बताये हुए किसी मार्गपर चलनेकी प्रक्रिया बतला सकते हैं। यहाँ हमारे मनमें एक शंका हो सकती है—क्या यह आवश्यक है कि हम वेदों और स्मृतियोंमें बताये हुए मार्गका ही अनुसरण करें? ऐसा भी तो मार्ग हो सकता है जो शास्त्रानुमोदित न हो। एक हिन्दूकी दृष्टिसे इस प्रश्नका उत्तर होगा 'नहीं'। वेद और स्मृति ही हिन्दूधर्मके आधारस्तम्भ हैं, अतः हिन्दुओंके लिये

यह आवश्यक है कि वे इन्हीं शास्त्रोंमें बताये हुए किसी मार्गका अनुसरण करें। जो मार्ग शास्त्रानुमोदित नहीं वह किसी मुसलमान अथवा ईसाई भाईके लिये ठीक हो सकता है, हिन्दूके लिये नहीं हो सकता। क्योंकि किसीको अपने स्वधर्मका त्याग नहीं करना चाहिये।

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'

'अपने धर्ममें रहकर मर जाना श्रेयस्कर है, किसी दूसरे धर्मको स्वीकार करना मृत्युसे भी भयानक है।'

हिन्दू संतोंके जीवनमें खास बात यह देखनेमें आती है कि उनकी वेदों और स्मृतियोंमें बड़ी श्रद्धा थी। इन ग्रन्थोंमें ईश्वरसाक्षात्कारके कई मार्ग बताये गये हैं। अवश्य ही मार्ग सभी कठिन हैं, क्योंकि जब ईश्वरसाक्षात्कारसे बढ़कर हमारे लिये कोई लाभ नहीं हो सकता, तब इस लक्ष्यपर पहुँचनेके लिये प्रयत्न भी असाधारण ही होना चाहिये। यदि हमारा इन शास्त्रोंमें विश्वास ही नहीं है और है तो बहुत मन्द है, तो हमारे लिये यह सम्भव नहीं है कि हम उनमें बताये हुए मार्गपर तत्परताके साथ चल सकें। 'यह भी तो सम्भव है कि ईश्वर हो ही नहीं। सम्भव है, लोगोंने अपनी कल्पनाके आधारपर ईश्वरका हौवा खड़ा कर दिया हो। और यदि ईश्वर है भी तो दावेके साथ यह कौन कह सकता है कि ईश्वरसाक्षात्कारके जितने मार्ग शास्त्रोंमें बताये गये हैं वे सभी ठीक हैं। इस विषयमें किसीको सन्देह नहीं हो सकता कि जगत्‌में जितने अच्छे पदार्थ हैं उनसे हमें सुख मिलता है। ऐसी दशामें ऐसा कौन मूर्ख होगा जो इस निश्चित सुखको छोड़कर अनिश्चित सुखके पीछे भटकता फिरे?' जिस मनुष्यका शास्त्रोंमें मन्द विश्वास होगा वह अवश्य ही उपर्युक्त प्रकारके विचारोंसे विचलित हो जायगा और उस मार्गपर चलनेका साहस नहीं करेगा जिसका उपनिषदोंमें इस प्रकार वर्णन मिलता है—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।

(कठ० १-३-१४)

'विद्वानोंका कहना है कि ईश्वरसाक्षात्कारका मार्ग छूरेकी धारके समान पैना है और उस मार्गपर चलना बड़ा कठिन है।'

इस मार्गपर वही शूरवीर चल सकता है जिसका ईश्वरमें प्रत्यक्षवत् विश्वास है, जिसे ईश्वरकी सत्ताके विषयमें किसी प्रकारकी शंका नहीं है और जिसे इस बातपर भी पूरा विश्वास है कि शास्त्रोंमें बताये हुए सभी मार्ग सच्चे हैं और ईश्वरसाक्षात्कारके अनन्त और अविनाशी सुखके लिये इस जीवनके क्षणिक सुखोंका परित्याग करनेवाला कभी घाटेमें नहीं रह सकता। यही कारण है कि हिन्दू संतों और महात्माओंका शास्त्रोंमें प्रत्यक्षवत् विश्वास था।

हमारे कथनकी पुष्टिके लिये हम चार प्रसिद्ध महात्माओंके जीवनको उदाहरणके रूपमें पाठकोंके सामने रखना चाहते हैं। ये सभी निःसन्देह ऐतिहासिक पुरुष हैं, जो भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें अवतीर्ण हुए थे। हमारा अभिप्राय स्वामी शंकराचार्य, आचार्य रामानुज, महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव और स्वामी रामकृष्ण परमहंससे है। शंकर और रामानुज दोनोंने ब्रह्मसूत्रपर विस्तृत भाष्य लिखे हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि इन दोनोंने ब्रह्मसूत्रको प्रमाण माना है। ब्रह्मसूत्रमें वेदों और स्मृतियोंकी प्रामाणिकताका कई जगह उल्लेख आया है। नीचे इसी आशयके कुछ सूत्र उद्धृत किये जाते हैं, यद्यपि इस कथनकी पुष्टिके लिये किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वेदोंकी और उसके साथ-साथ स्मृतियोंकी प्रामाणिकता ही सारे ब्रह्मसूत्रका आधार है—

अपि च संराधनं प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। (३-२-२४)

अपि च स्मर्यते। (१-३-२३, २-३-४५, ३-४-३०, ३-४-३७)

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्। (३-१-२५)

गौणश्चेन्न आत्मशब्दात्। (१-१-६)

दर्शयति च अथो अपि स्मर्यते। (३-२-१७)

अपने ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें आचार्य शंकरने स्पष्ट शब्दोंमें इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है कि वेद और स्मृति दोनों ही प्रमाण हैं—

'अनुगताश्च सर्वत्र अभिमानिन्यः चेतना देवताः मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणादिभ्यः अवगम्यन्ते। (२-१-५)

'सभी वस्तुओंमें उनके अभिमानी चेतन देवता रहते हैं, यह बात हमें वेदों, इतिहासों तथा पुराणोंसे अवगत होती है।'

अन्यच्च—

वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव लोकविषये।

(२-१-१)

'जिस प्रकार भूमण्डलके पदार्थोंको प्रकाशित करनेके लिये सूर्यको किसी और प्रकाशकी आवश्यकता नहीं होती इसी प्रकार वेदोंको अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करनेके लिये किसी दूसरे प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है।'

शंकर केवल यही नहीं कहते कि श्रुति प्रमाण है किन्तु साथ ही यह भी कहते हैं कि अतीन्द्रिय पदार्थोंके ज्ञानके लिये श्रुति ही एकमात्र प्रमाण है—

'न च अतीन्द्रियं अर्थं श्रुतिमन्तरेण कश्चित् उपलभते इति शक्यं सम्भावयितुम्।' (२-१-१)

किसी अतीन्द्रिय पदार्थको जाननेके लिये वेदोंके सिवा किसी दूसरे उपायकी कल्पना भी नहीं हो सकती।

बृहदारण्यक उपनिषद्के भाष्यमें आचार्य शंकर कहते हैं कि जो मनुष्य शास्त्रोंकी आज्ञाको नहीं मानता, वह अगले जन्ममें तिर्यक् योनि अथवा स्थावर योनिको प्राप्त होता है—

'शास्त्रविहितप्रतिषिद्धातिक्रमेणापि प्रवर्तमानः अधर्मसंज्ञकानि कर्माणि उपचिनोति……ततः स्थावरान्ता अधोगतिः।' (भाष्यभूमिका)

तैत्तिरीय उपनिषद्के भाष्यमें भी वे कहते हैं—

'प्राग् ब्रह्मात्मविज्ञानान्नियमेन- कर्तव्यानि श्रौतस्मार्तादिकर्माणि।'

(शिक्षावल्ली १-२२)

'जबतक ब्रह्मके साथ एकात्मताका अनुभव न हो जाय तबतक मनुष्यको चाहिये कि वह श्रुति और स्मृतिमें कहे हुए कर्मोंको सावधानीसे करता रहे।'

रामानुजका शास्त्रोंकी प्रामाणिकतामें विश्वास शंकरकी अपेक्षा भी अधिक स्पष्ट मालूम होता है। उनके द्वारा रचित ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें इस बातके अनेक प्रमाण मिलते हैं। उदाहरणार्थ—

'इतरेषां तु अनुपलब्धेः' (ब्रह्म० सू० २।१।२)

—इस सूत्रके भाष्यमें वे कहते हैं कि मनुने अपने योगबलसे ब्रह्माण्डके समस्त पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया था और इसके प्रमाणमें निम्नलिखित वेदमन्त्रका उद्धृत करते हैं—

'यद्वै किंच मनुरवदत् तद्भेषजम्'

(तै० सं० २-२-१०-२)

'जो कुछ मनुने कहा है वह औषधके समान हितकर है।'

श्रीचैतन्य महाप्रभुका शास्त्रोंमें कितना विश्वास था इस बातको प्रमाणित करनेके लिये चैतन्यचरितामृत (जो उनका अत्यन्त प्रामाणिक चरित्र माना जाता है) से निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं। मध्यलीलाके बीसवें परिच्छेदमें श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—'श्रीकृष्णने ही जीवोंके प्रति दयापरवश हो वेदों और पुराणोंकी रचना की और वे स्वयं शास्त्ररूपमें प्रकट हैं।' मध्यलीलाके बाईसवें परिच्छेदमें वे कहते हैं—'भक्तोंमें श्रेष्ठ वही है जिसका शास्त्रोंमें दृढ़ विश्वास है।' मध्यलीलाके छठे परिच्छेदमें वे कहते हैं, 'श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, इस बातको हम शास्त्रोंके आधारपर ही जानते हैं।'

श्रीरामकृष्ण परमहंसका जीवन स्वयं ही शास्त्रोंकी सत्यताका एक बहुत बड़ा प्रमाण है। वे एक ऐसे युगमें अवतीर्ण हुए जब पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षाके प्रभावसे शास्त्रों, विशेषकर स्मृतिग्रन्थोंके प्रति लोगोंकी अश्रद्धा हो चली थी। उस समय लोगोंका ऐसा विश्वास हो गया था कि अंग्रेजी शिक्षाके बिना मनुष्यको सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु रामकृष्ण परमहंसको अंग्रेजी शिक्षा नहीं प्राप्त हुई थी। उन्होंने प्रधानतया पुराणोंके आधारपर ही साधना करके भगवान्का साक्षात्कार किया। रामकृष्ण परमहंसका शास्त्रोंमें कैसा अडिग विश्वास था इस बातको दिखानेके लिये हम उन्हींके एक प्रधान शिष्य स्वामी शारदानन्दद्वारा रचित 'रामकृष्णलीलाप्रसंग' मेंसे निम्नलिखित वाक्य उद्धृत करते हैं—

'जब रामकृष्णको कोई आध्यात्मिक अनुभव होता तो उन्हें अपने अनुभवकी सत्यतापर तबतक विश्वास नहीं होता जबतक वे यह न देख लेते कि उनका अनुभव शास्त्रोंमें वर्णित प्राचीन साधकोंके अनुभवोंसे मेल खाता है या नहीं और जबतक वे अपने अनुभवोंको शास्त्रमें बतायी हुई प्रक्रियासे सिद्ध नहीं कर लेते थे ('साधकभाव' पृष्ठ १४३)। स्वामी शारदानन्द फिर कहते हैं—'यद्यपि रामकृष्ण एक प्रकारसे निरक्षर ही थे, तो भी उन्होंने जीवनभर शास्त्रोंके प्रामाण्यकी रक्षा की। यही नहीं, उन्होंने अपने अनुभवोंसे शास्त्रोंकी प्रामाणिकता सिद्ध की, क्योंकि वे स्वयं पढ़े-लिखे नहीं थे और स्वयं शास्त्रोंका अध्ययन नहीं कर सकते थे' ('साधकभाव' पृष्ठ २७७-७८)। रामकृष्णने स्वयं कहा है—'हिन्दूधर्म ही एक मात्र सनातन धर्म है'

('रामकृष्णकथामृत' भाग २ पृ० २१०)। 'ऋषियोंद्वारा प्रवर्तित सनातनधर्म सदा-सर्वदा संसारमें रहेगा' ('रामकृष्णकथामृत' भाग ५, पृष्ठ १३७)।

दूसरे संतोंके जीवनको देखनेसे भी इसी सिद्धान्तकी पुष्टि होती है कि शास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये। इस प्रसंगमें निम्बार्क, मध्व, वल्लभ, तुलसीदास, तैलंग स्वामी, भास्करानन्द, गम्भीरनाथ, काठियाबाबा, सन्तदास, वामा क्षेपा और विजयकृष्ण गोस्वामी आदि कई प्राचीन और अर्वाचीन संतोंका उल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने शास्त्रोंकी प्रामाणिकताको खुले शब्दोंमें स्वीकार किया है।

सच पूछिये तो शास्त्रोंकी प्रामाणिकताकी पुष्टिमें किसी भी संतका उल्लेख करना अनावश्यक है, क्योंकि स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(१६। २४)

'कौन-सा कर्म ठीक है और कौन-सा ठीक नहीं, इस बातका निर्णय करनेमें 'शास्त्र' ही प्रमाण हैं। तुम्हें शास्त्रोंकी आज्ञाको जानकर ही कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये।'

इस श्लोकमें 'शास्त्र' शब्दका वही अर्थ लेना चाहिये जो लोकमें प्रसिद्ध है। अर्थात् वेद (श्रुति) और उन्हींका अनुसरण करनेवाले दूसरे ग्रन्थ (स्मृति) ही यहाँ 'शास्त्र' शब्दमें अभिप्रेत हैं।

संतोंके लक्षण

(लेखक—श्रीसीताराम जयराम जोशी, एम्० ए०, साहित्यशास्त्राचार्य)

सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगाः।

(भर्तृहरि)

'संत स्वयं ही अपनेको पराये हितमें लगाये रखते हैं।'

संतके लक्षण अनन्त हैं। यहाँपर केवल मुख्य-मुख्य लक्षण ही गिनाये जायँगे। उनके लक्षण बतानेके पहले 'संत' शब्द कैसे बना, यह देखना कौतुकास्पद जरूर होगा। भाषामें 'संत' शब्द यद्यपि एकवचनमें प्रयुक्त हुआ है तथापि यह मूलतः 'सन्' शब्दका बहुवचन है। 'सन्' 'सत्' शब्दका पुँलिंगका रूप है। 'सत्' शब्द 'अस' धातुका 'शतृ' प्रत्ययान्त रूप है, जिसका अर्थ है 'होनेवाला' अथवा 'रहनेवाला'। इसीलिये 'सत्' परब्रह्मतत्त्वका लक्षण है, जो तत्त्व सदाके लिये रहनेवाला है। वैदिक निघण्टुमें 'सन्' शब्द जलका भी पर्याय माना गया है और वहाँपर टीकाकर उसका अर्थ लिखते हैं कि '**सर्वदा विद्यमानं प्रलयेऽपि नाशाभावात्**' क्योंकि जल सदा रहनेवाला है, प्रलयकालमें भी जलका अभाव नहीं होता। धर्मशास्त्र भी बतलाता है कि सृष्टिकर्ताने प्रथम जलको उत्पन्न किया—'**अप एव ससर्जादौ**'। अर्थात् जो सदा रहनेवाला है, जिसका वास्तवमें नाश नहीं है वही 'संत' कहलाता है। संत ऐसे ही होते हैं। यद्यपि संतोंका शरीर नष्ट होता है तथापि वे नष्ट नहीं होते, क्योंकि वे आत्मरूप बने रहते हैं। और आत्माका रूप है सत्, चित् और आनन्द। इसीलिये संत ज्ञानेश्वर अपनी ज्ञानेश्वरीमें प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं सारे संसारको सुखमय बना डालूँगा और तीनों लोकोंको आनन्दसे भर दूँगा (*'अवधा संसार सुखाचा करीन। आनंदे भरीन तिन्ही लोक'*) कितना आत्मविश्वास है संत पुरुषका जो तीनों लोकोंको आनन्दमय बनानेकी प्रतिज्ञा करते हैं! वे विश्वरूप आनन्दमय ब्रह्ममें लीन नहीं थे यह कैसे कहा जाय? 'सत्' शब्दकी और भी एक सुन्दर व्याख्या श्रीमद्भगवद्गीतामें सतरहवें अध्यायके अन्तमें '**ॐ तत्सत्**' के प्रसंगमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने की है।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ २३॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ २४॥
तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः॥ २५॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ २६॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ २७॥
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ २८॥

'परब्रह्मका निर्देश (शास्त्रमें) '**ॐ तत् सत्**' ऐसे

तीन प्रकारका माना गया है। इसी निर्देशसे पूर्वकालमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञोंका निर्माण हुआ।' (प्रथम ब्राह्मण 'ब्रह्मा' ही हैं)।

जगत्का आरम्भ इस संकल्पसे हुआ, इस कारण ब्रह्मवादी लोगोंके यज्ञ, दान, तप तथा अन्य (शास्त्रोक्त) कर्म **ॐ** के उच्चारणके साथ हुआ करते हैं। 'तत्' शब्दके उच्चारणके फलकी अभिसन्धि न कर मोक्षकी इच्छा करनेवाले लोग यज्ञ, दान, तप आदि अनेक प्रकारकी क्रियाएँ किया करते हैं। अस्तित्व और साधुता अथवा भलाईके अर्थमें 'सत्' शब्दका प्रयोग होता है। अच्छे कर्मोंके लिये भी, हे पार्थ, 'सत्' शब्दका प्रयोग है। यज्ञ, दान, तपमें स्थिर भावना रखनेको भी 'सत्' कहते हैं। तथा इनके निमित्त जो कर्म करना हो उस कर्मका भी नाम 'सत्' है। अश्रद्धासे अर्थात् मनमें श्रद्धा न कर जो कुछ यज्ञ, दान, तप अथवा अन्य कर्म किया जाता है वह 'असत्' है; जो कि मरनेपर अथवा मरनेके पहले यहाँ भी (किसी कामका नहीं होता)।

इस भगवदुक्तिपर पाठक गौर करेंगे तो मालूम होगा कि 'सत्' शब्दका क्षेत्र कितना व्यापक है। थोड़ेमें कहना हो तो 'सत्' यानी सच्चा और 'असत्' यानी झूठा। प्रशस्त और अप्रशस्त। वन्द्य और निन्द्य। ये अर्थ सत् और असत् शब्दोंसे अभिप्रेत हैं।

ये दोनों शब्द वेदोंमें भी प्रयुक्त मिलते हैं और वहाँपर कभी-कभी 'सत्' शब्दका अर्थ सत्कर्मका फल भी लिया गया है। '**नासदासीत् नो सदासीत्**' अथवा '**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्**' इत्यादि स्थलोंमें ये शब्द व्यक्त और अव्यक्तके अर्थमें भी प्रयुक्त मिलते हैं। अर्थात् 'सत्' शब्द जो सत्पुरुष शब्दमें है उसका उतना ही व्यापक अर्थ है जितना कि उसका प्रयोग परब्रह्मके लिये करनेसे है। तथापि संतके अनन्त लक्षणोंमें एक भी लक्षण दृढ़तापूर्वक किसी पुरुषमें दिखायी दे तो वह 'सत्पुरुष' शब्दका भागी हो सकता है। जैसे सत्यका व्रत धारणकर हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर सत्यपुरुष कहलाये। दानका व्रत धारण करनेसे कर्ण, शिबि आदि सत्पुरुष थे।

यद्यपि यज्ञ, तप और दान, ये तीनों भिन्न-भिन्न निर्दिष्ट हैं तथापि उनमेंसे किसी एकके अच्छे अनुष्ठानमें अन्य दोनोंका अंशतः समावेश होता ही है। किसी यज्ञका अनुष्ठान करना हो तो बिना तप और दानके वह हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार औरोंके विषयमें भी समझना चाहिये।

संतके लक्षण कहाँतक गिनाये जायँ? कालिदासकी ही उक्तिमें कहना हो तो—

महिमानं यदुत्कीर्त्य तव संह्रियते वचः।
श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया॥

'आपकी गुणमहिमाका वर्णन कर वाणी अब विरत होती है तो वह इसलिये नहीं रुकती कि आपके गुण समाप्त हुए किन्तु वह या तो वर्णन करते-करते थक गयी अथवा पूर्ण वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हुई।' ठीक यही प्रकार संतोंके गुणवर्णनके लिये है।

संतोंका सबसे श्रेष्ठ गुण शरीरसे अपना व्यक्तित्व हटाकर विश्वको अपनी आत्मा बनाना—विश्वरूप बनना और शरीरमात्रका हित छोड़कर विश्वका हित साधना है। संत तुकाराम भी कहते हैं—

जगाच्या कल्याण संतांच्या विभूति।
देह कष्टविती उपकारें॥

जगत्के कल्याणके लिये संतोंका अवतार होता है। परोपकारमें वे हमेशा चन्दनके समान अपने देहको घिसते हैं। इस विषयमें वे सूर्य, चन्द्रमा और मेघके समान हैं क्योंकि सूर्य किसी प्रत्युपकारकी अभिसन्धि न रखकर कमलको विकसित करते हैं। चन्द्र कुमुदको और मेघ बिना माँगे जल देकर प्राणिमात्रका सन्तोष करते हैं। भर्तृहरिने सत्पुरुषकी व्याख्या ही की है—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये।

जो स्वार्थको त्यागकर परार्थमें ही लगे रहते हैं वे सत्पुरुष हैं।

अहिंसा संतोंका दूसरा गुण है। जब आप ही विश्व बन गये तो किसके लिये किसकी हिंसा करें? इसके लिये भगवद्गीताके सतरहवें अध्यायमें वर्णित सात्त्विक त्रिविध (शारीर, मानस और वाङ्मय) तपकी जरूरत है। इनके लक्षण विस्तारभयसे यहाँ नहीं दिये गये, पाठक गीता अ० १७। १४-१७ श्लोकोंमें इनके लक्षण स्वयं देख लें।

उदारचरित संतोंकी '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' वृत्ति रहनेसे आत्मत्याग अथवा आत्मयज्ञ और ज्ञानमय तप सिद्ध ही है। यह बहुत दूरकी बात हुई। व्यवहारमें भी अच्छे कहलानेके लिये भर्तृहरिकथित सामान्य गुणोंका सम्पादन उस मार्गकी प्रथम सीढ़ी है—

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनान्।
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय स्वान् गुणान्
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत् सतां लक्षणम्॥

तृष्णां छिन्धि—लोभ या तृष्णाका त्याग—(जिसको लुब्ध कहते हैं उस वृत्तिका त्याग। क्योंकि धर्मसे लोकैषणा, वित्तैषणा, विद्यैषणा ये प्रशस्त मानी गयी हैं। अतः यहाँपर पराये धन या परस्त्रीका अपहरण करनेकी लालसा 'तृष्णा' शब्दसे विहित है।)

भज क्षमाम्—क्षमाका सेवन—दुर्जनके दमनके लिये इस शस्त्रके समान दूसरा शस्त्र नहीं है। कहा है—'**क्षमा शस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति।**' किन्तु यह क्षमा शक्त अथवा समर्थोंके लिये भूषण है, अशक्तोंके लिये नहीं। जिसके पास सत्ता है, सामर्थ्य है, बल है, धन है, तेज है, वह अपराध सहले तो भूषण माना जाता है। क्षमागुण अपनानेके लिये पहले विद्या, धन, सत्ता, सामर्थ्य इत्यादि गुणोंका संग्रह अपेक्षित है। इनके रहनेपर ही क्षमा शोभा देती है।

जहि मदम्—मद या गर्वको दूर करना। यह किसी सम्पत्तिका अस्तित्व द्योतित करता है। जिसके पास विद्या ही नहीं है वह विद्यामद क्या करेगा। जिसके पल्ले धन नहीं है उसको धनका मद कैसा? इसी प्रकार शरीरबल आदिके विषयमें समझना चाहिये।

पापे रतिं मा कृथाः—पापमें सुख नहीं मानना—इसके लिये भर्तृहरिने अन्य स्थानमें कहा है—'**निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु**' आदि, जिसका भावार्थ यह है—नीतिज्ञ चाहे निन्दा करे वा स्तुति करे। लक्ष्मी आवे अथवा जावे। आज ही मृत्यु आवे अथवा युगान्तरमें। धीर लोग न्यायके मार्गसे एक पद भी विचलित नहीं होते।

'**मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम्**'—प्राणपर संकट आनेपर भी मलिन कर्म नहीं करना।

सत्यं ब्रूहि—सत्य बोलना—ऐसा स्थान-स्थानपर कहा है। यहाँपर सत्य बोलते समय धर्मशास्त्रकी इस आज्ञापर ध्यान रखना आवश्यक है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

प्रियके साथ सत्य बोले। किसी गौको कसाईके हाथमें फँसानेके लिये अथवा किसीके हितका व्याघात करनेके लिये सत्य न बोले। अप्रिय सत्य निषिद्ध है।

अनुयाहि साधुपदवीम्—साधुके मार्गपर चलना—'**पदमनुविधेयं च महताम्।**' महान् अथवा बड़ोंके मार्गसे चलना। बड़े कौन हैं जो विपत्तिमें घबराते नहीं, किन्तु जिनका अन्तःकरण विपत्तिमें पाषाणसंघसे भी कर्कश होता है और सम्पत्तिकालमें फूलके सदृश मृदु होता है। जैसे भवभूतिने कहा है—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥

सम्पत्तिमें क्षमा, सभामें वाक्पाण्डित्य, युद्धमें पराक्रम, यशके लिये प्रीति, विद्यामें व्यसन, ये गुण बड़ोंमें पाये जाते हैं। अथवा स्वयं नम्र होकर वे सबके वन्द्य होते हैं। दूसरोंके गुण वर्णनकर अपने सद्गुणोंका परिचय देते हैं, वे परनिन्दा और आत्मस्तुति कभी नहीं करते। परार्थका रात-दिन सम्पादन करनेसे ही जिनका स्वार्थ सिद्ध हो जाता है, वे बड़े हैं।

सेवस्व विद्वज्जनान्—विद्वानोंकी सेवा करना। अमरकोशमें 'विद्वान्' शब्दका पर्याय दिया है सत्—जैसे '**सत् सुधीः कोविदो बुधः।**' विद्वानोंकी सेवा करना अर्थात् सदा उनकी संगतिमें रहना। '**सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्।**' सत्संगतिकी महिमा अपार है। उससे क्या नहीं बन सकता?

'**सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि च पुण्येन भवति।**'

सज्जनोंका संग बड़ी मुश्किलसे पुण्य रहनेपर ही प्राप्त होता है। मनुष्यका अच्छा या बुरा होना सब संगतिपर निर्भर है। जलकी बूँद वही है किन्तु जलते हुए लाल सुर्ख लोहेपर छोड़नेसे उसका नामतक नहीं रहता। वही बूँद कमलपत्रपर पड़नेसे मोतीसरीखी दिखायी देती है। समुद्रकी सीपमें जब वह गिरती है तो मोती बन जाती है। यह सब संगका फल है। 'सत्संग' जलको मोती बना देता है।

मान्यान् मानय—पूज्योंका सम्मान करो।

भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां
वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः।

कालिदासने कहा है, विश्वरूप होनेपर—समानताको प्राप्त करनेपर भी समबुद्धि पुरुष तेजस्वी प्रभावशालियोंका विशेष आदर करते हैं। वृद्ध अथवा अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषके पास आनेसे छोटोंका प्राण निकलने लगता है। उनको उत्थान देकर प्रणाम करनेसे वह फिर अपने

स्थानपर स्थिर हो जाता है।

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनु० २।१२०-१२१)

विद्विषोऽप्यनुनय—शत्रुओंका भी भाव अपनी ओर खींच लेना। यह काम युधिष्ठिर पूर्णरूपसे कर सके थे। उनके शत्रुको भी यह विश्वास था कि ये झूठ नहीं बोलते। सत्पुरुषकी यह कसौटी है। सत्पुरुषका भलापन उनके शत्रु भी मानते हैं।

प्रख्यापय स्वान् गुणान्—अपने गुणोंको प्रसिद्ध करो—इसका अर्थ यह नहीं कि आत्मश्लाघा करो। आत्मस्तुति वा श्लाघा सर्वथा निन्द्य है—

गुणदोषौ बुधो गृह्णन्निन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः।
शिरसा धरते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति॥

जैसे महादेवजी गुणरूप चन्द्रमाको मस्तकपर धारण किये रहते हैं और दोषरूप विषको गलेके बाहर नहीं निकालते वैसे ही बुद्धिमान् पुरुष दूसरेके गुणोंको मस्तकपर धारण करे और दोषोंको मुँहसे बाहर न निकाले। इसीलिये कहा है—'**परगुणकथनैः स्वान् गुणान् ख्यापयन्तः**' अपने गुणोंको प्रसिद्ध करनेका उत्तम मार्ग दूसरेके गुणोंका परिचय अथवा परिज्ञान करा देना है।

कीर्तिं पालय—यशका पालन करना, बनाये रखना। कलंकित नहीं करना। '**सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते**'—मान्य या मनस्वी पुरुषके लिये अकीर्ति मरणसे भी बढ़कर है। मृच्छकटिकमें चारुदत्त कहते हैं—

न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः।
विशुद्धस्य च मे मृत्युः पुत्रजन्मसमः किल॥

मृत्युका भय मुझे नहीं। यश कलंकित हो गया। यह धब्बा मिट जाय तो मौतको मैं पुत्रजन्मके समान समझूँगा। परन्तु यह ध्यान रहे कि यश ही जीवनका लक्ष्य नहीं है। कीर्तिपालनका यही अर्थ है कि ऐसा कोई अनुचित कार्य न करे जिससे अकीर्ति होती हो। यहाँ अनुचित कर्मका निषेध है, कीर्तिकी इच्छाका समर्थन नहीं।

दुःखिते कुरु दयाम्—दीन-दुखियोंपर दया करना। यह संतका परम लक्षण है। सर्वभूतानुकम्पा तो रहती ही है। किन्तु दुखियोंके दुःखसे उनका अन्तःकरण पिघल जाता है। संत तुकारामका अभंग बहुत प्रसिद्ध है। उसका भाव है, जो दुःख—विपद्में हैं, उनको जो अपना मानता है वही साधु है और वही देव है। जिसका कोई अपना नहीं उसको जो छातीसे लगा लेता है। पुत्रपर जैसी दया करता है उसी प्रकार दास-दासीपर जो करता है, तुकाराम कहते हैं कि मैं कहाँतक कहूँ, उसे भगवान्‌की मूर्ति समझो।

संत-चर्चा

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री, वेदान्तविद्यार्णव)

'असतो मा सद् गमय'

असत्, कालत्रयमें एकरस न रहनेवाली, सुख-दुःख-मोहलक्षणा प्रकृतिके कुटिल पाशसे कर्मद्वारा, ज्ञानद्वारा अथवा उपासनाद्वारा निकलकर जो जन स्वरूपस्थ हो चुके हैं किंवा ब्रह्मसामीप्यके अधिकारी हो चुके हैं वे ही सत् हैं। त्रिकालमें एकरस रहनेवाले आत्मतत्त्वका साक्षात्कार कर लेनेसे वे वस्तुतः सत् हैं। 'सत्' शब्दका अर्थ अस्तित्वका द्योतक है। इस जीवनसे पूर्व और इसके अनन्तर अपनी ध्रुवसत्ताका जिनको प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है वे सज्जन हैं। उन सज्जनोंके विचारसे, आत्मसत्ताको भस्मान्त बतानेवाले चार्वाक केवल इसीलिये चारुवाक् हैं कि वे तत्त्वानभिज्ञ जनताको ऋण करके भी सर्पिष्पानद्वारा पीनकलेवर होकर विषयवासनामें लिप्त होनेका आपाततः रमणीय उपदेश देते हैं। वे कहते हैं कि चार्वाकप्रोक्त मार्गके पथिक अन्ततोगत्वा अपनेको नरक-नगरका नागरिक पावेंगे। सत्पुरुष पथप्रदर्शक हैं जो भवाटवीमें भटकते हुए पथभ्रष्ट भ्रान्त पथिकोंको चार्वाकादि अजगरोंके चक्रसे बचाकर मुक्ति-पुरीकी ओर जानेवाली भक्ति-पदवीकी ओर संकेत करते रहते हैं। मुक्तिधामको पहुँचानेवाले कर्म-ज्ञान-योगादि विविध मार्गोंमेंसे किसी एकका वे जीव-पथिककी योग्यताके अनुसार उपदेश देते हैं; विरोध किसीका भी नहीं करते। हाँ, वे यह अवश्य कहते हैं कि अन्यान्य मार्ग दुर्गम हैं तो उपासना-मार्ग सुगम है।

'सद्‌भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।'

संस्कृत भाषामें 'सत्' शब्दके बहुवचनमें 'संतः' पद प्रयुक्त होता है। उच्चारणमें सौकर्य्यके निमित्त व्यावहारिक हिन्दी-भाषामें विसर्गका लोप कर देते हैं और 'संत' कहा करते हैं। 'संत' शब्द इस दृष्टिसे स्वयं बहुवचनमें है, तथापि हिन्दीमें इसको एकवचन मानते हैं और बहुवचनमें 'संतों' कहते हैं। भक्त, श्रोत्रिय, महात्मा, ऋषि, मुनि, त्यागी, संन्यासी, तपस्वी, योगी, ध्यानी, ज्ञानी—ये शब्द यद्यपि जीवोंकी साधनावस्थामें भिन्नार्थक हैं, तथापि उनकी सिद्धावस्थामें एकार्थक ही होते हैं। ये भक्तादिक सभी परिपूर्ण सुनिष्पन्न अवस्थामें पहुँचकर 'संत' कहलाते हैं, क्योंकि वे 'असत्' से 'सत्' हो जाते हैं।

'प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।'

संतजनोंकी आन्तरिक तथा बाह्य अवस्थाओंमेंसे दूसरी तो सभीके दृग्गोचर हो सकती है। उनकी दिनचर्या—आसन[1], शयन, भजन, भोजन[2] सभी कुछ जाना जा सकता है; अधिकांशमें वे शुद्ध-पवित्र ही रहते हैं, व्यर्थालापमें लीन नहीं होते, मौन होकर भी रहते हैं। भिक्षा[3] ग्रहण करते हैं किन्तु कामभक्षसे[4] बचते हैं। यज्ञ[5], दान, तपमें निरत होकर शमदमादिसे युक्त ही रहते हैं। यद्यपि सिद्धको किसी भी साधनकी अपेक्षा नहीं है तथापि प्रारब्धभोगावधि वे शास्त्रप्रोक्त साधनोंका त्याग नहीं करते। मृत्युपर्यन्त[6] सत्कर्मोंका अभ्यास रखते हैं। वे सभी देशोंमें विचरण करते हैं किन्तु चित्तकी एकाग्रता[7] जहाँ हो वहीं प्रायः अधिक निवास करते हैं। वाद-विवाद आदि पण्डिताईकी बातोंसे प्रयोजन न रखकर बालकके समान शान्त होकर रहते हैं। श्रुतिका वचन है—

'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्'

(बृह० ५।५)

भगवान् बादरायणकी भी एकद्विषयक सूत्र है **'अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्'**। संतजन स्वयं आतमचिन्तन[8] करते हुए अपने आश्रितवर्गसे भी आत्मचिन्तन ही कराते हैं।

'कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते'

वे संतवृन्द नित्य-निरन्तर श्रीभगवान्‌में चित्त[9] लगाकर, तद्‌गतप्राण होकर, उनके गुणगानद्वारा मस्त रहते हैं।

उत्तमश्लोकमुकुटमणि जगदीश्वरके निखिलभुवन-पावन चरित्रके कथनोपकथनमें प्रेमबाहुल्यसे रोमाञ्चित रहते हुए वे संतलोग अन्तमें 'विश्वगुर्वधिकृत' 'भुवनैकवन्द्य' परमधामका[10] लाभ करते हैं।

देवर्षि नारदने ऐसे ही उत्तम कोटिके संतोंको लक्ष्य करके कहा है—

'कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च।'

अर्थात् परमप्रेष्ठ अनन्त दिव्य माधुर्यमूर्ति हृदयेशके स्मरण, अर्चन, गुणगान और गुणश्रवणके समय गद्‌गदकण्ठ और पुलकितवपु होनेवाले संतजन न केवल दो-चार कुलोंको ही पवित्र करते हैं अपितु समस्त भूवलयके पापपंकको निज प्रेमवारिसे बहा देते हैं।

समस्त आश्रयोंको त्यागकर जो पुरुष आनन्दकन्द, प्रपन्नपारिजात, करुणावरुणालय श्रीपुरुषोत्तम वैकुण्ठ-नाथके चरणनलिनयुगलकी ही शरणमें रहता है वही परमोत्तम संत है।

---

१. आसीनः सम्भवात् ४।१।७ (ब्रह्मसूत्र)
२. सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् (ब्र० सू० ३।४।२८)
३. मौनवदितरेषामप्युपदेशात् (ब्र० सू० ३।४।४९)
४. शब्दश्चातोऽकामकारे (ब्र० सू० ३।४।३१)
५. यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ (गीता)
४. अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् (ब्र० सू० ४।१।१६)
६. आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् (ब्र० सू० ४।१।१२)
७. यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् (ब्र० सू० ४।१।११)
८. आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च (ब्र० सू० ४।१।३)
९. मच्चित्ता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ (गीता)
१०. यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या दूरे यमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः।
भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुरागवैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः॥ (श्रीमद्‌भा० ३।१५।२५)

जीवन्मुक्त

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

'मैं' का वास्तविक अर्थ है आत्मा। आत्मा अर्थात् वास्तविक 'मैं' अनन्त सच्चिदानन्दस्वरूप है। उसमें बद्ध और मुक्तके विशेषण नहीं लगाये जा सकते। बन्धका अर्थ है अपनेको भूल जाना और उस भूलका मिट जाना ही ज्ञान अथवा मुक्तिका अर्थ है। तात्पर्य यह कि आत्मदृष्टिसे बद्ध और मुक्तिकी सत्ता नहीं होती। वह तो व्यावहारिक दृष्टिसे ही बनती है। यदि व्यवहारमें पारमार्थिक दृष्टि घुसेड़ दें और व्यावहारिक दृष्टिसे परमार्थका विचार करें तो दोनोंका ही विशुद्ध स्वरूप छिप जायगा। इसलिये बद्ध, मुक्त आदिपर विचार करते समय व्यावहारिक दृष्टि ही काममें लानी चाहिये।

यह बात तो स्पष्ट ही है कि अनन्त चिदानन्द सत्तामें किसी भी द्वन्द्वकी कल्पना नहीं की जा सकती, और व्यवहार द्वन्द्वमें ही है। व्यवहारमें अच्छे-बुरे, पापी-पुण्यात्मा और महात्मा-दुरात्माका भेद अनादिकालसे चला आया है और इसके बिना व्यवहार चल ही नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें हमें महात्मा और दुरात्माकी एक परिभाषा बनानी ही पड़ेगी। समाजकी सुव्यवस्था और मुमुक्षुओंके कल्याणके लिये ऐसा करना अनिवार्य है।

परन्तु ऐसा करते समय एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये। ये लक्षण जीवन्मुक्त महात्माओंके लिये नहीं बनाये जाते क्योंकि वे तो जैसे हैं, हैं ही। उन्हें अपने लक्षणके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं। वे इन लक्षणोंके अंदर बँधे नहीं हैं, इनसे परे—बहुत परे अनन्तस्वरूपसे विराजमान हैं। उनके शरीरमें इन लक्षणोंको मिलाकर कोई महात्मा देखे या न मिलनेसे उन्हें दुरात्माका प्रमाणपत्र दे दे, वे इन बातोंकी ओर दृष्टि ही नहीं डालते, उनकी दृष्टिमें तो सब अपना स्वरूप ही है।

लक्षणोंकी आवश्यकता है हम साधारण जीवोंको, जो संसारके पाप-तापसे सन्तप्त होकर एक शीतल, सुखद और घनी छायाके नीचे विश्राम करना चाहते हैं और अपनी श्रान्ति, क्लान्ति और भ्रान्ति मिटाकर सर्वदाके लिये अनन्त शान्तिके अंकमें सो जानेके लिये किसीके कोमल करोंकी थपथपी चाहते हैं। हाँ, तो हमें अपनी दृष्टिसे ही उनके लक्षणोंका निर्णय करना होगा। हम अपने आदर्श, रुचि और प्रवृत्तिके अनुसार ही महात्माओंका चुनाव करते आये हैं और करेंगे। किसीकी दृष्टिमें आचार्य शंकर सबसे बड़े संत हैं तो किसीकी दृष्टिमें चैतन्य महाप्रभु हैं और अनेकों व्यक्ति स्वामी दयानन्दको ही सर्वश्रेष्ठ संत मानते हैं। ये सभी महान् पुरुष हैं; परन्तु जब हम अपने लिये चुनते हैं तब अपनी रुचि, प्रवृत्ति और आदर्शके अनुसार ही किसी एकपर जाकर ठहर जाते हैं।

परन्तु अपनी मनमानी करनेसे ही तो हम इस मायाके भयंकर चक्करसे छूट नहीं सकते। जन्म-जन्मसे वासनाओंकी दासता करते रहनेके कारण हम वैसी ही परिस्थितिमें घुल-मिल गये हैं और उसीके आदी हो गये हैं। इसलिये जहाँ कहीं हमारी धारणाके विपरीत कोई बात मिलती है वहीं हम उससे घृणा या परहेज करने लगते हैं। हमारी नपी-तुली बुद्धिका सत्य ही हमें सत्य प्रतीत होने लगता है और हम वास्तव सत्यसे वंचित ही रह जाते हैं। तब हमें क्या करना चाहिये? किसकी शरण ग्रहण करनी चाहिये?

एक बात और है। कामनाओं और विषयोंके कीचड़में सड़ते-सड़ते हम ऊब उठे हैं। पापोंके, पापियोंके और उनके दलालोंके पंजेमें पिसते-पिसते चूर-चूर हो गये हैं। इनके धोखे, जाल और फरेबोंसे आज़िज आ गये हैं। यदि फिर उन्हींके चंगुलमें फँस जायँ और फिर वही दुर्गति हो तब मुक्ति और भगवान्‌की ओर अग्रसर होनेका अच्छा फल मिला।

यह बात सत्य है कि जिनकी दृष्टिमें असंत हैं वे ही असंत हैं, क्योंकि संतकी दृष्टिमें सब रूपोंमें संत ही नहीं प्रत्युत स्वयं भगवान् हैं। परन्तु यह बात तो हम असंतोंकी ही है न? इसलिये हमें अब विचार करना चाहिये कि संत या जीवन्मुक्तकी क्या परिभाषा हो सकती है अर्थात् किन लक्षणोंसे युक्त पुरुषके पास जाकर, उसकी शरण ग्रहण करके हम अपना कल्याणसाधन कर सकते हैं। यद्यपि यह बड़े साहसकी बात है कि किसी महापुरुषको कुछ नियमोंके अंदर बाँध दिया जाय, तथापि यह बन्धन उनके लिये न होकर जिज्ञासुओंके लिये है, अतः कोई आपत्तिकी बात नहीं है।

श्रुतियोंमें श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ, ब्राह्मण और ब्रह्मवित् आदि शब्दोंसे, तथा गीतामें स्थितप्रज्ञ, भक्त तथा गुणातीतके रूपमें और योगवाशिष्ठमें जीवन्मुक्त, विदेहमुक्त आदिके रूपमें अथ च पुराणोंमें अतिवर्णाश्रमी आदिके रूपमें जिस स्थितिकी ओर संकेत किया गया है वह विभिन्न प्रकारकी नहीं है। प्रत्युत विभिन्न साधनाओंसे निष्पन्न एक ही फलभूत स्थितिका विभिन्न नामोंसे निर्देश किया गया है। उदाहरणार्थ—गीतामें कर्मको मुख्य और भक्ति-ज्ञानको गौण मानकर वास्तविक स्थितिको प्राप्त करनेवालेको 'स्थितप्रज्ञ', भक्तिको मुख्य और कर्म-ज्ञानको गौण माननेवालेको 'भक्त', तथा ज्ञानको मुख्य तथा कर्म-भक्तिको गौण मानकर वास्तविक स्थिति प्राप्त करनेवालेको 'गुणातीत' कहा गया है। सभीको एक ही स्थिति प्राप्त है, सभी परमार्थमें परिनिष्ठित हैं और सभी कर्म, भक्ति तथा ज्ञानसे परिपूर्ण हैं। तथापि साधनभेदके कारण उनके नामोंमें भेद कर दिया गया है।

योगवाशिष्ठमें श्रीरामके जीवन्मुक्तलक्षणविषयक प्रश्नके उत्तरमें श्रीवशिष्ठजीने कई लक्षण बताये हैं, क्रमशः उन्हींपर विचार करें।

(१)

यथास्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च।
अस्तंगतं स्थितं व्योम स जीवन्मुक्त उच्यते॥

इस समय हमारी वृत्तियोंके सामने जिस पर्वत, नदी और वनादिविशिष्ट जगत्‌की प्रतीति हो रही है, जब यह हमारे सामनेसे देह, इन्द्रिय आदिके साथ समेट लिया जाता है अर्थात् प्रलय हो जाती है तब इन विभिन्नताओंके न रहनेसे यह अस्तंगत हो जाता है। परन्तु जीवन्मुक्तिमें वैसा नहीं होता। यह सम्पूर्ण प्रपंच जैसा-का-तैसा बना रहता है और व्यवहार भी होता रहता है। प्रलय न होनेके कारण—दूसरे लोग पूर्ववत् स्पष्ट इसका अनुभव करते हैं; किन्तु जीवन्मुक्तमें इसे प्रतीत करानेवाली वृत्तिके न होनेके कारण सुषुप्तिकी भाँति कुछ भी प्रतीत नहीं होता, अस्त हो जाता है। हाँ, सुषुप्तिकी अपेक्षा विलक्षणता यह है कि उसमें भाविवृत्तिका बीज संस्काररूपसे रहता है और पुनः संसारका उदय होता है। परन्तु जीवन्मुक्तिमें बीज भी नहीं रहता—इसलिये पुनः कदापि संसारकी प्रतीति नहीं होती।

(२)

नोदेति नास्तमायाति सुखे दुःखे मुखप्रभा।
यथाप्राप्ते स्थितिर्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते॥

प्रारब्धके अनुसार चन्दन-पुष्पादिसे सत्कार प्राप्त होनेपर अथवा धन-जनहानि, धिक्कारादि दुःखके निमित्त उपस्थित होनेपर संसारी पुरुषोंकी भाँति हर्ष या विषादसे जिसका मुख प्रसन्न या विषण्ण नहीं होता, बिना विशेष चेष्टाके जो कुछ स्वयं प्राप्त हो गया उसीमें शान्तिसे स्थित रहता है। पहले तो स्वरूपमें ही स्थित रहनेके कारण उसे इन विषयोंकी प्रतीति ही नहीं होती और यदि यथाकथञ्चित् थोड़ी देरके लिये प्रतीति हो जाय तो भी ज्ञानकी दृढ़तासे हेय-उपादेयबुद्धिका अभाव होनेके कारण हर्ष और विषादके लिये अवसर मिलता ही नहीं। यहाँ यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि प्रारब्धके द्वारा केवल सुख-दुःखके निमित्त मात्र ही आते हैं, न कि उन निमित्तोंके पश्चात् होनेवाले सुख-दुःख भी। इसका कारण यह है कि कर्मचक्रके अनुसार घटनाएँ तो घटती ही रहती हैं, परन्तु उनसे आसक्तिके कारण हम सुखी-दुःखी हो जाते हैं। जैसे प्रारब्धके कारण हमें किसी दिन भोजन नहीं मिल पाता, इतना तो प्रारब्धका काम है; परन्तु उससे हम दुःखी हों, यह आसक्तिका फल है और आसक्ति अज्ञानसे ही होती है। संसारचक्रकी गति और स्वरूपसे अनभिज्ञ होनेसे ही हम किसी देश, काल या वस्तुसे आसक्ति करते हैं और दुःखी-सुखी होते हैं। जीवन्मुक्त भला इनसे प्रसन्न या विषण्ण क्यों होने लगा? यही तो इसकी विशेषता है।

(२)

यो जागर्त्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते॥

उसके बाह्य इन्द्रिय अपने-अपने गोलकोंमें स्थित रहते हैं, उपरत नहीं रहते, इसलिये वह जाग्रत् रहता है। परन्तु वृत्तियोंकी अन्तर्मुखीनताके अथवा अभावके कारण वह एक प्रकारकी सुषुप्ति ही है। इसलिये इन्द्रियोंसे विषयोंकी उपलब्धि नहीं होती और जाग्रत्‌के लक्षण पूर्णतः नहीं घटते। इसीसे इस अवस्थाको जाग्रत् और सुषुप्ति इन दोनोंमेंसे एक भी नहीं कहा जा सकता। यह है तो बोध, परन्तु वासनानुगामी बोध नहीं है, जैसा कि हमें स्वप्न और जाग्रत्‌में होता है। कभी-कभी मैं ब्रह्मवित हूँ, इस प्रकारकी वृत्तिका उठना ही यहाँ 'वासना' शब्दसे सूचित होता है। यह वासना जीवन्मुक्तमें नहीं होती। जहाँ वह बुद्धि है कि मैंने अनन्तचित्स्वरूप ब्रह्मको जान लिया, यहाँ अपनेमें ज्ञानका कर्तृत्व आरोपित होता है और यह विशुद्ध ज्ञान नहीं कहलाता।

जब कर्तृत्व, ज्ञातृत्वका अपवाद हो जाता है, त्रिपुटीरहित केवल बोध-ही-बोध रहता है तब उसे वासनाशून्य बोध कहते हैं। यह बोधस्वरूप ही जीवन्मुक्तका स्वरूप है।

(४)

रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि।
योऽन्तर्व्योमवदत्यच्छः स जीवन्मुक्त उच्यते॥

लोगोंके देखनेमें वह राग, द्वेष, भय आदिसे युक्त पुरुषकी भाँति व्यवहार करता हुआ जान पड़ता है। अर्थात् स्नान, शौच तथा भोजनादिमें उसकी प्रवृत्ति रागके अनुरूप ही जान पड़ती है। वह सात्त्विक भोजनका ही उपयोग करता है। तामसिकता, ग्राम्य चेष्टा तथा दु:संगका त्याग आदि द्वेषके अनुरूप कार्य भी उससे होते हुए देखे जाते हैं। इसी प्रकार अचानक कोई सर्प आदि हिंस्र जन्तु गोदमें आकर गिर जाय तो वह उसे झटकेसे फेंककर भयके अनुरूप काम करता हुआ भी देखा जाता है। बाधितानुवृत्ति अथवा पूर्वाभ्यासके कारण व्युत्थान दशामें ऐसी बातें हो जाती हैं अवश्य, परन्तु उसके अन्त:करणके निर्मल होनेके करण उसमें तनिक भी कलुष नहीं आता। जैसे हमलोगोंकी दृष्टिसे आकाशमें धूलि, बादल आदि आ जाते हैं, परन्तु आकाशकी दृष्टिसे वह सर्वथा स्वच्छ और निर्मल ही रहता है। इसी प्रकार जीवन्मुक्तका हृदय भी सर्वथा उल्लंघन नही करता। परम्परासे प्राप्त मर्यादाका सर्वदा और सर्वत्र निर्मल ही रहता है।

प्रसंगवश एक बात और कहनी है। यदि जीवन्मुक्त पुरुष किसी वर्ण या आश्रममें रहता है तो वह अपने वर्णाश्रमधर्मका उल्लंघन नहीं करता। परम्परासे प्राप्त मर्यादाका उल्लंघन क्यों किया जाय, जब कि उसके लिये सभी कर्म बराबर हैं? प्रात:काल सन्ध्या कर्त्तव्य है, अब यदि इस आज्ञाका पालन द्विजाति जीवन्मुक्त नहीं करता तो इसका कारण क्या है? क्या वह किसी इससे भी अच्छे काममें लगा हुआ है अथवा आलस्य-प्रमादवश ऐसा कर रहा है? उसके लिये अच्छे-बुरेका तो प्रश्न ही नहीं और आलस्य-प्रमादको जान-बूझकर वह प्रश्रय दे ही नहीं सकता। अब विधिप्राप्त कर्त्तव्य स्वयं ही उससे होते हैं। यही बात संन्यासीके लिये भी लागू होती है। वह अपने त्याग, वैराग्य, स्त्रीका अदर्शन आदि नियमों और प्राप्तविधानोंका उल्लंघन क्यों करता है? विषयोंको सुखजनक समझने और उनकी आसक्तिके अतिरिक्त और कोई कारण हो ही नहीं सकता। हाँ, इसे छिपानेके लिये जीवन्मुक्तिका आश्रय लिया जाता है। परन्तु ध्यान रखना चाहिये कि जीवन्मुक्तिमें किसी ऐसी बातके लिये तनिक भी अवसर नहीं है। अवश्य, उन महात्माओंके सम्बन्धमें जिन्होंने न केवल वर्णका अपितु आश्रमका भी सच्चा संन्यास कर रक्खा है, किसीको कुछ कहनेका अधिकार नहीं है।

अभिप्राय यह कि वह बाह्य व्यवहारोंको हमारी ही भाँति वैधरूपमें करता हुआ भी अन्तरमें अपने निष्क्रिय निर्लेप स्वरूपसे स्थित रहता है।

(५)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते॥

जब पुरुष कोई कर्म करता है तो 'मैं इस कर्मका कर्ता हूँ' ऐसा अहंकार कर लेता है और इस कर्मका ऐहलौकिक या परलौकिक अमुक फल प्राप्त होगा ऐसा सोचकर बुद्धि उसी भावसे लिप्त हो जाती है। और जब मैं कर्म नहीं करता, हाथ, पैर आदि इन्द्रियों और अन्त:करणको रोककर कर्मका त्याग किये बैठा हूँ, ऐसा अहंकार होता है—तब मुझे मुक्ति प्राप्त होगी, इस आशासे बुद्धि लिप्त हो जाती है। परन्तु जीवन्मुक्त चाहे कर्म करता हुआ-सा प्रतीत हो या कर्मत्यागी-सा, दोनों ही स्थितियोंमें उसे अहंकार और बुद्धिकी सलेपता नहीं प्राप्त होती। मैं कर्ता हूँ, या त्यागी हूँ, यह भाव कभी नहीं उठता। उसके सामने वे दोनों स्थितियाँ रहती ही नहीं।

यह स्थिति स्वसंवेद्य है। जो महापुरुष कर्तृत्वसे ऊपर उठे हुए हैं उनमें अहंकार, आसक्ति और बुद्धिका लेप न होनेके कारण उनसे कभी सहज कर्मोंके अतिरिक्त दूसरे हो ही नहीं सकते। और सहज कर्मका भगवान्ने गीतामें वर्णन किया ही है। अथवा सहजका अर्थ समझना चाहिये ज्ञान होनेके पूर्वक्षणका सजातीय कर्म। उनके प्रवाहपतित होनेके कारण और उनका निषेध करके अन्य कर्ममें लगानेवाली वासनाओंके न होनेके कारण वे ही अभ्यस्त कर्मसमूह चला करते हैं। हाँ, इतना निश्चित है कि उस क्षणमें पापकर्म न रहे होंगे। क्योंकि ऐसा होनेपर अन्त:करणकी अशुद्धिके कारण ज्ञान ही न होता। हमारी दृष्टिमें जीवन्मुक्तके जीवनमें प्रारब्धके अनुसार घटनाएँ तो सब प्रकारकी

घट सकती हैं, परन्तु उनके पूर्वसंकल्प, उनसे आसक्ति और उनका कर्तृत्व न रहनेसे तथा आत्मदृष्टिसे आत्मरूप ही दीखनेके कारण वे फलोत्पादनमें समर्थ नहीं होतीं।

(६)

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयान्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥

संसारीलोग जिससे अपनी किसी प्रकारकी हानि होनेकी सम्भावना देखते हैं या अपने आचार-विचारसे प्रतिकूल अनुभव करते हैं, उससे उद्विग्न हो जाते हैं। और मुमुक्षु लोग भी लोगोंको ईर्ष्या, द्वेष आदिसे दबे तथा संसारमें आसक्त देखकर उनसे उद्विग्न हो जाते हैं। परन्तु जीवन्मुक्त पुरुष किसीका पराया नहीं, सबका अपना होता है। उससे किसीके अनिष्ट और प्रतिकूलताकी आशंका ही नहीं रहती। फिर उससे कोई क्यों घबड़ाने लगा। और लोगोंकी संसारासक्ति आदि देखनेसे उनकी साधनामें बाधा तो पड़ती ही नहीं' क्योंकि उसकी साधना सहज है—नित्य चलती रहती है। कृत्रिमता तो है नहीं दूसरोंके संसर्गसे या विघ्न डालनेसे वह रुक जायगी। इससे वह किसीसे भी घबड़ाता नहीं। उसे सब कुछ प्राप्त ही है, इसलिये किसी वस्तुकी प्राप्तिसे हर्ष नहीं होता। उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं, इसलिये उसे किसीसे अमर्ष नहीं होता। द्वैतमें ही भय है। दूसरोंसे ही भयभीत होना पड़ता है। परन्तु जीवन्मुक्त पुरुषके लिये कोई दूसरा है ही नहीं, फिर भयभीत किससे हो? वह सर्वदा आत्मरति, आत्मतृप्त और आत्मसन्तुष्ट ही रहता है।

(७)

शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥

संसारी लोग यह शत्रु है, यह मित्र है और यह उदासीन है तथा यह सम्मान है, यह अपमान है—इत्यादि नानाविध विकल्पोंके कारण जला करते हैं; परन्तु जीवन्मुक्त पुरुषमें ये सब विकल्प होते ही नहीं, स्वभावतः शान्त रहते हैं। वह चौंसठ कलाओंसे युक्त होनेपर भी उनके अभिमान और व्यवहारके अभावके कारण कलाहीन ही रहता है। अथवा इन शरीर, प्राण आदि अभिव्यक्तियोंसे—खण्डोंसे युक्त दीखनेपर भी वह इनसे रहित अर्थात् अव्यक्त ही है। हमलोगोंकी दृष्टिमें वह चित्तवाला प्रतीत होता है, परन्तु वास्तवमें वृत्तियोंका उदय न होनेके कारण वह निश्चित अर्थात् चित्तरहित ही है। कोई-कोई सज्जन '**निश्चित्तः**' के स्थानपर '**निश्चिन्तः**' पाठ मानते हैं। चित्त तो है, परन्तु ज्ञानके पूर्वकालिक दृढ़ अभ्यासके कारण सर्वदा आत्म-चिन्तन ही होता है, कभी सांसारिक वासनाका अभ्युदय नहीं होता। अतः चित्त रहनेपर भी वह निश्चिन्त ही रहता है।

(८)

यः समस्तार्थजातेषु व्यवहार्य्यपि शीतलः।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते॥

जैसे संसारीलोग उत्सव आदिके अवसरपर दूसरोंके घर स्वयं जाकर उनकी प्रसन्नताके लिये अनेकों प्रकारके काम करनेपर भी लाभ, हानि, हर्ष, विषादादिरूप विकारोंसे अभिभूत नहीं होते, उसी प्रकार यद्यपि इसकी दृष्टिमें कोई पराया नहीं है, तो भी समस्त व्यवहारोंको करता हुआ भी उन विकारोंसे मुक्त रहता है, इसका हृदय सर्वथा शीतल रहता है। यह बात नहीं कि वह केवल उन विघ्न-बाधाओंके संतापसे मुक्त रहनेके कारण ही शीतल रहता हो, बल्कि निरन्तर अपने एकरस परिपूर्ण आत्मतत्त्वमें परिनिष्ठित रहनेके कारण ही ऐसा होता है। यही जीवन्मुक्त पुरुषोंके साधारण लक्षण हैं।

ऐसे आत्मनिष्ठ महापुरुषको—जबतक उसका शरीर दीखता है—हमलोग जीवन्मुक्त कहते हैं और उसकी शरण ग्रहण करके अपना परमकल्याण प्राप्त करते हैं। जब उसका शरीरपात हो जाता है तब वह विदेहमुक्त हो जाता है। उसके सम्बन्धमें कुछ कहा नहीं जा सकता।

हाँ, यह जीवन्मुक्तपद वासनाक्षय और मनोनाशपूर्वक तत्त्वज्ञानसे ही प्राप्त होता है। इनमेंसे किसी एकके द्वारा नहीं। सच्ची बात तो यह है कि ये अन्योन्याश्रित हैं—बिना एकके दूसरेकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती। इसलिये बड़ी तत्परताके साथ तीनोंका एक साथ अभ्यास करना चाहिये। निषिद्ध और काम्यकर्मों अथवा कामनाओंका त्याग करके निष्काम और नित्यकर्मोंके अनुष्ठानद्वारा अशास्त्रीय वासनाओंका तिरस्कार करते हुए, भगवद्भजनके द्वारा अशेष वासनाओंका नाश करके मनको भगवदाकार करते हुए, मल-विक्षेपरहित विशुद्ध अन्तःकरणसे तत्त्वपदार्थके श्रवण-मनन-निदिध्यासनद्वारा तत्त्वज्ञान सम्पादन करते हुए आवरण भंग करके

देवर्षि नारद

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव।

जीवन्मुक्तपदकी उपलब्धि करनी चाहिये।

इस प्रकार कर्म, भक्ति, ज्ञानकाण्डोंका सुचारुरूपसे समन्वय हो जाता है और किसी मतवादका खण्डन या विरोध भी नहीं होता। सभीका यथास्थान उपयोग हो जाता है। इस पदको अविवाद और अविरुद्ध कहा गया है। इसी पदमें स्थित व्यक्तिको हमलोग जीवन्मुक्त कहते हैं और उन्हींके चरणोंका आश्रय लेकर हम कृतकृत्य हो सकते हैं।

भागवत संत

(लेखक—आचार्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी)

स मृग्यः श्रेयसां हेतुः पन्थाः सन्तापवर्जितः।
अनवाप्तश्रमं पूर्वे येन सन्तः प्रतस्थिरे॥

संसारका मानवसमुदाय विभिन्न देशोंमें निवास करनेके कारण, उन-उन देशोंके प्राकृतिक नियमोंके अनुसार भाषाभेद, वस्त्रभेद, आहारभेद, व्यवहारभेद आदि होनेसे पृथक्-पृथक् दलोंमें विभक्त हो गया है। इन दलोंमें दो प्रकारके लोगोंका समावेश होता है—एक सारग्राही पुरुष, दूसरे भारवाही मनुष्य। इनमें सारग्राही पुरुषोंकी संख्या अति अल्प या विरल होती है, भारवाही मनुष्य ही अधिक होते हैं। सारग्राही पुरुषोंमें तत्त्वनिष्ठा विशेष होती है, भारवाही मनुष्योंमें चिह्ननिष्ठा प्रबल होती है। सारग्राही पुरुष छोटे-बड़े शास्त्रोंसे चतुरतापूर्वक चारों ओरसे सार (तात्पर्य) ग्रहण कर लिया करते हैं—जिस प्रकार मधुप पुष्पसे मधुका संग्रह कर लिया करता है, जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा है—

अणुभ्यश्च बृहद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥

भारवाही मनुष्य भाषाके शब्दोंको लेकर ही वितण्डावाद करते रहते हैं। जिस प्रकार पशु अपनी पीठपर लदे हुए चन्दनके भारको ही अनुभव करते हैं, उसकी सुगन्धको ग्रहण नहीं करते—उसी प्रकार भारवाही मनुष्य पुस्तकोंके अध्ययनरूप भारको तो वहन करते हैं, किन्तु उनके सारको ग्रहण नहीं कर पाते।

सारग्राही पुरुष सम्प्रदायविहीन अर्थात् पारमार्थिक परम्परासे रहित नहीं होते। वे सम्प्रदायमुक्त होकर भी साम्प्रदायिकता (दलबन्दी)-के दोषसे शून्य होते हैं, वे अपनी सम्प्रदायके चिह्न-उपस्करोंमें निष्ठावान् होते हुए भी अन्य सम्प्रदायके चिह्न-उपस्करोंका उतना ही सम्मान करते हैं जितना कि अपनोंका किया करते हैं। परन्तु भारवाही मनुष्योंमें साम्प्रदायिकताका रोग पूर्णरूपसे होता है, ये अपनी निरी चिह्ननिष्ठाके कारण अपनी सम्प्रदायके चिह्न-उपस्करोंको श्रेष्ठ एवं अन्य सम्प्रदायके चिह्न-उपस्करोंको निकृष्ट समझते हैं। इतना ही नहीं, वे अन्य सम्प्रदायके मनुष्योंको मनुष्य ही नहीं समझते, यहाँतक कि एक सम्प्रदायके मनुष्य अपर सम्प्रदायके मनुष्योंका प्राणवधपर्यन्त घोर कर्म करनेमें भी संकोच नहीं करते।

सारग्राही और भारवाही इन दो महान् प्रभेदोंका कारण मानवप्रकृति ही है। यह दो प्रकारकी होती है—एक मुख्य प्रकृति, दूसरी गौण प्रकृति। मुख्य प्रकृतियाँ सबकी समान होती हैं, गौण प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। जैसे क्षुधा लगना एक मुख्य प्रकृति है; क्योंकि यह सबमें समानरूपसे पायी जाती है—इसमें किसीको कुछ आपत्ति भी नहीं है। क्षुधानिवृत्तिके जो साधन हैं वे गौण प्रकृतिके अन्तर्गत हैं, क्योंकि ये अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भिन्न-भिन्न हैं, और इनमें परस्पर मतभेद भी है। एक मनुष्य दूसरेके भोज्य पदार्थको एवं भोजनके प्रकारके दूषित बतलाता है। यह एक व्यावहारिक उदाहरण है, इसी प्रकार पारमार्थिक विषयमें भी जानना चाहिये। जैसे ईश्वरविश्वासरूप मुख्य प्रकृति सबकी समान है—इसमें कभी कोई आस्तिक एक-दूसरेके प्रति यह आपत्ति उपस्थित नहीं करता कि तुम ईश्वरपर विश्वास क्यों करते हो? ईश्वरके स्वरूप एवं उसकी प्राप्तिके साधन-सम्बन्धी जो विचार हैं वे गौण प्रकृतिके अन्तर्गत हैं, क्योंकि इन्हींमें परस्पर अनेक मतभेद हैं। संसारमें जो कुछ भी अनर्थ हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्यमें होंगे, वे सब गौण प्रकृतिके अवलम्बनसे ही होंगे—मुख्य प्रकृतिके आश्रयसे कभी किसी प्रकारकी अशान्तिकी सम्भावना नहीं है। इन दोनों प्रकारकी प्रकृतियोंमेंसे जो मुख्य प्रकृतियोंका आश्रय करते हैं वे ही सारग्राही होते हैं, और जो केवल गौण प्रकृतियोंका अवलम्बन करते हैं वे भारवाही बनते हैं।

सारग्राही पुरुष ही संसारमें संत नामसे अभिहित होते हैं। इन्हींको साधु पुरुष, सत्पुरुष या महत्पुरुष भी कहते हैं। ये संत पुरुष निष्ठाभेदसे दो प्रकारके होते हैं—एक ज्ञाननिष्ठ, दूसरे भक्तिनिष्ठ। श्रीभगवान्ने गीतामें इन दोनोंमेंसे भक्तिनिष्ठको ही प्रधानता दी है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

अर्थात् तपस्वी, ज्ञानी, कर्मी, इन सबसे बढ़कर योगी है; अतएव हे अर्जुन! तू योगी बन जा। और सब प्रकारके योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् अपनी अन्तरात्माको मुझमें लगाकर मुझे भजता है, वही मेरे मतसे युक्ततम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है।

श्रीभगवान्ने यह भी आज्ञा की है—'**तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः**', अर्थात् ज्ञानी ही सबमें नित्ययुक्त है; किन्तु कैसा ज्ञानी? जो '**एकभक्तिर्विशिष्यते**' अर्थात् अनन्य भक्तियुक्त हो। तात्पर्य यह है कि भक्तिशून्य ज्ञाननिष्ठा श्रीभगवान्को अभिप्रेत नहीं है। इसीसे आपने यह भी आज्ञा की है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

अर्थात् अनेक जन्मोंके अनन्तर जो ज्ञाननिष्ठ पुरुष मेरे शरण होकर यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि 'सब कुछ वासुदेव ही हैं', ऐसा महात्मा अतिदुर्लभ है।

इस प्रकारके भक्तिहेतुक ज्ञाननिष्ठ संतोंकी भक्तिशास्त्रमें एक 'भागवत' संज्ञा भी है, इनका लक्षण श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार वर्णित हुआ है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

अर्थात्—जो समस्त भूतोंमें आत्माके भगवद्भावको देखता है और आत्मरूप भगवान्में समस्त भूतोंको देखता है वह भागवतमें उत्तम है।

इसके अतिरिक्त केवल भक्तिनिष्ठ शुद्ध भागवत संतका लक्षण भी श्रीमद्भागवतमें वर्णित हुआ है—

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

अर्थात् अवश होकर भक्ति करनेवालेके पापोंको भी नाश करनेवाले एवं जिनके पादपद्म प्रेमरज्जुसे बँधे हुए हैं, ऐसे साक्षात् श्रीहरि जिसके हृदयको परित्याग नहीं करते, वह पुरुष भागवतोंमें प्रधान कहा जाता है।

इसमें विशेषता केवल इतनी है कि इसका निजका आयास-प्रयास कुछ नहीं है—इसके हृदयको श्रीभगवान् स्वयं ही नहीं छोड़ते। ये उभय प्रकारके भागवत संतोंके विशेष लक्षण हुए, अब कुछ व्यापक लक्षण भी श्रीमद्भागवतसे ही उद्धृत किये जाते हैं—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः।
अनीहो मितभुक्शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥

श्रीभगवान् उद्धवके प्रश्नके उत्तरमें आज्ञा करते हैं—

संत कृपालु होते हैं—अर्थात् दूसरोंके दुःखोंको नहीं सह सकते।

अकृतद्रोह होते हैं—किसीसे भी द्रोह नहीं करते।

तितिक्षु होते हैं—उत्तम, मध्यम, निकृष्ट, सब प्रकारके देह—धारियोंके अपराधोंको सहन किया करते हैं।

सत्यसार होते हैं—सत्यको ही साररूपसे ग्रहण करते हैं। अनवद्यात्मा होते हैं—असूयासे रहित होते हैं।

सम होते हैं—सुख—दुःखमें उनका समान भाव होता है। सर्वोपकारक होते हैं—यथाशक्ति सबका उपकार करते रहते हैं।

कामसे अक्षुभितधी होते हैं—कामसे उनका चित्त कभी चंचल नहीं होता।

दान्त होते हैं—बाह्य इन्द्रियाँ जिनके वशमें होती हैं।

मृदु होते हैं—चित्त जिनका कोमल होता है।

शुचि होते हैं—पवित्र और सदाचारी होते हैं।

अकिंचन होते हैं—किसी वस्तुका अनावश्यक संग्रह नहीं करते।

अनीह होते हैं—दुष्ट कर्मोंसे रहित होते हैं।

मितभुक् होते हैं—अल्प आहार करते हैं।

शान्त होते हैं—अन्तःकरण जिनका वशमें होता है।

स्थिर होते हैं—अपने धर्मपालनमें दृढ़ होते हैं।

मेरी शरण होते हैं—केवल भगवान्‌का ही आश्रय ग्रहण करते हैं।

मुनि होते हैं—मननशील या विचारवान् होते हैं।

अप्रमत्त होते हैं—सावधान होते हैं।

गभीरात्मा होते हैं—निर्विकार होते हैं।

धृतिमान् होते हैं—विपद्‌में भी उदार रहते हैं।

षड्‌गुणको जीतनेवाले होते हैं—क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु आदिको जीत लेते हैं।

अमानी होते हैं—सम्मानकी इच्छासे रहित होते हैं।

मान देनेवाले होते हैं—दूसरोंका यथायोग्य सम्मान करते हैं।

कल्प होते हैं—दूसरोंको प्रबोध देनेमें चतुर होते हैं।

मित्र होते हैं—किसीसे कपट नहीं करते।

करुणावान् होते हैं—करुणासे ही सब कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं।

कवि होते हैं—पूर्ण ज्ञानी एवं भगवद्‌गुणवर्णनकारी होते हैं।

भागवत संतोंके गुण या लक्षण अनन्त हैं, यहाँ विस्तार—भयसे संक्षेपमें ही लिखे गये हैं। अब इनके संगकी महिमा भी श्रीभगवान्‌के मुखसे ही श्रवण कीजिये। श्रीभगवान् उद्धवसे आज्ञा करते हैं—

अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन।
सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा॥
न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥

अर्थात्—हे यदुनन्दन उद्धव! अब यह परम गुह्य बात सुन। तू मेरा भृत्य है, सुहृद् है, सखा है,अतएव तुमसे गुप्त रखनेके योग्य बात भी कहता हूँ—

अष्टाङ्गयोग, तत्त्वज्ञान, अहिंसादि, या वर्णाश्रमाचाररूप धर्म, वेदपाठ, कृच्छ्र आदि तप, संन्यास, अग्निहोत्रादि इष्ट, कूपादिनिर्माणरूप पूर्त, दानरूप दक्षिणा, उपवासपूर्वक व्रत, देवपूजारूप यज्ञ, रहस्यमन्त्ररूप छन्द, तीर्थोंकी यात्रा, बाह्य इन्द्रियनिग्रहरूप नियम, अन्तःकरणसंयमरूप यम, ये सब सर्वसंगवर्जित मुझे उतनी अच्छी तरह वशीभूत नहीं कर सकते, जैसा कि मैं सत्संगसे वशमें होता हूँ।

संतभावकी प्राप्तिके उपाय

(लेखक—श्री एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री, एम्० ए०)

संत वह है जो संसारके क्लेशोंसे मुक्त हो गया है। सर्दी-गर्मी, हानि-लाभ, जय-पराजय, इनका उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसे न हर्ष होता है और न शोक ही। जीवनकी सफलता और असफलतामें वह सम रहता है। वह संसारमें रहता है पर संसारका होकर नहीं। वह जगत्‌के असली स्वरूपको पहचान लेता है, उसकी दृष्टिमें वह इन्द्रजाल मात्र—मायामरीचिकाकी भाँति प्रतिभास मात्र रह जाता है, वास्तविक नहीं। उसके लिये जगत्‌की निरपेक्ष सत्ता नहीं रहती, नैमित्तिक सत्ता रह जाती है। आत्माको उसके निष्कल एवं निरञ्जन स्वरूपकी उपलब्धि करा देनेके लिये ही जगत्‌की सत्ता है, जिस उपलब्धिके बाद न मोह रहता है न शोक। हमारे अंदर दोष और विपरीत आचरण तभीतक रहते हैं जबतक हम अपने अविनाशी स्वरूपको भूले रहते हैं। इस भूलको हमें ज्ञानके द्वारा मिटाना होगा। यह हमारे लिये कोई विधर्मी वस्तु नहीं है—किन्तु हमारा स्वरूप ही है; इस ज्ञानकी जब हमारे अंदर भलीभाँति प्रतिष्ठा हो जाती है तब बन्धनका सर्वथा अभाव हो जाता है। उपनिषद्‌के शब्दोंमें—जो मनुष्य सदा एकत्वको देखता है उसके लिये न शोक रहता है न मोह। **'तत्र को मोहःकः शोक एकत्वमनुपश्यतः।'**

अज्ञान ही सारे अनर्थोंका मूल है, अतः उसका नाश ही हमारा एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये, हमारी सारी शक्ति इसी काममें लग जानी चाहिये। और ज्ञान ही अज्ञानका सर्ववादिसम्मत प्रतिपक्षी है, इसलिये हमलोग ज्ञान चाहते हैं। जिस तत्त्वकी उपलब्धि हो गयी है, जो बन्धनमुक्त हो गया है उसे ज्ञानी अवश्य होना चाहिये, क्योंकि ज्ञानकी उपलब्धि हो जानेपर उसके प्रधान प्रतिपक्षी अज्ञानका नाश अपने-आप हो जाता है। ज्ञानरूपी अग्निकी धधकती हुई ज्वाला ही अज्ञान और उसके कार्योंको जला सकती है। पुण्य तथा आचरणकी पवित्रता तथा इसी प्रकारके अन्यान्य गुण ज्ञानकी

प्राप्तिमें सहायक मात्र हो सकते हैं, उनसे जिज्ञासा उत्पन्न होती है अथवा अधिक-से-अधिक वे ज्ञानका अंकुर उत्पन्न करनेमें सहायक होते हैं। परन्तु ज्ञानके मुकाबलेमें इनका मूल्य कुछ भी नहीं है। मुक्तिके उपायभूत ज्ञानकी इस महिमाको पढ़नेसे अद्वैत वेदान्तका एक मुख्य सिद्धान्त हमारे सामने आता है, यद्यपि उसे यहाँ कोई अनावश्यक महत्त्व नहीं दिया गया है। अद्वैती यह मानता है कि हम परिच्छिन्न जीवोंके लिये ब्रह्मसाक्षात्कार ही परमपुरुषार्थ है; यह साक्षात्काररूपी ज्ञान अज्ञानका नाश करके अपनेको भी अनन्तमें विलीन कर देता है और हमें भी। उसकी इस मान्यतामें अवश्य ही ज्ञानकी महिमा बढ़ जाती है और मनुष्यजीवनके दूसरे अंगोंका महत्त्व देखनेमें कुछ कम हो जाता है। बन्धनका अर्थ अज्ञान है। अत: ज्ञान प्राप्त कर लेना ही बन्धनसे मुक्त होना है, भाव (feeling) और कर्म ज्ञानके सहायक मात्र हो सकते हैं।

इस तरहका निरा ज्ञानपरक सिद्धान्त सारे अद्वैतियोंको भी मान्य नहीं हो सकता। संतभावका आरम्भ अथवा उसकी परिसमाप्ति ज्ञानमें ही नहीं होती। कर्मी संत हमारे लिये उतने ही आदरकी वस्तु हैं जितना संसारको छोड़कर वनमें रहनेवाले महात्मा; यही नहीं, एक महान् कलाकार अथवा भक्त भी हमारे अंदर उत्तम भावोंको जाग्रत् करनेमें पीछे नहीं रहता। सरसरी तौरपर देखनेसे ऐसा मालूम होता है कि दूसरे सिद्धान्तोंको माननेवालोंकी अपेक्षा अद्वैतीको अधिक उदार होना चाहिये, उसकी यह मान्यता होनी चाहिये कि आगे-पीछे सभीकी मुक्ति हो सकती है, चाहे वे किसी स्थानसे चलें। क्योंकि वास्तविक तत्त्व द्वैतशून्य होनेसे यही समझमें आता है कि कल्याणके लिये सच्चे मनसे किया हुआ प्रयत्न कभी निष्फल नहीं हो सकता। ऐसी दशामें क्या अद्वैतीके लिये यह उचित है कि वह ज्ञानीको कर्मयोगी अथवा भक्तकी अपेक्षा श्रेष्ठ समझे?

अद्वैतके इतिहासमें समय-समयपर ज्ञानभिन्न साधनोंको भी उचित आदर देनेकी चेष्टा की गयी है। उदाहरणार्थ भारतीतीर्थ (विद्यारण्य*)-ने पञ्चदशीके ध्यानदीप नामक प्रकरणमें लिखा है कि निर्गुण परमात्माका श्रद्धापूर्वक गाढ़ ध्यान करनेसे वेदान्तविचारके बिना ही मुक्ति हो सकती है। तत्त्वविचारके मार्गको गीतामें 'सांख्य' कहा गया है और ध्यानके मार्गको 'योग' कहा गया है। गीतामें यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि 'योग' और 'सांख्य' दोनोंका प्राप्तव्य स्थान एक ही है। हाँ, गन्तव्य स्थानतक पहुँचनेमें एक मार्गसे जानेवालेको दूसरे मार्गसे जानेवालेकी अपेक्षा समय न्यूनाधिक लग सकता है। ज्ञानका मार्ग ध्यानके मार्गकी अपेक्षा कुछ जल्दीका है। इस प्रकार मुमुक्षुके लिये मोक्ष-प्राप्तिके एकसे अधिक साधन बतलाकर भारतीतीर्थने मण्डन मिश्रके सिद्धान्तोंका ही विस्तार किया। मण्डन मिश्रने प्रसंख्यान (गाढ़ ध्यान)-की आवश्यकतापर जोर दिया था और यह भी बतलाया था कि शास्त्रोंमें कुछ बातोंपर (उदाहरणत: नित्यकर्मोंकी अवश्यकर्तव्यतापर) अधिक जोर इसलिये दिया है कि जिससे तत्वकी उपलब्धि जल्दी हो सके, न कि इसलिये कि दूसरे लोग उससे वञ्चित रह जायँ। इस प्रकार जिस सिद्धान्तका सूत्रपात मण्डन मिश्रके द्वारा हुआ और भारतीतीर्थने जिसका विस्तार किया उसका पूर्ण विकास मधुसूदन सरस्वतीके हाथों हुआ। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें इस बातको स्वीकार किया कि भक्ति भी ब्रह्मसाक्षात्कारका अन्यतम साधन है। चरम साक्षात्कार ज्ञानके ही रूपमें हो,यह आवश्यक नहीं है, वह भक्तिके रूपमें भी हो सकता है।

मण्डन मिश्र आदि आचार्योंके विचारोंमें जो यह स्वतन्त्रताकी धारा दृष्टिगोचर होती है अद्वैतमतके विचारशील पण्डित उससे भी आगे बढ़ना चाहते हैं। उनके मनमें बार-बार यह प्रश्न आता है कि ज्ञानको भक्ति और कर्मकी अपेक्षा जो अधिक महत्व दिया जाता है वह ठीक है या नहीं। यह मानना कहाँतक ठीक है कि ध्यानकी अपेक्षा ज्ञानसे मुक्ति जल्दी होती है? क्या यह सत्य है कि भक्तिके द्वारा हमें सोपाधिक वस्तुकी ही प्राप्ति हो सकती है, ज्ञानकी तरह उपाधिशून्यकी नहीं हो सकती? जीवनके भिन्न-भिन्न अंगोपर शान्तिपूर्वक विचार करनेसे मालूम होगा कि इनमेंसे किसी भी प्रश्नके उत्तरमें हम 'हाँ' नहीं कह सकते।

पहले हम दूसरे प्रश्नपर विचार करें। यह बात तो

* लेखकके मतमें भारतीतीर्थ और विद्यारण्य एक ही व्यक्ति मालूम होते हैं, किन्तु यह मत सभी विद्वानोंको मान्य नहीं है। अधिक लोग भारतीतीर्थको विद्यारण्यका गुरु मानते हैं, जैसा कि विद्यारण्यके कुछ ग्रन्थोंसे प्रतीत होता है।—सम्पादक

निश्चित मालूम होती है कि भक्तिमें द्वैत रहता ही है। भक्तिके लिये भक्ति करनेवाला मन चाहिये और जिसकी भक्ति की जाय—जिसके स्वरूपकी चित्तपर गहरी छाप पड़ी हो, यहाँ तक कि चित्त उसीके स्वभावका बन गया हो—वह भक्तिका विषय होना चाहिये। जहाँ द्वैत होता है वहाँ हमें सोपाधिक वस्तुकी प्राप्ति होती है, उपाधिशून्यकी नहीं। परन्तु यह बात केवल भाव (Feeling) और कर्मपर ही लागू नहीं समझनी चाहिये, ज्ञानके सम्बन्धमें भी यही बात है। कर्ता और क्रियाफलाश्रय (जैसे द्रष्टा-दृश्य, ज्ञाता-ज्ञेय, ध्याता-ध्येय इत्यादि)-का भेद और परस्परविरोध जैसा भाव और क्रियामें रहता है वैसा ज्ञानमें भी अनिवार्यरूपसे रहता ही है। जिस प्रकार प्रेमी और प्रेमास्पदके बिना प्रेम नहीं हो सकता, कर्ता और प्रयोजनके बिना कर्म नहीं हो सकता, उसी प्रकार ज्ञाता और ज्ञेयके बिना ज्ञान नहीं हो सकता। साथ ही हमें यह भी मान लेना चाहिये कि ज्ञान, भाव अथवा कर्मके स्वरूपको हम केवल कर्ता और क्रियाफलाश्रयके परस्पर विरोध-से ही नहीं समझ सकते। द्वैतके साथ-साथ इनमें द्वैतसे ऊपर उठी हुई अवस्था भी रहती है और यह अवस्था कदाचित् ज्ञानकी अपेक्षा भाव और कर्मके क्षेत्रमें अधिक स्पष्ट होती है। हमलोग सभी यह मान लेनेको तैयार रहते हैं कि भक्ति एक ऐसी अवस्था है जिसमें परस्परविरोधी भाव नहीं रहते अथवा उनका अस्तित्व मिट जाता है। भक्तिको लोग न्यूनाधिकरूपमें जीवनकी एक समरस अवस्था ही मानते हैं। इसी प्रकार कर्मके सम्बन्धमें भी हमें मानना पड़ेगा कि उसके अंदर वर्तमान कर्म और भविष्य कर्म तथा स्वाभाविक कर्म और आदर्श कर्मका भेद जबतक नहीं मिट जाता अर्थात् जबतक आदर्श कर्म हमारे लिये स्वाभाविक नहीं बन जाते तबतक कर्मका रहस्य हमारी समझमें नहीं आ सकता। ज्ञानके सम्बन्धमें भी विज्ञानवादियोंने यह माना है कि किसी वस्तुको 'जान लेना' उससे 'अभिन्न हो जाना' है। परन्तु साधारण बुद्धिके लोगोंको भाव और कर्मकी अपेक्षा ज्ञानराज्यमें द्वैतसे ऊपर उठी हुई अवस्थाको स्वीकार करनेमें अधिक कठिनता होती है। ऐसी दशामें दर्शनशास्त्रके लिये आपातत: यह सम्भव नहीं है कि वह तत्त्वके साक्षात्कारमें भाव और कर्मकी भी उतनी ही उपयोगिता स्वीकार करे जितनी वह ज्ञानकी करता है। अद्वैतका अपरोक्षानुभव जिस प्रकार ज्ञानीको हो सकता है उस प्रकार क्या प्रेमी और कर्मीको नहीं हो सकता?

अद्वैत-सम्प्रदायमें ज्ञानकी ही प्रधानता रही है। मधुसूदन सरस्वती आदिने इसके प्रभावको कम करनेकी चेष्टा की, किन्तु वे पूर्णतया इसके प्रभावसे मुक्त नहीं हो सके। परन्तु उनसे पहले भी ऐसे अद्वैती हो गये हैं जिन्होंने इस बातका अनुभव किया कि ज्ञानसे ही सब कुछ नहीं हो सकता। यदि भावके द्वारा हम सोपाधिक वस्तुकी ही प्राप्ति कर सकते हैं तो ज्ञान भी हमें इसके आगे नहीं ले जा सकता। वाचस्पति मिश्रका कहना है कि ज्ञानके द्वारा भी हमें सोपाधिक वस्तुकी ही उपलब्धि होती है; चरमसाक्षात्कार भी एक वृत्ति ही है और उपाधिशून्य अवस्थामें पहुँचनेके लिये उस वृत्तिसे भी ऊपर उठना पड़ता है। हाँ, इतनी बात ज्ञानके पक्षमें अवश्य कही जा सकती है कि दूसरी सब वृत्तियोंका बाध कर देनेपर इस वृत्तिको किसी बाहरी बाधकी आवश्यकता नहीं होती किन्तु यह स्वयं ही अपना बाध कर देती है। और यह किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि भाव और कर्मकी वृत्तियाँ भी, यदि वे अद्वैतके साँचेमें ढाली जायँ, अर्थात् उन्हें भेदसे हटाकर अभेदकी ओर ले जाया जाय तो वे भी इस प्रकार अपना स्वयं बाध नहीं कर सकतीं। जो प्रेम कामगन्धशून्य है, जिसका विषय कोई पार्थिव अथवा ससीम पदार्थ नहीं है, उसमें भी संकीर्णता, ईर्ष्या अथवा भयके लिये स्थान नहीं रहता; प्रेमी और प्रेमास्पदकी भिन्न सत्ता मिटाकर उन्हें एक बना देना इसका उद्देश्य है, और जहाँतक इस उद्देश्यकी सिद्धि होती है वहाँतक प्रेममें भी संकीर्णता अथवा अनन्यतापर इतना जोर नहीं रहता बल्कि वृत्तियोंसे ऊपर उठनेपर रहता है। जब यह वृत्तियोंसे ऊपर उठनेका भाव स्थिर हो जाता है और केवल किसी अवस्थाविशेषमें अथवा समयविशेषमें ही व्यक्त नहीं होता तभी ब्रह्मसाक्षात्काररूप चरम अवस्था प्राप्त हो जाती है। विहित कर्मके सेवनसे मनुष्यकी वृत्तियोंका अपनी अन्तरात्माके ही साथ नहीं बल्कि उसका जगत्के साथ भी पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। इस सामंजस्यमें देश, काल अथवा दोनोंकी दृष्टिसे कर्ताके संकुचित व्यक्तित्वका बहिष्कार हो जाता है;जब यह बहिष्कार और उसके साथ-साथ आत्मविस्मृतिका भाव स्थिर हो जाता है तब ब्रह्मसाक्षात्कारके

रूपमें मनुष्य विधि-निषेधके ऊपर उठ जाता है। अब बताइये कि भाव और कर्मके क्षेत्रमें ही ऐसी खास बात कौन-सी जिससे उनका सम्बन्ध उपाधिसे हो और ज्ञानका न हो।

इसपर यह कहा जा सकता है कि ज्ञानके लिये ज्ञेय वस्तुका आधार आवश्यक है। ज्ञान किसी ऐसी वस्तुका ही होता है जो वर्तमानमें है, न कि किसी अनागत वस्तुका। क्रियाकी भाँति ज्ञान हमारी इच्छाके अधीन नहीं है, ज्ञान कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे हम कर्तुम्, अकर्तुम् और अन्यथा-कर्तुम् समर्थ हों। प्रमाणरूप साधनके मौजूद रहनेपर प्रमा अर्थात् ज्ञान होगा ही, चाहे वह दुर्गन्ध, अशुभ दृश्य इत्यादि किसी अवाञ्छनीय पदार्थका ही क्यों न हो। ज्ञानकी ज्ञेयाधीनतापर अनावश्यक जोर दिया जाता है। यह सच है कि ज्ञानमें बाह्य पदार्थ बलपूर्वक हमें अपनी ओर खींचता है, परन्तु क्या यह सच नहीं है कि बाह्य उद्देश्य हमें कर्म करनेको भी बाध्य करता है? क्या हमारी यह धारणा कि हम कर्म करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र हैं, बिलकुल नहीं तो अधिकांशमें मिथ्या नहीं है? यह सच है कि हमारा उद्देश्य हमारे लिये आपेक्षिक दृष्टिसे ही बाह्य है, वास्तवमें वह हमारे स्वभावके ही अन्तर्गत है। यदि हमारा स्वभाव दूसरे प्रकारका होता तो हमारे उद्देश्य भी दूसरे ही होते। परन्तु क्या अद्वैती इस बातको स्वीकार कर सकता है कि ज्ञेय पदार्थ ज्ञातासे बिलकुल भिन्न है, जब कि उसे आगे चलकर कभी-न-कभी ऐसी अवस्थाको मानना ही पड़ेगा जहाँ यह ज्ञाता और ज्ञेयका भेद मिट जायगा, और जब कि उसके सिद्धान्तमें शुद्ध भेदका अस्तित्व ही नहीं है? यह भी सत्य नहीं है कि प्रत्येक बाह्य पदार्थ सबके ज्ञानका विषय हो ही। उन अनेक पदार्थोंमेंसे जो इन्द्रियोंके द्वारा हमारे सन्निकर्षमें आते हैं बहुत थोड़े पदार्थ एक ही समयमें हमारे दृष्टिगोचर होते हैं, शेष तो हमारे ज्ञानकी परिधिका स्पर्श मात्र करके रह जाते हैं; हम उसी वस्तुको देखते हैं जिसकी ओर हमारा आकर्षण होता है और जिसके साथ हमारी मनोवृत्ति रहती है। ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं जब कोई ऐसी वस्तु भी हमारे दृष्टिपथमें आ जाती है जो हमें अभीष्ट नहीं होती, हम अपने नेत्रों अथवा कानोंको मूँदकर अथवा इन इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त हुए अनुभवोंपर ध्यान न देकर उनके द्वारा होनेवाले प्रत्यक्ष ज्ञानको रोक सकते हैं और किसी बातपर ध्यान देना हमारी इच्छाशक्तिका कार्य है। इसके अतिरिक्त एक बात सर्व-प्रसिद्ध है कि किसी वस्तुके पूर्वदर्शन (Pre-perception)से उसके प्रत्यक्ष करनेका आधा काम हो लेता है; हमें उसी वस्तुका प्रत्यक्ष होता है जिसका प्रत्यक्ष करनेके लिये हम तैयार होते हैं और जिस वस्तुको देखनेके लिये हम तैयार नहीं होते वह वस्तु बराबर हमारे नेत्रोंके सामने रहे तो भी हमें उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। और यदि हमारे उद्देश्यके स्थिर करनेमें शिक्षा और संगका काफी हाथ होता है तो हमारी ज्ञानशक्तिको नियमित करनेमें भी उसका हाथ कम नहीं होता, यथार्थ ज्ञानके लिये इन्द्रियजन्य अनुभवके साथ मनोयोगकी भी आवश्यकता है और मनोयोगका अभ्यास शिक्षा और साधनासे ही हो सकता है।

कर्मकाण्डके विरोधमें ज्ञानकाण्डकी सृष्टि हुई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कर्मकाण्डके बढ़ते हुए प्रभावको दबानेमें उसे काफी सफलता प्राप्त हुई, परन्तु उसे भी अपनी एकदेशीयताका ज्ञान न रहा। अद्वैततत्त्वको उपलब्ध करनेका ज्ञान भी एक साधन है, इसमें किसीको कोई विवाद नहीं हो सकता। ज्ञानका मार्ग अवश्य ही बड़ा सूक्ष्म है, परन्तु प्रारम्भमें यह जितना ही कठिन है उतना ही चरम अवस्थातक पहुँचते-पहुँचते सरल भी हो जाता है। परन्तु अद्वैतियोंका यह दावा कि तत्त्वकी उपलब्धिका एकमात्र उपाय ज्ञान ही है कदापि ठीक नहीं हो सकता, चाहे वे आग्रहवश ऐसा भले ही मानें। श्रुतियोंमें **'नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय'** (वहाँतक पहुँचनेके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है) इत्यादि जो वाक्य मिलते हैं उनका तात्पर्य अवश्य ही ज्ञानकी प्रशंसामें है परन्तु यह ज्ञान अपरोक्षज्ञान है, परोक्षज्ञान नहीं। और इस अपरोक्षज्ञानको भी **'पन्थाः'** (मार्ग) इसीलिये कहा गया है कि ब्रह्मसाक्षात्कार भी एक दृष्टिसे ब्रह्मका विशेषण होनेके कारण ब्रह्मसे पृथक् ही है। तत्त्वके साक्षात्कारका ज्ञानमार्गियोंने ही ठेका नहीं ले रखा है। सभी प्रकारके योगियोंका, चाहे वे ज्ञानयोगी हों, भक्तियोगी हों अथवा कर्मयोगी हों इसमें समान अधिकार है।

संत या सन्

(लेखक—देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

पण्डितलोग भी कुछ सनकी होते हैं। जिस शब्दका मूल समझमें न आवे तो उसपर कुछ लिखनेको भी आनाकानी करने लगते हैं। अरे भाई! जब लिखने बैठे ही हो तो फिर संतका भी कुछ-न-कुछ मूल निकाल लो। और जब संतपर 'कल्याण' ने अपनी मोहर लगा दी है तब तो फिर कुछ-न-कुछ इसका भी मूल निकालना ही पड़ेगा। संत और महन्त दोनों शब्द ऐसे ही हैं। ये दोनों धार्मिक शब्द हैं, पर संस्कृतमें ये दोनों पाये नहीं जाते। शायद 'सन्' से 'संत' चल पड़ा है और 'महत्' से 'महन्त' निकल पड़ा है। दोनोंकी जमीन(अर्थ) है, और नहीं भी हो तो भी आज संतोंका स्वभाव हो गया है कि कहीं-न-कहीं अपना अखाड़ा जमा ही लेते हैं। संतने सन्की और महन्तजीने महत्की जमीनपर अखाड़ा जमा ही तो लिया। सन्की टीका संत और महत्की टीका महन्त। यह खूब रही! मघवा मूल बिडौजा टीका! इस भाष्यसे तो सूत्र ही अच्छा था। पहले कुछ समझमें तो बैठता था, अब तो संतका सन् और महन्तका महत् कुछ समझमें ही नहीं आता। यही तो संस्कृती पण्डितोंके हथकंडे हैं। सावनके अन्धोंको हरा-ही-हरा सूझता है, इन्हें हर एक शब्दके मूलमें संस्कृत दीखता है। जिन्होंने जन्मभर संस्कृतकी ही आँखें तैयार की हैं उन्हें निर्मूल अर्थ कहते ही नहीं बनता। अस्तु—

मेरे लिये भी संतके अँधेरेमें सत्की लकड़ीका सहारा ठीक मालूम देता है। **'अस्तीति सन्', 'मह्यते इति महान्'**। एक निर्गुण है तो दूसरा सगुण। सन्में कोई विशेष गुण नहीं हैं, पर महान्में अनेक विशेष गुण हैं। एक हलका फूल है तो दूसरा पूरा साढ़े पाँच मन भारी।

'महान्तस्ते समचित्ताः[१] प्रशान्ता[२] विमन्यवः[३] सुहृदः[४] साधवो[५] ये। ये वा मयीशे[६] कृतसौहृदार्थाः'॥

(भाग० स्क० ५)

'अस्तीति सन्'—जो है वह संत, इसमें सिवा सत्वके कोई विशेष गुण नहीं है। और वह सत्त्व (सत्ता) उसका स्वरूप ही है। यद्यपि ये संस्कृती पण्डित लोग पत्थर, वृक्ष, बैल सबको 'सन्' माने बैठे हैं, पर मुझे तो सन्का मतलब यहाँ 'संत' लाना है और वह इनमेंसे एक भी नहीं हो सकता। सन् (संत) एक मनुष्य व्यक्ति है, उसे बैल कर देना बुद्धिका खजाना ही उलट देना है। यद्यपि आग्नेय पशुओंमें पुरुष भी एक पशु है ही, और कुछ इसी अर्थको लेकर श्रीमहादेवको भी पशुपति कहा गया है; पर 'संत' शब्दकी विवेचनामें यह वेदान्तियोंकी समदर्शिता ग्रहण नहीं की जा सकती। हाँ तो अस्तीति सन्को आजकल संत कहते हैं, ऐसा मालूम पड़ता है। संतके सिवा अन्यका होना न होना बराबर है। प्रत्युत हो तो संत ही हो। अन्यथा न होना ही अच्छा है—

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते॥

वही मनुष्य पैदा हुआ कहा जाता है जिसके होनेसे सारा वंश हुआ कहा जाय, अन्यथा परिणामशील जगत्में क्या मरे हुए बच्चे पैदा नहीं होते! जिसका होना ही निर्वचन है वह है सन् (संत)।

असम्पादयतः कञ्चिदर्थं जातिक्रियागुणैः।
यदृच्छाशब्दवत्पुंसः संज्ञायै जन्म केवलम्॥

होनेवाले सब पदार्थोंमें जाति, क्रिया और गुण होते ही हैं। और वे अनागन्तुक (स्वाभाविक) होते हैं। जिसने पैदा होकर अपनी जाति, क्रिया और गुणोंके द्वारा कुछ अर्थ सम्पादन न किया हो उस मनुष्यका जन्म, यदृच्छा (डित्थ) शब्दकी तरह नाम धारण करनेके लिये ही होता है। यद्यपि अनागन्तुक जाति, क्रिया और गुण पशुओंमें भी होते हैं तथापि यह सन्देह है कि उन्हें इनका ज्ञान है या नहीं। यदि उन्हें अपनी जाति, क्रिया, गुण आदिकी समझ वास्तवमें होती तो क्या अभीतक अपने-आप उन्नति न कर सकते थे? मनुष्य अपने-आप अपनी उन्नति करता चला जा रहा है। इसलिये स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव अपनेका उन्हें ज्ञान ही नहीं है। किन्तु मनुष्यमें ज्ञान है और वह सामान्य रहते भी एक विशेष है, जिसके द्वारा पशुओंका पृथक्करण होता है। मनुष्य पशुओंसे पृथक् है, मनुष्यको मनुष्यत्वका निर्वचन और पशुओंसे पृथक्करण देनेवाला यह जन्मसिद्ध ज्ञान-गुण रहते भी उसका स्वरूप ही है। स्वाभाविक स्वरूपभूत गुण कभी-कभी गुण नहीं भी कहे जाते। बोलना यह मनुष्यका स्वाभाविक गुण है और सत्य

बोलना भी वैसा ही है, अन्यथा वह पशु क्यों न कहा जाता। बोलते तो पशु भी हैं ही। इतना होनेपर भी लोग सत्य बोलनेको जो गुण मान रहे हैं यह उनका प्रमाद ही है। वास्तवमें सत्य बोलना भी मनुष्यके स्वरूपमें ही समा रहा है। हिंसा न करें यह मनुष्यत्व (मनुष्यका स्वरूप ही) है, तथापि लोग हिंसा न करनेको गुण माने बैठे ही हैं। '**अपदोषतैव विगुणस्य गुणः।**' जिसमें कोई आगन्तुक गुण नहीं होता उसकी निर्दोषता ही गुण है। और यही वास्तव मनुष्यता है, जिसमें दोष हैं वह मनुष्य कहलानेका अधिकारी नहीं है। बस, आगन्तुक गुणोंके न रहते भी निर्दोषता अर्थात् मनुष्यत्व (स्वाभाविक गुणवत्ता) ही सत्त्व है और उसे ही मैं सन् या 'संत' मानता हूँ। संतका पहला लक्षण है दोषोंका कम होना। बनावटी (आगन्तुक) गुण न होकर भी जहाँ स्वरूपभूत गुण हों वही वस्तुकी वस्तुता है।

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥

अचेतन पदार्थ तो वस्तु रहते भी वास्तवमें वस्तु कहने लायक ही नहीं हैं, इसलिये ब्रह्माने चेतन बनाना प्रारम्भ किया। वृक्षोंमें भी आविर्भूत चेतन है पर बहुत कम। चेतनकी स्वाभाविकता ज्ञान है, जिसमें ज्ञान है वह चेतन है। चेतनोंका निर्माण करते जाते भी उनमें कुछ-न-कुछ दोष मालूम होते रहनेसे ब्रह्माजीका मन भरा नहीं और न बनाना ही पूरा हो सका। किन्तु जब इस पुरुष (मनुष्य)-को बना चुके तब इसे देखकर भगवान् प्रसन्न हो गये। क्योंकि इसमें बनानेवाले सर्वव्यापक आत्मरूप भगवान्को पहचाननेकी बुद्धि स्वाभाविक हुई, आगन्तुक नहीं। वास्तवमें मनुष्यत्व इसे ही कहना उचित है। वृक्षोंसे लेकर मत्स्यपर्यन्त जन्तुओंमें स्वरूपानुरूप ज्ञान है सही, पर विशेषका स्वाभाविक हो जाना किसीमें नहीं है। ब्रह्माको पहचाननेकी बुद्धि मनुष्यमें सबसे विशेष है और वह सामान्य होकर आयी है। प्रसिद्धि ऐसी न रहते भी मछलीमें नीर-क्षीरका विवेक है, और वह उसका ज्ञान विशेष रहते भी स्वाभाविक सामान्य होकर रहा है। तथापि मत्स्यादिमें सर्वव्यापक आत्मरूप पदार्थको पहचाननेका विशेष, सामान्य होकर नहीं आया है। यह मनुष्यकी ही सम्पत्ति है। मनुष्यमें यह ज्ञान विशेष रहते भी सामान्य होकर समा रहा है। मँजे बिना चमक न आवे यह बात दूसरी है, पर सुवर्णमें चमक विशेष रहते भी सामान्य होकर समा रही है। इसलिये हम वास्तविक मनुष्यत्वको ही सन् (संत) कहते हैं। और कहना भी चाहिये। रुद्राक्ष, तुलसी, बाघाम्बर, पीताम्बर आदिसे आगन्तुक चमक-दमक आ जाय यह दूसरी बात है, पर वह विशेष होकर स्वाभाविक और सामान्य नहीं है। संत होनेमें इनकी अपेक्षा वास्तविक मनुष्यत्व रहनेकी बड़ी आवश्यकता है। मनुष्यत्वमें जो कुछ (सब कुछ) समा रहा है वह अन्य किसीमें नहीं है, अतएव वह विशेष है सही, पर उसमें सामान्य या स्वाभाविक होकर समा रहा है। अतएव मनुष्यत्व वास्तविक 'संत' है।

महान् (महन्त) में सत्त्व रहते ही यह बात नहीं। वह साढ़े पाँच मन भारी है, और संतमें कुछ भार है ही नहीं। समचित्ताः१, प्रशान्ताः२, विमन्यवः३, सुहृदः४, और साधवः५, इन पाँच विशेषणोक्त पाँच मनका भार महन्तमें धरा हुआ है। और रहा आधा मन, सो '**ये वा मयीशे कृतसौहृदार्थाः**' है। जैसे ओंकारकी नादरूप अर्धमात्रामें तुरीय होनेसे सारा विश्व समा रहा है, इसी तरह महन्तके भगवत्सौहृद आधे मनमें सारा विश्व समा रहा है। यह सब कुछ है, पर विशेषणोंसे ही स्पष्ट हो रहा है कि वे उसके स्वरूपसे जुदे हैं। महन्तमें जो साढ़े पाँच मनका महत्त्व है वह आगन्तुक मालूम हो रहा है। ब्रह्म कहनेसे स्वरूपमें समायी हुई अनन्तता दीख रही है वह **अनन्तो देवः** कहनेसे भी नहीं मालूम देती। यही संत और महन्तमें भेद है। सन् भी ब्रह्मवाचक है और महान् भी भगवद्वाचक है पर एकमें अपेक्षा है दूसरेमें अपेक्षा नहीं है। सन् त्यागी है महान् त्यागी नहीं है। सत्ता सापेक्ष नहीं है पर महत्त्व आपेक्षिक है। महान् बाह्यकी अपेक्षा रखता है पर सन् (संत) को कुछ नहीं चाहिये। महन्तके स्वरूपदर्शनमें बाह्य वस्तुकी अपेक्षा है पर सन् (हमारे संत) का स्वरूपबल ही उसके निर्वचन करनेमें समर्थ है।

अस्तु, हमारे सिद्धान्तमें मनुष्यत्व ही सन् (संत) है। इस मनुष्यत्व संतमें निर्दोषता और अनेक स्वाभाविक गुण समाये हुए हैं यह सबको विदित ही है। '**सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या**' इस श्लोकमें भी '**तैस्तैरतुष्टहृदयः**' कहकर यही कहना है कि वृक्षादि

बनाते रहनेपर भी निर्दोष न होनेसे भगवान्का हृदय सन्तुष्ट नहीं हुआ। पर पुरुष-विधानके अनन्तर निर्माण बंद हो गया और हृदय सन्तुष्ट हो गया। आत्माको पहचाननेकी बुद्धि यह सर्वश्रेष्ठ स्वाभाविक गुण जन्मसिद्ध है पर वह उद्बोधकके द्वारा उद्बुद्ध होती है। श्रीप्रह्लादको जन्मसे ही भगवान्को सर्वत्र देखनेकी दृष्टि थी यह सबको मालूम ही है। पर नारदजीने उसका उद्बोधन करा दिया।

अतएव कहना होता है कि दोष न होकर लोकोपकारक सत्यादि स्वाभाविक गुण जो मनुष्यत्वमें सम्मिलित हैं वे जिसमें हैं, और सर्वत्र भगवद्बुद्धि है उन्हें वास्तविक 'संत' या 'सन्' कहना उचित है। '**सृष्ट्वा पुराणि**' श्लोकमें सर्वत्र भगवद्दर्शनको ही मनुष्यत्वका सर्वप्रधान विशेष माना है। '**ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः**'। अर्थात् जिसने भगवान्को वस्तुतः न पहचाना उसपर भगवान्का प्रसाद नहीं, और जिसने भगवान्को जितना ज्यादा पहचाना उसपर उतना ही ज्यादा भगवान्का अनुग्रह हुआ। भारतवर्षमें अनेक संत हुए हैं, उन सबने प्रायः भगवान्को पहचाना है। केवल प्रकारभेद अनेक हैं। एक-एक प्रकारसे जिन्होंने भगवान्को जाना है वे तो संत हैं ही परन्तु जिन्होंने सब प्रकारोंसे उसे जान लिया है वे कुछ और ही हैं। किसी कविने कहा है कि—

हम नज़रबाज़ोंसे तू छिप न सका जाने जहाँ।
तू जहाँ जाके छिपा हमने वहीं देख लिया॥

जहाँ है वहाँ उसको देख लेना यह तो ठीक है पर जहाँ नहीं है वहाँ भी उसको देख लेना यह कुछ विशेष है। छुपे हुएको देख लेना यही देखना है।

अन्यथा प्रतिभानं यदुच्चनीचादिभेदतः।
तद्भानं तस्य कर्ता च हरिरेव तथाविधः॥
यत्किञ्चिद् दूषणं त्वत्र दूष्यं चापि हरिः स्वयम्।
विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वमत्रैव शोभते॥

(सुबोधि० भा० स्कं० २)

सत्यो हरिः समस्तेषु भ्रमभातेष्वपि स्थिरः।
अतः सन्तः समस्तार्थे कृष्णमेव विजानते॥
कृष्ण एव सदा सेव्यो निर्णीतः पञ्चधा बुधैः।
शरीरदः प्रेरकश्च सुखदः शेषसत्यदः॥

(सुबोधि० भा० स्कं० १०)

सारे जगत्में वही समा रहा है, सारा जगत् वही है, ऊँचा-नीचा, अच्छा-बुरा, दोष-दोषयुक्त ये सब कुछ वही भगवान् अनेक रूपोंमें फैला हुआ है। पूर्वोक्त ज्ञान और उस समझका करने और करानेवाला भी वही भगवान् है। परस्पर विरुद्ध पदार्थ भी वही है। सर्वभवनसमर्थ भगवान्के स्वरूपमें ही सब विरुद्ध ज्ञान शोभित हो सकते हैं। शुक्तिमें जो रजत दीख रहा है, रज्जुमें जो सर्पका भान हो रहा है वह भी सब भगवान् है और वह भगवान् सत्य और स्थिर है। अतएव संतलोग समस्त पदार्थमात्रमें श्रीकृष्णको ही फैला हुआ देखते हैं। सबको शरीर देनेवाला वही है, सबकी बुद्धिका प्रेरक वही है, सबको सुख पहुँचानेवाला वही है, आद्यन्तमें वही है और मध्यावस्थामें भी सत्य और स्थिर वही समा रहा है। अतएव संतोंने यह निर्णय कर रखा है कि अनन्याश्रयसे सर्वदा श्रीकृष्णकी ही सेवा करना उचित है।

सब वेदोंका सार भी यही है कि—

दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा
महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम्॥

यह* प्रकरण ब्रह्मावलोकधिषणोंका है अतएव

१. अत्र केवललौकिकाः प्रकरणेनैव निषिद्धा अत एव नोच्यन्ते। ब्रह्मविदामेव विचारविषयत्वात्। वैदिकाः सर्व एव ब्रह्मवादिनो भवन्तीति कामनापरत्वं विधिपरत्वं वा ये मन्यन्ते वेदानां ते निन्द्यन्ते प्राणपोषकाः प्राणोपाधिग्रस्ता इति च। अलौकिकप्रकारेणापि सर्वोपद्रवकर्तारस्ते मृतप्राया एव। ये पुनः 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' इति प्रकारेण यज्ञादिभिस्त्वदावरणत्वेन देवतान्तरोपासनां कुर्वन्ति ते त्वदनुविधाः। न तैः परोपद्रवः सम्भवति। महदादिभिः कृते ब्रह्माण्डे तत्र स्थित्वा तैरेव निष्पादितं शरीरं परिगृह्य तेषां तत्स्वामिनो वा येऽनुविधानं न कुर्वन्ति ते कृतघ्नाः। अथ च भगवत्सेवकाः, तेषां सर्वभावेन भगवद्भजनं युक्तमिति वक्तुम्, महदादयोऽपि भगवत्सेवार्थं भगवत्क्रीडाभाण्डं ब्रह्माण्डं ससृजुरिति निरूपितम्। करणेऽपि न स्वतः सामर्थ्यं किन्तु यदनुग्रहादेव अतो भगवच्छेषतया देवतान्तरभजने न कोऽपि दोष इत्यपि सूचितम्।

अत्र देहे पुरुषविधोऽन्वयः। यश्च भगवानन्नमयादिषु चरमः। अस्य पुरुषविधत्वं भगवदन्वयेनैव निरूपितम्। अन्तःस्थितो हि आकारसमर्पको भवति। अतो योऽन्तःस्थित आनन्दं सम्पादयति पुरुषत्वं चैतादृशं (सम्पादयतीत्यर्थः) तं ये न मन्यन्ते ते कृतघ्नाः ये वा भजन्ते तेषां युक्तम्। यथा सर्ववस्तुष्वयं भगवानवशिष्यते तत्पूर्वमुपपादितम्। किं च यदेषु ऋतं तद्भगवानेव। सुबो० भा० स्कं० १०।

एवं सर्वं ततः सर्वं स इति ज्ञानयोगतः। यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिरुत्तमः॥ (तत्त्वदीपनिबन्धः प्रक० १)

केवल लौकिकोंकी—परमेश्वरकी बात तो दूर रही अपने शुद्ध आत्माके भी पहचाननेकी भी विद्या जिनके पास नहीं है,—चर्चा इस जगह नहीं है। किन्तु जो लोग वेदोंको परम प्रमाण मानते हैं उन्हें तो एक भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये यह सब तरहसे सिद्ध है।

कितने ही वेदोंको विधिपरक मानते हैं और कितने ही कामनापरक। विधिपरक माननेवाले कहते हैं कि '**यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्**' इत्यादि श्रुतियाँ निष्काम कर्म करनेकी आज्ञा देती हैं। और यही बात भगवान्‌ने भी कही है कि '**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**'—'कर्म करनेका ही तुम्हारा अधिकार हो सकता है। किसी भी फलपर तुम्हारा जोर नहीं है' क्योंकि भगवान्‌ने अपनी क्रीडाके लिये विश्वकी रचना की है, और कामनापरक माननेवाले वैदिकोंका कहना है कि कोई काम निरर्थक नहीं किया जा सकता, यज्ञादि कर्मोंका भी कुछ-न-कुछ फल मिलना ही चाहिये। अतएव वेदोंमें तत्तत्स्थलोंमें अनेक तरहकी कामनाएँ कही गयी हैं। किन्तु निर्णायक श्रुतिस्तुति कह रही है कि ये दोनों वैदिक हैं, ब्रह्मवादी हैं, ये ठीक हैं, पर यदि ये '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**', '**ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः**' इत्यादि निर्णायक वाक्यानुसार भगवान्‌का ही पूजन-सेवन करते हैं, यज्ञफल, यज्ञसाधन आदिको भगवत्स्वरूप समझकर भगवदर्थ ही यज्ञादि करते हैं, तब तो ये सब भगवद्भक्त (अनुविधाः) ही हैं अतएव उनकी तरफसे किसीपर उपद्रव होनेकी सम्भावना नहीं है। वे लोग एक तरहसे भगवत्सेवा ही कर रहे हैं। किन्तु वे यदि यज्ञादि पूर्वोक्त रीतिसे नहीं करते, केवल विधि है इसलिये, किंवा अपनी कामनाओंके वश होकर करते हैं, तो फिर वे प्राणोंका पोषण करनेवाले ही हैं और प्राणोपाधिग्रस्त हैं अतएव खालकी धोंकनीके समान जीवन धारण करते हैं। फलतः और साधनतः परपीडा करनेवाले ही हैं। लुहारकी धोंकनी ठंडोंको ताप देनेवाली और धोंकनेवालेको श्रममात्र देनेवाली है। वह जैसे निर्जीव है वैसे वे भी जीवन्मृत हैं। श्रुतिका कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि भले कर्मठ हैं तथापि उनका भी यही कर्तव्य है कि देह देनेवाले परमपिता भगवान्‌की कर्मके द्वारा भी सेवा करें। यदि न करें तो वे कृतघ्न हैं।

कितनोंका कहना है कि वेदोक्त यज्ञयागादि, विविध देवगणोंकी उपासना है। ठीक है, ऐसी अवस्थामें कर्मठ हों चाहे देवोपासक हों दोनोंका देवाराधन कर्तव्य है, पर यदि वह भी भगवदनुविध होकर हो तो सत्य है, अन्यथा नहीं। सब देवगण तत्त्वोंके अधिष्ठाता हैं। महत्तत्त्व, अहंकार आदि तत्त्वोंके द्वारा यह ब्रह्माण्ड बना है। और ब्रह्माण्डके ही छोटे-छोटे रूप पिण्ड (मनुष्यशरीर) हैं। जिन देवोंने अपना शरीर तैयार किया और उनके ही दिये ब्रह्माण्ड और शरीरमें रहकर उनका पूजन न करना बड़ी कृतघ्नता है। उनको उनकी उपासना करनी ही चाहिये, पर भगवदनुविध होकर। तत्त्वाधिष्ठाता देवगणोंने जो ब्रह्माण्डका निर्माण किया है सो अपने सामर्थ्यसे नहीं। किन्तु सर्वेश्वर भगवान्‌की ही सामर्थ्यसे और उसके ही अनुग्रहसे। अतएव वहाँ भी भगवान्‌को ही विद्यमान समझकर उपासना करनी उचित है। इससे यह भी सूचना होती है कि जो खास भगवान्‌के ही उपासक हैं वे भी यदि पूर्वोक्त देवगणोंकी भगवत्सेवक किंवा भगवदवयव समझकर उचित सेवा-सत्कार करें तो किसी तरहका दोष नहीं होता। महदादि तत्त्वोंने ब्रह्माण्डका निर्माण भगवत्सेवाके लिये किया है अतएव वे भी भगवत्सेवक ही हैं। और भगवत्सेवकोंका धर्म है कि भगवान्‌का सर्वभावसे भजन करें, देवतान्तर भी भगवान्‌का ही रूपान्तर (भावान्तर) है अतएव भगवदीय-रूपसे किंवा अवयवरूपसे भगवद्भक्त लोग भी यदि देवतान्तरका भजन करें तो दोष नहीं। इसलिये कर्मठोंको, उपासकोंको सब तरहसे भी भगवान्‌के भक्त होकर रहना उचित है। तभी उनका प्राणधारण करना सार्थक है अन्यथा वे मृतप्राय परतापकर्ता और कृतघ्नी कहे जायँगे।

एक तीसरा और भी कारण है। इस देहमें पुरुषविध आनन्द भगवान्‌का अन्वय (व्याप्ति) है। और पूर्व-पूर्वकी पुरुषविधता आनन्दमय भगवान्‌पर ही निर्भर है। जब स्वरूप और धर्म दोनों भगवान्‌पर ही निर्भर हैं तब उनका भजन करना यह जीवका अवश्य कर्तव्य है। तैत्तिरीयोपनिषद्‌की आनन्दवल्लीमें पाँच पुरुषोंका निरूपण है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। इनमें आनन्दमय मूल पुरुष है, पुरुषोत्तम है। इसकी पुरुषतासे पूर्व-पूर्व पुरुषोंकी पुरुषता है। यह यदि पुरुषाकार न हो तो इसके ऊपर रहनेवाले पुरुष, पुरुष कभी नहीं रह सकते। और इसी प्रकार इसका आनन्द ही सबमें पुहा हुआ है। '**को हि एव अन्यात्**'

इस श्रुतिके अनुसार अन्नमयादि पुरुषोंका जीवन ही आनन्दमयकी नित्य सत्तापर निर्भर है। अतएव सबको इस आनन्दमय भगवान्‌का भजन करना और इसे अच्छी तरह समझ लेना अवश्य चाहिये।

सबके पीछे बाकी रहे वही वस्तुतत्त्व है यह तो सिद्ध है। '**शिष्यतेऽशेषसंज्ञः**' इत्यादि वाक्योंसे यह सिद्ध हो चुका है कि भगवान् ही सबका शेष वस्तुतत्त्व है अतएव उसे ही जानना आवश्यक है और उसीका सेवन करना उचित है, और इन वर्तमान दृष्ट-श्रुत पदार्थोंमें सत्य भगवान् है यह भी सिद्ध हो चुका है। इसलिये सब प्रकारोंसे जानने और भजन करनेयोग्य भगवान् पुरुषोत्तम ही हैं। और इस प्रकार सबमें उसको और सब कुछ उसको ही जानकर सर्वात्मभावसे जो उसका भजन करते हैं वे सब 'संत' हैं। **हरिः ॐ शम्।**

संतोंकी रहनी

(लेखक—पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी, एम्०ए०, एल्-एल्०बी०)

वास्तवमें उच्चकोटिके महात्माओंकी मानसिक स्थिति अथवा पहुँचका पता लगाना सर्वसाधारणके लिये एक असम्भव-सी बात है। हमें अधिक-से-अधिक उसका केवल आभासमात्र हो सकता है और इस बातके लिये भी उनके आचार-व्यवहारका ही सहारा लेना हमारे लिये अनिवार्य है। बड़े-बड़े संतों-महात्माओंके आचार-व्यवहारके जानने या समझनेका प्रयत्न करना हमारे लिये इस दृष्टिसे भी महत्त्वपूर्ण है कि अपनी दैनिकचर्यामें हमलोग बहुधा समस्याओंके आनेपर महापुरुषोंके कृत्योंकी ओर ही दृष्टि डाला करते हैं और विश्वास रखते हैं कि उनके मार्गोंका अनुसरण, वैसी स्थितिमें हमारे लिये अवश्य लाभदायक होगा। यह सम्भव है कि कभी-कभी परिस्थितिका सम्यक् ज्ञान अथवा उनके व्यवहारोंकी वास्तविक पहचान न होनेके कारण हमें हानि भी उठानी पड़ जाय, किन्तु फिर भी ऐसा करना सुलभ और श्रेयस्कर अवश्य समझा जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें कथित महापुरुषोंकी परिभाषा या पहचान अथवा योगवासिष्ठादि ग्रन्थोंमें बतलाये गये जीवन्मुक्तोंके वर्णन प्रायः उसी प्रकारके हैं जिस प्रकारके विवरण हमें संतसाहित्यमें संतों वा साधुओंके लक्षणोंमें मिलते हैं। गीतामें भक्त या गुणातीत उसे कहा है 'जिससे लोग ऊबते नहीं या कष्ट नहीं पाते, और जो लोगोंको भी नहीं खलता, जो हर्ष-खेद, भय-विषाद, सुख-दुःखादि बन्धनोंसे मुक्त है, सदा अपने-आपमें सन्तुष्ट है, जिसका अन्तःकरण त्रिगुणोंसे चंचल नहीं होता, जिसके लिये स्तुति-निन्दा मान या अपमान एक-से हैं तथा जो प्राणिमात्रके अन्तर्गत आत्माकी एकताको परखकर साम्यबुद्धिसे आसक्ति छोड़कर धैर्य और उत्साहसे अपना कर्तव्यकर्म करनेवाला अथवा समलोष्टाश्म-काञ्चन होता है' और ये लक्षण कबीर, दादू आदि संतोंद्वारा बतलायी गयी साधुओंकी पहचानसे अधिकांशमें मिलते-जुलते हैं। परन्तु संतों—साधुओंकी शारीरिक एवं मानसिक दशा तथा उनके आचार-व्यवहारादि वर्णन करते समय जो साधारण प्रकारके ब्यौरे स्पष्ट किये गये हैं उनमें बहुत कुछ भिन्नता भी पायी जाती है, जिसका कारण कदाचित् उक्त दोनों प्रकारके महापुरुषोंके प्रारम्भिक जीवन, सामाजिक परिस्थिति,मानसिक योग्यता आदि गौण बातोंमें ढूँढ़नेपर मिल सके। कम-से-कम इतना अवश्य है कि शास्त्रीय प्रणाली वा मर्यादाके अनुसरण करनेवाले और स्वभावतः विकसित मनोवृत्तिके साथ काम करनेवाले व्यक्तियोंके दृष्टिकोणोंमें बहुत कुछ साम्य रहते हुए भी उनकी कार्यपद्धतियोंके निर्वाहमें अन्तर पड़ ही जाता है। इसके सिवा केवल ज्ञानमार्ग या केवल भक्तिमार्ग अथवा इन दोनोंमेंसे किसी एकको प्रधान और दूसरेको गौण मानकर चलनेवाले महात्माओंकी विचार-धाराओंसे उन संतोंके वचनोंका मेल खाना अनेक अंशोंमें कठिन होता है जो उक्त दोनों मार्गोंका सामञ्जस्य अपने मतमें एक अनोखे ढंगसे करते हैं और जिनके लिये प्रायः कोई भी निश्चित नियम एक प्रकारसे लागू नहीं। संतोंके सामने केवल कर्त्ता, गुरुदेव तथा पूर्ण संतमात्र ही अपने इष्ट और आदर्श हैं और उन्हींपर निर्भर रहना उनका कर्तव्य है।

कबीरने साधूको '**प्रतषि देव**' अथवा प्रत्यक्ष भगवान्‌रूप माना है और कहा है कि साधूकी देह निराकारकी आरसी है जिसमें जो चाहे वह अलखको अपनी आँखों देख सकता है तथा साधू और 'साहिब'

इन दोनोंके साथ मिलनेमें कोई भी अन्तर नहीं क्योंकि ये दोनों ही '**मनसा वाचा कर्मणा**' तीनों प्रकारसे एक और अभिन्न हैं। संतोंकी दशा वर्णन करते समय वे कहते हैं कि आत्मप्रत्यय हो जानेपर उनकी स्थिति 'अनिन' या अभूतपूर्व हो जाती है। वे ***'तन षीणाँ मन उनमनाँ'*** और ***'जग रूठड़ा फिरंत'*** अर्थात् दुर्बल शरीर और उदासीन बने हुए संसारसे रूठे हुएके समान घूमते फिरते हैं। उनकी दृढ़ टेक है कि 'रात्रिमें दीख पड़नेवाले तारोंके समान मेरे शत्रु चाहे अगणित ही क्यों न हो, धड़ सूली एवं सिर कंगूरेपर क्यों न रखे हों, किन्तु फिर भी मैं तुझे किसी भी प्रकार भूल नहीं सकता।' वे अपने साहिबकी सेवामें सदा बेपरवा बने रहते हैं तो भी रामके अमलमें माते रहनेके कारण इन्द्रको भी रंकवत् ही समझते हैं। साहिबका रंग उनके अभ्यन्तरमें इस प्रकार जम जाता है कि उनका बाहरी रंग-ढंग पागलोंका-सा दीख पड़ने लगता है और वे अपने मालिकके हाथोंमें अपनेको उन यन्त्रोंकी भाँति बना डालते हैं जिन्हें वह चाहे जिस प्रकार भी बजा सकता है। दादूका कहना है कि संत अपने मालिकको सब कहीं विराजमान देखता है। उसके लिये वह विश्वके मूलमें है और अपने अनुभवका भी मुख्य शिलाधार है। वह सदा अपने प्रियतमके लिये बेचैन रहता है किन्तु तो भी उसके निकट सदा शान्ति विराजती है क्योंकि कुम्हारके चाककी भाँति चलनेवाले संसारमें वही एकमात्र निश्चल है और उसके यहाँ जलती-बलती भी आत्मा आकर सरोवरकी भाँति शीतलता ग्रहण कर लेती है।

धरनीदास कहते हैं कि हरिजन नखसे शिखरपर्यन्त शीतल रहता है। उसकी मानसिक दशा ठीक उसी प्रकार होती है जैसे सोकर यकायक उठनेवालेकी; उसके विश्वासकी यह दशा है कि गुरुवचनानुसार हरिको वह संसारके बाहर और भीतर सब कहीं एक ही प्रकार वर्तमान समझता है। वह किसी भी दूसरेके यहाँ नहीं जाता और प्रत्येक क्षण उल्लाससे भरा हुआ दीख पड़ता है। हाँ, यह अवस्था हरिकी कृपासे विरले मनुष्यकी ही होती है। उसके न्यारे पन्थका वर्णन करते हुए वे एक स्थलपर यह भी बतलाते हैं कि भगवान्‌के ये प्रियपात्र अपने किसी भी सम्बन्धीसे सम्बन्ध नहीं रखते, काम-क्रोधादिका त्यागकर शील और सन्तोष धारण कर लेते हैं और सदाके लिये कर्मके मूल बीजको भून-सा डालते हैं, वे सदा साईंके रंगमें ही रँगे रहते हैं और राजा हो या रंक सब किसीसे तोल-तोलकर ही बातें करते हैं, न तो उसे किसीसे वैर होता है न किसीसे प्रेम ही दिखलाते हैं बल्कि केवल एक प्यारेके ही प्रेममें पगे हुए सब कहीं डोलते फिरते हैं। जैसे—

छोड़े सुत नारी तात मात भ्रात गोत नात,
झूठ ना सोहात बात कै बिबेक बोलहीं।
काम क्रोध बोध भये सील व संतोष लये,
कर्मबीज भूँजि बोये कायामें कलोलहीं॥
'धरनी' हिये सुहाते साईंके सुरंग राते,
राव रंकते निसंक तौलि तौलि बोलहीं।
काहू ते न वैरता न काहूते सनेह नेह,
प्यारेकी पियारे ते निरारे पंथ डोलहीं॥

इसी प्रकार दादूदयालने भी इन संतोंकी रहस्यमयी भक्तिका अपने ढंगसे वर्णन किया है। वे कहते हैं कि—

भगति भगति सब कोइ कहै, भगति न जानै कोइ।
'दादू' भगति भगवंतकी, देह निरंतर होइ॥
सबदैं सबद समाइ ले, परमातम सौं प्रान।
यहु मन मन सौं बाँधि ले, चित्तैं चित्त सुजान॥
भाव भाव समाइ ले, भगतैं भगति समान।
प्रेमैं प्रेम समाइ ले, प्रीतैं प्रीति रसपान॥
सुरतैं सुरति समाइ रहु, अरु बैनहुँ सौं बैन।
मनही सौं मन लाइ रहु, अरु नैनहुँ सौं नैन॥

अर्थात् 'भक्ति-भक्ति सभी कहा करते हैं, किन्तु भक्तिका तत्त्व कोई भी नहीं जानता। भगवान्‌की भक्ति वास्तवमें देहके ही भीतर निरन्तर होती रहती है। उसके संगीतमें परम शब्द लीन हुआ रहता है और परमात्मामें उसका प्राण बसता है। मनमें मन तथा चित्तमें चित्त बँधा रहता है और इसी भाँति भावमें भाव, भक्तिमें भक्ति, प्रेममें प्रेम एवं प्रीतिमें प्रीति संनिहित रहती है। सुरतिके अन्तर्गत सुरति, बैनमें बैन, मनमें मन तथा नैनमें नैन सदा मिलाये रहनेसे ही वास्तविक भक्तिका पता चलता है।'

कबीरने भी ऐसी ही अलौकिक अवस्थाको सहजसमाधिके नामसे अभिहित किया है। वास्तवमें सच्चे संत या साधूके लिये, उनके अनुसार, यही सबसे ऊँची और स्वाभाविक अवस्था है जहाँ आदर्श महात्माकी

ही पहुँच हो सकती है। वे कहते हैं—

साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिनते जागी, दिन दिन अधिक चली॥ १॥
जहँ जहँ डोलौं सो परिकरमां, जो कछु करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दंडवत, पूजौं और न देवा॥ २॥
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन, खाँव पियौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा॥ ३॥
आँख न मूँदौं कान न रुँधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि सुंदर रूप निहारौं॥ ४॥
सब्द निरंतरसे मन लागा, मलिन बासना त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै, ऐसी तारी लागी॥ ५॥
कहैं 'कबीर' यह उनमुनि रहना, सो परगट करि गाई।
दुख-सुखसे कोइ परे परमपद, तेहि पद रहा समाई॥ ६॥

वास्तवमें यह दशा संतोंकी रहनीकी पराकाष्ठा है।

संतोंके सर्वमान्य लक्षण

(लेखक—पं० श्रीचैनसुखदासजी जैन, न्यायतीर्थ)

संत उन्हें कहते हैं जो पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणाको छोड़कर अपने आध्यात्मिक उत्थान एवं जगत्-कल्याणके पवित्र अनुष्ठानोंमें सतत लगे रहते हैं। उनको ऐहलौकिक जीवनकी अपेक्षा पारलौकिक जीवनपर अधिक श्रद्धा होती है। वे '**आत्मनःप्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**' के सिद्धान्तका अक्षरशः पालन करते हैं। सच बात तो यह है कि इसका पालन ही उनके जीवनका ध्येय होता है। वे ज्ञानकी अपेक्षा आचारका मूल्य बहुत अधिक समझते हैं। कीर्ति-कामना और पद-प्रतिष्ठाका लोभ उनके नजदीक बहुत तुच्छ है क्योंकि इससे अहंकार प्रकट होता है। वे दीर्घजीवनकी कामना न कर पवित्र जीवनकी अभिलाषा रखते हैं, फिर चाहे वह कितना ही अल्प क्यों न हो।

ऐसे संतोंका अवतार तब होता है जब जगत्‌को उनके सहयोगकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। वे अपने लिये नहीं किन्तु जगत्‌के लिये ही जीते हैं। विश्वके प्राणिमात्रमें मैत्री, गुणियोंमें प्रमोद, दुःखियोंमें दया और विपक्षियोंमें माध्यस्थ भाव रखना उनके जीवनकी विशेषता है। उनके नजदीक काँच-कंचन, महल-मसान, तलवार-पुष्पहार और शत्रु-मित्र सब ज्ञेय हैं, हेय और उपादेय नहीं। क्योंकि हेय और उपादेयकी कल्पना बिना रागद्वेषके नहीं होती और वे पूर्ण वीतरागी होते हैं।

संतोंमें साम्प्रदायिकता नहीं होती क्योंकि वे समझते हैं कि साम्प्रदायिकताके किलेमें कैद होनेसे विश्वमें विस्तृत सत्यके कणोंको एकत्रित नहीं किया जा सकता अथवा उन्हें व्यापक सत्यके अविकल दर्शन नहीं हो सकते। आत्मविकासके लिये साम्प्रदायिक बुद्धिकी भयंकरताका अनुभव उन्हें अच्छी तरहसे हो जाता है इसलिये वे सूर्यके समान चारों ओरसे रस खींचनेमें तत्पर रहते हुए अपनी प्रकाशधाराको सब ओर फैलाना ही अपना कर्तव्य समझते हैं।

संत कभी किसी कार्यको आसक्तिसे नहीं करते। उनके सारे कार्य निष्काम होते हैं। वे काम बहुत करते है पर आत्मश्लाघासे बहुत दूर रहते हैं। बड़ी-बड़ी बातें करना वे बहिरात्माओंका काम समझते हैं। वे अन्तरात्मा होना ही आपने जीवनका लक्ष्य मानते हैं जिससे कि जल्दी ही परमात्म-पदको प्राप्त हो जायँ। जिनका उनकी चिन्तनासे कोई सम्बन्ध नहीं ऐसे दूसरोंके कार्यों और वचनोंके आलोचनाके फेरमें वे कभी नहीं पड़ते। इसीसे वे पूर्ण शान्तिको प्राप्त करनेके योग्य बन जाते हैं। बाह्य सुविधाओंको तुच्छ समझकर उन्हें प्राप्त करनेके लिये वे कभी चिन्तित नहीं होते।

वे दुःखोंकी चट्टानोंके बीच रहकर भी आत्माके सत्, चित् और आनन्दस्वरूपका सदा अनुभव करते रहते हैं। कठिनाइयों और यातनाओंके विषको घोलकर वे इस तरह पी जाते हैं कि उसका उनपर कुछ भी बुरा असर नहीं होता। यही कारण है कि जगत्‌की कोई भी प्रतिकूल स्थिति उन्हें क्षुब्ध नहीं कर सकती। वे विश्वके प्रत्येक पदार्थको सदा अपने अनुकूल ही अनुभव करते हैं। जब वे अन्तःकरणकी सम्पूर्ण गहराईमें ईश्वरको बिठाकर निमग्र हो जाते हैं तब जगत्‌का प्रलय भी उनपर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। वे अपने-आपमें इतने अधिक डूब जाते हैं कि वासनाओंका मैल कभी उन्हें छू भी नहीं सकता। संतोंकी वाणी त्रिकालाबाधित होती है क्योंकि वे उसी वाणीके द्वारा दुनियाँको धर्मका मूलतत्त्व समझाते हैं। वे दुनियाँके हृदयोंमें रहनेवाली बुराइयोंके मूलपर ही कुठाराघात करते हैं। वे इसीमें अपनी प्रसन्नता समझते हैं कि उनके सामने आनेवाले

दुनियाँके लोग दिन-दिन नैतिक विकासकी ओर आगे बढ़ रहे हैं। उनके कर्तव्यमार्गमें जो काँटे आते हैं उन्हें वे कुचलते नहीं किन्तु फूलोंके समान उठाकर उनको भी अपने सिरपर ही रखना चाहते हैं क्योंकि वे अनुभव करते हैं कि ये काँटे ही उनके उत्साह और स्फूर्तिको दूना बढ़ा रहे हैं।

वे जीवनभर एक लड़ाई लड़ते रहते हैं। उनकी यह लड़ाई बुराइयोंके साथ होती है। कभी-कभी विपत्तियोंकी फौज इकट्ठी होकर एक ही साथ उनपर हमला कर देती है और उस समय कोई भी समवेदना प्रकट करनेवाला नहीं मिलता, फिर भी वे जीवनके अन्ततक लड़ते ही जाते हैं। देवों और राक्षसोंके युद्धका रहस्य क्या है? इसके अन्तर्निहित गूढ़ रहस्यको केवल वे ही जानते हैं। इस जीवनयुद्धमें अन्ततक लड़नेके बाद विजय उन्हें ही प्राप्त होती है। स्वर्ग उनके पैरोंमें आकर लोटता है पर वे कभी उसकी ओर ध्यान ही नहीं देते, क्योंकि उन्होंने अनुभव कर लिया है कि स्वर्ग भी जगत्‌की एक नाशवान् विभूतिमात्र है।

आपदाओंका जितना स्वागत संतोंके यहाँ होता है उतना किसी दूसरी जगह नहीं होता। जब उनका द्वार हर किसीके लिये खुला रहता है तब आपदाएँ भी वहाँ स्वागत क्यों न पायेंगी, किन्तु वे कभी इनसे हताश नहीं होते बल्कि अपने अधिकृत पथपर वीरके समान चलते रहते हैं। दोनों बगलों और पीछेकी ओर क्या हो रहा है इसकी तरफ ध्यान देनेकी उन्हें विशेष आवश्यकता नहीं होती। निन्दा और प्रशंसाके चेतनाहीन शब्द कहाँ-कहाँसे आ रहे हैं इसपर ध्यान देनेकी उन्हें कभी इच्छा ही नहीं होती, और न कभी अवकाश ही मिलता है।

अभिलषित मार्गमें चलते हुए जब कोई प्रलोभन उनके सामने आकर खड़ा हो जाता है तो वे उससे डर नहीं जाते और न मोहित ही होते हैं किन्तु ज्ञानका अंकुश लेकर उसके सिरपर ऐसा आघात करते हैं कि वह क्षणभर भी वहाँ जीवित खड़ा नहीं रह सकता। उनकी नैया जब कर्तव्यके अगाध समुद्रमें तीव्र गतिसे चलती है तब प्रलोभनोंके तूफान आते तो हैं किन्तु वे कर कुछ नहीं सकते क्योंकि नैयाका खेवयिया इतना चतुर, उदार और मनस्वी होता है कि उसके प्रभावसे तूफानोंको मरते देर नहीं लगती।

जब पृथ्वी नरक हो जाती है, उसपर पाशविकताका प्रतिबन्धहीन नग्ननृत्य होने लगता है और बुराइयोंका शैतान जब मानवसमाजकी छातीपर खड़ा होकर उसका कचूमर निकालनेको तैयार हो जाता है तब ऐसे ही संतोंका मंगलमय और वाञ्छनीय अवतार होता है। वे अवतीर्ण होकर अपनी सारी शक्तिसे धराके भारको उतारकर उसके संकटको दूर करते हैं। पतितोंको पावन बनाना और अधमोंका उद्धार करना ऐसे ही संतोंका कार्य होता है। प्रत्येक संतके इतिहासमें हमें यह बातें देखनेको मिलेंगी।

संतके जीवनके एक-एक क्षणका मूल्य कितना है, वाणी इसको नहीं आँक सकती। अगर दुनियाँमें संत न होते तो जगत्‌की जो अवस्था होती उसकी कल्पना भी मनुष्यके लिये बहुत भयंकर है। संत सबके प्यारे होते हैं। राजा-रंक, पशु-पक्षी, मूर्ख-विद्वान्, धनी और निर्धन सभीके लिये संत एक ही वस्तु हैं। क्योंकि उनके मन कोई भी पराया नहीं है।

यह संतोंके संक्षिप्त लक्षण हैं। उनकी सारी गुणगाथा तो स्वयं बृहस्पति भी नहीं गा सकते। भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध और परम दयालु ईसा आदि सब इसी कोटिके संत थे। इनके पवित्र नामोंसे दुःख दूर होते हैं और वासनाएँ भाग जाती हैं; इसलिये हमारा कर्तव्य है कि हम इनका नामोच्चारण करें, इनका जीवनवृत्तान्त पढ़ें और जितना अधिक हो सके इन्हींके पदचिह्नोंपर हम अपने-आपको भी ले जानेकी चेष्टा करें।

स्वयं संत बननेका प्रयत्न करो

(लेखक—डॉ० श्रीदुर्गाशंकरजी नागर)

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥
(भर्तृहरि)

'मनमें, वचनमें और कायामें पुण्यका पीयूष (अमृत) भरा हुआ हो, तीनों भुवनके उपकारकी श्रेणियोंसे ही जो सदा परम प्रसन्न और तृप्त रहते हों, दूसरोंके परमाणु-समान गुणोंको पर्वतके समान मानते हों, अपने हृदयमें सदा प्रफुल्लित रहते हों, ऐसे संत कितने हैं?'

संत पुरुषकी परीक्षा बाह्य चिह्नोंसे नहीं होती। उनके अन्त:करणमें विकारोंका नितान्त अभाव होता है। अनुकूल मनुष्योंके प्रति न उनमें राग होता है और न प्रतिकूलके प्रति द्वेष होता है। इनके समीप आनेवाले अनेक दोषवान् प्राणियोंके दोष स्वत: दूर हो जाते हैं। इनमें शुद्ध सत्त्वबलका बाहुल्य होता है। विरोध करनेवाले मनुष्योंके राजस-तामस संस्कार निर्मूल हो जाते हैं। किन्तु ऐसे महापुरुष हर जगह नहीं होते।

किसी भी हेतुसे किसी भी कालमें इनके अन्त:करणमें विकलता नहीं प्रकट होती। खान-पानादि भोग उनकी वृत्तिमें लालसा नहीं उत्पन्न कर सकते। क्षमा, उदारता, दया, स्थिरता, शम, दम, तितिक्षा, शान्ति, विराग, विवेक, सरलता, मनोजय, निरभिमानता और परोपकारिता, ये महान् लक्षण ही संत पुरुषोंकी अलौकिक सम्पत्ति हैं।

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्त:।
तीर्णा: स्वयं भीमभवार्णवं जनान्
न हेतुनान्यानपि तारयन्त:॥

'शान्त साधु-संत पुरुष वसन्त ऋतुके समान जगत्‌हितका आचरण करते हुए जगत्‌में विचरते हैं। स्वयं वे मुक्त हैं और संसारके बद्ध जीवोंको संसारसमुद्रसे पार लगा रहे हैं। उनके विचार, वाणी तथा व्यवहार विश्वकल्याणमें ही रत रहते हैं। उनके अन्त:करणका द्वार विश्वके लिये खुला हुआ है।'

संत पुरुषोंके जीवनसे हमें यह शिक्षा प्राप्त होती है कि हम भी अपने जीवनको उच्च बना सकते हैं। मनुष्य महापुरुषोंके समान शक्तिसम्पन्न बन सकता है। तुम अपने पाशविक जीवनपर अधिकार कर सकते हो। लोग ऐसा कहते हैं कि हमारा तो स्वभाव नीच है, हमारा जीवन बड़ा दूषित और अपवित्र है, हम कैसे पवित्रात्मा बन सकते हैं?

वे यह नहीं समझते कि आत्माके लिये कुछ भी असम्भव नहीं। यह आत्मा जो तुम्हारे अन्दर है, सर्वशक्तिमान् है। अपने निर्बल मनको अपना आदर्श मत मानो, उसे आदर्श मान लोगे तो तुम्हारा सदा पराजय ही होगा।

तुम अपनी नीच वृत्तियोंपर जय प्राप्त कर सकते हो। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर इन षड्रिपुओंका पवित्रताके आचरणसे समूल नाश कर सकते हो।

तुम इन्द्रियोंके भोगोंमें लिप्त होकर खाने, पीने, सोने और अन्तमें मर जानेके लिये नहीं पैदा किये गये हो। तुम्हारा जीवन किसी विशेष कार्यसम्पादनके लिये है। तुम्हारा उत्पन्न होना यह सिद्ध करता है कि तुम विशेष कार्यके लिये उत्पन्न किये गये हो।

तुम किसका सहारा ढूँढ़ रहे हो? अपने पाँवोंपर खड़े रहनेका प्रयत्न करो। विचार करनेके नियम सीखो। उत्तम विचारका नाम स्वर्ग है और नीच विचारका नाम नरक।

कल्पना, एकाग्रता और इच्छाशक्तिसे तुम अपने भाग्यको फेर सकते हो। कामको पवित्रतामें, क्रोधको शान्तिमें, लोभको सन्तोषमें, मोहको अनासक्तिमें, मदको नम्रतामें और मत्सरको प्रेममें बदल दे सकते हो। तुम परम प्रकाशमान परमात्माके एक अंश हो।

हर एक वस्तुमें, हर एक मनुष्यमें उसके गुणोंपर दृष्टि रखना, भलाई देखना आरम्भ कर दो। फिर तुम्हारे अन्दर भलाई संग्रह होने लगेगी और तुम भले बन जाओगे।

योगके आचार्य महर्षि पतञ्जलि काम-क्रोधादि विकारोंपर विजय प्राप्त करनेके लिये **'प्रतिपक्षभावनम्'** उपाय बतलाते हैं। अर्थात् जिस भावनाको दूर करना हो उसकी विरोधी भावनाका चिन्तन करनेसे वह दूर हो जाती है। नवीन मानसशास्त्र भी यही बतलाता है कि मस्तिष्कमें एक समयमें दो विचार नहीं चल सकते। जब तुम शुभ विचारोंका चिन्तन करना आरम्भ कर दोगे तो कुविचार अपने-आप दूर भाग जायँगे।

आत्मसंयमका अभ्यास

जिनके अन्त:करणमें रजोगुण अथवा तमोगुणकी प्रधानता रहती है उनके संकल्प बलवान् नहीं होते। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको थोड़ा-थोड़ा साधन करके अभ्यास और वैराग्यसे मनको शुद्ध करना चाहिये; क्योंकि मनका स्वाभाविक धर्म चंचलता है। यह कभी शून्य नहीं बैठता। बिना किसी भाव या विचारके यह कभी एक क्षण स्थिर नहीं रहता। एक ही समयमें अनेक विषय ग्रहण करता और त्यागता है। यही मनकी अस्थिरता है।

प्रात:काल अथवा सायंकाल नियमित रूपसे नियत समयपर चुपचाप शान्तिसे नेत्र मूँदकर सरल आसनसे बैठ

जाओ। आसन कोई भी हो किन्तु उसमें चार बातोंका ध्यान रखो—(१) आसनमें स्थिरता हो—शरीर इधर-उधर हिलना-डुलना नहीं चाहिये और दीर्घकालतक निश्चल रहे। (२) आसनके समय शरीर साम्यावस्थामें रहे। शरीरमें किसी अंगमें दबाव या पीड़ा न प्रतीत हो और शरीरकी किसी गतिका भी ध्यान न रहे। (३) आसन ऐसा हो कि सिद्धिमें न्यून-से-न्यून यत्न करना पड़े और उस ओर विशेष ध्यान न देना पड़े। (४) शरीर और मन निष्क्रिय हो।

मनकी निष्क्रिय अवस्था

कई साधक एकान्तमें पाँच-पाँच घंटे नेत्र मूँदकर बैठते हैं फिर भी उनका मन शान्त नहीं होता। उसका यही कारण है कि उनका संयमका अभ्यास दोषपूर्ण है। मनसे सब भावोंको निकाल डालो। एक आत्मसंयमकी भावनाके सिवा और भावना हटा दो। तर्क-वितर्क करना छोड़ दो। जब तुम इस प्रकार निश्चेष्ट अवस्थामें दस मिनटतक रहोगे तो तुम्हारा मन एकाग्र होने लगेगा। अपनी भावनामय प्रकृतिको विचारशक्तिद्वारा वशमें करना ही आत्मसंयम है। नीचे लिखा अभ्यास बड़े महत्त्वका है इससे तुम अपनेको जैसा चाहो वैसा बना सकते हो। अब हृदयके मध्य बिन्दुपर चित्तको एकाग्र करो और पन्द्रह मिनट निम्न भावनाओंके चिन्तनमें लगाओ। एक मासतक यह अभ्यास करो और दूसरे मासके लिये दूसरा अभ्यास करो। कामपर विजय प्राप्त करनेके लिये पवित्रतापर चिन्तन करो।

मैं निर्विकल्प, निर्विकार, चेतनस्वरूप आत्मा हूँ। मैं अनन्त पवित्रता हूँ। अनन्त पवित्रता मेरे भीतर, बाहर सर्वत्र प्रकाशित हो रही है। अनन्त पवित्रता मेरे मस्तिष्कमें प्रकट हो रही है और सब दोष और बुराइयाँ मेरे मनसे दूर हो रही हैं। नीच जीवाणुओंका नाश हो चुका है और उच्च विचारोंके जीवाणु उन्नत हो रहे हैं। मैं अनन्त पवित्रताकी महाव्यापक शक्तिसे एक हो गया हूँ। मेरा सारा शरीर पवित्रताके तेजसे प्रकाशित हो रहा है। मेरे शरीरकी प्रत्येक नस-नाड़ीमें, रोम-रोममें पवित्रता भर गयी है। मैं चारों तरफ पवित्रता-ही-पवित्रता देखता हूँ। मेरी उपस्थिति मनुष्यजातिको पवित्र करती है। मेरी दृष्टिसे, मेरे स्पर्शसे हजारों मनुष्य पवित्र हो जाते हैं।

उपर्युक्त भावनापर एक मासतक ध्यान जमाओ। फिर क्रोधके लिये शान्तिकी भावनापर, लोभके लिये सन्तोषकी भावनापर, मोहके लिये अनासक्तिकी भावना, मदके लिये नम्रताकी भावना, और मत्सरके लिये प्रेमकी भावनापर ध्यान जमाओ। इस प्रकार छः मास अभ्यास करनेसे तुम अपनी प्रकृतिपर जय प्राप्त कर सकोगे और तुम्हारी भलाईका सच्चा रास्ता तुम्हें मालूम हो जायगा। धीरे-धीरे क्रम-क्रमसे आत्मनिरीक्षण करके अपने दोषोंको अन्तरतम भागसे ढूँढ़ करके बाहर निकाल दो, तब तुम अपनी वृत्तियोंपर अधिकार कर सकोगे।

जब तुम्हारे हृदयसे मित्र-शत्रुका भाव विदा हो चुका और सम्यक् ज्ञानका अंकुर तुम्हारे हृदयमें उत्पन्न हो गया हो और अपने हृदयको सर्वप्रेमके स्रोतसे संयुक्त कर दिया हो तब मनसा, वाचा, कर्मणा प्रेमको व्यक्त करो।

मैं प्रेमके नेत्रोंसे देखूँ, प्रेमके कानोंसे सुनूँ, प्रेमयुक्त सदा भाषण करूँ, प्रेमहीका मेरे हृदयमें आवागमन रहे। जब इस प्रकार तुम्हारे शरीरसे, मनसे, आत्मासे प्रेमका स्रोत बह निकलता है वह अन्तर और बाह्य दोषोंसे मुक्त हो जाता है। इस अभ्यासके अनन्तर विहंगममार्गका अभ्यास करो। श्वास-प्रश्वासके साथ जप करनेसे चित्त शीघ्र ही स्थिर होने लगता है और मन निर्विकार होकर प्रसन्न हो जाता है।

(१) प्राण ही मस्तिष्कमें क्रिया करता है और उसीसे मन होता है, प्राण मनपर क्रिया करता है और उसीसे विचार बनते हैं। जो साधक प्राणोंको साध सकता है वह सारे विश्वको अपने वशमें कर सकता है। प्राणकी बिखरी हुई शक्तिको आत्मामें एकाग्र करो। प्रत्येक श्वास जो नाभिसे उठता है और ललाटमें पहुँचता है उस समय **हंसः सोऽहं** इस मन्त्रका मानसिक उच्चारण करो। **सोऽहं** मन्त्रका मानसिक जप करते हुए नाभिसे प्राणधाराको उठाकर ललाटमें ले जाओ और ललाटसे प्रश्वास करते समय **हंसः** मन्त्रका मानसिक जप करो। फिर नाभिपर पहुँचकर उसी प्रकार अभ्यास करो। श्वासकी गति नाभिसे लेकर ललाटतक सहजभावमें गमनागमन करे तो समझ लो कि प्राणकी यथार्थ गति प्रकट नहीं हुई है। कुछ दिनोंके अभ्याससे तुम्हें पता लगेगा कि किस प्रकार प्राणधारा नाभिसे उठकर नासिकाद्वारा बाह्यगमन करती है और शुद्ध होकर शरीरमें प्रवेश करती है।

(२) **हंसः सोऽहं**—दूसरा अभ्यास—प्रथम अक्षरका

नाभिचक्रमें मानसिक उच्चारण कर श्वासको ऊपर हृदयमें ले जाकर दूसरे अक्षरका मानसिक उच्चारण करो, फिर वहाँसे कण्ठकूपमें ले जाकर तीसरेका उच्चारण करो और अन्तिम-चतुर्थका आज्ञाचक्र—दोनों भ्रुवोंके मध्यस्थानमें उच्चारण करो। अब प्रश्वास करते समय **सोऽहं हंसः** इस क्रमसे श्वासको शनैः-शनैः आज्ञाचक्र, विशुद्धाख्य (कण्ठ), अनाहत (हृदय) और मणिपूरकचक्र (नाभि) में लाकर प्रश्वास करो।

इस अजपाजपका श्वासको लेते समय और छोड़ते समय उपर्युक्त क्रमसे अभ्यास करनेसे मन स्थिर और शान्त होगा।

इन अभ्यासोंको करनेसे तुम दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक शुद्ध, अधिकाधिक पवित्र, शान्त, बुद्धिमान् और बलवान् बनते जाओगे। तुम्हारे चेहरेसे, नेत्रोंसे, शब्दोंसे पवित्रताका प्रवाह बहने लगेगा और तुम मनोविकारोंको दमन करनेमें पूर्णसमर्थ होओगे। काम, क्रोध, लोभ इत्यादि विकारोंको दमन करनेके लिये ये अमोघ साधन हैं। तुम्हारे जीवनमें विलक्षण परिवर्तन हो जायगा। तुम्हारे हृदयमें दया और प्रेमका संचार होने लगेगा। और तुम्हारी इन्द्रियाँ, तुम्हारा शरीर और तुम्हारा मन तुम्हारी आज्ञाका ठीक-ठीक पालन करेंगे। अभ्यास करो। शक्तिसंचय करो और स्वयं संत बननेका प्रयत्न करो।

संत-लक्षण और संतभावकी प्राप्तिके उपाय

(लेखक—स्वामीजी श्रीमित्रसेनजी महाराज)

संत शब्द वाचक है सत् शब्दका। सत्—ब्रह्म अर्थात् सच्चा साधु जो सत्यसाधनमें वर्तमान है, सत्यजीवन पा रहा है एवं जो सज्जन, धीर, नित्य, स्थायी, विद्वान्, पण्डित, मान्य, पूज्य, प्रशस्त, शुद्ध, पवित्र, श्रेष्ठ, उत्तम, अच्छा, भला आदि सब कुछ है।

संत शब्दके अन्तर्गत साधु, संन्यासी, विरक्त, त्यागी, महात्मा आदि सबका समावेश है। उसमें हरिभक्त—ईश्वरभक्त, धार्मिक एवं सर्वगुणसम्पन्न पुरुष भी समाये हैं—भरपूर हैं। ऐसे संत पुरुषोंमें यह भाव, ऐसी प्रतीति या ऐसा अहंकार कब आ सकता है कि 'मैं संत हूँ, साधु हूँ या महात्मा हूँ।' अर्थात् वे '**तृणादपि सुनीच**' एवं '**तरोरपि सहिष्णु**' होते हैं। यहाँतक कि उनमें दूसरे लोग सहसा प्रकटरूपसे कोई 'साधुता' या 'संतपना' भी नहीं देख पाते। क्योंकि कोई किसी बाहरी बनावटसे या शरीरको वस्त्रादिसे सजाकर तो साधु, संत या महात्मा बनता नहीं। बल्कि इस बाह्याडम्बरका भ्रम रंचमात्र भी मनुष्यमें आ जाय तो फिर वह संत—सत् अवस्थामें नहीं रह सकता। संसारी बनावट संसारमें ही बनी रहती है—वह मायावी जीवन है, उससे ईश्वरीय जीवनका कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई भी संत अपने संतभावसे ही संत-अवस्थामें पहुँचता है। इसके साथ उसके लिये यह भी आवश्यक होता है कि वह संसारमें जितने भी असंतपन—असाधुभाव अर्थात् झूठ, कपट, बनावट आदि हैं उनको देखे और जाने, ताकि उनसे उसका बचाव रहे और वह निर्लेप रहे। तथापि संतका सम्पूर्ण जीवन एवं उसकी सभी अवस्थाएँ—जैसे देखना, जानना, कहना, सुनना आदि उसके प्रभुमें ही समायी रहती हैं। वह सभी हालतोंमें प्रभुप्रेमकी मग्नतामें ही मग्न रहता है। उसके लिये सब जगह—चारों दिशाओंमें प्रभु-ही-प्रभु भरपूर रहते हैं।

या जग जीवनको है यहै फल छाड़ि सबै भजि ले रघुराई।
सोधिकै संत महंतन हू पदमाकर बात यहै ठहराई॥

ऐसी अवस्थामें संतमें रंचमात्र भी फलकी इच्छा कैसे हो? वह तो अपने बाह्य संतपन—महंतपनका शोधन करके एक मात्र रामभजनमें ही लवलीन रहता है। उसके लिये बस राम-ही-राम सब कुछ होता है।

संतभावकी प्राप्तिके लिये अपनेमें संत-असंत-स्वभावको देखते और जानते रहना आवश्यक है। किन्तु संत बननेमें जरा भी इस प्रकारकी कोई बनावटकी भावना मनमें न आने पावे कि 'लोग मुझको संतरूपमें देखें अथवा कहें।' संत-सिद्धिमें यह एक प्रधान साधन है कि व्यावहारिक अथवा शारीरिक जीवनसे उसमें जरा भी छेड़-छाड़ न हो। ऐसे साधककी बाह्य जीवनपर दृष्टि ही क्यों जाय? उसको तो किसी भी व्यवहारसे अपना निर्वाह करते हुए यही दृढ़ धारणा रखनी चाहिये कि उसके सामने जो कुछ भी है सब ठीक-ही-ठीक है—सब प्रभुकी इच्छा-ही-इच्छा है। यह शरीर भी अपने उसी प्रभुका दान है, फिर इसपर बनावट

कैसी—ऐसे वैसे वस्त्रसे बनाव-सिंगार करनेकी भावना कैसी? तात्पर्य यह कि जो कुछ हो वही संतभावकी सिद्धिके लिये साधन हो। किसी प्रकारके ग्रहण या त्यागका भाव ही मनमें न आने पावे। और उस भावको ढूँढ़नेका जो प्रयत्न हो वह भी अपने ही अंदर हो। ईश्वरप्राप्तिमें किसी अन्य देश-कालकी जरूरत नहीं—सब देशकाल ईश्वरमें ही समाये हुए हैं और वे अपने प्रभु अपने संग-ही-संग—अन्तर-बाहर सब जगह विराजमान हैं। प्रभुके इष्ट नामकी ऐसी दृढ़ पकड़ हो कि चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, काम-काज या वार्तालाप करते सभी अवस्थाओंमें यही मालूम हो कि अपने-आप प्रभु ही देही होकर ये सब कर्म कर रहे हैं, वे ही सब कर्मोंको अपनेमें लीन कर रहे हैं। इस प्रकारका ढूँढ़ना खोये हुएको ढूँढ़ना नहीं, बल्कि पाये हुएको ही ढूँढ़ना है। यों कहिये कि अपने प्रभुजी ही पूर्णरूपसे अपनी गहरी ढूँढ़ कर रहे हैं अथवा उसमें अपने-आपको ही लगा रहे हैं। यही पूर्ण ढूँढ़ गोपियोंकी थी, उनके मनमें, नैनमें, बैनमें, और रोम-रोममें यही ढूँढ़ समायी थी। यही प्रेम-विलासका परम सिद्धान्त है। ढूँढ़ना ही पाना है और करना ही होना है। पूर्ण सिद्धिमें सिद्धि-ही-सिद्धि है। यदि इस प्रकारका संतभाव हो तो उसीमें प्रभुजी अपनी धारणा कराते हैं।

मेरे प्रभु मेरे धनी, मेरे साँईं राम।
रोम रोममें रम रहे, राम राम ही राम॥

संन्यास

(लेखक—श्रीयुत डॉ० आर० शामशास्त्री, बी० ए०, पी-एच्० डी०)

मनुष्यके इस जगत्में व्यवहार करनेका एकमात्र ध्येय आनन्द या सुख है। इसीके लिये वह धन उपार्जन करना चाहता है। इसीके लिये वह पुत्र, कलत्र और मित्रोंका परिवार बाँधकर रहता है। इसीके लिये वह घर बनाता है, सवारी बाँधता है और अनेक प्रकारकी सम्पत्ति बटोरता है। उसकी सुखकी पिपासा इतनी तीव्र होती है कि सारे जगत्की सम्पत्तिको अपनानेसे भी वह बुझती नहीं। मनुष्य मात्र सुखके पीछे दौड़ता है, इसलिये सुखकी सामग्री जुटानेमें उसकी दूसरे मनुष्योंके साथ प्रतिद्वन्द्विता होती है, चाहे वह प्रतिद्वन्द्विता आर्थिक क्षेत्रमें हो अथवा राजनैतिक क्षेत्रमें। इसीलिये सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक नियमोंकी आवश्यकता होती है, जिससे एक मनुष्य दूसरोंकी सुखकी खोजमें बाधा न पहुँचा सके। परन्तु जब जातियों अथवा राष्ट्रोंके संघोंमें परस्पर संघर्ष होता है तब उनके अंदर शान्ति कौन स्थापित कर सकता है? आध्यात्मिक सुखके नियम ही मनुष्यकी अथवा किसी मनुष्यसमुदायकी पाशविक वृत्तिका दमनकर समष्टिका कल्याण कर सकते हैं। भारतके प्राचीन संत अविरतरूपसे इस बातकी घोषणा करते रहे हैं कि सुख कहीं बाहर नहीं है, वह हमारे अंदर ही है और मनुष्यका विषयोंमें सुख खोजना अपनी शक्तिको व्यर्थ खोना है। यह सत्य है, मनुष्यको शरीरयात्राके लिये जीवनमें कुछ पदार्थोंकी आवश्यकता होती है। परन्तु इन आवश्यकताओंकी भी एक सीमा होती है, जिसका अतिक्रमण हो जानेपर मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है। अतः आनन्द अथवा सुखका सच्चा स्वरूप जान लेना आवश्यक है।

'सुख पदार्थोंका धर्म है अथवा चित्तका? वह सुखके उपभोग करनेवालेका धर्म है अथवा देश-कालका धर्म है? अथवा वह क्रियाका धर्म है, इन्द्रियोंका धर्म है अथवा आत्माका धर्म है?' स्वामी शंकरानन्दने स्वयं ही इन शंकाओंको उठाकर उनका इस प्रकार उत्तर दिया है—सुख पदार्थोंका धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि पदार्थोंके अभावमें भी उसका अनुभव होता है। वह चित्तका धर्म भी नहीं है, क्योंकि उसका सुषुप्तिमें भी अनुभव होता है जब कि चित्त अविद्यामें लीन रहता है। वह देश अथवा कालविशेषका भी धर्म नहीं है, क्योंकि देश-कालका परिवर्तन हो जानेपर भी सुखका अनुभव होता है। अतः यह सिद्ध होता है कि सुख स्वयं आत्माका ही धर्म है। आत्माकी अपरिच्छिन्न अवस्थामें ही सुखकी अभिव्यक्ति होती है जब कि आत्मा विकारोंसे सर्वथा मुक्त होकर परम शान्त अवस्थामें अपनेमें ही स्थित रहता है।

इस प्रकार विषय-सुखकी खोजसे निवृत्त होनेको ही भारतीय संतोंने 'संन्यास' कहा है। सच्चा संन्यासी वही है जो विषयसुखको छोड़कर आत्मसुखकी प्राप्तिके

लिये चेष्टा करता है। उसे जिस सुखका अनुभव होता है उसका विषयलोलुप मनुष्योंको तो पता ही नहीं है। उसकी दृष्टिमें सारा जगत् सुखमय बन जाता है, यद्यपि जगत्पर उसका कोई अधिकार नहीं होता। उस सुखका चक्रवर्ती सम्राट्‌को भी अनुभव नहीं होता यद्यपि वह बहुत बड़े साम्राज्यका स्वामी होता है। चक्रवर्ती सम्राट् विषय-सुखके पीछे जितना ही भटकता है उतने ही अधिक परिमाणमें उसकी तृष्णा बढ़ जाती है। किन्तु संन्यासीका आत्मानन्द अपार होता है, क्योंकि उसे अपने शान्त आत्माके अतिरिक्त किसी वस्तुकी लिप्सा नहीं होती। और वह आत्मा सदा उसके समीप रहता है, उसकी ओर आँख उठाकर देखनेकी ही आवश्यकता है। परन्तु पूर्वजन्मके संस्कार अथवा कुलपरम्पराके अनुसार मनुष्योंकी प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है। कुछ लोग स्वभावसे ही विषयलोलुप होते हैं, और कुछ लोग विद्याव्यसनी होते हैं; कुछ लोगोंमें धन बटोरनेकी चाह होती है और कुछ विरले मनुष्य आध्यात्मिक साधनाके प्रेमी होते हैं। आध्यात्मिक वृत्तिके मनुष्य विषय-सुखोंको तिलांजलि देकर निजानन्दका अनुभव करनेके लिये चित्तकी वृत्तिको आत्मामें लगा देते हैं।

प्राचीन कालमें जब भारतमें वैदिक धर्म तथा जैन और बौद्ध धर्मोंका बोलबाला था, अधिकांश भारतवासी निजानन्दका अनुभव करनेके लिये सब प्रकारके विषय-सुखका परित्याग कर संन्यास ग्रहण किया करते थे। जनताके आर्थिक और राजनैतिक कार्योंपर इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता था। व्यवसायी लोगोंके संघर्ष और भिन्न-भिन्न राष्ट्रोंकी राजनैतिक क्षेत्रमें परस्पर प्रतिद्वन्द्विताके फलस्वरूप युद्धकी ओर प्रवृत्ति न होकर पारस्परिक शान्तिके भावोंका ही प्रचार होता था। उन दिनों जैन और बौद्ध भिक्षुओंके विहारोंमें तथा संन्यासियोंके मठोंमें आत्मसुखकी महत्तापर जो उपदेश होते थे उनके प्रति उस समयके लोगोंका इतना अधिक आकर्षण होता था जितना कदाचित् आजकल रेडियोके गानोंके प्रति नहीं होता। कौन नहीं चाहेगा कि वह समय फिर भारतवर्षमें आवे? यदि समस्त भूमण्डलके मनुष्योंमें आध्यात्मिक जागृतिकी चेष्टा की जाय तो वैसी ही स्थिति जगत्‌की फिर हो सकती है। आजकलके पूँजीवादसे और राष्ट्रोंके परस्पर मनोमालिन्यसे जो अनर्थ हो रहा है वह बात-की-बातमें दूर हो जायगा। हमें इस प्रयोगको कम-से-कम एक बार करके देखना चाहिये, क्योंकि यह प्रयोग अधिक व्ययसाध्य नहीं है। और इससे हानि तो किसीकी हो ही नहीं सकती।

भारतके प्रत्येक प्रान्तमें ऐसे अनेक मठ और आश्रम हैं जिन्हें राज्यकी ओरसे सहायता मिलती है। योरप और अमेरिकामें ऐसे अनेक गिरजाघर हैं जिनके अंदर करोड़ोंकी सम्पत्ति है। भारतीय तथा अन्य देशोंके मुसलमानोंकी भी बहुत-सी मस्जिदें और इबादतगाह हैं जिनके पीछे बड़ी-बड़ी जागीरें लगी हुई हैं। संसारके इन तीनों महान् धर्मोंमें ब्रह्मचर्य और त्यागका बड़ा महत्त्व है। ये तीनों धर्म यदि चाहें तो मिलकर आत्मसुखके महत्त्वका प्रचार कर सकते हैं और निजानन्दका अनुभव करनेकी खूबी संसारको बतलानेके लिये आध्यात्मिक वृत्तिके लोगोंको प्रोत्साहित कर सकते हैं। आत्मसुखको प्राप्त करनेके मार्ग अनेक हो सकते हैं, पर ध्येय सबका एक ही है।

आवश्यकता केवल इस बातकी है कि लोगोंको इस ओर प्रवृत्त करनेके लिये सच्चे मनसे आगे होकर चेष्टा की जाय। इस विषयपर उन महान् राजनीतिज्ञोंको विचार करना चाहिये जो राष्ट्रसंघरूपी नौकाके कर्णधार बने हुए हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे लोग श्रमजीवियों और उन लाखों मनुष्योंके दुःखको दूर करना, जो बेकारीके शिकार हो रहे हैं, हृदयसे चाहते हैं। परन्तु उनका दुःख दूर करनेके लिये वे जिन उपायोंका अवलम्बन कर रहे हैं वे रोग दूर करनेके उपाय हैं किन्तु उनसे व्याधिके कारणोंका नाश नहीं हो सकता। हमारे समस्त दुःखोंका मूलकारण आध्यात्मिकताकी कमी है। यदि आध्यात्मिकताके भावोंको फिरसे जागृत करनेके लिये विश्वभरमें चेष्टा की जाय तो विशुद्ध जड़वाद अथवा आधिभौतिकताका अपने-आप नाश हो जायगा। क्या जगत्‌के महान् पुरुष अब भी चेतेंगे और संसारको विश्वव्यापी युद्धके भयंकर परिणामसे बचावेंगे?

संत-गौरव

(लेखक—श्रीताराचंदजी पाण्ड्या)

धन और हुकूमतको नमस्कार करनेमें तो एक तरहकी दीनता—आत्मग्लानि-सी अनुभूत होती है, परन्तु संतको प्रणाम करनेमें आत्मगौरवकी अनुभूति होती है। क्योंकि यह प्रणाम उन ज्ञान, पवित्रता, समता, त्याग, अहिंसा, सत्य, स्वाधीनता, निर्भयता आदिके प्रति है जो स्वयं आत्माके ही गुण हैं। अत: संतका आदर अपनी आत्माका ही आदर है। हृदयकी गाँठोंको तोड़कर संत देश, काल, जाति आदिके भेदोंसे ऊपर उठकर किसीसे किसी बातकी याचना न करता हुआ सब प्राणियोंसे प्रेम करता है। अत: वह सब प्राणियों और सब देशों, कालों और जातियोंके प्रेमका पात्र है और उसकी सेवा विश्वकी सेवा है।

संतके गुण समाजकी रक्षा और उन्नतिके लिये आवश्यक हैं। अत: संतकी भक्तिसे उन गुणोंके यथाशक्य ग्रहणको प्रोत्साहन मिलकर समाजका हित होता है। न्याय, समाजरक्षण आदिका खयाल न कर केवल धन और सत्ताके आदरसे तो लूट-चोरी और मार-काटको ही प्रोत्साहन मिलता है। पृथ्वीपर जो युद्ध होते रहते हैं उनको उत्तेजित करनेवाला एक मुख्य कारण इतिहास और काव्योंमें राजाओं और योद्धाओंका कीर्तिगान भी है। इसीलिये भारतीय संस्कृतिमें संतोंका आदर सर्वोपरि रखा गया है और भारतके प्राचीन ऋषियोंने अपनी रचनाओंमें आत्मोद्धारक संतों और उन्हीं व्यक्तियोंका वर्णन किया है जिनके जीवनसे नीति और अनीतिके परिणामोंकी प्रभावशाली शिक्षा मिलती है।

संत अपने आदरकी न तो याचना करते हैं और न वाञ्छा। प्रतिष्ठाको वे विष्ठा और विषवत् समझते हैं। परन्तु जिस तरह उपकारीके प्रति कृतज्ञता, बालकके प्रति प्रीति और ग्रीष्ममें सूर्यसे तप्त होनेपर शीतल स्थानकी इच्छा स्वयमेव होती है उसी तरह संतके प्रति भक्ति और सेवाके शान्तिप्रद भाव सत्पात्रोंमें अपने-आप जागृत हो जाते हैं।

चक्रवर्ती और कुबेर होना भले ही सबके हाथमें न हो—और ये पद हैं भी ऐसे कि सब इन्हें एक साथ नहीं पा सकते—परन्तु संत होना तो प्रत्येक मानवके हाथमें है—इसके लिये किसी बाह्य साधनोंकी नहीं बल्कि उनसे स्वाधीनताकी ही आवश्यकता है। ख्याति और हुकूमतके लिये राजा और धनिक कितनोंका खून बहाते हैं और जीवनभर कितना परिश्रम करते हैं, परन्तु फिर भी क्या उन्हें सच्ची और स्थिर सफलता मिलती है? परन्तु देखो, कुछ न रखते हुए और किसीको बाधा न देते हुए भी संतोंका अतुल प्रभाव आत्मा और हृदयोंपर होता है और मृत्युके पीछे भी नहीं घटता। संत परलोकमें ही नहीं किन्तु इस जीवनमें भी जिस शान्ति और आनन्दका अनुभव करते हैं वह चक्रवर्तियों और कुबेरोंको स्वप्नमें भी नसीब नहीं। संत बेखटके सबका सुखी, पूर्ण और स्वाधीन बन जाना चाहते हैं, परन्तु क्या चक्रवर्ती और वैभवशाली सबका अपने-जैसा हो जाना चाह सकते हैं?

संत परोपकार करता न दिखायी दे तो भी अद्वितीय परोपकारी है, क्योंकि वह स्वयं जलती हुई मसाल है जो अपने उदाहरणसे ही उपदेशादिसे भी अधिक प्रभावशाली ढंगसे संसारको सच्चे सुख और स्वावलम्बनका रास्ता अर्थात् राग-द्वेष और भ्रमका हरना सिखाता है। उपदेशादि तो प्रकृतिकी नित्यकी साधारण घटनाओंसे भी मिल सकते हैं—क्या एक मृत्यु ही बोधके लिये काफी नहीं है? परन्तु सबसे अधिक जरूरत तो जीवित उदाहरणकी है। तन, मन और वचनसे संत जो अपनी तरफसे सबको अभय देता है सो भी कम उपकार नहीं है।

भीतरके राग, द्वेष, मोह, मत्सर, लोभ, भय आदिसे युद्धकर विजय पाना क्या अकर्मण्यता है? जो आत्माके ही जरिये आत्माको निर्मलतर बनाते रहते हैं और किसी बाह्य वस्तुकी अपेक्षा और आवश्यकता न रखकर स्वाधीन सुखमें मग्न रहते हैं वे ही सच्चे पुरुषार्थी और स्वावलम्बी हैं, न कि वे जो अनेक पराधीन बाह्य साधनोंके बलसे अनेकोंका घात करते हुए अनित्य, अस्थिर और पराधीन कुछ वस्तुओंको पानेमें लगे रहते हैं। कितना आश्चर्य है कि वासनाओंकी धधकती अग्निसे सदा जलते हुए इधर-उधर दौड़नेवाले इस दौड़नेको पुरुषार्थ कहते हैं और जिन्होंने अपने आपको इस अग्नि-पाशसे मुक्त कर लिया है और इसलिये

इधर-उधर नहीं दौड़ते उन्हें आलसी कहते हैं। जिन धैर्य, वीरता, प्रेम, एकाग्रता, आत्मविश्वास आदि गुणोंके जरासे अंशसे मनुष्य सांसारिक ऐश्वर्यको पाते हैं उन्हीं गुणोंसे पूर्णतया तन्मय होनेकी—साक्षात् पूर्णता और परमात्मपद पानेकी—साधना अकर्मण्यता कैसे है? जिस पुण्यके फलसे सांसारिक सफलता मिलती है उसका जो साक्षात् पुंज है, जिसकी सेवा और संगतिमात्रसे ही अतुल पुण्यका उपार्जन होता है, वह संत अकर्मण्य कैसे है?

पहले गरीब रहे हों या अमीर, सुखी या दुखी, संत होनेके बाद सब समान हैं, क्योंकि चाहका त्याग और शान्ति सबमें समान है। जब कि जड़ पदार्थ नि:सार हैं तब उनके कारण भेद क्यों हो, फिर उनकी नि:सारताका बोध चाहे भोगसे हुआ हो या बिना भोगके।

संत जानता है कि उसकी आत्मा अमर और अबाध है और सर्वशक्तियों और सुखोंका एकमात्र कारण और कोष है, इसलिये वह निर्भय और सरल रहता है। साथ ही वह यह भी जानता है कि उसकी आत्मा-जैसी ही सब आत्माएँ हैं, अत: वह निरभिमानी और नम्र भी है। क्रूर वचन तो क्रोध, अभिमान, अशान्ति और अशक्तिका चिह्न है—ज्ञानी और दयालु साधुके स्वभावके विरुद्ध है।

संत भला और भोला होनेपर भी भूला नहीं होता—यश, निन्दा या दूसरोंके लिहाजके खातिर विवेक और नीतिसे विचलित नहीं होता। क्योंकि ये उसके स्वभाव हैं और वह जानता है कि इनमें ही उसका तथा जगत्का हित है।

जिस तरह राजाके उदाहरणसे लोग सांसारिकताकी शिक्षा लेते हैं उसी तरह संतके जीवनसे शुद्ध आचरणकी शिक्षा लेते हैं। संत चारित्र्यका राजा है। उसे अपने पदकी उत्तमताकी रक्षा करनी चाहिये। संतपना त्यागप्रधान है। सद्गृहस्थपनमें त्यागशीलताकी वृद्धिसहित अर्थात् त्यागसहित लोकसम्मत नयायोचित भोग है, अत: यह संतसे निम्न कोटिका है। परन्तु कोरे तप, त्याग और सदाचरणमें ही संतपना नहीं है। क्या अनीति और भोगके लिये भी तप और संयम नहीं किये जाते? जिसकी सब प्रवृत्तियाँ शुद्धात्माके प्रेम और उद्‌देश्यसे प्रेरित होती हैं—जिसमें आत्मस्वरूपके ज्ञानका आलोक है और उसमें निष्ठा है वही संत सत् उद्‌देश्यवाला है और वही साधु-साधक—सत्साध्यवाला है। ऐसा व्यक्ति गृहस्थ भी हो तो भी वास्तवमें उस साधुसे अधिक साधु है जो केवल बाह्य सदाचारी है। जहाँ यह अन्तरंग प्रकाश और बाह्य पवित्रता दोनों पूर्ण हो वहाँ तो कहना ही क्या—वही सच्चा संतपना है।

संत या तो ध्यानमग्न रहता है या ऐसा न कर सकनेपर देश, काल, स्वस्थिति और रुचिके योग्य निर्दोष शुभ कर्मोंमें रत। इन्द्रियभोग और सांसारिक आरम्भकी तो गुंजायश उसमें कतई नहीं।

तपसे आत्माकी शक्तियोंका प्रकटीकरण होता है, परन्तु फिर चमत्कार संतपनकी निशानी नहीं है। क्योंकि (१) सच्चे संत तो सिद्धियाँ पानेपर भी उधर लक्ष्य नहीं करते और न उन्हें इच्छापूर्वक जाहिर करते हैं, (२) आत्मज्ञानसे शून्य और दुराचारी भी मन्त्रशक्ति, किंचित् तप आदिसे अथवा धूर्ततासे भी अनेक चमत्कार दिखा सकते हैं, (३) तपोभ्रष्ट हो जानेपर भी पूर्व तपका फल रहनेतक सिद्धियाँ रह सकती हैं, और उसी तरह (४) विघ्नकारी पूर्व कारणोंका सत् तपस्यासे निर्बल होते रहनेपर भी उनकी अत्यन्त तीव्रताके कारण उनके पर्याप्त निर्बल पड़नेमें बहुत कालका—कुछ जन्मान्तरोंतकका भी विलम्ब लग सकता है। परन्तु क्या त्यागमय जीवन ही कुछ कम चमत्कार है?

साधु-संतकी सेवा उसी तरह करनी चाहिये जिस तरह उनके धर्म-साधनमें सहायता हो और बाधा न हो, ऐसा न करना अधर्म है।

असत् संतका आदर हानिकर है। परन्तु बिना साधुके दुराग्रह और अमार्जनीय अपराधके उसका अनादर न करना चाहिये। किसीमें प्रमाद या अज्ञानजनित कोई त्रुटि दिखायी दे तो अकेलेमें और हितैषीके ढंगसे उसका दृष्टिकोण समझकर उसको सावधान करना चाहिये। अपयशसे पतनको और प्रशंसासे सुधारको प्रोत्साहन मिलता है, यह समझकर बिना उपयुक्त कारणके किसीकी साख एकाएक न बिगाड़नी चाहिये, बल्कि सबको सुधारका उचित अवसर देना चाहिये। यह भी स्मरण रहे कि साधुका लक्ष्य सब तरहके—यहाँतक कि शरीर और शास्त्रके भी बन्धनोंसे मुक्ति पाना है, अत: समाज और परम्पराके सभी नियम उसपर लागू नहीं होते। अलबत्ता, सदाचार तो उसका धर्म (स्वभाव) है ही, परन्तु उसका यह सदाचार वासनाओंसे स्वाधीनता है न कि समाज या रूढ़िके नियमोंका पालन।

केशयुक्त या केशहीन परिग्रही या दर-दर फटकार खाते हुए भीख माँगनेवाले, गृहस्थोचित आरम्भ कर लकड़ियाँ जुटाकर केवल आग जलाकर पंचाग्नि तपनेवाले परन्तु पंचेन्द्रियसंयमकी अवहेलना करनेवाले, क्रूरभाषी, क्रूरकर्मी और नशेबाज अथवा खाद्याखाद्यका विचार न रखनेवाले, कोट-पतलूनधारी, मोटरोंमें घूमनेवाले और वेदान्तज्ञानकी चर्चामें प्रवीण परन्तु शास्त्रविहित आचरणको ठुकरानेवाले—ऐसे वेष और नामके साधु तो बहुत मिलते हैं; परन्तु सच्चे साधु-संतका पाना कितना कठिन है! '**साधवो न हि सर्वत्र**'—और अपात्र साधुओंसे देशकी कितनी हानि हुई है, ज्ञान और चारित्र्यका कितना ध्वंस हुआ है, और 'संत' नामपर कितना बट्टा लगा है!

धन्य है वह वंश जिसमें एक भी सच्चे संतने जन्म लिया है, उससे सारा वंश ही नहीं किन्तु सारा देश और जगत् पवित्र हो जाता है, और आजकल तो यह विशेष करके सत्य है।

संत

(लेखक—**रेवरेण्ड आर्थर ई० मैसी**)

हमलोग संतोंका आदर इसलिये करते हैं कि उनके द्वारा हमें इस बातका पता लगता है कि हम सबके भीतर रहनेवाले भगवान्के मानवदेहमें प्रकट हो जानेपर उस देहधारीकी क्या स्थिति हो जाती है। मनुष्यकी आत्माके अंदर वह शक्ति रहती है जो हमारे मनुष्यत्वको बदलकर देवत्वमें परिणत कर देती है। संतोंका इतिहासके किसी युगविशेषसे सम्बन्ध नहीं होता, न किसी जातिविशेषसे ही सम्बन्ध होता है। वे उन भिन्न-भिन्न जातियोंमें अवतीर्ण होते हैं जिनके धार्मिक सिद्धान्तोंमें बड़ा अन्तर होता है। उनकी सांसारिक स्थितिमें तो अन्तर होता ही है, किन्तु विचित्र बात तो यह है कि उनमें चरित्रगत विशेषताएँ भी होती हैं जो एक संतकी दूसरे संतसे नहीं मिलतीं। परन्तु उनके जीवनपर विशेष ध्यान देनेसे पता लगता है कि उनके अंदर एक ऐसी रहस्यमय बात होती है जो उन सबके अंदर समानरूपसे रहती है, जिसके वे लोग परायण हुए रहते हैं और जिसके कारण उनमें परस्पर भेद रहते हुए भी एक विचित्र साम्य दृष्टिगोचर होता है। हम अपनेको उस रहस्यमय तत्त्वका वर्णन करनेमें असमर्थ पाते हैं—वर्णन तो दूर रहा, उसका विश्लेषण भी नहीं कर सकते। तथापि वह वस्तु अचलरूपसे संतोंमें विद्यमान रहती है। जिसके अंदर वह वस्तु होती है उसीको हम संत कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य स्वेच्छासे अथवा अनिच्छासे उसका आदर करता है। जगत् चाहे संतोंको समझ न पाये, परन्तु वह संतोंका आदर तो कर ही सकता है। उनका शरीर हमारे-जैसा ही हाड़-मांसका बना हुआ होता है। वे भी पहले हमारी ही भाँति अपूर्ण और परिच्छिन्न होते हैं, बल्कि उनमेंसे कुछका जीवन किसी खास अवस्थातक हमारी ही भाँति पापपंकसे कलुषित होता है, परन्तु वे उसको धोनेमें लगे रहते हैं और आखिर धो ही डालते हैं। संत प्रत्येक युगमें हुए हैं, जो इस बातका प्रमाण है कि उनकी भाँति मनुष्यमात्र संत हो सकता है। उन्हें संसारके मायाजालमें अथवा विषयवासनाके जंजालमें फँसा रहना स्वीकार नहीं हुआ। उन्होंने संसारकी मायासे कभी हार नहीं मानी और न पापोंके साथ समझौता करके उन्हें आश्रय दिया। उन्होंने मायाके थपेड़ोंसे क्षत-विक्षत होकर भी अपना मस्तक सदा ऊँचा रखा और आत्माकी शक्ति और नित्यता और उस ईश्वरकी दयालुतापर सदा भरोसा रखा जो नीच-से-नीच मनुष्यको भी ऊपर उठानेके लिये तैयार रहता है यदि वह उसके भीतर रहनेवाले सर्वसमर्थ प्रभुको पुकारनेभरका कष्ट स्वीकार करे। बहुत-से लोग 'संत' शब्दसे उन्हीं विरक्त महात्माओंका ग्रहण करते हैं जो गृहस्थीके झंझटोंसे दूर रहते हैं। और कुछ लोग उन्हें कर्मयोगीके रूपमें देखते हैं जो जीवनके संग्राममें रहकर बुराइयोंसे युद्ध करते रहते हैं, और समस्त भूतोंके हितमें रत रहते हुए संसारको बतलाते हैं कि दुनियाके धन्धोंमें फँसे हुए रहकर भी मनुष्य किस प्रकार ईश्वरके बन्देके रूपमें जगत्के सारे व्यवहार कर सकता है। परन्तु उपर्युक्त दोनों श्रेणियोंके संतोंसे वे संत वीरतामें किसी प्रकार कम नहीं हैं जो प्रसिद्धिसे दूर रहकर शान्ति और धैर्यके साथ निरन्तर विपत्तियोंका सामना करते रहते हैं, जो रात-दिन कष्टमें रहते हैं अथवा जिनका मस्तिष्क

दूसरोंके हितकी चिन्ताके बोझसे सदा दबा रहता है। परन्तु वे भगवान्‌की दिव्य ज्योतिको हृदयमें रखकर अपने लक्ष्यकी ओर बराबर बढ़ते रहते हैं और उस ईश्वरीय प्रकाशको दूसरोंकी सहायता और प्रोत्साहनके लिये अपने चारों ओर एक अद्‌भुत ढंगसे प्रसारित करते रहते हैं।

यद्यपि हम यह मानते हैं कि संतलोग मानवजीवनसे ऊपर उठे हुए होते हैं, तथापि हमें ऐसा मालूम होता है कि वे हमारे बहुत निकट हैं और हमें उनके संगमें बड़ा सुख मिलता है। वे बड़प्पनसे कोसों दूर रहते हैं और कभी हमें अपने संगके अयोग्य बतलाकर दुत्कारते नहीं। वे हमें अपने पास बुलाकर अपने परिवारमें शामिल होनेके लिये प्रेरणा करते हैं। परन्तु ऐसा करते समय उनके अंदर यह भाव नहीं होता कि वे हमें किसी प्रकारका मान दे रहे हैं बल्कि उनके अन्दर यही इच्छा रहती है कि किसी प्रकार संतोंका समुदाय बढ़े।

यदि हम उन संतोंका स्मरण करें जिन्हें हमने स्वयं देखा है और समझनेकी चेष्टा की है और जिन्होंने हमें शुभकर्म, पवित्रता और सदाचारके तत्त्वको यथार्थ रीतिसे समझाया है तो हमें ऐसा मालूम होता है कि पवित्र एवं त्यागमय जीवन तथा चरित्रबल आदि जो कुछ उन्होंने पाया था उसे वे मानो हमारे अन्दर भी देखना चाहते हैं। और उसे हम चाहने मात्रसे प्राप्त कर सकते हैं।

एक आधुनिक मनोवैज्ञानिकने हमें यह बतलाया है कि प्रेम, कृतज्ञता, मान, साहस, न्याय इत्यादि गुणोंका चिन्तन करनेके लिये यह आवश्यक है कि हम उन व्यक्तियोंका चिन्तन करें जिनके अन्दर ये गुण हों अथवा जिनके प्रति हम प्रेम, कृतज्ञता आदिका भाव रखते हों।

यह बात तीनों कालमें सत्य है कि जिन पुरुषके जीवनमें दैवी सम्पत्तिका विकास देखनेमें आता है उनके प्रति जबतक हमारा आदरका भाव नहीं होगा और जबतक उनके गुणोंसे हम प्रभावित नहीं होंगे तबतक उन गुणोंका विकास हमारे अन्दर नहीं हो सकता।

महात्मा अथवा सिद्ध पुरुष इस बातको बतलानेके लिये ही संसारमें प्रकट होते हैं कि मनुष्यका जीवन किस प्रकारका हो सकता है और होना चाहिये, और किस प्रकार उस जीवनको इतना उन्नत बनाया जा सकता है कि उसकी परमात्माके साथ एकता हो जाय और भगवान्‌का प्रेम, न्यायशीलता और दयाका हमारे अन्दर भी संचार हो जाय। संतलोग अपने जीवनके अगणित अनुभवोंके द्वारा इसी बातका स्पष्टीकरण करते हैं मानो वे हमें फुसलाकर इस बातपर विश्वास ही कराना नहीं चाहते किन्तु यह भी चाहते हैं कि हमारे अन्दर भी ऐसी शक्ति आ जाय।

सत्संग

(लेखक—श्रीयुत वाई० सुब्रह्मण्य शर्मा)

देवर्षि नारदरचित भक्तिसूत्रोंमें एक बड़े महत्त्वका सूत्र है—‘**महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।**’ अर्थात् महात्माओंका संग मिलना बड़ा कठिन है और साधारणतया वह अप्राप्य ही है, परन्तु यदि हमें ऐसे पुरुषोंका संग मिल जाय तो उसका फल अमोघ होता है। ऐसी दशामें यह प्रश्न होना स्वाभाविक ही है कि जिस सत्संगकी सभी धर्मोंने इतनी महिमा गायी है उसका स्वरूप क्या है और उसका वह अमोघ फल कौन-सा है जिसकी धार्मिक क्षेत्रमें, साधनजगत्‌में और आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें एक स्वरसे प्रशंसा की गयी है। भारतवर्षके महान् आचार्य, योगी एवं दार्शनिक भगवान् शंकराचार्यके सिद्धान्तोंके आधारपर हम इस प्रश्नका संक्षेपमें नीचे उत्तर देते हैं।

‘सत्संग’ यह समस्त पद संस्कृतके ‘सत्’ और ‘संग’ इन दो शब्दोंसे बना हुआ है। ‘सत्’ शब्दका भगवद्‌गीताके अनुसार एक अर्थ सत्य अथवा स्वत:सिद्ध है और उसी ग्रन्थके अनुसार उसका दूसरा अर्थ साधु अथवा सच्चरित्र है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।

गीताके उस प्रकरणके प्रारम्भमें ही स्पष्टरूपसे यह बतलाया गया है कि ‘सत्’ शब्दके ये दोनों अर्थ स्वयं परमात्मामें भली प्रकार घटते हैं—‘**सदिति निर्देशो ब्रह्मण:।**’ क्योंकि परमात्मासे बढ़कर सत्य अथवा साधु और कौन होगा, जिस परमात्माके अन्दर सब रहते हैं, कर्म करते हैं और जीवन धारण करते हैं। उपनिषद्‌में

यह वाक्य मिलता है कि सृष्टिके प्रारम्भमें अकेला सत् ही था और वही एकमात्र सत्य और सारे जगत्का सारतत्त्व है।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्……एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा।'

(छान्दोग्य०)

केन उपनिषद्में आता है कि ब्रह्मने एक बार विचार किया कि देवताओंको असुरोंपर थोड़ी-सी विजय प्राप्त करके फूल न जाना चाहिये और उन्होंने एक यक्षका रूप धारणकर अग्नि, वायु और इन्द्र, इन तीनों प्रधान देवताओंका मानमर्दन ही नहीं किया अपितु ब्रह्मविद्याकी अधिष्ठात्री देवी उमाके पवित्र उपदेशोंके द्वारा उनपर महान् अनुग्रह भी किया (केन० ३)। भारतीय महात्माओंकी बुद्धिकी बलिहारी है कि उन्होंने महात्माओंको परमात्मासे अभिन्न मानकर उनके लिये बराबर 'संत' (सत्) शब्दका प्रयोग किया है, क्योंकि भगवान्के साथ एकीभूत हो जानेके कारण ये पवित्र आत्माएँ अपने व्यक्तित्वको भगवान्के अन्दर इस प्रकार विलीन कर देती हैं कि उनके और इनके बीचमें किसी प्रकारका भेद ही नहीं रह जाता, वे इस प्रकार एक-दूसरेके साथ घुल-मिल जाते हैं (**'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'**—नारदभक्तिसूत्र)।

अब हमें 'सत्संग' के दूसरे शब्द 'संग' के अर्थपर विचार करना चाहिये। 'सत्संग' का अर्थ साधारणतया सत्पुरुषों अथवा साधु पुरुषोंका संग ही किया जाता है, परन्तु शास्त्रोंमें सत्संगका जो महान् फल बताया गया है उससे तो इसका अर्थ इससे और अधिक गम्भीर मालूम होता है। जिस साधकको सत्संग प्राप्त हो गया उसका एकबारगी कायापलट ही हो जाता है—उसके संकल्पमें शुद्धता आ जाती है, उसके हार्दिक भाव पवित्र हो जाते हैं और उसकी बुद्धि प्रखर हो जाती है। उसके भीतरके भाव अधिकाधिक उसके गुरुके समान ही होते जाते हैं और आगे जाकर उसे अपने आत्माके दिव्य एवं अलौकिक प्रकाशका साक्षात्कार हो जाता है।

आचार्य शंकरने इस आत्मसाक्षात्कारको दीर्घकालके स्वप्नके बाद जागनेके समान बताया है। उनके मतमें—और उपनिषदोंका भी यही मत है—हम सभी जीव अनादिकालीन अविद्याजनित स्वप्नमें ही सो रहे हैं। वे कहते हैं—

'योऽयं संसारी जीवः स उभयलक्षणेन तत्त्वाप्रतिबोधरूपेण बीजात्मनान्यथाग्रहणलक्षणेन चानादिकालप्रवृत्तेन मायालक्षणेन स्वप्नेन ममायं पिता पुत्रोऽयं नप्ता क्षेत्रं पशवोऽहमेतेषां स्वामी सुखी दुःखी क्षयितोऽहमनेन वर्धितश्चानेनेत्येवंप्रकारान् स्वप्नान् स्थानद्वयेऽपि पश्यन् सुप्तः।'

यह जीव जो निरन्तर जन्मता-मरता रहता है दो प्रकारके स्वप्नके वशीभूत रहता है—(१) तत्त्वका अज्ञानरूप स्वप्न जो बीजरूप है, और (२) मिथ्याज्ञानरूप, जो पहले स्वप्नका कार्य है। इस मायारूप स्वप्नके वशीभूत होकर जिसने अनादिकालसे इसे जकड़ रखा है यह जीव सोता हुआ अनेक दृश्य देखता है और यह समझता है कि अमुक मेरा पिता है, अमुक मेरा पुत्र है, अमुक मेरा पौत्र है; यह मेरा खेत है, ये मेरे पशु हैं; इसने मुझे बरबाद कर दिया और इसने मुझे बढ़ा दिया, इत्यादि-इत्यादि।

'यदा वेदान्तार्थतत्त्वाभिज्ञेन परमकारुणिकेन गुरुणा नास्येवं त्वं हेतुफलात्मकः किन्तु तत्त्वमसीति प्रतिबोध्यमानः तदैव प्रतिबुद्ध्यते।'

'जब उपनिषदोंके अर्थको तत्त्वसे जाननेवाला और परमदयालु गुरु उसे समझाता है कि तुम कारण और कार्यसे बने हुए पुतले (अर्थात् शुभाशुभ कर्मोंके फलस्वरूप बार-बार जन्मग्रहण करनेवाले संसारी जीव) नहीं हो, किन्तु तुम परमात्माके ही स्वरूप हो, तब वह अपने स्वरूपको इस प्रकार समझ लेता है।'

शंकर तब उस दिव्य आत्मज्योतिका वर्णन करते हैं जिसका अपरोक्षानुभव इस प्रबोधसे होता है और यह बतलाते हैं कि वह आत्मा अजन्मा एवं अविकारी है, वह कभी अविद्यारूप स्वप्नके वशीभूत नहीं होता, अतएव मिथ्या ज्ञानरूप स्वप्नके द्वारा भी अभिभूत नहीं होता और वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंसे अतीत, शुद्ध, चिन्मय एवं अद्वितीय है (माण्डूक्यकारिका १।१६)।

अन्यत्र आचार्य शंकर गाढ़ निद्रामें सोये हुए मनुष्यके कानोंके पास जाकर जोरसे नगाड़ा बजानेका सुन्दर दृष्टान्त देते हैं (ऐतरेय० १।३।१३)—

'स कदाचित् परमकारुणिकेनाचार्येणात्मज्ञान-प्रबोधकृच्छब्दिकायां वेदान्तमहावाक्यभेर्यां तत्कर्णमूले ताड्यमानायामेतमेव सृष्ट्यादिकर्तृत्वेन प्रकृतं पुरुषं……ततमं व्याप्ततमं परिपूर्णमाकाशवत् प्रत्यबुध्यत।'

पग घुँघरु बाँध मीरा नाची रे।

आचार्यके उपदेशका यह डिण्डिमघोष जो वेदान्तके महावाक्यके रूपमें श्रवणगोचर होता है, अमोघ होता है। उसके प्रभावसे जीव संसारके अनेक दु:खदायी और दीर्घकालीन स्वप्नोंसे अकस्मात् जाग पड़ता है और सर्वव्यापी ब्रह्मका आत्मरूपसे अनुभव कर महान् आनन्दको प्राप्त होता है।

ऊपरके वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शंकरके सिद्धान्तमें मायाके चक्करसे छूटनेके लिये प्रयत्नशील जीवको ऊपर उठानेमें सत्संगका कितना बड़ा हाथ है।

किसी साधु पुरुषके पास जाकर उसके दर्शन करनेका पहला फल तो यह होता है कि हम अपनेको एक शान्त और शुद्ध वातावरणमें पाते हैं, जिससे वैषम्य, अभाव, दु:ख, चिन्ता और परेशानीके सारे भाव मिट जाते हैं। ज्ञानी महात्माओंसे मिलकर उनका संग करनेसे और भी अधिक लाभ होता है, क्योंकि उनके मुखसे हमें भगवान्‌की महिमा, दयालुता और प्रेमकी रसमय कथा सुननेको मिलती है। परन्तु महात्माओंके दर्शनसे जो सुख मिलता है और उनके संगसे जो लाभ होता है वह उस मोक्ष-सुखके सामने कुछ भी नहीं है जो हमें उनके वास्तविक संगसे मिलता है, और 'सत्संग' शब्दका सबसे ऊँचा अर्थ यही है। महात्माओं अथवा ब्रह्मज्ञानियोंके प्रति श्रद्धा करनेसे संसारासक्त मनुष्योंको जो सांसारिक लाभ होता है उपनिषदोंने उसकी ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है (देखिये मुण्डक० ३। १। १०—'**तस्मादात्मज्ञं ह्यर्थयेद्भूतिकामः**')। तथापि उन्हें एक सच्चे आत्मज्ञानीके वास्तविक संगके महान् फलका कीर्तन करनेमें बड़ा आनन्द मिलता है। वे इस बातकी घोषणा करते नहीं फिरते कि एक सच्चे गुरुके द्वारा प्राप्त ज्ञान ही हमें उस ज्योतिर्मय परमपदकी प्राप्ति कराता है (**आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति**—छान्दोग्य० ४। ९। ३)। सत्यकी उपलब्धि उसीको होती है जिसे सद्गुरुकी सहायता प्राप्त होती है ('**आचार्यवान् पुरुषो वेद**')। आचार्य शंकरने हमें विशदरूपसे बतलाया है कि ऐसी अवस्थामें ही जिज्ञासुके चित्तरूपी नेत्रके सामनेसे अविद्याकी पट्टी हट जाती है जिसे जीवने स्वयं अपने नेत्रोंपर बाँध रखा है ('**अविद्यामोहपटाभिनहनान्मोक्षितः**'), और आचार्यकी ही भाँति अखिल प्राणियोंके आत्मा परमात्मासे मिलकर वह सदाके लिये सुखी हो जाता है ('**स्वं सदात्मानमुपसम्पद्य सुखी निर्वृतः स्यात्**'—छान्दोग्य० ६। १४। २)।

प्रेम-साधना

(लेखक—श्रीक्षितिमोहन सेन, एम्० ए०, शास्त्री)

भारतवर्षके सभी प्रेममार्गी साधकोंमें, चाहे वे बंगालके आउल-बाउल हों, उसके भी पूर्ववर्ती चण्डीदास आदि सहज-पन्थके साधक हों, उत्तरभारतके संत हों या सिन्ध आदि प्रदेशोंके सूफी या सूफीभावापन्न साधक हों, एक विशेष प्रकारकी एकरूपता है। यह एकरूपता है प्रेमकी साधना। इस प्रेमसाधनाके मार्गमें तीन बातोंका रहना परमावश्यक है। समता, स्वाधीनता और प्रेमान्तिकता। अन्तिम शब्द बाउल-संतोंका पारिभाषिक शब्द है, हम आगे इसका अर्थ स्पष्ट कर देंगे।

समताका तात्पर्य यह है कि प्रेमकी साधनामें प्रेमिक और प्रेमास्पदमें कोई भेदभाव, ऊँच-नीचकी कल्पना नहीं रहती। ऊँच-नीचका भेदभाव रहनेसे भय, सम्भ्रम, आनुगत्य, सेवा—यहाँतक कि भक्ति और निष्ठा भी सम्भव है, लेकिन प्रेम सम्भव नहीं होता। इस क्षेत्रमें जो योग होता है वह या तो भयके कारण होता है या लोभके कारण। वह या तो किसी दुर्गतिसे त्राण पानेके लिये होता है या किसी सुविधाकी प्राप्तिके लिये। संतलोग इसे व्यवसाय कहते हैं, प्रेम नहीं। इसीलिये प्रेममें दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है स्वाधीनता। इसके बिना काम नहीं चलता। जुल्म या जोर-जबर्दस्ती वहाँ नहीं चल सकती। किसी बाहरी अदालतकी डिगरीकी बाध्यता प्रेम नहीं मान सकती।

तीसरी बात प्रेमान्तिकता है। इसका मतलब यह है कि प्रेम ही प्रेमका अन्तिम लक्ष्य है। इसीलिये बाउल-संत मदनने कहा है—

प्रेमेर मोल प्रेम रे बान्दा, ना रे सुख ना रे दुख।
प्रेमेर रसिक यदि रे बान्दा, प्रेम पियास प्रेम भूख॥

अर्थात् ऐ बन्दे! प्रेमका मूल्य प्रेम ही है; सुख भी नहीं, दु:ख भी नहीं। ऐ बन्दे, तू यदि प्रेमका रसिक है तो प्रेम ही तेरी प्यास है, प्रेम ही भूख।

ऐसे ही मौकेपर साधकश्रेष्ठ कबीरने भी कहा था—

अनजानेको सरग नरक है हरि जानेको नाहिं।
जेहि डर तें भवलोग डरतु हैं सो डर हमरे नाहिं॥
पाप पुन्यकी संका नाहीं सरग नरक नहिं जाइ।
कहैं कबीर सुनो हो संतो, जहाँ का तहाँ समाइ॥

इसी प्रसंगमें सिन्ध देशके सूफीश्रेष्ठ शाह लतीफने कहा है—

अवगुन रुस्से सभ का
पीरीं गुनीं रूठा में

अर्थात् मैं अगर पाप करता हूँ तो सभी मेरे ऊपर रुष्ट होते हैं किन्तु अगर मैं पुण्यलोभातुर होता हूँ तो मेरे प्रियतम मुझपर रुष्ट होते हैं।

भारतवर्षके बाहरकी साधिका रबेया-इ-बसरीने एक सुन्दर बात कही है—'यदि मैंने स्वर्गके लोभसे तुम्हें बुलाया हो तो स्वर्ग मेरे लिये हराम हो! और अगर नरकके डरसे मैंने तुम्हें पुकारा हो तो नरक ही मेरी गति हो।'

ऊँच-नीचके बीच प्रेम हो ही नहीं सकता। यदि ऐसी अवस्थामें कभी प्रेम हो तो उसी समय भेद लुप्त हो जाता है। मुसलमानशास्त्रमें कहा गया है कि गुलाम-स्त्रीसे भी अगर किसीका प्रेम हो जाय तो वह तत्क्षण गुलामीसे मुक्त हो जाती है। प्रेमका अर्थ ही यह है कि अपनेको स्वाधीनभावसे उत्सर्ग किया जाय। जहाँ यह स्वाधीनता नहीं है वहाँ जुल्म चल सकता है, प्रेम नहीं।

जगत्‌में ऐसे बहुत-से धर्म-मत हैं जिनमें ईश्वरको उनके ऊपर माना जाता है और अपनेको अति हीन समझा जाता है। विधि और शास्त्रसे इनकी साधना बँधी होती है। यह पहले ही बताया गया है कि ऐसी साधनामें भय, संभ्रम, आनुगत्य, सेवा और भक्तिनिष्ठा भी चल सकती है किन्तु प्रेमका उसमें 'अवसर' नहीं है। क्योंकि प्रेम समस्त बाह्य शास्त्र और विधिके अतीत है। यह मुक्ति अगर प्रेमको नहीं मिली तो उसने अपनी जात ही गवाँ दी, वह धर्मभ्रष्ट ही हो गया। प्रेमकी दुनियामें भी नियम है किन्तु वह उसका अपना नियम है, बाहरी आचार-विचारका नहीं।

चैतन्य-धर्मके महाव्याख्याता कृष्णदास कविराज थे। उनका चैतन्यचरितामृत गौड़ीय वैष्णवोंका वेदतुल्य मान्य ग्रन्थ है। उन्होंने अपने ग्रन्थकी मध्यलीलाके चतुर्विंश परिच्छेदमें भक्तोंके बहुत-से भेद बताये हैं। उनमें प्रधानतः दो भाग हैं—पहला विधिभक्त और दूसरा रागभक्त। विधिभक्तका तात्पर्य उन भक्तोंसे है जो बाहरके नियमोंको मानते हैं पर रागभक्त वे हैं जो किसी बाहरी नियमको नहीं मानते बल्कि एकमात्र राग अर्थात् प्रेमके नियमोंसे ही परिचालित होते हैं। यही बात मध्यलीलाके बाईसवें परिच्छेदमें और भी स्पष्टभावसे लिखी है—

एइ त साधन भक्ति दुइ त प्रकार।
एक वैधी भक्ति रागानुगा भक्ति आर॥
रागहीन जन भजे शास्त्रर आज्ञाय।
वैधी भक्ति बलि तारे सर्व लोके भाय॥
..।
रागमयी भक्तिर हय रागात्मिका नाम॥
..।
शास्त्रयुक्ति नाहि माने रागानुगार प्रकृति॥

अर्थात् वैधी भक्ति है शास्त्रविधिके अधीन और रागानुगा है स्वाधीन।

वैधी भक्तिका आश्रय ऐश्वर्यबुद्धि है जिससे भगवान्‌को नाना ऐश्वर्यशाली और नाना शक्तियुक्त समझा जाता है। इसीलिये वे मालिक हैं, प्रभु हैं, समर्थ हैं, इत्यादि प्रकारकी भावनाएँ मनमें उपस्थित रहती हैं। इसीलिये इस प्रकारके भक्तको विधिमार्गसे जाना ही पड़ता है, अन्यथा उसके मनमें मर्यादाहानिकी आशंका बनी रहती है। इसीलिये चैतन्यचरितामृतमें अन्तलीलाके सप्तम परिच्छेदमें कहा है—

ऐश्वर्यज्ञाने नाहि पाइये ब्रजेन्द्रकुमार।

व्रजेन्द्रकुमारको पानेके लिये 'प्रेममात्रसंबल' होना चाहिये। क्योंकि भगवान् प्रेमी हैं, इसीलिये वे प्रेमका मर्म समझते हैं। वे प्रेमके भिखारी हैं, इसीलिये वे कहते हैं—

सकल जगते मोरे करे विधि-भक्ति।
विधि-भक्त्ये व्रजवास पाइते नाहि शक्ति॥
'ऐश्वर्यज्ञाने' ते सर्व जगत मिश्रित।
'ऐश्वर्यशिथिल' प्रेमे नाहि मोर प्रीत॥

(चै० च० आद्यलीला ३ परिच्छेद)

सारा जगत् मेरी विधि-भक्ति करता है किन्तु विधिभक्तिमें 'व्रजवास' पानेकी शक्ति नहीं है। सारा जगत् 'ऐश्वर्यज्ञान' से मिश्रित है, ऐश्वर्यके द्वारा

शिथिलीभूत प्रेममें मेरी प्रीति नहीं है।

प्रेमकी साधना ही व्रजवास है। वह जगत्में सर्वत्र ही दुर्लभ है। उसमें ऐश्वर्यज्ञान मिश्रित होनेसे प्रेम शिथिल हो जाता है। भगवान् कहते हैं कि ऐसा 'शिथिल प्रेम' मुझे अच्छा नहीं लगता।

आमारे ईश्वर माने आपनारे हीन।
तार प्रेमे वश आमि ना हइ अधीन॥

(चै० च० आद्यलीला ४ प०)

अर्थात् जो मुझे ईश्वर समझता है और अपनेको हीन मानता है मैं उसके प्रेमके वशमें नहीं होता।

भगवान् कहते हैं कि मुझे बड़ा न समझकर समान समझो। यहाँतक कि अगर तुम मुझे हीन समझो तो भी कोई आपत्ति नहीं है। केवल सारे जगत्के 'बड़े मानने' से मुझे अरुचि हो गयी है—

आपनाके बड़ माने आमारे सम-हीन।
सेइ भावे हइ आमि ताहार अधीन॥

(चै० च० आ० ली० ४ प०)

जो अपनेको बड़ा और मुझे सम या हीन मानता है, मैं उसीके निकट उसी भावसे अधीन होता हूँ।

व्रजके सखागण जो मेरे कंधेपर चढ़कर मुझे समान या हीन समझते हैं वह भी मुझे अच्छा लगता है—

सखा शुद्ध सख्ये करे स्कंधे आरोहण
'तुमि कोन् बड़ लोक? तुमि आमि सम।'

(चै० च० आ० ली० ४ प०)

सखा शुद्ध सख्यवश मेरे कंधेपर आरोहण करते हैं और कहते हैं, 'तुम कोई बड़े आदमी थोड़े ही हो? तुम और हम समान हैं।'

रागमार्ग क्यों मधुर है यह समझानेके लिये कृष्णदासने कहा है—

रागमार्गे भजे येन छाड़ि धर्म-कर्म।
....
अतएव मधुर रस कहि तार नाम।

भक्त धर्म-कर्म छोड़कर रागमार्गसे भजन करता है.....अतएव इस रसका नाम मधुर रस है।

महाप्रभुका जन्म सन् १४८५ ई० में हुआ था। चण्डीदास इनसे भी प्राचीन हैं। दिनेशचन्द्र सेनका कहना है कि चण्डीदासका जन्म चतुर्दश शताब्दीके अन्तिम भागमें हुआ था। महाप्रभु दिन-रात चण्डीदासके गानोंको गाया करते थे। वैष्णव और बाउल दोनों ही दलोंमें चण्डीदासका समान आदर है। नीलरतन मुखोपाध्यायसम्पादित 'चण्डीदासेर ग्रन्थावली' में लिखा है कि जिस आदमीने रागका सन्धान पाया है वह वेदोचित वैध आचारके रास्ते नहीं चल सकता।

रागेर भजन शुनिया विषम
वेदेर आचार छाड़े

पद ८०७

यह साधना जो कर सके केवल वही व्रजके 'नित्यधन' की प्राप्तिका अधिकारी है—

वेदविधि पार एमन आचार
याजन करिबे ये।
व्रजेर नित्य धन पाये सेइ जन
ताहार उपरे के॥

पद ७८१

इस साधनाको 'सहज' नाम दिया गया है, पर सहज होनेसे ही क्या यह सहज है? इस सहजका मर्म कितने आदमी समझ सकते हैं? जिसने समस्त 'तिमिर-अन्धकार' पार किया है वही इस सहजको समझता है—

सहज सहज सहज कह ये
सहज जानिबे के
तिमिर अन्धकार ये हइयाछे पार
सहज जेनेछे से!

पद ७९३

इसीलिये इस प्रेमसाधनाके साधकको प्रेमास्पदके समान होना पड़ता है। अपने ऊपर यदि वही हीनभाव पोषण करे तो यह साधना उसके लिये नहीं है। इसीलिये चण्डीदासने कहा है—

सखि हे, पीरिति विषम बड़
जदि पराने पराने मिशाइते पारे
तबे से पीरिति दृढ़।

पद ७८३

(हे सखि! प्रीति बड़ी विषम है। अगर प्राणसे प्राण मिलाया जा सके तब प्रीति दृढ़ होती है।)

किन्तु इस प्राण-प्राणके मिश्रणमें दोनोंको समान होना चाहिये इसीलिये समताभावभिन्न प्रीति असम्भव है—

पीरिति रतन करिब जतन
यदि समाने समाने हय।

पद ७८३

(प्रीतिरूप रत्नकी मैं यत्नपूर्वक रक्षा करूँ यदि वह समान-समानमें हो।)

किन्तु वे (भगवान्) तो ब्रह्माण्डव्यापी हैं, उन्हें कौन उपलब्ध कर सकता है? केवल प्रेमके जोरपर जो उन्हें अपने समान करके साधनामें अग्रसर हुआ है वही उनका मर्म पा सकता है—

ब्रह्माण्ड व्यापिया आछये ये जन
केह ना देखये तारे
प्रेमेर पीरिति ये जन जानये
सेइ से पाइते पारे।

पद ७९५

जो आदमी ब्रह्माण्डमें व्याप्त है उसे कोई नहीं देख सकता पर प्रेमकी प्रीति जो आदमी जानता है वही उसे पा सकता है।

मनुष्य होकर जो इतना बड़ा साहस करनेसे डरता है उसे अभय देकर चण्डीदास कहते हैं—प्रेमकी ग़रज़से भगवान्को भी मेरे समान ही एक आदमी होकर मेरे द्वार आना पड़ा है। वे मनके 'मानुष' हैं, भावके 'मानुष' हैं, चिन्मय 'मानुष' हैं। वे अगर 'मानुष' न होते तो हमलोगोंके मनुष्यत्वका मूल कहाँ है? इसी बातको रवीन्द्रनाथने अपने 'रिलीजन आफ मैन' नामक पुस्तकमें कहा है। चण्डीदासकी महावाणी भी इस प्रकार है—

स्वरूपविहने रूपेर जनम।
कखनो नाहिक हय॥

पद ८०९

स्वरूपके बिना रूपका जन्म कभी नहीं होता।

'मनुष्य-वे' 'मैं-मनुष्य' को चाहते हैं अन्यथा सहायके अभावमें प्रेमकी सिद्धि नहीं होती—

अनुगत विहने कार्यसिद्धि।
केमने साधके कय॥

पद ८०९

अनुगतके बिना कार्यकी सिद्धि, साधक होकर कोई क्योंकर कह सकता है?

इसीलिये चण्डीदासने 'मानुष-तत्त्व' को सर्वतत्त्वका सार बताया है।

चण्डीदास कहे,
शुन हे मानुष भाइ।
सबार उपरे मानुष सत्य ताहार उपरे नाइ॥

चण्डीदास कहते हैं कि हे मनुष्य भाई! सुनो, सबके ऊपर मनुष्य सत्य है, उसके ऊपर कुछ भी नहीं है!

मनुष्य अगर न हो तो भगवान्का प्रेम भी निराश्रय है। ब्रह्माण्डव्यापी परमपुरुषको इसीलिये मनुष्य प्रेमके जोरसे ही पा सकता है। इसीलिये भगवान्की तरह मनुष्यकी महिमा भी अनादि और अनन्त है।

मनुष्यकी इस महिमाका प्रचार करने जाकर कबीरने अपने आत्मपरिचयमें कहा है—

ब्रह्मा नहिं जब टोपी दीन्हा विष्णु नहीं जब टीका।
शिव शक्ती जब जनम्यो नाहीं तबहीं जोग हम सीखा॥

चण्डीदासने भी ठीक यही बात समझानेके लिये कहा है—मैं नित्य हूँ, मैं सर्वसृष्टिके आदिमें हूँ, मैं विश्वके मूलमें हूँ, मैं विश्वमय हूँ—

मा-बाप जनम ना छिल यखन।
आमार जनम हल॥
. . . .
माटिर जनम ना छिल यखन।
तखन करिछि चास॥
दिवस रजनी ना छिल यखन।
तखन गुनेछि मास॥
. . . .
कहे चण्डीदासे के आमि के तुमि।
इहा ना बुझये केह॥

पद८२३

जब माँ-बापका जन्म नहीं हुआ था तभी मेरा जन्म हुआ.........मिट्टीका भी जब जन्म नहीं हुआ था तभीसे मैंने जुताई की है, जब दिन और रात नहीं थी तभीसे मैंने महीने गिने हैं। चण्डीदास कहते हैं कि मैं कौन हूँ और तुम कौन हो, यह कोई नहीं समझता।

उन (भगवान्) के समान ही मैं भी अनादि हूँ, अनन्त हूँ। इसीलिये प्रेमकी साधनामें मैं उनसे किस बातमें कम हूँ? प्रेमकी ग़रज़से जिस प्रकार मैंने उन्हें हृदयका राजा बनाया है, उसी प्रकार वे भी प्रेमकी ग़रज़से नित्य मेरी पूजा किये बिना नहीं रह सकते। ऐसे साहसकी बात चण्डीदास ही कह सकते थे—

आमार परान पुथलि लइया
नागर करये पूजा।
नागर परान पुथलि आमार
हृदय माझारे राजा॥

पद ८१२

मेरे प्राणोंकी पुतली लेकर नागर (कृष्ण) पूजा करता है और नागरके प्राणोंकी पुतली मेरे हृदयमें राजा है।

बाउललोग कहते हैं कि भगवान्‌के दो रूप हैं। जहाँ वे ईश्वर हैं वहाँ वे विराट् हैं, ज्ञानके भी अगम्य हैं। वहाँ हमारी भक्ति, पूजा और प्रार्थना चल सकती है पर वहाँ प्रेमकी जगह नहीं है। प्रेमके स्वरूपमें वे प्रेममय प्रियतम हैं। वहाँ वे हमारे समान हैं। जयदेवके साधन-तीर्थ केन्द्रबिल्वमें एक बाउलगानमें मैंने सुना था—

ज्ञानेर अगम्य तुमि प्रेमे ते भिखारि।
द्वारे द्वारे माग प्रेम नयने ते वारि॥
कोथाय तोमार छत्रदण्ड कोथाय सिंहासन।
देखि काङालेर सभार माझे पेतेछ आसन॥
कोथाय तोमार छत्रदण्ड धुला ते लुटाय।
पातकीर चरणरेणु उड़े पड़े गाय॥
पातकीर चरणरेणु शोभे तोमार गाय।

'तुम ज्ञानके अगम्य हो, पर प्रेमके भिखारी हो। दर-दर तुम सजलनयन होकर प्रेमकी भीख माँगते फिरते हो। कहाँ है तुम्हारा छत्रदण्ड और कहाँ है तुम्हारा सिंहासन? देखता हूँ, तुमने कंगालोंकी सभामें आसन बिछाया है। तुम्हारा छत्रदण्ड किस धूलमें लोट रहा है, पातकीके चरणोंकी धूल तुम्हारे शरीरपर पड़ रही है— उसीसे तुम्हारा शरीर शोभित है।'

ईश्वर अपना ऐश्वर्य छोड़कर सबके भीतर बैठे और पातकीकी चरणरेणुने उनके अंगको शोभित किया, ऐसी बात कहनेका साहस बाउलोंको ही है। लोक और शास्त्रके सभी शासन उनके लिये व्यर्थ हैं।

बाह्य बन्धन जिस प्रकार उसके निकट कुछ भी नहीं हैं ठीक उसी प्रकार अन्तरका काम्य लोभ या दावा आदि भी उसके लिये कुछ भी नहीं है। वेतन पानेके कारण ही दासीके ऊपर बाह्य विधिका दबाव है, किन्तु पत्नीको वेतन अग्राह्य है इसीलिये वे बाह्य दबाव और विधानसे मुक्त हैं। उनकी सारी जवाबदेही उनके अपने प्रेमसे है। इसीलिये दो सौ वर्ष पहलेके नमःशूद्र बाउल गंगारामने कहा है—

दासी छिलि रानी हवि?
तबे तोर छाड़ते हवे सकल दावि।
प्रेमेइ तबे दिबि धरा
आराम विराम सब खोयावि॥
दवी दावा सकल मते, छाड़ते हइबो आपना हइते।
किसेर वा घूम, किसेर अन्न, किसेर मुक्ति, किसेर पुन्य।
गंगाराम तुइ आपन प्रेमे साँइएर प्रेमेर परश पानि।

तू दासी थी अब रानी होगी? तो फिर तुझे सारा दावा छोड़ना पड़ेगा। प्रेममें तू पकड़ी जायगी, आराम-विराम सब खोना पड़ेगा। जो कुछ तेरे दावे हैं, वह खुद-बखुद छोड़ने पड़ेंगे। तुझे नींद कहाँ, भूख कहाँ? मुक्ति कैसी, पुण्य कैसा? गंगाराम कहते हैं कि तू अपने ही प्रेममें स्वामीके प्रेमका स्पर्श पायेगी।

इस साम्यबुद्धिके अभावमें प्रेमका खेल नहीं चल सकता। दोनोंका मूल्य अगर समान न हो तो प्रेमका खेल नहीं चल सकता। चण्डीदासकी राधा कहती हैं—

तोमारे जिनिया लब आपन हृदये थोब।
नतुवा हइब तोमार दासी॥

'तुम्हें जीतकर अपने हृदयमें रक्खूँगी नहीं तो फिर तुम्हारी दासी बनूँगी।' कबीरके गानमें भी कहा गया है—

तन मन धन बाजी लागी हो
चौपड़ खेलूँ पिवसे रे तन मन बाजी लगाय,
हारी तो पियकी भई रे जीती तो पिय मोर हो।

ऐसी अवस्थामें बन्धनमें कोई बन्धन नहीं है। प्रेमकी मुक्तिमें साधक स्वयं बन्धन स्वीकार कर लेते हैं—

निर्बंधन बंधन महा बंध्या निर्बंध होइ।
प्रेमयुक्त सेवा करें मुक्त कहावें सोइ॥

मुक्तिसे ही तो उन्होंने उसे बाँध लिया! रवीन्द्रनाथने भी अपनी 'खेया' नामक पुस्तककी 'मुक्तिपाश' नामक कवितामें लिखा है—

आज नयन मेलिया ए कि हेरिलाम।
बाधा नाइ कोनो बाधा नाइ, आमि बाँधा नाइ।

....

आमि घरे बाँधा छिनु, एवार आमारे,
आकाशे राखिले धरिया, दृढ़ करिया,
सब बाँधा खुले मुक्ति बाँधने,
बाँधिले आमारे हरिया दृढ़ करिया।
रुद्ध दुआर घरे कतवार, खुंजेछिल मन पथ पालावार,
एवार तोमार आशा पथ चाहि, बसे रबं खोला दुआरे।
तोमारे धरिते हइबे वलिया, धरिया राखिब आमारे॥

आज आँख खोलकर मैंने यह क्या देखा? कोई

बाधा नहीं है, अजी मैं बद्ध नहीं हूँ। मैं घरमें बँधा था, इस बार तुमने मुझे आकाशमें पकड़ रक्खा-दृढ़ताके साथ। सब बन्धन खोलकर (अन्तमें) मुझे हरण करके तुमने मुक्तिके बन्धनसे बाँध डाला-मजबूतीके साथ। बंद दरवाजेके घरमें कितनी ही बार मन भागनेका रास्ता खोज रहा था। इस बार तुम्हारी आशाकी राहपर प्रतीक्षा करता बैठा रहूँगा। द्वार खोलो। तुम्हें पकड़नेके लिये अपनेको पकड़ रक्खूँगा।

इस अवस्थामें शास्त्र या लोकका शासन नहीं चल सकता। इसीलिये कबीरने कहा है—

तेरो को है रोकनहार, मगनसे आव चली।

फिर उन्होंने कहा है—

कोई कुच्छ कहै, कोई कुच्छ कहै,
हम अटके हैं जहँ अटके हैं।

इसी बातको पूर्वी बंगालके बाउल संत मदनने इस प्रकार कहा है। (मदनका जन्म भी आजसे लगभग दो सौ वर्ष पहले मुसलमान वंशमें हुआ था।)—

तोमार पथ ढाइक्याछे मन्दिरे मस्जेदे।
तोमार डाक शुनि साँइ, चलते ना पाइ
रुइख्या दाँड़ाय गुरुने मरशेदे।

....

तोर दुयारेइ नानान् ताला, पुरान कोरान तसवी माला।
भेख परवइ तो प्रधान ज्वाला, काँइदे मदन मरे खेदे।

मन्दिर और मस्जिदने तुम्हारा रास्ता ढक रखा है। हे स्वामी! तुम्हारी आवाज तो सुनता हूँ फिर भी मैं अग्रसर नहीं हो सकता, क्योंकि गुरु और मुर्शिद बिगड़ खड़े होते हैं.........प्यारे, तेरे ही दरवाजेपर ये इतने ताले हैं—पुराण हैं, कुरान है, तसवीह है, माला है। हाय, भेख और पक्ष (सम्प्रदाय) तो प्रधान ज्वाला है। मदन मारे खेदके रो रहा है।

मदनके भी पूर्ववर्ती बाउल नरहरिने, जो पश्चिमी बंगालके रहनेवाले थे, यों कहा है—

ताइ त बाउल हइ नु भाइ।
एखन लोकेर वेदेर भेद विभेदेर।
आर त दावि दावा नाइ।
....

भाई! इसीलिये तो बाउल हो गया हूँ। इस समय लोक और वेदके या अन्य किसी प्रकारके भेद-विभेदका दावी-दावा तो कुछ नहीं रहा।

अर्थात् यह समस्त लोकाचार और भेद-विभेदकी विधिके अतीत होनेके लिये बाउल (अर्थात् पागल, बावला) हुआ हूँ; क्योंकि बाउलकी तो कहीं भी किसीके प्रति कोई जवाबदेही नहीं है। इन्हीं जवाबदेहियोंसे बचनेके लिये सूफीलोग 'फना' अर्थात् मृत्युका आश्रय ग्रहण करते हैं। जो मर गया है, या जो पागल हो गया है उसके निकट समाज दावा ही क्या कर सकता है?

लेकिन अगर शास्त्राचार और लोकाचारको छोड़ दिया गया तो फिर साधकको साधनाकी राह कौन दिखावेगा? पूर्वी बंगालके बाउल 'जगा' का कहना यह है कि तुम्हारे अन्दर जो प्रेम है वही तुम्हें रास्ता दिखायेगा—

आछे तोरइ भितर अतल सागर
तार पाइलि ना मरम।
सेथा नाइ कूल किनारा शास्त्र धारा
नियम कि करम॥
... ...

अरे! तेरे ही भीतर अतल सागर है, तूने उसका रहस्य नहीं समझा, वहाँ न तो कूल-किनारा है, न शास्त्रधारा है, न नियम है, न कर्म है।

जगा प्रायः ढाई सौ वर्ष पहलेके साधक हैं। वे केवटवंशमें उत्पन्न हुए थे। आगे ही गंगारामका उल्लेख किया गया है। उनका भी कहना है कि बाहरकी आलोचनाको मैं कुछ भी महत्त्व नहीं देता। मुझे अपने-आपको साधनके द्वारा स्फुटित करना होगा। अन्यके भयसे या अन्यकी बात सुनकर मैं अपने मैं-पनेको छोड़कर और कोई एक चीजको प्रकाशित तो नहीं कर सकता।

बुलुक से बुलुक बुलुक यार मने या लय गो।
आपना पथेर पथिक आमि कार वा करि भय गो॥
आमेर बीजे हयइ गो आम जामेर बीजे हयइ गो जाम।
आमिर बीजे साच्चा आमि जय गुरु जय जय गो॥

जिसे जो जीमें आवे, बोले। मैं अपने पथका पथिक हूँ, मैं किसीसे डरता नहीं। आमके बीजमें आम होता ही है और जामुनके बीजसे जामुन ही। 'मैं' के बीजसे भी सच्चा 'मैं' होता है। जय गुरुदेव, जय!

मेरा जो यह 'मैं-पन' है उसकी कीमत तो कम नहीं है। भगवान् जो अनादि, अनन्त हैं वे भी आत्म-प्रकाशके लिये मेरे द्वारपर आनेको बाध्य होते हैं। प्रेमके क्षेत्रमें मैं जो उनके समान हूँ! प्रेमके खेलकी ग़रज़से उन्हें भी मेरे पैर पकड़ने पड़ते हैं। इसीलिये बाउलने गाया है—

आजि तोमार संगे आमार होरी ओगो रसराय।
आमार एकला दाय नय गो रयेछे ये तोमारो दाय॥
तोमार सुखेर चाइतो हाँसि तोमार फूकेर चाइतो वाँसि।
आमार मध्ये तोमार विलास ताइ धरते ये हय आमारो पाय॥

हे रसराज! आज तुम्हारे साथ मेरी होली होगी; मेरे अकेलेकी तो जवाबदेही नहीं है, इसमें तुम्हारी भी जवाबदेही है। तुम्हारे सुखकी हँसी तो चाहिये न? तुम्हारे फूँकके लिये वंशी तो चाहिये न? इसीलिये मेरे भीतर तुम्हारा विलास है, इसीलिये तुम्हें मेरा भी पैर पकड़ना पड़ता है।

बाउलके सिवा ऐसा प्रचण्ड साहस और किसे होगा?

प्रेमपथके पथिक सिन्धके सूफियोंकी भी यही बात है। वहाँकी सूफी-साधनाके महागुरु हैं शाह लतीफ़। १६८० और १६९० के भीतर उनका जन्म हुआ था। उनका कहना है कि तू लोकदृष्टिकी विपरीत दृष्टिसे देख, लोकगतिकी विपरीत धारासे तू चल, लोक अगर पानीकी धाराके साथ नीचेकी ओर बह रहा है तो तू उसकी उलटी दिशामें ऊपरकी तरफ जा।

अख्ख उलटी धार बाँव उलटो आम से
जे लहवारो लोक वहे त तूँ ऊँचो वह उभार।

इसे सुनकर चण्डीदासका पद याद आ जाता है—

याइबि दखिने थाकिबि पश्चिमे
बलिबि पूरब मुखे
गोपन पीरिति गोपन राखिबि
थाकिबि मनेर सुखे

—पद ७९७

दक्षिणमें जाना, पश्चिममें रहना, और पूर्वमें बोलना। गोपन प्रीतिको गुप्त ही रखना। मनके आनन्दमें रहना।

शाह लतीफ़ने कहा है, प्रियतमने मेरे हाथ-पैर बाँधकर मुझे समुद्रमें फेंक दिया और स्वयं तीरपर खड़े रहकर घोषणा की—'देख तेरे वस्त्र भीगने न पावें—

पीरच्यू न माखे वधी विधो पातारमें
उभा इयें चवन मछ ण पन्ध पोसाँ इयें।

इसपर भी चण्डीदासकी बात याद आती है—

समुद्रे पशिब नीरे ना तितिब
नाहि सुख दुख क्लेश।

—पद ७९८

समुद्रमें प्रवेश कर, पानीमें न भीज! सुख-दुःख और क्लेश कुछ भी न हो।

और—

कलक-सागरे सिनान करिबि
एलाइया माथार केश
नीरे ना भिजिबि जल ना छुइबि
सम सुख दुख क्लेश

कलंकके सागरमें, माथेके केश आलुलायित करके स्नान करना, नीरमें न भीजना, पानीसे न धुलना। सुख-दुख और क्लेश सब समान रखना।'

आगे ही बताया गया है कि बाउल मदनने दुख करके कहा था कि प्रेमधर्मका पथ लोकधर्म और विधि-व्यवस्थाने ढक लिया है—*'तोमार पथ ढाइक्याछे मन्दिरे मस्जेदे'*।

चण्डीदासने जिस प्रकार कलंकको ही माथेका मुकुट बनाना चाहा है उसी प्रकार शाह सचलने भी कहा है—वह काम कभी न करना जिससे लोग तुम्हारी प्रशंसा करते हों, जाओ उस कलंकके रास्तेको पकड़ो, सारा संसार तुम्हें धिक्कार दे—

कमून आशिक करे जेहमाँ तुहँ जि सारा हथिये।
खण मलामत कामथे मर डेह तो तानाँडिये॥

असल बात यह है कि सचल भी बाउलोंकी तरह ही बाधाहीन हैं इसीलिये उन्होंने कहा है, मैं बाह्य धर्ममें विश्वास नहीं करता। मैं प्रेममें नित्य विश्वास करता हूँ—

मजहब मूर न मन्या आउँ मूशरव मंझ मुदाम।

इस प्रकार बंगालसे लेकर सिंधतक सारे भारतके प्रेमपथिकोंका रास्ता एक ही है!

आप-बीती

(लेखक—चतुर्वेदी पं० श्रीद्वारकाप्रसादजी शर्मा)

(मेरी पुरानी डायरीके कतिपय पृष्ठ)

यद्यपि शास्त्रोक्तलक्षणाक्रान्त संत होना इस कठिन कलिकालमें कठिन है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि वर्तमान कालमें संतोंका अत्यन्ताभाव है। साधु-संतकी अचूक पहचान है उसकी स्वाभाविक परदु:खकातरता और आर्त जीवोंके प्रति दया। ऐसे साधु-संत किसी भी जाति, धर्म और देशके क्यों न हों, सबके लिये प्रणम्य हैं। ऐसे संतोंके साथ क्षणार्धके लिये भी यदि समागम हो तो मनमें विलक्षण शान्तिका संचार होता है। साथ ही पापनिरत जीवनमें अद्‌भुत क्रान्ति उत्पन्न होती है। संतका जीवन व्यक्तिगत जीवन नहीं है, प्रत्युत संतगण परोपकारके लिये ही इस धराधामपर अवतीर्ण होते हैं। जब दयामय भगवान्‌को किसी जीवपर कृपा करनी होती है तब वे उसके सामने संतके रूपमें प्रकट होते हैं। मेरी इस धारणाका आधार मेरा एक बारका व्यक्तिगत अनुभव है। उसी अनुभवका संक्षिप्त वर्णन करना इस क्षुद्र लेखका उद्‌देश्य है।

सन् १८९८ ई० के एप्रिल मासकी बात है। मुझे कारणविशेषवश सहसा इटावा त्यागना पड़ा। इटावा छोड़नेके पूर्व मनमें यह प्रश्न उठा कि इटावा छोड़ जाया जाय तो कहाँ? लड़कपनमें भगवद्भक्तोंके मुखसे श्रीनाथजीकी महिमाकी कितनी ही कथाएँ सुन रखी थीं। सुना था, श्रीनाथजी बड़े भक्तवत्सल हैं। इस कलिकालमें भी उनकी जागती कला है। हठी भक्तोंको भी वे हताश नहीं करते। कई एक हठी भक्त उनके प्रत्यक्ष दर्शन कर अपना जीवन सफल कर चुके हैं। लड़कपनमें सुनी इन कथाओंकी स्मृति उस समय सहसा जागृत हुई और वहीं जानेका निश्चय किया। इटावेसे आगरा-फोर्ट और आगरा-फोर्टसे मावलीके टिकट ले यथासमय मैं चित्तौरगढ़ जंकशनपर उतरा। यहींसे मावलीको जाना होता है। मावली उन दिनों उस स्टेशनका नाम था जिसपर उतर लोग श्रीनाथद्वारे जाते थे। मावली जानेवाली ट्रेनके छूटनेमें कई घंटोंकी देर थी; अत: मैं चित्तौरगढ़ स्टेशनके बाहर कम्पाउण्डमें एक वृक्षके नीचे दरी बिछा और बैगपर सिर रख लेट गया। थोड़ी ही देर बाद निद्रा देवीने कृपा की और मैं सो गया। टिकट तो मेरे कुर्तेकी जेबमें था, किन्तु और सब मार्गोपयोगी सामान तथा रुपये-पैसे बैगमें ही थे। नहीं मालूम कब मेरा सिर बैगके नीचे ढुलक गया और मेरी इस असावधानीसे लाभ उठा किसीने मेरा बैग गायब कर दिया। आँख खुलते ही बैग न देख चित्तकी चंचलता अवश्य बढ़ी और शरीरपर कुर्ता तथा दरीको छोड़ और कुछ भी पास न होनेपर भी मेरे पूर्वकृत संकल्पमें तिलभर भी अन्तर न पड़ा। पासका सर्वस्व खोकर भी मैं श्रीनाथजीका नाम ले मावली जानेवाली गाड़ीमें चुपचाप जा बैठा। गाड़ी चली और यथासमय उसने मुझे मावली स्टेशनपर पहुँचा दिया। वहाँ यह जानकर कि स्टेशनसे कई मील पैदल चलकर श्रीनाथद्वारे पहुँचना पड़ेगा, मन फिर चंचल हुआ; किन्तु सहृदय स्टेशनमास्टरने मेरा वृत्तान्त सुन मुझे एक बैलगाड़ीपर पीछेकी ओर बिठला दिया। यह बैलगाड़ी वह थी जो नित्य मावली स्टेशनसे फलोंकी पार्सलें श्रीनाथजीके लिये लेने आया करती थी।

जब श्रीनाथद्वारा २-३ मील रह गया, तब गाड़ीवानने यह कहकर मुझे उतार दिया कि गाड़ीपर सवारी बैठाना मना है। कोई देख लेगा तो मैं नौकरीसे छुड़ा दिया जाऊँगा। साथ ही मुझे उसने एक पगडंडी दिखलायी और कहा, इस राहसे श्रीनाथद्वारा बहुत पास है। कुछ भाड़ा तो दिया ही नहीं था, अत: गाड़ीवानसे मैंने कुछ न कह पगडंडी पकड़ी। सायंकाल हो चुका था। अन्धकार छाता जाता था; किन्तु अन्य उपाय न देख, बगलमें दरी दबा मैं चल दिया। अँधेरेमें राह भूल गया और न मालूम किधर जा निकला। अँधेरेमें चलनेसे कई बार पत्थरके ढोकोंसे पैरकी अँगुलियाँ घायल हो लोहूलुहान हो गयीं। आगे बढ़नेपर खड्ढ जान पड़े। अब धैर्यने साथ न दिया। दिनभरका भूखा-प्यासा था। पैदल चलनेका अभ्यास न था। अत: डेढ़-दो घंटे बराबर चलकर भी जब बस्ती न देख पड़ी और पैर भी जवाब देने लगे, तब एक पत्थरपर बैठ गया। आँखोंसे आँसू निकल पड़े और कातर कण्ठसे विपद्विहारी हरिका स्मरण किया। परमकृपालु भगवान् दयार्द्र हुए। एक डाँसने गर्दनपर काटा। सहसा पीछेको मुँह फेरा तो

देखा कि वहाँसे थोड़ी ही दूरपर पेड़ोंके झुरमुटमें आग जल रही है। जीमें जी आया और हिम्मत बाँध उधरकी ओर चल पड़ा। पास जाकर देखा जटाजूटधारी एक साधु धूनी धधका रहे हैं। मुझे देख वे मुसकराये और बोले—'क्यों बच्चा! कैसा भटका!' इसपर उत्तर देते हुए मैंने कहा—'भगवन्! अपरिचित मार्गपर चलनेसे बड़े-बड़े भटक जाते हैं, मैं तो इस मार्गका अभिनव बटोही हूँ।' मेरा उत्तर सुन साधु बाबा खूब जोरसे हँसे और बोले—'अँधेरेमें फिर भटक जायगा, अब रात यहीं बिता; उजाला होनेपर श्रीनाथद्वारे पहुँचा दिया जायगा। उस चट्टानपर लेट जा।' उनके इस आदेशको चुपचाप शिरोधार्य कर दरी बिछा चट्टानपर जा लेटा। भूखा-प्यासा और थका-माँदा तो था ही, अत: लेटते ही अचेत सो गया। रातभर खूब सोया, जब पौ फटी तब आँख खुली और बजाय चट्टानके अपनेको श्रीनाथद्वारेकी धर्मशालाके पीछेवाले बागमें पीपलके नीचे भूमिपर पड़ा पाया। राह चलने लगी थी। धर्मशालामें टिके लोग आपसमें बातचीत करते उधरसे आ-जा रहे थे। मैं उस समय आश्चर्यचकित था। लोगोंसे दर्याफ्त करनेपर अपनेको श्रीनाथद्वारेमें पा, अत्यन्त प्रसन्न हुआ। मैंने अपना यह वृत्तान्त कई लोगोंको बतलाया और पुनः उन साधुके निकट जाना चाहा, पर तीन दिवसतक निरन्तर खोज करनेपर भी उन साधुकी कुटिया न मिली। उस समय श्रीनाथद्वारेमें वामन नामक एक विद्वान् थे। उनके आगे जब मैंने अपना उक्त वृत्तान्त कहा, तब वे बोले—'यह सब नटवर नागरकी लीला है। साधुके रूपमें दर्शन दे श्रीनाथजीने तुझे कृतकृत्य कर दिया। तेरी यात्रा सफल हो गयी।' अस्तु।

मुझे इस प्रकार अनायास और सुरक्षित अवस्थामें उस विकट वनस्थलीसे बस्तीमें पहुँचानेवाले कोई योगी संत थे, अथवा स्वयं श्रीनाथजी, यह मैं कहनेमें असमर्थ हूँ। वे जो कोई भी क्यों न रहे हों, उस दिनसे साधु-संतोंके प्रति मुझे पूर्ण अनुराग हो गया है। मेरी धारणा तो अब यह है कि परोपकारव्रतपरायण साधुसंतोंकी कृपासे ही पापप्रधान इस कलियुगमें त्रितापसे उत्तप्त जीवोंको सुख-शान्ति मिल सकती है। अत: शान्ति एवं आत्मकल्याणकामी प्रत्येक व्यक्तिको उचित है कि वह सच्चे साधु-संतको खोजे और उनका आश्रय ग्रहण करे। क्योंकि दीनवत्सल, भक्तभयहारी एवं परमदयालु भगवान्के सच्चे प्रतिनिधि साधु-संत ही हैं। ऐसे किसी भी संतका एक क्षणका भी समागम जीवके भावी कल्याणका संकेत है।

सत्संगका स्वरूप और संतके लक्षण

(लेखक—श्रीनकुलेश्वरजी मजूमदार 'विद्यानिधि', बी० ए०)

सत्संग किसे कहते हैं? महापुरुषोंके पास बैठनेसे ही सत्संग नहीं होता। कुछ लोग महापुरुषोंके पास सदा रहते हैं तब भी सत्संग नहीं होता और कुछ लोग कभी पास नहीं रहते तब भी सत्संग हो जाता है। महापुरुषोंके पास या दूर रहनेका कोई खास अर्थ नहीं है, उनका सदा मनन या ध्यान करना चाहिये। इसीसे शास्त्र कहता है—

दूरस्थोऽपि न दूरस्थो यो यस्य मनसि स्थितः।
समीपस्थोऽपि दूरस्थो हृदये यदि न स्थितः॥

यदि महापुरुषका चित्तसे सदा चिन्तन होता है तो दूर रहनेपर भी तुम असलमें उनसे दूर नहीं हो, और यदि उनका मनन नहीं करते हो तो पास रहनेपर भी वास्तवमें उनके संगसे दूर हो। यही सत्संगका स्वरूप है।

परन्तु केवल सत्संगका स्वरूप जाननेसे ही सत्संग नहीं होता। सत्संगके लिये संत या महात्माको पहचानना चाहिये। संतके अनेकों लक्षण हैं, उनमें प्रधान ये दस हैं—(१) भक्ति, (२) भगवान्पर निर्भरता, (३) निर्भयता, (४) ज्ञान, (५) वैराग्य, (६) सरलता, (७) करुणा, (८) निर्जनप्रियता, (९) अनिन्दा और (१०) शास्त्रनिष्ठा।

पूज्यपाद श्रीशिवरामकिंकर योगत्रयानन्द स्वामीजीके जीवनमें ये दसों लक्षण पूर्णरूपमें पाये जाते थे।

(१) भक्ति—भगवान्में सहज भक्ति होना संतका पहला लक्षण है। संत भगवान्से प्रेम किये बिना रह नहीं सकते, इसीलिये वे निर्हेतुक प्रेम करते हैं। भक्त भगवान्के साथ कोई एक सम्बन्ध जोड़ लेते हैं और उसी सम्बन्धके अनुसार वे पिता, पति, स्वामी, सखा और सन्तान आदि भावोंसे भगवान्को देखते और

उनकी सेवा करते हैं। जो उच्च अधिकारी भक्त हैं, उनमें इन सभी भावोंका आविर्भाव देखा जाता है। वे भगवान्‌की कभी पिता, कभी पति, कभी स्वामी और कभी सखा आदि नाना भावोंसे सेवा करते हैं। पूज्यपाद श्रीशिवरामकिंकर स्वामीजीका यही भाव था। वे जैसे शिवभक्त थे वैसे ही रामभक्त भी। उनमें रामभक्ति अधिक प्रबल थी। उन्होंने एक दिन शिवभक्ति और रामभक्तिके सम्बन्धमें उपदेश देते हुए कहा, जो शिवभक्त हैं वे रामभक्त होंगे ही। क्योंकि शिव राममय हैं। अतएव शिवकी भक्ति करनेपर तुम्हारे हृदयमें शिवके गुणोंका विकास होगा और तुम स्वतः ही रामभक्त बन जाओगे। और यदि शिवभक्ति करते-करते तुम्हारे हृदयमें रामभक्ति न पैदा हो तो समझना तुम्हारी शिवभक्तिमें कोई कसर है।' दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर आदि भावोंमें स्वामीजीका कौन-सा भाव है इस बातको मैं सदा देखा करता था। एक दिन कथाप्रसंगमें उन्होंने कहा, 'मैं शंकरका पुत्र हूँ। मैं जोरके साथ भगवान्‌से कहता हूँ, मैं जैसे तुमको पिता कहकर पुकारता हूँ क्या कोई दूसरा इस प्रकार पुकारता है?' तब मैंने समझा कि स्वामीजी भगवान्‌को पितृभावसे भजते हैं। फिर एक दिन स्वामीजीने कथाप्रसंगमें कहा—'मुझको दास्यभाव बहुत अच्छा लगता है। वे मेरे प्रभु हैं, मैं उनका दास होकर महावीरकी भाँति सदा उनकी सेवा ही करना चाहता हूँ।' तब मैंने समझा कि स्वामीजीमें दास्यभाव प्रबल है। एक दिन मैं स्वामीजीके पास बैठा था। इतनेमें ही एक अच्छे घरानेकी स्त्री स्वामीजीके दर्शन करनेके लिये आयी। स्वामीजी उसे देखकर मुझसे बोले, 'अब मैं स्त्रियोंसे नहीं डरता। कारण, मैं स्वयं भी तो स्त्री ही हूँ। भगवान् मेरे पति हैं और मैं स्त्री बनकर उनकी सेवा करता हूँ। अतएव स्त्रीसे क्यों भय करने लगा? स्त्रीको पुरुषसे भय होता है।' तब मैंने समझा कि स्वामीजीमें मधुरभाव प्रबल है। इस प्रकार स्वामीजीके जीवनमें समय-समयपर सभी भावोंकी प्रबलता देखी जाती थी।

(२) भगवान्‌पर निर्भरता—हृदयमें भक्तिका अंकुर पैदा होते ही भगवान्‌पर निर्भरता होती है। यह संतका लक्षण है। अर्थाभाव, बीमारी, विपत्ति, कुछ भी हो, वह केवल भगवान्‌की ओर ही देखता है, दूसरी ओर नहीं। स्वामीजीके जीवनमें इस प्रकारकी असाधारण भगवत्-निर्भरताके बहुत-से उदाहरण देखे गये। बहुत दिन पहले गृहस्थाश्रममें जब स्वामीजी बराहनगरमें रहते थे नरेन्द्रदत्त नामक स्वामीजीके एक परम भक्त नवयुवक रोज दोनों वक्त स्वामीजीके पास आकर उनसे संस्कृत पढ़ते थे (यही नरेन्द्रदत्त रामकृष्ण परमहंसदेवके प्रधान शिष्य होकर स्वामी विवेकानन्दके नामसे विख्यात हुए)। एक बार स्वामीजीके घर खर्चकी कमीसे लगातार दो दिनतक चूल्हा नहीं जला। स्वामीजी सपरिवार भूखे रहे। रोज दोनों वक्त स्वामीजीके अनेकों भक्त स्वामीजीके पास आते, भगवत्कथा सुनते, शास्त्रोंकी व्याख्याएँ सुनते और आनन्दसे चले जाते। नरेन्द्रदत्त और दूसरे भक्तोंमें कोई भी इस बातको नहीं जानता था कि स्वामीजी आजकल भूखे रहते हैं। तीसरे दिन सवेरे नरेन्द्रदत्त स्वामीजीके पास बैठे तन्मय होकर आनन्दके साथ शास्त्रकी व्याख्या सुन रहे थे। इसी समय अकस्मात् एक तार आया और तारको पढ़ते ही स्वामीजीके आँखोंमें जल आ गया। नरेन्द्रदत्तसे रहा नहीं गया, वे तारका विषय जाननेके लिये व्याकुल हो उठे और स्वामीजीसे बोले, 'बाबा! सामान्य कारणसे हिमालय नहीं हिलता। आज आपकी आँखोंमें जल कैसे आ गया?' स्वामीजीने नरेन्द्रके हाथमें तार दे दिया। काशीसे एक अपरिचित शिवभक्त जमींदारने दस रुपये तारसे भेजे थे। और उसमें लिखा था—'हमारे घरमें शिवलिंग स्थापित है। रातको भगवान् शिवने स्वप्नमें मुझसे कहा, मैं दो दिनसे भूखा हूँ। मैंने तुम्हारी पूजा नहीं ग्रहण की, क्योंकि मेरा भक्त शिवरामकिंकर बराहनगरमें दो दिनसे उपवास कर रहा है। तुम उसको शीघ्र ही कुछ खर्च भेजो। उसके भोजन करनेपर मैं भोजन करूँगा। अतएव ये रुपये मेरे नहीं, शंकरके हैं। शिवरामकिंकर नामक यदि कोई सज्जन बराहनगरमें रहते हों तो इन रुपयोंको लेकर वे दासको कृतार्थ करें।'

नरेन्द्रनाथ बड़े गुरुभक्त थे। उन्हें जब मालूम हुआ कि स्वामीजी दो दिनोंसे सपरिवार भूखे हैं तब उनकी आँखोंमें पानी भर आया और वे स्वामीजीसे बोले, 'बाबा! मैं आपका शिष्य हूँ। आपने दो दिनसे कुछ भी नहीं खाया। मुझसे क्यों नहीं कहा? मैं जानता तो प्रबन्ध कर देता। दो वक्त आकर मैं आपसे पढ़ता रहा और आप अनाहारी रहे। यह भी मेरे लिये पाप हुआ। मैं तो आपका ही दास हूँ, आपकी ही सन्तान हूँ; आप

मुझपर इतना स्नेह करते हैं, फिर भी आपने मुझसे यह बात कही क्यों नहीं?' स्वामीजीने कहा, 'मेरे पिता हैं, शंकर मेरे पिता हैं। वे ही मेरी सारी देख-रेख करते हैं, फिर मैं किसी दूसरेसे अपने अभावकी बात क्यों कहने लगा? इसीलिये मैंने तुमसे नहीं कहा।' इसका नाम है भगवान्‌पर निर्भरता।

(३) निर्भयता—भक्तप्रिय भगवान् पद-पदपर भक्तकी विचित्र प्रकारोंसे रक्षा करते हैं। भगवान्‌की अनन्त कृपा प्राप्तकर भक्त बिलकुल निर्भय हो जाता है।

(४) ज्ञान—चन्द्रमाके बिना ज्योत्स्ना नहीं रह सकती। जहाँ ज्योत्स्ना है वहाँ चन्द्रमा है ही। इसी प्रकार भक्ति भी अकेली नहीं रह सकती। जहाँ भक्ति है वहाँ ज्ञान है ही। भगवद्भक्तिद्वारा भक्त निमेषमात्रमें अनन्त ज्ञानका अधिकारी, सर्वज्ञ और त्रिकालज्ञ हो सकता है। एक बार एक पण्डितने स्वामीजीकी विद्याके तेजसे चकित होकर उनसे पूछा था, 'बाबा! आपने इतनी विद्या कैसे सीखी?' स्वामीजीने कहा—तुम जैसे अध्यापकसे पढ़ते हो, इसी प्रकार मैंने समाधिमें साक्षात् शंकरसे सब विद्याएँ प्राप्त की हैं। मेरी विद्या किताबी विद्या नहीं है। यह विद्या या ज्ञान संतका चौथा लक्षण है।

(५) वैराग्य—लक्ष्मणजी जैसे सदा श्रीरामचन्द्रजीका अनुगमन करते थे, उसी प्रकार वैराग्य ज्ञानका अनुगमन करता है। ज्ञान होनेपर विषयोंमें अनित्यताका बोध होता है और अनित्यताका बोध होनेपर विषयोंमें वैराग्य हो जाता है। इसलिये भक्तके हृदयमें ज्ञान और वैराग्यका विकास होता ही है।

(६) सरलता—संत या महात्मा बालककी भाँति सरल होते हैं। एक दिन मैं स्वामीजीके पास बैठा था। स्वामीजी एक वेदमन्त्रकी व्याख्या कर रहे थे। व्याख्या करते-करते अकस्मात् उठकर किसी पुस्तकके लिये वे एक अल्मारीके पास जाकर खड़े हो गये। इसी समय कमरसे उनकी धोती खुलकर गिर पड़ी। स्वामीजीका उस तरफ लक्ष्य ही नहीं था। वे अल्मारीसे एक पुस्तक निकालकर सरलहृदय बालककी भाँति नंगे ही मेरे पास आकर बैठ गये और फिर पूर्ववत् मन्त्रकी व्याख्या करने लगे। मन्त्रकी व्याख्यामें वे ऐसे निमग्न हो रहे थे कि उनको शरीरकी सुध ही नहीं थी। बड़ी देरमें मन्त्रकी व्याख्या पूरी होनेपर स्वामीजीकी नजर शरीरपर गयी तब उन्होंने देखा कमरमें धोती नहीं है। तब वे सीधे-सादे बालककी तरह पुकार उठे—'नकुल! अरे मेरी धोती कहाँ गयी?' यह सरलता संतका छठा लक्षण है।

(७) करुणा—संतका सातवाँ लक्षण है करुणा। हमलोग उसीके प्रति करुणा करते हैं जो हमारा अपना होता है। हम कभी दूसरेपर करुणा नहीं करते। जब कभी दूसरेके प्रति करुणा करते हैं तब कम-से-कम उतने समयके लिये उसे अपना समझ लेते हैं, यह हमारी करुणाका स्वरूप है। परन्तु संतोंके लिये तो सभी अपने हैं; इसलिये वे जाति, गुण न देखकर सबपर लगातार करुणा करते हैं। वे दूसरोंको अपना बना लेते हैं और दूसरेके सुखमें महासुख और दूसरेके दुःखमें महादुःखका अनुभव करते हैं।

(८) निर्जनप्रियता—संतका आठवाँ लक्षण है निर्जनप्रियता। भक्ति स्त्रीजातिकी है। जिसके हृदयमें भक्तिका आविर्भाव हो जाता है, वह लोकसंगमें प्रीति नहीं कर सकता। वह स्वाभाविक ही निर्जनप्रिय होता है। स्वामीजी बड़े निर्जनप्रिय थे। उनके दर्शन बहुत दुर्लभ थे। जो भगवान्‌को पा लेता है वह एकान्तमें चुपचाप उनका संग करता हुआ आनन्दमें निमग्न रहता है। और जो भगवान्‌को नहीं पाता वही बहिर्जगत्‌में हो-हल्ला मचाता है। इसीसे अंग्रेजीमें कहते हैं—'Empty vessel sounds much.'

(९) अनिन्दा—संतका नवम लक्षण है अनिन्दा। जो यथार्थ संत हैं उनकी कोई निन्दा नहीं करता। क्योंकि संत वस्तुतः उन्नत होते हैं। जहाँ उन्नति है वहाँ निन्दा नहीं। उत् (ऊपरकी ओर, भगवान्‌की ओर) पूर्वक 'नम्' धातु (नत होना, to bend) से 'उन्नति' शब्द बनता है। अतएव भगवच्चरणोंमें नत होना या उनके चरणोंमें आत्मसमर्पण करना ही वास्तविक उन्नति है। विचार करके देखनेपर पता लगता है कि जगत्‌में संत-महात्मा ही असलमें उन्नत हैं, और सभी अवनत हैं। विषयके सम्बन्धसे होनेवाली उन्नति उन्नति नहीं है, वह तो अवनति है। भगवान्‌के सम्बन्धसे जो उन्नति है वही असली उन्नति है। उसीको आत्माकी उन्नति या आत्मोन्नति कहते हैं। आत्मोन्नतिकी निन्दा नहीं, क्योंकि आत्मा सबका एक ही है। आत्माके साथ सभी प्रेम करते हैं, इसीसे आत्मोन्नतिकी कोई निन्दा

या हिंसा नहीं करते। विषयसम्बन्धिनी उन्नतिमें ही निन्दा या हिंसा है। अतएव सच्चे संतकी कोई निन्दा नहीं कर सकता।

(१०) शास्त्रनिष्ठा—संतका दसवाँ लक्षण है शास्त्रानुसरण। शास्त्र और वेद भगवान्के वाक्य हैं और संत या भक्त भगवान्के वाक्यको अस्वीकार नहीं कर सकते, इसलिये वे शास्त्रानुसारी होते ही हैं।

संतके ये दस लक्षण हैं। इनमें जो पहले लक्षणको प्राप्त हो जाते हैं वे ही महापुरुष हैं। दूसरे नौ लक्षण तो उस एक लक्षणके पीछे अपने-आप ही आ जाते हैं।

संत और तप

(लेखक—श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए०)

ऋषि, विप्र, मेधावी, महात्मा, संत, सुकृती—सबके जीवनका एक ओत-प्रोत सूत्र तप है। सृष्टिसे लेकर आजतक देशों और युगोंके इतिहासमें अनेक महात्मा और अलौकिक पुरुष जन्म ले चुके हैं। उनके जीवन अनन्त विभिन्नताओंके भण्डार हैं। उनके कार्यकलाप भी विचित्रताओंसे भरे हुए हैं। परन्तु सबके अभ्यन्तरमें पिरोया हुआ एक तन्तु ऐसा है जिसके कारण ही उन पुरुषोंकी महिमा अलोकसामान्य हुई। उस शक्तिकी वैदिक संज्ञा 'तप' है।

तपसे सृष्टि होती है। प्रजापतिने लोकोंका निर्माण करनेके लिये तपका आश्रय लिया। ऋग्वेदके एक अत्यन्त प्रसिद्ध सूक्तमें स्वयम्भू भगवान्के उत्कृष्ट तपको ही सृष्टिका हेतु कहा गया है—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।

नूतन सृष्टिका प्रभवहेतु तप ही है। तम, कल्मष, आसुरी द्वन्द्व, पापकी निवृत्तिका कारण भी तपसे उत्पन्न शक्ति ही है। इसलिये जिन वीरोंने तपके द्वारा आत्मविजयके मार्गका अवलम्बन किया वे ही अलौकिक सामर्थ्यसे युक्त होकर संसार और समाजके कष्टोंका निवारण कर सके। वशिष्ठ, विश्वामित्र, जनक, याज्ञवल्क्य, मनु, अम्बरीष, ध्रुव, नारद अथवा चाणक्य, रामदास, शिवाजी, प्रताप, सूर, तुलसी आदि यच्च यावत् संत, महात्मा, अलौकिक व्यक्ति हुए हैं, सबने भोगैषणाके मार्गसे पराङ्मुख होकर धीर वृत्तिसे तप और संयमके मार्गको ही श्रेयस्कर समझा।

संतोंका वर्गीकरण दो भागोंमें हो सकता है—प्रवृत्तिमार्गी और निवृत्तिमार्गी। लोकमें दोनों ही प्राचीन कालसे प्राप्त हुई निष्ठाएँ हैं। रुचिभेदसे दोनों ही मूल्यवान् हैं। दोनोंके मूलमें तप निहित है। तपसे शक्ति उत्पन्न होती है। दिव्य अग्निसे आत्माको संस्पृष्ट करनेका तपके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग आजतक नहीं जाना गया। जबतक तपस्वी व्यक्तियोंका समाजमें अस्तित्व है तबतक वह जनसंघ दुःख या क्लेशको प्राप्त नहीं होता। तपके बलसे महात्मा लोग राष्ट्रके जीवनमें फिरसे चैतन्यका संचार करते हैं। कहा भी है—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥

(अथर्व०)

अर्थात् ऋषियोंके तप और दीक्षित जीवनसे ही राष्ट्रमें बल और ओज उत्पन्न होते हैं। महात्माओंके चरित्रोंका यही एक संदेश है कि हम भोग अथवा तमके मार्गको छोड़कर तप किंवा प्रकाश और शक्तिके मार्गका ग्रहण करें। व्यक्ति, समाज और राष्ट्रीय जीवनके अभ्युदयका यही रहस्यसूत्र है।

संत-जीवन

(लेखक—पं० श्रीराजबलीजी पाण्डेय, एम्० ए०, डी० लिट्०)

अपने व्यक्तित्वके संकीर्ण घेरेको पारकर समष्टिमें विचरनेका प्रयत्न करना संतकी साधना और अपने संकुचित जीवनके कण-कणको सर्वात्मसत्तामें सम्पूर्ण भावसे विलीन कर देना संतकी अवस्था है। यों तो जो कुछ भी है वह सत् है और वस्तुसत्ताके आधारपर ही ठहरा हुआ है। परन्तु समस्त अलग-अलग दिखायी पड़नेवाले सत्में एक ही विभुका अधिष्ठान देखकर तन्मय होनेवाला 'संत' (सत्का समुच्चय) कहलाता है।

मनुष्यसे नीचेकी योनियोंमें संत-जीवनकी योग्यता नहीं होती। निस्सन्देह उनमें सर्वात्मसत्ताकी कुछ अभिव्यक्तियाँ वर्तमान रहती हैं, किन्तु मानवजीवनमें तो उसकी सम्पूर्ण विभूतियोंका संगम है। सब जीवधारियोंमें शरीरकी भौतिक समता है और उनके पंचभूत विश्वके पंचभूतके समकक्ष होते हैं; लेकिन मनुष्यमें आनन्दमय चैतन्यकी विशेषता होती है, जो उसको सच्चिदानन्दके सम्पर्कमें ले आता है और पूर्ण आत्मानुभूतिकी अवस्थामें उसको तद्रूप बना देता है।

अपनी अभिव्यक्तियोंमें विभु अनन्त होते हुए भी सान्त, और चैतन्य होते हुए भी जडवत् प्रतीत होता है। इस लीलामें सान्त, अनन्त और जड चेतन होनेके लिये प्रतिक्षण प्रयत्न कर रहा है। यह द्वन्द्व मानवजीवनमें बहुत ही स्पष्ट और अपनी पूर्णतापर पहुँच जाता है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्र—बौद्धिक, भावनामय और नैतिक—में इस संघर्षका अनुभव होता है। लेकिन जबतक मनुष्य सान्त और बद्ध है तबतक अनन्त तथा स्वतन्त्र दिव्य जीवनकी अवस्थामें कैसे पहुँच सकता है। बद्ध जीवात्मा स्वावलम्बी वस्तुतत्त्व नहीं है। वास्तविकता तो अनन्तमें ही है। वह समझता है कि पूर्णावस्थाकी प्राप्ति तभी हो सकेगी जब वह अपने अहंकारको पूर्णतया नष्टकर अपने सान्त जीवनको अनन्त सत्तामें मिला देगा।

इस प्रकार जड और सान्तसे असन्तुष्ट हुआ मानव-आत्मा दूसरी योनियोंके जीवात्माओंसे श्रेष्ठ है, परन्तु वह अपना चरम साध्य नहीं। उसको अपनी परा प्रकृतिपर पूर्ण अधिकार, निष्कण्टक स्वाराज्य, जीवनमें सामंजस्यकी प्रसन्नता और कैवल्यका आनन्द प्राप्त करना है। विषमता, विरोध और संघर्ष अपूर्णताके लक्षण हैं; सामंजस्य, आनन्द और शान्ति पूर्ण विकासके द्योतक हैं। मानवजीवनकी पूर्णता तभी सम्भव है जब परमात्मा जीवात्मामें अपना अनुभव करता है; जब सान्त अनन्त हो जाता है। जड प्रकृतिने जीवनको छिपा रखा है। जब जीवन प्रकट होता है तब प्रकृति सफल होती है। जीवनने चेतनाको गुप्त कर रखा है। जब वह उसको व्यक्त कर देता है तभी उसकी सफलता है। चेतना तभी सार्थक होती है जब उसमें सुषुप्त बुद्धि जाग्रत् हो उठती है। और बुद्धि अपनी पूर्णावस्थाको तभी पहुँचती है जब वह सहज अनुभवमें बदल जाती है। यह अनुभव विचार, भाव अथवा इच्छा नहीं किन्तु सबका अन्तिम उद्‌देश्य है। इस अनुभवमें जब सान्त जीवात्मा अनन्तको पा लेता है तब उसको आध्यात्मिक जीवनकी सफलता मिल जाती है।

पहुँचा हुआ संत सर्वदा अनन्तके साथ अपने साधर्म्यका अनुभव करता है। उसका वैश्वानर शरीर विराट्का विश्व है। जाग्रत् अवस्थामें उसे मालूम पड़ता है कि सारे संसारकी हलचल उसके भीतर हो रही है; कुछ भी उसके बाहर नहीं और वह सम्पूर्ण सत्ताओंकी समष्टि है। संतका तैजस प्राणमय शरीर हिरण्यगर्भ—विश्वका आधार—है। स्वप्नावस्थामें संत समझता है कि सारा विश्व उसीके ऊपर विश्राम कर रहा है। उसका प्राज्ञ मानसिक रूप स्वयंप्रज्ञ ईश्वर है, जो सम्पूर्ण सृष्टिको उत्पन्न करके उसका नियमन करता है। संतकी सुषुप्ति प्रलयावस्था है, जो भूत और भावी सर्गकी श्रृंखलाको अपनी अटूट प्रज्ञासे जोड़ती है। संत अपनी तुरीयावस्थाके सहज अनुभवमें आनन्दमय ब्रह्म है। यहाँ अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय शरीर तथा इनके समकक्ष विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वरकी चेतना विलीन हो जाती है; यहाँ कर्ता और कर्म, द्रष्टा और दृश्यका भेद दूर हो जाता है और स्वयं अपने-आपमें रमण करना होता है। यह अतिरेकी आनन्दकी अवस्था है, जहाँ संसारके सब क्लेश और सन्ताप छूट जाते हैं।

संत-जीवनका यही दार्शनिक आधार है और इसीसे उसका नैतिक जीवन प्रभावित होता है। आत्मानुभव सदाचरणका जीवन है। पाशविक वासनाएँ और आहंकारिक महत्त्वाकांक्षाएँ मनुष्यकी प्राणशक्तिको निम्नगामिनी बनाकर उसके आत्मिक जीवनको अवरुद्ध कर देती हैं। इसलिये आध्यात्मिक जीवनमें उनका निरोध करना अत्यन्त आवश्यक है। संतका जीवन बुद्धि, ज्ञान और अनुभवसे संचालित होता है, इन्द्रियोंसे नहीं। इसीको लक्ष्य करके कठोपनिषद्‌में कहा गया है, 'शरीररूपी रथमें बैठे हुए आत्माको पहचानो। बुद्धि इसका सारथि, मन लगाम और इन्द्रियाँ घोड़े हैं जो विषयरूपी मार्गपर चलती हैं।…जो बुद्धिहीन और दुर्बल मनवाला है उसकी इन्द्रियाँ वशमें न रहकर दुर्विनीत घोड़ेके समान उसे ले भागती हैं। किन्तु जो मनस्वी और बुद्धिमान् है उसकी इन्द्रियाँ उसके वशमें रहती हैं। जो दुर्बुद्धि,

विवेकहीन और कलुषित आचरणवाला है वह सनातन दिव्य अवस्थाको नहीं प्राप्त कर सकता और बार-बार जन्म-मरणके बन्धनमें आता है। परन्तु बुद्धिमान्, विवेकी और सदाचारी उस पदको प्राप्त करता है जहाँसे लौटना नहीं होता।'

संतका ज्ञानमय जीवन विश्वकी स्वार्थहीन सेवा है। ज्ञान यही सिखलाता है कि समष्टिके कल्याणके परे व्यक्तिका, जो उसीका एक अंश है, कोई स्वार्थ नहीं है। मनुष्य मानसिक विक्षोभसे तभी छुटकारा पाता है जब वह व्यक्तिगत वासनामय जीवनका परित्याग करता है। सहानुभूति और सेवाके जीवनमें आत्माका विस्तार होता है। स्वार्थमय जीवन आत्मघात है। इस पापसे बचनेके लिये उसको छोड़ना होगा। अहंकारसे ही कुनीतिकी वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। किन्तु संतमें अहंकारका अभाव होता है और वह समझता है कि संसारके सब प्राणी और पदार्थ परमात्मामें और परमात्मस्वरूप हैं तथा वह स्वयं तन्मय है। संतका जीवन भगवान्में केन्द्रित और जीवमात्रके लिये प्रेम, करुणा और मैत्रीके भावोंसे भरा हुआ रहता है। उसमें काम, क्रोध तथा लोभका बिलकुल अभाव होता है।

सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग नहीं किन्तु स्वार्थमय कर्मोंका त्याग ही संत-जीवनमें पाया जाता है। संसारसे वैराग्यका अर्थ परमात्मामें पूर्ण अनुरक्ति है, जिसका अनुभव विश्वके प्रति निःस्वार्थ प्रेम और उसकी विशुद्ध सेवासे ही हो सकता है। आदर्श संतमें भी कामनाएँ होती हैं। हाँ, वे व्यक्तिगत स्वार्थकी नहीं, विश्वकल्याणकी होती हैं। कामका त्याग संतके लिये परम आवश्यक बतलाया गया है, किन्तु यहाँ कामका अर्थ पाशविक वृत्तियाँ हैं। कामनाकी अच्छाई अथवा बुराई उसके उद्देश्यपर अवलम्बित है। यदि विषयोंकी कामना है तो मनुष्य विषयी होगा, सौन्दर्यकी कामना है तो कलावित् और परमात्माकी कामना है तो वह संत होगा। सृष्टिके मूलहीमें भगवान्की कामना है, फिर संत कामनारहित क्यों हो? परमात्माके आनन्दातिरेकसे उत्पन्न हुए विश्वके नाटकमें सभी निमन्त्रित हैं, जहाँ तप, त्याग, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्य, प्रेम, दया, करुणा, मैत्री आदिका अभिनय करना है। संसारका बन्धन वासनामूलक है; इसलिये इससे छुटकारा पानेके लिये समाजको छोड़कर जंगलमें जाना आवश्यक नहीं, किन्तु इसमें रहते हुए त्यागका जीवन बिताना है।

यह सत्य है कि संतके जीवनमें ज्ञानकी प्रधानता और नीतिका स्थान गौण होता है। किन्तु इससे नीतिका तिरस्कार नहीं समझना चाहिये। अकेला ज्ञान भी बाह्य और आन्तरिक शुद्धिके बिना व्यर्थ है। 'यह आत्मा व्याख्यान, मेधा और प्रचुर शास्त्रज्ञानसे नहीं प्राप्त होता' (मुण्डकोपनिषद्)। आध्यात्मिक साधनामें प्रवेश करनेके लिये नैतिक जीवन अनिवार्य है। श्रद्धायुक्त और आत्मिक शक्तिके रूपमें परिणत ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। जिस प्रकार वृक्षकी उपयोगिता उसके फूलने-फलनेमें है उसी प्रकार ज्ञानकी सार्थकता कर्तव्य कर्मके पालनमें है। जब यह कहा जाता है कि अमुक व्यक्तिने ज्ञान प्राप्त कर लिया है तो इसका यह अर्थ होता है कि उसने सत्यका अनुभव करके अपने जीवनको तदनुकूल बना लिया है। सर्वमान्य ग्रन्थ गीतामें ज्ञानका लक्षण नैतिक शब्दावलीहीमें बतलाया गया है।

नैतिक जीवनकी गौणताका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार ज्ञानकी पराकाष्ठा बौद्धिक धरातलपर नहीं पहुँचती किन्तु सहज अनुभवमें प्राप्त होती है, उसी प्रकार नैतिक जीवनका आदर्श नीतिमें नहीं उपलब्ध हो सकता बल्कि उसका पूर्ण उत्कर्ष धार्मिक अनुभवमें ही हो सकता है। नैतिक क्षेत्रमें जीवनके दो अंग सान्त और अनन्तमें संघर्ष चला करता है। सान्तसे अहंकार और स्वार्थकी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, और अनन्त सम्पूर्ण विश्वमें अपनी अनुभूतिके लिये व्याकुल बना रहता है। इस अनुभूतिमें निम्नगामिनी प्रवृत्तियोंसे बाधा उत्पन्न होती है। इस बाधाको रोकनेके लिये नैतिक संयम-नियमकी आवश्यकता होती है। किन्तु केवल यम-नियमसे हम अपनी कुवृत्तियोंको पूर्णतः नहीं रोक सकते। इनका उद्गम तो अहंकारमें है। जबतक धार्मिक चेतनासे अहंकारका विश्वात्मामें सर्वथा लय नहीं किया जाता तबतक कोई पूरा नैतिक नहीं हो सकता। इसी चेतनामें विचरण करता हुआ संत नीतिसे ऊपर उठ जाता है, किन्तु उसके जीवनमें नीतिका अभाव नहीं परन्तु अन्तर्भाव होता है।

संत नीति-अनीति और शास्त्रके विधि-निषेधसे ऊपर होता है। जिसने परमतत्त्वको प्राप्त कर लिया है वह सब नियमोंसे परे है (कौषी० उप०)। वह अतीतमें किये गये अपने सम्पूर्ण कर्मोंसे निश्चिन्त हो जाता है।

जिस समय संत परमात्माको प्राप्त कर लेता है उस समय उसका सारा व्यक्तित्व दिव्य ज्योतिसे प्रकाशित हो उठता है, जिसमें कुनीति और कलुष सब जलकर भस्म हो जाते हैं। नीति उसके लिये समस्या नहीं। उसकी इच्छाशक्ति भगवान्की इच्छा और उसका जीवन भगवान्का जीवन है। वह पूर्णसे मिलकर समस्त विश्वकी पूर्ण संगति और सामंजस्यमें निवास करता है।

शास्त्रका बन्धन संतके लिये नहीं होता। वह अपने लिये स्वयं शास्त्र है। अपने और अपने संसारके ऊपर उसका पूर्ण आधिपत्य है। जिन्होंने अहंता और ममताका त्याग कर दिया है उनके लिये शास्त्र तो उनका जीवन ही बन जाता है। संतमें अनीतिकी सम्भावना नष्ट हो जाती है। शास्त्रके बाह्य नियम उसकी अन्त:प्रेरणामें बदल जाते हैं। संतके कर्म आत्माके सहज प्रवाहमें मिल जाते हैं। उसके लिये शास्त्रीय नियन्त्रणकी आवश्यकता नहीं।

संत-जीवनका यह चित्र संसारमें भगवान्की दिव्य विभूति है। साधारण मनुष्योंके लिये, जो अपनी वासनाओंके वशीभूत होकर अज्ञानान्धकारमें भटकते फिरते हैं, विशाल ज्योति:स्तम्भ है, जिसके प्रकाशमें उनको सत्यका मार्ग दिखलायी पड़ता है। आध्यात्मिक साधनाका सर्वप्रथम चरण ऐसे संतोंका साहचर्य है। हमारे सच्चे गुरु भी संत ही हैं, जिनकी कृपासे अखण्ड सर्वव्यापक तथा सर्वात्मसत्ताका दर्शन होता है।

संतोंको प्रणाम

(हरिगीतिका)

(१)

उन संत वीरोंको हमारा, बार बार प्रणाम है,
जिनमें जगत्-कल्याणकी ही, कामना निष्काम है।
संसारका उपकार ही जिनका, अनोखा स्वार्थ है,
जीवन समर्पण कर दिया, फिर तो सभी परमार्थ है॥

(२)

उन संत वीरोंको हमारा, बार बार प्रणाम है,
निर्वाणकी जिनमें भरी, सद्भावना उद्दाम है।
परलोक-हितमें लीन हैं, जबतक यहाँ जीते रहें,
आदर्श बन कर्मण्य, सेवाकी सुधा पीते रहें॥

(३)

उन संत वीरोंको हमारा, बार बार प्रणाम है,
रहता चमकता ही सदा, जिनके हृदयका धाम है।
फोकट न फोनोग्राफ ज्यों, सुनकर सुनाते ही नहीं,
उनको जहाँ अवसर मिला, करके दिखाते हैं वहीं॥

(४)

उन संत वीरोंको हमारा, बार बार प्रणाम है,
जिनको सदा अपने नियमका, ध्यान आठों याम है।
संकट पड़ें आकर अनेकों, शान्तिसे सह जायँगे,
पर छोड़कर प्रणको, प्रवाहोंमें नहीं बह पायँगे॥

(५)

उन संत वीरोंको हमारा, बार बार प्रणाम है,
जिनका हृदय रहता सदा, फूला-फला आराम है।
जो प्रेमहीकी नीतिसे, जीवनकला सिखलायँगे,
संसारकी सब वस्तुओंमें, प्रेम ही दिखलायँगे॥

(६)

उन संत वीरोंको हमारा, बार बार प्रणाम है,
अन्यायके संहारको, जिनका सदा संग्राम है।
अभिमानपोषणके लिये, हिंसा कभी करते नहीं,
पर नीतिरक्षणके लिये, संहारसे डरते नहीं॥

(७)

उन संत वीरोंको हमारा, बार बार प्रणाम है,
जिनकी प्रखरतम बुद्धिको, रहता नहीं विश्राम है।
पर बुद्धिके न प्रवाहमें, जो विश्वका भूलें भला,
हाँ, अन्धश्रद्धासे न जो, विज्ञानका घोटें गला॥

(८)

उन संत वीरोंको हमारा, बार बार प्रणाम है,
जीवन बिताना त्यागमय ही, एक जिनका काम है।
पर त्यागके अनुरागमें, सेवा कभी त्यागें नहीं,
देकर दुहाई मोक्षकी, संसारसे भागें नहीं॥

(९)

जैसे बने हैं पात्र, वैसा खेल तो बतलायँगे,
वे संत दुनियाके लिये, आदर्श बनकर जायँगे।
सीखा जिन्होंने प्रेमसे, सेवा-धरम बहु भाँतिका,
उनका विमल चारित्र्य ही, आधार मानवजातिका॥

(१०)

कर्तव्य करनेकी जिन्हें, सच्ची लगनसे बान हो,
सम्मानमें अपमानमें जिनका न कोई ध्यान हो।
चाहे न पूछे बात भी कोई कभी सद्भावसे,
उनको निराशा क्यों रहे? जब काम करना चावसे॥

(११)

देखा जिन्होंने भेदभावोंसे भरे संसारको,
जो चाहते सबके, समन्वयपूर्ण सच्चे प्यारको।
निज धर्ममें है प्रेम, पर, परधर्ममें हो द्वेष क्यों?
भगवान्‌के सब पुत्र हैं, फिर भी परस्पर क्लेश क्यों?

(१२)

संदेश जिनके स्पष्ट हैं, निष्पक्षतासे युक्त हैं,
जो भक्त हैं प्रभु सत्यके, दुर्बन्धनोंसे मुक्त हैं।
मिथ्यात्व तममें जो प्रकाशित सूर्यचन्द्र ललाम है,
उन संत वीरोंको हमारा, बार बार प्रणाम है॥

—डाँगी सूर्यचन्द्र सत्यप्रेमी

कर्मयोगी संत

समर्थ गुरु श्रीरामदासका संत-स्तवन

(लेखक—पं० श्रीनरदेवजी शास्त्री 'वेदतीर्थ')

भारतवर्षमें कौन ऐसा व्यक्ति है जो समर्थ गुरु रामदासके नामको न जानता हो। 'संत' शब्दसे प्राय: उस महान् व्यक्तिका बोध होता है जो संसारसे कुछ सम्बन्ध नहीं रखता, जो अन्तर्मुख रहता है, जो शत्रु, मित्र, उदासीन, सभीसे समान व्यवहार रखता है, जो कभी किसीका अनिष्ट नहीं चाहता, जो अपकारका बदला उपकारसे देता है—प्राय: ऐसा पुरुष 'संत' कहलाता है। संत प्राय: निवृत्तिमार्गी ही हुए हैं, प्राय: ध्यानयोगी ही हुए हैं; पर गुरु समर्थ रामदास कर्मयोगी संत हुए हैं और अपने ढंगके वे अकेले ही हैं। उनके 'दासबोध' में जिस अनूठे ढंगसे संसारके स्वार्थ और परमार्थका मेल बैठाया गया है वह एक अद्भुत वस्तु है।

उन्होंने संसारको साधकर परमार्थ साधनेकी उत्तम युक्ति बतलायी है।

'संत' क्या है इस विषयमें समर्थ रामदास कहते हैं—

आतां वंदीन संत सज्जन॥
जे परमार्थाचे अधिष्ठान॥
जयांचेनि गुह्य ज्ञान॥
प्रगटे जानीं॥ १॥

अब मैं संत सज्जनको नमस्कार करता हूँ, जो परमार्थका अधिष्ठान है और जिससे संसारमें, जनतामें, जनसाधारणमें गूढ़-से-गूढ़ ज्ञान सुलभ रीतिसे प्रकट होता है।

जे वस्तु परम दुर्लभ॥
जयाचा अलभ्य लाभ॥
तेचि होय परम सुलभ॥
सत्संगें करूनी॥ २॥

जो वस्तु परम दुर्लभ है, जो बड़ी कठिनतासे मिलती है, वही जिसके संगसे सुलभ हो जाय वही सच्चा संत है।

वस्तु प्रगटची असे॥
पाहतां कोणासच न दिसे॥
नाना साधने सायासें॥
न पडे ठायीं॥ ३॥

वस्तु तो प्रकट ही है, पर जब देखने लगें तो दीखती नहीं, नाना कष्ट करने-सहनेपर भी पल्ले कुछ नहीं पड़ता—

जेथें परीक्षावंत ठकले॥
नातरी डोळासचि अंध झाले॥
पाहत असतांच चुकले॥
निज वस्तूसी॥ ४॥

जहाँ परीक्षा करनेवाले भी हार गये, सुजाखे भी अन्धे हो गये, देखते-देखते भूल गये—

जे दीपाचेनि दिसेना॥
नाना प्रकाशे गवसेना॥
नेत्रांज नेही वसेना॥
दृष्टी पुढें॥ ५॥

जो दीपकसे नहीं दिखलायी पड़ता, नाना प्रकारके

प्रकाश भी जहाँ फीके पड़ जाते हैं, जहाँ आँखोंके अंजन भी फलीभूत नहीं होते उस वस्तुको सुलभ रीतिसे समझानेवाला ही सच्चा संत है।

सोळाकळी पूर्णशशी॥
दाखवू शकेना वस्तूसी॥
तीव्र आदित्य कलाराशी॥
तो ही दाखवीना॥ ६॥
जया सूर्याचेनि प्रकाशे॥
उर्णतंतू तोही दिसे॥
नाना सूक्ष्म पदार्थ भासे॥
अणु रेणु आदिक॥ ७॥
चिरले बालाग्र तेंही प्रकाशी॥
परि तो दाखनीना वस्तूसी॥
तेंचि जयांचेनि साधकासी॥
प्राप्त होय॥ ८॥

षोडश कलावाले चन्द्रमा भी जहाँ हार जाते हैं, कुछ दिखा नहीं सकते। सूर्य भी जहाँ फीके पड़ जाते हैं ऐसे सूर्यराज जिनके प्रकाशमें अणु-रेणुतकका पता चल जाता है, जिनके प्रकाशमें बालके अग्रभागके भी शतशः टुकड़े किये जा सकते हैं। जहाँ ऐसे तत्त्वको सुलभ रीतिसे साधक लोग समझ सकते हैं, वही तो संत है।

जेथें आक्षेप आटले॥

जहाँ सब आक्षेप समाप्त हो जाते हैं।

जेथें प्रयत्न पस्तावले॥

जहाँ सब प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं।

जेथें तर्क मदावले॥

जहाँ तर्क-वितर्कोंकी समाप्ति होती है।

तर्किता निजवस्तूसी॥ ९॥

और जहाँ—

वळे विवेकाची वेगडी॥
पड़े शब्दाची बोबडी॥
जेथें मनाची तांतडी॥
कामा नये॥ १०॥

विवेकके हाथ-पैर ढीले पड़ जाते हैं, जहाँ शब्दजाल, शब्दकोश समाप्त हो जाते हैं, जहाँ संसारको प्रतिक्षण मनमाना नाच नचानेवाले मनीराम भी अपनी चौकड़ी भूल जाते हैं—वहीं तो संत काम आते हैं।

जो बोलकेपणें विशेष॥
सहस्त्रमुखाचा शेष॥
तो ही शिणला निःशेष॥
वस्तु न सांगवे॥ ११॥

जहाँ सहस्रमुख शेष (नाग भी) थक जाते हैं और कुछ कह नहीं सकते वहाँ संत सज्जन क्षणभरमें सब कुछ समझा देते हैं।

वेदे प्रकाशिले सर्वही॥
वेदे विरहित कांहीं नाहीं॥
तो वेद कोणासद्‌दी॥
दाखवू शकेना॥ १२॥

वेदने किसी वस्तुपर प्रकाश नहीं डाला, वेद न हो तो कुछ भी नहीं, पर ऐसे वेद भी जिस तत्त्वको यथार्थरूपमें नहीं बतला सकते उसी बातको—

तेचि वस्तु सत्संगे॥
स्वानुभवे कळो लागे॥
त्याचा महिमा वचनीं सांगे॥
ऐसा कवण॥ १३॥

संतसमागमसे स्वानुभवद्वारा जान सकते हैं, ऐसे संतकी महिमाको कौन बखान सकता है?

संत मायातीत अनन्तका पता दे देते हैं। संत मुखसे एक शब्द नहीं निकालेंगे और गूढ़तत्त्वको समझा देंगे, यह है करामात संतोंकी। संत क्या हैं? आनन्दका खेल हैं। संत क्या हैं? सुखकी साक्षात् मूर्त्ति हैं। संत क्या हैं? संत विश्रामका भी विश्राम हैं। संत क्या हैं? संत धर्मका क्षेत्र हैं, सत्यकी मूर्ति हैं। विवेकका भण्डार हैं, पुण्यकी पवित्र राशि हैं। संत क्या हैं? ईश्वरप्राप्तिका सच्चा संकेत हैं। ये संत ऐसे हैं कि—

ऐसे संत श्रीमंत॥
जीव दरिद्रि असंख्यात॥
नृपति केले॥ २१॥

वे इतने श्रीमन्त हैं कि उन्होंने असंख्य दरिद्र जीवोंको राजा बना दिया है। उदार दानशूर, कोरे ज्ञानीलोग जो न कर सकें, संत उसे क्षणभरमें कर देते हैं—

महाराजे चक्रवर्त्ती॥
झाले आहेत, पुढे होती॥
परंतु कोणी सायुज्यमुक्ति॥
देणार नाहीं॥

सैकड़ों चक्रवर्ती हुए और भविष्यमें भी होंगे, पर सायुज्यमुक्ति देनेवाले संत विरले ही मिलेंगे।

जे त्रैलोक्ये नाहीं दान॥
तेंचि करिती संत सज्जन॥
तया संतांचे महिमान॥
काय म्हणोनि वर्णावे॥ २४॥

संत तो इस त्रिलोकीमें ऐसा दान करते हैं कि वैसा दान कोई नहीं कर सकता, ऐसे संतोंकी महिमाको वर्णन करनेकी शक्ति किसमें है?

जो तत्त्व त्रिलोकीसे न्यारा है, जिसको वेद भी नहीं जान सके, उसी परब्रह्म तत्त्वको जो समझावे वही तो संत है।

ऐसा संताचा महिमा॥
बोलिजे तितुकी उणी उपमा॥
जयाचेनि मुख्य परमात्मा॥
प्रकट होय॥ २६॥

यह है संतोंकी महिमा, जितना वर्णन किया जाय थोड़ा है। जिससे परमात्मा साक्षात् प्रकट हो जाते हैं, उस संतकी महिमाको कोई नहीं कह सकता।

श्रीसमर्थ रामदास स्वयं ऐसे संतोंमें थे, किन्तु थे वे प्रवृत्तिमार्गी, कर्मयोगी संत—वे ध्यानयोगी तो थे पर कर्मयोगी भी थे। इसीलिये महाराष्ट्रकी गुफाओंमें बैठकर ध्यान भी लगाते थे और ध्यानको सँभालकर महाराष्ट्रको भी सँभालते रहे। धन्य शिवाजी, धन्य महाराष्ट्रभूमि जिसको ऐसे संत मिले!

मध्ययुगके संतोंका सामान्य विश्वास

(लेखक—श्रीहजारीप्रसादजी द्विवेदी)

मध्ययुगके संतोंमें मत, साधनापद्धति और आचार-विचारसम्बन्धी नाना मतभेदोंके साथ भी एक साम्य है। इसी साम्यके कारण मध्ययुगका सारा भक्ति-साहित्य एक विशेष श्रेणीका साहित्य हो सका है। कुछ बातें तो ऐसी थीं जो प्राचीनतर साधकोंमें वर्तमान थीं और मध्ययुगके सभी साधकों और संतोंने उन्हें समानभावसे पाया था।

सबसे पहली बात जो इस सम्पूर्ण साहित्यके मूलमें है यह है कि भक्तका भगवान्‌के साथ एक व्यक्तिगत सम्बन्ध है। भगवान् या ईश्वर इन भक्तोंकी दृष्टिमें कोई शक्ति या सत्तामात्र नहीं है बल्कि एक सर्वशक्तिमान् व्यक्ति है जो कृपा कर सकता है, प्रेम कर सकता है, उद्धार कर सकता है, अवतार ले सकता है। निर्गुणमतके भक्त हों या सगुणमतके, भगवान्‌के साथ उन्होंने कोई-न-कोई अपना सम्बन्ध पाया है। निर्गुणमतवादियोंमें श्रेष्ठ कबीर कह सकते हैं—'हे भगवान्! तू मेरी माँ है, मैं तेरा बालक हूँ; मेरा अवगुण क्यों नहीं बख्श देता? पुत्र तो बहुत-से अपराध करता है, किन्तु माँके मनमें वे बातें नहीं रहतीं। बालक अगर उसके केश हाथोंसे पकड़कर उसे मारे भी तो माता बुरा नहीं मानती। बालकके दुखी होनेपर वह दुखी होती है[1]।' इसी प्रकार दादू कह सकते हैं—'हे केशव! तुम्हारे बिना मैं व्याकुल हूँ, मेरी आँखोंमें पानी भर आया है; हे अन्तर्यामी, तुम अगर छिपे रहोगे तो मैं कैसे बच सकता हूँ! तुम स्वयं छिप रहे हो, मेरी रात कैसे कटेगी? तुम्हारे दर्शनके लिये जी तड़प रहा है[2]!' सूरदास कह सकते हैं—'तुम्हारी भक्ति ही मेरे प्राण हैं; अगर यही छूट गयी तो भक्त जियेगा कैसे? पानी बिना प्राण कहीं रह सकता है[3]?'

जो लोग कबीर आदि भक्तोंको 'ज्ञानाश्रयी', 'निर्गुनिया' आदि कहते हैं वे प्रायः भूल जाते हैं कि निर्गुनिया होकर भी कबीरदास भक्त हैं और उनके

---

१. हरि, जननी! मैं बालक तेरा। काहे न औगुन बगसहु मेरा॥
सुत अपराध करे दिन केते। जननीके चित रहे न तेते॥
कर गहि केस करे जो घाता। तऊ न हेत उतारै माता॥
कहे कबीर एक बुद्धि बिचारी। बालक दुखी दुखी महतारी॥

२. तुम बिन ब्याकुल केसवा, नैन रहे जल पूरि।
अन्तरजामी छिप रहे, हम क्यों जीवें दूरि?
आप अपरछन होइ रहे, हम क्यों रैन बिहाइ।
दादू दरसन कारने तलफि तलफि जिय जाइ॥

३. तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान।
छूटि गये कैसे जन जीवत ज्यों पानी बिन प्रान॥

'राम' वेदान्तियोंके ब्रह्मकी अपेक्षा भक्तोंके भगवान् अधिक हैं। अर्थात् केवल सत्ता, केवल ज्ञानमयतासे भिन्न व्यक्तिगत ईश्वर हैं। इसीलिये कबीरदास आदि भक्त ज्ञानी होते हुए भी प्रेममें विश्वास रखते हैं।

उस युगके इस रहस्यको समझनेके लिये सगुण भावसे उपासना करनेवाले भक्तोंकी कुछ बातें समझनी पड़ेंगी। भागवतमें एक श्लोक आता है जिसमें बताया गया है कि अखण्डानन्दस्वरूप तत्त्वके तीन रूप हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्।[1] जो ज्ञानाश्रयी भक्त भगवान्के केवल चिन्मय रूपका साक्षात्कार करते हैं वे उसके एक अंशमात्रको जानते हैं और अपने ज्ञानके द्वारा उस चिन्मय अंशमें लीन होनेका दावा करते हैं। यही केवल ज्ञानस्वरूप ब्रह्म कहा जाता है। इस मतमें ज्ञान निराकार होता है और ज्ञाता और ज्ञेयके विभागसे रहित होता है। दूसरा स्वरूप परमात्माका है। इस रूपके उपासकोंमें शक्ति और शक्तिमान्का भेद ज्ञात रहता है। यह स्वरूप योगियोंका आराध्य है। किन्तु भक्तोंके भगवान् परिपूर्ण सर्वशक्तिविशिष्ट हैं। भक्त ही भगवान्की सारी शक्तिके रसका अनुभव कर सकता है, इसीलिये भक्तकी सबसे बड़ी कामना यह है कि वह भगवान्का प्रेम प्राप्त करे। मोक्षको, अर्थात् भगवान्के एक अंशमें लीन हो जानेको, वह कभी पसन्द नहीं करता। मोक्ष उसके मतसे परमपुरुषार्थ नहीं है, प्रेम ही परमपुरुषार्थ—'**प्रेमा पुमर्थो महान्।**' यह दूसरी बड़ी बात है जिसमें उस युगके प्रायः सभी भक्त एकमत हैं। इसको वे नाना रूपमें कहते हैं। कोई कहता है—'हे भगवान्! मुझे दर्शन दो, मुझे तुम्हारी मुक्ति नहीं चाहिये। हे गोविन्द! मुझे ऋद्धि-सिद्धि नहीं चाहिये, मैं तुम्हींको चाहता हूँ। हे राम! मैं योग नहीं चाहता, भोग नहीं चाहता, मैं तुम्हींको चाहता हूँ। हे देव! मैं घर नहीं माँगता, वन नहीं माँगता, मैं तुम्हींको माँगता हूँ! मैं और कुछ नहीं माँगता, केवल दर्शन माँगता हूँ[2]!' कोई कहता है, 'न मुझे धर्म चाहिये, न अर्थ चाहिये, न काम चाहिये और न निर्वाण ही चाहिये। मैं यही वरदान माँगता हूँ कि जन्म-जन्म रघुपतिकी भक्ति मिले[3]!' कोई दूसरा बताता है कि 'आठों सिद्धि और नवों निधिका सुख वह नन्दकी गाय चराकर बिसार सकता है, करोड़ों कलधौतके धाम करीरके कुंजोंपर कुर्बान कर सकता है, कामरी और लकुटिया उसे मिल जाय तो त्रैलोक्यका राज्य वार सकता है[4]!'

इसीलिये भक्तकी परम साधना है भगवान्के साथ लीला। भक्तोंमें अपनी उपासनापद्धतिके अनुसार इस लीलाके रूपमें भेद हो सकता है, पर सबका लक्ष्य यह लीला ही है। जो भक्त दास्यभावसे भजन करता है वह भगवान्की अनन्तकालतक पदसेवा करना चाहता है और जो मधुर भावसे भजन करता है वह गोलोकमें अनवरत विहारकी कामना करता है, जो निर्गुणभावसे भजन करता है वह भी भगवान्की चिन्मय सत्तामें विलीन हो जानेकी इच्छा नहीं रखता बल्कि अनन्तकालतक उसमें रमते रहनेकी लालसा करता है। इस प्रकार दादू भगवान्के साथ नित्य लीलामें रत हैं। 'प्रियसे रंग भरके खेलता हूँ, जहाँ रसीली वेणु बज रही है। अखण्ड सिंहासनपर प्रेमव्याकुल स्वामी बैठे हैं और प्रेम-रसका पान करा रहे हैं। रंग भरके प्रियके साथ खेल रहा हूँ, यहाँ कभी वियोगकी आशंका नहीं है। यह कुछ पूर्वका संयोग है कि आदिपुरुष अन्तरमें मिल गया है। रंग भरके प्रियसे खेल रहा हूँ, यहाँ बारहों मास वसन्त है। सेवकको सदा आनन्द है कि युग-युग वह कान्तको देखता है[5]!' कबीरदासजी

---

१. वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

इसपर जीवगोस्वामीका क्रमसन्दर्भ और वल्लभाचार्यकी सुबोधिनी देखिये।

२. दरसन दे दरसन दे हौं तो तेरी मुकुति न माँगों रे।
सिधि ना माँगों रिधि ना माँगों तुम्हहीं माँगों गोविंदा॥
जोग न माँगों भोग न माँगों तुम्हहीं माँगों रामजी।
घर नहिं माँगों वन नहिं माँगों तुम्हहीं माँगों देवजी।
'दादू' तुम्ह बिन और न जानै दरसन माँगों देहु जी।

३. अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहौं निरबान।
जनम जनम रघुपति-भगति, यह बरदान न आन॥
—तुलसीदास

४. या लकुटी अरु कामरियापर राज तिहूँ पुरको तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवो निधिको सुख नंदकी धेनु चराइ बिसारौं॥
आँखिनसों रसखानि कबै ब्रजके बनबाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हूँ कलधौतके धाम करीरके कुंजन ऊपर बारौं॥
—रसखान

५. रँगभरि खेलौं पीव सों तहँ बाजै वेनु रसाल।
अकल पाट करि बैठ्या स्वामी प्रेम पिलावै लाल॥
रँगभरि खेलौं पीव सों कबहुँ न होइ वियोग।
आदिपुरुष अन्तरि मिल्या कछु पूरवले संयोग॥
रँगभरि खेलौं पीव सों बारह मास वसन्त।
सेवग सदा अनन्द है युगि युगि देखौं कंत॥
—दादूदयाल

कहते हैं कि 'हाय, मेरे वे दिन कब आवेंगे जब मैं अंग-अंग लगाकर मिलूँगी, जिसके लिये मैंने यह देह धारण किया है! वह दिन कब आवेंगे जब तन, मन और प्राणोंमें प्रवेश करके तुम्हारे साथ सदा हिल-मिलकर खेलूँगी! हे समर्थ राम-राय! मेरी यह कामना परिपूर्ण करो[१]।' यह इस युगकी तीसरी समानधर्मिता है।

कबीरदास, दादूदयाल आदि निर्गुण मतवादियोंकी नित्यलीला और सूरदास, नन्ददास आदि सगुण मतवादियोंकी नित्यलीला एक ही जातिकी है। अन्तर यही है कि पहली श्रेणीके भक्तोंके सामने भगवान्के व्यक्तिगत सम्बन्धात्मक रूपके साथ उसकी रूपातीत अनन्तता वर्तमान रहती है और दूसरी श्रेणीके भक्तोंके सामने भगवान् सदा प्रतीकरूपमें आते हैं और इसीलिये उनकी अनन्तता और असीमता ओझल-सी हुई रहती है[२]।

मध्ययुगके भक्ति-आन्दोलनकी एक बड़ी विशेषता यह है कि भक्त और भगवान्को समान बताया गया है (Love presupposes equality.) और गुरुको भगवान्का रूप बताया गया है।[३] ये दोनों बातें साधारणतः भक्तिके भावावेशमें प्रशंसात्मक अर्थवाद समझी जाती हैं। अर्थात् यह मान लिया जाता है कि भावावेशमें भक्तको भगवान् कहा गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि सचमुच भक्त भगवान् है, बल्कि इसका मतलब इतना ही है कि भक्त महान् है। कहीं-कहीं तो भक्तको भगवान्से भी बढ़कर बताया गया है। यह ध्यान देनेकी बात है कि तन्त्र-साधनामें गुरुको शिवके समान स्थान दिया गया है। सहजिया मतके जो बौद्ध दोहे और गान पाये गये हैं उनमें गुरुकी भक्तिके बहुत उपदेश हैं। एक दोहेमें कहा गया है कि गुरु बुद्धसे भी बड़े हैं। गुरुकी बात बिना विचारे ही करनी चाहिये।[४] कबीरदासने भी गुरुको गोविन्दके समान कहा है।[५] असलमें मध्ययुगके भक्ति-साहित्यमें गुरुका स्थान बहुत बड़ा है। वैष्णवभक्तोंके मतसे गुरु दो प्रकारके हैं—शिक्षागुरु और दीक्षागुरु। शिक्षागुरु स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं और सिद्धावस्थामें दीक्षागुरु भी भगवान्के ही तुल्य हैं। कुछ विद्वानोंका खयाल है कि गुरुमहिमा मध्ययुगके साधकोंको अपने पूर्ववर्ती तान्त्रिकों और सहजयानके साधकोंसे उत्तराधिकारके रूपमें मिली थी।

इसी तरह इस युगमें भक्तके समान भगवान्को समझनेकी प्रवृत्ति लगभग सभी भक्तोंमें समानरूपसे पायी जाती है। यह भी कहा गया है कि ***'रामसे अधिक रामकर दासा।'***[६] इस कथनका अर्थ यह है कि प्रेमकी दुनियामें बड़े-छोटेका कोई सवाल नहीं। भगवान् प्रेमके वशमें हैं। सूरदास कहते हैं कि 'मुरारि प्रेमके वशमें हैं, प्रीतिके कारण ही उन्होंने नटवरवेश धारण किया, प्रीतिवश ही उन्होंने गिरिराज धारण किया, प्रीतिके वश ही माखन चुराया, प्रीतिके कारण ही उनका सबसे अधिक प्रिय नाम 'गोपीरँवन' है, प्रीतिके वश ही यमल तरुओंको मोक्ष दिया!'[७] अधिकतर इस भावका विकास

---

१. वै दिन कब आवैंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है मिलिबौ अंगि लगाइ। हौं जानूँ जे हिलिमिलि खेलूँ तन मन प्रान समाइ॥
या कामना करौ परिपूरन समरथ हौ रामराइ। (कबीरग्रन्थावली पृ० १९१)

२. प्रतीकरूपमें ही नहीं आते, प्रत्यक्ष सच्चिदानन्दमय शरीरधारी रूपमें आते हैं और नाना प्रकारकी प्रत्यक्ष लीलाओंसे उन्हें सुख देते हैं, साथ ही अपनी अनन्तता और असीमताका भी ज्ञान करा देते हैं, यद्यपि प्रेमके मूर्तरूपके प्रकाशमें यह ज्ञान छिपा रहता है। —सम्पादक

३. भगति भगत भगवन्त गुरु नाम रूप वपु एक। इनके पद वंदन किये नासैं विघ्न अनेक॥ (भक्तमाल)

४. म० म० हरप्रसादशास्त्री—'बौद्ध गान ओ दोहा', भूमिका पृ० ६।

५. गुरु गोविंद तौ एक है दूजा यहु आकार। आपा मेट जीवत मरै तौ पावै करतार॥ (कबीरग्रन्थावली पृ० ३)

६. तु० पाद्मोत्तर खण्डमें (विष्णुसे भी वैष्णवकी पूजा श्रेष्ठ है।)
आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्। तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥
और—
अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान् नार्चयेत् तु यः। न स भागवतो ज्ञेयः केवलं दाम्भिकः स्मृतः॥ भागवतमें—११।१९।२१

७. प्रीतिके वश्यमें हैं मुरारी।
प्रीतिके वश्य नटवर-वेश धर्‌यो प्रीतिवश करन गिरिराज धारी। प्रीतिके वश्य भये माखनचोर प्रीतिके वश्य दाँवरी बँधाई॥
प्रीतिके वश्य गोपीरँवन प्रिय नाम प्रीतिके वश्य तरु यमल मोक्षदाई। —इत्यादि

सगुणोपासक भक्तोंमें ही पाया जाता है, पर निर्गुण मतवादी भक्त भी इस बातपर कम जोर नहीं देते। दादू कहते हैं कि 'साधुकी रुचि है राम जपनेकी और रामकी रुचि है साधुको जपनेकी। दोनों ही एक भावके भावुक हैं, दोनोंके आरम्भ समान हैं, कामनाएँ समान हैं।'[१] वैष्णव भक्तोंमें कहानी मशहूर है कि एक बार भगवान्ने रुक्मिणीसे मजाकमें कहा कि मैं तुम्हें हर ले आया था, तुम्हारा वास्तविक प्रेमी कोई दूसरा था, मैं तुम्हें उसी प्रेमीको लौटा देना चाहता हूँ। रुक्मिणी रोने लगी।[२] ठीक इसी प्रकारका मजाक एक बार भगवान्ने राधिकासे किया। राधिकाने मजाकका जवाब दूसरे मजाकसे दिया। इस कथाका प्रयोजन प्रेमका तारतम्य दिखाना है। रुक्मिणी प्रेमकी दुनियाँमें सम्पूर्णरूपसे न आ सकी थीं, उनके अन्दर ऐश्वर्यबुद्धि अर्थात् पूज्य-पूजकका, बड़े-छोटेका भाव वर्तमान था; पर राधिका सोलहों आने प्रेममयी थीं, वहाँ बड़े-छोटेका सवाल ही नहीं था। अष्टछापमें सभी कवियोंमें इस बातका बहुत सुन्दर विकास हुआ था।

प्रेम ही परम पुरुषार्थ है। सूरदास कहते हैं कि प्रेम प्रेमसे ही होता है, प्रेमसे ही भवसागर पार किया जा सकता है, प्रेमके बन्धनमें ही सारा संसार बँधा है, एक प्रेमका निश्चय ही रसीली जीवन्मुक्ति है, प्रेमका निश्चय ही सत्य है जिससे गोपाल मिलते हैं।[३]

दादू कहते हैं, 'प्रेम ही भगवान्की जाति है, प्रेम ही भगवान्की देह है। प्रेम ही भगवान्की सत्ता है, प्रेम ही भगवान्का रंग। विरहका मार्ग खोजकर प्रेमका रास्ता पकड़ो, लौके रास्ते जाओ, दूसरे रास्ते पैर भी न रखना।'[४] कबीरदास कहते हैं कि 'स्वामी और सेवक एकमत हैं, दोनों मन-ही-मन (प्रेमसे ही) मिलते हैं। वह चतुराईसे प्रसन्न नहीं होता, मनके भावसे रीझता है।' तुलसीदास कहते हैं कि भगवान् भक्तपर ऐसी प्रीति करते हैं कि अपनी प्रभुता भूलकर भक्तके वश हो जाते हैं, यह सदाकी रीति है।'[५]

भक्त और भगवान्की तरह भक्ति भी अपरम्पार महिमामयी है। दादूदयालने कहा है कि जैसे राम अपार हैं, भक्ति भी उसी प्रकार अगाध है। सभी साधुओंने पुकार-पुकारकर कहा है कि इन दोनोंकी कोई सीमा नहीं है। जिस प्रकार राम अविगत हैं, भक्ति भी उसी प्रकार अलेख्य है, दोनोंकी कहीं सीमा नहीं है, यह शेष हजार मुँहसे कह रहे हैं। राम जैसे निर्गुण हैं, भक्ति भी वैसी ही निरंजन है, इन दोनोंकी कोई सीमा नहीं है, ऐसा संतोंने निश्चय किया है। जैसे पूर्ण राम हैं ठीक उसी प्रकार पूर्ण भक्ति भी है, इन दोनोंकी कोई सीमा नहीं है, ये दोनों दो चीजें भी नहीं हैं।[६] इस प्रकार इस युगका साहित्य भक्ति, भक्त, भगवान् और गुरुकी महिमासे भरा पड़ा है।

इस युगके सगुण और निर्गुण दोनों प्रकारके मतके संतोंने नामकी महिमा खूब गायी है। नाममाहात्म्य भागवत आदि प्रायः सभी पुराणोंमें पाया जाता है, पर मध्ययुगके भक्तोंमें इसका चरम विकास हुआ है। तुलसीदासने कहा है कि ब्रह्म और राम अर्थात् निर्विशेष चिन्मय सत्ता और अखण्डानन्त प्रेमस्वरूप भगवान् इन दोनोंसे नाम बड़ा है।[७]

रामचरितमानसके आरम्भमें ही विस्तारपूर्वक बताया गया है कि रामकी अपेक्षा रामका नाम अधिक उपकारी है। कबीरने भी कहा है कि 'मैं भी कह रहा

---

१. राम जपै रुचि साधुको साधु जपै रुचि राम।
दादू दोनों एक ढँग सम अरंभ सम काम॥

२. श्रीमद्भागवतमें यह कथा बहुत ही सुन्दर है। कल्याणमें प्रकाशित हो चुकी है। —सम्पादक

३. प्रेम प्रेम सों होय प्रेम सों पारहिं जैये।
प्रेम बँध्यो संसार प्रेम परमारथ पैये॥
एकै निश्चय प्रेम को जीवन्मुक्ति रसाल।
साँचो निश्चय प्रेमको जातैं मिलें गोपाल॥

४. इश्क अलहकी जाति है इश्क अलहका अंग।
इश्क अलह औजूद है इश्क अलहका रंग॥
वाट विरहकी सोधि करि पंथ प्रेमका लेहु।
लवके मारग जाइये दूसर पाव न देहु॥

५. ऐसी हरि करत दासपर प्रीति।
निज प्रभुता बिसारि जनके बस होत, सदा यह रीति॥

६. जैसा राम अपार है तैसी भगति अपार।
इन दोनोंकी मित नहीं सकल पुकारैं साध॥
जैसा अविगत राम है तैसी भगति अलेख।
इन दोनोंकी मित नहीं सहसमुखी कहै सेख॥
जैसा निरगुन राम है भगति निरंजन जान।
इन दोनोंकी मित नहीं संत कहैं परवान॥
जैसा पूरा राम है पूरन भगति समान।
इन दोनोंके मित नहीं दादू नाहीं आन॥

७. ब्रह्म राम तें नाम बड़ वरदायक वरदानि।
रामचरित सत कोटि महुँ लिय महेस जिय जानि॥

हूँ, ब्रह्मा और महेशने भी कहा है कि रामनाम ही सारतत्त्व है। भक्ति और भजन जो कुछ भी है वह रामनाम ही है। और सब दु:ख है। मन, वचन और कर्मसे इनका स्मरण करना ही सार है।[१] इसी प्रकार नानक, दादू आदि संतोंने भी नामका माहात्म्य वर्णन किया है। दादूने बताया है कि प्रभुके नाममें ही मति, बुद्धि, ज्ञान, विचार, प्रेम, प्रीति, सब है।[२] दरिया साहब कहते हैं कि नामके बिना सांसारिक कर्मोंसे छुटकारा नहीं मिल सकता। साधुसंग और रामभजनके बिना काल निरन्तर लूटता रहेगा।[३] इस प्रकार नामकी अपार महिमाके सम्बन्धमें सभी संत एकमत हैं और सभी मानते हैं कि विधियोंमें सबसे श्रेष्ठ विधि रामनामका जपना है और निषेधोंका सिरताज है उसे भुला देना।[४] जिसने नामपर विश्वास कर लिया उसने सब आनन्द पा लिया और उसके सब दु:ख दूर हो गये। वह प्राणी धन्य है![५]

प्रेमोदयके जो क्रम[६] सगुणोपासक भक्तोंने निश्चय किये हैं। वे सभी भक्तोंमें समानरूपसे समादृत हैं। भक्तियुगके साहित्यमें इन नौ बातोंका भूरि-भूरि वर्णन पाया जाता है—

श्रद्धा (भगवान्‌के प्रति अखण्ड विश्वास)।
साधुसंग।
भजन-क्रिया।
अनर्थनिवृत्ति (विषयासक्ति, पापाचरण, हिंसा आदिका त्याग)।
निष्ठा।
रुचि।
आसक्ति (रुचिमें आग्रह)।
भाव (आसक्तिकी पूर्णता) और
प्रेम।

इस प्रकार प्रेमका उदय होता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने कुछ मामूली परिवर्तनके साथ इसी क्रमका निर्देश किया है।

और भी कुछ ऐसी बातें हैं जिनमें सगुण और निर्गुण मतवादी भक्त समान हैं। सभी भक्त अपनी दीनतापर जोर देते हैं, आत्मसमर्पणमें विश्वास रखते हैं और भगवान्‌की कृपासे ही मुक्ति मिल सकती है इस बातपर सम्पूर्णरूपसे विश्वास करते हैं। राम-अवतारके भक्त इस बातपर अधिक जोर देते हैं। तुलसीदास, सूरदास और दादूदयालमें ये बातें पूर्णताको प्राप्त हुई हैं। तुलसीदासमें तो इतनी अधिक मात्रामें हैं कि डॉक्टर ग्रियर्सनने कहा है कि 'तुलसीदास अपनी धारणाओंमें सबसे बड़े ईसाई हैं!'

संतोंकी उलटी बानी

(लेखक—पं० श्रीचन्द्रबलीजी पाण्डेय, एम्० ए०)

किसी भी प्रवाहके मूल स्रोतके मूलमें पैठनेके लिये अनिवार्य होता है कि हम उसकी प्रतिकूल दिशामें प्रस्थान करें। अतएव यदि संत सृष्टिप्रवाहके मूल स्रोतके मूल यानी परमपुरुष परमात्मामें मिलना चाहते हैं तो उन्हें संसृतिकी प्रतिकूल दिशामें प्रस्थान करना चाहिये। किन्तु संतोंको इतनेसे ही सन्तोष नहीं होता। उनका कहना है कि जब पिण्डमें भी वही है जो ब्रह्माण्डमें, तब हम उसका साक्षात्कार पिण्ड यानी

---

१. कबीर कहै मैं कथि गया कथि गया ब्रह्म महेस।
राम नाँव ततसार है सब काहू उपदेस॥
भगति भजन हरिनाँव है दूजा दुक्ख अपार।
मनसा वाचा कर्मना कबीर सुमिरन सार॥

२. साहिबजीके नाउँ मां मति, बुधि, ज्ञान विचार।
प्रेम प्रीति सनेह सुख दादू सिरजनहार॥

३. नाम बिना भव करम न छूटै।
साधसंग और रामभजन बिन काल निरन्तर लूटै॥

४. नाम-सुमिरन सब विधिहू को राज रे।
नामको बिसारिबो निषेध सिरताज रे॥
(विनयपत्रिका)

५. नाम-प्रतीत भई जा जनकी लै अनन्द दुख दूरि दह्यो।
'सूरदास' धन-धन वे प्रानी जो हरिकौ व्रत लै निबह्यो॥

६. आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः॥
—भक्तिरसामृतसिन्धुः

घटके भीतर ही क्यों न करें? व्यर्थमें इधर-उधर ब्रह्माण्डमें क्यों भटकें? अत: उन्होंने परमपुरुषके साक्षात्कारके लिये ब्रह्माण्डसे कहीं अधिक पिण्डपर ध्यान दिया। साधनाके क्षेत्रमें हठयोगकी प्रतिष्ठा और प्रचार हो जानेसे उनको यह सुलभ दिखायी दिया कि वे भी हठयोगका अनुष्ठान करें और सहस्रारमें परमपुरुषकी झाँकी लें। सहस्रारसे मूलाधारतक जो अमृतप्रवाह है उसके अनुकूल चलनेसे परमपुरुषकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उसकी उपलब्धिके लिये आवश्यक है कि इस प्रवाहकी प्रतिकूल दिशामें प्रस्थान हो। यानी मूलाधारसे चलकर सहस्रारमें परमपुरुषका साक्षात्कार या समागम किया जाय। इसी प्रस्थान या यात्राको जब काव्य या कूटका रूप दे दिया जाता है तब वह हमारे सामने 'उलटी' के रूपमें आ जाती है और हम इस भेदसे अनभिज्ञ रह जानेके कारण विस्मयमें पड़ जाते हैं। पण्डितोंको अवाक् कर अपना आतंक जमानेमें इससे बहुत कुछ काम लिया गया और कभी-कभी इसको एक निरी पहेली या खिलवाड़का रूप मिल गया।

भारतीय संतोंने कहीं इस बातका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है कि उन्होंने किन कारणोंसे 'उलटी बानी' का प्रचार किया। परन्तु फारिज नामके एक सूफीने कहा है कि इस प्रकारकी रचनासे एक बड़ा लाभ तो यह होता है कि थोड़ेमें बहुत कुछ कह दिया जाता है और दूसरे धर्मके कट्टर काजियोंके कोपसे बचाव भी हो जाता है। उनकी दृष्टिमें इस प्रकारके संत पागल ठहरते हैं जो यों ही कुछ बका करते हैं। इस प्रकार जनता जिनको सिद्ध और तारक समझती है काजी उन्हींको पागल और नाकिस।

विदेशी मुसलिम संतोंमें हठयोगका प्रचार न था। उनके यहाँ सहस्रार, कुण्डलिनी आदिकी चर्चा न थी। अतएव उनके यहाँकी 'उलटी' में सांकेतिक शब्दोंका अभाव है। उनमें जो 'उलटी बानी' मिलती है वह उनके मजहबी ढाँचेपर समझायी जा सकती है। परन्तु जो भारतीय मुसलिम संत हैं उनमें हठयोगका संकेत मिलता है और उनकी साधनामें हठयोगी उलटीका पूरा विधान है। जायसीने—

दसवँ दुआर ताल कै लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा॥

—में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है और कबीरने तो बिलकुल अपना ही लिया है। उनकी उलटवाँसीसे कौन अपरिचित है? उनका कहना है—

उलटी चाल मिलै परब्रह्म कौं, सो सतगुरू हमारा।

सिद्धान्तरूपसे 'उलटी' का अर्थ है हठयोग अथवा कुण्डलिनी शक्तिका संचालन। परन्तु काव्यके भीतर आ जानेसे कितने पद ऐसे भी कह दिये गये हैं जिनका वास्तवमें हठयोगसे कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका अर्थ बैठानेके लिये यह आवश्यक होता है कि हम किसीको जीवका प्रतीक मान लें और किसीको मायाका संकेत। इस प्रकार अर्थ लगानेसे किसी दार्शनिक तथ्यका बोध हो जाता है और हम वक्ताको एक सिद्ध ज्ञानी समझ लेते हैं। कहना न होगा कि इस ढंगकी उलटीका प्रचलन मुसलिम संतोंमें भी था। जिली नामक एक मुसलिम संतका कहना है—

'मैं उन माताओंसे मिला जिन्होंने मुझे जन्म दिया। मैंने उनसे विवाहके लिये कहा और उन्होंने विवाह कर लेने दिया।'

एक दूसरे मुसलिम संत बदरुद्दीनका फरमाना है—

'मेरी माताने अपने पिताको जन्म दिया। यह एक अजीब बात है। मेरा पिता उनकी गोदका एक छोटा बच्चा है, वह उन्हें दूध पिलाती है।'

कबीरदासने भी इस प्रकारकी उलटीका प्रचार किया है जिसमें परिवारकी मर्यादाका उल्लंघन किया गया है। उनकी एक उलटवाँसी है—

जलि जाई, थलि ऊपजी, आई नगर मैं आप,
एक अचंभा देखिया, बिटिया जायौ बाप।

और कहा है—

बावल मेरा ब्याह करि, बर उत्तम ले चाहि,
जब लग बर पावै नहीं, तब लग तूँ ही ब्याहि।

इस प्रकारके अचम्भे अथवा व्यतिक्रममें जिस तथ्यका आभास दिया गया है वह यदि सीधी बानीमें कह दिया जाता तो वह इतना मोहक और महत्त्वका न होता। जीव, ब्रह्म और मायाके रहस्यको समझानेका यह एक आकर्षक ढंग है। इसलाममें मुहम्मद और आदम भी उलटीके अंग समझे गये हैं और उन्हींके आधारपर उक्त प्रकारकी उलटी समझायी जाती है। इस प्रकारकी उलटीकी व्याख्यामें ध्यान रखनेकी बात यह होती है कि उसके व्याख्याताकी नहीं बल्कि उसके निर्माताके सम्प्रदायकी बातोंका उसमें उल्लेख हो। मुसलिम संतोंमें आदम आदिपुरुष हैं। अतएव उनका

उल्लेख अवश्यम्भावी होता है। मुहम्मद साहब यद्यपि आदमके बहुत बाद हुए तथापि उनका नूर आदमसे भी पहले मौजूद था और उसीसे आदमका सृजन हुआ, आदि-आदि।

सामान्यरूपसे काव्यमें जो बातें विरोध और असंगतिके रूपमें कही जाती हैं और जिन बातोंको भक्त परमात्माका प्रसाद अथवा प्रभुकी कृपामात्र समझते हैं उनको भी संत-साहित्यमें उलटीका नाम मिल जाता है और उसी ढंगपर उसकी व्याख्या भी की जाती है। परन्तु इस प्रकारकी उलटीमें वह ललकार नहीं होती जो श्रोताओंको विचलित कर दे। इनमें एक प्रकारसे परमतत्त्वका आभास दिया जाता है और उसकी असीम शक्तिका प्रदर्शन होता है। कभी-कभी उसकी प्राप्तिके लिये कानसे देखने और आँखसे सुननेकी भी आवश्यकता बतायी जाती है, जिसका मतलब होता है तन-मनसे उसीमें निमग्न हो जाना।

उलटीका सबसे अनोखा और बीहड़ रूप वह होता है जिसका उद्‌देश्य जनताको चकितकर मुट्‌ठीमें कर लेना होता है। उलटीका प्रयोजन यह नहीं है कि जनता उसका मनमाना अर्थ खींचे और नाना प्रकारकी ऊहासे बुद्धिकी खेती चर जाय। कूट और पहेलीके ढंगकी उलटीसे दिमागी कसरत हो सकती है और उसके सुननेमें बालबुद्धिके लोग दत्तचित्त भी हो सकते हैं। पर इससे सिद्धान्तरूपमें उसकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। किसी भी उलटीकी व्याख्या करते समय इस बातपर विशेष ध्यान रखना चाहिये कि उसका उद्‌देश्य क्या है। यदि उसका निर्माण केवल रंजन या चकमेमें डालनेके लिये हुआ है तो कोई कारण नहीं कि हम उसका कोई-न-कोई अलौकिक अर्थ निकालें और उसका समर्थन करें। छोटे-छोटे बच्चोंको प्रसन्न रखनेके लिये जो छोटी-मोटी कहानियाँ या कविताएँ कही जाती हैं उनका वास्तवमें उतना ही अर्थ होता है जितना कि एक अबोध बालक समझता है। वह कभी उसके लौकिक या अलौकिक अर्थके फेरमें न पड़ उसको मौजका साधनमात्र समझता है। हमारी समझमें इसी रूपमें उन उलटियोंको समझना चाहिये जिनके अर्थमें नाना प्रकारके अनर्थ किये जाते हैं। गदहाके हुडुक बजाने और सिधरीके मंगल गानेमें जो आनन्द है वह उनकी व्याख्यामें नहीं। इसी प्रकार जिस उलटीमें केवल पाँच-पचीसकी चर्चा हो उसे एक तत्त्वज्ञानकी रपट समझकर आगे बढ़ना चाहिये और स्वतः परमतत्त्वकी खोजमें लीन हो जाना चाहिये। वस्तुतः यही उसकी उपयोगिता है और इसीके कारण इस ढंगकी उलटीकी प्रतिष्ठा है।*

संतोंका प्राथमिक साधन

(लेखक—पं० श्रीमुकुन्दवल्लभजी ज्योतिषाचार्य)

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं परं तपः।
ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुषः॥

संतजन जिस अमूल्य साधन और द्वादश नियमोंके पालनद्वारा ऊर्ध्वरेता होकर अपने कल्याणमय शरीरमें ब्रह्मण्यदेवकी विमल ज्योति, अतुल बुद्धि और दीर्घायुको सहसा प्राप्त कर लेते हैं उसका मुख्य हेतु वीर्यधारण अर्थात् ऊर्ध्वरेता प्राणायाम और द्वादश नियमारूढ़ होना ही माना गया है। वीर्यधारणके बिना संतपदवी तो दूर रही, कल्याणपथके पथिक जिज्ञासुओंसे भक्ति, ज्ञान, वैराग्यादि भी नहीं सध सकते। संतोंके सत्संगद्वारा इस साधनके विषयमें मुझे जो ज्ञान लाभ हुआ वह कल्याणके प्रेमी सज्जनोंके लाभार्थ स्वानुभवके अनन्तर लिखा जा रहा है।

ऊर्ध्वरेता प्राणायाम

सन्ध्या-पूजासे निवृत्त होकर किसी एक—चाहे दायें या बायें नासिकापुटको अँगूठे वा अँगुलीसे दबाकर नाभिमें एकटक दृष्टिसे ध्यान ठहरावें, जैसे—दक्षिण नथुने (नासारन्ध्र)-से वायुको बहुत धीरे-धीरे उदरमें भरें फिर जितनी देर सुखपूर्वक हो सके उतनी देर वहीं ठहराकर वाम नासारन्ध्रसे बाहर निकालकर जितनी देर सुखपूर्वक हो सके बाहर भी रोकें। फिर दूसरी बार नाभिमें ध्यान रखकर वाम नासारन्ध्रद्वारा उसी प्रकार

---

* संतोंकी उलटी बानी जनताको मुट्‌ठीमें कर लेनेके लिये नहीं होती, अनधिकारियोंसे रहस्य छिपानेके लिये होती है। बाजारू पहेलियोंसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं! —सम्पादक

भरें, रोकें और दक्षिण नासिकाछिद्रसे बाहर छोड़ दें। इतनी क्रियाको एक प्राणायाम जानकर ऐसे-ऐसे कम-से-कम एकादश प्राणायाम करनेसे वीर्य ब्रह्माण्डमें आकर्षित होकर वहीं जम जाता है और वीर्यका वृथा क्षय नहीं होता। इस ऊर्ध्वरेता नामक प्राणायामके करनेसे जिन प्रदर और प्रमेहादिसे दु:खित स्त्री-पुरुषोंका श्वेत रज और वीर्य लघुशंकाद्वारा बाहर निकल जाया करता है, जिसके कारण वे प्रतिदिन निर्बल तथा अस्वस्थ होते जाते हैं वह (रज-वीर्य) क्षय न होकर धातु-क्षीण-प्रदरादि रोग समूल नष्ट हो जाते हैं। अथवा जब कभी इस प्राणायामकी अपरिपक्वावस्थामें कामोद्दीपन होकर तथा सोते समय स्वप्नद्वारा रज या वीर्य स्खलित हो जानेकी शंका हो तो सावधान और सचेत होकर झटपट बैठकर तत्काल ही सात बार इस प्राणायामको कर लेनेसे वीर्य अपने ठहरनेके स्थान ब्रह्माण्डमें आकर्षित होकर ऊपर चढ़ जाता है। और इन्द्रिय शान्त होकर कामदेवका वेग शान्त हो जाता है। जब कभी कामोद्दीपन होते हुएको शान्त करना हो तो इसी विधिको उपयोगमें लाना चाहिये। इस ऊर्ध्वरेता प्राणायामके साधकको स्वप्नावस्थामें वीर्य स्खलित होनेकी शंका होते ही तत्काल पहले जाग आ जाती है। साधनके परिपक्व होनेपर स्वप्नावस्थामें कभी ऐसे-वैसे कुभाव पैदा ही नहीं होते।

स्वप्नावस्था या अकस्मात् कामोद्दीपनके वेगको शान्त करके वीर्यके ब्रह्माण्डमें चढ़ जानेकी परीक्षा इस प्रकार की जाती है कि उपर्युक्त प्राणायाम कर चुकनेपर उसी समय लघुशंकाकी केवल एक-दो बूँद करके जननेन्द्रियके मुखपर अँगुली लगाकर देखे; यदि तार न आवे तो समझो वीर्यका ऊर्ध्वगमन भलीभाँति हो गया, अन्यथा और प्राणायाम करे। इस प्राणायाममें अपानवायु वीर्यको स्तम्भन करके बाहर नहीं निकलने देता। और प्राणवायु नीचे उतरे हुए वीर्यको आकर्षित करके ब्रह्माण्डमें चढ़ा ले जाता है।

वीर्यधारणके द्वादश नियम—(१) ज्यादा पेट भरके तथा गरिष्ठ भोजन न करो विशेषकर रातको; (२) गरम-गरम भोजन करते ही या परेशानीकी हालतमें जल न पीओ; (३) एकासनमें बैठनेका अधिक अभ्यास रहे तो शरीरके बलसे आधा व्यायाम अवश्य किया करो; (४) राजस भोजन (अत्यन्त गरम, तेलके पदार्थ, खटाई, लाल मिर्च, खारी वस्तु)-का सेवन मत करो; (५) नशीली वस्तु (शराब, भाँग, चाय, सिगरेट आदि)-का सेवन न करो; (६) चित या पट सोना स्वप्नदोषके अलावा स्मरणशक्तिको भी हानिकारक है, यदि इसका अभ्यास भी हो तो छोड़ दो; (७) सोते समय लंगोट अवश्य बाँधो और पैरोंको लंबे रखो; (८) मल-मूत्रकी हाजतको मत रोको; (९) अश्लील और शृंगाररसभरे किस्से-कहानियाँ न पढ़ो; (१०) मलत्यागके आदि-अन्तमें और सोते समय इन्द्रियके मुखपर तीन मिनटतक ताजे पानीकी पतली धार डालो; (११) भोजनके अनन्तर कुल्ला कर तत्काल पेशाब करना चाहिये; (१२) स्त्रीके साथ एकान्तभाषण तथा मनसे विषयचिन्तनका त्याग करना चाहिये। **शुभं भूयात्।**

संत और संतकी महिमा

(लेखक—गंगोत्तरीनिवासी दण्डिस्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)

नलिनीदलगतजलवत्तरलं तद्वज्जीवनमतिशयचपलम्।
क्षणमपि सज्जनसङ्गतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका॥

(मोहमुद्गर)

जीवका जीवन कमलके पत्तेपर पड़े हुए जलके समान तरल और अत्यन्त चंचल है। जीवकी जीवनवीणा शीघ्र ही शान्त हो जायगी। स्त्री-पुत्र, यश-वैभव, धन-सम्पत्ति आदि सभी सुख-ऐश्वर्य देखते-ही-देखते पानीके बुलबुलेकी तरह कहीं विलीन हो जायँगे। इस अनित्य संसारमें आकर अनित्य जीवन धारणकर अनित्य सुख-ऐश्वर्यमें भूलकर आत्मकल्याणको नहीं भूलना चाहिये। दुष्कर संसार-सागरसे शीघ्र पार उतरनेका सहज और सरल उपाय एकमात्र सत्संग है। सत्संग ही भवसागरसे पार ले जानेवाला दृढ़ जहाज है। अतएव उसीका अवलम्बन करना चाहिये। भगवान् कपिलदेवने कहा है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

(श्रीमद्भा० ३।२५।२५)

'सत्पुरुषोंका संग इस लोकमें आधि-व्याधि और शोक-तापसे विमूढ़ हुए मनुष्यके हृदय और मनको सुख देनेवाला है। क्योंकि साधुसंगमें मेरी लीलाशक्तिको प्रकट करनेवाली कथाएँ सुननेको मिलती हैं और उस कथामृतसे शीघ्र ही मुझमें अर्थात् मोक्षस्वरूप भगवान्में श्रद्धा, रति और भक्ति प्राप्त होती है।' सचमुच—

पुण्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन
सत्सङ्गमो यदि भवेत् कृतिनो जनस्य।
अज्ञानहेतुकृतमोहमहान्धकारो
नश्येत्तदा हृदयमेति महान् विवेकः॥

(पद्मपुराण उत्तर० १९४।७४)

'बहुत जन्मोंके उपार्जित पुण्योंका उदय होनेपर इस आधि-व्याधि, संकट-शोक और पाप-तापसे भरे हुए जरा-मृत्युयुक्त असुखकर संसारमें पुण्यवान् जन सत्संग प्राप्त करते हैं। उससे अज्ञानकृत मोहान्धकार नष्ट हो जाता है और हृदयके महामोहरूपी तमको भेदकर शुद्ध प्रकाशमय विवेकरूपी चन्द्रमाका उदय होता है।' विवेक उत्पन्न होनेपर जीव विवेकके द्वारा दिखाये हुए मार्गपर चलकर नित्य सत्कर्मोंमें, सत्-चिन्तनमें और सत्-चर्चामें ही लगा रहता है। इससे उसके हृदयाकाशसे पापके बादल कट जाते हैं और वह वैराग्यरूपी सूर्यके शुभ्र प्रकाशसे जगमगा उठता है। अतएव विवेक जीवका परम हितैषी है। हृदयमें विवेकका आविर्भाव होनेपर पापकी काली रेखा मिट जाती है। कामना-वासना विलीन हो जाती है और तब विवेकका एकच्छत्र साम्राज्य हो जाता है। मन विवेकका सिंहासन, हृदयकेन्द्र और आत्मा जीवन बन जाता है। विवेक हृदयमें रहकर बलवान् इन्द्रियोंको—दुर्दमनीय शत्रुओंको डरा-धमकाकर और उन्हें तिरस्कार-पुरस्कार देकर वशमें रखता है। मनुष्य कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, विवेकका धिक्कार तब उसे चुपचाप सहना पड़ता है। क्योंकि विवेक चोरके लिये फरियादी है। शपथ करनेवालेके लिये संयम है। झूठ बोलनेवालेके लिये जासूस है। असंयमी पुरुष भी विवेककृत तिरस्कारसे संयमी हो जाता है। भगवान्में अविश्वासी मनुष्य विवेकके उपदेशसे भगवान्के प्रति दृढ़ विश्वासी बन जाता है। विवेकबलसे बलवान् मनुष्य समाजशासनकी उपेक्षा कर सकता है, राज्यादेशको अमान्य कर सकता है, परन्तु अपनेको विवेककी छत्रछायासे कभी अलग नहीं कर सकता। विवेकशक्ति उसको सुख-दुःखमें और विपत्ति-सम्पत्तिमें सब समय सन्मार्गपर नियुक्त रखकर भगवान्की ओर चलाती रहती है और काम-क्रोधादि शत्रुओंके हाथसे बचाकर, संसारके पुत्र-परिजन या आत्मीय-स्वजन आदिकी आसक्तिसे छुड़ाकर, संसारके सुख-ऐश्वर्य, यश-गौरव और धन-सम्पत्तिकी नितान्त तुच्छता, अनित्यता और असारता स्पष्ट दिखलाकर, और उनके प्रति निष्काम बनाकर उसे निर्मल वैराग्यके हाथोंमें समर्पण कर देती है। तब मनुष्य विवेक-वैराग्यसे दीक्षित होकर स्वयं ही इस बातको समझ जाता है कि संसार अनित्य और असारका एक जड पिण्डमात्र है। पार्थिव सुख-ऐश्वर्य अनित्य और सारहीन हैं। इनमें चिरस्थायी, सुखदायी कुछ भी नहीं है और यह जानकर वह इन सबका परित्याग कर देता है। तब उसका हृदय ज्ञानके प्रकाशसे दमक उठता है और ज्ञानके बलसे बलवान् होकर संसारसे परे एकान्त स्थानमें रहकर भक्तिके साथ अपने हृदयकमलके रक्तदलपर भव-भयभंजन नित्य-निरंजन भगवान्के चिन्तनमें निमग्न होकर जगज्ज्योतिकी दिव्य द्युतिको देखकर आनन्दसागरमें डूब जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण भक्त उद्धवसे कहते हैं—

हे सखे उद्धव! समस्त संगोंका निवारण करनेवाला साधुसंग मुझे जिस प्रकार अपने वश करता है उस तरह योगाभ्यास, पवित्र आत्मज्ञान, धर्मानुष्ठान, वेदाध्ययन, कठोर तप, उत्तम दान, इष्टापूर्त, भूरिदक्षिणा, अनशन या पूर्णाशन आदि व्रत, देवपूजन, मन्त्र, तीर्थसेवन, अहिंसादि यम और तप-स्वाध्यायादि नियम मुझे वश नहीं कर सकते। सत्संगके प्रभावसे ही दैत्य, राक्षस, पक्षी, पशु, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, विद्याधर और मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यजलोग भी मेरे परमपदको प्राप्त हुए हैं। एकमात्र सत्संगके प्रभावसे ही असुरराज वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाण, मय, विभीषण, सुग्रीव, हनूमान्, जाम्बवान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजगोपियाँ और यज्ञपत्नियाँ परमपदको प्राप्त हुईं। इन्होंने न श्रुतियोंका पाठ किया था, न महत्तम पुरुषोंकी उपासना की थी और न व्रत और कठोर तप ही किया था; केवल साधुसंगसे ही इन्होंने मुझको प्राप्त किया। भगवान् श्रीकृष्णके प्रति मुचुकुन्दने कहा है—'हे अच्युत! आपकी कृपासे जब संसारासक्त विषयी मनुष्यके

संसारबन्धन टूटते हैं तभी उसको सत्संगकी प्राप्ति होती है। सत्संग प्राप्त होते ही उसकी सद्‌गति और आप जगदीश्वरके प्रति उसकी प्रीति होती है।'

सचमुच साधुसंगको छोड़कर इस जलते हुए संसारमें अन्यत्र शान्ति कहाँ है? संसाररूपी भीषण वनमें भटकते हुए थके-माँदे और प्यासे जीवके लिये संत-जीवन ही जलाशयस्वरूप है। उस जलाशयमें डुबकी लगाते ही श्रान्त और क्लान्त जीवके तपते हुए प्राण और मन शीतल हो जाते हैं और उनमें तत्त्वज्ञानका उदय हो जाता है, जिससे फिर उसे इस महावनमें कोई भय नहीं होता। उसका मोह तथा अज्ञानान्धकार सब दूर भाग जाते हैं। अतएव इस भयंकर भवाटवीमें संत पुरुष ही हारे-थके और त्रितापसे जलते हुए जीवोंके लिये विश्रामस्थान और उन्हें शान्ति देनेमें समर्थ हैं।

जैसे संतकी अपार महिमा है वैसे ही सत्संगकी महिमा भी असीम है। सत्संगकी शक्ति ऐसी अमोघ है कि उसके प्रभावसे जंगलोंके पशु-पक्षी भी भगवत्कृपाको प्राप्तकर अपना जीवन और जन्म सार्थक कर सकते हैं। काष्ठके संयोगसे जैसे लोहा जलपर तैरता है, पुष्पका आश्रय पाकर जैसे तुच्छ कीड़ा देवताओंके मस्तकपर चढ़ जाता है, वैसे ही सत्पुरुषोंके संसर्गसे विषयासक्त मनुष्य भी सब पापोंसे छूटकर भगवत्-सान्निध्यको प्राप्त करता है। संतोंका हृदय बड़ा ही कोमल होता है, वे जिसको अभय देकर अपने आश्रयमें ले लेते हैं उसको यदि कभी पापकी ओर जाते देखते हैं तो उसी क्षण उसे पापसे बचाकर उसके मन-तनके सारे पाप-कीचड़को धोकर उसे अपने आश्रयमें रख लेते हैं। रस्सीसे बँधा हुआ कलसा जैसे जलमें डूबनेपर भी फिर ऊपर उठा लिया जाता है इसी प्रकार पापमें डूबते हुए मनुष्यको भी, जिसकी जीवनडोर संतके हाथमें होती है, संत पुरुष पापरूपी कीचड़से निकालकर सत् मार्गमें लगाकर पुण्यवान् बना देते हैं। सत्संगके द्वारा जीवका कौन-सा उपकार नहीं होता?

दूरीकरोति कुमतिं विमलीकरोति
चेतश्चिरन्तनमघं चुलुकीकरोति।
भूतेषु किं च करुणां बहुलीकरोति
सङ्गः सतां किमु न मङ्गलमातनोति॥

इस जलते हुए संसारमें संत पुरुष पापोंमें लगे हुए अनीतिपरायण मनुष्यकी कुबुद्धिको दूरकर उसे सुबुद्धि प्रदानकर उसके हृदयको स्वच्छ कर देते हैं। पापके कीचड़से लिपटे हुए चित्तका पाप-पंक धोकर चित्तको निर्मल और पवित्र कर देते हैं और पशु-पक्षी, कीट-पतंग, स्थावर-जंगम सभी जीवोंके प्रति करुणा वितरण करनेके लिये मनुष्यको आगे बढ़ा देते हैं। संत पुरुष जीवका कौन-सा मंगल नहीं करते?

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥

साधु पुरुष मानवचित्तके सारे कूड़े-कचरेको हटाकर, चित्तको साफकर, बुद्धिकी जड़ताको हरकर हृदयरूपी ऊसर खेतको सत्यरूपी जलके सिंचनसे उपजाऊ बना देते हैं। पापासक्त मनुष्यकी पापकालिमाको मिटाकर मानवसमाजमें उसके सम्मानको बढ़ा देते हैं। मनुष्यके हृदयमें प्रसन्नता उत्पन्नकर, उसे सजीवता प्रदानकर, दसों दिशाओंमें उसकी कीर्ति फैलाकर उसे जीवित कर देते हैं। सत्संगसे मनुष्यका क्या मंगल नहीं होता?

हरति हृदयबन्धं कर्मपाशार्दितानां
वितरति पदमुच्चैरल्पजल्पैकभाजाम्।
जननमरणकर्मश्रान्तविश्रान्तिहेतु-
स्त्रिजगति मनुजानां दुर्लभः साधुसङ्गः॥

(स्कन्दपुराण, विष्णुखण्ड १)

साधुसंग कर्मपाशमें बँधे हुए जीवोंके हृदयबन्धनको काट देता है। क्रमशः उन्नत करता हुआ उसे धीरे-धीरे उच्च पदका अधिकारी बना देता है। जन्म-मरणशील संसाररूपी महावनमें भटकते हुए श्रान्त और क्लान्त जीवके लिये वह विश्रामका हेतु होता है। परन्तु ऐसा संतसमागम है बड़ा दुर्लभ। देवर्षि नारदजीने कहा है—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।

महापुरुषोंका संग इस लोकमें दुर्लभ और अगम्य है, परन्तु है अमोघ। अनेक जन्मोंके पुण्योंका उदय हुए बिना साधुकी पहिचान नहीं हो सकती। पास ही कोई संत रहते हैं। दूर-दूरसे लोग आकर उनके दर्शनकर कृतार्थ होते हैं और तुम उनके समीप रहकर भी उनको नहीं पहचान सकते। किसी दुर्जनके मुँहसे कभी उनकी निन्दा सुन ली थी। उस निन्दाका भाव ही तुम्हारे मनमें दिनोंदिन बढ़ रहा है और तुम स्वयं भी उनकी निन्दा करते हो। इस तरह बहुत लोग अनेकों बार सत्संग प्राप्त

करके भी उससे वंचित रह जाते हैं, इसीसे देवर्षिने साधुसंगको दुर्लभ और अगम्य बतलाया। साधुके समीप सहज ही जाना नहीं होता, किन्तु यदि सौभाग्यसे एक बार भी साधुसंग हो जाय तो उसका फल अवश्य ही होगा। क्योंकि वह अमोघ है। परन्तु सावधान! देवर्षि नारद कहते हैं—

दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः।

दुःसंगका सर्वथा त्याग करो। बहुत-से असाधु लोग '**उदरनिमित्तं बहुकृतवेशः**'—साधुका स्वाँग धारणकर घूमते रहते हैं, इन साधुवेषधारी कपटी लोगोंको साधु मानकर इनका संग करनेसे क्या उपकार होगा? ऐसे लोगोंके संगसे चित्तका शुद्ध होना तो दूर रहा, जो कुछ शक्ति है वह भी नष्ट हो जाती है। लाभके लोभमें मूल भी चला जाता है।

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव।
वासो यथा रङ्गवशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति॥

(महा० शा० २९९)

जो जैसे लोगोंके साथ रहता है, जैसे लोगोंकी सेवा करता है और जैसा बननेकी आशा करता है वह निश्चय ही वैसे ही स्वभावको प्राप्त होता है। सफेद वस्त्रको जिस रंगमें रँगा जाता है वह उसी रंगका हो जाता है। वैसे ही साधु, असाधु, तपस्वी या चोर जिस किसीका संग किया जाता है वैसे ही स्वभावकी प्राप्ति होती है। अतएव सावधान रहना चाहिये।

एक बार यदि दुर्जनके संगसे दुःख प्राप्त हो गया तो फिर सज्जनके प्रति भी अविश्वास हो सकता है। जैसे दूधका जला छाछ भी फूँककर पीना चाहता है वैसे ही दुर्जनके संगसे ठगाया हुआ मनुष्य सज्जनोंके संगका भी साहस नहीं करता।

विशेषतः—

दुर्जनस्य हि सङ्गेन सुजनोऽपि विनश्यति।
प्रसन्नं जलमित्याहुः कर्दमैः कलुषीकृतम्॥

(गरुड० पूर्व ११५)

'जैसे अति निर्मल जल भी कीचड़के संयोगसे मलिन हो जाता है वैसे ही दुर्जनके संगसे सुजनका चरित्र भी दूषित हो जाता है।' एक भालू एक बार नदीमें बहा जा रहा था, एक मनुष्य उसे कम्बल समझकर लेनेके लिये जलमें उसके पास गया। और उसने भालूको ज्यों ही पकड़ा, त्यों ही भालूने भी उसे जोरसे पकड़ लिया। दोनोंमें युद्ध-सा होने लगा, आखिर जब वह मनुष्य डूबने लगा तब किनारेपर खड़े एक मनुष्यने उसे पुकारकर कहा, भाई! कम्बल छोड़कर ऊपर क्यों नहीं चले आते? उसने कहा, मैंने तो कम्बलको छोड़ दिया परन्तु कम्बल ही मुझे नहीं छोड़ती। अन्तमें भालूने उसे मार डाला। दुःसंगका यह प्रत्यक्ष फल है।

भ्रमादपि तु दुष्टानां सङ्गं यः कुरुते जनः।
असमर्थः पुनस्त्यक्तुं तत्रैव विनिहन्यते॥

(उद्‌भट)

भ्रमसे भी यदि मनुष्य दुष्टसंगमें पड़ जाता है तो फिर उसका संगत्याग बहुत ही कठिन हो जाता है। यहाँतक कि दुःसंगमें पड़े मनुष्यका विनाश ही होता है। इसलिये—

दुर्जनः परिहर्त्तव्यो विद्ययालङ्कृतो यदि।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः॥

(गरुड० पूर्व ११२)

दुर्जन मनुष्य विद्वान् हो तो भी उसका संग छोड़ देना चाहिये। मणिसे भूषित साँप क्या भयंकर नहीं होता?

कुसंगसे क्रमशः काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश होकर अन्तमें मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है। इसलिये—

सद्भिरासीत सततं सद्भिः कुर्वीत सङ्गतिम्।
सद्भिर्विवादं मैत्रीं च नासद्भिः किञ्चिदाचरेत्॥

(गरुड० पूर्व ११३)

'सज्जनोंके साथ रहना चाहिये, सज्जनोंका ही संग करना चाहिये, विवाद करना हो तो वह भी सज्जनोंसे ही करना चाहिये और सज्जनोंसे ही मित्रता भी करनी चाहिये। असज्जनसे तो कोई सम्पर्क ही नहीं रखना चाहिये।' भगवान्‌की कृपासे संतजनोंका मिलना दुर्लभ नहीं है। अपनी निष्ठा दृढ़ होगी तो भगवान् स्वयं संतोंको हमारे पास भेज देंगे। भक्त ध्रुवके पास भगवान्‌ने नारदजीको भेज दिया था। अतएव हमारे पास भी जरूर भेज देंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं करना चाहिये। हाँ, भगवान्‌के प्रिय भक्तका—संतका संग प्राप्त करनेके लिये अपने चरित्रको भी संतोंके आदर्शके अनुसार ही बनाना पड़ेगा; संतके आचरणके सम्बन्धमें कहा है—

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनान्।
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रच्छादय स्वान् गुणान्
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत् सतां लक्षणम्॥

प्रलोभनमय संसारके यश-मान, धन-दौलत और सुखैश्वर्य आदिकी तृष्णारज्जुको काट डालो; जाति, विद्या, रूप, यौवन, महत्त्व और प्रभुत्व आदिके अभिमानको छोड़कर स्थावर-जंगम सब जीवोंके प्रति समदृष्टि होकर क्षमाजननीका सेवन करो—अपना अकल्याण करनेवालेका भी कल्याण ही करो; पापसे सर्वथा रहित होकर, पापरूप कीचड़में धँसे हुए चित्तको उसमेंसे निकालकर उसे धो डालो, पापके लेशका भी नाश कर दो; सदा सत्य बोलकर, सत्पथपर चलकर, सत्य व्यवहार करके सत्यका समादर करना सीखो; सदा-सर्वदा साधुसंगमें सत्-चर्चा करते हुए चित्तको साधु-स्वभावसे सम्पन्न कर दो, तेजस्वी विद्वानोंकी सेवा करके साधुपदवीको प्राप्त करो, सम्मान्य व्यक्तियोंका सम्मान करो, अनुनय-विनयद्वारा विद्वेषियोंको सन्तोष प्रदान करो, अपने गुणोंको छिपा लो; पिता-पितामहके प्रति भक्ति रखते हुए, उनके शुभ गन्तव्य पथपर चलकर उनकी कीर्तिका पालन करो; दुःख, दरिद्रतासे पिसते हुए दीन-हीन प्राणियोंपर आत्मोपम दया करो; इन सदाचारोंके आचरणसे चरित्रमें पवित्रता आवेगी, और तभी संतकी प्राप्ति और यथार्थ पहचान होगी!

महापुरुषपूजा

(लेखक—श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०)

महापुरुषपूजा—महापुरुषके आविर्भाव, तिरोभाव और उनके विशेष-विशेष कार्योंका स्मरण करते हुए उत्सवादि करना सभी युगोंमें, सभी देशोंमें, सभी जातियों और सम्प्रदायोंमें प्रचलित है। महापुरुषोंके जीवन और यशकी स्मृति, जनसाधारणके चित्तोंपर उनका प्रभाव और जातीय चरित्रगठनमें उनके द्वारा प्रवर्तित आदर्शकी अनुप्राणना मानवसमाजके लिये अमूल्य सम्पत्ति और शक्तिका झरना है। जातिमें ऐसे महापुरुषोंकी स्मृति मलिन, पुरातन और निष्प्रभ न हो, उनका चिन्तन, विचार और आलोचना जातिमें नित्य नवीन उद्दीपना, उत्साह और सजीवता उत्पन्न करती रहे, इसके लिये सभीको सावधान रहना उचित है। जातीय महापुरुष जातीय साधनाके घनीभूत विग्रहस्वरूप हैं। जातीय प्राणोंकी आभ्यन्तरिक जीवित साधनधाराका स्वरूप भिन्न-भिन्न युगोंमें विशेष-विशेष महापुरुषोंकी साधना और सिद्धिके द्वारा युगोचित आकार और वेश-भूषासे सुसज्जित होकर जनसाधारणके मन और नेत्रोंके सामने प्रकट हुआ करता है। जातीय साधनाके युगोपयोगी जीवित विग्रहस्वरूप इन महापुरुषोंका स्मरण जिनके प्राणोंको उद्दीप्त, तेजोमण्डित, उत्साह-समन्वित और आत्मश्रद्धासम्पन्न नहीं बना देता, उनका चित्त जातीय साधनाके गौरवसे रहित हो गया है—अपने अन्तरात्माके प्रति ही उनमें श्रद्धाका अभाव हो गया है, ऐसा समझना होगा। ऐसे लोग मनुष्यत्वकी दृष्टिसे वस्तुतः मुमूर्षु ही हैं!

जातिको बचानेके लिये उसकी साधनाके प्रवाहको सदा जारी रखना होगा और इसके लिये जातीय महापुरुषोंके जातीय जीवनको बचाये रखना अति आवश्यक है। जनसाधारणके चित्तदर्पणमें महापुरुषोंकी मूर्ति सदा समुज्ज्वल रहनी चाहिये। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये देशमें सर्वत्र महापुरुषोंके जन्मोत्सव, तिरोभाव-उत्सव आदि जितने अधिक मनाये जायँ उतना ही मंगल है। भारतीय साधनाके पुनर्जागरणके सम्बन्धमें यह एक बहुत बड़ी आशाका चिह्न है कि हमारे शिक्षित-अशिक्षित सभी श्रेणीके पुरुषोंमें भारतीय महापुरुषोंके प्रति श्रद्धाका भाव क्रमशः बढ़ता हुआ दीख रहा है। विभिन्न स्थानोंमें देश-कालानुसार महापुरुषोंकी पूजा और तत्-सम्बन्धी उत्सव मनाये जा रहे हैं। देव-देवियोंकी पूजा-अर्चनाके उपलक्ष्यमें भी जिन जातीय महोत्सवोंका विधान दीर्घकालसे प्रचलित है, उसमें भी इस समय कुछ प्राणका संचार-सा दीख पड़ता है। उसके अन्दर भी वर्तमान युगके जातीय महापुरुषोंका नैतिक और आध्यात्मिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। ये सब बातें जातीय जीवनके उद्बोधनका परिचय देती हैं। त्यागी, संयमी, उत्साहसम्पन्न, साधु-महात्मा नगर-नगर और गाँव-गाँवमें घूम-घूमकर इस जागृतिमें जितनी

सहायता करेंगे, मानव-जीवनके आदर्शको जितना अधिक समुज्ज्वलरूपमें जनसाधारणके सामने रखेंगे, अपने औज्ज्वल्य, आनन्द और सौन्दर्यसे जनसाधारणको जितना आकर्षित कर सकेंगे, उतना ही मनुष्योचित साधनाकी प्रेरणासे लोकसमाज जागृत होगा, जातीय साधनाके प्रतीकस्वरूप महापुरुष उतने ही अधिक प्रकट होंगे और जातिके देवता, तीर्थ और धर्मानुष्ठान उतने ही सत्यरूपमें विकसित हो उठेंगे। महापुरुषोंकी पूजा और उत्सवादिके सम्बन्धमें हमें निम्नलिखित एक बात विशेषरूपसे याद रखनी चाहिये और इस विषयमें जनसाधारणको खूब ही सावधान कर देना चाहिये। हम साधारणतः महापुरुषोंकी सिद्धिकी ही पूजा करते हैं, साधनाकी नहीं करते; उनकी अलौकिक शक्ति और ऐश्वर्य, अलौकिक ज्ञान और माधुर्यके स्मरणसे मुग्ध होकर हम उनकी स्तुति करते और महिमा गाते हैं, भूमिपर लोट-लोटकर बार-बार उनके चरणोंमें नमस्कार करते हैं, दयाभिखारी होकर उनसे नाना प्रकारकी प्रार्थना करते हैं; किन्तु उस शक्ति और ऐश्वर्य तथा ज्ञान और माधुर्यको प्राप्त करनेके लिये उन्होंने लगातार अनेकों वर्षोंतक जो कठोर परिश्रम किया है, अपने भीतरी और बाहरी जीवनको संयमित करके जिस तरह क्रमशः निम्न सोपानसे उच्चतर सोपानपर आरोहण किया है, उत्थान-पतनके झोंकोंको सहते हुए, असफलताकी वेदनासे पीड़ित होते हुए, और सफलताके आनन्दका अनुभव करते हुए जिस अदम्य उत्साहसे और सहिष्णुतासे वे साधनाको स्वभावरूपमें परिणत करके सिद्धिके उच्च क्षेत्रमें पहुँचे हैं, संतोंकी स्मृति और चर्चा करते समय हम इन बातोंको प्रायः याद नहीं करते। इस विषयके विचारसे हम अपने हृदयको अनुप्राणित नहीं करते। इस साधनाको—जिसके प्रतापसे वे हमारे परम पूज्य अलौकिक शक्तिसम्पन्न संत हो सके हैं—हम अपने जीवनका आदर्श नहीं बनाते। परन्तु सच तो यह है कि इस 'साधनाकी पूजा ही महापुरुषकी यथार्थ पूजा है।' महापुरुषकी सिद्धिकी पूजा—उनके जीवनमें विकसित शक्ति, ज्ञान और ऐश्वर्यकी पूजा, उनकी अलौकिक विभूति और निग्रहानुग्रह करनेके सामर्थ्यकी पूजा—महापुरुषकी वास्तविक पूजा नहीं है। ऐसी पूजासे तो उनमें स्थित देवताकी ही पूजा होती है, कभी-कभी भगवान्‌की पूजा भी हो जा सकती है, परन्तु महापुरुषकी पूजा नहीं होती। स्वयं भगवान् यदि महापुरुषके रूपमें आविर्भूत हों और हम यदि उनकी स्वरूपगत भगवत्ताका ही स्मरण-चिन्तन करें और भगवत्ता देखकर ही उनके चरणोंमें आत्मनिवेदन करें, तो इससे, जिस उद्देश्यको लेकर भगवान्‌ने मानवसमाजके सम्मुख एक विशिष्ट मानवरूपमें अपनेको प्रकट किया है, वह उद्देश्य सम्यक्‌रूपसे सिद्ध नहीं होता। भगवान् तो नित्य ही अनन्त ज्ञान-ऐश्वर्य-शक्तिसम्पन्न हैं। उनके मानव शिशुरूपमें मानव-जगत्‌में अवतीर्ण होकर प्रत्येक स्तरमें ज्ञान, ऐश्वर्य और शक्तिको विकसित करनेका कोई विशेष उद्देश्य हो सकता है तो वह यही है कि मनुष्य उनकी साधना और सिद्धिको देख-सुनकर अपनी साधन-शक्तिपर आस्था करे। मानवीय शक्तिका सम्यक् सुनियन्त्रित व्यवहार करके अपने अन्दर भगवत्ताके स्फुरण करनेका जो अन्तर्निहित अधिकार है उसे जागृत करे, और उनकी साधनाको आदर्शरूपमें ग्रहणकर स्वयं साधनामें प्रवृत्त हो। मनुष्य जब अपनी साधनाके द्वारा महापुरुषकी साधनाकी पूजा करता है तभी मानवसमाजमें महापुरुषका आविर्भाव यथार्थरूपसे सार्थक होता है—भगवान्‌का मानवरूपमें अवतीर्ण होना सफल होता है।

महापुरुष मनुष्यका आदर्श है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है कि मनुष्यके अन्दर पौरुषरूपमें ही मैं नित्य प्रकट हूँ—'**पौरुषं नृषु**'। अपने विभूतिवर्णनके प्रसंगमें उन्होंने घोषणा की है कि जिस पदार्थका जो सार (Essence) है उस पदार्थमें उसी रूपमें मैं विशेषभावसे अपनेको व्यक्त करता हूँ। मैं जलमें रसस्वरूपसे, चन्द्र-सूर्यमें प्रभारूपसे, अग्निमें तेजरूपसे, पृथ्वीमें पुण्यगन्धरूपसे और वेदमें प्रणवरूपसे अपनी महिमाका प्रकाश कर रहा हूँ। उन क्षेत्रोंमें मैं उन्हींके रूपमें विशेषभावसे चिन्तनीय और आराधनीय हूँ। इसी प्रकार मनुष्यमें—सब नर-नारियोंमें—मैं पौरुषके रूपमें अपनी भगवत्ता अभिव्यक्त करता हूँ, और इस पौरुषरूपसे ही मैं मनुष्योंमें ध्येय और पूज्य हूँ। जिस मनुष्यमें पौरुषका जितना ही अधिक विकास है वह मनुष्य उतना ही अधिक सफल है। अपने अन्तरमें स्थित पौरुषका महत्त्वसम्पादन ही मनुष्यकी साधना है। इस पौरुषमें जो मनुष्य जिस परिमाणमें महान् है, वह उसी परिमाणमें

'महापुरुष' नामके योग्य है। भगवान् जब मानव-देहमें अवतीर्ण होते हैं, तब मानवोचित पौरुषके माहात्म्यकी स्थापना करके मानवसमाजको संजीवित करना ही उनका प्रधान कार्य होता है।

इस संसारमें जन्म लेकर पौरुषके सहारे ही मनुष्य अपनेको बचाये रख सकता है, पौरुषके प्रभावसे ही वह प्रतिकूल शक्तियोंको पराजितकर अनुकूल शक्तियोंका संग्रह करता है और जीवनपथमें अग्रसर होता है। विश्वप्रकृति प्रतिक्षण आघात-पर-आघात करके मनुष्यके अन्दर छिपे हुए पौरुषको प्रकट होनेके लिये आवाहन करती रहती है। इन आघातोंको पाकर जिसका पौरुष जिस परिमाणमें उत्तर देता है, प्रकृतिदेवी उसी परिमाणमें उसके लिये उपहार लेकर तैयार रहती है। इसके विपरीत इन आघातोंसे जिनका पौरुष जागृत और उद्दीपित न होकर उलटा अवसन्न और निस्तेज हो जाता है, मानवसाधनाके महिमामण्डित पुण्यक्षेत्रसे हटानेके लिये प्रकृतिदेवी उन्हें दुःख, दैन्य और अपमानके मार्गसे क्रमशः मृत्युकी ओर ले जाती है। विश्वविधानके सनातन नियमानुसार सदासे ही इस प्रकार पौरुषविहीन दुर्बल पुरुषोंका अपमानपूर्ण बहिष्कार और तीव्र पौरुषसम्पन्न वीरोंका अभ्युदय और सम्मान होता आया है। मानव-जगत्में यह नियम व्यक्तिगत, जातिगत, समाजगत, सम्प्रदायगत सभी जगह सदा अपना कार्य चालू रखता है। इस सनातन नियमके प्रभावसे ही बहिर्जगत्की भाँति मानव-जगत्का भी यौवन अक्षुण्ण है। दुर्बलके विनाश और बलवान्की संवर्धनाके द्वारा विश्वप्रकृति मनुष्यके पौरुषको सदा सजीव और समुज्ज्वल बनाये रखती है—व्यक्तियोंके, जातियोंके, समाजोंके और सम्प्रदायोंके अन्दर छिपी हुई कर्मशक्ति, ज्ञानशक्ति और प्रेमशक्तिको सदा उद्बुद्ध और अभ्युदित करती रहती है। पौरुषके बिना मनुष्य बच ही नहीं सकता!

जिस व्यक्ति, जाति या समाजके जीवनमें इस पौरुषका जितना ही अधिक विकास है, वह व्यक्ति, जाति या समाज मनुष्यत्वकी दृष्टिसे उतना ही उन्नत है—मानवधर्मकी साधनामें उतना ही आगे बढ़ा हुआ है। परन्तु इस पौरुषका विकास केवल परिमाणद्वारा ही निरूपित नहीं होता। मनुष्यमात्रको ही इस पौरुषके विकासके लिये आदर्श-अवलम्बन, शिक्षा और अनुकूल वायुमण्डलकी आवश्यकता है। आदर्श, अवलम्बन, शिक्षा और वायुमण्डलकी विचित्रताके अनुसार मनुष्यका पौरुष भी विचित्र धाराओंमें बहने लगता है, विचित्र रूपोंमें विकसित होता है। आदर्श जितना ही उच्च, उदार, महान् और सुन्दर होगा और उस आदर्शके अनुसार न्यायसंगत, धर्मानुमोदित और प्रेममधुर उपायोंके अवलम्बनद्वारा सुनिपुण सुश्रृंखलाके साथ आत्मशक्तिका प्रयोग करनेमें मनुष्य जितना ही शिक्षित और अभ्यस्त होगा, उसी हिसाबसे उतना ही उसके पौरुषका उच्चतर विकास होगा।

जिन मनुष्योंके जीवनका आदर्श अपने देहेन्द्रियकी तृप्ति है, और देहेन्द्रियके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखकर उनकी ही सेवा करना है, उन मनुष्योंका पुरुषकार कितना ही तीव्र क्यों न हो, वे कितनी ही अधिक तीक्ष्ण बुद्धिशक्तिका और अथक कर्मनिष्ठाका परिचय क्यों न दें, 'आदर्श' निम्नकोटिका होनेके कारण उनके पौरुषको सुविकसित होनेका अवकाश ही नहीं मिलता, इसीलिये विश्वविधानमें उनके जीवनका स्थायित्व भी अधिक नहीं होता। जिस जाति या समाजकी शक्ति केवल अपने व्यक्तियोंके देहेन्द्रियोंके अभावकी पूर्ति और उनकी स्वच्छन्दताकी प्राप्तिमें ही प्रधानरूपसे लगी हुई है, वह जाति या समाज चाहे जितनी उद्भावनी और संघटनी शक्ति क्यों न दिखलावे, प्राकृतिक शक्तियोंके ऊपर चाहे जितना अपना आधिपत्य क्यों न जमा ले, मनुष्योचित पौरुषकी दृष्टिसे उस जाति या समाजको किसी प्रकार भी श्रेष्ठ स्थान नहीं दिया जा सकता। इस श्रेणीकी जाति या समाज बाह्य सम्पत्ति और आसुरी शक्तिमें आपाततः चाहे जितने महत्त्वका स्थान रखता हो, विश्वविधानमें उसकी जीवनी शक्ति उतनी अधिक विकसित नहीं है, उनका अन्तर्निहित पौरुष सम्यक् प्रकारसे जागृत और क्रियाशील नहीं है और उसका यह जगमगानेवाला गौरवभरा आसन भी अधिक समयतक टिकनेवाला नहीं है।

मानव जीवनका आदर्श जिस परिमाणमें विश्वविधानके अन्तर्यामी आदर्शके अनुकूल होता है, उसी परिमाणमें उस आदर्शकी नित्यता होती है, और उस आदर्शका अनुयायी पौरुष भी उसी परिमाणमें

मनुष्यको व्यष्टि या समष्टिभावसे अमरत्वकी ओर ले जाता है। विश्वविधानमें देहेन्द्रियका नित्य स्थायित्व नहीं है, देहेन्द्रियकी सुख-स्वच्छन्दता विश्वविधानका आदर्श नहीं है, और देहेन्द्रियकी सम्यक् तृप्ति सम्भव भी नहीं है। अतएव यह आदर्श मनुष्यको यथार्थतः महान् नहीं बना सकता। इस दिशामें मनुष्य कितना ही बड़ा क्यों न हो—अर्थमें, सामर्थ्यमें, प्रभुत्वमें, पाण्डित्यमें, जागृत और संघटित करनेवाली शक्तिमें वह चाहे जितने श्रेष्ठ स्थानका अधिकारी क्यों न हो, उसकी गणना महापुरुषोंमें नहीं हो सकती; मानव-समाजके लिये उसका पौरुष आदर्श नहीं है।

यह जागतिक विधान नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शके ऊपर प्रतिष्ठित है। मनुष्य अपनी इच्छासे और विचारसे इस आदर्श जीवनको सम्यक्रूपसे प्रतिफलित कर सकता है। अन्यान्य प्राणी तो इस विधानके यन्त्र और उपकरणमात्र हैं। यह सत्य है कि मनुष्य भी प्राकृत देहेन्द्रिय और मनपर निर्भरशील है—मनुष्यदेह भी अन्यान्य प्राणियोंकी भाँति ही इस विधानका एक यन्त्रविशेष है; परन्तु ऐसा होनेपर भी मनुष्यकी आत्मामें यन्त्रीका धर्म भी अनुस्यूत है, और उस धर्मको सम्यक्प्रकारसे विकसित करनेकी शक्ति भी उसमें निहित है। मनुष्य यन्त्र और यन्त्री दोनों ही है, वह बाहरसे प्रकृतिके अधीन होकर भी भीतरसे स्वाधीन है। विचार और इच्छाशक्तिकी स्वाधीनता ही पौरुष है। विश्वविधानके यन्त्रीके धर्मको—विधातृ पुरुषके धर्मको—मनुष्य अपने स्वाधीन पौरुषसे जिस परिमाणमें अपने अन्दर सत्यरूपमें प्रतिष्ठित कर सकता है, जिस परिमाणमें उसकी विचारशक्ति और इच्छाशक्ति उस विधाताके भावसे भावित होनेके लिये नियुक्त होती है, उसी परिमाणमें उसका पौरुष सार्थक होता है, उसका जीवन कल्याणमय होता है।

इस धर्मका प्रधान लक्षण है वैचित्र्यके अन्दर साम्यकी प्रतिष्ठा, भेदमें अभेदकी उपलब्धि, बहुतके अन्दर एककी अनुभूति और आत्मत्यागके अन्दर आत्मसम्भोग। विश्वविधानके मूलमें एक अखण्ड अनन्त महान् आत्मा विराजमान है। उसने इस सृष्टियज्ञमें अपनी आहुति देकर अपने एक अखण्ड स्वरूपको असंख्य खण्ड-खण्ड रूपोंमें विभक्त कर रखा है, अपने स्वरूपगत साम्यके अन्दर नाना प्रकारके भेदोंसे युक्त वैचित्र्यका विकास कर रखा है; और वह अपनी अखण्ड आध्यात्मिक सत्ताके द्वारा उन अगणित खण्ड सत्ताओंको एक सूत्रमें बाँधकर, नैतिक विधानके द्वारा उन बहुधा विभिन्न खण्ड सत्ताओंको परस्पर अंगांगिभावसे भलीभाँति सम्बन्धित रखकर, एक सत्य-मंगल-सौन्दर्यानन्दमय आदर्शके द्वारा उनको भीतर-ही-भीतर अनुप्राणित कर स्वयं उस अनन्त वैचित्र्यका सम्भोग कर रहा है। विश्वविधाताकी इस महती लीलामें मनुष्य ज्ञानपूर्वक योग देनेमें समर्थ है।

इस वैचित्र्यमय वातावरणमें जो मनुष्य जहाँतक एकताका अनुभव करनेमें समर्थ है, बाह्य दृष्टिसे नाना प्रकारकी विभिन्नता होनेपर भी जो मनुष्य जितने अधिक व्यक्तियोंको अपने अन्तरंग जानकर प्रेमसे उनका आलिंगन कर सकता है, जो मनुष्य जिस परिमाणमें दूसरोंके कल्याणके साथ अपने स्वार्थका अभेद उपलब्ध करना सीख चुका है, जो मनुष्य जिस परिमाणमें सबको अपने भीतर और अपनेको सबके भीतर देखनेका अभ्यासी हो गया है, वह मनुष्य उसी परिमाणमें महापुरुष माना जाता है। इस प्रकारके पुरुष जनसाधारणकी दृष्टिमें सनातन आदर्शके प्रतीकरूपमें विराजित रहते हैं। वे मानवताके महान् आदर्श और साधारण मनुष्यकी स्थूल दृष्टिके बीचमें स्थित रहकर सबको इस आदर्शके द्वारा अनुप्राणित करते और इस आदर्शकी ओर अपने ज्ञान, कर्म और भावकी धाराको बहा देनेके लिये सबका आवाहन करते रहते हैं। इन महापुरुषोंके जीवन, साधन और वचनामृतका स्मरण, मनन और विचार, इनकी पुण्यस्मृतिके साथ सम्बन्धित स्थानोंके दर्शन, और अपने जीवनमें इन्हें उपलब्ध करनेकी चेष्टा आदिके द्वारा स्वाभाविक ही मनुष्यके उच्च आदर्शके अनुकूल पौरुषकी जागृति और विकास होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है; परन्तु जबतक महापुरुषके दिखलाये हुए मार्गसे हमारी अपनी साधनाकी धारा प्रवाहित नहीं होती, तबतक महापुरुष-पूजा वास्तविकरूपमें नहीं होती। अपनी साधनाके द्वारा महापुरुषोंकी साधनाकी पूजा करनेसे ही यथार्थरूपसे महापुरुष-पूजा होती है।

त्याग और भोग

(लेखक—श्रीअनिलवरण राय)

मनुष्यके साधारण जीवनकी मूल नीति है काम, अर्थात् वासना, कामना। यही मनुष्यको प्राकृत जीवनके अशेष दुःखों और तापोंमें बाँधकर रखती है। दिव्य, शान्त, आनन्दमय अध्यात्मजीवनकी प्राप्तिके लिये कामको जीतना ही पड़ेगा और इसके लिये सबसे पहले इन्द्रियोंको संयत करनेकी आवश्यकता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥

(गीता ३।४१)

मन और बुद्धिको अन्तर्मुखी करके आत्मामें निबद्ध किये बिना काम निर्मूल नहीं होता; परन्तु इन्द्रियाँ जबतक उच्छृंखल होकर बाहरकी ओर दौड़ती रहेंगी, तबतक मन-बुद्धिको अन्तर्मुखी करना सम्भव नहीं। जब हम बाह्य वस्तुओंके भोगके लोभपर विजय प्राप्त कर लेते हैं तभी अपने अन्दर स्थित आत्माके अस्तित्वका अनुभव करना आरम्भ करते हैं। अतएव स्वभाववश इन्द्रियाँ ज्यों ही बाहरकी ओर झुकना चाहें, त्यों ही इच्छाशक्तिके द्वारा उनको निवृत्त करना चाहिये—'**कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः**'। तभी कामको हमारे अंदर आश्रय नहीं मिलेगा, उसका नाश करना सहज हो जायगा। कठोपनिषद्में शरीरको रथकी उपमा देकर कहा गया है कि शरीररूपी रथमें जुते हुए इन्द्रियरूपी घोड़ोंको विषयरूपी मार्गपर नियमानुसार ठीक-ठीक चलानेके लिये बुद्धिरूपी सारथि मनरूपी लगामको धीरजके साथ खींचकर पकड़े रहे। जबतक इन्द्रियाँ वशमें नहीं होतीं तबतक कोई भी निरापद नहीं है। साधारण जीवनमें इन्द्रियोंकी ताड़नासे मनुष्य किस प्रकार अपने हिताहित और लाभ-हानिका ज्ञान भूलकर दूसरोंका और अपना कितना भारी अनिष्ट कर बैठता है यह सभी जानते हैं। यहाँतक कि ज्ञानके साथ यत्नपूर्वक आत्मजयकी साधना करनेवाले साधु-संत भी इन्द्रियोंको जरा-सा आश्रय देते ही उनके प्रबल बहावके साथ बह जाते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

(गीता २।६०)

अतएव सभीके लिये सबसे पहले इन्द्रियसंयमका अभ्यास करनेकी परमावश्यकता है, परन्तु साधारणतः इस विषयमें जैसा उपदेश दिया जाता है और जिस प्रकारसे अभ्यास किया जाता है वह सर्वथा असम्पूर्ण है। नाना प्रकारके विधि-निषेधोंके कठोर बन्धनसे इन्द्रियोंका निग्रह किया जाता है। उससे आत्मा अवसन्न होता है। उसका परिणाम शुभदायक नहीं होता। जीवनका लक्ष्य है आनन्द। हमारे दर्शनशास्त्र कहते हैं—जगत्की सृष्टि आनन्दसे हुई है और वह घूम-घामकर आनन्दकी ओर ही जा रहा है। रसग्रहणकी स्पृहा मनका स्वभाव है। मनको यदि उच्चतर रसका पता नहीं लगेगा तो वह नीच अशुद्ध कामोपभोगकी ओर दौड़ेगा ही। एक बार यदि मन भगवत्-रसका स्वाद पा ले तो फिर कामनापर सहज ही विजय प्राप्त की जा सकती है। '**रसो वै सः**', वे सब रसोंके झरने हैं, रसमय हैं, रसस्वरूप हैं, आनन्दं ब्रह्म हैं। बंगालके साधक कमलाकान्तने गाया है—

मज्लो आमार मन-भ्रमरा कालीपद-नीलकमले।
विषय-मधु तुच्छ हलो
कामना-कुसुम सुकालो
मज्लो आमार मन-भ्रमरा श्यामापद-नीलकमले।
सुख-दुःख समान हलो
आनन्द-सागर उथलो
मज्लो आमार मन-भ्रमरा कालीपद-नीलकमले।
कालीपद-नीलकमले श्यामापद-नीलकमले॥

परन्तु इस प्रकार श्यामाके चरणरूप नील कमलमें मनको निमग्न कर देना, मिटा देना तो दूर रहा, विषय-रसमें आसक्त मनको उधर घुमाना भी सहज नहीं है।

मनको घुमानेका एक सहज उपाय है सौन्दर्यकी उपासना। सौन्दर्यकी ओर मनुष्य स्वाभाविक ही खिंचता है और सौन्दर्योपासनाद्वारा सहज ही आनन्दके साथ नित्य सुन्दर भगवान्की ओर अग्रसर हो सकता है। भारतकी वैष्णव साधना इसका उत्तम दृष्टान्त है। संसारमें जहाँ जो कुछ भी सुन्दर है, या सृजन होता है, सभी भगवान्का विशेष प्रकाश या विभूति है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।

मनको सौन्दर्य रसके स्वादका अभ्यास कराना

इन्द्रिय-जय और अध्यात्म-जीवनकी प्राप्तिके लिये विशेष सहायक हो सकता है। काव्य, संगीत, चित्रकला और भास्कर्य आदिके द्वारा मनुष्य कामनाविक्षोभरहित रसका स्वाद पा सकता है। और यों करते-करते उसका चित्त शुद्ध हो जाता है। भारतमें ललितकला (Art)-का चित्तशुद्धि और अध्यात्म-जीवनके निर्माणमें जिस प्रकार प्रयोग किया गया था वैसा जगत्में और कहीं नहीं देखनेमें आता।

इन्द्रियोंको संयत करनेका एक और सहायक साधन है—कर्मयोगका अभ्यास। कर्मकी ओर मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कर्ममें लगे हुए मनुष्यका इन्द्रियवेग अपने-आप ही नष्ट हो जाता है। फल-कामनाको छोड़कर भगवान्के लिये यज्ञभावसे कर्म करते-करते हमारे अन्दरसे वासना और कामनाकी शक्ति क्षीण हो जाती है और क्रमशः प्रकृतिका दिव्य रूपान्तर हो जाता है। गीताने इन्द्रियसंयमके लिये अन्यान्य मार्गोंकी ओर संकेत अवश्य किया है परन्तु मुख्यरूपसे कर्मयोगपर ही जोर दिया है। गीताके इस कर्मयोगकी नींव है ज्ञान, और इसकी प्रेरणा आती है भगवद्भक्तिसे ही। इस प्रकार कर्म, ज्ञान और भक्तिका समन्वय ही गीताके मतसे इन्द्रिय-जयका और भगवान्के साथ साधर्म्य-प्राप्तिका बहुत उत्तम साधन है।

परन्तु जिस समय भोगाकांक्षा बहुत ही प्रबल होती है उस समय किसी भी तरहका योगाभ्यास नहीं होता। ऐसे अवसरमें आकांक्षाको जोरसे दबा देनेकी वृथा चेष्टा न कर कुछ भोग देकर उसे नष्ट करना ही इन्द्रियजयके लिये एक विशिष्ट मार्ग है। श्रीरामकृष्ण परमहंस कहा करते कि 'यदि रसगुल्ला खानेपर बहुत ही मन चले तो दो रसगुल्लोंको मुँहमें डालकर मनसे कहो—रे मन! इसीका नाम रसगुल्ला है। बस, अब इसके लिये कभी न ललचाना।' परन्तु भोगके द्वारा ही कामको नष्ट नहीं किया जा सकता।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

भोगके फलस्वरूप जब प्रतिक्रिया हो, वासनाकी शक्ति क्षीण हो जाय, तब सुअवसर देखकर इन्द्रियोंका निग्रह करना चाहिये। किन्तु इससे भी पूर्णरूपसे काम-जय नहीं होता। उसका बीज रह ही जाता है और मौका पाते ही फिर अंकुरित और पल्लवित हो उठता है। भोग और निग्रहके द्वारा कामको क्षीण करके संयमके अभ्यासकी सहायतासे उसे निर्मूल करना चाहिये। योगी लोग पुरुष और प्रकृतिके भेदको जानकर यह देखते हैं कि वासना-कामना आदि वृत्तियाँ प्रकृतिका खेल है, पुरुषका नहीं; पुरुष केवल उनका साक्षी है, अनुमन्ता है और भोक्ता है। पुरुष यदि कामको बार-बार अस्वीकार करे, त्याग करे, उसके खेलमें तनिक भी साथ न दे तो प्रकृतिसे वह सम्पूर्णरूपसे अलग हो जाता है। और यही वास्तविक संयमकी साधना है।

गीतामें कामको ही पाप बतलाया है। **'पाप्मानं प्रजहि ह्येनम्।'** वस्तुतः बाहरके किसी आचरणपर पाप-पुण्य निर्भर नहीं करता। यही गीताकी शिक्षा है। भीतरी वासना और कामनाओंकी प्रेरणासे जो कर्म किये जाते हैं उन्हींसे बन्धन होता है और आत्मविकास रुक जाता है और इसीलिये वह पाप है। कामिनी-कांचन मनमें कामकी उत्पत्ति करते हैं, इसीलिये कामिनी-कांचनको छोड़कर संसारत्यागका उपदेश दिया जाता है; किन्तु इससे पापका मूल काम सर्वथा नष्ट नहीं होता। वह रह ही जाता है। गीता इस तरह कामको किंचित् भी शेष रखनेकी आज्ञा नहीं देती, वह भलीभाँति नाश करनेको कहती है—**'प्रजहि।'** इन्द्रियभोगोंमें रहते हुए ही इसी देहमें काम-क्रोधके वेगको सहन करनेका अभ्यास करना होगा। इन्द्रियोंको राग-द्वेषरहित कर डालना होगा। जंगलमें या पहाड़की गुफाओंमें छिपनेसे ही कामपर विजय नहीं मिल सकती। बाह्य वैराग्य ही जीवनका लक्ष्य नहीं है। हाँ, सामयिकरूपसे वैराग्य, विषयभोगके प्रति तीव्र विद्वेष किसी-किसीके लिये इन्द्रियवेगको रोकनेमें सहायक हो सकता है। भोग दो प्रकारका है, शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध भोगमें सुख-दुःख नहीं है। अशुद्धमें सुख-दुःख है। हर्ष-शोकादि द्वन्द्व अशुद्ध भोगीको ही विचलित और विक्षुब्ध करते हैं। कामना अशुद्धिका कारण है, कामीमात्र ही अशुद्ध हैं; और जो निष्काम है वह शुद्ध है!

गीताकी संत-दीक्षा

(लेखक—पं० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी)

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

(गीता २।४५)

संतकी परिभाषा

संस्कृतमें '**सत्**' शब्दका अर्थ 'है' है; परन्तु इसका प्रयोग प्राय: 'अच्छा' शब्दके स्थानपर होता है। इसी शब्दका बहुवचन '**सन्त:**' है, जो कि हिन्दीमें 'संत' रूपमें प्रचलित है। 'संत,' 'सज्जन,' 'साधु,' 'सत्पुरुष', 'भक्त' आदि शब्द एक ही अर्थमें प्रयुक्त[1] होते हैं। गीताके सत्रहवें अध्यायमें भगवान्ने 'सत्' शब्दका प्रयोग पाँच प्रकारसे किया है। यथा—

(१) 'सत्' नाम ब्रह्म (आत्मा) का है।[2]

(२) तदर्थ कर्म अर्थात् अपने योगक्षेमके लिये कोई कर्म न करके 'वासुदेवके अर्थ कर्म करना' 'सत्' कहलाता है।[3]

(३) यज्ञ, दान, तप (सात्त्विक कर्म)-में स्थितिको 'सत्' कहते हैं।[4]

(४) सद्भाव और साधुभाव अर्थात् प्राणिमात्रसे सुहृद्भाव रखना, सर्वभूतहितरत रहना और राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंमें न पड़ना भी 'सत्' है।[5]

(५) प्रशस्त कर्म अर्थात् अच्छा सांसारिक या आत्मोद्धारक मांगलिक कर्म करना भी 'सत्' कहा जाता है।[6]

इन पाँच विषयोंमें श्रद्धा एवं प्रेमसहित जिनका मन लगा हुआ है, उन्हींको संत कहते हैं। वस्तुत: परमात्मा, अन्य प्राणी, संसार और अपने जीवात्माके साथ जो सद्व्यवहार होना चाहिये, उसका दिग्दर्शन ही गीताके इन वचनोंद्वारा कराया गया है।

भगवान् श्रीकृष्णने शिष्यभावसे शरणमें आये हुए अपने भक्त सखा अर्जुनको संतोंके लक्षणोंसे सम्पन्न होनेके लिये, इस लेखके शिरोभागमें उद्धृत जो दीक्षा दी है उसमें भी इन पाँचों विषयोंका समावेश है, जैसा कि उसके निम्नलिखित भावार्थसे प्रकट होगा।

संतके लक्षण

वेद त्रैगुण्यविषयक हैं, परन्तु हे अर्जुन! तू (१) निस्त्रैगुण्य हो अर्थात् तीनों गुणोंके कार्यरूप संसारसे, जिससे आत्माका अध:पतन होता है, विरक्त होकर आत्मोद्धार करनेवाले प्रशस्त कर्म कर। (२) निर्द्वन्द्व हो अर्थात् मित्र-शत्रु, प्रिय-अप्रिय सबके प्रति सद्भाव रख, सबका समानभावसे हित-चिन्तन कर, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंके भुलावेमें न पड़। (३) नित्यसत्त्वस्थ हो अर्थात् मनीषियोंके मनको पावन करनेवाले यज्ञ, दान, तप आदि सात्त्विक कर्मोंमें सदा स्थित रह। (४) निर्योगक्षेम हो अर्थात् अप्राप्त वस्तुकी कांक्षा और प्राप्त वस्तुकी रक्षाकी चिन्तासे रहित होकर समस्त शुभ कर्म ईश्वरके लिये ही कर, और (५) आत्मनिष्ठ हो अर्थात्

---

१. संत, साधु और भक्त—इन तीनों शब्दोंका प्रयोग रामचरितमानसमें एक ही अर्थमें मिलता है। देवर्षि नारदजीके यह आग्रह करनेपर—

संतन्हके लच्छन रघुबीरा। कहहु नाथ भंजन भवभीरा॥

—भगवान् कहते हैं—

सुनु मुनि साधुन के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद स्रुति तेते॥

जब श्रीभगवान् संतोंके लक्षण ***'षट विकार जित अनघ अकामा'*** आदि वर्णन कर चुकते हैं, तब गोस्वामीजी अपना प्रेमोद्गार प्रकट करते हैं—

अस दीनबन्धु कृपाल अपने भगत-गुन निज मुख कहे।

२. ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध: स्मृत:। (गीता १७।२३)

३. कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ (गीता १७।२७)

४. यज्ञे तपसि दाने च स्थिति: सदिति चोच्यते। (गीता १७।२७)

५. सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते। (गीता १७।२६)

६. प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्द: पार्थ युज्यते॥ (गीता १७।२६)

भगवान्‌की भक्ति कर, भगवान्‌के नामका जप कर तथा भगवान्‌के चरणकमलोंका ही ध्यान कर। यही सदुपदेश भगवान् श्रीकृष्णने अपने पूर्वावतारमें अपने शरणागत भक्त विभीषणको दिया है—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥
सबकै ममता[१] ताग बटोरी। मम पद[५] मनहिं बाँधि बरि डोरी॥
समदरसी[२] इच्छा कछु[४] नाहीं। हरष सोक[३] भय नहिं मनमाहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे॥

इसमें (१) सांसारिक ममतासे विरति अर्थात् निस्त्रैगुण्य (२) 'समदर्शी' से निर्द्वन्द्वता (३) हर्ष, शोक, भय न होनेके कारण मनकी नित्य सत्त्वमें स्थिति (४) **'इच्छा कछु नाहीं'** से निर्योगक्षेम, और (५) **'मम पद मनहिं बाँधि बरि डोरी'** से भगवद्भक्ति अर्थात् आत्मवान् होनेका आशय है। इसकी व्याख्या नीचे की जाती है—

जो मनुष्य तीनों गुणोंके कार्यरूप सांसारिक विषयोंसे विरक्त हैं वे ही संत हैं; जो शत्रु-मित्र, प्रिय-अप्रिय, मान-अपमानके द्वन्द्वोंसे व्यस्त नहीं हैं वे ही साधु हैं; जो प्रमाद, आलस्य, काम, क्रोध, लोभादि तमोगुण-रजोगुणके दोषोंसे विमुक्त होकर नित्य सत्त्वस्थ अर्थात् परोपकार, सरलता, शान्ति, क्षमा आदि सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं वे ही सज्जन हैं; जो आशापाशसे बँधे हुए नहीं हैं, अपने योगक्षेमके लिये कभी भगवान्‌से प्रार्थना नहीं करते वे ही भक्त हैं। और वे ही महात्मा हैं जिन्होंने भगवत्कृपासे आत्मदर्शन कर लिया है। जो आत्मसुखके अनुभवसे सदा तृप्त और सन्तुष्ट हैं। और इसी आत्मोपदेशका व्यास एवं समासरूपसे वर्णन, छान्दोग्योपनिषद्‌के **'तत्त्वमसि'** उपदेशकी शैलीपर, उपनिषद्‌रूपी गौओंके दोग्धा गोपालनन्दनने अपने प्रिय पार्थके अभ्यासार्थ श्रीगीतामें स्थितप्रज्ञ, युक्त योगी, ब्रह्मसंस्पर्शयोगी, राजविद्या-राजगुह्यविषयक भक्ति, प्रिय भक्त, क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-सम्बन्धी ज्ञानसाधन, गुणातीत, पुरुषोत्तम-योग और परानिष्ठा ज्ञानमें नौ बार किया है—

सभी देशोंके मत-मतान्तरोंके साधु-संतों और महात्माओंके लक्षण इस श्लोकके पंचामृतोपदेशपर निर्भर हैं। गीतामें सर्वप्रथम 'आत्म' शब्दका प्रयोग ब्रह्मके अर्थमें इसी श्लोकमें हुआ है। श्रुतिमें परब्रह्म, परमात्मा और ईश्वरके स्थानपर अधिकतर यही शब्द प्रयुक्त हुआ है।

इस श्लोकमें भगवान्‌की वह पहली दीक्षा है, जो भगवद्भक्ति, भगवद्दर्शन, भव-बन्धनसे विमुक्ति, और चिरशान्ति-प्राप्तिके सुन्दर सरल साधनोंसे सम्पन्न है। यथा—

(१) आत्मवान्[१]

आत्मवान् होनेसे परम लाभ यही है कि पतितपावन परमात्मा जगदीशकी अनन्य भक्तिके प्रभावसे अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी साधु-संतोंके समान माने जाते हैं, और वे शीघ्र ही धर्मात्मा होकर नित्यशान्तिको प्राप्त करते हैं। यथा—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

तथा—

जौं नर होइ चराचरद्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥

(सुन्दरकाण्ड)

भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय अस मम बानी॥

(उत्तरकाण्ड)

कोई भी अपना श्रेय चाहनेवाला इससे अधिक किस लाभकी इच्छा करेगा? इसलिये सब साधु, संत और महात्मा 'आत्मवान्' अर्थात् भगवान्‌के भक्त होते हैं।

ते धन्य तुलसीदास आस बिहाइ जो हरि-रँग रये।

(रामचरितमानस)

(२) निर्योगक्षेम[२]

आत्मवान् होनेके लिये निष्काम होना आवश्यक है, क्योंकि—

---

१. नवें अध्यायके दो-तीन श्लोकोंको छोड़कर प्रायः सभी श्लोकोंमें परमात्मा श्रीकृष्ण 'अहम्', 'माम्', 'मम', 'मे', 'मत्' इत्यादि शब्दोंके प्रयोगद्वारा विराजमान हैं। इस प्रकार यह राजविद्या-राजगुह्य अध्याय आत्ममय हो रहा है, और आत्मवान् होनेके लिये सर्वश्रेष्ठ है। इसके पाठसे अवश्यमेव आत्मबुद्धि हो जाती है।

२. सत्रहवें और अठारहवें अध्यायमें सात्त्विक यज्ञ, दान, तप, ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुखका सम्यक् वर्णन है, जिनका ध्यान रखनेसे मनुष्य भव-बन्धनसे मुक्त हो सकता है। इन यज्ञ, दान, तपको निष्कामभावसे करनेका आदेश है और राजस तथा तामसभावसे करनेका निषेध है।

जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।

निष्काम होना और निर्योगक्षेम होना दोनों एक ही बात है। किसी प्रकारकी '**अहंममलिन**' कामेच्छाका आविर्भाव होनेपर भक्तको अपने प्रियतम भगवान्‌का वियोग होता है। अतएव सच्चे संत-महात्मा सर्वदा निर्योगक्षेम होकर भगवान्‌के चारु-चरणोंका चिन्तन करते रहते हैं। ऐसे ही गुणोंसे भगवान् उनके वशमें रहते हैं।

सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उनके बस रहऊँ॥

और उन्हींके मनोमन्दिरमें रघुनन्दन निरन्तर निवास करते हैं—

जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम सन सहज सनेह।
बसहु निरन्तर तासु उर, सो राउर निज गेह॥

(रामचरितमानस)

ऐसे महानुभावोंको अपने लिये किसी अप्राप्त वस्तुकी कांक्षा करने और किसी प्राप्त वस्तुकी रक्षाके निमित्त चिन्तित होनेकी आवश्यकता ही क्या, जब कि उनका योगक्षेम स्वयं भगवान् करते हैं।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।

(गीता ९। २२)

यहाँतक कि उन्हींके रक्षार्थ भगवान्‌का अवतार होता है—

परित्राणाय साधूनां·······सम्भवामि युगे युगे।

(गीता ४। ८)

तथा—

तुम सारिखे संत प्रिय मोरे। धरों देह नहिं आन निहोरे॥

और—

करहुँ सदा तिनकी रखवारी। ····················॥

(रामचरितमानस)

ऐसे समस्त संतजन, जिनकी रक्षा भगवान् करते हैं, वन्दनीय हैं—

बंदों पदसरोज सब केरे। जो बिनु काम रामके चेरे॥

(३-४) नित्य सत्त्वस्थ[१] और निर्द्वन्द्व[२]

निर्योगक्षेमके लिये नित्य सात्त्विक कर्म करना एवं रजोगुण-तमोगुणजनित द्वन्द्वसे रहित होना आवश्यक है; क्योंकि मनुष्यकी वृत्ति त्रिगुणात्मिका है। उसमें कभी तमोगुण, कभी रजोगुण और कभी सत्त्वगुणका प्राबल्य होता है। वह तमोगुणजनित मोह, प्रमाद, आलस्यादि और रजोगुणोत्पन्न राग, काम, क्रोध, लोभ, तृष्णा, स्पृहादिके कारण योग और क्षेमके कलिलमें मग्न होता रहता है और द्वन्द्वोंके कारण उसकी विचित्र दशा हो जाती है, जिसका सुन्दर चित्र गोस्वामीजीने इस प्रकार खींचा है—

कबहुँ मोहबस द्रोह करत बहु, कबहुँ दया अति सोई॥
कबहुँ दीन मतिहीन रंकरत, कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़ पंडित विडंबरत, कबहुँ धर्मरत ज्ञानी॥
कबहुँ देख जग धनमय रिपुमय, कबहुँ नारिमय भासै।
संसृति सन्निपात दारुण दुख बिनु हरिकृपा न नासै॥

(विनयपत्रिका पद ८१)

एतदर्थ रजोगुण और तमोगुणके द्वन्द्व-दोषोंको अभ्यासद्वारा दबाकर और सत्त्वगुणके अभय, त्याग, अहिंसा, शान्ति, सरलता, क्षमादिसे मनको सम्पन्न करके निर्द्वन्द्व एवं नित्यसत्त्वस्थ होना चाहिये, जिससे चित्तमें मोक्षदायी शुभ गुणोंका उदय होता रहे और सकाम भावका तिरोभाव हो जाय। ऐसे ही नित्यसत्त्वस्थ और निर्द्वन्द्व साधुओंके विषयमें महर्षि वाल्मीकिजीने कहा है—

नित्यसत्त्वस्थ—

काम क्रोध मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिनके कपट दंभ नहिं माया। तिनके हृदय बसहु रघुराया॥

(रामचरितमानस)

निर्द्वन्द्व—

सबके प्रिय सबके हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी श्रीभरतजीसे संतोंके लक्षणोंमें निर्द्वन्द्व सज्जनोंका वर्णन इस प्रकार किया है—

निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पदकंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय, गुनमंदिर सुखपुंज॥

(उत्तरकाण्ड)

और इन्हींकी वन्दना गोस्वामीजीने इस कमनीयरूपमें की है—

बन्दउँ संत समान चित, हित अनहित नहिं कोउ।
अंजुलिगत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोउ॥

१. दैवीसम्पत्तिके नामसे इसका विस्तृत वर्णन श्रीगीताके सोलहवें अध्यायमें भगवान्‌ने किया है।

२. चौदहवें अध्यायमें गुणातीतके लक्षणोंमें इसका विशद वर्णन है।

(५) निस्त्रैगुण्य[१]

निस्त्रैगुण्य होनेके लिये वैराग्यकी वैसी ही आवश्यकता है जैसी कि निर्द्वन्द्व होनेके लिये अभ्यासकी, क्योंकि मनको नित्यसत्त्वस्थ करनेके लिये भगवान्ने अभ्यास और वैराग्य ही बतलाया है। जो मनुष्य साधारणतः अनेक ऐश्वर्योंके भोगार्थ लालायित रहते हैं; और अज्ञानवश, स्वर्ग-प्राप्ति आदि भोगैश्वर्यके वर्णनके अतिरिक्त वेदोंमें अन्य कुछ है ही नहीं, ऐसा समझते हैं, उन्होंने हरिभक्तवर ध्रुवके प्रति माता सुनीतिके इस सदुपदेशपर ध्यान नहीं दिया है—

इहै कह्यौ सुत वेद नित चहूँ।
श्रीरघुबीर चरन-चिन्तन तजि नाहिन ठौर कहूँ॥

(विनयपत्रिका पद ८६)

ऐसे मनुष्योंको जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होने और भगवान्के साक्षात्कारके लिये सबसे पहिले संसारके अनित्य भोगैश्वर्यसे विरक्त होना पड़ेगा। यही निस्त्रैगुण्य अर्थात् वैराग्यवान्[२] होना है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी श्रीलक्ष्मणजीके प्रति यही कहा है—

कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥

इस सबका निष्कर्ष यह है कि मनुष्य (१) क्षणिक सुखकी प्राप्तिके लिये (२) अनेक कामनाएँ करनेमें प्रवृत्त होता है। क्योंकि (३) भोगैश्वर्यकी बातोंको सुन-सुनकर उसका चित्त संसारकी ओर मोहसे आकृष्ट हो जाता है और (४) आत्मसुखसे वंचित होकर (५) जन्ममरणके चक्करमें पड़ा रहता है। इन्हीं दुःखोंके दूरीकरणके लिये भगवान्ने अर्जुनको उपरिलिखित उपदेश किया है, जिसको पंचसकारके रूपमें इस प्रकार कह सकते हैं। (१) संसारके भोगैश्वर्यसे विरति, (२) समता, (३) सत्त्वस्थता, (४) सन्तोष (**बिनु संतोष न काम नसाहीं**) और (५) सच्चिदानन्दमें समाहित होना। संतों और महात्माओंके इन्हीं पाँच लक्षणोंकी जो नौ आवृत्तियाँ गीतामें भगवान्ने की हैं उनका संक्षेपमें एक उदाहरण देना समुचित होगा—

पुरुषोत्तमयोगनामक पन्द्रहवें अध्यायमें '**अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा**' से निस्त्रैगुण्य, '**द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः**' से निर्द्वन्द्व, '**निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्याः**' से नित्यसत्त्वस्थ, '**विनिवृत्तकामाः**' से निर्योगक्षेम और '**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये**' से आत्मवान् होनेका तात्पर्य है।

(गीता १५।३—५)

संतका कर्त्तव्य

इन शुभ पंच लक्षणोंसे सम्पन्न प्रेमी संतोंका भी परम ध्येय भगवत्-कृपा है। उसकी प्राप्तिके लिये भगवान्का गीतामें अन्तिम उपदेश यह है कि जो भगवान्के गीताज्ञानको, अत्यन्त भक्तिसे, भगवान्के भक्तोंको सुनावेगा वह भगवान्का सबसे बढ़कर प्रिय कृपापात्र होगा।[३] और जो सज्जन श्रद्धासहित गीताको पढ़ेंगे या सुनेंगे, वे भी भगवान्को प्रसन्न करेंगे। यही भगवान्का गीतामें अन्तिम आशीर्वाद है, इसीमें सबका कल्याण है।

इस आशीर्वादका फल बड़ा सुन्दर है। जो सत्पुरुष भगवान्की कृपा चाहते हैं, उनके लिये इससे बढ़कर और क्या कर्त्तव्य है कि वे श्रीगीताके सप्रेम प्रचारद्वारा बहुत-से भूले-भटके भोले पुरुषोंका उद्धार इस सुधोपम सदुपदेशसे करके उनको भगवान्के कृपापात्र भक्त बनावें। ऐसे संतोंके परोपकार-व्यसनसे सब भूतोंके सुहृद् भगवान्का कोमल हृदय दयार्द्र होकर अपने कृपा-वारिसे उन साधुओंकी हृदयगत भक्ति-वेलिको सदा सींचता रहता है। और जो सज्जन साधनमार्गके लिये जिज्ञासु हो रहे हैं, उनको गीताके श्रद्धापूर्ण श्रवणसे परम लाभ यही है कि उनका मन प्रभुकी कृपासे फिर संसारकी ओर न खिंचकर भगवान्के पंचामृतोपदेशका पान करता है अर्थात् निस्त्रैगुण्य१, निर्द्वन्द्व२, नित्यसत्त्वस्थ३ और निर्योगक्षेम४ होता हुआ आत्मवान्५ हो जाता है। सभी देशोंकी सब जातियों और सब सम्प्रदायोंके संतोंके लिये गीताकी यही दिव्य दीक्षा है। यह दीक्षा ऐसी है कि—***'संतत संत प्रसंसहिं तेही।'*** और इसीके बलसे—

---

१. इसके विस्तृत वर्णनके लिये गीताका १५वाँ अध्याय देखिये—

२. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। (योग० १।१५)

३. य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति। भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः। भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

संत-हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि विकार।

ऐसी सुन्दर दीक्षाद्वारा आत्मतत्त्व प्राप्त करनेके निमित्त मनुष्य परमार्थपथपर तभी पदार्पण कर सकता है जब कि उसपर प्रभुकी पूर्ण कृपा हो—

अति हरि कृपा जाहिपर होई। पाँव देइ यह मारग सोई॥

भगवान्‌की अतिशय कृपा भक्तिद्वारा ही सुलभ है। और भगवद्भक्ति केवल संतोंके अनुग्रहसे ही प्राप्त हो सकती है—

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलहिं जो संत होहिं अनुकूला॥

संतोंसे प्रार्थना

अतएव परोपकाररत संतोंके प्रति लेखक अपनी यह छोटी-सी लिप्सा प्रकट करता है—

संत सरलचित जगतहित, जानि सुभाउ सनेहु।
बालबिनय सुनि करि कृपा, रामचरन रति देहु॥

जिससे कि वह निस्त्रैगुण्य, निर्द्वन्द्व, नित्यसत्त्वस्थ, निर्योगक्षेम और आत्मवान् हो सके।

साधु-संत

(लेखक—पण्डितप्रवर श्रीपंचाननजी तर्करत्न)

हिन्दीका 'संत' संस्कृतभाषामूलक शब्द है। कातन्त्रव्याकरणानुसार यह शब्द—नाम या प्रातिपदिक है, पाणिनीय व्याकरणानुसार यह प्रातिपदिकके उत्तर प्रथमा-बहुवचनसे निष्पन्न '**सन्तः**' शब्द है—बहुवचनके गौरवसे संस्कृतका विसर्ग चलित भाषामें लुप्त हो गया है। यह प्रातिपदिक शब्द है 'सत्'। संत या सत् जो भी प्रातिपदिक हो, दोनों ही मतोंसे इसका मूल धातु 'अस्' (**अस्ति**) है। संस्कृतभाषा-रत्नाकरमें उत्तमसे लेकर अधमतक, नित्यसे लेकर तुच्छतक सर्वत्र ही इस 'अस्' धातुका प्रयोग होता है। उदाहरण—सत् और असत्, सत्य और असत्य है।

'सत्' शब्द ब्रह्मका वाचक है, '**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्**' (छान्दोग्य० ६) आदि अनेकों श्रुतियोंसे एवं—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

—आदि स्मृतियों (गीता)-से यह सिद्ध है।

'सत्' शब्दका धातुगत अर्थ है—अस्तित्व। जो है, वही सत् है। जिसका अस्तित्व नहीं है, वही असत् है। सत्य और असत्यमें भी इस अस्तित्व और नास्तित्वका ही सम्बन्ध स्पष्ट है।

संत—वही सत्—के समान अस्तित्व और किसीका भी नहीं है, वही परमार्थसत् है। श्रुति कहती है—

असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥

(तैत्तिरीय० २ वल्ली)

जिसके मतमें ब्रह्मकी सत्ता नहीं है वह निश्चय ही असत् है, और जिन्होंने ब्रह्मकी सत्ताको जान लिया है, उनको इसीलिये ऋषिगण 'संत' कहते हैं।

दूसरी श्रुति है—'**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**'—ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म-स्वरूप ही होता है। अतएव जिनको ब्रह्मसत्ता विज्ञात है वही ब्रह्म हैं—ब्रह्म सत् है, ब्रह्मज्ञ भी सत् है।

जो अस्तित्व देशकालके द्वारा परिच्छिन्न नहीं है वही अस्तित्व सर्वोत्तम है। ब्रह्मकी वही नित्य अपरिच्छिन्न सत्ता है। संत इस अस्तित्व या सत्ताके अधिकारी हैं।

अतएव संत परमार्थसत् हैं। उनके महनीय नाममें ही यह तत्त्व भरा है। यद्यपि ब्रह्मसत्ताके ज्ञानमें अधिकारानुसार तारतम्य है परन्तु सभी अधिकारियोंको शुद्धचित्त तो होना ही पड़ता है। इस विषयमें कुछ और समझना है—

कर्म, ज्ञान और भक्ति—शास्त्रमें ये तीन मार्ग बतलाये गये हैं। अधिकारानुसार इन तीनोंमेंसे किसी भी मार्गपर चलनेसे अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति हो जाती है। कर्म किस तरह भक्तिका आश्रय लेता है, ज्ञान क्योंकर भक्तिका अवलम्बन करता है, अथवा कर्म और ज्ञान भक्तिका आश्रय लेते ही नहीं, यह प्रसंग यहाँ नहीं उठाना है। परन्तु यह अत्यन्त निश्चय है कि जिस कर्मके साथ ब्रह्मका सम्बन्ध नहीं है वह कर्म ही नहीं है, कुकर्म है। और भक्तिविरोधी ज्ञान हो ही नहीं सकता; इतना होनेपर भी इन तीनों पथोंके पथिक पहले-पहले एक ही रूपमें ब्रह्मको—ब्रह्मके अस्तित्वको अवगत नहीं कर पाते। तथापि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

—के अनुसार भगवान् प्रपन्न—शरणागतमात्रको

निजजन समझकर उनको ग्रहण करते हैं। इस प्रपन्नताके मूलमें जो एक भाव है, उस भावका अवलम्बन उपर्युक्त तीनों ही मार्गोंमें करना पड़ता है। नित्यदास्य या सायुज्य जो कुछ भी हो, परमार्थ-सत्ताको प्राप्त करनेकी जिन्होंने योग्यता प्राप्त कर ली है वे ही संत हैं। प्रपन्नताके मूलमें जो भाव है उसको उन्होंने पा लिया है—इसमें शास्त्र प्रमाण हैं—

यथालब्धेऽपि सन्तुष्टः समचित्तो जितेन्द्रियः।
हरिपादाश्रयो लोके विप्रः साधुरनिन्दकः॥
निर्वैरः सदयः शान्तो दम्भाहङ्कारवर्जितः।
निरपेक्षो मुनिर्वीतरागः साधुरिहोच्यते॥

साधु और संत शब्दोंका एक ही अर्थ है। यथालाभमें संतोष, सुख-दुःखमें समचित्तता, जितेन्द्रियता, श्रीहरिके चरणकमलोंका आश्रय, परनिन्दाका त्याग, निर्वैरता, कृपालुता, शान्ति, दम्भ और अहंकारका अभाव, पक्षपातहीनता, वैराग्य और मुनित्व—ये साधुके लक्षण हैं।

यह भाव जिनका हो गया है अर्थात् जिनके भाव शुद्ध हो गये हैं, वही शुद्धचित्त हैं—वही साधु-संत हैं, वे ब्रह्मसत्ताके ज्ञानके योग्य हैं—उनका अस्तित्व देश-कालके द्वारा अपरिच्छिन्न है, इसीसे उनका नाम संत है। ऐसे संतोंके चरणोंमें मेरे कोटि-कोटि प्रणाम हैं।

यत्पूजाया हरेः पूजा दृष्ट्या न यमदर्शनम्।
पापक्षयः स्पर्शनाच्च किं परं सत्समागमात्॥
नमः सद्भ्यः सदा मेऽस्तु येषां चरणधूलिभिः।
धन्या वसुन्धरा नित्यं सन्तः साक्षाद् हरेस्तनुः॥

संत अंदरकी किताब पढ़े होते हैं

(लेखक—पं० श्रीधर्मदेव शास्त्री दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, सांख्यवेदान्तादितीर्थ)

शिक्षा अथवा विद्या उसीको कहा जा सकता है जो मनुष्यको मुक्त होनेका मार्ग बतावे। मुक्तिका अर्थ है—पूर्णत्वप्राप्ति। शिक्षासे मनुष्यका मस्तिष्क उन्नत हो जानेसे वह अशिक्षितकी अपेक्षा अपनी कमीको अधिक जान सकता है। परन्तु जो थोड़ा-सा अक्षरज्ञान मनुष्यको दुरभिमानी बनाता है वह अपने-आपको जब पूर्ण समझ लेता है तब उसे शिक्षित न कहकर अशिक्षित कहा जाना चाहिये। प्राचीन महात्माओंने कहा है—

सा विद्या या विमुक्तये।

आजकल शिक्षित कहे जानेवाले व्यक्ति अपनेको व्यर्थ ही पूर्ण समझकर किसी महात्मा-संतके सत्संगमें रहना अनुपयोगी और व्यर्थ कालयापन समझते हैं। उन लोगोंकी दृष्टिमें वही मनुष्य महात्मा और संत है जो अधिक किताबें पढ़ा हो, बड़ी-बड़ी उपाधियाँ जिसके पास हो। और फिर यदि वह अंग्रेजी भी जानता हो तब तो कहना ही क्या। ऐसे लोग बहुत ऊँचे महात्माके पास जानेमें अपमान समझते हैं जो उनसे कम किताबें पढ़ा हो। यदि कहीं ऐसे व्यक्तिने एक भी पुस्तक न पढ़ी हो तो ये लोग उसे ढोंगी समझते हैं। जब इनसे कहा जाता है आज अमुक महात्माका आत्मविषयक व्याख्यान होगा तब वे झट कह देते हैं वह कौन-सी नयी बात बता देगा—सभी ऊँची-से-ऊँची आध्यात्मिक बात मुझे ज्ञात हैं। इतना ही नहीं, वे तो यह भी कह देते हैं कि उस संतने जिन बातोंको सुना भी न होगा मैं उन्हें भी जानता हूँ। मैं तो पूर्व और पश्चिम सभी विचारोंको तुलनात्मक दृष्टिसे भी जानता हूँ। संतोंको इन सबका ज्ञान भी न होगा, इत्यादि। यह विद्याका अभिमान भी मनुष्यको उन्नति नहीं करने देता। वास्तवमें सत्संग भी तो प्राक्तन पुण्योंका ही फल है, वह सबको सुलभ नहीं। मेरा यह स्वभाव है कि जब कभी भी मैं किसी संतका नाम सुनता हूँ तब उनके चरणोंमें उपस्थित होकर आत्मिक शान्ति प्राप्त करनेका प्रयत्न करता हूँ। अपने इसी स्वभावके अधीन जब मैंने सुना कि देहरादूनमें एक संत महिला आयी हुई हैं तब मैं उनके पास पहुँचा। प्रणाम करके उनसे कुछ पूछा और इस प्रकार कई दिन थोड़े समयके लिये उनकी सेवामें उपस्थित होनेपर मुझे लाभ हुआ। वह संतिन बहुत पढ़ी नहीं थीं परन्तु प्रसादगुण उनमें बहुत था। मेरे विचारमें संतका मुख्य गुण प्रसाद है। जिस व्यक्तिमें यह गुण अधिक उत्कृष्ट है मैं उसे अधिक संत और पूज्य समझता हूँ, क्योंकि यह गुण प्रसादके स्रोतःस्वरूप भगवान्‌के सन्निधानमें बैठनेवाले व्यक्तिमें ही हो सकता है, औरमें नहीं।

उन दिनों मेरे पास कुछ ऊँचे दर्जेके किताबी

शिक्षाप्राप्त व्यक्ति भी आये हुए थे, उनके अक्षरज्ञान तथा साधारण व्यक्तित्व और ज्ञानके सम्बन्धमें मेरी अच्छी धारणा थी और है। साधारणतः वे लोग थे भी प्रभुभक्त, परन्तु उन्हें विद्याका मद अधिक था। मैंने उनके सामने जब उस संत-देवीकी स्तुति की तब वे भी एक दिन मेरे साथ चले, उनके साथ एक शिक्षिता महिला भी थीं। उस देवीके पास पहुँचकर सबसे प्रथम प्रश्न उन्होंने यह किया कि 'आपने कौन-सी पुस्तकें पढ़ी हैं? क्या उपनिषद् और गीता आदि ग्रन्थोंका भी अध्ययन किया है? क्या आपने संस्कृत अथवा अंग्रेजी भाषाएँ भी पढ़ी हैं? इत्यादि।' इन सब बातोंको सुनकर वह संत-देवी बहुत हँसी और हँसते हुए उसने कहा—

'भाई! अन्दरकी किताब खोलो, ये बाहरी पुस्तकें तो साधन हैं, साध्य नहीं। मैं तो बहुत थोड़ा पढ़ी हूँ।' कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उनपर उस संत-देवीका कोई प्रभाव न पड़ा क्योंकि वह उनकी दृष्टिमें पढ़ी हुई न थी।

वास्तवमें पढ़ाई तो कई प्रकारकी होती है। यदि पढ़ाई किताबोंकी होती है तो किताबें भी कई प्रकारकी हैं ऐसा मानना पड़ेगा। जो व्यक्ति आत्माका अध्ययन करना चाहता है उसे अन्दरकी ही किताबको खोलना होगा। बाहरकी किताबें तो उस कोर्सकी नहीं।

और फिर स्वाध्यायका भी अर्थ है '**स्वस्य स्वस्मिन् अध्यायः**' अपने अन्दर अपना अध्ययन करना। जो व्यक्ति संसारका अध्ययन करता है—दूसरे शब्दोंमें मेरे लिये जो कुछ है उसका तो अध्ययन करता है परन्तु अपने 'मैं' का अध्ययन नहीं करता—उसे मूर्ख ही समझना चाहिये। वह तो ग्रहाविष्ट-सा, किसी अज्ञात पिशाचगृहीत-सा सब काम करता है। मनुष्यका सर्वप्रथम कर्तव्य यही है कि वह अपने 'मैं' को जाने। 'मैं कौन हूँ, मैं कहाँसे आया और कहाँ जा रहा हूँ' इन प्रश्नोंके उत्तर जाननेकी किसने कोशिश की है? विद्या, शिक्षा, धन, घर, गृहिणी और सारा संसार मेरे लिये है। संसार संसारके लिये नहीं, वह जड है। परमात्मा आत्मकाम और आप्तकाम है, उसको भी कुछ नहीं चाहिये तो फिर यह सारा दृश्य जगत् किसलिये है इसका उत्तर है 'मेरे लिये, मैं के लिये।' इसलिये मेरा यह प्रथम कर्तव्य हो जाता है कि मैं सबसे प्रथम इस 'मैं' को जानूँ। इसी 'मैं' के जाननेको ही स्वाध्याय कहते हैं। जो ग्रन्थ आदि इस अध्ययनके अनुकूल हैं, जिनमें अन्दरकी किताबका प्रतिबिम्ब है उनके अध्ययनको भी स्वाध्याय कहा जा सकता है। योगसूत्रोंकी व्याख्या करते हुए महर्षि व्यासने लिखा है—

स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा।

अर्थात् स्वाध्यायका अर्थ है मोक्षशास्त्रोंका अध्ययन अथवा ओंकारका—प्रभुके नामका जप करना।

पाश्चात्य संस्कृतिमें और हमारी भारतीय संस्कृतिमें मुख्य भेद यह है कि वह मनुष्यको बहिर्मुख बनाती है और यह अन्तर्मुख। उसका आधार है प्रकृतिनिरीक्षण और इसका आधार आत्मनिरीक्षण। उसमें विद्याका—शिक्षाका अर्थ है कागजी किताबोंका बोझा। यहाँ शिक्षाका कोर्स केवल एक पुस्तक है और वह है—

अंदरकी किताब

जिसने इस किताबको पढ़ा है वह संत है। जो व्यक्ति इस किताबका अध्ययन करना चाहते हैं उन्हें संत गुरुओंकी शरणमें जाना होगा। मैंने बहुत-सी बाहरी किताबें पढ़ी हैं अथवा नहीं इसका उस किताबके पढ़नेपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे संत गुरु उस किताबको तब पढ़ायेंगे जब भगवान्‌के शब्दोंमें—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवाकी त्रिवेणीमें शिष्य स्नान करके संतके चरणोंमें उपस्थित होगा।

परन्तु यह सब तब होगा जब मनुष्य अन्दरकी किताबको पढ़नेकी इच्छा करेंगे। इसलिये उस संतदेवीके ही शब्दोंमें मैं कहूँगा कि 'अन्दरकी किताब खोलो।'

संत-जीवनकी विशेषताएँ

(लेखक—प्रो० श्रीयुत मदनमोहनजी विद्याधर)

संसारका धार्मिक इतिहास इस बातका स्पष्ट साक्षी है कि धार्मिक संतोंका जीवन मनुष्यसमाजके लिये हितकर ही सिद्ध हुआ है। संतोंने मनुष्यसमाजको अच्छा बनानेके प्रयत्नमें स्वयं अपने-आपतकको मिटा भी दिया है। इसीलिये धार्मिक मनुष्योंकी वैयक्तिक दृष्टिसे यदि हम देखें तो हम उनके जीवनको कष्टप्रद

पाते हैं। स्वयं कष्ट सहते हुए पर-उपकार करना यही उनका ध्येय होता है। वे ही सच्चे अर्थोंमें स्वामी श्रद्धानन्दकी तरह—'मरते-मरते भी हमें जीना सिखाकर चल दिये' इस आदर्शका पालन करते हैं। उनमें यह परोपकारकी भावना इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वे अपनी जीवनको नष्ट कर देनेवाली मौतका भी मुसकुराते हुए स्वागत करते हैं। पाश्चात्य संसारके एक संतके विषयमें जो कि अत्यन्त सभ्य था, यह प्रसिद्ध है कि मृत्युके अन्तिम कालमें उसने अपने सेवकोंसे कहा कि मृत्युके देवताके लिये कुर्सी ला दो।

यद्यपि यह 'धार्मिक संत-जीवन' उद्यम तथा संघर्षका जीवन प्रतीत होता है, तथापि इस दशामें संत स्वयं अपनेको ऊँचा तथा हलका अनुभव करता है। धार्मिक जीवन ही वह ऊँचे-से-ऊँचा आदर्श मानवजीवन है, जिसे कि मानवजातिने अबतक पेश किया है। धैर्य, दया, भक्ति, विश्वास, बहादुरी आदिके ऊँचे-ऊँचे काम और उड़ानें जो कि मनुष्यजातिने ली हैं, वे सब प्राय: इसी धर्मके प्रभावके नीचे ही हुई हैं। मनुष्य संसारके ऐश्वर्योंको धर्मकी खातिर ही लात मार सकता है। मनुष्य दूसरोंके लिये आदर्श ऋषि दधीचि, राजा शिबि आदिकी तरह इसी धर्मके प्रभावमें अपने शरीरोंतकको भी दे देते हैं। भक्ति, विश्वास, ईमानदारी, दान और तपमय जीवन ये सब इस धर्मकी उमंगमें ही आदर्शरूपसे पाले जा सकते हैं।

मनुष्य संत कब कहाता है? जब कि उसकी क्रियाशक्तिका केन्द्र धार्मिक हो जाता है या जब वह वैयक्तिक क्रियाशक्तिके धार्मिक केन्द्रमें रहता है। अभिप्राय यह है कि जब किसी मनुष्यकी क्रियाशक्तिके प्रेरक (मोटिव्स motives) भिन्न-भिन्न केन्द्रोंमेंसे धार्मिक केन्द्रके द्वारा मनुष्यको प्रेरणाएँ या आदेश मिलते हैं तब वह 'धार्मिक संत' कहाता है। उसका यह जीवन अपने पुराने आरामतलबीके जीवनसे कुछ भिन्न होता है और इसमें वह आध्यात्मिक उत्साह और उमंगोंके साथ अपनी जीवननौकाको भवसागरमें खेना प्रारम्भ करता है।

अब हमें इस बातपर विचार करना चाहिये कि इस संतजीवनकी विशेषताएँ कौन-कौन-सी हैं? अर्थात् वे कौन-से चिह्न हैं जिनसे कि हम यह निर्णय कर सकें कि अमुक पुरुष संत हो गया है। अभिप्राय यह है कि इस धार्मिक जीवनका मनुष्यपर क्या प्रभाव या परिणाम होता है? संतके जीवनमें इसके प्रभावके कारण कौन-सी विशेषताएँ आ जाती हैं?

आगे बढ़नेसे पहले हमें संक्षेपमें यह भी समझ लेना चाहिये कि संतजीवनमें ये दया, प्रेम, श्रद्धादि गुण स्थायीरूपमें होते हैं, और साधारण मनुष्योंमें अस्थायी। संसारमें बसनेवाले प्रत्येक मनुष्यमें पाप और पुण्य, शुभ और अशुभ प्रवृत्तियाँ, इन्द्र और वृत्र, सुर और असुर दोनोंकी सत्ता है, ये दोनों धाराएँ समानान्तर हो हृदयमें बहती हैं। इनमेंसे जिसके जीवनमें जिसकी प्रधानता होती है, वह उसी नामवाला कहाता है। जिसमें शुभ संकल्पकी प्रधानता होती है उसे हम शुभ या संतपुरुष नाम दे देते हैं। 'धर्म' जिस मनुष्यमें स्थायी स्थान प्राप्त कर लेता है उसे धार्मिक कहा जाता है। अब हम क्रमशः एक-एक करते हुए संतोंकी विशेषताओंका परिगणन करते हैं। साथ ही हमें यह भी ख्याल रखना चाहिये कि ये सब विशेषताएँ क्या भारतीय और क्या विदेशीय, दोनों स्थानोंके संतोंमें समानरूपसे पायी जाती हैं। संतजीवन सर्वत्र एक-सा है।

(१) एक अदृश्य शक्तिमें विश्वास

इस संसारके स्वार्थ-प्रधान जीवनसे—

स्वस्वाहारविहारसाधनविधौ सर्वे जनास्तत्पराः
कालस्तिष्ठति पृष्ठतः कचधरः केनापि नो दृश्यते॥

—अधिक व्यापक जीवनकी सत्तामें विश्वास पैदा हो जाता है। यह विश्वास (आदर्श शक्तिमें विश्वास) केवल बौद्धिक ही नहीं अपितु अनुभवात्मक होता है, मानो संत पुरुष अपने हृदयमें किसीका साक्षात् अनुभव कर रहे हों, इस रूपमें यह विश्वास पैदा हो जाता है। हमारे ऋषियोंका साक्षात् दर्शन यही है। यह अमूर्त्त अदृश्य शक्ति हमारे जीवनोंपर अनन्त प्रभाव डालती है। मनुष्य इसे अपनेसे बड़ा, अपना नियामक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् समझता हुआ, इसके प्रति अपना कुछ उत्तरदायित्व अनुभव करता है। परिणाम यह होता है कि वह उसकी प्राप्तिके लिये अपने जीवनको ऊँचे-से-ऊँचा बनानेका प्रयत्न करता है।

डॉक्टर फ्लिन्टने अपने थीइज्म (theism) नामक ग्रन्थमें मॉरल आर्गूमेण्ट (Moral argument) से ईश्वरकी सत्ता सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। उसने सचमुच यह अनुभव किया कि ऐसी किसी ऊँची

शक्तिमें विश्वास मनुष्यको नैतिकताकी दृष्टिसे बहुत ऊपर उठा सकता है, उसने इसे उसकी सत्ताकी सिद्धिमें एक युक्ति ही मान लिया।

सूरदास, मीरा, तुलसी, दयानन्द आदि सभी भारतीय संतोंने इस अदृश्य शक्तिमें विश्वास रखा है। ये सब रात-दिन इसका अनुभव करते थे। सुनते हैं कि रामकृष्ण परमहंस तो 'राम' का नाम सुनते ही उसके प्रेममें मस्त हो झूमने लग जाते थे।

(२) इस शक्तिको अपना मित्र या सहायक समझना

वह आदर्श शक्ति हमारे जीवनोंके साथ मित्रतापूर्ण रूपमें जुड़ी हुई प्रतीत होती है। मानो हमारे जीवनके साथ ही वह सम्बद्ध हो और हमारा भला कर रही हो। जिसकी शरण या नियन्त्रणमें हम बिना किसी हिचकिचाहटके, स्वेच्छया आत्मसमर्पण कर देते हों ऐसा अनुभव होता है।

इस ऊँची मित्रशक्तिकी सत्ताका अनुभव संतजीवनमें आधारभूत है। इस स्थितिमें हम अनुभव करते हैं कि सम्पूर्ण संसारमें व्यापक वह मित्रशक्ति हमें ढाँप रही है। वह हमारे ऊपर मानो अपना कृपापूर्ण वरद हस्त रखे हुए है। माँके आँचलसे सूक्ष्म उस जगज्जननी अदृश्य शक्तिका आँचल हमें अपनेमें मानो छिपाये हुए हो और उसमें हम निश्शंक सुखकी नींद ले रहे हों, उसे ही हमारी रक्षाका ख्याल हो। इस स्थितिमें अपने प्रति दयालु किसी अदृश्य वस्तुकी सत्ताका बहुत स्पष्ट अनुभव होता है। बायसे नामक लेखकके उपदेशोंमें इसका वर्णन है। 'हजारों विश्वासी आत्माओंका अनुभव है कि परमात्माकी निरन्तर सत्ताका दिन और रात, आते-जाते, हर चीजमें उसका अनुभव करना पूर्ण सान्त्वना देता है और विश्वासयुक्त शान्ति देता है। आनेवाले सब भयोंको भगा देता है। प्रभुकी समीपता सम्पूर्ण भयों तथा चिन्ताओंसे हमारी रक्षा करती है।' इसके लिये हमें संसारके संत-इतिहाससे कुछ उदाहरण देने चाहिये। प्रह्लादके जीवनमें ऐसी बीसियों घटनाएँ आयी हैं जब कि ईश्वरमें दृढ़ विश्वासने उन्हें मौतके मुखसे बचा लिया। ऋषि दयानन्दके जीवनमें कई ऐसी घटनाएँ आती हैं, जिनसे पता लगता है कि इस अदृश्य मित्रशक्तिने उनके जीवनपर अमिट प्रभाव डाला था। उन्हें धन-धान्य, जमीन-जायदादका लोभ दिया गया, उन्होंने उसे यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि मुझे प्रभुने अपना समस्त राज्य दे दिया है जो कि इससे बड़ा है और जिसमें ऐसे अनन्त भूभाग समा सकते हैं। घने जंगलमें जहाँ कि दिनमें भी मनुष्योंका प्रवेश नहीं वहाँ एकाकी चले जाना, इसी मित्रशक्तिमें दृढ़ विश्वासका परिणाम है।

इन संतोंकी यह भावना बहुत ही दृढ़ हो जाती है। तुलसीने एक दोहा कहा है, जिससे उनका प्रभुमें दृढ़ विश्वास बहुत ही उत्कृष्टरूपमें प्रकट हो जाता है।

तुलसी या संसारमें सबसों मिलिये धाय।
का जाने केहि रूपमें नारायण मिल जाय॥

मीराका *'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई'* इसी प्रभुसत्तामें विश्वासका उज्ज्वल उदाहरण है।

'अहं ब्रह्मास्मि' **'तत्त्वमसि'** **'नेह नानास्ति किंचन'** **'अयमात्मा ब्रह्म'** और **'योऽसावादित्ये पुरुषः, सोऽसावहम्'** आदिकी भावना हमारे प्राचीन ऋषि उपनिषत्कारोंकी इसी प्रभुसत्तामें विश्वासको प्रकट करती है।

संसारके सभी संतोंने इस शक्तिमें विश्वास करके इसे अपना मित्र या संरक्षक समझा है। संस्कृतका निम्न श्लोक—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

—इसी भावनाका द्योतक है।

उस प्रभुको ही अपने सम्पूर्ण जीवनका आधार संतपुरुष समझ लेते हैं और कहते हैं—

'राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है'

केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।

वेदमें कहा है कि—

'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता।'

संत पुरुष उसे मित्र समझकर निश्चिन्त हो जाते हैं। वे कहते हैं कि हमें जिसने पाला है, वह स्वयं ही हमारी रक्षा करेगा।

(३) संकीर्णतासे विशालताकी ओर प्रवृत्ति या सीमाओंके बन्धनोंका हटना

इस दशामें मनुष्यके मनको सीमित करनेवाले स्वार्थके बन्धन ढीले पड़ जाते हैं, स्वार्थकी मनपर जमी मैल पिघलकर मनको साफ कर देती है। ज्यों-ज्यों ये

संकीर्णता, संकोचके भाव हटने प्रारम्भ होते हैं, त्यों-ही-त्यों मनुष्य स्वाधीनता, अत्यधिक विस्तार, उदारता, विशालताका अनुभव करने लगता है। उस समय संकीर्णता हट जाती है। उस समय संतकी स्थिति—

आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।

—ऐसी हो जाती है। इसी संतदशाका ईशोपनिषद् अथवा यजुर्वेदके ४०वें अध्यायमें बड़े सुन्दर और आकर्षक शब्दोंमें वर्णन किया गया है।

वह इस दशामें अपने अत्यन्त सूक्ष्म छोटे-से मनमें भी अत्यन्त व्यापकताका अनुभव करता है। धार्मिक होनेसे पहले मनुष्य अपना सम्बन्ध कुछ नियत दूरीतक ही समझता है। वह अपनेसे सारे संसारका सम्बन्ध न समझकर संसारके कुछ ही पदार्थों तथा प्राणियोंतक अपनेको सीमित रखता है। संत बन जानेपर वह सभीमें प्रभुकी व्यापकताका अनुभव करता है और सभी वस्तुओंको अपने लिये हितकारी समझता है। यहीं उसके विश्वप्रेमकी पराकाष्ठा हो जाती है। पूर्ण एकत्वकी अनुभूति यही है। ऐसी दशामें उसे अपनेमें ही उस विराट् पुरुषके दर्शन होने लगते हैं।

(४) भावनाके केन्द्रका प्रेममय या संगतिमय हो जाना

मनुष्यकी भावनाका केन्द्र बदलकर प्रेममय और अन्योंके साथ संगतिमय हो जाता है। अर्थात् इस दशामें मनुष्य यह चाहता है कि मैं न किसीसे लड़ूँ, न किसीसे वैर करूँ। किसी भी वस्तुके लिये निषेधके स्थानपर स्वीकृति हो जाती है। कोई एक माँगें तो दो देनेकी प्रवृत्ति आती है। ईसाने कहा है कि 'कोई तुमसे एक कम्बल माँगे तो तुम उसको दो दे दो। तुमसे कोई एक वस्तुकी याचना करता है तो तुम्हें चाहिये कि तुम उसके लिये दूसरी कोई वस्तु भी प्रदान कर दो।'

साधारण तौरपर मनुष्य थोड़े-से अहसानद्वारा अपना बहुत-सा काम निकालनेका प्रयत्न करता है। परन्तु संत इससे सर्वथा विपरीत बहुत-सा अहसान लाद देनेके बाद भी अपने लिये कुछ नहीं चाहता। क्योंकि उसकी भावनाका केन्द्र ही बदला हुआ होता है। वह संकोचसे विकासकी ओर, ईर्ष्यासे प्रेमकी ओर बढ़ने लगता है।

संसारके उद्धारके लिये न जाने कितने संत पुरुषोंने अपने जीवनकी बलियाँ चढ़ायी हैं, पर इससे उनको क्या मिला? उनके जीवनका मूल्य सांसारिक पुरुषोंने कष्टके रूपमें दिया। किन्हीं-किन्हींको तो मृत्युके घाट भी उतार दिया गया। उन्हें चाहे कुछ भी क्यों न करना पड़े वे कभी इनकार नहीं करते। अपना तन, मन, धन सभी न्योछावर करनेको तैयार रहते हैं।

इन आधारभूत आन्तरिक अवस्थाओंके अतिरिक्त संतजीवनमें कुछ क्रियात्मक परिवर्तन भी आ जाते हैं। ये उपर्युक्त परिवर्तन तो उनकी मानसिक अवस्थाके परिवर्तनके द्योतक हैं। इनमें हमने देखा कि उनका मन एक अदृश्य शक्तिमें विश्वास रखता हुआ उससे मित्रतापूर्ण सम्बन्धका आनन्ददायक अनुभव करता है। इससे उसका मन 'स्वार्थके कूप' का रूप छोड़ विशाल समुद्रका रूप धर लेता है, इस परिवर्तनके होते ही उसकी प्रवृत्तियाँ बदल जाती हैं अर्थात् उनकी भावनाका केन्द्र प्रेममय तथा संगतिमय हो जाता है। ये चार गुण तो मानसिक परिवर्तनके प्रकाशक हैं। अब हमें यह देखना चाहिये कि इनसे उनके क्रियात्मक जीवनपर क्या प्रभाव पड़ता है, अर्थात् उनके स्वभावके इस प्रकार बदल जानेपर इनका क्रियात्मक रूप क्या हो जाता है।

हमने अभी ऊपर बताया कि भावनाका केन्द्र बदल जाता है। इसका दो रूपोंमें प्रकाश होता है।

(१) उनमेंसे पहला गुण पवित्रता है। भावनाके केन्द्रमें परिवर्तनसे पवित्रतामें वृद्धि होती है। आध्यात्मिक विरोधोंकी अनुभूति बढ़ जाती और अपनी क्रूर इन्द्रियोंके पंजेसे मुक्त होनेकी इच्छा इतनी प्रबल हो जाती है कि इन्हें छोड़ना अनिवार्य हो जाता है। संत ऐसे उत्तेजक मनुष्य-जीवनको पतित तथा आत्माको भ्रष्ट करनेवाले पदार्थोंसे अलग रखनेका प्रयत्न करता है। वह इनसे जहाँतक हो सकता है, बचता रहता है। वह आध्यात्मिक सत्पुरुषोंकी संगति चाहता है और संसारके धब्बोंसे अपनेको कलंकित होनेसे बचाता है।

कई संतस्वभावोंमें आत्माकी यह पवित्रताकी इच्छा इतनी अधिक प्रबल हो जाती है कि तपस्याके रूपमें परिणत हो जाती है। शरीरकी कमजोरियोंको बड़ी कठोरताके साथ हटानेकी कोशिश की जाती है। इस तपस्यापर अभी आगे जाकर विस्तारसे विचार करेंगे। यहाँ पवित्रतापर ही कुछ विचार करते हैं।

संतजीवनका एक क्रियात्मक चिह्न पवित्रता है। साधारण तौरपर सुरासुर, दैवी तथा आसुरी, परमेश्वर

तथा शैतान दोनोंके विचार समानान्तर रूपसे मनुष्यके हृदयमें चलते हैं। मनरूपी नदी या हमारी विचारधाराके दो किनारे हैं। एक पापका, दूसरा पुण्यका। हमारा (हंस) उस मान-सरोवरमें जिस घाटपर स्नान करता है, वही उसका स्वभाव होता है। आत्माको जहाँ बसना होता है, उस किनारेको अपने लिये साफ कर लेता है। क्योंकि संत पवित्रता चाहता है, इसलिये वह अपने सरोवरके पुण्य घाटपर स्नान करना चाहता है। संत मनुष्य पुण्यके साथ पापका रहना पसन्द नहीं करता। जो वस्तु उसे आध्यात्मिक दृष्टिसे विरोधी मालूम पड़ती है, उसे वह अपनी आत्माके पवित्र पानीको मैला करनेवाली होनेके कारण त्याज्य समझता है। सभी मानसिक विचारों तथा कार्योंको आध्यात्मिक दृष्टिसे देखा जाता है। नैतिकताकी भावना प्रबल हो जाती है। साथ-ही-साथ अपने उपास्यदेवको रिझानेकी खातिर अपने मनरूपी मन्दिरमें पड़ी अयोग्य वस्तुओंके परित्यागकी इच्छा प्रबल होने लगती है। प्रभुके प्रति दी जानेवाली बलि सदा 'बेदाग' होनी चाहिये। हमें अपने-आप उसके प्रति समर्पित होते समय पवित्र होना चाहिये। भक्तका यह ख्याल होने लगता है कि अपने प्रभुको अधिक-से-अधिक पवित्रतम वस्तु देनी चाहिये। यही कारण है कि अपने हृदयकी भेंटको भक्त अधिक-से-अधिक सुन्दर, पवित्र तथा साफ बनाना चाहता है। इस भावनाके कारण भी भक्तमें पवित्रता आ जाती है। त्यागकी भावनासे भी संतमें पवित्रता रहनेकी इच्छा बलवती होने लगती है। कई बार मनुष्य इस धार्मिक उत्साहके समय एकदम परिवर्तित हो जाता है। और कई बार उसे बड़े भारी संघर्षमेंसे गुजरनेके बाद इस पवित्रताकी प्राप्ति होती है।

यह पवित्रता मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक तीनों रूपोंमें होती है। क्योंकि संत अदृश्य मित्रशक्तिके प्रति अपने तन, मन, वचन तीनोंको समर्पित किये होता है, इसलिये वह इनपर सांसारिक वस्तुओंका लेप नहीं होने देता। वह अधिक-से-अधिक पवित्र होनेका प्रयत्न करता है। अन्दर-बाहर दोनों स्थानोंसे एक-जैसा होना चाहता है। इसका परिणाम निम्न प्रकारसे होता है।

वह किसीके प्रति बुरा नहीं सोचता। अपने मनमें आनेवाले उन प्रभावोंको रोकता है, जो कि उसे गँदला करते हैं। ईर्ष्या, घृणा, पीड़ा पहुँचाना, स्वार्थ आदि भावोंके बरोंके छत्तेको मनमें लगने नहीं देता। उन्हें अपने दृढ़ संकल्पकी शक्तिरूपी आगसे भस्म कर डालता है। यह मानसिक पवित्रताका रूप है।

मनमें जैसा सोचता है वह वैसा ही बोलता है। जब वह अपने मनसे ही इनको निकाल फेंकता है तो स्वभावतः ही उसकी वाणीमें मिठास आने लगता है। वह किसीको बुरा नहीं कहता, सदा सत्य बोलता है, ताकि असत्यसे या कटु भाषणसे उसकी जिह्वा झूठी या अपवित्र न हो जावे। इसीलिये कहा है कि '**न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्**।' यह वाचिक पवित्रताका भाव जब उन्मादकी दशातक पहुँच जाता है, उस समय संत अपनी जिह्वासे प्रभुका नाम जपनेके अतिरिक्त अन्य किसीका नाम नहीं लेना चाहता। क्योंकि वह समझता है कि यह वाणी तो प्रभुकी है। इसपर औरोंका अधिकार नहीं। यह वाचिक पवित्रताका रूप है।

इसके बाद कायिक पवित्रताका क्रम आता है। संत अपने शरीरसे वही काम करना चाहता है जो कि उसके उपास्यदेवकी इच्छाके अनुकूल हो। वह शरीरको उपासनाका साधन बनाना चाहता है, इसे उपास्य नहीं। परिणाम यह होता है कि वह इसको नाना तरहसे सजाने आदिके श्रृंगारिक सांसारिक भावोंमें दिलचस्पी छोड़ देता है। वह केवल शरीरको जीवित रखनेमात्रके लिये भोग करता है। यह शारीरिक पवित्रताका पहलू है।

संत किसी भी प्रकारके झूठको नहीं सह सकते। वे मन, वचन, कर्म तीनोंसे एक-सा बर्ताव करना चाहते हैं। वे किसी भी रूपमें, छोटी-सी भी अपवित्रताकी मात्राको सह नहीं सकते। यही कारण है कि उन्हें संसार अनुकूल नहीं पड़ता। क्योंकि संसारमें पूर्णरूपसे ऐसा हो नहीं सकता। जिस प्रकार चित्रकार चित्र बनाते समय और साहित्यिक कलाकार जीवनचित्र खींचते समय बुराइयोंको भूलनेका प्रयत्न करता है ठीक उसी प्रकार ये संत अपनी बुराइयोंको हटानेका, भूलनेका प्रयत्न करते हैं। इसका उपाय यही है कि मन, वचन तथा कर्म तीनोंको 'एक' रखा जावे।

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति।

इसका आदर्शरूप संतका जीवन हो जाता है। उसको सदा इस बातका ख्याल रहने लगता है कि—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥

(मनुस्मृति)

(२) भावनाके केन्द्रके परिवर्तन होनेका दूसरा असर दयाके रूपमें प्रकट होता है। दयाकी वृद्धि और प्राणिमात्रके प्रति प्रेम पैदा होता है। जब मानसिक पवित्रता हो जाती है तो स्वभावत: ही संत इस दयाके प्रतिबन्धक घृणादि भावोंको हटाता है। वह अपने शत्रुओंसे भी प्रेम करता है। घृणित-से-घृणित मनुष्यके साथ भी भ्रातृभाव रखता है। क्योंकि इससे उसके चित्तको शान्ति तथा सन्तोष मिलता है।

संतजीवनके फलोंमेंसे यह भी एक है। संतके गुणोंमें इसकी सत्ता भी आवश्यक तौरपर तथा सदा रहनेवाली मानी गयी है। परमात्माकी मित्रतायुक्त उपस्थितिका यह स्वाभाविक परिणाम है। प्रभुके पितृत्वसे यह तत्काल अनुभव होने लगता है कि हम सब आपसमें भाई हैं। प्राणिमात्र सम्बन्धी है। जब ईसा यह उपदेश देता है कि 'अपने शत्रुओंसे प्रेम करो, धिक्कारनेवालोंको वर दो, घृणा करनेवालोंको लाभ पहुँचाओ। जो तुम्हें तुच्छ बताते हैं, तुम्हें सताते हैं, तुम्हारी निन्दा करते हैं, तुम्हें कष्ट पहुँचाते हैं, उनकी सद्गतिके लिये प्रभुसे प्रार्थना करो।' तब इस उपदेशके लिये एक युक्ति यह भी देता है कि ताकि स्वर्गमें रहनेवाले अपने पिताके तुम एक सच्चे पुत्र बन सको। क्योंकि वह सूर्य तथा वर्षाको बुरे तथा भले दोनोंके लिये एक-सा प्रकाश और पानी देनेके लिये भेजता है। संत सोचता है कि उसकी सन्तान होनेसे हम सब समान हैं। वह किसी प्रकारके भी ऊँच-नीचके भावोंको नहीं सह सकता। इसलिये दया करनेकी प्रकृति उसमें आ जाती है। वह सोचता है कि हमें अपनेपर घमण्ड नहीं करना चाहिये। अपने अभिमानमें मस्त होकर गरीबोंपर अत्याचार न करते हुए उनसे दयापूर्ण बर्ताव करना चाहिये। उनसे प्रेम करना चाहिये।

संत यह भी सोचता है कि सब कुछ देखने तथा करनेवाला तो परमेश्वर है। हम किसीपर गुस्सा करनेवाले होते कौन हैं?

इस दयापर कुछ और विचार करना चाहिये। यह दया जब संतमें अतिमात्रामें आ जाती है तो इसकी प्रेममें परिणति हो जाती है। धार्मिक संतपुरुषोंका तो यह विचार होता है कि शत्रुसे भी प्रेम करना चाहिये। वास्तवमें विशेषता तो इसीमें है कि अपना बुरा करनेवालोंके प्रति भी प्रेम किया जावे। यह बहुत कठिन है। क्योंकि इसमें दुश्मनीको हटाना ही नहीं, परन्तु उसको हटाकर उस अपने शत्रुसे प्रेम भी करना होता है। इसके उदाहरण इतिहासमें बहुत ही कम हैं। ऋषि दयानन्दने उसे कैदसे छुड़ाया जिसने उन्हें पानमें विष दिया। उसे रुपयोंकी थैली देकर नैपाल भगा दिया, जिसने ऋषिको ऐसा विष दिया जिसने कि उनके प्राण ही ले लिये। यह अपने शत्रुसे भी प्रेमका उत्कृष्ट नमूना है। यदि संसारमें यह भाव आ जावे तो संसार सचमुच स्वर्ग बन जावे। बैरको रोक रखना तो सरल है, परन्तु अपने शत्रुसे प्रेम करना अत्यन्त कठिन है। विषयको रोकना तो सरल है, परन्तु उसके बाद धार्मिक बन जाना कठिन है। गुस्सा पीकर प्रेम करना और कभी गुस्सा न करना इनमें पिछला अत्यन्त कठिन है; और यही संतजीवनका उच्चतम उत्कृष्ट सुन्दर अनुकरणीय आदर्श है। जातक-कथाओंमें आता है कि अपने पिछले जन्ममें भगवान् बुद्ध खरगोश थे, उन्होंने अपनेको भूखे ब्राह्मणके लिये दे दिया। एक जन्ममें हाथी थे, खुशीसे अपनेको एक भूखे शेरको दे दिया।

मनुष्यका निकृष्ट तामसिक रूप है गुस्सेका बदला लेना। मध्यम रूप है गुस्सा करना। राजसिक रूप है गुस्सा पी जाना, उसका दमन। इससे अच्छा है गुस्सेको दबाकर उससे प्रेम करनेका प्रयत्न। पुरुषका उत्तम सात्त्विक रूप है कि प्रेम-ही-प्रेम करना। कभी गुस्से या द्वेषके भावको अपने हृदयमें आने ही न देना।

कई लोग शक्तिशाली होनेके कारण भी छोटेपर आये गुस्सेको रोक लेते हैं। इस दशामें वे उसकी उपेक्षा किया करते हैं, सोचते हैं कि इसको कुछ कहनेसे हमारी हतक ही होगी, उनमें प्रेम नहीं होता।

मनोविज्ञानकी दृष्टिसे दुश्मनसे प्रेम तथा उदारता ये विरोधी भाव नहीं हैं। यह दया सहानुभूति आदि भावोंकी अति उत्कृष्ट अवस्था है। 'शत्रुसे भी प्रेम करो' इसमें शत्रुके प्रति घृणा या कोपका दमन करनामात्र ही है। यह दया आदि भावोंका एक पहलू है। इसका एक और रूप भी है और वह इससे भी ऊँचा अर्थात् घृणायोग्य वस्तुसे भी प्रेम करना है। इसीका परिणाम है कि संत पुरुष कोढ़ियोंके घावोंकी पीपतक हँसते हुए चूस लेते हैं। अपना खूनतक दूसरोंके लिये दे देते हैं। आर्य उपगुप्तका अपने समयकी

सर्वोत्कृष्ट वेश्याका उसके अन्तिम समयमें जब कि उसका शरीर गल-सड़ गया था, सेवा करना इसीका उज्ज्वल उदाहरण है। इस दशामें यह दया या प्रेमका भाव सीमाको उल्लंघन कर जाता है।

आज मनुष्यसमाजमें अपने स्वार्थके लिये दूसरोंका गला घोटनेकी प्रवृत्ति इस हदतक बढ़ गयी है कि वे अपना भला चाहनेवालेको किसी मौकेपर मार सकते हैं। परन्तु संत इससे सर्वथा उलटा होता है। जिसने उसका उपकार किया उसका अहसान तो वह यह कहकर चुकाता है कि इसे तो ऋण समझकर उतारना चाहिये। यह दूसरेकी मदद थोड़े हुई। दूसरेकी मदद तो इसमें है कि बिना माँगे दिया जावे। इससे भी वह आगे बढ़ता है, वह सोचता है कि जिनको सब देते हैं, उनको देनेसे क्या, दो उसको जो सबसे तिरस्कृत है, उपेक्षणीय है। यही संतमें विश्वप्रेमका उत्कृष्ट रूप है।

पवित्रता और दया इन दोकी वृद्धि भावनाका केन्द्र बदल जानेसे संतके जीवनमें हो जाती है, इसपर विस्तारसे कह दिया। पवित्रतापर लिखते समय कहा था कि जब पवित्रत्व रहनेका ख्याल अति मात्रामें हो जाता है तब वह तपस्या हो जाती है। इसलिये अब 'तपस्या' पर संक्षेपसे कुछ विचार करते हैं।

(३) संत-जीवनकी क्रियामें जो तीसरा गुण आ जाता है, वह तपस्या है। प्रभुके प्रति आत्मसमर्पणकी भावना इतनी प्रबल हो जाती है कि मनुष्य अपनी ही बलि चढ़ाने लगता है। इस त्याग तथा तपस्याकी दशामें संतको एक विशेष आनन्दकी अनुभूति होने लगती है। मानो तपस्या ही ऊँची अदृश्य शक्तिके प्रति उसकी अनन्य भक्तिका मापक हो। यह भी एक धार्मिक विशेषता है। पवित्रताका भाव जब दूरतक जाता है, तब वही तपका रूप धर लेता है। यह कई प्रकारसे और कई कारणोंसे होता है। वे क्रमशः निम्न हैं—

(क) शारीरिक आराम या आनन्दसे ऊबा हुआ मनुष्य शरीरको कुछ कड़ा करना चाहता है। मनुष्य सुखके साथ-साथ कुछ दुःख भी स्वाभाविक तौरपर चाहता है। सरल आराममय जीवन ठीक नहीं। कुछ तप भी जीवनको कठोर बनानेके लिये आवश्यक है। पहला, तपका यह शारीरिक कारण है। अभिप्राय यह है कि मनुष्यको संघर्ष या दुःखके बाद ही सच्चे सुखका आनन्द आता है। '**सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते।**' इसलिये प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी रूपमें अपनी शक्तिके अनुसार कुछ-न-कुछ श्रम करता है, यही तपका पहला कारण है।

(ख) कई बार मनुष्य यह सोचता है कि मुझपर भी कभी कोई मुसीबत आ सकती है। इस विचारसे भी मनुष्य अपनेमें कष्टसहनकी आदत डालना चाहता है।

(ग) कइयोंकी शारीरिक अनुभवकी शक्ति ही वस्तुतः इतनी बदली हुई होती है कि उन्हें दुःख देनेवाली वस्तु भी परिणामतः सुखद प्रतीत होती है। कइयोंको स्वाभाविक तौरपर ही कष्टसहनमें आनन्द आता है। यह भी एक तपका रूप है।

इन तीनों दशाओंमें मुख्य कारण यह होता है कि मनुष्यको स्वाभाविक तौरपर ही कुछ-न-कुछ दुःख उठानेमें मजा आता है। मनुष्य आराम तो चाहता है, पर परिश्रमपूर्वक। अर्थात् वह मेहनतकी कमाई खाना चाहता है।

और दूसरे, तपके द्वारा जीवनकी ऊँचाई मापनेकी भी प्रवृत्ति होती है। क्योंकि इतना तप उसके जीवनमें है, इसलिये वह इतना ऊँचा है, और अमुकने इतनी तपस्या की है, इसलिये वह इतना ऊँचा है।

(घ) यह संसार दुःखमय है। इसलिये इस दुःखसे छूटनेके लिये संघर्ष या कशमकशका होना आवश्यक है। यह भी तपका एक रूप है।

(ङ) प्रभुसे प्रेम होनेके कारण संत चाहता है कि अपने प्यारेके लिये कुछ त्याग या तपस्या अवश्यमेव करनी चाहिये। इसलिये भी वह तपस्वी बननेका प्रयत्न करता है।

(च) ईश्वराराधनमें पवित्र होकर जाना चाहिये इसलिये संत अपनी पवित्रता कायम करनेके लिये विषय-भोगको छोड़नेकी इच्छासे भोजन, पान, वस्त्र, स्त्रीसंग, शरीरकी सजावट आदिमें संयम करना चाहता है और इनको छोड़ना चाहता है। यह भी एक प्रकारकी तपस्या है।

यम-नियमका पालन करना जिज्ञासुके लिये हमारे योगशास्त्रोंमें अत्यन्त आवश्यक बताया गया है। यह इसी तपस्याका एक रूप है। हमारे शास्त्रोंमें साधु-संतोंके लिये नाना प्रकारके विधि-विधानों तथा तपस्याओंका वर्णन है। शरीरको निर्जीव-सा बना देनेकी पद्धति है। यह तपस्या प्रभुके प्रति प्रेम तथा अपने शरीरकी

पवित्रता इन दो भावनाओंसे विशेष रूपमें की जाती है। यह दो प्रकारकी है—

(क) स्वाभाविक तपस्या। मनुष्य स्वभावतः ही संघर्षमय जीवनको पसन्द करता है। किसी उर्दूके शायरने बिलकुल ठीक कहा है—

रंग लाती है हिना पत्थर पै घिस जानेके बाद।
सुर्खरू होता है इन्सां आफतें आनेके बाद॥

किसी संस्कृत कविने भी कहा है कि—

हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा।

मनुष्य संघर्षके बाद ही चमकता है।

(ख) मनुष्य स्वयं विशेष प्रकारकी तपस्या करता है। स्वभावतः जो प्रवृत्ति कुछ श्रम या तपकी होती है, इसको वह मुख्यता देता है। वह दुःख-ही-दुःख या तप-ही-तप चाहता है। वह इसलिये तप नहीं करता कि परिश्रमके बाद उपभोगमें आनन्द आता है अपितु इसलिये कि मुझे शरीरशुद्धिके लिये तपस्याएँ करनी हैं। इस अवस्थामें वह यम-नियमादिमें अपनेको बाँधता है।

(५) आत्मशक्तिकी वृद्धि

संतके जीवनमें विस्तार, विशालताका भाव इतना ऊँचा हो जाता है कि प्रबल वैयक्तिक स्वार्थकी भावनाएँ अत्यन्त क्षीण हो जाती हैं, यहाँतक कि उनका स्वप्नमें भी ख्याल नहीं आता, उनका अनुभव ही बन्द हो जाता है। मानो संतमें बुरा अनुभव करनेवाली वृत्तिका सर्वथा नाश ही हो गया हो। उसके मनकी ओर शैतान मुड़कर भी नहीं देखता। वह मनुष्य पूर्णरूपसे परार्थघटक हो जाता है। उसमें धैर्य तथा सहनशक्तिकी दृढ़ पर्वतमालाएँ बन जाती हैं जो पापकी हवाको अन्दर प्रवेश पानेसे रोकती हैं। प्रेमकी बाढ़ आ जाती है और उसमें ईर्ष्या, द्वेष, घृणादिके भाव बह जाते हैं। चिन्ताएँ और भय नष्ट होकर चित्तमें आनन्ददायक समता आ जाती है। इसी दशाको—

'सुखदुःखे समे कृत्वा' 'समत्वं योग उच्यते॥'

—ऐसा गीतामें कहा गया है। चाहे इस दशामें स्वर्ग मिले या नरक मिले, संतके लिये सब समान है।

मनुष्यके अन्दर साहस, क्षमता आ जाती है। वह घबराता नहीं। संसारमें होनेवाले मार या शैतानके आक्रमणको बड़े धैर्यसे वह सहन करता है। उसका जीवन सहिष्णु बन जाता है। उसकी दशा—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥

इस श्लोकके अनुरूप हो जाती है।

× × × ×

इस प्रकार हमने इन थोड़े पृष्ठोंमें अत्यन्त संक्षेपसे संतकी आन्तरिक तथा बाह्य इन दोनों प्रकारकी विशेषताओंका वर्णन किया है। प्रभु इन विशेषताओंकी वर्षा मेरे ऊपर भी करें। हे सुखवर्षक प्रभु! अपनी दयाकी कणियाँ मेरे ऊपर भी बरसाओ। अपनी झाँकी इस अभागे दुःखीको भी दिखा दो। मुझे यह तो मालूम है कि तुझे ढूँढ़ने कहीं दूर नहीं जाना है। मैंने गलतीसे उस मन्दिरकी, जिसमें तेरी मूर्ति थी, चाभी अपनी उन इन्द्रियोंको दे दी है जिन्होंने मुझे तुझसे मिलनेमें रोक रखा है। और अब मेरी दशा—***'मकानवाले मकाँसे बाहर पड़े हुए हैं'*** की हो रही है। मैं बाहरसे इनसे लड़ता हूँ तुम अन्दरसे मेरे ऊपर प्रकाश फेंको, मुझे मार्ग दिखाओ। **अग्ने! 'नय सुपथा राये अस्मान्।'**

संतकी पुकार

(लेखक—श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना बी०काम०, एल्-एल्०बी०)

संसारका नियम बड़ा विचित्र है, दिन आता है और चला जाता है, सुख मिलता है तो दुःख उसे छीन ले जाता है। सब आते हैं और चले जाते हैं, न कुछ ले आते हैं न कुछ ले जाते हैं, परन्तु एक क्षणिक मोहके कारण तरसते रह जाते हैं।

सूर्य आया और जानेकी तैयारी की, उसने अपनी किरणें समेट लीं। मगर इससे सुखका अन्त तो नहीं हो गया और न दुःखका ही लोप हो गया।

विशालहृदय चन्द्रमाने सबको अपनानेके लिये अपनी बाँहें फैला दीं, करुणामयी रात्रिने निराश्रयको आश्रय देनेके लिये काली चादर तान दी, तारोंने अपनी बालक्रीड़ासे दिनकी सारी स्मृतियोंको भुला देना चाहा, पृथ्वीने अपने बच्चोंके लिये अपनी गोद उधार दी, हवाने सबको थपकियाँ देकर सुलाना आरम्भ कर दिया।

मैंने भी दिनभरका काम तमाम किया, यह तेरा

है और यह मेरा है, इसपर तू-तू मैं-मैं की। उसका क्या धर्म है और मेरा क्या धर्म है, इसपर बहस की। कौन अच्छा है और कौन बुरा है, इसका हिसाब लगाया। आज तो मौज उड़ा ली—कल क्या होगा, इसपर ध्यान न दिया, निद्राके आग्रह करनेपर मैंने उसे बुला लेना ही निश्चय किया। भगवान्‌की एक तसवीर सामने रखी थी, मैंने उनके चरण छुए। देवर्षि नारदकी एक मूर्त्ति पड़ी थी, मैंने उन्हें नमस्कार किया। मनमें प्रार्थना की कि हे भगवन्! मुझे भी देवर्षि नारदकी-सी भक्ति दो—संसारका सारा ज्ञान भुला दो और मुझे अपना लो।

खाटपर लेटते ही शरीर सो गया, परन्तु मन तो जागता ही रहा, मैं उसी मनसे सोचने लगा कि क्या अमीरोंको वास्तविक सुख है? क्या उनको पूर्ण शान्ति है? परन्तु कुछ ठीक निर्णय न कर सका। मनसे प्रश्न किया कि 'तू क्या चाहता है? लखपती होना? करोड़पती होना? या कहींका राजा होना?' जब कहींपर 'हाँ' का उत्तर न आया तो कहा 'अच्छा सोच ले कि तू सारे संसारका सम्राट् है—तो क्या हो गया? दिन भी होगा और रात भी होगी। सूर्यकी गरमी और रोशनी तो तेरे लिये और दरिद्रके लिये बराबर ही होगी। हवा तो उसको भी मिलेगी और तू भी पेट ही भरेगा न? चाहे हजारों तरहके खानेके पदार्थ क्यों न हों, परन्तु स्वाद उन पदार्थोंमें तो है नहीं, वह तो भूखमें है। सोनेका सुख मोटे-मोटे गद्दोंमें नहीं है, नींदमें है। अमीरी विभिन्न वस्तुओंके होनेमें नहीं है, उन वस्तुओंकी अभिलाषा न रहनेमें है। सुख उसे है, जिसका हृदय शान्त है, हृदय उसीका शान्त है जिनका मन चंचल नहीं है, मन उसीका चंचल नहीं है जिसको किसी वस्तुकी अभिलाषा नहीं है, अभिलाषा उसीको नहीं है जिसको किसी वस्तुमें आसक्ति नहीं है, आसक्ति उसीको नहीं है जिसकी बुद्धिमें मोह नहीं है, और जिसको मोह नहीं है वही तो संत है। कैसी सरल बात है पर कितनी गूढ़ है। संत भी है, सुख भी है और कोई वस्तु भी नहीं है।' फिर सोचने लगा कि तब राजमहलोंके मार्ग रक्तसे क्यों सींचे जाते हैं?

इन्हीं विचारोंमें विचर रहा था कि मेरे पड़ोसीके यहाँसे गानेकी बड़ी मधुर आवाज आयी। मैंने सुना कोई बड़ी सुरीली आवाजमें गा रहा है 'कह रहा है आस्माँ यह सब समाँ कुछ भी नहीं।' गाना ऐसा शान्तिमय था कि मैं उसकी लहरोंमें डुबकियाँ लगाने लगा। फिर कान लगाकर प्रत्येक पंक्तिको ध्यानसे सुनने लगा—

कह रहा है आस्माँ यह सब समाँ कुछ भी नहीं।
रोती है शबनम् कि नैरंगे जहाँ कुछ भी नहीं॥
जिनके महलोंमें हजारों रंगके फानूस थे।
झाड़ उनकी कब्रपर है औ निशाँ कुछ भी नहीं॥
जिनकी नौबतकी सदासे गूँजते थे आस्माँ।
दम बखुद हैं कब्रमें अब हूँ न हाँ कुछ भी नहीं॥
तख्तवालोंका पता देते हैं तख्ते गारेके।
खोज मिलता तक नहीं बादे अजाँ कुछ भी नहीं॥

गाना सुना—मनमें एक अजीब बेकली पैदा हो गयी। दमभरमें सम्राट्‌का तख्‌ता उलट गया, उसने अपना ताज फेंक दिया, गद्दोंको समेट दिया और महलसे बाहर हो गया। सोचा 'यह चमन धोखेकी टट्टीके सिवा कुछ भी नहीं है।' जंगलकी राह ली, संसार पीछेकी ओर घसीटता था और वही आगेकी ओर भी ढकेलता था। एक विचित्र स्थितिमें पड़ा था। तबतक फिर कहींसे मधुर आवाज आयी 'मनवा, दिन नीके बीते जाते हैं'। मैं उसी ओर दौड़ पड़ा। देखा कि एक बूढ़े संत एक पेड़के नीचे बैठे गा रहे हैं—

सुमिरन कर मन रामनाम दिन नीके बीते जाते हैं।
पाप गठरिया सिरपर भारी पग नहिं आगे जाते हैं॥
मात पिता पति कुल धन दारा संग नहीं कोइ जाते हैं।
दुनियाँ दौलत माल खजाना काम नहीं कुछ आते हैं॥
सुमिरन कर मन रामनाम दिन नीके बीते जाते हैं।

लोग कहते थे, इस राहमें बहुत भटकना पड़ता है, सब झूठ, आज स्वयं देखा कि इस राहमें कोई भटक सकता ही नहीं। मनुष्य सोचता है मैं भगवान्‌से प्रेम करता हूँ और भगवान् कुछ ध्यान ही नहीं देते। यह कैसा भ्रम है? वह नहीं जानता कि भगवान्‌का प्रेम उसके प्रेमसे दस पग आगे ही चलता है। मैंने भी आज समझा कि भगवान्‌का प्रेम कैसा है? मुझसे रहा न गया, मैं दौड़ा और उन बूढ़े संतके चरणोंमें गिर पड़ा। बहुत रोकनेपर भी आँखोंमें आँसू आ ही गये। मैंने उनसे कहा, 'महाराज! अब आप मुझे राह दिखाइये। अब मैं आपका साथ न छोड़ूँगा।' उन्होंने कहा—'बेटा! कोई किसीका साथ कबतक दे सकता है? राह तो वे ही दिखायेंगे, उन्हींका साथ कर! वे ही अमर हैं। जिसने तेरे हृदयमें यह बीज बोया, जो तुझे यहाँतक लाया क्या

वह तुझे और आगे न ले जायगा? किसी दूसरेका सहारा लेगा तो भटक जायगा। उन्हींपर विश्वास कर, फिर तो उन्हें उबारना ही पड़ेगा। देख तुलसीदास क्या कहते हैं—

स्वारथ परमारथ सकल, सुलभ एक ही ओर।
द्वार दूसरे दीनता, उचित न 'तुलसी' तोर॥

मैंने कहा, 'महाराज! बहुत दिनोंसे इधर-उधर भटकता फिरता हूँ। कोई मुझे उनकी राह नहीं बताता। अब आप भी नहीं बताते तो मैं कहाँ जाऊँ?'

उन्होंने मेरे सिरपर हाथ रखकर कहा, 'बेटा! तू अभी भोला है। तेरी पहली भूल तो यही है कि तू दूसरोंसे उनकी राह पूछता है। अरे, तेरा प्रेम और विश्वास कैसा है? तेरे हृदयमें क्या कोई दूसरा भी कभी आता है? उन्हींसे पूछ, जो कुछ पूछना है उन्हींसे पूछ। जो कुछ कहना है उन्हींसे कह। उन्हें छोड़कर दूसरोंके पास दौड़ता है इसीसे तो भटकता है। बेटा, फिर तू राह क्या पूछता है? अरे, जो सर्वव्यापी हैं उनकी राह क्या? तूने एक मकान बनाया, ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी कीं, छत बनायी, दरवाजे लगाये, खिड़कियाँ खुलवायीं और फिर सबको बन्द कर दिया। अब सारे घरमें दौड़ता फिरता है कि 'हाय! यहाँ सूरजकी रोशनी और गरमी क्यों नहीं आती?' कैसे आवेगी? अरे, सूर्य तो चमक ही रहा है। तूने ही तो सब दरवाजे बन्द कर रखे हैं; द्वार खोल दे, खिड़कियाँ खोल दे। रोशनी आयेगी, गरमी आयेगी और हवा भी आयेगी। एक हृदयमें अनेकोंका प्रेम भरा है, अनेकों चाहें हैं। भगवान्‌की ज्योति तो सर्वत्र ही है। तू ही तो उसे नहीं आने देता। अरे, दिल खोल दे, उसे उनके प्रेमसे पूर्ण कर दे। बस, भगवान्‌के दर्शन भी हो जायँगे। सुन—

जग भूखा कोई नहीं, सबकी गठरी लाल।
गाँठ खोल जाने नहीं, ताते भयो कँगाल॥

—समझा?'

मैंने कहा, 'हाँ महाराज! समझा।' वह फिर बोले 'तू फूदेहलका नाम जानता है?' मैंने कहा, 'जी, वह मुसलमान संत जो पहले डाकू थे और बादमें एक बहुत उच्चकोटिके फकीर हो गये।' 'हाँ, हाँ'......वह बोले, 'एक बार वे अपने चार सालके छोटे बच्चेको खिला रहे थे। खिलाते-खिलाते उन्होंने बच्चेको चूम लिया। बच्चेने बापकी ओर देखकर कहा, 'अब्बाजान! आप मुझे प्यार करते हैं?' फूदेहलने कहा, 'हाँ, बेटा!' बच्चेने फिर कहा, 'अब्बाजान! आप खुदाको भी प्यार करते हैं?' फूदेहलने फिर कहा 'हाँ'। उस बच्चेने फिर पूछा, 'अब्बाजान! आपके कै दिल हैं?' बापने कहा 'एक'। बेटेने कहा! 'अब्बाजान! तो आप दोको कैसे प्यार करते हैं?' फूदेहल जाग उठा, कहा 'बच्चेकी जबानमें खुदाकी आवाज है और फिर खुदाकी यादमें लीन हो गया।' इतना कहकर संतने मुझसे फिर पूछा 'समझता है न?'

न जाने क्यों मेरी आँखें डबडबा आयीं। रोते-रोते मैंने कहा—'बाबा, खूब समझा। और कहिये; यही तो मैं जानना और सुनना चाहता हूँ। बाबा, यही तो राह है, कहिये, हाँ, फिर?'

संत बाबा बोले—''बेटा, इस राहमें शरीरका नाता जीवनमें ही छूट जाता है। जिसको संसार अपना दुःख और सुख समझता है, उसे कभी मत अपनाना, इसमें दुःखकी तो सम्भावना ही नहीं है। एक बार मलिक दीनार हसन बसरी रबियाके पास बैठे हुए थे। रबियाको तो जानता है न?' मैंने बीचमें कहा—'जी हाँ, वह एक उच्च कोटिकी मुसलमान भक्त थी।' संतने कहा—'हाँ, ठीक, उन लोगोंमें बातें होते-होते यह प्रश्न उठा कि भगवान्‌के प्रति किसका प्रेम सच्चा है।' इसपर हसन बसरीने कहा—'उनके भेजे हुए दुःखको जो स्थिरतासे सहन नहीं कर सकता वह सच्चा प्रेमी नहीं।' रबिया बोली—'किन्तु इसमें अभिमानकी गन्ध आती है' तब हसन बसरीने कहा—'वह सच्चा प्रेमी नहीं जो दुःखके लिये भगवान्‌को धन्यवाद न दे।' रबिया बोली—'इससे भी और ऊँचा दर्जा है।' तब मलिक दीनार बोले—'वह सच्चा प्रेमी नहीं, जो दुःखमें सुखकी प्रतीति न करे।' रबियाने कहा—'यह सबसे उत्तम नहीं है, सबसे उच्च कोटिका प्रेम वह है जिसमें मनुष्य भगवान्‌में ऐसा लीन रहे कि उसे दुःखकी खबर ही न हो।' तो बेटा, तुझे ऐसी ही अवस्थाको प्राप्त होना है। भगवान्‌के भक्तको दुःख कैसा? कैसा कष्ट उसे? भगवान्‌की खोज करता है और संसारसे नाता जोड़ता है? महापुरुषोंकी जीवनियाँ देख। चैतन्यदेव, मीरा, मंसूर और रबियाके जीवनचरित्रोंसे लाभ उठा।''

मैंने कहा—'हाँ बाबा! इनका जीवन कैसा आदर्श जीवन है, यदि मैं इनके चरणोंकी रज भी हो सकता।'

संत बाबा बोले—'बेटा! उनका जीवन आदर्श अवश्य है मगर उनमें भूल न जाना, उधर भटकेगा तो

ध्यान हट जायगा, लक्ष्य दूर चला जायगा, रचनामें भूल जायगा तो रचयिताको खो बैठेगा, सबमें उन्हींका चमत्कार तो है? फिर चमत्कारीको ही ढूँढ़! अच्छा बेटा! जा तुझे भगवान् याद करते होंगे।' यह कहकर वे उठ खड़े हुए, मुझे आशीर्वाद दिया और चले गये।

रात्रि अधिक थी, चारों ओर अन्धकार था; मनसे भी अभी अज्ञानान्धकार दूर नहीं हुआ था, अत: फिर सोचने लगा—इस जंगलमें जंगली जानवरोंमें घूमना ठीक नहीं। सूर्य उदय होनेपर फिर निकलूँगा—अँधेरेमें कहाँ भटकता फिरूँगा परन्तु ऐसा होनेवाला न था, जैसे ही बैठा कि अन्त:करणसे आवाज आयी—पथिक वृथा समय नष्ट न कर—

रन बन आपति विपतिमें, वृथा डरे जनि कोय।
जो रक्षक जननी जठर, सो हरि गयो न सोय॥

मैं उठ खड़ा हुआ और चल दिया—जिधर पाँव ले गये, जिधर भगवान्ने उन्हें चला दिया।

कुछ दूर चलनेपर एक पहाड़ीपर एक ज्योति दिखायी पड़ी। थोड़ी देरमें एक स्पष्ट स्वर भी सुनायी दिया—

आ जा आ जा कहता संत पुकार पुकार।
नहीं पायगा ऐसा जीवन बारम्बार॥

मैं उसी ओर दौड़ा। उस पहाड़ीपर एक संत खड़े थे और मुझे पुकार रहे थे। उस पहाड़ीकी चोटी ज्योतिसे जगमगा रही थी। मैंने उनसे पूछा—'किधरसे आऊँ?' उन्होंने कहा—'सीधा चला आ'। मैं बढ़ा, पर उस पहाड़ीके नीचे ठिठककर खड़ा हो गया। मैंने पहाड़ीको देखा, संतको देखा और उस ज्योतिको निहारा। वह एक अपूर्व ज्योति थी। मैं उसमें लीन हो गया। उन संतने पुकारा 'जल्दी आ।' मैंने कहा—'ना, बाबा; ऐसा न हो कि इस दिव्य ज्योतिके दर्शनसे मैं वंचित हो जाऊँ। कहीं यह अदृश्य न हो जाय।' वे बोले—'अरे मूर्ख, यह ज्योति तो सर्वदा रही है और सर्वदा ही रहेगी। जल्दी कर, कहीं ऐसा न हो कि तू ही ओझल हो जाय। क्या जाने किस क्षण तेरी हस्ती मिट जाय। जल्दी आ; यहाँ पहुँचनेपर तुझे उस दिव्य मूर्तिके भी दर्शन होंगे जिनकी ज्योति तू देख रहा है।' अब मैं उस ज्योतिको देखता हुआ सीधे ऊपर चढ़ गया। उन महात्माने मुझे पकड़ लिया और पहाड़की चोटीकी ओर दिखाकर कहा—'देख बेटा!' मैंने दृष्टि डाली तो एक अपूर्व ज्योतिर्मयी मूर्ति दिखायी पड़ी, मैं एक क्षण भी उनकी ओर न देख सका। केवल बाँसुरीकी सुरीली आवाज सुनायी पड़ी। मैंने कहा—'बाबा! बाँसुरी क्या कहती है?' संत महात्मा हँसकर बोले—'**मद्भक्ता यान्ति मामपि।**'

मेरा मन उस मधुर मुरलीसे झरते हुए अमृतका पान कर रहा था कि सहसा किसीने मुझे झकझोरकर कहा—'उठो-उठो बहुत सो चुके।' मैं चौंककर उठ गया। सबने देखा कि मैं जग गया। मगर मैं तो तबसे यही समझता हूँ कि मैं सो रहा हूँ। वह स्वप्नावस्था ही मेरे लिये जाग्रत्-अवस्था थी। लोग कहते हैं स्वप्न मिथ्या है, परन्तु मेरे लिये नहीं। जीवनमें हजारों बार गाने सुने हैं, हजारों सुन्दर-से-सुन्दर सूरतें देखी हैं मगर अब उन सबको भूल गया। किसीकी स्मृति बाकी नहीं रही। किन्तु संसार जिसे स्वप्न कहता है, उस अवस्थामें मैंने जो देखा, उसे देखनेकी बार-बार इच्छा होती है—क्यों?

आज जानता हूँ कि उसी मधुर मुरलीकी तान सुननेकी आशासे जीता हूँ। उसी दिव्यमूर्तिके दर्शनकी अभिलाषासे जीवन पाता हूँ और यह भी जानता हूँ कि—

जीवनकी यह आस मेरी पूरी होगी कभी न कभी।

संतका प्रधान लक्षण—परोपकार

(लेखक—श्रीहीरावल्लभजी शास्त्री लोहनी व्या० सा० सां० आचार्य)

न प्रहृष्यति सम्माने नापमाने च कुप्यति।
न क्रुद्धः परुषं ब्रूयादेतद्धि साधुलक्षणम्॥

(गरुडपुराण)

यह भारतवर्ष है। विष्णुपुराणादि प्राचीन ग्रन्थोंमें लिखा है कि देवता भी यहाँ रहनेकी प्रबल इच्छा करते हैं। उनके इस देशमें निवास करनेकी इच्छाका मुख्य कारण भी यही है कि यहाँ अनादिकालसे परोपकारी, सर्वभूतहिते रत, विषयविमुख, तत्त्वज्ञ, त्रिकालज्ञ और आत्मनिष्ठ धर्मात्मा पुरुष होते आये हैं, जिनका मुख्य कार्य द्वन्द्वातीत होकर आर्त, दीन, दु:खी, असहाय और असमर्थ प्राणियोंकी सेवा करना रहा है। जिनकी यह प्रतिज्ञा है कि हमें राज्य और स्वर्गकी अभिलाषा नहीं

है और न हमें मोक्षकी ही चाह है, किन्तु हमें संसारांगारमें सन्तप्त, दीन, दुःखी प्राणियोंके दुःख नाश करनेकी ही चाह है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
प्राणिनां दुःखतप्तानां कामये दुःखनाशनम्॥

(महाभारत)

ऊँच-नीचके भेद और वर्ण-जातिके अभिमानसे रहित, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, मान-अपमान आदि द्वन्द्वोंसे परे, सर्वत्र समदृष्टिवाले, परमात्माके ध्यानमें निमग्न ऐसे नरपुंगव ही संत, साधु, सज्जन, यति, मुनि, वैरागी, लोकसंग्रही, अवधूत, जीवन्मुक्त, फकीर, फक्कड़बाबा आदि शब्दोंसे पुकारे जाते हैं।

देवताओंकी तो केवल ऐश्वर्य और आत्मसुखभोगके लिये ही प्रवृत्ति रहती है, वे अपने ऐश्वर्यादिको त्यागकर कभी दूसरेके लिये त्याग नहीं कर सकते। किन्तु साधु-संतजन ही ऐसे प्राणी हैं कि वे कभी भी आत्मसुखेच्छया प्रवृत्त नहीं होते। यही बात है कि देवतालोग भी सत्संगतिके लोभसे भारतभूमिमें जन्म लेनेकी इच्छा करते हैं। पद्मपुराणमें संतजनोंके चरितमें और देवताओंके चरितमें बड़ा ही अन्तर दिखाया है। उसके पातालखण्डके ८४वें अध्यायमें नारदके संवादमें यह बात दर्शायी गयी है कि इस संसारमें आधे क्षणभरका भी सत्संग मनुष्यके लिये एक निधिके समान है, क्योंकि साधुजनोंकी संगतिसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं। प्राणियोंके लिये देवताओंका चरित दुःख और सुख दोनोंको देनेवाला होता है, किन्तु हे नारद! आप-जैसे धैर्यशाली भगवद्भक्त साधुजनोंका चरित सुखके लिये ही होता है। जो पुरुष जिस भावसे देवताओंका भजन करता है देवता भी उसके प्रति वैसा ही बुरा या भला भाव रखते हैं; किन्तु दीन अनाथोंपर प्रेमभाव रखनेवाले कर्मशील साधुजन तो दुःखियोंपर सदा प्रेमभाव ही दिखाते हैं।

धर्मका वास्तविक परिचय न रहनेके कारण आजकल बाह्य वेष-भूषावालेको ही साधु या संत कहा जाता है। परन्तु यह बात साधु शब्दके '**साध्नोति परकार्यमिति साधुः**' इस यौगिक अर्थसे और शास्त्रीय साधुके लक्षणसे विपरीत पड़ती है। वस्त्रादि तो केवल बाह्यलिंग (चिह्न) हैं, यदि शास्त्रीय साधु शब्दका वास्तविक अर्थ न घटता हो तो केवल गेरुआ वस्त्र, कण्ठी, तिलक, माला आदि बाह्य वेष-भूषामात्रको देखकर किसीको साधु या संत कहना उपहासमात्र है। साधुका मतलब यह भी नहीं है कि जो गार्हस्थ्य जीवनका त्यागकर भिक्षावृत्ति ही करता हो। परोपकार, लोकसेवामें रत गृहस्थी भी सच्चा साधु कहा जा सकता है। जितने भी शास्त्रकार ऋषि-मुनि हुए हैं उनमें अधिकांश गृहस्थी थे और सच्चे साधु थे। उन्होंने हजारों वर्षतक घोर तपस्या की, समाधिस्थ होकर आत्म-अनात्म-जैसे सूक्ष्म तत्त्वोंका अन्वेषण और अनुभव कर संसारको उन सच्चे तत्त्वोंका उपदेश दिया। इससे उन्होंने सदाके लिये दुनियाकी भारी सेवा की। काम, क्रोध, लोभ, मद-मोहादिसे सम्पन्न संसारांगारमें पड़े हुए दुःखी जीवोंके उद्धारके लिये उन साधुओंने, जिन्हें कि हम ऋषि, महर्षि, मुनि आदि शब्दोंसे पुकारते हैं, इस नश्वर भौतिक पिण्ड और इन्द्रियोंसे आत्माको अलग निकालकर दर्शनोंद्वारा उसे संसारके सामने रखा जिसके ज्ञानसे, ध्यानसे और चिन्तनसे सदाके लिये दुःख विनष्ट हो जाता है। नारदादि ऐसे बहुत-से संतोंने तो ऐसे तत्त्वज्ञानके द्वारा लोकसेवा करनेके ही उद्देश्यसे गार्हस्थ्य जीवनकी परवा न कर तीनों लोकमें घूम-घूमकर तत्त्वोपदेश देकर लोकसेवा की। भगवान् व्यासने अठारह तत्त्वोंके बने हुए—दुःखके मूलकारण—लिंगशरीरके समुच्छेदके लिये ही मानो कि अठारह पुराणोंको रचा। एवं लिंग-शरीरके समुच्छेदसे स्वरूपस्थ मुक्तरूप आत्माको बतानेके लिये ही वेदान्तदर्शन रचा।

आर्त प्राणियोंके उद्धारके लिये ही संतजनोंकी संसारयात्रा होती है। संसार धार्मिक, नैतिक, सामाजिकादि अनेक विभागोंमें बँटा हुआ है इस कारण अलग-अलग क्षेत्रके द्वारा जनोद्धारकी आकांक्षा करनेवाले साधुजन भी अलग-अलग हुआ करते हैं। किन्तु परदुःखापहरण, स्वार्थत्यागादि गुण सभी क्षेत्रोंके संतोंमें समान ही रहते हैं। जिन साधु पुरुषोंने ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होकर वर्णाश्रमधर्मके क्रमानुसार धर्मपालन करते हुए त्याग-तपस्यासे तत्त्वज्ञान प्राप्त किया, गृहस्थ होते हुए भी सांसारिक सम्पत्तिसे दूर रहकर जंगलमें जीवन व्यतीत किया, तपोबलसे ऐश्वर्यसिद्धि होनेपर भी उञ्छवृत्ति और शिलावृत्तिको ही अपने जीवनका आधार बनाया, अवसरपर जिन्होंने देश और जातिके कल्याणके लिये अपनी हड्डी तथा रक्तमांसतक दे दिया, वे ही तत्त्वज्ञ,

धर्मात्मा, ब्रह्मनिष्ठ, दयालु पुरुष ऋषि, महर्षि, मुनि आदि नामोंसे कहे जाने लगे। वस्तुतः ये सभी साधु या संतजन ही थे। लोककल्याणार्थ मन्त्रद्रष्टा होनेके कारण इनका नाम 'ऋषि' पड़ा। आत्मतत्त्वका मनन करनेसे 'मुनि' पड़ा। इसी प्रकार जिन महापुरुषोंने भोगार्थ नहीं किन्तु धर्म और कर्तव्यवश राज्य कर लोककल्याणके लिये जीवन व्यतीत किया ऐसे क्षत्रिय राजा भी राजर्षि, त्यागी और तत्त्वज्ञ कहाये। इनमें जनक-जैसे नृप सर्वश्रेष्ठ थे। ऐसे महापुरुष ही शासकोंमें साधु या संत कहाते हैं। यही बात है कि राजा जनकका संवाद उपनिषदोंमें बड़े गौरवके साथ दिया है। भगवान् रामचन्द्रजीको भी लोककल्याणार्थ राज्य त्यागकर साधु बनना पड़ा। राजसिंहासनारूढ़ होनेपर भी प्रजाके दुःखको दूर करनेके लिये ही परम प्रेयसी पतिप्राणा सती सीताको भी त्याग दिया। इससे भी अधिक साधुवृत्तिका क्या कोई भी राजा हो सकता है?

त्याग और कष्टसहनके बिना साधुभाव हो ही नहीं सकता। इस कारण धार्मिक, नैतिक, सामाजिकादि जिस किसी भी क्षेत्रमें अपने सुख, दुःख और जीवनतककी परवा न करके जिस किसी पुरुषने परोपकारार्थ कार्य किया, त्यागमय साधुवृत्तिसे ही किया। क्षेत्रभेदसे ऐसे लोगोंको साधु, संत और संन्यासी न कहकर धार्मिक नेता, सामाजिक नेता, देशके नेता आदि शब्दोंसे संसार पुकारता है। इस प्रकारके साधु संसारके सभी देशोंमें सदासे होते आये हैं। अन्य देशोंमें लोकहितैषी और सामाजिक कार्योंमें आध्यात्मिक सिद्धान्तोंका कुछ भी महत्त्व न होनेसे तत्तत् क्षेत्रोंके प्रधान पुरुष साधु, संत या महात्माके नामसे नहीं पुकारे जाते, किन्तु भारतीय संतोंकी तरह असाधारण आदरकी दृष्टिसे देखे जाते हैं। आर्यसंस्कृतिमें अनादिकालसे अध्यात्मवादको सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त है। अध्यात्मवादमें स्त्री-पुत्रादिको भी बन्धनका कारण माना गया है इसीलिये यहाँके गृहस्थाश्रमरहित त्यागी और ज्ञानी पुरुषोंको विशेषतया साधुशब्दसे कहा जाता है। देशकी इस पारम्परिक दृष्टिपर ध्यान देकर ही शंकराचार्य, रामानुजाचार्य प्रभृति धर्माचार्योंको गृहस्थाश्रमसे विमुख होकर लोकोपकार करना पड़ा। यहाँतक कि एक समृद्धिशाली राजकुमारको भी गृहस्थाश्रमका त्यागकर गेरुआ वस्त्र धारणकर जगत्के हितके लिये राजमहलोंसे बाहर आना पड़ा जिसको बुद्ध और गौतमके नामसे सारा संसार जानता है, जिसको हिन्दू 'बुद्धावतार' कहते हैं, आज दुनियामें जिसके अनुयायी साठ करोड़से भी अधिक हैं। फिर भी परोपकारी, लोकहितैषी, आत्मत्यागी महापुरुषोंको साधु कहे जानेके लिये यह जरूरी नहीं है कि वे उसके लिये कोई खास वेष-भूषा धारण करें। बाह्यलिंग तो साधारणजनोंको साधुवृत्तिमें श्रद्धा करानेके लिये ही शास्त्रोंमें कहा गया है। इस कारण परदुःखसे दुःखित, आर्तजन-दुःख-विनाशक किसी सच्चे साधु-संतके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी वेष-भूषासे बद्ध रहे और गृहस्थाश्रमको अवश्य ही त्याग दे। यही बात है कि नानक, कबीर, दादू, रैदास, धन्ना भक्त, एकनाथ आदि अनेक साधु-संतजन अधिकांशमें गृहस्थके अन्दर होते हुए भी सच्चे संत थे। संतोंका मुख्य लक्षण तो अपने सुख-दुःखोंको भुलाकर आर्तजनोंका दुःखहरण, सच्चा त्याग और आत्मचिन्तन है। समयकी अपेक्षा करके साधुजन संन्यासी भी हो सकते हैं, नहीं भी हो सकते। परन्तु जो लोग गृहस्थ छोड़कर संन्यास और वैराग्य धारणकर लोककल्याणके लिये अपनेको अर्पण कर देते हैं, संसारकी दृष्टिसे उनमें हर तरह अधिक त्याग दिखायी देता है इसीलिये उन्हें साधु कहते हैं। इसीलिये इस देशके धार्मिक सुधारक महापुरुषोंको सदा संन्यास धारण करना पड़ा है। बाह्यलिंगके द्वारा कुछ त्यागसे सम्पन्न होनेके कारण ही आजकल इस देशमें मनुष्योंका कुछ हिस्सा साधु शब्दसे कहा जाता है। किन्तु बाह्यलिंग न रखनेपर भी परदुःखसे दुःखित, दीनोद्धारक बहुत-से सज्जन इस समय भी गृहस्थ ही हैं जो कि सच्चे साधु हैं। ऐसे उदारचेता पुरुषोंको शास्त्रोंमें संत या साधु शब्दसे कहा गया है।

पद्मपुराणके पातालखण्डके ९७वें अध्यायमें देवदूत और राजा महीरथके संवादमें आया है कि जब राजा महीरथको विष्णुदूत नरकके मार्गसे वैकुण्ठमें ले जाने लगे तो राजाके शरीरके वायुके स्पर्शसे ही नरकोंके बड़े-बड़े दुःख भोगते हुए दीन-दुःखी जनोंकी व्यथा दूर होने लगी तब राजाने देवदूतोंसे निवेदन किया कि 'भाई! मुझे इन दीन-दुःखी और आर्तजनोंसे अलग मत करो, मैं इन्हें छोड़कर वैकुण्ठ जाना पसन्द नहीं करता। संसारमें वह मनुष्य पापी है जो समर्थ होकर भी आर्तजनोंके शोकको दूर नहीं करता। भाई! मेरे शरीरको

स्पर्श करनेवाले वायुसे यदि प्राणियोंको सुख पहुँचा हो तो मुझे उसी जगह ले चलो जहाँ कि वे आर्त्तजन रहते हैं। जो पुरुष चन्दनके समान दूसरेके सन्तापको दूर करनेवाले हैं, वे सचमुच चन्दन ही हैं। इस संसारमें कर्मशील पुरुष वे ही हैं जो कि परोपकारके कारण पीड़ित रहते हैं। संसारमें संत वही हैं जो दूसरेके दुःखोंको दूर करते हैं और आर्तजनोंकी पीड़ाके विनाशके लिये जिनके प्राण तृणके समान हैं। ऐसे परोपकारी संतजनोंसे ही इस पृथिवीका धारण हो रहा है, केवल अपना नित्यका मानसिक सुख तो नरकके समान है। इस कारण संतजन अन्यके सुखसे ही सदा सुखी रहते हैं। इस संसारमें आर्त्तजनोंका दुःखनाश किये बिना सुख-प्राप्ति होती हो तो, उसकी अपेक्षा नरकमें गिरना अच्छा है, मर जाना अच्छा है'—

नार्तजन्तूनहं हित्वा पीडितो गन्तुमुत्सहे।
स पापिष्ठो हि आर्तानां शोकं नापहरेत्क्षमः॥
मदङ्गसङ्गमोत्सृष्टवायुस्पर्शेन ते यदि।
जन्तवः सुखिनो जातास्तस्मात्तत्र नयन्तु माम्॥
परतापच्छिदो ये तु चन्दना इव चन्दनाः।
परोपकृतये ये तु पीड्यन्ते कृतिनो हि ते॥
सन्तस्त एव ये लोके परदुःखविदारणाः।
आर्त्तानामार्तिनाशार्थं प्राणा येषां तृणोपमाः॥
तैरियं धार्यते भूमिर्नरैः परहितोद्यतैः।
मनसो यत्सुखं नित्यं स स्वर्गो नरकोपमः॥
तस्मात्परसुखेनैव साधवः सुखिनः सदा।
वरं निरयपातोऽत्र वरं प्राणवियोजनम्॥
न पुनः क्षणमार्त्तानामार्तिनाशमृते सुखम्॥

इस आशयको हम पहले ही दिखला चुके हैं कि 'क्षेत्र-भेदसे संतोंके कार्योंका स्वरूप विभिन्न हुआ करता है। परन्तु तत्त्वतः आर्तजनोंका आर्त्तापहरण ही उनका मुख्य लक्ष्य रहता है। साधन और क्षेत्रभेदसे उनके बाह्यस्वरूपमें भी भेद पड़ जाता है।' यही बात है कि बहुत-से साधुजन दिगम्बर होकर एकान्तमें स्थित रहते हैं। बहुत-से गिरि-कन्दराओं, गंगादि नदियोंके प्रपातोंमें धूनी रमाये रहते हैं। ऐसे महात्माओंका जो कुछ भी चिन्तन है उससे वे भक्तजनोंका कल्याण करते रहते हैं। उनके उपदेशामृतका एक कण भी कर्णमें धारण करनेसे और मनन करनेसे पापी-से-पापी प्राणीका भी पाप छूट जाता है। इस प्रकार जो सच्चे ज्ञानी महात्मा सर्वत्याग कर नितान्त एकान्तमें बैठे रहते हैं उनके द्वारा भी हजारों आर्त्तजनोंका दुःख दूर होता रहता है। उनके चरित्रसे, उनके मृदु भाषणसे, उनकी सौम्य आकृतिसे मनुष्य तो क्या, सहजविरोधी बाघ-बकरी, शेर-हाथी आदि पशुयोनियोंका भी हृदय शुद्ध हो जाता है और वे परस्परविरोधी जन्तु आपसमें वैरभाव छोड़कर प्रेममय जीवन बिताने लगते हैं। दुनियाके इतिहासमें सबसे प्रथम संत भोलेबाबा शंकरभगवान् हैं। उनके अंग-प्रत्यंगमें सर्पादि सभी क्रूर और विरोधी प्राणी वास करते रहते हैं। भगवान् शंकर-जैसा उपकारी और दाता पुरुष दुनियाके इतिहासमें सुननेमें नहीं आता। तन्त्र, मन्त्र आदि परमोपयोगी शास्त्र शंकरके ही श्रीमुखसे निकले हुए हैं।

संत होनेके लिये समाज तथा श्रेणीकी भी आवश्यकता नहीं। किसी भी वर्गका मनुष्य संत हो सकता है। ज्ञानी संतजनोंका कार्य और उपदेश किसी वर्ग-विशेषके लिये नहीं होता। प्राणिमात्रके उपकारके लिये उनकी प्रवृत्ति होती है। इसीलिये किसी भी सम्प्रदाय तथा देशके साधुको सारी दुनिया मानती है, पूजती है और आदर करती है। दीन, असहाय, अनाथ आर्तजनोंके उपकारार्थ प्रवृत्ति होनेके कारण ही संतोंके लिये सारा संसार अपना हो जाता है और संसार भी संतजनोंको अपना समझने लगता है। ऐसे साधु और संतजनोंके लिये कहा है कि 'जो मनुष्य दुःखित प्राणियोंका उद्धार करता है, वही पुण्यात्मा है, उसको नारायणके अंशसे उत्पन्न हुआ समझना चाहिये'—

दुःखितानां हि भूतानां दुःखोद्धर्ता हि यो नरः।
स एव सुकृती लोके ज्ञेयो नारायणांशजः॥

(पद्म० पातालखण्ड)

स्वार्थवश स्वतः किसी प्रकारके सुखकी स्पृहा न रहनेपर भी संतजनोंको दीनोंके दुःखापहरणपर अद्वितीय आनन्दानुभूति होती है जो स्वर्ग किंवा मोक्षमें भी दुर्लभ है। इसी बातको पातालखण्डके अन्दर देवदूतोंने इस प्रकार कहा है—'हमलोगोंकी ऐसी धारणा है कि मनुष्य आर्त्तजनोंके दुःख दूर करनेपर वह सुख प्राप्त करता है कि जिसके आगे उसकी दृष्टिमें स्वर्ग, मोक्षसम्बन्धी सुख कुछ भी नहीं है'—

न स्वर्गे नापवर्गेऽपि तत्सुखं लभते नरः।
यदार्त्तजन्तुनिर्वाणदानोत्थमिति नो मतिः॥

इस प्रकारका साधुभाव भारतीय तत्त्वज्ञोंने पशु, पक्षी-जैसे मूक प्राणियोंतकमें देखा। इसलिये महाभारतमें उस कपोतकी कथा है, कि जिसकी धर्मपत्नी शत्रुके पाशपंजरमें पड़कर भी भूखे-प्यासे, दीन व्याधकी प्राणरक्षाके लिये अपने पतिसे इन उदार शब्दोंमें कहती है कि 'पतिदेव! इस दीन-दु:खीकी सेवा कीजिये। यह मत समझें कि यह हमारा शत्रु है। यदि उपकारीके प्रति उपकार किया तो क्या किया। अपकारीके प्रति जो उपकार करता है वही साधु है।' साधुजन अपकारीमें भी अपना साधुभाव नहीं छोड़ते। चन्दनको देखो वह काटनेवालेको भी अपने शैत्यगुणसे सुख ही पहुँचाता है। ऐसे संतजन प्राण देकर भी शरणागतकी रक्षा करते हैं। इस प्रकारके साधुजनोंकी अनेकों कथाएँ महाभारतमें आयी हैं।

एक कबूतर बाजके पंजेसे छूटकर भयभीत होकर जब शिबि राजाकी शरणमें गया तो राजा शिबिने उसे रक्षा करनेका आश्वासन दिया। इतनेमें बाज भी अपने शिकारको वापस माँगने लगा। उस वक्त शरण्य साधु शिबिके ये उद्गार निकले—

गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा।
यन्न भूतहितार्थाय तत्पशोरिव जीवितम्॥

(महा० अनु० ३२)

बाजने जब यह आग्रह किया कि 'राजन्! यदि कबूतर देना नहीं चाहते हो तो कबूतरके बराबर अपना मांस तौलकर दो। लोमश ऋषि कहते हैं कि बाजके ऐसे कहनेपर राजा शिबिने कबूतरके बराबर अपना मांस तौलना प्रारम्भ कर दिया—'**प्रहृष्टस्तोलयामास कपोतेन सह प्रभुः**'। क्यों न हो, साधुजनोंकी प्रवृत्ति ही ऐसी होती है कि वे अपने सुखभोगकी इच्छा न करके सम्पूर्ण प्राणियोंके सुखकी इच्छा करते हैं। साधुजन सदा परदु:खसे दु:खित रहते हैं।

शिबिकी इस अतिशय उदारवृत्तिको देखकर अन्तमें इन्द्रको भी राजा शिबि साधुके रूपमें दिखायी दिये। शिबिकी प्रशंसा करते हुए इन्द्र बोले कि 'राजन्! अपने सुखको छोड़कर परोपकारबुद्धिवाले तुम्हारे-ऐसे साधुजन जगत्-कल्याणके लिये पैदा होते हैं—

परोपकारैकधियः स्वसुखाय गतस्पृहाः।
जगद्धिताय जायन्ते साधवस्त्वादृशा भुवि॥

ऐसे साधुजनोंको ही शास्त्रोंमें धर्मात्मा या धर्मज्ञ कहा है।

इसपर महाभारतके अन्दर तुलाधार जाजलिसे कहता है कि 'हे जाजले! जो मनुष्य मन, वचन, कर्मसे सब भूतोंपर दया करता है और सबका सुहृद् होता है, वही धर्मको जानता है—

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले॥

ऐसे साधुजनोंकी संगतिसे ही बड़े-बड़े दु:खी तथा पापीजन तर जाते हैं। महाभारतके अनुशासनपर्वके ७०वें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'सज्जनोंका समागम और सत्संगति कभी भी निष्फल नहीं होती। देखो राजा नृग सत्संगतिकी कृपासे नरकसे तर गया—

सतां समागमः सद्भिर्नाफलः पार्थ विद्यते।
विमुक्तं नरकात् पश्य नृगं साधुसमागमात्॥

साधुसंगतिका फल केवल पौराणिक ही नहीं है बल्कि इसकी प्रथम झलक श्रुतिमें भी देखी जाती है। कठोपनिषद्के अन्दर यम भगवान् नचिकेताको यह उपदेश देते हैं कि जिस पुरुषने तीन बार नाचिकेताग्निका चयन किया है और माता, पिता, आचार्य इन तीनोंका संग पाया है वह जन्म-मरणको तरकर अत्यन्त शान्ति प्राप्त करता है—'**त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिम्**'। वहाँपर '**त्रिभिरेत्य सन्धिम्**' का अभिप्राय यही है कि माता-पिता और आचार्य-जैसे सज्जनोंके अनुशासनमें रहकर और उनके उपदेशाचरणसे मनुष्य सुखशान्तिको प्राप्त करता है। इस वाक्यसे साधुसंगतिका फल स्पष्ट जाहिर होता है। इसीलिये आगे चलकर तैत्तिरीयोपनिषद्में आचार्य अपने शिष्य और स्नातकको उपदेश देता है कि तुम माता, पिता और आचार्यको देवता समझो—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।

वह्निपुराणमें संगति और साधुजनोंके स्वरूपका वर्णन क्या ही अनुपम रीतिसे किया है—'साधुसंगतिका ही यह फल है कि समुद्रका अत्यन्त खारा जल भी जब मेघोंकी सत्संगति करता है तो अत्यन्त मधुर हो जाता है। संसारके कल्याणके लिये तत्पर संतलोग क्या-क्या नहीं करते? सज्जनोंका एक ही उद्‌देश्य होता है कि जिस बातको वे स्वीकार करते हैं उसका पालन भी पूर्णतया करते हैं। देखो, भस्म करनेवाले अग्निको भी समुद्र अपनी गोदमें बिठाये रहता है। अपनी आत्माको पीड़ित करके भी दूसरोंको सुख पहुँचाना साधुजनोंका स्वभाव है। देखो, वृक्ष बेचारा अपनी

छायामें आश्रय देकर सबको सुख पहुँचाता है परन्तु खुद धूपमें रहकर दुःख सहता है।

परार्थमुद्यताः सन्तः सन्तः किं किं न कुर्वते।
तादृगप्यम्बुधेर्वारि जलदैस्तत् प्रदीयते॥
एक एव सतां मार्गो यदङ्गीकृतपालनम्।
दहन्तमकरोत् क्रोडे पावकं यदपां पतिः॥
आत्मानं पीडयित्वापि साधुः सुखयते परम्।
ह्लादयन्नाश्रितान् वृक्षो दुःखञ्च सहते स्वयम्॥

इस प्रकार जब साधुजन सर्वत्र आत्मभावसे प्रेरित होकर अनासक्तिके साथ परार्थ कर्म करते रहते हैं तब उनकी बुद्धि सूक्ष्म पदार्थोंमें अत्यन्त स्फीत हो जाती है। धीरे-धीरे उनका चित्त नितान्त एकान्त होता जाता है। इस अवस्थामें वे सम्प्रज्ञात समाधिसे सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थोंका दर्शन करने लगते हैं। इसी बीच उनके आगे अनेकों विभूतियाँ नाचने लगती हैं। इस दशामें जो पुरुष उन विभूतियोंके वशीभूत हो जाता है वह अपने मोक्षरूप परमानन्दस्वरूपसे च्युत हो जाता है। इसीलिये पतंजलि मुनि साधुजनोंको उपदेश देते हैं कि इन सिद्धियोंके फेरमें नहीं पड़ना चाहिये। इस दशामें इन्द्रादि देवता निमन्त्रण दें तो गर्वके साथ आश्चर्य नहीं करना चाहिये, क्योंकि इससे फिर अनिष्ट पैदा हो जाता है।

स्थान्युपमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्।

आसक्तिरहित केवल कर्त्तव्य-बुद्धिसे किये गये साधुजनोंके ऐसे कर्मका ही उपदेश अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने निष्काम कर्मयोगके नामसे गीतामें दिया है। अधिकारिभेदसे ये साधुजन ही स्थितधी, भक्त या गुणातीत आदि अवस्थाओंको पहुँचते हैं।

इस प्रकार जब साधुजन अहंकाररहित होकर लोक-संग्रहार्थ श्रौत और स्मार्तकर्मोंको करते हैं तब ज्ञानाग्निसे दग्ध कर्मवाले साधुजन पण्डित कहे जाते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

और आत्मज्ञानकी साधना करते-करते इस प्रकार लोकोपकारी साधुजनोंकी लोकातीतावस्था हो जाती है। इस अवस्थामें ये केवल प्रारब्ध कर्मवश ही शरीर धारण करते हैं। इस स्थितिको ही जीवन्मुक्तावस्था कहा जाता है, यही गुणातीतावस्था भी है। इस अवस्थामें साधुजनोंके लिये विधि-निषेधका कुछ भी असर नहीं होता है। फिर भी गीता प्रभृति शास्त्रोंमें इस अवस्थामें भी लोक-संग्रहार्थ कर्म करनेकी आज्ञा दी गयी है। इस अवस्थामें भी इन्हें केवल लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेकी जो आज्ञा शास्त्रोंमें दी गयी है उसका अभिप्राय यही है कि इनके आचरणानुसार कार्य करनेसे, उपदेश श्रवणसे, इनकी सत्संगतिसे दुनियाका हित हो। इस प्रकार संतोंका समस्त जीवन परोपकारार्थ ही होता है। जैसे कि चन्दन दूसरेको शीतलता पहुँचानेके लिये ही होता है न कि अपने लिये। इसी प्रकार संतोंका जीवन परार्थ ही होता है तो आश्चर्य ही क्या—

किमत्र चित्रं यत्सन्तः परानुग्रहतत्पराः।
न हि स्वदेहशीताय जायन्ते चन्दनद्रुमाः॥

(महाभारत)

संसारमें यह सुना और देखा ही नहीं गया है कि कोई पुरुष सच्चा साधु या संत हो और वह परोपकारी तथा प्राणियोंके प्रति दयालु न हो।

शास्त्र, समाज, इतिहास, परमार्थ, लोक और व्यवहारकी दृष्टिको लेकर ही हमने इस लेखमें संतोंका स्वरूप परोपकारीके रूपमें दिया है।

ऋषि, मुनि, महर्षि, परोपकारी, दयालु, धर्मात्मा, महात्मा, फकीर, जीवन्मुक्त, भक्त, त्यागी, तपस्वी आदि जितने भी उदात्त आत्माओंके भेद-प्रभेद हैं वे सब साधु या संतजनोंकी ही शाखाएँ हैं। ऐसे साधुजन केवल मर्त्यलोकमें ही नहीं होते बल्कि देवलोकमें भी होते हैं और वे नारद, सनक, सनन्दनादि नामोंसे पुकारे जाते हैं।

संत और भूतशुद्धि

(लेखक—पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल)

भूतशुद्धि हुए बिना चित्त शुद्ध नहीं होता और चित्तके शुद्ध हुए बिना ज्ञान या आत्मदर्शन नहीं होता इसीलिये शास्त्रोंमें भूतशुद्धिपूर्वक क्रिया करनेका विधान है। धर्मानुष्ठानका उद्देश्य क्या है? श्रीमद्भागवतमें कहा है—

स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्।

वर्णाश्रमके अनुसार शास्त्रोंमें धर्मसाधनकी जो व्यवस्था है यदि उन धर्मोंका सुचारुरूपसे अनुष्ठान

किया जाय तो उससे श्रीहरि संतुष्ट होते हैं, यही धर्मसाधनाका फल है। धर्म-अर्थ-कामादि साधनोंका शेष फल केवल धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्ति ही नहीं है, हृदयमें तत्त्वजिज्ञासाका उत्पन्न होना ही उन धर्मादि साधनोंका एकमात्र उद्‌देश्य या फल है। आत्मस्वरूपकी जिज्ञासाका मनमें उदय होना और आत्मसाक्षात्कारके लिये भरपूर चेष्टा करना ही जीवनका वांछित कर्त्तव्य है। इसीलिये आत्मलाभार्थ या आनन्दप्राप्तिके लिये व्याकुल होना मानव-चित्तका स्वाभाविक धर्म है। आत्मा ही रसस्वरूप है अतएव इस आत्माको जाने बिना जीवन अकृतार्थ ही रह जाता है। जब आत्मा ही एकमात्र रसस्वरूप या आनन्दस्वरूप है तो फिर हमारा रसलोलुप मन आत्माका अन्वेषण न कर दूसरी वस्तुओंके लिये क्यों लालायित रहता है? यही तो मनुष्यका परम दुर्भाग्य या उसके पापोंका फल है। इसीसे तो हम सदा देखते हैं कि मनुष्यका चित्त उस रससिन्धु आत्माके लिये न लुभाकर विषयोंके लिये ही व्याकुल रहता है। कुछ भी कारण हो, मनुष्यका यह परम दुर्भाग्य किसी तरह नष्ट हो; इसीके लिये स्नेहमयी जननीरूपा श्रुति उपदेश करती है—

तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति।

वेदाध्ययन अथवा वेदके अनुकूल कर्म करनेसे ही ब्राह्मणोंका हृदय विशुद्ध होता है और तब आत्मजिज्ञासा उत्पन्न होती है। यह आत्मजिज्ञासा जबतक उत्पन्न नहीं होती तबतक समझना चाहिये कि चित्तमल दूर नहीं हुआ। चित्तके बहिर्मुख रहनेकी आदत ही इस अशुद्धिका चिह्न है। पूर्वजन्मोंके अशुद्ध कर्मोंके संस्कार देह, इन्द्रिय, मन और प्राणके साथ चिपटे रहते हैं वे सहजमें नष्ट नहीं होते। इन अशुद्ध भावोंके कारण प्राण स्पन्दित होकर चित्तको स्पन्दित करता है और इसीसे विषय-भोगके लिये नित्य चेष्टा करता हुआ चित्त सदा व्याकुल रहता है। इस संस्कारको नष्ट करनेकी साधनाका नाम ही 'भूतशुद्धि' है। योगी इस देह-संस्थानके अन्दर एक स्थानका निर्देश करते हैं उसका नाम है आज्ञाचक्र। मनके स्थानसे मन जितना उतरता है उतना ही स्पन्दन बढ़ता है और उतना ही चित्त वेगवान होता है। यह वेगयुक्त चित्त ही सारे अनर्थोंकी जड़ है। इसीलिये योगी कहते हैं कि चित्तको स्पन्दनरहित करो। चित्त एकाग्र होनेसे ही वह स्पन्दनशून्य होता है और फिर निरुद्ध हो जाता है। साधारणतः अशुद्धावस्थामें ही चित्त बहुत-से विषयोंकी ओर दौड़ता है। चित्त जितना-जितना निरुद्ध होता है उतना ही उसकी गति आत्ममुखी होती जाती है और ऐसा आत्मसुख चित्त अन्तमें आत्मामें निरुद्ध हो जाता है। इस निरुद्ध चित्तका नाम ही शुद्ध चित्त है। इस प्रकार शुद्धचित्त हुए बिना किसीके हृदयमें वास्तविक तापत्रय-विमोचनी आत्मजिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती। सत्‌शास्त्रोंके श्रवण और कीर्तनसे किंचित् कालके लिये कुछ चित्तशुद्धि होती है परन्तु भूतशुद्धि हुए बिना वह स्थायी नहीं हो सकती।

जो अत्यन्त निर्मल शुद्ध चिन्मात्र था वही क्रमशः जड़रूपमें परिणत हो गया, जो निष्कल ज्ञानमात्र था वह अहं—अभिमानका भाव ग्रहण करके क्रमशः देहात्मबोधमें परिणत हो गया। प्राणका स्पन्दन देहके अन्दर हजारों नाड़ियोंके द्वारा प्रवाहित होकर चित्तस्पन्दनके रूपमें परिणत हो गया और उसने हमारे शुद्ध ज्ञानके स्रोतको उलट दिया। प्राणोंकी जिस धाराने नाड़ियोंके द्वारा प्रवाहित होकर स्पन्दनात्मिका वृत्तिसे युक्त आत्मभावके साथ देहाभिमानको जोड़कर दिव्य ज्ञानको रोक दिया है, उस नाड़ीका शोधन किये बिना आत्मभावका विकास नहीं हो सकता; इसलिये नाड़ीशुद्धिके द्वारा भूतशुद्धि करनेकी आवश्यकता है। भूतशुद्धि हुए बिना अज्ञानका परदा नहीं हटता और दिव्य ज्ञानका प्रकाश नहीं होता। सारे शरीरमें शुद्ध और स्थिर प्राणवायुको ले जा सकनेसे ही भूतशुद्धि होती है। देहमल और मनोमल सब नष्ट हो जाता है। तभी '**वाराणसीभ्रुवोर्मध्ये ज्वलन्तं लोचनत्रये**'—भ्रकुटीके अन्दर कूटस्थ ज्योति जलती हुई अग्निके समान प्रदीप्त हो उठती है वही साधककी इष्ट वस्तु है। भूतशुद्धि हुए बिना कहा जाता है कि किसीको इष्टके दर्शन नहीं होते। इसीलिये पूजाके समय भूतशुद्धि करके पूजा करनेका शास्त्रीय विधान है, परन्तु भूतशुद्धि एक बड़ी साधना है वह सहजमें ही नहीं हो जाती।

भूतशुद्धि हुए बिना साधन सफल क्यों नहीं होता, इस विषयपर फिर जरा विचार करें। हम रोज ही बहुतोंको पूजा करते देखते हैं। पूजा करनेवाले लोग ध्यान, जप और पुष्पादिके द्वारा इष्टकी आराधना करते हैं किन्तु जब उनसे पूछा जाता है कि मन्त्रजप या आराधनाद्वारा क्या आप इष्टदेवको देख सकते हैं? क्या उनके साथ आपकी बातचीत होती है? क्या पूजाके बाद

आपका मन प्रशान्त और प्रसन्न होता है? इसके उत्तरमें वे प्रायः 'नहीं' कहते हैं। कुछ लोगोंको इष्टकी स्थूल मूर्तिकी सामयिक धारणा-सी होती है और बहुतोंको तो वह भी नहीं होती। यदि पूजा और जप करनेपर भी हम उसी अन्धकारमें रहें जिसमें पहले थे, और हमें इष्टके दर्शन अथवा उसका स्फुरण नहीं हुआ तो क्या हुआ? जीवन तो बीत चला, हमने अपनेको भी नहीं पहचाना! स्थूल देहके अतिरिक्त और किसी वस्तुका हमें प्रत्यक्ष नहीं हुआ! आत्मा क्या है, देहके साथ आत्माका कैसा सम्बन्ध है यह कुछ भी हमने नहीं जाना। पशुकी भाँति—आहार, निद्रा, भय और मैथुनमें ही हमारा सारा जीवन बीत गया। जीवनके किसी संशोधन या परिवर्तनका अनुभव हमने नहीं किया। जगत्में अधिकांश व्यक्तियोंका जीवन इसी प्रकार बीतता है। मन जबतक स्थूल पदार्थके सिवा किसी सूक्ष्म भावका पता नहीं पाता तबतक वह भी जड ही बना रहता है। हम यह जड जो कुछ देख रहे हैं इसके अतिरिक्त एक सूक्ष्म भाव है। वह सूक्ष्म भाव ही देवभाव है। जबतक मन उस सूक्ष्म तत्त्वमें प्रविष्ट नहीं होता तबतक उसमें देवभावका विकास नहीं होता, तबतक वह पशु ही रहता है। इस पशुभावके रहते स्थूलके अतिरिक्त किसी सूक्ष्म भावकी धारणा भी नहीं हो सकती। साधनाकी सहायतासे मनुष्य स्थूल भावोंको त्यागकर सूक्ष्म तत्त्वमें प्रवेशकर जीवनको कृतार्थ कर सके, इसीलिये शास्त्रोंने यह आदेश दिया है—**'देवो भूत्वा यजेद्देवं नादेवो देवमर्चयेत्'** देवता बनकर देवताकी पूजा करनी चाहिये। देवता हुए बिना देवताकी पूजा नहीं की जा सकती। देवता बननेका उपाय भी शास्त्रोंमें बतलाया गया है।

जीवोंके इन्द्रियगोचर होनेवाले इस प्रत्यक्ष स्थूल देहकी भाँति अपंचीकृत पंचभूतोंसे बना हुआ एक और शरीर है जो स्थूल इन्द्रियोंके द्वारा गोचर नहीं है, वही जीवका सूक्ष्म शरीर या लिंगशरीर है। श्रवणादि पंचज्ञानेन्द्रिय, वाक्पाणि आदि पंचकर्मेन्द्रिय, पंचप्राण, मन और बुद्धि, इन सत्रह उपादानोंसे बना हुआ वह सूक्ष्म शरीर ही जीवका लिंगशरीर है। इस सूक्ष्म शरीरमें ही कर्मोंके वासनामय संस्कार चिपटे रहते हैं और इसीके फलस्वरूप जीव परवश होकर अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्म करनेको बाध्य होता है। योगीलोग इस सूक्ष्म शरीरको योगाभ्यासके द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं। इस सूक्ष्म भूतमय लिंगशरीरको शुद्ध करनेके लिये ही भूतशुद्धिकी आवश्यकता है। भूतशुद्धिके द्वारा ही वासनामय सूक्ष्म शरीरको देवदेहमें परिणत किया जा सकता है। और संतलोग यही किया करते हैं।

मुक्तों या संतोंके लक्षण

[एकनाथी भागवतके आधारपर]

(लेखक—पं० श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)

मुक्त या संत और बद्ध, दिन और रातके समान सापेक्ष नाम हैं। सूर्य स्वयं न दिन है न रात, वैसे ही आत्मा न बद्ध है न मुक्त, जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा है—

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्॥

(११।११।१)

क्षुधा और तृषा जैसे प्राणके धर्म हैं वैसे ही बन्ध और मोक्ष बुद्धिके धर्म हैं और आत्मा तो वह है जो बुद्धिके परे है **'यो बुद्धेः परतस्तु सः'**, जो बुद्धिका साक्षी चैतन्य है। इसी साक्षी चैतन्यको जो अपना स्वरूप जानता है वही मुक्त है और जो देहको अपना स्वरूप मानता है वही बद्ध है।

मुक्तके लक्षण जाननेका प्रयोजन

श्रीएकनाथ महाराज कहते हैं, 'मुक्तोंके लक्षण निश्चयपूर्वक जाननेसे अपना जो नित्यमुक्त स्वरूप है वह प्राप्त होता है'; क्योंकि 'मुक्तोंके जो लक्षण हैं वे ही साधकोंके लिये साधन हैं। मुक्तके जो सहज गुण हैं वे ही साधकोंके लिये दृढ़ निष्ठापूर्वक साधनेके साधन हैं।'

देहमें रहते हुए देहबुद्धिका न होना मुक्तका मुख्य लक्षण है। इसलिये मुक्तको देही रहते हुए 'विदेही' कहते हैं। देह और देहके सुख-दुःख मुक्तके लिये स्वप्नके राज्य और भीखके समान मिथ्या हैं। स्वप्नमें

मरकर चितामें जला हुआ मनुष्य जाग्रत्में राख नहीं हो जाता, इस प्रकार स्वप्नवत् प्रपंचको जो मिथ्या जानता है उसीको मुक्त कहते हैं।

मुक्तके विपरीत लक्षणवाला जो कोई है वही बद्ध है। वह देहातीत होकर भी अपने-आपको देह मानता और दुःखमें गिरता है। जलमें अपना प्रतिबिम्ब देखकर जो अपने-आपको ही जलमें डूबा मान लेता है और व्यर्थ ही चिल्लाता है कि कोई मुझे ऊपर निकाले या स्वप्नमें लगे हुए खड्गके आघातको याद करके जो भ्रमसे 'हाय रे दैया! अब तो हम मरे!' इस तरह बर्राने लगता है उसीको कहते हैं 'बद्ध'। अपने स्वरूपका विस्मरण ही विषयासक्तिका दृढ़ीकरण है, विस्मरणसे ही नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प उठा करते हैं और यही बद्धका लक्षण है।

स्वात्मानुभवरूप प्रत्यक्ष ज्ञानसे संचित और क्रियमाणके नष्ट होनेपर जो प्रारब्ध बचा रहता है उसीसे मुक्त देहमें रहता है, पर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों ही अवस्थाओंमें वह देहसे बँधा नहीं रहता। इन्द्रियोंद्वारा वह प्रारब्धप्राप्त विषयोंका सेवन करता है पर उसके मनमें विषयोंकी स्फुरणा नहीं होती, इसलिये विषयभोगका भान भी उसे नहीं होता, वह केवल, उन विषयों और इन्द्रियोंका 'चिन्मात्र' साक्षी होता है, अकर्ता और अलिप्त होता है। विषयोंमें लोट-पोट करके भी विकारोंसे उसका हृदय अशुचि नहीं होता। जहाँ काम हो वहीं लोभ और क्रोध उठ सकते हैं। मुक्त नित्य निष्काम होनेसे उसमें क्रोध-लोभादिसहित कामका सर्वथा नाश हुआ रहता है और वह स्वयं आत्मारामस्वरूप होकर जगत्का विश्रामधाम बन जाता है। 'काम-क्रोधादि वृत्तिशून्य' होनेसे वह 'परिपूर्ण चिद्ब्रह्म' होता है और इससे उसमें पाप-पुण्य उत्पन्न ही नहीं होते। मुक्तकी विषयस्थिति यही है कि विषयोंमें भी उसे ब्रह्मस्फूर्ति हुआ करती है।

प्रकृतिका कर्मभार अपने सिर उठाकर जो अहंता-ममतासे नाचने लगता है वह उस अभिमानसे आकल्पान्त बद्ध ही होकर पड़ा रहता है। चोरी न करके भी राजद्वारमें जाकर जैसे कोई अपने चोर होनेका इजहार करके मार खानेको तैयार हो, वैसी ही इस जड़ जीवकी हालत है। मैं देह हूँ, कर्मका कर्ता हूँ, ज्ञाता हूँ, विषयोंका भोक्ता हूँ, इस प्रकारकी जो देहात्मबुद्धि है वही 'दृढ़ बद्धता' है।

मुक्तका आसन, शयन, भोजन आदि

ज्ञानी पुरुष सब कर्मोंमें स्वभावतः निरभिमान होता है।

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

छायाका मानापमान पुरुषको स्पर्श नहीं करता, क्योंकि छायापर उसका ममत्व नहीं होता। वैसे ही देहद्वारा होनेवाले कर्मका अभिमान मुझको स्पर्श नहीं करता। स्वाधिष्ठान (स्वस्वरूपावस्थिति) मुक्त पुरुषका आसन है, इस आसनपर वह अखण्ड आसीन रहता है। वह चलता है तो भी उसे चलनेका भान नहीं होता। कुलालचक्रपर बैठी हुई मक्खी बिना चले ही चक्रके साथ चला करती है, गाड़ीके घोड़े भरधाँव दौड़ रहे हों तो भी गाड़ीमें सोये हुए स्वामीकी निद्रा भंग नहीं होती, अथवा मेघोंके चलनेसे चन्द्रमाके चलनेका भ्रम होनेपर भी चन्द्रमा चलता नहीं, वैसे ही मुक्त पुरुष त्रिभुवनमें चक्कर लगाकर भी अपने स्थानसे कभी उठता नहीं। मुक्तका यह गमन है। वह गंगाजलसे स्नान करता है, पर गंगाजलको स्पर्श नहीं करता। वह उस जलको 'चिन्मात्र' ही देखता है और 'चित्स्वरूप' में ही अवगाहन करता है। इसीलिये तीर्थ उसके चरणतीर्थकी इच्छा करते हैं। उसके चरणरजःकणोंसे पृथ्वी पुनीत होती है, उसके श्वासोच्छ्वाससे पवन पावन होता है, उसके चरणस्पर्शसे गंगादि नदियाँ पवित्र होती हैं, उसके जठरसे अग्नि पवित्र होता है, उसके हृदयाकाशसे आकाश पवित्र होता है, वैकुण्ठमें पहुँचे हुए लोग उससे मिलनेकी इच्छा करते हैं, वेद उसकी वाणी सुननेके लिये दौड़ पड़ते हैं, देवता उसके दर्शन करने आते हैं। इस प्रकार 'चित्स्वरूप' में स्नान करके वह सबके लिये वन्द्य और अति पावन होता है। मुक्त पुरुषका यह स्नान है। वह नेत्रोंसे जब कोई दृश्य देखता है तब उसकी दृष्टि उस दृश्यसे अलिप्त रहती है। 'दृश्यको देखती हुई उसकी दृष्टि द्रष्टाको आलिंगन करती है।' द्रष्टा-दृश्य-दर्शन इस त्रिपुटीका लोप हो जाता है और द्रष्टारूपसे ही वह सारे दृश्यको देखता रहता है—और देखता है यही कि यह सारा 'चिद्विलास' है। यह मुक्तका देखना है। जो वाणीसे बुलवानेवाला है वही कानोंसे सुननेवाला है, इस अनुसन्धानक्रियासे शब्द सुनते-सुनते शब्दोंमें ही अति मधुर 'निःशब्दता' अनुभूत

होती है। जो-जो शब्द कानमें प्रवेश करता है वह नि:शब्द हो जाता है। इस प्रकार मुक्त पुरुषको श्रवणसे स्वानन्दबोध प्राप्त होता है। श्रुति हो या लौकिक शब्द हों, उनमें मुक्तको ब्रह्मप्रतीति ही होती है। मुक्त पुरुषका यह सुनना है। सुगन्धसे उसके घ्राणेन्द्रियको विषयबोध नहीं होता बल्कि गन्धके निमित्तसे स्वानन्दकी ही प्रतीति होती है। घ्राण, सुमन और चन्दन वह स्वयं ही होता है। मुक्तका यह आघ्राण है। यहाँतक देखना, सुनना और आघ्राण करना अर्थात् चक्षु, श्रोत्र और घ्राण—इन तीन ज्ञानेन्द्रियोंके कर्म ज्ञानीके कैसे होते हैं, यह बतलाया गया। अब रस और स्पर्शका विषय कहते हैं।

मुक्तका भोजन करना

इसके विषयमें श्रीएकनाथ महाराजने जितना सूक्ष्म और रहस्यपूर्ण विवेचन किया है वैसा अन्य किसी संतके ग्रन्थमें नहीं मिलता। इससे 'कल्याण' के साधककोटिके पाठकोंको विशेष लाभ होगा। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय और इन्हें ग्रहण करनेके लिये श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका भगवान्ने निर्माण किया। इन पाँच विषयोंका विस्तार ही प्रपंच या संसार है। इन पाँच विषयोंके अतिरिक्त कोई छठा विषय नहीं है, इसलिये कोई छठा इन्द्रिय भी नहीं है। इन पाँच विषयोंमें सबसे अधिक आवश्यक विषय 'रस' है। अन्य विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप और गन्ध न प्राप्त हों तो उनके बिना काम नहीं रुक सकता। पर रसकी यह बात नहीं है। दूसरी बात यह कि अन्य चार विषयोंकी आसक्ति जीती जा सकती है। पर रसासक्तिको जीतना कठिन है। अन्य इन्द्रियोंको जीतना उतना कठिन नहीं, पर रसेन्द्रियको जीतना बड़ी टेढ़ी खीर है। अन्य इन्द्रियोंको उनके विषयोंका भोग देना कम कर दिया जाय तो उन इन्द्रियोंकी तत्तद्विषय ग्रहणकी शक्ति ही कम हो जाती है। उनके ज्ञानतन्तु ही कुन्द हो जाते हैं। पर रसनेन्द्रियकी बात इससे उलटी है। इसलिये रसनेन्द्रियको जीते बिना अन्य इन्द्रियोंको जीतनेसे ही 'जितेन्द्रियत्व' नहीं प्राप्त होता।

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते॥
तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥

(श्रीमद्भा० ११।८।२०-२१)

(इसका भावार्थ ऊपर आ ही चुका है।) जितेन्द्रियत्वका प्रशस्तिपत्र (सर्टिफिकेट) शास्त्रों और संतोंसे तभी मिल सकता है जब साधक रसनेन्द्रियको जीत ले। और जितेन्द्रिय हुए बिना अतीन्द्रिय आनन्द नहीं मिल सकता, यह बात साधक गठिया रखें। यह अतीन्द्रिय आनन्द ही परमानन्द, ब्रह्मानन्द, आत्मानन्द है। इसीको 'निरतिशयानन्द' भी कहते हैं, यही मनुष्यजीवनका अन्तिम ध्येय है। आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति और निरतिशयानन्द-प्राप्तिको वेदान्तशास्त्रमें मोक्षका लक्षण या स्वरूप कहा है। इसीको ब्रह्मसायुज्य कहते हैं। रसनाजय होनेसे इसकी प्राप्ति सुलभ होती है।

रसनामें तीन इन्द्रिय

अन्य इन्द्रियोंके गोलकोंमें एक-एक इन्द्रिय ही होता है पर जिह्वामें तीन इन्द्रिय (इन्द्रियोंकी शक्तियाँ) हैं। इसलिये अन्य सब इन्द्रियोंकी अपेक्षा जिह्वेन्द्रिय अति प्रबल है। यह रसनेन्द्रिय है, स्पर्शेन्द्रिय है और वागिन्द्रिय भी। जिह्वेन्द्रियसे बोल सकते हैं, रसास्वादन कर सकते हैं और शीत-उष्ण, मृदु-कठिन स्पर्श जान सकते हैं। (यह त्वगिन्द्रिय ही अकेला सारे शरीरमें व्याप्त है।) जिह्वामें इस प्रकार तीन इन्द्रिय हैं। इनमेंसे रसनेन्द्रियको जीतनेसे अन्य सब विषय और इन्द्रिय जीते जाते हैं। यह रसनाजय कैसे होता है, यह अब देखें। एकनाथ महाराजकी वाणीमें श्रीभगवान् उद्धवसे कहते हैं—

'कोई निराहार रहकर या अत्यन्त आहार करके इन्द्रियोंको जीतनेका प्रयास करते हैं, कोई सब पदार्थ एक करके अथवा वस्त्रमें रखकर जलमें डुबोकर उन्हें इस प्रकार नीरस करके ऊपर निकालकर खाते हैं। पर ऐसे प्रयत्नोंसे रसनाजय नहीं होता, रसनाजयका आभास होता है, पर वह सच नहीं। रसनाजय जो यथार्थ रूपसे कर लेगा वह सब विषय जीत लेगा। 'विषयमें जो रुचि है और रसनामें जो रुचिका ज्ञान है, इन दोनोंका जब ऐक्य होता है तब समझना चाहिये कि रसना पूर्णतया जीती गयी।' (इसी बातको शास्त्रीय भाषामें यों कह सकते हैं कि विषयावच्छिन्न चैतन्य और इन्द्रियावच्छिन्न चैतन्य, इन दोनों चैतन्योंको आत्म-चैतन्यसे समरस करके जो विषयसेवन करता है वही विषयको जय करता है।) इस धारणासे भोजन करनेवालेका अन्नरस ब्रह्मरस हो जाता है। उसीसे रसनाजय बन पड़ता है। उसे रस बाधक नहीं होते। रसनाजयकी सामर्थ्यसे वह

ब्रह्मसायुज्य पद लाभ करता है अर्थात् जो रसना जीत लेता है वह परमानन्दको प्राप्त होता है।

'मुक्त पुरुषका भोजन करना ऐसा होता है। वह षड्रसोंका स्वाद जानता है, मधुरको मधुर और कटुको कटु जानता है, पर एक ही स्वादसे (चैतन्यानुसन्धानवृत्तिसे) वह सब पदार्थ भक्षण करता है। थाल, भोजन और आप, इन तीनोंमें वह कोई भेद नहीं देखता। रसना रसास्वाद लेने जो चलती है तो आत्मानन्दका ही आस्वादन होता है। इस प्रकार रस-रसनाका उच्छेद करके (रसभाव और रसनाभाव त्यागकर तदधिष्ठानरूप चैतन्यका स्वात्मत्वसे अवलम्ब करके) वह निजानन्दका ही सेवन करता है। 'सब रुचियोंकी जो निज रुचि है वहीं उसकी रुचि जाकर स्थिर हुई,' वह नाना पक्वान्न खाकर भी सबमें बस एक ही स्वादका अनुभव करता है—एक ही चैतन्यका आस्वादन करता है। इस प्रकार रसविषय सेवन करते हुए रसके रसत्वका लोप होता और स्वानन्द उमड़ आता है। अर्थात् मुक्त जो-जो रस सेवन करता है, वही ब्रह्मरस हो जाता है। इस युक्तिसे भोजन न करके अल्पाहार या मिताहारसे कोई रसना जीतने चले तो वह रोगीका एक पथ्य-सा ही होगा।

'प्रत्येक कौरके साथ नामस्मरण करनेसे अन्नरस ब्रह्मरस होता है। यह नामस्मरण हो, नामोच्चारण नहीं, और नामस्मरणके साथ नामीके स्वरूपका चिन्तन भी हो। अन्नको अपनेसे भिन्न न माने, अन्न-अन्नरस-अन्नभोक्ता यह सब नारायण है, यह अनुसन्धान करता रहे। जिह्वापर जो कोई भक्ष्य या पेय रखा जाय उसका शीत-उष्ण या मृदु-कठिन स्पर्श जिह्वाके स्पर्शेन्द्रियको मालूम हो जाता है, उस स्पर्शको हरिरूप जाने; और जिह्वाके रसनेन्द्रियको उस पदार्थके मधुर, अम्ल या कटु—जैसा हो, रसका पता चल जाता है, उस रसको भी हरिरूप जानकर उसका सेवन करे। स्पर्शज्ञान और रसज्ञान दोनों चैतन्यरूप हैं और आप (आत्मा) भी चैतन्यरूप है। इस भावनासे भोजन करे। (चैतन्य भगवान्का निजरूप है, ज्ञानी उसे 'चैतन्य' कहता और भक्त 'भगवान्' कहता है।) मुक्तका भोजन ऐसा होता है।'

'मुक्तको शीत लगे तो उसकी शीतलता निकल जाती है, उष्ण लगे तो उष्णता चली जाती है। (दोनोंमें उसकी एक ही चिन्मय भावना होती है।) मृदु-कठिन स्पर्श भी उसे चिन्मय ही अनुभूत होते हैं। सर्वात्मदृष्टि होनेसे उसे द्वन्द्वका भान नहीं होता। आगको धूप नहीं झुलसाती, हिमालयको जाड़ा नहीं लगता, उसी प्रकार मुक्तको द्वन्द्व नहीं प्रतीत होते। जो-जो कुछ उसके पास आ जाता है वह उसका अंगरूप ही हो जाता है। वह अपने हाथों जब देवमूर्तिका पूजन करता है तब उस पूजनमें मैं ही रहता हूँ और जब कंकड़-पत्थर लेकर उनसे खेलता है तो उस खेलनेमें भी मैं ही उसे दीखता हूँ। यह मुक्तका स्पर्श करना है।'

भगवान् कहते हैं—'जब वह सरस कथाएँ कहता या लौकिक बातें करता है अथवा कभी किसी मौकेसे लड़ता-झगड़ता भी है तो उन शब्दोंमें वह सर्वत्र मुझे ही देखता है। वह बोलता हुआ भी मौन रहता है, अनुभवका यह संकेत—शब्दोंकी निःशब्दता—ज्ञानी ही जान सकते हैं। जलमें तरंगें उठती हैं, उन तरंगोंमें जल ही भरा रहता है; उसी प्रकार शब्दोंमें निःशब्द वस्तु ही ओत-प्रोत भरी हुई होती है। शब्दका सर्वांग निःशब्द होता है। वाणीके सत्य-मिथ्या या मृदु-कर्कश भाव अस्त हो जाते हैं और रह जाती है केवल निःशब्द सद्वस्तु ही। उसके अटपटे और व्यंग वाक्य ब्रह्मरूप ही होते हैं। उसके मुखसे यदि किसीके प्रति ऐसे शब्द निकल पड़ें कि 'भगवान् तुम्हें तारेंगे' तो उस अनुगृहीत मनुष्यको मैं अपने सिरपर उठाकर ब्रह्मसाक्षात्कारको पहुँचा देता हूँ। उसके वचनको मैं नहीं लाँघ सकता। उसके मुखके वचन ही मैं हो जाता हूँ। यह मुक्तका बोलना है।'

'वह अपने हाथों जो कुछ लेता-देता है, वह लेना-देना मैं ही होता हूँ। दाता, ग्रहीता और दान—इन तीनोंमें उसे कोई भेद नहीं प्रतीत होता। वह ब्राह्मणोंका पूजन करता है तो उसमें पूज्य-पूजकत्वकी भावना नहीं उठती। वह धनुषपर बाण चढ़ाकर लक्ष्य वेधेगा पर उसमें आत्मश्लाघाकी रुचि न रखेगा। उसके हाथों कर्म कैसे होते हैं, जैसे समुद्रमें लहरें उठती हैं। सब प्रकारके कर्म करते हुए भी वह निज स्वरूपमें निश्चल रहता है। ये मुक्तके हस्त व्यापार हैं।'

'वह जो पृथ्वीपर चलता है सो आप अपने ही ऊपर चलता है। जैसे जलकी तरंग जलपर अभिन्नतया चलती है वैसे ही वह निज स्वरूपपर 'चिद्रूपसे' अंग-संचालन करता है। इस प्रकार बिना हिले-डुले मुक्तका चलना होता है।'

मूलमें आत्मा-आत्मी-भेद नहीं है। इस कारण उसे स्त्री-पुरुषभाव नहीं स्फुरता। अर्द्धनारीनटेश्वरमें जो पुरुष है वही स्त्री है, इसी प्रकार स्त्री-पुरुषाकारमें उसे निज रूपका ही स्फुरण होता है। छाया कहाँ होती है और कहाँ नहीं, इसकी जैसे कोई भी पूछ-ताछ नहीं किया करता, वैसे ही मुक्तमें स्त्रीकी आसक्ति नहीं होती। **'आत्मा वै पुत्र नामासि'** यह श्रुति मुक्तमें ही चरितार्थ होती है। इस श्रुतिवचनके अनुसार वह पुत्रमें अपने आत्माको ही देखता है। आकाशमें मेघमाला घिरती-बिखरती है वैसे स्त्री-पुत्रादिक यथाकाल आते-जाते रहते हैं, मुक्तके मनकी यही अवस्था रहती है। स्त्री-सहवासका जो सुख क्षणभरके लिये जीवोंको प्राप्त होता है वह मुक्तको सदा अखण्डरूपसे प्राप्त है। इसलिये स्त्रीकी इच्छा मुक्तको नहीं होती। धनलोभीको मुक्ति नहीं मिलती, वैसे ही स्त्रीकामीको भी कभी आत्मबोध नहीं प्राप्त होता। तात्पर्य मुक्तका स्त्री-संग ऐसा होता है।

'मुक्तकी निद्राके पास समाधि आकर विश्राम किया करती है, जैसे ससुरालमें काम करके थकी हुई लड़की मैके दौड़ जाती है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति—इन तीनों ही अवस्थाओंको पास फटकने न देकर वह निजस्वरूपमें सो रहता है। शय्या और शयन वह स्वयं ही होता है। यह मुक्तकी निद्रा है।

'तात्पर्य, मुक्त जो-जो कुछ करता है, ब्रह्मरूप ही होता है। मुक्तके कोई नियम नहीं होता। यही उसका रहस्य है। मुक्तके यदि किसी भी नियमका बन्धन लग जाय तो वह साधन हो जाय। जहाँ साधनका बन्धन है वहाँ मुक्तपन कहाँ? मुक्तमें किसी चीजकी आसक्ति नहीं होती। शेष प्रारब्धके अनुसार उसके शरीरद्वारा निरपेक्ष कर्म हुआ करते हैं।'

मुक्तके ये लक्षण मुक्त ही जान सकते हैं। फिर भी मुक्त पुरुषको पहचाननेके लौकिक लक्षण भी उद्धवने भगवान्‌से पूछे और भगवान्‌ने कृपालु, अकृतद्रोही, सत्यवादी, सदाचारी, सर्वोपकारी, तितिक्षु, शुचि, अकिंचन, निरिच्छ, मितभोजी, स्थिर, भगवच्छरण, अप्रमत्त, गभीर, धृतिमान्, अमानी, मानद, मित्र, कारुणिक, कवि—ये बीस लक्षण बताये और कहा कि इन लक्षणोंकी फेहरिस्त हाथमें लेकर कोई इन्हें ढूँढ़ने चले तो भी ये कहीं ढूँढ़े न मिलेंगे। विवेकयुक्त वैराग्यसे सम्पन्न होकर अनित्यका त्याग और नित्यका ग्रहण करके, गुरुकृपासे गुरूक्त साधनाकी तीव्र निष्ठाके द्वारा जो संशयभावना, असम्भावना और विपरीतभावनाको निःशेष जला डालता है वही निज स्वरूपमें जाग उठता है। उसका अविद्यागत स्वप्न नष्ट हो जाता है। जगत्‌के सब दोषोंसे वह अलिप्त होता है। तब वह जगत्‌में कैसे रहता है यह सामान्य जन नहीं जान सकते। मुक्तका कोई एकाध लक्षण किसीमें दीख पड़े तो उतनेसे ही जगत् उसे मुक्त या संत माननेको तैयार नहीं होता। दूसरी बात यह कि मुक्त अपनी मुक्तिसम्पदा प्रायः छिपाये रहता है। बालवत्, उन्मत्तवत् या पिशाचवत् रहता है। शुक, वामदेवको भी सब लोग मुक्त कहनेको तैयार नहीं होते, फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या! भगवान् कहते हैं—'मैंने गोवर्द्धनपर्वत उठाया, दावाग्निपान किया, अघासुर-बकासुर आदिको चीर डाला, जिसके दहपरसे उड़कर जानेवाले पक्षी भी मरकर गिर जाया करते थे उस महादुर्धर विषधर कालियको मैंने नाथ डाला, कितने अद्भुत कर्म किये, फिर भी इन कर्मोंको प्रत्यक्ष देखकर भी जहाँ याज्ञिक ब्राह्मणोंने मेरी भगवत्ता नहीं मानी वहाँ अन्य मुक्तोंको कौन पूछता है? लोगोंके विकल्पोंका कोई ठिकाना नहीं है। इसलिये यही कहना पड़ता है कि मुक्तका मुक्तत्व मुक्त ही जानते हैं, और लोग महापण्डित होकर भी नहीं जान सकते। चारों वेद, संहिता, पद, क्रम, अरण, ब्राह्मण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, मन्त्रशास्त्र, कोकशास्त्र, प्रश्नशास्त्र, स्वप्नाध्याय इत्यादि ही नहीं बल्कि वेदान्तशास्त्र जानकर ब्रह्मका करतलामलकवत् निरूपण भी कोई करने लग जाय तो भी धन और मानकी इच्छा उसकी नहीं छूटती। धन-मानकी इच्छा हृदयमें छिपाये रखकर कोई ब्रह्मज्ञान बघारने लगे तो उसे कल्पान्तमें भी आत्मसाक्षात्कार न होगा। शब्दज्ञान अर्जन करनेमें उसने जितने कष्ट उठाये उतने ही कष्टोंसे वह परब्रह्मको पा सकता था। मेरी भक्ति, मदर्थकर्म, मेरा नाम-गुणकीर्तन और संतसमागम जो प्रीतिपूर्वक करता है उसीपर मैं अनुग्रह करके उसका उद्धार करता हूँ।'

संन्यासके प्रकारभेद[1]

(लेखक—श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार)

संन्यासाश्रमके प्रकारभेद लिखनेके पूर्व संन्यासाश्रमके अधिकार और उसके साधारण धर्मोंका संक्षेपमें उल्लेख किया जाना उचित प्रतीत होता है।

संन्यासका अधिकार

यद्यपि श्रुति और स्मृतियोंमें बहुत-से वाक्य ऐसे मिलते हैं जिनमें संन्यासाश्रमका अधिकार केवल ब्राह्मणके लिये ही कहा गया है। जैसे—

एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।

(बृ० उ० ३।५)

भगवान् मनुने भी—

आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥

(६।३८)

—इस वाक्यद्वारा उपक्रम करके—

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः।

(६।९७)

—इस वाक्यद्वारा उपसंहार किया है। नारदस्मृतिमें भी—

ब्राह्मणो मोक्षमन्विच्छंस्त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्।

इन वाक्योंके सिवा योगियाज्ञवल्क्यने तो—

चत्वारो ब्राह्मणस्योक्ता आश्रमाः श्रुतिचोदिताः।
क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ता द्वावेको वैश्यशूद्रयोः॥

(१।२८)

—इस वाक्यद्वारा ब्राह्मणातिरिक्त क्षत्रियादिकोंको संन्यासाश्रमका स्पष्ट निषेध किया है। इस प्रकारके अनेक वाक्य और भी कुछ स्मृतियों और पुराणोंमें मिलते हैं जिनसे केवल ब्राह्मणको ही संन्यासाश्रमका अधिकार सिद्ध होता है। इसके विरुद्ध कुछ स्मृतियोंमें ब्राह्मणातिरिक्त क्षत्रिय और वैश्यको भी संन्यासका अधिकार कहा गया है। सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्यस्मृतिमें कहा गया है—

सन्निरुद्धयेन्द्रियग्रामं रागद्वेषौ प्रहाय च।
भयं हित्वा च भूतानाममृतीभवति द्विजः॥

(३।६)

कूर्मपुराणमें भी—

अग्नीनात्मनि संस्थाप्य द्विजः प्रव्रजितो भवेत्।

(१।२।२८)

इन वाक्योंमें द्विज शब्दके प्रयोगद्वारा द्विजातिमात्र क्षत्रिय और वैश्यको भी संन्यासका अधिकार सिद्ध होता है। पराशरस्मृतिके व्याख्याकार सायण माधवाचार्यने एक स्मृतिवाक्य उद्धृत किया है जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णोंको संन्यासाश्रमका अधिकार स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है—

ऋणत्रयमपाकृत्य निर्ममो निरहंकृतिः।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा प्रव्रजेद् गृहात्॥

सायण माधवाचार्यका मत है कि[2] स्मृत्यन्तरके—

मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम्।
बाहुजातो रुजातानां नायं धर्मो विधीयते॥

इस वाक्य और इसी प्रकार बौधायनस्मृतिके—

ब्राह्मणानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम्।
राजन्यवैश्ययोर्नेति दत्तात्रेयमुनेर्वचः॥

इत्यादि वाक्योंमें जो क्षत्रियादिकोंके विषयमें निषेध वाक्य हैं वे केवल भगवान् विष्णुके लिंग (चिह्न) काषायवस्त्र और दण्डधारणके निषेधपरक हैं। इस व्यवस्थाद्वारा उपर्युक्त स्मृतिवाक्योंके परस्परविरोधका निराकरण हो जाता है।

संन्यासका समय

जाबाल श्रुति है—

ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्॥ ४॥

इसीके अनुसार मनुस्मृतिमें भी वानप्रस्थाश्रमका प्रकरण समाप्त करनेके बाद संन्यासाश्रमके प्रकरणके प्रारम्भमें ही—

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्।
आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः॥

(२।३३-३४)

१-इसी विषयपर सम्मान्य पं० श्रीहरिदत्तजी शास्त्री महोदयके तथा आचार्य श्रीमदनमोहनजी शास्त्रीके एवं और भी दो-तीन लेख आये हैं। एक ही विषय होनेसे ही सब लेख नहीं दिये जा सके। लेखक महोदयोंसे करबद्ध क्षमा-प्रार्थना है। —सम्पादक

२-देखिये—पराशरस्मृति, श्रीमाधवाचार्य-व्याख्या, अध्याय २ पृष्ठ १५५।

इत्यादि वाक्योंद्वारा ब्रह्मचर्यके पश्चात् गृहस्थाश्रम और गृहस्थाश्रमके बाद वानप्रस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रमके बाद संन्यासका विधान है। किन्तु उपर्युक्त जाबाल श्रुति एवं मनुस्मृतिके इन वाक्योंका अभिप्राय केवल यही है कि पूर्व-पूर्व आश्रमके पश्चात् अनुलोम क्रमसे अर्थात् ब्रह्मचर्यके बाद गृहस्थाश्रम, गृहस्थाश्रमके बाद वानप्रस्थ, और वानप्रस्थके बाद संन्यास ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि आश्रमान्तरका अवरोह—विलोम क्रम निषिद्ध है अर्थात् गृहस्थ होकर पुनः ब्रह्मचर्य अथवा वानप्रस्थ होकर पुनः गृहस्थ और संन्यासी होकर पुनः वानप्रस्थाश्रम और गृहस्थाश्रम कदापि ग्रहण न करना चाहिये।

भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यने—

'तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः।'

(ब्रह्मसूत्र ३।४।४०)

—इसके भाष्यमें लिखा है—

इति चैवमादीन्यारोहरूपाणि वचांस्युपलभ्यन्ते नैवं प्रत्यवरोहरूपाणि।

—इत्यादि तथा दक्षस्मृतिमें भी स्पष्ट कहा है—

त्रयाणामानुलोम्यं हि प्रातिलोम्यं न विद्यते।
प्रातिलोम्येन यो याति न तस्मात् पापकृत्तमः॥
यो गृहाश्रममास्थाय ब्रह्मचारी भवेत् पुनः।
न यतिर्न वनस्थश्च स सर्वाश्रमवर्जितः॥

(१।९।१३)

अतएव यह नहीं समझना चाहिये कि ब्रह्मचर्यके बाद गृहस्थाश्रमी न होकर अथवा गृहस्थाश्रमीके बाद वानप्रस्थ न होकर संन्यास ग्रहण न किया जाय। क्योंकि जाबाल-उपनिषद्की श्रुति है—

यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा॥ ४॥

अंगिरास्मृतिके वाक्य हैं—

प्रव्रजेद् ब्रह्मचर्येण प्रव्रजेच्च गृहादपि।
वनाद्वा प्रव्रजेद्विद्वानातुरो वाथ दुःखितः॥

नारदस्मृतिमें भी कहा है—

प्रथमादाश्रमाद्वापि विरक्तो भवसागरात्।
ब्राह्मणो मोक्षमन्विच्छंस्त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥

याज्ञवल्क्यस्मृतिमें भी स्पष्ट उल्लेख है—

वनाद् गृहाद्वा कृत्वेष्टिं सार्ववेदसदक्षिणाम्।

(३।५६)

इत्यादि श्रुति-स्मृतिवाक्योंमें वानप्रस्थाश्रमके बिना ब्रह्मचर्याश्रमसे और गृहस्थाश्रमसे भी संन्यासग्रहणकी विधि कही गयी है। यद्यपि मनुस्मृतिके—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य[१] मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥
अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥
अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥

(६।३५—३७)

इत्यादि वाक्योंद्वारा तथा इसी प्रकारके याज्ञवल्क्यस्मृति आदिके वाक्योंद्वारा संन्यासके प्रथम गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रमका अनिवार्यरूपमें विधान पाया जाता है। किन्तु इस प्रकारके वाक्य अविरक्त—मन्दवैराग्यविषयक[२] हैं अर्थात् जिनको तीव्र वैराग्य उपलब्ध नहीं होता है, उन्हींके विषयमें ऐसी व्यवस्था दी गयी है। यदि ऐसा न माना जाय तो श्रुतिके साथ विरोध होता है। जाबालोपनिषद्की श्रुति है—

अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको वोत्सन्नाग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्॥

भगवान् श्रीशंकराचार्यने भी ब्रह्मसूत्र अध्याय ३।४।१७ के सूत्रके भाष्यमें स्पष्ट किया है—

प्रतिपन्नाप्रतिपन्नगार्हस्थ्यानामपाकृतानपाकृतर्णत्रयाणां चोद्ध्वरेतस्त्वं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम्।

अतएव पूर्वपुण्यके उदयसे जिन महापुरुषोंको बाल्यकालसे ही वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, उनके लिये न तो गृहस्थाश्रमकी ही आवश्यकता है और न

---

१. तीन ऋणोंके विषयमें बौधायनस्मृतिमें (२।९।२६, ७) निम्नलिखित श्रुति उद्धृत की है—

जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः।

अर्थात् 'ब्राह्मण ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण—इन तीन ऋणोंके साथ जन्म लेता है। इन तीनों ऋणोंका क्रमशः ब्रह्मचर्य, यज्ञ और सन्तानोत्पत्तिद्वारा निराकरण करना चाहिये।

२. 'अविरक्तविषयत्वादेतेषां वचनानाम्।'

—पराशरस्मृति, माधवाचार्य-व्याख्या अध्याय २ पृ० १५१।

वानप्रस्थाश्रमकी। निष्कर्ष यह है कि संन्यासाश्रमके लिये तीव्र वैराग्य ही परमावश्यक है। दक्षस्मृतिके यतिप्रकरणमें कहा है—

सत्त्वोत्कटाः सुरास्तेऽपि विषयैस्तु वशीकृताः।
प्रमादिष्वल्पसत्त्वेषु मनुष्येषु तु का कथा॥
तस्मात्पक्वकषायेण कर्त्तव्यं दण्डधारणम्।
इतरस्तु न शक्नोति विषयैरवहीयते॥

उपर्युक्त—'**यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्**' इत्यादि श्रुतियोंद्वारा भी यही सिद्ध होता है। किन्तु जन्मकालसे ही वैराग्यसम्पन्न महापुरुष विरल ही होते हैं। जबतक विषयोंके सेवनद्वारा उनकी तीक्ष्णताका अनुभव नहीं होता, पूर्ण वैराग्य प्राप्त होना अत्यन्त दुःसाध्य व्यापार है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

नानुभूय न जानाति पुमान् विषयतीक्ष्णताम्।
निर्विद्येत स्वयं तस्मान्न तथा भिन्नधीः परैः॥

(६।५।४१)

अर्थात् 'विषयोंके अनुभव किये बिना उनकी तीक्ष्णता नहीं जानी जा सकती। क्योंकि गृहस्थाश्रममें रहकर विषयानुभवकालमें सुखसाधनके अभावके कारण अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक सन्ताप होनेपर जिस प्रकार विषयोंसे स्वयं वैराग्य होता है वैसा दूसरोंके समझाने-बुझानेसे नहीं हो सकता।' इसी प्रकार वानप्रस्थाश्रममें स्थित होकर तप—कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतोंद्वारा शरीर एवं मनकी शुद्धि होकर विषयवासना निर्मूल हो जानेपर पूर्ण वैराग्य प्राप्त हो जाता है इसीलिये महानुभाव मन्वादि स्मृतिकारोंने संन्यास ग्रहण करनेके पूर्व गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रमकी व्यवस्था दी है।

संन्यासके प्रकारभेद

स्मृतियोंमें संन्यासाश्रमके चार भेद निरूपण किये गये हैं—(१) कुटीचक, (२) बहूदक, (३) हंस और (४) परमहंस, और इन चारोंमें पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर भेद अधिक महत्त्वपूर्ण है।

चतुर्विधा भिक्षवस्तु प्रोक्ताः सामान्यलिङ्गिनः।
तेषां पृथक्पृथक्ज्ञानं वृत्तिभेदादिकं श्रुतम्॥
कुटीचको बहूदको हंसश्चैव तृतीयकः।
चतुर्थः परमो हंसो यो यः पश्चात् स उत्तमः॥

(हारीतस्मृति १०।१३-१४)

नृसिंहपुराणके अनुसार संन्यासके यह चार भेद तीव्र और तीव्रतर वैराग्यके आधारपर हैं—

विरक्तिर्द्विविधा प्रोक्ता तीव्रा तीव्रतरेति च।
सत्यामेव तु तीव्रायां न्यसेद् योगी कुटीचकः॥
शक्तो बहूदके तीव्रतरायां हंससंज्ञिते।
मुमुक्षुः परमे हंसे साक्षाद्विज्ञानसाधने॥

(६०।१३)

इन चारों प्रकारके संन्यासियोंकी स्मृतिकारोंने पृथक्-पृथक् वृत्ति इस प्रकार बतलायी है—

(१) कुटीचक संन्यासवृत्ति

जो संन्यासी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदिसे रहित होकर पुत्रादिकोंद्वारा कुटी करवाकर विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण करके उस कुटीमें नित्य निवास करते हैं, त्रिदण्ड और काषाय (भगुआँ) वस्त्र धारण करते हैं एवं स्नान, शौच, आचमन, जप, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्ययुक्त ध्यानमें तत्पर रहते हैं तथा पुत्रादिकोंसे ही भिक्षाके समय शरीर-निर्वाहमात्र अन्न ग्रहण करके आत्माको मुक्त करते हैं उनकी कुटीचक संज्ञा है—

कुटीचका नाम पुत्रादिभिः कुटीं कारयित्वा कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यादीन् हित्वा विधिवत् संन्यासं गृहीत्वा त्रिदण्डजलपवित्रकाषायवस्त्रधारिणः स्नानशौचाचमनजपस्वाध्यायब्रह्मचर्यध्यानतत्पराः पुत्रादेरेव भिक्षाकालेऽन्नं यात्रामात्रमुपभुञ्जानाः तस्यां कुट्यां नित्यं वसन्त आत्मानं मोक्षयन्ति। (वृद्धपराशरस्मृति)

(२) बहूदक संन्यासवृत्ति

संन्यास ग्रहण करके जो संन्यासी बन्धु-पुत्रादिकोंका संग त्यागकर न तो बन्धुजनोंसे भिक्षा ग्रहण करते हैं और न अन्यत्र ही एक स्थानसे, किन्तु केवल ब्राह्मणोंके सात घरोंसे भिक्षा लेते हैं और शिखा, यज्ञोपवीत एवं त्रिदण्ड[१] धारण करते हैं उनकी बहूदक संन्यासी संज्ञा है—

बहूदकास्त्रिदण्डकमण्डलुशिक्यपद्मजलपवित्रपादुकासनशिखायज्ञोपवीतकौपीनकाषायवेषधारिणः साधुवृत्तेषु ब्राह्मणकुलेषु भैक्षचर्यं चरन्तः आत्मानं प्रार्थयन्ते।

(आ० उ० ४)

बहूदकस्तु संन्यस्य बन्धुपुत्रादिवर्जितः।
सप्तागारे चरेद् भैक्ष्यमेकान्नं च परित्यजेत्॥

(स्कन्दपुराण)

१. तीन बाँसोंसे बना हुआ दण्ड और इस त्रिदण्डके सिवा वाग्दण्ड (मौन रहना), मनोदण्ड (प्राणायाम), और कर्मदण्ड (अहिंसा) इन तीनोंको धारण करना भी त्रिदण्डधारण है। (मनुस्मृति)

(३) हंस संन्यासवृत्ति

जो संन्यासी अपरिग्रह रहकर केवल कन्था, कौपीन, कमण्डलु, एकदण्ड धारण करते हैं और देवताओंमें अभेदबुद्धि रखकर ध्यानरत रहते हैं, यतिधर्मानुसार चान्द्रायणव्रत करते हुए वृक्षमूल, पर्वत, गुहा अथवा नदीतटपर निवास करते हैं उनकी हंस संज्ञा है—

हंसः कमण्डलुं शिक्यं भिक्षापात्रं तथैव च।
कन्थां कौपीनमाच्छाद्यमङ्गवस्त्रं बहिःपटम्॥
एकं तु वैणवं दण्डं धारयेन्नित्यमादरात्।
देवतानामभेदेन कुर्याद् ध्यानं समर्चयेत्॥

(स्कन्दपुराण)

यज्ञोपवीतं दण्डं च वस्त्रं जन्तुनिवारणम्।
तावान् परिग्रहः प्रोक्तो नान्यो हंसपरिग्रहः॥

(विष्णुस्मृति)

चान्द्रायणेन वर्तेत यतिधर्मानुशासनात्।
वृक्षमूले वसेन्नित्यं गुहायां वा सरित्तटे॥

(पितामहस्मृति)

कात्यायनस्मृतिमें हंस संन्यासमें शिखाका त्याग और ग्राममें एक रात्रि, नगर और तीर्थस्थानमें पाँच रात्रि निवासका विधान है।

(४) परमहंस संन्यासवृत्ति

परमहंस संन्यासमें कौपीन, ओढ़नेका वस्त्र, शीतनिवारणके लिये कन्था, अक्षमाला, दण्ड और भिक्षामें माधूकर अन्नका ग्रहण और शिखा, यज्ञोपवीत एवं सन्ध्यादि नित्यकर्मका त्याग किया जाता है—

कौपीनाच्छादनं वस्त्रं कन्थां शीतनिवारिणीम्।
अक्षमालां च गृह्णीयाद् वैणवं दण्डमव्रणम्॥
माधूकरमथैकान्नं परहंसः समाचरेत्।
शिखां यज्ञोपवीतं च नित्यं कर्म परित्यजेत्॥

(स्कन्दपुराण)

कात्यायनस्मृति आदिमें भी प्रायः ऐसा ही विधान है। किन्तु—

चत्वारोऽप्याश्रमा ह्येते सन्ध्यावन्दनवर्जिताः।
ब्राह्मण्यादेव हीयन्ते यद्यप्युग्रतपोधराः॥

(हारीतस्मृति १४। १८)

तथैव अन्य स्मृतियोंमें भी इस प्रकारके वाक्य हैं जिनमें द्विजातिमात्रको यज्ञोपवीत और सन्ध्यादि कर्मोंका अनिवार्यरूपमें विधान है। परन्तु—

तत्र परमहंसा नाम.........अव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तस्त्रिदण्डं कमण्डलुं शिक्यं पात्रं जलपवित्रकं शिखां यज्ञोपवीतं च इत्येतत् सर्वं भूःस्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्।

(जाबाल उ० ६)

न यज्ञोपवीतं नाच्छादनं चरति परमहंसः।

(प० उ० २)

इन वाक्योंद्वारा तथा आरुणिक एवं मैत्रायण श्रुतियोंद्वारा सिद्ध होता है कि उपर्युक्त स्मृतिवाक्योंमें—जो यज्ञोपवीतादिका अनिवार्यरूपेण विधान है। वह परमहंसातिरिक्त विषय है। परमहंसोंके लिये बाह्य यज्ञोपवीत और शिखादिकी आवश्यकता नहीं किन्तु उनके लिये श्रुतिस्मृतियोंमें ज्ञानमयी शिखासूत्र (यज्ञोपवीत) का विधान है—

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्।

(पिप्पलादशाखा)

शिखासूत्रकी श्रौत-स्मार्त कर्मोंके लिये ही आवश्यकता है; जब परमहंसोंके लिये नित्यकर्मोंका त्याग भी अनिवार्य है फिर शिखासूत्रकी उनके लिये आवश्यकता ही नहीं रहती—

यावत् कर्माणि कुरुते तावदेवास्य धारणम्।
तस्मादस्य परित्यागः क्रियते कर्मभिः सह॥

(व्यासस्मृति)

पितामहस्मृतिमें—

परः परमहंसस्तु तुर्याख्यः श्रुतिरब्रवीत्।
यमैश्च नियमैर्युक्तो विष्णुरूपी त्रिदण्डधृक्॥

तथा स्मृत्यन्तरके '**सर्वं चैव त्रिदण्डिनः।**' इन वाक्योंद्वारा परमहंसके लिये भी त्रिदण्डका विधान है। किन्तु यहाँ 'त्रिदण्ड' शब्दके प्रयोगद्वारा मनुस्मृतिमें कहे हुए—

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते॥

(१२। १०)

इस वाक्यके अनुसार वाग्दण्डादिसे तात्पर्य है। श्रीमद्भागवतमें भी उद्धवजीके प्रति भगवान्ने आज्ञा की है—

मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम्।
न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद्यतिः॥

'जिस संन्यासीके वाग्दण्ड (मौन), कायदण्ड (किसी प्रकारकी चेष्टा न करना), और मनोदण्ड (प्राणायाम)

यह तीनों दण्ड न हों वह केवल बाँसके दण्डमात्र ग्रहण कर लेनेसे संन्यासी नहीं हो सकता।'

विविदिषा संन्यास और विद्वत्संन्यास

उपर्युक्त चार प्रकारके संन्यासमें चौथे भेद परमहंस संन्यासके अन्तर्गत दो भेद हैं—विविदिषा संन्यास और विद्वत्संन्यास। परमहंस उपनिषद्की श्रुति है—

कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय लोकस्यैवोपकारार्थाय च परिग्रहेत्। तच्च न मुख्योऽस्ति। कोऽयं मुख्य इति च यदयं मुख्यः। न दण्डं न शिक्यं नाच्छादनं चरति परमहंसः॥ १॥

इसमें कौपीन दण्ड आच्छादन वस्त्रका ग्रहण विविदिषा संन्यासमें और उनका त्याग विद्वत्संन्यासमें कहा गया है। विद्वत्संन्यासके विषयमें और भी श्रुतियाँ हैं—

ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते॥ २॥

बृहदारण्यक उपनिषद्में भी—

एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।

(बृहदा० उ० ३।५।१; ४।४।२२)

एतत् सर्वं भूःस्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्।'

(जा० उ० ६)

ये श्रुतियाँ विद्वत्संन्यासविषयक हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें विद्वत्संन्यासके लिये भगवान्ने भी यही आज्ञा की है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(३।१७)

दक्षस्मृतिमें भी—

नाध्येतव्यं न वक्तव्यं न श्रोतव्यं कदाचन।
एतैः सर्वेषु निष्णातो यतिर्भवति नान्यथा॥

(७।३३)

बह्वृच ब्राह्मणमें भी—

एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे।

इन श्रुति-स्मृतिवाक्योंद्वारा विद्वत्संन्यासमें दण्ड-धारणादिका ही केवल निषेध नहीं किन्तु वक्तव्य और श्रोतव्यका भी अभाव प्रदर्शित किया गया है।

कात्यायनस्मृतिमें परमहंसचर्याका वर्णन इस प्रकार है—

परमहंसा न दण्डधरा मुण्डाः कन्थाकौपीन-वाससोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तस्त्रिदण्डकमण्डलुशिक्यपद्मजलपवित्र-पादुकासनशिखायज्ञोपवीतत्यागिनः शून्यागारदेवगृहवासिनो न तेषां धर्मो नाधर्मो न सत्यं नापि चानृतं सर्वसहाः सर्वसमाः समलोष्टाश्मकाञ्चना यथोपपन्नं चातुर्वर्ण्ये भैक्षचर्यं चरन्त आत्मानं मोक्षयन्ते।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने उद्धवजीके प्रति आज्ञा की है—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥
बुधो बालकवत् क्रीडेत्कुशलो जडवच्चरेत्।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत्॥

(११।१८।२८-२९)

उपर्युक्त सभी वाक्य विद्वत्संन्यासके विषयमें ही कहे गये हैं। जाबालोपनिषद्में विद्वत्-परमहंसोंके उदाहरणरूपमें संवर्तक, आरुणि आदिका नामोल्लेख किया है—

तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वास-ऋभुनिदाघजडभरतदत्तात्रेयरैवतकप्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः॥ ६॥

श्रीमद्भागवतमें वर्णित जडभरत, दत्तात्रेय और श्रीऋषभदेवादिकोंके चरित्रोंमें उपर्युक्त सभी लक्षण घटित होते हैं।

विविदिषा संन्यासके विषयमें—

एवमेव विदित्वा मुनिर्भवति एवमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति।

(बृ० उ० ४।४।२२)

ओमित्येतमात्मानं युञ्जीत।

(म० ना० उ० ३४।३)

इत्यादि श्रुतिवाक्य हैं। विविदिषा संन्यासमें ही दण्डधारण और श्रवण-मननादिका विधान है, न कि विद्वत्संन्यासमें।

उपर्युक्त चार प्रकारके संन्यासके अतिरिक्त और भी प्रकारके संन्यासका विधान है—

आतुर संन्यास

आतुर संन्यासका विधान घोर संकट होनेपर, चौर-व्याघ्रादिद्वारा भयभीत और असाध्यरोगाक्रान्त होकर आसन्नमृत्यु व्यक्तिके लिये है। आतुर संन्यासमें किसी विशेष क्रिया अथवा विधिकी आवश्यकता नहीं होती—केवल प्रैष (संन्यास ग्रहण करते समयके

विशेष मन्त्र)-का उच्चारणमात्र ही आवश्यक है।*

उत्पन्ने सङ्कटे घोरे चौरव्याघ्रादिसङ्कटे।
भयभीतस्य संन्यासमङ्गिरा मुनिरब्रवीत्॥
आतुराणां च संन्यासे न विधिर्नैव च क्रिया।
प्रैषमात्रं समुच्चार्य संन्यासं तत्र कारयेत्॥

(महाभारत)

संन्यासके भेदप्रभेदोंके विषयमें श्रुति-स्मृति और पुराणेतिहासोंमें बहुत विस्तारके साथ विवेचन किया गया है, उनमें और भी बहुत-सी ज्ञातव्य बातें उल्लेखनीय हैं, किन्तु लेख बढ़ गया है इसलिये समाप्त किया जाता है। ऐसे महत्त्वपूर्ण विषयपर इन पंक्तियोंके लेखक-जैसे अल्पज्ञका लेखनी उठाना अवश्य ही धृष्टता है। आशा है 'कल्याण' के महानुभाव उदारचेता पाठक इस अनधिकार चेष्टापर क्षमा प्रदान करनेकी कृपा करेंगे।

संत और काव्य

(लेखक—श्रीनगेन्द्रनाथ चक्रवर्ती, एम्० ए०)

मानवहृदय परमात्मासे मिलनेके लिये सदा व्याकुल रहता है। अपने हृदयकी इस तीव्र ज्वालाको शान्त करनेके लिये मनुष्यने कभी प्रकृतिकी कोमल नीरवता और सम्भ्रमोत्पादक ऐश्वर्यपर और कभी अपने ही सुख-दुःख, मानापमान एवं आशानिराशापर दृष्टिपात किया। उसने इनपर विचार किया, इनका निरीक्षण किया, इनके रहस्यको समझनेका यत्न किया और कुछ हदतक इसमें सफलता भी प्राप्त की। रहस्योद्घाटन अथवा अनन्तकी खोजके ये दो मार्ग 'काव्य' और 'धर्म' अथवा 'सौन्दर्य' और 'सत्य' के नामसे अभिहित हुए हैं।

संतलोग तत्त्वदर्शी और कवि सौन्दर्यान्वेषी होते हैं। परन्तु सौन्दर्य और सत्य एक ही वस्तुके दो पहलू हैं और इन दोनोंका साक्षात्कार भावावेश तथा जिज्ञासापूर्ण श्रद्धाकी अवस्थामें होता है। इस प्रकार कवि और संतका जीवन एक ही प्रकारके दृश्योंको देखने और एक ही प्रकारके अनुभवोंका आनन्द लूटनेके लिये होता है। वे उन दृश्योंको देखते हैं जिनसे निरन्तर आनन्दकी वर्षा होती है, जो सर्वसाधारणकी बुद्धिके परे हैं और जिन्हें देखकर मनुष्य मुग्ध और चकित हो जाता है। वे सब जीवोंमें आनन्द और अनन्तताका अनुभव करते हैं (**आनन्दरूपममृतं यद्विभाति**)। वे किसी अपरिचित लोकका संगीत सुनते हैं जहाँ सौन्दर्य और सत्य अपना द्वार खोलकर अनेक कोमल भावोंके साथ मनुष्यके अन्तरात्मामें प्रवेश कर जाते हैं। वहाँ समता और समष्टिबुद्धिके अतिरिक्त क्षुद्र अहंबुद्धिके लिये स्थान ही नहीं है। कवि और संत दोनों ही भावराज्यमें विचरते हैं। वे हमारी उच्च भावनाओंको जागृतकर हमें इस पार्थिव जगत्से ऊपर ले जाते हैं। भगवान्‌को शास्त्रोंमें रसरूप कहा गया है—'**रसो वै सः**'। उस रसरूप आत्मा अथवा परमात्माके प्रति किसी रसविशेषका अबाधरूपमें अनुभव करनेसे ही उस महान् वस्तुकी प्राप्ति हो सकती है। महान् आलोचक लॉन्जीनसका कहना है—'हमारी आत्मा किसी महान् वस्तुके सम्पर्कसे अपने-आप स्वाभाविक ही ऊपर उठ जाती है और आनन्दातिरेकसे भरकर मानो नाचने लगती है।' इसी रसकी अनुभूति और व्याख्या जब संतोंद्वारा होती है तब उसे 'प्रेम' कहते

* ऊपर जो श्रुति और स्मृतियोंके वाक्य उद्धृत किये गये हैं, उनके द्वारा स्पष्ट है कि संन्यासाश्रममें गार्हपत्यादि अग्नि और तप-दानादि क्रियाओं (कर्मों)-का सर्वथा निषेध है। किन्तु परम कारुणिक दीनानाथ भगवान् श्रीकृष्णने श्रुतिस्मृतिविहित संन्यासाश्रमके पूर्वोक्त दुःसाध्य धर्मोंके पालन करनेमें जो अशक्त हैं उनके लिये भी गृहस्थाश्रममें रहते हुए—गार्हपत्यादि अग्नियुक्त श्रौतस्मार्तकर्म करते हुए भी संन्यासाश्रमोक्त उच्च स्थान प्राप्त करनेका सुसाध्य मार्ग प्रदर्शित करनेकी कृपा की है। भगवान्‌की आज्ञा है कि—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ६।१)

अर्थात् केवल अग्निरहित और क्रियारहित (श्रौतस्मार्त सर्व कर्म त्यागनेवाला) पुरुष ही संन्यासी और योगी हो सकता है, ऐसा न समझना चाहिये। किन्तु जो पुरुष कर्मोंके फलोंकी अभिलाषा त्यागकर कर्तव्य कर्मोंको—सकाम कर्मोंके विपरीत अग्निहोत्रादि नित्यकर्म करता है, वह भी संन्यासी और योगी है।

हैं और जब कवियोंद्वारा होती है तब उसका नाम 'साहित्य' हो जाता है। सार्वभौम एवं अलौकिक प्रेम तथा शुद्ध साहित्यके मूलमें जो यह पारमार्थिक एकता है उसकी ओर प्राचीन ऋषियों और आलोचकोंका ध्यान न गया हो सो बात नहीं है। वैदिक ऋषियोंने कविको तत्त्वदर्शी, परमात्माका सन्देशवाहक तथा वृक्ष एवं लताओंको अनुप्राणित करनेवाले जीवनरससे पूर्ण अभिज्ञ बताया है—

'द्यूतः कविरसि प्रचेताः', 'महद्ब्रह्म वदिष्यति'..............'येन प्राणन्ति वीरुधः।'

मम्मट, विश्वनाथ आदि प्राचीन आलोचकोंने कविके लिये '**नियतिकृतनियमरहितः**' (विधाताके बनाये हुए नियमोंसे परे) इत्यादि विशेषणोंका प्रयोग किया है और '**नवरसरुचिराम्**' इस पदमें उन्होंने 'शान्त' को रसकी कोटिमें स्वीकार किया है। और अन्तमें रूपगोस्वामीने अपने 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थमें सख्य, दास्य, वात्सल्य, माधुर्य और शान्त इन पाँच सम्बन्धोंको (जिन्हें जीवात्मा परमात्माके साथ स्थापित करता है) रसके अन्तर्गत माना है। यह भी निर्विवाद सिद्ध है कि वैदिक कालसे लेकर अबतकके विचारों एवं भावोंके विकासमें भक्तिका अंग जितना ही प्रबल रहा उतनी ही अधिक स्फूर्ति साहित्यिक क्षेत्रमें भी रही है।

वैदिक कालमें प्राकृतिक दृश्यों एवं घटनाओंके रूपमें ईश्वरीय विभूतिका दर्शन करनेसे मनुष्यके हृदयमें जिन दिव्य एवं अलौकिक भावोंका संचार हुआ उनका ऐसी सुन्दर कवितामें वर्णन हुआ है जैसी कविता आजतक जगत्में लिखी ही नहीं गयी। वैदिक साहित्यमें 'कवि' शब्दका प्रयोग 'क्रान्तदर्शी' के अर्थमें हुआ है, क्रान्तदर्शी उसे कहते हैं जो अपने स्थानपर बैठा हुआ किसी दूरस्थित वस्तुके रहस्यको जान सकता है अथवा जो किसी दूरदेशमें बैठा हुआ यहाँकी वस्तुओंको देख सकता है—

अमुत्र सन्निह वेत्थेतः संस्तानि पश्यसि।

अर्थात् जिसने यावन्मात्र पदार्थोंको सब ओरसे जान लिया है, जिसकी सभी लोकोंमें अबाधित गति है और जो प्रत्येक लोकमें निर्बाधरूपसे व्यापार भी कर सकता है। वैदिक कालके इन्हीं क्रान्तदर्शी कवियों अथवा मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंको उनके वंशजोंने सर्वोच्चकोटिके संतोंके रूपमें स्वीकार किया। सब पहलुओंपर विचार करके वेदमें साधु उसीको बताया गया जिसने सत्यका पता लगा लिया हो—'**ऋतस्य पन्थानमन्वेति साधुः**' (ऋग्वेद १।१२४।३)। इस प्रकार इस विश्वका असली रूप जाननेकी इच्छावाले कविके लिये यह आवश्यक है कि वह संत भी हो और संतके लिये यह आवश्यक है कि वह कवि भी हो।

कवि और संत दोनोंको परमात्माने मानो यह आज्ञा दी है कि तुम भूमाकी उपासनाके द्वारा आत्मबोधकी प्राप्ति करो। कविसे कहा कि तुम साहित्यमें चित्रणकला और संगीतका उद्घाटन कर इस लक्ष्यको सिद्ध करो और संतसे कहा कि तुम श्रद्धा, प्रेम और लोकसेवाके द्वारा इसी लक्ष्यको प्राप्त करो। कविके जीवनका उद्देश्य इतना ही नहीं है कि वह केवल शब्दोंको सुन्दर आलंकारिक ढंगसे सजा दे अथवा किसी भाषाके ढाँचेको ही बदल दे; उसका कर्तव्य यह भी है कि वह लोगोंकी जीवनपद्धति, रहन-सहन तथा रीति-रिवाजको बदल दे और धर्म, आचार, राजनीति एवं राष्ट्रीयताके सम्बन्धमें उनके विचारोंको पलट दे। बंगालके एक कविने भी कहा है—'वही लेखक अथवा कलाकार कवि कहला सकता है जो अपने देशके झरोखेका काम देता है अर्थात् जिसके विचारोंसे हमें उस समयके सारे समाजकी स्थितिका पता लग जाय; जो लेखक मनुष्यकी हृदयतन्त्रीको बजा सकता है वह तो कविसे भी ऊपर है, उसे तो तत्त्वदर्शी ऋषि ही कहना चाहिये' (देखिये रामायणी कथाका उपोद्घात)। उपनिषदोंमें भी कविका लक्षण इस प्रकार किया गया है—'**छन्दोयोगान् विजानाति**' (अर्थात् जो छन्दोंके प्रयोगके साथ-साथ मनुष्यके छन्द अर्थात् हृद्गत भावोंको भी भलीभाँति जानता है)। इस प्रकार अति प्राचीन कालसे लेकर अबतक मनुष्यके हृद्गत भावों और विचारोंको प्रकट करनेका साधन छन्द अर्थात् काव्य ही रहा है। ज्ञान और विज्ञानके सबसे पुराने भण्डार छन्दमें ही निबद्ध हैं, क्योंकि जैस्पर्सनके शब्दोंमें 'काव्य हमारे अन्तस्तलको स्पर्श कर जाता है, वह संशयात्माओंके हृदयमें भी हलचल पैदा कर देता है, क्योंकि वह ऋषियों, महात्माओं और

कवियोंके परिपक्व अन्त:करणकी चरम अभिलाषाको रागमय रूप दे देता है।'[१]

उपनिषदोंके अलौकिक सिद्धान्तको भी जिसकी आगे चलकर दर्शनोंके रूपमें कई शाखा-प्रशाखाएँ हो गयीं, सनत्कुमार, शाण्डिल्य एवं नारदादि ऋषियोंने काव्यकी भाषामें ही रखा—'यह सारा विश्व ब्रह्मका ही रूप है, और आत्मा ही ब्रह्म है' (छान्दोग्य० ३।१४)। अन्तरमें रहनेवाले व्यापक ब्रह्मका यह स्वरूप वास्तवमें अनुपम है। प्राचीन भारतके इन संतों एवं क्रान्तदर्शी कवियोंकी प्रशंसामें डॉ० विण्टर्नीज कहते हैं—'भारतके इन प्राचीन तत्त्ववेत्ताओंने जिस सचाई और तत्परताके साथ परमात्मतत्त्वकी—जिसे पाश्चात्त्य दार्शनिक कैण्टने 'स्वत:सिद्ध वस्तु' (Thing-in-itself) कहा है—'**एकमेवाद्वितीयम्**', 'सत्' अथवा 'आत्मा' के नामसे खोज की है वह वास्तवमें हमारे लिये बड़े ही आदरकी वस्तु है।'[२] इस प्रकार संतोंने अपने दार्शनिक काव्योंमें मानवहृदयकी अनादिकालीन जिज्ञासाका बड़े ओजस्वी शब्दोंमें वर्णन किया है। और Scho penhauer नामक आलोचकने अपने 'Parergaund Paralipomena' नामक ग्रन्थमें उपनिषदोंके सम्बन्धमें लिखा है—'काव्यजगत्में उपनिषदोंके समान आत्माको उन्नत करनेवाला और शान्ति प्रदान करनेवाला कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है; मुझे जीवनमें इनसे बड़ी शान्ति मिली है और मृत्युके समय भी इन्हींसे शान्ति मिलेगी।'[३]

भारतमें एक परमात्माकी उपासनाके बाद कालान्तरमें अनेक देवताओंकी उपासना प्रचलित हो गयी। इस बीचमें भिन्न-भिन्न युगोंके संतोंने भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगकी अलग-अलग व्यवस्था की। जब उन्होंने देखा कि उनकी वाणी सहजमें जनताके कानोंतक नहीं पहुँचती तब उन्होंने साहित्यकी शरण ली और इतिहास-पुराणोंके रूपमें काव्यको अपने उपदेशका साधन बनाया और व्यास, नारद और याज्ञवल्क्य आदि मुनियोंने कवितामें ईश्वरीय तत्त्वको भर दिया। एक विद्वान्ने कूर्मपुराणका सम्पादन करते हुए उपोद्घातमें लिखा है—'पुराण हिन्दुओंके धार्मिक साहित्यका एक बहुत महत्त्वपूर्ण अंग हैं। पुराण, धर्मशास्त्र और तन्त्रग्रन्थोंका हिन्दुओंके जीवनपर अब भी बहुत बड़ा प्रभाव है; उनके सारे धार्मिक कृत्य उन्हींके आधारपर होते हैं।'[४] इन इतिहास-पुराणोंमें भगवद्गीता (जो महाभारतके अन्तर्गत है) और भागवतका—चाहे इनके रचयिता एक रहे हों या अलग-अलग—जनतापर बहुत अधिक प्रभाव रहा है। इनके सर्वाधिक लोकप्रिय होनेका एक कारण यह भी रहा है कि इन दोनों ही ग्रन्थोंका काव्यकी दृष्टिसे बहुत ऊँचा स्थान है। इनकी भाषा बड़ी प्रांजल, आलंकारिक और ओजस्विनी है। और इनके भाव बड़े दिव्य और साक्षात् भगवान् तथा महात्माओंके हृदयसे निकले हैं।

ऋषियों और क्रान्तदर्शी कवियोंके अन्दर साधारण जनताकी अपेक्षा एक विशेष गुण यह होता है कि दोनों ही अपने आध्यात्मिक एवं दिव्य अनुभवोंकी विपुल राशिको तथा अपनी शाब्दिक रचनाओंको अपनी भावी सन्तानको देकर चिरकालतक उन्हींके सहारे जीवित रह सकते हैं। उनकी यह सम्पत्ति देश और कालकी सीमाको लाँघकर अनन्तमें मिल जाना चाहती है। प्राचीन कालके इन संतोंको उनकी साधनाके अनुसार हम ज्ञानयोगी, कर्मयोगी अथवा भक्तियोगी कह सकते हैं। इस प्रसंगमें हम महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवके पूर्ववर्ती कतिपय वंगदेशीय संतोंके दिव्य चरित्रों और शाब्दिक रचनाओंका उल्लेख किये बिना नहीं रह सकते।

इनमें सबसे पहले हमें गीतगोविन्दकार जयदेव कविका नाम याद आता है। ये कवि होनेके साथ-ही-साथ उच्चकोटिके संत एवं भगवद्भक्त थे। इनके सम्बन्धमें यह कथा प्रचलित है कि भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं इनके काव्यकी पूर्ति की। इनकी अमर कृति

1-"Poems touch us more deeply; they move even the sceptic soul, for they give a passionate form to the final longing of the developed minds of the seers, saints and the poets."

2-What inspires us with the highest respect for these ancient thinkers of India is the earnestness and the enthusiasm with which they endeavoured to fathom the divine principle or what Kant would call the 'Thing-in-itself', whether they called it 'The One' or 'The Existent' or 'The Atman'.''

3-"It is the most satisfying and elevating reading which is possible in the 'poetical world'; it has been solace of my life and will be the solace of my death."

4-"The Purānas form an important portion of the religious literature of the Hindus, and together with the Dharma-Sastras and Tantras govern their conduct and regulate their religious observances at the present day."

गीतगोविन्दका आज भी वैष्णवसमाजमें बड़ा आदर है, यहाँतक कि जगन्नाथपुरीमें तो जबतक गीतगोविन्दका पाठ नहीं कर लिया जाता तबतक भगवान् नीलाचलनाथकी पूजा अधूरी ही समझी जाती है। जयदेव कविके बाद चण्डीदास नामके एक और संत कवि हुए जिन्होंने बँगला भाषामें पदरचना की। इनके पदोंका महाप्रभु चैतन्यदेवपर तो इतना प्रभाव पड़ा कि उन्हींको पढ़कर इनके मनमें भगवान्से मिलनेकी तीव्र उत्कण्ठा जागृत हो गयी। चण्डीदास शक्ति-उपासक थे और अपनी इष्टदेवी वासुलीके चरणोंमें उनकी अचल भक्ति थी। बंगालके रूप, सनातन एवं जीवगोस्वामी, जो तीनों-के-तीनों वृन्दावनमें रहने लगे थे, अपनी भक्ति एवं भक्तिविषयक ग्रन्थोंके लिये प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे रूपगोस्वामीके 'विदग्धमाधव' और 'ललितमाधव' नामके दो नाटक, 'उज्ज्वल-नीलमणि' नामक अलंकारका ग्रन्थ, तथा भक्तिरसामृतसिन्धु, नाटकचन्द्रिका और दानकेलिकौमुदी नामक अन्य ग्रन्थ भी मिलते हैं, जिनसे इनकी उच्च आध्यात्मिक स्थिति एवं अलौकिक कवित्वशक्तिका पता लगता है। रसपरिपाकके द्वारा परिच्छिन्न जीवका अपरिच्छिन्न भगवान्के साथ किस प्रकार अद्वैत हो जाता है इसका इनके ग्रन्थोंमें बड़ा अच्छा वर्णन है। इनके बड़े भाई सनातनगोस्वामी भी बहुत बड़े महात्मा हो गये हैं। इन्होंने भी 'हरिभक्तिविलास' नामक एक संस्कृतका अनुपम ग्रन्थ लिखा था, किन्तु लोग कहते हैं कि इसके रचयिता गोपालभट्ट थे। रूप-सनातनके भतीजे जीवगोस्वामीने रूपगोस्वामीके ग्रन्थोंपर टीकाएँ लिखीं और षट्सन्दर्भ, गोपालचम्पू आदि कई स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे।

अन्तमें हम महाप्रभु चैतन्यदेवके सम्बन्धमें कुछ लिखकर इस निबन्धको समाप्त करेंगे। ये गौड़ीय वैष्णवसम्प्रदायके प्रवर्तक एवं आद्य आचार्य थे। इन्होंने बंगालके जातीय एवं सामाजिक जीवनकी धाराको ही पलट दिया और उसे धर्म एवं भक्तिकी ओर प्रवाहित कर दिया। इंग्लैंडके महान् कवि मिल्टनने कहा है कि कवि और संतका जीवन ही एक काव्य और पहेली है। और महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवके सम्बन्धमें श्रीयुत दिनेशचन्द्र सेनने लिखा है 'उनके भावावेश, उनके उपदेशों तथा उनके आध्यात्मिक भावोंका जनतापर किसी भी महाकाव्यसे अधिक प्रभाव पड़ता था; क्योंकि उनके शब्द मानो वेदकी ऋचाएँ थीं, उनके पदोंमें काव्यकी उत्कृष्ट छटा देखनेको मिलती थी और उनके भगवत्साक्षात्कार तथा प्रेमसमाधिका वृत्तान्त किसी भी महाकाव्यके लिये गौरवकी सामग्री हो सकता है।'*

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसारके सभी तेजस्वी पुरुष विश्वभरमें आनन्दकी किरणें फैला देते हैं और आनन्दमें ही जीवनका अजस्र स्रोत बहता रहता है।

को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्; येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्।

सत्य और सौन्दर्यकी खोज ही सभी देशों और सभी युगोंके संतों और कवियोंका उद्देश्य रहा है, उन्होंने जीवनभर परिश्रम करके और नाना प्रकारके कष्ट सहकर इसी सत्यकी खोज की और इसी सिद्धान्तकी संसारमें स्थापना की। ये लोग अपने हृदयमें भगवान्के दिव्य धामसे वंशीकी ध्वनि सुना करते हैं। बंगालके प्रसिद्ध बाउल संत चाँद काजीने गाया है—

'नदीके उस पारसे खड़े होकर तुम अपनी बाँसुरी बजाओ और मैं इस पार खड़ा रहकर उसकी सुमधुर ध्वनिको सुनूँ। ऐ प्रियतम! क्या तुम जानते नहीं हो कि मैं अभागिनी तैरना नहीं जानती। मैं वंशीके नादको सुनकर व्याकुल हो रही हूँ, मुझे श्रीहरिका दर्शन किये बिना जीकर ही क्या करना है।'† वैदिक कवियोंने भी अपने हृदयमें इसी वंशीध्वनिको सुनकर गाया था—

असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मामृतं गमय।

'मुझे असत्से सत्में ले जाओ, अन्धकारसे प्रकाशमें ले जाओ और मृत्युसे अमृतत्वमें ले जाओ।'

इस प्रकार संत कवि होते हैं और कवि संत होते हैं, क्योंकि दोनों ही अपने हृदयके अरूप रत्नको प्राप्त करनेके लिये नामरूपके अगाध सागरमें गोता लगाते हैं—

रूपसागरे डूब दिये छि अरूप रतन पाव बले।

---

* "The ecstasies, speeches and spiritual emotions of Chaitanya attracted the people more strongly than a great poem; for his words were like psalms, his songs as marvels of lyrics and his God-realization and trances—the crowning chapter of a noble epic."

† ओपार थेके बाजाओ वाँशी ए पार थेके शुनि। अभागिया नारी आमि साँतार नाहि जानी॥
चाँदकाजि बले वाँशी शुने केंदे मरि। जीमु ना जीमु ना आमि ना देखिले हरि॥

संत-महिमा

(श्रीमद्‌गुरु अर्जुनदेवजी श्रीपञ्चमनानकजी)

[श्रीगुरु अर्जुनदेवजी, सिक्ख-सम्प्रदायके परम धार्मिक महात्मा और धर्मरक्षकने 'सुखमनी' ग्रन्थको रचकर अध्यात्मविद्याके पदार्थोंको संसारके कल्याणके अर्थ प्रकट किया है। उसीमें परमात्माके प्यारे, धर्मके सच्चे रखवारे संतोंकी बहुत अच्छी महिमा वर्णन की है, वही पाठकोंके कल्याणार्थ यहाँ दी जाती है।]

श्लोक

अगम अगाध पारब्रह्म सोई। जो जो कहै सो मुक्ता होई॥
सुन मीता नानक बिनवता। साधु जिन्हाँकी अचरज कथा॥ १॥

अष्टपदी सातवीं

साधुके संग मुख उज्वल होत। साधुसंग मल सगले[1] खोत॥
साधुके संग मिटै अभिमान। साधुके संग प्रगटै सो ज्ञान॥
साधुके संग बुझै[2] प्रभु नेरा[3]। साधुसंग सभ होत नबेरा[4]॥
साधुके संग पावै नामरतन। साधुके संग एक ऊपर जतन[5]॥

साधुकी महिमा बरनै कौन प्रानी।
नानक साधुकी सोभा प्रभु मांहिं समानी॥ १॥

साधुके संग अगोचर मिलै। साधुके संग सदा पर फलै[6]॥
साधुके संग आवैं बश पंचा[7]। साधुसंग अमरत रस भुंचा[8]॥
साधुसंग होइ सभकी रेनु[9]। साधुके संग मनोहर बैनु॥
साधुके संग न किथूँ धावै[10]। साधुसंग इसथित मन पावै॥
साधुके संग माया तैं भिन्न। साधुसंग नानक प्रभु सो प्रसन्न॥ २॥
साधुसंग दुशमन सभ मीत। साधुके संग महान पुनीत॥
साधुसंग किस सेउँ नहिं बैर। साधुके संग न बाँका पैर[11]॥
साधुसंग नाहीं कोई मंदा[12]। साधुसंग जाने प्रमानंदा॥
साधुके संग नाहीं हों ताप। साधुके संग तजै सब आप॥
आपै जानैं साधु बड़ाई। नानक साधु प्रभू बन आई॥ ३॥
साधुके संग न कबहूँ बहावै[13]। साधुके संग सदा सुख पावै॥
साधुसंग बस्तु अगोचर लहै। साधुके संग अजर[14] सहै॥
साधुके संग बसै थान ऊँचै। साधुके संग महल पहुँचै॥
साधुके संग दृढ़ै सब धरम। साधुके संग केवल पर बिरह्म॥
साधुके संग पावै नाम निधान। नानक साधूके कुरबान॥ ४॥
साधुके संग सभ कुल उद्धारै। साधुसंग साजन मीत कुटुंब निस्तारै॥
साधूके संग सो धन पावै। जिस धन तैं सभको दरसावै[15]॥
साधुसंग धरमराय करै सेवा। साधुके संग शोभा सुरदेवा॥
साधूके संग पाप पलायन। साधुसंग अमृत गुनगायन॥
साधुके संग सर्वथा गम्मम। नानक साधूके संग सुफलजनम॥ ५॥
साधुके संग नहीं कुछ घाल[16]। दरसन भेट होत निहाल॥
साधुके संग कलूषित[17] हरै। साधुके संग नरक परहरै॥
साधुके संग इहाँ उहाँ सुहेला[18]। साधुसंग बिछरत (को) हरिमेला॥
जो इच्छै सोई फल पावै। साधुकै संग न बिरथा जावै॥
पारब्रह्म साधु रिद[19] बसै। नानक उधरै साधु सुन रसै[20]॥ ६॥
साधुके संग सुनयउ हरिनाँऊँ। साधुसंग हरिके गुन गाऊँ॥
साधुके संग न मनतैं बिसरै। साधु संग सरपर[21] निसतरै॥
साधुके संग लगै प्रभु बीठा[22]। साधुके संग घट घट दीठा॥
साधु संग भये आज्ञाकारी[23]। साधु संग गति भई हमारी॥
साधुके संग मिटै सब रोग[24]। नानक साधु भेटे संजोग[25]॥ ७॥
साधुकी महिमा वेद न जानै। जेता सुनै तेता बखानै॥
साधुकी उपमां त्रैगुन तैं दूर। साधुकी उपमां रही भरपूर॥
साधुकी सोभाका नहिं अंत। साधुकी सोभा सदा बेअंत॥
साधुकी सोभा ऊँचतै ऊँची। साधुकी सोभा मूँचते मूँची[26]॥
साधुकी सोभा साधु बन आई। नानक साधु प्रभु भेद न पाई॥ ८॥

इसी प्रकार, संत-साधुओंके सत्संग और सदुपदेशकी महिमाके वर्णनके अनन्तर, गुरुजीने संतोंके विरुद्ध उनके दोषी वा दोषारोपकारी दुष्ट पुरुषोंकी गहरी निन्दा और उनकी दुर्गतिका बहुत अच्छा, एक अष्टपदीमें वर्णन किया है। परन्तु स्थानाभावसे नहीं लिखी जा सकती है।

(प्रेषक—सरदार अजीतसिंहजी सिक्ख खालसा)

---

१. सगले=सब। २. पहिचाने, समझे। ३. पास। ४. छुटकारा, मोक्ष। ५.सबसे बढ़कर यत्न। ६. अच्छा वा बहुत फल पावे। ७. पाँचों इन्द्रियाँ जीते। ८. स्वाद लेता है। ९. पदरेणु (अतिनम्र)। १०. डाँवाडोल नहीं होवे। ११. कुमार्गमें पाँव नहीं पड़ता। १२. नीच। १३. बहकै, विचलित हो जाय। १४. अजड्ड, असह्य (को सहनशीलताकी शक्ति मिलती है)। १५. दरसावै पाठ हरषावै भी हो सकता है, जिससे सब खुश हो जायँ। १६. मेहनत, कठिनता। १७. पाप। १८. खुशहाल। १९. हृदय। २०. मुक्ति पाता है साधुसे ज्ञान पाकर। २१. अवश्यमेव। २२. प्यारा। २३. प्रभुकी आज्ञाके पालक। २४. भवके रोग, त्रिविध ताप। २५. ईश्वरप्राप्ति। २६. मूँच=अफ़ज़ल, सर्वोपरि।

प्रेमी संतोंके लक्षण

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

जो तेरी निगाहोंका बिस्मिल नहीं है,
वो कहनेको दिल है मगर दिल नहीं है।

जो हृदय उन प्रेमस्वरूप प्रभुकी प्रेमवेदनामें विह्वल न हुआ, जो दिल उनके अलबेले प्यारका शिकार न हुआ, उनके इश्क़का बीमार न हुआ—भला वह भी कोई हृदय है? भला, वह भी कोई दिल है? जो व्यक्ति उन प्रेमवारिधि परमप्रेमास्पद बाँकेविहारी श्यामसुन्दरकी तिरछी चितवनसे घायल न हुआ, उनके इश्कका दीवाना न बना, उनके विरहमें अलमस्त होकर गली-गली और वनों-वनोंकी ख़ाक छानता न फिरा—भला उसके जीवनका भी कोई मूल्य है? उसकी ज़िन्दगीकी भी कोई वक़त है? भला,—

सर वः क्या सर है कि जिस सरमें न हो सौदा तेरा,
दिल वः क्या दिल है कि जिस दिलमें तेरी याद न हो।

ज़रा सोचो तो कि—

जो न जाऐ, न आए उल्फ़तमें,
वः कोई जान, वः कोई दिल है?

सचमुच—

गर हुई न दिलमें मए इश्ककी मस्ती,
फिर क्या दुनियादारी, क्या ख़ुदापरस्ती।

बिना प्रेममदिरामें चूर हुए इसी जगत्के कार्योंमें सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। फिर प्रभु चरणारविन्दोंके समीप पहुँचना तो बड़ी ही टेढ़ी खीर है। तुम यदि अपने जीवनको सार्थक बनाना चाहो, अपने वास्तविक लक्ष्य प्रभुपदारविन्दोंतक पहुँचना चाहो—तो प्रेमी संतोंकी प्रणालीपर अपने कदम बढ़ाओ—प्रेममार्गपर अग्रसर होनेके प्रयत्नमें जी-जानसे जुट जाओ—तभी और केवल तभी ही तुम सफलता प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकते हो। बिना प्रेमके जीवनका कोई मूल्य नहीं, क्योंकि—

जा घट प्रेम न संचरे सो घट जान मसान।
जैसे खाल लुहारकी स्वास लेत बिनु प्रान॥

प्रेमके दो भेद हैं—एक संसारी (इश्क़ मजाज़ी); दूसरा वास्तविक (इश्क़ हक़ीक़ी)—उस परमप्रभुके पावन पदारविन्दोंका। प्रभुचरणोंका ही प्रेम वास्तविक प्रेम है—सांसारिक पदार्थों और व्यक्तियोंका प्रेम उसके पासंगके बराबर भी नहीं है। विषयजन्य प्रेमको प्रेमका नाम देना भी अनुचित प्रतीत होता है। वास्तवमें प्रेम वही है जो उन परमप्रिय प्रभुके पदकमलोंमें हो, पर—

यार ग़मख़्वारको पहचाना न तूने अबतक,
बुतोंके इश्क़में ग़मो रंज उठाए तूने।
सच्चे महबूबसे कीन्ही न मुहब्बत पैदा,
यार ख़ुदग़र्ज़ व मनहूस बनाए तूने॥

वैसे तो—

हुस्नपर मुश्ताक़ होना हर किसीको पसंद है,
'बल्देव' सादिक़ यार पर दिलो जाँनिसारी और है?

ऐसे सच्चे प्रियतमपर अपना तन-मन न्योछावर कर देनेवाले संत बड़े ही विचित्र हुआ करते हैं। उनका वर्णन करना सर्वथा असम्भव है। वे जिस मार्गसे होकर निकल जाते हैं वह मार्ग पवित्र हो जाता है, उनके पाससे हो करके जो व्यक्ति निकल जाता है उसके सौभाग्यका कोई ठिकाना नहीं रहता। उनका दर्शन भी जिसे प्राप्त करनेको मिल जाता है उसके सारे पाप-ताप सर्वदाके लिये भस्मीभूत हो जाते हैं। जिसे उनकी पवित्र चरणरज पा जानेका सौभाग्य मिल जाय उससे तो बड़े-बड़े देवतातक ईर्ष्या करनेको प्रस्तुत रहते हैं। जब स्वयं वे प्रेमस्वरूप प्रभु सदैव उनके पीछे इसीलिये फिरा करते हैं कि उनकी चरणरज प्रभुके मस्तकपर गिर जाय—तो भला किसमें सामर्थ्य है जो ऐसे मस्तानोंका वर्णन कर सके?

'कबीर' मन मिरतक भया, दुरबल भया सरीर।
पाछे लागे हरि फिरें, कहत—'कबीर' 'कबीर'।
भगतविरहकातर करुनानिधि डोलत पाछे लागे॥

भला कुछ ठिकाना है—ऐसे प्रेमदीवानोंकी अलबेली मस्तीका?

ऐसे मस्तानोंके दो विभाग हैं। एक वे हैं, जिनका प्रेम बाहर प्रकट नहीं होने पाता और दूसरे वे—जिनका प्रेम बाहर छलछला उठता है।

प्रथम श्रेणीके संतोंका उद्देश्य ही रहता है कि अव्यक्त प्रेम ही पवित्र है। जिसका प्रेम प्रकाशमें आ

गया, प्रकट हो गया, बाज़ारमें आ गया उसे वह आनन्द कहाँ जो उसको गुप्त रखनेवालोंको प्राप्त है, तभी तो—

जिन्हें है इश्क़ सादिक़ वे कहाँ फ़र्याद करते हैं,
लबोंपर मुहरे खामोशी—दिलोंमें याद करते हैं।

उनके तो—

हिरदै भीतर दव बलै, धुवाँ न परगट होय।
जाके लागी सो लखै, की जिन लाई सोय॥

क्योंकि—

प्रीति जो लागी घुलि गई, पैठि गई मनमाँहि।
रोम-रोम पिउ-पिउ करै, मुखकी सरधा नाँहि॥

उनका यह उपदेश कितना सारगर्भित है कि—

सुमिरन सुरति लगायके, मुखके कछू न बोल।
बाहरके पट देइके, अंतरके पट खोल॥
जैसे माता गर्भको, राखै जतन बनाय।
ठेस लगै तो छीन हो, ऐसे प्रेम दुराय॥
जो तेरे घट प्रेम है, तो कहि-कहि न सुनाव।

क्योंकि—

अंतरजामी जानिहैं, अंतरगतका भाव॥

ऐसे ही प्रेमियोंको लक्ष्य करके ही खुसरोने कहा है कि—

शमा अज़ दिले उश्शाक़ निशाँ मी आरद्।
जाँ अज़ सरे सोज़े दरमयाँ मी आरद्॥
खुश मी सोज़द व लेक बशई कस्त।
कि सोज़िसे-ख्वेश बर ज़बाँ मी आरद्॥

शमाने आशिकोंके दिलसे जलनेका सबक़ सीखा है। यह भी ख़ूब भली प्रकारसे जलती है लेकिन इसमें एक अवगुण है और वह यह कि—यह अपने जलनेको अपनी ज़बानपर लाती है, ख़ुद उसका इज़हार करती है। आशिक़के दिलकी तरह चुपचाप बिला ज़ाहिर किये हुए नहीं जलती।

इस श्रेणीके संत हृदयमें प्रेमका भीषण तूफान भरे रहते हैं, पर क्या मज़ाल कि उसकी एक भी लहर बाहर आ जावे। पर, दूसरी श्रेणीके संत अपने प्रेमके प्रखर प्रवाहको भीतर दबानेमें अपनेको सर्वथा असमर्थ पाते हैं! उनकी चाल-ढाल, रंग-रूप, आँसू-आहें, तड़पन-बेचैनी आदि बातें दूरसे ही उनकी असलियतका असली पता लोगोंको दे दिया करती हैं। प्रयत्न करके भी वे अपनेको छिपानेमें समर्थ नहीं हो पाते। क्योंकि—

'दया' प्रेम-उन्मत्त जे, तनकी तनि सुधि नाहिं।
झुके रहें हरिरस छके, थके नेम ब्रत नाहिं॥

पर—

दिल देके लिया करते हैं सौदा यही उश्शाक।
सौदाई कभी दूसरा सौदा नहीं करते॥

उनकी सारी बातें निराली ही होती हैं। वे रात-दिन प्रेमास्पदकी यादमें ही मशग़ूल बने रहा करते हैं। ऐसी मदिरा चढ़ाये रहते हैं जिसका खुमार कभी उतरता ही नहीं। कहते हैं कि—

हम न साक़ी न कोई पीरे मुग़ाँ रखते हैं।
जो नशा चढ़के न उतरे वः यहाँ रखते हैं॥
दिलमें हम जल्वये खूबाने जहाँ रखते हैं।
गो मुसल्माँ हैं मगर इश्क़े बुताँ रखते हैं॥

उन्हें न अपने दीनकी फ़िक्र रहती है न ईमानकी, न ज़रकी ख्वाहिश रहती है न जेवरकी, न स्त्रीकी चिन्ता रहती है न पुत्रकी, न यशकी चाह रहती है न मानकी, न खानेकी परवा रहती है न पीनेकी! उनका सारा कारोबार निराला ही होता है। सारी चिन्ताओं, इच्छाओं, वासनाओं तथा विधिनिषेधोंसे वे सदा-सर्वथा परे रहते हैं। वे सब कुछ भूलकर सदा सर्वदा अपने प्रियतमकी चिन्तामें ही निमग्न रहा करते हैं। उसके विरहमें व्याकुल होकर तड़फड़ाया करते हैं। कभी आहें भरते हैं तो कभी सर पीटते हैं। कभी चुपचाप उसकी प्रतीक्षा करते बैठे रहते हैं! इसी चिन्तामें उनका सारा शरीर पीला पड़ जाता है, खाना-पीना सब कुछ भूल जाता है। सारी बकवाद चूल्हे पड़ती है। नींद हराम हो जाती है। सारी रात करवटें बदलते ही बीत जाती है। इस व्याकुलता, असन्तोष, वेदना, प्रतीक्षा, रोने-तड़पने आदिका अन्त केवल तभी होता है जब उनका प्रियतम उनके सम्मुख आकर उपस्थित हो जाता है।

एक फ़ारसी कविने ऐसे ही प्रेमियोंके नौ लक्षण अपने पुत्रको बताये हैं—

आहे सर्दो, रंगे ज़र्दो, चश्मे तर,
इन्तज़ारी, बेक़रारी, बेसबर,
कम गुफ़्तनो, कम ख़ुर्दनो, ख़्वाबे हराम,
आशिकाराँ नौ निशाँ बाशद पिशर!

—ठंडी आहें, पीला रंग, आँसुओंसे भरी आँखें, प्रतीक्षा, बेचैनी, असन्तोष, कम बोलना, कम खाना और नींद न आना—यही ऐसे प्रेमियोंके लक्षण हैं।

प्रेमपाठशालाका श्रीगणेश आहोंसे ही होता है। एक प्रेमी अपना हाल बयान कर रहा है कि—

मुँहसे कहता हूँ अलिफ़—दिलसे निकलती आह है,
इश्क़के मक़तबमें मेरी पहली बिस्मिल्लाह है।

प्रेमास्पदका विरह प्रेमीके लिये सबसे कठोर साधना है। पर प्रेमीको तो उसीमें रोने, तड़पने, व्याकुल होने, आहें भरनेमें मज़ा आता है। कहता है कि—

यः दर्द, ये आँसू, ये तड़प और ये आहें।
किस मुँहसे कहें इश्क़में आराम नहीं है॥

× × × ×

लबे गोयासे कहते हैं दहाने ज़ख्म बिस्मिलके,
यही जी चाहता है चूम लें हम हाथ क़ातिलके।
मिली वः दर्दमें लज्ज़त कि ज़ख्मे दिल पै गर कोई,
छिड़कता है नमक तो हम उसे मरहम समझते हैं॥

प्रियतमकी चिन्तामें यह लोग पीले पड़ जाते हैं। चिन्ता होती ही है ऐसी बुरी चीज! पर क्या किया जावे? उससे छुटकारा भी तो नहीं है! लोग कहते हैं कि दवा कराओ—पर अफ़सोस यह मर्ज़ तो लाइलाज है। मीराका ही हाल देख लो—***'पानाँ ज्यों पीली पड़ी रे, लोग कहें पिंडरोग।'*** जब रोग है तो उसकी दवा भी होनी चाहिये। वैद्य बुलाया गया—पर वह भी बेचारा हैरान! उसे कोई मर्ज़ ही नहीं ढूँढ़े मिल रहा है! मिले भी तो कैसे? कोई साधारण बीमारी हो तब तो! यहाँ तो बात ही दूसरी है। मीरा उससे कहती है—जाओ वैद्यराज! तुम अपने घर जाओ। तुम्हारे किये यह रोग अच्छा नहीं होनेवाला है?

जा बैदाँ घर आपणे यहाँ न रोगी कोय।
जिन यह बेदन निरमई, भला करैगा सोय॥

मीरा फिर भटक-भटककर कहने लगी—

दरदकी मारी बन बन डोलूँ बैद मिला नहिं कोय।
'मीरा' की प्रभु पीर मिटै जब बैद सँवलिया होय॥

प्रेमी अपने प्रियतमकी यादमें तड़पता हुआ चिल्ला रहा है कि—'तुम्हींने दर्द दिया, और तुम्हीं दवा देना!' आखिर उसकी व्याकुलता अपनी चरम सीमापर जा पहुँची। सरकार साहेबको अब चैन कहाँ? आ ही तो टपके! पर, यह क्या?

दिल चुराकर नाज़से कहते हैं वह,
लीजिये, जाते हैं तस्लीमात है।

यह लो, श्रीमान्‌जी उठकर चल भी दिये! भला जरा बताये तो जाइये कि—

देखने आये थे या दर्द बढ़ाने आये!
क्या यही आपका अंदाज़ मसीहाई है?

पर नक्कारखानेमें तूतीकी आवाज़ सुनता ही कौन है? वहाँ तो पीठ फेरी कि बस—ग़ायब! बेचारा बीमार चिल्लाता ही रह गया—

देखो री! यह नंदका छोरा बरछी मारे जाता है।
बरछी-सी तिरछी चितवनकी पैनी छुरी चलाता है॥
हमको घायल देख बेदरदी मंद-मंद मुसुकाता है।
'ललितकिशोरी' ज़खम जिगर पर नोन पुरी बुरकाता है॥

बस, फिर क्या था?

रोते-रोते हिज्रमें जिस्मे अमानत घट गया,
बारिशे बाराँसे यह तामीर आधी रह गई!

धैर्यका बाँध टूट गया। आँसुओंकी भीषण रेल-पेल मच गयी। बीमार चिल्लाने लगा, हाय!

देखिये पार हो किस तरहसे बेड़ा अपना,
मुझको तूफाँकी ख़बर दीदये तर देते हैं!

किसीने ठीक ही तो कहा है कि—

प्रेम छिपाये ना छिपै, जा घट परगट होय।
जद्यपि मुख बोलै नहीं नैन देत हैं रोय॥

यह आँसू बड़े बुरे भेदिये हैं, झटसे जाकर मुख़बिरी कर देते हैं। करे क्यों न? सच ही तो है—

अश्कम् बिरूँ मी अफ़गनद राज़े दरूने पर्दारा।
आरे शिकायतहा बुवद् मिहमाने-बेरूँ कर्दारा॥

(खुशरो)

घरसे निकाला अतिथि जिस प्रकार शिकायत कर ही देता है उसी प्रकार यह आँसू भी सारा राज़ ज़ाहिर किये बिना मानने ही क्यों लगे? ठीक ही तो है—

जाहि निकारौ गेहसे कस न भेद कहि देय?

उस दिन भी यही हाल था, कि इतनेमें श्रीमान्‌जी आ ही तो निकले! आँसुओंको देखकर मुसकरा ही तो पड़े। बड़ी झेंप लगी। आख़िर यह कहकर झेंप मिटानी पड़ी कि—

आ गयी कुछ याद, जी भर आया, आँसू गिर पड़े।
हम न रोये थे तुम्हारे मुसकरानेके लिये॥

पर वे तो सब कुछ समझ गये। भला, उनसे भी कोई बात छिपी रह सकती है, बोले—

ऐ आशना कि गिरयाकुनाँ पंद मी दिही;
आब अज़ बिरूँ मरेज़ कि आतिश बजाँ गिरफ़्त।

—प्यारे दोस्त! तुम आँसू बहानेवालोंको क्या

समझा रहे हो? अरे, आग तो भीतर लगी है, उसपर बाहरसे पानी मत डालो!

पर, उस आगको उनके सिवा और कोई बुझा ही कैसे सकता है?—

जो आँसुओंसे बुझ नहीं सकती किसी तरह,
भड़की हुई वः आग मेरे दिलके पास है।

सूरने इसका बिलकुल ठीक-ठीक वर्णन किया है—

निसदिन बरसत नयन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हमपर जबते स्याम सिधारे।
थिर न रहत अंजन आँखिनमें कर कपोल भये कारे॥
कंचुकि पट सूखत नहिं कबहूँ उर बिच बहत पनारे।
आँसू सलिल भये पग थाके बहे जात सित तारे॥
'सूरदास' अब डूबत है ब्रज काहे न लेत उबारे॥

हाय! यहाँ तो *'उर बिच बहत पनारे'* वाला हाल है और प्रियतमका जबतक मिलन नहीं होता तबतक यही अवस्था रहेगी भी—इसमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं पड़ सकता! हमें तो अपने जीवनकी सार्थकता इसीमें दीख पड़ती है। इसीमें हमें अपार आनन्दका अनुभव हो रहा है, तभी तो—

फ़रयाद है न शिकवा, ख़ामोश हो रहा हूँ,
रोनेकी जो है लज्ज़त, हाँ उससे आशना हूँ।
तदबीर बस यही है, अब ज़ार-ज़ार रोऊँ,
जी खोलकर मैं शक्ले अब्रे बहार रोऊँ।
कुल्फ़त हो दूर दिलकी, फिर एक बार रोऊँ॥

हमें कबीरका यह दोहा ख़ूब याद है कि—

'कबीर' हँसना दूर कर, रोनेसे कर प्रीति।
बिनु रोये क्यों पाइये, प्रेम पियारा मीत॥

धन्य हैं ऐसी सौभाग्यशाली आँखें जो उन आनन्दकन्द सच्चिदानन्द प्रभुके विरहमें सदैव अश्रुनद उमड़ाया करती हैं। बस, केवल उन्हींके जीवनकी सार्थकता है, और किसीकी नहीं! वे आँखें किस कामकी जिनसे प्यारेकी यादमें दो बूँदतक नहीं टपकते?

फूट जायँ वे आँखें जिनसे बँधा अश्कका तार नहीं।

ऐसी अभागी आँखें होनेकी अपेक्षा उनका न होना ही लाख गुना अच्छा है।

लोग कहा करते हैं कि प्रतीक्षा बड़ी बुरी चीज है। पर प्रतीक्षाका आनन्द यदि किसीको जानना हो तो वह किसी प्रेमीसे जाकर पूछे। वह तुरन्त ही उत्तर देगा कि—

तमन्ना नहीं वस्लकी उसके दिलको,
जो फुरक़तका तेरी मज़ा जानता है।

इसपर यदि कोई इसका कारण पूछे तो वह साफ़-साफ़ कह देगा कि—

वस्लमें हिज्रका ग़म, हिज्रमें मिलनेकी ख़ुशी,
कौन कहता है जुदाईसे विसाल अच्छा है?

मिलना और बिछुड़ना—दोनों एक ही वस्तुके दो रूप हैं। दुःख दोनोंमें है। एकमें पहिले, दूसरेमें बादमें। इन दोनोंमें कौन-सा दुःख ज़्यादा अच्छा है यह नहीं कहा जा सकता। 'कल प्रियतम चले जायँगे'—इस भावनामें कितना दुःख भरा पड़ा है, इसका अनुभव भुक्तभोगी ही जान सकते हैं—सब नहीं। एक प्रेमी इसीलिये विधातासे प्रार्थना कर रहा है—

सजन सकारे जायँगे, नैन मरेंगे रोय।
बिधना ऐसी रैन कर-भोर कबहुँ नहिं होय॥

रामको वनवासकी आज्ञा देनेवाली रात्रिको महाराजा दशरथ भी भगवान् सूर्यसे ऐसी ही प्रार्थना करते दीख पड़ते हैं—

उदउ करहु जनि रबि रघुकुल गुर।
अवध बिलोकि सूल होइहि उर॥

इसके विपरीत प्रतीक्षामें प्रेमीको एक प्रकारका सुख-सा प्रतीत होता रहता है। प्रियतम आते हैं, आ रहे हैं अथवा किसी-न-किसी दिन अवश्य आवेंगे—इस अनुभूतिमें सुख और सान्त्वनाका एक अनन्त सागर लहरा रहा है। इसीमें वह सदैव अवगाहन करता है और उस मनमोहनकी दिव्य झाँकीकी आशा लगाये बैठा रहता है।

परन्तु जिस समय वह देखता है कि अब तो बहुत देर हो चुकी, आशासे बहुत अधिक समय प्रेमास्पदकी प्रतीक्षामें निकल गया—तो वह एक दम बेक़रार हो जाता है। उस समयकी उसकी विह्वलता एक दर्शनीय वस्तु होती है। प्रियतम क्यों नहीं आ रहे हैं, वे अवश्य ही मुझपर नाराज़ हैं, अवश्य ही वे मेरी किसी भूलपर क्रोधित हो गये हैं—इसीसे तो वे आ नहीं रहे—इस भावनासे उसके चित्तमें एक बड़ा ही विचित्र तूफ़ान उठ खड़ा होता है। उसमें पड़कर वह कभी रोता है, कभी चीखता है, कभी सर पटकता है, कभी मौतको बुलावा भेजता है। कभी पृथ्वी माताके चरणोंमें निवेदन करने लगता है कि—

जिसकी उम्मीद पै जीते थे ख़फा हैं वह ही,
ऐ अजल! आ कि कोई अब तो बहाना न रहा।
ऐ ज़मीं! तू ही लबे गोरसे इतना कह दे,
आ मेरी गोदमें—गर कोई ठिकाना न रहा॥

जब प्रेमास्पद ही रूठ गये फिर अपना रह ही कौन गया? अब किसको अपना कहा जाय और किसके लिये इस जीवनको धारण किया जाय? हाय प्रियतम! मेरी तो किस्मत ही फूट गयी।

वह मुक़द्दर न रहा और वः जमाना न रहा,
तुम जो बेगाने हुए कोई यगाना न रहा।

हृदय वेदनाकी इस दिव्य अनुभूतिसे ओतप्रोत है, आँखें प्रियतमके मार्गपर बिछी हुई हैं, रोना, सर पीटना, आहें भरना—अविराम गतिसे चल रहा है। कितनी कारुणिक दशा है। ऐसे समय यदि कोई आकर प्रेमीसे यह पूछे कि 'यदि तुम्हारे प्रेमास्पद एक बार आकर तुम्हें अपनी झलक दिखा जावें—तब तो तुम सन्तुष्ट हो जाओगे न?' परन्तु वह तो तुरन्त कह देगा—'नहीं मुझे ऐसा मंजूर नहीं।'

भाई! वह तो अपने प्रियतमपर एकाधिपत्य जमाना चाहता है। पूरा-पूरा सोलहों आने क़ब्ज़ा जमाना चाहता है। उसे यह कभी भी गवारा नहीं हो सकता कि प्रियतम एक बार आवें और आकर फिर चले जावें। तभी तो वह कहता है कि—

आओ प्यारे मोहना, पलक झाँपि तोंहि लेंहु।
ना मैं देखों औरको, ना तोंहि देखन देंहु॥

भला, इस असन्तोषका भी कुछ ठिकाना है? इस बेसब्रीकी भी कोई हद है? पर लुत्फ़ तो यह है कि उन मनमोहन श्यामसुन्दरको झक मारकर अपने प्रेमियोंकी सारी आज्ञाएँ माननी पड़ती हैं। प्रेमदेव जो कुछ न करावें सो थोड़ा। इसी प्रेमके बलपर तो—

बेद भेद जानै नहीं, नेति नेति कहै बैन।
ता मोहनसों राधिका, कहै महावरु दैन॥

इस अनिर्वचनीय आनन्दका उपभोग करना सच्चे प्रेमियोंके ही हाथकी बात है। सच्चे संतोंके लिये ही प्रेमसागरका अलबेला फाटक सदा खुला रहता है। तभी तो वे सदैव उसमें अवगाहन कर अपने जीवनको सार्थक किया करते हैं। इसीकी प्राप्तिके लिये उनकी सारी चेष्टाएँ होती हैं। इसीके लिये उनके सारे प्रयत्न होते हैं। रात-दिन इसीकी अलबेली चिन्तामें वे मग्न बने बैठे रहा करते हैं। वास्तवमें जीवनके उन्हीं कुछ क्षणोंकी सार्थकता है जो उस परमप्रेमास्पदकी पावन स्मृतिमें बीत जाते हैं। नहीं तो, सारे-के-सारे जीवनका कुछ भी मूल्य नहीं। सच है कि—

शब वही शब है, दिन वही दिन है,
जो याद तेरीमें गुज़र जावे॥

प्रेमियोंका एक-एक क्षण अपने प्रियतमकी यादमें ही बीतता है। सारी अनावश्यक बातें उनके पाससे दूर भाग जाती हैं। वे न किसीसे कुछ बोलते ही हैं न कुछ वाद-विवाद ही करते हैं! यह तल्लीनता इस हदतक बढ़ जाती है कि सारा बोलना-चालना, खाना-पीना, सोना, आराम करना—सभी कुछ भूल जाता है। वहाँपर तो यह हाल रहता है कि—

मनमें लागी चटपटी, कब निरखूँ घनश्याम।
'नारायण' भूल्यो सभी, खान पान बिसराम॥
ब्रह्मादिकके भोग सब, विष सम लागत ताहि।
'नारायण' ब्रजचंदकी लगन लगी है जाहि॥
प्रेम नसा जब छा जाता है आँखोंमें भरपूर।
सोना जगना दोनों उनसे हो जाते हैं दूर॥

प्रेमास्पदकी मधुर प्रेमवेदनासे आक्रान्त हृदयमें इन सब बातोंके लिये स्थान ही नहीं रह जाता! किसीने यदि बहुत ज़ोर डाला तो कुछ बोल दिया, किसीने बहुत ज़बरदस्ती की तो कुछ मुँहमें डाल लिया—पर नींदके लिये तो किसीकी ज़बरदस्ती चल ही नहीं सकती। चिन्ता और वेदनाके मारे उसका साहस ही नहीं हो पाता कि वह प्रेमियोंके चरणोंके समीपतक फटक सके।

ऐसे ही एक दीवानेसे किसीने पूछा,—'भाई, तुम्हें रातको नींद भी आती है कि नहीं, या इसी प्रकार रातको भी रोया-सिसका करते हो।' तो आप उत्तर देते हैं कि—

मन कुजा खुसपम् कि अज़ फ़रयादे मन;
शब न मी खुसपद् कसे दर कूए तो!
(खुसरो)

—अरे भाई! मुझे तो भला नींद आती ही कैसे? यहाँ तो मेरे रोनेके रौलेसे तुम्हारे मुहल्लेवालोंतकको रातको नींद नहीं आ सकी!

हाय, मैं अपना हाल क्या बताऊँ? यह निगोड़ी नींद आती ही नहीं! उस दिन प्यारेने मुझसे कहा था कि 'तू जब सो जाया करेगा तो मैं कभी-कभी तुझे

सपनेमें अपना दीदार दिखाया करूँगा!' पर, मुझे तो अपनी हालतका पूरा पता था—लाचार होकर कह ही देना पड़ा कि—

गुफ़्ती अंदर ख़्वाब गह गह रूए ख़ुद बिनुमायमत,
ई सुख़ुन बेगानारा गो काश मारा ख़्वाब नेस्त!

—अरे प्यारे! तू जो यह कहता है कि मैं सपनेमें कभी-कभी तुझे अपना दीदार दिखाया करूँगा—यह बात तू किसी दूसरेसे जाकर कह! यहाँ नींद ही कहाँ, जो तुझे सपनेमें देखा करूँगा!

जिसमें उपर्युक्त लक्षण पाये जावें—बस, समझ लो कि वह सौभाग्यवान् संत उस परमपदका अधिकारी है जिसके लिये सभी तरसते हैं। उसका कोई भी मुक़ाबला नहीं कर सकता। करे भी कैसे?

जिसने अनुभव किया प्रेमकी पीड़ाका आनन्द।
उससे बढ़ है कौन जगतमें सुखी और स्वच्छन्द!

क्योंकि—

प्रेम स्वर्ग है स्वर्ग प्रेम है, प्रेम अशंक अशोक।
ईश्वरका प्रतिबिम्ब प्रेम है, प्रेम हृदय आलोक॥

सचमुच प्रेम ही मानवजीवनके लिये सुधा है। इसीके द्वारा उस आनन्दके सरोवरतक पहुँचनेका मार्ग मिलता है। जो व्यक्ति इस स्वर्गीय रत्नसे हीन है उसका जीवन व्यर्थ है।

सचमुच—

सङ्कीर्तने शुभयशोगुणनामविष्णो-
र्देहे न यस्य पुलकोद्गमरोमराजिः।
नोत्पद्यते नयनयोर्विमलाम्बुमाला
धिक् तस्य जीवितमहो पुरुषाधमस्य॥

'उन परमप्रेमास्पद प्रभुचरणारविन्दोंका शुभ यश, पावनगुणगरिमा और उनका नामसंकीर्तन सुननेपर भी जिसके शरीरमें पुलकावलि नहीं होती, रोमांच नहीं होता और नेत्रोंसे विमल अश्रुधारा प्रवाहित नहीं होती—उस अधम पुरुषके जीवनको कोटिशः धिक्कार है!'

पावन संत तो अपने प्रेमास्पदका नाम लेते ही गद्गद हो जाया करते हैं। हे नाथ! कब करोगे हमारी ऐसी दशा! रोते हुए चैतन्यदेव रोना ही माँगते हैं—

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

अन्तमें प्रभुपदारविन्दोंमें केवल इतनी प्रार्थना है कि—

बद्धेनाञ्जलिना नतेन शिरसा गात्रैः सरोमोद्गमैः
कण्ठेन स्वरगद्गदेन नयनेनोद्गीर्णबाष्पाम्बुना।
नित्यं त्वच्चरणारविन्दयुगलध्यानामृतास्वादिना-
मस्माकं सरसीरुहाक्ष सततं सम्पद्यतां जीवितम्॥

ॐ शान्तिः।

संतोंके लक्षण और उनका लक्ष्य

(लेखक—श्रीदामोदरजी उपाध्याय वैद्य)

कोई भी विद्वान्, लेखक, कवि, व्याख्यानदातासंत नहीं हो सकता जबतक कि वह स्वयं संतोंके सहवासका स्वाद नहीं लेता। संतलोग कभी भी बाह्याडम्बरको पसन्द नहीं करते। स्त्री-पुत्र तथा भृत्यवर्ग, उसी तरह धन-दौलत इत्यादि वस्तुओंमें संतलोग अनुरक्त नहीं होते। संत भगवान्के भजनमें मग्न रहते हैं। संतकी जिह्वा *'तव नाम जपामि नमामि हरी'* का निरन्तर उच्चारण किया करती है। और भी—

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

'मन-वचन-शरीरसे जिनके पुण्यरूपी अमृत बरस रहा है, जो तीनों लोकमें बिना भेदभावके उपकार करते फिरते हैं, जो दूसरेके रत्तीभर गुणको पहाड़ बतलाते हुए प्रसन्न रहते हैं ऐसे संत कहाँ हैं? कितने हैं? संत बहुत थोड़े होते हैं।'

'ऊँचा संत, नीचा संत' यह भेद संतोंमें नहीं माना जाता फिर भी दो प्रकारके संत देखे जाते हैं। भेद केवल इतना ही होता है कि एक तो वर्णाश्रमसे परे रहकर भ्रमण करते हैं, दूसरे संसारी जीवोंके साथ रहते हुए छिपे रहते हैं।

सच पूछा जाय तो संतोंका संसार ही निराला है। संसारके हर कोनेमें संतोंका जन्म हुआ है। संतोंका सहवास कितना मधुर, कितना सुखद, कितना लाभदायक होता है, इस बातको कोई भी 'संतसेवी' बतला सकता है। कलम-दावातसे संतोंका गुण अवर्णनीय है।

संत और राजनीति

(लेखक—श्रीभगवानदासजी केला)

भला, संत और राजनीतिका क्या सम्बन्ध? संत तो इस लोकके सुख-दु:खकी चिन्तासे दूर, पारलौकिक विषयोंका मनन करनेवाले होते हैं। और राजनीति? कूटनीति, कुटिलनीति, दुर्नीतिका ही दूसरा नाम 'राजनीति' है। इसके विषयमें कहावत ही प्रसिद्ध है कि—

वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा।

संत और राजनीति ऐसे ही परस्पर विरोधी हैं, जैसे जल और अग्नि। इन दोनोंका मेल कैसा!

इस प्रकारके उद्‌गार अनेक पाठकोंके हृदयसे निकलेंगे, जब वे इस लेखके शीर्षकपर दृष्टि डालेंगे, और ऐसे ही विचार 'कल्याण' के पाठकोंके मनमें उठे होंगे, जब उन्होंने उसके विगतांकमें संतांककी सूचनामें विषयसूचीके अन्तर्गत उपर्युक्त विषय देखा होगा। परन्तु वास्तवमें पूर्वोक्त उद्‌गार या विचार भ्रममूलक हैं। हमारी धारणा न संतोंके विषयमें ही ठीक है और न राजनीतिके विषयमें ही।

'साधु-संत' शब्दसे सर्वसाधारणके मनमें कैसे व्यक्तिक चित्र खिंचता है? जो आदमी कुछ धनोपार्जन न करता हो, दूसरोंके सहारे अपना निर्वाह करता हो, कपड़े न पहनता हो, या विशेष रंगके पहनता हो, जो धूनी रमाता हो, शायद कुछ भंग, सुलफा या चरस आदिका सेवन करता हो, किसी सार्वजनिक कार्यमें भाग न लेता हो, कुछ शिष्य या भक्तोंमें समय व्यतीत करता हो, जो सामाजिक या नागरिक विषयोंकी चर्चा न करता हो, जो किसीकी कुछ सेवा न करता हो, और दूसरोंसे अपनी सेवा कराता हो—ऐसे व्यक्तिको साधु-महात्मा कहा जाने लगा है। परन्तु यह तो साधु-संत-सम्बन्धी असत् कल्पना है।

वास्तवमें कोई व्यक्ति कपड़े रँगने या धूनी रमाने आदिसे संत नहीं बन सकता। संत बनना इतना सरल कार्य नहीं। इसके लिये अपने शरीर और मनपर शासन करना होता है। शरीरको सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि सहन करनेका अभ्यास चाहिये, और मनको काम, क्रोध, लोभ, मोहके बन्धनसे मुक्त होना चाहिये। संतका जीवन स्वयं अपने लिये नहीं होता, वरं समाज और संसारकी सेवाके लिये होता है। जो अंग सबसे अधिक दुखी, सबसे अधिक पीड़ित होता है, जो सबसे निम्न समझा जाता है, उसकी सहायता करनेके लिये संत सदैव उत्सुक रहता है, चिन्तित रहता है। वह निर्बलोंका बल है, और दुखियोंका अवलम्ब। वह अत्याचारियोंके लिये भयप्रद है, उसकी निर्भीकता, उसकी तेजस्वितासे बड़े-बड़े अभिमानियोंका आसन डोल जाता है। समाजकी जो रीति, व्यवहार, रूढ़ि या प्रथा अनिष्ट करनेवाली होती है, उसके लिये संत कालस्वरूप होता है। संत धर्मात्मा होता है, पर उसका धर्म कुछ बाह्य आडम्बरोंमें सीमित न होकर, उदार चरित्रका द्योतक होता है, मौखिक न होकर क्रियात्मक होता है।

अब राजनीतिको देखिये। महाभारतके शान्तिपर्वमें अच्छी तरह समझाया गया है कि सब धर्मोंमें राजधर्म प्रधान है, सब वर्णों (वर्गों)-का पालन इसीसे होता है। दण्डनीति (राजनीति)-के नष्ट हो जानेसे त्रयी अर्थात् तीनों वेद (अथवा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ज्ञान) डूब जाते हैं; सब धर्मव्यवहार परस्पर विरोधके कारण क्षीण हो जाते हैं। क्षात्रधर्म (राजधर्म) नष्ट हो जानेपर सब आश्रमोंके अर्थ और कामका अर्थात् अभीष्ट वस्तुओंका लोप हो जाता है। महाभारत-रचयिताका यह कथन त्रिकाल सत्य है। वरं एक प्रकारसे कह सकते हैं कि प्राचीन कालकी अपेक्षा इस समय और भी अधिक सत्य है। कारण प्राचीन कालमें समाजसंगठन इस प्रकारका था कि राजा उसमें विशेष हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। राजवंश बदलते थे, क्रान्तियाँ होती थीं, परन्तु प्रजाका जीवनस्रोत अपनी स्वाभाविक गतिसे प्रवाहित होता रहता था, और साधारण नागरिक बड़े अभिमानसे कह सकता था, ***'कोउ नृप होइ हमहिं का हानी।'*** पर आज वह बात नहीं रही। अब तो शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यापार, धर्म-कर्म सबपर राजनीतिका प्रबल नियन्त्रण है। राजनीतिके विकारग्रस्त होनेपर मानवसमाज इस प्रकार कष्टपीड़ित हो जाता है, जैसे विषाक्त जलमें मछलियाँ। अस्तु, जनताकी विविध प्रकारसे रक्षा और उन्नति करनेके लिये सर्वप्रथम आवश्यकता है कि वह शासन-दोषरूपी राजरोगसे मुक्त रहे, उसकी राजनीति विकारग्रस्त न हो।

यह तभी हो सकता है, जब संत-महात्माओंका राजनीतिसे यथेष्ट सम्पर्क रहे। जो संत-महात्मा दूसरेके दुःखको अपना दुःख समझते हैं, जिनकी दृष्टि अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-साधनपर नहीं रहती, जिनमें चापलूसी, हाँ-हजूरी, खुशामद नहीं होती, जो निर्लोभ और निष्पक्ष तथा निर्भीक रहते हैं उनकी संरक्षकतामें ही राजनीति दूषित होनेसे बची रह सकती है। वह देश धन्य है जहाँ शासकसमुदायपर नियन्त्रण करनेवाले संत महोदय यथेष्ट संख्यामें तथा समुचित प्रभावशाली हों; वह देश खोयी हुई स्वाधीनताको शीघ्र प्राप्त कर लेता है और चिरकालतक रामराज्यका उपभोग कर सकता है। इस समय राजनीतिके संतोंके सम्पर्कसे शून्य होनेके कारण कई स्वाधीन कहे जानेवाले देशोंमें भी बेकारी, अशान्ति और द्वेष आदिका साम्राज्य है। मुट्ठीभर आदमी भोगविलासमें पड़े हैं, और असंख्य आदमी अपने मानवोचित अधिकारोंकी प्राप्तिके लिये छटपटा रहे हैं। फिर पराधीन देशोंकी तो बात ही क्या? वहाँ तो जो भी अनर्थ होता हो कम समझना चाहिये। आज सर्वत्र रामराज्यकी माँग है, राजनीतिके संस्कार और संशोधनकी आवश्यकता है। इसके लिये तरह-तरहके उपाय सुझाये जा रहे हैं। इसका एक अचूक उपाय यह है कि राजनीतिपर संतोंका यथेष्ट अंकुश हो। रामराज्यकी स्थापना, गुरु वशिष्ठ-जैसे महात्मा पुरुषोंके सहयोग और आशीर्वाद बिना कैसे हो सकती है? दृष्टान्तके लिये अतीत कालतक जानेकी आवश्यकता नहीं; महाराष्ट्रमें समर्थ गुरु रामदासने छत्रपति शिवाजीका पथप्रदर्शक होकर जो राष्ट्रनिर्माणका काम कराया था उसका महत्त्व कौन नहीं जानता। भारतवर्षमें पुनः रामदास-सरीखे संतोंकी कितनी आवश्यकता है और उनकी आवश्यकता कहाँ नहीं है?

सच्चा सत्संग

(रचयिता—म० पु० श्रीप्रतापनारायणजी)

शेष-सम भीम भुजंगममें
शेष अब है न भयानकता।
शेषशायीकी मायाने
मिटा दी सभी अपावनता॥ १॥

उड़ाती भूति श्मशानोंकी
महामद भागीरथि मनका।
स्पर्श कर कलानाथधारी
भव्यतम भूतनाथ-तनका॥ २॥

कंठमें मुग्ध शम्भुके जब
गौरिकरवल्ली पड़ जाती।
नीलगल-गरल-नीलिमा भी
रंगमें शुकके रँग जाती॥ ३॥

पद्मने पद्मनाभसे मिल
पद्मजन्माको जन्म दिया।
गंध सह पा मकरंद मधुर
अलौकिक यशको प्राप्त किया॥ ४॥

कहाँ है पङ्कज-पङ्कजता
वहाँ तो है सुषमा अमला।
जहाँपर पङ्कजगेहा भी
अचपला बन बसती कमला॥ ५॥

शिला-सी निर्जीवा भी तो
भीलनी-सी अधमा नारी।
स्पर्शसे रघुवर-चरणोंके
हो गयी धन्यतमा भारी॥ ६॥

संगसे गोपेश्वरके ही
पार्थने कैसा लाभ लिया।
निरक्षर गोप-गोपियोंने
योगियोंको भी मात किया॥ ७॥

विरञ्जित रविसे हो जाती
उषाकी ललित लालिमा भी।
चन्द्रिका कारण सित होती
कलाधर-कलित-कालिमा भी॥ ८॥

शान्ति-गंगासे आश्रमका
वैर-मल पलमें धुल जाता।
खगोंके, पशुओंके मनमें
स्नेह-सागर है लहराता॥ ९॥

संगसे मलयज-तरुओंके
मंदता मीठी है पाता।
मस्त हो मलयानिल कैसा
सुशीतल-सुरभित हो जाता॥ १०॥

नावमें जड़कर सागरका
पार जड लोहा भी पाता।
नामसे बड़े बड़ोंके ही
लोकमें पत्थर पुज जाता॥ ११॥

मेघमालासे उड़ जाती
प्रतिष्ठा है रविकी छविकी।
दयासे वाणीकी घुलती
सुधा है वाणीमें कविकी॥ १२॥

संतोंका विश्वप्रेम

(लेखक—पं० श्रीहरिदत्तजी शर्मा शास्त्री वेदान्ताचार्य)

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव।

यह वैदिक मंगलाचरण परमात्मविभूति भगवान् सूर्यसे प्रार्थना करता है कि 'हे सूर्यदेव! हमारे समस्त पापोंको दूर करो। जो कार्य हितकर हो उसे बताओ।' वैदिक विचारसे सूर्यका विज्ञान समझकर उससे मनुष्य जो कुछ चाहे प्राप्त कर सकता है। प्रार्थना करने योग्य देवकी योग्यता खूब जानकर ही अभीष्ट वस्तु माँगी जा सकती है। सूर्यकी योग्यता और स्वरूपका परिचय इस प्रकार मिलता है—

अद्या देवा उदिताः सूर्यस्य निर*ँ*हसः पिपृता निरवद्यात्। तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः। (यजुर्वेद रुद्री ४। १६)

सूर्यमण्डलमें विश्वके अन्धकारकी निवृत्तिके लिये, कार्यमात्रमें बाधा पहुँचानेवाले अन्धकारके विनाशके निमित्त, धार्मिक जीवन बिताकर—दूसरोंको निष्कण्टक मार्ग दिखाकर विश्वके उपकार कर सकनेकी शक्ति विस्तार कर सकनेके निमित्त मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथिवी और आकाशकी अधिष्ठात्री देवी तथा देव निवास करते हैं। इसीलिये उसके प्रकाशसे सारे संसारका अन्धकार नष्ट हो जाता है। कार्यक्षेत्रमें पर्याप्त प्रकाश फैल जाता है। इसीसे ओषधि, वनस्पति, अन्नादि जितनी प्राणरक्षक वस्तु इस पृथिवीमें हैं सबका विकास और परिपाक होता है। सूर्य ही द्विजोंका ध्येय और ज्ञेय है।

मनुष्यदेहमें दक्षिण भाग सूर्यका और वाम चन्द्रका है। चन्द्रकिरणोंमें अमृत है। सूर्यकी उष्णता और चन्द्रकी अमृतवर्षासे मनुष्यजीवनमें भी बड़ी सहायता मिलती है बल्कि यों समझना चाहिये कि पूर्ण लाभ मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है क्योंकि उसे ईश्वरने दैवी बुद्धि दे रखी है।

एक प्राणायामके बलसे मनुष्य सभी कार्य सिद्ध कर सकता है, धारणासे योगी हो सकता है। योग अग्नि है जिससे पापसमूह घासके तुल्य भस्म हो जाता और संतलोग देवतुल्य बन जाते हैं, भजनके बलकी शक्ति भजनानन्दी ही जान सकते हैं। योगाभ्यास बड़ा कष्टसाध्य होता है, इससे सरल भजनमार्ग है। गीता १० अध्याय ७—१० मन्त्रोंमें स्वयं भगवान्ने कहा है कि सारी सृष्टिका कारण मैं हूँ, मनुष्योंको मैंने बुद्धिजीवी बनाया है इसलिये मेरा अनुशासन मानकर दुःखमात्रकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्तिके लिये मुझपर पूर्ण आस्था रखनी चाहिये। ग्राम हो, नगर हो, पुण्यक्षेत्र हो, भजन करनेका जहाँ सुभीता हो; दस-पाँच विरक्त स्नेही मिलकर भक्तिभावसे मेरा भजन करें, मुझपर ही मन रखें, एक-दूसरेको भक्तिरसके आनन्दी बनावें, मनको वशमें करनेके सीधे उपायोंके विस्तारकी चर्चा फैलावें तो भगवत्कृपाका प्रत्यक्ष चमत्कार और आनन्द हृदयपर प्रकट हो जायगा। तब क्षणभर भी भगवच्चर्चा उनसे नहीं छूट सकेगी। ऐसे महात्माओंका बखान स्वयं उन्होंने किया है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गीता ८। १४)

'मेरा ही ध्यान मनमें रखकर प्रतिदिन जो मुझे भजता है उस योगी संतको सहजमें मेरा दर्शन हो जाता है।' बस, जब भगवान्की कृपा संतोंको सुलभ है तो अनित्य संसारके व्यवहारोंमें भगवद्भक्त क्यों फँसे? संतोंकी कोई जाति नहीं, कोई खास बात नहीं, केवल सच्चे मनसे भगवान्पर भरोसा करना चाहिये, उनके शरणमें जानेसे ही चौरासीका बन्धन छूट जाता है।

इस बातको भगवान् अपने सखा अर्जुनसे स्वयं कहते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

(गीता ९।१३)

'हे अर्जुन! दैवी प्रकृतिका आश्रय करके संतलोग एकाग्रचित्त हो मेरा भजन करते हैं कि भगवान् ही सृष्टिके कर्ता, पोषक और संहारक हैं।'

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

(गीता ९।१४)

'संतलोग धैर्य धरके प्रयत्नसे नित्य मेरा कीर्तन और नमन करते हैं, भक्तिभावसे नित्य उपासना करते हैं; ऐसे प्रेमी संत मेरे और मैं उनका हूँ, इस लोकमें मैं उनके कार्योंमें सदा सहयोग रखता हूँ।'

यहाँतक वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थोंके आशय, संत और उनके विश्वप्रेमपर संक्षेपमें लिखे गये हैं अब संतशिरोमणि महात्मा भर्तृहरिके विश्वप्रेमकी चर्चा कर लेख समाप्त किया जाता है। ये महात्मा कहते हैं—महात्माओंके मन, वाणी और देह जगत्के उपकारार्थ होते हैं। वे देखते हैं ईश्वरने अवतारोंद्वारा विश्वका कितना उपकार किया है। इस पृथिवीमें पर्वत, वृक्ष, नदी आदि स्थावर सामग्रीसे सबका निरपेक्ष उपकार सदा आँखोंके सामने रख दिया है कि इनके जीवनमें कितना स्वार्थत्याग और विश्वप्रेम है। पशु-पक्षियोंको देखिये, उदाहरणस्वरूप गाय-बैल और घोड़ोंको लीजिये, अमृतरूप दुग्धसे गाय मनुष्य ही नहीं, देव और पितरोंको भी तृप्त करती हैं, बैल अन्न उत्पन्न करते, ऐसे ही घोड़ोंका भी उपकार जनतापर प्रत्यक्ष है; परन्तु उपकारके मर्मको समझनेवाला, बुद्धिसे ईश्वरको भी प्रसन्न कर सकनेवाला मनुष्य उक्त विश्वोपकारी जीवोंपर स्वार्थान्ध हो अन्याय करे और स्वार्थ सिद्ध करे तो जगदीश्वरका कितना अपराधी हो सकता है यह प्रत्येक विचारशीलको ध्यानमें रखना चाहिये। साधुताका आचरण स्वयं करके बन्धुओंसे साधुप्रेमी होनेका अनुरोध करना चाहिये। जननी और जन्मभूमिका भारस्वरूप नहीं होना चाहिये, नहीं तो भर्तृहरिके—

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत्संसारविच्छित्तये
स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः।

—ऐसे पश्चात्तापका भागी बनना पड़ेगा। साधु-सेवाकी शिथिलतासे देशमें विविध कष्ट हो रहे हैं इनसे इस पवित्र देशकी रक्षाके लिये संतोंके गुणोंका अनुसरण औषधरूप है।

सच्ची साधुता

(लेखक—श्रीयुत त्रिभुवनदास दामोदरदासजी)

अग्निका स्वाभाविक गुण है जलाना। अच्छी-बुरी वस्तुका विचार किये बिना ही जो उसमें गिरता है अग्नि उसे जला ही देती है। यह नियम है। इसी प्रकार साधु पुरुष भी अपना ज्ञान, अनुभव और आध्यात्मिक शक्ति सबको देते हैं। ज्ञानका प्रकाश फैलाना साधु पुरुषका स्वाभाविक गुण है। परन्तु उस ज्ञानका सफल होना न होना पात्रोंके अधिकारपर निर्भर करता है। ज्ञानकी परिपक्वताके लिये पात्रता मुख्य वस्तु है। प्राकृतिक नियमोंमें हम देखते हैं कि पात्रताका कोई विचार नहीं है जैसे—सूर्य सर्वत्र नियमपूर्वक प्रकाशित होता है, वह यह नहीं सोचता कि यह मनुष्य अपात्र है इसलिये उसे प्रकाश नहीं देना चाहिये। यद्यपि लोग सूर्यके प्रकाशका इच्छानुसार सदुपयोग-दुरुपयोग करते हैं परन्तु सूर्य तो समानभावसे सर्वत्र प्रकाशित होता ही है। सूर्य परोपकारार्थ ही प्रकाशित होता है, उसके प्रकाशका सदुपयोग करना हमारा कर्तव्य है परन्तु हमलोग अपनी पात्रता अथवा अपात्रताके अनुसार ही उसका उपयोग करते हैं। जलाशय, वृक्ष, वायु आदि सभी इसी नियमके अनुसार बर्तते हैं। पृथ्वी भी अच्छे-बुरे सभी मनुष्योंको समानतासे स्थान देती है। जो अपात्र होते हैं वे वस्तुका सदुपयोग नहीं कर सकनेके कारण अधोगतिकी ओर जाते हैं और परिणाममें दुःखमय जीवन बिताते हैं। अपात्रोंको दण्ड देना भी साधु पुरुषोंका हेतु नहीं होता, क्योंकि उनमें दैवी सम्पत्तिके समता, अनासक्ति, त्याग, निर्लेपता, निष्काम कर्म आदि सद्गुण होते हैं। वे लोग यदि दण्ड देनेका प्रयत्न करें तो उनकी साधुता नष्ट हो जाती है। साधुता दण्ड नहीं दे सकती। वह तो सर्वत्र अद्वैतानुभव करती है।

यदि साधु पुरुष दण्ड देनेका प्रयत्न करते हैं तो परिणाममें पहले उन्हींकी अधोगति होती है। दैवी गुण

अदृश्य हो जाते हैं और क्रोध, अविचार, अशान्ति आदि आसुरी अधमताएँ आ जाती हैं, फलस्वरूप वे अधोगतिमें चले जाते हैं। प्रकृति सबको कर्मानुसार स्वयं ही दण्ड देती है। पतंग मोहासक्त होकर दीपककी ज्योतिमें गिरता है तो वह जलकर नाश हो जाता है। ज्योतिका स्वाभाविक गुण जलानेका है। इस प्रकार पतंगको स्वाभाविक ही स्वकर्मानुसार फल मिल जाता है। इसी प्रकार जगत्‌के समस्त प्राणी अपने-अपने कर्मोंके अनुसार फल भोगते हैं।

महान् पुरुष सर्वत्र अभेदानुभव करता है। उसके लिये जगत्‌में द्वैतभाव करने-जैसा कोई पदार्थ है ही नहीं, वह सर्वत्र अपनेको देखता है। सबमें अपनेको देखता है और सब कुछ अपनेमें ही देखता है। संत पुरुषका हृदय प्रेममय होता है और प्रेम ईश्वरका अमृत-स्वरूप है। प्रेमसे सिंह-जैसे हिंसक प्राणी भी अपना हिंसक स्वभाव छोड़कर अचानक ही प्रेमभावमें परिवर्तित हो जाते हैं और अहिंसाका अनुभव करते हैं।

महान् पुरुषोंके विशुद्ध प्रेमबलके सामने सामान्य मनुष्यके अपवित्र, उद्धत, उच्छृंखल विचार जान या अनजानमें लोप हो जाते हैं और वह शुद्ध सात्त्विकभाव धारण कर लेता है। साधुता अपने संसर्गमें आनेवालेको साधुताका अनुभव करा देती है यही सत्संगका रहस्य है।

एक संतद्वारा बताये हुए सुखके उपाय

(सम्पादक—श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

(१) नित्य प्रातःकाल ईश्वर-स्मरण करनेमें क्या धन खर्च करना पड़ता है?

(२) हर एक प्रसंगमें विनयपूर्वक बर्ताव करनेमें क्या धन खर्च करनेकी आवश्यकता होती है?

(३) अपनेसे व्यवहार करनेवाले हर एक मनुष्यके साथ क्रोधरहित प्रेमसे बातें करनेमें क्या धनकी जरूरत पड़ती है?

(४) प्रतिकूल प्रसंगोंमें न घबराकर धैर्य रखनेमें क्या धनकी आवश्यकता होती है?

(५) अपने परिचयमें आनेवाले हरेक मनुष्यको विधिपूर्वक आदर देनेमें क्या रुपयोंकी जरूरत पड़ती है?

(६) अपनी स्त्रीकी ओर सम्मानकी दृष्टिसे देखनेमें क्या धनकी जरूरत पड़ती है?

(७) किसीके पुकारनेपर उत्तरमें 'जी' कहनेमें क्या धनकी जरूरत होती है?

(८) माता-पिताकी आज्ञाका पालन करनेमें क्या धनकी जरूरत पड़ती है?

(९) हर समय व्यावहारिक कार्य करते हुए भी ईश्वर-स्मरण करनेमें क्या रुपयोंकी आवश्यकता पड़ती है?

(१०) हर एक प्रसंगमें सत्य बोलनेमें क्या धनकी आवश्यकता है?

(११) अपना चरित्र सुधारकर आध्यात्मिक उन्नतिके लिये उपाय करनेमें क्या धनकी जरूरत होती है?

(१२) विचार-शक्तिकी नित्य वृद्धि करनेमें क्या धनकी जरूरत पड़ती है?

(१३) अमुक कामको मैं करके ही रहूँगा, ऐसा दृढ़ निश्चय करनेमें क्या धनकी आवश्यकता होती है?

(१४) ज्ञानी पुरुषोंका संग करके उनके उत्तम गुणोंका अनुकरण करनेमें क्या धनकी जरूरत होती है?

(१५) नित्य खुली हवामें घूमकर अपनी आरोग्यता बढ़ानेका प्राकृतिक उपाय करनेमें क्या धन खर्च होता है?

(१६) आत्मामें स्थित अखण्ड आनन्दका अनुभव करनेमें क्या धन चाहिये?

(१७) नित्य एकाध घंटा उत्तम पुस्तकें पढ़नेमें क्या पैसा खर्च करना पड़ता है?

(१८) हर समय, हर एक स्थितिमें सन्तोष मानकर सुख प्राप्त करनेमें क्या धनकी आवश्यकता होती है?

(१९) प्रारब्धको दोष न देकर प्रयत्नशील बननेमें क्या पैसे खर्च करने पड़ते हैं?

प्रिय पाठकगण! उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर यदि 'ना' में हो तो 'धन बिना सुख कहाँ' इस मिथ्यावादको छोड़कर अपने जीवनको सुखी बनानेके लिये ऊपर बताये हुए प्राकृतिक उपायोंको काममें लानेका निश्चय कीजिये। सिर्फ धनसे ही सुख प्राप्त है ऐसा कभी न मानिये। अगर धनसे ही सुख मिल सकता होता तो ईश्वर सचमुच ही अन्यायी होना चाहिये, परन्तु ऐसा

नहीं है। तात्त्विक दृष्टिसे तो इसके विपरीत धन ही दुःखका कारण हो जाता है। अत्यन्त धनी और वैभवपूर्ण पुरुषको पूछनेपर पता लगेगा कि उसकी अटूट दौलत उसको सुखकी प्राप्ति करवानेमें असमर्थ है। मनकी स्थिर वृत्तिको केवल सन्तोष ही सुखका परिचय देनेवाला है। वह यदि हमारे पास हो तो हम सबकी अपेक्षा अधिक धनी हैं, इस प्रकार समझना चाहिये। संसारके मिथ्या प्रलोभनोंसे न ललचाकर केवल सत्यका ही पालन कीजिये और प्रत्येक वस्तुमें ईश्वरको देखना सीखिये।

सीयराममय सब जग जानी।
करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

जो इतना करेंगे तो आपके लिये सर्वत्र सुख-ही-सुख परिपूर्ण है, हरिः ॐ।

संतोंका विश्वप्रेम और भूतदया

(लेखक—'सिंहाचलवासी' श्रीरामदेवशर्माजी)

ब्रह्मानुभूति सब संतोंकी एक-सी ही होती है। पर प्रत्येक संतका कुछ-न-कुछ अपना वैशिष्ट्य भी होता है।

कोई संत प्रखर वैराग्यकी मूर्ति होते हैं, किन्हींमें भगवद्गुणकीर्तनप्रेमका अखण्ड स्रोत बहा करता है, कोई प्रबोध, वैराग्य और भगवत्प्रेम तीनोंको एक साथ प्रकाश करनेवाले होते हैं, किन्हींमें उत्कट विश्वप्रेम और भूतदया भरी हुई होती है, इत्यादि।

उत्कट विश्वप्रेम और अपार भूतदया जिनमें भरी हुई होती है उनकी गणना अवतारी पुरुषोंमें होती है। वे अपने ज्ञानोत्तर भक्तिबलसे असंख्यों जीवोंके त्रिविध ताप हरण करते हैं। ये अपनेको 'पतितपावनके दास' कहते और उन पतितपावनके बलपर 'जगत्को पावन' करते हैं। ऐसे पुरुषोंका जगत्में आना जगदुद्धारके लिये होता है, उनके इस जगदुद्धारकर्मसे उनके मोक्षसुखमें कुछ भी कमी नहीं आती। परन्तु इनके कर्मों और प्राकृत देशभक्तों या बहिर्मुख राष्ट्रभक्तोंके कर्मोंमें आकाश-पातालका अन्तर होता है। प्राकृत बहिर्मुख राष्ट्रभक्तोंका ब्रह्म सृष्टिरूप होता है और इन संतोंकी सृष्टि ब्रह्मस्वरूप होती है। संतोंकी मोक्षस्थिति और जगदुद्धारार्थ उनके अवतीर्ण होनेका विषय ब्रह्मसूत्रोंके भाष्यमें आचार्यपादने सुन्दर रीतिसे विवेचित किया है।

अध्यात्मज्ञानका सशक्तिक होना जगदुद्धारके लिये आवश्यक है। अध्यात्मशक्तिकी अमृतवर्षा जागतिक दुःख-दावाग्निपर कैसे करनी चाहिये इसका विचार हमलोगोंमें इस समय 'कल्याण' के द्वारा नामजपाद्यनुष्ठान-रूपसे हो रहा है। यह कार्य और अधिक विस्तृत परिणामपर होना चाहिये और होना चाहिये उच्च भूमिकासे आत्मनिष्ठ पुरुषोंके द्वारा।

'इस विश्वकी सारी शक्ति देवताओंके हाथोंमें है। यदि देवता और मनुष्य उस शक्तिका उपयोग करनेमें परस्पर सहयोग करें तो संसारके कल्याणका इतना बड़ा कार्य हो जिसकी कोई हद नहीं।' यह बात कही तो है जाफ्रे हडसन नामक एक युरोपियनने, पर ध्यान देने योग्य है।

पद

रसिकन चरन-धूलि जो पाऊँ।
शीश चढ़ाय लगाय दृगनमें, पाय हृदय निज सरस बनाऊँ॥
सुरसरि-अघ छूटत जिन परसे, तिन संतन यश केहि मुख गाऊँ।
संतसमाज-तीर्थ सेवन करि, उज्ज्वल रस-सागर अवगाहूँ॥
रसिकनको चरणोदक लै लै उर बिच सरिता प्रेम बहाऊँ।
संतोच्छिष्ट पाय श्रद्धा सों जन्म-जन्म त्रयताप नसाऊँ॥
रसिकन अनुगत ह्वै 'बाँके पिय' रसिकनकी अनुचरी कहाऊँ।
प्रिया-प्रीतम निकुंज-रसलीला अवलोकन करि नयन सिराऊँ॥

—बाँकेपियाजी

संतोंके सम्बन्धमें कुछ विचार

(लेखक—श्रीयुत ए० बी० पुराणी)

संतलोग सभी धर्मोंकी सत्यताके जीते-जागते प्रमाण हैं।

श्रद्धाहीन पुरुषोंके हृदयमें श्रद्धाका संचार करनेके लिये साक्षीका काम देते हैं।

× × × ×

संतलोग एक प्रकारके ज्योति:पुंज है जो सर्वत्र अपना प्रकाश फैलाकर अज्ञान और नास्तिकताके अन्धकारको दूर करते हैं।

× × × ×

संतलोग एक प्रकारके गिरिशिखर हैं जिनपर चढ़कर मनुष्य भगवान्‌के तत्त्वको प्राप्त कर सकता है।

× × × ×

नास्तिकलोग किसी भी अलौकिक बातको नहीं मानते। वे अपनी इन्द्रियोंका ही—दृश्य जगत्‌का ही विश्वास करते हैं। वे संतोंकी सत्ता नहीं मानते, क्योंकि वे ईश्वरकी सत्ताको भी नहीं मानते। वे प्राय: अहंमन्य होते हैं, अर्थात् वे अपनी अल्पबुद्धिको अपने अज्ञानकी अँधेरी कोठरीमें ही बन्द रखना चाहते हैं, क्योंकि वे इसी स्थितिको स्वाभाविक और साधारण मानते हैं।

जब हृदयके भीतरसे ज्ञानकी ज्योति फूट निकलती है, जो कभी-कभी महात्माओंके स्पर्श अथवा कृपासे भी होती है, तब पत्थरके समान कठोर एवं शुष्क हृदयपर भी वह असर कर जाती है। ऐसे ही लोगोंके लिये यह कहा गया है—

क्षणमिह सज्जनसंगतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका॥

अर्थात् 'संतोंका क्षणभरका संग भी इस भवसागरसे पार उतरनेके लिये नौकाका काम दे जाता है।'

प्राचीन कालकी बात कौन कहे, हमारे इसी युगमें पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी स्वामी दयानन्दके संसर्गसे नास्तिकसे आस्तिक बन गये और नरेन्द्रनाथ दत्त स्वामी रामकृष्ण परमहंसके सम्पर्कमें आनेसे स्वामी विवेकानन्द हो गये।

× × × ×

कुछ लोगोंकी यह धारणा है कि संतलोग दुनियाके लिये किसी कामके नहीं होते, उनके मतमें संतलोगोंकी समाजमें कोई उपयोगिता नहीं होती, बल्कि वे उन्हें अकर्मण्य कहनेमें भी नहीं हिचकते।

जो लोग ऐसा कहते हैं वे वास्तवमें अपने अज्ञानका ही परिचय देते हैं। क्या उन्होंने कभी इस बातपर विचार किया है कि संतलोगोंके जीवनसे संसारके नैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रमें कितनी जागृति हो जाती है और कैसे-कैसे महान् परिवर्तन हो जाते हैं? इसके अतिरिक्त गुप्तरूपसे तो संतलोग संसारके लिये न जाने क्या-क्या करते रहते हैं।

महात्मा गौतमबुद्धके जीवनका भारतीय तथा अन्य देशोंकी संस्कृतिपर कितना सुन्दर प्रभाव पड़ा। समर्थ रामदास स्वामीके जीवनका महाराष्ट्र देशकी उन्नतिके साथ कितना घनिष्ट सम्बन्ध था इसपर भी उन लोगोंने कभी विचार किया है?

× × × ×

संतोंके अन्दर बालकोंकी-सी सरलता होती है, जिस सरलतासे ही उनकी सारी आध्यात्मिक कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। उनके अन्दर एक ऐसी सच्ची जिज्ञासा होती है जो तत्त्वका साक्षात्कार होनेपर ही शान्त होती है।

× × × ×

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—वायुके संसर्गसे धूल भी आकाशपर चढ़ जाती है, वही गंदे जलका संग पाकर कीचड़ बन जाती है। संगका ऐसा ही प्रभाव है।

× × × ×

एक कविकी उक्ति है—कुछ संत मेघोंके समान इधर-उधरसे आध्यात्मिक तत्त्वोंको बटोरकर जहाँ उनकी आवश्यकता होती है वहाँ बरसा देते हैं। और कुछ संत वटवृक्षकी भाँति शाखा-प्रशाखाएँ फैलाकर राह चलनेवाले सैकड़ों पथिकोंको आश्रय और ठंडी छाया देकर सुखी करते हैं।

× × × ×

संतोंका स्वरूप है अज्ञानी जीवोंके साथ एकताका अनुभव करना और उन्हें अपनी दयाके बलसे ऊपर उठाकर भगवान्‌के पास पहुँचा देना।

× × × ×

बिजलीका प्रवाह लाइनके एक छोरसे चलकर दूसरे छोरतक पहुँच जाय, इसके लिये यह आवश्यक

है कि एक किनारेमें दूसरे किनारेकी अपेक्षा बिजलीकी ताकत अधिक हो।

मान लीजिये जलके दो हौज हैं जिनमेंसे एकका पानी दूसरेके पानीकी सतहसे ऊँचा है, ऐसी स्थितिमें जिस हौजका पानी नीचा है उसे दूसरे हौजकी सतहतक ले जानेके लिये नलकी आवश्यकता होगी।

जो साधक महात्माओंके संगसे अपने ज्ञानकी सतहको ऊपर ले जाना चाहता है उसे चाहिये कि वह सदा इस बातके लिये तैयार रहे।

इस तैयारीके लिये आकांक्षा और विनयकी अत्यन्त आवश्यकता है। इन दो बातोंके होनेपर ही संतोंकी पावन करनेवाली और भगवान्‌की ओर ले जानेवाली शक्ति काम करती है।

× × × ×

वर्तमान युग यह विश्वास करना चाहता है कि भगवान्‌की प्राप्ति बिना गुरुके ही हो सकती है, गुरुकी चर्चा ही आज-कलके लोगोंकी स्वातन्त्र्यप्रियता और अहंकारको ठेस पहुँचाती है।

गुरु भगवान्‌की प्रत्यक्ष मूर्ति होते हैं। वे संसारमें इसीलिये प्रकट होते हैं कि शिष्य उनके द्वारा भगवान्‌की प्राप्ति कर सकें, क्योंकि मनुष्य गुरु-शिष्यके लिये भगवान्‌का ही प्रतीक होता है।

× × × ×

लोग प्रायः खिलवाड़में ही पूछ बैठते हैं—अजी गुरुकी आवश्यकता क्या है? इससे इतनी बात तो अवश्य निश्चित हो जाती है कि प्रश्न पूछनेवालेके लिये तो सचमुच गुरुकी कोई आवश्यकता नहीं है। जबतक उसके अन्दर भगवान्‌से मिलनेकी इतनी प्रबल आकांक्षा उत्पन्न न हो जाय कि उसे कोई दूसरी बात सुहावे ही नहीं तबतक वास्तवमें उसके लिये गुरुकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु जिस क्षण उसके अन्दर वह आकांक्षा उत्पन्न होगी उस दिन उसका गुरुके बिना काम नहीं चलनेका, तब उसे गुरुकी आवश्यकता प्रतीत होगी।

कुछ लोग यह प्रश्न भी किया करते हैं कि 'भगवान् तो सर्वत्र ही हैं फिर किसी व्यक्तिविशेषके अनुगत होनेकी क्या आवश्यकता है? ठीक है, भगवान् स्वरूपसे अवश्य ही सर्वत्र हैं; परन्तु बात इतनी ही है कि सर्वत्र होते हुए भी वे सब जगह समानरूपसे प्रकट नहीं हैं।

गुरुमें ही भगवान्‌की सर्वोच्च अभिव्यक्ति होती है। शिष्य उनके अन्दर भगवान्‌को ही देखता है और उनके रूपमें भगवान्‌की ही पूजा करता है। गुरुके विग्रहमें उनके मनुष्यशरीर और उसके भीतर प्रकट होनेवाले भगवान्‌में कोई अन्तर नहीं होता।

अतः शिष्यकी भगवान्‌के सम्बन्धमें जैसी धारणा होगी वैसे ही गुरुको शिष्य ग्रहण करेगा।

प्रार्थना

सीस नाइ बंदौं चरन चारों जुगके भक्त।
सब मिलि किरपा कीजिये, रहूँ राम-आसक्त॥

मन मेरा विचलित न हो, बिरथा साँस न जाय।
हरि सुमरूँ ध्याऊँ हरी, बंदौं मन-बच-काय॥

संत-संग दीजै प्रभू, सेवा करूँ सप्रेम।
ऐसी भिक्षा दीजिये, 'संतदास' के क्षेम॥

—सन्तदास

ज्यौतिषशास्त्रकी रीतिसे संत-लक्षण

(लेखक—दैवज्ञविनोद)

फलानि ग्रहचारेण सूचयन्ति मनीषिणः।
को वक्ता तारतम्यस्य तमेकं वेधसं विना॥

अर्थात् ज्यौतिषशास्त्रके विद्वान् ग्रहचारके अनुसार फल बताते हैं। उसकी न्यूनाधिकता ब्रह्माके अतिरिक्त और कोई नहीं बता सकता।

इस संसारमें यह बात प्रसिद्ध है कि **'प्रत्यक्षं ज्यौतिषं शास्त्रम्'**—ज्यौतिषशास्त्र ही प्रत्यक्ष है। ज्यौतिष-शास्त्रके अनुसार यह बात बतलायी जा सकती है कि मनुष्योंमें कौन कैसे स्थानपर आरूढ़ होगा। जन्म-कुण्डली देखनेसे इसका स्पष्ट पता चल सकता है। भूगोलमें रहनेवाले समस्त प्राणियोंका भूत, भविष्य और वर्तमान व्यवहार खगोलस्थित ग्रहोंके आधारपर ही चलता है। यह बात वेदोंके नेत्ररूप ज्यौतिषशास्त्रमें कही गयी है।

ध्रुवबद्धं नक्षत्रं नक्षत्रैश्च ग्रहाः प्रतिनिबद्धाः।
ग्रहबद्धं कर्मफलं शुभाशुभं सर्वजन्तूनाम्॥

अर्थात् नक्षत्र ध्रुवसे बँधे हुए हैं और नक्षत्रोंके द्वारा ग्रह बँधे हुए हैं और उन सूर्य आदि नव ग्रहोंके अधीन सारे अच्छे-बुरे कर्मफल हैं, जिनका अनुभव प्राणीमात्र करते हैं। और भी—

पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानं षडाश्रयं षड्गुणयोगयुक्तम्।
तं सप्तधातुं त्रिमलं त्रियोनिं चतुर्विधाहारमयं शरीरम्॥

-इस गर्भोपनिषद्में कही हुई रीतिसे यह शरीर पंचभूतोंका बना हुआ है, पाँच विषयोंमें ही रहता है। उसे इन्द्रियोंका ही अवलम्बन है और वह छः गुणोंसे युक्त है। इसमें सात धातुएँ हैं। वात, पित्त, कफ ये तीन मल हैं। सत्, रज, तम ये तीन कारण हैं और भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य ये चार प्रकारके आहार हैं। इनसे ही यह शरीर बना हुआ है। इस शरीरमें रहनेवाले सात धातु और उनके वर्धक छः रसोंके कारण ग्रह ही हैं। इससे स्पष्ट होता है कि खगोलस्थित ग्रह और भूगोलस्थित प्राणियोंका कितना घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध है। यह बात पूर्वी और पश्चिमी ज्यौतिषके विद्वानोंने निर्विवादरूपसे स्वीकार की है।

महापुरुषोंकी जन्मकुण्डलीमें ग्रहोंकी गतिका इस प्रकार वर्णन हुआ है। यथा—

नवमे पञ्चमे वापि सौष्ठ्यादिगुणभाक् तनौ।
जीवन्मुक्तस्तदा मर्त्यो जायते धरणीतले॥

अर्थात् यदि नवें, पाँचवें और जन्मलग्नमें शुभ ग्रहनिरीक्षित स्वगृह और उच्चस्थानमेंसे कोई सौम्यग्रह पड़ा हो तो मनुष्य इस पृथ्वीपर ही जीवन्मुक्त हो जाता है। और भी—

धने धर्मे सुते लग्ने दशमेऽपि शुभा ग्रहाः।
बलाढ्याश्चेत्तदा साधुयोगोऽयं सम्प्रकीर्तितः॥

जन्मकुण्डलीमें यदि दूसरे, नवें, पाँचवें, जन्मलग्न तथा दशम स्थानोंमें चाहे किसी भी एक स्थानपर बलाढ्य शुभ ग्रह पड़ा हो तो वह पुरुष साधु होता है।

ज्यौतिषीलोग कुण्डली देखकर ही यह महापुरुष होगा इस प्रकार बड़े जोरके साथ कह सकते हैं। जन्मलग्नकी कुण्डली देखनेके पश्चात् ही, यह बात होगी, यह निर्णयपूर्वक कहा जा सकता है। पैदा हुए शिशुको जात कहते हैं, उसके विषयमें जो शास्त्र है उसको जातक कहते हैं—इस व्युत्पत्तिसे पैदा हुए शिशुका जन्मकालसे लेकर मृत्युपर्यन्तका जो लाभ या हानि है, शुभ या अशुभ फल है, उसको निरूपण करनेवाले शास्त्रको ही ज्यौतिष कहते हैं। और भी जन्मकुण्डलीमें स्थित ग्रहोंकी स्थिति निश्चित करके और उनके बलाबलका विचार करके मोक्ष और पुनर्जन्म भी जाना जा सकता है। जैसे कि यदि जन्मलग्नसे छठे, केन्द्र स्थान, अष्टम स्थान अथवा स्वक्षेत्रमें यदि बृहस्पति हों तो उसे स्वर्ग मिलता है। और लग्नमें मीन-राशि हो, उसपर शुभग्रह स्थित हों, नवांशमें गुरु हों तो दूसरे ग्रहोंके निर्बल होनेपर भी मुक्ति मिल जाती है।

फिर भी सारावलीमें इस प्रकार वर्णन आया है—

प्रथितमुनिप्रयोगे राजयोगो यदि स्या-
दशुभफलविपाकं सर्वमुन्मूल्य पश्चात्।
जनयति पृथिवीशं योगिनं साधुशीलं
प्रणतनृपशिरोमणण्युज्ज्वलत्पादपीठम्॥

यदि साधुका योग पड़नेपर कहीं राजयोग भी पड़ जाय तो अशुभ कर्मोंके सम्पूर्ण फलको हटाकर पश्चात् राजाको साधुशील योगी बना देता है। बड़े-बड़े नृपतिगण उसके चरणोंमें नतमस्तक होते हैं।

ज्यौतिषके फलोंके प्रत्यक्ष होनेके कारण यह सर्वशास्त्रोंमें शिरोमणि है। जैसा कि कहा है—

अप्रत्यक्षाणि शास्त्राणि विवादास्तेषु केवलम्।
प्रत्यक्षं ज्यौतिषं शास्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ॥

दूसरे शास्त्र अप्रत्यक्ष हैं और उनमें केवल विवाद-ही-विवाद है। प्रत्यक्ष तो केवल ज्यौतिषशास्त्र ही है, जिसके साक्षी स्वयं चन्द्रमा और सूर्य हैं।

श्रीराम, कृष्ण प्रभृति अवतारी पुरुषोंके जन्मपत्रमें स्थित ग्रहोंकी गति जाननेवाले विद्वानोंको ज्यौतिषशास्त्रकी महिमा भलीभाँति मालूम हो जायगी, इसमें सन्देह नहीं।

इस युगके प्रसिद्ध संत रामकृष्ण परमहंस आदि महापुरुषोंके जन्मपत्र भी इस विषयमें प्रमाण हैं। उनकी कुण्डलीके द्वारा उनके जीवनकी बात दिखानेकी मुझे बड़ी अभिलाषा है। परन्तु शीघ्र ही संत-अंक प्रकाशित होनेवाला है, अत: मुझे सन्तोष है। काल-सिद्धान्तके जाननेवाले ज्यौतिषियोंके लिये शास्त्रके अनुसार महापुरुषोंका लक्षण जान लेना कठिन नहीं है।

अनुवादक—व्यंकटेश शास्त्री महाराष्ट्रीय

संतोंका प्रभाव

(लेखक—श्रीजयदयालजी कसेरा)

अबके कल्याणका नववर्षांक 'संत-अंक' निकलनेवाला है यह सुनकर मुझे बहुत ही आनन्द हुआ। संतोंका प्रभाव जो मनुष्य अच्छी तरह समझ लेता है वह संत हो जाता है लेकिन मेरी तो तुच्छ बुद्धि है। संतोंकी कृपासे ही कुछ समझमें आ जाता है। संतोंके दर्शनसे मन पवित्र होता है। और मनके पवित्र होनेसे परमात्मदेवमें श्रद्धा होती है। संत संसारमें इस समय भी भारी काम कर रहे हैं! जगह-जगह सत्संग और पत्रोंद्वारा लोकहितके लिये उपदेश कर रहे हैं। जगह-जगह संतोंकी कृपाका प्रादुर्भाव हो रहा है। श्रीउड़िया-बाबाजी, श्रीहरिबाबाजी, श्रीकरपात्रीजी, श्रीस्वयंज्योतिजी और श्रीघनश्यामानन्दजी प्रभृति महात्माओंके सुन्दर उपदेश सुननेका सौभाग्य मुझे कई बार प्राप्त हुआ, ये बड़े ही संत पुरुष हैं। बहुत-से सद्गृहस्थोंमें भी अच्छे-अच्छे संतोंका संग प्राप्त हुआ वह भी मेरे लिये तो बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी रामचरितमानसमें कहते हैं—

उमा राम सुभाव जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥

श्रीतुलसीदासजीने बड़ा ही सुन्दर भाव व्यक्त किया है। पर श्रीभगवान्‌का स्वभाव तो केवल सुननेको ही मिलता है और वह भी संतोंसे ही परन्तु भगवान्‌के अभिन्न स्वरूप संतोंका स्वभाव तो प्रत्यक्ष देखनेको भी मिलता है। वास्तवमें संत और भगवान्‌में कोई अन्तर नहीं है। गीता अध्याय ७ श्लोक १८ में श्रीभगवान्‌ने कहा है—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

—इस श्लोकमें '**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' से भगवान्‌ने स्वयं अपने ज्ञानी भक्तोंको अपना ही रूप बताया है।

एक बार स्वामीजी श्रीअमृतनाथजी महाराजके शिष्य श्रीज्योतिनाथजीसे कुछ देरतक सत्संग करनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मैंने उनसे पूछा कि 'महाराज! मेरा चित्त टिकता नहीं है, अत: चित्त स्थिर होनेका कोई उपाय बतलाइये।' प्रश्न सुनकर पहले तो उन्होंने बहुत टाल-मटोल की परन्तु अन्तमें मेरा अत्यन्त आग्रह देखकर बोले कि खटाई, मिठाई, चरकाई (मसालेदार चटपटी चीजें) और लुगाई (स्त्री) इन चारोंको त्यागनेसे ब्रह्मचर्यका पालन सम्भव है और ब्रह्मचर्यके पालनसे ही मनका एक जगह टिकना सम्भव है। उन्होंने बहुत ही ठीक कहा। वास्तवमें स्वामीजी बड़े शान्तस्वरूप हैं।

कुछ ही दिन पहले मेरे मित्र एक गृहस्थ संतका कलकत्तेमें शुभागमन हुआ था। उन दिनों मेरा स्वास्थ्य भी बहुत खराब चलता था और मानसिक अशान्ति भी बनी रहती थी। उनके थोड़े ही दिनोंके संगसे मेरा स्वास्थ्य भी ठीक हो गया और मानसिक शान्ति भी प्राप्त हुई। भगवच्चर्चा तो उनके साथ होती ही रहती थी। इस सत्संगसे मुझे भक्तिमार्ग की बातोंका बहुत कुछ अनुभव भी हुआ। कहा भी है—

प्रथम भक्ति संतन कर संगा

श्रीगोस्वामीजीकी यह चौपाई बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यह बात तो अनुभवगम्य ही है कि संतोंके संगसे कितना बड़ा लाभ होता है। श्रीतुलसीदासजीने संतोंको

पारससे भी श्रेष्ठ बतलाया है क्योंकि पारस तो लोहेसे छुवाये जानेपर उसे सोना ही बना सकता है—अपना स्वरूप पारस नहीं; पर संतलोग अपने पवित्र संगसे असंतोंको भी अपने-जैसा संत बना लेते हैं। सत्संगकी महिमाके विषयमें श्रीरामचरितमानसमें कहते हैं—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग॥

इन सब बातोंपर विचार करनेसे यह बात निर्विवाद समझमें आ जाती है कि संत-संग ही ईश्वरप्राप्तिके लिये एकमात्र सर्वसुलभ साधन है। हालहीमें जब मैं बनारस गया था वहाँ श्रीकरपात्रीजी महाराजके उपदेश सुननेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने कहा कि 'चाहे मनुष्यके सिरपर विपत्तियोंका पहाड़ ही क्यों न टूट पड़े परन्तु अपने धर्मका कभी परित्याग न करे।' श्रीगीताजीमें भी कहा है—'**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।**' अर्थात् जिस मनुष्यका जो स्वभावज धर्म है उसे उसी धर्मके अनुसार अपने जीवनको बनाना चाहिये। दूसरेके धर्मकी श्रेष्ठता देखकर उसके पालनके लिये तैयार नहीं हो जाना चाहिये। औरोंके लिये चाहे वह कितना ही सुन्दर क्यों न हो पर तुम्हारे लिये वह अत्यन्त भयप्रद है। इसी प्रकार मुझे बहुत-से संतोंके संगका सौभाग्य प्राप्त हुआ और उससे प्रत्यक्ष लाभ भी प्रतीत हुआ। संतोंकी महिमा बताना शेष-शारदाके लिये भी असम्भव है फिर मेरे-जैसा अल्पबुद्धि प्राणी क्या बतावेगा? स्वयं भगवान्‌ने भी अपनेको संतोंका प्रभाव वर्णन कर सकनेमें असमर्थ बताया तो फिर हम अल्पशक्ति—तुच्छ जीव कैसे वर्णन कर सकते हैं? संत ही संसारके जीवनस्वरूप हैं—एकमात्र उन्हींका आश्रय सर्वमंगलप्रद है!

भगवान्-सद्गुरु

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि॥

सद्गुरु और परब्रह्म एक ही वस्तु हैं। उनके अतिरिक्त और कोई दूसरी वस्तु नहीं है अथवा जो कुछ वस्तु है सब वही हैं। इसी भावसे शास्त्रोंमें '**गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म**' से लेकर '**सर्वं गुरुमयं जगत्**' तकका निरूपण किया गया है। चौबीस तत्त्वोंको चौबीस गुरुओंके रूपमें कहकर भी यही बात प्रकट की गयी है। परन्तु इन सर्वस्वरूप या आत्मस्वरूप सद्गुरुकी उपलब्धि अपने बलपर अहंकारको लेकर नहीं की जा सकती। यह जब स्वयं अपनेको प्रकट करके स्वयं अपने-आपको वरण करते हैं—तभी इनकी उपलब्धि होती है।

इस व्यावहारिक जगत्‌पर दृष्टि डालनेसे ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने अपनेको तीन रूपोंमें प्रकट किया है। यों तो सभी उन्हींकी अभिव्यक्तियाँ हैं परन्तु आत्मदान करनेके लिये मुख्यतः इन्हीं रूपोंमें आकर उन्होंने सोते हुए जीवोंको जगाया है। वे तीन रूप ये हैं—दिव्य, सिद्ध और मानव। इनपर कुछ और विचार किया जाय।

दिव्य सद्गुरु

पुराणोंमें सृजन, पालन तथा संहारके तीन अधिकारियोंका ही वर्णन आता है जिन्हें ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र कहते हैं। परन्तु तन्त्रोंमें दो और—तिरोधान तथा अनुग्रहके अधिकारी-ईश्वर और सदाशिवका वर्णन हुआ है। ये अपनी-अपनी शक्तिसे विशिष्ट होकर दस हो जाते हैं। इन शक्तियोंकी समष्टिरूपा एक आदिशक्ति तथा उसे अपने अन्दर रखनेवाले-जिनसे कि वह अभिन्न है—परंब्रह्म ही आदि दिव्य सद्गुरु हैं। इनकी परम्परा इस प्रकार बनती है—

१—आदिनाथ

शुद्ध, अहंकाररहित, इच्छाहीन, एक, अद्वितीय, त्रिविध-परिच्छेदशून्य, अनन्त, अपार, सच्चिदानन्दस्वरूप परंब्रह्म परमात्मा ही आदिगुरु आदिनाथ हैं।

२—आदिशक्ति

यह यद्यपि उनसे अभिन्न ही हैं तथापि समस्त विभिन्न शक्तियोंकी आश्रयस्वरूपा समष्टिशक्तिरूप होनेके कारण भेद-विवक्षा करके इन्हें द्वितीय गुरु कहा जाता है। जैसी निद्रा टूटनेके पश्चात् और देहबुद्धि होनेके पूर्व '**मैं हूँ**' इस प्रकारकी सुषुप्ति-सुखसे अभिन्न वृत्ति होती है—वैसी ही इन्हें समझना चाहिये।

३—सदाशिव

जब आदिनाथ सद्गुरु अपनी उस अभिन्न शक्तिसे जिसका स्वरूप '**अहमस्मि**'—मैं हूँ—विशिष्ट होते हैं तब उन निर्गुण निराकार आदिनाथको ही सदाशिव

कहते हैं। वृत्तिशून्य होकर ही इनकी उपलब्धि की जा सकती है। इनकी विशेषता यह है कि निर्गुण होनेपर भी ये अनुग्रहशील है। 'मैं हूँ' इस वृत्तिसे युक्त होनेके कारण सम्पूर्णतः ध्वस्त जगत्को जागृत करना ही इनका अनुग्रह है।

४—सदाशिवशक्ति

सदाशिवकी 'मैं अकेला ही रमण नहीं करता' इस प्रकारकी विषय-सृष्टिसे पूर्व होनेके कारण शुद्ध विद्यामयी वृत्ति ही उनकी शक्ति है। यह मूलप्रकृतिरूपा चतुर्थ सद्‌गुरु हैं।

५—ईश्वर

सदाशिव अपनी 'अकेले न रमण करने' वाली वृत्तिके अभिमानीके रूपमें ईश्वररूपसे प्रकट हैं। यह सगुण होनेपर भी निराकार हैं। '**अपाणिपादो**' आदि श्रुतियाँ इन्हींका वर्णन करती हैं। सारा जगत् इनमें ही तिरोहित रहता है। इसलिये इन्हें तिरोधानशक्तिके अधिकारीके रूपमें कहा जाता है।

६—ईश्वरशक्ति

'**ततो द्वितीयमैच्छत्**' अर्थात् मैं अकेले रमण नहीं करता, इस वृत्तिसे एक हो जानेपर द्वितीय वस्तुकी इच्छा की। यह दूसरेकी इच्छारूपिणी वृत्ति ही ईश्वरशक्ति है। इस शक्तिके अन्दर महत्तत्त्वादि निहित हैं। ईश्वरकी यह अन्तर्वर्त्ती शक्ति ही षष्ठ सद्‌गुरु हैं।

७—रुद्र

द्वितीय वस्तुकी सृष्टि करनेकी इच्छासे विशिष्ट ईश्वर ही रुद्र हैं। यह सगुण-साकार हैं। '**या ते रुद्र शिवा तनूः**' इत्यादि श्रुतियाँ इन्हींका वर्णन करती हैं। प्रलय होनेपर सारा संसार इन्हींमें रहता है। ये सातवें सद्‌गुरुके नामसे प्रसिद्ध हैं।

८—रुद्रशक्ति

रुद्रकी 'मैं एकसे बहुत हो जाऊँ' यह वृत्ति महत्तत्त्व आदिको पृथक्-पृथक् करके उत्पन्न करती है। यही रुद्रकी शक्ति है। इसे आठवें सद्‌गुरुके रूपमें कहा जाता है।

९—विष्णु

'**एकोऽहं बहु स्याम्**' इस वृत्तिसे युक्त होनेके पश्चात् महत्तत्त्व आदिमें अपना तेज स्थापन करके, उन्हींमें स्थित होकर जो उनका परिपालन करते हैं, वे सम्पूर्ण जगत्के रक्षक विष्णु नवम सद्‌गुरु हैं।

१०—विष्णुशक्ति

'मैं अपनी शक्तिसे अपने अन्तर्गत इस जगत्का पालन-पोषण-धारण करता हूँ' इस प्रकारकी विष्णुकी शक्ति ही दशम सद्‌गुरु है। यही समस्त तत्त्वोंके रूपमें स्थित विश्वका पोषण करती है।

११—ब्रह्मा

तत्त्वोंके अन्दर स्थित जगत्को अपनी वृत्तिसे देखते-देखते तन्मय हो जो विराट्के रूपमें आविर्भूत हुए सब विभिन्नताओंके स्रष्टा समष्टिजीवस्वरूप ये ब्रह्मा ही ग्यारहवें सद्‌गुरु हैं।

१२—ब्राह्मीशक्ति

'मेरी प्रजा लौकिक-पारलौकिक तथा पूर्ण सुख प्राप्त करनेके लिये यज्ञादि करें' ब्रह्माकी यह क्रियारूपा वेदमयी वृत्ति ही शक्ति है। यह बारहवें सद्‌गुरु हैं।

यह सब बारहों दिव्य सद्‌गुरु अनादिकालसे अज्ञानमयी मायामें सोनेवाले जीवोंको जागृत करके स्वरूपकी ओर सर्वदा प्रवृत्त करते रहनेके कारण सद्‌गुरु हैं। ये एक ही सत्यके बारह लीलास्वरूप हैं। इनमेंसे किसीकी शरण ग्रहण करके जीव साधनराज्यमें अग्रसर हो सकता है। श्रीभागवतके अष्टम स्कन्ध २४ वें अध्यायमें बड़े जोरके साथ कहा गया है कि जीवको परमगुरुके रूपमें परमात्माका ही वरण करना चाहिये। मनुष्य तो स्वयं मायाके झपेटेमें पड़ा हुआ है भला वह दूसरेका क्या उद्धार कर सकता है। वास्तवमें संत-सद्‌गुरु तो भगवान् ही हैं।

इनके अतिरिक्त सनकादि सिद्ध सद्‌गुरु और श्रीशंकराचार्यादि मानव सद्‌गुरुओंके चरित्र अलग लिखे गये हैं।

—शान्तनु०

सनकादि

सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार और सनत्सुजात ये पाँचों ही ब्रह्माके मानस पुत्र हैं। कहीं-कहीं सनत्कुमार और सनत्सुजातको एक मानकर चार ही कहा गया है। कहते हैं कि जब ब्रह्मासे पाँच पर्वोंवाली अविद्या दूर हो गयी तब ब्रह्माने अपनी शक्तिके साथ निर्मल अन्तःकरण होकर इनकी सृष्टि की। बड़ी प्रसन्नता हुई। ब्राह्मीशक्तिने

इन्हें सम्पूर्ण विद्या, उपासना-पद्धति और तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। इन सबके अध्ययन, तपस्या, शील-स्वभाव एक-से ही हैं। इनमें शत्रु, मित्र तथा उदासीनोंके प्रति भेददृष्टि नहीं। सर्वदा पाँच वर्षकी अवस्थावाले बालकोंकी भाँति ही ये विचरते रहते हैं। संसारके द्वन्द्व इनका स्पर्श नहीं कर पाते। रात-दिन भगवान् श्रीकृष्णके नामका जप किया करते है। '**हरिः शरणम्**' मन्त्र तो इनके श्वासोच्छ्वासके साथ-साथ चलता रहता है, इसीसे ये सदा बालकरूप रहते हैं। इन्हें भगवान्की लीलासुधा पान करनेमें इतना आनन्द आता है कि प्रायः शेषनागके पास जाकर पूछ-पूछकर उसका रसास्वादन करते रहते हैं। इनका एक क्षण भी भगवान्के चिन्तन बिना नहीं बीतता। ये सर्वदा ब्रह्मानन्दमें मग्न रहते हैं। इनके उपदेशोंसे अनेकों व्यक्तियोंका कल्याण-साधन हुआ है। इन्होंने शुकदेव और भीष्मको अध्यात्मविद्याका सदुपदेश प्रदान किया है। महाराज पृथुने जो कि भगवान्के एक अंशावतार हैं—इनसे ही भागवत-सदुपदेश ग्रहण किये। सनत्कुमारजीने पृथुके विनम्र प्रश्नके उत्तरमें कहा है—

'सत्संग ही भगवत्प्राप्तिका सुगम और सर्वश्रेष्ठ उपाय है। भगवान् श्रीकृष्णकी लीला, गुण और स्वभाव आदिकी चर्चा करते रहनेसे अन्तःकरणका मल धुल जाता है फिर तो भगवान्का सच्चा प्रेम प्राप्त हो जाता है। शास्त्रोंमें बस यही एक बात निश्चयरूपसे कही गयी है। यही एकमात्र परमार्थ सत्य है कि आत्मस्वरूप भगवान्में ही निरन्तर स्थिति रहे। श्रद्धापूर्वक भागवतधर्मके आचरणसे अन्तस्तलमें भगवान्के स्पर्शका अनुभव होता है। संतोंकी शरणमें रहकर भगवान्की लीलाका श्रवण करना चाहिये। मनसे, वाणीसे, शरीरसे किसीको कष्ट न हो। दुःसंगसे अलग रहकर, एकान्त और पवित्र देशका सेवन करके यम-नियमोंके पालनपूर्वक निरन्तर भगवान्के स्मरणमें लगे रहना ही परम कल्याण है। इस प्रकारके स्मरणसे धीरे-धीरे अविद्या नष्ट हो जाती है, मोहका परदा फट जाता है और पञ्चकोश तथा लिंगशरीरका ध्वंस हो जाता है। फिर तो एक अद्वितीय अनन्य विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही रह जाता है। कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता।........... '

इस प्रकारके बहुत-से उपदेश सुनकर भगवदवतार पृथुने अपनी कृतार्थता प्रकट की और इन नित्यबालक मुनियोंके गुणगान किये।

महाभारतके अवसरपर सनत्सुजात मुनिने धृतराष्ट्रको बहुत सुन्दर उपदेश दिये हैं। उद्योगपर्वका एक महत्त्वपूर्ण अंश ही सनत्सुजातीयके नामसे प्रसिद्ध है। इसपर श्रीआदिशंकराचार्यने बड़ा विस्तृत भाष्य किया है। अध्यात्मजिज्ञासुओंको उसका अध्ययन करना चाहिये।

कभी-कभी ये लोग स्वयं परस्पर भगवच्चर्चा किया करते थे। किसी एकको वक्ता बना लेते और दूसरे सब श्रोता बनते। इस प्रकार बड़े मर्मकी बातें होतीं। श्रीभागवतकी वेदस्तुति एक ऐसे ही अवसरपर कही गयी थी। श्रीसनन्दनजीको प्रवचनकार बनाकर बाकी लोग श्रोता बन गये। इस प्रकार एक बड़े जटिल प्रश्नका उत्तर संसारको मिल गया कि वेदोंमें भगवान्का वर्णन किस प्रकार होता है। भगवान्से अतिरिक्त वस्तुका निषेध करते हुए वेद अन्तमें किस प्रकार भगवान्में परिसमाप्त होते हैं, इस उपदेशमें इस बातका अत्यन्त विशद वर्णन हुआ है।

भगवान्के भक्तों, जीवन्मुक्तों, सिद्ध संतोंमें संसारके कलुषित विकार काम-क्रोधादि होते ही नहीं, न हो सकते हैं। फिर भी कभी-कभी संतोंके जीवनमें भी भगवदिच्छासे लीलारूपमें यह बात देखी जाती है। देखनेवाले लोग अपने कलुषित हृदयके कारण भ्रमवश महात्माओंकी लीलाओंको न समझकर उनमें काम-क्रोधकी कल्पना कर बैठते हैं। उनकी इन लीलाओंके द्वारा जगत्की हानि न होकर लाभ ही होता है। इनके सम्बन्धमें भी पुराणोंमें एक ऐसे ही प्रसंगका वर्णन आता है।

एक बार इन लोगोंने वैकुण्ठकी यात्रा की। इन्हें पाँच वर्षके नग्न बालकके रूपमें देखकर वहाँके द्वारपालों (जय-विजय) ने रोक दिया। इसपर इन्होंने डाँटते हुए कहा—

'भगवान्के नित्यधाम—सत्त्वके साम्राज्यमें यह विषमता उचित नहीं है। तुम दोनोंके मनमें कुछ गर्व और कपट अवश्य आ गया है, नहीं तो भगवान्के सबके लिये खुले हुए समधाममें भला यह कैसे हो सकता है? तुम हमपर शंका कर रहे हो। इस एकरस

धाममें तुम दोनोंने पेटके कारण होनेवाले सांसारिक भेदभावको स्थान दिया है। इसलिये शीघ्र ही यहाँसे गिर जाओ।'

यद्यपि संतोंमें इस प्रकारका आवेश होना असम्भव है फिर भी भगवान्‌की ऐसी ही इच्छा थी। वे इन्हीं मुनियोंको निमित्त बनाकर जगत्‌में आना चाहते थे। कहाँ तो उनका स्थान और दर्शन इन मुनियोंके लिये भी अगम्य था और कहाँ वे बंदर-भालू आदिके लिये भी सुलभ हो गये। गाँवके ग्वालोंतकमें आये। इन मुनियोंको निमित्त बनाकर अपनेको सुलभ कर दिया।

भगवान्‌ने स्वयं आकर उनकी स्तुति की, ब्राह्मणोंकी महिमा गायी, प्रसन्नता प्रकट की, तब इन्होंने मुक्तस्वरसे कहा, 'प्रभो! हमें तो उचित-अनुचित कुछ जान नहीं पड़ता। इस अपराधके बदले तुम्हारी जो इच्छा हो वही दण्ड दे दो। हमें सहर्ष शिरोधार्य है।'

भगवान्‌ने मुस्कराते हुए कहा, 'तुम्हारा कोई दोष नहीं। यह तो मेरी ही इच्छा थी। मैंने पहले ही सोच रखा था।'

भगवान्‌की प्रेमभरी गम्भीरवाणी सुनकर सब-के-सब भगवान्‌की प्रदक्षिणा, नमस्कार करके आज्ञा पाकर उनके गुण गाते हुए स्वच्छन्द विचरण करने लगे।

यद्यपि ये सब-के-सब नित्यसिद्ध और निरन्तर परमार्थनिष्ठ हैं तथापि संसारमें गुरुशिष्य-परम्पराके स्थापनके लिये क्रमशः बड़े भाइयोंको छोटोंने गुरुके रूपमें माना था। विधिवत् उनसे दीक्षा लेकर श्रवण-मननादि किया। आज भी वे कहीं गुप्तरूपसे विचरण करते होंगे। सम्भव है कहीं हमारे पास ही हों परन्तु हमारा ऐसा सौभाग्य कहाँ है कि उनके दर्शनसे अपना जन्म सफल कर सकें। उनकी कृपा ही वाञ्छनीय है।

—शान्तनु०

नारद

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः।
गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत्॥

(श्रीमद्भा० १। ६। ३९)

'अहो! ये देवर्षि नारदजी धन्य हैं जो वीणा बजाते, हरिगुण गाते और मस्त होते हुए इस दुखी संसारको आनन्दित करते रहते हैं।'

देवर्षि नारद भगवान्‌के उन चुने हुए पात्रोंमें हैं जो भगवान्‌की ही भाँति अवतीर्ण होकर भगवान्‌की भक्ति और उनके माहात्म्यका विस्तार करते हुए लोककल्याणके लिये जगत्‌में विचरते हैं। सभी युगोंमें, सभी लोकोंमें, सभी शास्त्रोंमें, सभी समाजोंमें और सभी कार्योंमें नारदजीका प्रवेश है। इन्हें भगवान्‌का 'मन' कहा गया है। ये भक्तिके एक प्रधान आचार्य माने गये हैं। इनके रचित भक्तिसूत्रोंमें भक्तितत्त्वकी बड़ी सुन्दर व्याख्या की गयी है। इन्होंने प्रत्येक युगमें घूम-घूमकर भक्तिका प्रचार किया और अब भी अप्रत्यक्षरूपमें वे भक्तोंकी सहायता करते रहते हैं। बल्कि अधिकारी पुरुषोंको तो वे साक्षात् दर्शन देकर कृतार्थ किया करते हैं। संसारपर इनका अमित उपकार है। प्रह्लाद, ध्रुव, अम्बरीष आदि महान् भक्तोंको इन्होंने भक्तिमार्गमें प्रवृत्त किया और श्रीमद्भागवत और वाल्मीकीय रामायण-जैसे दो अनूठे ग्रन्थ भी संसारको इन्हींकी कृपासे प्राप्त हुए। शुकदेव-जैसे महान् ज्ञानीको भी इन्होंने उपदेश दिया।

इनके पूर्वजन्मके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि ये पहले एक दासीपुत्र थे। भगवान्‌के असीम अनुग्रहसे इन्हें बचपनमें ही संतसमागम प्राप्त हो गया। जिस गाँवमें ये रहते थे वहाँ एक बार चातुर्मास्य बितानेके लिये बहुत-से महात्मा एकत्र हुए। इन्हें उन महात्माओंकी पत्तलोंमें बची हुई जूठन खानेको मिल जाया करती थी, जिसके प्रभावसे उनके सारे पाप नष्ट हो गये और निरन्तर भगवान्‌की कथाओंका श्रवण करनेसे इनका अन्तःकरण शुद्ध होकर इनके हृदयमें भक्तिका संचार हो गया। उन मुनियोंने जाते समय इन्हें भगवान्‌के कहे हुए अति गुप्त ज्ञानका उपदेश किया, जिससे इनकी बुद्धि भगवत्स्वरूपमें स्थिर हो गयी। जब ये पाँच ही वर्षके थे इनकी माताकी अकस्मात् मृत्यु हो गयी। अब तो ये सब प्रकारके सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त होकर जंगलकी ओर निकल पड़े। वहाँ जाकर ये एक वृक्षके नीचे बैठकर भगवान्‌के

स्वरूपका ध्यान करने लगे। ध्यान करते-करते इनकी वृत्तियाँ एकाग्र हो गयीं और इनके हृदयमें भगवान् प्रकट हो गये। परन्तु थोड़ी देरके लिये इन्हें अपने मनमोहन रूपकी झलक दिखाकर भगवान् तुरन्त अन्तर्धान हो गये। अब तो ये बहुत छटपटाये और मनको पुनः स्थिर करके भगवान्का ध्यान करने लगे। किन्तु भगवान्का वह रूप उन्हें फिर न दीख पड़ा। इतनेहीमें आकाशवाणी हुई कि 'हे दासीपुत्र! इस जन्ममें फिर तुम्हें मेरा दर्शन नहीं होगा। इस शरीरको त्यागकर मेरे पार्षद-रूपमें तुम मुझे पुनः प्राप्त करोगे।' भगवान्के इन वाक्योंको सुनकर इन्हें बड़ी सान्त्वना हुई और ये मृत्युकी बाट जोहते हुए निःसंग होकर पृथ्वीपर विचरने लगे। समय आनेपर इन्होंने अपने पाञ्चभौतिक शरीरको त्याग दिया और फिर कल्पके अन्तमें ये दिव्य विग्रह धारणकर ब्रह्माजीके मानस पुत्रके रूपमें पुनः अवतीर्ण हुए और तबसे ये अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रतको धारणकर भगवान्की दी हुई वीणाको बजाते हुए भगवान्के गुणोंको गाते रहते हैं।

महाभारतमें कहा है कि देवर्षि नारदजी समस्त वेदोंके मर्मज्ञ, देवताओंके पूज्य, इतिहास-पुराणोंके विशेषज्ञ, अतीत कल्पोंकी बातोंको जाननेवाले, धर्मतत्त्वके ज्ञाता, शिक्षाकल्प-व्याकरणके असाधारण पण्डित, संगीतविशारद, प्रभावशाली वक्ता, मेधावी, नीतिज्ञ, कवि, ज्ञानी, समस्त प्रमाणोंद्वारा वस्तुका विचार करनेमें समर्थ, बृहस्पति-जैसे विद्वानोंकी शंकाओंका समाधान करनेवाले, धर्म-अर्थ-काम-मोक्षके तत्त्वको जाननेवाले, योगबलसे समस्त लोकोंकी बातोंका पता रखनेवाले, मोक्षाधिकारके ज्ञाता, सन्धि और विग्रहके सिद्धान्तोंको जाननेवाले, विधिका उपदेश करनेवाले, समस्त सद्‌गुणोंके आधार और अपार तेजस्वी थे। वे ज्ञानके स्वरूप, विद्याके भण्डार, आनन्दके सागर, सदाचारके आधार, सब भूतोंके अकारण प्रेमी और विश्वके सहज हितकारी थे।

इनकी समस्त लोकोंमें अबाधित गति है। ये भगवान्के विशेष कृपापात्र और लीलासहचर हैं। जब-जब भगवान्का अवतार होता है ये उनकी लीलाके लिये भूमि तैयार करते हैं, लीलोपयोगी उपकरणोंका संग्रह करते हैं और अन्य प्रकारकी सहायता करते हैं। इनका मङ्गलमय जीवन जगत्के मङ्गलके लिये ही है। श्रीराम और श्रीकृष्णकी लीलाओंमें तो ये विशेषरूपसे सहयोग देते थे।

संत-शरीर

हम-सा—ऐसा हो आकार, अचिन्त्य अगम्य अमोघ प्रभाव!
प्रकृतिमें—और प्रकृतिसे पार! विश्वके इस संसृतिकी मूरि।
त्याज्यमें ग्राह्य, अशुचिमें मंजु, पुरुष पर पुरुषोत्तम साक्षात्!
गुणोंमें-किन्तु गुणोंसे पार! साथ ही अतिशय करुणागार ॥ १ ॥

मर्त्य—पर अमर! रुद्र-शिवरूप! शान्तिके स्थान, ज्ञानके धाम,
जगतमें जगन्नाथकी प्राप्ति जहाँ बस कृपादृष्टि ही मात्र।
निर्गुण निराकारकी मूर्ति, सगुण, साकार, सशक्त, सचेष्ट
उसीके क्या पद-रज-कण कभी मिलेंगे इस शिशुको दो-चार?

—'सुदर्शन'

सप्तर्षि

विभिन्न मन्वन्तरोंमें धर्म और मर्यादाकी रक्षा-दीक्षाके लिये जो सात ऋषि आविर्भूत हुआ करते हैं, उन्हें ही सप्तर्षि कहते हैं। उन्हींकी तपस्या, शक्ति और ज्ञानके प्रभावसे संसार सुख और शान्तिसे रहता है। हरिवंश, विष्णुपुराण, पद्मपुराण, मत्स्यपुराण आदिके मतसे स्वायम्भुव मन्वन्तरमें और कइयोंके मतसे वैवस्वत मन्वन्तरमें भी निम्नलिखित सात ऋषि सप्तर्षि होते हैं, ये सर्वदा ध्रुवकी परिक्रमा करते हुए जगत्का धारण-पोषण करते हैं—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ। अब क्रमशः इनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

मरीचि

महर्षि मरीचि ब्रह्माके अन्यतम मानसपुत्र और एक प्रधान प्रजापति हैं। इन्हें द्वितीय ब्रह्मा ही कहा गया है। ये सर्वदा ब्रह्माकी ही भाँति सृष्टिकार्यमें संलग्न रहते हैं। कभी-कभी इन्द्रसभामें उपस्थित होकर दण्डनीतिका मन्त्रित्व भी करते हैं। इनकी कई पत्नियोंका वर्णन भी पुराणोंमें आता है। उनमें एक तो दक्षप्रजापतिकी पुत्री संभूति हैं और दूसरी धर्म नामक एक ब्राह्मणकी धर्मव्रता नामकी कन्या हैं। उन्होंने अपने पिताकी आज्ञासे अनुरूप पतिकी प्राप्तिके लिये बड़ी तपस्या की। जब महर्षि मरीचिको इस बातका पता चला तब उन्होंने इनके पितासे कहकर इन्हें पत्नीके रूपमें ग्रहण किया। इनके सैकड़ों पुत्र थे, जिनमें कश्यप और मनु जैसे पुत्र भी हैं जिनकी वंश-परम्परासे यह सारा जगत् परिपूर्ण और सुरक्षित है। इन्हें भगवान्का अंशांशावतार कहते हैं। इनमें भगवान्की पालनशक्तिका प्रकाश हुआ है। ब्रह्माने इन्हें पद्मपुराणके कुछ अंश सुनाये हैं। जैसे ब्रह्माके पुत्रोंमें सनकादि निवृत्तिपरायण हैं वैसे ही मरीचि आदि प्रवृत्तिपरायण हैं। इन्होंने ही भृगुको दण्डनीतिकी शिक्षा दी है। ये सुमेरुके एक शिखरपर निवास करते हैं और महाभारतमें इन्हें चित्रशिखण्डी कहा गया है। ब्रह्माने पुष्करक्षेत्रमें जो यज्ञ किया था उसमें ये अच्छावाक् पदपर नियुक्त हुए थे। दस हजार श्लोकोंसे युक्त ब्रह्मपुराणका दान पहले-पहल ब्रह्माने इन्हींको किया था। वेदोंमें भी इनकी बड़ी चर्चा है और प्रायः सभी पुराणोंमें इनके चरित्रकी चर्चा है।

अत्रि

ये भी महर्षि मरीचिकी भाँति ब्रह्माके मानसपुत्र और प्रजापति हैं। ये दक्षिण दिशामें रहते हैं,इनकी पत्नी अनसूया भगवदवतार कपिलकी भगिनी तथा कर्दम प्रजापतिकी पत्नी देवहूतिके गर्भसे पैदा हुई हैं। जैसे महर्षि अत्रि अपने नामके अनुसार त्रिगुणातीत थे वैसे ही अनसूया भी असूयारहित थीं। इन दम्पतीको जब ब्रह्माने आज्ञा की कि सृष्टि करो तब इन्होंने सृष्टि करनेके पहले तपस्या करनेका विचार किया और बड़ी घोर तपस्या की। इनके तपका लक्ष्य सन्तानोत्पादन नहीं था बल्कि इन्हीं आँखोंसे भगवान्का दर्शन प्राप्त करना था। इनकी श्रद्धापूर्वक दीर्घकालकी निरन्तर साधना और प्रेमसे आकृष्ट होकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों ही देवता प्रत्यक्ष उपस्थित हुए। उस समय ये दोनों उनके चिन्तनमें इस प्रकार तल्लीन थे कि उनके आनेका पतातक न चला। जब उन्होंने ही इन्हें जगाया तब ये उनके चरणोंपर गिर पड़े, किसी प्रकार सम्हलकर उठे और गद्गद वाणीसे उनकी स्तुति करने लगे। इनके प्रेम, सचाई और निष्ठाको देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने वरदान माँगनेको कहा। इन दम्पतीके मनमें अब संसारी सुखकी इच्छा तो थी ही नहीं, परन्तु ब्रह्माकी आज्ञा थी सृष्टि करनेकी और वे इस समय सामने ही उपस्थित थे; तब इन्होंने और कोई दूसरा वरदान न माँगकर उन्हीं तीनोंको पुत्ररूपमें माँगा और भक्तिपरवश भगवान्ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके 'एवमस्तु' कह दिया। समयपर तीनोंहीने इनके पुत्ररूपसे अवतार ग्रहण किया। विष्णुके अंशसे दत्तात्रेय, ब्रह्माके अंशसे चन्द्रमा और शंकरके अंशसे दुर्वासाका जन्म हुआ। जिनकी चरणधूलिके लिये बड़े-बड़े योगी और ज्ञानी तरसते रहते हैं वे ही भगवान् अत्रिके आश्रममें बालक बनकर खेलने लगे और दोनों दम्पती उनके दर्शन और वात्सल्यस्नेहके द्वारा अपना जीवन सफल करने लगे। अनसूयाको तो अब कुछ दूसरी बात सूझती ही न थी। अपने तीनों बालकोंको खिलाने-पिलानेमें ही लगी रहतीं। उनके बालकोंके चरित्र यथास्थान आवेंगे ही। इन्हींके पातिव्रत्य, सतीत्वसे प्रसन्न होकर वनगमनके समय स्वयं भगवान् श्रीराम सीता और लक्ष्मणके साथ

इनके आश्रमपर पधारे और इन्हें जगज्जननी माँ सीताको उपदेश करनेका गौरव प्रदान किया।

कहीं-कहीं ऐसी कथा भी आती है कि महर्षि अत्रि ब्रह्माके नेत्रसे प्रकट हुए थे और अनसूया दक्ष-प्रजापतिकी कन्या थीं। यह बात कल्पभेदसे बन सकती है। अनेकों बार बड़ी-बड़ी आपत्तियोंसे इन्होंने जगत्‌की रक्षा की है। पुराणोंमें ऐसी कथा आती है कि एक बार राहुने अपनी पुरानी शत्रुताके कारण सूर्यपर आक्रमण किया और सूर्य अपने स्थानसे च्युत हो गये, गिर पड़े। उस समय महर्षि अत्रिके तपोबल और शुभ संकल्पसे उनकी रक्षा हुई और जगत् जीवन और प्रकाशसे शून्य होते-होते बच गया। तबसे महर्षियोंने अत्रिका एक नाम प्रभाकर रख दिया। महर्षि अत्रिकी चर्चा वेदोंमें भी आती है। एक बार जब ये समाधिमग्न थे दैत्योंने इन्हें उठाकर शतद्वार यन्त्रमें डालकर अग्नि जला दी और इन्हें नष्ट करनेकी चेष्टा की, किन्तु इन्हें इस बातका पतातक न था। उस समय भगवत्प्रेरणासे अश्विनीकुमारोंने वहाँ पहुँचकर इन्हें बचाया। इनकी दृष्टि इतनी शीतल, इतनी अमृतमयी और इतनी लोककल्याणकारिणी थी कि वहीं मूर्तिमान् होकर आज भी चन्द्रमाके रूपमें जगत्‌को शीतलता, अमृत और शान्तिका दान कर रही है। धर्मशास्त्रोंमें अत्रिसंहिता एक प्रधान स्मृति है और हमारे कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्णय करनेके लिये वह एक अमूल्य ग्रन्थरत्न है। इनके विस्तृत और पवित्र जीवनकी चर्चा प्राय: समस्त आर्ष ग्रन्थोंमें आयी है।

अंगिरा

महर्षि अंगिरा भी ब्रह्माके एक मानसपुत्र और प्रजापति हैं। इनकी तपस्या और उपासना इतनी तीव्र थी कि इनका तेज और प्रभाव अग्निकी अपेक्षा भी अधिक बढ़ गया। उस समय अग्निदेव भी जलमें रहकर तपस्या करते थे। जब उन्होंने देखा कि अंगिराके तपोबलके सामने मेरी तपस्या और प्रतिष्ठा तुच्छ हो रही है तब बड़े सन्ताप और ग्लानिके साथ वे महर्षि अंगिराके पास आये। महर्षि अंगिराने उनके विषादका अनुभव करके कहा—'आपके सन्तप्त होनेका कोई कारण नहीं है, आप बड़ी प्रसन्नताके साथ लोगोंका कल्याण करें।' अग्निने गिड़गिड़ाकर कहा—'मेरी कीर्ति नष्ट हो रही है; अब मुझे कोई अग्नि कहकर सम्मान नहीं करेगा। आप प्रथम अग्नि हैं और मैं द्वितीय अग्नि हूँ।' उस समय महर्षि अंगिराने कहा—'आप अग्निके रूपमें देवताओंको भोजन पहुँचावें, और स्वर्ग चाहनेवालोंको उनका मार्ग बतावें तथा अपनी दिव्य ज्योतिद्वारा मुमुक्षुओंका अन्त:करण शुद्ध करें, मैं आपको पुत्रके रूपमें वरण करता हूँ।' अग्निदेवने बड़ी प्रसन्नताके साथ उनकी बात स्वीकार की और बृहस्पति नामसे उनके पुत्रके रूपमें प्रसिद्ध हुए।

कहीं-कहीं ऐसी कथा भी आती है कि अंगिरा अग्निके पुत्र हैं। यह बात कल्पभेदसे ही बन सकती है। इनकी पत्नी दक्ष प्रजापतिकी पुत्री स्मृति थीं जिनसे अनेकों पुत्र और कन्याएँ उत्पन्न हुई।

शिवपुराणमें ऐसी कथा आती है कि युग-युगमें भगवान् शिव व्यासावतार ग्रहण करते हैं; उनमें वाराहकल्पमें वेदोंके विभाजक, पुराणोंके प्रदर्शक और ज्ञानमार्गके उपदेष्टा अंगिरा ही व्यास थे। वाराहकल्पके नवें द्वापरमें महादेवने ऋषभ नामसे अवतार ग्रहण किया था। उस समय उनके पुत्ररूपमें महर्षि अंगिरा थे। एक बार भगवान् श्रीकृष्णने व्याघ्रपाद ऋषिके आश्रमपर महर्षि अंगिरासे पाशुपतयोगकी प्राप्तिके लिये बड़ी दुष्कर तपस्या की थी। इनके पुत्रोंमें बृहस्पति-जैसे ज्ञानी और अनेकों मन्त्रद्रष्टा थे। ये बहुधा देवर्षि नारदके साथ विचरते रहते हैं और वृत्रासुरके पूर्व जन्ममें जब कि वह चित्रकेतु था इन्होंने उसकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये उसे पुत्र दान किया और पुत्रके मर जानेपर उसे संसारसे वैराग्यका उपदेश करके भगवत्प्राप्तिका मार्ग बताया, जिससे चित्रकेतुको भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हुई। अभी थोड़े दिन हुए महर्षि अंगिरारचित एक 'भक्तिदर्शन' प्राप्त हुआ है। उसमें भक्तिशास्त्रकी बड़ी ही मार्मिक और पूर्ण व्याख्या हुई है। एक महर्षि अंगिराकी स्मृति भी है जिसमें धर्म-कर्मका बड़ा सुन्दर निरूपण हुआ है। संक्षेपमें महर्षि अंगिरा सप्तर्षियोंमें एकके रूपमें जगत्‌का धारण करते हैं तथा ज्ञान, भक्ति और कर्मके विस्तारके द्वारा सुप्त जीवोंको जाग्रत् करके भगवान्‌की ओर अग्रसर करते हैं। पुराणोंमें इनका चरित्र भी विस्तारसे मिलता है।

पुलस्त्य

महर्षि पुलस्त्य भी पूर्वोक्त ऋषियोंकी भाँति ब्रह्माके मानसपुत्र हैं। ये भी अपनी तपस्या, ज्ञान और दैवी सम्पत्तिके द्वारा जगत्‌के कल्याणसम्पादनमें लगे

रहते हैं। इनका स्वभाव इतना दयालु है कि जब एक बार अपनी दुष्टताके कारण रावणको कार्तवीर्य सहस्रार्जुनके यहाँ बन्दी होना पड़ा था तब इन्होंने दयापरवश होकर उनसे अनुरोध किया कि इस बेचारेको मुक्त कर दो और इनकी आज्ञा सुनते ही वह सहस्रार्जुन जिसके सामने बड़े-बड़े देवता और वीर पुरुष नतमस्तक हो जाते थे इनकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सका। इनके तपोबलके सामने बरबस उसका सिर झुक गया। पुलस्त्यकी सन्ध्या, प्रतीची और प्रीति आदि कई स्त्रियाँ थीं, और दत्तोलि आदि कई पुत्र थे। यही दत्तोलि स्वायम्भुव मन्वन्तरमें अगस्त्य नामसे प्रसिद्ध हुए। इन्हींकी एक पत्नी हविर्भूसे विश्रवा हुए थे जिनके पुत्र कुबेर, रावण आदि हुए। ये योगविद्याके आचार्य माने जाते हैं। ऋषि पुलस्त्यने ही देवर्षि नारदको वामनपुराणकी कथा सुनायी है। जब पराशर क्रुद्ध होकर राक्षसोंके नाशके लिये एक महान् यज्ञ कर रहे थे तब वशिष्ठके परामर्शसे पुलस्त्यका अनुरोध मानकर उन्होंने यज्ञ बन्द कर दिया, जिससे महर्षि पुलस्त्य उनपर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्हें अपनी कृपा और आशीर्वादसे समस्त शास्त्रोंका पारदर्शी बना दिया। भगवान्‌के अवतार ऋषभदेवने बहुत दिनोंतक राज्यपालन करनेके पश्चात् अपने ज्येष्ठ पुत्र भरतको राज्य देकर जब वनगमन किया तब उन्होंने महर्षि पुलस्त्यके आश्रममें रहकर ही तपस्या की थी। ब्रह्माके सर्वतत्त्वज्ञ पुत्र ऋभुसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेवाले निदाघ इन्हीं महर्षि पुलस्त्यके पुत्र थे। ये अब भी जगत्‌की रक्षा-दीक्षामें तत्पर हैं और संसारमें यत्किञ्चित् सुख-शान्तिका दर्शन हो रहा है उसमें इनका बहुत बड़ा हाथ है। महाभारत और पुराणोंमें इनकी पर्याप्त चर्चा है।

पुलह

महर्षि पुलह भी ब्रह्माके मानसपुत्र और षोडश प्रजापतियोंमें एक हैं। ये भी अन्यान्य ऋषियोंकी भाँति जगत्‌के हितसाधनमें लगे रहते हैं। इन्होंने अपने पिता ब्रह्माजीकी आज्ञासे दक्षप्रजापतिकी और महर्षि कर्दमकी कन्याओंको पत्नी-रूपसे ग्रहण करके सृष्टिकी वृद्धि की। अनेकों योनि और जातियोंकी सन्तान इनसे हुई। इन्होंने महर्षि सनन्दनकी शरण ग्रहण करके सम्प्रदायकी रक्षा करते हुए तत्त्वज्ञानका सम्पादन किया और फिर अपने शरणागत जिज्ञासु गौतमको उसका दान करके जगत्‌में उसका विस्तार किया।* जगत्‌की आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक शान्तिके लिये ये निरन्तर तपस्यामें संलग्न रहते हैं। पुराणोंमें इनकी चर्चा भी स्थान-स्थानपर आयी है।

क्रतु

महर्षि क्रतु भी ब्रह्माके मानसपुत्र और षोडश प्रजापतियोंमेंसे एक हैं। इन्होंने अपने पिता ब्रह्माकी आज्ञासे कर्दम प्रजापतिकी पत्नी देवहूतिके गर्भसे उत्पन्न हुई क्रिया और दक्ष प्रजापतिकी सन्नति नामकी कन्याको पत्नीरूपमें स्वीकार किया, उनके द्वारा साठ हजार बालखिल्य नामके पुत्र हुए । ये बालखिल्य ही भगवान् सूर्यके रथके आगे-आगे उनकी ओर मुँह करके स्तुति करते हुए चलते रहते हैं। इन्हीं ब्रह्मर्षियों की महामहिम तपस्याशक्ति ही सूर्यका धारण करती है और ये निरन्तर उनकी उपासनामें संलग्न रहते हैं।

ये महर्षि क्रतु ही वाराहकल्पमें वेदोंके विभाजक, पुराणोंके प्रदर्शक और ज्ञानोपदेष्टा व्यास हुए थे। कहीं-कहीं ब्रह्माकी बायीं आँखसे इनकी उत्पत्ति कही गयी है। पुराणोंमें स्थान-स्थानपर इनकी चर्चा आती है और आज भी ये ध्रुवकी प्रदक्षिणा करते हुए जगत्‌के कल्याणमें लगे रहते हैं।

वशिष्ठ

महर्षि वशिष्ठकी उत्पत्तिका वर्णन पुराणोंमें विभिन्नरूपसे आता है। ये कहीं ब्रह्माके मानसपुत्र, कहीं आग्नेय पुत्र और कहीं मित्रावरुणके पुत्र कहे गये हैं। कल्पभेदसे ये सभी बातें ठीक हैं। ब्रह्मशक्तिके मूर्तिमान् स्वरूप तपोनिधि महर्षि वशिष्ठके चरित्रसे हमारे धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण भरे पड़े हैं। इनकी सहधर्मिणी अरुन्धतीजी हैं, जो सप्तर्षिमण्डलके पास ही अपने पतिदेवकी सेवामें लगी रहती हैं। जब इनके पिता ब्रह्माजीने इन्हें सृष्टि करनेकी और भूमण्डलमें आकर सूर्यवंशी राजाओंका पौरोहित्य करनेकी आज्ञा की तब इन्होंने उस कार्यसे बड़ी हिचकिचाहट प्रकट

* ये महर्षि शिवजीके बड़े भक्त थे। इन्होंने काशीमें पुलहेश्वर नामक लिंगकी स्थापना की है जो अद्यावधि विद्यमान है। इनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर स्वयं भगवान् शिवने अपना श्रीविग्रह प्रकट किया था।

की। फिर ब्रह्माजीने समझाया कि इसी वंशमें आगे चलकर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका पूर्ण अवतार होनेवाला है, अत: इस निन्दित कर्मके द्वारा भी तुम्हें बड़ी ऊँची गति प्राप्त होगी। तब कहीं इन्होंने आना स्वीकार किया। यहाँ आकर इन्होंने सर्वदा अपनेको सर्वभूतहितमें लगाये रखा। जब कभी अनावृष्टि हुई, दुर्भिक्ष पड़ा, तब इन्होंने अपने तपोबलसे वर्षा करायी और जीवोंकी अकालमृत्युसे रक्षा की। इक्ष्वाकु, निमि आदिसे अनेकों यज्ञ कराये और विभिन्न महापुरुषोंके यज्ञोंमें सम्मिलित होकर उनके अनुष्ठानको पूर्ण किया। जब अपने पूर्वजोंके असफल हो जानेके कारण गंगाको लानेसे भगीरथको निराशा हुई तब इन्होंने उन्हें प्रोत्साहन देकर मन्त्र बतलाया और इन्हींके उपदेशके बलपर भगीरथने भगीरथ प्रयत्न करके गंगा-जैसी लोककल्याणकारिणी महानदीको हमलोगोंके लिये सुलभ कर दिया। जब दिलीप सन्तानहीन होनेके कारण अत्यन्त दुखी हो रहे थे तब उन्हें अपनी गौ नन्दिनीकी सेवाविधि बताकर रघु-जैसे पुत्र-रत्नका दान किया। दशरथकी निराशामें आशाका सञ्चार करनेवाले यही महर्षि वशिष्ठ थे। इन्हींकी सम्मतिसे पुत्रेष्टि यज्ञ हुआ और फलस्वरूप भगवान् श्रीरामने अवतार ग्रहण किया। भगवान् श्रीरामको शिष्यरूपमें पाकर वशिष्ठने अपना पुरोहितजीवन सफल किया और न केवल वेद-वेदांग ही बल्कि योगवाशिष्ठ-जैसे अपूर्व ज्ञानमय ग्रन्थका उपदेश करके अपने ज्ञानको सफल किया। भगवान् श्रीरामके वनगमनसे लौटनेपर उन्हें राज्यकार्यमें सर्वदा परामर्श देते रहे और उनसे अनेकों यज्ञ-यागादि करवाये।

महर्षि वशिष्ठसे काम-क्रोधादि शत्रु पराजित होकर उनकी चरणसेवा किया करते थे, इसके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। एक बार विश्वामित्र उनके अतिथि हुए, इन्होंने बड़े प्रेमसे अपनी होमधेनु सरलाकी सहायतासे अनेकों प्रकारकी भोजन-सामग्री आदि उपस्थित कर दी और विश्वामित्रने अपना सेनाके साथ पूर्णत: तृप्तिलाभ किया। उस गौकी ऐसी अलौकिक क्षमता देखकर विश्वामित्रको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने उसे लेनेकी इच्छा प्रकट की। वही गौ वशिष्ठके अग्निहोत्रके लिये आवश्यक थी, अत: जब उन्होंने देनेमें असमर्थता प्रकट की तब विश्वामित्रने बलात् छीन ले जानेकी चेष्टा की। उस समय वशिष्ठने उस गौकी सहायतासे अपार सेनाकी सृष्टि कर दी और विश्वामित्रकी सेनाको मार भगाया। क्षत्रियबलके सामने इस प्रकार ब्रह्मबलका उत्कर्ष देखकर उन्हें हार माननी पड़ी; परन्तु इससे उनकी द्वेषभावना कम न हुई, बल्कि उन्होंने वशिष्ठको हरानेके लिये महादेवकी शरण ग्रहण की। शंकरकी कृपासे दिव्यास्त्र प्राप्त करके उन्होंने फिर वशिष्ठपर आक्रमण किया, परन्तु वशिष्ठके ब्रह्मदण्डके सामने उनकी एक न चली और उनके मुँहसे बरबस निकल पड़ा—

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे॥

अन्तत: पराजय स्वीकार करके उन्हें ब्राह्मणत्व लाभके लिये तपस्या करने जाना पड़ा।

महर्षि वशिष्ठ क्षमाकी तो मूर्ति ही थे। जब विश्वामित्रने इनके सौ पुत्रोंका संहार कर दिया उस समय यद्यपि इन्होंने बड़ा शोक प्रकट किया, परन्तु सामर्थ्य होनेपर भी विश्वामित्रके किसी प्रकारके अनिष्टका चिन्तन नहीं किया; बल्कि अन्त:करणके क्षणिक शोकाकुल होनेपर भी ये अपनी निर्लेपता और असंगताको नहीं भूले।

एक बार बात-ही-बातमें विश्वामित्रसे इनका विवाद छिड़ गया कि तपस्या बड़ी है या सत्संग? वशिष्ठजीका कहना था कि सत्संग बड़ा है, और विश्वामित्रजीका कहना था कि तपस्या बड़ी है। अन्तमें दोनों ही महर्षि अपने विवादका निर्णय करानेके लिये शेषभगवान्के पास उपस्थित हुए। सब बातें सुनकर शेषभगवान्ने कहा कि भाई! अभी तो मेरे सिरपर पृथ्वीका भार है, दोनोंमेंसे कोई एक थोड़ी देरके लिये ले ले तो मैं निर्णय कर सकता हूँ। विश्वामित्र अपनी तपस्याके घमंडमें फूले हुए थे, उन्होंने दस हजार वर्षकी तपस्याके फलका संकल्प किया और पृथ्वीको अपने सिरपर धारण करनेकी चेष्टा की। पृथ्वी काँपने लगी, सारे संसारमें तहलका मच गया। तब वशिष्ठजीने अपने सत्संगके आधे क्षणके फलका संकल्प करके पृथ्वीको धारण कर लिया। और बहुत देरतक धारण किये रहे। अन्तमें जब शेषभगवान् फिर पृथ्वीको लेने लगे तब विश्वामित्रने कहा कि अभीतक आपने निर्णय तो सुनाया ही नहीं। शेषभगवान् हँस पड़े। उन्होंने कहा, निर्णय तो अपने-आप हो गया, आधे क्षणके सत्संगकी बराबरी हजारों वर्षकी तपस्या नहीं कर सकती। फिर क्या था, दोनों महर्षि तो थे ही, यह तो सत्संगकी महिमा प्रकट करनेका एक अभिनय-

मात्र था। दोनों ही बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने-अपने आश्रमपर लौट आये।

महर्षि वशिष्ठ योगवाशिष्ठके उपदेशकके रूपमें ज्ञानकी साक्षात् मूर्ति हैं और अनेक यज्ञ-यागों तथा वशिष्ठसंहिताके प्रणयनद्वारा उन्होंने कर्मके महत्त्व और आचरणका आदर्श स्थापित किया है। उनका जीवन तो भगवान् श्रीरामके प्रेमसे सराबोर है ही। हमारे इतिहास-पुराणोंमें इनके चरित्रका बहुत बड़ा विस्तार है। उन सब बातोंका अध्ययन तो उन्हींमें हो सकता है। यहाँ तो केवल उनके जीवनकी दो-चार घटनाएँ ही उद्धृत की गयी हैं। महर्षि वशिष्ठ आज भी सप्तर्षियोंमें रहकर सारे जगत्के कल्याणमें लगे हुए हैं। —शान्तनु०

भृगु

भृगु ब्रह्माके मानसपुत्रोंमेंसे एक हैं। ये एक प्रजापति भी हैं। चाक्षुष मन्वन्तरमें इनकी सप्तर्षियोंमें गणना होती है। इनकी तपस्याका अमित प्रभाव है। दक्षकी कन्या ख्यातिको इन्होंने पत्नीरूपसे स्वीकार किया था; उनसे धाता, विधाता नामके दो पुत्र और श्रीनामकी एक कन्या हुई। इन्हीं श्रीका पाणिग्रहण भगवान् नारायणने किया था। इनके और बहुत-सी सन्तान हैं जो विभिन्न मन्वन्तरोंमें सप्तर्षि हुआ करते हैं। वाराहकल्पके दसवें द्वापरमें महादेव ही भृगुके रूपमें अवतीर्ण होते हैं। कहीं-कहीं स्वायम्भुव मन्वन्तरके सप्तर्षियोंमें भी भृगुकी गणना है। सुप्रसिद्ध महर्षि च्यवन इन्हींके पुत्र हैं। इन्होंने अनेकों यज्ञ किये-कराये हैं और अपनी तपस्याके प्रभावसे अनेकोंको सन्तान प्रदान की है। ये श्रावण और भाद्रपद दो महीनोंमें भगवान् सूर्यके रथपर निवास करते हैं। प्रायः सभी पुराणोंमें महर्षि भृगुकी चर्चा आयी है। उसका अशेषतः वर्णन तो किया ही नहीं जा सकता। हाँ, उनके जीवनकी एक बहुत प्रसिद्ध घटना, जिसके कारण सभी भक्त उन्हें याद करते हैं, लिख दी जाती है—

एक बार सरस्वती नदीके तटपर ऋषियोंकी बहुत बड़ी परिषद् बैठी थी। उसमें यह विवाद छिड़ गया कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश, इन तीनोंमें कौन बड़ा है। इसका जब कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं हुआ तब इस बातका पता लगानेके लिये सर्वसम्मतिसे महर्षि भृगु ही चुने गये। ये पहले ब्रह्माकी सभामें गये और वहाँ अपने पिताको न तो नमस्कार किया और न स्तुति की। अपने पुत्रकी इस अवहेलनाको देखकर ब्रह्माके मनमें बड़ा क्रोध आया परन्तु उन्होंने अपना पुत्र समझकर इन्हें क्षमा कर दिया, अपने क्रोधको दबा लिया। इसके बाद ये कैलाशपर्वतपर अपने बड़े भाई रुद्रदेवके पास पहुँचे। अपने छोटे भाई भृगुको आते देखकर आलिङ्गन करनेके लिये वे बड़े प्रेमसे आगे बढ़े, परन्तु भृगुने यह कहकर कि तुम उन्मार्गगामी हो उनसे मिलना अस्वीकार कर दिया। उन्हें बड़ा क्रोध आया और वे त्रिशूल उठाकर मारनेके लिये दौड़ पड़े। अन्ततः पार्वतीने उनके चरण पकड़कर प्रार्थना की और क्रोध शान्त किया। अब विष्णुभगवान्की बारी आयी। ये बेखटके वैकुण्ठमें पहुँच गये। वहाँ ब्राह्मण भक्तोंके लिये कोई रोक-टोक तो है नहीं। ये पहुँच गये भगवान्के शयनागारमें। उस समय भगवान् विष्णु सो रहे थे और भगवती लक्ष्मी उन्हें पंखा झल रही थीं, उनकी सेवामें लगी हुई थीं। इन्होंने बेधड़क वहाँ पहुँचकर उनके वक्षःस्थलपर एक लात मारी। तुरन्त भगवान् विष्णु अपनी शय्यापरसे उठ गये और इनके चरणोंपर अपना सिर रखकर नमस्कार किया और कहा—'भगवन्! आइये, आइये, विराजिये, आपके आनेका समाचार न जाननेके कारण ही आपके स्वागतसे वञ्चित रहा। क्षमा कीजिये! क्षमा कीजिये! कहाँ तो आपके कोमल चरण और कहाँ यह मेरी वज्रकर्कश छाती! आपको बड़ा कष्ट हुआ।' यह कहकर उनके चरण अपने हाथों दबाने लगे। उन्होंने कहा—'ब्राह्मण देवता! आज आपने मुझपर बड़ी कृपा की। आज मैं कृतार्थ हो गया। अब ये आपके चरणोंकी धूलि सर्वदा मेरे हृदयपर ही रहेगी।' कुछ समय बाद महर्षि भृगु वहाँसे लौटकर ऋषियोंकी मण्डलीमें आये और अपना अनुभव सुनाया। इनकी बात सुनकर ऋषियोंने एक स्वरसे यह निर्णय किया कि जो सात्त्विकताके प्रेमी हैं उन्हें एकमात्र भगवान् विष्णुका ही भजन करना चाहिये। महर्षि भृगुका साक्षात् भगवान्से सम्बन्ध है, इनकी स्मृति हमें भगवान्की स्मृति प्रदान करती है। —शान्तनु०

ऋभु

महर्षि ऋभु ब्रह्माके मानसपुत्रोंमेंसे एक हैं। ये स्वभावसे ही ब्रह्मतत्त्वज्ञ तथा निवृत्तिपरायण हैं। तथापि सद्गुरुमर्यादाकी रक्षाके लिये इन्होंने श्रद्धाभक्तियुक्त होकर अपने बड़े भाई सनत्सुजातकी शरण ली थी। उनसे सम्प्रदायागत मन्त्र, योग और ज्ञान प्राप्त करके ये सर्वदा सहज स्थितिमें ही रहने लगे। मल, विक्षेप तथा आवरणसे रहित होकर ये जहाँ-कहीं भी पड़े रहते। शरीरके अतिरिक्त इनकी कोई कुटी नहीं थी।

यों ही विचरते हुए महर्षि ऋभु एक दिन पुलस्त्य ऋषिके आश्रमके समीप जा पहुँचे। वहाँ पुलस्त्यका पुत्र निदाघ वेदाध्ययन कर रहा था। निदाघने आगे आकर नमस्कार किया। उसके अधिकारको देखकर महर्षि ऋभुको बड़ी दया आयी। उन्होंने कहा—'इस जीवनका वास्तव लाभ आत्मज्ञान प्राप्त करना है। यदि वेदोंको सम्पूर्णत: रट जायँ और वस्तुतत्त्वका ज्ञान न हो तो वह किस कामका है? निदाघ! तुम आत्मज्ञानका सम्पादन करो।'

महर्षि ऋभुकी बात सुनकर उसकी जिज्ञासा जग गयी। उसने इन्हींकी शरण ली। अपने पिताका आश्रम छोड़कर वह इनके साथ भ्रमण करने लगा। उसकी सेवामें तत्परता और त्याग देखकर महर्षिने उसे तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। उपदेशके पश्चात् आज्ञा की कि 'निदाघ! जाकर गृहस्थधर्मका अवलम्बन लो। मेरी आज्ञाका पालन करो।'

गुरुदेवकी आज्ञा पाकर निदाघ अपने पिताके पास आया। उन्होंने उसका विवाह कर दिया। इसके पश्चात् देविका नदीके तटपर वीरनगरके पास एक उपवनमें निदाघने अपना आश्रम बनाया और वहाँ वह अपनी पत्नीके साथ गार्हस्थ्यका पालन करने लगा। कर्मपरायण हो गया।

बहुत दिनोंके बाद ऋभुको उसकी याद आयी। अपने अङ्गीकृत जनका कल्याण करनेके लिये वे वहाँ पहुँच गये। महापुरुष जिसे एक बार स्वीकार कर लेते हैं उसे फिर कभी नहीं छोड़ते। वे बलिवैश्वदेवके समय निदाघके द्वारपर उपस्थित हुए। निदाघने उन्हें न पहचाननेपर भी गृहस्थधर्मानुसार अतिथि-भगवद्रूप समझकर उनकी रुचिके अनुसार भोजन कराया। अन्तमें उसने प्रश्न किया कि 'महाराज! भोजनसे तृप्त हो गये क्या? आप कहाँ रहते हैं? कहाँसे आ रहे हैं? और किधर पधारनेकी इच्छा है?' महर्षि ऋभुने अपने कृपालु स्वभावके कारण उपदेश करते हुए उत्तर दिया कि—'ब्राह्मण! भूख और प्यास प्राणोंको ही लगती है। मैं प्राण नहीं हूँ। जब भूख-प्यास मुझे लगती ही नहीं तब तृप्ति-अतृप्ति क्या बताऊँ? स्वस्थता और तृप्ति मनके ही धर्म हैं। आत्मा इनसे सर्वथा पृथक् है। रहने और आने-जानेके सम्बन्धमें जो पूछा उसका उत्तर सुनो। आत्मा आकाशकी भाँति सर्वगत है। उसका आना-जाना नहीं बनता। मैं न आता हूँ, न जाता हूँ, और न किसी एक स्थानपर रहता ही हूँ। तृप्ति-अतृप्तिके हेतु ये सब रस आदि विषय परिवर्तनशील हैं। कभी अतृप्तिकर पदार्थ तृप्तिकर हो जाते हैं और कभी तृप्तिकर अतृप्तिकर हो जाते हैं। अत: विषमस्वभाव पदार्थोंपर आस्था मत करो; इनकी ओरसे दृष्टि मोड़कर, त्रिगुण, व्यवस्था और समस्त अनात्मवस्तुओंसे ऊपर उठकर अपने-आपमें स्थिर हो जाओ। ये सब संसारी लोग मायाके चक्करमें पड़कर अपने स्वरूपको भूले हुए हैं। तुम इस मायापर विजय प्राप्त करो।' महर्षि ऋभुके इन अमृतमय वचनोंको सुनकर निदाघ उनके चरणोंपर गिर पड़े। फिर उन्होंने बतलाया कि मैं तुम्हारा गुरु ऋभु हूँ। निदाघको बड़ी प्रसन्नता हुई, महर्षि चले गये।

बहुत दिनोंके पश्चात् फिर महर्षि ऋभु वहाँ पधारे। संयोगवश उस दिन वीरपुरनरेशकी सवारी निकल रही थी। सड़कपर बड़ी भीड़ थी। निदाघ एक ओर खड़े होकर भीड़ हट जानेकी प्रतीक्षा कर रहे थे। इतनेमें ही महर्षिने इनके पास आकर पूछा-'यह भीड़ कैसी है?'

निदाघने उत्तर दिया—'राजाकी सवारी निकलनेके कारण भीड़ है।' उन्होंने पूछा—'तुम तो जानकार जान पड़ते हो। मुझे बताओ इनमें कौन राजा है और कौन दूसरे लोग हैं?' निदाघने कहा—'जो इस पर्वतके समान ऊँचे हाथीपर सवार हैं, वे राजा हैं। उनके अतिरिक्त दूसरे लोग हैं।' ऋभुने पूछा—'महाराज! मुझे हाथी और राजाका ऐसा लक्षण बताओ कि मैं समझ सकूँ। ऊपर क्या है? नीचे क्या है?' यह प्रश्न सुनकर निदाघ

झपटकर उनपर सवार हो गया और कहा–'देखो, मैं राजाकी भाँति ऊपर हूँ। तुम हाथीके समान नीचे हो। अब समझ जाओ कि राजा और हाथी कौन है।' महर्षि ऋभुने बड़ी शान्तिसे कहा—'यदि तुम राजा और मैं हाथीकी भाँति स्थित हूँ तो बताओ तुम कौन हो और मैं कौन हूँ?' यह बात सुनते ही निदाघ उनके चरणोंपर गिर पड़ा, वह हाथ जोड़कर कहने लगा—'प्रभो! आप अवश्य ही मेरे गुरुदेव ऋभु हैं। आपके समान अद्वैतसंस्कार-संस्कृत-चित्त और किसीका नहीं है। आप अवश्य-अवश्य मेरे गुरुदेव हैं, मैंने अनजानमें बड़ा अपराध किया। संत स्वभावतः क्षमाशील होते हैं। आप कृपया मुझे क्षमा करें।' ऋभुने हँसते हुए कहा—

'कौन किसका अपराध करता है? यदि एक वृक्षकी दो शाखाएँ परस्पर रगड़ खायें तो उनमें किसका अपराध है? मैंने तुम्हें पहले व्यतिरेकमार्गसे आत्माका उपदेश किया था। उसे तुम भूल गये। अब अन्वयमार्गसे किया है। इसपर परिनिष्ठित हो जाओ। यदि इन दोनों मार्गोंपर विचार करोगे तो संसारमें रहकर भी तुम इससे अलिप्त रहोगे।' निदाघने उनकी बड़ी स्तुति की। वे स्वच्छन्दतया चले गये।

ऋभुकी इस क्षमाशीलताको सुनकर सनकादि गुरुओंको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने ब्रह्माके सामने इनकी महिमा गायी और इनका नाम क्षमाका एक अक्षर लेकर ऋभुक्ष रख दिया। तबसे साम्प्रदायिक लोग इन्हें ऋभुक्षानन्दके नामसे स्मरण करते हैं। इनकी कृपासे निदाघ आत्मनिष्ठ हो गया। आज भी महर्षि ऋभु हमारे पास न जाने किस रूपमें आते होंगे। उन्होंने न जाने निदाघ-जैसे कितनोंको संसारसागरसे पार उतारा होगा।

—शान्तनु०

कश्यप

इतिहासपुराणानि तथाख्यानानि यानि च।
महात्मनां च चरितं श्रोतव्यं नित्यमेव च॥*

समस्त लोकोंके पितामह भगवान् ब्रह्माने ही इस चराचर सृष्टिको उत्पन्न किया है। सृष्टिकी इच्छासे उन्होंने छः मानसिक पुत्र उत्पन्न किये जिनके नाम मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु हैं। मरीचिके पुत्र कश्यप हुए। दक्षप्रजापतिने अपनी तेरह कन्याओंका विवाह इनके साथ कर दिया। उनके नाम ये हैं—अदिति, दिति, दनु, काला, दनायु, सिंहिका, क्रोधा, प्राधा, विश्वा, विनता, कपिला, मुनि और कद्रू। इन सबकी इतनी सन्तान हुईं कि उन्हींसे यह सम्पूर्ण सृष्टि भर गयी। अदितिसे समस्त देवता तथा बारह आदित्य हुए। सभी दैत्य दितिके पुत्र हैं। दनुके दानव हुए। काला और दनायुके भी दानव ही हुए। सिंहिकासे सिंह,व्याघ्र हुए। क्रोधाके क्रोध करनेवाले असुर हुए। विनताके गरुड, अरुण आदि छः पुत्र हुए। कद्रूके सर्प, नाग आदि हुए। मनुसे समस्त मनुष्य उत्पन्न हुए। इस प्रकार समस्त स्थावर-जंगम, पशु-पक्षी, देवता-दैत्य, मनुष्य हम सब सगे भाई-भाई हैं। एक कश्यप भगवान्‌की ही हम सन्तान हैं। वृक्ष, पशु, पक्षी हम सब कश्यप-गोत्रीय ही हैं।

इन तेरह कन्याओंमें अदिति भगवान् कश्यपकी सबसे प्यारी पत्नी थी। उन्हींसे इन्द्रादि समस्त देवता हुए और भगवान् वामनने भी इन्हींके यहाँ अवतार लिया। इनका तप अनन्त है, इनकी भगवद्भक्ति अटूट है। ये दम्पती भगवान्‌के परमप्रिय हैं। तीन बार भगवान्‌ने इनके घरमें अवतार लिया। अदिति और कश्यपके महातपके प्रभावसे ही जीवोंको निर्गुण भगवान्‌के सगुणरूपमें दर्शन हो सके।

कस्यप-अदिति महातपु कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बरु दीन्हा॥

भगवान् जिनके पुत्र बने, उनके विषयमें अधिक क्या कहा जा सकता है? भगवान् कश्यपकी पुराणोंमें बहुत-सी कथाएँ हैं; उनमेंसे वामन, बलि, अदिति आदिके प्रसंगमें बहुत-सी आ गयी हैं। अतः उनके सम्बन्धमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये महानुभाव भगवान्‌को निर्गुणसे सगुण साकार बनानेवाले हैं, तथा हम सब जीवोंके आदि पिता हैं।

—प्र० ब्रह्मचारी

* इतिहास, पुराण, आख्यान तथा महात्माओंके चरित्र नित्य ही सुनने चाहिये।

बृहस्पति

त्रयस्त्वङ्गिरसः पुत्रा लोके सर्वत्र विश्रुताः।
बृहस्पतिरुतथ्यश्च संवर्तश्च धृतव्रतः॥

भगवान् ब्रह्माके छः मानसिक पुत्रोंमेंसे अंगिरा ऋषिके तीन पुत्र हुए-बृहस्पतिजी, उतथ्य और संवर्त। बृहस्पतिजी देवताओंके गुरु हुए। देवताओंमें जो धार्मिकता है उसके कारण भगवान् बृहस्पतिजी ही हैं। ये देवताओंको सदा भगवान्की भक्तिमें लगाये रहते हैं और उनसे समस्त वैदिक कर्म विधिवत् कराते हैं। जब-जब देवताओंने भगवान् बृहस्पतिजीके वचनोंको नहीं माना या अभिमान किया तब-ही-तब वे श्रीहीन हो गये। अन्तमें जब फिर देवता इनकी शरण गये तो इन्होंने उन्हें क्षमा कर दिया। ये संसारमें सबसे अधिक नीतिज्ञ और बुद्धिमान् हैं। बृहस्पतिजीकी नीति सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिक मानी जाती है। देवराज इन्द्रने एक बार अभिमानमें आकर इनका अपमान किया। इसपर इन्होंने अच्छा-बुरा कुछ भी नहीं कहा। केवल स्वर्ग छोड़कर ये दूसरी जगह चले गये। इनके जाते ही स्वर्गकी समस्त श्री चली गयी। सद्गुण और श्री तो भगवद्भक्तके साथ ही रहती हैं। श्रीहीन स्वर्गपर असुरोंका अधिकार होना ही चाहिये। इन्द्रको अपने कियेका पूरा फल मिला। वे मारे-मारे अनाथ बने घूमते रहे, फिर जैसे-तैसे विश्वरूपको पुरोहित बनाया। किन्तु उनसे भला बृहस्पतिजीके स्थानकी पूर्ति कैसे हो सकती थी। उनका मातृकुल असुर था। अतः वे छिपकर असुरोंको भी यज्ञ-भाग देने लगे। अन्तमें ब्रह्महत्याका नया पाप इन्द्रको करना पड़ा। जिससे ये बहुत ही दुःखी हुए। गुरुकी शरण गये और उन्होंने इन्हें सब पापोंसे छुड़ा दिया। इस प्रकार समस्त सुख भगवद्भक्तिमें ही हैं और इसकी शिक्षा देनेवाले देवताओंके परमगुरु भगवान् बृहस्पतिजी ही हैं। —प्र० ब्रह्मचारी

शुक्राचार्य

भगवान् ब्रह्माजीके तीसरे मानसिक पुत्र भृगु हुए। इन भृगुके कवि हुए और कविके असुरगुरु महर्षि शुक्राचार्य हुए। ये योगविद्यामें पारंगत थे। इनकी शुक्रनीति बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि ये असुरोंके गुरु थे, किन्तु मनसे भगवान्के अनन्य भक्त थे। असुरोंमें रहते हुए भी ये उन्हें सदा धार्मिक शिक्षा देते रहते थे। इन्हींके प्रभावसे प्रह्लाद, विरोचन, बलि आदि भगवद्भक्त बने और श्रीविष्णुके प्रीत्यर्थ नाना यज्ञ, याग आदि करते रहे।

इनके पास मृतसंजीवनी विद्या थी। इससे ये संग्राममें मरे हुए असुरोंको जिला लेते थे। बृहस्पतिजीके पास यह विद्या नहीं थी। इसलिये उन्होंने अपने पुत्र कचको इनके पास वह विद्या सीखनेके लिये भेजा। इन्होंने उसे बृहस्पतिजीका पुत्र जानकर बड़े ही स्नेहसे वह विद्या सिखायी। असुरोंको जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने कई बार कचको जानसे मार डाला, किन्तु शुक्राचार्यजीने अपनी विद्याके प्रभावसे उसे फिर जीता ही बुला लिया। अन्तमें दैत्योंने कचको मारकर उसकी राखको शुक्राचार्यजीको धोखेमें सुराके साथ पिला दी। ऋषिने ध्यानसे देखा और कचसे कहा मैं तुझे पेटमें ही विद्या सिखाता हूँ। मेरा पेट फाड़कर निकल आ, फिर मुझे जिला लेना। कचने ऐसा ही किया। वह सिद्ध हो गया। तबसे शुक्राचार्यजीने नियम बना दिया कि—

यो ब्राह्मणोऽद्य प्रभृतीह कश्चिन्-
मोहात् सुरां पास्यति मन्दबुद्धिः।
अपेतधर्मा ब्रह्महा चैव स स्या-
दस्मिन् लोके गर्हितः स्यात् परे च॥
मया चैतां विप्रधर्मोक्तिसीमां
मर्यादां वै स्थापितां सर्वलोके।
सन्तो विप्राः शुश्रुवांसो गुरूणां
देवा लोकाश्चोपशृण्वन्तु सर्वे॥

मैं आजसे यह मर्यादा बाँधता हूँ, मेरी मर्यादाको देवता और समस्त प्राणी सुनें-जो मन्दबुद्धि ब्राह्मण भूलसे भी आजसे मदिरा पीवेंगे उनके समस्त धर्मका नाश हो जायगा और उन्हें ब्रह्महत्याका पाप लगेगा।

इस प्रकार शुक्राचार्यने मर्यादा बाँध दी, जिसे समस्त लोगोंने स्वीकार किया। बलिके यज्ञमें भगवान् शुक्राचार्यने यजमानकी श्रद्धा देखनेके लिये उसे बहुत मना किया कि तुम वामनरूपधारी भगवान्को भूमिदान न करो, किन्तु बलिने उन्हें भूमिदान कर ही दिया। शुक्राचार्यकी एक कन्या देवयानी महाराज ययातिके साथ विवाही थी। ये अबतक आकाशमें एक नक्षत्रके रूपमें स्थित हैं और वर्षा आदिकी सूचना देते हैं। —प्र० ब्रह्मचारी

नर-नारायण

भगवान् विष्णुने धर्मकी पत्नी मूर्तिसे नर और नारायण नामके दो ऋषियोंके रूपमें अवतार ग्रहण किया। वे बदरी-वनमें रहकर निरन्तर तपस्या किया करते हैं। उनकी तपस्यासे ही संसारमें धर्म, भक्ति एवं ज्ञानका विस्तार होता है। उन्हींकी तपस्याके फलस्वरूप संसारमें यत्किंचित् सुख-शान्तिके दर्शन होते हैं। बहुतसे ऋषि-मुनियोंने उनसे उपदेश ग्रहण किया है और अब भी भाग्यवान् पुरुष उनके चरणोंका दर्शन प्राप्त करके अपने जीवनका लाभ लेते एवं परम कल्याणका सम्पादन करते हैं। और उनकी तपस्याको आदर्श मानकर अपने जीवनको भी वैसी ही तपस्यामें लगानेकी चेष्टा करते हैं। नारद, व्यास, उद्धव आदि महाभागवत भी वहीं निवास करते हैं और अधिकारी पुरुषोंको उनके दर्शन भी होते हैं।

एक बार उनकी उग्र तपस्याको देखकर इन्द्रके मनमें शंका हुई कि ये कहीं मेरे स्वर्गका राज्य लेनेके लिये तो तपस्या नहीं करते और अपनी झूठी धारणाके वश होकर उन्होंने अप्सरा, काम, वसन्त, शीतल मन्द सुगन्ध वायु आदिको उन्हें तपस्यासे च्युत करनेके लिये भेजा और उन्होंने जाकर उन्हें तपस्यासे च्युत करनेकी चेष्टा की। उनकी नाना प्रकारकी चेष्टाओंको देखकर जब वे जरा भी विचलित न हुए तब काम, अप्सरा एवं वसन्त आदि भयभीत होकर थर-थर काँपने लगे। उनकी यह दशा देखकर अहंकार और आश्चर्यसे रहित एवं संसारियोंकी इस चेष्टाको स्वाभाविक समझकर तनिक भी क्षुब्ध न होते हुए उन्होंने कहा-'भाई! तुम लोग जरा भी मत डरो, हम प्रेम और प्रसन्नतासे तुम लोगोंका स्वागत करते हैं। तुम सर्वदा यहीं रहो और हमारा आतिथ्य सत्कार स्वीकार करो।' उनकी इस अभय देनेवाली वाणीको सुनकर वे सब-के-सब लज्जित हो गये और सिर झुकाकर बड़ी नम्रताके साथ उन दयालु ऋषियोंकी स्तुति करने लगे-'हे प्रभो! आप निर्विकार परमतत्त्व हैं। आपके सम्बन्धमें यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। बड़े-बड़े आत्माराम ज्ञानी पुरुष आपके चरणकमलोंकी सेवा करके कामविजयी हो जाते हैं तो आपके सम्बन्धमें भला क्या कहना है। देवतालोगोंका तो यह स्वभाव ही है कि जब कोई उनके धाम अमरावतीका उल्लंघन करके और ऊपर जाने लगता है, तो ईर्ष्यावश वे विघ्न डालते हैं। परन्तु जिनके रक्षक तुम हो वे उन विघ्नोंके सिरपर पैर रखकर बेरोक-टोक आगे बढ़ जाते हैं। बहुतसे तो ऐसे हैं जो भूख, प्यास, गरमी, सरदी, हवा, रस आदिकी तो बात ही क्या, स्वयं कामपर विजय प्राप्त करके भी क्रोधके अधीन हो जाते हैं, उसे नहीं जीत पाते और इसीके कारण उनकी चिर संचित तपस्या नष्ट हो जाती है। परन्तु आप तो देवाधिदेव नारायण हैं, आपके सामने ये काम-क्रोधादि विकार कैसे फटक सकते हैं।' उनकी स्तुति सुनकर भगवान्ने अपनी योगमायासे एक बड़ी अद्‌भुत लीला दिखायी। उन सबोंने देखा कि साक्षात् लक्ष्मीके समान बहुत सुन्दर-सुन्दर स्त्रियाँ नर-नारायणकी सेवा कर रही हैं। उन्हें देखकर तथा उनके गन्धसे मोहित एवं उनके सौन्दर्य, औदार्य आदि गुणोंसे हतश्री होकर वे सब चुपचाप खड़े रह गये। तब नर-नारायणने कहा कि इन स्त्रियोंमेंसे चाहे जिस एकको तुम लोग माँगकर स्वर्गमें ले जा सकते हो, वह स्वर्गके लिये भूषणस्वरूप होगी। ऋषियोंकी आज्ञा मानकर उन लोगोंने अप्सराओंमें श्रेष्ठ उर्वशीको लेकर स्वर्गके लिये प्रस्थान किया और वहाँ जाकर सब देवताओंके सामने भरी सभामें भगवान् नारायणकी महिमा कह सुनायी, जिसे सुनकर देवराज इन्द्र चकित, स्तम्भित एवं भयभीत हो उठे। उन्हें अपनी दुर्भावना और दुष्कृत्यपर बड़ा क्षोभ हुआ।

भगवान् नारायणके लिये यह कोई बड़ी बात नहीं। इससे उनका ऐश्वर्य नहीं सूचित होता, बल्कि जो लोग कामपर विजय प्राप्त करनेपर भी क्रोधके अधीन हो जाते हैं अथवा क्रोधपर विजय प्राप्त करके भी अभिमानसे फूल उठते हैं, उनके कल्याणके लिये ही यह आदर्श स्थापित किया है। पुराणों तथा इतिहासोंमें स्थान-स्थानपर इनकी चर्चा है। बड़े-बड़े ऋषिगण इनसे उपदेश ग्रहण करते रहते हैं और वैष्णवसम्प्रदायके तो ये सर्वस्व ही हैं।

—शान्तनु०

भरद्वाज

भगवान् बृहस्पतिके भाई उतथ्यके पुत्र भरद्वाजजी थे। इनकी भगवद्भक्ति लोकप्रसिद्ध है। भगवद्भक्तिके इन्हें आदिस्रोत कहें तो अत्युक्ति न होगी। श्रीरामायणजीकी कथाका प्रचार तो इनके ही द्वारा हुआ। ये श्रीगंगा-यमुनाजीके परम पावन संगमपर प्रयागराजमें रहते थे—

भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा। तिन्हहिं रामपद अति अनुरागा॥

प्रत्येक मकरमें समस्त ऋषि कल्पवास करने आते थे और इन्हींके आश्रममें आकर ठहरते थे। एक बार याज्ञवल्क्य ऋषिको इन्होंने आग्रहपूर्वक कुछ दिनके लिये और रख लिया। रखा था भगवत्कथा सुननेके लिये। इसलिये उनकी विधिवत् पूजा करके बोले—

नाथ एक संसउ बड़ मोरे। करगत बेदतत्त्व सब तोरे॥
कहत सो मोहि लागत बड़ि लाजा। जौ न कहौं बड़ होय अकाजा॥
एकु रामु अवधेसकुमारा। तिन्हकर चरित बिदित संसारा॥
नारि-बिरह दुख लहेउ अपारा। भयउ रोषु रन रावनु मारा॥
प्रभु सोइ रामु कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्यधाम सर्बग्य तुम्ह, कहहु बिबेक बिचारि॥

याज्ञवल्क्यजी सुनकर हँस पड़े। महामुनि भरद्वाज और उन्हें सन्देह! यह तो असम्भव है। जगत्के हितके लिये ये रामकथा सुनना चाहते हैं, जिससे सभी रामकथाको बार-बार सुनें। अत: वे हँसकर बोले—*'चतुराई तुम्हारि मैं जानी'*—

चाहहु सुनै रामगुन गूढ़ा। कीन्हेहु प्रस्न मनहुँ अति मूढ़ा॥

तब याज्ञवल्क्यजीने समस्त कथा सुनायी। वही रामसुरसरिधारा श्रीरामायण हुई जो त्रैलोक्यको पावन करनेमें समर्थ हुई।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी वनवासके समय सर्वप्रथम इन्हींके आश्रमपर आये। इन्होंने प्रार्थना की कि १४ वर्षतक यहीं रहिये। भगवान्ने कहा—'यहाँसे अवध समीप है, रोज भीड़ लगी रहेगी।' इनकी आज्ञा लेकर भगवान् इनके बताये हुए स्थान चित्रकूटपर चले गये।

भरतजी जब श्रीरामजीकी खोजमें आये तो इन्होंने उनका इतना भारी स्वागत-सत्कार किया कि वे आश्चर्यमें पड़ गये। श्रीरामजीसे भी अधिक इन्होंने उनका सत्कार किया और स्पष्ट कह दिया—

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥
सब साधन कर सुफलु सुहावा। लखन-राम-सिय-दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरसु तुम्हारा। सहित प्रयाग सुभागु हमारा॥

भरतजी लज्जित हुए। मुनिने उनपर अनन्त प्रेम दरसाया—*'रामतें अधिक रामकर दासा।'*

महामुनि भरद्वाज श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ऋषि थे। इनकी एक कन्या याज्ञवल्क्यजीको विवाही थी, दूसरी विश्रवा मुनिको, जिनके कुबेरजी हुए। ये अद्वितीय रामानुरागी थे।

—प्र० ब्रह्मचारी

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

अमावस्याके घोर अन्धकारमें काले पत्थरपर बैठी चींटीकी भाँति ईश्वर मानवहृदयमें गूढ़रूपसे विद्यमान है।

जिसे ईश्वरका साक्षात्कार हुआ है उससे बिना जाना कुछ भी नहीं रहा। जिसने परमात्माको जान लिया उसने जाननेयोग्य सब कुछ जान लिया।

अहं और ममको दबाकर सबके भीतर भगवान्का दर्शन करना संतका काम है।

पहले भगवान्को जानो और पीछे और कुछ।

ईश्वरके सिवा तुम जो कुछ जानते हो उसे भूल जाओ और इधर-उधरकी बातें जाननेके लिये माथा मत मारो। केवल ईश्वरमें लीन रहो—उसीके रंगमें रँग जाओ।

दत्तात्रेय

अवधूत दत्तात्रेय महर्षि अत्रिके पुत्रोंमेंसे एक थे। अत्रिने अपनी पत्नी अनसूयाके साथ बड़ी तपस्याके पश्चात् इन्हें पुत्रके रूपमें प्राप्त किया था।

जब ब्रह्माके छः पुत्र और दूसरे भी कई गृहस्थ-धर्मका अवलम्बन न करके निवृत्त हो गये तब उन्होंने अत्रिसे प्रजाकी सृष्टि करनेके लिये कहा। अत्रिने उनकी आज्ञा मानकर कर्दमप्रजापति तथा देवहूतिकी पुत्री, कपिलदेवकी बहिन अनसूयासे विवाह किया। वे बड़ी ही पतिव्रता थीं। रामवनगमनके अवसरपर उन्होंने सीताको पातिव्रत्यधर्मका उपदेश किया। उनकी दृष्टिमें अपने पतिदेवके अतिरिक्त और कोई पुरुष ही नहीं था।

उत्तमके अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥

पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये, उत्तम सन्तानकी सृष्टि करनेकी इच्छासे अत्रि अपनी धर्मपत्नी अनसूयाके साथ तपस्या करने लगे। अपने बड़े भाई सनत्सुजातसे सांगोपांग मन्त्ररहस्य और उपासनापद्धतिका ज्ञान प्राप्त करके इन्होंने बड़ी तीव्र साधना की। इनकी तपस्या और अनसूयाके पातिव्रत्यसे प्रसन्न होकर ब्रह्मा, विष्णु और शंकर तीनों ही इनके सामने प्रकट हुए। महर्षि अत्रि और अनसूया उस समय इस प्रकार ध्यान-समाधिमें मग्न थे कि इन्हें उनके आगमनका पता ही न चला। उन्होंने शिरःस्पर्श किया। हाथ पकड़कर खींचा। जोरसे पुकारा। परन्तु इन्हें बाह्य ज्ञान नहीं हुआ। अन्ततः उन्होंने अन्तरमें प्रवेश करके इन्हें जागृत किया। अपने सामने तीनों देवोंको प्रत्यक्ष खड़ा देखकर इनके आनन्दकी सीमा न रही। चरणोंपर गिर पड़े। शरीर रोमांचित हो उठा। वाणी बन्द हो गयी। उठ न सके। उन्होंने अपने हाथों उठाया। इनपर अपने कमण्डलुका जल छिड़का। अब इन्हें चेतना आयी, ये अंजलि बाँधकर गद्गद कण्ठसे उनकी स्तुति करने लगे—

'प्रभो! आप लोगोंकी महिमा अनन्त है। हमारे-जैसे संसारासक्त, प्रजाकी इच्छा रखनेवाले और आत्मविमुखको दर्शन देकर आपने अनन्त कृपा की है। हम आपकी क्या पूजा कर सकते हैं? हमारे पास है ही क्या? हम दोनों दम्पती अपनेको आपके चरणोंमें समर्पित करते हैं। प्रभो! हमें अपना लो।' ब्रह्मा, विष्णु और महेशने एक स्वरसे कहा—

'महर्षि अत्रि और पतिव्रता अनसूया! हम तुम्हारी तपस्यासे अत्यन्त प्रसन्न हैं। हमें पहलेसे ही पता है कि उत्तम सन्तान प्राप्त करनेके लिये तुम दोनों तपस्या कर रहे हो। तुम दोनोंकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये हम तीनों ही तुम्हारे पुत्ररूपसे प्रकट होंगे।' इसके बाद दम्पतीने उनकी षोडशोपचारसे पूजा की। वे अपने-अपने लोकको चले गये।

कुछ दिनोंके बाद वे तीनों ही इनके घरमें पुत्ररूपसे प्रकट हुए। शंकरके अंशसे दुर्वासाका, ब्रह्माके अंशसे चन्द्रमाका और विष्णुके अंशसे श्रीदत्तात्रेयजी महाराजका जन्म हुआ। जिनकी संकल्पशक्तिसे जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं वे ही त्रिदेव अत्रि-अनसूयाकी प्रेमभक्तिके अधीन होकर उनके घरमें साधारण बालकोंकी भाँति खेलने लगे और ऋषिदम्पती उनकी लीला देख-देखकर अपना जीवन सफल करने लगे।

समयपर सबका उपनयनसंस्कार हुआ। सबने विधिवत् गुरुकुलमें रहकर वेदाध्ययन किया। समावर्त्तनके पश्चात् दुर्वासा ऋषि हुए। इनका चरित्र अन्यत्र विस्तारसे मिलेगा। चन्द्रमा ग्रह हुए। दत्तात्रेयजी तो तत्त्वज्ञानका उपदेश करनेके लिये ही अवतीर्ण हुए थे। इसलिये उन्होंने सम्प्रदाय और गुरुमर्यादाकी रक्षा करनेके लिये सर्वज्ञ होनेपर भी महर्षि ऋभुकी शरण ग्रहण की। उन्होंने इन्हें सम्पूर्ण मन्त्र-रहस्य और उपासनाकी शिक्षा दी। तत्पश्चात् ये अत्रिके आश्रमके पास ही आकर रहने लगे। इन्हें बालकोंके साथ खेलना बड़ा अच्छा लगता। परन्तु उस समय भी ये आत्मचिन्तन करते रहते। सभी बालक इनसे प्रसन्न रहते। इनकी सुन्दरता, मधुरता और शीलस्वभावपर सभी मुग्ध थे। एक क्षणके लिये भी इनसे अलग नहीं होना चाहते थे। परन्तु उनके साथ रहनेके कारण इनके योगाभ्यासमें कुछ बाधा अवश्य पड़ने लगी।

एक दिन इन्होंने उनका संग छोड़नेकी इच्छा की। खेलते-खेलते ये एक तालाबमें घुस गये और तीन दिनतक उसके बाहर नहीं निकले। यह उनके योगकी एक सिद्धि थी या यों कहें कि वे साक्षात् भगवान् विष्णु ही थे, उनके लिये असम्भव ही क्या था। किन्तु सबसे बढ़कर आश्चर्यकी बात तो यह थी कि वे साथ खेलनेवाले बालक तीन दिनतक उसी तालाबपर डटे

रहे। बिना अन्न-पानीके रहनेपर भी उनका स्नेह कम नहीं हुआ। किसीने कहा—'मगरने खा लिया होगा।' किसीने जाकर उनके माता-पितासे यह शोक-समाचार कह सुनाया। परन्तु वे उनका प्रभाव जानते थे, इसलिये जरा भी विचलित नहीं हुए। तीन दिनके बाद जब वे बाहर निकले तब सब-के-सब अत्यन्त आनन्दित हुए। सभी पूछने लगे—'तुम भीषण तालाबमें तीन दिनतक कैसे रहे? हम तो तुम्हारे वियोगसे बड़े दुखी हो रहे थे। नींद नहीं आयी। पानीतक नहीं पिया गया। हमारे माँ-बापने हमें बुलाया भी, परन्तु हम नहीं गये। अब चलो, खायें-पियें और सब मिलकर खेलें। ' उनकी बात सुनकर वे हँसने लगे। गूँगेकी भाँति हो गये, कुछ बोले नहीं। इनकी ऐसी दशा देखकर वे सब और रोने-गिड़गिड़ाने लगे। प्रार्थना करने लगे। दत्तात्रेयजीने अपने मनमें सोचा कि इसका परिणाम तो उलटा ही हुआ। कहाँ मैं इनका साथ छोड़ना चाहता था—कहाँ ये योगका प्रभाव देखकर और भी मुझे जकड़ लेना चाहते हैं। उन्होंने फिर उसी तालाबका रास्ता लिया। परन्तु वे बालक अब भी निराश नहीं हुए। तीन दिनके पश्चात् फिर दत्तात्रेयजी महाराज निकले। परन्तु इस बार विचित्र ढंगसे सजकर बाहर आये। अपने योगबलसे झूठमूठकी एक सर्वाङ्गसुन्दरी, अनेकों भूषणोंसे विभूषित तथा अप्सरासमान स्त्रीको अपने वामभागमें लिये हुए और दाहिने हाथमें एक मदिराका घड़ा लिये हुए अनेकों प्रकारकी कुत्सित चेष्टा करते हुए-से प्रकट हुए।

उन्हें इस वेषमें देखकर उन वैदिक संस्कार-सम्पन्न ऋषिकुमारोंका मन फिर गया। कोई कहता—हमने अनजानमें उससे मित्रता कर ली, वह तो बड़ा दुष्ट है। कोई कहता—वे नागलोकसे ही इस सुन्दरीको लाये होंगे। परस्पर खूब निन्दा करते। उनमें जो बुद्धिमान् थे वे यही कहते—'भैया! किसीकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि हम किसीके हृदयकी बात नहीं जान सकते। बाह्य आचरणसे अन्दरका पता लगाना कठिन है। दत्तात्रेय बड़े भारी योगी हैं। विष्णुके अवतार हैं। उनके पास स्त्री, मदिरा आदि कुछ नहीं है, न हो सकते हैं। वे सब तो योगबलसे झूठमूठ ही उन्होंने बना रखे हैं, जिससे कि लोग उनसे घृणा करें।'

बात थी भी यही। यह तो एक माया थी। कइयोंने उनकी इस लीलाका रहस्य न समझकर अपनी पामरताका उनपर आरोप किया है। कई ऐसे भी हैं—जिन्होंने भ्रमवश या विषयासक्तिके कारण उनके अनुकरणमें अपनेको उन्हीं वस्तुओंसे युक्त कर लिया है, परन्तु यह वास्तवमें उनके नामपर अपनी वासनाओंकी पूर्ति ही है। उनके चरित्रमें वस्तुतः ऐसी कोई बात नहीं है।

इन्होंने अलर्क, प्रह्लाद और यदु आदिको तत्त्वज्ञानका उपदेश किया था। उनके अनुसार अपना जीवन बनानेवाले जिज्ञासु-मुमुक्षुओंका परम कल्याण हो सकता है। इनके जीवनके सम्बन्धमें मार्कण्डेय और स्कन्द आदि पुराणोंमें विस्तारसे वर्णन आया है। भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें इनके चौबीस गुरुओंकी बड़ी सुन्दर कथा है। प्रत्येक कल्याणकामीको उसका अध्ययन करना चाहिये।

दत्तात्रेयजी महाराज आज भी हैं। सुनते हैं—वे करवीरमें भिक्षा माँगते हैं, गोदावरी-तटपर भोजन करते हैं और सह्य पर्वतपर शयन करते हैं। अधिकारी पुरुषोंको समय-समयपर दर्शन भी देते हैं। संकल्पसे तो जगत्में शान्तिका विस्तार करते ही हैं। —शान्तनु०

च्यवन

लोकप्रजापति भगवान् ब्रह्माजीने वरुणके यज्ञमें एक पुत्र उत्पन्न किया, जिनका नाम भृगु था। भृगु महर्षिने पुलोमा नामवाली स्त्रीके साथ विधिवत् विवाह किया। पुलोमा जब गर्भवती थी तभी उन्हें एक प्रलोमा नामवाला राक्षस सूकरका रूप बनाकर उठा ले गया। पुलोमा रोती जाती थी। तेज दौड़नेके कारण ऋषिपत्नीका गर्भ च्यवित हो गया, एक महातेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। उस पुत्रको देखते ही वह राक्षस उसके तेजसे भस्म हो गया। वे ही महर्षि च्यवन हुए।

भृगुके पुत्र च्यवन बड़े ही तपस्वी, तेजस्वी और ब्रह्मनिरत हुए। वे सदा तपस्यामें ही लगे रहते थे। तपस्या करते-करते उनके ऊपर दीमक जम गयी थी और दीमकके एक टीलेके नीचे वे दब गये थे, केवल उनकी दो आँखें दिखायी देती थीं। एक दिन महाराज शर्याति अपनी सेनाके सहित वहाँ पहुँचे। सैनिकोंने जंगलमें डेरे डाल दिये, हाथी-घोड़े यथास्थान बाँधे गये

और सैनिक इधर-उधर घूमने-फिरने लगे। महाराज शर्यातिकी पुत्री सुकन्या अपनी सखियोंसहित जंगलमें घूमने लगी। घूमते-घूमते उसने एक टीला देखा, वहाँपर वह वैसे ही विनोदके लिये बैठ गयी। उसे दो जुगुनूकी तरह चमकती हुई आँखें उस दीमकके टीलेके नीचे दिखायी दीं। बाल्यकालकी चंचलताके कारण उसने उन दोनों आँखोंमें काँटा चुभो दिया। उनमेंसे रक्तकी धारा बह निकली। कन्या डर गयी और भागकर अपने डेरेमें आ गयी, उसने यह बात किसीसे कही नहीं।

इधर राजाकी सेनामें एक अपूर्व ही दृश्य दिखायी देने लगा, राजाकी समस्त सेनाका मल-मूत्र बन्द हो गया। राजा, मन्त्री, सेवक, सैनिक, घोड़े, हाथी, रानी, राजपुत्री सभी दुखी हो गये। राजाको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने सबसे पूछा—'यहाँपर भगवान् भार्गव-मुनि च्यवनका आश्रम है, तुम लोगोंने उनका कोई अनिष्ट तो नहीं किया है, किसीने उनके आश्रमपर जाकर अपवित्रता या अशिष्टता तो नहीं की है?' सभीने कहा-'महाराज! हम तो उधर गये भी नहीं।' तब डरते-डरते सुकन्याने कहा—'अज्ञानवश एक अपराध मुझसे हो गया है—दीमकके ढेरमें दो जुगुनू-से चमक रहे थे; उनमें मैंने काँटा चुभो दिया जिससे उनमेंसे रक्तकी धारा बह निकली।'

महाराज सब समझ गये, वे पुरोहित और मन्त्रीके साथ बड़ी दीनतासे महर्षि च्यवनके आश्रमपर पहुँचे। उनकी विधिवत् पूजा की और अज्ञानमें अपनी कन्याके किये हुए अपराधकी क्षमा चाही। महाराजने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! मेरी यह कन्या सरल है, सीधी है। इससे अनजानमें यह अपराध बन गया, अब मुझे जो भी आज्ञा हो मैं उसका सहर्ष पालन करूँ।'

च्यवन मुनि बोले—'राजन्! यह अपराध अज्ञानमें ही हुआ सही; किन्तु मैं वृद्ध हूँ, आँखें भी मेरी फूट गयीं; अतः तुम इस कन्याको ही मेरी सेवाके लिये छोड़ जाओ।' महाराजने इसे सहर्ष स्वीकार किया। सुकन्याने भी बड़ी प्रसन्नतासे इसको स्वीकार किया। सुकन्याका विवाह विधिवत् च्यवन मुनिके साथ कर दिया गया। सुकन्या अपने पतिकी सेवामें रह गयी। राजा उसे समझाकर अपनी राजधानीको चले गये। च्यवन मुनिका स्वभाव कुछ कड़ा था, किन्तु साध्वी सुकन्या दिन-रात सेवा करके उन्हें सदा सन्तुष्ट रखती थी।

एक बार देवताओंके वैद्य अश्विनीकुमार भगवान् च्यवनके आश्रमपर आये। च्यवन मुनिने उनका विधिवत् सत्कार किया। ऋषिके आतिथ्यको स्वीकार करके अश्विनीकुमारोंने कहा—'ब्रह्मन्! हम आपका क्या उपकार करें?'

च्यवन मुनिने कहा—'देवताओ! तुम सब कुछ कर सकते हो। तुम मेरी इस वृद्धावस्थाको मेंट दो और मुझे युवावस्था प्रदान करो, इसके बदले मैं तुम्हें यज्ञमें भाग दिलाऊँगा। अभीतक तुम्हें यज्ञोंमें भाग नहीं मिलता है।'

अश्विनीकुमारोंने ऋषिकी आज्ञा मानकर एक सरोवर निर्माण किया और बोले—'आप इसमें स्नान कीजिये।'

ऋषि उसमेंसे स्नान करके ज्यों ही निकले, तब सुकन्याने क्या देखा कि बिल्कुल एक ही आकार-प्रकारके तीन देवतुल्य युवा पुरुष उसमेंसे निकले। असलमें अश्विनीकुमारोंने सुकन्याके पातिव्रत्यकी परीक्षा लेनेके लिये ही अपने भी वैसे ही रूप बना लिये थे। तब सुकन्याने अश्विनीकुमारोंकी बहुत प्रार्थना की, कि मेरे पतिको अलग कर दीजिये। सुकन्याकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर अश्विनीकुमार अन्तर्धान हो गये और सुकन्या अपने परम सुन्दर रूपवान् पतिके साथ सुखपूर्वक रहने लगी।

च्यवन ऋषिकी वृद्धावस्था जाती रही, उन्हें आँखें फिरसे मिल गयीं, उनका तपस्यासे क्षीण जर्जर शरीर एकदम बदल गया। वे परम सुन्दर रूपवान् युवा बन गये। एक दिन राजा अपनी कन्याको देखने आये। पहले तो वे ऋषिको न पहचानकर कन्यापर क्रुद्ध हुए। जब उन्होंने सब वृत्तान्त सुना तो कन्यापर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने ऋषिकी चरणवन्दना की कि आपके तपके प्रभावसे हमारा वंश पावन हुआ। उन च्यवन ऋषिके पुत्र प्रमति हुए और प्रमतिके रुरु। रुरुके शुनक हुए। ये सब भृगुवंशमें उत्पन्न होनेसे भार्गव कहाये।

—प्र० ब्रह्मचारी

शाण्डिल्य

कश्यपवंशीय महर्षि देवलके पुत्र ही शाण्डिल्य नामसे प्रसिद्ध थे। ये रघुवंशीय नरपति दिलीपके पुरोहित थे। इनकी एक संहिता भी प्रसिद्ध है। कहीं-कहीं नन्दगोपके पुरोहितके रूपमें भी इनका वर्णन आता है। शतानीकके पुत्रेष्टियज्ञमें ये प्रधान ऋत्विक् थे। किसी-किसी पुराणमें इनके ब्रह्माके सारथि होनेका भी वर्णन आता है। इन्होंने प्रभासक्षेत्रमें शिवलिङ्ग स्थापित करके दिव्य शतवर्षतक घोर तपस्या और प्रेमपूर्ण आराधना की। फलस्वरूप भगवान् शिव प्रसन्न हुए और इनके सामने प्रकट होकर इन्हें तत्त्वज्ञान, भगवद्भक्ति एवं अष्टसिद्धियोंका वरदान दिया। विश्वामित्र मुनि जब राजा त्रिशंकुसे यज्ञ करा रहे थे तब ये होताके रूपमें वहाँ विद्यमान थे। भीष्मकी शरशय्याके अवसरपर भी इनकी उपस्थितिका उल्लेख मिलता है। शंख और लिखित, जिन्होंने पृथक्-पृथक् धर्मस्मृतियोंका निर्माण किया है, इन्हींके पुत्र थे। जैसे भगवान् वेदव्यासने समस्त श्रुतियोंका समन्वय करनेके लिये ज्ञानपरक ब्रह्मसूत्रोंका प्रणयन किया है, वैसे ही श्रुतियों और गीताका भक्तिपरक तात्पर्य निर्णय करनेके लिये इन्होंने एक छोटेसे किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ-भक्तिसूत्रोंका प्रणयन किया है। उसमें कुल तीन अध्याय हैं और एक-एक अध्यायमें दो-दो आह्निक हैं, इससे सूचित होता है कि उन्होंने इस ग्रन्थका निर्माण छः दिनमें किया होगा। उनके मतमें जीवोंका ब्रह्मभावापन्न होना ही मुक्ति है। जीव ब्रह्मसे अत्यन्त अभिन्न हैं। उनका आवागमन स्वाभाविक नहीं है किन्तु जपाकुसुमके सान्निध्यसे स्फटिकमणिकी लालिमाके समान अन्तः-करणकी उपाधिसे ही होता है। किन्तु केवल औपाधिक होनेके कारण ही वह ज्ञानसे नहीं मिटाया जा सकता, उसकी निवृत्ति तो उपाधि और उपाधेय इन दोनोंमेंसे किसी एककी निवृत्तिसे या सम्बन्ध छूट जानेसे ही हो सकती है। चाहे जितना ऊँचा ज्ञान हो, किन्तु जैसे स्फटिकमणि और जपाकुसुमका सान्निध्य रहते लालिमाकी निवृत्ति नहीं हो सकती, वैसे ही जबतक अन्तःकरण है तबतक न तो उपाधि और उपाधेयका सम्बन्ध छुड़ाया जा सकता और न आवागमनसे ही बचा जा सकता है। अतः उपाधिके नाशसे ही भ्रमकी निवृत्ति हो सकती है, आत्मज्ञानसे नहीं। उपाधि-नाशके लिये भगवद्भक्तिसे बढ़कर और कोई उपाय नहीं है। ब्रह्मभावोपलब्धिके लिये यही उपाय भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

इस भक्तिसे त्रिगुणात्मक अन्तःकरणका लय होकर ब्रह्मानन्दका प्रकाश हो जाता है। इससे आत्मज्ञानकी व्यर्थता भी नहीं होती, क्योंकि अश्रद्धारूपी मलको दूर करनेके लिये ज्ञानकी आवश्यकता है। गीतामें स्थान-स्थानपर भक्तिके साधनके रूपमें ज्ञानकी चर्चा आयी है। भक्तिका लक्षण है भगवान्‌में परम अनुराग। इस अनुरागसे ही जीव भगवन्मय हो जाता है। उसका अन्तःकरण अन्तःकरणके रूपमें पृथक् न रहकर भगवान्‌में समा जाता है। यही मुक्ति है।

इस प्रकार महर्षि शाण्डिल्यने भगवद्‌भक्तिकी उपयोगिता और ज्ञानकी अपेक्षा भी श्रेष्ठता सिद्ध की है। भक्तिके प्रकार, उसके साधन और उसके विघ्नोंकी निवृत्ति आदिका बड़ा सुस्पष्ट दार्शनिक विवेचन किया है। भगवद्‌भक्तिप्रेमियोंको उसका अध्ययन करना चाहिये।

—शान्तनु०

वैशम्पायन और याज्ञवल्क्य

महामुनि वैशम्पायनजी वेदोंके आचार्य थे। उनके यहाँ बहुत-से छात्र वेदाध्ययन करते थे। याज्ञवल्क्यजी भी इनके ही समीप पढ़ते थे। याज्ञवल्क्यजी इनके बहिनके लड़के थे और मिथिलापुरीमें रहते थे। एक बार समस्त ऋषियोंने मिलकर मेरुके समीप एक सभा स्थापित की। उस सभामें यह नियम था कि निश्चित तिथिको जो ऋषि उस सभामें उपस्थित न होगा उसे सात दिनतक वाचिक ब्रह्महत्याका पातक लगेगा। इस नियमके अनुसार सब ऋषि वहाँ उपस्थित होते थे। एक बार उसी तिथिको वैशम्पायनजीके पिताका श्राद्ध था, उन्होंने सोचा—'श्राद्ध तो आवश्यक है, इसका प्रायश्चित्त सब विद्यार्थी मिलकर कर लेंगे।' तदनुसार वे सभामें

नहीं गये। नियमानुसार उन्हें वाचिक ब्रह्महत्याका पाप लगा। उन्होंने अपने समस्त विद्यार्थियोंसे कहा—'तुम सब मिलकर इस अपराधका प्रायश्चित्त कर लो।' याज्ञवल्क्यजीने कहा—'अभी ये सब छात्र छोटे हैं, ये सब क्या प्रायश्चित्त करेंगे? सबके बदलेका मैं ही कर लूँगा।' वैशम्पायनजीने बहुत कहा—'नहीं, भाई, सबको मिलकर ही करना चाहिये।' किन्तु याज्ञवल्क्यजी हठ पकड़ गये कि नहीं, मैं अकेला ही करूँगा। तब गुरुको कुछ क्रोध आया और उन्होंने कहा—'तू बड़ा अभिमानी है, अतः मेरे द्वारा पढ़ी हुई यजुर्वेदकी शाखाको उगल दे।' गुरुकी आज्ञा पाकर याज्ञवल्क्यजीने अन्नरूपमें वे सब ऋचाएँ उगल दीं। उन्हें उनके शिष्योंने तित्तिर, (तीतर) बनकर ग्रहण कर लिया, वही यजुर्वेदमें कृष्णयजुःके नामसे प्रसिद्ध शाखा हुई। इसीसे कृष्णयजुः और शुक्लयजुः, ये दो भेद हुए। उस शाखाके पढ़नेवाले ब्राह्मण तैत्तिरीय कहलाये।

तब याज्ञवल्क्यजीने निश्चय किया कि अब कभी किसी मनुष्यको गुरु नहीं बनाऊँगा। यह निश्चय करके वे सूर्यभगवान्‌की आराधना करने लगे। सूर्यभगवान्‌ने अश्वका रूप धारण करके उन्हें उपदेश दिया, वही 'माध्यन्दिन वाजसनेय' के नामसे शाखा प्रसिद्ध हुई।

इनके दो स्त्रियाँ थीं, मैत्रेयी और कात्यायनी। मैत्रेयीने भगवान् याज्ञवल्क्यसे ब्रह्मविद्या प्राप्त करके परमपद प्राप्त किया और दूसरी भरद्वाजकी कन्या कात्यायनीसे चन्द्रकान्त, महामेघ, विजय नामक तीन पुत्र हुए।

भगवान् याज्ञवल्क्य कर्मकाण्डमें बड़े ही प्रवीण थे। इन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ कराये और उनमें आचार्य बने। श्रोत्रिय होनेके साथ-ही-साथ ये ब्रह्मनिष्ठ भी थे। एक बार महाराज जनककी इच्छा हुई कि हम किसी ब्रह्मनिष्ठ गुरुसे ब्रह्मविद्या प्राप्त करें। सर्वोत्तम ब्रह्मनिष्ठ ऋषिकी परीक्षा करनेके लिये उन्होंने एक युक्ति सोची। समस्त बड़े-बड़े ऋषियोंको उन्होंने बुलाया और सभामें बछड़ेसहित हजार सुवर्णकी गौएँ खड़ी कर दीं। तदनन्तर उन्होंने समस्त ऋषियोंके सामने घोषणा की—जो कोई ब्रह्मनिष्ठ हों, वे इन गौओंको सजीव बनाकर ले जायँ। सभीकी इच्छा हुई कि हम लें, किन्तु 'पहले उठकर हम ऐसा करते हैं, तो और लोग समझेंगे ये तो अपने मुँह ही अपनेको ब्रह्मनिष्ठ बताते हैं' ऐसा सोचकर शिष्टाचार और लोकापवादके भयसे कोई भी न उठे। तब याज्ञवल्क्यजीने अपने एक शिष्यसे कहा—'सब गौओंको ले चलो।' इसपर उनका समस्त ऋषियोंसे तथा गार्गीसे शास्त्रार्थ हुआ। उन्होंने सभीके प्रश्नोंका विधिवत् उत्तर दिया। सभी सन्तुष्ट हुए। गौएँ भी सजीव हो गयीं। महाराज जनकजीने उनसे ब्रह्मविद्या प्राप्त की।

याज्ञवल्क्य ब्रह्मज्ञानी, कर्मकाण्डी, स्मृतिकार आदि सभी हैं। इनके 'याज्ञवल्क्यशिक्षा', 'प्रतिज्ञासूत्र', 'याज्ञवल्क्यस्मृति', 'शतपथब्राह्मण' और 'योगियाज्ञवल्क्य', ये ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्में इनके शास्त्रार्थका बहुत लंबा वर्णन है। ब्रह्मवादिनी गार्गीके साथ इनका जो शास्त्रार्थ हुआ वह बड़ा ही अपूर्व है।

वैशम्पायनजी कर्मकाण्डके आचार्य होनेके साथ ही भगवल्लीलाओंके बड़े रसिक थे। महाराज जनकके यज्ञमें इन मामा-भानजोंमें कुछ कहा-सुनी भी हो गयी थी। किन्तु उन्होंने जब सूर्यभगवान्से संहिता प्राप्त कर ली तब वैशम्पायनजी परम प्रसन्न हुए और अपने शिष्योंको भी उन्होंने याज्ञवल्क्यजीसे वह संहिता पढ़वायी। इन्होंने अन्तमें घर छोड़कर विद्वत्संन्यास ग्रहण कर लिया था। याज्ञवल्क्यके पन्द्रह शिष्योंके नामोंसे शुक्ल यजुर्वेदकी १५ शाखाएँ प्रसिद्ध हुईं। —प्र० ब्रह्मचारी

विश्वामित्र

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥*

महर्षि विश्वामित्रजीके समान सतत लगनके पुरुषार्थी ऋषि शायद ही कोई और हों, इन्होंने अपने पुरुषार्थसे क्षत्रियत्वसे ब्रह्मत्व प्राप्त किया। राजर्षिसे ब्रह्मर्षि बने, सप्तर्षियोंमें अग्रगण्य हुए और वेदमाता गायत्रीके द्रष्टा ऋषि हुए।

प्रजापतिके पुत्र कुश हुए। इन्हींके वंशमें एक

* सब काम उद्यम करनेसे—पुरुषार्थसे ही सिद्ध होते हैं, केवल मनसे सोच लेनेसे ही सिद्ध नहीं होते। सिंह सोच ले कि मैं तो जंगलका राजा हूँ, मुझे पुरुषार्थ करनेसे क्या? और यह सोचकर सोता रहे तो क्या मृग उसके मुँहमें आकर स्वयं घुस जायँगे? कभी नहीं।

महाराज गाधि हुए, उन्हींके पुत्र महाराज विश्वामित्र हैं। कुशवंशमें पैदा होनेसे इन्हें कौशिक भी कहते हैं। पहले ये एक बड़े धर्मात्मा प्रजापालक राजा थे। एक बार सेना साथ लेकर ये जंगलमें शिकारके लिये गये। वहाँपर ये भगवान् वशिष्ठके आश्रमपर पहुँचे। भगवान् वशिष्ठने इनकी कुशल-क्षेम पूछी और सेनासहित आतिथ्यसत्कार स्वीकार करनेकी प्रार्थना की।

विश्वामित्रजीने कहा—'भगवन्! हमारे साथ हजारों-लाखों सैनिक हैं, आप अरण्यवासी ऋषि हैं, आपने जो फल-फूल दिये उसीसे हमारा सत्कार हो चुका। हम इसी सत्कारसे सन्तुष्ट हैं।'

महर्षि वशिष्ठने उनसे बहुत आग्रह किया, उनके आग्रहसे इन्होंने सेनासहित आतिथ्य ग्रहण करनेकी स्वीकृति दे दी। वशिष्ठजीने अपने योगबलसे कामधेनुकी सहायतासे समस्त सैनिकोंको भाँति-भाँतिके पदार्थोंसे खूब ही सन्तुष्ट किया। कामधेनुके ऐसे प्रभावको देखकर विश्वामित्रजी चकित हो गये। उनकी इच्छा हुई कि यह धेनु हमें मिल जाय। उन्होंने इसके लिये भगवान् वशिष्ठसे प्रार्थना की। वशिष्ठजीने कहा—'इसीके द्वारा मेरे यज्ञ-याग, अतिथिसेवा आदि सब कार्य होते हैं, इसे मैं नहीं दूँगा।' इसपर विश्वामित्रजी जबरदस्ती कामधेनुको ले चले। वशिष्ठजी सब चुपचाप शान्तिपूर्वक देखते रहे। कामधेनुने आज्ञा चाही कि वह अपनी रक्षा स्वयं कर ले। तब उन्होंने स्वीकृति दे दी। कामधेनुने अपने प्रभावसे लाखों सैनिक पैदा किये। विश्वामित्रजीकी सेना भाग गयी। वे पराजित हो गये। इससे उन्हें बड़ी ग्लानि हुई। उन्होंने कहा—'क्षत्रियबल—शारीरिक बलको धिक्कार है, ब्रह्मबल ही सच्चा बल है।' यह सोचकर उन्होंने राज-पाट छोड़ दिया और घोर तपस्या करने लगे। तपस्यामें भाँति-भाँतिके विघ्न होते हैं। सबसे पहिले कामके विघ्न हुए। मेनका अप्सराने उनकी तपस्यामें विघ्न डाला, जब उन्हें होश हुआ तो पश्चात्ताप करते हुए फिर जंगलमें चले गये। वहाँ जाकर घोर तपस्यामें तल्लीन हो गये। कामके बाद क्रोधने विघ्न डाला। त्रिशंकु राजाको गुरु वशिष्ठका शाप था, आपने भगवान् वशिष्ठके वैरको याद करके उसे यज्ञ करनेके लिये कह दिया। सभी ऋषियोंको बुलाया। सब ऋषि उनके तपके प्रभावको सुनकर आ गये, किन्तु भगवान् वशिष्ठजीके सौ पुत्र नहीं आये। इसपर क्रोधके वशीभूत होकर इन्होंने उन सबको मार डाला। इतनेपर भी वशिष्ठजीने उनसे कुछ नहीं कहा। तब तो उन्हें अपनी भूल मालूम हुई। ओहो! यह तो मेरी तपस्यामें बड़ा विघ्न हुआ। तपस्वीको क्रोध करना घोर पाप है, वे सब छोड़कर फिर तपस्यामें रत हो गये। बहुत दिनकी घोर तपस्याके पश्चात् उन्हें बोध हुआ कि-'काम और क्रोध ही तपस्यामें बड़े विघ्न हैं। जिन्होंने काम-क्रोधको जीत लिया वही ब्रह्मर्षि है, वही महर्षि है, उसे ही सच्चा ज्ञान है। मैंने भगवान् वशिष्ठका कितना अनिष्ट किया, उनकी कामधेनुको भी जबरदस्ती लेने लगा। तब भी वे चुप रहे। उनके पुत्रोंको मार दिया, तब भी वे कुछ नहीं बोले। मुझमें यही दोष है, मैं भी वैसा ही बनूँगा, अब काम-क्रोधके वशीभूत न हूँगा।' ऐसा निश्चय करके वे काम-क्रोधको जीतकर बड़ी तत्परतासे तप करने लगे।

उनके घोर तपसे भगवान् ब्रह्माजी प्रसन्न हुए। वे इनके पास आये और वरदान माँगनेको कहा। इन्होंने कहा—'यदि आप मुझे योग्य समझें तो ब्रह्मर्षि बननेका आशीर्वाद दें और स्वयं भगवान् वशिष्ठ अपने मुँहसे मुझे ब्रह्मर्षि कह दें।'

इनकी तपस्यासे वशिष्ठजी पहले ही प्रसन्न हो चुके थे। उन्हें पता चल चुका था कि विश्वामित्रजीने तपस्याके प्रभावसे काम-क्रोधको जीत लिया है, इसलिये ब्रह्माजीके कहनेपर उन्होंने बड़े ही आदरसे विश्वामित्रजीको ब्रह्मर्षिकी उपाधि दी। उन्हें गलेसे लगाया, उनके तपकी, सच्ची लगनकी—सतत उद्योगकी प्रशंसा की और सप्तर्षियोंमें उन्हें स्थान दिया।

उसीके प्रभावसे ये जगत्पूज्य हुए। दशरथजीके यहाँसे भगवान् श्रीरामजीको ले आये, उन्हें सब प्रकारकी विद्याएँ दीं, मिथिला ले जाकर श्रीसीताजीसे विवाह कराया और अन्तमें त्रैलोक्यको कँपानेवाले रावणका वध कराया। महर्षि विश्वामित्रजीका समस्त जीवन तपस्या और परोपकारमें ही व्यतीत हुआ।

—प्र० ब्रह्मचारी

महर्षि जमदग्नि

क्षमया रोचते लक्ष्मीर्ब्राह्मी सौरी यथा प्रभा।
क्षमिणामाशु भगवांस्तुष्यते हरिरीश्वरः॥*

विश्वामित्रजीके पिताका नाम गाधि था। गाधि बड़े ही धर्मात्मा राजा थे। उनके सत्यवती नामकी एक कन्या थी। कन्या जब विवाहयोग्य हुई तो महर्षि ऋचीक महाराजके पास आये। ऋचीक मुनिने राजासे सत्यवतीकी याचना की। अरण्यवासी वृद्ध ऋषिको देखकर राजा दुखी हुए। अपनी प्यारी कन्याको ऋषिको कैसे दें। न दें तो ऋषि शाप दे देंगे। अतः उन्होंने कहा—'भगवन्! हमारे वंशमें ऐसी प्रथा है कि कन्याके पतिसे कुछ शुल्क लेते हैं, आप यदि एक हजार श्यामकर्ण सफेद घोड़े हमें दें तो आपके साथ हम अपनी कन्याका विवाह कर दें।' ऋषि राजाके अभिप्रायको समझ गये, वे योगबलसे वरुणके पास गये और उनसे एक हजार श्यामकर्ण घोड़े लाकर राजाको दिये। राजाने विधिपूर्वक सत्यवतीका ऋचीक महामुनिके साथ विवाह कर दिया।

महाराज गाधिके कोई पुत्र नहीं था। सत्यवतीकी माताने अपनी लड़कीसे कहा—'तेरे पति सर्वसमर्थ ऋषि हैं, उनसे ऐसा वरदान माँग कि तेरे भाई हो जाय।' सत्यवतीने अपनी माताकी प्रार्थना ऋचीक मुनिसे कही और अपने भी एक पुत्र हो ऐसी इच्छा प्रकट की। ऋषिने दो चरु मन्त्रबलसे तैयार किये। एकमें तो क्षात्रधर्मवाली शक्ति स्थापित की और अपनी पत्नीके लिये ब्रह्मशक्ति। दोनों चरु वे अपनी पत्नीको देकर चले गये। माताने समझा कन्यावाला चरु अच्छा होगा, अतः उसने अपनी कन्यावाला चरु खा लिया और कन्याने मातावाला। ऋषिको जब मालूम हुआ तो उन्होंने कहा—'तेरी माताके ब्राह्मण तेजवाला पुत्र होगा और तेरे पुत्र होना चाहिये क्षत्रियकर्मवाला किन्तु पुत्र ऐसा न होकर पौत्र ऐसा होगा।' माताके गर्भसे जो पुत्र हुआ वह तो विश्वामित्र मुनि हुए जो क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मण हुए और सत्यवतीके महर्षि जमदग्नि हुए, उनके पुत्र परशुरामजी ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियकर्मवाले हुए।

महर्षि जमदग्नि सदा तपस्यामें ही लगे रहते थे। वैदिक कर्मोंको करते रहना ही उनका कार्य था। एक बार सहस्रार्जुन शिकार खेलते हुए महर्षि जमदग्निके आश्रमपर आ पहुँचे। राजाको देखकर ऋषिने शास्त्रकी विधिसे उनका सत्कार किया और सेनासहित उन्हें भोजनके लिये निमन्त्रित किया। महर्षि जमदग्निने अपनी तपस्याके प्रभावसे कामधेनुद्वारा सम्पूर्ण सेनाको भाँति-भाँतिके भोजनोंसे सन्तुष्ट किया। कामधेनुकी ऐसी करामात देखकर राजाने उसे महर्षिसे माँगा। ऋषिने कहा—'राजन्! मेरे समस्त यज्ञ-यागके कार्य इसी कामधेनुपर निर्भर हैं। इसे मैं देकर कर्महीन बन जाऊँगा।' राजाने नहीं माना, वे गौको जबरदस्ती लेकर चले गये। महर्षि चुपचाप बैठे रहे। जब इनके पुत्र परशुरामजीने यह सुना तो वे फरसा लेकर माहिष्मती नगरीमें गये और सहस्रार्जुनको मारकर गौ ले आये और आकर पितासे सब हाल सुनाया। इस बातको सुनकर महर्षि जमदग्नि बड़े दुखी हुए। उन्होंने अत्यन्त दुःखके साथ कहा—

राम राम महाबाहो भवान् पापमकारषीत्।
अवधीन्नरदेवं यत् सर्वदेवमयं वृथा॥
वयं हि ब्राह्मणास्तात क्षमयार्हणतां गताः।
यया लोकगुरुर्देवः पारमेष्ठ्यमियात् पदम्॥

हे महाबाहो परशुराम! तुमने यह अच्छा नहीं किया कि सर्वदेवमय राजाका वध कर डाला। हम ब्राह्मणोंका एकमात्र धन क्षमा ही है। बेटा! क्षमाके ही कारण हम ब्राह्मण जगत्पूज्य हैं। इस क्षमाके ही गुणके कारण लोकपितामह ब्रह्मा जगद्गुरु होकर परमेष्ठी-पदको प्राप्त हुए हैं।

परम क्षमाशील महर्षि जमदग्नि सुखपूर्वक अपने आश्रममें रहने लगे। उस समयके प्रायः समस्त राजा दुष्ट हो गये थे। राजाओंके रूपमें सभी असुर उत्पन्न हुए थे। सहस्रबाहुके दुष्ट पुत्रोंने तपस्यामें लगे हुए महर्षि जमदग्निका सिर काट लिया और इससे वे दुष्ट प्रसन्न हुए। ऋषिके लिये इसमें दुःखकी कोई बात नहीं

* जमदग्निजी कहते हैं—'बेटा! क्षमासे ही ब्रह्मतेज सूर्यकी प्रभाके समान देदीप्यमान होता है। क्षमाशील पुरुषपर ही सर्वान्तर्यामी प्रभु शीघ्र सन्तुष्ट होते हैं।'

थी। वे स्वर्गमें जाकर सप्तर्षियोंके साथ बड़े सुखसे रहने लगे। जमदग्नि सप्तर्षियोंमेंसे ही एक ऋषि हैं।

पिताकी मृत्युकी बात सुनकर परशुरामजी अपने क्रोधको नहीं रोक सके और पिताकी मृत्युका बदला लेनेके लिये उन्होंने कई बार क्षत्रियवंशका नाश किया।

महर्षि जमदग्निकी क्षमा, कार्यतत्परता और अतिथि-सत्कार ऐसे गुण हैं जो समस्त आदर्श ब्राह्मण तपस्वियोंमें होने चाहिये। वे क्षमाकी तो मूर्ति ही थे। —प्र० ब्रह्मचारी

मार्कण्डेय

मार्कण्डेय मुनि महर्षि मृकण्डुके पुत्र थे। ये भृगुकुलमें उत्पन्न हुए थे। यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेपर ये ब्रह्मचर्यव्रतको धारणकर वेदाध्ययन करने लगे और वेदपारंगत होकर तप और स्वाध्यायमें लग गये। वे ब्रह्मचारी-वेषमें रहकर अग्नि, सूर्य, गुरु, ब्राह्मण और आत्मामें श्रीहरिका पूजन करने लगे। वे प्रात:काल और सायंकाल भीख माँगकर लाते और गुरुको अर्पण करते और गुरुकी आज्ञा मिलनेपर मौन होकर एक समय भोजन करते। गुरुकी आज्ञा न मिलनेपर ये किसी-किसी दिन निराहार ही रह जाते थे। इस प्रकार मार्कण्डेय मुनिने दस करोड़ वर्षपर्यन्त श्रीहरिकी आराधना करके दुर्जेय कालको भी जीत लिया। उनके इस प्रकार मृत्युको जीत लेनेपर ब्रह्मा, शिव, भृगु, दक्ष और नारदादिको बड़ा आश्चर्य हुआ। इस प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत धारणकर तथा इन्द्रियजयके द्वारा अन्त:करणको रागादि दोषोंसे रहितकर भगवान् अधोक्षजका ध्यान करते हुए मुनिको छ: मन्वन्तर (१७०४ युगोंकी चौकड़ी) का काल बीत गया। वैवस्वत नामक सातवें मन्वन्तरमें इस मन्वन्तरमेंके पुरन्दर नामक इन्द्रने इस भयसे कि ये कहीं मेरे पदको न छीन लें इनके तपमें विघ्न करनेका निश्चय किया। उसने इन्हें तपसे डिगानेके लिये गन्धर्व, अप्सरा, कामदेव, वसन्त ऋतु, मलयानिल तथा लोभ और मदको भेजा। ये लोग हिमालयके उत्तरकी ओर पुष्पभद्रा नदीके तटपर अवस्थित मुनि मार्कण्डेयके आश्रममें पहुँचे और सब लोग मिलकर मुनिके ध्यानको भंग करनेकी चेष्टा करने लगे। परन्तु इन सबके प्रयत्न भाग्यहीनके उद्योगकी भाँति सर्वथा निष्फल हुए और ये सब उन तेजस्वी मुनिके तेजसे जलने लगे। अन्तत: जिस प्रकार किसी विषधर सर्पको छेड़कर बालक भयसे पीछे हट जाते हैं उसी प्रकार ये इन्द्र-दूत निराश होकर वहाँसे लौट गये। इन्द्र उन सबको हतप्रभ एवं म्लानमुख देखकर तथा उनसे उन ब्रह्मर्षिका प्रभाव सुनकर परमविस्मित हुए। ऋषिके तपसे प्रसन्न होकर भगवान् श्रीहरि उनपर अनुग्रह करनेके निमित्त नर-नारायणके रूपमें उनके सामने प्रकट हुए।

उन तपोमूर्ति ऋषिप्रवरोंको देखते ही मुनि उनके चरणोंमें लोट गये और उनकी स्तुति करने लगे। भगवान् नारायण बोले—'हे ऋषिश्रेष्ठ! तुम्हारी निर्दोष भक्तिसे हम अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं, अत: तुम हमसे इच्छित वर माँगो।' ऋषि बोले-'भगवन्! आपने कृपा करके मुझे अपने सुर-मुनिदुर्लभ दर्शनसे कृतार्थ किया; इससे बढ़कर मैं कौन-सा वर आपसे माँगूँ? तथापि मेरी इच्छा है कि जिस आपकी मायासे यह सत् वस्तु भेदयुक्त प्रतीत होती है उस मायाको मैं देखना चाहता हूँ।' नर-नारायण 'तथास्तु' कहकर बदरिकाश्रमको चले गये। इधर ऋषि यह सोचते हुए कि उस मायाका दर्शन मुझे कब होगा अपने आश्रममें ही रहकर अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल, भूमि, वायु, आकाश और आत्मामें तथा अन्यत्र सब जगह सर्वव्यापी श्रीहरिका ध्यान करते हुए मानसिक उपचारोंसे उनका पूजन करने लगे।

× × × ×

सायंकालका समय है। मुनि नदी-तटपर सन्ध्या कर रहे हैं। इतनेमें वे क्या देखते हैं कि अकस्मात् वायु बड़े जोरसे चलने लगा। उस प्रचण्ड वायुके साथ ही आकाशमें भयानक मेघ घुमड़ आये और उनमें बिजलीकी चमकके साथ कड़कड़ाहटका शब्द होने लगा। देखते-देखते मूसलाधार वृष्टि शुरू हो गयी। इधर चारों समुद्र बड़े प्रचण्ड वेगके साथ भूमण्डलको ग्रास करते हुए दिखायी देने लगे और बात-की-बातमें सर्वत्र जल-ही-जल हो गया। सप्तद्वीप, नवखण्ड तथा सप्त कुलाचलोंसहित समस्त पृथ्वीमण्डल ही नहीं, अपितु आकाश, स्वर्ग, तारागण और दिशाओंसहित सारी त्रिलोकी जलमग्न हो गयी। उस अनन्त महार्णवमें अकेले मार्कण्डेय ही रह गये। वे जटाओंको बिखेरकर

बावले और अन्धेके समान इधर-उधर भटकने लगे। बड़े-बड़े मगर उनके देहको नोचने लगे तथा वायुके प्रबल झकोरों एवं उत्ताल तरङ्गोंके थपेड़ोंसे उनका शरीर जर्जर हो गया। इधर भूख-प्यास उन्हें अलग सताने लगी। सर्वत्र घोर अन्धकार छा जानेके कारण उन्हें कुछ नहीं सूझता था। उन्हें कभी शोक होता, कभी मोह होता, कभी सुखकी अनुभूति होती और कभी मृत्युके समान कष्ट होता। इस प्रकार विष्णुकी मायासे मोहित हुए मुनिको उस समुद्रमें भ्रमण करते एक शंकु (१००००००००००००००) वर्ष बीत गये। इस बीचमें उस महान् जलराशिके किसी कोनेमें पृथ्वीका कुछ भाग दिखलायी देने लगा और उसपर फलों और पत्तोंसे लदा हुआ बड़का एक छोटा-सा पौधा दिखायी दिया। साथ ही उस बड़के ईशानकोणकी शाखाके एक पर्णपुट (दोने) में सोया हुआ एक तेजस्वी बालक दीख पड़ा। उसके प्रकाशसे सभी दिशाएँ आलोकित हो उठीं। उसका मरकतमणिके सदृश श्यामवर्ण, शोभायमान मुखकमल, शंखके समान बल पड़ी हुई ग्रीवा, विशाल वक्ष:स्थल, सुन्दर नासिका और धनुषके समान भौंहें मनको मोह लेती थीं, उसके दोनों कानोंमें दाड़िमके फूल खोंसे हुए थे। वह अपने सुन्दर हाथोंसे अपना चरण पकड़कर उसे चूस रहा था।

उस मनोहरमूर्ति बालकको देखकर मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसके दर्शनमात्रसे उनकी सारी व्यथा दूर हो गयी और मारे आनन्दके उन्हें रोमांच हो आया। वे खिसककर उस बालकके समीप चले गये। ज्यों ही वे उसके समीप गये उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो उस बालकके श्वासके साथ वे उसके उदरके भीतर मच्छरकी भाँति खिंचे चले जा रहे हैं। थोड़ी ही देरमें उन्होंने अपनेको उस बालकके उदरके भीतर पाया। वहाँ उन्होंने सारे जगत्को उसी रूपमें पाया जिस रूपमें उन्होंने प्रलयके पूर्व उसे बाहर देखा था। यह सब दृश्य देखकर उन्हें परम विस्मय हुआ। कुछ क्षणके अनन्तर वे उसी बालकके श्वासके द्वारा प्रेरित होकर बाहर निकल आये और पुनः उसी प्रलयसमुद्रमें जा पड़े। बाहर निकलकर उन्होंने उस बालकको उसी अवस्थामें अपनी ओर प्रेमपूर्ण कटाक्षोंसे देखते हुए पाया। उसकी मन्द मुस्कानसे आकर्षित होकर वे उसके समीप जाकर उसे आलिंगन करना ही चाहते थे कि वे योगाधिपति बालवेशधारी भगवान् एकाएकी अन्तर्धान हो गये, उनके अन्तर्धान होते ही वह बड़का वृक्ष और वह प्रलयसमुद्र सारा-का-सारा क्षणभरमें विलीन हो गया और मुनि अपने आश्रममें पूर्ववत् स्थित हो गये। उन्होंने मन-ही-मन भगवान् नारायणकी मायाको प्रणाम किया और हृदयसे उन मायेश्वरकी शरण हो गये।

× × × ×

एक समय मुनि समाधि लगाये अपने आश्रममें बैठे थे। इतनेमें देवाधिदेव भगवान् शंकर जगज्जननी पार्वतीके साथ नन्दीपर सवार होकर आकाशमार्गसे उधरकी ओर निकले। मुनिको शान्तभावसे बैठे देखकर पार्वतीजी भगवान् शंकरसे बोलीं—'भगवन्! ये कोई महातपस्वी मुनि मालूम होते हैं। इन्हें सिद्धि प्रदान कीजिये, क्योंकि सारी तपस्याओंको सिद्ध करनेवाले आप ही हैं।' शंकर बोले—'हे पार्वति! ये मार्कण्डेय मुनि भगवान् पुरुषोत्तमके बड़े भक्त हैं अतएव ये तपके द्वारा कोई सिद्धि नहीं चाहते। अधिक क्या कहें, इन्हें मोक्षकी भी परवा नहीं है, फिर सांसारिक सुखोंकी तो बात ही क्या है? तथापि हे पार्वति! हम चलकर थोड़ी देर इनसे वार्तालाप करें, क्योंकि साधुसमागमसे बढ़कर संसारमें कोई लाभ नहीं है।' यह कहकर जगन्नियन्ता भगवान् शंकर मुनिके समीप गये। किन्तु मुनिकी वृत्तियाँ ब्रह्ममें लीन होनेके कारण उनका बाह्यज्ञान लुप्त हो गया था, अतएव उन्हें जगदात्मा शिव-पार्वतीके आनेका पता नहीं लगा। यह देखकर भगवान् शंकर अपनी योगमायाके प्रभावसे मुनिकी हृदयगुहामें प्रविष्ट हो गये। मुनिने देखा कि उनके हृदयमें एकाएक एक पीली जटाओंवाली, त्रिशूल, धनुष-बाण तथा ढाल-तलवारसे सुसज्जित, शरीरमें व्याघ्रचर्म लपेटे, रुद्राक्षमाला, डमरू, नरकपाल और फरसा धारण किये, तीन नेत्र और दस भुजाओंवाली मूर्ति प्रकट हो गयी। इस विकराल मूर्तिको हृदयस्थित देखकर मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ और इसी आश्चर्यमें उनकी समाधि टूट गयी। मुनिने आँख खोलकर देखा तो सामने भगवान् रुद्र पार्वतीसहित अपने गणोंको साथ लिये खड़े हैं। मुनिने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और पार्वतीसहित उनकी भक्तिपूर्वक पूजा की। उनकी पूजासे प्रसन्न होकर भगवान् शंकर बोले—'हे मुने! हम तुम्हारी भक्तिसे बहुत प्रसन्न हैं, अतः हमसे इच्छित वर माँगो। ब्रह्मा,

विष्णु और मैं तीनों ही वर देनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं। तुम्हारी तरह जो लोग हम तीनोंकी समानभावसे भक्ति करते हैं तथा जो शान्त, नि:संग, निर्वैर, प्राणीमात्रके प्रति दया करनेवाले और सर्वत्र समदृष्टि रखनेवाले हैं उनकी इन्द्रादि लोकपाल ही नहीं अपि तु हम तीनों भी वन्दना और सेवा-पूजन करते हैं। क्योंकि आपलोग हम तीनोंमें, अपनेमें तथा जगत्के अन्य प्राणियोंमें अणुमात्र भी भेद नहीं देखते। अतएव हम लोग आप-जैसे ब्राह्मणोंका भजन किया करते हैं। तीर्थ और देवता तो चिरकालपर्यन्त सेवा करनेपर फल देते हैं, किन्तु आप-जैसे साधुपुरुष तो दर्शनमात्रसे ही कृतार्थ कर देते हैं। जो तुम्हारी भाँति चित्तको एकाग्र करके तप, स्वाध्याय और संयममें रत रहते हैं उन ब्राह्मणोंको हम सदा नमस्कार किया करते हैं। आपसदृश महानुभावोंके दर्शन अथवा नाम सुननेमात्रसे ही महापातकी और चाण्डाल भी शुद्ध हो जाते हैं। फिर जिन्हें आपलोगोंके साथ सम्भाषण आदिका सौभाग्य प्राप्त होता है उनकी तो बात ही क्या है।'

भगवान् शंकरके इन वचनोंको सुनकर ऋषि गद्गद हो गये। वे बोले—'भगवन्! मैं तो आपके दर्शनमात्रसे कृतार्थ हो गया, और वरदान क्या माँगूँ? तथापि आपसे मेरी यही प्रार्थना है कि मेरी भगवान् अच्युत और उनके भक्तोंमें तथा आपमें अनन्य भक्ति हो।' शंकर बोले—'हे प्रियवर! तुम्हारी यह अभिलाषा पूर्ण हो। इस कल्पके अन्ततक तुम्हारी कीर्ति अटल रहेगी और तुम अजर, अमर होकर रहोगे। तुम्हें त्रिकालविषयक ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य और पुराणोंका आचार्यत्व प्राप्त होगा।' यह कहकर भगवान् शंकर वहाँसे चले गये। और महामुनि मार्कण्डेय योगका महान् सामर्थ्य तथा भगवान् जनार्दनकी एकान्त भक्ति प्राप्तकर भूलोकमें विचरने लगे और अब भी उसी प्रकार विचरते हैं। वे लोकमें 'चिरंजीव' के नामसे विख्यात हुए।

बृहन्नारदीयपुराणके अनुसार महर्षि मृकण्डुके तपसे प्रसन्न होकर भगवान् नारायणने ही पुत्ररूपमें उनके यहाँ जन्म ग्रहण किया था। —चि० गोस्वामी

शिवभक्त उपमन्यु

भक्तराज उपमन्यु परम शिवभक्त, वेदतत्त्वके ज्ञाता महर्षि व्याघ्रपादके बड़े पुत्र थे। एक दिन उपमन्युने मातासे दूध माँगा। घरमें दूध था नहीं। माताने चावलोंका आटा जलमें घोलकर उपमन्युको दे दिया। उपमन्यु मामाके घर दूध पी चुके थे। अतएव उन्होंने यह जानकर कि यह दूध नहीं है, मातासे कहा—'माँ! यह तो दूध नहीं है।' ऋषिपत्नी झूठ बोलना नहीं जानती थीं; उन्होंने कहा—बेटा! तू सत्य कहता है, यह दूध नहीं है। नदी-किनारे वनों और पहाड़ोंकी गुफाओंमें जीवन बितानेवाले हम तपस्वी मनुष्योंके यहाँ दूध कहाँसे मिल सकता है। हमारे तो सर्वस्व श्रीशिवजी महाराज हैं। तू यदि दूध चाहता है तो उन जगन्नाथ श्रीशिवजीको प्रसन्न कर! वे प्रसन्न होकर तुझे दूध-भात देंगे।

माताकी बात सुनकर बालक उपमन्युने पूछा—माँ! भगवान् श्रीशिवजी कौन हैं? कहाँ रहते हैं? उनका कैसा रूप है, मुझे वे किस प्रकार मिलेंगे? और उन्हें प्रसन्न करनेका उपाय क्या है?

बालकके सरल वचनोंको सुनकर स्नेहवश माताकी आँखोंमें आँसू भर आये। माताने उसे शिवतत्त्व बतलाया और कहा—'तू उनका भक्त बन, उनमें मन लगा, उनमें विश्वास रख, एकमात्र उनकी शरण हो जा, उन्हींका भजन कर, उन्हींको नमस्कार कर। ऐसा करनेसे वे कल्याणस्वरूप तेरा निश्चय ही कल्याण करेंगे। उनको प्रसन्न करनेका महामन्त्र '**नमः शिवाय**' है।'

मातासे उपदेश पाकर बालक उपमन्यु शिवको प्राप्त करनेका दृढ़ संकल्प करके घरसे निकल पड़े। वनमें जाकर प्रतिदिन '**नमः शिवाय**' मन्त्रके द्वारा वनके पत्र-पुष्पोंसे भगवान् शिवजीकी पूजा करते, और शेष समय मन्त्र-जप करते हुए कठोर तप करने लगे। वनमें अकेले रहनेवाले तपस्वी उपमन्युको पिशाचोंने बहुत कुछ सताया; परन्तु उपमन्युके मनमें न तो भय हुआ, और न विघ्न करनेवालोंके प्रति क्रोध ही। वे उच्च स्वरसे '**नमः शिवाय**' मन्त्रका कीर्तन करने लगे। इस पवित्र मन्त्रके सुननेसे मरीचिके शापसे पिशाचयोनिको प्राप्त हुए, उपमन्युके तपमें विघ्न करनेवाले वे मुनि पिशाचयोनिसे छूटकर पुनः मुनिदेहको प्राप्त होकर कृतज्ञताके साथ उपमन्युकी सेवा करने लगे।

तदनन्तर देवताओंके द्वारा उपमन्युकी उग्र तपस्याका हाल सुनकर सर्वान्तर्यामी भक्तवत्सल भोलेनाथ श्रीशंकरजी भक्तका गौरव बढ़ानेके लिये उनके अनन्यभावकी परीक्षा

करनेकी इच्छासे इन्द्रका रूप धारणकर श्वेतवर्ण ऐरावतपर सवार होकर उपमन्युके समीप जा पहुँचे। मुनिकुमार भक्तश्रेष्ठ उपमन्युने इन्द्ररूपी भगवान् महादेवको देखकर धरतीपर सिर टेककर प्रणाम किया और कहा कि 'हे देवराज! आपने कृपा करके स्वयं मेरे समीप पधारकर मुझपर बड़ी कृपा की है। बतलाइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?' इन्द्ररूपी परमात्मा शंकरने प्रसन्न होकर कहा—'हे सुव्रत! तुम्हारी इस तपस्यासे मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ हूँ, तुम मुझसे मनमाना वर माँगो; तुम जो कुछ माँगोगे, वही मैं तुम्हें दूँगा।'

इन्द्रकी बात सुनकर उपमन्युने कहा—'देवराज! आपकी बड़ी कृपा है, परन्तु मैं आपसे कुछ भी नहीं चाहता। मुझे न तो स्वर्ग चाहिये, न स्वर्गका ऐश्वर्य ही। मैं तो भगवान् शंकरका दासानुदास बनना चाहता हूँ। जबतक वे प्रसन्न होकर मुझे दर्शन नहीं देंगे, तबतक मैं तपको नहीं छोड़ूँगा। त्रिभुवनसार, सबके आदिपुरुष, अद्वितीय, अविनाशी भगवान् शिवको प्रसन्न किये बिना किसीको स्थिर शान्ति नहीं मिल सकती। मेरे दोषोंके कारण मुझे इस जन्ममें भगवान्के दर्शन न हों और यदि मेरा फिर जन्म हो तो उसमें भी भगवान् शिवपर ही मेरी अक्षय और अनन्य भक्ति बनी रहे।'

इन्द्रसे इस प्रकार कहकर उपमन्यु फिर अपनी तपस्यामें लग गये। तब इन्द्ररूपधारी शंकरने उपमन्युके सामने अपने गुणोंद्वारा अपनी ही निन्दा करना आरम्भ किया। मुनिको शिवनिन्दा सुनकर बड़ा ही दुःख हुआ; कभी क्रोध न करनेवाले मुनिके मनमें भी इष्टकी निन्दा सुनकर क्रोधका संचार हो आया और उन्होंने इन्द्रको वध करनेकी इच्छासे अघोरास्त्रसे अभिमन्त्रित भस्म लेकर इन्द्रपर फेंकी, और शिवनिन्दा सुननेके प्रायश्चित-स्वरूप अपने शरीरको भस्म करनेके लिये आग्नेयी धारणा करने लगे।

उनकी यह स्थिति देखकर भगवान् शंकर परम प्रसन्न हो गये। भगवान्के आदेशसे आग्नेयी धारणाका निवारण हो गया और नन्दीने अघोरास्त्रका निवारण कर दिया। इतनेहीमें उपमन्युने चकित होकर देखा कि ऐरावत हाथीने चन्द्रमाके समान सफेद कान्तिवाले बैलका रूप धारण कर लिया। और इन्द्रकी जगह भगवान् शिव अपने दिव्य रूपमें जगज्जननी उमाके साथ उसपर विराजमान हैं। वे करोड़ों सूर्योंके समान तेजसे आच्छादित और करोड़ों चन्द्रमाओंके समान सुशीतल सुधामयी किरणधाराओंसे घिरे हुए हैं। उनके शीतल तेजसे सब दिशाएँ प्रकाशित और प्रफुल्लित हो गयीं। वे अनेक प्रकारके सुन्दर आभूषण पहने थे। उनके उज्ज्वल सफेद वस्त्र थे। सफेद फूलोंकी सुन्दर माला उनके गलेमें थी। श्वेत मस्तकपर चन्दन लगा था। श्वेत ही ध्वजा थी, श्वेत ही यज्ञोपवीत था। धवल चन्द्रयुक्त मुकुट था। सुन्दर दिव्य शरीरपर सुवर्णकमलोंसे गुँथी हुई और रत्नोंसे जड़ी हुई माला सुशोभित हो रही थी। माता उमाकी शोभा भी अवर्णनीय थी। ऐसे देव-मुनिवन्दित भगवान् शंकरके माता उमाके सहित दर्शन प्राप्तकर उपमन्युके हर्षका पार नहीं रहा। उपमन्यु गद्गद कण्ठसे प्रार्थना करने लगे।

भक्तकी निष्कपट और सरल प्रार्थनासे प्रसन्न होकर भगवान् शंकरने कहा—'बेटा उपमन्यु! मैं तुझपर परम प्रसन्न हूँ। मैंने भलीभाँति परीक्षा करके देख लिया कि तू मेरा अनन्य और दृढ़ भक्त है। बता, तू क्या चाहता है? यह याद रख कि तेरे लिये मुझको कुछ भी अदेय नहीं है।'

भगवान् शंकरके स्नेहभरे वचनोंको सुनकर उपमन्युके आनन्दकी सीमा न रही। उनके नेत्रोंसे आनन्दके आँसुओंकी धारा बहने लगी। वह गद्गद स्वरसे बोले—'हे नाथ! आज मुझे क्या मिलना बाकी रहा गया? मेरा यह जन्म सदाके लिये सफल हो गया। देवता भी जिनको प्रत्यक्ष नहीं देख सकते, वे देवदेव आज कृपा करके मेरे सामने विराजमान हैं, इससे अधिक मुझे और क्या चाहिये? इसपर भी आप यदि देना ही चाहते हैं तो यही दीजिये कि आपके श्रीचरणोंमें मेरी अविचल और अनन्य भक्ति सदा बनी रहे।'

भगवान् चन्द्रशेखरने उपमन्युका मस्तक सूँघकर उन्हें देवीके हाथोंमें सौंप दिया। देवीजीने भी अत्यन्त स्नेहसे उनके मस्तकपर हाथ रखकर उन्हें अविनाशी कुमारपद प्रदान किया। तदनन्तर भगवान् शिवजीने कहा—'हे बेटा! तू आज अजर, अमर, तेजस्वी, यशस्वी और दिव्य ज्ञानयुक्त हो गया। तेरे सारे दुःखोंका सदाके लिये नाश हो गया। तू मेरा अनन्य भक्त है। वह दूध-भातकी खीर ले।' यह कहकर शिवजी अन्तर्धान हो गये! इन्होंने ही भगवान् श्रीकृष्णको शिवमन्त्रकी दीक्षा दी।

—ह० पोद्दार

आरुणि या उद्दालक

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥*

जीवनमें किसीपर श्रद्धा हो, किसीपर भी पूर्ण विश्वास हो तो बस बेड़ा पार ही समझो। किसीके वचनको माननेकी इच्छा हो, आज्ञापालनकी दृढ़ता हो तो उसके लिये जीवनमें कौन-सा काम दुर्लभ है। सबसे अधिक श्रद्धेय, सबसे अधिक विश्वसनीय, सबसे अधिक प्रेमास्पद श्रीगुरु भगवान् ही हैं, जो निरन्तर शिष्यका अज्ञान दूर करनेके लिये मनसे चेष्टा करते रहते हैं। गुरुके बराबर दयालु, उनके बराबर हितैषी जगत्में कौन होगा। जिन्होंने भी कुछ प्राप्त किया है गुरुकृपासे ही प्राप्त किया है।

प्राचीन कालमें आजकी भाँति विद्यालय, हाईस्कूल और पाठशालाएँ तथा कालेज नहीं थे। विद्वान् तपस्वी गुरु जंगलोंमें रहते थे, वहीं शिष्य पहुँच जाते थे। वहाँ भी कोई नियमसे कापी-पुस्तक लेकर चार-छः घण्टे पढ़ाई नहीं होती थी। गुरु अपने शिष्योंको काम सौंप देते थे, स्वयं भी काम करते थे। काम करते-करते बातों-ही-बातोंमें वे अनेक प्रकारकी शिक्षा दे देते थे। और किसीपर गुरुकी परम कृपा हो गयी तो उसे स्वयं ही सब विद्याएँ आ जाती थीं।

ऐसे ही एक आयोद धौम्य नामके ऋषि थे। उनके यहाँ आरुणि, उपमन्यु और वेद नामके तीन विद्यार्थी पढ़ते थे। धौम्य ऋषि बड़े परिश्रमी थे, वे विद्यार्थियोंसे खूब काम लेते थे। किन्तु उनके विद्यार्थी भी इतने गुरुभक्त थे कि गुरुजी जो भी आज्ञा देते उसका पालन वे बड़ी तत्परताके साथ करते। कभी उनकी आज्ञा उल्लंघन नहीं करते। हमारा खयाल है कि उनके कड़े शासनके ही कारण अधिक विद्यार्थी उनके यहाँ नहीं आये। जो आये वे तपानेपर खरा सोना बनकर ही गये। तीनों ही विद्यार्थी आदर्श गुरुभक्त छात्र निकले।

एक दिन खूब वर्षा हो रही थी, गुरुजीने पांचालदेशके आरुणिसे कहा—'बेटा आरुणि! तुम अभी चले जाओ और वर्षामें ही खेतकी मेड़ बाँध आओ, जिससे वर्षाका पानी खेतके बाहर न निकलने पावे। सब पानी बाहर निकल जायगा तो फसल अच्छी न होगी। पानी खेतमें ही सूखना चाहिये।'

गुरुकी आज्ञा पाकर आरुणि खेतपर गया। मूसलाधार पानी पड़ रहा था। खेतमें खूब पानी भरा था, एक जगह बड़ी ऊँची मेड़ थी। वह मेड़ पानीके वेगसे बहुत कट गयी थी। पानी उसमेंसे बड़ी तेजीके साथ निकल रहा था। आरुणिने फावड़ीसे इधर-उधरकी बहुत-सी मिट्टी लेकर उस कटी हुई मेड़पर रखी। जबतक वह मिट्टी रखता और दूसरी मिट्टी रखनेके लिये लाता तबतक पहली मिट्टी बह जाती। उसने जी तोड़कर परिश्रम किया, किन्तु जलका वेग इतना तीव्र था कि वह पानीको रोक न सका। तब उसे बड़ी चिन्ता हुई। उसने सोचा—गुरुकी आज्ञा है कि पानी खेतसे निकलने न पावे और पानी निरन्तर निकल रहा है। अतः उसे एक बात सूझी। फावड़ेको रखकर वह कटी हुई मेड़की जगह स्वयं लेट गया। उसके लेटनेसे पानी रुक गया। थोड़ी देरमें वर्षा भी बन्द हो गयी। किन्तु खेतमें पानी भरा हुआ था। वह यदि उठता है तो सब पानी निकल जाता है, अतः वह वहीं चुपचाप पानी रोके पड़ा रहा। वहाँ पड़े-पड़े उसे रात्रि हो गयी।

अन्तःकरणसे सदा भलाईमें निरत रहनेवाले गुरुने शामको अपने सब शिष्योंको बुलाया, उनमें आरुणि नहीं था। गुरुजीने सबसे पूछा—'आरुणि कहाँ गया?' शिष्योंने कहा—'भगवन्! आपने ही तो उसे प्रातः खेतकी मेड़ बनाने भेजा था।' गुरुने सोचा—'ओहो! प्रातःकालसे अभीतक नहीं आया? चलो चलें, उसका पता लगावें।' यह कहकर वे शिष्योंके साथ प्रकाश लेकर आरुणिकी खोजमें चले। उन्होंने इधर-उधर बहुत ढूँढ़ा, किन्तु आरुणि कहीं दीखा ही नहीं। तब गुरुजीने जोरोंसे आवाज दी—'बेटा आरुणि! तुम कहाँ हो? हम तुम्हारी खोज कर रहे हैं।' दूरसे आरुणिने पड़े-ही-पड़े आवाज दी—'गुरुजी! मैं यहाँ मेड़ बना हुआ पड़ा हूँ।' आवाजके सहारे-सहारे गुरुजी वहाँ पहुँचे। उन्होंने जाकर देखा कि आरुणि सचमुच मेड़ बना हुआ पड़ा है और पानीको रोके हुए है। गुरुजीने

* गुरु ही ब्रह्मा हैं, गुरु ही विष्णु हैं, गुरु ही महेश्वर हैं और गुरु ही साक्षात् परब्रह्म हैं। उन गुरुको नमस्कार है।

कहा—'बेटा! अब तुम निकल आओ।' गुरुजीकी आज्ञा पाकर आरुणि मेड़को काटकर निकल आया, गुरुजीका हृदय भर आया। उन्होंने अपने प्यारे शिष्यको छातीसे चिपटा लिया। प्रेमसे उसका माथा सूँघा और आशीर्वाद दिया—'बेटा! मैं तुम्हारी गुरुभक्तिसे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हें बिना पढ़े ही सब विद्या आ जायगी, तुम जगत्में यशस्वी और भगवद्भक्त होगे। आजसे तुम्हारा नाम उद्दालक हुआ।' वे ही आरुणि मुनि उद्दालकके नामसे प्रसिद्ध हुए, जिनका संवाद उपनिषदोंमें आता है।

—प्र० ब्रह्मचारी

अष्टावक्र

प्रधानपुरुषव्यक्तकालानां परमं हि यत्।
पश्यन्ति सूरयः शुद्धास्तद् विष्णोः परमं पदम्॥*

भगवान् अष्टावक्रके सम्बन्धमें पुराणोंमें ऐसी कथा आती है कि जब ये गर्भमें ही थे तभी इन्हें समस्त वेदोंका बोध था। इनके पिता कुछ अशुद्ध पाठ कर रहे थे। इन्होंने गर्भमेंसे ही कहा—'अशुद्ध पाठ क्यों करते हो?' पिताको यह बात कुछ बुरी लगी। उन्होंने शाप दिया कि अभीसे तू इतना टेढ़ा है तो जा, तू आठ जगहसे टेढ़ा हो। पिताका वचन सत्य हुआ और ये आठ स्थानसे टेढ़े ही पैदा हुए। इसीलिये इनका नाम अष्टावक्र पड़ा। इन्होंने फिर विधिवत् वेद-वेदान्तका अध्ययन किया।

उन दिनों महाराज जनकके यहाँ एक पुरोहित रहता था। उसने यह नियम बना लिया था कि जो शास्त्रार्थमें मुझसे हार जायगा उसे मैं जलमें डुबा दूँगा। बड़े-बड़े पण्डित जाते और हार जाते। हारनेपर वह पण्डितोंको जलमें डुबो देता। अष्टावक्रजीके पिता-मामा आदि भी इसी तरह जलमें डुबो दिये गये।

जब ये कुछ सयाने हुए तो इन्होंने इच्छा प्रकट की कि मैं भी उस पण्डितसे शास्त्रार्थ करने जाऊँगा। इनकी बात सुनकर इनकी माता आदिने बहुत मना किया, किन्तु ये माने ही नहीं। सीधे महाराजकी राजसभामें पहुँचे। इनके आठ स्थानसे टेढ़े शरीरको देखकर सभी सभासद् हँस पड़े और उन्होंने जब यह सुना कि ये शास्त्रार्थ करने आये हैं तब तो वे और भी जोरोंसे हँसे।

अष्टावक्रजीने कहा—'हम तो समझते थे कि विदेहराजकी सभामें कुछ पण्डित भी होंगे। किन्तु यहाँ तो सब चर्मकार ही निकले।' यह सुनकर सभी उनके मुखकी ओर देखने लगे। राजाने पूछा—'ब्रह्मन्! आपने सभीको चर्मकार कैसे बताया, यहाँ तो बड़े-बड़े श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण पण्डित हैं। आप चर्मकार कहनेका अभिप्राय बताइये।'

अष्टावक्रजीने कहा—'देखो, आत्मा नित्य है, शुद्ध है, निर्लेप और निर्विकार है। उसमें कोई विकार नहीं, दोष नहीं। वह मुझमें है। जिसे उसकी परीक्षा है वही ब्रह्मज्ञानी है, पण्डित है। उसे न पहचानकर जो चर्मसे ढके हुए इस अस्थि-मांसके शरीरको ही देखकर हँसता है उसे उस आत्माका तो बोध है नहीं, चर्मका बोध है। जिसे चर्मका बोध है वही चर्मकार है।'

इनकी ऐसी युक्तियुक्त बातें सुनकर महाराजको तथा समस्त सभासदोंको बड़ा संतोष हुआ। उन्होंने इनका अभिनन्दन किया, पूजा की और आनेका कारण पूछा। उन्होंने कहा—'मैं आपके उस पण्डितसे शास्त्रार्थ करूँगा जो सबको जलमें डुबा देता है।' महाराजने इन्हें बहुत मना किया, किन्तु ये माने ही नहीं। विवश होकर महाराजने उस पण्डितको बुलाया। इन्होंने उससे शास्त्रार्थ किया और शास्त्रार्थमें उसे परास्त कर दिया। तब तो वह घबड़ाया। इन्होंने उसे पकड़ लिया और कहा—'जैसे तैने सबको जलमें डुबोया है उसी प्रकार मैं तुझे जलमें डुबोऊँगा।' यह कहकर उसे जलमें घसीट ले गये। उसने सन्तुष्ट होकर कहा—'ब्रह्मन्! मैं आपकी विद्वत्ता और पाण्डित्यसे बहुत प्रसन्न हूँ। रह गयी मुझे डुबोनेकी बात, सो मैं जलमें डूब ही नहीं सकता। मैं वरुणका दूत हूँ। महाराज वरुण एक यज्ञ कर रहे हैं। उन्हें वहाँ पण्डितोंकी जरूरत थी, इसीलिये मैंने यहाँसे सब पण्डितोंको भेजा है। जिन्हें मैंने जलमें डुबाया है वे सब-के-सब जीवित हैं, और वरुणजीके यज्ञको करा

* जो प्रधान, पुरुष, व्यक्त और काल इन चारोंसे परे है; जिसे ब्रह्मज्ञानी पण्डितजन ही देख पाते हैं; वही विष्णुका परम पद है।

रहे हैं। अब यज्ञ समाप्त हो गया। मैं उन सबको आपके सामने यहाँ लाता हूँ।' यह कहकर वह वरुणलोकमें चला गया और उन समस्त पण्डितोंको दक्षिणासहित ले आया। सभीने प्रेमपूर्वक अष्टावक्रजीका आलिंगन किया और कहा—'इसीलिये तो ऋषियोंने सत्पुत्रकी प्रशंसा की है। यदि समस्त कुलमें एक भी धर्मात्मा सत्पुत्र हो जाता है तो वह समस्त कुलका उद्धार कर सकता है।'

महामुनि अष्टावक्रजी महाराज विदेहद्वारा सत्कृत और पूजित होकर समस्त विद्वन्मण्डलीके सहित अपने आश्रमको चले गये।

—प्र० ब्रह्मचारी

अगस्त्य

महर्षि अगस्त्य वेदोंके एक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। इनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें विभिन्न प्रकारकी कथाएँ मिलती हैं। कहीं मित्रावरुणके द्वारा वशिष्ठके साथ घड़ेमें पैदा होनेकी बात आती है तो कहीं पुलस्त्यकी पत्नी हविर्भूके गर्भसे विश्रवाके साथ इनकी उत्पत्तिका वर्णन आता है। किसी-किसी ग्रन्थके अनुसार स्वायम्भुव मन्वन्तरमें पुलस्त्यतनय दत्तोलि ही अगस्त्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। ये सभी बातें कल्पभेदसे ठीक उतरती हैं। इनके विशाल जीवनकी समस्त घटनाओंका वर्णन नहीं किया जा सकता। यहाँ संक्षेपतः दो-चार घटनाओंका उल्लेख किया जाता है।

एक बार विन्ध्याचलने गगनपथगामी सूर्यका मार्ग रोक लिया। इतना ऊँचा हो गया कि सूर्यके आने-जानेका स्थान ही न रहा। सूर्य महर्षि अगस्त्यके शरणागत हुए। अगस्त्यने उन्हें आश्वासन दिया और स्वयं विन्ध्याचलके पास उपस्थित हुए। विन्ध्याचलने बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे उन्हें नमस्कार किया। महर्षि अगस्त्यने कहा—'भैया, मुझे तीर्थोंमें पर्यटन करनेके लिये दक्षिण दिशामें जाना आवश्यक है। परन्तु तुम्हारी इतनी ऊँचाई लाँघकर जाना बड़ा कठिन प्रतीत होता है, इसलिये कैसे जाऊँ?' उनकी बात सुनते ही विन्ध्याचल उनके चरणोंमें लोट गया। बड़ी सुगमतासे महर्षि अगस्त्यने उसे पार करके कहा कि अब जबतक मैं न लौटूँ तुम इसी प्रकार पड़े रहना। विन्ध्याचलने बड़ी नम्रता और प्रसन्नताके साथ उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। तबसे महर्षि अगस्त्य लौटे ही नहीं और विन्ध्याचल उसी प्रकार पड़ा हुआ है। अगस्त्यने जाकर उज्जयिनी नगरीके शूलेश्वर तीर्थकी पूर्व दिशामें एक कुण्डके पास शिवजीकी आराधना की। भगवान् शिवने प्रसन्न होकर उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। आज भी भगवान् शंकरकी मूर्ति वहाँ अगस्त्येश्वरके नामसे प्रसिद्ध है।

एक बार भ्रमण करते-करते महर्षि अगस्त्यने देखा कि कुछ लोग नीचे मुँह किये हुए कुएँमें लटक रहे हैं। पता लगानेपर मालूम हुआ कि ये उन्हींके पितर हैं और उनके उद्धारका उपाय यह कि वे सन्तान उत्पन्न करें। बिना ऐसा किये पितरोंका कष्ट मिटना असम्भव था। अतः उन्होंने विदर्भराजसे पैदा हुई अपूर्व सुन्दरी और परम पतिव्रता लोपामुद्राको पत्नीके रूपमें स्वीकार किया। उस समय इल्वल और वातापी नामके दो दैत्योंने बड़ा उपद्रव मचा रखा था। वे ऋषियोंको अपने यहाँ निमन्त्रित करते और वातापी स्वयं भोजन बन जाता और जब ऋषिलोग खा-पी चुकते तब इल्वल बाहरसे उसे पुकारता और वह उनका पेट फाड़कर निकल आता। इस प्रकार महान् ब्राह्मणसंहार चल रहा था। भला, महर्षि अगस्त्य इसे कैसे सहन कर सकते थे? वे भी एक दिन उनके यहाँ अतिथिके रूपमें उपस्थित हुए और फिर तो सर्वदाके लिये उसे पचा गये। इस प्रकार लोकका महान् कल्याण हुआ।

एक बार जब इन्द्रने वृत्रासुरको मार डाला तब कालेय नामके दैत्योंने समुद्रका आश्रय लेकर ऋषि-मुनियोंका विनाश करना शुरू किया। वे दैत्य दिनमें तो समुद्रमें रहते और रातमें निकलकर पवित्र जंगलोंमें रहनेवाले ऋषियोंको खा जाते। उन्होंने वशिष्ठ, च्यवन, भरद्वाज सभीके आश्रमोंपर जा-जाकर हजारोंकी संख्यामें ऋषि-मुनियोंका भोजन किया था। अब देवताओंने महर्षि अगस्त्यकी शरण ग्रहण की, तब उनकी प्रार्थनासे और लोगोंकी व्यथा और हानि देखकर उन्होंने अपने एक चुल्लूमें ही सारे समुद्रको पी लिया। तब देवताओंने जाकर कुछ दैत्योंका वध किया और कुछ भागकर पाताल चले गये।

एक बार ब्रह्महत्याके कारण इन्द्रके स्थानच्युत होनेके कारण राजा नहुष इन्द्र हुए थे। इन्द्र होनेपर अधिकारके मदसे मत्त होकर उन्होंने इन्द्राणीको अपनी पत्नी बनानेकी चेष्टा की, तब बृहस्पतिकी सम्मतिसे इन्द्राणीने एक ऐसी सवारीसे आनेकी बात कही जिसपर अबतक कोई सवार न हुआ हो। मदमत्त नहुषने सवारी ढोनेके लिये ऋषियोंको ही बुलाया। ऋषियोंको तो सम्मान-अपमानका कुछ खयाल था ही नहीं। आकर सवारीमें जुत गये। जब सवारीपर चढ़कर नहुष चले तब शीघ्रातिशीघ्र पहुँचनेके लिये हाथमें कोड़ा लेकर 'जल्दी चलो! जल्दी चलो! (सर्प, सर्प)' कहते हुए उन ब्राह्मणोंको विताड़ित करने लगे। यह बात महर्षि अगस्त्यसे देखी नहीं गयी। वे इसके मूलमें नहुषका अध:पतन और ऋषियोंका कष्ट देख रहे थे। उन्होंने नहुषको उसके पापोंका उचित दण्ड दिया। शाप देकर उसे एक महाकाय सर्प बना दिया और इस प्रकार समाजकी मर्यादा सुदृढ़ रखी तथा धनमद और पदमदके कारण अन्धे लोगोंकी आँखें खोल दीं।

भगवान् श्रीराम वनगमनके समय इनके आश्रमपर पधारे थे और इन्होंने बड़ी श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेमसे उनका सत्कार किया और उनके दर्शन, आलाप तथा संसर्गसे अपने ऋषिजीवनको सफल किया। साथ ही ऋषिने उन्हें कई प्रकारके शस्त्रास्त्र दिये और सूर्योपस्थानकी पद्धति बतायी। लंकाके युद्धमें उनका उपयोग करके स्वयं भगवान् श्रीरामने उनके महत्त्वकी अभिवृद्धि की। प्रेमलक्षणा भक्तिके मूर्तिमान् स्वरूप भक्त सुतीक्ष्ण इन्हींके शिष्य थे। उनकी तन्मयता और प्रेमके स्मरणसे आज भी लोग भगवान्‌की ओर अग्रसर होते हैं। लंकापर विजय प्राप्त करके जब भगवान् श्रीराम अयोध्याको लौट आये और उनका राज्याभिषेक हुआ तब महर्षि अगस्त्य वहाँ आये और उन्होंने भगवान् श्रीरामको अनेकों प्रकारकी कथाएँ सुनायीं। वाल्मीकीय रामायणके उत्तरकाण्डकी अधिकांश कथाएँ इन्हींके द्वारा कही हुई हैं। इन्होंने उपदेश और सत्संकल्पके द्वारा अनेकोंका कल्याण किया। इनके द्वारा रचित अगस्त्यसंहिता नामका एक उपासना-सम्बन्धी बड़ा सुन्दर ग्रन्थ है। जिज्ञासुओंको उसका अवलोकन करना चाहिये।

—शान्तनु०

जडभरत

प्राचीन कालमें भरत नामके एक महान् प्रतापी एवं भगवद्भक्त राजा हो गये हैं जिनके नामसे यह देश 'भारतवर्ष' कहलाता है। उनका चरित्र अन्यत्र दिया गया है। अन्त समयमें उनकी एक मृगशावकमें आसक्ति हो जानेके कारण उन्हें मृत्युके बाद मृगका शरीर मिला और मृगशरीर त्यागनेपर वे उत्तम ब्राह्मण-कुलमें जडभरतके रूपमें अवतीर्ण हुए। जडभरतके पिता आंगिरस गोत्रके वेदपाठी ब्राह्मण थे और बड़े सदाचारी एवं आत्मज्ञानी थे। वे शम, दम, सन्तोष, क्षमा, नम्रता आदि गुणोंसे विभूषित थे और तप, दान तथा धर्माचरणमें रत रहते थे। भगवान्‌के अनुग्रहसे जडभरतको अपने पूर्वजन्मकी स्मृति बनी हुई थी। अत: वे फिर कहीं मोहजालमें न फँस जायँ इस भयसे बचपनसे ही नि:संग होकर रहने लगे। उन्होंने अपना स्वरूप जान-बूझकर उन्मत्त, जड, अंधे और बहिरेके समान बना लिया और इसी छद्मवेषमें वे निर्द्वन्द्व होकर विचरने लगे। उपनयनके योग्य होनेपर पिताने उनका यज्ञोपवीत-संस्कार करवाया और उन्हें शौचाचारकी शिक्षा देने लगे। परन्तु वह आत्मनिष्ठ बालक जान-बूझकर पिताकी शिक्षाके विपरीत ही आचरण करता। ब्राह्मणने उन्हें वेदाध्ययन करानेके विचारसे पहले चार महीनोंतक व्याहृति, प्रणव और शिरके सहित त्रिपदा गायत्रीका अभ्यास कराया, परन्तु इतने दीर्घकालमें वे उन्हें स्वर आदिके सहित गायत्री-मन्त्रका उच्चारण भी ठीक तरहसे नहीं करा सके। कुछ समय बाद जडभरतके पिता अपने पुत्रको विद्वान् देखनेकी आशाको मनहीमें लेकर इस असार संसारसे चल बसे और इनकी माता इन्हें तथा इनकी बहिनको इनकी सौतेली माँको सौंपकर स्वयं पतिका सहगमन कर पतिलोकको चली गयी।

पिताका परलोकवास हो जानेपर इनके सौतेले भाइयोंने, जिनका आत्मविद्याकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं था और जो कर्मकाण्डको ही सब कुछ समझते थे, इन्हें जडबुद्धि एवं निकम्मा समझकर पढ़ानेका आग्रह ही छोड़ दिया। जडभरतजी भी जब लोग इनके

स्वरूपको न जानकर इन्हें जड, उन्मत्त आदि कहकर इनकी अवज्ञा करते तो उन्हें जड और उन्मत्तका-सा ही उत्तर देते। लोग इन्हें जो कोई भी काम करनेको कहते उसे ये तुरन्त कर देते। कभी बेगारमें,कभी मजदूरीपर, किसी समय भिक्षा माँगकर और कभी बिना उद्योग किये ही जो कुछ बुरा-भला अन्न इन्हें मिल जाता उसीसे ये अपना निर्वाह कर लेते थे। स्वादकी बुद्धिसे तथा इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये कभी कुछ न खाते थे। क्योंकि उन्हें यह बोध हो गया था कि स्वयं अनुभवरूप आनन्दस्वरूप आत्मा मैं ही हूँ और मान-अपमान, जय-पराजय आदि द्वन्द्वोंसे उत्पन्न होनेवाले सुख-दु:खसे वे सर्वथा अतीत थे। वे सर्दी, गर्मी, वायु तथा बरसातमें भी वृषभके समान सदा नग्न रहते। इससे उनका शरीर पुष्ट और दृढ़ हो गया था। वे भूमिपर शयन करते, शरीरमें कभी तेल आदि नहीं लगाते थे और स्नान भी नहीं करते थे, जिससे उनके शरीरपर धूल जम गयी थी और उनके उस मलिन वेषके अन्दर उनका ब्रह्मतेज उसी प्रकार छिप गया था जैसे हीरेपर मिट्टी जम जानेसे उसका तेज प्रकट नहीं होता। वे कमरमें एक मैला-सा वस्त्र लपेटे रहते और शरीरपर एक मैला-सा जनेऊ डाले रहते, जिससे लोग इन्हें जातिमात्रका ब्राह्मण अथवा अधम ब्राह्मण समझकर इनका तिरस्कार करते। परन्तु ये उसकी तनिक भी परवा नहीं करते थे। इनके भाइयोंने जब देखा कि ये दूसरोंके यहाँ मजदूरी करके पेट पालते हैं तो उन्होंने लोकलज्जासे इन्हें धानके खेतमें क्यारी इकसार करनेके कार्यमें नियुक्त कर दिया, किन्तु कहाँ मिट्टी अधिक डालनी चाहिये और कहाँ कम डालनी चाहिये इसका उन्हें बिलकुल ध्यान नहीं रहता और भाइयोंके दिये हुए चावलके दानोंको, खलको, भूसीको, घुने हुए उड़द और पात्रमें लगी हुई अन्नकी खुरचन आदिको वे बड़े प्रेमसे खाते।

× × × ×

एक दिन किसी लुटेरोंके सरदारने सन्तानकी कामनासे देवी भद्रकालीको नरबलि देनेका संकल्प किया। उसने इस कामके लिये किसी मनुष्यको पकड़कर मँगवाया, किन्तु वह मरणभयसे इनके चंगुलसे छूटकर भाग गया। उसे ढूँढ़नेके लिये उसके साथियोंने बहुत दौड़धूप की, परन्तु अँधेरी रातमें उसका कहीं पता न चला। अकस्मात् दैवयोगसे उनकी दृष्टि जडभरतजीपर पड़ी, जो एक टाँडपर खड़े होकर हरिन, सूअर आदि जानवरोंसे खेतकी रखवाली कर रहे थे। इन्हें देखकर वे लोग बहुत प्रसन्न हुए और यह पुरुष-पशु उत्तम लक्षणोंवाला है, इसे देवीकी भेंट चढ़ानेसे हमारे स्वामीका कार्य अवश्य सिद्ध होगा ऐसा समझकर वे लोग इन्हें रस्सीसे बाँधकर देवीके मन्दिरमें ले गये। उन्होंने इन्हें विधिवत् स्नान कराकर कोरे वस्त्र पहनाये और आभूषण, पुष्पमाला और तिलक आदिसे अलंकृत कर भोजन कराया। फिर गान, स्तुति एवं मृदंग तथा मजीरोंका शब्द करते हुए उन्हें देवीके आगे ले जाकर बिठा दिया। तदनन्तर पुरोहितने उस पुरुषपशुके रुधिररूप मद्यसे देवीको तृप्त करनेके लिये मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित किये हुए कराल खड्गको उठाया और चाहा कि एक ही हाथसे उनका काम तमाम कर दे। इतनेमें ही उसने देखा कि मूर्तिमेंसे बड़ा भयंकर शब्द हुआ और साक्षात् भद्रकालीने मूर्तिमेंसे प्रकट होकर पुरोहितके हाथसे तलवार छीन ली और उसीसे उन पापी दुष्टोंके सिर काट डाले।

× × × ×

एक दिनकी बात है, सिन्धुसौवीर देशोंका राजा रहूगण तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे कपिलमुनिके आश्रमको जा रहा था। इक्षुमती नदीके तीरपर पालकी उठानेवालोंमें एक कहारकी कमी पड़ गयी। दैवयोगसे वहाँ महात्मा जडभरतजी आ पहुँचे। कहारोंने देखा कि यह मनुष्य हट्टा-कट्टा, नौजवान और गठीले शरीरका है, अत: यह पालकी ढोनेमें बहुत उपयुक्त होगा। अत: उन्होंने इनको जबरदस्ती पकड़कर अपनेमें शामिल कर लिया। पालकी उठाकर चलनेमें हिंसा न हो जाय इस भयसे ये बाणभर आगेकी पृथ्वीको देखकर वहाँ कोई कीड़ा, चींटी आदि तो नहीं है यह निश्चयकर आगे बढ़ते थे। इस कारण इनकी गति जब दूसरे पालकी उठानेवालोंके साथ एक सरीखी नहीं हुई और पालकी टेढ़ी होने लगी तब राजाको उन पालकी उठानेवालोंपर बड़ा क्रोध आया और वह उन्हें डाँटने लगा। इसपर उन्होंने कहा कि हमलोग तो ठीक चल रहे हैं, यह नया आदमी ठीक तरहसे नहीं चल रहा है। यह सुनकर राजा रहूगण, यद्यपि उसका स्वभाव बहुत शान्त था, क्षत्रियस्वभावके कारण कुछ तमतमा उठा और जडभरतजीके स्वरूपको न पहचान उन्हें बुरा-भला कहने लगा। जडभरतजी उसकी बातोंको बड़ी

शान्तिपूर्वक सुनते रहे और अन्तमें उन्होंने उसकी बातोंका बड़ा सुन्दर और ज्ञानपूर्ण उत्तर दिया। राजा रहूगण भी उत्तम श्रद्धाके कारण तत्त्वको जाननेका अधिकारी था। जब उसने इस प्रकारका सुन्दर उत्तर उस पालकी ढोनेवाले मनुष्यसे सुना तो उसके मनमें यह निश्चय हो गया कि हो-न-हो ये कोई छद्मवेशधारी महात्मा हैं। अतः वह अपने बड़प्पनके अभिमानको त्यागकर तुरन्त पालकीसे नीचे उतर पड़ा और लगा उनके चरणोंमें गिरकर गिड़गिड़ाने और क्षमा माँगने। तब जडभरतजीने राजाको अध्यात्मतत्त्वका बड़ा सुन्दर उपदेश दिया, जिसे सुनकर राजा कृतकृत्य हो गया और अपनेको धन्य मानने लगा। (श्रीमद्भागवतके आधारपर) —चि० गोस्वामी

कपिलदेव

'सिद्धानां कपिलो मुनिः'

ब्रह्माजीने सर्गके आदिमें सृष्टिविस्तारके उद्देश्यसे कई पुत्र उत्पन्न किये। इनमेंसे एक कर्दम नामके प्रजापति भी थे। इन्होंने ब्रह्माजीकी आज्ञासे सन्तान उत्पन्न करनेके हेतु सरस्वती नदीके तटपर दस हजार वर्षतक तप किया; इसके अनन्तर वे समाधिसहित तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधानरूप क्रियायोगके द्वारा शरणागतवत्सल भगवान्‌की भक्तिसहित उपासना करने लगे। उनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें दर्शन दिया। कर्दम ऋषि भगवान्‌का योगिजनदुर्लभ दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये और उन्हें साष्टांग प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगे। उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की कि मुझे अपने समान स्वभाववाली और चतुर्वर्गकी प्राप्ति करानेवाली सहधर्मिणी प्रदान कीजिये। भगवान्‌ने कहा—'हे प्रजापते! ब्रह्माजीका पुत्र स्वायम्भुव मनु अपनी पत्नीके साथ परसों यहाँ आवेगा तथा अपनी देवहूति नामक कन्याको तुम्हारे अर्पण करेगा। उसके द्वारा तुम्हें नौ कन्याएँ प्राप्त होंगी। मैं भी तुम्हारे प्रेमसे आकृष्ट होकर अपने अंशरूप कलाके द्वारा तुम्हारे यहाँ पुत्ररूपमें प्रकट होऊँगा और सांख्यशास्त्ररूप संहिताकी रचना करूँगा।' यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

भगवान्‌के कथनानुसार तीसरे दिन स्वायम्भुव मनु अपनी पत्नीके सहित कन्याको साथमें लेकर कर्दमके आश्रममें पहुँचे और बड़े आग्रह और विनयके साथ वे ऋषिको अपनी कन्या अर्पित कर चले गये। इधर देवहूति माता-पिताके लौट जानेपर पतिकी अत्यन्त प्रीतिपूर्वक सेवा करने लगी। उसने विषयभोगकी इच्छा तथा कपट, द्वेष, लोभ, निषिद्ध आचरण और प्रमाद आदि दोषोंको त्यागकर शौच, इन्द्रियनिग्रह आदि गुणोंसे अपने तेजस्वी पतिको सन्तुष्ट किया। काल पाकर उन्हें नौ कन्याएँ उत्पन्न हुईं। अब तो कर्दम ऋषि अपने पिता ब्रह्माजीकी आज्ञा पूरी हुई जानकर संन्यासधर्ममें दीक्षित होनेका विचार करने लगे। उनके इस विचारको जानकर देवहूति उनसे हाथ जोड़कर बोली—'भगवन्! आप अपनी आत्माका कल्याण करनेके लिये घर छोड़कर वनमें जाना चाहते हैं तो जाइये, मैं आपके मार्गमें बाधक होना नहीं चाहती। किन्तु मेरी एक छोटी-सी प्रार्थना है, उसे पूरी करके आपको जानेका विचार करना चाहिये। वह यह है कि आपके वन चले जानेपर मेरा शोक दूर करनेके लिये मुझे एक ब्रह्मज्ञानी पुत्र चाहिये। केवल कन्या उत्पन्न करके आप पितृ-ऋणसे मुक्त नहीं हुए। अतः आप कुछ दिन और घरमें रहिये और पुत्र उत्पन्न होनेके बाद चले जाइये। मैंने विषयोंमें लिप्त रहकर अबतककी आयु तो व्यर्थ खो दी, परन्तु शेष जीवन मेरा भगवान्‌के भजनमें ही बीते ऐसी मेरी इच्छा है। आपको ब्रह्मज्ञानी न जानकर मैंने अबतक आपसे ग्राम्य सुखोंकी ही कामना की। अब आप कृपा करके मुझे पुत्रकी प्राप्ति कराकर इस संसाररूप बन्धनसे छूटनेमें सहायता दीजिये।' उसके इन विनय एवं वैराग्ययुक्त वचनोंको सुनकर ऋषिको भगवान्‌के वचनोंका स्मरण हो आया। वे बोले—'हे राजपुत्रि! तुम किसी प्रकारकी चिन्ता न करो। तुम्हारे उदरमें भगवान् जगदीश्वर शीघ्र ही अवतार धारण करेंगे और तुम्हें ब्रह्मज्ञानका उपदेश कर तुम्हारे हृदयकी अहंकाररूप ग्रन्थिका छेदन करेंगे।

देवहूति भी प्रजापतिके वचनोंमें पूर्ण विश्वास कर भगवान् श्रीहरिकी प्रेमपूर्वक आराधना करने लगी। समय पाकर उसके उदरसे भगवान् मधुसूदन प्रकट हुए और चारों दिशाओंमें जयजयकारकी ध्वनि होने लगी। उस समय मरीचि आदि ऋषियोंसहित ब्रह्माजी कर्दम ऋषिके आश्रममें पहुँचे। उन्होंने कर्दम-देवहूतिको उनके

पुत्रका माहात्म्य बतलाया और कहा कि साक्षात् पूर्णपुरुष ही तुम्हारे यहाँ अवतीर्ण हुए हैं। इनके केशकलाप सुवर्णके समान कपिलवर्ण होनेके कारण ये जगत्में कपिल नामसे विख्यात होंगे। ये सिद्ध-मुनियोंमें अग्रगण्य होंगे और सांख्यशास्त्रका प्रचार करेंगे।' यों कहकर ब्रह्माजी सत्यलोकको चले गये। उनके चले जानेके बाद कर्दम ऋषिने अपने यहाँ पुत्ररूपसे अवतीर्ण हुए भगवान् कपिलदेवकी अनेक प्रकारसे स्तुति की और उनसे संन्यासधर्मको स्वीकार करनेकी आज्ञा माँगी। भगवान् बोले—'हे प्रजापते! मुमुक्षुओंको आत्मज्ञान प्राप्त करानेमें सहायक प्रकृति, पुरुष आदि तत्त्वोंका निरूपण करनेके लिये ही मैं इस समय धराधामपर अवतीर्ण हुआ हूँ। तुम अब सब प्रकारके ऋणानुबन्धोंसे मुक्त हो गये हो, अतः तुम संन्यास ग्रहण कर सकते हो, यद्यपि तुम्हें घरमें भी मुक्तिकी प्राप्ति कठिन नहीं है। परन्तु तुम मुझे बराबर स्मरण करते रहना और अपने समस्त कर्मोंको मुझे अर्पणकर मोक्षकी प्राप्तिके निमित्त मेरी उपासनामें लगे रहना। यद्यपि यह सूक्ष्म आत्मज्ञानका मार्ग बहुत पहलेसे चला आ रहा है तथापि बहुत काल बीत जानेसे वह लुप्त-सा हो गया है, अतः उसका पुनः प्रचार करनेके निमित्त ही मैं पृथ्वीपर प्रकट हुआ हूँ। सकल प्राणियोंके अन्तःकरणमें रहनेवाले मुझ स्वयंप्रकाश परमात्माको अपने देहस्थित आत्मामें देखकर तुम शोकसे छूट जाओगे और मोक्षसुखको प्राप्त करोगे। मैं देवहूति माताको संचित और क्रियमाण आदि सब प्रकारके कर्मोंकी वासनाएँ मनसे दूर करनेवाली अध्यात्मविद्या कहूँगा, जिसके प्रभावसे यह देवहूति संसारभयको तर जायगी और मोक्षसुखको प्राप्त करेगी।'

भगवान् कपिलदेवके इन वचनोंको सुनकर कर्दम ऋषि परम प्रसन्न हुए और भगवान्की प्रदक्षिणा कर वनको चले गये। वे सकल संगोंको त्यागकर अहिंसाव्रतका पालन करते हुए पृथ्वीपर विचरने लगे। उन्होंने अपने उत्कट भक्तियोगके द्वारा अन्तर्यामी भगवान् वासुदेवके चरणोंमें मन लगाकर उत्तम भगवद्भक्तोंको प्राप्त होनेवाली भागवती गतिको प्राप्त किया।

महामुनि भगवान् कपिलदेव पिता कर्दम ऋषिके वनमें चले जानेपर माताका प्रिय करनेकी इच्छासे कुछ दिन अपने पिताके आश्रममें ही रहे। एक दिन ब्रह्माजीके कथनको स्मरणकर देवहूति आसनपर बैठे हुए, वास्तवमें कर्मरहित किन्तु मुमुक्षुओंको तत्त्वमार्ग दिखानेवाले अपने पुत्रसे कहने लगी—'हे प्रभो! मैं इन दुर्निवार इन्द्रियोंकी तृप्तिके निमित्त विषयोंकी अभिलाषासे अत्यन्त श्रान्त हो रही हूँ। हे देव! आप मेरे इस महामोहको दूर करिये। आप शरणागतोंके रक्षक और भक्तोंके संसाररूप वृक्षको छेदन करनेमें कुठारके समान हैं।' माताके इन वचनोंको सुनकर कपिलदेव मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए और मुस्कुराते हुए बोले—'हे माता! इस आत्माके बन्धन और मुक्तिका कारण चित्त ही है, चित्तके सिवा कोई दूसरा नहीं। यह चित्त शब्दादि विषयोंमें आसक्त होनेपर बन्धनका कारण होता है और वही ईश्वरके प्रति अनुरक्त होनेपर मुक्तिका कारण बन जाता है। इसी प्रकार दुष्ट पुरुषोंका संग जीवात्माको बाँधनेवाली दृढ़ फाँसी है और सत्पुरुषोंके संगको शास्त्रोंमें मोक्षका द्वार कहा गया है। अतः हे जननि! तुम्हें सत्पुरुषोंका ही संग करना चाहिये। साधुओंके समागमसे ही मेरे प्रभावका यथार्थ ज्ञान करानेवाली और अन्तःकरणको सुख देनेवाली कथाएँ सुननेको मिलती हैं। जिनके श्रवणसे भगवान्में श्रद्धा, प्रीति और भक्ति क्रमशः उत्पन्न होती है। उस भक्तिसे ऐहिक तथा पारलौकिक सुखोंके प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है और वैराग्यसम्पन्न पुरुष आत्मसाधनके उद्योगमें तत्पर होकर योगादिके द्वारा अन्तःकरणको स्वाधीन करनेका प्रयत्न करता है और शब्दादि विषयोंके सेवनको त्यागकर वैराग्यसे बढ़े हुए ज्ञान, अष्टांगयोग और भक्तिके द्वारा इसी देहमें मुझ सर्वान्तर्यामी परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

इसके अनन्तर देवहूतिके प्रश्न करनेपर कपिलदेवने भक्तिके लक्षणोंका वर्णन किया और फिर सांख्यशास्त्रकी रीतिसे पदार्थोंका वर्णन करते हुए प्रकृति-पुरुषके विवेकद्वारा मोक्षका वर्णन किया। इसके अनन्तर अष्टांगयोगसे स्वरूपकी उपलब्धि किस प्रकार होती है यह बतलाते हुए भक्तियोगके अनेक प्रकार बतलाये और साथ ही संसारके दुखदायी स्वरूपका चित्रण किया। प्रसंगतः कामी जनोंकी कैसी गति होती है यह बतलाते हुए मनुष्ययोनिका महत्त्व बतलाया और यह भी बतलाया कि मनुष्ययोनि पाप और पुण्यके सम्मिश्रणसे प्राप्त होती है।

अपने पुत्रके उपदेशको सुनकर देवहूतिके अज्ञानका पर्दा हट गया और वह उनके प्रभावको समझकर उनकी भगवद्बुद्धिसे स्तुति करने लगी। भगवान् कपिल उनकी

स्तुतिको सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और स्नेह-गद्गद वाणीसे इस प्रकार बोले—'हे माता! मेरे कहे हुए इस मार्गसे यदि तू चलेगी तो बहुत ही शीघ्र जीवन्मुक्तिरूप उत्तम फलको प्राप्त करेगी। हे जननि! ब्रह्मज्ञानियोंके द्वारा सेवनीय मेरे इस अनुशासनपर तू विश्वास रख, इस प्रकार बर्ताव करनेसे तू संसारसे छूटकर मेरे जन्ममरणरहित स्वरूपको प्राप्त होगी। मेरे इस मतको न जाननेवाले पुरुष मृत्युरूप संसारमें बार-बार गिरते हैं।' यों कहकर महामुनि कपिलजी मातासे विदा लेकर ईशानदिशाकी ओर चल दिये। देवहूति भी अपने पुत्रके बताये हुए योगमार्गसे अपने चित्तको एकाग्र करके अपने पतिके आश्रममें समाधिके द्वारा समय व्यतीत करने लगी। उसके घुँघराले बाल तीनों काल स्नान करनेसे पीले रंगके हो गये और जटा-से प्रतीत होते थे। उसका शरीर तपस्यासे दुर्बल हो गया जिसे वह वल्कल वस्त्रसे ढाँककर रखती थी। उसने अपने घर, बगीचे आदिका मोह त्याग दिया, किन्तु पुत्रके चले जानेसे उसका मुख कुछ म्लान हो गया। उसने कपिलदेवजीके बताये हुए मार्गसे भगवान्के प्रसन्न मुख तथा अंग-प्रत्यंगका ध्यान करके अपने अन्तःकरणको शुद्ध किया और भगवान्में बुद्धि लगायी, जिससे उसका जीवभाव बहुत शीघ्र नष्ट हो गया। समाधिमें सर्वदा मग्न रहनेके कारण उसका अहंता-ममतारूप भ्रम दूर हो गया, यहाँतक कि उसे अपने शरीरतककी सुधि न रही। इस प्रकार कपिलजीके उपदेशानुसार साधना करके देवहूति शीघ्र ही सर्वश्रेष्ठ, अन्तर्यामी, नित्यमुक्त एवं ब्रह्मरूप भगवान्के साथ एकताको प्राप्त हो गयी। जिस स्थानपर उसे योग-सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त हुई वह स्थान 'सिद्धपद' के नामसे त्रिलोकीमें विख्यात हो गया और देवहूतिका शरीर एक नदीके रूपमें परिणत हो गया। (श्रीमद्भागवतके आधारपर)

—चि० गोस्वामी

दधीचि

परोपकाराय सतां विभूतयः।*

एक बारकी बात है, देवराज इन्द्र अपनी सभामें बैठे थे। उन्हें अभिमान हो आया कि हम तीनों लोकोंके स्वामी हैं। ब्राह्मण हमें यज्ञमें आहुति देते हैं, देवता हमारी उपासना करते हैं। फिर हम सामान्य ब्राह्मण बृहस्पतिजीसे इतना क्यों डरते हैं? उनके आनेपर खड़े क्यों हो जाते हैं, वे तो हमारी जीविकासे पलते हैं। ऐसा सोचकर वे सिंहासनपर डटकर बैठ गये। भगवान् बृहस्पतिके आनेपर न तो वे स्वयं उठे, न सभासदोंको उठने दिया। देवगुरु बृहस्पतिजी इन्द्रका यह औद्धत्य देखकर लौट गये और कहीं एकान्तमें जाकर छिप गये।

थोड़ी देरके पश्चात् देवराजका मद उतर गया, उन्हें अपनी गलती मालूम हुई। वे अपने कृत्यपर बड़ा पश्चात्ताप करने लगे, दौड़े-दौड़े गुरुके यहाँ आये; किन्तु गुरुजी तो पहले ही चले गये थे, निराश होकर इन्द्र लौट आये। गुरुके बिना यज्ञ कौन करावे, यज्ञके बिना देवता शक्तिहीन होंगे। असुरोंको यह बात मालूम हो गयी, उन्होंने अपने गुरु शुक्राचार्यकी सम्मतिसे देवताओंपर चढ़ाई कर दी। इन्द्रको स्वर्ग छोड़कर भागना पड़ा, स्वर्गपर असुरोंका अधिकार हो गया। पराजित देवताओंको लेकर इन्द्र भगवान् ब्रह्माजीके पास गये, अपना सब हाल सुनाया। ब्रह्माजीने कहा— 'त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपको अपना पुरोहित बनाकर काम चलाओ।' देवताओंने ऐसा ही किया। विश्वरूप बड़े विद्वान्, वेदज्ञ और सदाचारी थे; किन्तु इनकी माता असुरकुलकी थी, इससे ये देवताओंसे छिपाकर असुरोंको भी कभी-कभी भाग दे देते थे। इससे असुरोंके बलकी वृद्धि होने लगी।

इन्द्रको इस बातका पता चला, उन्हें दूसरा कोई उपाय ही न सूझा। एक दिन विश्वरूप एकान्तमें बैठे वेदाध्ययन कर रहे थे कि इन्द्रने पीछेसे जाकर उनका सिर काट लिया। इसपर उन्हें ब्रह्महत्या लगी। जिस किसी प्रकार गुरु बृहस्पतिजी प्रसन्न हुए। उन्होंने यज्ञ आदि कराके हत्याको पृथ्वी, जल, वृक्ष और स्त्रियोंमें बाँट दिया। इन्द्रका फिरसे स्वर्गपर अधिकार हो गया।

इधर त्वष्टा ऋषिने जब सुना कि इन्द्रने मेरे पुत्रको मार दिया है तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। अपने तपके प्रभावसे उन्होंने उसी समय इन्द्रको मारनेकी इच्छासे एक बड़े भारी बली वृत्रासुरको उत्पन्न किया।

* सज्जनोंकी सम्पूर्ण विभूति परोपकारके लिये होती है।

वृत्रासुरके पराक्रमसे सम्पूर्ण त्रैलोक्य भयभीत था। उसके ऐसे पराक्रमको देखकर देवराज भी डर गये, वे दौड़े-दौड़े ब्रह्माजीके पास गये। सब हाल सुनाकर उन्होंने ब्रह्माजीसे वृत्रासुरके कोपसे बचनेका कोई उपाय पूछा। ब्रह्माजीने कहा—'देवराज! 'तुम किसी प्रकार वृत्रासुरसे बच नहीं सकते। वह बड़ा बली, तपस्वी और भगवद्भक्त है। उसे मारनेका एक ही उपाय है कि नैमिषारण्यमें एक महर्षि दधीचि तपस्या कर रहे हैं। उग्र तपके प्रभावसे उनकी हड्डियाँ वज्रसे भी अधिक मजबूत हो गयी हैं। यदि परोपकारकी इच्छासे वह अपनी हड्डी दे दें और उनसे तुम अपना वज्र बनाओ तो वृत्रासुर मर सकता है।'

ब्रह्माजीकी सलाह मानकर देवराज समस्त देवताओंके साथ नैमिषारण्यमें पहुँचे। उग्र तपस्यामें लगे हुए भगवान् दधीचिकी उन्होंने भाँति-भाँतिसे स्तुति की। तब ऋषिने उनसे वरदान माँगनेके लिये कहा। इन्द्रने हाथ जोड़कर कहा—'त्रैलोक्यकी मंगलकामनाके निमित्त आप अपनी हड्डी हमें दे दीजिये।'

महर्षि दधीचिने कहा—'देवराज! समस्त देह-धारियोंको अपना शरीर प्यारा होता है, स्वेच्छासे इस शरीरको जीवित अवस्थामें छोड़ना बड़ा कठिन होता है; किन्तु त्रैलोक्यकी मंगलकामनाके निमित्त मैं इस कामको भी करूँगा। मेरी इच्छा तीर्थ करनेकी थी।'

इन्द्रने कहा—'ब्रह्मन्! समस्त तीर्थोंको मैं यहीं बुलाये देता हूँ।' यह कहकर देवराजने समस्त तीर्थोंको नैमिषारण्यमें बुलाया। सभीने ऋषिकी स्तुति की। ऋषिने सबमें स्नान, आचमन आदि किया और वे समाधिमें बैठ गये। जंगली गौने उनके शरीरको अपनी काँटेदार जीभसे चाटना आरम्भ किया। चाटते-चाटते चमड़ी उड़ गयी। तब इन्द्रने उनकी तपःपूत रीढ़की हड्डी निकाल ली, उससे एक महान् शक्तिशाली तेजोमय दिव्य वज्र बनाया गया और उसी वज्रकी सहायतासे देवराज इन्द्रने वृत्रासुरको मारकर त्रिलोकीके संकटको दूर किया। इस प्रकार एक महान् परोपकारी ऋषिके अद्वितीय त्यागके कारण देवराज इन्द्र बच गये और तीनों लोक सुखी हुए।

संसारके इतिहासमें ऐसे उदाहरण बहुत थोड़े मिलेंगे, जिनमें स्वेच्छासे केवल परोपकारके ही निमित्त—जिसमें मान, प्रतिष्ठा आदि अपना निजी स्वार्थ कुछ भी न हो—अपने शरीरको हँसते-हँसते एक याचकको सौंप दिया गया हो। इसलिये भगवान् दधीचिका यह त्याग परोपकारी संतोंके लिये एक परम आदर्श है।

दधीचि ऋषिकी और भी विशेषता देखिये। अश्विनीकुमारोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश देनेके कारण इन्द्रने इनका मस्तक उतार लिया था। फिर अश्विनीकुमारोंने इनकी धड़पर घोड़ेका सिर चढ़ा दिया और इससे इनका नाम अश्वशिरा विख्यात हुआ था। जिस इन्द्रने इनके साथ इतना दुष्ट बर्ताव किया था, उसी इन्द्रकी महर्षिने अपनी हड्डी देकर सहायता की। संतोंकी उदारता ऐसी ही होती है। वज्र बननेके बाद जो हड्डियाँ बची थीं उन्हींसे शिवजीका पिनाकधनुष बना था। दधीचि ब्रह्माजीके पुत्र अथर्वा ऋषिके पुत्र थे। साभ्रमती और चन्द्रभागाके संगमपर इनका आश्रम था। —प्र० ब्रह्मचारी

रैवतक

महर्षि रैवतक रैवत मन्वन्तरमें हुए थे। इनका कोई विशेष चरित्र नहीं मिलता। हाँ, गुरुपरम्पराके आधारपर इतना कहा जा सकता है कि अवधूत दत्तात्रेयसे दीक्षा प्राप्त करके इन्होंने परमसिद्धि प्राप्त की थी। ये समस्त मन्त्रोंके रहस्यवेत्ता थे। अपने अद्वैतस्वरूपमें ही तल्लीन रहनेके कारण इनकी अधिक प्रसिद्धि नहीं हुई होगी, ऐसा अनुमान होता है।

हमें उन्हीं महात्माओंका पता चलता है जो लोककल्याणके काममें स्पष्टरूपसे भाग लेते हैं। जो सर्वदा परमार्थवस्तुमें ही स्थित रहते हैं अथवा संकल्पमात्रसे ही जगत्का कल्याणसम्पादन करते रहते हैं उन्हें कोई विरले ही जान पाते हैं। महर्षि रैवतक भी ऐसे ही थे। इनकी एकान्तसाधना, आत्मचिन्तन तथा स्वरूपनिष्ठा इस प्रकार बढ़ी हुई थी कि इन्होंने जगत्की ओर आँख उठाकर देखा ही नहीं। सर्वदा अपने-आपमें ही मस्त रहे। वेदके मन्त्रद्रष्टाओंमें इनका नाम आता है, परन्तु सर्वसाधारणसे दूर रहनेके कारण इनका चरित्र लुप्त हो गया। —शान्तनु०

सौभरि

दयाकी मूर्ति भगवान् सौभरि ऋग्वेदके ऋषि हैं। इनके चरित्र वेदों, पुराणों और उपनिषदोंमें सर्वत्र मिलते हैं। 'सौभरिसंहिता' नामसे एक संहिता भी है। ये वृन्दावनके निकट कालिन्दीके तटपर रमणक नामक द्वीपमें रहते थे, जो आजकल सुनरख नामसे प्रसिद्ध है। ये यमुनाजीके जलमें डूबकर हजारों वर्षोंतक तपस्या करते रहे। एक बार मल्लाहोंने मछली पकड़नेके लिये जाल डाला। मछलीके जालमें ये स्वयं भी फँसकर चले आये। मल्लाहोंने समझा कोई बड़ा भारी मत्स्य फँस गया है। उन्होंने ऊपर खींचा तो मालूम हुआ ये तो महर्षि सौभरि हैं। मल्लाह बड़े घबड़ाये। ऋषिने कहा—'भाई! हम अब तुम्हारे जालमें फँस गये हैं, तुम हमें बेच दो।' मल्लाहोंकी हिम्मत कहाँ थी, ऋषिके आग्रह करनेपर वहाँके राजा आ गये। ऋषिको भला कौन मोल ले सकता है, उनका मूल्य कौन-सी वस्तुसे आँका जा सकता है। अन्तमें ऋषिके सुझानेपर यह निश्चित हुआ कि गौके रोम-रोममें अनन्त देवताओंका निवास है, गौके बदलेमें ऋषि लिये जा सकते हैं। अत: राजाने एक कपिला गौको मूल्यमें देकर ऋषिको मुक्त कराया। मल्लाहोंको उन्होंने और भी बहुत-सा धन दिया।

एक बार ऋषिने देखा कि गरुड़देव उनके स्थानके समीप मछलियोंको खा रहे हैं। एक बड़ा मत्स्य था, उसे भी वे खाना चाहते थे। ऋषिने मना किया, किन्तु गरुड़ इतने भूखे थे कि उन्होंने ऋषिकी बातपर ध्यान ही नहीं दिया। मत्स्यके बालक तड़पने लगे। महर्षिको बड़ी करुणा आयी और उन्होंने गरुड़को लक्ष्य करके शाप दिया कि 'आजसे यदि गरुड़ यहाँ आकर किसी भी जीवको ख़ायगा तो उसकी मृत्यु उसी क्षण हो जायगी, यह मैं सत्य-सत्य कहता हूँ।' उस दिनसे उनके समीपका समस्त स्थान हिंसाशून्य बन गया। वहाँ कोई भी जीव हिंसा नहीं कर सकता।

एक बारकी बात है कि रमणक द्वीपके रहनेवाले सर्पोंने सलाह की कि गरुड़ हमारे समस्त परिवारका बड़ी निर्दयतासे संहार करते हैं, अत: उनके पास पारी-पारीसे सर्प जाया करें और उन्हें बलि दिया करें। ऐसा करनेसे शीघ्र ही कुलका नाश न होगा। यह बात समस्त सर्पोंने स्वीकार कर ली और वे पारी-पारीसे गरुड़के पास जाने लगे। एक दिन कालियनागकी पारी आयी। वह गया और गरुड़की बलिको स्वयं ही खा गया। इसपर गरुड़ बड़े क्रोधित हुए, वे नागपर झपटे। कालिय अपनी जान लेकर भागा और भगवान् सौभरिकी शरणमें गया। ऋषिने उसे आश्रय देते हुए कहा—'यहाँ तुम्हें किसी भी बातका भय नहीं, यहाँ गरुड़ तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा।' उस दिनसे कालिय अहि भगवान् सौभरिके ही आश्रमके समीप रहने लगा। इसीलिये उस स्थानका नाम अहिवास और उसके समीप रहनेवाले भगवान् सौभरि ऋषिके वंशज अहिवासी कहलाये। ऋषिके विवाहकी भी एक बड़ी मनोरंजक कहानी है।

ऋषि सदा जलके भीतर समाधि लगाकर तपस्या करते थे। एक बार जलके भीतर-ही-भीतर उनकी समाधि भंग हुई। वहाँ उन्होंने देखा एक मत्स्य अपनी स्त्रीके सहित बड़े सुखसे विहार कर रहा है। आँखोंके जरासे कुसंगने अपना असर डाला, उसी समय ऋषिके मनमें संकल्प उठा कि 'देखो, ये जलचर जन्तु होकर कैसा सुखभोग कर रहे हैं, हम तो मनुष्यका शरीर पाकर भी इस सुखसे वंचित हैं।' यह विचार आते ही ऋषि समाधि, प्राणायाम सब भूल गये। जलसे बाहर निकले। उन दिनों महाराजा मान्धाता अयोध्यामें राज्य करते थे, ऋषि सीधे उन्हींके पास पहुँचे। महाराजने ऋषिका बड़ा सत्कार किया, विधिवत् पूजा की, गौदान करनेके अनन्तर उनसे पधारनेका कारण पूछा। महर्षिने कहा—'राजन्! मैं गृहस्थसुखका उपभोग करना चाहता हूँ; तुम्हारे पचास कन्याएँ हैं, इनमेंसे एक मुझे दे दो।'

महाराज सुनकर सन्न रह गये। भला, हजारों वर्षके इन बूढ़े ऋषिको अब इस ढलती उम्रमें यह क्या सूझी। इन्हें कन्या कैसे दूँ? किन्तु मना करनेकी भी हिम्मत नहीं हुई। ऋषिकी तनिक-सी भ्रकुटी टेढ़ी होते ही राज-पाटसे हाथ धोना पड़ेगा। यह सब सोच-समझकर उन्होंने एक चाल चली। बड़ी नम्रतासे हाथ

जोड़कर उन्होंने कहा—'भगवन्! मेरे अन्तःपुरमें आपके लिये कोई रुकावट तो है ही नहीं, आप भीतर पधारें। मेरे पचास लड़कियाँ हैं, उनमेंसे जो मेरी लड़की आपको पसन्द करे उसे ही आप प्रसन्नतापूर्वक ले जायँ।' महाराजने सोचा मेरी युवती कन्याएँ इन-जैसे अति बूढ़े ऋषिको क्यों पसन्द करने लगेंगी। जब वे पसन्द न करेंगी तो ये खुद ही लौट जायँगे। इस प्रकार साँप भी मर जायगा और लाठी भी न टूटेगी। मना भी न करनी पड़ेगी और ऋषि भी नाराज न होंगे।

महर्षि तो थे सर्वज्ञ। उनसे भला कोई क्या छिपा सकता है, वे महाराजके भावको ताड़ गये। तपस्याके बलसे वे नयी सृष्टि रच सकते थे, उन्होंने झटसे अपना रूप परम सुन्दर युवावस्थासम्पन्न बना लिया। रनवासमें जाते ही पचासों-की-पचासों कन्याएँ उनपर मुग्ध हो गयीं। राजाको अब क्या आपत्ति थी। पचासों कन्याएँ ऋषिके अर्पण कर दीं। उन सबको लेकर महर्षि अपने आश्रमपर आये। विश्वकर्माको आज्ञा दी, बहुत जल्दी पचास महल बनें। फिर क्या था, बात-की-बातमें समस्त स्वर्गीय सुखोंसे युक्त पचास महल बन गये। उनमें सब प्रकारकी सुखोपभोगकी सामग्रियाँ थीं। योगबलसे पचास रूप बनाकर ऋषि उनके साथ गृहस्थसुखका उपभोग करने लगे। प्रत्येकके दस-दस पुत्र हुए। उन पुत्रोंके भी पुत्र हो गये। बड़ा परिवार होनेसे भाँति-भाँतिकी झंझटें, भाँति-भाँतिकी नित्य नयी उपाधियाँ होने लगीं। अब तो ऋषिको होश हुआ। अरे! यह मैंने क्या किया, तनिक देर विषयी मत्स्यका संसर्ग होनेसे मैं भी विषयी बन गया। विषयियोंके क्षणभरके संगका ऐसा दुष्परिणाम!! यह सोचते ही वे चिल्लाकर कहने लगे—

अहो इमं पश्यत मे विनाशं तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य।
अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गात् प्रच्यावितं ब्रह्म चिरं धृतं यत्॥

सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः
सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे
युञ्जीत तद् व्रतिषु साधुषु चेत् प्रसङ्गः॥

निःसङ्गता मुक्तिपदं यतीनां सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः॥

'अरे! यह मेरा पतन तो देखो, मैं व्रतमें तत्पर सच्चरित्र तपस्वी था। जलके भीतर मत्स्यके प्रसंगको देखकर मैं इतने दिनके प्राप्त किये हुए अपने ब्रह्मतेजको विषयभोगोंके पीछे खो बैठा। मुमुक्षु पुरुषको मैथुनमें लगे हुए प्राणियोंका साथ कभी न करना चाहिये। यदि सब प्रकारसे न छोड़ सके तो बाहरकी इन्द्रियोंसे ही छोड़ दे। बिलकुल एकान्तमें रहकर अनन्त प्रभुमें चित्त लगाकर उनके प्यारे भक्तोंका सत्संग करना चाहिये। निःसंग होना ही यतियोंके लिये मुक्तिका मार्ग है। संगसे सारे दोष उत्पन्न होते हैं। दुःसंगसे योगमें आरूढ़ हुए योगीतक गिर जाते हैं, फिर अल्पसिद्धिवाले जीवोंकी तो बात ही क्या है?'

ऐसा सोचकर वे वानप्रस्थधर्मका पालन करते हुए ब्रह्ममें लीन हो गये। सौभरि ऋषिके जीवनमें भूतदया विशेषरूपसे देखी जाती है, वे प्राणियोंको दुखी नहीं देख सकते थे। प्राणिमात्रके प्रति दयाके भाव रखना, यही तो सच्ची साधुता है।—प्र० ब्रह्मचारी

वासुदेव

वासुदेव महर्षि रैवतकके शिष्य थे। जब इनके हृदयमें जिज्ञासाकी ज्वाला उठी तब ये घर, द्वार, कुटुम्बसे नाता तोड़कर सद्गुरुके अन्वेषणमें निकल पड़े। इनका अन्तःकरण शुद्ध था। इनके मनमें परमात्माके साक्षात्कारके लिये सच्ची लगन थी। भगवान् तो घट-घटवासी हैं ही। उन्होंने महर्षि रैवतकके अन्तस्तलमें प्रेरणा कर ही दी। महर्षिने इनके सामने अपने-आपको प्रकट किया। इन्हें मन्त्र, साधना और सिद्धिका उपदेश करके भगवत्तत्त्वका साक्षात्कार करा दिया। इन्हें निरन्तर बोध रहने लगा कि मैं ब्रह्मसे अभिन्न हूँ। फिर ये बोध और अबोधसे भी ऊपर उठ गये। इनके लिये जगत्का अत्यन्ताभाव हो गया! —शान्तनु०

वाल्मीकि

राम त्वन्नाममहिमा वर्ण्यते केन वा कथम्।
यत्प्रभावादहं राम ब्रह्मर्षित्वमवाप्तवान्॥*

भगवन्नामके जपसे मनुष्य क्या-से-क्या हो सकता है, इसके ज्वलन्त उदाहरण भगवान् वाल्मीकि हैं! इनका जन्म तो अंगिरागोत्रके ब्राह्मणकुलमें हुआ था, किन्तु डाकुओंके संसर्गमें रहकर ये लूट-मार और हत्याएँ करने लगे। जो भी आता उसीको लूटते और कोई कुछ कहता तो उसे जानसे मार देते। इस प्रकार बहुत वर्षोंतक ये इस लोकनिन्दित क्रूर कर्मको करते रहे।

इस संसारचक्रमें घूमते-घूमते जब जीवके उद्धार होनेके दिन आते हैं तब उसे साधुसंगति प्राप्त होती है। जिसे भगवत्कृपासे साधुसंगति प्राप्त हो गयी और साधुसंत उसपर अहैतुकी कृपा करने लगे तब समझना चाहिये कि अब इसके उद्धारका समय आ गया। वाल्मीकिजीके भी उद्धारके दिन आ गये। एक दिन उन्होंने देखा उधरसे नारदजी चले आ रहे हैं। उन्हें देखते ही ये उनके ऊपर झपटे और बोले—'जो कुछ है उसे रख दो, नहीं तो जीवनसे हाथ धोना पड़ेगा।'

नारदजीने बड़े ही कोमल स्वरमें हँसते-हँसते कहा—'हमारे पास और है ही क्या? यह वीणा है, एक वस्त्र है; इसे लेना चाहो तो ले लो, जान क्यों मारते हो?'

वाल्मीकिजीने कहा—'वीणाका क्या करते हो, थोड़ा गाकर सुनाओ।' नारदजीने मधुर स्वरसे भगवान्के त्रैलोक्यपावन नामोंका कीर्तन किया। कीर्तन सुनकर वाल्मीकिका हृदय पसीजा। कठोर हृदयमें दयाका संचार हुआ और चित्तमें कुछ कोमलता आयी। देवर्षिने कृपावश उनसे कहा—'तुम व्यर्थमें जीवहिंसा क्यों करते हो? प्राणियोंके वधके समान कोई दूसरा पाप नहीं है।' यह सुनकर वाल्मीकिजीने कहा—'भगवन्! मेरा परिवार बड़ा है, उनकी आजीविकाका दूसरा कोई प्रबन्ध नहीं। वे सब मेरे सुख-दुःखके साथी हैं, उनका भरण-पोषण मुझे करना होता है; यदि मैं लूटपाट न करूँ तो वे क्या खायँ?' नारदजीने कहा—'तुम जाकर अपने परिवारवालोंसे पूछो कि वे खानेके ही साथी हैं या तुम्हारे पापमें भी हिस्सा बँटावेंगे।'

मनमें कुछ दुविधा हो गयी, इन्होंने समझा कि ये महात्मा इस प्रकार बहाना बनाकर भागना चाहते हैं। उनके मनकी बात जानकर सर्वज्ञ ऋषि बोले—'तुम विश्वास करो कि तुम्हारे लौटनेतक हम कहीं भी न जायँगे, इतनेपर भी तुम्हें सन्तोष न हो तो तुम हमें इस पेड़से बाँध दो।' यह बात इनके मनमें बैठ गयी। देवर्षिको एक पेड़से बाँधकर ये घर गये। घर जाकर इन्होंने पारी-पारीसे अपने माता-पिता, स्त्री तथा कुटुम्बियोंसे पूछा—'तुम हमारे पापके हिस्सेदार हो या नहीं।' सभीने एक स्वरसे कहा—'हमें खिलाना-पिलाना तुम्हारा कर्तव्य है। हम क्या जानें कि तुम किस प्रकार धन लाते हो, हम तुम्हारे पापोंके हिस्सेदार नहीं।'

जिनके लिये वे निर्दयतासे प्राणियोंका वध करते रहे उनका ऐसा उत्तर सुनकर वाल्मीकिजीके ज्ञाननेत्र खुल गये। जल्दीसे जंगलमें आकर मुनिका बन्धन खोला और रोते-रोते उनके चरणोंमें लिपट गये। महर्षिके चरणोंमें पड़कर वे खूब जी खोलकर रोये। उस रुदनमें गहरा पश्चात्ताप था। नारदजीने उन्हें धैर्य बँधाया और कहा—'अबतक जो हुआ सो हुआ, अब यदि तुम हृदयसे पश्चात्ताप करते हो तो मेरे पास राम-नामरूप एक ऐसा मन्त्र है जिसके निरन्तर जपसे तुम सभी पापोंसे छूट जाओगे। इस नामके जपमें ऐसी शक्ति है कि वह किसी प्रकार भी जपा जाय पापोंको नाश कर देता है।' अत्यन्त दीनताके साथ वाल्मीकिजीने कहा—'भगवन्! पापोंके कारण यह नाम तो मेरे ओठोंसे निकलता नहीं, अतः मुझे कोई ऐसा नाम बताइये जिसे मैं सरलतासे ले सकूँ।' तब नारदजीने बहुत समझ-सोचकर रामनामको उलटा करके 'मरा-मरा' का उपदेश किया। निरन्तर 'मरा-मरा' कहनेसे अपने-आप 'राम-राम' हो जाता है।

देवर्षिका उपदेश पाकर वे निरन्तर एकाग्रचित्तसे 'मरा-मरा' जपने लगे। हजारों वर्षोंतक एक ही जगह बैठकर वे नामकी रटनमें निमग्न हो गये। उनके सम्पूर्ण शरीरपर दीमकका पहाड़-सा जम गया। दीमकोंके घरको वल्मीक कहते हैं उसमें रहनेके कारण ही इनका नाम

* हे रामजी! तुम्हारे नामकी महिमाको कौन कह सकता है, जिसके प्रभावसे मैंने ब्रह्मर्षिपद प्राप्त कर लिया?

महर्षि वाल्मीकि

उलटा नाम जपत जग जाना। वालमीकि भे ब्रह्म समाना॥

वाल्मीकि पड़ा। पहले इनका नाम रत्नाकर था। ये ही संसारमें लौकिक छन्दोंके आदिकवि हुए, इन्होंने ही श्रीवाल्मीकीय रामायण आदिकाव्यकी रचना की। वनवासके समय भगवान् स्वयं इनके आश्रमपर गये थे। सीताजीने भी अपने अन्तिम वनवासके दिन इन्हीं महर्षिके आश्रममें बिताये थे। वहींपर लव और कुशका जन्म हुआ। सर्वप्रथम लव और कुशको ही श्रीरामायणका गान सिखाया गया। इस प्रकार निरन्तरके रामनामके प्रभावसे वाल्मीकिजी व्याधकी वृत्तिसे हटकर ब्रह्मर्षि हो गये। इसीलिये नाममहिमामें गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

जान आदिकबि नामप्रतापू। भए सिद्ध करि उलटा जापू॥
उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीक भए ब्रह्मसमाना॥

—प्र० ब्रह्मचारी

सुतीक्ष्ण

'मानस' में सुतीक्ष्णकी भक्ति परम आदर्श और सर्वांगपूर्ण है। भक्तिकी सभी दशाएँ इन्हें प्राप्त थीं। प्रेममें इनकी ऐसी अवस्था वर्णन की गयी है जो परम योगियोंको भी दुर्लभ है। वाल्मीकीय रामायणके सुतीक्ष्णजी एक ब्रह्मज्ञानी ऋषि हैं, किन्तु मानसमें तो वे भक्तिकी दसों दशाओंको प्राप्त एक सच्चे प्रेमी भक्तके रूपमें हमें दिखायी देते हैं।

ऐसी कथा है कि ये महर्षि अगस्त्यजीके शिष्य थे। उनके पास पढ़ा करते थे। विद्याध्ययन समाप्त होनेपर गुरुने कहा—'अब तुम सब विद्याओंको पढ़ गये, अब तुम्हारा अध्ययन समाप्त हुआ।'

सुतीक्ष्णजीने कहा—'गुरुदेव! विद्यासमाप्तिके पश्चात् गुरुके लिये कुछ गुरुदक्षिणा देनी चाहिये। आप आज्ञा करें मैं आपको कौन-सी गुरुदक्षिणा दूँ। जिसमें आपको अत्यन्त प्रसन्नता हो उसीके लिये आज्ञा दीजिये।' गुरुने कहा—'तुमने मेरी बहुत सेवा की। सेवासे बढ़कर कोई भी गुरुदक्षिणा नहीं। अतः जाओ, मौज करो। सुखपूर्वक रहो।'

सुतीक्ष्णजीने हठ पकड़ ली। वे गुरुके पीछे ही पड़ गये, उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा—'गुरुदेव, भगवन्! बिना गुरुदक्षिणा दिये शिष्यकी निष्कृति नहीं। सेवा तो मेरा धर्म ही है, आप किसी अत्यन्त प्यारी वस्तुके लिये आज्ञा अवश्य करें।'

अत्यन्त आग्रह देखकर गुरुजीने कुछ खीझते हुए-से कहा—'अच्छा, देना ही चाहता है तो श्रीभगवान् सीतारामजीको लाकर हमें दर्शन करा दे।'

सुतीक्ष्णजी गुरुके चरणोंमें प्रणाम करके चुपचाप चल दिये और जंगलमें जाकर घोर तपस्या करने लगे। वे उन कौशलकिशोरकी वनवासी छबिका निरन्तर ध्यान करते रहते थे, उसीमें सदा मस्त रहते थे। बहुत दिनोंके पश्चात् उन्होंने सुना कि कौशल्यानन्दवर्धन राजीवलोचन श्रीराम जगज्जननी सीताजीके सहित पधारे हैं और वे इधर इसी रास्तेसे आ रहे हैं। तब तो उनके हर्षका ठिकाना नहीं रहा, वे प्रभुकी कृपालुताका बार-बार स्मरण करने लगे। क्या वे दीनबन्धु भक्तवत्सल मुझ-जैसे दम्भी अभक्तपर भी कृपा करेंगे? क्या वे अशरण-शरण मुझे भी अपनी शरणमें लेंगे? यह सोचते-सोचते सुतीक्ष्णजीकी विचित्र दशा हो गयी। वे प्रेमके महाभावोंके प्रकट होनेसे परमोन्मादीकी भाँति इधर-उधर फिरने लगे। कविने उनकी उन्मादी दशाका कैसा सजीव चित्रण किया है—

दिसि अरु बिदिसि पंथु नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करै गुन गाई॥
अबिरल प्रेम-भगति मुनि पाई। प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई॥

जब प्रेमी प्रेमके उद्रेकमें अपने आपेको भूल जाता है तब प्रभु दूर रह ही नहीं सकते, वे एकदम पास आ जाते हैं। उन्हें प्रेमीकी ऐसी दशा देखनेमें सदा आनन्द आता है, अतः वे थोड़ी देर आड़में खड़े होकर उसे देखते हैं। जब देखते हैं यह अत्यन्त अधीर है, परम व्याकुल है, तब झट उसको उठाकर छातीसे चिपटा लेते हैं। जो अपना सर्वस्व उन्हें ही समझते हैं उन्हें अपनाना, हृदयसे लगाना तो प्रभुका सनातन स्वभाव है—

एक बानि करुनानिधानकी। सो प्रिय जाकें गति न आनकी॥

जब भगवान्ने देखा कि अब नाचना-गाना छोड़कर भक्त एकदम स्थिर होकर गम्भीर हो गया है तब प्रभु उसके समीप चले गये, किन्तु वे तो बेहोश थे। ध्यानानन्दमें मस्त थे। भीतरमें भगवान्से हिलमिल रहे थे। प्रभुने शरीरको हिलाया-डुलाया, कोई होश नहीं।

तब उन्होंने उनके हृदयमें परम इष्ट श्रीधनुषधारी रामका रूप छिपाकर अपना चतुर्भुजरूप दिखाया। वह उन्हें इष्ट नहीं था। अत: उन्होंने झट आँखें खोल दीं। देखा कि जिनका ध्यान वे कर रहे थे वही श्रीसीता-लक्ष्मणसहित दशरथनन्दन कमलदललोचन श्रीराम खड़े हैं। बस, फिर क्या था। जिसकी आशा लगाये इतने दिनसे रास्ता रोके बैठे थे वह वस्तु प्राप्त हो गयी। तपस्याका परमफल प्राप्त हुआ। वे लकुटकी तरह चरणोंमें गिर पड़े।

भगवान् प्रसन्न हुए। उन्हें सब सिद्धियाँ प्रदान कीं, अविरल भक्ति दी और सदा इसी रूपसे उनके हृदयमन्दिरमें विराजे रहनेका वरदान दिया। सब प्रकार भक्तने उन्हें बाँध लिया, तब पूछा—'प्रभो! किधर जाना होगा?'

भगवान् बोले—'हम महामुनि भगवान् अगस्त्यके दर्शनोंको जा रहे हैं।' मुनि जल्दीसे बोल उठे—'वहाँ तो मुझे भी चलना है। आप जा रहे हैं इसलिये नहीं, वे मेरे गुरु हैं। बहुत दिनसे गया नहीं। अब मुझे जाना ही चाहिये, यही तो उनके चरणोंमें जानेका अवसर है।'

भगवान् हँसे और उन्हें साथ ले लिया। अगस्त्य मुनिके आश्रममें जाकर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् तो महर्षिकी आज्ञाकी प्रतीक्षामें खड़े रहे, किन्तु सुतीक्ष्णको तो आज्ञा लेनी नहीं थी। वे झटसे जाकर बोले—'गुरुदेव! भगवन्! वे आ गये, आ गये, जिनकी आप प्रतीक्षा कर रहे थे। वे श्यामसरोजदामसम सुन्दर अवध-सरकार द्वारपर खड़े हैं।' सुनते ही अगस्त्यजी दौड़ पड़े और प्रभुको ले आये।

धन्य हैं वे गुरु जिनके सुतीक्ष्ण-जैसे परमभक्त शिष्य हैं जिन्होंने गुरुको साक्षात् अखिल ब्रह्माण्डके नायक प्रभुको ही लाकर समर्पित कर दिया।

—प्र० ब्रह्मचारी

मंकणक

पुण्यसलिला सरस्वती नदीके किनारे एक परम तपस्वी मंकणक नामके ब्राह्मण रहते थे। एक दिनकी बात है, अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मके लिये कुश लाते समय कुशकी नोक उनके हाथमें गड़ गयी। उनके हाथोंसे खून बहने लगा। उसे देखकर उन्हें इतनी प्रसन्नता हुई कि वे हर्षावेशमें नाचने लगे। उनकी तपस्याके प्रभावसे प्रभावित होनेके कारण स्थावर-जंगम सम्पूर्ण जगत् ही उनके नृत्यकी गतिमें गति मिलाकर नृत्य करने लगा। उनके तेजसे सभी मोहित हो गये। उस समय इन्द्रादि देवगण एवं तपोधन ऋषियोंने मिलकर ब्रह्मासे प्रार्थना की कि आप ऐसा उपाय करें कि इनका नृत्य बन्द हो जाय। ब्रह्माने इसके लिये रुद्रसे कहा, क्योंकि मंकणक रुद्रके परमभक्त थे। ब्रह्माकी बात मानकर रुद्रदेव वहाँ गये और उन ब्राह्मण देवतासे कहा कि 'विप्रश्रेष्ठ! तुम किसलिये नृत्य कर रहे हो? देखो, तुम्हारे नृत्य करनेसे सारा जगत् नृत्य कर रहा है।' रुद्रदेवकी इस बातको सुनकर मंकणकने कहा—'क्या आप नहीं देख रहे हैं कि मेरे हाथसे खून बह रहा है? उसीसे प्रसन्न और हर्षाविष्ट होकर नाच रहा हूँ।' महादेवने कहा कि 'ब्राह्मण! तुम देखते नहीं कि तुम्हारे इस अखण्ड नृत्यसे मुझे जरा भी आश्चर्य नहीं हुआ है, तुम मेरी ओर देखो तो सही।' मंकणक सोचने लगे कि ये कौन हैं जो मुझे नाचनेसे रोक रहे हैं। उस समय महादेवने अपनी अँगुलियोंके अग्रभागसे अपने अँगूठेको दबाया और उससे उसी समय बरफके समान श्वेतवर्णका भस्म निकलने लगा। यह देखकर उन ब्राह्मण देवताको बड़ी लज्जा आयी और वे घबड़ाकर महादेवके चरणोंमें गिर पड़े। उनके मुँहसे बरबस ये शब्द निकल पड़े कि 'प्रभो! आपसे बढ़कर और कोई देवता है ही नहीं। सारे जगत्के आधार आप ही हैं; आप ही इसकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते हैं। हे प्रभो! मैंने आपके सामने बड़ा अपराध किया है। मुझसे अनजानमें आपका बड़ा अपमान हो गया है, मुझ बालककी चूकपर दृष्टि न डालिये। क्षमा कीजिये! क्षमा कीजिये!!'

भगवान् शंकरने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—'ब्राह्मणदेव! इसमें अपराधकी क्या बात है? आवेशके कारण तुम नाच रहे थे, ऐसी स्थितिमें अपमानकी तो कोई बात ही नहीं है। मेरी इच्छासे नृत्य बन्द कर देनेके कारण मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। यह तुम्हारी तपस्या और भी हजारों गुना बढ़ जाय, इस प्राची सरस्वतीके किनारे ही मैं सर्वदा तुम्हारे साथ निवास करूँगा।' इतना कहकर

शंकरने सरस्वती नदीकी और भी महिमा बतलायी तथा ब्राह्मण मंकणकपर महान् भक्तवत्सलता प्रकट करके आशुतोष भगवान् शंकर उन्हींके साथ वहीं निवास करने लगे। आज भी भगवान् शंकर अपने आज्ञाकारी भक्त मंकणकके साथ सरस्वतीतटपर विचरते रहते हैं।

—शान्तनु०

गौतम

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित् प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥*

महर्षि गौतम सप्तर्षियोंमें एक ऋषि हैं। कहीं-कहीं पुराणोंमें ऐसी कथा मिलती है कि महर्षि अन्धतमा जन्मके अन्धे थे, उनपर स्वर्गकी कामधेनु प्रसन्न हो गयी और उस गौने इनका तम हर लिया। ये देखने लगे। तबसे इनका नाम गौतम पड़ गया। ये ब्रह्माजीकी मानसी सृष्टिके हैं। पुराणान्तरोंमें ऐसी कथा आती है कि सर्वप्रथम ब्रह्माजीकी इच्छा एक स्त्री बनानेकी हुई, उन्होंने सब जगहसे सौन्दर्य इकट्ठा करके एक अभूतपूर्व स्त्री बनायी। उसके नखसे सिखतक सर्वत्र सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य भरा था। हल कहते हैं पापको, हलका भाव हल्य और जिसमें पाप न हो उसका नाम अहल्या है; अत: उस निष्पापाका नाम भगवान् ब्रह्माने अहल्या रखा। यह पृथ्वीपर सर्वप्रथम इतनी सुन्दर मानुषी स्त्री हुई। सब ऋषि, देवता उसकी इच्छा करने लगे। इन्द्रने तो उसके लिये भगवान् ब्रह्मासे याचना भी की, किन्तु ब्रह्माजीने उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। ऐसी त्रैलोक्यसुन्दरी ललनाको भला कौन नहीं चाहेगा? उन दिनों भगवान् गौतम बड़ी घोर तपस्या कर रहे थे। ब्रह्माजी उनके पास गये और जाकर बोले—'यह अहल्या तुम्हें हम धरोहरके रूपमें दिये जाते हैं, जब हमारी इच्छा होगी ले लेंगे।' ब्रह्माजीकी आज्ञा ऋषिने शिरोधार्य की। अहल्या ऋषिके आश्रममें रहने लगी। वह हर तरहसे ऋषिकी सेवामें तत्पर रहती और ऋषि भी उसका धरोहरकी वस्तुकी भाँति ध्यान रखते। किन्तु उनके मनमें कभी किसी प्रकारका बुरा भाव नहीं आया।

हजारों वर्षके बाद ऋषि स्वयं ही अहल्याको लेकर ब्रह्माजीके यहाँ गये और बोले—'ब्रह्मन्! आप अपनी यह धरोहर ले लें।' ब्रह्माजी इनके इस प्रकारके संयम और पवित्र भावको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अहल्याका विवाह इन्हींके साथ कर दिया। ऋषि सुखपूर्वक इनके साथ रहने लगे। इनके एक पुत्र भी हुए जो महर्षि शतानन्दके नामसे विख्यात हैं और जो महाराज जनकके राजपुरोहित थे।

इन्द्रने जब अहल्याके साथ अनुचित बर्ताव किया, न करनेयोग्य काम किया तब इसमें अहल्याकी भी कुछ सम्मति समझकर गौतमजीने उसे पाषाण होनेका शाप दे दिया। तब ब्रह्माजीने भी शाप दिया कि आजसे केवल अहल्यामें ही सम्पूर्ण सौन्दर्य न रहकर पृथ्वीभरकी स्त्रीमात्रमें बँट जायगा। उन्होंने इन्द्रको शाप दिया कि तुम्हारा पद स्थायी न रहेगा, इन्द्र सदा बदलते रहेंगे। इस प्रकार ऋषि गौतम अपनी पत्नीको त्यागकर हिमवान् पर्वतपर तपस्या करने चले गये। जब श्रीरामचन्द्रजीकी चरणधूलिसे अहल्या पुन: पवित्र हो गयी तब गौतमजीने उसे स्वीकार कर लिया। महर्षि गौतमका चरित्र अलौकिक है। इनके-ऐसा त्याग, वैराग्य और तप कहाँ देखनेको मिलेगा?

—प्र० ब्रह्मचारी

अकृतव्रण

महामुनि अकृतव्रण भगवान् भार्गव परशुरामजीके परमप्रिय शिष्य हैं। श्रीमद्भागवतमें वेद और पुराणोंकी शिष्यपरम्परा बताते हुए पुराणसंहिताके सम्बन्धमें लिखा है कि भगवान् वेदव्यासने छ: पुराणसंहिताएँ बनाकर रोमहर्षण सूतको पढ़ायीं। रोमहर्षणजीने भी त्र्यारुणि, कश्यप, सवर्णि, अकृतव्रण, वैशम्पायन और हारीत इन

* मतवाले हाथीके मदको चूर्ण करनेवाले शूर पुरुष होते हैं। बहुतसे बलवान् सिंहको भी पछाड़नेकी शक्ति रखते हैं, किन्तु मैं बलवानोंके सम्मुख हठपूर्वक कहता हूँ कि कामदेवके मदको चूर्ण करनेवाले होते तो हैं, किन्तु विरले ही होते हैं अर्थात् इसे वशमें करना बहुत कठिन है।

छः ऋषियोंको इनमेंसे एक-एक संहिता पढ़ायी। परशुरामजीके शिष्य अकृतव्रण बड़े ही साधुस्वभाव मुनि हैं, इनके सम्बन्धमें पुराणान्तरमें ऐसी कथा आती है कि जब ये बहुत छोटे बालक थे तब इन्हें बाघ उठा ले गया। सौभाग्यसे बाघने इनको मारा नहीं, इनका पालन-पोषण उसने किया। ये जंगलमें शेर-बाघोंके ही बीचमें पले। दैवसंयोगसे इन्हें भगवान् परशुरामजी मिल गये और ये उनके शरणापन्न हुए। शेर-बाघोंमें रहते हुए भी इनके शरीरमें एक व्रण भी नहीं देखा गया, इसी हेतु इनका नाम 'अकृतव्रण' पड़ा। ये अत्यन्त गुरुभक्त हैं। भगवान् परशुरामके साथ ये छायाकी तरह रहते हैं। श्रीमद्‌भागवत तथा अन्य पुराणोंमें इनका नाम बहुत आता है। इससे अधिक इनके सम्बन्धमें हम कुछ भी नहीं जानते। —प्र० ब्रह्मचारी

पतंजलि

ये महर्षि अंगिराके वंशज और संहिताकार महर्षि प्राचीनयोगके पुत्र थे। इन्होंने अपने पिताके गुरु कौथुमसे ही वेदाध्ययन किया था और इनकी एक संहिता भी थी। परन्तु अब वह नहीं मिलती। कौथुमके शिष्योंमें ये दोनों ही पिता-पुत्र संहिताकार हैं। कुछ लोगोंने ऐसा अनुमान लगाया है कि पाणिनिने अपने सूत्रोंमें व्यासकृत महाभारतके वासुदेव, अर्जुन आदि व्यक्तियोंकी चर्चा की है, अत: वे व्यासके पीछे हुए हैं। और महर्षि पतंजलिने पाणिनीय व्याकरणपर महाभाष्य लिखा है, अत: वे पाणिनिसे पीछे हुए होंगे। इसी आधारपर उनका कहना है कि पातंजलयोगदर्शनके भाष्यकार व्यास कोई दूसरे होंगे और ये पतंजलि भी कोई अर्वाचीन पुरुष होंगे। परन्तु यह सब बात ठीक होनेपर भी इनके पहले-पीछे होनेका अनुमान एवं अर्वाचीनताकी बात ठीक नहीं जँचती। क्योंकि इन ऋषियोंके चिरकालस्थायी सिद्धशरीर एवं लंबी आयुपर दृष्टि न रखकर ही ऐसी बात कही जाती है। ये सब बातें भारतीय पौराणिक दृष्टिकोणसे, जिससे कि इनपर विचार करना चाहिये, ठीक नहीं उतरतीं। मत्स्य, वायु एवं स्कन्दपुराणोंमें पाणिनि एवं पतंजलिकी चर्चा है, इससे सिद्ध है कि व्यासके समयमें ये लोग थे और योगदर्शनका भाष्य करनेसे इनके समयमें व्यासका होना सिद्ध होता है। पुराणोंमें एक-एक ऋषियोंकी स्थिति कई युगोंतक मानी गयी है। इससे इनकी व्यवस्था बैठ जाती है।

महर्षि पतंजलि योगके आचार्य थे। व्यावहारिक जीवनसे उनका बहुत कम सम्बन्ध रहा होगा, ऐसा अनुमान होता है। यही कारण है कि उनके जीवनकी कोई विशेष घटना प्रसिद्ध नहीं है। परन्तु केवल एकान्तमें रहनेके कारण ही वे हमारे कल्याणके कामसे अलग रहे हों, ऐसी बात नहीं। उनके बनाये हुए ग्रन्थोंसे सारे संसारका जो हितसाधन हुआ है और हो रहा है उसके लिये सभी उनके ऋणी हैं और रहेंगे।

चरकसंहिताका प्रणयन करके उन्होंने हमारे स्थूल शरीरके दोषोंका निवारण किया और उसमें सांख्योक्त प्रक्रियाका वर्णन करके हमें योगकी ओर आकर्षित किया। व्याकरणके वर्णनके द्वारा हमें पद-पदार्थका ज्ञान कराकर उन्होंने हमारी वाणीको शुद्ध किया और योगके द्वारा सम्पूर्ण चित्त-मलोंको धोकर अपना स्वरूप पहचाननेके योग्य बनाया। अन्तमें परमार्थसारके द्वारा हमें अद्वैत तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया, जो सम्पूर्ण जीवों और उनकी साधनाओंका लक्ष्य है। हम इस प्राचीन श्लोकके द्वारा उनके चरणोंमें श्रद्धाभक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां
मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां
पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

कणाद

भारतके छ: मुख्य दर्शनोंमें वैशेषिक नामक दर्शनके प्रणेता महर्षि कणाद हैं। इनके जीवनके सम्बन्धमें कुछ विशेष पता नहीं चलता। परन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि ये किसी प्रकारका परिग्रह नहीं रखते थे। किसान अपने-अपने खेतोंमेंसे अन्न काट ले जाते उसके बाद कणोंके रूपमें जो कुछ बच रहता उसे ही बीनकर ले आते और उसीसे अपने शरीरका निर्वाह करते। इन तपस्वीने संसारको एक विशिष्ट दर्शनशास्त्रका दान किया

है। इन ऋषियोंको वस्तुतत्त्वका बोध न हो ऐसी बात नहीं, किन्तु सब प्रकारके साधकोंके लिये उनकी भूमिकाके अनुरूप विचारप्रणाली उपस्थित करना ही इनका उद्देश्य होता है। जिन्होंने न्यायदर्शनके अनुसार पदार्थविभाजन कर लिया है किन्तु जो सांख्यके अनुसार प्रकृति-पुरुष-विवेक करनेमें पटु नहीं हुए हैं उनके लिये ही अनन्त परमाणुओंमें अनन्त विशेषोंका विचार इन्होंने उपस्थित किया है। इसके फलस्वरूप अधिकारी पुरुष अगली भूमिकामें बढ़ता है। कूर्मपुराणमें ऐसा वर्णन आता है कि इन्होंने महर्षि नर-नारायणके पास जाकर अपनी जिज्ञासा पूर्ण की थी और भगवत्तत्त्व तथा भगवद्भक्तिसम्बन्धी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की थी। काशीमें अबतक इनके द्वारा स्थापित और आराधित एक शिवलिंग विद्यमान है जहाँ स्वयं भगवान् शिवने प्रकट होकर इन्हें दर्शन दिया था। यद्यपि महर्षि कणादका विस्तृत जीवन उपलब्ध नहीं है फिर भी उनका वैशेषिक दर्शन उनके आन्तरिक और लोकोपकारी जीवनका साक्षात् प्रतीक है। वह चिरकाल-तक हमारा कल्याणसाधन करता रहेगा। —शान्तनु०

महर्षि शरभंग

महर्षि शरभंगका बहुत संक्षिप्त वृत्त श्रीरामायणजीमें मिलता है। इसके देखनेसे यह अनुमान होता है कि ये महात्मा दण्डकारण्यमें हजारों-लाखों वर्षोंसे तपस्या करते रहे होंगे। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने दण्डकारण्यमें विराध राक्षसको मारा और विराधको मारकर उन्होंने लक्ष्मणजीसे कहा—'लक्ष्मण! अब हम महामुनि शरभंगके आश्रमपर चलें।' भगवान् तो अन्तर्यामी हैं, वे भक्तोंको कृतार्थ करनेके निमित्त तो वनमें पधारे ही हैं। वनमें राक्षसोंको मारना तो उनका गौण और प्रासंगिक कार्य है। मुख्य कार्य तो अपने भक्तोंको दर्शन देकर कृतकृत्य करना है। उसी समय शरभंग मुनिको लेनेके लिये देवराज इन्द्र आये थे। वे उनकी तपस्याके प्रभावसे उन्हें सत्कारपूर्वक ब्रह्मलोकतक पहुँचाने आये थे। महामुनिने कहा—'ब्रह्मलोकके प्रधान देवता तो मेरे यहाँ ही आ रहे हैं, उनके बिना दर्शन किये मैं वहाँ नहीं जाऊँगा। सब लोकोंके स्वामी तो श्रीराम हैं, अन्त समय उनका दर्शन हो और उनके सम्मुख इस नश्वर शरीरका अन्त हो, इससे बढ़कर सौभाग्यकी बात क्या होगी। राजीवलोचन कमलदलश्याम श्रीराम उनके आश्रमपर पहुँच गये। अहा!

देखि राममुखपंकज, मुनिवर-लोचनभृंग।
सादर पान करत अति, धन्य जन्म सरभंग॥

सीता-लक्ष्मणसहित रघुनन्दनको मुनिवरने देखा, गद्गद कण्ठसे कहने लगे—

चितवत पंथु रहेउँ दिनु राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती॥
नाथ सकल साधन मैं हीना। किन्ही कृपा जानि जनु दीना॥

अन्त समयमें जिसके मुखसे एक बार रामनाम निकल जाता है उसे भी सायुज्यमुक्ति मिल जाती है, सो इनके तो शरीर त्यागनेके समय साक्षात् अखिल-ब्रह्माण्डनायक श्रीकौशलकिशोर ही पहुँच गये, इनके सौभाग्यका क्या पूछना है। अत्यन्त ही विनीतभावसे इन्होंने श्रीरामजीसे कहा—

सीता-अनुज-समेत प्रभु, नील जलद तनु श्याम।
मम हियँ बसहु निरंतर, सगुनरूप श्रीराम॥

श्रीराम इनके हृदयमें बैठ गये और इनके नेत्रोंके सम्मुख भी बैठ गये। बस, फिर क्या था। इन्होंने योग-अग्निसे अपने शरीरको जलाना आरम्भ किया—

तस्य रोमाणि केशाश्च तदा वह्निर्महात्मनः।
जीर्णां त्वचं तदस्थीनि यच्च मांसं च शोणितम्॥
स च पावकसंकाशः कुमारः समपद्यत।
उत्थायाग्निचयात्तस्मात् शरभङ्गो व्यरोचत॥
स लोकानाहिताग्नीनामृषीणां च महात्मनाम्।
देवानां च व्यतिक्रम्य ब्रह्मलोकं व्यरोहत॥

महात्मा शरभंग मुनिके रोम, केश, पुराना चर्म, हड्डी, मांस और शोणित जो भी कुछ था उसे अग्निने जला दिया। उस अग्निराशिसे निकलकर शरभंग अग्निके समान तेजस्वी कुमार हो गये और वे परम शोभित हुए। वे अग्नियों, महात्मा ऋषियों और देवताओंके भी लोकोंको लाँघकर ब्रह्मलोकको चले गये।

उन परमाराध्य महर्षि शरभंगके चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम है।

पुण्डरीक

पुण्डरीक शास्त्रोंके ज्ञाता, वेद-वेदांगमें पारंगत, तप और स्वाध्यायके प्रेमी, इन्द्रियोंको जीते हुए, क्षमाशील ब्राह्मणकुमार थे। प्रतिदिन नियमसे त्रिकाल सन्ध्या, और सुबह-शाम विधिपूर्वक अग्निहोत्र करते थे। जल, ईंधन और पुष्पादिके द्वारा उन्होंने बहुत दिनोंतक श्रद्धापूर्वक गुरुकी सेवा की थी। वे नित्य प्राणायाम और जगत्पति भगवान् विष्णुका ध्यान करते थे। उनके मनमें अभिमान और डाह नहीं था। भक्तिपूर्वक पिता-माताकी सब प्रकारकी सेवा करने और उन्हें सुख पहुँचानेमें उन्हें बहुत प्रीति थी। सारांश यह कि पुण्डरीकजी अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंका भलीभाँति पालन करते हुए ही सर्वव्यापी भगवान्की आराधना करते थे। भगवान्को स्मरण करते हुए भगवान्के लिये ही वे लौकिक और वैदिक समस्त धर्मोंका पालन करते थे। यों करते-करते जब उनके अन्तःकरणकी शुद्धि हो गयी और संसारके किसी भी पदार्थमें उनकी उतनी आसक्ति, ममता, स्पृहा या कामना नहीं रही तब अपने शुद्ध हृदयमें उन्हें भगवान्का आह्वान सुनायी दिया और वे उसी क्षण सब कुछ छोड़-छाड़कर प्रियतमको पानेके लिये अभिसारिणीके रूपमें वहाँसे चल पड़े। संसाररूपी समुद्रसे तारनेवाली विमल बुद्धिके प्रकाशने उनके समस्त मोह-तमको हटा दिया।

भक्त पुण्डरीक साग, मूल या फल, जो कुछ मिल जाता उसीसे उदरनिर्वाह करते हुए प्रियतम प्रभुकी खोजमें देश-देशान्तरोंमें घूमने लगे। उन्होंने सभी प्रधान-प्रधान तीर्थोंमें भ्रमण किया। घूमते-घूमते एक दिन वे शालग्राम नामक एक गाँवमें जा पहुँचे। यह स्थान बहुत ही रम्य, पवित्र, एकान्त, भगवदीय चिह्नोंसे भूषित था। यहाँ बड़े-बड़े तत्त्वज्ञ महात्मा रहते थे। इस पुण्यतीर्थमें विविध पवित्र जलाशय और कुण्ड थे। पुण्डरीकने उनमें स्नान किया। इस विशुद्ध तीर्थमें उनका मन लग गया। वे वहीं रहकर परम भक्तिके साथ भगवान्का सतत ध्यान करने लगे। उनके मनसे राग-द्वेष दूर हो गये। हृदय परम पवित्र हो गया। उसमें भगवान्की शक्ति मानो उतर आयी। वे अपने अन्दर भगवद्भावका प्रत्यक्ष अनुभव करने लगे। मूर्तिमान् स्वधर्मकी भाँति विराजित हुए उन्होंने अपनी आराधनासे भगवान्को सन्तुष्ट कर लिया। अतएव भगवान्ने अपने परम भक्त देवर्षि नारदको बुलाकर कहा कि 'वत्स! मेरे प्यारे भक्त पुण्डरीककी भक्तिसे मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ। तुम जाओ, उसकी भक्तिको और भी सुदृढ़ करनेके लिये उसे उचित उपदेश दो।'

भगवान्की आज्ञा पाकर भक्तशिरोमणि नारदजी भक्तको दर्शन देनेके लिये या अपने भगवान्के द्वारा प्रशंसित भाग्यवान् भक्तका दर्शन पानेके लिये वैकुण्ठसे चल पड़े। साक्षात् सूर्यके समान महातेजा भक्तराज नारदजी मधुर वीण बजाते, पवित्र हरिगुण गाते और मन्द-मन्द मुसकराते हुए तपोनिधि पुण्डरीकके स्थानपर पहुँचे। महामना पुण्डरीकने तेजोमण्डलसे घिरे हुए सर्ववेदनिधि नारदजीको सामने उपस्थित देखकर तुरन्त खड़े होकर प्रणाम किया। नारदजीके दर्शनसे ही उनके रोमाञ्च हो आया, नेत्रोंमें आनन्दाश्रु आ गये, पुण्डरीकजीने प्रेमविह्वल चित्तसे उन्हें अर्घ्यादि देकर पुनः प्रणाम किया। वे नारदजीका मनोहर वेश देखकर मन-ही-मन सोचने लगे—ये प्रसन्नमुख, वीणाधारी महातेजा महात्मा कौन है? साक्षात् सूर्य, अग्नि या वरुणदेव तो नहीं हैं? इस प्रकार विचार करते-करते कुछ भी स्थिर न कर सकनेपर पुण्डरीकजीने पुनः प्रणाम करके पूछा—'प्रभो! अमिततेजस्वी महानुभाव आप कौन हैं? और यहाँ आपका कहाँसे शुभागमन हुआ है? हे भगवन्! आप-सरीखे महात्माओंके दर्शन इस धरामण्डलमें बहुत ही दुर्लभ हैं। मैंने तो आजतक आपके सदृश किसी पुरुषके दर्शन नहीं किये। हे स्वामिन्! कृपा करके बतलाइये, दासको अपने दर्शनसे कृतार्थ करनेवाले आप कौन हैं?' नारदजीने मुस्कराते हुए कहा—'भक्तवर! मैं तुम्हारे दर्शन करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ। तुम-सरीखे भक्तोंसे मिलनेमें मुझे बहुत सुख मिलता है। भक्तोंका अमित प्रभाव होता है। हे द्विजश्रेष्ठ! तुम्हारी तो बात ही क्या है, याद करने, सन्तुष्ट करने अथवा पूजा करनेपर भगवान्का प्यारा भक्त चाण्डाल भी जीवोंको पवित्र कर देता है। मेरा तो इतना ही परिचय है कि मैं तीनों लोकोंके एकमात्र साक्षी शंखचक्रगदापद्मधारी निर्गुण और सगुणरूप देवदेव भगवान् श्रीवासुदेवका दास हूँ।'

इतना कहते ही नारदजीको पहचानकर पुण्डरीक

प्रेमावेशसे पुलकित हो गये और कुछ देर बाद धैर्य धारणकर गद्गद वाणीसे कहने लगे—'प्रभो! आज शरीरधारियोंमें मैं धन्य हो गया, मैं देवपूज्य हो गया। मेरे सब पुरखे आज तर गये। मेरा जन्म सफल हो गया। अब हे देवर्षे! अपने इस भक्त और दासके प्रति विशेष कृपा करके जो कुछ मेरे योग्य हो सो उपदेश कीजिये। परम गोपनीय होनेपर भी छिपाइये नहीं। आप सभी जीवोंके, खास करके हरिके मार्गपर चलनेवालोंके तो एकमात्र गति हैं। मुझ संसारसागरमें डूबे हुएको बचाइये!'

पुण्डरीककी अभिमानशून्य सरल विनयपूर्ण वाणी सुनकर नारदजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उनको सच्चा भक्त जानकर भगवान्‌के आज्ञानुसार कुछ कहना आरम्भ किया। नारदजी बोले—

'हे द्विजोत्तम! इस लोकमें अनेक प्रकारके मनुष्य हैं, और उनके अनेकों मत हैं। नाना प्रकारके तर्कोंसे सब अपने-अपने मतोंका समर्थन करते हैं; मैं सबके तर्कोंको समझकर जो निश्चित परमार्थतत्त्व है वही तुमसे कहता हूँ। यह परमार्थतत्त्व सहज ही समझमें नहीं आता। तत्त्ववेत्तागण प्रमाणोंद्वारा ही इसका प्रतिपादन करते हैं। जो लोग मूर्ख हैं वे केवल प्रत्यक्ष और वर्तमान प्रमाणको ही मानना चाहते हैं। वे अनागत, अतीत प्रमाणोंको स्वीकार नहीं करते। मुनिगण कहते हैं कि जो पूर्वरूप परम्परासे चला आता है, वही आगम है; यह आगम ही प्रमाण है। इसीसे परमार्थतत्त्वकी सिद्धि होती है। जिसके अभ्याससे ज्ञान होता है, राग-द्वेषका मल नष्ट होता है, वही आगम है। जो कर्म, कर्मफल, तत्त्व, विज्ञान, दर्शन और विभु है, जिसमें जाति आदिकी कोई कल्पना नहीं है, जो नित्य आत्मसंवेदन है, जो सनातन, अतीन्द्रिय, चेतन, अमृत, अजेय, अनन्त, अज, अविनाशी, अव्यक्त, व्यक्त, व्यक्तमें स्थित और निरंजन है, वही द्वितीय आगम है। वही विश्वमें व्याप्त होनेके कारण विष्णु कहलाता है, उसीके और भी अनेकों नाम हैं। परमार्थसे विमुख व्यक्ति उस योगियोंकी परम ध्येय वस्तुको प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे नहीं जान सकते।'

भक्तगण किसी बातको कहते हैं तो उसमें यह अभिमान नहीं आने देते कि यह हमारा मत है। क्योंकि उनका अपना मत कुछ रहता ही नहीं, वे तो अपना सब कुछ भगवान्‌में मिला देते हैं, भगवान्‌का मत ही उनका मत होता है। वस्तुत: संसारमें नया कुछ भी नहीं है। पुराना ही नये-नये रूपोंमें प्रत्यक्ष होता है। अतएव नारदजी अपनी ओरसे उपदेश न देकर अब पुराने इतिहासका संकेत करके कहने लगे कि ''हे निष्पाप पुण्डरीक! एक समय मैंने ब्रह्मलोकमें पितामह ब्रह्माजीसे विनयपूर्वक प्रणाम करनेके अनन्तर इस विषयमें पूछा था, उसका जो कुछ उत्तर उन्होंने मुझको दिया था वही मैं तुमसे कहता हूँ। ब्रह्माजीने कहा था कि 'भगवान् श्रीनारायण ही सब भूतोंके आत्मा, जगदाधार, पचीस तत्त्वोंके रूपमें प्रकाशित, सनातन परमात्मा हैं। जगत्‌का सृजन, पालन और संहार उन नारायणदेवसे ही होता है। वही विश्व, तैजस और प्राज्ञ, ये त्रिविध आत्मा हैं; वही सबके अधीश्वर, एकमात्र सनातन देवदेव हैं। ज्ञानयोगीगण ज्ञानकी साधनाके द्वारा उन्हीं जगन्नाथ नारायणदेवका साक्षात्कार करते हैं। जिनका चित्त श्रीनारायणमें विलीन है, जिनके प्राण श्रीनारायणमें समर्पित हैं, जो केवलमात्र श्रीनारायणके ही परायण हैं, वे श्रीनारायणकी कृपा और शक्तिसे अपने ज्ञाननेत्रोंद्वारा वर्तमान, भूत और भविष्यको देख सकते हैं। इस जगत्‌में बीता हुआ, वर्तमान और होनेवाला; समीप और दूर, स्थूल और सूक्ष्म कुछ भी उनसे अज्ञात नहीं रहता।'

पितामह ब्रह्माजीने इन्द्रादि देवताओंसे भी एक दिन कहा था कि 'धर्म नारायणके आश्रित है; सब सनातन लोक, यज्ञ, शास्त्र, सब अंगोंसहित वेद और अन्य जो कुछ भी है, सब श्रीनारायणके ही आधारपर है। वे नारायण ही विष्णु हैं, वही विश्वेश्वर हरि हैं। वे अव्यक्त पुरुष ही पृथिवी आदि पंचभूत हैं। यह सारा जगत् केवल विष्णुमय ही है। पापी मनुष्य इस तत्त्वको नहीं जानते। वे नारायण ही अपनी मायासे इस चराचर विश्वमें व्याप्त हैं। जिनका चित्त उन नारायणमें लगा है, जिनका जीवन उनके अर्पण है, ऐसे परमार्थके ज्ञाता पुरुष ही उनको जानते हैं। श्रीनारायण ही सब भूत हैं, सब भूतोंमें व्याप्त हैं और सब भूतोंके ईश्वर हैं। वही तीनों लोकोंका पालन करते हैं। समस्त जगत् उन्हींमें प्रतिष्ठित है और उन्हींसे उत्पन्न है। वही इस जगत्‌के संहारमें रुद्ररूपसे, पालनमें विष्णुरूपसे और सृजनमें ब्रह्मारूपसे नियुक्त हैं। वही अन्यान्य लोकपालगण हैं। वे परात्पर पुरुष ही सर्वाधार, निराधार, सकल, निष्कल, अणु और महान् हैं। उन परमप्रभु देवदेवकी ही शरण

सबको होना चाहिये।' ब्रह्माजीने ऐसा कहा था, अतएव हे विप्रर्षे! तुम भी नारायणके परायण हो जाओ। उनको छोड़कर कौन ऐसा देव है जो हमें मनमाना पदार्थ दे सकता है? वे पुरुषोत्तमदेव ही पिता-माता हैं; वे ही लोकेश, देवदेव और जगत्पति हैं। उन्हींकी शरण हो जाओ! अग्निहोत्र, तप या अध्ययन—अपने सभी कर्मोंसे नित्य-निरन्तर सावधानीके साथ एकमात्र उन्हींको सन्तुष्ट करना चाहिये। अतएव तुम उन पुरुषोत्तमका ही आश्रय ग्रहण करो; उनके शरण होनेपर न तो बहुत-से मन्त्रोंकी आवश्यकता है और न व्रतोंका ही प्रयोजन है। एक '**ॐ नमो नारायणाय**' मन्त्र ही सब मनोरथोंकी पूर्ति करनेवाला है। हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! उनकी आराधनामें किसी बाहरी वेषकी जरूरत नहीं है। कपड़े पहने हो, न पहने हो, जटाधारी हो या सिर मुँडाये हो, त्यागी हो या गृहस्थ हो, सभी अनन्य मनसे भक्तिपूर्वक उनकी आराधना कर सकते हैं। चिह्न धर्मका कारण नहीं है (**न लिङ्गं धर्मकारणम्**), वरं जो लोग पहले निर्दयी, दुष्टात्मा और सदा पापोंमें ही लगे रहते हैं वे भी नारायणपरायण होनेपर सनातन परमधामको प्राप्त होते हैं। भगवान्के निष्पाप भक्त पापके कीचड़में कभी लिप्त नहीं होते। अहिंसासे चित्तको जीते हुए वे भक्त सब लोकोंको पवित्र करते हैं। प्राचीन कालमें प्राणियोंकी हिंसा करनेवाले एक शिकारी राजा नारायणपरायण होकर परमधामको प्राप्त हुए हैं। परमतत्त्वज्ञ राजा अम्बरीषजी भगवान् हृषीकेशकी आराधना करके वैष्णवपदको पा चुके हैं। अनेक शान्तचित्त ब्राह्मणोंने भगवान्का ध्यान करके सिद्धि प्राप्त की है। असुरबालक प्रह्लादने परम आह्लादके साथ भगवान् श्रीनारायणदेवकी सेवा-पूजा और ध्यान करके हरिके द्वारा सुरक्षित रहकर परमपद पाया है। तेजस्वी राजा भरत श्रीहरिकी उपासना करके परम शान्तिको पा चुके हैं। श्रीहरिकी आराधनासे सभीको परमगति मिल सकती है, और श्रीहरिकी आराधनाके बिना किसीको भी परमगति नहीं मिलती—चाहे वह ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी कोई भी क्यों न हो। हजारों जन्मोंके अनन्तर भगवत्कृपासे जिसको ऐसी सुबुद्धि प्राप्त होती है कि 'मैं हरिभक्तोंका दास हूँ' वह पुरुष भी भगवान्को प्राप्त कर लेता है। फिर जो महापुरुष अनन्यचित्त हैं और प्रेमसे परिप्लावितहृदय हैं, उनके लिये तो कहना ही क्या है? इसीलिये तत्त्वके जाननेवाले पुरुष सब ओरसे चित्तको हटाकर अनन्य चित्तसे नित्य-निरन्तर उन सनातन परमात्मदेवका ध्यान ही करते हैं।''

देवर्षि नारदजी इतना कहकर अन्तर्धान हो गये। धर्मात्मा पुण्डरीककी नारायणपरायणता और भी दृढ़ एवं उज्ज्वल हो गयी। वे '**ॐ नमो नारायणाय**' मन्त्रका जप करने लगे और भगवान्के अमृतमय मधुर ध्यानमें निमग्न हो गये। उनकी स्थिति बहुत ही ऊँची होने लगी, अन्तमें यहाँतक पहुँची कि अमृतात्मक भगवान् गोविन्ददेव उनके हृदयकमलपर आ विराजे। सारा अन्तःकरण भगवान्के पवित्र संसर्गसे दीप्तिमान् और भगवन्मय हो गया। अब उनकी बुद्धि और मनमें भगवान् केशवको छोड़कर स्वप्नमें भी कोई चीज नहीं रह गयी, यहाँतक कि पुरुषार्थका विरोध करनेवाली निद्रा भी नष्ट हो गयी।

बुद्धि और मनमें भगवान्का आविर्भाव होकर उनका दिव्य भगवद्रूपमें परिणत हो जाना बहुत-से महापुरुषोंमें देखा-सुना जाता है, परन्तु स्थूल देहमें दिव्यत्वकी प्राप्ति कदाचित् ही कहीं होती है। पुण्डरीकजीने समस्त भुवनोंके एकमात्र साक्षी पुरुषोत्तम वासुदेव भगवान्की परम कृपासे अपने निष्पाप देहमें इसी परम दिव्य वैष्णवी सिद्धिको प्राप्त किया। पुण्डरीकने देखा उनका अंग श्यामवर्ण हो गया है, चार भुजाएँ हो गयी हैं, जिनमें शंख, चक्र, गदा और पद्म हैं, पवित्र पीत वस्त्र है, तेजोमण्डलने उनके शरीरको घेर लिया है और वे पुण्डरीकाक्ष बन गये हैं। वनके सिंह, व्याघ्र और अन्यान्य हिंसक पशु सहज ही सारे वैरभावको भुलाकर उनके समीप एकत्र हो रहे हैं और प्रसन्न मनसे यथेच्छ प्रेमपूर्वक विचरण कर रहे हैं। इस प्रकार विरोधी जीव परस्पर हितैषी हो गये, नदी और सरोवरोंका जल प्रसन्न और मधुरतम बन गया, शीतल सुगन्ध सुखकर वायु बहने लगा, ऋतु सुप्रसन्न हो गयी, वनके वृक्षसमूह सुगन्धित और मधुर पुष्प-फलभारसे नत हो लद गये। सभी पदार्थ पुण्डरीकके अनुकूल और परम सुखकर हो उठे। भक्तवत्सल देवदेवेश्वर भगवान्के प्रसन्न होनेपर समस्त चराचर जगत् प्रसन्न हो ही जाता है, सभी जीव और प्रकृतिकी सारी वस्तुएँ उस जगद्वन्द्य भक्तकी सेवा कर अपने जीवनको सफल करना चाहती हैं।

यों तो अब पुण्डरीकजीका देह, मन, बुद्धि, सब

कुछ भगवन्मय ही हो गया था; परन्तु भक्तके हृदयनिधि कमलदललोचन भगवान् अपने भक्त पुण्डरीकको जगत्प्रसिद्ध पावन बनाने और इस भक्तिका चरम फल देनेके लिये स्वयं अपने दिव्य मंगल विग्रहमें उनके सामने आविर्भूत हुए। भगवान्‌के तीन हाथोंमें शंख, चक्र और गदा हैं, एक हाथकी अभयमुद्रासे आप भक्तको आश्वासन दे रहे हैं। करोड़ों सूर्योंके समान भगवान्‌का प्रकाश है। करोड़ों चन्द्रमाओंके समान भगवान्‌के प्रत्येक अंगसे सुधावृष्टि हो रही है। करोड़ों कामदेवोंके दर्पको चूर्ण करनेवाला भगवान्‌का सौन्दर्य है। भगवान्‌के नेत्र कमलके समान अत्यन्त सुन्दर और विशाल हैं। चन्द्रबिम्बकी शोभाको मन्द करनेवाला भगवान्‌का मुखकमल है। भगवान्‌के कानोंमें कुण्डल, गलेमें रत्नहार, वनमाला, वक्ष:स्थलपर लक्ष्मीजीकी मूर्ति और विप्रपदचिह्न हैं। कौस्तुभमणि गलेमें सुशोभित हो रही है। भगवान्‌के अधर और मोतियोंकी-सी दन्तपंक्ति अत्यन्त शोभित है। मस्तकपर अति मनोहर मुकुट है। स्कन्धपर चैतन्य ब्रह्मसूत्र विराजित है। देवता, सिद्ध, गन्धर्व, श्रेष्ठ मुनि, नाग और यक्ष भगवान्‌की सेवा कर रहे हैं। भाग्यवान् पार्षद चँवर, पंख और छत्र आदिसे भगवान्‌की सेवा कर रहे हैं। पवित्रात्मा पुण्डरीकने भगवान्‌के इस अचिन्त्यसुन्दर दिव्य स्वरूपको देखकर अत्यन्त प्रेमविह्वल और आनन्दपूर्ण चित्तसे दोनों हाथ जोड़ लिये और उनके चरणोंमें गिरकर स्तुति करना आरम्भ किया।

विविध भाँतिसे भगवान्‌की स्तुति करते-करते पुण्डरीककी वाणी बन्द हो गयी और एकदृष्टिसे वह भगवान्‌के मुखारविन्दकी मधुर शोभाको अतृप्त नयनोंसे देखने लगे, मानो नेत्रोंके द्वारा रूपामृतको हृदयसरोवरमें ढाल रहे हैं, पर वह किसी तरह भरता ही नहीं। प्रेममुग्ध भक्तकी इस पवित्र और अचिन्त्य दशाको देखकर उसकी समाधिको भंग करते हुए भगवान् गम्भीर स्वरसे बोले—

'हे महामते वत्स पुण्डरीक! मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ, तुम्हारा कल्याण हो। जो मनमें आवे सो माँग लो।'

पुण्डरीकजी वास्तवमें ही महामति थे। उन्होंने हर्षगद्‌गद स्वरसे कहा—'भगवन्! कहाँ मुझ-सरीखा अत्यन्त दुर्बुद्धि प्राणी और कहाँ आप-सदृश सर्वज्ञ, परम सुहृद् स्वामी! आपके दुर्लभ दर्शनोंके बाद और क्या वस्तु शेष रह जाती है, यह मेरी समझमें नहीं आता। फिर भी आप माँगनेकी आज्ञा करते हैं तो मैं यही माँगता हूँ कि भगवन्! मेरे लिये जिसमें कल्याण हो, आप मेरे प्रति वही आज्ञा कीजिये।'

भगवान्‌ने चरणोंमें पड़कर प्रेमाश्रुओंसे चरणोंको धोते हुए महाभाग पुण्डरीकको उठाकर हृदयसे लगा लिया और बोले, 'हे सुव्रत! तुम्हारा कल्याण हो। वत्स! तुम मेरे साथ चलो और नित्यात्मा एवं जगत्‌के उपकारी होकर सदा-सर्वदा मेरी लीलामें मेरे साथ रहो।'

भक्तवत्सल भगवान्‌के प्रीतिपूर्वक इतना कहते ही समस्त दिव्य लोकोंमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं। आकाशसे पुष्पोंकी वृष्टि होने लगी। ब्रह्मा आदि देवता 'साधु-साधु' ध्वनि करते हुए भगवान् और भक्तकी महिमा गाने लगे, एवं सिद्ध, गन्धर्व और किन्नर आनन्दमें उन्मत्त होकर नाचने-गाने लगे। तदनन्तर समस्त लोकोंके नमस्कारको ग्रहण करते हुए देवदेव जगत्पति भगवान् अपने प्यारे भक्त पुण्डरीकको साथ लेकर गरुड़पर सवार हुए और देखते-देखते अन्तर्धान हो गये। —ह० पोद्दार

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

तुम अपनी सांसारिक इच्छाओंकी कैदमें बंद हो। उससे छूटनेके लिये यदि सब प्रकारसे अपने आपको प्रभुके चरणोंमें अर्पित कर दोगे तो तुम्हारी रक्षा होगी और तुम्हें सच्चा सुख मिलेगा।

जो मनुष्य ईश्वरके सिवा न किसीसे डरता, न किसीकी आशा रखता, जिसे अपने सुख-संतोषकी अपेक्षा प्रभुका सुख-संतोष अधिक प्रिय है, उसीका ईश्वरके साथ मेल है।

जरत्कारु ऋषि

न हि धर्मफलैस्तात न तपोभिः सुसञ्चितैः।
तां गतिं प्राप्नुवन्तीह पुत्रिणो यां व्रजन्ति वै॥*

पूर्वकालमें ऋषियोंकी अनेक संज्ञाएँ होती थीं। उन्हींमें एक यायावर नामका ऋषिवर्ग था। उनके वंशमें एक ही पुत्र था, जिसका नाम जरत्कारु था। जरत्कारुके माता-पिता परलोकवासी हो गये थे। इसलिये वे सदा जंगलोंमें रहते और भाँति-भाँतिके तप किया करते थे। विविध प्रकारके तप करनेसे उनका शरीर क्षीण हो गया था, वे कभी फल-फूल ही खाकर रह जाते, कभी सूखे पत्ते ही चबा जाते, कभी वायु पीकर ही रह जाते। इस प्रकार वे हजारों वर्षतक तपस्या ही करते रहे।

एक दिन वे जंगलमें कहीं जा रहे थे, उन्होंने वहाँ एक बिना पानीके कूपमें कुछ दुखी जनोंकी आवाज सुनी। कूपके समीप जाकर उन्होंने देखा कि वहाँ घासके एक तृणको पकड़े हुए कुछ पितर उलटे लटक रहे हैं। वे दुखी हैं और उस घासकी जड़को भी काटनेके लिये एक चूहा उद्योग कर रहा है। जरत्कारु मुनिने उन दु:खित पितरोंको उलटे लटके देखकर दयाके साथ पूछा—'महानुभावो! आप कौन हैं और यहाँ इस अवस्थामें ऐसे क्यों लटके हुए हैं?'

उन पितरोंने कहा—'ब्रह्मन्! हम यायावर नामके ऋषि हैं। हम अपने कर्मोंसे पितृलोकमें गये, किन्तु हमारे वंशमें कोई न होनेसे हम अब नीचे गिरना चाहते हैं। हमारे कुलमें एक ही सन्तान है, उसका नाम जरत्कारु है। जबतक वह है तबतक तो हम लटके ही हैं, उसके न रहनेपर हमारा वंश नष्ट हो जायगा और हम फिर इस गड़हेमें गिर जायँगे। वह जरत्कारु आगे वंश चलानेका उद्योग नहीं करता। यदि वह शास्त्रविधिसे विवाह करके हमारे वंशको चलावे तो हम दुर्गतिसे बच जायँगे। ब्रह्मन्! आप बड़े दयालु हैं, यदि आपको कहीं जरत्कारु मिल जाय तो आप उसे ऐसी शिक्षा दें कि वह विवाह करके हमें इस गड्ढेमें गिरनेसे बचावे।'

पितरोंकी ऐसी बात सुनकर जरत्कारु मुनिने कहा—'पितरो! वह जरत्कारु मैं ही हूँ, मुझे पता नहीं था कि मेरे कारण आपकी ऐसी दुर्दशा हो रही है। मैं अवश्य विवाह करूँगा, किन्तु मैं तभी विवाह कर सकता हूँ जब मेरे ही नामकी सुयोग्य ब्राह्मणकन्या मिले।'

जरत्कारुको पाकर पितर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उन्हें बहुत प्रकारसे आशीर्वाद दिया। जरत्कारु अब तपस्या छोड़कर विवाहकी चिन्तामें घूमने लगे। पूरी पृथ्वी उन्होंने छान डाली, किन्तु उन्हें उनके नामवाली कोई लड़की नहीं मिली। वे दीन थे, दुखी थे, पितरोंकी उद्धारकी चिन्तामें चिन्तित थे। इसलिये जंगलमें जाकर रुदन करने लगे कि मैं अब अपने पितरोंका उद्धार कैसे कर सकूँगा। मुझ दीनको कोई कन्या नहीं देता। देता भी है तो मेरे नामवाली नहीं मिलती, मैं क्या करूँ?

उनके रुदनको सुनकर नागोंके राजा वासुकि अपनी बहिनको लेकर ऋषिके समीप आये और बोले—'ब्रह्मन्! आप मेरी इस बहिनके साथ विवाह कर लीजिये, यह धर्मपरायणा है और सर्वगुणसम्पन्ना है।'

ऋषिने पूछा—'और सब तो ठीक है, इसका नाम क्या है?' नागराजने कहा—'ब्रह्मन्! इसका नाम जरत्कारु है। विधिका ऐसा ही विधान है, आप इसके साथ विवाह कर लें और मेरे यहाँ नागलोकमें सुखसे रहें। वहाँ आपको कोई कष्ट न होगा और हम सब प्रकारसे आपकी सेवा करेंगे।'

जरत्कारु मुनिने कहा—'नागराज! मैं आपकी बात मानता हूँ, किन्तु मैं तभीतक तुम्हारी इस बहिनके साथ रहूँगा जबतक यह मेरे विपरीत कोई आचरण न करेगी। जिस दिन इसने ऐसी कोई बात की उसी दिन मैं चला आऊँगा।'

नागराजने यह बात स्वीकार कर ली और उन्होंने अपनी बहिनका विवाह विधिपूर्वक ऋषिके साथ कर दिया। ऋषि अपने नामवाली उस नागकन्याके साथ आनन्दपूर्वक नागलोकमें रहने लगे। कुछ समयके अनन्तर नागकन्या गर्भवती हुई और वह सब तरहसे पतिकी सेवामें तत्पर रहने लगी। संयोगकी बात, एक दिन जरत्कारु ऋषि अपनी स्त्रीकी गोदमें सिर रखकर सो

* जो फल विविध धर्मोंसे तथा बहुत-से तपसे प्राप्त नहीं हो सकता उसे धर्मपूर्वक पुत्र प्राप्त करनेवाले पुरुष प्राप्त कर लेते हैं।

रहे थे कि इतनेमें सूर्यास्तका समय आ गया; किन्तु ऋषि नहीं जागे। तब ऋषिपत्नीने सोचा कि ठीक समयपर सन्ध्या न करनेसे पतिका धर्म भ्रष्ट हो जायगा, और मैं यदि उन्हें जगा दूँगी तो वे मुझे अवश्य छोड़ देंगे; परन्तु वे छोड़ भले ही दें, उनके धर्मकी रक्षा करना ही मेरा धर्म है—ऐसा निश्चय कर ऋषिपत्नीने उनको जगा दिया और नम्रतासे सन्ध्या करनेके लिये प्रार्थना की। तपस्वी ऋषिने कहा—'नागकन्या! तूने मुझे जगाकर मेरा अपमान किया, इसलिये मैं अब प्रतिज्ञानुसार तेरे पास नहीं रहूँगा। तुझे यह बात जाननी चाहिये थी कि जब मैं नित्य ठीक समयपर सन्ध्या करता हूँ तब सूर्यदेव मुझसे अर्घ्य ग्रहण किये बिना कैसे अस्त हो जायँगे।' धन्य पति-पत्नी दोनोंकी धर्मनिष्ठा! तदनन्तर ऋषि नागकन्याको उसी समय छोड़कर वनमें तपस्या करने चले गये।

समय पूरा होनेपर नागकन्याके उदरसे महर्षि आस्तीकका जन्म हुआ, जिन्होंने जनमेजयके नागयज्ञमें भस्म होते हुए समस्त नागोंकी रक्षा की। इसीलिये आजतक सर्प काटनेपर लोग आस्तीक मुनिका स्मरण करते हैं और उनके स्मरणसे सर्प भाग जाते हैं। —प्र० ब्रह्मचारी

व्यासदेव

स्वयं श्रीभगवान् प्रति द्वापरमें अवतीर्ण होकर वेदोंका विभाग करते हैं। अकेले इस वैवस्वत मन्वन्तरमें ही अबतक अट्ठाईस व्यास हो चुके हैं। गत द्वापरके अन्तमें वही भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनके नामसे पराशरके पुत्ररूपमें अवतीर्ण हुए थे। इनकी माताका नाम सत्यवती था। पराशरपर प्रसन्न होकर स्वयं भगवान् शंकरने उन्हें व्यास-जैसे पुत्र होनेका वर दिया था। जन्मते ही व्यासदेवने इच्छा प्रकट की कि मैं जंगलमें जाकर एकान्तवास और तपस्या करूँगा। सत्यवतीने बड़ी आपत्ति की, परन्तु अन्तमें वे यह वचन देकर चले ही गये कि तुम्हारे स्मरण करते ही मैं आ जाया करूँगा। वे स्वयं भगवान्के अवतार थे, उन्हें तपस्याकी क्या आवश्यकता थी? फिर भी लोककल्याणके लिये उन्होंने संसारके सामने तपस्याका सुन्दर आदर्श रखा। लोगोंको आलसी, अल्पायु, मन्दमति और पापरत देखकर उन्होंने वेदोंका विभाजन किया। श्रुतियोंके तात्पर्यनिर्णयके लिये ब्रह्मसूत्रोंका प्रणयन किया। स्त्री, शूद्र, ब्रह्मबन्धु आदि भी वेदार्थसे वंचित न रहें, इसलिये महाभारतकी रचना की। अठारह पुराणोंकी रचना करके उपाख्यानोंद्वारा वेदोंको समझानेकी चेष्टा की। इस प्रकार कर्म, उपासना और ज्ञानका विस्तार करनेके लिये जो कुछ करना था वह सब किया। माताकी आज्ञाका क्या महत्त्व है, यह समझानेके लिये अपनी माताकी आज्ञासे केवल दृष्टिके द्वारा पाण्डु, धृतराष्ट्र और विदुर-जैसे महापुरुषोंको जन्म दिया। अनेकों महापुरुषोंको उपदेश दिया। उनकी वाणीसे, संकल्पसे और दर्शनमात्रसे अनेकोंको परमार्थपदकी प्राप्ति हुई। इतना करनेपर भी इन्हें अभी जो कुछ करना था, वह अवशेष ही था। इनके कई गुरुओंका वर्णन आता है। इनके पिता पराशरने इन्हें शिक्षा दी थी। इक्कीसवें गुरु वासुदेवसे इन्होंने दीक्षा ली थी। सनकादिसे कई बार सदुपदेश ग्रहण किये थे। अब इनके मनमें यह बात खटकने लगी कि अभी मेरा कुछ कर्त्तव्य बाकी है। सरस्वती नदीके किनारे बैठकर सोच ही रहे थे कि प्रेमके आचार्य देवर्षि नारद वीणापर भगवन्नामका गायन करते हुए आ पहुँचे। ऋषिने उनका स्वागत-सत्कार किया। वे एक आसनपर शान्तिसे विराजमान हुए। देवर्षिने कहा—'महर्षे! तुमने सब कुछ तो कर ही लिया है, फिर भी अभी अतृप्त-से जान पड़ते हो। बड़े आश्चर्यकी बात है। तुम्हारी कृपासे संजयको दिव्यदृष्टि मिल गयी, जिससे वह धृतराष्ट्रके पास बैठे-बैठे ही महाभारतकी सब बात देख लेते थे, सुन लेते थे। यहाँतक कि उन्होंने श्रीकृष्णकी उस दिव्यवाणी—भगवद्गीताका श्रवण और इतना ही क्यों, भगवान्के उस दिव्यरूपका दर्शन जो बड़े-बड़े देवताओंको भी दुर्लभ है कर लिया। गान्धारी-धृतराष्ट्रको उनके मृत कुटुम्बियोंको दिखाकर उनका शोक दूर कर दिया। संसारमें वेदोंका विस्तार करके ज्ञान, उपासना और कर्मकी त्रिवेणी बहा दी। महाभारतमें तो सभी कुछ आ गया। जो महाभारतमें है वही सर्वत्र है। जो उसमें नहीं है वह कहीं नहीं है। तुम्हारे शिष्य जिन्हें तुम्हारे उपदेशसे कल्याण प्राप्त हुआ है उनकी तो गिनती ही नहीं की जा सकती, फिर भी तुम्हारे इस असन्तोषका क्या कारण है?' व्यासजीने कहा—'देवर्षे! आपसे क्या छिपा है?

मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि मेरे लिये अभी कुछ कर्त्तव्य शेष है। परन्तु वह क्या है, इसका पता नहीं चलता। आपके शुभागमनसे अब वह चिन्ता मिट जायगी। मैं चिन्ताके अपार समुद्रमें डूब रहा था। आप उसके पार ले जानेके लिये जहाजकी भाँति आ गये हैं। अब कृपा करके ऐसा उपाय बताइये जिससे मुझे आन्तरिक शान्ति प्राप्त हो क्योंकि संतोंकी यात्रा दूसरोंके कल्याणके लिये ही होती है।' व्यासजीकी बात सुनकर देवर्षि नारद हँस पड़े। उन्होंने बड़े प्रेमसे कहा—'महाराज! आप तो साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान्‌के अवतारस्वरूप हैं। भला आपके समीप शोक, मोह आदि कैसे आ सकते हैं? परन्तु आपने मर्यादाकी रक्षा और मुझे गौरव देनेके लिये पूछा ही है तो सुनिये—

जगत्‌में आकर अर्थ, धर्म, काम और मोक्षकी प्राप्ति कर लेनेपर भी मनुष्यका कुछ कर्त्तव्य शेष रह जाता है। आपने चतुर्वर्गका पूर्णतः प्रतिपादन किया है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु पहलेके तीन पुरुषार्थोंमें तो संसारके लोग स्वयं लगे हुए हैं। स्वभावतः आसक्त हैं। फिर उन्हें यदि उनकी ओर ही प्रेरित किया जाय तो बेचारे संसारमें ही भटकते रह जायँ। न जाने कितनी योनियोंमें भटकनेके बाद मनुष्य-जीवन मिला है, यदि वे अब भी संसारमें ही सटे रहें तो उन्हें परमार्थकी प्राप्ति कैसे हो? इन तीन पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम) की तो कोई बात ही नहीं, नैष्कर्म्यज्ञान, मोक्ष या अपने स्वरूपका बोध हो जाय तो भी उसकी तबतक शोभा नहीं जबतक भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति न प्राप्त हो। समस्त ज्ञान, सम्पूर्ण उपासना और समग्र कर्मका यही रहस्य और एकान्त फल है कि भगवान् श्रीकृष्णके गुणानुवाद गाये जायँ या सुने जायँ। आपने यद्यपि भगवान्‌का ही वर्णन किया है तथापि धर्म-कर्मकी बहुलतामें वे छिप-से गये हैं। अब आप विशुद्ध भगवद्‌गुणवर्णनप्रधान भागवतपुराणका वर्णन करें, यही आपका अवशेष कृत्य है। आप तो सर्वज्ञ हैं, आपसे क्या कहूँ? मैं पूर्व जन्ममें एक दासीका पुत्र था। भगवान्‌का गुण सुनते-सुनते सत्संगके प्रभावसे मेरी भागवत-धर्ममें रुचि हो गयी। भगवान्‌ने मुझपर कृपा करके मुझे दर्शन दिये। फिर उन्हींकी इच्छासे दूसरे जन्ममें मैं ब्रह्माका पुत्र हुआ और अब उनकी लीला, नाम और गुणोंका इस भगवद्दत्त वीणापर गायन करता हुआ विचरण किया करता हूँ। मुझपर उनकी इतनी कृपा है कि जब मैं उनका स्मरण करता हूँ तब वे आकर प्रकट हो जाते हैं। तुम भी उन्हींके गुण गाओ। तुम्हें शान्ति मिलेगी। तुम्हें तो क्या, तुम्हारे बहाने त्रिलोकीको शान्ति मिलेगी। इसीलिये यह तुम्हारी अशान्ति है।' इतना कहकर देवर्षि नारद अपनी वीणापर भगवन्नामोंका गायन करते हुए चले गये और महर्षि वेदव्यासने परमहंससंहिता श्रीमद्भागवतकी रचना की। यही श्रीमद्भागवत सात्त्वती श्रुति अर्थात् वैष्णवोंका वेद है। इसे उन्होंने बड़े प्रेमसे शुकदेवजीको अध्ययन कराया। अब उनके हृदयने कृतकृत्यताका अनुभव किया। फिर तो वे निरन्तर हरिरसामृतमें ही छके रहते। अब भी भगवान् वेदव्यास हैं। समय-समयपर प्रकट होकर अधिकारी पुरुषोंको दर्शन दिया करते हैं। आद्य शंकराचार्यको मण्डनमिश्रके घरपर उनके दर्शन हुए थे; और भी कइयोंको हुए हैं, अब भी होते हैं।

महर्षि वेदव्यासके मनुष्यजातिपर अनन्त उपकार हैं। यह जगत् उनका आभारी है। उनकी पूरी जीवनी तो उनके पुराण ही हैं। उनका अध्ययन और उनके अनुसार अपने जीवनको भगवन्मय बना देना ही वास्तवमें व्यासदेवके जीवनका अध्ययन है। भगवान् व्यास कृपा करके ऐसा आशीर्वाद दें कि हम भगवान्‌की ओर अग्रसर हों। —शान्तनु०

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

वैराग्य ईश्वर-प्राप्तिका गूढ़ उपाय है। उसे तो गुप्त रखनेमें ही कल्याण है। जो अपने वैराग्यको प्रकट करते हैं उनका वैराग्य उनसे दूर भागता है।

शुकदेव

शुकदेव महर्षि वेदव्यासके पुत्र हैं। इनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अनेकों प्रकारकी कथाएँ मिलती हैं। महर्षि वेदव्यासने यह संकल्प करके कि पृथ्वी, जल, वायु और आकाशकी भाँति धैर्यशाली तथा तेजस्वी पुत्र प्राप्त हो, गौरी-शंकरकी विहारस्थली सुमेरुशृंगपर घोर तपस्या की। उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर शिवजीने वैसा ही पुत्र होनेका वर दिया। यद्यपि भगवान्के अवतार श्रीकृष्णद्वैपायनकी इच्छा और दृष्टिमात्रसे कई महापुरुषोंका जन्म हो सकता था और हुआ है तथापि अपने ज्ञान तथा सदाचारके धारण करने योग्य सन्तान उत्पन्न करनेके लिये और संसारमें किस प्रकारके सन्तानकी सृष्टि करनी चाहिये यह बात बतानेके लिये ही उन्होंने तपस्या की होगी। शुकदेवकी महिमाका वर्णन करते समय इतना स्मरण हो जाना कि वे वेदव्यासके तपस्याजनित पुत्र हैं, उनके महत्त्वकी असीमता सामने ला देता है।

एक दिन वे अरणिमन्थन कर रहे थे। उसी समय घृताची अप्सरा वहाँ आ गयी। संयोग ही ऐसा था, या यों कहें कि यही बात होनेवाली थी, उनका वीर्य अरणिमें ही गिर पड़ा। उसीसे शुकदेवका जन्म हुआ। उनके शरीरसे निर्धूम अग्निकी भाँति निर्मल ज्योति फैल रही थी। वे उस समय बारह वर्षके बालककी भाँति थे। स्त्रीरूप धारण करके गंगाजी वहाँ आयीं, बालकको उन्होंने स्नान कराया। आकाशसे काला मृगचर्म और दण्ड आया। गन्धर्व, अप्सरा, विद्याधर आदि गाने, बजाने और नाचने लगे। देवताओंने पुष्पवर्षा की। सारा संसार आनन्दमग्न हो गया। भगवान् शंकर और पार्वतीने स्वयं पधारकर उसी समय उनका उपनयन-संस्कार कराया। उसी समय सारे वेद, उपनिषद्, इतिहास आदि मूर्त्तिमान् होकर उनकी सेवामें उपस्थित हुए। अब वे ब्रह्मचारी होकर तपस्या करने लगे। उनकी प्रवृत्ति धर्म, अर्थ और कामकी ओर न थी; वे केवल मोक्षका ही विचार करते रहते थे।

उन्होंने एक दिन अपने पिता व्यासदेवके पास आकर बड़ी नम्रताके साथ मोक्षके सम्बन्धमें बहुतसे प्रश्न किये। उत्तरमें व्यासदेवने बड़े ही वैराग्यपूर्ण उपदेश दिये। यथा—

'बेटा! धर्मका सेवन करो। यम-नियम तथा दैवी सम्पत्तियोंका आश्रय लो। यह शरीर पानीके बुलबुलेके समान है। आज है तो कल नहीं। क्या पता किस समय इसका नाश हो जाय। इसमें आसक्त होकर अपने कर्त्तव्यको नहीं भूलना चाहिये। दिन बीते जा रहे हैं। क्षण-क्षण आयु छीज रही है। एक-एक पलकी गिनती की जा रही है। तुम्हारे शत्रु सावधान हैं। तुम्हें नष्ट कर डालनेका मौका ढूँढ़ रहे हैं। अभी-अभी इस संसारकी ओरसे अपना मुँह मोड़ लो। अपने जीवनकी गति उस ओर कर दो जहाँ इनकी पहुँच नहीं है।'

'संसारमें वे ही महात्मा सुखी हैं जिन्होंने वैदिकमार्गपर चलकर धर्मका सेवन करके परमतत्त्वकी उपलब्धि की है। उनकी सेवा करो और वास्तविक शान्ति प्राप्त करनेका उपाय जानकर उसपर आरूढ़ हो जाओ। दुष्टोंकी संगति कभी मत करो। वे पतनके गड्ढेमें ढकेल देते हैं। वीरताके साथ काम-क्रोधादि शत्रुओंसे बचो और धीरताके साथ आगे बढ़ो। तुम्हें कोई तुम्हारे मार्गसे विचलित नहीं कर सकता। परमात्मा तुम्हारा सहायक है। वह तुम्हारी शुभेच्छा और सचाईको जानता है।'

'बेटा! मैं तुम्हारा अधिकार जानता हूँ। तुम तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिये मिथिलाके नरपति जनकके पास जाओ। वे तुम्हारे सन्देहको दूरकर स्वरूपबोध करा देंगे। तुम जिज्ञासु हो, बड़ी नम्रताके साथ उनके पास जाना। परीक्षाका भाव मत रखना। घमंड मत करना। उनकी आज्ञाका पालन करना। मानुषमार्गसे पैदल तितिक्षा करते हुए ही जाना उचित है।'

पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके शुकदेवजी महाराज कई वर्षमें अनेकों प्रकारके कष्ट सहन करते हुए मिथिलामें पहुँचे। द्वारपालोंने इन्हें अन्दर जानेसे रोक दिया। परन्तु उनकी जाज्वल्यमान ज्योतिको देखकर और तिरस्कारकी दशामें भी पूर्ववत् प्रसन्न देखकर एकने उनके पास आकर बड़ी अभ्यर्थना की। वह उन्हें बड़े सत्कारसे अन्दर ले गया। मन्त्रीने उन्हें एक ऐसे स्थानपर ठहराया जहाँ भोगकी अनेकों वस्तुएँ थीं। उनकी सेवामें बहुत-सी सुन्दर स्त्रियाँ लगा दीं परन्तु वे विचलित नहीं हुए। सुख-दुःख, शीत-उष्णमें एक-से रहनेवाले शुकको उन्हें देखकर कुछ भी हर्ष-शोक नहीं हुआ। ब्रह्मचिन्तनमें संलग्न रहकर उन्होंने इसी प्रकार

वह दिन और रात्रि बिता दी।

दूसरे दिन प्रात:काल जनकने आकर उनकी विधिवत् पूजा-अर्चा की। कुशल-मंगलके पश्चात् शुकदेवने अपने आनेका प्रयोजन बतलाया और प्रश्न किया। जनकने उनके अधिकारकी प्रशंसा करके कहा—

'बिना ज्ञानके मोक्ष नहीं होता और बिना गुरु-सम्बन्धके ज्ञान नहीं होता। इस भवसागरसे पार करनेके लिये गुरु ही कर्णधार है। ज्ञानसे ही कृतकृत्यता प्राप्त होती है। फिर तो सभी मार्ग स्वयं समाप्त हो जाते हैं। लोकमर्यादा और कर्ममर्यादाका उच्छेद न हो इसीके लिये वर्णाश्रमधर्मका सेवन आवश्यक कहा गया है। इनके आश्रयसे क्रमश: आगे बढ़ते चलें तो अन्तमें पाप-पुण्यसे परेकी गति प्राप्त हो जाती है। अन्त:करणकी शुद्धिके लिये वर्णाश्रमधर्मकी बड़ी आवश्यकता है। जिसे ब्रह्मचर्य-आश्रममें ही तत्त्वकी उपलब्धि हो जाय उसे और आश्रमोंका कोई प्रयोजन नहीं है। तामसिकता और राजसिकता छोड़कर सात्त्विकताका आश्रय लेना चाहिये। धीरे-धीरे बहिर्मुखताका त्याग करके अन्तर्मुखताका सम्पादन करना ही साधनाका सच्चा स्वरूप है। जो पुरुष सब प्राणियोंमें अपने आत्मा और अपने आत्मामें समस्त प्राणियोंका दर्शन करते हैं वे पाप-पुण्यसे निर्लेप हो जाते हैं।'

'जिसे किसीका भय नहीं है, जो किसीको भय नहीं पहुँचाता, जिसे न राग है और न द्वेष है, वही ब्रह्मसम्पन्न होता है। जब जीव मन, वाणी और कर्मसे किसीका अनिष्ट नहीं करता; काम, क्रोध, ईर्ष्या, असूया आदि मनोमलोंको त्याग देता है; दु:ख-सुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, शीत-उष्ण, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वोंमें समान दृष्टि रखने लगता है, तब ब्रह्मसम्पन्न हो जाता है।'

'शुकदेव! ये सभी बातें तथा अन्यान्य समस्त सद्गुण तुममें प्रत्यक्ष दीख रहे हैं। मैं जानता हूँ कि तुम्हें समस्त ज्ञातव्य बातोंका ज्ञान है। तुम विषयोंके परे पहुँच चुके हो। तुम्हें विज्ञान प्राप्त है। तुम्हारी बुद्धि स्थिर है। तुम ब्रह्ममें स्थिर हो, तुम स्वयं ब्रह्म हो। और क्या कहूँ?'

जनकका उपदेश सुनकर शुकदेवको बड़ा आनन्द हुआ। उनसे विदा होकर वे हिमालयपर अपने पिता व्यासजीके आश्रमपर लौट आये।

इनकी उत्पत्तिकी एक ऐसी कथा भी है कि व्यासकी एक वटिका नामकी पत्नी थीं। उन्होंने व्यासदेवकी अनुमतिसे पुत्रप्राप्तिके लिये बड़ी तपस्या की। उससे प्रसन्न होकर शंकरने वर दिया कि तुम्हें एक बड़ा तेजस्वी पुत्र प्राप्त होगा। समयपर गर्भस्थिति हुई, परन्तु बारह वर्ष हो गये प्रसव नहीं हुआ। वह गर्भस्थ शिशु बातचीत भी करता था। इतना ही नहीं उसने गर्भमें ही वेद, उपनिषद्, दर्शन, इतिहास, पुराण आदिका सम्यक् ज्ञान भी प्राप्त कर लिया। अब व्यासदेवने बालकसे बड़ी प्रार्थना की कि गर्भसे बाहर निकल आओ, परन्तु उन्होंने यह कहकर गर्भसे बाहर आना अस्वीकार कर दिया कि 'मैंने अबतक अनेक योनियोंमें जन्म ग्रहण किया है। बहुत भटक चुका हूँ। अब बाहर न निकलकर यहीं भजन करनेका विचार है।' व्यासदेवने कहा—'तुम नरकरूप इस गर्भसे बाहर आ जाओ। तुम मायाके चक्करमें न पड़ोगे। योगका आश्रय लो। भगवान्‌का भजन करो। तुम्हारा मुख देखकर मैं भी पितृऋणसे मुक्त हो जाऊँगा। अन्यथा तुम्हारी माँ मर जायगी।' माँके मरनेकी बात सुनकर शुकदेवको दया आ गयी। उनका कोमल हृदय पिघल उठा। उन्होंने कहा—'यदि श्रीकृष्ण आकर तुम्हारी बातोंका समर्थन करें तो मैं निकल सकता हूँ।' इसी बहाने उन्होंने जन्मके समय ही अपने पास श्रीकृष्णको बुला लिया। व्यासकी प्रार्थनासे श्रीकृष्णने आकर कहा कि 'गर्भसे निकल आओ। मैं इस बातका साक्षी हूँ कि माया तुमपर कारगर नहीं होगी।' वे गर्भसे निकल आये। उस समय उनकी अवस्था बारह वर्षकी थी। जन्मते ही श्रीकृष्टण, माँ और पिताको नमस्कार करके उन्होंने जंगलकी यात्रा की। उनके श्यामवर्णके सुगठित, सुकुमार और सुन्दर शरीरको देखकर व्यासदेव मोहित हो गये। उन्होंने बड़ी चेष्टा की, बहुत समझाया कि तुम मेरे पास ही रहो, परन्तु शुकदेवने एक न मानी। उस समयका पिता-पुत्र-संवाद स्कन्दपुराणकी एक अमूल्य वस्तु है। प्रत्येक विरक्तको उसका मनन करना चाहिये। अन्तत: वे विरक्त होकर चले ही गये।

एक दूसरी कथा इस प्रकार आती है कि एक समय पार्वतीने जिज्ञासा की कि 'प्रभो! आप मुझे श्रीकृष्णसम्बन्धी कथा सुनावें। क्योंकि आप उन्हींका स्मरण-चिन्तन निरन्तर किया करते हैं।' महादेवने कहा—'बड़ी गोपनीय बात है। देख लो, कोई दूसरा तो नहीं

है?' पार्वतीने देखकर कह दिया—'हाँ कोई दूसरा नहीं है।' वहाँ एक तोतेका सड़ा हुआ अंडा अवश्य पड़ा था; परन्तु वह मर गया था, इससे पार्वतीने उसकी चर्चा ही नहीं की। महादेवने कहा—'अच्छा! हुँकारी भरती जाना।' वे कहने लगे। दशम स्कन्धतक तो वे सुनती गयीं और स्वीकारोक्ति (ओम्) का उच्चारण भी करती गयीं। परन्तु अन्तमें उन्हें नींद आ गयी। अबतक वह तोतेका अंडा भागवतामृतका पान करके जीवित हो उठा था। पार्वतीको निद्रित देखकर उसने हुँकारी भरनी शुरू की। अन्तमें जब पार्वतीकी नींदका पता चला तब महादेवने उस शुकका पीछा किया। वह भागकर व्यासदेवके आश्रमपर आया और उनके मुखमें घुस गया। महादेवके लौटनेपर फिर यही शुक व्यासदेवके अयोनिज पुत्रके रूपमें प्रकट हुए।

इस प्रकार अनेकों कथाएँ आती हैं। ये सभी सत्य हैं, स्वयं व्यासदेवकी लिखी हैं और कल्पभेदसे सम्भव भी हैं। उनका जीवन विरक्तिमय था। वे निर्गुणमें पूर्णतः परिनिष्ठित थे। व्याससे अलग ही विचरते रहते थे। गाँवोंमें केवल गौ दुहनेके समय जाते और उतने ही समयतक वहाँ रहते। अपनेको सर्वदा गुप्त रखते। व्यासजीकी इच्छा थी कि ये मेरे पास आते और मेरे जीवनकी परमनिधि भागवतसंहिताका अध्ययन करते। परन्तु वे मिलते ही न थे। व्यासदेवने भागवतका एक अत्युत्तम श्लोक अपने विद्यार्थियोंको रटा दिया था। वे उसका गायन करते हुए जंगलोंमें समिधा लाने जाया करते थे। एक दिन उसे शुकदेवने भी सुना। श्रीकृष्णकी लीलाने उन्हें खींच ही लिया। वे निर्गुणनिष्ठ होनेपर भी भगवान्के गुणोंमें रम गये। उन्होंने अठारह हजार श्लोकोंका अध्ययन किया। अब वे मन-ही-मन उन्हें गुनगुनाते हुए विचरने लगे। इसी परमहंससंहिताका सप्ताह उन्होंने महाराज परीक्षितको सुनाया था।

इस भागवतवक्ता परमभागवत शुकदेवके पास प्रायः बड़े-बड़े ऋषि आया करते थे। नारदीयपुराणमें सनत्कुमारके और महाभारतमें नारदके आनेकी चर्चा आयी है। उनके आनेपर शुकदेव बड़े प्रेमसे उनकी पूजा करते और उनसे प्रश्न करके तत्त्वकी बात सुनते। एक बार इन्द्रने इनकी तपस्या और त्याग देखकर रम्भा आदि अप्सराओंको विघ्न करनेके लिये भेजा। उस समय शुकदेव इस प्रकार समाधिमग्न हो गये कि उन्हें पता ही न चला कि यहाँ अप्सरा, वसन्त, काम आदि विघ्न करने आये हैं। बहुत समय बाद समाधि खुलनेपर रम्भाने बड़ी चेष्टा की, बहुत फुसलाया, परन्तु वे विचलित न हुए। वह लजाकर चली गयी। स्थूल शरीरके कारण होनेवाले विक्षेपोंका विचार करके उन्होंने ब्रह्म होकर ही रहनेका निश्चय किया। उस समय त्रिलोकीके सभी प्राणियोंने उनकी पूजा की। व्यासदेव पुत्रका यह विचार सुनकर शोकाकुल हो उनके पीछे-पीछे दौड़े। शुकदेवने पहले ही आज्ञा कर रखी थी, इसलिये वृक्षोंने व्यासदेवको समझानेकी बहुत कुछ चेष्टा की; पर वे आगे बढ़ते ही गये। एक सरोवरमें कुछ अप्सराएँ स्नान कर रही थीं, वे शुकदेवके सामने ज्यों-की-त्यों खड़ी रहीं किन्तु व्यासको देखकर वस्त्र पहनने लगीं। इसपर व्यासने पूछा कि शुकदेवको देखकर तो तुम स्नान करती ही रह गयीं, मुझे देखकर क्यों निकल आयीं? अप्सराओंने बताया कि—'अभी तुम्हारी दृष्टिमें स्त्री-पुरुषका भेद है, परन्तु तुम्हारे पुत्र शुकदेवको नहीं है।' यह सुनकर व्यास पुत्रकी महिमासे प्रसन्न और अपनी कमजोरीसे लज्जित हो गये। उनके शोकको देखकर स्वयं महादेवजीने पधारकर उन्हें समझाया कि—'मैंने प्रसन्न होकर तुम्हें ऐसा महत्त्वशाली पुत्र दिया। उसे परमगति प्राप्त हुई है। उसकी कीर्त्ति अक्षय होगी।' यह कहकर महादेवने उन्हें एक छायाशुक दिया। व्यासदेवने उन्हीं छायाशुकको लेकर सन्तोष किया और अब भी वे निरन्तर अपने पुत्रको देखा करते हैं।

शुकदेव ब्रह्मभूत हो गये हों या छायाशुकके रूपमें विद्यमान हों, कम-से-कम यह बात अधिकारके साथ कही जा सकती है कि वे अब भी हैं और अधिकारी पुरुषोंको दर्शन देकर उपदेश भी करते हैं। चरनदासके जीवनमें यह घटना प्रत्यक्ष घटी है।

कहीं-कहीं इनकी एक पीवरी नामकी स्त्री और कृष्ण, गौरप्रभ आदि ३-४ सन्तानका भी वर्णन आता है।

—शान्तनु०

मैत्रेय

महर्षि मैत्रेय पुराणवक्ता ऋषि हैं। ये 'मित्र' के अपत्य होनेके कारण मैत्रेय कहाये। श्रीमद्भागवतमें इनके सम्बन्धमें इतना ही मिलता है कि ये महर्षि पराशरके शिष्य और वेदव्यासजीके सुहृद् सखा थे। पराशर मुनिने जो विष्णुपुराण कहा उसके प्रधान श्रोता ये ही हैं। इन्होंने स्वयं कहा है—

त्वत्तो हि वेदाध्ययनमधीतमखिलं गुरो।
धर्मशास्त्राणि सर्वाणि तथाङ्गानि यथाक्रमम्॥
त्वत्प्रसादान्मुनिश्रेष्ठ मामन्ये नाकृतश्रमम्।
वक्ष्यन्ति सर्वशास्त्रेषु प्रायशो येऽपि विद्विषः॥

'हे गुरुदेव! मैंने आपसे ही सम्पूर्ण वेद, वेदांग और सकल धर्मशास्त्रोंका क्रमशः अध्ययन किया है। हे मुनिश्रेष्ठ! आपकी कृपासे मेरे विपक्षी भी मेरे लिये यह नहीं कह सकते कि मैंने सम्पूर्ण शास्त्रोंके अभ्यासमें परिश्रम नहीं किया है।' इससे यही स्पष्ट बोध होता है कि जिस प्रकार ये भगवान् वेदव्यासके सुहृद् और सखा थे वैसे ही ये पूर्ण ज्ञानी और शास्त्र-मर्मज्ञ भी थे। भगवान् श्रीकृष्णकी इनके ऊपर पूर्ण कृपा थी। उन्होंने निज लोकको पधारते समय अधिकारी समझकर अपना समस्त ज्ञान इन्हींको दिया था।

भगवान् जब परमधामको पधारने लगे तब खोजते-खोजते उद्धवजी उनके पास पहुँचे। भगवान् एक अश्वत्थ वृक्षके नीचे सरस्वतीके तटपर प्रभासक्षेत्रके समीप सुखासीन थे। उद्धवजीने उन प्रभुके दर्शन किये। उसी समय महामुनि मैत्रेयजी भी वहाँ पहुँच गये। भगवान्ने उन्हें ज्ञानोपदेश दिया और आज्ञा की कि इसे महामुनि विदुरको भी देना। जब उद्धवजीसे यह समाचार सुनकर महामना विदुरजी इनके समीप पहुँचे तो ये बड़े प्रसन्न हुए। उस भगवद्दत्त ज्ञानका जिसे इन्होंने विदुरजीको दिया था वर्णन श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धके चौथे अध्यायसे आरम्भ होता है। महामुनि मैत्रेयका नाम ऐसा है जिसे समस्त पुराणपाठक भली प्रकार जानते हैं। मैत्रेयजी ज्ञानके भण्डार, भगवल्लीलाओंके परम रसिक और भगवान्‌के परम कृपापात्र थे। इनके गुरु महर्षि पराशरने विष्णुपुराण सुनानेके अनन्तर अपनी गुरुपरम्परा बतलाते हुए इनसे कहा कि इस पुराणको, जिसे तुमने मुझसे सुना है, तुम भी कलियुगके अन्तमें शिनीकको सुनाओगे। इस प्रकार ये चिरंजीवी हैं और अब भी किसी-न-किसी रूपमें इस धराधामपर विद्यमान हैं।

—प्र० ब्रह्मचारी

शौनक

ये नैमिषारण्यके अठासी हजार ऊर्ध्वरेता ब्रह्मवादी ऋषियोंमें प्रधान ऋषि थे। भृगुवंशमें उत्पन्न होनेसे भार्गव और शुनकके अपत्य होनेके कारण इनका नाम शौनक पड़ा। समस्त पुराणोंको और महाभारतको इन्होंने ही सूतजीके मुखसे सुना था। पुराणोंको श्रवण करनेवाला ऐसा कौन-सा मनुष्य होगा जो इनके नामको न जानता हो। समस्त पुराणोंमें 'शौनक उवाच' पहले ही आता है। हमें पुराणोंमें व्रतोंका माहात्म्य तथा तीर्थोंकी महिमा जो कुछ भी सुनायी पड़ती है सब शौनकजीकी ही कृपाका फल है। ये हजारों वर्षका श्रवणसत्र करते थे। एक जगह कहा है—

कलिमागतमाज्ञाय क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे वयम्।
आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः॥

'कलियुगको आया देखकर हम सब ऋषि इस वैष्णव क्षेत्रमें भगवान्‌की कथाओंका आनन्द लेते हुए दीर्घकालका सत्र कर रहे हैं।' इनका समस्त समय भगवत्कथाश्रवणमें ही व्यतीत होता था। ऋषियोंमें जैसा विशुद्ध और संयमयुक्त चरित्र महर्षि शौनकका मिलता है वैसा अन्य किसी ऋषिका शायद ही हो। ये नियमसे हवन आदि नित्यकर्म करके कथाश्रवणके लिये बैठ जाते थे और फिर भगवान्‌की कथाओंमें ही पूरा समय लगाते थे। इस प्रकार शौनक, हमें पुराण कैसे सुनने चाहिये, इसकी शिक्षा देते हैं। भगवच्चरित्र सुनकर कैसे अनुमोदन करना चाहिये, कथामें किस प्रकार एकाग्रता रखनी चाहिये और समयका कैसे सदुपयोग करना चाहिये, इन समस्त बातोंकी शिक्षा हमें शौनकजीके चरित्रसे मिलती है।

—प्र० ब्रह्मचारी

उत्तंक

आयोद धौम्यके तीसरे शिष्य वेद थे। वेदऋषि जब विद्याध्ययन समाप्त कर चुके तो वे घर गये और वहाँ गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए रहने लगे। उनके भी तीन शिष्य हुए। वेदमुनिको राजा जनमेजय और राजा पौष्यने अपना राजगुरु बनाया। वेदमुनिके प्यारे शिष्य उत्तंक थे। वे जब भी कहीं बाहर जाते तो उत्तंकके ही ऊपर घरका सब भार सौंप जाते। एक बार वेदमुनि किसी कामसे बाहर जाने लगे तब उन्होंने अपने प्रिय शिष्य उत्तंकसे कहा-'बेटा! मेरे घरमें जिस चीजकी जरूरत हो, उसका प्रबन्ध करना। मेरी अनुपस्थितिमें तुम्हीं सब कामोंको करना।' उत्तंकने गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य की, गुरु चले गये।

गुरुपत्नीने परीक्षाके निमित्त अपनी सहेलियोंसे कहलाया—'मैं ऋतुस्नान करके निवृत्त हुई हूँ। तुम्हारे गुरु यहाँ हैं नहीं। वे तुमसे अपनी अनुपस्थितिमें सब कार्य करनेको कह गये हैं, तुम ऐसा काम करो कि मेरा ऋतुकाल व्यर्थ न जाय।'

उत्तंकने जब यह बात सुनी तो उसने बड़ी नम्रतासे कहा—'गुरुजी मुझसे अनुचित कार्य करनेको नहीं कह गये हैं। ऐसा कार्य मैं कभी नहीं करूँगा।'

कालान्तरमें जब गुरु लौटे तो अपने शिष्यके सदाचारमय बर्तावको सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें सर्वशास्त्रविद् होनेका आशीर्वाद दिया।

उत्तंकका अध्ययन समाप्त हो गया। वे घर जाने लगे। विद्याध्ययनकी समाप्तिपर गुरुदक्षिणा अवश्य देनी चाहिये। वे गुरुजीसे बार-बार कहने लगे—'मैं आपको क्या दक्षिणा दूँ? मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?' गुरुने बहुत समझाया कि तुमने मेरी मनसे सेवा की है, यही सबसे बड़ी गुरुदक्षिणा है। किन्तु उत्तंक नहीं माने, वे बार-बार गुरुदक्षिणाके लिये आग्रह करने लगे। तब गुरुने कहा—'अच्छा, भीतर जाकर गुरुपत्नीसे पूछ आओ। उसे जो प्रिय हो वही तुम कर दो, यही तुम्हारी गुरुदक्षिणा है।' यह सुनकर उत्तंक भीतर गये और गुरुपत्नीसे प्रार्थना की, तब गुरुपत्नीने कहा—'राजा पौष्यकी रानी जो कुण्डल पहने हुए हैं उन्हें मुझे आजसे चौथे दिन पुण्यक नामक व्रतके अवसरपर अवश्य ला दो। उस दिन मैं उन कुण्डलोंको पहनकर ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहती हूँ।' यह सुनकर उत्तंकऋषि गुरु और गुरुपत्नीको प्रणाम करके पौष्य राजाकी राजधानीको चल दिये।

रास्तेमें उन्हें धर्मरूपी बैलपर चढ़े हुए इन्द्र मिले। इन्द्रने कहा—'उत्तंक! तुम इस बैलका गोबर खा लो। भय मत करो, तुम्हारे गुरुने भी इसे खाया है।' उनकी आज्ञा पाकर बैलका पवित्र गोबर और मूत्र उन्होंने ग्रहण किया। जल्दीमें साधारण आचमन करके वे पौष्य राजाके यहाँ पहुँचे। पौष्यने ऋषिके आगमनका कारण पूछा। तब उत्तंकने कहा—'गुरुदक्षिणामें गुरुपत्नीको देनेके लिये मैं आपकी रानीके कुण्डलोंकी याचना करने आया हूँ।' राजाने कहा—'आप स्नातक ब्रह्मचारी हैं। स्वयं ही जाकर रानीसे कुण्डल माँग लाइये।' यह सुनकर उत्तंक राजमहलमें गये, वहाँ उन्हें रानी नहीं दीखीं। तब राजाके पास आकर बोले—'महाराज! क्या आप मुझसे हँसी करते हैं? रानी तो भीतर नहीं हैं।'

तब राजाने कहा—'ब्रह्मन्! रानी भीतर ही हैं। जरूर आपका मुख उच्छिष्ट है। सती स्त्रियाँ उच्छिष्ट पुरुषको, दुष्टको दिखायी नहीं देतीं।' उत्तंकको अपनी गलती मालूम हुई। उन्होंने हाथ-पैर धोकर प्राणायाम करके तीन बार आचमन किया। तब वे भीतर गये। वहाँ जाते ही रानी दिखायी दीं। उत्तंकका उन्होंने सत्कार किया और आनेका कारण पूछा। उत्तंकने कहा—'गुरुपत्नीके लिये मैं आपके कुण्डलोंकी याचना करने आया हूँ।'

उसे स्नातक ब्रह्मचारी और सत्पात्र समझकर रानीने अपने कुण्डल उतारकर दे दिये और यह भी कह दिया कि 'बड़ी सावधानीसे इन्हें ले जाना। सर्पोंका राजा तक्षक इन कुण्डलोंकी तलाशमें सदा घूमा करता है।' उत्तंक मुनि रानीको आशीर्वाद देकर कुण्डलोंको लेकर चल दिये। रास्तेमें एक नदीपर वे नित्यकर्म कर रहे थे कि इतनेमें ही तक्षक मनुष्यका वेष बनाकर कुण्डलोंको लेकर भागा। उत्तंकने भी उसका पीछा किया। किन्तु वह अपना असली रूप धारणकर पातालमें चला गया। इन्द्रकी सहायतासे उत्तंक पातालमें गये और वहाँ इन्द्रको अपनी स्तुतिसे प्रसन्न करके नागोंको जीतकर तक्षकसे उन कुण्डलोंको ले आये। इन्द्रकी ही सहायतासे

वे अपने निश्चित समयसे पहले गुरुपत्नीके पास पहुँच गये। गुरुपत्नी उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुईं और बोलीं—'यदि तुम थोड़ी देर और न आते तो मैं तुम्हें शाप देनेवाली थी। अब आशीर्वाद देती हूँ। तुम्हें सब सिद्धियाँ प्राप्त हों।'

गुरुपत्नीको कुण्डल देकर उत्तंक गुरुके पास गये। सब समाचार सुनकर गुरुने कहा—'इन्द्र मेरे मित्र हैं। वह गोबर अमृत था, उसीके कारण तुम पातालमें जा सके। मैं तुम्हारे साहससे बहुत प्रसन्न हूँ। अब तुम प्रसन्नतासे घर जाओ।' इस प्रकार गुरु और गुरुपत्नीका आशीर्वाद पाकर उत्तंक अपने घर आ गये।

उत्तंक बड़े ही प्रतापी, तपस्वी, ज्ञानी ऋषि थे। भगवान् श्रीकृष्णने महाभारत-युद्धके अनन्तर द्वारका लौटते समय इन्हें अपने महिमामय विराट् स्वरूपका दर्शन कराया था।

—प्र० ब्रह्मचारी

अणिमाण्डव्य

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥*

प्राचीन कालमें माण्डव्य नामके एक बड़े शान्त, तपस्वी, तेजस्वी, तितिक्षु मुनि थे। उन्होंने शम-दमके द्वारा मन और इन्द्रियोंको वशमें कर लिया था। वे अपने आश्रमके द्वारपर एक वृक्षके नीचे बैठकर तपस्या किया करते थे। उन्होंने मौनव्रत धारण किया था, एक हाथ ऊपर करके वे तपस्या किया करते थे। उन्हें अपने शरीरका भी भान नहीं रह गया था।

एक बार कुछ चोरोंने मिलकर राजाके महलमें चोरी की। ज्यों ही वे चोरीका धन लेकर महलसे निकले त्यों ही राजाके सिपाहियोंको पता लग गया। सिपाहियोंने चोरोंका पीछा किया, चोर अपने पीछे राजकर्मचारियोंको देखकर जंगलकी ओर भागे; किन्तु सिपाहियोंने उनका पीछा नहीं छोड़ा, वे जंगलमें भी उनका पीछा करते गये। जब चोर भागते-भागते थक गये तो कहीं छिपनेकी जगह देखने लगे। दैवयोगसे माण्डव्य ऋषिका आश्रम उन्हें मिल गया। जल्दीसे वे धनको इधर-उधर डालकर आश्रममें छिपकर बैठ गये।

राजकर्मचारियोंने आश्रमको घेर लिया, आश्रमके द्वारपर ऊर्ध्वबाहु मौनी ऋषिको देखकर कर्मचारी पूछने लगे—'ब्रह्मन्! इधर चोर आये थे, वे कहाँ गये? अभी-अभी इधर ही आये थे, उनका पता हमें बताइये।'

ऋषि तो मौन थे, उन्होंने राजकर्मचारियोंके प्रश्नका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। सिपाही आश्रमको ढूँढ़ने लगे। उन्होंने देखा कि आश्रममें चोर छिपे हुए बैठे हैं और धन भी वहीं पड़ा हुआ है। कर्मचारियोंने चोरोंको बाँध लिया, धन भी उठा लिया और ऋषिके पास आये। उन्हें विश्वास हो गया कि यह ऋषिके वेषमें चोरोंका सरदार है, दम्भसे हमें भुलावा देनेके लिये ऐसा वेष बनाये बैठा है। यह सोचकर उन्होंने ऋषिको भी बाँध लिया और सबको राजाके सामने उपस्थित किया। राजाने सब हाल सुनकर आज्ञा दी कि इन लोगोंको सूलीपर चढ़ा दो। राजाकी ऐसी आज्ञा पाकर कर्मचारियोंने ऋषिसहित उन चोरोंको सूलीपर चढ़ा दिया। और सब लोग तो सूलीपर चढ़नेसे मर गये, किन्तु माण्डव्य मुनि सूलीपर चढ़े हुए ही तपस्या करने लगे। सिपाहियोंने जब देखा कि ये तो जीवित हैं, तो सारा वृत्तान्त जाकर राजासे कहा। राजा सब समाचार सुनकर दौड़ा आया। हाथ जोड़कर विनीत भावसे उसने ऋषिकी प्रार्थना की। अपने अपराधको अज्ञानमें किया हुआ बताकर ऋषिसे बार-बार क्षमायाचना की। ऋषि प्रसन्न हुए और उन्होंने राजाको क्षमा कर दिया। तब सूलीको नीचे उतारकर राजाने उसे ऋषिके शरीरमेंसे निकालना चाहा, किन्तु वह निकली नहीं। राजा बहुत घबड़ाये, उन्हें कोई उपाय सूझा नहीं। तब विवश होकर राजाने सूलीके फरको कटवा दिया। सूलीकी नोक 'अणि' ऋषिके बदनमें घुसी ही रह गयी। इसलिये उनका नाम 'अणिमाण्डव्य' प्रसिद्ध हो गया। शरीरमें 'अणि' के रहनेपर भी वे घोर तपस्या करते रहे और अपने उग्र तपके प्रभावसे बड़े-बड़े लोकोंको उन्होंने जीत लिया। जब वे तपके प्रभावसे ब्रह्मलोकको चले गये, तब वे एक दिन यमराजके यहाँ गये।

* धर्मका सार सुनो और सुनकर उसे हृदयंगम कर लो। जो बात अपनेको बुरी लगे, जिससे अपनेको कष्ट हो उसका आचरण दूसरोंके प्रति भी नहीं करना चाहिये।

ऋभु और निदाघ [२३६

केशिध्वज-खाण्डिक्य [३३६

भक्त चन्द्रहास [३१३

तुलाधार शूद्रको भगवद्दर्शन [४०८

महात्मा मुद्‌गल
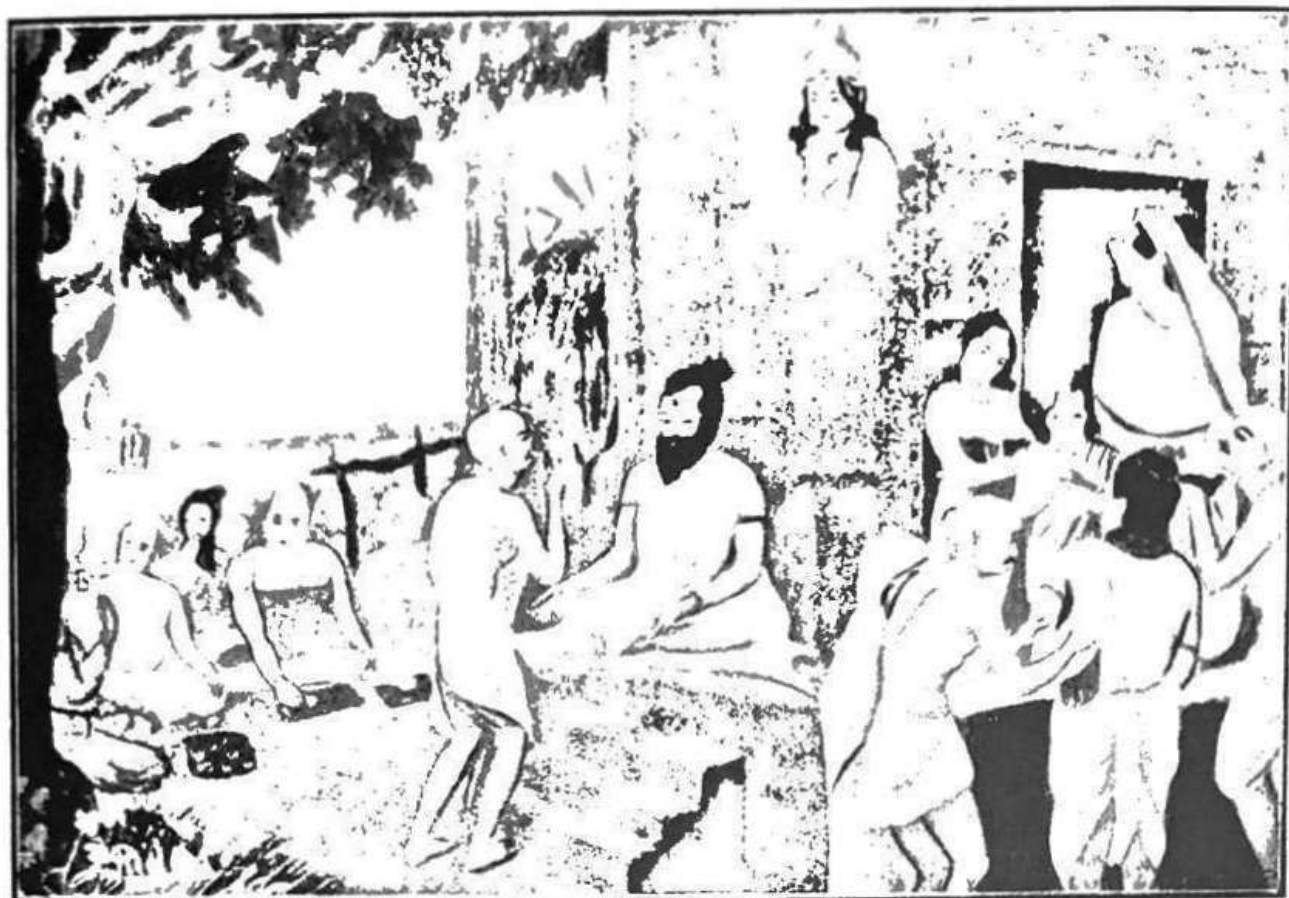
ऋषिमण्डलयुत दुर्वासाको अर्पण कर घरका सब अन्न।
सहित कुटुम्ब स्वयं भूखे रह मुद्गल मुनि हो रहे प्रसन्न॥

(राम) [२८५

संत सुधन्वा

कूद पड़ा जलते कड़ाहमें भक्त सुधन्वा हो निश्शंक।
तप्त तैल हो गया भक्तहित शीतल मानों चन्दनपंक॥

(राम) [३५६

यमराज न्यायासनपर बैठे थे, ऋषिको आया हुआ देखकर उन्होंने उनका सत्कार किया और यथास्थान बिठाया। तब ऋषिने पूछा—'धर्मराज! मुझे जो इतना शारीरिक कष्ट हुआ वह मेरे कौनसे पापका फल है, क्योंकि बिना उग्र पापके ऐसा दुःख नहीं मिलता। मैं अपने उस महान् पापको सुनना चाहता हूँ।'

यमराजने कहा—'ब्रह्मन्! आपने बाल्यकालमें पाप किया था। एक कीड़ेको बिना बात ही आपने सुईकी नोकसे छेद दिया था। सूई चुभोनेसे जितना कष्ट आपको होता है उतना ही उसे भी हुआ होगा। जैसे थोड़ा पुण्य करनेपर वह बढ़ जाता है, उसी प्रकार थोड़ा पाप करनेपर भी वह बढ़ जाता है। आपने उस कीड़ेके सुईकी नोक चुभोयी थी, उसके बदले आपको सूलीकी नोकका दुःख सहना पड़ा। उसे थोड़ी देर कष्ट हुआ, आपको उसके बदले इतने दिन कष्ट हुआ।'

ऋषिने पूछा—'यह पाप मैंने कब किया था?'

यमराजने कहा—'तब आप बहुत छोटे थे।'

तब ऋषिने कहा—'जब मुझे पाप-पुण्यका ज्ञान ही नहीं था, उस अवस्थामें किये हुए पापका आपने ऐसा घोर दण्ड दिया तो मैं भी आपको शाप देता हूँ कि आप पृथ्वीमें शूद्रयोनिमें जन्म ग्रहण करेंगे।' यमराजने ऋषिके शापको सहर्ष स्वीकार किया। वे ही यमराज विदुरजीके रूपमें पैदा हुए।

—प्र० ब्रह्मचारी

मुद्गल

द्वापरयुगमें महात्मा मुद्गल नामके एक आदर्श ब्राह्मण सपरिवार कुरुक्षेत्रमें निवास करते थे। मुद्गल पूर्ण जितेन्द्रिय, सत्यवादी, वेदपारंगत, सहनशील, दयालु, उदार और धर्मात्मा थे। ये शिलोञ्छवृत्तिसे ही अपना जीवननिर्वाह करते थे। शिलोञ्छवृत्तिका अन्न भी ३४ सेरसे अधिक कभी इकट्ठा नहीं करते। घरमें जो कुछ होता सो दीन-दुखी अतिथि-अभ्यागतोंकी सेवामें खुले हाथों लगाते। जैसे धर्मात्मा ब्राह्मण थे, वैसे ही उनकी धर्मपत्नी और सन्तान भी थीं। मुद्गलजी सपरिवार महीनेमें केवल दो ही बार—अमावस्या और पूर्णिमाके दिन भोजन किया करते, सो भी अतिथि-अभ्यागतोंको भोजन करानेके बाद। मुद्गलकी कीर्ति सारे देशमें फैल रही थी। एक बार दुर्वासाजीके मनमें परीक्षा करनेकी आ गयी। दुर्वासा महाराज जहाँ-तहाँ व्रतशील उत्तम पुरुषोंको व्रतमें पक्का करनेके लिये ही क्रोधित वेशमें घूमा करते थे। मुद्गलके घर आकर दुर्वासाजी अतिथि हुए। पूर्णिमाका दिन था। मुद्गलने आदर-सत्कारके साथ ऋषिकी अभ्यर्थना-पूजाकर उन्हें भोजन करने बैठाया। तीन आचमनमें समुद्र सुखा देनेवाले दुर्वासाजीके लिये मुद्गलके घरका थोड़ा-सा अन्न उड़ा जाना कौन बड़ी बात थी? बात-की-बातमें सब कुछ जीम गये, बचा-खुचा शरीरपर चुपड़ लिया। मुद्गल सपरिवार भूखे रहे। दुर्वासाजी हर पन्द्रहवें दिन आने लगे, यों छः बार आये। पन्द्रह दिनमें एक बार भोजन करनेवाला तपस्वी-कुटुम्ब तीन महीनेसे भूखों मर रहा है; परन्तु किसीके भी मनमें कुछ दुःख, क्रोध, क्षोभ या अपमानका विकार नहीं हैं। दुर्वासाजीकी परीक्षामें ब्राह्मण उत्तीर्ण हो गये। दुर्वासाने प्रसन्न होकर कहा—

'इस लोकमें तुम्हारे समान मत्सरतारहित दाता और कोई नहीं है। भूख ऐसी चीज है कि वह चमकते हुए धर्म, ज्ञान और धैर्यका नाश कर डालती है। रसलम्पट जीभ मनुष्यको रसकी ओर खींच लेती है, तुमने भूख और रस दोनोंको जीत लिया। प्राण भोजनके अधीन हैं, आहारके अभावमें प्राण नष्ट हो जाते हैं; मन बड़ा दुर्निग्रह है, इस चंचल मन और इन्द्रियोंको वशमें करनेका नाम ही तप है। फिर बड़े परिश्रमसे मिली हुई वस्तुका निष्काम भाव और प्रसन्न मनसे सत्कारपूर्वक दान कर देना बड़ा ही कठिन है। परन्तु हे साधो! तुमने सब कुछ सिद्ध कर लिया है। इन्द्रियोंका विजय, धैर्य, उदारता, दम, शम, दया, सत्य और धर्मादि सभी उत्तम गुणोंका तुम्हारे अन्दर पूर्ण विकास हो गया है; तुमने अपने कर्मसे तीनों लोकोंपर विजय तथा परमपदकी प्राप्ति कर ली है।'

दुर्वासा यों कह ही रहे थे कि देवदूत विमान लेकर मुद्गलके पास आया। देवदूतने कहा—'देव! आप महान् पुण्यवान् हैं, सशरीर स्वर्ग पधारें।' तदनन्तर मुद्गलके पूछनेपर देवदूतने स्वर्गसे लेकर ब्रह्मलोकतकके गुण-दोषोंका वर्णन किया। निःस्पृही मुद्गलने कहा—'हे

देवदूत! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ, तुम लौट जाओ; मुझे ऐसे दुःखभरे और पुनरावर्ती स्वर्ग या ब्रह्मलोककी आवश्यकता नहीं है।'

यत्र गत्वा न शोचन्ति न व्यथन्ति चरन्ति वा।
तदहं स्थानमत्यन्तं मार्गयिष्यामि केवलम्॥

(म० भा० वनपर्व २६१।४४)

'मैं तो उस विनाशरहित परमधामको प्राप्त करूँगा जिसे प्राप्त कर लेनेपर शोक और दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।'

यों कहकर मुद्गलने देवदूतको लौटा दिया और स्तुति-निन्दा, तथा स्वर्ण-मिट्टीको एक-सा समझते हुए ज्ञान-वैराग्यके साधनसे अविनाशी निर्वाणपदको प्राप्त किया!

—ह० पोद्दार

गुरुभक्त उपमन्यु

नृजन्ममाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
दृढं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा॥*

महर्षि आयोद धौम्यके दूसरे शिष्यका नाम उपमन्यु था। गुरुने उसे गौएँ चरानेका कार्य दे रखा था। वह दिनभर जंगलोंमें गौएँ चराता, रात्रिमें गुरुगृहको लौट आता। एक दिन गुरुने उसे खूब हृष्ट-पुष्ट देखकर पूछा—'बेटा उपमन्यु! हम तुझे खानेको तो देते नहीं, तू इतना हृष्ट-पुष्ट कैसे है?'

उपमन्युने कहा—'भगवन्! मैं भिक्षा माँगकर अपने शरीरका निर्वाह करता हूँ।'

गुरुने कहा—'बेटा! बिना गुरुके अर्पण किये भिक्षाको पा लेना पाप है, अतः जो भी भिक्षा लाया करो पहले मुझे अर्पण कर दिया करो। मैं दूँ तब खाना चाहिये'। 'बहुत अच्छा' कहकर शिष्यने गुरुकी आज्ञा मान ली और वह रोज भिक्षा लाकर गुरुके अर्पण करने लगा। गुरु तो उसकी परीक्षा ले रहे थे। उसे कसौटीपर कस रहे थे। अग्निमें तपाकर कुंदन बना रहे थे। उपमन्यु जो भिक्षा लाता उसे पूरी-की-पूरी रख लेते, उसको खानेके लिये कुछ भी न देते।

थोड़े दिन बाद गुरुने देखा उपमन्यु तो पहलेहीकी भाँति हृष्ट-पुष्ट है, तब उन्होंने कहा—'बेटा उपमन्यु! तुम आजकल क्या खाते हो?'

उपमन्युने कहा—'भगवन्! पहली भिक्षा माँगकर मैं आपके अर्पण कर देता हूँ। फिर दुबारा जाकर भिक्षा माँग लाता हूँ, उसीपर अपना निर्वाह करता हूँ।'

गुरुने कहा—'यह भिक्षा धर्मके विरुद्ध है, इससे गृहस्थियोंपर भी बोझा पड़ेगा और दूसरे भिक्षा माँगनेवालोंको भी संकोच होगा। अतः आजसे दुबारा भिक्षा मत माँगना।' शिष्यने गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य की और दूसरी बार भिक्षा माँगना छोड़ दिया।

कुछ दिनके बाद गुरुने फिर उपमन्युको ज्यों-का-त्यों देखकर पूछा—'उपमन्यु! अब तुम क्या खाते हो?'

उपमन्युने कहा—'मैंने दुबारा भिक्षा लाना छोड़ दिया है, मैं अब केवल गौओंका दूध पीकर रहता हूँ।'

गुरुने कहा—'यह तुम बड़ा अनर्थ कर रहे हो, मेरे बिना पूछे गौओंका दूध कभी नहीं पीना चाहिये। आजसे गौओंका दूध मत पीना।'

शिष्यने गुरुकी यह भी बात मान ली और उसने गौओंका दूध भी छोड़ दिया। थोड़े दिनों बाद गुरुने फिर उपमन्युको हृष्ट-पुष्ट देखा और पूछा—'बेटा! तुम दुबारा भिक्षा भी नहीं लाते, गौओंका दूध भी नहीं पीते, फिर भी तुम्हारा शरीर ज्यों-का-त्यों बना है! तुम क्या खाते हो?'

उसने कहा—'भगवन्! मैं बछड़ोंके मुखमेंसे गिरनेवाले फेनको पीकर अपनी वृत्ति चलाता हूँ।'

गुरुने कहा—'देखो, यह तुम ठीक नहीं करते। बछड़े दयावश तुम्हारे लिये अधिक फेन गिरा देते होंगे, इससे वे भूखे रह जाते होंगे। तुम बछड़ोंका फेन भी मत पिया करो।' उपमन्युने इसे भी स्वीकार कर लिया और उस दिनसे फेन पीना भी छोड़ दिया।

* पहले तो मनुष्यजन्म पाना ही अत्यन्त दुर्लभ है, वह सुलभतासे मिल गया, वही मानो संसार-सागरसे पार होनेके लिये दृढ़ नौका है। गुरुदेव ही नौकाके खेनेवाले मल्लाह, भगवत्कृपा ही अनुकूल वायु है, इतना संयोग होनेपर भी जो इस संसार-सागरको नहीं तरते वे अपनी आत्माके हनन करनेवाले कसाई हैं।

अब तो वह उपवास करने लगा। रोज उपवास करता और दिनभर गौओंके पीछे घूमता। भूखे रहते-रहते उसकी सब इन्द्रियाँ शिथिल पड़ गयीं। भूखके वेगमें वह बहुत-से आकके पत्तोंको खा गया। उन कड़वे, विषैले पत्तोंको खानेसे उसकी आँखें फूट गयीं। फिर भी उसे गौओंके पीछे तो जाना ही था, धीरे-धीरे आवाजके सहारे वह गौओंके पीछे चलने लगा। आगे एक कुआँ था, उसीमें वह गिर पड़ा।

गुरु उसके साथ निर्दयताके कारण ऐसा बर्ताव नहीं करते थे, वे तो उसे पक्का बनाना चाहते थे। कछुआ रहता तो जलमें है किन्तु अपने अण्डोंको बालूमें रखता है, जलमें रहता हुआ भी मनसे अण्डोंको सेता रहता है। इसीसे अण्डे वृद्धिको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार ऊपरसे तो गुरुजी ऐसा बर्ताव करते थे, भीतरसे सदा उन्हें उपमन्युकी चिन्ता लगी रहती थी। रात्रिमें जब उपमन्यु नहीं आया तो उन्होंने अपने दूसरे शिष्यसे पूछा—'उपमन्यु अभी लौटकर नहीं आया? गौएँ तो लौटकर आ गयीं। मालूम होता है, बहुत कष्ट सहते-सहते वह दुखी होकर भूखके कारण कहीं भाग गया। चलो, उसे जंगलमें चलकर ढूँढ़ें।' यह कहकर गुरु जंगलमें उपमन्युको खोजने लगे। सर्वत्र वे जोरसे आवाज देते—'बेटा उपमन्यु! तुम कहाँ हो? जल्दी आओ।'

कुएँमें पड़े हुए उपमन्युने गुरुकी आवाज सुन ली। उसने वहींसे जोरसे कहा—'गुरुजी, मैं यहाँ कुएँमें पड़ा हूँ।'

गुरुजी वहाँ पहुँचे, सब हाल सुनकर वे हृदयसे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'बेटा! ऋग्वेदकी ऋचाओंसे तुम देवताओंके वैद्य अश्विनीकुमारकी स्तुति करो, वे तुम्हें आँखें दे देंगे।'

उसने वैसा ही किया। स्वरके साथ वैदिक ऋचाओंसे उसने अश्विनीकुमारोंकी प्रार्थना की। उससे प्रसन्न होकर अश्विनीकुमारोंने उसकी आँखें अच्छी कर दीं और उसे एक पूआ देकर कहा कि इसे तुम खा लो।

उसने कहा—'देवताओ! मैं अपने गुरुको बिना अर्पण किये इस पूपको कभी नहीं खा सकता।'

अश्विनीकुमारोंने कहा—'पहले तुम्हारे गुरुने जब हमारी स्तुति की थी तब हमने उन्हें भी पूआ दिया था और उन्होंने बिना गुरुके अर्पण किये ही उसे खा लिया था।'

उपमन्युने कहा—'चाहे जो हो, वे मेरे गुरु हैं; मैं ऐसा नहीं कर सकता।' तब अश्विनीकुमारोंने उसे सब विद्याओंके आ जानेका आशीर्वाद दिया। बाहर आनेपर गुरुने भी उन्हें छातीसे लगाया और देवताओंके आशीर्वादका अनुमोदन किया।

कालान्तरमें उपमन्यु भी आचार्य हुए। वे गुरुकुलके कष्टको जानते थे, अत: अपने किसी शिष्यसे कोई काम नहीं लेते थे। सबको प्रेमपूर्वक पढ़ाते थे।

—प्र० ब्रह्मचारी

सुदामा

सुदामाजी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके बाल्यकालके सखा थे। दोनों उज्जैनमें सान्दीपनिजी महाराजके घर एक साथ ही पढ़े थे। सुदामा वेदवेत्ता, विषयोंसे विरक्त, शान्त और जितेन्द्रिय थे। भगवान् श्रीकृष्णसे इनकी खूब पटती थी। विद्या पढ़ चुकनेपर दोनों सखा अपने-अपने घर चले गये। भगवान् श्रीकृष्ण तो द्वारकाके राजा न होते हुए भी राजराजेश्वर बने और सुदामा बेचारे एक टूटी-फूटी मँढ़ैयामें रहकर अपना जीवन बिताने लगे। दरिद्रता मानो मूर्तिमती होकर उनके घर निवास करती थी। परन्तु दम्पती भगवान्का भजन करते हुए सन्तोषपूर्वक शुद्ध जीवन बिताते थे। धनका लोभ तो उन्हें था ही नहीं। जरूरी कामोंके लिये भी वे कभी किसीसे कुछ माँगते न थे।

सुदामा समय-समयपर अपनी सती पत्नीको अपने बाल्यकालकी कथा सुनाया करते और गुरुगृहकी बात चलनेपर भगवान् श्रीकृष्णकी स्मृति होते ही वे प्रेममें मगन हो जाते। प्रिय सखाकी स्मृतिसे उनके रोमांच हो जाता, आँखें डबडबा आतीं, वाणी गद्गद हो जाती और बड़ी कठिनतासे वे रोते-रोते अपने मित्रकी मनोहर लीलाएँ सुनाते। पत्नी भी उन्हें सुनकर मुग्ध हो जाती।

एक समय ऐसा हुआ कि लगातार कई दिनोंतक इस ब्राह्मणपरिवारको अन्नके दर्शन नहीं हुए। भूखके

मारे बेचारी ब्राह्मणीका मुख सूख गया, बच्चोंकी दशा देखकर उसकी छाती भर आयी। उसने मनमें सोचा कि जगत्‌के एकमात्र निधि, सम्पूर्ण ऐश्वर्यकी खानि भगवान् जिसके मित्र हैं उसके बाल-बच्चे यों भूखों मरकर प्राण दे दें, यह बात तो ठीक नहीं है। उसने अपने हृदयका भाव पतिसे कहना चाहा, परन्तु साहस नहीं हुआ। थोड़ी देरके लिये वह रुक गयी, बच्चे फिर खानेको माँगने लगे। मातृस्नेह उमड़ा; दरिद्रपीड़िता, दुःखिता सती ब्राह्मणीसे अब नहीं रहा गया। वह डरसे काँपती-काँपती पतिके समीप जाकर विनयके साथ बोली—

'हे महाभाग! मैं जानती हूँ कि साक्षात् लक्ष्मीपति, ब्राह्मणोंके हितकारी, शरणागतपालक, यादवश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आपके मित्र हैं; वे साधुओंकी परम गति हैं। आप मेरे कहनेसे उनके पास जाइये। आप कुटुम्बी हैं, दरिद्रताके कारण कष्ट पा रहे हैं, वे आपको अवश्य ही प्रचुर धन देंगे। वे भोज, वृष्णि और अन्धकोंके स्वामी इस समय श्रीद्वारकाजीमें विराजते हैं। हे प्रभो! वे जगद्गुरु अपने चरणकमलोंका स्मरण करनेवालेको जब अपना स्वरूपतक दे देनेमें भी संकोच नहीं करते तब अपने परम भक्त आपको उनसे धन मिलनेमें तो सन्देह ही क्या है? प्रभो! मैं जानती हूँ कि आपको धनकी रत्तीभर भी चाह नहीं है, परन्तु धन बिना गृहस्थीका निर्वाह होना बड़ा कठिन है। अतएव मेरी समझसे आपका अपने प्रिय मित्रके पास जाना ही आवश्यक और उचित है। '

सुदामाने सोचा कि ब्राह्मणी दुःखोंसे घबराकर धनके लिये मुझे वहाँ भेजना चाहती है। उन्हें इस कार्यके लिये मित्रके घर जानेमें बड़ा संकोच हुआ। वे कहने लगे—'पगली! क्या तू धनके लिये मुझे वहाँ भेजती है? क्या ब्राह्मण कभी धनकी इच्छा किया करते हैं? अपना तो काम भगवान्‌का भजन ही करना है। भूख लगनेपर भिक्षा माँग ही सकते हैं।'

ब्राह्मणीने कहा—'यह तो ठीक है, परन्तु यहाँ भीख भी तो नसीब नहीं होती। मेरे फटे चिथड़े और भूखसे छटपटाते हुए बालकोंके मुँहकी ओर तो देखिये। मुझे धन नहीं चाहिये। मैं नहीं कहती कि आप उनके पास जाकर राज्य या लक्ष्मी माँगें। अपनी इस दीन दशामें एक बार वहाँ जाकर आप उनसे मिल तो आइये।' सुदामाने जानेमें बहुत आनाकानी की, परन्तु अन्तमें यह विचारकर कि चलो इसी बहाने श्रीकृष्णचन्द्रके दुर्लभ दर्शनका परम लाभ होगा सुदामाने जानेका निश्चय कर लिया; परन्तु खाली हाथों कैसे जायँ? उन्होंने स्त्रीसे कहा—'हे कल्याणि! यदि कुछ भेंट देनेयोग्य सामग्री घरमें हो तो लाओ।' पतिकी बात तो ठीक थी, परन्तु वह बेचारी क्या देती? घरमें अन्नकी कनी भी तो नहीं थी। ब्राह्मणी चुप हो गयी। परन्तु आखिर यह सोचकर कि कुछ दिये बिना सुदामा जायँगे नहीं वह बड़े संकोचसे पड़ोसिनके पास गयी। आशा तो नहीं थी, परन्तु पड़ोसिनने दया करके चार मुट्ठी चावल उसे दे दिये। ब्राह्मणीने उनको एक मैले-कुचैले फटे चिथड़ेमें बाँधकर श्रीकृष्णकी भेंटके लिये पतिको दे दिया और बड़े उल्लासके साथ वह बोली—

सिद्धि करौ गनपति सुमिरि बाँधि दुपटिया खूँट।
चले जाहु तेहि मारगहि माँगत बाली बूट॥

(नरोत्तम कवि)

सुदामाने 'अच्छा' कहकर चावलोंकी पुटलिया बगलमें दबा ली और द्वारकाकी तरफ प्रयाण किया। बहुत दिनोंके बाद प्रिय मित्रके मिलनेसे होनेवाले आनन्दकी सुन्दर-सुन्दर कल्पनाएँ करते हुए निष्काम भक्त सुदामा द्वारकाजी पहुँचे।

सुदामाजी पूछते-पुछाते महलकी पहली ड्योढ़ीपर पहुँचे। द्वारपालने मस्तक नवाकर कुशल-समाचार पूछनेके बाद कहा—'हे द्विजराज! आप महानुभाव कौन हैं और किससे मिलनेकी इच्छासे यहाँ पधारे हैं?' सुदामाने कहा—'भाई, मेरे सखा श्रीकृष्ण यहाँ रहते हैं; मैं उनके दर्शन करने आया हूँ।'

सुदामाके मुखसे भगवान्‌के लिये 'मित्र' शब्द सुनकर द्वारपालकी बुद्धि चकरा गयी, उसने सोचा कहीं ब्राह्मण पागल तो नहीं हो गया। आखिर उसने विचार किया कि 'मेरे प्रभु तो दीनबन्धु हैं न। दीनका मित्र बनना उनके लिये स्वाभाविक ही है।' राजनियमके अनुसार ब्राह्मणको आदरसहित वहाँ बैठाकर द्वारपाल अंदर गया।

द्वारपाल तहँ चलि गयो, जहाँ कृष्ण यदुराय।
हाथ जोरि ठाढ़ो भयो, बोल्यो सीस नवाय॥

(नरोत्तम कवि)

जाकर बोला—नाथ!

सीस पगा न झगा तनपै प्रभु!
जाने को आहि, बसै केहि गामा।
धोती फटी-सी, लटी दुपटी,
अरु पाँय उपानहकी नहिं सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल देखि,
रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयालको धाम,
बतावत आपनो नाम सुदामा॥

(नरोत्तम)

भगवान् 'सुदामा' शब्द सुनते ही सारी सुध-बुध भूल गये और हड़बड़ाकर उठे। मुकुट वहीं रह गया, पीताम्बर कहीं गिर गया, पादुका भी नहीं पहन पाये और दौड़े द्वारपर! जाते ही सुदामाके चरणोंपर गिर पड़े।

आज भक्त और भगवान्का प्रिय सखाके रूपमें मधुर मिलन हो रहा है। कृष्ण-सुदामा दोनोंके नेत्रोंकी मिली हुई आँसुओंकी धारा गंगा-गोदावरीसे भी अधिक कल्याणकारी होकर जगत्को पावन कर रही है। महाराजकी सहस्त्रों रानियाँ और द्वारकावासी नर-नारी ब्राह्मणके सौभाग्यकी सराहना कर रहे हैं। देवता चकित और मुग्ध होकर लीलामयकी प्रेमलीला देख रहे हैं। देवराज इन्द्र, कल्पवृक्ष, कुबेर और सुमेरु घबरा रहे हैं कि भगवान् कहीं हमारा सर्वस्व सुदामाको न दे डालें। ऋषि, मुनि और भक्तगण भक्तवत्सल भगवान्की मिलनरीतिको देख-देखकर प्रमुदित हो रहे हैं। भगवान्ने सुदामाके बिवाईसे फटे हुए चरणोंको देखकर रोते हुए कहा—

ऐसे बिहाल बिवाइनसों,
पग कंटकजाल गड़े पुनि जोये।
हाय! महादुख पाये सखा तुम,
आये इतै न कितै दिन खोये॥
देखि सुदामाकी दीन दसा,
करुना करके करुनानिधि रोये।
पानी परातको हाथ छुयो नहिं,
नैननके जलसों पग धोये॥

परातका पानी छूनेकी भी आवश्यकता नहीं हुई। सरकारने अपने आँसुओंकी धारासे ही सुदामाके पद पखार डाले और उन्हें छातीसे लिपटा लिया! बहुत देर हो गयी, भगवान् सुदामाको छातीसे अलग नहीं करते। चारों ओर असंख्य लोगोंकी भीड़ लग गयी। अन्तमें उद्धव और अक्रूरादिने आकर भगवान्से प्रार्थना की। तब भगवान् सुदामाजीके गलबाहीं डाले हुए उन्हें अन्तःपुरमें ले गये।

भगवान् अच्युतने प्रिय बन्धु सुदामाको आदरसहित ले जाकर अपने दिव्य पलंगपर बैठाया और पूजनकी सामग्री स्वयं अपने हाथोंसे संग्रहकर, अपने ही हाथोंसे उनके चरणोंको धोकर, उस जलको स्वयं त्रिलोकपावन होते हुए भी अपने मस्तकपर धारण किया। रुक्मिणीजीने कहा कि मैं भी चरण पखारूँगी। भगवान्ने कहा, 'ठीक तो है, सब रानियाँ पखारें और इनके चरणोदकको महलोंमें छिड़ककर और पानकर स्थान और मनको पवित्र करें।' रुक्मिणीजी एक हाथमें स्वर्णकी झारी लेकर दूसरे हाथसे चरण धोने लगीं।

तदनन्तर भगवान्ने अपने प्रिय मित्रके शरीरमें दिव्य गन्धयुक्त चन्दन, अगरु, कुंकुम लगाया और सुगन्धित धूप, दीप इत्यादिसे पूजन करके उन्हें दिव्य भोजन कराया, पान-सुपारी दी। ब्राह्मण सुदामाका शरीर अत्यन्त मलिन और क्षीण था। देहभरमें स्थान-स्थानपर नसें निकली हुई थीं। वे एक फटा-पुराना कपड़ा पहने हुए थे।

परन्तु भगवान्के प्रिय सखा होनेके नाते साक्षात् लक्ष्मीका अवतार रुक्मिणी अपनी सखी देवियोंसहित रत्नदण्डयुक्त व्यजन-चामर हाथोंमें लिये परम दरिद्र भिक्षुक ब्राह्मणकी बड़े चावसे सेवा-पूजा करने लगीं। भगवान् श्रीकृष्ण सुदामाका हाथ अपने हाथमें लेकर लड़कपनकी मनोहर बातें करने लगे। बाल्यकालकी गुरुसेवा और गुरुस्नेहकी एक सुन्दर कथा भगवान्ने सुदामाको याद दिलायी। सुदामा भगवान्की वाणी सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्हें धनकी कामना तो पहले ही रत्तीभर भी नहीं थी, परन्तु उनके मनमें यदि कहीं छिपी हुई किसी सूक्ष्म कामनाकी कोई कल्पना भी की जा सकती थी तो वह भी अब नष्ट हो गयी।

सुदामा बोले—

'हे देवदेव! हे जगद्गुरो!! आप सत्यसंकल्प हैं, सौभाग्यवश गुरुकुलमें मैं आपका संग पाकर कृतार्थ हो गया। हे नाथ! आपकी कृपासे मेरे मनमें कोई भी कामना नहीं है, मुझे सब फल प्राप्त हैं। हे प्रभो! सम्पूर्ण मंगलोंकी उत्पत्तिका स्थान तो आपकी वेदमयी, ब्रह्ममयी मूर्ति है। स्वामिन्! आपका गुरुके यहाँ रहकर विद्या

पढ़ना अत्यन्त विडम्बना या लोकाचार मात्र है।'

भगवान्‌ने प्रिय मित्रकी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टिसे देखते हुए हँसकर कहा कि 'भाई! तुम मेरे लिये कुछ भेंट भी लाये हो? भक्तोंकी प्रेमपूर्वक दी हुई जरा-सी वस्तुको भी मैं बहुत मानता हूँ, क्योंकि मैं प्रेमका भूखा हूँ। अभक्तके द्वारा दी हुई अपार सामग्री भी मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकती।'

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(श्रीमद्भा० १०। ८१। ४)

'जो भक्त पत्र, पुष्प, फल और जल आदि मुझे प्रेमसे अर्पण करता है उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पदार्थ मैं प्रेमसहित खाता हूँ।'

भगवान्‌के इतना कहनेपर भी सुदामा चावलोंकी पोटली भगवान्‌को नहीं दे सके!

भगवान्‌की अतुल राजसम्पत्ति और वैभव देखकर सुदामाको चावल देनेमें बड़ी लज्जा हुई।

तब सब प्राणियोंके अन्तरकी बात जाननेवाले हरिने अपने निकट ब्राह्मणके आनेका कारण समझकर विचार किया कि 'यह मेरा निष्काम भक्त और प्रिय सखा है। इसने धनकी कामनासे पहले भी कभी मेरा भजन नहीं किया और न अब भी इसे किसी तरहकी कामना है, इसीलिये यह चावलोंकी भेंट देना नहीं चाहता। परन्तु यह अपनी पतिव्रता पत्नीकी प्रार्थनासे मेरे पास आया है, अतएव इसे मैं वह (भोग और मोक्षरूप) सम्पत्ति दूँगा जो देवताओंको भी दुर्लभ है।'

यों विचारकर भगवान्‌ने 'यह क्या है?' कहकर जल्दीसे सुदामाकी बगलमें दबी हुई चावलोंकी पोटली जबरदस्ती खींच ली। पुराना फटा कपड़ा था, पोटली खुल गयी और चावल चारों ओर बिखर गये। भगवान् बड़े प्रेमसे उन्हें बटोरकर कहने लगे—

नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे।
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ८१। ९)

'हे सखे! यही तो मुझको अत्यन्त प्रसन्न करनेवाली प्यारी भेंटकी सामग्री है। ये चावल मुझको और (मेरे साथ ही) समस्त विश्वको तृप्त कर देंगे।' यों कहकर भगवान् एक मुट्ठी चावल चबा गये और उनके दिव्य स्वादकी सराहना करने लगे।

तुरन्त ही उन्होंने दूसरी मुट्ठी भरी। इतनेमें ही पास बैठी हुई हरिचरणकमलोंकी नित्यकिंकरी, अनन्याश्रया, लक्ष्मीरूपिणी, जगज्जननी श्रीरुक्मिणीने परब्रह्म भगवान् यदुनन्दनका हाथ पकड़ लिया और कहा—

'हे विश्वरूप! बस कीजिये। आपकी इतनी प्रसन्नता ही मनुष्योंकी सबसे ऊँची श्रीवृद्धिके लिये यथेष्ट है। मेरी कृपासे मिलनेवाली इस लोक और परलोककी आपकी रची हुई सब प्रकारकी सम्पत्ति अथवा ऐश्वर्य इस ब्राह्मणको इस एक मुट्ठी चावलसे ही मिल गया। अब और चावल चबाकर क्या आप मुझको भी दे डालना चाहते हैं?'

सुदामाजी कुछ समयतक वहाँ ठहरे। भगवान्‌ने अपनी पटरानियोंसहित उनकी बड़ी सेवा की। इस प्रकार श्रीकृष्णमिलनका अतुल सुख भोगकर सुदामाजी भगवान्‌की आज्ञा लेकर घरको चले। विश्वपिता, आनन्दमय परमात्मा श्रीकृष्ण बहुत दूरतक सुदामाके साथ-साथ गये और प्रणाम तथा विनीत प्रार्थना-भरे वचनोंसे प्रसन्न करके प्रिय मित्रको विदा किया। श्रीकृष्ण महाराजने उन्हें कुछ भी धन नहीं दिया और न सुदामाने उनसे कुछ माँगा ही। यह बात नहीं कि उनके मनमें माँगनेकी तो कामना रही हो पर लज्जासे या 'बिना माँगे अधिक मिल जायगा' अथवा 'भगवान् सब जानते हैं, मैं क्या कहूँ, ये आप ही दे देंगे' इस भावसे न माँगा हो। वास्तवमें उनके मनमें कामनाका कहीं लेश भी नहीं था। वे तो श्रीकृष्णका दर्शन पाकर परम आनन्दको प्राप्त हो गये। स्त्रीके कहनेपर धनकी इच्छासे जो उन्हें आना पड़ा था उन्हें तो अपनी इसी कृपणतापर बड़ी लज्जा हो रही थी। सुदामा मन-ही-मन विचारते हुए चले जा रहे हैं—

'अहो! मैंने ब्रह्मण्यदेव भगवान्‌की ब्रह्मण्यता भलीभाँति देखी। देखो उनके वक्षःस्थलमें साक्षात् लक्ष्मी निवास करती हैं, तथापि उन्होंने मुझ महादरिद्रको गलेसे लगा लिया। कहाँ मैं नीच दरिद्र और कहाँ लक्ष्मीनिवास भगवान् श्रीकृष्ण! तथापि उन्होंने मुझे ब्राह्मण समझकर गलेसे लगा लिया और जैसे बड़े भाईका आदर किया जाता है उसी तरह अपनी प्रियाके पलंगपर मुझे बैठाया और मेरी रास्तेकी थकावट दूर करनेके लिये साक्षात् लक्ष्मीजीका अवतार श्रीरुक्मिणीजी मुझपर चँवर डुलाने

लगीं। जैसे इष्टदेवका भक्तिपूर्वक पूजन किया जाता है वैसे ही श्रीहरिने अपने हाथोंसे मेरा पूजन किया, मेरे पैर दबाये और मेरी परम सेवा की। श्रीहरिके चरणोंकी सेवा ही मनुष्योंको स्वर्ग, मोक्ष, इस लोककी महान् सम्पत्ति और सब प्रकारकी सिद्धियोंको देनेवाली है। परम कृपालु भगवान्ने यह विचारकर मुझे धन नहीं दिया कि यह निर्धन ब्राह्मण धन पानेसे अत्यन्त गर्वित होकर मेरा स्मरण नहीं करेगा।'

धन्य है सुदामा, जो आज धन न पानेमें परमात्माकी कृपाका दर्शन कर रहे हैं। यही तो पद-पदपर भगवत्कृपा अनुभव करनेका तरीका है। किसी भी अवस्थामें मन मैला नहीं, कहींपर असन्तोष नहीं, उसके प्रत्येक दान और उसके प्रत्येक विधानपर पूरा सन्तोष! यही तो निर्भरता है। ऐसे भक्तके घर-द्वारकी सारी सँभालका भार भगवान् अपने ऊपर स्वयं ले लेते हैं। सुदामाको तो कामना नहीं थी, वे तो निःस्पृह थे; परन्तु उनकी स्त्री और बच्चे भूखों मरते हैं, इस बातको भगवान् कैसे सह सकते थे? भगवान्ने निष्काम सुदामाकी सती स्त्रीके मनमें एक बार उठी हुई कामनाको भी पूरा करना अपना कर्तव्य समझा। और तुरन्त विश्वकर्माको भेजकर सुदामाकी टूटी झोंपड़ी रातोंरात देवदुर्लभ दैवीविलासनगरके रूपमें परिणत करवा दी। सुदामा अपने गाँवके समीप पहुँचकर देखते हैं कि वहाँ उनकी झोंपड़ीका कहीं पता नहीं है। जहाँ झोंपड़ी थी वहाँ आज सूर्य, अग्नि और चन्द्रमाके समान तेजयुक्त बड़े ऊँचे-ऊँचे महल बने हुए हैं। उनके आस-पास बाग-बगीचे लगे हैं, अनेक पक्षी नाना प्रकारके कल्लोल करते हुए अपने मधुर गानसे मनुष्योंके मन मोहित कर रहे हैं, सुदामाजी तो यह देखकर दंग रह गये। उन्होंने सोचा 'मेरी टूटी मँढ़ैया कहाँ गयी? ऐसा सम्पन्न महल कैसे बन गया? क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ, क्या मैं पराये नगरमें आ घुसा?' पतिका शुभागमन सुनकर उनकी अगवानीके लिये सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे सज्जिता लक्ष्मी-सरीखी शोभावाली सुदामाजीकी पतिव्रता स्त्री अपनी सखियोंको साथ लिये आरतीका थाल हाथमें लेकर महलसे बाहर निकली। पतिको देखकर प्रेमोत्कण्ठासे उसके नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहने लगे। सुदामाजी यह सब देखकर विस्मित हो गये और उन्होंने उस महासमृद्धि तथा ऐश्वर्ययुक्त महलमें पत्नीसहित प्रवेश किया। सुदामाजी सारा रहस्य समझकर मन-ही-मन कहने लगे—'यह उन महाऐश्वर्यशाली भगवान् श्रीकृष्णकी ही लीला है। वे ही मेरे सखा याचकको बिना बताये गुप्तरूपसे सब कुछ देकर उसका मनोरथ पूर्ण करते हैं। परन्तु मुझे धन नहीं चाहिये, मेरी तो बारम्बार यही प्रार्थना है कि जन्म-जन्मान्तरमें वही श्रीकृष्ण मेरे सुहृद्, सखा तथा मित्र हों और मैं उनका अनन्य भक्त रहूँ। मैं इस सम्पत्तिको नहीं चाहता, मुझको तो प्रत्येक जन्ममें उन सर्वगुणसम्पन्न भगवान्‌की विशुद्ध भक्ति और उनके भक्तोंका पवित्र संग मिले। वे दया करके ही धन नहीं दिया करते हैं, क्योंकि धनके गर्वसे धनवानोंका अधःपतन हो जाता है। इसलिये वे अपने अदूरदर्शी भक्तको सम्पत्ति, राज्य और ऐश्वर्य नहीं देते।

भक्तराज सुदामा अनासक्त रूपसे जगत्‌में रहते हुए दिन-रात भगवान्‌का भजन करने लगे और धीरे-धीरे विषयोंका त्याग करके अन्तमें सर्वसुहृद् भगवान्‌के ध्यानसे अपने अहंभावको सर्वथा मिटाकर विशुद्ध ब्रह्मपदको प्राप्त हो गये।

—ह० पोद्दार

गोकर्ण

पूर्वकालमें दक्षिण भारतकी तुंगभद्रा नदीके तटपर एक सुन्दर नगरी थी। वहाँ आत्मदेव नामक एक सदाचारी विद्वान् तथा धनवान् ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्रीका नाम धुन्धुली था। वह बड़ी कलहकारिणी थी। उस ब्राह्मण-दम्पतीको सब प्रकारके सांसारिक सुख प्राप्त होनेपर भी सन्तानका अभाव बहुत खटकता था। उन्होंने सन्तानके निमित्त बहुत-से उद्योग किये, परन्तु सब निष्फल। एक दिन इसी चिन्तामें ब्राह्मण घरसे निकल पड़ा और वनमें जाकर एक तालाबके किनारे बैठ गया। वहाँ उसे एक संन्यासी महात्माके दर्शन हुए। ब्राह्मणने उनसे अपने दुःखका वृत्तान्त कहा। महात्माको ब्राह्मणपर बड़ी दया आयी। उन्होंने उसके ललाटपर लिखी हुई विधाताकी लिपिको बाँचकर कहा—'हे ब्राह्मण! तुम्हारे प्रारब्धमें सात जन्मतक सन्ततिका योग

नहीं है। अतः तुम्हें सन्तानकी चिन्ता छोड़कर भगवान्में मन लगाना चाहिये।' परन्तु ब्राह्मणको महात्माके वचनोंसे सन्तोष नहीं हुआ। वह बोला—'महाराज! मुझे आपका ज्ञान नहीं चाहिये; मुझे तो सन्तान दीजिये। नहीं तो मैं अभी आपके सामने प्राणत्याग करता हूँ।' ब्राह्मणके इस हठको देखकर महात्माने कहा—'तुम्हारा इस प्रकार हठ करना ठीक नहीं है। विधाताके लेखके विरुद्ध पुत्र प्राप्त होनेसे भी तुम्हें सुख न होगा। किन्तु फिर भी तुम न मानो तो यह फल ले जाओ। इसे तुम घर ले जाकर अपनी स्त्रीके साथ खा लो, इससे तुम्हें पुत्र होगा। परन्तु तुम्हारी स्त्रीको चाहिये कि वह पुत्र उत्पन्न होनेके समयतक पवित्रतासे रहे, सत्य बोले, दान करे और एक समय भात खाकर जीवन निर्वाह करे। इससे तुम्हें अच्छी सन्तान होगी।' यह कहकर ब्राह्मणको उन्होंने एक फल दिया।

ब्राह्मणने ले जाकर फल अपनी स्त्रीको दे दिया। उसकी स्त्रीने सोचा 'फल खानेसे मुझे नियमपूर्वक रहना पड़ेगा और गर्भधारणसे भी कष्ट होगा और पुत्र उत्पन्न हो जानेपर उसके लालन-पालनमें बड़े कष्टोंका सामना करना पड़ेगा। इससे तो बाँझ रहना ही अच्छा है।' यह सोचकर उसने फल अपनी गौको खिला दिया और पतिसे झूठमूठ कह दिया कि मैंने फल खा लिया। उन्हीं दिनों उसकी छोटी बहिन गर्भवती हुई। धुन्धुलीने उसके साथ यह तय कर लिया कि जो सन्तान उसे होगी उसे लाकर वह धुन्धुलीको दे देगी। समय आनेपर धुन्धुलीकी बहिनके एक पुत्र हुआ और उसने उसे लाकर धुन्धुलीको दे दिया। लोकमें यह प्रसिद्ध कर दिया गया कि धुन्धुलीके पुत्र हुआ है और उसका नाम धुन्धुकारी रखा गया।

तीन मासके अनन्तर गौको भी एक बालक उत्पन्न हुआ। उसके सभी अवयव मनुष्यके-से थे, केवल उसके कान गौके-से थे। इसीलिये उसका नाम गोकर्ण रखा गया। यही हमारे चरित्रनायक हैं। गोकर्ण देखनेमें बड़े सुन्दर, तेजस्वी और बुद्धिमान् थे। ये थोड़ी ही अवस्थामें बड़े विद्वान् और ज्ञानी हो गये। इधर धुन्धुकारी बड़ा दुश्चरित्र, आचारहीन, क्रोधी, चोर, निर्दयी और वेश्यागामी निकला। वह माता-पिताको भी बहुत दुःख देने लगा और उनका सब धन अपहरणकर वेश्याओंको दे आता। आत्मदेव उसके बर्तावसे बहुत दुखी होकर रोने लगे। तब गोकर्णने उन्हें समझाया और ज्ञानका उपदेश दिया। पुत्रके उपदेशसे प्रभावित हो वह वृद्ध ब्राह्मण घरसे निकल पड़ा और वनमें जाकर भगवान् श्रीहरिके परायण हो उसने शरीर त्याग दिया।

पिताके चले जानेपर धुन्धुकारीने उनका सारा धन नष्ट कर दिया और अपनी माताको बहुत सताने लगा, जिससे दुखी होकर उसने कुएँमें गिरकर प्राण त्याग दिये। गोकर्णने भी अब घरमें रहना उचित नहीं समझा और वे तीर्थयात्राके निमित्त वहाँसे चल दिये। उन्हें माताकी मृत्यु तथा पिताके वनवासका तथा घरकी सारी सम्पत्तिके नष्ट हो जानेका तनिक भी दुःख न हुआ। क्योंकि उनकी सर्वत्र समबुद्धि हो गयी थी, उनकी दृष्टिमें न कोई शत्रु था और न कोई मित्र था। इधर धुन्धुकारी पाँच वेश्याओंको लेकर स्वच्छन्दतापूर्वक घरहीमें रहने लगा। एक दिन उन वेश्याओंने उसे बड़ी निर्दयतापूर्वक मार डाला और उसके शरीरको किसी गड़हेमें डाल दिया। धुन्धुकारी अपने दूषित कर्मोंसे प्रेतयोनिको प्राप्त हुआ और इधर-उधर भटकता हुआ बहुत क्लेश पाने लगा। गोकर्णने जब उसकी मृत्युका समाचार सुना तो गया जाकर वहाँ उसका श्राद्ध किया और फिर जिस-जिस तीर्थमें वे गये वहाँ उन्होंने बड़ी श्रद्धापूर्वक उसे पिण्डदान दिया।

× × × ×

गोकर्ण तीर्थयात्रा कर लौट आये। वे जब रातको घरमें सोने गये तो प्रेत बना हुआ धुन्धुकारी वहाँ अनेक प्रकारके उत्पात मचाने लगा। गोकर्णने देखा कि अवश्य ही यह कोई प्रेत है और बड़े धैर्यके साथ उससे पूछा कि तू कौन है और तेरी यह दशा किस प्रकार हुई। यह सुनकर धुन्धुकारी बड़े जोरसे रोने लगा, किन्तु चेष्टा करनेपर भी कुछ बोल न सका। तब गोकर्णने अपनी अंजलिमें जल लेकर मन-ही-मन कोई मन्त्र पढ़ा और उस जलको उस प्रेतके ऊपर छिड़क दिया, जिससे वह पापमुक्त होकर बोलने लगा। उसने बड़े दीन शब्दोंमें अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया और उस भीषण यातनासे छूटनेका उपाय पूछा। गोकर्णने सोचा कि जब इसकी गयाश्राद्धसे भी मुक्ति नहीं हुई तब इसके लिये कोई असाधारण उपाय सोचना पड़ेगा, साधारण उपायोंसे काम नहीं चलेगा। उन्होंने प्रेतसे कहा—'अच्छा, इस समय तुम जाओ। तुम्हारे लिये

अवश्य कोई उपाय सोचेंगे, भय न करो।' दूसरे दिन गोकर्णने कई विद्वान् योगी और ब्रह्मवादियोंसे इस विषयमें परामर्श किया। उन सबकी राय यह हुई कि भगवान् सूर्यनारायणसे इस विषयमें पूछा जाय और वे जो उपाय बतावें वही किया जाय। गोकर्णने उसी समय सबके सामने मन्त्रबलसे भगवान् सूर्यदेवकी गतिको रोककर उनकी स्तुति की और उनसे इस सम्बन्धमें प्रश्न किया। सूर्यदेवने स्पष्ट शब्दोंमें यह कहा कि इसकी श्रीमद्भागवतसे मुक्ति हो सकती है,उसका सात दिनमें पाठ करो। यह सुनकर गोकर्ण श्रीमद्भागवतके पारायणमें प्रवृत्त हुए।

गोकर्णके द्वारा श्रीमद्भागवतके पाठका समाचार सुनकर आस-पासके गाँवोंके बहुत-से लोग वहाँ एकत्रित हो गये। जिस समय व्यासासनपर बैठकर गोकर्णने कथा कहनी शुरू की उस समय धुन्धुकारी प्रेत भी कथामण्डपमें आया और बैठनेके लिये इधर-उधर स्थान ढूँढ़ने लगा। उसने देखा कि वहाँ सात गाँठका एक ऊँचा-सा बाँस खड़ा है। वह वायुरूप होकर उसीकी जड़के एक छिद्रमें घुसकर बैठ गया, ज्यों ही सायंकाल हुआ और पहले दिनकी कथा समाप्त हुई लोगोंने देखा कि उस बाँसकी एक गाँठ बड़ी कड़कड़ाहटके साथ टूट गयी। दूसरे दिन दूसरी गाँठ और तीसरे दिन तीसरी गाँठ टूटी। इस प्रकार सात दिनमें उस बाँसकी सातों गाँठें टूट गयीं और कथा समाप्त होते-होते वह धुन्धुकारी प्रेतयोनिको त्यागकर दिव्य रूपको प्राप्त हो गया। लोगोंने देखा उसके गलेमें तुलसीकी माला पड़ी हुई है, मस्तकपर मुकुट विराजमान है, कानोंमें कुण्डल सुशोभित हैं, उसका श्यामवर्ण है और वह पीताम्बर पहने हुए है। वह गोकर्णके सामने आकर खड़ा हो गया और हाथ जोड़कर कहने लगा—'भाई गोकर्ण, तुमने मुझपर बड़ी दया की जो मुझे इस प्रेतयोनिसे छुड़ाया। अब मैं इस दिव्य शरीरको प्राप्तकर भगवान्के परमधामको जा रहा हूँ। देखो, मेरे लिये वह विमान खड़ा है और भगवान् विष्णुके पार्षद मुझे बुला रहे हैं।' यह कहकर वह सब लोगोंके देखते हुए विमानपर आरूढ़ होकर भगवान् विष्णुके परमधामको चला गया।

श्रावणके महीनेमें गोकर्णने फिर उसी प्रकार श्रीमद्भागवतकी कथा कही। कथासमाप्तिके दिन स्वयं भगवान् अपने पार्षदोंसहित अनेक विमानोंको साथ लेकर वहाँ प्रकट हुए और जयजयकारकी ध्वनिसे आकाश गूँज उठा। भगवान्ने स्वयं अपना पाञ्चजन्य शंख बजाया और गोकर्णको हृदयसे लगाकर अपना चतुर्भुज रूप प्रदान किया। देखते-देखते मण्डपमें उपस्थित श्रोतागण भी विष्णुरूप हो गये और उस गाँवके और भी जितने लोग थे वे सब-के-सब महात्मा गोकर्णकी कृपासे विमानोंपर बैठकर योगिदुर्लभ विष्णुलोकको चले गये। भक्तवत्सल भगवान् भी अपने भक्तको साथ लेकर गोलोकको चले गये। इस प्रकार उस महान् संतने अपनी भक्तिके प्रभावसे गाँवभरका उद्धार कर दिया। बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय! (पद्मपुराणके आधारपर)

—चि० गोस्वामी

संत-महिमा

(लेखक—संग्रहकार पुरोहित श्रीहरिनारायणजी, बी० ए०, विद्याभूषण)

'दादू' निराकार मन सुरतिसौं, प्रेम प्रीति सौं सेव।
जे पूजै आकार कौं, तौ साधू परतखि देव॥ १ ॥
साधूजन संसारमैं, भवजल बोहिथ अंग।
'दादू' केते ऊधरे, जेते बैठे संग॥ २ ॥
साधूजन संसारमैं, पारस परगट गाइ।
'दादू' केते ऊधरे, जेते परसे आइ॥ ३ ॥
साधू बरषै रामरस, अमृत बाणी आइ।
'दादू' दरसन देखताँ, त्रिबिध ताप तन जाइ॥ ४ ॥
साधु नदी, जल रामरस, तहाँ पखालै अंग।
'दादू' निर्मल मल गया, साधू जनके संग॥ ५ ॥
परउपगारी संत सब, आये इहिं कलि माहिं।
पिवैं पिलावैं रामरस, आप सवारथ नाहिं॥ ६ ॥
'दादू' इस संसारमैं, ये दो रतन अमोल।
इक साँईं अरु संतजन, इनका मोल न तोल॥ ७ ॥
'दादू' साधूजन सुखिया भये दुनिया कूँ बहु दंद।
दुनी दुखी हम देखताँ, साधन सदा अनंद॥ ८ ॥

'दादू' एता अविगत आपकौं, साधूका अधिकार।
चौरासी लखि जीवका, तन मन फेरि सँवार॥ ९ ॥
साहिब का उनहार सब, सेवग माँहें होइ।
'दादू' सेवग साधसों, दूजा नाहीं कोइ॥ १०॥
'दादू' सब जग फटक पषाण है, साधू सींधव होइ।
सींधव एकैं व्है रह्या, पानी पत्थर दोइ॥ ११॥
'रज्जब' साध अगाध है, कहिये कौन समान।
देखो शिव शक्तीसहित, सेवक व्है तहाँ आन॥ १२॥
साधू दिल साँईं रहै, हरि हिरदै मैं साध।
'रज्जब' महिमा क्या कहै, ठाहर उभै अगाध॥ १३॥
साध अगाध अगस्त है, साँईं सुधा-समुंद।
उभै समाने उभै उर, 'रज्जब' रही न बुंद॥ १४॥
अकल अलप उनमान तुछ, जो कछु कहै बनाय।
'रज्जब' साँईं साधुकी, महिमा कही न जाय॥ १५॥
साधु उदै सूरज कला, गुण तारे तम नाश।
'रज्जब' रासि खुलैं सबैं, चखि चेतनि परकाश॥ १६॥
हरि-मंदिर साधू-हृदय, जहाँ रहै निज अंग।
सो चित चित्रशाला बनी, कवि कह सकै न रंग॥ १७॥
साधू सलिता, सबद जल, यहि गंगा कोइ जाय।
'रज्जब' रज मल ऊतरै, मन भागीरथि न्हाय॥ १८॥
साधू तीरथ जान जल, बिरला पावै कोय।
'रज्जब' अठसठ अगम, भागि परापत होय॥ १९॥
सौंधेसे महँगा भया, पारस परसत लोह।
'रज्जब' साँचे साधु सौं, क्यों न करीजे मोह॥ २०॥
भवसागर संसार यह, साधू सुद्ध जहाज।
'रज्जब' परसैं पार ह्वै, कठिन सरै यहु काज॥ २१॥
नाँव नाव साधूकनें, बूडत लेहि चढाय।
महिमा उस उपकारकी, 'रज्जब' कही न जाय॥ २२॥
साधू-बाणी छाँह हुमाई, भागहुँ पड़ै सीसपर आई।
देखत दूँन्यूँ पावहिं राज, 'रज्जब' होंहि सकल सिरताज॥ २३॥
हद्द-बेहद्दके बीचमें, साधू संत दलाल।
सौदा आतम रामसूँ, इन करि व्है दरहाल॥ २४॥
खीररूप हरि-नाँव है, नीर आन व्यौहार।
हंसरूप कोइ साध है, तनका जाणनहार॥ २५॥
बसुधा-बन बहु भाँतिं है, फूल्यौ-फल्यौ अगाध।
मिष्ट सुबास 'कबीर' गहि, बिषम कहै किहि साध॥ २६॥
गाँठी दाम न बाँधई, नहिं नारी सों नेह।
कहै 'कबीर' ता साधकी, हम चरननकी खेह॥ २७॥
बिरछ कभू नहिं फल भखै, नदी न संचै नीर।
परमारथके कारने, साधुन धरा सरीर॥ २८॥
निराकारकी आरसी, साधो ही की देह।
लखा जो चाहै अलखको, इनहीमें लखि लेह॥ २९॥
संत न छाँड़ै संतई, कोटिक मिलैं असंत।
मलया भुवँगहि बेधिया, सीतलता न तजंत॥ ३०॥
हरि सेती हरिजन बड़ा, समझ देखि मन माहिं।
कह 'कबीर' जग हरि बिषै, सो हरि हरिजन माँहिं॥ ३१॥
पक्षापक्षी कारणे, सब जग रहा भुलान।
निपक्षै ह्वै हरि भजैं, तेई संत सुजान॥ ३२॥
सोना सज्जन साधुजन, टूटि जुरैं सौ बार।
दुरजन कुंभ कुम्हारके, ऐकै धका दरार॥ ३३॥
संतन ही तैं पाइये राम मिलन कौ घाट।
सहजैं ही खुलि जात है 'सुंदर' हृदय-कपाट॥ ३४॥
संत मुक्तिके पोरिया, तिनसों करिये प्यार।
कूँची उनके हाथ है, 'सुंदर' खोलहिं द्वार॥ ३५॥
'सुंदर' आये संतजन मुक्त करन कौं जीव।
सब अज्ञान मिटाइ करि करत जीवतैं सीव॥ ३६॥
रिद्धि-सिद्धिकी कामना कबहूँ उपजै नाहिं।
'सुंदर' ऐसे संतजन मुक्त सदा जग माहिं॥ ३७॥
संतनिकी सेवा किये हरिकी सेवा होय।
तातैं 'सुंदर' एक ही, मति करि जानै दोय॥ ३८॥
अठसठ तीरथ जौ फिरै, कोटि यज्ञ, ब्रत, दान।
'सुंदर' दरसन साधुकै तुलै नहीं कछु आन॥ ३९॥
संतनिकी महिमा कही श्रीपति श्रीमुख गाइ।
तातैं 'सुंदर' छाडि सब संतचरन चित लाइ॥ ४०॥

इन्दव छन्द

संत सदा सबकौ हित बंछत, जानत हैं नर बूडत काढैं।
दै उपदेश मिटाइ सबै भ्रम, लैकरि ज्ञान जिहाजहि चाढैं॥
ये बिषयासुख नाहिन छाडत, ज्यौं कपि मूठि गहै सठ गाढैं।
'सुंदर' यौं दुख कौं सुख मानत, हाटहि हाट बिकावत आढैं॥ ४१॥

मनहर छन्द

काम ही न क्रोध जाकै, लोभ ही न मोह ताकै,
मद ही न मच्छर न, कोऊ न बिकारो है।
दुख ही न सुख मानै, पाप ही न पुन्य जानै,
हरष न सोक आनै, देह ही तैं न्यारो है॥
निंदा न प्रशंसा करै, राग ही न दोष धरै,
लैन ही न दैन जाकै, कछु न पसारो है।
'सुंदर' कहत ताकी अगम अगाध गति,
ऐसौ कोऊ साधु सु तौ रामजी कौ प्यारो है॥ ४२॥

पुनः

धूलि-जैसो धन जाकै, सूलि-से संसारसुख,
भूलि-जैसो भाग देखै,अंतकी-सी यारी है।
पाप-जैसी प्रभुताई, साँप-जैसो सनमान,
बड़ाई हू बीछनी-सी, नागनी-सी नारी है॥
अग्नि-जैसो इंद्रलोक, बिघ्न-जैसो बिधिलोक,
कीरति कलंक-जैसी सिद्धि सींट डारी है।
बासना न कोऊ वाकी, ऐसी मति सदा जाकी,
'सुंदर' कहत ताहि बंदना हमारी है॥ ४३॥

पुनश्च

'संतजन निशदिन लेबौई करत हैं।'—
प्रथम सुजस लेत, सीलहू सँतोष लेत,
क्षमा, दया, धर्म लेत, पाप तैं डरत हैं।
इंद्रिन कौं घेरि लेत, मन हूँ कौं फेरि लेत,
योगकी युगति लेत, ध्यान लै धरति हैं॥
गुरु कौ बचन लेत, हरिजी कौं नाम लेत,
आतमा कौं सोधि लेत, भौजल तरत हैं।
'सुंदर' कहत जग, संत कछु लेत नाहिं,
संतजन निशदिन लेबौई करत हैं॥ ४४॥

'संतजन निशदिन देबौई करत हैं।'—
साँचौ उपदेश देत, भली-भली सीख देत,
समता-सुबुद्धि देत, कुमति हरत हैं।
मारग दिखाइ देत, भावहू भगति देत,
प्रेमकी प्रतीति देत, अभरा भरत हैं॥
ज्ञान देत, ध्यान देत, आत्मा-विचार देत,
ब्रह्म कौं बताइ देत ब्रह्ममैं चरत हैं।
'सुंदर' कहत जग, संत कछु देत नाहिं,
संतजन निशदिन देबौई करत हैं॥ ४५॥

अपि तु यावत्

'संतजन आये हैं सु परउपकार कौं।'—
'मृतक दादुर जीव सकल जिवाये जिनि,
बरषत बानी मुख मेघकी-सी धार कौं।
देत उपदेश, कोऊ स्वारथ न लवलेश,
निशिदिन करत हैं ब्रह्म ही विचार कौं॥
और हू सँदेहनि मिटावत निमेष माहिं,
सूरज मिटावत है जैसे अन्धकार कौं।
'सुंदर' कहत संत बासी सुखसागरके,
संतजन आये हैं सु पर-उपकार कौं॥ ४६॥

स्वायंभुव मनु और शतरूपा

सृष्टिके प्रारम्भमें जब ब्रह्माने सनकादि पुत्रोंको उत्पन्न किया और वे निवृत्तिपरायण हो गये तब इन्हें बड़ा क्षोभ हुआ। इस क्षोभके कारण ब्रह्मा रजोगुण और तमोगुणसे अभिभूत हो गये। इससे ब्रह्माका शरीर दो भागोंमें विभक्त हो गया, उसी विभागके दाहिने भागको स्वायंभुव मनु और बायें भागको शतरूपा कहते हैं। अर्थात् ब्रह्माके दाहिने अंगसे स्वायंभुव मनुकी और बायें भागसे शतरूपाकी उत्पत्ति हुई। स्वायंभुव मनुने जब तपस्याके द्वारा शक्ति संचय करके सृष्टिकी अभिवृद्धि करनेकी आज्ञा प्राप्त की तब उन्होंने अपने पिता ब्रह्माके आदेशानुसार सकलकारणस्वरूपिणी आद्याशक्तिकी आराधना की। इनकी आराधनासे प्रसन्न होकर भगवतीने वर-याचनाकी प्रेरणा की। स्वायंभुव मनुने भगवतीसे बड़े विनयपूर्वक कहा—'यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो ऐसी कृपा कीजिये जिससे प्रजाकी सृष्टिका कार्य निर्विघ्न चलता रहे।' देवीने 'तथास्तु' कहा और अन्तर्धान हो गयीं। इसके बाद मनुने ब्रह्मासे एक उपयुक्त स्थानके लिये प्रार्थना की। ब्रह्माने मनुको भगवान् विष्णुकी शरण लेनेका उपदेश किया। इसी समय भगवान् वाराहरूप धारण करके ब्रह्माकी नासिकासे निकल पड़े और थोड़े ही समयमें बड़ा विशाल रूप धारण करके भीषण गर्जना करने लगे। उस समय सभी देव-दानव, ऋषि-मुनि उनकी महिमाका गायन करने लगे। उनकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर भगवान्ने जलमग्न पृथ्वीका उद्धार और उसकी स्थापना की। स्वायंभुव मनु पृथ्वीपर रहकर सृष्टिकार्य करने लगे। पहले उनके प्रियव्रत, उत्तानपाद नामके दो तेजस्वी पुत्र एवं आकूति, देवहूति और प्रसूति नामकी तीन कन्याएँ हुई। उत्तानपादसे ध्रुव-जैसे भगवद्भक्त प्रकट हुए। और इनकी देवहूति नामकी कन्यासे स्वयं भगवान्ने कपिलरूपमें अवतार ग्रहण किया। भगवान्के आज्ञानुसार राज्य करते हुए इन्होंने भृगु आदि ऋषियोंको व्याज बनाकर अनेक

प्रकारके धर्मों और नीतियोंका प्रचार किया तथा सम्पूर्ण मानवजातिके लिये एक ऐसी सुन्दर व्यवस्था की जिसके द्वारा अपने-अपने अधिकारानुसार सब भगवान्‌को प्राप्त कर सकें। अन्तमें इनके मनमें यह बात आयी कि घरमें रहकर विषयोंको भोगते-भोगते बुढ़ापा आ गया, किन्तु इन विषयोंसे वैराग्य नहीं हुआ। भगवान्‌के भजन बिना जीवनका यह अमूल्य समय यों ही बीत गया, यह सोचकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। यद्यपि पुत्रोंने उन्हें घर रहकर राज्य करते रहनेका बड़ा आग्रह किया फिर भी उनके विरक्त हृदयने लड़कोंकी एक भी न मानी, अन्ततः पुत्रोंको राज्य देकर वे अपनी पत्नी शतरूपाके साथ घरसे निकल पड़े। नैमिषारण्यमें जाकर इन्होंने ऋषि-मुनियोंका सत्संग प्राप्त करके समस्त तीर्थोंमें स्नान किया, देवताओंके दर्शन किये और फिर वल्कल वस्त्र पहनकर हविष्य भोजन करते हुए शरीरकी और संसारकी परवा छोड़कर द्वादशाक्षर मन्त्रका सप्रेम जप करते हुए भगवान्‌के चिन्तनमें लग गये। उनके मनमें एकमात्र यही अभिलाषा थी कि इन्हीं आँखोंसे भगवान्‌के दर्शन हों। इस तरह बड़ी कठोर तपस्या करते-करते हजारों वर्ष बीत गये। इसके बीचमें कई बार ब्रह्मा, विष्णु, महेश इनके पास आये और इन्हें वर देनेके बड़े-बड़े प्रलोभन दिये; परन्तु ये तनिक भी विचलित नहीं हुए। शरीर सूखकर काँटा हो गया, केवल हड्डी-ही-हड्डी अवशेष रह गयी। परन्तु इनके मनमें तनिक भी व्यथाका अनुभव नहीं हुआ। महाराज स्वायम्भुव और शतरूपाकी इस अनन्य तपस्याको देखकर बड़ी ही गम्भीर और भगवत्कृपापूर्ण आकाशवाणी हुई कि तुम्हारी जो इच्छा हो वह वर माँग लो। भगवान्‌की यह अमृतभरी वाणी सुनकर उनका शरीर सर्वांगसुन्दर और हृष्ट-पुष्ट हो गया। सारा शरीर पुलकित हो गया। हृदय प्रेमसे भर गया और उन्होंने दण्डवत् करके भगवान्‌से प्रार्थना की—'प्रभो! आप बड़े भक्तवत्सल हैं; ब्रह्मा, शंकर और विष्णु भी आपकी चरणधूलिकी वन्दना करते हैं। यदि आप मुझपर सचमुच प्रसन्न हैं तो आपका वह स्वरूप जो शिवके हृदयमें निवास करता है, काकभुशुण्डि जिसका ध्यान करते हैं और वेदोंमें जिसे सगुण होते हुए भी निर्गुण और निर्गुण होते हुए भी सगुण कहा गया है वही स्वरूप हम अपनी इन्हीं आँखोंसे देखें। उनकी प्रेमसे भरी बात भगवान्‌को बड़ी प्रिय लगी और भगवान् उनके सामने प्रकट हो गये। दम्पतीका ध्यान टूटा और उन्होंने भगवान् श्रीरामकी ओर देखा। भला भगवान्‌की उस रूपमाधुरीका कोई क्या वर्णन कर सकता है। आदिशक्ति भगवती सीता और पुरुषोत्तम भगवान् रामकी अनूप रूपराशिको देखकर उनकी आँखें निर्निमेष हो गयीं। उन्हें तृप्ति होती ही न थी। आनन्दातिरेकसे शरीरकी सुध-बुध जाती रही और वे बिना सहारेकी लकड़ीकी भाँति उनके चरणोंपर गिर पड़े। भगवान्‌ने उन्हें बलात् उठाकर उनके सिरपर अपने करकमल फेरकर अपने हृदयसे लगा लिया। जब भगवान्‌ने उन्हें धैर्य धारण कराकर वर माँगनेकी प्रेरणा की तो पहले उन्हें बड़ा संकोच हुआ, परन्तु भगवान्‌के बहुत ढाढ़स देनेपर और यह कहनेपर कि तुम्हारे लिये कुछ भी अदेय नहीं है, वे बोले—'मैं तुम्हारे ही सरीखा पुत्र चाहता हूँ।' भगवान्‌ने कहा—'मेरे सरीखा तो मैं ही हूँ, अतः मैं ही तुम्हारा पुत्र बनूँगा।'

इसके बाद भगवान्‌ने शतरूपापर अपनी कृपादृष्टि डाली और उनसे वर माँगनेकी प्रेरणा की। शतरूपाने वह वर तो माँगा ही जो उनके पतिदेवने माँगा था, साथ ही भक्तजीवनकी प्रार्थना की। भगवान्‌ने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—'इतना ही नहीं, तुम्हारे मनमें जो-जो रुचि है सब पूर्ण होंगी इसमें सन्देह नहीं।' इसके पश्चात् महाराज मनुने ऐश्वर्यभक्तिके स्थानपर वात्सल्यरति—पुत्रविषयक प्रेमकी याचना की और कहा कि संसारके लोग चाहे मुझे मूर्ख ही क्यों न समझें, आप कृपा करके यह वर दीजिये कि तुम्हारे वियोगमें मेरा जीवन रहे ही नहीं। इसके बाद तीन जन्मोंमें स्वायम्भुव मनु दशरथ, वसुदेव और सम्भलग्रामवासी एक ब्राह्मणके रूपमें उत्पन्न हुए और उनकी पत्नी शतरूपा हुईं और हर जगह भगवान्‌ने इनके पुत्ररूपसे जन्म ग्रहण किया। इन पुण्यश्लोक आदिराज स्वायम्भुव मनु एवं उनकी पत्नी शतरूपाका चरित्र बड़ा ही विस्तृत है, इसका पूर्ण अनुशीलन तो इतिहासपुराणोंमें ही हो सकता है। यहाँ तो केवल उनका स्मरणमात्र कर लिया गया है। रामचरितमानस-बालकाण्डमें इनके तपका प्रसंग पढ़ना चाहिये। —शान्तनु०

प्रियव्रत

स्वायंभुव मनुके प्रियव्रत और उत्तानपाद नामके दो पुत्र हुए। प्रियव्रत भगवान्‌के बड़े भक्त थे। नारद ऋषिके चरणोंकी सेवा करनेसे इन्होंने अनायास ही आत्माके वास्तविक स्वरूपको जान लिया। इनका विचार था कि अपनी समस्त इन्द्रियोंके व्यापारोंको भगवान् वासुदेवके चरणोंमें अर्पण करके निरन्तर आत्मविचार करते हुए जीवन व्यतीत करें। किन्तु राजामें जो-जो गुण होने चाहिये वे सब इनके अंदर मौजूद हैं, यह देखकर पिताने इन्हें भूमण्डलकी रक्षाके कार्यमें नियुक्त किया। प्रियव्रतने सोचा कि पिताकी आज्ञा तो सर्वथा शिरोधार्य है, किन्तु उसे स्वीकार कर लेनेपर राज्यके प्रपंचमें फँसना पड़ेगा और उस मिथ्याभूत प्रपंचसे आत्मस्वरूप ढँक जायगा—यह सोचकर उन्होंने पिताकी आज्ञाका हृदयसे अभिनन्दन नहीं किया। इतनेमें ही इस त्रिगुणमयी सृष्टिकी वृद्धि कैसे हो इसी विचारमें निरन्तर मग्न और सकल जगत्‌के अभिप्रायको जाननेवाले ब्रह्माजी मरीचि आदि ऋषिगणोंके साथ सत्यलोकसे नीचेको उतरे। वे उस स्थानपर पहुँचे जहाँ नारदजीने प्रियव्रतको आत्मविद्याका उपदेश दिया था और स्वायंभुव मनु उन्हें राज्याभिषेकके लिये घर ले जाने आये हुए थे। ब्रह्माजीको देखकर सब लोग उठ खड़े हुए और हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे। ब्रह्माजी प्रियव्रतको सम्बोधनकर उन्हें इस प्रकार कहने लगे—'बेटा प्रियव्रत! मैं तुम्हें जो कुछ कहता हूँ उसे श्रीहरिकी ही आज्ञा समझो और उनकी आज्ञामें ननु नच करना तुम्हारे-जैसे पुरुषके लिये उचित नहीं है। क्योंकि भगवान् शंकर, तुम्हारे पिता (स्वायंभुव मनु), तुम्हारे गुरु देवर्षि नारद और मैं सब-के-सब उनकी आज्ञाको मस्तकपर चढ़ाते हैं। संसारमें ऐसा कोई प्राणी नहीं जो तप, ज्ञान, योगबल अथवा अर्थ, धर्मके द्वारा स्वयं अथवा दूसरोंकी सहायतासे उनकी आज्ञाको उनकी मर्जीके बिना टाल सके। हम सब उन्हींकी इच्छासे अपने-अपने अधिकारके कर्मोंको करते हैं। जैसे कोई अन्धा मनुष्य, नेत्रवाला पुरुष उसे जिधर ले चलता है उधर ही चल पड़ता है उसी प्रकार हम भी ईश्वरने गुण और कर्मोंके अनुसार जिस-जिस शरीरकी हमारे लिये योजना की है उस-उस शरीरको स्वीकार कर उन्हींके दिये हुए सुख-दुःखको भोगते हैं। अधिक क्या कहें, जिस प्रकार साधारण मनुष्य स्वप्नके अनुभवका जागनेपर भी अभिमानशून्य होकर स्मरण करता है उसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष भी जबतक प्रारब्ध कर्म है तबतक उस प्रारब्धको भोगता हुआ अभिमानशून्य होकर शरीर धारण करता है, परन्तु वह दूसरे शरीरको उत्पन्न करनेवाले कर्मों अथवा वासनाओंको स्वीकार नहीं करता। अजितेन्द्रिय पुरुष वनमें जाकर संगके भयसे चाहे एक वनसे दूसरे वनमें फिरता रहे, किन्तु उसे वहाँ भी संसारका भय प्राप्त होता ही है, क्योंकि वहाँ भी कामादि षड्रिपु और विषयोंमें आसक्त मन, बुद्धि और इन्द्रिय तो उसके साथ रहते ही हैं। इसके विपरीत आत्मस्वरूपमें रमण करनेवाले ज्ञानी पुरुषकी गृहस्थाश्रममें भी कोई हानि नहीं होती। अतएव हे प्रियव्रत! जैसे राजा किलेका आश्रय करके ही प्रबल शत्रुओंको जीतता है और शत्रुओंका नाश होनेके बाद निर्भय होकर विचरता है उसी प्रकार जो मनुष्य काम आदि छः शत्रुओंको जीतना चाहे उसे चाहिये कि पहले वह गृहस्थाश्रमको स्वीकारकर एक साथ विषयोंका त्याग न करके धीरे-धीरे उन प्रबल शत्रुओंको जीतनेकी चेष्टा करे और उनकी शक्ति क्षीण हो जानेपर मन आवे तहाँ विचरे। तुमने तो भगवान् पद्मनाभके चरणरूप अजेय दुर्गका आश्रय लेकर काम आदि शत्रुओंको पहले ही जीत रखा है, अतः तुम्हें चाहिये कि पहले कुछ समयतक तुम ईश्वरके दिये हुए विषयभोगोंको राज्याधिकारमें रहकर भोगो और फिर सकल संगोंको त्यागकर आत्मनिष्ठ हो जाओ।'

प्रियव्रतने पितामह ब्रह्माजीकी आज्ञाको सम्मानपूर्वक स्वीकार किया और ब्रह्माजी भगवान्‌का चिन्तन करते हुए अपने लोकको चले गये। स्वायंभुव मनु भी अपने आज्ञाकारी पुत्रको राज्यसिंहासनपर बिठाकर वनको चले गये और प्रियव्रत समस्त भूमण्डलके राज्यको पाकर निःसंग भावसे भगवान्‌की आज्ञा समझकर प्रजापालनके कार्यमें संलग्न हो गये। उन्होंने विश्वकर्मा नामक प्रजापतिकी बर्हिष्मती नामकी कन्याके साथ विवाह किया और उसके द्वारा दस पुत्र और एक कन्याको उत्पन्न किया। इनमेंसे तीन पुत्रोंने बाल्यावस्थासे ही आत्मविद्याका अभ्यास करके नैष्ठिक ब्रह्मचर्यको धारण किया और परमहंस मुनियोंका-सा जीवन व्यतीत करने

लगे। इस प्रकार राज्यसुखका भोग करते राजाको ग्यारह करोड़ वर्ष बीत गये, तब उन्हें एक दिन अपने पूर्व जीवनकी स्मृति हो आयी। वे सोचने लगे 'मैं क्यासे क्या हो गया। कहाँ मेरा वह वैराग्यपूर्ण जीवन और कहाँ यह भोगमय राजसी जीवन।' यह सोचते ही उनकी वैराग्यकी भावना पुन: जाग्रत् हो गयी। उन्होंने अपने राज्यको अपने सात पुत्रोंमें बाँट दिया और अपने परिवार तथा इन्द्रको भी लजानेवाली राज्यलक्ष्मीका मृतकशरीरकी भाँति परित्यागकर फिरसे नारदजीके बताये हुए मार्गपर आरूढ़ हो गये। उन्होंने शालग्राम क्षेत्रमें जाकर भगवान्‌की तीव्र आराधना की और अन्तमें वहीं शरीर त्यागकर मुक्तिको प्राप्त हुए। —चि० गोस्वामी

ध्रुव

स्वायंभुव मनुके पुत्र उत्तानपादकी सुनीति और सुरुचि नामकी दो धर्मपत्नियाँ थीं। उनमें बड़ी रानी सुनीतिके पुत्र ध्रुव थे। और छोटी रानी सुरुचिके पुत्रका नाम उत्तम था। महाराज उत्तानपाद सुरुचिसे ही अधिक प्रेम करते थे। एक दिनकी बात है, महाराज उत्तानपाद उत्तमको गोदमें लेकर खिला रहे थे और सुरुचि वहीं बैठकर अपने पुत्रके प्रति इस लाड़-प्यारको देखकर अपने सौभाग्यपर फूली नहीं समाती थी। इसी समय खेलते-खेलते पाँच वर्षके बालक ध्रुव भी वहीं आ पहुँचे। अपने छोटे भाईको पिताकी गोदमें देखकर इनके मनमें भी इच्छा हुई कि मैं भी पिताकी गोदमें बैठकर अपने भाईकी भाँति खेलूँ। यद्यपि पिताके हृदयमें वात्सल्यस्नेहकी कमी नहीं थी तथापि सुरुचिके भयसे उसके सामने उन्होंने ध्रुवको गोदमें लेना अस्वीकार कर दिया। उसी समय सुरुचि बोल उठी—'बेटा! तुम बड़े अभागे हो, क्योंकि तुम्हारा जन्म मेरे गर्भसे न होकर सुनीतिके गर्भसे हुआ। अब तुम जाकर भगवान्‌की आराधना करो जिससे तुम्हारा दूसरा जन्म मेरे गर्भसे हो और तुम राजाकी गोदमें चढ़कर अपनी अभिलाषा पूर्ण कर सको।' अपनी विमाता सुरुचिकी यह बात सुनकर ध्रुवको बड़ा दु:ख हुआ, वे रोने लगे। परन्तु उस समय भी राजाने उन्हें सान्त्वना नहीं दी। इसके बाद वे अपनी माँके पास गये और बड़े जोरसे रोने लगे। जब दूसरोंके द्वारा माताको अपने बच्चेके रोनेका कारण मालूम हुआ तो वह भी विलाप करने लगी और ध्रुवसे बोली—'बेटा! तुम्हारी विमाताने सत्य ही कहा है, यदि तुम अभागे न होते तो मुझ अभागिनीके गर्भसे तुम्हारा जन्म कैसे होता। इससे बढ़कर दुर्भाग्यकी बात और क्या होगी कि तुम्हारे पिता तुम्हें गोदमें लेनेसे लज्जित होते हैं। परन्तु यह बात भी बिल्कुल ठीक है कि भगवान्‌की आराधना करनेसे तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण हो सकती है। तुम भगवान्‌की आराधना करो। जिनकी आराधनासे ब्रह्माको परमेष्ठी-पद प्राप्त हुआ है, तुम्हारे पितामह चक्रवर्ती हुए हैं और बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी जिनके चरणोंकी धूलि ढूँढ़ा करते हैं, उन्हींके चरणोंकी पूजा करो; तुम्हारी लालसा पूर्ण होगी।'

अपनी माँकी बात सुनकर ध्रुवके हृदयमें उत्साहका संचार हो गया, वे अपने अन्त:करणको नियन्त्रित करके घरसे निकल पड़े। उस पाँच वर्षके बच्चेको यह पता नहीं था कि भगवान् कहाँ मिलेंगे और वे कैसे हैं। परन्तु क्षत्रियोंका स्वाभाविक तेज उसके अन्दर प्रस्फुटित हो उठा और अपने धर्मकी पूर्ण अभिव्यक्ति होते ही भगवान्‌ने उसे अपनी ओर खींच लिया।

भगवान्‌के भक्त ऐसे अवसरोंकी प्रतीक्षामें घूमा ही करते हैं। जहाँ सच्चा त्याग, सच्ची उत्सुकता देखी वहीं आकर प्रकट हो गये और भगवान्‌तक पहुँचनेका मार्ग बतला दिया। ध्रुवके घरसे निकलते ही देवर्षि नारद आ पहुँचे। अपने पापहारी करकमलोंसे ध्रुवके सिरका स्पर्श करके उन्हें अपने निश्चयपर और दृढ़ करनेके लिये भगवन्मार्गकी कठिनता बतलायी और कहा—'अभी तुम्हारी उम्र भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करनेकी नहीं है; चलो, मैं राजासे तुम्हें सर्वदाके लिये सम्मान देनेकी बात कह देता हूँ। तुम अभी बाघ, सिंह आदिसे भरे हुए जंगलमें मत जाओ।' परन्तु अब ध्रुव इन बातोंमें कब आनेवाला था? घरसे निकलते ही देवर्षि नारदके दर्शनसे उसका उत्साह और भी बढ़ गया और वह अपने निश्चयपर अटल रहा। तब देवर्षि नारदने ध्रुवकी अटल निष्ठा और जिज्ञासा देखकर उसे द्वादशाक्षर मन्त्रका उपदेश किया, पूजाविधि बतायी और यमुनाके पवित्र तटपर मथुराके पास जाकर चतुर्भुज

भगवान् विष्णुके ध्यानकी पद्धति बतलायी। और उसके मनमें यह विश्वास जमा दिया कि जो निष्कपट भावसे भगवान्‌की आराधना करते हैं उनपर भगवान् अवश्य कृपा करते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

ध्रुवने प्रणाम करके मथुराके लिये प्रस्थान किया और देवर्षि नारदने राजधानीमें जाकर माता-पिताको समझा दिया।

ध्रुवने मथुरामें पहुँचकर देवर्षि नारदके आदेशानुसार भगवान्‌की आराधना प्रारम्भ कर दी। एक महीनेतक वह तीन-तीन दिनके बाद जीवनरक्षाके लिये कैथ, बैर आदि जंगली फलोंको खाकर रहा और अपना सारा समय भगवत्पूजामें ही व्यतीत किया। दूसरे महीनेमें हर छठे दिन सूखे तिनके और पत्तोंको खाकर, तीसरेमें हर नवें दिन पानी पीकर, चौथे महीनेमें हर बारहवें दिन हवा पीकर और पाँचवें महीनेमें वह श्वास रोककर एक पैरसे ठूँठकी भाँति खड़ा होकर निरन्तर भगवच्चिन्तनमें ही लीन हो गया। उसके पैरके अँगूठेसे दबकर पृथ्वी काँपने लगी, श्वास बंद करनेसे त्रिलोकीका श्वास बंद हो गया, क्योंकि अब उसका श्वास समष्टिके श्वाससे भिन्न नहीं था। सारे देवता घबड़ाकर भगवान्‌के पास गये। भगवान् उन सबको आश्वासन देकर ध्रुवके सामने प्रकट हुए। उस समय ध्रुव ध्यानमें लीन था, इसलिये जब सम्मुख आये हुए भगवान्‌का उसे पता न चला तो भगवान्‌ने ध्यानमेंसे अपनेको खींच लिया। ध्रुवने घबड़ाकर अपनी आँखें खोलीं तो देखता क्या है कि वही भगवान् सामने खड़े हैं। देखते ही वह पृथ्वीपर भगवान्‌के चरणोंके पास गिर पड़ा। आँखोंसे वह इस तरह देख रहा था मानो भगवान्‌को पी जायगा। बाँहें उसकी इस तरह उठी थीं मानो उन्हें आलिंगन करना चाहता हो। और मुँह उसका इस प्रकार उत्सुकतापूर्ण था मानो वह नन्हा-सा बालक भगवान्‌के मीठे चुम्बनके लिये ललक रहा हो। उसकी इच्छा हुई कि भगवान्‌की स्तुति करूँ, परन्तु कहता क्या? केवल चुपचाप खड़ा रहा। भक्तवत्सल भगवान्‌ने उसके कपोलसे अपना शंख छुआकर सम्पूर्ण ज्ञान और समस्त शास्त्र उसके अंदर प्रस्फुरित कर दिये। वह गद्‌गद कण्ठसे भगवान्‌की स्तुति करने लगा। ध्रुवकी स्तुतिसे सन्तुष्ट होकर भगवान्‌ने उसे वह स्थान दिया—वह ध्रुवलोक प्रदान किया जिसे अबतक किसीने नहीं पाया था, और आज्ञा की कि अपने पिताके पास जाकर इस जीवनमें ही चक्रवर्ती-पदका उपभोग करते हुए मेरा भजन करो। तदनुसार भक्तराज अपने पिताके पास लौट आये। वहाँ इनके पहुँचनेपर बड़ा उत्सव मनाया गया और अन्तमें इन्हें राज्य देकर महाराज उत्तानपादने वनके लिये प्रस्थान किया।

थोड़े दिनोंके बाद एक दिन उनके छोटे भाई उत्तम अहेर खेलने गये और एक यक्षके हाथसे मारे गये। उनकी माता भी उन्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते एक जंगलमें दावाग्निसे घिर जानेके कारण जल गयीं। ध्रुवने शासनकी दृष्टिसे यक्षोंकी राजधानी अलकापुरीपर चढ़ाई की और उनका यक्षोंसे बड़ा घमासान युद्ध हुआ। अन्तमें स्वायंभुव मनुने बीचमें पड़कर सुलह करा दी और कुबेरने ध्रुवको वर दिया कि भगवान्‌में तुम्हारी अचल भक्ति बनी रहे। ध्रुवकी पत्नी शिशुमारकी पुत्री भ्रमी थीं। उनके पुत्र उत्कल और वत्सर थे। उत्कलके जन्मतः विरक्त होनेके कारण राज्यभार अस्वीकार कर देनेपर वत्सरको राज्य देकर उन्होंने वनगमन किया। विशाला नगरीमें जाकर स्नानादि करके आसन लगाकर जब ये शान्तचित्तसे बैठे तब भगवान्‌के पार्षद नन्द-सुनन्दादि विमान लेकर वहाँ उपस्थित हुए। उस विमानके द्वारा अपने पदपर आरोहण करनेके लिये प्रस्थान करते समय इन्हें अपनी माँकी याद आयी। तब पार्षदोंने बतलाया वे तुमसे भी आगे विमानपर जा रही हैं। तब बड़े शान्ति-सन्तोषके साथ ध्रुवने अपने ध्रुवपदपर आरोहण किया; आज भी समस्त ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, ऋषि, देवता प्रदक्षिणा करते हुए ध्रुवके चारों ओर घूमा करते हैं। यह ध्रुवपद अचल और अविनाशी है। भगवद्भक्तिके प्रभावसे वे वहीं स्थित होकर सारे जगत्‌को धारण कर रहे हैं और जबतक सृष्टि रहेगी धारण करते रहेंगे। विभिन्न पुराणोंमें इनकी कथा विभिन्न प्रकारसे आती है। यहाँ भागवतके आधारपर लिखी गयी है।

—शान्तनु

उत्कल

महात्मा उत्कल महाभागवत ध्रुवके ज्येष्ठ पुत्र थे। वे बालकपनसे ही विरक्त थे। जब उनके पिता राज्य छोड़कर वनको चले गये तो उन्होंने राज्यसिंहासनकी तथा अपने पिताकी अतुल सम्पत्तिकी कुछ भी परवा नहीं की। वे जन्मसे ही शान्त, नि:संग और समदृष्टि थे और अपनी आत्माको चराचर विश्वमें व्याप्त और चराचर विश्वको अपनी आत्मामें देखते थे। अखण्ड योगरूपी अग्निसे उनका कर्मरूप मल तथा मलकी वासना सर्वथा नष्ट हो गयी थी। वे अपनेको स्वरूपभूत, शान्त, भेदरहित, ज्ञानरसरूप, आनन्दमात्र एवं सर्वव्यापक ब्रह्मसे अभिन्न मानते थे और उस ब्रह्मसे पृथक् कुछ भी नहीं देखते थे। वे जब नगरमें घूमने निकलते तो अज्ञानी लोग उन्हें जड, अन्धा, बहरा, उन्मत्त तथा गूँगा समझते। किन्तु वास्तवमें वे शान्त अग्निके समान साधारण मनुष्योंकी बुद्धिमें न आनेवाले महाज्ञानी थे। मन्त्रियोंसहित कुलके वृद्ध पुरुषोंने उत्कलको जड एवं उन्मत्त समझकर उसके छोटे भाई वत्सरको राज्यसिंहासनपर बिठाया। —चि० गोस्वामी

ऋषभदेव

महाभागवत राजर्षि प्रियव्रतके आग्नीध्र आदि नौ पुत्र हुए। आग्नीध्रके भी नाभि आदि नौ पुत्र हुए। नाभिका विवाह मेरुकी पुत्री मेरुदेवीके साथ हुआ। उन्होंने सन्तानहीन होनेके कारण पुत्रकामनासे अपनी पत्नीके साथ एकाग्रचित्त होकर भगवान् यज्ञपुरुषका पूजन किया। उनकी आराधनासे प्रसन्न होकर भगवान् उनके सामने प्रकट हुए। भगवान्का दर्शन पाकर ऋत्विज्, सदस्य और यजमान (राजा नाभि) सभी बड़े प्रसन्न हुए और उनकी वन्दना कर स्तुति करने लगे। ऋत्विज् बोले—'भगवन्! यह राजर्षि पुत्रकी कामनासे यज्ञ कर रहा है और आप-जैसा ही पुत्र चाहता है। अत: सबकी कामना पूर्ण करनेवाले आपको इसकी भी कामना पूर्ण करनी चाहिये।' श्रीभगवान् बोले—'हे ऋषियो, संसारमें मेरे समान कोई दूसरा नहीं हो सकता, मेरे समान तो मैं ही हूँ। तथापि ब्राह्मणोंका वचन मिथ्या नहीं होना चाहिये, अत: आपलोगोंकी बात रखनेके लिये मैं ही मेरुदेवीके उदरमें अंशरूपसे अवतीर्ण होऊँगा।' यह कहकर भगवान् सबके देखते-देखते अन्तर्धान हो गये। इस प्रकार भक्तवत्सल भगवान् दिगम्बर, तपस्वी, ज्ञानी और नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंके धर्मको स्वयं आचरण करके प्रसिद्ध करनेके लिये ऋषभदेवके रूपमें अवतीर्ण हुए।

बालक ऋषभके चरणोंमें वज्र, अंकुश आदिके चिह्न प्रकट होते ही दिखायी देने लगे। साथ ही उनके अन्दर समता, शान्ति, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि गुणोंका भी उत्तरोत्तर विकास होने लगा, डील-डौल, कान्ति, तेज, बल, प्रभाव और सुन्दरता आदिमें भी ये अप्रतिम थे। अतएव पिताने इनका नाम ऋषभ (श्रेष्ठ) रखा। इनके ऐश्वर्य आदिको देखकर इन्द्रको बड़ी ईर्ष्या हुई और उन्होंने इनके राज्यमें वर्षा बन्द कर दी। इन्द्रकी इस अनुचित चेष्टाको देखकर भगवान् ऋषभदेव मुसकुराये और अपनी योगमायाके प्रभावसे उन्होंने इन्द्रके प्रयत्नको निष्फल कर दिया और राज्यमें खूब वृष्टि हुई। जब ऋषभदेव कुछ बड़े हुए तब नाभिने मन्त्रियों और प्रजाजनोंकी अनुमतिसे धर्मकी मर्यादाकी रक्षाके निमित्त अपने पुत्रको राज्यसिंहासनपर बिठाकर स्वयं अपनी पतिव्रता पत्नीके साथ तप करनेके लिये बदरिकाश्रमकी ओर प्रस्थान किया और वहाँ एकाग्र मनसे समाधियोगके द्वारा नर-नारायणरूप भगवान् वासुदेवकी आराधना कर कुछ ही समय बाद देवदुर्लभ गतिको प्राप्त किया।

इधर भगवान् ऋषभदेवने गृहस्थोंको धर्माचरणकी शिक्षा देनेके निमित्त स्वयं गुरुगृहमें निवास करके वेदाध्ययन किया और तदनन्तर गुरुओंकी आज्ञासे गृहस्थाश्रमको स्वीकारकर इन्द्रकी दी हुई जयन्ती नामकी कन्याके साथ विवाह किया और उसके द्वारा क्रमश: सौ पुत्र उत्पन्न किये, जो गुण आदिमें इन्हींके समान थे। इनमें सबसे बड़ा भरत श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त एवं महायोगी था, उसीके नामसे हमारा यह देश भारतवर्ष कहलाया। शेष निन्यानबेमें कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन, ये नौ पुत्र भागवतधर्मका उपदेश करनेवाले और नैष्ठिक ब्रह्मचारी

थे। ये जन्मसे ही भगवान्‌की एकान्त भक्तिमें लग गये और घर छोड़कर परमहंसवृत्तिसे रहने लगे। बाकी पुत्र भी पिताके आज्ञाकारी, नम्र और शुद्ध आचरण करनेवाले थे। भगवान् ऋषभदेव तो साक्षात् ईश्वर, स्वतन्त्र और केवल आनन्दानुभवरूप होनेके कारण समस्त प्राणियोंमें समान बुद्धि रखते थे, जिस बुद्धिके उत्पन्न होनेसे सारे अनर्थोंका समूल नाश हो जाता है। वे स्वभावसे ही राग, लोभ आदि दोषोंसे रहित, सबका हित करनेमें तत्पर और सबके ऊपर दया करनेवाले थे। फिर भी उन्होंने असमर्थ पुरुषोंकी भाँति कर्म करते हुए कालवश उच्छिन्न हुए धर्मका स्वयं आचरण करके धर्माचरण न जाननेवाले लोगोंको शिक्षा दी तथा धर्म, अर्थ, कीर्ति, पुत्रादि सन्तति और विषयभोगसे प्राप्त होनेवाले आनन्दका संग्रह करके समस्त संसारको यथेष्ट आचरणसे हटाकर शास्त्रोक्त आचरणमें लगाया। क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष अच्छा-बुरा जैसा भी आचरण करते हैं दूसरे लोग भी वैसा ही करते हैं। यद्यपि वे स्वयं धर्मके रहस्यको जानते थे तथापि उन्होंने लोकसंग्रहके लिये ब्राह्मणोंको पूछकर उनके कहे हुए मार्गसे ही साम, दान आदि उपायोंके द्वारा सारे जगत्‌को शिक्षा दी और शास्त्रोक्त विधिके अनुसार सौ बार यज्ञेश्वर भगवान्‌का यज्ञोंसे पूजन किया। उनके राज्यमें ब्राह्मणसे लेकर चाण्डालतक एक भी पुरुष ऐसा न था जो भगवान्‌की प्रसन्नताके अतिरिक्त किसी और वस्तुकी कामना रखता हो। उन्होंने एक बार भूमिपर विचरते हुए ब्रह्मावर्त क्षेत्रमें जाकर वहाँ अतिश्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंकी सभामें समस्त प्रजाजनोंके सामने अपने पुत्रोंको मोक्षधर्मका बड़ा सुन्दर उपदेश दिया और यह भी कहा कि तुमलोग सब अपने बड़े भाई भरतकी निष्कपटबुद्धिसे सेवा करो, इसीसे मेरी सेवा होगी और प्रजाका पालन होगा। तदनन्तर वे अपने ज्येष्ठ पुत्र भरतको राज्यभार सौंपकर, सकल वस्तुओंका परित्यागकर, केशोंको बिखेरकर तथा पागलोंकी भाँति दिगम्बर होकर ब्रह्मावर्तके बाहर चले गये। वे अवधूतका वेष धारणकर लोकोंमें जड, अन्ध, बधिर, गूँगे अथवा पिशाचग्रस्त मनुष्यकी भाँति यत्र-तत्र विचरने लगे और लोगोंके प्रश्न करनेपर भी कुछ नहीं बोलते थे। मार्गमें अधम पुरुष उन्हें ललकारकर, ताड़ना देकर, उनके शरीरपर पेशाब करके, विष्ठा और धूल डालकर, अधोवायु छोड़कर, थूककर तथा दुर्वचन कहकर अनेक प्रकारसे सताते; परन्तु जिस प्रकार जंगली हाथी मक्खियोंके आक्रमणको कुछ भी नहीं गिनता उसी प्रकार वे भी इन सब कष्टोंसे तनिक भी विचलित नहीं होते थे और सदा आत्मस्थित रहते थे। कुछ दिन बाद जब इन्हें सब लोक भगवद्ध्यानरूप योगसाधनके प्रत्यक्ष विरोधी दीखने लगे और उनका प्रतीकार करना भी इन्हें गर्हित प्रतीत होने लगा तब इन्होंने आजगरव्रत (एक ही स्थानमें रहकर प्रारब्धकर्म भोगना) धारण किया। ये लेटे हुए ही प्रारब्धवश प्राप्त हुए अन्नादिका भोजन करते और पड़े-पड़े ही मल-मूत्रका त्याग करते, जिससे उनका शरीर मल-मूत्रसे सन जाता था। परन्तु उनके मल-मूत्रसे ऐसी सुगन्ध निकलती थी कि उससे दस योजनपर्यन्तका देश सुगन्धित हो उठता था। इसी प्रकार कुछ दिनतक इन्होंने गौ, मृग और काकोंकी वृत्ति धारणकर गौ, मृग और कौओंकी भाँति चलते हुए, खड़े होकर, बैठकर अथवा लेटकर खाना-पीना, मल-मूत्रत्याग आदि व्यवहार किये। इस तरह नाना प्रकारके योगोंका आचरण करते हुए भगवान् ऋषभदेवको मार्गमें अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हुईं, पर इन्होंने उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। इस प्रकार लिंगशरीरके अभिमानसे रहित भगवान् ऋषभदेवका शरीर योगमायाकी वासनारूप संस्कारोंके कारण अभिमानके आभाससे* इस पृथ्वीपर विचरने लगा। वे दक्षिण प्रान्तके कर्णाटक देशमें जाकर कुटकपर्वतके बगीचेमें मुखमें पत्थरका ग्रास लेकर चिरकालतक उन्मत्तकी भाँति केश खोले नग्न होकर घूमते रहे।

एक दिन वायुके वेगसे बाँसोंके परस्पर रगड़नेसे उस उपवनमें प्रचण्ड दावानल उत्पन्न हुआ, जिसने ऋषभदेवजीके शरीरसहित सारे वनको बात-की-बातमें भस्म कर दिया। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेवने संसारको परमहंसोंके आचरणका श्रेष्ठ आदर्श दिखाकर अपनी इहलीला संवरण की। (श्रीमद्भागवतके आधारपर)

—चि० गोस्वामी

---

* जैसे एक बार घुमाया हुआ कुम्हारका चाक संस्कारवश बहुत देरतक घूमता रहता है उसी प्रकार अभिमानरहित हुए पुरुषका शरीर पहले अभिमानके संस्कारवश कितने ही दिनोंतक विद्यमान रहता है। इसी अभिमानके संस्कारको 'अभिमानका आभास' कहते हैं।

भरत

परम भगवद्भक्त राजर्षि भरत भगवान् ऋषभदेवके सौ पुत्रोंमें सबसे बड़े थे। इन्होंने पिताकी आज्ञासे राज्यभार स्वीकारकर पंचजनी नामक विश्वरूपकी कन्याके साथ विवाह किया और उसके द्वारा पाँच पुत्र उत्पन्न किये। हमारा यह भारतवर्ष, जो पहले अजनाभखण्डके नामसे प्रसिद्ध था, इन्हीं महानुभावके नामपर भरतखण्ड अथवा भारतवर्ष कहलाया। ये सब शास्त्रोंके मर्मको जाननेवाले और धर्मके अनुकूल बर्ताव करनेवाले थे और पिताके समान प्रजाका पालन करते थे। इन्होंने यज्ञ-क्रतुरूप भगवान्का समय-समयपर अपने अधिकारके अनुसार अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, सोमयाग प्रभृति छोटे-बड़े यज्ञोंके द्वारा श्रद्धापूर्वक आराधन किया। वे यज्ञसे उत्पन्न होनेवाले धर्म नामक अपूर्व कर्मफलकी सर्वान्तर्यामी, परमदेव, यज्ञपुरुष भगवान् वासुदेवके अन्दर भावना करते हुए अपनी कुशलतासे रागादि मलोंका क्षय करके यज्ञके भोक्ता सूर्यादि देवताओंको भी भगवान् वासुदेवके नेत्र आदि अवयवोंमें एकत्वरूपसे चिन्तन करने लगे। इस प्रकार कर्मकी पूर्णतासे शुद्धचित्त हुए भरतके हृदयमें भगवान् वासुदेवके प्रति उत्तरोत्तर बढ़नेवाली भक्ति उत्पन्न हुई। इस प्रकार भक्तियोगका आचरण करते हुए उन्हें कई हजार वर्ष बीत गये। तब ये अपने राज्यको पुत्रोंमें विभक्तकर घरको त्यागकर पुलह ऋषिके आश्रम (हरिक्षेत्र) को चले गये, जहाँ विद्याधर नामक कुण्डमें भक्तोंके ऊपर दया करनेवाले भगवान् अब भी वहाँ रहनेवाले अपने भक्तोंको स्वरूपसे सान्निध्यका सुख देते हैं और जहाँ गण्डकी नदी शालग्रामशिलाके चक्रोंसे ऋषियोंके आश्रमोंको चारों ओरसे पवित्र करती है। उस क्षेत्रमें पुलहाश्रमकी पुष्पवाटिकामें रहते हुए राजर्षि भरत विषयवासनासे मुक्त होकर और अन्त:करणको वशमें करके अनेक प्रकारके पत्र, पुष्प, तुलसीदल, जल, कन्द, मूल, फल आदि सामग्रियोंसे भगवान्की आराधना करने लगे। इस प्रकार निरन्तर भगवदाराधना करनेसे उनका हृदय भगवत्प्रेमसे भर गया, जिससे अब उनकी आराधना भी ठीक तरहसे नहीं हो पाती थी। वे भगवत्प्रेममें इतने मस्त हो जाते थे कि उन्हें क्या करना है इस बातको भूल जाते थे और घंटों भावावेशमें मग्न रहते।

एक दिन राजा भरत गण्डकी नदीमें स्नान-सन्ध्यादिक नित्य-नैमित्तिक कर्म करके ओंकारका जप करते हुए तीन घंटेतक नदीतीरपर बैठे रहे। इतनेमें वहाँ जल पीनेकी इच्छासे अपनी टोलीसे बिछुड़ी हुई एक हरिणी आयी। उसने ज्यों ही जल पीना शुरू किया कि पास ही सिंहके दहाड़नेकी आवाज आयी। वह मारे भयके जल पीना तो भूल गयी और उसने बड़े वेगसे नदीके उस पार छलाँग मारी। छलाँग मारते हुए उसके गर्भाशयमेंसे बच्चा बाहर निकल पड़ा और नदीके प्रवाहमें गिर पड़ा और हरिणीने भी एक गुफामें जाकर प्राण त्याग दिये। इस सारे दृश्यको देखकर भरतका कोमल हृदय करुणासे भर गया। उन्होंने दयापरवश हो उस मातृहीन बच्चेको जलमेंसे बाहर निकाल लिया और उसे अनाथ समझकर अपने आश्रममें ले आये। धीरे-धीरे उस बच्चेमें उनकी ममत्वबुद्धि हो गयी और वे बड़े चावसे उसे खिलाते-पिलाते, हिंस्र जन्तुओंसे उसकी रक्षा करते और प्रेमसे उसे पुचकारते और उसके शरीरको खुजलाते और सहलाते। इस प्रकार धीरे-धीरे उनकी उस बच्चेमें आसक्ति बद्धमूल हो गयी और उसके पीछे उनका सारा कर्म-धर्म छूट गया। वे रात-दिन उसीके लालन-पालनमें लगे रहते। उनकी आसक्ति कर्तव्यबुद्धिके रूपमें उनके सामने आकर उन्हें धोखा देने लगी। वे सोचते कि कालचक्रने ही इस बच्चेको अपने माता-पितासे छुड़ाकर मेरी शरणमें पहुँचाया है, अत: इस शरणागतकी सब प्रकारसे रक्षा करना मेरा धर्म है। एक दिन वह मृगशावक खेलता-खेलता आश्रमसे बहुत दूर निकल गया और लौटा नहीं। अब तो राजर्षि उसके वियोगमें बहुत व्याकुल हो गये और उसे याद कर-करके रोने लगे। उन्होंने सोचा कि उसे किसी हिंस्र पशुने मार तो नहीं डाला और इस अनिष्ट-शंकाने उनके हृदयको व्यथित कर डाला। इस प्रकार उनके प्रारब्धने ही मानो हरिणके बच्चेका रूप धारणकर उन्हें योगमार्गसे और भगवदाराधनारूप कर्मसे भ्रष्ट कर दिया, अन्यथा जिस राजर्षिने अपने औरस पुत्रों—अपने हृदयके टुकड़ों—और अपनी पाणिगृहीता पत्नीका परित्याग कर दिया उसकी एक पोसे हुए हरिणके बच्चेमें इतनी आसक्ति कैसे होती। अस्तु, एक दिन राजा

उसी मृगशावककी चिन्तामें बैठे थे कि अकस्मात् उनका मृत्युकाल उपस्थित हो गया और उन्होंने उसी मृगछौनेका ध्यान करते हुए प्राण त्याग दिये। '**अन्ते मतिः सा गतिः**' इस नियमके अनुसार उन्हें अगले जन्ममें हरिणका शरीर मिला, परन्तु भगवदाराधनके प्रभावसे उनकी पूर्वजन्मकी स्मृति नष्ट नहीं हुई। उन्होंने सोचा, 'अरे मैंने यह क्या किया? एक हरिणके मोहमें दुर्लभ मनुष्यजन्मको व्यर्थ ही खो दिया।' अब तो वे पूर्णतया सावधान हो गये। वे अपने परिवारको छोड़कर उसी पुलहाश्रममें चले आये और वहाँ सब प्रकारका संग त्यागकर मुनिकी भाँति अकेले ही विचरते रहे और मृत्युकी बाट देखते रहे। जब मरणकाल निकट आया तो उन्होंने गण्डकी नदीमें स्नानकर उस मृगशरीरको त्याग दिया। उन्हें तीसरे जन्ममें ब्राह्मणयोनि प्राप्त हुई और उसी शरीरसे वे मुक्त हो गये। (श्रीमद्भागवतके आधारपर)

—चि० गोस्वामी

पृथु

परमवैष्णव महाराज ध्रुवके वंशमें वेन नामक एक राजा हुआ। वह बड़ा अत्याचारी एवं दुष्ट था। उसके अत्याचारोंसे पीड़ित होकर मुनियोंने उसे शापद्वारा मार डाला। उसके कोई सन्तान न होनेके कारण ब्राह्मणोंने उसके दोनों बाहुओंको मथकर एक स्त्री और एक पुरुषका जोड़ा उत्पन्न किया। ऋषियोंने कहा कि यह पुरुष भगवान् विष्णुका अंशावतार है और यह स्त्री जगज्जननी लक्ष्मीका अवतार है। यही हमारे चरित्रनायक महाराज पृथु और उनकी पत्नी अर्चिदेवी थीं। उनके प्राकट्यसे हर्षित होकर गन्धर्वगण गान करने लगे, सिद्धोंने पुष्पवृष्टि की और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। देवताओं, ऋषियों और पितरोंके समूह महाराज पृथुका दर्शन करनेके लिये उनकी नगरीमें आये। जगद्गुरु ब्रह्माजी भी इन्द्रादि लोकपालोंके साथ वहाँ आये और उन्होंने राजाके दहिने हाथमें गदाधारी भगवान् विष्णुका रेखारूप चिह्न तथा चरणोंमें कमलके चिह्न देखकर यह निश्चय किया कि ये अवश्य ही श्रीहरिके अवतार हैं। इसके अनन्तर ब्रह्मवादी ब्राह्मणोंने उनके राज्याभिषेककी तैयारी की तथा सबने अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार राजा पृथुको उपहार लाकर दिये। तदनन्तर सूत, मागध तथा बन्दियोंने राजाकी अनेक प्रकारसे स्तुति करना आरम्भ किया। इसपर राजाने उनसे कहा—'भाइयो! अबतक तो मैंने कोई ऐसे कर्म ही नहीं किये जिनके कारण आप लोग मेरी स्तुति करें। अतः आप लोग अपनी वाणीको सार्थक करनेके लिये स्तुति करनेयोग्य भगवान् नारायणकी ही स्तुति करिये, जिनके गुण संसारमें विख्यात हैं।' यह कहकर राजाने उन्हें उचित पुरस्कार देकर विदा किया।

राजा वेनके समयमें पृथ्वी उनके अत्याचारोंके प्रभावसे अन्नरहित हो गयी थी, जिससे प्रजाजन बहुत दुखी हो गये थे। अब पृथु-जैसे धर्मात्मा राजाको सिंहासनारूढ़ देखकर वे सब-के-सब उनके पास आये और उनसे अपनी करुण कहानी कह सुनायी। राजा उनके करुणविलापको सुनकर बहुत दुखी हुए और पृथ्वीके अन्नरहित होनेका कारण ढूँढ़ने लगे। उन्होंने ध्यानके द्वारा देखा कि पृथ्वीने ओषधियों और बीजोंको ग्रास कर डाला है। यह जानकर उन्हें पृथ्वीपर बड़ा क्रोध आया और उन्होंने भूमिको दण्ड देनेके लिये धनुषपर बाण चढ़ाया। उन्हें क्रुद्ध देखकर पृथ्वी बहुत भयभीत हुई और गौका रूप धारणकर राजाके सामने आयी और बोली—

'हे राजन्! पहले आप मेरी बात सुन लीजिये, फिर जैसा उचित हो कीजिये। बात यह है कि जिन ओषधियोंको स्वयं ब्रह्माजीने उत्पन्न किया उन्हें आचारभ्रष्ट, दुराचारी पुरुष भक्षण करने लगे और राजाओंने चोर-डाकुओंसे मेरी रक्षा करनेमें उपेक्षा की तथा यज्ञादि बंद करके उलटा मेरा अनादर करने लगे। तब मैंने विचार किया कि दुष्टोंद्वारा भक्षण की हुई ओषधियाँ फिर उत्पन्न नहीं होंगी और यज्ञादि कर्म सब बंद हो जायँगे, इसलिये इन यज्ञके साधनोंको अपने पास रखना अच्छा होगा। यही सोचकर मैंने उन ओषधियोंको ग्रास कर लिया। वे ओषधियाँ अधिक समय बीत जानेके कारण मेरे उदरमें क्षीण-सी हो गयी हैं, इसलिये आप ऋषियोंद्वारा कथित दोहनरूप उपायका अवलम्बन कीजिये जिससे वे ओषधियाँ पुनः उपलब्ध हो सकें। अतः आप मुझ गौरूपिणीको दुहनेके लिये उपयुक्त वत्स, पात्र और

दुहनेवालेकी व्यवस्था कीजिये तो मैं परम प्रेमके साथ आपको दुग्धरूपमें अन्न आदि बहुत-से पदार्थ दूँगी। साथ ही वर्षाका जल वर्षाऋतुके बीत जानेपर भी मेरे ऊपर सर्वत्र रह सके, इसके लिये आपको मेरे पृष्ठभागको समतल बनाना होगा। ऐसा करनेसे आपकी प्रजाका मनोरथ पूर्ण होगा और आपका भी कल्याण होगा।'

पृथ्वीके इन वचनोंको सुनकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने स्वायम्भुव मनुको वत्स बनाकर अपने हाथरूप पात्रमें व्रीहि, यव आदि सकल ओषधिरूप दूध दुहा और सकल मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली पृथ्वीको वे पुत्रीरूपमें मानने लगे। तभीसे यह 'पृथ्वी' नामसे विख्यात हुई। इसके अनन्तर उन समर्थ राजाधिराजने अपने धनुषके अग्रभागसे पर्वतोंके शिखरोंको चूर्ण करके पृथ्वीको प्रायः समतल बना दिया और जहाँ-तहाँ लोगोंके रहनेके लिये यथोचित रीतिसे गाँव, पुर, नगर, नाना प्रकारके किले, भीलोंके पल्लिग्राम, गौओंके योग्य स्थान, सेनाके ठहरनेके स्थान, किसानोंके गाँव आदि बनवाये, जिससे सारी प्रजा निर्भय होकर सुखपूर्वक रहने लगी।

इसके अनन्तर राजा पृथुने ब्रह्मावर्त क्षेत्रमें, जहाँ सरस्वती नदी पूर्वकी ओर बहती है, सौ अश्वमेध यज्ञ करनेके लिये दीक्षा ग्रहण की। उनके इस प्रयत्नको देखकर इन्द्रको भय हुआ कि उनका यह उद्योग कहीं इन्द्रत्वकी प्राप्तिके लिये तो नहीं है। इस भयसे उसने यज्ञमें कई बार विघ्न डाला। जब राजा निन्यानबे यज्ञ समाप्त कर चुके और सौकी संख्या पूरी करनेको उद्यत हुए उस समय इन्द्रने फिर विघ्न करना शुरू किया। इसपर ऋत्विजोंने मन्त्रोंके बलसे इन्द्रको बुलाकर होमनेका निश्चय किया, परन्तु ब्रह्माजीने उन्हें इस कर्मसे रोका और पृथुको निन्यानबेकी संख्यासे ही सन्तोष कर लेनेको कहा। राजाने ब्रह्माजीकी आज्ञा मानकर यज्ञको आगे चलानेका आग्रह छोड़ दिया और इन्द्रसे सन्धि कर ली। जब राजा अवभृथस्नान करके उठे उस समय उन्हें वरदान देनेके लिये अनेक देवताओंके साथ यज्ञाधिपति यज्ञभोक्ता भगवान् विष्णु वहाँ उपस्थित हुए और बोले—'हे राजन्! तुम्हारे शान्ति, निर्मत्सरता आदि गुणोंको तथा तुम्हारे शील-स्वभावको देखकर मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें समान बुद्धि रखनेवाले पुरुषको मैं जितनी सुलभतासे प्राप्त होता हूँ उतना यज्ञ, तप और योगाभ्याससे भी नहीं होता।'

भगवान्‌के इन प्रेमभरे वचनोंको सुनकर राजा गद्गद हो गये। वे अश्रुप्रवाहको रोककर बोले—'प्रभो! आप ब्रह्मादि वरदाताओंको भी वर देनेवाले हैं, अतः आपसे कोई भी बुद्धिमान् पुरुष सांसारिक भोगोंको वरदानके रूपमें नहीं माँगेगा। आपके चरणारविन्दमकरन्दसे रहित मोक्षपदको भी मैं नहीं चाहता। मुझे तो केवल यही वरदान दीजिये कि मुझे आपका यश सुननेके लिये दस हजार कान प्राप्त हों। इच्छारहित साधु पुरुष ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर भी आपकी भक्ति ही करते हैं। उन्हें निरन्तर आपके चरणोंका स्मरण करनेके अतिरिक्त कोई दूसरा प्रयोजन नहीं रहता। आप जो मुझे 'वर माँग' ऐसा कहते हैं, सो आपकी यह वाणी सारे जगत्‌को मोहित करनेवाली है। यही क्यों, आपकी वेदरूप वाणी भी लोगोंको मोहित करके बाँध लेती है, नहीं तो यह मनुष्य बार-बार फलोंकी अभिलाषासे कर्म क्यों करता? हे ईश्वर! यह मूर्ख प्राणी स्त्री-पुत्रादिकी इच्छा करता है, इसीलिये आपकी मायाने इसे सत्यस्वरूप आपसे अलग कर रखा है। इसलिये मेरी तो यही प्रार्थना है कि मायाजालमें फँसे हुए इस जीवको आप और अधिक न फँसावें, किन्तु जिस प्रकार पिता अपने पुत्रका हित करता है उसी प्रकार आपको भी हमारा हित करना चाहिये।'

राजाके इन वचनोंको सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और राजाकी प्रशंसा करते हुए अपने धामको चले गये। राजा भी अपने नगरको लौटकर न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करने लगा। वह केवल अपने प्रारब्धकर्मोंके अनुसार प्राप्त हुए भोगोंको भोगता था और भोगोंकी इच्छासे नवीन कर्म नहीं करता था। उसका भोग भोगना केवल पुण्यकर्मोंका क्षय करनेकी इच्छासे ही था, सुखकी आसक्तिसे नहीं था। एक समय राजा पृथुने महासत्र करनेकी दीक्षा ग्रहण की, जिसमें देवता, महर्षि और राजर्षियोंका बड़ा भारी समाज एकत्रित हुआ। सबका यथायोग्य पूजन करके राजाने उपस्थित समाजको धर्मका उपदेश दिया, जिसे सुनकर सब लोग बड़े प्रसन्न हुए और राजाकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। इतनेमें ही वहाँ सूर्यके समान तेजस्वी सनकादि सिद्ध महर्षि आकाशमार्गसे आ पहुँचे। उन्हें दूरसे ही देखकर

राजा अपने सेवकों और समाजसहित उठ खड़ा हुआ और नम्रतासे सिर झुकाकर उनकी विधिवत् पूजा की और चरण धोकर चरणोदक सिरपर चढ़ाया। फिर राजाके प्रश्न करनेपर उन्होंने उसे आत्मतत्त्वका उपदेश दिया, जिसे सुनकर राजा अपनेको कृतार्थ मानने लगा। ऋषियोंके चले जानेके बाद वह लोकव्यवहारके निमित्त देश, काल, धन और बलकी योग्यताके अनुसार सकल कर्म यथोचित रीतिसे ब्रह्मार्पणबुद्धिसे करने लगा। चक्रवर्ती राज्यका स्वामी और गृहस्थ होता हुआ भी वह इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त नहीं होता था। वह इन्द्रके समान अजेय, पृथ्वीके समान क्षमाशील, समुद्रके समान गम्भीर और मेरुके समान धैर्यवान् था। वह निर्भयतामें सिंहके समान, प्रजावत्सलतामें मनुके समान और ब्रह्मका विचार करनेमें बृहस्पतिके समान था।

इस प्रकार राज्य करते-करते जब उसे बहुत काल हो गया और राजाने चतुर्थ अवस्थामें प्रवेश किया तब उसने वनमें जाकर तप करनेका निश्चय किया। पृथ्वीके शासनका भार अपने पुत्रोंको सौंपकर वह सकल प्रजाको खिन्न करता हुआ अकेला ही स्त्रीसहित वनको चल पड़ा। वहाँ जाकर उसने भूख, प्यास आदि कष्टोंको सहकर, मौनव्रतको धारणकर, इन्द्रियोंका संयम कर, स्त्रीके पास रहते हुए भी ब्रह्मचर्यव्रतका पालन कर तथा प्राणवायुको जीतकर केवल परमेश्वरकी प्रीतिके लिये उत्तम तपका आचरण किया। उस तपके प्रभावसे कर्म नष्ट हो जानेके कारण उसका अन्त:करण निर्मल हो गया और प्राणायामके द्वारा उसने इन्द्रियों और मनको वशमें कर लिया और इस प्रकार वासनारूप बन्धनके टूट जानेपर उसने सनकादि महर्षियोंके द्वारा उपदिष्ट भक्तियोगका आचरण प्रारम्भ किया। भगवान्को सकल कर्म अर्पण करके शुद्ध चित्त और विश्वासके साथ निरन्तर भगवान्की सेवा करनेवाले राजा पृथुके हृदयमें ब्रह्मरूप भगवान्के प्रति एकनिष्ठ भक्ति उत्पन्न हुई और भक्तिके साथ-ही-साथ वैराग्यसहित ज्ञानका प्रादुर्भाव हुआ, जिससे उसके हृदयकी सारी ग्रन्थियाँ अपने-आप टूट गयीं। आगे चलकर उसने इस ज्ञानका भी परित्याग कर दिया और अपने मनको परमात्मामें स्थिर करके पूर्ण ब्रह्मत्वकी प्राप्ति हो जानेपर देह त्यागनेके योग्य कालमें शरीर भी त्याग दिया।

पृथुकी स्त्री अर्चिने भी, जो इतनी सुकुमार थी कि चरणोंसे भूमिके स्पर्शको भी नहीं सह सकती थी, पतिके साथ वनमें रहकर कठोर व्रतोंका पालन किया। वह भूमिपर शयन करती और कन्द-मूल, फल खाकर जीवननिर्वाह करती थी। उसका शरीर सूखकर काँटा हो गया था, परन्तु फिर भी वह पतिकी सेवामें रत रहकर परम सुखका अनुभव करती थी। उसने जब देखा कि पतिका शरीर चेतनाशून्य हो गया तो पहले तो उसने वियोगकातर होकर कुछ देर विलाप किया, फिर उस पतिव्रताने सहगमन करनेके निमित्त एक स्थानपर काष्ठोंकी चिता बनायी और उसपर पतिके शरीरको रख दिया। तदनन्तर उसने नदीके जलमें स्नानकर सेंदुर आदि सौभाग्यके चिह्नोंको धारण किया, पतिको जलांजलि देकर अन्तरिक्षमें रहनेवाले देवताओंकी वन्दना की और चितामें लगायी हुई अग्निकी तीन प्रदक्षिणा कर पतिका ध्यान करती हुई अग्निमें प्रवेश कर गयी। पतिका सहगमन करनेवाली उस सतीको देखकर सहस्रों देवांगनाएँ देवताओंके साथ उसकी प्रशंसा करने लगीं; उन्होंने पति, पत्नी दोनोंको विमानपर आरूढ़ होकर वैकुण्ठमें जाते हुए देखा।

(श्रीमद्भागवतके आधारपर)

—चि० गोस्वामी

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

जो आनेवाले कलकी चिन्ता किये बिना प्रभुमें रत रहता है वही सच्चा सहनशील है। ईश्वरसे डरना भाग्यशाली बननेका लक्षण है। पाप करते रहकर भी ईश्वरकी दयाकी आशा रखना दुर्भाग्यकी निशानी है।

प्रचेतागण

महाराज पृथुके वंशमें बर्हिषद नामके एक महानुभाव राजा हुए। वे प्रजाका नीतिपूर्वक पालन करनेवाले, यज्ञादिके अनुष्ठानरूप कर्मकाण्डमें तथा प्राणायाम आदि योगाभ्यासमें पारंगत और परम पुण्यात्मा थे। उन्होंने जहाँ एक यज्ञ किया उसके समीप ही दूसरा यज्ञ किया और दूसरेके समीप ही तीसरा यज्ञ किया, इस प्रकार उन्होंने यज्ञोंका ताँता-सा लगा दिया, जिससे यह सारा भूमण्डल प्राङ्मुख दर्भोंसे आच्छादित यज्ञमण्डप-सा बन गया। इसीसे ये प्राचीनबर्हि नामसे प्रसिद्ध हुए। इन्होंने देवाधिदेव ब्रह्माजीके कहनेसे समुद्रकी शतद्रुति नामक कन्याके साथ विवाह किया और उसके द्वारा उन्होंने प्रचेता नामके दस पुत्र उत्पन्न किये। ये सब-के-सब भगवान्‌की आराधनारूप धर्ममें परिनिष्ठित थे। ये जब वयस्क हुए तो पिताने इन्हें विवाहकर सन्तान उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी। भगवान्‌के अनुग्रह बिना उत्तम सन्तानका होना कठिन है, यह सोचकर वे भगवान्‌की प्रसन्नताके निमित्त तप करनेको पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये। चलते-चलते समुद्रके समीप उन्होंने समुद्रसे कुछ ही छोटे एक सरोवरको देखा, जिसका जल सत्पुरुषोंके अन्त:करणके समान निर्मल था और जिसमें रहनेवाले मत्स्य, कच्छप आदि प्राणी शान्त थे। वहाँ मृदंग और झाँझ आदि बाजोंके साथ गन्धर्वोंका मनोहर गान हो रहा था। उस दिव्य गानको सुनकर वे राजपुत्र परम विस्मित हुए। इतनेमें ही उन्होंने देखा कि साक्षात् देवाधिदेव महादेव नन्दीश्वर आदि सेवकोंको लिये हुए उस सरोवरमेंसे निकल रहे हैं। उन्हें देखकर राजपुत्रोंने भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। भगवान् शंकर भी उन राजपुत्रोंको देखकर बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—'हे राजपुत्रो! तुम प्राचीनबर्हि राजाके पुत्र हो और तुम्हारे मनमें भगवान्‌की आराधना करनेकी इच्छा है, यह सब मैं जानता हूँ और तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही मैंने तुम्हें दर्शन दिये हैं। जो जीव भगवान् वासुदेवकी शरणमें चला जाता है उससे बढ़कर मुझे कोई भी प्रिय नहीं है। जैसे भगवान् मुझे प्रिय हैं उसी प्रकार तुम भगवद्भक्त भी मुझे प्रिय हो। और भगवान्‌के भक्तोंको भी मुझसे अधिक प्रिय कोई नहीं है। अत: मैं तुम्हें जप करनेयोग्य, पवित्र, मंगलकारी, श्रेष्ठ और भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति करा देनेवाले स्तोत्रको* कहता हूँ। उसे धारणकर एकान्तमें मौन होकर उसका जप करो। शुद्धचित्त होकर अपने धर्मका आचरण करते हुए और अपना अन्त:करण भगवान्‌को समर्पित करके इस स्तोत्रका जप करनेसे अवश्य तुम्हें कल्याणकी प्राप्ति होगी। साथ-साथ अपने तथा दूसरे समस्त प्राणियोंके अंदर रहनेवाले भगवान्‌का ध्यान और पूजन भी करते रहना चाहिये।' यह कहकर भगवान् शंकरने उन्हें अड़सठ श्लोकोंका वह उत्तम स्तोत्र कह सुनाया और राजपुत्रोंसे पूजित होकर वे उनके सामने वहीं अन्तर्धान हो गये।

राजपुत्रोंने उस स्तोत्रका जप करते हुए समुद्रके अंदर कटिपर्यन्त जलमें खड़े होकर दस हजार वर्षतक तप किया। उनके इस तपसे प्रसन्न होकर भगवान् श्रीहरि शुद्ध सत्त्वगुणी मूर्ति धारणकर अपनी कान्तिसे उनके तपजनित क्लेशको दूर करते हुए उनके समीप प्रकट हुए और बोले—'हे राजपुत्रो! तुम लोग बड़े प्रेमके साथ भगवदाराधनरूप एक ही धर्मका आचरण कर रहे हो, तुम्हारे इस सखाभावसे हम बहुत प्रसन्न हैं। इसलिये हमसे इच्छित वर माँगो। जो मनुष्य प्रतिदिन सन्ध्याके समय तुम्हारा स्मरण करेगा उसका भ्राताओंमें तथा सकल प्राणियोंमें तुम्हारे ही समान प्रेम उत्पन्न होगा। तुम्हें ब्रह्माके समान एक लोकप्रसिद्ध पुत्र उत्पन्न होगा जो अपनी सन्तानके द्वारा इस त्रिलोकीको भर देगा।' भगवान्‌के इन वाक्योंको सुनकर प्रचेतागण कृतज्ञतासे गद्‌गद हो गये। उन्होंने भगवान्‌की अनेक प्रकारसे स्तुति की और बोले 'प्रभो, आप तो घट-घटमें व्यापक हैं, आपसे कोई बात छिपी नहीं रह सकती; अत: हमारे मनोरथको भी आप भलीभाँति जानते हैं। फिर भी यदि आप हमारे मनोरथको हमींसे सुनना चाहते हैं तो हम तो यही जानते हैं कि परम पुरुषार्थरूप आप स्वयं हमपर प्रसन्न हुए हैं, इससे बढ़कर हमारे लिये अभीष्ट वर क्या हो सकता है? आपकी कृपासे आपके चरणोंका सान्निध्य प्राप्त हो जानेके बाद ऐसी कौन-सी वस्तु रह जाती है जो हम आपसे माँगें? अत: हम तो आपसे इतना ही चाहते हैं कि आपकी मायासे मोहित हुए हम अपने कर्मोंद्वारा जबतक इस संसारमें भ्रमण करते रहें

* जिन्हें यह स्तोत्र देखना हो उन्हें श्रीमद्भागवत-चतुर्थ स्कन्धका २४ वाँ अध्याय देखना चाहिये।

तबतक प्रत्येक जन्ममें हमें आपके भक्तोंका संग मिलता रहे। सांसारिक भोगोंकी तो बात ही क्या है, साधुसमागमके सामने हम स्वर्ग तथा मोक्षको भी कुछ नहीं समझते। दूसरा वरदान आपसे हम यह माँगते हैं कि जलमें खड़े होकर दीर्घकालपर्यन्त जो हमने तप किया है वह आपकी प्रसन्नताका कारण हो।'

प्रचेताओंके इन प्रेमभरे वचनोंको सुनकर भगवान् बड़े सन्तुष्ट हुए और 'तथास्तु' कहकर अपने धामको चले गये। उनके चले जानेपर प्रचेतागण समुद्रमेंसे बाहर निकले और उन्होंने ब्रह्माजीकी आज्ञासे वृक्षोंकी दी हुई मारिषा नामक कन्याके साथ विवाह कर लिया। उस मारिषाके गर्भसे ब्रह्माजीके पुत्र दक्षप्रजापतिने (जिन्होंने चाक्षुष मन्वन्तरमें भगवान् शंकरका अपराध करनेके कारण अपना शरीर त्याग दिया था) पुनः जन्म धारण किया। कर्मोंमें दक्ष होनेके कारण उसे भी लोग 'दक्ष' नामसे पुकारने लगे। उसे जब ब्रह्माजीने प्रजाओंकी सृष्टि और रक्षाके कार्यमें नियुक्त कर दिया तो ये प्रचेतागण अपनी भार्याको अपने पुत्रके अधीन करके घर छोड़कर वनको चल दिये। उन्होंने पहलेकी भाँति पश्चिम दिशामें समुद्रतटपर जाकर ब्रह्मसूत्रकी दीक्षा ग्रहण की अर्थात् आत्मविचार करनेका संकल्प किया। तदनन्तर वे प्राण, मन, वाणी और दृष्टिको वशमें करके, आसनोंपर विजय प्राप्तकर तथा मूलाधार चक्रसे मस्तकपर्यन्त सारे अंगोंको शान्त तथा स्थिर करके शुद्ध ब्रह्ममें मनको लगानेका अभ्यास करने लगे। वे जब इस प्रकार साधनमें लगे हुए थे उन दिनों नारदजी उनके पास आये। देवर्षिको आते देख ये सब-के-सब उठ खड़े हुए और उन्हें आसनपर बिठाकर विधिपूर्वक उनका पूजन किया। जब नारदजी स्वस्थ होकर बैठ गये तब प्रचेतागण उनसे इस प्रकार कहने लगे—'हे देवर्षि, आज हम आपके आगमनसे सनाथ हो गये। आपने कृपा करके हमें दर्शन दिये, इसके लिये हम आपके चिरऋणी रहेंगे। अब आप हमारे ऊपर एक कृपा और कीजिये। हमें देवाधिदेव शंकर और भगवान् नारायणने तत्त्वज्ञानका जो उपदेश दिया था उसे हम लोग भूल-से गये हैं। अतः आप कृपा करके हमें उसी ज्ञानको फिरसे कहिये।' उनकी इस प्रार्थनाको स्वीकारकर नारदजीने उन्हें आत्मतत्त्वका उपदेश दिया और भगवान् तथा उनके भक्तोंके अनेक इतिहास सुनाकर वे ब्रह्मलोकको चले गये। तदनन्तर वे प्रचेता भी देवर्षि नारदके मुखसे भगवान्‌के मंगलमय यशको सुनकर उन्हींके चरणोंका ध्यान करते हुए देवदुर्लभ गतिको प्राप्त हुए। (श्रीमद्भागवतके आधारपर)

—चि० गोस्वामी

अश्वपति

राजर्षि अश्वपति कैकय देशके अधिपति थे। वे बड़े ज्ञानी और वैश्वानर-विद्याके उपासक थे। उनके राज्यमें बड़ी शान्ति थी। सब लोग अपने-अपने कर्ममें लगे हुए थे। एक दिन उनके यहाँ कई महात्मा अतिथि हुए।

बात यह थी कि प्राचीनकाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल नामके पाँच गृहस्थ वेदज्ञोंने यह विचार किया कि आरुणि उद्दालकके पास चलें और उनसे वैश्वानर-विद्या सीखें; किन्तु आरुणि उद्दालकके पास जानेपर आरुणिने सोचा कि मैं इस विद्याका पूर्णतः ज्ञान नहीं रखता और न कह ही सकता हूँ, इसलिये उसके विद्वान् अश्वपतिके पास चलना चाहिये। अतः आरुणि आदि सब मिलकर अश्वपतिके पास गये। राजाने पृथक्-पृथक् सबकी पूजा की और बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे सबका स्वागत-सत्कार किया। वे लोग बड़े आनन्दसे वहाँ ठहर गये। दूसरे दिन प्रातःकाल आकर अश्वपतिने उन ऋषियोंसे प्रार्थना की कि मैं एक यज्ञ करना चाहता हूँ; आप लोग मेरे ऋत्विजोंके समकक्ष होकर निवास करें और उतनी ही दक्षिणा आप लोग पृथक्-पृथक् होकर ग्रहण करें।

वे लोग यज्ञ कराने या दक्षिणा लेनेके लिये नहीं आये थे। उनके आनेका उद्देश्य वैश्वानरोपासनाका ज्ञान प्राप्त करना था। यदि वे इस पौरोहित्य और दक्षिणाके प्रलोभनमें पड़कर अपना उद्देश्य भूल जाते तो उन्हें वास्तविक ज्ञानकी उपलब्धि कैसे होती? उन्होंने इस बातको विघ्न समझकर अस्वीकार कर दिया। अश्वपतिने सोचा कि राजाका स्थान बड़ा ही विषम है, सम्भव है, मेरे राज्यमें बड़े-बड़े पाप होते होंगे

और प्रजाके पापोंका भागी राजा होता ही है—ऐसा सोचकर इन लोगोंने मेरे यज्ञमें दक्षिणा ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया हो। अत: उनके मनसे यह शंका दूर कर देनेके लिये उसने अपनी सफाई पेश की। वे बोले—

'मेरे राज्यमें न चोर है, न लोभी है, न शराबी है, न यज्ञहीन है, न मूर्ख है और न व्यभिचारी या व्यभिचारिणी ही है। इसलिये आप लोग नि:सन्देह मेरे यज्ञमें रहना स्वीकार करें।'

उन लोगोंने कहा—'राजन्! मनुष्य जिस उद्देश्यको लेकर कहीं जाता है उसीकी पूर्णता चाहता है। हमलोग इस समय धन या सम्मानके लिये नहीं आये हैं, हम तो वैश्वानर-उपासनाका ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। इसलिये आप कृपा करके उसीका वर्णन करें।' राजाने कहा—'कल प्रात:काल वर्णन करूँगा।'

दूसरे दिन प्रात:काल ही वे सब हाथमें समिधा ले-लेकर बड़ी नम्रताके साथ राजाके पास उपस्थित हुए और राजाने एक-एक करके सबकी उपासना पूछी। सबने अपनी-अपनी की हुई उपासनाका वर्णन किया। सबकी एकांगी उपासना सुनकर अश्वपतिने बतलाया कि 'एक-एक अंगकी उपासना करनेके कारण ही आप लोग प्रजा, पशु, धन आदि सांसारिक सम्पत्तियोंसे युक्त हैं। परन्तु इस अधूरी उपासनाके कारण आप लोगोंका बड़ा अनिष्ट हो सकता था। बड़ा अच्छा हुआ, आप लोग मेरे पास आ गये।' इसके बाद उन्हें वैश्वानर-उपासनाका सारा रहस्य बतलाया। उन्होंने कहा—'वैश्वानर-आत्माकी पृथक्-पृथक् उपासना नहीं करनी चाहिये; वह सारे लोकोंमें, सारे प्राणियोंमें और सारे आत्माओंमें भोक्ताके रूपसे विद्यमान है। वही सब कुछ है। उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है। इसके पश्चात् नित्य अग्निहोत्र अथवा प्रतिदिनकी वैश्वानर-पूजा बतलायी।'

वैश्वानर आत्माको जाननेवाला जो पुरुष प्रतिदिन भोजनके समय जो अन्न प्राप्त हो उसके पाँच ग्रास लेकर '**ॐ प्राणाय स्वाहा**', '**ॐ व्यानाय स्वाहा**', '**ॐ अपानाय स्वाहा**', '**ॐ समानाय स्वाहा**', '**ॐ उदानाय स्वाहा**' इन मन्त्रोंसे पाँच आहुतियाँ देकर अपने उदरस्थ वैश्वानरका अग्निहोत्र करता है वह सारे लोकों, सम्पूर्ण प्राणियों और समस्त आत्माओंको तृप्त करता है। जैसे मूँजकी रुई आग लगते ही भस्म हो जाती है वैसे ही इस उपासनाको करनेवालोंके समस्त पाप जल जाते हैं। जैसे भूखे बच्चे अपनी माताकी प्रतीक्षा किया करते हैं वैसे ही संसारके समस्त प्राणी इस नित्य अग्निहोत्रकी प्रतीक्षा किया करते हैं और इन आहुतियोंको पाकर सन्तुष्ट होते हैं। इस प्रकार अश्वपतिसे ज्ञानदक्षिणा प्राप्त करके वे लोग लौट गये और महाराज अश्वपति पूर्ववत् ज्ञानमें स्थिर होकर प्रजापालन करने लगे।

—शान्तनु

महाराज नल

कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम्॥*

महाराज नल बड़े ही धर्मात्मा और प्रजापालक नरपति थे। इनके राज्यमें सर्वत्र धर्मका प्रचार था, कलियुगके लिये कहीं तनिक भी स्थान नहीं था। सभी युगोंमें चारों युग न्यूनाधिकरूपमें रहते हैं, किन्तु नलने कलिको एकदम अपने राज्यसे बाहर कर दिया था। इससे कलियुग नाराज होकर चला गया और उसने राजासे बदला लेनेकी प्रतिज्ञा की।

एक बार महाराज जंगलमें जा रहे थे, वहाँ उन्हें एक हंस मिला। महाराजने उसे जिस किसी प्रकार पकड़ लिया। हंसने कहा—'महाराज! आप मुझे छोड़ दें, मैं आपका प्रिय करूँगा।' महाराजने उसे छोड़ दिया। वह विदर्भ देशके महाराजकी पुत्री दमयन्तीके यहाँ गया। उन दिनों संसारभरकी समस्त राजकुमारियोंमें दमयन्ती सबसे अधिक रूपवती थी, देवता भी उसे पानेकी इच्छा करते थे। हंसने जाकर दमयन्तीसे महाराज नलके गुणोंकी प्रशंसा की। दमयन्तीने मन-ही-मन महाराज नलको वरण कर लिया। देवताओंने भाँति-भाँतिसे उसे उसके निश्चयसे डिगाना चाहा, किन्तु वह दृढ़ बनी रही। उसने सहेलियोंद्वारा यह बात अपने पितातक पहुँचा दी। पिताने उसका स्वयंवर रचा।

* कर्कोटक नाग, दमयन्ती, नल और ऋतुपर्ण, इनका कीर्तन करनेसे कलिका प्रभाव नहीं पड़ता।

स्वयंवरमें दमयन्तीने राजा नलके गलेमें जयमाल डाल दी। महाराजका दमयन्तीके साथ विवाह हो गया। दमयन्ती बड़ी पतिव्रता थी। पतिकी आज्ञाके विरुद्ध वह कुछ भी नहीं करती थी। महाराज भी उससे बहुत अधिक प्रेम करते थे। दमयन्तीके गर्भसे महाराजके एक कन्या और एक पुत्र हुआ।

कलियुग तो महाराजको नीचा दिखानेकी चिन्तामें था ही, एक बार महाराज अपने भाईसे वैसे ही जूआ खेल रहे थे। उन्हें ध्यान ही न रहा कि जूएमें कलियुगका निवास है। कलिको अच्छा अवसर मिला, वह पासेमें आकर बैठ गया। महाराज नलकी बराबर हार होती रही। यहाँतक कि वे राज-पाट, धन-धान्य, महल-सवारी, सभी हार गये। उनके भाईने उनको स्त्रीसहित एक-एक वस्त्र देकर घरसे निकाल दिया। महाराजने पुत्र और पुत्रीको तो विदर्भ भेज दिया था। रानीके सहित वे जंगलोंमें भूखे-प्यासे भटकने लगे। उनके पास खानेको कोई वस्तु नहीं थी, भूखके कारण व्याकुल हो गये। रानी भूख-प्याससे दुखी होकर अत्यन्त थकावटके कारण एक वृक्षके नीचे सो गयी। महाराज उदास मनसे सोच रहे थे कि अब क्या करें। इतनेमें ही कलियुग देवता सोनेके पक्षी बनकर इधर-उधर घूमने लगे। महाराजने उन्हें पकड़नेके लिये अपनी धोती फेंकी। वे तो कलियुगके रूप थे। महाराजके पास एक धोती थी, उसे भी लेकर उड़ गये। महाराज बड़े घबड़ाये, उन्होंने सोती हुई रानीकी आधी धोती फाड़कर पहन ली और उसे यों ही सोती छोड़कर चल दिये। आगे चलकर उन्हें एक जंगलमें अग्नि लगी हुई दिखायी दी, उसमें एक अजगर सर्प जल रहा था। उसने राजासे प्रार्थना की कि मुझे उठा लो। राजाने उसे वहाँसे उठाकर दूसरी जगह रख दिया, रखते ही उसने महाराज नलको काट लिया। उसके काटनेसे महाराजका शरीर काला पड़ गया और उनका रूप एकदम बदल गया। महाराजने कहा—'तुमने यह क्या कृतघ्नता की?' उसने कहा—'मैं कर्कोटक नाग हूँ, मैंने आपका उपकार ही किया है; इससे आपको कोई और पहचान नहीं सकेगा।' कर्कोटकने राजाको एक वस्त्र दिया और कहा कि जब आप इसे पहन लेंगे तब आपको अपना असली रूप फिर प्राप्त हो जायगा। महाराज नलने वहाँसे जाकर अयोध्याके नरेश महाराज ऋतुपर्णके यहाँ रथ हाँकनेकी नौकरी कर ली।

इधर दमयन्ती किसी तरह घूमती-घामती अपने पिताके घर जा पहुँची, उसके पिताने देश-विदेश दूत भेजकर नलका पता लगवाया। एक दूतसे पता चला कि वे अयोध्यानरेशके यहाँ नौकर हैं। उनका रूप बदला हुआ था, इसलिये राजाने परीक्षाके निमित्त दमयन्तीके दूसरे स्वयंवरकी घोषणा की और समय एक ही दिनका रखा। उसमें राजा ऋतुपर्णको भी बुलाया गया। महाराज नल तो अश्वविद्याके आचार्य ही थे, उन्होंने समयसे पहले ही राजाको विदर्भ देशमें पहुँचा दिया। दमयन्तीने कई प्रकारसे अपने पतिकी परीक्षा करके अपने पिताको बता दिया कि ये वे ही हैं। तब राजाने नलकी विधिवत् पूजा की। अयोध्याधिपति महाराज ऋतुपर्णने भी उन्हें पहचानकर उनका सत्कार किया, उनसे अश्वविद्या सीखी और उन्हें द्यूतविद्या सिखायी।

महाराज ऋतुपर्णसे द्यूतविद्या सीखकर नल अपनी राजधानीको गये, वहाँ उन्होंने भाईसे फिर द्यूत खेला और अपना सब राज-पाट जीतकर वे फिर राजा हुए।

महाराज नल पुण्यश्लोक क्यों हुए? इसीलिये कि उन्होंने अपने धर्मको नहीं छोड़ा। दुष्ट लोगोंपर कोई विपत्ति पड़ती है तो वे मर्यादाधर्मको छोड़कर भाँति-भाँतिके पापमय उपायोंसे उसे हटानेकी चेष्टा करते हैं, किन्तु जो धर्मात्मा होते हैं वे कैसी भी विपत्ति आ जाय उसे दृढ़तासे सहन करते हैं।

'विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।'

—प्र० ब्रह्मचारी

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

मुरदा, रोगी, आलसी और स्वस्थ—चार प्रकारके मन होते हैं। धर्मद्रोहीका मन मुरदा, पापीका मन रोगी, लोभी व स्वार्थीका मन आलसी और भजन-साधनमें तत्पर व्यक्तिका मन स्वस्थ होता है।

महाराज रन्तिदेव

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥*

रघुवंशमें संकृति नामके एक महाराज हो गये हैं, उनके दो पुत्र थे—गुरु और रन्तिदेव। रन्तिदेव दयाके साक्षात् अवतार ही थे। अपने कष्टोंकी परवा न करके दूसरोंके कष्टोंको स्वयं झेलकर दुःखितोंको सुखी बनाना, यह बड़े भारी महापुरुषोंका काम है। महाराज रन्तिदेवका नाम ऐसे महापुरुषोंमें सबसे प्रथम लिया जाता है। वे प्राणिमात्रके दुःखोंको स्वयं सहना चाहते थे। अपना शरीर रहे चाहे जाय, किन्तु जो अपने आश्रयमें आ गया उसकी रक्षा होनी ही चाहिये। महाराज रन्तिदेव सदा यही सोचते रहते थे कि मेरे द्वारा दीनोंका कैसे उपकार हो, मैं दुखी प्राणियोंका दुःख किस प्रकार दूर कर सकूँ। उनके पास जो भी होता वह दीन-दुखियोंको बाँटते ही रहते थे। जिस समय जिसने आकर जिस चीजकी भी याचना की उन्होंने उसी समय उसे वह चीज दे डाली। यह वे कभी नहीं सोचते थे कि इसके बिना मेरा कितना हर्ज होगा। उनके द्वारसे याचक कभी विमुख होकर नहीं लौटते थे। इसीलिये उनकी कीर्ति भूमण्डलभरमें फैल गयी। सभी उनका गुणगान करने लगे।

संसारी चीजें चाहे कितनी भी अधिक क्यों न हों, यदि उन्हें निरन्तर खर्च करते रहोगे तो एक-न-एक दिन उनका अन्त होगा ही। इसी न्यायसे बाँटते-बाँटते महाराज रन्तिदेवका समस्त राजकोष खाली हो गया। यहाँतक कि उनके पास खानेभरके लिये भी कुछ नहीं रहा। जब भगवान् अपने भक्तकी परीक्षा लेते हैं, तब उसे खूब तपाते हैं। उनके राज्यमें अकाल पड़ा। महाराजके पास खानेके लिये मुट्ठीभर अन्न भी नहीं था। वे अपने परिवारको साथ लेकर जंगलोंमें निकल गये और वहाँ भूख-प्यासको सहन करते हुए इधर-उधर मारे-मारे फिरते रहे। भगवत्-इच्छासे वे किसी ऐसे जंगलमें पहुँच गये जहाँ खानेके लिये कन्द-मूल, फलकी तो कौन कहे, जलकी भी एक बूँद नहीं मिली। महाराज भूख और प्यासके वेगको दबाते हुए भगवान्का स्मरण करते हुए परिवारसहित शिथिल होकर एक जगह पड़ गये। उन्हें बिना खाये-पिये ४८ दिन व्यतीत हो गये।

भगवान्की इच्छा, ४९ वें दिन उन्हें कहींसे घृतमिश्रित खीर, हलुआ और जल मिला। देनेवाले वे ही भगवान् थे। ४९वें दिन इतने सुन्दर-सुन्दर पदार्थोंको पाकर वे भगवान्का स्मरण करके उन्हें पाना ही चाहते थे कि इतनेमें ही एक ब्राह्मणदेव वहाँ आकर उपस्थित हुए। ब्राह्मणने कहा—'राजन्! मैं बहुत भूखा हूँ—भूखसे मेरी आत्मा व्याकुल है, मुझे कुछ भोजन दीजिये।' महाराजको स्वयं भोजन करनेमें उतनी प्रसन्नता नहीं थी जितनी दूसरे भूखेको तृप्त करानेमें। उन्होंने बड़े सत्कारसे ब्राह्मणको पेट भरके भोजन कराया। ब्राह्मण सन्तुष्ट होकर चला गया। महाराजने बचा हुआ अन्न अपने परिवारवालोंको बाँट दिया। वे पाना ही चाहते थे कि इतनेमें ही एक शूद्रने दीन भावसे अन्नकी याचना की। महाराजने उसे भी तृप्त किया। उसके बाद एक व्यक्ति कई कुत्तोंको साथ लेकर वहाँ आया और बोला—'महाराज! मैं और मेरे ये कुत्ते बहुत ही भूखे हैं। हमें अन्न दे देंगे तो हमारी आत्मा बहुत सन्तुष्ट होगी।' महाराजको बड़ी प्रसन्नता हुई, वे अपनी भूख-प्यास भूल गये और जितना भी अन्न बचा था वह सब उस व्यक्तिको और उसके कुत्तोंको दे दिया। सबको अन्न भी दिया, जल भी दिया। अन्न तो सब चुक ही गया था, केवल इतना जल शेष रहा था जिससे एक व्यक्तिकी प्यास मिट सके। महाराज उसी जलको बाँटकर पीना ही चाहते थे कि इतनेमें ही एक चाण्डाल उनके पास आया। उसने आर्त्त स्वरमें कहा—'महाराज! मैं बहुत प्यासा हूँ, मुझे थोड़ा जल देकर महान् पुण्यके भागी बनिये।' महाराजने बड़ी ही प्रसन्नतासे कहा—'अहा! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि इस निर्जन घोर जंगलमें भी मेरे द्वारा किसी प्राणीको सुख पहुँच रहा है। आइये, आप पेटभर पानी पीजिये।' चाण्डालने सब पानी पी लिया, वह तृप्त हो गया।

* महाराज रन्तिदेव कहते हैं—मैं भगवान्से अष्ट सिद्धि या मोक्षतकको भी कामना नहीं करता। मेरी यही एक प्रार्थना है कि समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर मैं ही उनके समस्त दुःखोंको सहूँ, जिससे सब दुःखरहित हो जायँ।

असलमें वे ब्राह्मण, शूद्र, चाण्डाल-वेषधारी भगवान् विष्णु, ब्रह्माजी और महादेवजी थे। महाराजका ऐसा धैर्य देखकर वे सन्तुष्ट हुए। वे अपने यथार्थरूपसे महाराजके सम्मुख प्रकट हुए और महाराजसे वरदान माँगनेके लिये कहा। महाराजने कहा—'आप तीनों एकरूप हैं, जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और प्रलयके स्वामी हैं। आप सब कुछ देनेमें समर्थ हैं। किन्तु मुझे न तो किसी संसारी वस्तुकी इच्छा है और न मोक्षकी। मैं यही चाहता हूँ कि मेरे द्वारा दुखियोंके दुःख दूर हों।'

तीनों देव महाराजकी ऐसी निष्ठा देखकर परम सन्तुष्ट हुए। महाराज रन्तिदेवने अपने परिवारसहित वह गति प्राप्त की जो बड़े-बड़े योगियोंको भी दुर्लभ है। भगवान् उसीसे अधिक सन्तुष्ट होते हैं जो उनके अंशभूत जीवोंसे प्रेम करते हैं, जो सबके दुःखोंको अपने दुःखसे भी बढ़कर समझते हुए उसे मिटानेका प्रयत्न करते हैं!

—प्र० ब्रह्मचारी

महाराज शिबि

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥*

उशीनर देशके महाराज शिबि बड़े ही प्रसिद्ध दयालु और धर्मात्मा राजा हो चुके हैं। ये सदा भगवद्भक्ति और यज्ञ-यागादि कर्मोंमें लगे रहते थे। इन्होंने बहुत-से अश्वमेध यज्ञ किये। इन्हें इस प्रकार निरन्तर यज्ञ करते देखकर इन्द्रको भय हुआ कि कहीं ये हमारा इन्द्रासन न छीन लें। अत: उन्होंने इनके धर्मकी परीक्षाके लिये अग्नि और साक्षात् धर्मको भेजा।

महाराज एक दिन अपने महलमें सुखसे बैठे हुए थे कि उनकी गोदमें एक कबूतर आकर गिर गया। कबूतर अत्यन्त डरा हुआ था, मारे भयके वह काँप रहा था। महाराज शिबिकी गोदमें आकर वह इस प्रकार छिप गया जैसे भयभीत बालक माताकी गोदमें आकर छिप जाता है। महाराजने उसे प्यार किया, उसके शरीरपर हाथ फेरा और स्नेहसे अभयदान देते हुए उसे छातीसे चिपटा लिया। इतनेमें ही उसी कबूतरका पीछा करता हुआ एक बाज भी वहाँ आ पहुँचा। बाजने कहा—'महाराज! यह मेरा आहार है, इसे आप छोड़ दें।'

राजाने कहा—'भाई! यह मेरी शरणमें आया है, शरणागतको छोड़ना बड़ा पाप है; अत: मैं इसको नहीं छोड़ सकता, मैंने इसे अभयदान दे दिया है।'

बाजने कहा—'महाराज! आप धर्मात्मा हैं; सभी प्राणियोंका आपपर समान अधिकार है; जैसे इसकी रक्षा करना धर्म है वैसे ही मुझ भूखेको आहार देना भी आपका धर्म है। मेरा आहार ही यह है, मैं पाप नहीं कर रहा हूँ; आप इसे छोड़ दें और मुझे भूखके दुःखसे बचावें।'

महाराजने कहा—'भाई! तुम्हें भूखको बुझानी है तो मैं जितना कहो, और जिसका कहो उसीका उतना ही मांस मँगा दूँ। तुम भरपेट खा लो, किन्तु इसे छोड़ दो।'

बाजने कहा—'महाराज! यह तो मेरी रुचि है, मैं तो इसीका अभी ताजा मांस खाऊँगा। मैं तो इसी तरह जीते हुए प्राणीका मांस नोच-नोचकर खाता हूँ।'

जब बाज किसी तरह भी राजी न हुआ तब राजाने कहा—'अच्छा, मेरा मांस तो एकदम पवित्र है, मैं जीवित भी हूँ, इसके बराबर मैं अपना मांस दे दूँ तब तो तुम राजी हो जाओगे।'

बाजने कहा—'हाँ! यह हो सकता है, आप एक तराजू मँगवाइये और अपना मांस काटकर इसके बराबर तौलकर मुझे दीजिये।'

महाराजने उसी समय तराजू मँगाया। एक पलड़ेमें तो उन्होंने कबूतरको बिठाया, दूसरेमें वे अपने शरीरका मांस काट-काटकर रखने लगे। देवताओंकी माया! महाराज जितना ही मांस काटकर रखते कबूतर उतना ही भारी होता जाता था। महाराज निःसंकोच अपने शरीरका मांस काट-काटकर चढ़ा रहे थे। जब सब शरीरका मांस चढ़ गया और कबूतरका पलड़ा भारी ही रहा तब महाराजने तलवारसे अपना सिर काटना चाहा, उसी समय कबूतरवेशधारी साक्षात् धर्म उनके सामने

* मैं राज्य नहीं चाहता, स्वर्ग तथा मोक्षकी भी मुझे इच्छा नहीं। मेरे द्वारा दुःखसे तपे हुए दुखी जीवोंका दुःख दूर हो, यही मेरी आन्तरिक अभिलाषा है।

प्रकट हुए और बोले—'महाराज! मैं साक्षात् धर्म हूँ, ये बाजरूपधारी अग्निदेव हैं, हम आपके सत्यधर्मकी परीक्षा लेने आये थे। जैसा आपका यश है वैसे ही आप सच्चे धर्मात्मा भी हैं, अतः हम आपपर बहुत प्रसन्न हैं।'

महाराजने दोनों देवताओंकी स्तुति की, देवता सन्तुष्ट होकर अपने-अपने धामको चले गये। इस सत्यधर्म और दयाके प्रभावसे महाराज शिबिको दिव्य भगवत्-लोककी प्राप्ति हुई। वे उस धामको चले गये जहाँ जानेवाले पुरुष इस संसारके आवागमनके चक्करमें नहीं फँसते, जिसके लिये भगवान्ने अपने श्रीमुखसे स्वयं कहा है—

'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।'

सत्य और धर्मकी रक्षा दृढ़ताके द्वारा होती है। जिसे प्राणोंका मोह है वह कभी धर्मका पालन कर ही नहीं सकता। मोह-ममता जिस चीजपर होगी वही प्राप्त होगा। जिनका शरीरपर मोह है, जो निरन्तर उसीको बनाये रखनेकी चेष्टामें लगे रहते हैं, उन्हें बार-बार शरीरकी प्राप्ति होगी, वे शरीरके बन्धनसे छूट नहीं सकते। जिन्हें धर्मसे मोह है, जो धर्मके लिये शरीर और प्राण किसीकी भी परवा नहीं करते उन्हें धर्मकी प्राप्ति होगी और धर्मरूप तो साक्षात् विष्णु ही हैं। इसीलिये कहा है **'यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।'**—जहाँ धर्म है वहाँ श्रीकृष्ण हैं, और जहाँ भगवान् हैं वहीं जय है। महाराज शिबिने धर्मकी रक्षा की, अतः धर्मने भी उनका रक्षा की।

—प्र० ब्रह्मचारी

एक संत राजा

एक बहुत ही धर्मात्मा राजा था। धर्मपूर्वक राज्य करनेपर यथाकाल उसकी मृत्यु हो गयी। पुण्यात्मा होनेपर भी किसी एक पापका फल भुगतानेके लिये यमदूत उसे सम्मानपूर्वक नरकमार्गसे ले गये। नरकोंका दृश्य देखकर राजाका हृदय दहल गया। वहाँके पीड़ित प्राणियोंका चीत्कार उससे सुना नहीं जाता था। वहाँका दृश्य देखकर ज्यों ही वह यमसेवकोंके साथ नरक छोड़कर जाने लगा त्यों ही नरककी असह्य पीड़ा भोगनेवाले सब-के-सब नरकवासी बड़े जोरोंसे चिल्ला उठे और करुणविलाप करते हुए पुकारकर राजासे कहने लगे—'हे राजन्! आप प्रसन्न होइये। घड़ीभर आप यहाँ और ठहर जाइये। आपके अंगसे स्पर्श करके आनेवाली हवासे हमें बड़ा ही सुख मिल रहा है, इस सुख-शीतल वायुके स्पर्शमात्रसे हमारी सारी पीड़ा और जलन एकदम जाती रही है और हमपर मानो आनन्दकी वर्षा हो रही है, दया कीजिये!' राजाने यह सुनकर यमदूतोंसे पूछा—'मेरे यहाँ रहनेसे इन लोगोंको सुख मिलनेका क्या कारण है? मैंने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है जिसके कारण इनपर आनन्दकी वर्षा हो रही है?' यमदूतने कहा—'महाराज! आपने पितृ, देवता, अतिथि और आश्रितोंका भरण-पोषण पहले करके उनसे बचे हुए द्रव्यसे अपना भरण-पोषण किया है, तथा श्रीहरिका स्मरण किया है, इसीलिये आपके शरीरसे स्पर्श की हुई हवासे पापियोंकी पीड़ा नष्ट हो रही है। आपके तेजसे और आपके दर्शनसे पापियोंको पीड़ा पहुँचानेवाले यमराजके अस्त्र, शस्त्र, तीक्ष्ण चोंचवाले पक्षी, नरकाग्नि आदि सभी तेजोहत होकर मृदु हो गये हैं; इसीलिये नरकवासी पापियोंको इतना सुख मिल रहा है।' यह सुनकर राजाने कहा—'इनके सुखसे मुझको बड़ा सुख मिल रहा है, मेरी ऐसी मान्यता है कि आर्त प्राणियोंकी रक्षा करनेमें जो सुख होता है स्वर्ग या ब्रह्मलोकमें भी वैसा सुख नहीं होता।* यदि मेरे यहाँ रहनेसे इनकी पीड़ा दूर होती है तो दूतो! मैं तो पत्थरकी तरह अचल होकर यही रहूँगा।' राजाकी यह बात सुनकर यमदूतोंने कहा—'चलिये, यह तो पापियोंके नरकभोगकी जगह है। आप यहाँ क्यों रहेंगे? आप अपने पुण्योंका फल भोगिये।' राजाने कहा—

'जबतक इनका दुःखोंसे छुटकारा नहीं होगा तबतक मैं यहाँसे नहीं जाऊँगा। क्योंकि मेरे यहाँ रहनेसे इन्हें सुख मिल रहा है। आर्त और आतुर होकर शरण चाहनेवाले शत्रुपर भी जो मनुष्य अनुग्रह नहीं करता उसके जीवनको धिक्कार है! दुखियोंके दुःख दूर

* न स्वर्गे ब्रह्मलोके वा तत्सुखं प्राप्यते नरैः। यदार्तजन्तुनिर्वाणदानोत्थमिति मे मतिः॥
(मार्कण्डेयपुराण १५। ५६)

करनेमें जिसका मन नहीं है उसके यज्ञ, दान, तप आदि कुछ भी इस लोक और परलोकमें सुखके कारण नहीं होते। बालक, आतुर, दुखी और वृद्धोंके प्रति जिसका चित्त कठोर है, मेरी समझमें वह मनुष्य नहीं, राक्षस है। इन लोगोंके पास रहनेसे मुझे नारकीय अग्निके तापसे अथवा भूख-प्यासके कारण बेसुध कर देनेवाला महान् दुःख क्यों न भोगना पड़े, इनको सुखी करनेसे मिले हुए उस दुःखको मैं अपने लिये स्वर्गसुखसे भी बढ़कर समझूँगा। मुझ एकके दुःख पानेसे यदि इतने आर्त जीवोंको सुख होता है तो इससे बढ़कर मुझे और क्या लाभ होगा?'

यमदूतोंने कहा,'महाराज! देखिये—ये साक्षात् धर्म और इन्द्र आपको ले जानेके लिये यहाँ आये हैं; अब आपको जाना ही पड़ेगा, अतएव पधारिये।' धर्मने कहा, 'राजन्! आपने सम्यक् प्रकारसे मेरी उपासना की है, इसीलिये मैं स्वयं आपको स्वर्गमें ले जाऊँगा; आप देर न करें, विमानपर जल्दी सवार हों।' राजाने कहा—'हे धर्म! हजारों जीव नरकमें दुःख पा रहे हैं, और मेरे यहाँ रहनेसे इनका दुःख दूर होता है, ऐसी हालतमें मैं यहाँसे नहीं जा सकता।' इन्द्र बोले—'राजन्! अपने-अपने कर्मफलसे ये पापी लोग नरक भोग रहे हैं। आपको भी अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये स्वर्गमें चलना चाहिये।⋯इन नरकवासियोंपर दया करनेसे आपका पुण्य लाखों गुना और भी बढ़ गया है। अतएव इस पुण्यफलके भोगके लिये आप स्वर्ग चलिये!' राजाने कहा, 'जब मेरे पुण्यसे इनको सुख मिलता है तो मैं अपना सब पुण्य इनको देता हूँ। इस पुण्यसे ये सारे यातनाभोगी पापी नरकसे छूट जायँ।' इन्द्रने कहा, 'इससे आपका पुण्य और भी बढ़ गया। आपकी और भी उच्च गति हो गयी! यह देखिये, सारे पापी नरकसे छूटकर जा रहे हैं।'

राजापर पुष्पवृष्टि होने लगी और इन्द्र उन्हें विमानपर चढ़ाकर स्वर्गमें ले गये! नारकी प्राणी सभी राजाके पुण्य-प्रभावसे सद्‌गतिको प्राप्त हुए। —ह० पोद्दार

भक्त चन्द्रहास

द्वापरयुगमें केरलदेशमें मेधावी नामक एक धर्मात्मा राजा थे, इनके एक मात्र पुत्रका नाम चन्द्रहास था। जब चन्द्रहासकी छोटी ही अवस्था थी तभी शत्रुओंने युद्धमें केरलपतिको मारकर राज्यपर अधिकार कर लिया था। पतिव्रता रानी उन्हींके साथ सती हो गयी। इस विपत्ति-कालमें एक स्वामिभक्ता धाय चन्द्रहासको लिये हुए चुपकेसे नगरसे निकलकर कुन्तलपुर चली गयी और चन्द्रहासकी तीन वर्षकी अवस्थातक मेहनत-मजदूरी करके पुत्रवत् उसका पालन करती रही। अन्तमें वह भी कालका ग्रास बन गयी।

चन्द्रहास अब अनाथ और निराश्रय हो गया। परन्तु अनाथनाथ भगवान् निराधारके आधार हैं। भगवत्कृपावश चन्द्रहासका पालन नगरकी स्त्रियोंद्वारा होने लगा। उसके मनोहर मुखमण्डलने सबके मन हर लिये। एक दिन देवर्षि नारद घूमते-घामते उधर आ निकले। बालकको योग्य अधिकारी जानकर उन्होंने उसे एक शालग्रामजीकी मूर्ति और 'राम' मन्त्रका उपदेश दिया। शुद्धहृदय बालक बड़े प्रेमसे मूर्तिकी पूजा और हरिनामकीर्तन करने लगा। कीर्तन करते समय चन्द्रहासको मालूम होता कि मानो एक जनमन-मोहन श्यामवदन बालक उसके साथ नाच और गा रहा है।

कुन्तलपुरके राजा बड़े धर्मात्मा थे। उनके कोई पुत्र न था। केवल एक रूप-गुणवती चम्पकमालिनी नामकी कन्या थी। राजगुरु महर्षि गालवके उपदेशानुसार राजा सारा राज्यभार धृष्टबुद्धि नामक मन्त्रीपर छोड़कर अपना सारा समय भजन-स्मरणमें ही लगाते थे। धृष्टबुद्धिकी अलग भी बड़ी भारी जमींदारी थी, उसकी धन-सम्पत्तिका पार नहीं था। उसके मदन और अमल नामके दो सुयोग्य पुत्र और विषया नामकी एक सुन्दरी कन्या थी। मदन श्रीकृष्णभक्त और उदारचरित था, जिससे धनलोलुप मन्त्रीके महलोंमें राग-रंगकी जगह कभी-कभी संतसमागम और अतिथिसेवा तथा भगवन्नामकीर्तन भी हुआ करता था। धृष्टबुद्धिको इन सबसे प्रेम न होनेपर भी वह अपने सुयोग्य पुत्र मदनको स्नेहवश इन कामोंसे रोकता नहीं था।

एक दिन सन्ध्याके समय मदनके यहाँ ऋषिलोग एकत्र होकर हरिचर्चा कर रहे थे और चन्द्रहास भी दैवात् बालकोंके साथ बड़ी मधुर ध्वनिसे कीर्तन करता

हुआ नगरकी सड़कोंपर घूम रहा था। मीठी कीर्तनध्वनि सुनकर ऋषियोंकी आज्ञासे मदनने चन्द्रहासको भीतर बुला लिया। धृष्टबुद्धि भी अचानक वहीं आ बैठा था। ऋषिलोग चन्द्रहासको मुग्ध होकर देखने लगे। वे उसके शरीरके लक्षणोंको देखकर एक स्वरसे कह उठे—'मन्त्रिवर! यह सुन्दर शुभलक्षणयुक्त तपस्वी बालक है, आप इसका स्नेहपूर्वक पालन करें। यही आपकी सारी सम्पत्तिका मालिक—देशका राजा होगा और वैष्णवपदका अनुगामी होगा।' ऋषियोंकी बात सुनकर मन्त्री जल-भुन गया। उसने सोचा, एक दर-दरका भिखारी छोकरा मेरी सम्पत्तिका मालिक होगा? उसने तुरंत ही उसे मरवा डालनेका षड्यन्त्र रचा। ऋषि और पुत्रोंको किसी प्रकारकी सूचना दिये बिना ही धृष्टबुद्धि सब बालकोंको मिठाई देनेके बहाने अन्त:पुरमें ले गया। सब बालकोंको तो मिठाई देकर निकाल दिया गया, रह गया एक चन्द्रहास। मन्त्रीके संकेतानुसार एक घातक वहाँ आया। मन्त्रीने चुपके-से उसके कानमें कह दिया कि चन्द्रहासको गुप्तरीतिसे वनमें ले जाकर उसका वध कर डालो, इसके लिये तुम्हें बहुत-सा इनाम मिलेगा। साथमें कोई-न-कोई निशान जरूर लानेको कह दिया।

घातक चन्द्रहासको लेकर एक सुनसान जंगलमें पहुँचा। उसने म्यानसे तलवार निकाली। चन्द्रहास उसका अभिप्राय समझ गया, उसने घातकसे अपने ठाकुरजीकी पूजा कर लेनेतक ठहर जानेकी प्रार्थना की। घातकका हृदय पिघल गया, उसने अनुमति दे दी। चन्द्रहासने अपने भगवान्‌की पूजा करके प्रार्थना शुरू की। वनस्थलीमें करुणरस छा गया। घातकका हृदय पलट गया। उसने एक हरिभक्त निर्दोष बालककी हत्या करके पाप मोल लेनेका विचार त्याग दिया। परन्तु धृष्टबुद्धिके लिये कोई निशान चाहिये, वह इस चिन्तामें पड़ गया। चन्द्रहासके पैरमें छ: अँगुलियाँ थीं। सौभाग्यसे घातककी उसपर नजर पड़ गयी। वह एक अँगुली काटकर और चन्द्रहासको वहीं छोड़कर अँगुली धृष्टबुद्धिके पास ले गया, जिससे उसने समझा कि आज मेरे बुद्धिकौशलसे त्रिकालज्ञ ऋषियोंकी अमोघवाणी भी असत्य हो गयी।

घोर अरण्यमें सुकुमार बालक अकेला पड़ा है। पैरमें पीड़ा हो रही है, पर मुखसे निरन्तर कृष्णनामकी धुन लग रही है। थोड़ी ही देरमें उसने देखा कि एक स्निग्ध नीलज्योति उसकी ओर बढ़ी चली आ रही है। उसी समय अकस्मात् उसकी सारी वेदना नष्ट हो गयी। संयोगवश कुन्तलपुरके अधीन चन्दनपुर रियासतके राजा कृलिन्दक उसी वनके रास्तेसे किसी कार्यवश जा रहे थे। राज्य सब तरहसे धन-धान्यपूर्ण होनेपर भी राजा पुत्रहीन था। वह मधुर कीर्तनध्वनि सुनकर चन्द्रहासके पास आया और उसे लपककर गोदमें उठाकर उससे माता-पिताका नाम-धाम पूछने लगा। चन्द्रहासने उत्तर दिया, '**मम माता पिता कृष्णस्तेनाहं परिपालित:**'—मेरे माता-पिता तो श्रीकृष्ण ही हैं और उन्हींके द्वारा मैं पालित हुआ हूँ। यह सुनकर राजाने सोचा कि श्रीहरिकी कृपासे ही यह वैष्णवश्रेष्ठ देवशिशु मुझे यहाँ मिला है। वह उसे घोड़ेपर चढ़ाकर घर लौट गया। रानीकी गोद भर गयी। राजाने दत्तक लेनेकी घोषणा कर दी, नगरभरमें आनन्द छा गया।

अब चन्द्रहासकी शिक्षा प्रारम्भ हुई। यज्ञोपवीत-धारणके अनन्तर थोड़े ही समयमें वह चारों वेद और सभी विद्याओंमें निपुण हो गया। अपने सद्‌गुणोंसे वह शीघ्र ही राजपरिवार और प्रजाका जीवनाधार बन गया। हरिगुणगानसे छोटी-सी रियासत पूर्ण हो गयी।

चन्दनपुर रियासतसे कुन्तलपुरको प्रतिवर्ष दस हजार स्वर्णमुद्राएँ करस्वरूप भेजी जाती थीं। अबकी बार चन्द्रहासने साथ-ही-साथ और भी बहुत-सा धन, जो शत्रुओंको जीतकर प्राप्त किया गया था, कुन्तलपुर भेज दिया। यह सब देखकर और युवराजकी वीरताकी गाथाएँ सुनकर धृष्टबुद्धिने एक बार वहाँकी व्यवस्था देख आनेका विचार किया। वह चन्दनपुर जा पहुँचा। वहाँ जाकर जब उसने चन्द्रहासको पहचाना तो उसका क्रोध दूना भड़क उठा। उसने तुरंत चन्द्रहासकी हत्याका एक षड्यन्त्र रचा। उसने अपने बड़े पुत्र मदनको एक पत्र लिखा और चन्द्रहासके हाथोंमें देता हुआ कपटभरी हँसी हँसकर बोला—'राजकुमार! तुम शीघ्र ही जाकर यह पत्र कुमार मदनको दे देना। देखना, रास्तेमें पत्र खुलने न पावे और न इसका रहस्य मदनके सिवा कोई जाने ही।'

राजकुमार चन्द्रहास तुरंत कुन्तलपुरकी तरफ घोड़ेपर सवार होकर चल पड़ा। कुन्तलपुर चौबीस कोस दूर था। पहुँचते-पहुँचते दिन ढल गया। चन्द्रहास थकान मिटानेके लिये नगरसे बाहर कुन्तलपुरनरेशके बगीचेमें लेट गया। शीतल, मन्द, सुगन्ध वायुके स्पर्शसे

उसे नींद आ गयी। उसी समय राजकुमारी चम्पकमालिनी और मन्त्रिकन्या विषया अपनी सखियोंसहित बागमें टहलने आयी हुई थीं। नाना प्रकारके आमोद-प्रमोद कर राजकुमारी तथा अन्य सखियाँ तो चली गयीं। भगवत्प्रेरणासे विषया वहीं रह गयी। अनंगमदमोचन राजकुमारको देखते ही विषयाका मन मोहित हो गया, उसने उसे मन-ही-मन पतिरूपसे वरण कर लिया। उसने राजकुमारके हाथमें एक पत्र पड़ा देखा। विषयाने पिताके हस्ताक्षरयुक्त मदनके नाम पत्र देखकर कुतूहलवश खोलकर देखा तो उसका शरीर थर्रा गया, मुखपर विशाद छा गया। पत्रमें लिखा था—

स्वस्तिश्री प्रिय पुत्र मदन! देखत यह पाती।
'विष' दे देना, जिससे हो मम शीतल छाती॥
कुल, विद्या, सौन्दर्य, शूरत कुछ न देखना।
मदन शत्रु इस राजकुँवरको हृदय लेखना॥

विषयाने विचार किया कि पिताजीने मेरे योग्य वांछित वर देखकर आनन्द-विह्वलतामें लिखनेमें भूल की है। अत: उसने 'विष' के आगे 'या' लिख दिया, जिससे 'विष' का विषया हो गया और 'मदन' और शत्रु शब्दोंको एक साथ मिला दिया जिससे 'मदन शत्रु' की जगह 'मदनशत्रु' स्पष्ट पढ़ा जाने लगा। फिर आमके गोंदसे पत्र चिपकाकर पहलेकी तरह राजकुमारके हाथमें पत्र रखकर वह जाकर अपनी सखियोंमें मिल गयी।

इधर चन्द्रहासने आँख खुलनेपर वह पत्र मदनको जाकर दिया। पत्र पढ़कर मदनको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने ब्राह्मणोंकी आज्ञासे उसी दिन गोधूलिके समय शुभ मुहूर्तमें विषयाके साथ चन्द्रहासका विवाह कर दिया। कुन्तलपुरनरेश भी कन्यादानके समय पधारे थे। राजकुमारकी मनमोहिनी रूपराशिको देखकर उन्होंने सोचा कि—'न तो चम्पकमालिनीके लिये इससे योग्य कोई वर ही मिल सकता है और न राज्यशासनके लिये बल-वीर्य-बुद्धि और शील-सदाचार-सम्पन्न कोई उत्तराधिकारी ही !' राजाने उसी क्षण राजकुमारी और राज्यको चन्द्रहासके हाथ समर्पण करनेका निश्चय कर लिया।

तीन दिन बाद जब धृष्टबुद्धिने लौटकर बिल्कुल विपरीत परिस्थित देखी तो उसने सोचा—'पुत्री चाहे विधवा हो जाय, पर इस शत्रुका वध जरूर करूँगा।' दुष्टहृदयकी यही पराकाष्ठा है।

उसने एक पर्वतपरके भवानीके मन्दिरमें एक घातकको समझा-बुझाकर भेज दिया कि आज शामके बाद जो भी मन्दिरमें आवे उसका सिर धड़से अलग कर देना। और इधर चन्द्रहाससे कहा कि प्रत्येक शुभ कार्यके बाद हमारी कुलपरम्पराके अनुसार भवानीपूजनके लिये जाना होता है, अत: आप आज शामको वहाँ जाकर पूजन कर आयें। श्वशुरकी आज्ञासे सरलहृदय चन्द्रहास सामग्री लेकर भवानी-मन्दिरकी तरफ चला।

इधर कुन्तलपुरनरेशके मनमें वैराग्यका उदय हो गया। उन्होंने उसी दिन जंगलमें जाकर ईश्वरचिन्तनमें अपना समय लगानेका विचार किया। उन्होंने मदनको बुलाकर उसके सामने यह बात रखी और कहा—'बेटा! मेरी आज ही वन जानेकी इच्छा है। इससे पहले मैं चन्द्रहासके साथ चम्पकमालिनीका विवाह करके उसे राज्यका उत्तराधिकारी बना देना चाहता हूँ, तुम जाकर तुरन्त चन्द्रहासको यहाँ भेज दो।' सरलहृदय मदन मन-ही-मन प्रसन्न होता हुआ बहनोईको बुलाने दौड़ा। चन्द्रहास भवानी-मन्दिरकी तरफ जाते हुए उसे रास्तेमें मिला। राजाज्ञा सुनाकर उसने उसे तो राजाके पास भेज दिया और स्वयं सामग्री लेकर मन्दिरकी तरफ चला। कहना न होगा कि मन्दिरमें पहुँचते ही घातककी तलवारने उसके दो टुकड़े कर डाले। इधर कुन्तलपुरनरेशने चम्पकमालिनीका हाथ चन्द्रहासको पकड़ाकर गान्धर्व विवाह कर दिया और गालव ऋषिकी आज्ञासे उसका राज्याभिषेक भी कर दिया।

दूसरे दिन प्रात:काल जब धृष्टबुद्धिने चन्द्रहासके चम्पकमालिनीके साथ विवाह और राज्याभिषेक होनेकी बात और अपने प्रिय पुत्र मदनके घातकद्वारा मारे जानेकी बात सुनी तो वह मन्दिरकी तरफ दौड़ा गया और मदनके शरीरके दो टुकड़े वहाँ देखकर उसने भी तुरंत तलवारसे आत्महत्या कर ली। चन्द्रहास भी मन्त्रीको दौड़ते हुए मन्दिरकी तरफ जाते देखकर उसके पीछे हो लिया था। जब उसने वहाँ अपने साले और श्वशुरको मृत पड़े देखा तो उसको बड़ी मर्मवेदना हुई, वह अपनेको ही इन दोनों जीवोंकी हत्याका कारण जानकर बड़े ही कातर स्वरसे भगवतीसे प्रार्थना करने लगा—और अन्तमें स्वयं मरनेको तैयार हो गया! ज्यों ही उसने म्यानमेंसे तलवार निकाली, भवानीने प्रकट होकर दोनों हाथ फैलाकर उसे अपने हृदयसे लगा

लिया और प्रसन्न होकर वर माँगनेको कहा। जन्मसे मातृहीन चन्द्रहासको आज जगज्जननीकी गोदमें बैठनेसे बड़ी ही प्रसन्नता हुई। चन्द्रहासने कहा—

'जननी! यदि तू मुझे वर देना चाहती ही है तो मुझे एक तो यह वरदान दे कि जन्म-जन्मान्तरमें भी मेरी सदा श्रीहरिके चरणोंमें भक्ति बनी रहे, और दूसरा यह कि ये दोनों पिता-पुत्र जीवित हो जायँ और धृष्टबुद्धिका हृदय शुद्ध हो जाय।'

भवानी प्रेमभरी वाणीसे 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गयीं। दोनों पिता-पुत्र सोकर जगनेकी तरह उठ बैठे और उन्होंने चन्द्रहासको गले लगा लिया।

—ह० पोद्दार

राजर्षि निमि

यस्य योगं न वाञ्छन्ति वियोगभयकातराः।
भजन्ति चरणाम्भोजं मुनयो हरिमेधसः॥*

सब युगोंके अलग-अलग साधन होते हैं और उनकी परिपाटी भी अलग-अलग होती है। सत्ययुगमें ध्यानकी ही प्रधानता रहती है और त्रेतायुगमें यज्ञ-यागादि ही परमार्थपथके प्रधान साधन समझे जाते हैं। त्रेतायुगमें सभी धार्मिक नरपति यज्ञ-याग कराते हैं, उस युगके बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि भी इसीलिये प्रसिद्ध हैं कि अमुक ऋषि अमुक यज्ञको बहुत सुन्दर ढंगसे कराते थे। इसीलिये महर्षि वशिष्ठजीने अपने शिष्य महाराज दशरथका पुत्रेष्टि यज्ञ करानेके लिये ऋष्यशृंगजीको बुलाया था। यज्ञ-याग पुरोहितके बिना होते नहीं, अतः पूर्वकालमें समस्त राजाओंके यहाँ एक राजपुरोहितका होना परम अनिवार्य था। जिस राज्यमें पुरोहित नहीं, वह राज्य ही नहीं। राजपुरोहित और मन्त्री, ये राज्यके मुख्य अंग माने जाते थे। सूर्यवंशके कुलपुरोहित महर्षि वशिष्ठ थे। ये ब्रह्माजीके पुत्र हैं और नित्य हैं, अतः सदासे ही उस वंशके पुरोहित रहे हैं। इसी वंशमें इक्ष्वाकु-पुत्र महाराज निमि नामके भी राजर्षि हो गये हैं। उन्होंने एक बड़ा भारी यज्ञ करना चाहा। उन्होंने अपने कुलगुरु वशिष्ठको बुलाकर उनसे प्रार्थना की कि महाराज! मैं एक बड़ा यज्ञ करना चाहता हूँ। आप उस यज्ञमें ऋत्विज् बनिये।

महर्षि वशिष्ठने कहा—'राजन्! आपसे भी पहले मुझे इन्द्रने अपने यज्ञके लिये वरण किया है, अतः नियमानुसार मैं उनका यज्ञ कराके तब आपका यज्ञ कराऊँगा। जबतक मैं इन्द्रलोकसे यज्ञ कराके न लौटूँ तबतक आप मेरी प्रतीक्षा करें।' महाराज निमि कुछ भी नहीं बोले, वशिष्ठजी यज्ञ करानेके लिये इन्द्रलोक चले गये।

पीछे महाराज निमिने सोचा—'इस क्षणभंगुर शरीरका क्या ठिकाना—आज है, कल नहीं; अतः यह कार्य जितना भी जल्दी हो सके कर लेना चाहिये।' यह सोचकर वे दूसरे ऋत्विज्से यज्ञ कराने लगे। जब वशिष्ठजी लौटकर आये और उन्होंने देखा कि राजा दूसरोंसे यज्ञ करा रहे हैं तब वे बड़े कुपित हुए और बोले 'तुम्हारा शरीर जीवसे अलग हो जाय।'

महाराज निमि भी राजर्षि थे, उन्होंने भी इसी तरह कहा—'आपका शरीर भी जीवात्मासे अलग हो जाय।' असलमें तो ये दोनों ही नित्य थे, इन्हें शरीरबन्धन था ही नहीं। फिर भी लौकिक दृष्टिसे इनका जीव इस पांचभौतिक शरीरसे अलग हो गया। वशिष्ठजी ब्रह्माजीके पास गये और कहने लगे कि बिना शरीरके कैसे काम चलेगा। तब ब्रह्माजीने कहा—'अमुक घड़ेमें मित्रावरुणका वीर्य रक्खा है, उसीसे आप शरीर बनाकर उत्पन्न हो जायँ।' वशिष्ठजीने ऐसा ही किया और वे फिर ज्यों-के-त्यों हो गये।

महाराजके ऋत्विजोंने भी यज्ञ पूरा किया। यज्ञमें सभी देवता पधारे और बड़े सन्तुष्ट हुए। उन्होंने ऋत्विजोंसे वर माँगनेको कहा। ऋत्विजोंने कहा—'देवताओ! यदि आप सन्तुष्ट हैं तो महाराज निमि इसी शरीरसे फिर जीवित हो उठें।' देवताओंने कहा—'अच्छा, ऐसा ही होगा। यह सुनकर निमिके जीवात्माने कहा—देवता और ऋत्विजो! अब मैं शरीरबन्धन नहीं चाहता, मुझे इस शरीरसे क्या लेना है? मुझे तो भगवान्‌की भक्ति चाहिये।'

महाराजके ऐसे वचन सुनकर देवताओंने कहा—

* भगवद्भक्त मुनिगण शरीरवियोगके भयसे दुःखित होकर देहबन्धनकी इच्छा नहीं करते, केवल इस आवागमनको मिटानेवाले भगवान्‌के चरणकमलोंका ध्यान करते रहते हैं।

'अच्छी बात है, आप बिना शरीरके ही समस्त प्राणियोंके पलक खुलने और लगनेमें लक्षित हुआ करेंगे।' तभी तो पलक लगने और खुलनेके समयको निमेष कहते हैं। इस प्रकार निमि समस्त प्राणियोंके पलकोंमें दिखायी देते हैं, अर्थात् वे सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ एक हो गये, वे सर्वत्र व्यापक हो गये।

ऋषियोंने देखा कि बिना राजाके प्रजाओंका पालन कौन करेगा, इसलिये उन्होंने महाराजके शरीरको मथकर उससे एक पुत्र उत्पन्न किया। मथनेसे उसका नाम 'मिथिल' और वंश चलानेवाला होनेके कारण 'जनक' हुआ। बिना शरीरके उत्पन्न होनेसे उन्हें 'विदेह' भी कहते हैं। उन्होंने ही मिथिलापुरीको बसाया और इसी वंशमें महारानी सीताजी भी उत्पन्न हुईं। जिस निमिवंशमें जगज्जननी श्रीसीताजीका जन्म हो उस कुलकी पावनताके सम्बन्धमें तो कहा ही क्या जा सकता है। जनकवंशमें जितने भी राजा हुए सभी परमभागवत, ज्ञानी और अध्यात्मविद्यासम्पन्न हुए; इसीलिये यह कुलभर ज्ञानी नामसे प्रसिद्ध है।

—प्र० ब्रह्मचारी

इक्ष्वाकु

वैवस्वत मनुकी श्रद्धा नामकी पत्नीसे होनेवाले सन्तानोंमें इक्ष्वाकु अन्यतम हैं। इनके शील-स्वभाव तथा सदाचारप्रियता आदि सद्गुणोंको देखकर महाराज मनुने न केवल अपने राज्यका ही इन्हें उत्तराधिकारी बनाया बल्कि '**मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्**' के अनुसार इन्हें भगवान्के गुह्यतम योगका रहस्य भी बताया। परन्तु इक्ष्वाकुने अकेले ही राज्यसुखका उपभोग किया हो यह बात नहीं, बल्कि उन्होंने सारे राज्यको अपने भाइयोंमें उचितरूपसे बाँट दिया। वे स्वयं मध्यप्रदेशके अधिपति थे। पहले-पहल इन्होंने ही अयोध्यामें राजधानी बनायी थी। इनके सम्बन्धमें वाल्मीकीय रामायण आदि ग्रन्थोंमें पुष्कल वर्णन मिलता है और इनके कई यज्ञ भी बड़े प्रसिद्ध हैं।

—शान्तनु

महाराज मान्धाता

यावत्सूर्य उदेत्यस्तं यावच्च प्रतितिष्ठति।
सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते॥*

सूर्यवंशमें एक युवनाश्व नामके बड़े पराक्रमी राजा हो गये हैं। वे निःसन्तान थे। सन्तान न होनेके कारण उन्हें सदा दुःख रहता था और वे ऋषियोंके आश्रमोंमें ही विशेषकर निवास किया करते थे। चिरकालतक वे ऋषियोंकी सेवा करते रहे। दयालु ऋषि राजाके दुःखको समझ गये और उनके दुःखको दूर करनेके लिये ऋषियोंने एक पुत्रेष्टि यज्ञका आयोजन किया। बड़े-बड़े कर्मकाण्डी ऋषि एकत्रित हुए। सभीने विधिवत् यज्ञ कराया। यज्ञके अन्तमें एक घड़ेमें यज्ञपूत जल अभिमन्त्रित करके ऋषियोंने रख दिया। मन्त्रोंद्वारा उसमें ऐसी शक्ति स्थापित कर दी कि जो इस मन्त्रपूत जलको पीवे उसके परम पराक्रमी पुत्र उत्पन्न हो। ऋषिगण उस कलशको रखकर रात्रिमें सो गये। प्रातःकाल वे महाराजकी पत्नीको उस पूत जलको पिलाना चाहते थे। संयोगकी बात, रात्रिमें राजाको प्यास लगी। सब ऋषि सो रहे थे, उन्हें जगाना उचित नहीं समझा। वह मन्त्रपूत जलका घड़ा रखा था, राजा उस सब जलको पी गये।

प्रातःकाल ऋषियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ, वे परस्परमें कहने लगे—'जल कहाँ गया, उसे कौन पी गया? इतना परिश्रम निष्फल ही हुआ।' ऋषियोंकी बात सुनकर राजाने डरते-डरते कहा—'अज्ञानमें वह जल मैंने पी लिया।' ऋषियोंने कहा—'अच्छा, ऐसा ही होना था।' वह मन्त्रपूत जल अमोघ था। व्यर्थ तो कभी जा ही नहीं सकता। राजाके पेटमें गर्भ बढ़ने लगा। समय पूरा होनेपर राजाकी दाहिनी कोखको फाड़कर बालक निकल आया। ऋषियोंके प्रभावसे महाराज युवनाश्व मरे नहीं, वे ज्यों-के-त्यों बने रहे। अब मुनियोंको चिन्ता हुई कि बिना माताके इसे दूध कौन पिलावेगा, इसका पालन कौन करेगा। ऋषियोंकी चिन्ताको देखकर देवराज इन्द्रने कहा, '**मामयं धास्यति**'—इसका भरण-पोषण मैं करूँगा। इन्द्रने

* जहाँ सूर्य उदय होता है और जहाँ जाकर वह अस्त होता है, वह सभी क्षेत्र युवनाश्वके पुत्र मान्धाताका कहा जाता है।

'**मां धाता**' ऐसा कहा, इसलिये ऋषियोंने इनका नाम मान्धाता रख दिया। देवराज इन्द्रने अपनी तर्जनी उँगली बालकके मुँहमें दे दी। उसे बच्चा पीने लगा। उसमें अमृत था, अतः वह बहुत ही शीघ्र बढ़कर हृष्ट-पुष्ट हो गया।

मान्धाता बड़े पराक्रमी, शूरवीर, दानी और भक्त थे। उन्होंने अपने बाहुबलसे समस्त पृथ्वीपर अपना एकाधिपत्य कर लिया। यह समस्त पृथ्वी 'मान्धाताक्षेत्र' के नामसे प्रसिद्ध हो गयी। राजाने भगवान्के प्रीत्यर्थ बड़े-बड़े यज्ञ-याग किये। ये कभी अतिथिको विमुख नहीं जाने देते थे। इनका विवाह महाराज शतविन्दुकी पुत्री विन्दुमतीसे हुआ। विन्दुमतीके गर्भसे तीन पुत्र और पचास कन्याएँ उत्पन्न हुईं। पुत्रोंके नाम पुरुकुत्स, अम्बरीष और मुचुकुन्द थे। अम्बरीष भक्तोंमें अग्रणी हुए। इनकी रक्षाके लिये भगवान्ने अपना सुदर्शनचक्र भेजा और अन्तमें भगवान्की कृपासे इन्हें भस्म करनेकी इच्छासे कृत्या छोड़नेवाले दुर्वासाको इनके शरणापन्न होना पड़ा, मान्धाताके तीसरे पुत्र मुचुकुन्द हजारों वर्षोंतक स्वर्गमें देवताओंकी ओरसे असुरोंसे लड़ते रहे और अन्तमें द्वापरमें आकर उन्हें साक्षात् परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णके दर्शन हुए। महाराज मान्धाताकी पचास कन्याओंका विवाह बह्वृच महर्षि सौभरिके साथ हुआ जिनकी कथा पहले आ चुकी है। इस प्रकार महाराज मान्धाताके भक्तिभावके कारण उनकी सन्तान भी परम धार्मिक और भगवद्भक्तिपरायण हुई।

—प्र० ब्रह्मचारी

महाराज मुचुकुन्द

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः॥

सूर्यवंशमें इक्ष्वाकु-कुल बड़ा ही प्रसिद्ध है, जिसमें साक्षात् परब्रह्म परमात्मा श्रीरामरूपसे अवतीर्ण हुए। इसी वंशमें महाराज मान्धाता-जैसे प्रतापशाली राजा हुए। महाराज मुचुकुन्द उन्हीं मान्धाताके पुत्र थे। ये सम्पूर्ण पृथ्वीके एकछत्र सम्राट् थे। बल-पराक्रममें ये इतने बढ़े-चढ़े थे कि पृथ्वीके राजाओंकी तो बात ही क्या, देवराज इन्द्र भी इनकी सहायताके लिये लालायित रहते थे।

एक बार असुरोंने देवताओंको दबा लिया, देवता बड़े दुखी हुए। उनके पास कोई योग्य सेनापति नहीं था, अतः उन्होंने महाराज मुचुकुन्दसे सहायताकी प्रार्थना की। महाराजने देवराजकी प्रार्थना स्वीकार की और वे बहुत समयतक देवताओंकी रक्षाके लिये असुरोंसे लड़ते रहे। बहुत कालके पश्चात् देवताओंको शिवजीके पुत्र स्वामिकार्तिकेयजी योग्य सेनापति मिल गये। तब देवराज इन्द्रने महाराज मुचुकुन्दसे कहा—'राजन्! आपने हमारी बड़ी सेवा की, अपने स्त्री-बच्चोंको छोड़कर आप हमारी रक्षामें लग गये। यहाँ स्वर्गमें जिसे एक वर्ष कहते हैं, पृथ्वीमें उतने ही समयको तीन सौ साठ वर्ष कहते हैं। आप हमारे हजारों वर्षोंसे यहाँ हैं। अतः आपकी राजधानीका कहीं पता भी नहीं, आपके परिवारवाले कालके गालमें चले गये। हम आपपर बड़े प्रसन्न हैं। मोक्षको छोड़कर आप जो कुछ भी वरदान माँगना चाहें माँग लें, मोक्ष देना हमारी शक्तिके बाहरकी बात है।'

महाराजको मानवीय बुद्धिने दबा लिया। स्वर्गमें वे सोये नहीं थे। लड़ते-लड़ते बहुत थक भी गये थे, अतः उन्होंने कहा—'देवराज! मैं यही वरदान माँगता हूँ कि मैं पेटभर सो लूँ, कोई भी मेरी निद्रामें विघ्न न डाले। जो मेरी निद्रा भंग करे वह तुरंत भस्म हो जाय।'

देवराजने कहा—'ऐसा ही होगा, आप पृथ्वीपर जाकर शयन कीजिये। जो आपको जगावेगा वह तुरंत भस्म हो जायगा।' ऐसा वरदान पाकर महाराज मुचुकुन्द धौलपुरके समीप एक गुफामें आकर सो गये। सोते-सोते कई युग बीत गये। द्वापर आ गया, भगवान्ने यदुवंशमें अवतार लिया। उसी समय कालयवनने मथुराको घेर लिया। उसे अपने आप ही मरवानेकी नीयतसे और महाराज मुचुकुन्दपर कृपा करनेकी इच्छासे भगवान् कालयवनके सामनेसे छिपकर भागे। कालयवनको अपने बलका बड़ा घमंड था, वह भी भगवान्को ललकारता हुआ उनके पीछे पैदल ही भागा। भागते-भागते भगवान् उस गुफामें घुसकर छिप गये जहाँ महाराज मुचुकुन्द सो रहे थे। उन्हें सोते देखकर भगवान्ने अपना पीताम्बर धीरेसे उन्हें उढ़ा दिया और आप छिपकर तमाशा देखने लगे। क्योंकि उन्हें छिपकर तमाशा देखनेमें बड़ा मजा आता है।

कालयवन बलके अभिमानमें भरा हुआ गुफामें आया और महाराज मुचुकुन्दको ही भगवान् समझकर जोरोंसे दुपट्टा खींचकर जगाने लगा। महाराज जल्दीसे उठे। सामने कालयवन खड़ा था। दृष्टि पड़ते ही वह वहीं जलकर भस्म हो गया। अब तो महाराज इधर-उधर देखने लगे। भगवान्के तेजसे सम्पूर्ण गुफा जगमगा रही थी। उन्होंने नवजलधरश्याम पीतकौशेयवासा वनमालीको सामने मंद-मंद मुस्कराते हुए देखा। देखते ही वे अवाक् रह गये। अपना परिचय दिया। प्रभुका परिचय पूछा। गर्गाचार्यके वचन स्मरण हो उठे। ये साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, ऐसा समझकर वे भगवान्के चरणोंपर लोट-पोट हो गये।

भगवान्ने उन्हें उठाया, छातीसे चिपटाया, भाँति-भाँतिके वर माँगनेका प्रलोभन दिया; किन्तु वे संसारी पदार्थोंकी नि:सारता समझ चुके थे। अत: उन्होंने कोई भी सांसारिक वर नहीं माँगा। उन्होंने यही कहा—'प्रभो! मुझे देना हो तो अपनी भक्ति दीजिये, जिससे मैं सच्ची लगनके साथ भलीभाँति आपकी उपासना कर सकूँ। मैं श्रीचरणोंकी भलीभाँति भक्ति कर सकूँ, ऐसा वरदान दीजिये।' प्रभु तो मुक्तिदाता हैं, मुकुन्द हैं। उनके दर्शनोंके बाद फिर जन्म-मरण कहाँ, किन्तु महाराजने अभीतक भलीभाँति उपासना नहीं की थी। और वे मुक्तिसे भी बढ़कर उपासनाको चाहते थे। अत: भगवान्ने कहा—'अब तुम ब्राह्मण होगे, सर्व जीवोंमें समान दृष्टिवाले होगे; तब मेरी जी खोलकर अनन्य उपासना करना। मुझमें तो तुम मिल ही गये, मेरे तो तुम बन ही गये। तुम्हारी उपासना करनेकी जो अभिलाषा है उसके लिये तुम्हें विशुद्ध ब्राह्मणवंशमें जन्म लेना पड़ेगा और वहाँ उपासना-रसका भलीभाँति आस्वादन कर सकोगे।' वरदान देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। और महाराज मुचुकुन्द ब्राह्मण-जन्ममें उपासना करते हुए प्रभुके साथ अनन्य भावसे मिल गये, उनके ही हो गये। —प्र० ब्रह्मचारी

खट्वांग

सगरवंशीय नरपति विश्वसहके परम पराक्रमी पुत्रका नाम खट्वांग था। ये दिलीपके नामसे भी प्रसिद्ध हैं। इक्ष्वाकुवंशीय अंशुमान्के पुत्र दिलीपका भी दूसरा नाम खट्वांग ही था। रघुके पिता दिलीप इन दोनोंसे भिन्न थे। विश्वसहके पुत्र खट्वांग चक्रवर्ती सम्राट् थे। उन दिनों देवासुरसंग्राम बहुत अधिक हुआ करता था। जब कभी दैत्य जीत जाते तब देवता इन (खट्वांग)का आश्रय लेते और ये भी आश्रितोंकी रक्षाका व्रत लिये हुए थे। चाहे जो भी शरणमें आ जाय, अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे उसका परित्राण करना ही इन्होंने अपना कर्तव्य निश्चय कर रखा था।

एक बार जब देवताओंकी प्रार्थनासे दैत्योंपर विजय प्राप्त करनेके लिये स्वर्गमें गये हुए थे और उन्हें जीतकर मर्त्यलोकमें आनेके लिये तैयार थे तब देवताओंने इनसे आग्रह किया कि आपकी जो अभिलाषा हो माँग लें। हमलोग आपको सब कुछ दे सकते हैं। उन्हें मालूम था कि देवता केवल लौकिक या पारलौकिक भोग ही दे सकते हैं, परमार्थ नहीं। उन्होंने सोचा—'यदि हमारी आयु बहुत दिनोंकी हो तब तो इनकी बातपर विचार किया जा सकता है। नहीं तो पता नहीं कब मृत्यु हो जाय। ऐसी सन्दिग्ध स्थितिमें भोगोंकी ओर प्रवृत्त होना बड़ी मूर्खता है। एवं जीवनके उद्देश्यसे हाथ धोकर न जाने कबतकके लिये दु:खमय संसारका वरण करना पड़े।' यह सोचकर उन्होंने देवताओंसे पूछा कि पहले कृपा करके आपलोग यह बताइये कि अब हमारी आयुके कितने दिन बाकी हैं। देवताओंने बतलाया कि अब आपकी आयु एक मुहूर्त अर्थात् दो घड़ी ही शेष है। यह सुनकर उन्होंने कहा कि 'जब दो ही घड़ी जीवित रहना है तो इन भोगोंको लेकर हम क्या करेंगे? हमें तो अब शीघ्रातिशीघ्र भारतवर्षमें पहुँचाओ जिससे उस पवित्र एवं देवदुर्लभ भूमिमें जाकर हम भगवान्के ध्यानमें मग्न होकर देहत्याग करें।'

हुआ भी ऐसा ही। नदीमें स्नान करके पवित्र आसनपर बैठकर भगवान्का नामजप करते-करते वे भावसमाधिमें मग्न हो गये। और शरीर कब गिर गया, इस बातका उन्हें भान ही न हुआ। इन राजर्षिका चरित्र हमें परोपकारमय जीवन बिताते हुए, इस संसारकी मृत्युमय अवस्थाका दर्शन कराकर, इसी क्षण भगवान्के चिन्तनमें लग जानेका उपदेश करता है।

—शान्तनु

भगीरथ

इक्ष्वाकुवंशीय सम्राट् दिलीपके पुत्र ही भगीरथ नामसे विख्यात हुए। उनके पूर्वपुरुषोंने कपिलकी क्रोधाग्निसे भस्मीभूत सगरपुत्रोंका उद्धार करनेके लिये गंगाजीको लानेकी बड़ी चेष्टा की, और तपस्या करते-करते प्राण त्याग दिये परन्तु कृतकार्य न हुए। अब महाराज भगीरथ राज्यसिंहासनपर आरूढ़ हुए। ये बड़े प्रतापशाली राजा थे। ये देवताओंकी सहायता करनेके लिये स्वर्गमें जाते और इन्द्रके साथ उनके सिंहासनपर बैठकर सोमरस पान करते। इनकी प्रजा सब प्रकार सुखी थी। इनकी उदारता, प्रजावत्सलता और न्याय-शीलताकी प्रख्याति घर-घरमें थी। इनके मनमें यदि कोई चिन्ता थी तो यही कि अबतक भूतलपर गंगाजी नहीं आयीं और मेरे पूर्वजोंका उद्धार नहीं हुआ। एक दिन उन्होंने राज्यभार मन्त्रियोंको सौंप दिया और स्वयं तपस्या करनेके लिये निकल पड़े। गोकर्ण नामक स्थानपर जाकर इन्होंने घोर तपस्या की। ब्रह्माने सन्तुष्ट होकर इनसे वर माँगनेको कहा। तब भगीरथने कहा—'प्रभो! कोई ऐसा उपाय करें जिससे हमारे पितरोंको दो अंजलि गंगाजल मिल जाय और गंगाजी आकर उनकी राखको सींच दें। तब उनके उद्धारमें कोई शंका नहीं रह जायगी।' ब्रह्माने कहा—'हिमालयकी ज्येष्ठ कन्या गंगा शीघ्र पृथ्वीपर अवतीर्ण होंगी। अत: उनका वेग धारण करनेके लिये महादेवकी आराधना करो। तब तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो सकेगी।' तत्पश्चात् पैरके एक अँगूठेपर खड़े रहकर उन्होंने एक वर्षतक शिवकी आराधना की। भगवान् शंकर उनपर प्रसन्न हुए और उन्होंने गंगाधारणकी बात स्वीकार की। उस समय गंगा प्रबल वेगसे शिवके सिरपर गिरने लगीं। वे मनमें ऐसा सोच रही थीं कि अपने प्रबल वेगमें बहाकर शंकरको भी रसातल ले जाऊँ। महादेव उनके मनकी बात जानकर बड़े कुपित हुए और अपने जटाजालमें उन्हें छिपा लिया। गंगाजी चेष्टा करके भी बाहर न निकल सकीं। भगीरथने शंकरकी बड़ी प्रार्थना की, तब कहीं उन्होंने गंगाको निकालकर विन्दुसरोवरकी ओर छोड़ दिया। इसीसे गंगाकी सात धाराएँ हो गयीं। उनमेंसे एकने ही भगीरथका अनुगमन किया। भगीरथ दिव्य रथपर चढ़कर गंगाके आगे-आगे चलते हुए वर्तमान गंगासागरके पास पहुँचे, जहाँ कपिलकी तीव्र दृष्टिसे उनके पूर्वपुरुष भस्म हुए थे। यों तो मार्गमें कई विघ्न पड़े, परन्तु वे भगवान्की कृपासे सबसे बचते गये। वहाँ जाकर गंगाने उनकी भस्मराशि को अपनी धारासे प्लावित कर दिया, जिससे उन सबोंने सद्गति प्राप्त की।

श्रीमद्भागवतमें गंगाजीके अवतीर्ण होनेके पूर्व उनके और राजा भगीरथके बीचमें जो बातचीत हुई उसका बड़ा सुन्दर वर्णन आता है। गंगाजीने भगीरथसे कहा कि 'भूतलके प्राणी जब मेरे अन्दर स्नान करके अपने पापोंको धोवेंगे तो उनके वे पाप मेरे अन्दर प्रवेश कर जायँगे, उनसे मेरा छुटकारा कैसे होगा?' राजा भगीरथने गंगाजीके प्रश्नका जो उत्तर दिया उससे साधुओंकी अगाध महिमा प्रकट होती है। भगीरथने कहा—'जिनकी विषयवासना निर्मूल हो गयी है और जो शान्त, ब्रह्मनिष्ठ एवं संसारको पावन करनेवाले हैं ऐसे महापुरुष जब तुम्हारे अन्दर स्नान करेंगे तो उनके अंगस्पर्शसे तुम्हारे अन्दर प्रविष्ट हुए सारे पातक धुल जायँगे, क्योंकि सारे पातकोंका नाश करनेवाले श्रीहरि उनके हृदयमें सदा विराजमान रहते हैं।' जगत्को पावन करनेवाली श्रीगंगाजी भी जिनके स्पर्शसे पवित्र होती हैं उन संतोंकी महिमाका कहाँतक वर्णन किया जाय!

देवीभागवतमें, गंगाको लानेके लिये भगीरथने श्रीकृष्णकी आराधना की थी, ऐसा वर्णन आता है और बृहन्नारदीयके अनुसार भृगुमुनिके उपदेशसे हिमालयपर जाकर इन्होंने भगवान् नारायणकी आराधना की और उन्हींके प्रसाद एवं वरदानसे गंगाजी भूतलपर अवतीर्ण हुईं। चाहे जो हो—और कल्पभेदसे सभी ठीक है—महाराज भगीरथने हम भूतलवासियोंको एक ऐसी अमूल्य निधि दान की जिससे हम, जबतक सृष्टि रहेगी, उनके ऋणी रहेंगे और उनके यश:संगीतका गायन करते रहेंगे। उन्होंने अपने पितरोंके बहाने हम सबका उद्धार कर दिया। हमारे हाथमें परम कल्याणका गुप्त मन्त्र दे दिया। इससे बढ़कर हमारा और कौन-सा उपकार हो सकता है? विभिन्न पुराणोंमें इनके विभिन्न पुत्रोंका वर्णन आता है और इनकी पितृभक्ति, गुरुभक्ति एवं भगवद्भक्तिका बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। पुराणोंद्वारा उनका अनुशीलन किया जा सकता है।

अम्बरीष

भक्तवर अम्बरीष वैवस्वतमनुके पौत्र महाराज नाभागके पुत्र थे और एक विशाल साम्राज्यके अधीश्वर थे। सप्तद्वीपमयी पृथ्वीका राज्य, कभी शेष न होनेवाली सम्पदा और अतुल ऐश्वर्य उनको प्राप्त था; परन्तु वे इस बातको भलीभाँति जानते थे कि यह समस्त ऐश्वर्य स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंके सदृश असत् है; और इसीलिये भक्तवर अम्बरीषने अपना सारा जीवन परमात्माके पावन चरणकमलोंमें समर्पण कर दिया था, उनकी समस्त इन्द्रियाँ मनसहित सदा-सर्वदा भगवत्-सेवामें ही लगी रहती थीं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

'(राजा अम्बरीषने) अपने मनको भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें, वाणीको उनके गुणानुवाद गानेमें, हाथोंको श्रीहरिमन्दिरके झाड़ने-बुहारनेमें और कानोंको भगवान् अच्युतकी पवित्र कथाओंके सुननेमें लगाया। नेत्रोंको भगवान्‌की मूर्तिके दर्शनमें, अंगोंको भगवत्सेवकोंके अंगोंका स्पर्श करनेमें, नासिकाको श्रीहरिके चरणकमलोंपर चढ़ी हुई श्रीतुलसीजीकी सुगन्धको सूँघनेमें और रसनाको श्रीहरिके प्रसादका रस लेनेमें लगाया। पैरोंको श्रीहरिके पवित्र स्थानोंमें जानेमें और मस्तकको श्रीहृषीकेशके चरणोंकी वन्दनामें लगाया। विषयी जनोंकी भाँति वे विषय-भोगोंमें लिप्त नहीं थे। वे जो कुछ भी भोग करते सो सब श्रीहरिका प्रसाद समझकर करते। भगवान्‌के भक्तोंमें प्रीति हो, इसलिये वे सब प्रकारके भोगोंको (पहले हरिभक्तोंकी सेवामें अर्पण करके पीछे स्वयं) ग्रहण करते थे। अपने समस्त कर्म उस यज्ञपुरुष परमात्मा अधोक्षज श्रीकृष्णमें अर्पण करते हुए और सबका आत्मा भगवान् ही है, ऐसी भावना करते हुए (राजा अम्बरीष) भगवत्परायण ब्राह्मणोंकी बतलायी हुई रीतिके अनुसार न्यायपूर्वक राज्यका पालन करते थे।'

इस प्रकार जो अनन्यभावसे भगवान्‌के शरण हो जाता है उसके योग-क्षेमका सारा भार भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं, इसी व्रतके अनुसार भगवान्‌ने भक्तकी सब प्रकारकी रक्षाके लिये दुष्टदर्पदलनकारी सुदर्शनको नियुक्त कर दिया। सुदर्शन प्रभुकी अनुमति पाकर गुप्तरूपसे राजद्वारपर पहरा देने लगा।

एक समय राजाने रानीसमेत श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये एक वर्षकी एकादशियोंके व्रतका नियम किया। अन्तिम एकादशीके दूसरे दिन विधिवत् भगवान्‌की पूजा की गयी। बहुत बड़ी संख्यामें वस्त्राभूषणोंसे सजी हुई गौएँ दान दी गयीं और आदरसहित ब्राह्मणोंको भोजन कराया गया। यह सब कर चुकनेपर राजा पारण करना ही चाहते थे कि ऋषि दुर्वासा अपने शिष्योंसहित पधारे। अतिथि-सत्कारका महत्त्व जाननेवाले राजाने सब प्रकारसे दुर्वासाजीका सत्कार कर उनसे भोजन करनेके लिये प्रार्थना की। ऋषिने भोजन करना स्वीकार किया और वे मध्याह्नका नित्यकर्म करनेके लिये यमुनाजीके तटपर चले गये। द्वादशी केवल एक ही घड़ी बाकी थी, द्वादशीमें पारण न होनेसे व्रत भंग होता है। राजाने ब्राह्मणोंसे व्यवस्था लेकर श्रीहरिके चरणोदकसे पारण कर लिया और भोजन करानेके लिये दुर्वासाजीकी बाट देखने लगे। दुर्वासाजी अपनी नित्यक्रियाओंसे निवृत्त होकर राजमन्दिरमें लौटे और अपने तपोबलसे राजाके पारण कर लेनेकी बातको जानकर अत्यन्त क्रोधसे त्यौरी चढ़ाकर अपराधीकी तरह हाथ जोड़े सामने खड़े हुए राजासे कहने लगे—'अहो! इस धनमदसे अन्ध अधम राजाकी धृष्टता और धर्मके निरादरको तो देखो! अब यह विष्णुका भक्त नहीं है। यह तो अपनेको ही ईश्वर मानता है। मुझ अतिथिको निमन्त्रण देकर इसने मुझे भोजन कराये बिना ही स्वयं भोजन कर लिया। इसे अभी इसका फल चखाता हूँ।' यों कहकर दुर्वासाजीने मस्तकसे एक जटा उखाड़कर जोरसे उसे पृथिवीपर पटका, जिससे तत्काल कालाग्निके समान कृत्या नामक एक भयानक राक्षसी प्रकट हो गयी और वह अपने चरणोंकी चोटसे पृथिवीको कँपाती हुई तलवार हाथमें लिये राजाकी ओर झपटी। परन्तु भगवान्‌पर दृढ़ भरोसा रखनेवाले अम्बरीष ज्यों-के-त्यों वहाँ खड़े रहे, वे न पीछे हटे और न उन्हें किसी प्रकारका भय हुआ। जो समस्त संसारमें परमात्माको व्यापक समझता है वह किससे डरे और कैसे डरे?

कृत्या अम्बरीषतक पहुँच ही नहीं पायी थी कि भगवान्‌के सुदर्शनचक्रने कृत्याको उसी क्षण ऐसे भस्म कर दिया जैसे प्रचण्ड दावानल कुपित सर्पको भस्म कर डालता है। अब सुदर्शन ऋषि दुर्वासाकी खबर लेनेके लिये उनके पीछे चला। दुर्वासा बड़े घबड़ाये और प्राण लेकर भागे। चक्र उनके पीछे-पीछे चला।

दुर्वासा दसों दिशाओं और चौदहों भुवनोंमें भटके। परन्तु कहीं भी उन्हें ठहरनेको ठौर नहीं मिली। किसीने भी उन्हें आश्रय और अभयदान नहीं दिया। अन्तमें बेचारे वैकुण्ठमें गये और भगवान् श्रीविष्णुके चरणोंमें पड़कर गिड़गिड़ाते हुए बोले—'हे प्रभो! मैंने आपके प्रभावको न जानकर आपके भक्तका अपमान किया है, मुझे इस अपराधसे छुड़ाइये। आपके नामकीर्तनमात्रसे ही नरकके जीव भी नरकके कष्टोंसे छूट जाते हैं, अतएव मेरा अपराध क्षमा कीजिये।'

भगवान्ने कहा—

'हे ब्राह्मण! मैं भक्तके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ; मुझे भक्तजन बड़े प्रिय हैं, मेरे हृदयपर उनका पूर्ण अधिकार है। जिन्होंने मुझको ही अपनी परम गति माना है उन अपने परम भक्त साधुओंके सामने मैं अपनी आत्मा और सम्पूर्ण श्री (या अपनी लक्ष्मी) को भी कुछ नहीं समझता। जो भक्त (मेरे लिये) स्त्री, पुत्र, घर, परिवार, धन, प्राण, इहलोक और परलोक, सबको त्यागकर केवल मेरा ही आश्रय लेते हैं उन्हें मैं कैसे छोड़ सकता हूँ? जैसे पतिव्रता स्त्री अपने शुद्ध प्रेमसे श्रेष्ठ पतिको वशमें कर लेती है उसी प्रकार मुझमें चित्त लगानेवाले सर्वत्र समदर्शी साधुजन भी अपनी शुद्ध भक्तिसे मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। काल पाकर नष्ट होनेवाले स्वर्गादि लोकोंकी तो गिनती ही क्या है, मेरी सेवा करनेपर उन्हें जो चार प्रकारकी (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य) मुक्ति मिलती है उसे भी वे ग्रहण नहीं करते! मेरे प्रेमके सामने वे सबको तुच्छ समझते हैं।'

'साधु मेरा हृदय है और मैं उन साधुओंका हृदय हूँ। वे मेरे सिवा और किसीको नहीं जानते तो मैं भी उनके सिवा और किसीको नहीं जानता। तुम्हें अपनी रक्षा करनी हो तो हे ब्रह्मन्! तुम्हारा कल्याण हो, तुम उसी महाभाग राजा अम्बरीषके समीप जाओ और उससे क्षमा माँगो; तभी तुमको शान्ति मिलेगी।' भगवान्की आज्ञा पाकर दुर्वासाजी लौट चले।

इधर संतशिरोमणि अम्बरीषकी विचित्र अवस्था थी। जबसे दुर्वासाजीके पीछे चक्र चला था तभीसे राजा अम्बरीष ऋषिके सन्तापसे सन्तप्त हो रहे हैं। साधुका हृदय मक्खनसे भी बढ़कर कोमल होता है। मक्खन स्वयं ताप पानेपर पिघलता है, परन्तु साधुका हृदय तो दूसरेके तापसे द्रवित हुआ करता है। अम्बरीषजीने मनमें सोचा, ब्राह्मण भूखे गये हैं और मेरे ही कारण उन्हें मृत्युभयसे त्रस्त होकर इतना दौड़ना पड़ रहा है, इस अवस्थामें मुझे भोजन करनेका क्या अधिकार है? यों विचारकर राजाने उसी क्षणसे अन्न त्याग दिया और वे केवल जल पीकर रहने लगे। दुर्वासाजीके लौटकर आनेमें पूरा एक वर्ष बीत गया, परन्तु अम्बरीषजीका व्रत नहीं टला। दुर्वासाके दर्शनकी इच्छासे राजा तबतक केवल जलपर ही रहे!

दुर्वासाजीने आते ही राजाके चरण पकड़ लिये। राजाको बड़ा संकोच हुआ। ब्राह्मणको संकटमें पड़े जानकर राजाका सन्ताप और भी बढ़ गया। उन्होंने बड़ी विनयके साथ सुदर्शनकी स्तुति करते हुए कहा, यदि मेरे मनमें दुर्वासाजीके प्रति जरा भी द्वेष न हो, यदि मैंने जीवनभर शुभ कर्म किये हों, यदि मेरा कुल ब्राह्मणोंको इष्टदेव मानता हो और सब प्राणियोंके आत्मा श्रीभगवान् मुझपर प्रसन्न हों तो आप शान्त हो जायँ और ऋषिको संकटसे मुक्त करें। सुदर्शन शान्त हो गया। दुर्वासाजी भयरूपी अग्निसे जल रहे थे, अब वे स्वस्थ हुए और उनके चेहरेपर हर्ष और कृतज्ञताके चिह्न स्पष्टरूपसे प्रकट हो गये। दुर्वासाजी आशीर्वाद देते हुए बोले—

'अहो! आज मैंने भगवान्के दासोंका महत्त्व देखा। मैंने तुम्हारा इतना अपराध किया तो भी तुमने मेरे कल्याणकी ही चेष्टा की। जिन लोगोंने भक्तवत्सल भगवान्को अपने वशमें कर लिया है उनके लिये कोई भी कार्य दुष्कर नहीं तथा कोई भी वस्तु दुस्त्यज नहीं है। जिसके नामश्रवणमात्रसे मनुष्य पापोंसे छूट जाता है उस तीर्थपाद श्रीहरिके दासके लिये कौन-सा कार्य शेष है? हे राजन्! तुम बड़े दयालु हो। तुमने मेरे प्रति बड़ी दया की है, मेरे अपराधकी ओर न देखकर तुमने मेरे प्राण बचाये हैं!'

ये हैं सच्चे संतके लक्षण। अपकार करनेवालेका भी उपकार करना, दुःख देनेवालेको भी सुख पहुँचाना, काँटा चुभानेवालेको भी कोमल कुसुम देना और मारनेवालेको भी बचाना! धन्य है!! —ह० पोद्दार

रुक्मांगद

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक-
व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्
पुण्यानिमान् परमभागवतान् नतोऽस्मि॥*

परमभागवत महाराज रुक्मांगद अयोध्याके महाराज ऋतध्वजके पुत्र थे। ये इक्ष्वाकुवंशमें बड़े ही प्रतापी और धर्मात्मा राजा हुए हैं। इनकी सन्ध्यावली नामकी पत्नी थी, उसके गर्भसे राजकुमार धर्मांगदका जन्म हुआ। कुमार धर्मांगद पिताके समान ही धर्मात्मा और पितृभक्त थे। महाराज रुक्मांगदको एकादशीव्रतका इष्ट था। उन्होंने अपने समस्त राज्यमें घोषणा करा दी थी कि जो एकादशीव्रत न करेगा उसे राज्यकी ओरसे दण्ड दिया जायगा। अतः उनके राज्यमें छोटे-छोटे बच्चों, अति वृद्धों और गर्भिणी स्त्रियोंको छोड़कर सभी एकादशीव्रत करते थे। एकादशीव्रतके प्रतापसे उनके राज्यमें कोई भी यमपुरीको नहीं जाता था। यमराजको बड़ी चिन्ता हुई, वे प्रजापति भगवान् ब्रह्माके पास गये और यमपुरीके उजाड़ होनेका संवाद सुनाया। ब्रह्माजीने कुछ सोचकर उत्तर दिया कि अच्छा हम इसका प्रबन्ध करेंगे।

ब्रह्माजीने अपनी इच्छासे एक मोहिनी नामकी मायाकी स्त्री बनायी। उसने प्रतिज्ञा की कि मैं महाराजसे एकादशीका व्रत छुड़वा दूँगी। ऐसी प्रतिज्ञा करके वह हिमालयके रमणीक प्रदेशमें चली गयी। इधर महाराज राज्य करते-करते थक गये थे, वे अपने पुत्र धर्मांगदको राज्य देकर और अपनी रानीको साथ लेकर हिमालयकी ओर तप करने चले गये। जाते हुए वे अपने पुत्रको आदेश दे गये कि एकादशीके व्रतका नियम इसी प्रकार चलता रहे। पितृभक्त राजकुमारने पिताकी आज्ञा शिरोधार्य की और उसी प्रकार एकादशीका व्रत स्वयं करने लगा तथा समस्त प्रजाके लोगोंसे कराने लगा। महाराज रुक्मांगद जंगलमें भी सदा एकादशीका व्रत करते थे।

महाराज जहाँ तपस्या करते थे वहाँ मोहिनी गयी और उसने अपने हाव-भाव, कटाक्षोंद्वारा महाराजको अपने वशमें कर लिया, तथा अपनेको ब्रह्माजीकी पुत्री बताकर अपनी कुलीनताका भी परिचय दिया। महाराजने उससे विवाह करनेका प्रस्ताव किया। उसने कहा आप अपने नगरमें चलकर मुझसे विवाह कर लें; किन्तु शर्त यह है कि मैं जो कुछ कहूँगी वही आपको मानना पड़ेगा। महाराजने मोहवश यह शर्त स्वीकार कर ली। वे मोहिनीको साथ लेकर अपनी राजधानीमें लौट आये। उनके धर्मात्मा पुत्रने विधिवत् उनका स्वागत किया।

महाराजको मोहिनीने वशमें कर लिया था। अतः उन्होंने उसकी सब बातें मानकर उससे विवाह कर लिया। सन्ध्यावली बड़ी ही धर्मपरायणा पतिव्रता थीं। वे बड़ी श्रद्धासे महाराजकी तथा मोहिनीकी सेवा करने लगीं। उनके मनमें तनिक भी सौतियाडाह नहीं था। महाराज उनके इष्टदेव थे। महाराज जिन्हें मानते हैं वह उनकी भी मान्य हैं। महाराजकी जिसमें प्रसन्नता है उसे करनेमें वे अपना सौभाग्य समझती थीं।

इतना सब होनेपर भी महाराज एकादशीव्रतको सदा नियमपूर्वक करते थे। एकादशीका व्रत उन्होंने नहीं छोड़ा।

एक दिन एकादशी आयी, महाराज व्रत रहे और विधिवत् रात्रिजागरण करनेको भी उद्यत हुए। मोहिनीने कहा—'महाराज! मेरी एक बात आपको माननी होगी।'

महाराजने कहा—'मैं तुम्हारी सभी बातोंको मानता रहा हूँ और मानूँगा, बताओ कौन-सी बात है?'

मोहिनीने कहा—'मेरी प्रार्थना यही है कि आप एकादशीका व्रत न करें, इसीमें मेरी प्रसन्नता है।'

महाराज यह सुनते ही अवाक् रह गये, उन्होंने बड़े कष्टसे कहा—'मोहिनी! मैं तुम्हारी सभी बातें मान सकता हूँ, सब कुछ कर सकता हूँ; किन्तु एकादशीव्रत छोड़नेके लिये मुझसे मत कह। एकादशीव्रतको छोड़ना मेरे लिये नितान्त असम्भव है।'

मोहिनीने कहा—'महाराज! आप एकादशीव्रत रहेंगे तो मैं अभी मर जाऊँगी। मेरी यही इच्छा है, इसे आपको पूरा करना ही होगा। आप मुझसे विवाहके समय प्रतिज्ञा कर चुके हैं।'

महाराजने कहा—'तुम इसके बदले और जो कुछ भी चाहो माँग लो। बस, एकादशीव्रत छोड़नेको मत कहो।'

* प्रह्लाद, नारद, पराशर, पुण्डरीक, व्यास, अम्बरीष, शुक, शौनक, भीष्म, दाल्भ्य, अर्जुन, रुक्मांगद, वशिष्ठ और विभीषण आदि पुण्यश्लोक परमभागवतोंकी मैं वन्दना करता हूँ।

तब मोहिनीने कहा—'अच्छा अपने इकलौते पुत्रका सिर दीजिये।' महाराज बड़े दुखी हुए। धर्मांगदको जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने अपने पिताको बहुत समझाया कि 'इससे बढ़कर सौभाग्य मेरे लिये क्या होगा? आप धर्मसंकटसे बच जायँगे, माताकी इच्छापूर्ति होगी। यह शरीर तो कभी-न-कभी जाना ही है, यदि इसके द्वारा कोई महान् कार्य हो जाय तो इससे बढ़कर इसका सदुपयोग और हो ही क्या सकता है?' सन्ध्यावली रानीने भी पुत्रकी बातोंका अनुमोदन किया।

पुत्रके कहनेपर महाराज ज्यों ही अपने इकलौते पुत्रका सिर काटनेवाले थे त्यों ही भगवान् विमान लेकर आये और महाराजको सपरिवार अपने लोकको ले गये।

जिन्होंने सत्यकी रक्षाके लिये प्राणसे भी प्यारे अपने इकलौते पुत्रका सिर देना तक मंजूर कर लिया किन्तु एकादशीका व्रत नहीं छोड़ा, उनसे बढ़कर परमभागवत और कौन हो सकता है? —प्र० ब्रह्मचारी

हरिश्चन्द्र

(लेखक—श्रीक्षितीन्द्रनाथ ठाकुर, बी० ए०)

सूर्यवंशमें त्रिशंकु नामके एक प्रसिद्ध चक्रवर्ती सम्राट् हो गये हैं, जिन्हें भगवान् विश्वामित्रने अपने योगबलसे सशरीर स्वर्ग भेजनेका प्रयत्न किया था। महाराज हरिश्चन्द्र उन्हीं त्रिशंकुके पुत्र थे। ये बड़े ही धर्मात्मा, सत्यपरायण तथा प्रसिद्ध दानी थे। इनके राज्यमें प्रजा बड़ी सुखी थी और दुर्भिक्ष, महामारी आदि उपद्रव कभी नहीं होते थे। महाराज हरिश्चन्द्रके यशसे त्रिभुवन भर गया। भगवान् नारदके मुखसे इनकी प्रशंसा सुनकर देवराज इन्द्र ईर्ष्यासे जल उठे और उनकी परीक्षाके लिये मुनि विश्वामित्रसे प्रार्थना की। इन्द्रकी प्रार्थनापर प्रसन्न होकर मुनि परीक्षा लेनेको तैयार हो गये।

महामुनि विश्वामित्र अयोध्या पहुँचे। राजा हरिश्चन्द्रसे बातों-ही-बातोंमें उन्होंने समस्त राज्य दानरूपमें ले लिया। महाराज हरिश्चन्द्र ही भूमण्डलके एकछत्र राजा थे। वह सारा राज्य तो मुनिकी भेंट हो चुका—अब वे रहें तो कहाँ रहें? उन दिनों काशी ही एक ऐसा स्थान था जिसपर किसी मनुष्यका अधिकार नहीं समझा जाता था। वे रानी शैब्या और पुत्र रोहिताश्वके साथ काशीकी तरफ चल पड़े। जाते समय मुनिने राजासे कहा कि बिना दक्षिणाके यज्ञ, दान और जप-तप आदि सब निष्फल होते हैं; अतः आप इस बड़े भारी दानकी सांगताके लिये एक हजार स्वर्णमुद्राएँ दक्षिणास्वरूप दीजिये। महाराजके पास अब रह ही क्या गया था? उन्होंने इसके लिये एक मासकी अवधि माँगी। विश्वामित्रने प्रसन्नतापूर्वक एक मासका समय दे दिया।

महाराज हरिश्चन्द्र काशी पहुँचे और शैब्या तथा रोहिताश्वको एक ब्राह्मणके हाथ बेचकर स्वयं एक चाण्डालके यहाँ बिक गये। क्योंकि इसके सिवा अन्य कोई उपाय भी न था। इस प्रकार मुनिके ऋणसे मुक्त होकर राजा हरिश्चन्द्र अपने स्वामीके यहाँ रहकर काम करने लगे। इनका स्वामी मरघटका मालिक था। उसने इन्हें श्मशानमें रहकर मुर्दोंके कफन लेनेका काम सौंपा। इस प्रकार राजा बड़ी सावधानीसे स्वामीका काम करते हुए श्मशानमें ही रहने लगे।

इधर रानी शैब्या ब्राह्मणके घर रहकर उसके बर्तन साफ करती, घरमें झाड़ू-बुहारी देती और कुमार पुष्पवाटिकासे ब्राह्मणके देवपूजनके लिये पुष्प लाता। राजसुख भोगे हुए और कभी कठिन काम करनेका अभ्यास न होनेके कारण रानी शैब्या और कुमार रोहिताश्वका शरीर अत्यन्त परिश्रमके कारण इतना सूख गया कि उन्हें पहचानना कठिन हो गया। इसी बीचमें एक दिन जब कि कुमार पुष्पचयन कर रहा था एक पुष्पलताके भीतरसे एक काले विषधर सर्पने उसे डस लिया। कुमारका मृत शरीर जमीनपर गिर पड़ा। जब शैब्याको यह खबर मिली तो वह स्वामीके कार्यसे निपटकर विलाप करती हुई पुत्रके शवके पास गयी और उसे लेकर दाहके लिये श्मशान पहुँची। महारानी पुत्रके शवको जलाना ही चाहती थी कि हरिश्चन्द्रने आकर उससे कफन माँगा। पहले तो दम्पतीने एक दूसरेको पहचाना ही नहीं, परन्तु दुःखके कारण शैब्याके रोने-चीखनेसे राजाने रानी और पुत्रको पहचान लिया। यहाँपर हरिश्चन्द्रकी तीसरी बार कठिन परीक्षा हुई। शैब्याके पास रोहिताश्वके कफनके लिये कोई कपड़ा

नहीं था। परन्तु राजाने रानीके गिड़गिड़ानेकी कोई परवा नहीं की। वे पिताके भावसे पुत्रशोकसे कितने ही दुखी क्यों न हों, पर यहाँ तो वे पिता नहीं थे। वे तो मरघटके स्वामीके नौकर थे और उनकी आज्ञा बिना किसी भी लाशको कफन लिये बिना जलाने देना पाप था। राजा अपने धर्मसे जरा भी विचलित नहीं हुए। जब रानीने स्वामीको किसी तरह मानते नहीं देखा तो वह अपने साड़ीके दो टुकड़े करके उसे कफनके रूपमें देनेको तैयार हो गयी। रानी ज्यों ही साड़ीके दो टुकड़े करनेको तैयार हुई कि वहाँ भगवान् नारायण एवं मुनि विश्वामित्रसहित ब्रह्मादि देवगण आ उपस्थित हुए और कहने लगे कि हम तुम्हारी धर्मपालनकी दृढ़तासे अत्यन्त प्रसन्न हैं, तुम तीनों सदेह स्वर्गमें जाकर अनन्त कालतक स्वर्गके दिव्य भोगोंको भोगो।

इधर इन्द्रने रोहिताश्वके मृत शरीरपर अमृतकी वर्षा करके उसे जीवित कर दिया। कुमार सोकर उठे हुएकी भाँति उठ खड़े हुए। हरिश्चन्द्रने समस्त देवगणसे कहा कि जबतक मैं अपने स्वामीसे आज्ञा न ले लूँ तबतक यहाँसे कैसे हट सकता हूँ। इसपर धर्मराजने कहा—'राजन्! तुम्हारी परीक्षाके लिये मैंने ही चाण्डालका रूप धारण किया था। तुम अपनी परीक्षामें पूर्णतः उत्तीर्ण हो गये। अब तुम सहर्ष स्वर्ग जा सकते हो।' इसपर महाराज हरिश्चन्द्रने कहा—'महाराज! मेरे विरहमें मेरी प्रजा अयोध्यामें व्याकुल हो रही होगी। उनको छोड़कर मैं अकेला कैसे स्वर्ग जा सकता हूँ? यदि आप मेरी प्रजाको भी मेरे साथ स्वर्ग भेजनेको तैयार हों तो मुझे कोई आपत्ति नहीं, अन्यथा उनके बिना मैं स्वर्गमें रहनेकी अपेक्षा उनके साथ नरकमें रहना भी अधिक पसन्द करूँगा।' इसपर इन्द्रने कहा—'महाराज! उन सबके कर्म तो अलग-अलग हैं, वे सब एक साथ कैसे स्वर्ग जा सकते हैं?' यह सुनकर हरिश्चन्द्रने कहा—'मुझे आप मेरे जिन कर्मोंके कारण अनन्तकालके लिये स्वर्ग भेजना चाहते हैं उन कर्मोंका फल आप सबको समानरूपसे बाँट दें, फिर उनके साथ स्वर्गका क्षणिक सुख भी मेरे लिये सुखकर होगा। किन्तु उनके बिना मैं अनन्तकालके लिये भी स्वर्गमें रहना नहीं चाहता।' इसपर देवराज प्रसन्न हो गये और उन्होंने 'तथास्तु' कह दिया। सब देवगण महाराज हरिश्चन्द्र एवं शैब्या तथा रोहिताश्वको आशीर्वाद एवं नाना प्रकारके वरदान देकर अन्तर्धान हो गये। भगवान् नारायणदेवने भी उन्हें अपनी अचल भक्ति देकर कृतार्थ कर दिया।

इधर सब-के-सब अयोध्यावासी अपने स्त्री, पुत्र एवं भृत्योंसहित स्वर्ग चले गये। पीछेसे मुनि विश्वामित्रने अयोध्या नगरीको फिरसे बसाया और कुमार रोहितको अयोध्याके राजसिंहासनपर बिठाकर उसे समस्त भूमण्डलका एकछत्र अधिपति बना दिया।

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

इन चार बातोंके बारेमें आत्मपरीक्षा करते रहना—(१) कोई भी शुभ कर्म करते समय तुम निष्कपट हो न? (२) जो कुछ बोल रहे हो निःस्वार्थ भावसे ही न? (३) जो दान-उपकार कर रहे हो बदलेकी आशाके बिना ही न? (४) जो धन संचय कर रहे हो कृपणता छोड़कर ही न?

प्रभुको सदा सर्वत्र उपस्थित समझकर यथाशक्ति उसका ध्यान, भजन और आज्ञापालन करते रहना। इस मायावी संसारने आजतक असंख्य जनोंका संहार किया है, उसी प्रकार तुम्हारा भी विनाश न हो जाय इसका ध्यान रखना।

दिलीप

गावो मे अग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः।
गावो मे सर्वतः सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥*

इक्ष्वाकुवंशमें महाराज दिलीप बड़े ही प्रसिद्ध राजर्षि हो गये हैं। वे बड़े धर्मात्मा और प्रजापालक राजा थे, चारों वर्ण उनके शासनसे सन्तुष्ट थे। महाराजको सभी प्रकारके सुख थे, किन्तु उनके कोई सन्तान नहीं थी। सन्तानके अभावमें वे सदा चिन्तित रहते थे। एक बार ये इसी दुःखसे दुःखी होकर अपने कुलगुरु महर्षि वशिष्ठके आश्रमपर गये। वशिष्ठजीने इनका यथोचित आदर-सत्कार किया और आनेका कारण पूछा। महाराजने कहा—'भगवन्! मेरे कोई सन्तान नहीं है। यह किस पापका फल है और उसका क्या प्रायश्चित्त है? किस प्रकार मेरे सन्तान हो सकेगी? कृपा करके ये सब बातें बताइये।'

महर्षि वशिष्ठने दिव्यदृष्टिसे सब बातें समझकर कहा—'राजन्! आप एक बार देवासुरसंग्राममें गये थे। वहाँसे लौटकर जब आप आ रहे थे तो रास्तेमें आपको सुरनन्दिनी कामधेनु मिली। आपके सामने होनेपर भी आपकी दृष्टि उनपर नहीं पड़ी, इसलिये आपने उन्हें प्रणाम नहीं किया। कामधेनुने इसे अविनय समझकर आपको सन्तानहीनताका शाप दिया। उस समय आकाशगंगा बड़े जोरोंसे शब्द कर रही थी, इससे आपने उस शापको सुना नहीं। अब इसका एक ही उपाय है कि किसी भी प्रकार उस गौको प्रसन्न किया जाय। वह गौ तो अब यहाँ है नहीं। उसकी बछिया मेरे पास है, आप इसकी सेवा करें। भगवान्ने चाहा तो आपका मनोरथ शीघ्र ही पूरा होगा।'

गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य करके महाराज अपनी महारानीके सहित गौकी सेवामें लग गये। वे प्रातः बड़े ही सबेरे उठते, उठकर गौकी बछियाको दूध पिलाते, ऋषिके हवनके लिये दूध दुहते और फिर गौको लेकर जंगलमें चले जाते। गौ जिधर भी जाती उसके पीछे-पीछे चलते। वह बैठ जाती तो स्वयं भी बैठकर उसके शरीरको सुहलाते, हरी-हरी दूब उखाड़कर उसे खिलाते। जिधरसे भी वह चलती उधर ही चलते। सारांश कि महाराज छायाकी तरह गौके साथ-साथ रहते। इस प्रकार महाराजको २१ दिन हो गये।

एक दिन वे गौके पीछे-पीछे जंगलमें जा रहे थे। गौ एक बहुत बड़े गहन वनमें घुस गयी। महाराज भी पीछे-पीछे धनुषसे लताओंको हटाते हुए चले। एक वृक्षके नीचे जाकर उन्होंने क्या देखा कि गौ नीचे है, उसके ऊपर एक सिंह बैठा है और गौका वध करना चाहता है। महाराजने तूणीरसे बाण निकालकर उस सिंहको मारना चाहा, किन्तु उनका हाथ जहाँ-का-तहाँ जडवत् रह गया। अब वे क्या करते, उन्होंने अत्यन्त दीनतासे कहा—'आप कोई सामान्य सिंह नहीं हैं, आप देवता हैं; इस गौको छोड़ दीजिये, इसके बदलेमें आप मुझे जो भी आज्ञा दें मैं करनेको तैयार हूँ।' सिंहने कहा—'यह वृक्ष भगवती पार्वतीको अत्यन्त प्रिय है, मुझे शिवजीने स्वयं अपनी इच्छासे उत्पन्न करके इसकी रक्षामें नियुक्त किया है; यहाँ जो भी आता है वही मेरा आहार है। यह गौ यहाँ आयी है, इसे ही खाकर मैं पेट भरूँगा। इस विषयमें आप कुछ भी नहीं कर सकते।'

महाराजने कहा—'सिंहराज! यह गौ मेरे गुरुदेवकी है, मैं इसके बदले आपको सब कुछ देनेको तैयार हूँ; आप मुझे खा लें और इसे छोड़ दें।'

सिंहने बहुत समझाया कि आप महाराज हैं, प्रजाके प्राण हैं, गुरुको ऐसी लाखों गौ देकर सन्तुष्ट कर सकते हैं; किन्तु महाराजने एक न मानी। अन्तमें सिंह तैयार हो गया, महाराज जमीनपर पड़ गये। थोड़ी देरमें जब उन्होंने देखा तो न वहाँ सिंह था, न वृक्ष; केवल कामधेनु वहाँ खड़ी थी। उसने कहा—'राजन्! मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ, यह सब मेरी माया थी; आप मेरा दूध अभी दुहकर पी लें, आपके पुत्र होगा।' महाराजने कहा—'देवि! आपका आशीर्वाद शिरोधार्य है; किन्तु जबतक आपका बछड़ा न पी लेगा, गुरुके यज्ञके लिये दूध न दुह लिया जायगा और गुरुजीकी आज्ञा न होगी तबतक मैं दूध नहीं पीऊँगा।'

इसपर गौ बहुत सन्तुष्ट हुई। गौ शामको महाराजके

* गौएँ मेरे आगे रहें, गौएँ मेरे पीछे रहें, गौएँ मेरे चारों ओर रहें, मैं सदा गौओंके बीचमें ही रहूँ।

आगे-आगे भगवान् वशिष्ठके आश्रमपर पहुँची। सर्वज्ञ ऋषि तो पहले ही समझ गये थे, महाराजने जाकर जब यह सब हाल कहा तो वे प्रसन्न होकर बोले—'राजन्! आपका मनोरथ पूरा हुआ। गौकी कृपासे आपके बड़ा पराक्रमी पुत्र होगा। आपका वंश उसके नामसे चलेगा।'

नियत समयपर ऋषिने नन्दिनीका दूध राजा और रानीको दिया। महाराज अपनी राजधानीमें आये और रानी गर्भवती हुईं। यथासमय उनके पुत्र उत्पन्न हुआ। यही बालक रघुकुलका प्रतिष्ठाता रघु नामसे विख्यात हुआ। —प्र० ब्रह्मचारी

रघु

'दाता भवति वा न वा।'

सूर्यवंशमें जैसे इक्ष्वाकु, अजमीढ आदि राजा बहुत प्रसिद्ध हुए हैं उसी प्रकार महाराज रघु भी बड़े प्रसिद्ध पराक्रमी, धर्मात्मा और पुण्यश्लोक हो गये हैं। इन्हींके नामसे रघुवंश प्रसिद्ध हुआ। इसीलिये भगवान् रामचन्द्रजीके रघुवर, राघव, रघुपति, रघुवंशविभूषण, रघुनाथ आदि नाम हुए। ये बड़े धर्मात्मा थे। इन्होंने अपने पराक्रमसे समस्त पृथ्वीको अपने अधीन कर लिया था। चारों दिशाओंमें दिग्विजय करके ये समस्त भूमण्डलके एकछत्र सम्राट् हुए। ये प्रजाको बिल्कुल कष्ट देना नहीं चाहते थे, राजकर भी ये बहुत ही कम लेते थे और विजित राजाओंको भी केवल अधीन बनाकर छोड़ देते थे, उनसे किसी प्रकारका कर वसूल नहीं करते थे।

एक बार ये दरबारमें बैठे थे कि इनके पास कौत्स नामके एक स्नातक ऋषिकुमार आये। अपने यहाँ स्नातकको देखकर महाराजने उनका विधिवत् स्वागत-सत्कार किया। पाद्य-अर्घ्यसे उनकी पूजा की। ऋषिकुमारने विधिवत् उनकी पूजा ग्रहण की और कुशल-प्रश्न पूछा। थोड़ी देरके अनन्तर ऋषिकुमार चलने लगे, महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! आप कैसे पधारे और बिना कुछ अपना अभिप्राय बताये आप क्यों लौटे जा रहे हैं?'

ऋषिकुमारने कहा—'राजन्! मैंने आपके दानकी ख्याति सुनी है, आप अद्वितीय दानी हैं; मैं एक प्रयोजनसे आपके पास आया था; किन्तु मैंने सुना है कि आपने यज्ञमें अपना समस्त धन-वैभव दान कर दिया है। यहाँ आकर मैंने प्रत्यक्ष देखा कि आपके पास अर्घ्य देनेके लिये भी कोई सुवर्णपात्र नहीं है और आपने हमें मिट्टीके पात्रसे अर्घ्य दिया है; अत: अब मैं आपसे कुछ नहीं कहता।'

राजाने कहा—'नहीं, ब्रह्मन्! आप मुझे अपना अभिप्राय बताइये; मैं यथासाध्य उसे पूरा करनेकी चेष्टा करूँगा।'

स्नातकने कहा—'राजन्! मैंने अपने गुरुके यहाँ रहकर सांगोपांग वेदोंका अध्ययन किया। अध्ययनके अनन्तर मैंने गुरुजीसे गुरुदक्षिणाके लिये प्रार्थना की। उन्होंने कहा—'हम तुम्हारी सेवासे ही सन्तुष्ट हैं, हमें और कुछ भी दक्षिणा नहीं चाहिये।' गुरुजीके ऐसा कहनेपर भी मैं बार-बार उनसे गुरुदक्षिणाके लिये आग्रह करता ही रहा। तब अन्तमें उन्होंने झल्लाकर कहा—'अच्छा तो चौदह लाख सुवर्णमुद्रा हमें लाकर दो।' मैं इसीलिये आपके पास आया हूँ।''

महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! मेरे हाथोंमें धनुष-बाणके रहते हुए कोई विद्वान् ब्रह्मचारी ब्राह्मण मेरे यहाँसे विमुख जाय तो मेरे राज-पाट, धन-वैभवको धिक्कार है। आप बैठिये, मैं कुबेरलोकपर चढ़ाई करके उनके यहाँसे धन लाकर आपको दूँगा।'

महाराजने सेनाको सुसज्जित होनेकी आज्ञा दी। बात-की-बातमें सेना सज गयी। निश्चय हुआ कि कल प्रस्थान होगा। प्रात:काल कोषाध्यक्षने आकर महाराजसे निवेदन किया कि महाराज रात्रिमें सुवर्णकी वृष्टि हुई है और समस्त कोष सुवर्णमुद्राओंसे भर गया है। महाराजने जाकर देखा कि सर्वत्र सुवर्णमुद्राएँ भरी हैं। वहाँ जितनी सुवर्णमुद्राएँ थीं उन सबको महाराजने ऊँटोंपर लदवाकर ऋषिकुमारके साथ भेजना चाहा। ऋषिकुमारने देखा ये मुद्राएँ तो नियत संख्यासे बहुत अधिक हैं, तब उन्होंने राजासे कहा—'महाराज! मुझे तो केवल चौदह लाख ही चाहिये। इतनी मुद्राओंका मैं क्या करूँगा, मुझे तो केवल काम भरके लिये चाहिये।' त्यागको धन्य है।

महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! ये सब आपके ही निमित्त आयी हैं, आप ही इन सबके अधिकारी हैं,

आपको इन सबको लेना ही होगा। आपके निमित्त आये हुए द्रव्यको भला मैं कैसे ले सकता हूँ?'

ऋषिकुमारने बहुत मना किया, किन्तु महाराज मानते ही नहीं थे; अन्तमें ऋषिको जितनी जरूरत थी वे उतना ही द्रव्य लेकर अपने गुरुके यहाँ चले गये। शेष जो धन बचा वह सब ब्राह्मणोंको लुटा दिया गया। ऐसा दाता पृथ्वीपर कौन होगा जो इस प्रकार याचकोंके मनोरथ पूर्ण करे? अन्तमें महाराज अपने पुत्र अजको राज्य देकर तपस्या करने वनमें चले गये। अजके पुत्र महाराज दशरथ हुए, जिन्हें साक्षात् परब्रह्म परमात्माके पिता होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

—प्र० ब्रह्मचारी

जनक

निमिवंशमें जितने भी राजा हुए सभी 'जनक' कहलाते थे, ब्रह्मज्ञानी होनेसे विदेहसंज्ञा भी इन सभोंकी थी। किन्तु जनकके नामसे अधिक प्रसिद्ध सीताजीके पिता ही हुए हैं। उनका यथार्थ नाम सीरध्वज था। 'सीरध्वज' नामका एक कारण है। 'सीर' कहते हैं हलकी नोकको। एक बार मिथिला देशमें बड़ा अकाल पड़ा, विद्वानोंने निर्णय किया कि महाराज जनक स्वयं हलसे जमीन जोतकर यज्ञ करें तो वर्षा हो। महाराज यज्ञके लिये जमीन जोत रहे थे कि हलकी नोक लगनेसे पृथ्वीमेंसे एक कन्या निकल आयी। वही जगज्जननी महारानी सीताजी हुईं। महाराज जनक उन्हें अपने घर ले आये और उन्हींको अपनी सगी पुत्री मानकर लालन-पालन करने लगे।

ये पूर्ण ब्रह्मज्ञानी थे, 'मैं-मेरे' के चक्रसे सर्वथा छूटे हुए थे। वे सदा ब्रह्मरूपमें स्थित रहते हुए ही प्रजापालनका कार्य समुचितरूपसे करते रहते थे। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि इनके पास ज्ञान-चर्चा करने तथा ब्रह्मज्ञान सीखने आते थे, ये इतने लोकप्रिय थे कि सभी इन्हें चाहते थे।

ये शिवजीके बड़े भक्त थे। शिवजीने अपना माहेश्वर धनुष इन्हें धरोहरके रूपमें दे दिया था, वह इनके घरमें रखा था और उसकी पूजा होती थी। कहते हैं एक बार घरको लीपते समय श्रीजानकीजीने एक हाथसे उस प्रलयकारी विशाल धनुषको उठा लिया और जमीनको लीपकर उसे फिर ज्यों-का-त्यों वहाँ रख दिया। उसी समय महाराजने प्रतिज्ञा की कि जो कोई हमारे इस माहेश्वर धनुषको उठा लेगा उसीके साथ मैं सीताजीका विवाह करूँगा।

श्रीतुलसीकृत रामायणमें जनकजीका चरित्र बहुत ही संक्षिप्तरूपमें वर्णित हुआ है किन्तु जितना चरित्र उनका अंकित हुआ है वह इतना सुन्दर है कि उसमें गाम्भीर्य, तेज, विद्वत्ता, ज्ञान, प्रेम आदि गुणोंका अद्भुत सम्मिश्रण हुआ है। उसमें परस्पर भिन्न गुणोंका ऐसा सामंजस्य है कि देखते ही बनता है।

महर्षि विश्वामित्रजीके साथ श्रीराम-लखन मिथिलापुरी पधारे हैं, सुनते ही महाराज जनक उनका सत्कार करने मन्त्री और पुरोहितोंके साथ आते हैं; आकर वे विधिवत् ऋषिकी पूजा करते हैं, कुशल-क्षेम पूछते हैं। ऋषिने राम-लखनको पुष्प लेने भेज दिया था, इसी अवसरपर वे अनूप भूपकिशोर आ जाते हैं। अहा, उन्हें देखकर ज्ञानिशिरोमणि महाराज जनककी क्या दशा हो जाती है—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेह बिसेषी॥

मन प्रेममें मगन है, शरीरकी सुधि-बुधि नहीं। बहुत चेष्टा करके महाराज जनकने अपनेको सम्हाला और अपने मनका भाव ऋषि विश्वामित्रके सम्मुख प्रकट करते हुए कहा—

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मनु त्यागा॥

तब विश्वामित्रजीने इशारेसे राजाके अनुमानका समर्थन करके फिर श्रीरामका संकेत पाकर कहा—

रघुकुलमनि दसरथके जाए। मम हित लागि नरेस पठाए॥

जब किसी राजासे धनुष टस-से-मस नहीं हुआ तब महाराज जनकने सब राजाओंको सम्बोधन करके कहा—

अब जनि कोउ माषै भटमानी। बीरबिहीन मही मैं जानी॥
तजहु आस निज-निज घर जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥
सुकृत जाइ जौं पनु परिहरऊँ। कुँअरि कुँआरि रहउ का करऊँ॥

यह बात लक्ष्मणजीको बुरी लगी। उन्होंने बड़े

जोरोंसे महाराज जनककी इस बातका विरोध किया। वृद्ध ब्रह्मज्ञानी राजर्षिको बालक लक्ष्मणने डाँट दिया—

कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुलमनि जानी॥

लक्ष्मण बहुत कुछ कह गये। किन्तु जनकजीकी गम्भीरता भंग नहीं हुई; उन्होंने न लक्ष्मणजीकी बातोंका बुरा ही माना, न खण्डन ही किया।

श्रीरामजीने धनुष तोड़ दिया। इसे सुनकर परशुरामजी आये। वे बहुत उछले-कूदे, बड़ी-बड़ी बातें कहीं; किन्तु जनकजी एकदम तटस्थ ही बने रहे। वे समझते थे कि जिन्होंने इतने बड़े शिवधनुषको तोड़ दिया है वे स्वयं इनसे समझ-बूझ लेंगे, हमें बीचमें पड़नेकी क्या जरूरत है।

जब श्रीरामजी वनको जाते हैं और भरतजी उन्हें मनानेके लिये चित्रकूट पहुँचते हैं तो वहाँ भी जनकजीके दर्शन होते हैं। उस समयकी उनकी गम्भीरता श्लाघनीय है। वे स्पष्ट यह भी नहीं कह सकते कि श्रीरामजी अयोध्या लौट जायँ। क्योंकि लोग कहेंगे जनकजीने जामाताका पक्ष लिया और भरतके प्रेमको देखकर वे यह भी नहीं कह सकते कि भरतजीकी बात न मानी जाय। अतः अपनी रानीसे भरतजीकी बहुत बड़ाई करते-करते अन्तमें उन्होंने यही कहा—

देबि परंतु भरत-रघुबरकी। प्रीति-प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥

इससे उनके बीचमें न बोलना ही उचित है, वे जो कुछ करेंगे वही ठीक होगा। अपनी पुत्री सीताको वनवासी वेषमें देखकर महाराजके हृदयकी जो दशा हुई वह अवर्णनीय है। इस स्थलपर उसका वर्णन असम्भव है। क्या उनका वह मोह था? कवि कहते हैं, नहीं, कदापि नहीं—

मोह-मगन मति नहि बिदेहकी। महिमा सिय-रघुबर-सनेहकी॥

जहाँ 'सिय-रघुबर' का 'सनेह' है, वहाँ मोह रह ही कैसे सकता है। ब्रह्मज्ञानी जनकजीके हृदयमें यह प्रेम निरन्तर रहता था! धन्य! —प्र० ब्रह्मचारी

दशरथ

बंदौं अवध-भुआल, सत्य प्रेमु जेहि रामपद।
बिछुरत दीनदयाल, प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥

पूर्वकालमें स्वायम्भुव मनु और शतरूपाने घोर तप किया था, वे हजारों-लाखों वर्षोंतक एकान्तमें रहकर भगवान्‌की एकाग्रचित्तसे आराधना करते रहे। उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर अनन्तकोटि कामदेवोंको लज्जित करनेवाले 'नीलसरोरुह नीलमनि नील नीरधर श्याम विग्रह' भगवान् अपनी आदिशक्तिसहित उनके सम्मुख प्रकट हुए। भगवान्‌ने मेघगम्भीर वाणीमें कहा—'हे दम्पति! मैं तुम्हारे तपसे बहुत ही प्रसन्न हूँ। तुम अपनी इच्छाके अनुसार वरदान माँग लो।'

भगवान्‌के त्रिभुवनकमनीय रूपको देखकर वे अपने आपेको भूल गये, उस रूपराशिके दर्शनोंसे उनकी तृप्ति ही नहीं होती। मनुमहाराजने डरते-डरते कहा—'भगवन्! मुझे कहनेमें संकोच होता है, किन्तु बिना कहे रहा भी नहीं जाता। मेरी इच्छा है कि बिल्कुल आपके ही समान मेरे पुत्र हो।' भगवान् हँसे और बोले—'मेरे समान दस-बीस थोड़े ही हैं, मैं तो अकेला ही हूँ; अतः मैं ही तुम्हारे यहाँ पुत्ररूपमें प्रकट होऊँगा। तुम सूर्यवंशमें महाराज दशरथ होगे, ये शतरूपा तुम्हारी पत्नी कौसल्या होंगी। तभी मैं अपने अंशोंके सहित तुम्हारे यहाँ उत्पन्न होऊँगा।'

मनुजीने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! एक बात और है, आप मेरे यहाँ उत्पन्न हों तो मेरी पुत्ररूपमें ही आपमें ममता हो। मैं पुत्र समझकर ही आपके प्रेममें सदा निमग्न रहूँ।' भगवान् 'ऐसा ही होगा' कहकर अन्तर्धान हो गये। कालान्तरमें ये ही मनु-शतरूपा दशरथ और कौसल्याके रूपमें उत्पन्न हुए।

रघुवंशमें महाराज दशरथ परम प्रतापी हुए, देवता भी उनकी सहायताके इच्छुक रहते थे। एक बार देवासुरसंग्राममें इन्होंने दैत्योंको हराया। इनकी तीसरी पत्नी कैकेयी भी साथ थी, उसने इनकी बड़ी सहायता की। महाराजने प्रसन्न होकर उसे दो वर दिये और कह दिया, जब चाहो तब माँग लेना। महाराज दशरथके बहुत-सी रानियाँ थीं; उनमें कौसल्या, कैकेयी और सुमित्रा ये तीन प्रधान थीं। महाराजकी वृद्धावस्था आ गयी, किन्तु उनके कोई पुत्र नहीं हुआ। इस बातसे उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। गुरुकी आज्ञासे महर्षि ऋष्यशृंग बुलाये गये, उन्होंने पुत्रेष्टियज्ञ कराया। साक्षात् अग्निदेव हवि लेकर प्रकट हुए, चार पुत्रोंका वरदान देकर वे अन्तर्धान हो गये।

महाराजने अग्निदत्त हविष्य रानियोंमें बाँट दिया; इससे कौसल्याके गर्भसे सनातन पुरुष सच्चिदानन्द भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अवतार हुआ, कैकेयीके गर्भसे भरतजी हुए और सुमित्राने लक्ष्मण और शत्रुघ्नको जन्म दिया।

चारों भाई माता-पिताके लाड़-प्यारमें बड़े हुए। महाराजको अपने चारों ही पुत्र प्यारे थे; किन्तु श्रीरामजी तो उनके जीवनके सहारे थे, उनकी आँखोंके तारे थे, उनके बाहरी प्राण थे। उन्हें बिना देखे महाराजको चैन नहीं पड़ता था। अभी सोलह वर्षके भी नहीं हो पाये थे कि महर्षि विश्वामित्र आकर अपने यज्ञकी रक्षाके लिये श्रीराम-लक्ष्मणको माँग ले गये। बूढ़े बापने गुरु, ब्राह्मण तथा ऋषियोंके बहुत आग्रह करनेपर हृदयपर पत्थर रखकर श्रीराम-लक्ष्मणको महामुनि विश्वामित्रके साथ भेज दिया। वहाँ भगवान्ने ताड़का, सुबाहु आदिको मारा। महामुनिका यज्ञ पूर्ण होनेपर वे उनके साथ जनकपुर गये, वहाँ शिवके धनुषको तोड़कर सीताके साथ भगवान्ने विवाह किया। शेष तीन भाइयोंका भी वहीं विवाह हुआ। महाराज दशरथ अपने चारों पुत्रोंको चारों बहुओंके साथ लेकर अपनी राजधानीमें आये और सुखपूर्वक रहने लगे। भरत-शत्रुघ्नको उनके मामा अपने यहाँ ले गये।

अपनी वृद्धावस्था देखकर महाराजने श्रीरामजीको युवराज बनाना चाहा। कुबरीकी सलाहसे कैकेयीने अपने पुराने दो वरदान माँगे—एकमें तो भरतको राज्य और दूसरेमें श्रीरामको वनवास। श्रीरामचन्द्रके वनवासकी बात सुनकर महाराज दशरथ बेहोश हो गये। उनकी चेतना नष्ट हो गयी। वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। उन्होंने कैकेयीको समझाया, उसकी खुशामद की, उसके पैरोंपर अपना सिर रख दिया। बड़ी नम्रतासे दीन शब्दोंमें उन्होंने कहा—'भरतको मैं अभी बुलाकर राज्य देता हूँ। श्रीरामको वन भेजनेका आग्रह तू छोड़ दे।' कैकेयीके सिरपर तो भवितव्यताका भूत चढ़ा था, वह किसी प्रकार भी न मानी। महाराजने जीवनकी आशा छोड़ दी। रोते-रोते श्रीरामजीको बुलाया। श्रीराम तो सत्यसन्ध थे, माता-पिताके भक्त थे, मर्यादापुरुषोत्तम थे; सब बातें जानकर वे वन जानेको तैयार हो गये। दशरथजीके शोकका ठिकाना नहीं। वे अधीर हो उठे, बिना जलके जैसे मछली तड़फड़ाती है वैसे ही वे तड़फड़ाने लगे। उन्होंने अपने हृदयकी सम्पूर्ण वेदनाको समेटकर अत्यन्त ही करुण स्वरसे श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'बेटा! मैं पागल हो गया हूँ, मैं स्त्रीजित हूँ। मुझे बाँध लो, मैं राजा होनेयोग्य नहीं, तुम्हारा यही धर्म है; तुम मुझे झूठा बना दो तो इससे बढ़कर सुख मुझे और किसी बातमें न होगा।' मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामजी तो पितृभक्त थे, वे अपने पिताको सत्यवादी बनाना चाहते थे। श्रीदशरथ बिलबिलाते रहे, पुत्रस्नेहसे छटपटाते रहे, करुणक्रन्दन करते रहे; किन्तु धर्मात्मा राम वनको चले गये। महाराजने अपने मन्त्री बूढ़े सुमन्तको सारथी बनाकर उनके साथ भेज दिया और कह दिया कि जिस किसी प्रकार समझा-बुझाकर श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीको लौटा लाना। श्रीरामचन्द्रजी गंगापार करके प्रयाग होते हुए चित्रकूट चले गये और वहाँ पर्णकुटी बनाकर रहने लगे।

सुमन्त तबतक शृंगवेरपुरमें रुके रहे। जब श्रीरामजी नहीं आये तो वे खाली रथ लेकर अयोध्यापुरी लौट गये। महाराजने जब सुना कि सुमन्त खाली लौटे हैं तो उनके शोकका ठिकाना न रहा, वे पुत्रवियोगरूपी अग्निकी ज्वालामें जलने लगे। जैसे-तैसे करके उन्होंने सुमन्तसे रोते-रोते सब हाल पूछा—मेरे लाल अकेले कैसे गये, उनकी दशा क्या थी, वे क्या कहते थे? सुमन्तने सुबकियाँ भरते-भरते सब बातें बतायीं। महाराज दशरथके प्राण उड़कर श्रीरामचन्द्रजीके पास जानेके लिये आकुल हो उठे, तुरंत ही उनके प्राण-पखेरू उड़ गये। उनका प्राणहीन शरीर पड़ा रह गया—

राम राम कहि, राम कहि, राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर-बिरह, राउ गयउ सुरधाम॥

—प्र० ब्रह्मचारी

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

ईश्वरका कहना है—'जब मैं अपने दासपर प्रेम करता हूँ तब मैं खुद उसकी आँखें, कान और हाथ आदि बन जाता हूँ। मेरा दास मेरे द्वारा ही देखता है, सुनता है, बोलता है और मेरे द्वारा ही सारा लेन-देन करता है।'

श्रीभरत

श्रीभरत भगवान‍्के व्यूहावतार गिने जाते हैं। विश्वका भरण-पोषण करनेवाले होनेसे ये 'भरत' नामसे विख्यात हुए। इनकी बालकपनसे ही भगवान् श्रीरामके प्रति अलौकिक प्रीति थी और ये सदा अपनेको भगवान‍्का सेवक मानते थे। रामभक्तिका आदर्श स्थापित करनेके लिये ही मानो इनका जन्म हुआ था अथवा यों कहिये कि श्रीरामचन्द्रजीके प्रेमने ही भरतका रूप धारण किया था। '**तत्सुखसुखित्वम्**' के महान् आदर्शको इन्होंने अपने जीवनमें खूब निभाया। इनका जीवन मानो श्रीरामके लिये ही था। श्रीरामके अनुकूल आचरण करना ही इनके जीवनका एकमात्र ध्येय था। इसीलिये ये भगवान‍्के इतने प्रियपात्र बन गये थे कि गोस्वामीजीको इनके लिये ये शब्द लिखने पड़े—

भरत सरिस को रामसनेही। जगु जप रामु रामु जप जेही॥

इन्हें जब यह मालूम हुआ कि श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके वनवास और पिताकी मृत्युमें यही कारण थे तो इन्हें अपने प्रति बड़ी ग्लानि हुई और उन्होंने उसी समय मनमें यह निश्चय कर लिया कि वनमें जाकर भगवान‍्को लौटा ले आनेकी पूरी चेष्टा करनी चाहिये। भगवान् श्रीरामके अभावमें उन्हें अयोध्या सूनी प्रतीत होने लगी और राज्यसुखका तिरस्कार कर वे भगवान‍्को लौटा ले आनेके लिये नंगे पाँव वनको चल दिये। धन्य भ्रातृप्रेम! उन्हें श्रीरामके निर्वासनका इतना दुःख हुआ कि उस दुःखके आवेगमें उन्होंने अपनी माताको बहुत कटु शब्द कह डाले। किन्तु इतने आवेशमें भी उन्होंने क्षमारूप अपने सहज गुणको नहीं छोड़ा और जब उनके छोटे भाई शत्रुघ्न दासी मन्थराको घसीटने लगे, जो इस सारे उपद्रवकी जड़ थी, तो उन्होंने उसे दयापूर्वक छुड़ा दिया—'***भरत दयानिधि दीन्हि छुड़ाई।***' अपना अनिष्ट करनेवालेके प्रति भी दया करना, यही संतोंका सबसे बड़ा गुण है। इन्होंने बड़े धैर्यके साथ पिताके ऊर्ध्वदैहिक कृत्य किये और फिर राज्य और राजधानीकी रक्षाका समुचित प्रबन्ध कर सारे परिवार और पुरजनोंको साथ लेकर भगवान‍्को लौटानेके लिये वनकी ओर चल दिये। उन्होंने गुरु वशिष्ठ और माता कौसल्याके समझानेपर भी राज्य ग्रहण नहीं किया और साथ ही भगवान‍्की अनुपस्थितिमें राज्यके प्रति उनका क्या कर्तव्य है इस बातको भी वे नहीं भूले।

वनमें जाते समय रास्तेमें इनकी क्या दशा थी इसका गोस्वामीजीने अपनी अमर लेखनीके द्वारा बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। शृंगवेरपुर पहुँचकर ये निषादराज गुहको श्रीरामका अनन्य प्रेमी जानकर उनसे बड़े प्रेमसे मिलते हैं और जिस स्थानपर भगवान् श्रीरामने सीता और लक्ष्मणसहित रातभर विश्राम किया था उस स्थानको देखकर ये शरीरकी सुध-बुध भूल जाते हैं। सब प्रकारकी सवारीका सुपास होनेपर भी ये पैदल ही चलना पसंद करते हैं, क्योंकि ये मनमें समझते हैं कि जब हमारे स्वामी पैदल गये हैं तो हमें सवारीपर बैठनेका क्या अधिकार है। बल्कि जब लोग अधिक आग्रह करते हैं तो ये उनसे कहते हैं कि हमारे लिये उचित तो यह होता कि हम सिरके बल चलकर भगवान‍्के पास जाते—'***सिरभर जाउँ उचित अस मोरा।***' परिणाम यह होता है कि कभी नंगे पाँव चलनेका अभ्यास न होनेके कारण इनके तलुओंमें फफोले पड़ जाते हैं, किन्तु ये इसकी तनिक भी परवा न कर भगवान‍्से मिलनेकी उमंगमें दूने उत्साहसे बढ़े चले जाते हैं। ये यदि किसीसे वरदान माँगते हैं तो यही माँगते हैं कि हमारी जन्म-जन्मान्तरमें श्रीरामके चरणोंमें अविचल प्रीति बनी रहे। प्रयागमें जब ये भरद्वाज ऋषिके आश्रमपर पहुँचते हैं तो ऋषि इनसे मिलकर अपनेको धन्य मानते हैं और कहते हैं कि सब साधनोंका फल तो श्रीराम, लक्ष्मण, सीताका दर्शन है और उनके दर्शनका महान् फल तुम्हारा दर्शन है। गोस्वामीजी लिखते हैं कि जब वे 'राम' कहकर एक बार गहरी साँस लेते थे तो ऐसा मालूम होता था मानो चारों ओर प्रेमका समुद्र उमड़ आया हो।

जब ये चित्रकूटके समीप पहुँच जाते हैं और लक्ष्मण इन्हें दल-बलसहित आते हुए देखकर इनकी नीयतपर शंका करते हैं उस समय भगवान् अपने श्रीमुखसे भरतकी जो बड़ाई करते हैं वह गोस्वामीजीके ही शब्दोंमे सुननी चाहिये। भगवान् कहते हैं कि भरतके समान शीलवान् भाई विधाताकी सृष्टिमें न तो कही देखा और न सुना—'***विधिप्रपंच महुँ सुना न दीसा।***' यही नहीं, भरतके सम्बन्धमें वे यहाँतक गारंटी दे देते हैं कि

भरतको अयोध्याके राज्यकी तो बात ही क्या, ब्रह्मा, विष्णु और शिवका पद प्राप्त हो जानेपर भी मद नहीं हो सकता—

भरतहि होइ न राजमदु बिधि-हरि-हर-पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी-सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥

आगे चलकर गोस्वामीजी कहते हैं—

जौं न होत जग जनमु भरतको । सकल धरमधुर धरनि धरत को॥

सारी पृथ्वीके धर्मके भारको तो भरतजीने ही धारण कर रखा है, इसीसे उनका 'भरत'* नाम चरितार्थ होता है। जब ये चित्रकूटके और भी निकट पहुँच जाते हैं तो इन्हें भगवान्‌के चरणचिह्न दिखायी देते हैं, जिन्हें देखकर ये उस भूमिपर लोटने लग जाते हैं और बार-बार भगवान्‌की चरणधूलिको मस्तकपर और आँखोंमें लगाते हैं। इन्हें उन चरणचिह्नोंको देखकर भगवान्‌के मिलनके समान सुख होता है और इनकी दशाको देखकर पशु, पक्षी और जड़ जीव भी प्रेममग्न हो जाते हैं— चेतन जड़ हो जाते हैं और जड़ चेतन बन जाते हैं। इनकी दशाको देखकर माता कौसल्याको यह शंका होने लगती है कि श्रीरामके वियोगमें ये प्राण धारण कर सकेंगे या नहीं। स्वयं राजर्षि जनक, जो ज्ञानियोंमें अग्रगण्य और महान् योगी थे, भरतकी स्थितिको देखकर यहाँतक कह देते हैं कि भरतकी महिमाका वर्णन करना तो दूर रहा, मेरी बुद्धि उसकी छायाको छलसे भी नहीं छू सकती—*'कहइ काह, छल छुअति न छाँही।'* यही नहीं, वे कहते हैं कि हमारी तो बात ही क्या है, साक्षात् भगवान् श्रीराम, जो सर्वशक्तिमान् हैं, उनकी महिमाको जानते हुए भी वर्णन नहीं कर सकते। जब भगवान्‌से इनकी बातचीत होती है तो ये भगवान्‌के सामने प्रस्ताव रखते हैं कि आप लक्ष्मण और जानकीजीसहित अयोध्या लौट जाइये और हम दोनों भाइयोंको अपने स्थानपर वन भेज दीजिये, अथवा यह भी स्वीकार न हो तो लक्ष्मणको घर भेज दीजिये और मुझे अपने साथ ले चलिये। किन्तु जब इन्होंने देखा कि भगवान्‌की रुचि स्वयं अयोध्या लौटनेकी नहीं है और न वे उन्हें अपने साथ ही ले जाना चाहते हैं तो वे अन्तमें भगवान्‌की रुचिको ही प्रधानता देकर उनकी रुचिमें अपनी रुचिको लीन कर देते हैं। यही तो प्रेमकी सबसे ऊँची स्थिति है। अन्तमें भरतजी भगवान्‌की पादुका लेकर और उनसे अवधि समाप्त होते ही लौटनेकी प्रतिज्ञा कराकर अयोध्या लौट जाते हैं और वहाँ शहरसे बाहर जमीनमें गड़हा खोदकर रहने लगते हैं और भगवान्‌के विरहमें शरीरको सुखाते हुए तथा उन्हींके प्रत्यागमनकी आशासे जीवन धारण करते हुए भगवान्‌की पादुकासे आज्ञा लेकर भगवान् श्रीरामकी धरोहरके रूपमें राज्यका शासन करते हैं। अवधिकी समाप्तिमें जब एक ही दिन अवशेष रह जाता है तब ये भगवान्‌के विरहमें अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं और भगवान् भी इनकी दशाका अनुमान कर अवधिसे ऊपर एक दिन भी नहीं बीतने देते और चौदह वर्ष समाप्त होते-होते अयोध्या लौटकर इनकी विरहाग्निको शान्त करते हैं। श्रीरामके अयोध्या लौटनेपर ये उनकी धरोहर उन्हींके अर्पण कर निश्चिन्त हो जाते हैं और अपना शेष जीवन भगवान्‌की सेवामें ही व्यतीत करते हैं। बोलिये श्रीभरतलालकी जय!

—चि० गोस्वामी

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

भावावेश अन्तःकरणकी गहरी गुप्त क्रिया है और संगीत ईश्वर-प्रेरित उद्दीपन वा उत्तेजन है। भावावेशमें हृदय संगीतसे उत्तेजित हो उठता है, ईश्वरको खोजनेके लिये व्याकुल हो जाता है। जो मनुष्य ईश्वर-भावकी वृद्धिके लिये संगीत सुनता है उसे तो उसीके फलस्वरूप लाभ भी होता है। परन्तु जो संगीत इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये सुना जाता है उससे तो ईश्वरविरोधी भाव और विषय-प्रेमकी ही वृद्धि होती है।

* 'डुभृञ् धारणपोषणयोः।'

श्रीलक्ष्मण

बंदौं लछिमन-पद जलजाता । सीतल सुभग भगत-सुखदाता॥
रघुपति-कीरति बिमल पताका । दंड समान भयउ जसु जाका॥

श्रीलक्ष्मण शेषजीके अवतार और भगवान्‌के चार व्यूहोंमेंसे एक व्यूह थे। ये बालकपनसे ही सदा भगवान्‌के साथ रहते थे और छायाकी भाँति उनका अनुसरण करते थे। श्रीरामके चरणोंकी सेवा ही इनके जीवनका एकमात्र व्रत था और श्रीरामके लिये ये सब कुछ त्याग सकते थे। ये बचपनमें ही माता-पिताको छोड़कर भगवान्‌के साथ विश्वामित्रजीके यहाँ गये और वहाँ भगवान्‌की लीलामें योग दिया। इनका प्रारम्भसे ही श्रीरामके प्रति पूज्यभाव था और उनकी आज्ञाके बिना ये कोई काम नहीं करते थे। बल्कि इन्हें भगवान्‌से कुछ पूछनेमें भी बड़ा संकोच होता था। रात्रिमें श्रीराम जब सोने जाते तो ये उनके पैर दबाते और भगवान्‌के बहुत आग्रह करनेपर स्वयं सोते थे। और सबेरे भगवान्‌से पहले ही जाग उठते थे। इनका स्वभाव देखनेमें कुछ उग्र था, किन्तु विचार करनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्हें अपने लिये कभी क्रोध नहीं आता था। जब-जब इन्हें किसीके द्वारा श्रीरामके अनिष्टकी आशंका होती अथवा इन्हें किसीकी वाणी अथवा चेष्टामें श्रीरामके अपमानका गन्ध भी प्रतीत होता तो उसे ये कदापि क्षमा नहीं करते थे। एक सच्चे सेवककी भाँति ये स्वामीके पीछे मरने-मारनेको तैयार हो जाते थे। क्योंकि इनकी भक्तिमें सेव्य-सेवकभावकी ही प्रधानता थी। सेवकके रहते स्वामीको कोई कुछ कह दे अथवा किसी प्रकार उन्हें क्षति पहुँचानेकी चेष्टा करे तो एक सच्चा स्वामिभक्त सेवक इस बातको कैसे सह सकता है? उसका कर्तव्य हो जाता है कि वह प्राणपणसे स्वामीकी रक्षा करे और प्रत्येक आक्रमणसे उसे बचावे, क्योंकि उसका जीवन ही स्वामीके लिये होता है। भगवान् और गुरुके प्रति भी शास्त्रमें यही आज्ञा है कि जहाँ भगवान् और गुरुकी निन्दा होती हो वहाँ भक्त तथा शिष्यको चाहिये कि यदि अपना बस चलता हो तो निन्दा करनेवालेको उचित दण्ड देकर उसका नियन्त्रण करे अथवा वहाँसे भाग जाय, भगवान् तथा गुरुकी निन्दा हरगिज न सुने। फिर लक्ष्मण तो जातिके क्षत्रिय और शेषभगवान्‌के अवतार थे और उनके लिये श्रीराम ही माता-पिता, गुरु, स्वामी, बड़े भाई और इष्टदेव, सब कुछ थे। वे श्रीरामके अतिरिक्त और किसीको नहीं जानते थे—*'गुरु पितु मातु न जानौं काहू।'* संसारमें प्रेमके जितने सम्बन्ध हैं उन सबको वे श्रीरामके अंदर ही देखते थे। वे स्वयं इस सम्बन्धमें श्रीरामसे कहते हैं—

जहँ लगि जगत सनेहु सगाई । प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी । ································॥

उन्होंने जगत्‌की सारी ममताओंको बटोरकर उन्हें श्रीरामके चरणोंमें जोड़ दिया था। यहाँतक कि उन्होंने धर्म, नीति आदि सबका परित्याग कर केवल श्रीरामके चरणोंको दृढ़तासे पकड़ लिया था और निर्बोध शिशुकी भाँति अनन्यगति बन गये थे। इसीलिये श्रीरामके प्रति कोई अपमानसूचक शब्द कहता अथवा उनपर किसी प्रकारके संकटकी आशंका होती तो ये उचित-अनुचितका विचार छोड़कर उसीके प्रतीकारमें लग जाते। राजा जनकने भरी सभामें जब ये शब्द कहे कि पृथ्वी आज वीरविहीन हो गयी तो इनसे ये वचन सहे नहीं गये। ये तुरन्त बोल उठे—'जनकजी, जरा होश सँभालकर बात करिये; भगवान् श्रीरामके रहते हुए आप ऐसी बात मुँहसे निकाल रहे हैं? यह बेचारा धनुष तो क्या चीज़ है, श्रीरामकी आज्ञा पाऊँ तो मैं इस ब्रह्माण्डको गेंदकी तरह उठा सकता हूँ,' इत्यादि-इत्यादि। परन्तु यह सब वे कहते थे श्रीरामके बलपर ही, अपने बलपर नहीं—*'तव प्रताप बल नाथ।'* इसी प्रकार जब परशुरामजीने धनुषके तोड़नेवालेको ललकारा तो ये उनसे भी भिड़ गये और उनके तेज और बलकी कुछ भी परवा नहीं की। श्रीरामको वनवास देनेके कारण ये अपने पिता दशरथजीपर भी बहुत रुष्ट थे और उनके प्रति भी सुमन्त्रजीके सामने इन्होंने बहुत कुछ कटु बातें कह दीं। जब भरतजी चित्रकूटपर दल-बलसहित पहुँचे तो इन्हें उनके प्रति रोष तो पहलेहीसे था, उन्हें चतुरंगिणी सेना लेकर आया देखकर इनके मनमें उनके प्रति और भी शंका हुई और ये उनसे भी बदला लेनेके लिये तैयार हो गये। इन सब उदाहरणोंसे उनकी श्रीरामके प्रति अनन्य भक्ति ही प्रकट होती है।

श्रीरामके प्रति इनकी अनन्य निष्ठा पूर्णरूपसे उस समय व्यक्त होती है जब श्रीराम वन जानेको तैयार होते

हैं। उस समय ये भगवान्‌के वियोगकी आशंकासे अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं और देह-गेह, सगे-सम्बन्धी, माता और नवविवाहिता पत्नी, सबसे नाता तोड़कर भगवान्‌के साथ चलनेको तैयार हो जाते हैं। भगवान् भी इनके प्रेमपूर्ण आग्रहको नहीं टाल सकते और माताकी अनुमति प्राप्तकर ये वनवासी वेषमें भगवान्‌के साथ चल देते हैं। वनमें ये निद्रा और शरीरके सुखको त्यागकर श्रीराम-जानकीकी जी तोड़कर सेवा करते हैं। भगवान् जब सोने जाते हैं तो ये नियमपूर्वक उनके चरण दबाते हैं और जब उन्हें आँख लग जाती है तो ये थोड़ी दूरपर धनुष-बाण सजकर वीरासनसे बैठ जाते हैं और रातभर पहरा देते हैं। भगवान् जब चलते हैं तो ये श्रीराम, जानकी दोनोंके पीछे-पीछे चलते हैं और इस बातका बराबर खयाल रखते हैं कि उनका पैर भगवान् अथवा जानकीजीके चरणचिह्नोंपर न पड़ जाय—

सीयराम-पद-अंक बराएँ। लखनु चलहिं मग दाहिन लाएँ॥

ये श्रीराम-जानकीकी उसी प्रकार सेवा करते हैं जिस प्रकार अविवेकी पुरुष अपने शरीरकी सेवा करते हैं। वे श्रीरामकी सेवामें इतने मग्न रहते हैं कि माता-पिता, भाई, पत्नी तथा घरकी तनिक भी सुधि नहीं करते। ये छायाके समान भगवान्‌के चित्तका अनुसरण करते हैं। कभी-कभी जब भगवान् माता-पिता, भरत-शत्रुघ्न तथा पुरवासियोंके स्नेहको यादकर कुछ विषण्ण-से हो जाते हैं तो ये भी व्याकुल हो जाते हैं और भगवान्‌को प्रसन्न देखकर ये भी फूले नहीं समाते। इस प्रकार शरीरके साथ मन-बुद्धिको भी भगवान्‌के अर्पणकर ये सर्वथा अपनेको भगवान्‌के चरणोंमें निवेदित कर देते हैं। किन्तु ऊपरसे क्रोध और विषादका नाट्य करते हुए भी ये भीतरसे सदा ज्ञानमें जाग्रत् रहते हैं। श्रीराम-जानकीको पृथ्वीपर सोते देखकर जब निषादराज दुखी हो जाते हैं तो ये उन्हें ज्ञानका उपदेश देकर समझाते हैं। बीच-बीचमें ये भगवान्‌से ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदिकी भी चर्चा करते हैं और उनके मंगलमय उपदेश सुनकर अपनेको कृतार्थ मानते हैं।

इनका चौदह वर्षका अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत और अद्भुत चारित्र्यबल तो प्रसिद्ध ही है। अपने ब्रह्मचर्यके बलसे ही ये मेघनादपर विजय प्राप्त करते हैं और परस्त्रीकी ओर आँख उठाकर न देखनेका इनका इतना सुन्दर आदर्श था जिसकी समताका कोई दूसरा उदाहरण संसारके इतिहासमें शायद ही मिलेगा। श्रीजानकीजीको ये सदा माताके रूपमें देखते थे और यद्यपि ये वनवासमें रात-दिन उनके साथ रहते थे फिर भी इनके सम्बन्धमें श्रीवाल्मीकीय रामायणमें ऐसा वर्णन आता है कि इन्होंने उनके मुख तो क्या, शरीरकी ओर भी कभी भूलकर भी नहीं देखा। यही कारण है कि जब इन्हें सुग्रीव आदि वानरोंसे प्राप्त हुए श्रीजानकीजीके आभूषण पहचाननेको कहा जाता है तो ये उसका उत्तर इस प्रकार देते हैं, जिसे प्रत्येक आदर्शवादीको अपने चित्तपर अंकित कर लेना चाहिये—

केयूरे नैव जानामि नैव जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वेव जानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥

ये माता जानकीके चरणोंके गहनोंको ही पहचान सके, क्योंकि ये नित्य उठते ही उनके चरणोंको प्रणाम करते थे। अन्य आभूषणोंको वे नहीं पहचान सके। धन्य मर्यादा! इसीलिये श्रीजानकीकी छायामूर्तिको इनकी नीयतपर जब शंका हुई तो ये भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध भी उन्हें अकेली छोड़कर श्रीरामके पास चले आये, क्योंकि मनमें इस प्रकारकी शंका हो जानेपर अपनी माताके पास भी अकेले रहना लक्ष्मण-जैसे आदर्श पुरुषके लिये उचित नहीं था।

भगवान्‌के आज्ञापालनमें लक्ष्मणजी इतने तत्पर रहते थे कि वे उनकी कठोर-से-कठोर आज्ञाके पालनमें भी कभी हिचकते नहीं थे। भगवान्‌की आज्ञा मिलनेपर उन्हें निरपराधा जानकीको वनमें अकेले छोड़ आनेमें भी संकोच नहीं हुआ, जिस कामको करनेमें भरत भी सकुचा गये। हृदयमें जानकीके प्रति पूर्ण श्रद्धा, प्रेम, सहानुभूति और पूज्यभाव रहते हुए भी उन्होंने श्रीरामकी आज्ञासे उनके प्रति ऐसा नृशंस व्यवहार करनेमें भी आनाकानी नहीं की। धन्य कर्तव्यनिष्ठा!

इनका आत्मत्याग भी अनुपम था। एक बार साक्षात् काल तापसका रूप धारणकर श्रीरामसे मिलने अयोध्यामें आया और उनसे इस शर्तके साथ एकान्तमें बात कर रहा था कि यदि हम दोनोंके पास कोई तीसरा व्यक्ति आ जाय तो उसे प्राणदण्ड दिया जाय। लक्ष्मणको द्वारपर द्वारपालके रूपमें नियुक्त किया गया। दैवसंयोगसे उसी समय ऋषि दुर्वासा वहाँ आ गये, उन्होंने श्रीरामसे उसी समय मिलनेकी इच्छा प्रकट की और लक्ष्मणके निषेध करनेपर बोले कि यदि इसी क्षण मुझे श्रीरामसे

नहीं मिलने दोगे तो मैं तुम्हारे सारे परिवारको शाप देकर नष्ट कर दूँगा। इसपर लक्ष्मणजीने सोचा कि इन्हें भगवान्के पास ले जाना ही श्रेयस्कर है, अन्यथा ये सारे परिवारको नष्ट कर देंगे। यह सोचकर इन्होंने अपने प्राणोंकी भी परवा न कर दुर्वासाको भगवान्से मिला दिया और भगवान्ने अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षाके लिये वशिष्ठादि ऋषियोंकी अनुमतिसे लक्ष्मणका वध न करके उनका परित्याग कर दिया। इस प्रकार लक्ष्मणने आजन्म भगवान्की सेवा कर अन्तमें उन्हींके लिये उनका वियोग भी स्वीकार किया। बोलो श्रीलषनलालकी जय! —चि० गोस्वामी

शत्रुघ्न

रिपुसूदन-पद-कमल नमामी। सूर सुसील भरत-अनुगामी॥

शत्रुघ्नजी महाराज दशरथकी मझली रानी श्रीसुमित्राजीके गर्भसे लक्ष्मणजीके साथ ही उत्पन्न हुए थे। बाल्यकालसे ही ये श्रीभरतजीके अनुयायी थे। जिस प्रकार श्रीलक्ष्मणजी छायाकी तरह श्रीरामचन्द्रजीके साथ रहते थे उसी प्रकार ये सदा श्रीभरतजीके साथ रहते थे। जब चारों भाई साथ ही जनकपुरसे विवाह करके आये तब भरतजीके मामाने भरतजीको अपने यहाँ ले जानेकी इच्छा प्रकट की। उस समय भरतजीके साथ ये भी गये थे। क्यों न जायँ, भला छाया कभी शरीरसे पृथक् रह सकती है।

श्रीरामायणमें शत्रुघ्नजी सबसे छोटे हैं और इनका चरित्र भी बहुत ही कम है, किन्तु जितना भी कुछ है उतना परम आदर्श है। छोटोंको अपने बड़ोंके सामने कैसा व्यवहार करना चाहिये, इसके सर्वोत्तम उदाहरण श्रीशत्रुघ्नजी हैं। इनके जीवनमें एक भी ऐसा अपवाद नहीं मिलता जहाँ इन्होंने मर्यादाका भंग किया हो।

भरतजी ननसालमें थे, वहीं उन्हें सन्देश मिला कि गुरु महाराजने उन्हें शीघ्र बुलाया है। शत्रुघ्नजीको साथ लेकर भरतजी अयोध्यापुरी आये। अवधमें आकर उन्होंने अजीब ही रंग देखा। सर्वत्र सन्नाटा है, न कहीं आमोद-प्रमोद है न प्रसन्नता। कैकेयीसे पता चला कि श्रीरामजी लक्ष्मणजी और सीताजीके सहित वनको चले गये, महाराज दशरथ सुरपुर सिधार गये और यह सब हुआ भरतजीके राज्यके लिये। सुनते ही उनके शरीरमें आग-सी लग गयी। क्रोधके आवेशमें उन्होंने माताको बहुत कुछ बुरा-भला कहा। ऐसे समय क्रोधका आवेग दो ही तरह शान्त हो सकता है। या तो अपराधीको खूब जीभरके खोटी-खरी सुना दे या अपने किसी परमहितैषीके सम्मुख जी भरकर रो ले। भरतजीको दोनों अवसर प्राप्त थे। उन्होंने अपनी माताको पेटभरके उलटी-सीधी सुनायी और माता कौसल्याके चरणोंमें गिरकर सम्पूर्ण रात्रि खूब रोते रहे।

भरतजीने तो अपने मनके गुब्बार निकाल लिये, अब शत्रुघ्नजी क्या करें? वे माता कैकेयीसे कुछ कह नहीं सकते थे, क्योंकि वे उनके आराध्य श्रीभरत और श्रीरामजीकी पूज्या माता थीं! कौसल्याके चरणोंमें भरतजी पड़े थे। अत: उनकी गोदीमें पड़ना शिष्टाचारके विरुद्ध था। वे अपने मनकी वेदना मनमें ही दबाने लगे। दुर्भाग्यसे उनकी दृष्टिके सामने कुबड़ी दासी पड़ गयी। सम्पूर्ण हत्याकी जड़ यह दुष्टा कुबड़ी ही है, यह बात उनके मनमें जँच गयी; उनका रुका हुआ रोष फूट पड़ा और वे उसपर टूट पड़े—

हुमगि लात तकि कूबर मारा। परि मुँहभर महि करत पुकारा॥
कूबरु टूटेउ, फूट कपारू। दलित दसन, मुख रुधिर प्रचारू॥

'भरत दयानिधि दीन्हि छुड़ाई।' भरतजीने कहा—'भैया, इसे मारकर क्या करोगे, यह तो रोटीकी गुलाम है।' यह भी उन्होंने श्रीभरतजीका रुख पाकर ही किया। उन्हें विश्वास था, भाई भरत मेरे इस कामसे नाराज न होंगे।

इन्हें जहाँ जो आज्ञा दी गयी वहीं उन्होंने उसका पालन बड़ी तत्परतासे किया। भरतजी जब इन्हें साथ लेकर चित्रकूट पर्वतपर गये तो वहाँ श्रीरामचन्द्रजीको देखकर इन्हें एकदम उनके चरणोंमें लोट-पोट हो जाना चाहिये था, जैसा कि भरतजीने किया। किन्तु वहाँ भी ये अपनी मर्यादामें ही रहे और यथायोग्य प्रणाम करनेपर इन्होंने सबको प्रणाम किया। जब श्रीराम-लक्ष्मणके साथ भरतजी भी नदीतीरपर पिताजीको जलांजलि देने गये तब इन्हें आज्ञा हुई कि ये माताओंकी और जानकीजीकी रक्षामें रहें और ये बड़ी तत्परतासे बिना आनाकानीके इस कार्यको करते रहे।

श्रीरामजीकी चरणपादुका लेकर भरतजी अवधपुरी लौट आये। उन्होंने महलोंमें रहना छोड़ दिया। राजधानीसे दूर नन्दिग्राममें गुफा बनाकर रहने लगे। तब समस्त

राज्यका भार और माताओंकी सेवाका भार इन्हींके ऊपर पड़ा। चौदह वर्षतक ये बिना किसी भेदभावके समस्त माताओंकी सेवा करते रहे। ऋषियोंने सेवाधर्मको परम गहन बताकर यहाँतक कहा है—'**सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः**'। जो योगियोंको भी अगम्य है उसे श्रीशत्रुघ्नजीने गम्य कर दिखाया। —प्र० ब्रह्मचारी

केशिध्वज और खाण्डिक्य

यथाग्निरुद्धतशिखः कक्षं दहति सानिलः।
तथा चित्तस्थितो विष्णुर्योगिनां सर्वकिल्बिषम्॥*

महाराज निमिके मृतक शरीरको मथनेसे जो पुत्र हुआ उसका नाम 'मिथिल' पड़ा। वंश चलानेवाले होनेके कारण उनका नाम 'जनक' और विदेह अवस्थामें होनेसे 'विदेह' भी उनकी संज्ञा हुई। उसी जनकवंशमें महारानी सीताजीके पिता महाराज सीरध्वज हुए। महाराज सीरध्वजके प्रपौत्र कृतध्वज और मितध्वज हुए। कृतध्वजके पुत्रका नाम केशिध्वज और मितध्वजके पुत्रका नाम खाण्डिक्य था। इस वंशमें प्रायः जितने राजा हुए सभी ब्रह्मवादी और ज्ञानी हुए। यह पूरा-का-पूरा वंश ही ब्रह्मवादी वंश हुआ।

केशिध्वज और खाण्डिक्य दोनों ही राजा थे। केशिध्वज पृथ्वीमण्डलमें अध्यात्मविद्याके बड़े विख्यात पण्डित थे, उसी प्रकार खाण्डिक्य कर्मकाण्डके जानकार थे। दोनों क्षत्रिय थे, पट्टीदार थे, एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छामें लगे रहते थे। केशिध्वजने समय पाकर खाण्डिक्यको जीत लिया और उसका राज्य, धन सब अपहरण कर लिया।

राज्यच्युत होकर खाण्डिक्य अपने मन्त्री-पुरोहितोंके सहित वनमें चले गये और वहाँ रहकर सुखपूर्वक यज्ञ-यागादि कार्योंमें अपना समय बिताने लगे। उन्हें न राज्यकी चिन्ता थी, न पराजित होनेका दुःख, इसे भगवान्‌की लीला समझकर वे यज्ञ-यागादिद्वारा विष्णुभगवान्‌की आराधनामें लगे रहते थे।

केशिध्वज ब्रह्मज्ञानी होनेपर भी कर्तव्य कर्म समझकर वैदिक यज्ञोंको सदा करते रहते थे। एक बार वे एक बड़े भारी यज्ञानुष्ठानमें लगे हुए थे कि उनकी धर्मधेनुको (जिसके हविसे यज्ञ-याग होते थे) जंगलमें किसी सिंहने मार डाला। यज्ञमें यह एक बड़ा भारी विघ्न था। राजाने इसका प्रायश्चित्त मुनियोंसे पूछा। मुनियोंने एक स्वरसे कहा—'इस विषयमें ठीक-ठीक निर्णय हम नहीं दे सकते। इसका पूरा विधान तो इस समय एक ही जानते हैं और उनके समीप आप जा नहीं सकते।'

केशिध्वजने कहा—'मुनियो! आप मुझे बतावें, इसका विधिवत् प्रायश्चित्त कौन जानता है? मैं उनके समीप जरूर जाऊँगा।'

तब ऋषियोंने कहा—'जिसका तुमने राज्य ले लिया है वह तुम्हारा भाई खाण्डिक्य ही इस विषयको भलीभाँति जानता है। वही इसका विधिवत् प्रायश्चित्त बता सकता है।'

केशिध्वजने कहा—'खाण्डिक्यको मैंने जीता है तो क्या हुआ, मैं उनके पास जाऊँगा; यदि वे मुझे मार देंगे तो मुझे वीर क्षत्रियकी गति प्राप्त होगी और यदि उन्होंने मुझे प्रायश्चित्त बता दिया तो मेरा यज्ञ पूरा हो जायगा।' यह कहकर केशिध्वज अपने भाई खाण्डिक्यके समीप प्रायश्चित्त पूछने चले।

वे यज्ञमें दीक्षित थे; अतः काले मृगका चर्म ओढ़े, हाथमें कुशा लिये हुए वे खाण्डिक्यके पास पहुँचे। खाण्डिक्यने समझा कि यह मुझे मारनेके लिये यहाँ आ रहा है, अतः वे धनुषपर बाण चढ़ाकर युद्धके लिये तैयार हो गये और केशिध्वजको ललकारा। केशिध्वजने कहा—'भाई! बाणको धनुषपरसे उतार लो, मैं युद्ध करनेके लिये नहीं आया हूँ। मेरे यज्ञमें एक बड़ा भारी विघ्न हो गया है, उसीका प्रायश्चित्त पूछने मैं यहाँपर अकेला तुम्हारे पास आया हूँ।'

खाण्डिक्यने अपने मन्त्री-पुरोहितोंसे सलाह की, उन्होंने कहा—'अच्छा है, '**शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्**'। शत्रु आपके वशमें है, इसे यहीं मारकर आप राज्यके अधिकारी बन जायँ।'

खाण्डिक्यने कहा—'आप सब बात तो नीतिकी

* जिस तरह वायुकी सहायता पाकर अग्निदेव अपनी ऊँची उठी हुई शिखाओंसे शुष्क तृणसमूहको जला देते हैं उसी प्रकार चित्तमें स्थित विष्णुभगवान् योगियोंके समस्त पापोंको नष्ट कर देते हैं।

कह रहे हैं, किन्तु परमार्थके यह विरुद्ध है। जब वह मेरे पास जिज्ञासु बनकर आया है तो मैं उसकी शंकाका समाधान करूँगा। जब वह युद्धके लिये तैयार नहीं है तो उससे युद्ध करना पाप है।' यह कहकर खाण्डिक्यने केशिध्वजसे कहा—'भाई! तुम आ जाओ और तुम्हें जो कुछ पूछना हो मुझसे पूछ लो।'

केशिध्वजने आकर धर्मधेनुके मारे जानेकी बात कही और उसका प्रायश्चित्त पूछा। खाण्डिक्यने धर्मशास्त्रके अनुसार उसका विधिवत् प्रायश्चित्त बताया और उसकी सभी क्रियाएँ भी बतायीं। प्रायश्चित्त जानकर केशिध्वज अपने यज्ञमण्डपमें गये और वहाँ जाकर प्रायश्चित्त करके यथाविधि उन्होंने अपने यज्ञको समाप्त किया। ब्राह्मणोंको यथेच्छ दक्षिणा दी। अन्नदान, भूमिदान, सुवर्णदान, सभी प्रकारके दान दिये। फिर भी राजाको शान्ति नहीं हुई। उन्हें यज्ञमें कोई अभाव-सा खटकने लगा। बहुत सोचनेपर उन्हें ध्यान आया कि मैंने और सब तो किया, किन्तु खाण्डिक्यको गुरुदक्षिणा नहीं दी। यह सोचकर केशिध्वज रथपर सवार होकर धनुष-बाण धारण करके खाण्डिक्यके पास राजसी ठाटमें पहुँचे। अबकी बार केशिध्वजको सब प्रकारसे सुसज्जित देखकर खाण्डिक्यने समझा कि अवश्य ही यह अबकी बार युद्ध करने आया है। यह सोचकर वह भी युद्धके लिये तैयार हो गये। केशिध्वजने कहा—'भाई, मैं इस बार भी तुमसे युद्ध करने नहीं आया हूँ। तुमने मुझे जो महान् प्रायश्चित्त बताया था उसीकी गुरुदक्षिणा देने तुम्हारे पास आया हूँ। तुम्हें जो भी अच्छा लगे माँग लो।'

अबके भी खाण्डिक्यने अपने मन्त्री-पुरोहितोंसे सम्मति पूछी। उन्होंने कहा—'क्षत्रियका प्रधान धर्म है प्रजापालन। यह धर्म बन गया तो मानो उसने सब धर्म कर लिये, अत: आप गुरुदक्षिणामें सम्पूर्ण राज्यको माँग लीजिये। इस तरहसे बिना युद्धके राज्य भी हाथ लगेगा और पुनीत क्षत्रियधर्मका भी पालन होगा।'

खाण्डिक्यने कहा—'यह ठीक है। क्षत्रियोंका धर्म तो यही है, किन्तु मैं शक्तिहीन न होता तो वह मुझे पराजित ही कैसे करता। आज मुझे छलसे पृथ्वीका राज्य मिल सकता है। किन्तु मुझे शक्तिहीन समझकर उसे दूसरा ले भी सकता है। मैंने स्वेच्छासे तो क्षात्रधर्मको छोड़ा नहीं है। यदि मैं राज्यके बदले इनसे ब्रह्मविद्या माँगता हूँ तो मेरा परलोक बनता है, शाश्वतपद प्राप्त होता है। अत: मैं इनसे गुरुदक्षिणामें ब्रह्मविद्या ही माँगूँगा।'

खाण्डिक्यने अपने भाई केशिध्वजको सत्कारपूर्वक बुलाया और उनसे कहा—'क्या सचमुच तुम मुझे मनमानी दक्षिणा दोगे?'

केशिध्वजने कहा—'आप जो भी चाहें माँग लें, मैं इसीलिये आया हूँ। इस समय आप यदि मेरा शिर भी माँगेंगे तो मैं मना नहीं करूँगा, आप निर्भय होकर जो माँगना चाहें माँग लें।'

खाण्डिक्यने कहा—'अच्छा तो तुम देना ही चाहते हो तो मुझे ब्रह्मविद्याका यथावत् उपदेश दो।'

केशिध्वजने कहा-'तुमने मेरा सम्पूर्ण राज्य क्यों नहीं माँग लिया, यह तो क्षत्रियका धर्म है।'

खाण्डिक्यने कहा—'तुम मुझे भुलावा मत दो; मैं इन नाशवान् राज-पाट, धन-ऐश्वर्यको लेकर क्या करूँगा? यदि माँगना ही है तो फिर ऐसी वस्तु क्यों न माँगूँ जिससे सदाके लिये आवागमन और बन्धनसे छूट जाऊँ?'

खाण्डिक्यका ऐसा उत्तर सुनकर केशिध्वजने उन्हें ब्रह्मविद्याका यथावत् उपदेश दिया। उसे धारण करके खाण्डिक्य कृतकृत्य हुए; मन्त्री, पुरोहित और रानीको अपने पुत्रको सौंपकर वे परमपदको प्राप्त हुए। इधर केशिध्वज निष्काम कर्म करते हुए अपने प्रारब्धके भोगोंको क्षय करके अन्तमें विदेहमुक्तिको प्राप्त हुए।

—प्र० ब्रह्मचारी

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

जब साधक अधिक खाने लगता है तो देवता रोने लगते हैं। आहारमें जिसकी लालसा बढ़ती है वह साधनाके मार्गसे जल्दी ही दूर हो जाता है।

भीष्म

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद्वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथञ्चन॥

(भीष्म)

'मैं त्रिलोकीका राज्य छोड़ सकता हूँ, देवताओंका राज्य भी छोड़ सकता हूँ और जो इन दोनोंसे अधिक है उसे भी छोड़ सकता हूँ, पर सत्य कभी नहीं छोड़ सकता।'

संतशिरोमणि पितामह भीष्म महाराज शान्तनुके औरस पुत्र थे और गंगादेवीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। वशिष्ठ ऋषिके शापसे आठों वसुओंने मनुष्ययोनिमें अवतार लिया था, जिनमें सातको तो गंगाजीने जन्मते ही जलके प्रवाहमें बहाकर शापसे छुड़ा दिया। द्यौ नामक वसुके अंशावतार भीष्मको राजा शान्तनुने रख लिया। गंगादेवी पुत्रको उसके पिताके पास छोड़कर चली गयीं। बालकका नाम देवव्रत रखा गया।

दासराजके द्वारा पालित सत्यवतीपर मोहित हुए धर्मशील राजा शान्तनुको विषादयुक्त देखकर युक्तिसे देवव्रतने मन्त्रियोंद्वारा पिताके दुःखका कारण जान लिया और पिताकी प्रसन्नताके लिये सत्यवतीके धर्मपिता दासराजके पास जाकर उसकी इच्छानुसार 'राजसिंहासनपर न बैठने और आजीवन ब्रह्मचर्य पालनेकी' कठिन प्रतिज्ञा करके पिताका सत्यवतीके साथ विवाह करवा दिया। पितृभक्तिसे प्रेरित होकर देवव्रतने अपना जन्मसिद्ध राज्याधिकार छोड़कर सदाके लिये स्त्रीसुखका भी परित्याग कर दिया, इसलिये देवताओंने प्रसन्न होकर कामिनी-कांचनका सर्वथा परित्याग कर देनेवाले देवव्रतपर पुष्पवृष्टि करते हुए उसका नाम भीष्म रखा। पुत्रका ऐसा त्याग देखकर राजा शान्तनुने भीष्मको वरदान दिया कि 'तू जबतक जीना चाहेगा तबतक मृत्यु तेरा बाल भी बाँका न कर सकेगी, तेरी इच्छामृत्यु होगी।' निष्काम पितृभक्त और आजीवन अस्खलित ब्रह्मचारीके लिये ऐसा होना कौन बड़ी बात है। कहना न होगा कि भीष्मने आजीवन अपनी इस भीष्म प्रतिज्ञाका पालन किया!

भीष्मजी बड़े ही वीर योद्धा थे और उनमें 'वीरता, तेज, धैर्य, कुशलता, युद्धसे कभी न हटना, दान और ऐश्वर्यभाव' ये सभी क्षत्रियोचित गुण प्रकट थे। वीरमूर्ति क्षत्रियकुलसंहारक परशुरामजीसे इन्होंने शस्त्रविद्या सीखी थी। जिस समय परशुरामजीने भीष्मजीसे यह आग्रह किया कि तुम काशिराजकी कन्या अम्बासे विवाह कर लो उस समय भीष्मजीने ऐसा करनेसे बिलकुल इनकार कर दिया और बड़ी नम्रतासे गुरुका सम्मान करते हुए अपनी स्वाभाविक शूरता और तेजभरे शब्दोंमें कहा—

'भय, दया, धनके लोभ और कामनासे मैं कभी क्षात्रधर्मका त्याग नहीं कर सकता, यह मेरा सदाका व्रत है।'

परशुरामजीको बहुत कुछ समझानेपर भी जब वे नहीं माने और इन्हें धमकी-पर-धमकी देने लगे तब भीष्मने कहा—'आप कहते हैं कि मैंने अकेले ही इस लोकके सारे क्षत्रियोंको इक्कीस बार जीत लिया था, उसका कारण यही है कि उस समय भीष्म या भीष्मके समान किसी क्षत्रियने पृथिवीपर जन्म नहीं लिया था; पर अब मैं आपके प्रसादसे आपके इस अभिमानको निःसन्देह चूर्ण कर दूँगा।'

परशुरामजी कुपित हो गये। युद्ध छिड़ गया और लगातार तेईस दिनतक गुरु-शिष्यमें भयानक युद्ध होता रहा, परन्तु परशुरामजी भीष्मको परास्त न कर सके। ऋषियों और देवताओंने आकर दोनोंको समझाया, परन्तु भीष्मने क्षत्रियधर्मके अनुसार शस्त्र नहीं छोड़े। वे बोले—

'मेरी यह प्रतिज्ञा है कि मैं युद्धमें पीठ दिखाकर पीछेसे बाणोंका प्रहार सहता हुआ कभी निवृत्त नहीं होऊँगा। लोभ, दीनता, भय और अर्थ आदि किसी कारणसे भी मैं अपना सनातनधर्म नहीं छोड़ सकता, यह मेरा दृढ़ निश्चय है।'

इक्कीस बार पृथिवीको क्षत्रियहीन करनेवाले अमित तेजस्वी परशुराम भीष्मको नहीं जीत सके; अन्तमें देवताओंने बीचमें पड़कर युद्ध बंद करवाया, परन्तु भीष्मकी प्रतिज्ञा भंग न हुई!

जब सत्यवतीके दोनों पुत्र मर गये, भरतवंश और राज्यका कोई आधार न रहा, तब सत्यवतीने भीष्मसे राजगद्दी स्वीकार करने या पुत्रोत्पादन करनेके लिये कहा। भीष्म चाहते तो निष्कलंक कहलाकर राज्य और स्त्रीका सुख अनायास भोग सकते थे, परन्तु विषयोपभोगसे विमुख परम संयमी महात्मा भीष्मने स्पष्ट कह दिया—

योगेश्वरका ध्यान
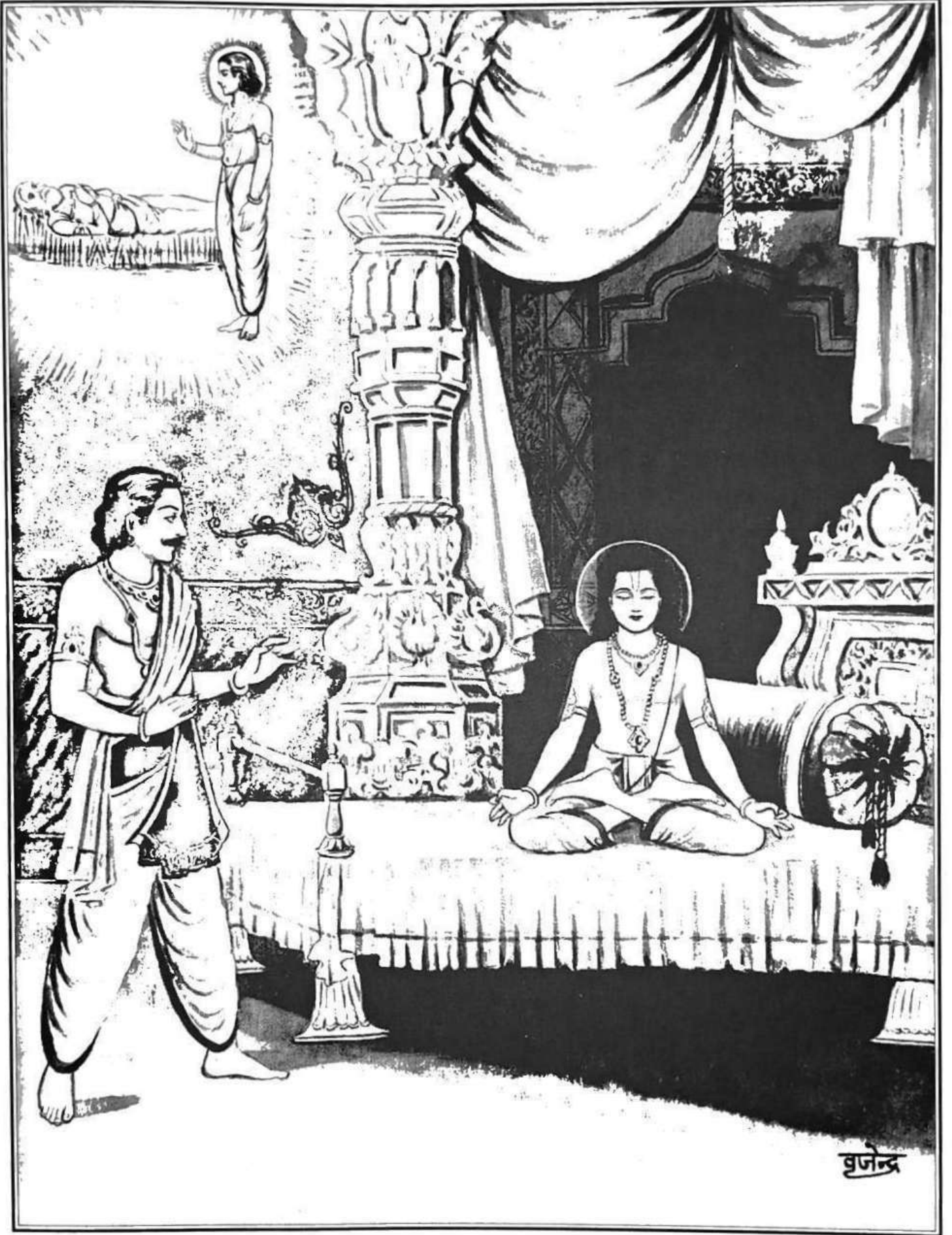
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

'माता! तू इसके लिये आग्रह न कर। पंचमहाभूत चाहे अपना गुण छोड़ दें, सूर्य और चन्द्रमा चाहे अपने तेज और शीतलताको त्याग दें, इन्द्र और धर्मराज अपना बल और धर्म छोड़ दें, परन्तु तीनों लोकोंके राज्यसुख या उससे भी अधिकके लिये मैं अपना प्रिय सत्य कभी नहीं छोड़ सकता।

भीष्मजीने दुर्योधनकी अनीति देखकर उसे कई बार समझाया था, पर वह नहीं समझा और जब युद्धका समय आया तब पाण्डवोंकी ओर मन होनेपर भी भीष्मने बुरे समयमें आश्रयदाताकी सहायता करना धर्म समझकर कौरवोंके सेनापति बनकर पाण्डवोंसे युद्ध किया। वृद्ध होनेपर भी उन्होंने दस दिनतक तरुण योद्धाकी तरह लड़कर रणभूमिमें अनेक बड़े-बड़े वीरोंको सदाके लिये सुला दिया और अनेकोंको घायल किया। कौरवोंकी रक्षा असलमें भीष्मके कारण ही कुछ दिनोंतक हुई। महाभारतके अठारह दिनोंके संग्राममें दस दिनोंका युद्ध अकेले भीष्मजीके सेनापतित्वमें हुआ, शेष आठ दिनोंमें कई सेनापति बदले। इतना होनेपर भी भीष्मजी पाण्डवोंके पक्षमें सत्य देखकर उनका मंगल चाहते और यह मानते थे कि अन्तमें जीत पाण्डवोंकी ही होगी।

भीष्मजी ज्ञानी, दृढ़प्रतिज्ञ, धर्मविद्, सत्यवादी, विद्वान्, राजनीतिज्ञ, उदार, जितेन्द्रिय और अप्रतिम योद्धा होनेके साथ ही भगवान्‌के अनन्य भक्त थे। श्रीकृष्णमहाराजको साक्षात् भगवान्‌के रूपमें सबसे पहले भीष्मजीने ही पहचाना था। धर्मराजके राजसूय यज्ञमें युधिष्ठिरके यह पूछनेपर कि 'अग्रपूजा किसकी होनी चाहिये?' भीष्मजीने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया कि 'तेज, बल, पराक्रम तथा अन्य सभी गुणोंमें श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रथम पूजा पाने योग्य हैं।' भीष्मकी आज्ञासे सहदेवके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा होनेपर जब शिशुपाल आदि राजा बिगड़े और उत्तेजित होकर कहने लगे कि 'इस घमण्डी बूढ़ेको पशुकी तरह काट डालो या इसे खौलते हुए तेलकी कड़ाहीमें डाल दो' तब भीष्मने कुछ भी न घबड़ाकर स्वाभाविक तेजसे तमककर कहा—'हम जानते हैं श्रीकृष्ण ही समस्त लोकोंकी उत्पत्ति और विनाशके कारण हैं, इन्हींके द्वारा यह चराचर विश्व रचा गया है, यही अव्यक्त प्रकृति, कर्ता, सर्वभूतोंसे परे सनातन ब्रह्म हैं, यही सबसे बड़े पूजनीय हैं और जगत्‌के सारे सद्‌गुण इन्हींमें प्रतिष्ठित हैं। सब राजाओंका मान मर्दनकर हमने श्रीकृष्णकी अग्रपूजा की है, जिसे यह मान्य न हो वह श्रीकृष्णके साथ युद्ध करनेको तैयार हो जाय। श्रीकृष्ण सबसे बड़े हैं, सबके गुरु हैं, सबके बन्धु हैं और सब राजाओंसे पराक्रममें श्रेष्ठ हैं; इनकी अग्रपूजा जिन्हें अच्छी नहीं लगती उन मूर्खोंको क्या समझाया जाय?'

यज्ञमें विघ्नकी सम्भावना देखकर जब धर्मराजने भीष्मसे यज्ञरक्षाका उपाय पूछा तब भीष्मने दृढ़ निश्चयके साथ कह दिया—'युधिष्ठिर! तुम इसकी चिन्ता न करो, शिशुपालकी खबर श्रीकृष्ण आप ही ले लेंगे।' अन्तमें शिशुपालके सौ अपराध पूरे होनेपर भगवान् श्रीकृष्णने वहीं उसे चक्रसे मारकर अपनेमें मिला लिया!

महाभारत-युद्धमें भगवान् श्रीकृष्ण शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा करके सम्मिलित हुए थे। वे अपनी भक्तवत्सलताके कारण सखाभक्त अर्जुनका रथ हाँकनेका काम कर रहे थे। एक बार भीष्मने दुर्योधनके कहने-सुननेपर पाँचों पाण्डवोंको पाँच बाणोंसे मारनेकी प्रतिज्ञा की। भगवान्‌ने कौशलसे भीष्मकी यह प्रतिज्ञा भंग करवा दी, तब भगवान् श्रीकृष्णकी ही शपथ करके उन्हींके बलपर भीष्मने यह प्रतिज्ञा की कि मैं कल 'भगवान्‌को शस्त्र ग्रहण करवा दूँगा।'

भीष्मके प्रणकी रक्षाके लिये दूसरे दिन भक्तवत्सल भगवान्‌को अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी। जगत्पति पीताम्बरधारी वासुदेव श्रीकृष्ण बार-बार सिंहनाद करते हुए हाथमें रथका टूटा चक्का लेकर भीष्मकी ओर ऐसे दौड़े जैसे वनराज सिंह गरजते हुए विशाल गजराजकी ओर दौड़ता है। भगवान्‌का पीला दुपट्टा कन्धेसे गिर पड़ा। पृथ्वी काँपने लगी। सेनामें चारों ओरसे 'भीष्म मारे गये, भीष्म मारे गये' की आवाज आने लगी। परन्तु इस समय भीष्मको जो असीम आनन्द था उसका वर्णन करना सामर्थ्यके बाहरकी बात है। भगवान्‌की भक्तवत्सलतापर मुग्ध हुए भीष्म उनका स्वागत करते हुए बोले—

'हे पुण्डरीकाक्ष! आओ, आओ! हे देवदेव!! तुमको मेरा नमस्कार है। हे पुरुषोत्तम! आज इस महायुद्धमें तुम मेरा वध करो! हे परमात्मन्! हे कृष्ण! हे निष्पाप! हे गोविन्द! तुम्हारे हाथसे युद्धमें मरनेपर मेरा अवश्य ही सब प्रकारसे परम कल्याण होगा। मैं आज त्रैलोक्यमें सम्मानित हूँ। हे पापरहित! मुझपर तुम युद्धमें इच्छानुसार

प्रहार करो, मैं तुम्हारा दास हूँ।'

अर्जुनने पीछेसे दौड़कर भगवान्के पैर पकड़ लिये और उन्हें बड़ी मुश्किलसे लौटाया।

अन्तमें शिखण्डीके सामने बाण न चलानेके कारण अर्जुनके बाणोंसे बिंधकर भीष्म शरशय्यापर गिर पड़े। भीष्म वीरोचित शय्यापर सोये थे, उनके सारे शरीरमें बाण बिंधे थे, केवल सिर नीचे लटकता था। उन्होंने तकिया माँगा, दुर्योधनादि नरम-नरम तकिया लाने लगे। भीष्मने अन्तमें अर्जुनसे कहा—'वत्स! मेरे योग्य तकिया दो।' अर्जुनने शोक रोककर तीन बाण उनके मस्तकके नीचे इस तरह मारे कि सिर तो ऊँचा उठ गया और वे बाण तकियाका काम देने लगे। इससे भीष्म बड़े प्रसन्न हुए और बोले—

शयनस्यानुरूपं मे पाण्डवोपहितं त्वया।
यद्यन्यथा प्रपद्येथाः शपेयं त्वामहं रुषा॥
एवमेव महाबाहो धर्मेषु परितिष्ठता।
स्वप्तव्यं क्षत्रियेणाजौ शरतल्पगतेन वै॥

(महा०, भीष्म० १२०। ४८-४९)

अर्थात् 'हे पुत्र अर्जुन! तुमने मेरे रणशय्याके योग्य ही तकिया देकर मुझे प्रसन्न कर लिया। यदि तुम मेरी बात न समझकर दूसरी तकिया देते तो मैं नाराज होकर तुम्हें शाप दे देता। क्षात्रधर्ममें दृढ़ रहनेवाले क्षत्रियोंको रणांगणमें प्राणत्याग करनेके लिये इसी प्रकारकी बाणशय्यापर सोना चाहिये।'

भीष्मजी शरशय्यापर बाणोंसे घायल पड़े थे, यह देखकर अनेक कुशल शस्त्रवैद्य बुलाये गये कि वे बाण निकालकर मरहम-पट्टी करके घावोंको ठीक करें; पर अपने इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णको सामने देखते हुए मृत्युकी प्रतीक्षामें वीरशय्यापर शान्तिसे सोये हुए भीष्मजीने कुछ भी इलाज न कराकर वैद्योंको सम्मानपूर्वक लौटा दिया। धन्य वीरता और धन्य धीरता!

आठ दिनके बाद युद्ध समाप्त हो गया। धर्मराजका राज्याभिषेक हुआ। एक दिन युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णके पास गये और दोनों हाथ जोड़कर पलंगके पास खड़े हो गये। प्रणाम करके मुसुकुराते हुए युधिष्ठिरने भगवान्से कुशल-क्षेम पूछी, परन्तु उनके प्रश्नका कोई उत्तर नहीं मिला। भगवान्को इतना ध्यानमग्न देखकर धर्मराज बोले—'प्रभो! आप किसका ध्यान करते हैं? मुझे बतलाइये, मैं आपके शरणागत हूँ।' भगवान्ने उत्तर दिया—'धर्मराज! शरशय्यापर सोते हुए नरशार्दूल भीष्म मेरा ध्यान कर रहे थे, उन्होंने मुझे स्मरण किया था, इसलिये मैं भी भीष्मका ध्यान कर रहा था। भाई! इस समय मैं मनद्वारा भीष्मके पास गया था।'

फिर भगवान्ने कहा—'युधिष्ठिर! वेद और धर्मके सर्वोपरि ज्ञाता, नैष्ठिक ब्रह्मचारी, महान् अनुभवी, कुरु-कुलसूर्य पितामहके अस्त होते ही जगत्का ज्ञानसूर्य भी निस्तेज हो जायगा। अतएव वहाँ चलकर कुछ उपदेश ग्रहण करना हो तो कर लो।'

युधिष्ठिर श्रीकृष्ण महाराजको साथ लेकर भीष्मके पास गये। बड़े-बड़े ब्रह्मवेत्ता ऋषि-मुनि वहाँ उपस्थित थे। भीष्मने भगवान्को देखकर प्रणाम और स्तवन किया। श्रीकृष्णने भीष्मसे कहा—'उत्तरायण आनेमें अभी तीस दिनकी देर है, इतनेमें आपने धर्मशास्त्रका जो ज्ञान सम्पादन किया है वह युधिष्ठिरको सुनाकर इनके शोकको दूर कीजिये।' भीष्मने कहा—'प्रभो! मेरा शरीर बाणोंके घावोंसे व्याकुल हो रहा है, मन-बुद्धि चंचल है, बोलनेकी शक्ति नहीं है, बारंबार मूर्च्छा आती है; केवल आपकी कृपासे ही अबतक जी रहा हूँ, फिर आप जगद्गुरुके सामने मैं शिष्य यदि कुछ कहूँ तो वह भी अविनय ही है। मुझसे बोला नहीं जाता, क्षमा करें।' प्रेमसे छलकती हुई आँखोंसे भगवान् गद्गद होकर बोले—'भीष्म! तुम्हारी ग्लानि, मूर्छा, दाह, व्यथा, क्षुधा, क्लेश और मोह सब मेरी कृपासे अभी नष्ट हो जायँगे, तुम्हारे अन्तःकरणमें सब प्रकारके ज्ञानकी स्फुरणा होगी, तुम्हारी बुद्धि निश्चयात्मिका हो जायगी, तुम्हारा मन नित्य सत्त्वगुणमें स्थिर हो जायगा, तुम धर्म या जिस किसी भी विद्याका चिन्तन करोगे उसीको तुम्हारी बुद्धि बताने लगेगी।' श्रीकृष्णने फिर कहा—'मैं स्वयं उपदेश न करके तुमसे इसलिये करवाता हूँ कि जिससे मेरे भक्तकी कीर्ति और यश बढ़े।' भगवत्प्रसादसे भीष्मके शरीरकी सारी वेदनाएँ उसी समय नष्ट हो गयीं, उनका अन्तःकरण सावधान और बुद्धि सर्वथा जाग्रत् हो गयी।

ब्रह्मचर्य, अनुभव, ज्ञान और भगवद्भक्तिके प्रतापसे अगाध ज्ञानी भीष्म जिस प्रकार दस दिनतक रणमें तरुण उत्साहसे झूमे थे उसी प्रकारके उत्साहसे उन्होंने युधिष्ठिरको अपने धर्मके सब अंगोंका पूरी तरह उपदेश दिया और उनके शोकसन्तप्त हृदयको शान्त कर

दिया। इस प्रकार भगवान्‌के सामने, ऋषियोंके समूहसे घिरे हुए, धर्मचर्चा करते-करते जब उत्तम उत्तरायणकाल आया तो भीष्मजी मौन हो गये और उन्होंने पीताम्बरधारी भगवान् श्रीकृष्णमें पूरी तरह मन लगा दिया और फिर उनकी स्तुति करते हुए बोले—

'मैंने इस तरह उन यादवपुंगव एवं सर्वश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णमें कामनारहित बुद्धि अर्पित कर दी है, जिन आनन्दमय ब्रह्मसे प्रकृतिका संयोग होनेपर यह संसार चलता है। त्रिभुवनसुन्दर एवं तमाल-तरुके समान श्याम-शरीर और सूर्य-किरणके-से गौरवर्ण सुन्दर वस्त्रको धारण किये और अलकावलीसे आवृत सुशोभित मुख-कमलवाले अर्जुनके मित्र श्रीकृष्णमें मेरी निष्काम भक्ति हो। युद्धमें घोड़ोंकी रज पड़नेसे धूम्रवर्ण एवं चंचल अलकावली और श्रमजनित प्रस्वेद-बिन्दुओंसे अलंकृत है मुख जिनका और मेरे तीक्ष्ण बाणोंसे कवच कट जानेपर भिन्न हो रही है त्वचा जिनकी, ऐसे भगवान् श्रीकृष्णमें मेरा मन रमण करे। सखाके कहनेपर शीघ्र ही अपनी-परायी दोनों सेनाओंके बीचमें रथ स्थापित करके शत्रुपक्षकी सेनाके वीरोंकी आयु उनकी ओर देखकर ही जिन्होंने हर ली उन अर्जुनके मित्र श्रीकृष्णमें मेरा मन रमे। सम्मुख स्थित शत्रुसेनामें आगे स्वजनोंको मारने-मरानेपर उद्यत देखकर जब अर्जुन स्वजन-वधको दोष समझकर धनुष-बाण त्यागकर स्वजन-वधसे निवृत्त हो गये तब जिन्होंने आत्मज्ञानका उपदेश करके अर्जुनकी कुबुद्धिको हर लिया उन परमेश्वर श्रीकृष्णके चरण-कमलोंमें मेरी रति हो। युद्धमें 'मैं शस्त्र नहीं ग्रहण करूँगा' अपनी इस प्रतिज्ञाको त्यागकर 'मैं श्रीकृष्णको शस्त्र ग्रहण करा दूँगा' मेरी इस प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये रथसे कूदकर रथका चक्का हाथमें लेकर जो मुझे मारनेको इस तरह वेगसे दौड़े, जैसे हाथीके मारनेको सिंह दौड़ता है, तब पृथिवी उनके प्रतिपदमें काँपने लगी और कन्धेसे दुपट्टा गिर गया, वैसी शोभाको प्राप्त हुए उन श्रीकृष्णकी मैं शरण हूँ। मेरे पैने बाणोंके प्रहारसे कवच टूट गया और श्यामसुन्दर शरीर रुधिरसे लाल हो गया, तब जो मुझ सशस्त्रको मारनेके लिये वेगसे दौड़े वे भक्तवत्सल भगवान् मेरी गति हों। अर्जुनके रथपर स्थित होकर एक हाथसे चाबुक उठाये और एक हाथसे घोड़ोंकी लगाम पकड़े जो दर्शनीय शोभायुक्त श्रीकृष्णभगवान् हैं उनमें मुझ मरनेवालेकी रति हो, जिस छबिको देखकर महाभारत-युद्धमें मरे हुए सब शूरवीर सारूप्यमुक्तिको प्राप्त हुए। अपनी ललित गति, विलास, मनोहर हास, प्रेममय निरीक्षण आदिसे गोपियोंके मान करनेपर जब श्रीकृष्णजी अन्तर्हित हो गये तब विरहसे व्याकुल गोपियाँ भी जिनकी लीलाका अनुकरण करके तन्मय हो गयीं, ऐसे भक्तिसे प्राप्त होनेवाले श्रीकृष्णमें मेरी दृढ़ भक्ति हो। युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें अनेक ऋषि-मुनि और महिपालोंसे सुशोभित सभाभवनके बीच जिनकी प्रथम पूजा हुई, वही सर्वश्रेष्ठ जगत्पूज्य परब्रह्म इस समय मेरे नेत्रोंके सामने हैं। अहोभाग्य! मैं कृतार्थ हो गया। अब जन्म-कर्मरहित और अपने ही उत्पन्न किये प्राणियोंके हृदयमें जो एक होकर भी अनेक पात्रोंमें पड़े हुए प्रतिबिम्बद्वारा अनेकरूप प्रतीत होनेवाले सूर्यकी भाँति अनेकरूप प्रतीत होते हैं उन ईश्वर श्रीकृष्णको भेददृष्टि और मोहसे शून्य चित्तद्वारा मैं प्राप्त हुआ हूँ।'

एक सौ पैंतीस वर्षकी अवस्थामें उत्तरायणके समय सैकड़ों ब्रह्मवेत्ता ऋषि-मुनियोंके बीच इस प्रकार साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए—

कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टिवृत्तिभिः।
आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत्॥

(श्रीमद्भा० १।९।४३)

'आत्मरूप भगवान् श्रीकृष्णमें मन, वाणी और दृष्टिको स्थिर करके भीष्मजी परम शान्तिको प्राप्त हो गये!'

—ह० पोद्दार

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

जो मनुष्य अशुद्ध दर्शनसे नेत्रों और भोगोंसे इन्द्रियोंको बचाता है, नित्य ध्यानयोगसे अन्तःकरणको निर्मल रख अपने चरित्रको शुद्ध करता है और धर्मपूर्वक अर्जित अन्नसे अपना पालन करता है, उसके ज्ञानमें कोई कमी नहीं।

वसुदेव

यदुवंशमें शूरसेन नामके एक पराक्रमी क्षत्रिय हुए, उनकी मारिषा नामकी पत्नी थी। शूरके मारिषाके गर्भसे दस पुत्र उत्पन्न हुए। उन दसोंमें वसुदेवजी सबसे श्रेष्ठ थे। इनका विवाह देवककी सात कन्याओंसे हुआ। रोहिणी भी इनकी पत्नी थीं। देवकीजी देवककी सबसे छोटी कन्या थीं। जब वसुदेवजी देवकीके साथ विवाह करके आ रहे थे तो देवकके बड़े भाई उग्रसेनका पुत्र कंस अपनी बहिनकी प्रसन्नताके लिये स्वयं रथ हाँक रहा था। उसी समय आकाशवाणी हुई—'कंस! इसी देवकीका आठवाँ गर्भ तुझे मारेगा।' कंस मृत्युभयसे काँप गया और वहीं देवकीजीको मारनेके लिये तैयार हो गया। वसुदेवजीने उसे बहुत समझाया, किन्तु वह माना ही नहीं। तब वसुदेवजीने सोचा इस समयको टाल देना ही बुद्धिमानी है। इसलिये वसुदेवजीने कहा—'अच्छा, तुम्हें इसके पुत्रसे डर है न? तुम इसे मत मारो, इसके सब पुत्र मैं तुम्हें लाकर दे दूँगा।'

कंसको चाहे और किसीपर विश्वास न रहा हो, किन्तु वह यह जानता था कि वसुदेवजी कभी झूठ नहीं बोलेंगे, ये जो कहेंगे वही करेंगे। उसने वसुदेव-देवकीको छोड़ दिया। समय पाकर उनके एक पुत्र हुआ और वसुदेवजी अपने प्रतिज्ञानुसार उसे कंसके यहाँ लेकर पहुँच गये। अपने हृदयके टुकड़ेको वे मरवानेके लिये क्यों ले गये? बाप अपने प्यारे पुत्रको अपने हाथसे मरवानेके लिये कैसे ले गया? इसपर व्यासजी कहते हैं—

किं दुःसहं नु साधूनां विदुषां किमपेक्षितम्।
किमकार्यं कदर्याणां दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १। ५८)

वे संत थे, उनके लिये सब कुछ सह्य था। वे धैर्यवान् थे, सत्यके पीछे सब कुछ छोड़ सकते थे। कंसने उनकी सत्यतापर सन्तुष्ट होकर एक बार लड़केको लौटा दिया। दुबारा जब उसने मँगाया तब फिर लेकर पहुँचे। उसने इनको जेलमें रखा, जेलमें रहे; नाना प्रकारके कष्ट दिये, उन्हें शान्तिपूर्वक सहन किया। अन्तमें जेलमें ही भगवान्‌का प्रादुर्भाव हुआ। भगवान्‌की आज्ञा हुई, मुझे गोकुल पहुँचा दो। कंससे बढ़कर भगवान्‌की आज्ञा थी। भाद्रपदकी अँधेरी रात्रिमें आधी रातके समय बढ़ती हुई यमुनाजीमें सद्योजात शिशुको लेकर वसुदेवजी उनकी आज्ञाका स्मरण करके घुस गये। यमुनाजी भी हट गयीं। सब विघ्न दूर हुए। भगवान्‌को सकुशल गोकुल पहुँचाकर तथा बदलेमें यशोदाकी कन्याको लेकर वे आ गये। किवाड़ ज्यों-के-त्यों फिर बंद हो गये, ताले लग गये। हाथोंमें फिर ज्यों-की-त्यों हथकड़ियाँ पड़ गयीं। कंस आया और उसने लड़कीको पत्थरपर पछाड़कर मार डाला। वह साक्षात् योगमाया थी। आकाशमें अपने स्वरूपसे प्रकट होकर योगमायाने कहा—'कंस! तुम्हें मारनेवाला प्रकट हो गया है।'

भगवान् समीपमें ही वृन्दावनमें रहते थे। प्रत्येक माता-पिताका मन इस बातके लिये लालायित रहता है कि अपने हृदयके टुकड़ेको एक बार जी भरकर इन आँखोंसे देख लें। किन्तु वसुदेवजीने ऐसा साहस कभी नहीं किया। छिपकर, आँख बचाकर भगवान्‌की इच्छाके विरुद्ध मोहवश वहाँ जायँगे तो साधुतामें बट्टा लगेगा। बात बिगड़ जायगी। जब उनकी इच्छा होगी, जब वे चाहेंगे, स्वयं आ जायँगे या बुला लेंगे। वे उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षामें चुपचाप बैठे हुए कंसपालित मथुरामें तप करते रहे—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्॥

अन्तर्यामी प्रभुसे माता-पिताकी भावनाएँ छिपी थोड़े ही थीं। किस बातसे माता-पिता प्रसन्न होंगे, इसे वे जानते थे। स्वतः ही वे आये। पहले उन्होंने अपने माता-पिताको दुःख देनेवालेको ही मारा। यदि यह जीवित रहेगा तो वे सुखसे हृदय खोलकर न मिल सकेंगे। डरते-डरते मिलना कोई मिलना थोड़े ही है, जबतक निर्भय होकर अपने प्रेमास्पदको हृदयसे न लगा लिया जाय। देवकी तो कंससे डरी हुई थीं, उन्हें उसके नामसे ही भय लगता था। यह बात उन्होंने भगवान्‌से प्रकट होते ही कही थी—

जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन।
समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३। २९)

'वह इस बातको न जानने पावे कि आपका प्रादुर्भाव मेरे ही यहाँ हुआ है। मैं आपके कारण इस

कंससे बहुत ही डरी हुई हूँ।'

भगवान्ने पहले उसी काँटेको निकाला। फिर माता-पिताको अभय करके उनकी बेड़ियाँ-हथकड़ियाँ काटीं और स्वयं उनके चरणोंपर गिरे।

अहा! चिरकालके बिछुड़े अपने पुत्रको पाकर वसुदेवजी कितने प्रसन्न हुए होंगे, उनकी प्रसन्नताका वर्णन भला कौन कर सकता है। किन्तु उनके मनमें भगवान्के लिये ईश्वर-बुद्धि आ गयी, ऐश्वर्यमें प्रेमरसास्वादन कहाँ? अन्तर्यामी प्रभु समझ गये और बोले—

न लब्धो दैवहतयोर्वासो नौ भवदन्तिके।
यां बालाः पितृगेहस्था विन्दन्ते लालिता मुदम्॥
तन्नावकल्पयोः कंसान्नित्यमुद्विग्नचेतसोः।
मोघमेते व्यतिक्रान्ता दिवसा वामनर्चतोः॥
तत्क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ परतन्त्रयोः।
अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४५। ४, ८-९)

'हम ही बड़े मन्दभागी हैं जो हमने बालकपनमें आपके घरमें सुख नहीं पाया। माता-पिताके समीप बालकको कितनी प्रसन्नता होती है, कितना सुख मिलता है। सो हमलोग कंससे डरे हुए दूर-ही-दूर रहे। आप हमारे लिये तड़फड़ाते रहे, हम आपके लिये छटपटाते रहे। उस दुष्टके द्वारा सताये हुए आपकी बिना सेवा किये, आपको बिना सुख पहुँचाये, हमारे ये दिन व्यर्थ ही गये। हे माता-पिता! हमारे इस विवशताजनित अपराधको क्षमा करो।'

इस प्रकार जब भगवान्ने प्रेममें सनी हुई बातें कहीं तो वसुदेवजी उनके ऐश्वर्यको भूल गये। माताने और वसुदेवजीने दोनों अपने हृदयके टुकड़ोंको छातीसे चिपटा लिया। प्रेमके आँसुओंसे उनके काले-काले घुँघराले बालोंको भिगो दिया। अपने जीवनको सफल बनाया।

वसुदेवजीके बराबर कौन भाग्यवान् हो सकता है, जिन्हें वे अखिलब्रह्माण्डनायक सदा पिता-पिता कहकर पुकारा करते थे, जिनकी शुश्रूषा साक्षात् देवासुरवन्दित लक्ष्मीपति किया करते थे।

अन्तमें भगवान्ने कुरुक्षेत्रमें ऋषियोंके द्वारा वसुदेवजीको तत्त्वबोध कराया। पीछे जब वसुदेवजीने भगवान्के सम्मुख उस ज्ञानको प्रकट किया तो भगवान्ने भी उसका अनुमोदन किया। भगवान्ने उन्हें अपने असली रूपका परिचय कराया और अन्तमें कहा—

अहं यूयमसावार्य इमे च द्वारकौकसः।
सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम्॥
आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः।
आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते॥

(श्रीमद्भा० १०। ८५। २३-२४)

'हे पिता! हे यदुश्रेष्ठ! मैं, आप सब, बलदेवजी, समस्त द्वारकावासी, यहाँतक कि सम्पूर्ण जगत्, ये सब एक ही हैं ऐसा जानो। आत्मा एक है, स्वयंज्योति है, नित्य है, अनन्य तथा निर्गुण है। किन्तु अपने ही द्वारा उत्पन्न किये हुए गुणोंके कारण उन्हीं गुणोंसे उत्पन्न हुए नाना शरीरोंमें वह नाना रूपोंसे भासता है।'

इस प्रकार वसुदेवजीने यथार्थ तत्त्वको समझ लिया।

अन्तमें जब प्रभासक्षेत्रमें भगवान्ने अपनी लीला संवरण की तब वसुदेवजी भी अपनी पत्नियोंके साथ वहाँ आकर भगवान्के अनुयायी हुए। उन्हींके मार्गका अनुसरण किया।

—प्र० ब्रह्मचारी

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

मनुष्यसे तो जितनी कम हो सके, बात करो; ज्यादा बात तो करो उस ईश्वरसे।

जो ईश्वरको अपना सर्वस्व मानता है वही असली धनवान् है। दुनियाकी चीजोंको अपनी सम्पत्ति माननेवाला तो सदा गरीब ही रहेगा।

ईश्वरका स्मरण मेरी ज़िन्दगीकी खुराक़, उसकी प्रशंसा मेरी ज़िन्दगीका पेय और उसकी लज्जा मेरी ज़िन्दगीके कपड़े हैं।

नन्दबाबा

श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारतमन्ये भजन्तु भवभीताः।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परब्रह्म॥*

नन्दबाबाके सम्बन्धमें ब्रह्मवैवर्तपुराण तथा गर्गसंहितामें बहुत कुछ वर्णन है, ये गोलोकमें नित्य भगवान्‌के साथ निवास करते हैं। जब भगवान् सांगोपांग सविग्रह व्रजमण्डलमें अवतरित हुए तब समस्त ग्वालबाल और गोपियोंने भी व्रजमण्डलको अपनी लीलाभूमि बनाया। नन्दबाबा कई भाई थे—नन्द, उपनन्द, महानन्द आदि- आदि। नन्दजी जातिके गोप थे और इनका एक समूह था, उसके ये नायक थे। प्रत्येक गोपके पास हजारों-लाखों गौएँ होती थीं, जहाँ गौएँ रहती थीं उसे गोकुल कहते थे। इस प्रकार वह गोपसमूह व्रज चौरासी कोसमें रहता था। आज यहाँ है तो कल वहाँ, जिस वनमें अच्छी घास हुई, गौओंके चारे और पानीका जहाँ सुभीता हुआ, वहीं छकड़ा लादकर ये सब अपना डेरा डाल देते थे। उन दिनों नन्दजी मथुराजीके सामने यमुनाजीके उस पार महावन नामक वनमें रहते थे, महावनमें ही उन दिनों नन्दबाबाका गोकुल था। वसुदेवजीसे उनकी बड़ी मित्रता थी। जब कंसका अत्याचार बढ़ा तब वसुदेवजीने अपनी रोहिणी आदि पत्नियोंको नन्दबाबाके गोकुलमें ही भेज दिया था। बलदेवजीका जन्म गोकुलमें ही हुआ। भगवान्‌को भी वसुदेवजी जन्म होते ही गोकुलमें कर आये थे। इस प्रकार बलराम और भगवान् श्रीकृष्ण दोनों ही नन्दबाबाके पुत्र हुए और उन्होंने ही उनका लालन-पालन किया। नन्दजी राम, कृष्ण दोनोंको प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते थे, दिन-रात उन्हींकी चिन्ता किया करते थे। उन्हें कोई कष्ट न हो, किसी प्रकारकी असुविधा न हो, इस बातको वे बार-बार यशोदा मैयासे कहते रहते थे। श्रीकृष्ण उनके बाहरी प्राण थे, उनके जीवनमें श्रीकृष्णस्मृति ही प्रधान स्मृति थी। वे अपने सब काम श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ ही करते थे। इससे मेरे लालको सुख होगा, इसमें उसकी प्रसन्नता होगी, इस बातका ध्यान उन्हें सदा बना रहता था।

जब गोकुलमें भाँति-भाँतिके उत्पात होने लगे, पूतना-शकटासुरकी घटनाएँ हुईं, तब सभी गोपी-गोप क्षुभित हो गये। श्रीकृष्णकी मंगलकामनासे उन्होंने गोकुलको छोड़ दिया और वृन्दावनमें आकर रहने लगे। वहाँ श्रीकृष्ण भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ करके नन्दबाबाको सुख देने लगे। एक दिन नन्दबाबाजी एकादशीका व्रत करके द्वादशीके दिन अर्द्धरात्रिके समय स्नान करनेके लिये यमुनातटपर आ गये। उस समय वरुणके दूतोंने उन्हें पकड़ लिया और वे उन्हें वरुणलोकमें ले गये। इधर प्रातःकाल जब गोपोंने नन्दजीको नहीं देखा तो वे विलाप करने लगे। सर्वान्तर्यामी प्रभु सब बातें जानकर वरुणलोकको गये। भगवान्‌को देखकर वरुणने प्रभुकी विधिवत् पूजा की और दूतोंकी धृष्टताके लिये क्षमा माँगी, तब भगवान् नन्दबाबाजीको साथ लेकर व्रजमें आये और उन्हें विश्वास हो गया कि ये साक्षात् पुराणपुरुषोत्तम हैं।

इसी प्रकार एक बार नन्दजी देवीजीकी यात्रामें सब ग्वालबालोंको लेकर गये। वहाँ नन्दजीको रात्रिमें सोते समय एक अजगरने पकड़ लिया। गोपोंने उसे जलती लकड़ीसे बहुत मारा, किन्तु वह गया नहीं। तब भगवान्‌ने चरणके अँगूठेसे उसे छू दिया, छूते ही वह गन्धर्व बन गया और अपनी कथा सुनाकर चला गया।

जब कंसने अक्रूरके द्वारा भगवान्‌को मथुरा बुलाया तो नन्दजी उन्हें साथ लेकर मथुरा गये। वहाँ जाकर उन्होंने कंसको मारकर अपने नाना उग्रसेनको राजा बनाया। नन्दजी व्रजमें लौट आये। भगवान् वहीं रह गये। पीछे उद्धवजीके हाथ उन्होंने सन्देश भेजा। उद्धवजीको देखकर वृद्ध नन्दबाबा रो पड़े। उन्हें अब अपने श्यामसुन्दरका यथार्थ रूप मालूम पड़ा। अरे, जिन्हें हम अपना पुत्र समझते थे वे तो विश्वब्रह्माण्डके स्वामी हैं, जगत्पिता हैं। उन्होंने दुःखभरे शब्दोंमें, करुणापूर्ण वाणीमें श्रीकृष्णको याद करते हुए कहा—

अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान् सकृदीक्षितुम्।
तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम्॥
दावाग्नेर्वातवर्षाच्च विषसर्पाच्च रक्षिताः।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना॥

* संसारसे भयभीत होकर कोई श्रुतिका आश्रय ले, कोई दूसरा स्मृतिकी शरण ग्रहण करे और कोई तीसरा महाभारतकी शरण जाय; हम तो नन्दबाबाकी चरणवन्दना करते हैं जिनके आँगनमें साक्षात् परब्रह्म खेलते हैं।

स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितम्।
हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः॥
सरिच्छैलवनोद्देशान्मुकुन्दपदभूषितान्।
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्॥
मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ।
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा॥

(श्रीमद्भा० १०।४६।१९-२३)

'उद्धवजी! कभी श्यामसुन्दर हम सबको देखने आवेंगे? क्या कभी हम उनके सुन्दर नासिकावाले हँसते हुए मुखारविन्दको देख सकेंगे? उन्होंने हमारी दावाग्नि, वायु, वर्षा, विष, सर्प आदिसे रक्षा की; उन महात्माने हमें इन अवश्यम्भावी मृत्युओंसे बचाया। उनके पराक्रमको, उनकी हँसीको, उनके प्रेमयुक्त कटाक्षोंको, उनकी बोलन-चलन-बतरावनको जब हम स्मरण करते हैं और उनके चरण-कमलोंसे अंकित पृथ्वी, पर्वत, नदी आदि स्थानोंको जब हम देखते हैं तो अपने आपेको भूल जाते हैं, हमारी सभी क्रियाएँ शिथिल पड़ जाती हैं, हम तन्मय हो जाते हैं। हम तो उन्हें देवताओंके कामके लिये अवतीर्ण होनेवाले साक्षात् पुरुषोत्तम ही मानते हैं।'

इस प्रकार उन्हें भगवान्के स्वरूपका ज्ञान हो गया।

एक बार कुरुक्षेत्रमें फिर वह करुणापूर्ण दृश्य उपस्थित हुआ, जब नन्दबाबाने अपनी गोदीमें बिठाकर श्यामसुन्दरका मुख चूमा। उस चुम्बनमें कितनी विरहवेदना, कितनी अनन्त स्मृतियाँ थीं, इसे कौन कह सकता है। अतः श्रीभगवान्के निज लोक पधारनेपर समस्त ग्वालबाल और गौ-बछड़ोंके साथ नन्दबाबाजी भी अपने सत्य सनातन लोकको चले गये, जहाँ न जरा है न मृत्यु है, जहाँ सदा श्रीकृष्णलीलाका दिव्य आनन्द-ही-आनन्द है। —प्र० ब्रह्मचारी

अक्रूर

देहंभृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम्।
सन्देशाद्यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः॥*

(श्रीमद्भा० १०।३८।२७)

भक्ति-शास्त्रमें भक्ति श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, वन्दन, अर्चन, सख्य, दास्य और आत्मनिवेदन, इस तरह नौ प्रकारकी बतायी गयी है। इसके उदाहरणमें एक-एक भक्तका नाम लेते हैं—जैसे श्रवणमें परीक्षित्, कीर्तनमें वेदव्यास आदि-आदि। इस तरह वन्दन भक्तोंमें अक्रूरजीको बताया गया है। ये भगवान्के वन्दन-प्रधान भक्त थे। इनका जन्म यदुवंशमें ही हुआ था। ये वसुदेवजीके कुटुम्बके नातेसे भाई लगते थे। इनके पिताका नाम श्वफल्क था। ये कंसके दरबारके एक दरबारी थे। कंसके अत्याचारोंसे पीड़ित होकर बहुत-से यदुवंशी इधर-उधर भाग गये थे, किन्तु ये जिस किसी प्रकार कंसके दरबारमें ही पड़े हुए थे।

जब अनेक उपाय करके भी कंस भगवान्को नहीं मरवा सका तब उसने एक चाल चली। उसने एक धनुषयज्ञ रचा और उसमें मल्लोंके द्वारा मरवानेके लिये गोकुलसे गोप-ग्वालोंके सहित श्रीकृष्ण-बलरामको बुलवाया। उन्हें आदरपूर्वक लानेके लिये अक्रूरजीको भेजा गया। कंसकी आज्ञाको पाकर अक्रूरजीकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। वे भगवान्के दर्शनोंके लिये बड़े उत्कण्ठित थे, किसी-न-किसी प्रकार वे भगवान्के दर्शन करना चाहते थे। भगवान्ने स्वतः ही कृपा करके ऐसा संयोग लगा दिया। जीव अपने पुरुषार्थसे प्रभुके दर्शन करना चाहे तो यह उसकी अनधिकार चेष्टा है। कोटि जन्ममें भी उतनी पवित्रता, वैसी योग्यता जीव नहीं प्राप्त कर सकता कि जिससे वह परात्पर प्रभुके सामने पुरुषार्थके द्वारा पहुँच सके। जब वे ही अहैतुकी कृपा करके दयावश जीवको अपने समीप बुलाना चाहें, तभी वह आ सकता है। प्रभुने कृपा करके घर बैठे ही अक्रूरजीको बुला लिया।

प्रातःकाल मथुरासे रथ लेकर वे नन्दगाँव भगवान्को लेने चले। रास्तेमें अनेक प्रकारके मनसूबे बाँधते जाते थे। सोचते थे उन पीताम्बरधारी बनवारीको मैं इन्हीं चक्षुओंसे देखूँगा, उनके सुन्दर मुखारविन्दको, घुँघराली काली-काली लटाओंसे युक्त सुकपोलोंको निहारूँगा। वे जब मुझे अपने सुकोमल करकमलोंसे स्पर्श

* प्राणियोंके देह धारण करनेकी सफलता इसीमें है कि निर्दम्भ, निर्भय और शोकरहित होकर अक्रूरजीके समान भगवत्चिह्नोंके दर्शन, तथा उनके गुणोंके श्रवणादिके द्वारा अहैतुकी भक्ति करे।

करेंगे उस समय मेरे समस्त शरीरमें बिजली-सी दौड़ जायगी। वे मुझसे हँस-हँसकर बातें करेंगे। मुझे पास बिठावेंगे। बार-बार प्रेमपूर्वक 'चाचा' 'चाचा' कहेंगे। मेरे लिये वह कितने सुखकी बात होगी। इस प्रकार भाँति-भाँतिकी कल्पनाएँ करते हुए वे वृन्दावनके समीप पहुँचे। वहाँ उन्होंने वज्र, अंकुश, यव, ध्वजा आदि चिह्नोंसे विभूषित श्यामसुन्दरके चरणचिह्नोंको देखा। बस, फिर क्या था। वे उन घनश्यामके चरणोंको देखते ही रथसे कूद पड़े और उनकी वन्दना करके उस धूलिमें लोटने लगे। उन्हें उस धूलिमें लोटनेमें कितना सुख मिल रहा था, यह कहनेकी बात नहीं है। जैसे-तैसे व्रजमें पहुँचे। सर्वप्रथम बलदेवजीके साथ श्यामसुन्दर ही उन्हें मिले। उन्हें छातीसे लगाया, घर ले गये, कुशल पूछी, आतिथ्य किया और सब हाल जाना।

दूसरे दिन रथपर चढ़कर अक्रूरके साथ श्यामसुन्दर और बलराम मथुरा चले। गोपियोंने उनका रथ घेर लिया, बड़ी कठिनतासे आगे बढ़ सके। थोड़ी दूर चलकर यमुनाकिनारे अक्रूरजी नित्य-कर्म करने ठहरे। स्नान करनेके लिये ज्यों ही उन्होंने डुबकी लगायी कि भीतर चतुर्भुज श्रीश्यामसुन्दर दिखायी दिये। घबड़ाकर ऊपर आये तो दोनों भाइयोंको रथपर बैठे देखा। फिर बुड़की लगायी तो फिर वही मूर्ति जलके भीतर दिखायी दी। अक्रूरजीको ज्ञान हो गया कि जलमें, स्थलमें, शून्यमें कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ श्यामसुन्दर विराजमान न हों। भगवान् उन्हें देखकर हँस पड़े। वे भी प्रणाम करके रथपर बैठ गये। मथुरा पहुँचकर भगवान् रथपरसे उतर पड़े और बोले—'हम अकेले ही पैदल जायँगे।' अक्रूरजीने बहुत प्रार्थना की कि आप रथपर पहले मेरे घर पधारें, तब कहीं अन्यत्र जायँ। भगवान्ने कहा—'आपके घर तो तभी जाऊँगा जब कंसका अन्त हो जायगा।' अक्रूरजी दुखी मनसे चले गये।

कंसको मारकर भगवान् अक्रूरजीके घर गये। अब अक्रूरजीके आनन्दका क्या ठिकाना। जिनके दर्शनोंके लिये योगीजन हजारों-लाखों वर्ष तपस्या करते हैं वे स्वतः ही बिना प्रयासके घरपर पधार गये। अक्रूरजीने उनकी विधिवत् पूजा की और कोई आज्ञा चाही। भगवान्ने अक्रूरजीको अपना अन्तरंग सुहृद् समझकर आज्ञा दी कि 'हस्तिनापुरमें जाकर हमारी बूआके लड़के पाण्डवोंका समाचार ले आओ। हमने सुना है, धृतराष्ट्र उन्हें दुःख देता है।' भगवान्की आज्ञा पाकर अक्रूरजी हस्तिनापुर गये और धृतराष्ट्रको सब प्रकारसे समझाकर और पाण्डवोंके समाचार लेकर लौट आये।

भगवान् जब मथुरापुरीको त्यागकर द्वारका पधारे तब अक्रूरजी भी उनके साथ ही गये। ये भगवान्के प्रिय सखा और सच्चे भक्त थे। अन्तमें भगवान्के साथ-ही-साथ ये उनके धामको पधारे। —प्र० ब्रह्मचारी

उद्धव

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य॥*

(श्रीमद्भा० १०।४७।५८)

उद्धवजी भगवान्के सखा-भक्त थे। अक्रूरके साथ जब भगवान् व्रजसे मथुरा आ गये और कंसको मारकर सब यादवोंको सुखी बना दिया तब भगवान्ने एकान्तमें अपने प्रिय सखा उद्धवको बुलाकर कहा—'उद्धव! व्रजकी गोपांगनाएँ मेरे वियोगमें व्याकुल होंगी, उन्हें जाकर तुम समझा आओ। उन्हें मेरा संदेश सुना आओ कि मैं तुमसे अलग नहीं, सदा तुम्हारे साथ ही हूँ।' उद्धवजी अपने स्वामीकी आज्ञा पाकर नन्द-व्रजमें गये। वहाँ चारों ओरसे इन्हें व्रजवासियोंने घेर लिया और लगे भाँति-भाँतिके प्रश्न करने; कोई आँसू बहाने लगा, कोई मुरली बजाते-बजाते रोने लगा, कोई भगवान्का कुशल-समाचार पूछने लगा। उद्धवजीने सबको यथायोग्य उत्तर दिया। सबको धैर्य बँधाया।

एकान्तमें जाकर उन्होंने गोपियोंको अपना ज्ञान-सन्देश सुनाया। उन्होंने कहा—'भगवान् वासुदेव किसी

* उद्धवजी कहते हैं—इस पृथ्वीमें जन्म लेना तो इन गोपांगनाओंका ही सार्थक हुआ, क्योंकि इन्हें विश्वात्मा भगवान् नन्दनन्दनके प्रति प्रगाढ़ प्रेम है, जिसे पानेके लिये मुनिगण तथा हम सदा इच्छुक बने रहते हैं! जिनको भगवान्की कथामें अनुराग हो गया उन्हें ब्राह्मणकुलमें जन्म, उपनयन, यज्ञ-दीक्षा आदिकी भी अपेक्षा नहीं।

एक जगह नहीं हैं, वे तो सर्वत्र व्यापक हैं। उनमें भगवत्-बुद्धि करो, सर्वत्र उन्हें देखो।' गोपियोंने रोते-रोते कहा—'उद्धवजी! तुम ठीक कहते हो, किन्तु हम गँवारी वनचरी इस गूढ़ ज्ञानको भला कैसे समझ सकती हैं। हम तो उन श्यामसुन्दरकी भोली-भाली सूरतपर ही अनुरक्त हैं। उनका वह हास्यसे युक्त मुखारविन्द, वह काली-काली घुँघराली अलकावली, वह वंशीकी मधुर ध्वनि हमें हठात् अपनी ओर खींच रही है। वृन्दावनकी समस्त भूमिपर उनकी अनन्त स्मृतियाँ अंकित हैं। तिलभर भी जमीन खाली नहीं जहाँ उनकी कोई मधुर स्मृति न हो। हम इन यमुना-पुलिन, वन, पर्वत, वृक्ष और लताओंमें उन श्यामसुन्दरको देखती हैं। इन्हें देखकर उनकी स्मृति मूर्तिमान् होकर हमारे हृदयपटलपर नाचने लगती है।'

उनके ऐसे अलौकिक प्रेमको देखकर उद्धवजी अपना समस्त ज्ञान भूल गये और अत्यन्त करुणाके स्वरमें कहने लगे—

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६३)

'मैं इन व्रजांगनाओंकी चरणधूलिकी भक्तिभावसे वन्दना करता हूँ, जिनके द्वारा गायी हुई हरि-कथा तीनों भुवनोंको पावन करनेवाली है।' व्रजमें जाकर उद्धवजी ऐसे प्रभावित हुए कि वे सब ज्ञान-गाथा भूल गये।

भगवान्के द्वारका पधारनेपर ये भी उनके साथ गये। यदुवंशियोंके मन्त्रि-मण्डलमें इनका भी एक प्रधान स्थान था। इनकी भगवान्में अनन्य भक्ति थी। जब इन्होंने समझा कि भगवान् अब इस लोककी लीलाका संवरण करना चाहते हैं तब वे एकान्तमें जाकर बड़ी दीनताके साथ कहने लगे—

नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि॥

(श्रीमद्भा० ११। ६। ४३)

'हे भगवन्! हे नाथ! मैं आपके चरणोंसे एक क्षणके लिये भी अलग होना नहीं चाहता। मुझे भी आप अपने साथ ले चलिये।'

भगवान्ने कहा—'उद्धव! मैं इस लोकसे इस शरीरद्वारा अन्तर्हित होना चाहता हूँ। मेरे अन्तर्हित होते ही यहाँ घोर कलियुग आ जायगा। इसलिये तुम बदरिकाश्रमको चले जाओ और वहाँ तपस्या करो। तुम्हें कलियुगका धर्म नहीं व्यापेगा।'

भगवान्की ऐसी ही मर्जी है, यह समझकर उद्धवजी चले तो गये, किन्तु उनका मन भगवान्की लीलाओंमें ही लगा रहा। वे बदरीवन न जाकर इधर-उधर घूमते रहे। जब सब यादव प्रभासक्षेत्रको चले गये तो भगवान्की अन्तिम लीलाको देखने विदुरजी भी प्रभासमें पहुँचे। तबतक समस्त यदुवंशियोंका संहार हो चुका था, विदुरजी ढूँढ़ते-ढूँढ़ते भगवान्के पास पहुँचे। भगवान् सरस्वती नदीके तटपर एक अश्वत्थके नीचे विराजमान थे, विदुरजीने रोते-रोते उन्हें प्रणाम किया। दैवयोगसे पराशरके शिष्य मैत्रेयजी भी वहाँ आ गये। दोनोंको भगवान्ने इस समस्त जगत्की सृष्टि, स्थिति, प्रलयका ज्ञान कराया और इस अन्तिम ज्ञानको विदुरजीके प्रति उपदेश करनेके लिये भी भगवान् आज्ञा कर गये।

भगवान्की आज्ञा पाकर उद्धवजी बदरिकाश्रमको चले। भगवान् अपने परमधामको पधारे। उद्धवजीके हृदयमें भगवान्का वियोग भर रहा था, अतः उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। वे खूब रोते थे। किन्तु रोना भी किसी हृदयके सामने हो तो हृदय हलका होता है, दैवयोगसे उद्धवजीको विदुरजी मिल गये। विदुरजीने पूछा—'यदुवंशके सब लोग कुशलपूर्वक तो हैं?' यदुकुलका नाम सुनते ही उद्धवजी ढाह बाँधकर रो पड़े और रोते-रोते बोले—

कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह।
किं नु नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम्॥
दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम्॥

(श्रीमद्भा० ३। २। ७-८)

'कृष्णरूपी सूर्यके अस्त होनेपर, कालरूपी सर्पके ग्रसे जानेपर हे विदुरजी! हमारे कुलकी अब कुशल क्या पूछते हो? यह पृथ्वी हतभागिनी है और उनमें भी ये यदुवंशी सबसे अधिक भाग्यहीन हैं जो दिन-रात पासमें रहनेपर भी भगवान्को नहीं पहचान सके, जैसे समुद्रमें रहनेवाले जीव चन्द्रमाको नहीं पहचान सकते।'

इसके बाद उद्धवजीने यदुवंशके क्षयकी सब बातें सुनायीं।

उद्धवजी परम भागवत थे, ये भगवान्के अभिन्न-विग्रह थे। इनके सम्बन्धमें भगवान्ने स्पष्ट कहा है—

अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम्।
अर्हत्युद्धव एवाद्धा संप्रत्यात्मवतां वरः॥
नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः।
अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु॥
(श्रीमद्भा० ३।४।३०-३१)

'मेरे इस लोकसे चले जानेके पश्चात् उद्धव मेरे ज्ञानकी रक्षा करेंगे। उद्धव मुझसे गुणोंमें तनिक भी कम नहीं हैं, अतः वे ही सबको इसका उपदेश करेंगे।'

जिनके लिये भगवान् ऐसा कहते हैं उनके सम्बन्धमें अब हम और क्या कहें? —प्र० ब्रह्मचारी

युधिष्ठिर

धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन
पापं प्रणश्यति वृकोदरकीर्तनेन।
शत्रुर्विनश्यति धनञ्जयकीर्तनेन
माद्रीसुतौ कथयतां न भवन्ति रोगाः॥*

धर्मराज युधिष्ठिर महाराज पाण्डुके सबसे बड़े पुत्र थे। पाण्डुके बड़े भाई धृतराष्ट्र जन्मान्ध थे, अतः राज्यसिंहासनके अधिकारी पाण्डु ही हुए। उनका शरीर कुछ रोगी था, अतः वे जंगलमें ही रहने लगे। उनकी अनुपस्थितिमें राजकाज विदुरजीकी सहायतासे धृतराष्ट्र करने लगे। महाराज पाण्डुकी कुन्ती और माद्री दो पत्नियाँ थीं। उन्होंने अपने पतिकी आज्ञासे एक अलौकिक दिव्य विद्याके प्रभावसे देवताओंके द्वारा पाँच पुत्र उत्पन्न किये। धर्मके अंशसे युधिष्ठिर, वायुके अंशसे भीम और देवराज इन्द्रके अंशसे कुन्तीके गर्भसे अर्जुन उत्पन्न हुए। दूसरी रानी माद्रीके अश्विनीकुमारोंके अंशसे नकुल-सहदेवका जन्म हुआ। महाराज पाण्डुके स्वर्गवासके अनन्तर ऋषिगण इन्हें पितामह भीष्मके सुपुर्द कर गये। भीष्मपितामह धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंको और पाण्डुके इन पाँच पुत्रोंको द्रोणाचार्यसे शिक्षा दिलाने लगे।

धृतराष्ट्र अन्धे होनेके कारण राज्यके अधिकारी नहीं थे, अतः पाण्डुके बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र धर्मराज युधिष्ठिरको ही नियमानुसार राज्यसिंहासन मिलेगा इस बातको लेकर धृतराष्ट्रका बड़ा पुत्र दुर्योधन उनसे बाल्यकालसे ही द्वेष रखता था, वह चाहता था, राज्यका अधिकारी मैं बनूँ। उसने अपने अन्धे पिता धृतराष्ट्रको अपनी ओर मिला लिया और पाण्डवोंको भाँति-भाँतिके क्लेश देने लगा, किन्तु साक्षात् धर्मके अवतार युधिष्ठिरजी इतना क्लेश देनेपर भी अपने धर्मसे कभी विचलित नहीं हुए। उनका संसारमें कोई भी शत्रु नहीं था, इसीलिये उनका दूसरा नाम अजातशत्रु भी है। युधिष्ठिर स्वभावसे ही निर्वैर, अक्रोधी, क्षमाशील, धैर्यवान्, सत्यवादी, विद्वान्, शान्त, कोमल, निरभिमान, पवित्रहृदय, उदार, त्यागपरायण और समदर्शी थे।

बाल्यकालसे ही ये जो कुछ पढ़ते थे उसके अनुसार आचरण भी करते थे। इस सम्बन्धमें एक कथा प्रसिद्ध है। आचार्य द्रोणने एक दिन अपने विद्यार्थियोंको 'सत्य बोलो, क्रोध न करो' ऐसा पाठ पढ़ाया। दूसरे दिन उन्होंने सबसे पूछा 'तुमने कितना पढ़ा?' किसीने कहा, हमने दस पृष्ठ याद किये; किसीने बीस बताये। जब इनसे पूछा गया तो ये डरते-डरते बोले, 'मैंने तो केवल दो ही वाक्य याद किये हैं, सो भी अभी कच्चे हैं।' इनके इस उत्तरको सुनकर आचार्यको क्रोध आ गया। उन्होंने दो-तीन छड़ी खींचकर इनके लगा दीं, ये चुपचाप खड़े रहे। इसपर आचार्यको बड़ा आश्चर्य हुआ, वे बोले, 'तुमने दो वाक्य कौन-से याद किये हैं?' उन्होंने कहा— 'क्रोध न करना, सत्य बोलना।' आप छड़ीसे मुझे मार रहे थे, उस समय मेरे मनमें तो क्रोध आ रहा था, किन्तु मैं बार-बार अपनेको समझा रहा था कि क्रोध नहीं करना चाहिये।' इस प्रकार युधिष्ठिरने जब अपने मनके भाव सत्य-सत्य कह दिये और क्रोध भी नहीं किया तो आचार्यने इन्हें छातीसे चिपटा लिया और कहा—'यथार्थ तो तुमने ही पढ़ा है।'

उस समय राजाओंमें जूआ खेलनेकी परिपाटी थी। एक बार दुर्योधनने छलसे जूएमें इनका सर्वस्व जीत लिया, यहाँतक कि भरी सभामें द्रौपदीको भी दुर्योधनने अपमानित किया। धर्मपाशमें बँधे हुए युधिष्ठिर सब कुछ चुपचाप सहते रहे, उन्होंने चूँतक नहीं की। ये सदा धर्मका पक्ष लेते थे। जहाँ धर्मके विरुद्ध कुछ

* धर्मराज युधिष्ठिरका कीर्तन करनेसे धर्म बढ़ता है, वायुपुत्र भीमकी कथा कहनेसे पापोंका नाश होता है, धनुर्धर अर्जुनका कीर्तन करनेसे शत्रुओंका नाश होता है और अश्विनीकुमारोंके अंशसे उत्पन्न नकुल-सहदेवका कीर्तन करनेसे शरीर नीरोग रहता है।

भी बात होती थी, ये उसका घोर विरोध करते थे। धर्म ही इनके जीवनका ध्रुव लक्ष्य था। गदायुद्धके नियमके विरुद्ध भीमने जब दुर्योधनकी जाँघमें गदा मार दी तो आप बड़े नाराज हुए और राज्य छोड़कर जंगलमें जानेतकको तैयार हो गये, भगवान्के बहुत समझानेपर कहीं राजी हुए।

जब ये वनवासमें थे तो दुर्योधन इन्हें मारनेकी नीयतसे वनमें गया। वहाँ यक्षोंने उसे बाँध लिया। भीम इससे बड़े प्रसन्न हुए। किन्तु धर्मात्मा युधिष्ठिरने अपने भाइयोंसे डाँटकर कहा—'यह कौन-सी बात है; आपसमें जब हम लड़ते हैं तो वे सौ भाई हैं और हम पाँच भाई, यदि कोई दूसरा हममेंसे किसीसे लड़े तो हम एक सौ पाँच भाई हैं, तुम दुर्योधनको अभी जाकर छुड़ाओ।' उनकी आज्ञासे अर्जुनने यक्षोंसे दुर्योधनको छुड़ाया।

वनमें घूमते हुए एक बार सभी भाई प्याससे व्याकुल होकर एक बड़के पेड़के नीचे बैठ गये। नकुल जल लाने गये। पास ही एक तालाब मिला; उसमें पैर रखते ही आकाशवाणी हुई कि पहले मेरे प्रश्नोंका जवाब दो, तब जल लो। नकुलने सुनी अनसुनी कर दी; जल पीने लगे, पीते ही मर गये। यही दशा सहदेव, अर्जुन और भीमकी हुई। अन्तमें युधिष्ठिर आये। युधिष्ठिरने यक्षके सब प्रश्नोंका उत्तर दिया। तब यक्षने कहा, 'मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ , चारों भाइयोंमें तुम जिसे कहो उस एकको जिला दूँ।' युधिष्ठिर बोले, 'मेरे सबसे छोटे भाई नकुलको जिला दीजिये।' यक्षने कहा, 'तुम्हें कौरवोंसे लड़ना है, अर्जुन-भीम-सरीखे वीरोंको छोड़कर तुम नकुलको किस मोहसे जिलाना चाहते हो?' युधिष्ठिर बोले, 'मोहसे नहीं, धर्मसे जिलाना चाहता हूँ; धर्मका नाश करनेवाला नष्ट हो जाता है। मैं धर्म नहीं छोड़ता! मेरे दो माताएँ थीं—कुन्ती और माद्री; कुन्तीका पुत्र मैं एक जी रहा हूँ, माद्रीकी भी एक सन्तान जीवे—तो दोनों माताएँ पुत्रवती रहें। मेरी दोनों माताओंमें समदृष्टि है, यह समता ही सर्वोत्तम धर्म है।' यक्षने कहा, 'मैं धर्म हूँ, तुम्हारी परीक्षा कर रहा था—तुम्हें धन्य है।'

इनका सारा समय धर्मचिन्तनमें बीतता था। धर्मके पीछे ये किसीकी भी परवा नहीं करते थे। महाभारतका युद्ध जीत लेनेपर ये महाराज बने, किन्तु राजकाजमें इनका चित्त न लगा। अन्तमें ये विरक्त होकर द्रौपदी और अपने चारों भाइयोंके साथ हिमालयमें गलने चले गये। जब ये हिमालयपर चढ़ रहे थे तो क्रमशः द्रौपदी, नकुल, सहदेव, भीम, अर्जुन, सभी एक-एक करके बरफसे फिसलकर गिर गये, इन्होंने पीछे फिरकर भी इन सबको नहीं देखा। एक कुत्ता साथमें था, वह नहीं गिरा। अन्तमें देवराज रथ लेकर आये और बोले—'आप अपने धर्मके प्रभावसे इस रथपर बैठकर सशरीर स्वर्ग चलें।' आपने कहा—'मैं अपने इस सच्चे साथी कुत्तेको, जिसने मेरा अन्ततक साथ नहीं छोड़ा है, छोड़कर अकेला स्वर्ग नहीं जाऊँगा।' देवराजने उन्हें बहुत समझाया कि कुत्ता भला स्वर्गमें आपके साथ कैसे जा सकता है, किन्तु इन्होंने अपनी बात नहीं छोड़ी। वे बोले, 'मैंने कभी धर्मको नहीं छोड़ा है; मैं शरणागतको नहीं छोड़ सकता, स्वर्गको छोड़ सकता हूँ।' इनकी धर्ममें ऐसी निष्ठा देखकर कुत्ता अपने असली रूपमें प्रकट हो गया, असलमें वे कुत्तेके वेषमें साक्षात् धर्मराज ही थे, वे युधिष्ठिरको अपनी गोदीमें बिठाकर सशरीर स्वर्ग ले गये। तभी तो कहा है—

'धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन।'

—धर्मराज युधिष्ठिरके कीर्तनसे धर्म बढ़ता है।

—प्र० ब्रह्मचारी

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

जो मनुष्य सांसारिक विषयों तथा विषयी लोगोंके संसर्गसे दूर रहता है और साधुजनोंका ही संग करता है, वही सच्चा प्रभु-प्रेमी है; कारण, ईश्वरपरायण साधुजनोंसे प्रीति करना और ईश्वरसे प्रीति करना एक समान है।

बाहरी आँखोंका नाता बाहरी चीजोंसे है और भीतरी आँखोंका नाता है परमात्माकी श्रद्धासे।

भीम

कुन्तीके गर्भसे वायुके अंशसे महापराक्रमी भीमका जन्म हुआ। ये जन्मसे ही बड़े बली थे। जन्मते ही ये माताकी गोदसे पत्थरकी एक चट्टानपर गिर पड़े, चट्टान टूट गयी, पर इनके शरीरमें चोट नहीं लगी। स्वभाव इनका कुछ उग्र था, किन्तु ये अपने बड़े भाईके अनन्य भक्त थे। इतना बल, इतना पराक्रम होते हुए भी ये अपने बड़े भाईके सम्मुख भीगी बिल्लीकी तरह चुपचाप बैठे रहते। दुर्योधनको सबसे अधिक भय इन्हींसे था। उसने जन्मसे ही जहर देकर, नदीमें ढकेलकर, आग लगवाकर इन्हें मार डालनेकी बड़ी-बड़ी चेष्टाएँ कीं, किन्तु वह सदा असफल रहा। इनका शरीर वज्रका-सा था। शत्रु इनके सामने ठहर नहीं सकते थे। अभिमान और अपमानकी बात ये जरा भी सहन नहीं कर सकते थे; किन्तु अपने बड़े भाईके आदरसे इन्होंने बड़े-बड़े अभिमानियोंकी बातें दाँत पीसते-पीसते सहन कीं, बड़े-से-बड़े अपमानको लोहूके घूँटके समान ये मन मसोसकर पी गये। एक बार बहुत अपमानसे ऊबकर इन्होंने अपने बड़े भाईको भी कुछ कह दिया था। जब भरी सभामें दुर्योधनने सती साध्वी द्रौपदीकी ओर घृणित-कुत्सित संकेत किया तब वे आपेसे बाहर हो गये। इन्होंने अपने छोटे भाई अर्जुनसे कहा—'भाई, अग्नि ले आओ, आज मैं अपने बड़े भाईके उन हाथोंको जला दूँगा जिनसे इन्होंने जूआ खेला है।' इसपर अर्जुनने उन्हें स्मरण दिलाया—'भैयाजी, आप यह क्या कह रहे हैं। आपने अपने बड़े भाईका आजतक कभी अपमान नहीं किया। क्या आज शत्रुओंके सम्मुख अपनी हँसी करायँगे।' इतना सुनते ही महाबली भीम बच्चोंकी तरह अपने बड़े भाईके पैरोंपर सिर रखकर फूट-फूटकर रोने लगे। रोते-रोते वे कहने लगे—'भैया, अपमानने मेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी; इस अपराधका मुझे दण्ड दो, आप मेरे परम देवता हैं।' यह सुनकर बड़े भाईका हृदय पिघलकर बहने लगा। वे भीमको छातीसे चिपटाकर कहने लगे—'भैया, तुम सचमुच मेरे हाथोंको जला दो, मैं बड़ा पापी हूँ।' उस समयका दृश्य कितना करुणापूर्ण था, भीम मारे लज्जाके शरीरमें घुसे-से जाते थे। इसके बाद अपने भाईकी इच्छाके विपरीत कभी कोई काम नहीं किया। वे मरणपर्यन्त छायाकी भाँति अपने बड़े भाईके साथ रहे। पाण्डवोंको एकमात्र इन्हींका भरोसा था। इनके ही बलपर संसारमें वे अपनेको निरापद समझते थे। इनका शरीर बहुत विशाल था। वनमें जब कहीं जाना होता तो भीम बड़ी ही आसानीसे अपनी माता और चारों भाइयोंको अपने अंगोंपर बैठाकर चल देते थे। धर्मराजने कई बार विलाप करते हुए और वैसे भी कहा है कि हम सब भीमके ही बलके भरोसे जीवित हैं, भीमके रहते हुए हमारा कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता।

इनके बलकी थाह नहीं थी, महाभारतके युद्धमें इनका कार्य प्रशंसनीय था। धृतराष्ट्रके पूरे सौ पुत्र इन्होंने ही मारे। इतना सब करनेपर भी इन्होंने अपने लिये कभी कोई विशेष अधिकार नहीं चाहा, ये सदा अपनेको बड़े भाईका एक छोटा-सा सेवक ही समझते थे। ये बड़े ही सरलहृदय थे। भगवान्की इनपर बड़ी प्रीति थी, जब कोई काम कराना होता तो वे पहले इन्हींको प्रोत्साहित करते थे। भगवान्का संकेत पाते ही ये असम्भवको भी सम्भव कर दिखाते थे। भगवान् श्रीकृष्ण इनके साथ दिल खोलकर दिल्लगी किया करते थे।

महाराज धृतराष्ट्रने जब यह सुना कि मेरे पूरे सौ-के-सौ पुत्र भीमने ही मारे हैं तो वे इनको मार डालनेकी नीयतसे इनके पास आये। अन्तर्यामी भगवान् तो घट-घटकी जानते हैं, जब धृतराष्ट्रने ऊपरी प्रेम प्रकट करते हुए कहा—'मैं अपने प्यारे पुत्र भीमसे मिलना चाहता हूँ', तब भगवान्ने झटसे लोहेकी बनायी हुई भीमकी मूर्ति उनके सामने कर दी। वे क्रोधमें तो भरे ही थे, छातीसे चिपटाकर जोरसे उस मूर्तिको इस प्रकार दबाया कि लोहमूर्ति चूर-चूर हो गयी। अब तो वे रोने लगे कि मैंने यह कैसा पाप किया, इतने पराक्रमी भीमको मार दिया; इससे मेरे मरे हुए पुत्र थोड़े आ सकते हैं। तब हँसते हुए भगवान्ने सच्चे भीमको उनके सामने किया। भीमको सकुशल जीवित देखकर धृतराष्ट्र बड़े प्रसन्न हुए। बार-बार उनका सिर सूँघा, प्यार किया। इस प्रकार भगवान् सदा कौशलसे इनकी रक्षा करते रहे। जिनपर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके स्वामी भगवान् वासुदेव प्रसन्न हैं, जिनकी मंगलकामनाके लिये सुदर्शनचक्रधारी

सदा सचेष्ट रहते हैं, उनकी महत्ताका वर्णन कौन कर सकता है? अन्तमें ये भी अपने भाई युधिष्ठिरके साथ हिमालयमें गलकर स्वर्ग सिधारे। इस प्रकार ये अपने भाई युधिष्ठिरसे कुछ दिन पीछे पैदा हुए और कुछ घंटे पहले इस पृथ्वीका त्याग कर गये। ये सदा पापका और पापियोंका नाश करते रहे। तभी कहा है—'**पापं प्रणश्यति वृकोदरकीर्तनेन**'—भीमसेनका कीर्तन करनेसे पापोंका नाश होता है।

—प्र० ब्रह्मचारी

अर्जुन

भक्तवर अर्जुन पाँचों पाण्डवोंमें बिचले भाई थे। ये भगवान् नरके अवतार थे। महाभारतके पात्रोंमें अर्जुन सबसे प्रधान थे। ये भगवान् श्रीकृष्णके समवयस्क और सखा थे। अर्जुनका वर्ण भी श्रीकृष्णकी भाँति श्याम और चित्ताकर्षक था। ये महान् शूरवीर, धीर, दयालु, न्यायशील, निष्पाप, चतुर, दृढ़प्रतिज्ञ, सत्यप्रिय, आचार्य और गुरुजनोंके भक्त, बुद्धिमान्, विद्वान्, जितेन्द्रिय, ज्ञानी और भगवान्के अनन्य भक्त थे। उनकी भगवद्भक्तिका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि जिस गीताशास्त्रके अध्ययन और विचारसे अबतक अगणित साधक परम सिद्धिको प्राप्त कर चुके हैं, जो गीताशास्त्र सहस्त्रों साधु-महात्माओंको परमात्माका पवित्र पथ दिखलानेके लिये उनका पथ-प्रदर्शक और परमधामतक पहुँचा देनेके लिये परम साधन बन रहा है, उस गीतामृतके पान करनेका सबसे पहला अधिकारी यदि कोई हुआ तो वह अर्जुन ही हुए। उस समय ऋषि-मुनि तथा भीष्म-युधिष्ठिर-सरीखे राजर्षियोंकी कमी नहीं थी, परन्तु भगवान्ने गीता सुनानेके लिये अपने अन्तरंग सखा और परम श्रद्धालु अर्जुनको ही चुना। इसीसे अर्जुनका भगवान्में परम प्रेम होना सिद्ध होता है।

जिस समय दुर्योधन भगवान् श्रीकृष्णके महलमें युद्धके लिये सहायता माँगने गये उस समय भगवान् सो रहे थे। दुर्योधन उनके सिरहाने एक आसनपर बैठ गये। पीछेसे अर्जुन पहुँचे, वे नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर श्रीकृष्णके चरणोंमें बैठ गये। श्रीकृष्णने जागनेपर पहले सामने बैठे हुए अर्जुनको और पीछे दुर्योधनको देखा। उन्होंने दोनोंका स्वागत-सत्कार किया। दुर्योधनने कहा—'युद्धमें आपसे सहायता माँगनेके लिये पहले मैं आया हूँ, अर्जुन पीछे आया है; आप मेरी ही सहायता करें।' इसपर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'दुर्योधन! आप पहले आये यह यथार्थ है पर मैंने पहले अर्जुनको देखा, इसलिये मैं दोनोंकी सहायता करूँगा।' बात सच है, सामने चरणोंमें बैठा हुआ ही पहले दीख पड़ता है, सिरपर बैठा हुआ नहीं!

भगवान्ने कहा—'एक ओर तो मेरे समस्त यादव वीर सशस्त्र सहायता करेंगे और दूसरी ओर मैं अकेला रहूँगा, परन्तु मैं न तो शस्त्र ग्रहण करूँगा और न युद्ध करूँगा। जिसकी जो इच्छा हो सो माँग ले! पर दोनोंमेंसे एक चीज माँग लेनेका पहला अधिकार अर्जुनका है, क्योंकि मैंने पहले उसे ही देखा है।' परीक्षाका समय है। एक ओर भगवान्का बल-ऐश्वर्य है, दूसरी ओर स्वयं शस्त्रहीन भगवान् हैं। भोग चाहनेवाला मनुष्य भगवान्को और भगवान्को चाहनेवाला भोगको नहीं चाहता! अर्जुन भगवान्के प्रेमी थे, भोगके नहीं। उन्होंने कहा—'अकेले श्रीकृष्ण ही मेरे सर्वस्व हैं, वे ही मेरी सहायता करें।' परीक्षामें अर्जुन उत्तीर्ण हो गये। भोगबुद्धिवाले दुर्योधनने सोचा—'बड़ा अच्छा हुआ जो अर्जुनने निःशस्त्र और युद्धविमुख कृष्णको माँग लिया और मुझे यादव योद्धा मिल गये।' अर्जुनको युद्ध करनेवाले वीरोंकी कम आवश्यकता रही हो, सो बात नहीं है, परन्तु उन्होंने वीरोंकी अपेक्षा अकेले श्रीकृष्णकी कीमत बहुत समझी; इसी प्रकार जो भोगोंकी अपेक्षा भगवान्की कीमत अधिक समझते हैं—भगवान्के लिये बड़े-से-बड़े भोगोंका त्याग करनेके लिये सहर्ष प्रस्तुत रहते हैं—वे ही भगवान्के सच्चे भक्त हैं और उन्हींको भगवान् मिलते हैं। इसीलिये भगवान्ने अर्जुनके रथकी लगाम हाथमें लेकर निःसंकोच सारथिका क्षुद्र कार्य किया; पर यदि भगवान् इस ओर न आते, रथ न हाँकते तो महाभारतका इतिहास दूसरी ही तरह लिखा जाता। फिर संजय यह नहीं कह सकते थे कि '**यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।**' और न जगत्का उद्धार करनेवाली गीता ही आज हमें मिलती। यह अर्जुनकी भक्तिका ही परिणाम समझना चाहिये। अर्जुन-सरीखे वत्स मिलनेपर ही श्रुतिरूपी गौ दुही जा

सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीता-जैसी महान् सम्पत्ति अर्जुनके कारण ही जगत्को मिली, इसलिये समस्त जगत्को सदाके लिये अर्जुनका कृतज्ञ होना चाहिये।

अर्जुनमें महापुरुषोंके सब गुण मौजूद थे। गुरु-दक्षिणाके लिये अर्जुनने द्रुपदका दर्प चूर्ण किया, बड़े भाईके सम्मानके लिये अर्जुनने युधिष्ठिरकी सब बातें मानीं, राजधर्म और सत्यताके पालनके लिये अर्जुनने बारह वर्षका देशनिकाला स्वयं माँगकर लिया!

माता कुन्तीकी आज्ञा और पूर्वजन्मके कई शाप-वरदानोंके कारण देवी द्रौपदीका विवाह पाँचों पाण्डवोंके साथ हुआ। इसके कुछ काल बाद नारद मुनि पाण्डवोंके पास आये और उन्होंने तिलोत्तमा अप्सराके कारण सुन्द-उपसुन्द नामक दो राक्षस-भ्राताओंके परस्पर लड़कर नष्ट हो जानेका इतिहास सुनाकर यह कहा कि 'तुम पाँचों भाइयोंके एक ही स्त्री होनेके कारण कहीं आपसमें वैमनस्य होकर सबका नाश न हो जाय, इसलिये तुम लोगोंको एक ऐसा नियम बना लेना चाहिये जिससे कभी वैमनस्यकी सम्भावना ही न रहे।' इसपर नारदजीकी सम्मतिसे पाँचों भाइयोंने मिलकर यह नियम बनाया कि 'प्रत्येक भाई दो महीने बारह दिन' के क्रमसे द्रौपदीके पास जाय। यदि कोई भाई बीचमें द्रौपदीके साथ एकान्तमें दूसरे भाई को देख ले तो वह बारह वर्षका निर्वासन स्वीकार करे।'

पाँचों भाई इसी नियमके अनुसार बर्ताव करते रहे। एक दिन एक ब्राह्मणकी गायें चोरोंने चुरा लीं। ब्राह्मण यह चिल्लाता हुआ राजमहलके आसपास घूम रहा था कि 'चोरको पकड़कर मेरी गायें दिलवा दो।' जब किसीने कोई उत्तर नहीं दिया तब ब्राह्मणने यह कहा कि 'जो राजा प्रजासे उसकी आमदनीका छठा भाग लेकर भी उसकी रक्षा नहीं करता वह अत्यन्त पापाचारी है।' आजकलकी-सी बात होती तो ब्राह्मणको अवश्य कारागारकी हवा खानी पड़ती; पर पाण्डव राजधर्मसे परिचित थे, इसलिये ऐसा न हो सका। अर्जुनने ब्राह्मणकी पुकार सुनते ही उसे आश्वासन दिया और हथियार लानेके लिये वे अंदर जाने लगे। पीछेसे जब उन्हें यह पता लगा कि महाराज युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ एकान्तमें हैं तब वे विचार करने लगे कि 'अब क्या करना चाहिये, अंदर जानेसे नियम टूटता है और फलतः बारह वर्षके लिये राज्यसे निर्वासित होना पड़ता है। और ऐसा न करनेसे क्षत्रियधर्म और प्रजापालनमें बाधा आती है।' अन्तमें अर्जुन यह निश्चय करके अंदर चले गये कि 'चाहे महाराजका अनादर हो, मुझे पाप लगे, मेरा वनगमन या मरण हो, पर प्रजापालनरूपी राजधर्मको कभी नहीं छोड़ूँगा, क्योंकि शरीर छूटनेपर भी धर्म बना रहता है।'

भीतरसे शस्त्र लाकर अर्जुनने लुटेरोंका पीछाकर उन्हें योग्य दण्ड दिया और उनसे गायें छुड़ाकर ब्राह्मणको प्रदान कीं। राजधर्मपालनके लिये जो घरका नियम तोड़ा अब उसका दण्ड भी तो भोगना चाहिये। अर्जुनने आकर धर्मराजसे कहा—'मैंने द्रौपदीके साथ एकान्तमें आपको देखकर नियम भंग किया है, इसलिये मुझे बारह वर्षके लिये वन जानेकी आज्ञा दीजिये।' धर्मराजने अर्जुनको बहुत समझाया परन्तु धर्मके प्रतिकूल राज्यसुख भोगना अर्जुनने उचित नहीं समझा और धर्मराजसे कहा—

न व्याजेन चरेद्धर्ममिति मे भवतः श्रुतम्।
न सत्याद्विचलिष्यामि सत्येनायुधमालभे॥

'महाराज! आपहीसे तो मैंने सुना है कि धर्मपालनमें बहानेबाजी कभी नहीं करनी चाहिये। मैंने सत्यहीसे शस्त्र प्राप्त किये हैं, अतः मैं सत्यसे विचलित नहीं हो सकता।' युधिष्ठिरके वचनोंसे लाभ उठाकर अर्जुनने अपने मनको सत्यसे नहीं डिगने दिया और युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर वे तुरन्त वनको चले गये। धर्मपालन और सत्यपरायणताका कैसा सुन्दर उदाहरण है! अब एक जितेन्द्रियताका अद्भुत उदाहरण देखिये।

अर्जुनने भगवान् शंकरको युद्धके द्वारा प्रसन्नकर उनसे अमोघ पाशुपतास्त्रके धारण, मोक्ष और संहारकी क्रिया सीखी; तदनन्तर यम, वरुण, कुबेर आदि लोकपालोंको प्रसन्नकर उनसे क्रमशः गदा, पाश और अन्तर्धान तथा प्रस्तापन नामक अस्त्र प्राप्त किये। इतनेहीमें अर्जुनको बुलानेके लिये देवराज इन्द्रका सारथि मातलि रथ लेकर वहाँ आ गया और अर्जुन उसपर बैठकर आकाशमार्गसे भिन्न-भिन्न विचित्र लोकोंको देखते हुए सदेह स्वर्ग पहुँचे। वहाँ पाँच साल रहकर अर्जुनने दिव्य शस्त्रास्त्र प्राप्त किये और चित्रसेन गन्धर्वसे गाने-बजाने और नाचनेकी कला सीखी!

एक दिन इन्द्र-सभामें स्वर्गीय अप्सराओंका नाच-

गान हो रहा था, महावीर अर्जुन इन्द्रके साथ सिंहासनपर बैठे हुए थे। इन्द्रने देखा—'अर्जुनकी दृष्टि लगातार उर्वशीपर पड़ रही है।' अर्जुनको प्रसन्न करनेके लिये इन्द्रने एकान्तमें चित्रसेनसे कह दिया कि तुम उर्वशीको समझा दो कि वह आज रातको अर्जुनके पास जाय। चित्रसेनने इन्द्रका सन्देश उर्वशीको अकेलेमें कह दिया। अर्जुनके श्यामसुन्दर, अत्यन्त तेजस्वी तथा मनोहर वदन, उसकी मत्तगजेन्द्रकी-सी चाल, सिंहके-से उन्नत स्कन्ध, कमलपत्रसे विशाल नेत्र, तत्त्ववेत्ताकी-सी मधुर तथा नम्र वाणी और विष्णुका-सा पराक्रम देखकर उर्वशी पहलेसे ही उनपर मोहित थी। उसने इन्द्रका सन्देशा बड़ी प्रसन्नताके साथ स्वीकार किया। उसी दिन रातको दिव्य चाँदनीमें मुनि-मन हरण करनेवाली उर्वशी सुन्दर वस्त्रालंकारोंसे सुसज्जित होकर एकान्तमें अर्जुनके महलपर गयी। अर्जुन इतनी रातको अपने शयनागारमें सजी-धजी उर्वशीको देखकर बड़े लज्जित हुए और मस्तक अवनत करके पूज्यभावसे उसका बड़ा स्वागत किया। उर्वशीने इन्द्रका सन्देश सुनाकर अपना मनोरथ पूर्ण करनेके लिये अर्जुनसे विनयपूर्वक प्रार्थना की। परन्तु इससे जितेन्द्रिय अर्जुनके मनमें कोई क्षोभ या विकार नहीं हुआ। अर्जुनने कहा—'माता! आप हमारे पुरुवंशके पूर्वज महाराज पुरूरवाकी भार्या हैं, भरतकुलकी जननी हैं; इसीलिये मैंने राजसभामें आपकी ओर मातृभावसे देखकर मन-ही-मन प्रणाम किया था। देवराजने समझनेमें भूल की है। आप क्षमा करें, कृपापूर्वक जैसे आयी हैं वैसे ही वापस लौट जायँ। मैं आपको नमस्कार करता हूँ, मुझ अपने बालकसे आप ऐसी नरकप्रद बात न कहें।' इसपर उर्वशी बोली—'हे सुन्दर! पुरूरवाके बाद उसी वंशके स्वर्गमें आनेवाले सभी राजाओंने हम अप्सराओंका भोग किया है, अप्सराओंका भोग ही तो स्वर्गका सुख है।' उर्वशीने अर्जुनका मन अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये नाना प्रकारसे चेष्टा की, परन्तु अर्जुन अटल और अचल रहे। और बोले—

'हे देवि! मैं जो कुछ कहता हूँ उसे आप सुनें, साथ ही सारी दिशाएँ और उनके देवतागण भी सुनें। हे वंशजननी! आप मेरे लिये कुन्ती, माद्री और शचीमाताके समान पूजनीया हैं; अपना पुत्र समझकर आप माताकी तरह मेरी रक्षा करें, मैं आपके चरणोंमें सिरसे प्रणाम करता हूँ।' अर्जुनके इन वचनोंको सुनकर उर्वशीको बहुत क्षोभ हुआ और अर्जुनको यह शाप देकर कि 'तू एक वर्षतक नपुंसक होकर नाचना-गाना सिखाता रहेगा, लोग तुझको पुरुष नहीं बतावेंगे' वह चली गयी। अर्जुनने शाप सहन कर लिया, परन्तु अपने ब्रह्मचर्यव्रतसे वे तनिक भी नहीं डिगे! अर्जुन-सरीखे देवपूजित वीर युवकके सामने इन्द्र-प्रेरित स्वर्गकी असामान्य सुन्दरी उर्वशी सज-धजकर रातको एकान्तमें उपस्थित हो गिड़गिड़ाकर काम-भिक्षा माँगे, जिसपर उस युवकके मनमें रत्तीभर भी कामका विकार न हो, यह कोई साधारण बात नहीं है। परन्तु संतका यही लक्षण है। स्वाँग बनानेसे ही कोई संत नहीं हो जाता, संतको अपने मन और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनी पड़ती है। भगवान् इतने भोले नहीं थे कि वे हर किसी राजपुत्रके घोड़े हाँकने या उनके यज्ञमें चाकरी करनेको तैयार हो जाते। संयमी अर्जुनके महान् त्याग और सच्चे प्रेमने ही उनको आकर्षित किया था।

अर्जुनकी भक्ति, सभ्यता, गम्भीरता, बुद्धिमत्ता और प्रतिभाने उनके दिग्दिगन्तव्यापी शौर्यके साथ मिलकर सोनेमें सुगन्धका काम किया था। भगवान् श्रीकृष्णपर अटल विश्वास होनेके कारण बड़े-बड़े विकट प्रसंगोंमें भगवान्‌ने उनकी रक्षा और हर तरहसे उनका गौरव बढ़ानेकी क्रियाएँ कीं।

महाभारतके युद्धमें ही नहीं, जीवनभर अर्जुनने अपने सद्‌गुणोंको कभी नहीं छोड़ा। उनमें एक-से-एक बढ़कर आदर्श गुण थे और इसका मुख्य कारण यही था कि वे भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त थे और भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे इतना अधिक स्नेह करते थे कि वे हर तरह अर्जुनकी बात रखनेकी पूर्ण चेष्टा करते थे। वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनमें पूर्ण अभिन्नता थी, और उनमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं था, इस बातको उनके विपक्षियोंने भी मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। स्वयं दुर्योधनने महाराज धृतराष्ट्रके सामने पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञका वर्णन करते हुए कहा था कि—

आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनञ्जयः।
यद् ब्रूयादर्जुनः कृष्णं सर्वं कुर्यादसंशयम्॥
कृष्णो धनञ्जयस्यार्थे स्वर्गलोकमपि त्यजेत्।
तथैव पार्थः कृष्णार्थे प्राणानपि परित्यजेत्॥

(महा० सभा० ५२। ३१—३३)

अर्थात् श्रीकृष्ण अर्जुनके आत्मा हैं और अर्जुन

श्रीकृष्णके आत्मा हैं। अर्जुन श्रीकृष्णको जो कुछ करनेको कहते हैं श्रीकृष्ण निस्सन्देह वही सब करते हैं। श्रीकृष्ण अर्जुनके लिये दिव्यलोकका भी त्याग कर सकते हैं, वैसे ही अर्जुन श्रीकृष्णके लिये प्राणोंका भी परित्याग कर सकते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनमें कैसा अभिन्न और सच्चा प्रेम था और भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको किस आदरकी दृष्टिसे देखते थे, इसका एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

पाण्डवोंके यहाँसे लौटकर आये हुए संजयसे धृतराष्ट्रने जब वहाँके समाचार पूछे तब सारा हाल बताते हुए उसने कहा—'श्रीकृष्ण-अर्जुनका मैंने विलक्षण प्रेमभाव देखा। मैं उन दोनोंसे बातें करनेके लिये बड़े ही विनीतभावसे उनके अन्त:पुरमें गया। मैंने जाकर देखा कि वे दोनों महात्मा उत्तम वस्त्राभूषणोंसे भूषित होकर रत्नजटित सोनेके महामूल्य आसनोंपर बैठे थे। अर्जुनकी गोदमें श्रीकृष्णके पैर थे और द्रौपदी तथा सत्यभामाकी गोदमें अर्जुनके दोनों पैर थे। अर्जुनने अपने पैरके नीचेका स्वर्णका पीढ़ा सरकाकर मुझे बैठनेको कहा, मैं उसे छूकर अदबके साथ नीचे बैठ गया। तब श्रीकृष्णने अर्जुनकी प्रशंसा करते हुए और उन्हें अपने ही समान बतलाते हुए मुझसे कहा—

देवासुरमनुष्येषु यक्षगन्धर्वभोगिषु।
न तं पश्याम्यहं युद्धे पाण्डवं योऽभ्ययाद्रणे॥
बलं वीर्यञ्च तेजश्च शीघ्रता लघुहस्तता।
अविषादश्च धैर्यञ्च पार्थान्नान्यत्र विद्यते॥

(महा० उद्यो० ५९। २६, २९)

'देवता, गन्धर्व, राक्षस, यक्ष, मनुष्य और नागोंमें कोई ऐसा नहीं है जो युद्धमें अर्जुनका सामना कर सके। बल, वीर्य, तेज, शीघ्रता, लघुहस्तता, विषादहीनता और धैर्य, ये सारे गुण अर्जुनके सिवा किसी भी दूसरे मनुष्यमें एक साथ विद्यमान नहीं हैं।'

भगवान्ने अर्जुनके साथ सदा सख्यका व्यवहार किया और उन्हें अपनी लीलाओंमें प्राय: साथ रखा। भगवान्के परमधाम पधारनेपर अर्जुन प्राणहीन-से हो गये और शीघ्र ही हिमालयमें जाकर उन्होंने शरीर छोड़ दिया। भगवान्के प्रति अर्जुनका इतना गाढ़ प्रेम था कि वे गीताज्ञानके सर्वोत्तम और सर्वप्रथम श्रोता तथा ज्ञाता होनेपर भी सायुज्य-मुक्तिको न ग्रहणकर परमधाममें भी भगवान्की सेवामें ही लगे रहे। स्वर्गारोहणके अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने दिव्य देह धारण किये उन्हें परमधाममें देखा—

ददर्श तत्र गोविन्दं ब्राह्मेण वपुषान्वितम्।

× × × ×

दीप्यमानं स्ववपुषा दिव्यैरस्त्रैरुपस्थितम्।
चक्रप्रभृतिभिर्घोरैर्दिव्यैः पुरुषविग्रहैः॥
उपास्यमानं वीरेण फाल्गुनेन सुवर्चसा।

(महा० स्वर्गा० ४। २—४)

× × × ×

'भगवान् श्रीगोविन्द अपने ब्राह्मशरीरयुक्त हैं। उनका शरीर देदीप्यमान है, उनके समीप चक्र आदि दिव्य और घोर अस्त्र पुरुषका शरीर धारणकर उनकी सेवा कर रहे हैं। महान् तेजस्वी और वीर अर्जुन भी भगवान्की सेवा कर रहे हैं।'

हम सबको चाहिये कि संसारके भोग्य पदार्थोंसे आसक्ति हटाकर अर्जुनकी भाँति भगवान्के शरणागत हो जायँ।

—ह० पोद्दार

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

संसार कौन है? जो ईश्वरसे तुम्हें परे रखे।

अधम कौन है? जो ईश्वरके मार्गका अनुसरण नहीं करता।

आगे-पीछेका विचार छोड़ो। जो हो गया है और जो होगा उसकी चिन्ता न करो। वर्तमानमें प्रभुके भजनमें लगे रहो।

सुधन्वा

हंसध्वजः शंखयुतो ददर्श
पुत्रं कटाहे प्रतपन्तमेनम्।
पुण्यानि नामानि हरेर्जपन्तं
गोविन्द दामोदर माधवेति॥*

चम्पकपुरीके भगवद्भक्त महाराज हंसध्वजके चार पुत्र थे। सुधन्वा उन सबमें छोटे थे, वे भगवान्‌के परम भक्त, महान् शूरवीर और विख्यात योद्धा थे। महाभारत-युद्धके पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिरने अश्वमेधयज्ञ किया। यज्ञका घोड़ा छोड़ा गया, उसकी रक्षाके निमित्त बहुत-सी सेना और शूरवीरोंके साथ धनुर्धर अर्जुन उसके पीछे-पीछे चले।

यज्ञका घोड़ा नाना देशोंमें घूमता रहा, किसीकी भी हिम्मत नहीं पड़ी कि महावीर अर्जुनकी रक्षामें विचरते हुए धर्मराजके घोड़ेको पकड़े। यज्ञीय घोड़ा स्वच्छन्द गतिसे घूमता-घामता चम्पकपुरीकी सीमामें पहुँचा। महाराज हंसध्वजने अपने पुरोहित शंख और लिखित मुनिसे सलाह ली कि घोड़ेको पकड़ना चाहिये या नहीं। पुरोहितोंने आज्ञा की कि घोड़ेको जरूर पकड़ना चाहिये और डटकर युद्ध करना चाहिये। पुरोहितोंने घोषणा कर दी कि 'अमुक समयपर जो सैनिक सेनापति या राजकुमार रणभूमिमें न पहुँचेगा वह गरम तेलके कड़ाहेमें डाल दिया जायगा।' ऐसी कठोर आज्ञा सुनकर सभी नियत समयपर पहुँचनेके लिये व्यग्र हो उठे।

सुधन्वा भगवान्‌के परम भक्त थे, उन्हें एकमात्र भगवान्‌का ही भरोसा था। दिन-रात उन्हींकी सेवामें लगे रहते थे। युद्धके लिये तैयार होकर वे अन्तःपुरमें गये। वहाँ एक धर्मसंकट पड़ जानेसे उन्हें देर हो गयी—वे नियत समयपर रणभूमिमें न पहुँच सके, इसपर महाराज हंसध्वजने अपने पुरोहितसे व्यवस्था पूछी। पुरोहितोंने कहा—'महाराज! आज्ञा सबके लिये समानरूपसे थी अतः सुधन्वाको अवश्य ही तप्त तैलके कड़ाहेमें डाल देना चाहिये।' पुरोहितोंकी ऐसी आज्ञा सुनकर महाराजने सुधन्वाको तप्त तैलके कड़ाहेमें कूदनेकी आज्ञा दे दी। पिता और पुरोहितकी आज्ञा पाकर वे भगवान्‌का नाम लेकर गरम तेलमें कूद पड़े, किन्तु भगवान्‌की कृपासे उनका बाल भी बाँका नहीं हुआ। इसपर पुरोहितोंको सन्देह हुआ कि राजाने कुछ चालाकी कर दी होगी। परीक्षाके लिये एक नारियल उस कड़ाहेमें डाला गया। नारियल बड़े जोरसे फटा और एक टुकड़ा शंखके और दूसरा लिखितके मस्तकमें लगा। सभीने भक्तकी महिमा समझी। सुधन्वाने पिताको प्रणाम किया और वे युद्धके लिये चले।

जब पाण्डवपक्षके सैनिकोंने सुधन्वाको आते देखा तो पहले तो सभी हँसे, किन्तु जब युद्धमें उसने एक-एक करके बहुत-से बड़े-बड़े वीरोंको परास्त कर दिया तब तो सभी उसके नामसे भयभीत होने लगे। अन्तमें स्वयं अर्जुन उससे लड़ने आये। वीरवर सुधन्वाने अर्जुनके साथ ऐसा घनघोर युद्ध किया कि अर्जुनके छक्के छूट गये, वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। अब उन्हें अपनी भूल मालूम हुई। यह बालक मुझे क्यों परास्त कर रहा है। महाभारतके युद्धमें मैंने कितने भारी-भारी योद्धाओंको पछाड़ा था। ओहो! तब मेरे सारथि जगत्पति जनार्दन थे। आज मेरा रथ उनसे हीन है। भगवान्‌के दर्शनकी इच्छासे सुधन्वाने भी कहा 'पार्थ! आप यदि बचना चाहते हैं तो अपने सारथि जनार्दनको बुलाइये!' तब अर्जुनने मन-ही-मन माधवका स्मरण किया। सर्वान्तर्यामी प्रभु भक्तकी पुकार सुनते ही उसी क्षण वहाँ आ पहुँचे और अर्जुनके रथपर बैठ गये। अर्जुनकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं, वह भगवान्‌के चरणोंमें लोट-पोट हो गया। सुधन्वा भी शस्त्र छोड़कर दौड़ा और भगवान्‌के चरणोंमें पड़कर रोने लगा। असलमें उसने श्रीकृष्णदर्शनकी लालसासे ही पार्थसे युद्ध करनेका विचार किया था। उन पीतपटधारी घनश्यामके दर्शन करके सुधन्वा कृतार्थ हो गया। अर्जुनने कहा—'क्षत्रिय वीर होकर युद्धसे विमुख क्यों होता है। आ, अब मुझसे युद्ध कर। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि तीन बाणोंसे मैं तेरा सिर धड़से अलग न कर दूँ तो मैं अपने पितरोंसहित नरकगामी होऊँ।'

* अपने पुरोहित शंख मुनिके साथ राजा हंसध्वजने देखा कि उनका पुत्र सुधन्वा तप्त तेलके कड़ाहेमें कूदकर निश्चिन्त होकर भगवान्‌के 'गोविन्द दामोदर माधव' आदि परम पावन नामोंका जप कर रहा है।

सुधन्वाने कहा—'वीरवर! इतनी बढ़-बढ़कर बातें क्यों करते हैं। मैं नन्दनन्दन भगवान्‌की झाँकी कर रहा था, मैं भी प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि आपके तीनों बाणोंको काटकर न फेंक दूँ तो मुझे सद्‌गति प्राप्त न हो।'

दोनों भगवान्‌के भक्त थे, भगवान्‌को दोनोंका ही प्रण रखना था। दोनोंमें बड़ा भारी भीषण युद्ध हुआ। अर्जुनने दो बाण छोड़े, दोनों ही सुधन्वाने काट दिये। जब तीसरा छोड़ा तो उसे भी सुधन्वाने काट दिया। अर्जुनके शोकका ठिकाना नहीं, अपनी प्रतिज्ञाको पूरी न देखकर वे अत्यन्त दुखी हुए। भगवान्‌की लीला। कटे हुए बाणकी नोक स्वयं उठी और उसने सुधन्वाका सिर धड़से अलग कर दिया। वह सिर आकाशमार्गसे उड़कर स्वयं भगवान्‌के चरणोंमें आ गिरा। भगवान्‌ने उसे बड़े आदरसे उठाया। उसमेंसे एक ज्योति निकलकर भगवान्‌के शरीरमें लीन हो गयी। इस प्रकार भक्तभयहारी भगवान्‌ने अपने दोनों ही भक्तोंकी प्रतिज्ञाएँ पूरी कीं। —प्र० ब्रह्मचारी

मयूरध्वज

द्वापरके अन्तमें रत्नपुरके अधिपति महाराज मयूरध्वज एक बहुत बड़े धर्मात्मा तथा भगवद्‌भक्त संत हो गये हैं। इनकी धर्मशीलता, प्रजावत्सलता एवं भगवान्‌के प्रति स्वाभाविक अनुराग अतुलनीय ही था। इन्होंने भगवत्प्रीत्यर्थ अनेकों बड़े-बड़े यज्ञ किये थे, करते ही रहते थे।

एक बार इनका अश्वमेधका घोड़ा छूटा हुआ था और उसके साथ इनके वीर पुत्र ताम्रध्वज तथा प्रधानमंत्री सेनाके साथ रक्षा करते हुए घूम रहे थे। उधर उन्हीं दिनों धर्मराज युधिष्ठिरका भी अश्वमेधयज्ञ चल रहा था और उनके घोड़ेके रक्षकके रूपमें अर्जुन और उनके सारथि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण साथ थे। मणिपुरमें दोनोंकी मुठभेड़ हो गयी।

उन दिनों भगवान्‌के सारथ्य और अनेकों वीरोंपर विजय प्राप्त करनेके कारण अर्जुनके मनमें कुछ अपनी भक्ति तथा वीरताका घमंड-सा हो आया था। सम्भव है इसीलिये अथवा अपने एक छिपे हुए भक्तकी महिमा प्रकट करनेके लिये भगवान्‌ने एक अद्भुत लीला रची। परिणामतः युद्धमें श्रीकृष्णके ही बलपर मयूरध्वजके पुत्र ताम्रध्वजने विजय प्राप्त किया और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन दोनोंको मूर्च्छित करके वह दोनों घोड़ोको अपने पिताके पास ले गया। पिताके पूछनेपर मन्त्रीने बड़ी प्रसन्नतासे सारा समाचार कह सुनाया। किन्तु सब कुछ सुन लेनेके पश्चात् मयूरध्वजने बड़ा खेद प्रकट किया। उन्होंने कहा कि तुमने बुद्धिमानीका काम नहीं किया। श्रीकृष्णको छोड़कर घोड़ेको पकड़ लेना या यज्ञ पूरा करना अपना उद्‌देश्य नहीं है। तुम मेरे पुत्र नहीं बल्कि शत्रु हो जो भगवान्‌के दर्शन पाकर भी उन्हें छोड़कर चले आये। इसके बाद वे बहुत पश्चात्ताप करने लगे।

उधर जब अर्जुनकी मूर्छा टूटी तब उन्होंने श्रीकृष्णसे घोड़ेके लिये बड़ी व्यग्रता प्रकट की। भगवान् अपने भक्तकी महिमा दिखानेके लिये स्वयं ब्राह्मण बने और अर्जुनको अपना शिष्य बनाया और मयूरध्वजकी यज्ञशालामें उपस्थित हुए। इनके तेज और प्रभावको देखकर मयूरध्वज अपने आसनसे उठकर नमस्कार करनेवाले ही थे कि इन्होंने पहले ही स्वस्ति कहकर आशीर्वाद दिया। मयूरध्वजने इनके इस कर्मको अनुचित बतलाते हुए इन्हें नमस्कार किया और स्वागत-सत्कार करके अपने योग्य सेवा पूछी। ब्राह्मणवेषधारी भगवान्‌ने अपनी इच्छित वस्तु लेनेकी प्रतिज्ञा कराकर बतलाया कि 'मैं अपने पुत्रके साथ इधर आ रहा था कि मार्गमें एक सिंह मिला और उसने मेरे पुत्रको खाना चाहा। मैंने पुत्रके बदले अपनेको देना चाहा, पर उसने स्वीकार नहीं किया। बहुत अनुनय-विनय करनेपर उसने यह स्वीकार किया है कि राजा मयूरध्वज पूर्ण प्रसन्नताके साथ अपनी स्त्री और पुत्रके द्वारा अपने आधे शरीरको आरेसे चिरवाकर मुझे दे दें, तो मैं तुम्हारे पुत्रको छोड़ सकता हूँ।' राजाने बड़ी प्रसन्नतासे यह बात स्वीकार कर ली। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि इस वेशमें स्वयं भगवान् ही मेरे सामने उपस्थित हैं। यह बात सुनते ही सम्पूर्ण सदस्योंमें हलचल मच गयी। साध्वी रानीने अपनेको उनका आधा शरीर बताकर देना चाहा, पर भगवान्‌ने दाहिने अंशकी आवश्यकता बतलायी। पुत्रने भी अपनेको पिताकी प्रतिमूर्ति बताकर सिंहका ग्रास बननेकी इच्छा प्रकट की, पर भगवान्‌ने उसके द्वारा चीरे जानेकी बात कहकर उसकी प्रार्थना भी अस्वीकार कर दी।

अन्तमें दो खंभे गाड़कर उनके बीचमें हँसते हुए और उच्च स्वरसे भगवान्‌के गोविन्द, मुकुन्द, माधव आदि मधुर नामोंका उच्चारण करते हुए मयूरध्वज बैठ गये और उनके स्त्री-पुत्र आरा लेकर उनके सिरको चीरने लगे। सदस्योंने आपत्ति करनेका भाव प्रकट किया; परन्तु महाराजने यह कहकर कि 'जो मुझसे प्रेम करते हों, मेरा भला चाहते हों, वे ऐसी बात न सोचें।' सबको मना कर दिया। जब उनका शरीर चीरा जाने लगा तब उनकी बायीं आँखसे आँसूके कुछ बूँद निकल पड़े, जिन्हें देखते ही ब्राह्मण देवता बिगड़ गये और यह कहकर चल पड़े कि 'दुःखसे दी हुई वस्तु मैं नहीं लेता।' फिर अपनी स्त्रीकी प्रार्थनासे मयूरध्वजने उन ब्राह्मण देवताको बुलाकर बड़ा आग्रह किया और समझाया कि 'भगवन्! आँसू निकलनेका यह भाव नहीं है कि मेरा शरीर काटा जा रहा है; बल्कि बायीं आँखसे आँसू निकलनेका यह भाव है कि ब्राह्मणके काम आकर दाहिना अंग तो सफल हो रहा है, परन्तु बायाँ अंग किसीके काम न आया! बायीं आँखके खेदका यही कारण है।'

अपने परमप्रिय भक्त मयूरध्वजका यह विशुद्ध भाव देखकर भगवान्‌ने अपने-आपको प्रकट कर दिया। शंख-चक्र-गदाधारी चतुर्भुज पीताम्बर पहने हुए प्रभुने अभयदान देते हुए उनके शरीरका स्पर्श किया और उनका स्पर्श पाते ही मयूरध्वजका शरीर पहलेकी अपेक्षा अधिक सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट एवं बलिष्ठ हो गया। वे भगवान्‌के चरणोंपर गिरकर स्तुति करने लगे। भगवान्‌ने उन्हें सान्त्वना दी और वर माँगनेको कहा। उन्होंने भगवान्‌के चरणोंमें अविचल प्रेम माँगा और आगे चलकर वे भक्तोंकी ऐसी परीक्षा न लें इसका अनुरोध किया। भगवान्‌ने बड़े प्रेमसे उनकी अभिलाषा पूर्ण की और स्वयं अपने सिरपर कठोरताका लांछन लेकर भी अपने भक्तकी महिमा बढ़ायी। अर्जुन उनके साथ-ही-साथ सब लीला देख रहे थे। उन्होंने मयूरध्वजके चरणोंपर गिरकर अपने घमंडकी बात कही और भक्तवत्सल भगवान्‌की इस लीलाका रहस्य अपने घमंडको चूर करना बतलाया। अन्तमें तीन दिनतक उनका आतिथ्य स्वीकार करनेके पश्चात् घोड़ा लेकर वे दोनों चले गये। और मयूरध्वज निरन्तर भगवान्‌के प्रेममें छके रहने लगे।

—शान्तनु

प्रद्युम्न

नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः संकर्षणाय च॥*

वैष्णवशास्त्रोंमें वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षण—ये भगवान्‌के चतुर्व्यूह माने गये हैं। वैष्णव-गायत्रीमें इन्हींकी उपासना है और ये ही वहाँ सृष्टि, स्थिति तथा लयके प्रधान कारण हैं। ये अनादि माने गये हैं और इनकी उपासना भी अनादि है।

प्रद्युम्नजी कामदेवका अवतार माने जाते हैं, ये भगवान्‌की प्रधान पत्नी रुक्मिणीजीके पुत्र हैं। इनके जीवनकी कथा बड़ी ही विचित्र है। कामको जब शिवजीने भस्म कर दिया तो उसकी स्त्री रति बहुत विलाप करने लगी। भगवान् आशुतोषने उसे आश्वासन तथा वरदान दिया कि 'तू विलाप मत कर, द्वापरके अन्तमें भगवान् सच्चिदानन्द अवतीर्ण होंगे, उन्हींके यहाँ पुत्ररूपमें तेरा पति उत्पन्न होगा; तभी तेरा उसके साथ समागम होगा।'

पतिसे मिलनेकी आशासे रति भगवान् श्रीकृष्णके अवतारकी बड़ी उत्कण्ठाके साथ प्रतीक्षा करने लगी। इसी बीचमें शम्बरासुर नामका एक बलवान् दैत्य प्रकट हुआ और उसने रतिको अपने घरमें रख लिया। शम्बरासुरके अधीन रहकर रति अत्यन्त दुखी थी। कालान्तरमें रुक्मिणीजीके गर्भसे प्रद्युम्नजीका जन्म हुआ।

शम्बरासुरको यह मालूम था कि भगवान्‌का जो पहला पुत्र रुक्मिणीके गर्भसे होगा वह मुझे मारनेवाला होगा। जब उसने प्रद्युम्नजीका जन्म सुना तो छठीके दिन अपनी मायासे प्रद्युम्नजीको सूतिकागृहसे चुरा लाया और उसे मृतक समझकर लवणसागरमें डाल दिया। उसे एक मत्स्य ज्यों-का-त्यों निगल गया। मछुओंने जाल डालकर उस मत्स्यको पकड़ लिया और बड़ा मत्स्य समझकर उसे शम्बरासुरकी भेंट किया। शम्बरासुरने

* हे भगवन्! तुम्हें नमस्कार है; संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, जो तुम्हारे अंगभूत व्यूह हैं, उनको भी नमस्कार है।

उसे अपने रसोइयोंको पकानेके लिये दिया। रसोइयोंने जब उसके पेटको चीरा तो उसमेंसे बड़ा ही सुन्दर अद्‌भुत रूपलावण्यवाला एक जीवित बालक निकला। उन रसोइयोंकी स्वामिनी रति, जिसका नाम मायावती प्रसिद्ध था, पाकविद्यामें बड़ी निपुण थी। समस्त घरकी वह स्वामिनी मानी जाती थी और सब सेवक उसीकी आज्ञामें रहते थे। सेवकोंने वह बालक मायावतीको लाकर दिया। मायावती उस अद्वितीय रूपलावण्ययुक्त बालकको देखकर मुग्ध हो गयी। इतनेमें ही देवर्षि नारदने आकर सब बातें मायावतीको बता दीं और कहा—'तुम इसका पालन छिपकर बड़ी सावधानीसे करना।' नारदजीका उपदेश मानकर मायावती बड़े यत्नसे प्रद्युम्नजीका लालन-पालन करने लगी।

थोड़े दिनोंमें प्रद्युम्नजी युवा हो गये। मायावतीके व्यवहारमें मातृत्व नहीं था, उसमें पत्नीपनेका भाव था। प्रद्युम्नने पूछा—'मेरे प्रति ऐसा व्यवहार क्यों करती हो?' तब मायावतीने सब हाल बताया और यह भी कहा—'आप मेरे जन्म-जन्मान्तरके पति हैं। इस दुष्ट शम्बरासुरको मारकर मुझे द्वारकापुरी ले चलिये।'

मायावतीकी सहायतासे प्रद्युम्नजीने शम्बरासुरको मार डाला और मायावतीके साथ विमानपर चढ़कर वे द्वारकापुरीको चले।

वे आकार-प्रकारमें बिलकुल भगवान् श्रीकृष्णकी ही प्रतिमूर्ति थे, उन्हें श्रीकृष्ण ही समझकर रानियाँ लज्जाके कारण घरोंमें छिपने लगीं। रुक्मिणीजीका मातृस्नेह उमड़ आया, उनके स्तनोंमें से स्वयं ही दुग्ध बहने लगा। इतनेमें ही भगवान् आ गये, सब कुछ जानते हुए भी वे कुछ नहीं बोले। रुक्मिणीजी सोच ही रही थीं कि यदि मेरा पुत्र कहीं जीता हो तो इतना ही बड़ा होगा। इतनेमें ही वीणा बजाते हुए देवर्षि नारद वहाँ आ पहुँचे, उन्होंने सारा वृत्तान्त समझाया और रुक्मिणीसे कहा—'यह तुम्हारा पुत्र ही है, यह शम्बरासुरको मारकर आया है। यह जो इसके साथ स्त्री है, वह शम्बरासुरकी असली पत्नी नहीं है। इनकी ही पूर्वजन्मकी पत्नी रति है। तुम इसमें किसी प्रकारका सन्देह मत करो।'

नारदजीकी बातका भगवान्ने भी अनुमोदन किया। रुक्मिणीजीने अपने चिरकालके भूले हुए पुत्रको छातीसे लगाया, प्यार किया। सर्वत्र यह समाचार फैल गया। सभी भगवान्‌की इस विचित्र लीलाको सुनकर आश्चर्य करने लगे। प्रद्युम्नजी सुखपूर्वक द्वारकापुरीमें रहने लगे।

ये चतुर्व्यूहमें द्वितीय माने जाते हैं। वैष्णवशास्त्रोंमें इन सब व्यूहोंकी बड़ी विशद व्याख्या है।

—प्र० ब्रह्मचारी

अनिरुद्ध

भगवान्‌के पुत्र प्रद्युम्नजी शम्बरासुरके यहाँसे मायावती-को ले आये थे। उससे कोई सन्तान नहीं हुई। इधर रुक्मीकी पुत्री सुन्दरीका स्वयंवर हुआ। सुन्दरीके स्वयंवरमें महाबली प्रद्युम्नजी भी पधारे। सुन्दरीने प्रद्युम्नजीको जयमाला पहनायी और प्रद्युम्नजीने भी उसके साथ विधिवत् विवाह किया। उसी सुन्दरीके गर्भसे अनिरुद्धजीका जन्म हुआ। इन अनिरुद्धका भी रुक्मीके पुत्रकी कन्याके साथ विवाह हुआ।

अनिरुद्धजी बहुत ही सुन्दर थे। इनके सौन्दर्यकी ख्याति सर्वत्र थी। एक बार बाणासुरकी पुत्री उषाने स्वप्नमें अनिरुद्धको देखा। स्वप्नमें ही इन्हें देखकर वह इनपर मोहित हो गयी। उसी दिनसे वह उदास रहने लगी। उसकी एक चित्ररेखा नामकी सखी थी, उसने बड़े आग्रहसे पूछा—'तुम इतनी उदास क्यों रहती हो?' उसने लजाते हुए कहा—

दृष्टः कश्चिन्नरः स्वप्ने श्यामः कमललोचनः।
पीतवासा बृहद्बाहुर्योषितां हृदयङ्गमः॥

'मैंने एक अत्यन्त ही सुन्दर, मनको मोहनेवाले, कमललोचन, पीताम्बरधारी, आजानुबाहु पुरुषको स्वप्नमें देखा है। उसी दिनसे मेरा मन उसमें लगा है।' चित्ररेखा चित्रकला और आकाशमें उड़नेकी विद्या जानती थी। उसने सभीके चित्र बनाये, जब उसने अनिरुद्धजीका चित्र बनाया तो वह प्रसन्न होकर बोली—'ये वे ही हैं, ये वे ही हैं।' चित्ररेखा उसे प्रसन्न करनेके निमित्त आकाशमार्गसे उड़ी और जहाँ अनिरुद्धजी सो रहे थे वहाँ गयी। वहाँसे वह उन्हें सोते-ही-सोते उठा लायी और उषाके महलोंमें रख दिया। अनिरुद्धजी वहीं सुखपूर्वक रहने लगे।

जब बाणासुरको यह बात मालूम हुई तो

इसमें उसने अपना अपमान समझा और अनिरुद्धजीको बन्दी बना लिया। नारदजीने यह बात भगवान्‌से जाकर कही। भगवान् अपनी सेनासहित बाणासुरकी राजधानी शोणितपुरमें आये और बड़ा घोर युद्ध हुआ। अन्तमें भगवान्‌की विजय हुई। बाणासुरने क्षमाप्रार्थना की। अनिरुद्धजीका उषाके साथ विधिवत् विवाह कर दिया और बहुत-सा धन भी दहेजमें दिया। इस प्रकार अनिरुद्धजीका उषाके साथ विवाह हो गया।

अनिरुद्ध भगवान्‌के तृतीय व्यूहमें हैं।

प्र०—ब्रह्मचारी

परीक्षित

परीक्षित अर्जुनके पौत्र और अभिमन्युके औरस पुत्र थे। महाभारतके युद्धमें जब कौरव-पाण्डव दोनों वंशकी समाप्ति हो रही थी, एकमात्र यही उक्त वंशके बीजरूपसे अपनी माता उत्तराके गर्भमें थे। अन्तमें अश्वत्थामाने इनपर भी इषीकास्त्रका प्रयोग किया। इनकी माता घबड़ाकर श्रीकृष्णकी शरणमें गयीं और शरणागतवत्सल भगवान्‌ने हाथमें चक्र लेकर गर्भमें प्रवेश किया और इस गर्भस्थ शिशुकी रक्षा की। इस प्रकार इन्होंने गर्भमें ही सुरमुनिदुर्लभ भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन और उनकी कृपा प्राप्त की। पैदा होनेपर पाण्डवोंने बड़ा उत्सव किया। बड़ा आनन्द मनाया गया। ज्योतिषियोंने बड़े विस्तारसे इनके भावी प्रभावका वर्णन किया। इनके प्रभाव-स्वभावकी और तो क्या प्रशंसा की जाय, बचपनसे ही ये श्रीकृष्णके परम भक्त थे। ये खिलौनोंसे नहीं खेलते थे। खेलमें भी भगवान्‌की ही कोई लीला करते या पूजा करते। उन्हींके स्वरूप, गुणानुवाद, लीला और नामका अध्ययन-चिन्तन करते।

समयपर उपनयन, वेदाध्ययन, विवाह आदि सम्पन्न करके पाण्डवोंने इन्हें राज्यका भार सौंप दिया और स्वयं स्वर्गकी यात्रा की। इनके राज्यकी सुव्यवस्थाका क्या पूछना है। सभी सुखी थे। एक दिन इन्हें मालूम हुआ कि मेरे राज्यमें कलियुग आ गया है। बस, ये उसे ढूँढ़नेके लिये निकल पड़े। एक स्थानपर उन्होंने देखा कि एक राजोचित वस्त्राभूषणसे सुसज्जित कोई शूद्र गौ और बैलको डंडोंसे पीट रहा है। बैलके तीन पैर टूट चुके थे, एक ही अवशेष था। उनका परिचय प्राप्त करनेपर मालूम हुआ कि यह बैल धर्म है, पृथ्वी गौ है और कलियुग ही शूद्र है। उन्होंने उस कलिको मारनेके लिये खड्ग उठाया, परन्तु वह उनके चरणोंपर गिरकर गिड़गिड़ाने लगा। राजाको दया आ गयी। उन्होंने उसकी प्रार्थना स्वीकार करके और उसका यह गुण देखकर कि कलियुगमें और किसी साधन, योग, यज्ञ आदिकी आवश्यकता न होगी, केवल भगवान्‌के नामोंसे ही प्राणियोंका स्वार्थ, परमार्थ आदि सम्पन्न हो जायगा, उसे रहनेके लिये जूआ, शराब, स्त्री, हिंसा, सोना आदि स्थान बता दिये; क्योंकि इन स्थानोंमें झूठ, मद, अपवित्रता तथा क्रूरतादि दोष रहते हैं। कुछ दिनोंके बाद उस समयकी प्रथाके अनुसार वे शिकार खेलने निकले। एक मृगके पीछे दौड़ते हुए दूर निकल गये। थकावट और प्यासके कारण वे घबड़ा उठे। पानी पीनेकी इच्छासे एक ऋषिके आश्रमपर गये, परन्तु वे ध्यानमग्न थे। इनकी याचनासे उनका ध्यान भंग नहीं हुआ। इसी समय कलियुगने इनपर आक्रमण किया। ये क्रुद्ध होकर अपना ज्ञान खो बैठे और उन ध्यानमग्न ऋषिके गलेमें एक मरा साँप पहना दिया और आवेशमें ही राजधानी लौट आये। जब कुछ समय बाद इन्हें याद आया तब ये पश्चात्ताप करने लगे और इस अपराधका दण्ड भोगनेके लिये उद्यत होकर उसकी प्रतीक्षा करने लगे।

इधर कई ऋषि-बालकोंने जाकर उनके नदी-किनारे खेलते हुए बच्चेसे यह बात कह सुनायी। उसे क्रोध आ गया और उसने शाप दे दिया कि आजके सातवें दिन तक्षक साँप परीक्षितको डँसेगा। अपमानके कारण उद्विग्न होकर वह रोने लगा। उसका रोना सुनकर धीरे-धीरे कुछ समयके बाद ऋषिका ध्यान टूटा। उन्होंने सब बात सुनकर अपने लड़केको बहुत डाँटा। संसारके एकमात्र धार्मिक सम्राट् हमारे आश्रममें आये और उनके सत्कारकी तो बात ही क्या, अपमान हुआ और मृत्युतकका शाप दे दिया गया। आगे आनेवाली अधर्मकी वृद्धिकी चिन्तासे ऋषि चिन्तित हो उठे, परन्तु अब तो शाप दिया जा चुका था। राजाके पास सन्देश भेज दिया।

राजा तो इसीकी प्रतीक्षामें थे, अपने पुत्र जनमेजयको राज्य देकर वे गंगा-किनारे त्यागी होकर बैठ गये। उस समय वशिष्ठ, अत्रि, व्यास आदि बड़े-बड़े महर्षि, देवर्षि आदि वहाँ आ गये। परीक्षितके प्रश्नपर श्रीशुकदेवजी महाराजने वैष्णवोंके वेद श्रीभागवत महापुराणकी कथा कह सुनायी, जिसे उपवास करते हुए परीक्षितने सात दिनतक बड़े प्रेम-श्रद्धासे सुनी। अन्तमें शुकदेवके जोरदार उपदेशसे परीक्षितकी समाधि लग गयी। वे ब्रह्ममें स्थित हो गये। तक्षकने आकर डँसा तो सही, परन्तु वे पहले ही शरीरसे पृथक् हो गये थे। उन्हें डँसनेका पतातक न चला।

—शान्तनु

सत्संग-महिमा

(संग्रहकर्ता—पुरोहित श्रीहरिनारायणजी बी० ए० विद्याभूषण)

'कबीर' संगति साधकी, कदे न निरफल होइ।
चंदन होसी बावना, नींब न कहसी कोइ॥ १ ॥
तरवररूपी राम है, फलरूपी बैराग।
छायारूपी साधु है, (जिन) तजिया बाद बिबाद॥ २ ॥
साधू संग परापती, लिखिया होइ लिलाट।
मुक्ति पदारथ पाइये, ठाकन अवघट घाट॥ ३ ॥
'कबीर' यहु तन जाइगा, कवनै मारग लाइ।
कै संगति करि साधकी, कै हरिकै गुन गाइ॥ ४ ॥
'कबीर' संगति साधकी, बेगि करीजे जाइ।
दुरमति दूरि गँवाइसी, देसी सुमति बताइ॥ ५ ॥
मथुरा जावहु द्वारका, भाँवै जा जगनाथ।
साधुसँगति हरिभगति बिन, कछू न आवै हाथ॥ ६ ॥
'कबीर' चंदनका बिडा, बैठ्या आक पलास।
आप सरीखे कर लिये, जे होते उन पास॥ ७ ॥
'कबिरा' संगति साधुकी ज्यौं गंधीका बास।
जो कछु गंधी दे नहीं, तौ भी बास सुबास॥ ८ ॥
ते दिन गये अकारथी, संगति भई न संत।
प्रेम बिना पसु जीवना, भक्ति बिना भगवंत॥ ९ ॥
दाग जो लागा नीलका, सो मण साबन धोय।
कोटि जतन परबोधिये, कागा हंस न होय॥ १० ॥
'दादू' राम मिलनके कारणै, जे तूँ खरा उदास।
साधू संगति सोधि ले, राम उन्हौंके पास॥ ११ ॥
'दादू' जबलग जीविये, सुमिरण संगति साध।
दादू साधू राम बिन, दूजा सब अपराध॥ १२ ॥
'दादू' मम सिर मोटे भाग, साधूका दर्सन किया।
कहा करै जमकाल, राम रसाइण भर पिया ॥ १३ ॥
जलती बलती आतमा, साध सरोवर जाइ।
'दादू' पीवै रामरस, सुखमैं रहै समाइ॥ १४ ॥
हरि भज तूँ तज तूँ विषय, कर तूँ साधू सेव।
'रज्जब' यह रहै चाल तू, मिनषा सूँ व्है देव॥ १५ ॥
साधू-संगति सुठि भली, घडे माँहि घडि लेय।
'रज्जब' सौंजि सँवारि करि, जीव माँहि जिव देय ॥ १६ ॥
जैसे चंदन बावना, बेधि गया बनराय।
त्यूँ 'रज्जब' पलटै सबै, साधू संगति पाय॥ १७ ॥
'सुंदर' या सत्संगकी महिमा कहिये कौन।
लोहा पारसकौं छुवै कनक होत है रौंन॥ १८ ॥
जन 'सुंदर' सत्संगमें नीचहु होत उतंग।
परै क्षुद्र जल गंगमें उहै होत पुनि गंग॥ १९ ॥
जन 'सुंदर' सतसंग तैं उपजै अद्वय ज्ञान।
मुक्ति होय, संसय मिटै, पावै पद निर्बान॥ २० ॥
'सुंदर' सब कछु मिलत है समये समये आइ।
दुर्लभ या संसारमें संतसमागम थाइ॥ २१ ॥
संतनिहीको आसरौ संतनिको आधार।
'सुंदर' और कछू नहीं है सतसंगति सार॥ २२ ॥

इन्दव छन्द

'साधुकौ संग सदा अति नीकौ।'—

प्रीति प्रचण्ड लगै परब्रह्महि, और सबै कछु लागत फीकौ।
सुद्ध ह्रदै मति होइ सुनिर्मल, द्वैत प्रभाव मिटै सब जीकौ॥
गोष्टि रु ज्ञान अनंत चलै तहँ, 'सुंदर' जैसे प्रबाह नदीकौ।
ताहि तैं जानि करै निसबासर साधुकौ संग सदा अति नीकौ॥ २३ ॥
जो परब्रह्म मिल्यौ कोउ चाहत, सो नित संतसमागम कीजै।
अंतर मेटि निरंतर व्है करि, लै उनकौं अपनौ मन दीजै॥
वै मुखद्वार उचार करैं कछु, सो अनयास सुधारस पीजै।
'सुंदर' सूर प्रकासत है उर और अज्ञान सबै तम छीजै॥ २४ ॥
तात मिलै पुनि मात मिलै सुत भ्रात मिलै युवती सुखदाई।
राज मिलै गज बाज मिलै सब साज मिलै मन-बंछित पाई॥

लोक मिलै सुरलोक मिलै बिधिलोक मिलै बइकुण्ठहुँ जाई।
'सुंदर' और मिलैं सब ही सुख, दुर्लभ संतसमागम भाई॥ २५॥

मनहर छन्द

देव हू भयेतें कहा इन्द्र हू भयेतें कहा,
बिधिहूके लोकतें बहुरि आइयतु है।
मानुष भयेतें कहा भूपति भयेतें कहा,
द्विज हू भयेतें कहा पार जाइयतु है॥
पशु हू भयेतें कहा पक्षी हू भयेतें कहा,
पन्नग भयेतें कहौं क्यौं अघाइयतु है।
छूटिबेकौ 'सुंदर' उपाइ एक साधु संग,
जिनिकी कृपातें अति सुख पाइयतु है॥ २६॥

'साधुहीके संगतै स्वरूपज्ञान होत है'—

जैसैं आरसीको मैल काटत सिकल करि,
मुखमैं न फेर वाकौ वहै कोऊ पोत है।
जैसैं बैद नैनमैं सलाका मेलि शुद्ध करै,
पटल गयेतें तहाँ ज्यौं-की-त्यौं ही जोत है॥
जैसैं वायु बादर बखेरिकैं उड़ाइ देत,
रवि तौ अकाश माँहिं सदाइ उदोत है।
'सुंदर' कहत भ्रम छिनमैं बिलाइ जात,
साधुहीके संगतैं स्वरूपज्ञान होत है॥ २७॥

सन्ध्या-अरुन्धती

सन्ध्या

सन्ध्या ब्रह्माकी मानस पुत्री थी। यह तपस्या करनेके लिये चन्द्रभाग पर्वतके बृहल्लोहित नामक सरोवरके पास घूम रही थी और इस बातके लिये बड़ी उत्सुक थी कि कोई संत सद्गुरु प्राप्त हो एवं मुझे तपस्याका मार्ग बतावे। भगवान्‌के प्यारे भक्त सर्वदा लोगोंके हितसाधनमें तत्पर रहते हुए इस बातकी प्रतीक्षा किया करते हैं कि कोई सच्चा जिज्ञासु मिले और उसे कल्याणकी ओर अग्रसर करें। सन्ध्याकी जिज्ञासा देखकर महर्षि वशिष्ठ वहीं प्रकट हुए और सन्ध्यासे पूछा—'कल्याणी! तुम इस घोर जंगलमें कैसे विचर रही हो, तुम किसकी कन्या हो और क्या करना चाहती हो? यदि कोई गोपनीय बात न हो तो यह भी बताओ तुम्हारा यह सुन्दर मुखमण्डल उदास क्यों हो रहा है?' सन्ध्या उनके चरणोंमें नमस्कार करके उन मूर्तिमान् ब्रह्मचर्य महर्षि वशिष्ठसे बड़ी नम्रताके साथ कहने लगी—'भगवन्! मैं तपस्या करनेके लिये इस सूने जंगलमें आयी हूँ। अबतक मैं बहुत उद्विग्न हो रही थी कि कैसे तपस्या करूँ, मुझे तपस्याका मार्ग मालूम नहीं है। परन्तु अब आपको देखकर मुझे बड़ी शान्ति मिली है और मेरी अभिलाषा पूर्ण हो जायगी।' सर्वज्ञ वशिष्ठने उसकी बात सुनकर उसके मनके सारे भाव जान लिये और कुछ नहीं पूछा। फिर जैसे एक कारुणिक गुरु अपने शिष्यको उपदेश करता है वैसे ही बड़े स्नेहसे बोले—'कल्याणी! तुम एकमात्र परम ज्योतिस्वरूप, धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षके दाता भगवान् विष्णुकी आराधना करके ही अपना अभीष्ट प्राप्त कर सकती हो। सूर्यमण्डलमें शंख-चक्र-गदाधारी चतुर्भुज वनमाली भगवान् विष्णुका ध्यान करके '**ॐ नमो वासुदेवाय ॐ**' इस मन्त्रका जप करो और मौन रहकर तपस्या करो। स्नान, पूजा और सब कुछ मौन होकर ही करो। पहले छः दिनतक कुछ भी भोजन मत करना, केवल तीसरे दिन रात्रिमें एवं छठे दिन रात्रिमें कुछ पत्ते खाकर जल पी लेना। उसके पश्चात् तीन दिनतक निर्जल उपवास करना और फिर रात्रिमें भी पानी मत पीना। इस तरह तपस्या समाप्त होनेपर हर तीसरे दिन रात्रिमें कुछ भोजन कर सकती हो। वृक्षोंका वल्कल पहनना और जमीनपर सोना। इस मौनि-तपस्याको करती हुई भगवान्‌का चिन्तन करो। भगवान् तुमपर प्रसन्न होंगे और शीघ्र ही तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करेंगे।' इस प्रकार उपदेश करके महर्षि वशिष्ठ अन्तर्धान हो गये। और वह भी तपस्याकी पद्धति जानकर बड़े आनन्दके साथ भगवान्‌की पूजा करने लगी। इस प्रकार बराबर चार युगतक उसकी तपस्या चलती रही। उसके व्रतको देखकर सभी आश्चर्यचकित और विस्मित थे।

अब भगवान् विष्णु भी उसकी भावनाके अनुसार रूप धारण करके उसकी आँखोंके सामने प्रकट हुए। गरुड़पर सवार अपने प्रभुकी मनोहर छविको देखकर वह सम्भ्रमके साथ उठ खड़ी हुई और 'क्या कहूँ? क्या करूँ?' इस चिन्तामें पड़ गयी। उसकी स्तुति करनेकी

इच्छा जानकर भगवान्ने उसे दिव्य ज्ञान, दिव्य दृष्टि एवं दिव्य वाणी प्रदान की। अब वह भगवान्की स्तुति करने लगी। बड़े प्रेमसे ज्ञानपूर्ण स्तुति करते-करते वह भगवान्के चरणोंपर गिर पड़ी। उसके तप:कृश शरीरको देखकर भगवान्को बड़ी दया आयी और उन्होंने अमृतवर्षिणी दृष्टिसे उसे हृष्ट-पुष्ट कर दिया तथा वर माँगनेको कहा। सन्ध्याने कहा 'भगवन्! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो कृपा करके पहला वर तो यह दें कि संसारमें पैदा होते ही किसी प्राणीके मनमें कामके विकारका उदय न हो, और दूसरा वर यह दीजिये कि मेरा पातिव्रत्य अखण्ड रहे, और तीसरा यह कि मेरे भगवत्स्वरूप पतिके अतिरिक्त और कहीं भी मेरी सकाम दृष्टि न हो। जो पुरुष मुझे सकाम दृष्टिसे देखे वह पुरुषत्वहीन अर्थात् नपुंसक हो जाय।' भगवान्ने कहा कि 'चार अवस्थाएँ होती हैं—बाल्य, कौमार, यौवन और बुढ़ापा। इनमें तीसरी अवस्था अथवा दूसरी अवस्थाके अन्तमें लोगोंमें काम उत्पन्न होगा। तुम्हारी तपस्याके प्रभावसे आज मैंने यह मर्यादा बना दी कि पैदा होते ही कोई प्राणी कामयुक्त नहीं होगा। त्रिलोकीमें तुम्हारे सतीत्वकी ख्याति होगी और तुम्हारे पतिके अतिरिक्त जो भी तुम्हें सकाम दृष्टिसे देखेगा वह तुरन्त नपुंसक हो जायगा। तुम्हारे पति बड़े भाग्यवान्, तपस्वी, सुन्दर और तुम्हारे साथ ही सात कल्पतक जीवित रहनेवाले होंगे। तुमने मुझसे जो वर माँगे थे वे दे दिये। अब जो तुम्हारे मनमें बात है वह बताता हूँ। तुमने पहले आगमें जलकर शरीर त्याग करनेकी प्रतिज्ञा की थी सो यहीं चन्द्रभागा नदीके किनारे महर्षि मेधातिथि बारह वर्षका यज्ञ कर रहे हैं, उसीमें जाकर शीघ्र ही अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो, वहाँ ऐसे वेशसे जाओ कि मुनिलोग तुम्हें देख न सकें। मेरी कृपासे तुम अग्निदेवकी पुत्री हो जाओगी। जिसे तुम पति बनाना चाहती हो, मनसे उसका चिन्तन करते-करते अपना शरीर त्याग करो।' यह कहकर भगवान्ने अपने करकमलोंसे सन्ध्याके शरीरका स्पर्श किया और तुरन्त ही उसका शरीर पुरोडाश (यज्ञका हविष्य) बन गया। उन महामुनिके सकल विश्वहितकारी यज्ञमें अग्नि मांसभोजी न हो जाय, इसलिये प्रभुने ऐसा किया। इसके बाद सन्ध्या भी अदृश्य होकर उस यज्ञमण्डपमें गयी। भगवान्की कृपासे उस समय उसने अपने मनमें मूर्तिमान् ब्रह्मचर्य और तपश्चर्याके उपदेशक वशिष्ठको पतिके रूपमें वरण किया, और उन्हींका चिन्तन करते-करते अपने पुरोडाशमय शरीरको पुरोडाशके रूपमें अग्निदेवको समर्पित कर दिया। अग्निदेवने भगवान्की आज्ञासे उसके शरीरको जलाकर सूर्यमण्डलमें प्रविष्ट कर दिया। सूर्यने उसके शरीरके दो भाग करके अपने रथपर देवता और पितरोंकी प्रसन्नताके लिये स्थापित कर लिया। उसके शरीरका ऊपरी भाग जो दिनका प्रारम्भ यानी प्रात:काल है, उसका नाम 'प्रात:सन्ध्या' और शेषभाग दिनका अन्त 'सायंसन्ध्या' हुआ, और भगवान्ने उसके प्राणको दिव्य शरीर और अन्त:करणको शरीरी बनाकर मेधातिथिके यज्ञीय अग्निमें स्थापित कर दिया। इसके पश्चात् मेधातिथिने यज्ञके अन्तमें उस स्वर्णके समान सुन्दरी सन्ध्याको पुत्रीके रूपमें प्राप्त किया। उस समय यज्ञीय अर्घ्यजलमें स्नान कराकर वात्सल्य स्नेहसे परिपूर्ण और आनन्दित होकर उसे गोदमें उठा लिया और उसका नाम अरुन्धती रखा। किसी भी कारणसे वह धर्मका रोध नहीं करती थी, इसीसे उसका 'अरुन्धती' नाम सार्थक हुआ। यज्ञ समाप्त होनेके बाद कृतकृत्य होकर मेधातिथि अपने शिष्योंके साथ अपने आश्रमपर रहते हुए आनन्दित होकर अपनी कन्या अरुन्धतीका लालन-पालन करने लगे।

अरुन्धती

अब कुमारी अरुन्धती मेधातिथिके उस चन्द्रभागा-तटपर स्थित तापसारण्य नामक आश्रममें शुक्लपक्षकी चन्द्रकलाकी भाँति दिनोंदिन बढ़ने लगी। पाँचवें वर्षमें पदार्पण करनेपर ही उसके सद्गुणोंसे सम्पूर्ण तापसारण्य पवित्र हो गया। आज भी लोग उस अरुन्धतीके क्रीड़ाक्षेत्र तापसारण्य और चन्द्रभागाके जलमें जा-जाकर स्नान करते हैं और विष्णुपदलाभ करते हैं। उनकी सांसारिक अभिलाषाएँ भी पूर्ण होती हैं।

एक दिन जब अरुन्धती चन्द्रभागाके जलमें स्नान करके अपने पिता मेधातिथिके पास ही खेल रही थी, स्वयं ब्रह्माजी पधारे और उसके पितासे कहा कि 'अब अरुन्धतीको शिक्षा देनेका समय आ गया है, इसलिये इसे अब सतीसाध्वी स्त्रियोंके पास रखकर शिक्षा दिलवानी चाहिये; क्योंकि कन्याकी शिक्षा पुरुषोंद्वारा नहीं होनी चाहिये। स्त्री ही स्त्रियोंको शिक्षा दे सकती है; किन्तु तुम्हारे पास तो कोई स्त्री नहीं है, अतएव तुम अपनी कन्याको बहुला और सावित्रीके पास रख दो। तुम्हारी कन्या उनके पास रहकर शीघ्र ही महागुणवती

हो जायगी।' मेधातिथिने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और उनके जानेपर अरुन्धतीको लेकर सूर्यलोकमें गये। वहाँ उन्होंने सूर्यमण्डलमें स्थित पद्मासनासीन सावित्रीदेवीका दर्शन किया। उस समय बहुला मानस पर्वतपर जा रही थीं, इसलिये सावित्रीदेवी भी सूर्यमण्डलसे निकलकर वहींके लिये चल पड़ीं। बात यह थी कि प्रतिदिन वहाँ सावित्री, गायत्री, बहुला, सरस्वती एवं द्रुपदा एकत्रित होकर धर्मचर्चा करती थीं और लोक-कल्याणकी कामना किया करती थीं। महर्षि मेधातिथिने उन माताओंको पृथक्-पृथक् प्रणाम किया और सबको सम्बोधन करके कहा कि 'यह मेरी यशस्विनी कन्या है। यही इसके उपदेशका समय है। इसीसे मैं इसे लेकर यहाँ आया हूँ। ब्रह्माने ऐसी ही आज्ञा की है। अब यह आपके पास ही रहेगी। माता सावित्री और बहुला आप दोनों इसे ऐसी शिक्षा दें कि यह सच्चरित्र हो।' उन दोनोंने कहा-'महर्षे! भगवान् विष्णुकी कृपासे तुम्हारी कन्या पहलेसे ही सच्चरित्र हो चुकी है; किन्तु ब्रह्माकी आज्ञाके कारण हम इसे अपने पास रख लेती हैं। यह शिक्षा प्राप्त करे। यह पूर्वजन्ममें ब्रह्माकी कन्या थी। तुम्हारे तपोबलसे और भगवान्‌की कृपासे यह तुम्हारी पुत्री हुई है। यह सती न केवल तुम्हारा या तुम्हारे कुलका बल्कि सारे संसारका कल्याण करेगी।'

मेधातिथि वहाँसे विदा हुए और अरुन्धती उनकी सेवा करने लगी। उन जगन्माताओंकी सेवामें रहकर अरुन्धतीका समय बड़े आनन्दसे बीतने लगा। अरुन्धती कभी सावित्रीके साथ सूर्यके घर जाती तो कभी बहुलाके साथ इन्द्रके घर जाती। इस प्रकार सात वर्ष और बीत गये और स्त्रीधर्मकी शिक्षा प्राप्त करके वह अपनी शिक्षिका सावित्री और बहुलासे भी श्रेष्ठ हो गयी। एक दिन मानस पर्वतपर विचरण करते-करते अरुन्धतीने मूर्तिमान् ब्रह्मचर्य महर्षि वशिष्ठको देखा। इन्हें देखते ही उसका मन क्षुब्ध हो गया और वह कामके विकारसे काँप उठी। किसी प्रकार धैर्य धारण करके पश्चात्ताप करती हुई वह बहुला और सावित्रीके निकट उपस्थित हुई। अरुन्धतीको उदास देखकर सावित्रीने ध्यानयोगसे सारी बात जान ली और उसके मस्तकपर हाथ रखकर वात्सल्यपूर्ण शब्दोंमें पूछा। उनका प्रश्न सुनकर अरुन्धती संकोचके मारे जमीनमें गड़ गयी, उससे बोला नहीं गया। अन्ततः सावित्रीने स्वयं सारी बात कहकर समझाया कि 'वे परम तेजस्वी ऋषि कोई दूसरे नहीं हैं, वे तुम्हारे भावी पति हैं और यह पहलेसे ही निश्चित हो चुका है। उनके दर्शनके कारण क्षोभ होनेसे तुम्हारा सतीत्व नष्ट नहीं हुआ। तुमने उन्हें पतिके रूपमें पूर्व जन्ममें ही वरण कर लिया है और वे भी तुमसे प्रेम करते हैं, तुम्हें हृदयसे चाहते हैं।'

इसके बाद सावित्रीने अरुन्धतीको उसके पूर्वजन्मकी कथा कह सुनायी, जिससे अरुन्धतीको बड़ा सन्तोष मिला और उसे पूर्वजन्मकी बातें याद आ गयीं। इसके बाद सावित्री ब्रह्माके पास गयीं और उनसे सब बातें कहकर अरुन्धतीके विवाहके लिये यही उपयुक्त समय बतलाया। ब्रह्मा भी निश्चय करके मानसपर्वतपर आ गये और शंकर तथा विष्णुको भी वहीं प्रार्थना करके बुलाया। मेधातिथिको बुलानेके लिये नारदको भेजा और नारदजी जाकर उनको बुला लाये! ब्रह्मा आदिके कहनेपर मेधातिथिने उनके साथ ही अपनी कन्याको लेकर मानसपर्वतके लिये प्रस्थान किया, और जाकर देखा कि महर्षि वशिष्ठ मानसपर्वतकी कन्दरामें समाधि लगाये बैठे हैं और उनके मुखमण्डलसे सूर्यकी भाँति प्रकाशकी किरणें निकल रही हैं। उनकी समाधि टूटनेपर अपनी कन्याको आगे करके मेधातिथिने निवेदन किया—'भगवन्! यह मेरी ब्रह्मचारिणी पुत्री है, आप इसे ब्राह्मविधिसे स्वीकार करें। आप जहाँ-जहाँ चाहे जिस रूपमें रहेंगे यह आपकी सेवा करेगी। और छायाकी भाँति पीछे-पीछे चलेगी।' मेधातिथिकी प्रार्थना सुनकर तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओंको आये हुए देखकर और तपस्याके बलसे भावी बातको जानकर महर्षि वशिष्ठने स्वीकार कर लिया। अरुन्धतीकी आँखें उनके चरणोंमें लग गयीं। अब ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र एवं इन्द्रादि देवताओंने विवाहोत्सव सम्पन्न किया। उनके वल्कल आदिके वस्त्र, मृगचर्म और जटाको खोलकर बड़े सुन्दर-सुन्दर बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहनाये। विधिपूर्वक स्वर्णकलशके जलसे अभिषेक-स्नान कराया, वैदिक मन्त्रोंका पाठ हुआ। ब्रह्माने सूर्यके समान प्रकाशमान, त्रिलोकीमें बिना रुकावटके उड़नेवाला बड़ा सुन्दर विमान दिया। विष्णुने सबसे ऊँचा स्थान दिया और रुद्रने सात कल्पतककी आयु दी। अदितिने ब्रह्माके बनाये हुए अपने दोनों कानोंके कुण्डल उतारकर दे दिये। सावित्रीने पातिव्रत्य, बहुलाने बहुपुत्रत्व, देवेन्द्रने बहुतसे रत्न और कुबेरने समता दी। इसी प्रकार सभी ऋषि-मुनियोंने अपनी ओरसे उपहार दिये।

विवाहके अवसरपर ब्रह्मा, विष्णु आदिके द्वारा स्नान कराते समय जो जलधाराएँ गिरी थीं, वह गोमती, सरयू, सिप्रा, महानदी आदि सात नदियोंके रूपमें हो गयीं, जिनके दर्शन, स्पर्श, स्नान और पानसे सारे संसारका कल्याण होता है। विवाहके पश्चात् वशिष्ठजी महाराज अपनी धर्मपत्नीके साथ विमानपर सवार होकर देवताओंके बतलाये हुए स्थानपर चले गये। वे जब जहाँ जिस रूपमें रहकर तपस्या करते हुए संसारके कल्याणमें संलग्न रहते हैं, तब तहाँ उन्हींके अनुरूप वेशमें रहकर अरुन्धती उनकी सेवा किया करती हैं। आज भी सप्तर्षिमण्डलमें स्थित वशिष्ठके पास ही दीखती हैं।

—शान्तनु

देवहूति

स्वायंभुव मनुकी कन्या और प्रजापति कर्दमकी पत्नी एवं भगवान् कपिलकी माता ही देवहूतिके नामसे प्रसिद्ध हैं। जिस समय भगवान्की आज्ञासे स्वायंभुव मनुने विवाह करनेके लिये भगवान्की आज्ञा प्राप्त किये हुए एवं प्रतीक्षा करते हुए कर्दम ऋषिके आश्रमपर स्वयं उपस्थित होकर अपनी प्रिय पुत्रीको समर्पण किया तब वे बड़ी कठोर तपस्यामें स्थित थे। परन्तु आदिराज मनुकी सुकुमार पुत्री जरा भी आलस्य न करके निष्कपटभावसे उनकी सेवामें लगी रही। बड़े विश्वास, पवित्रता, गौरव, आत्मसंयम, सेवा, प्रेम एवं मधुर वाणीसे काम, दम्भ, द्वेष, लोभ, पाप एवं मदको छोड़कर बड़ी सावधानीके साथ वह निरन्तर अपने पतिदेवकी सेवामें लगी रहती। कुछ दिनोंके बाद उसकी सेवासे प्रजापति कर्दम प्रसन्न हुए और देवहूतिकी इच्छा जानकर एक सर्वांगसुन्दर, सम्पूर्ण भोगविलासकी सामग्रियोंसे युक्त एवं सर्वर्तुसुखद तथा इच्छागामी विमानका अपने योगबलसे निर्माण किया। उस विमानका ऐश्वर्य देखकर जब अपने इस दुबले-पतले और मैले-कुचैले शरीरसे देवहूतिको उसपर चढ़नेकी हिम्मत न हुई तब कर्दमने सामनेके सरोवरमें स्नान करनेका संकेत किया। स्नान करते ही अनेकों प्रकारके वस्त्राभूषण लेकर हजारों दासियाँ आ उपस्थित हुईं और स्वयं देवहूति भी हृष्ट-पुष्ट एवं परम सुन्दरी होकर निकली। अब कर्दमने भी स्नान किया और वे भी सर्वांगसुन्दर, हृष्ट-पुष्ट एवं बलिष्ठ होकर निकले। इस प्रकार एक साथ ही दोनोंने उस दिव्य विमानपर आरोहण किया और गृहस्थ-धर्मसे निवास करते हुए उन्हें नौ कन्याएँ हुईं। उपयुक्त पतियोंके साथ उनका विवाह करनेके पश्चात् जब विरक्त होकर कर्दम प्रजापतिने वनमें जानेकी इच्छा प्रकट की तब देवहूतिने उन्हें रोक लिया और उसके बाद स्वयं भगवान् उसके गर्भमें आये। समयपर भगवान् कपिलने अवतार ग्रहण किया और अपने पिता कर्दमको उपदेश किया, वे विरक्त होकर जंगलमें चले गये और सर्वत्र सर्वरूपमय भगवान्का अनुभव करके भगवत्स्वरूप हो गये।

इधर देवहूतिने इन विषयोंकी विषमताका अनुभव कर लिया था। इनकी दुःखरूपता, अनित्यता एवं असत्यताकी बात उसके मनमें बैठ गयी थी। भगवान् कपिलसे उसने अपने उद्धारकी प्रार्थना की एवं उन्होंने योग, ज्ञान और भक्तिके उपदेश किये। उनके उपदेश भागवतके तृतीय स्कन्धके कई अध्यायोंमें हैं। कल्याणकामी पुरुषको अवश्य उनका अध्ययन करना चाहिये। अन्तमें उन्होंने अपनी माता देवहूतिको भक्तिका उपदेश किया और देवहूतिका अज्ञान दूर कर दिया। उसकी अनुमतिसे वे तपस्या करनेके लिये अन्यत्र चले गये और वह वहीं सरस्वतीके किनारे उनके आदेशानुसार भगवान्का चिन्तन करने लगी। विमान और उसकी भोग-सामग्रियोंको छोड़कर वल्कल धारण किये हुए अपने दुर्बल शरीरसे वह तपस्यामें लग गयी और अब भगवान्के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु उसके मनमें नहीं आती थी। सारे संसारको भगवान्में और भगवान्को सारे संसारमें अनुभव करके, वह भगवत्स्वरूपमें ही स्थित रहती थी। उसे अपना शरीर भी भूल गया। कोई दूसरा उसका पालन-पोषण करता तो होता, नहीं तो यों ही पड़ी रहती। बाल खुले होते, वस्त्र गिर जाता, फिर भी उसे पता नहीं चलता। इस प्रकार कपिलोक्त मार्गसे उसे परम सिद्धि प्राप्त हुई और वह भगवान्में स्थित हो गयी। भगवती सरस्वतीके किनारे वह स्थान आज भी सिद्धपद नामसे विख्यात है और साधन करनेवालोंको सिद्धि देनेवाला है।

—शान्तनु

मदालसा

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि
संसारमायापरिवर्जितोऽसि ।
संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
मदालसा वाचमुवाच पुत्रम्॥*

प्राचीन कालमें काशीके एक राजा महापराक्रमी शत्रुजित् नामके थे। उनके पुत्रका नाम ऋतुध्वज था। ब्रह्मवादिनी मदालसा इन्हीं ऋतुध्वजकी पटरानी थीं और विश्वावसु गन्धर्वराजकी पुत्री थीं। इनका ब्रह्मज्ञान जगद्विख्यात है। पुत्रोंको पालनेमें झुलाते-झुलाते इन्होंने ब्रह्मज्ञानका उपदेश दिया था।

उन दिनों गालव नामके एक बड़े भारी तेजस्वी ऋषि महाराज शत्रुजित्के राज्यमें तपस्या करते थे। उनकी तपस्यामें पातालकेतु नामका एक राक्षस बड़ा ही विघ्न करता था। जब ऋषि यज्ञ-याग अथवा नित्यकर्म करते तो पातालकेतु आकर उनके आश्रममें विष्ठा, मूत्र तथा रक्तादिकी वर्षा करता। इससे ऋषि बड़े दुखी होते। एक दिन किसी दैवी पुरुषने ऋषिको एक घोड़ा देते हुए कहा—'भगवन्! आप इस घोड़ेको लीजिये, इसका नाम कुवलयाश्व है। यह आकाश-पातालमें सब जगह जा सकता है, इसे आप जाकर महाराज शत्रुजित्के राजकुमार ऋतुध्वजको दें। ऋतुध्वज इसपर चढ़कर पातालकेतु तथा अन्यान्य राक्षसोंको मारेगा।' इतना कहकर वह दैवी पुरुष चला गया। ऋषि घोड़ेको लेकर महाराज शत्रुजित्के समीप आये।

ऋषिको आया हुआ देखकर महाराजने उनका अर्घ्य, मधुपर्क आदिसे सत्कार किया और आनेका कारण पूछा। ऋषिने सब बातें बतायीं और वह कुवलयाश्व भी महाराजको दिया। पहले तो महाराज राजकुमारकी कोमलता और बालकपनेको देखकर हिचके, फिर दैवी आदेश और ऋषिकी आज्ञा समझकर उन्होंने स्वीकार किया। राजकुमार ऋतुध्वजको बुलाकर उन्होंने कहा—'पुत्र! तुम ऋषिकी आज्ञासे इस अश्वपर चढ़कर ऋषिके आश्रमपर जाओ और दुष्ट पातालकेतुको मारो।' पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य करके राजकुमार घोड़ेपर चढ़कर ऋषिके आश्रमपर पहुँचे।

उस समय पातालकेतु सूकरका वेष बनाये इधर-उधर आश्रमके समीप घूम रहा था। राजकुमारने उसके पीछे अपना घोड़ा दौड़ाया, वह दौड़ते-दौड़ते एक बिलमें घुस गया, कुवलयाश्व भी उसके साथ ही उस बिलमें घुस गया। बिलके भीतर जाकर वहाँ एक बड़ा सुन्दर नगर राजकुमारने देखा। वहाँ जाकर सूकर गायब हो गया, राजकुमार बड़े सोचमें पड़ गये।

एक सखीके संकेत करनेपर वे भीतर गये, वहाँ एक परम सुन्दरी राजकुमारीको उदास मन देखा। राजकुमारका उसपर सहज स्नेह हो गया। उस सखीने बताया कि ये गन्धर्वराज विश्वावसुकी पुत्री हैं। राक्षस इन्हें चुराकर यहाँ ले आया है और इनके साथ विवाह करना चाहता है, किन्तु इन्होंने अपना विवाह राजकुमार ऋतुध्वजसे करना निश्चय किया है।

राजकुमारने अपना परिचय दिया और नारदजीकी सहायतासे वहीं मदालसा और ऋतुध्वजका गान्धर्वविवाह हो गया। पातालकेतुको मारकर और मदालसाको लेकर कुमार अपनी राजधानीमें आये। महाराजने तथा प्रजाने कुमारका और नववधूका हृदयसे स्वागत किया। राजकुमार मदालसाके साथ सुखपूर्वक रहने लगे।

एक बार महाराजने राजकुमारसे कहा—'भाई! तुम्हारे पास कुवलयाश्व है। जाओ राज्यमें घूमो, जहाँ राक्षस हों उन्हें मारो। दुष्टोंको दण्ड दो, ऋषियोंको सुख पहुँचाओ।' महाराजकी आज्ञा शिरोधार्य करके राजकुमार अपने अश्वपर चढ़कर राज्यमें घूमते रहे। पातालकेतुका एक भाई मायावी तालकेतु था। उसने ब्राह्मणका रूप बनाकर छलसे राजकुमारसे एक मणि ले ली, उसे लेकर वह वृद्ध ब्राह्मणके रूपमें महाराज शत्रुजित्की राजधानीमें पहुँचा और कह दिया कि कुमार तो एक राक्षसके साथ लड़ते-लड़ते मर गये। इस समाचारसे सब लोग बड़े दुखी हुए। मदालसाने भी अग्निमें प्रवेश किया। पीछे जब ऋतुध्वज आये और उन्होंने अपनी पत्नीकी यह दशा सुनी तो वे घोर तप करने लगे। नागराज अश्वतरके उद्योगसे मृत्युंजय शिवजीकी कृपासे कुमारको फिर मदालसा मिल गयी और राजकुमार सुखपूर्वक रहने लगे।

यथासमय महाराज शत्रुजित् स्वर्गवासी हुए। ऋतुध्वज राजा बने। उनके तीन पुत्र हुए; उनके नाम विक्रान्त, सुबाहु और अरिमर्दन थे। तीनोंको महारानीने बाल्यकालमें ही

* 'तुम शुद्ध हो, बुद्ध हो, निरंजन हो, संसारी मायासे रहित हो। इस संसाररूपी स्वप्न और मोहरूपी निद्राको छोड़ दो।' इस प्रकार मदालसाने अपने पुत्रसे वचन कहा।

ब्रह्मज्ञानका उपदेश दिया और वे तीनों ही संसारत्यागी संन्यासी बन गये। अब जब चौथे पुत्र अलर्कको भी महारानी ब्रह्मज्ञान सिखाने लगीं तो राजाने कहा—'देवि! इस पितृ-पितामहके चले आये राज्यको कौन करेगा? इसे तो संसारके योग्य रहने दो।' रानीने उनकी बात मान ली। अलर्क राजा हुए और उन्होंने गंगा-यमुनाके संगमपर अपनी अलर्कपुरी नामकी राजधानी बनायी (जो आजकल अरैलके नामसे प्रसिद्ध है)। मदालसाने उसे एक उपदेश लिखकर दिया और कहा कि जब बड़ी विपत्ति पड़े तब इसे खोलना। एक बार राजाके ऊपर किसी दूसरेने चढ़ाई की। इसे विपत्ति समझकर अलर्कने माताके पत्रको खोला, उसमें ब्रह्मज्ञानका उपदेश था, महाराज उसी समय राज्य उस राजाको सुपुर्द करके वनको चले गये। इस प्रकार योग्य माता मदालसाने अपने चारों पुत्रोंको ब्रह्मज्ञानी बना दिया। धन्य हैं ऐसी ब्रह्मवादिनी माता और धन्य है ऐसी भारतभूमि जहाँ ऐसी-ऐसी माताएँ उत्पन्न हुईं।

—प्र० ब्रह्मचारी

सुलभा

ब्रह्मवादिनी सुलभाका नाम तो कई जगह आया है, किन्तु उनका कोई विशेष चरित्र नहीं मिलता। महाभारतके शान्तिपर्वमें जनक-सुलभाका संवाद आता है। उसके देखनेसे पता चलता है कि सुलभा परम विदुषी और ब्रह्मवेत्त्री थीं। महाराज जनकजीको इन्होंने अपना संक्षिप्त परिचय यही बताया कि 'मैं उत्तम क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुई हूँ। 'प्रधान' नामके एक राजर्षि थे, मैं उनके कुलमें उत्पन्न हुई हूँ। मेरे पूर्वजोंने बड़े-बड़े यज्ञ-याग किये हैं। मुझे मेरे योग्य पति नहीं मिला है, इसीसे मैं आजन्म ब्रह्मचारिणी हूँ। पतिधर्मका पालन करती हुई मैं मोक्षधर्ममें प्रवृत्त हूँ।'

इससे मालूम पड़ता है कि ये आजन्म ब्रह्मचारिणी रही हैं और संन्यासधर्मका विधिवत् पालन करती रही थीं। उन दिनोंमें महाराज जनकका ब्रह्मज्ञानियोंमें बड़ा नाम था। सुलभाके मनमें स्वाभाविक इच्छा हुई कि महाराज जनक किस प्रकारके ज्ञानी हैं, देखना चाहिये। यह विचारकर उसने संन्यासिनीका वेष त्याग दिया और योगबलसे एक बहुत ही सुन्दरी युवतीका रूप धारण करके भिक्षाके बहाने राजा जनकके यहाँ पहुँची। महाराजने विधिवत् इनका स्वागत-सत्कार किया, पूजा की और भोजन कराये। पीछे इन्होंने उनसे ब्रह्मज्ञानकी चर्चा छेड़ी। महाराजने अपनी सब दशा सुना दी। राज्य करते हुए मुझे राज्यका मोह नहीं। अग्नि-चन्दनको समान समझता हूँ, मुझे मान-अपमानका ध्यान नहीं। इत्यादि बहुत-सी बातें बतायीं।

तब सुलभाने कहा—'महाराज, आप जो कह रहे हैं सब ठीक है; किन्तु जिन्हें ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है फिर वे मौन हो जाते हैं, सब कामोंसे उदासीन होकर एकदम शान्त बन जाते हैं। अभी आपको वादी-प्रतिवादी, विजय-पराजय, स्वपक्ष-परपक्षका ध्यान है; शास्त्रार्थ भी करते हैं, पराजय भी करना चाहते हैं, अत: अभी कुछ त्रुटि है।' महाराजने इसे स्वीकार किया। सुलभा एक रात्रि वहाँ रहकर महाराजकी अनुमतिसे अपने आश्रमको चली आयी।

—प्र० ब्रह्मचारी

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

सदा विनय और प्रेमपूर्वक ईश्वरका भजन करो। धर्मका अनुसरण और पूज्यभावसे सिद्ध पुरुषोंका समागम करो। सेवा और सम्मानपूर्वक साधुजनोंका सत्संग करो। प्रफुल्लवदनसे निर्दोष भ्रातृमण्डलके साथ रहो। अज्ञानी लोगोंके साथ दयालु हृदय और नम्रवाणीसे तथा नौकरों और घरके लोगोंके साथ सज्जनता तथा सुशीलतापूर्वक बर्ताव करो।

मैत्रेयी

महर्षि याज्ञवल्क्यके दो पत्नियाँ थीं—एक तो महर्षि भरद्वाजकी पुत्री कात्यायनी थीं, दूसरी 'मित्र' ऋषिकी कन्या मैत्रेयी। मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी हुईं। जब भगवान् याज्ञवल्क्य संन्यास लेने लगे तो उन्होंने अपनी दोनों पत्नियोंको बुलाकर कहा—'मेरा विचार अब संन्यास लेनेका है; अत: मेरी जो भी सम्पत्ति है उसे मैं तुम दोनोंमें बराबर-बराबर बाँट देना चाहता हूँ, जिससे पीछे झगड़ा न हो। इस विषयमें तुम्हारी क्या सम्मति है सो कहो।'

कात्यायनी यह सुनकर चुप रहीं। तब मैत्रेयीने कहा—'भगवन्! इस नश्वर सम्पत्तिको लेकर हम क्या करेंगी। यह तो क्षणिक है, दूसरे क्षणमें नाश होनेवाली है। हमें तो आप वह सम्पत्ति दें जिसके कारण आप यथार्थ सम्पत्तिवान् समझे जाते हैं। उसी सम्पत्तिकी हमें अधिकारिणी बनाकर उसमेंसे हिस्सा दीजिये।'

याज्ञवल्क्यजीने मैत्रेयीको बहुत समझाया कि सम्पत्तिसे किस तरह संसारमें सुख मिलता है, किस प्रकार बिना धन-सम्पत्तिके असुविधा होती है; किन्तु मैत्रेयीने उसे स्वीकार नहीं किया। उसने कहा—'भगवन्! संसारी सुखोंका मूल्य ही क्या है? नाशवान् वस्तुके भरण-पोषणमें इतनी चिन्ताकी क्या जरूरत। मुझे तो वह ज्ञान दीजिये जिससे यह सब प्रपंच ही विलीन हो जाय।'

अपनी ब्रह्मवादिनी पत्नीकी बातें सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य गद्‌गद हो गये। वे अत्यन्त ही प्रसन्न हुए, प्रसन्न होकर वे बोले—'देवि! तुम मुझे पहलेसे ही बहुत प्यारी थीं, किन्तु आज इस उत्तरको सुनकर तो मैं तुमपर बहुत ही अधिक प्रसन्न हुआ। तुमने मुझे खरीद लिया। देवि! यथार्थ बात यही है, सच्चा धन तो ब्रह्मज्ञान ही है।'

यह कहकर महर्षिने मैत्रेयीको ब्रह्मज्ञानका उपदेश दिया। उपनिषद्‌का वह उपदेश अद्वितीय है, मैत्रेयी उसे प्राप्त करके कृतार्थ हो गयी। उसने अपना जीवन सफल बनाया और सच्चे ज्ञानकी उपलब्धि की। यथार्थमें यही तो सच्ची सम्पत्ति है जो भगवती मैत्रेयीने अपने ब्रह्मज्ञानी पतिसे प्राप्त की थी। —प्र० ब्रह्मचारी

वाचक्नवी गार्गी

गर्गवंशमें एक वचक्नु नामके महर्षि थे, उन्हींकी ब्रह्मवादिनी पुत्रीका नाम वाचक्नवी था। गर्गगोत्रमें उत्पन्न होनेके कारण वे गार्गी नामसे सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्‌में इनका याज्ञवल्क्यजीके साथ बड़ा ही सुन्दर शास्त्रार्थ आता है। एक बार महाराज जनकने श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानीकी परीक्षाके निमित्त एक सभा की और एक सहस्र सवत्सा सुवर्णकी गौएँ बनाकर खड़ी कर दीं। सबसे कह दिया—'जो ब्रह्मज्ञानी हों वे इन्हें सजीव बनाकर ले जायँ।' सबकी इच्छा हुई, किन्तु आत्मश्लाघाके भयसे कोई उठा नहीं। तब याज्ञवल्क्यजीने अपने एक शिष्यसे कहा—'बेटा! इन गौओंको अपने यहाँ हाँक ले चलो।'

इतना सुनते ही सब ऋषि याज्ञवल्क्यजीसे शास्त्रार्थ करने लगे। भगवान् याज्ञवल्क्यजीने सबके प्रश्नोंका यथाविधि उत्तर दिया। उस सभामें ब्रह्मवादिनी गार्गी भी बुलायी गयी थीं। सबके पश्चात् याज्ञवल्क्यजीसे शास्त्रार्थ करने वे उठीं। उन्होंने पूछा—'भगवन्! ये समस्त पार्थिव पदार्थ जिस प्रकार जलमें ओतप्रोत हैं, उस प्रकार जल किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञवल्क्य-जल वायुमें ओतप्रोत है।

गार्गी-वायु किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञ०-वायु आकाशमें ओतप्रोत है।

गार्गी-अन्तरिक्ष किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञ०-अन्तरिक्ष गन्धर्वलोकमें ओतप्रोत है।

गार्गी-गन्धर्वलोक किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञ०-गन्धर्वलोक आदित्यलोकमें ओतप्रोत है।

गार्गी-आदित्यलोक किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञ०-आदित्यलोक चन्द्रलोकमें ओतप्रोत है।

गार्गी-चन्द्रलोक किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञ०-नक्षत्रलोकमें ओतप्रोत है।

गार्गी-नक्षत्रलोक किसमें ओतप्रोत है।

याज्ञ०-देवलोकमें ओतप्रोत है।

गार्गी-देवलोक किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञ०-प्रजापतिलोकमें ओतप्रोत है।

गार्गी-प्रजापतिलोक किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञ०-ब्रह्मलोकमें ओतप्रोत है।

गार्गी-ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है?

तब याज्ञवल्क्यजीने कहा—'गार्गि! अब इससे आगे मत पूछो।' इसके बाद महर्षि याज्ञवल्क्यजीने यथार्थ सुख वेदान्ततत्त्व समझाया, जिसे सुनकर गार्गी परम सन्तुष्ट हुई और सब ऋषियोंसे बोली—'भगवन्! याज्ञवल्क्य यथार्थमें सच्चे ब्रह्मज्ञानी हैं। गौएँ ले जानेका जो उन्होंने साहस किया वह उचित ही था।'

गार्गी परम विदुषी थीं, हमारे देशकी एक महामूल्यवान् रत्न थीं। वे आजन्म ब्रह्मचारिणी रहीं!

—प्र० ब्रह्मचारी

सावित्री

सती सावित्री प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी राजर्षि अश्वपतिकी एकमात्र कन्या थीं। अपने वरकी खोजमें जाते समय उसने निर्वासित और वनवासी राजा द्युमत्सेनके पुत्र सत्यवान्‌को पतिरूपसे स्वीकार कर लिया। उनके चरणोंमें अपना हृदय चढ़ा दिया। जब देवर्षि नारदने उनसे कहा कि सत्यवान्‌की आयु केवल एक वर्षकी ही शेष है तो सावित्रीने बड़ी दृढ़ताके साथ कहा—'जो कुछ होना था सो तो हो चुका। हृदय तो बस, एक बार ही चढ़ाया जाता है। उस चढ़ाये हुए हृदयको सती अपने प्राणधनके चरणोंसे कैसे लौटा सकती है?' माता-पिताने भी बहुत समझाया, परन्तु सती अपने धर्मसे नहीं डिगी!

सावित्रीका सत्यवान्‌के साथ विवाह हो गया। सत्यवान् बड़े धर्मात्मा, माता-पिताके भक्त एवं सुशील थे। सावित्री राजमहल छोड़कर जंगलकी कुटियामें आ गयी। आते ही उसने सारे वस्त्राभूषणोंको त्यागकर सास-ससुर और पति जैसे वल्कलके वस्त्र पहनते थे वैसे ही पहन लिये और अपना सारा समय अपने अन्धे सास-ससुरकी सेवामें बिताने लगी। दिनोंके जाते क्या देर लगती है, वर्ष पूरा होनेको आया। सत्यवान्‌की मृत्युका दिन निकट आ पहुँचा।

सत्यवान् अग्निहोत्रके लिये जंगलमें लकड़ियाँ काटने जाया करते थे। आज सत्यवान्‌के महाप्रयाणका दिन है। सावित्री बड़ी चिन्तित हो रही है। सत्यवान् कुल्हाड़ी उठाकर जंगलकी तरफ लकड़ियाँ काटनेको चले। सावित्रीने भी साथ चलनेके लिये अत्यन्त आग्रह किया। सत्यवान्‌की स्वीकृति पाकर और सास-ससुरसे आज्ञा लेकर सावित्री भी पतिके साथ वनमें गयी। सत्यवान् लकड़ियाँ काटनेको वृक्षपर चढ़े, परन्तु तुरंत ही उन्हें चक्कर आने लगा और वे कुल्हाड़ी फेंककर नीचे उतर आये। पतिका सिर अपनी गोदमें रखकर सावित्री उन्हें अपने अंचलसे हवा करने लगी।

थोड़ी देरमें ही उसने भैंसेपर चढ़े हुए, काले रंगके सुन्दर अंगोंवाले, हाथमें फाँसीकी डोरी लिये हुए, सूर्यके समान तेजवाले एक भयंकर देव-पुरुषको देखा। उसने सत्यवान्‌के शरीरसे फाँसीकी डोरीमें बँधे हुए अँगूठेके बराबर पुरुषको बलपूर्वक खींच लिया। सावित्रीने अत्यन्त व्याकुल होकर आर्त स्वरमें पूछा—'हे देव! आप कौन हैं और मेरे इन हृदयधनको कहाँ ले जा रहे हैं?' उस पुरुषने उत्तर दिया—'हे तपस्विनी! तुम पतिव्रता हो, अत: मैं तुम्हें बताता हूँ कि मैं यम हूँ और आज तुम्हारे पति सत्यवान्‌की आयु क्षीण हो गयी है, अत: मैं उसे बाँधकर ले जा रहा हूँ।' तुम्हारे सतीत्वके तेजके सामने मेरे दूत नहीं आ सके, इसलिये मैं स्वयं आया हूँ। यह कहकर यमराज दक्षिण दिशाकी तरफ चल पड़े।

सावित्री भी यमके पीछे-पीछे जाने लगी। यमने बहुत मना किया। सावित्रीने कहा—'जहाँ मेरे पतिदेव जाते हैं या किसीके द्वारा ले जाये जाते हैं वहाँ मुझे जाना ही चाहिये। यह सनातन धर्म है।' यम बार-बार मना करते रहे, परन्तु सावित्री पीछे-पीछे चलती गयी। उसकी इस दृढ़ निष्ठा और पातिव्रतधर्मसे प्रसन्न होकर यमने एक-एक करके वररूपमें सावित्रीके अन्धे सास-ससुरको आँखें दी, खोया हुआ राज्य दिया, उसके पिताको सौ पुत्र दिये और सावित्रीको लौट जानेको कहा। परन्तु सावित्रीके प्राण तो यमराज लिये जा रहे थे, वह लौटती कैसे? यमराजने फिर कहा कि सत्यवान्‌को छोड़कर चाहे सो माँग लो, सावित्रीने कहा—यदि आप प्रसन्न हैं तो माँगा कि मुझे सत्यवान्‌से सौ पुत्र प्रदान करें। यमने बिना ही सोचे प्रसन्न मनसे

तथास्तु कह दिया। वचनबद्ध यमराज आगे बढ़े। सावित्रीने कहा—'मेरे पतिको तो आप लिये जा रहे हैं और मुझे सौ पुत्रोंका वर दिये जा रहे हैं। यह कैसे सम्भव है?' उसने कहा—

न कामये भर्तृविनाकृता सुखं
न कामये भर्तृविनाकृता दिवम्।
न कामये भर्तृविनाकृता श्रियं
न भर्तृहीना व्यवसामि जीवितुम्॥

'मैं पतिके बिना सुख, स्वर्ग और लक्ष्मी, किसीकी भी कामना नहीं करती। बिना पतिके मैं जीना भी नहीं चाहती।'

वचनबद्ध यमराजने सत्यवान्के सूक्ष्म शरीरको पाशमुक्त करके सावित्रीको लौटा दिया, और सत्यवान्को चार सौ वर्षकी नवीन आयु प्रदान की। यह है भारतीय सतीत्वशक्तिका अमोघ सामर्थ्य। ऐसा उदाहरण संसारके इतिहासमें अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। —'माधव'

अनसूया

पतिव्रता देवियोंमें श्रीअनसूयाजीका स्थान सबसे ऊँचा है। वे अत्रि-ऋषिकी परम पतिपरायणा पत्नी थीं। उनके सम्बन्धमें बहुत-सी लोकोत्तर कथाएँ शास्त्रोंमें सुनी जाती हैं। जब भगवान् श्रीराम महारानी सीताके साथ महर्षि अत्रिके आश्रममें गये तो श्रीअनसूयाजीने सीताजीको पातिव्रतधर्मकी विस्तारपूर्वक शिक्षा दी थी। उत्तम पतिव्रता स्त्रीका लक्षण बतलाती हुई वे कहती हैं—

उत्तमके अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥

श्रीअनसूयाजीका चरित्र वास्तवमें ऐसा ही है। उनके सम्बन्धमें एक बड़ी रोचक कथा है। एक बार ब्रह्माणी, लक्ष्मी और गौरीमें यह विवाद छिड़ा कि सर्वश्रेष्ठ पतिव्रता कौन है? अन्तमें तय यही हुआ कि अत्रिपत्नी श्रीअनसूया ही इस समय सर्वश्रेष्ठ पतिव्रता हैं। इस बातकी परीक्षा लेनेके लिये ब्रह्मा, विष्णु और शंकर तीनों ब्राह्मणके वेशमें अत्रि-आश्रमपर पहुँचे। अत्रि ऋषि किसी कार्यवश बाहर गये हुए थे। अनसूयाने अतिथियोंका बड़े आदरसे स्वागत किया। तीनोंने अनसूयाजीसे कहा कि हमलोग तभी आपके हाथकी भीख लेंगे जब आप अपने सब वस्त्रोंको अलग रखकर भिक्षा देंगी। सती बड़े धर्म-संकटमें पड़ गयी। वह भगवान्को स्मरण करके कहने लगीं—'यदि मैंने पतिके समान कभी किसी दूसरे पुरुषको न देखा हो, यदि मैंने किसी भी देवताको पतिके समान न माना हो, यदि मैं सदा मन, वचन और कर्मसे पतिकी आराधनामें ही लगी रही हूँ तो मेरे इस सतीत्वके प्रभावसे ये तीनों अभीके पैदा हुए बच्चे हो जायँ।' सतीका प्रभाव अमोघ होता है। तीनों देव नन्हें-नन्हें बच्चे होकर श्रीअनसूयाजीकी गोदमें खेलने लगे। वास्तवमें पातिव्रतधर्मपरायणा देवियोंके लिये कुछ भी असम्भव नहीं। —'माधव'

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

यदि तुमने ईश्वरको पहचान लिया है तो तुम्हारे लिये एक वही दोस्त काफी है। यदि तुमने उसको नहीं पहचाना है तो उसे पहचाननेवालोंसे दोस्ती करो।

ऊपर चढ़नेकी सीढ़ियाँ ये हैं—

सांसारिक पदार्थोंके पीछे दौड़ना छोड़ना।

सांसारिक विषयोंसे विरक्त होना।

परमात्मयोगके मार्गको पकड़ना।

निर्मलता और प्रभुप्रेम प्राप्त करना।

सती अनसूया

सती सावित्री

[३७३
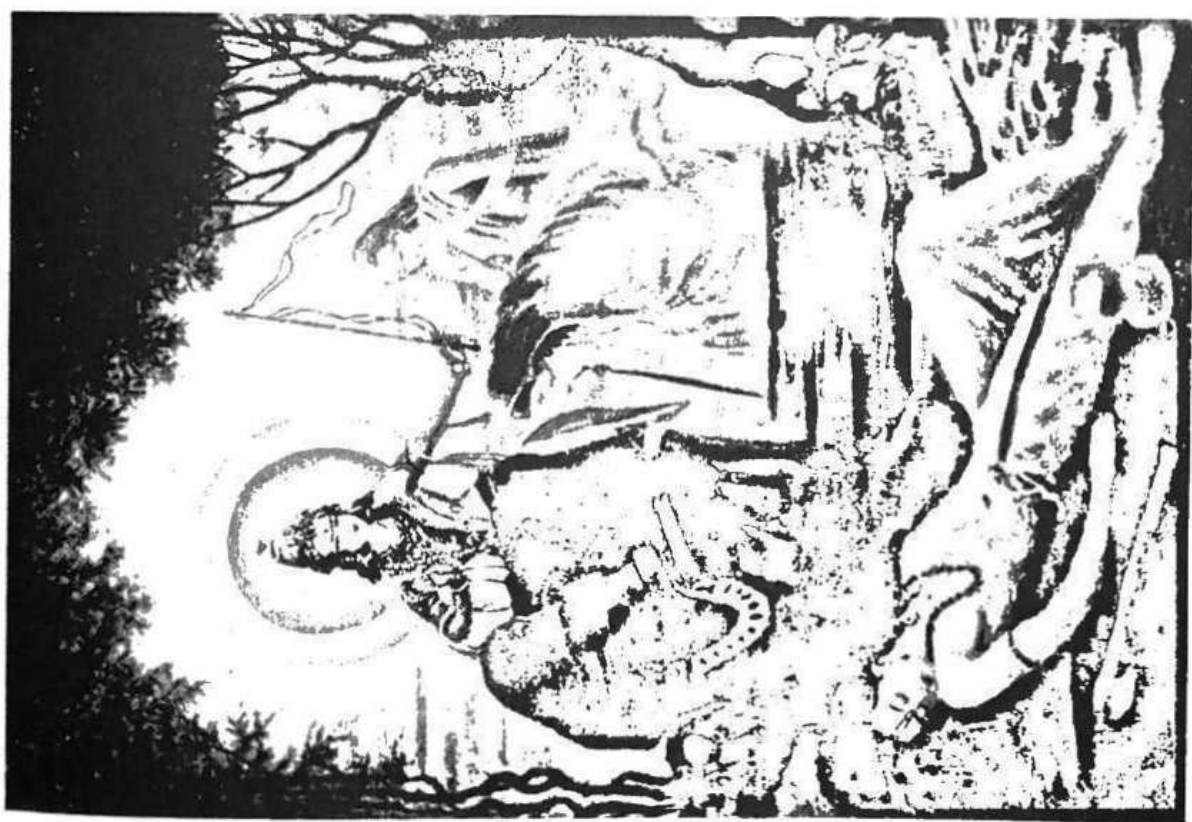
सती शाण्डिली

[३७३

सती दमयन्ती

शाण्डिली

प्राचीन कालमें कौशिक नामका एक ब्राह्मण प्रतिष्ठानपुरमें रहता था। वह अत्यन्त क्रोधी, निष्ठुर एवं कोढ़ी था। उसकी पत्नी शाण्डिली पतिव्रता एवं निष्ठावती थी। वह अपने पतिको हर तरहसे प्रसन्न रखनेकी चेष्टा किया करती थी। एक बार वह ब्राह्मण किसी सुन्दरी वेश्याको देखकर उसपर मोहित हो गया और उसके घर ले चलनेके लिये अपनी स्त्रीसे आग्रह करने लगा। उसकी स्त्रीने पहले तो उसे बहुत समझाया, परन्तु जब वह किसी तरह भी माननेको तैयार नहीं हुआ तो उसे विवश होकर अपने पतिकी आज्ञा माननी पड़ी। वह अपने पतिको कंधेपर बैठा और साथमें कुछ रुपये लेकर अँधेरी रातमें वेश्याके घरकी तरफ चल पड़ी। रास्तेमें शूलविद्ध अणिमाण्डव्य ऋषि तपस्या कर रहे थे। अँधेरेमें उन्हें उस कोढ़ी ब्राह्मणके पैरका धक्का लगा, जिससे माण्डव्य ऋषिने बिगड़कर शाप दिया कि प्रात:काल सूर्योदय होते ही इस नराधमका प्राणान्त हो जायगा। अब तो सती घबड़ायी। उसने सोचा कि यदि प्रात:काल सूर्योदय हो ही नहीं तब तो मेरे पतिके प्राण बच सकते हैं, अन्यथा नहीं; अत: उसने भी अपने पातिव्रतके बलपर कहा कि 'जबतक मैं नहीं कहूँगी सूर्योदय होगा ही नहीं।' सतीका वचन अन्यथा कैसे हो सकता था। सूर्यदेवकी गति रुक गयी। दस दिनतक सूर्य नहीं उगे। समस्त ब्रह्माण्डमें हाहाकार मच गया। सभी देवता चिन्तित होकर जगत्पिता ब्रह्माजीके पास गये और उनके सम्मुख संसारके इस महान् कष्टका वर्णन किया। ब्रह्माजीने सतीके प्रभावका सारा वृत्तान्त देवताओंको सुनाकर प्रसिद्ध सती अत्रि-पत्नी अनसूयाको प्रसन्न करके इस कष्टका निवारण करनेको प्रार्थना करनेके लिये कहा। सभी देवता अत्रि-आश्रमपर पहुँचे और अनसूयाजीको अपना दु:ख सुनाया। देवताओंकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर अनसूया जगत्-हितकी इच्छासे उस ब्राह्मणपत्नीके पास जाकर बोलीं—'हे देवि! तुम अपना संकल्प त्याग दो, नहीं तो अकालमें ही प्रलय हो जायगा। सूर्योदय होनेपर तुम्हारे पतिके प्राण त्याग करते ही मैं उन्हें अपनी सतीत्व शक्तिसे पुन: जिला दूँगी और उसका शरीर भी नीरोग हो जायगा।' सतीकी बात सतीने मान ली। सूर्य उदय हुए, और सूर्योदय होते ही ब्राह्मणका मृत शरीर जमीनपर गिर पड़ा। श्रीअनसूयाजीके सतीत्वके प्रतापसे वह पुनर्जीवित एवं रोगरहित और युवा बनकर उठ खड़ा हुआ। उसके सारे मानस रोग भी मिट गये। देवतालोग श्रीअनसूयाजी एवं सती शाण्डिलीको नाना प्रकारके वर देकर स्वर्गको चले गये।

—माधव

दमयन्ती

विदर्भ-नरेश भीमकी पुत्री दमयन्तीका विवाह राजा नलके साथ हुआ था। नलने धर्मानुसार प्रजाका रंजन करके 'राजा' नामको सार्थक किया था। उसके रूप-गुणसम्पन्न एक पुत्र और एक सुन्दरी पुत्री हुई जिनका नाम इन्द्रसेन और इन्द्रसेना था।

एक दिन नलके कपटी एवं दुष्ट भाई पुष्करने नलको जुआ खेलनेको निमन्त्रण दिया। दमयन्तीके सामने बार-बार दिये हुए पुष्करके निमन्त्रणको न सह सकनेके कारण द्यूतप्रिय राजा नलने जुआ खेलना स्वीकार कर लिया। कलिसे प्रभावित राजा नल पुष्करके साथ दो महीनेतक जुआ खेलते रहे। दमयन्ती एवं मन्त्रियोंने राजाको समझानेकी बहुत चेष्टा की, परन्तु नलने किसीकी एक न सुनी और दाव-पर-दाव लगाते गये और प्रति बार हारते गये। यह देखकर भविष्यमें सर्वनाशकी आशंकासे दमयन्तीने अपने विश्वासी सारथीके साथ अपने पुत्र इन्द्रसेन एवं पुत्री इन्द्रसेनाको राजा भोजके पास कुण्डिनपुर भेज दिया। इधर राजा नल जुएमें सारा राज्य एवं धन हार गये। उन्होंने अपने शरीरसे सारे बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण उतार दिये और एक साधारण वस्त्र धारण करके वह जंगलकी तरफ चल दिये। पतिप्राणा दमयन्ती भी केवल एक साड़ी पहनकर उनके साथ हो गयी। दमयन्तीके साथ नल तीन दिन नगरके बाहर भूखे पड़े रहे। पुष्करकी कठोर आज्ञाके कारण कोई भी नगरवासी उन्हें आश्रय नहीं दे सका। भूखसे व्याकुल राजा नल चौथे दिन कुछ फल-फूल खाकर दमयन्तीके साथ जंगलकी तरफ

आगे बढ़े। उन्होंने कुछ सुनहले पंखोंवाले सुन्दर पक्षियोंको उड़ते देखा। उन्हें पकड़नेके लिये राजाने अपनी धोती फेंकी। वे पक्षी उसे लेकर उड़ गये। कुछ समय पहले जो एक महान् शक्तिशाली राजा थे, अब वही नल नंगे होकर भूखों मरते हुए, अपनी प्रियाके साथ दुःख भोगते हुए जंगलमें भटक रहे हैं।

नलने सुकुमारी दमयन्तीको अपने पीछे दुःख पाते देखकर उसे बार-बार उसके पिताके घर चले जानेको कहा। इससे अत्यन्त दुखी होकर दमयन्तीने कहा—'प्राणनाथ! बार-बार आपके इस संकल्पका विचार करके मेरा हृदय फटा जाता है। आप राज्यभ्रष्ट हुए, धनहीन हुए, आपके शरीरपर वस्त्रतक नहीं रहा और आप भूख और थकावटसे व्याकुल हो रहे हैं, इस विपत्तिकालमें आपको अकेले छोड़कर मैं कैसे जा सकती हूँ? मैं छायाकी तरह साथ रहकर आपकी सेवा करूँगी और आपके इस महान् दुःखको दूर करूँगी। आप जो बार-बार मुझे विदर्भ-देशका रास्ता बतलाते हैं इससे मुझे बड़ा दुःख होता है।' दमयन्तीके ये वचन सुनकर राजा नल चुप हो गये और दमयन्तीके साथ एक छायादार वृक्षके नीचे पड़ रहे। दमयन्तीको तो पड़ते ही नींद आ गयी पर दमयन्तीकी चिन्तासे व्याकुल नलकी आँखोंमें नींद कहाँ? उन्होंने सोचा यदि मैं इसे यहाँ सोयी हुई छोड़ जाऊँगा तो यह अपने पिताके पास विदर्भ-देश जाकर सुखपूर्वक रहेगी, नहीं तो मेरे साथ रहकर तो यह दुःख-ही-दुःख पावेगी। यह सोचकर राजा नलने दमयन्तीकी साड़ीका आधा हिस्सा तलवारसे काटकर धारण कर लिया और उसे वहीं हिंस्र जन्तुओंसे भरे भयंकर जंगलमें भगवान्‌के भरोसे अकेली छोड़कर चल दिये।

इधर जब दमयन्तीकी नींद खुली तो वह नलको अपने पास न देखकर जोर-जोरसे उन्हें पुकारती और शोक एवं विलाप करती हुई हिंसक जीवोंसे युक्त भयानक जंगलमें पतिकी खोजमें घूमने लगी। घूमते-घूमते वह एक महाकाय अजगरके पास जा पहुँची। अजगर दमयन्तीको निगलना ही चाहता था कि दमयन्तीका विलाप सुनकर एक व्याधा वहाँ आ पहुँचा और उसने अजगरको मारकर दमयन्तीको बचा लिया। तदनन्तर उस व्याधाके मनमें पाप आ गया और उसने सतीके सामने पापका प्रस्ताव रखा। व्याधाके दुष्ट भावको देखकर दमयन्तीने बड़े रोषपूर्ण शब्दोंमें कहा—

यद्यहं नैषधादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथायं पततां क्षुद्रो परासुर्मृगजीवनः॥

'यदि मैंने राजा नलके सिवा अन्य पुरुषका स्वप्नमें भी चिन्तन न किया हो तो यह मृगजीवी व्याधा प्राणरहित होकर गिर पड़े!' यह कहकर दमयन्तीने तीक्ष्ण दृष्टिसे उसकी ओर देखा, व्याधा सतीके प्रभावसे तुरंत भस्म हो गया।

इसके बाद दमयन्ती पतिवियोगमें व्याकुल होकर पहाड़ों, नदियों, सरोवरों, वृक्षों एवं जंगलके पशु-पक्षियोंसे पतिका पता पूछती हुई और विलाप करती एवं रोती हुई बहुत दिनोंतक जंगलमें घूमती रही। दमयन्तीके दुःखोंका कोई ठिकाना नहीं था। इस प्रकार अनेक कष्ट सहती हुई दमयन्ती चेदिदेशमें जा पहुँची। और वहाँकी राजमाता अपनी मौसीके पास जा रही।

इधर जब दमयन्तीके पिता राजा भीमको नल-दमयन्तीके इस महान् दुःखकी खबर मिली तो उन्होंने अनेकों सुयोग्य ब्राह्मणोंको उनकी खोजमें भेजा! सुदेव नामका एक ब्राह्मण खोजते-खोजते चेदिदेश जा पहुँचा और उसने दमयन्तीको पहचान लिया। राजमाताकी आज्ञा लेकर दमयन्ती अपने पिताके घर आ गयी और अपने पतिकी खोजमें ब्राह्मणोंको भेजकर राज-दिन उनके वियोगदुःखसे जलती हुई उनकी प्रतीक्षा करने लगी और अन्तमें जब उसे पर्णाद नामक एक ब्राह्मणके द्वारा पता लगा कि राजा नल बाहुक नाम रखकर सारथीरूपसे छिपकर अयोध्याधिपति राजा ऋतुपर्णके यहाँ रहते हैं तो उसने पुनः स्वयंवरके बहाने राजा ऋतुपर्णके साथ नलको भी बुलवा लिया और उन्हें अच्छी तरह पहचानकर उनके साथ कुछ दिन अपने पिताके यहाँ सुखपूर्वक रही। फिर राजा नलने पुष्करको जुएमें हराकर अपना राज्य वापिस ले लिया और दमयन्तीके साथ रहकर राज्य करने लगे।

—माधव

कौसल्या

बन्दौं कौसल्या दिसि प्राची। कीरति जासु सकल जग माची॥

जगत्-पिता परमात्मा जिनके यहाँ अवतरित हुए उन भाग्यवती जगन्माताके विषयमें कोई कह ही क्या सकता है? पूर्वजन्ममें जो मनु और शतरूपा थे, वे ही इस जन्ममें दशरथ और कौसल्याके रूपमें प्रकट हुए। महारानी कौसल्या कोसल देशके महाराजाकी पुत्री थीं। ऐसी कथा पुराणोंमें आती है कि रावणको यह पता था कि मेरे मारनेवाले कौसल्याजीके गर्भसे उत्पन्न होंगे, अतः वह बाल्यकालमें ही कौसल्याजीको उठा लाया और एक पेटीमें बन्द करके उन्हें नदीमें छोड़ दिया। दैवयोगसे सुमन्तजीको वह पेटी मिल गयी और वे उसे उठा लाये।

महारानी कौसल्या महाराज दशरथजीकी सबसे बड़ी पटरानी थीं। कैकेयीके साथ विवाह होनेके पश्चात् महाराज विशेषकर कैकेयीके ही भवनमें रहते थे, इससे महारानी कुछ उदास रहती थीं। पुत्रेष्टि यज्ञके बाद कौसल्याजीके यहाँ रघुकुलचन्द्र साक्षात् श्रीराम अवतीर्ण हुए। तबसे इनका सम्पूर्ण समय पूजा-पाठ और देवाराधनमें ही व्यतीत होता था।

कालके कुचक्रसे कैकेयीने ठीक राज्याभिषेकके समय श्रीरामका चौदह वर्षका वनवास और भरतका राज्याभिषेक माँगा। महाराज यह सुनकर बेहोश हो गये। श्रीरामजीको जब सब बातें मालूम हुईं तो वे वनवासके लिये तैयार होकर माताजीसे आज्ञा माँगने गये। उस समय माताके दुःखका क्या पूछना है, पहले ही क्षण जिस पुत्रके राज्याभिषेककी मनोकामना कर रही थीं, अब वही पुत्र चौदह वर्षको साधुवेषमें वन जा रहा है। माताका हृदय टूक-टूक हो गया और वे अत्यन्त दुःखके साथ आँसू बहाती हुई कहने लगीं—

पूत परम प्रिय तुम सबहीके। प्रान प्रानके जीवन जीके॥
ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ। मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ॥

अन्तमें माताने हृदयको कड़ा किया, दुःखको रोका, और छातीपर वज्र रखकर उन्होंने रोते-रोते कहा—

जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊँ। करि अनाथ जन परिजन गाऊँ॥

सीताजी भी साथ जानेको हठ करने लगीं। माताजीने उनकी भी सिफारिश की। वे पातिव्रतधर्मको जानती थीं। पतिके बिना सती-साध्वी पतिव्रता पत्नीको कितना कष्ट होता है, इसका उन्हें अनुभव था; अतः उन्होंने सीताजीके जानेमें कोई विशेष आपत्ति नहीं की, इतना ही कहा 'यदि सीता घर रहे तो मुझे एक सहारा रहे।' श्रीरामजीके बहुत समझानेपर भी जब सीताजी नहीं मानीं तब रामजीने उन्हें भी साथ चलनेकी अनुमति दे दी।

सीता-लक्ष्मणके साथ श्रीरामजी वनको चले गये। राजा अत्यन्त दुखी हुए। मूर्छित हो गये और कौसल्याजीके ही भवनमें जाकर रहे। कौसल्याजीने एक वीरपत्नी और वीरमाताकी भाँति महाराजको भाँति-भाँतिसे धैर्य बँधाया, किन्तु महाराजका वियोग-दुःख कम नहीं हुआ, उन्होंने राम-राम पुकारते हुए इस नश्वर शरीरको त्याग दिया। महारानी कौसल्याने पुत्रदर्शनकी लालसासे अपने शरीरको रखा।

पीछे भरतजी आये, उन्होंने भाँति-भाँतिकी शपथें खायीं कि इस मामलेमें माता! मेरा तनिक भी हाथ नहीं है। तब माताने अत्यन्त स्नेहके साथ कहा—'बेटा! तुम यह क्या कह रहे हो, तुम्हारी जो सम्मति बताते हैं वे पापी हैं, क्रूर हैं। भला रामवनवासमें तुम्हारी सम्मति हो ही कैसे सकती है?'

राम प्रान तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रान तें प्यारे॥
भये ज्ञान बरु मिटै न मोहू। तुम्ह रामहिं प्रतिकूल न होहू॥

भरतजी सब लोगोंको साथ लेकर श्रीरामजीको लौटाने चित्रकूट गये, वहाँ बहुत प्रकारसे श्रीरामजीकी प्रार्थना की। दोनों पुत्रोंको समान समझकर माता एकदम तटस्थ रहीं। वहाँ उन्होंने जनकपत्नीसे भरतके विलाप और उनकी दीनताको देखकर इतना जरूर कहा था—

लखन राम सिय जाहु बन, भल परिनाम न पोच।
गहबरि हिय कह कौसिला, मोहि भरतकर सोच॥
भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई॥
कहत सारदहुकी मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे॥

अन्तमें भरतजी श्रीरामकी पादुका लेकर लौट आये और नन्दिग्राममें तपस्यापूर्वक जीवन बिताने लगे। माता कौसल्या भी पुत्रदर्शनलालसासे भाँति-भाँतिके जप-तप करने लगीं। अन्तमें वह समय भी आया जब लोगोंने कहा कि—'लंका विजय करके सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामजी आ रहे हैं।' अहा! माताके उस आनन्दका क्या ठिकाना—

कौसिल्यादि मातु सब धाईं। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाईं॥
जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परबस गईं।
दिन अंत पुर रुख स्त्रवत थन हुंकार करि धावत भईं॥
अति प्रेम प्रभु सब भाँति भेंटी बचन मृदु बहुबिधि कहे।
गइ बिषम बिपति बियोगभव तिन्ह हरष सुख अगनित लहे॥

श्रीकौसल्याजीने पतिमरण, पुत्रवियोग, पुत्र-वधूका वियोग ये सब असह्य दु:ख केवल श्रीरामके दर्शनोंकी लालसासे सहे और अन्तमें श्रीरामजीके साथ-ही-साथ वे उनके साकेतधामको गयीं। ऐसी माताके स्मरणमात्रसे ही अनेक जन्मोंके पाप नाश होते हैं। —प्र० ब्रह्मचारी

सुमित्रा

महाराज दशरथजीकी प्रधान तीन पटरानियोंमें श्रीसुमित्राजी दूसरी पटरानी हैं। इनके जैसा पातिव्रत, त्याग, समानभाव विरली नारियोंमें मिलेगा। इन्होंने कभी किसीको बुरा नहीं कहा, कभी किसीका अनिष्ट नहीं चाहा, कभी किसीकी शिकायत नहीं की और न कभी अपने पुत्रोंको अपना माना। महाराज दशरथजीने जब पुत्रेष्टि यज्ञ किया तो उसमें जो अग्निदेवसे खीर मिली उसे रानियोंमें बाँटा, सुमित्राजीको उन्होंने स्वयं नहीं दिया। एक भाग कौसल्यासे और एक भाग कैकेयीजीसे दिलवाया। औरोंके एक-एक पुत्र हुए, इनके लक्ष्मण और शत्रुघ्न दो पुत्र हुए। इन्होंने उसी समय निश्चय कर लिया कि ये दोनों पुत्र मेरे नहीं हैं, जिन्होंने मुझे हवि दिया, उन्हींके ये पुत्र हैं, अत: एक पुत्र लक्ष्मणजीको तो श्रीरामजीकी सेवामें समर्पण कर दिया और दूसरेको भरतजीकी सेवामें। ये दोनों ऐसे मिल गये कि सामान्य तरहसे कोई समझ नहीं सकता कि राम और लखन तथा भरत और शत्रुघ्न ये सहोदर भाई नहीं हैं। दोनों जोड़ी ऐसी प्रसिद्ध हो गयी कि सुमित्राजी बिल्कुल अलग हो गयीं। इन्होंने कभी अपने पुत्रोंको अपना कहकर नहीं पुकारा।

कैकेयी महाराजकी विशेष प्रिय थीं, उन्हें पतिप्रेमका अभिमान भी था। अत: ये सदा कौसल्याजीकी ही सेवामें रहती थीं, उन्हींके ही महलमें उनकी ही सेवामें इनका सब समय व्यतीत होता था। श्रीरामचन्द्रजीके अभिषेकमें इन्हें इतनी प्रसन्नता थी कि स्वयं इन्होंने भाँति-भाँतिके मणिमय चौक पूरे—

चौकइ चारु सुमित्रा पूरी। मनिमय बिबिध भाँति अति रूरी॥

विधाताको कुछ और ही मंजूर था, राज्याभिषेक न होकर श्रीरामजीको चौदह वर्षका वनवास हुआ, नगरमें हाहाकार मच गया। कौसल्याजीने रोते-रोते पुत्रको वनवासी होनेकी आज्ञा दी। जानकी पीछे पड़ गयीं, उन्हें भी श्रीरामने साथ चलनेकी अनुमति दे दी। अब लक्ष्मणजी भला कैसे रह सकते थे। उन्होंने भी श्रीरामजीसे साथ चलनेकी आज्ञा माँगी। श्रीरामजीने उन्हें हर तरहसे समझाया, धर्म बताया, नीति सिखायी किन्तु ये माने नहीं। अन्तमें विवश होकर रघुनन्दनने कहा—'तो अच्छी बात है माता सुमित्राजीसे आज्ञा ले आओ।' बस, फिर क्या था, ये माता सुमित्राजीके महलोंमें पहुँचे। माताने उनके मुखको मलिन देखकर कारण पूछा। लक्ष्मणजीने सब कथा संक्षेपमें सुना दी। श्रीरामजीके वनवासकी बात सुनकर सुमित्राजी मूर्छित हो गयीं। उन्हें शरीरका होश नहीं रहा, लक्ष्मणजी घबड़ाये कि कहीं पुत्रस्नेहके वशीभूत होकर यह मना न कर दे, किन्तु यह उनका व्यर्थका सन्देह था। माताने तो कभी पुत्रको अपना समझा ही नहीं। उन्होंने उसी समय स्पष्ट कहा—

तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही॥

राम-सीता ही तुम्हारे पिता-माता हैं। मैं तो केवल जन्म देनेवाली हूँ। श्रीरामचन्द्रजी वन जा रहे हैं, तो इसमें अब पूछनेकी क्या बात है? तुम्हारा कर्तव्य तो निश्चित ही है, तुम्हारे लिये दुविधाकी कौन-सी बात है?

जौ पै सीय राम बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं॥

तुम्हारा एकमात्र काम श्रीरामजीकी सेवा है, जब श्रीरामजी यहाँ रहेंगे ही नहीं तो तुम बेकार यहाँ क्यों रहोगे? निरन्तर सेवामें लगे रहनेका सौभाग्य बड़े भाग्यसे मिलता है। यहाँ भी तुम श्रीरामजीकी सेवा करते थे, किन्तु यहाँ हजारों दास-दासी होनेके कारण कुछ सेवा बँट जाती थी। जितनी चाहिये उतनी तुम नहीं कर सकते थे। केवल तुम्हारे भाग्यको बड़ा बनानेके लिये ही श्रीराम वन जा रहे हैं, वहाँ तुम्हें निरन्तर सेवा करनेका सुअवसर प्राप्त होता रहेगा। नहीं तो उनका वनमें काम ही क्या था?

तुम्हरेहि भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥

माताने पुत्रको भाँति-भाँतिकी शिक्षा दी, सेवकके धर्म बताये और अन्तमें बड़ी ही प्रसन्नताके साथ बोलीं—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥

श्रीरामजीको ही दशरथ जानना, सीताजीको ही मेरी तरह माता समझना, अरण्यको ही अयोध्यापुरी समझना। हे बेटा! तुम सुखपूर्वक जाओ।

श्रीसीता-लक्ष्मण-सहित रामजी वनको चले गये। महाराज दशरथ परलोकवासी हुए। कौसल्याजीका दुःख अपार हो गया, वे सदा दुखी, चिन्तित, विरहातुर बनी रहतीं, सुमित्राजी सदा उन्हींकी देख-रेखमें लगी रहतीं। उन्हें अपने पुत्रोंके विछोहका दुःख नहीं था, वे कौसल्याजीके दुःखमें सदा दुखी रहतीं और उन्हें सुखी बनानेका भरसक प्रयत्न करती रहतीं। कौसल्याजी दुःख करतीं, रोतीं, विलाप करतीं, तब ये उन्हें भाँति-भाँतिके उपदेश देकर समझातीं। कितनी रात्रि बीत गयी है, क्या समय हो गया है, इन बातोंकी याद दिलातीं। सारांश कि इनका सम्पूर्ण समय रामकाजमें जाता। इनका-जैसा अलौकिक प्रेम बड़ा ही दुर्लभ है। इनके जीवनमें त्याग, सेवा, संयम, गम्भीरता और प्रेमका अत्यन्त ही उत्कृष्ट सम्मिश्रण है। हमारे देशमें यदि ऐसी सती साध्वी देवी उत्पन्न हों, तो ये जो आये दिन रोज कलह होती है यह कभी न हो। भगवान् करे इस देशमें पुनः माता सुमित्रा-जैसी देवियाँ उत्पन्न हों।

—प्र० ब्रह्मचारी

कैकेयी

तुलसी जस भवितव्यता, तैसी होय सहाय।
आपु न आवे ताहिपै, ताहि तहाँ ले जाय॥

जीवनमें यश-अपयश भी भाग्यका खेल है। जिसे यश मिलना होता है, उसे अनायास मिल जाता है। इच्छा न होनेपर भी इसी प्रकार उसके कुछ भी न करनेपर उसे अपयश भी मिल जाता है। कैकेयीजीको अपयश मिलना था। इसलिये प्रायः साधारण लोग उन्हें बुरा-भला कहा करते हैं, यदि वास्तविक स्थिति देखी जाय तो ऐसी बात है नहीं।

कैकेयीजी केकय देशके महाराजाकी पुत्री थीं। ये अपने रूप-गुण-सौन्दर्यमें जगद्विख्यात थीं। चक्रवर्ती महाराज दशरथने केकयनरेशसे इनके लिये प्रार्थना की। उन्होंने कह दिया—आपके साथ सम्बन्ध करनेमें मेरा अहोभाग्य है, किन्तु मैं अपनी पुत्रीको राजमहिषी होनेके साथ ही राजमाता भी देखना चाहता हूँ, आपके यहाँ और भी बड़ी रानियाँ हैं अतः राज्याधिकार उनके पुत्रोंको होगा। अतः मैं अपनी कन्या न दूँगा। महाराजने वचन दिया कि 'तुम्हारी कन्याके ही पुत्रको राज्य मिलेगा।' विवाह हो गया। कैकेयीजीको कुछ पता ही नहीं, वे सरल थीं, उनमें छल-कपट बिल्कुल नहीं था।

तीनों रानियोंके पुत्र हुए। स्वभावतः रानियोंमें महारानी कैकेयीको राजा बहुत मानते थे और पुत्रोंमें श्रीरामजीको। महाराज अधिकतर महारानी कैकेयीके भवनमें रहते थे, अतः श्रीरामजी भी वहीं रहे। यहाँतक कि कौसल्याजी भी उन्हें यही समझाती थीं कि तुम्हारी असली माता वे ही हैं। कैकेयीको भी श्रीरामजी भरतजीसे भी अधिक प्यारे थे। बिना श्रीरामको भोजन कराये वे भोजन नहीं करती थीं। ये सभी उद्गार उनके मुखसे उस समय निकले थे जब मन्थराने यह समाचार जाकर सुनाया कि कल श्रीरामजीका राज्याभिषेक होनेवाला है। उस समय सुनते ही महारानीको कितनी प्रसन्नता हुई, उनका छिपा हुआ रामस्नेह व्यक्त हो उठा, वे प्रसन्नताके आवेगमें कहने लगीं—

रामतिलकु जौं साँचेहु काली। देउँ माँगु मन भावत आली॥
कौसल्या सम सब महतारी। रामहिं सहज सुभाय पियारी॥
मोपर करहिं सनेह बिसेखी। मैं करि प्रीति परीछा देखी॥

मेरेपर रामका कौसल्याजीसे भी अधिक अनुराग है, यह मैं अपने अनुमानसे ही नहीं कह रही हूँ, कई बार मैंने परीक्षा लेकर देख भी लिया है। श्रीरामजी तो मेरे प्राणोंसे भी अधिक प्यारे हैं—

जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू। होहु राम सिय पूत पतोहू॥
प्रानतें अधिक राम प्रिय मोरे। तिनके तिलक छोभु कस तोरे॥

कैकेयीजीने दासी मन्थराको डाँटा और कहा—'क्या तू हममें फूट डलवाना चाहती है? भरत-राममें भेद पैदा करना चाहती है? खबरदार! जो फिर ऐसी बात मुँहसे निकाली तो—

भरत सपथ तोहि सत्य कहु, परिहरि कपट दुराउ।
हरष समय बिसमउ करसि, कारन मोहि सुनाउ॥

जब कुबरीने देखा यहाँ मेरी दाल नहीं गलनेकी, तो रोष प्रकट किया, आँसू बहाये, रूठ गयी। अपनी सेवाका बखान किया, हितैषिता दिखायी। जब सरल कैकेयीको उसने मुट्‌ठीमें कर लिया तो श्रीरामतिलकके विरुद्ध उसने इतनी बातें बतायीं—

१—देखो, तुम तो सीधी हो, समझती नहीं। सौत-सौतमें स्वाभाविक वैर होता है, सौत सदा सौतको नीचा दिखाना चाहती है। कौसल्या भी तुम्हें नीचा दिखानेपर तुली है।

२—राजाको उन्होंने वशमें कर लिया है। राजा ऊपरसे मीठे हैं, मनमें कुछ और सोचते हैं। वे तुम्हें मनसे प्यार थोड़े ही करते हैं।

३—तुम सोचो राज्याभिषेक कितना बड़ा उत्सव है, भरतको खबरतक नहीं दी।

४—उसे राजधानीसे बाहर निकाल दिया।

५—राम राजा बनेंगे तो भरतको जेलखानेमें डाल देंगे और तुम्हें कौसल्याकी दासी बनकर रहना पड़ेगा।

समयकी बात, प्रारब्धका खेल, देवताओंकी माया, सरस्वतीकी प्रेरणा, कैकेयीके मनमें ये बातें बैठ गयीं। जब हमारा मन किसीसे फिर जाता है तो उसकी सच्ची बातोंमें भी कपट दीखने लगता है, उसकी सीधी बात भी बुरी लगती है। सन्देह ही मनुष्यके पापको बढ़ाता है। यही हुआ। इसीलिये कैकेयी बदनाम भी हुई, श्रीरामजीको वन जाना पड़ा।

जब भरतजीने आकर उन्हें खूब डाँटा, बुरा-भला कहा और राज्यको किसी प्रकार भी ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया, तब कैकेयीजीको अपनी गलती मालूम हुई। उन्हें बड़ी लज्जा आयी, वे अपने कियेपर उम्रभर पश्चात्ताप करती रहीं। श्रीरामजीने भी भरतसे बार-बार कहा, माता निर्दोष हैं, उनका कुछ भी दोष नहीं, यह तो प्रारब्धका खेल है, और श्रीरामजी सर्वप्रथम कैकेयीके ही घर आये। आगे भी उन्होंने माताको जैसा सम्मान देना चाहिये वैसा ही कैकेयीजीको दिया। सचमुच कैकेयी एक सरल, सीधी और रामजीको प्राणोंसे अधिक प्यार करनेवाली सच्ची स्नेहमयी माता थीं। किन्तु विधिका विधान, देवताओंके कार्यके लिये उन्होंने अपने सिर बुराईका बोझ उठा लिया। सचमुच रामकाजके लिये ही कैकेयीने इतिहासमें अपनेको बदनाम किया। यही तो प्रेमकी पराकाष्ठा है!

—प्र० ब्रह्मचारी

मन्दोदरी

अहल्या द्रौपदी तारा कुन्ती मन्दोदरी तथा।
पञ्चकन्याः स्मरेन्नित्यं महापातकनाशिनी॥*

मन्दोदरी मयदानवकी पुत्री थी, मय अपनी कन्याको लेकर उसके लिये योग्य वरकी खोजमें घूम रहे थे, वे चाहते थे, मेरी कन्याको महाबली, त्रैलोक्यविजयी शिवभक्त वर मिले। उन्होंने रावणकी ख्याति सुनी और उससे प्रार्थना की। मन्दोदरीके अपूर्व रूप, गुण, सौन्दर्यको देखकर रावणने मन्दोदरीके साथ विवाह कर लिया।

मन्दोदरी बड़ी पतिव्रता थी, परन्तु रावण जो अन्याय करता था, वह उसे पसंद नहीं था। जब पंचवटीसे रावण सीताजीको हर लाया तब मन्दोदरीने उसे भाँति-भाँतिसे समझाया, कि 'आप यह ठीक नहीं कर रहे हैं, श्रीरामजी साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, उनसे वैर करना ठीक नहीं है। आप सोचें तो सही, लक्ष्मणजी पंचवटीसे जाते समय एक साधारण-सी रेखा खींच गये थे, आप उसे भी नहीं लाँघ सके! उनका एक मामूली-सा दूत आया, वह भी बन्दर, उसने आकर आपके सामने ही सैनिकोंको मारा और आपके पुत्रको यमपुर पहुँचाया, सबके देखते-देखते भरी-पूरी लंकामें आग लगाकर भाग गया, कोई उसका बाल भी बाँका न कर सका। उनके पराक्रम छिपे थोड़े ही हैं। जगद्विख्यात हैं। आप क्या जानते नहीं। महाराज विदेहकी सभामें कितने राजा इकट्‌ठे हुए थे, आप भी तो वहाँ थे। सीताजीको जीतनेकी आपकी भी तो अभिलाषा थी। वहीं आपने अपना पराक्रम दिखाकर सीताजीको क्यों नहीं जीत

* अहल्या, द्रौपदी, कुन्ती, तारा और मन्दोदरी इन पाँचोंको शास्त्रोंमें कन्या कहा गया है, इनका जो नित्य स्मरण करता है, उसके महापातकोंका नाश होता है।

लिया ? वहींपर धनुषको तोड़ते, सबके सामने सीताजीको लाते, तब तो आपकी बहादुरी भी थी, अब चोरीसे अकेलेमें दूसरेकी स्त्रीको लाकर कैद कर लेना यह सर्वथा नीतिके, धर्मके, मर्यादा तथा सदाचारके विरुद्ध है। इतना ही नहीं, श्रीरामके अनेक पराक्रम जगविख्यात हैं—

बधि बिराध खर दूखनहिं, लीला हतेउ कबन्ध।
बालि एक सर मारेउ, तेहि जानहु दसकंध!॥

—पतिको शिक्षा देना स्त्रीका धर्म नहीं, किन्तु रामविमुख होनेपर पतिको भी प्रेमपूर्वक समझाना सती साध्वी महिलाओंका कर्तव्य है। श्रीराम तो परात्पर हैं, जगत्‌के पति हैं, अखिल ब्रह्माण्डोंके स्वामी हैं, इसे सती मन्दोदरी जानती थी। इसीलिये उन्होंने समझाया और जब रावण बार-बार तपसी-तपसी कहकर श्रीरामजीकी अवहेलना करने लगा, तब उसने बड़े जोरसे कहा—

अंगद हनुमत अनुचर जाके। रन बाँकुरे बीर अति बाँके॥
तेहि कहुँ पिय! पुनि पुनि 'नर' कहहू। मुधा मान ममता मद बहहू॥
अहह कंत! कृत राम बिरोधा। काल बिबस मन उपज न बोधा॥

सचमुच रावणने अपनी पतिव्रता पत्नीकी बात नहीं मानी, वह कालके वशमें था, भावी उसे विवश कर रही थी, अन्तमें उसे श्रीरामचन्द्रजीके बाणका लक्ष्य बनना पड़ा। श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा उसका वध हुआ, भगवान्‌के हाथसे मरकर वह परमधामको प्राप्त हुआ। जिस समय वह समरमें मारा गया और उसका निर्जीव शरीर पृथ्वीपर पड़ा था, उस समय रोते-रोते मन्दोदरी वहाँ गयी और अत्यन्त विलाप करती हुई कहने लगी—

जगत बिदित तुम्हारि प्रभुताई। सुत परिजन बल बरनि न जाई॥
राम बिमुख अस हालतुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनिहारा॥
अब तव सिर भुज जंबुक खाहीं। राम बिमुख यह अनुचित नाहीं॥

पतिव्रताने अपने पतिको रामविमुख समझकर यथाशक्ति समझाया—प्रेमसे, रोषसे उसे अन्ततक समझाती रही। वह नहीं माना और बराबर भगवान्‌के विरुद्ध कार्य किया, इतनेपर भी भगवान्‌ने उसे परमपद दिया, इसीको स्मरण करके मन्दोदरी रोते-रोते अपने मृतक पतिके शरीरके सामने कहती है—

जान्यो मनुज करि दनुज कानन दहन पावक हरि स्वयं।
जेहि नमत सिव ब्रह्मादि सुर पिअ भजेहु नहिं करुनामयं॥
आजन्म ते परद्रोह रत पापौघमय तव तनु अयं।
तुम्हहूँ दियो निज धाम राम नमामि ब्रह्म निरामयं॥
अहह नाथ रघुनाथ सम, कृपासिन्धु नहिं आन।
जोगि बृंद दुर्लभ गति, तेहि दीन्हि भगवान॥

इस प्रकार भगवान्‌के प्रति अनन्य भक्ति रखते हुए भी मन्दोदरीने अपना पातिव्रत्य नहीं छोड़ा। राक्षसोंकी उस समयकी कुलरीतिके अनुसार रावणके बाद जब विभीषणजी राजा हुए तो मन्दोदरी उनकी पटरानी हुई। एक तो उस समय राक्षसोंमें यह प्रथा थी, दूसरे मन्दोदरीकी गणना पंच कन्याओंमें है अतः उनका कन्यापन दूषित नहीं हुआ। रावण-जैसा पति और मेघनाद-इन्द्रजीत-जैसा पुत्र जिसके हो और फिर भगवान्‌के प्रति अनन्य भक्ति हो, ऐसी देवीके चरणोंमें बार-बार प्रणाम है।

—प्र० ब्रह्मचारी

शबरी

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥*

भक्ति किसीकी बपौती नहीं, वह तो भगवद्दत्त प्रसाद है। बहुत-से साधन दूसरे साधनोंकी अपेक्षा रखते हैं किन्तु भक्ति निरपेक्ष है। 'माधव तो भक्तिप्रिय हैं।' उन्हें कोई भी भज सकता है। उसमें देश, काल, कुल, गोत्र, वय, पुरुषत्व, स्त्रीत्वका भेद नहीं। प्रेमसे जिसने माधवका नाम लिया वही उनका अपना हो गया। भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है **'न मे भक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः'**—किसी ब्राह्मणने चारों वेदोंको पढ़ लिया है और वह भक्त नहीं, तो वह मेरा प्यारा नहीं और यदि चाण्डाल होकर जिसने कुछ भी न पढ़ा हो वह मेरा भक्त हो तो वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। भक्तिमती शबरी उन्हीं प्रभुकी परमप्रिय भक्त नारियोंमेंसे एक सुप्रसिद्ध नारी-भक्त हो गयी है।

शबर भील जातिको कहते हैं। यह एक जंगली

* अहो यह ध्रुव सत्य है, हे प्रभो! जिसकी जिह्वापर आपका नाम है वह श्वपच भी श्रेष्ठ है, उस श्रेष्ठ पुरुषने सभी तप तप लिये, सभी यज्ञ कर लिये, सभी तीर्थोंमें स्नान कर लिया, सभी वेद पढ़ लिये, जो तुम्हारे नामोंको लेता है।

जाति होती है, अधिकतर इनके यहाँ बलिदान और मांसमदिराका बहुत प्रचार है। शबरीके पिता भीलोंके राजा थे। शबरी जब विवाहयोग्य हुई तो इनके पिताने एक दूसरे भीलकुमारसे इनका विवाह पक्का किया। विवाहके दिन निकट आये। सैकड़ों बकरे-भैंसे बलिदानके लिये इकट्ठे किये। शबरीने पूछा—'ये सब जानवर क्यों इकट्ठे किये गये हैं?' उत्तर मिला—'तुम्हारे विवाहके उपलक्षमें इन सबका बलिदान होगा।' भक्तिमती भोली बालिकाका सिर चकराने लगा। यह कैसा विवाह जिसमें इतने प्राणियोंका वध हो। इस विवाहसे तो विवाह न करना ही अच्छा। ऐसा सोचकर वह रात्रिमें उठकर जंगलमें चली गयी और फिर लौटकर घर नहीं आयी।

दण्डकारण्यमें हजारों ऋषि-मुनि तपस्या करते थे, शबरी हीन जातिकी थी, स्त्री थी, बालिका थी, अशिक्षिता थी। उसमें संसारकी दृष्टिमें भजन करनेयोग्य कोई गुण नहीं था किन्तु उसके हृदयमें 'प्रभुके लिये सच्ची चाह' थी, जिसके होनेसे सभी गुण स्वतः ही आ जाते हैं। वह रात्रिमें दो बजे उठती; जिधरसे ऋषि निकलते उस रास्तेको नदीतक झाड़ आती। कँकड़ीली जमीनमें बालू बिछा आती। जंगलमें जाकर लकड़ी काटकर डाल आती। इन सब कामोंको वह इतनी तत्परतासे छिपकर करती कि कोई ऋषि देख न लें। इस प्रकार वह सैकड़ों वर्षतक करती रही। अन्तमें मतंग ऋषिने उसपर कृपा की और ब्रह्मलोक जाते समय उससे कह गये कि मैं तेरी भक्तिसे प्रसन्न हूँ। भगवान् स्वयं आकर तेरी कुटीपर ही तुझे दर्शन देंगे।

भगवान् अयोध्यापुरीमें अवतीर्ण हुए। माता कैकेयीके कारण उन्हें वनवास हुआ। श्रीसीता और लक्ष्मणसहित वे दण्डकारण्यमें आ रहे हैं, यह बात सर्वत्र फैल गयी। शबरीको भी पता चला। बस, फिर क्या था, गुरु महाराज कह ही गये हैं, भगवान् स्वयं पधारेंगे। सुबह उठते ही शबरी सोचती—'प्रभु आज अवश्य ही पधारेंगे।' यह सोचकर जल्दी-जल्दी दूरतक रास्तेको बुहार आती, पानीसे छिड़काव करती। गोबरसे जमीन लीपती। जंगलमें जाकर मीठे-मीठे फलोंको चाख-चाखकर लाती, ताजे-ताजे पत्तोंके दोने बनाकर रखती। ठंडा जल खूब साफ करके रखती और माला लेकर रास्तेपर बैठ जाती। एकटक निहारती रहती। तनिक-सी आहट पाते ही उठ खड़ी होती। बिना खाये-पीये सूर्योदयसे सूर्यास्ततक बैठी रहती। जब अँधेरा हो जाता तो उठती, सोचती आज प्रभु किसी मुनिके आश्रमपर रह गये होंगे, कल जरूर आ जायँगे। बस, कल फिर इसी तरह बैठती और न आनेपर कलके लिये पक्का विचार करती, ताजे फल लाती। इस प्रकार उसने बारह वर्ष बिता दिये। गुरुके वचन असत्य तो हो नहीं सकते। आज नहीं तो कल जरूर आवेंगे इसी विचारसे वह निराश कभी नहीं हुई। अन्य ऋषि-मुनि निश्चिन्त थे। कोई सोचता भगवान् आवेंगे तो पूछेंगे यहाँ सबसे बड़े तपस्वी कौन हैं? सभी हमें बता देंगे, हमारे यहाँ तो वे आवेंगे ही। कोई श्रेष्ठ कुलके अभिमानमें, कोई सबसे अधिक विद्वत्ताके अभिमानमें, कोई सबसे अधिक ज्ञानी होनेके अभिमानमें बैठे थे। भगवान् आये। सीधे शबरीके आश्रमपर पहुँचे। उन्होंने अन्य ऋषियोंके आश्रमोंकी ओर देखा भी नहीं। शबरीके आनन्दका क्या ठिकाना? वह चरणोंमें लोट-पोट हो गयी। नेत्रके अश्रुओंसे पैर धोये, पलकोंके पाँवड़े बिछाये, हृदयके सिंहासनपर भगवान्‌को बिठाया, भक्तिके उद्रेकमें वह अपने आपेको भूल गयी। सुन्दर-सुन्दर फल खिलाये और पंखा लेकर बैठ गयी। फिर शबरीने स्तुति की, भगवान्‌ने नवधा भक्ति बतलायी, और शबरीको नवधा भक्तिसे युक्त बतलाकर उसे निहाल किया।

ऋषियोंने सुना भगवान् आये और सीधे शबरीके यहाँ चले गये। किसीने सोचा, अरे, हमारा नाम किसीने बताया न होगा, कोई सोचते, अमुक ईर्ष्यासे ले गया होगा, कोई सोचते भूलसे चले गये होंगे। सभी एक-एक करके शबरीके आश्रमपर आ गये। डरते-डरते शबरीने सभीको दूरसे साष्टांग प्रणाम किया। ऋषियोंसे भगवान्‌की बातें होने लगीं। बातों-ही-बातोंमें एक मुनिने पूछा—'प्रभो! आप हम सबके आश्रमोंको छोड़कर पहले यहाँ कैसे पधारे?' भगवान्‌ने सभी ऋषियोंकी चरणवन्दना की और बोले—'भगवन्! समस्त ऋषि-मुनि तो मेरे वन्दनीय हैं ही। मैंने लोगोंसे पूछा, यहाँ भक्त कौन हैं। भक्त पूछनेपर सभीने मुझे शबरीका ही नाम बताया। अतः तपोधनो! मुझे भक्ति बहुत प्यारी है, उसीके आवेशमें मैं यहाँ चला आया।'

बहुत-सी बातें होती रहीं। अन्तमें ऋषियोंने कहा—'भगवन्! हमारी यह पुष्करिणी बड़ी सुन्दर थी,

अरण्यमें यही हमारा जीवन थी, इसका जल बड़ा निर्मल था। अब इसमें कीड़े पड़ गये हैं, किसी तरह इसका जल अच्छा कर दें।' भगवान्‌ने कहा—'महर्षियो! सरोवर या कूपमें कीड़े पड़ जाना, वृक्ष लगानेपर सूख जाना पापका परिणाम माना जाता है, अवश्य ही आपमेंसे किसीसे कोई महान् पाप बन गया है, उसका प्रायश्चित्त होना चाहिये।' बहुत सोचनेपर भी ऋषियोंने अपना कोई पाप नहीं पाया, तब सर्वान्तर्यामी प्रभु बोले—'मुनियो! अनुसन्धान करनेपर मुझे पता चला है कि एक ऋषि नदीतीरसे स्नान करके आ रहे थे, शबरी रास्तेको झाड़ रही थी, अँधेरा हो रहा था, उसने आते हुए उन ऋषिको देखा नहीं। देखते ही वह एक टीलेसे सटकर खड़ी हो गयी। रास्ता बहुत छोटा था ऋषि उधरसे चले आ रहे थे, भूलसे उसके वस्त्रसे उनके पैरोंका स्पर्श हो गया। इसपर उन्हें क्रोध आ गया, शबरीको बहुत भला-बुरा कहा और अन्तमें पुनः शुद्धिकी नीयतसे नदी न जाकर इस पुष्करिणीमें ही उन्होंने स्नान कर लिया। इसीसे इसमें कीड़े पड़ गये हैं। अब इसका प्रायश्चित्त यही है कि शबरीके चरणका जल इसमें डाला जाय, ऐसा करनेसे यह शुद्ध हो जायगा।'

ऋषियोंको अपनी भूल मालूम हुई, उन्होंने भगवान्‌की आज्ञाका पालन किया। पुष्करिणीका जल पुनः निर्मल हो गया। इस प्रकार भगवान्‌ने समस्त ऋषियोंके सम्मुख भक्तिकी महत्ता स्थापित की।

सचमुच भक्तिमती शबरी बड़ी ही लगनकी भगवत्-भक्त हो गयी। उसका-जैसा प्रेम बड़े भाग्यसे भगवान्‌में होता है। शबरीकी उस उत्कण्ठाका अणुमात्र भी अंश यदि इस नीरस जीवनमें आ जाय तो यह जीवन 'जीवन' बन जाय।

—प्र० ब्रह्मचारी

तारा

पतिव्रता तारा कपिराज बालिकी पत्नी थी। इनकी भी गणना पंचकन्याओंमें है। महाबली अंगद इन्हींके पुत्र थे। ये बड़ी पतिपरायणा और सती मानी जाती हैं। जब बालिने सुग्रीवको निकाल दिया तो ताराने उसे बहुत समझाया। 'ये तुम्हारे छोटे भाई हैं, इनसे प्रेम करना चाहिये।' बालिने उससे कहा—'मेरे पीछे वह राजा बन बैठा। न्यायसे उसे मेरे बाद अंगदको गद्दीपर बिठाना चाहिये था। अस्तु। तेरे कहनेसे मैं उसे मारता नहीं।' इसीलिये बालि सदा सुग्रीवकी ओरसे उपेक्षाका भाव रखता था।

जब श्रीरामचन्द्रजीकी सहायता लेकर सुग्रीव बालिसे लड़ने आया तो ताराने बालिको भाँति-भाँतिसे समझाया—देखो! सुग्रीवकी गर्जनासे मालूम पड़ता है, वह एकदम निर्भय हो गया है। जिनका सहारा लेकर वह आ रहा है, उनके बारेमें मैं सुन चुकी हूँ, वे कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, वे साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, अतः उनसे वैर करना ठीक नहीं। कैसा भी हो, है तो तुम्हारा भाई। अब उसकी पीठपर भुवनेश्वर राम हैं, श्रीरामजीके विमुख होकर कौन जय-लाभ कर सकता है—

कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥
सोइ रघुबीर हृदय महँ आनहु। ममता छाँड़ि कहा मम मानहु॥

बालिने कहना नहीं माना, वह सुग्रीवसे लड़ने गया और श्रीरामजीके बाणसे मारा गया। अपने पतिको मरा हुआ सुनकर तारा रोती हुई पतिके मृतक शरीरके समीप आयी और भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगी। श्रीभगवान् भला सतीके विलापको कब देख सकते थे? सतीसे तो वे स्वयं भी डरते हैं। भगवान्‌ने ताराको समझाया—'पतिव्रते! तू सोच क्यों करती है, सोचकी तो कोई बात नहीं। तू अपने पतिके शरीरके लिये सोच करती है तो यह शरीर तेरे सामने पड़ा है, यदि तू इसमें स्थित आत्माके लिये सोच करती है, तो वह नित्य है, शाश्वत है। **'न हन्यते हन्यमाने शरीरे।'** शरीरके नष्ट होनेपर भी आत्मा नष्ट नहीं होता। फिर तेरे पतिको तो सद्गति प्राप्त हुई। जिसकी तुम्हारे-जैसी पतिव्रता पत्नी हो उसकी कभी दुर्गति होती ही नहीं। फिर मेरे बाणसे मारे जानेवालोंको तो मोक्ष निश्चित ही है। अतः तू शोकको छोड़ दे। तू तो नित्य कन्या है।' भगवान्‌के वचनोंसे ताराका मोह दूर हुआ, उसने भगवान्‌के चरणोंकी वन्दना की और फिर भगवान्‌ने जैसी आज्ञा दी वही किया। उस समयकी वानर जातिकी प्रचलित प्रथाके अनुसार बालिके पश्चात् राजा होनेपर तारा सुग्रीवकी पटरानी बनी। उसी भावसे वह सदा सुग्रीवकी भलाईमें तत्पर रही। जब क्रोध

करके लक्ष्मणजी सुग्रीवको डाँटने-डपटने आये, तब ताराने ही उन्हें शान्त किया। इस प्रकार उसका जीवन रामचिन्तन और पतिपरायणतामें ही बीता।

—प्र० ब्रह्मचारी

देवकी

विश्वं यदेतत् स्वतनौ निशान्ते
यथावकाशं पुरुषः परो भवान्।
बिभर्ति सोऽयं मम गर्भगोऽभू-
दहो नृलोकस्य विडम्बनं हि तत्॥*

महाराज उग्रसेनके एक भाई थे, उनका नाम देवक था, महाभाग्यवती देवकीजी उन्हींकी पुत्री थीं। कंस इनका भाई था, ये कंससे छोटी थीं, अतः इन्हें बहुत प्यार करता था। इनका विवाह यदुवंशी श्रीवसुदेवजीसे हुआ। देवकजीने अपनी पुत्रीका विवाह बड़े ही उल्लासके साथ किया। बहुत-सा दहेज वसुदेवजीको दिया और बड़ी धूमधामसे विवाहका समस्त कार्य सम्पन्न हुआ। कंस अपनी बहिनके प्रति स्नेह प्रदर्शित करनेके लिये बिदाईके समय उसके रथको स्वयं हाँकने लगा। रथमें नवविवाहिता देवकीजी और वसुदेवजी बैठे थे, कंस घोड़ोंको हाँक रहा था, इसी समय आकाशवाणी हुई—'अरे ओ मूढ़ कंस! तू जिस बहिनके रथको इतनी प्रीतिसे हाँक रहा है, इसीका अष्टम गर्भ तुझे मारेगा।' बस, फिर क्या था, रंगमें भंग पड़ गयी, अमृतमें विष मिल गया। हर्षके स्थानमें उदासी छा गयी, स्नेहका स्थान द्वेषने ग्रहण कर लिया। क्रोधके आवेशमें कंस रथसे कूद पड़ा। उसने तलवार निकाल ली और देवकीजीकी चोटी पकड़कर बड़े क्रोधके साथ बोला—'बस, न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। विषके वृक्षको ही क्यों बढ़ने दे कि उसके फलोंसे मृत्युकी सम्भावना हो, बढ़नेके पहले वृक्षको ही काट देना बुद्धिमानी है। मैं अभी इस देवकीका अन्त किये देता हूँ।'

पासमें बैठे हुए वसुदेवजीने बड़े धैर्यके साथ उसे समझाया, ज्ञानकी बातें बतायीं। धर्म सुझाया और अन्तमें विश्वास दिलाया कि इसके जितने भी पुत्र होंगे हम सब तुम्हें दे जाया करेंगे। तुम इस अबलाको जो तुम्हारी बहिन है, नवविवाहिता है—क्यों मारते हो? भगवान्‌की प्रेरणा, उसके मनमें यह बात बैठ गयी, उसने देवकीको छोड़ दिया। परन्तु पीछेसे वसुदेवजीके सहित देवकीको कारावासमें बंद कर दिया।

क्रमशः देवकीजीके गर्भसे सात सन्तानें हुई। अपनी प्रतिज्ञानुसार वसुदेवजीने उन्हें कंसको सौंप दिया और उस दुष्टने सभीको मार डाला। अष्टम गर्भमें साक्षात् श्रीमन्नारायण चतुर्भुजरूपमें प्रकट हुए। यह गर्भ देवकीके लिये '**हर्षशोकविवर्धनः**' हुआ। हर्ष तो इस बातका कि साक्षात् भगवान् अवतीर्ण हुए हैं, शोक कंसके अत्याचारोंको लेकर। जब भगवान् अपनी प्रभासे दसों दिशाओंको प्रभान्वित बनाते हुए शंख, चक्र, गदा, पद्मके साथ चतुर्भुजरूपमें प्रकट हुए तो देवकीमाताने उनकी बड़ी स्तुति की और प्रार्थना की—'प्रभो! मैं कंससे बहुत डरी हूँ, वह तुम्हें भी मार डालेगा। अतः उससे मेरी रक्षा करो और अपना यह अलौकिक रूप छिपा लो।' लीलामय भगवान्‌ने कहा—'यदि ऐसा ही है तो मुझे नन्दजीके गोकुलमें भेज दो, वहाँ यशोदाजीके गर्भसे मेरी माया उत्पन्न हुई है, उसे ले आओ।' यह कहकर प्रभु साधारण शिशु हो गये। वसुदेवजी भगवान्‌को नन्दजीके यहाँ पहुँचा आये और वहाँसे कन्याको ले आये। बालक उत्पन्न हुआ है, यह सुनकर कंस आया और उसने उस बालिकाको मार डाला।

भगवान् व्रजमें ही बड़े हुए। देवकी माता अपने हृदयके टुकड़ेको देखनेके लिये तरसती रहीं। उनका मन उस श्यामसुन्दर सलोनी मनमोहिनी मूर्तिके लिये तरसता रहा। कंसको मारकर जब भगवान् देवकीजी और वसुदेवजीके पास आये तो भगवान्‌ने अत्यन्त स्नेह प्रदर्शित करते हुए कहा, आप लोग सदा मेरे लिये उत्कण्ठित रहे, किन्तु मैं आप लोगोंकी कुछ भी सेवा-शुश्रूषा नहीं कर सका। बाल्यकालकी क्रीडाएँ करके बालक माता-पिताको प्रमुदित करता है, मेरे द्वारा यह भी नहीं हो

* श्रीदेवकीजी कहती हैं—प्रलयके अन्तमें जब आप इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको अपनेमें लीन कर लेते हैं तब सम्पूर्ण विश्व आपके उदरमें समा जाता है, किसीको भी अवकाशकी न्यूनता नहीं होती, वे ही आप मेरे गर्भमें आये हैं, यह लोगोंके लिये एक आश्चर्यकी बात है इसपर भला कौन विश्वास करेगा?

सका, अतः आप क्षमा करें—

तत् क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ परतन्त्रयोः।
अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम्॥

इस प्रकार भगवान्ने मातृ-पितृ-भक्ति प्रदर्शित की! जब श्रीमथुरापुरी छोड़कर भगवान् द्वारका पधारे तो देवकीजी द्वारकामें ही भगवान्के समीप रहती थीं। वे उन्हें अपना प्रिय पुत्र ही समझती थीं। पुत्रस्नेह भी कैसा मधुमय सम्बन्ध है, भगवत्ताका उन्हें स्मरण भी नहीं होता था, उनके लिये तो श्यामसुन्दर बालक ही थे, उन्हें अपने हाथसे खिलातीं-पिलातीं, भाँति-भाँतिकी शिक्षाएँ देतीं। मातृस्नेहको व्यक्त करनेके लिये भगवान् भी देवकीजीकी हर प्रकारसे सेवा करते। जन्मके समय भगवान्ने अपने चतुर्भुजरूपसे जो माताको दर्शन दिया था, उसे वे भूल गयीं और अब उन्हें फिर अपना पुत्र ही मानने लगीं। भगवान् तो माताको असली ज्ञान कराना चाहते थे, अतः उनके मनमें एक प्रेरणा की।

माताने जब सुना कि मेरे पुत्र राम-कृष्णने गुरुदक्षिणामें गुरुके मृतक पुत्रको ला दिया तो उन्होंने भी प्रार्थना की कि मेरे भी कंससे जो पुत्र मारे गये हैं, उन्हें ला दो। माताकी ऐसी प्रार्थना सुनकर भगवान् वासुदेव बलदेवजीके सहित पाताललोकमें गये और वहाँसे उन पुत्रोंको ले आये। माताने देखा वे तो अभी उसी अवस्थाके हैं, माता अपने आपेको भूल गयीं। उनके स्तनोंमेंसे दूध टपकने लगा। बड़े स्नेहसे उन्हें गोदीमें बिठाकर दूध पिलाने लगीं। वे भी श्रीकृष्णोच्छिष्ट स्तनको पान करके देवलोकको चले गये। अब माताको ज्ञान हुआ कि ये मेरे साधारण पुत्र नहीं। ये तो चराचरके स्वामी हैं। विश्वके एकमात्र अधीश्वर हैं। माताकी मोह-ममता दूर हो गयी, वे भगवान्के ध्यानमें मग्न हो गयीं।

अन्तमें जब प्रभासक्षेत्रकी महायात्रा हुई और उसमें सब यदुवंशियोंका नाश हो गया तथा भगवान् भी अपने लोकको चले गये तब यह समाचार दारुकके द्वारा वसुदेव, देवकीजीने भी सुना। वे दौड़े-दौड़े प्रभासक्षेत्रमें आये। वहाँ आनन्दकन्द श्रीकृष्ण और बलरामको न देखकर माता देवकीजीने श्रीवसुदेवजीके साथ भगवान्के विरहमें इस पांचभौतिक शरीरसे उसी क्षण सम्बन्ध त्याग दिया। वे उस भगवद्धामको चली गयीं जहाँ उनके प्यारे प्रभु नित्य निवास करते हैं।

—प्र० ब्रह्मचारी

यशोदा

अङ्काधिरूढं शिशुगोपगूढं
स्तनं धयन्तं कमलैककान्तम्।
सम्बोधयामास मुदा यशोदा
गोविन्द दामोदर माधवेति॥*

महाभाग्यवती यशोदाजीके सौभाग्यका वर्णन कौन कर सकता है, जिनके स्तनोंको साक्षात् ब्रह्माण्डनायकने पान किया है। संसारमें अनेक प्रकारके भक्त हैं, उनकी इच्छाके अनुसार भगवान्ने अनेक रूप धारण किये। नीच-से-नीच काम किये, छोटी-से-छोटी सेवा भगवान्ने की। कहीं नाई बनकर पैर दबाये, तो कहीं महार बने। धर्मराजके यज्ञमें सबके चरण पखारते रहे, किन्तु उनको बाँधा किसीने नहीं। छड़ी लेकर ताड़ना देनेका सौभाग्य महाभाग्यवती यशोदाजीको ही हुआ। ऐसा सुख, ऐसा वात्सल्य-आनन्द संसारमें किसीको भी प्राप्त न हुआ, न होगा। इसीलिये महाराज परीक्षित्ने पूछा है, महाभागा यशोदाने ऐसा कौन-सा सुकृत किया था, जिसके कारण श्रीहरिने उनके स्तनोंको पान किया?

नन्दबाबाकी रानी यशोदा मैयाके कोई सन्तान नहीं थी। वृद्धावस्थामें आकर श्यामसुन्दर उनके लाड़ले लाल बने। माताके हर्षका ठिकाना नहीं। आँखोंकी पुतलीकी तरह वे अपने श्यामसुन्दरकी देख-रेख रखने लगीं। यद्यपि वे बाहरसे काम करती थीं, किन्तु उनका मन सदा श्यामसुन्दरकी ओर लगा रहता था। श्यामसुन्दर उनकी आँखोंसे ओझल न हों, मनमोहन सदा उसके हृदयमन्दिरके आँगनमें क्रीडा करते रहें। चर्मचक्षु भी अनिमेषभावसे उन्हें देखती रहें। किन्तु यह बालक अद्‌भुत था, जन्मके थोड़े ही दिन बाद पूतनाने आकर इसे मारना चाहा, वह स्वयं मारी गयी। शकटासुरने माया

* अपनी गोदमें बैठकर दूध पीते हुए बालकृष्णको लक्ष्य करके प्रेमानन्दके उद्रेकमें माता यशोदा प्यारसे कहती हैं—ऐ मेरे गोविन्द! ऐ मेरे दामोदर! बच्चा माधव! बोलो मुन्ना!

फैलायी, उसका भी अन्त हुआ। व्योमासुरने जाल रचा, वह भी यमलोक सिधारा। इस प्रकार रोज ही नये-नये उत्पात होने लगे। माताको बड़ी शंका हुई, बच्चा बड़ा चंचल है। इसकी चंचलता दिन-प्रति-दिन बढ़ती जाती है, पता नहीं, क्या घटना घट जाय। एक दिन माता दूध पिला रही थी, उधर दूध उफना। बच्चेको वहीं जमीनपर रखकर दूधको देखने गयी। चंचल भगवान् ही जो ठहरे। दहीकी मटकी फोड़ दी, माखन फेंक दिया, बन्दरोंको बुला लिया। माताने देखा यह तो बड़ा अनर्थ हुआ, देखते ही भागेगा और पता नहीं कहाँ जाय। धीरे-से पकड़ लिया और बोली—'अब बता, तू बड़ी चंचलता करता है। घरमें टिकता ही नहीं, मैं तुझे बाँधूँगी।' यह कहकर ओखलीसे उन्हें बाँध दिया। जो कभी नहीं बँधे थे वे बँध तो गये, किन्तु उनका बन्धन भी दूसरोंकी मुक्तिके ही लिये था। ओखलीको घसीटते हुए यमलार्जुन वृक्षोंके बीचमें पहुँचे और उन्हें अपने पावन स्पर्शसे शापमुक्त कर दिया। नन्दजीने देखा कि उत्पात बढ़ रहे हैं तो वे अपने शकटोंको जोतकर जाति-बन्धुओं और गौओंके साथ श्रीवृन्दावन चले गये।

वृन्दावनमें उन वृन्दावनविहारीने अनन्त लीलाएँ कीं। उनका वर्णन कौन कर सकता है किन्तु यशोदाजीको जो महान् विकलता हुई, वह एक ही घटना थी। कालियह्रदमें एक विषधर नाग रहता था। उसने समस्त यमुनाजीके जलको विषैला बना दिया था। गेंद उस ह्रदमें गिर गयी। उसीके आधारपर मुरारी कदम्बकी डाली पकड़कर कालियह्रदमें कूद पड़े। सर्वत्र हाहाकार मच गया। व्रजवासी दौड़े आये। यशोदामैयाने भी सुना। भला, उनके दु:खका क्या पूछना है। वे अपने प्यारे बच्चेको न पाकर छटपटाने लगीं। उन्होंने बड़े आर्त-स्वरमें कहा—'अरे, कोई मेरे बच्चेको बचा दो, मुझे मेरे छौनेको दिखा दो।' रोते-रोते वे उस कुण्डमें कूदने लगीं। जैसे-तैसे गोपियोंने उन्हें पकड़ा। जब नागको नाथकर नन्दनन्दन बाहर आ गये तो माताने उन्हें छातीसे चिपटा लिया। प्रेमके अश्रुओंसे नहला दिया!

समय बदला। उन लीलाओंकी स्मृतिका अवसर आया। अक्रूरके साथ घनश्याम मथुरा चले गये। माताको आशा थी जल्दी आवेंगे, किन्तु वह 'जल्दी' फिर आयी नहीं। उसके स्थानमें उद्धव सन्देश लेकर आये! उन्हें देखते ही नन्दजीने प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी। पासमें बैठी हुई वियोगिनी माता अपने पुत्रोंकी सब बातें सुन रही थी। रह-रहकर उसके हृदयमें हूक उठ रही थी। उन स्मरणोंके आते ही माताकी विचित्र दशा हो गयी।

यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा॥

उनकी आँखोंसे प्रेमके अश्रु बह रहे थे, स्तनोंसे दूध निकल रहा था, वे स्मृतियाँ रह-रहकर उसे रुला रही थीं—

'ते हि नो दिवसा गताः'

यशोदा धन्य हैं, जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर बाल-लीलाओंका आनन्द लूटा। देवकीजी तो इस सुखसे वंचित ही रहीं।

—प्र० ब्रह्मचारी

कुन्ती

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥*

हमारे यहाँ शास्त्रोंमें पाँच देवियाँ नित्य कन्याएँ मानी गयी हैं। उनमें महारानी कुन्ती भी हैं। ये वसुदेवजीकी बहिन थीं और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीकी फूआ। महाराज कुन्तिभोजसे इनके पिताकी मित्रता थी, उनके कोई सन्तान नहीं थी, अत: ये कुन्तिभोजके यहाँ गोद आयीं। और उन्हींकी पुत्री होनेके कारण इनका नाम कुन्ती पड़ा। बाल्यकालमें ये साधु-महात्माओंकी बहुत सेवा किया करती थीं, घरमें जो भी कोई अतिथि साधु आता ये हर प्रकारसे उसकी सेवा-शुश्रूषा करतीं। एक बार महर्षि दुर्वासा इनके यहाँ आये और वे बरसातके चार महीने इन्हींके यहाँ ठहर गये। कुन्तीजीने उनकी तन-मनसे खूब सेवा की। चलते समय महर्षि इन्हें एक मन्त्र दे गये और कह गये कि 'सन्तानकामनासे तू जिस किसी देवताका स्मरण करेगी, वह उसी समय अपने

* कुन्तीजी भगवान्से प्रार्थना करती हैं—'हे जगद्गुरो! हमपर सदा विपत्तियाँ ही आती रहें, क्योंकि आपके दर्शन विपत्तिमें ही होते हैं और आपके दर्शन होनेपर फिर इस संसारके दर्शन नहीं होते अर्थात् मनुष्य आवागमनसे रहित हो जाता है।'

दिव्य तेजसे आ जायगा, इससे तेरा कन्याभाव नष्ट न होगा।' ऋषिके चले जानेपर इन्होंने बालकपनके कुतूहलवश भगवान् सूर्यदेवका आवाहन किया। सूर्यदेव आये, ये डर गयीं, उन्होंने आश्वासन दिया, उन्हींसे दानी कर्णकी उत्पत्ति हुई, जिन्हें लोकापवादके कारण इन्होंने नदीमें छोड़ दिया और एक सारथीने अपना पुत्र बनाया। महाराज पाण्डुके साथ इनका विवाह हुआ, वे राजपाट छोड़कर वनको चले गये। वनमें ही इनके धर्म, इन्द्र, पवनके अंशसे युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम आदि पुत्रोंकी उत्पत्ति हुई और इनकी दूसरी सौत माद्रीके अश्विनीकुमारोंके अंशसे नकुल, सहदेवका जन्म हुआ। महाराज पाण्डुका शरीरान्त होनेपर माद्री तो उनके साथ सती हो गयीं और ये बच्चोंकी रक्षाके लिये जीवित रह गयीं। इन्होंने पाँचों पुत्रोंको अपनी ही कोखसे उत्पन्न हुआ माना, कभी स्वप्नमें भी उनमें भेदभाव नहीं किया।

पाण्डवोंको जब देशनिकाला हुआ, तो ये दुःखके साथ विदुरके घरमें रहीं, पुत्रोंकी मंगलकामना ईश्वरसे करती रहीं। इससे पूर्व जब दुर्योधनने लाक्षागृहमें पाँचों पाण्डवोंको जलानेका षड्यन्त्र रचा था, तब माता कुन्ती साथ ही थीं और साथ ही वहाँसे छिपकर भागीं। तब पाण्डवोंपर बड़ी विपत्ति थी। वे भीख माँगकर खाते थे, माता उनकी सब प्रकारसे रक्षा करतीं और सबको यथायोग्य भोजन देतीं। दयावती ये इतनी थीं कि जिस ब्राह्मणके यहाँ रहती थीं उसके घरसे एक दिन उसका पुत्र राक्षसके पास उसके भोजनके लिये जा रहा था। ब्राह्मणी अपने इकलौते पुत्रको जाते देख रो रही थी। माता कुन्तीको दया आयी और कहा—'मेरे पाँच पुत्र हैं, एक चला जायगा।' जब ब्राह्मणीने बहुत मना किया तो बोलीं—'मेरा पुत्र उस राक्षसको मार आवेगा।' ऐसा ही हुआ। भीमने उस राक्षसको मारकर सारी नगरीको सदाके लिये सुखी बना दिया।

ये दयावती होनेके साथ ही वीरमाता थीं। जब जूएमें युधिष्ठिर हार गये और तेरह वर्षके वनवासके बाद भी दुर्योधन पाण्डवोंको कुछ भी देनेके लिये राजी नहीं हुआ, तब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र दूत बनकर हस्तिनापुरमें आये। दुर्योधनको बहुत समझाया, वह माना ही नहीं। उसने स्पष्ट कह दिया—

सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।

'हे माधव! सूईके अग्रभागके बराबर भी पृथ्वी मैं बिना युद्धके न दूँगा।' तब भगवान् माता कुन्तीके पास आये और बोले—'ऐसी दशामें अब तुम अपने पुत्रोंको क्या सन्देश देती हो?' तब कुन्तीजीने बड़ी ही वीरतासे कहा—

'यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः॥'

'क्षत्रियाणी जिस समयके लिये पुत्रोंको पैदा करती है, वह समय—अर्थात् युद्ध करनेका समय—अब आ गया; मेरे पुत्रोंसे कह देना, लड़कर वे अपना अधिकार प्राप्त करें।' यह है एक वीरमाताका पुत्रोंके लिये आदेश!

जिसकी सम्भावना थी, वही हुआ। महाभारतका युद्ध हुआ। अठारह अक्षौहिणी सेनाका संहार हुआ। धृतराष्ट्रके सौ पुत्र मारे गये। गान्धारी पुत्रहीना बन गयी, वह रोती हुई युद्धभूमिमें गयी, कुन्ती उसे पकड़कर ले गयीं और भाँति-भाँतिसे धैर्य बँधाने लगीं। माता कुन्तीने सच्चे मनसे उस पतिव्रता गान्धारीकी सब प्रकारसे सेवा की।

माता कुन्तीने कभी शारीरिक सुख नहीं भोगा, जबसे वह विवाहित होकर आयीं उन्हें विपत्तियोंका ही सामना करना पड़ा। पति रोगी थे, उनके साथ जंगलोंमें भटकती रहीं। वहीं पुत्र पैदा हुए, उनकी देख-रेख की, थोड़े दिन हस्तिनापुरमें पुत्रोंके साथ रहीं, वह भी दूसरेकी आश्रिता बनकर। फिर लाक्षागृहसे किसी प्रकार अपने पुत्रोंको लेकर भागीं और भिक्षाके अन्नपर जीवन बिताती रहीं। थोड़े दिन राज्य-सुख भोगनेका समय आया कि धर्मराज युधिष्ठिर कपटके जूएमें सर्वस्व हारकर वनवासी बने, तब विदुरके घरमें रहकर जैसे-तैसे जीवन बिताती रहीं। युद्ध हुआ, परिवारवालोंका संहार हुआ, इससे कुन्तीको क्या सुख। उन्होंने अपने सुखके लिये युद्धकी सम्मति थोड़े ही दी थी, वह तो उन्होंने क्षत्रियोंका धर्म बताया था। पाण्डवोंकी विजय होनेसे क्या हुआ। वह पाण्डवोंके साथ राज्यभोगमें सम्मिलित नहीं हुईं। उन्होंने तो अपना सम्पूर्ण जीवन अपने उन अन्धे जेठ धृतराष्ट्र और जिठानी गान्धारीकी सेवामें अर्पण कर दिया, जिन धृतराष्ट्र और गान्धारीके पुत्रोंने इन्हें और इनके पुत्रोंको इतने कष्ट दिये थे! गान्धारी और धृतराष्ट्र जब पुत्रवियोगसे दुखी होकर जंगलोंमें चले तो उनकी लाठी पकड़कर पुत्रोंका मोह

छोड़कर कुन्तीदेवी उनके साथ हो लीं। इस प्रकार उनका जीवन सदा विपत्तिमें ही कटा। इस विपत्तिमें भी उन्हें सुख था। वे इस विपत्तिको भगवान्‌से चाहती थीं और हृदयसे इसे विपत्ति मानती भी नहीं थीं।

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

'विपत्ति यथार्थ विपत्ति नहीं है, सम्पत्ति भी सम्पत्ति नहीं। भगवान्‌का विस्मरण होना ही विपत्ति है और उनका स्मरण बना रहे यही सबसे बड़ी सम्पत्ति है।' सो उन्हें भगवान्‌का विस्मरण कभी हुआ नहीं, अतः वे सदा सुखमें ही रहीं।

—प्र० ब्रह्मचारी

द्रौपदी

अग्रे कुरूणामथ पाण्डवानां
दुःशासनेनाहृतवस्त्रकेशा।
कृष्णा तदाक्रोशदनन्यनाथा
गोविन्द दामोदर माधवेति॥*

महाराज द्रुपदके यहाँ यज्ञकुण्डसे द्रौपदीजीका प्रादुर्भाव हुआ। इनके धृष्टद्युम्न और शिखण्डी दो भाई थे। इनका शरीर कृष्णवर्णके कमलके समान सुकुमार और सुन्दर था। इसलिये इनका एक नाम 'कृष्णा' भी था। ये उस समय पृथिवीपर अद्वितीय रूप-लावण्ययुक्त ललना थीं। विवाहयोग्य होनेपर महाराज द्रुपदने इनका स्वयंवर रचा। उसमें एक शर्त थी। एक बड़े भारी बाँसपर एक चक्र लटका था, उसपर एक मछली घूम रही थी। नीचे तेलका कड़ाह था। जो कोई योद्धा उस तेलमें मछलीकी परछाईं देखकर लक्ष्यभेद करेगा उसीके साथ द्रौपदीजीका विवाह होगा। इसे सुनकर बड़े-बड़े राजा, राजकुमार वहाँ आये। उन्हींमें ब्राह्मणवेशधारी पाँचों पाण्डव भी थे, अर्जुनने लक्ष्यभेद किया और द्रौपदी पाण्डवोंको मिलीं।

कई दैवी कारणोंसे द्रौपदी पाँचों पाण्डवोंकी पत्नी हुईं। वे पाँचों भाइयोंको अपने शील, स्वभाव और प्रेममय बर्तावसे प्रसन्न रखती थीं।

जब कपटके जूएमें युधिष्ठिरजी अपने राजपाट, धन-वैभव, यहाँतक कि अपने शरीर और द्रौपदीजीतकको हार गये तब दुर्योधनने अपने भाई दुःशासनके द्वारा महारानी द्रौपदीको भरी सभामें बुलाया। द्रौपदीजीने बड़ी दीनतासे कहा—'देखो, मैं रजस्वला हूँ, एकवस्त्रा हूँ, सभामें जानेयोग्य नहीं, यहीं जो मुझसे कहना हो कहो।' किन्तु दुष्टबुद्धि दुःशासनने उनकी एक भी बात न सुनी। वह उनको पकड़कर घसीटता हुआ सभामें ले गया। सभामें रोते-रोते द्रौपदीजीने सभी सभासदोंसे अपनी रक्षा चाही। दुष्टबुद्धि दुर्योधनने उनकी ओर घृणित इशारा भी किया। किसी ओर अपना कोई रक्षक न देखकर वे बड़ी दुखी हुईं। दुःशासन उन्हें भरी सभामें नग्न करना चाहता था। भीष्म, द्रोणने आँखें मूँद लीं। विदुर उठकर चले गये, सर्वत्र हाहाकार मच गया। जब द्रौपदीजी चारों ओरसे निराश हो गयीं तो उन्होंने आर्त-स्वरमें भगवान्‌को पुकारा। उनकी करुण पुकारको सुनते ही भगवान् उसी क्षण द्वारकासे दौड़े आये और द्रौपदीकी साड़ीमें प्रवेश कर गये; साड़ी इतनी बढ़ गयी कि दस हजार हाथियोंके बलवाला दुःशासन उसे खींचते-खींचते थक गया, किन्तु साड़ीका अन्त नहीं मिला। ***'दस हजार गजबल घट्यो, घट्यो न गजभर चीर।'*** अन्तमें हारकर वह बैठ गया और द्रौपदीकी लाज बच गयी। जिसके रक्षक नन्दनन्दन घनश्याम हैं, उसका भला कोई बिगाड़ ही क्या सकता है।

द्रौपदीजीको एकमात्र भगवान्‌का ही भरोसा था, वे भगवान्‌के भरोसे निश्चिन्त थीं। उनपर बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ आयीं, बड़े-बड़े दुःख पड़े, किन्तु वे सब भगवान्‌की कृपासे क्षणभरमें नष्ट हो गये। **'स्मरतां पादकमलमात्मानमपि यच्छति'**—'जो भगवान्‌के चरण-कमलोंका स्मरण करते हैं उन्हें वे अपने-आपतकको सौंप देते हैं।' इस न्यायसे भगवान् स्वयं उन्हींके हो चुके थे।

एक बार दुर्योधनके कहनेसे सरलहृदय महाक्रोधी दुर्वासा ऋषि दस सहस्र शिष्योंके सहित वनमें महाराज युधिष्ठिरके अतिथि हुए। दुर्योधनने सोचा कि इतने अधिक अतिथियोंका धर्मराज जंगलमें आतिथ्य न कर

* कौरवों तथा पाण्डवोंके सामने जब दुःशासन उनका वस्त्र और केश खींचने लगा तब द्रौपदी वहाँ किसीको अपना रक्षक न देखकर जोर-जोरसे गोविन्द, दामोदर, माधव इन नामोंका उच्चारण करने लगीं।

सकेंगे। इसपर क्रोधी महामुनि पाण्डवोंको अपने शापसे भस्म कर देंगे। जंगलमें द्रौपदीको सूर्यभगवान्ने एक बटलोई दी थी। उसमें यह गुण था कि जबतक द्रौपदीजी स्वयं भोजन न करें तबतक कितने भी आदमी आ जायँ, सभीके लिये उसमें पर्याप्त भोजन हो जाता था, उसमें कभी भोजन घटता नहीं था। दुर्योधनके कहनेसे दुर्वासाजी ठीक उसी समय पहुँचे जब द्रौपदीजी सबको भोजन करानेके बाद स्वयं भोजन करके उस बर्तनको मल चुकी थीं। धर्मराजने क्रोधी ऋषि दुर्वासाका स्वागत किया और प्रार्थना की कि 'आप नदीमें स्नान कर आवें, तबतक भोजन तैयार होता है।' ऋषि भोजनके लिये शीघ्रता करनेको कहकर नदीपर स्नान करने चले गये। इधर धर्मराजने अपना धर्मसंकट द्रौपदीजीसे कहा। द्रौपदीजीको तो एकमात्र उन्हीं द्वारकेशका सहारा था, उन्होंने आर्तस्वरसे श्यामसुन्दरको पुकारा। भक्तभयहारी भगवान् उसी क्षण द्रौपदीजीके सम्मुख उपस्थित हुए और बोले—'कृष्णा! मुझे बड़ी भूख लगी है, कुछ खानेको दो।' द्रौपदीजीने स्नेहभरे रोषके स्वरमें कहा—'तुम्हें सदा हँसी ही सूझती है, कुछ खानेको ही होता तो तुम्हें क्यों बुलाती?' भगवान् गम्भीरतापूर्वक बोले—'उस बटलोहीको देखो, उसमें सम्भव है कुछ लगा हो, बार-बार आग्रह करनेपर देखा तो उसमें कहीं एक पत्ता चिपका था, तीनों लोकोंके स्वामी उस पत्तेको खा गये और बड़े जोरकी डकार ली। उन विश्वात्माकी तृप्तिमें तीनों लोक तृप्त हो गये। महर्षि दुर्वासा और उनकी शिष्यमण्डली तो इतनी तृप्त हुई कि उन्हें खट्टी-खट्टी डकारें आने लगीं। वे जल्दीसे अपनी जान लेकर भागे कि पाण्डव कहीं हमें शाप न दे दें। इस प्रकार द्रौपदीकी लाज भगवान्ने इस घोर जंगलमें भी बचायी।

द्रौपदी राज्यमें भी सदा पतियोंके साथ रहीं और वनमें भी उनके साथ ही जगह-जगह फिरीं। पाँचों पुत्रोंके सिरको काटनेवाले अश्वत्थामाको जब भीम बाँधकर उनके सामने लाये तो उन्होंने उस पुत्रघातीको प्रणाम किया और बोलीं—'**मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः**'—'इसे छोड़ दो छोड़ दो, यह कैसा भी है, है तो हमारे गुरुका पुत्र, मेरी तरह इसकी माता न रोने पावे।' इस प्रकार द्रौपदीजी पातिव्रत, दया, क्षमा और भगवद्भक्तिकी मूर्ति थीं। अपने आदर्श पातिव्रत धर्मसे और व्यवहारनिपुणतासे पाँचों पतियोंको ये प्रसन्न रखती थीं। इनका बर्ताव इतना प्रेमपूर्ण था कि कभी किसीको कुछ शिकायत ही नहीं हुई। यह सब एकमात्र भगवान्के ही ऊपर निर्भर रहनेका फल था। —प्र० ब्रह्मचारी

गोपीजन

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥*

व्रजकी गोपांगनाओंके सम्बन्धमें हम-जैसे पामर पुरुषोंका कुछ कहना ही अपराध है। शुकाचार्यने भी बड़ी ही सावधानीसे श्रीमद्भागवतमें कुछ कहा है। क्योंकि बिना तीनों गुणोंसे परे हुए कोई मनुष्य यथार्थमें गोपी-तत्त्वको समझ ही नहीं सकता। जो बिना समझे केवल उस भावकी नकल करते हैं, उनसे तो पग-पगपर अपराध बननेकी सम्भावना है। सिंहिनीका दूध सुवर्णके ही पात्रमें रह सकता है, दूसरी जगह वह टिक ही नहीं सकता। वह इतना गूढ़ रहस्य है कि आदर्शका भी परम आदर्श माना जाता है। जबतक हृदयमें तनिक भी कामवासना हो, तबतक मनुष्य गोपी-तत्त्वके विषयमें कुछ कहनेका अधिकारी नहीं तबतक तो वह यम, नियम, संयम, ध्यान, धारणा, जप, तप, योग आदिके द्वारा कामवासनाका क्षय करे। तब उसे गोपीप्रेमकी ओर बढ़नेका अधिकार होगा। इसके बिना किये बढ़ेगा तो गिर जायगा। इसीलिये नारदजीने अपने भक्तिसूत्रोंमें गोपियोंको परमप्रेमका आदर्श बताया। सूरदासजी कहते हैं 'गोपी प्रेमकी धुजा'। वे हरिकी परमानन्दिनी परमाह्लादिनी शक्तियाँ ही हैं। भगवान्से भिन्न उनका कोई स्वरूप ही नहीं। उद्धव-जैसे ज्ञानी भी उनके अलौकिक प्रेमको देखकर कह उठे '**आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्**'—मैं यदि वृन्दावनकी कोई लता या गुल्म बन जाता तो कृतकृत्य हो जाता। क्यों? इसलिये कि इन महाभाग्यवती गोपियोंके

* हम उन गोकुलकी व्रजांगनाओंकी चरणरेणुको बार-बार श्रद्धासहित सिरपर चढ़ाते हैं, जिनकी भगवत्सम्बन्धिनी कथाएँ तीनों लोकोंको पावन करनेवाली हैं।

पावन पाद-पद्मोंकी पराग उड़-उड़कर मेरे ऊपर पड़ती।' अहा! जिनकी चरणरेणुको ब्रह्मा आदि देवता तरसते हों उनके सम्बन्धमें कुछ लिखना बड़ी ही धृष्टता है।

गोपी! गोपी! कितना मोहक नाम है। भगवान्के अनन्त नामोंको ले लीजिये; जितना मधुमय, स्निग्ध, चित्तको हठात् आकर्षित करनेवाला उनका 'गोपीजनवल्लभ' नाम है उतना कोई भी नहीं। इसीलिये वैष्णवोंका इष्ट मन्त्र यही है। गोपीजनोंके वल्लभ! अहा! वल्लभका महत्त्व नहीं, महत्त्व तो गोपीजनोंका है। गोपीजन न होते तो इन वल्लभमें इतना माधुर्य आता ही कहाँसे? भगवान्से एक बार पूछा गया—'तुम्हारे गुरु कौन हैं?' उन्होंने कई नाम बताये। तब पूछा गया—'असली गुरु कौन हैं?' श्यामसुन्दर रो पड़े। उनका हृदय भर आया, कण्ठ रुद्ध हो गया। 'गो............' इतना ही कह पाये, आगे कुछ न कह सके। गोपी! अहा! गोपी! वे हमारे श्यामसुन्दरकी परमाराधनीया परम आदरणीया गुरुरूप हैं, हे जगद्गुरुकी भी गुरुरूपा देवीगण! तुम्हारे पादपद्मोंमें पुनः-पुनः प्रणाम है।

श्यामसुन्दरसे पूछा गया,'तुम कभी हारे हो?' वे बोले—'कभी नहीं।' जरासन्धसे डरकर क्यों भागे? कालयवनके सामने भी तो भागे थे। इन सबका समाधान उन्होंने किया। भागना और बात है, हारना और बात है। सिंह जब शिकारको मारता है तो उसे पकड़नेको दस कदम पीछे भी हट जाता है। जोरसे दौड़नेके लिये पीछे हटना ही पड़ता है। यह तो विद्या है, रणकौशल है। हारनेके मानी हैं दूसरेके अधीन हो जाना, उसके हाथकी कठपुतली बन जाना। भगवान्से पूछा गया 'किसीसे नहीं हारे?' वे सोचमें पड़ गये और बोले—'हाँ हारे क्यों नहीं, गोपियोंसे तो हम सदा हारे ही हुए हैं।'

श्यामसुन्दरसे पूछा गया, तुम्हें वेदशास्त्र निर्लेप कहते हैं, तुम क्या लक्ष्मीके बिना रह सकते हो? वे बोले—'अवश्य, इसमें क्या, वह तो मेरी दासी है।' क्या ब्रह्माके बिना रह सकते हो? उन्होंने कहा—'मेरे प्रत्येक श्वासमें अनन्त ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं और प्रश्वासमें बहुत-से ब्रह्मा पेटमें चले जाते हैं।' तो क्या जगत्के बिना भी रह सकते हो? भगवान्ने कहा—'जगत् तो मेरी भ्रुकुटीके संकेतमें पैदा होता है, और पलक मारते ही समाप्त।'

फिर पूछा—'क्या वृन्दावनके बिना, क्या व्रजांगनाओंके बिना रह सकते हो?' श्यामसुन्दर रो पड़े। 'नहीं, यह मैं सुन भी नहीं सकता। रहनेकी बात तो अलग रही।'

गोपी-तत्त्वको अभीतक किसीने ठीक-ठीक समझा ही नहीं। आगे भी कोई यथार्थमें समझेगा, ऐसी आशा नहीं। रसमर्मज्ञ आचार्यगण गोपियोंके चार भेद बताते हैं—नित्य गोपी, ऋचारूपा गोपी, ऋषिरूपा गोपी, पुण्यप्राप्ता गोपी। एक तो सदा जो गोलोकमें भगवान्के साथ रहती हैं, वे गोपिकाएँ वृन्दावनमें अवतरित हुईं। दूसरी वेदकी ऋचाओंने बड़ी तपस्या की थी, वे गोपीरूपमें प्रकट हुईं। तीसरे ऋषियोंने दण्डकारण्यमें प्रभुसे कान्ताभावके रसास्वादनका वरदान माँगा था, वे गोपीरूपमें प्रकट हुए। चौथे जिन्होंने सुकृत कर्मोंसे, ऋषियोंके वरदानसे कृष्णवल्लभा होनेका वरदान पाया था ये सभी कृष्णप्रिया और भगवद्-अनुगामिनी हुईं।

श्रीगोपीजनोंके सम्बन्धमें एक बात और है, जिसे सुनने-समझनेके भी अधिकारी सब नहीं। आजतक इतिहासमें श्रवण-भक्तिके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण महाराज परीक्षित्जी हैं। इनसे बढ़कर श्रोता तो कदाचित् ही कोई हो। क्योंकि इन्होंने स्वयं कहा है—

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्॥

'सबसे अधिक दुःसह भूख और प्यास है सो वह भी मुझे तनिक भी क्लेश नहीं पहुँचा रही है; क्योंकि आपके मुखसे जो हरिकथारूपी अमृत टपक रहा है, उसे पीनेसे मैं सब कुछ भूल गया हूँ।'

शुकदेवजीने यह सोचकर कि बड़ा अच्छा श्रोता है, इसे गोपी-प्रेमकी असली कथा सुनानी चाहिये, कथा आरम्भ की।

'भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः' यहाँसे शुरू किया। भगवान्की वंशी सुनकर कोई बच्चेको पिला रही थी, वह वैसे ही भागी। कोई दूध दुह रही थी वहींसे चल दी। कोई अंजन लगा रही थी, एक ही आँखमें लगा पायी थी, वैसे ही भागी। कोई केश बाँध रही थी, उसी दशामें चल दी। किसीने कहींका वस्त्र कहीं पहन लिया। इस तरह शुकदेवजी बड़ी उमंगमें वर्णन कर रहे थे। बीचमें ही परीक्षित्जी बोल उठे—

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्॥

'हे महामुनि! वे गोपिकाएँ तो भगवान्‌को अपना एक प्रियजन, सुहृद् मानती थीं, उनका श्रीकृष्णमें ब्रह्मभाव तो था नहीं, तब उन्हें संसारसे मुक्ति कैसे मिल गयी? मुक्ति तो ज्ञानके बिना होती नहीं, और उनका चित्त आसक्त था मायाके गुणोंमें।'

शुकदेवजीने अपना माथा ठोंका। 'अरे बाप रे बाप! यह अभी गोपियोंको समझा ही नहीं। कहता है, उन्हें मुक्ति कैसे मिली? ज्ञान तो हुआ ही नहीं? गोपियोंकी और मुक्ति? उनको और ज्ञानकी कमी?' प्रश्न सुनकर शुकाचार्यजी बड़े जोरसे बिगड़े और बोले—

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥

'बाबा! मैं तुझे पहले ही बता चुका हूँ कि अरे दुष्टबुद्धि शिशुपाल उन अखिलेश्वर प्रभुसे द्वेष करके ही मुक्त हो गया। सो भलेमानुस! ये तो उन परमेश्वरकी प्रिया थीं। उन्हें प्यार करती थीं। उनसे कैसे भी सम्बन्ध हो तो सही। जब उनसे द्वेष करनेपर असुरोंको मुक्ति मिलती है, तो प्रेम करनेवालोंको और फिर उन गोपियोंको—जिन्होंने अपना सर्वस्व उन प्रभुको ही समझ रखा है—उन्हें क्या मिलेगा, तुझे कैसे बताऊँ? तू तो अभी मुक्तिके ही चक्करमें है।' बस, इतना कहकर शुकदेवजीने कथाका रुख ही बदल दिया। उन्होंने रुख बदल दिया तो मुझे अब कलम ही बंद कर देनी चाहिये। अच्छा, एक हठी कविका कवित्त और। क्योंकि वे ठहरे हठी। हठीकी तो बात भगवान्‌को भी माननी पड़ती है—

गिरि कीजै गोधन, मयूर नव कुंजनको,
पसु कीजै महाराज नन्दके बगरको।
नर कौन? तौन जौन राधे-राधे नाम रटै,
तरु कीजै बरकूल कालिन्दी कगरको॥
इतनेपै जोई कछु कीजिये कुँवर कान्ह,
राखिये न आनि कछु 'हठी' के झगरको।
गोपी-पद-पंकज-पराग कीजै महाराज!
तृन कीजै रावरेई गोकुल नगरको॥

—प्र० ब्रह्मचारी

विदुरानीकी प्रेम-कहानी

(रचयिता—पं० श्रीतुलसीरामजी शर्मा 'दिनेश')

दोहा—फल मेवा मिष्टान्न सब, दुर्योधनका त्याग।
कृष्णचन्द्र श्रीविदुर घर, चले चाखने साग॥
चरण बढ़ाया भवनको, मनमें अति अनुराग।
मनो भक्ति-नवयुवतिको, देने चले सुहाग॥

तत्काल ही श्रीकृष्णजी निज जन विदुरके घर गये,
भगवान्‌के हृद्धाममें यों भाव उज्ज्वल भर गये।
क्या कुछ दशा होगी विदुरकी देखकर आया मुझे,
जन संकुचित होगा, हँसेगी आज तो माया मुझे॥
सम्मान सामग्री बिना कैसे करेगा आज वह?
दुर्योधनी-सम्पत्ति लख आहें भरेगा आज वह!
वह आजतक धन-रहित भी धन-सहित-सा मनमें रहा,
पर आज मेरे ही लिये वह कष्ट पायेगा महा॥
सम्मानका तो एक भी बस, पान मुझको है घना,
पकवान वह छूता न मैं, अभिमानमें जो है सना।
निज भक्तकी यों भक्तिपर भगवान् भी सकुचा रहे,
जन हैं मुझे प्रिय किस तरह, जगको बताने जा रहे॥

दोहा—जा पहुँचे तत्काल ही, विदुर-भक्तके द्वार।
देख कपाटोंको लगे, करने प्रेम-पुकार॥

'खोलो विदुरजी! विदुरजी! पट' कृष्ण यों रटने लगे,
भव-बन्ध मानो विदुरके तत्काल ही कटने लगे।
भगवान 'खोलो' कह रहे, यह बँध गये किस डोरसे,
सत्प्रेमकी जंजीरसे जकड़े हुए चहुँ ओरसे॥
घरपर विदुरजी थे नहीं, थी भक्तिनी घर-स्वामिनी,
श्रीकृष्णचरणाम्बुज-अलिनि सत्प्रेम-सरिता पावनी।
पालन 'पतिव्रत-धर्म' उसका एक केवल धर्म था,
तनसे तथा मनसे वचनसे स्वामि-सेवा कर्म था॥
निज द्वारके पट बंदकर वह निज बसन थी धो रही,
निर्विघ्न वह तन-नग्न हरि-पद-मग्न-मन थी हो रही।
'खोलो विदुरजी' शब्द यह आकर पड़े जब कानमें,
कानन विचरती मृगी जड़ हो गानके ज्यों ध्यानमें॥
'नाराज हो क्या विदुरजी?' जब यह सुना, भूली सभी,
श्रीकृष्णके यह वचन हैं, पहचानकर भागी जभी।
तनकी न सुधि जिसको भला क्या काम उसको बसनसे,
जो कर्म तन-मनसे करे, क्या काम उसको बचनसे॥

दोहा—आई झटपट दौड़कर, खोले तुरत कपाट।
देखा तो बस है वही, कृष्ण हृदय-सम्राट॥

झुककर पड़ी पैरों जभी, प्रेमाश्रु अर्घ्य दिया वहीं,
तनकी न कुछ सुध-बुध रही, फूली समाती है नहीं।
भगवान उसका प्रेम लख, कुछ देरको चित्रित हुए,
मानो चकोरी-चन्द्र दोनों आज एकत्रित हुए॥
श्रीकृष्णके भी लोचनोंसे प्रेमके आँसू बहे,
भगवान इसकी गुप्त भक्तीपर ठगेसे ही रहे।
पीत-पट फेंका हरीने, तन-बसन वह बन गया,
आसन बिछाया शीघ्र ही, मन प्रेम-रससे सन गया॥
हरि मंद मुसकाते हुए बैठे महीपर प्रेमसे,
हरिको बिठा दे ही भले कोई कहींपर प्रेमसे।
'क्या कुछ खिलाऊँ मैं इन्हें?' विदुरानि चिन्तामें पड़ी,
पलभर न आत्माने उसे पर दी वहाँ रहने खड़ी॥
कुछ भी खिला दे आज तू, होगा सुधासे कम नहीं,
भगवान भूखे भावके हैं, देख लेना तू यहीं।
भीतर गई विदुरानि, केला प्रेमसे लाई जभी,
अति संकुचित होती हुई, तनकी भुलाये सुधि सभी॥
दोहा—देखा ज्यों ही कृष्णने, कदली फल हैं चार।
मानो भूखे जन्मके, टूटे इसी प्रकार॥
विदुरानीने भी करी चालाकी तत्काल।
जल्दी-से पीछे हटी, 'ना' 'ना' 'ना' गोपाल॥
मैं आप अपने हाथसे तुमको खिलाती हूँ अभी,
लो छीलकर छिलके अभी तुमको खिलाती हूँ सभी।
श्रीकृष्णजीने फिर यहाँ वह बाल-लीला रच दई,
मुझको लगी है भूख री! ला देर भारी हो गई॥
दोहा—पहिले ही चित भंग हो, फिर पी डाले भंग।
मीठा भोजन, दीप द्युति, हो उसका क्या ढंग॥
झट लग गई घनश्यामको छिलके खिलाने छीलकर,
यों प्रेमरूपी मंत्रसे वश किया काला कील कर।
बेसुध खिलाती वह रही, बेसुध हुए हरि खा रहे,
क्या बात है इन फलोंकी, यों कथन करते जा रहे॥
इस भाँति आधेसे अधिक श्रीकृष्ण जब फल खा चुके,
सत्प्रेम-फलके सारका सुस्वाद जब वे पा चुके।
आये विदुरजी कहीं बाहरसे अचानक उस घड़ी,
उस भक्तकी भगवानसे अति स्नेहयुत आँखें लड़ीं॥
चरणाम्बुजोंपर भक्त वह सीधा शिलीमुख-सा गया,
मानो मनुज-तन धारनेका आज वह फल पा गया।
श्रीकृष्णने उसको उठाकर प्रेमसे लाया गले,
भगवानके भी उस समय वह प्रेमके आँसू चले॥
दोहा—इतनेमें श्रीविदुरने, क्या देखा अंधेर।
छिलके खाते श्याम हैं, गिरी-गिरीका ढेर॥
क्रोधित होकर बहुत ही, नचा-नचाकर नैन।
खाटे-मीठे बहुत ही, कहे नारिको बैन॥
झट छीनकर फल आप अपने हाथसे छीले सभी,
श्रीकृष्णको देने लगे, खाने लगे वे भी जभी।
निज चित्तमें श्रीविदुरजी प्रमुदित अमित गर्वित हुए,
विदुरानि लज्जित देख यों हरिने वचन प्रकटित किये॥
शिर झट हिलाया नाक, भौं, दृगमें जभी सलवट पड़ी,
बस, बस, विदुरजी! बस करो, आने लगीं फलियें कड़ी।
विस्मित हुए अब तो विदुर, विदुरानि हँस भीतर गई,
भगवानने निज प्रेमिकाकी बात यों झट रख लई॥
हो धन्य तुम भी विदुरजी, विदुरानि! तू भी धन्य है,
हरिके हृदयको हर लिया, तुम-सा न जगमें अन्य है।
भगवानको प्यारा नहीं अभिमानयुत सन्मान भी,
भगवानको प्यारा सदा सन्मानयुत अपमान भी॥

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

ईश्वरको जानकर भी उससे प्रेम न करना असम्भव है। जो परिचय प्रेमशून्य है वह परिचय ही नहीं।

ईश्वर जिसपर खुश होता है उसे नदीकी-सी दानशीलता, सूर्यकी-सी उदारता और पृथ्वीकी-सी सहनशीलता प्रदान करता है।

ये सब वाद-विवाद, शब्दाडम्बर और अहंता-ममता तो परदेके बाहरकी बातें हैं। परदेके भीतर तो नीरवता, स्थिरता और शान्ति व्याप्त है।

सुखिया मालिन

फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यकरद्वयम्।
फलैरपूरयद्रत्नैः फलभाण्डमपूरि च॥*

जिन्होंने पूर्वजन्मोंमें अनेकों सुकृत कर्म किये हों उन्हें ही कन्हैयाके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त हो सकता है। भाग्यहीन तो सुरसरिके समीप रहता हुआ भी प्यासा मरता है, कल्पवृक्षके नीचे भी व्याघ्रादि हिंसक प्राणियोंसे सताया जाता है और सुमेरुके श्रृंगपर बैठकर भी सम्पत्तिकी इच्छा करनेवाला होता है। श्रीहरि जिन्हें अपना बनाकर बुद्धियोग देते हैं वे ही उनकी बाँकी झाँकीके असली अधिकारी बन सकते हैं। अन्य द्वेष करनेवाले क्रूरकर्मा पुरुषोंको तो वे आसुरी योनियोंमें फेंक देते हैं, वे मूढ़ पुरुष उन योनियोंमें श्रीचरणोंसे और भी अधिक दूर हटते-हटते इसी संसारचक्रमें घूमते रहते हैं। वे बड़भागी हैं जिन्हें किसी भी सम्बन्धसे श्यामसुन्दरने अपनाया है। श्यामसुन्दरको बात-बातपर नचाना, धमकाना और यहाँतक कि बाँध देना यह भी एक गूढ़ स्नेह है। अतः—'**येन केन प्रकारेण मनः कृष्णे निवेशयेत्।**'

—जैसे भी बने तैसे ही उन मुरलीमनोहरके विषयमें चित्त लगे यही परमपुरुषार्थ है। यही अन्तिम साध्य और यही दुर्लभ मनुष्ययोनिका सर्वोत्तम फल है।

मथुराकी एक सुखिया नामकी मालिन व्रजमें साग-भाजी तथा फल-फूल बेचनेके लिये आया करती थी। नन्हें-से साँवरेकी सलोनी सूरतपर वह आसक्त थी। मुरलीमनोहरकी मनोहर मूर्ति उसके मन-मन्दिरमें सदा बनी रहती और वह भावोंके पुष्प चढ़ाकर अहर्निश उनकी अर्चा-पूजा करती रहती। श्यामसुन्दर उसके मनोभावको जानते थे, किन्तु उसके अनुरागको बढ़ानेके निमित्त उससे बोलते नहीं थे। वह जब भी आती तभी आप खेलनेके बहाने बाहर निकल जाते। वह बेचारी मन मसोसकर रह जाती और मन-ही मन कहती—'श्यामसुन्दर! तुम इतने निष्ठुर क्यों हो? जो तुम्हें चाहते हैं, उनसे तुम दूर भागते हो और जो तुमसे वैर करते हैं उन्हें प्रसन्नतासे पास बुला लेते हो। तुम्हारी इस वक्रताका असली रहस्य क्या है, इसे कौन जान सकता है।'

मालिनके मनसे मदनमोहन कभी दूर हटते ही नहीं थे, किन्तु शरीरसे सदा अलग ही रहते, मानो वे उससे डरते हों। मालिन घंटों नन्दभवनमें बैठी रहती, किन्तु नंदलालके साथ आजतक उसका कभी संलाप नहीं हुआ। कभी उस विहारीने मालिनकी ओर हँसकर नहीं देखा।

प्रेमकी कुछ उलटी ही रीति है, प्रेमी ज्यों-ज्यों अपनी ओरसे उपेक्षाके भाव दिखाता है, अनुरागके भाव त्यों-ही-त्यों अधिकाधिक उमड़ने लगते हैं। प्रेमका स्वारस्य वियोगहीमें है। विकलता उस आनन्दका परिवर्धन करती है। वेदना ही उसका फल है, 'चाह' ही उसतक पहुँचाती है। मालिनका मन अब दूसरी जगह न जाकर सदा नन्दके आँगनमें ही चक्कर लगाने लगा।

वैसे तो मालिन साग-पात बेचकर मथुरा चली जाती, किन्तु उसका मन गोकुलमें ही रह जाता। प्रातःकाल उठते ही वह मनकी खोजमें फिर गोकुल आती और मनमोहनकी मन्द-मन्द मुसुकानके साथ अपने मनको क्रीड़ा करते देखकर वह अपने आपेको भूल जाती। उसका शरीर साँवलेकी सुन्दर रक्तवर्णकी पतली-पतली उँगलियोंको स्पर्श करनेके लिये सदा उत्सुक रहता। मनकी भी एकमात्र यही साध थी कि मेरे रहनेका घर भी श्यामसुन्दरके सुखद स्पर्शसे पावन बन जाय। जब मालिनकी चाह पराकाष्ठाको पहुँच गयी, जब उसे संसारमें मोहनके सिवा कुछ भी नहीं दीखने लगा तब फिर मोहनके मिलनमें क्या देर थी। मोहन तो चाहनेवालोंसे दौड़कर लिपटनेवाले हैं, किन्तु वह चाह हो असली। अब मालिनकी चाहमें किसी प्रकारका आवरण नहीं रहा, उसकी चाह मोहनमयी बन गयी।

एक दिन वह मोहनकी मञ्जुल मूर्तिका ध्यान करती हुई व्रजमें आवाज दे रही थी 'फल ले लो री फल'। सम्पूर्ण फलोंके एकमात्र दाता श्रीहरि मालिनसे फल खरीदनेके लिये घरसे दौड़े। अरुण रंगके छोटे-छोटे दोनों हाथोंमें धान्य भरकर वे जल्दी-जल्दी हाँफते

* फलोंका नाम सुनते ही दोनों हाथोंकी पसरमें अन्न भरे हुए श्रीकृष्ण फल लेनेके निमित्त दौड़े। उनकी पसरमेंसे धीरे-धीरे अन्न गिरता जाता था। श्रीकृष्णको देखकर मालिनने उनके दोनों हाथ फलोंसे भर दिये, भगवान्ने भी अपने हाथके शेष अन्नसे उसकी टोकरी रत्नोंसे पूर्ण कर दी।

हुए मालिनकी ओर आ रहे थे। कोमल करोंकी सन्धियोंमेंसे अनाज बिखरता हुआ चला आता था। मोहन उस मालिनसे फल लेनेको अधीर थे, मालिनका मन भी मोहनमय बना हुआ उस अवर्णनीय दृश्यमें तन्मय था। चिरकालकी साधको पूरी होते देखकर मालिन अपने आपेको भूल गयी। कन्हैयाके परमदुर्लभ कोमल करस्पर्शके सुखके लिये अधीर हुई उस मालिनने कमलकी पँखुड़ियोंके समान खिले हुए उन दोनों जुड़े हुए हाथोंको फलोंसे भर दिया। अहा! उस समय उसकी क्या दशा हुई होगी, उसका वर्णन कौन-सा कवि अपनी कविताद्वारा करनेमें समर्थ हो सकता है। श्यामसुन्दरके लिये उसने सर्वस्व समर्पण कर दिया। सम्पूर्ण अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाले हरिने भी प्रेमके अमूल्य मोतियोंसे उसके रिक्त भाण्डको भर दिया। मालिनका जीवन सफल हुआ, उसने साधारण फल देकर फलोंका भी फल, दिव्यफल प्राप्त किया। मनमोहनका ध्यान करते-करते वह उन्हींकी नित्य-किंकरी हो गयी। प्रभुने उसे अपना लिया। उसी दिनसे वह धन्य हो गयी। —प्र० ब्रह्मचारी

यज्ञपत्नी

तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम्।
हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम्॥*

वृन्दावनमें कुछ याज्ञिक ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे। भगवान् श्रीकृष्णने अपने सखाओंको भूखे जान उनके पास अन्नके लिये भेजा। याज्ञिकोंने उन्हें फटकारकर खदेड़ दिया। तब भगवान्ने याज्ञिक ब्राह्मणोंकी पत्नियोंके पास उनको भेजा, वे श्रीकृष्णका मधुर नाम सुनते ही विविध भोजनोंके थाल सजाकर चल दीं।

जब यज्ञशालासे सभी याज्ञिकोंकी पत्नियाँ श्यामसुन्दरके समीप जाने लगीं तब एक याज्ञिकपत्नीका पति भोजन कर रहा था। वह बड़ा ही क्रोधी और कृपण था। उसकी पत्नीने जब सभीको जाते देखा तो उसका हृदय भर आया। श्यामसुन्दरकी सलोनी सूरतको देखनेकी कितने समयकी उसकी साध थी, मनमोहनकी मञ्जुल मूर्तिका ध्यान करते-करते ही उसने अनेकों दिन तथा रात्रियोंको बिताया था। वे ही घनश्याम आज समीप ही आ गये हैं और संगकी सभी सहेलियाँ उस मनोहारिणी मूरतिके दर्शनोंसे अपने नेत्रोंको सार्थक बनावेंगी, इस बातके स्मरणसे उसे ईर्ष्या-सी होने लगी। उसने भी जल्दी-जल्दी एक सोनेका थाल सजाया।

उसके पतिने पूछा—'क्यों, कहाँकी तैयारियाँ हो रही हैं?'

उसने सरलताके स्वरमें कहा—'सुन्दरताके सागर श्यामसुन्दरके दर्शनोंके लिये मैं सहेलियोंके साथ जाऊँगी।'

उसने कहा—'मैं भोजन जो कर रहा हूँ।'

उसने अत्यन्त ही विनय और स्नेहके स्वरमें कहा—'आप भोजन तो कर ही चुके हैं, अब मुझे जानेकी आज्ञा दीजिये। देखिये, मेरी सब सहेलियाँ आगे निकली जा रही हैं।'

क्रोधी ब्राह्मण एकदम अग्निशर्मा बन गया और कठोर स्वरमें बोला—'बड़ी उतावली लगी है! क्या धरा है वहाँ?'

उसने कहा—'वहाँ त्रिभुवनमोहन श्यामकी झाँकी है, मेरा मन बिना गये नहीं मानता।'

ब्राह्मण—'तब क्या तू बिना गये न मानेगी?'

उसने कहा—'हाँ, मैं उन मदनमोहनके दर्शनोंके लिये अवश्य जाऊँगी।' क्रोधके स्वरमें ब्राह्मणने कहा—'न जाय तब?'

उसने दृढ़तासे कहा—'न कैसे जाऊँगी? जरूर जाऊँगी और सबसे आगे जाऊँगी। भला जो मेरे प्राणोंके प्राण हैं, मनके मन हैं और आत्माके आत्मा हैं, उन सच्चे स्वामीके पास न जाऊँगी, तो क्या बनावटी सम्बन्धोंमें फँसी रहूँगी?'

पतिने कहा—'तेरा स्वामी तो मैं ही हूँ। मुझे भी छोड़कर तेरा कोई दूसरा स्वामी है क्या?'

उसने कहा—'आप मेरे शरीरके स्वामी हैं, आत्माके प्रभु तो वे परमात्मा श्रीमदनमोहन ही हैं। उन्हीं सच्चे स्वामीके दर्शनोंसे इन नेत्रोंको सार्थक बनाऊँगी।

ब्राह्मण खाना-पीना भूल गया, उसे पत्नीपर बड़ा

* उनमेंसे एकको उसके पतिने जबर्दस्ती पकड़ रखा। वह भगवान्के पहले सुने हुए रूपका ध्यान करती हुई कर्मानुबन्धनोंसे मुक्त होकर, चैतन्य होकर, भगवत्स्वरूपमें जा मिली।

क्रोध आया। मुझे स्वामी न मानकर और मेरी उपेक्षा करके यह दूसरेके पास जाती है, इससे वह अभिमानी ब्राह्मण जल उठा। अत्यन्त ही हठके साथ उसने क्रोध और दृढ़ताके स्वरमें कहा—'अच्छी बात है, देखता हूँ तू मेरी आज्ञाके बिना कैसे जाती है।'

उसने कहा—'आप व्यर्थ ही क्रोध करते हैं। मेरा उनका ऐसा सम्बन्ध है कि कोई लाख कोशिश करे, मुझे उनके दर्शन करनेसे नहीं रोक सकता।'

ब्राह्मणने उसी स्वरमें कहा—'हाथ कंगनको आरसी क्या! देखना है, तू कैसे मदनमोहनके दर्शन करती है।' यह कहकर उस क्रोधी ब्राह्मणने पत्नीके हाथ-पैरोंको कसकर बाँध दिया और स्वयं उसके पास ही बैठ गया।

यज्ञपत्नीने दृढ़ताके स्वरमें कहा—'बस, इतना ही करेंगे या और भी कुछ?'

उसने कहा—'और यह करूँगा कि जबतक वे सब लौटकर नहीं आवेंगी तबतक यहीं बैठा-बैठा पहरा देता रहूँगा।'

उसने सूखी हँसी हँसकर कहा—'पहरेकी अब क्या आवश्यकता है? शरीरपर आपका अधिकार है, उसे आपने बाँध ही लिया। प्राण और आत्मा तो उन्हीं नन्दनन्दनके हैं, उनपर तो उन्हींका अधिकार है। शरीरसे न सही, तो मेरे प्राणों और आत्माके साथ उनका मेल होगा!' यह कहकर उसने आँखें मूँद लीं।

जिस सुन्दरी मालिनको मनमोहनने अपनाकर निहाल कर दिया था, वही मालिन मथुरामें इन ब्राह्मणोंके घरोंमें फूल-माला देने जाया करती थी। वही रोज जा-जाकर इन विप्रपत्नियोंके सामने श्यामसुन्दरके सौन्दर्यका बखान किया करती। वह मदनमोहनके रूप-लावण्यका वर्णन करते-करते बेसुध हो जाती थी। उसीके मुखसे इसने यशोदानन्दनके स्वरूपकी प्रशंसा सुनी थी। उसने जिस प्रकार व्रजेन्द्रनन्दनके स्वरूपका वर्णन सुना था उसी रूपका वह आँखें मूँदकर धीरे-धीरे ध्यान करने लगी।

ध्यानमें उसने देखा, नीलमणिके समान तो शरीरकी सुन्दर आभा है, भरे हुए गोल-गोल मुखके ऊपर काली-काली घुँघराली लटें लटक रही हैं। गलेमें सुन्दर फूलोंकी माला तथा कंठे आदि और भी आभूषण पड़े हुए हैं। कमरमें सुन्दर पीली धोती बँधी है। कन्धोंपर जरीका दुपट्टा फहरा रहा है। हाथमें छोटी-सी मुरली शोभायमान है। ऐसे मन्द-मन्द मुसकराते हुए श्यामसुन्दर अत्यन्त ही ममताके साथ देखते हुए मेरी ओर आ रहे हैं। उन्हें देखते ही ब्राह्मणीके श्वास रुक गये। उसके नेत्रोंकी दोनों कोरोंमेंसे अश्रु ढलक पड़े। मुख्य प्राण उसके शरीरसे निकलकर प्यारेके शरीरमें समा गये। ब्राह्मणीका वचन सत्य हुआ। उसकी आत्मा सबसे पहले श्यामसुन्दरके पास पहुँच गयी। ब्राह्मणने देखा उसकी पत्नीका प्राणहीन शरीर उसके पास पड़ा है। वह हाय-हाय करके अपने भाग्यको कोसने लगा।

हे प्राणोंके प्राण! हे सभीके प्रिय स्वामिन्! इस ब्राह्मणीकी-सी उत्कट अभिलाषा और ऐसी एकाग्रता कभी इस प्रेमहीन जीवनमें भी एक-आध क्षणके लिये हो सकेगी क्या?

—प्र० ब्रह्मचारी

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

साधनाके लिये जो कुछ करना पड़े, सब करना; परन्तु उसमें भी प्रभुकृपाका प्रताप ही समझना, अपना पुरुषार्थ नहीं।

जो ईश्वरके नज़दीक आ गया उसे किस बातकी कमी? सभी पदार्थ और सारी सम्पत्ति उसीकी है, क्योंकि उसका परम प्रिय सखा सर्वव्यापी और सारी सम्पत्तिका स्वामी है।

संत-वीर

(संग्रहकार—पुरोहित श्रीहरिनारायणजी बी० ए०, विद्याभूषण)

मनुष्योंमें वे शूरवीर जो शस्त्रास्त्र वा शरीरबलसे युद्धमें वा नियुद्धमें अन्य अपने भाई मनुष्योंको मारकर 'वीर' पद पाते हैं, वे वास्तवमें मनुष्यघाती हैं और संसारमें घोर विप्लव और भय उत्पन्न करते हैं। ऐसी शूरवीरता भूमिप्राप्ति, धनग्रहण वा सांसारिक यश आदि क्षणिक लाभोंके निमित्त ही होती है। बहुत हुआ तो स्वर्गप्राप्तिके लिये। सो भी वहाँसे फिर लौटना होता है। संसारके धन-जन, मुल्कगीरी, वैभव-ऐश्वर्य उनके प्रापकोंके शरीरान्तके साथ यहीं धरे रह जाते हैं। साथ सुकृत वा दुष्कृतमात्र जाते हैं। ऐसा ही सनातन पुरुषोंका निश्चय है। परन्तु जिस शूरवीरतासे नित्य रहनेवाले सुख, परमगति, परमशाश्वत ऐश्वर्य, सदा रहनेवाला परमानन्द, ऋद्धि-सिद्धितक एक कटाक्षमात्रमें 'हाज़िर गैरहाज़िर' रहा करें, जिस सुखका कभी न नाश हो, न अन्त आवे, वह शूरवीरता संतजनोंमें होती है, जो अपने यम-नियम, संयम, शम-दम, तितिक्षा-तपश्चर्या, ज्ञान-ध्यान, भक्ति-भजन, भावना, सत्य-सेवन आदि शस्त्रास्त्रसे काम-क्रोध, लोभ-मोह, ममता-वासना, संसारी लिप्सा आदि महाक्रूर और बलवान् शत्रुओंको दमन करके, उनको मारकर उनपर विजय पाते हैं। इस संग्रामकी महिमा बहुत बड़ी है। और सच पूछिये तो सच्ची और कामकी बहादुरी तो यही है। और वे ही पुरुष धन्य हैं जो इस शूरवीरताको भगवत्कृपासे पाते हैं और अपना और जनका कल्याण करते हैं। अनेक संत-महात्माओंने अपनी सुन्दर वाणीमें इस शूरवीरताका वर्णन किया है। यहाँ केवल कविवर महात्मा श्रीसुन्दरदासजीरचित 'सवैया' ग्रन्थसे कुछ उत्तम छन्द देते हैं। (इस ग्रन्थका अपर नाम 'सुन्दरविलास' भी लोगोंने धर रखा)*—

खैंचि करड़ी कमाण ग्यानको लगायौ बाण,
मार्‍यौ महाबली मन जग जिनि रान्यौं है।
ताकै अगिवाणी पंच जोधाऊ कतल किये,
और रह्यौ-षह्यौ सब अरि-दल भान्यौं है॥
ऐसौ कोऊ सुभट जगतमैं न देखियत,
जाके आगे कालहूसौ कंपिकै परान्यौं है।
'सुंदर' कहत ताकी सोभा तिहुँ लोक माहिं,
'साधुसौ न शूरवीर कोऊ हम जान्यौं है'॥ १॥

शूरवीर रिपुकौ निमूनौ देखि चोट करै,
मारै तब ताकि करि तरवारि तीरसौं।
साधु आठौं जाम बैठो मनहीसौं युद्ध करै,
जाकै मुँह माथौ नहिं देखिये शरीरसौं॥
शूरवीर भूमि परै दौरि करैं दूरि लगैं,
साधु शून्यकौं पकरि राखै धरि धीरसौं।
'सुंदर' कहत तहाँ काहूके न पाँव टिकैं,
'साधुको संग्राम है अधिक शूरवीरसौं'॥ २॥

कामसौ प्रबल महा, जीते जिनि तीनौं लोक,
सुतौ एक साधुके विचार आगे हार्‍यौ है।
क्रोधसौ कराल जाके देखत न धीर धरै,
सोउ साधू क्षमाके हथ्यारसौं विदारथौ है॥
लोभसौ सुभट साधु तोषसौं गिराइ दियौ,
मोहसौ नृपति साधु ज्ञानसौं प्रहार्‍यौ है।
'सुंदर' कहत ऐसौ साधु कोऊ शूरवीर,
ताकि ताकि सबहि पिशुन-दल मार्‍यौ है॥ ३॥

मारे काम-क्रोध जिनि, लोभ-मोह पीसि डारे,
इन्द्रीहू कतल करि कीयौ रजपूतौ है।
मार्‍यौ मयमत्त मन, मार्‍यौ अहंकार मीर,
मारे मद-मच्छरऊ, ऐसौ रन-रूतौ है॥
मारी आसा-तृष्णा सोऊ पापिनी साँपिनी दोऊ,
सबकौं प्रहारि निजपदई पहूँतौ है।
'सुंदर' कहत ऐसौ साधु कोऊ शूरवीर,
बैरी सब मारिकै निचिन्त होइ सूतौ है॥ ४॥

कियौ जिनि मन हाथ इन्द्रिनिकौं सब साथ,
घेरि-घेरि आपनेई नाथसौं लगाये हैं।
औरहू अनेक बैरी मारे सब युद्ध करि,
काम-क्रोध, लोभ-मोह खोदिकैं बहाये हैं॥

* यह ग्रन्थ शुद्धरूपमें टीकासहित 'सुन्दरग्रन्थावली' में प्रकाशित हुआ है, जिसमें स्वामीजीके अन्य समस्त ग्रन्थ सटीक अंगोंसहित शामिल हैं और १५०० पृष्ठोंकी दो जिल्दोंमें नीचे लिखे पतेसे मिलते हैं—मन्त्री, राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, नं० २७, वाराणसीघोष स्ट्रीट, कलकत्ता—लेखक।

किये हैं संग्राम जिनि दिये हैं भगाय दल,
ऐसे महासुभट सुग्रंथनिमैं गाये हैं।
'सुंदर' कहत, और सूर यौं ही खपि गये,
'साधु शूरवीर वैई जगतमें आये है'॥ ५॥
महामत्त हाथी मन राख्यौ है पकरि जिनि,
अति ही प्रचण्ड जामैं बहुत गुमान है।
काम-क्रोध, लोभ-मोह बाँधे चारौं पाव पुनि,
छूटने न पावै नैक प्राण पीलवान है॥
कबहूँ जो करै जोर सावधान साँझ-भोर,
सदा एक हाथमैं अंकुस गुरुग्यान है।
'सुंदर' कहत और काहू न बसके होइ,
'ऐसो कौन शूरवीर साधुके समान है॥ ६॥

संकर्षण

शास्त्रोंमें भगवान्के पंचविध स्वरूप माने गये हैं। इनमेंसे एक रूप व्यूहके नामसे परिचित है। यह रूप सृष्टि, पालन और संहार करनेके लिये, संसारी जनोंका संरक्षण करनेके लिये और उपासकोंपर अनुग्रह करनेके लिये ग्रहण किया जाता है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, ये चार व्यूह हैं। वास्तवमें संकर्षणादि तीन ही व्यूह हैं—वासुदेव तो व्यूहमण्डलमें आकर व्यूहरूपमें केवल गिने जाते हैं। इनमेंसे संकर्षण जीव-तत्त्वके अधिष्ठाता हैं। इनमें ज्ञान और बल, इन दो गुणोंकी प्रधानता है। यही शेष अथवा अनन्तके रूपमें पातालमूलमें रहते हैं और प्रलयकालमें इनके मुखमेंसे संवर्तक नाम अग्नि प्रकट होकर सारे जगत्को भस्म कर देती है। यही भगवान् आदिपुरुष नारायणके पर्यंकरूपमें क्षीरसागरपर रहते हैं। ये अपने सहस्र मुखोंके द्वारा भगवान्का निरन्तर गुणानुवाद करते रहते हैं और अनादिकालसे ऐसा करते रहनेपर भी कभी अघाते या ऊबते नहीं। ये भक्तोंके परम सहायक हैं और जीवको भगवान्की शरणमें ले जाते हैं। इनकी सारे देवता वन्दना करते हैं और इनके बल, पराक्रम, प्रभाव और स्वरूपको जानने अथवा वर्णन करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं है। गन्धर्व, अप्सरा, सिद्ध, किन्नर, नाग आदि कोई भी इनके गुणोंकी थाह नहीं लगा सकते; इसीसे इन्हें अनन्त कहते हैं। ये पंचविध ज्योतिःसिद्धान्तके प्रवर्तक माने गये हैं। ये सारे विश्वके आधारभूत भगवान् नारायणके विग्रहको धारण करनेके कारण सब लोकोंमें पूज्य और धन्यतम कहे जाते हैं। ये सारे ब्रह्माण्डको अपने मस्तकपर धारण किये रहते हैं। ये भगवान्के निवास, शय्या, आसन, पादुका, वस्त्र, पादपीठ, तकिया तथा छत्रके रूपमें शेष अर्थात् अंगीभूत होनेके कारण 'शेष' कहलाते हैं। त्रेतायुगमें श्रीलक्ष्मणके रूपमें और द्वापरमें श्रीबलरामके रूपमें यही अवतीर्ण होकर भगवान्की लीलामें सहायक होते हैं। ये भगवान्के नित्य परिकर, नित्यमुक्त एवं अखण्ड ज्ञानसम्पन्न माने जाते हैं।

—चि० गोस्वामी

वैनतेय

ये भी भगवान्के अन्य परिकरोंकी भाँति नित्यमुक्त एवं अखण्ड ज्ञानसम्पन्न माने जाते हैं। ये वेदोंके अधिष्ठातृदेवता एवं वेदात्मा कहे जाते हैं, अतएव इन्हें शास्त्रोंमें सर्वज्ञ भी कहा गया है। इनका भगवान्के दास, सखा, वाहन, आसन, ध्वजा, वितान एवं व्यजनके रूपमें वर्णन आता है। श्रुतिमें इन्हें 'सर्ववेदमयविग्रह' कहा गया है।[१] श्रीमद्भागवतमें एक जगह वर्णन आता है कि बृहद्रथ और रथन्तर नामक सामवेदके दो भेद ही इनके दो पंख हैं और उड़ते समय इन पंखोंसे सामगानकी ध्वनि निकलती है।[२] ये भगवान्के नित्यसंगी हैं और सदा उनकी सेवामें रत रहते हैं। इनके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि इनकी पीठपर भगवान्के चरण सदा स्थापित रहते हैं, जिससे उनके चमड़ेपर घट्ठा-सा पड़ गया है। यह सौभाग्य इन्हींको प्राप्त है। भगवान्के

१-'सुपर्णोऽसि गरुत्मान् त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुः' इत्यादि। 'तस्य गायत्री जगती च पक्षावभवतामुष्णिक् च त्रिष्टुप् च पंक्तिश्च धुर्यौ बृहत्येवोक्तिरभवत् स एतं छन्दोरथमास्थाय एतमध्वानमनुसमचरत्।' (सौपर्णश्रुतिः)

२-आकर्णयन् पत्ररथेन्द्रपक्षैरुच्चारितं स्तोममुदीर्णसाम। (३। २१। ३४)

उच्छिष्ट प्रसादको ग्रहण करनेका अधिकार भी इन्हींको मिला हुआ है। असुरादिकोंके साथ युद्धमें भगवान् इन्हें अपने सेनापतिका पद देकर अपना सारा भार इनपर छोड़ देते हैं, क्योंकि ये भगवान्के अत्यन्त विश्वासपात्र सेवक हैं। इनका जन्म कश्यप और विनतासे हुआ था, अतएव ये वैनतेय कहलाते हैं। भगवान्ने गीतामें इन्हें अपनी विभूति बतलाया है। ये भी भगवान्के नित्य परिकर होनेके नाते भक्तोंके सर्वस्व एवं महान् सहायक हैं। अष्टादश पुराणान्तर्गत गरुड़पुराण इन्हींके नामसे प्रसिद्ध है। भगवान्की कृपा एवं प्रेरणासे इन्होंने ही इस पुराणका कथन कश्यपजीके सामने किया था और उसीको फिर व्यासजीने संकलनकर प्रसिद्ध किया।

—चि० गोस्वामी

काकभुशुण्डि

काकभुशुण्डि किसी पहलेके जन्ममें अयोध्यामें एक शूद्र थे। उस समय कलियुग व्याप रहा था, अत: वहाँ रहनेपर भी इन्हें भगवान्की उस पुरीकी महिमाका ज्ञान नहीं हुआ। जब भोजन-पानीका कुछ कष्ट हुआ, तब ये उसे छोड़कर उज्जयिनी चले गये और वहाँ एक संत ब्राह्मणके पास रहकर भगवान् शिवकी आराधना करने लगे। वे ब्राह्मणदेवता इन्हें बड़े रहस्यकी बातें बताते, पर ये अपने स्वाभाविक दोषके कारण उनका उचित आदर नहीं करते थे। एक दिन जब ये शिवमन्दिरमें बैठकर जप कर रहे थे, इनके गुरु वे ब्राह्मणदेवता आ गये। परन्तु अभिमानवश इन्होंने उठकर नमस्कार नहीं किया। इससे उनके मनमें तो तनिक भी क्षोभ नहीं हुआ, परन्तु शंकरजीने क्रोधित होकर इन्हें शाप दे दिया। इसपर उन ब्राह्मणदेवताको बड़ी दया आयी। उन्होंने स्तुति करके भगवान् शंकरको प्रसन्न किया और उनसे इतनी रियायत करवा ली कि उस शापको भोगते समय भी इन्हें कष्ट नहीं होगा और अन्तमें भगवान् रामचन्द्रकी भक्ति प्राप्ति होगी।

उनके शापके अनुसार अनेक योनियोंमें भटकते-भटकते अन्तमें इन्हें ब्राह्मणयोनि प्राप्त हुई। ये बचपनमें खेलते समय भी भगवान्की ही लीला करते। माता-पिताने इन्हें पढ़ाने-लिखानेकी बड़ी चेष्टा की। परन्तु इन्हें कुछ सुहाता ही न था; केवल भगवान्के चरणोंमें ही इनकी लौ लगी रहती थी। माता-पिताकी मृत्युके पश्चात् ये जंगलमें चले गये और ऋषियोंके आश्रमोंमें जा-जाकर बड़ी नम्रताके साथ भगवान्के सम्बन्धमें प्रश्न करने लगे। सब लोग कहते कि भगवान् तो सर्वत्र और सर्व हैं, परन्तु यह निर्गुण मत उन्हें अच्छा न लगता। ये सगुण-साकार ब्रह्मके प्रेममें व्याकुल हो उठे। दिन-रात भगवान्के गुण, लीला एवं नामके कीर्तनमें मस्त रहते और किसी संतकी संगतिके लिये उत्कण्ठित रहते। अन्तत: एक दिन इन्हें सुमेरु पर्वतपर लोमश ऋषिके दर्शन हुए। वहाँ उन्हें नमस्कार एवं उनकी सेवा करनेके पश्चात् इन्होंने भगवान्के सम्बन्धमें प्रश्न पूछे। उनके निर्गुण उपदेश करनेपर इन्होंने बड़ी नम्रताके साथ उसका खण्डन किया। बार-बार ऐसा करनेपर महर्षि लोमशको क्रोध हो आया और उन्होंने इन्हें काक होनेका शाप दे दिया। ये शाप सुनकर डरे नहीं और न अपनी दीनता ही प्रकट की। बल्कि इन्होंने बड़ी प्रसन्नताके साथ उसे स्वीकार किया। इनकी समता और भगवत्प्रेम देखकर ऋषि लोमशकी बुद्धि फिर गयी। बड़े आश्चर्य और पश्चात्तापके साथ उन्होंने काकभुशुण्डिको बुलाकर समझाया और राममन्त्रका उपदेश किया। उन्होंने बालकरूप रामका ध्यान बतलाया और कुछ दिनोंतक अपने पास रखकर भगवान् रामकी गुप्त लीलाओंका वर्णन किया। इन्हें भगवद्भक्तिका आशीर्वाद दिया और कहा कि तुम ज्ञान-वैराग्यके समुद्र, इच्छामृत्यु एवं कामरूप होओगे एवं जहाँ तुम रहोगे वहाँ एक योजनके आसपास अज्ञान, काल, काम और उसके परिणाम नहीं आ सकेंगे। महर्षि लोमशके इन वचनोंका आकाशवाणीने समर्थन किया। वहाँसे गुरुआज्ञा लेकर ये नीलाचलपर चले आये और वहीं वास करने लगे। जब-जब भगवान् राम अवतार ग्रहण करते हैं, तब-तब ये अयोध्यामें आकर भगवान्की बाललीलाओंको देखते हैं, भगवान्के साथ खेलते हैं और उनका जूठन पाकर अपने जीवनको धन्य करते हैं। इन्हें यह काकशरीर बड़ा प्रिय है, क्योंकि इसी शरीरसे इन्हें भगवत्प्रेम और भगवद्दर्शनकी प्राप्ति हुई है।

इनके लीला-अनुभवकी बात इन्हींके शब्दोंमें रामचरितमानस-उत्तरकाण्डमें पढ़नी चाहिये।

—शान्तनु

गजेन्द्र

अन्तर्जले ग्राहगृहीतपादो
विसृष्टविक्लिष्टसमस्तबन्धुः।
तदा गजेन्द्रो नितरां जगाद
गोविन्द दामोदर माधवेति॥*

यह सत्य है कि भगवत्प्राप्ति मनुष्यजन्ममें ही होती है, किन्तु जो मुमुक्षु किसी शापविशेषके कारण पशुयोनिको प्राप्त हो जाते हैं और भगवत्कृपासे उन्हें, पूर्वज्ञानकी स्मृति हो जाती है, तो पशु-पक्षियोनिमें भी वे इस संसारचक्रसे मुक्त होकर प्रभुप्राप्तिके अधिकारी हो जाते हैं। भक्तराज गजेन्द्र उन्हींमेंसे एक हैं। उनकी आर्त पुकारको सुनकर साक्षात् श्रीमन्नारायणको उनकी रक्षाके लिये आना पड़ा। पूर्वजन्ममें ये एक धर्मात्मा राजा थे और अगस्त्यजीके शापसे हाथीकी योनिको प्राप्त हुए।

गजराज एक हथिनियोंके यूथके स्वामी थे। उनके यूथमें बहुत-सी हथिनियाँ थीं। उनके साथ वे आनन्द-विहार करते हुए त्रिकूट पर्वतके शिखरोंके आस-पास रहा करते थे। वहाँपर एक बहुत ही सुन्दर, स्वच्छ और शीतल जलवाला सरोवर था। उस सरोवरसे लगा दूसरा भी सरोवर था, दोनोंका पानी एक दूसरेमें जाता था और दोनोंमें अथाह जल था।

एक दिन गजराज अपने यूथके सहित उस सरोवरमें पानी पीने गये। भीतर घुसकर उन्होंने भरपेट पानी पिया। पानी पीकर वे ज्यों ही निकलना चाहते थे कि एक ग्राहने आकर उनका पैर पकड़ लिया। गजराजने अपनी पूरी शक्ति लगाकर पैरको छुड़ाना चाहा, किन्तु ग्राहने पैरको इतने जोरसे कसकर पकड़ा था कि वे उसे हिला भी न सके। ग्राह उनको जबरदस्ती पानीके भीतर घसीटता था और वे उसे बाहरकी ओर खींचते थे। इस प्रकार दोनोंमें खींचा-तानी होती रही। कभी तो ग्राह इन्हें खींच ले जाता, कभी ये उसे थोड़ी दूर खींच लाते। किन्तु ये ग्राहसे अपनेको छुड़ा नहीं सके। इनकी हथिनियाँ दुखी होकर चली गयीं, कुछ भी सहायता न कर सकीं। हजारों हाथियोंके बराबर जो इनका बल था, वह भी काम नहीं आया। शरीर क्षीण होता जाता था, बल घटता जाता था। धीरे-धीरे उन्हें भगवत्कृपाका अनुभव होने लगा। उन्हें विश्वास हो गया ये बाहरी बल किसी कामके नहीं। अन्तमें इनका कोई उपयोग नहीं।

'अपबल, तपबल और बाहुबल, चौथा है बल दाम।
सूर किशोर कृपाते सब बल हारेको हरिनाम॥
सुने री मैंने निर्बलके बल राम।'

ऐसा विश्वास करके वे पूर्वजन्मकी स्मृतिके अनुसार भगवान्पर ही भरोसा करके उनके सुमधुर नामोंका जाप करने लगे। अपनी शक्तिका सहारा छोड़ दिया। अपनेको सर्व प्रकारसे प्रभुके चरणोंमें समर्पित कर दिया, एक कमलका फूल सूँड़में लेकर वे आर्तस्वरसे श्रीमन्नारायण भगवान्का स्मरण करने लगे।

भगवान् तो आर्तबन्धु तथा भक्तवत्सल हैं। उन्हें तो प्रपन्नताकी जरूरत है। प्रपन्न होकर आर्तभावसे जो उन्हें एक बार पुकारता है, वे झट उसके रक्षणार्थ वहाँ आ जाते हैं और उसे अपना लेते हैं। गजराजकी स्तुतिसे भगवान् प्रसन्न हुए और सभीने देखा, आकाश-मार्गसे गरुड़पर चढ़कर शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी बनवारी अपने प्रकाशसे दिशाओंको प्रकाशित करते हुए चले आ रहे हैं। आते ही भगवान्ने ग्राहके सहित गजको सरोवरमेंसे निकालकर पृथ्वीपर पटक दिया। पृथ्वीपर आनेपर उस जलचर जीवका बल घट गया। भगवान्ने अपने सुदर्शन चक्रसे उस ग्राहके सिरको धड़से अलग कर दिया। भगवान्के हाथसे मृत्यु होनेके कारण उसकी मुक्ति हो गयी।

गजराज भी बन्धनसे छूटे। उन्होंने दीनभावसे भगवान्की स्तुति की, उनकी भक्तवत्सलताकी प्रशंसा की। अन्तमें वे भी भगवत्-लोकको प्राप्त हुए। भगवान्ने उन्हें अपना नित्यपार्षद बना लिया।

भगवान्की कृपा तो जीवोंपर सदा अखण्डरूपसे रहती ही है, उसे प्राप्त करनेके लिये प्रपत्ति चाहिये। भगवान्के प्रति विश्वास चाहिये। एक बार सच्चे हृदयसे उनकी शरण गये कि बस, बेड़ा पार ही है। गजेन्द्रने एक बार आर्त होकर जो बात कही थी, वह यदि हमारे जीवनमें कभी भी आ जाय तो जीवनकी सफलता ही

* जलके भीतर ग्राहने जब गजराजको पकड़ लिया और उसका समस्त दुखी परिवारसे सम्बन्ध छूट गया तब वह अत्यन्त दुखी होकर गोविन्द, दामोदर, माधव आदि भगवान्के नामोंका उच्चारण करने लगा।

समझिये। गजेन्द्रने कहा था—

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्
प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयान्-
मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि॥

'जो प्रभु सब बलियोंमें श्रेष्ठ बली हैं, तीव्र गतिसे घूमते हुए इस कराल कालरूपी विषधर सर्पके भयसे भीत और विपत्तियोंमें फँसे हुए प्राणियोंकी जो रक्षा करते हैं, तथा जिनके भयसे मृत्यु अपने कार्यमें संलग्न है मैं उन्हीं सर्वान्तर्यामी प्रभुकी शरणमें हूँ।' —प्र० ब्रह्मचारी

सुग्रीव

न सर्वे भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः।
मद्विधा वा पितुः पुत्राः सुहृदो वा भवद्विधाः॥*

सब सम्बन्धोंके एकमात्र स्थान श्रीहरि ही हैं। उनसे जो भी सम्बन्ध जोड़ो उसे वे पूरा निभाते हैं। सच्ची लगन होनी चाहिए, एकनिष्ठ प्रेम होना चाहिये। प्रेमपाशमें बँधकर प्रभु स्वामी बनते हैं, सखा, सुहृद्, भाई, पुत्र, सेवक सभी कुछ बननेको तैयार हैं। उन्हें शिष्टाचारकी जरूरत नहीं, वे तो सच्चा स्नेह चाहते हैं।

प्रभु तरुतर कपि डारपर, ते किये आपु समान।
तुलसी कहूँ न रामसो, साहिब सीलनिधान॥

सुग्रीवको भगवान्‌ने स्थान-स्थानपर अपना सखाभक्त माना है। बालि और सुग्रीव, ये दो भाई थे। दोनोंमें ही परस्पर बड़ा स्नेह था। बालि बड़ा था, इसलिये वही वानरोंका राजा था। एक बार एक राक्षस रात्रिमें किष्किन्धामें आया। आकर बड़ा गरजने लगा। बालि उसे मारनेके लिये नगरसे अकेला ही निकला। सुग्रीव भी भाईके स्नेहके कारण उसके पीछे-पीछे चला। वह राक्षस एक बड़े भारी बिलमें घुस गया। बालि अपने छोटे भाईको द्वारपर बैठाकर उस राक्षसको मारने उसके पीछे-पीछे उस बिलमें चला गया। सुग्रीवको बैठे-बैठे एक वर्ष बीत गया, किन्तु बालि उस बिलमेंसे नहीं निकला। एक साल बाद बिलमेंसे रक्तका फेन निकला। सुग्रीवने समझा मेरा भाई मर गया है, अतः उस बिलको एक बड़ी भारी शिलासे मूँदकर वह किष्किन्धापुरीमें आ गया। मन्त्रियोंने जब राजधानीको राजासे हीन देखा तो उन्होंने सुग्रीवको राजा बना दिया।

थोड़े ही दिनोंमें बालि आ गया। सुग्रीवको राजगद्दीपर बैठा देखकर वह बिना ही जाँच-पड़ताल किये क्रोधसे आगबबूला हो गया और उसे मारनेको दौड़ा। सुग्रीव भी अपनी प्राणरक्षाके लिये भागा। भागते-भागते वह मतंग ऋषिके आश्रमपर पहुँचा। बालि वहाँ शापवश जा नहीं सकता था, अतः वह लौट आया और सुग्रीवका धन, स्त्री आदि सभी उसने छीन लिया। राज्य, स्त्री, धनके हरण होनेसे सुग्रीव अपने हनुमान् आदि चार मन्त्रियोंके साथ ऋष्यमूक पर्वतपर रहने लगा।

सीताजीके हरण हो जानेपर श्रीरामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मणजीके साथ उन्हें खोजते-खोजते शबरीके बतानेपर ऋष्यमूक पर्वतपर आये। सुग्रीवने दूरसे ही श्रीराम-लक्ष्मणको देखकर हनुमान्‌जीको भेजा। हनुमान्‌जी उन्हें आदरपूर्वक ले आये। अग्निको साक्षी करके दोनोंमें मित्रता हुई। सुग्रीवने अपना सब दुःख भगवान्‌को सुनाया। भगवान्‌ने कहा—'मैं बालिको एक ही बाणमें मार दूँगा।' सुग्रीवने परीक्षाके लिये अस्थिसमूह दिखाया, श्रीरामजीने उसे पैरके अँगूठेसे ही गिरा दिया। फिर सात तालोंको एक बाणसे गिरा दिया। सुग्रीवको विश्वास हो गया कि श्रीरामजी बालिको मार देंगे। सुग्रीवको लेकर श्रीरामजी बालिके यहाँ गये। बालि लड़ने आया, दोनों भाइयोंमें बड़ा युद्ध हुआ। अन्तमें श्रीरामचन्द्रजीने एक ऐसा बाण तककर बालिके मारा कि वह मर गया।

बालिके मरनेपर श्रीरामजीकी आज्ञासे सुग्रीव राजा बनाये गये और बालिके पुत्र अंगदको यौवराज्य-पद दिया गया। तदनन्तर सुग्रीवने और वानरोंको इधर-उधर श्रीसीताजीकी खोजके लिये भेजा। और श्रीहनुमान्‌जीद्वारा सीताजीका समाचार पाकर सुग्रीव अपनी असंख्य वानरी सेना लेकर लंकापर चढ़ गये। वहाँ उन्होंने जो-जो पुरुषार्थ दिखाये वे इस छोटे-से निबन्धमें कैसे कहे जा सकते हैं। श्रीरामजीने अपना सिर सुग्रीवकी गोदमें रख दिया कि भैया, तुम ही एकमात्र हमारे सहायक

* श्रीरामजी सुग्रीवजीसे कहते हैं—'भैया, सब भाई भरतके समान आदर्श नहीं हो सकते। सब पुत्र हमारी तरह पितृभक्त नहीं हो सकते और सब सुहृद् तुम्हारी तरह दुःखके साथी नहीं हो सकते।'

सखा हो। सुग्रीवने संग्राममें रावणतकको इतना छकाया कि वह भी इनके नामसे डरने लगा। इन्हें भाँति-भाँतिके प्रलोभन दिये, किन्तु ये श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें ही जीवनभर लगे रहे।

लंका विजय करके ये भी श्रीरामजीके साथ श्रीअवधपुरी आये और वहाँ श्रीरामजीने उनका परिचय कराते हुए गुरु वशिष्ठजीसे कहा—

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर-सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जनम इन्ह हारे। भरतहु तें मोहि अधिक पियारे॥

श्रीरामजीने सुग्रीवजीको स्थान-स्थानपर प्रिय सखा कहा है और अपने मुखसे स्पष्ट कहा है कि तुम्हारे समान आदर्श निःस्वार्थ सखा संसारमें विरले ही होते हैं। श्रीरामजीने थोड़े दिन इन्हें अवधपुरीमें रखकर विदा कर दिया और ये भगवान्की लीलाओंका गान-स्मरण करते हुए अपनी पुरीमें रहने लगे। अन्तमें जब भगवान् निजलोक पधारे तब ये भी आ गये और भगवान्के साथ-ही-साथ साकेत पधारे। सुग्रीव-जैसे भगवत्कृपाप्राप्त सखा संसारमें विरले ही होते हैं। उनका समस्त जीवन रामकाज और रामस्मरणमें बीता। यही जगमें जीवनका परम लाभ है। —प्र० ब्रह्मचारी

हनुमान्

मनोजवं मारुततुल्यवेगं जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं श्रीरामदूतं शरणं प्रपद्ये॥*

संसारमें ऐसे तो उदाहरण होंगे कि जहाँ स्वामीने सेवकको अपने समान कर दिया हो, किन्तु स्वामीने सेवकोंको अपनेसे ऊँचा मानकर प्रतिष्ठा दी हो, यह तो भगवान्के यहाँ ही है। तभी तो कहा है—

मेरे जियँ प्रभु अस बिसवासा। रामतें अधिक रामकर दासा॥

वे रामदास श्रीहनुमान्जी ही हैं। श्रीरामायणजीमें मारुतनन्दनकी-सी सेवकाई करनेवाले दूसरे नहीं हैं। ये श्रीरामजीकी कृपाकी साकार मूर्ति थे। तभी तो बिना हनुमत्कृपाके कौसलकिशोरका पाना कठिन है। श्रीहनुमान्जीका श्रीविग्रह सेवा-धर्मको बतानेके निमित्त ही प्रकट हुआ। श्रीरामचरित्रको प्रकाशमें लानेके लिये हनुमान्जीका अवतार परम आवश्यक है। श्रीहनुमान्जीको रामलीलासे निकाल दें तो वनवासके आगेकी लीला अपूर्ण ही रह जाती है।

श्रीहनुमान्जी देवदेव श्रीशंकरके अवतार हैं। आप केशरीकी पत्नी अंजनाके गर्भसे पवनके द्वारा पैदा हुए। इसीलिये ये पवनतनय, अंजनानन्दन, अंजनीकुमार आदि कहाते हैं। पैदा होनेके समय ही ये बड़े भारी बली थे, इनके भीषण रवसे पृथ्वी हिल गयी थी। बाल्यकालमें ही ये भूखके कारण सूर्यको कोई लाल फल समझकर उसे खानेके लिये लपके। इन्द्रने जब इन्हें आते देखा और समझा कि सूर्यको खाकर यह त्रैलोक्यको अंधकारमय बना देगा तो इनके एक वज्र मारा। तब इन्होंने सूर्यको छोड़ दिया और नीचे आ गये। वज्रके लगनेसे इनकी हनु (ठोढ़ी) टेढ़ी हो गयी। इसीलिये इनका नाम हनुमान् पड़ा। तब वायुदेवकी शिफारिससे इन्द्रने इन्हें वज्रका शरीर होनेका आशीर्वाद दिया। इस प्रकार इन्होंने अपने अद्भुत चरित्रसे बाल्यकालमें ही देवताओंतकको चकित कर दिया था।

ये सुग्रीवके मन्त्री थे और जब बालिने सुग्रीवको निकाल दिया तब भी ये उनके साथ ही रहे। भगवान् जब पंचवटीमें आकर रहने लगे और रावण श्रीसीताजीको हर ले गया तो उनकी खोजमें श्रीरामजी किष्किन्धापर आये, वहीं सर्वप्रथम हनुमान्जीसे भेंट हुई। हनुमान्जीने अपने इष्टदेवको पहचान लिया। फिर क्या था, मनोवांछित फल मिल गया—

प्रभु पहिचानि परेउ कपि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना॥

बस, तभीसे इन्होंने श्रीरामजीको अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया। ये बुद्धिमानोंमें अग्रगण्य थे। सुग्रीवके ये ही एकमात्र आधार थे। जब सीताजीकी खोजके लिये चारों दिशाओंमें दूत भेजे गये तो लंकाकी तरफ इन्हें भेजा। भगवान्से भला क्या छिपा था, उन्होंने समझ लिया ये ही श्रीसीताजीकी खबर लावेंगे, अतः एकान्तमें बुलाकर इनसे भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें मुद्रिका देते हुए कह दिया—

बहु प्रकार सीतहिं समुझायेहु। कहि बल बिरह बेगि तुम आयहु॥

* मनके समान गतिवाले, वायुके समान वेगवान्, बालब्रह्मचारी, बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ, पवनतनय और वानरोंके अधिपति, भगवान्के एकमात्र परमप्रिय दूत श्रीअंजनीनन्दन हनुमान्जीकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ।

हनुमान्‌जीने ऐसा ही किया। इन्हें शाप था, कि जबतक तुम्हें कोई अपना बल न बता देगा तबतक उसे भूले रहोगे। जाम्बवान्‌के उत्साहित करनेपर ये शतयोजन सागरको पार कर गये। बीचमें सुरसा, सिंहिका, लंका आदिको मारते, डाँटते और पौरुष दिखाते ये लंकामें पहुँचे। श्रीरामजीने इतनी ही आज्ञा दी थी कि मेरा बल, विरह कहकर तुम जल्दी लौट आना। इन्होंने सीताजीको खोजकर भगवान्‌का बल, विरह कहा, उनकी मुद्रिका दी और उनसे चूड़ामणि और अजर-अमर होनेका आशीर्वाद लेकर ये लौट रहे थे, कुछ अपना पराक्रम दिखाते हुए चलना चाहिये, यह सोचकर इन्होंने बहुत-से राक्षसोंको मार डाला, रावणके एक पुत्रको भी यमपुर भेज दिया और लंकामें अग्नि लगाकर श्रीरामजीके पास आ गये। इनके ऐसे कार्यको देखकर श्रीरामजीका हृदय भर आया और वे इन्हें छातीसे चिपटाकर बड़े ही स्नेहके साथ बोले—

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि विचार मन माहीं॥
पुनि पुनि कपिहिं चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥

हनुमान्‌जी प्रभुके ऐसे वचन सुनकर पैरोंमें पड़कर फूट-फूटकर रोने लगे। अन्तमें सेना लंकामें गयी। हनुमान्‌जीने बड़े-बड़े पौरुष दिखाये। बड़े-बड़े सेनापतियोंको मारा, लाखों राक्षसोंको पटक-पटककर पृथ्वीपर पछाड़ा। श्रीलक्ष्मणजीके शक्ति लगी। सुषेण वैद्यके कहनेसे ये संजीवनी बूटीके लिये रातोंरात द्रोणाचल पर्वतके शिखरको ही उखाड़ लाये। रावणके मारनेपर लंका विजय हुई। हनुमान्‌जीने ही सीताको यह शुभ सन्देश सुनाया। श्रीराम, लक्ष्मण, सीताजीके साथ हनुमान्‌जी भी अयोध्यापुरीमें आ गये। बस, आ गये सो आ ही गये। अब कहाँ जाना। निर्भर होकर ये श्रीअवधपुरीमें ही श्रीभगवान्‌की सेवा करते हुए निवास करने लगे। हनुमान्‌जीके रोम-रोममें सीताराम बसते है। एक बार राजसभामें उन्होंने सबके सामने अपना हृदय चीरकर उसमें श्रीसीतारामजीको विराजित दिखलाया।

जब श्रीरामजी अपने निजलोक पधारने लगे, लीला-संवरणका समय आया तो हनुमान्‌जीने भी प्रभुके साथ चलनेकी प्रार्थना की। तब भगवान् बोले—'मैं तो यहीं हूँ, कहीं जाता थोड़े ही हूँ। तुम शरीर धारण किये रहो, जहाँ-जहाँ भी मेरी कथाएँ होंगी वहाँ-वहाँ तुम अवश्य पहुँचोगे। मेरी कथासे बढ़कर संसारमें कोई पवित्र वस्तु नहीं। वह तुम्हें पृथ्वीपर मिलती ही रहेगी। इससे अधिक तुम्हें और क्या चाहिये।' भगवान्‌की आज्ञा शिरोधार्य करके हनुमान्‌जी अब पृथ्वीपर विराजमान हैं। वे सात चिरजीवियोंमेंसे एक हैं। जहाँ भी कहीं भगवान्‌की कथा होती है, वहाँ प्रेमाश्रु बहाते हुए नीचे सिर किये हुए हनुमान्‌जी अवश्य उपस्थित रहते हैं—

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्॥

—प्र० ब्रह्मचारी

अंगद

मोरे तुम्ह प्रभु-गुरु-पितु-माता। जाउँ कहाँ तजि पद-जलजाता॥

अंगदजी कपिपति बालिके तनय थे। इनके सम्बन्धकी पुराणोंमें कई कथाएँ आती हैं। एक जगह लिखा है ये बालिके औरस पुत्र नहीं थे। बाल्यकालमें मन्दोदरी एक ऋषिके यहाँ रहती थी, उसी समय भगवत्प्रेरणासे एक विचित्र दैवी घटनासे उसके गर्भ रह गया और उससे एक लड़का हुआ। उन ऋषिके यहाँ रावण और बालि दोनों आते थे। लड़कीका विवाह तो रावणके साथ कर दिया और लड़केको बालिको दे दिया। वही अंगद हुआ। तारा अंगदको बहुत प्यार करती थी, बालिका तो वह एकमात्र सहारा ही था। बड़े लाड़-प्यारसे अंगद रखे गये, राजकुमारोंका जैसा सुखमय जीवन कटता है वैसे ही इनका बाल्यकाल बीता। बालि और सुग्रीवका विरोध हुआ। सुग्रीवकी प्रार्थनापर भगवान्‌ने बालिको मार दिया। अब अंगद अनाथ हो गया। उसने ऐसा दुःख पहले कभी नहीं देखा था। मृतक पिताके सम्मुख वह फूट-फूटकर रोने लगा। अपने इकलौते पुत्रको इस प्रकार विलखते देखकर बालिने अत्यन्त विनीत भावसे भगवान्‌से प्रार्थना की—

यह तनय मम सम बिनय-बल कल्यानपद प्रभु लीजिये।
गहि बाँह सुरनरनाह आपन दास अंगद कीजिये॥

भगवान्‌ने अंगदको अपनाया और अंगदने भी भगवान्‌के चरणोंमें आत्मसमर्पण कर दिया। सचमुच अंगद बालिके ही समान बली और बुद्धिमान् थे।

श्रीसीताजीकी खोजमें सबसे जिम्मेदारीका काम इन्हें ही सौंपा गया। लंकाकी ओर जाम्बवन्त, हनुमान् आदि प्रधान-प्रधान वानरोंका जो दल गया था उसके दलपति युवराज अंगद ही थे। जब सबने सागर पार करनेके लिये अपना-अपना बल बताया तो अंगदने निर्भय होकर कहा—

अंगद कहा जाउँ मैं पारा। जिय संशय कछु फिरती बारा॥

फिरती बार संशय इसलिये कि मन्दोदरी माता है, मातृस्नेहमें देर होना स्वाभाविक है। अस्तु। सबने कहा हम सेनापतिको कैसे भेजेंगे, इसलिये हनुमान्जी गये।

जब वानरी सेना युद्ध करनेके लिये समुद्रपार पहुँच गयी तो भगवान्ने सबसे अधिक विश्वस्त समझकर इन्हें ही रावणके पास दूत बनाकर भेजा। इन्होंने बड़ी निर्भीकताके साथ रावणको डाँटा, उसे समझाया और हर प्रकारसे उसे भयभीत किया। अन्तमें भरी सभामें उन्होंने अपना पुरुषार्थ दिखाया। सभामें पैर रोप दिया और बोले—

जो मम चरनु सकसि सठ टारी। फिरहिं रामु सीता मैं हारी॥

इन वचनोंमें कितना आत्मसम्मान है, अपने बलपर कितना भारी विश्वास है, कितनी जिम्मेदारीका काम है, रामजीपर कितना भरोसा है! 'मेरे पैरको हटा दो, रामजी लौट जायँगे, मैंने सीताजीको हारा।' किन्तु उस बलीके पैरको हटा ही कौन सकता था? सब अपना-सा मुँह लेकर फिर गये, तब रावण स्वयं उठा। उसे हरानेमें अपने स्वामीकी निन्दा थी। लोग कहते, जो अंगदके पैरको नहीं हटा सका उस रावणको मारनेमें भगवान्की कौन-सी बड़ाई है। अत: वे बड़ी चातुरीसे बोले—

गहसि न राम-चरन सठ जाई।

'अरे मूर्ख! मेरे पैर पकड़नेसे क्या होगा। श्रीरामजीके चरण पकड़, जिससे तेरा कल्याण हो।'

रावण नहीं माना, युद्ध हुआ और उस युद्धमें अंगदजीने जो पराक्रम दिखाया वह वर्णनातीत है, शेषजी भी उसका पूरा वर्णन नहीं कर सकते।

लंका विजय करके भगवान् श्रीअयोध्याजीको गये, अंगदजी भी साथ ही गये। भगवान्का राज्याभिषेक हुआ। बहुत दिनतक बड़े आनन्द मनाये जाते रहे। अन्तमें विदाका समय आया। भगवान्ने सबको भरत, शत्रुघ्न और लक्ष्मणजीके द्वारा बहुत-से वस्त्राभूषण दिलाये। सबसे कहा कि भाई, अपने-अपने घर जाओ। अंगदजीका प्रेम भगवान् जानते थे, वे समझते थे कि यदि मैं इससे यकायक कह दूँगा कि 'भाई, तुम भी जाओ, तो इसका हृदय फट जायगा।' अत:—

प्रीति देखि प्रभु ताहि न बोला।

सुग्रीव, जाम्बवन्त, नल-नील आदिको वस्त्राभूषण मँगाकर भगवान्ने विशेष कृपा प्रदर्शित करते हुए स्वयं ही पहनाये। उन्होंने अपना अहोभाग्य समझा। अब धीरे-से अंगदजी स्वयं ही उठे, उनकी आँखोंमें अश्रु भरे थे, गला रुँधा हुआ था, शरीर काँप रहा था, हृदय बैठा जाता था। बड़े कष्टसे वे बोले—'प्रभो! देखो, मेरे पिताने मरते समय आपको मुझे सौंपा था। सबको तो आपने विदा कर दिया, मुझसे जानेकी बात न कहें।

तुम्हहिं बिचारि कहहु रघुनाहा। प्रभु तजि भवन काजु मम काहा॥
नीचि टहल घरकी सब करिहौं। पद-पंकज बिलोकि भव तरिहौं॥

रघुनाथजीने उन्हें प्रेमसे पुचकारा, छातीसे लगाया, सिरपर हाथ फेरते हुए स्वयं अपने कण्ठसे माला उतारकर इन्हें पहना दी और कहा—'वहीं रहकर मेरा भजन करना।' प्रभुकी आज्ञाको कौन टाल सकता है, वे रोते-बिलखते प्रभुकी छोटी-से छोटी बातका स्मरण करते हुए घर गये और सुग्रीवके साथ राजकाज करते रहे।

—प्र० ब्रह्मचारी

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

जो अपना परिचय ईश्वर-ज्ञानी कहकर देता है, वह मूर्ख है। जो यह कहता है कि मैं उसे नहीं जानता, वही ज्ञानी है।

सारी दुनिया तुझे अपना ऐश्वर्य और स्वामित्व भी सौंप दे तो फूल न जाना और सारी दुनियाकी गरीबी भी तेरे हिस्सेमें आ जाय तो उससे नाराज न होना। चाहे जैसी हालत हो, एक उस प्रभुका काम बजानेका ध्यान रखना।

जाम्बवान्

ऋक्षराज जाम्बवान् ब्रह्माके अंशावतार हैं। एक रूपसे सृष्टि करते-करते ही दूसरे रूपसे भगवान्‌की आराधना, सेवा एवं सहायता की जा सके, इसी भावसे वे जाम्बवान्‌के रूपमें अवतीर्ण हुए थे। ऋक्षके रूपमें अवतीर्ण होनेका कारण यह था कि उन्होंने रावणको वर दे दिया था कि उसकी मृत्यु नर-वानर आदिके अतिरिक्त किसी देव आदिसे न हो। अब इसी रूपमें रहकर रामजीकी सहायता पहुँचायी जा सकती थी। जब भगवान् विष्णुने वामनका अवतार धारणकर बलिकी यज्ञशालामें गमन किया और संकल्प लेनेके बाद अपना विराट् रूप प्रकट किया तब इन्होंने उनके त्रिलोकीको नापते-नापते उनकी सात प्रदक्षिणा कर लीं। इनकी इस अपूर्व शक्ति और साहसको देखकर बड़े-बड़े मुनि और देवता उनकी प्रशंसा करने लगे। रामावतारमें तो मानो ये भगवान्‌के प्रधान मन्त्री ही थे। सीताके अन्वेषणमें ये हनुमान्‌जीके साथ थे और जब समुद्रपार जानेकी किसीकी हिम्मत न पड़ी, तब इन्होंने हनुमान्‌जीको उनकी शक्तिका स्मरण कराया और लंकामें जाकर क्या करना चाहिये, इस विषयमें सम्मति दी। समय-समयपर सलाह देनेके अलावा ये लड़ते भी थे और लंकाके युद्धमें इन्होंने बड़े-बड़े राक्षसोंका संहार किया।

भगवान् रामके चरणोंमें इनका इतना प्रेम था कि उनके अयोध्या पहुँचनेपर इन्होंने वहाँसे अपने घर जाना अस्वीकार कर दिया और हठ किया कि मैं आपके चरणोंको छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा। जबतक भगवान् रामने द्वापरमें आकर दर्शन देनेकी प्रतिज्ञा नहीं की तबतक ये अपने हठपर अड़े ही रहे। अन्ततः उनकी आज्ञा मानकर अपने घर आये और नित्य भगवान्‌की प्रतीक्षामें उन्हींका चिन्तन-स्मरण करते हुए अपना जीवन व्यतीत करने लगे।

द्वारकाके यदुवंशीय सत्राजित्‌के स्यमन्तकमणिको पहनकर उसका छोटा भाई प्रसेन जंगलमें गया हुआ था, वहाँ एक सिंहने उसे मार डाला और मणिको छीन लिया। तत्पश्चात् ऋक्षराज जाम्बवान्‌ने सिंहको मारकर वह मणि ले ली। इधर द्वारकामें कानोकान यह बात फैलने लगी कि श्रीकृष्ण उस मणिको चाहते थे, उन्होंने ही प्रसेनको मारकर मणिको ले लिया होगा। यह बात भगवान्‌ने भी सुनी। यद्यपि लोकदृष्टिसे तो भगवान्‌ने कलंकके परिमार्जन और मणिके अन्वेषणके लिये ही यात्रा की, परन्तु वास्तवमें बात यह थी कि उन्हें अपने पुराने भक्त जाम्बवान्‌को दर्शन देकर कृतार्थ करना था, जिनका एक-एक क्षण बड़ी व्याकुलताके साथ भगवान्‌की प्रतीक्षामें ही बीत रहा था।

हाँ, तो भगवान् जाम्बवान्‌के घर पहुँच गये। उस समय उनकी लड़की जाम्बवती मणिके साथ खेलती हुई पालनेमें झूल रही थी। अपरिचित मनुष्यको देखकर वह रोने लगी और मणिकी ओर भगवान्‌की दृष्टि देखकर उसकी धाई भी चिल्ला उठी। जाम्बवान् आये, भगवान्‌को इस रूपमें वे नहीं पहचान सके। भगवान्‌की कुछ ऐसी ही लीला थी। दोनोंमें बड़ा घमासान युद्ध हुआ। सत्ताईस दिनतक लगातार द्वन्द्वयुद्ध करते-करते जब एकने भी हार नहीं मानी तब भगवान्‌ने एक घूँसा लगाया जिससे तुरंत जाम्बवान्‌का शरीर शिथिल पड़ गया और उनके मनमें यह बात आयी कि मेरे प्रभुके अतिरिक्त और किसीमें ऐसी शक्ति नहीं है कि मुझे इस प्रकार पराजित कर सके। यह भावना उठते ही देखते हैं तो उनके सामने धनुष-बाणधारी भगवान् रामचन्द्र खड़े हैं। उन्होंने अपने इष्टदेवको साष्टांग नमस्कार करके स्तुति की, षोडशोपचार-पूजा की और उपहारस्वरूप उस मणिके साथ अपनी कन्या जाम्बवतीको समर्पण कर दिया। और इस प्रकार अपने जीवन और अपने सर्वस्वको भगवान्‌के चरणोंमें चढ़ाकर जीवनका सच्चा लाभ लिया। वास्तवमें प्रभुके चरणोंमें समर्पित हो जाना ही इस जीवनका परम और चरम लक्ष्य है।

—शान्तनु

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

अपने निर्वाहके लिये जो चिन्ता अथवा प्रपंच नहीं करता वही सच्चा विश्वासी है।
जिसका मन पवित्र नहीं उसका कोई काम पवित्र नहीं होता।

जटायु

सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः।
शूराः शरण्याः सौमित्रे तिर्यग्योनिगतेष्वपि॥*

प्रजापति कश्यपकी विनता नामकी स्त्रीसे गरुड़ और अरुण नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए। अरुणके दो पुत्र हुए—एक सम्पाति, दूसरा जटायु। ये दोनों ही समस्त गृध्रोंके राजा हुए। एक बार ये उड़नेकी होड़ लगाकर सूर्यमण्डलतक उड़ते गये। वहाँ बहुत गर्मी लगनेके कारण सम्पातिने स्नेहवश जटायुको अपने पंखोंमें छिपा लिया। सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंसे सम्पातिके पंख जल गये। जटायु बच गया। उस समय सम्पाति तो समुद्रतटपर गिरा और जटायु दण्डकारण्यमें पंचवटीके पास। पंचवटीके पास जटायु सुखपूर्वक रहने लगा।

वनवासके समय भगवान् रामचन्द्रजी आकर पंचवटीके समीप रहने लगे। वहाँ जटायुको उन्होंने देखा। पहले तो भगवान्ने उसे कोई राक्षस समझा, पीछे उसने अपना परिचय दिया और अपनेको महाराज दशरथका सखा बताया। भगवान् पिताकी तरह उसका आदर करते रहे। गृध्रराज हर तरहसे श्रीरामजीकी रक्षामें तत्पर रहे।

मायामृगके पीछे भगवान् जब चले गये और लक्ष्मण भी उसकी कपटभरी वाणीको सुनकर सीताजीको अकेली छोड़कर वहाँ गये तब पीछेसे रावणने आकर सीताजीका हरण किया और उन्हें रथपर बिठाकर आकाशमार्गसे जाने लगा, उस समय गृध्रराज जटायुने उसे देखा और देखकर जोरोंसे ललकारा।

रे रे दुष्ट! ठाढ़ किन होही। निर्भय चलसि न जानसि मोही॥

यह कहते-कहते वे उसपर टूट पड़े। बूढ़ा शरीर था, लाखों वर्षकी आयु थी, फिर भी उन्होंने सोचा—रामकाजमें यदि इस वृद्ध शरीरका अन्त हो जाय तो इससे बढ़कर और क्या लाभ हो सकता है? वे बड़ी तत्परतासे रावणसे लड़ते रहे। उसका रथ तोड़ दिया, सारथी मार दिया और स्वयं उसे भी घायल कर दिया, किन्तु बूढ़ा शरीर था, कहाँतक लड़ते। अन्तमें रावणने उनके पंख काट डाले और उन्हें अधमरा छोड़कर वह सीताजीको लेकर चला गया। शरीरसे रक्त बह रहा था, प्राण निकलनेहीवाले थे, शरीर घावोंसे भरा था, पंख कट जानेके कारण कहीं जा भी नहीं सकते थे, इतनेपर भी पक्षिराजको व्यथा नहीं थी। वे दुखी नहीं थे, उन्हें परम हर्ष था कि भला, अन्त समयमें श्रीरामजीके कार्यमें तो कुछ-न-कुछ यह शरीर आया ही—

मनमहुँ गीध परम सुखु माना। रामकाज मम लागे प्राना॥

मारीचको मारकर लक्ष्मणसहित श्रीरामजी पंचवटीपर फिरे और वहाँ सीताजीको नहीं देखा, तो वे अत्यन्त दुखी हुए। उन्होंने चारों ओर सीताजीको खोजा, कहीं भी उनका पता न चला तो वे विलाप करते हुए आगे बढ़े। आगे उन्होंने गृध्रराजको मृतक अवस्थामें पड़ा हुआ देखा, उन्हें देखकर श्रीरामजी फूट-फूटकर रोने लगे कि जरूर ये सीताजीकी रक्षाके निमित्त लड़े होंगे और राक्षस इन्हें मार गये होंगे। पासमें जाकर जब उन्हें धूलिमेंसे उठाकर भगवान्ने अपनी गोदमें ले लिया और स्नेहसे अपनी जटाओंसे उनकी धूलि झाड़कर हाल पूछा तो जटायुने बड़े कष्टसे सब हाल कह सुनाया। भगवान्ने उनसे कहा—'आप अपने शरीरको रखिये, मैं अभी आपको नीरोग कर दूँगा।' उन्होंने अत्यन्त कष्टसे कहा—'शरीर रखनेका अब प्रयोजन ही क्या है? शरीर जिस लिये धारण किया जाता है उसका प्रत्यक्ष फल मुझे मिल ही गया'—

जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होहिं श्रुति गावा॥
सो मम लोचन गोचर आगे। राखौं देह नाथ केहि लागे॥

यह कहकर उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे श्रीरामचन्द्रजीके मुखकमलका दर्शन करते हुए उनकी गोदमें ही नश्वर शरीरको त्याग दिया। कृपालु श्रीरामचन्द्रजीने उस मांसभक्षी हीन पक्षीको वह गति दी जो अपने पिता दशरथको दी थी। उसे कृपासिन्धुने अपने धाम पठाया। भगवान्के समान कृपालु इस संसारमें और कौन हो सकता है! उस मृतक पक्षीका विधिवत् संस्कार भगवान्ने स्वयं अपने हाथोंसे किया और जैसे पिताके मरनेपर पुत्र उनका पिण्डदान आदि करता है उसी प्रकार भगवान्ने उस पक्षीकी सद्गतिके लिये कर्म किये। उस पक्षिराजकी बड़ाई भला कौन कर सकता है, जिसके लिये भगवान्ने

* श्रीरामजी कहते हैं—'भैया लक्ष्मण! धर्मचारी, साधु, शूरवीर, शरणागतरक्षक सभी जगह, सभी प्रकारकी योनियोंमें, यहाँतक कि तिर्यग्योनियोंमें भी दिखायी देते हैं।'

स्वयं अपने श्रीमुखसे कहा—

राजा दशरथः श्रीमान् यथा मम महायशाः।
पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः॥

'महायशस्वी महाराज दशरथ जैसे हमारे मान्य हैं, उसी प्रकार मान्य और पूज्य हमारे लिये यह गृध्रराज भी हैं।'

—प्र० ब्रह्मचारी

विदुर

वासुदेवस्य ये भक्ताः शान्तास्तद्गतमानसाः।
तेषां दासस्य दासोऽहं भवे जन्मनि जन्मनि॥*

महात्मा श्रीविदुरजी दासीके गर्भसे पैदा हुए थे। ये साक्षात् यमके ही अवतार थे, माण्डव्य ऋषिके शापसे इन्हें पृथ्वीपर जन्म लेना पड़ा। ये धृतराष्ट्र और पाण्डुके भाई थे, दासीपुत्र होनेके कारण ये राज्यके अधिकारी नहीं हुए। पाण्डुके वन चले जानेके पश्चात् जब धृतराष्ट्र राजा हुए तब ये उनके मन्त्री थे। समस्त राज्यकी देख-भाल ये ही किया करते थे। ये बड़े नीतिज्ञ, कार्यपटु, बुद्धिमान्, मेधावी तथा भगवद्भक्त थे। इनकी विद्वत्ता और सदाचारकी सबपर छाप थी, इनकी बात सभी मानते थे। नीतिके तो ये पण्डित ही थे, इनकी बनायी हुई 'विदुरनीति' एक प्रामाणिक नीति मानी जाती है। ये सदा धर्मका पक्ष लेते थे। स्पष्टवादी इतने थे कि ये किसीकी मुँहदेखी नहीं कहते थे। अधर्मका खण्डन और न्यायका मण्डन ये भरी सभामें सबके सामने करते थे।

जब धृतराष्ट्र अपने पुत्र दुर्योधनके कहनेसे पाण्डवोंको कष्ट देनेमें सहायता देने लगे, तो विदुरजीने उनका जोरोंसे खण्डन किया, उन्हें डाँटा और कहा कि आपको ऐसा करना योग्य नहीं है। पाण्डुके पुत्र भी आपके ही पुत्र हैं। तबसे धृतराष्ट्र डर गये और वे विदुरके सामने पाण्डवोंके विरुद्ध कुछ भी नहीं कहते थे। दुर्योधन इनसे मन-ही-मन बहुत खीझता था, किन्तु करता भी क्या, धृतराष्ट्रका काम इनके बिना निकलता ही नहीं था। जब दुर्योधनने षड्यन्त्र करके पाण्डवोंको लाक्षागृहमें जलाने भेजा, तो विदुरजीने ही धर्मराजसे यावनी भाषामें ये सब बातें बता दीं और उनकी रक्षाके लिये सुरंग खोदनेवालेको भेज दिया, तथा गंगा पार करनेके लिये नौका भी गुप्तरूपसे भेज दी।

जब पाण्डवोंने द्रौपदीको जीत लिया, तो विदुरके ही कहनेसे धृतराष्ट्रने उन्हें बुला लिया और उनके ही आग्रहपर पाण्डवोंको इन्द्रप्रस्थका राज्य दिया। भरी सभामें जब जुएका प्रस्ताव पास हो गया, तो विदुरजीने इसका जोरोंसे खण्डन किया, और द्रौपदीका जब अपमान होने लगा तब तो ये बहुत बिगड़े और सभा-भवनसे उठकर चले गये।

जब पाण्डवोंको फिर बारह वर्षका वनवास और एक वर्षका अज्ञातवास हुआ, तो विदुरजी बड़े दुखी हुए। वे रोज ही धृतराष्ट्रको भली-बुरी सुनाया करते थे, कि तुमने अपने इस दुष्ट पुत्र दुर्योधनके कहनेसे धर्मात्मा पाण्डवोंको वन भेज दिया, यह अच्छा नहीं किया। रोज ऐसी बातें सुनते-सुनते और दुर्योधनके भड़कानेसे एक दिन धृतराष्ट्रने क्रोधमें आकर कह दिया—'तुम रोज उन पाण्डवोंकी बड़ाई करते हो, उन्हींके पास चले जाओ। मेरे यहाँ मत रहो।' बस, फिर क्या था, विदुरजी उसी समय पाण्डवोंके पास जाकर जंगलमें रहने लगे। धृतराष्ट्र एक तो वैसे ही अन्धे थे, विदुरजीके बिना वे और भी असहाय हो गये। विदुरके बिना उनका मन ही नहीं लगता, वे विदुरकी याद करके रोने लगे। दूतोंको भेजा, अपने अपराधकी क्षमा चाही और जल्दी ही विदुरजीसे हस्तिनापुर पधारनेकी प्रार्थना की। दूतोंने सब हाल विदुरजीसे कहा। विदुरजी यह सोचकर कि मेरे बड़े भाई हैं, अन्धे हैं, सहायताहीन हैं, वे फिर धृतराष्ट्र के पास आ गये।

वनवासकी अवधि समाप्त होनेपर जब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी दूत बनकर कौरव-पाण्डवोंमें सन्धि कराने आये, तो दुष्टबुद्धि दुर्योधनके यहाँ न ठहरकर विदुरजीके ही घर ठहरे और दुर्योधनके निमन्त्रण करनेपर भी उसके यहाँ भोजन नहीं किया, विदुरजीके घर ही साग-पात खाकर रहे। इसपर दुर्योधन बड़ा क्रुद्ध हुआ। भगवान्को कैद कर लेनेकी उसने मन्त्रणा की।

* भगवान्में जिनका मन लगा हुआ है, जो शान्त हैं तथा भगवद्भक्त हैं, उन भागवतोंके दासोंका दास मैं जन्म-जन्मान्तरोंमें होता रहूँ।

इसपर विदुरजी बड़े नाराज हुए, उन्होंने धृतराष्ट्रसे स्पष्ट कहा—'महाराज! यदि आप कल्याण चाहते हैं तो मेरी बात मानिये, इस दुर्योधनको बाँधकर आप भगवान्‌के सुपुर्द कर दीजिये। इसके न रहनेपर सब कल्याण-ही-कल्याण है।' इस बातपर दुर्योधन बहुत बिगड़ा, किन्तु विदुरजीने उसकी तनिक भी परवा नहीं की।

महाभारतका युद्ध आरम्भ हुआ तो ये किसी तरफ भी न हुए, अवधूतवेश बनाकर बारह वर्षतक पृथ्वीपर विचरते रहे। जो मिल जाता वही खा लेते, जहाँ रात्रि हो जाती वहीं पड़ जाते। नंगे वदन, फल-फूल खाते हुए ये सभी तीर्थोंमें घूमते रहे। अन्तमें उद्धवजीसे भेंट हुई तब महाभारतकी, भगवान्‌के इस लोकको त्याग देनेकी, यदुवंशियोंके विनाशकी सब बातें इन्होंने सुनी। निजधाम पधारते हुए भगवान् मैत्रेयजीको आदेश कर गये थे कि मेरे इस ज्ञानको विदुरजीसे कहना। यह बात उद्धवजीसे सुनकर विदुरजी गद्‌गद हो गये कि अन्तमें भगवान्‌ने मेरा स्मरण तो किया था। मैत्रेयजीसे ज्ञानोपदेश प्राप्त करके ये हस्तिनापुर पहुँचे। पाण्डवोंने इनका बड़ा सत्कार किया। कुछ दिन ये वहाँ रहे, अन्तमें धृतराष्ट्रसे इन्होंने कहा—'यहाँ क्या सड़ रहे हो, वनमें चलकर तपस्या करो।' इनकी बात मानकर गान्धारी और कुन्तीके साथ धृतराष्ट्र वनको चले, विदुरजी भी उनके साथ थे। वनमें जाकर विदुरजीने एक पेड़के सहारे खड़े-ही-खड़े योगियोंकी तरह इस शरीरको त्याग दिया। वे अपने सत्स्वरूपमें मिल गये। वे फिर धर्मराज बन गये!

—प्र० ब्रह्मचारी

रोमहर्षण

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥*

रोमहर्षणजी सूत जातिके थे। ये भगवान् वेद-व्यासजीके परमप्रिय शिष्य थे। भगवान् व्यासने इन्हें समस्त पुराणोंको पढ़ाया और आशीर्वाद दिया कि तुम समस्त पुराणोंके वक्ता होओगे। इसीलिये ये समस्त पुराणोंके वक्ता माने जाते हैं। ये सदा ऋषियोंके आश्रमोंमें घूमते रहते थे और सबको पुराणोंकी कथा सुनाया करते थे। नैमिषारण्यमें अठासी हजार ऋषि वास करते थे, सूतजी उनके यहाँ सदा कथा कहा करते थे। यद्यपि ये सूत जातिके थे, किन्तु पुराणोंके वक्ता होनेके कारण समस्त ऋषि इनका आदर करते थे और उच्चासनपर बिठाकर इनकी पूजा करते थे। इनकी कथा इतनी अद्‌भुत होती थी कि आसपासके ऋषिगण जब सुन लेते थे कि अमुक जगह सूतजी आये हैं तो सभी दौड़-दौड़कर इनके पास आ जाते और चित्र-विचित्र कथाएँ सुननेके लिये इन्हें घेरकर चारों ओर बैठ जाते। पहले तो ये सब ऋषियोंकी पूजा करते, उनका कुशल-प्रश्न पूछते और कहते—'ऋषियों! आप कौन-सी कथा मुझसे सुनना चाहते हैं?' इनके प्रश्नको सुनकर शौनक या और कोई वृद्ध ऋषि किसी तरहका प्रश्न कर देते और कह देते—'रोमहर्षण सूत! यदि हमारा यह प्रश्न पौराणिक हो और पुराणोंमें गाया गया हो, तो इसका उत्तर दीजिये।'

ऐसी कौन-सी बात है, जो पुराणोंमें न हो। पहले तो सूत उनके प्रश्नका अभिनन्दन करते और फिर कहते 'आपका यह प्रश्न पौराणिक ही है। इसके सम्बन्धमें मैंने अपने गुरु भगवान् व्याससे जो कुछ सुना है उसे आपके सामने कहता हूँ, सावधान होकर सुनिये।' इतना कहकर सूतजी कथाका आरम्भ करते और यथावत् समस्त प्रश्नोंका उत्तर देते हुए कथाएँ सुनाते। इस प्रकार ये सदा भगवत्-लीलाकीर्तनमें लगे रहते थे। इनसे बढ़कर भगवान्‌का कीर्तनकार कौन होगा। इनकी मृत्यु भगवान् बलदेवजीके द्वारा हुई। नैमिषारण्यमें तीर्थयात्रा करते हुए बलदेवजी पहुँचे। ये उस समय व्यासासनपर बैठे थे, उन्हें देखकर उठे नहीं। इसपर बलरामजीको क्रोध आ गया और उन्होंने इनका सिर काट लिया। ऋषियोंने बलरामजीसे कहा—'यह आपने अच्छा नहीं किया, हमने इन्हें दीर्घ आयु देकर इस उच्चासनपर बिठाया था। आपको ब्रह्महत्याका पाप लगा है, आप प्रायश्चित्त करें।' ऋषियोंकी आज्ञा बलदेवजीने शिरोधार्य की और उन्होंने जैसा प्रायश्चित्त बताया था वैसा किया। उस

* सब शास्त्रोंका मन्थन करके तथा पुनः-पुनः विचार करके यही निष्कर्ष निकाला है कि भगवान् नारायण ही सदा ध्यान करने योग्य हैं।

समयसे इनके पुत्र उग्रश्रवाको वह गद्दी दी गयी और तबसे रोमहर्षणकी जगह उग्रश्रवा पुराणोंके वक्ता हुए। '**आत्मा वै जायते पुत्रः**' के नाते उग्रश्रवामें अपने पिताके समस्त गुण मौजूद थे। —प्र० ब्रह्मचारी

समाधि वैश्य

कलिंगदेशके वैश्य राजा विराधके पौत्र और द्रुमिलके पुत्र समाधि वैश्यको भला कौन नहीं जानता। हिन्दुओंके घर-घरमें विराजनेवाली सप्तशतीका प्राकट्य इन्हींके कारण हुआ, जिसके कारण हम इन्हें चिरकालतक स्मरण करते रहेंगे।

समाधिके घरमें किसी बातकी कमी नहीं थी। बड़ी सम्पत्ति थी और बड़ा ऐश्वर्य था। परन्तु उनके स्त्री-पुत्रोंने ही धनपर सर्वथा अपना स्वामित्व स्थापित करनेके लिये इन्हें धोखा दिया और गुरुजनोंने भी इनकी उपेक्षा की। ये बहुत दुखी होकर जंगलमें चले आये। वहाँ एक मुनिके आश्रमपर पहुँचकर इन्होंने उनका आश्रय लिया, परन्तु अभी मनमें शान्ति नहीं थी। ये अपने सम्बन्धियोंके ही सुख-दुःखकी चिन्तामें पड़े हुए थे। उसी समय इन्हें एक सुरथ नामके राजा मिले, जो अपने मन्त्रियों, सेनापतियों और स्वजनोंसे ही धोखा खाकर शिकार खेलनेके बहाने घरसे भाग आये थे। दोनोंमें परस्पर परिचयके बाद वैश्यने अपनी करुण कथा और मानसिक दशा राजाको कह सुनायी। समाधिकी बात सुनकर राजा सुरथने कहा—'जिन दुष्ट और लोभी स्वजनोंने तुम्हें इस प्रकार धोखा दिया और घरसे निकाल दिया उनके कुशल-क्षेमकी चिन्ता क्यों कर रहे हो? उनके प्रति इतना स्नेह, इतनी ममता क्यों हो रही है?' समाधिने कहा—'महाराज! क्या कहूँ, मेरी समझमें भी यह बात नहीं आती। मैं बहुत चाहता हूँ कि मेरा मन निर्मम हो जाय, परन्तु इसका ऐसा स्वभाव हो गया है कि जिस स्त्रीने पतिभाव और पुत्रने पितृभावका परित्याग करके धनके लालचसे मुझे घरसे निकाल दिया उन्हींके प्रति मेरा मन स्नेहशिथिल हो रहा है। क्या करूँ, कुछ समझमें नहीं आता।'

दोनोंकी मनोदशा और बाह्य परिस्थिति एक-सी ही थी। दोनोंने मुनिके पास जाकर अपने दुःख तथा मनकी स्थितिका निष्कपट होकर सचाईके साथ वर्णन किया। उन्होंने कहा 'भगवन्! हम जानते हैं कि इन विषयोंमें दुःख-ही-दुःख है; फिर भी इन्हींके प्रति हमारी ममता होती है, इसका क्या कारण है?' उन कृपालु मुनिने कहा—'भैया! यों साधारण ज्ञान तो सभी प्राणियोंको रहता ही है। क्या ये पशु-पक्षी ज्ञानसे शून्य हैं? परन्तु महामायाका कुछ ऐसा ही प्रभाव है कि लोग उसके द्वारा मोहित हो रहे हैं। ये महामाया इतनी प्रभावशालिनी हैं कि बड़े-बड़े ज्ञानियोंका चित्त भी बलात् खींचकर मोहके पंजेमें डाल देती हैं। यह सारी दुनिया इन्हींकी माया है। इनकी आराधना और प्रसन्नतासे ही इससे मुक्ति प्राप्त हो सकती है।' इसके बाद उन दोनोंने महामायाकी महिमा और उनकी पूजा-पद्धति पूछी, जिसके उत्तरमें इन्हें सम्पूर्ण दुर्गासप्तशती सुनायी गयी और अन्तमें दोनों संसारके विषयोंकी ममता छोड़कर भगवतीकी आराधना करने लगे। नदीके किनारे मृत्तिकाकी मूर्ति बनाकर पुष्प, धूप-दीप आदि षोडशोपचारसे पूजा करते और आहार-विहार नियमित करके बड़ी सावधानीके साथ निरन्तर भगवतीका ही चिन्तन करते। इस तरह तीन वर्ष आराधना करनेपर भगवती साक्षात् उनके सामने प्रकट हुईं और वर माँगनेको कहा। राजा सुरथके मनमें संसारकी वासना थी। इसलिये उन्होंने संसारी भोग ही माँगे। परन्तु समाधि वैश्यके मनमें अब संसारकी किसी वस्तुकी कामना नहीं थी। इनकी दुःखरूपता, अनित्यता और असत्यता इनकी समझमें आ चुकी थी। विद्यास्वरूपिणी महामायाको प्रसन्न करके और उन्हें साक्षात् अपने सामने 'वर माँगो' यह कहती हुई पाकर भी उनसे संसारी भोग माँगना इन्हें ठीक न जँचा। इन्होंने भगवतीसे प्रार्थना की कि देवी! अब ऐसा वर दो कि यह मैं हूँ और यह मेरा है, इस प्रकारकी अहंता-ममता और आसक्तिको जन्म देनेवाला अज्ञान नष्ट हो जाय और मुझे विशुद्ध ज्ञानकी उपलब्धि हो। भगवतीने बड़ी प्रसन्नतासे समाधि वैश्यको ज्ञानदान किया और ये स्वरूपस्थित हो गये। —शान्तनु

तुलाधार

काशीमें तुलाधार नामके दो व्यक्ति हुए हैं—एक व्याध और दूसरे वैश्य। पहले सज्जन माता-पिताकी सेवामें सर्वदा लगे रहते थे और उन्हें ही भगवत्-रूप समझकर एक क्षणके लिये भी उनसे पराङ्मुख नहीं होते थे। स्वयं भगवान् ही क्यों न आ जायँ, ये अपने माता-पिताकी उपासनामें किसी तरहकी त्रुटि नहीं आने देते थे। इसके फलस्वरूप उन्हें सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ था। उन्हें भूत-भविष्य, परोक्ष-अपरोक्ष, सब तरहकी बातें मालूम हो जाती थीं और भगवत्-तत्त्वसे वे कभी विच्युत नहीं होते थे। एक सज्जनका नाम था कृतबोध, उन्होंने बड़ी तपस्या की थी और उपनिषदोंका ज्ञान सम्पादन किया था। जब वे तुलाधार व्याधके सामने आये तब इन्होंने उनकी तपस्या और उनकी सिद्धिका ठीक-ठीक वर्णन कर दिया। इससे वे अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने भी इन्हींकी भाँति माता-पिताकी सेवाका व्रत ले लिया।

दूसरे तुलाधार एक वैश्य थे। ये अत्यन्त भगवद्भक्त और सत्यपरायण थे। इनकी प्रशंसा सभी लोग करते थे। ये व्यापारमें लगे रहकर भी इतने धर्मनिष्ठ और भगवत्चिन्तनपरायण थे कि इनकी समता करनेवाला उस समय और कोई नहीं था।

उन्हीं दिनों जाजलि नामके एक ब्राह्मण समुद्रकिनारे घोर तपस्या कर रहे थे। वे अपने आहार-विहारको नियमित करके, वस्त्रके स्थानपर वल्कलका उपयोग करते हुए, मन-प्राण आदिको रोककर योगसाधनाकी बहुत ऊँची भूमिकामें पहुँच गये थे। एक दिन जलमें खड़े होकर ध्यान करते-करते उनके मनमें सृष्टिके ज्ञानका उदय हुआ। भूगोल-खगोल आदिके विषय उन्हें करामलकवत् प्रत्यक्ष होने लगे। उनके मनमें यह अभिमान हो आया कि मेरे समान कोई दूसरा नहीं है। उनके इस भावको जानकर आकाशवाणी हुई—'महाशय! आपका यह सोचना ठीक नहीं। काशीमें एक तुलाधार नामके व्यापारी रहते हैं, वे भी ऐसी बात नहीं कह सकते, आपको तो अभी ज्ञान ही क्या हुआ है?' इसपर जाजलिने तुलाधारके दर्शनकी उत्कण्ठा प्रकट की और मार्गका ज्ञान प्राप्त करके काशीकी ओर चल पड़े। तीर्थाटन करते हुए वे काशी पहुँचे और उन्होंने देखा कि महात्मा तुलाधार अपनी दूकानपर बैठे व्यापारका काम कर रहे हैं। जाजलिको देखते ही वे उठ खड़े हुए और बड़ा स्वागत-सत्कार करके नम्रताके साथ बोले—'ब्रह्मन्! आप मेरे ही पास आये हैं, आपकी तपस्याका मुझे पता है। आपने जाड़े, गरमी और वर्षाकी परवा न करके केवल वायु पीते हुए ठूँठकी तरह खड़े रहकर तपस्या की है। जब आपको सूखा वृक्ष समझकर जटामें चिड़ियोंने अपने घोंसले बना लिये, तब भी आपने उनकी ओर दृष्टि नहीं डाली। कई पक्षियोंने आपकी जटामें ही अण्डे दिये और वहीं उनके अण्डे फूटे और बच्चे सयाने हुए। यह सब देखते-देखते आपके मनमें तपस्याका घमंड हो आया, तब आकाशवाणी सुनकर आप यहाँ पधारे हैं। अब बतलाइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'

तुलाधारकी ये बातें सुनकर जाजलिको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने जिज्ञासा की कि आपको इस प्रकारका निर्मल ज्ञान और व्यवसायात्मिका बुद्धि कैसे प्राप्त हुई? तुलाधारने सत्य, अहिंसा आदि साधारण धर्मोंकी बात सुनाकर अपने विशेषधर्म, सनातन वर्णाश्रमधर्मपर बड़ा जोर दिया। उसने बतलाया कि 'अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार कर्त्तव्य कर्मका पालन करते हुए जो लोग किसीका अहित नहीं करते और मनसा-वाचा-कर्मणा सबके हितमें ही तत्पर रहते हैं उन्हें कोई वस्तु दुर्लभ नहीं। इन्हीं बातोंके यत्किञ्चित् अंशसे मुझे यह थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त हुआ है। यह सारा जगत् भगवान्का स्वरूप है, इसमें कोई अच्छा या बुरा नहीं। मिट्टी और सोनेमें तनिक भी अन्तर नहीं। इच्छा, द्वेष और भय छोड़कर जो दूसरोंको भयभीत नहीं करता और किसीका बुरा नहीं चेतता, वही सच्चे ज्ञानका अधिकारी है। जो लोग सनातन सदाचारका उल्लंघन करके अभिमान आदिके वशमें हो जाते हैं उन्हें वास्तविक ज्ञानकी उपलब्धि नहीं होती।' यह कहकर तुलाधारने जाजलिको सदाचारका उपदेश किया। यह कथा महाभारतके शान्तिपर्वमें आती है। इसमें श्रद्धा, सदाचार, वर्णाश्रमधर्म, सत्य, समबुद्धि आदिपर बड़ा जोर दिया गया है। प्रत्येक कल्याणकामी पुरुषको इसका अध्ययन करना चाहिये। तुलाधारके उपदेशोंसे जाजलिका अज्ञान नष्ट हो गया

और वे ज्ञानसम्पन्न होकर अपने धर्मके आचरणमें लग गये। बहुत दिनोंतक धर्मपालनका आदर्श उपस्थित करके और लोगोंको उपदेशादिद्वारा कल्याणकी ओर अग्रसर करके दोनोंने ही सद्गति प्राप्त की। —शान्तनु

तुलाधार शूद्र

त्रेतायुगमें किसी गाँवमें तुलाधार नामक एक शूद्र रहते थे। ये बड़े ही सत्यवादी, निर्लोभी, वैराग्यसम्पन्न और भगवान्‌के अनन्य भक्त थे। घरमें साध्वी स्त्री थी। खानेको इन्हें भरपेट अन्न तथा पहननेको पूरे वस्त्र नहीं मिलते थे, तथापि इनके मनमें कोई क्षोभ नहीं होता था। अवश्य ही इनकी स्त्रीको दरिद्रताके कारण कुछ दुःख रहा करता था, परन्तु वह पातिव्रत-धर्मका पालन करनेवाली होनेके कारण कभी इनसे न तो कुछ कहती और न इनकी रुचिके विरुद्ध किसी दूसरे उपायसे ही पैसे कमाती।

भक्तवत्सल भगवान्‌ने लीला शुरू की। तुलाधारजीके कपड़ोंमें एक धोती थी और एक गमछा, दोनों ही बिलकुल फट गये थे। मैले तो थे ही। वे नाममात्रके वस्त्र रह गये थे, उनसे वस्त्रकी जरूरत पूरी नहीं होती थी। तुलाधार नित्य नदी नहाने जाते थे, इसलिये एक दिन भगवान्‌ने दो बढ़िया वस्त्र नदीके तीरपर ऐसी जगह रख दिये जहाँ तुलाधारकी नज़र उनपर गये बिना न रहे। तुलाधार नित्यके नियमानुसार नहाने गये। उनकी नज़र नये वस्त्रोंपर पड़ी। वहाँ उनका कोई भी मालिक नहीं था, परन्तु इनके मनमें ज़रा भी लोभ नहीं पैदा हुआ। इन्होंने दूसरेकी वस्तु समझकर उधरसे सहज ही नज़र फिरा ली और स्नान-ध्यान करके चलते बने। दूर छिपकर खड़े हुए प्रभु भक्तका संयम देखकर मुसकरा दिये।

दूसरे दिन भगवान्‌ने गूलरके फल-जैसा सोनेका गोला उसी जगह रख दिया। तुलाधार आये। उनकी नज़र आज भी सोनेके गोलेपर गयी। क्षणके लिये अपनी दीनताका ध्यान आया, परन्तु उन्होंने सोचा— 'यदि मैं इसे ले लूँगा तो मेरा अलोभव्रत अभी नष्ट हो जायगा। फिर इससे अहंकार पैदा होगा। लाभसे लोभ, फिर लोभसे लाभ, फिर लाभसे लोभ, इस प्रकार मैं निन्यानवेके चक्करमें पड़ जाऊँगा। लोभी मनुष्यको कभी शान्ति नहीं मिलती। नरकका दरवाजा तो उसके लिये सदा खुला ही रहता है। बड़े-बड़े पापोंकी पैदाइश इस लोभसे ही होती है। घरमें धनकी प्रचुरता होनेसे स्त्री और बालक धनके मदसे मतवाले हो जाते हैं, मतवालेपनसे कामविकार होता है और कामविकारसे बुद्धि मारी जाती है। बुद्धि नष्ट होते ही मोह छा जाता है और उस मोहसे नया-नया अहंकार, क्रोध और लोभ उत्पन्न होता है। इनसे तप नष्ट हो जाता है और मनुष्यकी बुरी गति हो जाती है। अतएव मैं इस सोनेके गोलेको किसी प्रकार भी नहीं लूँगा।'

इस प्रकार विचार करके तुलाधार उसे वहीं पड़ा छोड़कर घरकी ओर चल दिये। स्वर्गस्थ देवताओंने साधुवाद किया और फूल बरसाये!

इधर भगवान् भविष्य बतानेवाले ज्योतिषी बनकर उसी गाँवमें पहुँचे। ***'भूखो बूझै ज्योतिषी, धायो बूझै बैद'*** की कहावतके अनुसार खबर पाकर अपने भाग्यका लेख पढ़ानेके लिये तुलाधारकी स्त्री भी ज्योतिषीजीके पास गयी। ज्योतिषीजीने हँसकर उससे कहा—'तेरे भाग्यमें दरिद्रता ही बदी है, क्योंकि तेरा पति इतना मूर्ख है कि वह घर आयी लक्ष्मीका भी अपमान करता है। आज ही विधाताने उसे खूब धन दिया था, परन्तु वह मूर्खकी तरह उसे छोड़कर चला आया। तू अपने घर जाकर अपने स्वामीसे पूछ तो सही कि आज वह मिले हुए धनको क्यों छोड़ आया।'

ज्योतिषीजीकी बात सुनकर तुलाधारकी स्त्री अपने घर लौट आयी और स्वामीसे सारा हाल कह सुनाया। तुलाधारने कहा—'ज्योतिषीजीकी बात बिलकुल सच है, परन्तु मैं धनका क्या करता?' साध्वी पत्नी कुछ नहीं बोली। तब कुछ विचारकर यह जाननेके लिये कि पण्डितको मेरी इस घटनाका पता कैसे लगा, तुलाधार अपनी स्त्रीको साथ लेकर ज्योतिषीजीके पास अकेलेमें गये और उनसे कहने लगे—'आप क्या कहना चाहते हैं, मुझसे कृपा करके कहिये।'

ज्योतिषीजी स्नेहभरे शब्दोंमें समझाते हुए-से बोले—'बेटा! तुम आँखोंके सामने पड़े हुए निर्दोष धनको सहज ही तृणके समान त्यागकर चले आये! तुमने अपने

घर आयी लक्ष्मीका अपमान किया है। फिर तुम्हें धनका सुख कैसे मिलेगा? अब भी तुम मेरी बात मानो तो जाकर धन ले आओ और निष्कण्टक सुखभोग करो। संसारमें धन और ऐश्वर्य ही सार है, इसीसे मनुष्यकी शोभा और सम्मान है।'

निःस्पृह तुलाधारने कहा—'भगवन्! धनमें मेरी रत्तीभर भी स्पृहा नहीं है। मैं तो समझता हूँ कि धन जीवको फँसानेके लिये बड़ा भारी जाल है। जिस मनुष्यकी धनमें आसक्ति है उसकी मुक्ति कभी नहीं हो सकती। धनमें मादकता है, मोह है, भय है, और है मिथ्यामें प्रीति! धन आया कि चोर, जातिके लोग, राजा और राजपुरुषोंकी नज़र उसकी ओर लग जाती है। पशु-पक्षियोंमें भी परस्पर डाह रहा करता है, फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या। धनीसे दूसरे धनी और निर्धन पुरुष भी डाह करने लगते हैं, जिससे प्राणसंकट उपस्थित हो जाता है। पापजनक अहंकार और कामादिका तो प्रिय निवासस्थल धन ही है, और है यह दुर्गतिका परम निदान। अतएव भगवन्! मुझको धन नहीं चाहिये। निर्धन रहकर ही मैं परम सुखी हूँ।'

ज्योतिषीजी कहने लगे—'तुम नहीं जानते, संसारमें जिसके पास धन है उसीके सब कुछ है। धनी पुरुषके ही मित्र-बान्धव, कुल-शील, पाण्डित्य, रूप-सौभाग्य, यश और सुख है। स्त्री-पुत्र उसीका सत्कार करते हैं, निर्धनको कोई पूछतातक नहीं। धनहीन मनुष्यके न मित्र हैं, न धर्म है और न उसका जन्म ही सार्थक है। धनसे ही परोपकार, यज्ञ, दान आदि होते हैं; धनसे ही कुएँ-तालाब बनाये जा सकते हैं; धनसे ही होम-जप होते हैं, जिनसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। निर्धन मनुष्य इनमेंसे कुछ भी नहीं कर सकता। व्रत, तीर्थसेवन, जप, सन्तुष्टि, सिद्धि, आजीविका, भोग, तप, सब धनसे ही होते हैं। धनसे ही रोगका प्रतिकार, पथ्य, औषध और आत्मरक्षा होती है। शत्रुजय, स्त्रियोंका विलास, भूत, भविष्य और वर्तमानका ज्ञान, यहाँतक कि सभी सुकृत और दुष्कृत धनसे ही होते हैं। सारांश यह कि जिसके पास धन है वही इच्छानुसार भोग भोग सकता है और वही दान-धर्म करके स्वर्गादिमें जा सकता है।'

तुलाधार बोले—'भगवन्! यहाँके भोग और स्वर्ग दोनों ही अनित्य हैं। भोगोंमें सुख मानना ही तो मोह है। आप मुझे क्यों मोहमें डाल रहे हैं?'

'अकाम ही सर्वव्रत है, अक्रोध ही तीर्थसेवन है, दया ही जपके तुल्य है, सन्तोष ही शुद्ध धन है। अहिंसा ही परमा सिद्धि है, शिलोञ्छ ही उत्तम वृत्ति है, शाकाहार ही मेरे लिये अमृत और उपवास ही परम तप है। यथालाभमें सन्तुष्टि ही महान् भोग्य है और कौड़ी ही महादान है। परायी स्त्री माताके समान है और पराया धन जहरके समान है। परस्त्रियाँ विषधर साँपके समान हैं। ऐसा भाव रखना ही मेरा सर्वयज्ञ है। अतएव हे ज्योतिषीजी! मैं धन नहीं लूँगा, यह मैं आपसे सत्य-सत्य कहता हूँ। कीचड़ हाथोंपर लपेटकर उसे धोनेकी अपेक्षा तो कीचड़से दूर रहना ही उत्तम है।'

नरश्रेष्ठ शूद्र तुलाधारकी इस निर्लोभ वृत्तिपर देवताओंने उसका जयघोष किया, आकाशसे उसके मस्तक और शरीरपर देवताओंने फूल बरसाये। देवदुन्दुभियाँ बजने लगीं। दिव्यलोकसे उसके लिये विमान उतर आया! भगवान्‌ने उसे अपने दिव्य दर्शन दिये और अपने साथ दिव्यलोकको ले गये। —ह० पोद्दार

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

जो मनुष्य लौकिक लालसाके वशमें होकर ऋषि-मुनियोंके हृदयस्थ हरिकी आवाजकी अवगणना करता है उसे तो ग्लानिका कफ़न ओढ़कर अपमानकी भूमिमें ही दफ़नना पड़ता है। और जो इन्द्रियों और भोगेच्छाको दुर्बल बताकर लौकिक पदार्थोंसे दूर रहता है वह सत्य, सुख-शान्तिका कफ़न धारण करके सम्मानकी भूमिमें—खुद प्रभुकी गोदमें—दफ़नाया जाता है।

ईश्वरको जाननेवालेका हृदय निर्मल काँचकी हाँड़ीमें जलते हुए दीपकके समान है। उसका प्रकाश सर्वत्र फैलता है। खुद उसे तो फिर डर ही कैसा?

चक्रिक भील

द्वापरयुगमें चक्रिक नामका एक संतस्वभाव भील वनमें रहता था। भील होनेपर भी उसके आचरण बहुत ही उत्तम थे। वह मीठा बोलनेवाला, क्रोध जीतनेवाला, अहिंसापरायण, दयालु, दम्भहीन और माता-पिताकी सेवा करनेवाला था। यद्यपि उसने कभी शास्त्रोंका श्रवण नहीं किया था तथापि उसके हृदयमें भगवान्‌की भक्तिका आविर्भाव हो गया था। वह सदा हरि, केशव, वासुदेव और जनार्दन आदि नामोंका स्मरण किया करता था। वनमें एक भगवान् हरिकी मूर्ति थी। वह भील वनमें जब कोई सुन्दर फल देखता तो पहले उसे मुँहमें लेकर चखता, फल मीठा न होता तो उसे स्वयं खा लेता और यदि बहुत मधुर और स्वादिष्ठ होता तो उसे मुँहसे निकालकर भक्तिपूर्वक भगवान्‌के अर्पण करता। वह प्रतिदिन इस तरह पहले चखकर स्वादिष्ठ फलका भगवान्‌के श्रद्धासे भोग लगाया करता। उसको यह पता नहीं था कि जूठा फल भगवान्‌के भोग नहीं लगाना चाहिये। अपनी जातिके संस्कारके अनुसार ही वह सरलतासे ऐसा आचरण किया करता।

एक दिन वनमें घूमते हुए भीलकुमार चक्रिकने एक पियाल वृक्षके एक पका हुआ फल देखा। उसने फल तोड़कर स्वाद जाननेके लिये उसको जीभपर रखा। फल बहुत ही स्वादिष्ठ था। परन्तु जीभपर रखते ही वह गलेमें उतर गया। चक्रिकको बड़ा विषाद हुआ, भगवान्‌के भोग लगानेलायक अत्यन्त स्वादिष्ठ फल खानेका वह अपना अधिकार नहीं समझता था। 'सबसे अच्छी चीज ही भगवान्‌को अर्पण करनी चाहिये' उसकी सरल बुद्धिमें यही सत्य समाया हुआ था। उसने दाहिने हाथसे अपना गला दबा लिया कि जिससे फल पेटमें न चला जाय। वह चिन्ता करने लगा कि 'अहो! आज मैं भगवान्‌को मीठा फल न खिला सका, मेरे समान पापी और कौन होगा!' मुँहमें अँगुली डालकर उसने वमन किया, तब भी गलेमें अटका हुआ फल नहीं निकला। चक्रिक श्रीहरिका एकान्त सरल भक्त था, उसने भगवान्‌की मूर्तिके समीप आकर कुल्हाड़ीसे अपना गला एक तरफसे काटकर फल निकाला और भगवान्‌के अर्पण किया। गलेसे खून बह रहा था। पीड़ाके मारे व्याकुल हो चक्रिक बेहोश होकर गिर पड़ा। कृपामय भगवान् उस सरलहृदय शुद्धान्तःकरण प्रेमी भक्तकी महती भक्ति देखकर प्रसन्न हो गये और चतुर्भुजरूपसे साक्षात् प्रकट होकर कहने लगे—

'इस चक्रिकके समान मेरा भक्त कोई नहीं, क्योंकि इसने अपना कण्ठ काटकर मुझे फल प्रदान किया है। मेरे पास ऐसी क्या वस्तु है जिसे देकर मैं इससे उऋण हो सकूँ? इस भील-पुत्रको धन्य है! मैं ब्रह्मत्व, शिवत्व या विष्णुत्व देकर भी इससे उऋण नहीं हो सकता।'

इतना कहकर भगवान्‌ने उसके मस्तकपर हाथ रखा। कोमल करकमलका स्पर्श होते ही उसकी सारी व्यथा दूर हो गयी और वह उसी क्षण उठ बैठा! भगवान् उसे उठाकर अपने पीताम्बरसे, जैसे पिता अपने प्यारे पुत्रके अंगकी धूल झाड़ता है, उसके अंगकी धूल झाड़ने लगे। चक्रिकने भगवान्‌को साक्षात् अपने सम्मुख देखकर हर्षसे गद्‌गदकण्ठ हो मधुर वाक्योंसे उनकी स्तुति की।

भगवान् उसकी स्तुतिसे बड़े सन्तुष्ट हुए और उसे वर माँगनेको कहा! सरल भक्तने कहा—'हे परब्रह्म! हे परमधाम!! हे कृपामय परमात्मन्!!! जब मैंने साक्षात् आपके दर्शन प्राप्त कर लिये तो मुझे और वरकी क्या आवश्यकता है? परन्तु हे लक्ष्मीनारायण! आप वर देना ही चाहते हैं तो कृपाकर यही वर दीजिये कि मेरा चित्त आपमें ही अचलरूपसे लगा रहे!'

—ह० पोद्दार

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

इन असंख्य तारों और नभोमण्डलके सिरजनहारकी नज़र तू जहाँ कहीं भी होगा वहीं रहेगी—ऐसा विचार कर सदा-सर्वदा सावधान रहना।

असुर गुडाकेश

बहुत पहले सृष्टिके प्रारम्भमें ही महासुर गुडाकेश ताँबेका शरीर धारण करके चौदह हजार वर्षतक अडिग श्रद्धा और बड़ी दृढ़ताके साथ भगवान्‌की आराधना करता रहा। उसकी निश्चयपूर्ण तीव्र तपस्यासे सन्तुष्ट होकर भगवान् उसके रमणीय आश्रमपर प्रकट हुए। तपस्यानिरत गुडाकेश भगवान्‌को देखकर कितना आनन्दित हुआ, यह बात कही नहीं जा सकती। शंख-चक्र-गदाधारी, चतुर्बाहु, पीताम्बर पहने, मन्द-मन्द मुस्कराते हुए भगवान्‌के चरणोंपर गिर पड़ा। उसके सारे शरीरमें रोमांच हो आया, आँखोंसे आँसू बहने लगे, हृदय गद्‌गद हो गया, गला रुँध गया और वह उनसे कुछ भी बोल नहीं सका। थोड़ी देरके बाद जब कुछ सम्हला तब अंजलि बाँधकर, सिर झुकाकर भगवान्‌के सामने खड़ा हो गया। भगवान्‌ने मुस्कराते हुए कहा—'निष्पाप गुडाकेश! तुमने कर्मसे, मनसे, वाणीसे जिस वस्तुको वांछनीय समझा हो, जो चीज तुम्हें अच्छी लगती हो, माँग लो। मैं आज तुम्हें सब कुछ दे सकता हूँ।' भगवान्‌की बात सुनकर गुडाकेशने विशुद्ध हृदयसे कहा—'भगवन्! यदि आप मुझपर पूर्णरूपसे प्रसन्न हैं तो ऐसी कृपा करें कि मैं जहाँ-जहाँ जन्म लूँ, हजारों जन्मतक तुम्हारे चरणोंमें ही मेरी दृढ़ भक्ति बनी रहे। भगवन्! एक बात और चाहता हूँ। तुम्हारे हाथसे छूटे हुए चक्रके द्वारा ही मेरी मृत्यु हो और जब चक्रसे मैं मारा जाऊँ तब मेरे मांस, मज्जा आदि ताँबेके रूपमें हो जायँ और वे अत्यन्त पवित्र हों। उनकी पवित्रता इसीमें है कि उनमें भोग लगानेसे तुम्हारी प्रसन्नता सम्पादित हो (अर्थात् मरनेपर भी हमारा शरीर तुम्हारे ही काममें आवे)।' भगवान्‌ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की और कहा 'तबतक तुम ताँबा होकर ही रहो। यह ताँबा मुझे बड़ा प्रिय होगा। वैशाख शुक्ल द्वादशीके दिन मेरा चक्र तुम्हारा वध करेगा और तब तुम सर्वदाके लिये मेरे पास आ जाओगे।' यह कहकर भगवान् अन्तर्हित हो गये। और वह मनमें इस उत्सुकताके साथ बड़ी तपस्या करने लगा कि कब वैशाख शुक्ल द्वादशी आवे और कब अपने प्रियतमके हाथोंसे छूटे हुए चक्रके द्वारा हमारी मृत्यु हो, जो मुझे उनके प्यारसे भी मीठी होगी। अन्ततः वह द्वादशी आ गयी। बड़े उत्साहके साथ उसने भगवान्‌की पूजा की और प्रार्थना करने लगा—

मुञ्च मुञ्च प्रभो चक्रमपि वह्निसमप्रभम्।
आत्मा मे नीयतां शीघ्रं निकृत्त्याङ्गानि सर्वशः॥

'हे प्रभो! शीघ्रातिशीघ्र धधकती हुई आगके समान जाज्वल्यमान चक्र मुझपर छोड़ो, अब विलम्ब मत करो। नाथ! मेरे शरीरको टुकड़े-टुकड़े करके मुझे शीघ्रातिशीघ्र अपने चरणोंकी सन्निधिमें बुला लो।' अपने भक्तकी सच्ची प्रार्थना सुनकर भगवान्‌ने तुरन्त ही चक्रके द्वारा उसके शरीरको टुकड़े-टुकड़े करके अपने पास बुला लिया और अपने प्यारे भक्तका शरीर होनेके कारण वे आज भी ताँबेसे बहुत प्रेम करते हैं और वैष्णवलोग बड़े प्रेमसे ताँबेके पात्रमें भगवान्‌को अर्घ्य-पाद्यादि समर्पित करते हैं। इसीके मलसे सीसा, लाख, काँसा, रूपा और सोना आदि भी बने हैं। तभीसे भगवान्‌को ताँबा अत्यन्त प्रिय है। —प्र० ब्रह्मचारी

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

किन-किन बातोंसे ईश्वरकी प्राप्ति होती है? गूँगे, बहरे और अंधेपनसे। प्रभुके सिवा न कुछ बोलो न सुनो और न देखो।

मनुष्यका सच्चा कर्तव्य क्या है? ईश्वरके सिवा किसी दूसरी चीज़से प्रीति न जोड़ना।

ईश्वरके भजन-पूजनमें जो दुनियाकी सारी चीज़ोंको भूल जाते हैं उन्हें सब चीज़ोंमें ईश्वर-ही-ईश्वर दिखलायी देने लगता है।

वृत्रासुर

वृत्रासुर पूर्वजन्ममें भगवान्‌का परमभक्त राजा चित्रकेतुके नामसे प्रसिद्ध था, पार्वतीके शापवश इसे असुरशरीर प्राप्त हुआ। परन्तु इस देहमें भी पूर्वाभ्यासवश इसकी भगवद्भक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रही। वृत्रासुरने साठ हजार वर्षतक कठिन तपस्या करके अमित शक्ति प्राप्त की और सबको जीतकर वह निर्भयरूपसे जगत्‌में अपार ऐश्वर्यका भोग करने लगा। यद्यपि वृत्र असुर था, उसका शरीर भी आसुरी चिह्नोंवाला था, तथापि उसके हृदयमें भगवान्‌की ओर आकर्षण था। जगत्‌की नश्वरताको वह खूब जानता था, भगवान्‌के प्रति उसके मनमें भक्ति थी। इन्द्रके साथ शत्रुता करनेके लिये ही वह उत्पन्न हुआ था, इसीलिये बाहरी दिखावेमें वह अवश्य ही महान् इन्द्रशत्रु था, सारे देवता उसके नामसे काँपते थे; परन्तु मनमें उसका किसीसे भी वैर नहीं था, वह सबमें अपने भगवान्‌को देखकर अपने स्वाँगके अनुसार घोर कर्म करता हुआ जगत्‌में विचरता था। एक बार वह भगवदिच्छासे देवताओंसे हार गया, तब असुरगुरु शुक्राचार्य उसके पास आये। शुक्राचार्यने आकर देखा कि वृत्रके चेहरेपर उदासीका कोई चिह्न नहीं है, वह जैसा राज्य करनेके समय प्रफुल्लित था वैसा ही राज्यसे भ्रष्ट होनेपर भी है। तब शुक्राचार्यने उससे पूछा—

'हे वृत्र! तुम हार गये हो, राज्यसे च्युत हो, क्या इससे तुम्हें कोई दुःख नहीं होता?' वृत्रने कहा—'भगवन्! मैं सत्य और तपके प्रभावसे जीवोंके आने-जाने और सुख-दुःखके रहस्यको जान गया हूँ, इससे मुझे किसी भी अवस्थामें हर्ष या शोक नहीं होता। जीव अपने-अपने कर्मवश कालभगवान्‌की प्रेरणासे नरक या स्वर्गमें जाकर, नियत समयतक पाप या पुण्यका फल भोगकर, फिर बचे हुए पाप-पुण्यके कारण मनुष्य, पशु, या पक्षियोनिमें जन्म लेते और मरते हैं। मरकर पुनः नरक या स्वर्गमें जाते हैं, इस प्रकार उनका आवागमन हुआ करता है। मैंने भगवत्कृपासे अदृष्ट परमात्माको देख लिया है, इसलिये मुझको जीवोंके आने-जानेमें और भोगोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें कोई विकार नहीं होता। अतएव मैं अन्य किसी विषयकी इच्छा न करके आपसे यह जानना चाहता हूँ कि किस कर्मसे और किस ज्ञानसे परब्रह्म भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। हे गुरो! आप कृपाकर मुझे इस प्रश्नका उत्तर दीजिये।' वृत्रके इन असुरभावोंको नष्ट करनेवाले परमार्थप्रद वचनोंको सुनकर तथा उसे सृष्टि-स्थिति-संहारके एकमात्र आश्रय श्रीभगवान्‌के प्रति दृढ़भक्तिपरायण जानकर शुक्राचार्यने उसको भगवान्‌का माहात्म्य सुनाया।

वृत्रासुर और शुक्राचार्यमें इस प्रकार बातचीत हो ही रही थी कि धर्मात्मा महामुनि सनत्कुमार उनका सन्देह नाश करनेके लिये वहाँ पधारे। असुरराज वृत्र तथा मुनिवर शुक्राचार्यने उनकी यथोचित पूजा की। वे उत्तम सिंहासनपर विराजमान हुए। तदनन्तर शुक्राचार्यके अनुरोध करनेपर सनत्कुमारने भगवान्‌का माहात्म्य और तत्त्व वृत्रासुरको समझाया।

सनत्कुमारके उपदेशको सुनकर वृत्रासुरको बहुत ही आनन्द हुआ। वह अब परम दृढ़ निश्चयके साथ सबमें, सब ओर, सर्वथा भगवान्‌का अनुभव करने लगा। उसकी धार्मिकता, उसका ज्ञान और उसकी भगवद्भक्ति ऐसी पवित्र और महान् हो गयी कि किसीके साथ उसकी तुलना नहीं हो सकती। वह राज्यहीन होकर भी आसक्ति छोड़कर निर्भयतापूर्वक शत्रुओंमें रहने लगा। इन्द्रने देवताओंसहित उसके वधका बहुत प्रयत्न किया, परन्तु वह सफल नहीं हुए। तब सब देवताओंने मिलकर भगवान्‌की स्तुति की। और उनसे शीघ्र ही वृत्रासुरको वध करनेका वरदान माँगा। भगवान्‌ने उनकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर मार्मिक शब्दोंमें उनसे कहा—

'हे देवताओ! मेरे प्रसन्न होनेपर क्या नहीं मिल सकता? तथापि जिसकी बुद्धि मुझमें अनन्यरूपसे लग जाती है वह मेरे तत्त्वको जाननेवाला पुरुष मुझको छोड़कर और किसी भी वस्तुको नहीं चाहता। परन्तु विषयोंको ही यथार्थ तत्त्व समझनेवाला पुरुष अपने कल्याणको नहीं जानता, इसीलिये वह अकल्याणकारी विषय ही माँगता है; उस विषयकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको वह विषय दे देना भी एक प्रकारसे अज्ञानका ही कार्य होता है। जैसे सद्वैद्य रोगीके चाहनेपर भी उसे कुपथ्य नहीं देता उसी प्रकार कल्याणको जाननेवाला विद्वान् भी अज्ञानी पुरुषको बन्धनमय भोग प्रदान करनेवाले कर्मका उपदेश नहीं करता।'

भगवान्ने इन शब्दोंमें जो कुछ कहा उससे यही आशय लेना चाहिये कि 'तुमलोगोंने स्तुति तो बहुत विद्वत्तापूर्ण की, परन्तु ऐसी स्तुति करके भी अन्तमें मुझसे माँगी सांसारिक विजय और भोगराशि ही। बड़े ही दुःखकी बात है कि तुमने मूर्खोंकी भाँति अपने यथार्थ कल्याणकी ओर ध्यान नहीं दिया, मुझको पाकर भी मुझसे दुर्लभ भक्ति न माँगकर विषयभोगोंकी ही इच्छा करते हो।'

देवता भगवान्के वचन सुनकर चुप रहे—भगवान्ने समझ लिया 'ये देवता विषयोंके ही अभिलाषी हैं, इन्हें अपने श्रेयकी अभी इच्छा नहीं है। उधर भक्त वृत्रासुरको भी असुरदेहसे छुड़ाकर शीघ्र परमधाममें ले जाना है, अतएव उसके देहत्यागका साधन कर देनेमें ही दोनों पक्षोंको सुभीता है।' यह सोचकर भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान्ने कहा—अच्छा, तुम यही चाहते हो तो यही सही। 'हे इन्द्र! अब तुम महान् तपस्वी दधीचि ऋषिके पास जाओ और विद्या, व्रत तथा तपके द्वारा दृढ़ हुए उनके शरीरको उनसे माँग लो। हे इन्द्र! वे 'अश्वशिरस्' नामसे प्रसिद्ध दधीचि ऋषि शुद्ध ब्रह्मको जानते हैं, जिसका उन्होंने अश्विनीकुमारोंको उपदेश दिया था, और जिससे अश्विनीकुमार जीवन्मुक्त हुए थे। इसके सिवा वह दधीचि ऋषि मेरे स्वरूपभूत अभेद्य नारायण-कवचको भी जानते हैं। उन्हींसे यह कवच विश्वरूपके पिता त्वष्टाको मिला था, त्वष्टाने विश्वरूपको दिया था और विश्वरूपसे उसको पाकर तुमने दानवोंपर विजय प्राप्त की थी। इस प्रकारकी विद्याओंसे दृढ़ उनके शरीरको तुम माँग लो, वे धर्मात्मा तुम्हें अपना शरीर दे देंगे, और फिर उनकी अस्थियोंसे विश्वकर्मांके द्वारा वज्र नामक शस्त्र बनवा लो। उस वज्रसे ही वृत्रासुरका वध होगा।'

इन्द्रने दधीचिके पास आकर सब बातें कह सुनायीं। दधीचिने शरीर त्याग दिया, तब उनकी अस्थियोंसे वज्र बना और उसे लेकर इन्द्रने देवताओंकी विशाल सेनासहित अपने शत्रु वृत्रासुरपर चढ़ाई कर दी। तब युद्ध करते-करते हँसकर वृत्रासुर कहने लगा—'इन्द्र! तुम घबराओ नहीं, अपने इस अमोघ वज्रका मुझपर प्रहार करो। तुम्हारा यह वज्र कभी खाली नहीं जायगा। और मैं भगवान्को इस शरीरकी बलि देकर कर्म-बन्धनसे मुक्त होकर भगवान्के परमपदको प्राप्त करूँगा। हे इन्द्र! तुम्हारा यह वज्र श्रीहरिके तेज और महान् तपस्वी दधीचि ऋषिके तपसे तीक्ष्ण हो रहा है, अतएव इस वज्रसे अपनी विजय होनेमें तुम सन्देह न करो। क्योंकि जिधर श्रीहरि होते हैं उधर ही विजय, श्री और समस्त गुण होते हैं—'**यतो हरिर्विजयः श्रीर्गुणास्ततः।**' पर यह याद रखो कि भगवान्का सच्चा कृपापात्र तो मैं ही हूँ। तुमको तो मुझे जीत लेनेपर सिर्फ भौतिक सुख और अनित्य राज्यसिंहासन ही मिलेगा, परन्तु मैं तो अपने स्वामी भगवान्के आदेशानुसार उनके पवित्र चरणकमलोंमें मनको स्थिर करके तुम्हारे इस वज्रके द्वारा विषय-भोगरूपी पाशके कट जानेपर शरीरको त्यागकर मुनिजनदुर्लभ परम धामको प्राप्त करूँगा। हे इन्द्र! जिन भक्तोंने अपनी बुद्धि केवल प्रियतम भगवान्में ही लगा दी है उन अपने परायण भक्तोंको भगवान् स्वर्ग, पृथ्वीलोक और पातालकी सम्पत्तियाँ कभी नहीं देते; क्योंकि ये सम्पत्तियाँ राग-द्वेष, उद्वेग-आवेग, आधि-व्याधि, मद-अभिमान, व्यसन-विवाद और परिश्रम-क्लेश आदि दोषोंसे भरी होती हैं। भला, माता कभी अपने ऊपर निर्भर करनेवाले शिशुको अपने हाथसे जहर दे सकती है? इसी प्रकार मेरे प्रभु श्रीनारायण भी अपने भक्तको विषय-सम्पत्तिरूप विष न देकर उसके धर्म, अर्थ और कामसम्बन्धी प्रयत्नका ही नाश कर देते हैं। जब भगवान् ऐसा कर दें तभी भगवान्की मुझपर कृपा हुई, ऐसा अनुमान करना चाहिये। मुझपर भगवान्की यह कृपा हुई है, इसीसे तुम वज्रहस्त होकर मुझे मारनेके लिये मेरे सामने खड़े हो। परन्तु तुम तो अभी धर्म, अर्थ और कामके ही प्रयत्नमें लगे हो; इससे तुम इस कृपाके पात्र नहीं हो। इसीसे तुमको स्वर्गादि सम्पत्तियाँ ही प्राप्त होंगी। भगवान्के इस कृपा-प्रसादका रहस्य उनके अकिंचन भक्त ही जानते हैं, दूसरे नहीं जानते।' इतना कहकर आप्तकाम, शरणागत, अनन्य भक्त असुरराज वृत्रासुर अपने स्वामी भक्तवत्सल भगवान्से कहने लगा—

'हे हरे! मैं मरकर भी फिर तुम्हारे चरण ही जिनका आश्रय हैं, उन तुम्हारे दासोंका भी दास बनूँ। हे प्राणनाथ! मेरा मन तुम्हारे गुणोंका स्मरण करता रहे, मेरी वाणी तुम्हारे गुणकीर्त्तनमें लगी रहे, मेरा शरीर

तुम्हारी सेवा करता रहे। हे सर्वसौभाग्यनिधे! मैं तुमको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्माका पद, सार्वभौम राज्य, पातालका आधिपत्य, योगसिद्धि—अधिक क्या, पुनर्जन्मका नाशक सायुज्य मोक्ष भी नहीं चाहता। जिनके पाँख नहीं जमे हैं वे पक्षियोंके बच्चे जैसे क्षुधासे अथवा दूसरे पक्षियोंसे पीड़ित होनेपर माताके आनेकी व्याकुलतासे बाट देखते हैं, जैसे रस्सीसे बँधे हुए भूखे छोटे-छोटे बछड़े गौका दूध पीनेके लिये उतावले रहते हैं और जैसे पतिव्रता स्त्री दूर देशमें गये हुए पतिको देखनेके लिये व्यग्र रहती है, हे कमललोचन! वैसे ही मेरा मन तुम्हारे दर्शनके लिये व्याकुल है। मैं अपने कर्मोंके द्वारा संसार-चक्रमें भ्रमण कर रहा हूँ, तुम पुण्यकीर्त्ति हो, तुम्हारे भक्तोंके साथ मेरी मैत्री हो। तुम्हारी मायाके वश होकर मेरा यह चित्त पुत्र-स्त्री, शरीर और घर आदिमें आसक्त हो रहा है। हे नाथ! अब ऐसा करो कि जिसमें यह चित्त तुम्हारे सिवा और किसीमें आसक्त न हो।'

प्रार्थना करते-करते वृत्रासुर पुलकित होकर कुछ कालके लिये ध्यानमग्न हो गया। त्रिभुवनसुन्दर भगवान्‌की छबि उसके सामने प्रकट हो गयी और वह मन-ही-मन उन्हें नमस्कार कर शीघ्र ही अपने समीप खींच लेनेकी अन्तःप्रार्थना करने लगा। इन्द्र वृत्रासुरकी दशा देखकर चकित रह गया। फिर वृत्रासुरने इन्द्रको समझाते हुए कहा 'हे इन्द्र! कठपुतली और कलके बने हुए हरिणकी भाँति सब जीव भगवान्‌के वशमें हैं। उस ईश्वरके अनुग्रह बिना पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पंच सूक्ष्म महाभूत, इन्द्रियाँ और मन—ये सब भी विश्वकी सृष्टि करनेमें असमर्थ हैं। जो लोग इस रहस्यको नहीं जानते वही पराधीन शरीरको स्वाधीन मानते हैं। हे इन्द्र! वस्तुतः भगवान् ही प्राणियोंके द्वारा प्राणियोंको उपजाते हैं और प्राणियोंके द्वारा प्राणियोंका विनाश करते हैं। हे इन्द्र! जैसे इच्छा न होनेपर भी कालकी प्रेरणासे अकीर्ति, ऐश्वर्यकी हानि और दरिद्रता प्राप्त होती है वैसे ही भाग्यवश आयु, श्री, कीर्ति और ऐश्वर्य प्राप्त होता है। जब सब कुछ ईश्वरके अधीन है तब कीर्ति-अकीर्ति, जय-पराजय, सुख-दुःख और जीवन-मरणके लिये हर्ष-विषाद न रखकर द्वन्द्वमात्रमें समदृष्टि रहना चाहिये। सुख-दुःखादि सभी गुणोंके कार्य हैं और सत्त्व, रज, तम, ये तीनों गुण प्रकृतिके हैं, आत्माके नहीं; अतएव जो इन तीनों गुणोंका अपनेको साक्षी समझता है वह शोक-हर्षादिमें कभी लिप्त नहीं होता।'

वृत्रासुरके निष्कपट दिव्य भाषणको सुनकर इन्द्र उसकी प्रशंसा करते हुए हँसकर कहने लगे—'हे दानवेन्द्र! अहो! तुम्हारी इस प्रकारकी बुद्धि देखकर यह जान पड़ता है कि तुम सिद्धावस्थाको प्राप्त हो गये हो। तुम सबके अंदर एक ही आत्माको देखते हो, सबके सुहृद् हो और जगदीश्वरके परम भक्त हो। तुम आसुरी भावको त्यागकर महापुरुषत्वको प्राप्त हो गये, इससे जान पड़ता है कि भगवान् विष्णुकी सबको मोहित करनेवाली मायासे तुम पार हो चुके हो। अहो! यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है कि तुमने स्वभावसे ही रजोगुणी होकर भी बुद्धिको इस प्रकार दृढ़ताके साथ शुद्ध सत्त्वमय भगवान् वासुदेवमें लगा रखा है। इसलिये स्वर्गादि सुखोंमें तुम्हारा अनासक्त होना उचित ही है। क्योंकि जो पुरुष मुक्तिके अधीश्वर भगवान् श्रीहरिका भक्त है वह सदा ही आनन्दपूर्ण अमृतके सागरमें विहार करता है, वह गढ़ैयामें भरे हुए थोड़े गँदले जलके समान स्वर्गादि भोगोंमें क्यों आसक्त होगा।'

इस प्रकार बातचीत होनेके बाद शीघ्र युद्ध समाप्त करनेकी इच्छासे दोनों भीषण युद्ध करने लगे। और अन्तमें इन्द्रने वज्रसे उसके मस्तकको काटकर धड़से अलग कर दिया। सब लोगोंके देखते-देखते ही वृत्रके शरीरसे एक दिव्य ज्योति निकली और वह भगवान्‌के स्वरूपमें जाकर लीन हो गयी! वज्रसे विदीर्ण किये जानेके समय उस महायोगी महा असुर वृत्रका चित्त भगवान्‌में अनन्यभावसे लगा था, इससे वह अपार तेजवाले विष्णुभगवान्‌के परमधामको चला गया।

दारितश्च स वज्रेण महायोगी महाऽसुरः।
जगाम परमं स्थानं विष्णोरमिततेजसः॥

(महाभारत-शान्तिपर्व २८३। ६०)

—ह० पोद्दार

वृषपर्वा

प्रजापति भगवान् कश्यपके तेरह पत्नियाँ थीं, उनमें दनु तीसरी पत्नी थी। समस्त दानव दनुके ही पुत्र हैं। दनुके गर्भसे ६१ पुत्र हुए। वृषपर्वा उसी दनुके गर्भसे उत्पन्न हुए। ये समस्त दानवोंके राजा थे। भगवान् शुक्राचार्य समस्त दैत्य-दानवोंके गुरु थे। वृषपर्वा अनन्य गुरुभक्त थे। गुरुभक्ति ही इनके ऐश्वर्यका प्रधान कारण थी। गुरुके लिये ये सब कुछ कर सकते थे। वृषपर्वाकी एक अत्यन्त ही प्यारी पुत्री थी, उसका नाम शर्मिष्ठा था। शर्मिष्ठा राजपुत्री थी, अपने पिताकी अत्यन्त प्यारी थी, युवती थी; अतः उसे अभिमान होना स्वाभाविक ही था।

वृषपर्वाके गुरु भगवान् शुक्राचार्यकी भी एक पुत्री थी, उसका नाम देवयानी था। देवयानी अपने पिताकी अत्यन्त ही प्यारी पुत्री थी। शुक्राचार्यजी देवयानीके लिये सब कुछ कर सकते थे। एक बार जब दैत्योंने कचको मार डाला तब देवयानीके ही अत्यन्त आग्रहसे भगवान् शुक्राचार्यने उसे मृतसंजीवनी विद्यासे जिला लिया था और दानवोंको बहुत डाँटा था।

देवयानी और शर्मिष्ठा दोनों ही सहेलियाँ थीं, दोनों ही युवती थीं, दोनों ही अपने-अपने पिताओंकी अत्यन्त प्यारी थीं। दोनों साथ-साथ वसन्त ऋतुमें घूमनेके लिये बाहर गयीं। बहुत देरतक वे वन-उपवनोंमें सहस्रों सखियोंके साथ घूमती रहीं और भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ करती रहीं। वहाँपर एक सरोवर था, सभी अपने-अपने वस्त्रोंको किनारेपर रखकर जलमें घुस गयीं और जलक्रीड़ा करती रहीं। बहुत देरतक जलक्रीड़ा करते-करते शाम होने लगी, बहुत देर हो गयी। वे जल्दी-जल्दी निकलकर वस्त्र पहनने लगीं। शीघ्रतामें देवयानीकी साड़ी शर्मिष्ठाने पहन ली और शर्मिष्ठाकी साड़ी देवयानीके लिये रह गयी।

इसपर दोनोंमें कहा-सुनी हो गयी। शर्मिष्ठाने कहा—मेरे भिक्षुककी लड़की है तू, और तुझे ऐसा साहस कि मेरे कपड़े पहन लिये? देवयानीने कहा—'तेरा बाप मेरे पिताकी सदा खुशामद करता रहता है, तू मेरी दासीके बराबर भी नहीं है।' लड़कपनकी चंचलता अजीब होती है, उस समय विवेक तो रहता ही नहीं। युवावस्थाके नशेमें शर्मिष्ठाने कुछ भी नहीं सोचा और पासके एक कुएँमें देवयानीको ढकेल दिया और अपनी सखियोंके साथ घरको चली गयी। दैवयोगसे महाराज ययाति उधर आखेट करते हुए आ निकले, उन्होंने देवयानीको कुएँसे निकाला और सब बातें जानकर शुक्राचार्यको खबर दी। पुत्रीकी ऐसी दशा सुनकर शुक्राचार्यजी वहाँ आ गये और अपनी पुत्रीको भाँति-भाँतिसे समझाने लगे। देवयानीने कहा—'पिताजी! अब मैं वृषपर्वाके नगरमें कभी नहीं जाऊँगी। उसकी लड़कीने मुझे भिक्षुककी लड़की बताया है। आप किसके भिक्षुक हैं?'

शुक्राचार्यने कहा—'बेटी! मैं भिक्षुक किसीका नहीं, यदि तू नहीं जायगी तो मैं भी नहीं जाऊँगा। मैं अपमानसे रहना नहीं चाहता। मैं ब्राह्मण हूँ, शिलोञ्छवृत्तिसे निर्वाह करूँगा।'

जब यह बात दानवेन्द्र वृषपर्वाने सुनी तो वह जल्दीसे गुरुके समीप आया और भाँति-भाँतिके स्तुतिवाक्योंसे गुरुकी आराधना करने लगा। उसने कहा—'भगवन्! यदि आप हमें छोड़ देंगे तो हम अनाथ हो जायँगे। हम आपके शिष्य हैं, सेवक हैं, हमपर दया कीजिये। हमसे जो अज्ञानमें—परोक्षमें अपराध बन गया हो उसे क्षमा कीजिये और जिस प्रकार भी आप प्रसन्न हो सकें वह बताइये।'

शुक्राचार्यजीने कहा—'मेरी पुत्रीको तुम प्रसन्न कर लो, मैं प्रसन्न ही हूँ; उसके बिना मैं रह नहीं सकता।'

यह सुनकर वृषपर्वा देवयानीके समीप गये और बहुत ही विनयसे वे उसकी स्तुति करने लगे। देवयानीने कहा—'राजन्! यदि आप जैसा कहते हैं वैसी ही बात है और सचमुच आप समस्त प्रजाजन और परिजनोंसहित हमारे दास हैं तो अपनी प्यारी पुत्रीको हजार दासियोंके सहित मेरी दासी बनाइये। यदि आपकी पुत्री दासी बनकर आजीवन मेरी सेवा करनेको राजी हो जायगी तो मैं नगरमें जाऊँगी, अन्यथा नहीं।'

वृषपर्वाने अपनी पुत्रीको समझाया। पुत्रीने कहा—'पिताजी, यदि मेरे कारण दानवकुलका भला होता है तो मैं अवश्य ही सहस्र दासियोंके सहित देवयानीकी दासी बनूँगी।' यह कहकर वह देवयानीके पास गयी

और विनीतभावसे बोली—'देवयानी! मैं तुम्हारी दासी हूँ, तुम मेरे परिजनोंपर प्रसन्न हो और मुझे जो चाहो सो आज्ञा दो।' इस बातसे सन्तुष्ट होकर देवयानी चली आयी। उसका विवाह महाराज ययातिसे हुआ। शर्मिष्ठा भी उसकी दासी बनकर उसके साथ गयी।

इस प्रकार अपनी प्यारी पुत्रीको दासी बनाकर वृषपर्वाने अपने गुरुको प्रसन्न कर लिया। इसी गुरुभक्तिके कारण वे प्रातःस्मरणीय बने। —प्र० ब्रह्मचारी

श्रीप्रह्लाद

स उत्तमश्लोकपदारविन्दयो-
र्निषेवयाकिञ्चनसङ्गलब्धया ।
तन्वन् परां निर्वृतिमात्मनो मुहु-
र्दुःसङ्गदीनान्यमनःशमं व्यधात्॥

(श्रीमद्भा० ७।४।४२)

दैत्यराज हिरण्यकशिपुके चार पुत्र थे। उनमें प्रह्लाद अवस्थामें सबसे छोटे थे, किन्तु भगवद्भक्ति तथा अन्य गुणोंमें सबसे बड़े हुए। संसारमें जितने भक्त हो गये हैं, प्रह्लादजी उन सबके मुकुटमणि हैं। वे बाल्यकालसे ही भगवान्‌का नामकीर्तन और गुणकीर्तन करते-करते अपने आपको भूल जाते थे। कभी वे प्रेममें बेसुध होकर गिर पड़ते, कभी वे कीर्तन करते-करते नाचते और कभी भगवन्नामोंका उच्चारण करते हुए ढाढ़ मारकर रोने लगते।

इनके पिता असुरोंके राजा थे। देवताओंसे सदा उनकी खटपट रहती थी। एक बार देवताओंको पराजित करनेकी नीयतसे इनके पिता घोर तप करने लगे। वे भगवान्‌की सकाम आराधनामें इतने निमग्न हो गये कि उन्हें अपने शरीरतकका होश नहीं रहा। देवराज इन्द्रने अवसर पाकर असुरोंके ऊपर चढ़ाई कर दी, उन दिनों प्रह्लाद गर्भमें थे। इन्द्रने असुरोंको मार भगाया, उनकी पुरीको लूट लिया और प्रह्लादकी माताको पकड़कर ले चले। वह बेचारी गर्भवती दीना अबला कुररीकी भाँति रोती जाती थी। रास्तेमें दयालु देवर्षि नारद मिले। उन्होंने इन्द्रको बहुत डाँटा और कहा—'तुम इसे क्यों पकड़े ले जाते हो?' इन्द्रने कहा—'भगवन्! मैं स्त्रीवध नहीं करूँगा। इसके पेटमें हिरण्यकशिपुका जो गर्भ है उसके उत्पन्न होनेपर मैं उसे मारकर इसे छोड़ दूँगा।' देवर्षिने अपनी दिव्य दृष्टिसे देखकर कहा—'अरे, इसके गर्भमें परम भागवत पुत्र है, इससे तुम्हें कोई भय नहीं, इसे छोड़ जाओ।' देवर्षिकी आज्ञा पाकर इन्द्रने उसे छोड़ दिया। देवर्षि उसे अपने आश्रमपर ले गये। वहाँ जाकर वे प्रह्लादकी माताका मन बहलानेके लिये भाँति-भाँतिके भगवत्-चरित्रोंको कहा करते थे। गर्भमें स्थित प्रह्लादजीने माताके गर्भमें ही भक्तिका समस्त ज्ञान प्राप्त कर लिया। पीछे हिरण्यकशिपुके आनेपर प्रह्लादकी माता घर आ गयीं और वहीं प्रह्लादजीका जन्म हुआ। ये जन्मसे ही भक्तिकी बातें कहा करते थे, बच्चोंमें खेलते-खेलते ये उन्हें भगवन्नाम-कीर्तनका उपदेश किया करते और स्वयं सबसे कीर्तन कराते थे। पाँच वर्षकी अवस्था होनेपर हिरण्यकशिपुने अपने गुरुके पुत्र शण्ड और अमर्कके यहाँ इन्हें पढ़ने भेजा। किन्तु ये तो समस्त शास्त्र माताके पेटमें ही पढ़ चुके थे। गुरु बताते थे कुछ, ये पढ़ते थे प्रभु-प्रेमकी पाटी। एक दिन पिताने पूछा—'तुमने जो सबसे अच्छी बात अबतक पढ़ी हो उसे बताओ।' प्रह्लादजी बोले—'सबसे अच्छी बात तो यही है कि इन सब प्रपंचोंको छोड़कर भगवद्भक्तिमें शीघ्र-से-शीघ्र लग जाना चाहिये।' अपने पुत्रके मुँहसे भगवद्भक्तिकी बात सुनकर हिरण्यकशिपु बड़ा क्रोधित हुआ। पुत्रको मारने दौड़ा, गुरुपुत्रोंको भला-बुरा कहा। जैसे-तैसे समझा-बुझाकर लोगोंने प्रह्लादको छुड़ा दिया। हिरण्यकशिपुने यह कहकर कि 'अब कभी मेरे शत्रु विष्णुका नाम मत लेना' पुत्रको छोड़ दिया।

प्रह्लादजी भला हरिनाम कब छोड़नेवाले थे, वे नये उत्साहके साथ भगवत्-कीर्तनमें तल्लीन हो गये। अपने सहपाठियोंसे भी कहते—'सच्चा पढ़ना तो भगवान्‌की शरण जाना ही है। सांसारिक पदार्थोंके नाम पढ़ना अज्ञानकी ओर बढ़ना है। वे दिन-रात भगवान्‌के नामों और गुणोंके कीर्तनमें ही निमग्न रहते। इनके पिताने जब देखा कि यह किसी प्रकार भी भगवद्भक्ति नहीं छोड़ता तो उसने इन्हें सूलीपर चढ़वाया, मदमत्त हाथियोंके नीचे डलवाया, अथाह जलमें गलेमें पत्थर डालकर डुबाया, हलाहल विषका प्याला पिलाया, धधकती हुई अग्निमें

जलवाया, पर्वत-शिखरसे गिराया, किन्तु इनका बाल भी बाँका नहीं हुआ। काँटोंकी सूली फूलोंकी सेजके समान सुखद हो गयी, हाथियोंने इन्हें उठाकर पीठपर बिठा लिया, जलके ऊपर पाषाण तैरने लगे। विष अमृत बन गया, अग्नि जलकी भाँति शीतल हो गयी और इन्हें जलानेकी इच्छासे ईंधन जलाकर बैठनेवाली होलिका स्वयं जलकर भस्म हो गयी। पर्वतशिखरसे ये हँसते-हँसते नीचे आ गये। सारांश कि कोई यातना इन्हें दुखी न बना सकी। शण्डामर्क फिर उन्हें पाठशाला ले गये, वहाँ प्रह्लादने फिर बड़े जोरसे अपना वही काम शुरू कर दिया। लड़के सब हरिकीर्तन करने लगे। शण्डामर्कने गुस्सेमें आकर कहा—'या तो हमारी बात मान जाओ, नहीं तो कृत्या उत्पन्न करके हम तुम्हें भस्म कर देंगे।' विश्वासी भगवद्भक्त प्रह्लाद क्यों डरने लगे। उन्होंने कहा—'गुरुजी! कौन किसको मार सकता है और कौन किसको बचा सकता है। सब भगवान्की लीला है।' इसपर क्रुद्ध होकर शण्डामर्कने महान् विकराल ज्वालामयी कृत्याको उत्पन्न किया। कृत्याने प्रह्लादके हृदयमें शूल मारा, भक्तभयहारी भगवान्की शक्तिसे सुरक्षित प्रह्लादकी छातीपर लगते ही शूल टूक-टूक हो गया। कृत्या परास्त होकर लौटी और दोनों ब्राह्मणोंको मारकर स्वयं भी नष्ट हो गयी। अपने कारण गुरुओंकी मृत्यु होते देखकर प्रह्लादका संत-हृदय पिघल गया। उन्होंने कातर कण्ठसे भगवान्से बार-बार प्रार्थना की और कहा कि मुझे मारनेवाले, जहर देनेवाले, सूलीपर चढ़ानेवाले, आगमें जलानेवाले, पहाड़से गिरानेवाले, समुद्रमें फेंकनेवाले मनुष्योंसे, डँसनेवाले सर्पोंसे, पैरोंतले रौंदनेवाले हाथियोंसे यदि मेरे मनमें कुछ भी द्वेष न हो, मैं सबको अपना आत्मा और मित्र ही मानता होऊँ, किसीके भी अनिष्टकी जरा भी मेरी इच्छा न हो तो ये मेरे दोनों गुरु जी उठें।'

प्रह्लादकी प्रार्थनासे गुरु जी उठे और प्रह्लादको आशीर्वाद देने लगे, क्षमाशील प्रह्लादकी महिमा अनन्त कालके लिये सुप्रतिष्ठित हो गयी! संतकी यही तो विशेषता है, वह बुरा करनेवालेका भी भला करता है—

उमा संतकी यहै बड़ाई। मंद करत सो करइ भलाई॥

जब किसी तरह भी ये न मरे तब तो इनके पिताको बड़ा क्रोध आया। एक खंभसे बाँधकर हाथमें खड्ग लेकर वे इन्हें मारनेको तैयार हुए और बोले—'अब बता, तेरे भगवान् कहाँ हैं?' प्रह्लादने निर्भीकतासे कहा—'भगवान् सर्वत्र हैं, मुझमें, तुममें, खड्ग-खंभमें, सर्वत्र वे श्रीहरि व्याप्त हैं।' हिरण्यकशिपुने कहा—'तब फिर इस खंभेमें क्यों नहीं दीखते?' इतना कहना था कि भगवान् आधे मनुष्य और आधे सिंहके रूपमें उस खंभेमेंसे प्रकट हुए। उस अद्भुत नृसिंहरूपको देखकर हिरण्यकशिपु डर गया, भगवान्ने जल्दीसे उसे घुटनोंपर रखकर उसका पेट फाड़ दिया। सब देवता प्रसन्न हुए। सभीने भगवान्की स्तुति की। भगवान्ने प्रेमपूर्वक प्रह्लादको गोदमें बिठाया, उसे खूब प्यार किया और वरदान माँगनेको कहा। प्रह्लादने कहा—'प्रभो! मेरे पिताने आपसे वैर किया था, इनकी दुर्गति न हो।' भगवान् हँसे और बोले—'भैया, जिस कुलमें तुम्हारे-जैसे भगवद्भक्त हुए हैं उस कुलकी सात पीढ़ी पहली, सात आगेकी और सात मातृपक्षकी, इस प्रकार इक्कीस पीढ़ियाँ तो स्वतः तर गयीं। तुम्हारे पिता भी तर गये।' अन्तमें प्रह्लादने भगवान्में अहैतुकी भक्तिका वरदान माँगा। भगवान् ऐसा वरदान देकर और प्रह्लादको राजतिलक करके अन्तर्धान हो गये। प्रह्लाद बहुत कालतक असुरोंके सिंहासनपर राज्य करते रहे। अन्तमें अपने पुत्र विरोचनको राज्य देकर वे भगवान्की भक्तिमें तल्लीन हो गये। इसीलिये प्रह्लाद प्रातःस्मरणीय भक्तोंमें सर्वप्रथम स्मरण किये जाते हैं।

—प्र० ब्रह्मचारी

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

भीतरसे प्रभुकी गाढ़ भक्ति करना, किन्तु बाहर उसे प्रसिद्ध न होने देना साधुताका मुख्य चिह्न है।

ईश्वरकी उपासनामें मनुष्य ज्यों-ज्यों डूबता जाता है त्यों-त्यों प्रभु-दर्शनके लिये उसकी आतुरता बढ़ती जाती है। यदि एक पलके लिये भी उसे प्रभुका साक्षात्कार हो जाता है तो वह उस स्थितिकी अधिकाधिक इच्छामें लीन हो जाता है।

बलि

जन्मकर्मवयोरूपविद्यैश्वर्यधनादिभिः ।
यद् यस्य न भवेत्स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः॥*

प्रह्लादजीके पुत्र विरोचन और विरोचनजीके पुत्र लोकविख्यात दानिशिरोमणि महाराज बलि हुए। दैत्यकुलमें उत्पन्न होनेपर भी ये अपने पितामहके समान भगवद्भक्त, दानियोंमें अग्रणी और प्रातःस्मरणीय चिरजीवियोंमें गिने जाते हैं। इन्होंने अपने पराक्रमसे दैत्य, दानव, मनुष्य और देवताओंतकको जीत लिया। ये तीनों लोकोंके एकमात्र स्वामी थे। इन्द्र स्वर्गलोकके सिंहासनसे उतार दिये गये, सर्वत्र महाराज बलिके ही नामका सिक्का चलता था। ये बड़े ब्रह्मण्य, धर्मात्मा और साधुसेवी थे। देवताओंने भगवान्से प्रार्थना की। देवताओंकी माता अदितिने एक घोर व्रत किया, उससे सन्तुष्ट होकर भगवान्ने अदितिको वरदान दिया कि 'मैं तुम्हारे यहाँ पुत्ररूपमें उत्पन्न हूँगा। तभी मैं तुम्हारे पुत्रोंका संकट दूर करूँगा।'

कालान्तरमें भगवान्ने अदितिके यहाँ अवतार धारण किया। भगवान्का यह मंगलविग्रह बहुत छोटा था, इससे आप वामन कहलाये और इन्द्रके छोटे भाई होनेसे आपकी 'उपेन्द्र' संज्ञा हुई। सब देवता प्रसन्न हुए कि हमारा गया हुआ ऐश्वर्य फिर प्राप्त होगा।

महाराज बलि तीनों लोकोंके स्वामी बनकर निश्चिन्त हो यज्ञ कर रहे थे। वामन भगवान् ब्रह्मचारीका वेष धारण करके महाराज बलिके यज्ञमण्डपमें गये। बलिने वामन ब्रह्मचारीका शास्त्रविधिसे पूजन किया, अर्घ्य-पाद्य देकर गोदानके अनन्तर महाराजने कहा—'आप सुपात्र ब्रह्मचारी हैं, मैं आपको कुछ देना चाहता हूँ; आपको जो भी अच्छा लगे वह माँग लीजिये। आपके माँगनेपर मैं सब कुछ दे सकता हूँ, निःसंकोच होकर आप माँगें। मेरे यहाँसे कोई ब्राह्मण विमुख होकर नहीं जाता।'

वामन भगवान् बोले—'मुझे किसी चीजकी जरूरत नहीं, मैं तो आपसे केवल तीन पग पृथ्वी चाहता हूँ जिसपर मैं बैठ सकूँ। अधिककी मुझे इच्छा नहीं है।' बलिने बहुत समझाया कि 'कल्पवृक्षके नीचे आकर भी आप एक दिनका अन्न ही चाहते हैं। मैं त्रिलोकीका स्वामी हूँ, कुछ और माँगिये।' राजाके बहुत कहनेपर भी वामन भगवान्ने कुछ नहीं माँगा। वे तीन पग पृथ्वीपर ही अड़े रहे। अन्तमें राजाने कहा—'अच्छा दूँगा।'

इसपर बलिके कुलगुरु भगवान् शुक्राचार्यने उन्हें समझाया कि—'ये वामनवेषधारी साक्षात् भगवान् हैं, तीन पगमें तीनों लोकोंको नाप लेंगे। तुझे श्रीहीन बना देंगे। ऐसे दानसे क्या लाभ! तुम कह दो कि मैं नहीं दूँगा।'

बलिने कहा—'प्रथम तो किसी बातको कहकर फिर पलट जाना बड़ा पाप है, इसके अतिरिक्त मान लिया ये ब्राह्मण न होकर साक्षात् भगवान् ही हैं, तब तो और भी उत्तम है। मैं भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही तो यज्ञ कर रहा हूँ, यदि साक्षात् भगवान् मेरी वस्तुको ग्रहण करने आ गये हैं तो मेरा अहोभाग्य है! जो कह दिया है उसे मैं अवश्य करूँगा।'

इसपर क्रुद्ध होकर गुरुने उन्हें शाप दिया, तो भी वे अपने निश्चयसे विचलित नहीं हुए। वामनरूपधारी वे भगवान् तो थे ही। उन्होंने एक पगमें पृथ्वी और दूसरेमें स्वर्ग नाप लिया, तीसरेके बदलेमें बलिको बाँध लिया। बलि तनिक भी विचलित नहीं हुए। उनके सैनिक तथा जातिवाले तो क्रुद्ध भी हुए, किन्तु बलिने सबको समझाते हुए भगवान्से कहा—'ब्रह्मन्! दातव्य वस्तुसे वस्तुका दाता बड़ा होता है, अतः तीसरे पैरमें आप मेरे शरीरको ले लीजिये।'

महाराज बलिके ऐसे अपूर्व त्यागको देखने ब्रह्मादि समस्त देवता वहाँ आ गये। ब्रह्माजीने भगवान्से पूछा—'भगवन्! शुभ कार्यका फल तो शुभ ही होना चाहिये। इसने यज्ञ किया, दान दिया, फिर भी यह बाँधा क्यों गया?' इसपर भगवान्ने कहा—'ब्रह्मन्! जिसपर मैं कृपा करता हूँ, उसका पहले तो मैं धन हर लेता हूँ, पीछे चाहे उसे सम्पूर्ण सम्पत्ति सौंप दूँ। यह तो मेरी कृपा है। बलि मेरा परम भक्त है, इसकी दुर्गति कभी न होगी। देवताओंके भी ऐश्वर्यसे दुर्लभ मैं इसे पातालका ऐश्वर्य दूँगा। एक बार इसकी इन्द्र बननेकी

* सुन्दर कुलमें जन्म, अच्छे कर्म, युवावस्था, सुन्दर रूप, अर्थकरी विद्या, बड़ा भारी ऐश्वर्य, विपुल धन आदि वस्तुओंको प्राप्त करके जिसे अभिमान न हो—भगवान् कहते हैं—उसपर मेरा परम अनुग्रह समझना चाहिये।

इच्छा हुई थी, उसे पूरा करके मैं इसे अपने धाममें ले जाऊँगा।'

महाराज बलिके त्याग और धैर्यको देखकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'राजन्! तुम जो चाहो वह वरदान मुझसे माँग लो।'

बलिने कहा—'भगवन्! मुझे सांसारिक वस्तुओंकी तो आवश्यकता है नहीं, मैं तो आपको चाहता हूँ। आप सदा मेरे द्वारपर रहें, यही मेरी इच्छा है।'

भगवान् हँसे और सोचने लगे—'हम समझते थे हमने इसे बाँधा है। किन्तु इसने तो उलटे हमींको बाँध लिया।' भगवान् तो सदा अपने भक्तोंकी प्रेमरज्जुमें बँधे ही हुए हैं। उन्होंने कहा—'आजसे मैं सदा तुम्हारे द्वारपर द्वारपाल बनकर रहूँगा।'

भगवान्‌का आशीर्वाद पाकर बलि प्रसन्नतापूर्वक सुतललोकमें चले गये, गदापाणि भगवान् आजतक उनके दरवाजेपर एकरूपसे द्वारपाल बने हुए खड़े हैं। यह है भगवान्‌की भक्तवत्सलताका नमूना, और यह है भक्तोंके सर्वस्वत्यागका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण!

—प्र० ब्रह्मचारी

बलिके पूर्वजन्मकी कथा

(लेखक—श्रीगौरीशंकरजी गनेड़ीवाला)

प्राचीन कालमें देवताओं और ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाला एक पातकी कितव था। वह प्रतिदिन जुआ खेलता और उससे जो कुछ धन मिलता विषयसेवनमें व्यय कर दिया करता था। संसारमें जितने भी बुरे व्यसन हैं, वे सब उसमें वर्तमान थे।

एक दिन उसने जुएमें बहुत-सा धन जीता। उससे उसने सुन्दर गजरे, बहुमूल्य इत्र और सुगन्धित चन्दन खरीदा। इन सबको हाथोंमें लिये दौड़ता हुआ वेश्याके घरको चला। जाते-जाते रास्तेमें ठोकर लग गयी और वह पृथ्वीपर गिर पड़ा। गिरते ही उसे मूर्छा आ गयी और कुछ देरतक वह उसी दशामें पड़ा रहा। उसके चन्दन, इत्र और गजरे भूमिपर गिरकर मिट्टीमें मिल गये। इन सब वस्तुओंमें मिट्टी लग गयी, जिससे वे वेश्याके कामके नहीं रह गये। इसलिये उसने वे सब सुगन्धित द्रव्य शिवजीको चढ़ा दिये।

समय आनेपर जब उसकी मृत्यु हुई तो यमदूत उसे यमलोक ले गये। वहाँ यमराज कहने लगे कि रे दुष्ट! तूने बड़े-बड़े पातक किये हैं, इसलिये तुझे नरककी कठिन यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी। उसने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! मैंने तो कोई भी पाप नहीं किया है, आप चाहें तो चित्रगुप्तजीसे अच्छी तरह जाँच करा लें।'

यमराजके संकेतसे चित्रगुप्तने खाता खोलकर देखा और कहा—'तुमने पाप तो असंख्य किये हैं और उन सबका फल भोगना ही पड़ेगा; पर एक बार तुमने शिवजीको चन्दन आदि चढ़ाये हैं, इसलिये तुम्हें आरम्भमें तीन घंटेके लिये इन्द्रपद मिलेगा।'

उसी समय ऐरावत हाथी आया और उसे अपनी पीठपर चढ़ाकर इन्द्रलोक ले गया। बृहस्पतिने इन्द्रसे कहा—'हे महाराज! एक कितवने बिना श्रद्धाके शिवजीको गन्ध, पुष्प आदि चढ़ाये थे, उसके पुण्यसे उसे तीन घंटेके लिये आपका पद मिला है। अतएव आपको उतने समयके लिये अपना इन्द्रपद छोड़ देना चाहिये। देखिये, शिवजीकी बिना भक्तिकी आराधनासे एक महापातकी कितवको कितना भारी फल मिला! जो लोग श्रद्धा और भक्तिके साथ शिवजीकी आराधना करते हैं, उन्हें तो सायुज्यमुक्ति मिलती है। बड़े-बड़े देवता भी उनके किंकर (दास) हो जाते हैं। शान्तचित्तसे शिवपूजन करनेवाले मनुष्योंको जो सुख प्राप्त होता है वह देवताओंको भी नहीं मिल सकता। विषयलोलुप जीव इनकी आराधनाका माहात्म्य नहीं जानते।'

बृहस्पतिके वचन सुनकर इन्द्र तो कहीं दूसरी जगह चले गये और कितवको इन्द्रासन मिला। उसी समय इन्द्राणी लायी गयीं; पर शिवजीके पूजाके प्रभावसे कितवके हृदयमें सद्बुद्धि उत्पन्न हुई और उसने उन्हें प्रणामकर कहा कि आप मेरी माता हैं, आप अपने महलोंको जाइये। तदनन्तर उसने अगस्त्य मुनिको ऐरावत हाथी, विश्वामित्रको उच्चैःश्रवा घोड़ा, वशिष्ठको कामधेनु गौ, गालवको चिन्तामणि और कौण्डिन्यको कल्पवृक्ष दान दे दिया। शिवजीको प्रसन्न करनेके लिये उसने ऋषियोंको और भी बहुत-से दान दिये। इन सब दान-पुण्योंमें तीन घंटे समाप्त हो गये और वह फिर यमलोकको पहुँचाया गया।

इन्द्रने अपने यहाँके सब रत्नोंको गया जानकर यमराजसे शिकायत की। यमराजने कितवसे कहा—'दानका पुण्य भूलोकमें ही होता है। स्वर्गमें दान नहीं

करना चाहिये। इसलिये हे मूढ़! तू दण्डनीय है, तुझे नरककी दारुण यातना भोगनी पड़ेगी।'

यमराजकी बातें सुनकर चित्रगुप्तने कहा—'हे महाराज! इसने शिवजीके नामपर ऐसे उत्तम ऋषियोंको इतनी बहुमूल्य वस्तुएँ दी हैं, तब इसे नरककी यातना क्यों भोगनी पड़ेगी? शिवके नामपर स्वर्गलोक, मर्त्यलोक, कहीं भी कुछ दिया जाय उसका अक्षय फल मिलता है*। इस कितवके जितने पाप थे, वे सब शम्भुके प्रसादसे भस्म होकर सुकृतके रूपमें परिणत हो गये।' यह बात यमराजकी समझमें आ गयी और उन्होंने उस कितवसे क्षमा माँगी।

उसी पुण्यके प्रभावसे उस कितवका दूसरा जन्म परमभागवत प्रह्लादके पुत्र महादानवीर विरोचनके घरमें सुरुचिके उदरसे हुआ। विरोचन इतने बड़े दानी थे कि वृद्ध ब्राह्मणरूपधारी इन्द्रके माँगनेपर उन्होंने अपना सिरतक अपने हाथोंसे काटकर दे दिया था। विरोचनका यह दान तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। आजतक कवि लोग उनके इस अपूर्व दानकी प्रशंसा करते हैं।

उन्हीं महापुरुष विरोचनके घरमें इस कितवका जन्म हुआ और इसका नाम बलि रखा गया।

पूर्वजन्मार्जित शिवपूजनके प्रभावसे इस जन्ममें भी दानकी ओर उनकी अधिक प्रवृत्ति हुई। दानमें वे अपना सर्वस्व देनेके लिये भी सर्वदा तैयार रहते थे।

बाणासुर

बाणः पुत्रशतज्येष्ठो बलेरासीन्महात्मनः।
येन वामनरूपाय हरयेऽदायि मेदिनी॥
तस्यौरसः सुतो बाणः शिवभक्तिरतः सदा।
मान्यो वदान्यो धीमांश्च सत्यसन्धो दृढव्रतः॥†

असुरवंशमें प्रह्लादजी ऐसे कुलदीपक हुए कि उनके प्रभावसे उनका वंश ही भक्त हो गया। प्रह्लादजी स्वयं परमभागवत, विष्णुभक्त थे। पुण्यवान् परमभागवतोंकी जहाँ गणना होती है, वहाँ प्रह्लादजीका सर्वप्रथम नाम लिया जाता है। इनके पुत्र विरोचन थे, विरोचनके पुत्र बलि दानिशिरोमणि और इतने सत्यवादी हुए कि साक्षात् विष्णुभगवान्‌को उनके यज्ञमें आना पड़ा और छद्मवेशसे उन्हें बाँधकर अन्तमें स्वयं बलिके प्रेमवश बँध जाना पड़ा। और तबसे अबतक उनके दरवाजेपर द्वारपाल बनकर आप विराजमान हैं। बलिके सौ पुत्र हुए, उनमें बाणासुर सबसे ज्येष्ठ थे। इन्होंने हिमालय-प्रान्तमें केदारनाथजीके पास शोणितपुरको अपनी राजधानी बनाया। ये परम शिवभक्त और दृढ़प्रतिज्ञ थे। इनके हजार हाथ थे। ये हजारों वर्षतक शिवजीकी आराधना करते रहे। जब ताण्डव नृत्यके समय शंकरजी लयके साथ नाचते तो ये अपने हजार हाथोंसे बाजे बजाते। इनकी सेवासे भूतनाथ भवानीपति परम प्रसन्न हुए। उन्होंने इन्हें वरदान माँगनेको कहा। इन्होंने प्रार्थना की—'प्रभो! मुझे तो आपकी कृपा चाहिये। जैसे मेरे पिताके यहाँ सदा विष्णुभगवान् विराजमान रहकर उनकी पुरीकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप भी मेरी राजधानीके निकट सदा वास करें और मेरी पुरीकी रक्षा करते रहें। आशुतोष भगवान्‌ने कहा—'अच्छी बात है, ऐसा ही होगा।' यह कहकर शंकरजी वहाँ रहने लगे।

अधिक बल, विद्या, धन, वैभव आदि पाकर अभिमानका होना स्वाभाविक है; किन्तु जिनके कोई इष्ट हैं, जो भक्त हैं, उनके अभिमानको इष्देव शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं। इसी प्रकार बाणासुरको भी अपने बलका और हजार भुजाओंका अभिमान हो गया। वह पृथ्वीभरमें लड़ाईके लिये अपने समान बलवाले बलीको खोजता रहा। दिग्गज उसके बलको देखकर भाग गये। देवता डर गये, इन्द्रने हार मान ली। त्रैलोक्यमें कोई बाणासुरको परास्त नहीं कर सका। इससे उसका अभिमान और भी बढ़ गया। उसने शिवजीके पास जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके कहा—'भगवन्! ये सहस्र बाहु मेरे लिये भाररूप ही हैं, इनसे युद्ध करनेके लिये कोई बली मिलता ही नहीं। क्या करूँ? कैसे इनकी खुजली मिटाऊँ?'

---

* शिवमुद्दिश्य यद्दत्तं स्वर्गे मर्त्ये च यैर्नरैः। तत्सर्वं त्वक्षयं विद्यान्निश्छिद्रं कर्म चोच्यते॥
(के० खं० १२। १०९)

† जिन्होंने वामनरूपधारी श्रीविष्णुभगवान्‌को यह समस्त पृथ्वी दान दे दी उन्हीं महात्मा बलिके सौ पुत्र थे, उन सौमें बाणासुर सबसे बड़े थे। ये बड़े मान्य, वदान्य, बुद्धिमान्, सत्यप्रतिज्ञ, दृढ़व्रत और शिवजीके परमभक्त थे।

सर्वान्तर्यामी शिव उसकी दर्पभरी वाणीका अभिप्राय समझ गये। वे तो दर्पहारी ही हैं, उन्होंने बाणासुरको एक झंडी दी और कहा—'जिस दिन यह झंडी स्वत: ही गिर पड़ेगी उसी दिन समझना कि तुझसे भी अधिक बली तुझसे लड़ने आवेगा और तेरे दर्पको चूर्ण करेगा।' झंडी लेकर बाणासुर प्रसन्नताके साथ घर चला गया। कालान्तरमें भगवान् वासुदेवने आकर उसके मदको चूर्ण किया और उसकी हजार बाहुओंमेंसे चारको छोड़कर सभीको काट डाला। कथा इस प्रकार है—बाणासुरकी एक उषा नामकी षोडशवर्षीया विवाहयोग्य कन्या थी, उसने एक दिन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके पौत्र अनिरुद्धको स्वप्नमें देखा। ऐसी मनोहर मूर्तिको देखते ही वह उसपर अनुरक्त हो गयी। उसकी एक चित्ररेखा नामकी सखी थी, वह चित्रविद्या और आकाशमें उड़नेकी विद्या जानती थी। जब उषा जागी और घबड़ायी तब चित्ररेखाने सबके चित्र बनाये। जब अनिरुद्धजीका चित्र बनाया तो उषाने कहा 'यही हैं।' चित्ररेखा योगबलसे गयी और रात्रिमें सोते हुए अनिरुद्धको उठा लायी और उसे उषाके महलोंमें रख दिया।

बहुत दिनोंतक अन्त:पुरमें रहनेसे धीरे-धीरे यह बात उषाके पिता बाणासुरको मालूम हुई। उसे बड़ा क्रोध आया और उसने एक दिन स्वयं जाकर अनिरुद्धको पकड़ लिया और उन्हें कारागारमें बाँधकर डाल दिया। इधर-की-उधर खबर देनेवाले, वायुसे भी अधिक वेगवान्, चतुर्दश भुवनोंमें बिना रोक-टोक घूमनेवाले देवर्षि नारदजीने यह सब वृत्तान्त द्वारकाजीमें जाकर समस्त यादवोंसे और श्रीकृष्ण भगवान्से कहा। इसे सुनकर भगवान् बड़ी भारी सेनासहित शोणितपुरमें आये और वहाँ आकर बाणासुरसे युद्ध किया। अन्तमें उसने अपने इष्टदेव शंकरजीको स्मरण किया। शंकरजी तो औढरदानी ठहरे, भक्तसे पूछा—'क्या चाहते हो?' उसने कहा—'मेरे लिये आप युद्ध करें।' 'एवमस्तु' कहकर भगवान् भोलेनाथ युद्ध करने लगे। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीका और शिवजीका परस्पर बड़ा घनघोर युद्ध हुआ। दोनों ही ईश्वर थे। एक ही भगवान् दो रूपोंमें प्रकट थे। उनका युद्ध ही क्या था, भक्तको मान देने और भक्तिकी मर्यादा बढ़ानेके लिये ही उन्होंने ऐसी लीला रची थी। अन्तमें दोनों ओरसे प्रेमसन्धि हुई। शिवजीने भगवान्से कहा—'प्रभो! आपको भला कौन जीत सकता है! यह बाणासुर बड़ा भक्त है, इसपर कृपा कीजिये, इसे अभयदान दीजिये।'

भगवान्ने कहा—'एक तो यह आपका भक्त, दूसरे प्रह्लादका प्रपौत्र, मैं इसे मारूँगा नहीं। मैंने प्रह्लादके वंशजोंको न मारनेकी प्रतिज्ञा की है। इसकी भाररूप जो ये हजार बाहुएँ हैं उन्हें मैं काटे देता हूँ, केवल चार बाहु इसकी सदा रहेंगी और यह आजसे आपका प्रधान पार्षद माना जायगा और सदा अजर-अमर रहेगा।' यह कहकर भगवान्ने बाणासुरको अभयदान दे दिया। उसी दिनसे परम शिवभक्त बाणासुर अजर-अमर हो गये।

—प्र० ब्रह्मचारी

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

जो साधक हजारों भुवनोंकी दौलतके भी लुभाये न लुभा, वही ईश्वरके बारेमें बात करने लायक है।

जो मनकी मलिनतासे रहित, दुनियाके जंजालसे मुक्त और लौकिक तृष्णासे विमुख है, वही सच्चा संत है।

जिस किसीने साधु-पुरुषोंका सहवास किया है, वही ईश्वरको पा सका है।

जब मेरी जीभ अद्वितीय ईश्वरकी महिमा और गुण गाने लगी तब मैंने देखा भूलोक और स्वर्गलोक मेरी प्रदक्षिणा कर रहे हैं। हाँ, लोग इसे देख नहीं पाये।

विभीषण

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥*

शरणागतिके ज्वलन्त उदाहरण श्रीविभीषणजी हैं। ये राक्षसवंशमें उत्पन्न होकर भी वैष्णवाग्रगण्य बने। पुलस्त्यके पुत्र विश्रवा हुए, विश्रवाके सबसे बड़े पुत्र कुबेर हुए, जिन्हें ब्रह्माजीने चतुर्थ प्रजापति बनाया। विश्रवाके एक असुरकन्यासे रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण, ये तीन पुत्र और हुए। तीनोंने ही घोर तप किया। उनकी उग्र तपस्या देखकर ब्रह्माजी उनके सामने प्रकट हुए। वरदान माँगनेको कहा। रावणने त्रैलोक्यविजयी होनेका वरदान माँगा, कुम्भकर्णने छः महीनेकी नींद माँगी। किन्तु विभीषणजीने कुछ भी नहीं माँगा। उन्होंने ब्रह्माजीसे कहा—'मुझे भगवद्भक्ति प्रदान कीजिये।' सबको यथायोग्य वरदान देकर ब्रह्माजी अपने लोकको चले गये और रावणने कुबेरको निकालकर असुरोंकी प्राचीन पुरी लंकाको अपनी राजधानी बनाया। विभीषण भी अपने भाई रावणके साथ लंकापुरीमें आकर रहने लगे।

रावणने त्रैलोक्यविजय किया, वह दण्डकारण्यमें पंचवटीसे जगन्माता सीताजीको हर लाया। विभीषणजीने उसे बहुत समझाया 'दूसरेकी स्त्रीको ऐसे हर लाना ठीक नहीं। तुम समझते नहीं, श्रीराम साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं; उनसे विरोध करना ठीक नहीं।' रावणने अपने भक्त भाईकी एक भी बात नहीं मानी, वह अपनी जिदपर अड़ा रहा।

सीताजीको खोजनेके लिये लंकामें श्रीहनुमान्जी आये। द्वार-द्वार और गली-गलीमें वे सीताजीको खोजते फिरे। उसी खोजमें उन्होंने विभीषणका घर देखा। घरके चारों ओर रामनाम अंकित थे। तुलसीके वृक्ष लगे हुए थे। देखकर हनुमान्जी आश्चर्यमें पड़ गये और सोचने लगे—

लंका निसिचर-निकर-निवासा। यहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥

अरुणोदयका समय था, उसी समय श्रीरामनाम स्मरण करते हुए विभीषणजी जागे। हनुमान्जीको अभूतपूर्व आनन्द हुआ।

'हरिजनु जानि प्रीति अति बाढ़ी।'

परस्परमें दो अदृश्य तार मिलकर एक हो गये। अपनेको अपनेने पहचान लिया। विभीषणजी बोले— आपके प्रति हमारा स्वाभाविक प्रेम हो रहा है। भाई-बन्धुओंमें तो मेरा प्रेम होता नहीं, इसलिये या तो आप साक्षात् श्रीराम हैं या उनके दास हैं—

की तुम हरिदासन महँ कोई। मोरे हृदयँ प्रीति अति होई॥
की तुम राम दीन-अनुरागी। आयेहु मोहि करन बड़ भागी॥

तब हनुमान्जीने अपना पूरा परिचय दिया। भगवान्के दूत जानकर विभीषणजी प्रेमसे अधीर हो उठे और अत्यन्त दीनतासे बोले—

तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुलनाथा॥

हनुमान्जीने कहा—'भैया! तुम अपनेको इतना नीच, दीन क्यों समझते हो। अरे, प्रभु तो दीनोंके ही नाथ हैं, पतितोंके ही पावन हैं; तुम स्वयं सोचो मैं ही कौन-सा कुलीन हूँ। जब मुझ-जैसे चंचल वानरको उन्होंने अपना लिया तो फिर तुम्हारी तो बात ही क्या?' विभीषणजी बोले—

अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥

परस्परमें बातें हुईं। हनुमान्जीके सीताजीका पता पूछनेपर उन्होंने सब बातें बतायीं। सीताजीकी खबर पाकर हनुमान्जीने उत्पात शुरू किया, वे पकड़े गये। उन्हें मारनेकी आज्ञा हुई। विभीषणजीने दूतको मारना अनीति बताकर कुछ और दण्ड देनेको कहा। वह ऐसा दण्ड हुआ कि विभीषणजीके मन्दिरको छोड़कर पूरी लंका जल गयी।

श्रीरामजीने लंकापर चढ़ाई कर दी। विभीषणजीने रावणको बहुत समझाया कि जानकीको दे दो। रावणने क्रोधमें आकर विभीषणजीको लात मारी और कहा— 'दुष्ट! मेरा खाता है, गीत उनके गाता है? वहीं चला जा, यहाँ अब मत रहना।' जब भाईने देशनिकालेकी आज्ञा दे दी तो विवश होकर उन्होंने घोषणा कर दी कि 'अच्छा, तो मैं प्रभुकी शरण जाता हूँ।' वे आकाशमार्गसे भगवान्के यहाँ पहुँचे। उन्हें राक्षस जानकर भालु-वानर भाँति-भाँतिकी तर्क करने लगे। किसीने कुछ कहा,

* भगवान् कहते हैं, जो एक बार भी आर्त होकर, शरणागत बनकर, सच्चे हृदयसे 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे अभय चाहता है उसे मैं सब प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ, ऐसा मेरा व्रत है।

किसीने कुछ; किन्तु शरणागतप्रतिपालक प्रभु बोले, 'उसने एक बार कहा है—मैं तुम्हारी शरण हूँ। बस, इतना ही पर्याप्त है; उसे अब मैं छोड़ नहीं सकता।' प्रभुने उसे बुलाकर आते ही लंकाका राज्य दे दिया। विभीषणकी कामना तो प्रभुपादपद्मोंके स्पर्शसे नष्ट हो गयी थी, फिर भी प्रभु भक्तोंकी पूर्व कामनाओंको भी पूरा करते हैं। विभीषणने अपना सर्वस्व भगवान्के चरणोंमें समर्पण कर दिया और हर प्रकारसे भगवान्की सेवा की।

रावण सपरिवार मारा गया। विभीषणको राज्य मिला। उन्होंने वानर-भालुओंका खूब सत्कार किया, पुष्पक विमानपर चढ़ाकर वे श्रीरामजीको अवधपुरीतक पहुँचाने गये। वहाँ भगवान्ने गुरुजीसे अपना प्रिय सखा बताकर इनकी बड़ी प्रशंसा की। भगवान्ने इनका बड़ा सम्मान किया और अजर-अमर होनेका आशीर्वाद दिया। प्रात:स्मरणीय सात चिरजीवियोंमें भक्तवर विभीषणजी भी हैं और वे अभीतक वर्तमान हैं। भगवान् कितने भक्तवत्सल हैं, वे शरणागतके सब दोष भूल जाते हैं—

जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥

—प्र० ब्रह्मचारी

वनस्पति-योनिके संत

श्रीरामवृक्षजी

अयोध्याजीमें अशोकवनमें एक सुन्दर श्यामवृक्ष था। छोटे-छोटे पत्ते थे। घनी आनन्दप्रद छाया थी। छोहारेके समान मीठे फल लगते थे, जो अत्यन्त पुष्टिकारक होते थे। फूल इन्दीवरके समान बड़े ही सुन्दर होते थे। उन्हें देखनेसे आँखोंको रोशनी मिलती थी, सेवनसे यक्ष्माका नाश होता था। उसकी लता बच्चोंकी दवा थी—दाँत सहज ही निकल आते और 'हाँका' से बचाव रहता। उसकी सुखद छायामें सतत बैठनेसे मूर्ख बुद्धिमान्, दरिद्री सम्पत्तिवान् और साधक सिद्ध हो जाता था। जो मामला कहीं नहीं निपटता था, वह उसकी छायामें न्याय करनेसे निपट जाता था। उसकी छालको कहींसे भी हटाइये, तो भीतर रामनाम लिखा हुआ पढ़ लीजिये—श्रीहनुमान्जीके शरीरकी तरह वृक्षके सर्वांगमें महामन्त्र लिखा हुआ था। यह आश्चर्यकी बात अवश्य है, परन्तु है सोलहो आने ऐतिहासिक सत्य। इसीसे जनताने उस वृक्षविशेषका नाम 'रामनामी वृक्ष' अथवा 'रामवृक्ष' रख दिया था। दूर-दूर देशोंके लोग उसे देखनेके लिये आते थे और परीक्षा करके चमत्कृत होते थे। उसकी जड़में जो गुणविशेष था उसे संत लोग ही जानते थे, परन्तु किसीको बताते नहीं थे।

श्रीरामवृक्षजी सच्चे संत थे। भगवान्की कुंजोंमें—वनोंमें जो वृक्ष, लताएँ, पत्ते अद्यावधि विद्यमान हैं, वे सच्चे संत हैं। उन्होंने दिव्यधाममें अखण्ड वास पाया है। भावुक भक्त ऐसा ही समझते भी हैं। श्रीरामवृक्षजीने नर-रूप धारण किये बिना ही स्वत: पल्लवोंको हिलाकर सात कथाएँ कही हैं; उनमें सात सतियोंके चरित हैं, जो अपूर्व हैं, अत्यन्त प्राचीन तत्त्वपूर्ण कथाएँ हैं। इसी आर्या-सप्त-सतीकी एक कथा 'कल्याण' के साधारण अंकमें, 'शिवांक' निकलनेके पीछे प्रकाशित हुई थी, जिसे सबने पसन्द किया था। आज उन्हींकी कही हुई दूसरी सतीकी कथा कहनेका उपक्रम करता हूँ।

महाभारतके पीछेकी बात है। महाराज धृतराष्ट्रको ज्ञानोपदेश देनेके लिये महात्मा विदुरके अनुरोधसे सनत् 'सुजात' (श्रीसनत्कुमारजी) का आगमन हुआ था। राजाको बोध कराकर जब वे ब्रह्मलोकको जाने लगे, तब देवर्षि नारदजीके संकेतपर वे श्रीरामनवमी-पर्वस्नानके निमित्त अयोध्याजी चले आये। उस वर्ष मेष-संक्रान्तिके भीतर श्रीरामनवमी पड़ी थी। अत: महत्त्वपूर्ण थी। प्राय: सुर, किन्नर, गन्धर्व, यक्ष, विद्याधर, नाग, रक्ष, सभी श्रेणीके देवगण पधारे थे। स्नान-ध्यानके अनन्तर सब देवगण तो चले गये, परन्तु सनत्सुजातका मन नागकेसर-वनमें रम गया। उन्होंने वहाँ आसन जमाया और दिव्य विभूतिपर मुग्ध होकर प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके आराधनमें तत्पर हो गये। मधुमास तो समाप्त हो गया था, माधवका भी कृष्णपक्ष बीत गया। शुक्लपक्षकी नवमी अर्थात् श्रीजानकीनवमी आ पहुँची। उस दिन उन्होंने देखा कि एक नववयस्का तपस्विनी लट छटकाये, दोनों हाथ झाड़ती हुई आयी और उनकी परिक्रमा करने लगी। कर-झटकारमें सैकड़ों मोतियों और हीरे-जवाहिरोंकी ढेर लग जाती थी। किन्तु ज्यों ही उनपर सनत्जीकी दृष्टि

पड़ती वे अदृश्य हो जाते। सात प्रदक्षिणाएँ पूरी हुईं। स्तुति हुई—

'संत ही सुखधाम हैं, अत्यन्त वे निष्काम हैं।
रामभक्त ललाम हैं, अथवा स्वयं श्रीराम हैं॥'

अनन्तर जब वह चरणस्पर्श करनेके लिये सनत्‌जीकी ओर झुकी, तब बाल भगवान्‌ने हाथ जोड़ दिया। वे बोले, 'माता! मैं आपका बच्चा हूँ। आपके वात्सल्यका भिखारी हूँ। दयामयी! आप ऐसा न करें। आप तपस्विनी, अयोध्यावासिनी एवं दिव्यविभूतिसम्पन्ना हैं। आपका चरणतीर्थ पान करने आया हूँ। क्षमा करें।'

तपस्विनी हट गयी और बोली—'जो इच्छा हो वर माँगिये, जो इच्छा हो लीजिये। श्रीरामजन्मोत्सवकी बधाईमें आप अयोध्याजी पधारे हैं, तो आपको कुछ उपहार ग्रहण करना चाहिये। और मुझे संतसेवाहीमें आनन्द आता है। फिर संकोच छोड़कर जो इच्छा हो कहिये।'

सनत्‌जीने कहा—'माताका प्यार ही बच्चेके लिये अलम् है। इच्छा तो यही है कि आपके ही श्रीमुखसे आपका सुन्दर वृत्तान्त सुनूँ, बस यही।'

देवीने कहा—आप मुनिराज हैं, भगवत्-स्वरूप हैं, आप मेरा वृत्तान्त जानते ही हैं। फिर भी आप मुझे ही अपनी राम-कहानी कहनेकी आज्ञा देते हैं तो सुनिये। स्वारोचिष मन्वन्तरमें विन्ध्योत्तर देशमें तुलसी-वनिकामें मेरा जन्म हुआ। राजकुमारी हुई, राजसुखमें पली और राजसिंहासनपर राजदण्ड धारण करके आसीन हुई। परन्तु हे मुनिराज! न जाने क्यों कभी मेरा मन हर्षित नहीं हुआ। इसी तरह नन्दपर्वतपरसे गिरी, समुद्रमें डूब गयी, अवर्षणकालमें केवल वायुसेवन करके बारह वर्ष रही, परन्तु कभी दु:खित नहीं हुई। जब अपनी अजीब प्रकृतिका मुझे स्वयं अनुभव हुआ, तब मैं स्वेच्छासे इस आदिपुरमें चली आयी और जहाँ आप देखते हैं, यहीं रहने लगी। एक दिन आपकी ही तरह संत अमरेन्द्रजी यहाँ आये। वे अन्वेषणकार्यमें तत्पर थे। वे ऐसा हृदयहीन प्राणी खोजते थे, जिसपर सुख-दु:खका कुछ भी प्रभाव न पड़ता हो। मुझसे मिले। मैंने स्वीकार किया कि वैसा हृदयहीन प्राणी मैं ही हूँ। यह सुनकर संत बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'तुम्हारा हृदय मुझे गोदावरी-तीर्थमें प्राप्त हुआ था और यह आज्ञा हुई थी कि इसको तुम्हारे पास पहुँचा दूँ। अस्तु, इसे ले लो और यथास्थान इसे लगा दो।'

मैंने अपना हृदय ले लिया और धारण कर लिया। मुनिराज तो चले गये, किन्तु मुझे अब प्रत्येक घटनापर, दिन-रातके नैमित्तिक कार्यमें सुख-दु:खका अनुभव होने लगा और पूर्वस्थितिका स्मरण करके मैं अपनी वर्तमान स्थितिपर चिन्तित रहने लगी। दैनिक व्यवहारमें दु:खकी मात्रा ही अधिक रहनेके कारण मेरा सारा समय दु:खहीमें कटने लगा। अब मैं यही सोचा करती कि कोई व्यक्ति मेरा हृदय अपहरण कर लेता तो तज्जनित सुख-दु:खके पचड़ेसे छुट्टी मिलती। इसी वनमें, इसी चिन्तामें, मैं बैठी हुई थी कि एकबारगी मेरी दृष्टि घोड़ोंकी सरपट चालपर आकर्षित हुई। देखा कि दो राजकुमार घोड़ोंपर सवार होकर शिकार खेलने जा रहे हैं। वे बड़े ही सुन्दर थे, एक श्याम और दूसरे गोरे। वे कठिन धनुर्धर थे। श्यामकिशोरने तो विशाल भृकुटिको चाप, बरौनीको प्रत्यंचा और दृष्टिको ही बाण बनाकर उसे मेरे दु:खपूर्ण हृदयमें ऐसा बाण मारा कि मैं विक्षिप्त हो गयी। दशा सँभलनेपर मैं पूर्वस्थितिमें कुछ-कुछ आ गयी। सुख-दु:खरूपी द्वन्द्वसे छुट्टी मिली। परन्तु एक तीसरी बात हो गयी। मेरा तिकोनिया हृदय, जो साँवरेके दृष्टिबाणसे विद्ध हो गया था, त्रिशंकुकी तरह आकर्षणसूत्रमें टँग गया। उसके साथ मैं भी लटक गयी। पात-पातमें, बात-बातमें, सन्ध्या-प्रभातमें, घात-प्रतिघातमें वही साँवरा दिखायी देता है। मैं पूछती हूँ कि तुम कौन हो? वह कहता है—'मैं वासुदेव हूँ।'

मैंने कहा—'मेरे प्राणप्यारे! अपना पूरा परिचय तो बता दो और पता-ठिकाना भी जतला दो, ताकि पूछती-पूछती तुमतक पहुँच जाऊँ।'

तब वह बोला—'प्रियतमे! मैं परम वासुदेव राम हूँ, और दशरथात्मज राम, भरत, शत्रुघ्न और लक्ष्मण चार अंशसे परिपूर्ण हूँ। मैं वशिष्ठगोत्री हूँ, रघुवंशी हूँ। मैं सभी प्राणियोंको अपनी अलौकिक ज्योतिद्वारा आच्छादित किये हूँ। इसलिये मेरा नाम 'वासुदेव' है। मैं देवकी-पुत्र कृष्ण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षण हूँ, घोर आंगिरसगोत्री हूँ, यदुवंशी, वृष्णिवंशी एवं सात्वत हूँ। सूर्यके रूपमें रहकर मैं अपनी किरणोंसे सारे संसारको ढके हुए हूँ और सभी प्राणियोंका अधिवास होनेसे भी मेरा नाम वासुदेव है। मैं धर्मपुत्र, कृष्ण, हरि, नर और नारायण हूँ। अच्युतगोत्री हूँ, मन्त्रद्रष्टा हूँ,

ऋग्वेदीय अष्टम मण्डलान्तर्गत ८९ के सूक्तका मन्त्रकार हूँ, कार्ष्णायन गोत्रका आदि ऋषि हूँ। मैंने अपने अलौकिक तपसे सम्पूर्ण जगत्‌को स्तम्भित कर दिया है, सम्पूर्ण प्राणियोंको सत्त्वगुणसे ढक लिया है, जिससे सभी प्राणी सुखके आधारसे परिपूर्ण हों। मैं अन्तर्यामी, प्रत्यगात्मा, तैजस और वैश्वानर हूँ, यज्ञपुरुष हूँ, कर्म-बुद्धीश्वर हूँ, उचित कर्मफलदाता हूँ। मैंने संतत यज्ञसे संसारको आच्छादित कर लिया है, जठराग्नि हवनकुण्ड है, पित्त और वायु समिधा हैं, बुभुक्षा अग्निशिखा है, भोजन-कौर आहुति है। इसी यज्ञमें सब प्राणी सतत संलग्न हैं।

'प्रियतमे! मैंने अपना परिचय बहुत-कुछ दे दिया। संकेत बता दिया साकेतधाममें पहुँचनेके प्रस्थानोंका। कुछ सुस्पष्ट बातें भी बता देता हूँ। जाने रहो कि मैं सदा तुम्हारे पास रहता हूँ, खाता-पीता-सोता हूँ। तुम्हारे जितना निकट मैं हूँ उतना निकट तुम्हारा मन भी नहीं है। परन्तु तू मुझे स्पर्श नहीं करती, न देखती है, न आँख मिलाती है; कुछ सुनती है, कुछ अनसुनी कर देती है। मैंने तेरे हृदयको अपनी ओर अच्छी तरह खींच लिया है। अब हृदय-से-हृदय मिलनेमें केवल दो अंगुलका अन्तर है। इस कसरके मिटते ही तू मुझमें समा जायगी। अंकमाल बन जायगी।'

सनत्—'माता! तू धन्य है और मैं भी धन्य हूँ कि आज तेरे दर्शनसे कृतार्थ हो गया। मैं बालक हूँ। तेरी गोदमें बैठकर उस परम वासुदेव श्रीरामकी दिव्य झाँकी करनेकी इच्छा रखता हूँ। इस सुधापानसे ही तृप्त होना चाहता हूँ। वास्तवमें जो 'चतुर्व्यूह', 'चतुर्भुज' और 'चतुर्मुख' के रहस्यको समझ जाता है, वही तो द्विभुज श्यामसुन्दरके साक्षात् दर्शनसे सनाथ होकर परमवैष्णव-पदपर प्रतिष्ठित होता है। इसी हेतुसे बालस्वभाव-चावसे मैंने तेरी आत्मकथा तेरे ही मुखसे सुननेका वर माँगा था। हे वरदात्री! तूने इस कंगालको निहाल कर दिया। जिस गहन तत्त्वके प्रस्फुटीकरणमें विधाता भी कुशल नहीं हैं, वही रहस्यात्मक तत्त्व तेरी आत्मकथामें प्रातःकालीन कमलकी तरह विकसित है। देवि! अब क्यों विलम्ब कर रही हो? दो अंगुलकी कसर मिटनी चाहिये। दो अँगुलियोंसे चुटकी बजाते हुए साकेतकी दक्षिणवाहिनी 'विरजा' में स्नान करके उत्तरवाहिनी सरयूमें सती हो जा। यही तो परमगति है।'

उसी समय वह देवी दो अँगुलियोंसे चुटकी बजाकर 'विरजा' में स्नान करके द्वन्द्वातीत, त्रिगुणातीत होकर सरयूमें प्रविष्ट होकर, धधकती हुई योगज्वाल-शिखामें भस्मसात् हो गयी। सती हो गयी।

संत 'श्रीरामवृक्षजी' कुलवन्तराय प्रधानसे दूसरी सतीकी पवित्र कथा समाप्त करते हुए कहने लगे कि जहाँ देवीने चुटकी बजायी थी वह पवित्र स्थल 'चुटकी-देवी' के नामसे प्रसिद्ध तीर्थ है। इस स्थानके सेवन, पूजन, मज्जन, रंजन करनेसे सब प्रकारके मनोरथ पूर्ण होते हैं। संत 'श्रीरामवृक्षजी' और सतीकी जय!

—बालकराम विनायक

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

संसारासक्त लोगोंसे दूर रहो। सुख देनेवालेकी प्रशंसा या खुशामद न करो और दुःख देनेवालेका भी तिरस्कार न करो।

जो मनुष्य दुःखमें प्रभुका चिन्तन करता है, वह महान् है।

इस संसारमें एक ईश्वरका भय दूसरे सब भयोंसे मुक्त करता है।

जिसका बाह्यजीवन उसके आन्तरिक जीवनके समान नहीं है, उसका संसर्ग मत करो।

मनुष्य कब ईश्वरार्पण हो सकता है? जब कि वह अपने-आपको, अपने हर एक कामको बिलकुल भूल जाय, सर्वभावसे 'उस' का आसरा ले ले और उसके सिवा किसी दूसरेकी न आशा रखे, न उससे सम्बन्ध ही करे।

नृसिंह मुनि

नृसिंह मुनिके बाल्यकाल, माता-पिता आदिका कुछ पता नहीं चलता। कहते हैं कि समस्त वेद-वेदांग, पुराण आदिका अध्ययन कर लेनेपर भी इन्हें शान्ति नहीं मिली; तब ये वास्तविक सुख और सच्ची शान्तिके अन्वेषणमें घरसे निकल पड़े और अनेक देश-देशान्तरोंमें भटकते रहे, परन्तु इन्हें संत सद्गुरुकी प्राप्ति नहीं हुई। अन्तमें हारकर ये भगवान्से प्रार्थना करने लगे। भगवान्की प्रेरणासे ये शुकदेव मुनिके आश्रमपर पहुँच गये। उस समय वे ध्यानमें मग्न थे। पद्मासन लगाकर समस्त प्राणोंको समान करके मन, वाणी और बुद्धिके परे परमतत्त्व--परब्रह्मस्वरूपमें स्थित थे। उनकी समाधिमें विघ्न न हो इस दृष्टिसे मुनिने बड़ी शान्तिके साथ धीरेसे उन्हें नमस्कार किया और समाधि टूटनेकी प्रतीक्षा करने लगे। उस समय इनके मनकी विचित्र दशा थी। सारा संसार इनकी आँखोंके सामने नाच रहा था। इसकी क्षणभंगुरता, अनित्यता और असत्ताके विचार बार-बार इनके मनमें आ रहे थे। इनके हृदयमें इस बातकी बड़ी उत्कण्ठा थी कि कब शुकदेवजी महाराज उठेंगे और अपनी कृपासे मुझे कृतकृत्य करेंगे। अपने अधिकारकी ओर दृष्टि जानेपर इन्हें बड़ी निराशा भी होती थी। धीरे-धीरे इनके अन्दर शान्ति आने लगी। आश्रमके प्रभावसे इनका मन एकाग्र होने लगा और ये एकटक श्रीशुकदेवजीके श्यामवर्णके सुगठित किशोर अवस्थावाले शरीरकी ओर देखने लगे। अब शुकदेवकी समाधि खुल गयी। उन्होंने अपने चरणोंपर गिरते हुए इस ब्राह्मणको उठा लिया। अधिकार देखकर योग, ज्ञान आदिकी सांग और सरहस्य दीक्षा दी। यद्यपि शुकदेव नि:संग और नि:स्पृह थे, तथापि सम्प्रदायमर्यादाका उच्छेद न हो इसलिये नृसिंह मुनिको शिष्यके रूपमें स्वीकार कर लिया। ये बहुत दिनोंतक कन्द-मूल-फल आदिके द्वारा उनकी सेवा करते रहे।

इनकी तपस्या इतनी बढ़ी थी कि एक बार उसे देखकर इन्द्र भी घबड़ा उठे। इन्हें इसका क्या पता कि ये नि:स्पृह ऋषि स्वर्गराज्यकी तो क्या बात, ब्रह्मलोककी भी अभिलाषा नहीं रखते—यदि स्वयं इन्हें प्राप्त हो जायँ तो तिरस्कार कर दें। अन्तमें उर्वशी, मेनका, रम्भा आदि अप्सराएँ भेजी गयीं; परन्तु इनके प्रभावसे डरकर वे स्वयं लौट गयीं। काम भी इन्हें अपने अधीन करनेकी इच्छासे वसन्तके साथ आया, परन्तु इनके ललाटसे सूर्यकी भाँति निकलती हुई ज्योतिको देखकर इन्हें साक्षात् शंकर समझकर दूरसे ही नमस्कार करके स्वर्ग चला गया।

इनकी वह अखण्ड तपस्या आज भी पूर्ववत् चल रही है। वह अपने मोक्ष या कल्याणके लिये नहीं है—ये तो नित्यमुक्त कल्याणस्वरूप ही हैं, परन्तु इनकी यह तपस्या जगत्के कल्याणके लिये है। ये आज भी अधिकारी पुरुषोंको दर्शन दे सकते हैं। आकाशमार्गसे चलकर कभी-कभी हमारे घर भी अतिथिके रूपमें आ जाते होंगे, पर हमारे ऐसे भाग्य कहाँ कि उन्हें पहचान सकें।

—शान्तनु

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

फकीर वह है जिसे आज और कल—किसी दिनकी परवा नहीं। जो अपने और प्रभुके सम्बन्धके आगे लोक और परलोक दोनोंको तुच्छ समझता है।

बिना ईश्वरका नाम लिये कोई भी बात विचारने अथवा करनेसे बड़ी विपत्तिका सामना करना पड़ता है।

जो प्रभुको पाता है वह अपने रूपमें न रहकर प्रभुके रूपमें समा जाता है।

महेश मुनि

नृसिंह मुनिकी भाँति महेश मुनिके सम्बन्धमें भी अधिकांश बातोंका पता नहीं चलता। ये बचपनसे ही बड़े शान्त और गम्भीर थे। इनके सामने कोई बात आ जाती तो ये उसपर इतना विचार करते और उसका एक ऐसा निश्चय करते कि बड़े-बड़े लोग दंग रह जाते। इनकी शरणागति, योग्यता और जिज्ञासा देखकर नृसिंह मुनिको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने इन्हें सम्प्रदायके सम्पूर्ण रहस्य, योग, ज्ञान आदिका उपदेश किया। इनकी तत्परता, लगन और निष्ठा देखकर जब उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि ये कृतकृत्य हो गये तब उन्होंने आकाशमार्गसे स्वच्छन्द विचरणके लिये प्रस्थान किया। उनके जानेपर महेश मुनिने विचार किया कि यद्यपि हमें कोई कामना नहीं है, फिर भी किसी एक स्थानपर रहकर तपस्या करनेसे उसके प्रति आसक्ति बढ़ जाती है और इन्द्रादिके मनमें व्यर्थकी आशंका होने लगती है कि ये मेरे राज्यके लिये तपस्या कर रहे हैं। अत: किसी एक स्थान, एक व्यक्ति और एक वस्तुसे सम्बन्ध करना ठीक नहीं। यह सोचकर ये विचरने लगे। एक रात्रिसे अधिक कहीं निवास नहीं करते। लोगोंको दुखी देखकर इनके मनमें बड़ी दया आयी। इन्होंने अपने संकल्प और उपदेशसे अनेकों पुरुषोंका कल्याण किया, इनकी तपस्या बड़ी उग्र थी। इन्हें देखकर मालूम होता मानो ये दूसरे शंकर ही हैं। वास्तवमें इनका 'महेश' नाम सार्थक था। सभी सिद्ध संत जैसे समय-समयपर अपनेको प्रकट करते हैं वैसे ही ये भी कभी-कभी करते हैं। प्राय: गुप्त रहकर अपने संकल्पसे ही जगत्का मंगलविधान किया करते हैं।

—शान्तनु

भास्कर योगी

भास्कर योगी बचपनसे ही बड़े मननशील थे। इनमें योगके यम और नियम स्वभावसिद्ध थे। किसी बातपर विचार करने बैठते तो घंटों एक आसनसे बैठे विचार करते रहते, पता ही न चलता कि श्वास चल रहा है या नहीं। खाना-पीना बिल्कुल भूल जाते। जब इन्हें इस जगत्की दु:खरूपताका बोध हुआ तब इन्होंने संत सद्गुरु महेश मुनिकी शरण ग्रहण की। इन्हें स्वभावत: शान्त, नम्र, शरणागत देखकर उन्होंने जीव और परमात्माकी एकता समझायी। उसके श्रवणमात्रसे इनका अज्ञान मिट गया। मनन-निदिध्यासन तो इन्होंने मर्यादाकी रक्षाके लिये किया। ये चाहे किसी भी स्थितिमें रहते इनकी वृत्तियाँ ब्रह्माकार ही रहतीं।

—शान्तनु

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

ईश्वरमें निमग्न होनेमें ही अपने मनका नाश है।

अन्त:करणमें उपजा हुआ ईश्वर-दर्शनका एक कण जितना उत्साह भी स्वर्गके लाखों मन्दिरोंके मिठाससे अधिक मीठा होता है।

सच्चा संत जब बाहरसे चुपचाप होता है तब वह भीतर-ही-भीतर ईश्वरसे बात करता रहता है, और जब उसके नेत्र मुँदे होते हैं तब वह ईश्वरकी महिमा अथवा उसके स्वरूपको देखता रहता है।

भले ही तुम पैदल चलते रहो परन्तु मनपर तो सवारी गाँठे ही रहना।

महेन्द्र मुनि

पहलेके कई सद्‌गुरुओंकी भाँति इनके जन्म-कर्मका रहस्य भी मालूम नहीं होता। इनकी सिद्धियाँ प्रख्यात थीं। ये अपने योगबलसे असम्भवको भी सम्भव कर दिखाते। परन्तु सिद्धियोंसे इन्हें संतोष नहीं हुआ। इनके हृदयमें जिस ज्ञानामृतकी प्यास थी वह सिद्धियोंसे शान्त होनेवाली नहीं थी। इन्होंने भास्कर योगीकी शरण ली। इन्हें साधनसम्पन्न, विरक्त और जिज्ञासु देखकर उन्होंने उपनिषदोंके रहस्य—तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। अन्तःकरण तो शुद्ध था ही, सद्‌गुरुकी कृपा हो गयी, अब क्या चाहिये, पूर्ण बोधकी उपलब्धि हो गयी। अब ये निर्भय होकर जगत्‌के दुखी प्राणियोंको शान्ति देनेके लिये विचरने लगे।

एक बार स्वच्छन्द विचरण करते समय इनकी दयादृष्टि संन्यासियोंपर पड़ गयी। इन्होंने देखा कि जिस कामिनी, कांचन और कीर्त्तिका त्याग करके, पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे ऊपर उठकर इन्होंने संन्यास ग्रहण किया था, इनका वह त्याग कहाँ गया। क्या संन्यासका उद्‌देश्य केवल चार्वाकपन्थियोंकी भाँति इस जीवनको आरामसे दुनियाकी मौज लूटनेमें बिताना ही है? यदि ज्ञान हुआ तो क्या आश्रमधर्मके विरुद्ध पाखण्डको प्रश्रय दिया जा सकता है? यदि ज्ञान नहीं हुआ तो उसके लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहकर गुरुसेवा, जप, नित्यकर्म आदिके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध करके ज्ञानका अधिकारी बनना चाहिये या यों लोगोंमें अपनेको महात्मा घोषित करके पुजाना चाहिये? इत्यादि बहुत-सी बातें उन दयालु महात्माके मनमें आयीं और उन्होंने डाँटते हुए उन संन्यासिवेषधारी पाखण्डियोंको फटकारा—

'मूर्खो! तुमने संन्यास क्यों लिया है? इसका उद्‌देश्य पेटपूजा है या मोक्ष? यदि मोक्ष है तो वह ज्ञानसे ही प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। ज्ञान श्रवणसे होता है—और श्रवण महात्माओंकी सेवा तथा जिज्ञासासे होता है। इसलिये संन्यास लेकर तुम्हें सद्‌गुरुकी शरण ग्रहण करके श्रवण करना चाहिये। यों पेटपूजामें लगकर अपने जीवन और पवित्र आश्रमको नष्ट मत करो।'

इनकी बात सुनकर पहले तो वे दम्भी लोग बड़े रुष्ट हुए। परन्तु पीछे इनकी योगशक्ति, प्रभाव और ज्ञान देखकर सब-के-सब इनकी शरणमें आये और इन्होंने बड़े प्रेमसे उन्हें अपनाकर उनका जीवन सुधारा। उन्हें ज्ञान-विज्ञानका उपदेश देकर संन्यासधर्मपर आरूढ़ रहनेकी शिक्षा दी। इनके उपदेशोंसे, मूक तपस्या और संकल्पसे बहुतोंका कल्याण हुआ। —शान्तनु

माधवानन्द

संसारसे स्वाभाविक विरक्ति होनेके कारण माधवने बचपनमें ही संत सद्‌गुरु महेन्द्र मुनिकी शरण ली। इनके हृदयकी पवित्रता, शुद्ध बुद्धि और विनम्रता देखकर उन्होंने इन्हें सम्प्रदायकी मर्यादाकी रक्षाके लिये शिष्यरूपमें स्वीकार किया। इनकी अविचल श्रद्धा, सच्ची सेवा और वास्तविक तत्त्वजिज्ञासा देखकर उन्होंने इन्हें रहस्यज्ञानका उपदेश किया। उनकी कृपामात्रसे ये कृतकृत्य हो गये। समस्त वेद, उपनिषद् आदिका सार रहस्य इनकी समझमें आ गया और ये सारे जगत्‌का अहैतुक कल्याण करनेमें लग गये। इन्होंने स्वाभाविक ही कृपापरवशताके कारण अनेकों व्यक्तियोंका उद्धार किया। इनके सम्बन्धमें एक प्राचीन सूक्ति है कि 'जैसे माधव श्रीकृष्णने कृपा करके दैत्योंसे भयभीत देवताओंको बचा लिया, वैसे ही सिद्धवर माधवने भी अज्ञानरूपी राजाके विकट भट काम-क्रोधादिसे सताये हुए प्राणियोंको बचाकर सदाके लिये उन्हें उनके शासनसे पृथक् कर लिया।' —शान्तनु

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

सभी हालतोंमें प्रभु और प्रभुभक्तोंका दास होकर रहना ही अनन्य और एकनिष्ठ भक्ति करना है।

अपने प्यारेके श्रवण, मनन, कीर्तन आदिमें जो बाधाएँ हैं उन्हें दूर करना सच्चे प्रभुप्रेमका चिह्न है।

जिष्णुदेव

माधवानन्दके सम्प्रदायप्रवर्तक शिष्य जिष्णुदेव थे। इनकी तपस्या, शील आदिसे सन्तुष्ट होकर उन्होंने इन्हें शिष्यके रूपमें स्वीकार किया था। उनसे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद इनके हृदयमें सच्ची शान्तिका अनुभव हुआ। इनके चेहरेपर इनकी तपस्या, तेजस्विता और एक अद्भुत ज्योति जगमगाती रहती थी। इन्हें किसी वस्तुकी कामना तो थी ही नहीं, विषयोंके सामने आनेपर भी उनकी ओरसे आँख बंद कर लेते थे। इनके लिये मिट्टी, पत्थर और सोना समान थे।

इन्होंने सोचा, अब कलियुगका जमाना है। कोई योग्य अधिकारी तो है नहीं, किसको उपदेश करें। अत: अब एकान्तमें चलकर भजन करना चाहिये। इनकी उपरति, आत्मनिष्ठा और भगवत्प्रेम देखकर लोग इन्हें शुकदेव कहने लगे थे। ये लोगोंसे अधिक मिलना पसंद नहीं करते थे—इसलिये सुदूर गौड़ प्रदेशके एक कोनेमें जाकर भगवद्भजनमें लग गये। जगत्के कल्याणके लिये अब भी वे सहज भजनमें तल्लीन रहते हैं।

—शान्तनु

गौडपाद

शुकदेवके आश्रमके पास एक भूपाल नामका ग्राम था। उसमें विष्णुदेव और गुणवती नामके ब्राह्मणदम्पती निवास करते थे। वे ब्राह्मण धन-धान्य, वेद-शास्त्र आदिसे सर्वथा सम्पन्न थे। देवता-अतिथियोंके पूजा-सत्कारमें उनकी बड़ी प्रीति थी। वे अपनी शक्तिभर दूसरोंकी भलाई करते थे। उनकी अवस्था ढलती जा रही थी। अबतक पुत्र नहीं हुआ था, इससे चिन्तित होकर वे एक दिन शुकदेवके आश्रमपर पहुँचे। उस सिद्ध स्थानपर जाकर एक आसनसे बैठे रहकर बिना अन्न-जलके सात दिनतक वे बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे गायत्रीजप करते रहे। अन्तिम दिन शुकदेवकी गुहासे एक आवाज सुनायी पड़ी—'ब्राह्मण! तुम्हें एक बड़ा यशस्वी पुत्र प्राप्त होगा। वह सर्वज्ञ और सर्वसिद्धिसम्पन्न होगा। सभी सिद्ध उसका सम्मान करेंगे।' शुकदेवकी यह वाणी सुनकर वे बड़ी प्रसन्नतासे घर लौटे और समयपर उन्हें सूर्यकी भाँति कान्तिमान् पुत्र उत्पन्न हुआ। पिताने जातकर्म करके उसका 'शुकदत्त' नाम रखा। पाँच वर्षकी अवस्थामें शुकदत्तने समस्त वेद-वेदांग, शास्त्र आदिका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया। अब वे परमतत्त्वकी प्राप्तिके लिये शुकदेवके आश्रमपर गये। गुहाके सामने एक दिन-रात बिना अन्न-पानीके खड़े रहे। दूसरे दिन गुहाके अंदरसे आवाज आयी कि—'बालक! तुम गौडदेशमें जाओ, वहीं मेरे सम्प्रदायके सद्गुरु हैं। उनका नाम जिष्णुदेव है, वे तुम्हें सम्पूर्ण तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे। संसारमें तुम्हें लोग मेरा अर्थात् शुकदेवका शिष्य कहेंगे। अभी मेरे दर्शनका समय नहीं आया है। जिष्णुदेवसे उपदेश पानेके पश्चात् तुम मुझे सर्वव्यापीके रूपमें देख सकोगे।'

शुकदेवकी वाणी सुनकर बालक शुकदत्त अपने माता-पिताके पास आये और उनसे सब बातें निवेदन करके गौडदेशकी यात्रा की। पहले तो माता-पिताने बड़ा हठ किया, उनके साथ लग गये; परन्तु शुकदत्तने दूसरा पुत्र होनेकी बात कहकर उन्हें घर लौटा दिया। पाँच वर्षके बालक शुकदत्त अकेले पैदल चलकर गौडदेशमें पहुँचे और वहाँ लोगोंसे पूछकर वे जिष्णुदेवके गुहाद्वारपर उपस्थित हुए। जिष्णुदेवके पूछनेपर इन्होंने अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। साक्षात् शुकदेवकी आज्ञा सुनकर जिष्णुदेवने इन्हें परमज्ञानका उपदेश किया और समस्त योग, सिद्धि, मन्त्रोंके रहस्य इन्हें बता दिये। ये वेदान्तके परम विद्वान्, सिद्ध और सद्गुरु थे। ये शुकदेवके आश्रमसे चलकर पैदल ही गौड़देशमें गये थे, इसलिये इनका नाम गौडपाद पड़ा। किसी-किसी सज्जनने इनके 'गौडपाद' नाम और नैष्कर्म्यसिद्धिके एक श्लोकका मन:कल्पित अर्थ करके इन्हें गौडीय सिद्ध किया है, परन्तु यह ठीक नहीं है।

इन्हें शुकदेवकी कृपासे सर्वत्र उनके दर्शन हुआ करते थे। स्मरण करते ही वे इनके सामने आ जाते। लोगोंकी मन्द प्रज्ञा और अल्पायु आदि देखकर इन्होंने विचार किया कि अब सब लोग उपनिषदोंका चिन्तन-मननादि पूर्णत: नहीं कर सकते और मुक्तिकोपनिषद्के अनुसार एकमात्र माण्डूक्यके अध्ययनसे कल्याण हो सकता है, अत: माण्डूक्यका रहस्य सर्वसाधारणपर प्रकट किया जाय। इसीलिये इन्होंने माण्डूक्य उपनिषद्पर

कारिकाकी रचना की। यह माण्डूक्यकारिका वेदान्तका अप्रतिम ग्रन्थ है। इसपर शंकराचार्यने बड़ा विशद भाष्य किया है। कहते हैं कि एक दिन जब शंकराचार्य गंगातटपर आत्मचिन्तनमें लगे थे तब गौडपादजी उनके पास पधारे। शंकरने ससम्भ्रम उठकर उनकी अभ्यर्चना की। तत्पश्चात् गौडपादकी आज्ञासे उन्होंने इन्हें अपना भाष्य दिखलाया। देखकर उनके परमगुरुने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। उन्होंने शंकराचार्यसे वर माँगनेका आग्रह किया, परन्तु आचार्यने आत्मचिन्तनके अतिरिक्त और कुछ माँगनेसे अस्वीकार कर दिया। इसपर उनकी प्रसन्नता और भी बढ़ गयी। वे इन्हें आशीर्वाद देकर यथेच्छ चले गये।

गौडपादके और कई भी ग्रन्थ देखे जाते हैं—जैसे सांख्यकारिकाका भाष्य और उत्तरगीताका भाष्य। परन्तु कई विद्वान् इन ग्रन्थोंको उनका नहीं स्वीकार करते। इनके समयके सम्बन्धमें भी बड़ा मतभेद है। कोई इन्हें विक्रम संवत्से सौ-दो सौ वर्ष पूर्व मानते हैं और कोई बाद। परन्तु अबतक शंकराचार्यके समयपर ही मतैक्य न होनेके कारण इनके समयका ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता।　—शान्तनु

गोविन्द भगवत्पाद

इन्होंने बचपनमें ही आचार्य गौडपादकी शरण ली थी और उनकी कृपासे सिद्धिलाभ कर लिया था। ये नर्मदातटपर एकान्तमें ही रहते थे। ये आत्मचिन्तनमें ही सर्वदा संलग्न रहते थे, जान पड़ता है इसीसे इन्होंने किसी ग्रन्थका निर्माण नहीं किया।

जिस समय शंकराचार्य इनके पास संन्यास ग्रहण करनेके लिये गये, उस समय ये एक गम्भीर गुहाके अन्दर बैठे थे। शंकरके बहुत अनुनय-विनय करनेपर इन्होंने उनसे पूछा—तुम कौन हो? शंकरने '**चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्**' आदि उत्तर दिया। इसपर प्रसन्न होकर उन्होंने इन्हें सम्प्रदायागत उपदेश किया।

इनका सम्बन्ध व्यास आदिसे था। यह बात इस प्रकार प्रकट होती है कि जब इनके समाधिस्थ होनेपर नर्मदामें भयंकर बाढ़ आयी तब गुरुकी समाधि न टूटे, इसलिये शंकरने उसका जल कमण्डलुमें भर लिया। धीरे-धीरे गोविन्द भगवत्पादको इस बातका पता चल गया। उन्होंने शंकरसे कहा कि एक बार वेदव्यास उपनिषदोंका व्याख्यान करके रहे थे—तब मैंने पूछा कि 'महर्षे! आपने ब्रह्मसूत्रोंका भी भाष्य क्यों नहीं बना दिया?' इसके उत्तरमें व्यासदेवने कहा कि 'भाष्य बनानेका काम तुम्हारे उस शिष्यपर है जो नर्मदाका सारा जल अपने कमण्डलुमें भर लेगा। भैया! तुम साधारण पुरुष नहीं हो, अब काशी जाकर भाष्यका निर्माण करो।' शंकर चले गये।

इनके समयका भी ठीक पता नहीं। गौडपाद और शंकरके बीच समय ही ऐतिहासिक दृष्टिसे इनका उचित समय जान पड़ता है।

मैं यहाँ एक बात बड़ी नम्रतासे निवेदन करना चाहता हूँ, वह यही है कि इन सिद्ध संतोंका ऐतिहासिक दृष्टिसे समय निर्णय करना ठीक नहीं जँचता। कारण, इन्होंने कालपर विजय प्राप्त किया है, इनका शरीर भी चिन्मय हो गया है। ये कालके मापके अंदर नहीं आ सकते। व्यास उधर धृतराष्ट्र और पाण्डुके पिताके रूपमें हैं तो इधर मण्डनमिश्रके घर भी पधारते हैं। शुकदेव व्यासके पुत्रके रूपमें भी हैं और चरणदासको ज्ञानोपदेश भी करते हैं। गौडपाद शुकदेव और शंकर दोनोंसे ही मिलते हैं। इनकी आयुका भी हमलोगोंकी भाँति ही सौ-पचास वर्षका औसत लगा लिया जाय तो यह संत-शरीरकी अनभिज्ञता ही होगी। अतः सनकादिसे लेकर गोविन्दपादतकके सिद्ध संत-सद्गुरुओंको समय और इतिहासके ऊपर मानना ही न्याय होगा।

—शान्तनु

विष्णुस्वामी

धर्मराज युधिष्ठिरके संवत् २५०० व्यतीत हो जानेपर अर्थात् विक्रमसे ६०० वर्ष पूर्व द्रविडदेशके एक क्षत्रिय राजाके मन्त्री भक्त ब्राह्मणने भगवान्की बड़ी आराधना करके विष्णुस्वामीको पुत्ररूपमें प्राप्त किया था। कोई-कोई इनका समय विक्रमके बाद मानते हैं। भगवद्विभूतिस्वरूप होनेके कारण बचपनमें ही इनमें

अलौकिक गुण प्रकट हुए थे। इनकी जैसी अद्भुत प्रतिभा थी वैसा ही सुन्दर शरीर भी था। यज्ञोपवीतसंस्कारके अनन्तर थोड़े ही दिनोंमें इन्होंने सम्पूर्ण वेद-वेदांग, पुराणादिकोंका यथावत् ज्ञान प्राप्त कर लिया। '**यो यदंशः स तं भजेत्**' के नियमानुसार अब ये परम सुखके अन्वेषणकी ओर अग्रसर हुए। इन्होंने मर्त्यलोकसे लेकर ब्रह्मलोकतकपर विचार किया, परन्तु इन्हें इनके अभीष्ट वस्तुके दर्शन न हुए।

अन्ततः इन्होंने उपनिषदोंकी शरण ली। बृहदारण्यक उपनिषद्के अध्याय ४ के ब्राह्मण ४ में '**स वा एष महानज आत्मा....सर्वस्य वशी**' से लेकर '**एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय**' तक जो वर्णन हुआ है उसीके अनुसार ईश्वरका निश्चय करके इन्होंने उपासना प्रारम्भ कर दी। इनका निश्चय दृढ़ था। प्रभुके साक्षात्कारपर इन्हें पूर्ण विश्वास था। इनकी उपासना बहुत दिनोंतक बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ एक-सी चलती रही, परन्तु अभिलाषा पूर्ण न हुई।

अब इन्होंने भगवद्वियोगमें अन्न-जलका त्याग कर दिया, परन्तु भगवत्सेवा पूर्ववत् चलती रही। छः दिन बीत गये, शरीर शिथिल पड़ गया, परन्तु उत्साहमें न्यूनता नहीं आयी। सातवें दिन इनकी विरहव्यथा इतनी तीव्र हो गयी कि इन्हें एक-एक क्षण कल्पके समान जान पड़ने लगा, जीना भाररूप हो गया, तब इन्होंने अपने शरीरको विरहाग्निमें जला देनेका निश्चय किया। इसी समय इनका हृदय प्रकाशसे भर गया और भगवत्प्रेरणासे आँखें खुलनेपर इन्होंने '**सन्तं वयसि कैशोरे**' आदि श्लोकोंमें वर्णित किशोराकृति, वेणुवादनतत्पर, श्रृंगाररसमूर्ति, पीताम्बरधारी, सखीद्वयसेवित, त्रिभंगललित भगवान् श्यामसुन्दरका सुर-मुनिदुर्लभ दर्शन प्राप्त किया। उस समय इनकी जो दशा हुई वह सर्वथा अवर्णनीय है। आनन्दपूर्ण हृदयसे इन्होंने भगवान्के चरणकमलोंपर सिर रख दिया एवं पुलकित शरीरसे अश्रुधारा बहाते हुए वहीं लोटने लगे। भगवान्ने इन्हें निज करकमलोंसे उठाकर हृदयसे लगाया एवं इनके सिर तथा पीठपर हाथ फेरकर कृतार्थ किया। थोड़ी देर बाद सम्हलकर, अंजलि बाँधकर इन्होंने भगवान्की स्तुति की। इनके मनमें उपनिषदोंके अभिप्रायके सम्बन्धमें कुछ सन्देह था, अतः उसका निवारण करनेके लिये भगवान्ने इन्हें अपने गुह्यतम तत्त्वका रहस्य बताया। भगवान्ने कहा—'अपने मनमें इस सन्देहको तो स्थान ही मत दो कि मुझ पुरुषोत्तम भगवान्के, जो तुम्हारे सामने साकाररूपसे साक्षात् प्रत्यक्ष होकर बात कर रहा हूँ, अतिरिक्त भी कोई दूसरा तत्त्व है। मैं इसी साकाररूपसे एक, अद्वितीय त्रिविधभेदशून्य, अनिर्वचनीय परम तत्त्व हूँ। माया, जगत् आदि कुछ नहीं, सब मैं-ही-मैं हूँ। जितने विरुद्ध धर्म दीखते हैं सब मुझमें हैं। मैं ही सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, सविशेष-निर्विशेष सब कुछ हूँ। अतः यह शंका छोड़कर सर्वभावसे मेरा ही भजन करो।'

इसके पश्चात् विष्णुस्वामीसे भगवान्की बहुत देरतक बातचीत होती रही। इन्होंने आग्रह किया कि अब आप अन्तर्धान न हों, सर्वदा मुझे दर्शन दिया करें या अपने साथ ले चलें। भगवान्को तो इनसे भक्तिका प्रचार कराना था, अतः एक मूर्ति बनानेवालेको बुलाकर दर्शन दिया और वैसी ही मूर्ति बनाकर स्थापित करके अर्चा-सेवा करनेका आदेश दिया और स्वयं उसमें प्रवेश कर गये। विष्णुस्वामी उस विग्रहको साक्षात् भगवद्रूप मानकर अर्चा-पूजा करते हुए आनन्दसे जीवन बिताने लगे। ये '**श्रीकृष्ण तवास्मि**' इस मन्त्रका जप करते थे।

भगवत्प्रेरणासे भक्तिकी संवर्द्धना करते-करते इनकी वृद्धावस्था आ गयी, तब इन्होंने शास्त्रमर्यादाके रक्षणके लिये त्रिदण्डसंन्यास ग्रहण किया और भगवच्चिन्तन करते-करते भगवान्के नित्यधाममें प्रवेश किया।

इनके सम्प्रदायमें सात सौ आचार्य हुए हैं। उनमें एक बिल्वमंगल भी थे। ये बिल्वमंगल तीन-चार प्रसिद्ध बिल्वमंगलोंसे भिन्न हैं। जब इनके उपदेशसे अनधिकारी भी भक्तिराज्यमें प्रवेश करने लगे तब इन्हें संसारकी व्यवस्था ठीक करनेके लिये अन्तर्धान होकर रहनेकी आज्ञा हुई। जिस समय आचार्य वल्लभ एक दूसरे मतमें मिलने जा रहे थे तब स्वप्नमें प्रकट होकर बिल्वमंगलने उन्हें भगवान्का आदेश बताया और शुद्धाद्वैत अथवा पुष्टिमार्गका उपदेश किया।

इन्हीं श्रीविष्णुस्वामीके सिद्धान्तके आधारपर आचार्य वल्लभने अपना सिद्धान्त स्थिर किया और समय-समयपर भगवान्ने उनके सामने प्रकट होकर उसका समर्थन किया।

—शान्तनु

आळवार संत

(जीवनी और उपदेश)

(लेखक—स्वामी श्रीशुद्धानन्दजी भारती)

भूतं सरश्च महदाह्वयभट्टनाथ-
श्रीभक्तिसारकुळशेखरयोगिवाहान् ।
भक्ताङ्घ्रिरेणुपरकाळयतीन्द्रमिश्रान्
श्रीमत्पराङ्कुशमुनिं प्रणतोऽस्मि नित्यम्॥
—पराशर भट्ट

आळवार कौन हैं?

भारतकी मुख्य सम्पत्ति अध्यात्मविद्याका दीपक टिमटिमाने लगा था। विदेशियोंके संसर्गकी आँधी बड़ी तेजीके साथ भगवत्प्रेमकी लौको बुझानेमें लगी हुई थी। मनुष्यकी अहंमन्यताने इस जगत्‌रूपी नाटकके नेपथ्यमें काम करनेवाले भगवत्संकल्पको भुला दिया था। उन त्रिकालज्ञ ऋषियोंकी वाणीका अनादर होने लगा था जिनके बनाये हुए आध्यात्मिक नियमोंके आधारपर भारतीय संस्कृति टिकी हुई है। आत्माको उन्नत करनेवाले वैदिक सिद्धान्तोंको दबाकर एक प्रकारके नैतिक जडवादने उनका स्थान ग्रहण कर लिया था। लोग अपना समय कभी समाप्त न होनेवाले शाब्दिक कलहमें अथवा साम्प्रदायिक झगड़ोंमें नष्ट कर रहे थे। लोगोंका चित्त 'मैं' और 'मेरे' के चक्करमें पड़कर अशान्त हो रहा था और इसी 'मैं' और 'मेरे' के पीछे लोगोंमें परस्पर संघर्ष बढ़ रहा था। देशमें बौद्धोंके शून्यवादने आतंक जमा लिया था। प्रजाकी तो बात ही क्या, राजा लोग भी उसके चक्करसे नहीं बच सके थे। देशको इस बढ़ती हुई नास्तिकताके चंगुलसे बचानेके लिये, जो यहाँकी भूमिके सर्वथा प्रतिकूल थी, उत्तरीय भारतके आध्यात्मिक गगनमें कबीर, नानक, चैतन्य, तुलसीदास, तुकाराम, रामदास आदि कई देदीप्यमान नक्षत्रोंका उदय हुआ।

दक्षिण भारतके लोगोंके हृदयमें भगवत्प्रेमकी बुझती हुई लौको पुन: चैतन्य करनेवाले दो प्रकारके संत हुए। एक तो शैव संत थे, जिनकी संख्या चौंसठ मानी जाती है और जिनमें माणिक्क वाचक, सम्बन्ध, वागीश और सुन्दर, ये चार सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके रचे हुए पद हजारोंकी संख्यामें आज भी भक्तोंद्वारा गाये जाते हैं। उनकी अमर वाणियाँ आध्यात्मिक साहित्यके दो महान् संग्रहग्रन्थोंमें सुरक्षित हैं। उनमेंसे एकका नाम 'देवरम्' है, जिसका अर्थ है 'भगवत्प्रेमके हार,' और दूसरेका नाम है 'तिरुवाचकम्', जिसका अर्थ है 'पवित्र वाणी'। 'पेरियपुराणम्' (महापुराण) और 'ईश्वरलीला' नामके दो महान् ग्रन्थोंमें उनके पवित्र चरित्रोंका वर्णन है, साथ-ही-साथ उनकी भगवत्प्रेरित वाणियोंने कैसा जादूका काम किया इसका भी विशदरूपमें उल्लेख है।

इसी प्रकार दक्षिण भारतके वायुमण्डलको पवित्र करनेवाले कुछ वैष्णव संत भी हुए हैं जो 'आळवार' के नामसे प्रसिद्ध हैं। 'आळवार' का अर्थ है 'जिसने अध्यात्मज्ञानरूपी समुद्रमें गहरा गोता लगाया हो'। आळवारोंको प्रेम और आनन्दकी वह दिव्य सरिता कह सकते हैं जो सच्चिदानन्दरूपी अगाध समुद्रमें मिलकर ही शान्तिको प्राप्त होती है। आळवार लोग गीताकी सजीव मूर्ति थे, उपनिषदोंके उपदेशके जीते-जागते नमूने थे, भगवान्‌के चलते-फिरते मन्दिर थे और भगवत्प्रेमकी कलकलनिनादिनी सरिताएँ थे। आळवारोंकी संख्या बारह मानी जाती है। उन्होंने भगवान् नारायण, राम, कृष्ण आदिके गुणोंका वर्णन करनेवाले हजारों पद रचे जिनको सुनकर हृदय एक बार फड़क उठता है। आळवार संत इतने सीधे-सादे, इतने विनयी, भगवत्प्रेममें इतने भीगे हुए और संसारसे इतने ऊपर उठे हुए थे कि उन्होंने इस बातकी बिलकुल परवा ही नहीं की कि उनके सुन्दर पदोंको लोग जानें। उन्होंने आजकलके प्रचारकोंकी भाँति अपने उपदेशोंका प्रचार नहीं किया। उनका जीवन भगवान्‌की ओर बड़े वेगसे बहनेवाला एक सतत प्रवाह था। उन्होंने भगवान्‌के चरणोंका सर्वभावेन आश्रय ले लिया था। उनका चित्त सदा नारायणके चिन्तनमें लीन रहता था। उनका हृदय भगवान्‌का मन्दिर बन गया था, उनकी वाणी केवल भगवान्‌के ही गुणोंका गान करती थी। उनके चरण भगवान्‌के ही मन्दिरकी प्रदक्षिणा करते थे। उनके हृदयसे केवल भगवत्प्रेमके उद्गार निकलते थे। उनके नेत्र सर्वत्र, सबमें और सभी घटनाओं और परिस्थितियोंमें एकमात्र नारायणका दर्शन करते थे। उनके हाथ भगवान्

नारायणको ही पुष्पांजलि चढ़ाते थे। उनकी आत्माका नारायणके साथ परिणय हो गया था। उनका जीवन भगवान् नारायणका ही उच्छ्वास बन गया था। वे स्वामी, पिता, सुहृद्, प्रियतम तथा पुत्रके रूपमें नारायणको ही भजते थे और नारायणसे ही प्रेम करते थे। '**सोऽहम्**' के '**सः**' और '**अहम्**' दोनों उस एकके अंदर दूध और चीनीकी भाँति घुल-मिलकर एक हो गये हैं। मेरा हृदय स्वप्नमें भी उनका साथ नहीं छोड़ता। जबतक मैं अपने स्वरूपसे अनभिज्ञ था तबतक 'मैं' और 'मेरे' के भावको ही पुष्ट करता रहता था। परन्तु अब मैं देखता हूँ जो तुम हो वही मैं हूँ, मेरा सब कुछ तुम्हारा है; अतः हे प्रभो! मेरे चित्तको डुलाओ नहीं, उसे सदा अपने पादपद्मोंसे दृढ़तापूर्वक चिपटाये रखो। भाइयो! भगवान्का ही स्मरण करो। श्रीकृष्णका ही गुणगान करो। धनियोंकी स्तुति करके अपनी वाणीका दुरुपयोग न करो। भगवान् नारायणका प्रेमरूपी दिव्य सुमनसे नित्य अर्चन करो। जगत्का रचयिता वही है; यही नहीं, स्वयं जगत् भी वही है। वही जगदीश्वर है। उसके सहस्र नामोंका उच्चारण करो। तुम्हारे सारे अमंगल नष्ट हो जायँगे। उसका दर्शन देवताओंको भी दुर्लभ है, किन्तु भक्तोंके लिये वह अत्यन्त सुलभ है। हे जगत्के जीवो! यदि तुम मुक्तिका आनन्द लूटना चाहते हो तो उसीसे प्रेम करो।' आळवारोंका जीवन तथा उनकी वाणी इसी ढंगकी थी। भारतके १०८ मुख्य वैष्णव मन्दिरोंमें राम, कृष्ण, नारायण, नृसिंह आदि जिन-जिन विग्रहोंकी पूजा होती है उन्होंने उन सबका गुणगान किया है।

आळवारोंका जीवनकाल ईस्वी सन्की सातवीं शताब्दीसे लेकर नवीं शताब्दीपर्यन्त माना जाता है। इनके पदोंका संग्रह तथा प्रचार श्रीनाथमुनिद्वारा हुआ जो स्वयं बड़े भक्त और विद्वान् थे, और इनके द्वारा निरूपित प्रपत्तिमार्गको एक निश्चित रूप देकर उसका जगत्में प्रचार आचार्य श्रीरामानुजने किया जिन्हें भगवान्ने इसी कार्यके लिये भेजा था। वैष्णवशास्त्रोंमें यह बात कही गयी है कि भगवान् महाविष्णुने इन आळवारोंके रूपमें अपने ही श्रीवत्स, कौस्तुभ, वैजयन्ती, वनमाला, श्री-भू-लीला देवियों, अनन्त, गरुड़, विष्वक्सेन, सुदर्शन चक्र, पांचजन्य शंख, कौमोदकी गदा, नन्दक खड्ग और शार्ङ्ग धनुष आदिको संसारमें भक्तिमार्गका प्रचार करनेके लिये भेजा था। ये आळवार संत भिन्न-भिन्न जातियोंमें उत्पन्न हुए थे, परन्तु संत होनेके नाते उन सबका समानरूपसे आदर है। क्योंकि इन्हींके कथनानुसार संतोंका एक अपना ही कुटुम्ब होता है जो सदा भगवान्में स्थित रहकर उन्हींके नामोंका कीर्तन करता रहता है। वास्तवमें नीच वही हैं जो भगवान् नारायणकी प्रेमसहित पूजा नहीं करते।' इन संत-कवियोंके चार हजार पद्य 'दिव्य प्रबन्ध' नामक ग्रन्थमें संगृहीत हैं जो ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य, समता और आनन्दसे ओतप्रोत अध्यात्मज्ञानका एक अमूल्य खजाना है। वे वेदमन्त्रोंके समान पवित्र और मुक्तिरूपी गंगाको बहानेवाले हैं और जहाँ-कहीं आज भी वे भक्तोंद्वारा गाये जाते हैं वहाँ भगवत्सामीप्यके आनन्दका अनुभव होता है। सभी वैष्णव अपने-अपने घरोंमें तथा मन्दिरोंमें एवं सब प्रकारके उत्सवों, धार्मिक कृत्यों तथा पूजाओंमें एक स्वरसे 'तिरुवॉयमोड़ी' नामक दिव्य प्रबन्धको गाते हैं, जिसका अर्थ तामिल भाषामें 'संतोंके पवित्र मुखसे निकली हुई दिव्य वाणी' है। हम उन्हीं पवित्र वैष्णव संतोंके संक्षिप्त जीवनवृत्तान्तों और उपदेशोंको संतांकके पाठकोंके मनोरंजनार्थ उपस्थित करते हैं।

(१) विष्णुचित्त (पेरिय-आळवार)

सबसे पहले हम विष्णुचित्तका संक्षिप्त परिचय देंगे, जिनका प्रसिद्ध नाम पेरि-आळवार (महान् आळवार) है और जिनके पदोंको वैष्णवलोग मंगलाचरणोंके रूपमें देखते हैं।

पाण्ड्यवंशके बलदेव नामके एक राजा थे, जो मदुरा और तिन्नेवेली जिलोंपर शासन करते थे। उन दिनों राजालोग अपने प्रजाके हितका इतना अधिक ध्यान रखते थे कि वे बहुधा प्रजाके कष्टोंका पता लगाने और उनका निवारण करनेके लिये रात्रिके समय भेष बदलकर घूमा करते थे। बलदेव भी प्रजाको किसी प्रकारका कष्ट न हो, इस बातका बड़ा ध्यान रखते थे। एक दिन रातके समय जब वे मदुरा नगरीमें इसी प्रकार भेष बदलकर घूम रहे थे, उन्होंने किसी आगन्तुकको एक वृक्षके नीचे विश्राम करते देखा। राजाने आगन्तुकसे पूछा—'तुम कौन हो और कहाँसे आये हो?' आगन्तुकने कहा—'महाशय, मैं एक ब्राह्मण हूँ। गंगा-स्नान करके मैं अब सेतू नदीमें स्नान करनेके लिये जा रहा हूँ। रातभर विश्राम करनेके लिये यहाँ ठहर गया हूँ।' राजाने कहा—'अच्छी बात है, आपकी बातोंसे मालूम होता है

कि आप बड़े विद्वान् हैं और देशाटन किये हुए हैं। अतः आप हमें अपने अनुभवकी कोई बात कहिये।' आगन्तुकने कहा, अच्छा सुनिये—

वर्षार्थमष्टौ प्रयतेत मासान्निशार्थमर्धं दिवसं यतेत।
वार्द्धक्यहेतोर्वयसा नवेन परत्र हेतोरिह जन्मना च॥

राजाने कहा—'कृपया इसका अर्थ समझाइये।' आगन्तुकने कहा—'मनुष्यको चाहिये कि आठ महीनेतक खूब परिश्रम करे जिससे वह वर्षाऋतुमें सुखपूर्वक खा सके, दिनभर इसलिये परिश्रम करे कि रातको सुखकी नींद सो सके, जवानीमें बुढ़ापेके लिये संग्रह करे और इस जन्ममें परलोकके लिये कमाई करे।' राजाने कहा—'ब्राह्मणदेवता, तुम बहुत ठीक कहते हो; मुझे अपनी भूल मालूम हो गयी। हाय! मैंने अपने अबतकके जीवनको संसारके पचड़ोंमें फँसकर व्यर्थ ही खोया। अब मेरी बड़ी अभिलाषा है कि मैं उन गुणोंका अर्जन करूँ जिनसे मुझे सच्चा सुख प्राप्त हो सके। कृपाकर आप तीर्थयात्रासे लौटकर जल्दी वापस आइये और कुछ दिन मेरे पास रहकर मुझे सच्चा मार्ग दिखलाइये।'

ब्राह्मण राजाको भक्तिमार्गकी दीक्षा देकर वहाँसे विदा हो गये। अब तो राजाके हृदयमें परमात्माके तत्त्वको जाननेकी उत्कण्ठा जागृत हो गयी। उन्होंने अपने पुरोहित चेल्वनम्बिको बुलाया, जो बड़े सदाचारी और सच्चे विष्णुभक्त थे, और कहा—'महाराज! मैं धर्माचरण कर अपने जीवनको सुधारना चाहता हूँ, जिससे मैं भगवान्‌के चरणोंके निकट पहुँच सकूँ। आप कृपया बताइये कि मुझे क्या करना चाहिये।' पुरोहितने कहा— 'राजन्! संतों और भक्तोंकी सेवा करना, उनके उपदेशोंका श्रवण करना, उनके संग रहना और उनके आचरणोंका अनुकरण करना—यही सच्चा सुख प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है और यही मनुष्यका कर्तव्य है।' 'ऐसे संत कहाँ मिलेंगे, कृपाकर बताइये, और उन्हें कैसे पहचाना जाय?' राजाने कहा। पुरोहितने उत्तर दिया— 'हे राजन्! संतोंके बाह्य वेशको देखकर उन्हें पहचानना बड़ा कठिन है। वे किसी स्थानविशेषमें नहीं रहते और न उनके रहनेका कोई निश्चित प्रकार ही है। वे चाहे जहाँ और चाहे जिस रूपमें रह सकते हैं। अतः उनका दर्शन प्राप्त करनेका एक ही उपाय है। वह यह कि देशभरके धर्मों, सम्प्रदायों और मज़हबोंके प्रतिनिधियोंकी एक सभा एकत्रित कीजिये और उसमें यह घोषणा कर दीजिये कि 'मैं उस सच्चे और सरल मार्गको जानना चाहता हूँ जिसपर चलकर हम आनन्दरूप भगवान्‌को प्राप्त कर सकें।' साथ ही यह भी घोषणा करवा दें कि 'जो मनुष्य हमारे प्रश्नका सन्तोषजनक एवं यथार्थ उत्तर देगा उसे कई भार सोना उपहाररूपमें दिया जायगा।' ऐसा करनेसे आपको कम-से-कम उस सभामें एकत्रित होनेवाले संतों और भक्तोंको देखनेका और उनसे सम्भाषण करनेका सौभाग्य तो प्राप्त हो ही जायगा।' राजाने पुरोहितकी आज्ञाके अनुसार मदुरामें सारे धर्मोंके प्रतिनिधियोंकी सभा एकत्रित की। शैव, वैष्णव, शाक्त, सूर्योपासक, गाणपत्य, मायावादी, सांख्य, वैशेषिक, पाशुपत, जैन और बौद्ध, सभी धर्मोंके प्रतिनिधि उस सभामें उपस्थित हुए। उनमें परस्पर बड़ा वाद-विवाद हुआ, परन्तु राजाका समाधान कोई भी नहीं कर सका। उनका हृदय किसी महान् संतकी खोजमें था। हमारे चरित्रनायक विष्णुचित्तके सिवा दूसरा कोई संत उन्हें कहाँ मिलता? अब उनके पवित्र जीवनका कुछ वृत्तान्त सुनिये।

मद्रासप्रान्तके तिन्नेवेली जिलेमें विल्लीपुत्तूर नामका एक पवित्र स्थान है। वहाँ मुकुन्दाचार्य नामके एक सदाचारी ब्राह्मण रहते थे। उनकी पत्नीका नाम पद्मा था। मुकुन्दाचार्य और उनकी पतिव्रता स्त्री दोनों वटपत्रशायी भगवान् महाविष्णुके मन्दिरमें जाकर प्रतिदिन उनसे एक दिव्य पुत्रके लिये प्रार्थना किया करते थे। उनकी प्रार्थना स्वीकार हुई। हमारे चरित्रनायक उसी ब्राह्मणदम्पतीके यहाँ अवतीर्ण हुए। ये गरुड़के अवतार माने जाते हैं। इनका जन्म एकादशी रविवारको स्वातिनक्षत्रमें हुआ था। इनकी माताको प्रसवके समय कोई वेदना नहीं हुई। बालक देखनेमें बड़ा सुन्दर था और उसके शरीरके चारों ओर एक दिव्य तेजोमण्डल था। सामान्य बालकोंसे यह बालक कुछ विलक्षणता लिये हुए था। माता-पिताने बालकका बड़े प्रेमके साथ लालन-पालन किया और उसके ब्राह्मणोचित सभी संस्कार करवाये। सातवें वर्षमें उसका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। बालकने भगवान् विष्णुको बिना जाने-पहचाने ही अपने अन्तरात्माको उन्हींके चरणोंमें लगा दिया था, अतएव उन्हें लोग विष्णुचित्तके नामसे पुकारने लगे। वे अपना अधिकांश समय भगवान्‌के मन्दिरमें ही बिताते थे और संत हरिदासकी भाँति भगवान् नारायणके स्वरूपका ध्यान

और उनके नामका जप करते रहते थे और विष्णुसहस्रनामको गाया करते थे। 'नारायण ही सारी विद्याओंके सार हैं और सारे धर्मोंके एकमात्र ध्येय हैं, अत: अब मैं उन्हींकी शरण ग्रहण करूँगा' ऐसा दृढ़ निश्चय करके उन्होंने अपनेको भगवान् विष्णुके चरणोंमें समर्पित कर दिया। भक्तिके आवेशमें उन्हें संसारकी भी सुध-बुध न रही। अभी ये नवयुवक ही थे कि इन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति बेच डाली और बदलेमें एक सुन्दर उपजाऊ भूमि खरीदकर वहाँ एक सुन्दर बगीचा लगाया। प्रतिदिन सबेरे वे 'नारायण' शब्दका उच्चारण करते हुए फूल चुनते और उनके सुन्दर हार गूँथकर भगवान् नारायणको धारण कराते। उन हारोंसे अलंकृत भगवान्‌की दिव्य मूर्तिको देखकर वे मुग्ध हो जाते और निर्निमेष नेत्रोंसे उनकी अनूप रूपमाधुरीका आस्वादन करते। उन्हें भगवत्प्रेमके अतिरिक्त कोई दूसरी बात सुहाती ही न थी। एक दिन रातको विष्णुचित्त बहुत देरतक भजन-ध्यान करनेके बाद विश्राम कर रहे थे कि उन्हें भगवान् नारायणने स्वप्नमें दर्शन दिये और उनसे कहा कि 'तुम तुरंत मदुरामें जाकर वहाँके धर्मात्मा राजा बलदेवसे मिलो। वहाँ सारे धर्मोंके प्रतिनिधि एकत्र हुए हैं और राजाने यह घोषणा की है कि जो पुरुष सच्चे आनन्दकी प्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ मार्ग बतलायेगा उसे उपहाररूपमें कई भार सोना दिया जायगा। वहाँ जाकर मेरी विजयपताका फहराओ। मेरे प्रेम और भक्तिका महत्त्व लोगोंपर प्रकट करो। वहाँ जाकर यह प्रमाणित कर दो कि भगवान्‌के सविशेषरूपकी उपासना ही आनन्द प्राप्त करनेका एकमात्र सच्चा और सरल मार्ग है।'

विष्णुचित्त भगवान्‌के आदेशको पाकर मारे हर्षके फूले न समाये और भगवान्‌से इस प्रकार कहने लगे—'प्रभो! मुझे आपकी आज्ञा स्वीकार है, मैं अभी मदुराके लिये रवाना होता हूँ। किन्तु मुझे शास्त्रोंका ज्ञान बिलकुल नहीं है, मैं तो आपका एक तुच्छ सेवक हूँ, आपके चरणोंको हृदयमें रखकर मैं उस सभामें जाता हूँ। ऐसी कृपा कीजिये कि आपका यह यन्त्र आपकी इच्छाको पूर्ण कर सके।' यों कहकर विष्णुचित्त मदुरा चले गये। राजाने इनका बड़ा सत्कार किया। और वहाँकी पण्डितमण्डलीमें विष्णुचित्त नक्षत्रोंमें चन्द्रमाके समान सुशोभित हुए। उन्होंने सबकी शंकाओंका यथोचित उत्तर देते हुए यह सिद्ध किया कि 'भगवान् नारायण ही सर्वोपरि हैं और उनके चरणोंमें अपनेको सर्वतोभावेन समर्पित कर देना ही कल्याणका एकमात्र उपाय है। भगवान् नारायण ही हमारे रक्षक हैं, वे अपनी योगमायासे साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंका दलन करनेके लिये समय-समयपर अवतार लेते हैं। वे समस्त भूतोंके हृदयमें स्थित हैं। भगवान् ही मायासे परे हैं और उनकी उपासना ही मायासे छूटनेका एकमात्र उपाय है। उनपर विश्वास करो, उनकी आराधना करो, उनके नामकी रट लगाओ और उनका गुणानुवाद करो। **ॐ नमो नारायणाय।**'

विष्णुचित्तके उपदेशका राजापर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह उनके चरणोंपर गिर पड़ा और उन्हें अपने गुरुके रूपमें वरणकर बड़ी धूमधामके साथ उनका जुलूस निकाला। किन्तु विष्णुचित्त इस सम्मानसे प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने बड़े करुणापूर्ण नेत्रोंसे ऊपर आकाशकी ओर देखा तो वहाँ उन्हें साक्षात् भगवान् नारायण महालक्ष्मीके साथ गरुड़पर विराजे हुए दिखायी दिये। वे अपने भक्तका सम्मान देखकर तथा लाखों नर-नारियोंके मुखसे नारायणमन्त्रकी ध्वनि सुनकर बड़े प्रसन्न हो रहे थे। विष्णुचित्त अपने इष्टदेवका दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये। वे राजासे विदा लेकर विल्लीपुत्तूर चले गये और वहाँ उन्होंने कई सुन्दर पद रचकर उनके द्वारा भगवान्‌की अर्चा की। उनके एक पदका भाव नमूनेके तौरपर नीचे दिया जाता है। वे कहते हैं—'वे वास्तवमें दयाके पात्र हैं जो भगवान् नारायणकी उपासना नहीं करते। उन्होंने अपनी माताको व्यर्थ ही प्रसवका कष्ट दिया। जो लोग नारायणनामका उच्चारण नहीं करते वे पाप ही खाते हैं और पापमें ही रहते हैं। जो लोग भगवान् माधवको अपने हृदयमन्दिरमें स्थापितकर प्रेमरूपी सुमनसे उनकी पूजा करते हैं वे ही मृत्युपाशसे छूटते हैं।'

विष्णुचित्त भगवान्‌की वात्सल्यभावसे उपासना करते थे।

(२) श्रीआण्डाल (रंगनायकी)

एक दिन प्रात:काल जब विष्णुचित्त भगवान्‌की पूजाके लिये फूल चुन रहे थे उन्होंने तुलसीके वनमें एक हालकी जन्मी हुई लड़कीको पड़े हुए पाया। उन्होंने बड़े स्नेहसे उस बालिकाको उठा लिया तथा उसे वटपत्रशायी भगवान् नारायणके चरणोंमें रखकर कहा—'यह तुम्हारी ही सम्पत्ति है, जो तुम्हारी सेवाके लिये

आयी है। इसे अपने पादपद्मोंमें आश्रय दो।' इसपर मूर्तिमेंसे आवाज आयी—'इस लड़कीका नाम 'गोदा' रखो और इसे अपनी ही लड़की मानकर इसका लालन-पालन करो।' 'गोदा' का अर्थ है 'फूलोंके हारके समान कमनीय'। इस लड़कीको आगे चलकर जब भगवान्का प्रेम और उनकी कृपा प्राप्त हो गयी तब उसे लोग 'आण्डाल' कहने लगे थे।

भगवान्की आज्ञा पाकर विष्णुचित्त उस लड़कीको अपनी कुटियामें ले आये और वहाँ बड़े स्नेहसे उसका पालन-पोषण करने लगे। लड़की जब बोलने लगी तो उसके मुखसे 'विष्णु' के अतिरिक्त कोई दूसरा नाम ही नहीं निकलता था। जब वह कुछ सयानी हुई तो वह भगवान्के गीत गाने लगी। पिताके मन्दिर चले जानेपर वह उनके पीछे बगीचेकी रखवाली करती और भगवान्की पूजाके लिये फूलोंके हार गूँथ रखती। जब वह कुछ और बड़ी हुई तब वह भगवान् रंगनाथको पतिके रूपमें भजने लगी। वह अपने प्रियतमके प्रेममें अपने-आपको इतना भूल जाती कि भगवान्के लिये गूँथे हुए हारको स्वयं पहनकर आइनेके सामने खड़ी हो जाती और अपने सौन्दर्यकी अपने-आप प्रशंसा करती हुई कहती—'क्या मेरा सौन्दर्य मेरे प्रियतमको आकर्षित कर सकेगा?' एक दिन उसकी धारण की हुई मालाको मन्दिरके पुजारीने स्वीकार नहीं किया और यह कहकर उसे लौटा दिया कि इसमें किसी मनुष्यके सिरका बाल लगा हुआ है। विष्णुचित्तको यह सुनकर बड़ा दु:ख हुआ, उन्होंने ताजे फूल तोड़कर नये हार बनाये और भगवान्को अर्पण किये। दूसरे दिन भी पुजारीने शिकायत की कि आजकी माला कुछ मुर्झायी हुई है। विष्णुचित्तने अपने मनमें सोचा कि अवश्य ही इसमें कोई-न-कोई रहस्य होना चाहिये। वे जब इसका कारण ढूँढ़नेमें लगे हुए थे कि उनकी दृष्टि अकस्मात् अपनी लड़कीकी ओर गयी। उन्होंने देखा कि 'वह एक परदेके पीछे नये फूलोंके हार पहनकर दर्पणके सामने खड़ी है और मन-ही-मन अपने प्रियतम भगवान्से कुछ बातें कर रही है।' वे दौड़कर लड़कीके पास गये और चिल्लाकर बोले—'बेटी! यह तूने क्या किया? तू पागल तो नहीं हो गयी जो भगवान्के लिये तैयार किये हुए हारोंको स्वयं धारणकर जूठा कर रही है? बेटी! फिर कभी ऐसा न करना।' यह कहकर विष्णुचित्तने फिरसे नये हार तैयारकर भगवान्को अर्पण किये। परन्तु उसी दिन रातको भगवान्ने उन्हें स्पप्नमें दर्शन देकर कहा कि 'मुझे आण्डालकी पहनी हुई माला धारण करनेमें विशेष सुख मिलता है, इसलिये वही हार मुझे चढ़ाया करो।' अब तो विष्णुचित्तको यह निश्चय हो गया कि आण्डाल कोई साधारण लड़की नहीं है और वे कुछ दिन पीछे आण्डालकी धारण की हुई मालाओंको ही भगवान्के निवेदन करने लगे। आण्डाल भूदेवीका अवतार मानी जाती है। वह मधुर भावकी चरम सीमातक पहुँच गयी थी।

आण्डाल सदा अपने शरीरसे ऊपर उठी रहती थी, वह अपने बाहर-भीतर सर्वत्र अपने प्राणवल्लभ प्रभुके अतिरिक्त और किसी वस्तुको देखती ही न थी। वह शरीरसे विष्णुचित्तके बगीचेमें रहती थी, किन्तु उसका मन वृन्दावनमें विचरता रहता था। वह गोपियोंके साथ खेलती और मट्टीके घरोंदे बनाती। इतनेमें ही श्रीकृष्ण आकर उसके घरोंदोंको ढहा देते और हँसने लगते! कभी वह गोपियोंके साथ सरोवरमें स्नान करने लगती और श्रीकृष्ण आकर उन सबके वस्त्रोंको उठा ले जाते और कदम्बपर चढ़कर बैठ जाते। कभी-कभी वह मनसे ही वृन्दावनमें विचरती और रास्ता चलनेवालोंसे पूछती,'क्या तुमने मेरे प्राणवल्लभको इधर कहीं देखा है? क्या किसीको मेरे कमलनयनका पता है?' और अपने-आप ही अपने प्रश्नोंका उत्तर भी देती—'अजी, देखा क्यों नहीं। वह तो वृन्दावनमें बाँसुरी बजाकर गोपियोंके साथ विहार कर रहा है।'

वसन्त ऋतुमें वह कोयलको सम्बोधन करके बड़े करुणस्वरमें कहती—'अरी कोयल! मेरा प्राणवल्लभ मेरे सामने क्यों नहीं आता? वह मेरे हृदयमें प्रवेशकर मुझे अपने वियोगसे दुखी कर रहा है। मैं तो उसके लिये इस प्रकार तड़प रही हूँ और उसके लिये यह सब मानो निरा खिलवाड़ ही है।'

एक दिन जब वह अपने प्रियतम भगवान्के विरहमें अत्यन्त व्याकुल हो गयी, भगवान् रंगनाथने स्वप्नमें मन्दिरके अधिकारियोंको दर्शन देकर कहा—'मेरी प्रियतमा आण्डालको मेरे पास ले आओ।' इधर उन्होंने विष्णुचित्तको भी स्वप्नमें दर्शन देकर कहा—'तुम आण्डालको लेकर शीघ्र मेरे पास चले आओ, मैं उसका पाणिग्रहण करूँगा।' यही नहीं, उन्होंने स्वप्नमें

श्रीविष्णुचित्त (पेरिय-आळवार)

गुरुमुखमनधीत्य प्राह वेदानशेषान् [४३३
नरपतिपरिक्लृप्तं शुल्कमादातुकामः।
श्वशुरममरवन्द्यं रङ्गनाथस्य साक्षाद्
द्विजकुलतिलकं तं विष्णुचित्तं नमामि॥

श्रीआण्डाल (रंगनायकी)

कर्कटे पूर्वफाल्गुन्यां तुलसीकाननोद्भवाम्। [४३५
पाण्ड्ये विश्वम्भरां गोदां वन्दे श्रीरङ्गनायकीन्॥

श्रीकुळशेखर आळवार

कुम्भे पुनर्वसौ जातं केरळे चोपपत्तने। [४३९
कौस्तुभांशं धराधीशं कुलशेखरमाश्रये॥

श्रीविप्रनारायण (भक्तपदरेणु)

कोदण्डे ज्येष्ठनक्षत्रे मण्डंगुडिपुरोद्भवन्। [४४१
चोळोर्व्यां वनमालांशं भक्तपद्रेणुमाश्रये॥

श्रीमुनिवाहन (तिरुप्पन् आळवार)

वृश्चिके रोहिणीजातं श्रीपाणिं निचुलापुरे। [४४३
श्रीवत्सांशं गायकेन्द्रं मुनिवाहनमाश्रये॥
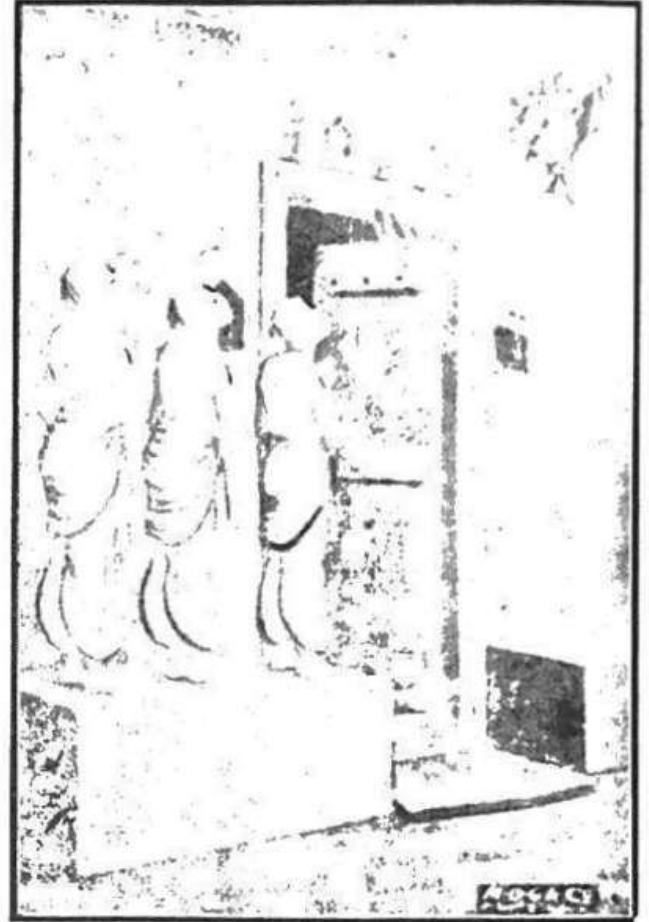
नीलन् (तिरुमङ्गै आळवार)

वृश्चिके कृत्तिकाजातं चतुष्कविशिखामणिम्। [४४७
षट्प्रबन्धकृतं शार्ङ्गमूर्तिं कलिहमाश्रये॥

सरयोगी, भूतत्ताळवार, पे आळवार

[४४५

कंबन्

कंबन् या कंबाळवार द्रविड देशके कविचक्रवर्ती कहलाते हैं। इन्हें तामिल नाडू प्रान्तके तुलसीदास कह सकते हैं। इन्होंने तामिल भाषामें रामायण लिखी है जिसमें चालीस हजार पंक्तियाँ हैं।

आण्डालको भी दर्शन दिये और उसने देखाकि मेरा विवाह बड़ी धूमधामके साथ श्रीरंगनाथके साथ हो रहा है। उसका स्वप्न सच्चा हो गया। दूसरे ही दिन श्रीरंगजीके मन्दिरसे आण्डाल और उसके धर्मपिता विष्णुचित्तको लेनेके लिये कई पालकियाँ और दूसरे प्रकारका लवाजमा भी आया। ढोल बजने लगे, शंखकी ध्वनि होने लगी, वेदपाठी ब्राह्मण वेद पढ़ने लगे और भक्तलोग आण्डाल और उसके स्वामी श्रीरंगनाथकी जय बोलने लगे। आण्डालने प्रेममें मतवाली होकर मन्दिरमें प्रवेश किया और तुरन्त वह भगवान्‌की शेषशय्यापर चढ़ गयी। इतनेमें ही लोगोंने देखा कि सर्वत्र एक दिव्य प्रकाश छा गया और उस प्रकाशमें देवी आण्डाल सबके देखते-ही-देखते बिजली-सी चमककर विलीन हो गयी। प्रेमी और प्रेमास्पद एक हो गये। आण्डालके जीवनका कार्य आज पूरा हो गया। वह भगवान् नारायणमें जाकर मिल गयी!

दक्षिणके वैष्णव-मन्दिरोंमें आज भी आण्डालके विवाहका उत्सव प्रतिवर्ष सर्वत्र मनाया जाता है। विष्णुचित्तने भी अपना शेष जीवन भगवान् श्रीरंगनाथ और उनकी प्रियतमा श्रीआण्डाल देवीकी उपासनामें व्यतीत कर भगवत्-धामको प्रयाण किया।

बोलो भक्तिमती आण्डालकी जय! भगवत्प्रेमकी जय!!

(३) कुळशेखर आळवार

कोल्लिनगर (केरल) के राजा दृढव्रत बड़े धर्मात्मा थे, किन्तु उनके कोई सन्तान न थी। उन्होंने पुत्रके लिये तप किया और भगवान् नारायणकी कृपासे द्वादशीके दिन पुनर्वसु नक्षत्रमें उनके घरमें एक तेजस्वी बालकने जन्म लिया। बालकका नाम कुळशेखर रखा गया। ये भगवान्‌की कौस्तुभमणिका अवतार माने जाते हैं। राजाने कुळशेखरको विद्या, ज्ञान और भक्तिके वातावरणमें संवर्धित किया। थोड़े ही दिनोंमें कुळशेखर तामिल और संस्कृत भाषामें पारंगत हो गये और इन दोनों प्राचीन भाषाओंके सभी धार्मिक ग्रन्थोंका उन्होंने आलोडन कर डाला। उन्होंने वेद-वेदान्तका अध्ययन किया और चौसठ कलाओंका ज्ञान प्राप्त किया। यही नहीं, वे राजनीति, युद्धविद्या, धनुर्वेद, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा नृत्यकलामें भी प्रवीण हो गये। जब राजाने देखा कि कुळशेखर सब प्रकारसे राज्यका भार उठानेमें समर्थ हो गया है तब कुळशेखरको राज्य देकर वे स्वयं मोक्ष-मार्गमें लग गये। कुळशेखरने अपने देशमें रामराज्यकी पुनः स्थापना की। प्रत्येक-गृहस्थको अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार शिक्षा देनेका समुचित प्रबन्ध किया। उन्होंने व्यवसायों तथा उद्योग-धन्धोंको सुव्यवस्थित रूप देकर प्रजाके दारिद्र्यको दूर किया। अपने राज्यको धन, ज्ञान और सन्तोषकी दृष्टिसे एक प्रकारसे स्वर्ग ही बना दिया। यद्यपि वह हाथमें राजदण्ड धारण करते थे, किन्तु उनके हृदयने भगवान् विष्णुके चरणकमलोंको दृढ़तापूर्वक पकड़ रखा था। उनका शरीर यद्यपि सिंहासनपर बैठता था, परन्तु हृदय भगवान् श्रीरामका सिंहासन बन गया था। राजा होनेपर भी उनकी विषयोंमें तनिक भी प्रीति नहीं थी। वे सदा यही सोचा करते कि 'वह दिन कब होगा जब ये नेत्र भगवान्‌के त्रिभुवनसुन्दर मंगल-विग्रहका दर्शन पाकर कृतार्थ होंगे? मेरा मस्तक भगवान् श्रीरंगनाथके चरणोंके सामने कब झुकेगा? मेरा हृदय भगवान् पुण्डरीकाक्षके मुखारविन्दको देखकर कब द्रवित होगा, जिनकी इन्द्रादि देवता सदा स्तुति करते रहते हैं? ये नेत्र किस कामके हैं यदि इन्हें भगवान् श्रीरंगनाथ और उनके भक्तोंके दर्शन नहीं प्राप्त होते? मुझे उन प्यारे भक्तोंकी चरणधूलि कब प्राप्त होगी? वास्तवमें बुद्धिमान् वही हैं जो भगवान् नारायणके पीछे पागल हुए घूमते हैं, और जो उनके चरणोंको भुलाकर संसारके विषयोंमें फँसे रहते हैं वही पागल हैं।'

भक्तकी सच्ची पुकार भगवान् अवश्य सुनते हैं। एक दिन रात्रिके समय भगवान् नारायण अपने दिव्य विग्रहमें भक्त कुळशेखरके सामने प्रकट हुए। कुळशेखर उनका दर्शन प्राप्तकर शरीरकी सुध-बुध भूल गये, उसी समयसे उनका एक प्रकारसे कायापलट ही हो गया। वे सदा भगवद्भावमें लीन रहते। भगवद्भक्तिके रसके सामने राज्यसुख उन्हें फीका लगने लगा। वे अपने मनमें सोचने लगे 'मुझे इन संसारी लोगोंसे क्या काम है जो इस मिथ्या प्रपंचको सत्य माने बैठे हैं। मुझे तो भगवान् विष्णुके प्रेममें डूब जाना चाहिये। ये संसारी जीव कामदेवके बाणोंके शिकार होकर नाना प्रकारके भोगोंके पीछे भटकते रहते हैं। मुझे केवल भक्तोंका ही संग करना चाहिये। सांसारिक भोगोंकी तो बात ही क्या, स्वर्गका सुख भी मेरे लिये तुच्छ है।' ऐसा विचारकर वे अपना सारा समय सत्संग, कीर्तन, भजन, ध्यान और

भगवान्‌के अलौकिक चरित्रोंके श्रवणमें ही व्यतीत करने लगे। उनके इष्टदेव श्रीराम थे और वे दास्यभावसे उनकी उपासना करते थे।

एक दिन वे बड़े प्रेमके साथ श्रीरामायणकी कथा सुन रहे थे। प्रसंग यह था कि भगवान् श्रीराम सीताजीकी रक्षाके लिये लक्ष्मणको नियुक्त कर स्वयं अकेले खर-दूषणकी विपुल सेनासे युद्ध करनेके लिये उनके सामने जा रहे हैं। पण्डितजी कह रहे थे—

चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं भविष्यति॥

अर्थात् धर्मात्मा श्रीराम अकेले चौदह हजार राक्षसोंसे युद्ध करने जा रहे हैं, इस युद्धका परिणाम क्या होगा।

कुळशेखर कथा सुननेमें इतने तन्मय हो रहे थे कि उन्हें यह बात भूल गयी कि यहाँ रामायणकी कथा हो रही है। उन्होंने समझा कि भगवान् वास्तवमें खर-दूषणकी सेनाके साथ अकेले युद्ध करने जा रहे हैं। यह बात उन्हें कैसे सह्य होती, वे तुरन्त कथामेंसे उठ खड़े हुए। उन्होंने उसी समय शंख बजाकर अपनी सारी सेना एकत्र कर लिया और सेनानायकको आज्ञा दी कि 'चलो, हमलोग श्रीरामकी सहायताके लिये राक्षसोंसे युद्ध करने चलें।' ज्यों ही वे वहाँसे जानेके लिये तैयार हुए कि उन्होंने पण्डितजीके मुँहसे सुना कि श्रीरामने अकेले ही खर-दूषणसहित सारी सेनाका संहार कर दिया। तब कुळशेखरको शान्ति मिली और उन्होंने सेनाको लौट जानेका आदेश दिया।

भक्तिका मार्ग भी बाधाओंसे शून्य नहीं है। मन्त्रियों और दरबारियोंने जब यह देखा कि महाराज राजकाजको भुलाकर रात-दिन भक्तिरसमें डूबे रहते हैं और उनके महलोंमें चौबीसों घंटे भक्तोंका जमावड़ा लगा रहता है तो उन्हें यह बात अच्छी नहीं लगी। उन्होंने सोचा, कोई ऐसा उपाय रचना चाहिये जिससे राजाका इन भक्तोंकी ओरसे मन फिर जाय। परन्तु यह कब सम्भव था। एक दिनकी बात है, राज्यके तोशाखानेसे एक बहुमूल्य हीरा गुम हो गया। दरबारियोंने कहा, 'हो-न-हो, यह काम उन भक्तनामधारी धूर्तोंका ही है।' राजाने कहा 'ऐसा कभी हो नहीं सकता' मैं इस बातको प्रमाणित कर सकता हूँ कि वैष्णव भक्त इस प्रकारका आचरण कभी नहीं कर सकते, उन्होंने उसी समय अपने नौकरोंसे कहकर एक बर्तनमें बंद कराकर एक विषधर सर्प मँगवाया और कहा—'जिस किसीको हमारे वैष्णव भक्तोंके प्रति सन्देह हो वे इस बर्तनमें हाथ डालें, यदि उनका अभियोग सत्य होगा तो साँप उन्हें काट नहीं सकेगा।' उन्होंने यह भी कहा 'मेरी दृष्टिमें वैष्णवभक्त बिलकुल निरपराध हैं। किन्तु यदि वे अपराधी हैं तो सबसे पहले इस बर्तनमें मैं हाथ डालता हूँ। यदि ये लोग दोषी नहीं हैं तो साँप मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।' यह कहकर उन्होंने अपना हाथ झट उस बर्तनके अंदर डाल दिया और लोगोंने आश्चर्यके साथ देखा कि साँप अपने स्थानसे हिला भी नहीं, वह मन्त्रमुग्धकी भाँति ज्यों-का-त्यों बैठा रहा। दरबारीलोग इस बातपर बड़े लज्जित हुए और अन्तमें वह हीरा भी मिल गया। इधर कुळशेखर तीर्थयात्राके लिये निकल पड़े और अपनी भक्तमण्डलीके साथ भजन-कीर्तन करते हुए भिन्न-भिन्न तीर्थोंमें घूमने लगे।

वे कई वर्षतक श्रीरंगक्षेत्रमें रहे। उन्होंने वहाँ रहकर मुकुन्दमाला नामक संस्कृतका एक स्तोत्र-ग्रन्थ रचा, जिसका संस्कृत जाननेवाले अब भी बड़ा आदर करते हैं। इसके बाद ये तिरुपतिमें रहने लगे और वहाँ रहकर इन्होंने बड़े सुन्दर, भक्तिरससे भरे हुए पदोंकी रचना की। उनके कुछ पदोंका भाव नीचे दिया जाता है। वे कहते हैं—

'मुझे न धन चाहिये न शरीरका सुख चाहिये, न मुझे राज्यकी कामना है, न मैं इन्द्रका पद चाहता हूँ और न मुझे सार्वभौमपद चाहिये। मेरी तो केवल यही अभिलाषा है कि मैं तुम्हारे मन्दिरकी एक सीढ़ी बनकर रहूँ जिससे तुम्हारे भक्तोंके चरण बार-बार मेरे मस्तकपर पड़ें। अथवा हे प्रभो! जिस रास्तेसे भक्तलोग तुम्हारे श्रीविग्रहका दर्शन करनेके लिये प्रतिदिन जाया करते हैं उस मार्गका मुझे एक छोटा-सा रजकण ही बना दो, अथवा जिस नालीसे तुम्हारे बगीचेके वृक्षोंकी सिंचाई होती है उस नालीका जल ही बना दो अथवा अपने बगीचेका एक चम्पाका पेड़ ही बना दो, जिससे मैं अपने फूलोंके द्वारा तुम्हारी नित्य पूजा कर सकूँ, अथवा मुझे अपने यहाँके सरोवरका एक छोटा-सा जलजन्तु ही बना दो।'

इन्होंने मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या आदि कई उत्तरके तीर्थोंकी भी यात्रा की थी और श्रीकृष्ण तथा श्रीरामकी

लीलाओंपर भी कई पद रचे। इनके सबसे उत्तम पद अनन्यशरणागतिपरक हैं, जिनमेंसे कुछका भाव नीचे दिया जाता है।

वे कहते हैं—

'यदि माता खीझकर बच्चेको अपनी गोदसे उतार भी देती है तो भी बच्चा उसीमें अपनी लौ लगाये रहता है और उसीको याद करके रोता-चिल्लाता और छटपटाता है। उसी प्रकार हे नाथ! तुम चाहे मेरी कितनी ही उपेक्षा करो और मेरे दु:खोंकी ओर ध्यान न दो तो भी मैं तुम्हारे चरणोंको छोड़कर और कहीं नहीं जा सकता, तुम्हारे चरणोंके सिवा मेरे लिये कोई दूसरी गति ही नहीं है। यदि पति अपनी पतिव्रता स्त्रीका सबके सामने तिरस्कार भी करे तो भी वह उसका परित्याग नहीं कर सकती। इसी प्रकार चाहे तुम मुझे कितना ही दुत्कारो मैं तुम्हारे अभय चरणोंको छोड़कर अन्यत्र कहीं जानेकी बात भी नहीं सोच सकता। तुम चाहे मेरी ओर आँख उठाकर भी न देखो, मुझे तो केवल तुम्हारा और तुम्हारी कृपाका ही अवलम्बन है। राजा अपनी प्रजाकी चाहे जितनी उपेक्षा करे, किन्तु राजभक्त प्रजा उस राजाके आश्रयका कदापि परित्याग नहीं कर सकती। चिकित्सक किसी रोगीके घावको चाहे जितना नोचे और कुरेदे, सहनशील और समझदार रोगी मुँहसे कभी उफ् भी नहीं निकालेगा। इसी प्रकार हे मायापति! तुम मुझे चाहे जितना कष्ट दो मैं तो सदा तुम्हारी कृपाका ही भिखारी बना रहूँगा, तुम्हें छोड़कर किसी दूसरी ओर ताकनेका भी नहीं। तुम्हारे चरणोंको छोड़कर मैं जाऊँ भी कहाँ। जैसे जहाजका कौआ घूम-फिरकर वापिस उसी जहाजपर आ जाता है उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे पादपद्मोंको छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकता। सूर्य चाहे कमलको कितना ही ताप दे, कमलका मुँह उसके सामने सदा खुला रहेगा। तुम चाहे मेरे कष्टोंका निवारण न करो, मेरा हृदय तो तुम्हारी ही दयासे द्रवीभूत होगा। बादल चाहे किसानको भूल जाय, किसान सदा निर्निमेष दृष्टिसे बादलकी ओर ही ताकता रहता है। इसी प्रकार हे नाथ! तुम चाहे मेरी रक्षा न करो, मेरा मन सदा तुम्हारे चरणोंमें ही अटका रहेगा। मेरी अभिलाषाके एकमात्र विषय तुम ही हो। जो तुम्हें चाहता है उसे त्रिभुवनकी सम्पत्तिसे कोई मतलब नहीं।'

(४) विप्रनारायण (भक्तपदरेणु)

भगवान्‌की लीला विचित्र है। किसी-किसीपर वे बहुत शीघ्र ढुल जाते हैं और किसी-किसीकी वे बड़ी कठिन परीक्षा लेकर तब उन्हें अपना कृपापात्र बनाते हैं। और जिस प्रकार काँटेको काँटेसे ही निकाला जाता है उसी प्रकार किसी-किसीको मायामुक्त करनेके लिये वे उसपर अपनी मायाका ही प्रयोग करते हैं। विप्रनारायणके साथ उन्होंने तीसरे प्रकारका ही व्यवहार किया था।

विप्रनारायण भगवान्‌की वनमालाके अवतार माने जाते हैं। इनका जन्म एक पवित्र ब्राह्मणकुलमें हुआ था। इन्होंने भलीभाँति वेदाध्ययन कर अपनेको समस्त वेदोंके सारभूत भगवान्‌के चरणोंमें ही सर्वतोभावेन समर्पित कर देना चाहा था। ये भगवान्‌से प्रार्थना करते 'मुझे आपकी कृपाके सामने इन्द्रका पद भी नहीं चाहिये। शास्त्रोंमें मनुष्यकी आयु सौ वर्षकी बतायी गयी है। इसमेंसे आधी आयु तो निद्रामें ही बीत जाती है और आधीमेंसे पन्द्रह वर्ष तो बालकपनकी अज्ञान अवस्थामें निकल जाते हैं और शेष आयु भी भूख-प्यास, काम-क्रोधादि विकारों तथा नाना प्रकारकी व्याधियों और मानसिक कष्टोंमें ही बीतती है। अत: हे नाथ! ऐसी कृपा कीजिये कि मुझे इस संसारमें पुन: जन्म न लेना पड़े और यदि जन्म लेना भी पड़े तो मुझे आपकी सेवाका सुख निरन्तर मिलता रहे।' इस प्रकार मन-ही-मन प्रार्थना करते हुए वे श्रीरंगजीके स्थानको गये और वहाँ अपने-आपको श्रीरंगजीके अर्पणकर विष्णुचित्तकी भाँति मन्दिरके चारों ओर एक सुन्दर बगीचा लगा दिया। वहाँसे फूल ला-लाकर और उनके हार गूँथ-गूँथकर वे भगवान्‌को अर्पण किया करते। वे स्वयं एक वृक्षके नीचे एक मामूली झोंपड़ी बनाकर रहते थे और भगवान् श्रीरंगनाथके प्रसादसे ही जीवननिर्वाह करते थे। संसार उनकी दृष्टिमें मानो था ही नहीं, भगवान् श्रीरंगनाथजी उनके लिये सब कुछ थे। वे कहते—'अहा! जब-जब मैं भगवान्‌को शेषशय्यापर लेटे हुए देखता हूँ, मेरा शरीर प्रेमसे शिथिल हो जाता है।' वे जब इस प्रकार भगवान्‌के ध्यान और भजनमें लीन थे भगवान्‌ने कदाचित् उन्हें शुद्ध करने और उनकी वासनाओंका क्षय करनेके लिये उनकी एक बार बड़ी कठिन परीक्षा ली।

श्रीरंगजीके मन्दिरमें एक बड़ी रूपवती देवदासी रहती थी, जिसके सौन्दर्यपर स्वयं राजा भी मुग्ध थे।

उसका नाम देवदेवी था। एक दिन वह अपनी बहिनको साथ लेकर विप्रनारायणके बगीचेमें आयी और वहाँकी प्राकृतिक शोभाको देखकर दोनों-की-दोनों चमत्कृत हो गयीं। सहसा देवदेवीकी दृष्टि विप्रनारायणपर पड़ी। ये भगवान्का नाम लेते जाते थे और तुलसीके वृक्षोंको सींचते जाते थे। ये अपनी धुनमें इस प्रकार मस्त थे कि उन्होंने देवदेवीकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। उनकी इस उपेक्षासे देवदेवीके मानको बड़ी ठेस पहुँची। उसने सोचा, मेरे जिस अनुपम सौन्दर्यपर राजालोग भी मुग्ध हैं, यह तपस्वी युवा उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता! देवदेवीकी बहिनने कहा—'जिनका चित्त अखिल सौन्दर्यके भण्डार भगवान् नारायणके चरणकमलोंका चंचरीक बन चुका है वे क्या एक नारीके घृणित रूपपर आसक्त हो सकते हैं?' देवदेवीने बड़े गर्वके साथ कहा—'मैं भी देखूँगी कि यह ब्राह्मण-कुमार मेरे रूपपाशमें कैसे नहीं बँधता।' उसकी बहिनने कहा, 'तुम्हारी यह आशा दुराशामात्र है। यदि तुम्हारे रूपका जादू इस ब्राह्मणकुमारपर चल गया तो मैं छः महीनेतक तुम्हारी दासी होकर रहूँगी।' देवदेवीने भी बड़े आत्म-विश्वासके साथ कहा 'यदि मेरा चक्कर इसपर न चल सका तो मैं भी छः महीनेतक तुम्हारी दासी होकर रहूँगी।' इस प्रकार दोनों बहिनोंमें होड़ बद गयी।

उक्त घटनाको कई दिन हो गये। एक दिन अकस्मात् विप्रनारायणने देखा कि उनके सामने एक संन्यासिनी खड़ी है। उन्होंने चकित होकर पूछा, तुम कौन हो और यहाँ क्यों आयी हो? तुम्हारा यहाँ इस प्रकार आना उचित नहीं, अतः शीघ्र लौट जाओ। संन्यासिनीने कहा—'महाराज! एक बार मेरी करुण कथा सुन लीजिये, इसके बाद जैसा उचित समझें करें। मेरी माता मुझे अपनी आबरू बेचकर धन कमानेके लिये बाध्य करती है, किन्तु मेरी इच्छा नहीं है कि मैं अपने जीवनको इस प्रकार कलंकित करूँ; अतः मैं आपकी शरणमें आयी हूँ, आप कृपाकर मुझे आश्रय दीजिये। मैं इसी वृक्षके नीचे पड़ी रहकर आपके बगीचेकी रक्षा करूँगी, भगवान्के लिये सुन्दर हार गूँथकर आपके अर्पण करूँगी और आपकी जूठन पाकर अपना शेष जीवन व्यतीत करूँगी।' सरलहृदय विप्रनारायणको उसकी इस कपटभरी करुण कथाको सुनकर दया आ गयी और उन्होंने उसे अपने बगीचेमें रहनेके लिये अनुमति दे दी।

× × × ×

माघका महीना है। बड़े जोरकी वर्षा हो रही है और साथ-साथ ओले भी गिर रहे हैं। वह दीन-हीन संन्यासिनी बाहर खड़ी ठिठुर रही है, उसकी साड़ी पानीसे तर हो गयी है। उसकी इस दीन दशाको देखकर विप्रनारायणको दया आ गयी, उन्होंने उसे अपनी झोंपड़ीमें बुला लिया और उसे पहननेको सूखे वस्त्र दिये। शास्त्रोंकी आज्ञा है कि पुरुषोंको परस्त्रीके साथ और स्त्रीको परपुरुषके साथ एकान्तवास भूलकर भी नहीं करना चाहिये। ऐसे समय मनका वशमें रहना बड़ा कठिन है। विप्रनारायण उस छद्मवेशिनी संन्यासिनीके चंगुलमें फँस गये। उनकी तपस्या, उनका शास्त्रज्ञान, उनका त्याग, उनका वैराग्य सब कुछ उस वारांगनाकी मोह-सरितामें बह गया!

विप्रनारायण, जो अबतक भगवान्की सेवामें तल्लीन रहते थे, आज एक वेश्याके क्रीतदास हो गये। देवदेवीने अब अपना असली रूप प्रकट कर दिया। वह वापस अपने स्थानको चली गयी और विप्रनारायण प्रतिदिन खिंचे हुए उसके घर जाने लगे। उन्होंने अपना सर्वस्व उसके चरणोंमें न्योछावर कर दिया। उनकी विपुल सम्पत्ति, उनके देवोपम गुण और उनका उदात्त चरित्र सब कुछ स्वाहा हो गया।

परन्तु जिसने एक बार भगवान्के चरणोंका आश्रय ले लिया, भगवान् क्या उसकी उपेक्षा कर सकते हैं? कदापि नहीं। देवदेवीने विप्रनारायणका सब कुछ लूटकर उसे दर-दरका भिखारी बना दिया। जब उनके पास उसकी पूजा करनेको कुछ भी न रहा तो उसने इन्हें दुत्कारकर अपने घरसे बाहर निकाल दिया और लाख गिड़गिड़ानेपर भी भीतर न आने दिया। विप्रनारायण निराश होकर लौट गये, परन्तु उनका देवदेवीके प्रति आकर्षण कम न हुआ।

× × × ×

रात्रिका समय है। देवदेवीने देखा कि कोई बाहर खड़ा हुआ उसके द्वारको खटखटा रहा है। पूछनेपर मालूम हुआ वह विप्रनारायणका सेवक है। उसने कहा—'विप्रनारायणने आपके लिये एक सोनेका थाल भेजा है।' थालको देखकर देवदेवी फूली न समायी। उसने झटसे थालको ले लिया और नौकरसे कहा 'विप्रनारायणजीको

जल्दी मेरे पास भेज दो, मैं उनके लिये व्याकुल हो रही हूँ।' इधर उसी आदमीने विप्रनारायणको जगाकर कहा कि 'जाओ, तुम्हें देवदेवी याद करती है।' इस संवादको सुनकर विप्रनारायणके निर्जीव देहमें मानो प्राण आ गये। वे चारपाईसे उठकर सीधे देवदेवीके यहाँ पहुँचे और देवदेवीने उस दिन उनकी बड़ी आवभगत की! अब हमें यह देखना है कि विप्रनारायणका यह नौकर कौन था।

× × ×

दूसरे दिन सबेरे श्रीरंगजीके मन्दिरमें बड़ी सनसनी फैल गयी। पुजारीने देखा कि 'श्रीरंगजीका सोनेका थाल गायब है।' राज्यके कर्मचारियोंने जाँच-पड़ताल प्रारम्भ की। चोरीका पता लगानेके लिये गुप्तचर भी नियुक्त हुए, अन्तमें वह थाल देवदेवीके यहाँ मिला। देवदेवीने कर्मचारियोंको बतलाया कि यह थाल कल रातको ही उसे विप्रनारायणका नौकर दे गया था। विप्रनारायणने कहा—'मैं तो एक दीन-हीन कंगाल हूँ, मेरे पास नौकर कहाँसे आया। और न मेरे पास इस प्रकारकी मूल्यवान् चीजें ही हैं।' थाल मन्दिरमें पहुँचा दिया गया। देवदेवीको चोरीका माल स्वीकार करनेके लिये राज्यकी ओरसे दण्ड दिया गया और विप्रनारायणको निगलापुरीके राजाकी ओरसे हिरासतमें रखा गया, क्योंकि श्रीरंगम्का मन्दिर निगलापुरीके राजाके अधीन ही था।* राजाकी विप्रनारायणके सम्बन्धमें यह धारणा थी कि वे बड़े अच्छे भक्त हैं, अत: उनकी बुद्धि इस सम्बन्धमें कुछ निर्णय नहीं कर सकी। उन्होंने सोचा, जो विप्रनारायण श्रीरंगनाथजीकी इतनी भक्ति करते हैं क्या वे उन्हींकी वस्तुको इस प्रकार चुरा सकते हैं? इसी अधेड़बुनमें उन्हें नींद लग गयी। स्वप्नमें उन्हें श्रीरंगनाथजीने दर्शन दिये और कहा—'यह सब लीला मैंने अपने भक्तका उद्धार करनेके लिये की है। मैंने ही उनका नौकर बनकर थाल देवदेवीके यहाँ पहुँचाया था। मैं तो सदा ही अपने भक्तोंका अनुचर रहा हूँ। विप्रनारायण बिलकुल निर्दोष हैं, उन्हें वापस अपनी कुटियामें भेज दो, जिससे वे पुन: मेरी भक्ति और सेवामें प्रवृत्त हो जायँ।' राजाको यह स्वप्न देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ, उनका हृदय भगवान्की दयाका स्मरण कर गद्गद हो गया। उन्हें इस बातके लिये बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि मैंने एक भक्तको हिरासतमें रखकर उनका अपमान किया, और उन्हें तुरन्त मुक्त कर दिया।

इस घटनासे विप्रनारायणकी आँखें खुल गयीं, उनके नेत्रोंसे अज्ञानका परदा हट गया। उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये और हृदय पश्चात्तापसे भर गया। वे दौड़े हुए श्रीरंगजीके मन्दिरमें आये और भगवान्के चरणोंमें गिरकर उनकी अनेक प्रकारसे स्तुति और अपनी गर्हणा करने लगे। उन्होंने कहा—'प्रभो! मैं बड़ा नीच हूँ, बड़ा पतित हूँ; बड़ा पापी हूँ; फिर भी आपने मेरी रक्षा की। आपने मेरे इस वज्र-हृदयको भी पिघला दिया। मैंने अबतक अपना जीवन व्यर्थ ही खोया, मेरा हृदय बड़ा कलुषित है। मेरी जिह्वाने आपके मधुर नामका परित्याग कर दिया, मैंने सत्य और सदाचारको तिलांजलि दे दी, मैंने स्वयं अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मारी और एक स्त्रीके रूपजालमें फँस गया। मैं अब इसीलिये जीवन धारण करता हूँ जिससे तुम्हारी सेवा कर सकूँ। मैं जानता हूँ तुम अपने सेवकोंका कदापि परित्याग नहीं करते। मैं जनताकी दृष्टिसे गिर गया, मेरी सम्पत्ति जाती रही। संसारमें तुम्हारे सिवा कोई नहीं। हे पुरुषोत्तम! अब मैंने तुम्हारे चरणोंको दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया है। तुम्हीं मेरे माता-पिता हो, तुम्हारे सिवा मेरा कोई रक्षक नहीं है। हे जीवनधन! अब मुझे तुम्हारी कृपाके सिवा और किसीका भरोसा नहीं है।' इसी समयसे विप्रनारायणका जीवन पलट गया, वे दृढ़ वैराग्यके साथ भगवान्की भक्तिमें लग गये। उन्होंने अपना नाम 'भक्तपदरेणु' रखा और बड़ी श्रद्धाके साथ भक्तोंकी सेवा करने लगे। उनकी वाणी निरन्तर भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन करने लगी। इधर देवदेवीको भी अपने पापमय जीवनसे घृणा हो गयी, उसने अपनी सारी सम्पत्ति मन्दिरकी भेंट कर दी और स्वयं सब कुछ त्यागकर श्रीरंगजीकी सेवा करने लगी। इस प्रकार भक्तपदरेणु और उनकी प्रेयसी देवदेवी दोनों भगवान्के परमभक्त हो गये।

(५) मुनिवाहन (तिरुप्पनाळवार)

तिरुप्पनाळवार जातिके अन्त्यज माने जाते थे। वे एक धानके खेतमें पड़े हुए मिले थे, जहाँसे उन्हें एक अस्पृश्य मनुष्य उठा ले आया था और उसीके द्वारा

* निगलापुरी या उरेयूर त्रिचिनापल्लीके निकट है और किसी समय यह बहुत बड़ा नगर था।

इनका लालन-पालन हुआ। यह अस्पृश्य गानविद्यामें बड़ा निपुण था। बालक मुनिवाहनने भी उससे बहुत जल्दी ही संगीतका ज्ञान प्राप्त कर लिया और वीणा बजाना सीख लिया। परन्तु वीणापर वे भगवान्‌के नामके अतिरिक्त और कुछ नहीं गाते थे उनका हृदय भगवान्‌के नामसे जितना आकर्षित होता था। उतना और किसीसे आकर्षित नहीं होता था। उन्हें भगवान् श्रीरंगनाथके दर्शनकी बड़ी उत्कण्ठा हुई, परन्तु नियमानुसार उनका मन्दिरमें प्रवेश नहीं हो सकता था। उन्होंने आजकलकी भाँति मन्दिरप्रवेशके लिये सत्याग्रह नहीं किया। वे निशुलापुरी नामक अछूतोंकी बस्तीको छोड़कर श्रीरंगक्षेत्रमें चले आये, जिस प्रकार यवन हरिदास जगन्नाथपुरीमें रहने लगे थे। उन्होंने कावेरीके दक्षिणतटपर एक छोटी-सी झोंपड़ी बना ली और वहाँ रहकर भगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन और उनके स्वरूपका ध्यान करने लगे। उत्सवोंके दिनोंमें जब भगवान् श्रीरंगनाथकी सवारी निकलती तो वे दूरसे ही उनके श्रीविग्रहका दर्शन कर लिया करते थे। उस समय उनके हृदयकी विचित्र दशा हो जाया करती थी और उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी झड़ी लग जाया करती थी। उनके मनमें इस बातकी तीव्र अभिलाषा थी कि वे भगवान्‌के मन्दिरमें जाकर उनका दर्शन करें। किन्तु वे बड़े विनयी, दीन और सौम्य स्वभावके थे। अछूत माने जानेके कारण न तो कोई उनके पास जाता था और न वे ही किसीके पास जानेका साहस करते थे। किन्तु वे इस अवस्थामें बड़े सुखी थे। वे जन-संसर्गसे अपने-आप ही मुक्त हो गये थे, जिसके लिये लोग बड़ा प्रयत्न किया करते हैं। उनके मनमें एकमात्र अभिलाषा यही थी कि जिस-किसी प्रकारसे उन्हें भगवान् नारायणके दर्शन प्राप्त हों। 'नारायण' शब्दके अतिरिक्त उनके मुँहसे और कोई शब्द निकलता ही न था। वे मस्त होकर गाया करते और कहते—'इन नेत्रोंने जब एक बार श्रीरंगनाथके मुखारविन्दका दर्शन कर लिया तो अब इन्हें और कोई वस्तु सुहाती ही न थी। श्रीरंगनाथने मेरे हृदयको चुरा लिया। अहा! उनकी शोभाका क्या वर्णन करूँ। उन्होंने मेरे हृदय और मनपर पूरा अधिकार कर लिया है।' वे बहुधा श्रीरंगजीके मन्दिरके समीप चले जाते परन्तु भीतर प्रवेश नहीं करते। वे सबेरे तीन बजे उठते और चुपचाप मन्दिरके सामने जाकर उस रास्तेको साफ करते जिस रास्तेसे भक्तलोग अपने इष्टदेवका दर्शन करने आया करते थे। एक दिन किसी ब्राह्मणकी उनपर दृष्टि पड़ गयी, जिससे वे इनपर बहुत बिगड़े और कहा कि तूने अन्त्यज होकर मन्दिरके समीप आनेका साहस क्योंकर किया? परन्तु भक्त मुनिवाहनको इस बातसे तनिक भी दु:ख नहीं हुआ। वे चुपचाप अपनी झोंपड़ीमें चले गये और भगवान् रंगनाथका और भी तत्परताके साथ गुणगान करनेमें लग गये। वे संसारको एकदम भूल गये और उन्हें एक प्रकारकी प्रेमसमाधि लग गयी। इतनेमें ही एक महात्मा अकस्मात् उनकी झोंपड़ीमें चले आये। उन्हें देखते ही भक्त मुनिवाहन उनके चरणोंपर गिर पड़े। वे सोचने लगे क्या मैं यह कोई स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ, और मारे हर्षके उनका गला भर आया। वे कुछ बोल न सके। इतनेहीमें आगन्तुक महात्मा बोल उठे—'भैया! मैं भगवान् श्रीरंगनाथका एक तुच्छ सेवक हूँ। मुझे सारंगमा मुनि कहते हैं। भगवान्‌ने मुझे आज्ञा दी है कि तुम मेरे भक्तको कन्धेपर चढ़ाकर बड़े आदरपूर्वक मेरे पास ले आओ। इसलिये हे भक्तवर! तुम मेरे कन्धेपर चढ़ जाओ और मुझे अपने चरणस्पर्शसे कृतार्थ करो।' भक्तने सोचा, 'आज मैं यह क्या सुन रहा हूँ?' वे कहने लगे—'कहाँ मैं नीच अन्त्यज और कहाँ आप उच्च कुलके ब्राह्मण! मैं तो आपकी छायाका भी स्पर्श नहीं कर सकता, बल्कि मन्दिरकी सड़कके पास जानेका भी मुझे अधिकार नहीं है। फिर मैं आपके कन्धेपर सवार होकर श्रीरंगनाथके दर्शन करने जाऊँ, इससे बढ़कर मेरे लिये पापकी और कौन-सी बात हो सकती है? प्रभो! आपकी क्या मर्जी है?'

सारंगमा मुनिने और कुछ भी न कहकर भक्तको अपने कन्धेपर बिठा लिया और श्रीरंगजीके मन्दिरकी ओर चल दिये। अहा! अब भक्त मुनिवाहनके आनन्दका क्या ठिकाना, वे भगवान्‌के प्रेममें विभोर हो गये। उनकी वही दशा थी जैसी किसी अन्धेकी नेत्र मिल जानेपर होती है, अथवा किसी वन्ध्याकी पुत्र उत्पन्न होनेपर होती है अथवा किसी सूमकी खोया हुआ धन मिल जानेपर होती है। सारंगमा मुनि इन्हें कन्धेपर चढ़ाकर ले गये, तभीसे इनका नाम मुनिवाहन पड़ गया। ये भगवान् श्रीरंगनाथका दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये और उनकी स्तुति करने लगे, और कहने लगे—'प्रभो! आपने मेरे कर्मकी बेड़ियोंको काट दिया और

मुझे अपना जन बना लिया। आज आपके दर्शन प्राप्तकर मेरा जन्म सफल हो गया।' इस प्रकार वे बहुत देरतक आनन्दसे मग्न होकर भगवान्‌की स्तुति करते रहे, स्तुति करते-करते उनका गला भर आया और वाणी रुक गयी। उनका शरीर नक्षत्रकी भाँति चमकने लगा। लोगोंने देखा उनके मस्तकपर भगवान्‌का चरण रखा हुआ है और चारों ओर दिव्य प्रकाश छाया हुआ है। बड़ा अद्‌भुत दृश्य था। मुनिवाहन सबके देखते-देखते उस दिव्य प्रकाशमें लीन हो गये। मुनिवाहन श्रीवत्सके अवतार माने जाते हैं।

(६-७-८) पोयगै आळवार, भूतत्ताळवार और पेयाळवार

जहाँ भगवान्‌के प्रेमी भक्त एक जगह बैठकर भगवान्‌की चर्चा करते हैं वहाँ भगवान् अवश्य प्रकट होते हैं। यहाँ हम तीन अत्यन्त प्राचीन आळवारोंका परिचय देंगे जो ज्ञान और भक्तिकी सजीव मूर्ति थे। इनके बनाये हुए लगभग तीन सौ भजन मिलते हैं, जिन्हें लोग ऋग्वेदका सार मानते हैं। इनमेंसे पहलेका नाम सरोयोगी अथवा पोयगै आळवार था। इनका जन्म कांचीनगरीमें हुआ था, जो उन दिनों विद्याका एक प्रधान केन्द्र था। ये पाञ्चजन्यके अवतार माने जाते हैं। भूतत्ताळवारका जन्म महाबलीपुरमें हुआ था और उन्हें लोग भगवान्‌की गदाका अवतार मानते हैं। पेयाळवारका जन्म मद्रासके मैलापुर नामक स्थानमें हुआ था। इन्हें लोग भगवान्‌के खड्‌गका अवतार कहते हैं। ये लोग जन्मसे ही संत थे, इनका जीवन बड़ा पवित्र एवं निष्कलंक था। ये तीनों-के-तीनों ज्ञानके भण्डार थे और पराविद्यामें निष्णात थे। वे यदि चाहते तो उन्हें राजाकी ओरसे बहुत अधिक सम्मान प्राप्त होता; परन्तु वे धन, मान अथवा कीर्तिके लोभी नहीं थे। उन्हें भगवान्‌के चरणोंको छोड़कर और किसी वस्तुकी आकांक्षा ही नहीं थी। उनकी किसी स्थानविशेषपर ममता नहीं थी, वे एक जगह अधिक दिन नहीं रहते थे और प्रसिद्ध-प्रसिद्ध तीर्थोंका दर्शन करते हुए तथा भगवान्‌का गुण गाते हुए भिन्न-भिन्न स्थानोंमें घूमा करते थे।

एक बार ये तीनों संत तिरुक्कोईलूर नामक क्षेत्रमें गये। उस समयतक ये लोग एक-दूसरेसे परिचित नहीं थे। मन्दिरमें भगवान्‌की पूजा करके रात्रिके समय सरोयोगी एक भक्तकी कुटियामें आकर लेट गये। रात अँधेरी थी और कुटिया बहुत छोटी थी। वे पड़े-पड़े भगवान्‌का ध्यान कर रहे थे कि इतनेमें बाहरसे आवाज आयी—'भीतर कौन है? क्या मुझे भी रातभरके लिये आश्रय मिल सकता है?' भला, भक्त किसी शरणागतकी प्रार्थनाको टाल सकते हैं। सरोयोगीने उत्तर दिया—'अवश्य मिल सकता है। इस कुटियामें इतना स्थान है कि एक आदमी मजेमें लेट सकता है और दो आदमी बैठ सकते हैं; आओ, हमलोग दोनों बैठ रहें।' यों कहकर दोनों मनुष्य बैठकर भगवत्-चर्चा करने लगे। इतनेमें ही बाहरसे एक आदमीकी आवाज़ फिर आयी और उसने भी वही प्रश्न किया जो दूसरेने किया था। सरोयोगीने कहा—'तुम भी आ सकते हो, इस कुटियामें इतना स्थान है कि एक आदमी लेट सकता है, दो आदमी बैठ सकते हैं और तीन खड़े रह सकते हैं।' इसपर तीनों मनुष्य खड़े होकर भगवान्‌का ध्यान करने लगे। इतनेहीमें तीनोंने ऐसा अनुभव किया मानो उनके बीचमें कोई चौथा मनुष्य और आ गया है, परन्तु उन्हें कोई दिखायी नहीं दिया। वे मन-ही-मन सोचने लगे—'यह क्या बात है? यह चौथा व्यक्ति हमारे बीचमें कौन आ गया?' तब इन्होंने ध्यानके नेत्रोंसे देखा तो इन्हें मालूम हुआ कि साक्षात् भगवान् नारायण ही उनके बीचमें उतर आये हैं। देखते-देखते कुटियामें महान् प्रकाश छा गया और वे तीनों-के-तीनों एक ही साथ भगवान्‌का दर्शन प्राप्तकर आनन्दसे मुग्ध हो गये। उन्हें शरीरकी कुछ भी सुध-बुध न रही। भगवान् नारायणने उनसे कहा 'वर माँगो।' इसपर तीनों-के-तीनों उनके चरणोंपर गिर पड़े और भगवान्‌से यही प्रार्थना करने लगे कि 'प्रभो! तुम्हारा गुणगान कभी न छूटे, हम आपसे यही वरदान माँगते हैं।' इसपर भगवान्‌ने उत्तर दिया—'मेरे प्यारे भक्तो! तुम लोगोंने मुझे अपने प्रेमपाशसे बाँध रखा है, अत: मैं तुम्हारे हृदयको छोड़कर कहाँ जा सकता हूँ? अब तुमलोग जीवोंको मेरे प्रेमका महत्त्व बताओ, इस लोकका कार्य पूराकर वैकुण्ठमें चले आना।' उसी समय इन तीनों आळवारोंने भगवान् नारायणकी महिमाके सौ-सौ पद रचे जिन्हें—'ज्ञानका प्रदीप' कहते हैं, जिसके कुछ पद्योंका भाव नीचे दिया जाता है।

'भगवान्‌के सदृश और कोई वस्तु संसारमें नहीं है, सारे रूप उसीके हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, दिशाएँ, नक्षत्र और ग्रह, वेद एवं वेदोंका तात्पर्य,

सब कुछ वही हैं। अत: उन्हींके चरणोंकी शरण ग्रहण करो, मनुष्य-जन्मका साफल्य इसीमें है। वे एक होते हुए भी अनेक बने हुए हैं। उन्हींके नामका उच्चारण करो। तुम धनसे सुखी नहीं हो सकते, उनकी कृपा ही तुम्हारी रक्षा कर सकती है। वही ज्ञान हैं, वही ज्ञेय हैं और वही ज्ञानके द्वार हैं। उन्हींके तत्त्वको समझो। भटकते हुए मन और इन्द्रियोंको काबूमें करो, एकमात्र उन्हींकी इच्छा करो और उन्हींकी अनन्य भावसे उपासना करो। वे भक्तोंके लिये सगुण मूर्ति धारण करते हैं। जिस प्रकार लता किसी वृक्षका आश्रय ढूँढ़ती है उसी प्रकार मेरा मन भी भगवान्‌के चरणोंका आश्रय ढूँढ़ता है। उनके प्रेममें जितना सुख है उतना इन अनित्य विषयोंमें कहाँ। हे प्रभो! अब ऐसी कृपा कीजिये कि मेरी वाणी केवल तुम्हारा ही गुण-गान करे, मेरे हाथ तुम्हींको प्रणाम करें, मेरे नेत्र सर्वत्र तुम्हारे ही दर्शन करें, मेरे कान तुम्हारे ही गुणोंका श्रवण करें, मेरे चित्तके द्वारा तुम्हारा ही चिन्तन हो और मेरे हृदयको तुम्हारा ही स्पर्श प्राप्त हो।'

(९) भक्तिसार (तिरुमड़िसै आळवार)

दक्षिणमें तिरुमड़िसै (महीसरपुर) नामका एक प्रसिद्ध तीर्थ है। वहाँ कई महर्षियोंने तपस्या की है। इन्हीं तपस्वियोंमें भार्गव नामके एक महान् विष्णुभक्त भी हो गये हैं। इनकी पत्नीका नाम कनकावती था, जो इनकी तपस्यामें बड़ी सहायता करती थी। इन्हें भक्तिसार नामका एक पुत्ररत्न प्राप्त हुआ। तिरुमड़िसैमें उत्पन्न होनेके कारण इन्हें लोग तिरुमड़िसै आळवार कहने लगे। इनके माता-पिताने इनको सरकंडोंके वनमें छोड़ दिया। कहते हैं, स्वयं महालक्ष्मीने इन्हें अपना दुग्ध पान कराया। दैवयोगसे तिरुवाड़न नामका व्याध और उसकी पत्नी पंकजवल्ली दोनों उस स्थानमें सरकंडे काटनेके लिये उधर आ निकले, उनकी दृष्टि उस बालकपर पड़ी और उन्होंने उसे भगवान्‌की देन समझकर उठा लिया और अपने घर ले आये। उनके कोई सन्तान नहीं थी, इसलिये उन्होंने उस बालकको अपने ही बालकके रूपमें पाला-पोसा और उसका नाम भक्तिसार रखा। इस बालकमें यह विशेषता थी कि वह किसी भी स्त्रीका स्तनपान नहीं करता था। एक वृद्ध मनुष्यने इस बालककी आकृति देखकर पहचान लिया कि यह कोई असाधारण बालक है और उसे गायका दूध पिलाने लगा। बालकके पीनेके बाद जो दूध कटोरेमें बचा रहता उसे यह वृद्ध मनुष्य और उसकी पत्नी दोनों पी जाते। इस प्रसादके प्रभावसे उन्हें भी कनिकन्नन् नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ये कनिकन्नन् भक्तिसारके प्रधान शिष्य हुए।

भक्तिसार अलौकिक प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। उन्होंने थोड़ी ही अवस्थामें प्राय: सभी धार्मिक ग्रन्थ पढ़ डाले और वेदान्तदर्शन, मीमांसादर्शन, बौद्धदर्शन एवं जैनदर्शन, सभीका अभ्यास किया। इन्हें भगवान् नारायणकी शरणसे ही परमानन्दकी प्राप्ति हुई। वे भगवान्‌से इस प्रकार प्रार्थना किया करते—'हे प्रभो! मुझे इस जन्म-मरणके चक्करसे छुड़ाओ। मैंने अपनी इच्छाको तुम्हारी इच्छाके अन्दर विलीन कर दिया है, मेरा चित्त सदा तुम्हारे चरणोंका ध्यान किया करता है। तुम्हीं आकाश हो, तुम्हीं पृथ्वी हो और तुम्हीं पवन हो। तुम्हीं मेरे स्वामी हो, तुम्हीं मेरे पिता हो। तुम्हीं मेरी माता हो और तुम्हीं मेरे रक्षक हो। तुम्हीं शब्द हो और तुम्हीं उसके अर्थ हो। तुम वाणी और मन दोनोंके परे हो। यह जगत् तुम्हारे ही अन्दर स्थित है और तुम्हारे ही अन्दर लीन हो जाता है। तुम्हारे ही अन्दर सारे भूतप्राणी उत्पन्न होते हैं, तुम्हारे ही अन्दर चलते-फिरते हैं और फिर तुम्हारे ही अन्दर लीन हो जाते हैं। दूधमें घीकी भाँति तुम सर्वत्र विद्यमान हो।'

गजेन्द्रसरोवरके तटपर इन्होंने कई वर्षतक ध्यानयोगका अभ्यास किया। उन्हीं दिनों एक दिन देवता इनके सामने आये और इनसे कहा कि वर माँगो। इन्होंने देवतासे पूछा—'क्या आप हमें मुक्ति दे सकते हैं?' देवताने कहा—'नहीं।' 'तो क्या आप किसीकी मृत्युको टाल सकते हैं?' देवताने फिर कहा—'नहीं।' इसपर इन्होंने कहा—'फिर आप क्या कर सकते हैं?' इसपर देवता भक्तिसारसे रुष्ट होकर चले गये, परन्तु वे इनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सके। इस प्रकार साधकोंके साधनमें विघ्न डालनेके लिये बहुत बार उपदेवता आया करते हैं। साधकको चाहिये कि उनकी कुछ भी परवा न करके भक्तिसारकी भाँति अपने लक्ष्यपर स्थिर रहे।

इनके अन्दर अहंकारका लेश भी नहीं था। इनके बनाये हुए पदोंके कारण जब इनकी प्रसिद्धि बढ़ने लगी तो इन्होंने एक दिन अपने पदोंकी सारी पोथियाँ कावेरी नदीमें डाल दीं। और सब पुस्तकें तो नदीके प्रवाहमें बह गयीं, केवल दो पुस्तकें बच रहीं। कहते हैं, ये

पुस्तकें प्रवाहके साथ न बहकर अपने-आप किनारेकी तरफ लौट आयीं। उनके कुछ उपदेशोंका सार नीचे दिया जाता है—'मुक्ति भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त होती है। भगवान्‌की कृपाको प्राप्तकर मनुष्य अजेय हो जाता है। भगवत्प्रेम ही मनुष्यके लिये सबसे बड़ी सम्पत्ति है। भगवान् ही वेदोंके सार हैं। पूजा और स्तुतिके योग्य एकमात्र भगवान् नारायण ही हैं। वही संसारके आदि कारण हैं। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों वही हैं। नारायण ही सब कुछ हैं, नारायण ही हमारे सर्वस्व हैं।'

(१०) नीलन् (तिरुमंगैयाळवार)

किसी जंगली हरिनको फँसानेके लिये पालतू हरिनकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार जगद्गुरु भगवान् नारायण भी भक्तोंके द्वारा ही जीवोंका उद्धार करते हैं। भगवान् जाति, कुल, विद्या आदिका विचार नहीं करते। वे तो केवल प्रेमसे ही वशीभूत होते हैं। नीलन् (तिरुमंगैयाळवार) का जन्म चोलदेशके किसी ग्राममें एक शैव घरानेमें हुआ था। इनके पिता बहुत बड़े योद्धा थे। पिताने इन्हें युद्धविद्यामें भलीभाँति निपुण कर दिया। ये बाण चलानेमें, घोड़ेकी सवारी करनेमें तथा सेनाका नेतृत्व करनेमें बड़े कुशल हो गये। चोलदेशके राजाने इनकी वीरतापर प्रसन्न होकर इन्हें अपने सेनानायकके पदपर प्रतिष्ठित किया। जिस समय नीलन् सेना लेकर किसी शत्रुपर आक्रमण करते तो लोगोंके मनमें यह निश्चय हो जाता कि विजय इन्हींके पक्षमें होगी। राजाने इन्हें कुछ भूमि भी प्रदान की। यद्यपि इनकी अध्यात्मकी ओर रुचि थी, तथापि वह रुचि उस राजसी जीवनके कारण एक प्रकार दब-सी गयी थी।

× × ×

दक्षिणके तिरुवालि नामक क्षेत्रमें कुमुदवल्ली नामकी एक कुमारी कन्या रहती थी। जिस प्रकार विष्णुचित्तने आण्डालका पालन-पोषण किया था उसी प्रकार इसका लालन-पालन भी किसी भक्तके द्वारा ही हुआ था। यह कुमारी तिरुवालिके मन्दिरमें स्थित भगवान् नारायणकी बड़ी भक्त थी। वह देखनेमें भी बड़ी सुन्दर थी। बड़े-बड़े राजालोग उसका पाणिग्रहण करनेके लिये लालायित थे, परन्तु उसने किसीके साथ विवाह करना स्वीकार नहीं किया। जब नीलन्‌ने यह समाचार सुना तो उनके मनमें भी उस बालिकाके प्रति बड़ा आकर्षण हुआ। उन्होंने कुमुदवल्लीके पिताके पास जाकर उनसे अपने हृदयका भाव कहा। पिताने इस विषयमें कुमुदवल्लीकी राय पूछी। कुमुदवल्लीने कहा—'मेरा विवाह किसी विष्णुभक्तसे ही हो सकता है।' नीलन्‌ने यह शर्त मंजूर कर ली। वे तुरन्त किसी वैष्णव आचार्यके पास गये और उनसे दीक्षा लेकर चले आये। कुमुदवल्लीने कहा—'केवल बाह्य परिवर्तन काफी नहीं है, यदि तुम्हें मुझसे विवाह करना है तो अपनी वैष्णवताका क्रियात्मक परिचय देना होगा। तुम्हें एक सालतक प्रतिदिन एक हजार आठ भक्तोंको भोजन कराकर मुझे उनका प्रसाद लाकर देना होगा।' नीलन्‌ने कुमुदवल्लीकी यह दूसरी शर्त भी मंजूर कर ली और शर्तके अनुसार दोनोंका विवाह हो गया।

इसी प्रकार प्रतिदिन हजारसे ऊपर ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे उनके अन्दर बड़ा परिवर्तन हो गया। उनका चित्त निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करने लगा। उनके नेत्रोंसे अज्ञानका परदा हट गया। अपनी भक्तिमती पत्नीके संगके प्रभावसे वे भी भगवान् नारायणके अनन्य भक्त हो गये। उन्होंने सोचा, मेरी सारी सम्पत्ति और शक्ति भक्तोंकी चरणधूलिके समान भी नहीं है। यह विचारकर वे बड़े प्रेमसे भक्तोंकी सेवामें लग गये और प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें उन्हें भोजन कराने लगे। यहाँतक कि उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति इसी काममें लगा दी और उनके पास कुछ भी नहीं बचा।

परन्तु फिर भी उन्होंने भक्तोंको भोजन करानेका काम बन्द नहीं किया। उन्होंने अपने मनमें यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि चाहे हम भूखों मर जायँ किन्तु इस सेवाके कार्यको नहीं छोड़ सकते, भगवान् नारायण हमारी रक्षा करेंगे। उन्होंने चोलदेशके राजाको वार्षिक कर देनेके लिये जो रुपया बचा रखा था वह भी इसी काममें खर्च हो गया। महीनों बीत गये, राजाके कोषमें नीलन्‌का कर नहीं पहुँचा। अब लोगों को उनके विरुद्ध राजाके कान भरनेका अच्छा मौका हाथ लगा। राजाने उन्हें गिरफ्तार करनेके लिये एक बहुत बड़ी सेना भेजी। नीलन्‌ने बड़ी वीरताके साथ राजकीय सेनाका मुकाबला किया और उसे भगा दिया। तब राजा स्वयं बहुत बड़ी सेना लेकर आये। परन्तु नीलन् फिर भी बड़ी निर्भीकताके साथ युद्ध करता रहा। राजा उसकी वीरताको देखकर दंग रह गये और उन्होंने उसके सामने सन्धिका प्रस्ताव

भेजा। जब वे राजाके सामने आये तो राजाने उनसे कहा कि तुमने सेनापति होकर मेरी ही सेनाके साथ युद्ध किया, यह उचित नहीं था; फिर भी तुम्हारे इस अपराधको मैं क्षमा करता हूँ, किन्तु तुम्हें अपना वार्षिक कर तो भरना ही होगा और जबतक तुम्हारा कर राज्यके कोषमें जमा न हो जाय तबतक तुम्हें मेरे कारागारमें बन्दी होकर रहना होगा।

नीलन् राजाके कारागारमें बन्द हो गये। परन्तु उन्होंने यह प्रण कर लिया था कि मैं भगवान्के भक्तोंको भोजन कराकर ही उनका प्रसाद ग्रहण करूँगा। और भोजन करानेकी व्यवस्था जेलमें हो नहीं सकती थी, इसलिये उन्होंने वहाँपर अन्न, जल कुछ भी नहीं लिया। उनके इस व्रतको देखकर भगवान् प्रसन्न हो गये। उन्होंने नीलन्को स्वप्नमें दर्शन देकर कहा— 'कांचीनगरीमें वेगवती नदीके तटपर अमुक स्थानमें विपुल सम्पत्ति गड़ी हुई है, उस सम्पत्तिको स्वायत्तकर उससे अपना सेवाका कार्य चालू रख सकते हो।' नीलन्ने राजासे कहला भेजा कि मैं कांचीनगरीमें जाकर अपना कर चुका दूँगा। राजाने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और उन्हें कई अधिकारियोंके साथ कांची भेज दिया। नीलन्को निर्दिष्ट स्थानमें अपार सम्पत्ति प्राप्त हो गयी, जिससे उन्होंने व्याजसहित राजाका कर भी चुका दिया और भक्तोंको भोजन करानेका कार्य फिरसे शुरू कर दिया। कांचीमें भगवान् वरदराजने नीलन्को दर्शन दिये और चोलदेशके राजाको यह निश्चय हो गया कि नीलन् कोई साधारण मनुष्य नहीं है, वे भगवान्के बड़े भक्त और कृपापात्र हैं और भगवान् सदा उनकी रक्षा करते हैं। राजा स्वयं भक्तके पास आये और उनके चरणोंपर गिरकर उनसे क्षमा माँगने लगे। जो रुपया करके रूपमें उनसे वसूल किया गया था वह भी उन्होंने लौटा दिया और कहा कि इसे अपने पवित्र काममें लगा देना।

नीलन्ने अब और भी अधिक उत्साहके साथ भक्तोंको भोजन करानेका कार्य प्रारम्भ कर दिया। भोजन करनेवालोंकी संख्या प्रतिदिन बढ़ती जाती थी। भगवान्की कृपासे इन्हें जो कुछ धन प्राप्त हुआ था वह भी खर्च हो गया और भक्त पहलेकी भाँति फिर कंगाल हो गये। परन्तु कुमुदवल्ली और नीलन्ने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। जबतक उन्हें भक्तोंका प्रसाद नहीं मिल जाता तबतक वे अन्न-जल कैसे ग्रहण करते, परन्तु भक्तोंको भोजन करानेके लिये धन कहाँसे आता। अन्तमें नीलन्ने सोचा 'मैं एक बलवान् सिपाही हूँ। धनवानोंको क्या अधिकार है कि वे आवश्यकतासे अधिक धन अपने पास बटोरकर रखें और हजारों मनुष्य निर्धन होकर उनका मुँह ताका करें। अच्छा, मैं इन लोगोंको लूटकर इनके अन्यायोपार्जित धनको दरिद्रोंमें बाँट दूँगा, तब इन लोगोंकी आँखें खुलेंगी।' यह कहकर उन्होंने डाकुओंका एक बहुत बड़ा गिरोह बनाया और दिन-दहाड़े अमीरोंको लूटना शुरू कर दिया। परन्तु वे लूटके मालमेंसे अपने पास एक पैसा भी नहीं रखते थे, सारा-का-सारा भक्तोंको बाँट देते।

नीलन्का उद्देश्य अच्छा होनेपर भी उनका यह कार्य कदापि अनुमोदनीय नहीं था। भगवान्ने जब देखा कि मेरा भक्त विपरीत मार्गपर चल रहा है तो उन्होंने उसे रास्तेपर लाकर अपने लक्ष्यपर स्थिर करनेका विचार किया।

× × × ×

आज नीलन्को गहरा माल हाथ लगनेवाला है। सामनेसे एक बहुत बड़ा अमीर गहनोंसे लदी हुई अपनी पत्नीके साथ आ रहा है। ज्यों ही वह दम्पती निकट पहुँची, नीलन्के दलने उसे घेर लिया और कहा कि भगवान्के नामपर अपना सारा मालमता हमारे सुपुर्द कर दो, नहीं तो अपनी जानसे भी हाथ धो बैठोगे। यों कहकर उन्होंने उस अमीरकी स्त्रीके सारे गहने छीन लिये। उनके सामने सोने और जवाहरातका ढेर लग गया। परन्तु गठरी इतनी भारी हो गयी कि वह किसीके उठाये न उठी। सब-के-सब अपना-अपना जोर लगाकर हार गये, किन्तु वह गठरी टस-से-मस न हुई। अब तो नीलन्के मनमें कुछ सन्देह हुआ कि अवश्य ही इसमें कोई जादू है। उन्होंने उस अमीरसे कहा कि 'अवश्य ही तुमने किसी मन्त्रके बलसे इस गठरीको भारी बना दिया है; अतः या तो वह मन्त्र मुझे बताओ, नहीं तो मैं तुम्हें यहाँसे जाने न दूँगा।' अमीरने नीलन्को अलग ले जाकर उसके कानमें '**ॐ नमो नारायणाय**' यह अष्टाक्षर मन्त्र पढ़ दिया। उस मन्त्रके कानमें पड़ते ही नीलन्के शरीरमें मानो बिजली-सी दौड़ गयी। वह उस मन्त्रका उच्चारण करते हुए नाचने लगे। इतनेमें ही उन्होंने देखा कि न तो वह दम्पती है और न वह धनका ढेर ही है। अब तो नीलन्के आश्चर्यका ठिकाना न

रहा। उन्होंने आँख उठाकर ऊपरकी ओर देखा तो उनके नेत्र वहीं अटक गये। उन्होंने देखा कि साक्षात् भगवान् नारायण लक्ष्मीजीके सहित गरुड़पर सवार होकर आकाशमार्गसे जा रहे हैं। अब तो नीलन्‌को सारा रहस्य मालूम हो गया। वे मन-ही-मन पछताने लगे और कहने लगे कि 'मैं कैसा दुष्ट और पापी हूँ कि मुझे इस पापकर्मसे बचानेके लिये साक्षात् मेरे इष्टदेव और इष्टदेवीको इतना कष्ट उठाना पड़ा। हाय! मैंने अपने इन पापी हाथोंसे उनके शरीरपर हाथ लगाया, उन्हें डराया-धमकाया और उन्हें मारनेपर उतारू हो गया। हाय! मैं कितना नीच हूँ। किन्तु साथ ही, अहा! मेरे स्वामी कितने दयालु हैं! प्रभो! मेरे अपराधोंको क्षमा कीजिये और मुझे अपनी शरणमें लीजिये। प्रभो! आज तुमने मुझे बचा लिया। प्रभो! मैंने तुम्हारे साथ कितने अत्याचार किये, परन्तु तुमने मेरे अपराधोंकी ओर न देखकर मेरी रक्षा की।' उनकी इस आत्मग्लानिको सुनकर ऊपरसे आवाज आयी—'मेरे प्यारे नीलन्! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, तुम किसी प्रकारकी ग्लानि मनमें न लाओ। अब तुम श्रीरंगम् जाकर वहाँके मन्दिरको पूर्ण करवाओ और अपने भजनरूपी हारोंसे मेरी पूजा करो। जबतक जिओ मेरी भक्ति और प्रेमका प्रचार करो और शरीरत्याग करनेपर मेरे धाममें मुझसे मिलो।'

उसी दिनसे नीलन्‌का जीवन पलट गया। उन्हें वह मन्त्र मिल गया जिससे उनके सारे पाप धुल गये। उन्होंने भगवान् विष्णुकी स्तुतिके हजारों पद बनाये, जिन्हें लोग 'महावाक्य' कहते हैं। ये भगवान्‌के शार्ङ्गधनुषके अवतार माने जाते हैं। इन्होंने लाखों रुपये लगाकर भगवान् श्रीरंगजीके मन्दिरको पूर्ण करवाया। ये भगवान्‌की दास्यभावसे उपासना करते थे और इनके जीवनका प्रत्येक क्षण भगवान्‌की सेवामें बीतता था। ये प्रसिद्ध शैवाचार्य श्रीज्ञानसम्बन्धके समसामयिक थे और वे भी इनके पदोंका बड़ा आदर करते थे। इन्होंने एक बार बौद्धोंको शास्त्रार्थमें हराकर विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तकी स्थापना की थी।

(११) मधुर कवि आळवार

मधुर कवि गरुड़के अवतार माने जाते हैं। इनका जन्म तिरुक्कोळूर नामक स्थानमें एक सामवेदी ब्राह्मणकुलमें हुआ था। ये वेदके बड़े अच्छे ज्ञाता थे; परन्तु इन्होंने सोचा कि प्रेम, भक्ति और तत्त्वबोधके बिना विद्या किसी कामकी नहीं। ऐसा विचारकर इन्होंने सब कुछ त्याग दिया और अकेले तीर्थयात्राके लिये निकल पड़े। इनके मनमें भगवत्प्रकाश प्राप्त करनेकी बड़ी अभिलाषा थी। इसी उद्देश्यसे ये अयोध्या, मथुरा, काशी आदि अनेक तीर्थस्थानोंको गये। एक दिन जब ये गंगातटपर विचर रहे थे इन्हें दक्षिणकी ओर एक बड़ा दिव्य प्रकाश दिखायी दिया। वह प्रकाश इन्हें लगातार तीन दिनतक दिखायी देता रहा। ये उस प्रकाशसे इतने अधिक आकर्षित हुए कि ये उसके पीछे-पीछे बहुत दूर चले गये। जब ये कुरुकूर नामक स्थानमें पहुँचे तो इन्होंने देखा कि वह प्रकाश सहसा लुप्त हो गया। पूछताछ करनेपर मालूम हुआ कि वहाँ एक महान् योगी रहते हैं। ये उस योगीके पास गये और देखा कि एक मन्दिरके पास एक इमलीके पेड़के कोटरमें वे समाधिस्थ हुए बैठे हैं। मधुर कवि बहुत देरतक इस आशासे बैठे रहे कि महात्माकी समाधि टूटे तो उनसे कुछ बातचीत की जाय। अन्तमें इनसे नहीं रहा गया। इन्होंने योगिराजको आवाज दी, किन्तु उस आवाजका उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला। इन्होंने ताली बजायी, किन्तु फिर भी महात्मा टस-से-मस नहीं हुए। अन्तमें इन्होंने मन्दिरकी दीवालपर पत्थर मारा जिससे बड़े जोरकी आवाज हुई; किन्तु उसका भी महात्मापर कोई असर नहीं हुआ, वे ज्यों-के-त्यों आसन लगाये बैठे रहे। तब मधुर कवि साहस करके कोटरके पास गये और बोले—'महाराज! मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ, यदि सत्पदार्थ (सूक्ष्म चेतनशक्ति) असत् (जड़ प्रकृति) के अन्दर आविर्भूत हो जाय तो वह क्या खायेगा और कहाँ विश्राम करेगा?' अब योगीने अपना मुँह खोला और कहा—'वह उसीको खायेगा और वहींपर विश्राम करेगा।' यह जीव क्या खाता है और कहाँ कैसे रहता है? इसका उत्तर यह है कि सूक्ष्म आत्मा हृदयके अन्तस्तलमें रहकर प्रकृतिके कर्मोंका द्रष्टारूपसे उपभोग करता है। वह क्षेत्रज्ञरूपमें असंग होकर प्रकृतिके खेलका आनन्द लेता है। मधुर कविने अपने गुरुको पहचान लिया और योगिराजने भी अपने शिष्यको ढूँढ़ निकाला, जिसकी वे बहुत दिनोंसे बाट देख रहे थे। वे इस असत् (शरीर) के अन्दर सत् (परमात्मा) के रूपमें विद्यमान थे।

मधुर कविने अपने गुरुकी स्तुति करते हुए कहा—

'मैं इन्हें छोड़कर दूसरे किसी परमात्माको नहीं जानता। मैं इन्हींके गुण गाऊँगा, मैं इन्हींका भक्त हूँ। हाय! मैंने अबतक संसारके पदार्थोंका ही भरोसा किया। मैं कितना अभिमानी और मूर्ख था। सत्य तो यही हैं। मुझे आज उसकी उपलब्धि हुई। अब मैं अपने शेष जीवनको इन्हींकी कीर्तिका चारों दिशाओंमें प्रचार करनेमें बिताऊँगा। इन्होंने आज मुझे वेदोंका तत्त्व बताया है। इनके चरणोंमें प्रेम करना ही मेरे जीवनका एकमात्र साधन होगा।'

(१२) नम्माळवार (शठकोप)*

मधुर कविके गुरुका नाम नम्माळवार (शठकोप) था। इनका जन्म तिरुक्कुरुकूर (श्रीनगरी) में हुआ था। इनके पिताका नाम कारिमारन् और माताका नाम उड़यनंगै (भगवत्कृपापात्र) था। ये विष्वक्सेनके अवतार माने जाते हैं। इन्हें इनके माता-पिताने जन्मते ही भगवान्के मन्दिरमें भेंट चढ़ा दिया। ये मन्दिरमें प्रवेश करते ही चलने लगे और एक इमलीके पेड़के पास जाकर उसके कोटरमें पद्मासन लगाकर बैठ गये और आँखें मूँदकर ध्यानस्थ हो गये। उन्हें शरीरका ज्ञान बिलकुल न रहा और इसीलिये इनका नाम शठकोप पड़ा। इन्होंने कई सुन्दर पद बनाये, जिनका आज भी दक्षिणमें बड़ा प्रचार है। इनके पदोंको लोग सामवेदका सार मानते हैं। जब इन्होंने अपने पदोंको तामिलसंघम्के सामने पढ़कर सुनाया तो उस संघम्के सारे-के-सारे सदस्य इनकी कविताको सुनकर मुग्ध हो गये। तामिल भाषाके सबसे बड़े कवि कंबन्ने जब तामिल-रामायणकी रचना की तो उन्होंने सबसे पहले उस ग्रन्थको भगवान् रंगनाथके चरणोंमें ले जाकर रख दिया। इसपर मूर्तिमेंसे आवाज आयी—'क्या तुमने शठकोपका चरित्र भी गाया है?' कंबन्ने कहा—'नहीं, प्रभो! मुझे क्षमा कीजिये। अब मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।' और इसके बाद उन्होंने अपनी रामायणके आदिमें नम्माळवारकी स्तुति जोड़ दी। कंबन्ने तामिलसंघम्के पण्डितोंके सामने नम्माळवारके पदोंकी प्रशंसामें ये शब्द कहे—'क्या संसारके सारे काव्य नम्माळवारके एक शब्दकी भी बराबरी कर सकते हैं?' क्या मच्छर गरुड़का मुकाबला कर सकता है? क्या जुगनू सूर्यके सामने चमक सकता है? क्या कुत्ता शेरके सामने भोंक सकता है? क्या चुड़ैल उर्वशीके सामने अपना सिर ऊँचा कर सकती है?' जब शठकोपने भगवान् रंगनाथके सामने अपने पदोंको गाकर सुनाया तो मूर्तिमेंसे यह आवाज आयी—'ये हमारे आळवार (नम् आळवार) हैं।'

नम्माळवार पैंतीस वर्षतक राधाभावमें रहे। वे सर्वत्र, सब समय और सारी परिस्थितियों और घटनाओंमें अपने इष्देवका ही दर्शन करते थे। '**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः**' भगवान्का यह वाक्य इनपर पूरी तरहसे घटता था। ये भगवान्के विरहमें रोते, चिल्लाते, नाचते, गाते और मूर्च्छित हो जाते।

श्रीशठकोपाचार्य

(लेखक—श्रीयुत वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार, एम्० ए०)

भारतके तामिल भाषा-भाषी प्रान्तके मध्ययुगमें, जो ईसवी सन्की छठी शताब्दीसे प्रारम्भ होकर ग्यारहवीं शताब्दीमें समाप्त होता है, धर्मकी महान् जागृति हुई, जिसकी छाया उस समयके धार्मिक साहित्यपर भी भलीभाँति पड़ी मालूम होती है। उस समयके शैव और वैष्णव दोनों ही सम्प्रदायोंमें जागृतिके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। उस समयके शैव संत शैवसमयाचार्योंके नामसे प्रसिद्ध हैं, इन्होंने '**तेवरम्**' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थकी रचना की, जिसमें भगवान् शिवकी लीलाओंका वर्णन है। वैष्णव संत आळवारोंके नामसे विख्यात हुए। इनके परवर्ती संत आचार्य कहलाये और दक्षिण भारतमें वैष्णव धर्मके प्रचारमें इनका बहुत अधिक हाथ रहा। आळवारों अथवा तामिल वैष्णव संतोंमें महात्मा शठकोपका स्थान बहुत ऊँचा और आदरके योग्य गिना जाता है। इनका तामिल नाम नम्माळवार है, और तामिल वैष्णव इन्हें जन्मसिद्ध† मानते हैं।

---

* नम्माळवारका चरित्र स्वतन्त्ररूपसे इसी अंकमें अन्यत्र छपा है। अतः यहाँपर उनके चरित्रका सारांशमात्र दिया गया है।

† देखिये लेखकका स्वरचित ग्रन्थ 'Studies in Tamil Literature and History' (तामिल साहित्य और इतिहासकी खोज), द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १०४-१०६।

इनके प्रसिद्ध नाम शठकोपन् और मारन् हैं। यों तो प्रत्येक आळवारका ही जन्म अलौकिक ढंगसे हुआ, प्रत्येक आळवारको—और तामिलपरम्पराके अनुसार इन आळवारोंकी संख्या बारह मानी जाती है—भगवान्के आयुधविशेष अथवा आभूषणविशेषका स्वरूप माना जाता है। किन्तु नम्माळवारको लोग आज भी विष्वक्सेनका अवतार मानते हैं। प्रत्येक प्रधान देवताको किसी गणविशेषका अथवा अनेक गणोंका अधिपति माना जाता है। भगवान् शिवका भी एक नाम 'गणपति' प्रसिद्ध है। इसी प्रकार भगवान् विष्णुके भी कई गण हैं और उनके अधिनायक विष्वक्सेन हैं। शिवजीके गणोंमें गणेशका जो स्थान है वही स्थान विष्णुके गणोंमें विष्वक्सेनका है और नम्माळवार उन्हीं विष्वक्सेनके अवतार माने जाते हैं।

इस महान् संतका संक्षिप्त जीवनवृत्तान्त किसी भी मनुष्यके लिये कम रोचक नहीं होगा। शठकोपके पिताका नाम कारिमारन् था। ये पाण्ड्यदेशके राजाके यहाँ किसी ऊँचे पदपर थे और आगे चलकर कुरुगैनाडु नामक छोटे राज्यके राजा हो गये, जो पाण्ड्यदेशके ही अधीन था। शठकोपका जन्म अनुमानत: तिरुक्कुरुकूर नामक नगरमें हुआ था, जो तिरुनेलवेल्ली जिलेमें ताम्रपर्णी नदीके तटपर अवस्थित था। इनके सम्बन्धमें यह कथा प्रचलित है कि जन्मके बाद दस दिनतक इन्हें भूख-प्यास कुछ भी नहीं लगी। यह देखकर इनके माता-पिताको बड़ी चिन्ता हुई। वे इसका रहस्य कुछ भी नहीं समझ सके। अन्तमें यही उचित समझा गया कि इन्हें मन्दिरमें ले जाकर वहीं छोड़ दिया जाय। बस, इस निर्णयके अनुसार इन्हें स्थानीय मन्दिरमें एक इमलीके वृक्षके नीचे छोड़ दिया गया। तबसे लेकर सोलह वर्षकी अवस्थातक बालक नम्माळवार उसी इमलीके पेड़के कोटरमें योगकी प्रक्रियासे ध्यान और भगवान् श्रीहरिके साक्षात्कारमें लगे रहे। नम्माळवारकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी। तिरुक्कोईलूर नामक स्थानके एक ब्राह्मण, जो मधुर कविके नामसे विख्यात थे और जो स्वयं आगे चलकर आळवारोंकी कोटिमें गिने जाने लगे, नम्माळवारके योगाभ्यासकी बात सुनकर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उस स्थानपर जा पहुँचे जहाँ यह बालक संत भगवान् नारायणका ध्यान कर रहे थे। इनकी प्रार्थनापर महात्माने इन्हें अपना शिष्य बना लिया। इस प्रकार यह भी कहा जाता है कि नम्माळवार आचार्य भी थे, क्योंकि उन्होंने मधुर कवि-जैसे शिष्योंको दीक्षा देकर उन्हें धर्म और अध्यात्मतत्त्वके गूढ़ रहस्य बताये।

इतिहास यह है कि जब हमारे चरित्रनायक ध्यानमें मग्न थे, दयामय भगवान् नारायण उनके सामने प्रकट हुए और उन्हें '**ॐ नमो नारायणाय**' इस अष्टाक्षर मन्त्रकी दीक्षा दी। बालक शठकोप पहलेहीसे विशेष शक्तिसम्पन्न थे और अब तो वे एक महान् आचार्य और धर्मके उपदेष्टा हो गये। कहते हैं, नम्माळवार पैंतीस वर्षकी अवस्थातक इस मर्त्यलोकमें रहे और इसके बाद उन्होंने अपने भौतिक-विग्रहको त्याग दिया। इस पैंतीस वर्षके कालमें इन्होंने कई धार्मिक ग्रन्थोंकी रचना की, जो बड़े विचारपूर्ण, गम्भीर और भगवत्प्रेरित जान पड़ते हैं। इनमें प्रधान ग्रन्थोंके नाम तिरुविरुत्तम्, तिरुवाशिरियम्, पेरिय तिरुवन्ताति और तिरुवायमोळि हैं। महात्मा शठकोपके ये चार ग्रन्थ चार वेदोंके तुल्य माने जाते हैं। इन चारोंमें भगवान् श्रीहरिकी लीलाओंका वर्णन है और ये चारों-के-चारों भगवत्प्रेमसे ओतप्रोत हैं। ग्रन्थकारने अपनेको नायिकाके रूपमें व्यक्त किया है और श्रीहरिको नायक माना है। तिरुविरुत्तम्में आदिसे अन्ततक यही भाव भरा हुआ है। इनके ग्रन्थोंमेंसे अकेले तिरुवायमोळिमें, जिसका अर्थ है—पवित्र उपदेश, हजारसे ऊपर पद्य हैं। दक्षिणके वैष्णवोंके प्रधान ग्रन्थ दिव्यप्पिरवन्दम्के चतुर्थांशमें इसीके पद संगृहीत हैं। तिरुवायमोळिके पद मन्दिरोंमें तथा धार्मिक उत्सवोंमें बड़े प्रेमसे गाये जाते हैं। तामिलके धार्मिक साहित्यमें तिरुवायमोळिका अपना निराला ही स्थान है। इसके पाठका उतना ही महत्त्व माना जाता है जितना वेदाध्ययन और वेदपाठका, क्योंकि इसमें वेदका सार भर दिया गया है।

इस वृत्तान्तको समाप्त करनेके पूर्व महात्मा शठकोपके कालके सम्बन्धमें कुछ निवेदन करना आवश्यक है। इसके सम्बन्धमें विद्वानोंमें बड़ा मतभेद है और इस विषयपर बहुत खण्डन-मण्डन हो चुका है। कुछ विद्वान् इनका समय ईसवी सन्की पाँचवीं शताब्दी मानते हैं और कुछ लोग इनका जन्म ईसवी सन्की दसवीं अथवा ग्यारहवीं शताब्दीमें मानते हैं। ये दोनों ही मत प्रामाणिक नहीं मालूम होते। स्वर्गीय श्रीयुत गोपीनाथराव आनमलेके शिलालेखोंकी छान-बीन करके इस निर्णयपर पहुँचे थे कि महात्मा शठकोप ईसवी सन्की नवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें इस मर्त्यलोकमें थे। किन्तु हमारे पास कुछ ऐसे

प्रमाण हैं जिनके सामने यह मत भी नहीं ठहरता, किन्तु इस छोटेसे निबन्धमें इस विषयकी विस्तृत आलोचना सम्भव नहीं है। यहाँपर इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि ये महात्मा ईसवी सन्‌की सातवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें विद्यमान थे। हम पहले ही बता चुके हैं कि इनका एक नाम मारन् भी था, उस समयके राजाका नाम भी यही था। वेल्विकुडिके दानपत्रके अनुसार मारन् कोच्छदैयन्‌के पितामह थे। हमारे पक्षमें एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि दक्षिणके वैष्णवोंकी गुरुपरम्पराओंमें भी शठकोपको तिरुमंगई मन्नन् नामके एक दूसरे प्रसिद्ध आळवारका पूर्ववर्ती माना गया है। तिरुमंगईका जीवनकाल प्रायः सब लोगोंने आठवीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध माना है। इसके आधारपर महात्मा शठकोपका काल सातवीं शताब्दीका उत्तरार्ध मानना अनुचित न होगा।

श्रीशंकराचार्य

शंकरावतार भगवान् श्रीशंकराचार्यके जन्म-समयके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है। ईसासे पूर्व छठी शताब्दीसे लेकर उनके पश्चात् नवम शताब्दीपर्यन्त किसी समय इनका आविर्भाव हुआ था। अभी 'कल्याण'-भाग ११के आठवें अंकमें ज्योतिष और इतिहासके एक विद्वान्‌ने यह सिद्ध किया है कि आचार्यपादका जन्मसमय ईसासे पूर्व ही है। मठोंकी परम्परासे भी यही बात प्रमाणित होती है। अस्तु, किसी भी समय हो, केरल प्रदेशके पूर्णा नदीके तटवर्ती कलादि नामक गाँवमें बड़े विद्वान् और धर्मनिष्ठ ब्राह्मण श्रीशिवगुरुकी धर्मपत्नी श्रीसुभद्रा-माताके गर्भसे वैशाख शुक्ल पंचमीके दिन इन्होंने जन्म ग्रहण किया था। इनके जन्मके पूर्व वृद्धावस्था निकट आ जानेपर भी इनके माता-पिता सन्तानहीन ही थे। अतः उन्होंने बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे भगवान् शंकरकी आराधना की। उनकी सच्ची और आन्तरिक आराधनासे प्रसन्न होकर आशुतोष देवाधिदेव भगवान् शंकर प्रकट हुए और उन्हें एक सर्वगुणसम्पन्न पुत्ररत्न होनेका वरदान दिया। इसीके फलस्वरूप न केवल एक सर्वगुणसम्पन्न पुत्र ही, बल्कि स्वयं भगवान् शंकरको ही इन्होंने पुत्ररूपमें प्राप्त किया। नाम भी उनका शंकर ही रखा गया।

बालक शंकरके रूपमें कोई महान् विभूति अवतरित हुई है, इसका प्रमाण बचपनसे ही मिलने लगा। एक वर्षकी अवस्था होते-होते बालक शंकर अपनी मातृभाषामें अपने भाव प्रकट करने लगे और दो वर्षकी अवस्थामें मातासे पुराणादिकी कथा सुनकर कण्ठस्थ करने लगे। तीन वर्षकी अवस्थामें उनका चूडाकर्म करके उनके पिता स्वर्गवासी हो गये। पाँचवें वर्षमें यज्ञोपवीत करके उन्हें गुरुके घर पढ़नेके लिये भेजा गया और केवल सात वर्षकी अवस्थामें ही वे वेद, वेदान्त और वेदांगोंका पूर्ण अध्ययन करके घर वापस आ गये। उनकी असाधारण प्रतिभा देखकर उनके गुरुजन दंग रह गये।

विद्याध्ययन समाप्तकर शंकरने संन्यास लेना चाहा, परन्तु जब उन्होंने मातासे आज्ञा माँगी तो उन्होंने नाहीं कर दी। शंकर माताके बड़े भक्त थे, उन्हें कष्ट देकर संन्यास लेना नहीं चाहते थे। एक दिन माताके साथ वे नदीमें स्नान करने गये। उन्हें एक मगरने पकड़ लिया। इस प्रकार पुत्रको संकटमें देख माताके होश उड़ गये। वह बेचैन होकर हाहाकार मचाने लगी। शंकरने मातासे कहा—मुझे संन्यास लेनेकी आज्ञा दे दो तो मगर मुझे छोड़ देगा। माताने तुरंत आज्ञा दे दी और मगरने शंकरको छोड़ दिया। इस तरह माताकी आज्ञा प्राप्तकर वे आठ वर्षकी उम्रमें ही घरसे निकल पड़े। जाते समय माताकी इच्छाके अनुसार यह वचन देते गये कि तुम्हारी मृत्युके समय मैं घरपर उपस्थित रहूँगा।

घरसे चलकर शंकर नर्मदातटपर आये और वहाँ स्वामी गोविन्द भगवत्पादसे दीक्षा ली। गुरुने इनका नाम भगवत्पूज्यपादाचार्य रखा। इन्होंने गुरूपदिष्ट मार्गसे साधना शुरू कर दी और अल्पकालमें ही बहुत बड़े योगसिद्ध महात्मा हो गये। इनकी सिद्धिसे प्रसन्न होकर गुरुने इन्हें काशी जाकर वेदान्तसूत्रका भाष्य लिखनेकी आज्ञा दी और तदनुसार ये काशी आ गये। काशी आनेपर इनकी ख्याति बढ़ने लगी और लोग आकर्षित होकर इनका शिष्यत्व भी ग्रहण करने लगे। इनके सर्वप्रथम शिष्य सनन्दन हुए, जो पीछे पद्मपादाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। काशीमें शिष्योंको पढ़ानेके साथ-साथ ये ग्रन्थ भी लिखते जाते थे। कहते हैं, एक दिन

भगवान् विश्वनाथने चाण्डालके रूपमें इन्हें दर्शन दिये और इनके पहचानकर प्रणाम करनेपर ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखने और धर्मके प्रचार करनेका आदेश दिया। वेदान्त-सूत्रपर जब आप भाष्य लिख चुके तो एक दिन एक ब्राह्मणने गंगातटपर इनसे एक सूत्रका अर्थ पूछा। उस सूत्रपर ब्राह्मणके साथ इनका आठ दिनतक शास्त्रार्थ हुआ। पीछे इन्हें मालूम हुआ कि स्वयं भगवान् वेदव्यास ही ब्राह्मणके रूपमें प्रकट होकर उनके साथ विवाद कर रहे हैं। तब इन्होंने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और अपनी ढिठाईके लिये क्षमा माँगी। फिर भगवान् वेदव्यासने इन्हें अद्वैतवादका प्रचार करनेकी आज्ञा दी और इनकी सोलह वर्षकी आयु बत्तीस वर्षकी कर दी।

इसके बाद इन्होंने काशी, कुरुक्षेत्र, बदरिकाश्रम आदिकी यात्रा की, विभिन्न मतवादियोंको परास्त किया और बहुतसे ग्रन्थ लिखे। प्रयाग आकर कुमारिलभट्टसे उनके अन्तिम समयमें भेंट की और उनकी सलाहसे माहिष्मतीमें मण्डनमिश्रके पास जाकर शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थमें मण्डनकी पत्नी भारती मध्यस्था थीं। अन्तमें मण्डनने शंकराचार्यका शिष्यत्व ग्रहण किया और उनका नाम सुरेश्वराचार्य पड़ा। तत्पश्चात् आचार्यने विभिन्न मठोंकी स्थापना की और उनके द्वारा औपनिषद सिद्धान्तकी शिक्षा-दीक्षा होने लगी।

एक बार एक कापालिकने आचार्यसे एकान्तमें प्रार्थना की कि 'आप तत्त्वज्ञ हैं, आपको शरीरका मोह नहीं; मैं एक ऐसी साधना कर रहा हूँ जिसमें मुझे एक तत्त्वज्ञके सिरकी आवश्यकता है, यदि आप देना स्वीकार करें तो मेरा मनोरथ पूर्ण हो जाय।' आचार्यने कहा, 'भाई! किसीको मालूम न होने पावे। मैं अभी समाधि लगा लेता हूँ, तुम सिर काट ले जाना।' आचार्यने समाधि लगायी और वह सिर काटनेहीवाला था कि पद्मपादाचार्यके इष्टदेव नृसिंह भगवान्ने ध्यान करते समय उन्हें सूचना दे दी और पद्मपादने आवेशमें आकर उसे मार डाला।

आचार्यने अनेकों मन्दिर बनवाये, अनेकोंको सन्मार्गमें लगाया और कुमार्गका खण्डन करके भगवान्के वास्तविक स्वरूपको प्रकट किया। इन्होंने मार्गमें सभी मतोंकी उपयोगिता यथास्थान स्वीकार की है। और सभी साधनोंसे अन्त:करण शुद्ध होता है, ऐसा माना है। अन्त:करणके शुद्ध होनेपर ही वास्तविकताका बोध हो सकता है। अशुद्ध बुद्धि और मनके निश्चय एवं संकल्प भ्रमात्मक ही होते हैं, अत: इनके सिद्धान्तमें सच्चा ज्ञान प्राप्त करना ही परम कल्याण है और उसके लिये अपने धर्मानुसार कर्म, भक्ति अथवा और भी किसी मार्गसे अन्त:करणको शुद्ध बनाते हुए वहाँतक पहुँचना चाहिये।

इनके बनाये हुए ग्रन्थोंकी बड़ी लंबी सूची है और इनका सिद्धान्त भी बड़ा ऊँचा तथा अधिकारी पुरुषोंके ही समझनेकी चीज है। भारतवर्षके सभी सम्प्रदाय इनके सिद्धान्तसे प्रभावित हैं। सभी विचारशीलोंने मुक्त स्वरसे इनके सिद्धान्तकी महत्ता गायी है। आज भी इनके अनुयायियोंमें बहुत-से सच्चे विरक्त एवं ज्ञानी पाये जाते हैं। इनके तथा इनके अनुयायी महात्माओंके सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें विशेष जानना हो तो 'कल्याण' का वेदान्तांक देखना चाहिये।

—शान्तनु

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

ईश्वरको पानेके लिये जिसका हृदय तरस रहा है उसीका जन्म धन्य है, उसीकी माता धन्य है। कारण, उसका सर्वस्व तो उस ईश्वरमें समाया हुआ है।

जो मनुष्य ईश्वरमें लीन रहता है और सुनने तथा देखने लायक उसीको समझता है, उसने सब कुछ सुन लिया है, देख लिया है और जान लिया है।

अगर तुम दुनियाकी खोजमें जाओगे, तो दुनिया तुमपर चढ़ बैठेगी; उससे विमुख होओगे तब ही उसे पार कर सकोगे।

वीरशैव संत

(लेखक—पण्डितवर्य श्रीयुत वे० काशीनाथजी शास्त्री)

वेद, उपनिषद् पुराण एवं आगमोंमें वीरशैव सिद्धान्तका बड़ी विशद रीतिसे वर्णन हुआ है। सृष्टिके आदिकालमें श्रीरेणुक, दारुक, घण्टाकर्ण, धेनुकर्ण और विश्वकर्ण नामके पाँच गणाधीश्वरोंने इसे स्थापित किया था। ये महानुभाव प्रत्येक युगमें शिवलिंगमुखोंसे दिव्य देह धारण करके प्रकट होते हैं और इस सिद्धान्तका प्रसार करते हैं। श्रीरेणुकाचार्यजीने कुल्यपाकक्षेत्रमें विराजमान श्रीसोमेश्वरलिंगसे प्रकट होकर रम्भापुरी (वालेहोल्लूर) क्षेत्रमें धर्मपीठकी स्थापना की। उसका नाम वीरसिंहासन है। श्रीदारुकाचार्यजीने वटक्षेत्रमें विराजमान श्रीसिद्धेश्वरलिंगसे अवतार लेकर उज्जयिनीमें सद्धर्मसिंहासन नामक धर्मपीठ स्थापन किया। श्रीएकोरामाराध्यजीने द्राक्षारामक्षेत्रके श्रीराम-नाथलिंगसे अवतार लेकर हिमवत्केदारक्षेत्रमें वैराग्यसिंहासन नामके धर्मपीठका स्थापन किया। श्रीपण्डिताराध्यजीने श्रीशैलक्षेत्रके श्रीमल्लिकार्जुनलिंगसे अवतार लेकर वहीं सूर्यसिंहासन नामका धर्मपीठ स्थापित किया। और श्रीविश्वाराध्यजीने काशीके विश्वनाथलिंगसे अवतार लेकर वहीं ज्ञानसिंहासन नामके धर्मपीठका स्थापन किया।

इन सभी महामान्य आचार्योंने शक्तिविशिष्टाद्वैत नामक सिद्धान्तका, जिसे शिवाद्वैत अथवा वीरशैव सिद्धान्त कहते हैं, प्रचार किया। यहाँ शक्तिशब्दसे स्थूलचिदात्मक जीव और सूक्ष्मचिदात्मक शिव दोनोंका ही बोध होता है। यहाँ किंचिदज्ञ, किंचित्कर्तृरूप जीव और सर्वज्ञ सर्वकर्तृरूप शक्तियोंसे युक्त शिवका अद्वैत (सामरस्य) ही शक्तिविशिष्टाद्वैत है। शक्तिका अर्थ है परशिव—ब्रह्मतत्त्वमें अपृथक्सिद्ध होकर रहनेवाला विशेषण। अर्थात् शक्तिरूप अपृथक्सिद्ध विशेषणसे विशिष्ट ब्रह्मतत्त्वको प्रतिपादन करना ही इस सिद्धान्तका रहस्य है। जैसे चन्द्रमें चन्द्रिका, सूर्यमें प्रभा, अग्निमें दाह, समुद्रमें सौभाग्य, पुष्पमें गन्ध एवं शर्करामें मिठास, अविनाभाव सम्बन्धसे रहते हैं वैसे ही शिवमें शक्ति भी रहती हैं। चराचरात्मक समस्त प्रपंच शक्तिविशिष्ट परशिवका परिणामरूप है। इस सिद्धान्तको लिंगांगसामरस्य भी कहते हैं। लिंग (शिव), अंग (जीव) इनका सामरस्य (ऐक्य) ही इसका अर्थ है।

यह जीव अनादिकालसे संसारकी दुःखमय योनियोंमें भटकते-भटकते खिन्न हो गया है। यही जब शिव-उपासनाबलसे शिवस्वरूप हो जाता है तब सामरस्यको प्राप्त कर लेता है।

इन आचार्योंके समयनिर्णयका प्रयास व्यर्थ है। जैसे षण्मुख, गणपति, नन्दी, भृंगिरिटि, वीरभद्र आदि प्रमथोंका कालनिर्णय असाध्य है वैसे ही इन आचार्योंका भी। ये प्रत्येक युगमें अवतीर्ण होकर चक्रवर्ती सम्राट्से लेकर दरिद्रतकका और महर्षियोंसे लेकर साधारण ज्ञान-सम्पन्न लोगोंतकका उद्धार करते हैं। वीरशैव-सिद्धान्तके साहित्यमें इनका बड़ा विस्तृत वर्णन है। यहाँ बहुत संक्षेपसे कुछ लिखा जाता है।

जगद्गुरु श्रीरेणुकाचार्यजी

कैलाशस्थित परमेश्वरने ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता तथा वीरभद्र, नन्दी आदि प्रमथगणोंसे शोभित सभामें दिव्य सिंहासनपर बैठकर बड़ी प्रसन्नताके साथ लोकहितके लिये अपने प्रमथपुंगव श्रीरेणुकगणाधीश्वरको बुलाकर कहा कि 'तुम वेदानुसार शिवभक्तिकी प्रतिष्ठा करनेके लिये कुल्यपाकक्षेत्रके श्रीसोमनाथलिंगसे अवतीर्ण होकर भूमण्डलके समस्त मनुष्योंको शिवाद्वैत-सिद्धान्तका उपदेश करके सबको शिवभक्तिमय बनाकर यहाँ लौट आओ।' उनकी आज्ञानुसार इन्होंने अवतार ग्रहण किया। इनके इस आश्चर्यमय आविर्भावको देखकर लोगोंने जिज्ञासा की कि आप कौन हैं? तब इन्होंने स्पष्ट अपने अवतारका प्रयोजन एवं अपना स्वरूप बतलाकर सबको सन्तुष्ट किया। फिर वहाँसे प्रस्थान करके आकाशमार्गसे अगस्त्य महर्षिका उद्धार करनेके लिये उनके पास पधारे। मलयाश्रममें पहुँचते ही अगस्त्य ऋषिने इनका बड़े भक्तिभावसे स्वागत किया एवं षोडशोपचार-पूजा की। तत्पश्चात् इनकी स्तुति करते हुए दर्शनके कारण अपने सौभाग्यका वर्णन किया और प्रार्थना करके श्रुतिसम्मत शिवाद्वैत-सिद्धान्तका उपदेश ग्रहण किया। वे उपदेश आज भी 'सिद्धान्तशिखामणि' अथवा 'रेणुकागस्त्य-संवाद' के नामसे ग्रन्थरूपमें प्रसिद्ध हैं। वहाँसे चलकर आचार्यचरणोंने विभीषणके उद्धारके लिये लंकाकी यात्रा की। विभीषणने बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ इनका स्वागत-सत्कार किया और अन्तमें निवेदन किया कि

श्रीसोमेश्वरलिङ्गसे श्रीजगद्गुरु रेणुकाचार्यका अवतार

श्रीशंकराचार्यजीको श्रीचन्द्रमौलीश्वरलिङ्गप्रदान
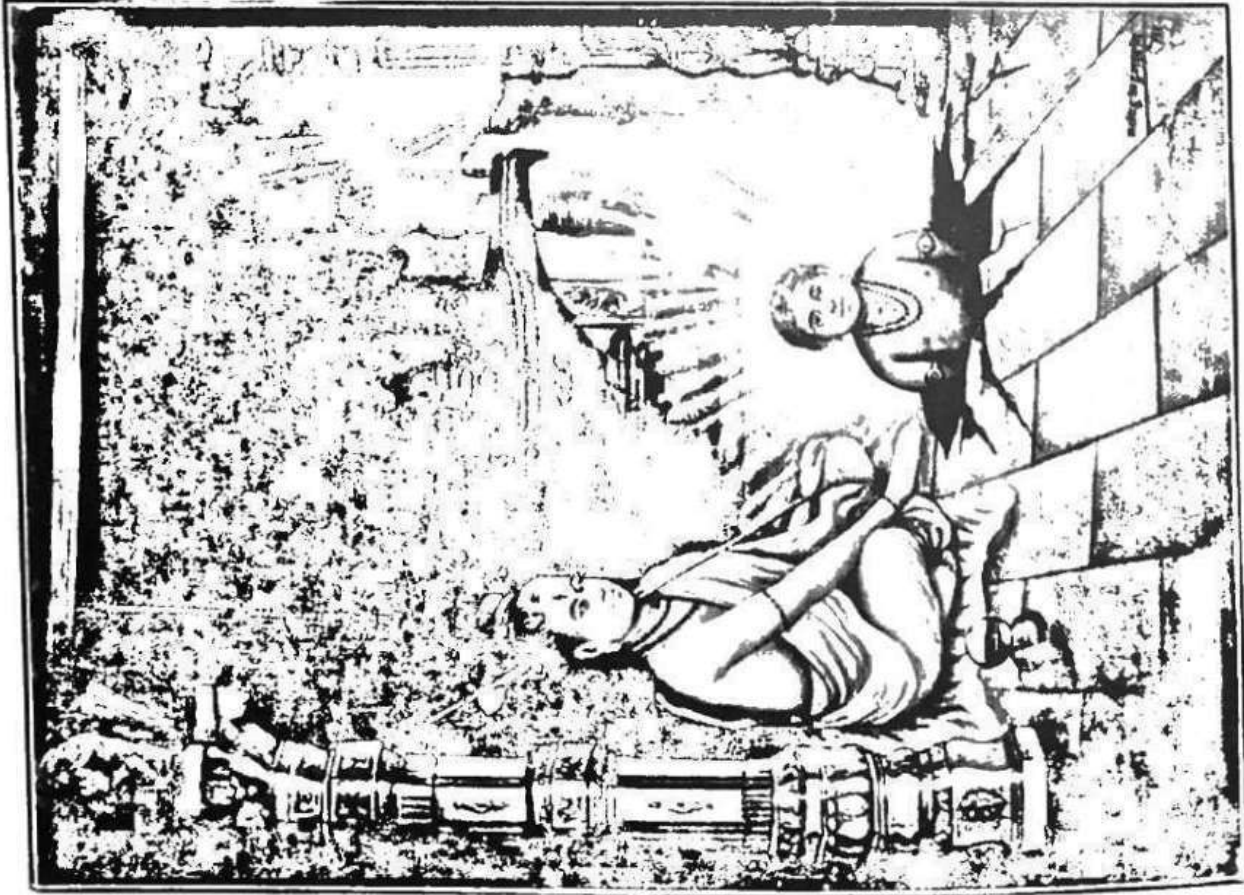
श्रीरुद्रमुनि शिवाचार्यजीका भूगर्भसे प्राकट्य

श्रीसिद्धलिङ्ग शिवाचार्य महास्वामीजी

'रावणने मृत्युके समय मुझसे आग्रह किया था कि 'भाई! मेरी बड़ी अभिलाषा थी कि नव करोड़ शिवलिंगोंकी स्थापना करूँ। छ: करोड़की स्थापना तो मैंने कर ली, अब तीन करोड़की स्थापना तुम अवश्य करना।' मैंने अपने बड़े भाईकी इस अन्तिम इच्छाको पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा की, परन्तु तीन करोड़ आचार्योंके एक साथ न मिलनेके कारण मैं एक ही मुहूर्तमें उनकी स्थापना करनेमें असमर्थ हूँ। आप इसका कोई उपाय करें।' उनकी इस भक्तिपूर्ण प्रार्थनाको सुनकर रेणुकाचार्यने एक ही समय तीन करोड़ रूप धारण करके उनकी स्थापना करा दी। यह देखकर विभीषणजी विस्मित हो गये और उनकी शरण ग्रहण करके उन्होंने शिवाद्वैतसिद्धान्तकी दीक्षा ली और आनन्दसे लंकाका राज्य करने लगे। ये दो चरित्र त्रेतासे सम्बन्ध रखते हैं। कलियुगमें भी उन्होंने रेवणाराध्य अथवा रेवणसिद्धके नामसे अवतार ग्रहणकर चौदह सौ वर्षतक भूतलपर निवास किया था।

आजसे लगभग दो हजार वर्ष पूर्व महाराजा विक्रम उज्जयिनीमें राज्य करते थे। आचार्यने वहाँकी यात्रा की और उनसे सत्कृत होकर उन्हें शिवतत्त्वका उपदेश किया तथा उन्हें एक ऐसा खड्ग दिया जिसके प्रभावसे महाराज विक्रमने अपने शत्रुओंपर विजय और बड़ी कीर्ति प्राप्त की।

अद्वैतमतस्थापक जगद्विख्यात श्रीशंकराचार्यजीने आजसे लगभग दो हजार वर्ष पूर्व अवतार ग्रहण करके बौद्धादिकोंका उपद्रव नष्ट किया और वैदिक धर्मका उद्धार किया। जब वे श्रीशैलक्षेत्रमें तपस्या कर रहे थे तब आकाशवाणी हुई कि तुम मलयाचलमें श्रीरेणुकाचार्यके पास जाओ और उनसे उनके चन्द्रमौलीश्वर नामक शिवलिंगको लेकर पूजा करो, तब तुम्हारा कल्याण होगा। यह बात सुनकर श्रीशंकराचार्य बड़े आनन्दसे श्रीरेणुकाचार्यजीके पास आये और उनसे वह लिंग लेकर विधिवत् उपासना करके अपनी अभिलाषा पूर्ण की। अभीतक श्रीशंकराचार्यके पीठमें इसकी पूजा चलती है। शंकराचार्यने वही लिंग मण्डनमिश्रको दिया। यह बात प्राचीन एवं अर्वाचीन उभयविध अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध है।

बम्बई प्रान्तके कोल्हापुर नगरमें एक सिद्ध रहता था। वह यन्त्र-मन्त्रोंके बलपर अनेकों चेले बनाकर लोगोंपर प्रभाव जमाये हुए था। कोई दूसरे सत्पुरुष वहाँ जाते तो यह बहुत परेशान करता। यह बात सुनकर आचार्यने वहाँकी यात्रा की और बेखटके उसके घरमें जाकर '**भिक्षां देहि**' की ऊँची आवाज़ लगायी। यह गम्भीर ध्वनि सुनकर उस सिद्धको बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने अपनी पत्नीको आज्ञा दी कि जाकर खड्गसे उसका हाथ काट डालो। परन्तु उसकी पत्नी जब आचार्यके सामने आयी तब भिक्षुकका मुख देखते ही श्रद्धा-भक्तिसे उसका सिर झुक गया। उसने अपने पतिसे प्रार्थना की कि यह तो साक्षात् भगवान् शिव ही हैं, परन्तु उसने एक न सुनी और फिर मारनेके लिये डाँटकर भेजा। बड़े दु:खके साथ वह आयी और बड़े वेगसे उनके हाथपर खड्ग रख दिया। रेणुकाचार्यजीने अपने फाल-नेत्रोंसे उस खड्गको तपाकर पानी कर दिया और आनन्दसे पी लिया। इधर वह खड्ग दूसरे रूपमें उस सिद्धके पेटमें घुस गया और वह जमीनपर गिर पड़ा। अब वह चिल्लाने लगा। उसकी स्त्री अपने पतिकी यह दुरवस्था देखकर आचार्यके चरणोंपर गिर पड़ी और प्रार्थना की—'मेरे पतिदेवके अपराध क्षमाकर उनका उद्धार कीजिये और ज्ञानोपदेशसे सन्मार्ग दिखाइये।' उस सती स्त्रीकी कातर वाणी सुनकर आचार्यने सिद्धके पेटपर अपना हाथ फेर दिया और उसी समय खड्ग उसके पेटसे बाहर निकल आया। तब उस सिद्धने बड़ी प्रार्थना की और आचार्यसे उपदेश ग्रहण किया, और आचार्यकी कृपासे उसका उद्धार हो गया।

श्रीरेणुकाचार्यजी चौदह सौ वर्षपर्यन्त संसारमें शिवभक्तिका प्रचार करके कांचीक्षेत्रमें गये और वहाँ एकाम्रेश्वर देवालयमें निवास करने लगे। वहाँ उन्होंने परमेश्वरसे प्रार्थना की कि 'अब मैं तुम्हारे पास आना चाहता हूँ। परन्तु इस शिवाद्वैतमतकी रक्षाके लिये एक दिव्य सद्गुरुकी आवश्यकता है।' परमेश्वरकी आज्ञा हुई कि 'तुम एकाम्रेश्वरमूर्तिके पास बैठकर प्रार्थना और उस सद्गुरुका चिन्तन करते हुए उस मूर्तिके सामनेकी भूमि स्पर्श करो, तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध होगा।' आचार्यने ऐसा ही किया और उस भूमिसे एक अप्राकृत सूर्यके समान तेजस्वी लिंग-भस्म-रुद्राक्षादिभूषित दिव्य गुरुमूर्तिका आविर्भाव हुआ। उनका नाम श्रीरुद्रमुनि हुआ। थोड़े ही दिनोंमें वे बड़े हो गये एवं आचार्यने उन्हें सम्पूर्ण संस्कारों एवं विद्यासे युक्त कर दिया। तत्पश्चात् इन्हींको अपने धर्मपीठका उत्तराधिकारी बनाकर स्वयं कुल्यणकक्षेत्र

जाकर श्रीसोमनाथ-शिवलिंगमें अन्तर्धान हो गये।

श्रीरेणुकाचार्यजीकी ही भाँति शिवलिंगसे आविर्भूत होकर दारुकाराध्य, एकोरामाराध्य, पण्डिताराध्य, विश्वाराध्य, इन चारों आचार्योंने भी प्रत्येक युगमें शैवसिद्धान्तकी स्थापना की। उन सबका प्रतिपादन करनेसे लेख बड़ा हो जायगा। अत: अब उनके बारेमें न लिखकर कुछ दूसरे संतोंके सम्बन्धमें संक्षेपत: लिखा जाता है।

जगद्गुरु श्रीसदानन्द शिवयोगी

ये महात्मा श्रीशैलक्षेत्रके वीरशैव-गुरुपीठके स्वामी थे। स्कन्दपुराणके अनुसार द्वापरयुगमें इनका स्थितिकाल सिद्ध होता है। ये बड़े विद्वान्, शिवलिंगपूजा-ध्यानादि-परायण एवं महामहिमशाली थे। स्कन्दपुराणान्तर्गत शंकरसंहिताके ८५वें अध्यायमें इनके सम्बन्धमें इस प्रकारका वर्णन आया है—

कुशस्थल नगरमें श्वेत नामक एक बड़ा विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मण रहता था। उसका पिंगल नामका एकमात्र पुत्र महान् पापी था। धर्मात्मा श्वेतको उसकी नीच वृत्ति देखकर बड़ा कष्ट होता था। बहुत समझानेपर भी कोई अच्छा परिणाम नहीं निकला। अन्तमें पापोंके फलस्वरूप पिंगल रोगी हो गया। अपने पुत्रको ऐसी स्थितिमें देखकर श्वेतको बड़ा कष्ट हुआ। उसी समय श्वेतके एक परम मित्र हरप्रिय नामके लिंगधारी ब्राह्मण वहाँ आये। उन्होंने अपने प्रिय मित्रके पुत्रकी दुरवस्था देखकर यह सम्मति दी कि 'तुम श्रीशैलक्षेत्रमें जाओ। प्रथम तो उस क्षेत्रमें ही बड़ा प्रभाव है, दूसरे वहाँ निगमागमतत्त्वज्ञ शिवध्यानपरायण लिंग-भस्म-रुद्राक्षालंकृत जीवन्मुक्त सदानन्द नामक एक जगद्गुरु वास करते हैं; तुम उनकी शरणमें जाओ। उनके अनुग्रहसे तुम्हारे पुत्रका रोग घट जायगा।' अपने मित्रके कथनानुसार श्वेत अपने पुत्रके साथ श्रीशैल गये और वहाँ स्नान-दानादि करके श्रीसदानन्द जगद्गुरुका दर्शन करके अपनी करुणकथा सुनायी। दयालु आचार्यने पिंगलको चरणोदक और प्रसाद देकर, उसके सकल पापोंका उन्मूलनकर, महारोगोंको नाशकर शिवतत्त्वका उपदेश दिया एवं अपना शिष्य बनाकर सद्गति प्रदान की। यह चरित्र विस्तारसे उपर्युक्त ग्रन्थमें ही देखना चाहिये।

श्रीशिवयोगी शिवाचार्य

ये महानुभाव आजसे लगभग दो हजार वर्ष पूर्व कर्णाटकमें अवतीर्ण हुए थे। वीरशैवमतमें इनकी बड़ी प्रसिद्धि है। इन्होंने बहुत-से ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सिद्धान्तशिखामणि' है। उसके प्रथम परिच्छेदसे मालूम होता है कि इन्होंने बौद्धादिका खण्डन करके शिवभक्तिकी स्थापना की थी। वीरशैवोंने इन्हें श्रीरेणुकाचार्यजीका अपरावतार माना है।

श्रीमल्लिकार्जुन शिवाचार्य

ये काशीक्षेत्रके श्रीजगद्गुरुविश्वाराध्यपीठके अधिपति थे। दान-शासनोंसे विदित होता है कि ये ईस्वी सन्‌की छठी शताब्दीमें विद्यमान थे। इनमें अनेकों सिद्धियाँ थीं और ये आकाशमार्गसे चलते थे। उस समयके काशीके महाराज श्रीजयनन्ददेवने इन्हें भक्तिपूर्वक कर्दमेश्वर महादेव और गंगाके मध्यभागकी (आठ सौ परग) भूमिका दान किया। उस समयका दानपत्र और भूमि अब भी काशीके जंगमबाड़ी-मठाधीश्वरके अधीन है। वह दानपत्र वि० सं० ६३१ कार्तिक शुक्ल ११, ईस्वी सन् ५७४ का लिखा है। उन्हींके समयमें वीरशैवोंके मठ प्रयाग, नैपाल, दिल्ली आदिमें बने।

उन दिनों नैपालमें विश्वमल्ल नामके राजा शिव-भक्तिसे विमुख हो गये थे। यह बात सुनकर इन्होंने नैपालकी यात्रा की और इनकी अलौकिक शक्तिसे चकित होकर राजाने इनसे शिवभक्तिकी दीक्षा ली। उस राजाने इनकी सेवामें (३०० मूरिभूला) भूमि अर्पण की और संस्कृत भाषामें एक शिलालेख लिखवाया जो अबतक नैपालके भातगाँवके जंगमबाड़ीमठमें विद्यमान है। यह दान-शासन वि० सं० ६९२ ज्येष्ठ शुक्ल ८ (ई० सं० ६३५) को लिखा गया था। इस प्रकार इन्होंने अनेकों व्यक्तियोंका, जिनमें बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी सम्मिलित हैं, उद्धार किया। इनकी कीर्ति भूमण्डलमें व्याप्त है।

श्रीपतिपण्डिताराध्य

वीरशैवमतके महामहिमशाली श्रीपतिपण्डिताराध्यजी ई० सं० १०६० में आन्ध्रदेशमें प्रकट हुए थे। ये वेदवेदांग आदिमें भलीभाँति पारंगत थे। इन्होंने ब्रह्मसूत्रपर वीरशैवसिद्धान्तपरक 'श्रीकरभाष्य' की रचना की। बड़े-बड़े विद्वानोंने इनकी महिमा गायी है। एक समय शास्त्रार्थके अवसरपर इन्होंने कहा कि 'अग्निसे प्रसादका महत्त्व अधिक है।' परन्तु वादियोंने इसे स्वीकार नहीं किया और इस बातके प्रत्यक्ष होनेपर ही माननेका हठ किया। उस समय इन्होंने अग्निको एक वस्त्रमें लपेटकर

शमीवृक्षमें बाँध दिया। गाँवका सारा काम-काज बंद हो गया, जब सब लोगोंने आकर बड़ी प्रार्थना की और प्रसादकी महिमा स्वीकार की तब इन्होंने अग्निको मुक्त कर दिया। इनके जीवनमें ऐसी अनेकों घटनाएँ हैं। परन्तु भक्तोंके जीवनमें इन घटनाओंका क्या महत्त्व है। ये 'श्रीकरभाष्य' के रूपमें सम्पूर्ण शैवजगत्के चिरस्मरणीय हैं।

श्रीनिजगुणशिवयोगी

इन महात्माका जन्म कर्नाटक प्रदेशमें हुआ था। ये वीरशैवमतके आराध्य ब्राह्मण थे। इनका समय ईस्वी सन्‌की चौदहवीं शताब्दी है। पहले ये मद्रास प्रान्तके कोयिमत्तूरु जिलेके कोल्लेगाल तालुकके शम्भुलिंगनवेट्ट (शम्भुलिंगगिरि) के आस-पासके प्रदेशके राजा थे। पूर्वजन्मोंके पुण्यफलसे इन्हें राज्योपभोगसे घृणा हो गयी और परम विरक्त होकर इन्होंने शम्भुलिंगगिरिमें निवास करके बड़ी तपस्या की। राजा होनेपर भी इन्होंने शास्त्रोंका बड़ा अभ्यास किया था। अब यहाँ उसकी सफलताका समय आया। ये सर्वदा शम्भुलिंगके ध्यानमें मग्न रहनेपर भी लोकहितार्थ कर्नाटक भाषामें वेदान्तशास्त्रका मर्म लिखा करते। इनके ग्रन्थ बड़े ही मनोहर हैं। परमार्थगीता आदि छः ग्रन्थ बड़े प्रसिद्ध हैं। लोग इन्हें शंकरका अपरावतार मानते हैं।

श्रीमल्लिकार्जुन शिवयोगी

ये काशीक्षेत्रके श्रीजगद्‌गुरुविश्वाराध्यपीठके अधिपति थे। इनका समय अनुमानतः २५० वर्ष पूर्व मानना चाहिये। ये सदा शिवयोगचिन्तनमें ही अपना समय व्यतीत करते थे। सब मतवादियोंने इनकी महिमा स्वीकार की थी। इनके समयमें उत्तरी भारतमें औरंगजेबका बड़ा उपद्रव था। जब उसने काशी आकर दूसरे अनेकानेक मन्दिरोंको नष्ट किया और जंगमबाड़ीका शिवमठ तोड़नेके लिये आया, उस समय ये महानुभाव शिवपूजामें संलग्न थे। पूजा समाप्त होनेपर जब शिष्योंने इन्हें यह समाचार सुनाया तब इन्होंने फाटकपर आकर ऐसा उग्र रूप दिखलाया कि औरंगजेबकी सेना डरकर इधर-उधर भाग गयी। औरंगजेब पागल होकर जमीनपर गिर पड़ा और चिल्लाने लगा। उसकी दयनीय दशा देखकर जब इन्होंने उसे क्षमा कर दिया तब उसने इनकी शरण ग्रहण करके जंगमबाड़ीमठके नामपर भूमिदान किया और फारसी भाषामें एक दानपत्र लिखकर दिया, जिसका भावार्थ यह है—'मेरे जंगमबाड़ीमठमें जाते ही उस मठकी मूर्ति मेरे सामने खड़ी हुई दीख पड़ी। वह मूर्ति एकदम काली थी, आँखें प्रलयाग्निके समान थीं। मस्तकके ऊपर केश बकरेकी भाँति बढ़े हुए थे। आकार छोटा होनेपर भी भूमि और आकाशको एक करके वह खड़ी थी। देखकर मैं भयभीत होकर शरणागत हुआ हूँ और भक्तिपूर्वक भूदान करता हूँ।' यह दानपत्र अबतक काशीके जंगमबाड़ीमठमें सुरक्षित है। इसीसे मल्लिकार्जुनकी महिमा प्रकट होती है। रीवाँके महाराज श्रीभावसिंहदेव एवं श्रीअवधसिंहजू देवने आकर इनके दर्शन किये और मठकी सुव्यवस्थाके लिये खारी नामक ग्रामका दान किया। उस दानका समय वि०सं० १७४० वैशाख शुक्ल द्वितीया, रविवार है। यह दानपत्र भी काशीके मठमें विद्यमान है। इन शिवयोगीकी कीर्ति अमर है।

जगद्‌गुरु श्रीसिद्धलिंग शिवाचार्य महास्वामीजी

ये महात्मा मैसूर राज्यके चित्रदुर्ग जिलेमें 'बंगार-नायकनहल्लि' नामक गाँवमें गुरुस्थल-मठाधिकारियोंके वंशमें सन् १८९० ई० में प्रकट हुए थे। बचपनमें ही इनके मुँहपर अद्‌भुत ज्योति थी। इन्हें देखकर लोग कहते थे कि ये अवश्य योगिराज होंगे। इनकी तेरह वर्षकी अवस्थामें उज्जयिनी-पीठाधिपतियोंकी दृष्टि इनपर पड़ी। उन्होंने सोचा, यह बालक पीठका अधिपति हो जाय तो यह सिंहासन जगद्विख्यात हो जायगा। उन्होंने बालकके पिताको बुलाया और इस बालकको उसकी प्रसन्नतासे ले लिया।

इन्हें ई० सन् १९०३ में जगद्‌गुरुपीठका अधिकार मिला। अधिकार मिलते ही इन्होंने अपने इस पीठमें संस्कृतके बड़े-बड़े विद्वान् रखे और जन्मान्तरके संस्कारसे चार-पाँच वर्षमें ही विशेष पाण्डित्यका सम्पादन कर लिया। इसके बाद धर्मपीठकी पद्धतिके अनुसार इन्होंने देश-देशमें भ्रमण किया। उज्जयिनी-धर्मपीठकी दुरवस्था दूर करके उसकी बड़ी उन्नति की। इनके सद्‌गुणोंको देखकर लोग इन्हें शिवका अवतार ही मानते थे। इनमें संतोंके सब लक्षण विद्यमान थे। ये बड़े एकान्तप्रिय थे और कभी-कभी तीन-चार दिनतक समाधिमें ही बैठे रहते थे। सिद्धान्तशिखामणिसे इनका बड़ा प्रेम था।

इन्होंने अनेकों रोगियोंके रोग दूर किये थे और बड़े-बड़े हिंसक जन्तु भी इनके सामने वैरभाव छोड़कर परस्पर प्रेम करते थे। महाराष्ट्रके वार्शी नामक ग्राममें हजारों आदमियोंके सामने ऐसी घटना हुई थी। हिमवत्केदारपीठ तो इन्हींकी कृपासे प्रकाशमें आया। ई० सन् १९३६ की १२ जनवरीके दिन इन्होंने शिवसन्निधिमें गमन किया।

—शिवम्भूयात्

महात्मा तिरुमूलर

(लेखक—श्रीदण्डपाणिजी)

भगवान् श्रीयोगीश्वर परमहंस तिरुमूलर स्वामी हिमालयके उन सिद्ध योगियोंमें हैं जो मानवजातिको अधर्म और उसके परिणाम सर्वनाशसे बचानेके लिये इच्छानुसार किसी भी मानवदेहको धारणकर साधारण मनुष्योंकी भाँति जीवन व्यतीत करते हैं। शिवजीके प्रधानगण नन्दीसे इन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी और भगवान् शंकरकी इनपर पूर्ण कृपा थी।

मनुष्यदेह धारण करनेके पूर्व जब ये हिमालयमें रहते थे उस समय इनका कुछ और ही नाम था, जिसका लोगोंको इस समय पता नहीं। एक बार इनकी श्रीअगस्त्य मुनिसे मिलनेकी इच्छा हुई, जो उन दिनों दक्षिण भारतमें रहते थे। अत: ये अपने गुरुदेवकी आज्ञा लेकर दक्षिणकी ओर चल पड़े। मार्गमें इन्होंने तिरुक्कदारम्, नैपाल, काशी, तिरुपरुपत्तम्, श्रीकलाति, कांची आदि क्षेत्रोंके दर्शन किये। कांचीमें इन्हें कई शक्तिशाली योगियोंके दर्शन हुए। वहाँसे ये और भी आगे बढ़े और तिरुवडिहै (जो South Indian Railway के पनरुट्टि नामक स्टेशनके निकट है) होते हुए चिदम्बरम् गये और वहाँ भगवान् नटराजका दर्शन किया। चिदम्बरम्से और आगे चलकर ये तिरुवावदुथुरै नामक स्थानपर पहुँचे और वहीं इनकी मानव-लीला प्रारम्भ हुई।

यहाँसे ये अन्यत्र जानेका विचार कर ही रहे थे कि इनके अंदर एक ऐसी अदृश्य प्रेरणा हुई जिसने उन्हें वहीं रहनेके लिये बाध्य किया। अत: वे कुछ घंटे वहाँ ठहरकर अपनी इच्छाके विरुद्ध आगे बढ़े। मार्गमें कावेरी नदीके तटपर इन्हें गायोंके रंभानेकी आवाज सुनायी दी, जिससे इन्होंने यह अनुमान किया कि अवश्य ही इनका रक्षक मर गया है जिसके कारण ये इतनी व्याकुल हो रही हैं। थोड़ी दूर आगे बढ़नेपर इन्होंने देखा कि उनके पास ही किसी मनुष्यकी लाश पड़ी हुई है और गौएँ उस लाशको सूँघ-सूँघकर चिल्ला रही हैं और उसे चारों ओरसे घेरे खड़ी हैं। उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही है, जिससे वह लाश भीग गयी है। बेचारे उन पशुओंको क्या पता कि वह लाश अब उठनेकी नहीं है।

अपने घरोंकी तथा बछड़ोंकी सुध-बुध भुलाकर वे गायें शामतक वहीं खड़ी हुई रोती और रंभाती रहीं। अब तो चारों ओर अँधेरा छा गया, परन्तु गायें वहाँसे किसी प्रकार भी हटती नहीं थीं। श्रीपरमहंस तिरुमूलरको इनकी दीन दशा देखकर बड़ी दया आयी। इन्होंने गौओंका शोक दूर करनेका और कोई उपाय न देखकर उस ग्वालेकी मृतदेहमें प्रवेश करनेका विचार किया, क्योंकि इन्हें सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त थीं। इन्होंने तुरन्त अपने सूक्ष्म शरीरको निकालकर उस मृतदेहमें प्रविष्ट कर दिया और अपने सिद्ध देहको उठाकर एक वृक्षकी शाखासे बाँध दिया।

योगीश्वरने जिस शरीरमें प्रवेश किया वह एक ग्वालेका शरीर था। उसका नाम था मूलन्। वह एदयर् वंशका था। गोपालन ही उसकी जीविका थी। कावेरीके तटपर सथनूर नामक स्थानमें उसका जन्म हुआ था। गायें चराते-चराते ही उसकी मृत्युकी घड़ी उपस्थित हो गयी और उसने जंगलमें ही प्राण त्याग दिये। उसके घरपर उसकी स्त्री शामको बड़ी देरतक उसका रास्ता देखती रही। मूलन् हमेशा जल्दी ही लौट आया करता था, आज उसके इतनी देरतक न आनेका कारण वह समझ न सकी। बेचारीको क्या पता था कि मूलन्के प्राणपखेरू सदाके लिये इस संसारसे कूच कर गये हैं। जब रात अधिक बीत गयी तो उसके मनमें शंका हुई और वह अनिष्टकी कल्पनाकर रोने लगी। इधर महात्मा तिरुमूलरने ज्यों ही मूलन्के मृतदेहमें प्रवेश किया त्यों ही उसकी देहमें प्राण आ गये और वह इस प्रकार उठ खड़ा हुआ मानो अभी सोकर उठा हो। अपने स्वामीके

उठ जानेपर गौओंका शोक भी जाता रहा और वे मारे प्रसन्नताके इस प्रकार उछलने और कूदने लगीं मानो कुछ हुआ ही न था। वे सब-की-सब अपने स्वामीको चाटने लगीं।

महात्मा तिरुमूलरने गौओंको साथ लेकर मूलन्के गाँवका रास्ता लिया। रास्तेमें इस नयी घटनाके हो जानेके कारण इन्होंने अगस्त्य मुनिके पास जानेका विचार कुछ समयके लिये स्थगित कर दिया। इन्होंने अपने घर पहुँचकर गौओंको अपने-अपने स्थानपर बाँध दिया और द्वारपर जाकर खड़े हो गये, जहाँ मूलन्की स्त्री चिन्तातुर हो अपने पतिके आगमनकी प्रतीक्षा कर रही थी। उसने सदाकी भाँति पतिका बड़ा स्वागत किया और तिरुमूलरके समीप आकर प्रेमसे उसका आलिंगन करना चाहती थी कि तिरुमूलर वहाँसे पीछे हट गये और उससे कहने लगे—'खबरदार! किसी परपुरुषको भूलकर भी न छूना।' यों कहकर वे मूलन्की स्त्रीको रोती हुई छोड़कर तुरंत वहाँसे चल दिये और पास ही एक मठमें जाकर वहीं अपना आसन लगाया। थोड़ी ही देरमें उनकी समाधि लग गयी और बड़ी देरतक वे उसी अवस्थामें बैठे रहे।

मूलन्की स्त्री अपने पतिके निष्ठुर बर्तावका कारण न समझ सकी। वह महात्माके पीछे-पीछे मठमें आयी और वहाँ उन्हें निश्चेष्टभावसे ध्यान लगाये बैठे देखकर आश्चर्यमें डूब गयी। वह रातभर चिन्ताके मारे रोती रही। प्रात:काल होते ही वह अपने पड़ोसियोंको इकट्ठा करके उन्हें मठमें लिवा ले गयी। वहाँ उन्होंने देखा कि मूलन् सचमुच योगीकी तरह ध्यान लगाये बैठा है, उसके शरीरमेंसे एक अद्भुत तेज निकल रहा है और उसे बाह्य ज्ञान बिलकुल नहीं है। मूलन्को इस अवस्थामें देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ, वे लोग बड़ी देरतक इस आशामें बैठे रहे कि मूलन् समाधिसे उठे तो उससे सारा हाल पूछा जाय। कुछ लोगोंने कहा—'अजी! तुम किस फेरमें पड़े हो? यह तो पागल हो गया है, अब इसकी आशा छोड़ देनी चाहिये।' यों कहकर वे मूलन्की स्त्रीको लेकर वापस चले गये। किसीको यह पता न लगा कि मूलन् कभीका इस असार संसारसे चल बसा और अब उसके शरीरपर एक सिद्ध योगीश्वरका अधिकार हो गया है। लगता भी कैसे?

उनके चले जानेके थोड़ी देर बाद महात्मा तिरुमूलरकी समाधि टूटी और वे वहाँसे उठकर उस स्थानपर आये जहाँ उन्होंने अपने असली शरीरको एक वृक्षकी डालीपर बाँधकर रखा था। परन्तु उन्हें वह शरीर वहाँपर नहीं मिला। यह देखकर तिरुमूलरको बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि उन्होंने उस शरीरको ऐसी जगहपर रखा था जहाँ किसीकी भी दृष्टि उसपर नहीं पड़ सकती थी। उन्होंने मनमें यह निश्चय कर लिया कि भगवान्की इच्छासे ही यह सब काण्ड हुआ है। उन्होंने सोचा कि भगवान्की इच्छा मुझे यहीं रखनेकी मालूम होती है। अत: उन्होंने भगवान्की इच्छामें अपनी इच्छाको मिलाकर मूलन्के रूपमें वहीं रहनेका निश्चय कर लिया। पीछेसे उन्हें दिव्य दृष्टिसे यह भी पता लगा कि भगवान् उनके द्वारा संसारका कुछ कल्याण करवाना चाहते हैं। भगवान्की इच्छा थी कि तिरुमूलरके द्वारा शैवागम-शास्त्रका तामिल-पद्यमें अनुवाद हो जिसे पढ़कर सब लोग अपना कल्याण कर सकें, इसीलिये उनके असली देहको भगवान्ने छिपा दिया था।

भगवान्का आदेश पाकर तिरुमूलर सथनूरसे तिरुवावदुथुरै चले आये। वहाँ मूलन्की स्त्री और उसके सम्बन्धी एक बार फिर इनके पास आये और इन्हें घर लौटकर गृहस्थाश्रममें ही रहनेके लिये बहुत आग्रह किया, क्योंकि वे लोग अबतक यही समझते थे कि मूलन् ही गृहस्थी छोड़कर साधु हो गया है। अब तो इन्हें मूलन्की स्त्री और उसके सम्बन्धियोंपर बड़ी दया आयी और इन्होंने उनपर अपना असली हाल प्रकट कर दिया, जिससे वे लोग निराश होकर अपने घर लौट गये। तिरुवावदुथुरै पहुँचकर महात्मा तिरुमूलरने भगवान् शिवकी आराधना की और भगवान्के आदेशानुसार शैवागम-शास्त्रको तामिल-भाषामें लिख डाला। इस ग्रन्थमें कुल तीन हजार पद्य हैं और यह ग्रन्थ तिरुमूलमन्त्रम्के नामसे प्रसिद्ध हुआ। यह ग्रन्थ इन्होंने 'अरसू' नामके वृक्षके नीचे बैठकर लिखा था, जो तिरुवावदुथुरैके मन्दिरके पश्चिमकी ओर स्थित था। इसके अनन्तर ये दक्षिणकी यात्रा समाप्तकर तथा अपने अभीष्टको पूराकर कैलाशको लौट गये। विद्वानोंका कहना है कि श्रीतिरुमूलरस्वामी सन् १५० ईसवीसे लेकर सन् ९०० ईसवीतक मानवदेहमें रहे, और कुछ लोगोंकी धारणा यह है कि वे ३०० ईसवीसे लेकर ७०० ईसवीतक

पृथ्वीपर रहे। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् डा० ए० बी० कीथ भी प्राय: पहले मतका ही अनुमोदन करते हैं। तिरुमूलर-मन्त्रकी छपी हुई प्रतियोंमें आजकल ३०४७ पद्य मिलते हैं, परन्तु मालूम होता है कि ४७ पद्य पीछेसे तिरुमूलरके शिष्योंने जोड़ दिये। क्योंकि तिरुमूलरने स्वयं केवल तीन हजार पद्य, बल्कि उससे भी कम, लिखे थे!

श्रीयामुनाचार्य

श्रीवैष्णवसम्प्रदायके एक प्रधान आचार्य नाथमुनि हो गये हैं। वह लगभग ९६५ वि० संवत्में वर्तमान थे। उनके एक पुत्र थे ईश्वरमुनि। ईश्वरमुनि बहुत छोटी अवस्थामें ही परलोक सिधार गये। इन ईश्वरमुनिके ही पुत्र श्रीयामुनाचार्य थे। पिताकी मृत्युके समय यामुनाचार्यकी अवस्था लगभग दस वर्षकी थी।

पुत्रकी मृत्युके बाद नाथमुनिने संन्यास ले लिया और मुनियोंकी तरह पवित्र जीवन बिताने लगे। इसी कारण उनका नाम नाथमुनि पड़ गया। कहते हैं, उन्होंने योगमें अद्‌भुत सिद्धियाँ प्राप्त की थीं और इसी कारण वे 'योगीन्द' कहलाते थे। उन्होंने दो ग्रन्थोंकी रचना की, जिनमें उन्होंने अपने मतका वर्णन किया है। ये दोनों ग्रन्थ भी वैष्णवोंके परम आदरकी वस्तु हैं।

पिताकी मृत्यु हो जाने तथा पितामहके संन्यास ले लेनेके कारण यामुनाचार्यका लालन-पालन उनकी दादी और माताने किया। उनका जन्म १०१० वि० संवत्में वीरनारायणपुर या मदुरामें हुआ था। यामुनाचार्यकी अलौकिक प्रतिभाका परिचय उनके बचपनसे ही मिलने लगा। वह अपने गुरु श्रीमद्‌भाष्याचार्यसे शिक्षा लेने लगे और थोड़े समयमें ही सब शास्त्रोंमें पारंगत हो गये। उनका विनीत और मधुर स्वभाव बरबस सबको उनकी ओर आकृष्ट करता था। उन्होंने बारह वर्षकी अवस्थामें ही अपनी बुद्धिकी प्रखरताके बलसे पाण्ड्यराज्यके आधे हिस्सेका अधिकार प्राप्त कर लिया। जिन दिनों वह अपने गुरुदेवके पास रहकर विद्याध्ययन करते थे, उन दिनों पाण्ड्यराजकी सभामें विद्वज्जनकोलाहल नामक एक दिग्विजयी पण्डित थे। राजा उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिका भाव रखते थे। जो पण्डित कोलाहलके साथ शास्त्रार्थमें हार जाते थे, उन्हें राजाकी आज्ञाके अनुसार दण्डस्वरूप कुछ वार्षिक कर कोलाहलको देना पड़ता था। कोलाहल सम्राटकी तरह पण्डितोंसे कर वसूल किया करते थे। यामुनाचार्यके गुरु भाष्याचार्य भी उन्हें कर दिया करते थे।

एक समय अर्थाभाव होनेके कारण भाष्याचार्यने दो-तीन वर्षतक कर नहीं चुकाया। एक दिन कोलाहलका एक शिष्य भाष्याचार्यकी पाठशालापर कर माँगने आया। उसका नाम वंजि था। उस समय भाष्याचार्य कहीं बाहर गये थे, यामुनाचार्य ही वहाँ अकेले आसनपर बैठे थे। वंजिने आकर बड़े कड़े शब्दोंमें भाष्याचार्यको पूछा और बकाया कर माँगा। उसके व्यवहारसे क्षुब्ध होकर यामुनाचार्यने भी कड़े शब्दोंमें उससे कहा—'तुम्हारे गुरुसे मैं शास्त्रार्थ करनेके लिये तैयार हूँ।' वंजि यह सुनकर बड़ा क्रोधित हुआ और अपने गुरुके पास जाकर उसने सारा हाल सुना दिया। सभाके सब लोग १२ वर्षके बालककी ढिठाईपर चंचल हो उठे। राजाने फिरसे आदमी भेजकर पुछवाया कि क्या सचमुच वह लड़का शास्त्रार्थ करना चाहता है। यामुनाचार्यने अपनी स्वीकृति भेज दी और राजासे पण्डितोचित सवारी भेजनेकी प्रार्थना कर दी। राजाने एक सवारी भेज दी। जब भाष्याचार्यने पाठशालामें वापस आनेपर यह सब हाल सुना तो वह बहुत घबड़ाये। यामुनाचार्यने उन्हें आश्वासन दिलाया और उनको प्रणाम करके सवारीपर बैठ गये।

उधर राजसभामें राजा और रानीमें यामुनाचार्यके विषयमें मतभेद हो गया। राजा कोलाहलके पक्षमें थे और रानी यामुनाचार्यके। रानीने कहा कि विजय यामुनकी होगी और यदि न हुई तो मैं महाराजकी क्रीतदासीकी भी दासी बनूँगी। राजाने भी प्रतिज्ञा की कि यदि बालक कोलाहलको हरा देगा तो मैं उसे आधा राज्य दे दूँगा। इसी बीच यामुनाचार्य सभामें उपस्थित हुए। कोलाहलने बालकको देखकर बड़े गर्वसे हँसते हुए रानीसे कहा—'क्या यही लड़का मुझे जीतेगा?' रानीने कहा—'हाँ, यही लड़का आपको परास्त करेगा।'

शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। यामुनाचार्यने कोलाहलसे तीन प्रश्न किये—

(१) आपकी माता वन्ध्या नहीं है, इस बातका

खण्डन कीजिये। (२) पाण्ड्याधीश धर्मशील हैं, इसका खण्डन कीजिये। (३) रानी सावित्रीकी तरह साध्वी है, इसका खण्डन कीजिये। कोलाहल प्रश्न सुनकर बड़े चकराये। वह कुछ भी उत्तर न दे सके। अन्तमें यामुनाचार्यसे उत्तर देनेके लिये कहा गया। यामुनाचार्यने तीनों प्रश्नोंका उत्तर दे दिया। रानीने प्रसन्न होकर कहा—'कोलाहल! बालकने सचमुच तुम्हें जीत लिया।' रानीने उस समय अपनी भाषामें 'आळवन्दार' कहकर अपना भाव व्यक्त किया था, इस कारण उसी दिनसे यामुनाचार्यका नाम 'आळवन्दार' पड़ गया। राजाने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार यामुनाचार्यको आधा राज्य दे दिया! यामुनाचार्य सिंहासनपर बैठकर बड़ी दक्षताके साथ राज-काज सँभालने लगे। उन्होंने समीपके कितने ही राजाओंको परास्त किया।

नाथमुनि संन्यासी होनेपर भी अपने पौत्र यामुनाचार्यकी मंगलकामना करते रहते थे। उन्होंने इहलीला संवरण करते समय सच्चे दादाका कर्तव्य पालन करते हुए अपने शिष्य राममिश्रसे कहा—'देखना कहीं यामुनाचार्य विषयभोगमें फँसकर अपने कर्तव्यको न भूल जाय। इसका भार मैं तुम्हारे ऊपर डालता हूँ।'

यामुनाचार्य जब पैंतीस वर्षके हुए तो एक दिन राममिश्र उनके पास गये। उन्होंने राजासे कहा—'महाराज! आपके पितामह आपके लिये बहुत-सा धन छोड़ गये हैं, उसे लेनेके लिये आप मेरे साथ चलिये।' राजा उनके साथ हो लिये। राममिश्र उन्हें इस बहाने श्रीरंगनाथके मन्दिरमें ले आये। रास्तेमें परमभक्त राममिश्रका स्पर्श प्राप्त करने तथा भगवत्सम्बन्धी आलोचना करनेके कारण यामुनाचार्यके हृदयमें भक्तिस्रोत उमड़ पड़ा, वैराग्यसे उनका हृदय भर गया। वह राममिश्रका उपदेश सुनकर मुग्ध हो गये और उसी दिनसे राजपाट छोड़कर यामुनाचार्य श्रीरंगनाथजीके सेवक हो गये। आज उन्होंने सच्चा धन प्राप्त कर लिया। तबसे उन्होंने अपना शेष जीवन भगवत्सेवा तथा ग्रन्थप्रणयनमें बिताया। उन्होंने संस्कृतमें चार ग्रन्थोंकी रचना की—'स्तोत्ररत्न', 'सिद्धित्रय', 'आगमप्रामाण्य' और 'गीतार्थसंग्रह'। इनमें सबसे प्रधान 'सिद्धित्रय' है। यह गद्य और पद्यमें लिखा गया है। इसमें यामुनाचार्यकी दार्शनिक प्रतिभाका विकास दिखायी देता है। उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें विशिष्टाद्वैतवादका प्रतिपादन किया है।

श्रीयामुनाचार्य श्रीरामानुजाचार्यके परमगुरु थे। यामुनाचार्यका श्रीरामानुजाचार्यपर बड़ा प्रेम था और रामानुजाचार्य भी उनके प्रति अटूट भक्तिभाव रखते थे। यामुनाचार्यने मृत्युकालमें रामानुजाचार्यको स्मरण किया, परन्तु उनके पहुँचनेके पूर्व ही वे दिव्यधामको पधार गये। उनके मनमें रही हुई तीन कामनाओंको श्रीरामानुजाचार्यने भलीभाँति पूर्ण किया।

श्रीरामानुजाचार्य

(लेखक—स्वामी श्रीशुद्धानन्दजी)

श्रीरामानुजाचार्य बड़े ही विद्वान्, सदाचारी, धैर्यवान्, सरल एवं उदार थे। ये आचार्य आळवन्दार (यामुनाचार्य) की परम्परामें थे। इनके पिताका नाम केशवभट्ट था। ये दक्षिणके तेरुँकुदूर नामक क्षेत्रमें रहते थे। जब इनकी अवस्था बहुत छोटी थी तभी इनके पिताका देहान्त हो गया और इन्होंने कांचीमें जाकर यादवप्रकाश नामक गुरुसे वेदाध्ययन किया। इनकी बुद्धि इतनी कुशाग्र थी कि ये अपने गुरुकी व्याख्यामें भी दोष निकाल दिया करते थे। इसीलिये गुरु इनसे बड़ी ईर्ष्या करने लगे, यहाँतक कि वे इनके प्राण लेनेतकको उतारू हो गये। उन्होंने रामानुजके सहाध्यायी एवं चचेरे भाई गोविन्दभट्टसे मिलकर यह षड्यन्त्र रचा कि गोविन्दभट्ट रामानुजको काशीयात्राके बहाने किसी घने जंगलमें ले जाकर वहीं उनका काम तमाम कर दें। गोविन्दभट्टने ऐसा ही किया। परन्तु भगवान्‌की कृपासे एक व्याध और उसकी स्त्रीने इनके प्राणोंकी रक्षा की।

विद्या, चरित्रबल और भक्तिमें रामानुज अद्वितीय थे। इन्हें कुछ योगसिद्धियाँ भी प्राप्त थीं, जिनके बलसे इन्होंने कांची नगरीकी राजकुमारीको प्रेतबाधासे मुक्त कर दिया। जब महात्मा आळवन्दार मृत्युकी घड़ियाँ गिन रहे थे, उन्होंने अपने शिष्यके द्वारा रामानुजाचार्यको अपने पास बुलवा भेजा। परन्तु रामानुजके श्रीरंगम् पहुँचनेके पहले ही आळवन्दार भगवान् नारायणके धाममें पहुँच चुके थे। रामानुजने देखा कि आळवन्दारके

हाथकी तीन उँगलियाँ मुड़ी हुई हैं। इसका कारण कोई नहीं समझ सका। रामानुज तुरन्त ताड़ गये, यह संकेत मेरे लिये है। उन्होंने यह जान लिया कि आळवन्दार मेरेद्वारा ब्रह्मसूत्र, विष्णुसहस्रनाम और आळवन्दारोंके '**दिव्यप्रबन्धम्**' की टीका करवाना चाहते हैं। उन्होंने आळवन्दारके मृत शरीरको प्रणाम किया और कहा—'भगवन्! मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, मैं इन तीनों ग्रन्थोंकी टीका अवश्य लिखूँगा अथवा लिखवाऊँगा।' रामानुजके यह कहते ही आळवन्दारकी तीनों उँगलियाँ सीधी हो गयीं। इसके बाद श्रीरामानुजने आळवन्दारके प्रधान शिष्य पेरियनाम्बिसे विधिपूर्वक वैष्णव-दीक्षा ली और भक्तिमार्गमें प्रवृत्त हो गये।

रामानुज गृहस्थ थे परन्तु अब उन्होंने देखा कि गृहस्थीमें रहकर अपने उद्देश्यको पूरा करना कठिन है तब उन्होंने गृहस्थका परित्याग कर दिया और श्रीरंगम् जाकर यतिराज नाम संन्यासीसे संन्यासकी दीक्षा ले ली। इधर इनके गुरु यादवप्रकाशको अपनी करनीपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और वे भी संन्यास लेकर श्रीरामानुजकी सेवा करनेके लिये श्रीरंगम् चले आये। उन्होंने अपना संन्यास-आश्रमका नाम गोविन्दयोगी रखा।

आचार्य रामानुज दयामें भगवान् बुद्धके समान, प्रेम और सहिष्णुतामें ईसामसीहके प्रतियोगी, शरणागतिमें आळवारोंके अनुयायी और प्रचारकार्यमें सेन्ट जॉनके समान उत्साही थे। इन्होंने तिरुकोट्टियूरके महात्मा नाम्बिसे अष्टाक्षर मन्त्र (**ॐ नमो नारायणाय**) की दीक्षा ली थी। नाम्बिने मन्त्र देते समय इनसे कहा था कि तुम इस मन्त्रको गुप्त रखना। परन्तु रामानुजने सभी वर्णके लोगोंको एकत्रकर मन्दिरके शिखरपर खड़े होकर सब लोगोंको वह मन्त्र सुना दिया। गुरुने जब रामानुजकी इस धृष्टताका हाल सुना तो वे इनपर बड़े रुष्ट हुए और कहने लगे—'तुम्हें इस अपराधके बदले नरक भोगना पड़ेगा।' श्रीरामानुजने इसपर बड़े विनयपूर्वक कहा कि 'भगवन्! यदि इस महामन्त्रका उच्चारण कर हजारों आदमी नरककी यन्त्रणासे बच सकते हैं तो मुझे नरक भोगनेमें आनन्द ही मिलेगा।' रामानुजके इस उत्तरसे गुरुका क्रोध जाता रहा, उन्होंने बड़े प्रेमसे इन्हें गले लगाया और आशीर्वाद दिया। इस प्रकार रामानुजने अपनी समदर्शिता और उदारताका परिचय दिया।

रामानुजने आळवन्दारकी आज्ञाके अनुसार आळवारोंके '**दिव्यप्रबन्धम्**' का कई बार अनुशीलन किया और उसे कण्ठ कर डाला। उनके कई शिष्य हो गये और उन्होंने इन्हें आळवन्दारकी गद्दीपर बिठाया। परन्तु इनके कई शत्रु भी हो गये जिन्होंने कई बार इन्हें मरवा डालनेकी चेष्टा की। एक दिन इनके किसी शत्रुने इन्हें भिक्षामें विष मिला हुआ भोजन दे दिया, परन्तु एक स्त्रीने इन्हें सावधान कर दिया और इस प्रकार रामानुजके प्राण बच गये। रामानुजने आळवारोंके भक्तिमार्गका प्रचार करनेके लिये सारे भारतकी यात्रा की और गीता तथा ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखे। वेदान्तसूत्रोंपर इनका भाष्य 'श्रीभाष्य' के नामसे प्रसिद्ध है और इनका सम्प्रदाय भी 'श्रीसम्प्रदाय' कहलाता है, क्योंकि इस सम्प्रदायकी आद्यप्रवर्तिका श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी मानी जाती हैं। यह ग्रन्थ पहले-पहल काश्मीरके विद्वानोंको सुनाया गया था। इनके प्रधान शिष्यका नाम कूरत्ताळवार (कूरेश) था। कूरत्ताळवारके पराशर और पिल्लन् नामके दो पुत्र थे। रामानुजने पराशरके द्वारा विष्णुसहस्रनामकी टीका लिखवायी और पिल्लन्से '**दिव्यप्रबन्धम्**' की टीका लिखवायी। इस प्रकार उन्होंने आळवन्दारकी तीनों इच्छाओंको पूर्ण किया!

उन दिनों श्रीरंगम्पर चोळदेशके राजा कुळोत्तुंगका अधिकार था। ये बड़े कट्टर शैव थे। इन्होंने श्रीरंगजीके मन्दिरपर एक ध्वजा टँगवा दी थी, जिसपर लिखा था—'**शिवात्परं नास्ति**' (शिवसे बढ़कर कोई नहीं है।) जो कोई इसका विरोध करता उसके प्राणोंपर आ बनती थी। कुळोत्तुंगने एक बार रामानुजको अपने दरबारमें बुलवा भेजा। रामानुज राजाके अभिप्रायको जान गये। उन्हें अभी विशिष्टाद्वैतको स्थापित करनेके लिये बहुत कुछ कार्य करना था, इसलिये इनके शिष्य कूरत्ताळवार अपने गुरुका वेष धारणकर पेरियनाम्बिके साथ कुळोत्तुंगके दरबारमें जानेको तैयार हो गये। वहाँ जाकर कूरत्ताळवारने वैष्णवधर्मकी पुष्टि की। इसपर राजाको बड़ा क्रोध आया और उसने इनकी आँखें निकलवा लीं। इन्होंने अपने गुरुके लिये उस महान् पीड़ाको बड़े आनन्दसे सहन कर लिया। इनका शेष जीवन भी दरिद्रताके कारण बड़े कष्टसे बीता; परन्तु इन्होंने उसकी कुछ भी परवा नहीं की और उस कष्टका तपके रूपमें वरण किया, कष्टके निवारणके लिये भगवान्से कभी प्रार्थना नहीं की। भगवान्से तो

इन्होंने बार-बार यही माँगा कि प्रभो! मेरी तुम्हारे चरणोंमें भक्ति सदा बढ़ती ही रहे और मेरा जीवन तुम्हारे चरणोंमें सदाके लिये समर्पित हो जाय।

इसके बाद कुळोत्तुंगको रामानुजकी खोज हुई, उसने कूरत्ताळवारकी आँखें निकलवाकर ही सन्तोष नहीं किया। किन्तु उन दिनों आचार्य रामानुज मैसूरराज्यके शालग्राम नामक स्थानमें रहने लगे थे। वहाँके राजा भिट्टिदेव उस समय वैष्णवधर्मके सबसे बड़े पक्षपाती थे। आचार्य रामानुजने वहाँ बारह वर्षतक रहकर वैष्णव धर्मकी बड़ी सेवा की। सन् १०९९ में उन्हें नम्मळे नामक स्थानमें एक प्राचीन मन्दिर मिला और राजाने उसका जीर्णोद्धार करवाकर उसका पुनः नये ढंगसे निर्माण करवाया। वह मन्दिर आज भी तिरुनारायणपुरके नामसे प्रसिद्ध है। वहाँपर श्रीरामका जो प्राचीन विग्रह है वह पहले दिल्लीके बादशाहके अधिकारमें था। बादशाहकी लड़की उसे प्राणोंसे भी बढ़कर मानती थी। रामानुज अपनी योगशक्तिके द्वारा बादशाहकी स्वीकृति प्राप्तकर उस विग्रहको वहाँसे ले आये और उसकी पुनः तिरुनारायणपुरमें स्थापना की। रास्तेमें कुछ डाकुओंने इनपर आक्रमण किया, परन्तु कुछ अछूत भक्तोंने इनकी रक्षा की। उनकी इस सेवासे प्रसन्न होकर आचार्य रामानुजने तिरुनारायणपुरके मन्दिरमें अछूतोंके प्रवेशकी आज्ञा दे दी और उनका नाम तिरुक्कुलत्तर (हरिजन) रखा।

राजा कुळोत्तुंगका देहान्त हो जानेपर आचार्य रामानुज श्रीरंगम् चले आये। वहाँ उन्होंने एक मन्दिर बनवाया जिसमें नम्माळवार और दूसरे आळवार संतोंकी प्रतिमाएँ स्थापित की गयीं, और उनके नामसे कई उत्सव भी जारी किये। उन्होंने तिरुपतिके मन्दिरमें भगवान् गोविन्दराजपेरुमलकी पुनः स्थापना करवायी और मन्दिरका पुनः निर्माण करवाया। उन्होंने देशभरमें भ्रमण करके हजारों नर-नारियोंको भक्तिमार्गमें लगाया। आचार्य रामानुजके चौहत्तर शिष्य थे, जो सब-के-सब संत हुए। इन्होंने कूरत्ताळवारके पुत्र महात्मा पिल्ललोकाचार्यको अपना उत्तराधिकारी बनाकर एक-सौ-बीस वर्षकी अवस्थामें इस असार संसारको त्याग दिया।

रामानुजके सिद्धान्तके अनुसार भगवान् ही पुरुषोत्तम हैं। वे ही प्रत्येक शरीरमें साक्षीरूपमें विद्यमान हैं। वे जगत्के नियन्ता, शेषी (अवयवी) एवं स्वामी हैं। और जीव उनका नियम्य, शेष तथा सेवक है। अपने व्यष्टि अहंकारको सर्वथा मिटाकर भगवान्की सर्वतोभावेन शरण ग्रहण करना ही जीवनका परम पुरुषार्थ है। भगवान् नारायण ही सत् हैं, उनकी शक्ति महालक्ष्मी चित् हैं और यह जगत् उनके आनन्दका विलास है, रज्जुमें सर्पकी भाँति असत् नहीं है। जिस प्रकार डाइनेमोमेंसे आकाशीय विद्युत् प्रकट होती है उसी प्रकार भगवान् अपनी चित्-शक्तिके द्वारा संसारमें अवताररूपसे प्रकट होते हैं। भगवान् लक्ष्मीनारायण जगत्के माता-पिता और जीव उनकी सन्तान हैं। माता-पिताका प्रेम और उनकी कृपा प्राप्त करना ही सन्तानका धर्म है। वाणीसे भगवान् नारायणके नामका ही उच्चारण करना चाहिये और मन, वाणी, शरीरसे उनकी सेवा करनी चाहिये। श्रीरामानुजके सिद्धान्त और अनुयायियोंका वर्णन पढ़नेके लिये कल्याणका वेदान्तांक देखना चाहिये।

श्रीनिम्बार्काचार्य

सूर्यावतार आचार्य निम्बार्कके कालके विषयमें भी बड़ा मतभेद है। इनके भक्त इन्हें द्वापरमें हुआ बताते हैं। इनके कोई-कोई मतानुयायी ईसाकी पाँचवीं शताब्दीको इनका जन्मकाल बताते हैं। वर्तमान अन्वेषकोंने बड़े प्रमाणसे इन्हें ग्यारहवीं शताब्दीका सिद्ध किया है।

कहा जाता है कि दक्षिण देशमें गोदावरीतटपर स्थित वैदूर्यपत्तनके निकट अरुणाश्रममें श्रीअरुणमुनिकी पत्नी जयन्तीदेवीके गर्भसे आचार्यचरण अवतीर्ण हुए थे। कोई-कोई इनके पिताका नाम जगन्नाथ मानते हैं और सूर्यके स्थानपर इन्हें भगवान्के प्रिय आयुध सुदर्शनचक्रका अवतार बताते हैं। इनके उपनयन-संस्कारके समय स्वयं देवर्षि नारदने उपस्थित होकर इन्हें श्रीगोपाल-मन्त्रकी दीक्षा दी एवं 'श्री-भू-लीला' सहित श्रीकृष्णोपासनाका उपदेश दिया। इनके गुरु नारद और नारदके गुरु सनकादि, इस प्रकार इनका सम्प्रदाय सनकादिसम्प्रदायके नामसे ही प्रसिद्ध है।

इनका मत द्वैताद्वैतवादके नामसे प्रसिद्ध है। यह कोई नया मत नहीं है बल्कि बहुत प्राचीन कालसे चला

आ रहा है। श्रीनिम्बार्कने अपने भाष्यमें नारद और सनत्कुमारका नामोल्लेख किया है। चाहे जो हो, आचार्यचरणोंने जिस मतकी दीक्षा प्राप्त की थी अपनी प्रतिभा, आचरण और अनुभवके द्वारा उसे उज्ज्वल बनाया।

कहते हैं कि इनका नाम पहले नियमानन्द था। देवाचार्यने इसी नामसे इन्हें नमस्कार किया है। एक दिन जब ये मथुराके पास यमुनातटवर्ती ध्रुवक्षेत्रमें जहाँ इनके सम्प्रदायकी गद्दी है, निवास करते थे तब एक दण्डी अथवा किसी-किसीके मतसे एक जैन-साधु इनके आश्रमपर आये। दोनोंमें आध्यात्मिक विचार चलने लगा। उसमें ये दोनों इतने तल्लीन हो गये कि शाम हो गयी और इन्हें पता ही न चला। सूर्यास्त होनेपर जब आचार्यने अपने अतिथिको भोजन कराना चाहा तब उन्होंने सूर्यास्तकी बात कहकर आतिथ्य ग्रहण करनेमें असमर्थता प्रकट की, क्योंकि दण्डी या जैन लोगोंके लिये सन्ध्या या रात्रिमें भोजन करना निषिद्ध है। उस समय अतिथिसत्कारसे अत्यन्त प्रेम रखनेवाले आचार्यचरणको बड़ी चिन्ता हुई कि अतिथिको बिना भोजन कराये कैसे जाने दें। जब उनके हृदयमें बड़ी वेदना हुई तब भक्तभयहारी भगवान्ने एक बड़ी सुन्दर लीला रची। सबने देखा, उन अतिथि साधुने देखा और स्वयं आचार्य निम्बार्कने देखा कि उनके आश्रमके पास ही एक नीमके वृक्षके ऊपर सूर्य प्रकाशित हो रहे हैं। सभीको बड़ा आश्चर्य हुआ। भगवान्की इस अपार करुणाका दर्शन करके आचार्यका हृदय गद्गद हो गया। शरीर पुलकित हो गया। उनके सामने तो उनके आराध्यदेव स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही सूर्यरूपसे उपस्थित थे। उन्होंने निहाल होकर अतिथिको भोजन कराया और इसके पश्चात् वे सूर्यभगवान् अस्त हो गये। लोगोंने भगवान्की इस कृपाको आचार्यकी योगसिद्धिके रूपमें ग्रहण किया और तभीसे इनका नाम निम्बादित्य या निम्बार्क पड़ गया। इन्होंने न जाने कितने ग्रन्थोंकी रचना की होगी। परन्तु अब तो एक वेदान्तसूत्रोंके भाष्य, वेदान्तपारिजातसौरभके अतिरिक्त इनका और कोई प्रधान ग्रन्थ नहीं मिलता।

इनके विरक्त शिष्य केशवभट्टके अनुयायी विरक्त होते हैं और गृहस्थ शिष्य हरिव्यासके अनुयायी गृहस्थ होते हैं। इनके सम्प्रदायमें श्रीराधा-कृष्णकी पूजा होती है और लोग गोपीचन्दनका तिलक लगाते हैं।

श्रीमद्भागवत इनके सम्प्रदायमें प्रधान ग्रन्थ माना जाता है। इनके सम्बन्धमें और बातोंका पता नहीं चलता। इनके मतमें ब्रह्मसे जीव और जगत् पृथक् भी हैं और एक भी हैं। इसी सिद्धान्तके आधारपर इनका मत स्थापित हुआ है। गौड़ीय मतसे मिलता-जुलता होनेपर भी इनका सिद्धान्त कई बातोंमें उनसे अत्यन्त भिन्न है।

—शान्तनु

श्रीमध्वाचार्य

(लेखक—पं० श्रीनारायणाचार्यजी वरखेड़कर)

श्रीभगवान् नारायणकी आज्ञासे स्वयं वायुदेवने ही भक्तिसिद्धान्तकी रक्षाके लिये मद्रास प्रान्तके मंगलूर जिलेके अन्तर्गत उडूपीक्षेत्रसे दो-तीन मील दूर वेललिं ग्राममें भार्गवगोत्रीय नारायणभट्टके अंशसे तथा माता वेदवतीके गर्भसे विक्रम-संवत् १२९५ की माघ शुक्ला सप्तमीके दिन आचार्य मध्वके रूपमें अवतार ग्रहण किया था। कई लोगोंने आश्विन शुक्ला दशमीको इनका जन्म-दिन माना है। परन्तु वह इनके वेदान्त-साम्राज्यके अभिषेकका दिन है। जन्मका नहीं। इनके जन्मके पूर्व पुत्रप्राप्तिके लिये माता-पिताको बड़ी तपस्या करनी पड़ी थी। बचपनसे ही इनमें अलौकिक शक्ति दीखती थी। इनका मन पढ़ने-लिखनेमें नहीं लगता था; अतः यज्ञोपवीत होनेपर भी ये दौड़ने, कूदने-फाँदने, तैरने और कुश्ती लड़नेमें ही लगे रहते थे। अतः बहुत-से लोग इनके पितृदत्त नाम वासुदेवके स्थानपर इन्हें 'भीम' नामसे पुकारते थे। ये वायुदेवके अवतार थे, इसलिये यह नाम भी सार्थक ही था। परन्तु इनका अवतार-उद्देश्य खेलना-कूदना तो था नहीं, अतः जब वेद-शास्त्रोंकी ओर इनकी रुचि हुई तो थोड़े ही दिनोंमें इन्होंने सम्पूर्ण विद्या अनायास ही प्राप्त कर ली। जब इन्होंने संन्यास लेनेकी इच्छा प्रकट की तब मोहवश माता-पिताने बड़ी अड़चनें डालीं। परन्तु इन्होंने उनकी इच्छाके अनुसार उन्हें कई चमत्कार दिखाकर, जो कि अबतक एक सरोवर और वृक्षके रूपमें इनकी जन्मभूमिमें

विद्यमान हैं, और एक छोटे भाईके जन्मकी बात कहकर, ग्यारह वर्षकी अवस्थामें अद्वैतमतके संन्यासी अच्युतपक्षाचार्यजीसे संन्यास ग्रहण किया। यहाँपर इनका संन्यासी नाम पूर्णप्रज्ञ हुआ। संन्यासके पश्चात् इन्होंने वेदान्तका अध्ययन शुरू किया। इनकी बुद्धि इतनी तीव्र थी कि अध्ययन करते समय ये कई बार गुरुजीको ही समझाने लगते और उनकी व्याख्याका प्रतिवाद कर देते। सारे दक्षिण देशमें इनकी विद्वत्ताकी धूम मच गयी।

एक दिन इन्होंने अपने गुरुसे गंगास्नान और दिग्विजय करनेके लिये आज्ञा माँगी। ऐसे सुयोग्य शिष्यके विरहकी सम्भावनासे गुरुदेव व्याकुल हो गये। उनकी व्याकुलता देखकर अनन्तेश्वरजीने कहा कि भक्तोंके उद्धारार्थ गंगाजी स्वयं सामनेवाले सरोवरमें परसों आयँगी, अतः वे यात्रा न कर सकेंगे। सचमुच तीसरे दिन उस तालाबमें हरे पानीके स्थानपर सफेद पानी हो गया और तरंगें दीखने लगीं। अतएव आचार्यकी यात्रा नहीं हो सकी। अब भी हर बारहवें वर्ष एक बार वहाँ गंगाजीका प्रादुर्भाव होता है। वहाँ एक मन्दिर भी है।

कुछ दिनोंके बाद आचार्यने यात्रा की और स्थान-स्थानपर विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ किये। इनके शास्त्रार्थका उद्देश्य होता भगवद्भक्तिका प्रचार, वेदोंकी प्रामाणिकताका स्थापन, मायावादका खण्डन और मर्यादाका संरक्षण। एक जगह तो इन्होंने वेद, महाभारत और विष्णुसहस्रनामके क्रमशः तीन, दस और सौ अर्थ हैं, ऐसी प्रतिज्ञा करके और व्याख्या करके पण्डितमण्डलीको आश्चर्यचकित कर दिया। गीताभाष्यका निर्माण करनेके पश्चात् इन्होंने बदरीनारायणकी यात्रा की और वहाँ महर्षि वेदव्यासको अपना भाष्य दिखाया। सुनते हैं कि दुखी जनताका उद्धार करनेके लिये उपदेश, ग्रन्थनिर्माण आदिकी इन्हें आज्ञा प्राप्त हुई। बहुत-से नृपतिगण इनके शिष्य हुए, अनेकों विद्वानोंने पराजित होकर इनका मत स्वीकार किया। इन्होंने अनेकों प्रकारकी योगसिद्धियाँ प्राप्त की थीं और इनके जीवनमें समय-समयपर वे प्रकट भी हुईं। इन्होंने अनेकों मूर्तियोंकी स्थापना की और इनके द्वारा प्रतिष्ठित विग्रह आज भी विद्यमान हैं। श्रीबदरीनारायणमें व्यासजीने इन्हें शालग्रामकी तीन मूर्तियाँ भी दी थीं, जो इन्होंने सुब्रह्मण्य, उडूपि और मध्यतलमें पधरायीं। एक बार किसी व्यापारीका जहाज़ द्वारकासे मलावार जा रहा था तुलुबके पास वह डूब गया। उसमें गोपीचन्दनसे ढकी हुई एक भगवान् श्रीकृष्णकी सुन्दर मूर्ति थी। मध्वाचार्यको भगवान्की आज्ञा प्राप्त हुई और उन्होंने मूर्तिको जलसे निकालकर उडूपिमें उसकी स्थापना की। तभीसे वह रजतपीठपुर अथवा उडूपि मध्वमतानुयायियोंका तीर्थ हो गया। एक बार एक वैश्यके डूबते हुए जहाज़को इन्होंने बचा दिया। इससे प्रभावित होकर वह अपनी आधी सम्पत्ति इन्हें देने लगा। परन्तु इनके रोम-रोममें भगवान्का अनुराग और संसारके प्रति विरक्ति भरी हुई थी। ये भला उसे क्यों लेने लगे। इनके जीवनमें इस प्रकारके असामान्य त्यागके बहुत-से उदाहरण हैं। कई बार लोगोंने इनका अनिष्ट करना चाहा और इनके लिखे हुए ग्रन्थ भी चुरा लिये। परन्तु आचार्य इससे तनिक भी विचलित या क्षुब्ध नहीं हुए, बल्कि उनके पकड़े जानेपर उन्हें क्षमा कर दिया और उनसे बड़े प्रेमका व्यवहार किया। ये निरन्तर भगवत्चिन्तनमें संलग्न रहते थे। बाहरी काम-काज भी केवल भगवत्-सम्बन्धसे ही करते थे। इन्होंने उडूपिमें और भी आठ मन्दिर स्थापित किये जिनमें श्रीसीताराम, द्विभुज कालियदमन, चतुर्भुज कालियदमन, विट्ठल आदि आठ मूर्तियाँ हैं। आज भी लोग उनका दर्शन करके अपने जीवनका लाभ लेते हैं। ये अपने अन्तिम समयमें सरिदन्तर नामक स्थानमें रहते थे। यहींपर उन्होंने परमधामकी यात्रा की। देहत्यागके अवसरपर पूर्वाश्रमके सोहन भट्टको—अब जिनका नाम पद्मनाभ तीर्थ हो गया था—श्रीरामजीकी मूर्ति और व्यासजीकी दी हुई शालग्रामशिला देकर अपने मतके प्रचारकी आज्ञा कर गये। इनके शिष्योंद्वारा अनेकों मठ स्थापित हुए तथा इनके द्वारा रचित अनेकों ग्रन्थोंका प्रचार होता रहा। इनके मतका विशेष विवरण इस संक्षिप्त परिचयमें देना असम्भव ही है।

श्रीमन्मध्वाचार्यके उपदेश

१. श्रीभगवान्का नित्य-निरन्तर स्मरण करते रहना चाहिये, जिससे अन्तकालमें उनकी विस्मृति न हो। क्योंकि सैकड़ों बिच्छुओंके एक साथ डंक मारनेसे शरीरमें जैसी पीड़ा होती है, मरणकालमें मनुष्यको वैसी ही पीड़ा होती है; वात, पित्त, कफसे कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है और नाना प्रकारके सांसारिक पाशोंसे जकड़े रहनेके कारण मनुष्यको बड़ी घबड़ाहट हो जाती है। ऐसे समयमें भगवान्की स्मृतिको बनाये रखना बड़ा कठिन हो जाता है। (द्वा० स्तो० १। १२)

२. सुख-दु:खोंकी स्थिति कर्मानुसार होनेसे उनका अनुभव सभीके लिये अनिवार्य है। इसीलिये सुखका अनुभव करते समय भी भगवान्‌को न भूलो। तथा दु:खकालमें भी उनकी निन्दा न करो। वेद-शास्त्रसम्मत कर्ममार्गपर अटल रहो। कोई भी कर्म करते समय बड़े दीनभावसे भगवान्‌का स्मरण करो। भगवान् ही सबसे बड़े, सबके गुरु तथा जगत्‌के माता-पिता हैं। इसीलिये अपने सारे कर्म उन्हींके अर्पण करने चाहिये। (द्वा० स्तो० ३। १)

३. व्यर्थकी सांसारिक झंझटोंके चिन्तनमें अपना अमूल्य समय नष्ट न करो। भगवान्‌में ही अपने अन्त:-करणको लीन करो। विचार, श्रवण, ध्यान, स्तवनसे बढ़कर संसारमें अन्य कोई पदार्थ नहीं है। (द्वा० स्तो० ३। २)

४. भगवान्‌के चरणकमलोंका स्मरण करनेकी चेष्टामात्रसे ही तुम्हारे पापोंका पर्वत-सा ढेर नष्ट हो जायगा। फिर स्मरणसे तो मोक्ष होगा ही, यह स्पष्ट है। ऐसे स्मरणका परित्याग क्यों करते हो? (द्वा० स्तो० ३। ३)

५. सज्जनो, हमारी निर्मल वाणी सुनो। दोनों हाथ उठाकर शपथपूर्वक हम कहते हैं कि भगवान्‌की बराबरी करनेवाला भी इस चराचर जगत्‌में कोई नहीं है, फिर उनसे श्रेष्ठ तो कोई हो ही कैसे सकता है। वही सबसे श्रेष्ठ हैं। (द्वा० स्तो० ३।४)

६. यदि भगवान् सबसे श्रेष्ठ न होते तो समस्त संसार उनके अधीन किस प्रकार रहता? और यदि समस्त संसार उनके अधीन न होता तो संसारके सभी प्राणियोंको सदा-सर्वदा सुखकी ही अनुभूति होनी चाहिये थी। (द्वा० स्तो० ३।५)

श्रीवल्लभाचार्य

आचार्यपाद श्रीवल्लभका जन्म वि० सं० १५३५ वैशाख कृष्ण ११ को चम्पारण्य (रायपुर, सी० पी०) में हुआ था। इनके पिताका नाम लक्ष्मणभट्टजी और माताका नाम श्रीइलम्मा था। ये उत्तरादि तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज दक्षिणके काँकरवाड नामक ग्राममें रहते थे, आपका गोत्र भरद्वाज और सूत्र आपस्तम्ब था। भारद्वाज, आयास्य, आंगिरस ये तीन इस गोत्रके प्रवर हैं। लक्ष्मणभट्टजीकी सातवीं पीढ़ीसे लेकर सभी लोग सोमयज्ञ करते चले आये थे। कहा जाता है कि जिसके वंशमें सौ सोमयज्ञ पूरे हो जाते हैं उसके कुलमें भगवान्‌का या भगवदीय महापुरुषका आविर्भाव होता है। इस नियमानुसार श्रीलक्ष्मणभट्टजीके कालमें सौ सोमयज्ञ पूर्ण होनेसे श्रीवल्लभाचार्यके रूपमें भगवान् आपके यहाँ प्रकट हुए। बहुत-से महानुभाव इन्हें अग्निदेवका अवतार मानते हैं। सोमयज्ञकी पूर्तिके उपलक्षमें एक लाख ब्राह्मणभोजन काशीमें जाकर करानेके लिये लक्ष्मणभट्टजी सपत्नीक घरसे चले थे। रास्तेमें चम्पारण्यमें श्रीवल्लभका जन्म हो गया। ये भट्टजीके द्वितीय पुत्र थे।

आपके यथासमय द्विजाति-संस्कार हुए। काशीमें आपने श्रीमाधवेन्द्रपुरीसे वेद-शास्त्रादिका पूर्ण अध्ययन किया। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही आपने अध्ययन समाप्त कर लिया था। काशीसे आप वृन्दावन चले गये। वहाँ कुछ दिन रहनेके बाद तीर्थाटनके लिये रवाना हुए। आपने विजयनगरके राजा कृष्णदेवकी सभामें उपस्थित होकर वहाँ बड़े-बड़े विद्वानोंको शास्त्रार्थमें हराया। वहींपर इन्हें वैष्णवाचार्यकी उपाधि प्राप्त हुई। राजाने सब महामान्य विद्वानोंके सामने श्रीवल्लभाचार्यको स्वर्णसिंहासनपर बैठाकर इनका सांगोपांग पूजन किया और बहुत-सा सोना भेंट किया। उस समय आपने उसमेंसे कुछ ही भाग लेकर शेष सब वहाँके विद्वानों और ब्राह्मणोंको बाँट दिया। इससे आपका त्यागभाव प्रत्यक्ष है। राजा कृष्णदेवने सन् १५०९ से लेकर १५३० तक राज्य किया। इससे मालूम होता है, श्रीवल्लभ ईसवी सन्‌की १६वीं शताब्दीके आरम्भमें वर्तमान थे।

श्रीवल्लभ विजयनगरसे चलकर उज्जैन आये और वहाँ शिप्रा नदीके तटपर एक पीपलवृक्षके नीचे निवास किया। वह स्थान आज भी उनकी बैठकके नामसे प्रसिद्ध है। मथुराके घाट, चुनारके पास एवं और भी विभिन्न स्थानोंमें उनकी बैठकें अद्यावधि विद्यमान हैं और उनके वंशज गोस्वामीगण उनका प्रबन्ध करते हैं। आचार्यने वृन्दावन एवं गिरिराज आदिमें रहकर भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेममयी आराधना की। अनेकों बार भगवान् श्रीकृष्णने प्रकट होकर इन्हें दर्शन दिये। इनकी अष्टयाम-सेवा

बड़ी ही सुन्दर है, उसमें माधुर्यभावका बड़ा सुन्दर प्रकाश हुआ है। परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने इन्हें वात्सल्यभावसे उपासना करनेका प्रचार करनेकी आज्ञा दी। इनके जीवनमें एक-दो नहीं, सैकड़ों ऐसी घटनाएँ घटीं जिन्हें सुनकर लोग आश्चर्यचकित हो जाते हैं और उन्हें बहुत बड़ी सिद्धि मानते हैं। परन्तु एक महान् भगवद्भक्तके जीवनमें इन चमत्कारोंका इतना ऊँचा स्थान नहीं है जितना उनकी अनन्य भक्तिका है। अत: उनकी विशेष चर्चा नहीं की जाती।

एक बारकी बात है—एक सज्जन शालग्रामशिला एवं प्रतिमा दोनोंकी एक साथ ही पूजा कर रहे थे, परन्तु उनके मनमें भेदभाव था। वे शिलाको अच्छी एवं प्रतिमाको निम्नश्रेणीकी समझते थे। आचार्यने उन्हें समझाया कि भगवद्-विग्रहमें इस तरहकी भेदभावना नहीं रखनी चाहिये। इसपर वे सज्जन बिगड़ खड़े हुए एवं अकड़कर प्रतिमाकी छातीपर शालग्रामको रखकर रातमें पधरा दिया। प्रात:काल देखनेपर मालूम हुआ कि शालग्रामकी शिला चूर-चूर हो गयी है। तब तो उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ और जाकर उन्होंने आचार्यचरणोंसे क्षमा माँगी। फिर आचार्यने भगवान्‌के चरणामृतसे उस चूर्णको भिगोकर गोली बनानेको कहा। ऐसा करनेपर मूर्ति फिर ज्यों-की-त्यों हो गयी। आचार्यने बहुत-से ग्रन्थोंकी रचना की, उनमें अबतक कई अप्रकाशित हैं।

कहते हैं कि एक बार भगवान् श्रीकृष्णने प्रकट होकर इनका पुत्र बननेकी इच्छा प्रकट की, जिससे अट्ठाईस वर्षकी अवस्थामें इन्होंने विवाह किया और श्रीविट्ठलके रूपमें स्वयं विट्ठल भगवान्‌को पुत्ररूपमें प्राप्त किया। आचार्यचरण श्रीचैतन्यमहाप्रभुके समसामयिक थे और उनसे मिले भी थे। श्रीवल्लभके परमधाम पधारनेके विषयमें एक घटना प्रसिद्ध है। ये अपने जीवनके अन्तिम दिनोंमें काशीमें रहते थे। अपने जीवनके कार्य समाप्तकर वे एक दिन हनुमानघाटपर गंगास्नान करने गये। जहाँपर खड़े होकर वे स्नान कर रहे थे, वहाँसे एक उज्ज्वल ज्योति-शिखा उठी और बहुत-से आदमियोंके सामने श्रीवल्लभ सदेह ऊपर उठने लगे और लोगोंके देखते-ही-देखते आकाशमें लीन हो गये। हनुमानघाटपर उनका एक मन्दिर बना हुआ है। इस प्रकार वि० सं० १५८७ में ५२ वर्षकी अवस्थामें आपने भगवान्‌के आज्ञानुसार अलौकिक ढंगसे इहलीला संवरण की।

आपके सिद्धान्त और शिष्यपरम्पराके सम्बन्धमें 'कल्याण' का वेदान्तांक देखना चाहिये।

—शान्तनु

श्रीचैतन्यमहाप्रभु और उनके अनुयायी संत

(लेखक—प्रो० श्रीगिरीन्द्रनारायण मल्लिक, एम्० ए०)

श्रीचैतन्यमहाप्रभुका जन्म शक-संवत् १४०७ की फाल्गुन शुक्ला १५ को दिनके समय सिंहलग्नमें पश्चिमी बंगालके नवद्वीप नामक ग्राममें हुआ था, इनके पिताका नाम जगन्नाथ मिश्र और माताका नाम शचीदेवी था। ये भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त थे। इन्हें लोग श्रीराधाका अवतार मानते हैं। बंगालके वैष्णव तो इन्हें साक्षात् पूर्णब्रह्म ही मानते हैं। इनके जीवनके अन्तिम छ: वर्ष तो राधाभावमें ही बीते। उन दिनों इनके अंदर महाभावके सारे लक्षण प्रकट हुए थे। जिस समय ये श्रीकृष्णके विरहमें उन्मत्त होकर रोने और चीखने लगते थे उस समय पत्थरका हृदय भी पिघल जाता था। इनके व्यक्तित्वका लोगोंपर ऐसा विलक्षण प्रभाव पड़ा कि वासुदेव सार्वभौम और प्रकाशानन्द सरस्वती-जैसे अद्वैत-वेदान्ती भी इनके क्षणभरके संगसे कृष्णप्रेमी बन गये। यही नहीं, इनके विरोधी भी इनके भक्त बन गये और जगाई, मधाई-जैसे महान् दुराचारी भी संत बन गये। कई बड़े-बड़े संन्यासी भी इनके अनुयायी बन गये। यद्यपि इनका प्रधान उद्देश्य भगवद्भक्ति और भगवन्नामका प्रचार करना और जगत्‌में प्रेम और शान्तिका साम्राज्य स्थापित करना था तथापि इन्होंने दूसरे धर्मों और दूसरे साधनोंकी कभी निन्दा नहीं की। इनके भक्तिसिद्धान्तमें द्वैत और अद्वैतका बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ है। इन्होंने कलिमलग्रसित जीवोंके उद्धारके लिये भगवन्नामके जप और कीर्तनको ही मुख्य और सरल उपाय माना है। इनकी दक्षिणयात्रामें गोदावरीके तटपर इनका इनके शिष्य राय रामानन्दके साथ बड़ा विलक्षण संवाद हुआ, जिसमें इन्होंने राधाभावको सबसे ऊँचा भाव बतलाया। इन्होंने अपने शिक्षाष्टकमें अपने उपदेशोंका

सार भर दिया है। शिक्षाष्टकका भाव यह है—

'मनुष्यको चाहिये कि वह अपने जीवनका अधिक-से-अधिक समय भगवान्‌के सुमधुर नामोंके कीर्तनमें लगावे जो अन्त:करणकी शुद्धिका सबसे उत्तम और सुगम उपाय है। कीर्तन करते समय वह प्रेममें इतना मग्न हो जाय कि उसके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगे, उसकी वाणी गद्‌गद हो जाय और शरीर पुलकित हो जाय। भगवन्नामका कीर्तन करनेवाला अपनेको तृणसे भी छोटा समझे, वृक्षसे भी अधिक सहनशील बने और स्वयं अमानी होकर दूसरोंको मान दे। भगवन्नामके उच्चारणमें देश-कालका कोई बन्धन नहीं है। जो जहाँ, जब चाहे भगवन्नामका उच्चारण कर सकता है। भगवान्‌ने अपनी सारी शक्ति और अपना सारा माधुर्य अपने नामोंके अंदर भर दिया है। यों तो भगवान्‌के सभी नाम मधुर और कल्याणकारी हैं, किन्तु—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

—'यह महामन्त्र सबसे अधिक लाभकारी और भगवत्प्रेमको बढ़ानेवाला है। भगवन्नामका बिना श्रद्धाके उच्चारण करनेसे भी मनुष्य संसारके दु:खोंसे छूटकर भगवान्‌के परमधामका अधिकारी बन जाता है।'

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने हमें यह बताया है कि भक्तोंको भगवन्नामके उच्चारणके साथ दैवी सम्पत्तिका भी अर्जन करना चाहिये। दैवी सम्पत्तिके प्रधान लक्षण उन्होंने ये बताये हैं—दया, अहिंसा, मत्सरशून्यता, सत्य, समता, उदारता, मृदुता, शौच, अनासक्ति, परोपकार, समता, निष्कामता, चित्तकी स्थिरता, इन्द्रियदमन, युक्ताहारविहार, गम्भीरता, परदु:खकातरता, मैत्री, तेज, धैर्य इत्यादि। श्रीचैतन्यमहाप्रभु आचरणकी पवित्रतापर बहुत जोर देते थे। उन्होंने अपने संन्यासी शिष्योंके लिये यह नियम बना दिया था कि कोई स्त्रीसे बात न करे। एक बार इनके शिष्य छोटे हरिदासने माधवी नामकी एक वृद्धा स्त्रीसे बात कर ली थी, जो स्वयं महाप्रभुकी भक्त थी। केवल इस अपराधके लिये उन्होंने हरिदासका सदाके लिये परित्याग कर दिया, यद्यपि उनका चरित्र सर्वथा निर्दोष था।

श्रीचैतन्यमहाप्रभु चौबीस वर्षकी अवस्थातक गृहस्थाश्रममें रहे। ये न्यायके बड़े पण्डित थे। इन्होंने न्यायशास्त्रपर एक अपूर्व ग्रन्थ लिखा था जिसे देखकर इनके एक मित्रको बड़ी ईर्ष्या हुई। क्योंकि उन्हें यह भय हुआ कि इनके ग्रन्थके प्रकाशमें आनेपर उनके ग्रन्थका आदर कम हो जायगा। इसपर श्रीचैतन्यने अपने ग्रन्थको गंगाजीमें बहा दिया। कैसा अपूर्व त्याग है! एक पत्नीका देहान्त हो जानेके बाद इन्होंने दूसरा विवाह भी किया था। परन्तु कहते हैं, इनका अपनी पत्नियोंके प्रति सदा पवित्र भाव रहा। चौबीस वर्षकी अवस्थामें इन्होंने केशवभारती नामक संन्यासी महात्मासे संन्यासकी दीक्षा ग्रहण की। इन्होंने संन्यास इसलिये नहीं लिया कि भगवत्प्राप्तिके लिये संन्यास लेना अनिवार्य है; इनका उद्‌देश्य काशी आदि तीर्थोंके संन्यासियोंको भक्तिमार्गमें लगाना था। बिना पूर्ण वैराग्य हुए ये किसीको संन्यासकी दीक्षा नहीं देते थे। इसीलिये इन्होंने पहली बार अपने शिष्य रघुनाथदासको संन्यास लेनेसे मना किया था।

इनके जीवनमें कई अलौकिक घटनाएँ हुईं जो किसी मनुष्यके लिये सम्भव नहीं और जिनसे इनका ईश्वरत्व प्रकट होता है। इन्होंने एक बार श्रीअद्वैतप्रभुको विश्वरूपका दर्शन कराया था, तथा नित्यानन्दप्रभुको एक बार शंख, चक्र, गदा, पद्‌म, शार्ङ्ग धनुष तथा मुरली लिये हुए षड्‌भुज नारायणके रूपमें; दूसरी बार दो हाथोंमें मुरली और दो हाथोंमें शंख-चक्र लिये हुए चतुर्भुजरूपमें और तीसरी बार द्विभुज श्रीकृष्णके रूपमें दर्शन दिया था। इनकी माता शचीदेवीने इनके अभिन्नहृदय श्रीनित्यानन्दप्रभु और इनको बलराम और श्रीकृष्णके रूपमें देखा था। गोदावरीके तटपर राय रामानन्दके सामने ये रसराज (श्रीकृष्ण) और महाभाव (श्रीराधा) के युगलरूपमें प्रकट हुए, जिसे देखकर राय रामानन्द अपने शरीरको नहीं सँभाल सके और मूर्छित होकर गिर पड़े। अपने जीवनके शेष भागमें जब ये नीलाचलमें रहते थे, एक बार ये बंद कमरेमेंसे बाहर निकल आये थे। उस समय इनके शरीरके जोड़ खुल गये, जिससे इनके अवयव बहुत लंबे हो गये। एक दिन इनके अवयव कछुएके अवयवोंकी भाँति सिकुड़ गये और ये मिट्‌टीके लोधेके समान पृथ्वीपर पड़े रहे। इसके अतिरिक्त इन्होंने कई साधारण चमत्कार भी दिखलाये। उदाहरणत: श्रीचैतन्यचरितामृतमें लिखा है कि इन्होंने कई कोढ़ियों और अन्य असाध्य रोगोंसे पीड़ित रोगियोंको रोगमुक्त कर दिया। दक्षिणमें जब ये अपने भक्त नरहरि सरकार ठाकुरके गाँव श्रीखण्डमें पहुँचे तो नित्यानन्दप्रभुको मधुकी

आवश्यकता हुई। इन्होंने उस समय एक सरोवरके जलको शहदके रूपमें पलट दिया; जिससे आजतक वह तालाब मधुपुष्करिणीके नामसे विख्यात है। इनके उपदेशों और चरित्रोंका प्रभाव आज भी लोगोंपर खूब है।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुके प्रधान अनुयायियोंके नाम ये हैं—श्रीनित्यानन्दप्रभु, श्रीअद्वैतप्रभु, राय रामानन्द, श्रीरूपगोस्वामी, श्रीसनातनगोस्वामी, रघुनाथभट्ट, श्रीजीवगोस्वामी, गोपालभट्ट, रघुनाथदास, हरिदास साधु और नरहरि सरकार ठाकुर। श्रीचैतन्यमहाप्रभुके जीवनवृत्तान्तको पूर्ण करनेके लिये उनके प्रधान-प्रधान अनुयायियोंके सम्बन्धमें भी कुछ निवेदन करना आवश्यक है।

(१) श्रीनित्यानन्दप्रभु

इनका जन्म सन् १४७३ ईस्वीमें वीरभूमि जिलेके एकचक्रा नामक ग्राममें हुआ था। इनके पिताका नाम हराईपण्डित और माताका नाम पद्मावती था। इन्होंने बहुत छोटी अवस्थामें माधवेन्द्रपुरी नामक संन्यासीसे संन्यासकी दीक्षा ले ली। बहुत दिनोंतक तीर्थोंमें भ्रमण करते-करते इनकी नवद्वीपमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुसे भेंट हुई और उसी समयसे ये उनके प्रधान अनुयायी हो गये और भगवन्नाम एवं भगवद्भक्तिके प्रचारमें इन्होंने उनकी बड़ी सहायता की। आगे चलकर इन्होंने श्रीचैतन्य-महाप्रभुकी आज्ञासे पुनः गृहस्थाश्रम स्वीकार किया। इनकी पत्नीका नाम जाह्नवीदेवी था।

(२) श्रीअद्वैतप्रभु

ये नदिया जिलेके शान्तिपुर नामक ग्राममें उत्पन्न हुए थे। ये श्रीचैतन्य महाप्रभुसे तैंतीस वर्ष बड़े थे। इन्हींकी अद्वितीय भक्तिके प्रभावसे श्रीचैतन्यका आविर्भाव हुआ।

(३) हरिदास साधु

इनका जन्म शाके संवत् १३७२ में जसोर जिलेके बुरहान नामक ग्राममें हुआ था। ये भी श्रीचैतन्यमहाप्रभुसे तीस-पैंतीस वर्ष बड़े थे। यद्यपि इनका जन्म मुसलमान परिवारमें हुआ था, इनकी प्रारम्भसे ही हिन्दूधर्ममें अनन्य निष्ठा थी। भगवान् श्रीकृष्णके मंगलमय नाममें कितनी अद्भुत शक्ति है, इस बातको बतलानेके लिये ही मानो इनका जन्म हुआ था। ये प्रतिदिन तीन लाख नामका उच्चारण ज़ोर-ज़ोरसे किया करते थे। इनका इन्द्रियनिग्रह अद्भुत था। एक बार दुष्टोंने इन्हें आदर्शच्युत करनेके लिये इनके पास एक वेश्याको भेजा। किन्तु उसपर इनके चरित्रका ऐसा प्रभाव पड़ा कि इनको अपने चरित्रसे डिगाना तो दूर रहा, वह स्वयं भक्त बन गयी।

एक बार मुसलमान काज़ीने इनसे कहा कि तुम मुसलमान होकर क़ाफ़िरोंके देवताओंका नाम लेते हो, यह ठीक नहीं। अतः या तो तुम हरिका नाम लेना छोड़कर कलमा पढ़ो, नहीं तो तुम्हें सज़ा दी जायगी। इसपर हरिदासने कहा कि चाहे मेरे शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ, मैं हरिनामको नहीं छोड़ सकता। तब गवर्नरने यह हुक्म दिया कि हरिदासको कोड़े मारते हुए शहरमें घुमाया जाय। हरिदासपर ज्यों-ज्यों कोड़े पड़ते थे त्यों-त्यों वे और भी जोरसे हरिनामका उच्चारण करते थे और कोड़े मारनेवालोंसे कहते जाते थे कि हरिनाम लेते जाओ और जीमें आवे उतने कोड़े लगाते जाओ। अन्तमें कोड़े खाते-खाते हरिदास बेहोश होकर गिर पड़े। गिरते-गिरते उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की कि प्रभो! इन अज्ञ जीवोंको क्षमा करो। मुसलमानोंने इन्हें मरा हुआ समझकर गंगाजीमें बहा दिया, किन्तु थोड़ी ही देरमें इन्हें होश आ गया और ये तैरकर किनारे चले आये। जब इनका देहान्त हुआ तब श्रीचैतन्यमहाप्रभुने अपने हाथोंसे इनकी दाहक्रिया की थी।

(४) रघुनाथदास (दासगोस्वामी)

कलकत्तेसे थोड़ी दूरपर सप्तग्राम नामका इलाका था। रघुनाथदासके पिता गोवर्धनदास इस इलाक़ेके ज़मींदार थे। इस इलाक़ेकी वार्षिक आय बारह लाख रुपये थी, किन्तु इतनी बड़ी सम्पत्तिका मोह छोड़कर रघुनाथदास गृहत्यागी हो गये और आजीवन कठोर तपस्या करके आदर्श साधु बन गये।

(५-६) रूप-सनातन

ये दोनों सगे भाई थे। इनमें सनातन अवस्थामें बड़े थे, किन्तु संन्यासकी दीक्षा इन्होंने पीछे ली थी। इनके पिताका नाम कुमारदेव और माताका नाम रेवती था। रूपका जन्म सन् १४८९ ई० में हुआ था और मृत्यु सन् १५६३ ई० में हुई। सनातनका जन्म सन् १४८७ ई० में हुआ और मृत्यु सन् १५५८ में हुई। ये दोनों भाई गौड़देशके मुसलमान नवाब हुसेन ख़ाँके यहाँ बहुत ऊँचे पदपर थे। उन दिनों रूप 'दबीरख़ास' कहलाते थे और सनातन 'साकर मल्लिक' के नामसे प्रसिद्ध थे। इन्होंने गृहस्थी त्यागकर संन्यास ले लिया और ये श्रीचैतन्यमहाप्रभुके

प्रधान अनुयायी बन गये। इन्होंने गौड़ीय वैष्णवसिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिये अनेकों स्वतन्त्र ग्रन्थ और टीकाएँ लिखीं जिनका वैष्णव-समाजमें बड़ा आदर है। ये दोनों ही बहुत उच्च कोटिके संत हुए।

(७) जीवगोस्वामी

ये रूप-सनातनके भतीजे थे। ये गौड़ीय सम्प्रदायके एक महान् आचार्य हो गये हैं। इनके 'षट्संदर्भ' नामक ग्रन्थमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुके दार्शनिक सिद्धान्तोंका बड़े अच्छे ढंगसे निरूपण किया गया है।

(८) राय रामानन्द

ये दक्षिणके एक कायस्थ थे। इन्हें किसी राज्यकी ओरसे बड़ा उच्च अधिकार प्राप्त था।

(९) नरहरि सरकार ठाकुर

इनका जन्म सन् १४७८ ई० में बर्दवान ज़िलेके श्रीखण्ड नामक ग्राममें हुआ था और मृत्यु सन् १५७० ई० में हुई। इनके पिताका नाम नरनारायण ठाकुर था। ये आजन्म ब्रह्मचारी रहे। नरहरिके जीवनमें कई अलौकिक घटनाओंका उल्लेख मिलता है। उदाहरणके लिये जब श्रीचैतन्य तीर्थयात्रा करते हुए इनके ग्राममें पहुँचे उस समय इनके प्रभावसे भगवान्की पूजाके लिये बारहों महीने कदम्बवृक्षमें प्रतिदिन दो फूल लगते रहे। यह क्रम तीन सौ वर्षतक जारी रहा। रूप, सनातन, रघुनाथभट्ट, जीव, गोपालभट्ट एवं रघुनाथदास यह छहों गोस्वामी श्रीचैतन्यके राधाभावके उपासक थे; किन्तु नरहरि उनकी रसराज (श्रीकृष्ण) के रूपमें उपासना करते थे। इस प्रकार श्रीचैतन्यके उपासकोंके दो सम्प्रदाय हो गये और श्रीखण्ड तथा अन्य स्थानोंमें नरहरिके भतीजे रघुनन्दनके वंशज अबतक श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी रसराजके रूपमें ही उपासना करते हैं।[१]

दक्षिण भारतके शैव संत

शिवोपासना अनादिकालीन है। आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्वसे शैवधर्मके प्रसारका प्रमाण तो पाश्चात्य विद्वान् भी मान चुके हैं, परन्तु किसी क्रमबद्ध इतिहासके अभावमें यह कहना कठिन है कि उस समयके प्रमुख शैव संत कौन थे। ईस्वी सन् ७०० से दक्षिण भारतके शैव संतोंके सम्बन्धमें कुछ विशेष विवरण मिलते हैं। प्राचीन कालके अगस्त्य ऋषि, जिनको कुछ लोग भ्रमसे उत्तर भारतका मानते हैं, तामिल देशके पोडीगाई पर्वतके निवासी थे। अगस्त्यजी प्रमुख शिवभक्तोंमें हैं।

ईस्वी सन्‌की प्रथम शताब्दीमें पाण्ड्य-दरबारके उनचास राजकवियोंमें संत नक्कीर एक बहुत प्रसिद्ध महात्मा थे। मदुराके तामिलसंघके वे अध्यक्ष थे। उनकी कविताओंमें शैव-साधनाके गूढ़ सिद्धान्त विद्यमान हैं। शिवके अहैतुक अनुग्रहके कई पद आपने लिखे हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि आपको शिवकी कृपा प्राप्त थी।

द्वितीय शताब्दीमें संत कण्णप्प हुए। आप शिवके अनन्य उपासक थे। पूजा करते समय आपने अपनी एक आँख निकालकर भगवान् शिवके चरणोंमें चढ़ा दी और दूसरी भी चढ़ाने जा रहे थे कि शिवने आपका हाथ पकड़ लिया और आपको आशीर्वाद दिया। कण्णप्पको शिवका साक्षात्कार हुआ और दिव्यदृष्टि मिली। निष्काम भक्तिकी आप सजीव मूर्ति ही थे।[२]

छठी शताब्दीके लगभग तिरमूलर हुए। आप एक परम सिद्ध योगी थे। आपने शिवभक्तिके तीन हजार पद लिखे।

चार प्रमुख आचार्य

चर्या, क्रिया, योग और ज्ञान—ये शैवधर्मके चार प्रमुख मार्ग हैं। इन्हींको दासमार्ग, सत्पुत्रमार्ग, सहमार्ग और सन्मार्ग कहते हैं। इनके संस्थापक क्रमशः संत तिरुनावुक्करसु (अप्पार), संत ज्ञानसम्बन्ध, संत सुन्दरमूर्ति तथा संत माणिक्क वाचक हुए। कुछ लोगोंका यह मानना है कि संत माणिक्क वाचक सबसे पहले हुए।

संत माणिक्क वाचक

शैव संतोंके अग्रणी माणिक्क वाचक परमात्माकी भक्तिकी जाज्वल्यमान मूर्ति थे। डंकेकी चोट उन्होंने

१-श्रीचैतन्यमहाप्रभु और उनके भक्तोंकी जीवनलीलाका विस्तार देखना हो तो श्रीचैतन्यचरितावलीके पाँच भाग गीताप्रेससे मँगवाकर पढ़ने चाहिये।

२-कण्णप्पका विस्तृत वृत्तान्त 'कल्याण' के भक्तांक और शिवांकमें पढ़ना चाहिये।
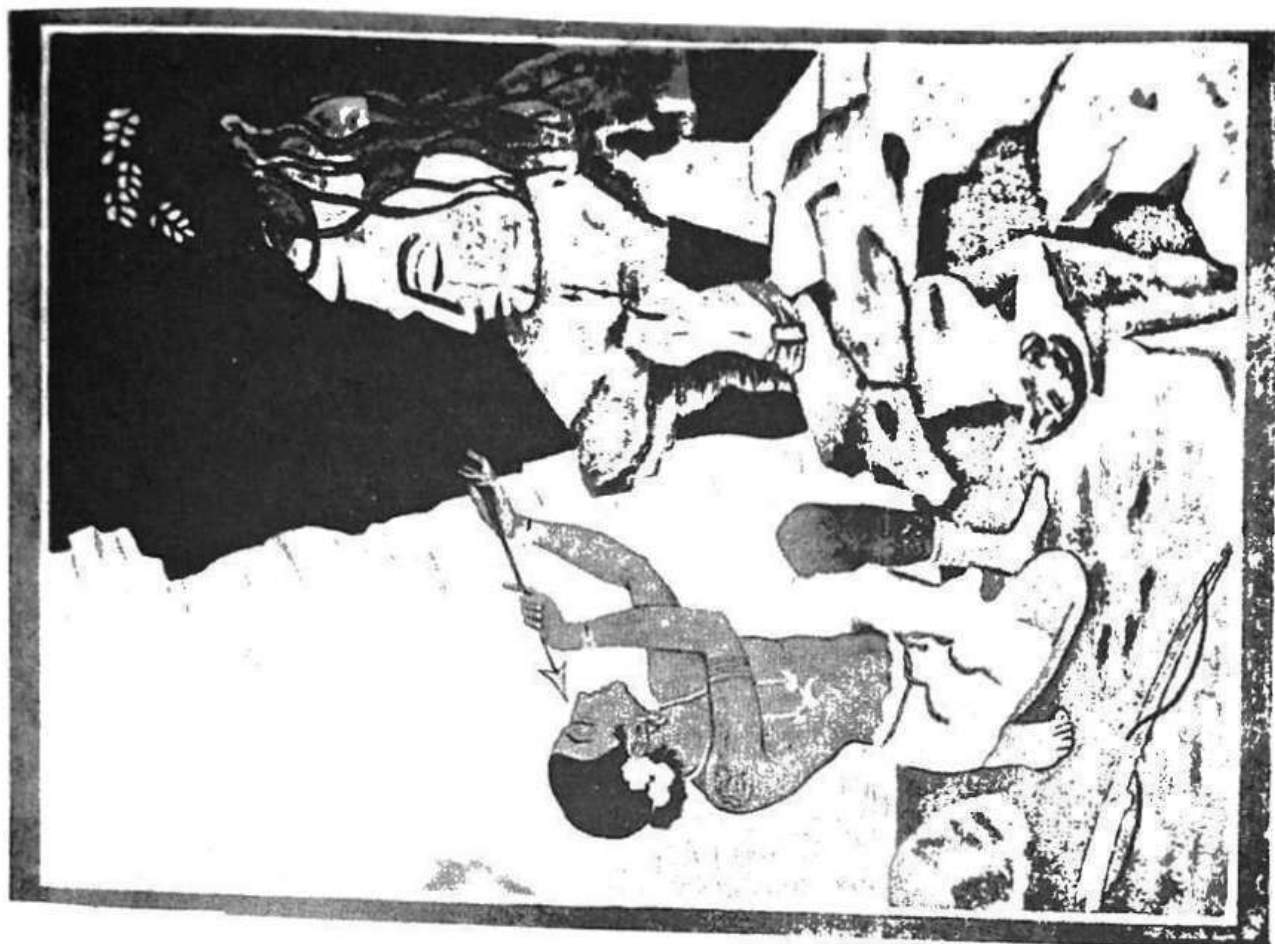
संत माणिक वाचक

संत कण्णप्प
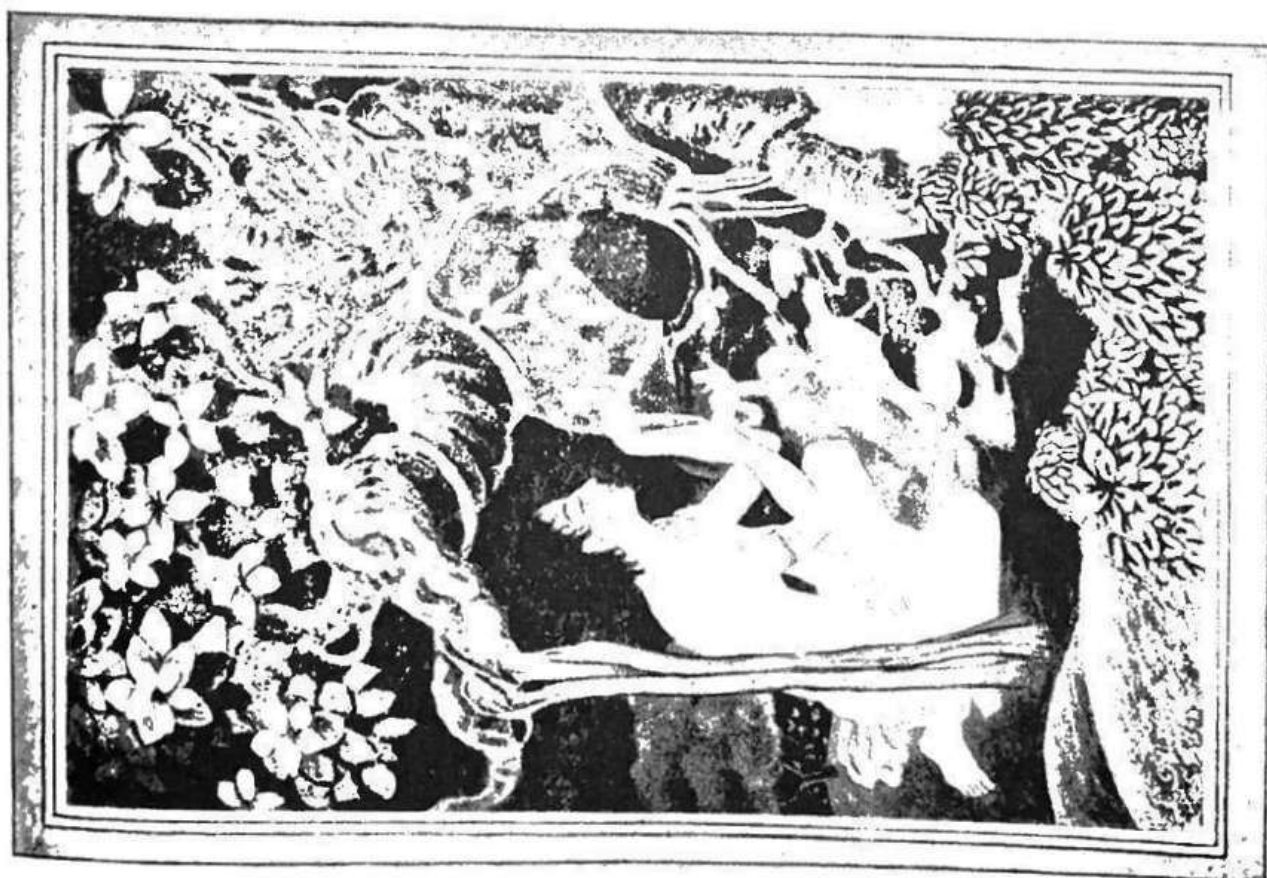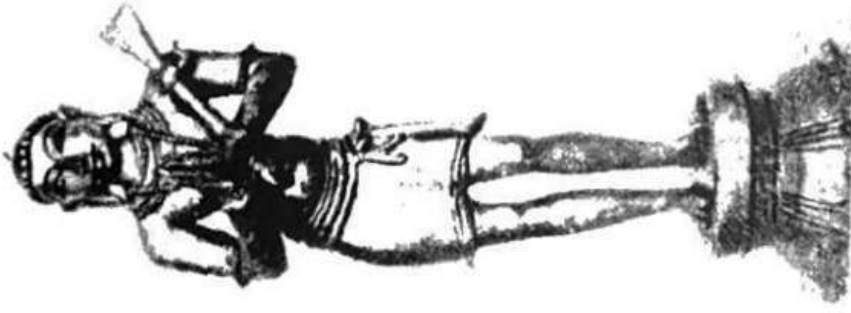
संत अप्पार
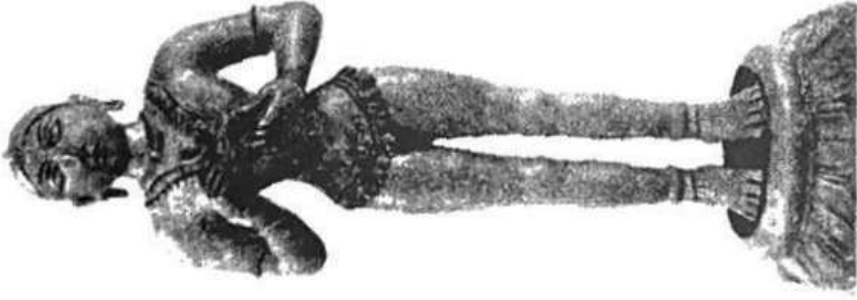
संत ज्ञानसम्बन्ध
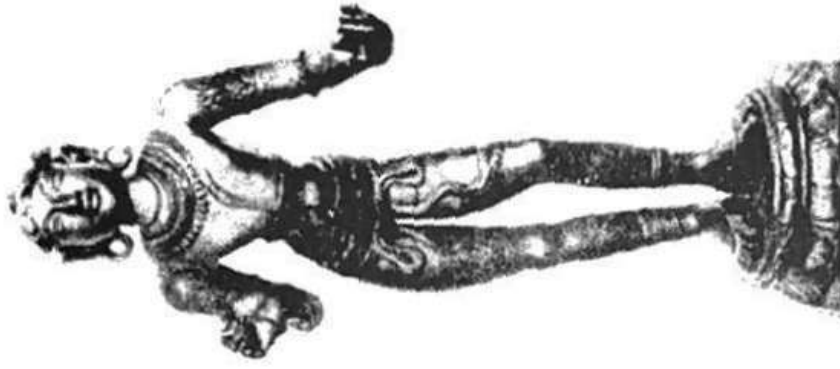
संत सुन्दरमूर्ति

कहा कि धर्मग्रन्थोंके अनुशीलन, तपश्चर्या, उपवास, कर्मकाण्ड, यज्ञ-याग, तर्कशास्त्र और दर्शनके अध्यात्म-ग्रन्थोंके अध्ययन, किंबहुना, मनुष्यके किसी भी प्रयत्नसे भगवान्‌की प्राप्ति असम्भव ही है। प्रभुकी प्राप्तिका एकमात्र मार्ग प्रेममार्ग ही है। यह प्रेम शुद्ध, सात्त्विक और निष्काम होना चाहिये।

मदुराके पास वदावुर ग्राममें एक ब्राह्मणकुलमें आपका जन्म हुआ था। दस वर्षकी अवस्थामें ही इनकी विलक्षण प्रतिभाका प्रकाश फैला और तत्कालीन पाण्ड्य-नरेशने आपकी विद्वत्ता और योग्यता देखकर आपको अपना प्रधानमन्त्री बना लिया। अवस्थामें तो आप एक बालक ही थे, परन्तु आपकी कुशाग्र बुद्धिसे शासनकार्यमें बड़ी सहायता मिलती रही। आप राजाके दाहिने हाथ थे।

एक बार राजाने आपको कुछ घोड़े खरीदनेके लिये तिरुपेरन्दुराई भेजा। यहीं आपको श्रीगुरुदेवके दर्शन हुए। घोड़े खरीदनेके जो रुपये पासमें थे उन्हें आपने गुरुदेवके लिये मन्दिर बनवानेमें लगा दिया। यह बात सुनकर राजाने आपको दण्ड दिया तथा राज्यसे बहिष्कृत कर दिया। अब वे अलमस्त होकर अपने बनाये हुए भजन गाते और मन्दिर-मन्दिर घूमा करते। उन्हें राजदण्डकी तनिक भी चिन्ता न थी। शैवोंके प्रमुख दुर्ग चिदम्बरम्‌में आपने शास्त्रार्थमें बौद्धोंको हराया। आप नटराजकी उपासना करते थे। तामिल देशमें आज भी माणिक्क वाचकके पद बड़े आदर और श्रद्धासे पढ़े-सुने जाते हैं।

संत अप्पार

ईसाकी सातवीं शताब्दीमें अप्पारका आविर्भाव हुआ। कांचीके पल्लवनरेश महेन्द्र प्रथमके समय दोनों भाई विद्यमान थे। ६०० ई० सन्‌में, दक्षिण आरकाट जिलेके एक छोटे-से गाँवमें एक सम्पन्न वेकाल-परिवारमें आपका जन्म हुआ। बहुत बचपनमें ही आपके माता-पिता स्वर्ग सिधार गये। आपकी बड़ी बहिनने आपको पाला-पोसा। जैन विद्वानोंके संसर्गमें आकर आपने उनके धर्मग्रन्थोंका अनुशीलन किया। एक बार इन्हें भयंकर पीड़ा हुई। बहिनके कहनेपर आप एक शिवमन्दिरमें जाकर प्रभुसे सुन्दर काव्य-गीतोंमें प्रार्थना करने लगे। दर्द तो मिट ही गया। साथ ही आकाशवाणी हुई कि तुम्हारी वाणीमें सरस्वती बसेंगी। बहिनके आदेशानुसार आप शरीरसे प्रभुकी सेवा, मनसे उनका ध्यान और वाणीसे उनका गुणगान करने लगे। आपको पल्लवनरेश जैनधर्ममें दीक्षित करना चाहते थे और न होनेपर आपको नाना प्रकारके कष्ट दिये गये। कहा जाता है कि आपकी गर्दनमें एक भारी पत्थर बाँधकर आपको नदीमें छोड़ दिया गया, परन्तु पत्थर जलपर तैरने लगा। प्रह्लादकी भाँति आप अपने धर्मपर अटल रहे।

चिदम्बरम्‌में संत सम्बन्धसे आप मिले। सम्बन्धने आपको अप्पार (पिता) कहकर पुकारा। तबसे ये सभीके लिये 'अप्पार' हो गये। दोनों संतोंने साथ ही देशके भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें भ्रमण किया। दोनोंमें बड़ी प्रगाढ़ मैत्री हो गयी। तिरुपगलूरमें आपको कांचन और कामिनीके प्रलोभन दिये गये। परन्तु अब इन चीजोंके लिये आपके हृदयमें कोई स्थान नहीं था। अन्तिम दिनोंमें ये भगवान्‌से आतुर प्रार्थना करते थे कि मुझे अपनी गोदमें उठा लो। यह प्रार्थना प्रभुने स्वीकार कर ली। ८१ वर्षके होकर आप परमात्मामें लीन हो गये। बड़ा ही सरल जीवन आपका था। कौपीनमात्र इनकी सम्पत्ति थी। हाथमें एक झाड़ू लिये रहते और मन्दिरोंको बुहारा करते थे। सदैव पाँव-पयादे ही चलते। हृदय प्रभु और जीवमात्रके लिये प्रेमसे लबालब भरा था। आप बालकके समान सरल और सैनिककी भाँति दृढ़प्रतिज्ञ थे। इनके उनचास हजार पदोंमें अब केवल तीन-सौ-ग्यारह मिलते हैं। इनकी जीवनी और गीतोंसे आज भी हमें अपूर्व प्रोत्साहन मिलता है।

संत सम्बन्ध

सम्बन्धका जन्म लगभग ६३९ ईस्वी सन्‌में हुआ। चार वर्षकी अवस्थामें आपके पिताजी आपको स्नान करानेके लिये एक सरोवरमें ले गये। पास ही एक मन्दिर था। पिता डुबकी मारकर जलके भीतर डूबे कि इन्हें मन्दिरमें माता पार्वती और भगवान् शिवके दिव्य दर्शन हुए। माताने इन्हें एक सोनेके पात्रमें आध्यात्मिक शक्तिसे परिपूर्ण दूध पिलाया। बालकके हृदयमें प्रेरणा जाग उठी। ज्ञानका प्रकाश जल उठा। अब आप 'ज्ञानसम्बन्ध' हो गये। अब भी उनके मुँहमें दूध लगा हुआ था। पिताने पूछा कि दूध कहाँसे लगा है? सम्बन्धने आकाशकी ओर इशारा किया और उनके मुखसे गीतकी धारा फूट पड़ी, जिसमें शिव और पार्वतीकी अपार अनुकम्पाका विशद वर्णन था। अब वे गाँव-गाँव घूमकर लोगोंको भगवान्‌का यश सुनाने लगे।

मदुरामें विरोधियोंद्वारा आपकी कुटियामें आग लगायी गयी। परन्तु आपका बाल भी बाँका नहीं हुआ। पाण्ड्यराज्यमें आपने जैनधर्मके स्थानमें शैवधर्मकी पुनः स्थापना की। अब आपकी अवस्था सोलह वर्षकी हो गयी और गुरुजनोंके आग्रहसे आपने विवाह कर लिया। कहते हैं कि विवाहके पूर्व ही अपनी पत्नीके साथ इन्हें कोई देवता किसी सुदूर स्थानको ले गये। इनके जीवन तथा पदोंसे यह स्पष्ट है कि ये प्रभुको पिताके रूपमें पूजते थे। आपकी सुमनोहर कविताओंमें प्रभुके प्रसाद तथा प्रकृतिके रूप-विलासका बहुत सुन्दर वर्णन है। वह नारी-शक्तिके पुजारी थे। शिवके साथ उमाकी महिमा आपके प्रत्येक पदमें वर्णित है। प्रमुख चार शैवाचार्योंमें आप सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं।

संत सुन्दरमूर्ति

सुन्दरमूर्ति सहमार्गके आचार्य थे। सम्बन्धके सौ साल बाद आपका आविर्भाव उसी तामिल प्रान्तमें हुआ जहाँ संत अप्पारका हुआ था। आपके पूर्वपुरुष शिवके पुजारी थे। विवाहके समय इनकी पत्नीको एक वृद्ध ब्राह्मण अपनी दासी प्रमाणित कर छुड़ा ले गया। इस वृद्ध ब्राह्मणके पीछे-पीछे सुन्दर भी लग गये और बादमें मालूम हुआ कि ये तो साक्षात् शिवजी ही थे, जो अपने प्रिय भक्तको विवाहके बन्धनसे छुड़ाकर अपने मार्गमें लाना चाहते थे। प्रभुकी यह इच्छा जानकर सुन्दरने निश्चय कर लिया कि प्रभुकी सेवामें अपना सब कुछ होम देना चाहिये। ऐसा निश्चयकर वह गाँव-गाँव भगवद्गुणगान करते हुए चिदम्बरम् पहुँचे।

ये कभी किसीसे कोई वस्तु माँगते नहीं थे। प्रभु स्वयं इनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करते थे। एक बार एक सम्पन्न व्यक्तिने आपको अपने यहाँ आमन्त्रितकर अपनी दो लड़कियोंको अर्पित कर दिया। सुन्दरने उन्हें अपनी कन्या मानकर स्वीकार कर लिया। मद्रासके उत्तर एक गाँवमें एक कन्या रहती थी, जिसने यह निश्चय कर लिया था कि या तो किसी संतसे विवाह करूँगी या आजीवन अविवाहिता ही रहूँगी। भाग्यवश सुन्दरमूर्ति वहाँ पहुँचे। प्रभुकी आज्ञासे उस कन्याने विवाह किया। शर्त यह थी कि उस गाँवकी सीमासे बाहर नहीं जायँगे। एक बार सुन्दरमूर्ति अज्ञातवश गाँवकी सीमासे बाहर चले गये। इस कारण आप अन्धे हो गये। इसके अतिरिक्त इन्हें और भी बहुत-बहुत कष्ट झेलने पड़े। तब इन्होंने प्रभुसे बहुत कातर होकर अपने अपराधोंके लिये प्रार्थना की, क्षमा माँगी और रोये-गिड़गिड़ाये। कांचीमें आपको एक आँख मिल गयी और तिरुवरुमें दूसरी। आपने अड़तीस हजार पद लिखे, जिनमें आज केवल एक सौ प्राप्त हैं। इन पदोंमें भगवान्‌के प्रति इनकी प्रगाढ़ प्रीति और भक्ति प्रकट होती है।

क्षमाशील मीप्पोरुल नायनार

कुछ और शैव संतोंके चरित्र बहुत संक्षेपमें यहाँ दिये जायँगे। मीप्पोरुल नायनार नामके एक राजा थे। उनका एक शत्रु शैव-साधुका वेष बनाकर उनके महलमें घुस गया और उनके पेटमें छुरा भोंक दिया। उन्होंने मरते समय अपने आदमियोंसे कहा कि इस अपराधीको ऐसे स्थानमें पहुँचा आओ जहाँ यह सुरक्षित जीवन यापन कर सके।

शक्य नायनार

शक्य नायनार नामके दूसरे शैव संत हुए। सत्यकी खोजमें पहले वह बौद्ध हुए। पीछे आपने शैवधर्मकी दीक्षा ली। आप अब भी बौद्धवेष ही रखते थे। एक बार आपको प्रकाशके स्तम्भके रूपमें भगवान् शिवके दर्शन हुए। हृदयसे प्रेम उमड़ पड़ा। पासकी पड़ी कंकड़ी उठायी और उसे पुष्पके रूपमें प्रभुके चरणोंमे निवेदन किया। यह ये बराबर करते रहे। बौद्ध तो यह समझते थे कि यह शिवके प्रति द्रोहके कारण ऐसा कर रहे हैं। एक बार शक्य बहुत भूखे थे। खानेको बैठ गये। याद आयी कि शिवको तो अभी पाषाण-पुष्प भेंट किये ही नहीं। वह तुरन्त मन्दिरको दौड़े गये और अपनी नियमित भेंट निवेदन की।

नन्दनार

नन्दनार नामके एक शैव संत अस्पृश्य जातिके हुए। एक बार आप चिदम्बरम् दर्शनके लिये गये। वे मन्दिरके बाहर प्रभुकी आज्ञाके लिये खड़े रहे। आज्ञा मिले तो भीतर जायँ। कहते हैं, प्रभुने ब्राह्मण-पुरोहितको आदेश किया कि इस भक्तको बाहरसे जाकर आदर और प्रेमके साथ भीतर ले आओ!

तिरुनीलकण्ठ यळपानार

तिरुनीलकण्ठ यळपानार नामके दूसरे शैव संत निम्न जातिके हुए। अपनी स्त्रीके साथ ये बार-बार संत सम्बन्धके साथ उनकी तीर्थयात्रामें रहे। इन्हें भी भगवान् शिवका साक्षात्कार हुआ था।

नारी संत

शैव संत-परम्परामें कितनी ही सती नारियाँ भी हैं। प्रमुख चौंसठ शैव-संतोंमें तीन नारी-संत मुख्य हैं। इनमें कारइक्काल अम्मइयरका नाम बहुत आदरसे लिया जाता है। एक समृद्धशाली वैश्यकी आप कन्या थीं। बचपनसे प्रभुकी सेवा ही आपको प्रिय थी। सयानी होनेपर आपका विवाह हुआ। आप परम पतिपरायणा थीं। इनके पतिदेवने देखा कि यह नारी तो दिव्यगुणसम्पन्न कोई देवबाला है—अस्तु, आपने दूसरी शादी कर ली और इन्हें विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करनेकी आज्ञा दे दी। एक बार अम्मइयर अपने पतिसे मिलने गयीं। पतिदेवने आपके चरणोंमें गिरकर 'माँ' कहकर प्रणाम किया। अब अम्मइयर जगत् और इसके सारे प्रपंचोंसे अलग रहकर प्रभुमय जीवन बिताने लगीं। अपने सुन्दर और मधुर भावोंको आपने बड़े ही ललित छन्दोंमें व्यक्त किया है।

अव्वई नामकी दूसरी प्रख्यात शैव-संत हुईं। आज भी आपके उपदेशपूर्ण सारगर्भित पद तामिल देशमें बड़े आदरके साथ गाये जाते हैं।

श्रीरामानन्दाचार्य

(लेखक—श्रीविन्दु ब्रह्मचारीजी)

नमोऽस्तु वासुदेवाय ज्योतिषां पतये नमः।
नमोऽस्तु रामदेवाय जगदानन्दरूपिणे॥

(श्रीरामस्तवराज—अगस्त्यसंहिता)

प्राय: संत दो कोटिके होते हैं, एक ब्रह्मनिष्ठ और एक ब्रह्मप्रतिष्ठ या ब्रह्मभूत। ब्रह्मप्रतिष्ठ या ब्रह्मभूत संतोंमें यह विशेषता होती है कि वे भगवदीय दिव्य कल्याणगुणोंके साथ-साथ भगवच्छक्तिसे भी सम्पन्न होते हैं। वे सृष्टिके किसी अंश और विधि-विधानमें इच्छानुसार कुछ संशोधन और परिवर्तन भी कर सकते हैं। ब्रह्मसे अभिन्न हो उसके साथ वे व्यापक हो जाते हैं, अतएव सम्पूर्ण सचराचर विश्वसे उनकी एकात्मता हो जाती है। वे विश्वमें और विश्व उनमें। सर्ग और विसर्गके खेल और खिलाड़ीको वे अच्छी तरह जानते हैं।

मर्दाने-ख़ुदा ख़ुदा न बाशन्द।
लेकिनज़ ख़ुदा जुदा न बाशन्द॥

अर्थात् भागवत जन चाहे भगवत् न हों, लेकिन वे भगवत्से भिन्न तो कदापि नहीं हैं।

केवल भावुक भक्त मनके क्षेत्रमें अपनी भगवद्भावनाको चरितार्थ करते हैं, केवल ज्ञानी बुद्धिके क्षेत्रमें अपने ज्ञानको सार्थक करते हैं, पर संत आत्माके क्षेत्रमें भक्ति-ज्ञान-वैराग्यको एक कर देते हैं। सृष्टिके इतिहासमें एक ऐसा भी स्वर्णमय समय आया था जब ऐसे सिद्ध संतोंकी परम्परा बँध गयी थी। वह समय जगद्गुरु भगवान् श्रीस्वामी रामानन्द महाप्रभुका था। स्वयं भगवद्विभव होनेसे उनकी कल्याणमयी दृष्टि जिसकी ओर फिर जाती थी, उनका पीयूषवर्षी शंखनिनाद जिसके कर्ण-कुहरोंमें पड़ जाता था, वह तत्काल जीवसे शिव हो जाता था। इसमें देर नहीं लगती थी—वह तुरंत समाधिस्थ होकर अपने आत्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता था। सैकड़ों पुरुष उस उदार द्वारकी रज लेकर विरजाको पार कर गये। उस अपूर्व कल्पवृक्षके नीचे धर्मार्थकाममोक्षके परिपक्व फल टपका करते थे और अधिकारी जन उठाया करते थे। वे ऐसे अपूर्व गुरु थे जो साध्य ही प्रदान किया करते थे, साधन नहीं। वह समय संत-सुमनसमूहके लिये वसन्त ही था। उनकी परम्परामें इतने अधिक संत हुए कि 'संत' शब्द उनके सम्प्रदायके विरक्तोंका पर्यायवाची ही हो गया। 'साधु', 'संत' और 'महात्मा' शब्द विरागियोंके लिये रूढ़-से हो गये।

जगद्गुरुने अन्तर्हित रहकर ही जगत्का हित किया। वे सदा परदेमें ही रहा करते थे,—***'दर परदा अयाँ बाशम, व बेपरदा निहाँ।'*** उनका ऐसा स्वभाव भी था और अलौकिक कारणविशेष भी। यदि कभी किसी सत्पात्रको भाग्यसे उनके दर्शन हो गये तो भूतलपर एक दिव्य कौतूहल हो गया। वे अपनी गुफामें रहते हुए भी सदा सर्वत्र रहते थे, और न रहते हुए भी सदा सर्वत्र रहते हैं। उनका दिव्य तेज दूरतक विश्वके दिग्दिगन्तोंमें छा रहा था। राजनैतिक क्षेत्रमें भी वह उसी प्रकार चमकता था जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्रमें। भारतवर्षके उस महाभयंकर कालमें आर्यजाति और आर्यधर्मके त्राणके साथ ही विश्व-कल्याण एवं भागवत-धर्मके अभ्युत्थानके

लिये जैसे सार्वभौम, शक्तिशाली और प्रभावशाली आचार्यावतारकी आवश्यकता थी, यतिराज जगद्गुरु वैसे ही थे। जिसे जगद्गुरु कहते हैं, वह वही थे। सम्पूर्ण जगत् उन्हें अपना आचार्य और गुरु मानता था—स्वदेशी-विदेशी, स्वधर्मी-विधर्मी, सब उनमें हार्दिक श्रद्धा रखते थे। जीवमात्रपर उनकी समान करुणा थी। जैन, बौद्ध, पारसी, ईसाई और इस्लामी इत्यादि सभी उनके उदार द्वारसे परमार्थकी भिक्षा पाते थे। इतना ही नहीं, सुर-नर-नाग-पशु-पक्षी भी उनकी कृपासे कृतार्थ हुए हैं। भारतवर्षके अतिरिक्त ईरान और अरब आदि देशान्तरोंके भी संत उनकी सेवामें आते थे और पूर्णकाम होकर जाते थे। भेदभाव तो वहाँ था ही नहीं। सभी सम्प्रदायके अनुयायी महात्मा उनसे लाभ उठाते थे। उनका शिष्य और साधक होनेके लिये सम्प्रदाय-परिवर्तनकी आवश्यकता नहीं थी। उन श्रीचरणोंकी नीति आध्यात्मिक नीति थी। उन्हींकी तरह वह व्यापक थी। सब दिशाएँ परमात्मासे परिपूर्ण हैं। कहींसे भी कोई उसे प्राप्त कर सकता है। जहाँ भगवान्‌का भाव है, वहीं वह हैं। उनके शिष्योंकी भी यही रीति थी। वे सम्प्रदाय-परिवर्तन नहीं कराते थे और शिष्यको कृतार्थ कर देते थे। भगवत्पादाचार्योंकी अनुग्रहा-शक्ति तो स्वभावतःसतत व्यापक ही रहती थी, परन्तु आवश्यकता पड़नेपर उन्होंने अपनी निग्रहा-शक्तिसे भी काम लिया है। जब तात्कालिक मुसलिम सम्राट् दिल्लीपति तुग़लकका उद्दण्ड शासन हिन्दूकुल-कमल-काननके लिये प्रचण्ड ग्रीष्म-सा तप रहा था और नित्य नये अत्याचारकी दहकती हुई लूएँ चल रही थीं तब यतिराजने उसका शासन किया था, जो समस्त भारतवर्षके मुसलमानोंमें व्याप्त हो गया था। विवश होकर तुग़लकको श्रीस्वामीजीकी सेवामें दूत भेजकर क्षमा माँगनी पड़ी और सन्धिपत्र लिखकर उनकी हिन्दूधर्मरक्षाविषयक बारहों शर्तें मंजूर करनी पड़ीं।

श्रीभगवत्पादाचार्यका वह समय था जब बाहर बादशाही प्रबल प्रहार और अत्याचार तथा भीतर मत-मतान्तरद्वेष और साम्प्रदायिक कलहसे आर्यधर्मका अंग-प्रत्यंग छिन्न-भिन्न हो रहा था और उसकी जीवन-ज्योति अखिल सत्यमें लीन हो रही थी। जब आर्यजाति हताहत हो रही थी और उसके प्राण कण्ठगत हो रहे थे तब उन महाप्रभुकी ही अचिन्त्य महिमा थी जिसने नव जीवन प्रदानकर उनकी रक्षा की। उग्ररूपसे फैले हुए राग-द्वेषको मिटाकर शान्ति-सुखका साम्राज्य स्थापित कर दिया। वास्तवमें श्रीयतिराज महाराज युगप्रवर्तक महापुरुष थे। भागवत-धर्मप्रधान धार्मिक शान्तिका जो सात्त्विक युग उन्होंने उपस्थित कर दिया वही अबतक सनातनधर्मके नामसे चल रहा है। उनके दिव्य प्रभावसे उनका आविर्भाव होते ही बाह्याभ्यन्तर प्रकृतिमें सत्त्वगुणका ऐसा संचार हुआ जिससे देश-कालका भी संशोधन हुआ और प्रजाके अन्तःकरणोंका भी—अखिल मानसमें राग-द्वेषकी वृत्ति स्वतः शान्त होने लगी। जनता जगद्गुरुकी आज्ञा श्रुतिवत् मानने लगी। सब उस अलौकिक श्यामल मेघकी शीतल छायामें फूलने-फलने लगे। विश्वके समस्त सिद्धोंको उनके अवतरणकी सूचना पूर्वहीसे हो चुकी थी। उन्होंने उनका स्वागत किया और विश्व-कल्याणकार्यमें उनके चरणकमलोंकी वन्दना करके प्रवृत्त हो गये। जगद्गुरु महाप्रभु ***'सबके प्रिय सबके हितकारी'*** थे। वैष्णवेतर शैव-शाक्तादि भी अपने-अपने तौरपर अपनेको 'रामानन्दी' मानते थे और निज-निज भावानुसार अपने अनुकूल उसका इस प्रकार अर्थ भी कर लेते थे—

'रा' शक्तिरिति विख्याता 'म' शिवः परिकीर्तितः।
तदानन्दी शान्तचित्ती प्रसन्नात्मा विचारधृक्॥
सर्वत्र रामरूपश्च 'रामानन्दी' प्रकीर्तितः।

उनकी इस सर्वप्रियता और विश्ववरेण्यताका कारण यही था कि वे समदर्शी और नीरदवत् सर्वत्र समकरुणामृतवर्षी थे—

सब मम प्रिय सब मम उपजाया। सबपर मोरि बराबर दाया॥

श्रीस्वामीजीने देशके लिये तीन काम मुख्यतः किये। प्रथम तो यह कि उन्होंने घोर साम्प्रदायिक (गृह) कलह शान्त कर दिया। दूसरा यह कि सम्राट् गयासुद्दीन तुगलककी हिन्दु-संहारिणी सत्ताको पूर्णतया दबा दिया। तीसरा यह कि हिन्दुओंका आर्थिक संकट भी दूर कर दिया। इतिहासज्ञ जानते हैं कि जब तुग़लकने मौलवीसे पूछा कि इन क़ाफिरों (हिन्दुओं) के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, तब उसने उन्हें अत्यन्त घृणार्ह व्यवहारका पात्र बताया। तात्पर्य यह कि हिन्दुओंको सुखीजीवन-निर्वाहका कोई अधिकार नहीं। फलतः बादशाहने हिन्दुओंके घर लुटवा दिये। अब उनके भोजन बनानेके लिये केवल मिट्टीके बर्तन रह गये थे। पर श्रीस्वामीजी महाराजकी कृपासे सबके घर फिर-फिर धन-धान्यसे

भर-भर गये। वह ऐसी सम्पत्ति थी जो लूटनेपर भी जैसी-की-तैसी रहती थी। भारतवर्षकी भी उस समय वही दशा होनेवाली थी जो अफ़ग़ानिस्तान और ईरानकी हुई, अर्थात् जैसे वे देश सम्पूर्णतया मुसलमान बनाये गये वैसे ही हिन्दुस्तान भी बनाया जानेवाला था। संवत् १४५४ का समय हिन्दुओंके लिये बड़ा ही विकट आया था। निस्सन्देह उस कराल कालमें देश-धर्मकी रक्षा करनेके लिये श्रीभगवान् रामानन्द महाप्रभु-जैसे सर्वशक्तिशाली दिव्य विभवकी ही आवश्यकता थी। उनकी अघटनघटनापटीयसी शक्तिके विलाससे उनके समस्त चरित ही ओतप्रोत हैं। वास्तवमें वे आध्यात्मिक जगत्के सार्वभौम चक्रवर्ती थे। सब जगत् उनका था और वे सब जगत्के थे। 'जगद्गुरु' शब्द उनके सम्बन्धमें अक्षरशः सार्थक था।

उन विभवविभु भगवान्के साथ भागवतधर्मधुरन्धर द्वादश महाभागवत श्रीस्वामी अनन्तानन्द आदिके रूपमें अवतरित हुए थे—

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥
द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः।

(भागवत ६।३।२०-२१)

—ये जगद्गुरुके पट्टशिष्य थे जो श्रीनाभास्वामिकृत भक्तमालमें प्रसिद्ध हैं।

श्रीभगवत्पादाचार्यके समसामयिक मौलाना रसीदुद्दीन नामक एक फ़कीर काशीमें हो गये हैं। उन्होंने 'तज़कीरतुल फ़ुक़ुरा' संज्ञक एक पुस्तक लिखी है, जिसमें मुसलमान संतोंकी कथाएँ हैं। उसमें श्रीरामानन्दस्वामीजीकी भी कुछ चर्चा उन्होंने की है। मैं उसका हिन्दी भाषान्तर नीचे उद्धृत करता हूँ—

'इस पुरी (काशी) में पंचगंगाघाटपर एक प्रसिद्ध महात्मा रहते हैं। तेजःपुंज और पूर्ण योगेश्वर हैं। वैष्णवोंके सर्वमान्य आचार्य हैं। सदाचार एवं ब्रह्मनिष्ठत्वके स्वरूप ही हैं। परमात्मतत्त्वरहस्यके पूर्ण ज्ञाता हैं। सच्चे भगवत्प्रेमियों एवं ब्रह्मविदोंके समाजमें उत्कृष्ट प्रभाव रखते हैं। अपितु, धर्माधिकारमें वे हिन्दुओंके धर्म-कर्मके सम्राट् हैं। केवल ब्रह्मवेलामें अपनी पुनीत गुफ़ासे गंगास्नानके लिये बाहर निकलते हैं। उन पवित्र आत्माको स्वामी रामानन्द कहते हैं। उनके शिष्योंकी संख्या पाँच सौसे अधिक है। उस शिष्यसमूहमें द्वादश गुरुके विशेष कृपापात्र हैं—कबीर, पीपा और रैदास आदि। भागवतोंके इस समुदायका नाम 'विरागी' है। जो लोक-परलोककी इच्छाओंका त्याग करता है, उसे ब्राह्मणोंकी भाषामें 'विरागी' कहते हैं। कहते हैं कि इस सम्प्रदायकी प्रवर्तिका (ऋषि) जगज्जननी (श्री) सीताजी हैं। उन्होंने प्रथमतः अपने सविशेष सेवक पार्षदरूप (श्री) हनुमान् (जी) को उपदेश किया और उन ऋषि (आचार्य) के द्वारा संसारमें उस रहस्य (मन्त्र) का प्रकाश हुआ। इस कारण इस सम्प्रदायका नाम श्रीसम्प्रदाय है। और उसके मुख्य मन्त्रको 'रामतारक' कहते हैं। और यह कि उस पवित्र मन्त्रकी गुरु शिष्यके कानमें दीक्षा देते हैं और ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक लाम व मीमके आकारका ललाट तथा अन्य ग्यारह स्थलोंपर लगाते हैं। तुलसीका 'हीरा' जनेऊमें गूँथकर शिष्यके गलेमें पहनाते हैं। उनकी जिह्वा जपमें और मन सच्चे प्रियतमके दर्शनानुसन्धानमें रहा करता है। पूर्णतया भजनमें ही रहना इस सम्प्रदायकी रीति है। अधिकांश संत आत्मारामी अथवा परमहंसी जीवन निर्वाह करते हैं।'

किसी-किसी संहिता और पुराणमें भी श्रीभगवान् रामानन्दस्वामीके अवतारकी सूचना है। ऐसे वचनोंके उद्धरणमें यद्यपि रुचि नहीं होती और न आवश्यकता ही प्रतीत होती है, क्योंकि दीपकके प्रकाशमें सूर्यको क्या देखना और कस्तूरीको शपथ करके क्या बताना, तथापि रीति-निर्वाहार्थ वैश्वानरसंहिताका निम्नस्थ श्लोक उद्धृत किये देता हूँ—

सोऽवातरज्जगन्मध्ये जन्तूनां भवसङ्कटात्।
पारं कर्तुं हि धर्मात्मा रामानन्दः स्वयं हरिः॥

इसी प्रकार अगस्त्यसंहितादिमें भी कहा है।

'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' यह श्रीमुखवाक्य जगद्गुरुके जीवनमें अक्षरशः चरितार्थ हुआ है। उनका सम्पूर्ण जीवन ही साद्यन्त दिव्यता और अलौकिकतासे भरा हुआ है। अतः समयको देखकर मैं उसका कोई अंश यहाँ उद्धृत करना उचित नहीं समझता। सब बातोंका समय निर्धारित होता है। जब वह योग-मुहूर्त्त आ जायगा, तब अनायास उनकी महिमा प्रकट हो जायगी। सम्प्रति 'कल्याण' के इस विशेषांक 'संत-अंक' के उपयुक्त क्षेत्रमें उन प्रातःस्मरणीयका कुछ पुण्य स्मरण कर लेना मैंने उचित समझा। तब भी जितना चाहता था अथवा जितना चाहिये था उससे अधिक ही लिख गया।

भगवत्पादके तिरोधानके पश्चात् एक लोकोत्तर घटनाके रूपमें विशेष आवश्यकतावश उनकी कुछ ऐसी माया हुई जिससे लोग उन्हें भूल-से जायँ। उससे तत्काल तो यह लाभ हुआ कि लाखों काशीवासी, जो उनके चिर-वियोगके असह्य दुःख-समुद्रमें डूब रहे थे—अत्यन्त शोकविह्वल, अतएव सुध-विभोर हो अपने सम्पूर्ण कृत्य-कर्तव्य भी भूल गये थे—उनके हृदयोंमें एक क्षणमें स्वतः सान्त्वना और शान्ति उत्पन्न हुई और वे सावधान हुए। उस शंखनादकी वह प्रतिध्वनि और उसका व्यापक प्रभाव शेष रह गया कि जगद्गुरुके बादकी पीढ़ियाँ धीरे-धीरे यह भूलने लगीं कि वस्तुतः वे क्या थे। हाँ, सिद्धलोक उनकी महिमासे परिचित चला आता है और मुख्यतः उनका लीलाक्षेत्र भी वही था।

शक्के-इंसाँमें खुदा था, मुझे मालूम न था।
हक़से नाहक़ मैं जुदा था, मुझे मालूम न था॥

भगवान् महावीर

(प्रेषक—मा० मिश्रीमलजी)

भारतवर्ष धर्मप्रधान देश है। यहाँपर अनेक धर्मोपदेशक महापुरुषोंने जन्म ग्रहणकर संसारका कल्याण किया है। आजसे लगभग २५०० वर्ष पहले यहाँकी स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। सच्चा धर्म संसारसे लोप हो गया था। पाप-पाखण्ड, छल-कपट और बाह्याडम्बरका बोलबाला था। सर्वत्र हिंसाका प्रबल प्रचार था। पशुयज्ञ और बलिदानसे भारतवर्षकी पवित्र भूमि रक्तरंजित हो चुकी थी। अन्याय, अत्याचार और भोगविलासकी पराकाष्ठा हो गयी थी। मनुष्य-समाज दीन-हीन और दुःख-दर्दसे पीड़ित हो गया था। चारों ओर हाहाकार मच रहा था। जगत् दुखी था। सद्भाग्यसे उसी समय भगवान् महावीरका जन्म हुआ। आजसे २५३७ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला १३ के दिन विहार प्रान्तके क्षत्रियकुण्ड नगरमें भगवान् महावीरका जन्म हुआ था। इनके पिताका नाम सिद्धार्थ राजा और माताका नाम त्रिशलादेवी था। महाराजा सिद्धार्थ इक्ष्वाकुवंशके अन्तर्गत ज्ञातवंशके क्षत्रिय राजा थे। इनका कुल बड़ा प्रतिष्ठित था। त्रिशलादेवी वैशालीके सुविख्यात प्रतिष्ठित सम्राट् चेटककी पुत्री थीं। भगवान् महावीर जन्मसे ही ज्ञान और अलौकिक शक्तियोंसे सम्पन्न थे। जब ये माताके गर्भमें थे तभीसे राजा सिद्धार्थके घरमें धन-धान्यकी उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। इसी कारण माता-पिताने इनका नाम 'वर्द्धमान' रखा। बाल्यावस्था इनकी बड़े ही लाड़-प्यारसे बीती। फिर शिक्षण भी इन्होंने उत्तम रीतिसे सम्पादन किया। युवावस्थामें प्रवेश होते-होते इन्होंने आदर्श क्षत्रियोचित सभी कलाएँ और विद्याएँ हस्तगत कर ली थीं। शारीरिक बलमें भी ये बढ़े-चढ़े थे। हिन्दुस्तानकी सामाजिक और धार्मिक दुर्व्यवस्थाको देखकर इनके हृदयमें अपार दुःख होता था। जगत्के दुःखित प्राणियोंका उद्धार करनेका ये प्रतिक्षण विचार किया करते थे। इनका हृदय वैराग्य और करुणाका निवासस्थान था। ये चाहते थे कि मैं आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करूँ, किन्तु इनकी माताके परमाग्रहसे इनका विवाह समरवीर नामक राजाकी कन्या यशोदादेवीसे हो गया। इनके प्रियदर्शना नामकी एक पुत्री हुई थी, जिसका पाणिग्रहण जमाली नामक एक राजपुत्रसे हुआ था। कुछ समयके पश्चात् यही जमाली भगवान् महावीरद्वारा दीक्षित बन इनके विरुद्ध एक नये मतका संस्थापक बना। राजकुमार महावीर जब २८ वर्षकी अवस्थाके हुए उस समय उनके माता-पिताका स्वर्गवास हो गया। इस समय ये संसारका कल्याण करनेके लिये शीघ्र ही 'निर्ग्रन्थ मुनि' होना चाहते थे, किन्तु अपने बड़े भाई नन्दिवर्द्धनके आग्रहसे राजकुमार महावीर दो वर्षतक और गृहस्थावासमें रहे। परन्तु घरमें रहकर भी ये साधुओंके नियमोंका पालन करते रहे। आत्मचिन्तन करते रहे। इनके पास प्रचुर धनराशि थी, अतः अब इन्होंने दीन-दुखियोंको दान देना प्रारम्भ किया। जो भी याचक महावीरके पास आता वह खाली हाथ नहीं लौटता था। मुँहमाँगा द्रव्य वे उसे दान करते थे। सभी प्रान्तोंके लोग इनके पास दान लेनेको आते थे। हजारोंकी गरीबी इन्होंने निवारण की। प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्णमुहरोंका दान वे दिया करते थे। यही क्रिया एक वर्षतक जारी रही। कुल तीन अरब, अठासी करोड़, अस्सी लाख मुहरोंका दान याचकोंको राजकुमार महावीरने दिया। तीस वर्षकी अवस्थामें मार्गशीर्ष कृष्णा दशमीको राजकुमार महावीरने अपने कुटुम्ब-परिवारसे नेह-नाता तोड़कर तथा अपने अतुलित

राजवैभवको परित्याग करके दीक्षा ग्रहण कर ली। अब ये निर्ग्रन्थ हो गये। कंचन-कामिनीके त्यागी मुनि बन गये। दीक्षा लेते ही महावीरस्वामीको **'मनःपर्याय ज्ञान'** उत्पन्न हो गया। अर्थात् प्राणिमात्रके मनोगत भावोंको जाननेकी सामर्थ्य इनमें उत्पन्न हो गयी। अब इन्होंने समझा कि जबतक आत्माकी पूर्णता प्रकट न हो जाय, इन्द्रिय और मनके विकारोंपर विजय प्राप्त न कर ली जाय, तबतक अपना और दूसरोंका सम्पूर्ण उद्धार होना कठिन है। अतः उग्र तपस्या करके सर्वप्रथम वीतराग और सर्वज्ञ होना चाहिये। इसी विचारानुसार उन्होंने साढ़े बारह वर्षतक महान् प्रचण्ड तपश्चर्या की। छः-छः महीनोंतक बिना अन्न-जलके उपवास किया। महीनोंतक खड़े-खड़े ध्यान किया। निद्रा और आलस्यका सर्वथा त्याग किया। इस तपःसाधनाके साढ़े बारह वर्षोंकी अवधिमें केवल ३४ दिन ही महावीरस्वामीने भोजन किया, सो भी एक ही बार। और शेष करीब साढ़े ग्यारह वर्ष उपवास करके काटे। इस साधनामें इन्हें सहस्रों असह्य कष्ट झेलने पड़े। जंगली ग्वालोंने इनके पैरोंमें आग लगायी। कानोंमें काठके कीले ठोंके। कितनोंहीने इनका अपमान किया। संगम नामक दुष्टदेवने इनपर भीषण यन्त्रणाओंकी ऐसी घनघोर वर्षा की जिसे सुनकर हृदय काँपने लगता है। मनुष्य, पशु और देवताओंने भी इन्हें विविध प्रकारके भयंकर कष्ट दिये। किन्तु महावीर महावीर ही थे। वे अपने लक्ष्यपर सुमेरुगिरिकी तरह अचल और अडिग थे। संसारकी कल्याणकामनामें उन्होंने अपने देहके उत्सर्गको उत्सर्ग ही नहीं समझा, किन्तु वे हँसते-हँसते उपसर्गोंसे खेले। ऐसे कितने ही प्राणनाशक उपसर्ग, जो भगवान् महावीरने सहन किये हैं, उल्लेखनीय हैं; किन्तु स्थानाभावके कारण उन सबका वर्णन यहाँ नहीं किया जा रहा है। जितना कष्ट भगवान् महावीरने सहन किया उतना शायद ही किसीने सहन किया। इस कारणसे इन्द्रने इनका नाम 'महावीर' रखा। उग्र तपश्चर्याके प्रभावसे भगवान् महावीरने अपने सम्पूर्ण दोषोंका एकान्त नाश कर दिया, जिसके कारण इन्हें अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो गयीं। ये वीतराग और सर्वज्ञ हो गये। अब इन्होंने जगत्को उपदेश देना प्रारम्भ किया। आत्मधर्मकी घोषणा की। देशमें धर्मके नामपर मूक निरपराध पशुओंकी जो बलि दी जाती थी उसका इन्होंने घोर विरोध किया। अहिंसा और सत्यका प्रचण्ड प्रचार किया। सामाजिक और धार्मिक सुधारका भूकम्प मचा देनेवाला प्रचण्ड आन्दोलन किया। जिससे रूढ़ियों और कुरीतियोंका विध्वंस हुआ। सुधारका पुनीत प्रकाश व्याप्त हो गया। भगवान् महावीरने जातिभेदको कोई महत्त्व नहीं दिया। शूद्रोंतकको महावीरने शिष्य बनाकर पवित्र महात्मा बना दिया। धर्मका स्थान आत्माकी आन्तरिक पवित्रता है। बाहरी साधन धर्मके एकान्त साधक और बाधक नहीं हो सकते। प्रत्येक प्राणी धर्मका अधिकारी है। ऐसा उनका उपदेश था। उनके उपदेशोंमें अपूर्व शक्ति थी, जिससे उन्होंने इन्द्रभूत (गौतमस्वामी) जैसे जगत्प्रसिद्ध ४४०० विद्वानोंको वेदोंका यथार्थ अर्थ समझाकर अपना शिष्य बनाया था। बड़े-बड़े राजाओं और अधिकारियोंको साधु बनाया। चारों वर्णोंके साधु और गृहस्थ महावीरके शिष्य थे। जैसे शूद्रोंमें मैतार्य और हरिकेशी आदि। वैश्योंमें शालिभद्र आदि। क्षत्रियोंमें मेघकुमारादि। ब्राह्मणोंमें इन्द्रभूति, सुधर्मा आदि। ये इनके साधु शिष्य थे और ढंग, गौभद्र, श्रेणिक, अंबड़ आदि क्रमशः शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण जातिके गृहस्थ शिष्य थे। भगवान् महावीरने स्त्रियोंको भी पुरुषवत् धर्मके अधिकार दिये थे।

भगवान् महावीरके जीवनमें एक विशेषता और है, वह है स्याद्वाद। स्याद्वाद एक सिद्धान्त है। एक ही वस्तुमें भिन्न-भिन्न देश, काल और अवस्थाओंकी अपेक्षासे अनेक विरुद्ध या अविरुद्ध धर्मोंकी सम्भावना हो सकती है। अतः एकान्त रीतिसे अमुक वस्तुमें ही अमुक धर्म है, दूसरा नहीं ऐसा कहना मिथ्या है। स्याद्वाद—यह वस्तुमात्रको पूर्णरीतिसे पहचाननेका नाम है। इसको अनेकान्तवाद भी कहते हैं। इसके द्वारा प्रत्येक वस्तुकी परीक्षा करनेपर वस्तुका स्वरूप यथार्थ रूपमें प्रकट होता है। इस सिद्धान्तको जानने और पालन करनेसे जगत्का वैर-विरोध शान्त हो सकता है। भगवान् महावीरके उपदेशमें त्याग, संयम और जीवादि पदार्थोंके स्वरूपकी प्रधानता है। लगभग ३० वर्षतक भगवान् महावीरने उपदेशका कार्य किया। राजगृह (नालन्द), श्रावस्ती और वैशालीप्रमुख नगरोंमें इन्होंने चातुर्मास्य किये। मगध, बंगाल और बिहारकी प्रजाका प्रेम भगवान् महावीरके प्रति अधिक था। राजा श्रेणिक (बिम्बिसार) नन्दिवर्द्धन, चण्ड प्रद्योतन, चेटक, उदायन प्रसन्नचन्द्र, अदीनशत्रु प्रभृति राजा महावीरस्वामीके शिष्य थे। इनकी कुल आयु बहत्तर वर्षकी थी। कार्तिक कृष्णा अमावस्याको पावापुरीमें इनका निर्वाण (मोक्ष) हुआ।

भगवान् महावीर जगत्के उद्धारक थे उन्होंने धराधामपर अवतीर्ण होकर जगत्का कल्याण किया। भगवान्के चरित्रसे पद-पदपर जो गम्भीरता, उच्च तपस्विता और महानुभावता टपकती है वह अनुपम है। उसकी तुलना किसीके साथ नहीं की जा सकती। उन्होंने संसारको जो अमूल्य उपहार प्रदान किये हैं उनके लिये संसार उनका चिरऋणी है।

(संकलित)

भगवान् बुद्ध और उनका धर्म

(लेखक—ठाकुर श्रीकेदारनाथसिंहजी दीक्षित, बी० ए०)

मुद्रणकलाके आविष्कारके पूर्व ऐतिहासिक घटनाओंको लोग एक-दूसरेकी ज़बानी परम्परासे सुनकर स्मरण रखते थे। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया इनका रूप विस्तृत होता गया और इस प्रकार वास्तविकताके साथ-साथ उनमें कल्पनाका अंश भी मिलता गया। इस प्रकारका परिवर्तन भगवान् बुद्धकी जीवन-कथामें भी हुआ और उसकी शताब्दियोंतक आवृत्ति होनेसे उसमें भी सत्य और कल्पनाका खासा सम्मिश्रण हो गया। भगवान् बुद्ध पूर्वके थे और पौर्वात्योंकी आध्यात्मिक दृष्टिमें वे महान् थे, भौतिक अर्थमें नहीं; क्योंकि पौर्वात्योंकी दृष्टिमें आध्यात्मिक उन्नति ही सबसे अधिक महत्त्वकी गिनी जाती है।

माता-पिताने बुद्धका नाम सिद्धार्थ रखा था और उनका गोत्र था गौतम। वे प्राय: गौतमबुद्धके नामसे प्रसिद्ध हैं। 'बुद्ध' का अर्थ है—जिसे बोध हो गया हो अथवा जिसे भगवान्का प्रकाश प्राप्त हो गया हो। यह उपाधि सिद्धार्थको उच्चतम ज्ञान प्राप्त कर लेने और जगद्गुरु बन जानेपर प्राप्त हुई थी। उन्हें लोग शाक्यमुनि (शाक्यवंशका ज्ञानी पुरुष), शाक्यसिंह, जिन (जितेन्द्रिय) तथा भगवान् भी कहते हैं।

शैशवावस्थासे ही भगवान् बुद्धकी धर्मकी ओर अभिरुचि और प्रवृत्ति थी और वे धार्मिक प्रश्नोंपर गम्भीर विचार किया करते थे। जीवनके प्रारम्भिक कालसे ही वे समस्त प्राणियोंके प्रति दयाका भाव रखते थे। लोगोंने यह कह रखा था कि राजकुमार वृद्ध, रोगी, शव और यति, इन चार दृश्योंको देख लेनेके पश्चात् विरक्त एवं संसारत्यागी हो जायँगे। राजाने उन्हें गृहके प्रेमपाशमें बाँधनेके सभी उपाय किये। उन्होंने इनके लिये संसारकी सभी भोगसामग्री जुटा दी, किन्तु भाग्यका विधान कुछ और ही था। स्वामिभक्त सारथी छन्दद्वारा हाँके जानेवाले रथमें बैठकर क्रीडोद्यानमें सैरके लिये जाते हुए उन्होंने ये दृश्य एक-एक करके देखे। उन्हीं दिनों इनकी स्त्री यशोधराके एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। इन्होंने सोचा कि इस बन्धनका तोड़ना दुष्कर होगा, किन्तु बड़े यत्नसे इस बाधापर विजयी होकर ये एक दिन रात्रिके समय राजप्रासादसे निकल पड़े तथा अपने प्रिय घोड़े छन्दकपर सवार होकर छन्दके साथ अनोमा नदीके तीरपर जा पहुँचे।

इस प्रकार सांसारिक बन्धनमें बाँधनेवाले राज्य, सम्पत्ति, स्त्री और पुत्रका उन्होंने त्याग कर दिया और ज्ञान एवं सत्यका अन्वेषण किया। इस कार्यमें इन्हें बड़े-बड़े कष्ट झेलने पड़े; किन्तु ये तनिक भी निराश नहीं हुए अपितु सत्यकी खोजमें कटिबद्ध रहे। चारों ओरसे इनपर मार (कामदेव) के आक्रमण होते रहे; किन्तु ये अचल रहे, जिससे अन्ततोगत्वा इनके इच्छानुकूल इन्हें सत्यके दर्शन हुए। भगवान् बुद्धपर मानो एक अचिन्त्य शान्तिकी बाढ़ आ गयी, जिसका नाम इन्होंने 'निर्वाण' रखा।

जिस पीपलके वृक्षके नीचे गौतमको ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुआ था वह 'बोधिवृक्ष' अर्थात् 'ज्ञानके वृक्ष' के नामसे प्रसिद्ध हुआ। वे वाराणसीसे तीन मीलकी दूरीपर सारनाथ नामसे विख्यात एक रमणीक वनमें गये और वहाँ रहकर इन्होंने चार आर्य सत्योंका प्रचार किया जिनका इनके अनुयायियोंको बोध होना आवश्यक है। साथ ही इन्होंने 'आर्य अष्टाङ्गमार्ग' का भी उपदेश दिया, जिसका पालन भी उनके प्रत्येक अनुयायीके लिये आवश्यक है।

चार आर्य सत्य

(१) वस्तुमात्र क्षणिक और दुःखरूप है।

(२) संसारके क्षणिक पदार्थोंकी तृष्णा ही दुःखोंका मूल है।

(३) सोपादान तृष्णाका नाश होनेसे दुःखोंका अन्त होता है।

(४) मानवहृदयसे अहंभाव और राग-द्वेषकी वृत्तियोंके सर्वथा हट जानेपर निर्वाणकी प्राप्ति होती है।

भगवान् महावीर
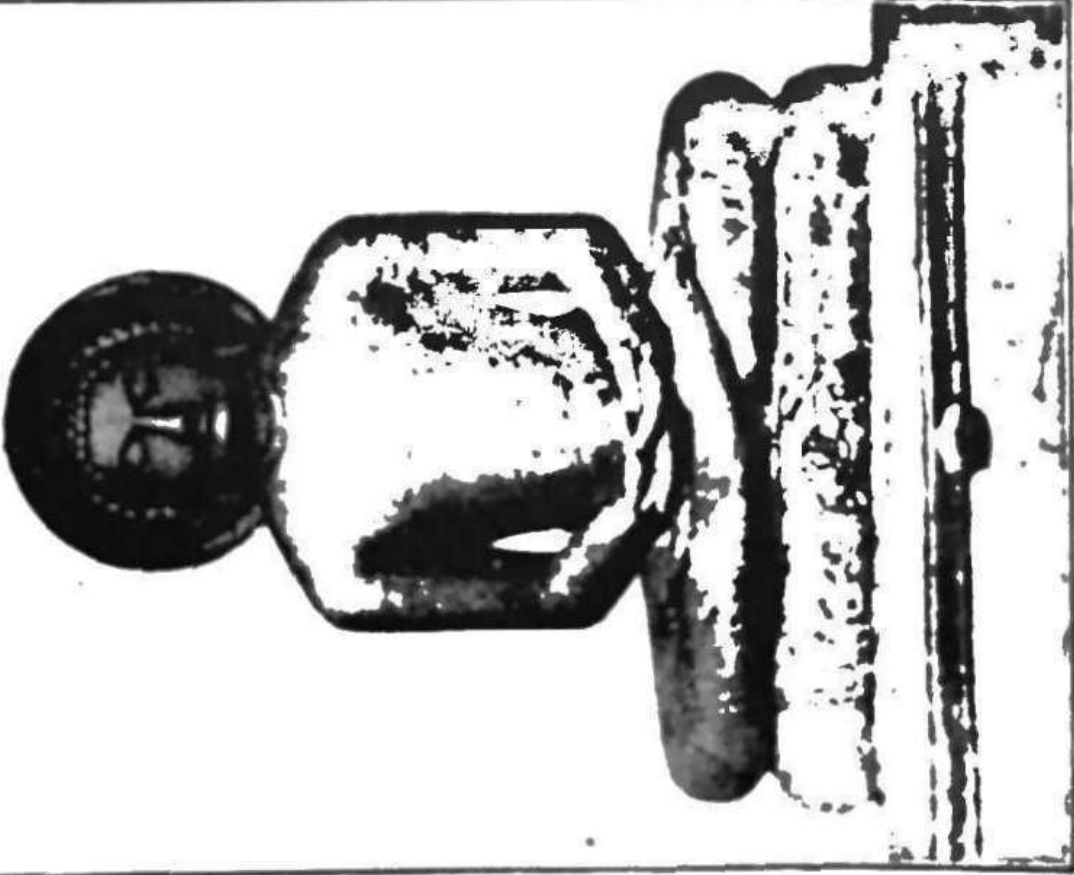
भगवान् बुद्धदेव

आर्य अष्टाङ्गमार्ग

(१) सत्य विश्वास,(२) नम्र वचन, (३) उच्च लक्ष्य, (४) सदाचरण,(५) सद्वृत्ति, (६) सद्गुणोंमें स्थिर होना, (७) बुद्धिका सदुपयोग, (८) सद्ध्यान।

यद्यपि वास्तवमें चमत्कार बौद्धसिद्धान्तके अंग नहीं हैं, तथापि भगवान् बुद्धके शिष्योंने उनके चरित्रोंमें अलौकिकताका समावेश कर दिया है। एक उपाख्यानमें माताको उपदेश देनेके हेतु, जिनका देहान्त इनके बचपनमें ही हो गया था, इनके स्वर्गारोहणकी बात लिखी है। वहाँ यह बात भी आती है कि स्वर्गकी एक वाटिकामें एक देदीप्यमान सिंहासनपर आसीन होकर इन्होंने माताको अपने सिद्धान्तोंका उपदेश दिया और फिर वे रत्नजटित चमचमाती हुई सीढ़ीसे पृथ्वीपर उतर आये।

भगवान् बुद्धने जन्मभर कष्ट झेले और आपत्तियोंका सामना किया। चालीस वर्षकी अवस्थामें जब उनकी शक्ति क्षीण होने लगी तब उनके शिष्योंने सर्वसम्मतिसे आनन्दको सदा उनके पास रहनेके लिये नियुक्त कर दिया। आनन्दने भी भगवान् बुद्धका उन संकटके दिनोंमें साथ दिया जब कि अन्य शिष्य उन्हें छोड़कर चले गये। इन महापुरुषने कुशीनगर (कसिया)-में अस्सी वर्षकी अवस्थामें संसारसे कूच किया। वहाँके लोगोंने नगरमें उनकी रथीका जुलूस निकाला और विधिपूर्वक उनकी अन्त्येष्टिक्रिया की। उनकी अस्थियोंका सम्मान किसी महान् राजाधिराजकी अस्थियोंसे कम नहीं हुआ। जहाँ-जहाँ भगवान् बुद्धकी प्रसिद्धि थी और उनके प्रेमी थे वहाँ-वहाँके लोग उनकी स्मृति बनाये रखनेको बड़े इच्छुक थे। उनके देहकी भस्मके लिये सभी ओरसे माँगें आने लगीं। परिणामतः उस राखके आठ भाग किये गये और देशके विभिन्न भागोंमें उनके स्मारक बनवाये गये।

भारतेतर देशोंके ईसासे पूर्ववर्ती कतिपय संत

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम्० ए०)

आर्यजाति इस समय पराधीन है और युग-धर्मके अनुसार अधिकांश आर्य विद्वान् अपनी संस्कृति तथा सिद्धान्तोंसे अनभिज्ञ ही नहीं किन्तु विमुख हो रहे हैं। इस बातको साबित करनेका प्रयत्न किया जा रहा है कि आर्य-संस्कृति न केवल पाँच-छः हजार वर्ष ही पुरानी है वरन् अन्यान्य अनार्य संस्कृतियोंसे न्यून भी है। इन पाश्चात्य विचारोंसे अभिभूत विद्वानोंके मतमें भारतवर्ष आर्यजातिका उद्गमस्थान भी नहीं है। उनका कहना है कि आर्यलोग भी किसी समय विदेशी विजेताओंके रूपमें भारतमें आये और सदाके लिये यहीं बस गये। इस विचारधाराका राजनैतिक परिणाम यह होगा कि हम आर्यसन्तान भारतमाताको एक पराया देश समझकर उसके प्रति अपना स्नेह कम कर देंगे। वास्तवमें यह विचारधारा कतिपय अनभिज्ञ अंग्रेजोंकी बुद्धि अथवा दुर्बुद्धिकी उपज है। गम्भीर विद्वानोंके मतसे आर्यजातिका उद्गमस्थान भारतवर्ष ही है और यहींसे समय-समयपर इस जातिकी टोलियाँ अन्य देशोंमें जा-जाकर बसी हैं। इन आर्यगणोंने ही उन अन्य देशोंमें अपनी संस्कृतिका प्रचार किया है और देशकालकी परिस्थितियोंके कारण इन दूरदेशीय आर्य-संस्कृतियों तथा मूल भारतीय संस्कृतिमें इतना अन्तर हो गया है कि बहुत लोग इन दोनोंको स्वतन्त्र संस्कृति ही कहने लगे हैं। अपने प्राचीन ग्रन्थोंके अवलोकनसे यह ज्ञात होता है कि प्राचीन कालमें भारतवर्षकी भौगोलिक स्थिति आजकलसे बहुत भिन्न थी। जिस स्थानपर आजकल कैलास पर्वत तथा मानस-सरोवर विद्यमान हैं, उसी प्रदेशमें अत्यन्त प्राचीन कालमें मानवीय सृष्टिका प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रदेशका प्राचीन नाम 'प्लक्षप्रस्रवण' है। इस स्थानपर सबसे पहले किस प्रकार मनुष्यकी सष्टि हुई तथा किस प्रकार उसका विस्तार हुआ इनका अत्यन्त प्रामाणिक तथा हृदयंगम वर्णन पण्डित गोविन्दनारायण मिश्रजीकृत 'सारस्वत-सर्वस्व' नामक ग्रन्थमें मिलेगा। इसी प्रदेशसे भौगोलिक उथल-पुथलके पश्चात् आर्य महात्मागण पंजाबमें उतर आये और कालान्तरमें उत्तरीय भारतके अन्य प्रदेशोंमें फैल गये।

बीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें पश्चिमी एशियाके

१. यह ग्रन्थ हिन्दीमें है और 'श्रीगोविन्दनिबन्धावली' का एक अंग है। इस निबन्धावलीका मूल्य ३) है और श्रीदामोदरदास खन्ना, १७ वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्तासे मिलती है।

प्राचीन देशोंमें जो खुदाई हुई है उससे ज्ञात होता है कि प्राचीन कालमें इस सम्पूर्ण प्रदेशमें आर्यजातिका राज्य तथा आर्य-संस्कृतिका प्रचार था। एशियामाइनरमें वाग़जकोई नामक स्थानपर सन् १९०७ में एक पैंतीस सौ वर्षका पुराना लेख प्राप्त हुआ है, जिसमें मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्य (अश्विनीकुमार) देवताओंका उल्लेख मिला है। इस लेखकी भाषा प्राचीन बैबीलोनियन है। मेरा तात्पर्य यह है कि जिन प्राचीन सभ्यताओंका विवरण आगे दिया जावेगा वे सब-की-सब आर्य-सभ्यताकी शाखामात्र* हैं। जिज्ञासु पाठक यदि मननपूर्वक अध्ययन करेंगे तो उनको इस विषयमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं रहेगा।

कहा जाता है कि ईसासे चार या पाँच हजार वर्ष पूर्व पश्चिमी एशियामें सुमेरुनामक जाति बसती थी। विस्तारभयसे इसके विषयमें विशेष बातें नहीं लिखी जातीं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह सुमेरु जाति आर्यगणोंकी एक टोली ही थी। कालान्तरमें इस जातिके स्थानपर असीरिया तथा बैबीलोनियाकी संस्कृतियोंका प्रचार हुआ। असीरिया तथा बैबीलोनियाका संयुक्त नाम 'चाल्डिया' है, इसी कारण 'सुमेरु' संस्कृतिके अनन्तर 'चाल्डी' सभ्यताका उल्लेख मिलता है। 'चाल्डी' सभ्यताके महात्माओंमें ज्योतिषका विशेषरूपसे प्रचार था। यह लोग 'बलि' नामक दैत्यराजको देववत् पूजते थे और अपनेको असुर कहते थे। उस समयके व्यक्तिगत महात्माओंका वृत्तान्त तो ठीक तौरपर मिलता नहीं, किन्तु 'बाइबिल' के पूर्वार्ध (Old Testament) को देखनेसे मालूम होता है कि इन लोगोंमें स्वप्नविद्याका अच्छा प्रचार था। कई प्रसिद्ध स्वप्नोंके फलादेशका वर्णन बाइबिलमें मिलता है। इनमें इतनी सामर्थ्य थी कि विस्मृत स्वप्नका विवरण देकर उसका फल बतला सकते थे। श्रीमद्भागवत (स्कन्ध १०, अध्याय ६२-६३) में जो उषा और अनिरुद्धका प्रसंग आता है उसका सम्बन्ध मेरे विचारमें इस चाल्डी देशसे है। राजकुमारी उषा राजा बलिके ज्येष्ठ पुत्र बाणासुरकी कन्या थी, और उसके सम्बन्धमें जो स्वप्नकी कथा मिलती है वह बाइबिलमें दिये हुए इन प्रसंगोंसे बहुत मिलती-जुलती है। इस संस्कृतिके सम्बन्धमें 'मग' नामक पुरोहितोंका उल्लेख मिलता है। यह मगलोग भारतवर्षीय ब्राह्मण थे, जिन्होंने देशान्तरमें सूर्यनारायणकी पूजाका विशेषरूपसे प्रचार किया था। कुष्ठ रोगकी चिकित्सासे सूर्यनारायणका घनिष्ठ सम्बन्ध है, अत: जिस समय जाम्बवतीके पुत्र साम्ब इस व्याधिसे पीड़ित हुए उस समय उन्होंने मग ब्राह्मणोंकी सहायतासे सूर्योपासनाद्वारा स्वास्थ्यलाभ किया था। कहा जाता है कि यह मगलोग बड़े उग्र मान्त्रिक तथा जादूगर थे। इनके चमत्कारोंका वर्णन प्राचीन ग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर मिलता है।

चाल्डी सभ्यताकी समकालीन 'पारसीक' सभ्यता थी। इसको लगभग पाँच या छ: हजार वर्ष हो गये। आधुनिक पारसी लोग उसी प्राचीन धर्मकी उपासना कर रहे हैं। पारसी धर्मके मूल गुरु महात्मा जरथुस्त्र थे। इनकी प्रधान उपासना अग्निकी थी। इनका मुख्य ग्रन्थ 'जेन्द-अवस्ता' है, जिसमें अनेकानेक वैदिक शब्द तथा वाक्य मिलते हैं। पाठकोंको यह सुनकर कुछ आश्चर्य-सा होगा कि कर्मनिष्ठ पारसीलोग अबतक यज्ञोपवीत धारण करते हैं और यथासम्भव नित्यप्रति गोमूत्रका आचमन करते हैं। 'जरथुस्त्र' नामके विषयमें अनुसन्धान करनेकी आवश्यकता है। मेरी समझसे महाभारत (आदिपर्व, अध्याय ३८ से ४८) में दिये हुए नागजातिके सम्बन्धी महात्मा जरत्कारु (जिनके सुपुत्र प्रसिद्ध महात्मा आस्तीक थे) की कथा विचारणीय है। इस प्रसंगमें नागजातिके उद्गम तथा विकासका अनुसन्धान विशेषरूपसे वाञ्छनीय है। कुछ विद्वानोंका मत है कि वर्तमान द्रविडजाति अफ्रीकाकी प्राचीन 'ड्रमिल' जातिकी एक शाखा है। नागोपासना तथा नागचिह्नधारण इसके अंग हैं। बाइबिलमें वर्णित शैतानरूपी सर्पका विवरण भी कदाचित् इस नागजातिसे कुछ सम्बन्ध रखता हो।

इन्हीं सभ्यताओंकी समकालीन प्राचीन 'मिश्री' सभ्यता थी। इस सभ्यताको लुप्त हुए लगभग दो सहस्र वर्ष हो गये। अपने समयमें यह बड़ी ही गम्भीर तथा शक्तिशाली संस्कृति थी। प्राचीन मिश्रीलोग अपनेको वैवस्वत (सूर्यपुत्र) मनु (Menes) की सन्तान मानते थे। इनमें परलोकसम्बन्धी जिज्ञासा बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और उसके विषयमें अनेकानेक उपचार प्रचलित थे। मरणके उपरान्त शवका अन्त्येष्टि-संस्कार बड़ा ही गम्भीर तथा सारपूर्ण होता था। मिश्रियोंके विचारसे भौतिक शरीरकी रक्षा परलोकगत आत्माकी शान्तिके लिये विशेषरूपसे

* इस विषयपर एक बड़े महत्त्वका ग्रन्थ 'The Fountain-head Of Religion' है, जिसके लेखक श्रीगंगाप्रसाद (डिप्टी कलक्टर) हैं। यह ग्रन्थ आर्यप्रतिनिधिसभा यू० पी०, बुलन्दशहरसे १) को मिलेगा।

वाञ्छनीय थी। इसी भावनाके कारण मसालोंके प्रयोगसे मृत-शरीरकी रक्षाका प्रचार बढ़ा। मसालोंके द्वारा सुरक्षित शव ममी (Mummy) कहे जाते हैं और इस प्रकारके सुरक्षित शव मिश्रदेशमें मेम्फिस, थीब्ज तथा कर्नाक इत्यादि स्थानोंमें लाखोंकी संख्यामें पाये गये हैं और अब भी पाये जाते हैं। इनमेंसे कोई-कोई शव तो छः हजार वर्षतकके पुराने पाये गये हैं। यह तो रही मनुष्योंके शवकी कथा। इनके अतिरिक्त पूज्य पशुओंके शव भी सुरक्षित पाये गये हैं। मेम्फिस नगरमें 'एपिस' नामक वृषभराजकी पूजा होती थी और इस प्रकारके पैंसठ बैलोंके शव अथवा उनके सुरक्षित रखनेके पाषाणगृह पाये गये हैं। कलकत्तेके अजायबघरमें एक मनुष्यकी ममी रखी हुई है। इसको देखकर पाठकोंको इस कलाका कुछ अनुमान हो सकेगा। इन सुरक्षित शवोंके विषयमें ऐसा कहा जाता है कि इनकी शान्तिको भंग करनेवाला व्यक्ति आकस्मिक तथा दुःखद मृत्युका शिकार होता है। इनमेंसे अधिकांश शव मन्त्रोंद्वारा सुरक्षित कर दिये गये हैं और इन मन्त्रोंमें अब भी इतनी सामर्थ्य है कि आततायीको अच्छी तरह दण्ड दे सकते हैं। सन् १९२२ में कर्नाकके महाश्मशानमें सम्राट् 'तूतखमेन' (जिनकी मृत्यु ईसासे तेरह सौ पचास वर्ष पूर्व हुई थी) का सुरक्षित शव धरातलसे अस्सी फुट नीचे प्राप्त हुआ था। इस शवको ढूँढ़ निकालनेवाले लार्ड कार्नार्वन थे। इनकी मृत्यु इस अनुसन्धानके बाद ही हुई और जिन-जिन लोगोंका सम्बन्ध इस अनुसन्धान अथवा इसके परवर्ती कार्योंसे रहा है वे सब-के-सब (अकेले Howard carter हावर्ड कार्टरको छोड़कर) बुरी तरह मरे।

इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन मिश्रीलोग मन्त्र-तन्त्रादिकसे अच्छी तरह परिचित थे। थियोसॉफिकल सम्प्रदायकी जन्मदात्री मैडम ब्लैवाट्स्की (Madame Blavatsky) ने अपने गवेषणापूर्ण 'Secret octrine' नामक ग्रन्थमें मिश्रियोंके योगाभ्यासके विषयमें भी लिखा है। उनके विचार युक्तिपूर्ण तथा मनन करनेयोग्य हैं। उनका कथन है कि ईजिप्टके सुप्रसिद्ध पिरामिड (Pyramid) तथा स्फिंक्स (Sphinx) इन्हीं योगाभ्यासकी क्रियाओंके सम्बन्धमें बनाये गये थे। पिरामिड मिश्र देशमें पचासों हैं; पर उनमेंसे तीन मुख्य हैं, जो वर्तमान मिश्रकी राजधानी खैरू (cairo) के सामने नील नदीके उस पार स्थित हैं। पिरामिड एक प्रकारके चतुष्कोण स्तूप हैं जिनके नीचेके चबूतरे पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तरको मुँह किये हुए होते हैं। चारों ओरसे ऊपरकी ओर सीढ़ियाँ जाती हैं और वे सब ऊपर एक नुकीले स्थानपर मिल जाती हैं। सबसे बड़ा पिरामिड चार सौ अस्सी फुट ऊँचा है। इस ठोस पर्वतके भीतर जानेका केवल एक ही रास्ता है। पिरामिडके भीतर तीन कोठरियाँ एकके ऊपर दूसरी हैं। सबसे नीचेवाली कोठरी तो धरातलसे भी नीचे लगभग सौ फुटकी गहराईपर है। सबसे ऊपरवाली कोठरीमें पूर्व तथा पश्चिमकी ओरसे दिवाकरकी किरणोंके आनेके लिये दो छिद्र बने हैं। मैडम ब्लैवाट्स्कीका अनुमान है कि योगाभ्यासी सबसे नीचेवाली कोठरीमें कृत्रिम प्रयोगोंद्वारा समाधिस्थ किया जाता था और दो-तीन दिन उसी अवस्थामें रखा रहनेके पश्चात् सूर्योदयके समय सबसे ऊपरवाली कोठरीमें इस प्रकार रखा जाता था कि समाधि भंग होते ही उसकी दृष्टि भगवान् सूर्यनारायणपर पड़े। यह विचार यथार्थ हों अथवा भ्रमपूर्ण, किन्तु इतना तो निश्चय ही है कि यह पिरामिड केवल किसी एक राजाके शवस्थापनके लिये ही नहीं बनाये गये। इनका उपयोग अवश्य इससे भिन्न रहा होगा।

स्फिंक्स (Sphinx) एक विचित्र वस्तु है। यह एक विशालकाय मूर्ति है जिसके सिर और धड़ तो मनुष्यके-से हैं पर नीचेका भाग सिंहका है। इसकी ऊँचाई सत्तर फुट है। अनुमान किया जाता है कि यह पूर्वाभिमुख मूर्ति सूर्यनारायणकी है। प्राचीन कालमें इसके दोनों पंजोंके बीचमें एक बड़ा-सा मन्दिर रहा होगा। मैडम ब्लैवाट्स्कीका विचार है कि इस मूर्तिके भीतर-ही-भीतर कई सुरंगें हैं जो उसे पिरामिडोंसे सम्बद्ध करती हैं और जिनमें अनेकानेक योगक्रियाओंकी साधना होती थी।

खेदका विषय है कि प्राचीन मिश्रकी अनन्त ग्रन्थराशि, जिनमें अधिकांश जादूसे सम्बद्ध पुस्तकें कही जाती हैं, धर्मान्ध मुसलमानोंद्वारा सन् ६४१ ई० में अग्निके अर्पण कर दी गयीं। उस समयतक अलेग्जांड्रिया नामक नगरमें एक ऐसा बृहत् पुस्तकालय था जहाँ दूर-दूरसे विद्यार्थी तथा विद्वान् आते थे। यही कारण है कि इस समय प्राचीन मिश्रके विषयमें लोगोंका ज्ञान अत्यन्त परिमित है।

ईसाइयोंका धर्मग्रन्थ 'बाइबिल' ६६ पर्वोंमें विभक्त है। इनमेंसे ३९ पर्व पूर्वभाग (Old Testament) के हैं, और २७ पर्व उत्तरार्ध (New Testament) के हैं।

पूर्वभागमें यहूदियों (Hebrews) के वृत्तान्त दिये गये हैं, जिनमें ईसामसीहके जन्मसे पूर्वतकका वृत्तान्त है। इसी पूर्वभागके आधारपर यहूदी धर्मके कुछ संतोंका विवरण दिया जाता है।

मूसा

लिखा है कि जलप्रलयके उपरान्त यहूदीलोग मिश्रदेशमें जा बसे। यहूदियोंका सम्पर्क 'चाल्डी' सभ्यतासे बहुत दिनोंसे था और इसी कारण उनमें भी स्वप्नविद्याका अच्छा प्रचार था। इसी स्वप्नविद्याके कारण यहूदियोंके नेता यूसुफका सत्कार मिश्रनरेश फेरो (Pharoah) के दरबारमें हुआ। कालान्तरमें जादू-टोनेकी अधिकताके कारण मिश्रीलोग यहूदियोंसे असन्तुष्ट हो गये और उनके साथ क्रूरताका व्यवहार करने लगे। इसी समय यहूदियोंके परमर्षि महात्मा मूसा (Moses) का जन्म हुआ। युवावस्थामें ही मूसाको ज्योतिर्लिंग (अग्निके स्तम्भ) के रूपमें भगवान्का दर्शन हुआ था। प्रभुसे मूसाने यहूदियोंके भविष्यके विषयमें आदेश ग्रहण किया और उसीका अनुकरण करते हुए अनेकानेक आश्चर्योंके प्रदर्शनके उपरान्त यहूदियोंको मिश्रसे निकालकर लालसागरसे पूर्वकी ओर ले आये। यहाँपर सिनाई पर्वतके शिखरपर मूसाको पुन: भगवान्का दर्शन हुआ और उनकी आज्ञासे मूसाने यहूदियोंके लिये न्यायशास्त्रके मूल सिद्धान्तोंकी घोषणा की। मूसाने भगवान्की उपासनाके लिये मन्दिरके निर्माणकी सांगोपांग विधि घोषित की। कुछ विद्वानोंका अनुमान है कि मूसाद्वारा निर्दिष्ट यह मन्दिर उन्हीं सिद्धान्तोंसे सम्बद्ध था जिनपर मिश्रके पिरामिड तथा स्फिंक्स निर्मित हुए थे। परन्तु यह विषय विवादग्रस्त है। अन्तमें दीर्घ आयु समाप्त करनेके उपरान्त हजरत मूसा अपने शिष्य जोशुआके सिरपर हाथ रखते ही अन्तर्हित हो गये। मूसाने सिनाई पर्वतपर भगवत्-दर्शनकी इच्छासे चालीस दिनतक वास किया था और मिश्राधिपति फेरोके सम्मुख अनेकानेक चमत्कार दिखलाये थे। जिज्ञासु पाठकोंको इस विषयमें बाइबिलके 'Exodus' (निर्यासन) नामक द्वितीय पर्वका ध्यानपूर्वक अनुशीलन करना चाहिये।

सुलेमान

मूसाके बाद यहूदियोंमें सुलेमान (Soloman) नामके सुप्रसिद्ध राजाका नाम आता है। यह बड़ा ही बुद्धिमान्, न्यायपरायण तथा धर्मात्मा राजा था। मूसाद्वारा निर्दिष्ट मन्दिर ध्वस्त हो गया था। सुलेमानने उस मन्दिरके स्थानपर दूसरे मन्दिरकी स्थापना की। कालान्तरमें बैबीलनके राजा 'नेब्यूचड-नजार' (Nebuchadnezzar) ने यहूदियोंको परास्त करके उनकी संस्कृतिको तहस-नहस कर डाला। अधिकांश यहूदियोंको कैद करके दासरूपमें अपने देशमें ले गया। वहाँ सत्तर वर्षतक यहूदी लोग अपने देशसे निर्वासित दासत्वकी शृंखलामें रहे। इसके अनन्तर जब फारसके राजा साइरसने बैबिलनको जीत लिया तब वे मुक्त होकर अपने देशको लौट आये। इस निर्वासनकालमें यहूदियोंमें अनेकानेक संत-महात्मागण प्रकट हुए। बाइबिलमें इनके विषयमें बहुत कुछ लिखा है। इन महात्माओंके नाम होसिया, अमोस, ईसाइया, माईका, नाहम, जेफानिया, हबाकुक, जेरेमिया, एज्जेकियल, दानियल, हग्गाई, जेकारिया, मलाची, जोयल और ओबादिया हैं। इनमेंसे दानियल विशेषरूपसे प्रसिद्ध थे। इनके विषयमें कई अत्यन्त चमत्कारपूर्ण कथाएँ वर्णित हैं। Old Testament के सत्ताईसवें पर्वका नाम 'दानियल' है और इसीमें इस महात्माकी अलौकिक शक्तियोंका वर्णन मिलेगा।

एलिजा

यहूदियोंकी प्राचीन संस्कृतिमें यज्ञका स्थान अत्यन्त ऊँचा था। इनके यज्ञमें पशुबलि परमावश्यक थी। मूसाके बाद एलिजा एक सुप्रसिद्ध महात्मा हो गये हैं, जिनके विषयमें लिखा है कि वे सशरीर स्वर्गको गये थे। इस स्वर्गगमनका वृत्तान्त बड़ा ही भावपूर्ण है और बाइबिलमें अवलोकनीय है (देखिये Old Testament का बारहवाँ पर्व, दूसरा अध्याय)। ईसाके जन्मके बादसे दूसरी संस्कृतिका प्रादुर्भाव होता है।

यहूदियोंमें अब भी महात्मा मूसाके प्रति अपार श्रद्धा पायी जाती है। मूसाद्वारा निर्दिष्ट धर्मशास्त्रविषयक आदेशोंका अब भी बड़ा मान है। कुछ विद्वानोंका मत है कि इन आदेशोंमें तो केवल यहूदी धर्मकी बाह्य बातें ही दी गयी हैं। इन लोगोंमें एक गुप्त तथा प्राचीन मौखिक रहस्यवादका प्रचार गुरु-शिष्यपरम्पराके अनुसार बतलाया जाता है। इस रहस्यवादका नाम 'कबाला' है, और इसका सम्बन्ध निश्चत ही गुप्त योगविद्यासे है। इस सम्बन्धमें एक रहस्यवादी प्राचीन यहूदी महात्मा 'साइमन-बेन-जोकाई' का उल्लेख मिलता है और कहा जाता है कि इन्होंने अनेक वर्षपर्यन्त एक गिरिगुहामें निवास करके इस महाविद्याको प्राप्त किया था।

महात्मा सुकरातका विषपान

[सुकरातके सामने विषका प्याला लिये वधिक खड़ा है। सुकरात निर्भय हैं।]

महाराज साइरसके सन्मुख धनमद-मत्त क्रीसस बन्दीके रूपमें

महात्मा प्लेटो या अफलातून

काठके टबमें बैठे हुए मस्त महात्मा डायोजिनीज़

ममी अर्थात् मसालोंद्वारा सुरक्षित शव

[यह चित्र केवल ऊपरी काठके संदूकका है। शव इसके भीतर है। संदूकके ऊपरकी चित्रकारी तथा लेख धार्मिक भाव पूर्ण है और सब विशिष्ट नियमोंके अनुसार बनाये गये हैं। इनमें नामायुक्त सूर्यविम्ब दर्शनीय है। भीतरका शव खोलनेपर वैसा ही मिलेगा जैसा हजारों वर्ष पहले संदूकमें रक्खा गया था। प्रतीत होगा मानो इसकी मृत्यु २४ घंटे पूर्व ही हुई है।

प्राचीन यहूदियोंकी यज्ञशाला

[बड़ी-बड़ी कुब्बेद्वार टोपीधारी होतागण है जिन्हें रब्बी कहा जाता था। दो रब्बियोंके हाथोंमें धूपदानी है। चमस आदि यज्ञपात्र नीचे पड़े है।]

मिश्रका पिरामिड

[यह चित्र खँरूनगरसे पश्चिमाभिमुख होकर लिखा गया है। सामने पूर्वकी ओर मुख किये हरमुख (Haramkha) नामक सूर्यकी मूर्ति है जिसे स्फिंक (Sphinx) कहते है। मनुष्योंके आकारसे इसकी तुलना कीजिये। इन पिरामिड तथा स्फिंक्सको बने कम-से-कम छः हजार वर्ग हो गये।]

महात्मा एलिजाका सशरीर स्वर्गारोहण

[एलिजा रथपर चढ़े आकाशमार्गसे नीचे अपने शिष्य एलिशाको आशीर्वाद दे रहे हैं। स्वर्गारोहणके पूर्व एलिजाने अपने शिष्यसे वर माँगनेको कहा तो उसने यह वर माँगा कि आपसे दूजा ब्रह्मज्ञान मुझे हो। इसपर एलिजा बोले कि यदि तुम मुझको अन्तरिक्षमें देख सकोगे तो तुम्हारी कामना अवश्य पूर्ण होगी। इसी समय आग्रेय रथ तथा घोड़े आ गये और अपना लबादा शिष्यपर डालकर एलिजा चल पड़े। यह दृश्य उसी समयका है।]

ग्रीस और रोम देशोंके कुछ प्राचीन संत

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम० ए०)

ग्रीस देशकी सभ्यता ईसासे कम-से-कम एक हजार वर्ष पहलेकी मानी जाती है। कहा जाता है कि मिश्र देशके एक प्राचीन राजाने इस देशको विजयकर यहाँ अपनी सभ्यताका प्रचार किया। ग्रीक लोग अपनेको Atreus (अत्रिऋषि) से उत्पन्न मानते हैं। इस जातिके लोग बड़े ही सुन्दर तथा कला-कौशलप्रिय थे। इन लोगोंमें कई अच्छे-अच्छे तथा सुप्रसिद्ध महात्मागण हो चुके हैं। कुछ विद्वानोंका मत है कि ग्रीक लोग स्वभावसे ही ज्ञानी तथा विचारशील रहे हैं। आर्य संस्कृतिके प्रचारके जिज्ञासुओंको ग्रीसकी प्राचीन सभ्यताका अध्ययन करना परमावश्यक है। विस्तारभयसे इस विषयमें और कुछ न लिखकर केवल थोड़े-से संत-महात्माओंकी कथाएँ लिखी जाती हैं।

सोलन

ग्रीस देशकी राजधानी 'एथेन्स' में सोलन नामके एक सुप्रसिद्ध धर्मशास्त्रकार ईसासे साढ़े छः सौ वर्ष पूर्व हो गये हैं। इन्होंने ग्रीक लोगोंके नैतिक जीवनकी नींव डाली। पर वास्तवमें यह महात्मा बड़े ही सादे तथा ज्ञानी थे। इनको देशाटनसे विशेष प्रेम था। एक समयकी कथा है कि सोलन क्रीसस नामक राजाके दरबारमें घूमते-घूमते पहुँचे। क्रीसस अतुल धन-सम्पत्तिपूर्ण था, और उसे अपने वैभवका बड़ा अभिमान था। वह अपनेको संसारमें सबसे अधिक सुखी समझता था। उसने सोलनको अपनी अपरिमेय धनराशि दिखलाकर उनसे यह कहलवाना चाहा कि संसारमें क्रीससंसे बढ़कर कोई भी नहीं है। किन्तु ज्ञानी सोलनके चित्तपर इस वैभवका कुछ भी असर न हुआ। उन्होंने केवल यही उत्तर दिया कि हे राजन्! संसारमें सुखी वही कहा जा सकता है जिसका अन्त शान्तिपूर्वक हो। कालान्तरमें फारसके राजा साइरसने क्रीससपर विजय पायी और शृंखलाबद्ध क्रीसस साइरसके सम्मुख बन्दीरूपमें उपस्थित किया गया। आज्ञा हुई कि क्रीसस जीवित ही जला दिया जावे। इस अवसरपर क्रीससको सोलनकी याद आयी, और वह तीन बार हाय सोलन! हाय सोलन!! हाय सोलन!!! बोल उठा। साइरसने इसका तात्पर्य पूछा तो क्रीससने सोलनके समागमकी सारी कथा कह सुनायी। इसका प्रभाव साइरसपर इतना पड़ा कि उसने क्रीससको न केवल जीवनदान दिया वरं उसका आदर-सत्कार भी किया।

सुकरात

ईसासे पूर्व पाँचवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें ग्रीसके सुप्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानी सुकरात (Socrates) का जन्म हुआ। इनके जीवनकी अनेक घटनाएँ इनकी दृढ़ता, गम्भीरता तथा ब्रह्मज्ञानी होनेका प्रमाण देती हैं। इनके समयमें सूफी (Sophists) लोगोंका बड़ा जोर था और यह लोग उस समयके लौकिकविषयक विद्वान् माने जाते थे, पर कुछ लोगोंका ऐसा विचार है कि इनकी प्रसिद्धि केवल वाग्जालपर निर्भर थी। उनमें परमार्थसत्ता-विषयक ज्ञानका अभाव ही था। इस परमार्थसत्ताके प्रचारकी इच्छासे प्रेरित होकर सुकरातने उपदेश देना प्रारम्भ किया। सुकरातके विवेचनोंमें आत्माका अच्छा ज्ञान प्रतीत होता है। साथ-ही-साथ सुकरातको मनुष्यकी अल्पज्ञताका भी निश्चय हो गया था। उनका सुप्रसिद्ध वाक्य है 'I know that I know nothing'—अर्थात् मेरा ज्ञान तो यही बतलाता है कि मैं कुछ नहीं जानता। सादा जीवन तथा निश्छल व्यवहार सुकरातकी शिक्षाके मुख्य अंग थे। इनके अतिरिक्त एकमात्र आत्माकी उपासना इनका मूलमन्त्र था। इन बातोंसे प्रचलित प्रणालीको बड़ा धक्का लगा और परिणाम यह हुआ कि सुकरातपर यह अभियोग लगाया गया कि वह ग्रीसनिवासियोंमें कुविचार तथा निरीश्वरवादका प्रचार करते हैं। सुकरातको मृत्युदण्डकी आज्ञा हुई और कहा गया कि वे विषपान करके प्राण त्याग करें। आत्मज्ञानी महात्माने इस आज्ञाका हँसते-हँसते परिपालन किया और बड़े गौरवके साथ अपनी जीवनयात्रा समाप्त की। इस लेखके साथ दिये हुए एक चित्रमें सुकरातका यह विषपान दिखलाया गया है। चारों ओर लोग इनकी आसन्नमृत्युपर विह्वल हो रहे हैं, परन्तु स्वयं सुकरात प्रसन्न तथा अविचलित हैं। स्वयं भयभीत होनेके बदले वे दर्शकोंको आश्वासन दे रहे हैं और आत्माके अमरत्वकी ओर ध्यान दिला रहे हैं।

अफलातून

इन्हीं सुकरातके सुप्रसिद्ध शिष्य प्लेटो (Plato)

हो गये हैं। ये ईसाके ४३० वर्ष पहले हुए थे। इन्हींका नामान्तर अफलातून है। सुकरातकी ब्रह्मजिज्ञासाका मनन प्लेटोने बड़ी योग्यतासे आगे बढ़ाया। इन्होंने इस विषयपर अनेकानेक पुस्तकें लिखीं, जिनमेंसे कुछ अब भी प्राप्य हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इनको यन्त्रविद्याका विशेष अनुभव था, क्योंकि यन्त्रविद्या-सम्बन्धी ज्यामिति (Geometry) का अध्ययन इनके शिष्योंमें अनिवार्य था। इनकी पाठशालामें केवल वही प्रवेश कर सकता था जो ज्यामितिशास्त्रसे अच्छी तरह परिचित हो। प्लेटोने 'Republic' नामक आदर्श सामाजिक व्यवस्थाका एक बड़ा ही सुन्दर ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ ध्यानपूर्वक पढ़नेयोग्य है। इसमें एक स्थानपर लिखा है कि शासनकी बागडोर केवल ब्रह्मज्ञानीके ही हाथमें देनी चाहिये। यह वही आदर्श है जो अपने देशके 'राजर्षि' शब्दमें निहित है।

प्लेटोने आत्माके अमरत्वपर तथा उस सिद्धान्तके आनुषंगिक जन्मान्तरवादपर विशेष जोर दिया था।

कहते हैं कि प्लेटोने २८१ वर्षके होकर शरीर त्याग किया था।

अरस्तू

इनके शिष्य अरस्तू अथवा अरिस्टॉटल (Aristotle) हुए हैं, जिनको योरपवाले अपना ज्ञानगुरु मानते हैं।

डायोजिनीज

सुकरातहीके समकालीन डायोजिनीज (Diogenes) नामक एक ब्रह्मज्ञानी हो गये हैं। इन्होंने जीवनके बाह्य विषयोंके प्रति अपार उपेक्षा प्रदर्शित की और केवल आत्मज्ञानहीमें मस्त रहते थे। ये बाजारमें पड़े हुए एक काठके पीपेके भीतर मस्त पड़े रहते थे। और किसीकी कुछ परवा नहीं करते थे। एक समय सिकन्दर (Alexander) बादशाह इनकी सुकीर्ति सुनकर इनके दर्शनार्थ उपस्थित हुए और उन्होंने इनसे पूछा कि मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ? डायोजिनीजने उत्तर दिया कि मैं बस यही चाहता हूँ कि तुम मेरे सामनेकी धूप छोड़ दो और हट जाओ। लौकिक व्यवहारमें ऐसी उपेक्षा दिखलानेके कारण लोग इन्हें कटहा (cynic) कहते थे। इन्हें लोकलज्जाकी लेशमात्र भी चिन्ता न थी और शौचादिक क्रियाके अवसरपर भी ये किसी प्रकारकी एकान्तताका विचार नहीं करते थे।

पाइथागोरस

ईसासे छः सौ वर्ष पूर्व पाइथागोरस (Pythagoras) नामक इटलीनिवासी ग्रीक महात्मा हो गये हैं। इनका जीवन अत्यन्त रहस्यपूर्ण है और इनके विषयमें अनेकानेक अपूर्व किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। इनकी अलौकिक शक्तियोंके भी आश्चर्यजनक विवरण मिलते हैं। जन्मान्तरवाद इनका मूलसिद्धान्त था। नादब्रह्मका इनको इतना अच्छा अभ्यास था कि इन्हें सृष्टिमण्डलकी गतिका संगीत (Music of the Spheres) अर्थात् प्रणवध्वनि निरन्तर सुनायी पड़ती थी। पाइथागोरस पशु-पक्षियोंकी भाषा समझते थे। और उन्हें इन जन्तुओंके ऊपर अपार शक्ति प्राप्त थी। स्थान-स्थानपर इन्होंने पाइथागोरसकी आज्ञाका पालन किया है। इनको जातिस्मरशक्ति प्राप्त थी, अर्थात् यह अपने पूर्व जन्मोंका हाल जानते थे और बहुधा अपने जन्मान्तरोंके कार्योंकी चर्चा किया करते थे। इनका सिद्धान्त था कि मनुष्यका मन उन वस्तुओंपर निर्भर है जो भोजनद्वारा उसके पेटमें जाती हैं। इसी कारण इन्होंने अपने शिष्योंमें आहारविषयक अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये थे। मद्य-मांस सात्त्विक भावोंके विरुद्ध होनेके कारण सर्वथा वर्ज्य थे। मौन रहनेके विषयमें पाइथागोरसकी विशेष आज्ञा थी। वर्षोंतक यह लोग गुफाओंके भीतर मौन बैठे रहते थे। इन्हें यह ज्ञान मिश्रदेश, मग ब्राह्मण तथा भारतवर्षीय ब्राह्मणोंसे पचीस-तीस वर्षके भ्रमणमें प्राप्त हुआ था। इटलीके निवासी इस सम्प्रदायकी अलौकिक शक्तियोंसे इतने भयभीत थे कि कुछ लोगोंका कथन है कि अन्तमें इन्होंने पाइथागोरस और उनके शिष्योंको गुफाके अंदर बैठे-बैठे भस्म कर दिया। पर यह विषय विवादग्रस्त है। कहीं-कहीं तो लिखा है कि इन महात्माने अनशन करके अपने प्राणोंका त्याग किया।

मार्कस औरेलियस

इटलीके निवासी अर्थात् रोमन लोग बड़े विजेता हो गये हैं और किसी समयमें इनके प्रचण्ड प्रतापका सूर्य इस भूमण्डलभरमें चमकता था, परन्तु यह लोग ब्रह्मज्ञानके विषयमें औरोंसे बहुत पीछे रहे हैं। ये लौकिक विषयोंमें बड़े ही दक्ष तथा सिद्धहस्त थे। ईसाकी दूसरी शताब्दीमें मार्कस औरेलियस नामका एक बड़ा दयालु रोमन सम्राट् हो गया है। इसकी लिखी हुई 'Meditations' (विचारधारा) नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक अबतक प्राप्य है। इसमें बड़े ही गम्भीर तथा सादे

विचारोंका समावेश है। इस राजाने राजर्षि-सिद्धान्तका अच्छा उदाहरण अपने जीवनमें दिखलाया था। इनसे पूर्व जीनो नामके एक महात्मा हो गये थे, जिन्होंने नीरस-जीवन सिद्धान्तका प्रचार किया था। सम्राट् मार्कस औरेलियस इन्हीं सिद्धान्तोंके अनुयायी थे।

रोमराज्यमें प्राचीन कालमें अनेकानेक दृढ़व्रती, वीर तथा त्यागी नागरिक हो गये हैं, जिन्होंने अपने देशकी असीम सेवाएँ की हैं। इनका दर्जा बड़े-बड़े महात्माओंके समकक्ष मानने योग्य है। विस्तारभयसे इन वीरोंका वर्णन यहाँपर नहीं दिया जाता। विज्ञ पाठक इस विषयका अध्ययन करके अत्यन्त आनन्द तथा आत्मबलका लाभ उठावेंगे।

महात्मा जरथुस्त्र

ईरानके रए नामक शहरमें राजवंशी कुटुम्बके एक सद्गुणी और सुशिक्षित पुरुष पोडरुशस्पके घर एक पुत्र पैदा हुआ। पोडरुशस्प बड़े विद्वान् और सदाचारी थे। ईश्वरभक्तिमें ही उनका चित्त रमता था। उनकी पत्नी दोग्दो (दुग्धोवा) भी पतिपरायणा सती-साध्वी नारी थीं। दोनों ही भगवत्सेवानुरागी थे।

पारसी धर्मग्रन्थ अवस्ताकी गाथामें कहा गया है कि उस समयके अत्याचारको देखकर पृथ्वीमाताने गौका स्वरूप धारणकर ईश्वरके दरबारमें जाकर पुकार मचायी कि 'भगवन्! मुझपर कैसे-कैसे संकट आ रहे हैं। मुझको कैसे-कैसे दु:ख झेलने पड़ते हैं। आज मुझे बचानेवाला कोई नजर नहीं आता।' पृथ्वीकी इस करुण पुकारपर जगत्कर्ताने महर्षि जरथुस्त्रको भेजा।

इस बालकके पैदा होनेके पूर्व ही अत्याचारी बादशाह और सरदारोंको अशुभ शकुन होने लगे थे। इस कारण ये जरथुस्त्रके वधकी कई युक्तियाँ सोचने लगे। गर्भस्थ बालकका तेज इतना अधिक प्रभावशाली था कि वह माताके उदरसे ही स्पष्ट दीखता था। जन्मके समय इनका मुखमण्डल आनन्द और तेजसे जगमगा रहा था। पिताने आपका नाम स्वितम रखा। विधर्मियोंने आपको नाना प्रकारका कष्ट दिया। जलती हुई आगमें डाल दिया, परन्तु अग्नि स्वयं बुझ गयी। बाघोंके झुंडमें फेंक दिया, परन्तु हिंसक पशुओंके जबड़े ही जकड़ गये। घोड़े उनके शरीरपर दौड़ाये गये, परन्तु बालकपर घोड़ोंकी टापें पड़ी ही नहीं।

पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें आपने घरबार, कुटुम्ब, वैभव सबको छोड़कर जंगलकी राह ली। एकान्तवासमें तपश्चर्या करते हुए इन्हें पूरे पन्द्रह वर्ष लग गये। इस बीच आपपर अहेरेमन (कामादि शत्रुओं) ने हमला किया। परन्तु इन्होंने स्पष्ट कह दिया कि चाहे मेरे प्राण निकल जायँ, शरीरकी हड्डियाँ अलग-अलग हो जायँ, पर मैं ईश्वरकी आराधना कभी नहीं छोड़ूँगा। तपस्या पूरी होनेपर आप जरथुस्त्र कहलाये। 'जरथुस्त्र' का अर्थ है 'सुनहरी रोशनीवाला'।

सम्पूर्ण ज्ञान और परम शान्ति पाकर अब आप कर्त्तव्यपालनके लिये वनवास छोड़कर पुन: घर आ गये। उस समय आपकी अवस्था थी लगभग ३० वर्षकी। पूरी आस्था और श्रद्धाके साथ आपने अपना सन्देश जनताको सुनाना शुरू कर दिया। इनके सन्देशका सारतत्त्व था सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वरकी आराधना और मानवसेवा। संसारने आरम्भमें इस नये पैगम्बरकी कोई कद्र नहीं की, किसीने आपका पक्ष नहीं लिया; परन्तु अन्तमें बल्ख (Bactria) के बादशाह वीशतास्पने उन्हें अपने यहाँ आमन्त्रित किया तथा उनका सन्देश स्वीकार किया। दुष्टोंका पराजय हुआ और एक बार फिर पृथ्वीमातापरसे पापका भार घटकर शान्ति और सत्यका राज्य स्थापित हुआ।

महात्मा जरथुस्त्रके आविर्भावकालके विषयमें बहुत बड़ा मतभेद है। कुछ लोग कहते हैं, आप ईसाके छ: सौ वर्ष पूर्व हुए और कुछ लोगोंकी मान्यता यह है कि आप ईसाके जन्मके हजारों वर्ष पूर्व हुए। आपके सन्देशका सार नीचे संक्षेपमें दिया जाता है—

ईश्वर एक है। वह सर्वोपरि है और वही चराचर जगत्को उत्पन्न करनेवाला है। सारी सृष्टि उसीमेंसे निकलती है और उसीमें लय हो जाती है। विश्वमें जो कुछ भी हो रहा है वह केवल उसके कारण ही है। ईश्वर विश्वका प्रभु है। सबपर एकचक्रसत्ताधारी अद्वितीय स्वामी है। वह सब प्रकारसे पूर्ण है और उसकी सम्पूर्णताको प्राप्त करनेके लिये प्रत्येक जीव प्रयत्नवान् है।

इस प्रकार आपने षड्गुणसम्पन्न ईश्वरकी उपासना करनेका सन्देश दिया।

ईश्वरको पहचाननेके तीन रास्ते हैं—ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग। जरथुस्त्रके धर्ममें कर्ममार्गपर विशेष जोर दिया गया, क्योंकि ईरानी प्रजा स्वभावत: कर्मशील थी। वे कहते हैं—

ईश्वरने हमलोगोंको जो कुछ भी दिया है वह बटोरकर रखनेके लिये नहीं, प्रत्युत योग्य पात्रोंको देनेके लिये है। हमलोगोंको एक जगह पड़े तालाबके जलकी तरह न बनकर बहती नदी बनना चाहिये। इस प्रकार दूसरोंको देनेसे हमारी शक्ति, धन, ज्ञान, बल अथवा धर्म आदि कभी घटते नहीं, उलटे बढ़ते हैं। ऐसे मनुष्यको ईश्वर अधिकाधिक देता ही रहता है। और ज्यों-ज्यों हमारी शक्ति बढ़ती है त्यों-ही-त्यों हमारे द्वारा मनुष्यसेवा भी अधिक होती है।

एक ही शब्दमें जरथोस्ती धर्मका सार निकाला जा सकता है—वह है 'परोपकार'। सच्चा जरथोस्ती वही है जो अपने लिये कुछ भी नहीं माँगता और प्रत्येक कर्ममें दूसरोंकी भलाई देखता है।

जरथुस्त्रका स्थान जगत्का उद्धार करनेके लिये समय-समयपर प्रकट होनेवाले महागुरुओंमें है।

—माधव

महात्मा ईसामसीह

(लेखक—पं० श्रीगोपीनाथजी जोशी)

एशियाके पश्चिमी भागमें फिलिस्तीन (Palestine) नामका देश है। महात्मा ईसामसीहका जन्म इसी देशमें हुआ था, यहीं उन्होंने अपना जीवन बिताया और यहीं अपना भौतिक शरीर छोड़ा। इनका जन्म विक्रम सं० ५७ में हुआ था। ईस्वी सन्का प्रारम्भ इन्हींके जन्मसे माना जाता है। उन दिनों फिलिस्तीन रोमन साम्राज्यके अन्तर्गत था। इनका जन्म बेथलेहेम (Bethlehem) नामक नगरमें हुआ था, जो फिलिस्तीनकी राजधानी जेरुसैलेमसे दक्षिणकी ओर लगभग छ: मीलकी दूरीपर है। इनके पूर्वज राजा डेविड (David) का जन्म भी इसी नगरमें हुआ था।

इनकी माताका नाम कुमारी मरियम (Virgin Mary) था, जिसका अर्थ है 'महान्'। इनकी सगाई जोजेफ (Joseph) नामके बढ़ईसे हुई थी, जो राजा डेविडके वंश थे। जोजेफ और मरियमका विवाह होनेके पूर्व ही मरियम गर्भवती हो गयी। इस बातको जानकर जोजेफके मनमें बड़ा विचार हुआ। ऐसी स्थितिमें मुझे क्या करना चाहिये, इस बातका वे निर्णय नहीं कर सके। इतनेमें ही उन्हें स्वप्नमें किसी देवदूतने दर्शन दिये और कहा—'तुम मरियमके साथ विवाह करनेमें किसी प्रकारकी शंका न करना, उसके गर्भमें भगवान्का पुत्र है।' जोजेफने भगवान्की आज्ञा समझकर मरियमसे विवाह कर लिया। जोजेफ और मरियम नजारेथ (Nazareth) नामक नगरमें रहते थे, जो जेरुसैलेमसे अस्सी मीलके अन्तरपर है। वहाँसे ये अपने पूर्वजोंके स्थान बेथलेहेममें चले आये और वहीं एक घुड़सालमें ईसामसीहका जन्म हुआ। और जिस नाँदमें घोड़ेको दाना खिलाया जाता था उस नाँदमें ही इनको सुलाया गया।

उन दिनों बेथलेहेममें हेरोड (Herod) नामका राजा राज्य करता था। वह बड़ा अत्याचारी और निर्दय था और बालकोंकी हत्या किया करता था। भगवान्की ओरसे चेतावनी पाकर जोजेफ और मरियम उसी राजाके भयसे बालक ईसाको लेकर मिश्रदेशमें भाग आये और हेरोडकी मृत्युके बाद अपने देशको लौटकर नजारेथमें रहने लगे। ईसाकी बाल्यावस्था यहीं बीती। ये शरीरसे बड़े हट्टे-कट्टे और बुद्धिमान् थे। इनके शब्दों और कार्योंमें एक अलौकिक प्रतिभा दृष्टिगोचर होती थी। जब ईसा बारह वर्षके हुए तो इनके माता-पिता इन्हें जेरुसैलेम ले गये। वहाँसे लौटते समय बालक ईसा रास्तेमें गायब हो गये। इनके माता-पिता इनकी खोजमें वापिस जेरुसैलेम चले आये और बहुत खोज करनेपर ये वहाँके मन्दिरमें कानूनके बड़े-बड़े पण्डितोंसे वाद-विवाद करते हुए मिले, जिससे लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। फिर ये अपने माता-पिताके साथ वापिस नजारेथ चले आये। इनके बालकपनका और कोई वृत्तान्त इतिहासमें नहीं मिलता।

ईसामसीहने बड़े होनेपर अपने पिताके व्यवसायको

ही ग्रहण किया। ये बढ़ईके कामसे अपना जीवननिर्वाह करने लगे और इस प्रकार इन्होंने शारीरिक परिश्रमका महत्त्व जनताके सामने प्रकट किया। इनकी प्रारम्भसे ही भगवान्‌में बड़ी भक्ति थी और ये अपने प्रत्येक कार्यमें उन्हींकी इच्छाका अनुसरण करनेकी चेष्टा करते थे। इन्हें अपने शुद्ध अन्तःकरणमें भगवान्‌की इच्छाका स्पष्ट अनुभव होता था। इन्हें प्रकृतिके प्रत्येक खेलमें, जीवनके प्रत्येक कार्यमें और एकान्तके प्रत्येक विचारमें भगवान्‌की वाणी स्पष्ट सुनायी देती थी। ये अपने अन्तस्तलमें, सूर्यकी रश्मियोंमें और नक्षत्रोंके प्रकाशमें—सर्वत्र अपने परमपिता परमात्माकी झाँकी देखा करते थे। इन्हें बढ़ईके कामसे जब-जब फुरसत मिलती तब-तब ये एकान्तमें बैठकर भगवान्‌का ध्यान और प्रार्थना किया करते। जनसमुदायमें अथवा एकान्तमें, हर समय ये भगवान्‌का ही चिन्तन किया करते थे।

उन दिनों जॉन दि बैप्टिस्ट (John the Baptist) नामके एक साधु जंगलमें रहा करते थे। ये लोगोंसे उनके पापोंके प्रायश्चित्तके रूपमें पश्चात्तापका एक संस्कार करवाया करते थे, जिसमें वे पश्चात्ताप करनेवालेका जलसे अभिषेक किया करते थे। इन्होंने एक दिन लोगोंसे कहा—'मैं लोगोंको जलसे अभिषेक कराया करता हूँ, परन्तु अब एक ऐसा महान् पुरुष प्रकट होनेवाला है जो अग्निके द्वारा तथा भगवान्‌की दी हुई शक्तिसे लोगोंको शुद्ध करेगा और वह इतना महान् होगा कि मुझे उसके जूतोंके तस्मे खोलनेका अधिकार भी न होगा।' उसके ऐसा कहनेके कुछ ही दिन बाद ईसा नजारेथसे इन्हीं जॉनके पास संस्कार करानेके लिये आये। जॉनने उनसे कहा—'यह आप क्या उलटी गंगा बहाने जा रहे हैं? मेरा संस्कार आपके द्वारा होना चाहिये, न कि आपका संस्कार मैं करूँ।' परन्तु जब ईसाने कहा कि मेरी ऐसी ही इच्छा है तब जॉनने कोई आनाकानी नहीं की और ईसाका संस्कार करा दिया। जब ईसा अभिषिक्त होकर जलमेंसे बाहर निकल रहे थे उस समय उन्हें ऐसा अनुभव हुआ मानो उनके अन्दर भगवान्‌की शक्ति उतरकर प्रतिष्ठित हो रही है।

तीस वर्षकी अवस्थासे तैंतीस वर्षकी अवस्थातक, जब उनकी मृत्यु हुई, ईसाने धर्मप्रचारका कार्य किया। अपने ही नगरके निवासियोंद्वारा तिरस्कृत होनेके कारण ईसा नजारेथको छोड़कर केपरनौन (capernaun) नामक स्थानमें रहने लगे। उनके बारह प्रधान शिष्य थे, जिनके नाम ये हैं—

साइमन उपनाम पीटर (Simon alias Peter) और उनके भाई एण्ड्रूज (Andrews), टॉमस (Thomas) और मेथ्यू (Matthew), जेम्स (James) और उनके भाई जॉन (John), फिलिप (Philip) और बार्थोलोम्यू (Bartholomew), जेम्स (James) द्वितीय और थेडियस (Thadeaus), साइमड (Simod) और जूडस आइकेरियट (Judas Iscariot)।

इनका प्रधान उपदेश 'The Sermon on the Mount' (पहाड़ीपर उपदेश)-के नामसे प्रसिद्ध है, जिसका सारांश नीचे दिया जाता है—

(१) जिनके अन्दर दैन्यभाव उत्पन्न हो गया है वे धन्य हैं, क्योंकि भगवान्‌का साम्राज्य उन्हींको प्राप्त होगा।

(२) जो आर्तभावसे रोते हैं वे धन्य हैं, क्योंकि उन्हें भगवान्‌की ओरसे आश्वासन मिलेगा।

(३) विनयी पुरुष धन्य हैं, क्योंकि वे पृथ्वीपर विजय प्राप्त कर लेंगे।

(४) जिन्हें धर्माचरणकी तीव्र अभिलाषा है वे धन्य हैं, क्योंकि उन्हें पूर्णताकी प्राप्ति होगी।

(५) दयालु पुरुष धन्य हैं, क्योंकि वे ही भगवान्‌की दयाको प्राप्त कर सकेंगे।

(६) जिनका अन्तःकरण शुद्ध है वे धन्य हैं, क्योंकि ईश्वरका साक्षात्कार उन्हींको होगा।

(७) शान्तिका प्रचार करनेवाले धन्य हैं, क्योंकि वे ही भगवान्‌के पुत्र कहे जायँगे।

(८) धर्मपर दृढ़ रहनेके कारण जिन्हें कष्ट मिलता है वे धन्य हैं, क्योंकि भगवान्‌का साम्राज्य उन्हींको प्राप्त होता है। इत्यादि, इत्यादि।

ईसाने अपने जीवनमें कई चमत्कार भी दिखलाये, जो उनकी आध्यात्मिक शक्तिके सामने कुछ भी नहीं थे। उन्होंने कई अन्धों, लँगड़ों, बहरों, कोढ़ियों तथा लकवेसे पीड़ित रोगियोंका कष्ट दूर किया, मुरदोंको जिलाया, अन्धड़-तूफानोंको शान्त किया, कुछ ही पत्तोंसे हजारों मनुष्योंको भोजन कराया और इसी प्रकारके और भी कई आश्चर्यजनक कर्म किये।

ईसामसीहको भगवान्‌की सत्ताके लिये किसी भौतिक अथवा दार्शनिक प्रमाणकी आवश्यकता नहीं

हुई। वे भगवान्‌की सत्ताका अपने ही अन्दर अनुभव किया करते थे। भगवान् उनके अन्दर सदा विराजते थे। वे अपनेको सदा भगवान्‌के समीप देखते थे और भगवान्‌के सम्बन्धमें वे जो कुछ कहते थे अपने हृदयके अनुभवसे ही कहते थे। जिस प्रकार बालक अपनी माताकी गोदमें रहता है वे सदा भगवान्‌की गोदमें रहते थे। उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि मैं भगवान् हूँ, उन्होंने सदा अपनेको भगवान्‌का पुत्र ही समझा। भगवान्‌को पिताके रूपमें देखना ही उनका मुख्य सिद्धान्त था।

ईसामसीहने विनय, क्षमा, दया, त्याग आदि गुणोंका खूब प्रचार किया। वे कहा करते—'यदि कोई तुम्हारे दहिने गालपर थप्पड़ मारे तो तुम अपना बायाँ गाल भी उसके सामने कर दो। यदि कोई तुम्हें किसी प्रकारका अभियोग लगाकर तुम्हारा कोट छीन ले तो उसे अपना लबादा भी दे दो। अपने शत्रुओंसे प्रेम करो, अपनेसे घृणा करनेवालेका उपकार करो और अपनेको सतानेवालोंके कल्याणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करो। दूसरोंकी आलोचना न करो, जिससे कि तुम भी आलोचनासे बच सको। दूसरोंके अपराधोंको क्षमा कर दो, भगवान् भी तुम्हारे अपराधोंको क्षमा कर देंगे। अपने दयालु पिताकी भाँति तुम भी दयालु बन जाओ। किसीसे कुछ लेनेकी अपेक्षा देना अधिक कल्याणकारक है। मानीका पतन होता है और अपनेको छोटा माननेवालेकी उन्नति होती है। किसीको कटु शब्द न कहो। अपकारीसे बदला लेना उचित नहीं। व्याज कमाना निन्दनीय कर्म है। अपने पिता परमात्माके समान समदर्शी बनो। भगवान् साधु और असाधु दोनोंको ही समानरूपसे सूर्यकी गर्मी पहुँचाते हैं। यदि तुम प्रेम करनेवालेसे ही प्रेम करते हो तो इसमें तुम्हारी क्या बड़ाई है? बुरा विचार मनमें लाना भी पाप है। बाहरकी सफाईकी अपेक्षा भीतरकी सफाई कहीं अधिक मूल्यवान् है। प्रार्थनामें आडम्बर बिलकुल नहीं होना चाहिये। प्रार्थना गुप्तरूपसे और सच्चे मनसे करनी चाहिये। दान भी गुप्तरूपसे देना चाहिये। गरीबोंके थोड़ेसे दानका बड़े आदमियोंके बड़े दानकी अपेक्षा अधिक महत्त्व होता है।'

इनके उपदेशोंसे यहूदीलोग बड़े नाराज हुए। उन्होंने इनपर कई अभियोग लगाये और फिलस्तीनके गवर्नरसे कहकर इन्हें सूलीपर चढ़वाया। सूलीपर चढ़ते समय उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की—'प्रभो! इन लोगोंको क्षमा कीजिये, ये बेचारे नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं।' और अन्तमें 'हे पिता! यह आत्मा तुम्हारे अर्पण है।' यों कहकर प्राण त्याग दिये।

महात्मा ईसाका चरित्र आदर्श था। उनके चेहरेपर कभी किसीने बल पड़ते हुए नहीं देखा। उन्होंने अपनी वाणीसे कभी किसीके प्रति घृणा प्रकट नहीं की। वे दूसरोंका दुःख नहीं देख सकते थे। दूसरोंका हित करना ही उनके जीवनका एकमात्र व्रत था। उन्हें दीन अति प्यारे थे। उनका जीवन त्यागमय था। वे आत्माके सामने जगत्‌को तुच्छ समझते थे। वे विधिकी अपेक्षा हृदयके भावको प्रधानता देते थे। वे कहते थे कि ईश्वर हमसे बहुत दूर सातवें आसमानमें नहीं रहते, वे तो हमारे अति समीप हमारे हृदयमें स्थित हैं।

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

परमात्माका दर्शन हो जानेपर नेत्र आनन्दित होकर जलवर्षा करने लगते हैं, ओठ मृदु हास्य करने लगते हैं, अन्तरकी कलियाँ खिल उठती हैं, आनन्दकी लहरमें मस्तक हिलने लगता है, प्रतिक्षण उस प्रिय सखाके नामकी गर्जना होने लगती है, और प्रेमकी मस्ती उसे प्रभुके गुणगानमें मशगूल कर देती है।

परमात्माके दर्शनमें लीन होकर उसका स्मरण करना भी भूल जाओ, यही ऊँचा-से-ऊँचा स्मरण है।

सारे संसारका एक ग्रास बनाकर भी यदि बालकके मुँहमें दे दिया जाय तो भी वह भूखा ही रहेगा। जिसका मन खान-पान और गहने-कपड़ेमें ही बसा है उसकी स्थिति पशुसे भी बदतर है।

बौद्धोंके प्राचीन संत

(लेखक—पं० श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयी, एम० ए०)

(१) अवलोकितेश्वर

उन महान् बौद्ध संतोंमें जिन्होंने अपनी अलौकिक जीवनचर्याके द्वारा देवताओंमें स्थान पाया, संत अवलोकितेश्वरका प्रमुख स्थान है। यही नहीं, इन भगवान् अवलोकितेश्वरकी कालान्तरमें इतनी महिमा बढ़ी कि ये बौद्धोंके द्वारा लोकेश्वर, शाक्तोंके द्वारा शक्तिकी पदवीसे विभूषित हुए। नाथसम्प्रदायवाले मत्स्येन्द्रनाथको ही अवलोकितेश्वर मानते हैं। आरम्भमें बहुत दिनोंतक इनका मानवीयरूप ही प्रतिष्ठित था, जब इनके एक हाथमें भगवान् बुद्धकी पूजाके लिये कमल तथा दूसरेमें जीवदयाकी मुद्रा थी; किन्तु क्रमशः इस रूपमें परिवर्तन होते गये। कभी चतुर्भुजरूपमें अंजलिबद्ध (दो हाथ) और (शेष दोमें) पद्म तथा माला धारण किये, कभी सहस्रभुजाधारी या अन्य दैवी रूपोंमें वे व्यक्त किये गये हैं। मृगचर्म तथा कमण्डलु धारण किये, सर्पों और कपालोंकी माला पहने, कभी वे भगवान् शिवकी भाँति भी प्रदर्शित किये गये हैं। बौद्धधर्ममें उनका स्थान स्वयं भगवान् बुद्धके नीचे, बोधिसत्त्वोंमें प्रायः सर्वप्रमुख और ऊँची-से-ऊँची दैवी भूमिपर है। संतोंकी महिमाका इससे बढ़कर दूसरा निदर्शन क्या होगा?

महायानके अनुसार ये महात्मा बोधिसत्त्वोंमें प्रधान त्रिरत्नों (बुद्ध, धर्म तथा संघ) में तृतीय रत्न अर्थात् 'संघ' के मुखिया माने गये हैं। अनेक सूत्रोंके निर्माता होनेके कारण बौद्ध-साहित्यमें इनका विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'धर्म-संगीति' में इन्होंने बोधिसत्त्वोंके एकमात्र कर्तव्य, दानकी महिमा इस प्रकार कही है—'दयाका श्रेष्ठ स्वरूप दान है। मनुष्यको चाहिये कि बिना किसी प्रकारकी हिचकिचाहटके, बिना पापकी आशंकाके, दानके लिये अपनेको पूर्णतः अर्पण कर दे। यदि दान देनेमें बुराई भी होती हो तो भी दान देना ही चाहिये; कारण, नरकके कष्टोंको भोगना अच्छा है, किन्तु अपने ऊपर आशा किये हुए व्यक्तिकी आशा तोड़ना अच्छा नहीं।

दानकी यह शिक्षा अपूर्व है। इसके प्रतिनिधि स्वयं महात्मा अवलोकितेश्वर हुए। इन महात्माके नामका अर्थ भी बहुतोंने 'दयादृष्टि रखनेवाले प्रभु', 'विशेष दयावान् प्रभु' आदि किया है, जो ऊपरके उपदेशको देखते हुए अत्यन्त उपयुक्त है। इन्हींका दूसरा नाम लोकेश्वर या लोकनाथ रखा गया है। इससे भी जीवदया या लोकरक्षाकी ही ध्वनि निकलती है। ये दयामूर्ति भगवान् अमिताभके पुत्र माने गये हैं। सभी बातें एक ही प्रधान गुणका संकेत करती हैं—उनके दया-दाक्षिण्यका। उनका एक अन्य नाम धर्मकाय भी है। जीवन और प्रकाशके देवता ये ही हैं। महात्मा अवलोकित सूर्य-देवता ही हैं। उनका पद्मपाणि नाम भी सूर्यका ही अन्वर्थक है। प्रकाशके देवता सूर्य वे ही हैं, लोकरक्षक विष्णु वे ही हैं; कारण, वे ही दयाके अवतार हैं।

यहाँ हमें बौद्धधर्म या इतिहासके अन्तरंगमें जाकर अन्य देवताओंकी तुलनामें भगवान् अवलोकितेश्वरका कब क्या स्थान रहा, यह नहीं देखना है। न उनके अनेक दैवी स्वरूपोंकी ही क्रमबद्ध चर्चा यहाँ करनी है। किन्तु 'सुखावती' तथा 'अमितायुर्ध्यानसूत्र' नामक ग्रन्थोंमें इनके विषयकी जो एक मार्मिक बात आयी है उसका उल्लेख कर देना आवश्यक है, क्योंकि उससे यह आभास मिल जाता है कि बौद्धधर्ममें महात्मा अवलोकितेश्वरका इतना महत्त्व कैसे हुआ। यह विषय इस अंकके अनुकूल भी है।

'प्राचीन कालमें धर्माकर नामके भिक्षु थे, जो आगे चलकर अमिताभ या लोकनाथ कहलाये। उन्हें बुद्धकी पदवी प्राप्त किये अब दस कल्प व्यतीत हो चुके हैं। सिद्धान्तकी दृष्टिसे तो सभी बुद्ध समान होते हैं, किन्तु अपने-अपने विशिष्ट संकल्पोंके अनुसार इनमें अन्तर भी हो सकते हैं। धर्माकरने (जो आगे चलकर अमिताभ हुए) यह संकल्प किया कि जब वे बुद्ध हो जायँगे तब वे 'बुद्धक्षेत्र' नामक अत्यन्त पवित्र और आनन्दमयी (सुखावती) नगरीका निर्माण करेंगे। अन्य बुद्धक्षेत्रोंसे निकलकर बहुत-से निर्वाणार्थी अर्हत् या बुद्ध इन अमिताभसे बुद्धक्षेत्रमें जाया करते हैं। यहीं वे सभी जीव जो अभी मुक्त नहीं हुए किन्तु जिनमें उसकी योग्यता है, आकर एकत्र होते हैं और मुक्तिकी प्रतीक्षा किया करते हैं। इन्हीं अमिताभके साथ रहकर बोधिसत्त्व अन्तिम जन्म (जिस जन्मके बाद फिर जन्म नहीं होता)

धारण करनेकी तैयारी करते रहते हैं। इसीके पश्चात् वे (बोधिसत्त्व) बुद्धका स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं और तब उनकी सत्ता परिवर्तित हो जाती है।'

इसी प्रसंगमें कहा है कि अवलोकितेश्वर इस कल्पके अन्तिम (सहस्रवें) बुद्धके रूपमें प्रकट होंगे। सभी बोधिसत्त्व एक-से नहीं होते। अवलोकितेश्वरका स्थान उन सबमें श्रेष्ठ है। इसका कारण यह है कि उन्होंने यह संकल्प किया है कि वे समस्त प्राणियोंको बिना किसी भेदके 'सुखावती' में ले जायँगे। इस आख्यानमें भी उनकी महत्ताका रहस्य झलक रहा है। दयाधर्मकी वह प्रेरणा, जो सारे बौद्धधर्मकी मुख्य वस्तु है, इसमें स्पष्ट है।

(२) मंजुश्री

बौद्ध-साहित्यमें भगवान् अवलोकितेश्वरकी एकमात्र समता करनेवाले मंजुश्री नामक महामुनि शुद्ध ज्ञानके प्रतीक (ज्ञान-सत्त्व) हैं। अन्य बोधिसत्त्वोंसे उनका स्थान ऊँचा है। महायानमें वे बोधिसत्त्वके रूपमें माने गये हैं, किन्तु पूर्ववर्ती तन्त्र-ग्रन्थोंमें उनका स्वरूप भिन्न प्रकारका है। उनमें वे परमतत्त्वके प्रधान प्रतिष्ठापक कहे गये हैं। मंजुश्रीका सम्प्रदाय भारतवर्षसे चीन होता हुआ नैपालमें फैला और उन स्थानोंमें उसने नया ही रूप धारण किया। नैपालमें मंजुश्री सभ्यताके स्रष्टा या जनक माने जाते हैं।

बोधिसत्त्वके रूपमें उनका नाम मंजुघोष रहा है और उनकी पदवी कुमारभूत या राजकुमारकी रही है। राजकुमार मंजुघोष बुद्धके समान ही शक्तिशाली कहे गये हैं और उनके दहिने हाथ माने गये हैं। एक महान् धर्मप्रचारकके रूपमें उनकी ख्याति हुई है। सूत्र तथा भक्ति-ग्रन्थोंमें ये महायानके सच्चे अनुयायियोंके मार्गप्रदर्शक बतलाये गये हैं। जनश्रुतिके अनुसार प्रज्ञापारमिता-ग्रन्थोंके आविर्भावक वे ही हैं। प्रज्ञा या ज्ञानके प्रदाता, शब्दके देवता मंजुघोष महायानके महान् परिपोषक माने गये हैं। ज्ञानके देवता वे ही हैं।

उनके अनेक जन्मोंकी जीवनी जो जनश्रुतियोंमें मिलती है, उनके किसी निश्चित स्वरूपका बोध नहीं कराती। 'मंजुश्रीगुणक्षेत्रव्यूह' नामक ग्रन्थमें (जिसका अनुवाद चीनीभाषामें सन् ३०० ई० के आसपास हुआ) उनके उस संकल्पका उल्लेख है जो उन्होंने बोधिसत्त्वकी पदवी प्राप्त करनेपर किया था। वह संकल्प इस प्रकार है—

'मैं शीघ्र बुद्धका पद प्राप्त करना नहीं चाहता; कारण, मैं संसारमें रहकर जीवोंका उद्धार करना चाहता हूँ।' इसी प्रकार 'शिक्षासमुच्चय' में वे कहते हैं, 'अपने सारे जन्मोंमें मैं अक्षोभ्यका आदर्श ग्रहण करना और भिक्षु बना रहना चाहता हूँ।'

माध्यमिक बौद्धोंके 'मंजुश्रीविक्रीड़ित' नामक ग्रन्थमें महात्मा मंजुश्रीद्वारा एक पतिता स्त्रीके उद्धारकी कथा आयी है। उस स्त्रीको उन्होंने सुन्दर नवयुवकका स्वरूप दिया, ऐसा कहा है। महायानसम्प्रदायके अनुयायियोंके प्रसिद्ध पाठग्रन्थ 'भद्रचर्यागाथा' में उनकी रक्षक और पोषकके रूपमें स्तुति की गयी है।

मंजुश्रीकी सबसे प्राचीन मूर्ति दो बाहुओंकी कमलपर प्रज्ञा चिह्नसे युक्त प्राप्त होती है।

प्राय: छ: तन्त्र-ग्रन्थोंमें मंजुश्रीका उल्लेख किया गया है। उनमें ये प्रधानत: ज्ञानसत्त्व अर्थात् ज्ञानके प्रतीक माने गये हैं। साधन नामक मन्त्रोंमें, जिनका प्रयोग किसी देवताका आह्वानकर तदाकार बन जानेके आशयसे किया जाता था, मंजुश्रीका प्रमुख स्थान है। अनेक प्रकारके मण्डल, रेखाचित्र आदि बनाकर देवताको बुलाया करते थे। मनुष्य, जो देवतासे भिन्न नहीं हैं, केवल बद्धरूपमें हैं, उन देवताओंमें मिल जानेकी साधना किया करते थे। मंजुश्रीका उन साधनोंमें बार-बार उल्लेख है। उन मण्डलों और रेखाचित्रोंमें उनका मध्यवर्ती स्थान है, जिससे उनका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

हिन्दू देवताओंमें जो पद ब्रह्माका है वही बौद्धोंमें मंजुश्रीका है। 'नामसंगीति' नामक पुस्तकमें मंजुश्रीका पर्यायवाची 'ब्रह्मा' नाम भी आया है। दोनोंकी प्रधान शक्ति सरस्वती हैं।

यह बात ध्यान देनेकी है कि बौद्धोंके बुद्ध या बोधिसत्त्व जब देवताका रूप धारण करते हैं तब वे हिन्दू देवताओंके ही प्रतिरूप बन जाते हैं। दोनोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता।

(३) सारिपुत्त

महात्मा सारिपुत्त बुद्धभगवान्‌के दो प्रधान शिष्योंमें थे। संस्कृत ग्रन्थोंमें उन्हें शारिपुत्र, शालिपुत्र, शरद्वतीपुत्र आदि कहा है। उनका पहला नाम उपतिश्य या उपतिस्स था। उनकी पदवी धर्मसेनापतिकी थी। 'सूत्रनिपात'

नामक ग्रन्थमें लिखा है कि भगवान् बुद्धने पूछे जानेपर कहा था कि उनके न रहनेपर सारिपुत्त ही धर्मचक्रका प्रवर्त्तन और संचालन करेंगे। सारिपुत्तके नामसे बौद्ध ग्रन्थोंमें अनेक आख्यान लिखे मिलते हैं। महायानग्रन्थोंके भी वे रचयिता प्रसिद्ध हैं। 'जातक' (१।३९१) के भाष्यमें भगवान् बुद्धसे उनके निर्वाणके पूर्व सारिपुत्तके भी निधनका उल्लेख कराया गया है, परन्तु यह बात प्रामाणिक नहीं प्रतीत होती। 'महापरिनिर्वाण सूत्र' में भगवान् बुद्धके लीलासंवरणके प्रसंगमें सारिपुत्तकी मृत्युका कोई उल्लेख नहीं है, वरं कुछ ही पहले उनके सिंहनादकी (बौद्धमतके जोशीले समर्थनकी) चर्चा की गयी है। इससे स्पष्ट है कि बुद्धभगवान्‌के पश्चात् सारिपुत्तका जीवित रहना ही अधिक प्रामाणिक है।

(४) मौद्गलायन या मोग्गल्लान

सारिपुत्त बुद्धके प्रथम प्रधान शिष्य थे, उनके द्वितीय प्रधान शिष्यका नाम मौद्गलायन, मोग्गल्लान या मुद्गल था। ये भद्रकन्या नामकी ब्राह्मणीके पुत्र थे। इन्होंने बौद्धधर्म किस प्रकार ग्रहण किया, इसकी कथा प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ विनयपिटकमें मिलती है!—

राजगृहमें संजय नामके एक परिव्राजक थे। मुद्गल तथा उनके एक अन्य युवक मित्र इन्हीं संजय महोदयके साथ पर्यटन करते थे। उन्हींके शिष्य या अनुवर्ती-से थे। इन दोनोंने पर्यटनके सिलसिलेमें आपसमें यह निश्चय कर लिया था कि हम दोनोंमें घूमते-घूमते यदि किसी एकको 'अमृत' की प्राप्ति हो जाय तो वह दूसरेको भी उसकी सूचना दे दे। एक दिन मुद्गलके मित्र, जो सारिपुत्त ही थे, एक बड़े तेजस्वी व्यक्तिको देखकर बड़े चकित होकर उनसे मिले। इन तेजस्वी व्यक्तिका नाम अस्सजी था और ये भी परिव्राजक ही थे। सारिपुत्तने उनके साथ-साथ उनकी कुटीतक जाकर पूछा, 'महोदय! आपकी यह तेजस्वी, निर्मल और शान्त मुद्रा देखकर मैं अत्यधिक आकर्षित हुआ हूँ और आपसे यह जानना चाहता हूँ कि आपके गुरु कौन हैं जिनसे आपने यह स्वरूप प्राप्त किया है?' अस्सजीने उत्तर दिया, 'मेरे गुरु शाक्यवंशीय एक महान् धार्मिक पुरुष हैं जो अपना घर छोड़कर बाहर चले गये थे। उन्हींका मैं शिष्य हूँ। उन्हींका सिद्धान्त मैं मानता हूँ।' इसपर सारिपुत्तने फिर पूछा—उन गुरु महोदयका सिद्धान्त क्या है जिसे आप मानते हैं? अस्सजीने कहा—मैं अभी नया शिष्य हूँ, गुरुदेवका सिद्धान्त मैं विस्तृतरूपसे आपको नहीं समझा सकता; पर संक्षेपमें मैं उसका अर्थ सुना सकता हूँ। सारिपुत्तके उत्कण्ठा प्रकट करनेपर उन्होंने यह वाक्य कहा—

'सारी वस्तुएँ जिस एक कारणसे उत्पन्न हुई हैं वह कारण हमारे गुरुदेवने बतला दिया है। साथ ही उन्होंने यह भी कह दिया है कि वे सारी वस्तुएँ किस प्रकार एक-एककर समाप्त हो जायँगी। यही हमारे गुरुका वाक्य है।'

इस वाक्यको सुनकर सारिपुत्तको सत्यकी निर्मल दृष्टि प्राप्त हुई। उन्हें यह ज्ञान हासिल हुआ कि जिस वस्तुकी उत्पत्ति होती है उसके नाशकी अवस्था भी आती ही है। उसने कहा कि इसी सत्यकी खोजमें मैं इतने दिनोंसे था किन्तु अबतक सफल नहीं हो सका था।

वह शीघ्र मोग्गल्लान (मुद्गल) के पास गया और अमृत मिल जानेकी बात उससे कही। मुद्गलके पूछनेपर उसने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। मुद्गल यह सुनकर, अमृत पाकर प्रसन्न हुआ और दोनों ही महात्मा बुद्धके निकट जाकर उनके शिष्य हो गये।

यद्यपि बौद्धधर्मका प्रधान वाक्य यह नहीं है जो अस्सजीने सुनाया था, परन्तु इसका बड़ा प्रचलन हुआ तथा कुछ पश्चिमी लोग इसे बौद्धधर्मका महावाक्य भी मानने लगे हैं।

इस कथामें आये हुए 'अमृत' शब्दका अर्थ देवताओंका पेय आरम्भमें रहा होगा, पर कालान्तरमें इसका प्रयोग मोक्ष या निर्वाणके अर्थमें किया जाने लगा।

सारिपुत्त और मुद्गल दोनों बुद्धदेवके प्रधान शिष्य थे। इनमें सारिपुत्त छोटे विद्यार्थियों और शिष्योंको शिक्षा देते थे और मुद्गल बड़ोंको। 'मज्झिम निकाय' में इन दोनोंकी तुलना इस प्रकार स्वयं बुद्धजीने की है—'बन्धुओ! जिस प्रकार माता पुत्रको पैदा करती है उसी प्रकार सारिपुत्त छोटे शिष्योंके लिये हैं, और जिस प्रकार शिक्षक लड़कोंको पढ़ाते हैं उसी प्रकार मुद्गल बड़े शिष्योंके लिये हैं। सारिपुत्त उसे (शिष्यको) दीक्षित करता है। मुद्गल उसे उच्चतम ज्ञानतक ले जाता है। किन्तु सारिपुत्त चारों आर्य सत्योंको विद्यार्थीपर प्रकट करता, उसे सिखाता है तथा उसे उनपर दृढ़ करता है (इस कारण उसका कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है)।

मुद्गलका कार्य उन सत्योंकी विस्तृत व्याख्या करना है (इस कारण उसका कार्य कुछ कम महत्त्वपूर्ण है)।'

बौद्ध ग्रन्थोंके अनुसार मुद्गल लौकिक और पारलौकिक ऋद्धियों (पाली 'इद्धियों') के अधिकारी माने गये हैं। ये ऋद्धियाँ कई प्रकारकी कही गयी हैं। पक्षियोंकी ऋद्धि उड़नेकी है, राजाओंकी ऋद्धि कुछ और ही है। ऋद्धिसे ही व्याध आखेट करनेमें सफल होता है। सब प्रकारकी अच्छी-बुरी ऋद्धियाँ होती हैं। लौकिक और अलौकिक ऋद्धियोंके ये दो विभाग मुख्यरूपसे बौद्ध ग्रन्थोंमें किये गये हैं। लौकिक ऋद्धि शरीरको लुप्त या स्थानान्तरित कर देने, जलपर चलने, दीवालके भीतरसे निकलने या देवताओंसे साक्षात्कार आदि करनेमें है। अलौकिक ऋद्धि आत्मशक्ति और शान्ति प्राप्त करनेमें है।

दोनों ही ऋद्धियाँ मुद्गल महोदयको प्राप्त थीं। इस सम्बन्धमें कई बड़े विस्मयपूर्ण आख्यान भी प्राप्त होते हैं। जातकोंमें यह कथा आयी है कि मुद्गलने ऋद्धिकी सहायतासे किस प्रकार अनिष्ट भूतोंको पराजित किया। यह भी लिखा है कि पृथ्वीपर धर्म और सदाचारका प्रचार करनेके लिये किस प्रकार मुद्गलजीने एक बार अपने अँगूठेकी नोकसे सारे स्वर्गलोकको कँपा दिया था। इस प्रकारकी अन्य अनेक आख्यायिकाएँ प्राचीन ग्रन्थोंमें प्राप्त होती हैं।

कहते हैं, मोग्गल्लान (मुद्गल) तथा सारिपुत्र (सारिपुत्त) दोनोंका देहावसान भी प्राय: एक ही समय हुआ था। दोनोंकी समाधि एक ही स्थानपर बनायी गयी थी और दोनोंके अस्थि-अवशेष भी कनिंघम साहबको साँचीमें खोज करते हुए साथ ही एक बक्सेमें मिले थे, जिसपर दोनोंका उल्लेख था।

(५) धम्मपाल

धम्मपाल नामके दो मुख्य संत और विद्वान् बौद्धोंमें हुए हैं। उनमेंसे एक, जिन्हें धम्मपाल ही कहते हैं, ईसाकी पाँचवीं शताब्दीमें दक्षिण तामिल प्रान्तके कांचीपुर नामक नगरमें उत्पन्न हुए थे। दूसरे धम्मपाल, जिन्हें चीनी यात्री हुएनसांगने धर्मपालका संस्कृत नाम दे दिया है, सुप्रसिद्ध नालंद-विश्वविद्यालयके धर्माध्यक्ष थे और स्वयं हुएनसांगकी गुरु-परम्परामें भी थे। इनका समय ईसाकी छठी शताब्दीमें ठहरता है। हुएनसांगने दोनों धम्मपालोंकी जीवनीको सम्मिश्रित कर दिया है, जो उसकी भ्रान्ति है। ये दोनों धम्मपाल कम-से-कम एक शताब्दीके अन्तरसे हुए और इनका क्रियाकलाप भी बहुत कुछ भिन्न था। प्रथम धम्मपाल पालीभाषाके तथा द्वितीय संस्कृतके विद्वान् हुए। प्रथमकी शिक्षा-दीक्षा दक्षिणमें तथा द्वितीयकी नालंद-विश्वविद्यालयमें हुई। एक विचारोंमें नवीनताके प्रेमी और परिवर्तनप्रिय तथा दूसरे अपरिवर्तनवादी थे। इनके समयोंमें भी पूरी एक शताब्दीका अन्तर है। फिर भी हुएनसांगसे गलती हो ही गयी!

जब यह चीनी यात्री भारतवर्षके दक्षिण प्रदेशमें भ्रमण कर रहा था तब स्थानीय धर्मसंघके सदस्योंने प्रथम धम्मपालका परिचय उसे इन शब्दोंमें दिया था—

'वह बाल्यावस्थामें बड़ी ही सुन्दर आकृतिका था और उसका उत्तरोत्तर विकास होता गया। जब वह बड़ा हुआ तब उसके विवाहके लिये राजाने अपनी पुत्री देनेका निश्चय किया। किन्तु जिस रात्रिको विवाह होनेवाला था धम्मपालका चित्त अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठा और उसने बुद्धदेवकी मूर्तिके सम्मुख खड़े होकर सच्चे हृदयसे प्रार्थना की। उसकी वह प्रार्थना स्वीकार हुई और एक देवताके द्वारा वह राजधानीसे सैकड़ों मील दूर एक पर्वतीय धर्मसंघमें पहुँचाया गया। जब उस धर्मसंघके सदस्योंने उसकी कथा सुनी तब उन्होंने उसकी प्रार्थना स्वीकारकर उसे धर्मसंघमें दीक्षित किया।'

हुएनसांगने भ्रान्तिवश इन धम्मपालको 'बोधिसत्त्व' की पदवी दी है, जो वास्तवमें उनके गुरुदेवके गुरुदेव धम्मपाल महोदयकी उपाधि रही होगी। इतना तो स्पष्ट है कि ये दोनों ही धम्मपाल दो भिन्न पुरुष थे। धम्मपालका स्थान बौद्धसाहित्यमें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार बुद्धघोषने बौद्ध-साहित्यके पाँच प्रधान गद्य-ग्रन्थोंपर भाष्य लिखे उसी प्रकार धम्मपालने पद्य-ग्रन्थोंकी व्याख्या चौदह प्रमुख पुस्तकोंमें की है।

(६) कनक मुनि

कनक मुनि, जिन्हें पालीभाषामें 'कोणागमन' कहते हैं, वर्तमान कालके चार बुद्धोंमें द्वितीय माने जाते हैं। इनके पूर्ववर्ती बुद्ध क्रकुच्छंद (ककुसंघ) तथा परवर्ती काश्यप और शाक्य मुनिके नामोंसे प्रसिद्ध हैं। इन कनक मुनिकी स्मृतिमें महाराज अशोकने एक स्तम्भ बनवाया था जिसका पता सन् १८९९ की नैपालकी तराईमें की गयी

सरकारी खोजसे लगा है। महाराज अशोक यात्रा करते हुए उस स्थानपर पहुँचे थे जहाँ कनक मुनिका जन्म हुआ था। यहीं वह स्तम्भ स्थित है।

फाहियान और हुएनसांग दोनों ही प्रसिद्ध चीनी यात्री कनक मुनिका जन्मस्थान देखने गये थे। दोनोंहीने उक्त स्थान तथा वहाँके स्मृतिचिह्नोंका वर्णन किया है। हुएनसांगने यह भी लिखा है कि महाराज अशोकने उक्त स्मृति-स्तम्भमें कनक मुनिके निर्वाणका वृत्तान्त लिखवाया था, किन्तु अब उक्त वृत्तान्त प्राप्त नहीं होता। केवल तिब्बती लिपिमें 'ओ३म् मणिपद्मे हुम्' मन्त्र मिलता है और स्तम्भके निचले टूटे हुए भागमें ये पंक्तियाँ लिखी मिलती हैं—

'महाराज प्रियदर्शी (अशोक) ने अपने राज्यकालके पन्द्रहवें वर्षमें कनक मुनि बुद्धके स्तूपका द्वितीय बार परिवर्धन कराया। वे स्वयं यहाँ उपस्थित हुए, मुनिवरकी श्रद्धापूर्वक आराधना की और इस स्तम्भका उद्घाटन किया।'

अन्य बुद्धोंकी अपेक्षा कनक मुनिका महत्त्व ऐतिहासिक दृष्टिसे अधिक है। उनके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि वे काल्पनिक व्यक्ति नहीं हैं। वरं उनके व्यक्तिगत अस्तित्वके प्रमाण भी हैं। यद्यपि उनके जीवनके विषयमें और कोई बात विदित नहीं है तो भी उनके जन्म लेनेकी बात सिद्ध होती है और यह बात बौद्धोंकी धार्मिक परम्परामें बड़े महत्त्वकी है।

(७) संत पद्मसम्भव या पद्माकर

भारतवर्षसे सुदूर तिब्बत जाकर सर्वप्रथम तिब्बतीय बौद्धसंघ स्थापित करनेवाले धर्मप्रचारक और संत पद्मसम्भवके सम्बन्धमें अबतक इतना ही विदित था कि वे अपने एक शिष्यसमुदायके साथ तिब्बत गये थे और वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्मकी शिक्षा दी थी। वे लामालोगोंमें पुराने कैंड़ेके उपदेश देनेके लिये ही थोड़े-बहुत ख्यात थे। किन्तु हालके अनुसन्धानसे यह सिद्ध हुआ है कि ये संत पद्मसम्भव सबसे पहले आचार्य और धर्मप्रचारक हैं जिन्होंने बौद्धधर्मकी नियमित रूपसे स्थापना की। तिब्बतके तत्कालीन सम्राट्ने, जिनकी माता बौद्धमतानुयायिनी सम्राज्ञी थी, आग्रहपूर्वक इन्हें भारतवर्षसे बुलाया था और आदरपूर्वक इनकी स्मृतिशिलाका निर्माण कराया था। यह ईसवी आठवीं शताब्दीकी बात है।

लामाधर्मका सूत्रपात इन्हींसे हुआ, जो बौद्ध-धर्मका तिब्बती नाम है। यद्यपि 'लामा' शब्द सम्राट्के शिलालेखोंमें नहीं आया तो भी उनमें यह वाक्य आया है 'उनके आशीर्वादसे देशीय सनातनधर्मकी स्थापना हुई।' यह सनातनधर्म लामामत या बौद्धमत ही है।

तिब्बतके प्रथम धर्मसंघकी स्थापना संत पद्म-सम्भवने 'संन्यास' नामसे सन् ७४९ ई० में की थी। इसका आकार-प्रकार मध्यभारतके नालंदस्थित प्रधान धर्मसंघके ही अनुरूप था। कुछ लोग इसे गंगातीरस्थ उदन्दपुरके संघका अनुकरण बतलाते हैं। जो भी हो, तिब्बतमें यह भारतवर्षके एक साधु पर्यटककी बनवायी प्रथम धर्मसंस्था थी।

ये परिव्राजक पद्मसम्भव बड़े ही उद्योगी महापुरुष हुए। इन्होंने एक भिन्न-भाषाभाषी प्रदेशमें जाकर कई ऐसे शिष्योंको शिक्षित किया जो संस्कृत और तिब्बती भाषाओंके अच्छे पण्डित बन गये और जिन्होंने बड़ी सफलतापूर्वक संस्कृतके बौद्धग्रन्थोंका अनुवाद अपनी देशी भाषामें किया। बहद्पालवंश तथा वैरोचन नामक उनके शिष्य अनेकानेक ग्रन्थोंके अनुवादक प्रसिद्ध हैं। पहले तो नये धर्मके तत्त्व समझाना, फिर भाषाका ज्ञान कराना, फिर एकसे दूसरेमें रूपान्तरित करनेकी विद्या बतलाना और अन्तमें क्लिष्ट धार्मिक विषयका शुद्ध परिमार्जित अनुवाद कराना क्या साधारण कार्य है? इसे तो वे ही समझ सकते हैं जिन्हें ऐसा करनेका अवसर प्राप्त हुआ हो।

उनकी शिक्षाओंके सम्बन्धमें तिब्बती लेखकोंने लिखा है कि ये प्रायः मन्त्रों और जादू-विद्याओंका ही अभ्यास कराते थे। परन्तु इन लेखकोंके लेख कई शताब्दी पीछे लिखे होनेके कारण अधिक प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। अधिक सम्भावना यही है कि उनकी शिक्षा माध्यमिक बौद्ध महायान मतकी रही हो। और आगे चलकर वह विकृत होकर जादू और झाड़-फूँकीके रूपमें परिवर्तित हो गयी हो। आरम्भमें उसका यह रूप नहीं था।

उक्त 'संन्यास' नामक धर्मसंघके अध्यक्ष, आचार्य पद्मसम्भवके साथी और सम्बन्धी, शान्तरक्षित नामक साधु हुए। यह विदित नहीं कि आचार्य पद्मसम्भव महोदय विवाहित थे या अविवाहित। स्वयं धर्मसंघका अध्यक्षपद न ग्रहण करनेके कारण उनके विवाहित

होनेकी बातका अनुमान किया जाता है और जनश्रुति भी ऐसी ही है, किन्तु इस विषयमें कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। अन्य कारणोंसे भी उनके विवाहित होनेकी कल्पना कर ली गयी हो, यह भी सम्भव है।

प्राचीन तिब्बती बौद्धसम्प्रदायके ये प्रधान संत स्वीकार किये जाते हैं। लाल टोपी धारण किये, जूते पहने, मोटे वस्त्रोंसे सुशोभित ये आधुनिक लामाके सच्चे प्राचीन प्रतिनिधिके रूपमें अंकित किये गये हैं।

महात्मा कस्सप

(लेखक—श्रमणेर श्रीप्रियरत्नजी)

भगवान् बुद्धके बाद बौद्धोंके सबसे बड़े महात्मा ये ही हुए हैं। ये बड़े अकिंचन थे। रास्तेमें पड़े हुए चिथड़ोंको शरीरमें लपेट लिया करते थे, खानेके लिये गरीबोंके घरसे कुछ ग्रास माँग लाया करते थे और रहनेके लिये इन्हें वन अथवा निर्जन कन्दरा ही पसन्द थी। परन्तु ये जितने दीन थे उतने ही पवित्र भी थे। माता-पिताके बार-बार आग्रह करनेपर इन्होंने विवाह तो कर लिया, किन्तु दुलहिनके घर आनेपर उससे इन्होंने कहा—'देखो, बहिन! यह माला हम तुम्हारे और अपने बीचमें रखते हैं; यदि तुम्हारे मनमें कोई विकार उत्पन्न हो गया तो तुम्हारी तरफके फूल कुम्हिला जायँगे और यदि मेरे मनमें कोई विकार उत्पन्न हुआ तो मेरी ओरके पुष्प मुरझा जायँगे।'

भद्दकपिलानी (कस्सपकी स्त्री) देशभरमें अपने सौन्दर्यके लिये प्रसिद्ध थी। कस्सपके माता-पिताने ब्राह्मणोंको आदर्श दुलहिनके रूपमें एक सोनेकी मूर्ति देकर अपने लड़केके लिये दुलहिन खोजनेको मथुरा भेजा था, क्योंकि मथुरा उन दिनों नारीरत्नोंके लिये प्रसिद्ध थी। और वहाँसे ये लोग भद्दकपिलानीको लाये थे। भद्दकपिलानी भी अपने पतिके समान ही पवित्र थी। सबेरेके समय उन दोनोंने देखा कि मालाके फूल ज्यों-के-त्यों खिले हुए रखे हैं मानो वे हालके ही तोड़े हुए हों। एक दिन कस्सप, जिन्हें घरपर लोग पिप्फली कहते थे, खेतोंमें यह देखनेके लिये गये कि वहाँ कैसा काम हो रहा है। वहाँ जाकर इन्होंने देखा कि जोती हुई जमीनपर एक कौओंका झुंड बैठा हुआ चोंचसे बीन-बीनकर कुछ खा रहा है। पूछनेपर मजदूरोंने जवाब दिया, 'भाई साहब, ये कौए मकोड़ोंको खा रहे हैं।' पिप्फलीने पूछा—'इस हत्याका पाप किसको लगेगा?' उन्होंने कहा कि इसका पाप तो खेतके मालिकको ही लगेगा। तब पिप्फली मनमें सोचने लगे—'मेरे पास रुपया तो बहुत है, परन्तु वह धन किस कामका जो हमारी पापकर्मोंके फलसे रक्षा न कर सके। ऐसे धनको लेकर मैं क्या करूँगा, मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है। कपिलानी इसकी स्वामिनी हो, मैं तो साधु हो जाऊँगा।' कपिलानी आँगनमें बैठी हुई दासियोंको धूपमें कुछ बीज सुखानेको कह रही थी। उसने देखा कि पास ही कौए कुछ बीन-बीनकर खा रहे हैं, उसने भी दासियोंसे वही प्रश्न किया जो पिप्फलीने मजदूरोंसे किया था। दासियोंने भी उसके प्रश्नका यही उत्तर दिया कि कौए मकोड़ोंको खा रहे हैं। इसपर कपिलानीने पूछा, इसके लिये पापका भागी कौन होगा? दासियोंने उत्तर दिया कि इसका पाप तो मालकिनको ही लगेगा। कपिलानी सोचने लगी—'मुझे तो चार गज टुकड़ा शरीर ढकनेके लिये और मुट्ठीभर चावल खानेके लिये चाहिये। फिर यदि इन सब जीवोंके पाप मुझको ही भुगतने पड़ेंगे तो युगोंतक मेरा उन पापोंसे छुटकारा नहीं हो सकता। मुझे ऐसा जीवन नहीं चाहिये। पतिदेव खेतसे लौटकर आवें तो उन्हें गृहस्थीका सारा भार सौंपकर मैं तो भिक्षुणी बन जाऊँगी।' इतनेमें ही पिप्फली खेतसे लौट आये और भोजन करके कपिलानीसे बोले—'प्रिये! मैं अपनी यह सारी सम्पत्ति और जो कुछ तुम नैहरसे लायी हो वह सब तुम्हारे हवाले करता हूँ।' कपिलानीने पूछा—'क्यों, आप कहाँ जा रहे हैं?' पिप्फलीने उत्तर दिया—'मैं साधु होने जा रहा हूँ।' कपिलानीने कहा—'मैं भी इसी प्रतीक्षामें बैठी थी कि आप आवें तो आपसे पूछकर गृहस्थीका सारा भार आपको सौंप दूँ और स्वयं संन्यासिनी बन जाऊँ, क्योंकि यह जगत् मुझे जलते हुए मकानकी तरह मालूम होता है।' फिर क्या था, पति-पत्नी दोनोंने गेरुआ वस्त्र मँगाये और सिर मुँड़वाकर सारे परिवारको रोते हुए छोड़कर वनका रास्ता लिया। थोड़ी दूर जानेपर महाकस्सपके मनमें यह बात आयी

कि मेरे साथ एक ऐसा रमणीरत्न है जिसके जोड़का कोई दूसरा रत्न खोजनेपर नहीं मिलेगा और लोग यह कहेंगे कि कपड़े रँगकर भी ये पति-पत्नी एक दूसरेका मोह नहीं छोड़ सके। इतनेमें ही वे एक ऐसे स्थानपर पहुँचे जहाँ दो सड़कें मिलती थीं। वहाँ कस्सपने कपिलानीसे अपने मनकी बात कह दी और यह कहा, इन दोनों रास्तोंमेंसे जो रास्ता तुमको पसन्द हो उसीसे जा सकती हो, मैं तुम्हारे साथ नहीं चलूँगा।' कपिलानीको भी यह बात पसन्द आ गयी। वह एक तरफ चल दी और महाकस्सप दूसरे रास्तेसे चल दिये। इनके इस अपूर्व वैराग्यको देखकर पृथ्वीमाता काँपने लगी।

उन दिनों भगवान् बुद्ध राजगृहमें बाँसोंके झुरमुटमें रहते थे। उन्हें दिव्यदृष्टिसे इस दम्पतीके गृहत्यागका पता लग गया और वे दयापरवश हो इनके सामने चल दिये और बहुत दूर जाकर राजगृह और नालन्दके बीचमें एक वृक्षके नीचे बैठ गये। महाकस्सपने उस तेजोमय मूर्तिको देखा और देखते ही मनमें कहा 'हो-न-हो, यही भगवान् बुद्ध हैं; मैं इनका शिष्यत्व ग्रहण करूँगा!' यों कहकर वे भगवान्‌के समीप गये और उन्हें साष्टांग प्रणामकर कहने लगे—'भगवन्! मैं आपको गुरुके रूपमें वरण करता हूँ। आप कृपा करके मुझे अपने चरणोंमें आश्रय दीजिये। भगवान् बुद्धने उन्हें दीक्षा देकर धर्मका उपदेश किया। इसके बाद वे उठ खड़े हुए और वहाँसे चल दिये। महाकस्सप भी उनके पीछे-पीछे हो लिये। कुछ दूर जाकर भगवान् बुद्धने विश्राम करना चाहा। महाकस्सपने अपने वस्त्रको चौतहाकर उसे जमीनपर बिछा दिया। भगवान् बुद्ध उसपर बैठ गये और कहा—'कस्सप! तुम्हारा कपड़ा बड़ा मुलायम है।' शिष्यने कहा—'महाराज! यदि यह आपको पसन्द हो तो इसे आप ही धारण कीजिये।' 'तब तुम क्या पहनोगे?' 'महाराज, मैं आपके फटे हुए वस्त्रको पहन लूँगा।' इसपर बुद्धने कहा—'तथागतके द्वारा धारण किया हुआ वस्त्र कोई साधारण मनुष्य नहीं पहन सकता। इसे तो कोई महान् पुरुष ही धारण कर सकता है, जिसका जीवन पवित्र हो और जो तेरह प्रकारके तप करता हो।'

यह कहकर भगवान् बुद्धने अपना वस्त्र महाकस्सपसे बदल लिया और स्वयं मन्दिरको चले गये। अब महात्मा कस्सप सोचने लगे—'अहा! मैं कितना भाग्यवान् हूँ कि भगवान्‌का ओढ़ा हुआ वस्त्र मुझे प्राप्त हुआ है। जो मनुष्य तेरह प्रकारके तप करता है और जिसका जीवन अत्यन्त पवित्र होता है वही इस वस्त्रको धारण कर सकता है। अत: आजसे मैं तेरह प्रकारके तप करूँगा।' यों कहकर वे तेरह प्रकारका तप करने लगे और आठवें ही दिन वे 'अर्हत्' पदको प्राप्त हो गये। उन्होंने ऐसी कठोर तपस्या की कि भगवान्‌ने एक दिन समुदायमें बैठे हुए कहा कि कस्सप मेरा सबसे बड़ा शिष्य है, जो तेरह प्रकारके तप करता है।

इस प्रकार निरपेक्ष होकर तथा एकान्तवासका आनन्द लूटते हुए महाकस्सप बहुत बड़ी अवस्थातक जीवित रहे। राजगृहमें बौद्धोंकी जो सबसे पहली महासभा हुई थी उसका बहुत कुछ श्रेय इन्हींको था।

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

दुनियाकी सारी चीजोंसे मुँह मोड़कर एकमात्र प्रभुकी ओर लग जाओ। इस दुनियाको आज नहीं तो कल छोड़ना ही है।

ईश्वर अपने भक्तसे बार-बार कहता है कि तू 'दुनियासे विमुख हो जा और मेरी ओर आ। बिना मेरी ओर आये तुझे सच्ची शान्ति और सुख नहीं मिलेगा। कबतक तू मुझसे भागता फिरेगा। कबतक मुझसे विमुख रहेगा।'

पहनने-ओढ़नेमें सादगीका खयाल रखना। शौकीनीकी पोशाक और आडम्बरसे परे ही रहना।

भक्त जब प्रभुका सर्वभावसे आश्रय लेता है, तभी परमेश्वर उसकी रक्षा, योगक्षेम अपने हाथमें ले लेता है।

सूफी साधना और संत

(लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र, 'माधव', एम० ए०)

'सूफी' शब्दका सरल अर्थ है प्रेमसाधनाका साधक। अरबीमें 'सूफ' का अर्थ है ऊन। सूफी साधक ऊनकी कफनी और कनटोप पहनते थे, इसलिये भी इसका प्रयोग इस अर्थमें होने लगा। कुछ लोगोंका ऐसा खयाल है कि 'सूफी' शब्द अरबीके 'सफू' से बना है। 'सफू' का अर्थ है पवित्रता। इसके सिवा यह भी कहा जाता है कि जब अरबवासी अज्ञानके अन्धकारमें ढँके हुए थे उस समय सूफा नामकी एक ऐसी जाति थी जो जगत्‌के प्रपंचोंसे अलग रहकर मक्केकी सेवामें लगी रही और उसी जातिमें जो संत हुए उनको सूफी संत कहते हैं।

मुसलमानोंका वह उदार दल जो परमात्माकी परम प्रियतमके रूपमें उपासना करता है, सूफी कहलाता है। सूफी औलिये, दरवेश और फकीरोंमें कई श्रेणियाँ हैं और वेश-भूषा, ध्यान-जपकी पद्धतिमें भी अवश्य ही उनमें कुछ अन्तर देखनेमें आता है; परन्तु एक बातमें वे सभी सहमत हैं कि प्रभुकी प्रेरणा शुद्ध हृदयमें प्राप्त होती है। सूफियोंके दो मुख्य विभाग हैं—एक वे जो भगवत्प्रेरणामें विश्वास करते हैं और दूसरे वे जो भगवान्‌में तल्लीनता प्राप्तकर एक हो जानेमें विश्वास करते हैं। पहले 'इलहामिया' कहलाते हैं और दूसरे 'इत्तिहादिया'।

संक्षेपमें, सूफीमतका सारतत्त्व समझना चाहें तो इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि सूफियोंकी मान्यता हमारे वैष्णवधर्मकी प्रेमसाधनासे बहुत अंशोंमें एक है। सूफी मानते हैं कि जो कुछ 'सत्ता' है वह एकमात्र प्रभुकी है—सभी कुछ प्रभुमें है और सभी कुछमें प्रभु है। दृश्य-अदृश्य सभी पदार्थ उसी एक प्रभुसे निकले हैं और प्रभुसे ओतप्रोत हैं। मनुष्यकी इच्छाएँ भगवान्‌के अधीन हैं और मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र नहीं है। इस शरीरके पहले भी आत्मा था। वह इस शरीरमें ठीक उसी प्रकार बंद है जैसे पंछी पिंजड़ेमें। इसलिये सूफी मृत्युका बड़े उल्लासके साथ स्वागत करते हैं, क्योंकि उनका विश्वास है कि इस शरीरके पिंजड़ेसे निकलकर हमारे अन्तरका पंछी अपने परम प्रियतमके मधुर आलिंगनका आनन्द लूटेगा। मृत्यु ही मनुष्यको शुद्ध करके प्रभुसे मिला देती है। प्रभुके साथ हमारी आध्यात्मिक एकता तबतक नहीं हो सकती जबतक हमें प्रभुका अनुग्रह न प्राप्त हो। उस अनुग्रहको सूफी 'फयाजान उल्लाह' अथवा 'फजलुल्लाह' कहते हैं। जीवनभर सूफीका एकमात्र कर्त्तव्य यही है कि वह भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन करे, भगवान्‌का नाम जपे ('जिक्र' करे) और अपना जीवन ऐसा सादा और पवित्र बना ले कि उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो ही।

जगत्‌की ओरसे मुँह फेरकर भगवान्‌के पथमें चलनेकी उत्कण्ठाका बीजारोपण जब हृदयमें हो जाता है उस समय साधकका नाम 'तालिब' है। इस पथमें जब वह प्रवृत्त हो जाता है तो उसे 'मुरीद' कहते हैं। किसी गुरुके आदेशानुसार जब वह अपने जीवनको प्रभुप्राप्तिमें प्रवाहित कर देता है तब उसका नाम 'सलीक' होता है। सबसे पहले उसे 'सेवा' की दीक्षा मिलती है। सेवाके द्वारा ही उसे प्रेम (इश्क) की प्राप्ति होती है। प्रेमके द्वारा उसे एकाग्रताकी प्राप्ति होती है और संसारके सारे राग-मोह सदाके लिये जल जाते हैं। प्रेमाग्निमें राग-मोह आदि विषय जब जल जाते हैं और अन्त:करण शुद्ध हो जाता है तब उसके हृदयमें ज्ञानका प्रकाश उठता है। ज्ञानके इस उज्ज्वल प्रकाशमें उसे प्रभुका साक्षात्कार होता है। यह प्रेममदकी पूर्णावस्था है। इसके बाद साधक 'वस्ल' (मिलन) की ओर बढ़ता है। इससे आगे अब वह नहीं जाता। हाँ, मृत्युपर्यन्त वह ध्यान-धारणाके द्वारा इस आनन्दको स्थिर और स्थायी बनाता है और मृत्युके समय 'फना' का आनन्द लूटता है—मृत्युके समय सूफी अपनेको सर्वात्मभावसे प्रभुमें लय कर देते हैं।

जिस प्रकार हमारे यहाँ कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड तथा सिद्धावस्था है उसी प्रकार सूफी साधककी चार अवस्थाएँ मानते हैं—शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारफत। उनका 'अनलहक' हमारे 'अहं ब्रह्मास्मि' का ही बोधक है। सूफी साधना त्यागपक्ष और प्राप्तिपक्ष दोनों रूपमें सर्वात्मसमर्पणको ही लक्ष्य करके चली है।

साधकको जीवनपथमें चलनेके लिये चार वस्तुओंकी

आवश्यकता है—सद्वचन, सत्कर्म, सदाचार, सद्विवेक। साधक एक क्षणके लिये भी यह न भूले कि जब सब कुछ लय हो जायगा तो केवल प्रभु ही रह जायगा—आदिमें प्रभु ही था, आगे भी जब कुछ भी नहीं रहेगा एकमात्र प्रभु ही रह जायगा। सब कुछ उसी 'एक' से निकला है और उसीमें लय हो जायगा। संसारमें हमारा रहना बीचकी स्थितिमें रहना है और इसीलिये इसे प्रभुमय बनाये रखनेकी आवश्यकता है। प्रभु तो सदा हमें अपनी ओर आकृष्ट कर ही रहा है। परन्तु हम इस आकर्षणसे हटकर धन-मानकी खोजमें लगे रहते हैं। परन्तु प्रभु हमें अपनी ओर आकृष्ट किये बिना रह नहीं सकते; वे हमें जगत्के प्रपंचोंसे छुड़ाकर अपनी ओर खींचते हैं। प्रभुकी ओरसे हमें खींचनेकी जो प्रक्रिया है उसे सूफी आकर्षण (इंजिजाब) कहते हैं और मनुष्यका प्रभुकी ओर जो बढ़ना है उसे वे आकांक्षा अथवा प्रेम कहते हैं। हमारी आकांक्षा जितनी बढ़ती है उतना ही संसार हमसे दूर हटता जाता है। साधक इस दशामें प्रभुका प्रियपात्र—'किब्ला' बन जाता है।

प्रभुके चरणोंमें सर्वात्मसमर्पण करके उसमें लय होना ही सूफी साधनाकी चरम परिणति है। इस अवस्थाका वर्णन जल्लालुद्दीन रूमी अपनी पुस्तक 'मसनवी' (पृष्ठ ७८) में इस प्रकार करता है—

प्रियतमके द्वारको बाहरसे किसीने खटखटाया।

भीतरसे आवाज आयी—कौन है?

'मैं हूँ'—उत्तर था।

भीतरसे आवाज आयी—इस घरमें 'मैं' और 'तुम' 'दो' नहीं रह सकते। द्वार बंद ही रहे।

प्रेमी निराश होकर लौट गया। वर्षभर उसने जंगलमें एकान्तमें रहकर तपस्या की, उपवास किया, प्रार्थनाएँ कीं। वर्ष समाप्त होनेपर प्रेमी पुनः लौटा और प्रियतमके द्वार खटखटाये।

'कौन है?' भीतरसे आवाज आयी।

'तू है'—प्रेमीका उत्तर था।

द्वार खुले, प्रेमी और प्रियतम मिले, मिलकर एक हो गये।

सर्वप्रथम सूफीमतका प्रकट आविर्भाव तो ईस्वी सन् ८०० के पूर्व पैलेस्टाइनमें अबुहासिमद्वारा हुआ, परन्तु इनके पहले ही रबिया हो चुकी थी और उस समयसे ही प्रच्छन्नरूपसे सूफीभावनाकी धारा अखण्डरूपसे चली आ रही है। कुरानके ऐसे प्रसंग जिनमें सर्वव्यापी प्रेमस्वरूप परम आत्मीय प्रभुके शील और सौन्दर्यका वर्णन है सूफीमतका आधार हुए और आगे चलकर तो इसकी स्वतन्त्र प्रतिष्ठा भी हुई। पहले-पहल अबुहासिमने ही पैलेस्टाइनके पास रमलेमें सूफी साधनामन्दिरकी स्थापना की। यहींसे सूफीसाधनाकी स्वतन्त्र धारा चली, जो आजतक चली जा रही है। प्रेमके द्वारा परम प्रेमास्पदमें सर्वात्मसमर्पणकी प्रणाली मानवहृदयको अनादिकालसे आकृष्ट करती आयी है और जबतक मनुष्यके पास हृदय है वह प्रेममार्गमें आकृष्ट होगा ही। अस्तु।

सूफियोंमें एक-से-एक बढ़कर संत-महात्मा हुए हैं और उनकी संख्या भी अपरिमित है। त्यागपक्ष और ग्रहणपक्ष—त्यागपक्षमें जगत्की एक-एक वस्तुका, एक-एक परिग्रहका परितः त्याग और ग्रहणपक्षमें प्रभुप्राप्तिके लिये समस्त सद्गुणोंका ग्रहण—यही इन संतोंके उपदेशका सार है। कठोर तपस्या, दीर्घ उपवास और प्रार्थना, यही इनका साधन है। स्थानके संकोचसे हम बहुत संक्षेपमें यहाँ रबिया, हल्लाज मंसूर, बयाजीद बस्तामी, जल्लालुद्दीन रूमी, हाफिज और सादीके सम्बन्धमें कुछ निवेदन करेंगे—

रबिया

बसराके एक बड़े ही गरीब परिवारमें रबियाका जन्म हुआ। उससे बड़ी तीन बहिनें थीं। अकालमें माता-पिताकी मृत्यु हो गयी। किसीने इसे लेकर एक सम्पन्न व्यक्तिके हाथ बेंच दिया। वह धनी व्यक्ति इतना क्रूर और नृशंस था कि कुमारी रबियासे बुरी तरह काम लेता और उसे मारता-पीटता भी। एक अँधेरी रातको रबिया वहाँसे भाग निकली। रात अँधेरी, रास्ता बीहड़। ठोकर खाकर वह गिर पड़ी और उसका दहिना हाथ टूट गया। उस दारुण दशामें रबियाने धरतीपर मस्तक टेककर प्रार्थना की—'हे प्रभु! मुझे अपनी इस दुर्दशाका शोक नहीं है। मैं तुझे भूलूँ नहीं और तू मुझपर प्रसन्न रहे, बस यही एक प्रार्थना है।'

कुरान पढ़ने और एकान्तमें प्रार्थना करनेका रबियाको व्यसन-सा था। आधी रातको जब सभी सो जाते रबिया प्रभुकी प्रार्थना करती। एक रात वह ऐसी ही प्रार्थना कर रही थी—'हे प्रभु! तेरी ही सेवामें मेरा रात-दिन बीते, ऐसी मेरी इच्छा है; पर मैं क्या करूँ?

तूने मुझे पराधीन दासी बनाया है, इसीलिये मैं सारा समय तेरी उपासनामें नहीं दे सकती। हे प्रभु! इसके लिये मुझे क्षमा कर।'

सेठ, जिसके यहाँ वह थी, बाहरसे यह सुन रहा था। अपनी कठोरतापर उसे बड़ी ग्लानि हुई। रबियाके चरणोंमें गिरकर उसने क्षमा माँगी और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक कहा—'आप मेरे घर रहेंगी तो मैं आपकी सेवा करूँगा, आप अन्यत्र जाना चाहें तो आपकी इच्छा।' मालिकके मनमें प्रभुकी प्रेरणा समझकर रबिया उसे नमस्कारकर विदा हो गयी। वहाँसे जाकर उसने कठोर तपश्चर्यामें जीवन बिताया।

महात्मा हुसेन उन दिनों बसरामें ही थे। रबिया उनके सत्संगमें जाया करती और धर्मचर्चामें भाग लेती। एक बार निर्जन वनमें जाकर रबियाने योगाभ्यास किया और आयुका शेषांश मक्कामें ही बिताया। इब्राहिम आदमसे मक्कामें ही उसका सत्संग हुआ था। जीवनपर्यन्त कौमार्यव्रतका पालनकर भजनमें जीवन बितानेवाली देवियाँ इस जगत्में गिनती की ही हुई हैं।

एक दिन हुसेनने रबियासे पूछा—तुम्हारा मन विवाह करनेका है? रबियाने उत्तर दिया—विवाह तो होता है शरीरका, मेरे पास शरीर ही कहाँ है। यह शरीर तो मैं ईश्वरको अर्पित कर चुकी हूँ; कहो, अब मैं कौन-से शरीरका विवाह करूँ?

एक बार एक धनिकने रबियाको फटे-पुराने कपड़े पहने देखकर कहा—'देवि! यदि आप संकेतमात्र कर दें तो आपकी दरिद्रता दूर हो जाय।' रबियाने उत्तर दिया—'तुम भूल करते हो। सांसारिक दरिद्रता दूर करनेके लिये किसीसे भीख क्यों माँगूँ? इस संसारमें उस परमात्माका राज्य फैला हुआ है—उसे छोड़कर दूसरेसे क्यों माँगूँ? जो कुछ लेना होगा उसीके हाथसे लूँगी।'

एक बार रबिया बीमार हो गयी। हाल पूछनेके लिये अब्दुल उमर और सुफियान आये और रबियासे कहा कि स्वास्थ्यके लिये तुम प्रभुसे प्रार्थना करो। रबिया बोली—'यह क्या कह रहे हो? मेरे इस रोगमें क्या उस प्रभुका हाथ नहीं है? मैं तो उसकी दासी हूँ। दासीकी अपनी इच्छा कैसी? मेरी जो इच्छा मेरे प्रभुकी इच्छाके विरुद्ध हो वह सर्वथा त्याज्य है।'

रबियाकी प्रार्थना थी—'हे प्रभु! यदि मैं नरकके डरसे ही तेरी पूजा करती होऊँ तो मुझे उस नरककी आगमें जला डालना। और यदि स्वर्गके लोभसे मैं तेरी सेवा करती होऊँ तो वह स्वर्ग मेरे लिये हराम हो। किन्तु यदि मैं तेरी प्राप्तिके लिये ही तेरा पूजन करती होऊँ तो आप अपने अपार सुन्दर स्वरूपसे मुझे वंचित न रखना।'

रबियाके कुछ उपदेश

(१) ईश्वरपर सतत दृष्टि रखना ही ईश्वरीय ज्ञानका फल है।

(२) ईश्वरकी प्रार्थनासे पवित्र हुए हृदयको जो उसी स्थितिमें उस प्रभुके चरणोंमें अर्पित कर देता है, अपनी सारी सँभाल भी उस प्रभुपर ही छोड़ देता है और खुद उसके ध्यान-भजनमें रत रहता है, वही सच्चा महात्मा है।

(३) पूरे जागे हुए मनका यही अर्थ है कि ईश्वरके सिवा दूसरी किसी चीजपर चले ही नहीं। जो मन उस परवरदिगारकी खिदमतमें लीन हो जाता है फिर उसे दूसरे किसीकी क्या जरूरत?

मंसूर

ईश्वरका मार्ग अनुसरण करनेके कारण मंसूरको नाना प्रकारकी यन्त्रणाएँ सहनी पड़ीं और अन्तमें सूलीपर लटक जाना पड़ा। मक्का, बसरा आदिका भ्रमण करते हुए वह एक बार भारतवर्ष भी आये। मंसूर 'अनलहक' का जप करते थे। इसका अर्थ है—मैं ही ब्रह्म हूँ। लोग उन्हें 'हु अलहक'—वह ईश्वर है—का जप करनेके लिये समझाया करते। मंसूर उत्तरमें कहते—'हाँ, वही बन्धु है। उसका महासागर चारों ओर उछल रहा है। उसमें मेरा 'अपनापन' मिलकर एकरस हो गया है। मैं अब उससे कैसे अलग हो सकता हूँ। मैं अपना मंसूरपन भूलकर प्रभुपनको प्राप्त हुआ हूँ। अब महान् पदको छोड़कर फिर छोटा पद क्यों लूँ?'

खलीफाकी आज्ञासे मंसूरको जेलमें बंद कर दिया गया। पीछे उन्हें दृढ़ देखकर खलीफाने हुक्म दिया कि जबतक वह 'अनलहक' बोलता रहे उसे लकड़ियोंसे पीटा जाय और फिर उसका वध कर दिया जाय। लकड़ीकी हर एक मारके साथ मंसूरके मुँहसे वही 'अनलहक' शब्द निकलता था। आखिर जल्लाद उन्हें सूलीपर चढ़ानेके लिये ले गया। मौतको नजदीक

देखकर मंसूर और भी जोर-जोरसे 'हक, हक, हक, अनलहक' कहने लगे। एक फकीरने उनके पास आकर पूछा—प्रेम कैसा होता है?

मंसूर बोले—उसका उदाहरण अभी देखना, कल देखना, परसों देखना। कहनेका भाव यह था, आज अभी मैं कत्ल होऊँगा, कल दफनाया जाऊँगा और परसों मेरा कोई चिह्न नहीं रह जायगा। सूलीके पास जाकर उन्होंने उसका स्नेहभावसे चुम्बन किया। पहले हाथ काट डाले गये, फिर पैर; अपने ही खूनसे अपने हाथोंको रँगकर उन्होंने कहा कि यह एक प्रभुप्रेमीकी 'वजू' है। जल्लाद जब इनकी जीभ काटने लगा तो उन्होंने कहा—'जरा ठहर जाओ'। मैं एक बात कहना चाहता हूँ, वह यह है कि हे परमेश्वर! जिन्होंने मुझे इतनी पीड़ा पहुँचायी है उन्हें तू सुखसे वंचित न रखना। उनपर नाराज न होना। उन्होंने मेरी मंजिलको कम कर दिया है। अभी ये मेरा सिर काट देंगे तो मैं सूलीपरसे तेरे दर्शन करनेमें समर्थ हो सकूँगा।' प्राण निकलनेके पहले इन्होंने कुरानकी दो आयतें कही थीं। इस धरतीपर उनकी वही आखिरी आवाज थी।

उपदेश

१. जिनकी सदा ईश्वरकी ओर दृष्टि है और संसारसे जो विरक्त हैं वही ऋषि हैं।

२. जो लोगोंके अत्याचारोंसे व्यथित नहीं होते वे ही महापुरुष हैं।

बायजीद बस्तामी

प्रेम, विश्वास और त्यागकी मूर्ति बायजीद बस्तामी ईश्वरचिन्तनमें सदा मस्त रहते थे। उनका सारा जीवन ईश्वरके भजन-स्मरणमें ही बीता। उनका देहान्त भी ईश्वरका नाम लेते-लेते ही हुआ। उनका जन्म एशियाके बस्ताम देशमें हुआ था। इनके दादा मूर्तिपूजक थे और पिता पक्के मुसलमान। माताके चरणोंमें ही इन्हें भगवद्भक्तिकी दीक्षा प्राप्त हुई।

बायजीद कभी अपनी जीविकाकी चिन्ता तो करते ही नहीं थे। उन्हें दृढ़ विश्वास था कि प्रभु अवश्य रोटी देगा। जब कभी कोई परमेश्वरका गुणगान करता तो उनका चेहरा आनन्दसे खिल उठता, और जब कभी कोई उनका गुणगान करता तो वे नाराज होकर उठकर वहाँसे चल देते। स्वयं अपनी साधनाके सम्बन्धमें बायजीदने कहा है—''सोलह वर्षतक देहलीपर खड़े रहनेके बाद मुझे मालूम हुआ कि मैं बहुत बदचलन और नापाक हूँ। पीछे मेरे मनमें परमात्माकी भक्ति जागी और मैंने उससे कहा—'हे प्रभो! आपके सिवा मेरा कोई नहीं। आप मेरे हैं तो फिर सब कुछ मेरा है। हे प्रभो! मैं तो आपहीको चाहता हूँ, और कुछ भी नहीं। आप महान्-से-महान् हैं, परम कृपालु हैं। मुझे आपहीसे शान्ति मिलेगी। मुझे अपनेसे जरा भी अलग न करिये। मेरे सामने अपने सिवा और किसीको न आने दें।' प्रभुने आशीर्वाद दिया—'जो इच्छा मेरी है वही तेरी भी हो।'

''इस प्रकार उसने मुझे 'अपना' बना लिया।

''मैंने ऐसी जीभ पा ली थी जो अभेदके सिवा कुछ नहीं बोलती थी। मेरी जीभ उसकी प्रशंसा करनेमें, मेरा हृदय और मेरी आँखें उसके अवर्णनीय सौन्दर्यको देखनेमें मशगूल थे। मैं उसीके सहारे जीता हूँ। मेरी जिह्वा उसी अभेदकी जिह्वा बन गयी।

''हे प्रभु! मैं आपसे प्रेम करूँ, इसमें तो अचरजकी बात ही कौन-सी है? कारण, मैं ठहरा दास, दुर्बल, दीन, हीन और भिक्षुक। अचरज तो इसमें है कि प्रभु सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, अपार, ऐश्वर्यसम्पन्न होकर भी मुझे प्यार करते हैं।''

बायजीदका सारा जीवन ही तपस्यापूर्ण और प्रभुमय था। उनके उपदेश भी बड़े ही अनमोल हैं—मनुष्यका सच्चा कर्तव्य क्या है? ईश्वरके सिवा किसी दूसरी चीजसे प्रीति न जोड़ना। ईश्वरकी कृपाके बिना मनुष्यके प्रयत्नसे कुछ भी नहीं मिल सकता। ईश्वरके गुणोंका अपनेमें आरोप करनेवाला योगी अधम है। जो ईश्वरको जानता है वह ईश्वरको छोड़कर और किसी बातकी चर्चा ही नहीं करता। जो ईश्वरके नजदीक आ गया उसे किस बातकी कमी? सभी पदार्थ और सारी सम्पत्ति उसीकी है, क्योंकि उसका वह परम प्रिय सखा सर्वव्यापी और सारी सम्पत्तिका स्वामी है। जिस तपस्यामें 'मैं करता हूँ' ऐसा अहंभाव नहीं है वही सच्ची तपस्या है।

जल्लालुद्दीन रूमी

अनन्त प्रेम और अनन्त सौन्दर्यके सच्चे उपासक जल्लालुद्दीन रूमीका स्थान सूफी संतोंमें विशिष्ट है। उन्होंने अपने 'मसनवी' में सूफी साधनाकी बहुत विस्तारसे व्याख्या की है। सूफीधर्मको बतलानेवाली इससे बढ़कर

कोई पुस्तक नहीं है। सूफियोंमें जो दो मार्ग हैं—वेदान्तमार्ग और भक्तिमार्ग—उनमें रूमी भक्तिमार्गी थे। समस्त सत्ताके केन्द्रमें उसके प्राणस्वरूप ईश्वर है। वह निखिल प्रेम और निखिल सौन्दर्यका समुद्र है। सृष्टिके कण-कणमें उसीका सौन्दर्य झलक रहा है। आवरणके कारण ही मनुष्यका देवत्व ढका हुआ है। देवत्वकी चिनगारी प्राणिमात्रमें विद्यमान है। परमानन्दकी स्थितिमें अन्धकारका आवरण हट जाता है, अन्तर आलोकमय हो जाता है और तभी भगवत्साक्षात्कार होता है। नरक अथवा अज्ञानकी तो कोई सत्ता ही नहीं रह जाती, वह सत्यरूपी सूर्यके उगनेपर स्वयं लुप्त हो जाता है। सभी कुछ मिट जानेपर भी अन्तमें प्रभु रहता है। वही हमारा सर्वस्व है।

ऐसा कहा जाता है कि जब रूमी अपने ये भावभरे पद लिखते थे तो पासके लोग 'हाल' या मूर्च्छाकी दशामें हो जाते थे। सूफी साधनामें रूमीने संगीत और नृत्य—आनन्दकी दो अभिव्यक्तियोंको प्रचलित किया।

हाफिज

प्रेममार्गी सूफी संतोंमें हाफिजका नाम बहुत सम्मानके साथ लिया जाता है। इनके उपदेशोंका जनतापर बड़ा प्रभाव पड़ा। ये हृदयप्रधान संत थे और इसी कारण इनके हृदयसे निकले हुए उद्गारोंने सभीके हृदयको स्पर्श किया। हाफिजने इसी बातपर जोर दिया कि विधि-विधानके सारे जालको छिन्न-भिन्न कर मन, बुद्धि, चित्त और प्राणको प्रभुमें एकनिष्ठ होकर अर्पित करे। सर्वार्पणकी प्रक्रियामें अपने आध्यात्मिक गुरुसे मार्ग पूछे और उसीका अनुकरण करे। हाफिजके उपदेशोंका सारांश यही है कि संसारके समस्त राग-द्वेषको मिटाकर मनुष्य प्रभुप्रेम और हृदयकी सच्ची प्रार्थनाकी साधना करे। फारसके घर-घरमें हाफिजके उपदेशोंका बहुत अधिक आदर हुआ।

सादी

सादीको 'फारसका बुलबुल' कहते हैं। प्रथम तीस वर्ष इन्होंने धर्मग्रन्थोंके अध्ययनमें लगाये, शेष चालीस वर्ष तीर्थाटन और धर्मोपदेशमें। भारतवर्ष, मिश्र आदि देशोंमें भ्रमण करके संतोंका सत्संग किया और ज्ञान प्राप्त किया। इनके उपदेशोंमें 'सदाचार' पर विशेष जोर दिया गया है। किसी भी सांसारिक पदार्थके लिये कभी इन्होंने प्रभुसे याचना नहीं की। भक्ति, ज्ञान और सदाचारसे पूर्ण सादीका जीवन एक आदर्श संतजीवन था।

तीन क्षमाशील तितिक्षु संत

(लेखक—श्रीमगनलाल चुन्नीलाल शाह)

धर्मवीर गजसुकुमाल

धर्मवीर गजसुकुमाल कृष्णजीके छोटे भाई थे। ये जन्मसे ही विरक्त और क्षमाशील थे। एक दिन श्रीनेमनाथ प्रभुके उपदेशसे प्रभावित होकर इन्होंने संन्यास लेनेका निश्चय किया। संन्यासके लिये मातासे आज्ञा माँगनेपर पहले तो माताने संन्यासधर्मकी कठिनता बतलाकर इन्हें बहुत कुछ समझाया-बुझाया, परन्तु अन्तमें इनकी अत्यन्त उत्कण्ठा देखकर उन्होंने इन्हें आज्ञा दे दी।

श्रीनेमनाथ प्रभुसे दीक्षा लेकर इन्होंने उनसे भवसागरसे तरनेका सबसे सुगम साधन पूछा तो श्रीनेमनाथजीने कहा कि 'मन, वाणी और शरीरको सब प्रकारसे पवित्र करके ध्यान करनेसे तुम अवश्य मुक्त हो जाओगे।'

गुरुके आज्ञानुसार गजसुकुमाल गाँवके बाहर श्मशानमें बैठकर ध्यानका अभ्यास करने लगे। एक दिन अचानक इनका श्वशुर सोमील ब्राह्मण उधरसे होकर जा रहा था, जब उसने इन्हें संन्यासीके वेषमें देखा तो उसे अपनी लड़कीके मोहवश बड़ा गुस्सा आ गया। उसने अनेक प्रकारसे खरी-खोटी सुनाकर क्रोधके आवेशमें ध्यानमग्न गजसुकुमालके सिरपर मिट्टीकी पाल बनाकर उसमें प्रज्वलित अग्नि रख दी। गजसुकुमाल बड़ी शान्तिपूर्वक बैठे रहे, उन्होंने अपने मनमें श्वशुरके प्रति किसी प्रकारका बुरा भाव नहीं आने दिया। अन्तमें अग्निसे तपकर इनका मस्तक फट गया और ये परमधामको प्रयाण कर गये। धन्य है ऐसे क्षमावान् संतोंको जो अपने घातकके लिये भी कभी अनिष्ट चिन्तन नहीं करते।

जैनधर्मवीर श्रीधर्मरुचि

कौशाम्बी नगरीमें नागीला नामकी एक पाक-विद्याविशारद स्त्री रहती थी। एक दिन उसने किसी

त्यौहारके दिन कुछ मिठाइयाँ और तरकारी बनायीं। सब सामान तैयार होनेपर उसने तरकारी चखकर देखी तो वह जहरकी तरह कड़वी मालूम हुई, अत: प्रतिष्ठानाशके डरसे उसने उसे बाहर फेंक देना चाहा।

ज्यों ही नागीला तरकारी फेंकने जा रही थी कि एक धर्मरुचि नामक महात्मा अपना एक मासका व्रत समाप्त करके भिक्षाके लिये घूमते हुए उस तरफ आ निकले। नागीलाने वह तरकारी उन्हीं महात्माको भिक्षारूपमें दे दी। महात्मा तरकारी लेकर अपने गुरु धर्मघोषके पास गये। गुरुजीने तरकारीको सूँघकर उनसे कह दिया कि तुम इस तरकारीको न खाना। यदि इसको कोई भी प्राणी खा लेगा तो मर जायगा। अत: इसे ले जाकर किसी जनशून्य प्रदेशमें डाल देना। गुरुकी आज्ञानुसार धर्मरुचि ग्रामसे बाहर जाकर एक निर्जन वनमें वह तरकारी डालने लगे। एक बूँद पड़ते ही सैकड़ों चींटियाँ आकर उसे खाने लगीं और खाते ही मर गयीं। यह देखकर महात्माने सोचा कि जब एक बूँदसे इतने जीवोंका नाश हो गया है तो इस सारी तरकारीसे तो न मालूम कितने प्राणियोंकी हिंसा होगी। यह सोचकर उन्होंने सारी तरकारी खुद ही खा ली। तरकारी खाते ही उनके प्राण छूट गये और इस अहिंसावृत्तिके कारण वे देवलोकमें पहुँच गये। ऐसे अहिंसक महात्मा बिरले ही होते हैं।

धर्मवीर खंधक मुनि और सुनंदा

२५०० वर्ष पूर्व श्रावस्ती नामकी नगरीमें कनककेतु नामके एक राजा राज्य करते थे। इनकी मलयसुन्दरी नामकी पटरानीके गर्भसे खंधक नामका एक पुत्र और सुनंदा नामकी एक पुत्री हुई। सुनंदाका विवाह किसी दूसरे राज्यके राजासे कर दिया गया। एक दिन राजा अपने पुत्र खंधकके साथ एक महात्माके पास उपदेश सुननेके लिये गये। खंधकको महात्माका उपदेश लग गया। उन्हीं महात्मासे संन्यासकी दीक्षा लेकर खंधक गुरुके साथ ही विहार करने लगे। विचरते-विचरते एक दिन खंधक मुनि अपनी बहिनके राज्यमें पहुँचे। जिस समय ये राजमहलके सामने पहुँचे उस समय राजा और सुनंदा झरोखेमें बैठे बातचीत कर रहे थे। अपने भाईको संन्यासीके वेषमें देखकर सुनंदाकी आँखोंसे दो बूँद आँसू टपक पड़े। यह देखकर राजाको सुनंदाके साथ मुनिके दुष्ट सम्बन्धका भ्रम हो गया और बिना कुछ सोचे-विचारे ही उसने अपने सैनिकोंको जीते जी खंधक मुनिकी चमड़ी उतार लेनेकी आज्ञा दी। सैनिक राजाकी आज्ञा पाकर ज्यों ही खंधक मुनिके पास पहुँचे वे मुनिके मिष्टभाषण और सद्व्यवहारसे बड़े प्रभावित हुए। उन्हें चुपचाप खड़े देखकर खंधक मुनिने कहा कि राजाज्ञाका पालन करना तुम्हारा धर्म है। अत: राजाने तुम्हें जो आज्ञा दी है उसका पालन करो। यह कहकर प्रार्थना करके खंधक मुनि समभावमें स्थित होकर ध्यानमग्न हो गये। सैनिकोंने अपनी फरसियोंसे उनकी चमड़ी उतार ली। चमड़ी उतरवाते समय मुनिश्रीका न तो ध्यान ही टूटा और न उनके समत्वमें ही कोई त्रुटि आने पायी। जब खंधक मुनिके मांसपिण्डको एक गिद्ध उठाकर ले जा रहा था, वह मांसपिण्ड उसके पैरोंसे छूटकर सुनंदाके आँगनमें गिर पड़ा। यह देखकर सुनंदाको बड़ा दु:ख हुआ और साथ-ही-साथ वैराग्यका भी उदय हो गया। उसने संन्यास ले लिया और अन्तमें निर्वाण प्राप्त किया।

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

जिस पापके आरम्भमें ईश्वरका भय और अन्तमें ईश्वरसे याचना होती है, वह पाप भी साधकको ईश्वरके समीप ले जाता है; किन्तु जिस तपश्चर्याके आरम्भमें अहंभाव और अन्तमें अभिमान होता है, वह तप भी तपस्वीको ईश्वरसे दूर ले जाता है।

अहंकारी साधकको 'साधक' नहीं कहा जा सकता। वह तो महा अपराधी है; परन्तु प्रभुकी प्रार्थना करनेवाला एक पापी भी 'साधक' है।

महर्षि मेतार्य

(लेखक—श्रीऋषभदासजी वी० जैन)

पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वेषां धर्मचारिणाम्।
अहिंसा सत्यमस्तेयं त्यागो मैथुनवर्जनम्॥

वास्तवमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, त्याग और ब्रह्मचर्य ही संसारके सारे धर्मोंकी नींव हैं। जैनधर्मने भी इन पाँचों सिद्धान्तोंको चरम सीमातक स्वीकार किया है और तदनुयायी अनेक संत-महात्माओंने इनका पालन करनेमें अपने प्राणोंतककी परवा नहीं की है। भगवान् श्रीमहावीरके अनुयायी महर्षि मेतार्य भी ऐसे ही संत-महात्माओंमें थे। उनका जन्म एक शूद्रकुलमें हुआ था, तथापि बाल्यकालसे ही संस्कारी होनेके कारण घरसे विरक्त होकर वनखण्डोंमें घोर तपश्चर्याद्वारा उन्होंने सिद्धिलाभ किया था। उनके आदर्श और पवित्र जीवनकी केवल एक घटना यहाँ दी जाती है।

ग्रीष्म ऋतुका मध्याह्नकाल था। महर्षि मेतार्य एक मासके उपवासका व्रत पूरा करके भिक्षाके लिये मगधदेशकी राजधानी राजगृहमें एक सुवर्णकार (सोनार)-के द्वारपर खड़े थे। सुवर्णकार किसी सुन्दर आभूषणको तैयार करनेके लिये सोनेके छोटे-छोटे गोल-गोल दाने बनानेमें तन्मय हो रहा था। इतनेमें उसने अतिथिको द्वारपर खड़ा देखा। देखते ही वह सब कुछ वहीं छोड़-छाड़कर अतिथिकी सेवाके लिये शुद्ध भिक्षाकी सामग्री लाने अपने भोजनगृहमें चला गया। किन्तु जब वह घरसे बाहर निकला तब उसके बेशकीमती सोनेके सभी दाने गायब हो गये थे। बात यह हुई थी कि सामनेकी ही एक दीवालपर कोई पक्षी बैठा था। उसने सुवर्णकी उन गोलियोंको अन्नकण समझा और सुवर्णकारके हटते ही उड़कर उन्हें उदरस्थ कर गया। किन्तु सुवर्णकार इस बातको कैसे समझे। उसके मनमें द्वारस्थित साधुपर ही सन्देह हुआ। वह सोचने लगा कि 'अभी-अभी मैं भीतर गया हूँ। इतनेहीमें कौन आ गया? हो-न-हो इसी ढोंगी, पाखण्डी, पापात्मा साधुवेशधारीकी यह करतूत है। इसे अवश्य ही अपराधका दण्ड देना चाहिये।' ऐसा मनमें निश्चय करके सुवर्णकारने डाँटकर कहा—'अरे चोर! तूने मेरी जिन सुवर्ण-गोलियोंको चुराया है उन्हें वापस कर दे, वरना अभी मैं तुझको इसका दण्ड दूँगा।' इस बातको सुनकर महर्षि मेतार्यके मुखपर क्षणभरके लिये मुसकराहट दौड़ी गयी, परन्तु उन्होंने अपनेको सम्हाल लिया। वे धर्मसंकटमें पड़ गये। यदि पक्षीको अपराधी बतलाते हैं तो सुवर्णकारद्वारा उसकी हत्या होती है और इससे उनके अहिंसाव्रतपर आघात पहुँचता है। यदि अपनेको निर्दोष बतलाते हैं तो सुवर्णकारके सामने स्वभावत: उस कथनकी कोई कीमत नहीं है। निदान महर्षि मेतार्य मौन ही रह गये। इसपर सुवर्णकारको और भी क्रोध आया और अब उसे पक्का विश्वास हो गया कि 'इसी धूर्तकी सब कार्रवाई है।' निदान उस सुवर्णकारने महर्षि मेतार्यको पकड़कर पृथ्वीपर पटक दिया और मजबूत रस्सीसे उनके हाथ-पैर बाँध दिये। तत्पश्चात् अपराध स्वीकार करानेके लिये उसी चिलचिलाती हुई धूपमें उसने एक भीगी खालको महर्षिके मस्तकपर कसकर बाँध दिया।

पाठक जरा विचार करें, मध्याह्नकालकी प्रखर धूपमें महर्षि मेतार्यकी कैसी दुर्दशा हो रही थी। ज्यों-ज्यों खाल सूखती थी, त्यों-त्यों उनके मस्तककी नसें दबती जाती थीं। गर्मीके मारे आँखोंसे अग्निके स्फुलिंग निकलते थे। शरीरका चमड़ा जला जा रहा था, परन्तु फिर भी उन्होंने उफ्तक नहीं किया और न वे अपने दृढ़ विचारसे ही विचलित हुए। उनके हृदयमें परमशान्ति विराज रही थी। महीने भरके उपवाससे जीर्ण-शीर्ण हुए उनके शरीरमें किसी प्रकारके कष्टकी अनुभूति नहीं होती थी। बल्कि उलटे उन्होंने उस सुवर्णकारको अपने उस अहिंसाव्रतके पालनमें सहायक समझा और भीतर-ही-भीतर उसका आभार मानने लगे। थोड़ी देर बाद महर्षि मेतार्य अपने मनोमन्दिरमें ब्रह्मका ध्यान करते हुए तल्लीन हो गये। उन्हें किसी प्रकारका बाह्यज्ञान न रहा। इतनेमें सुवर्णकारने देखा कि उसके सामनेकी दीवालपर बहुत पहलेसे जो पक्षी बैठा था, वह विष्ठाके द्वारा उन सुवर्ण-गोलियोंको नीचे गिरा रहा है। यह देखकर उसके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। अब उसकी आँखें खुलीं। उसने दौड़कर महर्षि मेतार्यको बन्धनमुक्त किया और उनके चरणोंमें गिरकर अपने सारे अक्षम्य अपराधोंकी क्षमा माँगी। क्षमासिन्धु महर्षि मेतार्यके लिये यह कोई बड़ी बात नहीं थी, उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक उस सुवर्णकारको

क्षमा कर दिया! किन्तु उसके थोड़ी ही देर बाद महर्षि मेतार्य उस भौतिक शरीरका परित्याग कर सत्‌चित्स्वरूप हो गये। धन्य हैं ऐसे करुणासिन्धु संत! धन्य हैं ऐसे अहिंसाव्रतपालक महात्मा!!

दो जैन संत

(लेखक—श्रीकैलाशचन्द्रजी शास्त्री)

विद्युच्चर

विद्युच्चर हस्तिनागपुरके राजाका ज्येष्ठ पुत्र था, किन्तु कुसंगतिके प्रभावसे वह डाकू बन गया। उसके गिरोहमें ५०० डाकू थे। पिताने दु:खी होकर उसे घरसे निकाल दिया और वह अपने गिरोहके साथ घूमता-फिरता बिहारके राजगृही नगरमें पहुँचा। नगरके बाहर एक घने जंगलमें पड़ाव डाल दिया गया और विद्युच्चरने किसी मालदार असामीकी खोजमें राजगृहीके अन्दर प्रवेश किया। उस समय राजगृही उस प्रान्तकी राजधानी थी और बिम्बिसार उपनाम श्रेणिक वहाँका राजा था। नगरमें प्रवेश करते ही विद्युच्चरने देखा कि नगरी खूब सजी हुई है और नगरवासी किसी आगन्तुकका स्वागत करनेकी तैयारीमें लगे हुए हैं। पूछनेपर मालूम हुआ कि नगर-सेठके पुत्र जम्बुकुमार दिग्विजय करके लौट रहे हैं और उन्हींके स्वागतकी तैयारियाँ हो रही हैं। कुछ समय बाद जम्बुकुमारकी सवारी आ पहुँची। सबसे पहले उनकी जिस वस्तुने विद्युच्चर डाकूकी दृष्टि आकर्षित की, वह थी उनके गलेमें झूलते हुए बेशकीमत जवाहरात। डाकूने अपने शिकारको भाँपा और मन-ही-मन उसके घर डाका डालनेका संकल्प करता हुआ अपने पड़ावकी ओर चला।

जम्बुकुमार अभी अविवाहित थे। बचपनसे ही उनकी प्रवृत्ति वैराग्यकी ओर झुकी हुई थी। घरमें रहते अवश्य थे और सांसारिक कर्तव्योंका भी पालन करते थे, किन्तु थे पूर्ण निष्काम-कर्मी। उन्होंने कई बार घर-बार त्यागकर साधु बन जानेका संकल्प किया, किन्तु माता-पिताका अनुरोध वे टाल न सके। उनके पिताने यह सोचकर कि विषयवासनामें फँस जानेपर उनका पुत्र बैरागी न रह सकेगा, उसके विवाहका प्रबन्ध किया। नगरसे आठ रूपवती कन्याएँ चुनी गयीं। जम्बुकुमारने उन कन्याओंके पिताके पास सूचना भेज दी कि 'विवाह होनेके दूसरे ही दिन मैं घर-बार छोड़कर साधु बन जाऊँगा। अत: वे मेरे साथ अपनी कन्याओंको न ब्याहें।' किन्तु कन्याओंने अब दूसरा पति वरण करना स्वीकार न किया। अत: धूमधामसे विवाह हो गया।

सुहागरातके दिन जब जम्बुकुमार अपनी आठों स्त्रियोंके साथ अपने शयनागारमें मौजूद थे, विद्युच्चर डाकू कमंदके द्वारा उनके शयनागारकी खिड़कीपर पहुँचा और बातचीतकी आवाज सुनकर वहीं ठिठक गया। उस समय जम्बुकुमार अपनी आठों पत्नियोंको धर्मोपदेश दे रहे थे और कह रहे थे कि सूर्योदय होते ही मैं दीक्षा धारण कर लूँगा। जम्बुकुमारके सदुपदेश और युवा-अवस्थामें अपरिमित सम्पत्ति और अपूर्व लावण्यवती आठ युवतियोंके परित्यागने खिड़कीपर बैठे हुए डाकूकी अन्तर्दृष्टिको जागृत कर दिया। जब प्रात:काल हुआ और जम्बुकुमार घर-बार छोड़कर वनकी ओर चले, तब विद्युच्चर भी उनके पीछे-पीछे हो लिया। जम्बुकुमार मुनि हुए और अपने पाँच सौ साथियोंसहित विद्युच्चर भी अपने दुष्कर्मोंका प्रायश्चित्त करनेके लिये उनकी शरणमें जाकर साधु बन गया। जम्बुकुमार मथुराके पासके चौरासी नामक स्थानसे मुक्त हुए और भ्रमण करता हुआ विद्युच्चरका संघ भी मथुरा पहुँचा। सन्ध्याके समय विद्युच्चरको सूचना मिली कि यदि तुम लोग इस स्थानपर रातको ठहरोगे तो तुम्हारे ऊपर ऐसे घोर उपसर्ग होंगे जिन्हें तुम सहन नहीं कर सकोगे, अत: किसी दूसरे स्थानपर चले जाओ। परन्तु मुनिचर्याके अनुसार रातको गमन करना उचित नहीं समझा गया और सभी मुनिजन मौन लेकर स्थिर हो गये। उसके बाद जो उपसर्ग-परम्परा प्रारम्भ हुई उसे यहाँ बतलाकर पाठकोंका चित्त दुखानेकी जरूरत नहीं है। सभी धीर-वीर मुनियोंने उन उपसर्गोंको शान्तिके साथ सहा और साम्यभावसे प्राणत्याग किये।

सेठ सुदर्शन

सुदर्शनजी बहुत ही सुन्दर युवा पुरुष थे और अपना गृहस्थजीवन बड़ी सच्चरित्रताके साथ बिताते थे। प्रत्येक चतुर्दशीको उपवास किया करते थे और रात्रिके

समय श्मशानभूमिमें जाकर ध्यान लगाया करते थे। एक बार उनके नगरकी रानी उनके रूपपर मोहित हो गयी और अनेक प्रकारके प्रलोभन देकर उन्हें डिगानेकी चेष्टा करने लगी। किन्तु सच्चरित्र सुदर्शन उसके प्रस्तावसे सहमत न हुए। तब दूसरा उपाय न देखकर रानीकी एक दूतीने नयी चाल चली। एक दिन चतुर्दशीकी रात्रिको जब सुदर्शन श्मशानभूमिमें ध्यान लगा रहे थे। रानीकी दूती उन्हें कन्धेपर उठा लायी और लाकर रानीकी शय्यापर लिटा दिया। सुदर्शनको पाकर रानी कामके तीव्र वेगसे अन्धी हो गयी और अनेक प्रकारकी कुचेष्टाओंद्वारा सुदर्शनकी समाधि भंग करनेकी कोशिश करने लगी। अन्तमें दिन निकल आया, किन्तु रानीकी पापवासना पूर्ण न हो सकी। सुदर्शन मृत मनुष्यकी भाँति समाधि लगाये पड़े रहे।

रहस्य खुल जानेके भयसे रानीने स्त्री-चरित्रका अभिनय खेला और अपना समस्त शरीर नोच-खसोटकर रोने-चिल्लाने लगी। राजा आये। उनसे कहा गया कि सुदर्शनने रानीपर बलात्कार किया है और अब भेद खुल जानेके भयसे ध्यानीका ढोंग रच लिया है। राजाने सेठके वधकी आज्ञा दी। सेठ पुनः श्मशानभूमिमें ले जाये गये। पर ज्यों ही जल्लादने उनकी गर्दन काटनेको हाथ उठाया कि उसका हाथ उठा-का-उठा ही रह गया। फिर क्या था, रहस्योद्घाटन हुआ और सुदर्शनको मुक्ति मिली। रातके स्त्री-चरित्रसे सुदर्शनकी आत्मा बहुत विरक्त हो गयी थी। उन्होंने संन्यास ले लिया और तपस्या करके मुक्तिलाभ किया। बिहार प्रान्तके पटनानगरमें उनकी समाधि आज भी बनी हुई है।

श्रीधरस्वामी

भागवतके सर्वमान्य टीकाकार श्रीश्रीधरस्वामी ईसाकी दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दीमें भारतके किसी दक्षिण प्रदेशमें पैदा हुए थे। इनके गाँव, माता-पिता, जन्मतिथि आदिका सुनिश्चित पता अबतक नहीं लग सका। इनके सम्बन्धमें कई प्रकारकी किंवदन्तियाँ सुनी जाती हैं। उनमें कौन-सी बात प्रामाणिक है, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। हाँ, गुरुजनोंके मुखसे जो कुछ सुना है उसीके आधारपर इनके जीवनकी एक-दो प्रमुख घटनाएँ लिखी जाती हैं।

इनके माता-पिता बचपनमें ही चल बसे थे। पढ़ाई-लिखाई न होनेके कारण इनकी प्रतिभा भी प्रस्फुटित नहीं हो पायी थी। परन्तु भगवान् जिसे अपनाना चाहते हैं उसे अपना ही लेते हैं। एक दिन ये किसी ऐसे पात्रमें जिसका उपयोग कोई बुद्धिमान् पुरुष नहीं कर सकता, तेल लिये हुए लौट रहे थे। संयोगवश उसी समय उस नगरके राजा और मन्त्री परस्पर भगवत्सम्बन्धी बात करते हुए उसी रास्तेसे टहलते हुए जा रहे थे। मन्त्री कह रहा था कि 'भगवान्की आराधनासे अयोग्य भी योग्य हो जाता है, कुपात्र भी सत्पात्र हो जाता है।' उसी समय राजाकी दृष्टि इस बालकपर पड़ी। उन्होंने कहा कि 'क्या यह बालक भगवान्की आराधनासे बुद्धिमान् हो सकता है?' मन्त्रीने बड़े विश्वासके साथ कहा 'अवश्य'। भगवान्की कुछ ऐसी ही प्रेरणा थी। परीक्षाके लिये यह ब्राह्मणबालक भगवान्की आराधनामें लगा दिया गया। इन्हें विधिपूर्वक नृसिंहमन्त्रकी दीक्षा दिलवायी गयी और उपासनापद्धति तथा ध्यानकी विधि सिखायी गयी। अब यह ब्राह्मणबालक सर्वतोभावेन भगवान् नृसिंहकी उपासनामें लग गया। इनकी सरलता और सच्ची निष्ठाके फलस्वरूप भगवान्ने साक्षात् दर्शन दिया और इन्हें वेद-वेदान्त आदिका सम्पूर्ण ज्ञान तथा अपने चरणकमलोंमें अनन्य प्रेमका वरदान देकर वे अन्तर्धान हो गये।

अब क्या पूछना है। इनकी प्रतिभा और शास्त्रज्ञानके सामने बड़े-बड़े विद्वान् नतमस्तक हुए। राजाके यहाँ इनकी बड़ी मान-प्रतिष्ठा हुई। इनके घर सम्पत्तिका ढेर लग गया। विवाह भी हुआ और ये घरमें रहने लगे। परन्तु जिसने एक बार भगवान्की अहैतुकी कृपा एवं भक्तवत्सलताका अनुभव कर लिया वह भला, इन विषयोंमें कब फँसने लगा। इनके मनमें कई बार सब कुछ त्यागकर संसारसे विरक्त होकर निरन्तर भगवद्भजन करनेकी ही बात आती, परन्तु स्त्रीकी अनाथ दशाका स्मरण करके ये रुक जाते। भगवान् बड़े दयालु हैं। जो सच्चे हृदयसे उन्हें चाहता है उसे वे अपनाये बिना नहीं रह सकते। थोड़े ही दिनों बाद इनकी स्त्री गर्भवती हुई और बच्चा पैदा होते ही मर गयी। अब इनके मनमें बच्चेके पालन-पोषणकी चिन्ता लग गयी। परन्तु उसमें

व्यस्त रहते हुए भी ये नित्य नियमके पालनमें कभी प्रमाद नहीं करते थे। नित्य सन्ध्या, जप, तर्पण एवं पाठ समयसे करते। गीता, भागवत एवं विष्णुपुराणसे इनका विशेष प्रेम था।

एक दिन गीताका पाठ करते-करते इनके सामने भगवान्‌की वह वाणी आयी जिसमें उन्होंने '**योगक्षेमं वहाम्यहम्**' कहा है। यों पाठ तो रोज करते थे, परन्तु आज सच्चा पाठ हुआ। इनके मनमें यह विचार हुआ कि मैं भी तो भगवान्‌का भक्त ही कहलाता हूँ, क्या मैं भगवान्‌के इस वचनपर विश्वास करता हूँ? यह प्रश्न उठते ही इनके सारे शरीरमें रोमांच हो आया और गद्गद हृदयसे ये प्रभुकी प्रार्थना करने लगे। इनके हृदयमें कुछ-कुछ बलका संचार हुआ और इन्होंने इस बच्चेको भगवान्‌के आश्रयपर छोड़कर भजन करनेका निश्चय किया। घरसे चलते समय एक बार फिर उस नन्हे-से शिशुपर इनकी दृष्टि पड़ी और उस मातृहीन शिशुको देखकर इनका हृदय द्रवित हो उठा। इसी समय भगवान्‌ने एक अद्भुत लीला की। इनके मकानकी छतसे एक पक्षीका अण्डा इनके सामने ही गिर पड़ा और तुरन्त फूट गया। उसमेंसे एक नन्हा-सा पक्षिशावक निकला और वह निश्चेष्ट-सा होकर धीरे-धीरे अपना मुँह हिलाने लगा। इन भावी श्रीधरस्वामीको ऐसा प्रतीत हुआ कि इस पक्षीके बच्चेको भूख लगी है, यदि अभी कुछ नहीं मिल जाता तो यह मर जायगा। ये इसी चिन्तामें पड़े हुए थे कि अण्डेसे निकले हुए रसपर एक मक्खी आकर चिपट गयी और उस बच्चेने उसे खा लिया और धीरे-धीरे पुष्ट हो गया। भगवान्‌की यह लीला देखकर इनके हृदयमें बल आ गया। इन्होंने भगवान्‌की अभयवाणीका प्रत्यक्ष दर्शन कर लिया । ये सब कुछ छोड़कर भगवान्‌के भजनके लिये निकल पड़े और काशीमें जाकर वेदान्तका श्रवण, मनन, निदिध्यासन करके आत्मसाक्षात्कार किया, एवं भगवद्भजनमें तल्लीन हो गये। इनके वेदान्तज्ञानके साथ भक्तिका कितना मेल था और उसकी कितनी प्रधानता थी, यह बात उनके टीकाग्रन्थोंके देखनेसे स्पष्ट हो जाती है। गीता, भागवत और विष्णुपुराणपर इनकी टीकाएँ प्राप्त होती हैं। कहते हैं, कुछ लोगोंने इनकी भागवतकी टीकापर कुछ आपत्ति उपस्थित की थी। इसपर श्रीधरस्वामीने भगवान् वेणीमाधवको साक्षी मानकर उनके मन्दिरमें पुस्तक रख दी। उस समय भगवान्‌ने स्वयं उठाकर उसे हृदयसे लगा लिया। यह बात अनेक साधु-महात्माओंके सम्मुख हुई। तबसे विरोधियोंने भी इसका महत्त्व स्वीकार कर लिया। अद्वैतमतानुयायी एवं शंकराचार्यके सम्प्रदायमें होनेपर भी इन्होंने इतनी प्रेमपूर्ण टीका लिखी है कि महाप्रभु चैतन्यदेवने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। श्रीधरस्वामीका अधिकांश जीवन इन ग्रन्थोंके पर्यालोचनमें ही व्यतीत हुआ और वे भगवद्भजनमें ही लगे रहे, अतः उनके जीवनका व्यावहारिक अंश नहींके बराबर होगा, ऐसा अनुमान होता है। इनका जीवन गीता, भागवतादिकी टीकाके रूपमें हमारे सामने है और जबतक वे ग्रन्थ रहेंगे, हम उनसे शिक्षा ग्रहण करते रहेंगे। —शान्तनु

श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायके पाँच संत

(लेखक—आचार्य श्रीराधाकृष्णजी गोस्वामी)

श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायमें बड़े-बड़े सिद्ध-आचार्य, संत-महंत हो गये हैं। उनमेंसे केवल प्रमुख पाँच संतोंका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

भारतीय श्रीश्रीकेशव काश्मीरीजी भट्ट

आपका जन्म काश्मीरी ब्राह्मणकुलमें बारहवीं शताब्दीके लगभग हुआ माना जाता है। कुछ इतिहासवेत्ताओंका कथन है कि काशीमें श्रीरामानन्दजी और नदियामें श्रीचैतन्यदेवजीसे आपका सत्संग हुआ था और श्रीचैतन्यदेवने आपसे यज्ञोपवीतकी दीक्षा ली। इस प्रकारकी मान्यतामें केशव काश्मीरीकी आयु लगभग दो सौ वर्षकी ठहरती है, जो ऐसे योगिराज नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिये कोई असम्भव नहीं।

आप आद्याचार्य श्रीनिम्बार्कमुनिद्वारा प्रणीत सम्प्रदाय-परम्परान्तर्गत उनतीसवीं पीढ़ीमें आचार्य हुए। आपने तीन बार भारतमें दिग्विजय कर वाममार्ग आदिका खण्डन कर भागवत-धर्मकी पुनः स्थापना की। आपके विषयमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—

वागीशा यस्य वदने हृत्कञ्जे श्रीहरिः स्वयम्।
यस्यादेशकरा देवा मन्त्रराजप्रसादतः॥

'सरस्वती जिनके मुखमें हैं और हृदयरूपी कमलमें साक्षात् श्रीहरि विराजते हैं और जिसने मन्त्रराजकी सिद्धिके द्वारा सभी देवताओंको अपना आज्ञाकारी बना लिया है।' ऐसे दिव्य प्रतिभासम्पन्न संत-महात्माओंसे संसारका महान् कल्याण हुआ करता है और संसारके कल्याणके लिये ही ऐसे संत संसारमें आते भी हैं।

श्रीकेशव काश्मीरीने वेदान्तसूत्र तथा गीतापर बहुत ही गम्भीर भाष्य लिखे। आपके लिये श्रीनाभाजी लिखते हैं—

दृढ़ हरिभक्ति-कुठार आनमत-बिटप बिहंडन

आपके जीवनकी अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओंमेंसे एकका यहाँ वर्णन बहुत संक्षेपमें किया जा रहा है—

आपके समयमें दिल्लीका बादशाह अलाउद्दीन खिल्जी था, उसके उग्र स्वभावसे हिन्दू प्रजा ऊब उठी थी। महारानी पद्मिनीपर आसक्त होकर उसने चित्तौड़पर चढ़ाई की। राज्यमें घोषणा हुई कि सारे हिन्दू-मन्दिर तोड़ दिये जायँ। उस समय मथुराके सूबेदारके आदेशानुसार एक फकीरने लाल दरवाजेपर एक यन्त्र टाँगा जिसके प्रभावसे जो भी हिन्दू उस दरवाजेसे निकलता उसकी शिखा कट जाती और मुसलिम-धर्मके अनुसार वह अंगहीन हो जाता। इस महान् विपत्तिसे बचनेका एकमात्र उपाय श्रीभट्टजीकी शरणमें जाना था। सभी व्रजवासी उनके पास पहुँचे। श्रीआचार्यदेव स्वयं शिष्यसमूहको साथ ले उस स्थानपर गये और यन्त्रको तोड़कर धर्मकी रक्षा की।

इस प्रकार बहुत वर्ष श्रीवृन्दावनमें वासकर उत्तराखण्ड श्रीबदरिकाश्रमको आपने प्रस्थान किया।

श्रीश्रीभट्ट

श्रीश्रीभट्टजी श्रीनिम्बार्ककुलावतंस केशव काश्मीरीजीके अन्तरंग शिष्य थे। श्रीगुरुदेव ऐश्वर्यके पूर्ण प्रतिपादक थे तो भट्टजी माधुर्य-मकरन्दके सच्चे मधुव्रत थे। आप माधुर्यरसोपासक थे और श्रीनित्यविहारी प्रिया-प्रियतमके विहारसम्बन्धी दिव्य चिन्मय भावमें आपकी पूर्ण तल्लीनता थी। श्रीभट्टजीकी कविताका समय-सूचक यह दोहा है—

नैन बान पुनि राम ससि, गिनौ अंक गति बाम।
श्रीभट्ट प्रखरजू जुगल सत यह संबत अभिराम॥

नैन २, बाण ५, राम ३, शशि १ को बायीं ओरसे लिखनेपर १३५२ की संख्या होती है। अर्थात् संवत् १३५२ में श्रीश्रीभट्टजीने 'युगलशत' की रचना की। मधुरभावकी उपासना आपकी परम दिव्य थी। आपके विषयमें श्रीनाभाजी लिखते हैं—

मधुरभाव-संबलित ललित लीला सुबलित छबि।
निरखत हरषत हृदय प्रेम बरषत सुकलित कबि॥
भव निस्तारन हेत देत दृढ़ भक्ति सबनि नित।
जासु सुजसु ससि उदै हरत अतितम भ्रम श्रम चित॥
आनंदकंद श्रीनंदसुत श्रीबृषभानुसुता भजन।
श्रीभट्ट सुभट प्रगट्यो अघट रस रसिकन-मन मोद घन॥

आपकी हार्दिक उत्कण्ठा पूरी करनेके लिये भक्तवत्सल भगवान् समय-समयपर नित्य नयी लीलाएँ दिखाया करते थे। एक बार आप श्रीयमुनाजीके तटपर बैठे सघन तमालकुंज तथा करील-कदम्बादिको देखकर मलार अलापने लगे—

भींजत कब देखों इन नैना।
स्यामाजूकी सुरँग चूनरी, मोहनको उपरैना॥

—इतना ही गाया था कि आपकी लालसा पूरी हो गयी। क्या देखा सो शेष पदमें प्रकट हो जायगा—

स्यामा-स्याम कुंजतर ठाढ़े, जतन कियो कछु मैं ना।
श्रीभट उमड़ि घटा चहुँ दिसितें घिर आई जलसेना॥

भट्टजीके सरस हृदयमें ज्यों ही श्याम घटा उठी कि वर्षा आरम्भ हो गयी। घनश्याम और सौदामनी राधिकाजी प्रत्यक्ष भीगती हुई नजर आयीं। उस अपार रूपछटाको देखकर आपकी सुध-बुध जाती रही। इनकी दिव्य, मनोहर, परम मधुर साधनाकी झाँकी इन्हींके शब्दोंमें लीजिये—

सेब्य हमारे श्री प्रिय प्यारे बृन्दाबिपिन-बिलासी।
नंदनँदन-बृषभानुनंदिनी-चरन अनन्य उपासी॥
मत्त प्रनयबस सदा एकरस बिबिध निकुंज निवासी।
श्रीभट जुगुलरूप बंसीबट सेवत सब सुखरासी॥

आपने व्रजभूमि छोड़कर अन्यत्र कहीं भी न जानेका व्रत कर लिया था। कभी-कभी आप गोवर्धनमें भी जाकर परिक्रमा तथा निवास किया करते थे। आपके पास जो भी शिष्य होने जाता आप उसकी भाँति-भाँतिसे परीक्षा लेते और जब उसका मन अत्यन्त निर्मल हो जाता तब उसे मन्त्रराजका उपदेश करते। प्रभुके चरणोंमें इनकी कैसी मधुर प्रार्थना है—

बसो मेरे नैननिमें दोउ चंद।
गौरबदनि बृषभानुनंदिनी, स्यामबरन नँदनंद॥
गोलक रहे लुभाय रूपमें निरखत आनँदकंद।
जै श्रीभट्ट प्रेमरस-बंधन क्यों छूटै दृढ़ फंद॥

आपने अपने अन्तरंग शिष्य श्रीहरिव्यासदेवजीको उत्तराधिकारी बना और स्वरचित 'युगलशत' पर भाष्य

स्वामी केशव काश्मीरी भट्टजी

श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी

श्रीहरिदासजी और अकबर तथा तानसेन

श्रीहितहरिवंशजी महाराज

[देवबंदमें महाप्रभु वंशीस्वरूप श्रीहितहरिवंशचन्द्र-जीके आराध्यदेव श्रीजीसहित श्रीरंगीलालजी।]

देवबंदका पुनीत कूपा

[इसी तीर्थमेंसे गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्र-जीने सं० १५४१ में श्रीराधावल्लभ रंगीलालजीकी चमत्कारी मूर्तिको निकालकर निज आराध्य देवरूप-से स्थापित किया था।]

ठाकुर श्रीजगन्नाथदासजी

करनेकी आज्ञा दे श्रीयुगलसरकारकी नित्य विहारलीलामें प्रवेश किया।

श्रीश्रीहरिव्यासदेव

श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायमें परमवैष्णव आचार्य श्रीहरिव्यासदेवजी बहुत ऊँचे संत हो गये हैं। आपका जन्म गौड़ ब्राह्मणकुलमें संवत् १३०० वि० के लगभग हुआ था। आपने श्रीभट्टजीसे दीक्षा ली थी। पहली बार जब आप दीक्षाके लिये श्रीगुरुचरणोंमें गये तो उस समय श्रीभट्टजी गोवर्धनमें वास कर रहे थे और युगलसरकार श्रीप्रिया-प्रीतमको गोदमें बिठाकर लाड़ लड़ा रहे थे। श्रीभट्टने पूछा, हरिव्यास! हमारे अंगमें कौन विराजते हैं? हरिव्यासजी बोले, महाराज! कोई नहीं। इसपर श्रीभट्टजीने कहा—अभी तुम शिष्य होने योग्य नहीं हो, अभी बारह वर्षतक श्रीगोवर्धनकी परिक्रमा लगाओ। गुरु-आज्ञा प्राप्तकर आपने बारह वर्षतक परिक्रमा लगायी। बाद फिर गुरुसमीप आये। गुरुदेवने फिर वही प्रश्न किया और इसपर उन्होंने वही पुराना उत्तर दिया। पुनः बारह वर्ष श्रीगोवर्धनकी परिक्रमा लगानेकी आज्ञा हुई। आज्ञा शिरोधार्यकर श्रीहरिव्यासदेवने पुनः बारह वर्षतक परिक्रमा लगायी। तदुपरान्त गुरु-आश्रममें आये और आचार्यकी गोदमें प्रिया-प्रियतमको देखकर कृतकृत्य हो चरणोंमें लोट गये। अब इन्हें योग्य जान आचार्यने दीक्षा दी।

'भक्तमाल' में आपके सम्बन्धमें एक बड़े प्रभावशाली वृत्तान्तका वर्णन है। ये अपने सैकड़ों विद्वान् शिष्योंको साथ लेकर भगवद्भक्तिरूप अलौकिक रसकी वर्षा करते हुए पंजाबप्रान्तके गढ़यावल नामक ग्राममें पहुँचे। गाँवके बाहर एक उपवनमें एक देवीका मठ था। वहाँके राजाकी ओरसे सैकड़ों बकरे बलिदानके लिये वहाँ बँधे थे। निरीह पशुओंकी यह दयनीय दशा देख स्वामीजीकी आँखोंमें आँसू आ गये। सब शिष्योंसहित वे वहाँसे चलते बने। रातको राजा स्वप्नमें देखता है कि देवी बड़ा ही भीषण रूप धारणकर उसके सामने खड़ी हैं और डाँटकर कह रही हैं, 'दुष्ट! तूने मेरे नामपर जो क्रूर कर्म जारी कर रखा है उससे आज एक भगवद्भक्तका चित्त दुःखी हुआ है। भगवद्भक्तके इस क्षोभसे मेरा शरीर जला-सा जा रहा है। अतः जाकर उन सब बकरोंको खोल दे और फिर कभी ऐसा कर्म न करनेकी प्रतिज्ञा कर। साथ ही स्वामीजीसे जाकर माफी माँग और उनसे दीक्षा ले। मैं भी वैष्णवी दीक्षा लूँगी।'

राजा घबराकर उठा और तुरन्त स्वामीजीके पास पहुँच चरणोंमें गिरकर क्षमायाचना की। स्वामीजीने उसे आशीर्वाद दिया और उसे तथा देवीजीको वैष्णवी दीक्षा दी। कहा जाता है, उस स्थानमें अब भी वैष्णवी देवीका सुप्रसिद्ध मन्दिर है। वहाँ अबतक जीव-बलिदान नहीं होता। फूल-बताशा चढ़ता है।

इसके बाद आप वृन्दावन आये और गुरुदेव श्रीभट्टजीके आज्ञानुसार 'युगलशत' पर संस्कृतमें भाष्य लिखा। स्वामीजीने संस्कृतमें कई मूल ग्रन्थ भी लिखे। इनमें 'प्रसन्नभाष्य' मुख्य है। 'दशश्लोकी' के अन्यान्य भाष्योंसे इसमें विशेषता यह है कि वेदके तत्त्वनिरूपणके अतिरिक्त उपासनापर काफी जोर दिया गया है। व्रजभाषामें 'युगलशतक' नामक पुस्तकमें आपके सौ दोहे और सौ गेय 'पद' संगृहीत हैं, जो मिठासमें अपना जोड़ नहीं रखते। ऊपर दोहेमें जो बात संक्षेपमें कही है वही नीचे 'पद' में विस्तारसे कही गयी है। इस सम्प्रदायमें 'युगलशतक' पहली ही हिन्दी रचना है, शायद इसीसे इसे आदिबानी कहते हैं। और ये ही सर्वप्रथम उत्तरभारतीय सम्प्रदायाचार्य हैं। इनसे पहलेके सभी आचार्य दाक्षिणात्य थे। स्वामीजी इस सम्प्रदायमें उस शाखाके प्रवर्तक हैं जिसे 'रसिकसम्प्रदाय' कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके शृंगारीरूपकी उपासना ही इनका सर्वस्व है। श्रीहरिव्यासदेवजीका इतना प्रभाव हुआ कि श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायकी इस शाखाके संतोंको तबसे लोग 'हरिव्यासी' ही कहने लगे। वैष्णवोंके चारों सम्प्रदायोंमें इस सम्प्रदायके संत अब भी 'हरिव्यासी' ही कहलाते हैं।*

श्रीश्रीपरशुरामदेवाचार्य

आप बहुत बड़े सिद्ध महात्मा हो गये हैं। आप आदिगौड़ ब्राह्मणकुलोत्पन्न नारनौलनिवासी श्रीसुदेवजीके पुत्र थे। आपका जन्मकाल सं० १४४४ माना जाता है। छोटी-सी अवस्थामें ही आपके पिता-माताका स्वर्गवास हो गया। आपके एक छोटे भाई भी थे जिनका नाम वासुदेव था। पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें इन्हें श्रीश्रीहरिव्यासदेवजीसे

* स्वामी श्रीहरिव्यासदेवजीपर एक लेख हमारे सम्मान्य पं० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयीका भी प्राप्त हुआ था और इस लेखमें उस लेखका बहुत कुछ सार अंश है।—सम्पादक

दीक्षामन्त्र प्राप्त हुआ। गुरुदेवका इनपर अपार स्नेह था और इसी कारण श्रीसर्वेश्वरीजीकी सेवाका कार्य इन्हें ही दिया गया। श्रीगुरुदेवके गोलोक सिधारनेके अनन्तर ये ही उनके उत्तराधिकारी बने।

एक बार ये गुरुकी आज्ञासे कुछ संत-मण्डलीके साथ अजमेर गये और वहाँ मुसलमानोंके अत्याचारको रोकनेके लिये फकीर सलीमसे इन्हें युद्ध भी करना पड़ा। आपकी सिद्धिके सामने सलीमको सिर झुकाना पड़ा। अजमेरका वह स्थान जहाँ युद्ध हुआ था परसुरामपुरी कहलाया। वहीं आपने एक बड़ा विशाल मन्दिर बनवाया और श्रीसर्वेश्वरीजीको विराजितकर आप वहीं निवास करने लगे। वहीं आपने अपने छोटे भाईको मन्त्रराजकी दीक्षा दी और युगलसेवा श्रीगोपीजनवल्लभदेवजीकी दी। आपने यह भी आज्ञा की कि तुम गृहस्थाश्रममें ही रहकर गृहस्थोंको दीक्षा देकर पावन करो।

आप पुन: जब वृन्दावन लौटे तो कहा जाता है, आपका गोस्वामी तुलसीदासजीसे कई बार सत्संग हुआ। आपके रचित 'परसुराम-सागर' में भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी महिमाका भी वर्णन है। आपकी और आपके गुरुदेव श्रीहरिव्यासदेवजीकी समाधियाँ अबतक विद्यमान हैं।

श्रीस्वामी हरिदासजी

स्वामी श्रीहरिदासजी निम्बार्कसम्प्रदायके श्रीआसधीरजीके शिष्य थे। पवित्र ब्राह्मणकुलमें आपका जन्म हुआ था। आप बड़े ही त्यागी, नि:स्पृह और रसिकशिरोमणि महात्मा थे। निम्बार्कसम्प्रदायके अन्तर्गत 'टट्टी सम्प्रदाय' के आचार्य आप ही हैं, आपहीने उसकी स्थापना की। आप अकबरके समकालीन प्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेनके गुरु थे। अकबर स्वयं साधुका वेश धारणकर स्वामीजीका गान सुननेके लिये गये थे। बहुत कुछ भेंट करनेपर भी आपने कुछ भी ग्रहण नहीं किया।

आप अष्टप्रहर श्रीराधाकृष्णके नित्यविहारमें लीन रहा करते थे। भावावेशमें आपको सहज समाधि लगी रहती थी। आप किसीकी कोई भी वस्तु, जो भेंट और चढ़ावेमें भावुक भक्तोंसे प्राप्त होती थी, स्वीकार करते ही नहीं थे। कोई भी चीज आयी, चट श्रीयमुनाजीमें समर्पित। निधिवनमें आपकी समाधि आज भी है। आप श्रीयमुनाजीके तटपर एक झोंपड़ीमें रहा करते थे और वहीं वीणापर भजन गा-गाकर मनमोहन प्यारेके ध्यानमें आँसुओंकी धारा बहाया करते थे। कहा जाता है कि स्वयं श्रीवृन्दावनविहारी इनकी कुटियामें विराजमान होकर भजन सुना करते थे। कई बार लोग कुटीके भीतरका प्रकाश देखकर बेसुध हो जाया करते थे।

सुनते हैं, कन्नौजके एक साहूकार स्वामीजीके भेंट करनेके लिये बढ़िया एक इत्रकी शीशी लाये। स्वामीजीने उस शीशीको जमीनपर उँड़ेल दिया। भक्तके पूछनेपर इत्र उँड़ेलनेका यह कारण बतलाया कि 'आज मैं श्रीविहारीजीके साथ होली खेल रहा था। तुम अच्छे अवसरपर इत्र लाये। देखो, काम आ गया। मैंने तुम्हारी शीशीको श्रीविहारीजीके ऊपर उँड़ेला है, जमीनपर नहीं। विश्वास न हो, देख आओ।' मन्दिरमें जाकर देखा सचमुच ही श्रीविहारीजीके वस्त्र इत्रमें सराबोर थे। इस प्रकार प्रेम-भक्तिकी अनेक मधुर लीलाएँ इनकी प्रख्यात हैं। आपके पदोंमें रस लबालब भरा हुआ है—

गहौ मन सब रसको रस सार।
लोक-बेद-कुल-करमै तजिये, भजिये नित्यबिहार॥
गृह-कामिनि कंचन-धन त्यागौ, सुमिरौ स्याम उदार।
कहै हरिदास रीति संतनकी, गारीको अधिकार॥*

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

बिना पश्चात्तापके सच्ची साधनाका आरम्भ नहीं होता। इसीलिये ईश्वरसाधनाका पूर्व अंग है पश्चात्ताप। ईश्वरस्मरणके समय तो पश्चात्तापके विचारोंको भी दूर कर देना चाहिये जिससे सब इष्ट वस्तुओंका स्थान एक ईश्वर ग्रहण कर ले।

जिस समय लोग 'उन्मत्त' और 'मस्त' कहकर मेरी निन्दा करेंगे तभी मेरे मनमें गूढ़ तत्त्वज्ञानका उदय होगा।

* स्वामी श्रीहरिदासजीपर लखनऊके श्रीबाबू जयदयालजी, गवर्नमेण्ट पेंशनरका भी एक लेख आया था। उसके कुछ अंश इस लेखमें हैं।—सम्पादक

नाथसम्प्रदायमें महासिद्ध

(श्रीमत्स्येन्द्रनाथजी और गोरखनाथजी)

(लेखक—स्वामीजी श्रीमौक्तिकनाथजी)

यों तो सभी देवता, राजा-महाराजा, गुरु, आचार्य, तथा अपने गृहका स्वामी भी 'नाथ' शब्दसे व्यवहृत हो सकते हैं, परन्तु वास्तवमें 'नाथ' शब्दका प्रयोग केवल विश्वपति भोले भण्डारी सदाशिव श्रीआदिनाथ महादेवके साथ ही सुशोभित होता है। आप सदा एकरसमें रहते हैं, आजतक आपके स्वरूपमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। आपका तो—

'महोक्षः खट्वाङ्गं परशुरजिनं भस्म फणिनः कपालं चेति।'

बस यही सनातनी पुराना ठाट चला आ रहा है। न आपकी माता हैं, न पिता। न बाबा हैं, न परबाबा। सारे जगन्मण्डलके आप ही पूज्य प्रपितामह हैं। अतएव आत्मबोधोपनिषद्में आपकी महिमा इस प्रकार गायी गयी है—

ब्रह्मादिकीटपर्यन्ताः प्राणिनो मयि कल्पिताः।
बुद्बुदादिविकारान्तस्तरङ्गः सागरे यथा॥
(मं० १४)

अर्थात् जैसे समुद्रमें बुद्बुदादि तरंगोंके विकार अपने-आप ही उत्पन्न होकर उसीमें लीन होते रहते हैं, उसी प्रकार उस आदिनाथ-समुद्रसे ब्रह्मादि कीटपर्यन्त जीव उत्पन्न होकर फिर उसी आदिनाथ-महासागरमें लीन होते रहते हैं।

श्रीसिद्ध मत्स्येन्द्रनाथजी

नाथयोगसम्प्रदायके आदि आचार्य श्रीआदिनाथ भगवान् विश्वेश्वर ही हैं। आपसे ही नाथसम्प्रदायका प्रादुर्भाव हुआ है। श्रीसिद्ध मत्स्येन्द्रनाथजीको आपसे ही योगदीक्षा मिली है। श्रीमत्स्येन्द्रनाथजीके प्रादुर्भावकी कथा 'स्कन्दपुराण नागरखण्ड २६२ अध्यायमें' तथा नारदपुराण उत्तरभाग वसुमोहिनीसंवादके ६९ अध्यायमें बड़ी रोचकतापूर्वक लिखी गयी है। पूर्वोक्त पुराणोंमें—मत्स्यनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, मीननाथ, सिद्धनाथ, अखिलसिद्धनाथ, आर्यावलोकितेश्वर इत्यादि आपके ही शुभ नामोंका उल्लेख है। 'शक्तिसंगमतन्त्र' में नैपाल देशकी भूरि-भूरि स्तुति की गयी है। नैपालराज्यके अधिष्ठातृ देवता श्रीगुरु मत्स्येन्द्रनाथजी हैं। वहाँ घर-घरमें आपकी मूर्तिकी पूजा हुआ करती है। श्रीगुरु मत्स्येन्द्रनाथजी अपने भक्त आर्योंको सर्वदा योगोपदेश करते थे। अतएव आपका शुभ नाम 'आर्यावलोकितेश्वर' अर्थात् आर्योंसे अवलोकित याने साक्षात् ईश्वर यानी ब्रह्म ही हो जाता है।

'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'

श्रीगुरु गोरक्षनाथजी

योगमौक्तिकविचारसागरमें लिखा है—

आदिनाथो गुरुर्यस्य गोरक्षस्य च यो गुरुः।
मत्स्येन्द्रं तमहं वन्दे महासिद्धं जगद्गुरुम्॥

इस पद्यसे नाथसम्प्रदायकी परम्पराका पता लगता है। गुरु गोरखनाथजीके अवतारकी कथा स्कन्दपुराणान्तर्गत 'भक्तिविलास' के ५१-५२ अध्यायमें सांगोपांगरूपसे वर्णित है। आप हठयोगके आचार्य हैं, आपने अनेक राजों-महाराजोंको योगदीक्षा देकर इस दुःखमय भवसागरसे उबारकर परमपदके भागी बना दिया है। आज भी समूचा नैपालराज्य आपका साक्षात् पशुपतिनाथजीके सदृश गौरव कर रहा है। भोगमती, भातगाँव, मृगस्थली, डांगडौखरी, चौघरा, स्वारीकोट, पिउठान, पाटेश्वरी, गोरखपुर इत्यादि स्थानोंमें आपके बड़े-बड़े योगाश्रम हैं। नैपालकी स्वर्णमुद्रा तथा रजतमुद्रामें, जिसको मुहर भी कहते हैं, आपका परमपावन नाम अंकित रहता है। आप संस्कृतविद्याके प्रौढ़ विद्वान् थे, 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति', 'विवेकमार्तण्ड', 'गोरक्षसंहिता', 'दत्तगोरक्षगोष्ठी' इत्यादि अनेक योगशास्त्र अद्यापि आपकी गुणगरिमाकी महिमा गा रहे हैं।

समाधीयते मनोऽस्मिन्निति समाधिः।

इस व्युत्पत्तिसे समाधि शब्द भी ईश्वरका वाचक है, और **'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः'** इस न्यायसे प्रायः योगसिद्धियाँ समाधिसाधनामें विघ्नरूपा हुआ ही करती हैं। परमसिद्ध महात्मा पूज्यचरण श्रीगोरखनाथजीके जीवनमें भी एक बार सिद्धियोंने अपना रंग जमाया। उनके हृदयमें अकस्मात् अभिमानका अंकुर पैदा हो गया कि 'मैंने बड़ी योगसाधना की, अतः मैं श्रीगुरु मत्स्येन्द्रनाथजीसे भी योगकलामें बढ़ा-चढ़ा हूँ।' मत्स्येन्द्रजी भी ताड़ गये कि गोरखको अभिमान हो गया है, आप बोले कि 'प्यारे गोरख! अब हम कुछ दिनके लिये इस

बाह्य जगत्को छोड़कर अन्तर्जगत्में निवास करेंगे, तबतक तुम हमारे इस स्थूल शरीरको सावधानीसे रखना।' ऐसा कहकर गुरुजीका अन्तरात्मा हंस इस स्थूल पिंजरेको छोड़कर न जाने कहाँ उड़ चला।

कई वर्षों बाद यह होहल्ला मचा कि 'मत्स्येन्द्रयोगी तो भोगी बन गये, न आपके कानोंमें ज्ञानमुद्राएँ हैं, न गलेमें नादी। न खप्पर है, न चिमटा। आप सदा संगलद्वीपकी मनमोहिनी पद्मिनियोंके साथ कल्लोलमें निमग्न हैं। दिन-रात आपके राजभवनमें खेल-तमाशे और नाचरंग होते रहते हैं।' गोरखको कुछ क्रोध आया, फिर कुछ संकोच! फिर उन्होंने विचारा—'चाहे मत्स्येन्द्र भोगी होकर योगभ्रष्ट हो गये हों तो भी मेरा गुरुका नाता तो है ही। अगर आप योगाश्रम श्रीमत्स्येन्द्रवणीमें न आये तो मेरी भी साधुसमुदायमें खिल्ली उड़ेगी।'

गोरखनाथजी गुरुको लाने चले!

गोरख—अरे भाई! आप कौन हैं?

रासधारी—हम रासधारी हैं, संगलद्वीपमें श्रीमहाराजाधिराज १०८ मत्स्येन्द्रनाथजीके दरबारमें जा रहे हैं।

गोरक्ष—तो क्या उस राजाके यहाँ कोई मेला है?

रासधारी—(मन-ही-मन) मालूम पड़ता है यह कोई ग्रामीण गाँवडिया फकीर है। (प्रकट) अरे भाई! तुम्हारा दिमाग दुरुस्त तो है न? जानते नहीं, उस दरबारमें तो नित्य ही उत्सव-मेला रहता है, बड़े-बड़े गुणियोंके रागरंग दिन-रात ही चलते हैं।

गोरक्ष—तो क्या आप मुझे भी अपने साथ ले जा सकते हैं?

रासधारी—वाह-वाह अच्छी रही, 'छप्परपर घास नहीं, और रंगमहलके गीत।'

मैनेजर—(रासमण्डलीका मैनेजर विचारशील था, बोला) बाबा! हमारे साथ जानेमें तो कुछ हर्ज नहीं, पर आपको गाने-बजानेका कुछ ज्ञान होना चाहिये।

गोरक्ष—और तो मैं कुछ जानता ही नहीं, हाँ, तबले तो खासे बजा दूँगा।

मैनेजर—अच्छा तो लीजिये तबले ही बजाइये।

गोरखनाथजी तबले बजाने लगे और मंडलीवाले गाने लगे। योगकलाधारी श्रीगुरु गोरखनाथजीने ऐसा तबला धमकाया कि मंडलीवालोंके होश ठिकाने आ गये और वे धन्य-धन्य करने लगे।

आज संगलद्वीपके दरबारमें गायन आरम्भ हुआ है। तरह-तरहके दरबारी राग-रागिनियाँ, दादरे, ठुमरी, कजरी तथा पहाड़ी झंझोटियोंकी झड़ी लग गयी है। लीजिये, अब गोरखका नम्बर आ गया, योगकलाधारी श्रीगोरखनाथजीने ज्यों ही तबलोंपर हाथ जमाया कि अपने-आप तबलोंमेंसे 'जाग मछन्दर गोरख आया, जाग मछन्दर गोरख आया' की ध्वनि आने लगी। अब तो भेद खुल गया, मत्स्येन्द्रनाथ ताड़ गये कि यह लीला गोरखनाथकी है। आप बोले 'गोरखनाथ! इधर कैसे आ गये?'

गोरक्ष—आपका आदेश था कि 'हम कुछ दिनोंके लिये इस बाह्य जगत्को छोड़कर, अन्तर्जगत्में विश्राम करेंगे। यह अच्छा विश्राम हुआ?'

मत्स्येन्द्र—(मनमें) इसका अभिमान अभी चूर नहीं हुआ, इसको यही पता नहीं कि 'कायनिर्माणकला' किसे कहते हैं, जैसे ऋग्वेदमें लिखा है कि—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश।

अर्थात् इन्द्रः=सच्चिदानन्द परमात्मा, अपनी योगमाया शक्तिद्वारा अनेक प्रकारके अनेक शरीरोंकी रचनाकर अपने भक्तोंके मनोरथोंको पूर्ण करते हैं, इसी प्रकार अणिमाद्यैश्वर्यसम्पन्न योगिराज भी अपने कायव्यूहकी रचना कर सकता है। महाभारतमें स्पष्ट लिखा है—

आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ।
योगी कुर्याद् बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्॥
प्राप्नुयाद् विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।
संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव॥

अर्थात् हे भरतर्षभ! युधिष्ठिर! अणिमादिसिद्धि-सम्पन्न योगीश्वर (कायनिर्माण—योगकलाद्वारा) अपने एक आत्मासे ही अनेक शरीरोंकी रचना कर लेता है। उन विभिन्न शरीरोंमेंसे कोई तो राज्यादि विषयोंमें ही उलझ जाते हैं, और कोई तपादि साधनाओंमें ही तत्पर हो जाते हैं। जब इस योगीके मनमें कुछ तरंग उठ खड़ा होता है तो जैसे सूर्यभगवान् अपनी रश्मियोंको इकट्ठाकर अस्ताचल पहाड़के उस पार छिप जाते हैं, वैसे ही योगी भी अनेक शरीरोंसे एक बनकर चुपकेसे किसी निर्जन कन्दराकी गुफामें निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो जाता है।

मत्स्येन्द्र—अब तुम क्या चाहते हो?

गोरक्ष—आप अपने योगाश्रमको पधारिये। क्योंकि 'तुम्हारे गुरु तो संगलद्वीपमें राजभोगोंमें लट्टू हो रहे हैं, और तुम यहाँपर योगसिद्धियाँ भँगारते हो'। ऐसी-ऐसी बातें मुझे सुननी पड़ती हैं।

मत्स्येन्द्र—(मनमें मुसकराकर) अच्छा तो योगाश्रमको ही चल पड़ते हैं।

गोरखनाथ अपने मनमें फूले नहीं समाते, अजी कहाँ मत्स्येन्द्रवणीका योगाश्रम, और कहाँ संगलद्वीप। रासमण्डलीवालोंके तबले तक छेतने पड़े। खैर, जो कुछ भी हुआ आखिर बाजी तो जीत ही ली। (आगे देखकर) अहह! गुरुजी कहाँ चले गये? झोली-चिमटा तो यहीं पड़ा है, हाँ हाँ—ठीक है, मालूम होता है आप अपनी पिछली करतूतोंसे लज्जित होकर चुपकेसे चम्पत हो गये। अरे रे गुरुभाइयो! उठो-उठो, जल्दी उठो, गुरुजीको ढूँढ़ें। तुम्हें पता भी है मुझे कितनी दौड़-धूप करनी पड़ी?

गुरुभाई—अजी नाथजी! आज आपको क्या हो गया? कहीं गहरी छन गयी क्या? श्रीगुरु मत्स्येन्द्रजी तो गोदावरीके कुंभसे ही इस बाह्यजगत्से नाता तोड़कर निर्विकल्प समाधिद्वारा अन्तर्जगत्में संलीन हैं। आप भँवरगुफामें जाकर श्रीगुरुमूर्तिके दर्शन तो कीजिये।

गोरक्ष—हा हा! आज मुझे क्या हो गया? क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ?

गुरुभाई—स्वप्न नहीं, यह तो श्रीगुरु महाराजकी कृपा है। आपमें यह अहंकार छा गया था कि—'मैंने बड़ी योगसाधना की, अत: मैं श्रीगुरु मत्स्येन्द्रनाथजीसे भी योग-कलामें बढ़ा-चढ़ा हूँ' बस, इसीका नाम 'मायामछन्दर' है।

गोरखनाथजी महासिद्ध हैं और अजर-अमर हैं।

आदिगुरु और श्रीहरिनाथ

मराठी भाषाके आदिकवि और संत श्रीमुकुन्दराजने अपने विवेकसिन्धु ग्रन्थमें (रचनाकाल संवत् १२४७) अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतायी है—

आदिगुरु श्रीआदिनाथ। तेथूनि श्रीहरिनाथ॥
तयाचा शिष्य श्रीरघुनाथ। जो गुणसिन्धु॥

अर्थात् श्रीमुकुन्दराजके गुरु श्रीरघुनाथ, श्रीरघुनाथके गुरु श्रीहरिनाथ और श्रीहरिनाथके गुरु आदिगुरु स्वयं श्रीशंकर थे। श्रीहरिनाथ इस प्रकार श्रीमुकुन्दराजके दादागुरु थे। मध्यप्रदेशमें वैन गंगा नदीके तटपर अम्भोर या अम्बानगर है, वहीं श्रीहरिनाथका जन्म हुआ। यहीं उपनयन-संस्कार और फिर वेदाध्ययन हुआ। वेदाध्ययन पूर्ण करके श्रीहरिनाथ काशी गये। वहाँ उन्होंने पाशुपत महाव्रत करके आदिगुरु श्रीशंकरको प्रसन्न किया और पीछे अति कठोर अनुष्ठान करके महाकुण्डमें हवन आरम्भ किया। पूर्णाहुतिके समय घृतधाराके साथ स्वयं ज्योति प्रकट हुई, उस ज्योतिसे करुणासिन्धु शंभु आविर्भूत हुए और उन्होंने श्रीहरिनाथको अपने हृदयसे लगा लिया—कुछ कालतक 'सुख-महासुख' के उस गंगासागरमें भक्त और भगवान् एक हो गये। पीछे भगवान् श्रीशंकरने श्रीहरिनाथसे कहा, 'वर माँगो'। श्रीहरिनाथने तुरन्त यह वर माँगा, 'हे कैवल्यदानी! अपना प्रेम दीजिये।' और भव और भवानी दोनोंकी एक साथ स्तुति करके कहा, 'संसारके इस घोर बन्धनमें जो पड़े हुए हैं, जिन्हें अपना होश नहीं, उन्हें हे करुणानिधे! आप तारिये।' भगवान् शंकरने कहा, 'यह तुमने क्या माँगा, यह तो सिद्ध ही है। मैं तुम्हें एक और वरप्रसाद देता हूँ—जो लोग तुम्हारे सम्प्रदायका आश्रय करेंगे उन्हें अनायास ज्ञान लाभ होगा।' श्रीसदाशिवके प्रसादसे श्रीहरिनाथके शरीरमें 'शाम्भव तेज' समाया और तब श्रीहरिनाथको ब्रह्मसुखकी वह समाधि लगी जिससे बाईस दिनतक व्युत्थान ही न हुआ। इस समाधिसुखानुभवके पश्चात् उनकी दिनचर्या इस प्रकार थी कि 'जडवत् आचरण करते, पिशाचवत् खेलते, निजानन्दमें झूमते रहते। फिसलते हुए चलते, भूलते-भुलाते हुए बोलते, बिना कारण हँसते रहते। उनकी कर्मवासना समाप्त हुई, इच्छा विवेकमें समा गयी, दृष्टि पूर्ण हो गयी। नहाना-धोना, खाना-पीना, वस्त्र पहनना यह सब दूसरोंके अधीन हो गया; किसीसे किसी बातका कोई मतलब ही न रहा।' इस प्रकार वे पूर्णत्वको प्राप्त हुए। उनके असंख्य शिष्य हुए। पर पूर्ण कृपा उनकी श्रीरघुनाथपर ही थी।

श्रीरघुनाथ

श्रीरघुनाथ श्रीमुकुन्दराजके गुरु थे। ये अठारह दिन उन्मनी अवस्थामें थे। इनकी सब मनोवृत्तियाँ शान्त हो

गयी थीं। श्रीमुकुन्दराज कहते हैं कि 'ये ऊर्मिरहित ज्ञानसमुद्र थे। मेघधाराओंकी गणना हो सकती है, पृथ्वीके परमाणु परिगणित हो सकते हैं, पर मेरे श्रीरघुनाथके गुणोंका सम्पूर्ण वर्णन शेषनाग भी नहीं कर सकते'।

श्रीमुकुन्दराज

श्रीमुकुन्दराजका जन्म शाके १०५० (अर्थात् संवत् ११८५)में हुआ। इन्होंने अपनी वयस्के ६०वें वर्षमें 'विवेकसिन्धु' नामक ग्रन्थ लिखा जो मराठी साहित्यका आद्य ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थकी उत्पत्तिके विषयमें एक बड़ी विलक्षण कथा प्रसिद्ध है। ग्रन्थके पूर्वार्द्धके अन्तमें यह लिखा है कि नृसिंह बल्लालके पुत्र जयंतपालने यह ग्रन्थ निर्माण करनेका प्रसंग उपस्थित कराया। ये जयंत उस समयके राजा थे और जो कोई विद्वान्, शास्त्री, पण्डित अथवा साधु-महात्मा दैवक्रमसे उनके राजमें आ जाते उन्हें वे अपने दरबारमें बुलाकर, बस, यही प्रश्न किया करते थे कि, 'आपलोग ब्रह्मज्ञानकी बड़ी-बड़ी बातें किया करते हैं, पर क्या आपने ब्रह्मका साक्षात्कार किया है और यदि किया है तो क्या वैसा साक्षात्कार आप मुझे करा सकते हैं?' केवल शब्दज्ञानी बेचारे इस प्रश्नका क्या उत्तर देते। राजाके सिरपर कुछ ऐसी सनक सवार थी कि प्रश्नका उत्तर न दे सकनेपर वे उन्हें कारागारमें ठूँस देते। हेतु यही था कि इस तरहसे कभी तो कोई ऐसे साक्षात्कारी महात्मा निकल आवेंगे जो साक्षात्कार करा देंगे। यह एक प्रकारकी विरोधभक्ति ही थी। ऐसे महात्मा '**चन्दनं न वने वने**' के न्यायसे कहीं भी दुर्लभ ही होते हैं। अस्तु। इस प्रकार ५००-६०० साधु-महात्मा राजा जयंतपालके कारागृहमें बन्दी होकर पड़े थे। यह बात जब श्रीमुकुन्दराजने सुनी तो उन्हें यह इच्छा हुई कि इन साधुओंको मुक्त किया जाय। वे साक्षात्कारी तो थे ही, राजाके दरबारमें गये। राजाने उनसे भी वही प्रश्न किया। उन्होंने उत्तर दिया, 'यदि तुम साक्षात्कार करना चाहते हो तो जहाँ कहो, वहीं साक्षात्कार करा दूँ।' यह कहकर उन्होंने राजासे कहकर अश्वशालासे एक घोड़ा मँगवाया। राजासे कहा इसपर चढ़ो। राजा चढ़नेको हुए, रिकाबीमें पैर रखा, त्यों ही मुकुन्दराजने राजाके सिरपर हाथ रखा, घोड़ेपर सवार होते ही राजाको समाधि लग गयी। तीन दिन और तीन रात राजा घोड़ेपर ही सवार रहे। समाधिसे व्युत्थान होनेपर अष्ट सात्त्विक भाव राजाके अंगोंपर उदय हुए, प्रेमाश्रुओंसे उन्होंने श्रीमुकुन्दराजके चरण धोये और उनके शरणागत हो गये। गुरुकी आज्ञासे राजाने सब साधुओंको कारागृहसे मुक्तकर वस्त्राभूषणादिसे उन्हें सम्मानित कर बिदा किया। इन्हीं राजा जयंतपालको पूर्ण बोध करानेके लिये श्रीमुकुन्दराजने यह 'विवेकसिन्धु' ग्रन्थ निर्माण किया, जिससे स्वयं मुकुन्दराज कहते हैं कि 'जगत् सुखी हुआ'।

श्रीमुकुन्दराजके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—विवेकसिन्धु और परमामृत। दोनों 'ओवी' वृत्तमें हैं। विवेकसिन्धुके १८ प्रकरण हैं और १६७१ ओवियाँ हैं। परमामृतके १४ प्रकरण और ३०३ ओवियाँ हैं। दोनों अद्वैतवेदान्तपरक और स्वानुभवयुक्त हैं।

—ल० गर्दे

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

सहनशील ऋषि और कृतज्ञ धनवान्‌में श्रेष्ठ कौन—सहनशील ऋषि। धनवान् चाहे जितना भला हो, पर उसका मन लक्ष्मीमें लिप्त रहता है; किन्तु एक ऋषिका हृदय तो लगा रहता है अपने प्रभुमें।

महाराष्ट्रमें नाथपन्थ

(लेखक—पं० श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे)

श्रीमत्स्येन्द्रनाथ, श्रीगोरक्षनाथ आदि नाथ संप्रदायाचार्योंके अद्भुत कर्म और उपदेश भारतवर्षके आसेतु हिमाचल सभी प्रदेशोंमें विख्यात हैं और उनके मठ-मन्दिरादि स्मारक स्थान आज भी सभी प्रदेशोंमें विद्यमान हैं। यहाँ हमें केवल इतना ही निर्देशमात्र करना है कि महाराष्ट्रके साथ उनका किस प्रकारका सम्बन्ध था। मराठीके आदि कवि और संत श्रीमुकुन्दराजके भी पूर्व महाराष्ट्रमें नाथपन्थ ही सर्वमान्य था। महाराष्ट्रके ज्ञानसूर्य श्रीनिवृत्तिनाथ ज्ञानेश्वर नाथपन्थसे ही दीक्षा-प्राप्त हुए थे। श्रीज्ञानेश्वर महाराजके प्रपितामह त्र्यम्बक पन्तको संवत् १२६४ में कहते हैं कि, स्वयं श्रीगोरक्षनाथने दीक्षा दी थी। ये वे ही गोरक्षनाथ हैं जिन्होंने अवन्तिराज भर्तृहरिको दीक्षा दी या कोई दूसरे, इस प्रश्नका उत्तर ऐतिहासिक और संत-सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न प्रकारसे दे सकते हैं। चांगदेव अपने योगबलसे १४०० वर्ष जीवित थे तो गोरक्षनाथ-जैसे महान् योगी कई शताब्दियोंतक इस भूमण्डलमें संचार करते रहे हों और आज भी संचार कर रहे हों तो योगकी अद्भुत सामर्थ्य और संतोंकी सिद्धस्थितिकी दृष्टिसे यह कोई अनहोनी बात नहीं है। त्र्यम्बक पन्तके उपरान्त उनके पुत्र अर्थात् श्रीज्ञानेश्वर महाराजके पितामहको श्रीगोरक्षनाथके शिष्य गैनीनाथसे दीक्षा मिली थी। इन्हीं श्रीगैनीनाथसे श्रीज्ञानेश्वर महाराजके ज्येष्ठ भ्राता श्रीनिवृत्तिनाथको उपदेश मिला और यही उपदेश श्रीनिवृत्तिनाथसे श्रीज्ञानेश्वरको प्राप्त हुआ। श्रीज्ञानेश्वरीमें श्रीमत्स्येन्द्रनाथका भी उल्लेख है, नासिक जिलेमें सप्तशृंगी पर्वतपर श्रीचौरंगीनाथ नामक कोई महात्मा हाथ-पैर कटे पड़े थे। ज्ञानेश्वरीकार कहते हैं, 'उन्हें हस्तपादादिक अंग देकर श्रीमत्स्येन्द्रनाथने पूर्णावयवी बनाया।' नासिकमें त्र्यम्बकेश्वरके पिछवाड़े ब्रह्मगिरि पर्वतपर श्रीगोरक्षनाथकी गुहा है और इसी पर्वतकी परिक्रमाके रास्तेमें श्रीगैनीनाथका मठ है। नेवासा पर्वतपर श्रीगोरक्षनाथकी समाधि है और सातारा जिलेमें मत्स्येन्द्रगढ़पर श्रीमत्स्येन्द्रनाथकी समाधि है जहाँ वैशाख कृ० ५ को मत्स्येन्द्र-यात्रा हुआ करती है। इसी गढ़पर इमलीका एक पेड़ है जिसे गोरख-इमली कहते हैं। कऱ्हाडमें ज्वारको 'मत्स्येन्द्र शाल' कहते हैं। इन बातोंसे यह मालूम होता है कि महाराष्ट्रमें श्रीमत्स्येन्द्रनाथ और श्रीगोरक्षनाथने बहुत कालतक निवास किया था, वहाँ उन्होंने अनेक चरित्र किये थे और अपना सम्प्रदाय चलाकर जगदुद्धारका महान् कार्य किया था। श्रीगोरक्षनाथके मराठी भाषामें भी दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, एक 'अमरनाथ-संवाद' और दूसरा 'गोरक्षगीता'। 'विषयविध्वंसैकवीर', 'योगाब्जिनीसरोवर' आदि विशेषणोंसे श्रीगोरक्षनाथकी स्तुति श्रीज्ञानेश्वर महाराजने की है और यह कहा है कि कलिग्रस्त लोगोंके उद्धारके लिये श्रीगोरक्षनाथने आदिनाथ श्रीशंकरसे प्राप्त 'शाम्भव अद्वयानन्द वैभव' श्रीगैनीनाथको दिया और श्रीगैनीनाथने श्रीनिवृत्तिनाथको; और श्रीनिवृत्तिनाथसे वह मुझे प्राप्त हुआ।

श्रीगैनीनाथ

श्रीगैनीनाथ नासिकके ब्रह्मगिरिकी परिक्रमाके रास्तेपर अपने मठमें रहते थे, जब श्रीनिवृत्तिनाथ सिर्फ सात वर्षके बालक थे, ये उन दिनों अपने माता-पिता और छोटे भाई-बहिनके साथ त्र्यम्बकेश्वर क्षेत्रमें ही रहते थे। रातका समय था। ये सभी ब्रह्मगिरिकी परिक्रमा करने जा रहे थे। रास्तेमें सामने एक बाघ गरजता हुआ आ निकला। इनके पिता घबराये हुए बच्चोंको सम्हालने और निकल भागनेका रास्ता ढूँढ़ने लगे। और सबको तो पिता कुशलपूर्वक घर ले आये पर निवृत्तिनाथ इसी बीच वहाँसे दौड़ते-हाँफते हुए जो भागे सो न जाने कहाँ निकल गये। भटकते-भटकते अञ्जनी-पर्वतकी एक गुफामें घुसे। देखा, तीन साधु भीतर ध्यान लगाये बैठे हैं। एक कुछ ऊँचे-से आसनपर हैं, और दो नीचे हैं। ये कोई महात्मा होंगे, ये दोनों उनके शिष्य। इनके सीसपर जटा है, कानोंमें कुण्डल हैं, कंठमें सेली है और हाथमें सिंगी और पुंगी। घबराये हुए निवृत्तिनाथ सीधे इन महात्माके चरणोंमें जाकर लोट गये। वे महात्मा श्रीगैनीनाथ थे, उन्होंने बालकका मुख निहारा और सिद्धोंके सब लक्षण देखकर बड़े प्रसन्न हुए। श्रीगैनीनाथने सात दिन इन्हें अपने पास ही रखा और महावाक्यका उपदेश करके और योगमार्गकी दीक्षा तथा भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति देकर बिदा किया।

चलते समय श्रीगुरु गैनीनाथने श्रीनिवृत्तिनाथको इतना और उपदेश दिया कि, 'देखो, यदि आकाश भी तड़तड़ा पड़े और मेरु कड़कड़ा उठे तो भी आत्मसुखके आस्वादनसे कभी विरत मत होना। भगवान् अत्यन्त समीप हैं, सन्देह छोड़कर देखो, आत्मनिष्ठा अखण्ड बनाये रहो और श्रीकृष्णरूपमें रमो।' श्रीनिवृत्तिनाथने एक अभंगमें कहा है कि श्रीगैनीनाथने हमें जो 'सम्यक् अनन्यता दी' उससे हमारा कुल पवित्र हो गया।
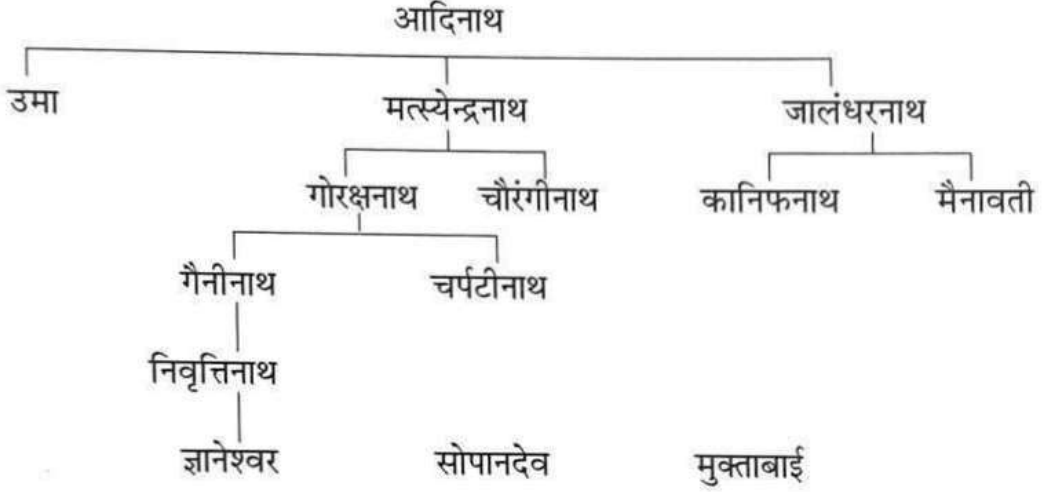
महानुभावपन्थके संत

श्रीगोविन्द प्रभु

विक्रमी संवत् १२४५ के लगभग विदर्भ (वर्तमान बरार) प्रदेशमें ऋद्धिपुर स्थानके समीप काठसुरे ग्राममें श्रीगोविन्द प्रभु उर्फ गुण्डम प्रभु या गुण्डोबाका जन्म हुआ। ये काण्वशाखीय ब्राह्मण थे। बचपनमें इनके माता-पिता परलोकवासी हुए, तब इनकी मौसी इन्हें ऋद्धिपुर ले आयीं और यहीं इनका पालन-पोषण, उपनयन तथा विद्याध्ययन हुआ। इसी अवस्थामें इन्हें परमार्थसुखका चसका लगा और क्रमशः उस सुखानुभवकी वृद्धि होती गयी और ये सिद्ध कोटिको प्राप्त हुए। ये भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त थे। पण्ढरपुरके वारकरी भागवतपन्थके साथ-साथ या उससे कुछ पहले ही विदर्भ देशमें जो महानुभावपन्थ उदय हुआ था, उसके ये ही आद्य पुरुष थे। संवत् १३४२ में ये समाधिस्थ हुए।

श्रीचक्रधर

श्रीगोविन्द प्रभुके शिष्य श्रीचक्रधर हुए जो महानुभावपन्थके प्रवर्त्तक कहे जाते हैं। ये गुजरातसे विदर्भ देशमें आये थे। गुजरातके भड़ौंच प्रान्तके राजा मल्लदेवके प्रधान मन्त्री विशालदेव नामक कोई नागर ब्राह्मण थे जिनके ये चक्रधर पुत्र हैं। राजा मल्लदेवके कोई सन्तान नहीं थी, इस कारण मृत्युसमयमें उन्होंने अपना राज विशालदेवको दिया। विशालदेवके पुत्र हरिपाल (ये ही बाद चक्रधर हुए) बड़े पराक्रमी थे। पिताके राजत्वमें तथा उसके पश्चात् इन्होंने कई लड़ाइयाँ जीतीं। इनके दो-तीन विवाह भी हुए थे। इन्होंने बड़ा ऐश्वर्य भोगा, पर ऐसे ऐश्वर्य और विलासभोगसे इनका जी ऐसा उचटा कि माताकी आज्ञा लेकर ये रामटेककी यात्राके लिये जो निकले सो रास्तेमें ऋद्धिपुर आकर ठहर ही गये। वहाँ श्रीगोविन्द प्रभुके उन्हें दर्शन हुए, प्रभुके चरणोंमें इनकी निष्ठा हुई और सदाके लिये ये ऋद्धिपुरमें बस गये। गोविन्द प्रभुका इनपर पूर्ण अनुग्रह हुआ और उन्होंने ही इनका साम्प्रदायिक नाम चक्रधर रखा। महानुभावपन्थमें चक्रधर श्रीकृष्णको कहते हैं। गुरुके समान चक्रधर भी दीर्घायु थे। श्रीचक्रधरका जन्म संवत् १२०८ में हुआ। संवत् १३२० में इन्हें भगवान् श्रीदत्तात्रेयका साक्षात्कार हुआ और तब इन्होंने संन्यासदीक्षा ली और ऋद्धिपुर लौटकर महानुभावपन्थकी स्थापना की। संवत् १३२० से १३२९ तक, इन ९ वर्षमें इनके इर्द-गिर्द ५०० शिष्य जमा हो गये, जिनमें तेरह स्त्रियाँ थीं। इस पन्थके श्रीकृष्ण और श्रीदत्त दोनों ही उपास्य देव हुए। श्रीचक्रधरने इस पन्थको चलाकर जो लोकसंग्रह करना आरम्भ किया उसमें श्रीमद्भगवद्गीताके अ० ९

श्लो० ३२ के '**स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्**' इस श्लोकार्धपर बड़ा जोर था। इसके आधारपर श्रीचक्रधरने स्त्रियों और शूद्रोंको संन्यास दिलाना आरम्भ किया। इससे उनका पन्थ लोकमें सर्वमान्य नहीं हुआ। संवत् १३२९ में श्रीचक्रधर बद्रीनारायणकी ओर गये और फिर नहीं लौटे।

श्रीनागदेवाचार्य

श्रीनागदेवाचार्य (संवत् १२९३—१३५९) श्रीचक्रधरके पट्टशिष्य थे। ये ही महानुभावपन्थके मुख्य प्रचारक हुए। कहते हैं, 'गोविन्द प्रभुका तप, चक्रधरकी वेधशक्ति और नागदेवकी संघटनशक्ति इन तीन शक्तियोंके एकीभूत होनेसे यह पन्थ खड़ा हुआ।'

महानुभावपन्थका परिचय

श्रीगोविन्द प्रभु, श्रीचक्रधर और श्रीनागदेवाचार्य—महानुभावपन्थके इन तीनों आचार्य महानुभावोंमेंसे किसीने भी कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है। श्रीचक्रधरके मुखसे समय-समयपर जो वचन निकले उनको उनके शिष्योंने संग्रहीत कर रखा है। चक्रधरके शिष्य महीन्द्र व्यास या मही भट्टने 'लीलाचरित्र' नामसे एक मराठी ग्रन्थ लिखा है जिसमें श्रीचक्रधरकी १५०० 'लीलाएँ' वर्णित हैं। इन लीलाप्रसंगोंमें श्रीचक्रधरके जो वचन आये हैं उन्हें ही एकत्र करके संवत् १३५५ में, केशवराज सूरिने इस सम्प्रदायका एक सूत्रग्रन्थ निर्माण किया जिसे 'सिद्धान्तसूत्रपाठ' या 'आचार्यसूत्र' कहते हैं। महानुभावपन्थ इस ग्रन्थको आदि ग्रन्थ मानता है। इसमें १६०९ सूत्र हैं। इस आदि ग्रन्थके अतिरिक्त यह पन्थ श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत इन दो ग्रन्थोंको भी प्रमाण ग्रन्थ मानता है। महानुभावपन्थके उपर्युक्त 'आदि ग्रन्थ' के अनुसार चार युगोंके चार अवतार माने जाते हैं—कृतयुगमें हंसावतार, त्रेतामें दत्तावतार (दत्तका स्वरूप एकमुखी चतुर्भुज विष्णु), द्वापरमें द्वारकाधीश श्रीकृष्ण और कलियुगमें चक्रधर। श्रीचक्रधरके शिष्य उन्हें श्रीकृष्णस्वरूप ही मानते थे और शिष्योंके साथ गुरुका बर्ताव भी विलक्षण प्रेमका होता था।

महानुभावपन्थमें स्त्री-पुरुष दोनोंको ही संन्यासदीक्षा दी जाती थी। स्त्रीके रहते पुरुषके समान ही पुरुषके रहते स्त्रीको भी इस पन्थमें संन्यास लेनेका अधिकार था। कोई दामोदर पण्डित थे, उनकी पत्नी हिराम्बाको पतिसे पहले ही वैराग्य हुआ और उसने श्रीनागदेवाचार्यसे १३२६ में संन्यासदीक्षा ली। पति अब भी संसारमें ही अटके पड़े रहे। दो वर्ष बाद संन्यासिनीने अपने इन पूर्वपतिको समझाकर चेत दिलाया। तब संवत् १३३१ में दामोदर पण्डितने भी संन्यासदीक्षा ली और पहलेके पति-पत्नी अब भाई-बहिनकी तरह रहने लगे। इस पन्थके लोग संवत् १४२० तक काषाय वस्त्र परिधान करते थे। पीछे मुसलमानोंके जमानेमें इन्होंने काले वस्त्र पहनना आरम्भ किया। काले वस्त्र पहननेके कारण ये 'शाहपोश' कहाते थे और इन्हें जजिया कर मुआफ था। अब आजकल इन काले कपड़ोंको त्यागकर फिर काषाय वस्त्र पहननेका आन्दोलन इन लोगोंमें चला है।

इस पन्थके ७ ग्रन्थ मुख्य हैं जो पूज्य माने जाते हैं—

(१) कवीश्वर भास्करकृत 'शिशुपालवध', (२) इन्हींका 'एकादश स्कन्ध' (ये दोनों ग्रन्थ यथाक्रम संवत् १३३० और १३३१ में लिखे गये), (३) दामोदर पण्डितकृत 'वत्सहरण' (संवत् १३३५), (४) नरेन्द्र कविकृत 'रुक्मिणीस्वयंवर' (संवत् १३४५), (५) विश्वनाथ बालापुरकरकृत 'ज्ञानबोध' (संवत् १३८८), (६) रवलोव्यासकृत 'सह्याद्रिवर्णन' (संवत् १३८९) और (७) नारोव्यासकृत 'ऋद्धिपुरवर्णन' (संवत् १४२०)। ये सभी ग्रन्थ मराठीभाषामें हैं। पहले तीन श्रीकृष्णलीलापरक हैं और बाकी चार साम्प्रदायिक हैं। इनके अतिरिक्त 'महदम्बाके धवले' नामसे कुछ मंगल गीत हैं। महदम्बा नागदेवाचार्यकी चचेरी बहिन थी और इन्हें स्वयं श्रीचक्रधरसे दीक्षा मिली थी। इनके दादागुरुने एक बार श्रीकृष्णविवाहोत्सवकी लीला करायी थी। उसमें महदम्बाने ये मंगलगीत गाये थे। महानुभावपन्थमें इन्हें लोग संत मानते हैं और वहाँ उनका वही मान है जो वारकरी भागवतपन्थमें जनाबाईका, जो इनकी समकालीन ही थीं। भावेव्यास नामक एक संत इसी समय और हो गये हैं जिन्होंने 'पूजा अवसर' या 'श्रीचक्रधरकी 'दिनचर्या' नामक ग्रन्थ लिखा है। ये बड़े ज्ञानी और विरक्त थे। नागदेवाचार्यके शिष्य केशवराज सूरिके अनेक ग्रन्थ हैं जिनमें 'सिद्धान्तसूत्रपाठ' और 'मूर्तिप्रकाश' विशेष प्रसिद्ध हैं। सिद्धान्तसूत्रपाठमें, जैसा कि पहले लिख चुके हैं, श्रीचक्रधरके वचनोंका सुव्यवस्थित संग्रह है; और इस 'मूर्तिप्रकाश' ग्रन्थमें श्रीचक्रधरके रूप-गुणोंका वर्णन है।

—ल० गर्दे

श्रीविट्ठलपन्त और रुक्मिणीबाई

पैठणसे चार कोस दूर, गोदावरीके उत्तर तटपर, आपेगाँव नामक एक ग्राम है। यहाँ तेरहवीं विक्रमी शताब्दीके आरम्भमें त्र्यम्बकपन्त नामक एक वत्सगोत्री ब्राह्मण रहते थे। देवगिरिके यादवराजकी ओरसे ये बीडदेशके देशाधिकारी थे, इनके समयमें एक बार तीन वर्षतक लगातार भयंकर अकाल पड़ा था। उस समय इन्होंने अपने पास जो कुछ धन-धान्य संचित था, सब देकर दुर्भिक्षपीड़ितोंकी बड़ी सेवा की। इनके दो पुत्र थे, एक गोविन्दपन्त और दूसरे हरिपन्त। हरिपन्त देवगिरिके राजा सिंघणदेवके शत्रुओंसे लड़ते हुए युद्धमें मारे गये और वीरगतिको प्राप्त हुए। पर इससे इन्हें संसारसे विराग हो गया और ये श्रीगोरखनाथकी शरणमें गये, जो उस समय तीर्थाटन करते हुए आपेगाँवमें पधारे थे। श्रीगोरखनाथने इन्हें अपना शिष्य बनाया और इनपर पूर्ण अनुग्रह किया। इनके ज्येष्ठ पुत्र गोविन्दपन्तके पचपनवें वर्षमें सहधर्मिणी निराबाईसे एक पुत्र हुआ, जिसका नाम विट्ठल रखा गया। विट्ठलका यथाकाल उपनयन हुआ, सम्पूर्ण सांग वेदाध्ययन हुआ। इसके पश्चात् उन्होंने द्वारावती, सोमनाथ, पण्ढरपुर आदि तीर्थोंकी यात्रा की। यात्रा करते हुए ही आलंदी पहुँचे। यहाँ सिधोपन्त नामके कोई विद्वान् ब्राह्मण रहते थे। वे इनकी विद्या, वैराग्य और तेजको देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने अपनी बेटी इन्हें ब्याह दी। वधूका नाम रुक्मिणी रखा गया। विवाहके पश्चात् भी ये कई तीर्थोंकी यात्रा कर आये, तब वधूको संग ले माता-पिताके पास आपेगाँव लौटे। कुछ काल बाद ही माता-पिता स्वर्गवासी हुए। तब श्वशुरके बहुत आग्रह करनेपर ये सस्त्रीक आलंदीमें ही रहने लगे। बचपनसे ही विट्ठलपन्त विरागी थे, उनका चित्त प्रपंचमें था ही नहीं। अब तो उन्हें स्त्रीके साथ घर रहना भी भार मालूम होने लगा। स्त्रीकी अनुमतिके बिना संन्यास ले नहीं सकते थे। इसी अनुमतिका अवसर ढूँढ़ रहे थे। एक दिन रुक्मिणीबाई काम-काजमें कुछ व्यस्त थीं। विट्ठलपन्तने अवसर जानकर कहा, मैं अब गंगास्नानके लिये जाना चाहता हूँ। रुक्मिणीबाईने 'हो आइये न' कहकर 'जाइये' कहा। बस, जिस अनुमतिके लिये विट्ठलपन्त तरस रहे थे वह अनुमति मिल गयी और वे चल दिये! सीधे काशी पहुँचे। इधर रुक्मिणीबाई पछता-पछताकर रोने लगीं, पतिदेवकी उन्होंने बहुत खोज करायी। कहीं पता न चला। विट्ठलपन्त काशीमें श्रीपाद स्वामीकी शरणमें जाकर संन्यासदीक्षा लेकर चैतन्याश्रम स्वामी बनकर बैठ गये। रुक्मिणीबाई पतिविरहसे जलने और पतिसेवाके लिये तड़पने लगीं। उन्हें पीछे खबर मिली कि पतिदेवने संन्यास ले लिया। तब उन्होंने घोर तप आरम्भ किया। कुछ काल बाद श्रीपाद स्वामी यात्रा करते हुए आलंदी पहुँचे। तब अन्यान्य दर्शनार्थियोंके समान ये भी उनके दर्शनको गयीं। इन्होंने उन्हें प्रणाम किया। स्वामीजीने 'पुत्रवती' कहकर आशीर्वाद दिया। इसपर रुक्मिणीबाई हँस पड़ीं। हँसनेका कारण पूछनेपर उन्होंने अपना सब हाल कह सुनाया। श्रीपाद स्वामीने काशी लौटकर चैतन्याश्रम स्वामी विट्ठलपन्तको समझाकर आदेश किया कि 'अपने देशको लौट जाओ और पुनः गृहस्थाश्रम स्वीकार कर गृही बनकर रहो। यह भय मत करो कि ऐसा करना विधिविरुद्ध होगा। जाओ, यह भगवान्‌का आदेश है; भगवान् तुम्हारा कल्याण करेंगे।' चैतन्याश्रम स्वामी संन्यासवेश उतारकर फिर विट्ठलपन्त हो गये और आलंदी लौट आये। रुक्मिणीके आनन्दका वारापार न रहा, वैराग्य और तपसे विट्ठलपन्त और रुक्मिणीबाईका दाम्पत्यप्रेम और भी पवित्र और उज्ज्वल होकर शुक्लेन्दुवत् वृद्धिंगत होने लगा। भगवान्‌के आदेशसे, गुरुकी आज्ञासे, यह जो कुछ हुआ ठीक ही हुआ; पर बात तो कुछ शास्त्रविरुद्ध हुई। इससे समाजने विट्ठलपन्त और उनके घरवालोंका बहिष्कार कर दिया। घरवाले भी समाजके भय या स्नेहसे एक-एक करके विट्ठलपन्तसे अलग हो गये। इसी अवस्थामें दो-दो वर्षके अन्तरसे इनके चार सन्तान हुईं—निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान और मुक्ता। निवृत्तिनाथ जब सात वर्षके हुए तब माता-पिताको इनके उपनयनकी बड़ी चिन्ता हुई। विट्ठलपन्त अनेक शास्त्रज्ञोंके पास गये। पर संन्यास ले चुकनेपर पुनः गृहस्थ होनेवालेके सन्तानके उपनयनकी कोई विधि नहीं मिली। विट्ठलपन्त निराश हो गये। स्त्री-पुत्रोंको साथ ले त्र्यम्बकेश्वर गये। वहाँ उन्होंने ऐसा अनुष्ठान आरंभ किया कि मध्यरात्रिमें कुशावर्त तीर्थमें स्नान करते और फिर ब्रह्मगिरिकी पूरी

सव्य परिक्रमा करते। इसी परिक्रमाको करते हुए एक दिन बाघका सामना होनेपर निवृत्तिनाथ पितासे बिछुड़कर रास्ता भूलकर भटकते हुए श्रीगैनीनाथकी गुहामें पहुँचे और वहाँ श्रीगैनीनाथने उनपर अनुग्रह किया। अस्तु, श्रीविट्ठलपन्तको तो अन्तमें समाजसे यही व्यवस्था मिली कि संन्यासीसे पुनः गृहस्थ बननेका जो पाप है उसकी निष्कृति देहान्त-प्रायश्चित्तसे ही हो सकती है। विट्ठलपन्त इसके लिये भी तैयार हो गये। सहधर्मिणी अर्द्धांगिनी रुक्मिणी भी उनके साथ हो गयीं और दोनोंने धर्मशास्त्रकी मर्यादाके लिये तथा पुत्र-पुत्रीके कल्याणके लिये अपने तपःपूत शरीर प्रयागराजमें त्रिवेणी-संगमको अर्पण करना निश्चय किया। वे चले गये और संगममें जलसमाधि ली।

जब विट्ठलपन्त और माता रुक्मिणीबाई चलनेको हुए तब इन बच्चोंकी ओर देखकर माता-पिताका, विशेषकर माताका अन्तःकरण जैसा द्रवीभूत हुआ होगा उसका वर्णन करनेकी अपेक्षा अनुमान कर लेना अधिक आसान है। माताका अपत्यस्नेह अनाथ बच्चोंकी ओर देख-देखकर जब मातृहृदयको विदीर्णकर दुर्निवार अश्रु प्रवाहरूपसे उमड़ पड़ा, तब श्रीनामदेव कहते हैं कि उस समय एक सिद्धपुरुष वहाँ प्रकट हुए और उन्होंने श्रीरुक्मिणी माताको सान्त्वना देते हुए समझाया कि 'तुम्हारे ये बालक कोई सामान्य जीव नहीं हैं; शान्त हो, धीर हो इन्हें पहचानो। ये निवृत्तिनाथ त्रिपुरारि शंकर हैं, ज्ञानदेव विष्णु हैं, सोपान चतुर्मुख ब्रह्मा हैं और यह मुक्ता आदिमाया हैं। सर्वव्यापक ब्रह्म ही इन चार विभूतियोंके रूपमें मूर्तिमान् हुआ है।' इन वचनोंसे माताके हृदयको शान्ति मिली। तब उन्होंने ज्येष्ठ पुत्र निवृत्तिको उन सिद्धपुरुषके हाथोंमें सौंपा और ज्ञानदेव, सोपान और मुक्ताको निवृत्तिके हवाले किया और 'मेरी मुक्ताको तुम संभालो' यह सबसे कहकर नेत्रोंमें अश्रु भरकर उन सिद्धपुरुषको उन्होंने प्रणाम किया और पतिके साथ विदा हो गयीं।

ये सिद्धपुरुष श्रीगैनीनाथ थे। इन्होंने श्रीनिवृत्तिनाथके मस्तकपर अपना हाथ रखा और उपदेश किया। फिर सद्‌गुरुके समक्ष ही श्रीनिवृत्तिनाथने अपने दोनों भाइयोंको और मुक्ताबाईको उपदेश किया। श्रीगैनीनाथने इन चारोंको पैठण भेज दिया और आप गुप्त हो गये। —ल० गर्दे

श्रीगुरु निवृत्तिनाथ

श्रीनिवृत्तिनाथ चारों भाई-बहिनोंमें सबसे बड़े थे। संवत् १३३० फाल्गुन कृ० १ को इनका जन्म हुआ। सात वर्षकी अवस्थामें पिताके साथ ब्रह्मगिरिकी परिक्रमा करते हुए, बाघका सामना होनेपर, घबराकर ये भागे थे और भूलते-भटकते श्रीगैनीनाथकी गुहामें पहुँचे थे। वहीं श्रीगैनीनाथसे इन्हें परम उपदेश प्राप्त हुआ। एक स्थलमें श्रीनिवृत्तिनाथने कहा है कि श्रीकृष्णभक्तिरसायन मुझे श्रीगुरु गैनीनाथसे प्राप्त हुआ और उसका गूढ़ रहस्य मुझे श्रीगोरखनाथने बताया। इससे यह मालूम होता है कि श्रीनिवृत्तिनाथको भी परमगुरु श्रीगोरखनाथके दर्शन हुए थे या हुआ करते थे। श्रीनिवृत्तिनाथ अपनी अभंग वाणीमें कहते हैं—

'निवृत्तिनाथके ध्येय भगवान् श्रीकृष्ण हैं। श्रीगुरु गैनीनाथने यह ध्यान दिला दिया। इस श्रीकृष्णरूप ध्यानसे निवृत्तिनाथ सुखी और सम्पन्न हुआ, नाम लेनेसे श्रीगुरु गैनीनाथके साथ मैं तल्लीन हो जाता हूँ। गोकुलके श्रीकृष्ण निवृत्तिनाथके धन हैं जो श्रीगैनीनाथके साथ प्रेमसे झूमते रहते हैं।......हमलोगोंका पूर्वपुण्य बड़ा प्रबल था जो श्रीगैनीनाथ हमें प्राप्त हुए और चन्द्र-सूर्य-किरण और आकाशके दिव्य अम्बर हम परिधान कर सके, पृथ्वीको अपनी चिरशय्या बना सके।......निज तेज-बीजके अंकुरित हो आनेसे अब इस देहका भान नहीं होता, मोह और सन्देह न जाने कहाँ खो गये। विदेह-गंगा चित्तसे उमड़ पड़ी और वृत्ति चिद्रूपमें निमज्जित हो गयी। हरि बिना जन-वन हमें कुछ नहीं सूझता, सदा सोलहों कलाओंसे परिपूर्ण पूर्णिमा ही भासती है।'

निवृत्तिनाथके चार सौ अभंग हैं, जिनमें कुछ योगविषयक, कुछ अद्वैतप्रतिपादक और कुछ श्रीकृष्ण-भक्तिपरक हैं। श्रीकृष्णरूपका ध्यान करते हुए श्रीनिवृत्तिनाथ कहते हैं—

'यह (श्रीकृष्ण) नाम उनका है जो अनन्त हैं, जिनका कोई संकेत नहीं मिलता, वेद भी जिनका पता लगाते थक जाते हैं और पार नहीं पाते, जिनमें समग्र चराचर विश्व होता-जाता रहता है, वे ही अनन्त जसोदा

मैयाकी गोदमें नन्हे-से कन्हैया बनकर खेल रहे हैं और भक्तजन उसका आनन्द बिना मूल्य ले रहे हैं। ये हरि हैं जिनके घर सोलह सहस्र नारी हैं और जो स्वयं गौओंके चरानेवाले बालब्रह्मचारी हैं। ब्रह्मत्वको प्राप्त योगियोंके ये ही परम धन हैं जो नन्दनिकेतनमें नृत्य कर रहे हैं।'

ये ही पण्ढरीनाथ—पण्ढरपुरके श्रीविट्ठल हैं, जो महाभक्त पुण्डरीकके प्रेमपाशसे बँधे एक ईंटपर तबसे ज्यों-के-त्यों खड़े हैं। इनके मस्तकपर शिवजीकी पिंडी है। इस सम्बन्धमें श्रीनिवृत्तिनाथ कहते हैं, 'क्या सुन्दर सुकुमाररूप हैं, इनके इस सुन्दर गोपवेशकी महिमा महेश वर्णन कर रहे हैं और इससे प्रसन्न होकर इन्होंने उन्हें अपने मस्तकपर धारण किया है।'

श्रीनिवृत्तिनाथने श्रीगुरु गोरखनाथ और श्रीगैनीनाथसे सम्पूर्ण योगानुभव, अद्वयानन्दवैभव और श्रीकृष्णभक्ति-रसायन प्राप्त करके श्रीज्ञानेश्वरको दिया और श्रीज्ञानेश्वरने उसे जगद्धितार्थ प्रकट किया।

संवत् १३५३ में श्रीज्ञानेश्वर महाराजके जीवितसमाधि लेनेके पश्चात् संवत् १३५४ में आषाढ़ कृ० १२ के दिन त्र्यम्बकेश्वर-क्षेत्रमें ये अपना मर्त्यकलेवर छोड़कर परमधामको पधारे। —ल० गर्दे

श्रीज्ञानेश्वर

श्रीविट्ठलपन्तके द्वितीय पुत्र, श्रीनिवृत्तिनाथके छोटे भाई श्रीज्ञानेश्वरका जन्म सं० १३३२ भाद्रकृष्णाष्टमीकी मध्यरात्रिमें हुआ था। जब ये पाँच वर्षके थे तभी इनके माता-पिता धर्म-मर्यादाकी रक्षाके लिये त्रिवेणीसंगममें अपने शरीरोंको छोड़कर इहलोकसे चले गये थे। श्रीज्ञानेश्वरसे छोटे सोपान उस समय चार वर्षके और सबसे छोटी बहिन मुक्ता तीन वर्षकी थी। इस तरह ये चारों बालक बचपनमें ही माता-पिताके बिना अनाथ हो गये थे। परन्तु इनका चरित्र देखनेसे ऐसा मालूम होता है कि ये चारों भाई-बहिन इस प्रकार बाह्यत: अनाथोंकी-सी अवस्थामें ही नाथोंके नाथ सकललोकनाथका कार्य करनेके लिये उन्हींके अंशसे आये हुए उन्हींके स्वरूप थे। ये मातृ-पितृविहीन बालक कच्चा अन्न भिक्षामें माँगकर लाते और उससे अपना जीवननिर्वाह करते हुए सदा भगवद्भजन, भगवत्कथा-कीर्तन और भगवच्चर्चाओंमें ही अपना समय व्यतीत करते थे। एक बार इनके सामने जो सबसे बड़ी कठिनाई पेश हुई वह इनके उपनयन-संस्कारकी थी। उसके लिये आलन्दीके ब्राह्मण इन्हें संन्यासीके लड़के जानकर अनुकूल नहीं थे। परन्तु इनके साधुजीवनका प्रभाव उनपर दिन-दिन अधिक पड़ रहा था। और जब विट्ठलपन्त तथा रुक्मिणीबाईने अलौकिकरूपसे अपना देहविसर्जन कर दिया तब तो उन ब्राह्मणोंपर इनका और भी गहरा प्रभाव पड़ा। उनके हृदयमें इन बालकोंके प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो गयी और उन्होंने इन्हें सलाह दी कि 'तुम लोग पैठण जाओ। वहाँके विद्वान् शास्त्रज्ञ यदि तुम्हारे उपनयनकी व्यवस्था दे देंगे तो हमलोग भी उसे मान लेंगे।' अत: ये लोग पैदल यात्रा करके भगवन्नामसंकीर्तन करते हुए पैठण पहुँचे। वहाँ इनके लिये ब्राह्मणोंकी सभा हुई। परन्तु सभामें यही निश्चय हुआ कि 'इन बालकोंकी शुद्धि और किसी तरह भी नहीं हो सकती। केवल एक उपाय है और वह यही कि—

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च लौकिकीम्।
प्रणमेद्दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥

—श्रीमद्भागवत

अर्थात् 'अपने ऊपर हँसनेवाले लोगोंको और देह-दृष्टि तथा लोक-लाजको त्यागकर ये लोग कुत्ते, चाण्डाल और गौसमेत सबको भूमिपर लेटकर प्रणाम करें और इस प्रकारकी भगवान्‌की अनन्य भक्ति करें।' इस निर्णयको सुनकर चारों भाई-बहिन सन्तुष्ट हो गये। निवृत्तिनाथने कहा—'ठीक है।' सोपान और मुक्ताने कहा—'यह बड़े आनन्दकी बात है।' और ज्ञानेश्वर गम्भीरतापूर्वक बोले—'जो आपलोग कहें, वह स्वीकार है।' वहाँसे चारों भाई-बहिन लौटनेको ही थे कि कुछ दुष्टोंने उनसे छेड़-छाड़ आरम्भ कर दी। ज्ञानदेवसे किसीने पूछा—'तुम्हारा क्या नाम है?' उत्तर मिला 'ज्ञानदेव।' पास ही एक भैंसा था, उसकी ओर संकेत करके एक भले आदमीने इनपर ताना कसा कि 'यहाँ तो यही ज्ञानदेव है, दिनभर बेचारा ज्ञानका ही तो बोझा ढोया करता है। कहिये, देवता, क्या आप भी ऐसे ही ज्ञानदेव हैं?' ज्ञानदेवने कहा—'हाँ, हाँ, इसमें सन्देह ही क्या है? यह तो मेरा ही आत्मा है, इसमें मुझमें कोई

भेद नहीं।' यह सुनकर किसीने और भी छेड़ करनेके लिये भैंसेकी पीठपर सटासट दो साँटे लगा दीं और ज्ञानदेवसे पूछा कि 'ये साँटे तो तुम्हें जरूर लगी होंगी।' ज्ञानदेवने कहा—'हाँ, और अपना बदन खोलकर दिखला दिया, उसपर साँटे उठी हुई थीं! परन्तु इसपर भी उन लोगोंकी आँखें नहीं खुलीं। एक ब्राह्मणदेवता बोले—'यह भैंसा यदि तुम्हारे-जैसा ही है तो तुम जैसी ज्ञानकी बातें कहते हो वैसी इससे भी कहलाओ।' ज्ञानदेवने भैंसेकी पीठपर हाथ रखा। हाथ रखते ही वह भैंसा 'ॐ' का उच्चारण करके वेदमन्त्र बोलने लगा। यह चमत्कार देखकर पैठणके विद्वान् ब्राह्मण चकित—स्तम्भित हो गये। उन्होंने अब जाना कि ये साधारण मनुष्य नहीं, कोई महात्मा हैं, भगवान्‌की विभूति हैं। अब तो सबने उनकी चरणवन्दना की और जय-जयकार किया। ज्ञानदेवने ब्राह्मणोंसे कहा—'यह सब आप लोगोंके चरणोंका प्रताप है, मैं तो एक क्षुद्र बालक हूँ।' इतना ही नहीं, एक दिन एक ब्राह्मणके घर श्राद्धके अवसरपर ज्ञानेश्वरने ध्यान करके, **'आगन्तव्यम्'** कहकर उसके पितरोंको सशरीर बुला लिया और उन्हें भोजन कराया। अतः इस प्रकार इनकी अद्‌भुत सामर्थ्य और विनय देखकर पैठणके लोग इनपर मुग्ध हो गये और इनके पास आ-आकर इनसे भगवन्नामकीर्तन और भगवत्कथा श्रवण करने लगे। धर्मज्ञ ब्राह्मणोंने बड़ी नम्रताके साथ इन्हें शुद्धिपत्र लिखकर दे दिया। इसके पश्चात् कुछ कालतक चारों भाई-बहिन पैठणमें ही रहे। वहाँ ये लोग गोदावरीमें स्नान करते, वेदान्तकी चर्चा करते, भगवन्नामसंकीर्तन करते, पुराणोंका पठन करते और पैठणवासियोंको भगवद्‌भक्तिका मार्ग दिखाते थे। वहाँ रहते हुए ही ज्ञानेश्वरने श्रीमच्छंकराचार्यका भाष्य, श्रीमद्‌भागवत, योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थ देख डाले और आगे जो ग्रन्थ लिखे उनकी भूमिका भी वहीं तैयार कर ली। इस प्रकार कुछ कालतक पैठणवासियोंको अपना अपूर्व सत्संग लाभ कराकर श्रीज्ञानेश्वरादिने ब्राह्मणोंका दिया हुआ वह शुद्धिपत्र तथा वेदमन्त्र कहनेवाले उस भैंसेको साथ लेकर वहाँसे प्रस्थान किया। आलें नामक स्थानमें पहुँचनेपर लोगोंने उस भैंसेको तो समाधि दे दी, और स्वयं धीरे-धीरे चलते हुए एवं रास्तेमें ब्रह्मचर्चा तथा आनन्द-विनोद करते हुए नेवासें पहुँचे।

इसी नेवासेंमें ज्ञानेश्वर महाराजने गीताका ज्ञानेश्वरीभाष्य कहा, जिसे सच्चिदानन्दजीने लिखा। नेवासेंसे कुछ कालके लिये श्रीज्ञानेश्वरादि आलन्दी चले गये, वहाँके लोगोंने इस बार उनका बड़े आदर और प्रेमके साथ स्वागत किया। फिर जब ज्ञानेश्वर महाराज अपने भाई-बहिनोंके सहित नेवासें लौट आये तब उन्होंने सद्‌गुरु श्रीनिवृत्तिनाथके सामने गीताका स्वानुभूत भाष्य कहना आरम्भ किया। उस समयतक श्रीनिवृत्तिनाथ सत्रह वर्षके, श्रीज्ञानेश्वर पन्द्रह वर्षके, सोपानदेव तेरह वर्षके और मुक्ताबाई ग्यारह वर्षकी हो चुकी थीं। ज्ञानेश्वर महाराजने अपने इस बालजीवनमें जो-जो चमत्कार दिखलाये उनमें सबसे बढ़कर चमत्कार तो यह 'ज्ञानेश्वरी' भाष्य ही है, जिसे उन्होंने केवल पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें कहा था। गीतापर अनेक भाष्य हैं, पर ऐसा सर्वांगसुन्दर एवं अपने ढंगका निराला भाष्य दूसरा नहीं है। संवत् १३४७ में यह 'ज्ञानेश्वरी' ग्रन्थ पूर्ण हुआ था।

इसके बाद श्रीज्ञानेश्वरने तीर्थयात्रा आरम्भ की। यात्रामें गुरु निवृत्तिनाथ, सोपानदेव, मुक्ताबाई भी साथ थे। कहते हैं कि इस यात्रामें विसोबा खेचर, गोरा कुम्हार,चोखा मेळा, नरहरि सोनार आदि अन्य अनेक संत भी संग हो लिये थे। सबसे पहले श्रीज्ञानेश्वर महाराज पण्ढरपुर गये, जहाँ उन्हें श्रीविट्‌ठलभगवान्‌के दर्शन हुए तथा परम विट्‌ठलभक्त श्रीनामदेवसे भेंट हुई। तत्पश्चात् श्रीनामदेवजीको भी साथ लेकर श्रीज्ञानेश्वर महाराजने अनेक स्थानोंमें अनेक चमत्कार दिखलाते हुए एवं अपने ज्ञानोपदेशद्वारा असंख्य मनुष्योंका उद्धार करते हुए उज्जैन, प्रयाग, काशी, गया, अयोध्या, गोकुल, वृन्दावन, द्वारका, गिरनार आदि तीर्थस्थानोंका परिभ्रमण किया और तदनन्तर वे सब संतोंके साथ पण्ढरपुर लौट आये। पैठण आदि स्थानोंमें श्रीज्ञानेश्वर महाराजने जो अद्‌भुत-अद्‌भुत चमत्कार दिखलाये उनके कारण इन चारों भाई-बहिनका यश सर्वत्र फैल गया और सब दिशाओंसे आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी सब प्रकारके भगवद्‌भक्त एवं योगी, यति, साधक आदि इनके दर्शनोंके लिये आने लगे। यहाँतक कि एक दिन उस समयके महायशःसम्पन्न महात्मा चांगा वटेश्वर अथवा चांगदेवको भी श्रीज्ञानदेवजीकी शरणमें आना पड़ा। श्रीचांगदेव कितने महान् योगी थे, उन्हें कितना

दीर्घ जीवन प्राप्त था, इन सब बातोंकी विशेष जानकारी प्राप्त करनेके लिये अन्यत्र प्रकाशित उनकी जीवनी देखिये।

कुल इक्कीस वर्ष, तीन मास, पाँच दिनकी अल्पावस्थामें अर्थात् संवत् १३५३ मार्गशीर्ष कृष्णा १३ को श्रीज्ञानेश्वर महाराजने जीवित-समाधि ले ली। और उनके समाधि लेनेके बाद एक वर्षके भीतर ही सोपानदेव, चांगदेव, मुक्ताबाई और निवृत्तिनाथ भी एक-एक करके इस लोकसे परमधामको पधार गये। श्रीज्ञानेश्वर महाराजके ये चार ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं—भावार्थदीपिका अर्थात् ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, हरिपाठके अभंग तथा चांगदेव-पासठी (पैंसठी)। इनके अतिरिक्त उन्होंने योगवासिष्ठपर एक अभंगवृत्तकी टीका भी लिखी थी, पर अभीतक वह उपलब्ध नहीं हुई है।*

—ल० गर्दे

श्रीसोपानदेव

संवत् १३३४ कार्तिक शुक्ला पूर्णिमाकी रात्रिमें श्रीसोपानदेवका जन्म हुआ। श्रीनिवृत्तिनाथ और ज्ञानदेवके समान ये भी जीवन्मुक्त थे। इनका चरित्र श्रीज्ञानेश्वर महाराजके चरित्रमें इस तरह मिला हुआ है कि उससे अलग करके नहीं दिखाया जा सकता। इन्होंने स्वयं ही अपने एक अभंगमें कहा है कि एक दीपज्योतिमें जैसे दूसरी दीपज्योति मिल जाती है उसी प्रकार मेरा जीवन श्रीज्ञानेश्वरके जीवनमें मिलकर उसीमें घुल गया है। सोपानदेव कहते हैं—तत्त्व एक ही है, उसीको श्रीहरि कहते हैं; वही श्रीकृष्ण, वही विट्ठल और वही ज्ञानेश्वर है; सोपान सर्वात्मना उसीमें विलीन है। श्रीज्ञानेश्वर महाराजके समाधि लेनेके एक ही महीनेके बाद सासवड स्थानमें हरिनामसंकीर्तन करते हुए सोपानदेवने शरीर छोड़ा।

—ल० गर्दे

मुक्ताबाई

श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी बहिन मुक्ताका जन्म संवत् १३३६ की आश्विन शुक्ला १ को मध्याह्नमें हुआ। अपने तीनों भाइयोंके समान ये भी जीवन्मुक्त कोटिकी थीं। योगमार्गको भी ये अच्छी तरहसे जानती थीं। नाद-विन्दु, शून्याशून्य, मन-पवनयोग, सतरहवीं कला, अनाहतध्वनि, सहस्रदल, अजपाजप इत्यादि संकेत इनके अभंगोंमें बार-बार आते हैं। अद्वैतानुभव भी इन्हें प्राप्त था और सगुणप्रेम भी उनका अत्युत्कट था। इनकी वयस् जितनी अल्प थी, अधिकार उतना ही बड़ा था। चांगदेव-जैसे चण्डकर्मा अद्भुत योगीने इन्हींको अपना गुरु माना और इनका शिष्यत्व ग्रहण किया। एक बारकी घटना है कि मुक्ताबाई कपड़े उतारकर स्नान कर रही थीं। चांगदेव अकस्मात् वहाँ आ पहुँचे। पर मुक्ताबाईको इस अवस्थामें देख उन्होंने अपना मुँह ढँक लिया और उन्हीं पाँवों लौट गये। मुक्ताबाई जब बाहर आयीं तब तीनों भाइयोंके समक्ष चांगदेवसे बोलीं—'चौदह सौ वर्षके बड़े बूढ़े तुम हुए, पर तुम्हारे मनकी भ्रान्ति न गयी। ऐसा कठिन और महान् योगसाधन तुमने किया, पर अभी आत्मतत्त्वकी पहचान न हुई। सब कुछ करके जो बच रहता है, सब कुछ करते हुए जिसका ग्रहण होता है, जिसे हाथोंसे दूर करते हो, चलते हुए जिसपर पैर रखते हो, उस सारतत्त्वको भुलाकर तुमने मेंढककी तरह केवल शरीरको ही पोसा है। स्त्री-पुरुष-व्यक्तिभेदकी भावना पदार्थाभाविनीमें नहीं हुआ करती।' चांगदेवने माता कहकर मुक्ताबाईके चरणोंमें अपना मस्तक रखा और दीन स्वरसे कहा, 'हे जननी! निजानन्दामृतसे मुझे जिला दे, सुखका परम स्वरूप मुझे दिखा दे।' मुक्ताबाईने चांगदेवको सम्मुख बैठाकर उन्हें आत्मस्वरूपका बोध कराया और उनका उद्धार किया। श्रीज्ञानेश्वर महाराजके समाधि लेनेके पाँच महीने बाद ही मुक्ताबाईने तापी नदीके किनारे माणगाँव स्थानमें अपना मर्त्यकलेवर त्याग दिया।

—ल० गर्दे

* श्रीज्ञानेश्वरका विस्तृत चरित्र गीताप्रेस, गोरखपुरसे अलग पुस्तकाकारमें प्रकाशित हुआ है।

श्रीचांगदेव महाराज

(लेखक—पं० श्रीनरहरशास्त्री खरशीकर)

श्रीचांगदेव महाराजका आश्रम गोदावरी नदीके तटपर पुणतांबे क्षेत्रमें था। ये शुक्लयजुर्वेदी ब्राह्मण थे। सब विद्याएँ इन्हें प्राप्त थीं। ज्योतिषशास्त्रसे इन्हें यह ज्ञात हो चुका था कि चौदह सौ वर्ष बाद मुझे सद्‌गुरु मिलेंगे। इसलिये इन्होंने योगविद्याके बलसे अपना स्थूल शरीर चौदह सौ वर्षतक बनाये रखा। मृत्युकालके उपस्थित होनेपर ये समाधि लगाकर मृत्युको जीत लेते और अपना स्थूल शरीर अपने हाथमें कर लेते थे। जिस समय इनके चौदह सौ वर्ष पूरे होनेको आये और इनकी अन्तिम बारकी समाधि लगी तब श्रीज्ञानेश्वरादि भाई-बहिन पैठणके ब्राह्मणोंसे शुद्धिपत्र ले चुके थे और भैंसेसे वेदमन्त्र कहलवाना आदि अनेक अद्‌भुत चरित्रोंसे उनका यश चारों ओर फैल गया था। चांगदेवजी जब अपनी समाधिसे उठे तब उन्होंने भी ये चरित्र सुने और सुनकर सोचने लगे कि ये ही हमारे सद्‌गुरु होंगे। सद्‌गुरुदर्शनके लिये चल पड़नेकी उनकी मनोवृत्ति देखकर शिष्योंने उन्हें समझाया कि किसीकी कीर्ति सुनकर अपने स्थानसे च्युत होना ठीक नहीं। चांगदेवजी कोई सामान्य मनुष्य नहीं थे। वे अनेक सिद्धियोंके स्वामी, लाखों शिष्योंके गुरु और अपने मठके अधिपति थे। ये सब अहंकार उनके अन्दर अपने हाथ-पैर फैलाये हुए थे। इसलिये शिष्योंकी सलाह उन्हें जँच गयी। तब यह विचार हुआ कि श्रीज्ञानेश्वर महाराजके पास एक पत्र भेजकर देखा जाय कि ये अपने गुरु होने योग्य हैं या नहीं। पर जब पत्र लिखने बैठे तब उनकी समझमें यह नहीं आया कि श्रीज्ञानेश्वरादिकोंको चिरंजीव कहकर आशीर्वाद दिया जाय या इन्हें श्रेष्ठ मानकर प्रणाम किया जाय। यदि चिरंजीव कहकर आशीर्वाद देते हैं तो इनका ज्ञानाधिकार महान् है और श्रेष्ठ कहकर इन्हें प्रणाम करते हैं तो मेरे चौदह सौ वर्षके योग, तप और विद्यासे परिपूर्ण जीवनके सामने ये तो कलके बच्चे हैं! प्रणाम-आशीर्वादकी समस्या ही जब हल न हुई तब लिखा क्या जाय। इसलिये इन्होंने बिना कुछ लिखे कोरा कागज ही शिष्योंके हाथ आलन्दी भेजा। शिष्योंने वह पत्र श्रीज्ञानेश्वर महाराजके चरणोंके समीप रखा। मुक्ताबाईने कोरा कागज देखकर कहा कि चौदह सौ वर्ष तप करके अभी ये कोरे-के-कोरे ही रह गये। ज्ञानेश्वर महाराजने यह पत्र श्रीनिवृत्तिनाथ महाराजके चरणोंमें रखा। उन्होंने कहा, 'ज्ञानदेव! यह उस महासिद्धका मूक पत्र है, इससे यह प्रकट होता है कि यह पुरुष अन्दर-बाहर कोरा या स्वच्छ है। इसके पत्रका यथार्थ उत्तर लिखो। गुरुकी आज्ञाके अनुसार ज्ञानेश्वर महाराजने पैंसठ ओवियोंमें उत्तर लिखा। इन पैंसठ ओवियोंको 'चांगदेव पैंसठी' कहते हैं। उत्तरमें बहुत-सी बातें थीं। यहाँ केवल एक ही बात लिखते हैं। ज्ञानेश्वर महाराजने चांगदेवजीको लिखा कि आप जो मूक हैं, इससे आप यही जनाना चाहते हैं कि 'वेद-शास्त्रोंमें वर्णित ब्रह्म जो मन-वाणीको अगोचर है, उसे मैं (चांगदेव) भी जानता हूँ। उस अनिर्वाच्य तत्त्वको लेखनके द्वारा व्यक्त करके यदि आप ऐसा कर सकते हों कि सब अवस्थाओंमें मैं (चांगदेव) उसका आनन्द प्राप्त कर सकूँ तो आप इस कागजपर लिखें। उससे यदि मेरा समाधान होगा तो मैं यह जानूँगा कि आप मेरे सद्‌गुरु हैं और तब मैं आपके चरणोंकी शरण लूँगा। नहीं तो यह कागज जैसा कोरा है, वैसा ही मैं कोरा और आप भी कोरे, यह जानकर चुप रहूँगा।' चांगदेवजीके कोरे पत्रने ज्ञानेश्वरजीसे यही बातें कीं और इनका जो उत्तर ज्ञानेश्वर महाराजने दिया उसे लेकर चांगदेवजीके शिष्य चांगदेवजीके पास लौट गये। चांगदेवजीने वह उत्तर देखा, कई बार पढ़ा, पर उसका आशय उनकी समझमें न आया। किन्तु उनकी यह धारणा दृढ़ हो गयी कि ज्ञानेश्वर महाराज मेरे सद्‌गुरु हैं, और वे अपने चौदह सौ शिष्योंको साथ लेकर एक बड़े भयंकर बाघपर सवार हो हाथमें साँपका चाबुक लिये आलन्दी पहुँचे। उस समय ये चारों भाई-बहिन एक चबूतरेपर बैठे थे। चांगदेवकी बाघकी सवारीका वैसा ही अद्‌भुत उत्तर देनेके लिये श्रीज्ञानेश्वर महाराजने उस चबूतरेको ही चलनेकी आज्ञा की। चबूतरेको चलता देखकर चांगदेवजीकी सिद्धिका अहंकार चूर हो गया और वे बाघकी सवारीसे नीचे उतरे और ज्ञानेश्वर महाराजके चरणोंमें लोट गये। चांगदेवजीने

महाराजसे 'पैंसठी' का अर्थ जाननेकी इच्छा प्रकट की। महाराजने कहा, तुम्हारे इन चौदह सौ शिष्योंमेंसे कोई एक भी शिष्य बलि जानेको तैयार हो तो 'पैंसठी' का अर्थ हो सकता है। बलि जानेकी बातसे घबड़ाकर सब शिष्य अपने गुरुको छोड़कर चले गये। इससे चांगदेवजीका गुरुत्वका अहंकार भी चूर हुआ और चांगदेवजी बोले, मैं ही आपका शिष्य हूँ और बलि जानेको तैयार हूँ। तब श्रीज्ञानेश्वर महाराजने 'पैंसठी' का मर्म समझाकर चांगदेवजीको सर्वत्र व्याप्त भावातीत त्रिगुणरहित सद्गुरुरूपका बोध कराया। पीछे मुक्ताबाईने इनके मस्तकपर हाथ रखकर इन्हें पूर्णावस्थाकी अनुभूति करायी। इस प्रकार श्रीज्ञानेश्वर-चतुष्टय चांगदेवको प्राप्तकर पंचायतन हुए। श्रीज्ञानेश्वर महाराजके जीवित समाधि लेनेके पश्चात् संवत् १३५३ में चांगदेवजी इस लोकसे सिधार गये।

गोरा कुम्हार

श्रीज्ञानेश्वरकालीन संतोंमें वयस्में सबसे बड़े गोराजी कुम्हार थे। इनका जन्म तेरढोकी स्थानमें संवत् १३२४ में हुआ। इन्हें सब लोग 'चाचा' कहा करते थे। ये बड़े विरक्त, दृढ़ निश्चयी और ज्ञानी भक्त थे। इनकी दो स्त्रियाँ थीं। भजनानन्दमें तल्लीन होना इनका ऐसा था कि एक बार इनका एक नन्हा बच्चा इनके उन्मत्त नृत्यमें पैरोंतले कुचलकर मर गया, पर इन्हें इसकी कुछ भी सुध न हुई। इससे चिढ़कर इनकी सहधर्मिणी संतीने इनसे कहा कि अब आजसे आप मुझे स्पर्श न करें। तबसे इन्होंने उन्हें स्पर्श करना सदाके लिये त्याग ही दिया। संतीको बड़ा पश्चात्ताप हुआ और बड़ी चिन्ता हुई कि इन्हें पुत्र अब कैसे हो, और कैसे इनका वंश चले। इसलिये उन्होंने अपनी बहिन रामीसे इनका विवाह करा दिया। विवाहके अवसरपर श्वशुरने इन्हें उपदेश किया कि दोनों बहिनोंके साथ एक-सा व्यवहार करना। बस, इन्होंने नवविवाहिताको भी स्पर्श न करनेका निश्चय कर लिया। एक रातको दोनों बहिनोंने इनके दोनों हाथ पकड़कर अपने बदनपर रखे। इन्होंने अपने इन दोनों हाथोंको पापी समझकर काट डाला। इस तरहकी कई बातें इनके विषयमें प्रसिद्ध हैं। काशी आदिकी यात्राओंसे लौटते हुए श्रीज्ञानेश्वर-नामदेवादि संत इनके यहाँ ठहर गये थे। सब संत एक साथ बैठे हुए थे। पास ही कुम्हारकी एक थापी पड़ी हुई थी। उसपर मुक्ताबाईकी दृष्टि पड़ी, उन्होंने पूछा, 'चाचाजी! यह क्या चीज है?' गोराजीने उत्तर दिया, 'यह थापी है, इससे मिट्टीके घड़े ठोंककर यह देखा जाता है कि कौन घड़ा कच्चा है और कौन पक्का।' मुक्ताबाईने कहा, 'हम मनुष्य भी तो घड़े ही हैं, इससे क्या हमलोगोंकी भी कच्चाई-पक्काई मालूम हो सकती है?' गोराजीने कहा, 'हाँ, हाँ, क्यों नहीं।' यह कहकर उन्होंने थापी उठायी और एक-एक संतके सिरपर थपकर देखने लगे। और संत तो यह कौतुक देखने लगे, पर नामदेव बिगड़े। उन्हें यह संतोंका और अपना भी अपमान जान पड़ा। गोराजी थपते-थपते जब इनके पास आये तो इनको बहुत बुरा लगा। गोराजीने इनके भी सिरपर थापी थपी और बोले, 'संतोंमें यही घड़ा कच्चा है, और नामदेवसे कहने लगे, 'नामदेव! तुम भक्त हो, पर अभी तुम्हारा अहंकार नहीं गया; जबतक गुरुकी शरणमें नहीं जाओगे तबतक ऐसे ही कच्चे रहोगे।' नामदेवको बड़ा दुःख हुआ। वे जब पण्ढरपुर लौट आये तब उन्होंने श्रीविट्ठलसे अपना दुःख निवेदन किया। भगवान्ने उनसे कहा, 'गोराजीका यह कहना तो सच है कि श्रीगुरुकी शरणमें जबतक नहीं जाओगे, तबतक कच्चे रहोगे। हम तो तुम्हारे सदा साथ हैं ही; पर तुम्हें किसी मनुष्यदेहधारी पुरुषको गुरु मानकर उसके सामने नत होना होगा, उसके चरणोंमें अपना अहंकार लीन करना होगा।' भगवान्के आदेशके अनुसार नामदेवजीने श्रीविसोबा खेचरको गुरु माना और गुरूपदेश ग्रहण किया। अस्तु। इस प्रकार गोराजी कुम्हार बड़े अनुभवी, ज्ञानी, भक्त और संत थे। उनके अभंगोंमें वेदान्तके पारिभाषिक शब्द प्रचुरतासे आये हैं और अनाहत ध्वनि, 'सतरहवींका उदक', 'खेचरीमुद्रा' आदि अनुभवके संकेत भी मिलते हैं।

—ल० गर्दे

विसोबा खेचर

पण्ढरपुरसे पचास कोसपर औंढिया नागनाथ अति प्राचीन शिवक्षेत्र है। ये नागनाथ द्वादश ज्योतिर्लिंगोंमेंसे एक हैं। श्रीविसोबा खेचर इसी क्षेत्रके अधिवासी यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। पर ये सराफीका काम करते थे। पीछे श्रीज्ञानेश्वरमण्डलमें सम्मिलित होनेपर ये योगज्ञानमें निपुण हुए और महात्माओंमें इनकी गणना होने लगी। ये श्रीज्ञानेश्वर महाराजको अपना गुरु मानते थे। एक अभंगमें उन्होंने कहा है—'महाविष्णुके अवतार। श्रीगुरु मेरे ज्ञानेश्वर।' फिर एक जगह उन्होंने ऐसा भी कहा है कि 'चांगदेवको मुक्ताबाईने अंगीकार किया, और सोपानदेवने मुझपर दया की; अब जनन-मरणका भय नहीं रहा, क्योंकि खेचरीमुद्रा गुरुने तत्त्वत: दे दी।' अर्थात् श्रीज्ञानेश्वर और श्रीसोपान दोनोंको ही ये गुरु मानते थे। अस्तु, नामदेवको उनके उपास्य श्रीपांडुरंगने जिन विसोबा खेचरको गुरु माननेका उपदेश किया वे विसोबा खेचर ये ही हैं। नामदेव जब इनके पास आये तब ये अन्तर्ज्ञानसे नामदेवका आना जानकर जान-बूझकर शिवलिंगपर पैरोंको पसारे पड़े थे! नामदेवको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। नामदेवसे पड़े-पड़े ही उन्होंने कहा, 'रे नामिया! मैं बूढ़ा हो गया हूँ, पैर मुझसे अब उठते नहीं; एक काम कर, तू इन्हें उठाकर ऐसी जगह रख दे जहाँ शिवलिंग न हो।' नामदेवने पिंडिकापरसे पैर उठाये और नीचे रखे, पर जहाँ रखे वहीं पिंडिका निकल आयी। वहाँसे उठाकर दूसरी तरफ रखे, वहाँ भी पिंडिका निकल आयी। आठों दिशाओंमें वे उनके पैरोंको उठाये घूम गये। पर जहाँ वे उनके पैरोंको रखते वहीं स्वयंभू शिवलिंग आविर्भूत हो जाते। नामदेव अब समझे। उन्होंने गुरुचरणोंको पकड़ लिया, शरणागत हो गये। इन्होंने तब नामदेवको स्वरूपसाक्षात्कार कराया। नामदेवजीने अपने इन सद्गुरु श्रीविसोबा खेचरकी बड़ी महिमा वर्णन की है। कहा है कि ऐसे सद्गुरुके चरण कभी कोई न छोड़े। 'ये मेरी मैया हैं जिन्होंने मेरे ऊपर अपने कृपाछत्रसे छाया की हैं।' ग्रन्थसाहबमें भी नामदेवकी यह बानी है—

बिन गुरुदेव और न जाई। नामदेव गुरुकी सरनाई॥

श्रीविसोबा खेचरके अभंगोंसे यह जाना जाता है कि वे योगमार्गके अतिरिक्त ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गमें भी पूर्ण प्रवीण थे। —ल० गर्दे

श्रीनामदेव

नरसीब्राह्मणी नामक स्थानमें संवत् १३२७ में कार्तिक शुक्ला ११ रविवारको सूर्योदयके समय श्रीनामदेवका जन्म हुआ। इनके पिताका नाम दामाशेट और माताका नाम गोणाई था। इनकी परम्परासे दर्जी*की वृत्ति थी और परम्परासे ही ये श्रीविट्ठलभक्त थे। सदा 'विट्ठल' नाम लिया करते थे। नामदेवपर बचपनमें ही भगवन्नामका संस्कार पड़ा था। खड़ी-पाटी जब इनके हाथमें आयी और इन्हें अक्षरोंकी पहचान हुई तो ये पाटीपर 'विट्ठल' नाम ही लिखा करते थे। 'विट्ठल, विट्ठल' कहना, विट्ठलमूर्तिका ही ध्यान करना और 'विट्ठल' नामका जयकारा लगाना, यही इनके बचपनका खेल था। विट्ठलमें ये इतने लवलीन हो गये कि ये जब आठ वर्षके हुए तभीसे भगवान्को ये अपने हाथों नैवेद्य खिलाने और दूध पिलाने लगे। विट्ठल-मूर्तिके सामने अड़कर बैठ जाते और भगवान्से यह कहते कि यह दूध पी लो, नहीं तो मैं दूध कभी न पीऊँगा। भगवान्को भी विवश होकर पत्थरका वेश उतारकर दूध पीना ही पड़ता था। माता गोणाई जो-जो कुछ नामदेवको देतीं वह ये अपने प्यारे विट्ठलको अर्पण कर दिया करते थे। ये नौ वर्षके थे तभी इनका विवाह हो गया। पर प्रपंचमें इनका बिलकुल ध्यान नहीं था। भगवन्नामधनके सिवा ये न कुछ कमाते थे, न कुछ बटोरते थे। इनका ध्यान था पण्ढरपुरमें श्रीविट्ठलकी ओर। आखिर ये अपना गाँव-घर छोड़कर पण्ढरपुरमें ही जाकर बस गये। वहाँ गोरोबा, साँवता आदि अनेक संत इन्हें मिले और इनके भजनों और कीर्तनोंकी धूम मची। कालक्रमसे इनका

* राजपूतानेमें नामदेवजीको लोग छींपी कहते हैं। किन्तु वहाँ एक ही जातिके लोग दर्जी और छींपी दोनोंका काम करते हैं, इसलिये जो उन्हें छींपी बताते हैं वे भी ठीक ही कहते हैं। —सम्पादक

घरबार भी बढ़ा। चार पुत्र और कन्याएँ इनके हुईं। पुत्रोंके विवाह हुए, पुत्रवधुएँ घर आयीं। पर इन्हें गृहासक्ति कभी न हुई। श्रीविट्ठलमें इनकी ऐसी अनन्य निष्ठा थी कि ये पण्ढरपुरको ही सर्वश्रेष्ठ क्षेत्र, चन्द्रभागाको ही पवित्रतम तीर्थ और पण्ढरपुरमें आकर बसे हुए द्वारकाधीश श्रीविट्ठलको ही परमदेव मानते थे; यहाँतक कि जिसके कटिपर कर नहीं, ईंटपर जो खड़े न हों, ऐसे किन्हीं भगवान्‌को वे भगवान् ही नहीं मानते थे। इनकी एकान्त भक्तिका यह बाना था। भगवान् भी इनसे कितने प्रसन्न और कितने इनके अधीन थे, इस बातको दरसानेवाली एक घटना नीचे लिखी जाती है। शिवरात्रिके अवसरपर नामदेव औंढिया नामक स्थानमें नागनाथ महादेवके दर्शन करने गये। श्रीशंकरभगवान्‌के दर्शन-पूजन कर, सम्मुख हाथ जोड़ खड़े होकर ये कीर्तन करने लगे। उस समय श्रीशंकरभगवान्‌का अभिषेक करनेवाले ब्राह्मणोंने नामदेवकी कीर्तन-भक्तिका तिरस्कार कर उन्हें वहाँसे हटा दिया। नामदेव नम्रतासे वैसे ही हाथ जोड़े गर्भमन्दिरके पिछवाड़े खड़े होकर कीर्तन करने लगे। तब कहते हैं कि भूतभावन भगवान् भूतनाथने घूमकर अभिषेक करनेवाले ब्राह्मणोंकी ओर पीठ फेर दी और श्रीनामदेवके सम्मुख हो गये। अब भी इस घटनाका यह चिह्न मिलता है कि वहाँ नन्दिदेव शंकरके सामने नहीं, पीछेकी ओर हैं।

श्रीनामदेवके अनेक शिष्य हुए, जिनमें सबसे पहले शिष्यत्व ग्रहण करनेवाले एक ब्राह्मण थे जिनका नाम 'परिसा भागवत' था। 'परिसा' शब्दका अर्थ मराठीमें 'सुनो' होता है। ये महानुभाव पण्ढरपुरमें महाद्वारके सामने श्रीमद्भागवतकी कथा बाँचते थे और सदा सबको 'सुनो भागवत' यही उपदेश डाँटकर दिया करते थे। इसीसे इनका नाम ही 'सुनो भागवत' (परिसा भागवत) पड़ गया। नामदेवके विमल यशसे इनके गर्वको बड़ी ईर्ष्या होती थी। एक दिनकी घटना है कि नामदेव इनकी कथा सुनने बैठे। इन्होंने भी मन-ही-मन नामदेवके नामकी ईर्ष्यासे जलते हुए अपने ब्राह्मणशरीर होनेके अभिमानका कुछ ऐसा विस्तार और नामदेवको नीचा दिखानेके लिये उनपर कुछ ऐसा वाक्प्रहार किया कि वे नामदेव ही थे जो उसका 'जसको तस' प्रत्युत्तर न देकर अत्यन्त नम्रताके साथ उनके चरणोंमें गिर पड़े। इससे परिसा भागवत और भी फूलकर कुप्पा हो गये। घर जाकर मारे गर्वके अपनी पतिव्रता सहधर्मिणीसे कहने लगे कि 'नामदेवकी सारी पोल आज मैंने खोल दी। बड़ा भक्त बना फिरता था, आज जब व्यासासनसे खबर ली तब आ ही तो गया शरणमें और चरण पकड़कर लगा क्षमा माँगने।' परिसा भागवतकी सहधर्मिणी समझदार थीं। नामदेव-जैसे भक्तकी निन्दा और उनको नीचा दिखानेका यह दर्प देखकर उन्हें बहुत दु:ख हुआ। उन्होंने पतिदेवको समझाया कि 'भक्तोंसे इस प्रकार ईर्ष्या करना, भक्तोंको नीचा दिखाना अच्छा नहीं। जिन नामदेवकी भक्तिसे औंढियामें भगवान् शंकर भी घूम गये उनसे आप ईर्ष्या मत करो, उन्हें हीन जातिका समझकर उनका तिरस्कार मत करो। उनका अधिकार बहुत बड़ा है, भगवान् उनके वशमें हैं; इसलिये उनसे प्रेम करो, उनका आदर करो, उनकी कृपासे तो आपका उद्धार हो सकता है।' पतिव्रताका यह उपदेश परिसा भागवतपर असर कर गया। उन्होंने बड़ा पश्चात्ताप किया और तबसे वे नामदेवकी हरिकथाएँ बड़े आदरके साथ सुनने लगे। एक दिन नामदेव जब कीर्तन कर रहे थे तब भगवान् श्रीपाण्डुरंगको नृत्य करते हुए इन्होंने देखा और कीर्तन समाप्त होनेपर इन्होंने नामदेवके चरण पकड़ लिये। नामदेवने इन्हें उठाकर कहा, 'मैं तो संतोंका सेवक हूँ, उनके चरणोंकी रज हूँ, विशेष करके आपका तो आज्ञाधारक हूँ।' एक दिन एकान्तमें परिसा भागवतने नामदेवसे पूछा, 'नामदेवजी! भगवान्‌के दर्शन आपको कैसे हुए, यह मुझे बता दो।' नामदेवने अपनी स्थिति बतलाकर उनका समाधान किया। सारा अहंकार छोड़कर परिसा भागवत उनके शिष्य हो गये। अपने अभंगोंमें इन्होंने कहा है कि 'नामा और केशव एक ही हैं। नामदेव और विट्ठलदेव दोनों एक रूप हैं।'

श्रीज्ञानेश्वर महाराज पण्ढरपुरमें नामदेवजीसे मिले थे, भगवान् विट्ठलकी आज्ञासे नामदेवजी श्रीज्ञानेश्वरजीके साथ तीर्थयात्राको गये। सब तीर्थोंसे लौटकर अनन्यनिष्ठ श्रीनामदेवजीने भगवान्‌के सामने यही कहा कि पण्ढरपुर-जैसा कोई क्षेत्र नहीं, चन्द्रभागा-जैसा कोई तीर्थ नहीं, और हे भगवन्! आप-जैसे परमदेव दूसरे कोई नहीं। इन तीर्थयात्राओंसे लौटते हुए, बीकानेरसे दस-बारह कोसपर कौलायतजी नामक स्थानमें ज्ञानदेव और नामदेव दोनोंको बड़ी प्यास लगी। परन्तु उस मरुभूमिमें जल कहाँ मिले। बड़ी कठिनाईसे एक कुँआ देख पड़ा, सो भी बिलकुल सूखा। ज्ञानदेवको योगकी सब सिद्धियाँ प्राप्त थीं। लघिमा सिद्धिसे वे कुँएमें नीचे उतरे, तलको

भेदकर जल पी आये और नामदेवसे बोले कि तुम्हें इसी रास्तेसे जल ला देता हूँ। नामदेवने कहा कि भला जल भी कहीं दूसरोंके हाथों पिया जाता है। उन्होंने अपने विट्ठलको पुकारा। उस पुकारका उत्तर आया, कूपके नीचेसे उदकको बाहर फेंकता हुआ, और कूप उदकसे भर गया। कुँएके जगत्के ऊपरसे होकर उदक बहने लगा। ज्ञानदेव नामदेवकी भक्तिका यह प्रताप देखकर बहुत प्रसन्न हुए। ज्ञानदेवने नामदेवसे कहा, 'मैं जो यह तीर्थयात्रा करने चला था सो तुम्हारे ही सत्संग-सुखको पानेके लिये चला था। तुमने अपनी एकान्त निष्ठासे भगवान्को अपना लिया है। तुम धन्य हो, तुम्हारा कुल धन्य है।' श्रीज्ञानेश्वर महाराजके समाधि लेनेके पश्चात् नामदेव कोई चालीस-पचास साधुओंको संग लिये मथुरा-वृन्दावन पहुँचे और श्रीकृष्णलीलास्थलोंके दिव्य आनन्दमें विहार करते हुए, श्रीविट्ठलनामका संकीर्तन करते-कराते हुए आगे बढ़े और पंजाबकी ओर निकल गये। पंजाबमें उन्होंने भगवन्नामका खूब प्रचार किया। पंजाबी हिन्दीमें उनके पद हैं। गुरु-ग्रन्थसाहबमें उनके साठसे भी अधिक पद मिलते हैं। महाराष्ट्रमें जैसे उनके अति मनोहर अभंग सर्वत्र लोकप्रिय हुए वैसे ही पंजाबमें भी उनकी बानियाँ गायी जाने लगीं। हरद्वारसे तीन मीलपर ज्वालापुरमें नामदेवजीका एक मठ है। गुरुदासपुर जिलेके 'घोमान' ग्राममें नामदेवजीका बनवाया हुआ ठाकुरद्वारा है और उसमें पीछेसे नामदेवजीकी पादुका भी स्थापित हुई है। यहाँके प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोंमें 'नामदेवकी मुखबानी' नामसे कविताओंका एक संग्रह है। 'नामदेवकी जन्मसाखी' भी गुरुमुखीमें लिखी हुई मिलती है, जिसमें नामदेवजीका चरित्र है और यह चरित्र महाराष्ट्रके नामदेवके चरित्रसे मुख्य-मुख्य बातोंमें मिलता है। ग्रन्थसाहबमें नामदेवजीके जो पद हैं उनकी भाषाका मराठीपन अभीतक ज्यों-का-त्यों बना हुआ है।

नामदेवने मरी हुई गायको जिलाया था, यह बात प्रसिद्ध है। नामदेव किसी स्थानमें हरिकीर्तन कर रहे थे। मुसलमान बादशाहने ऐसे कीर्तनको कुफ्र जाना और उसका अपमान करनेके लिये वहीं आकर नामदेवके सामने एक गौकी हत्या कर दी और कहा कि इस गौको जिला दो, यदि तुम्हारे राम, कृष्ण, हरि, विट्ठल सच्चे हैं; नहीं तो तुम्हारी भी गर्दन इसी तलवारके धार उतार दूँगा। कहना न होगा कि नामदेवजीने भगवान् विट्ठलसे प्रार्थना करके उस गायको जिला दिया। ग्रन्थसाहबमें इस प्रसंगका बड़ा सुन्दर वर्णन बतलाया जाता है।

नामदेव अठारह वर्ष पंजाबमें रहे, पीछे पण्ढरपुर लौट आये। पण्ढरपुरमें श्रीविट्ठलमन्दिरके महाद्वारकी सीढ़ीपर संवत् १४०७ वि० में, अस्सी वर्षकी अवस्थामें नामदेवने शरीर त्यागा। उनका वाङ्मय शरीर आज भी विद्यमान है और उनके भक्तिपूर्ण एवं प्रेममधुर अभंग गा-गाकर पण्ढरपुरमें भक्तजन भगवान्को रिझाया करते और परमानन्दमें मगन होते हैं। —ल० गर्दे

भक्त राँका-बाँका

पण्ढरपुरमें लक्ष्मीदत्तजी नामक एक ऋग्वेदी महाराष्ट्र ब्राह्मण रहते थे। वे स्त्रीसहित भगवान् और भगवद्भक्तोंकी सेवामें रत रहते थे। एक बार भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान्ने उनके घरपर संतरूपसे पधारकर और उनकी सेवासे प्रसन्न होकर वरदान दिया कि तुम्हारे घरमें मेरे अंशसे एक पुत्र होगा।

तदनुसार वि० सं० १३४७ मार्गशीर्ष शु० २ गुरुवारको धनलग्नमें श्रीमती रूपादेवीके गर्भसे श्रीराँकाजीका जन्म हुआ। और उसी प्रकार लक्ष्मीजीके अंशसे श्रीबाँकाजीका अवतार सं० १३५१ वैशाख कृष्ण ७ बुधवारको कर्कलग्नमें पण्ढरपुरमें ही हरिदेव ब्राह्मणके घरपर हुआ।

युवावस्था प्राप्त होनेपर भक्तवर राँकाजीका विवाह बाँकाजीसे हो गया। राँकाजी अत्यन्त रंक थे। इसीसे सुनते हैं, इनका नाम राँका पड़ गया था। राँकाजी कंगाल और अशिक्षित होनेसे जगत्की दृष्टिमें नगण्य होनेपर भी तीव्र वैराग्य और परम भक्तिके प्रभावसे परमात्माके बड़े प्रेमपात्र थे। राँकाजीकी स्त्री भी बड़ी साध्वी, पतिव्रता और भक्तिपरायणा थीं। वैराग्यमें तो वे राँकाजीसे भी बढ़कर थीं, दिन-रात पतिसेवा और भजन-ध्यान किया करती थीं। जंगलसे चुन-चुनकर दोनों स्त्री-पुरुष सूखी लकड़ियाँ ले आते और उन्हें बेचकर जो कुछ भी मिलता उसीसे भगवान्के भोग लगाकर प्रसाद पाते।

राँकाजीको स्त्रीसहित दुःख भोगते देखकर प्रसिद्ध सिद्ध भक्त नामदेवजीको बड़ा दुःख हुआ।

उन्होंने राँकाजीको धन देनेके लिये भगवान्से

प्रार्थना की। नामदेवजीको उत्तर मिला कि राँका कुछ भी लेना नहीं चाहता, तुम्हें देखना है तो कल प्रात:काल वनके रास्तेपर छिपकर देखना। दूसरे दिन प्रात:काल भगवान् जिस रास्तेसे राँकाजी अपनी स्त्रीसहित जंगलको जाया करते थे उसी रास्तेपर मुहरोंकी एक थैली डालकर अलग खड़े हो गये।

प्रात:कालका समय है। राँका-बाँका दोनों लकड़ियाँ लाने जंगल जा रहे हैं। भगवत्प्रेमके नशेमें मस्तीसे चलते हुए राँकाके पैरमें थैलीकी ठोकर लगी। राँकाने बैठकर देखा, मुहरोंसे भरी थैली है। राँका उसपर धूल डालने लगे। इतनेमें उनकी स्त्री भी आ गयी। उसने पूछा 'किस चीजको धूलसे ढँक रहे हैं?' राँकाने स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। स्त्रीने फिर पूछा, तब राँकाने कहा 'यहाँ एक मुहरोंकी थैली पड़ी है। मैंने सोचा कि तुम पीछेसे आ रही हो, कहीं मुहरोंके लिये मनमें लोभ पैदा हो जायगा तो अपने साधनमें विघ्न होगा; इसीलिये उसे धूलसे ढँक रहा था।' परम वैराग्यवती स्त्री इस बातको सुनकर हँस पड़ी और बोली कि नाथ! सोने और धूलमें भेद ही क्या है, आप धूलसे धूलको क्यों ढँक रहे थे? स्त्रीकी इस बातसे राँकाको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने कहा कि तुम्हारा वैराग्य बड़ा बाँका है। मेरी बुद्धिमें तो सोने-मिट्टीका भेद भरा है, तुम तो मुझसे बहुत आगे बढ़ गयी हो।

इस बाँके वैराग्यके कारण ही उनका नाम 'बाँका' पड़ा। भक्तवत्सल भगवान् छिपकर भक्तोंकी यह वैराग्यलीला देख-देखकर मुदित हो रहे थे।

नामदेवजी तो राँका-बाँकाके वैराग्यको देखकर अपनेको तुच्छ मानने लगे और भगवान्से बोले—'प्रभो! जिसपर तुम्हारी कृपादृष्टि हो जाती है, तीनों लोकोंके राज्यपर भी उसका मन मोहित नहीं हो सकता! तुम्हारे सिवा उसे और कुछ भी नहीं सुहाता। जिसको अमृतका स्वाद मिल गया है वह सड़े गुड़की तरफ क्यों ताकने लगा।'

भक्तवत्सल भगवान्ने उस दिन राँका-बाँकाके लिये जंगलकी सारी सूखी लकड़ियोंके बोझे बाँधकर रख दिये। राँका-बाँकाने समझा कि किसी दूसरेने अपने लिये बोझे बाँध रखे होंगे! परायी चीज छूना पाप समझकर उन्होंने उस तरफ ताकातक नहीं और सूखी लकड़ियाँ न मिलनेसे दोनों खाली हाथ वापस लौट आये। उस दिन दम्पतीको उपवास करना पड़ा। उन्होंने विचार किया कि यह तो मुहरें आँखसे देखनेका फल है, हाथ लगानेपर तो न मालूम क्या होता।

अन्तमें भगवान्ने दया करके दम्पतीको अपना देवदुर्लभ दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ और धन्य किया!

भक्तवर राँकाजी १०१ वर्षतक इस धराधामपर लीला करके सं० १४५२की वैशाख शुक्ला पूर्णिमाको श्रीबाँकाजीके साथ परमधाम पधारे।

साँवता माली

पण्ढरपुरसे दस-बारह मीलपर अरणभेंडी नामक एक ग्राम है। साँवता यहींके रहनेवाले थे, इनका जन्म शाके ११७२ में हुआ था। इनके पिताका नाम परसुबा और माताका नांगिताबाई था। ये मालीका काम करते और वनमाली श्रीविट्ठलको भजते थे। एक बार श्रीज्ञानेश्वरजी और श्रीनामदेवजी श्रीविट्ठलभगवान्के संग संत कूर्मदाससे मिलने जा रहे थे। अरणभेंडी स्थानके समीप जब आपलोग आये तब भगवान्ने इन दोनों महात्माओंसे कहा कि 'तुम लोग जरा ठहर जाओ, मैं अभी साँवतासे मिलकर आता हूँ।' यह कहकर भगवान् साँवताके पास पहुँचे और बोले, 'साँवता! तू मुझे जल्दी कहीं छिपा दे, दो चोर मेरे पीछे पड़े हैं।' साँवताने तुरन्त खुरपेसे अपना पेट चीरा और उसमें भगवान्को छिपाकर ऊपरसे एक चादर ओढ़ ली। इधर ज्ञानदेवजी और नामदेवजी भगवान्की प्रतीक्षा कर रहे हैं। जब बहुत काल बीत गया तब दोनों साँवताके यहाँ गये। साँवता नाममें मग्न थे, इससे यह निश्चय हो गया कि भगवान् यहीं कहीं छिपे हैं। ज्ञानदेवजी और नामदेवजी दोनोंने साँवता भैयासे प्रार्थना की कि 'भाई! भगवान्के दर्शन तो करा दो।' साँवताने भगवान्को बाहर निकाला। तब सभी प्रेमसे गद्गद हो गये। साँवता सर्वत्र सब पदार्थोंके अन्दर एक भगवान्को ही देखा करते थे। भगवन्नाममें भी उनकी बड़ी विलक्षण निष्ठा थी। एक अभंगमें उन्होंने कहा है—'नामका ऐसा बल है कि मैं अब किसीसे भी नहीं डरता और कलिकालके सिरपर डंडे जमाया करता हूँ। विट्ठलनाम गाकर और नाचकर हमलोग उन वैकुण्ठपतिको यहीं अपने कीर्तनमें बुला लिया करते हैं। इसी भजनानन्दकी दिवाली मनाते हैं और चित्तमें उन वनमालीको पकड़कर

पूजा किया करते हैं। साँवता कहता है कि भक्तिके इस मार्गपर चले चलो, चारों मुक्तियाँ द्वारपर आ गिरेंगी।' साँवताजीने शाके १२१७ के आषाढ़ कृष्णा १४ को समाधि ली।

—ल० गर्दे

चोखा मेला

चोखा मेला महार जातिके थे। मंगलवेढ़ा नामक स्थानमें रहते थे। बस्तीसे मरे हुए जानवर उठा ले जाना ही इनका धंधा था। बचपनसे ही ये बड़े सरल और धर्मभीरु थे। श्रीविट्ठलजीके दर्शनोंके लिये बीच-बीचमें ये पण्ढरपुर जाया करते थे। पण्ढरपुरमें इन्होंने नामदेवजीके कीर्तन सुने। यहीं उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। नामदेवजीको इन्होंने अपना गुरु माना। अपने सब काम करते हुए ये भगवन्नाममें रत रहने लगे। इनपर बड़े-बड़े संकट आये, पर भगवन्नामके प्रतापसे ये संकटोंके ऊपर ही उठते गये। पण्ढरपुरके श्रीविट्ठलमन्दिरका महाद्वार इन्हें अपना परम आश्रय जान पड़ता था और भगवद्भक्तोंके चरणोंकी धूलि अपना महाभाग्य। उस धूलिमें ये लोटा करते थे। इनकी अनन्य भक्तिसे भगवान् इनके हो गये। एक बार श्रीविट्ठल इन्हें मन्दिरके भीतर लिवा लाये और इन्हें अपने दिव्य दर्शन देकर कृतार्थ किया। अपने गलेका रत्नहार और तुलसी-माला भगवान्ने इनके गलेमें डाल दी। पुजारी जागे, जो अबतक सोये हुए थे। 'चोखा, एक महार, बेखटके घुसा चला आया मन्दिरके भीतर! इसकी यह हिम्मत? और भगवान्के गलेका रत्नहार इसके गलेमें? इसने ठाकुरजीको भ्रष्ट कर दिया और रत्नहार चुरा लिया।' यह कहकर पुजारियोंने उसे बेतरह पीटा, रत्नहार छीन लिया और धक्के देकर बाहर निकाला। इस प्रसंगपर संत जनाबाईने एक अभंगमें कहा है, 'चोखा मेलाकी ऐसी करनी कि भगवान् भी उसके ऋणी हो गये। जाति तो इसकी हीन है, पर सच्ची भक्तिमें तो यही लीन है। इसने ठाकुरजीको भ्रष्ट किया, यह सुनकर तो यह जनी हँसने और गाने लगती है। चोखा मेला ही तो एक अनामिक भक्त है जो भक्तराज कहाने योग्य है। चोखा मेला वह संत है जिसने भगवान्को मोह लिया। चोखा मेलाके लिये स्वयं जगत्पति मरे हुए जानवर ढोने लगे।' चोखाजी ज्ञानेश्वर महाराजकी संतमण्डलीमें एक थे। इनकी भक्तिपर सभी मुग्ध थे। निरन्तर भगवन्नाम-चिन्तन करनेवाले चोखाजी भगवन्नामकी महिमा गाते हुए एक जगह कहते हैं कि 'इस नामके प्रतापसे मेरा संशय नष्ट हो गया। इस देहमें ही भगवान्से भेंट हो गयी।' इनकी पत्नी सोयराबाई और बहिन निर्मलाबाई भी बड़ी भक्तिमती थीं। सोयराबाईकी प्रसूतिमें सारी सेवा स्वयं भगवान्ने की, ऐसा कहा है। इनके बेटेका नाम कर्म मेला था, वह भी भक्त था। बंका महार नामक भक्त इनके साले थे। चोखाजी भगवान्के बड़े लाड़िले भक्त माने जाते हैं। मंगलवेढ़ामें एक बार गाँवकी प्राचीरकी मरम्मत हो रही थी। उस काममें चोखा मेला भी लगे थे। एकाएक प्राचीर ढह गयी, कई महार दबकर मर गये; उसीमें (सन् १३३८ ई०) चोखाजीका भी देहान्त हो गया। भक्तोंने चोखाजीकी अस्थियाँ ढूँढ़ीं, नामदेवजी साथ थे। इनकी अस्थियोंकी पहचान यह मानी गयी कि जिस अस्थिमेंसे विट्ठलध्वनि निकले उसीको चोखाजीकी अस्थि जानें। इन अस्थियोंको नामदेवजी पण्ढरपुर ले आये और मन्दिरके महाद्वारपर वे गाड़ी गयीं और उनपर समाधि बनी। जिनकी अस्थियोंमेंसे भी 'विट्ठल' नाम निकल रहा था उन चोखाजीका सब संतोंने जय-जयकार किया।

—ल० गर्दे

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

जो मनुष्य जीवननिर्वाहके लिये नीतिपूर्वक व्यवहार करता है वह भी ईश्वरकी महिमाको समझता है, परन्तु जो मनुष्य ईश्वरके निमित्त ही जीवननिर्वाह करता है वह तो ईश्वरको प्राप्त करता है।

तुम प्रभुको तो जानते हो न? तो अब तुम और कुछ भी न जानो तो कोई हानि नहीं। ईश्वर तुम्हें जानता है न? तो अब कोई दूसरा तुम्हें नहीं जाने तो कोई हानि नहीं।

जो मनुष्य ईश्वरको छोड़कर दूसरेसे स्नेह करता है वह क्या कभी सुखी हो सकता है?

सेना नाई

सेना नाई थे। ये किसी राजाके आश्रित थे, उनकी रोज दाढ़ी बनाया करते थे। भगवन्नाम लिया करते थे। एक दिन भगवान्ने एक लीला रची। सेना जब दाढ़ी बना रहा था और राजा अपना मुख दर्पणमें देख रहे थे तो दर्पणमें शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी श्रीविट्ठल उन्हें दिखायी देने लगे। सेना नाई अपना काम कर रहा है और मुखसे नाम भी जप रहा है। राजा दर्पणका यह चमत्कार देखकर हैरान थे कि यह क्या बात है। दर्पणको उन्होंने नीचे रखा। पानीकी कटोरी जो सामने थी उसपर दृष्टि पड़ी। उसमें भी सकल पाप-ताप-संतापहारी श्रीहरि स्थिर खड़े देख पड़े। राजासे अब न रहा गया, उन्होंने नाईसे पूछा 'यह क्या बात है?' सेनाने उत्तर दिया, मैं पामर क्या जानूँ! यह श्रीरुक्मिणीवल्लभकी ही कोई लीला होगी। इस विचित्र घटनासे राजाको अपने ऐश्वर्य और भोग-विलाससे पूर्ण वैराग्य हो गया और वे श्रीविट्ठलके अनन्य भक्त हो गये। जिन सेना नाईके सत्संगसे राजाको यह उपरति और भक्ति प्राप्ति हुई वे कोई असाधारण भक्त ही रहे होंगे। ये ज्ञानेश्वर महाराजके समकालीन और उन्हींके शिष्य थे। इन्होंने अपने अभंगोंमें यह बताया है कि मेरे घरमें यह उपासना परम्परासे ही चली आयी है और मुझे अपने पितासे यह निधि मिली। ज्ञानेश्वर महाराजके समाधि लेनेके पश्चात् और कई वर्ष ये इस संसारमें रहे। ज्ञानेश्वर महाराजकी समाधिपर इन्होंने कई अभंग रचे हैं। इन्होंने यह कहकर अपना परिचय दिया है कि 'नाईके वंशमें हृषीकेशने मुझे जन्म दिया', और अपने जातिवालोंको इस प्रकार उपदेश किया है कि 'जो लोग नाई वंशके कहाते हैं उन्हें चाहिये कि स्वधर्मका पालन करें। शास्त्रोंने जो नियम बना दिया उसे छोड़कर और कुछ करना अनाचार है। सेना कहता है, प्रभुकी ऐसी आज्ञा है कि सचाईके साथ स्वधर्मका पालन करो।'''''दिनके पहले दो पहर अपना धंधा करो और फिर स्नान करके 'नारायण' नाम जपो। फिर छुरे-अस्तुरेको मत छूओ।'''''संतों और शास्त्रोंकी आज्ञाका पालन करो और श्रीविट्ठलकी शरण लो, इससे भगवान् तुम्हारी रक्षा करेंगे।' 'हजामत' पर इनका एक आध्यात्मिक अभंग है—'हम प्रतिबार बड़ी बारीक हजामत बनाते हैं, विवेकरूपी दर्पण दिखाते और वैराग्यका चिमटा चलाते हैं, सिरपर शान्तिका उदक छिड़कते और अहंकारकी चुटिया घुमाकर बाँधते हैं, भावार्थोंकी बगलें साफ करते और काम-क्रोधके नख काटते हैं, चारों वर्णोंकी सेवा करते और निश्चिन्त रहते हैं।'

—ल० गर्दे

नरहरि सुनार

नरहरि सुनार रहनेवाले थे पण्ढरपुरके ही, पर थे शिवजीके भक्त—ऐसे भक्त जो कभी श्रीविट्ठलके दर्शन ही नहीं करते थे। पण्ढरपुरमें रहकर भी कभी इन्होंने पण्ढरीनाथ श्रीपाण्डुरंगके दर्शन नहीं किये। शिवभक्तिका ऐसा विलक्षण गौरव इन्हें प्राप्त था। एक बार ऐसा संयोग हुआ कि एक सज्जनने इन्हें श्रीविट्ठलकी कमरकी करधनी बनानेको सोना ला दिया और कमरका नाप भी बता दिया। इन्होंने करधनी तैयार की, पर वह कमरसे चार अंगुल बड़ी हो गयी। उसे छोटी करनेको कहा गया तो वह कमरसे चार अंगुल छोटी हो गयी। फिर वह बड़ी की गयी तो चार अंगुल बढ़ गयी, फिर छोटी की गयी तो चार अंगुल घट गयी। इस प्रकार चार बार हुआ। लाचार नरहरि सुनारने स्वयं चलकर नाप लेना निश्चय किया। पर कहीं श्रीविट्ठल भगवान्के दर्शन न हो जायँ, इसलिये उन्होंने अपनी आँखोंपर पट्टी बाँध ली और हाथ आगे बढ़ाकर जो टटोलने लगे तो उनके हाथोंको पाँच मुख, दस हाथ, सर्पालंकार, मस्तकपर जटा और जटामें गंगा, ऐसी शंकरमूर्तिका स्पर्श हुआ। उन्हें निश्चय हो गया कि ये तो श्रीशंकर ही हैं। इसलिये उन्होंने आँखोंकी पट्टी खोल दी और देखा तो श्रीविट्ठलके दर्शन हो गये। फिर आँखें बंद करके टटोलने लगे तो फिर उन्हीं पंचवक्त्र चन्द्रशेखर श्रीशंकरका आलिंगन हुआ। आँखें खोलनेपर विट्ठल और आँखें बंद करनेपर शंकर!!! तीन बार ऐसा ही हुआ। तब नरहरि सुनारको यह बोध हुआ कि जो शंकर हैं वे ही (विष्णु) विट्ठल हैं और

जो विट्ठल हैं वे ही शंकर हैं, दोनों एक ही हरिहर हैं। तब उनकी उपासना जो एकदेशीय थी सो अति उदार, व्यापक हो गयी और वे श्रीविट्ठल-भक्तोंके वारकरीमण्डलमें सम्मिलित हो गये। सुनारी इनकी वृत्ति थी। इसी वृत्तिमें रहकर 'स्वकर्मणा' भगवान्का अर्चन करनेका बोध इन्हें किस प्रकार हुआ, इसका दर्शक इनका एक अभंग है जिसमें नरहरि सुनार कहते हैं— 'भगवन्! मैं आपका सुनार हूँ, आपके नामका व्यवहार करता हूँ। यह गलेका हार देह है, इसका अन्तरात्मा सोना है। त्रिगुणका साँचा बनाकर उसमें ब्रह्मरस भर दिया। विवेकका हथौड़ा लेकर उससे काम-क्रोधको चूर किया और मन-बुद्धिकी कैंचीसे राम-नाम बराबर चुराता रहा। ज्ञानके काँटेसे दोनों अक्षरोंको तौला और थैलीमें रखकर थैली कंधेपर उठाये रास्ता पार कर गया। यह नरहरि सुनार, हे हरि! तेरा दास है, रात-दिन तेरा ही भजन करता है।' —ल० गर्दे

जगमित्र नागा

बार्शीसे पचीस-तीस कोसपर परली बैजनाथ नामक कोई क्षेत्र है। जगमित्र नागा नामक ब्राह्मण यहींके रहनेवाले थे। ये भिक्षा-वृत्तिसे रहते थे और सबकी मंगलकामना करते थे। इनका नाम तो कुछ और ही था, पर ये अपने गुणोंसे जगमित्र कहाये। नागेश इनके गुरुका नाम था, जिसे इन्होंने अपने नामके साथ जोड़कर अपनेको 'जगमित्र नागा' नामसे प्रसिद्ध किया। ये बड़े प्रेमी जीव थे, बड़े सरल, निष्कपट, निर्द्वन्द्व एवं सबसे सहज स्नेहका व्यवहार करनेवाले। किसीकी निन्दा करना, किसीसे ईर्ष्या-द्वेष करना, किसीको हीन समझना इनके स्वभावमें कभी था ही नहीं। ये अजातशत्रु थे। पर ऐसे अजातशत्रुके भी कोई शत्रु निकल ही आये और उन्होंने इनकी झोंपड़ीमें आग लगा दी। पर ये उस आगसे जले नहीं। इस प्रसंगपर इन्होंने एक अभंग रचा, जिसमें ये कहते हैं 'अग्नि जलाती है, पर प्रह्लाद जलता नहीं; क्योंकि प्रह्लादके हृदयमें गोविन्द जागते रहते हैं।....जगमित्र नागा भी अग्निके जलाये नहीं जलता, क्योंकि हृदयवृन्दावनके वनमाली अपने वनको उजड़ने नहीं देते।' एक अभंगमें उन्होंने संकटकालमें उपस्थित होनेवाले नारायणके पुराण-प्रसंगोंका अनुस्मरण करते हुए कहा है—'भीष्मदेवको रणमें, कर्णको अर्जुनके बेधनेवाले बाणमें, हरिश्चन्द्रको श्मशानमें और परीक्षितको आसन्नमृत्युमें भगवान्ने आलिंगन किया है। इसलिये जगमित्र कहते हैं, 'गोविन्द' नाम भजो, गोविन्दरूप हृदयमें धरो, गोविन्द तुम्हें सब संकटोंके पार कर देंगे।'

—ल० गर्दे

जनाबाई

जनाबाई श्रीनामदेवजीके घरका काम-धंधा करनेवाली एक दासी थी। इसका जन्म गोदावरीतीरपर गंगाखेड़ नामक स्थानमें एक शूद्रकुलमें हुआ था। इसके पिताका नाम दमा और माताका नाम करुंड था। माता इसके बचपनमें ही चल बसी। तब इसके पिता इसे संग लिये पण्ढरपुरकी यात्रा करने गये। पण्ढरपुरके भगवन्नाममय वातावरण और श्रीविट्ठलदर्शनका इस छोटी कन्याके हृदयपर कुछ ऐसा असर पड़ा कि इसने पितासे कहा कि अब मैं यहीं रहूँगी। पिताने हर तरहसे जब देख लिया कि जनाके हृदयमें भगवन्मिलनकी सच्ची लगन है तब उसने ममताका पाश तोड़कर अपनी इस सात वर्षकी कन्याको नामदेवजीके पिता दामाशेटके घर काम-काज करनेके मिस रहकर भगवद्भजन करनेके लिये छोड़ दिया। नामदेवजीका अभी जन्म नहीं हुआ था। पीछे नामदेवजी जन्मे। नामदेवजीको बचपनमें जनाने ही खेलाया। नामदेवजीके घर सभी लोग भगवान्का नाम लेनेवाले और भजन करनेवाले आनन्दी जीव थे। जना भी दासी होकर भी उनमें घुल-मिल गयी। पण्ढरपुरके श्रीविट्ठलदेवके मन्दिरके सामने ही नामदेवजीका घर था। जनाको जभी कामसे फुरसत मिलती, वह सामने मन्दिरमें पहुँचकर भगवान्का रूप निहार आती। वह गीता-ज्ञानेश्वरीका नित्य पाठ करती और सदा भगवान्के ध्यानमें ही रहा करती थी। रातको सब लोग जब मन्दिरसे अपने-अपने घर चले जाते तब

जना मन्दिरमें पहुँचती और एकान्तमें भगवान्‌का भजन करती, ध्यान करती, हँसती, गाती और भावावेशमें आकर नृत्य करने लगती। इस प्रकार नामदेवके घर और विट्ठलदेवके मन्दिरमें जनाके दिन बड़े सुखसे बीत रहे थे। एक दिन एक बड़ी विपद् घटी। भगवान्‌के गलेका रत्नपदक चोरी चला गया। मन्दिरके पुजारियोंको जनापर ही सन्देह हुआ, क्योंकि मन्दिरमें सबसे अधिक आना-जाना इसीका लगा रहता था। इसने भगवान्‌की शपथ करके लोगोंको बहुत विश्वास दिलाया कि रत्नपदक मैंने नहीं लिया है। पर पुजारियोंको इसका विश्वास नहीं हुआ। लोग इसे सूलीपर चढ़ानेके लिये चन्द्रभागा नदीके तटपर ले गये। सूलीकी ओर देखते हुए इसने एक बार बहुत विकल होकर बड़े करुण स्वरसे भगवान्‌की गुहार की। देखते-ही-देखते सूली पिघलकर पानी हो गयी। तब लोगोंकी आँखें खुलीं और उन्होंने कुछ-कुछ जाना कि भगवान्‌के दरबारमें जनाका कितना बड़ा अधिकार है। कहते हैं कि नदीसे पानी लाते समय और आटा पीसते समय स्वयं भगवान् मूर्तिमान् होकर जनाके साथ काम करते थे।

नामदेवजीके घर उनके माता-पितासहित कुल पन्द्रह आदमी थे—नामदेवजीके पिता दामाशेट, माता गोणाबाई, स्वयं नामदेवजी और उनकी धर्मपत्नी राजाबाई, नामदेवजीकी बहन आऊताई और कन्या लिंबाताई, नामदेवजीके चार पुत्र नारायण, विट्ठल, गोविन्द और महादेव तथा उनकी चार बहुएँ, इस प्रकार चौदह और पन्द्रहवीं जनाबाई। उसने अपने एक अभंगमें इन चौदह जनोंका नाम लेकर पन्द्रहवीं 'मैं जनी' कहकर नामदेवके परिवारमें ही अपने-आपको शामिल किया है।

जनाबाईके तीन सौ अभंग मिलते हैं। जिनमें कहीं सगुणरूपका ध्यान है तो कहीं त्रिकूट, श्रीहाट, श्यामवर्ण गोह्लाट, नील बिन्दु और पीठ, भ्रमरगुहा और दशमद्वारका स्वानुभूत सांकेतिक वर्णन है; कहीं निर्गुण निराकार अद्वयानन्दका उद्रेक है और कहीं परप्रेमका परम माधुर्य है। श्रीनामदेवजीके साथ जनाबाईका जैसा कुछ पारलौकिक सम्बन्ध था उसीके अनुसार यह घटना भी घटी कि जिस दिन (अर्थात् संवत् १४०७ की श्रावण कृष्णा १३ को) नामदेव इहलोकसे चले गये उसी दिन उनके पीछे-पीछे कीर्तन करती हुई जनाबाई भी चली गयीं, यद्यपि संतोंका जाना जाना नहीं, अन्तर्धान होना ही है। —ल० गर्दे

कूर्मदास

कूर्मदास ज्ञानदेव-नामदेवके समकालीन एक ब्राह्मण थे। ये पैठणमें रहते थे। जन्मसे ही इनके हाथ-पैर नहीं थे। जहाँ कहीं भी पड़े रहते, और जो कोई जो कुछ लाकर खिला देता उसीसे निर्वाह करते थे। एक दिन पैठणमें कहीं हरिकथा हो रही थी। इन्होंने दूरसे उसकी ध्वनि सुनी और पेटके बल रेंगते हुए वहाँ पहुँचे। वहाँ उन्होंने पण्ढरपुरकी आषाढ़ी-कार्तिकी यात्राका माहात्म्य सुना। कार्तिकी एकादशीमें अभी चार महीनेकी अवधि थी। कूर्मदासने पेटके बल चलकर तबतक पण्ढरपुर पहुँचनेका निश्चय किया। बस, उसी क्षण वहाँसे चल पड़े। एक कोससे अधिक वे दिनभरमें नहीं रेंग सकते थे। रातको कहीं ठहर जाते और भगवान्‌की उपस्थितिसे कोई-न-कोई उन्हें अन्न-जल देनेवाला मिल ही जाता था। इस तरह चार महीनेमें वे लहुल नामक स्थानमें पहुँचे। बस, अब कल ही एकादशी है और पण्ढरपुर यहाँसे सात कोस है। किसी तरहसे भी कूर्मदास वहाँ एकादशीको पहुँच नहीं सकते। झुंड-के-झुंड यात्री चले जा रहे हैं, पर कूर्मदास लाचार हैं, 'क्या इस अभागेको भगवान्‌के दर्शन कल नहीं होंगे? मैं तो वहाँतक कल नहीं पहुँच सकता। पर क्या भगवान् यहाँतक नहीं आ सकते? वे तो चाहे जो कर सकते हैं।' यह सोचकर उन्होंने एक चिट्ठी लिखी—'हे भगवन्! यह बेहाथ-पैरका आपका दास यहाँ पड़ा है, यह कलतक आपके पास नहीं पहुँच सकता। इसलिये आप ही दया करके यहाँ आवें और मुझे दर्शन दें।' यह चिट्ठी उन्होंने एक यात्रीके हाथ भगवान्‌के पास भेज दी। दूसरे दिन, एकादशीको,भगवान्‌के दर्शन करके उस यात्रीने वह चिट्ठी भगवान्‌के चरणोंमें रख दी। लहुलमें कूर्मदास भगवान्‌की प्रतीक्षा कर रहे थे, जोर-जोरसे पुकार रहे थे, 'भगवन्! कब दर्शन दोगे? अभीतक क्यों नहीं आये? मैं तो आपका हूँ न?' इस प्रकार अत्यन्त व्याकुल होकर भगवान्‌को पुकारने लगे। परमकारुणिक

पण्ढरीनाथ श्रीविट्ठल ज्ञानदेव, नामदेव और साँवता माली, इन तीनोंके साथ कूर्मदासके सामने आकर खड़े हो गये। कूर्मदासने उनके चरण पकड़ लिये। तबसे भगवान्, जबतक कूर्मदास वहाँ थे, वहीं रहे। वहाँ श्रीविट्ठलभगवान्का जो मन्दिर है वह इन्हीं कूर्मदासपर भगवान्का मूर्त अनुग्रह है। —ल० गर्दे

कान्हूपात्रा

कान्हूपात्रा मंगलवेढ़ा स्थानमें रहनेवाली श्यामा नाम्नी वेश्याकी लड़की थी। माँकी वेश्यावृत्ति देख-देखकर उसे ऐसे जीवनसे बड़ी घृणा हो गयी। जब वह पन्द्रह वर्षकी हुई तभी उसने यह निश्चय कर लिया कि मैं अपनी देह पापियोंके हाथ बेंचकर उसे अपवित्र और कलंकित न करूँगी। नाचना-गाना तो उसने मन लगाकर सीखा और इस कलामें वह निपुण भी हो गयी। सौन्दर्यमें तो उसका वहाँ कोई जोड़ ही न था। बड़े-बड़े चंडूल उसके सौन्दर्य और लावण्यपर झपटनेके लिये श्यामाके कोठेके चक्कर लगा रहे थे। श्यामा भी इसे अपनी दुष्टवृत्तिके साँचेमें ढालकर रुपया कमाना चाहती थी। उसने इसे बहकानेमें कोई कसर नहीं रक्खी, पर यह अपने निश्चयसे विचलित नहीं हुई। आखिर श्यामाने इससे कहा कि यदि तुम्हें यह धंधा नहीं ही करना है तो कम-से-कम किसी एक पुरुषको तो वर लो। इसने कहा कि मैं ऐसे पुरुषको वरूँगी जो मुझसे अधिक सुन्दर, सुकुमार और सुशील हो। पर ऐसा कोई पुरुष मिला ही नहीं। पीछे कुछ काल बाद वारकरी श्रीविट्ठलभक्तोंके भजन सुनकर यह श्रीपण्ढरीनाथके दर्शनोंके लिये पण्ढरपुर गयी और पण्ढरीनाथके दर्शन कर, उन्हींको वरणकर, उन्हींके चरणोंकी दासी बनकर सदाके लिये वहीं रह गयी। इसके सौन्दर्यकी ख्याति दूर-दूरतक फैल चुकी थी। बेदरके बादशाहकी भी इच्छा हुई कि कान्हूपात्रा मेरे हरममें आ जाय। उसने उसे लानेके लिये अपने सिपाही भेजे। इन सिपाहियोंको यह हुक्म था कि कान्हूपात्रा यदि खुशीसे न आना चाहे तो उसे ज़बर्दस्ती पकड़कर ले आओ। सिपाही पण्ढरपुर पहुँचे और उसे पकड़कर ले जाने लगे। उसने सिपाहियोंसे कहा कि मैं एक बार श्रीविट्ठलजीके दर्शन कर आऊँ। यह कहकर वह मन्दिरमें गयी और अनन्य भावसे भगवान्को पुकारने लगी। इस पुकारके पाँच अभंग प्रसिद्ध हैं, जिनमें कान्हूपात्रा भगवान्से कहती है—'हे पाण्डुरंगे, ये दुष्ट दुराचारी मेरे पीछे पड़े हैं; अब मैं क्या करूँ, कैसे आपके चरणोंमें बनी रहूँ? आप जगत्की जननी हैं, इस अभागिनीको अपने चरणोंमें स्थान दो। त्रिभुवनमें मेरे लिये और कोई स्थान नहीं! मैं आपकी हूँ, इसे अब आप ही उबार लो।' यह कहते-कहते कान्हूपात्राकी देह अचेतन हो गयी। उससे एक ज्योति निकली और वह भगवान्की ज्योतिमें मिल गयी, अचेतन देह भगवान्के चरणोंपर आ गिरी। कान्हूपात्राकी अस्थियाँ मन्दिरके दक्षिण द्वारमें गाड़ी गयीं। मन्दिरके समीप कान्हूपात्राकी मूर्ति खड़ी-खड़ी आज भी पतितोंको पावन कर रही है।

—ल० गर्दे

साध्वी सखूबाई

महाराष्ट्रमें कृष्णा नदीके तटपर कन्हाड़ नामक एक स्थान है। वहाँ एक ब्राह्मण रहता था। उसके घरमें वह, उसकी स्त्री और पुत्र तथा साध्वी पुत्रवधू ये चार प्राणी थे। ब्राह्मणकी पुत्रवधूका नाम सखूबाई था। सखूबाई जितनी ही अधिक भगवान्की भक्त, सुशीला, विनम्र और सरलहृदया थी उसके सास-ससुर और पति तीनों उतने ही दुष्ट, कर्कश, अभिमानी, कुटिल और कठोरहृदय थे। वे सखूको सतानेमें कुछ भी उठा नहीं रखते थे। तड़केसे लेकर रातको सबके सो जानेतक मशीनकी भाँति बिना विश्राम काम करनेपर भी सास उसे भरपेट खानेको भी नहीं देती थी। परन्तु सखूबाई इसे भी भगवान्की दया समझकर अपने कर्तव्यके अनुसार अस्वस्थ हो जानेपर भी काम करती रहती। परन्तु दुष्टा सास इतनेपर भी राजी न होती, वह उसे दो-चार लात-घूँसे जमाये और उसको तथा उसके माँ-बापको दस-बीस बार गालियाँ सुनाये बिना सन्तुष्ट नहीं

होती। परन्तु सखू सासके सामने कुछ न बोलती, लोहूका घूँट पीकर रह जाती। वह इन दारुण दु:खोंको अपने कर्मोंका भोग और भगवान्‌का आशीर्वाद समझकर उन्हें सुखरूपमें परिणतकर सदा प्रसन्न रहती।

महाराष्ट्रमें पण्ढरपुर वैष्णवोंका प्रसिद्ध तीर्थ है। वहाँ प्रतिवर्ष आषाढ़ शुक्ला एकादशीको बड़ा भारी मेला होता है। लाखों नर-नारी कीर्तन करते हुए भगवान् पण्ढरीनाथ श्रीविट्ठलके दर्शनार्थ दूर-दूरसे आते हैं। अबके भी कुछ यात्री कन्हाड़की तरफसे होकर पण्ढरपुरके मेलेमें जा रहे थे। सखू इस समय कृष्णा नदीपर जल भरने गयी थी। इन सबको जाते देखकर उसके मनमें भी श्रीपण्ढरीनाथके दर्शन करनेकी प्रबल इच्छा हुई। उसने सोचा कि सास-ससुर आदिसे तो किसी सूरतमें आज्ञा मिल नहीं सकती और पण्ढरपुर जाना निश्चित है, अत: क्यों न इसी मण्डलीके साथ चल पड़ूँ। वह उनके साथ हो ली। उसकी एक पड़ोसिनने यह सब समाचार उसकी दुष्टा सासको जा सुनाया। वह सुनते ही ज़हरीली नागिनकी तरह फुफकार मारकर उठी और अपने लड़केको सिखा-पढ़ाकर सखूको मारते-पीटते घसीट लानेको भेजा। वह नदीतटपर पहुँचा और सखूको मार-पीटकर घर ले आया। अब तीनोंकी मन्त्रणाके अनुसार दो सप्ताहतक, जबतक कि पण्ढरपुरकी यात्रा होती है, सखूको बाँध रखने और कुछ भी खाने-पीनेको न देना निश्चित हुआ। उन्होंने सखूको रस्सीसे इतने ज़ोरसे खींचकर बाँधा कि उसके सूखे शरीरमें गढ़े पड़ गये।

बन्धनमें पड़ी हुई सखू भगवान्‌से कातर स्वरमें प्रार्थना करने लगी—'हे नाथ! मेरी यही इच्छा थी कि यदि एक बार भी इन नेत्रोंसे आपके चरणोंके दर्शन कर लेती तो सुखपूर्वक प्राण निकलते। मेरे तो जो कुछ हैं सो आप ही हैं और मैं—भली-बुरी जो कुछ भी हूँ आपकी ही हूँ। हे नाथ! क्या मेरी इतनी-सी बात भी न सुनोगे, दयामय?' इस प्रकार बड़ी देरतक सखू प्रार्थना करती रही। भक्तके अन्तस्तलकी सच्ची पुकार कभी व्यर्थ नहीं जाती। वह चाहे कितनी ही धीमी क्यों न हो, त्रिभुवनको भेदकर भगवान्‌के कर्णछिद्रोंमें प्रवेश कर जाती है और उनके हृदयको उसी क्षण द्रवीभूत कर देती है।

सखूकी आर्त पुकारसे वैकुण्ठनाथका आसन हिल उठा। वे तुरन्त एक सुन्दर स्त्रीका रूप धारणकर उसी क्षण सखूके पास जाकर बोले—'बाई! मैं पण्ढरपुर जा रही हूँ, तू वहाँ नहीं चलेगी?' सखूने कहा—'बाई! मैं जाना तो चाहती हूँ, पर यहाँ बँध रही हूँ; मुझ पापिनीके भाग्यमें पण्ढरपुरकी यात्रा कहाँ है।' यह सुनकर उन स्त्रीवेषधारी भगवान्‌ने कहा—'बाई! मैं तेरी सदा सहचरी हूँ, तू उदास मत हो। तेरे बदले मैं यहाँ बँध जाती हूँ।' यह कहकर भगवान्‌ने तुरन्त उसके बन्धन खोल दिये और उसे पण्ढरपुर पहुँचा दिया। आज सखूका केवल यही बन्धन नहीं खुला, उसके सारे बन्धन सदाके लिये खुल गये। वह मुक्त हो गयी।

सखूका वेष धारण किये नाथ बँधे हैं। सखूके सास-ससुर आदि आते हैं और बुरा-भला कहकर चले जाते हैं। और भगवान् भी सुशीला वधूकी तरह सब कुछ सह रहे हैं। इस प्रकार बँधे हुए पूरे पन्द्रह दिन हो गये। सास-ससुरका दिल तो इतनेपर भी नहीं पसीजा; पर सखूके पतिके मनमें यह विचार आया कि पूरा एक पक्ष बिना कुछ खाये-पिये बीत गया, कहीं यह मर गयी तो हमारी बड़ी फजीहत होगी। अत: वह पश्चात्ताप करता हुआ सखूवेषधारी भगवान्‌के पास पहुँचा और सारे बन्धन काटकर क्षमा-प्रार्थना करके बड़े प्रेमसे स्नान-भोजन आदि करनेके लिये कहने लगा।

भगवान् भी ठीक पतिव्रता पत्नीकी भाँति सिर नीचा किये खड़े रहे। वे सखूके आनेके पहले ही अन्तर्धान होनेमें उसकी विपत्तिकी आशंकासे सखूके लौट आनेतक वहीं ठहरे रहे। उन्होंने स्नान करके रसोई बनायी और स्वयं अपने हाथसे तीनोंको भोजन कराया। आजके भोजनमें कुछ विलक्षण स्वाद था। भगवान्‌ने अपने सुन्दर व्यवहार और सेवासे सबको अपने अनुकूल बना लिया। ठीक ही है! अब भी परिवर्तन न होता तो फिर होता ही कब?

इधर सखूबाई पण्ढरपुर पहुँचकर भगवान्‌के दर्शन करके आनन्दसिन्धुमें डूब गयी। वह यह भूल गयी कि कोई दूसरी स्त्री उसकी जगह बँधी है। उसने प्रतिज्ञा कर ली कि जबतक इस शरीरमें प्राण हैं मैं पण्ढरपुरकी सीमासे बाहर नहीं जाऊँगी। प्रेममुग्धा सखू भगवान् पाण्डुरंगके ध्यानमें संलग्न हो गयी, वह समाधिस्थ हो गयी। अन्तमें सखूके प्राण कलेवर छोड़कर निकल भागे और शरीर अचेतन होकर गिर पड़ा। दैवयोगसे कन्हाड़के

निकटवर्ती किवल नामक ग्रामके एक ब्राह्मणने उसे पहचानकर अपने साथियोंको बुलाकर उसकी अन्त्येष्टि क्रिया की।

अब जगन्माता श्रीरुक्मिणीजीने देखा कि यह तो यहाँ मर गयी और मेरे स्वामी इसकी जगह बहू बने बैठे हैं; मैं तो बेढब फँसी! यह विचारकर उन्होंने श्मशानमें जाकर सखूकी हड्डियाँ बटोरकर उसमें प्राण संचार कर दिया। सखू नवीन शरीरमें जीवित हो गयी। जो महामाया देवी समस्त ब्रह्माण्डकी रचना और उसका विनाश करती है उसके लिये सखूको जीवित करना कौन बड़ी बात थी? उसे जीवित करके माताने कहा कि तेरी प्रतिज्ञा तो यही थी न कि तू अब इस देहसे पण्ढरपुरसे बाहर न जायगी? तेरा वह शरीर तो जला दिया गया है। अब तू इस शरीरसे यात्रियोंके साथ घर लौट जा। सखूबाई यात्रियोंके साथ दो दिनमें कन्हाड़ पहुँच गयी। सखूका आना जानकर सखूवेषधारी भगवान् नदीतटपर घड़ा लेकर आ गये और सखूके आते ही दो-चार मीठी-मीठी बातें बनाकर और घड़ा उसे देकर अदृश्य हो गये। सखू घड़ा लेकर घर आयी और अपने काममें लग गयी, परन्तु अपने घरवालोंका स्वभावपरिवर्तन देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ।

कुछ दिनों बाद वह किवल गाँववाला ब्राह्मण जब सखूकी मृत्युका समाचार उसके घरपर देने आया और उसने सखूको घरमें काम करते देखा तो उसके आश्चर्यका पारावार न रहा। उसने सखूके सास-ससुरको बाहर बुलाकर उनसे कहा कि सखू तो पण्ढरपुरमें मर गयी, यह कहीं प्रेत बनकर तो तुम्हारे यहाँ नहीं आ गयी है? सखूके ससुर और पतिने कहा—'वह तो पण्ढरपुर गयी ही नहीं, तुम ऐसी बात कैसे कर रहे हो।' ब्राह्मणके बहुत कहनेपर सखूको बुलाकर सब बातें पूछी गयीं। उसने भगवान्‌की सारी लीला कह सुनायी। सखूकी बात सुनकर सास-ससुर और पतिने बड़े पश्चात्तापके साथ कहा—'निश्चय ही यहाँ बँधनेवाली स्त्रीके रूपमें साक्षात् लक्ष्मीपति ही थे। हम बड़े नीच और कुटिल हैं जो हमने उन्हें इतने दिनोंतक बाँध रखा और उन्हें नाना प्रकारके क्लेश दिये।' तीनोंके हृदय बिलकुल शुद्ध हो ही चुके थे। अब वे भगवान्‌के भजनमें लग गये और सखूका बड़ा ही उपकार मानकर उसका सम्मान करने लगे। इस प्रकार भगवान्‌की दयासे अपने सास-ससुर और पतिदेवको अपने अनुकूल बनाकर सखूबाई जन्मभर उनकी सेवा करती रही और अपना सारा समय भगवान्‌के नामस्मरण, ध्यान, भजन आदिमें बिताती रही। बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

—ह० पोद्दार

जोगा परमानन्द

जोगा इनका अपना नाम था, और परमानन्द इनके गुरुका। ये तेली जातिके थे और भगवान्‌के अनन्य भक्त थे। बार्शी स्थानमें इनका निवास था। यहाँ जो मुख्य देवमन्दिर है वहाँ ये नित्य प्रात:काल दर्शन करने जाते थे। इनका दर्शन करने जाना मामूली जाना नहीं था। ये घरसे मन्दिरतक दण्डवत्-प्रणाम करते हुए चलते थे और प्रत्येक प्रणामके साथ श्रीमद्भगवद्गीताका एक श्लोक पढ़ लिया करते थे। इस तरह सात सौ श्लोकोंके साथ सात सौ प्रणाम करके ये मन्दिरतक मार्ग पूरा करके भगवान्‌के सम्मुख उपस्थित होते थे। बदनमें काँटे-कंकड़ गड़ते, कीचड़ लगता, लहू निकल आता; पर गीता-सप्तशतीके पाठ और सप्तशतपदी प्रणामसे इन्हें जो भगवत्प्रसाद मिलता था उसमें इन कष्टोंकी सुध लेनेका कोई अवसर नहीं था। इनके इस व्रतसे मुग्ध होकर एक बार एक सज्जनको इनकी कुछ सेवा करनेकी इच्छा हुई और उन्होंने इन्हें बड़ा अनुनय-विनय और हठ-आग्रह करके एक मूल्यवान् रेशमी पीताम्बर पहना दिया। इस पीताम्बरको पहनकर जब ये सश्लोक प्रणाम करते हुए भगवन्मन्दिरकी ओर चले तब कीमती पीताम्बर दृष्टि पड़नेसे इनको यह खयाल होने लगा कि ऐसी कीमती चीजमें धूल या कीचड़ न लगे। काँटा या कंकड़ न गड़े और ये पीताम्बरको सँवारे बहुत सम्हल-सम्हलकर प्रणाम करते हुए चलने लगे। इससे भगवान्‌के मन्दिरतक पहुँचनेमें बड़ी बेर हो गयी। जोगाजीने सोचा कि यह तो बड़ा अपराध हुआ! ऐसा क्यों हुआ? इस पीताम्बरके कारण! पीताम्बर मैंने क्या पहना, भगवान्‌को भुलाकर पीताम्बरका ही ध्यान करनेवाला बन गया! भगवन्! यह मेरा अक्षम्य अपराध

है। इस अपराधका क्या प्रायश्चित्त है? जोगाजी मन्दिरके द्वारपर खड़े यही सोच रहे थे कि उन्होंने देखा सड़कपर जुएमें बँधे दो बैल एक आदमी हाँके लिये जा रहा है। जिस शरीरने पीताम्बर पहनकर भगवान्‌को भुलवा दिया उस शरीरसे उन्हें ऐसी घृणा हो गयी कि उसे कठोर-से-कठोर दण्ड देनेका उन्होंने निश्चय किया और बैलवालेसे पूछा, 'दादा! अपने बैल बेचोगे? मेरा यह पीताम्बर ले लो और ये बैल मुझे दे दो। पीताम्बर बिलकुल नया है, इसे बेंचकर तुम इन बैलोंका दाम वसूल कर लो।' बैलवालेने सोचा कि सौदा तो अच्छा है। जोगाजीको उसने बैल दे दिये, और पीताम्बर ले लिया। जोगाजीने फिर उसके द्वारा रस्सीसे अपने पैर जूएमें बँधवा लिये और उस किसानसे कहा कि अब बैलोंकी पीठपर दो चार साँटे जोरसे सटकाओ। किसानने नहीं सोचा कि इसका क्या परिणाम होगा और साँटे सटकाने लगा। बैल तिलमिलाकर जोरसे भागे। आगे-आगे बैल भागे जा रहे हैं और पीछे-पीछे जोगाजी भगवन्नाम गाते हुए पीठके बल घसीटे जा रहे हैं। भागते-भागते बैल जंगलमें निकल गये, जोगाजीका सारा बदन छिल गया, रक्तसे रास्ता लाल हो गया, शरीरसे माँस कट-कटकर गिरने लगा; पर जोगाजीका नामकीर्तन नहीं छूटा। त्वचा, मांस सब झड़ गये, केवल अस्थिपंजर रह गया; तो भी भजन चल ही रहा था। आखिर भगवान्‌से नहीं रहा गया, वे प्रकट हुए और उन्होंने जोगाजीके पैर जुएसे अपने हाथोंसे छुड़ाये, अपना दिव्य वरद हस्त उनपरसे फेरकर उनका शरीर पूर्ववत् कर दिया और उनसे पूछा, 'जोगाजी! शरीरको ऐसा कठोर दण्ड तुमने क्यों दिया? तुम जो कुछ खाते-पीते हो उसे मैं ही तो ग्रहण करता हूँ, तुम जब जहाँ-कहीं आते-जाते हो वही मेरी ही परिक्रमा होती है, किसीसे जो कुछ बात करते हो वह मेरी ही तो स्तुति होती है, तुम सुखपूर्वक शयन करते हो तो वह मेरे ही तो साष्टांग नमन होता है, फिर ऐसा कठोर देहदण्ड क्यों?' जोगाजीने उत्तर दिया, 'बस, इसीलिये कि आपकी कृपा हो। आपने कृपा की, मैं सब कुछ पा गया।' इनके भक्ति, ज्ञान और योगविषयक अनेक पद हैं। बार्शीमें इनकी समाधि है। वहाँ पौष कृष्ण ४ को इनका समाधि-उत्सव मनाया जाता है।

महात्मा गंगानाथजी

(लेखक—श्रीदेवकीनन्दनजी खेडवाल)

महात्मा गंगानाथजीके जन्म-समय आदिका ठीक-ठीक पता नहीं लगता। आप एक योग-सिद्ध महात्मा थे। सं० १४७४ में, जिस जंगलमें आप तपस्या कर रहे थे उसको कटवाकर फतेहखाँ नामक एक नवाबने वहाँपर अपने नामसे फतहपुर नामक एक ग्राम बसाना चाहा और यह तजवीज की कि जिस स्थानपर आप तपस्या कर रहे थे वहाँपर उसका किला बने। यहाँतक कि नवाबके सिपाहियोंने आपको वहाँसे हट जानेके लिये भी आदेश दे दिया। इसपर आपने वहाँ रहना उचित न समझा और सबके सामने आप अपनी धूनीकी प्रचण्ड अग्निको कपड़ेके झोलेमें भरकर पूर्व दिशाकी ओर चल पड़े। आपके इस चमत्कारकी बात नवाब फतेहखाँके पास पहुँची। वह आपकी दैवी शक्तिका अनुभव करने लगा और शीघ्र ही आपको मनानेके लिये आपके पीछे चल पड़ा। थोड़ी दूरपर जब आप मिले तब नवाबने आपके चरणोंमें गिरकर उसी स्थानपर लौट चलनेके लिये आपसे बड़ी प्रार्थना की। महात्माओंका हृदय कोमल होता ही है, वह नवाबके बहुत आग्रहपर द्रवित हो गया। आपने नवाबसे कहा—'अच्छा मैं यहीं ठहर जाता हूँ।' और यह कहकर वहीं आसन जमा लिया। इसके बाद तो नवाब आपका भक्त ही बन गया। उसने आपको कई गाँव देकर अपनी भक्तिका परिचय देना चाहा, परन्तु आपने उससे साफ-साफ इनकार कर दिया। लेकिन इससे नवाबको सन्तोष नहीं हुआ, उसने विनम्र भावसे कुछ जमीन आपको दे ही दी। आपने वह जमीन लेकर ब्राह्मणोंको बाँट दी। कुछ दिनोंके बाद जब आपने उसी स्थानपर जीवित-समाधि ले ली, तब नवाबने उस स्थानपर एक मन्दिर बनवाकर उसमें शिवलिंगकी स्थापना करा दी। वह मन्दिर अबतक मौजूद है। आपके हाथका एक ताँबेका पात्र भी अबतक वर्तमान है।

श्रीजोगा परमानन्द

सखूबाई

जनाबाई

भक्त धन्ना जाट

दामाजीपरकृपा

परमेष्ठी दर्जी

कूबा कुम्हार

रघु केवट

आचार्य स्वामी श्रीशंकरानन्दजी

आचार्य शंकरानन्द विद्यारण्य स्वामीके शिक्षागुरु थे। विद्यारण्यने पंचदशीके मंगलाचरणमें तथा विवरण-प्रमेयसंग्रहके मंगलाचरणमें उन्हें गुरुरूपसे प्रणाम किया है। ये चौदहवीं शताब्दीमें हुए थे। कट्टर अद्वैतवादी आचार्य थे। इन्होंने शांकरमतका समर्थन किया है। शांकरमतको पुष्ट तथा प्रचारित करनेके लिये आपने ब्रह्मसूत्रदीपिका, गीताकी टीका तथा १०८ उपनिषदोंकी सुन्दर टीका लिखी है। ब्रह्मसूत्रदीपिकामें बड़ी सरल भाषामें शांकरमतानुसार ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या की है। गीता और उपनिषदोंकी टीकामें भी इन्होंने शंकराचार्यका ही अनुसरण किया है। इनके ग्रन्थोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि ये अगाध पण्डित थे। इनके नामसे एक आत्मपुराण नामक ग्रन्थ भी मिलता है। इसमें अद्वैतवादके प्राय: सभी सिद्धान्त, श्रुतिरहस्य, योगसाधनरहस्य आदि सभी बातें बड़ी सरल और मर्मस्पर्शी भाषामें दी गयी हैं। अद्वैतसाहित्यका यह भी एक अमूल्य रत्न है। आप बड़े ही संतपुरुष थे।

श्रीमद्विद्यारण्य महामुनि

जिस तरह छत्रपति श्रीशिवाजी महाराजके पीछे समर्थ गुरु श्रीरामदास स्वामीका पवित्र आध्यात्मिक बल था, उसी तरह दक्षिणके हिन्दूराज्य विजयनगरके संस्थापक हुक्कराय और बुक्करायके पीछे श्रीमद्विद्यारण्य महामुनिका तपोबल था। इस हिन्दूसाम्राज्यकी स्थापना करके इन्होंने दक्षिण भारतमें हिन्दूधर्म और संस्कृतिकी रक्षा किस तरह की, यह बात इतिहासप्रेमी पाठकोंसे छिपी नहीं है। परन्तु वह हिन्दूधर्मरक्षक महात्मा स्वयं कौन थे, इसका पूरा पता नहीं लगता। अनुमानत: ये सन् १३०० और १३९१ ई० के बीचमें इस भौतिक संसारमें विद्यमान थे। इन्होंने स्वयं पाराशरस्मृतिके अपने भाष्यमें जो अपना परिचय दिया है उससे मालूम होता है कि ये तैत्तिरीय शाखाके ब्राह्मण-कुलमें पैदा हुए थे। इनके पिताका नाम भायणाचार्य और माताका नाम श्रीमती था। इनके दो भाई थे—सायण और सोमनाथ। यही सायण वेदभाष्यकर्ता सायणाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं। सोमनाथ भी संन्यासी होकर शृंगेरी-पीठके जगद्गुरु हुए थे। ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यारण्य स्वामीने भी थोड़ी उम्रमें ही संन्यास लेकर तपस्या शुरू कर दी थी। अपने भाईके बाद शृंगेरी-मठके जगद्गुरुके आसनको भी आपने सुशोभित किया था। वेदान्तसम्बन्धी प्रसिद्ध 'पंचदशी' ग्रन्थके रचयिता यही थे। इसके अतिरिक्त इनके ऋग्वेद-भाष्य, यजुर्वेद-भाष्य, सामवेद-भाष्य, अथर्ववेद-भाष्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, ताण्ड्य, शतपथ इत्यादि ब्राह्मण-ग्रन्थोंके भाष्य, दशोपनिषद्दीपिका, जैमिनीयन्यायमालाविस्तर, अनुभूतिप्रकाश, ब्रह्मगीता, मनुस्मृति-व्याख्या, सर्वदर्शनसंग्रह, श्रीशंकर-दिग्विजय इत्यादि अनेक ग्रन्थ मिलते हैं, जिनसे इनके महत् ज्ञान और पाण्डित्यका पता चलता है। इस तरह इन्होंने स्वयं त्यागमय संन्यासी तथा तपोमय योगीका जीवन यापनकर अपना सारा जीवन और शक्ति नि:स्वार्थभावसे हिन्दूधर्मके संस्थापन और रक्षणमें लगा दी थी।

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

किस उपायसे प्रभुकृपा प्राप्त हो? प्रभुप्रेममें बाधकरूप इस संसार और बाह्य जीवनमें आसक्ति छोड़ दे।

लौकिक भोगोंसे विमुखता, ईश्वरकी आज्ञाका पालन और ईश्वरेच्छासे जो कुछ हो जाय उसीमें प्रसन्नता मानना सच्ची प्रभुभक्तिके लक्षण हैं।

कबीर

पहुँचे हुए संतोंमें कबीरका नाम बहुत आदर और श्रद्धाके साथ लिया जाता है। इनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कई प्रकारकी किंवदन्तियाँ हैं। कहते हैं, जगद्‌गुरु रामानन्द स्वामीके आशीर्वादसे ये काशीकी एक विधवा ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न हुए। लज्जाके मारे वह नवजात शिशुको लहरताराके तालके पास फेंक आयी। नीरू नामका एक जुलाहा उस बालकको अपने घर उठा लाया, उसीने उस बालकको पाला-पोसा। यही बालक 'कबीर' कहलाया। कुछ कबीरपन्थियोंकी मान्यता यह है कि कबीरका आविर्भाव काशीके लहरतारा तालाबमें कमलके एक अति मनोहर पुष्पके ऊपर बालकरूपमें हुआ था। एक प्राचीन अमुद्रित ग्रन्थमें लिखा है कि किसी महान् योगीके औरस और प्रतीचि नामक देवांगनाके गर्भसे भक्तराज प्रह्लाद ही कबीरके रूपमें संवत् १४५५ ज्येष्ठ शुक्ला १५ को प्रकट हुए थे। प्रतीचिने उन्हें कमलके पत्तेपर रखकर लहरतारा तालाबमें तैरा दिया था और नीरू-नीमा नामके जुलाहा दम्पती जबतक आकर उस बालकको नहीं ले गये तबतक प्रतीचि उनकी रक्षा करती रही। कुछ लोगोंका यह भी कथन है कि कबीर जन्मसे ही मुसलमान थे और सयाने होनेपर स्वामी रामानन्दके प्रभावमें आकर उन्होंने हिन्दूधर्मकी बातें जानीं। ऐसा प्रसिद्ध है कि एक दिन एक पहर रात रहते ही कबीर पंचगंगाघाटकी सीढ़ियोंपर जा पड़े। वहींसे रामानन्दजी स्नान करनेके लिये उतरा करते थे। रामानन्दजीका पैर कबीरके ऊपर पड़ गया। रामानन्दजी चट 'राम-राम' बोल उठे। कबीरने इसे ही श्रीगुरुमुखसे प्राप्त दीक्षामन्त्र मान लिया और स्वामी रामानन्दजीको अपना गुरु कहने लगे। स्वयं कबीरके शब्द हैं—

'हम काशीमें प्रगट भये हैं, रामानंद चेताये।'

मुसलमान कबीरपन्थियोंकी मान्यता यह है कि कबीरने प्रसिद्ध सूफी मुसलमान फ़क़ीर शेख़ तक़ीसे दीक्षा ली थी। परन्तु कबीरने शेख़ तक़ीका नाम उतने आदरसे नहीं लिया है जितना स्वामी रामानन्दका। इसके सिवा कबीरने पीर पीताम्बरका नाम भी विशेष आदरसे लिया है। इन बातोंसे यही सिद्ध होता है कि कबीरने हिन्दू-मुसलमानका भेदभाव मिटाकर हिन्दू-संतों तथा मुसलिम फ़क़ीरोंका सत्संग किया और उनसे जो कुछ भी तत्त्व प्राप्त हुआ उसे हृदयंगम किया।

जनश्रुतिके अनुसार कबीरके एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्रका नाम था कमाल और पुत्रीका कमाली। इनकी स्त्रीका नाम 'लोई' बतलाया जाता है। इस छोटे-से परिवारके पालनके लिये कबीरको अपने करघेपर कठिन परिश्रम करना पड़ता था। घरमें साधु-संतोंका जमघट रहता ही था। इसलिये कभी-कभी इन्हें फाकेमस्तीका मज़ा भी मिला करता था। कबीर 'पढ़े-लिखे' नहीं थे। स्वयं उन्हींके शब्द हैं—

'मसि कागद छूवो नहीं, कलम गहो नहिं हाथ।'

कबीरकी वाणीका संग्रह 'बीजक' के नामसे प्रसिद्ध है। इसके तीन भाग हैं—रमैनी, सबद और साखी। इसमें वेदान्ततत्त्व, हिन्दू-मुसलमानोंको उनके पाखण्ड, अन्ध-विश्वास तथा मिथ्याचारके लिये फटकार, संसारकी क्षणभंगुरता, हृदयकी शुद्धि, माया, छूआछूत आदि अनेक फुटकर प्रसंग हैं। भाषा खिचड़ी है—पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी बोली, अवधी, पूरबी, व्रजभाषा आदि कई बोलियोंका पँचमेल है। भाषा साहित्यिक न होनेपर भी बहुत ही ज़ोरदार तथा पुरअसर है। कबीरको शान्तिमय जीवन बहुत प्रिय था और अहिंसा, सत्य, सदाचार आदि सद्‌गुणोंके ये उपासक थे।

कबीरने परमात्माको मित्र, माता, पिता और पति आदि रूपोंमें देखा है। कभी वे कहते हैं ***'हरि मोर पिउ, मैं रामकी बहुरिया'*** और कभी कहते हैं ***'हरि जननी, मैं बालक तोरा।'*** उनकी उलटवाणियोंमें उनका भगवान्‌के साथ जो मधुर प्रगाढ़ सम्बन्ध था उसकी बहुत सुन्दर व्यंजना हुई है। अपनी सरलता, साधु स्वभाव और निश्छल संतजीवनके कारण ही कबीर आज भारतीय जनसमुदायमें ही क्यों, विदेशोंमें भी लोगोंके कण्ठहार बन रहे हैं। इधर योरपवालोंने भी कबीरके महत्त्वको कुछ-कुछ अब समझा है।

बुढ़ापेमें कबीरके लिये काशीमें रहना लोगोंने दूभर कर दिया था। यश और कीर्त्तिकी उनपर वृष्टि-सी होने लगी। कबीर इससे तंग आकर मगहर चले आये। ११९ वर्षकी अवस्थामें मगहरमें ही उन्होंने शरीर छोड़ा। कबीरके अन्तिम वचन विश्वासी भक्तकी दृष्टिसे कितने अनमोल हैं—'हृदयका क्रूर यदि काशीमें मरे तो भी उसे मुक्ति नहीं मिल सकती और यदि हरिभक्त मगहरमें भी मरे तो भी यमके दूत उसके पास

फटक नहीं सकते। काशीमें शरीर त्यागनेसे लोगोंको भ्रम होगा कि काशीवाससे ही कबीरकी मुक्ति हुई। मैं नरक भले ही चला जाऊँ, पर भगवान्‌के चरणोंका यश काशीको न दूँगा।'

संतशिरोमणि कबीरका नाम उनकी सरलता और साधुताके लिये संसारमें सदा अमर रहेगा। उनकी कुछ साखियोंकी बानगी लीजिये—

ऐसा कोई ना मिला, सत्त नामका मीत।
तन-मन सौंपे भिरग ज्यौं, सुनै बधिकका गीत॥
सुखके माथे सिल परौ, जो नाम हृदयसे जाय।
बलिहारी वा दुःखकी, पल-पल नाम रटाय॥
तन थिर, मन थिर, बचन थिर, सुरत निरत थिर होय।
कह कबीर इस पलकको, कलप न पावै कोय॥
माली आवत देखि कै, कलियाँ करैं पुकारि।
फूली फूली चुनि लिये, काल्हि हमारी बारि॥
सोऔं तो सुपिने मिलै, जागौं तो मन माहिं।
लोचन राता सुधि हरी, बिछुरत कबहूँ नाहिं॥
हँस-हँस कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय।
हाँसी-खेले पिउ मिलैं, तो कौन दुहागिनि होय॥
चूड़ी पटकौं पलँगसें, चोली लावौं आगि।
जा कारन यह तन धरा, ना सूती गल लागि॥
सब रग ताँत, रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं, कै चित्त॥
कबीर प्याला प्रेमका, अंतर लिया लगाय।
रोम-रोममें रमि रहा, और अमल क्या खाय॥

—'माधव'

रैदास

मैं अपनो मन हरिजू सें जोर्‌यो,
हरिजू सें जोरि सबन सों तोर्‌यो।
सब ही पहर तुम्हारी आसा,
मन-क्रम-बचन कहै रैदासा॥

मीराके मार्गदर्शक, कबीरके समकालीन, धन्ना-पीपाके संगी, प्रातःस्मरणीय, चिरवन्दनीय संत रैदासका नाम कौन नहीं जानता? प्रभुकी भक्तिमें जाति-पाँतिका भेदभाव न कभी था और न कभी रह ही सकता है। भगवान्‌की प्राप्तिका अधिकार एक चाण्डालको भी उतना ही है जितना एक ब्राह्मणको। नामदेव दरजी, रैदास चमार, कबीर जुलाहा आदि समाजकी नीची श्रेणीके ही थे, परन्तु उनका नाम सदा आदरसे लिया जाता है। रैदासने स्वयं कहा है—

जाति भी ओछी, करम भी ओछा,
ओछा किसब हमारा।
नीचे से प्रभु ऊँच कियो है,
कह रैदास चमारा॥

रैदासके जन्मकी निश्चित तिथि अबतक सन्दिग्ध-सी है। कबीरके समसामयिक होनेके कारण इनका समय ईसवी सन्‌की पन्द्रहवीं सदी ठहरता है। रैदासका जन्म काशीमें ही हुआ और ये कई बार कबीरके सत्संगमें भी शामिल हुए थे। कथा है कि पूर्वजन्ममें ये ब्राह्मण थे और स्वामी रामानन्दके शापसे चमारके घर उत्पन्न हुए। बचपनसे ही रैदास साधुसेवी थे। इस कारण इनके पिता रघु इनपर क्रुद्ध रहा करते थे। बात यहाँतक बढ़ी कि उन्होंने रैदासको घरसे निकाल दिया और खर्चके लिये एक पैसा भी नहीं दिया।

रैदास अलमस्त फक्कड़ थे। लोक-परलोककी, निन्दा-स्तुतिकी ओर उनकी दृष्टि गयी ही नहीं। घरमें एक सती-साध्वी स्त्री थी। जो कुछ घरमें होता उसे तैयारकर वह पतिकी सेवामें ला रखती। रैदास एक मामूली झोंपड़ेमें रहते थे। जूते बनाकर अपनी जीविका चलाते थे। पासमें ही श्रीठाकुरजीकी चतुर्भुजी मूर्ति थी। जूते टाँकते जाते और प्रेम-विह्वल वाणीमें अपने हरिकी ओर निहार-निहारकर गाते रहते—

प्रभुजी! तुम चंदन, हम पानी। जाकी अँग अँग बास समानी॥
प्रभुजी! तुम घन, बन हम मोरा। जैसे चितवत चंद चकोरा॥
प्रभुजी! तुम दीपक, हम बाती। जाकी जोति बरै दिन राती॥
प्रभुजी! तुम मोती, हम धागा। जैसे सोनहिं मिलत सुहागा॥
प्रभुजी! तुम स्वामी, हम दासा। ऐसी भक्ति करै रैदासा॥

कहते हैं, इनकी आर्थिक दुरवस्थाको देखकर मालिकको दया आयी और उन्होंने साधुरूपमें रैदासजीके पास आकर उनको पारस पत्थर दिया और उससे जूता सीनेके एक लोहेके औजारको सोना बनाकर दिखा भी दिया। रैदासने उस पत्थरको लेनेसे इनकार कर दिया। परन्तु साधु भी एक हठी था। लाचार होकर रैदासने

कहा, नहीं मानोगे तो छप्परमें खोंस दो। तेरह महीने पीछे जब वही साधु फिर आये और पत्थरका हाल पूछा तो रैदासने कहा कि जहाँ खोंस गये थे वहीं देख लो, मैंने उसे छुआ भी नहीं है।

भक्तमालमें रैदासके सम्बन्धमें कई बातें लिखी हैं। उनमें एक यह भी है कि चित्तौड़की रानीने, जो एक बार काशीयात्राके लिये आयी थीं, रैदासकी महिमा सुनकर उनको अपना गुरु बनाया। रैदासके सम्बन्धमें चमत्कारकी कई बातें प्रख्यात हैं, जिनसे यही स्पष्ट प्रमाणित होता है कि भगवान्के दरबारमें जाति-पाँतिका उतना महत्त्व नहीं है जितना भक्ति और लगनका है। काशीमें एक ब्राह्मण-देवता एक रघुवंशी क्षत्रियकी ओरसे रोज़ गंगाजीको फूल-पान और सुपारी चढ़ाया करते थे। एक दिन वह ब्राह्मण रैदासकी दूकानपर जूता खरीदनेके लिये पहुँचे। बातोंमें गंगापूजाकी चर्चा भी चल पड़ी। रैदासने कहा कि मैं आपको यों ही जूता देता हूँ, कृपाकर आप एक मेरी भी सुपारी गंगामैयाको चढ़ा देना। ब्राह्मणदेवताने उसे जेबमें रख लिया और दूसरे दिन जब नहा-धोकर रैदासकी सुपारी चढ़ायी तो गंगाजीने पानीमेंसे हाथ ऊँचाकर उस सुपारीको ले लिया। यह तमाशा देखकर वह बेचारा ब्राह्मण आश्चर्यचकित हो रहा।

पूरे १२० वर्षके होकर रैदास ब्रह्मपदमें लीन हो गये। उनके पंथके अनुयायियोंका विश्वास है कि वह सदेह गुप्त हो गये। गुजरात, बिहार आदि कई प्रान्तोंमें लाखों आदमी ऐसे हैं जो अपनेको 'रैदासी' कहते हैं।

रैदास निर्गुण संत थे। उन्होंने अपने प्रभुको 'माधो' नामसे सम्बोधित किया है। प्रेम और वैराग्यकी तो वे मूर्ति ही थे। श्रीहरिचरणोंका अनन्य आश्रय ही उनकी साधनाका प्राण है—

जो तुम तोरो राम, मैं नहिं तोरौं।
तुम सों तोरि कवन सों जोरौं॥
तीरथ-बरत न करौं अँदेसा।
तुम्हरे चरन कमल क भरोसा॥
जहँ-जहँ जाऔं तुम्हरी पूजा।
तुम-सा देव और नहिं दूजा॥

रैदासकी विवशता भी कितनी सरल, कितनी स्वाभाविक है—

नरहरि! चंचल है मति मेरी, कैसे भगति करूँ मैं तेरी॥
तूँ मोहि देखै, हौं तोहि देखूँ, प्रीति परसपर होई।
तूँ मोहि देखै, तोहि न देखूँ, यह मति सब बुधि खोई॥
सब घट अंतर रमसि निरंतर, मैं देखन नहिं जाना।
गुन सब तोर, मोर सब औगुन, कृत उपकार न माना॥
मैं-तैं, तोरि-मोरि असमझि सों, कैसे करि निस्तारा।
कह रैदास कृष्ण करुनामय! जै जै जगत-अधारा॥

—'माधव'

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

व्यवहारको शुद्ध रखनेके दो उपाय हैं—धीरज और प्रेम।

सच्ची प्रभुभक्ति और सत्यपरायणता सब शुभ कार्यों और साधनाओंकी मूल है, शुद्ध प्रेमसे ही शुद्ध धर्मानुष्ठान सम्भव है। जिसकी जड़ शुद्ध नहीं, उसके डाल-पात और फल किस प्रकार शुद्ध हो सकते हैं?

अहम्मन्यता-ममत्वको दबाकर सबके साथ बन्धुत्व स्थापित करना एक ऋषिका काम है।

मैं जिस समय इन्द्रियोंका निग्रह करनेमें असमर्थ हो जाता हूँ तो परमेश्वरका स्मरण करता हूँ और जब मैं उसकी याद करता हूँ तो वह जरूर ही मेरी खबर लेता है।

संत पीपाजी

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

राजपूतानेके आग्नेय कोणमें अर्वली पहाड़की पंक्तियोंसे घिरा हुआ एक 'गागरोन' नामक गढ़ है। सैनिक दृष्टिकोणसे इसका बड़ा ही महत्त्व है। शत्रुओंको छकाने और उनके मनसूबोंको विफल करनेवाले भारतीय दुर्गोंमें यह सदासे अग्रणी रहा है। अनेक मुसलमान बादशाह और सैनिक सदैव यहाँसे निराश होकर लौटे हैं। कम-से-कम उनका युद्ध-कौशल तो यहाँ कारगर सिद्ध नहीं हुआ। यहाँका दृश्य बड़ा ही सुन्दर और मनोरम है, दुर्ग चारों ओर नदियोंसे घिरा हुआ है। यहाँ कई स्थान प्राकृतिक दृष्टिसे अनुपम हैं। 'बलीडाघाट' और 'गिद्धकराई' अपनी अनोखी विशेषताके कारण सुप्रसिद्ध हैं। विशेषत: यहाँके 'घोघड़' नामक जल-प्रपात तथा अन्य दृश्योंका तो भारतीय प्राकृतिक दृश्योंमें अन्यतम स्थान है। अनेक दर्शकोंकी सम्मतिमें भारतके ऐसे दो-चार स्थानोंमें इसकी गणना है। यह स्वभावत: मानवहृदयमें बलात् ईश्वरसम्बन्धी भाव-भावनाको उत्पन्न करता है। यहाँके लताकुंजों और झाड़ियोंके दृश्य नास्तिकको आस्तिक बनाते हैं और आस्तिकको भक्तशिरोमणि।

राजकुमार पीपा इसी प्रकृतिकी गोदमें पले थे। बाल्यावस्थासे ही उनके हृदयमें धार्मिक भावनाका अंकुर प्रस्फुटित हो गया था। राजसिंहासनपर बैठनेपर भी उनकी यह भावना कम नहीं हुई, अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी। यहाँतक कि उस समयका भोग-विलासपूर्ण वातावरण भी पीपाराजको धर्मविमुख न कर सका। यही कारण था कि इनका विशेष समय धार्मिक कार्योंमें ही व्यतीत होता था।

पीपाजी शुरूमें कौटुम्बिक परम्पराके अनुसार शक्ति-उपासक थे। परन्तु एक भगवद्भक्तमण्डलीके कारण यह वैष्णव बन गये। इस मतपरिवर्तनका मनोरंजक वृत्तान्त इस प्रकार है—

एक बार कुछ वैष्णव लोग पीपाजीके अतिथि हुए परन्तु इनके वैष्णव न होनेके कारण उनका अतिथिसत्कार जैसा चाहिये वैसा नहीं हुआ। इसपर साधुओंने देवीसे प्रार्थना की—हे आद्याशक्ति जगदम्बा भगवती! यह भेदभाव कैसा? इसपर देवीने स्वप्नमें पीपाजीको दर्शन देकर ऐसी भर्त्सना की कि इनकी अक्ल ठिकाने आ गयी और उस दिनसे इनका वह द्वैतभाव मिट गया। धीरे-धीरे इनका अनुराग वैष्णवधर्ममें बढ़ने लगा और अन्तमें यह उस समयके सुप्रसिद्ध भक्तशिरोमणि आचार्यप्रवर स्वामी श्रीरामानन्दजीकी शरणमें वैष्णवधर्मकी दीक्षा लेनेके लिये काशी गये। जब यह काशी जाने लगे तो इनके कुटुम्बी, राजकर्मचारी और सारी प्रजा घबड़ा उठी और लोगोंको यह भय हो गया कि महाराज अवश्य साधु बन जायँगे।

जब पीपाजी महाराज काशी पहुँच गये और साधुसमाजाग्रगण्य स्वामी श्रीरामानन्दजीकी शरणमें उपस्थित हुए तो उनका दुर्व्यवहार देखकर ये बड़े दुखी हुए। साथ ही स्वामीजीके ये शब्द सुनकर तो यह घबड़ा उठे कि 'भाई! हम संन्यासी हैं, हमारे यहाँ भोगके पुतले राजाओंका क्या काम? हमें तो साधुवेषधारी व्यक्ति चाहिये।' पीपाजी गुरु महाराजके इन वचनोंको सुनकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये, परन्तु वे धुनके पक्के थे। दूसरे दिन वे साधुवेषमें सेवामें उपस्थित हुए। कहा जाता है, इनको इस तरह साधुसेवामें देखकर और इनकी सच्ची लगन समझकर स्वामीजीने इनकी बहुत प्रशंसा की; परन्तु फिर भी इनको सम्मुख देखकर परीक्षार्थ कहा कि 'यदि ऐसी ही दृढ़ लगन है तो जाओ कुएँमें गिर पड़ो, वहीं तुम्हें भगवान्‌के दर्शन होंगे।' इसपर ये कुँएमें गिरने दौड़े, परन्तु रामानन्दजीके चेलोंने बीचमें ही इन्हें रोक लिया। भक्तमालके कर्ता महात्मा नाभादासजीने भी इस घटनाका प्रकारान्तरसे समर्थन किया है।

इस तरह पीपाजीकी अटल भगवन्निष्ठा देखकर इन्हें गुरु महाराजने मन्त्रोपदेश दिया और शिष्य बना लिया। पीपाजी कुछ दिन गुरुचरणोंमें रहे, इसके बाद बिदा लेकर जब आने लगे तब गुरुसे गागरोनगढ़ आनेके लिये प्रार्थना की। इसपर गुरुजीने कहा—'राजाधिराज पीपा! यदि तुम अपनी निष्ठा और साधना-आराधनामें ऐसे ही दृढ़ रहे और हमें तुम्हारी भगवद्भजनपरायणताका पता भी लगता रहा तो हम अवश्य ही एक दिन शिष्यमण्डलीके साथ तुम्हारी राजधानी आकर तुम्हें दर्शन देंगे।'

इस तरह पीपाजी गागरोनगढ़ आ गये और ईश्वराराधनामें दत्तचित्त रहने लगे और इनकी ये बातें किसी तरह स्वामी श्रीरामानन्दजीके पास भी पहुँचती रहीं। समय पाकर पीपाराजने स्वामीजीकी सेवामें गागरोन पधारनेके लिये पत्र भेजा। इसपर उनकी सच्ची भक्ति और दृढ़ निष्ठा जानकर और इनका अत्यधिक आग्रह देखकर गुरु महाराज पैदल ही शिष्यमण्डलीके साथ कई मासमें मार्गके नगर और ग्रामवासियोंको दर्शन देते हुए गागरोनगढ़ पहुँचे। उस समय इनके साथ कबीर और रैदास आदि चालीस प्रमुख शिष्य थे।

जब पीपाजीको गुरु महाराजके आनेकी खबर मिली तो वे फूले न समाये और खातिरकी तरह-तरहकी तैयारियाँ करने लगे। और अपने सत्संगमें नित्य ही भजनोपदेशके बाद विशेषरूपसे गुरु महाराजके व्यक्तित्व, गुण, सम्प्रदाय और साधनाके विषयमें चर्चा करने लगे। इसका प्रभाव यह हुआ कि उनकी राजधानीके सभी प्रमुख व्यक्तियों और सर्वसाधारण लोगोंके हृदयोंमें गुरु महाराज और उनकी शिष्यमण्डलीके दर्शनोंकी उत्सुकता अत्यन्त बढ़ गयी और पीपाजी तो अत्यधिक अधीर हो उठे।

आचार्यप्रवर रामानन्द जब गागरोनगढ़ पहुँचे तब पीपाजीने इनका बड़े भारी राजसी ठाट-बाट और मान-मर्यादापूर्वक स्वागत किया। समस्त राज्य और राजपूतानेमें बहुत दूरतक इनके आनेकी खबर फैल गयी और चारों ओरसे हजारों दर्शनाभिलाषी गागरोन आये। इससे पीपाजीके हृदयको जो सुख-शान्ति मिली उसका तो वर्णन ही नहीं हो सकता।

कहते हैं, पीपाजीके बहुत आग्रहपर स्वामीजी महाराज एक मासके लगभग गागरोन बिराजे और पीपाजीके साधु-स्वभाव, उनकी श्रद्धा और भाव-भक्तिको देखकर महाराज बड़े प्रसन्न हुए। यही कारण है कि जब स्वामीजीने पीपाजीसे द्वारका जानेके लिये बिदा माँगी तो इन्हें स्वामीजीका वियोग असह्य हुआ और साथ चलनेके लिये आज्ञा चाही। इसपर स्वामीजीकी स्वीकृति पाकर और संसारके सब बन्धनोंको तृणकी तरह तोड़कर ये संतवेषमें गुरुके साथ चलनेको तैयार हो गये। परन्तु इस समय एक समस्या खड़ी हो गयी और वह यह कि इनकी बारह रानियाँ भी साथ चलनेका आग्रह करने लगीं। ग्यारहको तो उन्होंने किसी तरह समझा-बुझा दिया। किन्तु बारहवीं रानी सीतादेवीने अत्यधिक आग्रह किया। परीक्षार्थ इसपर यह हुक्म हुआ कि यदि नग्नवेषमें चलना चाहो तो चल सकती हो। आखिर उसने यह आज्ञा भी शिरोधार्य की। सच है, लगी लगन बुरी होती है।

यह बड़ी भगवद्भक्त थी; इसकी संत-साधनाको देख और सुनकर सैकड़ों लोग साधु बन गये, सन्मार्गपर आ गये। इसका महान् चरित्र, व्यवहार और विविध घटनाएँ एक स्वतन्त्र जीवनचरित्रकी अपेक्षा रखती हैं। पीपाजीके जीवनचरित्रसे भी इसका चरित्र पृथक् नहीं किया जा सकता। पीपाजीकी प्रायः प्रत्येक घटनाके साथ इस ईश्वरभक्त रानीका सम्बन्ध है।

पीपाजी महाराज गुरुजी और गुरुभाइयोंके साथ द्वारका पहुँच गये और ईश्वरभक्तिमें आनन्दसे गुरुके चरणोंमें संन्यासिनी सीताके साथ समय बिताने लगे और बादमें गुरुजीके वहाँसे चले जानेपर भी चिरकालतक आप द्वारकामें ही रहे। द्वारकाजीमें रहनेका पीपाजीपर बड़ा भारी प्रभाव हुआ। ईश्वरकृपा, गुरुभक्ति और उनके अखण्ड पुण्यप्रतापसे यहीं इन्हें भगवान्के युगलरूपके दर्शन भी हुए। बादमें पीपाजी यात्रा करते हुए अपनी राजधानी गागरोन लौट आये और अहू और कालीसिन्धके पवित्र संगमपर एक गुफ़ामें रहने लगे। अबतक यहाँ आपका मन्दिर है, निवासस्थान है और गुफ़ा है। गुफ़ा देखने योग्य है। पूरी गुफ़ाका तो अबतक किसीको पता भी नहीं लगा; परन्तु कहते हैं, यह नदीके जलतक चली गयी है। पीपाजी इसीमें स्नान करके वापस मन्दिरमें आ जाते थे। यहाँ पहले मेला भरता था। पर्वस्नानके दिन अब भी यहाँ स्नानार्थियोंकी पर्याप्त भीड़ हो जाती है। यह स्थान इस समय झालावाड़ राज्यमें है, महाराजकी ओरसे इसका अच्छा प्रबन्ध है। जागीर है, गौशालाका भी सुप्रबन्ध है। अभी कुछ दिनसे श्रीमहाराजका ध्यान इस ओर विशेषरूपसे आकर्षित हुआ है। और इसका प्रबन्ध ऋषिकल्प पं० धनीरामजी, रिटायर्ड जजके सुपुर्द किया गया है।

पीपाजीका जीवनचरित्र विविध वृत्तान्तों और घटनाओंसे भरा पड़ा है। साथ ही इनकी साध्वी पत्नीके साथ रहनेके कारण भी वह दुर्घटनाओंकी माला-सा बन गया है। फिर प्रायः सदैव अकेले जंगलों और हिंसक जन्तुओंमें घूमनेके कारण भी उसमें घटना-बाहुल्य हो

गया है। किन्तु ईश्वरकृपा और भगवद्भक्तिके कारण ये घटनाएँ भी इनका कुछ न बिगाड़ सकीं। ये सदैव प्राणघातक घटनाओंसे बाल-बाल बचते रहे। श्रीनाभाजी महाराजने भक्तमालमें इनके योगैश्वर्यका अच्छा वर्णन किया है। उससे मालूम होता है कि इनके भगवन्नामोच्चारणमात्रसे बड़े-बड़े विघ्न टल जाया करते थे। इनके प्रभावसे गौ और व्याघ्र एक घाटपर पानी पीते थे। एक बार एक जंगलमें इन्होंने आक्रमणकारी एक सिंहको मन्त्रोपदेश भी दिया था। नाभादासजीके शब्दोंमें कहते हैं, उस जंगलमें अब भी सिंह गौ और मनुष्योंको नहीं सताते। महारानी सीतादेवीका चरित्र भी ऐसे ही चमत्कारों और मुख्यत: साधुचरित्रसे भरा पड़ा है।

पीपाजीने अपने जीवनमें सहस्रों नास्तिकोंको आस्तिक बनाया, सैकड़ों असाधुओंको साधु और पचासों निर्धनों और दरिद्रोंको ईश्वरप्रार्थनाके द्वारा धनवान् बनाया। और अनेक दुरात्मा शासकोंकी भी अक़्ल दुरुस्त की। ये भण्डारे और उत्सव-महोत्सव आदि भी कराते रहते थे। इसका पता ग्रन्थों और परम्परागत वृत्तान्तोंसे लगता है। पीपाजीके जीवनचरित्रकी घटनाएँ उस समयके भारत और भारतीय समाजपर भी अच्छा प्रकाश डालती हैं।

इनको जीवनमें दो बार भगवान् श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शन हुए। एक बार द्वारकामें और दूसरी बार वृन्दावनमें। द्वारकाके दर्शनका वृत्तान्त श्रीनाभादासजीने भक्तमालमें इस तरह लिखा है।

एक बार पीपाजीको श्रीकृष्णके दर्शनकी ऐसी उत्कट इच्छा हुई कि ये समुद्रमें कूद पड़े। साथ ही महारानी सीता भी कूद पड़ीं। वहाँ जलमें इनको भगवान्के युगल रूपके दर्शन हुए। कहते हैं, जलमें पीपाजी एक सप्ताह रहे और जब निकले तो सब लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। पीपाजीने भगवान्की दी हुई छाप पुजारियोंको दे दी और कहा—जिसके शरीरपर यह लगायी जावेगी उसको भगवान् प्राप्त होंगे और वह आवागमनके बन्धनसे मुक्त हो जावेगा।

अन्तमें यह कह देना भी उचित मालूम होता है कि पीपाजी परम भक्त थे और उस समयके अद्वितीय समाज सुधारक, धर्मोद्धारक, प्रकाण्ड पण्डित और रामानन्दी सम्प्रदायके संस्थापक महात्मा रामानन्दके प्रमुख शिष्य और उनकी **'रामात्'** शाखाके अनुयायी थे। साथ ही एक अच्छे राज्यके अधिपति होकर भी आपने उसपर संतमार्गको तर्जीह दी और जीवनभर इसीकी साधना-आराधनामें लगे रहे*।

भक्त धन्ना जाट

धन्नाजी जातिके जाट थे। इन्होंने विद्याध्ययन या शास्त्रश्रवण बिलकुल नहीं किया था, परन्तु बहुत छोटी अवस्थामें ही इनके हृदयमें प्रेमबीज अंकुरित हो उठा था और वह संत-सुधा-समागमसे जीवनी शक्ति भी पा चुका था। धन्नाजीके पिता खेतीका काम करते थे। पढ़े-लिखे न होनेपर भी उनका हृदय सरल और श्रद्धासम्पन्न था। वे यथाशक्ति संत-महात्मा और भक्तोंकी सेवा किया करते थे।

जिस समय धन्नाजीकी अवस्था पाँच सालकी थी एक भगवद्भक्त ब्राह्मण साधु उनके घरपर पधारे। उन्होंने अपने हाथसे कुएँका जल खींचकर स्नान किया, तदनन्तर सन्ध्यावन्दनादिसे निवृत्त होकर अपनी झोलीसे श्रीशालग्रामजीकी मूर्ति निकालकर उसकी षोडशोपचारसे पूजा की और उसके भोग लगाकर स्वयं भोजन किया। बालक धन्ना यह सब कौतुकसे देख रहे थे। बालकका सरल, शुद्ध हृदय था ही; उसे भी इच्छा हुई कि यदि उसके पास भी ऐसी ही एक मूर्ति होती तो वह भी उसकी इसी तरह पूजा किया करता। उन्होंने स्वाभाविक ही मनको प्रसन्न करनेवाली मीठी वाणीसे ब्राह्मणदेवके पास जाकर वैसी ही एक मूर्तिके लिये याचना की। पहले तो ब्राह्मणने कुछ ध्यान न दिया, परन्तु जब वे बहुत गिड़गिड़ाने लगे तो वह उन्हें एक शालग्रामजीकी मूर्ति देकर कहने लगे—'बेटा! ये तुम्हारे भगवान् हैं, तुम इनकी पूजा किया करो। देखो, इनके भोग लगाये

* पीपाजी कबीरदासजीके समसामयिक थे और कबीरपन्थियोंके मतसे कबीरदासजी सन् १४०५ से १५०५ तक जीवित थे। ऐसी दशामें पीपाजीका समय भी इसीके लगभग होना चाहिये।

बिना कभी भोजन न करना।' ब्राह्मणदेवता तो यह कहकर चले गये। धन्नाजीको बात लग गयी। धन्नाकी मानो यही गुरुदीक्षा हुई।

अब धन्नाजीके आनन्दका पार नहीं। वे सूर्योदयसे पूर्व उठकर पहले स्वयं स्नान करके अपने भगवान्‌को स्नान कराते, चन्दन लगाते, तुलसी चढ़ाते और पूजा-आरती करते। माता जब खानेको बाजरेकी रोटी देती तो वे उसे भगवान्‌के आगे रखकर आँख मूँद लेते और बीच-बीचमें आँख खोलकर देख लेते कि भगवान्‌ने भोग लगाना शुरू किया कि नहीं। जब बहुत देर हो जाती और भगवान् भोग न लगाते तो अनेक प्रकारसे प्रार्थना और निहोरा करते। इतनेपर भी जब भगवान् भोग न लगाते तो निराश होकर यह समझते कि भगवान् मुझसे नाराज़ हैं। जब वे रोटी नहीं खाते तो मैं कैसे खाऊँ? यह सोचकर वे रोटियोंको दूर फेंक देते। इस तरह कई दिन बिना अन्न-जल लिये बीत गये। अब उनका शरीर बहुत दुर्बल हो गया और चलने-फिरनेकी भी शक्ति नहीं रही। उनके नेत्रोंसे, इस मार्मिक दुःखके कारण कि भगवान् मेरी रोटी नहीं खाते, सर्वदा आँसुओंकी धारा बहने लगी।

सरल बालककी बहुत कठिन परीक्षा हो चुकी। भगवान्‌का आसन हिल उठा। भक्तके दुःखसे द्रवित होकर भगवान् उसके प्रेमाकर्षणसे अपूर्व मनमोहिनी मूर्ति धारणकर उसके सामने प्रकट हुए और उस 'प्रयतात्मा' भक्तकी 'भक्त्युपहृत' रोटीका बड़े प्रेमसे भोग लगाने लगे। जब भगवान् आधीसे अधिक रोटी खा चुके तो धन्नाने भगवान्‌का हाथ पकड़कर कहा—'भगवन्! इतने दिनोंतक तो पधारे ही नहीं, अब आज आये हो तो सारी रोटी अकेले ही उड़ा जाओगे? तो क्या मैं आज भी भूखों मरूँगा? क्या मुझे ज़रा-सी भी न दोगे?'

बालक भक्तके सरल-सुहावने वचन सुनकर भगवान् ज़रा मुसकराये और उन्होंने बची हुई रोटी धन्नाजीको दे दी। इस रोटीके अमृतसे भी बढ़कर स्वादका वर्णन शेष-शारदा भी नहीं कर सकते। भक्तवत्सल करुणानिधि कौतुकी भगवान् अब प्रतिदिन इसी प्रकार अपनी जनमनहरण रूपमाधुरीसे धन्नाजीका मन मोहने लगे। मनुष्य जबतक इस मनमोहिनी मूर्तिका दर्शन नहीं कर पाता तभीतक वह अन्य विषयोंमें आसक्त रहता है। जिसे एक बार भी इस रूपछटाकी झाँकी करनेका सौभाग्य प्राप्त हो गया उसे फिर और कोई बात नहीं सुहाती। अब धन्नाजीकी भी यही दशा हुई। यदि एक क्षणके लिये भी वे मनमोहनको अपनी आँखोंके सामने या हृदयमन्दिरमें न देख पाते तो तुरन्त मूर्च्छित होकर गिर पड़ते। इसीसे भगवान्‌को धन्नाजीके साथ या उनके हृदयमन्दिरमें सदा-सर्वदा रहना पड़ता।

अब धन्नाजी कुछ बड़े हो गये, इससे माताने उन्हें गौ दुहनेका काम सौंप दिया। कई गायें थीं, धन्नाजीको दोनों समय दुहनेमें बड़ा कष्ट होता। एक दिन भगवान्‌ने प्रकट होकर कहा कि 'भाई! तुम्हें अकेले इतनी गायें दुहनेमें बड़ा कष्ट होता होगा, तुम्हारी गायें मैं दुह दिया करूँगा।' सुरमुनिवन्दित सकलचराचरसेव्य अखिललोकमहेश्वर भगवान् अपने बालक भक्तके साथ रहकर उसकी सेवा करने लगे।

एक दिन धन्नाजीके वे ब्राह्मण गुरु उसके घरपर आये और पूछा—'क्यों, ठाकुरजीकी पूजा करते हो कि नहीं?' धन्नाने कहा—'महाराज! आपने तो अच्छे भगवान् दिये। कई दिनतक तो दर्शन ही नहीं दिये, स्वयं भूखे रहे और मुझे भी भूखों मारा। अन्तमें एक दिन दर्शन देकर सारी ही रोटी चट करने लगे, बड़ी कठिनाईसे मैंने हाथ पकड़कर आधी रोटी अपने लिये रखवायी। परन्तु महाराज! हैं वे बड़े प्रेमी। हर समय मेरे साथ रहते हैं और दोनों समय मेरी गायें दुह देते हैं। वह अब तो मुझे बहुत ही प्यारे हैं, मेरे प्राण तो उन्हींमें बसते हैं।'

ब्राह्मणने आश्चर्यचकित होकर पूछा कि 'तुम्हारे भगवान् हैं कहाँ?' धन्नाने कहा कि 'मेरे पास ही तो ये खड़े हैं, क्या आपको नहीं दीखते?' यह सुनकर ब्राह्मणको बड़ा दुःख हुआ। इसपर धन्नाजीने भगवान्‌से ब्राह्मणको दर्शन देनेके लिये भी प्रार्थना की। उसकी प्रार्थनापर सन्तुष्ट होकर भगवान्‌ने धन्नाको ब्राह्मणकी गोदमें बैठकर अपने पवित्रतम शरीरके स्पर्शसे उसे पवित्र करके दिव्य नेत्र प्रदान करनेकी आज्ञा दी। धन्नाके ब्राह्मणकी गोदमें बैठते ही ब्राह्मणको भगवान्‌के दर्शन हो गये। वह कृतकृत्य हो गया। सदाके लिये उसके समस्त बन्धन टूट गये। धन्य भगवन्!

अब धन्नाजीकी बाललीला समाप्त हुई। साथ-ही-साथ भगवान्‌का धन्नाजीके साथ बालोचित व्यवहार

श्रीसर्वानन्द ठाकुर
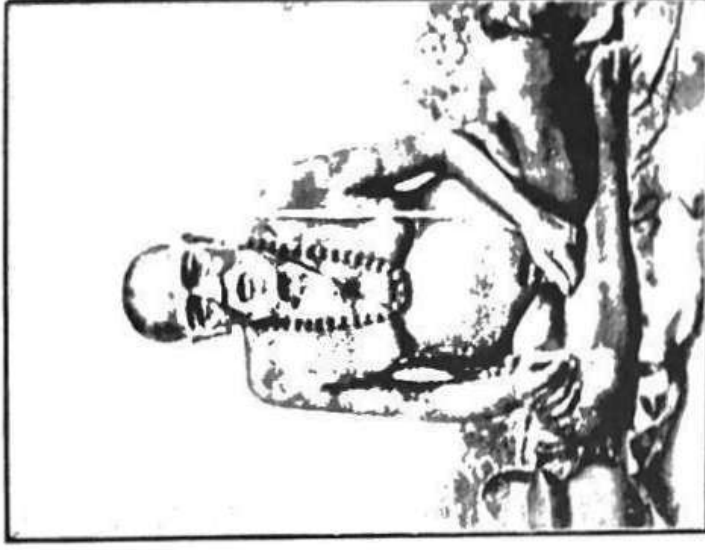
वामाक्षेपाकी उपास्य मूर्ति

महात्मा वामाक्षेपा
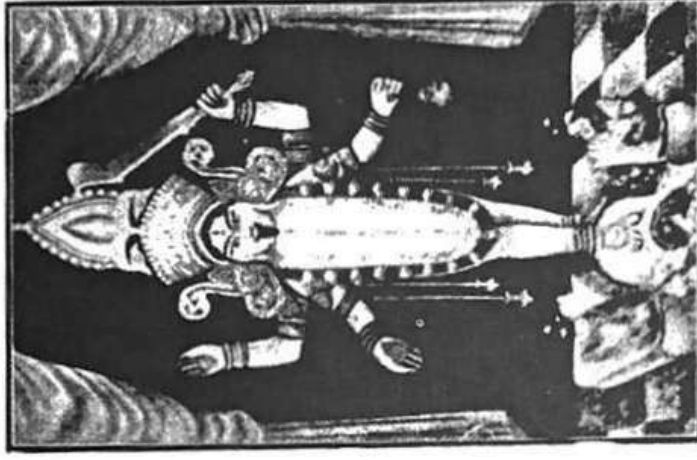
पीपाजीका समाधि-मन्दिर

महात्मा श्रीलालदयालुजी और दाराशिकोह

महात्मा रामालिंगम्

गुफा और मन्दिर

भी छूट गया। भगवान्की आज्ञानुसार धन्नाजीने काशी जाकर श्रीरामानन्दजीसे भगवन्नामकी दीक्षा ले ली और घरपर रहकर भगवद्भजन और साधुसेवा करने लगे।

एक दिन धन्नाजीके पिताने इन्हें खेतमें गेहूँ बोनेके लिये बीज देकर भेजा। रास्तेमें कुछ संत मिल गये। वे भूखे थे, उन्होंने धन्नाजीसे भिक्षा माँगी। सर्वत्र अपने प्यारेको देखनेवाला भक्त इस अवसरपर कैसे चूक सकता था, उन्होंने समस्त गेहूँ संतोंको दे दिये। धन्नाजीने गेहूँ दे तो दिये, परन्तु माता-पिताके भयसे यों ही घर लौटना उचित न समझकर वे खेत चले गये और जमीन जोतकर घर लौट आये। भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान्ने अपनी मायासे भक्तका गौरव बढ़ानेके लिये उनके खेतको सबसे अधिक हरा-भरा कर दिया। दूसरे दिन जब सब किसान उनके खेतकी प्रशंसा करने लगे तब एक बार तो उन्होंने समझा कि खेत सूखा पड़ा देखकर सम्भवतः दिल्लगी कर रहे होंगे, पर जब उन्होंने खुद जाकर देखा और खेतको लहलहाता पाया तो उनके हृदयमें प्रेमका समुद्र उमड़ चला और उन्होंने मन-ही-मन भगवान्को बारंबार प्रणाम किया।

—ह० पोद्दार

बाबा लालदयालुजी

(लेखक—पं० श्रीहरिश्चन्द्रजी शर्मा भारद्वाज)

पंजाबके गुरुदासपुर जिलेमें बटाला स्टेशनसे लगभग दस मीलकी दूरीपर दरबार श्रीध्यानपुर नामका एक प्रसिद्ध वैष्णवमठ है। इस मठके आदि संस्थापक बाबा लालदयालु एक बहुत ही ऊँचे योगी और आप्तकाम संत हो चके हैं। आपका जन्म वि० सं० १४१२ की माघ शुक्ला द्वितीयाको कुशपुर (कुसूर) गाँवके एक प्रसिद्ध क्षत्रियवंशमें हुआ था। इनके पिताका नाम भोलानाथ और माताका कृष्णादेवी था। ये बड़े ही विचक्षण बुद्धिके बालक थे। आठ वर्षकी अवस्थामें ही धर्मशास्त्रोंका अध्ययनकर आप अपना जीवन तदनुकूल बनानेकी चेष्टामें लग गये। दस वर्षकी अवस्थामें आपको एक ऐसे महात्माका प्रसाद मिला जिसे पाकर आपको तीव्र वैराग्य जाग उठा। इसी विरक्तावस्थामें आप मथुरा, वृन्दावन, काशी प्रभृति तीर्थस्थानोंमें सद्गुरुकी खोजमें घूमते रहे, और अन्तमें निराश होकर लौट आये और पिताजीसे भगवत्प्राप्तिका मार्ग पूछने लगे। पिताके लाख समझानेपर भी आप अपनी निष्ठामें दृढ़ रहे।

ब्रह्मपिपास निरास जग, मत अवसर चल जाय।
एक यही मन लालसा, राम मिलनको भाय॥

घरपर आपको प्रकाश नहीं मिला। अतः पुनः आप सद्गुरुकी खोजमें निकले और सौभाग्यवश शाहदरा लाहौरके समीप ऐरावतीके तटपर वही सद्गुरु मिल गये जिनके नैवेद्यप्रसादसे आपको तीव्र वैराग्य जाग उठा था। इनका नाम था श्रीस्वामी चैतन्यदेवजी। आपने गुरुसे दीक्षा ली और बहुत समय आपके साथ व्यतीत किया। आपको स्वामीजीने अणिमादि सिद्धियाँ भी दीं परन्तु आप इन सिद्धियोंको अत्यन्त हेय समझते थे। अध्यात्मकी प्यास सिद्धियाँ कैसे बुझा सकती हैं? स्वामीजी तो इनकी परीक्षा ले रहे थे। इसलिये अब इन्हें आत्मविद्याका अधिकारी समझकर ब्रह्मज्ञान बतलाया।

मन निश्चल आतम-गति होई। जीव शीवमें भेद न कोई॥

ब्रह्मज्ञानकी शिक्षा देकर श्रीगुरुदेव अन्तर्धान हो गये। कहा जाता है कि उसी समय आकाशवाणी हुई—

अब तुम आतमराम पछाना। भक्तजनोंको दीजो दाना॥
कर्म, भक्ति, ज्ञान बिस्तारहु। पतित जीव अब सभी उधारहु॥

भगवान्का आदेश पाकर आपने अपने प्रमुख बाईस शिष्योंके साथ पंजाबके अतिरिक्त काबुल, गजनी, पेशावर, सूरत, देहली, कांधार प्रभृति देश-देशान्तरोंमें भ्रमण करके भगवद्भक्तिकी विजयवैजयन्ती फहरायी। उस समय शाहजहाँ बादशाह था। उसके जेठे लड़के दाराशिकोहको बाबा लालदयालुजीके उपदेशोंका पता चला तो वह उनसे मिलनेके लिये विकल हो उठा। दाराके प्रेमपूर्ण पत्र पाकर स्वयं बाबा लालदयालुजी दारासे मिलने लाहौर गये। वहाँ बहुत बड़ी सभा की गयी और दारापर बाबा लालदयालुका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। दारा और बाबा लालदयालुके बीच प्रश्नोत्तरके रूपमें जो सत्संग हुआ वह 'असरारे मार्फ़त' के नामसे १९१२ ई० में लाहौरमें छप चुका है।

आपको अनेकों सिद्धियाँ प्राप्त थीं—जैसे आकाशमें उड़ना, गुप्त हो जाना, प्रकट हो जाना, मृत व्यक्तिको

जिला देना, इत्यादि-इत्यादि; परन्तु तो भी आप इन्हें आत्मज्ञानके सम्मुख सर्वथा हेय समझते थे। योगिराज होनेके कारण आपने कायाकल्पके द्वारा तीन सौ वर्षोंतक अपने शरीरको कायम रखा और अन्तमें वि० सं० १७१२ की कार्तिक शुक्ला दशमीको श्रीध्यानपुरमें ब्रह्मलीन हो गये। वहाँ आपकी समाधि अबतक भी है और वैशाखी दशमी तथा विजयादशमीको वहाँ बड़े भारी मेले लगते हैं। आपकी वाणीके कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

जाके अंतर ब्रह्म प्रतीत। धरे मौन, भावे गावे गीत॥
निसदिन उन्मन रहित खुमार। शब्द सुरत जुड़ए को तार॥
न गृह गहे, न बनको जाय। लालदयालु सुख आतम पाय॥

आशा बिषय-बिकारकी, बाँध्या जग संसार।
लख चौरासी फेरमें, भरमत बारंबार॥
जिहँकी आशा कछु नहीं, आतम राखै शून्य।
तिहँको नहिं कछु भर्मणा, लागै पाप न पून्य॥
देहा भीतर श्वास है, श्वासे भीतर जीव।
जीवे भीतर बासना, किस बिधि पाइये पीव॥
हिन्दू तो हरिहर कहै, मुस्सलमान ख़ुदाय।
साँचा सतगुरु जे मिलै, दुबिधा रहै न काय॥
जाके अंतर बासना, बाहर धरे ध्यान।
तिहँको गोबिंद ना मिलै, अंत होत है हान॥

श्रीपाद श्रीवल्लभ

पिठापुर नामक स्थानमें आपललाजा नामक एक आपस्तम्बशाखीय ब्राह्मण रहते थे। सुमता नाम्नी इनकी धर्म-पत्नी थी। दोनों स्त्री-पुरुष बड़े धर्मनिष्ठ, आचारवान् और भगवान् श्रीदत्तात्रेयके परम भक्त थे। संवत् १४३५ के लगभग इनके एक पुत्र हुआ। इसका नाम था श्रीवल्लभ। श्रीवल्लभ जब सात वर्षके हुए तब उपनयन हुआ। इस समय एक बड़ी आश्चर्यमयी घटना घटी। बालकको ज्यों ही गायत्री मन्त्रकी दीक्षा मिली त्यों ही उसके मुखसे चारों वेद निकलने लगे। लोगोंने यह निश्चय किया कि ये कोई 'कारणिक अवतार' हैं। आचार, व्यवहार, प्रायश्चित्त आदि सब विषय ये लोगोंको बतलाने लगे और वेद-वेदान्तके गूढ़ आशय प्रकट करने लगे। जब ये सोलह वर्षके हुए तब इनके पिताने इनका विवाह करा देना चाहा। पिताकी ऐसी इच्छा जानकर इन्होंने पितासे कहा कि विरक्तिके साथ मेरा विवाह हो चुका है, अब किसी दूसरी स्त्रीसे विवाह करना ठीक नहीं। मैं तपस्वीरूपसे उत्तरापथको जानेवाला हूँ। माता-पिताने सोचा, ऐसे विलक्षण विरक्त, तपस्वी और ज्ञानी पुरुषको अपना पुत्र समझना ही भूल है। यह तो कोई अवतार ही है। यह सोचकर माता-पिता चुपचाप बैठ गये। इनके दो बेटे और थे, उनमें एक अन्धा था और दूसरा अपंग। अपने इन दोनों भाइयोंकी ओर अमृतदृष्टिसे देखकर श्रीवल्लभने एकको दृष्टि दी और दूसरेको चलनेकी शक्ति, और दोनोंको ज्ञान। इसके बाद साधुजनोंको दीक्षा देनेके लिये ये उत्तरापथकी ओर चले। पहले काशी पहुँचे। वहाँसे बद्रीनारायण गये। वहाँसे लौटकर मार्गके तीर्थोंको पावन करते हुए दक्षिणमें गोकर्ण और गोकर्णसे कुरवपुर पहुँचे और यहाँ कुछ लोगोंको वरदान देकर श्रीगुरु अदृश्य हो गये। यह कथा 'श्रीगुरुचरित्र' ग्रन्थके अ० ५ और ९ में है।

—ल० गर्दे

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

जिन लोगोंको इन तीन वस्तुओंपर प्रेम है, उनमें और नरकमें ज्यादा दूरी नहीं है—(१) स्वादिष्ट भोजन, (२) सुन्दर वस्त्र और (३) धनवानोंका सहवास।

बाहरी एकान्त वास्तविक एकान्त नहीं। मनमें चिन्ता और शोकका प्रवेश न हो वही सच्चा एकान्त है। ऐसा एकान्तवास करनेवाला ही सच्चा संगरहित है। मनको सदा वशमें रखो। यदि हृदय हाथमें होगा तो उसमें प्रवेश करनेको दूसरेको रास्ता ही नहीं मिलेगा।

जो मनुष्य ईश्वरपर विश्वास रखकर उसीकी प्रीतिके लिये धर्माचरण करता है, वही निर्भय है, और उसे ही प्रभु अपनी सेवामें लेता है।

सिद्धिविद्या सर्वानन्दठाकुर

(लेखक—श्रीउपेन्द्रचन्द्र दत्त)

गत पाँच-छः सौ वर्षोंमें पुण्यभूमि भारतमें जिन महापुरुषोंका आविर्भाव हुआ, उनमेंसे सर्वानन्दठाकुरके समान छोटी उम्रमें, अल्प समयमें और बहुत ही थोड़े प्रयाससे किसीने सिद्धि प्राप्त की हो, ऐसा जाननेमें नहीं आता। श्रीयुत शिवनाथ भट्टाचार्यकृत 'सर्वानन्दतरंगिणी' नामक संस्कृत ग्रन्थके आधारपर यह परिचय लिखा जाता है। इस ग्रन्थमें लिखा है कि सर्वानन्दजीने पूर्वजन्मोंमें कठोर साधनाएँ की थीं और नीलाचल, विन्ध्याचल, बदरिकाश्रम, गंगासागर, काशी और कामाख्यामें भगवतीके साक्षात्कारके लिये देहत्याग किया था। आप शक्तिके उपासक थे और परमहंसकी तरह नाना स्थानोंमें विचरण करते थे। किंवदन्ती है कि ये अब भी जीवित हैं और समय-समयपर इच्छानुरूप नये-नये शरीर धारण कर लेते हैं। किसी-किसी भाग्यवान्‌ने इनके दर्शन भी किये हैं। तन्त्रशास्त्रके विख्यात पण्डित श्रीयुत जॉन उडरफसाहबने इस विषयमें अपने 'शक्ति और शाक्त' (Shakti and Shakta) ग्रन्थमें लिखा है—

As is usual in such cases, there is a legend that Sarvānanda is still living by Kāyavyūha in some hidden resort of Siddha Purusas. The author of the memoir from which I quote tells of a Sādhū who said to my informant that some years ago he met Sarvānanda in a place called Champāraṇya only for a few minutes, for the Sādhū was himself miraculously wafted else-where. (p. 239)

दुर्भाग्यवश इन महापुरुषके जीवनकी बहुत-सी घटनाएँ हम नहीं जानते, और जो जानते हैं स्थानाभावसे वह सब प्रकाशित नहीं कर सकते। अतएव बहुत संक्षेपमें ही कुछ निवेदन किया जाता है।

'सर्वोल्लास' ग्रन्थके रचयिता सर्वानन्ददेव ही हैं। कहा जाता है कि आपने और भी दो तान्त्रिक ग्रन्थ लिखे थे। ऐसा भी सुननेमें आता है कि काश्मीरके रघुनाथमठमें 'नवाह्नपूजापद्धति' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ और मध्यभारतमें 'त्रिपुरार्चनदीपिका' नामक ग्रन्थ सर्वानन्दके द्वारा रचित हैं।

त्रिपुरा ज़िलेके अन्तर्गत मेहार नामक गाँवमें सर्वानन्दका जन्म हुआ था और उनकी वंशसूचीके देखनेसे तथा मि० उडरफकी गणनाके अनुसार लगभग पाँच सौ चालीस वर्ष पूर्व इन महात्माका आविर्भाव हुआ था। इनके सिद्धिलाभका दिन पौष-संक्रान्ति, अमावस्या, शुक्रवार, वि० संवत् १४८२ है।

बर्दवान ज़िलेके पूर्वस्थली ग्राममें वासुदेव नामक एक तपस्वी ब्राह्मण गंगातटपर जप कर रहे थे। उनके प्रति देववाणी हुई कि बंगालके मेहार नामक स्थानमें तुम्हारा एक वंशज सिद्धि प्राप्त करेगा। उक्त ब्राह्मणको मेहारमें बसनेके लिये इच्छुक समझकर मेहारके तत्कालीन राजा उनको अपने ग्राममें आदरपूर्वक ले आये, तदनन्तर सर्वविद्यासम्पन्न वासुदेवने कामाख्यामें उत्कट तपस्या करके महामायाको सन्तुष्ट किया। परमेश्वरीने स्वप्नमें वासुदेवसे कहा कि 'मेहार नामक स्थानमें वृक्षके नीचे आधीरातके समय शवपर बैठकर अपने पुत्रके पुत्र अर्थात् पौत्र होकर साधन करनेसे तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी। बुद्धिमान् वासुदेवने अपने नौकर पूर्णानन्दको स्वप्नकी सब बातें कहकर पुत्रके पुत्ररूपमें जन्म लेनेकी कामनासे देहत्याग कर दिया, और थोड़े ही दिनों बाद उनका अपने पुत्र शम्भुनाथके घर पुत्ररूपमें जन्म हुआ।

शम्भुनाथके पुत्र सर्वानन्द पढ़ने-लिखनेकी कुछ भी परवा नहीं करते थे। एक दिन राजसभामें अमावस्याको पूर्णिमा बतला देनेके कारण पण्डितोंने सर्वानन्दका खूब मज़ाक उड़ाया। राजाने भी उनको सभामें आनेसे मना कर दिया। इस घटनासे अपमानित होकर दुःखभरे हृदयसे सर्वानन्द घर छोड़कर वनको चले गये। पढ़ना-लिखना सीखनेके लिये ताड़पत्र संग्रह करनेके उद्देश्यसे वे ताड़के वृक्षपर चढ़ गये। वहाँ उन्हें एक भयानक साँप दिखलायी दिया। सर्वानन्द फुफकार मारते हुए साँपके फैले हुए फनको जोरसे पकड़कर उसका सिर ताड़की धारदार शाखासे घिसने लगे और घिसते-घिसते साँपके मर जानेपर उन्होंने उसे नीचे फेंक दिया। वृक्षके नीचे खड़े हुए एक संन्यासीने सर्वानन्दके इस असीम साहसपर मुग्ध होकर कहा—'मैं तुम्हारे सब मनोरथोंको पूरा कर दूँगा, तुम मेरे पास चले आओ।' सर्वानन्दने

नीचे उतरकर संन्यासीको प्रणाम किया और अपनी सारी कथा सुना दी। अवधूत संन्यासीने कहा 'वत्स! पढ़ने-लिखनेकी तुम्हें कोई जरूरत नहीं है, मैं तुमको सब सिद्धियोंको देनेवाला मन्त्र प्रदान करता हूँ।' तदनन्तर भक्तवत्सल गुरु सर्वानन्दके कानमें महामन्त्र देकर और उनकी छातीपर साधनप्रणाली लिखकर अन्तर्धान हो गये। सर्वानन्दने अपने नौकर पूर्णानन्दको यह सब वृत्तान्त कह सुनाया। पूर्णानन्दने उनको यथासमय यथास्थानपर ले जाकर कहा 'देखो! डरना नहीं, मेरी पीठपर बैठकर मूलमन्त्रका जप करते रहो। देवी दर्शन देकर वर माँगनेके लिये कहें तो उनसे कह देना कि मैं कुछ भी नहीं जानता, मैं तो पूर्णानन्द जैसे कहता है वैसे ही करता हूँ।' यों उपदेश देकर पूर्णानन्द देहसे अपने प्राणोंको अलग करके निरालम्ब अवस्थामें रह गये, और साधकप्रवर सर्वानन्द उसके शवपर चढ़कर भक्तिके साथ इष्ट मन्त्रका जप करने लगे। तदनन्तर रात्रिके समय चन्द्र, सूर्य और अग्निकी भाँति उज्ज्वल प्रकाशमय एक परम ज्योतिने सर्वानन्दके हृदयसे निकलकर समस्त वनमें प्रकाश फैला दिया। धीरे-धीरे उस ज्योतिमें सर्वानन्दने इष्टमूर्तिके दर्शन किये! देवीने कहा—'हे वत्स! आजसे तुम मेरे पुत्र हुए। जो चाहोगे मैं तुम्हें वही दूँगी।'—

अद्यारभ्य मम त्वमेव नियतः पुत्रः प्रतिज्ञा कृता
यस्मिन् यन्मनसि त्वमेव कुरुषे सम्पादनीयं मया।

'अब तुम्हारी जो इच्छा हो सो वर माँगो।' देवीके वचन सुनकर शवासनसे उठकर सर्वानन्द देवीकी स्तुति करने लगे। फिर बोले—'मातः! मेरे सभी मनोरथ आज आपके चरणकमलोंके दर्शनसे पूर्ण हो गये हैं, अगर आप और कोई वर देना चाहें तो मेरे इस सोये हुए नौकरके इच्छानुसार वर प्रदान करें। तदनन्तर देवीने पूर्णानन्दके सिरपर अपना चरणकमल रखकर उन्हें जागृत किया। देवीके चरणकमलोंका दर्शन कर पूर्णानन्दने विधिवत् स्तुति करके कहा—'माता! यदि हम लोगोंपर आपकी दया है तो अपने दशों प्रकारके श्रेष्ठ रूपोंका हमें दर्शन कराइये।' इसपर कृपापरवश हुई भगवतीने अपने कालिकादि दश महाविद्यारूपोंका उन्हें दर्शन कराया। तदनन्तर अनेकों भाँति स्तवन करके पूर्णानन्दने कहा—'हे दुर्गामैया! तुम्हारे इस दास सर्वानन्दको राजसभामें अत्यन्त मूर्ख और पागल ठहरा दिया गया था, अब आप इनको सब विद्याओंसे सम्पन्न बना दीजिये। और इन्होंने अमावस्याको पूर्णिमा कह दिया था, इसलिये हे माता! अब आज ही शेष रात्रिमें पूर्ण चन्द्रका उदय कराकर इसे पूर्णिमाकी रात्रि बना दीजिये।' भगवतीने प्रसन्न होकर उन्हें वरदान दिया और अपने नखचन्द्रकी ज्योतिके दर्शन कराकर वे अन्तर्धान हो गयीं।

सर्वानन्ददेव इसी समयसे सदानन्दमय, स्थिर, स्पृहाशून्य और गूँगे-से होकर विचरण करने लगे।

इस घटनाके कुछ दिनों बाद राजाने उन्हें एक दुशाला दिया। निःस्पृह सर्वानन्दने वह दुशाला एक वेश्याको दे दिया। इससे लोग उनकी बड़ी निन्दा करने लगे, तब सर्वानन्दने कड़ककर अपने भानजे षडानन्दसे कहा—'जाओ, अपनी मामीसे वह दुशाला तो माँग लाओ।' षडानन्द घर जाकर मामीको दुशाला देनेके लिये पुकारने लगे। मामी उस समय घरमें नहीं थीं, भक्तवत्सला जगज्जननी दुर्गाने आविर्भूत होकर घरसे वैसा ही दुशाला लेकर षडानन्दको दे दिया। भगवतीकी परम शोभायुक्त छटा देखकर षडानन्द विस्मित और मत्त होकर भक्तिभावसे उनकी स्तुति करने लगे। घरसे वैसा ही दुशाला आया देखकर सबको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। कुछ समय बाद सर्वानन्ददेव अपनी पत्नी वल्लभादेवीको मुक्तिका वरदान और पुत्र शिवनाथके कानमें सिद्धिमन्त्र देकर पूर्णानन्द और षडानन्दके साथ काशी चले गये।

सर्वानन्ददेव काशीके गणेशमहल्लेके शाखा-शारदामठमें रहते थे, वहाँ वे 'अवधूत' के नामसे परिचित थे। वे काशीमें तान्त्रिक पद्धतिसे पंचतत्त्वोंकी साधना करते थे। काशीके दण्डी संन्यासियोंने उनका तन्त्राचार देखकर उन्हें काशीसे निकालनेकी चेष्टा की। परन्तु सर्वानन्दजीके योगैश्वर्यके प्रभावसे सब लोगोंको दब जाना पड़ा।

सर्वानन्ददेव काशीसे बदरिकाश्रम गये थे, ऐसा कहा जाता है। वस्तुतः किस समय क्या हुआ था, कुछ भी नहीं कहा जा सकता। लोग तो कहते हैं कि वे अबतक जीवित हैं। चन्द्रनाथके तपस्यापरायण महन्त गान्तिवन बाबाजीने सर्वानन्दके वंशज दुर्गाचरण ठाकुर महोदयसे कहा था कि हिमालयके किसी रम्य आश्रममें मुझको सर्वानन्ददेवके दर्शन हुए हैं। उक्त बाबाजीके गुरुके सामने वे योगबलसे अपने पहलेके वृद्ध शरीरसे

ज्योतिर्मय तरुण युवकके रूपमें निकलकर फिर अपने स्थानको चले गये थे। इस तरह उन्होंने बहुत बार नये-नये शरीर धारण किये हैं, ऐसा कहा जाता है। इन अद्भुत महापुरुषकी जीवनीपर विचार करते समय गीताका यह महावाक्य बार-बार याद आता है कि 'सब धर्मोंको छोड़कर एकमात्र मेरी शरण आ जाओ।' भगवत्कृपाके लिये स्थान, वर्ण या आश्रमविशेषकी आवश्यकता नहीं है, न कोई एक निर्दिष्ट पथ ही है, जितने मत हैं उतने ही पथ हैं। जन्म-जन्मान्तरकी सुकृतिके फलस्वरूप विवेक, वैराग्य और अनन्य अनुरागका उदय होनेपर किसी भी क्षण भगवद्दर्शन हो सकते हैं।

श्रीपाद श्रीनृसिंह सरस्वती

संवत् १४६५ के लगभग श्रीनृसिंह सरस्वतीका जन्म हुआ। इनके पिताका नाम माधव था और माताका अम्बा भवानी। जन्मते ही इस अलौकिक बालकने ॐ का उच्चारण आरम्भ कर दिया। उपनयनकालतक इस बालकके मुखसे प्रणवको छोड़ दूसरा कोई शब्द ही न निकला। कानसे सब सुनता था, मन-बुद्धिसे सब समझता था, पर बोलता कुछ भी न था। एक बार इन्होंने लोहेका एक छड़ उठा लिया, त्यों ही वह सोना हो गया। इससे अब लोग कहने लगे कि ये कोई 'कुलदीपक कारणिक अवतार' हैं। नृसिंहका उपनयन हुआ, गायत्री-मन्त्र इन्होंने मन-ही-मन जपा। यथाविधि मातासे जब इन्हें पहली भिक्षा मिली तब इनका मुँह खुला और '**अग्निमीळे पुरोहितं**', '**इषे त्वा**', '**अग्न आ याहि**', '**ये त्रिषप्ताः**' इत्यादि चार वेदोंके चार मन्त्र इनके मुखसे निकले। इसके बाद ये भैक्ष्यचर्यका संकल्प करके घरसे चल देना चाहते थे। पर माताने बहुत आतुर हो इन्हें रोका। माताके आग्रहसे, उनके और दो पुत्र होनेतक, ये घर ही वेदपठन करते रहे। माताके इस बार यमज पुत्र हुए। बस, फिर ये नहीं रुके। माता-पिताको अत्यन्त व्याकुल देख इन्होंने अपना दत्तात्रेयरूप प्रकटकर उन्हें कृतार्थ किया। नृसिंह पहले काशी गये, वहाँ उन्होंने बड़ा कठिन तप किया। काशीमें उन दिनों कृष्ण सरस्वती नामक एक अति वृद्ध और महासमर्थ संन्यासी थे। उनकी ब्रह्मस्थिति देखकर नृसिंह बहुत प्रसन्न हुए और उन्हींसे इन्होंने संन्यासदीक्षा ली। इसके पश्चात् इनके जीवनमें अनेक अद्भुत चरित्र हुए हैं। भिल्लवड़ीमें एक ब्राह्मण-बालक अपनी मूढ़तापर दुखी हो श्रीभुवनेश्वरी देवीके मन्दिरमें धरना दिये पड़ा था। नृसिंह सरस्वती महाराजने उसे बुद्धियोग देकर कृतार्थ किया। यहाँसे उठकर वे शिवा, भद्रा, कुम्भी, भोगावती और सरस्वती इन पाँच नदियोंके कृष्णा-पंचगंगासंगमपर (नरसोवाकी वाड़ी) गये और वहाँ बारह वर्ष रहे। एक दिन एक दरिद्र ब्राह्मणके द्वारपर लटकी हुई लताकी जड़ इन्होंने उखाड़ फेंकी तो गड़ा हुआ धन उस बेचारे ब्राह्मणको मिल गया। शिरोलमें एक ब्रह्मराक्षसको इन्होंने गति दी, जिससे एक स्त्रीके बच्चे हो-होकर जो मर जाते थे सो जीने लगे। इसके बाद महाराज गाणगापुर पधारे। ब्रह्मपिशाचको गति देना, विप्रका दारिद्र्य नष्ट करना, वन्ध्या स्त्रीको पुत्र देना, बूढ़ी और ठाँठ भैंसके दूध उपजाना, पतिव्रताके मृतक पतिको जिलाना, रोगियोंके रोग हरण करना, हृदयशूल, गण्डमाल, अपस्मारादि भयंकर रोगोंसे ग्रस्त मनुष्योंको दुःखमुक्त करना, साठ वर्षकी वन्ध्या स्त्रीको पुत्र देना, कोढ़ अच्छा कर देना, दरिद्रके द्वारा सहस्रभोजन कराना, घर बैठे सब तीर्थोंके दर्शन करा देना, एक ही समयमें अनेक शिष्योंके यहाँ भिक्षा करना इत्यादि अनेकानेक चमत्कार और उपकार-प्रसंग इनके जीवनमें हुए। इनका विस्तारपूर्वक वर्णन 'श्रीगुरुचरित्र' ग्रन्थमें है। एक बार बेदरके कोई सुलतान (सम्भवतः अलाउद्दीनशाह बहमनी) जंघामें एक बड़ा भयंकर फोड़ा होनेसे बहुत पीड़ित हुए। वैद्य और हकीम इलाज करते-करते हार गये, पर फोड़ा अच्छा नहीं हुआ। सुलतानने राजधानीमें रहनेवाले ब्राह्मणोंसे पूछा कि अब क्या उपाय करें। ब्राह्मणोंने कहा कि किसी संत-महात्माकी सेवा करिये तो उनकी दृष्टि पड़नेसे ही रोग दूर हो जायगा। ब्राह्मणोंकी सलाहसे सुलतान उसी समय पापविनाशतीर्थमें गये, वहाँ उन्होंने स्नान किया। त्यों ही सामने एक यति प्रकट हुए और उन्होंने कहा कि भीमानदीके तटपर गाणगापुरमें एक परमपुरुष रहते हैं; उनके पास तुम जाओ, वे तुम्हारा कल्याण करेंगे। सुलतान गाणगापुर गये, वहाँ श्रीनृसिंह

सरस्वतीके उन्हें दर्शन हुए। दर्शन होते ही श्रीनृसिंह सरस्वतीने उससे पूछा, 'क्यों रे रजक! अबतक कहाँ था?' बस, इस आवाजके सुनते ही सुलतान अकस्मात् महाज्ञानी हो गया, पूर्वजन्मकी सारी कथा उसे याद आ गयी। वह श्रीनृसिंह सरस्वतीके चरणोंपर लोट गया और गद्‌गद होकर रोने लगा। उसका फोड़ा उसी क्षण नष्ट हो गया, उसकी काया पलट गयी। उसने स्वामीके चरणोंमें प्रार्थना की कि अब राज्यभोगसे छुड़ाइये और अपने चरणोंमें रखिये। महाराजने उसका उद्धार किया और इसके एक वर्ष बाद ही संवत् १५१५ में अपनी अवतारलीला समाप्तकर 'निजानन्दमें विराजमान' हुए।

—ल० गर्दे

पर्वत वैष्णव

(लेखक—श्रीगोमतीदासजी 'सत्येश')

ये भक्तराज नरसी मेहताके चचा थे। इनका यह नियम था कि रोज हाथमें तुलसीजीका गमला लिया और अपने गाँव माँगरोलसे भगवान्‌का नाम लेते हुए चल पड़े। पचास-साठ कोस दूर द्वारका जाकर, श्रीरणछोड़रायजीके चरणोंमें उसे रखके, दण्डवत् करके फिर अपने घर आ जाते थे। अपने घर केवल रातमें रहते और उसमें भी गमलोंमें तुलसी बोते और प्रात:काल होते ही चल देते। अड़सठ वर्षतक इनका यह नियम चलता रहा। अब शरीर बुढ्ढा हो गया, बुखार आने लगा। बहू-बच्चोंने मना किया, फिर भी ये कब मानने लगे। इनका नियम अखण्ड रहा।

एक दिन थक जानेके कारण चार कोस दूर आजक गाँवके बाहर बावलीकी सीढ़ीपर ये सो गये। और स्वप्न देखा कि मैं भगवान् द्वारकाधीशकी सेवा कर रहा हूँ और वे प्रकट होकर कह रहे हैं कि 'मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। अगहन शुक्ला षष्ठीको गोमतीको साथ लेकर तुम्हारे गाँवमें मैं ही आ जाऊँगा। अब यहाँ आनेकी आवश्यकता नहीं।' इतनेमें ही इनकी आँखें खुल गयीं। ये अपने भगवान्‌को देखनेके लिये व्याकुल हो उठे। परन्तु न देख सकनेके कारण स्वप्नपर पूरा भरोसा न हुआ। उसी समय आकाशवाणी हुई और फिर वही बात दुहरायी गयी। अब पर्वतदासने भगवान्‌की आज्ञा शिरोधार्य की। लोगोंको बड़ी प्रसन्नता हुई।

इधर एक कारीगरने, जिसका नाम वासुदेव था, पन्द्रह महीनेतक परिश्रम करके एक सिंहासन बनाया था, उसे लेकर पर्वतदासके घर आनेकी आज्ञा हुई। ठीक वि० सं० १५०० की अगहन शुक्ला षष्ठीके दिन चार घड़ी दिन चढ़ते-चढ़ते पर्वतदासके घरके पासकी बावलीमें दैवीजल एकाएक बढ़ने लगा और भगवान् श्रीरणछोड़राय प्रकट हुए। सब लोगोंने उनकी पूजा की, उसी सिंहासनपर भगवान् विराजमान हुए। श्रीरणछोड़रायजीका वह प्राचीन विग्रह आज भी मांगरोलमें विराजित है, और सिंहासन भी वहीं मौजूद है। इनके प्रतापसे माँगरोल भारतका एक पवित्र तीर्थ हो गया है।

भक्त नरसी मेहता

नरसी मेहता गुजरातके एक बहुत बड़े कृष्णभक्त हो गये हैं। उनके भजन आज दिन भी न केवल गुजरातमें बल्कि सारे भारतमें बड़ी श्रद्धा और आदरके साथ गाये जाते हैं। उनका जन्म काठियावाड़ प्रान्तके जूनागढ़ शहरमें बड़नगरा जातिके नागर-ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। बचपनमें ही उन्हें कुछ साधुओंका सत्संग प्राप्त हुआ, जिसके फलस्वरूप उनके हृदयमें श्रीकृष्णभक्तिका उदय हुआ। वे बराबर साधुओंके साथ रहकर श्रीकृष्ण और गोपियोंकी लीलाके गीत गाने लगे। धीरे-धीरे भजन-कीर्तनमें ही उनका अधिकांश समय बीतने लगा। यह बात उनके परिवारवालोंको पसंद नहीं थी। उन्होंने इन्हें बहुत समझाया, पर कोई लाभ न हुआ। एक दिन इनकी भौजाईने ताना मारकर कहा कि 'ऐसी भक्ति उमड़ी है तो भगवान्से मिलकर क्यों नहीं आते?' इस तानेने नरसीपर जादूका काम किया, वे घरसे उसी क्षण निकल पड़े और जूनागढ़से कुछ दूर श्रीमहादेवजीके पुराने मन्दिरमें जाकर वहाँ श्रीशंकरकी उपासना करने लगे। कहते हैं, उनकी पूजासे प्रसन्न

संत नरसी मेहता

वैष्णवजन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे।
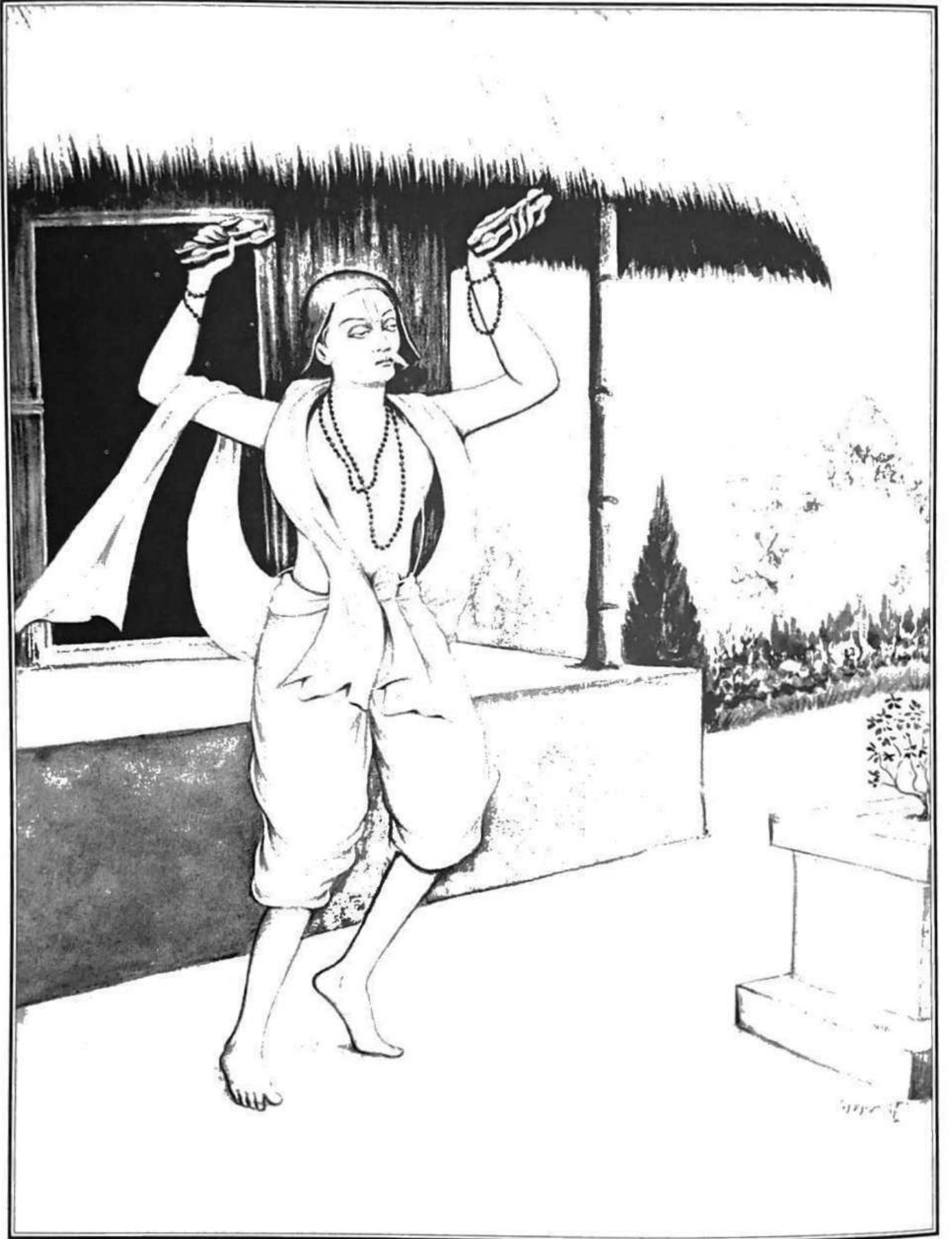
होकर भगवान् शंकर उनके सामने प्रकट हुए और उन्हें भगवान् श्रीकृष्णके गोलोकमें ले जाकर गोपियोंकी रासलीलाका अद्भुत दृश्य दिखलाया।

तपस्या पूरी कर वे घर आये और अपने बाल-बच्चोंके साथ अलग रहने लगे। परन्तु केवल भजन-कीर्तनमें लगे रहनेके कारण बड़े कष्टके साथ उनकी गृहस्थीका काम चलता। स्त्रीने कोई काम करनेके लिये उन्हें बहुत कहा, परन्तु नरसीजीने कोई दूसरा काम करना पसंद नहीं किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि श्रीकृष्ण मेरे सारे दु:खों और अभावोंको अपने-आप दूर करेंगे। हुआ भी ऐसा ही। कहते हैं, उनकी पुत्रीके विवाहमें जितने रुपये और अन्य सामग्रियोंकी जरूरत पड़ी, सब भगवान्ने उनके यहाँ पहुँचाया और स्वयं मण्डपमें उपस्थित होकर सारे कार्य सम्पन्न किये। इसी तरह पुत्रका विवाह भी भगवत्कृपासे सम्पन्न हो गया।

कहते हैं, नरसी मेहताकी जातिके लोग उन्हें बहुत तंग किया करते थे। एक बार उन लोगोंने कहा कि अपने पिताका श्राद्ध करके सारी जातिको भोजन कराओ। नरसीजीने अपने भगवान्‌को स्मरण किया और उसके लिये सारा सामान जुट गया। श्राद्धके दिन अन्तमें नरसीजीको मालूम हुआ कि कुछ घी घट गया है। वे एक बर्तन लेकर बाजार घी लानेके लिये गये। रास्तेमें उन्होंने एक संतमण्डलीको बड़े प्रेमसे हरिकीर्तन करते देखा। बस, नरसीजी उसमें शामिल हो गये और अपना काम भूल गये। घरमें ब्राह्मण-भोजन हो रहा था, उनकी पत्नी बड़ी उत्सुकतासे उनकी बाट जोह रही थीं। भक्तवत्सल भगवान् नरसीका रूप धारणकर घी लेकर घर पहुँचे। ब्राह्मणभोजनका कार्य सुचारु रूपसे पूरा हुआ। बहुत देर बाद कीर्तन बंद होनेपर नरसीजी घी लेकर वापस आये और अपनी स्त्रीसे देरके लिये क्षमा माँगने लगे। स्त्री आश्चर्यसागरमें डूब गयी!

पुत्र-पुत्रीका विवाह हो जानेपर नरसीजी बहुत कुछ निश्चिन्त हो गये और अधिक उत्साहसे भजन-कीर्तन करने लगे। कुछ वर्षों बाद एक-एक करके इनकी स्त्री और पुत्रका देहान्त हो गया।

तबसे वे एकदम विरक्त-से हो गये और लोगोंको भगवद्भक्तिका उपदेश देने लगे। वे कहा करते— 'भक्ति तथा प्राणिमात्रके साथ विशुद्ध प्रेम करनेसे सबको मुक्ति मिल सकती है।'

कहते हैं, एक बार जूनागढ़के राव माण्डलिकने उन्हें बुलाकर कहा कि 'यदि तुम सच्चे भक्त हो तो मन्दिरमें जाकर मूर्तिके गलेमें फूलोंका हार पहनाओ और फिर भगवान्‌की मूर्तिसे प्रार्थना करो कि वे स्वयं तुम्हारे पास आकर वह माला तुम्हारे गलेमें डाल दें, अन्यथा तुम्हें प्राणदण्ड मिलेगा।' नरसीजीने रातभर मन्दिरमें बैठकर भगवान्‌का गुणगान किया। दूसरे दिन सबेरे सबके सामने मूर्तिने अपने स्थानसे उठकर नरसीजीको माला पहना दी। नरसीजीकी भक्तिका प्रकाश सर्वत्र फैल गया।

गोस्वामी तुलसीदास

व्यक्ति, समाज या देश जब चारों ओरसे निराश होकर, सर्वथा निरीह और निराश्रित होकर सच्चे हृदयसे परमात्माको पुकारता है तो हृदयसे निकली हुई वह चीख, वह टेर, वह पुकार प्रभुतक अवश्य पहुँचती है और उस पुकारपर करुणावरुणालय दयापरवश हरिको या तो स्वयं इस धराधामपर उतर आना पड़ता है या उनके सन्देशका प्रसाद लेकर कोई महापुरुष हमारे बीच आ जाता है, जिसके कारण नैराश्यजनित खिन्नता तो मिटती ही है, साथ ही जीवनमें एक अद्भुत प्रफुल्लता और अपूर्व शक्तिका संचार होता है। जब-जब हमने एक स्वरसे, सच्चे और आतुर हृदयसे प्रभुको पुकारा है, इतिहास साक्षी है, स्वयं प्रभु हमारे बीच आये हैं अथवा किसी महापुरुषको भेजा है, जिसने हमारे भीतर प्रभुकी शक्ति और ज्योतिका संचार कर हमारे जातीय जीवनको सदाके लिये प्रभुचरणोंसे युक्त कर दिया है।

गोस्वामीजीका आविर्भाव जिस समय हुआ वह समय भी हिन्दूजातिके लिये घोर निराशाका ही था। चारों ओर हम अन्धकारसे घिरे हुए थे। कोई मार्ग सूझ नहीं रहा था। तुलसीदासजीने भगवान्‌का लोकमंगल रूप दिखाकर हिन्दू जातिको मिटनेसे तो बचाया ही, साथ ही व्यक्तिके जीवनमें भी आशाका उदय हुआ। हमने भगवान् रामचन्द्रकी भक्तिका आश्रय लिया और उसकी शक्तिसे हमारी रक्षा हुई। गोस्वामीजीने हमारी ही ठेठ भाषामें हमें समझाया कि भगवान् हमसे दूर नहीं

हैं। वह सर्वथा हमारे जीवनसे सटे हुए हैं!

हिन्दीके राजाश्रित कवि अपना तथा अपने आश्रयदाता नरेशका जीवनवृत्तान्त लिखा करते थे, परन्तु गोसाईंजीने स्वतन्त्र होनेके कारण ऐसा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं समझी। उनके ग्रन्थोंसे उनके जीवनके सम्बन्धमें कुछ भी पता नहीं चलता। हाँ, उनकी भक्तिजन्य दीनताकी झलक अवश्य सर्वत्र मिलती है।

गोस्वामीजी वाल्मीकिके अवतार माने जाते हैं। आपका आविर्भाव वि० सं० १५५४ की श्रावण शुक्ला सप्तमीको बाँदा जिलेके राजापुर गाँवमें एक सरयूपारीण ब्राह्मणके घर हुआ था—

पँदरह सै चउवन बिषै, कालिंदीके तीर।
स्त्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेउ सरीर॥

आपके पिताका नाम था आत्माराम दुबे और माताका नाम था हुलसी। जन्मके समय आप तनिक भी रोये नहीं और आपके बत्तीसों दाँत उगे हुए थे। आप अभुक्त मूलमें पैदा हुए थे, जिसके कारण स्वयं बालकके या माता-पिताके अनिष्टकी आशंका थी। बचपनमें आपका नाम तुलाराम था।

वि० सं० १५८३ की ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशीको आपका विवाह बुद्धिमतीसे हुआ। स्त्रीके प्रति आपकी बड़ी गहरी आसक्ति थी। एक दिन जब वह नैहर चली गयी, आप उसके घर रातको छिपकर पहुँचे। उसे बड़ा संकोच हुआ और उसने यह दोहा कहा—

हाड़-मांसको देह मम, तापर जितनी प्रीति।
तिसु आधो जो राम प्रति, अवसि मिटिहि भवभीति॥

यह बात आपको बहुत लगी। बिना विरमे हुए आप वहाँसे चल दिये। वहाँसे आप सीधे प्रयाग आये और विरक्त हो गये। और जगन्नाथ, रामेश्वर और द्वारका तथा बदरीनारायण पैदल गये और तीर्थाटनके द्वारा अपने वैराग्य और तितिक्षाको बढ़ाया। तीर्थाटनमें आपके चौदह वर्ष लगे। श्रीनरहरिदासको आपने गुरुरूपमें वरण किया।

घर छोड़नेके पीछे स्त्रीने एक बार यह दोहा गोसाईंजीको लिख भेजा—

कटिकी खीनी कनक सी, रहति सखिन सँग सोइ।
मोहि फटेको डरु नहीं, अनत कटे डर होइ॥

इसके उत्तरमें गोसाईंजीने लिखा—

कटे एक रघुनाथ सँग, बाँधि जटा सिर केस।
हम तो चाखा प्रेमरस, पत्नीके उपदेस॥

बहुत दिन पीछे वृद्धावस्थामें आप एक बार चित्रकूटसे लौटते समय अनजानमें अपने ससुरके घर जा पहुँचे। उनकी स्त्री भी बूढ़ी हो गयी थी। बड़ी देरके बाद उसने इन्हें पहचाना। उसकी इच्छा हुई कि इनके साथ रहती तो रामभजन और पतिकी सेवा दोनों साथ-साथ करके जन्म सुधारती। उसने सबेरे अपनेको गोसाईंजीके सामने प्रकट किया और अपनी इच्छा कह सुनायी। गोसाईंजी तुरत वहाँसे चलते बने।

गोसाईंजी शौचके लिये नित्य गंगापार जाया करते थे और लौटते समय लोटेका बचा हुआ जल एक पेड़की जड़में डाल देते थे। उस पेड़पर एक प्रेत रहता था। जलसे तृप्त होकर वह एक दिन गोसाईंजीके सामने प्रकट हुआ और उसने कहा कि मुझसे कुछ वर माँगो। गोसाईंजीने श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी लालसा प्रकट की। प्रेतने बतलाया कि अमुक मन्दिरमें नित्य सायंकाल रामायणकी कथा होती है, वहाँ कोढ़ीके वेशमें नित्य हनुमान्जी कथा सुनने आते हैं। सबसे पहले आते हैं और सबके अन्तमें जाते हैं। उन्हें ही दृढ़तापूर्वक पकड़ो। गोसाईंजीने ऐसा ही किया। श्रीहनुमान्जीके चरण पकड़कर आप जोर-जोरसे रोने लगे। अन्तमें हनुमान्जीने आज्ञा दी कि जाओ, चित्रकूटमें दर्शन होंगे। आदेशानुसार आप चित्रकूट आये। एक दिन वनमें घूम रहे थे कि दो सुन्दर राजकुमार—एक श्याम और एक गौर—एक हरिणके पीछे धनुष-बाण लिये, घोड़ा दौड़ाये दिखलायी दिये। रूप देखकर आप मोहित हो गये। इतनेमें हनुमान्जीने आकर पूछा—'कुछ देखा?' 'हाँ, दो सुन्दर राजकुमार इसी राहसे घोड़ेपर गये हैं।' हनुमान्जीने कहा—'वही राम-लक्ष्मण थे।'

वि० सं० १६०७ की मौनी अमावस्या थी। दिन था बुधवार। चित्रकूटके घाटपर बैठकर तुलसीदासजी चन्दन घिस रहे थे। इतनेमें भगवान् सामने आ गये और आपसे चन्दन माँगा। दृष्टि ऊपरको उठी तो उस अपरूप छबिको देखकर आँखें मुग्ध हो गयीं—टकटकी बँध गयी। शरीरकी सारी सुध-बुध जाती रही।

संवत् १६३१ की रामनवमी, मंगलवारको श्रीहनुमान्जीकी आज्ञा और प्रेरणासे आपने रामचरितमानसका प्रणयन प्रारम्भ किया। दो वर्ष, सात महीने, छब्बीस दिनमें आपने उसे पूरा किया। पूरा हो चुकनेपर श्रीहनुमान्जी पुनः प्रकट हुए और पूरी रामायण सुनी और आशीर्वाद

दिया कि यह कृति तुम्हारी कीर्तिको अमर कर देगी।

एक दिन चोर तुलसीदासजीके यहाँ चोरी करने गये तो देखा कि एक श्यामसुन्दर बालक धनुष-बाण लिये पहरा दे रहा है। चोर लौट गये। दूसरे दिन भी वे आये तो उसी पहरेदारको देखा। सबेरे उन्होंने गोसाईंजीसे पूछा कि आपके यहाँ श्यामसुन्दर बालक कौन पहरा देता है। गोसाईंजी समझ गये कि मेरे कारण प्रभुको कष्ट उठाना पड़ता है। अतएव आपके पास जो कुछ भी था सब उन्होंने लुटा दिया।

आपके आशीर्वादसे एक विधवाका पति पुनः जीवित हो गया। यह खबर बादशाहतक पहुँची। उसने इन्हें बुला भेजा और यह कहा कि कुछ करामात दिखाओ। आपने कहा कि 'रामनाम' के अतिरिक्त मैं कुछ भी करामात नहीं जानता। बादशाहने इन्हें क़ैद कर लिया और कहा कि जबतक करामात नहीं दिखाओगे, छूटने नहीं पाओगे। तुलसीदासजीने श्रीहनुमान्जीकी स्तुति की। हनुमान्जीने बन्दरोंकी सेनासे कोटको विध्वंस करना आरम्भ किया। बादशाहने आपके पैरोंमें गिरकर क्षमा माँगी।

गोसाईंजी एक बार वृन्दावन आये। वहाँ एक मन्दिरमें दर्शनको गये। श्रीकृष्णमूर्तिका दर्शन करके यह दोहा आपने कहा—

का बरनउँ छबि आजकी, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै (जब) धनुष-बान लेउ हाथ॥

भगवान्ने आपको श्रीरामचन्द्रजीके स्वरूपमें दर्शन दिये।

आपके रचे हुए बारह ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

दोहावली, कवित्तरामायण, गीतावली, रामचरितमानस, रामलला नहछू, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल, बरवै रामायण, रामाज्ञा, विनयपत्रिका, वैराग्यसंदीपनी, कृष्णगीतावली। इनके सिवा रामसतसई, संकटमोचन, हनुमद्बाहुक, रामसलाका आदि ग्रन्थ भी आपके नामसे प्रख्यात हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायण भारतके घर-घरमें बड़े आदर और भक्तिके साथ पढ़ी और पूजी जाती है। मानसने कितने बिगड़ोंको सुधारा है, कितने मुमुक्षुओंको मोक्षकी प्राप्ति करायी है, कितने भगवत्-प्रेमियोंको भगवान्से मिलाया है, इसकी कोई गणना नहीं है। यह तरन-तारन ग्रन्थ है। कोई भी हिन्दू इससे अपरिचित नहीं है।

१२६ वर्षकी अवस्थामें संवत् १६८० की श्रावण शुक्ला सप्तमी, शनिवारको ही आपने अस्सीघाटपर शरीर छोड़कर साकेतलोकको प्रयाण किया—

संबत सोलह सै असी, असी गंगके तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो सरीर॥

—'माधव'

मीराबाई

मेड़ताके राठौर रतनसिंहकी पुत्री, रावदूदाजीकी पौत्री और जोधपुर बसानेवाले प्रसिद्ध जोधाजीकी प्रपौत्री संतशिरोमणि, प्रेमयोगिनी मीराका नाम आज देश-विदेशमें कौन नहीं जानता? प्रभुके प्रेममें अपना सब कुछ कैसे होम दिया जाता है, श्रीहरिचरणोंमें सर्वात्मसमर्पणका क्या स्वरूप है यह जानना हो तो प्रातःस्मरणीय, चिरवन्दनीय परम सती मीराके चरित्रसे बढ़कर कोई साधन नहीं है।

संवत् १५७३ के लगभग चोकड़ी नामक ग्राममें मीराका आविर्भाव हुआ। अपने पूर्वजन्ममें मीरा श्रीकृष्णकी एक परम प्रिय सखी थी। परम प्रेमकी यह सजीव मूर्ति धराधामपर केवल प्रभु-प्रेमका चरम सौन्दर्य और अनन्त माधुर्यका रहस्य बतलानेके लिये ही प्रकट हुई थी। कहनेके लिये तो, और लोगोंके देखनेमें भी मीराका विवाह उदयपुरके राणा साँगाके ज्येष्ठ पुत्र महाराजा कुमार भोजराजजीके साथ हुआ था; परन्तु मीराका अनन्त सम्बन्ध श्रीकृष्णसे हो चुका था और इसी कारण संसारके ये भरमानेवाले सम्बन्ध उसके साथ टिके नहीं। आरम्भसे ही मीरा कृष्ण-भक्तिमें लीन रहा करती थी। विवाहके कुछ ही दिन उपरान्त इनके पतिदेवका परलोकवास हो गया। परन्तु इनके वास्तविक पति, जिनके साथ इनका अमर सम्बन्ध पहले ही स्थापित हो चुका था, चिर अमर थे। इस 'सम्बन्ध' की बात मीराके कई पदोंमें खुली है।

प्रभु जिसे अपनाते हैं उसके सारे बन्धनों और सम्बन्धोंको छिन्न-भिन्न कर देते हैं। विपदाएँ—जिनसे हम साधारण संसारी मनुष्य दब जाते हैं—संतोंके उल्लास और मस्तीका कारण होती हैं। उसमें वे प्रभुका

हाथ देख-देखकर प्रसन्न होते हैं। मीराको भी ये आपदाएँ आक्रान्त न कर सकीं। बहुत बचपनसे ही मीरा श्रीगिरधारीलालजीको पतिके रूपमें पूजती आयी थी और प्रभुके संकेतपर ही उसे उनकी एक सुन्दर मूर्ति भी एक साधुसे प्राप्त हुई थी। यह मूर्ति ही मीराका प्राणाधार थी।

अब तो लोकलाजके मिथ्या आडम्बरको एक ओर हटाकर मीरा मन्दिरमें जाकर भक्तों और संतोंके बीच श्रीकृष्ण-भगवान्‌की मूर्तिके सामने आनन्दमग्न होकर नाचने और गाने लगी। इनके स्वजन इस आचरणसे तंग आकर इन्हें नाना प्रकारके कष्ट देने लगे। विष भेजा गया—भगवान्‌का चरणामृत कहकर। मीरा उसे 'चरणामृत' समझकर पी गयी—भगवान्‌की कृपासे विष भी अमृत हो गया। पिटारीमें साँप भेजा गया। मीरा खोलती है तो देखती है कि वह तो शालग्रामजीकी मूर्ति है। मीराने उसे हृदयसे लगा लिया। मीरा रातको कमरा बंदकर अपने प्रभुसे प्रेमालाप करती। इसपर भी सन्देह किया जाने लगा। नाना प्रकारकी शिकायतें उठायी गयीं। परन्तु मीराका इनसे क्या होना जाना था, लोकनिन्दाका भय वह बहुत पहले छोड़ चुकी थी!

कहनेके लिये तो घरवालोंके व्यवहारसे खिन्न होकर, परन्तु वस्तुतः प्राणवल्लभका मधुर निमन्त्रण पाकर मीरा घरसे निकल पड़ी। वृन्दावन पहुँची, वहाँके सभी स्थान उसके पूर्वजन्मसे ही चिरपरिचित थे। मन्दिरोंमें घूम-घूमकर अपने हृदयधनको भजन सुनाया करती। जहाँ जाती भक्त—प्रेमी संत इस देवीके चरणोंको स्पर्शकर और उन चरणोंमें लगी हुई रेणुको सिर-आँखोंपर रखकर अपनेको धन्य मानते, अपना भाग्य सराहते। कहते हैं, मीराको गोस्वामी तुलसीदासजीका यह उपदेश भी यहीं प्राप्त हुआ था—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥

बाबा बेनीमाधवदासकृत 'गोसाईंचरित' में भी इस बातका उल्लेख है। वृन्दावनमें ही जीव गोस्वामीके दर्शन मीराको हुए थे। अन्तमें वृन्दावनकी प्रेमलीलामें छकी हुई मीरा द्वारका पहुँची और वहाँ श्रीरणछोड़जीके मन्दिरमें पैरोंमें घुँघुरू बाँधकर और हाथमें करताल लेकर भजन गाया करती और भगवान्‌के सामने नाचती। यहीं अपने जीवनके अन्तिम दिन नववधूके रूपमें मीरा रणछोड़जीकी मूर्तिमें समा गयी। भगवान्‌ने अपना हृदय खोलकर अपनी हृदयेश्वरीको अपने भीतर छिपा लिया!

नरसीजीका मायरा, गीतगोविन्द-टीका, रागगोविन्द, राग सोरठ—चार ग्रन्थ मीराके बनाये कहे जाते हैं। मीराका एक पद नीचे दिया जाता है—

बसौ मेरे नैननमें नँदलाल।
मोहनि मूरति, साँवरि सूरति, नैना बने रसाल॥
मोर-मुकुट, मकराकृत कुंडल, अरुन तिलक दिये भाल।
अधर सुधारस-मुरली राजति, उर बैजंती माल॥
छुद्रघंटिका कटितट सोभित नूपुर-शब्द रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई, भगतबछल गोपाल॥

—'माधव'

मधुसूदन सरस्वती

ये बंगाल प्रान्तके फ़रीदपुर जिलेके अन्तर्गत कोटालपाड़ा ग्रामके निवासी प्रमोदन पुरन्दरके तृतीय पुत्र थे। इनका पितृदत्त नाम कमलजनयन था। इन्होंने न्यायके अगाध विद्वान् गदाधरभट्टके साथ नवद्वीपके हरिराम तर्कवागीशसे न्यायका अध्ययन किया था। वहाँसे काशीमें आकर दण्डिस्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रम सरस्वतीसे वेदान्तका श्रवण एवं ब्रह्मचर्यसे ही सीधे संन्यास ग्रहण किया। फिर तो इन्होंने अद्वैत-सिद्धान्तके अनेकों ग्रन्थ बनाये, जिनके कारण दार्शनिक समाज इनका चिरऋणी रहेगा।

ये अद्वैतवेदान्तके प्रकाण्ड पण्डित एवं तत्त्वज्ञ होनेपर भी केवल शुष्क निर्गुनियाँ नहीं थे बल्कि भगवान् श्रीकृष्णके पूरे भक्त थे। इनकी गीताकी टीका, भक्तिरसायन एवं भागवतकी अप्राप्य टीका इसके साक्षात् प्रमाण हैं।

इनके समयका अभी ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो पाया है, परन्तु मेरे विचारमें इनका जन्म ईसाकी सोलहवीं शताब्दीके चतुर्थ भागमें हुआ था और सन् १६५० तक ये विद्यमान थे। इनका यह श्लोक कितना सुन्दर और कितना भावपूर्ण है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

मैंने अपने गुरुजनोंसे सुना था कि जब ये काशीमें रहते थे तब पहले इन्हें शास्त्रार्थकी बड़ी धुन थी। जो कोई आता उसीको ये अपने तर्क, युक्ति एवं शास्त्रके बलपर परास्त कर देते थे। इस प्रकार सैकड़ों विद्वान् इनसे अपमानित होकर दुखी हुए। एक दिन एक नंगे परमहंस इनके पास आये। इनका स्वागत-सत्कार स्वीकार करनेके पश्चात् उन्होंने पूछा—'स्वामीजी! आप असंग तो बनते हैं, परन्तु हृदयपर हाथ रखकर बताइये तो सही कि इन्हें जीतनेका घमंड आपको होता है या नहीं? यदि होता है तो इन्हें दुखी करनेका पाप भी आपको लगेगा ही।' यों कोई दूसरा कहता तो सम्भव है, श्रीमधुसूदनजी हँसकर उसे फटकार देते। परन्तु उन परमहंसका कुछ ऐसा तेज था कि उनके वाक्योंसे ये प्रभावित हो गये और इनका मुख मलिन हो गया। उस समय परमहंसजीने इन्हें समझाया कि 'भैया! यह पुस्तकोंका पाण्डित्य और युक्तियोंका प्राबल्य बहुत बड़ा विक्षेप है। उपासना करके इसे नष्ट न करोगे तो वास्तविक रसकी अनुभूति न होगी।' फिर तो मधुसूदनजीने उनके चरण पकड़ लिये और उनसे मन्त्रदीक्षाके लिये बड़ी प्रार्थना की। उन दयालु संतने इन्हें श्रीकृष्णमन्त्र बताकर ध्यान और उपासनाकी पद्धति बतायी एवं कह दिया कि श्रद्धा-विश्वासके साथ उपासना करोगे तो तीन महीनेमें तुम्हें भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन हो जायँगे। इन्होंने परमहंसजीकी आज्ञा मानकर तीन महीनेतक उपासना की, परन्तु सफलता न हुई। इसपर इन्हें बड़ा उद्वेग हुआ और ये काशी छोड़कर निकल पड़े।

कपिलधाराके पास पहुँचनेपर इन्हें एक नीच जातिका साधारण-सा मनुष्य मिला। और उसने कहा—'स्वामीजी! लोग भगवत्प्राप्तिके लिये अनेकों जन्मतक उग्र तपस्या करते हैं और फिर भी उनके दर्शन बड़ी कठिनतासे प्राप्त होते हैं, आप तीन महीनेमें ही घबड़ा गये?' यह सुनकर स्वामीजी तो आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने सोचा कि यह नीची जातिका देहाती आदमी मेरी उपासनाकी बात कैसे जान गया? फिर तो उनके हृदयमें स्फुरणा हुई और वे उसके चरणोंपर गिर पड़े। उठनेपर देखते हैं कि इस रूपमें तो वही परमहंसजी हैं। उन्होंने कहा—'इस बार तीन महीनेतक और प्रेमसे जप, ध्यान, पूजा एवं पाठ करो। अवश्य दर्शन होगा।' स्वामीजीने लौटकर वैसा ही किया और उन्हें भगवान् श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शन हुए। भगवान्‌की ही आज्ञासे उन्होंने गीतापर टीका लिखी, जिसमें कर्म, भक्ति एवं ज्ञानका सुन्दर वर्णन करके समस्त साधनाओं, धर्मों एवं मार्गोंका शरणागतिमें उपसंहार किया गया है। उसके बादका जीवन इनका भक्तिमय ही रहा।

आपके लिखे हुए सिद्धान्तबिन्दु या सिद्धान्त-तत्त्वबिन्दु, वेदान्तकल्पलतिका, संक्षेपशारीरकव्याख्या, अद्वैतसिद्धि, गूढार्थदीपिका (गीताव्याख्या), अद्वैतरत्नरक्षण, प्रस्थानभेद, महिम्नःस्तोत्रकी व्याख्या, भक्तिरसायन और भागवतव्याख्या नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

—शान्तनु

श्रीहिताचार्य महाप्रभु

[श्रीहितहरिवंशजी]

(लेखक—श्रीशंकरलालजी रणछोड़दासजी)

श्रीराधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज-केलि-दंपती तहाँकी करत खवासी॥
सरबसु महा प्रसाद प्रसिध ताके अधिकारी।
विधि निषेध नहिं, दास अनन्य उत्कट व्रतधारी॥
श्रीव्यास सुवन पथ अनुसरै, सोइ भले पहिचानिहैं।
श्रीहरिबंस गुसाईं भजनकी रीति सुकृत कोउ जानिहैं॥

—नाभादासजीकृत भक्तमालसे

मथुराके समीप, गोकुलके पास 'बाद' ग्राममें वैशाख शुक्ला ११ सोमवार संवत् १५३० प्रातःकाल अनन्य राधावल्लभीय सिद्धान्तके प्रवर्तक गुसाईं श्रीहितहरिवंशजीका आविर्भाव हुआ। ये भगवान्‌की वंशीके अवतार माने जाते हैं। पिताका नाम केशवदास मिश्र, उपनाम 'व्यासजी' तथा माताका नाम तारावती था। बाद गाँव मथुरासे चार मील दक्षिण है। वहाँ प्रति

वर्ष स्वर्गीय लाला श्रीलाडिलीप्रसादजी लखनऊवालेकी ओरसे गुसाईंजीकी जयन्ती बड़े समारोहके साथ मनायी जाती है। व्यासजी असलमें सहारनपुरके समीपस्थ देवबन्दके निवासी थे। आपके घरके पुनीतकूपका चित्र इसके साथ दिया जाता है। ये बड़े पण्डित थे। बादशाहके साथ दौरेमें अपनी पत्नी तारावतीसहित घूम रहे थे, इसी समय बाद ग्राममें श्रीहितहरिवंशजीका प्राकट्य हुआ था।

श्रीहितहरिवंशजीका बाल्यकाल और कौमार्य अलौकिक घटनाओंसे पूर्ण है। 'श्रीहितचरित्र' आदि ग्रन्थोंमें आपके विविध चरित्रोंका वर्णन मिलता है। छः मासकी अवस्थामें ही आप 'श्रीराधासुधानिधि' ग्रन्थ कहने लगे थे। 'हितचौरासी' आपका अनुपम भाषा-ग्रन्थ है। बहुत थोड़ी अवस्थामें ही श्रीराधिकाजीने देववनमें श्रीहितहरिवंशजीको गुरुमन्त्र दिया। इसके बाद विवाह हो जानेपर जब श्रीहितप्रभुको तीन सन्तान हो चुकीं तब श्रीराधिकाजीकी आज्ञासे वह श्रीवृन्दावननिवासके लिये घरसे चल पड़े। उस समय इनके पास बस एक धोती और एक उत्तरीय वस्त्र था।

श्रीहितहरिवंशजी जब श्रीवृन्दावनधामको जा रहे थे तब उन्हें मार्गमें चिढ़थावल नामका एक गाँव मिला। वहाँ एक ब्राह्मणके यहाँ महादेवजीकी दी हुई प्रभुकी एक बहुत सुन्दर मूर्ति थी। प्रभुने ब्राह्मणको स्वप्न दिया कि एक महात्मा श्रीवृन्दावनको जा रहे हैं और आज वह इसी गाँवमें अमुक स्थानपर ठहरे हैं। उन्हें अपनी दोनों कन्याएँ समर्पित करके हमारी मूर्ति दहेजमें दे दो। इधर श्रीहितहरिवंशजीको भी स्वप्न हुआ कि इन दो कन्याओंको और अमुक ब्राह्मणकी दी हुई मेरी मूर्तिको अवश्य स्वीकार करो। भगवदिच्छा जानकर श्रीहितहरिवंशजीने उन दोनों कन्याओंको अंगीकार कर लिया और प्रभुमूर्तिको लेकर श्रीवृन्दावनको चल दिये। संवत् १५६५ कार्तिक शुक्ला त्रयोदशीको गुसाईंने वही श्रीराधावल्लभजीकी मूर्ति वृन्दावनमें मन्दिर बनवाकर स्थापित की। श्रीहितहरिवंशजीने श्रीवृन्दावनमें निवासकर आश्विन शुक्ला पूर्णिमा संवत् १६०९ को रासोत्सवके दिन श्रीनिकुंजधामको गमन किया। आप भूतलपर ७९ वर्ष विराजमान रहे। आपके चार पुत्र श्रीवनचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र, श्रीगोपीनाथ तथा श्रीमोहनचन्द्र श्रीहितप्रभुकी कीर्तिका विस्तार करते रहे।

श्रीहितहरिवंशजीके रचे हुए संस्कृत ग्रन्थोंमें श्रीमद्राधासुधानिधि, श्रीआशास्तव, चतुःश्लोकी, श्रीयमुनाष्टकस्तोत्र और राधातन्त्र मुख्य हैं। श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदायके अनन्य उपासक श्रीभगवान्के '**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**' को अपना एकमात्र मूलमन्त्र मानते हैं।

श्रीहितहरिवंशजी साक्षात् श्रीकृष्णकी वंशीके अवतार तो थे ही। आप श्रीराधाकृष्णके दिव्यप्रेमकी साक्षात् मूर्ति थे। परात्पर भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कर लेनेपर आपने विधि-निषेधके झगड़े, कामिनी-कांचनका मोह और हरिविमुख धर्मोंको तृणवत् तोड़ दिया। इनके उपदेशका सारांश नीचे लिखे दो दोहोंमें समाविष्ट है—

तनहिं राखु सतसंग में, मनहिं प्रेमरस भेव।
सुख चाहत हरिबंस हित, कृष्णकल्पतरु सेव॥
सबसों हित निहकाम मन, बृन्दाबन बिश्राम।
राधाबल्लभ लाल को, हृदय ध्यान मुख नाम॥

प्रणयकी मधुर अनुभूतिका यह सुन्दर चित्र कितना मनोमोहक है—

जोई जोई प्यारो करै सोई मोहि भावै,
भावै मोहि जोई सोई सोई करें प्यारे।
मोंको तो भावती ठौर प्यारेके नैनन में,
प्यारे भये चाहैं मेरे नैनन के तारे॥
मेरे तन मन प्रानहू ते प्रीतम प्रिय आपने,
कोटिक प्रान प्रीतम मोसों हारे।
(जै श्री) हितहरिबंस हंस हंसिनी स्यामल गौर,
कहौ कौन करै जल तरंगिनी न्यारे॥

श्रीमिलन-कुंजमें प्रवेश करनेके पूर्व श्रीराधारानीके मधुर दर्शनकी एक प्यारी झलक लीजिये—

आजु नीकी बनी राधिका नागरी।
ब्रज जुवति जूथ में रूप अरु चतुरई,
सील सिंगार गुन सबनि ते आगरी॥
कमल दच्छिन भुजा बाम भुज अंसु सखि,
गावती सरल मिलि मधुर सुर राग री।
सकल बिद्या बिदित रहसि हरिबंस हित,
मिलत नवकुंज बर स्याम बड़ भाग री॥

श्रीगदाधर भट्ट

श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुके समकालीन श्रीगदाधर भट्ट अपनी मधुर उपासनाके लिये संत भक्तोंमें अग्रगण्य माने जाते हैं। आप हृदयके बड़े ही सरल थे। श्रीकृष्णके रसिक भक्त थे। सदा श्रीराधाकृष्णकी प्रेमलीलाके रसास्वादनमें डूबे रहते थे। एक दिन श्रीजीव गोस्वामीके आगे दो साधुओंने भट्टजीका बनाया यह पद गाया—

सखी, हौं स्याम रंग रँगी।
देखि बिकाइ गई वह मूरति, सूरति माहिं पगी॥
संग हुतो अपनो सपनो सो, सोइ रही रस खोई।
जागेहु आगे दृष्टि परै सखि, नेकु न न्यारो होई॥
एक जू मेरी अँखियनमें, निसिद्योस रह्यो करि भौन।
गाइ चरावन जात सुन्यो सखि, सो धौं कन्हैया कौन॥
कासों कहौं कौन पतियावै, कौन करै बकवाद।
कैसे कै कहि जात गदाधर, गूँगेको गुड-स्वाद॥

इस पदको सुनकर श्रीजीव गोस्वामीने उन साधुओंके हाथ भट्टजीके पास एक पत्र भेजा। उसमें यह श्लोक था—

अनाराध्य राधापदाम्भोजयुग्म-
मनाश्रित्य वृन्दाटवीं तत्पदाङ्काम्।
असम्भाष्य तद्भावगम्भीरचित्तान्
कुतः श्यामसिन्धोः रसस्यावगाहः ?॥

यह श्लोक पढ़कर भट्टजी प्रेमावेशमें मूर्छित हो गये। संज्ञा आनेपर तुरंत सब कुछ छोड़-छाड़कर सीधे वृन्दावन चले आये। यहाँ आप श्रीमहाप्रभुजीके शरणापन्न हुए। आप श्रीमहाप्रभुजीके विशेष कृपापात्र थे। श्रीजीव गोस्वामीने आपको संक्षेपमें 'रसतत्त्व' बतलाया था, आपके निर्मल चरित्र एवं संतस्वभावके सम्बन्धमें श्रीनाभाजीका यह छप्पय प्रमाण है—

सज्जन सुहृद सुसील बचन आरज प्रतिपालै।
निरमत्सर निष्काम कृपा करुणाको आलै॥
अनन्य भजन दृढ़ करन धर्‌यो बपु भक्तन काजै।
परमधामको सेतु बिदित बृंदाबन गाजै॥
भागवत सुधा बरषै बदन, काहूको नाहिंन दुखद।
गुणनिकर गदाधर भट्ट अति, सबहिनको लागै सुखद॥

आपके सम्बन्धमें कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ प्रसिद्ध हैं, उनमें एक-दो यहाँ लिखी जाती हैं। भट्टजी बहुत सुन्दर कथा कहते थे, उनकी कथामें रसका प्रवाह बहता था। लोगोंकी आँखोंसे कथा सुनते-सुनते प्रेमाश्रुओंकी झड़ी लग जाती थी। एक महन्त ऐसा था जिसके आँसू नहीं आते थे और इससे उसे बड़ी लज्जा मालूम होती थी। एक दिन वह थोड़ी-सी पिसी हुई लाल मिर्चकी एक छोटी-सी पोटली बाँध लाया। जब कोई रसका प्रसंग आता, तभी उसे आँखोंपर फेर लेता जिससे आँखोंसे पानी निकलने लगता। पास बैठे हुए एक आदमीने इस चालाकीको समझ लिया। उसने कथा उठनेके बाद भट्टजीसे शिकायत की। उसने सोचा, भट्टजी महन्तकी यह करतूत सुनकर उससे घृणा करेंगे, परन्तु भट्टजीने इस बातको दूसरे ही रूपमें समझा और बोले कि 'तब तो वे बड़े महात्मा हैं, मैं अभी उनके दर्शनार्थ जाता हूँ।' भट्टजी तुरंत महन्तजीके घर पहुँचे। भट्टजीको देखकर वह सोचने लगा कि हो-न-हो मेरी चाल इन्हें मालूम हो गयी है, न मालूम ये क्या कहेंगे। 'हे भगवन्! मेरा इतना कठोर हृदय क्यों किया जो किसी बातसे भी नहीं पिघलता।' भट्टजी पहुँचते ही उसको प्रणाम करने लगे और बोले—महन्तजी! सचमुच आप बड़े महात्मा हैं, मुझे तो आपके उच्चभावका आज पता लगा। बिल्वमंगलजीने स्त्रीदर्शनसे दुःखी होकर आँखें फोड़ ली थीं। आपने तो आँखोंको इसलिये दण्ड दिया कि वे भगवान्के गुणानुवाद सुनकर भी आँसू नहीं बहातीं। धन्य है आपको और आपकी भक्तिको! भट्टजीकी सरल वाणी सुनकर आज सचमुच महन्तका हृदय पिघल गया और उसकी आँखोंसे आँसूकी धारा बह चली। दोषमें गुण देखना इसीका नाम है—संतका यही स्वभाव है।

एक दिन रातको भट्टजीके घरमें एक चोरने सेंध लगायी, मालमतेकी गठरी बाँधकर चोर ले जाना चाहता था परन्तु गठरी बहुत भारी हो गयी थी, वह उठा नहीं सकता था। इतनेमें भट्टजी लघुशंकाको उठे और चोरकी यह दशा देखकर उन्हें बड़ी दया आयी। उन्होंने प्रेमसे कहा—'लो, मैं उठाये देता हूँ।' चोरने भट्टजीको देखते ही भागना चाहा। भट्टजीने उसे आश्वासन देते हुए कहा—'भैया! भागते क्यों हो? कोई डर नहीं है, तुम्हें जरूरत थी, इसीसे इतनी अँधेरी रातमें तुम इतने कष्टसे लेने आये हो!' चोर लज्जित हो गया। भट्टजीके बड़े आग्रहसे चोर गठरी अपने घर ले गया परन्तु उसका

मन बदल चुका था। वह सबेरे गठरी लेकर लौटा और भट्टजीके चरणोंपर गिरकर रोने लगा। भट्टजीने उसे हृदयसे लगा लिया। चोरका अन्त:करण शुद्ध हो गया। वह सदाके लिये साधुचरित्र हो गया।

त्याग, अनुराग और प्रेमाभक्तिकी तो आप मूर्ति ही थे। श्रीराधारानीके सम्बन्धमें आपका परम मधुर पद यहाँ दिया जा रहा है। इससे उनके हृदयकी सरसताका पता चलता है—

जयति श्रीराधिके सकल सुखसाधिके
तरुनि मनि नित्य नवतन किसोरी।
कृष्णतनु लीन मन रूपकी चातकी
कृष्णमुख हिमकिरनकी चकोरी॥
कृष्णदृग भंग बिश्रामहित पद्मिनी
कृष्णदृग मृगज बंधन सुडोरी।
कृष्णअनुराग मकरंदकी मधुकरी
कृष्णगुनगान रससिंधु बोरी॥
बिमुख परचित्त ते चित्त जाको सदा
करत निज नाहकी चित्त चोरी।
प्रकृति यह गदाधर कहत कैसे बनैं
अमित महिमा इते बुद्धि थोरी॥

जगन्नाथदास

(लेखक—राजा बहादुर श्रीलक्ष्मीनारायण हरिचन्दन जगदेव, टेक्काली)

भक्त जगन्नाथदासका जन्म सन् १४९० ईसवीमें भाद्रपद शुक्ला ८ के दिन अनुराधा नक्षत्रमें श्रीपुरुषोत्तम-क्षेत्रसे पश्चिमकी ओर छ: मीलकी दूरीपर कपिलेश्वरपुर नाम अग्रहारमें हुआ था। इनके पिताका नाम भगवानदास और माताका नाम पद्मावती था। भगवती श्रीराधा और श्रीदुर्गाका प्राकट्य भी इसी तिथिको हुआ था। इसलिये वैष्णवलोग इन्हें नररूपमें श्रीराधाका अवतार और शाक्तलोग श्रीदुर्गाका अवतार मानते हैं। इनके शरीरमें महापुरुषोंके सभी लक्षण विद्यमान थे। इनके माता-पिताने श्रीनीलाचलनाथके नामपर इनका नाम जगन्नाथदास रखा।

जगन्नाथदास बालकपनसे ही बड़े प्रतिभाशाली थे। सोलह वर्षकी अवस्थामें ये वेद-वेदांग तथा दर्शन आदि शास्त्रोंमें निष्णात हो गये। इन्हें प्रारम्भसे ही भगवच्चरित्रोंके पढ़ने-सुननेका बड़ा शौक था। ये प्रतिदिन श्रीरामायण और श्रीमद्भागवतकी कथा कहा करते थे और बहुत-से लोग इनकी कथा सुननेके लिये एकत्रित हुआ करते थे। धीरे-धीरे इनकी कीर्ति चारों ओर फैल गयी। एक दिन उड़ीसाके राजा पुरुषोत्तमदेवने इन्हें अपने यहाँ बड़े आदरके साथ बुलाया। राजा पुरुषोत्तमदेवजी भगवान्‌के बड़े भक्त थे। उन दिनों जगन्नाथदास श्रीमद्भागवतका उड़ियामें भाषान्तर कर चुके थे। राजाने श्रीजगदीशके मन्दिरके दक्षिण भागमें मुक्तिमण्डपके निकट, जहाँ प्राय: विद्वान् ब्राह्मण एकत्र हुआ करते थे, जगन्नाथदासजीसे श्रीमद्भागवतकी कथा सुननेका आयोजन किया और बहुत दिनोंतक वह क्रम जारी रहा।

इनका आश्रम समुद्रके तटपर बना हुआ है। उसे सतलहरी मठ कहते हैं। उसके सम्बन्धमें यह प्रसिद्धि है कि एक दिन जगन्नाथदास भजनमें लवलीन हो रहे थे, उस समय समुद्रने बड़ी गर्जना की जिससे जगन्नाथदासजीके भजनमें विक्षेप हुआ। तब जगन्नाथ-दासजीने समुद्रको आज्ञा दी कि तुम इस आश्रमसे सात लहरके अन्तरपर रहो। समुद्र उसी समय वहाँसे हट गया और तभीसे इनका मठ सतलहरीके नामसे प्रसिद्ध हो गया।

कुछ दिनों बाद राजा पुरुषोत्तमदेवका देहान्त हो गया और उनके पुत्र महाराज प्रतापरुद्रदेव सिंहासनासीन हुए। ये भी अपने पिताकी भाँति जगन्नाथदासका बड़ा आदर करते थे। इन्होंने जगन्नाथदासजीके लिये उड़ियामठ नामका एक मठ बनवा दिया जो नीलाचलक्षेत्रसे पश्चिमकी ओर विद्यमान है। प्रतापरुद्रदेव श्रीचैतन्य महाप्रभुके भक्त थे। उन दिनों श्रीचैतन्य महाप्रभु पुरीमें ही विद्यमान थे। राजाने उनसे प्रार्थना की कि आप हमारी रानीको मन्त्रोपदेश दीजिये। इसपर श्रीचैतन्यदेवने राजासे कहा कि भक्त जगन्नाथदास इसके लिये अधिक उपयुक्त हैं, रानीसे कहो कि वे उन्हींसे दीक्षा लें। इसपर राजाने कहा कि रानी किसी पुरुषसे दीक्षा ले यह मुझे पसंद नहीं है। तब श्रीचैतन्यने उनसे कहा कि जगन्नाथदासके शरीरपर स्त्रियोंके चिह्न हैं। तब

राजाने रानीको श्रीचैतन्यके आज्ञानुसार उन्हींसे मन्त्रोपदेश दिलवाया।

एक दिनकी बात है, राजा प्रतापरुद्रदेवने जगन्नाथदासको कुछ बढ़िया चन्दन अर्पण किया। जगन्नाथदासने उसे ले जाकर एक दीवालपर पोत दिया। राजाने जब यह बात सुनी तो उन्हें मनमें कुछ उद्वेग हुआ और उन्होंने जगन्नाथदाससे इसका कारण पूछा। जगन्नाथदासने उत्तर दिया कि मैंने वह चन्दन भगवद्भावसे ही दीवालपर लगाया था, यदि तुम्हें विश्वास न हो तो जाकर देखो वह चन्दन तुम्हें भगवान्‌के विग्रहपर लगा हुआ मिलेगा। राजाने स्वयं मन्दिरमें जाकर देखा तो उन्हें जगन्नाथदासके कथनानुसार वही चन्दन भगवान् श्रीजगन्नाथजीके श्रीविग्रहपर लगा हुआ मिला। इसपर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ और उस दिनसे वे जगन्नाथदासका और भी अधिक आदर करने लगे। एक दिन राजा प्रतापरुद्रदेव जगन्नाथदाससे भागवतकी कथा सुन रहे थे, उस समय उन्हें जगन्नाथदास अष्टभुजरूपमें दिखायी दिये। उनके छः हाथोंमें शंख, चक्र, गदा, पद्म, धनुष और बाण थे और दो हाथोंसे वे वंशी बजा रहे थे। इस दृश्यको देखकर राजा बड़े चकित हुए और उस दिनसे इन्हें ईश्वररूप ही मानने लगे।

जगन्नाथदासके संस्कृत और उड़ियामें कई ग्रन्थ मिलते हैं। संस्कृतमें उन्होंने कृष्णभक्तिकल्पलतामाला, नित्यगुप्तमाला, उपासनाशतक, प्रेमसुधाम्बुधि, नित्याचारादिदीक्षोपासनाविधि, श्रीराधारसमंजरी, नीलाद्रिशतक और जगन्नाथचरिताम्बुधिसाराणि नामक ग्रन्थ रचे और उड़ियामें शोलो चौपोथी, शैवागमभागवत, सत्संगवर्णन, गुण्डूचविजय, गोलोकसारोद्धार, श्रीराधाकृष्णमहामन्त्रचन्द्रिका, अद्‌भुत चन्द्रिका, नीलाद्रिचन्द्रिका, पूर्णमतचन्द्रिका, रसकल्पचन्द्रिका और श्रीमद्‌भागवत, ये ११ ग्रन्थ लिखे।

महात्मा जगन्नाथदास गोस्वामीने साठ वर्षकी अवस्थामें माघ शुक्ला ७ के दिन यह नश्वर शरीर त्याग दिया और भगवान् महाविष्णुकी ज्योतिमें लीन हो गये। मृत्युके समय इन्हें कुछ लोगोंने भगवान्‌के रत्नसिंहासनके समीप देखा, कुछ लोगोंने अपने भजनागारमें भजन करते हुए पाया, कुछ लोगोंने सड़कपर घूमते हुए पाया, कुछ लोगोंने मुक्तिमण्डपके पास वटवृक्षके नीचे बैठे हुए देखा और कुछ लोगोंने उन्हें अपने मठमें खड़े हुए पाया। इस बातको देखकर लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ, किन्तु जिन भक्तोंने मायाके अधीश्वर भगवान्‌को वशमें कर लिया उनके लिये यह बात कोई आश्चर्यकी नहीं समझनी चाहिये। श्रीचैतन्यदेव इन्हें 'अतिवादी' (महान्‌के भी महान्) कहा करते थे, और इनके अनुयायी आज भी अतिवादी नामसे पुकारे जाते हैं। इनके भागवतका उड़ीसामें बड़ा आदर है। सुनते हैं श्रीचैतन्य महाप्रभु बड़े प्रेमसे इनकी भागवत सुना करते थे।

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

जबतक तुम्हारे मनमें संसार बसा हुआ है तभीतक भगवान् तुमसे दूर हैं। संसारकी तरफसे तुम्हारी दौड़ रुकते ही तुम जाओगे ईश्वरकी ओर, जिससे तुम्हारे अन्तःकरणमें अवश्य प्रकाश होगा। उस प्रकाशमें तुम्हें ईश्वरके सिवा और न कोई दिखायी देगा और न स्मृति अथवा वाणीमें ही आवेगा। यही योगकी वास्तविक अवस्था है।

साधुताके ये तीन लक्षण हैं—(१) संसारका ऊँच-नीच तुम्हारे हृदयमें प्रवेश न करने पावे। मिट्टीकी भाँति सोने-चाँदीको भी त्याग देनेकी क्षमता तुममें होनी चाहिये। (२) लोकापवादपर दृष्टि मत दो; न लोकप्रशंसासे फूलो और न लोकनिन्दासे अप्रसन्न हो। (३) तुम्हारे हृदयमें लौकिक विषयकी कामना निःशेष हो जाय। दूसरोंको विषय-भोग और स्वादिष्ट खान-पानमें जैसा आनन्द मिलता है वैसा ही आनन्द तुम्हें उन भोगोंके त्यागमें मिले।

विश्वासी भक्त गंगाधरदास

(लेखक—श्रीअंजनिनन्दनशरण शीतलासहायजी)

उत्कल देश पुरुषोत्तमक्षेत्र अर्थात् जगदीशमें राजा प्रतापरुद्रके समयमें गोविन्दपुर ग्राम एक प्रधान तीर्थस्थल था। उसी गोविन्दपुरमें हमारे चरितनायक परमपूज्य भक्त श्रीगंगाधरदासजीका निवासस्थान था। उनकी स्त्रीका नाम 'श्रिया' जी था। ये परम सती और साध्वी थीं, स्वामीकी प्रिय थीं; पर इनके कोई सन्तान न थी। ये जातिके बनिये थे। सन्तान न होनेपर भी इनको कोई सोच न था। भक्त गंगाधरजी 'पसरा' बेचकर अर्थात् साधारण वाणिज्य-व्यापार करके जीविकानिर्वाह करते हुए श्रियाजीसहित भगवद्भजनमें ही अपना जीवन बिताते रहे। संतसेवा करते हुए बहुत दिन बीत गये, वृद्धावस्था आ गयी।

एक दिनकी बात है कि ग्रामवासियोंके तानोंसे चित्त दुःखित हो जानेसे साध्वी स्त्रीने अपने पतिसे कहा कि 'जहाँ-तहाँ घर-बाहर गाँवकी स्त्रियाँ मुझे ताने मारा करती हैं और 'अंठकुडी' (अर्थात् जिसका मुँह न देखना चाहिये, मनहूस) कहा करती हैं, कोई-कोई तो मेरे सामने भी नहीं आतीं; कोई-कोई सामने भी यदि आ गयीं तो बोलती नहीं और कोई-कोई बड़े तेहेसे कह उठती हैं कि इसका मुँह देख लिया आज न जाने क्या अमंगल होगा, इत्यादि-इत्यादि। पर हमारे भाग्यमें तो सन्तान है ही नहीं, चाह करनेपर भी कैसे मिल सकती है। हाँ, एक बात सम्भव है, वह यह कि आप किसी एक ब्राह्मणबालकका यज्ञोपवीत करा दीजिये, विवाह कर दीजिये। अथवा किसी दरिद्रकुलका कोई लड़का मोल लेकर उसको पुत्र मानकर पालिये, उसीको गोद ले लीजिये।'

पत्नीके शोकभरे इन वचनोंको सुनकर गंगाधरजीने उसे ढाढ़स दिया और बोले कि हम निश्चय ही आज ही एक लड़का ले आवेंगे तुम उसे पुत्रवत् पालन करना, और यह कहते हुए कुछ रुपये लेकर वे वहाँको चले जहाँ अर्चाविग्रह निर्माण होते थे। कुछ धन देकर वे श्रीकृष्णजीकी सर्वलक्षणसम्पन्न एक प्रतिमा लेकर घर आये और श्रियाजीको वह विग्रह देकर कहा कि 'इसकी अच्छी तरह सेवा-शुश्रूषा करती रहो, इससे इस लोकमें निर्वाह, लोकापवादसे मुक्ति और परलोकमें भवबन्धनसे मुक्ति मिलेगी। देखो, प्रिये! इन्हीं कृष्णसे यशोदामाईने पुत्रभाव रखकर अपना उद्धार कर लिया। ब्रह्मादि देवता भी इन्हींका भजन करते हैं, इन प्रभुको छोड़कर जीवका उद्धार करनेवाला दूसरा कोई नहीं है, तुम्हारी समस्त कामनाएँ पूर्ण करनेवाले ये श्रीकृष्ण हैं।'

पतिदेवकी आज्ञा मानकर श्रिया भगवान् श्रीकृष्णके अर्चाविग्रहका मार्जन-स्नान कराके उन्हें सिंहासनपर पधराकर उत्तम-उत्तम भोग लगाती है। वह मन-ही-मन विचार करके कि बहुत दिनपर हमें पुत्र मिला है, हमलोग इन्हें देखकर सुखपूर्वक रहेंगे और शरीरपात होनेपर इनकी कृपासे हमें मुक्ति भी मिल जायगी, सेवामें बहुत ही आनन्दित होती। जैसे माताको अपने छोटे बच्चेका लाड-प्यार-दुलार अत्यन्त भाता है वैसे ही इन अर्चाविग्रहरूप शिशुके दुलार-प्यार-सेवामें श्रियाका नित्य नया चाव बढ़ता ही जाता था। वह तेल-फुलेल-कुंकुम आदि लगाकर मंजन-स्नान कराती, कपूर-चन्दन लेपकर नाना प्रकारके अलंकारोंसे अपने प्रिय पुत्रको विभूषित करती, गरज कि माता जैसा लाडले शिशुकी सेवा करती है ठीक उसी प्रकार वह प्यारे शिशु कृष्णकी सेवा करती।

कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना। मातु दुलारै कहि प्रिय ललना॥
लै उछंग कबहुँक हलरावै। कबहुँ पालने घालि झुलावै॥

प्रेममगन कौसल्या निसदिन जात न जान।
सुत सनेहबस माता बालचरित कर गान॥

—यही दशा भक्तिमती श्रीश्रियाजीकी हो रही है। जो द्रव्य प्राप्त होता उसे पहले पुत्रको निवेदन करती, तब भक्त दम्पती भोजन करते। बिना अर्पित जलतक छूते न थे, पीनेकी कौन कहे। भक्त गंगाधरजीका भी वात्सल्य श्रियाजीसे किसी भाँति कम न था। कोई भी ऐसी वस्तु ग्राममें बिकने आती जो बच्चोंको प्रिय लगती है और जिसको बच्चे माँसे हठ करके लिया करते हैं, गंगाधर स्वयं ला-लाकर वत्स कृष्णको भोग लगाते। हाटसे पुत्रके लिये मीठे-मीठे पदार्थ तुरंत पुत्रके पास लाकर निवेदन करते। माता निरन्तर बच्चेको गोदमें रखती, एक क्षण भी अलग करना न चाहती। पुत्रके लिये रसोई बनानेके समय भी उसका चित्त पुत्रमें ही

लगा रहता, क्षण-क्षणपर रसोई छोड़कर पुत्रको देखने चली आती और देखकर सुखी होती, फिर जाती फिर आती। कभी-कभी आकर गोदमें जोरसे चिपटाकर कहती, 'मैं बड़ी अभागिनी हूँ। तुझे अकेला छोड़कर चली जाती हूँ।' यह कहकर माता श्रीकृष्णका मुख चुम्बन करती, उनका सिर सूँघती। पुत्रस्नेह छोड़कर दम्पतीका सांसारिक पदार्थोंमें भूलकर भी चित्त न जाता था। पुत्रपर पिताका भाव मातासे अधिक था।

इस तरह वात्सल्यभावमें पगे हुए दम्पतीको बहुत काल बीत गया। एक दिन गंगाधरजीने स्त्रीसे कहा 'मैं हाट जाता हूँ, मेरे कृष्णकी देखभाल करती रहना, इसकी सेवा तेरे जिम्मे है। देख, एक क्षण भी इसे अकेला छोड़कर कहीं जाना नहीं'—ऐसा कहकर उन्होंने पुत्रसे भी इसी प्रकार वात्सल्यभरे स्नेहपगे वचन कहे और उसके चरणोंमें चित्त देकर वाणिज्यके लिये गये। थोड़े ही दिन बीते थे कि पुत्रवियोगमें उनका चित्त अत्यन्त व्याकुल होने लगा, उनको एक-एक क्षण कल्पसमान बीतने लगा, उसके वियोगसे चित्त अति क्षुब्ध रहता अतएव उन्होंने बहुत शीघ्रता की और कुछ अपूर्व फल, मिष्टान्न, पक्वान्न, जो गोविन्दपुरमें नहीं मिलते थे, लेकर घर लौट चले। पुत्रदर्शनकी लालसामें वृद्ध गंगाधर सुध-बुध खोये उतावलीमें चले जा रहे हैं, इनके मन-ही-मन अनेक मनोरथ उठ रहे हैं, घर पहुँचकर पुत्रके दर्शन करूँगा, उसको यह-यह पदार्थ एक-एक करके निवेदन करूँगा, कभी गोदमें लेकर चुम्बन करूँगा, कभी उसपर सर्वस्व निछावर करूँगा, राई-नोन उतारूँगा, मिष्टान्न अपने हाथसे पवाऊँगा, बारंबार उसकी बलैया लूँगा इत्यादि। इस प्रकार वात्सल्यभावमें छके हुए रास्तेमें चले जा रहे थे कि ग्राममें प्रवेश करते ही एकाएक ठोकर लगनेसे पैर लड़खड़ाया और आप जमीनपर गिर पड़े, और उसी क्षण शरीररूपी पिंजड़ेसे प्राणपखेरू उड़ गया। प्राण निकलते समय विरहाग्नि उनके हृदयमें धधक रही थी, सहसा उनके मुखसे यह वचन निकल पड़े—'हा बेटा कृष्ण! मैं तुझे देख न पाया। मैं बड़ा ही पापी हूँ।' कृष्ण-कृष्ण कहते हुए उनका शरीर छूट गया। ग्रामवासियोंने श्रीश्रियाजीको खबर दी। वह सती उस समय पुत्रके लिये भोजन बना रही थी। पतिका शोकसमाचार सुन भयभीत होकर शोकसे आतुर वह पुत्रके पास पहुँची और यों पुकार करने लगी—अरे मेरे कृष्ण! अरे मेरे कृष्ण! तू तो अरक्षितका भाई है, दीनोंका मित्र है, वंशीधर है, जगत्को मोहित करनेवाला है। अरे! तेरा पिता राहमें मर गया, मैं क्या करूँ। अरे! पुत्र! तुझसे पूछती हूँ तू मुझे बता मैं क्या करूँ? चक्रधर, विश्वम्भर, वैकुण्ठनिवास, अन्तर्यामी, सबके हृदयमें बसनेवाले, सबके जीकी जाननेवाले, भावके पहचाननेवाले, स्वतन्त्र होते हुए भी भक्तके वशमें रहनेवाले भक्तवत्सल भगवान् माताके वचन सुनकर उनकी भक्तिके वश होकर उनके पुत्रभावको पूर्ण करनेके लिये कहने लगे—'माता! तुम निश्चिन्त रहो, क्यों चिन्ता करती हो? मेरे पिता मरे नहीं हैं। वे श्रान्त होकर पत्थरपर रास्तेमें सो गये हैं, तुम जाकर उनको उठाओ और कहो कि पुत्रको अकेला छोड़कर यहाँ क्यों पड़े हो? चलो पुत्र बुला रहा है।'

पुत्रके वचन सुनते ही वह पतिके पास गयी, देखा कि उनके शरीरमें प्राण नहीं हैं। पर क्या करती? कृष्णकी आज्ञा थी, इसलिये उनके मस्तकपर हाथ रखकर कहने लगी 'प्राणनाथ! मैं पुत्रको अकेला छोड़कर यहाँ चली आयी, मेरे साथ कोई नहीं है, अब तुरंत चलिये; देखिये, हम लोगोंकी तो पुत्रसेवा ही सर्वस्व है।' यह सुनते ही वह इस तरह उठकर बैठ गये जैसे कोई सोकर उठे। आँख मलते हुए उठ बैठे और पूछा 'बताओ, तुम यहाँ क्यों आयी? अरे! मेरा लाल कृष्ण कहाँ है, उसे अकेला कहाँ छोड़ आयी?' उसने सब हाल बता दिया, तुरंत ही दम्पती 'कृष्ण-कृष्ण' स्मरण करते हुए पुत्रके पास आये। गंगाधरने तुरंत ही सबसे पहले सब फल-मिष्टान्न पुत्रको निवेदन किये, पुत्रके दर्शन पा वह आनन्दमें फूले न समाते थे। उस निरतिशयानन्दमें दम्पती देहसुध भूलकर पुत्रको गोदमें ले-लेकर उसका मुख चूमने लगे। भक्त-दम्पती एकसे एक गोदमें लेते, बार-बार हृदयसे लगाते, प्यार करते, हृदयसे पृथक् न करते⋯⋯अब वे दोनों पुत्रकी पहलेसे कोटिगुण अधिक सेवा करने लगे। रात्रिमें जब शयनका समय आया, वात्सल्यमें विह्वल होकर भक्त गंगाधर कहने लगे—'ऐ मेरे लाल! तेरा वियोग मुझसे सहा नहीं जाता। पेटकी ज्वाला ऐसी प्रबल है कि बिना उसको आहुति दिये काम नहीं चलता, भोजन बिना रहा नहीं जाता और उसके कारण बाजार जाना और व्यापार

करना ही पड़ता है।' पिताके वचन सुनकर अन्तर्यामी भगवान् मुसकुराकर कहने लगे—'पिताजी! आप चिन्ता न करें, मुझ-सरीखे पुत्रके रहते आपको किसका भय है! आपने जो कामना की है वह पूर्ण होगी। आपका घर धन-धान्यसे पूर्ण हो जायगा, इसमें किंचित् संशय नहीं।'

दिव्य स्वरूपसे साक्षात् प्रकट होकर इस प्रकार कहकर फिर भगवान् अन्तर्धान हो गये। घर धन-धान्यसे पूर्ण हो गया, पर भगवान् चले गये, सिंहासन खाली हो गया। सच कहा है—

जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।

सिंहासन खाली देख दम्पतीके होश उड़ गये, वे पृथ्वीपर गिरकर अपनेको हतभाग्य मानकर बड़ा क्रन्दन करने लगे—उस दशामें पड़े पुत्रका स्मरण कर-कर कहते हैं—'हाय, मेरे लोभके कारण कृष्णने हमारा त्याग किया। अरे मेरे लाल! हम सब तो अज्ञानी हैं, हममें ज्ञान नहीं है, इसीसे मुझसे भूल हुई, पर प्यारे लाल! तूने क्यों भूल की? अच्छा गये थे तो भी हर्ज नहीं, पर हमें क्यों न साथ ले लिया। लाल! तेरे वियोगमें यह पापी प्राण रहकर क्या करेगा……।' इस तरह करुणापूर्ण विलाप करते हुए और श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण कहते हुए गंगाधरने शरीर छोड़ दिया। सत्य प्रेमकी जय! भक्त गंगाधरकी जय!

पतिने शरीर छोड़ दिया, यह देख श्रियाने उसके शरीरको गोदमें ले लिया और पुत्रका स्मरण करती हुई सोचने लगी कि मैं भी यह क्षणभंगुर देह रखकर क्या करूँगी? सतीधर्मका अनुकरणकर सवेरे ही सती हो जाऊँगी। सोचमें निमग्न रात बीती, सवेरा हुआ। उधर उसने सारा धन लुटा दिया, घरमें कुछ भी न रखा। फिर चिता बनाकर अग्नि लगाकर उसमें पतिको गोदमें लेकर प्रवेशकर कृष्ण-कृष्ण उच्चारण करती हुई सती हो गयी। श्रीलक्ष्मीजीसहित श्रीमन्नारायण भगवान् विमानपर उसी जगह आ पहुँचे, अग्निसे दम्पती निकलकर दिव्य शरीरसे उस विमानपर सवार हो वैकुण्ठको गये। लोगोंको केवल यह दीख पड़ा कि बिजलीका-सा प्रकाश आकाशमें छाया है। थोड़े ही क्षण बाद वह प्रकाश नेत्रोंके आगेसे गायब हो गया। सब एक स्वरसे 'धन्य धन्य' कहकर चिल्ला उठे। धन्य! धन्य! धन्य! जय! जय! जय! भक्तमालकार कथा समाप्तकर कहते हैं 'विश्वास प्रधान है, बिना विश्वासके कोई फलीभूत नहीं होता। प्रार्थना है कि मेरे सिरपर संतोंका चरणरज निरन्तर पड़ता रहे। प्रिय भ्रातृगण! साधु और भगवान् यही दोनों एकमात्र सखा मनुष्यके हैं, जब ये कृपा करते हैं तभी आकर प्राप्त होते हैं। बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

विरागी रहीम

(लेखक—पं० श्रीगोकुलानन्दजी तैलंग)

संसारकी मृग-मरीचिकाकी चमकको देखकर मनुष्य उसके पीछे भागता है, इस आशासे कि उसके सामने एक अनन्त सागर लहरा रहा है, जिसमें असीम सुख-शान्तिका कोष निहित है, जिसे वह थोड़े-से प्रयाससे कुछ ही क्षणमें प्राप्तकर अनन्त वैभवशाली बन इस भूतलपर ही उस स्वर्गीय मधुरिमाका स्वामी बन बैठेगा। वह जितना ही आगे बढ़ता है, उसकी तृष्णा—उसका राग—उसकी कामनाएँ उतनी ही बढ़ती हैं—बलवती होती हैं। मनुष्य तो भविष्यसुखकी कल्पना करके इस मृग-मरीचिकाके पीछे दौड़ता है, किन्तु अन्तमें उसके हाथ पड़ती है निराशा—केवल अशान्ति! इस नैराश्य-परिणामका अनुभव होनेपर ही उसके हृदयमें वैराग्य जागृत होता है और वह संसारसे उदासीन हो जाता है!

हमारे चरित्रनायक अब्दुलरहीम खानखाना जब संसारके इस क्षणिक सौख्य तथा नश्वरताका अपने जीवनमें कटु अनुभव करते हैं तो उनकी वृत्ति इस जागतिक प्रपंचसे हट जाती है। सांसारिक माया-मोहको वे विषसमान जानकर उसे त्याज्य बताते हैं और उसके बन्धनमें पड़े जीवोंकी विमूढ़तापर अपने उद्‌गार कितनी स्वाभाविक सत्यतापूर्ण विचारधाराद्वारा प्रकट करते हैं—

जो बिषया संतन तजी, मूढ़ ताहि लपटात।
ज्यों नर डारत बमन कर, स्वान स्वादसों खात॥

केवल प्रपंचपूर्ण माया-लिप्सा विवेकशीलजनोंके लिये तो सर्वथा त्याज्य है। वास्तवमें जीवकी यह विमूढ़ता ही है कि वह श्वान-रूप-वृत्तिकी तरह अपनी इन्द्रियोंको इस हेयातिहेय माया-वासनामें लिप्तकर

अपने आपको सुखी मानता है। मनुष्यकी यही लिप्सा तो उसे पतनके मार्गकी ओर अग्रसर कराती है। वह पुत्र, कलत्र, धन आदिके मोहमें अपनेको इतना खो बैठता है—उनके क्षणिक आकर्षणमें इतना मग्न हो जाता है कि वह अपने जीवनका लक्ष्य—मानव-जीवनकी सफलता—सार्थकताको भूल ही जाता है। उसकी बुद्धिपर मायावरण होनेसे वह सोचता है कि सुख-दुःख सभी परिस्थितियोंमें उसे साहाय्य देनेवाले उसके सम्बन्धी, उसकी अनन्त सम्पत्ति और उसकी चिरसञ्चित माया ही होंगे, परन्तु वह भूलता है। यहीं उसकी माया उसे धोखा देती है। रहीमकी धारणा है कि यह माया-लिप्सा तथ्यहीन अतएव पूर्ण निराशाप्रद है। जीवनका वस्तुतः आधार—एकमात्र लक्ष्य—उसका चिरसंगी मित्र वह प्रभु ही हैं—उसकी एकान्त शरणगति है—उसपर सर्वस्व आत्मसमर्पण ही है। कहते हैं—

धन दारा अरु सुतनमें, रहत लगाये चित्त।
क्यों रहीम खोजत नहीं, गाढ़े दिनको मित्त॥

भले ही जगत्‌के यावन्मात्र प्रपंच उसे अस्थायीरूपसे कुछ कालके लिये आत्मीय बना सुख-शान्तिका आभास करा दें, किन्तु अन्ततोगत्वा वे क्षणिक हैं—नश्वर हैं—अनित्य हैं। सत्य शाश्वत मंगलमय तो वे हरि ही हैं जिनका आश्रय लेनेसे भवसिन्धुकी सुख-दुःखजन्य लहरोंसे व्यथित जीवन-नौकाका उनकी कृपा-पतवारसे सहज ही और निश्चय ही उद्धार हो जाता है। भवसन्तापसे व्यथित रहीम जीवके उद्धारका यही उपाय बतलाते हैं—

गहि सरनागति रामकी, भवसागरकी नाव।
रहिमन जगत उधारकर, और न कछू उपाव॥

इस जगत्‌के अनन्त सिन्धुमें तो सतत-सर्वत्र उत्थान-पतनकी—प्रसाद-विषादकी, जीवन-मृत्युकी असंख्य लहरें उठती रहती हैं, जिनके आघातोंको सहन करता हुआ जीव व्याकुल होता रहता है, किन्तु प्रभुशरणागतिमें आकर अपने आपको समर्पित कर देनेके बाद उसे इन लहरोंसे अथवा अन्य सांसारिक माया, मोह आदि विकारोंसे भय नहीं रह जाता! पर होना चाहिये उन प्रभुमें—उस व्रजचन्द्र नन्दनन्दनमें एकान्त विश्वास—अविचल निष्ठा! जबतक मनुष्यमें विश्वास, श्रद्धा सर्वतोभावेन अपने रक्षकके प्रति आस्थापूर्वक आत्मसमर्पणकी भावना नहीं होती तबतक उसका उद्धार—उसकी रक्षा कठिन है! मनुष्यमें श्रद्धा ही होती है, जो उसे अपने ध्येयतक ले जाती है। अतएव जब वह प्रभुके हाथोंमें अपनेको सौंप देता है तब उसकी सब प्रकारसे लज्जा रखनेका भार उनपर पड़ जाता है। इसी सिद्धान्तको रहीम कितने सुन्दर ढंगसे व्यक्त करते हैं—

रहिमन कोऊ का करै, ज्वारी चोर लबार।
जो पत राखनहार है, माखनचाखनहार॥

जब 'चोरजारशिखामणि' माखनचोर हरि ही जीवके रक्षक हो जाते हैं तब उसका कौन बाल बाँका कर सकता है? उस करुणासागरके चरणोंमें पहुँचनेपर किसे आश्रय-संरक्षण नहीं मिलता? अपनी अहैतुकी कृपा—दयालुताके बानेके अनुकूल श्रीहरि करुणात्माओंकी पुकारको सुनकर अपने वरद हस्तोंसे शीघ्र ही शोक-सन्तापसे उसकी रक्षा करते हैं। जितने शीघ्र आर्तजनोंकी पुकार उनके वैकुण्ठद्वारको खटखटाकर उन्हें अपने शरणागतकी रक्षाके लिये आतुर कर देती है, उतने शीघ्र अनन्त सुखसामग्रियोंसे परिवेष्टित उन्नत अट्टालिकाओंमें सुखशय्यापर शयन करनेवाले राजसी जीवोंकी ध्वनि उन्हें आकृष्ट नहीं कर सकती। श्रीप्रभुकी असीम कृपालुता कितने भावगर्भित शब्दोंमें रहीम दर्शाते हैं—

बड़े दीनको दुख सुनै, लेत दया उर आनि।
हरि हाथी सों कब हुती, कहु रहीम पहिचानि॥

होनी चाहिये अन्तरात्माकी सच्ची पुकार! मनुष्यकी कलुषित वासनामयी बुद्धि प्रायः अपने स्वार्थसाधनके लिये प्रभुको पुकारती है। उसका हृदय उतनी ही देरतक प्रभुकी दया एवं अपने आर्तनादसे द्रवित रहता है, तबतक कि उसकी इष्टलालसाकी पूर्ति न हुई! जहाँ उसकी अभिलाषाकी पूर्ति हुई कि कहाँ वह करुणरुदन और कहाँ वह प्रभु-स्मृति! फिर वह उसी मायामें आकर फँस जाता है। ऐसी क्षणिक आत्मसमर्पण अथवा आत्मचिन्तनकी भावना उसके प्रभुको उसकी निर्बल प्रेम-शृंखलामें कैसे आबद्ध कर सकती है? माया-वासनाशून्य सच्चे हृदयके चिन्तनसे ही वे प्रभु स्वयं खिंचे चले आते हैं। रहीम कहते हैं—

रहिमन मनहिं लगायके, देखि लेहु किन कोय।
नर को बस करबो कहा, नारायन बस होय॥

हमें अपने चित्तको अपने चारों ओरके प्रलोभनोंसे खींचकर—अपनी सारी कलुषित वृत्तियोंका साधन-संयमपूर्वक संवरणकर अपने ध्येय इष्टमें केन्द्रीभूत

करना होगा! मायामय जगत्के अन्तर्गत रहते हुए भी 'पद्मपत्रवत्' संसारसे अविच्छिन्न सम्बन्ध रखना होगा! प्रेमी चकोरकी तरह उन अपने श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर टकटकीसे ध्यान लगाना होगा। अनेक आकर्षण-प्रलोभनपूर्ण वातावरणके बीच रहते हुए भी रहीमकी भावना है, किसी-न-किसी तरह अपने घनश्यामके मुखचन्द्रमें अपने चित्त-चकोरको सर्वदा लगाये रहनेकी! कहते हैं—

जिहि रहीम चित आपनों, कीन्हों चतुर चकोर।
निसिबासर लाग्यो रहैं, कृष्णचन्द्रकी ओर॥

वैराग्यका लक्षण ही है अपने आराध्यमें एकान्त अनुराग रखना। यों कहनेके लिये—संसारको धोखा देनेके लिये हम विभिन्न वेष-भूषा धारणकर भले ही अपनी गतिविधि विरागियोंके अनुकूल बना लें किन्तु जबतक हृदयका अन्तरतम प्रदेश प्रभुके अनुरागसे रँग न जावे—सांसारिक अनुराग-वृत्तिका नाश न हो जावे, वास्तविक विराग नहीं! संसारकी रँगीली मदिराके स्थानमें आवश्यकता है अपनी आँखोंमें प्रियतमछबिका सात्त्विक रंग उड़ेलनेकी! जहाँ हमारी आँखोंसे सांसारिक प्रपंचोंके विभिन्न चित्र निकल गये और उनके स्थानापन्न अपने सर्वस्व प्रेय प्रणयीकी मञ्जुल छबिने घर कर लिया वहाँ फिर दूसरेके लिये स्थान ही कहाँ है? रहीमकी आँखोंमें समायी हुई प्रियतमके चित्रकी उज्ज्वल रेखा कितनी भव्य—कितनी सुरम्य है—

प्रीतम-छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आपु फिरि जाय॥

संसारके राग-द्वेष-माया-वासना आदि पथिकोंको हृदय-पथवर्त्ती आश्रय-स्थलोंके नेत्र-द्वारोंमें स्थान मिलेगा, तभी तो वे वहाँ टिक सकते हैं? मानो कविका आन्तरिक मन्तव्य है कि भक्ति-प्रेमसे वैराग्य स्वयं ही हो जायगा और सांसारिक विकृतियाँ स्वयं ही दूर हो जायँगी—उन्हें अन्य साधनों-द्वारा भगानेकी आवश्यकता न होगी। जहाँ 'सराय' को भरी देखा कि 'पथिक' स्वयं ही दूर हुआ—आकर लौट गया! कितनी सुन्दर उक्ति है!

रहीमके हृदय और नेत्र वास्तवमें श्रीकृष्णचन्द्र प्रियतमके प्रेम-रागमें रँगे हुए हैं। तभी तो उनकी लेखनीसे भी उनका अनुराग टपकता है! कवि-हृदयकी भावनाओंके चित्र ही तो उनके काव्योद्गार होते हैं! और उनकी ये भावनाएँ ही संसारके प्रति वैराग्य होनेकी द्योतक हैं!

धन्य है संत-कवि तुम्हारे प्रभु-अनुरागी, विश्व विरागी हृदयको—तुम्हारी वियोग-भावनाओंको!

गायक संत त्यागराज

(लेखक—स्वामी श्रीअशेषानन्दजी)

त्यागराज दक्षिणभारतके सबसे महान् और लोकप्रिय गायक हुए हैं। जो स्थान उत्तरभारतमें सूर, तुलसी और मीराके पदोंको प्राप्त है वही दक्षिणमें त्यागराजके गीतोंको प्राप्त है। सहस्रोंकी संख्यामें उन्होंने गीत-रचना की और उनमें निश्छल (ईश्वर-) प्रेमका स्वर्गीय संगीत भर दिया। केवल पद रचनाकी ओर उनका उत्साह नहीं था, उनका लक्ष्य तो था संगीत विद्याका उत्थान। राग और लयके वे मर्मज्ञ आचार्य हुए। उनके पहले संगीतमें शैली (तर्ज) और शब्दकी प्रधानता हो रही थी, जो उसके बाह्य अंग-मात्र हैं। उसका अन्तरंग तो है राग और लय। इन्हींका समावेश कर उन्होंने संगीत-विद्याको अपूर्व सौन्दर्य और शोभा प्रदान की। फलतः उन्हें 'संगीत-गुरु' की उपाधि प्राप्त हुई।

ऐसा देखा गया है कि किसी भी मानवीय विद्या या कलाका उत्थान प्रायः धर्मका आश्रय लेकर ही हुआ है। यूनानकी जगत्प्रसिद्ध ख्रीष्ट और मेरीकी मूर्तियाँ, रोमके विशाल गोथिक गिरजाघर, भारतवर्षके भक्ति-काव्य, ये धार्मिक विषयसे सम्बन्ध रखनेवाली कृतियाँ हैं जिनकी समता अन्यत्र नहीं हो सकती। इसका कारण यही है कि धर्मकी सच्ची जागृति होनेपर मानव मन और बुद्धि अत्यन्त परिष्कृत हो उठते हैं और उस अवस्थामें की गयी रचना शुद्ध और स्वच्छ हुआ करती है। जीवनके स्थायी सौन्दर्यकी ओर, जिसमें व्यक्तिगत लाभालाभका विचार नहीं रहता, सारी चित्तवृत्तियाँ उन्मुख हो जाती हैं। यही चित्तवृत्ति संगीत-गुरु संत त्यागराजकी भी थी।

सारे सांसारिक प्रलोभनोंसे चित्तको हटाकर उन्होंने उसे परमात्माकी ओर लगाया था। उनके अनुपम त्यागकी कथाएँ—जिनसे वे त्यागराज कहलाये—दक्षिणमें अब भी प्रसिद्ध हैं। कहते हैं, एक बार तंजौरके महाराजने

अपना दूत भेजकर उन्हें दरबारमें बुलाया। उनकी इच्छा ऐसे पद सुननेकी थी जिनमें स्वयं उनकी गुणगाथा गायी गयी हो। किन्तु त्यागराजने ऐसा करना दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया। उन्होंने राजदूतसे कहा—'धिक्कार है भूमि या स्वर्गादि द्रव्यको। यदि उन्हें ही मैं मूल्यवान् समझता तो श्रीरामकी सोनेकी मूर्त्ति बेचकर मैं मालामाल हो गया होता और दुनियाके सारे सुख-भोग मेरे करतलगत हो गये होते। मेरा मन ऊपरके सुनहले रंगपर नहीं रीझ सकता, वह तो रीझा है अन्तस्की सुघराईपर, भीतरके दिव्य स्वरूपपर! इन्हीं प्यारे रामके मोहमें फँसकर मैंने उनकी सोनेकी मूर्त्ति नहीं बेची। उन्हें छोड़कर मैं किसी धनाभिमानी राजाको प्रसन्न नहीं कर सकता।' यह सुनकर राजदूत अपने स्थानको लौट गया।

रामकी सोनेकी मूर्ति त्यागराजको घरके बँटवारेमें मिली थी। उसकी कथा इस प्रकार है कि जब त्यागराजके धार्मिक पिताका शरीरान्त हो गया तब घरकी सम्पत्ति दोनों भाइयोंमें बाँट ली गयी। त्यागराजका बड़ा भाई उतना ही मूर्ख और झगड़ालू था जितना ये प्रतिभाशाली और शान्त थे। बँटवारेमें श्रीराम (जो त्यागराजके इष्टदेवता थे) की सोनेकी मूर्त्ति त्यागराजको मिली, किन्तु द्रोहवश बड़े भाईने एक दिन उसे उठाकर पास बहती हुई कावेरी नदीमें फेंक दिया। इससे त्यागराजको मार्मिक कष्ट हुआ। वे बाढ़के प्रवाहमें भी मूर्त्तिको ढूँढ़नेकी लालसासे कावेरीमें कूद पड़े। अपने जीवनकी उन्हें चिन्ता नहीं थी, चिन्ता थी तो मूर्त्तिकी। अन्तमें वह मूर्त्ति उन्हें मिली। इतने कष्टके पश्चात् मिलनेपर त्यागराजने उसे अपना इष्टदेव बनाया। प्राणपनसे वे उसकी पूजा करते थे।

उसकी स्तुतिमें, उसीके प्रेममें विह्वल हो वे गीत-रचना किया करते थे और उसके पीछे सारे संसारको भूल गये थे। ऐसा अनन्य प्रेम होनेके कारण उन्हें भगवान् साक्षात् दिखायी पड़ते थे और वे उन (भगवान्)-से वार्तालाप करते थे। जो कुछ हृदयमें होता है वही बाहर आता है। ऐसे ही दिव्य साक्षात्कार उनके गायनमें स्पष्ट होते हैं।

किसी प्रकारकी संकीर्णता या दिखावेके लिये तो उनके मनमें स्थान ही नहीं था। उसे तो वे भगवान्के अमृत-सिन्धुमें डुबा चुके थे। श्रीमद्भागवत, महाभारत तथा श्रीरामायणका उन्होंने अध्ययन किया था, जिनमें रामकथा-की तो छोटी-से-छोटी आख्यायिका भी उन्हें कण्ठाग्र थी। अन्य देवताओंकी भी वे बराबर स्तुति किया करते थे।

'जिसपर मैं प्रेम करता हूँ उसका सर्वस्व हरण कर लेता हूँ' श्रीकृष्णके इस वाक्यपर वे मुग्ध हो गये थे। वैराग्यकी ज्वाला उनके हृदयके सारे विकारोंको भस्म कर चुकी थी। फिर संसारका कौन-सा सुख उन्हें लुभाता। एक बार त्रावणकोरके महाराजने भी उन्हें अपने दरबारमें बुलाकर संगीताचार्यका पद देना चाहा, किन्तु उन्होंने कहला भेजा कि 'महाराज! पदवी तो सद्भक्ति ही है। भगवान्के चरणोंमें अनुराग ही परमपद है। उन्हीं चरणोंसे जिसकी बुद्धि विचलित नहीं होती, जिसका मन नहीं डिगता, वही प्रशंसनीय है। पद और सम्मान तो उसीके हैं जिसका पवित्र और निर्लेप भाव भगवान्में लगा हुआ है। आप अपनी पदवी फेर लें, मुझे इसकी चिन्ता नहीं है।'

त्यागराजकी यह त्यागपूर्ण उक्ति चिरस्मरणीय हो गयी है और उनका यह पद दक्षिण भारतमें अनेकोंके कण्ठमें विराजता है, पद्यमें ही उन्होंने उत्तर दिया था।

अन्तमें ८८ वर्षकी अवस्था पूरीकर ये पूर्ण प्रसन्नताके साथ शरीर त्यागकर भगवान्की गोदमें जा बैठे। भगवान्के ही स्वप्नमें दर्शन देकर कहनेसे इन्होंने अन्तिम समयमें संन्यास लिया था और अत्यन्त कृतज्ञतापूर्ण पद गाकर महासमाधिमें लीन हुए थे।

इन्हींका स्वच्छ और भक्तिपूर्ण हृदय दक्षिणकी संगीत विद्याका स्थायी उन्नायक था, वह संगीत-विद्याजो अब भी भारतवर्षके प्राचीन गौरवकी मुख्य प्रतिनिधि मानी जाती है।

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

सहनशीलताके तीन लक्षण हैं—(१) निन्दाका त्याग, (२) निर्मल संतोष और (३) आनन्दपूर्वक ईश्वरकी आज्ञाओंका पालन।

सदा विनय और प्रेमपूर्वक ईश्वरका भजन करो। सेवा और सम्मानपूर्वक साधुजनोंका सत्संग करो।

श्रीदामाजी पन्त

विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके आरम्भमें मंगलवेढा स्थानमें दामाजी पन्त नामक एक ब्राह्मण वहाँके सूबेदार थे। यह स्थान उन दिनों उस मुसलमानराजके अधीन था जो इतिहासमें 'बेदरकी बादशाही' के नामसे प्रसिद्ध है। इसी समय संवत् १५२५ से १५३२ तक लगातार सात वर्ष महाराष्ट्रमें महाभयंकर अकाल पड़ा। दामाजी पन्त थे तो बादशाहके नौकर, पर बड़े प्रामाणिक, स्वधर्मनिष्ठ, परोपकारी और भगवद्भक्त थे। इन्होंने जहाँतक इनकी औकात थी, अकालपीड़ितोंकी बड़ी सहायता की। अपना सारा धन और धान्य इन्होंने उनकी सेवामें लगा दिया! पुण्यकी दृष्टिसे इस पुण्यकी कोई सीमा नहीं, पर उस महाभीषण श्मशानपर्यवसायी सार्वत्रिक हाहाकारमें ऐसी वैयक्तिक सहायताकी गिनती ही भला क्या हो सकती थी? शाही खत्तोंमें अवश्य ही इतना अनाज भरा हुआ था कि उससे सहस्रों मनुष्योंके प्राण अवश्य ही बच जाते। और ये खत्ते दामाजी पन्तके कब्जेमें थे परन्तु यह अनाज अकालपीड़ितोंको देनेका हुक्म नहीं था। दामाजी पन्त लाचार थे, उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की और अपनी धर्मपत्नीसे सलाह की। भगवान्के भरोसे दोनोंने मिलकर यह निश्चय किया कि आखिर इन शाही खत्तोंमें जमा अन्न किस दिनके लिये है? अन्नके बिना तड़प-तड़पकर लाखों मनुष्य प्राण त्याग कर रहे हैं और यह अन्न खत्तोंमें ही जमा है, ऐसे अन्नकी सार्थकता क्या? पर यह अन्न बादशाहका है, इसे बाँट देनेका हुक्म नहीं है; बिना हुक्म यह अन्न यदि लुटा दें तो इसमें सन्देह ही क्या, इसकी सजा मौत ही है। पर यदि एक हमारे मारे जानेसे हजारोंकी जानें बचती हों तो इस तरह मारा जाना परम पुण्य ही है। ऐसा निश्चय करके दामाजी पन्तने मंगलवेढा और आस-पासके अकालपीड़ितोंके लिये अनाजके शाही खत्ते खोल दिये—लूट ले जाओ, जिसका जी चाहे और जितना चाहे, इतना अनाज जमा था कि एक महीने लूट मची रही। इससे असंख्य मनुष्योंके प्राण बचे और मंगलवेढाके सूबेदार दामाजी पन्तको लाखों मनुष्योंने तृप्त होकर मंगलमय आशीर्वाद दिये। पर जब राजधानी बेदरमें यह खबर पहुँची तब बादशाहके क्रोधका पारावर न रहा। उसने तुरंत दामाजी पन्तको गिरफ्तार कर ले आने और सामने हाजिर करनेके लिये एक दल घुड़सवारोंका भेजा। घुड़सवार दामाजी पन्तको गिरफ्तारकर बेदर ले चले। रास्तेमें पण्ढरपुरमें दामाजी पन्तने शाही फौजके अफसरसे अनुमति लेकर श्रीविट्ठल भगवान्के दर्शन किये और उन्हें अपना सब सुख-दुःख निवेदनकर वे सवारोंके संग हो लिये। ये लोग कूच-दर-कूच बेदरकी ओर जा ही रहे हैं कि इसी बीच एक आदमी मुहरोंकी थैली लिये हुए बादशाहके दरबारमें पहुँचा। बादशाहने पूछा 'तुम कौन हो, कहाँसे आये हो?' उस आदमीने जवाब दिया, 'मैं दामाजी पन्तका नौकर हूँ, मेरा नाम विठू महार है, दामाजी पन्तने मुझे शाही गल्लेकी कीमत देकर भेजा है कि इसे जमा करो और रसीद ले आओ।' बादशाह चकितसे विठू महारकी ओर देखने लगे। उसके सिरपर फटे पुराने चीथड़ोंकी एक पगड़ी-सी बँधी थी, कमरमें एक लंगोटी पहने था, कन्धेपर एक जहाँ-तहाँ फटा-सा कम्बल पड़ा था, बगलमें लकड़ी दबाये दोनों हाथोंसे मुहरोंकी थैली उठाये बादशाहके सामने खड़ा था। उसके इस विलक्षण वेश और सीधी-तीखी बातका बादशाहके चित्तपर बड़ा गहरा असर पड़ा। खजानेमें कीमत जमा हुई और विठू महार रसीद लेकर चलता बना। अभी दामाजी पन्त रास्तेमें ही थे। आज नित्य क्रमके अनुसार स्नान-सन्ध्या-तर्पणादि कृत्योंसे निवृत्त होकर गीतापाठके लिये ज्यों ही उन्होंने गीताकी पोथी खोली त्यों ही उसमें उन्हें एक कागज मिला, उसपर बादशाहकी मुहर थी और शाही खत्तोंके अनाजकी कीमत भर पायी लिखी हुई थी। आँखोंको कुछ धोखा तो नहीं हो रहा है? नहीं, यह साफ-साफ रसीद ही तो है पर यह मुहर भी बादशाहकी ही है। पर मैंने कीमत कब अदा की, मैं तो कैदी होकर बादशाहके पास जा रहा हूँ! रसीदमें लिखा था, 'हस्ते विठू महार', यह विठू महार कौन है और कब मैंने इसे बादशाहके पास भेजा? कुछ समझमें न आया। श्रीविट्ठलकी माया वे ही जानें! इतनेमें एक शाही रिसाला पहुँचा, रिसालेके साथ एक शाही खरीता था। इसमें बादशाहने विठू महारके आकर कीमत जमा करनेकी बात लिखी थी और दामाजी पन्तको जो कष्ट हुआ उसपर बड़ा खेद प्रकट किया गया था। दामाजी

पन्तको रिसालेने बड़े अदबके साथ सलाम किया। बादशाहके भेजे हुए राजवस्त्र दामाजी पन्तको पहनाये गये और बड़े सम्मानके साथ वे राजधानीमें लाये गये। दामाजी पन्त समझ गये, यह खेल उन्हीं त्रिभुवनमोहन श्रीविट्ठलका है, मेरे लिये वे महार बने। बादशाहसे दामाजी पन्तकी बड़ी मैत्री हुई, दामाजी पन्तने नौकरी छोड़ दी और पण्ढरपुरमें ही आकर वे श्रीविट्ठलचरणोंमें अनन्य भावसे रहने लगे। —ल० गर्दे

श्रीभानुदास

श्रीभानुदास आश्वलायनसूत्री ऋग्वेदी ब्राह्मण थे, ये दामाजी पन्तके समकालीन थे। इन्होंने संवत् १५२५—३२ का भयंकर अकाल देखा था। इनके कुलमें परम्परासे श्रीविट्ठलोपासना चली आयी थी। यथासमय इनका उपनयन हुआ। वयस्‌के १० वें वर्ष इन्होंने एक प्राचीन जीर्ण मन्दिरके तहखानेमें बैठकर सात दिनतक श्रीसूर्यनारायणकी अखण्ड उपासना की, आठवें दिन भगवान् सूर्यका साक्षात्कार हुआ। तभीसे इनका नाम भानुदास हुआ। पीछे इन्होंने तीन गायत्री-पुरश्चरण किये। यथासमय इनका विवाह हुआ, बच्चे हुए। यहाँतक ये काम-धंधा कुछ भी नहीं जानते थे। इनके हितूलोगोंने इन्हें कुछ रुपया देकर कपड़ेका रोजगार लगा दिया। ये गाँवमें अपनी दूकान रखते और हर आठवें दिन घोड़ेपर कपड़ा लादकर आस-पासके गाँवोंमें बेंच आते। जो मिल जाता उसीसे निर्वाह करते, पर कभी झूठ न बोलते। इनकी सचाई देखकर चतुर व्यापारी यही कहा करते कि यह व्यापार करके कुछ कमा न सकेंगे। दो बार इनको बड़ा घाटा लगा, पर इन्होंने अपना सत्यव्रत नहीं छोड़ा। आखिर इनकी सचाईकी ऐसी साख जमी कि ग्राहक इन्हींकी दूकानपर टूट पड़ते। धन इनके पास नदीकी तरह बहता हुआ आने लगा। चार-पाँच वर्षमें ही ये बहुत बड़े धनी हो गये। रोजगारमें ये कभी भगवान्‌को नहीं भूले। सतत नामस्मरण अथवा सद्ग्रन्थ-पठन किया ही करते थे। पण्ढरीकी आषाढ़ी-कार्तिकी बारी इनकी कभी न चूकी। भक्तोंने शीघ्र ही इन्हें महाभक्त जाना। इन दिनों विजयनगरके राजा महाबली और महापराक्रमी कृष्णराय थे, जिन्होंने विजयनगर साम्राज्यका चतुर्दिक् विस्तार किया, उसकी सर्वांगीण उन्नति की। ये श्रीविट्ठल भगवान्‌के दर्शनोंके लिये जब पण्ढरपुर आये तब लौटते हुए श्रीविट्ठल-मूर्तिको अपनी राजधानीमें ले गये। आषाढ़ी एकादशीके अवसरपर जब भक्तलोग जमा हुए तब उन्होंने देखा कि मन्दिरमें श्रीविट्ठलमूर्ति नहीं है। इससे वे बहुत दुःखी हुए। भक्तोंने यह संकल्प किया कि जबतक भगवान् फिरसे मन्दिरमें नहीं पधारेंगे तबतक हमलोग यहीं उनका भजन करते हुए पड़े रहेंगे। भक्तोंमें भानुदास भी थे, उन्होंने कहा, 'मैं भगवान्‌को ले आता हूँ।' यह कहकर भानुदास विजयनगर गये। मध्यरात्रिके समय वे मन्दिरके समीप गये, दरवाजोंमें ताले लगे थे सो अपने-आप खुल गये, पहरेदार सो गये और भानुदास मन्दिरमें घुसकर भगवान्‌के सामने जा उपस्थित हुए। भगवान्‌के चरणोंको आलिंगनकर उन्हें प्रेमाश्रुओंसे नहलाया और हाथ जोड़ कहने लगे—'भगवन्! अब चलिये हमारे संग।' भगवान्‌ने अपने गलेका नवरत्नहार भानुदासके गलेमें डाल दिया। रत्नहारसहित भानुदास पकड़े गये। राजाज्ञासे सिपाही उन्हें सूलीपर चढ़ानेके लिये ले गये। उस समय भानुदासने श्रीविट्ठलको पुकारकर कहा—'चाहे आकाश टूट पड़े या ब्रह्माण्ड फट जाय या तीनों भुवन दावानलके ग्रास बन जायँ तो भी हे विट्ठल! मैं तो तुम्हारी ही प्रतीक्षा करूँगा।' इस प्रकार भानुदास भगवान्‌के साथ तन्मय हो रहे थे, इतनेमें ही जिस सूलीपर वे चढ़ाये जानेको थे उसमें पत्ते निकल आये और देखते-देखते फल-फूलोंसे लदा एक सुन्दर वृक्ष ही बन गया! जब राजा कृष्णरायको यह मालूम हुआ तब यह जानकर कि भानुदास चोर नहीं बल्कि कोई बड़े सत्पुरुष हैं, वे दौड़े हुए भानुदासके समीप आये और उनके चरणोंपर लोट गये। तब भानुदासजीने भी राजासे कहा कि मैं श्रीविट्ठल भगवान्‌को पण्ढरपुर ले चलनेके लिये यहाँ आया हूँ। राजाने रत्नजटित पालकीमें भगवान्‌को पधरवाकर और संग संरक्षकोंकी एक पलटन देकर भानुदासके संग बड़े ठाट-बाटके साथ बिदा किया। कार्तिकी एकादशीसे पहले भगवान्‌को लेकर भानुदास पण्ढरपुर आ गये। तबसे इसी उपलक्षमें

पण्ढरपुरमें कार्तिकी एकादशीके दिन बड़े समारोहके साथ भगवान्‌की सवारी निकलती है। इन्हीं भानुदासके वंशमें आगे चलकर महात्मा श्रीएकनाथ महाराज अवतीर्ण हुए। —ल० गर्दे

जनार्दन स्वामी

जनार्दन पन्त आश्वलायनसूत्री ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। इनका जन्म संवत् १५६१ में चैत्र कृष्णा ६ के दिन हुआ। ये पहले चालिसगाँवके परगना-हाकिम थे। पीछे देवगढ़ (दौलताबाद) सूबेके मुख्य अधिकारी हुए। सुलतानके ये बड़े विश्वासपात्र थे। ये बड़े राजनीतिज्ञ, बड़े धीर-वीर, बड़े दृढ़व्रती, नियमके पाबन्द और तेजस्वी पुरुष थे और वैसे ही परम धार्मिक और भगवद्भक्त थे। इस कारणसे ये जैसे राजमान्य थे वैसे ही देशमान्य भी थे। ये भगवान् श्रीदत्तात्रेयकी उपासना करते थे, भगवान्‌का इन्हें सगुण साक्षात्कार हो चुका था। ब्राह्ममुहूर्तमें उठते थे, तबसे मध्याह्नतक स्नान, सन्ध्या, समाधि और उपासनामें ही इनका समय बीतता था। मध्याह्नमें भोजनके पश्चात् कचहरीका काम देखते थे। सायंकाल सन्ध्या करके रातको ये ज्ञानेश्वरी और अमृतानुभवका निरूपण करते थे। ये जहाँ समाधि लगाते थे वह स्थान एकान्त था और ऐसा प्रबन्ध था कि कोई भी उस ओर न जाने पावे। बड़े दयालु और न्यायप्रिय थे, पर वैसे ही लोगोंपर धाक भी रखते थे। इन्हींके कारण, इनके समयमें प्रति गुरुवारको (श्रीगुरु दत्तात्रेयका दिन होनेसे) देवगढ़की सब कचहरियाँ बंद रहती थीं। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही इनका समानरूपसे आदर करते थे। इनके समयके देवगढ़की स्थितिका वर्णन करते हुए एक कविने यह कहा है कि 'यह देवगिरी जनार्दनपुरी है, जिसकी वैकुण्ठपुरी ही बराबरी कर सकती है।' जिन श्रीएकनाथ महाराजका यश:सौरभ दिग्-दिगन्तमें फैला उनके गुरु ये ही श्रीजनार्दन स्वामी थे और इन्हींके चरण-कमलोंका सौरभ उनका यश था, इन्हींके चरणोंमें लीन होकर एकनाथ महाराज अपने आपको 'एका जनार्दन कहते हैं।'

श्रीएकनाथ महाराज अपने एकनाथी भागवतमें कहते हैं कि श्रीगुरुदेव दत्त अवधूत भगवान्‌ने साक्षात् उपदेश तीन ही मनुष्योंको किया जिनमें यदु पहले थे, दूसरे सहस्रार्जुन और तीसरे इस कलियुगमें जनार्दन स्वामी। श्रीजनार्दन स्वामीकी अनन्य उपासनासे प्रसन्न होकर श्रीदत्त उनके सामने प्रकट हुए, उनके मस्तकपर अपना वरद हस्त रखा और यह उपदेश किया कि गृहस्थाश्रमको बिना त्यागे और कर्ममर्यादाका बिना उल्लंघन किये, देहके रहते विदेहस्थितिको प्राप्त होना, प्राप्त कर्मोंको करते हुए भी आत्मानुसन्धान और आत्मस्थितिमें रहना, वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हुए अहंकर्तृत्वकी हवा भी न लगने देना, यही अकर्तात्मबोध है। श्रीगुरु दत्तात्रेयसे श्रीजनार्दन स्वामीको यह रहस्य प्राप्त हुआ और यही रहस्य उन्होंने एकनाथजीको दिया।

—ल० गर्दे

श्रीएकनाथ

भक्तश्रेष्ठ भानुदासके पुत्र चक्रपाणि, चक्रपाणिके पुत्र सूर्यनारायण और सूर्यनारायणके पुत्र एकनाथ हुए। इनका जन्म संवत् १५९० के लगभग हुआ था। इनके जन्मकालमें मूल नक्षत्र था। अत: इनके जन्मते ही इनके पिताका देहान्त हो गया तथा उसके कुछ काल बाद माताका भी। इनके पिता सूर्यनारायण बड़े मेधावी तथा माता रुक्मिणी बड़ी पतिव्रता और सुशीला थीं। इनका लालन-पालन पितामह चक्रपाणिने किया। एकनाथ बचपनसे ही बड़े बुद्धिमान्, श्रद्धावान् और भजनानन्दी थे। छठें वर्षपर इनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। ब्राह्मकर्मकी इन्हें उत्तम शिक्षा मिली। रामायण, महाभारत तथा अनेक पुराण इन्होंने बाल्यावस्थामें ही सुन लिये। बारह वर्षकी अवस्थामें इनके अंदर ऐसी भगवत्प्रीति जागी कि भगवान्‌से मिलानेवाले सद्‌गुरुके लिये ये बेचैन हो उठे। इसी हालतमें, रातके चौथे पहर किसी शिवालयमें बैठे ये हरिगुण गा रहे थे, तबतक इन्हें यह आकाशवाणी सुनायी पड़ी—'जाओ देवगढ़में, वहाँ जनार्दन पन्तके दर्शन करो, वे तुम्हें कृतार्थ करेंगे।' बस ये बिना

किसीसे कुछ कहे-सुने चल दिये। दो दिन और दो रातका रास्ता तै करके तीसरे दिन प्रात:काल देवगढ़ पहुँचे। वहाँ इन्हें श्रीजनार्दन पन्तके दर्शन हुए। इन्होंने उनके चरण पकड़ लिये। यह गुरु-शिष्य-संयोग संवत् १६०२ में हुआ। एकनाथजी छ: वर्ष गुरुकी सेवामें रहे। गुरुसेवाकालमें गुरुसे पहले सोकर उठते थे और गुरुकी निद्रा लग जानेके बाद सोते थे। गुरु जब स्नान करनेके लिये उठते तब ये पात्रमें जल भर देते, धोती चुनकर हाथमें दे देते, पूजाकी सब सामग्री पहलेहीसे जुटाये रहते, जबतक पूजा होती तबतक पास ही बैठे रहते, जब जो वस्तु आवश्यक होती, उसे आगे कर देते। गुरु भोजन कर लेते तब उन्हें पान लगाकर देते और जब वे विश्राम करने लगते तब ये पैर दबाते। इस प्रकार गुरु सेवाको इन्होंने परम धर्म जानकर उसका भलीभाँति पालन किया।

जनार्दन स्वामीने कुछ दिनोंतक एकनाथजीको हिसाब-किताबका काम सौंप रखा था। एक दिन इन्हें एक पाईका हिसाब नहीं मिला। इसलिये रातको गुरुसेवासे निवृत्त होकर ये बही-खाता लेकर बैठ गये। तीन पहरतक हिसाब जाँचते रहे। आखिर जब भूल मिली तब इन्होंने बड़ी खुशीसे ताली बजायी। स्वामीजी उस समय सोकर उठे थे। उन्होंने झरोखेसे झाँककर देखा और पूछा कि 'एकनाथ! आज यह कैसी खुशी है?' एकनाथजीने बड़ी नम्रतासे पाईकी भूलका हाल बतलाया। गुरुजीने कहा—'एक पाईकी भूलका पता लगनेसे जब तुम्हें इतना आनन्द मिल रहा है तब इस संसारकी बड़ी भारी भूल जो तुमसे हुई है, उसका पता लग जानेपर तुम कितने आनन्दित होगे? इसी प्रकार यदि तुम भगवान्के चिन्तनमें लग जाओ तो भगवान् कहीं दूर थोड़े ही हैं।' एकनाथजीने इसे गुरुका आशीर्वाद जाना और कृतज्ञतासे उनके चरणोंमें मस्तक रखा। इसके कुछ ही दिन बाद श्रीगुरुकृपासे श्रीएकनाथजीको श्रीदत्तात्रेय भगवान्का साक्षात्कार हुआ। एकनाथजीने देखा—श्रीगुरु ही दत्तात्रेय हैं और श्रीदत्तात्रेय ही गुरु हैं। इसके पश्चात् एकनाथजीको श्रीदत्तात्रेय भगवान् चाहे जब दर्शन देने लगे। इस सगुण साक्षात्कारके अनन्तर श्रीगुरुने एकनाथजीको श्रीकृष्णोपासनाकी दीक्षा देकर शूलभंजन पर्वतपर रहकर तप करनेकी आज्ञा दी। एकनाथजी उस पर्वतपर चले गये और वहाँ उन्होंने घोर तपस्या की। तप पूरा होनेपर वे फिर गुरुके समीप लौटे। इसके बाद श्रीगुरुने उन्हें संत-समागम और भागवत-धर्मका प्रचार करनेके लिये तीर्थयात्रा करनेकी आज्ञा दी और स्वयं भी नासिक-त्र्यम्बकेश्वरतक उनके साथ गये। इसी यात्रामें एकनाथजीने चतु:श्लोकी भागवतपर ओवी वृत्तमें एक ग्रन्थ लिखा, जिसको पहले-पहल उन्होंने पंचवटी पहुँचकर श्रीरामचन्द्रजीके सामने गुरु श्रीजनार्दन स्वामीको सुनाया।

तीर्थयात्रा पूरी करके एकनाथजी अपनी जन्मभूमि पैठण आये, परन्तु फिर भी वे अपने घर न जाकर पिप्पलेश्वर महादेवके मन्दिरमें ठहरे। इनके वृद्ध दादा-दादी वर्षोंसे इनकी खोज कर रहे थे और उन्होंने श्रीगुरु जनार्दन स्वामीसे यह आज्ञापत्र ले लिया था कि 'एकनाथ, अब तुम विवाह करके गृहस्थाश्रममें रहो।' अत: जब इनके वृद्ध दादा-दादी इनसे मिलने जा रहे थे, तब रास्तेमें ही इनसे मुलाकात हो गयी। उन्होंने इन्हें छातीसे लिपटाकर श्रीगुरुका वह आज्ञापत्र दिखलाया। इसपर एकनाथजीने वहीं अपनी तीर्थयात्रा समाप्त कर दी। गुरुदेवके आज्ञानुसार बड़े ठाट-बाटसे इनका विवाह हुआ। इनकी धर्मपत्नी गिरिजाबाई बड़ी पतिपरायणा और आदर्श गृहिणी थीं। और इस कारण इनका सारा प्रपंच भी परमार्थपरायण ही हुआ। इनके गार्हस्थ्य-जीवनकी दिनचर्या इस प्रकार थी—

ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर पहले प्रात:स्मरण और तत्पश्चात् गुरु-चिन्तन करना। शौचादि एवं गोदावरी-स्नानसे निवृत्त हो सूर्योदयसे पूर्व सन्ध्या-वन्दन करना। सूर्योदयके बाद घर लौटकर देवपूजन, ध्यान-धारणा आदि करके गीता-भागवतादि ग्रन्थोंका पाठ अथवा श्रवण करना। मध्याह्नमें पुन: गोदावरी-घाटपर जाकर सन्ध्या-तर्पण, ब्रह्मयज्ञ करना और तदनन्तर घर लौटकर बलिवैश्वदेव तथा अतिथि-अभ्यागतोंके पूर्ण सत्कारके बाद भोजन करना। तत्पश्चात् विद्वानों और भक्तोंके साथ बैठकर आत्मचर्चा करना। तीसरे पहर श्रीभानुदासद्वारा स्थापित श्रीविट्ठलमूर्तिके सामने भागवत, रामायण अथवा ज्ञानेश्वरी ग्रन्थका प्रवचन करना। सायंकाल फिर गोदावरीतटपर जाकर सन्ध्या-वन्दन करना और वहाँसे लौटकर धूप-दीपके साथ भगवान्की आरती और स्तोत्रपाठ करना। इसके अनन्तर कुछ हलका आहार करके मध्यरात्रितक भगवत्कीर्तन करना अथवा वेदोपनिषद्-पुराणादिका अध्ययन करना। मध्यरात्रिसे लेकर चार घंटेतक शयन करना।

एकनाथजी ब्राह्मणोंका बड़ा आदर करते थे। इनके यहाँ सदावर्त चलता रहता था, सबको अन्न बाँटा जाता था। रातको जब ये कीर्तन करने लगते थे, उस समय दूर-दूरके लोग इनके यहाँ आते थे, जिनमें अधिकांश ऐसे ही श्रोता होते थे जो इन्हींके यहाँ भोजन पाते थे। नित्य नये पाहुने भी आया ही करते थे। इस प्रकार यद्यपि एकनाथजीके यहाँ काफी भीड़-भाड़ रहती थी, पर इनका सारा काम मजेमें चलता था। इन्हें कभी कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। अन्न-दान और ज्ञान-दानका प्रवाह इनके यहाँ निरन्तर बहा ही करता था। क्षमा, शान्ति, समता, भूतदया, निरहंकारता, निस्संगता, हरिभक्तिपरायणता आदि समस्त दैवीसम्पत्तियोंके निधान श्रीएकनाथ महाराजके दर्शनमात्रसे असंख्य स्त्री-पुरुषोंके पाप-ताप-संताप नित्य निवारित होते थे। इनका जीवन बद्धोंको मुमुक्षु बनाने, मुमुक्षुओंको मुक्त करने और मुक्तोंको पराभक्तिका परमानन्द दिलानेके लिये ही था। इनके परोपकारमय निःस्पृह साधुजीवनकी अनेकों ऐसी घटनाएँ हैं, जिनसे इनके विविध दैवी गुण प्रकट होते हैं। इनके जीवनकी कुछ विशेष घटनाओंका उल्लेख यहाँ किया जाता है—

(१) एकनाथ महाराज नित्य गोदावरी स्नानके लिये जाया करते थे। रास्तेमें एक सराय थी, जहाँ एक मुसलमान रहा करता था। यह उस रास्तेसे आने-जानेवाले हिन्दुओंको बहुत तंग किया करता था। एकनाथ महाराजको भी इसने बहुत तंग किया। एकनाथ महाराज जब स्नान करके लौटते तो यह उनपर कुल्ला कर देता। एकनाथ महाराज नदीको लौटकर स्नान कर आते। यह फिर उनपर कुल्ला करता। इस तरह दिनमें पाँच-पाँच बार इन्हें स्नान करना पड़ता। एक दिन तो इस खुराफातकी हद हो गयी। एक सौ आठ बार उस यवनने इनपर पानीसे कुल्ला किया और एक सौ आठ बार ये स्नान कर आये। पर महाराजकी शान्ति और प्रसन्नता ज्यों-की-त्यों बनी रही! यह देखकर वह यवन अपने कियेपर बड़ा लज्जित हुआ और महाराजके चरणोंमें आ गिरा। तबसे उसका जीवन ही बदल गया।

(२) एकनाथ महाराजके पिताका श्राद्ध था। रसोई तैयार हुई, आमन्त्रित ब्राह्मणोंकी प्रतीक्षामें आप द्वारपर खड़े थे। उधरसे चार-पाँच महार निकले। पक्वान्नोंकी गन्ध पाकर आपसमें कहने लगे, 'कैसी सुगन्ध आ रही है, भूख न हो तो भूख लग जाय! पर ऐसा खाना हम लोगोंके नसीबमें कहाँ।' एकनाथ महाराजने यह बात सुन ली और तुरंत उन महारोंको बुलाकर उन्हें सब श्राद्धीय अन्न खिला दिया और जो कुछ बचा वह भी गिरिजाबाईने इन महारोंके घरवालोंको बुलाकर खिला दिया। ब्राह्मणोंके लिये तब दूसरी रसोई बनी। पर आमन्त्रित ब्राह्मणोंको जब यह किस्सा मालूम हुआ तब उनके क्रोधका पारावार न रहा। उन्होंने एकनाथजीको धर्मभ्रष्ट समझकर बहुत भला-बुरा सुनाया और फटकारकर कहा कि तुम्हारे-जैसे पतितके यहाँ हमलोग भोजन नहीं करेंगे। यथाविधि श्राद्धका संकल्प करके एकनाथ महाराजने पितरोंका ध्यान और आवाहन किया। स्वयं पितर मूर्तिमान् होकर प्रकट हुए। उन्होंने श्राद्धान्न ग्रहण किया और परितृप्त होकर आशीर्वाद देकर अन्तर्धान हो गये।

(३) एक बार आधी रातके समय चार प्रवासी ब्राह्मण पैठणमें आये और आश्रय ढूँढ़ते-ढूँढ़ते एकनाथजीके घर पहुँचे। एकनाथजीने उनका स्वागत किया। मालूम हुआ कि प्रवासी ब्राह्मण भूखे हैं। उनके लिये रसोई बनानेको गिरिजाबाई तैयार हुई, पर इधर कुछ दिनोंसे लगातार मूसलाधार वृष्टि होनेसे घरमें सूखा ईंधन नाममात्रको भी नहीं रह गया था। इतनी रातमें अब ईंधन कहाँसे आये? एकनाथजीने अपने पलंगकी निवार खोल दी और पावा-पाटी तोड़कर ईंधन प्रस्तुत कर दिया। पैर धोनेके लिये ब्राह्मणोंको गरम पानी दिया गया, तापनेके लिये अंगीठियाँ दी गयीं और यथेष्ट भोजन कराया गया। ब्राह्मण तृप्त हुए और एकनाथजीको धन्य-धन्य कहने लगे।

(४) काशीकी यात्रा करके एकनाथ महाराज जब प्रयागका गंगाजल काँवरमें लिये रामेश्वर जा रहे थे तब रास्तेमें एक रेतीला मैदान आया। वहाँ एक गधा मारे प्यासके छटपटा रहा था। एकनाथजीने तुरंत अपनी काँवरसे पानी लेकर उसके मुँहमें डाला। गधा चंगा होकर वहाँसे चल दिया। नाथजीके संगी और आश्रित उद्धवादि लोग प्रयागके गंगाजलका ऐसा उपयोग होते देख बहुत दुःखी हुए। एकनाथजीने उन्हें समझाया कि 'भलेमानसो! बार-बार सुनते हो कि भगवान् घट-घटवासी हैं और फिर भी ऐसे बावले बनते हो? समयपर जो काम न दे ऐसा ज्ञान किस कामका? काँवरका जल जो गधेने पिया वह सीधे श्रीरामेश्वरजीपर चढ़ गया।' महाकवि मोरोपन्त एकनाथ महाराजके इस कृत्यको 'लक्षविप्रभोजन' के समान पुण्यप्रद कहते हैं।

(५) पैठणमें एक वेश्या थी—बड़ी चतुर, सुन्दर और नृत्य-गायनादिमें कुशल। एकनाथ महाराजका कीर्तन सुनने कभी-कभी वह भी जाया करती थी। एक दिन महाराजने भागवतका पिंगलाख्यान कहा। उसे सुनकर उस वेश्याको वैराग्य हो गया। उसे अपने शरीरसे घृणा हो गयी, अपने शरीरके नवों द्वारोंसे रात-दिन मैला ही निकलता हुआ प्रतीत हुआ। वह पश्चात्ताप करने लगी कि 'मैं भी कैसी अभागिन हूँ जो चमड़ेसे घिरे हुए इस विष्ठा-मूत्रके पिण्डको आलिंगन करनेमें अपना जीवन बिता रही थी। हृदयस्थ अक्षय आनन्दका कभी मुझे स्वप्नमें भी ध्यान नहीं हुआ!' इसी प्रकार अनुताप करती हुई वह वेश्या अपने घरका द्वार बंद किये घरमें अकेली ही पड़ी रही। बार-बार एकनाथ महाराजका स्मरण करती, यह भी सोचती कि मुझ-जैसी पापिनको भला ऐसे महापुरुषके चरणोंका स्पर्श कभी क्यों मिलने लगा! एक दिन इसी प्रकार वह सोच रही थी कि एकनाथ महाराज गोदावरीस्नान करके उसी रास्तेसे लौट रहे थे। झरोखेमेंसे उसने महाराजको देखा और दौड़ी हुई दरवाजे पर आयी, बड़ी अधीरतासे दरवाजा खोलकर गद्गद कण्ठसे बोली, 'महाराज! क्या इस पापिनके घरको आपके चरण पवित्र करनेकी कृपा कर सकते हैं?' एकनाथ महाराजने कहा, 'इसमें कौन-सी दुर्लभ बात है?' यह कहकर एकनाथजीने घरमें प्रवेश किया। सूर्यके प्रकाशसे जैसे अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही एकनाथ महाराजके पदार्पणसे वह पापसदन भगवन्नामनिकेतन हो गया। वेश्या अब वेश्या न रही, अनुतापसे उसके सारे पाप धुल गये, एकनाथ महाराजके अनुग्रहसे उसके चित्तपर भगवन्नामकी मुहर लग गयी। एकनाथ महाराजने उसे 'राम-कृष्ण-हरि' मन्त्र दिया और सत्कर्मका क्रम बताया। दस वर्ष बाद जब इस अनुगृहीताका देहावसान हुआ तब वह श्रीकृष्णस्वरूपके ध्यानमें निमग्न थी।

(६) एक रात श्रीएकनाथजीका कीर्तन सुननेवालोंकी भीड़में चार चोर घुस बैठे, इस नीयतसे कि कीर्तन समाप्त होनेपर जब सब लोग अपने-अपने घर चले जायँगे और यहाँ भी सब लोग सो जायँगे तो रातके सन्नाटेमें अपना काम बना लेंगे। रातके दो बजेके लगभग चोरोंको यह मौका मिला। कुछ कपड़े और बर्तन इन्होंने हथियाये, और भी हाथ साफ करनेकी घातमें इधर-उधर ढूँढ़ने लगे। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते देवगृहके समीप पहुँचे, भीतर एक दीपक टिमटिमा रहा था और एकनाथ महाराज समाधिस्थ थे। यह उन चोरोंने देखा और देखते ही उनकी दृष्टि अन्ध हो गयी। अब वे निकल भागना ही चाहते थे, पर हथियाये हुए बर्तनोंसे ठुकराकर नीचे गिरे। देवगृहसे एकनाथ महाराज बाहर निकले। पूछा, 'कौन है?' चोर रोने और गिड़गिड़ाने लगे, 'महाराज! हमलोग बड़े पापी हैं, क्षमा करिये।' महाराजने उनके नेत्रोंपर हाथ फेरा, उन चोरोंको पूर्ववत् दृष्टि प्राप्त हुई, साथ ही उनकी बुद्धि भी पलट गयी। एकनाथ महाराजने उनसे कहा कि ये कपड़े और बर्तन तो तुमलोग ले ही जाओ, और भी जो कुछ इच्छा हो, ले सकते हो। यह कहकर उन्होंने अपनी उँगलीमें पहनी हुई अँगूठी भी उनके सामने रख दी। चोर बड़े लज्जित हुए, बार-बार महराजके चरणोंमें गिरे और तबसे उन्होंने चोरी करना ही छोड़ दिया।

इस प्रकार परोपकारमय निःस्पृह साधुजीवनसे, उपदेशसे, दानसे सबका उपकार करते हुए गृहस्थाश्रमका दिव्य आदर्श सबके सामने रखकर अन्तमें संवत् १६५६ की चैत्र कृष्णा ६ को एकनाथ महाराजने गोदावरी-तीरपर अपना शरीर छोड़ा। उस समय ये पूर्ण स्वस्थ थे। इन्होंने अपने प्रयाणका दिन पहले ही बतला दिया था, अतः उसके कई दिन पहलेसे ही पैठणमें सर्वत्र भगवत्संकीर्तन हो रहा था। हरिकथाओंकी धूम थी। दूर-दूरसे आये हुए दर्शनार्थियोंकी भीड़ जमा हो गयी थी। आकाश भगवन्नामसे गूँज रहा था। जब उस षष्ठी तिथिका प्रातःकाल सामने आ गया, तब श्रीएकनाथ महाराजने गोदावरीमें स्नान किया और बाहर निकलकर सदाके लिये समाधिस्थ हो गये।

श्रीएकनाथ महाराजके ग्रन्थोंमें सबसे लोकप्रिय और प्रसिद्ध ग्रन्थ भागवत-एकादश स्कन्ध, रुक्मिणी-स्वयंवर और भावार्थरामायण हैं। कहते हैं कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने स्वयं ही एकनाथजी महाराजसे भावार्थरामायण लिखवाया था। इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त चिरंजीवपद, स्वात्मबोध, आनन्दलहरी आदि अन्य कई छोटे-मोटे ग्रन्थ भी श्रीएकनाथमहाराजके बनाये हुए हैं। ये सभी ग्रन्थ अद्वैतप्रधान हैं और इनकी शैली बड़ी सुबोध तथा चित्ताकर्षक है। आपके सभी ग्रन्थ मराठी भाषामें हैं।

—ल० गर्दे

जनी जनार्दन

जनार्दन स्वामीके तीन प्रधान शिष्य थे—एका जनार्दन (श्रीएकनाथ महाराज), रामा जनार्दन* और जनी जनार्दन। जनी जनार्दनजी यजुर्वेदी ब्राह्मण बीडनगरके रहनेवाले थे। मुसलमानोंका राज्य था, ये उस राज्यमें एक अफसरके पदपर नियुक्त थे। दामाजी पन्तकी तरह इन्होंने भी एक बार दुर्भिक्षमें पीड़ितोंके प्राण बचानेके लिये सरकारी अनाजके खत्ते लुटा दिये। सरकारने इन्हें हाथीके पैरोंतले कुचलवा डालनेका हुक्म दिया। पर ये शान्त थे, इतने शान्त थे कि वह उन्मत्त हाथी भी इनके पास आकर शान्तिसे पीछे लौट गया! इसी बातपर ये छोड़ दिये गये, पर इन्होंने तब सरकारकी चाकरी छोड़ दी और श्रीगुरु जनार्दन स्वामीकी शरणमें जाकर शेष जीवन भगवद्भजनके लिये उत्सर्ग कर दिया। इनका 'निर्विकल्पग्रन्थ' या 'उद्धवबोध' नामका एक हस्तलिखित ग्रन्थ है जिसमें ब्रह्म, जीव-शिव और सगुण-निर्गुणका श्रीकृष्ण-उद्धव-संवादरूपसे प्रतिपादन किया गया है। श्रीएकनाथ महाराजके प्रयाणके दो वर्ष बाद संवत् १६५८ में इनका देहावसान हुआ। इनके वंशज बीडमें हैं। इनके इष्टदेव श्रीगणेशजी थे।

—ल० गर्दे

शाक्त संत

(लेखक—श्रीचिन्ताहरण चक्रवर्ती, एम० ए०)

शाक्त-उपासकोंके मतानुसार शाक्तधर्म बहुत पुराना है। वैदिक युगमें भी इसका प्रचलन था और यह धर्म सर्वथा वेदानुमोदित है। उनके मतसे अनेकों ऋषि-मुनियोंने और राजा-महाराजाओंने शक्ति-उपासनाके द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी। विभिन्न तन्त्रों और पुराणोंसे पता चलता है कि ऋषि वशिष्ठने तारादेवीकी उपासना करके सिद्धि पायी थी; परशुराम त्रिपुरादेवीके उपासक थे, अगस्त्यमुनिने हयग्रीवरूपी विष्णुभगवान्से श्रीविद्याका रहस्य सीखा था; अगस्त्यजीकी स्त्री लोपामुद्राने जिस मन्त्रकी उपासना करके सिद्धि पायी थी, तान्त्रिक समाजमें वह मन्त्र आज भी लोपामुद्राके नामसे विख्यात है; राम, लक्ष्मण और पाण्डवोंने भी शक्तिकी साधना की थी।

शाक्त-सम्प्रदायके इस कथनका मूल्य चाहे जितना हो, परन्तु यह तो संदेहरहित बात है कि शाक्तधर्म नया नहीं है। बंगालके साथ तो इसका सम्बन्ध बहुत पुराना है। ऐतिहासिक विद्वान् भी इस धारणाका समर्थन करते हैं। विण्टरनीज आदि पाश्चात्य पण्डितोंका यह कहना है कि तन्त्र-शास्त्रकी और शाक्तधर्मकी उत्पत्ति बंगालसे ही हुई। किसी-किसी तन्त्रमें कहा गया है कि नवनाथरचित तन्त्र और कुल-शास्त्र पहले बने। मत्स्येन्द्रनाथने कामरूपमें स्वयं महेश्वरीसे यह विद्या प्राप्त की और चन्द्रद्वीपमें उन्होंने 'महाकौलज्ञाननिर्णय' नामक ग्रन्थकी रचना की। श्रीकण्ठनाथने भी 'श्रीमतोत्तरतन्त्र' नामक ग्रन्थका प्रचार चन्द्रद्वीपमें ही किया। बहुत सम्भव है कि पूर्व बंगालका प्रसिद्ध चन्द्रद्वीप ही यह चन्द्रद्वीप है।

तन्त्र-शास्त्रकी उत्पत्ति अथवा प्रथम प्रचार कहीं भी क्यों न हुआ हो, प्राचीनकालसे ही भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें अनेकों शाक्त साधक हो गये हैं। यह सत्य है कि जनसाधारणको इन सबका पूरा पता नहीं, परन्तु इन लोगोंमेंसे अनेकोंद्वारा रचित संस्कृत और भाषाके ग्रन्थ इनके महत्त्व और वैशिष्ट्यकी प्रत्यक्ष साक्षी देते हैं। ऊँची श्रेणीके बहुत-से साधकोंने अवश्य ही ग्रन्थ रचने और शास्त्रोंके प्रचार करनेमें समय न लगाकर अपना सारा जीवन ध्यान-धारणामें ही लगाया था। इनमेंसे कुछने तो शास्त्रकी परवा ही नहीं की, इसके अतिरिक्त, शास्त्रज्ञान प्राप्त करने और ग्रन्थरचना करनेके लिये उपयुक्त शिक्षा और ज्ञान भी उनमें नहीं था। इतना होनेपर भी साधनक्षेत्रमें विशेष अग्रसर होकर इन लोगोंने अपने शिष्यसम्प्रदायके हृदयमें स्थायी स्थान प्राप्त कर लिया था, जो आज भी विद्यमान है। इन लोगोंमेंसे बहुतोंकी शरीरत्यागकी तिथिपर आज भी इनके साधनपीठोंमें

* रामा जनार्दनके चरित्रकी कोई बात नहीं मिलती। इनकी बनायी श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी एक आरती और श्रीविट्ठलनाथकी एक आरती मिलती है। इन दोनों आरतियोंकी बड़ी प्रतिष्ठा है।

बड़े-बड़े उत्सव होते हैं और देश-विदेशसे हजारों शिष्य आ-आकर अपने गुरुके प्रति श्रद्धा प्रकट करते हैं। हम यहाँ इन दोनों श्रेणियोंके साधकोंमेंसे कुछके सम्बन्धमें किञ्चित् आलोचना करना चाहते हैं।

प्रथम श्रेणीके साधकोंमें साक्षात् शंकरका अवतार माने जानेवाले आचार्य शंकर, भास्करराय या भास्करानन्दनाथ, लक्ष्मण देशिकेन्द्र, राघवभट्ट, कृष्णानन्द, ब्रह्मानन्द, पूर्णानन्द, विजयगुप्त, मुकुन्दराम, भारतचन्द्र, रामप्रसाद और कमलाकान्तके नाम लिये जा सकते हैं।

'प्रपंचसार' नामक प्रसिद्ध तन्त्रग्रन्थ और 'आनन्दलहरी' नामक प्रसिद्ध देवीस्तोत्रकी रचना प्रसिद्ध वेदान्ताचार्य आद्य शंकराचार्यने ही की थी, तान्त्रिक समाजकी ऐसी दृढ़ मान्यता है। लक्ष्मण देशिकेन्द्रके जीवन चरित्रके सम्बन्धमें कुछ पता नहीं चलता; इनके पिताका नाम श्रीकृष्ण, पितामहका नाम आचार्यपण्डित और प्रपितामहका नाम महाबल था। ये सब बहुत बड़े सिद्ध पुरुष थे। लक्ष्मणके द्वारा रचित 'शारदातिलक' नामक ग्रन्थका सम्पूर्ण भारतके तान्त्रिकोंमें बड़ा आदर है। विभिन्न देशोंके पण्डितोंने विभिन्न कालमें इस ग्रन्थपर टीकाएँ लिखी हैं। इनके द्वारा रचित 'ताराप्रदीप' नामक एक कम प्रसिद्ध ग्रन्थ और है, इसके अलावा और भी कई पुस्तकें विभिन्न स्थानोंमें पायी गयी हैं।

गम्भीररायके पुत्र भास्करराय श्रीविद्याके उपासक थे। तन्त्रशास्त्रके ये बड़े गम्भीर पण्डित थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थोंके द्वारा श्रीविद्याके गूढ़ रहस्यका प्रतिपादन किया है। तन्त्रका मर्म समझनेके लिये इनके बहुत-से ग्रन्थोंमेंसे 'सेतुबन्धन', 'सौभाग्यभास्कर' और 'वरिवस्यारहस्य' नामक ग्रन्थ अपरिहार्य हैं। इनके विस्तृत जीवनचरितका बहुत-सा अंश स्वर्गीय पण्डित सतीशचन्द्र सिद्धान्तभूषणने 'तत्त्वबोधिनी' नामक पत्रिकामें लिखा था।

लक्ष्मण देशिकेन्द्रके 'शारदातिलक' पर 'पदार्थादर्श' नामक विस्तृत टीकाग्रन्थ महाराष्ट्रके राघवभट्टकी अतुलनीय कीर्तिका निदर्शन है। १५५० वि० सं० में यह टीका रची गयी थी, इसके अतिरिक्त राघवभट्टने 'कालीतत्त्व' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थकी रचना की थी।

बंगालमें जिन शाक्त संतोंने तान्त्रिक क्रियाओंके वर्णनमें ग्रन्थोंकी रचनाएँ की हैं उनमें कृष्णानन्द, ब्रह्मानन्द और पूर्णानन्द ये तीन ही विशेष प्रतिष्ठित हैं। कृष्णानन्दको श्रीचैतन्यदेवका समसामयिक माना जाता है। बंगालमें जितने तन्त्रग्रन्थोंकी रचनाएँ हुई हैं, उन सबमें कृष्णानन्दके 'तन्त्रसार' का स्थान सबसे ऊँचा है। बंगालमें पुरोहितगिरी करनेवाले प्राय: सभी ब्राह्मण पण्डितोंके घर 'तन्त्रसार' की हस्तलिखित अथवा मुद्रित प्रति आज भी मिलती है। बंगालका तान्त्रिक अनुष्ठान प्रधानत: इसी ग्रन्थके आधारपर सम्पादित होता है।

पूर्णानन्दके गुरु ब्रह्मानन्दगिरिने अनुमानसे सोलहवीं शताब्दीके प्रारम्भ या मध्यमें जन्म ग्रहण किया था। वे त्रिपुरानन्दके शिष्य थे, उनके द्वारा रचित दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें 'शाक्तानन्दतरंगिणी' में अठारह उल्लासोंके द्वारा शाक्तोंके आचार-अनुष्ठानकी विशेषरूपसे व्याख्या की गयी है। दूसरा ग्रन्थ 'ताराहस्य' चार पटलका है। इसमें ताराके उपासनासम्बन्धी आचारोंका वर्णन है।

ब्रह्मानन्दके उपर्युक्त शिष्य पूर्णानन्द परमहंसका समय उनके स्वरचित ग्रन्थमें मिल जाता है, उनका 'श्रीतत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थ ईसवी सन् १५७७ में और 'शाक्तक्रम' १५७१ में रचा गया था। पूर्णानन्द राजशाही ज़िलेके वारीन्द्र ब्राह्मण थे। उनकी साधन-शक्तिसे आकर्षित होकर पूर्व और उत्तर बंगालके अनेकों परिवारोंने उन्हें गुरुरूपमें वरण किया था। उनके वंशज आज भी बहुत जगह उस गौरवमय पदपर प्रतिष्ठित हैं और समाजमें विशेष सम्मान और श्रद्धाके पात्र समझे जाते हैं। पूर्णानन्दके द्वारा रचित ग्रन्थोंमें 'श्यामारहस्य' में कालीके उपासकोंके आचारका वर्णन है। 'शाक्तक्रम' में सात उल्लासोंमें शक्तिके अनुष्ठानकी व्याख्या है और 'श्रीतत्त्वचिन्तामणि' नामक बृहत् ग्रन्थमें श्रीविद्याकी उपासना और प्रासंगिक आचारोंका विस्तारसे वर्णन है। उनके अन्य दो ग्रन्थोंके नाम 'तत्त्वानन्द-तरंगिणी' और 'षट्कर्मोल्लास' हैं।

इस प्रसंगमें एक और ग्रन्थकारकी बात कही जाती है। ये साधारणत: 'गौड़ीय शंकर' अथवा बंगालके शंकराचार्यके नामसे विख्यात हैं। इनका असली नाम शायद शंकर आगमाचार्य था। ये बंगाली थे। इनके पिताका नाम कमलाकर और पितामहका नाम लम्बोदर था। ईसवी सन् १६३० की लिखी हुई इनकी 'ताराहस्यवृत्तिकार' नामक पुस्तक नैपाल दरबारकी लायब्रेरीमें है। इस ग्रन्थमें ताराके उपासकोंके आचारका वर्णन है।

चण्डी, मनसा, काली आदि शक्तिके विभिन्न रूपोंकी महिमामें सैकड़ों बंगाली कवियोंने मध्ययुगमें बँगला मंगलकाव्यकी रचना की है; इनमें मुकुन्दराम, विजयगुप्त और भारतचन्द्र विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा रचित 'चण्डीमंगल', 'मनसामंगल' और 'कालिकामंगल' आज भी बंगालके गाँवोंमें घर-घर गाये जाते हैं। इन्हीं सब काव्योंने बंगालके जनसाधारणमें शाक्तभावको जगा रखा था।

बड़े काव्योंके अतिरिक्त 'वैष्णवपदावली' की भाँति बंगालमें शाक्त-संगीतोंकी भी बहुत रचना हुई। वैष्णव-कविताओंकी तरह इनमें भी गम्भीर भक्तिरस भरा है। आगमनी और विजयाके गीतोंमें वात्सल्य-रसका जैसा वर्णन हुआ है वैसा वैष्णव-कवितामें भी दुर्लभ है। इनकी आन्तरिकता और स्वच्छ सरलता अहिन्दुओंके हृदयको भी खींच लेती है। संस्कृतके प्राचीन शाक्त-स्तोत्रोंमें देवीके महत्त्वका वर्णन और भक्तिभावका निदर्शन अवश्य हुआ है, किन्तु इन गीतोंमें तो माताके प्रति मीठे हठसे अपने अधिकारका भाव दिखलाया गया है—संसारके अनन्त क्लेशोंके लिये—कठोर परीक्षाके लिये माँका मृदु तिरस्कार किया गया है, और शास्त्रके विधि-निषेधकी परवा न कर जगज्जननीकी करुणाको ही समस्त कल्याणका निदान बतलाया गया है। वस्तुत: ऐसे गीतोंके रचयिता कवि और साधक पुरुष—जिनके सम्बन्धमें आगे कहा जायगा—शास्त्रीय आचार-अनुष्ठानपर अधिक ध्यान नहीं देते थे। करुणामयी माँकी ध्यान-धारणा और उनका नामकीर्तन ही इनकी साधनाका प्रधान अवलम्बन था।

शाक्त-संगीतकी रचना करनेवालोंमें सबसे अधिक प्रसिद्ध साधक रामप्रसाद हैं। इनके गीत बंगालकी जनताके होठोंपर रहते हैं। बंगालके असंख्य नर-नारी रामप्रसादी संगीत-सुधाका पान करके संसारकी दु:ख-ज्वालाओंसे किसी अंशमें छूटते हैं और जगज्जननीके चरणोंमें भक्तिपूर्वक मस्तक झुकाकर कृतार्थ होते हैं। रामप्रसादके बाद ही कमलाकान्तका नाम लिया जा सकता है। इन्होंने प्राय: डेढ़ सौ वर्ष पूर्व जन्म ग्रहणकर बहुत-से गीत और 'साधकरंजन' नामक तान्त्रिक योगके प्रतिपादक एक ग्रन्थकी रचना की थी। इसी प्रकार और भी बहुत-से शाक्त कवियोंके नाम गिनाये जा सकते हैं।

जिनकी रचनाका परिचय ऊपर दिया गया है उनके साधनकी उत्कृष्टताके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें सुनी जाती हैं। साधनाके बलसे उनमेंसे अनेकोंने अलौकिक शक्ति और असाधारण विभूति प्राप्ति की थी। कहा जाता है कि दैवी प्रेरणाके वश केवल अपने इष्टदेवताके सन्तोषके लिये ही उन लोगोंने ग्रन्थोंकी रचना की थी। इसलिये इनको केवल कवि, पण्डित या ग्रन्थकार कहना उचित नहीं है। ये उच्च श्रेणीके साधक और सिद्ध संत थे। अस्तु, ग्रन्थादि रचना तो इनकी साधनाका एक अंगमात्र है। अब वैसे कुछ लोगोंका वर्णन किया जाता है जिनकी प्रसिद्धिका कारण ग्रन्थरचना नहीं, बल्कि साधना है। ऐसे संतोंमें सर्वानन्द, अर्धकाली, गोसाईं भट्टाचार्य, वामाक्षेपा और रामकृष्ण परमहंसके नाम विशेष उल्लेखयोग्य हैं।

प्राय: चार सौ वर्ष पूर्व त्रिपुरा जिलेके मेहार नामक ग्राममें सर्वानन्द महाराजका आविर्भाव हुआ था। लड़कपनमें ये बहुत ही मन्दबुद्धि माने जाते थे। पढ़ना-लिखना इनके भाग्यमें बिलकुल नहीं था। लोगोंको यह आशंका हो गयी थी कि ये अपने पितामह वासुदेवका सुप्रसिद्ध नाम अपनी मूर्खतासे डुबो देंगे। इनकी मूर्खता यहाँतक बढ़ी हुई थी कि इन्हें एक दिन मेहारके राजदरबारमें अमावस्याको पूर्णिमा बतलानेके कारण अपमानित होना पड़ा। इस घटनासे अपनी मूर्खतापर इन्हें अपने प्रति बड़ा तिरस्कार पैदा हो गया। इस अवस्थामें एक संन्यासीने इन्हें ढाढ़स बँधाया और उन्हींसे इन्होंने मन्त्र ग्रहण किया। अमावस्याकी घोर रात्रिके समय इन्होंने अपने नौकर पूर्णानन्दके शवपर बैठकर मन्त्रका जाप करके सिद्धि प्राप्त की। देवीने अपने दस महाविद्यारूपसे दर्शन देकर इन्हें कृतार्थ किया। इसके बाद इनका नाम 'सर्वविद्या' हो गया। सर्वविद्याके वंशजोंकी आज भी समाजमें बड़ी प्रतिष्ठा है। बंगालमें इनके शिष्य बहुत जगह पाये जाते हैं। सर्वानन्दके सिद्धिक्षेत्र मेहारके काली-मन्दिरमें हर साल पौषकी संक्रान्तिपर एक बड़ा मेला लगता है। कहा जाता है कि पहले यहीं मातंग मुनिका आश्रम और उनके द्वारा प्रतिष्ठित शिवलिंग था। पर इस स्थानकी प्रसिद्धि सर्वानन्दके सिद्धि प्राप्त करनेके बाद हुई। आज मेहार बंगालका एक तीर्थ है। जगह-जगहसे भक्त लोग वहाँ आते हैं!

मैमनसिंह जिलेमें मुक्तागाछाके पास पण्डितवाड़ी ग्राममें प्रायः तीन सौ वर्ष पहले द्विजदेव नामक एक सिद्ध पुरुषके घर 'जयदुर्गा' नामक एक कन्या हुई थी। स्वयं परमेश्वरीने ही द्विजदेवकी साधनासे सन्तुष्ट होकर उनके जीवनको सार्थक करनेके लिये कन्यारूपमें उनके घर अवतार लिया था। उनकी देहके आधे अंशका रंग काला था और आधेका गोरा, इसीसे इन्हें अर्धकाली नाम प्राप्त हुआ। ढाका जिलेके माणिकगंज परगनेमें मितरा ग्रामके राघवराम नामक एक द्विजदेवके विद्यार्थीके साथ उनका विवाह हुआ था। पाकस्पर्शके दिन 'अर्धकाली' जब अन्नकी थाली हाथमें लेकर परोसनेके लिये आयीं तब अकस्मात् हवाके झोंकेसे उनका घूँघट खुल गया। उस समय लोगोंने देखा कि दो हाथोंसे तो इन्होंने बड़े थालको थाम रखा है और दो हाथोंसे अपना घूँघट ठीक कर रही हैं। उनके इस चतुर्भुज रूपको देखकर सबको यह विश्वास हो गया कि ये साक्षात् देवी ही हैं। अर्धकालीके पति राघवराम भी—उच्च श्रेणीके पण्डित न होनेपर भी—बहुत ऊँचे साधक पुरुष थे, इनके वंशमें अब भी 'अर्धकाली' और 'राघवराम' की पूजा देवताके रूपमें होती है। अर्धकालीके पितृकुल और श्वशुरकुल दोनोंकी समाजमें बड़ी प्रतिष्ठा है। विश्वरूपरचित संस्कृत 'राघवदीपिका' और श्रीयुत अतुलचन्द्र मुखोपाध्यायरचित 'अर्धकाली' नामक बँगला ग्रन्थोंमें इनके जीवनचरितका वर्णन है।

गोसाईं भट्टाचार्यके नामसे सुपरिचित रत्नगर्भ नामक संत बंगालके सुप्रसिद्ध जमींदार चाँद और केदाररायके गुरु थे। कहा जाता है कि इन्होंने ढाकाके मैयसरके दिगम्बरी तलेमें सिद्धि प्राप्त की थी। गोसाईं भट्टाचार्यने वीराचार्यके द्वारा साधना करके अनेकों अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त की थीं। मानसिंहके साथ केदाररायके युद्धके समय इनकी पूजाके प्रभावसे मिट्टीकी मूर्तिमें प्राणसंचार हो गया था और तलवारके द्वारा विग्रहपर आघात होनेपर उससे खून निकल आया था! इनके द्वारा निर्मित दो देवी-प्रतीक आजतक इनके वंशजोंके घरोंमें हैं। इनका भी समाजमें बहुत अच्छा सम्मान है।

प्रायः सौ वर्ष पूर्व वीरभूम जिलेके तारापीठके समीप ही आटला नामक ग्राममें एक ब्राह्मणके घर वामाचरणका जन्म हुआ था। ये लड़कपनसे जड प्रकृतिके थे और इनका मन सदा उड़ा-सा रहता था। इनके इस विकृत भावके कारण ही इनका नाम वामा-क्षेपा (पागल) पड़ गया। छोटी उम्रमें ही ये घर छोड़कर 'तारापीठ' के महाश्मशानमें आ गये थे। यह स्थान प्राचीन कालसे अनेकों महापुरुषोंके सिद्धिलाभका क्षेत्र माना जाता है, और कहा जाता है कि महर्षि वशिष्ठने भी यहीं सिद्धि प्राप्त की थी। नाटोरके सिद्ध पुरुष राजा रामकृष्ण, आनन्दनाथ, मोक्षदानन्द, कैलाशपति आदि अनेकों साधकोंने यहीं साधना की थी। वामाचरण सदा माँ ताराके चिन्तनमें तन्मय रहते थे, ताराभक्ति उनमें स्वाभाविक थी। वे लगातार तारा-नामका कीर्तन किया करते थे। नियमित पूजा उनके द्वारा नहीं हो सकती थी। पूजा करनेको बैठते ही वे बेसुध हो जाते थे। तनकी सुध भुलाये हुए पागलकी भाँति श्मशानमें पड़े रहनेपर भी उनकी आध्यात्मिक उच्च स्थितिसे आकर्षित होकर अनेकों लोग उनके चरणदर्शनार्थ आया करते थे। बँगला सन् १३१८ में वे इस धराधामको त्यागकर इष्टधामको पधार गये, किन्तु तारापीठ आज भी उनकी स्मृतिको जगाये हुए है। हर साल वहाँ मेला होता है और बड़े समारोहसे देवीजीकी पूजा होती है। श्रीयतीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय और हरिचरण गंगोपाध्याय आदि सज्जनोंने बँगलामें इनके कई जीवनचरित्र लिखे हैं।

रामकृष्ण परमहंसके नामसे तो आज पृथिवीका सारा शिक्षितसमाज परिचित है। विभिन्न भाषाओंमें उनके जीवनचरित्र लिखे गये हैं और 'रामकृष्ण मिशन' जगत्में उनके उपदेशोंका प्रचार कर भारतके गौरवको बढ़ा रहा है। कलकत्तेसे उत्तर दक्षिणेश्वरके कालीमन्दिरके साधारण पुजारी रामकृष्णने अपनी असाधारण भगवद्भक्तिके द्वारा सबके चित्तको खींच लिया था। ब्राह्मणी नामक एक ब्राह्मणी भैरवीसे उन्होंने दीक्षा ली और उसीकी देखरेखमें अनेकों तान्त्रिक क्रियाओंका सम्पादन किया था। आज तो समस्त पृथिवीमें उनका नाम छाया हुआ है।

इनके सिवा न मालूम कितने साधक और होंगे! इन लोगोंके जीवनवृत्तान्तकी सूक्ष्म आलोचना करनेसे शाक्त-धर्मके सम्बन्धमें लोगोंके मनोंमें जो विरुद्ध धारणा जमी हुई है वह बहुत कुछ नष्ट हो जायगी!

हज़रत मोहम्मद

(लेखक—पं० श्रीगोपीनाथजी जोशी)

इस्लाम-धर्मके संस्थापक हजरत मोहम्मदका जन्म सन् ५६९ ईस्वीके अप्रैल महीनेमें अरबकी राजधानी मक्का नगरीमें हुआ था। (कुछ लोगोंकी राय है कि इनका जन्म सन् ५७० या ५७१ ई० में हुआ था।) इनके हासिम नामके एक पूर्वजने मक्काका बड़ा उपकार किया था और वे वहाँके काबा (उपासनागृह)-के अध्यक्ष थे। इनके पिताका नाम अब्दुल्ला और माताका नाम अमीना था। इनकी जन्म-कुण्डली देखकर इनके मामाने, जो एक बड़े ज्योतिषी थे, यह कहा था कि यह लड़का बड़ा शक्तिशाली होगा और इसके हाथों एक विशाल साम्राज्यकी स्थापना और एक नवीन धर्मकी सृष्टि होगी।

मोहम्मद अभी दो महीनेके भी नहीं हुए थे, जब उनके पिताका देहान्त हो गया। (कुछ लोगोंकी रायमें इनका जन्म इनके पिताकी मृत्युके बाद हुआ था।) उस समय इनकी माताके पास पाँच ईंटें, कुछ भेड़ें और बरकत नामकी एक गुलाम औरत, बस, यही सम्पत्ति बच रही थी। इधर चिन्ता और विषादके मारे इनकी माताका दूध सूख गया, जिससे इनके लिये एक धाय खोजनी पड़ी। हलीमा नामकी एक गड़ेरियेकी स्त्रीने इनकी धाय होना स्वीकार किया और वह मक्केसे बाहर ले जाकर इनका पालन-पोषण करने लगी।

जबतक लड़का इसके पास रहा उसके घरमें बड़ी सुख-समृद्धि रही। उसके चरागाह (गोचरभूमि) सदा हरे-भरे रहते थे, उसके पशुओंकी संख्या दसगुनी बढ़ गयी, उसके खेतोंमें अनाज भी बहुत हुआ और उसके घरमें सब प्रकार शान्तिका साम्राज्य रहा। बहुत छोटी अवस्थामें इस विलक्षण बालकने अद्भुत शारीरिक और मानसिक शक्तिका परिचय दिया। जब मोहम्मद केवल तीन ही महीनेके थे, ये खड़े होने लगे, सात महीनेकी अवस्था होनेपर ये दौड़ने लगे और दस महीनेकी अवस्थामें दूसरे बालकोंके साथ खेलने लगे। आठ महीनेकी अवस्थामें ये इतना बोलने लगे कि लोग इनकी बातको समझ लेते थे और एक महीनेके बाद तो ये खूब अच्छी तरह और तेजीसे बोलने लगे। उस समय इनकी बातोंमें इतना ज्ञान झलकता था कि लोगोंको सुनकर आश्चर्य होता था। ये अपनी धायकी संरक्षकतामें थोड़े ही वर्ष रहे। वह इन्हें वापस मक्का ले आयी और इनकी माताके सुपुर्द कर दिया।

छः वर्षकी अवस्थामें इनकी माता इन्हें अपने सम्बन्धियोंके पास मदीने ले गयीं, किन्तु वहाँसे लौटते समय रास्तेमें उनका देहान्त हो गया। मदीने और मक्केके बीचमें एक अबुआ नामका गाँव है, वहीं उन्हें दफ़न किया गया। मोहम्मद अपने जीवनके अन्तिम वर्षोंमें बहुत बार अपनी माताके मज़ारपर जाकर उन्हें अपनी श्रद्धांजलि समर्पित किया करते थे। इनकी माताके मरनेके बाद क्रमशः इनके दादा और ताऊने इनका लालन-पालन किया। दोनों ही क़ाबाके अध्यक्ष थे, अतः मोहम्मदकी परवरिश धार्मिक वातावरणमें हुई।

जब ये बारह वर्षके हुए, उस समय इनके चाचा इन्हें सीरिया ले गये। रास्तेमें एक ईसाई पादरीसे इनकी बातचीत हुई और वह इनकी प्रगल्भता और धार्मिक जिज्ञासाको देखकर बड़ा चकित हुआ। जब ये बड़े हुए तो ये सीरिया आदि देशोंको जानेवाले काफिलोंके साथ एजेण्टके रूपमें जाने लगे और इनकी ईमानदारी और कार्यकुशलताका चारों ओर सिक्का जम गया।

उन दिनों मक्केमें खादिजा नामकी एक अमीर बेवा रहती थी, उसने इनकी ख्याति सुनकर इन्हें अपने काफिलोंका एजेण्ट बना लिया। आगे चलकर वह इनके कार्यसे इतनी सन्तुष्ट हुई कि उसने इनके साथ विवाह कर लिया और अब मोहम्मद मक्काके बहुत बड़े रईसोंमें गिने जाने लगे। धनी होनेके अतिरिक्त इनका आचरण इतना शुद्ध, इनका व्यवहार इतना निष्कपट और इनका चरित्र इतना निष्कलंक था कि लोग इन्हें 'अलआमीन' (ईमानदार अथवा विश्वासपात्र) कहने लगे। इनका निर्णय भी इतना पक्षपातरहित होता था कि लोग अपने घरेलू झगड़ोंका इनके द्वारा निपटारा कराते।

अब इन्हें जीवननिर्वाहके लिये कमानेकी आवश्यकता तो रही नहीं, अतः इनका अधिक समय धार्मिक विचारों और भगवान्‌की आराधनामें बीतने लगा। धीरे-धीरे इन्हें यह अनुभव होने लगा कि देशके प्रचलित धर्ममें बहुत संशोधनकी आवश्यकता है। इनकी यह दृढ़ धारणा हो गयी थी कि आदमके द्वारा प्रकटित सिद्धान्त ही सच्चा

सिद्धान्त है, जिसके अनुसार एक अद्वितीय ईश्वर ही सबके आराध्य हैं। ये अब अपना अधिक समय एकान्तमें रहकर प्रार्थना और ईश्वर-चिन्तनमें व्यतीत करने लगे। इन दिनों इन्हें कई बार दिव्य स्वप्न होते और कई बार इनकी समाधि लग जाती।

उस समय इनकी अवस्था चालीस वर्षकी थी। एक दिन ये रातके समय अपना लबादा ओढ़े हुए पड़े थे कि इन्हें एक अलौकिक आवाज सुनायी दी मानो कोई इन्हें पुकार रहा है। ज्यों ही इन्होंने अपना मुँह खोला तो इनके मुँहपर एक ऐसा तेज़ प्रकाश पड़ा कि ये उसे सहन नहीं कर सके और बेहोश हो गये। जब इन्हें होश हुआ तो इन्होंने देखा कि सामने कुछ दूरपर एक मनुष्यके आकारकी देवमूर्ति खड़ी है और वह एक रेशमी कपड़ेको इनके सामने फैलाकर उसमें लिखे हुए अक्षरोंको पढ़नेके लिये कह रही है। मोहम्मद पहले तो उन अक्षरोंको नहीं पढ़ सके, परन्तु फिर उस अमानव पुरुषके कहनेसे इन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो सहसा इनकी बुद्धि एक दिव्य प्रकाशसे आलोकित हो उठी और इन्होंने उस संदेशको पढ़ लिया जो उस रेशमी वस्त्रपर लिखा हुआ था। जब मोहम्मद उस सन्देशको पढ़ चुके तो उस दिव्य मूर्तिने इनसे कहा—'मोहम्मद, तुम आजसे पैगम्बर हो गये। मैं भगवान्‌का दूत गेब्रील हूँ।' यों कहकर वह मूर्ति अन्तर्धान हो गयी। अब मोहम्मदने इस दिव्य आदेशके अनुसार प्रचारका कार्य प्रारम्भ कर दिया। पहले तो यह कार्य बहुत मन्थरगतिसे चला, क्योंकि उन्हें चारों तरफसे विरोधकी आशंका थी। परिणाम यह हुआ कि तीन वर्षमें उनके चालीससे अधिक अनुयायी न हो सके। मोहम्मदका कहना यह था कि मैं किसी नये धर्मकी स्थापना नहीं कर रहा हूँ किन्तु प्राचीन धर्मकी ही पुनः स्थापना कर रहा हूँ। इसीलिये उन्होंने कुरान शरीफ़को स्वरचित ग्रन्थ न कहकर भगवान्‌के सन्देशके रूपमें प्रसिद्ध किया और उसका नाम कलामुल्ला (भगवद्वाक्य) रखा। ईश्वरके पैगम्बरोंमें मोहम्मद एक प्रधान पैगम्बर माने जाते हैं। ईश्वरकी एकता इनके धर्मका मूल सिद्धान्त है। 'लाइलाहे इल्लिल्लाह' (एक भगवान्‌के सिवा दूसरा कोई भगवान् नहीं है) यही उनका मूलमन्त्र था जिसके आगे 'मोहम्मद उर रसूलिल्लाह' (मोहम्मद भगवान्‌के रसूल या पैगम्बर हैं) ये शब्द पीछेसे जोड़ दिये गये। मोहम्मदके कुछ उपदेशोंका सार नीचे दिया जाता है—

'भिक्षुकों और फ़कीरोंको दान देना प्रत्येक गृहस्थका आवश्यक कर्तव्य है। दूसरोंके साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम दूसरोंसे करवाना चाहते हो। किसीके साथ अन्याय न करो, इससे तुम्हारे प्रति भी कोई अन्याय नहीं करेगा। भूखेको भोजन दो, रोगीकी शुश्रूषा करो और बन्धनमें पड़े हुएको बन्धनमुक्त करो। किसी भी मनुष्यके प्रति घृणा न करो। पृथ्वीपर अकड़कर न चलो, क्योंकि भगवान् घमंडीसे प्यार नहीं करते। जो भगवान्‌के बंदोंसे प्रेम नहीं करता भगवान् उससे प्रेम नहीं करते। दान देनेवाला जगत्‌में सबसे बड़ा है। जो दाहिने हाथसे देकर बायें हाथसे अपने उस कार्यको छिपा लेता है वह सबपर विजय प्राप्त कर लेता है।

आजके मुसलमान यदि वस्तुतः मोहम्मद साहेबके उपदेशोंका अनुकरण करनेवाले होते तो भारतमें आये दिनकी लड़ाइयाँ न होतीं। सच्चे मुसलमानोंको मोहम्मद साहेबके वचनोंपर ध्यान देना चाहिये।

मोहम्मदके भक्तोंके साथ-साथ उनके शत्रु भी बहुत-से हो गये थे, जिसके कारण उन्हें १६ जुलाई सन् ६२२ ई० को मक्केसे मदीने भाग जाना पड़ा। उनके इस भाग जानेको हिज्र कहते है और मुसलमानोंका हिजरी सन् उसी दिनसे प्रारम्भ होता है। हिज्रके दस वर्ष बाद अर्थात् सन् ६३२ ई० में, जिस दिन उनका जन्म हुआ था उसी दिन, अपने जीवनका तिरसठवाँ वर्ष समाप्त कर हज़रत मोहम्मद इस दुनियाँसे चल बसे।

मध्ययुगके शैव संत

(लेखक—दीवानबहादुर के० एस० रामस्वामी शास्त्री)

(१) संत अरुणगिरिनाथ

इन्होंने तामिल भाषामें कई काव्य लिखे हैं जो भक्तिरसपूर्ण होनेके साथ-ही-साथ काव्यकी दृष्टिसे अत्यन्त ललित और लोकप्रिय हैं। इनका जन्म लगभग ४७० वर्ष हुए तिरुवन्नमले नामक स्थानमें हुआ था। उस समय वहाँ प्रपूतदेव नामके राजा राज्य करते थे। इनका जन्म किस कुलमें हुआ और इनके माता-पिता कौन थे, इस सम्बन्धमें ठीक-ठीक पता नहीं चलता। इनके

सम्बन्धमें निश्चितरूपसे इतना ही मालूम है कि इनका प्रारम्भिक जीवन बड़ा विलासपूर्ण था, जब इनके पास कुछ भी न रहा तो इनकी प्रेयसीने इनका परित्याग कर दिया। तब इन्होंने अपने कुलदेवता श्रीसुब्रह्मण्य (स्वामिकार्तिक)-का दर्शन करके मन्दिरके शिखरपरसे भृगुपतन कर प्राणविसर्जन करनेका निश्चय किया। ज्यों ही ये ऐसा करनेको थे कि श्रीसुब्रह्मण्य इनके सामने प्रकट हो गये और इन्हें अपना कृपापात्र बना लिया। उसी दिनसे अरुणगिरिनाथ श्रीसुब्रह्मण्यके महान् भक्त हो गये और इन्होंने इतने सुन्दर पद बनाये कि जिनका तामिल भाषा-भाषी बहुत अधिक आदर करते हैं।

इन्हींके समसामयिक विल्लिपुत्थूरर् नामके एक और कवि हो गये हैं जिन्होंने तामिल भाषामें महाभारत लिखा है। इनके साथ हमारे चरित्रनायकका किस प्रकारका सम्बन्ध था, इस विषयमें एक बड़ा रोचक इतिहास है। कहा जाता है, एक बार महाराज प्रपूतदेवकी सभामें इन दोनों कवियोंमें परस्पर होड़ लगी। शर्त यह थी कि दोनोंमेंसे प्रतिद्वन्द्वितामें जो हार जाय वह दूसरेकी आज्ञाके अनुसार दण्ड स्वीकार करे। अरुणगिरि आशुकवि थे। उन्होंने वहीं सभामें बैठे-बैठे 'कन्दरन्तादि' नामका काव्य रच डाला और उनके प्रतिद्वन्द्वी विल्लिपुत्थूरर् साथ-ही-साथ उनके प्रत्येक पदकी अविराम गतिसे व्याख्या करते रहे। तब अरुणगिरिने एक कूट पद रचा। विल्लिपुत्थूरर् उसका अर्थ नहीं समझ सके और सन्देहमें पड़ गये। उन्होंने अरुणगिरिकी विजय स्वीकार कर ली और उन्हें कहा कि हमारे कान काट लो। अरुणगिरिने कहा 'नहीं, मेरी देनके रूपमें इन कानोंको रखो। बदलेमें मैं तुमसे यही चाहता हूँ कि तुम शैवोंसे द्वेष करना छोड़ दो और सभी धर्मों और सम्प्रदायोंके साथ सहिष्णुता और प्रेमका बर्ताव करो।'

इनके सम्बन्धमें एक और आख्यायिका प्रसिद्ध है। राजा प्रपूतदेवके दरबारमें सम्बन्दान्दन् नामके एक तान्त्रिक थे। वे अरुणगिरिसे बड़ा द्वेष रखते थे। उन्होंने राजासे कहा—'मुझपर देवीकी बड़ी कृपा है, यदि तुम चाहो तो मैं उन्हें तुम्हारे सामने प्रकट कर सकता हूँ। क्या अरुणगिरि तुम्हारे सामने किसी प्रकार भगवान् सुब्रह्मण्यको प्रकट कर सकते हैं?' अरुणगिरिने इस चुनौतीको स्वीकार कर लिया और राजासे कहा कि 'मैं तुम्हें भगवान् सुब्रह्मण्यके दर्शन कराऊँगा।' उन्होंने भगवान् सुब्रह्मण्यसे प्रार्थना की—'हे भगवन्! आप ऐसी कृपा कीजिये जिससे भगवती राजाके सामने प्रकट न हो सकें, और आप स्वयं राजाको दर्शन देकर कृतार्थ कीजिये।' उनका यह कहना था कि सभामण्डपमें भगवान् सुब्रह्मण्यके नूपुरोंकी झनकार सभासदोंको सुनायी दी। राजाको नूपुरध्वनिसे सन्तोष नहीं हुआ, उन्होंने भगवान्का दर्शन करानेकी प्रार्थना की। इसपर भगवान् सुब्रह्मण्य वहाँ एक क्षणके लिये अपने तेजोमय विग्रहकी झलक दिखाकर तुरन्त अन्तर्धान हो गये। उनका तेज इतना प्रचण्ड था कि राजाके नेत्र उसे सहन नहीं कर सके और यकायक उनके नेत्रोंकी ज्योति नष्ट हो गयी। सम्बन्दान्दन्ने राजासे कहा कि 'यदि स्वर्गसे पारिजातके पुष्प आ सकें तो तुम्हारे नेत्रोंमें पुनः ज्योति आ सकती है।' इसपर अरुणगिरिने मनुष्यशरीरका परित्याग कर दिया और वे एक तोतेका रूप धारणकर पारिजातके पुष्प लानेके लिये स्वर्गकी ओर चल पड़े। सम्बन्दान्दन्ने उनसे बदला लेनेका अच्छा अवसर समझकर पीछेसे उनके शरीरको जलवा दिया। थोड़ी ही देर बाद शुकरूपधारी अरुणगिरि पारिजातके पुष्प लेकर वहाँ आ पहुँचे और राजाके नेत्रोंमें पुनः ज्योति आ गयी। अरुणगिरिने उसी तोतेके विग्रहसे कन्दरनुभूति नामक प्रसिद्ध काव्यकी रचना की और उसे राजाको सुनाया। अन्तमें वे भगवान् सुब्रह्मण्यके लोकमें चले गये।

अरुणगिरिकी रचनाओंका विशेष गुण यह है कि उनमें एक अद्भुत, नवीन, रहस्यमय और श्रवणसुखद लालित्य एवं माधुर्य है। यही नहीं, वे भक्तिरससे ओतप्रोत और भावमय हैं। विषयसुख और आत्मसुखमें कितना अन्तर है, इसका इनके ग्रन्थोंमें कई जगह बड़े ही सुन्दर, भावपूर्ण एवं आलंकारिक शब्दोंमें वर्णन हुआ है। अरुणगिरिनाथ और तायुमानवर् इन दोनोंकी कवित्वशक्ति और भक्तिभावने सदाके लिये तामिलभाषाभाषी जनताके हृदयमें बड़ा ऊँचा स्थान बना लिया। आज भी इनके पद लोगोंको इतने प्रिय हैं कि जबतक किसी कीर्तन-समाजमें इनके पद नहीं गाये जाते तबतक वह समाज अधूरा ही माना जाता है। इन्हींकी भाँति तेवारम्, तिरुवाचकम्, तिरुवार्युमोलि और तिरुप्पुगलके पद भी जनताको बड़े प्रिय हैं।

(२) तायुमानवर्

तामिल कवियोंमें तायुमानवर्के काव्य कदाचित्

लोगोंको सबसे अधिक प्रिय हैं। उनकी पदरचना बड़ी मधुर एवं श्रवणसुखद है और उनमें सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके अंदर सरलता और निश्छलभावके साथ-साथ पवित्रता और तीव्र मनोभावका अद्‌भुत सम्मिश्रण है। तामिल साहित्यमें इनकी रचनाओंका बहुत ऊँचा स्थान है।

ये अठारहवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें इस मर्त्यलोकमें विद्यमान थे। इनके पिता केडिलियप्प पिल्ले वेदारण्यम्के रहनेवाले थे और त्रिचिनापल्लीके राजा विजयरघुनाथ चोक्कलिंग नायकर्के यहाँ 'सम्प्रति' (महलोंके अध्यक्ष)-के पदपर नियुक्त थे। केडिलियप्प पिल्लेके ज्येष्ठ पुत्र उन्हींके बड़े भाईकी गोद चले गये। हमारे चरित्रनायक उनके द्वितीय पुत्र थे। इनके पिताने त्रिचिनापल्लीके प्रधान देवताके नामपर इनका नाम तायुमानवर् रखा। बालक तायुमानवर् छोटी ही अवस्थामें संस्कृत और तामिल भाषाके पण्डित हो गये। इनका स्वभाव बड़ा शान्त और इनकी मनोवृत्ति प्रारम्भसे ही धार्मिक थी। थोड़े ही समय बाद इन्हें मौनदेशिकके रूपमें एक सद्‌गुरु प्राप्त हुए जिन्होंने इनका अध्यात्मकी ऊँची साधनाओंमें प्रवेश कराया। इनके पिताका देहान्त हो जानेपर इन्होंने राजाके आग्रहसे अपने पिताके पदको स्वीकार कर लिया, परन्तु इनका मन तो भगवान्‌में लग चुका था और इनका जीवन बड़ा पवित्र और भक्तिरसमें डूबा हुआ था।

कहा जाता है कि राजा विजयरघुनाथकी रानी इनपर आसक्त हो गयीं और उन्होंने इनसे प्रेमकी भिक्षा माँगी, इसपर ये वहाँसे भागकर रामनाद् चले आये। वहाँ इन्होंने अपने भाईके आग्रहसे विवाह कर लिया और इन्हें कनकसभापति पिल्ले नामका एक पुत्र हुआ। पुत्र होनेके कुछ ही दिन बाद इनकी पत्नीका देहान्त हो गया। कुछ दिन बाद ये सब कुछ त्यागकर विरक्त संन्यासी हो गये और उसी अवस्थामें इन्होंने वे भक्तिरसपूर्ण सुन्दर काव्य रचे जिनके कारण इनकी स्मृति इनके देशवासियोंके हृदयमें सदा बनी रहेगी। सन् १७४२ ईसवीमें इन्होंने अपने नश्वर देहको त्याग दिया।

इनकी रचनाओंमें ज्ञान और भक्तिका बड़ा सुन्दर समन्वय है। इनका हृदय बड़ा कोमल था और इनकी आत्मा सदा समभावमें स्थित रहती थी। इन्होंने जीवनके रहस्यको भलीभाँति समझा था और ये अपने ऊपर भगवान्‌के असीम अनुग्रहका निरन्तर अनुभव कर सदा मस्त रहा करते थे। इनके विचार मत-मतान्तरके झगड़ोंसे ऊपर उठे हुए थे और इनके अंदर वह तीव्र आध्यात्मिक लगन थी जो कट्टरपनको मिटाकर मनुष्यको सहृदय और कोमल बना देती है। इनके पद इतने सुन्दर और श्रवणसुखद हैं कि वे सुननेवालेकी आत्मामें प्रवेश कर जाते हैं और उनके हृदयपर विचित्र प्रभाव डालते हैं, जिससे उनकी प्रकृति ही बदल जाती है।

इनके ग्रन्थोंके संग्रहमें सबसे पहला ग्रन्थ काव्यकी दृष्टिसे बहुत ऊँचा और लोकप्रिय है। उसमेंसे कुछ पद्योंका भावानुवाद हम नीचे उद्‌धृत करते हैं, जिससे इनके विचारोंकी उदारता तथा इनकी भक्तिका बहुत कुछ परिचय मिलता है—

'वह कौन सी वस्तु है जो किसी स्थानविशेषमें न रहकर अपने तेजोमय रूपमें सर्वत्र मौजूद है और जो आनन्द और कृपाका समुद्र है? वह कौन है जिसके संकल्पसे यह विश्वब्रह्माण्ड उसीके प्रेमके आधारपर ठहरा हुआ है, उसीकी प्रेरणासे क्रियाशील बना हुआ है और जो सारे भूत-प्राणियोंके प्राणोंका भी प्राण है? वह कौन-सी वस्तु है जो मन और वाणीसे भी परे है? वह कौन-सी सत्ता है जिसे प्रत्येक धर्म ईश्वर मानकर उसीका प्रचार करता है? अनन्त ज्ञान और आनन्दस्वरूप कौन है? सनातन तत्त्व क्या है? अहोरात्रकी कल्पनाके परे कौन है? वह प्रेमास्पद कौन है जिसे सब लोग हृदय और मनसे चाहते हैं? वह कौन है जो इन सारे दृश्य पदार्थोंके रूपमें प्रकट है? आओ, हमलोग उसी अनन्त, पूर्ण एवं नित्यशान्त तत्त्वकी उपासना करें।'

'आओ, हमलोग उस परमेश्वरकी आराधना करें जो मनके अगोचर होनेपर भी दिव्यरूपसे मनमें ही प्रकाशित होता है और जो हमारे हृदयाकाशका अत्यन्त देदीप्यमान नक्षत्र है।'

'हे आनन्दमय विभो! क्या आप ऐसा कोई चेटक नहीं जानते जिससे आप मेरे इस पापी और अशान्त मनको स्थिर कर सकें?'

'प्रभो! हमारी इच्छाओंका अन्त नहीं। जिसे सारे भूमण्डलका स्वामित्व प्राप्त हो गया वह समुद्रोंके आधिपत्यकी इच्छा करता है। जो धनमें कुबेरके समान है वह भी अपनी स्थितिसे सन्तुष्ट नहीं है और उससे भी अधिक धनके लिये लालायित है। दीर्घकालतक

जीनेवाले मनुष्य भी अमृत पीकर देवताओंकी आयु प्राप्त करना चाहते हैं। यदि हम अपने जीवनपर दृष्टि डालें तो हमें मालूम होगा कि अपनी वासनाओंको तृप्त करनेके लिये नाना प्रकारके भोग भोगना और खा-पीकर सो जाना, इसके अतिरिक्त हमारे जीवनका कोई उपयोग नहीं है। अतः हे भगवन्! मैं अपनी स्थितिसे सन्तुष्ट हूँ। कृपाकर मेरे अहंकारको दूर कीजिये और मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं विषयोंके पीछे मारा-मारा न फिरूँ और संसारके बन्धनमें न पड़ूँ। हे आनन्दमय विभो! ऐसी कृपा कीजिये कि मैं ध्यानमें मस्त होकर सदाके लिये मौन हो जाऊँ।'

'प्रसवकी पीड़ाको माता ही जानती है, वन्ध्याको उसका क्या पता। जिन्होंने भगवत्प्रेमके रसका आस्वादन किया है उन्हींके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहते हैं और उन्हींके शरीरमें स्वेद, कम्प और पुलक आदि अष्ट सात्त्विकभाव प्रकट होते हैं। जिन्होंने इस अलौकिक आनन्दका अनुभव नहीं किया उनके हृदय पत्थरके समान हैं।'

(३) श्रीरामलिंग स्वामी

इनका जन्म ५ अक्टोबर सन् १८२३ ईसवीमें चिदम्बरम्के निकटवर्ती मरुदर् नामक स्थानमें हुआ था। इनके पिताका नाम रामय्य पिल्ले और माताका नाम चिन्नम्मल था। जब ये नौ वर्षके थे तभीसे इनका भगवान् सुब्रह्मण्यके प्रति अनुराग हो गया और उसी अवस्थामें इन्होंने भगवान् सुब्रह्मण्यका एक स्तोत्र रचा था।

इन्हें भगवान् सुब्रह्मण्यकी कृपा प्राप्त हुई। इसके बाद ये तिरुवोरुजूर नामक स्थानको चले गये और वहाँ इन्हें स्वयं भगवान् शंकरने साधनके कई अत्यन्त गुप्त रहस्य बताये। एक बार पहले भी माणिक्क वाचक नामक संतको इसी प्रकार भगवान् शंकरसे दीक्षा प्राप्त हुई थी। उसी समयसे इन्होंने काव्यकी वह पवित्र एवं निर्मल धारा बहायी जो आज भी तामिल देशके लाखों नर-नारियोंको आप्यायित करती है।

इनकी माता तथा भाइयों एवं बहिनने इन्हें विवाह करनेके लिये बड़ा आग्रह किया। इसपर इन्होंने गृहस्थाश्रम स्वीकार कर लिया, किन्तु इससे इनकी भक्तिमें कोई कमी नहीं आयी।

इन्होंने बदलूर नामक स्थानमें एक ज्ञानसभा स्थापित की, जिसके द्वारा इन्होंने जनतामें दीनोंके प्रति दया और भगवान्की भक्तिका प्रचार किया। इन्होंने बदलूरके निकट मेहुकुप्पम् नामक ग्राममें अपने लिये एक मकान बनवाया और उसमें रहकर ये योगाभ्यास और भगवत्प्रेमकी साधना करने लगे। इन्होंने कलियुगके ४९७८ वर्ष बीतनेपर अर्थात् सन् १८७६ में ५३ वर्षकी अवस्थामें अनेक काव्योंकी रचना कर तथा अनेक स्त्री-पुरुषोंको भगवान्के मार्गमें लगाकर अपने नश्वर शरीरको त्याग दिया।

इनकी रचनाओंका संग्रह 'तिरुवरुत्या' के नामसे प्रकाशित हुआ है। इनकी रचनाका विशेष गुण यह है कि इनकी भाषा बहुत सरल है और उसके अंदर अपने समयके स्त्री-पुरुषोंके कल्याणकी तीव्र कामना स्पष्ट रूपसे जाहिर है, साथ ही इनके विचारोंकी उदारता तथा हृदयकी विशालता भी इनके काव्योंमें भलीभाँति झलकती है। 'समरससन्मार्गम्' अर्थात् सहिष्णुता और सदाचार—यही इनके उपदेशों और जीवनका मूलमन्त्र मालूम होता है।

(४) मेयकन्द् और उनकी शिष्यपरम्परा

इन्होंने शैव सिद्धान्तको एक सुव्यवस्थित एवं दार्शनिक रूप दिया, इसीसे शैवोंके सिद्धान्तशास्त्र मेयकन्द्शास्त्र कहे जाते हैं। इनकी कुल संख्या १४ है और इनके संकलनकर्ता और व्याख्याता मेयकन्द् और उनके शिष्य अरुलनन्दी, मरै ज्ञानसम्बन्ध और उमापति शिवाचार्य हैं।

तिरुवेण्णै नल्लूर नामक स्थानमें वल्ललजातिका अच्युत कालप्पालन् नामका एक धनी मनुष्य रहता था। वह बड़ा श्रद्धालु और आस्तिक था। समय पाकर उसके एक पुत्र हुआ जिसका नाम उसने तिरुवेन्काडुके प्रधान देवताके नामपर श्वेतवनप्परुमाल रखा। यह बालक पाँच वर्षकी अवस्थातक कुछ बोला नहीं। परंज्योति मुनिवर नामके महात्मा एक दिन उस वल्ललके मकानके सामनेसे होकर जा रहे थे। उन्होंने इस बालकको होनहार देखकर शैवधर्ममें दीक्षित किया और उसका नाम मेयकन्द् (तत्त्वको जाननेवाला) रखा। उनकी आज्ञासे मेयकन्द्ने शिवज्ञानबोध सूत्रोंका भाषान्तर किया और साथ-ही-साथ उनपर एक वार्तिककी रचना भी की। इनके पिताके वयोवृद्ध गुरु सकलागमपण्डित उनके इस उत्कर्षको नहीं सह सके और ईर्ष्यावश उन्होंने इस होनहार युवककी कीर्तिको दबाना चाहा। एक दिन जब मेयकन्द् अपने विद्यार्थियोंको पढ़ा रहे थे, वे इनके पास आये और जब मेयकन्द्ने आणवमल (मूलाविद्या)-का

निरूपण प्रारम्भ किया, सकलागमपण्डितने बड़े रोषके स्वरमें कहा कि आणवमलका स्वरूप हमें दिखलाकर बताओ। इसपर मेयकन्द्ने अपनी उँगलीसे उन्हींकी ओर संकेत करके कहा कि आणवमलका स्वरूप यही है। इसपर सकलागमपण्डित बड़े लज्जित हुए, उनका अभिमान दूर हो गया और उनकी अन्तरात्मा शुद्ध हो गयी। उन्होंने मेयकन्द्से प्रार्थना की कि आप हमारे अज्ञानको दूरकर ज्ञानका प्रकाश दीजिये। मेयकन्द्ने उनका नाम अरुलनन्दी रखा और उन्हें शिवज्ञानबोध पढ़ाया। अरुलनन्दीने शिवज्ञानसिद्धि नामक एक आकरग्रन्थ लिखा जिसमें उन्होंने मेयकन्द्के सिद्धान्तोंका विशद रूपसे प्रतिपादन किया। अरुलनन्दीके शिष्यका नाम मरै ज्ञानसम्बन्ध था और मरै ज्ञानसम्बन्धके शिष्य उमापति शिवाचार्य हुए, जिन्होंने शिवप्रकाश नामक बृहद् ग्रन्थकी रचना की। ये चार आचार्य सन्तान आचार्योंके नामसे विख्यात हैं।

भारतके दार्शनिक सिद्धान्तोंमें शैवसिद्धान्त भी एक बड़ा सुन्दर सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तमें 'पति', 'पशु' और 'पाश' (अर्थात् ईश्वर, जीव और बन्ध) इन तीन नित्य पदार्थोंका निरूपण किया गया है। पतिरूप भगवान्को जानकर उनके साथ प्रेम करनेसे ही जीव पाश अर्थात् बन्धनसे मुक्त हो सकता है। परमतत्त्व निर्गुण और सगुण दोनों ही है और प्रेम और दयारूप ही है। सत्-चित्-आनन्द ही उसका स्वरूप है। विश्वकी आत्मा भी वही है। शिवज्ञानबोधसूत्रोंकी रचना शैवागमके आधारपर हुई है और उसमें ऊपर कही हुई बातोंको ही स्पष्ट एवं युक्तियुक्त ढंगसे तथा हृदयमें पैठनेवाले दृष्टान्तोंद्वारा भलीभाँति समझाया गया है।

शिवज्ञानबोध नामक मूल संस्कृत ग्रन्थमें बारह अनुष्टुप् श्लोक हैं जो रौरवागमके अन्तर्गत माने जाते हैं। मेयकन्द्ने इन्हीं श्लोकोंका तामिलभाषामें अनुवाद करके एक वार्तिक भी लिखा है। पहले सूत्र अथवा श्लोकमें यह बात कही गयी है कि जगत्के कार्यरूप होनेसे उसका कोई कारण अवश्य होना चाहिये, वह कारण भगवान् शिव हैं जो प्रकृतिके परे होते हुए भी उसमें ओतप्रोत भी हैं और कर्मवैचित्र्यके अनुसार इस भेदमयी सृष्टिकी रचना करते हैं। वे अपनी चिच्छक्तिके द्वारा ही यह कार्य करते हैं। ३ से ६ तकके सूत्रोंमें यह प्रतिपादन किया गया है कि आत्मा शरीर, इन्द्रिय तथा मनसे पृथक् है, वह इन सबका राजा है, और मन उसका मन्त्री है जो मलसे आवृत है। सातवें सूत्रमें जीवको ईश्वर और जगत्से भिन्न बताया गया है। आठवें सूत्रमें एक राजकुमारका दृष्टान्त दिया गया है जो किसी व्याधके घरमें पला था। जबतक उस राजकुमारको यह नहीं बताया जायगा कि तुम अमुक राजाके पुत्र हो, इस व्याधके नहीं, तबतक वह अपने असली स्वरूपको नहीं पहचान सकेगा। उसी प्रकार जीवको जबतक गुरुद्वारा यह उपदेश नहीं मिलता कि तुम वास्तवमें शिव ही हो, तबतक उसे अपने शिवत्वका बोध नहीं होता। नवें सूत्रमें यह लिखा है कि गुरुके उपदेशसे आत्मा परमात्माके स्वरूपको पहचानकर इस अनित्य एवं दु:खमय संसारका परित्याग कर देता है और उन्हींके स्वरूपका ध्यान करता हुआ उन्हींके चरणकमलोंकी शीतल छायामें शान्ति पाता है। दसवें सूत्रमें यह बताया गया है कि परमात्माके ध्यानसे अन्त:करण निर्मल हो जाता है और आत्मा परमात्माका साक्षात्कार कर उन्हींमें मिल जाता है। ग्यारहवें सूत्रमें भक्तिको ही परमात्माकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय बताया गया है और बारहवें सूत्रमें भगवान्के अर्चाविग्रहकी पूजाका उपेदश दिया गया है।

(५) श्रीचिदम्बर स्वामी

इनका जन्म मदुरा नगरीमें 'संघम्' कवियोंकी परम्परामें हुआ था। ये एक दिन किसी रेड्डीकुलके बालकोंको पढ़ा रहे थे, उन बालकोंके पिताके गुरु कुमारदेव वहाँ आये; परन्तु चिदम्बर स्वामीको अपनी विद्या और शास्त्रज्ञानका बड़ा अभिमान था, अत: वे कुमारदेवको आते देखकर न तो अपने आसनसे उठे और न उन्हें अभिवादन ही किया। कुमारदेवने इनसे कुछ वेदान्तके पारिभाषिक शब्दोंका अर्थ पूछा, जिसे ये नहीं बता सके। इसपर चिदम्बर स्वामी बड़े लज्जित हुए, उन्होंने कुमारदेवके चरणोंपर गिरकर उनसे अपने अविनयके लिये क्षमा माँगी और उसी दिनसे वे उन्हें अपना गुरु मानने लगे।

छ: महीने बाद कुमारदेव फिर वहाँ आये और इनसे उन्हीं वेदान्तके पारिभाषिक शब्दोंका अर्थ फिर पूछा। अब तो चिदम्बर स्वामीको गुरुकृपासे उनका अर्थ मालूम हो गया था और गुरुके आदेशसे उन्होंने वेदान्तके कई ग्रन्थोंपर तामिलभाषामें टीकाएँ लिखीं।

एक दिन इन्होंने स्वप्नमें एक मयूरको देखा। मयूर भगवान् सुब्रह्मण्यका वाहन है। इन्हें भगवान्की ओरसे यह आदेश मिला कि तुम तिरुपोरूरके मन्दिरका

जीर्णोद्धार कर उसका पुनर्निर्माण कराओ। बस, फिर क्या था। ये तुरन्त तिरुपोरूरकी ओर चल दिये। पीछेसे चोर इनके घरमें घुसकर इनका सब कुछ चुरा ले गये। परन्तु ज्यों ही वे इनका सामान लेकर घर पहुँचे वे अन्धे हो गये। तब तो उन्हें अपने कर्मपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ, वे दौड़े हुए चिदम्बर स्वामीके पास आये और उनसे गिड़गिड़ाकर क्षमाप्रार्थना करने लगे। इसपर चिदम्बर स्वामीने उनसे कहा—'यदि तुम अपनी सारी सम्पत्ति इस प्राचीन मन्दिरके जीर्णोद्धारमें लगा दो तो तुम्हारे नेत्रोंमें फिरसे ज्योति आ सकती है।' चिदम्बर स्वामीकी आज्ञासे उन्होंने अपना सर्वस्व भगवान्के अर्पण कर दिया और उन्हींके पास आकर सो रहे। दूसरे ही दिन उन्हें अपने नेत्र पुनः प्राप्त हो गये।

उसी दिनसे चिदम्बर स्वामीको रोगियोंको रोगमुक्त करनेकी अद्‌भुत शक्ति प्राप्त हो गयी और उन्होंने भगवान्के आशीर्वादसे कई असाध्य रोगियोंको अच्छा कर दिया। अब तो उनके पास रुपयोंकी वर्षा होने लगी, जिससे उन्हें अपने जीवनका उद्देश्य पूरा करनेका एक अच्छा साधन प्राप्त हो गया। उन्होंने उस द्रव्यसे मन्दिरको नये ढंगसे बनवाया। उन्होंने तामिल पद्यमें कई धार्मिक ग्रन्थ लिखे, जिनमेंसे प्रधान ग्रन्थोंके नाम 'तिरुपोरूर सन्निधि मुरै' और 'वैराग्यशतक' हैं। इस प्रकार भगवान्के गुणानुवादमें जीवन व्यतीतकर वे अन्तमें भगवान्के लोकको चले गये।

(६) कचिअप्प शिवाचार्य

इनका जन्म कांची नगरीमें हुआ था। इनके पिता कालथिअप्प शिवाचार्य वहाँके कुमारगोष्ठ नामक मन्दिरके पुजारी थे। पिताके देहान्तके बाद ये भी उसी मन्दिरके पुजारी हो गये। इन्होंने दस हजार सुन्दर पद्योंमें संस्कृतके स्कन्दपुराणका तामिलभाषामें अनुवाद किया।

(७) कुमारगुरुपरस्वामी

इनका जन्म अहवर तिरुनगरी नामक स्थानमें हुआ था; इनके पिताका नाम षण्मुगशिखामणि कवीय्य था। आचार्य मेयकन्द्की भाँति ये भी पाँच वर्षकी अवस्थातक कुछ न बोले। इनके माता-पिता इन्हें तिरुचन्दूर नामक क्षेत्रमें ले गये। वहाँ इन्हें भगवान् सुब्रह्मण्यकी कृपा प्राप्त हुई और इन्होंने कन्दरकलिवेन्वा नामक सुन्दर काव्य लिखकर भगवान्को सुनाया, जिसमें भगवान् सुब्रह्मण्यका ही गुणानुवाद है। ये राजा तिरुभल नायकके राजत्वकालमें मदुरा गये और वहाँ दरबारमें अपना 'मीनाक्षी अम्मो पिल्लै तमिल' नामक काव्य सुनाया। मीनाक्षीदेवी उस समय स्वयं एक पुजारीकी लड़कीके रूपमें वहाँ उपस्थित थीं और उन्होंने उपहारमें इन्हें एक बहुत सुन्दर रत्नोंका हार भेंट किया। इसके बाद इन्होंने भगवान् सुब्रह्मण्यकी स्तुतिमें भी वैसा ही सुन्दर काव्य लिखा। इन्होंने चिदम्बरम्में रहकर कोवै और कलम्बकम् नामक ग्रन्थ भी लिखे। इनके अतिरिक्त इन्होंने नन्नेदि और नीतिनरि विलक्कं आदि और भी कई ग्रन्थ लिखे। इन्होंने (माशिला मणिदेशिकर् नामक) गुरुसे दीक्षा ग्रहण की, जो उस समय तंजौर जिलेके धर्मपुर मठके अध्यक्ष थे। इन्होंने गुरुकी आज्ञासे काशीकी यात्रा की, वहाँ इनकी विद्यापर मुग्ध होकर किसी उत्तर प्रान्तके राजाने इन्हें प्रचुर अर्थ दिया, जिससे इन्होंने बनारसमें एक मठ बनवाया। इसके बाद ये अपने गुरुके पास चले आये, परन्तु गुरुने इन्हें बनारसमें ही रहकर शैवधर्मका प्रचार करनेकी आज्ञा दी। इन्होंने ऐसा ही किया और जीवनभर गुरुकी आज्ञाका पालन कर अन्तमें शिवलोकको चले गये।

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

अपना दोष कोई नहीं देख पाता। अपना व्यवहार सभीको अच्छा मालूम होता है किन्तु जो मनुष्य सब हालतमें अपनेको छोटा समझता है वह अपने दोष भी देख सकता है।

साधुजनोंके लिये भी सत्संग श्रेयस्कर है। जो सत्संगसे दूर रहता है वह रोगरहित नहीं।

मान-अपमान, कृपा-अकृपा इन सबको एक समान समझे बिना मनुष्यमें संपूर्णता नहीं आती। ईश्वरने जिसे परमार्थ-ज्ञानमें श्रेष्ठ बनाया है, वह पापमें पड़कर अपना पतन न होने दे, यह उसका पहला कर्त्तव्य है।

सिख गुरु

(लेखक—डॉ० श्रीजसवंत सिंहजी, एम० ए०, बी० एस-सी०, एन० डी०, लन्दन)

सिखोंके दस गुरु हुए हैं। इन दस गुरुओंने जो नवीन धार्मिक पन्थ चलाया उसीको सिखमत, गुरुमत अथवा खालसापन्थ कहते हैं। ये दस गुरु संसारके धार्मिक इतिहासमें अद्वितीय नेता हुए हैं।

सिख गुरुओंकी इस बातमें कोई महत्ता नहीं है कि उन्होंने मुगलोंके पाप-शासनका जो मुकाबला किया वह सफलीभूत हुआ, उनकी वास्तविक महत्ता तो समस्त मानवसमाजको उठानेमें है। उन्होंने चारों जातियों अथवा वर्णोंको एक ही व्यक्तिमें इकट्ठा करके एक ऐसा नमूना बना दिया जो सृष्टिकर्त्ताकी ऐन मुराद हो सकती है। उन्होंने एक ही सिखमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारोंके गुणोंको इकट्ठा कर दिया। जहाँ गुरुओंका एक सिखके लिये यह आदेश था कि वह निरन्तर हरिनाम श्रीवाहिगुरुका जप करे, आठों पहर दूसरोंकी सेवाके लिये अपने तन-मन-धनसे तत्पर रहें और अपनी गृहस्थीके निर्वाहके लिये सत्य व्यवहार करे, वहाँ साथ ही उसके हाथमें तलवार देकर उसे ऐसी शक्तिसे परिपूर्ण किया जिससे समयपर वह अपने धर्मकी अथवा अपने देशकी रक्षा भी कर सके। यों सिख गुरुओंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णोंके उत्तम गुण एक ही व्यक्तिद्वारा प्रकट किये।

ऐसा करनेके लिये गुरुओंने मन्त्रों और मौजजोंका सहारा नहीं लिया बल्कि चरित्रबलको ही सर्वस्व समझा। चरित्रबल ही कठिनाईके समयमें काम आता है। भलाई-बुराई और पाप-पुण्यकी समस्याओंको सुलझानेके समय चरित्रबलका ही आश्रय लिया जाता है। जीवनमें बहुत-से ऐसे अवसर आते हैं जब हमको तुरंत ही अपने कार्यमें अग्रसर होना पड़ता है, सोचनेका समय नहीं होता। पापके सामने आते ही तुरंत उसको दबोच देना पड़ता है। पुण्यकार्य करनेका अवसर आते ही तन-मन-धनकी बलि दे देनी होती है। जितना ही मनुष्यमें चरित्रबल होता है उतनी ही उसको सफलता मिलती है। परन्तु इसके लिये केवल कुछ नियम निर्माण कर देना ही पर्याप्त नहीं होता। चरित्रबल पुरुषोंमें ऐसा भरना होता है जिससे वह विद्युत्-वेगसे कार्य करे, और लोभ आदिको विचारमें बैठनेका अवसर ही न दे। इसी कारण सिखोंमें एक गुरु नहीं प्रत्युत दस गुरु हुए हैं जिन्होंने पुश्त-दर-पुश्त लोगोंको बुद्धि और अनुभवके वह पाठ सिखाये जिनसे मनुष्यको ऐसा चरित्रबल मिला और वह ऐसी शक्तिसे भर गया जिसके द्वारा मुट्ठीभर आदमी हजारों आदमियोंका कार्य सम्पन्न करनेयोग्य हो गये।

गुरुवाणीमें बतलाये हुए संतके लक्षणोंको लिखकर फिर इन्हीं अद्वितीय दस गुरुओंकी जीवनलीलाओंका अति संक्षेपमें सारमात्र लिखा जाता है, जिससे पाठकोंको उनके सम्बन्धी अपेक्षित या आवश्यक घटनाओंका आंशिक परिचय हो जाय।

जिना सासि गिरासि न बिसरै, हरि नामाँ मनि मंत।
धन्नु सि सेई नानका, पूरनु सोई संत॥

× × × ×

आठ पहर निकटि करि जानै। प्रभुका कीआ मीठा मानै॥
एकु नामु संतन आधारू। होइ रहै सभकी पगछारू॥
संत रहत सुनहु मेरे भाई। उआकी महिमा कथनु न जाई॥
वरतणि जाकै केवल नाम। अनँद रूप करितनु बिसराम॥
मित्र सत्रु जाकै एक समानै। प्रभु अपने बिन अवरु न जानै॥
कोटि कोटि अघ काटनहारा। दुख दूरि करन जीअका दातारा॥
सूरबीर बचनके बली। कउला बपुरी संती छली॥
ताका संगु बांछहि सुरदेव। अमोघ दरसु सफल जाकी सेव॥
कर जोड़ि नानकु करे अरदासि। मोहि संत-टहल दीजै गुणतासि॥

(श्रीगुरु ग्रंथसाहिबजी)

(१) श्रीगुरु नानकदेवजी

सिखमतके आचार्य, अज्ञान-अन्धकारके विनाशक, सूर्यस्वरूप जगद्गुरु नानकका जन्म राइभोइकी तलवण्डी (जो अब नानकाणा साहिबके नामसे प्रसिद्ध है) में बेदी कालूचंद पटवारीके घर माता तृप्ताजीके उदरसे वैशाख सुदी ३ (२० वैशाख) संवत् १५२६ (१५ अप्रैल सन् १४६९) को हुआ।

गुरु नानक बचपनसे ही शान्त स्वभावके थे। ये अधिकतर एकान्तमें बैठना ही पसंद करते थे। माताजीकी बड़ी इच्छा रहती थी कि मेरा नानक भी और बालकोंकी तरह बाहर जाकर खेले। एक दिन माताजीके बहुत कहनेपर आप बच्चोंके साथ खेलने

बाहर आये तो उनसे कहने लगे कि तुम कोई नया खेल खेलना चाहते हो या वही पुराने खेल जैसे रोज खेला करते हो। सबने नया खेल खेलनेको कहा, इसपर नानकजीने सब बच्चोंको पद्मासन लगवाकर एक गोल पंक्तिमें चुपचाप बैठा दिया और कहा कि मन-ही-मन 'सत्यकर्त्तार', 'सत्यकर्त्तार' कहते चलो। कितनी देर इसी प्रकार बच्चे समाधिमें रहे। माता बड़े चावसे देखनेको आयी कि मेरा नानक कैसे खेलता है, पर वह सब बच्चोंको चुपचाप देख और भी चकित हुई।

पिताजीने संवत् १५३२ में नानक साहबको गोपाल पण्डितके पास हिन्दी पढ़नेके लिये बैठाया, संवत् १५३५ में ब्रजलाल पण्डितके पास संस्कृत-विद्या ग्रहण करनेके लिये और सं० १५३९ में मौलवी कुतबुद्दीन साहिबके पास फारसी पढ़नेके लिये बैठाया; परन्तु इन तीनों उस्तादोंको गुरुजीने अपने आत्मिक बलद्वारा अपना शिष्य बना लिया और समझाया कि विद्याका तत्त्व जाने बिना पढ़ा-लिखा मनुष्य भी मूर्ख है।

गुरु नानकजी सदैव हरिचिन्तनमें लवलीन रहते थे और किसी कार-व्यवहारकी ओर ध्यान नहीं देते थे। इनके पिताकी यह तीव्र इच्छा रहती थी कि ये किसी काममें लगे। एक बार पिताने कुछ रुपये देकर आपको बाहर भेजा कि कोई बढ़िया सौदा खरीदकर लावे। रास्तेमें कई दिनके भूखे विद्वान् संत मिले तो आपने सारे रुपये उनके खाने-पीनेका सामान खरीदनेमें अर्पण कर दिये। घर लौटकर पिताको सब हाल सुनाया और कहा कि जो सौदा आज मैंने खरीदा है उससे अधिक खरा और 'सच्चा सौदा' और कोई नहीं खरीदा जा सकता। इस बातपर पिता बड़े क्रुद्ध हुए और उनको मारा भी। इससे इनकी बहिन श्रीनानकीजीको बड़ा दुःख हुआ, क्योंकि यह अपने भाईको साक्षात् ईश्वरसमान जानती थीं। इसलिये संवत् १५४१ में नानकीजी अपने पति जयरामजीसे कहकर गुरु नानकदेवजीको भी सुलतानपुर अपने घर अपने साथ ही ले आयीं। यहाँ सब लोगोंके कहनेपर संवत् १५४२ में गुरुजीने दौलतखाँ लोदीके मोदीखानेकी सेवा सँभाल ली।

संवत् १५४४ में २४ जेठको आपका विवाह मूलचन्दजीकी सुपुत्री श्रीसुलक्षणीदेवीके साथ हुआ, जिससे आपके दो पुत्र बाबा श्रीचन्द और बाबा लक्ष्मीदास उत्पन्न हुए।

यद्यपि सेवा गुरुजी मोदीखानेमें करते थे, परन्तु मन उनका ईश्वरकी ओर ही रहता था। कितना सामान आप कई दफा मुफ्त बाँट दिया करते थे, परन्तु हिसाब-किताब सब ठीक होता था और कोई सामान जाँच करनेपर कभी घटा हुआ नहीं निकलता था। एक दिन संवत् १५५४ में आटा तौलते समय एक, दो, तीन गिनते हुए जब तेरहपर पहुँचे तो गिनती-विनती सारी भूल गये और तेरा-तेरा कहते ही सारा आटा तौल डाला। आजसे आपने मोदीखानेका कार्य छोड़ दिया। यदि कोई कुछ पूछता था तो उसे यही उत्तर देते थे कि 'न कोई हिन्दू, न मुसलमान'। यह शब्द गुरु साहबके मुखसे कुछ ऐसे वेगसे कहे जाते थे कि लोग चकित रह जाते थे। बात यह थी कि नानक अब केवल नानक ही न थे, वह नानकसे अब गुरु नानक हो गये थे। बस, झट अपने चित्तसे विचारकर आपने निश्चय कर लिया कि अपने अन्तःप्रकाशसे जगत्के अन्धकारका विनाश करना आवश्यक है। यह भी सोच लिया कि घर बैठकर उपदेश करनेसे संसारका पूर्ण उपकार नहीं हो सकता। इसलिये द्वेष, ईर्ष्या, वैर, विरोध आदिकी प्रचण्ड आगसे जलती हुई सृष्टिको ईश्वरके अमृत नामकी वर्षाद्वारा शान्ति प्रदान करनेके लिये आपने संवत् १५५४ में देशाटन आरम्भ कर दिया।

राजयोगी श्रीगुरु नानकदेवजीकी चार यात्राएँ प्रसिद्ध हैं। प्रथम यात्रामें गुरुजी पहले एमनाबाद गये और वहाँके एक बढ़ई भाई लालोके घर रहकर छूत-छातका भ्रम दूर किया। फिर हरिद्वार, देहली, काशी, गया आदि स्थानोंमें सच्चे धर्मका प्रचार करते हुए जगन्नाथपुरी पहुँचकर कर्त्तारकी सच्ची आरतीका उपदेश दिया।

दूसरी यात्रा गुरुजीने दक्षिणकी ओर की और अर्बुदगिरि (कोह आबू), सेतुबन्ध रामेश्वर, सिंहलद्वीप आदि स्थानोंमें कर्त्तारकी भक्तिका प्रचार किया।

तीसरी यात्रामें आपने सरमौर, गढ़वाल, हेमकूट, गोरखपुर, सिक्किम, भूटान, तिब्बत आदि स्थानोंमें 'वाहिगुरु' परमात्माकी अनन्य उपासना दृढ़ करायी।

चौथी यात्रा पश्चिमकी ओर की। बलोचिस्तान होते हुए मक्के पहुँचे और एक दिशाकी ओर मुख करके सर्वव्यापी कर्तारकी नमाज पढ़नेका खण्डन किया। रूम, बगदाद, ईरान आदिकी सैर करते हुए कंधार, काबुल आदिमें सत्यनामका सदुपदेश देते हुए हसन अबदालनिवासी वली कंधारीका अभिमान दूर किया।

गुरु नानकदेवजीका उपदेश करनेका ढंग विचित्र तथा नवीन था। वे इस ढंगसे उपदेश करते थे जो बिजलीकी तरह असर करता था। मक्के पहुँचकर गुरुजी काबेकी ओर पैर करके सो गये। जब काजी क्रुद्ध हुआ तो गुरुजीने कहा—काजीजी, जिधर अल्लाहका घर न हो मेरे पैर उधर कर दीजिये। कहते हैं कि काजीने गुरुजीके पैर जिधरको फेरे काबा भी उधर ही फिर गया।

सं० १५७९ में २५ वर्ष भ्रमण करनेके बाद गुरुजी कर्त्तारपुरमें (जिसे उन्होंने सं० १५६१ में स्वयं आबाद किया था) रहने लगे और भक्तिरसके सदावर्तके साथ-साथ अन्नका लंगर भी सब लोगोंके लिये जारी किया। यहीं इसी साल गुरुजीके माता-पिताका देहान्त हुआ।

यह सिद्ध करनेके लिये कि आचार्यपदवीका अधिकारी एक योग्य पुरुष ही हो सकता है गुरुजीने अपनी गद्दी अपने किसी पुत्रको नहीं दी, किन्तु अपने एक योग्य शिष्य श्रीअंगदजीको दी और (इसके पश्चात्) २३ आसोज (सुदी १०) सं० १५९६ (२२ सितम्बर सन् १५३९) को परलोक गमन किया। आपकी आयु ७० वर्ष ४ महीने ३ दिनकी हुई। अन्तिम संस्कार करनेके लिये सिख, हिन्दू और मुसलमानोंका परस्पर विवाद हुआ; क्योंकि ये सभी जगत्-गुरुको अपना ही गुरु पीर मानते थे। अन्तको जब गुरुसाहबका वस्त्र उठाया गया तो वहाँ गुरुजीका शरीर नहीं मिला, इसलिये आधा वस्त्र लेकर मुसलमानोंने कब्र बनायी और आधा वस्त्र हिन्दू-सिखोंने लेकर संस्कार किया।

आपकी उच्चारण की हुई तथा रचित सारी वाणी पंचम गुरु श्रीगुरु अर्जुनदेवजीकी अपार कृपाद्वारा श्रीगुरुग्रन्थसाहबमें संकलित है। इसके पठनसे पता चलता है कि श्रीगुरु नानकदेवजी हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध, ईसाई आदि सब संतोंके केन्द्रिय स्थानोंपर पहुँचे और अपने ईश्वरीय ज्ञानसे उन्हें सीधे मार्गपर डाला। जपुजी, पट्टी, आरती, दक्षिणीय ओंकार, सिद्धगोष्ठी आदि आपकी प्रसिद्ध वाणियोंमेंसे हैं। नीचे आपका एक शब्द देते हैं—

राग सूही, महला १

अंतरि बसै, न बाहरि जाइ।
अंमृतु छोड़ि काहे बिषु खाइ॥ १॥
ऐसा गिआनु जपहु मन मेरे।
होवहु चाकर साँचे केरे॥ २॥ रहाउ
गिआनु, धिआनु सभु कोई रवै।
बाँधनि बाँधिआ सभु जगु भवै॥ ३॥
सेवा करे सु चाकर होइ।
जलि थलि महीअलि रवि रहिआ सोइ॥ ४॥
हम नहीं चंगे, बुरा नहीं कोइ।
प्रणवति नानकु तारे सोइ॥ ५॥ १॥ २॥

(—श्रीगुरुग्रन्थसाहिबजी)

(२) श्रीगुरु अंगददेवजी—द्वितीय नानक

सिखमतके दूसरे गुरु श्रीगुरु अंगददेवजी हुए हैं। इनका पहला नाम लहणा था। भाई लहणाजीका जन्म रविवारके दिन वैशाख बदी १ (५ वैशाख) सं० १५६१ (३१ मार्च सन् १५०४) को फेरूमल खत्रीके घर माता दयाकुँवरिके उदरसे मत्तेकी सराइ (जिला फिरोजपुर) में हुआ। सं० १५७६ में आपका विवाह संघर ग्राममें देवीचन्द खत्रीकी सुपुत्री बीबी खीवीजीके साथ हुआ, जिससे आपके दो पुत्र दासूजी और दातूजी और दो पुत्रियाँ बीबी अमरो और बीबी अणोखीजीने जन्म लिया।

बाबरकी चढ़ाईके समय मत्तेकी सराइ भी लूट ली गयी, इसलिये भाई लहणाजीने अपना निवासस्थान वहाँसे हटाकर खडूरसाहबमें बना लिया। यहीं आपके पिताका देहान्त हो गया, जिससे आपके पिताकी दूकान और कारोबारका सारा बोझ अब आपके सिरपर आ पड़ा। भाई लहणाजीने अपनी दूकानका कार्य बड़ी उत्तम रीतिसे चलाया। ईमानदारी और सच्चाईके कारण सब लोग आपका विश्वास करते थे।

भाई लहणाजी अपने पिताकी तरह देवीके उपासक थे और अपने शुद्ध आचरणके कारण सब देवी-उपासकोंके मुखिया बन गये थे। आप हर साल देवीके दर्शनार्थ यात्रा किया करते थे। सं० १५८९ में ज्वालादेवीकी यात्राको जाते समय कर्त्तारपुरमें श्रीगुरु नानकदेवजीसे आपकी भेंट हो गयी। गुरुदेवका दर्शन करते ही भाई लहणाजीका मन शान्त हो गया। गुरु-उपदेश सुनकर आप सतिगुरु नानकदेवजीके अनन्य सिख हो गये।

भाई लहणाजी अब अपना कारबार छोड़कर कर्त्तारपुरमें ही गुरु नानकदेवजीकी सेवामें रहने लगे। श्रीगुरु नानकदेव आपकी सेवा और भक्तिसे इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने १७ आषाढ़ सं० १५९६ को आपका नाम लहणासे बदलकर 'अंगद' रखा और

अपनी गुरुगद्दीपर स्थापित कर दिया।

श्रीगुरु अंगददेवजी अपने गुरु नानकसे इतना प्रेम करते थे कि उनका विछोह सहना उनके लिये अति कठिन हो गया। श्रीगुरु नानकजीके परलोकगमनके पश्चात् आप खडूरसाहब वापिस चले गये, और अपने-आपको एक कोठड़ीमें बंद करके सदैव कर्तारके चिन्तनमें ही लीन रहने लगे। सिखोंको आपका दर्शन करनेकी भी आज्ञा नहीं थी और जब कितना ही समय इस प्रकार बीतने लगा तो सिख संगत अपने गुरुके दर्शनके लिये बहुत व्याकुल होने लगी। अन्तमें एक अनन्य सिख भाई बुड्ढाजीकी प्रेरणासे गुरु अंगददेवजीने अपना प्रेम तथा विरहसमाधि छोड़ी और अपने श्रीमुखसे यह वाक्य उच्चारण किया—

जिसु पियारे सिउँ नेहु तिसु आगै मरि चल्लियै।
धृग जीवणु संसारि ताकै पाछै जीबणा॥ २। ३॥

और फिर कहा—

जो सिरु साईं ना निवै, सो सिरु दीजै डारि।
नानक जिसु पिंजर महिं बिरहा नहीं, सो पिंजर लै जारि॥ १। १५॥

(श्रीरागकी वार, श्रीगुरुग्रन्थसाहिबजी)

श्रीगुरु अंगददेवजीने अब गुरुआईका कार्य बड़ी उत्तम रीतिसे सँभाल लिया और परमगुरु नानकके सिद्धान्तोंका प्रचार आरम्भ कर दिया। सबसे पहला और उत्तम कार्य जो उन्होंने किया वह श्रीगुरु नानकदेवजीके शब्दों तथा वाणीका संकलित करना था। यह वाणी विशेषकर पंजाबी बोलीमें होनेके कारण इसको लिखनेके लिये एक नवीन लिपिकी आवश्यकता हुई, क्योंकि इससे पहले पंजाबी साहित्य कोई था ही नहीं और इसलिये पंजाबी लिपिकी भी कोई आवश्यकता उत्पन्न नहीं हुई थी। इसको पूरा करनेके लिये सं० १५९८ में श्रीगुरु अंगददेवजीने जो लिपि निर्माण की वह अब 'गुरुमुखी' के नामसे प्रसिद्ध है। सं० १६०१ में आपने श्रीगुरु नानकदेवजीकी जन्मसाखी लिखवायी जो अब 'भाई बालेकी जन्मसाखी' के नामसे प्रसिद्ध है।

हुमायूँ बादशाह शेरशाहसे हार खाकर गुरु अंगददेवजीके पास आशीर्वाद लेनेके लिये आया। परन्तु गुरुसाहब उस समय किसी और ही रंगमें मग्न थे, इसलिये उन्होंने हुमायूँकी कुछ भी परवा नहीं की। इसपर हुमायूँको बड़ा गुस्सा आया, उसने म्यानसे तलवार खींच ली और चाहा कि गुरुसाहबका सिर उड़ा दें परन्तु हुमायूँका हाथ काँप गया और वह तलवार न चला सका। इसपर गुरुजी खूब मुसकराये और कहा 'ऐ कायर! शेरशाहसे हार खाकर अब फकीरोंपर वार करने आया है? जा, अगर तुझे तख्त वापस लेनेकी आरज है तो पहले अपने वतनको जा।'

श्रीगुरु अंगददेवजीने बारह साल, नौ महीने और सत्रह दिन गुरुगद्दीपर विराजकर ३ वैशाख (चैत सुदी ४) सं० १६०९ (२९ मार्च सन् १५५२) को परलोक गमन किया। आपकी आयु इस समय ४७ वर्ष ११ महीने २९ दिनकी थी।

नीचे आपकी वाणीके कुछ उदाहरण देते हैं। पाठकोंको याद रहना चाहिये कि सिखमतमें दसों गुरुओंको एक ही ज्योति माना जाता है। बहुधा गुरुओंने वाणी भी जो उच्चारण की है वहाँ अपना नाम सर्वत्र 'नानक' ही लिखा है। इस ज्ञानके लिये कि यह कौन-से नानककी वाणी है, शब्दोंके पहले 'महला' शब्द लिखकर अंक लगा दिया है। जैसे 'श्लोक महला ५' जहाँ लिखा है इससे यह समझा जायगा कि यह श्लोक पाँचवें गुरु श्रीगुरु अर्जुनदेवजीका उच्चारण किया हुआ है। नीचे जो वाणी देते हैं यह महला २ की है—

नानक चिंता मति करहु चिंता तिसही हेइ।
जल महि जंत उपाइनु तिना भि रोजी देइ॥
ओथै हट्टु न चल्लई ना को किरस करेइ।
सउदा मूलि न होवई, ना को लए न देय॥
जीआ का आहारु जीअ, खाणा एहु करेइ।
विचि उपाए साइरा तिना भि सार करेइ॥
नानक चिंता मति करहु चिंता तिसही हेइ। १। १८।

—रामकलीकी वार

× × × ×

जोग सबदं गियान सबदं बेद सबदं ब्राहमणह।
खत्री सबदं सूर सबदं सूद्र सबदं पराक्रितह॥
सरब सबदं एक सबदं जे को जाणै भेउ।
नानकु ताका दासु है सेई निरंजन देउ॥ ३॥
एक क्रिसनं सरब देवा देव देवात आतमा।
आतमा बासुदेवस्य जे को जाणै भेउ॥
नानकु ताका दासु है, सोई निरंजन देउ। ४। १२।

—आसाकी वार

× × × ×

निहफलं तसि जनमसि जावतु ब्रह्म न बिंदते।
सागरं संसार सि गुर परसादी तरहि के॥
करण कारण समरथु है, कहु नानक बीचारि।
कारणु करते वसि है जिनि कल राखी धारि।२।२३

—माझकी वार (श्रीगुरुग्रन्थसाहिबजी)

(३) श्रीगुरु अमरदासजी—तृतीय नानक

श्रीगुरु अमरदासजी सिखमतके तीसरे गुरु हुए हैं। इनका जन्म वैशाख सुदी १४ (१० जेठ) सं० १५३६ (५ मई, सन् १४७९) को बासरका गाँवमें तेजमान भल्ले खत्रीके घर माता सुलक्षणीके उदरसे हुआ। सं० १५५९ की ११ माघको आपका विवाह श्रीमती मनसादेवीके साथ हुआ, जिससे आपके दो पुत्रियाँ बीबी दानी और बीबी भानी और दो पुत्र बाबा मोहनजी और बाबा मोहरीजीने जन्म लिया।

अमरदासजी वैष्णव होनेके कारण विशेष आचार-विचारसे रहते थे। हर साल हरिद्वार गंगास्नानकी यात्राको जाया करते थे और हिन्दूमतके अन्य सिद्धान्तोंका नियमानुसार पालन किया करते थे। इसी प्रकार इनकी आयु साठ वर्षकी हो गयी, परन्तु चित्त शान्तिको प्राप्त नहीं हुआ। सं० १५९७ में एक दिन प्रात:कालके समय एक सुन्दर शब्दकी मधुर ध्वनि आपके कानोंमें पड़ी। इस शब्दने आपके मनमें ऐसा आनन्द उत्पन्न किया जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। इसलिये आपको यह जाननेकी तीव्र इच्छा हुई कि यह शब्द किसका है और इसे कौन गायन कर रहा है। ध्वनि आपके भाईके घरकी ओरसे आ रही थी। पता लगानेपर मालूम हुआ कि आपके भाईके लड़केकी नवविवाहिता स्त्री बीबी अमरोजी शब्द गायन कर रही हैं। आपने झट बीबी अमरोजीसे जा पूछा कि यह शब्द किसका है। बीबीजीने उत्तर दिया कि यह शब्द परम गुरुदेव श्रीगुरु नानकदेवजीका है, जिनकी गद्दीपर इस समय मेरे पिता श्रीगुरु अंगददेवजी विराजमान हैं। अमरदासजीने बीबीजीको उन्हें अपने पिताके पास ले चलनेको कहा। बीबी अमरोजी अमरदासजीको खडूरसाहबमें अपने पिता गुरु अंगददेवजीके पास ले गयीं। वहाँ पहुँचकर अमरदासजी गुरु अंगददेवजीके सिख बन गये और उनकी निष्काम सेवामें अपना समय व्यतीत करने लगे।

आपने इस वृद्धावस्थामें भी लगभग बारह सालतक बड़ी कठिन निष्काम सेवा की। और कार्योंके अलावा आप हर रोज प्रात:कालसे पहले व्यास नदीमेंसे स्वच्छ जलका एक घड़ा भरकर गुरुजीको स्नान करानेके लिये लाया करते थे। इससे आपको लगभग छ: मील रोज चलना पड़ता था, क्योंकि व्यास नदी खडूरसाहबसे तीन मीलकी दूरीपर है। इसी प्रकार एक दिन आप जल लिये चले आ रहे थे कि रात अँधेरी होनेके कारण एक जुलाहेके घरके सामने आपका पैर फिसल गया। आपके और जलके टोकनेके गिरनेसे धड़ामकी आवाज हुई। इससे जुलाहेकी नींद खुल गयी और उसने अपनी स्त्रीसे पूछा कि ऐसी अँधेरी रातमें भला कौन यहाँ गिरा है। स्त्री बोली, 'वही होगा अमरु 'निथावाँ' (निघरा), और कौन हो सकता है। उसका न घर है न घाट, इसीसे उसे रात-दिनका भी तो होश नहीं रहता।'

इस घटनाकी सूचना श्रीगुरु अंगददेवजीतक भी पहुँची। उन्होंने अमरदासजीको अपनी छातीसे लगाया। उस दिन स्वयं उस जलसे स्नान नहीं किया किन्तु अपने पवित्र हस्तकमलोंसे उस जलके साथ अमरदासजीको आपने स्नान कराया और सब सिखोंके सम्मुख ३ वैशाख सं० १६०९ को गुरुआईकी गद्दी अमरदासजीको दी। भरे दरबारमें गुरु अंगददेवजीने उस घटनाका वर्णन किया और कहा कि यह अमरु निथावाँ नहीं, यह आजसे श्रीगुरु अमरदासजी निथावोंके थान होंगे, निघरोंके घर, निओटोंकी ओट, निराश्रयोंके आश्रय…………।

गुरुसिंहासनपर विराजकर श्रीगुरु अमरदासजीने सिखधर्मका उत्तम प्रचार किया। श्रीगुरु अंगददेवजीके सुपुत्र भाई दासू और भाई दातूजीके विरोधके भयसे आपने अपना निवासस्थान खडूरसाहबसे हटाकर गोइँदवालमें बना लिया। पर यहाँ भी वह उन्हें चैनसे न रहने देते थे। एक समय भाई दातूजी जब गोइँदवाल पहुँचे तो वे श्रीगुरु अमरदासजीको सिखोंमें सुशोभित हुए न देख सके और उन्होंने गुरुजीको पैर मारकर अपनी जगहसे नीचे गिरा दिया। वृद्ध श्रीगुरुजी इसपर क्रुद्ध नहीं हुए और केवल इतना ही कहा—महाराज! क्षमा करें, आपके कोमल चरणोंको मेरी कड़ी हड्डियोंसे कहीं चोट तो नहीं आ गयी है? ऐसे ही नम्र भावका सदुपदेश आप अपने सिखोंको दिया करते थे।

अन्य देशोंमें सिख-धर्मके प्रचारार्थ गुरु अमरदासजीने बाईस केन्द्र स्थापित किये। गुरुजीकी यह

आज्ञा थी कि जो भी उनके दर्शनार्थ आवे पहले वह उनके लंगरमें भोजन पावे। आपने रोगियोंके रोग दूर करनेके यत्न किये। सबके हितके लिये सं० १६१६ में चौरासी सीढ़ियोंकी एक बावली बनवायी।

आपने बाईस वर्ष पाँच महीने गुरुआईका कार्य किया और पंचानवे वर्ष तीन महीने तेईस दिनकी लंबी आयु भोगकर भादों सुदी पूर्णमासी (२ आसोज) सं० १६३१ (१ सितम्बर सन् १५७४) को परलोकगमन किया।

'आनन्द' आपकी मुख्य वाणियोंमेंसे एक है। नीचे कुछ उदाहरण आपकी वाणीके दिये जाते हैं—

राग गूजरी, महला ३

राम राम सभु को कहै, कहिऐ रामु न होइ।
गुर-परसादी रामु मनि वसै, ता फलु पावै कोइ॥ १॥
अंतरि गोविंद जिसु लागै प्रीति।
हरि तिसु कदे न वीसरै, हरि हरि करहि सदा मनि चीति।१। रहाउ
हिरदै जिन्हकै कपटु वसै, बाहरहु संत कहाहि।
त्रिसना मूलि न चुकई, अंति गए पछुताहि ॥ २॥
अनेक तीरथ जे जतन करै, ता अंतरकी हउमै कदे न जाइ।
जिसु नरकी दुबिधा न जाइ, धरमराइ तिसु देइ सजाइ॥ ३॥
करमु होवै सोई जनु पाए गुरमुखि बूझै कोइ।
नानक बिचहु हउमै मारे ताँ हरि भेटै सोइ ॥ ४। ४। ६॥

राग धनासिरी, महला ३

हम भीखक भेखारी तेरे, तू निजपति है दाता।
होहु दैआल, नामु देहु मंगत जन कउ, सदा रहउ रँगि राता॥ १॥
हउ बलिहारै जाउ, साचे तेरे नाम विटहु।
करण कारण सभनाका एको, अवरु न दूजा कोई॥ १॥ रहाउ
बहुते फेर पए किरपन कउ, अब किछु किरपा कीजै।
होहु दइआल, दरसनु देहु अपुना, ऐसी बखस करीजै॥ २॥
भनति नानक भरम पट खूल्हे, गुर-परसादी जानिया।
साची लिव लागी है भीतरि, सतिगुर सिउ मनु मानिया॥ ३॥ १। ९॥

श्लोक महला ३

धंधा धावत दिनु गइआ, रैण गवाई सोइ।
कूड़ु बोलि विषु खाइआ, मनमुखि चलिआ रोइ॥
सिरै उपरि जम-डंडु है, दूजै भाइ पति खोइ।
हरिनामु कदे न चेतिओ, फिरि आवण-जाणा होइ॥
गुर-परसादी हरि मनि बसै, जम-डंडु न लागै कोइ।
नानक सहजे मिलि रहै, करमि परापति होइ॥ २॥

—रामकलीकी वार (श्रीगुरुग्रन्थसाहिबजी)

(४) श्रीगुरु रामदासजी—चतुर्थ नानक

इनका पहला नाम भाई जेठाजी था। इनका जन्म बृहस्पतिवार २६ आसोज (कार्तिक बदी २) सं० १५९१ (सन् १५३४) को लाहौर शहरकी चूनीमण्डीमें सोढ़ी हरिदास खत्रीजीके घर माता दयाकुँवरीके उदरसे हुआ।

आप पहलेसे ही संतस्वभावके थे। आप बाजारमें उबले हुए चने बेचा करते थे। एक दिन आप चने बेच रहे थे कि एक साधुने आकर आपसे चने माँगे। आपने एक मुट्ठी भरकर दी। साधुने और माँगे, आपने तीन-चार मुट्ठी और दे दिये। इसपर भी जब साधुजीने और माँगे तो भाई जेठाजीने सारे-के-सारे चने साधुजीको दे दिये। इसपर वह साधु भाई जेठापर बड़े प्रसन्न हुए और आशीर्वाद देते चले गये। इसके पीछे फिर भाई जेठाजीने चने नहीं बेचे।

आपका विवाह २२ फाल्गुन सं० १६१० को श्रीगुरु अमरदासजीकी सुपुत्री बीबी भानीजीके साथ हुआ जिससे आपके तीन पुत्र पृथीचंद, महादेव और अर्जुनदेवजीने जन्म लिया।

विवाहके पश्चात् भाई जेठाजी गोइँदवालमें ही श्रीगुरु अमरदासजीके पास रहने लगे। परन्तु वह दामाद बनकर नहीं रहे थे, वह एक गुरु-सिखकी तरह रात-दिन सेवा करते थे और अपना जीवन सफल करते थे। सं० १६१६ में जब श्रीगुरु अमरदासजी बावली बनवा रहे थे तो भाई जेठाजीने भी मिट्टीकी टोकरियाँतक अपने सिरपर ढोकर बड़ी कठिन सेवा की। इसपर लाहौरकी आई-संगतने बहुत बुरा माना और गुरु अमरदासजीसे शिकायत की कि आपको अपने दामादसे ऐसा काम लेना कदापि उचित नहीं है। गुरुजीने सबकी दाद-फरियाद सुनकर उत्तर दिया—'भाइयो! आपको तो यह दिखायी देता है कि भाई जेठा मिट्टीका टोकरा उठाये जा रहे हैं, किन्तु आप भूलमें हैं; यह मिट्टीका टोकरा नहीं, यह तो दीन-दुनीके राज्यका छत्र है।'

श्रीगुरु अमरदासजीने अपने लंगरमें सबको पास-पास एक साथ एक ही पंक्तिमें बैठाकर भोजन पानेका रिवाज जारी किया था, इससे लाहौरके बहुत-से ब्राह्मण और खत्रियोंने मिलकर अकबर बादशाहके पास शिकायत लिख भेजी कि गुरु अमरदास लोगोंका धर्म भ्रष्ट कर रहे हैं, जिससे बदअमनी फैलनेकी सम्भावना है।

गुरु श्रीरामदासजी

गुरु श्रीअर्जुनदेवजी

गुरुद्वारा श्रीहरिमन्दिरसाहब, अमृतसर (स्वर्णमन्दिर)

गुरुद्वारा श्रीतरनतारनसाहब

गुरु श्रीहरकृष्णजी

अकबर बादशाहने गुरुसाहिबको सफाई पेश करनेके लिये लाहौर बुलवा भेजा। गुरु साहब स्वयं नहीं गये, किन्तु भाई जेठाजीको इस कार्यके योग्य समझकर उन्हें अपनी जगह बादशाहके पास भेजा। भाई जेठाजीने अकबरके दरबारमें पहुँचकर जब सिखमतके अनुसार मनुष्यजातिकी सर्वथा एक ही जाति होनेका सिद्धान्त समझाया तो अकबर बादशाह अति प्रसन्न हुए, इतने प्रसन्न हुए कि वह स्वयं गुरु अमरदासजीके दर्शन करनेको गोइँदवाल चलकर आये। यहाँ सं० १६२२ में अकबरने झबाल परगनेके बारह ग्राम गुरुजीकी भेंट किये।

सं० १६२७ में गुरु अमरदासजीकी आज्ञासे भाई जेठाजीने श्रीअमृतसरके सरोवरका बनवाना आरम्भ किया। २ आसोज सं० १६३१ को प्रसन्न होकर गुरु अमरदासजीने भाई जेठाजीका नाम श्रीरामदास रखा और उन्हें गुरुआईकी गद्दी बख्शी।

श्रीगुरु रामदासजी कुछ समय गोइँदवाल ही रहे और वाहिगुरु हरिनामकी वर्षा करते रहे। पश्चात् आप श्रीअमृतसरके सरोवर और हरिमन्दिरको पूरा करनेके लिये श्रीअमृतसर आ गये। सिखोंको भी गुरुजीने यहीं आकर अपने मकान बनाकर रहनेकी आज्ञा दी। इसके अलावा ५२ पृथक् वाणिज्यके मनुष्योंको यहाँ लाकर बसाया। जिस बाजारमें इन्होंने अपनी दूकानें खोलीं वह अब भी 'गुरुका बाजार' के नामसे प्रसिद्ध है। यहीं 'गुरु रामदास तारण तरणम्' की प्रतिष्ठाकी बड़ी वृद्धि हुई। दूर-दूरसे संतजन आपके दर्शनार्थ आते थे। एक बार बहुत-से सिद्ध साधुओंका टोला आपसे तर्क-विवाद करने आया। गुरुजीने अपने रूहानी कमालद्वारा उनमें शान्ति पैदा की। यहीं एक तपा साधु भी इसी तरह आपसे तर्क-विवाद करने आया, गुरुजीने उसको भी उसी प्रकार शान्त किया।

श्रीअमृतसरोवरकी कार्य-सेवा अभी हो रही थी जब कि आपको अपने पिता हरिदासजीका स्वर्गवास हो जानेकी सूचना मिली। आप लाहौर गये, अपने घरको गुरुद्वारा बनाया और यात्रियोंके हितके लिये वहाँ एक कुआँ बनवा दिया। यह गुरुद्वारा आजकल 'जन्मस्थान' के नामसे प्रसिद्ध है। यहाँसे गुरु रामदासजी फिर श्रीअमृतसर वापिस आ गये और सरोवरके कार्यकी देखभाल करने लगे।

यहीं बाबा श्रीचन्दजी (गुरु नानकदेवजीके सुपुत्र) एक दिन गुरु रामदासजीसे मिलने आये। गुरु रामदासजी उनके साथ बड़े प्यार और सत्कारसे मिले। बाबा श्रीचन्दजीने गुरु रामदासजीसे पूछा कि आपकी दाढ़ी इतनी लंबी क्यों है? गुरुजीने उत्तर दिया कि आप-जैसे परमेश्वरके प्यारोंके चरण झाड़नेके लिये। ऐसे नम्र भावके वचन सुनकर बाबाजी धन्य-धन्य कह उठे और कहा कि आपकी महिमा दूर-दूरतक पसर रही है, ऐसे ही गुणोंके कारण आपको श्रीपरमपिता गुरु नानकदेवकी गद्दी प्राप्त हुई है, आप धन्यताके योग्य, पूर्ण पुरुष और सच्चे गुरु हैं।

भादों सुदी १, सं० १६३८ को गुरु रामदासजीने अपने छोटे सुपुत्र श्रीअर्जुनदेवजीको गुरुआई दी—

रामदास गुरु जग तारन को
गुरु-जोति सु अर्जुन माहिं धरी।

पश्चात् आपने गोइँदवाल जाकर २ आसोज (भादों सुदी ३) सं० १६३८ (सन् १५८१) शुक्रवारको परलोकगमन किया। आपने पूरे सात वर्ष गुरुआई की और छियालीस वर्ष ग्यारह महीने सात दिनकी आयु भोगकर इहलोकका त्याग किया।

नीचे श्रीगुरु रामदासजीका महावाक्य 'तारकमन्त्र' देते हैं जिसमें आपने गुरु-सिखोंके रहन-सहनका ढंग प्रकट किया है—

गुर सतिगुर का जो सिखु अखाए
सु भलके उठि हरिनामु धिआवै।
उदमु करे भलके प्रभाती
इसनानु करे अमृतसरि न्हावै॥
उपदेसि गुरु हरि हरि जपु जापै
सभि किल विख पाप दोख लहि जावै।
फिरि चढ़ै दिवसु गुरवाणी गावै
बहँदिआँ उठदिआँ हरिनामु धिआवै॥
जो सासि गिरासि धिआए मेरा हरि हरि
सो गुर सिखु गुरु मनि भावै।
जिसनो दयालु होवै मेरा सुआमी
तिसु गुर सिख गुरू-उपदेसु सुणावै।
जनु नानकु धूड़ि मंगै तिस गुरू-सिखकी
जो आपि जपै अवरह नामु जपावै॥

(श्रीगुरुग्रन्थसाहिबजी)

(५) श्रीगुरु अर्जुनदेवजी—पंचम नानक

सिखसम्प्रदायके पाँचवें गुरु श्रीगुरु अर्जुनदेवजी हुए हैं। आप चौथे गुरु रामदासजीके छोटे सुपुत्र थे। आपका जन्म गोइँदवालमें वैशाख प्रविष्ठा १९ (वैशाख बदी ७)

सं० १६२० (१५ अप्रैल सन् १५६३) को बीबी भानीजीके उदरसे हुआ। २३ आषाढ़ सं० १६३६ को आपका विवाह मउ ग्राममें कृष्णचन्दजीकी सुपुत्री श्रीमती गंगादेवीजीके साथ हुआ, जिनके उदरसे आपके महावीर सुपुत्र श्रीगुरु हरिगोविन्दजीने जन्म लिया।

आपके पिता श्रीगुरु रामदासजीने इन्हें सर्वगुणोंसे सम्पन्न देख आपको भादों सुदी १, सं० १६३८ को गुरुआईकी गद्दी बख्शी। परन्तु संसारके रिवाजके अनुसार आपके बड़े भाई पृथीचन्दने इसका विरोध किया। शान्तिपुंज श्रीगुरु अर्जुनदेवजीने विरोध न करते हुए अपना निवास श्रीअमृतसरसे हटाकर कुछ समयके लिये पास ही एक बडाली ग्राममें बदल लिया।

आपने धर्मकार्योंके निर्वाहके लिये सिखोंकी कमाईमेंसे दशमांश लेनेकी मर्यादा कायम की। सं० १६४५ में श्रीअमृतसरोवरमें हरिमन्दिरकी नींव रखी। यह मन्दिर आजकल स्वर्णमन्दिर नामसे प्रसिद्ध है। नम्र भावको दृढ़ करानेके लिये यह एक नीचे स्थानपर बना हुआ है। यह हरिमन्दिर चारों वर्णके आदमियोंके लिये खुला है। यहाँ हर एक मत अथवा धर्मका मनुष्य—हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि कोई भी इसके अंदर बिना किसी तरहके भेदभावके हर समय जा सकता है। यहाँ आठों पहर हरिकीर्तन होता रहता है और यहाँ जानेसे मनको एक अद्भुत शान्ति मिलती है।

संवत् १६६१ में श्रीगुरु अर्जुनदेवजीने चारों गुरुओंकी वाणी संकलित की और साथ अपनी रचित वाणी और कुछ भक्तोंकी जोड़कर एक ग्रन्थ निर्माण किया, जो अब श्रीगुरु 'ग्रन्थसाहिब' के नामसे प्रसिद्ध है। इसी साल ग्रन्थसाहिब तैयार हो जानेपर गुरुजीने इसे हरिमन्दिरमें स्थापन कर दिया और इस ग्रन्थसाहिबकी सेवाके लिये अपने अनन्य सिख भाई बुड्ढाजीको ग्रन्थी बनाया।

अकबर बादशाह इस समय गुरदासपुरके इलाकेमें आया हुआ था। उसके इस आगमनसे लाभ उठानेके लिये गुरुगद्दीके विरोधी हिन्दू, मुसलमान और पृथीचन्द आदि सब इकट्ठे होकर अकबरके दरबारमें पहुँचे और कहा कि गुरु नानकदेवजीकी गद्दीके वर्तमान मालिक श्रीगुरु अर्जुनदेवने एक नया धर्मग्रन्थ निर्माण किया है जिसमें हिन्दू, मुसलमान दोनोंकी निन्दा की गयी है और इन दोनों मतोंके सिद्धान्तोंका खण्डन किया गया है; यदि अभी इसका कोई उपाय न किया गया तो प्रजामें अशान्ति और राज्यप्रबन्धमें रुकावटें उत्पन्न होनेकी सम्भावना है। यह सब बातें सुनकर अकबरने अपना आदमी गुरु अर्जुनदेवजीके पास भेजा और श्रीग्रन्थसाहिबके दर्शन करनेकी याचना की। गुरुजीकी आज्ञा पाकर भाई बुड्ढाजी कुछ अन्य सिखोंके साथ श्रीग्रन्थसाहिबको अकबरके दरबारमें ले गये। जब पढ़नेके लिये खोला तो यह शब्द निकला—

राग रामकली, महला ५

कोई बोलै राम राम, कोई खुदाइ।
कोई सेवै गुसईआँ, कोई अलाहि॥ १॥
कारण करण करीम।
किरपा धारि रहीम॥ १॥ रहाउ॥
कोई न्हावै तीरथि, कोई हज जाइ।
कोई करै पूजा, कोई सिरु निवाइ॥ २॥
कोई पढ़ै बेद, कोई कतेब।
कोई ओढ़ै नील, कोई सुपेद॥ ३॥
कोई कहै तुरकु, कोई कहै हिन्दू।
कोई बांछै भिसतु, कोई सुरगिन्दू ॥ ४॥
कहु नानक जिनि हुकमु पछाना।
प्रभु साहिबका तिनि भेदु जाना॥ ५॥ ९॥

शब्दकी प्रत्येक कड़ीने अकबरके हृदयपर बड़ा असर किया और शब्दके समाप्त होनेपर बादशाहने किसी दूसरी जगहसे पढ़नेको कहा। वहाँसे भी एक ऐसा ही शब्द आया और फिर जहाँ-जहाँसे भी पाठ किया गया सब जगह वही सर्वशक्तिमान्‌की महिमा, शक्तिपूर्ण और सत्यवादी होनेकी प्रेरणा अथवा जीवमात्रके साथ प्रेम करनेका आदेश और दिल हिला देनेवाले सदुपदेश ही मिले। ज्यों-ज्यों पाठ किया जाता था त्यों-त्यों बादशाहके दिलमें श्रद्धा उत्पन्न होती जाती थी। अन्तमें वह इतना श्रद्धावान् हो गया कि उसने ग्रन्थसाहिबको भाई बुड्ढाजीके साथ बड़े आदर-सत्कारसे वापिस भेजा और अपने दौरेका निश्चित प्रोग्राम बदलकर श्रीअमृतसरमें खास पड़ाव किया। हरिमन्दिर श्रीदरबार साहबके दर्शन किये, ५१ अशरफियाँ भेंट चढ़ायीं और श्रीगुरु अर्जुनदेवजीसे विनय की कि कुछ जागीर श्रीहरिमन्दिर साहिबके नाम लगाना चाहता हूँ। श्रीगुरु अर्जुनदेवजी यदि चाहते तो इस समयका लाभ उठाकर शत्रुओंका नाश करा सकते थे, परन्तु नहीं; वह पूर्ण संतस्वरूप थे, इसलिये किसीसे

वैर करना उनके लिये असम्भव था। और न गुरु साहिबको किसी सांसारिक राज्यपदार्थकी इच्छा थी। इसलिये उन्होंने बादशाहसे कहा कि अबके वर्षा न होनेके कारण फसल नहीं हुई है और जमींदार लाचार हैं, इसलिये आप यदि कुछ देना चाहते हैं तो पंजाबकी जमीनोंका लगान माफ कर दीजिये। अकबर गुरु साहिबकी वाणीपर तो मुग्ध हो ही चुका था, अब उसे गुरु साहिबकी परमार्थ निष्कामता तथा लोकहितकी यह बात सुन चरणोंमें अपना सीस झुका दिया और लाखों रुपयोंका लगान छोड़ दिया।

परन्तु यह श्रद्धालु बादशाह अधिक समयतक नहीं रहा। इसके पश्चात् जब जहाँगीर बादशाह तख्तनशीन हुआ तो गुरुजीके वैरियोंको अपना वैर साधनेका फिर मौका मिल गया, क्योंकि जहाँगीर पहलेसे ही सिखोंके विरुद्ध था। जैसा कि उसने अपनी 'तुजुक जहाँगीरी' में स्वयं लिखा है—'गोइँदवालमें, जो ब्यासके किनारे है, एक हिन्दू संतत्व और पवित्रताके वेशमें रहता है, ऐसा कि सादा-दिल हिन्दू अनेकों ही उसके पीछे लगे रहते हैं और नादान और मूर्ख मुसलमान भी उसके बर्ताव और आचरणके साथ उसकी पवित्रताका ढोल जोरसे बजाते हैं। वह उसे गुरु कहते हैं और चारों दिशाओंसे मूर्खलोग जमा होकर उसे पूजते हैं और अपनी पूरी श्रद्धा उसपर प्रकट करते हैं। तीन-चार पीढ़ियोंसे यह दूकान गरम है। अनेक बार मैंने विचार किया है कि इस बेहूदा मामलेकी समाप्ति कर दूँ या उस (गुरु अर्जुनदेव)-को इस्लामकी जमातमें दाखिल कर लूँ।' अब जब कि गुरु अर्जुनदेवके भाई पृथीचन्दने अन्य द्वेषियोंके साथ मिलकर जहाँगीरसे झूठी चुगली खायी कि गुरु अर्जुनदेवने आपके विरुद्ध खुसरोको सहायता दी है तो जहाँगीरने झट बिना किसी जाँच-पड़तालके गुरु साहिबपर दो लाख रुपये जुरमाना कर दिया। गुरु साहबने जुरमाना देना अस्वीकार कर दिया और जहाँगीरको लिख भेजा कि जो धन मेरे पास है वह गरीबों, अनाथों और निर्धनोंके लिये है; यदि तुम्हें धनकी आवश्यकता है तो जो कुछ मेरे पास है वह ले लो, पर यदि तुम चाहो कि जुरमाना लेना है तो मैं एक कौड़ी भी नहीं दे सकता।

यह उत्तर पाते ही जहाँगीरने श्रीगुरु अर्जुनदेवजीको लाहौर पकड़ मँगवाया और आपको जानसे मार डालनेकी आज्ञा देकर आपको अपने एक हाकिम चन्दूशाहके हवाले कर दिया। चन्दूशाह ऐसे अवसरकी ताकमें ही था। क्योंकि इसकी लड़कीका नाता गुरु साहिबने पहले अस्वीकार कर दिया था। जिससे यह भी गुरु साहिबकी ओरसे जला-भुना बैठा था। जहाँगीर यह आज्ञा देकर आप तो काश्मीरकी ओर चला गया और पीछे चन्दूके हाथों जिन कष्टोंका मुँह श्रीगुरु अर्जुनदेवजीको देखना पड़ा वह कथनसे बाहर है। उनका अनुमान लगाते शरीर काँप उठता है और हवास गुम हो जाते हैं।

लोग तलवारसे मारे जानेवालोंको और गोलीका निशाना हो जानेवालोंको शहीद कहते हैं, पर जरा सत्गुरु श्रीअर्जुनदेवजीके साकेका अनुमान लगाइये। जेठ-आषाढ़के महीनोंकी गरमीके दिन, १२ बजेका समय, और सूर्य मस्तकपर; इधर धूपकी प्रचण्डताके कारण धरती इतनी तप गयी है कि पैर नहीं रखा जा सकता और तपी हुई हवा बदनको झुलसे डालती है, ऐसे समय गुरुदेवको गरम तवेपर बैठाया जाता है, उबलते हुए जलके डेगमें आपको डाला जाता है, ऊपरसे जलती हुई रेत आपके नंगे शरीरपर डाली जाती है। ऐसा केवल एक ही दिन नहीं, कई दिन बराबर हुआ। यदि गुरु अर्जुनदेवजी चाहते तो ऐसे भयंकर दुःखसे छुटकारा हो सकता था। परन्तु नहीं, वह सच्चाईसे एक तिलभर भी नहीं हटे और सत्यको स्थिर रखनेके लिये खुशी-खुशी ऐसे असह्य और अकथनीय कष्टोंद्वारा बलिदान हो गये। चित्तमें किसी प्रकारका क्रोध नहीं आने दिया, शाप नहीं दिया। यह आपके शान्तिपुंज संतस्वरूप होनेका एक उत्तम नमूना था।

इस प्रकार गुरुमतके नियमोंकी रक्षा करते हुए और सिखोंको सत्य प्रतिज्ञाकी कसौटीपर अचल रहनेकी शिक्षा देते हुए श्रीगुरु अर्जुनदेवजीका परलोकगमन लाहौरमें रावी नदीके किनारे ज्येष्ठ सुदी ४ (२ आषाढ़) सं० १६६३ (३० मई सन् १६०६) को हुआ। आपने चौबीस वर्ष नौ महीने गुरुआई की और कुल आयु तैंतालीस वर्ष एक महीना पन्द्रह दिनकी हुई।

आपकी रची हुई वाणीकी कड़ी-कड़ी और तुक-तुकसे शान्ति टपकती है। 'सुखमनी' आपकी प्रसिद्ध वाणियोंमेंसे एक है, जिसने करोड़ों भटकते हुए जीवोंके हृदयको शान्ति प्रदान की है और अब भी करती है।

(६) श्रीगुरु हरिगोविन्दजी—षष्ठ नानक

सिखमतके छठे गुरु श्रीगुरु हरिगोविन्दजी हुए हैं। आप पाँचवें गुरु श्रीगुरु अर्जुनदेवजीके इकलौते पुत्र थे। आपका जन्म माता गंगाजीके उदरसे बडाली ग्राममें २१ आषाढ़ (आषाढ़ बदी ६) सं० १६५२ (१४ जून सन् १५९५) को हुआ।

आपके पिता श्रीगुरु अर्जुनदेवजीके शहीद हो जानेके पश्चात् २९ जेठ (जेठ बदी १४) सं० १६६३ (२५ मई सन् १६०६) को आपको गुरुआईका कार्य सँभालना पड़ा।

आपके तीन विवाह हुए—(१) सं० १६६१ की १२ भादोंको डल्लानिवासी नारायणदासकी सुपुत्री बीबी दामोदरीजीके साथ, जिनके उदरसे बाबा गुरुदित्तांजी और एक सुपुत्री बीबी बीरोजी हुईं। (२) ८ वैशाख सं० १६७० को बकालानिवासी हरिचन्दकी सुपुत्री श्रीमती नानकीजीके साथ, जिनके उदरसे आपके तीन पुत्र बाबा अणीराइ, अटलराइ और गुरु तेगबहादुरजी हुए। (३) सं० १६७२ की ११ श्रावणको मँड्यालीनिवासी दयारामकी सुपुत्री महादेवीजीके साथ, जिनसे गुरु साहबके पाँचवें पुत्र बाबा सूरजमलजीने जन्म लिया।

सिखोंपर मुगलराज्यके कोपकी दिनोंदिन वृद्धि होती जाती थी। आपके पिता श्रीगुरु अर्जुनदेवजी शहीद हो ही चुके थे। इसलिये श्रीगुरु हरिगोविन्दजीने यह निश्चय किया कि संतस्वरूपके साथ-साथ वीरताका वेश धारण करना भी आवश्यक है। इसलिये जब आप गुरुगद्दीपर विराजे तो भारतकी अधोगतिको देख स्वरक्षा और देशके उद्धारके लिये आपने अपने गलेमें दो खड्ग धारण किये—एक मीरीका, दूसरा पीरीका। सब सिखोंको आपने शस्त्र धारण करनेकी आज्ञा दी और भक्ति-ज्ञानके साथ-साथ आपने शूरवीरताका उपदेश देना आरम्भ किया। सं० १६६५ में श्रीहरिमन्दिर साहिबके सम्मुख आपने एक राजसिंहासन बनवाया और अपना ठाट-बाट पूरा राजाओंका-सा बना लिया। यह स्थान अब भी श्रीअकाल-तख्तके नामसे प्रसिद्ध है और यहाँके आज्ञापत्रोंका पालन करना सब सिखोंके लिये परम आवश्यक होता है, इन आज्ञाओंको कोई सिख नहीं टाल सकता। श्रीअमृतसरको सुरक्षित बनानेके लिये आपने यहीं एक किला भी बनवाया, जो अब 'लोहगढ़' के नामसे प्रसिद्ध है।

श्रीगुरु हरिगोविन्द साहबका यह ठाट-बाट देख चंदूको अपनी पड़ गयी। उसे यह विश्वास हो गया कि गुरु हरिगोविन्द अवश्य अपने बापका बदला मुझसे लेकर रहेंगे। इसलिये वह गुरु साहबकी बढ़ती हुई ताकतको रोकनेके उपाय सोचने लगा। उसने जहाँगीर बादशाहको गुरु साहबके विरुद्ध कई झूठी शिकायतें लिखीं, जिससे जहाँगीरने गुरु साहबको ग्वालियरके किलेमें कैद कर लिया। इससे गुरु साहबकी मान-मर्यादा घटी नहीं किन्तु और बढ़ी। दूर-दूरसे श्रद्धालुजन गुरु साहबके दर्शनार्थ ग्वालियर पहुँचने लगे। कई मुसलमान साधु-फकीरोंके समझानेपर जहाँगीरको चंदूका छल-कपट मालूम हो गया और गुरुजीकी निर्दोषता उसके सामने साबित हो गयी। जहाँगीरने गुरु साहबको छोड़नेकी आज्ञा दे दी, परन्तु गुरु साहबने कहला भेजा कि जबतक हमारे दूसरे साथी, जो किलेमें कैद हैं, नहीं छोड़े जाते तबतक हम भी बाहर नहीं आ सकते। लगभग साठ छोटे-बड़े हिन्दू राजा, कवि, पण्डित आदि इस किलेमें कैद थे। इसपर जहाँगीरने आज्ञा दी कि जितने राजा गुरु साहबका पल्ला पकड़कर बाहर आ जायँ वह सब छोड़ दिये जावें। इसपर गुरु साहबने साठ पल्लोंका एक जामा बनवाकर पहना और प्रत्येक कैदी गुरु साहबका एक-एक पल्ला पकड़कर बाहर आ गया। उसी समयसे गुरु हरिगोविन्द साहबका नाम 'बंदीछोर' प्रसिद्ध हुआ। किलेके अंदर 'बंदीछोर' दाताका स्थान अबतक विद्यमान है।

सं० १६६९ में गुरु साहबने अपने पिता श्रीगुरु अर्जुन-देवजीका देहरा लाहौरमें बनवाया। सं० १६७०-७१ में डरोली आदि स्थानोंमें निवास करके आपने जंगल देशको कृतार्थ किया। सं० १६८४ में आपने श्रीअमृतसरमें एक नया तालाब 'कँवलसर' नामका बनवाया। इसी प्रकार अगले साल सं० १६८५ में विवेकी सिखोंके निवास हित 'विवेकसर' बनवाया। इतने सालों जब कि जहाँगीरने मैत्रीभाव रखा गुरु साहबको धर्मप्रचार जारी रखनेका उत्तम अवसर मिला। वह अनेकों स्थानोंपर गये और प्यासोंकी प्यास अपने अमृतरूपी सदुपदेशकी वर्षाद्वारा बुझायी। इन्हीं दिनों आपने एक नया शहर ब्यासनदीके किनारे बसाया, जिसका नाम श्रीहरिगोविन्दपुर रखा गया। आपके आज्ञानुसार आपके सुपुत्र बाबा गुरुदित्तांजीने पहाड़ोंमें एक दूसरा नया शहर 'कीरतिपुर' बसाया।

गुरु गोविन्दसिंहके पुत्रोंको दीवालमें चुना जा रहा है।
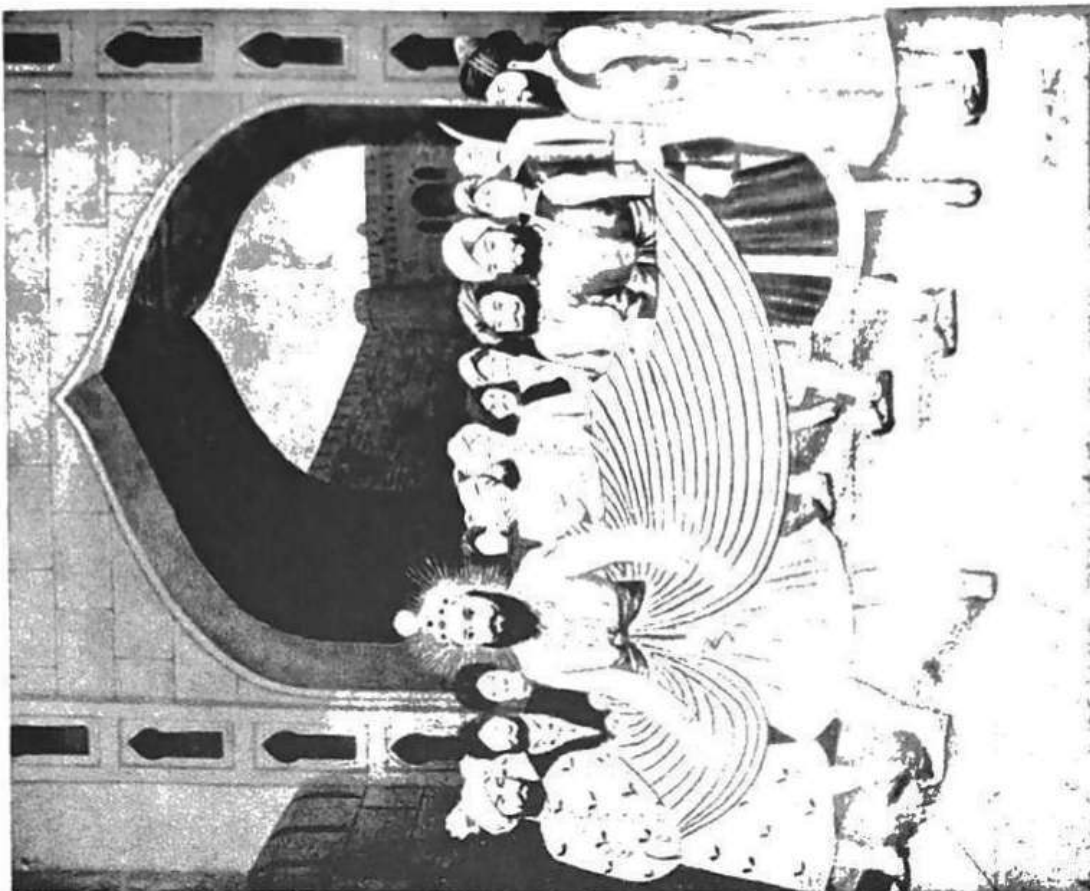
गुरु हरिगोविन्द अपने साथ ही साठ राजबन्दियोंको कैदसे छुड़ा रहे हैं।

गुरु श्रीतेगबहादुरजी

गुरुद्वारा श्रीहुजूर साहिबजी, अविचलनगर, नाँदेड़
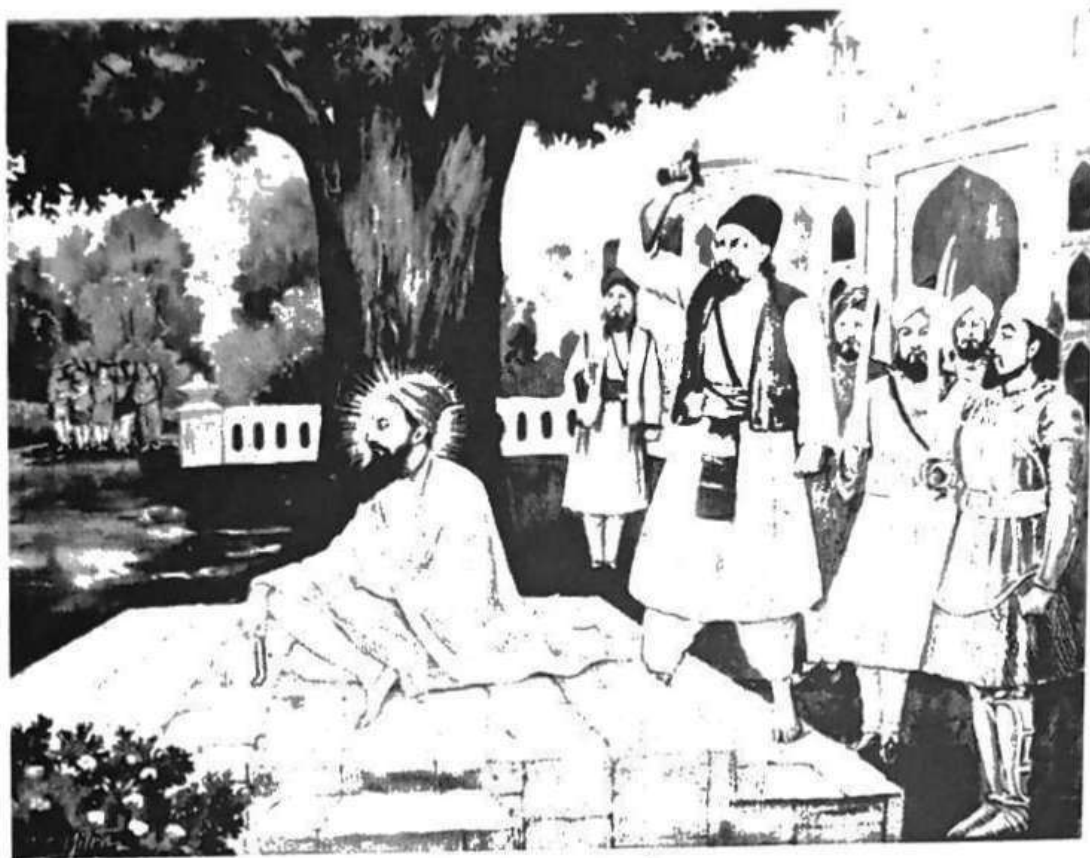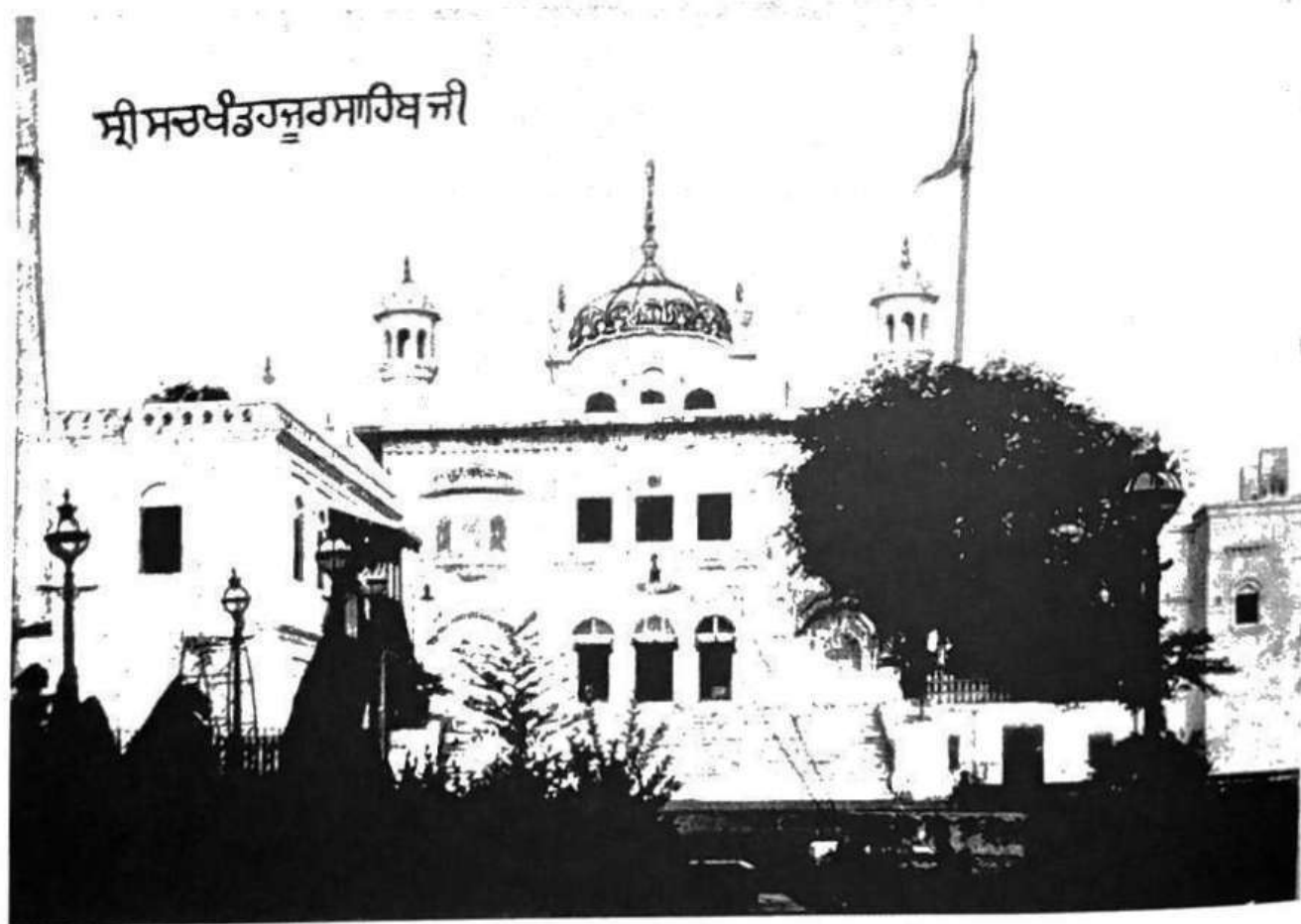
सं० १६८४ में जहाँगीरका देहान्त हो गया और जब शाहजहाँ तख्तनशीन हुआ तो इसने सिखोंसे फिर वैर साधना शुरू कर दिया। एक समय कुछ सिख काबुलसे दो घोड़े खरीदकर गुरु साहबके लिये श्रीअमृतसरको ले आ रहे थे। मार्गमें ही लाहौरमें शाहजहाँके आदमियोंने वे घोड़े छीन लिये और बादशाहकी भेंट किये। गुरु साहबने बड़ी चतुराईसे घोड़े अपने अधिकारमें कर लिये। इसपर मुखलिस खान शाहजहाँकी ओरसे सेना लेकर गुरु साहबपर चढ़ आया। सं० १६८५ में श्रीअमृतसरके समीप युद्ध हुआ। गुरु साहब विजयी हुए। इसके पश्चात् इसी तरह स्वरक्षाके लिये गुरु साहबको शाहजहाँकी सेनाके साथ तीन युद्ध और करने पड़े—सं० १६८७ में जालंधरके हाकिम अबदुल्ला खानके साथ श्रीहरिगोविन्दपुरमें, सं० १६८८ में मालवा देशमें गुरुसरके मुकामपर कमरबेग सैनानीके साथ और सं० १६९१ में काले खान, पैंदेखान आदि योद्धाओंके साथ कर्तारपुरमें।

इस युद्धके पश्चात् गुरु साहबने अपना निवासस्थान कीरतिपुरमें बना लिया और धर्मका प्रचार उसी तरह जारी रखा। आपने दूर-दूर जाकर सिख-धर्म फैलाया। काश्मीर, पीलीभीत, बार और मालवा देशोंमें लाखों जीवोंको मुक्तिका मार्ग दिखाया। आप अनेकों मुसलमानोंको सिखीमण्डलमें ले आये। देश-देशान्तरोंमें उदासी प्रचारकोंको भेजकर श्रीगुरु नानकदेवजीका झंडा फहराया।

सं० १७०१ में ७ चैत्र (चैत्र सुदी ५) को (३ मार्च सन् १६४४ को) आपने अपने योग्य पोते श्रीहरिराइजीको गुरुगद्दी सौंपकर परलोकगमन किया। कीरतिपुरमें आपका देहरा 'पातालपुरी'-के नामसे विद्यमान है। कहते हैं कि इस स्थानपरसे श्रीगुरुजी अपने अन्तके समय अपने घोड़ेसमेत पातालपुरीको सिधार गये। आपने ३७ वर्ष १० महीने ७ दिन गुरुआईका कार्य किया और कुल आयु ४८ वर्ष ८ महीना और १५ दिनकी भोगी।

(७) श्रीगुरु हरिराइजी—सप्तम नानक

सिखोंके सातवें गुरु श्रीगुरु हरिराइजी हुए हैं। आपका जन्म रविवार २० माघ (माघ सुदी १३) सं० १६८६ (२६ फरवरी सन् १६३०)-को श्रीगुरु हरिगोविन्दजीके सुपुत्र बाबा गुरुदित्तांजीके घर माता निहालकुँवरिजीके उदरसे कीरतिपुरमें हुआ। आपका विवाह आषाढ़ सुदी ३ संवत् १६९७ को अनूपशहर (जिला बुलन्दशहर) निवासी दयारामजीकी सुपुत्रियोंके साथ हुआ। महिला कोटकल्याणीजीके उदरसे रामराइजी और महिला कृष्ण-कुँवरिजीके उदरसे श्रीगुरु हरिकृष्णजीने जन्म लिया। आपको १२ चैत्र (चैत्र सुदी १०) सं० १७०१ (८ मार्च सन् १६४४) को गुरुआई मिली।

श्रीगुरु हरिराइजी लड़कपनसे ही बड़े संत थे। एक समय आप किसी बगीचेमें सैर कर रहे थे कि आपके जामेके साथ एक सुन्दर फूल टूटकर नीचे गिर पड़ा। इससे आपको अत्यन्त दु:ख हुआ और फिर आप सारी आयु अपना जामा संकोचकर चलते रहे। आपका जामा १०० कलियोंका बना होता था।

इन दिनों शाहजहाँका राज्य था। शाहजहाँके पुत्रोंमें, राज्यकी चाहसे, पहलेसे ही वैर-विरोध था। छोटे औरंगजेबने अपने बड़े भाई दाराशिकोहको कोई ऐसी वस्तु खिला दी थी जिससे वह बीमार हो गया था। हकीमोंने अपने नुसखेमें कुछ ऐसी वस्तुएँ लिख दीं जो कहींसे प्राप्त नहीं होती थीं। बहुत खोजके पश्चात् दाराको पता चला कि वे श्रीगुरु हरिराइजीके खजानेमेंसे मिल सकती हैं। दाराने बड़ी अधीनतापूर्वक गुरुजीसे दवा मँगा भेजी, जिससे वह स्वस्थ हो गया। दारा तब गुरुजीके दर्शनार्थ गुरुदरबारमें पहुँचा और गुरु साहबका सदुपदेश सुन उनका सेवक बन गया।

सं० १७०८ में हिंडूर और कहलूरके राजा आपके दर्शनार्थ आये और गुरु-उपदेश सुन आनन्दित हुए। इसके पश्चात् गुरुजी जालंधर और होशियारपुरके इलाकोंके अनेकों ग्रामोंमें जा-जाकर सत्य धर्मका प्रचार करते हुए कर्तारपुरमें पहुँचे। और वहाँ अपने बड़े भाई धीरमलके पास कुछ समयके लिये निवास किया।

यहाँसे चलकर गुरुजी बंबेली, फगल आदि ग्रामोंमेंसे होते हुए सतलज पारकर कई स्थानोंमें सत्यनामका उपदेश दृढ़ कराते हुए डरोली पहुँचे। कुछ समय गुरुजीने यहीं निवास किया और धर्मका प्रचार किया। यहाँसे चलकर वैशाख सं० १७११ में मालवा देशके मिहराज ग्राममें पहुँचे। यहाँ चौधरी करमचंदके अनाथ पुत्र 'फूल'-को गुरुजीने राज्यका वरदान दिया। पटियाला, नाभा, झींदके राजा इसी फूलकी सन्तानमेंसे हैं और इसीलिये फूलवंशी कहलाते हैं।

पश्चात् नूरमहल आदि अनेकों स्थानोंपर उपदेश करते हुए आप गोइँदवाल आये। इन दिनों औरंगजेबने

अपने पिता शाहजहाँको कैदमें डालकर स्वयं राज्य सँभाल लिया था। दाराको अपनी जान बचानेके लिये काबुलकी ओर भाग जाना पड़ा। ब्यासनदीके किनारे गोइँदवालके पास दारा पकड़ा जानेको ही था, परन्तु गुरुजीकी सहायतासे वह औरंगजेबकी सेनाके हाथसे निकल गया और इस प्रकार उसकी जान बच गयी।

औरंगजेबको जब यह सूचना मिली कि गुरुजीकी सहायताद्वारा दाराकी जान बच गयी और वह भाग गया है तो बादशाहने गुरुजीको बुलवा भेजा। गुरुजी आप नहीं गये, अपने बड़े सुपुत्र रामराइजीको भेज दिया।

रामराइजीने देहली पहुँचकर औरंगजेबको ऐसी विचित्र करामातें दिखायीं कि उसका कोप शान्त हो गया। एक दिन औरंगजेबने रामराइजीसे पूछा कि आपके ग्रन्थमें—

'मिट्टी मुसलमानकी पेड़े पई कुम्हार'

—जो लिखा है, सो गुरु नानकदेवने ऐसा क्यों कहा है? रामराइने उसे खुश करनेके लिये कह दिया ''हुजूर! यह तो लेखककी भूलसे लिखा गया है, असल पद 'मुसलमान' नहीं है। असल पद 'बेईमान' है और गुरु साहबने 'मिट्टी बेईमानकी' कहा है।''

औरंगजेब तो चुप हो रहा, परन्तु जब इस वार्तालापकी सूचना श्रीगुरु हरिराइजीको मिली तो उन्हें अत्यन्त दु:ख हुआ और उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि रामराइ गुरुगद्दीके योग्य नहीं है। गुरु साहबको रामराइकी गुरु नानकदेवकी इस तुक लौटानेकी करतूतपर इतना दु:ख हुआ कि उन्होंने घर आनेपर रामराइका मुँहतक नहीं देखा और उसे आज्ञा दी कि जिधरको मुँह है उसी ओर चला जा। रामराइजी लाहौर होते हुए एक दूनमें जा बिराजे, जहाँ उन्होंने देहरादून नगर बसाया। यहीं देहरादूनमें रामराइजीकी समाधि बनी हुई है जो 'रामराइका देहरा' के नामसे प्रसिद्ध है।

श्रीगुरु हरिराइजीने सिखमतका प्रचार बड़ी उत्तम रीतिसे किया। आपने भक्त भगवान्‌को, जो सिखमत धारण करनेसे पहले संन्यासी थे, पंजाबके बाहर पूर्वदिशाके देशोंमें प्रचार करनेके लिये नियुक्त किया।

७ कार्तिक (कार्तिक बदी ९) सं० १७१८ (६ अक्टूबर सन् १६६१) रविवारके दिन अपने छोटे सुपुत्र श्रीहरिकृष्णको गुरुआई देकर आपने कीरतिपुरमें परलोकगमन किया। आपकी कुल आयु ३१ वर्ष ८ महीने १७ दिनकी हुई और आपने १७ वर्ष ५ महीने ८ दिन गुरुआईका कार्य किया।

(८) श्रीगुरु हरिकृष्णजी—अष्टम नानक

सिखोंके आठवें गुरु श्रीहरिकृष्णजी हुए हैं। आपका जन्म सोमवार ८ श्रावण (श्रावण बदी १०) सं० १७१३ (७ जुलाई सन् १६५६)-को कीरतिपुरमें श्रीगुरु हरिराइजीके घर माता कृष्णकुँवरिजीके उदरसे हुआ। ८ कार्तिक सं० १७१८ (७ अक्टूबर सन् १६६१) को, जब कि आप केवल सवा पाँच वर्षके ही हुए थे, आपको गुरुआईका कार्य सँभालना पड़ा।

आपने इस छोटी अवस्थामें ही जिस उत्तम रीतिसे गुरु-कार्यको सँभाला इसको देखकर सब शिष्यगण बड़े चकित होते थे। आप उसी प्रकार दरबार लगाकर ऐसे उत्तम उपदेश दिया करते थे कि सुननेवाले मोहित हो जाते थे।

आपके बड़े भाई रामराइ इस समय देहलीमें औरंगजेबके पास थे। जब इन्हें अपने छोटे भाईके गुरुआईपर विराजनेकी सूचना मिली तो इन्होंने औरंगजेबसे शिकायत की कि मेरे पिताने कैसा अन्याय किया है जो मेरे होते हुए गुरुगद्दी मेरे छोटे भाईको दे दी है। औरंगजेबने गुरुघरकी इस फूटसे लाभ उठानेके विचारसे आम्बेरके राजा जयसिंह सवाईको आज्ञा दी कि वह श्रीगुरु हरिकृष्णको बड़े सत्कारसहित देहली लिवा लावें। राजा जयसिंहने आज्ञा पाते ही अपने प्रधान मन्त्रीको रथ, सेना, घोड़े आदि देकर गुरुजीको लिवा लानेके लिये भेज दिया।

बालगुरु श्रीगुरु हरिकृष्णजी देहली जाना नहीं चाहते थे, परतु आपकी माताजीने औरंगजेबके भयसे यही उचित समझा कि देहली जाना चाहिये। इसलिये आपने माताजीके आज्ञानुसार देहली जानेकी तैयारी कर ली। मार्गमें अनेक स्थानोंपर पड़ाव डालते और धर्मका प्रचार करते हुए गुरुजी कुरुक्षेत्र जा पहुँचे। यहाँ लालजी नामक एक विद्वान् रहते थे। उन्होंने जब इतना बड़ा लश्कर देखा तो पूछा कि यह किसका डेरा है? किसीने बताया कि श्रीगुरु हरिकृष्णका। पण्डितजीने नाराज होकर गुरुसाहबसे शास्त्रार्थ करना चाहा। गुरुजीने आज्ञा दी कि पण्डितजीको दरबारमें उपस्थित किया जाय। पण्डितजी दरबारमें उपस्थित हुए तो आश्चर्यसे स्तब्ध हो उन्होंने प्रणाम-सत्कार भी कुछ नहीं किया और

केवल एक ओर बैठ गये। श्रीगुरुजीने पण्डितजीके छज्जू नामक कहारको बुलवाया, जो महामूर्ख गिना जाता था। छज्जूको अपने पास बैठाकर गुरुजीने उसपर अपनी ऐसी कृपादृष्टि डाली कि उसका अज्ञानका परदा उठ गया और श्रीगुरु नानकदेवकी शक्ति उसमें प्रवेश कर गयी। गुरुजीकी आज्ञा पाकर तब उस कहारने पण्डितजीके साथ वह शास्त्रार्थ किया कि पण्डितजीको अपनी हार स्वीकार करनी पड़ी। पण्डितजीने अपना सीस तब गुरुचरणोंमें झुका दिया और बोले कि आप सचमुच हरिकृष्ण हैं, मुझको क्षमा कीजिये। पण्डितजीका विद्याका अभिमान दूर हुआ और तबसे आप सच्चे गुरुसेवक बन गये।

यहाँसे चल गुरुजी कुछ समय बाद देहली पहुँचे। राजा जयसिंह अगवाईके लिये आये और आपको एक सुन्दर स्थानपर ठहराया। यह पवित्र स्थान आजकल देहलीमें बँगलासाहबके नामसे प्रसिद्ध है। श्रीगुरुजीने यहाँ अनेकों ही असाध्य रोगी अपनी आत्मिक शक्तिद्वारा अच्छे किये। दशम गुरु श्रीगुरु गोविन्दसिंहजी महाराजने इसीलिये यह वाक्य उच्चारण किया है कि *'श्रीहरिकृष्ण ध्याइयै जिस डिठियाँ सभ दुख जाइ'* अर्थात् जिनके दर्शन करनेसे सब दु:खोंका नाश हो जाता है।

औरंगजेबने अपने पुत्रको जवाहिरात देकर गुरुजीके पास भेजा और विनती की कि गुरुजी पातशाहके दरबारमें दर्शन देवें। श्रीगुरुजीने उत्तर भेजा कि हमारा बड़ा भाई पहले ही आपके पास है और राज्यकार्योंको आपसे मिलकर कर रहा है। हमें उनसे शिरकत करना उचित नहीं। हम फकीरलोग हैं, हमारा काम केवल गरीबलोगोंसे ही है। बड़े लोगोंके लिये हमारे बड़े भाईको लायक समझकर हमारे पिताजीने पहले ही आपके पास भेज दिया था। इस प्रकार उत्तर देकर श्रीगुरुजीने उसे श्रीगुरु नानकदेवजीका यह शब्द लिखा दिया और कहा कि अपने पितासे कहना कि इस शब्दकी शिक्षापर दृढ़ रहना, हमारी मुलाकात करनेसे बहुत श्रेष्ठ होगा।

महला १

क्या खाधै, क्या पैधे होइ।
जा मनु नाही साचा सोइ॥
क्या मवा, क्या घिउ-गुड़ मीठा, क्या मैदा, क्या मास।
क्या कप्पड़ु, क्या सेज सुखाली, कीजहि भोग-बिलास॥
क्या लश्कर, क्या नेब खवासी, आवै महली बासु।
नानक सच्चे नाम बिनु सब्भै टोल बिनासु॥

(—श्रीगुरुग्रन्थसाहिबजी)

यह गौरवपूर्ण उत्तर सुन औरंगजेबको गुरुजीके दर्शन करनेकी बड़ी तीव्र इच्छा हुई, परन्तु उसके भाग्यमें गुरुदर्शन नहीं लिखा था।

श्रीगुरुजीका देहलीमें इतना यश फैला कि राजा जयसिंहने भी गुरु-शक्तिकी परीक्षा करनेका विचार किया। उसने अपनी पटरानीके साथ सलाह की। उसने कहा कि मैं बाँदीके वेशमें बैठूँगी, और सब रानियाँ अच्छे वस्त्र पहनकर बैठेंगी; यदि गुरुजी मुझे पहचानकर मेरी गोदमें आ बैठेंगे तो जानेंगे कि गुरुजी शक्तिमान् हैं। राजा जब गुरुजीको बुलाकर ले गया तो गुरुजी, जिनके हाथमें उस समय फूलोंकी एक छड़ी थी, सब रानियोंपर छड़ी रखते हुए यह कहते चले गये कि 'यह भी नहीं, यह भी नहीं,' और अन्तमें बाँदियोंके बीच बैठी पटरानीपर छड़ी जा टिकायी। और उसकी गोदमें बैठकर कहा कि इस कपटका पहला फल यह है कि तुम पटरानीसे बाँदी बनीं। पटरानी और राजा यह देखकर गुरुजीके चरणोंपर गिर पड़े और राजा सब रानियोंसहित गुरुका सिख बन गया। गुरुजीके वरदानसे राजाके घर पुत्र भी जन्मा।

इसके अगले ही दिन गुरुजीको विषम ज्वर चढ़ आया और पश्चात् उनके शरीरपर चेचकके दाने निकल आये। उन्होंने अपना निवास शहरसे हटाकर दक्षिणकी ओर दो-तीन मीलकी दूरीपर जमुना नदीके किनारे बना लिया और यहीं चैत्र सुदी चतुर्दशी (३ वैशाख) सं० १७२१ (३० मार्च सन् १६६४)-को आपका स्वर्गवास हुआ। आपका यह स्थान अब बालासाहबके नामसे विद्यमान है। यहाँ आपका देहरा बना हुआ है। आपकी कुल आयु सात वर्ष आठ महीने छब्बीस दिनकी हुई और गुरुआईका कार्य आपने केवल दो वर्ष पाँच महीने छब्बीस दिन किया।

(९) श्रीगुरु तेगबहादुरजी—नवम नानक

सिखमतके नवें गुरु श्रीगुरु तेगबहादुरजी हुए हैं। आपका जन्म ५ वैशाख (वैशाख बदी ५) सं० १६७८ (एक अप्रैल सन् १६२१) को श्रीगुरु हरिगोविन्दजीके घर माता नानकीजीके उदरसे श्रीअमृतसरमें हुआ। आपका विवाह कर्त्तारपुरमें पन्द्रह आसोज सं० १६८९ को श्रीमती

गूजरीजीके साथ हुआ, जिससे आपके औरस पुत्र श्रीगुरु गोविन्दसिंहजी महाराजने जन्म लिया।

आपका स्वभाव लड़कपनसे ही बड़ा शान्त और वैरागमयी था। आपने १४ चैत (चैत सुदी चतुर्दशी) संवत् १७२२ (२०मार्च सन् १६६५) को गुरुआईका कार्य सँभाला और अनन्त जीवोंको सुमार्गपर लगाया। आपके भाई बाबा गुरुदित्तांके लड़के धीरमलने इसपर बड़ा विरोध किया। धीरमलने एक मसंदको गुरु तेगबहादुरजीके वधके लिये भेजा। इस मसंदने गुरुसाहबको गोलीका निशाना बनाकर घायल करके गिरा दिया और आपका सारा सामान उठाके ले आया। श्रीगुरु तेगबहादुरजीका चित्त शान्त ही रहा, घायल हो जानेपर भी आपने क्रोधको मनमें नहीं आने दिया, परन्तु सिखोंको जब इसका पता चला तो वह धीरमलके स्थानपर जा टूटे और उस मसंद और धीरमलको पकड़कर गुरुसाहबके सम्मुख ले आये, साथ ही गुरुसाहबका और धीरमलका सारा सामान भी ले आये। श्रीगुरुजीने मसंद और धीरमल दोनोंको क्षमा कर दिया और धीरमलका सारा सामान उसे वापिस लौटा दिया।

सं० १७२३ में आपने सतलजके किनारे नैनादेवी पर्वतके पास पहाड़ी राजाओंसे भूमि मोल लेकर आनन्दपुर नगर बसाया। इसके पश्चात् धर्मप्रचारके लिये मालवा, बाँगर आदि देशोंमें होते हुए आपने पूर्वकी ओर पयान किया। रास्तेमें कई स्थानोंपर कुएँ और सरोवर बनवाये। आप आगरा, प्रयाग, काशी, गया आदि स्थानोंसे होते हुए पटना पहुँचे। यहाँ राजा जयसिंह (जो गुरु हरिकृष्णजीके समय सिख बन चुका था)-के लड़के राजा रामसिंहने गुरुजीसे उसके साथ आसामदेशकी ओर चलनेकी विनती की। गुरुसाहब यह विचारकर कि उस देशके सिखोंसे मिलनेका यह अच्छा अवसर होगा, राजाके साथ चलनेको राजी हो गये। उन्होंने अपने महलको पटनेमें ही छोड़ दिया और आप राजाके साथ हो लिये।

मार्गमें गुरुसाहबको उत्तम रीतिसे धर्मप्रचार करनेका मौका मिला। आसामकी सीमापर पहुँचते ही औरंगजेबकी सेना (जो राजा रामसिंहकी कमानमें थी) और आसामके लोगोंमें मुठभेड़ होने लगी। परन्तु श्रीगुरु तेगबहादुरजीने दोनोंको धूबरी स्थानपर इकट्ठा करके सुलह करा दी। यह स्थान श्रीगुरु नानकदेवजीका था और यहाँपर दोनों ओरकी सेनाकी सहायतासे गुरुसाहबने एक गुरुद्वारा बनवा दिया।

यहीं आपको यह सूचना मिली कि पटनेमें आपके सुपुत्र हुआ है। आप झट पीछे पटना लौट आये और अपने सुपुत्रका नाम श्रीगोविन्दराइ रखा।

पटनामें आपको औरंगजेबकी ओरसे पंजाबमें होनेवाले अत्याचारोंकी सूचनाएँ मिलीं। प्रजाकी दुःखसे निवृत्ति करनेके लिये आपने तुरंत पंजाब वापिस लौट जाना उचित समझा, इसलिये आप अपने सुपुत्रको पटनामें ही छोड़कर आनन्दपुर वापिस आ गये।

कुछ समय बाद आपने अपने सुपुत्रको भी यहीं आनन्दपुरमें ही बुलवा लिया। काश्मीर देश, जो कि उस सम हिन्दू पण्डितोंका मुख्य स्थान था, वहाँ तो औरंगजेबके अत्याचारकी कोई सीमा ही न थी। कहते हैं कि प्रतिदिन इतने हिन्दू मुसलमान बनाये जाते थे कि उनके केवल यज्ञोपवीत ही इकट्ठे करके सन्ध्याको तौलनेपर सवा मन बैठा करते थे। ऐसे घोर अत्याचारसे पीड़ित हिन्दुओंको जब अपनी रक्षाका कोई उपाय नहीं सूझ पड़ा तब वहाँके ब्राह्मणोंका एक समूह श्रीगुरु तेगबहादुरजीके दरबारमें पहुँचकर अपनी रक्षा और सहायताके लिये प्रार्थी हुआ। श्रीगुरुजीने उनसे कहा कि आप लोगोंकी रक्षा तभी हो सकती है जब कोई महान् एवं पवित्र आत्मा प्रसन्नतापूर्वक अपना सीस निछावर करे। यह सुनकर आपके नौ सालके बालक श्रीगोविन्दरायने कहा कि 'पिताजी! इस घोर कलियुगमें आपसे उच्च पवित्र आत्मा और पूर्ण परोपकारी पुरुष दूसरा कौन हो सकता है? आप ही इनके धर्मकी रक्षा कीजिये।' अपने सुपुत्रके मुखसे यह वचन सुन गुरुजी बड़े प्रसन्न हुए और ब्राह्मणोंको आज्ञा दी कि वे औरंगजेबके दरबारमें सूचना कर दें कि यदि हमारे गुरु तेगबहादुर मुसलमान हो जायँगे तो हम सब-के-सब हिन्दू मुसलमान होनेमें संकोच नहीं करेंगे। औरंगजेबने यह सूचना पाते ही गुरुजीको बुलवा भेजा।

दिल्लीमें गुरुजीको मुसलमान बनानेके लिये अनेक उपाय किये गये। उन्हें कष्ट भी बहुत दिये गये। साम, दाम, दण्ड, भेद—सभी वार गुरुजीपर चलाये गये; पर औरंगजेबको किसी प्रकार सफलता प्राप्त न हुई। अन्तमें जल्लादको आज्ञा हुई कि वह गुरुजीका सीस तलवारसे काट डाले। इस प्रकार श्रीगुरु तेगबहादुरजीने

भारतका दुःख दूर करनेके लिये तथा धर्मरक्षाहित अपना सीस भारतकी यज्ञवेदीपर अगहन सुदी पंचमी (१२ अगहन) सं० १७३२ (११ नवम्बर सन् १६७५) को चढ़ाया।

श्रीगुरु गोविन्दसिंहजी महाराजने इस साकेको इस प्रकार वर्णन किया है—

तिलक जंञू राखा प्रभु ताका। कीनों बड़ो कलू महिं साका।
साधन हेत इती जिन करी। सीस दिया पर सी न उचरी॥ १३॥
धर्म हेत साका जिन कीया। सीस दिया पर सिर्र न दीया।
नाटक-चेटक किये कुकाजा। प्रभु लोगन कह आवत लाजा॥ १४॥

ठीकरि फोरि दिलीस सिर, प्रभुपुर किया पयान।
तेगबहादुर-सी क्रिया, करी न किनहूँ आन॥ १५॥
तेगबहादुरके चलत, भयो जगतको सोक।
है है है सब जग भयो, जै जै जै सुरलोक॥ १६॥

(विचित्र नाटक, श्रीदशम ग्रन्थ)

श्रीगुरु तेगबहादुरजीके अन्तिम स्थानका नाम 'सीसगंज' है, जो दिल्लीके चाँदनी चौकमें विद्यमान है और आपके शरीरके संस्कारके स्थानका नाम 'रकाबगंज' है, जो नयी दिल्लीमें विद्यमान है। आपने दस वर्ष सात महीने अठारह दिन गुरुआईका कार्य किया और सारी आयु चौवन वर्ष सात महीने सात दिनकी भोगी।

आपके लिये श्रीदशम गुरुका वाक्य है—

'तेगबहादुर सिमरियै घर नौ निधि आवै धाय।'

श्रीगुरु तेगबहादुरजीकी वाणी ऐसी अद्‌भुत है, ऐसी प्रेम तथा वैराग्यमयी है कि कठोर-से-कठोर हृदयोंको कोमल बनानेकी अपार शक्ति रखती है। नीचे आपकी वाणीमेंसे दो शब्द देते हैं।

सारंग, महला ९

कहा मन बिखिया सिउ लपटाही।
या जगमैं कोऊ रहनु न पावै, इक आवहि, इक जाही॥ १॥ रहाउ
काँको तनु-धनु संपति काँकी, का सिउ नेहु लगाही।
जो दीसै सो सगल बिनासै, जिउ बादरकी छाही॥ १॥
तजि अभिमानु सरणि संतन गहु मुकति होहि छिन माही।
जन नानक भगवंत भजन बिनु सुखु सुपनै भी नाही॥ २। २॥

धनासरी, महला ९

काहे रे बन खोजन जाई।
सरब निवासी, सदा अलेपा, तोही संगि समाई॥ १॥ रहाउ
पुहप मधि जिउ बासु बसतु है, मुकुर माहि जैसे छाई।
तैसे ही हरि बसै निरंतरि, घटही खोजहु भाई॥
बाहरि भीतरि एको जानहु, बहु गुर गिआनु बताई।
जन नानक बिनु आपा चीन्है मिटै न भ्रमकी काई॥ २। १॥

(१०) श्रीगुरु गोविन्दसिंहजी—दशम नानक

सिक्खोंके अन्तिम तथा दसवें गुरु श्रीगुरु गोविन्दसिंहजी हुए हैं। आपका जन्म श्रीगुरु तेगबहादुरजीके घर माता गूजरीजीके उदरसे शनिवारके दिन पूस सुदी सप्तमी (२३ पूस) सं० १७२३ (२२ दिसम्बर सन् १६६६) को पटना शहरमें हुआ। आपने अपने पूर्वजन्ममें बड़ा कठिन तप किया था, जिससे आपकी आत्मा परमात्माके साथ एकमेक हो गयी; परन्तु इस पूर्ण परमानन्दमें रहनेका सुख अभी आपके लिये नहीं था। आपको तुरन्त आज्ञा मिल गयी कि भारतवर्षमें जाकर धर्मका प्रचार करें और दुष्टोंका नाश करें। इस अपने पूर्वजन्मका वृत्तान्त श्रीगुरुजीने अपने रचित 'विचित्रनाटक' ग्रन्थमें स्वयं ही दिया है, जहाँसे कुछ छन्द पाठकोंके ज्ञानके लिये यहाँ देते हैं—

अब मैं अपनी कथा बखानों। तप साधत जिह बिधि मुहि आनों॥
हेमकुंट परबत है जहाँ। सप्त शृंग सोभित हैं तहाँ॥ १॥
सप्त शृंग तिह नामु कहावा। पंडुराज जहँ जोग कमावा॥
तहँ हम अधिक तपस्या साधी। महाकाल कालका अराधी॥ २॥
इहि बिधि करत तपस्या भयो। द्वै ते एकरूप ह्वै गयो॥

× × ×

तिन प्रभु जब आइसु मुहि दीया। तब हम जन्म कलू महि लीया॥ ४॥
चित न भयो हमरो आवन कहि। चुभी रही श्रुति प्रभु चरनन महि॥
जिउँ तिउँ प्रभु हमको समुझायो। इम कहिकै इहलोक पठायो॥ ५॥
मैं अपना सुत तोहि निवाजा। पंथु प्रचुर करबे कहु साजा॥
जाहि तहाँ ते धरमु चलाई। कुबुद्धि करन ते लोक हटाई॥ २९॥
हम इह काज जगत मों आए। धरम हेत गुरुदेव पठाए।
जहाँ तहाँ तुम धरम बिथारो। दुष्ट-दोखियन पकरि पछारो॥ ४२॥
याही काज धरा हम जनमं। समझि लेहु साधू सब मनमं॥
धरम चलावन संत उबारन। दुष्ट सभनको मूल उपारन॥ ४३॥

जब आयसु प्रभुको भयो, जन्मु धरा जग आइ।
अब मैं कथा संक्षेपते सभहूँ कहत सुनाइ॥ ६४॥

मुर पित पूरब कीयसि प्याना। भाँति-भाँतिके तीरथ न्हाना॥
जबही जात त्रिबेणी भए। पुन्न-दान दिन करत बितए॥
तहीं प्रकाश हमारा भयो। पटना शहर बिखै भव लायो॥

(विचित्रनाटक, श्रीदशम ग्रन्थ)

आप अभी नौ वर्षके भी नहीं हुए थे जब कि आपके पिता दिल्लीमें शहीद हो गये, जिससे १२

अगहन सं० १७३२ (११ नवम्बर सन् १६७५) को आपको आनन्दपुरमें गुरुगादीका कार्य सँभालना पड़ा। इस छोटी-सी अवस्थामें ही गुरुजीने दुष्टोंका निवारण करनेके अनेक मनसूबे बाँधे जिनको आगे चलकर आपने अपने जीवनमें उस अद्‌भुत शक्ति और चमत्कारसे पूरा किया कि आजतक संसारमें उनका सत्कार्य और सत्कीर्ति अमर है और 'खालसा' सम्प्रदायका वह समुदाय भारतवर्षमें स्थापित किया कि जिसके जोड़का नरसमाज भारतवर्षहीमें क्या, इस संसारमें भी शायद ही हो।

२३ आषाढ़ सं० १७३४ को आपका विवाह आनन्दपुरके पास 'गुरुका लाहौर' में लाहौरनिवासी हरिजस सुभिखिया खत्रीकी सुपुत्री श्रीमती जीतोदेवीजीके साथ हुआ। श्रीगुरुजीके चार चमत्कारी पुत्र हुए जो अपनी अद्वितीय करनियोंद्वारा जगमें बड़ा नाम पैदा कर गये हैं।

गुरु साहबको शास्त्र और शास्त्रविद्याओंके साथ पहलेसे ही बहुत प्रेम था, इसलिये थोड़े ही समयमें आप दोनोंके पूर्ण पण्डित हो गये। आप स्वयं कवि होनेके कारण आपका दरबार कवियों और अन्य विद्वानोंसे भरा रहता था। आपने करोड़ों रुपये कवियोंको देकर संस्कृतके ग्रन्थोंका भाषानुवाद कराया। आपका यह संकल्प था कि सिख जाति संसारमें विद्वानोंकी मण्डली हो। आपने अनेकों सिखोंको विद्याप्राप्तिके लिये काशी आदि दूर-दूर स्थानोंपर भेजा।

विद्या और धर्मके साथ-साथ शस्त्रों और सेनाको भी गुरुजी बढ़ाते रहे। आनन्दपुरको सुरक्षित करनेके लिये वहाँ पाँच किले बनवाये। पासके राजा इनसे डाह रखने लगे, परन्तु गुरुजीका वे कुछ न बिगाड़ सके।

१ वैशाख सं० १७५६ को गुरुजीने 'खालसा' सिखसमुदायकी सृष्टि की। यह सिखोंको एक सुदृढ़ और सच्ची वज्रीभूत जाति बना देनेका अद्‌भुत प्रयोग था। सिखोंकी बड़ी भारी सभामें गुरुजीने पाँच सीस माँगे। विविध देशों और जातियोंके पाँच पुरुषोंने सीस देना अंगीकार किया। यह पाँचों पुरुष 'पाँच प्यारे' कहलाये। फिर लोहेके एक कटोरेमें जल अभिमन्त्रित करके 'अमृत' तैयार किया और इन पाँचोंको पिलाया। पश्चात् इन पाँचोंके हाथसे गुरुजीने स्वयं अमृत पान किया और खालसा बने। सबके नाम आपने सिंह करके रखे, अपना नाम भी गोविन्दरायसे बदलकर गोविन्दसिंह रखाया और यह सिद्धान्त स्थिर किया—

गुरु-घर जन्म तुम्हारे होए। पिछले जाति बरन सब खोए॥
चार बरनके एको भाई। धरम खालसा पदवी पाई॥
हिन्दू-तुरक ते आहि निआरा। सिंह मजब अब तुमने धारा॥
राखहु कच्छ, केश, किरपान। सिंह नामको यही निशान॥

(पंथप्रकाश)

फिर जोश फैला तो २५ पुरुष और खालसा बने, फिर १२५ और बने। फिर तो नदीके प्रवाहकी तरह यह जोश फैलता गया और हजारों-लाखों नर-नारी खालसा बनते गये।

इस 'संत-वीर' मनुष्यसमुदायकी उन्नतिसे पहाड़ी हिन्दू राजा अति शंकित हुए। वे गुरुजीका सिद्धान्त समझे बिना ही गुरुजीके बैरी बन गये और अकारण ही कई बेर गुरुजीपर चढ़ आये, परन्तु राजाओंकी हार-पर-हार हुई और गुरुजी विजयी हुए। जब गुरुजी किसी प्रकार भी नहीं दबे तो सब पहाड़ी राजाओंने अपनी ओरसे राजा अजमेरचन्दको दक्षिणमें औरंगजेबके पास अर्जी देकर भेजा और गुरुजीकी भरपेट शिकायतें की गयीं। औरंगजेबने कई लाखकी फौज वहाँसे भेजी और पंजाब देशके सब सूबों, नव्वाबों और राजाओंके नाम हुक्म भेजे कि आनन्दपुरपर इकबारगी चढ़ाई करके गुरु गोविन्दसिंहको गिरफ्तार करके शाही दरबारमें पेश करें। बड़ा घोर युद्ध हुआ, परन्तु जब लड़ाईमें जीतनेकी आशा न देखी तो संयुक्त सेना घेरा डाले रही। लगभग एक वर्षतक घेरा पड़ा रहा। अन्तमें औरंगजेबने सं० १७६१ में कुरानपर कसम उठाकर गुरुजीसे आनन्दपुर खाली करवा लिया। गुरुजी जब अपनी सेनासहित बाहर आये तो मुगल सेनाने कसम-धरम तोड़ इनपर धावा कर दिया। इससे श्रीगुरुजीका बड़ा भारी नुकसान हुआ। कवियोंके बनाये कई मन भार ग्रन्थ सरसा नदीको पार करते समय उसमें बह गये। गड़बड़में गुरुमाता और दोनों छोटे सुपुत्र बिछुड़कर सरहिन्दकी ओर निकल गये, जहाँ सरहिन्दके नव्वाबने दोनों नन्हें सुकुमारोंको मुसलमान न बननेके दण्डमें बड़ी निर्दयताके साथ जिन्दा दीवारमें चुनवा दिया। गुरुजी स्वयं अपने केवल चालीस सिखों और दोनों बड़े सुपुत्रोंके साथ चमकोर ग्राममें घिर गये जहाँ आपके दोनों बड़े सुकुमारोंने भी

रणभूमिमें वीरगति प्राप्त की।

यहाँसे श्रीगुरुजी बड़ी वीरता और धैर्यके साथ शाही सेनाका मुकाबला करते हुए शत्रुओंसे बचकर जंगलकी मरुभूमिमें पहुँचे। इस इलाकेको आपने अपने अलौकिक प्रभावसे भूतदेशको देवदेश और जंगलको मंगलरूप मालवा बनाया। अनन्त जीवोंको शान्ति और वीरताकी शिक्षा देकर आत्मज्ञान और कुरबानीका उच्च भाव दृढ़ कराया। यहीं दीना ग्रामसे गुरुजीने औरंगजेबको फारसी छन्दोंमें एक पत्र लिखकर भेजा, जिसका नाम 'जफरनामा' (विजयका पत्र) रखा। इसके पढ़नेपर जालिम औरंगजेबका मन बादीकी ओरसे फिर गया और वह अपने कियेपर पछताने लगा। सिख-इतिहासमें यह प्रसिद्ध है कि इसी मन:क्लेशसे औरंगजेबका प्राणान्त हो गया।

औरंगजेबके मर जानेपर बहादुरशाह गुरुजीकी सहायतासे बादशाह बना। बहादुरशाह इसलिये गुरुजीका मित्र बना रहा। अब गुरुजीने दक्षिण देशकी यात्रा आरम्भ की। रास्तेमें अनन्त जीवोंको वाहिगुरुकी भक्ति दृढ़ कराते हुए श्रावण सं० १७६४ को आप गोदावरी नदीके किनारे 'नंदेड़' ग्राममें पहुँचे। यहाँ आपने एक नया शहर श्री 'अविचलनगर' के नामसे बसाया। यहीं गुरुजीने एक विभूतियोंके रंगमें अटके हुए माधोदास वैष्णव साधुको ऊँचा उठाया और अमृत छकाकर 'बन्दासिंह बहादुर' बनाया। इसीको गुरुजीने अपनी सेनाका नेता बना दिया और अपने आदर्शका प्रचार करनेके लिये पंजाबकी ओर भेज दिया।

सरहिन्दके नव्वाबको, जिसने गुरुजीके दोनों छोटे साहबजादोंको दीवारमें चुनवा दिया था, अपने इस महापापाचार—निर्दय कर्मके कारण गुरुजी और बहादुरशाहकी आपसमें मित्रता बड़ी खटकती रहती थी। उक्त नव्वाबने इसलिये दो मनचले पठानोंको गुरुजीके वधके लिये भेजा। ये दोनों पठान चालाकीसे गुरुजीके भक्त बन गये और इनकी सेवामें रहकर उपयुक्त मौका ताकते रहे। भादों बदी ४ सं० १७६५ को सन्ध्याके समय इनमेंसे एक पठानने गुरुजीको अकेला पलंगपर लेटे हुए पाकर जमधर उनके पेटमें भोंक दिया। अभी वह दूसरा वार नहीं करने पाया था कि गुरुजीने फुर्तीसे उसे अपनी तलवारसे मार गिराया। घावपर टाँके और पट्टी की गयी। पन्द्रह-सोलह दिनमें घाव भर आया, परन्तु बहादुरशाहकी एक नयी भेंट की हुई कमानको खैंचनेमें टाँके टूट गये। अपनी दिव्य दृष्टिसे गुरुजीको अब अपना अन्त समय निकट दिखायी दिया। इसलिये कार्तिक सुदी ५ (८ कार्तिक) सं० १७६५ (७ अक्टूबर सन् १७०८) बृहस्पतिवारके दिन गुरुजीने उत्तम फौजी पोशाक और शस्त्रोंको धारणकर दरबार किया। अपने प्रिय सिखोंको अन्तिम उपदेश दिये और कहा कि 'मेरे पीछे कोई सिख गुरु नहीं होगा, केवल गुरु-वाणी ग्रन्थसाहिब ही गुरु होंगे।' तब प्राचीन प्रथाके अनुसार पाँच पैसे और एक नारियल धरकर गुरुजीने ग्रन्थसाहिबके सामने अपना सीस नवाया और ऊँची आवाजमें यह वाणी कही—

आज्ञा भई अकालकी, तभी चलायो पंथ।
सब सिक्खनको हुकम है, गुरू मानियहु ग्रंथ॥ १॥
गुरू ग्रन्थजी मानियहु, प्रकट गुरोंकी देह।
जाका हिरदा शुद्ध है, खोज शब्दमें लेह॥ २॥

फिर अपने कुम्मैत घोड़ेपर सवार होकर गुरुजी अपने घोड़ेसहित अन्तर्धान हो गये और उसी अपने प्यारे 'सच्च खण्ड' (सत्यलोक)-को सिधार गये जिसके लिये आपने पहले बताया था कि *'चित्त न भयो हमरो आवन कह'*। यों श्रीगुरु गोविन्दसिंहजीने ३२ वर्ष १० महीने २६ दिन गुरुआईका कार्य कर सिखोंको खालसा बनाकर सुदृढ़ बुनियादपर कायम करके अपनी संसारयात्रा ४१ वर्ष ९ महीने १५ दिनकी पूरी की।

श्रीगुरु गोविन्दसिंहजी एक दृढ़संकल्प धर्मगुरु, एक विजयी युद्धवीर और एक कुशल नीतिपरायण नेता होनेपर भी एक सिद्धहस्त प्रवीण कवि भी थे। वे लेखनीका वार भी उतनी ही पटुतासे करते थे जितना कि शस्त्रास्त्रका। आपने अनेक ग्रन्थ निर्माण किये। कई आनन्दपुर छोड़ते समय युद्धमें नष्ट हो गये। जो बचे वे अब एक संचयमें एकत्रित किये हुए हैं जो अब 'श्री दशम ग्रन्थ' के नामसे विख्यात है— जिसका अर्थ है श्रीदशम गुरुकी रचित पुस्तकोंका संग्रहीत एक ग्रन्थ। नीचे श्रीदशम ग्रन्थमेंसे कुछ उदाहरण देते हैं जिससे पाठकोंको श्रीगुरु गोविन्दसिंहजीके सदुपदेश अथवा आदर्शका दिग्दर्शन हो जाय—

कहा भयो दोउ लोचन मूँद कै, बैठि रह्यो बकध्यान लगायो।
न्हात फिर्‍यो लिये सात समुद्रन, लोक गयो, परलोक गँवायो॥
बासु कियो बिखिआन सों बैठकै, ऐसे ही ऐस सु बैस बितायो।
साचु कहौं, सुन लेहु सभै, जिन प्रेमु कियो तिन ही प्रभु पायो॥

(९। २९)

कोऊ भयो मुँडिया संन्यासी, कोऊ जोगी भयो,
कोऊ ब्रह्मचारी, कोऊ जतियन मानबो।
हिंदू-तुरक कोऊ, राफजी इमाम साफी,
मानसकी जात सबै एकै पहचानबो॥
करता करीम सोई राजक रहीम ओई,
दूसरो न भेद कोई भूल भ्रम मानबो।
एकहीकी सेव, सबहीको गुरुदेव एक,
एक ही सरूप सबै, एकै जोत जानबो॥

(१५। ८५)

जैसे एक आगते कनूका कोट आग उठे,
न्यारे-न्यारे ह्वैकै फेरि आगमैं मिलाहिंगे।
जैसे एक धूरते अनेक धूर पूरत है,
धूरके कनूका फेर धूर ही समाहिंगे॥
जैसे एक नदते तरंग कोट उपजत है,
पानके तरंग सबै पान ही कहाहिंगे।
तैसे बिस्वरूप ते अभूत भूत प्रग्ट होइ,
ताहीते उपज सबै ताहीमैं समाहिंगे॥

(१७। ८७)

दीननकी प्रतिपाल करै नित, संत उबार गनीमन गारै।
पच्छि-पसू, नग-नाग, नराधिप, सर्व समै सबको प्रतिपारै॥
पोषत है जलमें, थलमें, पलमें कलके नहिं कर्म बिचारै।
दीनदयाल दयानिधि दोषन देखत है पर देत न हारै॥

(अकालस्तुति १। २४३)

× × × ×

जब जब होत अरिष्टि अपारा। तब तब देह धरत अवतारा।

—विचित्रनाटक

× × × ×

धन्य जीओ तिहको जगमैं, मुखते हरि चित्तमैं जुद्ध बिचारै।
देह अनित्य, न नित्य रहै, जस नाव चढ़ै भवसागर तारै॥
धीरज धाम बनाइ इहै तन, बुद्धि सु दीपक जिउँ उजियारै।
ज्ञानहिकी बढ़नी मनु हाथ लै, कातरता कुतवार बुहारै॥

(विचित्रनाटक २४९२)

× × × ×

देह-बिदेस नरेसन जीत, अनेस बड़े अवनेस संहारे।
आठोई सिद्धि सबै नव निद्धि, समृद्धन सर्व भरे गृह सारे॥
चंद्रमुखी बनिता बहुतै घरि, माल भरे नहिं जात सँभारे।
नाम बिहीन अधीन भये जम, अंतको नागे ही पाइ सिधारे॥

(विचित्रनाटक ४९१)

× × × ×

जागति ज्योति जपै निस-बासुर, एक बिना मन नैक न आनै।
पूरन प्रेम प्रतीत सजै ब्रत, गोर मढ़ी मठ भूल न मानै॥
तीरथ दान दया तप संजम, एक बिना नहि एक पछानै।
पूरन ज्योति जगै घटमैं, तब खालस ताहि निखालस जानै॥ १॥

—३३ सवैये

× × × ×

मंत्र-जंत्र अरु तंत्र-सिधि, जौ इन महि कछु होइ।
हजरति ह्वै आपहि रहहि, माँगत फिरत न कोइ॥ ३५॥
जौ इन मंत्र-जंत्र सिधि होई। दर-दर भीख न माँगै कोई॥
एकै मुख ते मंत्र उच्चारैं। धन सौं सकल धाम भर डारैं॥

(चरित्रोपाख्यान ११४)

× × × ×

आँखि मीच मग सूझ न जाई। ताहि अनंत मिलै किम भाई॥

(विचित्रनाटक ६२)

× × × ×

राग सोरठ

प्रभुजू तोकह लाज हमारी।
नीलकंठ नरहरि नाराइण नील बसन बनवारी॥ १॥ रहाउ॥
परम पुरख परमेस्वर स्वामी पावन पउन अहारी।
माधव महाजोति मध-मरदन मान मुकुन्द मुरारी॥ १॥
निर्विकार निरजुर निंद्रा बिन निर्बिख नरक-निवारी।
कृपासिंधु कालत्रै-दरसी कुकृत-प्रनासनकारी॥ २॥
धनुर-बान-धृत मान धराधर अनिबिकार असिधारी।
हौं मतिमंद चरन सरनागत कर गहि लेहु उबारी॥ ३॥

—शब्दहजारे

उदासीनाचार्य श्रीश्रीचन्द्रजी महाराज

(लेखक—स्वामी श्रीसर्वदानन्दजी महाराज, दर्शनरत्न)

उदासीन-सम्प्रदायके प्रवर्तक भगवान् श्रीश्रीचन्द्रजी महाराजका आविर्भाव सं० १५५१ भाद्रपद शु० ९ को तलवण्डी नामक गाँवमें, जो लाहौरसे ३० कोस पश्चिम है तथा आजकल जिसको ननकाना कहते हैं, क्षत्रियकुल-भूषण श्रीनानकदेवजीकी धर्मपत्नी श्रीसुलक्षणादेवीके गर्भसे हुआ था।

जिस समय आप इस पृथ्वीतलपर आविर्भूत हुए, उसी समय आपका शिशु-शरीर जटा-भस्मादिसे विभूषित था और ज्यों-ज्यों वह बड़ा हुआ, त्यों-त्यों आपने जो एक-से-एक अद्भुत चमत्कार दिखलाये, उनको देख-सुनकर लोगोंको यह पक्का विश्वास हो गया कि आप कोई अलौकिक महापुरुष हैं, तथा विषयान्ध जीवोंके उद्धारार्थ ही आपका इस मर्त्यलोकमें पधारना हुआ है। यथासमय आपका यज्ञोपवीत-संस्कार सम्पन्न हो गया और आप विद्याध्ययनके लिये काश्मीर भेज दिये गये। वहाँ आपने अल्पकालमें ही वेद-वेदांगोंका विधिवत् अध्ययन कर लिया और जब आप ब्रह्मचर्याश्रमका पालन करते हुए सकल शास्त्रनिष्णात हो गये, तब अर्थात् सं० १५७५ की आषाढ़ी पूर्णिमाको काश्मीरमें ही आपने सद्गुरु स्वामी श्रीअविनाशिरामजीसे उदासीन-सम्प्रदायानुसार दीक्षा ले ली। तत्पश्चात् कुछ दिनोंतक गुरुदेवकी ही सेवामें रहकर आप उनके उपदेशामृतका पान करते रहे। जब आपने धर्मोद्धारका समय देखा तब भारतभ्रमणके लिये निकल पड़े, उत्तर भारतसे लेकर दक्षिण भारतके प्राय: समस्त तीर्थोंका आपने परिभ्रमण किया और अपने उपदेशों द्वारा धार्मिक जगत्में एक नवीन जागृति फैला दी। फिर अन्य स्थानोंमें भी जा-जाकर आपने कितने पाप-परायण जीवोंका उद्धार किया, इसकी कोई गणना नहीं की जा सकती।

कुछ समयके अनन्तर आप फिर काश्मीरकी ओर चले गये और वहाँ जाकर आपने वेद-भाष्योंकी रचना की। तत्पश्चात् आपका पदार्पण पेशावर तथा काबुलकी ओर हुआ। उधरके यत्किंचित् हिन्दुओंका जीवन विधर्मियोंके दबावसे संकटमय था, अत: आपने कई स्थानोंपर अपनी योगशक्तिके प्रभावसे हिन्दुओंकी रक्षा की। जहाँ-जहाँ आपने हिन्दुओंकी रक्षा की, वहाँ-वहाँपर अबतक आपके स्मारक बने हुए हैं। उसी समय सिंधके हिन्दुओंपर भी यवनोंका बड़ा भारी अत्याचार हो रहा था। वहाँके ठट्ठा नामक नगरमें यह हालत थी कि हिन्दूलोग मन्दिरोंमें आरती करते समय यवनोंके भयसे घण्टा-शंख भी नहीं बजा पाते थे और खुलेआम पाठ-पूजा तो बंद थी ही। यह सुनकर आप शीघ्र ही वहाँ पहुँचे और अपने योगबलसे वहाँके राजाको परास्त करके आपने हिन्दुओंको धार्मिक स्वतन्त्रता दिलायी। इसी प्रकार आपने जहाँगीर बादशाहको भी एक बार अपने योगबलका परिचय देकर प्रभावित किया था। और काबुलके वजीर खाँ नामक मुसलमानपर तो आपकी योगशक्तिका प्रभाव जादूकी तरह पड़ा था। वह आपके उपदेशोंके प्रभावसे भगवान् श्रीकृष्णका अनन्य भक्त बन गया और 'हे कृष्ण विष्णो मधुकैटभारे' की ध्वनि लगाने लगा। तात्पर्य यह कि आपने लोकहितके लिये थोड़े नहीं, असंख्य चमत्कार दिखलाये और अपनी कीर्ति-ध्वजाको सारे देश-देशान्तरोंमें फहरा दिया। स्थानाभावके कारण आपकी अन्य अलौकिक लीलाओंका वर्णन यहाँ नहीं आ सकता और न आपके बहुमूल्य उपदेश ही यहाँ दिये जा सकते हैं। जिन्हें आपके जीवनकी अनन्त घटनाओं तथा आपके दिव्य उपदेशोंको जानना हो उन्हें श्रीचन्द्रप्रकाश, उदासीनधर्मरत्नाकर, उदासीनमंजरी प्रभृति ग्रन्थोंका अवलोकन करना चाहिये। उदासीन-सम्प्रदायके प्रचारद्वारा सनातन-धर्मका दिग्विजय कराते हुए आप १५० वर्षतक इस धराधामपर विद्यमान रहे; परन्तु फिर भी वृद्धावस्था आपके पास फटकीतक नहीं। आप अपने योगबलसे सदा नौजवान ही बने रहे। जब आपके निर्वाणका अवसर आया तब आप चम्बाकी पार्वत्य गुफाओंमें जाकर तिरोहित हो गये, इसी कारण आपकी निर्वाणतिथिका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। ठट्ठा, वारहठ, श्रीनगर, कान्धार और पेशावर—ये पाँच आपके मुख्य निवासस्थान थे। आपके बाद आपके अनेकों शिष्य भी बड़े-बड़े सिद्ध तथा संत हुए और उन्होंने भी विश्वका बड़ा हित किया।*

---

* यह लेख बहुत बड़ा था, इसके सिवा दो लेख और भी आये थे। सबका स्थानाभावसे सारांशमात्र दिया गया है। लेखक महानुभाव क्षमा करें।

अष्टछापके संत

श्रीवल्लभाचार्यजीके पीछे उनके पुत्र गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी गद्दीपर बैठे। उस समयतक पुष्टिमार्गी कई कवि बहुत-से सुन्दर-सुन्दर पदोंकी रचना कर चुके थे। दार्शनिक पक्षमें वल्लभाचार्यजीका मत जिस प्रकार शुद्धाद्वैत कहलाता है उसी प्रकार भक्तिपक्षमें वह 'पुष्टिमार्ग' कहलाता है। इसकी मान्यता यह है कि केवल ईश्वरके अनुग्रहसे ही, जिसे 'पुष्टि' या 'पोषण' कहते हैं, जीव अपने शुद्ध ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त करता है। पुष्टिमार्गमें साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ही इष्टदेवके रूपमें पूजित हुए हैं। श्रीकृष्णके जिस मधुर रूपको लेकर ये भक्त कवि चले हैं वह प्रेमोन्मत्त गोपिकाओंसे घिरे हुए गोकुलके श्रीबालकृष्ण हैं—वह हास-विलासके तरंगोंसे परिपूर्ण अनन्त सौन्दर्य समुद्र हैं। उस सार्वभौम प्रेमालम्बनके सम्मुख मनुष्यका हृदय निराले प्रेमलोकमें फूला-फूला फिरता है। ये संतकवि अपने रंगमें मस्त रहनेवाले जीव थे।

हाँ, तो, श्रीवल्लभाचार्यजीके पुत्र श्रीविट्ठलनाथजीने कृष्णभक्त कवियोंमें आठ सर्वोत्तम कवियोंको चुनकर अष्टछापकी प्रतिष्ठा की। अष्टछापके आठ कवि ये हैं—सूरदास, नन्ददास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी और चतुर्भुजदास। स्थानाभावके कारण इन आठ महात्माओंका बहुत संक्षेपमें परिचयमात्र यहाँ दिया जा रहा है। साथ ही पाठकोंसे यह प्रार्थना है कि इन संतोंके विस्तृत जीवनचरित्र तथा इनके पदोंका आकलन अवश्य करें। उनके पठन-गायनसे चित्त शुद्ध होगा, हृदय पवित्र होगा और उसमें श्रीकृष्णभक्तिका आविर्भाव होगा। अस्तु।

सूरदासजी

श्रीवल्लभाचार्यके शिष्योंमें प्रधान, सूरसागरके रचयिता, भक्ताग्रगण्य महात्मा सूरदासजीका जन्म रुनकता (रेणुकाक्षेत्र) में—किसी-किसीके मतसे इनका जन्म दिल्लीके पास सीही गाँवमें हुआ था, जो आगरा-मथुराकी सड़कपर है—संवत् १५४० वि० के लगभग हुआ। 'चौरासी वैष्णवोंकी वार्ता' के अनुसार सूरदासजी सारस्वत ब्राह्मण थे। कोई-कोई इन्हें ब्रह्मभट्ट कुलके मानते हैं और इनके पिताका नाम रामदास था।

सूरदासजी जन्मके अन्धे नहीं थे, पीछे अन्धे हो गये थे। गऊघाटपर आप श्रीवल्लभाचार्यजीके शरणापन्न हुए और गुरुकी आज्ञासे इन्होंने श्रीमद्भागवतकी कथाको पदोंमें गाया। सूरसागरमें प्रधानतया भागवतके दशम स्कन्धकी कथा ही ली गयी है। इसमें सवा लाख पद बताये जाते हैं, यद्यपि इस समय बहुत थोड़े मिलते हैं।

मुसलमानोंके साथ इनके पिताका जो युद्ध हुआ उसमें इनके छः भाई मारे गये। ये इधर-उधर भटकते रहे। एक दिन ये कुएँमें गिर पड़े और छः दिनतक उसीमें पड़े रहे। सातवें दिन भगवान् श्रीकृष्ण इनके सामने प्रकट हुए और इन्हें दृष्टि प्रदानकर उन्होंने अपने रूपका दर्शन कराया। सूरदासने वर माँगा कि जिन नेत्रोंसे मैंने आपका रूप देखा उनसे और कुछ न देखूँ और सदा आपका भजन करूँ। सूरदासजी कुएँसे निकलनेपर फिर ज्यों-के-त्यों अन्धे हो गये और व्रजमें वास करने लगे। वहाँ गोसाईंजीने इन्हें अष्टछापमें लिया।

सूरदासजीकी उपासना सख्यभावकी है। यहाँतक कि ये उद्धवके अवतार कहे जाते हैं। सूरदासजी संवत् १६२० के लगभग गोसाईं विट्ठलनाथजीके सामने पारसोली गाँवमें अन्तिम क्षण श्रीराधाकृष्णके अखण्ड रासमें सदाके लिये लीन हो गये।

सूरसागरमें कृष्णजन्मसे लेकर श्रीकृष्णके मथुरा जानेतककी कथा अत्यन्त विस्तारके साथ पदोंमें गायी गयी है। भिन्न-भिन्न लीलाओंके प्रसंग लेकर इस सच्चे रसमग्न संत कविने अत्यन्त मधुर और मनोहर पदोंकी झड़ी-सी बाँध दी है। श्रृंगार और वात्सल्यका जैसा सरस और निर्मल स्रोत सूरसागरमें बहा है वैसा अन्यत्र नहीं दीख पड़ता।

कहते हैं, इनके साथ बराबर एक लेखक रहा करता था। इनके मुँहसे जो भजन निकलते थे उन्हें वह लिखता जाता था। कई अवसरोंपर लेखकके अभावमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण उनके लेखकका काम करते थे। एक दिन सूरदासजीने अनुभव किया कि जो बात मेरे मुँहसे निकलती है उसे लेखक पहले ही लिख लेता है—यह कार्य भगवान्के सिवा दूसरा कर नहीं सकता। बस, इन्होंने लेखककी बाँह पकड़ ली; परन्तु भगवान्ने हाथ छुड़ा लिया और तुरंत अन्तर्धान हो गये। उसी

समय सूरदासजीके मुँहसे यह दोहा निकला—

बाँह छुड़ाए जात हौ, निबल जानिकै मोहि।
हिरदै ते जब जाहुगे, मरद बदौंगो तोहि॥

सूरदासके सभी पद एक-से-एक अनूठे हैं। उनमें डूबनेसे आत्माको वास्तविक सुख, शान्ति और तृप्ति मिलती है। उनके अनेकों पद प्रेमीजनोंके हृदयमें बराबर गूँजते रहते हैं। प्रीतिकी विवशतामें राधा माधवको उलाहना दे रही है—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों, आपै प्रान दह्यो॥
अलिसुत प्रीति करी जलसुत सों, संपति हाथ गह्यो।
सारँग प्रीति करी जो नाद सों, सनमुख बान सह्यो॥
हम जो प्रीति करी माधौ सों, चलत न कछू कह्यो।
सूरदास प्रभु बिनु दुख दूनो, नैननि नीर बह्यो॥

राधा-कृष्णके प्रेमके प्रादुर्भावकी कैसी स्वाभाविक परिस्थितिका चित्र है, यह देखिये—

धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी॥
मोहन करतें धार चलति पय, मोहनि-मुख अति ही छबि बाढ़ी॥

सन्ध्या होनेपर कभी तो गोपियोंको यह स्मरण आता है—

एहि बिरियाँ बनते चलि आवते।
दूरहिंतें वह बेनु अधर धरि बारंबार बजावते॥

कभी अपने उजड़े हुए नीरस जीवनके मेलमें न होनेके कारण वे वृन्दावनके हरे-भरे पेड़ोंको कोसती हैं—

मधुबन! तुम कस रहत हरे?
बिरह-बियोग स्यामसुंदरके ठाढ़े क्यों न जरे?
तुम हौ निलज, लाज नहि तुमको, फिर सिर पुहुप धरे।
ससा स्यार और बनके पखेरू, धिक धिक सबन करे॥
कौन काज ठाढ़े रहे बनमें, काहे न उकठि परे?

जब उद्धव बहुत-सा वाग्विस्तार करके निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाका उपदेश बराबर देते ही चले जाते हैं तब गोपियाँ बीचमें रोककर इस प्रकार पूछती हैं—

निर्गुन कौन देसको बासी?
मधुकर हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी।
रेख न रूप, बरन जाके नहिं, ताको हमैं बतावत।
अपनी कहौ, दरस ऐसेको तुम कबहूँ हौ पावत?
मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन बन बन चारत।
नैन बिसाल, भौंह बंकट करि देख्यो कबहुँ निहारत?
तन त्रिभंग करि, नटबर बपु धरि, पीतांबर तेहि सोहत?
सूर श्याम ज्यों देत हमैं सुख, त्यों तुमको सोउ मोहत?

नन्ददासजी

नन्ददासजी सूरदासजीके प्रायः समाकालीन थे। ये श्रीगोसाईंजीके शिष्य थे। कविताकाल इनका सूरदासजीके गोलोक पधारनेके बाद सं० १६२५ या उसके और आगेतक माना जा सकता है। नाभाजीके भक्तमालमें इनपर जो छप्पय है उसमें जीवनके सम्बन्धमें इतना ही है—*'चन्द्रहास-अग्रज सुहृद, परम प्रेम-पथमें पगे'*। गोस्वामी विट्ठलनाथजीके पुत्र गोकुलनाथजीने जो 'दो सौ बावन वैष्णवोंकी वार्ता' लिखी उसमें इनका थोड़ा-सा वृत्त दिया है, जिसके द्वारा यह ठहरता है कि नन्ददासजी गोस्वामी तुलसीदासजीके भाई थे। गोस्वामीजीका नन्ददासके साथ वृन्दावन जाने और वहाँ *'तुलसी मस्तक तब नवै धनुषबान लेओ हाथ'* वाली घटनाका भी उस 'वार्ता' में विवरण है। कुछ महानुभावोंने यह सिद्ध किया है कि नन्ददास और तुलसीदासमें कोई सम्बन्ध नहीं था और उस वार्ताको प्रमाणकोटिमें नहीं लिया जा सकता। जो कुछ भी हो, नन्ददासजी तुलसीदासजीके भाई हों या नहीं, परम भक्त अवश्य थे। हमें तो उनके संतचरित्रसे काम है।

नन्ददासजीकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'रासपंचाध्यायी' है, जो रोला छन्दोंमें लिखी गयी है। इसमें भगवान् श्रीकृष्णकी रासलीलाका बहुत ही भावपूर्ण वर्णन है। रासपंचाध्यायीके अतिरिक्त इन्होंने भागवत दशम स्कन्ध, रुक्मिणीमंगल, रूपमंजरी, रसमंजरी, विरहमंजरी, रामचिन्तामणिमाला, दानलीला, मानलीला, अनेकार्थमंजरी, ज्ञानमंजरी, श्यामसगाई तथा भ्रमरगीत लिखा। इनमें 'रासपंचाध्यायी' और 'भ्रमरगीत' ही प्रसिद्ध हैं। वास्तवमें नन्ददासजी परम भागवत, महान् भावुक और उच्च प्रतिभावान संत कवि थे। इनकी रचना हृदयवेधिनी, मर्मस्पर्शिनी, सरस और सजीव है।

गोपियाँ श्रीकृष्णकी मधुर वंशीका आवाहन सुनकर उनके पास खिंच आयी हैं। इसपर प्रभु उन्हें घर लौट जाने और अपने पति-पुत्रोंकी सेवाका उपदेश करने लगे। यह 'धर्म' का उपदेश गोपियोंके हृदयमें छिपी हुई विरहाग्निको अधिक धधकानेवाला ही हुआ। वे कहती हैं—

पारिधिहू ते तुम जु कठिन, सुन हो मोहन पिय।
बेनु बजाय, बुलाय मृगी सी मोहि हतीं तिय॥
मात-पिता, पति-बंधु सबै तजि तुम ढिग आईं।
जानि-बूझि अधरात गहर बन महँ फिरि आईं॥
अजहू नहिं कछु बिगर्‌यो रंचक, तुम पै आवौ।
मुरलीको जूठो अधरामृत आय पियावौ॥
जानति हैं हम, तुम जु डरत ब्रजराजदुलारे।
कोमल चरन-सरोज, उरोज कठोर हमारे॥
हरैं हरैं पिय धरौ हमहुँ तो निपट पियारे।
कित अटवीमें अटत गड़त तृन कूर्प अन्यारे॥

'भ्रमरगीत' में उद्धवके 'निर्गुण' उपदेशपर गोपियाँ कहती हैं—

जौ उनके गुन नाहिं, और गुन भये कहाँते।
बीज बिना तरु जमैं, मोहि तुम कहौ, कहाँते॥
वा गुनकी परछाँहरी, माया-दरपन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भए, अमल बारि जल कीच॥
सखा सुन स्यामके।

नंदभवनको भूषन माई।
जसुदाको लाल, बीर हलधरको, राधारमण परम सुखदाई॥
सिवको धन, संतनको सरबस, महिमा बेद-पुराननि गाई।
इंद्रको इंद्र, देव देवनको, ब्रह्मको ब्रह्म अधिक अधिकाई॥
कालको काल, ईस ईसनको, अतिहि अतुल, तोल्यो नहिं जाई।
नंददासको जीवन गिरधर, गोकुल गाँवको कुँवर कन्हाई॥

कृष्णदासजी

कृष्णदासजी भी श्रीवल्लभाचार्यजीके शिष्य और अष्टछापमें थे। ये जातिके शूद्र थे परन्तु आचार्यजीके बड़े कृपापात्र थे और मन्दिरके प्रधान मुखिया हो गये थे। चौरासी वैष्णवोंकी वार्तामें इनका कुछ वृत्त दिया हुआ है। एक बार गोसाईं विट्ठलनाथजीसे किसी बातपर अनबन हो जानेके कारण इन्होंने उनकी ड्योढ़ी बंद कर दी। इसपर गोसाईं विट्ठलनाथजीके कृपापात्र महाराज बीरबलने इन्हें कैद कर लिया। पीछे गोसाईंजी इस बातसे बड़े दुःखी हुए और इनको कारागारसे मुक्त कराकर प्रधानके पदपर फिर ज्यों-का-त्यों प्रतिष्ठित कर दिया।

कृष्णदासजीने भी राधा-कृष्णके प्रेमको लेकर शृंगाररसके बहुत सुन्दर पद गाये हैं। 'जुगलमान चरित्र' नामक एक छोटा-सा ग्रन्थ आपका मिलता है। 'भ्रमरगीत' और 'प्रेमतत्त्वनिरूपण' नामके इनके दो और ग्रन्थ बतलाये जाते हैं। इनका गोलोकवास लगभग संवत् १६६५ वि० में हुआ। आपका एक पद यहाँ दिया जा रहा है। कहते हैं, इसी पदको गाकर कृष्णदासजीने शरीर छोड़ा था।

मो मन गिरिधर-छबि पै अटक्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलिकै, चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो॥
सजल स्याम घन बरन लीन ह्वै, फिरि चित अनत न भटक्यो।
कृष्णदास किये प्रान निछावर, यह तन जग सिर पटक्यो॥

परमानन्ददासजी

परमानन्ददासजीका निवासस्थान कन्नौजमें था और आप कनौजिया ब्राह्मण थे। संवत् १६०६ के लगभग वर्तमान थे। अत्यन्त तन्मयताके साथ आपने बड़ी सरस कविता की है। कहते हैं कि इनके किसी एक पदको सुनकर श्रीवल्लभाचार्यजी कई दिनोंतक तन-बदनकी सुध भूले रहे। इनके फुटकर पद कृष्णभक्तोंके मुँहसे प्रायः सुननेमें आते हैं। 'ध्रुवचरित्र,' 'दानलीला' तथा इनके पदोंका संग्रह, इस प्रकार तीन पुस्तकें आपकी रचित प्राप्त हुई हैं। कहते हैं, इन्हें 'श्रीनवनीतप्रिया'* जीका इष्ट था और जब ये तल्लीन होकर पद गाया करते तो आपकी गोदमें बैठकर श्रीनवनीतप्रियाजी आपका सुमधुर गीत सुना करते थे। संतोंमें यह बात भी प्रसिद्ध है कि स्वामी परमानन्दको साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके दिव्य दर्शन हुए। आप बहुत ही सुन्दर कीर्तन करते और गाते थे। आपके पास भावुक भक्तोंकी बराबर बड़ी भीड़ रहा करती थी। आपकी भक्ति-निष्ठा भक्तोंसे आदर्श मानी जाती है। यहाँ आपका एक पद दिया जाता है—

कहा करौं बैकुंठहि जाय?
जहँ नहिं नंद, जहाँ न जसोदा, नहिं जहँ गोपी-ग्वाल, न गाय॥
जहँ नहिं जल जमुनाको निर्मल, और नहीं कदमनकी छाय।
परमानँद प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय।

कुम्भनदासजी

श्रीकुम्भनदासजी श्रीगोवर्धनके निकट यमुनावत गाँवमें रहते थे। उन दिनों यमुनाजीका प्रवाह इस गाँवके निकट था। उनका खेत पारसोली चन्द्रसरोवरके ऊपर था और वहीं ये खेती करते तथा सदा रहते भी थे। आप परमानन्ददासजीके समकालीन थे। आप पूरे विरक्त और धन, मान, मर्यादाकी इच्छासे कोसों दूर थे। एक

* नाथद्वारेमें 'श्रीनवनीतप्रियाजी' नामका भगवान् श्रीकृष्णका एक विग्रह है।

बार बादशाहके बुलानेपर इन्हें फतहपुर-सीकरी जाना पड़ा, जहाँ इनका बड़ा सम्मान हुआ; पर इसका इन्हें बराबर खेद ही रहा और इन्होंने खेद-विषादकी अवस्थामें गाया—

भगतको कहा सीकरी सों काम ?
आवत जात पनहिया टूटी, बिसरि गयो हरिनाम॥
जिनको मुख देखें दुख उपजत, तिनको करिये परी सलाम।
कुंभनदास लाल गिरधर बिनु, और सबै बेकाम॥

आपके अटूट वैराग्यके कई उत्कृष्ट प्रमाण मिलते हैं—एक बार जयपुरके राजा मानसिंहजी आपके दर्शनोंको आये और मोहरोंकी थैलियाँ आपके चरणोंमें रखकर स्वीकार करनेकी प्रार्थना की, और इसके ऊपर आपको कई गाँव भी भेंटमें देने लगे। संत कुम्भनदासने बड़ी सरलतासे कहा, 'भाई! यह सब लेकर मैं क्या करूँगा? हमको तो खेती है। उसमें हमारे लिये पर्याप्त अन्न हो जाता है, और मैं ब्राह्मण तो हूँ नहीं कि दानकी वस्तुएँ लूँ। यदि तुमको देना ही है तो किसी ब्राह्मणको दे दो।' राजाके बहुत अधिक आग्रह करनेपर कि मुझे कोई आज्ञा की जाय, कुम्भनदासजीने कहा कि यदि आप मेरी आज्ञा मानेंगे तो मेरी आज्ञा यही है कि आप कृपाकर फिर कभी यहाँ न पधारें, संतोंको इन प्रलोभनों और आकर्षणोंसे दूर ही रहने दें!

एक बार श्रीगुरुकी आज्ञासे आपको गोवर्धनसे बाहर जाना पड़ा था। गोवर्धन छोड़नेके दूसरे ही दिन आपकी दशा बहुत विचित्र हो गयी। अब न मालूम पुनः कब श्रीनाथजीके दर्शन होंगे, ऐसा विचारकर आप फूट-फूटकर रोने लगे। उसी समयका आपका यह विरहका पद है, जो भक्तोंके प्राणोंको परमप्रिय है—

किते दिन ह्वै गये बिनु देखें।
तरुन किसोर रसिक नँदनंदन कछुक उठत मुख रेखें॥
वह सौभाग्य, वह कांति बदनकी, कोटिक चंद बिसेखें।
वह चितवनि, वह हास्य मनोहर, वह नटबर बपु भेखें॥
स्यामसुँदर मिलि सँग खेलनकी आवत जीय अपेखें।
कुंभनदास लाल गिरधर बिनु जीवन-जनम अलेखें॥

इनका कोई ग्रन्थ न तो प्रसिद्ध ही है और न अबतक मिला है। फुटकर पद अवश्य मिलते हैं। विषय वही प्रभुकी बाललीला और प्रेमलीला है। गोपी कहती है—

तुम नीकें दुहि जानत गैया।
चलिये कुँवर रसिक मनमोहन, लगौ तिहारे पैयाँ॥
तुमहिं जानि करि कनक-दोहनी घर तें पठई मैया।
निकटहि है यह खरिक हमारो, नागर लेऊ बलैयाँ॥
देखियत परम सुदेस लरिकई चित चहुँट्यो सुँदरैयाँ।
कुँभनदास प्रभु मानि लई रति गिरि गोबरधन रैया॥

चतुर्भुजदासजी

श्रीचतुर्भुजदासजी कुम्भनदासजीके पुत्र और गोसाईं विट्ठलनाथजीके शिष्य थे। इनके जन्मके सम्बन्धमें यह बात प्रसिद्ध है कि इनके पिता श्रीकुम्भनदासजी प्रभु श्रीनाथजीके साथ खेला करते थे। एक दिन कुम्भनदासजीको श्रीगोवर्धननाथजीने चार भुजा धारण करके दर्शन दिये। उसी दिन कुम्भनदासजीके घरमें पुत्र पैदा हो गया। इसलिये उन्होंने उसका नाम चतुर्भुजदास रखा। यह बात कुम्भनदासजीकी वार्तामें लिखी है।

जब चतुर्भुजदास ग्यारह दिनके हुए तो कुम्भनदासजी उन्हें श्रीगोसाईंजीके पास ले गये और नाम स्मरण करवाया। जब चतुर्भुजदास ४१ दिनके हुए तो उन्हें श्रीगोसाईंजीसे निवेदन करवाया। इस दिनसे श्रीनाथजीने चतुर्भुजदासको इतनी सामर्थ्य दे दी कि जब इच्छा हो वे बोलने-चालने एवं अलौकिक बातें करने लग जायँ और जब इच्छा हो मुग्ध बालक बन जायँ। ऐसे भगवदीय थे श्रीचतुर्भुजदासजी।

चतुर्भुजदासजी श्रीनाथजीके ऐसे अनन्य भक्त थे कि वे और किसीके आगे गाते ही न थे। एक बार पारसोलीमें रास हो रहा था। रासमें खूब गायन हुआ। गोसाईंजीके पुत्र श्रीगोकुलनाथजीने श्रीचतुर्भुजदासजीको आज्ञा की कि आप भी कुछ गाइये। चतुर्भुजदासजी बोले—हमारा गायन सुननेवाले श्रीनाथजी पधारे नहीं हैं, अतः हम किस प्रकार गावें। श्रीगोकुलनाथजी बोले, अभी पधारते ही हैं। भक्तकी वाणी असत्य न हो, इस हेतु श्रीनाथजी वहाँ पधारे। प्रभुके दर्शन पाकर श्रीचतुर्भुजदासजी आनन्दमग्न होकर गाने लगे—

अद्भुत नटभेस धरें जमुना तट स्यामसुँदर।
गुननिधान गिरिबरधर रास-रंग राचे॥

और फिर—

प्यारी-ग्रीवा भुज मेली, नृत्यत प्रिया सुजान।

ऐसे-ऐसे बहुत-से मनोहर पद श्रीचतुर्भुजदासजीने गाये। फिर रास हुआ और उसमें खूब आनन्द आया।

एक दिन श्रीगोसाईंजीने चतुर्भुजदासजीको आज्ञा की कि अप्सराकुण्डपर जाकर रामदास भीतरियाको बुला लाओ और फूल लेते आओ। चतुर्भुजदासजीने रामदास भीतरियाको भेज दिया और आप फूल चुनने लगे। फूल चुनकर जब आ रहे थे तो उसी समय श्रीगोवर्धन

पर्वतकी कन्दरासे श्रीनाथजी श्रीस्वामिनीजीसहित पधारे। श्रीचतुर्भुजदासजीने उनका दर्शन किया और यह पद गाया—

गोबरधन-गिरि सघन कंदरा
रैन निवास कियो पिय प्यारी।

तथा—

रजनी राज कियो निकुंज-नगरकी रानी।

चतुर्भुजदासजी नित्य श्रीगिरिराजपर बैठकर विरह और हिलगके पद गाते। श्रीनाथजी सदा सन्ध्या समय गौवोंके साथ वहाँ पधारते और इन्हें दर्शन देते। वैशाख सुदी १३ की सन्ध्याको उन्होंने यह पद गाया—

श्रीगोबरधनबासी साँवरे लाल! तुम बिन रह्यो न जाय हो।

पदकी अन्तिम तुक श्रीनाथजीने पधारते हुए सुनी। करुणासे व्याकुल होकर कहने लगे—सदा यहाँ पधारेंगे। चतुर्भुजदासजी श्रीनाथजीके ऐसे कृपापात्र थे कि उनके बिना श्रीनाथजी रह नहीं सकते थे! इनके सभी पद एक-से-एक अनूठे हैं! यहाँ इनका एक पद दिया जा रहा है—

जसोदा! कहा कहौं हौं बात!
तुम्हरे सुतके करतब मो पै कहत कहे नहिं जात॥
भाजन फोरि, ढारि सब गोरस, लै माखन-दधि खात।
जौ बरजौं तौ आँखि दिखावै, रंचहु नाहिं सकात॥
और अटपटी कहाँ लौं बरनौं, छुवत पानि सों गात।
दास चतुर्भुज गिरिधर-गुन हौं कहति-कहति सकुचात॥

छीतस्वामी

श्रीछीतस्वामी पहले मथुराके एक सुप्रसिद्ध सुसम्पन्न पंडा थे। राजा बीरबल-ऐसे लोग इनके यजमान थे। पंडा होनेके कारण ये बड़े अक्खड़ और उद्दण्ड थे। पीछे गोस्वामी विट्ठलनाथजीसे दीक्षा लेकर परम शान्त भक्त हो गये और श्रीकृष्णका गुणानुवाद करने लगे। सं० १६१२ के लगभग आपने रचनाएँ कीं। इनके फुटकर पद ही लोगोंके मुँहसे सुने जाते हैं या इधर-उधर संगृहीत मिलते हैं। इनके पदोंमें शृंगारके अतिरिक्त व्रजभूमिके प्रति प्रेमव्यंजना भी अच्छी पायी जाती है।

हे बिधना! तो सों अँचरा पसारि माँगौं
जनम-जनम दीजो याही ब्रज बसिबो॥

यह आपका ही पद है। इनके पदोंमें सरसता और मधुरता ओतप्रोत है—

भोर भएँ नवकुंज-सदन तें आवत लाल गोबर्धनधारी।
लटपटि पाग, मरगजी माला, सिथिल अंग, डगमग गति न्यारी॥
बिनु गुन माल बिराजति उरपर, नखछत द्वैज-चंद अनुहारी।
छीतस्वामि जब चितये मो तन, तब हौं निरखि गयो बलिहारी॥

गोविन्द स्वामी

श्रीगोविन्द स्वामी अंतरीके रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। ये विरक्त होकर महावनमें आकर रहने लगे थे। पीछे गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजीके शिष्य हुए, जिन्होंने इनके रचे पदोंसे प्रसन्न होकर इन्हें अष्टछापमें लिया। इनका रचनाकाल सं० १६०० और १६२५ के भीतर ही माना जा सकता है। ये गोवर्धन पर्वतपर रहते थे और उसके पास ही इन्होंने कदम्बोंका एक बहुत सुन्दर उपवन लगाया था, जो आजतक 'गोविन्द स्वामीकी कदमखण्डी' कहलाता है। ये कवि होनेके अतिरिक्त बड़े पक्के गवैये थे। तानसेन कभी-कभी इनका गाना सुननेके लिये आया करते थे।

गोविन्द स्वामी गोकुलमें रहते थे पर श्रीयमुनाजीमें पाँव नहीं देते थे। वह श्रीयमुनाजीको साक्षात् श्रीस्वामिनीजी मानते थे। श्रीयमुनाजीका दर्शन करते, दण्डवत् करते, उसका जलपान भी करते, परन्तु पाँव कभी नहीं धोते। एक दिन कई संतोंने मिलकर इन्हें बलात् यमुनाजीमें नहलाना चाहा। इसपर इन्होंने प्रार्थना की—'यह मल-मूत्र भरा शरीर माँ यमुनाके योग्य नहीं है। यमुनाजी तो साक्षात् श्रीस्वामिनीजी हैं। अतः इस अधम देहको स्पर्श न करायें। श्रीयमुनाजीमें तो उत्तम सामग्री अर्पण करना चाहिये।' यह सुनकर सब संत चुप हो गये।

कहते हैं, गोविन्द स्वामी प्रभु श्रीनाथजीकी अन्तरंग लीलामें सम्मिलित थे। ये भगवान्‌के साथ नाना प्रकारके खेल खेला करते थे। कभी आप घोड़ा बनते, कभी उन्हें घोड़ा बनाते और नाना प्रकारसे लाड़ लड़ाते। गोविन्द स्वामी अष्टसखाओंमें थे। इनके आग्रहपर प्रभु भी कभी-कभी गाते और श्रीकिशोरीजी ताल-स्वर देतीं।

इन्हींके शब्दोंमें भगवान्‌के बालरूपकी सुमधुर झाँकी लीजिये—

प्रातसमय उठि जसुमति जननी गिरिधरसुतको उबटि न्हवावति।
करि सिंगार, बसन-भूषन सजि, फूलन रचि-रचि पाग बनावति॥
छुटे बंद, बागे अति सोभित, बिच-बिच चोव-अरगजा लावति।
सूथन लाल फूँदना सोभित, आजुकि छबि कछु कहति न आवति॥
बिबिध कुसुमकी माला उर धरि, श्रीकर मुरली बेंत गहावति।
लै दरपन देखें श्रीमुखको, गोबिंद प्रभुचरननि सिर नावति॥

[संकलित]

भक्त रसखान

रसखान दिल्लीके पठान थे। इनका जन्म सं० १६१५ के लगभग माना जाता है। युवावस्थामें सांसारिक वासनाओंके शिकार थे। दो सौ बावन वैष्णवोंकी वार्तामें लिखा है कि ये पहले एक बनियेके लड़केसे बड़ा प्रेम करते थे। एक दिन चार वैष्णवोंने आपसमें बात करते हुए कहा कि भगवान्‌में ऐसा प्रेम करना चाहिये जैसा कि रसखानका बनियेके लड़केपर है। रसखानने यह बात राह जाते सुन ली। उनके पूछनेपर कि भगवान्‌का रूप कैसा है, वैष्णवोंने उन्हें श्रीनाथजीका एक चित्र दिखलाया। चित्रपटका अपूर्व सौन्दर्य देखते ही उनका मन उस लड़केकी ओरसे उचट गया। श्रीनाथजीको खोजते-खोजते आप विह्वलदशामें गोकुल चले आये। इनका उत्कट वैराग्य और सच्ची लगन देखकर गुसाईं विट्ठलनाथजीने विधर्मी और विजातिका विचार छोड़कर इन्हें अपना लिया। रसखान श्रीनाथजीके प्रेममें ऐसे रँग गये थे कि भावावेशमें आप नित्य भगवान्‌के साथ गाय चराने जाया करते थे।

आपके सम्बन्धमें एक और बात यह कही जाती है कि जिस स्त्रीपर आप युवावस्थामें आसक्त थे वह बड़ी ही अभिमानिनी और रूपगर्विता थी। वह सदा इनके प्रेमका अनादर किया करती थी। ये एक दिन श्रीमद्भागवतका फारसी अनुवाद पढ़ रहे थे। उसमें गोपियोंके विरहका प्रसंग आया। उसे पढ़कर इनके मनमें यह समाया कि जिस नन्दकुमारपर हजारों रूपवती गोपियाँ मर रही हैं उसीसे प्रेम क्यों न किया जाय? इसी भक्तिभावनामें मस्त होकर इन्होंने उस स्त्रीको छोड़ दिया और वृन्दावन चले आये। संसारी प्रेम दिव्य प्रेममें परिणत हो गया!

रसखानका ***'मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँवके ग्वारन'*** तथा ***'या लकुटी अरु कामरियापर राज तिहूँ पुरको तजि डारौं'*** भक्तोंके हृदयके हार बने हुए हैं। इनका ***'ताहि अहीरकी छोहरियाँ छछियाभरि छाछपै नाच नचावैं'*** कितना रसपूर्ण है! वेद, पुराण, उपनिषद् आदिमें प्रभुको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थककर रसखान देखते हैं तो 'वह' छलिया कुंजकुटीरमें ***'बैठो पलोटत राधिका-पायन'***।

'सुजान रसखान' तथा 'प्रेमवाटिका' रसखानके प्रमुख प्रेम ग्रन्थ हैं। इनकी एक-एक पंक्ति भक्ति, प्रेम और अनुरागसे ओतप्रोत है। प्रेमाश्रिता भक्तिका जितना सुन्दर चित्रण रसखानकी लेखनीसे हुआ है वह अत्यन्त दुर्लभ है। रसखानका एक-एक सवैया और कवित्त प्राणोंमें प्रेमकी गुदगुदी उत्पन्न करनेवाला है। जी चाहता है पढ़ते ही रहें। उनमें भगवान्‌की भिन्न-भिन्न मधुर लीलाओंका अद्भुत चित्रण है। राधाजी सोचती हैं—

मोरपखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंजकी माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पिताम्बर, लै लकुटी बन गोधन-ग्वारनि संग फिरौंगी॥
भावतो वोहि मेरो रसखानि, सो तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरलीधरके अधरान धरी अधरा न धरौंगी॥

अन्तिम पंक्तिमें कितनी गूढ़ भाव-व्यंजना है।

—'माधव'

शंकरदेव

(लेखक—श्रीहेमकान्त भट्टाचार्य)

स्वामी शंकरदेवने आसाम प्रान्तके नौगाँव जिलेमें बटद्रवा ग्राममें १३७१ शकाब्दके कार्तिक मासकी अमावस्या तिथि, गुरुवारको मध्यरात्रिमें जन्म ग्रहण किया। इनकी माताका नाम सत्यवती और पिताका नाम कुसुमम्बर भूँया था। शंकरदेवको लोग शंकरका अवतार मानते थे। इनके अति सुन्दर शरीरके सम्बन्धमें माधवदेवने लिखा है—

श्रीमंत शंकर गौरकलेवर, चन्द्रर येन आभास।
बृहस्पति सम पंडित उत्तम, येन सुर परकास॥
पद्म पुष्प सम वदन प्रकाशे, सुंदर ईषत हाँसि।
गंभीर बचन मधु येन स्त्रवे, नयन पंकज पासि॥

ये शरीरसे सुन्दर कान्तिके तो थे ही, बड़े हृष्ट-पुष्ट भी थे। काव्यकी स्फूर्ति इनके अंदर बचपनसे ही थी। आपको देखकर सभी कह उठते, यह कोई देवता है। शंकर जातिके थे कायस्थ, परन्तु शास्त्रोंकी ओर आपकी अभिरुचि बहुत बचपनसे रही। भागवत और गीता आपके प्रिय ग्रन्थ थे। इन्हींका आधार लेकर आपने आसाममें विमल वैष्णवधर्मका प्रचार किया।

आप एक सिद्ध योगी थे। अपने योगबलसे बहुत-से लोकोत्तर कर्म किये। आपको बहुत अच्छी-अच्छी सिद्धियाँ प्राप्त थीं। वायु-स्तम्भन करके सारे शरीरको योगबलसे ऊपर आकाशमें ले जाकर ठहरा देते थे। ऐसे और भी कई अद्‌भुत कर्म आपने किये। आप कहा करते थे कि ईश्वर-प्राप्ति तर्क किंवा पाण्डित्यके द्वारा नहीं हो सकती। केवल एकान्तभक्तिसे ही ईश्वरको हम पा सकते हैं—

भाई मुखे बोला राम, हृदय धरा रूप।
एतेके मुकुति पाइबा कहिलो स्वरूप॥
पापसंहारक हरिनाम महाबलि।
यार ध्वनि सुनि कम्पि पलाय पाप-कलि॥

भगवान्‌के नामकी अद्‌भुत महिमा है। इसमें सभी प्राणियोंका अधिकार है। उन्होंने कहा है—

परम निर्मल धर्म हरिनामकीर्तन, त समस्त प्राणीर अधिकार।
एतेके से हरिनाम समस्त धर्मेर राजा, एहि सार शास्त्रर विचार॥

शंकरदेवके प्रधान शिष्य माधवदेव थे। इन लोगोंने आसाम और बंगालमें बड़े उल्लासके साथ वैष्णवधर्मका प्रचार किया। गाँव-गाँवमें, घर-घरमें कीर्तनमण्डलियाँ बनायीं और भगवन्नामका खूब प्रचार किया। आप आसामी साहित्यके पिता माने जाते हैं।

१२० वर्षकी अवस्थामें एक हरीतकी वृक्षके नीचे समाधि लगाकर शंकरदेव स्वेच्छासे साकेतलोकको पधारे। आज भी घर-घरमें शंकरदेवका नाम सभीको विदित है। इनकी जन्मभूमि 'बटद्रवा' आज भी हिन्दुओंका एक प्रधान तीर्थस्थान माना जाता है।

भक्तराज भीखजन

(लेखक—श्रीदेवकीनन्दनजी खेडवाल)

जयपुर राज्यान्तर्गत फतेहपुर नामक स्थानमें भगवान् श्रीलक्ष्मीनाथजीका एक मन्दिर है। उसके मुख्य द्वारपर निम्नलिखित दोहे हैं—

संख-चक्र सोभित गदा लिये कर कमल बिसाल।
बाम रमा, बाहन गरुड, प्रगटे दीनदयाल॥ १॥
पन्दरा सो गुनतीसमें, धरा फाड़ निकलंत।
सहर अलोर पठान घर, बहु दिन बास करंत॥ २॥
गोरू भोजक बिप्र कुल, सुनत गयो तेहि दौर।
श्रीपति करुणासिन्धुको, ले आयो एहि ठौर॥ ३॥
पन्दरा सो अठासिया, करी प्रभूने महर।
लक्ष्मीनाथ पधारिया, फतनापुरिये सहर॥ ४॥
सोला सो भये भीखजन, आचारज कुल केर।
अपनो जन प्रभु जानके, दरस दियो मुख फेर॥ ५॥

इन दोहोंमें प्रथम चार दोहोंसे भगवान् श्रीलक्ष्मीनाथजीके उस मन्दिरके और अन्तिम पाँचवें दोहेसे भक्तराज भीखजनके इतिहासपर प्रकाश पड़ता है। तात्पर्य यह है कि भक्तराज भीखजनका जन्म सं० १६०० के लगभग एक महाब्राह्मण-कुलमें हुआ था। जब वे कुछ बड़े हुए तब पूर्वजन्मके संस्कारवश उन्हें भगवत्प्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा हो चली। वे नित्य ही भगवान् श्रीलक्ष्मीनाथजीके उक्त मन्दिरमें जा-जाकर कातरभावसे प्रार्थना करने लगे। उनका यह नित्यका नियम बन गया कि जबतक वे भगवान् श्रीलक्ष्मीनाथजीकी मूर्तिका दर्शन नहीं कर लेते थे तबतक भोजन नहीं करते थे। किन्तु जब फतेहपुरके कुछ सम्भ्रान्त कहे जानेवाले लोगोंने यह देखा तब उन्हें भगवान्‌के मन्दिरमें एक महाब्राह्मणका आना-जाना उचित नहीं जान पड़ा। उन लोगोंने एक दिन भीखजनजीको जबरदस्ती मन्दिरके भीतर जानेसे रोक दिया। इसपर भीखजनजी क्या करते। कोई चारा न देखकर वे मन्दिरसे बाहर पिछली दीवारकी ओर बैठ गये और उन्होंने यह प्रण कर लिया कि 'जबतक भगवान् श्रीलक्ष्मीनाथजी यहींपर मुझको दर्शन न देंगे, तबतक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।' इस प्रकार भक्तवर भीखजनको निराहार रहकर भगवान्‌का ध्यान करते-करते तीन दिन बीत गये। तीसरे दिन भक्तका हठीला भाव देखकर भगवान् श्रीलक्ष्मीनाथसे नहीं रहा गया। वे मन्दिरकी पिछली दीवार फाड़कर भक्त भीखजनके सामने आ गये। फिर तो भक्तराज भीखजनने भगवान्‌को एकटक निहारकर अपनी मनोकामना पूरी की और इस घटनाकी खबर बिजलीकी भाँति सारे फतेहपुरमें फैल गयी। लोग दौड़े और भक्तराज भीखजनके चरणोंमें लोट-लोटकर क्षमा-प्रार्थना करने लगे।

ऐसे भक्तराज भीखजनकी बनायी हुई भीखबावनी बहुत प्रसिद्ध है। उसमेंका एक छन्द यहाँ दिया जाता है—

मंजारी कुल मेद रक्त केसर प्रसंगा।
नागर बेलि प्रसंग सहत माखी मिलि अंगा॥
कस्तूरी मृगनाभि, कीट पाटहिं कुल सोहै।
मणि विषधर उपजंत, फीम जूटनि जग मोहै॥
पारस वंश पखान है, संख हाड़ सब कोउ कहै।
हरिगुन हित्वै भीखजन, नाहिन कुल कारन चहै॥

संत बीरभान

'साध' अथवा 'साधक' सम्प्रदायके आदि प्रवर्तक संत बीरभानका आविर्भाव-काल की (keay) के कथनानुसार १५४३ और विलसनके अनुसार १६५२ माना जाता है। फरकूहर साहब उनका जन्मकाल १६५८ मानते हैं। कबीरकी तरह बीरभानने भी अपने उपदेशोंको साखियोंमें लिखा है और इन सबका संग्रह 'आदि उपदेश' में उपलब्ध है। साधु-सम्प्रदायमें बारह कठोर व्रत रखे गये हैं, जिनका पालन करना सर्वथा अनिवार्य है। इन नियमोंमें एक यह भी है कि पुरुष हो अथवा स्त्री, एक बार ही विवाह करे। दुबारा विवाह करनेसे पुरुष भी वैसे ही भ्रष्ट हो जाता है जैसे एक स्त्री। उसकी पवित्रता नष्ट हो जाती है। यह मत गंगा और यमुनाके दोआब तथा मिर्जापुर आदि स्थानोंमें ही अधिक प्रचलित हुआ। 'निर्वाण-वाणी' इस मतका मुख्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थको अन्य मत-सम्प्रदायके लोग न जान जायँ, इसलिये यह गुप्त ही रखा जाता है तथा इसी कारण इसे ये लोग छपवाते भी नहीं। एक प्रभुकी पूजा, दया, सन्तोष, मितव्ययिता, मद्य-मांस-निषेध, एक विवाह, अहिंसा, सादे सफेद वस्त्र धारण करना साधमतवालोंका प्रधान नियम है। कबीरको ये लोग अवतारी पुरुष मानते हैं।

'साध' जातियाँ आज कपड़ेकी छपाईके लिये भारतवर्ष तथा विदेशोंमें विख्यात हैं।

—'माधव'

संत श्रीव्यासदासजी

(लेखक—श्रीनवलकिशोरदासजी)

ओरछा (बुन्देलखण्ड) के सनाढ्य ब्राह्मणकुलमें वि० सं० १५६७ की मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमीके दिन श्रीव्यासजीका जन्म हुआ। बचपनमें आपका नाम 'हरिराम' था। आपके पिताका नाम सुखोमनि शर्मा था। तत्कालीन ओरछानरेश महाराज मधुकरशाहके आप राज्यगुरु थे। ये पहले गौर सम्प्रदायके अनुयायी थे, पीछे श्रीहितहरिवंशजीके शिष्य होकर राधावल्लभीय हो गये। इनके वंशज आज भी गौर सम्प्रदायका तिलक धारण करते हैं।

श्रीव्यासजी संस्कृतके प्रकाण्ड पण्डित थे। आपको शास्त्रार्थ करनेकी धुन थी। जहाँ जाते शास्त्रार्थ करते। एक बार आपने श्रीहितहरिवंशजीको शास्त्रार्थके लिये ललकारा। श्रीहित प्रभुने बड़ी नम्रतासे कहा—

यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौने सचु पायो।
जहँ तहँ बिपति जार-जुबती ज्यों प्रगट पिंगला गायो॥
द्वै तुरंगपर जोर चढ़त हठि परत कौन पै धायौ।
कहिधौं कौन अंकपर राखै जो गनिकासुत जायौ॥
जै श्रीहितहरिवंश प्रपंच-वंच सब काल-व्यालको खायौ।
यह जिय जानि स्याम-स्यामापद-कमल सँगी सिर नायौ॥

अब तो श्रीव्यासजीका विद्यागर्व चूर-चूर हो गया। आपने श्रीहित प्रभुके पादपद्मोंमें मस्तक रखकर दीक्षाके लिये प्रार्थना की। दीक्षा प्राप्त हुई और एक विरक्त वैष्णवके रूपमें आप श्रीवृन्दावनधाममें सेवाकुंजके समीप एक मन्दिर निर्माण कराकर हितपद्धतिसे सेव्य युगलकिशोरस्वरूप श्रीराधाकृष्णको पधराकर उनका अत्यन्त लाड़ लड़ाने लगे।

एक दिनकी बात है, इनके यहाँ रासमें युगलस्वरूपका नृत्य हो रहा था। गहरा रंग छा रहा था। इसी समय श्रीराधिकाजीके चरणकमलसे घुँघुरू टूटकर पृथक् हो गया। तुरंत ही आपने भरी सभामें अपना यज्ञोपवीत तोड़कर घुँघुरू गूँथ लिया और उसे श्रीरासेश्वरीजीके चरणोंमें बाँध दिया। दर्शक यह देखकर अकचका गये, परन्तु व्यासजीने बड़ी दृढ़ताके साथ कहा—'बहुत दिनोंसे इसको ढोया था, सो आज अच्छे मौकेपर काममें

लग गया! इस सूत्रको परम इष्ट श्रीकृष्णप्राणाधिका राधिकाजीके श्रीचरणोंमें अर्पित कर दिया; इससे बढ़कर इसका उपयोग क्या हो सकता था?'

ओरछाके महाराज मधुकरशाहने इन्हें लिवा लानेके लिये पहले अपने मन्त्रीको भेजा। बहुत आग्रह करनेपर भी ये नहीं गये। आपने महाराजको लिख भेजा—

रसिक अनन्य हमारी जाति।
कुलदेवी राधा, बरसानौ खेरौ, ब्रजबासिनसों पाँति॥
गोत गुपाल, जनेऊ माला, सिखा सिखंडि हरिमंदिर भाल।
हरिगुन-नाम बेदधुनि सुनियत, मूँज पखावज, कुस करताल॥
साखा जमुना, हरिलीला षट्कर्म, प्रसाद प्रान, धन रास।
सेवा बिधि, निषेध जड़ संगति, बृत्ति सदा बृंदाबनबास॥
स्मृति भागवत, कृष्ण नाम संध्या-तर्पन-गायत्री-जाप।
बंसी रिषि, जजमान कल्पतरु, 'ब्यास' न देत असीस-सराप॥

गुरुभक्तिवश स्वयं ओरछानरेश इन्हें लिवा लानेके लिये वृन्दावन आ गये। बहुत कहा-सुना, परन्तु इनका हृदय वृन्दावन छोड़नेके लिये तैयार न था। ये अधीर होकर यह पद गाने लगे—

बृंदाबनके रूख हमारे मात-पिता सुत-बंध।
गुरु गोबिंद साधु गति-मति सुख फूल फलनिको गंध॥
इनहिं पीठि दै अनत डीठि करि सो अंधनमें अंध।
ब्यास इनहिं छोड़ै औ छुड़ावै, ताको परियो कंध॥

तथा—

बृंदाबन तजि जे सुख चाहत ते हैं राच्छस-प्रेत।
ब्यासदासके उरमें बैठ्यो मोहन कहि-कहि देत॥

इनकी अतुल निष्ठाको देखकर राजासाहबने अपना हठ छोड़ दिया और इनके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगी। श्रीव्यासजीकी धर्मपत्नी घरपर ओरछेमें थीं। उन्हें विश्वास था कि राजाके जानेसे पतिदेव अवश्यमेव लौट आवेंगे। परन्तु यहाँ तो नशा कुछ और ही था। वे स्वयं वृन्दावन आयीं और वैष्णवदीक्षा लेकर योगिनी बनकर साधु-संतोंकी सेवामें रहने लगीं। एक बार साधुओंकी पंगतमें उन्होंने पति और अन्य संतोंमें कुछ भेदभाव दर्शाया। इससे श्रीव्यासजीको बड़ी ग्लानि हुई और इन्हें बाहर निकलवा दिया। अन्तमें साधु-महात्माओंके बड़े कठोर आग्रहपर इन्हें पुनः स्वीकार कर लेनेको तैयार हो गये, परन्तु शर्त यह रखी कि यह अपने सारे आभूषण बेंचकर संतोंका भण्डारा कर दे। वैष्णवदासीने बिना हिचकिचाहटके मान लिया और अपने कुल गहने, जो कहते हैं बाईस हजारके थे, बेंचकर संतोंका बृहद् भण्डारा करा दिया।

ओरछाके परमभक्त महाराजाने श्रीयुगलकिशोरजीको धारण करानेके लिये सुवर्णकी नकसीदार सुन्दर वंशी बनवाकर भेजी। उसे आप बड़े चावसे प्रभुके करमें धारण कराने लगे। कुछ मोटी थी, जिससे प्रभुकी अँगुली किंचित् छिल गयी; रक्त निकल आया। यह देख आपने वंशी नीचे रख दी और तुरत जलार्द्र वस्त्र प्रभुकी अँगुलीमें बाँध दिया। मनमें बहुत दुःखी हुए, महाप्रसाद नहीं पाया। वंशीको दोष देने लगे। सायंकाल देखते हैं तो प्रभु वंशीको धारण किये हुए हैं। इसी प्रकारकी और भी कई सुन्दर मनोहर लीलाएँ प्रभुने इनके साथ कीं, जिससे यह प्रकट है कि आप प्रभुके कितने प्यारे और प्रभु आपके कितने प्यारे थे।

इनकी रचना परिमाणमें बहुत विस्तृत है और विषयभेदके विचारसे भी अधिकांश कृष्णभक्तोंकी अपेक्षा अधिक व्यापक है। ये श्रीकृष्णकी बाललीला और शृंगारलीलामें लीन रहनेपर भी बीच-बीचमें संसारपर दृष्टि डाला करते थे। गो० तुलसीदासजीके समान ही इन्होंने भी खलों, पाखण्डियों आदिका स्मरण किया है। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तीनोंपर बहुत-से पद और साखियाँ इन्होंने कही हैं। इन्होंने एक 'रासपंचाध्यायी' भी लिखी है। इनके सभी पद एक-से-एक अनूठे और रसपूर्ण हैं!

आज कछु कुंजनमें बरसा-सी।
बादल-दलमें देखि सखी री! चमकति है चपला-सी॥
नान्हीं-नान्हीं बूँदन कछु धुरवासे, पवन बहै सुखरासी।
मंद-मंद गरजनि-सी सुनियतु, नाचति मोर सभा-सी॥
इंद्रधनुष बगपंगति डोलति, बोलति कोक-कला-सी।
इंद्रबधू-छबि छाइ रही मनु गिरिपर अरुन घटा-सी॥
उमगि महीरुह सों महि फूली, भूली मृगमाला-सी।
रटति प्यास चातक ज्यों रसना, रस पीवत हू प्यासी॥*

---

* श्रीनवलकिशोरदासजीका यह लेख बहुत विस्तृत और बहुत सुन्दर था। स्थानके संकोचसे हम उसे बहुत संक्षिप्त करके छाप रहे हैं। लेखकी प्रायः सारी बातें इसमें आ गयी हैं। आपका मूल लेख किसी अगली संख्यामें छापा जा सकता है।—सं०

संत सिंगाजी

(लेखक—श्रीगंगाप्रसादजी गांगेय)

रूप नाहीं, रेखा नाहीं, नाहीं है कुल-गोत रे।
बिन देहीको साहब मेरो, झिलमिल देखूँ जाते रे॥

संत सिंगाजी निमाड़ (मध्यप्रान्त)-के महान् संत हो गये हैं। आज भी निमाड़में किसीका पशु खो जानेपर सिंगाजीकी मनौती की जाती है। निमाड़की लाखों ग्रामीण जनता आज भी इनके बनाये हुए भजनोंका भक्तिभावसे गानकर रस पाती है। पीपल्याके पासके जंगलमें फिफण्ड नदीके पावन पुलिनपर, जहाँ इन्होंने समाधि ली थी, प्रतिवर्ष आश्विन महीनेमें इनकी पुण्य स्मृतिमें एक विराट् मेला लगता है, जिसमें लाखोंकी भीड़ होती है। मध्यप्रान्तमें इससे बड़ा मेला नहीं लगता।

सिंगाजीका जन्म रियासत बड़वानी (मध्यभारत) के खजूरी गाँवमें संवत् १५७६ वि० की वैशाख सुदी ११, गुरुवारको हुआ था। ये जातिके ग्वाले थे। इनके पिताका नाम भीमा और माताका गौरबाई था। जिस समय इनकी माँ अपने घरसे पाँच-छ: गज दूर उपले पाथ रही थी इनका जन्म हुआ। जन्मके पाँच-छ: साल बाद इनके पिता अपना सब सामान और तीन सौ भैंसे लेकर हरसूद चले आये और वहीं बस गये।

इक्कीस-बाईस सालकी अवस्थामें सिंगाजी भामगढ़ (निमाड)-के रावसाहबके यहाँ चिट्ठी-पत्री ले जानेके काममें एक रुपया मासिक वेतनपर नियुक्त हुए। रावसाहबका इनपर बड़ा विश्वास था। शैशवावस्थासे ही सिंगाजीका मन संसारकी ओरसे विरक्त था। परन्तु इनके आध्यात्मिक जीवनका श्रीगणेश तो तब होता है जब ये हरसूद-भामगढ़के रास्तेमें घोड़ेपर सवार चपरासीके रूपमें जा रहे थे और रास्तेमें भैंसावा ग्राममें ब्रह्मगीर महाराजके शिष्य मनरंगीरजी गा रहे थे—

समुझि लेओ रे मना भाई, अन्त न होय कोई आपणा,
यही मायाके फन्देमें तर आन भुलाणा॥

सिंगाजीकी कसी हुई हृदय-वीणा इस मार्मिक गीतकी चोटसे झनझना गयी। सुप्त वैराग्य जाग पड़ा। 'अरे! इस कोलाहलमय विराट् संसारमें, जहाँ क्षणभरके लिये भी जीवनके व्यापार बंद नहीं होते, मोह, माया और तृष्णामें ही आयु बीत जाती है, वहाँ अन्तमें ईश्वरके सिवा कोई भी अपना नहीं होता। उफ! फिर इस गोरखधंधेमें उलझे रहनेसे क्या लाभ?' सिंगाजी तत्क्षण मनरंगीके चरणोंमें गिर पड़े और उन्हें अपना गुरु बना लिया। भामगढ़में आकर रावसाहबकी नौकरी छोड़कर प्रभुके चाकर हुए। रावसाहबने बहुत समझाया, वेतन बढ़ानेका प्रलोभन दिया, परन्तु प्रभुप्रेमकी मदिरामें वह मादकता होती है जो एक बार चढ़ जानेपर जीवनभर नहीं उतरती। सिंगाजीने रावसाहबकी एक न मानी और नौकरी छोड़कर पीपल्याके जंगलोंमें रहने लगे। इसी समय उन्होंने 'अनहदकी नाद' में आठ सौ भजनोंका निर्माण किया। सिंगाजी निर्गुण ब्रह्मके उपासक थे।

त्यागके धनी और जितेन्द्रिय सिंगाजीका सहज विश्वास था कि हृदयमें सच्चा प्रेम होना चाहिये, प्रभुको बाहर खोजनेकी आवश्यकता नहीं है।

जल बिच कमल, कमल बिच कलियाँ, जहँ बासुदेव अबिनासी।
घटमें गंगा, घटमें जमुना, वहीं द्वारका कासी॥
घर बस्तू बाहर क्यों ढूँढ़ो, बन-बन फिरा उदासी।
कहै जन सिंगा, सुनो भाई साधो, अमरपुराके बासी॥

सिंगाजीके इस लोकसे प्रयाण होनेकी कथा इस प्रकार है कि सिंगाजी जन्माष्टमीके दिन गुरु मनरंगीरजीकी सेवामें थे। भगवान् श्रीकृष्णके जन्मका विधान रातको बारह बजे होता है। गुरुजीको नींद आने लगी तो वे सिंगाजीसे यह कहकर सो गये कि 'सिंगा! हमें भगवान्के जन्मके समय जगा देना।' गुरुजी सो गये। भगवान्के जन्मका समय आ गया। सिंगाजीने सोचा— 'क्या भगवान् प्रतिवर्ष पैदा होते हैं? यह तो ठीक नहीं प्रतीत होता है। हाँ, आरती-पूजा करना है सो मैं कर दूँ। गुरुजीको क्यों कष्ट दूँ?' उन्होंने आरती की। जब गुरुजीकी नींद खुली तो सिंगाजीपर बहुत रुष्ट हुए और कहा—'जा दुष्ट! जीतेजी मुँह मत दिखाना।' सिंगाजीको बहुत कष्ट हुआ। उन्होंने शरीरत्यागका निश्चय कर लिया और अपने निवासस्थान पीपल्यामें आकर रहने लगे। ग्यारह महीने वहाँ रहकर श्रावण शुक्ला नवमी, संवत् १६१६ वि० में फिफण्ड नदीके किनारे इन्होंने जीवित समाधि ले ली। उन्होंने एक गढ़ा खोदा। एक हाथमें कपूर जलाकर और दूसरे हाथमें माला लेकर सिंगाजी समाधिस्थ हो गये। गुरु मनरंगीरको जब

सिंगाजीके जीवन-त्यागकी बात मालूम हुई तो बहुत दुःखी हुए और अपनी भूलपर पश्चात्ताप करते हुए उन्होंने कहा—

क्रोधानल कहाँसे आयो, दुष्ट मोहि क्रोधानल कहाँसे आयो।
मैंने हाथको हीरो गँवायो, दुष्ट मैं आनंदबन जलायो॥

सिंगाजी एक गीतमें लिखते हैं—

मैंने तुम्हें कितनी दूर जाना, पर तुम कितने निकट निकले। तेरी-सी रहन रहकर मुझे सामर्थ्य मिल गयी; क्योंकि उस समय मेरी पीठपर मैं तेरे हाथोंकी थपकियाँ गिन रहा था। पर एक कसर है—तुम सोना हो, मैं गहना हूँ। सांसारिकताका टाँका लगाकर ही सोने और सोनेमें भेद किया जा सकता है।

दूसरा एक गीत है—

मेरे स्वामीकी अटारीपर दो दीपक जगमग-जगमग कर रहे हैं। अखण्ड स्मृतिका वहाँ पहरा है। झुके हुए मस्तकका फल लेकर मैं उनके द्वारपर चढ़ाने जाता हूँ; किन्तु भीतरसे कोई कह देता है, ठहरो। अब जब 'ठहरो' सुनते-सुनते देर हो गयी है, तब मेरे नाथ! उस 'ठहरो' की वाणीमें भी तो तुम्हीं हो न? तुम्हारी स्वीकृतिकी अपेक्षा तुम्हारा रोकना कहीं अधिक कोमल और मीठा मालूम होता है।

एक और गीत—

जीते रहना मेरी ससुराल है और मरना मेरा मैका है। मेरे महलोंकी खिड़कियोंमेंसे मुझे अपना आराध्य दीख जाता है। परन्तु उसके जिन महलोंपर खड़ा होकर मैं देखता हूँ वहाँसे रत्नपुंजोंसे अधिक तेज रखनेवाला मेरा प्रभु दीख जाता है। मेरे मालिकका मैंने कभी रूप नहीं देखा कि उसकी हथेलियोंपर खिंची हुई रेखाएँ कैसी हैं—वे कितनी हैं और कितनी मिट गयी हैं। शरीरकी बाँधमें न आ सकनेवाला मेरा स्वामी ऊपर देखनेवालोंको विश्वासमें दीखता है और नीचे देखनेपर वह घुटनोंके बल रेंगता-सा नजर आता है।*

मोरया गोसावी

ब्रह्मकमंडलु (वर्तमान कन्हा) नदीके तटपर मोरगाँवमें कोई तपस्वी अपनी सहधर्मिणीके साथ रहते थे। उनका नाम वामनभट्ट था और उनकी सहधर्मिणीका नाम उमाबाई। ये हारीतगोत्री ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। श्रीगणेशजी इनके इष्टदेव थे। यहाँ ये शिलोञ्छवृत्तिसे रहते थे। अर्थात् खेतोंमें पड़े हुए दाने बीन-बीनकर इकट्ठे करते और उन्हींसे निर्वाह करते थे। श्रीगणेशजीके प्रसादसे इनके ढलती उम्रमें एक पुत्र हुआ, जिसका नाम इन्होंने 'मोरया' रखा। मोरया जब कुछ बड़े हुए तब इन्होंने ही उसे श्रीगणेशोपासनाकी दीक्षा दी। कुछ काल पीछे मोरयाजीकी माताका देहान्त हो गया और उसके कुछ काल बाद उनके पिता भी परलोक सिधार गये। मृत्युसमयमें माताकी वयस् १०५ वर्ष थी और पिताकी १२५ वर्ष! तपस्वी माता-पिताके पुत्र भी जन्मतः तपस्वी ही होते हैं। मोरगाँव, थेऊर और चिंचवड, इन तीनों स्थानोंमें मोरयाजीने बड़ा तप किया और अन्तमें चिंचवडमें स्थायी होकर रहे। चिंचवडसे दो मील पवना नदीके किनारे एक निर्जन वन है। यहीं मोरया गोसावी (गोस्वामी) ने तप किया था। उस स्थानको देखनेके लिये अभीतक लोग जाते हैं। इक्कीस-इक्कीस दिन केवल दूर्वारसपान करके ये अनुष्ठान करते थे। एक बार तो ये बयालीस दिनतक बराबर अपने आसनपर बैठे ही रह गये। इस तपोबलसे इन्हें सब सिद्धियाँ प्राप्त हो गयीं। बाघ इनके सामने आकर दयालु बन जाते और साँप निर्विष हो जाते। इन्होंने कितने ही अन्धोंको आँखें दीं, निःसन्तानोंको सन्तान दिये, सहस्रों संसार-तापदग्ध जीवोंको शान्ति, तुष्टि-पुष्टि दी और अपने पावन चरित्रसे भूप्रदेशको पावन किया।

एक गरीब सदाचारसम्पन्न ब्राह्मणने इन्हें अपनी कन्या अर्पण की। उससे इनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम चिन्तामणि था। मोरयाजीने अपनी स्त्रीको ब्रह्मविद्या दी और पुत्रको अपनी अनुभवकी सारी सम्पत्ति सौंप दी। पिताके तुल्य ही पुत्र भी हुए। श्रीतुकाराम महाराज इन्हीं चिन्तामणिको 'चिन्तामणिदेव'

* संत सिंगाजीके जीवनका यह परिचय लिखनेमें 'कर्मवीर'-सम्पादक पं० श्रीमाखनलालजी चतुर्वेदी तथा व्योहार राजेन्द्रसिंहजीके लेखोंसे भी यथास्थान सहायता ली गयी है। —सम्पादक

कहते थे। तबसे इस कुलका नाम ही 'देव' हो गया और इस देवकुलमें आगे कई पीढ़ियोंतक दिव्य पुरुष ही जन्म लेते रहे। ये सभी संत थे, इसलिये इनके पावन नाम बड़े आदरके साथ यहाँ लिखते हैं—

(१) मूलपुरुष—मोरया गोसावी
(२) चिन्तामणिदेव
(३) नारायण महाराज बड़े
(४) चिन्तामणि महाराज छोटे
(५) धरणीधर महाराज बड़े
(६) नारायण महाराज छोटे (गबाजी देव)
(७) बाबा महाराज

चिंचवडमें पवना नदीके तटपर इन सातोंकी समाधियाँ एक ही मैदानमें पास-ही-पास हैं। मोरया गोसावी संवत् १६१८ में जीते-जी ही समाधिस्थ हुए।

—ल० गर्दे

भक्त परमेष्ठी दर्जी

लगभग चार सौ वर्ष पूर्व दिल्लीमें परमेष्ठी नामका एक दर्जी रहता था। उसका शरीर कुबड़ा और काले रंगका था, पर सद्गुणोंमें वह पूरा था। उसके हृदयमें भगवद्भक्ति भरी हुई थी और हाथमें कारीगरी। वह कसीदेका काम करता था। वह दरिद्र होनेपर भी उदार था। सत्य और अहिंसा उसके जीवनके व्रत थे। वह सबमें भगवान् वासुदेवका दर्शन कर सबसे प्रेम करता था। उसकी स्त्री विमला भी रूप-गुण-सम्पन्ना तथा पतिपरायणा थी। उसके एक पुत्र और दो कन्याएँ थीं। सभी माता-पिताकी तरह गुणवान् थे। इस तरह परमेष्ठीको समस्त सांसारिक सुख प्राप्त थे, परन्तु वह उनमें आसक्त नहीं था। जब कभी उसे समय मिलता वह भगवान्के श्रवणसुखद पवित्र नामोंका कीर्तन करते-करते स्तम्भित होकर पसीने-पसीने हो जाता और उसके शरीरमें प्रेमके आठों भावोंका उदय हो जाता। भगवद्भक्त होनेके साथ-ही-साथ वह अपने जातीय धंधेमें भी दिल्लीभरमें एक ही था। इससे शहरके सभी अमीर-उमरा और स्वयं बादशाहतक उससे हर प्रकारके कपड़े सिलवाकर उसे मनचाहा इनाम देते थे।

एक दिनकी बात है—बादशाह अपने सिंहासनपर उसके दोनों ओर रखे हुए गलीचोंपर पैर रखकर बैठा था, परन्तु उसे वे पसंद नहीं आये। उसने दो सुन्दर तकिये तैयार करवानेके लिये सोनेके तारें, हीरे, मानिक तथा मोती जड़वाकर एक बड़ा सुन्दर कपड़ा तैयार करवाया। बादशाहको परमेष्ठीकी ईमानदारी और कारीगरीपर पूर्ण विश्वास था। उसने परमेष्ठीको बुलवाकर दो सुन्दर तकिये तैयार कर लानेपर उसे मनचाहा इनाम देनेको कहा। परमेष्ठी कपड़ा लेकर घर आया और उसमें इत्रकी सुगन्धभरी रुई भरकर बड़ी निपुणतासे दो तकिये तैयार कर लिये। उसमें जड़े हुए सोनेके तारे और जवाहिरात खिल उठे, हीरे-मानिकोंसे परमेष्ठीका घर जगमगा उठा। ऐसे तकियोंको उसके घरमें रखनेको स्थान ही कहाँ था। वह तुरंत ही इन्हें बादशाहके यहाँ ले जानेको तैयार हुआ ही था कि सोचने लगा, 'अहा! क्या ऐसे अपूर्व तकिये एक सामान्य मनुष्यके उपभोगमें आनेलायक हैं? ये तो एकमात्र भगवान् जगन्नाथजीके ही उपभोगमें आनेलायक हैं। हे भगवन्! आप इन्हें स्वीकार कीजिये।' इस प्रकार प्रार्थना करते-करते वह अपनी सारी सुध-बुध भूल गया! दैवयोगसे उसी दिन श्रीनीलाचलधाममें रथयात्राका महोत्सव था और जगन्नाथजीके नीचे बिछाया हुआ वस्त्र फट गया था और सेवकोंको मन्दिरसे दूसरा वस्त्र लानेमें विलम्ब हो गया था। ध्यानमग्न परमेष्ठी दिल्लीमें बैठे भी यह दृश्य देखकर न रह सका। उसने तुरंत एक तकिया श्रीजगन्नाथजीके अर्पण कर दिया। सर्वसमर्थ जगन्नाथजीने भी परम प्रीतिपूर्वक उसकी भेंट स्वीकार कर ली। थोड़े ही समय बाद जब अचानक परमेष्ठीका ध्यान भंग हुआ तो अपने हाथमें एक ही तकिया देखकर वह अपने भाग्यकी सराहना करने लगा। इस प्रकार करते-करते थोड़ी देर बाद जब उसे शरीरकी सुधि आयी तो वह सोचने लगा कि मैंने यह कार्य अनधिकार किया है, अब मैं बादशाहको क्या जवाब दूँगा? परन्तु दूसरे ही क्षण उसे विचार हुआ—'छिः, भला उन सर्वलोकमहेश्वर जगन्नाथजीके सामने दिल्लीश्वर हैं ही किस गिनतीमें? जब भगवान्ने स्वयं स्वीकार कर लिया तब इसमें कोई दोष नहीं है।'

इस प्रकार जब परमेष्ठी आनन्द और खेदके हिंडोलेपर झूल रहा था तो बादशाहके सिपाहियोंने उसे तकिये लेकर राजदरबारमें जल्दी-से-जल्दी उपस्थित होनेको कहा। परमेष्ठी एक ही तकिया लेकर बादशाहके सामने पहुँचा। तकियेकी कारीगरी देखकर बादशाह बड़ा प्रसन्न हुआ, परन्तु एक ही तकिया लानेका कारण पूछा। परमेष्ठीने कहा कि 'जहाँपनाह! यद्यपि मैंने दोनों तकिये तैयार कर लिये थे परन्तु उनमेंसे एक श्रीनीलाचलनाथ जगन्नाथजीने स्वीकार कर लिया है, इसलिये यह एक ही ला सका हूँ। गरीबपरवर! मैं कभी झूठ नहीं बोलता। श्रीजगन्नाथजीने उसे बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार कर लिया है। अतः आप बड़े भाग्यवान् हैं।' बादशाहको इसपर विश्वास क्यों होने लगा। उसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर पहरेदारोंसे कहा—'इस दर्जीको हथकड़ी-बेड़ी डालकर अँधेरी कोठरीमें डाल दो और इसे खाने-पीनेको भी मत दो तथा ताला लगा दो। देखता हूँ कि कौन इसका बाप आकर इसे बचाता है। जो जगन्नाथ मेरा तकिया ले गया है वही इसे आकर बचावेगा और खाना-पीना भी देगा।'

बादशाहके मुँहसे इतना सुनते ही पहरेदारोंने परमेष्ठीको जेलखानेमें डाल दिया और बाहरसे ताला लगा दिया। वहाँ कड़ा पहरा भी बैठा दिया गया। इस विपदवस्थामें वह एकमात्र मधुसूदनका ही ध्यान करने लगा। उसे अन्य किसी बातका खयाल भी नहीं था। ठीक आधी रातके समय भक्तवत्सल भगवान्‌ने पहरेदारोंको मोहनिद्रामें सुलाकर कोठरीके अंदर प्रवेश किया। कोठरीका द्वार खुल गया। परन्तु परमेष्ठीको कुछ भी पता नहीं था, वह तो भगवान्‌के ध्यानमें तन्मय हो रहा था। भगवान् परमेष्ठीको अनेक तरहसे आश्वासन देकर तथा स्वयं उसके पास जाकर अपना वरद हस्त उसके मस्तकपर बड़े प्यारसे फेरने लगे। श्रीप्रभुकी भक्तवत्सलताका विचार करके भक्त परमेष्ठी आनन्दसागरमें निमग्न हो गया। श्रीप्रभुके अंगस्पर्शसे अंग-प्रत्यंग अत्यन्त सुन्दर और मनोहर हो गया और उसके सब तरहके बन्धन टूट गये।

इधर भगवान् भी परमेष्ठीको कृतार्थ और बन्धनमुक्त करके बादशाहके शयनमन्दिरमें जाकर स्वप्नमें ताड़न करके श्रीनीलाचलधाम चले गये। बादशाह तुरंत ही उठ बैठा और अपने अंगोंपर प्रहारके चिह्न तथा शरीरमें कम्पन देखकर बड़ा आश्चर्यान्वित हुआ। प्रभात होते ही उसने अपने विश्वासी मित्रोंको बुलाकर स्वप्नकी सारी घटना कह सुनायी। उसके बाद सभीने कैदखानेमें जाकर देखा कि पहरेदार अभी सोये पड़े हैं, कोठरीके सभी दरवाजे खुले हैं, परमेष्ठी बन्धनमुक्त हैं और उसके शरीरसे दिव्य प्रकाश निकल रहा है। इतनेमें ही परमेष्ठीका भी ध्यान टूटा। वह अपने प्रभुको सामने न देखकर बड़ा व्याकुल हुआ और प्रभुका नाम रटने लगा।

परमेष्ठीकी यह दशा देखकर बादशाह क्षमायाचना करता हुआ उसके चरणोंमें गिर पड़ा और बादमें उसे बहुमूल्य वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत करके अपने खास हाथीपर बैठाकर बाजे-गाजेके साथ शहरमें घुमाया और बादमें बहुत-सा धन-रत्न देकर घरपर पहुँचा आया। इस मान-सम्मानसे परमेष्ठीको बड़ी लज्जा मालूम हुई और प्रतिष्ठाके भयसे वह अपनी पत्नीसहित दिल्ली शहर छोड़कर अन्यत्र चला गया और भगवान्‌के भजन-पूजनमें जीवन व्यतीत करता हुआ अन्तमें भगवत्सायुज्यको प्राप्त हो गया।

—ह० पोद्दार

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

ईश्वरके प्रति चित्तवृत्ति रखनेसे तुम्हारी उन्नति ही होगी। इस मार्गमें कभी अवनति तो होनी सम्भव ही नहीं।

जो मिल जाय उसीसे सन्तोष मानना और यह याद रखना—परायी आशासे भली निराशा। सभी प्राणियोंका आहार भगवान्‌के भंडारसे आता है।

कुशलसे तो वह है जो संसारके पार उतर गया और शान्तिपूर्वक वह है जिसने स्वर्गीय जीवनका आनन्द पाया।

भक्त कूबा कुम्हार

कूबाजीका जन्म राजपूतानेके एक छोटे-से गाँवमें हुआ था। ये जातिके कुम्हार थे और इनका पुश्तैनी पेशा मिट्टीके बरतन बनाकर बेचना था। इनकी पत्नी पुरी बड़ी धर्मशीला और पतिपरायणा थी। दोनों पति-पत्नी महीनेभरमें केवल तीस बरतन बनाकर अपनी जीविका चलाते और बाकी समयको भगवान्के गुणगान और नामस्मरणमें लगाते। सत्य, क्षमा, शान्ति और समता आदि दैवी गुण इनमें मूर्तिमान् होकर विराजते थे। सुख-दु:खादि भोगोंको कर्मोंका फल और मायारचित मानकर ये अपनी स्थितिमें ही सदा सन्तुष्ट रहते थे। इनका जीवन बड़ा पवित्र था। मिट्टीके तीस बरतन बनाकर ये अपनी जीविका भी चलाते और अतिथिसेवा भी करते। इससे इनके घरमें अन्न-वस्त्रकी प्राय: कमी रहा करती थी। परन्तु इन्हें इस बातकी कोई परवा नहीं थी। इनका अन्न इतना पवित्र था कि एक बार इनके घरका अन्न खा लेनेवाले भी भक्त बन जाते।

भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तके द्वारा भक्तिका प्रचार कराना चाहते थे, इसलिये उन्होंने एक लीला रची। एक दिन शामको दो सौ साधुओंकी एक मण्डली भजन-कीर्तन करती हुई कूबाजीके गाँवमें आयी। साधुओंके मुखियाने गाँववालोंसे कहा कि साधु भूखे हैं, कोई उदारचेता हमलोगोंको भोजनका सामान दे दे तो बड़ा उपकार हो। यह सुनकर लोगोंने कूबाजीका नाम बतला दिया। गाँवमें अनेकों सेठ-साहूकार थे, परन्तु किसी भाग्यवान्का धन ही साधु-संतोंकी सेवामें खर्च होता है। साधुमण्डलीने कूबाजीके घर पहुँचकर 'सीताराम' की टेर लगायी। कूबाजीने बाहर आकर साधुमण्डलीको साष्टांग प्रणाम करके बड़े विनम्र भावसे कहा—'आज मेरे अहोभाग्य हैं जो आप संतोंने मुझ अधमपर दया की। कहिये, दासको क्या आज्ञा है?' साधुओंने आशीर्वाद देकर कहा—'साधु भूखे हैं, इनके भोजनका प्रबन्ध कर दो।' कुबाने सबको आदरपूर्वक बैठाया और अपने एक पड़ोसी महाजनके यहाँ जाकर उससे कहा—'मेरे यहाँ दो सौ संत पधारे हैं, आप मुझे उनके लायक भोजनका सामान दे दीजिये और उसके दाम आप जैसे चाहें अदा कर लीजियेगा।' महाजन कूबाजीकी निर्धनताके साथ-ही-साथ उनकी सत्यवादिता और टेकसे पूर्ण परिचित था। उसने कहा—'मुझे एक कुआँ खुदवाना है, तुम कुआँ खोद देना। अभी दो सौ मनुष्योंके लायक भोजन सामग्री ले जाओ।' कूबाजीने बड़ी प्रसन्नतासे यह शर्त स्वीकार कर ली और सामान लाकर साधुओंको दे दिया। साधुवेषधारी भगवान् अचल भक्तिका आशीर्वाद देकर अपनी मण्डलीसहित चले गये।

दूसरे दिन प्रात:काल ही भक्त कूबाजी अपनी स्त्रीके साथ कुआँ खोदनेके काममें लग गये। कूबाजी खोदते और उनकी पत्नी मिट्टी बाहर फेंकती। इस तरह निरन्तर हरिनाम-ध्वनिके साथ कुआँ खोदते-खोदते अन्तमें एक दिन मीठा जल निकल आया। परन्तु नीचे बालू बहुत अधिक होनेके कारण ऊपरसे कोई सहारा न रहनेसे एक दिन जब कि कूबाजी नीचे उतरकर कुछ काम कर रहे थे कि सारी मिट्टी धँसकर अचानक उनके ऊपर गिर पड़ी। पुरी तो दूर चली गयी थी, परन्तु कूबाजी दब गये। पुरी रोने लगी। होहल्ला सुनकर महाजन गाँवके कुछ लोगोंके साथ वहाँ आया। गाँवके सभी लोग शोक प्रकट करने लगे पर मिट्टी निकालकर कूबाजीको बचा लेना असम्भव समझकर कुछ सहृदय लोग पुरीको समझा-बुझाकर और उसके खाने-पीनेका सामान पहुँचा देनेका वचन देकर उसे उसके घर पहुँचा आये। उस पतिव्रताके दु:खका दूसरोंको क्या अनुभव होता। वह बेचारी घरमें बैठी अजस्र अश्रुधारासे अपने शरीरको भिगोने लगी।

इस दुर्घटनाको पूरा एक वर्ष बीत गया! बरसातमें पानीके साथ बहकर आनेवाली मिट्टीसे कुएँका गढ़ा भी भर गया। एक दिन उधरसे कुछ यात्री जा रहे थे, रात हो जानेके कारण उन्होंने वहीं डेरा डाल दिया। रात्रिके समय उन्हें अचानक करताल, मृदंग और वीणाके साथ जमीनके अंदरसे हरिकीर्तनकी मधुर ध्वनि सुनायी दी। वे आश्चर्यमें डूब गये। उस ध्वनिके प्रभावसे वे भी रात्रिभर वहाँ कीर्तन करते रहे। सुबह होते ही उन्होंने गाँववालोंको यह घटना सुनायी। पहले तो गाँववालोंको विश्वास ही नहीं हुआ, अन्तमें जब लोगोंने जमीनपर कान रखकर आवाज सुनी तो उनके भी अचरजका पार न रहा। बात-की-बातमें चारों ओर यह खबर फैल

गयी। आस-पासके गाँवोंके हजारों नर-नारी उस आवाजको सुनने आये। राजातक भी खबर पहुँची। वह भी अपने मन्त्रियोंसहित घटनास्थलपर आ पहुँचा। राजाने भजनकी ध्वनि सुनकर और गाँववालोंसे एक वर्ष पहलेका इतिहास जानकर सैकड़ों आदमियोंको मिट्टी निकालनेकी आज्ञा दी। कुछ ही घंटोंमें मिट्टी निकल गयी, कुआँ साफ हो गया। सौभाग्यशाली राजा और वहाँ आये हुए सभी लोग भीतरके मनोरम दृश्यको देखकर चकित हो गये। लोगोंने देखा कि भगवान् श्रीहरि एक दिव्य आसनपर चतुर्भुजरूपसे विराजमान हैं और भक्तवर कूबाजी उनके सामने प्रेमविभोर होकर भगवन्नाम-कीर्तन कर रहे हैं और उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बह रही है। दिव्य बाजे बज रहे हैं, जिनकी मधुर ध्वनिसे सारा आकाश गूँज रहा है।

यह दृश्य देखकर सभीके अन्तःकरणमें श्रद्धा, प्रेम और भक्तिकी बाढ़ आ गयी। राजाने हाथ जोड़कर साष्टांग प्रणाम किया। भगवान्‌की मूर्ति अचानक ही अन्तर्धान हो गयी। राजासहित सभी लोगोंने कूबाजीको प्रणाम किया और उनकी चरणधूलि मस्तकपर चढ़ायी।

कूबाजी घर आये। भक्त पतिको पुनः जीवित पाकर पत्नी प्रेमानन्दमें मग्न हो गयी। थोड़े ही समयमें कूबाजीका कीर्ति-सौरभ चारों तरफ फैल गया। दूर-दूरसे लोग उनके दर्शनार्थ आने लगे। राजा तो प्रतिदिन नियमसे उनके दर्शनके लिये आता था।

कहते हैं, कूबाजीकी भक्तिके प्रतापसे एक समय अकालके दिनोंमें लोगोंको प्रचुर अन्न मिला था, अनेकों स्त्री-पुरुष इनके संगसे तर गये!

—ह० पोद्दार

भक्त रघु केवट

जगन्नाथपुरीसे करीब दस कोसपर पिपलीचटी नामक ग्राममें रघु नामका एक केवट रहता था। उसके परिवारमें उसकी वृद्धा माता और युवती पत्नीके सिवा और कोई नहीं था। रघु रोज सबेरे जाल लेकर नदी जाता और मछलियोंको पकड़कर बाजारमें बेच देता था। जो पैसे मिलते, उनसे खाने-पीनेका सामान लेकर वह घर लौट आता। पूर्वजन्मके संस्कार अच्छे होनेसे, धीवर जातिका होनेपर भी भगवान्‌की तरफ उसका बड़ा आकर्षण था। वह निरन्तर उन अनाथ-नाथ प्रभुका स्मरण करता रहता। जब वह मछलियोंको जालमें फँसकर तड़पते देखता तो उसका हृदय पसीज जाता, परन्तु जीवन-निर्वाहका अन्य कोई साधन न देखकर वह विवश होकर इन भावोंको अनेक तरहकी दलीलोंसे भुलानेकी चेष्टा करता; फिर भी उसे सन्तोष न होता। उसे एक दिन अपनी इस हिंसक वृत्तिसे बड़ी घृणा हुई, वह पश्चात्ताप करता हुआ एक महात्माके पास गया और उनसे दीक्षा लेकर उसने तुलसीकी माला गलेमें पहन ली और भगवत्स्मरण आदिमें अपना प्रायः सारा समय व्यतीत करने लगा। इस प्रकार ज्यों-ज्यों उसका अन्तःकरण शुद्ध होता गया उसे स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि सबमें भगवान् विराज रहे हैं। जीवहिंसासे अब उसका मन बहुत हट गया था, परन्तु उदरपूरणार्थ उसे मन मारकर थोड़ी-बहुत हिंसा करनी ही पड़ती थी। उसके हृदयमें पश्चात्तापकी आग जल उठी थी, वह हमेशा भगवान्‌से इस दुष्कर्मसे छुड़ानेके लिये पश्चात्तापभरे हृदयसे करुण प्रार्थना करता। सच्ची प्रार्थनामें बड़ा बल होता है। भगवत्कृपासे उसमें दैवी गुणोंका विकास हो गया, अब उसके लिये मछली पकड़नेका काम अत्यन्त दूभर हो गया। धीरे-धीरे उससे यह काम छूट गया। कुछ दिन तो पहलेके संचित अन्नसे उसका गुजारा होता रहा, जब सब अन्न समाप्त हो गया तो अब उपवास-पर-उपवास होने लगे। घरमें त्राहि-त्राहि मच गयी। अन्तमें एक दिन वह विवश होकर हृदयको वज्र-सा कड़ा करके जाल लेकर नदीकी तरफ चला। वह मन-ही-मन दुःखी होता और भगवान्‌से प्रार्थना करता हुआ नदीतटपर पहुँचा। वहाँ उसने नदीमें जाल डाला, एक बड़ी भारी लाल मछली उसमें फँस आयी। उसे तड़पते देखकर एक बार तो उसके हृदयमें बड़ी वेदना हुई, परन्तु हृदय थामकर वह दोनों हाथोंसे जोरसे मछलीका मुँह फाड़ने लगा। उसी समय मछलीके अंदरसे रघुको स्पष्ट आवाज सुनायी दी 'रक्षा कर, नारायण! रक्षा कर।' रघुका मन बदल गया, उसने मछलीको एक बड़े-से कुण्डमें छोड़ दिया। जलके मिलनेसे जितना आनन्द मछलीको हुआ उससे कहीं

अधिक आनन्द और सन्तोष रघुको हुआ। रघु अब भगवान्‌से प्रार्थनापूर्वक हठ करने लगा—हे भगवन्! आपने शब्दरूपसे तो दर्शन दे दिया, परन्तु रघु आपका साक्षात् चतुर्भुजरूपमें दर्शन किये बिना इस स्थानसे किसी हालतमें उठनेका नहीं। उसी स्थानपर बैठकर रघु लगातार तीन दिनतक बिना कुछ खाये-पिये 'नारायण' मन्त्रका जप करता रहा। वह नारायणके ध्यानमें तन्मय हो गया। भावके भूखे 'नारायण' एक वृद्ध ब्राह्मणके रूपमें रघुके सामने प्रकट होकर उससे नाम, पता तथा इस घोर तपस्याका कारण पूछने लगे। भगवान्‌के वचन सुनते ही रघुने आँखें खोलकर ब्राह्मणदेवको सामने खड़े देखा। उसने उनको प्रणाम करके कहा—'ब्राह्मणदेव! आप मुझे व्यर्थ ही क्यों तंग कर रहे हैं? आप अपने कामसे जाइये। मेरे नाम-धामसे आपको क्या मतलब है?' रघुके वचन सुनकर ब्राह्मणवेशी भगवान्‌ने कहा—'भैया! मुझे क्या है, मैं तो चला जाऊँगा; परन्तु इतना तो विचार कर कि कहीं मछलीके अंदरसे भी कभी मनुष्यकी-सी आवाज आ सकती है। तुझे भ्रम हो गया है, तू अपने घर जाकर स्त्री और माताकी खबर ले।' ब्राह्मणके ये वचन सुनकर रघु समझ गया कि दयामय भगवान् ही उसकी परीक्षा ले रहे हैं। उसने कहा—'हे नाथ! आप वेष बदलकर मुझसे क्यों छल कर रहे हैं? अब प्रकट होइये, इस अधमको और क्यों तरसाते हैं?' भक्तकी अचल भक्ति देखकर भगवान् रघुसे बोले—'बेटा रघु! तेरी एकान्त निष्ठासे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। मैंने ही मछलीमेंसे तुझे 'नारायण' शब्द सुनाया था।' इसके बाद रघुकी प्रार्थनापर सन्तुष्ट होकर भगवान्‌ने दिव्य चतुर्भुजरूपसे प्रकट होकर उसे दर्शन दिये और वर माँगनेको कहा। भगवान्‌के वचन सुनकर उसने कहा—'हे भगवन्! आपके साक्षात् दर्शनसे बढ़कर और क्या हो सकता है?' जब भगवान्‌ने बार-बार उससे वर माँगनेको कहा, तो उसने कहा 'हे नाथ! अब तो केवल यही इच्छा है कि मेरा हृदय निरन्तर आपके ध्यानमें तल्लीन रहे और नेत्र सदा-सर्वदा सर्वत्र आपकी मधुर मूर्तिका दर्शन किया करें। हाँ, एक बात और है—मेरा जीवहिंसाका स्वभाव एकदम बदल जाय। मुझे कभी अपने पेटके लिये जीवहिंसा न करनी पड़े और निरन्तर यह जीभ आपके मधुर नामोंका रटन करती रहे। बस, यही वरदान दीजिये।' भगवान् 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये और भक्त 'हरि, हरि' कहता हुआ तन्मय हो गया। जब उसे अपने शरीरकी सुध आयी और उसने घर जाकर देखा तो उसे मालूम हुआ कि जमींदारने उसकी स्त्री और माताके लिये भोजन-वस्त्र आदिका प्रबन्ध कर दिया है। यह सब प्रभुकी ही प्रेरणा थी। अब रघु हर समय भगवन्नामका कीर्तन करता हुआ गाँवमें घूमता रहता और गाँवके लोग बिना माँगे ही उसे काफी अन्न-वस्त्रादि दे देते। गाँवके लड़के उसे पागल समझकर बहुत तंग करने लगे। गाँवके लोग लड़कोंको बहुत समझाते, परन्तु ढीठ लड़के किसीकी भी नहीं मानते। एक दिन जब रघु भीख लेकर अपने गाँवको लौट रहा था तो एक बदमाश लड़केने उसे एक काँटेदार मोटे डंडेसे खूब पीटा। रघु बिना कुछ कहे आगे निकल गया। रघुके थोड़ी दूर जाते ही लोगोंने देखा कि लड़का मर गया है। अन्तमें सब लोगोंके निश्चयानुसार बालकके माता-पिता उसे रघुके पास ले गये और रघुकी भक्तिके प्रभावसे वह फिर जीवित हो उठा और उसकी मनोवृत्ति सर्वथा पलट गयी।

अब रघुके प्रताप और वचनसिद्धिको जानकर लोग रात-दिन उसे घेरे रहने लगे। इससे रघुके भजनमें बहुत बाधा पड़ने लगी। इसलिये तंग आकर वह एक दिन चुपके-से माता और पत्नीसहित जंगलकी तरफ निकल पड़ा। अब रघुका सारा समय भगवद्भजनमें बीतने लगा।

एक दिन रघुको ऐसा भान हुआ कि श्रीनीलाचलनाथ उससे कुछ खानेको माँग रहे हैं। वह बड़ी प्रसन्नतासे एकान्तमें बैठकर भगवान्‌को भोग निवेदन करने लगा। भगवान् आकर उसके हाथसे बड़े प्रेमसे हँसते-हँसते उसका दिया हुआ भोग पाने लगे।

इसी समय पुरीमें श्रीजगन्नाथजीके भोगमण्डपमें उत्तमोत्तम पक्वान्न तैयार करके भेजे गये थे। भोगमण्डपसे प्रभुका मूलमन्दिर कुछ दूर होनेके कारण भोगमण्डपके दर्पणमें श्रीजगन्नाथजीका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है उसीके भोग लगाया जाता है। उस दिन दर्पणमें भगवान्‌का प्रतिबिम्ब न देखकर पंडे घबड़ा उठे और उन्होंने राजाके पास जाकर सारी बात कही। यह सुनकर राजाको बड़ा दुःख हुआ और भगवान्‌से प्रार्थना करते-करते ही वह सो गया। स्वप्नमें उसने देखा कि प्रभु प्रकट होकर उसे आश्वासन देते हुए कह रहे हैं—'मैं

इस समय पिपलीचटी नामक ग्राममें रघु केवटकी कुटियामें बैठा भोग पा रहा हूँ। जब मैं नीलाचलधाममें हूँ ही नहीं तो फिर दर्पणमें मेरा प्रतिबिम्ब कैसे पड़ेगा? तू किसी तरहका दु:ख न कर। भक्तका भाव ही मुझे खींचनेकी प्रबल डोरी है। यदि तू मुझे नीलाचलधाममें बुलाना चाहता है तो मेरे भक्त रघुको पिपलीचटीसे उसकी माता और पत्नी सहित अपने यहाँ बुला ला।' भगवान् अन्तर्धान हो गये। राजाकी नींद टूटते ही वह अकेला ही पिपलीचटी पहुँचा और उसने रघुसे सारी घटना कहकर उसे नीलाचलक्षेत्रमें चलकर रहनेकी प्रार्थना की। रघु श्रीजगन्नाथजीकी आज्ञाको टाल न सका। श्रद्धालु भक्त राजा भक्तपरिवारसहित नीलाचलमें पधारे। उसी समय दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ने लगा। अब रघु श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरके दक्षिणकी तरफ पुरीनरेशद्वारा बनवाये हुए एक आवश्यक सामग्रीसे पूर्ण गृहमें रहकर अपना भजन-कीर्तन, ध्यान आदि करने लगे। अन्तमें तीनों इस असार संसारको छोड़कर परमधामको प्रयाण कर गये।

—ह० पोद्दार

अप्पय्य दीक्षित

अप्पय्य दीक्षित एक महान् शिवभक्त संत और उच्चकोटिके विद्वान् थे। ये एक साथ ही आलंकारिक, वैयाकरण और दार्शनिक थे। इन्हें सर्वतन्त्रस्वतन्त्र कहा जाय तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी। केवल भारतीय साहित्य ही नहीं, इन्हें विश्वसाहित्याकाशका एक देदीप्यमान नक्षत्र कह सकते हैं। मुगलसम्राट् अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँका शासनकाल (ईस्वी १५५६ से १६५८ तक) भारतीय साहित्यका स्वर्णयुग कहा जा सकता है। इस समयमें अलंकार, नाटक, काव्य एवं दर्शन सभी प्रकारके ग्रन्थोंका खूब विस्तार हुआ। सम्भव है, इस समयकी राजनैतिक सुव्यवस्था ही इसमें कारण हो। अप्पय्य दीक्षित अकबर और जहाँगीरके शासनकालमें हुए थे। इनका जन्म सन् १५५० ई० में हुआ था और मृत्यु ७२ वर्षकी आयुमें सन् १६२२ में। इनके जीवनमें जिस साहित्यिक प्रतिभाका विकास हुआ उसे देखकर चित्त चकित हो जाता है।

इनके पितामह आचार्य दीक्षित और पिता रंगराजाध्वरि थे। ऐसे प्रकाण्ड पण्डितोंके वंशधर होनेके कारण उनमें अद्भुत प्रतिभाका विकास होना स्वाभाविक ही था। ये दो भाई थे; इनके छोटे भाईका नाम अच्चान दीक्षित था। अप्पय्य दीक्षितने अपने पितासे ही विद्या प्राप्त की थी। पिता और पितामहके संस्कारानुसार उन्हें भी अद्वैतमतकी ही शिक्षा मिली थी, तथापि वे परम शिवभक्त थे। उनका हृदय भगवान् शंकरके प्रेमसे भरा हुआ था। अत: शैवसिद्धान्तकी स्थापनाके लिये वे ग्रन्थरचना करने लगे। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये उन्होंने 'शिवतत्त्वविवेक' आदि पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की। इसी समय उनके समीप नर्मदातीर-निवासी श्रीनृसिंहाश्रम स्वामी उपस्थित हुए। उन्होंने इन्हें सचेत करते हुए अपने पिताके सिद्धान्तका अनुसरण करनेके लिये प्रोत्साहित किया। तब उन्हींकी प्रेरणासे इन्होंने परिमल, न्यायरक्षामणि एवं सिद्धान्तलेश नामक ग्रन्थोंकी रचना की।

अप्पय्य दीक्षितके पितामह विजयनगरराज्याधीश्वर कृष्णदेवके आश्रित थे। किन्तु सन् १५६५ ई० में तालीकोटयुद्धके पश्चात् उस राजवंशका अन्त हो गया था। उस समय दीक्षितकी आयु केवल १५ वर्षकी थी। इस राजवंशका अन्त होनेपर एक नवीन वंशका उदय हुआ, जो तृतीय वंशके नामसे विख्यात है। इस वंशके मूलपुरुष रामराज, तिरुमल्लई और वेंकटादि अपने पूर्ववर्ती राजवंशके अन्तिम दो नृपति अच्युतराज और सदाशिवके समय ही बहुत शक्तिमान् हो गये थे। इनमेंसे रामराज और तिरुमल्लईके साथ महाराज कृष्णकी कन्या बेंगला और तिरुमलाम्माका विवाह हुआ था। अच्युतका राजकाल ईस्वी सन् १५३० से १५४२ तक है तथा सदाशिवका १५४२ से १५६७ तक। तालीकोटके युद्धमें रामराज और वेंकटादिका देहान्त हो गया था अत: अब तीनों भाइयोंमें केवल तिरुमल्लई ही जीवित था। उसने १५६७ ई० तक सदाशिवको नाममात्रका सम्राट् स्वीकार करते हुए राज्यका प्रबन्ध किया और अन्तमें उसकी हत्या कर स्वयं राजा बन गया। तिरुमल्लईके चार पुत्र थे। सन् १५७४ में उसकी मृत्यु होनेपर उसका दूसरा पुत्र चिन्नतिम्म या द्वितीय रंग सिंहासनारूढ़ हुआ और उसके पश्चात् सन् १५८५ में सबसे छोटा पुत्र

वेंकट या वेंकटपति राज्यका अधिपति हुआ। अप्पय्य दीक्षित इन तीनों नृपतियोंके सभापण्डित थे, उन्होंने अपने विभिन्न ग्रन्थोंमें इन राजाओंका नाम निर्देश किया है। इससे सिद्ध होता है कि अप्पय्य दीक्षितका विजयनगर राज्यमें बहुत सम्मान था।

सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजि दीक्षितने अपने गुरुरूपसे इनका वर्णन किया है। कुछ कालतक इन दोनों विद्वानोंने काशीमें निवास किया था। अप्पय्य दीक्षित शिवभक्त थे और भट्टोजि दीक्षित वैष्णव थे तो भी इन दोनोंका सम्बन्ध अत्यन्त मधुर था। वे दोनों ही शास्त्रज्ञ थे, अतः उनकी दृष्टिमें वस्तुतः शिव और विष्णुमें कोई भेद नहीं था।

कुछ काल काशीमें रहकर दीक्षित दक्षिणमें लौट आये। वहाँ अपना मृत्युकाल समीप जानकर उन्होंने चिदम्बरम् जानेकी इच्छा की। और अपने आराध्यदेव भगवान् श्रीमहादेवजीके दर्शन करते-करते अपनी जीवनलीला समाप्त कर दी। यह उनकी जीवनव्यापिनी साधनाका ही फल था।

संत माधवदास

(लेखक—श्रीयुत माणिकलाल शंकरदास राणा)

संत माधवदासका जन्म वि० सं० १६०१ में कार्तिक शुक्ला पूर्णिमाको सूरतके सौदागरगंजमें हुआ था। इनके पिताका नाम करवतसिंह और माताका नाम हिरलदेवी था। इनके पूर्वज मेवाड़के केळवाड़ा नामक परगनेके निवासी थे और प्रसिद्ध सीसोदियावंशके सूर्यवंशी क्षत्रिय थे।

बाल्यावस्थामें माधवदासजीकी मुखाकृति देखकर एक अवधूत महात्माने उनके पितासे कहा था कि यह बालक कोई महान् दिव्यात्मा होगा। इनकी पाँच वर्षकी अवस्थामें ही पिताका देहान्त हो गया। ये बचपनसे ही बड़े उदार थे, घरमेंसे पैसे चुराकर ले जाते और भिक्षुकोंको बाँट देते थे। एक बार एक वृद्ध भिक्षुकने इनके दरवाजेपर अलख जगाया! ये तुरंत बाहर आये और भिक्षुकके कन्धेपर बैठे हुए बालकको उतरवाकर उसका आलिंगन किया और अपने हाथकी सुवर्णमुद्रिका उसे पहना दी। माता हिरलदेवी पुत्रकी यह उदारवृत्ति देखकर बड़ी प्रसन्न हुई।

माताने इन्हें अच्छा विद्याभ्यास कराया था। ये फारसी और उर्दूके बड़े भारी विद्वान् थे। एक राजपूत वीरके लायक शस्त्रास्त्रकी योग्यता भी इन्हें बचपनमें ही प्राप्त हो गयी थी।

युवावस्थामें सूरतके धनाढ्य नगरसेठकी कन्या सजनासे माधवदासजीका प्रेम हो गया था और उसे वे हरण करके ले गये थे, परन्तु एक दिन रातको एक विषधर सर्पके काटनेसे सजनाकी मृत्यु हो गयी। माधवदास उसके वियोगमें पागल-से हो गये।

सजनाके वियोगमें पागलकी तरह भटकते हुए माधवने एक शहरमें पहुँचकर देखा कि कुछ मुसलमान ग्वालोंसे उनकी गायें छीनकर लिये जा रहे हैं। ईदके त्यौहारपर कुर्बानीके लिये अहमदाबादसे कुछ दूरके एक हाकिमकी आज्ञासे वे सैनिक गायें ले जा रहे थे। वे कुल पचास सैनिक थे। वीर माधवदास तलवार लेकर उनपर टूट पड़े। सीसोदियावंशके उस वीरने उन यवनोंको मारकर सब गायें छुड़ा लीं और गाँवकी सीमापर रोते हुए ग्वालोंके सुपुर्द कर दीं। पागल माधव फिर इधर-उधर भटकने लगे।

कुछ समय बाद माधव घरपर पहुँचे। माता हिरलदेवी जर्जरित और दुर्बल अवस्थामें शय्यापर पड़ी थीं। बहुत दिनों बाद पुत्रको देखकर माताका हृदय प्रेमसे भर आया, परन्तु पुत्रको स्त्रीलम्पट जानकर माताको बड़ा दुःख हुआ। अन्तमें माताने पुत्रको अपना लिया। आखिर माताहीका तो हृदय था!

एक दिन माता और पुत्र घरके आँगनमें बैठे थे। कुछ लोग एक मुर्देको उधरसे श्मशान ले जा रहे थे। सांसारिक व्यवहारसे अपरिचित माधवने मातासे पूछा कि ये लोग कहाँ जा रहे हैं। माँने एक सच्ची माँकी तरह उत्तर दिया 'बेटा माधव! जहाँ यह जा रहा है तुझे भी एक दिन वहीं जाना पड़ेगा। क्यों वृथा अभिमानमें फूल रहा है? और क्यो विषयोंके पीछे अपने जीवनको नष्ट कर रहा है! यह नाशवान् काया तो कल मिट्टीमें मिल जायगी, जिसके लिये तू न जाने कितने दुष्कर्म कर चुका है।' माताकी वाणीसे मर्माहत होकर माधव

रो पड़ा और अधीर होकर कराल कालके गालसे बच निकलनेका मार्ग मातासे पूछने लगा। माताने किसी सद्गुरुकी शरण ही इसका साधन बतलाया। माधव उसी समय 'अलख निरंजन' कहकर सद्गुरुकी खोजमें संसारत्यागी अवधूत बन गया।

सूरतके किलेके बाहर अशोककी छायामें बैठे सद्गुरु समर्थदास नामक एक योगीका माधव शिष्य हो गया। एक बार श्रीसमर्थदासने अपने शिष्योंकी परीक्षाके लिये उनका सिर माँगा। गुरुभक्त माधवने तुरंत अपना सिर काटकर गुरुदेवके श्रीचरणोंमें रख दिया। योगिराजने उसे पुनः जीवित करके 'मस्त माधव' की उपाधिसे विभूषित किया। गुरुके स्वधाम पधारनेपर उस आश्रमका सर्वाधिकार माधवको ही प्राप्त हुआ।

संत माधवदासजीका अधिक समय तीर्थाटनमें ही बीता। उनके जीवनकी अनेक अलौकिक घटनाएँ सुनी जाती हैं। कुछ घटनाएँ नीचे दी जाती हैं।

(१) दिल्लीकी वेश्या रोशनआराके कोठेके नीचेसे एक दिन संत माधवदासजी जा रहे थे। वेश्याने उन्हें बुलवाकर कामवासना तृप्त करनी चाही। संतने उसे माता कहकर सम्बोधित किया। वेश्याका हृदय तुरंत पलट गया। संतने उपदेशके द्वारा उसके प्रेमको संसारसे हटाकर ईश्वरचरणोंमें लगा दिया। यह घटना वि० सं० १६२१ की है।

(२) चाँदनी चौकमें एक उमरावजादेने संतपर हाथ उठाया। उसका हाथ ऊँचा ही रह गया। अन्तमें संतको प्रणाम करके अपने रास्ते चला गया।

(३) अकबर बादशाहके दरबारी कवि गंग और बीरबलको चाँदनीचौककी धूनीमें एक रक्तरंजित मस्तकको हाथमें लिये एक भीमकाय व्यक्ति दिखलायी पड़ा, वह पुष्पोंका ढेर बनकर धूनीमें समा गया।

(४) काबुलके युद्धमें जाते समय संतने बीरबलको वृन्दावनमें प्रभुभक्तिका उपदेश दिया। काबुल-युद्धमें बीरबलके आहत होकर गिर जानेपर एक भिश्ती उन्हें अपने घर ले गया और वहाँ उसने उनकी खूब सेवा-शुश्रूषा की। इसके बाद बीरबलने पुनः संसारमें न जाकर वैराग्य धारण कर लिया और 'संत सोहागी' नामसे अलख जगाने लगे।

(५) बीरबलके 'लाल' ने कुल सम्पत्ति राग-रंगमें पूरी कर दी। संत माधवदासजी फतेहपुर-सीकरीमें बीरबलके महलमें गये और लड़केको अपने साथ लाकर 'लाल वैरागी' नाम देकर भगवद्भजनमें लगा दिया।

(६) दिल्लीके शाही कसाईखानेके हाशम नामक जल्लादको मरते समय उपदेश देकर पुनर्जीवन दिया और भगवान्‌की भक्तिमें लगा दिया।

एक बार मुलतानके मुसाफिरखानेमें वहाँके सूबेदारने संत माधवदासपर भ्रमसे किसी अपराधका आरोप करके सिपाहियोंको उनका सिर काटनेकी आज्ञा दी। सिर काट लिया गया, परन्तु संत फिर जीवित हो गये। उन्हें बेड़ियाँ पहनायी गयीं, परन्तु बेड़ियाँ भी एक-एक करके तीन बार टूट गयीं! यह सुनकर सूबेदारने दरबारमें उन्हें उपस्थित करनेकी आज्ञा दी। दरबारमें संत उपस्थित किये गये, परन्तु वहाँपर भी अनेकों चमत्कार हुए। जल्लाद ज्यों ही मारने दौड़े उनकी तलवारें दूर जा गिरीं। फाँसीके तख्तेपर चढ़ाये जानेपर तीन बार फाँसी तख्तेसहित टूट गयी। बन्दूकसे मारनेका प्रयत्न करनेपर बन्दूकसे गोलियोंके बदले फूलोंकी वर्षा होने लगी। कसाइयोंके छुरे लेकर टूट पड़नेपर छुरे उनके हाथसे छूटकर दस कदम दूर जा गिरे। तोपके गोलेसे उड़ानेका प्रयत्न करनेपर गोला उछलकर किलेपर उड़ते हुए हिलाली झंडेपर लगा और उसे नीचे गिरा दिया। अजगरकी गुफामें प्रवेश करानेपर विषधर सर्प संतके प्रभावसे दीन होकर उनकी प्रदक्षिणा करने लगा—यह सब देखकर सूबेदारने संतके चरणोंमें गिरकर क्षमायाचना की और भविष्यमें किसीको न सतानेकी कसम खायी।

(७) काशीके एक विषयलम्पट वणिकको मृत्युशय्यासे उठाकर संतसेवामें लगा दिया।

(८) भड़ोंचसे कुछ दूरीपर एक गाँवमें एक विधवा ब्राह्मणी अपने युवक पुत्रके शवके पास बैठी जोर-जोरसे विलाप कर रही थी। संतने पहले तो उसे बहुत समझाया, अन्तमें न माननेपर उस लड़केको जीवित कर दिया। लड़का माँको रोती छोड़कर अपने जीवनदाताके साथ चल पड़ा।,

वि० सं० १६५२ की आषाढ़ कृष्णा पूर्णिमाके प्रातःकाल संत अपने शिष्योंको उपदेश एवं आश्वासन देते हुए इक्यावन वर्ष साढ़े आठ महीनेकी आयु समाप्त करके इस नश्वर शरीरको त्यागकर अविनाशी परब्रह्म प्रभुके दिव्यस्वरूपमें अवस्थित हो गये। जय हो संतरत्न माधवदासकी जय हो!

दासो पन्त

श्रीदत्तभक्त दासो पन्तका जन्म बहमनी शाहीराजके नारायणपेठ नामक स्थानमें संवत् १६०८ में हुआ। इनके पिताका नाम दिगम्बर पन्त देशपांडे था और माताका नाम पार्वतीबाई। एक बार दुर्भिक्षके कारण दिगम्बर पन्त देशपांडे मालगुजारी समयपर अदा न कर सके। इससे बेदरके बहमनी शाहने मालगुजारीके एवजमें इनके पुत्र दासो पन्तको पकड़वा मँगाया और दिगम्बर पन्तपर यह हुक्म तामील कराया कि यदि एक महीनेके अंदर मालगुजारी वसूल न होगी तो लड़का मुसलमान बना लिया जायगा। उस समय दासो पन्त १७-१८ वर्षके थे। इन्हें बचपनसे ही श्रीदत्त भगवान्‌का इष्ट था। इस संकटकालमें वे श्रीदत्तका ही नाम जपते और सदा उन्हींकी पुकार करते थे। भगवान्‌ने भी कोई युक्ति लगाकर मालगुजारी भरपाई करा दी और इन्हें इस महासंकटसे मुक्त किया। तबसे ये भगवान्‌के अनन्य भक्त हो गये। इन्होंने अन्य किसीकी सेवा-चाकरी नहीं की। भगवान्‌को ही भजते और घर बैठे सद्‌ग्रन्थ लिखा करते थे। मराठी भाषामें इनके १०० हस्तलिखित ग्रन्थोंका पता लगा है, जिनमेंसे कुछके नाम ये हैं—गीतार्णव, अवधूतराज, ग्रन्थराज, स्थूलगीता, पंचीकरण, अवधूतगीता, दत्तात्रेयसहस्त्रनामस्तोत्र, षड्‌गुरुयन्त्र, अत्रिपंचक प्रधान यन्त्र, आगम-निगम, वेदोक्तपूजा, षोडश अवतार-स्तोत्र इत्यादि। इनके अतिरिक्त दत्तात्रेयमाहात्म्य, दशोपनिषद्‌भाष्य आदि कई संस्कृत ग्रन्थ भी हैं। इनका सबसे बड़ा ग्रन्थ 'गीतार्णव' है, जो गीताका सबसे बड़ा भाष्य है। यह भाष्य बिलकुल स्वतन्त्र है, किसी पूर्व भाष्यके आधारपर नहीं। इसमें एक लाख पचीस हजार ओवियाँ हैं। संवत् १६७२ में इनका देहावसान हुआ। श्रीदत्त भगवान्‌की जिस मूर्तिकी ये उपासना करते थे वह मूर्ति अंबा-जोगाईमें है; वहीं इनके दो घर हैं, जिनमेंसे एक बड़ा देवगृह और दूसरा छोटा देवगृह कहलाता है। यहीं उनके वंशज रहते हैं। —ल० गर्दे

स्वामी दीनदयालजी

(लेखक—डा० श्रीमोहनजी)

मथुरा जिलेमें हातिया (हतीन) नामक एक गाँव है। यहीं लाला श्रीचन्द्रजी अग्रवाल निवास करते थे। आपकी धर्मपत्नीका नाम था इन्द्रावलि। जब इन्द्रावलि गर्भवती हुईं तो आपको स्वप्न हुआ कि तुम सपरिवार मथुरा चले जाओ, वहाँ तुम्हें पुत्ररत्नकी प्राप्ति होगी। तदनुसार वे मथुरा चले गये और वहाँ चैत्र बदी प्रतिपदा संवत् १६१४ को उनके पुत्र हुआ जिसका नाम रखा गया मथुरामल।

एक बार मथुरामल आँगनमें खेल रहे थे कि अचानक इनका मुँह लाल हो गया। और माथेपर पसीना आ गया। माताने पूछा—बेटा! क्या बात है? पहले तो मथुरामलजीने बात टाल दी, परन्तु माताके अत्यधिक आग्रहके कारण बोले कि एक दिन सेविकाकी नाव डूबी जा रही थी सो उसे मैंने उबारा है। इसीसे पसीना आ गया है तथा उस नावकी कील भी मेरी कमरमें चुभ गयी है। माताने कमर देखी तो वास्तवमें कीलका निशान मिला। उसी दिनसे मथुरामलजी दीनदयाल कहलाने लगे।

संवत् १६४० के लगभग दीनदयालजी अनूपशहरके पास जंगलमें अपने माता-पिताके सहित आकर रहने लगे। आपके नाना प्रकारके अद्‌भुत चमत्कारोंकी बातें अबतक भी लोग बड़े प्रेमसे कहते-सुनते हैं। संवत् १७०२ वि० में स्वामीजीने चोला छोड़ा। मरनेके पहले घरवालोंसे कह गये कि मेरी चितासे एक प्रज्वलित गोला निकलेगा, उसे नि:संकोच पकड़ लेना तथा उसे मन्दिरमें रखकर उसपर समाधि बनवा देना। इससे तुम्हारा वंश सदा फलता-फूलता रहेगा। गोला उछला तो सही, पर डरके मारे सभी भाग गये। पीछे आपके फूलोंको लेकर समाधि बनी जो तबतक विद्यमान है। हर धुरहरीके दिन वहाँ भारी मेला लगता है।

श्रीश्रीभट्टदेव

(लेखक—श्रीहेमकान्त भट्टाचार्य)

प्रभु भट्टदेवने एक संन्यासीके वरदानसे तारादेवीके गर्भमें १४८० शाकाब्दमें कामरूप जिलेके पिंगला (पाट बाउसी) नामक ग्राममें जन्म ग्रहण किया। अल्पकालमें ही इन्होंने पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। बाल्यावस्थासे ही इन्हें प्रभुकी भक्तिमें अनुराग था। वैष्णवधर्मकी विविध भक्तिमें आपका हृदय पूर्णतः रमता था। आपके द्वारा आसाममें वैष्णवधर्म लहलहा उठा। आसामिया भाषामें आपके लिखे चार ग्रन्थ विख्यात हैं—भक्तिसार, भक्तिविवेक, शरणसंग्रह और दामोदरव्याख्यान। इन ग्रन्थोंसे असंख्य जीवोंका परम कल्याण हुआ है, होता रहेगा। आपकी 'भक्तिरत्नावली' भक्तोंके प्राणोंका आधार-स्वरूप है। उनका दैन्यभाव, तल्लीनता, सर्वतोमुखी प्रतिभा और विस्मयजनक पाण्डित्य तथा सम्पन्न ज्ञान-भण्डार उनके एक-एक ग्रन्थमें प्रतिबिम्बित है।

प्रभु भट्टदेव ब्राह्म मुहूर्तमें ही शय्या छोड़कर शौचाचार, स्नान, सन्ध्या, गायत्री समाप्त करके उसके पश्चात् हरिकीर्तनप्रसंगमें बैठते थे। हरिप्रसंग समाप्त करनेके पश्चात् भागवतकी व्याख्या होती थी। इस प्रकार मध्याह्न हो जाता और आप मध्याह्नकी पूजामें बैठते। पूजा समाप्त होनेपर आप नित्य अठारहों अध्याय गीताका पाठ विधिपूर्वक करते। तब भोजन करते—पहले यह देख लेते कि कोई अतिथि-अभ्यागत बिना भोजन किये रह तो नहीं गया है। भोजनोपरान्त पाठशालामें छात्रोंको शिक्षा देते थे। पाठशालाका कार्य समाप्त होनेपर पुनः सायंकालके कृत्यमें लग जाते थे। बड़ा ही सात्त्विक आपका जीवन था। भागवत एवं योगसमाधिके बलपर एवं मुख्यतः भगवत्कृपासे आपको भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हुए थे।

संवत् १५६० शाकाब्दमें आपने नरलीला समाप्त की। आज भी स्मृतिरूपमें 'पाट बाउसी' में आपका भग्न मठ है। गुरु-शिष्य-संवादके रूपमें आपका निम्नलिखित उपदेश अत्यन्त लोकप्रिय एवं सर्वमान्य है—

गुरुदेव! अपार संसार-समुद्रको पार करनेकी कोई नौका भी है? हाँ, है न। वह है प्रभुका युगल चरण। बद्ध कौन है? विषयासक्त। नरक क्या वस्तु? मनुष्यका पार्थिव शरीर। स्वर्ग क्या? संसारकी तृष्णाका क्षय। मोक्षका साधन? आत्मस्मृति। नरकमें डालनेवाली कौन वस्तु? मोहिनी रमणी। और स्वर्गका मार्ग क्या? अहिंसाप्रीति। सुखसे कौन सोता है? समाधिनिष्ठ। शत्रु कौन? अपनी इन्द्रियाँ। मित्र कौन? अपनी वशीभूत इन्द्रियाँ। दरिद्र कौन? अति तृष्णावाला। श्रीमान् कौन? सन्तोषी। सुखका साधन क्या? आशा-निवृत्ति। भवपाश क्या? ममता और अभिमान। मोहिनी मदिरा क्या? मोहिनी नारी। मदान्ध कौन? कामातुर। मृत्यु क्या? अपयशराशि। गुरु कौन? हितोपदेशक। शिष्य कौन? जो गुरुभक्त हो। दीर्घव्याधि क्या? असार संसार। उसकी ओषधि? तत्त्वविचार। नरका भूषण क्या? पवित्र स्वभाव। सदा सेवनीय क्या? गुरुका वचन। परमतीर्थ क्या? शुद्ध सत्त्वज्ञान। हेय वस्तु क्या? कामिनी और कांचन। ब्रह्मप्राप्तिका साधन? सत्संग, सन्तोष, इन्द्रियनिग्रह, तत्त्वविचार। मोहपाश कैसे कटे? वैराग्यसे। जीवका ज्वर क्या? हृदयकी दुश्चिन्ता। मूर्ख कौन? विवेकहीन। मानवका मुख्य कार्य क्या? विष्णुभक्ति। विद्या क्या? ब्रह्मप्राप्तिका साधन। धीर कौन? जो ललनाके हाव-भाव-कटाक्षसे कदापि मोहित न हो। तत्त्व क्या वस्तु? अद्वितीय शिवज्ञान। उत्तमोत्तम क्या? सच्चरित्र। सुन्दर कौन? विद्यावान्। लोकमें दुर्लभ वस्तु क्या? सत्संग, सद्गुरु, सर्वत्याग, आत्मबोध, ब्रह्मविषयक विचार। पशु कौन? स्वधर्मविहीन। आपातमधुर विषवत् क्या? स्त्री। अहर्निश चिन्तनीय क्या? सत्य, आत्मतत्त्व एवं संसार।

संतवर श्रीदादूदयालजी

इनका प्राकट्य सं० १६०१ वि० की चैत्र शुक्ला अष्टमी गुरुवारको अहमदाबादमें लोदीराम ब्राह्मणके घर हुआ। ये नागर ब्राह्मण थे। लोदीरामके कोई सन्तान नहीं थी। एक दिन भगवान्‌की दयासे उसने साबरमती नदीमें बहता हुआ एक संदूक देखा। नदीमेंसे उसने संदूकको निकाल लिया और खोलनेपर देखा कि उसमें एक परमज्योतिर्मय छोटा-सा बालक हँसता हुआ लेट रहा है। उसने उस बालकको घरपर लाकर अपनी स्त्रीको

दिया। उसकी स्त्री भी उसे भगवान्की कृपापूर्ण देन समझकर बड़े प्यारसे पालने लगी। भगवान्की मायासे उसके स्तनोंमें दुग्ध भी आ गया। माता-पिताके लाड़-प्यारमें पलते हुए दादूजी दूजके चाँदकी तरह दिनोंदिन बढ़ने लगे। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें भगवान् श्रीकृष्णने इन्हें वृद्धरूपसे दर्शन देकर तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया। दादूजी विरक्त, ज्ञानी और भक्त हो गये। ये कुछ समय बाद सत्संगके लिये घरसे निकल पड़े, परन्तु माता-पिताने पीछा करके इन्हें पकड़ लिया और घरपर लाकर बड़नगरमें इनका विवाह कर दिया। परन्तु सांसारिक बन्धन इन्हें बाँध थोड़े ही सकते थे। उन्नीस वर्षकी अवस्थामें ये फिर घरसे निकल पड़े। घूमते-घूमते ये जयपुर-राज्यान्तर्गत साँभर ग्राममें जा पहुँचे। यहाँपर दादूजीने अपनेको छिपाने एवं शरीरयात्राके लिये रुई पीनने (धुनियाँ) का काम शुरू कर दिया। परन्तु अग्नि राखमें कहाँतक छिपी रह सकती है। एक दिन वहाँके काजीने इनके किसी व्यवहारसे रुष्ट होकर इन्हें दण्ड दिया। संत-अवज्ञाके फलस्वरूप वह शीघ्र ही दुःख पा-पाकर मर गया। और भी इनके अनेक अलौकिक चरित्र देखकर लोगोंकी इनमें बड़ी भारी श्रद्धा हो गयी। चारों तरफ इनकी ख्याति फैल गयी। हजारों जिज्ञासु भक्त आ-आकर इनकी सुखद शरण ग्रहण करके कृतार्थ होने लगे। श्रीदादूजीने बारह वर्षतक कठिन तपस्या करके योगकी पूर्ण सिद्धि प्राप्त की थी। ये निरन्तर लययोग एवं भक्तिरसमें छके रहते थे। इनको वचनसिद्धि भी प्राप्त थी, परन्तु ये करामातको पाप समझते थे। बिना किसी प्रकारकी श्रद्धा-भक्तिके केवल मानप्राप्ति एवं दिखावेके लिये किये गये मूर्तिपूजन, तीर्थयात्रा, तिलक-छाप एवं कथा आदिको ये निष्प्रयोजन बतलाते थे। अन्तर्मुख रहकर अन्तर्ज्योतिके ध्यान, अभ्यास, स्मरण एवं सहजयोगसे ईश्वरमें लय रहना ही सर्वोपरि साधन मानते थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, शान्ति, अपरिग्रह, वैराग्य, तितिक्षा, क्षमा, दया, समता, निरभिमानता एवं आर्जव आदि सात्त्विक गुणोंकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवालेको ही साधु मानते थे।

इनका उद्देश्य एकमात्र निरंजन निराकार ब्रह्मकी सत्ताका अनुभव करना ही था। इन्होंने अपने मतको कोई सम्प्रदायका रूप नहीं दिया था, किन्तु कुछ तो इनके जीवनकालमें ही और कुछ इनके पीछेसे होते-होते एक सम्प्रदाय बन ही गया। पहले तो इस सम्प्रदायका कोई नाम न था। पीछेसे शिष्योंने 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' नाम रख लिया। सुन्दरदासजीने भी अपने ग्रन्थमें 'सम्प्रदाय परब्रह्म' का ऐसा उल्लेख किया है। परन्तु जनतामें यह नाम प्रचलित नहीं हुआ। अब यह सम्प्रदाय 'दादूपन्थ' या 'दादूसम्प्रदाय' के नामसे प्रसिद्ध है। यों तो दादूजीके हजारों शिष्य थे, परन्तु मुख्यतः गणनामें १५२ शिष्य ही आते हैं। इनमेंसे १०० शिष्य तो विरक्त हो गये और उन्होंने शिष्य एवं मठ आदि नहीं बनाये। बाकीके ५२ शिष्य, शिष्य बनाने एवं स्थान बाँधनेके कारण, थाँभाधारी महंत कहलाये। दादूजी विवाहित थे। उनके दो पुत्र एवं दो पुत्रियाँ थीं। दादूजीका परमपदप्रयाण नारायणा नामक कस्बेमें हुआ था। यह दादूपन्थियोंका प्रधान स्थान है और इनके प्रधान महंत भी यहीं रहते हैं। यहाँपर कई बड़े-बड़े दर्शनीय स्थान भी बने हुए हैं। दादूजीका सफेद पत्थरका दादूद्वारा भी यहाँ बना हुआ है। बावन महंतोंके स्थानोंमें भी दादूद्वारे बने हुए हैं। दादूपन्थी साधु हिन्दुस्तानके प्रायः सभी शहरों, कस्बों एवं ग्रामोंमें मिलेंगे। जयपुर राज्यमें एक दादूपन्थी 'नागा जमात' बड़ी भारी संख्यामें है। इस जमातके साधु बड़े वीर होते हैं और राज्यसे तनख्वाह लेकर सैनिकका काम करते हैं। अन्य साधु भगवाँ वस्त्र पहनते हैं, परन्तु नागा साधु सफेद वस्त्र ही धारण करते हैं। दादूपन्थी साधु प्रायः सदाचारी होते हैं। वेदान्तादि शास्त्रोंके अद्वितीय विद्वान् एवं तत्त्वज्ञानी साधुवर श्रीनिश्चलदासजी महाराज भी इसी सम्प्रदायमें हुए हैं। दादूसम्प्रदाय एक प्रतिष्ठित सम्प्रदाय है और इसमें समय-समयपर ज्ञानी, वीर, गुणी, विद्वान् एवं कलाकार संत होते रहे हैं और इस समय भी हैं।

दादूजीके प्रधान ५२ शिष्योंमें ये अति प्रसिद्ध हैं—महात्मा गरीबदासजी, बड़े सुन्दरदासजी, रज्जबजी, जगजीवनदासजी, बाबा बनवारीदासजी, चतुर्भुजजी, मोहनदासजी मेवाड़ा, बषनाजी, जैमलजी कछवाहा, जैमलजी चौहान, जनगोपालजी, जग्गाजी, जगन्नाथजी कायस्थ, सुन्दरदासजी बूसर (जिनके सुन्दरविलास आदि ग्रन्थ हैं) इत्यादि।

श्रीदादूदयालजी महाराजने सं० १६६० वि० में नरायणा कस्बेमें परमपदको प्रयाण किया। इनकी गद्दी इनके सबसे बड़े पुत्र श्रीगरीबदासजी महाराजको मिली।

संत रज्जब

(लेखक—साधु नारायणदासजी)

यह प्रसिद्ध महात्मा दादूजीके शिष्य हुए हैं। दादूजीका जन्म-समय विक्रम संवत् १६०१ है। दादूजी जब लगभग ३७ वर्षके थे तब इनका विवाहका समय था। उस समय इनकी अवस्था १७-१८ वर्षकी अवश्य होगी। इस प्रकार विचार करनेसे ज्ञात होता है कि इनका जन्म-समय विक्रम संवत् १६१८ के लगभग ही होगा। यह जब विवाह करनेके लिये आमेर (जयपुरसे तीन कोस उत्तर, पहले जयपुरराज्यकी राजधानी यही थी) गये, तब दादूजी भी वहीं निवास करते थे। इनकी बारात बड़ी धूम-धामके साथ चली आ रही थी। जब यह बारात दादूजीके आश्रमके समीप आयी, तब दादूजीने वरको घोड़ेपर चढ़ा देखकर यह वाक्य कहा—

रज्जब तैं गज्जब किया, सिर पर बाँधा मौर।
आया था हरिभजनकूँ, करै नरकको ठौर॥

इसको सुन रज्जब अपने घोड़ेको रोककर उतर पड़े और नमस्कार कर दादूजीके पास बैठ गये, इस घटनाको देख बारात वहीं ठहर गयी। थोड़ी देरके बाद बारातियोंने कहा—'बस, अब चलो; देर मत करो। फेरों (भाँवर) का समय निकट आ गया है।' बारातियोंकी यह बात सुन रज्जबने अपना मौर (सेहरा) उतारकर अपने छोटे भाईके सामने रख दिया, और कहा 'जाओ, तुम फेरे ले लो; मैं अब विवाह नहीं करूँगा।' रज्जबकी यह बात सुन सब बाराती बिगड़ गये। उन लोगोंने कहा—इस साधुने इसके ऊपर भुरकी डाल दी है, इसीसे यह नहीं चलता। यह कह वे लोग दादूजीको भी सताने लगे। तब दादूजीने कहा—भाई जाओ, विवाह कर लो; नहीं तो फिर तुम परस्त्रियोंको कुदृष्टिसे देखते फिरोगे। यह सुन रज्जबने कहा—

रज्जब घर-घरणी तजै, पर-घरणी न सुहाय।
अहि तज अपनी कंचुकी, काकी पहिरै जाय॥

रज्जबका यह वाक्य सुन फिर दादूजीने कुछ नहीं कहा; बारातियोंने बहुत प्रयत्न किया, पर वह नहीं गये और दादूजीके शिष्य होकर दादूजीके साथ ही रहने लगे।

यह गुरुजीके बड़े भक्त थे। एक समयकी बात है, दादूजी अपने पाँच-सात शिष्योंके साथ कहीं चले जा रहे थे। मार्गमें एक नदी आयी; उसमें कीचड़ हो रहा था। उसको देख दादूजीने कहा—संतो; इसमें थोड़ी-थोड़ी दूरपर पाँच-सात पत्थर डाल दो, जिससे पैर कीचड़में नहीं हों और पार चले चलें। यह गुरु-आज्ञा सुन और शिष्य तो इधर-उधर पत्थर देखने लगे और रज्जबजी सहसा कीचड़में लंबे पड़ गये और कहा—'हे गुरो! पत्थरोंकी क्या आवश्यकता है? आप इस शरीरपर पैर रखते हुए पार जाइये, यह शरीर यदि आपके ही काम नहीं आया तो फिर इसका क्या बनेगा?' गुरुभक्तिविषयक इनकी और भी कथाएँ सुनी जाती हैं और चमत्कार भी सुने जाते हैं, पर लेखवृद्धिके भयसे मैं उनको यहाँ नहीं लिखता। बुद्धि इनकी कैसी थी सो तो इनकी कविता देखनेसे ही पता चलेगा। इनकी कविता 'रज्जबवाणी' नामसे प्रसिद्ध है। इस वाणीकी संख्या १००१३ है। इसके 'साखी' भागमें २९४ अंग (प्रकरण) हैं, उनमें ५४२८ साखियाँ हैं। 'पद' भागमें २१८ भजन हैं। 'अरिल' भागमें ८३ अरिल हैं। उसी प्रकार कवित्त और सवैये दोनों मिलाके १५० हैं। और भी इसमें छोटे-छोटे तेरह ग्रन्थ हैं। अन्तमें ८९ छप्पय हैं। यह ३९ अंगों (प्रकरणों) में है। देखिये इनकी कविताके कुछ नमूने—

साखी-भजनप्रताप—

रज्जब भागैं भजन सुनि, अघ इन्द्री गुण चोर।
ज्यों भुजंग चंदन तजैं, तरु-सिर बोलै मोर॥ १॥
जन रज्जब रामहिं भजै, पाप रहै नहिं संग।
ज्यों तोपककी त्रास सुन, तरुबर तजैं बिहंग॥ २॥
पालेके पर्वत गलहिं, देखि सूरकी ताप।
ऐसी बिधि अघ ऊतरहिं, जन रज्जब हरिजाप॥ ३॥
गुण-तारे, माया-तिमिर, शीत-भ्रम, मन-चंद।
रज्जब सुमिरन सूरसों, सहस पड़े सब मंद॥ ४॥

अरिल-गुरु-अंगसे—

शक्ती, सुख अरु शीत जमहिं तन हेम ज्यों,
आतम अंड सुकुंज बँधे बपु बारि यों।
सतगुरु सूरज तेज बिरह बैसाख रे,
परिहाँ बह नैन नदी पूरि मिलहि सुत-मात रे॥ १॥

विरह-अंगसे—

शक्ती सुखशशि सीर सुधारस बर्षहीं,
पीवत प्राण-पियूष सबहि मन हर्षहीं।
मो मन बाजि बिसेस बिरह बपु चाँदियाँ,
परिहाँ रज्जब रस विष होय उभय मुख बाँदियाँ॥ २॥

सवैया-भजनप्रतापसे—

केलेको नाश भयो फल लागत, कागद नाश भयो जल पाये।
पापको नाश भयो पुण्य ऊगत, बीछिन नाश भयो सुत जाये॥
फूलको नास भयो फल आवत, रैनको नाश भयो दिन आये।
हो तैसे ही नाश भए जन रज्जब, जन्मन-मरण जगतपति ध्याये॥

अज्ञानकसौटी-अंगसे—

छायाको छेद छिदै नहिं पक्षीजु, बांबीके मारे क्यों ब्याल मरैगो।
काठके काटे कटै न हुताशन, पानीको पीटे क्यों मीन डरैगो॥
हो खोरो है ऊँट रु डामिये गादह, ऐसे अज्ञान क्यों काम सरैगो।
कायाकी त्रास न त्रसिये सो मन, रज्जब यूँ न गुमान गिरैगो॥

जरणा-अंगसे—

श्वानहि सठ हठ रटैं बहुतेरे, पै कुंजरके कछु कान न आवै।
जंबुक जीव पुकारैं अनेरे, पै सिंह न काहू हो स्यालकूँ धावै॥
सूरहि सनमुख खेह उड़ावत, तौ व कहा कछु मैल समावै।
हो रज्जब राम रटै निशिवासर, मूरख भूख भलैं सचु पावै॥

कुसंग-निन्दा—

कुसंगसों भंग भयो सबहीको जु, देखहु मान-महातम जाई।
गंग-गुमान गयो तबही, जब जायके क्षार समुद्र समाई॥
उदधि उपाधि करी न हरी कछु, रावणसंग शिला जु बँधाई।
हो रज्जब रंग रहै न कुसंगति, सोच-बिचार तजौ किन भाई॥

छप्पय-उपदेश-अंगसे—

देहिं अमरफल डारि, तजैं पारस-चिन्तामणि।
कामधेनु-तरुकल्प काटि आवै सु कहा बन॥
गुरु-संजीवन छाड़ि, पाय पोरस सिर काटहिं।
ज्ञान-रसायन त्यागि, बीर बहुते बित बाँटहिं॥
चकई चकवे तैं गया, छापसलेमा खोइये।
मिनखा देही हरि विमुख, रज्जब हानि सु रोइये॥

यह ग्रन्थ एक बार छप भी गया है, इसको चूड़ीग्राम-निवासी (इलाका खेतड़ी) श्रीमान् शिवनारायण-सूरजमल नेमाणीने छपवाकर इसकी एक हजार कापी धर्मार्थ बाँटी थी। हिन्दी भाषामें परमार्थका यह सुन्दर सुभाषित है। इसके अन्तर्गत छप्पयोंकी हालमें एक टीका भी लिखी गयी है, वह अप्रकाशित है। महात्मा रज्जबजीने ऐसे सुन्दर ग्रन्थकी रचना करके प्राणियोंका बड़ा उपकार किया; पर दुर्भाग्यकी बात है कि जैसा यह ग्रन्थ था वैसा इसका प्रचार नहीं हुआ। दादूजीके शरीरकी लीला समाप्त होनेके बाद रज्जबजी जयपुरके समीप साँगानेर नगरमें रहे। अन्त समयसे कुछ काल पहले बालकवि महात्मा सुन्दरदासजी भी इनके पास आ गये थे और सुन्दरदासजीका देहान्त भी साँगानेरमें ही हुआ था, जहाँ उनकी समाधि है।

एक रोज रज्जबजी अपने शिष्योंके साथ किसी गृहस्थके यहाँ भोजन करने जा रहे थे, मार्गमें उन्हें एक वृद्ध ब्राह्मण मिला। उसके कपड़े मलिन तथा फटे हुए थे, उसने रज्जबजीसे कहा—महाराज! मैं भूखा हूँ। रज्जबजीने कहा, आ जाओ, भोजन करने ही जा रहे हैं। आगे जब पंगत लगी तब और साधुओंने, जो उस ब्राह्मणसे मलिन कपड़े होनेके कारण घृणा करते थे, उसको पास नहीं बैठाया। वह बेचारा दूर जाकर बैठ गया। पर रज्जबजी बड़े दयालु और उच्च कोटिके संत थे। उन्होंने विचारा कि जैसे इन लोगोंने उसको दूर बैठाया है, वैसे ही कहीं उसको भोजन भी अच्छी तरह नहीं परोसा गया तो वह बेचारा भूखा ही रह जायगा; इससे उसको मैं अपने पास ले आऊँ। रज्जबजीने उसे हाथ पकड़कर अपने पास बैठा लिया, यह बात साधुओंको बुरी लगी। यहाँ तो उन लोगोनें कुछ नहीं कहा, पर मार्गमें कहने लगे, महाराज! इसको पास लाके क्या अपनी गद्दी देनी थी? भोजन तो यह वहीं कर लेता। तब रज्जबजीने कहा, अच्छी बात। रज्जबजी विचारने लगे—यह लोग अभिमानी हैं, इससे मेरी गद्दीके अधिकारी नहीं; मैं अपनी गद्दी इसीको दूँगा। फिर जब इनके शिष्य इधर-उधर हुए तब उन्होंने गद्दी उसीको दे दी। यह देख उनके शिष्योंने कहा—महाराज, इस दरिद्रको अच्छी गद्दी दी। यह सुनकर रज्जबजीने ऐसा विचार करके कि धनादिसे अभिमान हो जाता है और भजन नहीं होता, अपनी गद्दीको शाप दे दिया कि इसपर बैठनेवाले दरिद्र ही रहेंगे। इनका देहान्त भी साँगानेरमें ही हुआ। इनकी शिष्यपरम्परा अभीतक चली आ रही है।

संतवर स्वामी सुन्दरदास

(लेखक—पुरोहित श्रीहरिनारायणजी बी० ए०, विद्याभूषण)

'सुन्दरविलास' (सवैया) आदि अनेक उत्तम ग्रन्थोंके रचयिता, भगवद्भक्त, ब्रह्मनिष्ठ, महात्मा स्वामी सुन्दरदासजीको हिन्दी संसारमें कौन नहीं जानता? उनका जीवनचरित्र खोज और अन्वेषणके साथ सम्पादित हुआ है, तदनुसार संक्षेपमें यह पाठकोंके विनोद और हितके अर्थ यहाँ दिया जाता है।

सुन्दरदासजीका जन्म जयपुर राज्यकी पुरानी राजधानी द्यौसा नगरीमें बूसर गोतके खण्डेलवाल वैश्यकुलमें मिती चैत्र शुक्ला नवमीको दोपहरके समय सं० १६५३ वि० में हुआ था। उनके पिताका नाम साह 'चोखा' (अपर नाम परमानन्द) था, माताका नाम 'सती' था जो आँबेरके 'सोंकिया' गोतके एक खण्डेलवाल वैश्यकी पुत्री थी। राघवदासकृत 'भक्तमाल' और माधवदासकृत 'संतगुणसागर' तथा दादूसम्प्रदायकी प्रचलित आख्यायिकासे जाना जाता है कि सुन्दरदासजी दादूदयालजीके वरदानसे चोखा साहूकारके घर उत्पन्न हुए थे। दादूजीके शिष्य 'जग्गाजी' भूलसे आँबेरमें उक्त सती बालिकाको पुत्र होनेका वरदान दे आये। तब उन जग्गाजीको शरीर त्यागकर सतीके गर्भसे उत्पन्न होना पड़ा। जग्गाजी बड़े तपस्वी महात्मा और ग्रन्थकार थे। उन्हींके अवतार सुन्दरदासजी हुए, ऐसा अलौकिक आख्यान दादूसम्प्रदायमें माना गया है। सो कुछ भी असम्भव नहीं है।

संवत् १६५८ में जब दादूजी द्यौसा आये तब चोखा साहूकारने बालक सुन्दरको उनके चरणोंमें अर्पण कर दिया, तभी सुन्दरदासजी दादूजीके शिष्य हो गये। फिर दादूजीके साथ और 'टहलड़ी' पहाड़ीके स्थानधारी दादू-शिष्य 'जगजीवनजी' की सम्हालमें सुन्दरदासजी नरायणे कस्बेमें आये। यहाँ सं० १६६० में दादूजीका तो परमपद हो गया और सुन्दरदासजी जगजीवनजीके साथ, दादूजीका महोच्छा हो जानेके बाद, टहलड़ी लौट आये। कभी-कभी द्यौसामें (जो टहलड़ीके समीप ही है) ये माता-पिताके दर्शन भी कर आते थे। सुन्दरदासजीने छोटी ही अवस्थामें निजगुरुसे दीक्षा और आध्यात्मिक उपदेश पा लिया था। पूर्वजन्मके संचित ज्ञानके कारण वे बड़े ही चमत्कारी और होनहार बालक थे। वे बाल-ब्रह्मचारी, बालकवि और बालयोगी थे। इनकी प्रखर प्रतिभा, भगवत्प्रेम और उदीयमान मेधा वा उत्तम स्वभावके कारण ये सबके प्रिय हो गये। जगजीवनजीके सत्संगसे इन्होंने दादूवाणी सीख ली और कुछ कविता भी करने लगे। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें जब ये जगजीवनजीके साथ वार्षिक दादूद्वारेके मेलेपर नरायणे आये तब दादूशिष्य पाटवी गरीबदासजीकी अशिष्टतासे क्षुभित हो सुन्दरदासजीने तुरंत ही कविता बनाकर गरीबदासका दर्पदमन कर दिया वह कविता दादूसम्प्रदायमें बहुत प्रसिद्ध है—

क्या दुनिया अस्तूत करैगी, क्या दुनियाके रूसेसे।
साहिब सेती रहो सुरखरू, आतम बखशै ऊसेसे॥
क्या किरपन मूंजीकी माया, नाँव न होय नपूँसेसे।
कड़ा बचन जिन्होंने भाष्या, बिल्ली मरे न मूसेसे॥
मानूँ तो मरजाद रहैगी, नहिं मानूँ तो घूसेसे।
जन सुंदर अलमस्त दिवाना, शब्द सुनाया घूसेसे॥

फिर सुन्दरदासजी इस घटनाके अनन्तर जगजीवनजी, प्रसिद्ध दादूशिष्य रज्जबजी आदिके साथ काशी (सं० १६६४ में) चले गये। वहाँ संस्कृत-हिन्दी-व्याकरण, कोश आदिक, फिर षट्शास्त्र, पुराण, वेदान्त (विशेषत:) इत्यादि, बीस वर्षतक पढ़ते रहे। यह अस्सीघाटके पास रहते थे, जहाँ अबतक 'दादूमठ'* नामका पक्का स्थान (वा अस्थल) बना हुआ है। स्वामीजीके रचे हुए 'ज्ञानसमुद्र,' 'सवैया,' 'सर्वांगयोगप्रदीपिका' आदिके पढ़ने और विचारनेसे स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि उन्होंने कितने शास्त्र कैसे-कैसे पण्डितोंसे पढ़े होंगे। वैसे ही भाषासाहित्यमें उनकी गहरी अभिरुचि थी। भाषाकाव्यके समस्त अंग और बहुत-से रीतिग्रन्थ, छन्द, अलंकार, रस और सर्व प्रकारकी काव्यचातुरीमें इन्हें बहुत बढ़कर योग्यता प्राप्त हो गयी थी। सांख्य, योग, वेदान्तके बहुत शास्त्र, उपनिषद्, गीता, योगवाशिष्ठ, शांकरभाष्य इत्यादिका इन्होंने भलीभाँति मनन किया था। योगसाधन और महात्माओंके सत्संग, गोस्वामी तुलसीदासजीके दर्शन और अनेक प्रसिद्ध महात्माओं, योगियों, ज्ञानियों और पण्डितोंके सत्संगसे लाभ उठाया था। स्मरणशक्ति और स्फूर्ति (उपजत) इनकी बहुत प्रबल थी।

* यह 'दादूमठ' स्थान सुन्दरदासजीके उत्तराधिकारी महंतके लिये उनके सेवकों 'सूरेके' धनाढ्य महाजनोंने बनाया था। इसका विशेष हाल 'सुन्दरग्रन्थावली' में देखें।—लेखक

काशीसे सुन्दरदासजी कभी-कभी प्रयाग, बिहार, दिल्ली आदिको भी थोड़े दिनके लिये सत्संग वा विद्याव्यासंगवश चले जाया करते थे। परन्तु सं० १६८२ में कुछ मित्रों और गुरुभाइयोंके साथ ये काशीसे चले आये। आप दादूद्वारा नरायणा, डीडवाणा इत्यादि अनेक स्थानोंमें होकर राज्य जयपुरके शेखावाटी प्रान्तवर्ती 'फतहपुर' नामक नगरमें मिती कार्तिक बदी १४ सं० १६८२ को आये। यहाँ अपने वयोवृद्ध गुरुभाई डीडवाणेके महात्मा प्रागदासजीके प्रेमसे ही वे टिक गये। सेवकों और भक्तोंने इनके लिये मठ (अस्थल) बनवा दिये। कुआँ भी निर्माण हो गया। फतहपुरमें बारह वर्षतक बड़े त्याग और वैराग्यके साथ सात संत मिलकर योगाभ्यास और कथा, कीर्तन तथा ध्यानादि करते रहे। वहाँ सुन्दरदासजीकी ख्याति बहुत बढ़ गयी। विद्याबल, योगबल, तपोबल, बुद्धिबल, कविताबल आदि शक्ति और सिद्धिप्राप्तिसे 'परचे' आप ही हो जाते थे। फतहपुरका नवाब अलफखाँ इनके सत्संगसे बहुत प्रसन्न था[१]। उसके बेटे दौलतखाँने तो स्वामीजीकी बड़ी भक्ति की और उसको परचे भी मिले और उसकी रक्षा भी हुई। दौलतखाँका पुत्र ताहरखाँ बड़ा वीर और साहसी था, जिसे बादशाहने नागोर दिया था; यह भी स्वामीजीकी कृपासे प्रभावित था। स्वामीजी अधिकतर फतहपुरमें ही रहा करते थे। बीच-बीचमें रामत, सत्संग और भ्रमणके लिये आप साँगानेर रज्जबजीके पास, नरायणे दादूद्वारेमें, तथा जहाँ-जहाँ दादूजी गये वा बसे थे—यथा साँभर, आँबेर, कल्याणपुर आदि, और दिल्ली, आगरा, लाहौर, बिहार, गुजरात, मारवाड़, मेवाड़, मालवा आदि—उन सब स्थानों अथवा प्रान्तोंमें देशाटनके लिये जाया करते, जिनका कुछ वर्णन उनके रचे 'देशाटनके सवैया' में है। बनारस वे फिर भी गये। और 'ज्ञानसमुद्र' वहीं सं० १७१० में रचा। उस समय ये ५७ वर्षके पूर्ण अनुभवी एवं ज्ञानी थे। काशीमें पण्डितों, विद्यागुरुओं और ग्रन्थोंके सकाश तथा निज अनुभवके बलसे यह अनुपम ग्रन्थ रचा गया, जिसके जोड़का भाषा-भण्डारमें स्यात् ही कोई ग्रन्थ हो तो हो।

सुन्दरदासजी बहुत मिलनसार, मैत्री रखनेवाले, बड़े सज्जन और सुघड़ पण्डित-प्रेमी थे। इनका अपने बीसों गुरुभाइयों और उनके शिष्योंसे तो प्रेम[२] था ही, उनके अतिरिक्त आगरेमें 'समयसार नाटक' आदिके रचयिता कविवर बनारसीदासजी जैनसे, पंजाबके सिक्ख कविवर भाई गुरुदासजीसे, 'विचारमाला' के प्रसिद्ध रचयिता अनाथदासजीसे तथा उक्त नवाब अलफखाँ उपनाम 'जान' कवि तथा उसके बेटे वा पोतों, और अनेक सत्पुरुषोंसे स्वामीजीकी मैत्री थी।[३]

स्वामी सुन्दरदासजी शान्तरसके और दर्शनविषयक ग्रन्थोंके अप्रतिम रचनाकार हुए हैं। उनके समस्त ग्रन्थ उनके ही सामने उनकी देख-रेखमें, उनकी वृद्धावस्थामें लिखवाये हुए, संवत् १७४२ के (अढ़ाई सौ वर्ष पूर्वके) स्व० महन्त गंगारामजी फतहपुरवालोंसे हमें प्राप्त हुए थे, और हमारे संग्रहमें सुरक्षित हैं। उसीके आधारपर मूल और फिर टीका आदिके साथ बहुकालिक परिश्रमसे उन्हें 'सुन्दरग्रन्थावली' के नामसे हमने सम्पादन किया। इसे 'राजस्थान रिसर्च सोसायटी' कलकत्ता[४] ने सुन्दरतासे

१—नवाब अलफखाँ जैसा वीर और सच्चरित्र था वैसा ही कवि भी था। इनके चार ग्रन्थ भाषापद्यमें रचे हुए उपलब्ध हैं। बादशाहकी इसपर, और इसके बेटे और पोतेपर बड़ी कृपा थी। अलफखाँका काव्योपनाम 'जान' कवि था। यह कविता सुन्दर करता था। 'कविवल्लभ' रीतिग्रन्थ बहुत अच्छा बना है। ये नवाब कायमखानी थे।

२—रज्जबजी, उनके शिष्य मोहनदास, रामदास, घड़सीदास और शिष्य नारायणदास, प्रागदासजी, जगजीवनजी, संतदास और शिष्य भीषजन, चतरदास, बषनाजी, राघोदासजी भक्तमालकार, जनगोपालजी दादूपरचीकार, वाजीदजी, गरीबदासजी, जगन्नाथदासजी, गुणगंजनामाके रचनाकर, माधवदासजी संतगुणसागर रचनाकार, प्रह्लाददासजी नागा-जमातके प्रवर्त्तक, म. क. केशवदासजी, सुन्दर कविराय, इत्यादि।

३—भाई गुरुदासजी बड़े कवि और ज्ञानी थे। उनके 'कवित्त-सवैया' बहुत विख्यात है। अलफखाँ 'जान' कविके रचे ४ ग्रन्थ उपलब्ध हैं—१ सतवन्तीसत। २ रत्नावती। ३ मदन-विनोद। ४ कविवल्लभ। वह शाहजहाँका रिश्तेदार था और बड़ा वीर था। कोटकांगड़ेकी लड़ाईमें मारा गया था। फतहपुरमें उसकी मसजिद है। —लेखक

४—पता—मन्त्री राजस्थान रिसर्च सोसायटी—२७ वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता। साधुओंको थोड़े मूल्यपर भी मिलती है। —लेखक

यह ग्रन्थ हमने भी देखा है। बड़े परिश्रम तथा खोजसे तैयार किया गया है। इसकी छपाई-सफाई भी सुन्दर है। इसकी भूमिका भी बड़ी विद्वत्तापूर्ण है। विद्वान् लेखकने इस ग्रन्थावलीका सम्पादनकर हिन्दी-भाषाभाषी जनताका बड़ा उपकार किया है। भूमिकामें महात्मा दादूदयालजी तथा उनके प्राय: सभी शिष्योंकी विस्तृत जीवनी भी दी गयी है, जिससे ग्रन्थकी उपादेयता बढ़ गयी है। —सम्पादक

छापकर दो जिल्दोंमें, १५०० पृष्ठोंके ग्रन्थको, ३२ चित्रादिके साथ, प्रकाशित किया है। यह ग्रन्थ उसी सोसायटीके मन्त्रीसे प्राप्य है। ४२ ग्रन्थोंके नाम इस प्रकार हैं—

(१) ज्ञानसमुद्र।	(२२) पंजाबी भाषा अ०।
(२) सर्वांगयोग प्र०।	(२३) ब्रह्मस्तोत्र अ०।
(३) पंचेन्द्रियचरित्र।	(२४) पीरमुरीद अ०।
(४) सुखसमाधि।	(२५) अजब ख्याल अ०।
(५) स्वप्नबोध।	(२६) ज्ञानझूलना अ०।
(६) वेदविचार।	(२७) सहजानन्द।
(७) उक्त अनूप।	(२८) गृहवैरागबोध।
(८) अद्भुत उपदेश।	(२९) हरिबोलचितावनी।
(९) पंचप्रभाव।	(३०) तर्कचितावनी।
(१०) गुरुसम्प्रदाय।	(३१) विवेकचितावनी।
(११) गुन उत्पत्तिनिसानी।	(३२) पवंगम।
(१२) सद्गुरुमहिमानिसानी।	(३३) अडिल्ला।
(१३) बावनी।	(३४) मडिल्ला।
(१४) गुरुदया षट्पदी।	(३५) बारहमासा।
(१५) भ्रमविध्वंस अष्टक।	(३६) आयुर्बलभेद०।
(१६) गुरुकृपा अ०।	(३७) त्रिविध अन्त:करण।
(१७) गुरु उपदेश अ०।	(३८) पूर्वीभाषा बरवै।
(१८) गुरुदेवमहिमा अ०।	(३९) सवैया (सुन्दरबिलास)।
(१९) रामजी अ०।	(४०) साखी।
(२०) नाम अ०।	(४१) पद-भजन।
(२१) आत्मा अचल अ०।	(४२) फुटकर काव्य।

संख्या (२) से (३८) तक लघुग्रन्थावलीके ग्रन्थ हैं। फुटकर काव्यसंग्रहमें नाना प्रकारके काव्यचातुर्यके छन्द हैं। चौबोला, गूढार्थ, आद्यक्षरी, आद्यन्ताक्षरी, मध्याक्षरी, चित्रकाव्य, कवितालक्षण, नवनिधि, अष्टसिद्धि, संख्यावाचक अध्यात्मछप्पय, अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका, संस्कृत श्लोक, अन्त समयकी साखी—इत्यादि वा देशाटनके सवैये आदि हैं। सब रचनाएँ भगवत्सम्बन्धी और शान्तरस, भक्ति, ज्ञान, शिक्षा, नीति और उपदेशसे भरी हैं। निकृष्ट रस—नायिकाभेद आदिका प्रबल खण्डन है। भाषा और रचना-प्रकार सरल, सुबोध, स्पष्ट, स्फीत, सरस, सुन्दर, सुकर, सुहावन, सुगम्य, सारभरपूर हैं। व्रजभाषाकी भित्तिपर राजपूतानी और खड़ी बोली मिश्रित सुमिष्ट मनोरंजक भाषाका विकास है।

ऐसी सुन्दर और इतनी बहुल रचना करके स्वामीजीने जगत्का बड़ा भारी उपकार किया है। रचनाका हेतु केवल परोपकार ही था।

स्वामीजीने फारसी शब्दमिश्रित पंजाबी, पूरबी तथा गुजराती भाषाओंमें भी कविताएँ की हैं, जो इस ग्रन्थावलीमें हैं।

दीखनेमें प्राय: सीधी-सरल रहनेपर भी इसके अनेक स्थल और विषय ऐसे गहन और रहस्यमय हैं कि बिना स्पष्ट टीकाके साधारण बुद्धिमें आशयका प्रवेश नहीं हो सकता। इसपर 'सुन्दरानन्दी' टीका इसीलिये की गयी। परन्तु—

'सुंदर जे हैं आपहिं सुंदर, उनको कहा सिंगार।'

स्वामीजी तो स्वयं प्रकाश और उजागर हैं, उनकी महिमा किससे कही जा सकती है।

यथा नाम अरु रूप, तथा गुन होत उजागर।

दादूपन्थहीमें नहीं, बल्कि सारे संतसमाजमें और प्रधानत: निर्गुण भक्तिमय ज्ञानवाले पन्थोंमें स्वामी सुन्दरदासजी सूर्यसमान हुए हैं। इनकी महिमामें कहा गया है—

संक्राचारय दूसरो, दादूके सुंदर भयो।

और—

दादू दीनदयालके चेले दोय पचास।
कोइ उडगण, कोई इन्दु हैं, दिनकर सुंदरदास॥

स्वामीजीका कविताकाल वि० सं० १६६४ से १७४२ वा अन्त समय १७४६ तक समझना चाहिये। वे बाल्यावस्थाहीसे कविता करने लग गये थे और प्राय: अन्तावस्थातक थोड़ी कविता करते रहे।

स्वामीजीके महात्मापन, साधुश्रेष्ठता, काव्योच्चता, ज्ञानगरिष्ठताकी ख्याति उनके जीवनकालमें ही बहुत हो चुकी थी। उनसे बहुतोंने ज्ञान, भक्ति, योग और काव्य सीखा था। उनके ग्रन्थोंकी नकलें उन्हीं दिनों लोग कर ले जाया करते थे। परमपद हो जानेके पीछे तो उनकी और भी अधिक कीर्ति प्रसारित होती चली गयी और हो रही है। और अब उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ उत्तम रीति और रूपसे मुद्रित वा प्रकाशित हो जानेसे उनको साहित्य और संत-संसारमें और भी अधिकतासे लोग जानने-पहचानने लगेंगे।

स्वामी सुन्दरदासजीका परमपदगमन उनके अपने स्थानमें साँगानेरमें मिती कार्तिक शुक्ला अष्टमी बृहस्पतिवारके तीसरे पहर, वि० सं० १७४६ में, कुछ रोगग्रस्त होने और अपने परम मित्र श्रद्धेय स्वामी

रज्जबजीके परलोकवासके दुःखद असह्य समाचारोंके चित्तपर प्रहारसे, हुआ था। स्वामीजी तिरानवे वर्षके होकर शरीरत्यागी हुए थे। आपहीने कहा है—

सात बरस सौमें घटैं, इतने दिनकी देह।
सुंदर न्यारो आतमा,* देह खेहकी खेह॥

शिलालेखमें लिखा है—

संबत सतरा सौ छींयाला। कातिग सुदि अष्टमी उजियाला॥
तीजै पहर बृहस्पतिवार। सुंदर मिलिया सुंदर सार॥

साँगानेरके श्मशानमें चबूतरा और छत्री, चरणपादुका और उक्त लेख खुदा हुआ था, जिन्हें किसी दुष्ट पापी साधुने परस्परके द्वेषसे तोड़कर फेंक दिया। परन्तु इससे पूर्व उनका नाप और चित्र ले लिया गया था, इससे नकल सुरक्षित रह गयी। टोडेके पास मोरगाँवमें भी स्थान और चरणपादुका और उक्त लेख पत्थरमें खुदे हुए हैं। उक्त संवत्-मिती ईसवी ता० ११ अक्टूबर सन् १६८६ के अनुसार है।

स्वामी सुन्दरदासजीके पाँच प्रधान शिष्य थे। इनमें नारायणदासजीसे फतहपुरका प्रधान थाँभा (स्थान-अस्थलमठ) चला था। उनके अपने जा रहनेसे वा शिष्योंके निवाससे रियासत जयपुर, जोधपुर, बीकानेर वा अंग्रेजी इलाकोंमें बीस-पचीस स्थान हैं। शेखाजीकी छत्रीके भी महन्त फतहपुरिया सुन्दरदासोत ही हैं। ये चँवर और चोबदार भी रखते हैं। फतहपुरके प्रधान थाँभेके महन्त गंगारामजी बड़े ही योग्य और साक्षर तेजस्वी साधु थे और इस लेखकसे उनका प्रेमस्नेह था। उन्हींकी असीम कृपासे 'सुन्दरग्रन्थावली' का उत्तम और शुद्ध सम्पादन हो पाया था। अब उनके प्रधान शिष्योंमें सेवानन्ददासजी और ठण्डीरामजी हैं।

सुन्दरदासजीकी आकृति-प्रकृतिमें 'यथानाम तथा गुण' थे। सुढार अंग, दीर्घ काय, गौर वर्ण, तेजस्वी मुख, विशाल सिर और ललाट, गम्भीर मधुर मन्द मुसकान, दयामय प्रीतिपूर्ण दृष्टि, शान्त और ध्यानमग्न इत्यादि गुण-सम्पन्न थे।

स्वामीजीके कई स्मारक चिह्न द्यौसा, साँगानेर, फतहपुर आदिमें हैं। जिनको विस्तृत जीवन-चरित्र जानना हो वे ''सुन्दरग्रन्थावली'' के आदिमें पढ़ें।

त्र्यम्बकराज

भैरव नामक एक कर्मनिष्ठ यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। इन्होंने वंशवृद्धिके लिये तुलजापुरकी भवानी देवीका अनुष्ठान किया। भवानी देवी प्रसन्न हुईं और नवीं रात्रिको प्रकट हुईं। देवीने तीन फल भैरवजीके हाथपर रखे और कहा—इन्हें खा लो, इससे तुम्हारे तीन पुत्र होंगे; इन तीनोंमें जो बीचका फल है इससे तुम्हारे जो पुत्र होगा उसके हाथपर त्रिशूलकी रेखाएँ होंगी। भैरवजीके यथासमय तीन पुत्र हुए—नृसिंह, त्र्यम्बक और कौडिन्य। त्र्यम्बकके हाथपर सचमुच त्रिशूलकी तीन रेखाएँ थीं। भैरवजी इनपर कभी गुस्सा नहीं होते थे, इनकी कोई बात टालते भी नहीं थे। इन्हें उन्होंने खड़ी-पाटी भी नहीं दी, फिर विद्या कहाँ? इनका उपनयन तो हुआ, पर विवाह करानेके फेरमें इनके पिता नहीं पड़े। इन्होंने त्र्यम्बकके हाथका त्रिशूल इनकी माँ अम्बावतीको दिखाकर कहा कि यह कोई महायोगी है। त्र्यम्बकराज जब कुछ बड़े हुए तब स्वयं इन्होंने अपनी इच्छासे ही कुछ अध्ययन किया। कुछ काल पीछे इनके पिताकी मृत्यु हो गयी। त्र्यम्बकराजने अपने बड़े भाई नृसिंहसे उपदेश ग्रहण किया। कमलाकर नामक किसी सत्पुरुषने भी इन्हें प्रबोध कराया। बहुतोंका संग किया, पर कहीं इनका चित्त नहीं ठहरा। तब इन्होंने भगवती चण्डीकी उपासना की। सोलहवीं रातको एक पंचवर्षीया कुमारी प्रकट हुई। उसने कहा—सप्तशृंगीपर जाओ, वहाँ महामाया रहती हैं और इसलिये श्रीसिद्धेश भी वहीं विराजते हैं। त्रयम्बक सप्तशृंगीपर गये और ध्यान लगाकर बैठ गये। तीसरी रातमें अम्बा प्रसन्न हुईं। त्र्यम्बकराजने उनसे ब्रह्मज्ञान माँगा। करुणामयी भवानीने अपना कर कपोलमें स्पर्श किया, और एक चमत्कार हुआ। द्विजवेषमें श्रीसिद्धेश्वर भी प्रकट हुए। उन्होंने त्र्यम्बकराजको पाँच वचन बताये, उन्हींमें सारा ब्रह्मज्ञान बता दिया; पीछे एक अद्भुत प्रकाश दिखाया जिसके सम्बन्धमें त्र्यम्बकराज अपने ग्रन्थमें कहते हैं कि 'वह प्रकाश अभीतक मेरी दृष्टिके सामने सारी सृष्टिमें है, उससे मेरे मनसहित सारी इन्द्रियाँ सदाके लिये निर्मल सुखपात्र बन गयीं।

* पाठान्तर—'सुंदर आतम अमर है।'—लेखक

मैंने अनुष्ठान किया भवानीका, पर भवानीके साथ करुणालय शूलपाणि भी प्रसन्न हुए। मेरे लिये जगत् और मैं सब ब्रह्मानन्दसे भर गया। इसी ब्रह्मानन्दका जगत्को बोध करानेके लिये जगदम्बाने मुझे आज्ञा दी।' उसी आज्ञाके अनुसार त्र्यम्बकराजने श्रीसिद्धेशद्वारा प्रदत्त पाँच महावाक्योंके आधारपर 'बालबोध' नामक एक ग्रन्थ लिखा। इसमें मुख्यतः ॐ की उपासना बतायी गयी है और उसके साथ योगमार्ग भी दर्शाया गया है। ग्रन्थ संवत् १६२९ में लिखना आरम्भ हुआ और संवत् १६३७ में समाप्त हुआ। इस ग्रन्थमें 'सिद्धेशमतसम्प्रदाय' नामका एक सम्प्रदाय ही चल निकला।

—ल० गर्दे

रमावल्लभदास

विक्रमकी १७ वीं शताब्दीके आरम्भमें अम्बाजी पन्त नामक एक अगस्त्यगोत्रोत्पन्न ऋग्वेदी ब्राह्मण देवगढ़ (दौलताबाद) में रहते थे। ये वहाँके मुसलिम राज्यके वजीर अम्बर खाँके नायब थे। बड़े प्रभावशाली और सम्पन्न पुरुष थे। संवत् १६४५ के लगभग इनके एक पुत्र हुआ। उसका नाम 'तुकोजी' या 'तुको पन्त' रखा गया। ७ वें वर्ष तुकोजीका उपनयन हुआ, १२ वें वर्ष विवाह हुआ और १८ वें वर्ष पिता जो काम करते थे, वह इन्हें सौंपा गया। बड़ी योग्यता और दक्षताके साथ इन्होंने अपना काम सम्हाला। एक बार शत्रुओंने किलेको घेर लिया था। तुको पन्त दो हजार घुड़सवार और पदाति संग लेकर शत्रुओंसे बड़ी शूरताके साथ लड़े और विजयी हुए। शत्रुओंका सामान लूट लिया गया। उस लूटमें किसीको कीमती कपड़े मिले, किसीको बहुमोल रत्न मिले, किसीको हाथी और घोड़े मिले, तुको पन्तको लावारिस पड़ी एक पोथी मिली। यह एकनाथी भागवतकी प्रति थी। तुको पन्तने उसे पढ़ा, पढ़कर उनके मुखसे यह उद्गार निकला कि आज मेरा परम भाग्य उदय हुआ, भगवान्ने बड़ी भारी कृपा मुझपर की जो यह पोथी मुझे मिली। तुकोजी पन्त और उनके बालमित्र कृष्णाजी पन्त दोनोंने नाथ भागवतके अनेक पारायण किये, रम गये उस सद्ग्रन्थकी परम रुचिमें, और चित्तसे भक्ति-मन्दाकिनीकी धारा बहने लगी। नाथ भागवतके प्रेमसमुद्रमें तैरते-तैरते ये उसमें तन्मय हो गये, गृह-प्रपंच और राज-काज सबसे जी उचट गया। सद्गुरुकी खोज होने लगी, निकल पड़े घरके बाहर सब काम-काज छोड़छाड़कर। पहले पण्ढरपुर गये, वहाँ भक्ति-प्रेमानन्दमें चित्त स्थिर हुआ। फिर गोदावरी और प्रवरा नदीके संगमपर नियत गुरु श्रीलक्ष्मीधरदास मिले। उन्होंने तुको पन्तपर अनुग्रह किया और उनका नाम रमावल्लभदास रखा। श्रीरमावल्लभदासको श्रीगुरुने 'श्रीगोपालविद्या' दी। श्रीगुरु लक्ष्मीधर श्रीशंकराचार्यपरम्पराके थे। श्रीशंकराचार्यकी 'वाक्यवृत्ति' का हवाला देकर श्रीरामवल्लभदास कहते हैं कि, 'श्रीगुरु बिन भगवान् नहीं,' हरि और गुरुमें भेद नहीं। अपने नामका भेद वे यों बतलाते हैं कि 'वल्लभ अन्तः स्थित गोस्वामी हैं और रमा अन्तःस्फूर्ति, और इन दोनोंका जो दास सो मैं रमावल्लभदास हूँ।' इन्होंने श्रीगुरु लक्ष्मीधरसे ही गीता और भागवत ग्रन्थ पढ़े। एक अभंगमें इन्होंने अपनी दो अवस्थाओंका वर्णन किया है—एक गुरुप्राप्तिके पूर्वकी बद्ध और मुमुक्षु-अवस्था और दूसरी गुरुप्राप्तिके बादकी मुक्तावस्था—'मूलमें पहुँचकर देखा, मेरे कोई माँ-बाप नहीं। संतोंने मुझे पाला। उन्हींका मन कोमल है। पहले मेरा अगस्त्य गोत्र था, अब मेरा व्यापक गोत्र है। पहले मैं ऋग्वेदी था, अब भागवती हूँ। नामघोष मेरा आचार है और भगवद्गीता ही मेरा विचार है। पहले त्रिकालसन्ध्या करता था, अब तो सर्वकाल प्रेमकी सन्ध्यामें ही रहता हूँ। पहले मैं मतभेदी था अब मेरा मत अभेदी है। पहले लौकिक वाणी बोलता था, अब अलौकिक बोलता हूँ। पहले मैं सम्मान लिया करता था, अब सबको सम्मान दिया करता हूँ। पहले चतुराई मुझे अच्छी लगती थी, अब भोलापन अच्छा लगता है। पहले मुक्तिके लिये छटपटाता था, अब भक्तिमें बहा जाता हूँ। पहले हरि तारक थे, अब उन्होंने मुझे तारक बनाया है। पहले मैं परतन्त्र था, अब मैं सर्वथा स्वतन्त्र हूँ। पहले रूप-नाम रुचता था, अब उसका कुछ काम नहीं रह गया। नाम-रूपका आभास जो था सो सब जाता रहा, अब केवल यह सब कुछ रमावल्लभदास है।' गुरुगृहीत होनेके पश्चात् रमावल्लभदास पंचवटी गये। वहाँ उन्हें गोपाल

संत वल्लुवर

श्रीसमर्थ रामदास स्वामी

श्रीराममन्दिर, सजनगढ़

श्रीकल्याणस्वामी
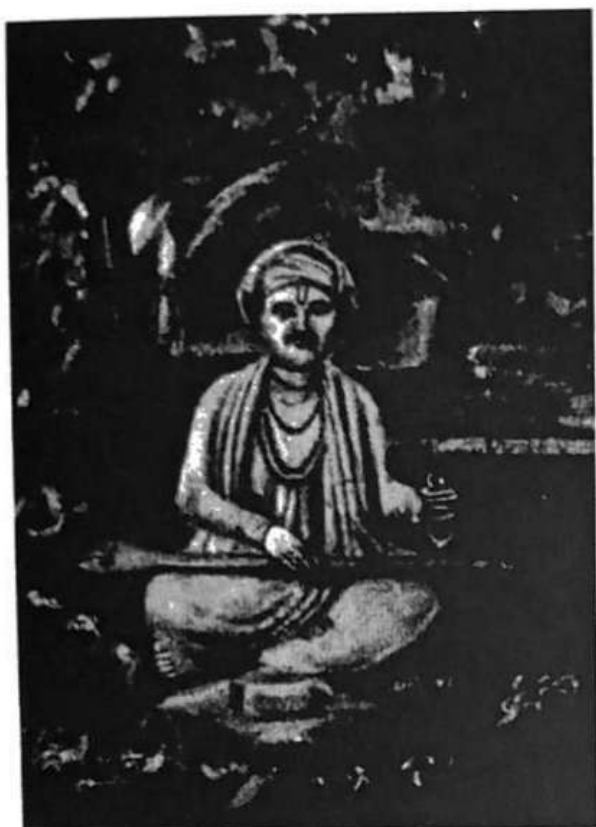
संत तुकाराम

तुकाराम महाराजका भजन-मन्दिर
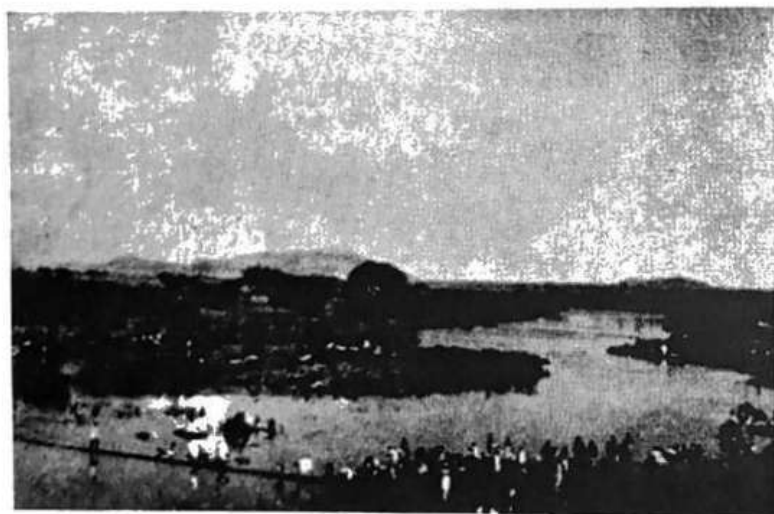
तुकाराम महाराजके जन्मस्थान देहूग्राममें इन्द्रायणी नदी

श्रीनामदेवजी

गोस्वामी मिले। कुछ काल पीछे उनके बालमित्र कृष्णाजी पन्त भी आ मिले। ये तीनों गोदावरीतीरपर कई वर्षोंतक विहार करते रहे। इसी समय श्रीरमावल्लभदासने 'दशकनिर्धार' नामसे एक ग्रन्थ लिखकर श्रीकृष्णलीला वर्णन की। इसके पश्चात् रमावल्लभदास वाईक्षेत्रमें गये। वहाँ नृसिंह अप्पा, गोविन्द वांकडा, राघवदास, उमावल्लभदास आदि कई भक्त मिले। इस भक्तमण्डलीमें रहते हुए रमावल्लभदासजीने श्रीशंकराचार्यकी 'वाक्यवृत्ति' पर एक मराठी टीका लिखी। इसके पश्चात् श्रीरमावल्लभदास अपने शिष्यों, मित्रों और घरवालों (धर्मपत्नी और चार पुत्रों)-के साथ दक्षिण कर्णाटक गये। महाशिवरात्रिके अवसरपर ये गोकर्ण नामक अति प्राचीन शिवक्षेत्रमें थे। जब ये समुद्रमें प्रातःस्नान कर रहे थे उसी समय लक्ष्मीबाई नामकी एक युवती कुलीन स्त्री भी वहाँ स्नान कर रही थी। उसके एक कानका सोनेका फूल टपसे हाथपर गिरके जलमें गिरा और नीचेकी बालूमें मिलकर न जाने कहाँ चला गया! वह बेचारी रोने लगी। रमावल्लभदासजीने उससे पूछा, क्यों रो रही है? उसने कहा कि 'कानका फूल चला गया! फूलकी कोई बात नहीं, ऐसे फूल और भी बन सकते हैं; पर ऐसे महापर्वके अवसरपर मेरे सौभाग्यका अलंकार गिर जाय, इसी अशुभपर मैं रो रही हूँ।' रमावल्लभदासजीने कहा—'रोती क्यों हो? तुम्हारा अलंकार तो तुम्हारे ही पास है!' उसने कहा, 'मेरे पास कहाँ?' वह तो जलमें गिरकर चला गया!' रमावल्लभदासजीने कहा—नहीं बेटी, वह तेरे कानमें है; जरा देख तो सही। लक्ष्मीबाईने कानमें हाथ लगाया तो सचमुच ही कर्णफूल मौजूद था! उसके आश्चर्यका कोई पारावार न रहा! उसने जाना कि यह इन्हीं महात्माकी करामात है, उसने इन्हें दण्डवत् किया और घरके लोगोंको इनके दर्शन करानेके लिये आग्रहपूर्वक इन्हें कारवार जिलेमें कुमठा बन्दरसे चार मील दूर मल्लापुर गाँवमें अपने घर ले गयी। कुछ दिन वहीं इनका निवास हुआ। लक्ष्मीबाई और उनके पति नारायण अप्पाने इनसे द्वादशाक्षर मन्त्र और श्रीकृष्णोपासनाकी दीक्षा ली। इसके बाद जो जन्माष्टमी आयी उसका उत्सव स्वयं रमावल्लभदासजीने इनसे कराया। उसका पन्द्रह दिनका कार्यक्रम था तबसे यह उत्सव वहाँ उसी प्रकारसे आजतक होता चला आता है। रमावल्लभदासजीके कई मठ कर्णाटक प्रान्तमें हैं और वहाँ उनकी शिक्षा-दीक्षा अभीतक प्रचलित है। 'श्रीकृष्ण-जयन्तीव्रतोत्सव-भजन' नामक पुस्तकमें श्रीरमावल्लभदासद्वारा निर्धारित श्रीकृष्णजन्मोत्सवपद्धति दी हुई है, उसमें उनके अनेक भजन भी हैं। इस जन्मव्रतोत्सव और 'वाक्यवृत्ति' की प्राकृतटीका और 'दशक-निर्धार' नामक श्रीकृष्ण-जन्माध्यायके अतिरिक्त इनके दो ग्रन्थ और हैं—एक श्रीमद्भगवद्गीताकी 'चमत्कारी टीका' और दूसरा गुरुवली। गीताकी यह 'चमत्कारी टीका' संवत् १६८५ में लिखी गयी। यह टीका बड़ी सरस, सुसंगत और सुबोध है और इसमें पहले ९ वें अध्यायसे १८ वें अध्यायतक और फिर पहले अध्यायसे आठवें अध्यायतककी टीका है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक अध्यायमें जितने विषय आये हैं, उतने वर्ग इन्होंने प्रत्येक अध्यायमें कायम किये हैं। उदाहरणार्थ, नवें अध्यायमें १३ वर्ग हैं।

—ल० गर्दे

समर्थ गुरु रामदास स्वामी

भगवान् श्रीसूर्यनारायणके वरदानसे सूर्याजी पन्तकी धर्मपत्नी रेणकाबाईके गर्भसे सं० १६६२ मार्गशीर्ष शुक्ला १३ को प्रथम पुत्रका जन्म हुआ, जिसका नाम गंगाधर रखा गया, जिसने अपनी वयस्के ९ वें वर्षमें ही श्रीहनुमान्जीके मन्दिरमें ग्यारह दिनतक मारुति-कवचका पाठ करके श्रीहनुमान्जीको प्रसन्न कर लिया और जिसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी दर्शन देकर अनुगृहीत किया। ये ही गंगाधरजी आगे चलकर 'श्रेष्ठ' या 'रामीरामदास' के नामसे प्रसिद्ध हुए। इनके जन्मके तीन वर्ष बाद संवत् १६६५ की चैत्र शुक्ला नवमीके दिन, ठीक श्रीरामजन्मके समय, रेणकाबाईने उस महापुरुषको जन्म दिया जिसे संसार समर्थ गुरु रामदास स्वामीके नामसे जानता है। इनका नाम पिताने नारायण रखा।

नारायण जब पाँच वर्षके थे, तब उनका उपनयन-संस्कार हुआ। बचपनमें ये बड़े ऊधमी थे; पेड़ोंपर चढ़ना, एक डारसे दूसरी डारपर या एक पेड़से दूसरे पेड़पर कूदना, पहाड़ोंपर तेजीसे चढ़ना-उतरना, उछलना-कूदना-फाँदना ये ही सब इनके खेल थे। लिखना,

पढ़ना और हिसाब लगाना तथा नित्यका ब्रह्मकर्म भी इन्होंने बहुत जल्द सीख लिया। सूर्यदेवको ये नित्य दो हजार नमस्कार किया करते थे। आठ वर्षकी अवस्थामें ही इन्होंने भी श्रीहनुमान्‌जीको प्रसन्न किया और श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन पाये। श्रीरामचन्द्रजीने स्वयं इन्हें दीक्षा दी और इनका नाम रामदास रखा। जब ये बारह वर्षके हुए तब इनके विवाहकी तैयारी हुई। विवाहमण्डपमें वर-वधूके बीच अन्त:पट डालकर ब्राह्मणलोग मंगलाचरणके श्लोक बोलने लगे। पहले मंगलाचरणके पीछे सब लोग जब 'शुभलग्न सावधान' बोले तब रामदासजी सचमुच ही सावधान होकर वहाँसे ऐसे भागे कि बारह वर्षतक फिर घरके लोगोंको पता ही न लगा कि वे कहाँ गये। वहाँसे तीन कोसपर गोदावरी नदी है, उसे तैरकर रामदासजीने पार किया और किनारे-किनारे पैदल चलकर वे नासिक-पंचवटी पहुँचे। पंचवटीमें इन्हें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके फिर दर्शन हुए। उस अवसरपर रामदासजीने एक 'करुणादशक' द्वारा बड़ी करुणापूर्ण वाणीमें प्रभुकी विनय की। तत्पश्चात् नासिकके समीप टाफली ग्राममें जाकर, जहाँ गोदा और नन्दिनीका संगम हुआ है, एक गुफामें रामदासजी रहने लगे। वहाँ इन्होंने त्रयोदशाक्षर राममन्त्रका पुरश्चरण आरम्भ किया। दैनिक नियमोंका पालन करनेके पश्चात् दिन या रातको जब जो समय मिलता, उसमें ये रामायण, वेद-वेदान्त, उपनिषद्‌गीता, भागवत आदि ग्रन्थ देखा करते थे। इस प्रकार वहाँ तप करते हुए इन्हें तीन वर्ष हो गये। एक दिन रामदासजी संगमपर ब्रह्मयज्ञ कर रहे थे और उधरसे एक विधवा स्त्रीने आकर इन्हें प्रणाम किया। इसपर 'अष्टपुत्रा सौभाग्यवती भव' ऐसा आशीर्वाद श्रीरामदासजीके मुँहसे निकला, जिसे सुनकर स्त्रीने पूछा 'इस जन्ममें या दूसरे जन्ममें?' बात यह थी कि उस स्त्रीके पतिकी मृत्यु हो गयी थी और वह उसके साथ सती होने जा रही थी। सती होने जानेके पूर्व सत्पुरुषोंको प्रणाम करनेकी जो विधि है, उसके अनुसार वह इन्हें तपस्वी महात्मा जानकर प्रणाम करने आयी थी। रामदासजीने कहा—'अच्छा, प्रेतको यहाँ ले आओ।' प्रेतके सामने आते ही रामदासजीने श्रीरामनाम लेकर उसपर तीर्थोदक छिड़का। तुरंत वह मृत शरीर 'राम राम' उच्चारण करता हुआ जीवित हो उठा। इस प्रकार जो पुनर्जीवित हुए, उनका नाम गिरिधर पन्त था और उनकी वह सती स्त्री अन्नपूर्णाबाई थी। अन्नपूर्णासे फिर रामदासजीने कहा—'मैंने तुझे पहले आठ पुत्रोंका आशीर्वाद दिया था, अब श्रीरामकृपासे दो का और देता हूँ।' इस आशीर्वादके अनुसार उस ब्राह्मणदम्पतीको दस पुत्र हुए और उन्होंने प्रथम पुत्र श्रीरामदासजीके चरणोंमें अर्पण किया। वही समर्पित पुत्र उद्धव गोसावीके नामसे प्रख्यात हुआ। अस्तु, उस स्थानपर सं० १६८९ में जब पुरश्चरण समाप्त हुआ, तब श्रीरामचन्द्रजीने समर्थ गुरु रामदासजीको दर्शन देकर यह आज्ञा दी कि 'अब तुम सब तीर्थोंकी यात्रा करके कृष्णा नदीके तटपर रहो।'

तदनुसार श्रीसमर्थ रामदासजी तीर्थयात्राको चले। सबसे पहले श्रीसमर्थ काशी गये। वहाँसे अयोध्या जाकर श्रीराममन्दिरमें अपने परमाराध्यके दर्शन किये। तत्पश्चात् गोकुल, वृन्दावन, मथुरा, द्वारका होकर श्रीनगर, बदरीनारायण और केदारेश्वर गये। वहाँसे पर्वतशिखरपर ध्यान लगाये बैठे हुए श्रीश्वेतमारुतिके दर्शन करने गये, जहाँ चार महीने ठहरे और श्रीश्वेतमारुतिने इन्हें प्रसाद-स्वरूप टोप, मेखला, वल्कल, भगवें वस्त्र, जपमाला, पादुका और कुबड़ी दी। यहाँसे उत्तर मानसकी यात्रा करके जगन्नाथपुरी और पूर्वी समुद्रके किनारेसे होकर दक्षिण समुद्रके तटपर श्रीरामेश्वर सेतुबन्धन तथा लंकाके दर्शन कर गोकर्ण, महाबलेश्वर, शेषाचल, शैलमल्लिकार्जुन, पंचमहालिंग, किष्किन्धा, पम्पा सरोवर, ऋष्यमूक पर्वत, करवीरक्षेत्र, परशुरामक्षेत्र, पण्ढरपुर, भीमाशंकर और त्र्यम्बकेश्वर होते हुए श्रीसमर्थ रामदास पंचवटी लौटे।

इस प्रकार जब तीर्थयात्रा समाप्त हो गयी, तब समर्थ गोदावरीकी परिक्रमा करने निकले। रास्तेमें एक दिन इन्होंने पैठणमें कीर्तन किया और एक अद्‌भुत चमत्कार दिखलाया, जिससे वहाँके लोगोंने इन्हें पहचान लिया और कहा कि 'आप तो निश्चिन्त होकर तीर्थोंमें घूम रहे हैं, परन्तु घरमें आपकी माता आपके लिये तड़प रही हैं। आपके विरहमें रो-रोकर उन्होंने नेत्रोंकी ज्योति खो दी है।' यह सुनकर रामदासजी महाराज तुरंत ही माताके दर्शनार्थ जाम्बगाँव गये। द्वारपरसे आवाज दी 'जय जय रघुवीर समर्थ!' श्रेष्ठजीकी धर्मपत्नी यह सुनकर भिक्षा लेकर आयीं, पर समर्थने कहा—'यह भिक्षा माँगनेवाला कोई वैरागी नहीं है।' तबतक माताने आवाज सुनी और पूछा—'कौन मेरा बेटा नारायण?'

समर्थने कहा—'हाँ, माताजी, मैं ही हूँ।' और यह कहकर उन्होंने माताके समीप पहुँचकर उनके चरणोंमें मस्तक रख दिया। चौबीस वर्षके दीर्घकालके बाद माता और पुत्रका मिलन हुआ था। समर्थने माताके नेत्रोंपर अपना हाथ फेरा, जिससे खोयी हुई नेत्रज्योति माताको फिर प्राप्त हो गयी। इसके बाद समर्थने माताको कपिलगीता सुनायी और उनसे आज्ञा लेकर गोदावरीकी परिक्रमाका रास्ता लिया। सप्तगोदावरीसंगमकी सव्य परिक्रमा करके, सीधे त्र्यम्बकेश्वर और त्र्यम्बकेश्वरसे पंचवटी पहुँचकर श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन करनेके पश्चात् समर्थ टाफलीमें आये, जहाँ वे उद्धवसे मिले। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि तीर्थयात्राके प्रसंगसे श्रीसमर्थ जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ इन्होंने अपने मठ स्थापित किये और प्रत्येक मठमें एक-एक अधिकारी शिष्यकी नियुक्ति की।

इस तरह बारह वर्ष तपस्या और बारह वर्ष तीर्थयात्रा करके श्रीसमर्थ सं० १७०१ के वैशाख मासमें श्रीरामचन्द्रजीके आज्ञानुसार कृष्णानदीके तटपर आये। वहाँ माहुली क्षेत्रमें श्रीसमर्थ जब रहने लगे तब बड़े-बड़े संतलोग इनसे मिलनेके लिये आने लगे। बड़गाँवके जयराम स्वामी, निगडीके रंगनाथ स्वामी, ब्रह्मनालके आनन्दमूर्ति स्वामी, भागानगरके केशव स्वामी और स्वयं श्रीसमर्थ, ये पाँचों मिलकर दास-पंचायतन कहाते थे। यहीं श्रीतुकारामजी महाराज और चिंचवडके देव श्रीसमर्थसे मिलने आये। कुछ काल बाद श्रीसमर्थ माहुलीसे कृष्णा और कोपनाके 'प्रीतिसंगम' पर कन्हाड स्थानमें आये और वहाँसे पाँच मीलपर शाहपुरके समीप पर्वतकी एक गुफामें रहने लगे।

शाहपुरमें श्रीसमर्थने 'प्रतापमारुतिमन्दिर' की स्थापना की और तत्पश्चात् वहाँसे चलकर चाफल खोरेमें आये, जहाँके सूबेदारने इनसे दीक्षा ली। वहाँसे घूमते-घूमते श्रीसमर्थ कन्हाड पहुँचे और फिर वहाँसे मिरज होते हुए कोल्हापुर गये। कोल्हापुरके सूबेदार पाराजी पन्त बर्वेने इनसे दीक्षा ली ओर उनकी बहिन रखुमाबाईने भी अपने अम्बाजी और दत्तात्रेय नामक दो पुत्रोंके साथ अपनेको श्रीसमर्थ-चरणोंमें समर्पित कर दिया।

सं० १७०२ से श्रीसमर्थ रामनवमीका उत्सव करने लगे। सबसे पहला उत्सव मसूरमें बड़े धूमधामके साथ सम्पन्न हुआ। उसके बाद प्रतिवर्ष अन्यान्य स्थानोंमें क्रमशः श्रीसमर्थ-सम्प्रदायानुसार नव चैतन्यके साथ श्रीरामजयन्त्युत्सव मनाया जाने लगा। उन्हीं दिनों महाराष्ट्रमें श्रीशिवाजी महाराज हिन्दूधर्मराज्यकी संस्थापना करनेके उद्योगमें लगे हुए थे। श्रीसमर्थ रामदास स्वामीकी सत्कीर्ति सुनकर श्रीशिवाजीका मन उनकी ओर दौड़ गया और उन्होंने इनको गुरुरूपमें वरण कर लिया। सं० १७०६ में चाफलके समीप शिंगणवाडीमें श्रीसमर्थने उन्हें शिष्यरूपमें ग्रहण किया और श्रीरामचन्द्रके त्रयोदशाक्षर मन्त्रका उपदेश दिया। संवत् १७०७ में श्रीसमर्थ परलीमें आकर रहने लगे, वह तभीसे सज्जनगढ़ कहलाने लगा और जहाँ अन्य अनेक साधु-संतोंके अतिरिक्त सुभीतेका स्थान होनेके कारण श्रीशिवाजी महाराज बार-बार इनके दर्शनार्थ आने लगे। सं० १७१२ में जब शिवाजी महाराज सातारेमें थे तब श्रीसमर्थ करंज गाँवसे चलकर भिक्षा माँगते हुए राजद्वारपर पहुँचे। महाराजने इन्हें साष्टांग प्रणाम करके एक पत्र लिखकर इनकी झोलीमें डाल दिया, जिसमें यह लिखा था कि 'आजतक मैंने जो कुछ अर्जित किया है, वह सब स्वामीके चरणोंमें समर्पित है।' दूसरे दिन श्रीशिवाजी महाराज स्वामीके साथ झोली लटकाकर भिक्षा भी माँगने लगे, परन्तु जब श्रीसमर्थने उन्हें समझाया कि 'राज्य करना ही तुम्हारा धर्म है' तब श्रीशिवाजी महाराजने अपने हाथमें फिर शासनसूत्र ले लिया और स्वामीके मन्त्रणानुसार राजकार्य सम्हालने लगे।

श्रीसमर्थ जब तंजावर गये थे, तब वहाँके एक अन्धे कारीगरको आँखें देकर इन्होंने श्रीराम, लक्ष्मण, सीता और हनुमान्‌की चार मूर्तियाँ बनानेका काम सौंपा था। वे मूर्तियाँ सं० १७३८ फाल्गुन कृ० ५ को सज्जनगढ़ पहुँचीं। उन्हें देखकर श्रीसमर्थको परम सन्तोष हुआ। इन्होंने उसी दिन चार मूर्तियोंकी विधिपूर्वक स्थापना की। उनकी पूजा-अर्चा होने लगी। फिर माघ कृ० ९ के दिन सबसे कह-सुनकर श्रीसमर्थने महाप्रयाणकी तैयारी की। श्रीराममूर्तिके सामने आसन लगाकर बैठ गये। उनके प्रयाणकालीन उद्गारोंको सुनकर आक्का-उद्धवादि शिष्य घबराये। इसपर श्रीसमर्थने कहा कि 'आजतक जो अध्यात्म श्रवण करते रहे, क्या उसका यही फल है?' शिष्योंने कहा—'स्वामी! आप सर्वान्तर्यामी हैं, घट-घटके वासी हैं; पर आपके प्रत्यक्ष और सम्भाषणका लाभ अब नहीं मिलेगा।' यह सुनकर

श्रीसमर्थने शिष्योंके मस्तकपर हाथ रखकर कहा 'आत्माराम,' 'दासबोध' इन दो ग्रन्थोंका सेवन करनेवाले भक्त कभी दुःखी न होंगे। तत्पश्चात् इक्कीस बार 'हर-हर' शब्दका उच्चारण करके श्रीसमर्थने ज्यों ही श्रीरामनाम लिया त्यों ही उनके मुखसे एक ज्योति निकलकर श्रीरामचन्द्रजीकी मूर्तिमें समा गयी!

श्रीसमर्थके प्रसिद्ध ग्रन्थोंके नाम ये हैं—दासबोध, मनोबोध, करुणाष्टक, पुराना दासबोध, आत्माराम, रामायण, ओवी चौदह शतक, स्फुट ओवियाँ, षड्रिपु, पंचीकरण योग, चतुर्थ मान, मानपंचक, पंचमान, स्फुट प्रकरण और स्फुट श्लोक।

श्रीसमर्थद्वारा स्थापित जो सुप्रसिद्ध ग्यारह मारुति हैं, उनके स्थान ये हैं—शाहपुर, मसूर, चाफलमें दो स्थान, डंब्रज, शिरसप्त, मन पाडलें, वारगाँव, माजगाँव, शिंगणवाडी और बाहें।

श्रीसमर्थके मठस्थानोंके नाम ये हैं—जांब, चाफल, सज्जनगढ़, टाफली, तंजावर, डोमगाँव, मन पाडले, मिरज, राशिबड़े, पण्ढरपुर, प्रयाग, काशी, अयोध्या, मथुरा, द्वारका, बद्रीकेदार, रामेश्वर, गंगासागर आदि।

—ल० गर्दे

श्रीतुकाराम चैतन्य

श्रीतुकारामजीका जन्म दक्षिणके देहू नामक ग्राममें, भगवद्भक्तोंके एक पवित्र कुलमें, संवत् १६६५ में हुआ था। इनके माता-पिताका नाम कनकाबाई और बोलोजी था। तेरह वर्षकी अवस्थामें इनका विवाह हो गया। वधूका नाम रखुमाई रखा गया। पर विवाहके बाद मालूम हुआ कि बहूको दमेकी बीमारी है। इसलिये माता-पिताने तुरन्त ही इनका दूसरा विवाह कर दिया। दूसरी बहूका नाम पड़ा जिजाई। श्रीतुकारामजीके दो और भाई थे, बड़ेका नाम था सावजी और छोटेका नाम था कान्हजी। बोलोजी जब वृद्ध हुए तब उन्होंने अपनी घर-गृहस्थी और अपना काम-काज अपने बड़े पुत्रको सौंपना चाहा; पर वे विरक्त थे, अतः तुकारामजीके ऊपर ही सारा भार आ पड़ा। उस समय इनकी अवस्था १७ वर्षकी थी। ये बड़ी दक्षताके साथ काम सम्हालने लगे। चार वर्षतक सिलसिला ठीक चला।

इसके बाद तुकारामजीपर संकट-पर-संकट आने लगे। सबसे पहले माता-पिताने साथ छोड़ा, जिससे ये अनाथ हो गये। उसके बाद बड़े भाई सावजीकी स्त्रीका देहान्त हो गया, जिसके कारण मानो सावजीका सारा प्रपंचपाश कट गया और वे पूर्ण विरक्त होकर तीर्थयात्रा करने चले गये तथा उधर ही अपना जीवन बिता दिया। बड़े भाईका छत्र सिरपर न होनेसे तुकारामजीके कष्ट और भी बढ़ गये। घर-गृहस्थीके कामोंसे अब इनका भी मन उचटने लगा। इनकी इस उदासीनवृत्तिसे लाभ उठाकर इनके जो कर्जदार थे, वे नादेहन्द हो गये और जो पावनेदार थे, वे तकाजा करने लगे। पैतृक सम्पत्ति अस्त-व्यस्त हो गयी। परिवार बड़ा था—दो स्त्रियाँ थीं, एक बच्चा था, छोटा भाई था और बहने थीं। इतने प्राणियोंको कमाकर खिलानेवाले अकेले तुकाराम थे, जिनका मन-पंछी इस प्रपंच-पिंजरसे उड़कर भागना चाहता था। इनकी जो दूकान थी, उससे लाभके बदले नुकसान ही होने लगा और ये और भी दूसरोंके कर्जदार बन गये। दीवाला निकलने की नौबत आ गयी। एक बार आत्मीयोंने सहायता देकर इनकी बात रखी। दो-एक बार ससुरने भी इनकी सहायता की; परन्तु इनके उखड़े पैर फिर नहीं जमे! पारिवारिक सौख्य भी इन्हें नहींके बराबर था—पहली स्त्री तो इनकी बड़ी सौम्य थी, पर दूसरी रात-दिन किच-किच लगाये रहती थी। घरमें यह दशा और बाहर पावनेदारोंका तकाजा! आखिर दीवाला निकल ही गया। तुकारामकी सारी साख धूलमें मिल गयी। इनका दिल टूट गया। फिर भी एक बार हिम्मत करके मिर्चा खरीदकर उसे बेंचनेके लिये ये कोंकड़ गये। परन्तु वहाँ भी लोगोंने इन्हें खूब ठगा। जो कुछ दाम वसूल हुए थे, उन्हें भी एक धूर्तने पीतलके कड़ेको, जिसपर सोनेका मुलम्मामात्र चढ़ा था, सोना बतलाकर, उसके बदलेमें ले लिया और चम्पत हो गया। उसके बाद एक बार जिजाईने अपने नामसे रुक्का लिखकर इन्हें दो सौ रुपया दिलाया, जिसका इन्होंने नमक खरीदा और ढाई सौ रुपये बनाये। परन्तु ज्यों ही उसे लेकर चले कि रास्तेमें एक दुखिया मिला। उसे देखकर इन्हें दया आ गयी और सब रुपये उसे देकर निश्चिन्त हो गये। उन्हीं दिनों पूना प्रान्तमें

भयंकर अकाल पड़ा। अन्न-पानीके बिना सहस्त्रों मनुष्योंने तड़प-तड़पकर प्राण त्याग दिये। इसके बाद तुकारामजीकी ज्येष्ठ पत्नी मर गयी। और स्त्रीके पीछे इनका बेटा भी चल बसा। दु:ख और शोककी हद हो गयी।

दु:खके इस प्रचण्ड दावानलसे तुकाराम वैराग्य-कंचन होकर ही निकल सके। अब इन्होंने योगक्षेमका सारा भार भगवान्‌पर रखकर भगवद्‌भजन करनेका निश्चय कर लिया। घरमें जो कुछ रुक्के रखे हुए थे, उनमेंसे आधे तो इन्होंने अपने छोटे भाईको दे दिये और कहा—'देखो, बहुतोंके यहाँ रकम पड़ी हुई है। इन रुक्कोंसे तुम चाहे वसूल करो या जो कुछ। तुम्हारी जीविका तुम्हारे हाथमें है।' इसके बाद तुकारामजी बाकी आधे रुक्कोंको अपने वैराग्यमें बाधक समझा और उन्हें इन्द्रायणीके दहमें फेंक दिया। कि अब इन्हें किसीकी चिन्ता नहीं रही; ये भगवद्‌भजनमें, कीर्तनमें या कहीं एकान्त ध्यानमें ही प्राय: रहने लगे। प्रातर्विधिसे निवृत्त होकर ये विट्ठल भगवान्‌के मन्दिरमें जाते और वहीं पूजा-पाठ तथा सेवा करते, वहाँसे फिर इन्द्रायणीके उस पार कभी भामनाथ पर्वतपर और कभी गोण्डा या भाण्डारा पर्वतपर चढ़कर वहीं एकान्तस्थलमें ज्ञानेश्वरी या एकनाथी भागवतका पारायण करते और फिर दिनभर नामस्मरण करते रहते। सन्ध्या होनेपर गाँवमें लौटकर हरिकीर्तन सुनते, जिसमें लगभग आधीरात बीत जाती। इसी समय इनके घरका ही, श्रीविश्वम्भर बाबाका बनवाया हुआ श्रीविट्ठलमन्दिर बहुत जीर्ण-शीर्ण हो गया था। उसकी इन्होंने अपने हाथोंसे मरम्मत की। इस प्रकारकी कठिन साधनाओंके फलस्वरूप श्रीतुकारामजीकी चित्तवृत्ति अखण्ड नामस्मरणमें लीन होने लगी। भगवत्कृपासे कीर्तन करते समय इनके मुखसे अभंग वाणी निकलने लगी। बड़े-बड़े विद्वान् ब्राह्मण और साधु-संत इनकी प्रकाण्ड ज्ञानमयी कविताओंको इनके मुखसे स्फुरित होते देखकर इनके चरणोंमें नत होने लगे।

किन्तु पूनेसे नौ मील दूर बाघोली नामक स्थानमें जो एक वेद-वेदान्तके प्रकाण्ड पण्डित तथा कर्मनिष्ठ ब्राह्मण रहते थे, उनको श्रीतुकारामजीकी यह बात ठीक न जँची। तुकाराम-जैसे शूद्र जातिवालेके मुखसे श्रुत्यर्थबोधक मराठी अभंग निकले और आब्राह्मण सब वर्णोंके लोग उसे संत जानकर मानें तथा पूजें, यह उन्हें जरा भी पसंद नहीं आया। उन्होंने देहूके हाकिमसे तुकारामजीको देहू छोड़कर कहीं चले जानेकी आज्ञा दिलायी। इसपर तुकारामजी पं० रामेश्वर भट्टके पास गये और उनसे बोले—'मेरे मुखसे जो ये अभंग निकलते हैं, सो भगवान् पाण्डुरंगकी आज्ञासे ही निकलते हैं। आप ब्राह्मण हैं, ईश्वर हैं, आपकी आज्ञा है तो मैं अभंग बनाना छोड़ दूँगा; पर जो अभंग बन चुके हैं और लिखे रखे हैं, उनका क्या करूँ?' भट्टजीने कहा—'उन्हें नदीमें डुबा दो।' ब्राह्मणकी आज्ञा शिरोधार्य कर तुकारामजीने देहू लौटकर ऐसा ही किया। अभंगकी सारी बहियाँ इन्द्रायणीकी दहमें डुबा दी गयीं। पर विद्वान् ब्राह्मणोंके द्वारा तुकारामजीके भगवत्प्रेमोद्‌गार निषिद्ध माने जायँ, इससे तुकारामजीके हृदयमें बड़ी चोट लगी। उन्होंने अन्न-जल त्याग दिया और विट्ठलमन्दिरके सामने एक शिलापर धरना देकर बैठ गये कि या तो भगवान् ही मिलेंगे या इस जीवनका ही अन्त होगा। इस प्रकार हठीले भक्त तुकाराम श्रीपाण्डुरंगके साक्षात् दर्शनकी लालसा लगाये, उस शिलापर बिना कुछ खाये-पिये तेरह दिन और तेरह रात पड़े रहे। अन्तमें भक्तपराधीन भगवान्‌का आसन हिला। तुकारामजीके हृदयमें तो वे थे ही, अब वे बालवेश धारण करके तुकारामजीके समक्ष प्रकट हो गये। तुकारामजी उनके चरणोंमें गिर पड़े। भगवान्‌ने उन्हें दोनों हाथोंसे उठाकर छातीसे लगा लिया। तत्पश्चात् भगवान्‌ने तुकारामजीको बतला दिया कि मैंने तुम्हारे अभंगोंकी बहियोंको इन्द्रायणीके दहमें सुरक्षित रखा था, आज उन्हें तुम्हारे भक्तोंको दे आया हूँ। और यह कहकर भगवान् फिर तुकारामजीके हृदयमें अन्तर्धान हो गये।

इस सगुण साक्षात्कारके पश्चात् तुकारामजी महाराजका शरीर पन्द्रह वर्षतक इस भूतलपर रहा और जबतक रहा तबतक इनके मुखसे सतत अमृतवाग्धाराकी वर्षा होती रही। इनके स्वानुभवसिद्ध उपदेशोंको सुन-सुनकर लोग कृतार्थ हो जाते थे। सब प्रकारके लोग इनके पास आते थे और सभीको ये अधिकारानुसार उपदेश देते तथा साधन बतलाते थे। जिस समय इन्द्रायणीमें अभंगोंकी बहियाँ डुबा दी गयीं, उसके कई दिन बाद वे ही पण्डित रामेश्वर भट्ट पूनेमें श्रीनागनाथजीका दर्शन करने जा रहे थे। रास्तेमें वे अनगढ़शाह और औलियाकी बावलीमें नहानेके लिये उतरे। नहाकर जो ऊपर आये तो एकाएक उनके सारे शरीरमें भयावह

जलन पैदा हो गयी। वे रोने-पीटने और चिल्लाने लगे। शिष्योंने बहुत दवा-आदि की, पर कोई लाभ नहीं हुआ। अन्तमें जब ज्ञानेश्वर महाराजने स्वप्नमें उन्हें तुकारामजीकी शरणमें जानेके लिये कहा तब वे दौड़कर श्रीतुकारामजीकी शरण गये। इस प्रकार रामेश्वर भट्ट-जैसे प्रकाण्ड पण्डित, कर्मनिष्ठ और तेजस्वी ब्राह्मण भी तुकारामजीको भगवान् मानकर उनका शिष्य होनेमें अपना कल्याण और गौरव मानने लगे। फिर भी श्रीतुकारामजी पण्डित रामेश्वर भट्टको देवता जानकर प्रणाम करते थे और उन्हें प्रणाम करनेसे रोकते थे। श्रीतुकारामजी महाराजके सिद्ध उपदेशके अधिकारी बहुत लोग थे। छत्रपति शिवाजी महाराज श्रीतुकारामजीको अपना गुरु बनाना चाहते थे; पर उनके नियत गुरु समर्थ गुरु रामदास स्वामी हैं, यह अन्तर्दृष्टिसे जानकर तुकारामजीने उन्हें उन्हींकी शरणमें जानेका उपदेश दिया। फिर भी शिवाजी महाराज इनकी हरिकथाएँ बराबर सुना करते थे।

श्रीतुकाराम महाराजके जीवनमें लोगोंने अनेकों चमत्कार भी देखे। स्थानाभावके कारण उनके चमत्कारोंका उल्लेख यहाँ नहीं किया जाता। सं० १७०६ चैत्र कृ० २ के दिन प्रात:काल श्रीतुकारामजी महाराज इस लोकसे चले गये। उनका मृत-शरीर किसीने नहीं देखा, वह मृत हुआ भी नहीं। भगवान् स्वयं उन्हें सदेह विमानमें बैठाकर अपने वैकुण्ठधाममें ले गये। इस प्रकार वैकुण्ठधाम सिधारनेके बाद भी श्रीतुकारामजी महाराज कई बार भगवद्भक्तोंके सामने प्रकट हुए। देहू और लोहगाँवमें तुकारामजी महाराजके अनेक स्मारक हैं; परन्तु ये स्मारक तो जड़ हैं, उनका जीता-जागता और सबसे बड़ा स्मारक अभंग-समुदाय है। उनकी यह अभंग-वाणी जगत्‌की अमूल्य और अमर आध्यात्मिक सम्पत्ति है। यह श्रीतुकारामजी महाराजकी वांगमयी मूर्ति है।*

—ल० गर्दे

श्रीवामन पण्डित

(लेखक—श्रीशंकर वामन जोशी)

श्रीवामन पण्डित समर्थ श्रीरामदास स्वामीके समकालीन थे। ये ऋग्वेदी ब्राह्मण थे, इनका उपनाम शेष था। इनका जन्म बीजापुरमें हुआ और विद्याध्ययन काशीमें। इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। बहुत शीघ्र ही ये अनेक शास्त्रोंमें पारंगत हो गये। 'कर्मतत्त्व', 'नामसुधा', 'ब्रह्मस्तुति', 'समश्लोकी गीताटीका', 'भर्तृहरिके तीन शतक', 'अनुभूतिलेश', 'सिद्धान्तविजय', 'श्रुतिकल्पलता', 'निगमसार' आदि अनेक ग्रन्थ इन्होंने लिखे। श्रीमद्भगवद्गीतापर इनका 'यथार्थदीपिका' नामक टीकात्मक ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध है। इसमें अनेक प्रकारके अयथार्थ मतोंका खण्डन करके वामन पण्डितने भगवद्वचनोंका यथार्थ अभिप्राय व्यक्त किया है। ये जैसे महापण्डित थे वैसे ही परम पारमार्थिक भी थे। इनका पारमार्थिक अधिकार महान् जानकर लोग इन्हें 'वामन स्वामी' कहते थे। श्रुति-स्मृति और पुराणोंके सिद्धान्त वामन पण्डितने इतने सुलभ करके समझाये हैं कि कोई बालक भी समझ ले। उस समयके सुप्रसिद्ध विद्वान् गागाभट्टने इनकी बड़ी स्तुति की है। कवि गोरोपन्तने एक आर्यामें श्रीकृष्णद्वैपायनको गीताका सचिव, शंकर और मधुसूदनको योगी, ज्ञानेश्वरको प्रतिनिधि और वामन पण्डितको गीताका युवराज कहा है। वामन पण्डितके विषयमें हंस अपने निबन्धमें कहते हैं— 'वामन पण्डित आग्रगण्य दीखते हैं। कारण, आत्मज्ञान, वैराग्य और भक्तिमें इनका अधिकार बहुत बड़ा था; संस्कृतभाषाभिज्ञता और शास्त्राध्ययनमें तो इनके जोड़का कोई दूसरा ग्रन्थकार ही नहीं दीख पड़ता।' विश्वात्मयोगकी सिद्धिके लिये इन्होंने अखिल भरतखण्डकी यात्रा की। क्षणभरके लिये भी इनकी समदृष्टि विचलित नहीं हुई, विश्वकल्याण ही इनका महाव्रत था। संतोंका ये बड़ा आदर करते थे, सबसे विनययुक्त व्यवहार करते और सदा भगवच्चरणोंमें लीन रहते थे। संवत् १७५२ में ये इस लोकसे सिधार गये। इनकी समाधि सातारा जिलेमें कृष्णा नदीके तटपर भोंगाँवमें है। कुछ वर्ष पूर्व संत श्रीरामचन्द्र शंकर टक्की उर्फ टाकी महाराजने इस समाधिका जीर्णोद्धार किया। यहाँ प्रतिवर्ष इनकी पुण्यतिथिका उत्सव हुआ करता है।

* श्रीतुकाराम महाराजका विस्तृत जीवनचरित्र गीताप्रेससे मँगवाकर पढ़ना चाहिये।

निजानन्दाचार्य

(लेखक—श्रीनिजानन्दसम्प्रदायके आदिपीठस्थ आचार्य श्री १०८ श्रीधनीदासजी महाराज)

जड़ जीवोंको जगानेके लिये तथा जगत्‌में भगवान्‌का सन्देश पहुँचानेके लिये समय-समयपर संतोंका आविर्भाव होता है। माहेश्वर-तन्त्रमें लिखा है—

दिव्यब्रह्मपुरस्येह ब्रह्माद्वैतस्य वासनाः।
तासामेका च परमा सुभगा सुन्दरी प्रिया॥
मरुद्देशे कुले शुद्धे नृरूपं सा धरिष्यति।
चन्द्रनामा पुमाँल्लोके हरिष्यत्यशुभां गतिम्॥

शिवजी पार्वतीजीसे कहते हैं कि दिव्य ब्रह्मधामकी ब्रह्माद्वैतवासनाएँ इस नश्वर जगत्‌में आकर प्रकट होंगी। उनमें श्यामा नामकी कोई शक्ति मारवाड़के किसी उत्तम कुलमें नरतनु धारणकर 'देवचन्द्र' नामसे सकल जीवोंका संतापहरण करेगी। उपर्युक्त कथन देवचन्द्र महाराज (निजानन्दाचार्य)-के विषयमें अक्षरशः घटता है। वि० सं० १६३८ में उमरकोट (मारवाड़) में मत्तू महेताकी धर्मपत्नी कुँवरबाईके उदरसे देवचन्द्रजीका जन्म हुआ। बचपनसे ही आपमें देवत्वके कई गुण दिखायी देने लगे। मन्दिरोंमें जब आप जाते तो मूर्त्तियोंमें आपको साक्षात् भगवान्‌के दर्शन होते। एक बार आप जंगलमें अकेले निकल गये और वहाँ आपके सामने सैकड़ों भूत-प्रेत नाचने लगे। आपने उनपर अभिमन्त्रित जल छिड़का, जिससे वे सब प्रेतयोनिसे मुक्त हो गये। प्रतिमाएँ रूप धारणकर आपसे बोलतीं। आपकी अलौकिक शक्ति देखकर आपके माता-पिता भी आपको दिव्यस्वरूप समझने लगे। सात वर्षकी अवस्थामें ही ब्रह्मजिज्ञासासे आपने कच्छ देश जानेका निश्चय कर लिया। वहाँ जाकर संतसमागमद्वारा आपने बहुत कुछ सफलता प्राप्त की। कई बार भगवान्‌ने प्रकटरूपमें आपको आदेश किया।

एक दिन आप ध्यानमें व्रज पहुँच गये। वहाँपर आपको माता यशोदाके दर्शन हुए। माँने आपको देखते ही अपनी छातीसे लगा लिया। देवचन्द्रजीने पूछा, माँ! श्रीकृष्णजी कहाँ हैं? यशोदाजीने कहा—'वे तो अभी वनको गाय चराने ग्वालबालोंके साथ गये हैं।' आप भी वनको चलने लगे। माता यशोदाने इनके अँगोछेमें कुछ मिठाइयाँ बाँध दीं। और कहा कि 'दोनों जने कलेऊ कर लेना।' वनमें जाकर ये भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें पहुँचे और वहाँ भगवान्‌के साथ कलेऊ करने लगे। इतनेमें ही ध्यान टूट गया—देखते हैं कि मिठाई हाथमें मौजूद है।

२४ वर्षकी अवस्थामें आप जामनगर आये। यहाँ १४ वर्षतक एकनिष्ठासे भागवतका श्रवण, मनन, निदिध्यासन किया। अन्तमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने साक्षात् दर्शन देकर इन्हें तारकमन्त्रकी दीक्षा दी।

आपका सिद्धान्त स्वलीलाद्वैत ब्रह्म था। उसकी प्राप्ति ये अनन्य प्रेमलक्षण भक्तिद्वारा मानते थे। आपके द्वारा स्थापित सम्प्रदाय परनामी या प्रणामी धर्मके नामसे प्रसिद्ध है। इस मतके लाखों अनुयायी हैं। देवचन्द्रजी ही निजानन्दाचार्यके नामसे प्रख्यात हुए। जामनगर (काठियावाड़) में आपके द्वारा स्थापित धर्मपीठ 'श्रीनवतनपुरी' के नामसे प्रख्यात है। प्रतिवर्ष आश्विन कृष्णा १४ के दिन वहाँ बहुत भारी मेला लगता है। ७५ वर्षकी अवस्थामें आपकी स्वेच्छामृत्यु हुई। आप अपने सम्प्रदायमें अवतारकोटिके संत माने जाते हैं। आपके बाद आपके पवित्र मार्गको श्रीप्राणनाथ प्रभुजीने उन्नत और दिगन्तव्यापी बनाया। यही प्राणनाथ बुन्देलखण्डकेसरी महाराज छत्रशालजीके धर्मगुरु थे।

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

इन चार बातोंसे जीवका कल्याण होता है—ईश्वरके प्रति दीनता, ईश्वरेतर सब पदार्थोंमें निःस्पृहता, ईश्वरका ध्यान और विनय।

तुम अपनी सांसारिक इच्छाओंकी कैदमें बंद हो। उससे छूटनेके लिये यदि सब प्रकारसे अपने-आपको प्रभुचरणोंमें अर्पित कर दोगे, तो तुम्हारी रक्षा होगी और तुम्हें सच्चा सुख मिलेगा।

प्राणनाथ

[१७००—१७५०]

प्राणनाथकी जन्मभूमि काठियावाड़ है। आपका जन्म क्षत्रियवंशमें हुआ था। ये 'धामी सम्प्रदाय' के आदि प्रवर्तक हैं। ये ईसाई और मुसलिम तथा यहूदी संतमहात्माओंसे खूब मिलते थे और सम्भवतः यही कारण है कि इनकी कृतियोंमें कुरान, बाइबिल और यहूदी साहित्यकी पुट मिलती है। गुजरात, सिंध और महाराष्ट्रमें भ्रमणकर अन्तमें ये बुन्देलखण्डके पन्ना स्टेटमें आकर रहने लगे। वहीं महाराज छत्रशाल (१७३२ में) इनके शिष्य बने।

प्राणनाथ जहाँ भी गये वहींकी भाषामें भजन रचने लगे। इनके शिष्य 'प्राणनाथी' कहलाते हैं और ये बहुत ही उदार होते हैं। साधनाके क्षेत्रमें ये हिन्दू-मुसलमानका भेदभाव स्वीकार नहीं करते। जीवनभर प्राणनाथ हिन्दू-मुसलिम-एकताका आध्यात्मिक आधार दृढ़ करते रहे। प्रेम, भक्ति और सेवा यही इनकी साधनाका आधार था। इनके अनुयायियोंमें हिन्दू भी हैं और मुसलमान भी। वे भगवान्‌को 'धाम' कहते हैं, इसलिये यह सम्प्रदाय 'धामी' नामसे प्रख्यात है। प्राणनाथियोंका प्रमुख धर्मग्रन्थ 'कुलजम शरीफ' है, जिसमें हिन्दी, उर्दू, गुजराती और सिंधी भाषाओंमें भजन हैं। फारसी अक्षरोंमें लिखी हुई 'कुलजम शरीफ' की एक प्रति लखनऊके आसफुद्दौला लाइब्रेरीमें है। पन्नामें भी, जो 'धामियों' का केन्द्रस्थान है, इसकी एक खण्डित प्रति है, जिसे वे 'कुलजम स्वरूप' कहते हैं। 'कुलजम शरीफ' का अर्थ है 'मोक्षमार्ग'। प्रगट बानी, ब्रह्मबानी, बीस गिरोहियोंका बाप, बीस गिरोहियोंकी हकीकत, कीर्तन, प्रेमहेली, तारतम्य, राजविनोद नामक और ग्रन्थ भी प्राणनाथने रचे। ये पुस्तकें अभीतक अप्रकाशित ही हैं। पद्य लिखनेका प्राणनाथको इतना अच्छा अभ्यास था कि अन्तमें वे सब कुछ पद्यमें ही बोलने लगे थे। ये विवाहित थे और इनकी धर्मपत्नी इन्द्रावती भी एक कवयित्री थीं। पति-पत्नीने मिलकर 'पदावली' की रचना की।

महाराज छत्रशालके भतीजे पंचमसिंह तथा जीवनमस्ताने इनके बहुत श्रद्धालु भक्त थे; उन्होंने भी प्रेम, भक्ति, कर्त्तव्य आदि विषयोंपर चौपदे लिखे हैं। जीवनमस्तानेने 'पंचक दोहे' भी लिखे।

प्राणनाथका मार्ग प्रेममार्ग था। इसमें जाति, सम्प्रदायका भेदभाव नहीं था। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभीके लिये उसमें पूरा-पूरा स्थान था। प्राणनाथ कभी-कभी प्रेमावेशमें अपनेको मेहदी, मसीहा तथा कल्कि-अवतारतक कह देते थे। राधा-कृष्णकी प्रेम-लीलाको इन्होंने बड़े ही भावपूर्ण शब्दोंमें बड़ी तल्लीनताके साथ गाया। प्रेम ही भगवान् है, भगवान्‌को पानेके लिये प्रेमके सिवा कोई मार्ग है ही नहीं—ऐसा ये मानते थे। मांस, मदिरा तथा जाति-पाँति के घोर विरोधी थे। सदाचार, सेवा, दया और परोपकार, यही इनके सम्प्रदायके आधारस्तम्भ हैं।

—'माधव'

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

यदि तुम ईश्वरके प्रीतिपात्र होना चाहते हो तो ईश्वर जिस स्थितिमें रखना चाहे उसीमें सन्तुष्ट होना सीखो।

मृत्यु आकर तुम्हें जगावे उसके पहले जाग जाओ!

धनवान् होते हुए भी जिसकी धनेच्छा दूर नहीं हो गयी है उसे मैं सबसे अधिक गरीब समझता हूँ।

जीभसे प्रार्थना बोल देने और सिर झुकानेसे ही तो कुछ नहीं होता। प्रार्थना एकाग्रतापूर्वक होनी चाहिये।

बावरी साहिबा

एक प्रेमदिवाने ईसाई संतके उद्‌गार हैं—

Think love, drink love, eat love, dream love—then your life will be beautiful, glorious, sublime, ethereall live in the paradise of Love. Soar in the crystalline air of Love. Swim in the shoreless sea of Love. Walk in the eternal rose-garden of Love. Perfume your nostrils with the sweet fragrance of the flowers of Love. Familiarize your ears with the soul-entrancing melodies of Love. Let your ideals be a bouquet of Love. Acquire Love and more Love. Be a centre of Love, a heaven of Love.

'प्रेम ही सोचो, प्रेम ही पियो, प्रेम ही खाओ, प्रेमका ही स्वप्न देखो। तभी तुम्हारा जीवन सुन्दर, यशस्वी, दिव्य, पावन होगा। प्रेमके स्वर्गमें रहो। प्रेमकी हवामें उड़ो। प्रेमके अपार पारावारमें तैरो। प्रेमके गुलाबबागमें टहलो। नाकमें प्रेमके पुष्पोंकी गन्ध आने दो, कानोंमें हृदयको विभोर करनेवाले प्रेमसंगीत सुनो। प्रेमका जीवन जियो। प्रेम, अधिक प्रेम प्राप्त करो। प्रेमका केन्द्र बन जाओ, प्रेमका आगार बन जाओ।'

संतसाधनामें बावरी साहिबाका नाम उनके अजस्र प्रेम, दिव्य, अलौकिक प्रेमके लिये अमर है। नारीहृदयकी सहज सुकुमारता, शील, संकोच तथा संतजीवनके आत्मगोपनके भावोंसे प्रेरित होनेके कारण इन्होंने अपने जीवनके सम्बन्धमें एक अक्षर भी नहीं लिखा। इनके जन्म और प्रयाणका सन्-संवत् भी नहीं मिलता। इतना ही पता चलता है कि आप देहलीके एक सम्भ्रान्त कुलकी महिला थीं। प्रभुके प्रेममें पागल होकर ये घरसे निकल पड़ीं और स्वजनोंके द्वारा बहुत प्रताड़ित हुईं। परन्तु आपने टेक न छोड़ी।

'मैं बंदी हौं परम तत्त्वकी, जग जानत कि भोरी।'

बावरीकी एक सवैया मिलती है। उसमें उनकी अद्‌भुत निष्ठा, अलौकिक भगवत्प्रेम तथा विलक्षण अन्तर्दृष्टिका ज्ञान झलकता है। वे बाहरी वेश, आडम्बर, छापा, तिलककी विरोधी थीं तथा लोगोंमें दम्भ-आडम्बरसे बचनेका उपदेश किया करती थीं।

बावरी रावरी का कहिये, मन ह्वैके पतंग भरै नित भाँवरी।
भाँवरी जानहिं संत सुजान जिन्हें हरिरूप हिये दरसाव री॥
साँवरी सूरत, मोहनी मूरत दैकर ज्ञान अनन्त लखाव री।
खाव री सौंह तिहारी प्रभू गति रावरी देखि भई मति बावरी॥

हे प्रभु! आपकी लीला क्या कहूँ। यह 'बावरी' आपके चरणोंमें भाँवरी भर रही है—जैसे पतंग दीपककी भाँवरी भरता है। इस भाँवरी भरनेमें क्या रस है, इसका अनुभव तो वे सुविज्ञ संत ही करते हैं जिनके हृदयमें हरिने अपना सलोना रूप दिखलाया है। एक बार हरिने अपनी साँवरी सूरत और मनोहारी मूरतको हृदयके अन्तस्‌में दिखलाकर अनन्त ज्ञानका द्वार खोल दिया। द्वार खुलनेपर चित्त वहीं जाकर लुभा गया। सच कहती हूँ, तुम्हारी शपथ खाकर कहती हूँ—तुम्हारी लीला देखकर हे हरि! मेरी मति बावरी हो गयी है—तुम्हारे प्रेमकी थाह नहीं पा रही हूँ और मन माता-माता डोल रहा है—तुम्हारे प्रेम-आनन्द-सौन्दर्य-सिन्धुमें मेरा मनरूपी हंस किलोल कर रहा है—अब इस जगत्‌में क्या देखने, क्या सुननेके लिये लौटे?

सुना जाता है कि आप अकबरसे बहुत पहले हुई थीं तथा श्रीमायानन्दको गुरुरूपमें वरण किया था। आपकी परम्परामें बहुत बड़े-बड़े सिद्ध-संत-महात्मा, जो आत्मदर्शी और परम अनुभवी थे—हुए हैं, जिनमेंसे कुछका विवरण आगे दिया जाता है। इस परम्पराके संतोंका क्रमानुसार नाम नीचे दिया जाता है—
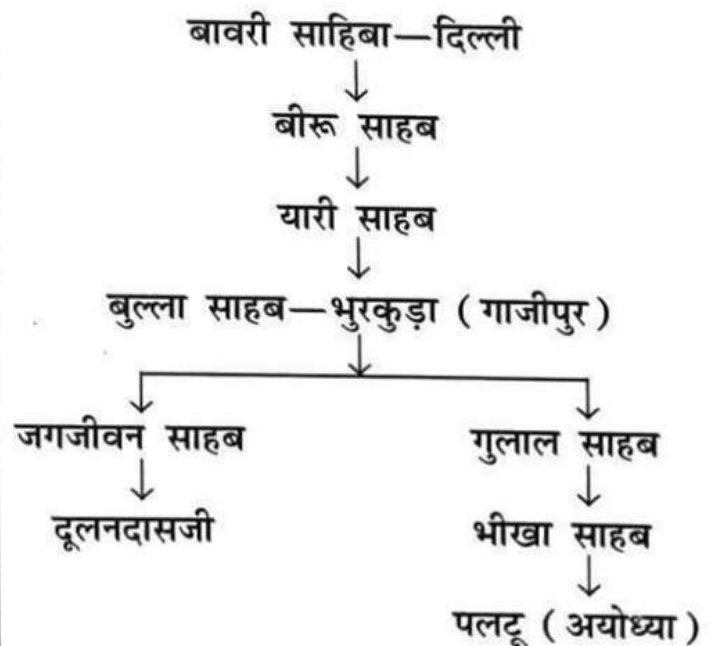
—'माधव'

श्रीबावरी साहेबा

श्रीबीरू साहेब

श्रीयारी साहेब

श्रीबुल्ला साहेब भुड़भुड़ावाले

श्रीगुलाल साहेब

श्रीभीखा साहेब

श्रीभास्करानन्दराय मखी

श्रीजम्भोजी महाराज

बीरू साहब

निर्गुणप्रेमी संतोंमें बीरू साहबका नाम उनके अटूट वैराग्य और अपार प्रेमके लिये अमर है। संसारके विषयोंसे वैराग्य और प्रभुचरणोंमें अपार प्रेम—यही उनके जीवनकी ज्योति थी। आप दिल्लीकी प्रसिद्ध संतशिखामणि श्रीबावरी साहिबाके प्रमुख शिष्य थे। बावरीके परधामगमनके पश्चात् बीरू साहब देहलीमें उनके स्थानपर सत्संग करते-कराते रहे। आपकी विरक्ति, प्रेम और मस्ती अजीब थी। इनके पदोंमें—जो आज बहुत कम प्राप्त हो रहे हैं—इनके अनमोल अनुभवकी कई रहस्यपूर्ण बातें प्रकट होती हैं। आपके जन्म और प्रयाणका सन्-संवत् ठीक-ठीक नहीं मिलता। परन्तु इतना तो अनुमानसे कहा जा सकता है कि आप तीन सौ वर्ष पूर्व हुए और देहलीमें तथा उसके आस-पास अपने धर्मका उपदेश करते रहे। यारी साहब आपके पट्टशिष्य थे।

मनुष्य प्रभुसे क्या प्रतिज्ञा करके आया था और क्या करनेमें बझ गया, इस बातकी ओर ध्यान दिलाते हुए बीरू साहब लिखते हैं—

हंसा रे बाझल मोर याहि घराँ, करबो मैं कवनि उपाय।
मोतिया चुगन हंसा आयल हो, सो तो रहल भुलाय॥
झीलरको बकुला भयो है, कर्म कीट धरि खाय।
सतगुरु सत्य दया कियो, भवबन्धन ते लियो छुड़ाय॥
यह संसार सकल है अंधा, मोह मया लपटाय।
'बीरू' भक्ति हंसा भयो सुखसागर चल्यो है नहाय॥

क्या उपाय करूँ, मेरा हंस जो मोती चुगनेके लिये आया था, बावलीका बगुला होकर कर्मकीटको खा रहा है, अपना स्वरूप भूल गया है। यह सारा संसार अन्धा होकर मोह-मायामें लिपटा हुआ है। गुरुदेवकी कृपासे आज मेरी आँखें खुलीं और भक्ति-प्रीतिका प्रसाद पाया। मेरा हंस आज सुखके समुद्रमें नहा रहा है।

सुरतियोगमें ध्यान, ध्याता और ध्येय जब एकाकार हो जाते हैं तो संतोंको भिन्न-भिन्न रूप और शब्दका हृदयगुहामें साक्षात्कार होता है। उस रूप और शब्दमें जब चित्त जाता है तो फिर वहाँसे लौटना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव हो जाता है। संतोंकी यह अनुभूति ही उनके प्राणोंका आधार है। बीरू लिखते हैं—

आली रूप लागीलो आछे मने।
हियरा मध्य मोहनि मूरति राखिलो यतने॥
दरस परस मोहन मूरति देखिलो सपने॥
कोटि ब्रह्मा जाको पार न पावैं सुर-नर-मुनि को गने।
बीरू भक्तकेरा मन स्थिर नाहीं, मैं पापी भजिबो को मने॥

हृदयके भीतर मोहिनी मूर्ति विराज रही है, इसे यत्नसे रखे रहो; सुरत वहाँसे फिसलने न दो। 'उसे' देखो, उसका स्पर्श प्राप्त करो, हिलो-मिलो। करोड़ों ब्रह्मा जब उसका पार नहीं पा सकते तो और देवताओं, मनुष्यों और मुनियोंकी कौन कहे? बीरूका मन स्थिर नहीं तब मैं पापी भगवान्‌को कैसे भजूँ।

त्रिकुटीमें ध्यानकी एकाग्रता प्राप्त होते ही कैसी सुन्दर अनुभूति होती है, इसका चित्र नीचेके पदमें देखिये—

त्रिकुटीके नीर-तीर बाँसुरी बजावैं लाल,
भाल लाल से सबै सुरंग-रूप-चातुरी।
यमुना ते और गंग अनहद सुरतान संग,
फेरि देखु जग मगको छोड़ देवै कादरी॥
बायू प्रचंड चंड बंकनाल मेरुदंड
अनहदको छोड़ि दे आगे चलु बावरी।
ॐकार धार बास, इनहूँका है बिनास,
खसमको साथ करु, चीन्ह ले तू नाहरी॥
जन बिरु सतगुरु शबद रिकाब धरु
चल शूर जीत मैदान घर आवरी॥

हद-अनहद सबको लाँघकर अपने प्रियतम पतिको पहचानो और उनके साथ हो लो। बीरू साहबके, बस, ये ही तीन छन्द प्राप्त हैं।

—'माधव'

यारी साहब

दिया हमने जो अपनी खुदीको मिटा,
वह जो परदा था बीचमें, अब न रहा।
रहा परदेमें अब न वह परदानशीं,
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा॥

अहंकारका परदा जो हमारे और प्रियतमके बीचमें पड़ा था वह अब सदाके लिये मिट गया। वह प्रियतम जो पर्देमें छिपा हुआ था अर्थात् जिसे हम अपने अहंकारके कारण साक्षात्कार नहीं कर सकते थे वह पर्दा हट जानेके कारण रू-बरू सामने आ गया। उसकी ओर दृष्टि जाते ही ऐसी लुब्ध हो गयी कि अब उसके सिवा कोई और रहा ही नहीं। ऐसे ही अन्तर्भेदी संत यारी साहब थे।

यारी साहबके जीवनके विषयमें कुछ विशेष पता नहीं चलता। महात्माओंका कथन है कि आप शाही घरानेके राजकुमार थे। आप बचपनसे ही प्रभुकी खोजमें थे। जातिके मुसलमान थे। दिल्लीमें अपने गुरुदेव बीरू साहबकी सेवामें रहते थे। उनके चोला छोड़नेपर उसी स्थानपर बने रहकर सत्संग कराते थे। दिल्लीमें इनकी समाधि अबतक है। इनका जीवनकाल अनुमानसे विक्रमी संवत् १७२५ से १७८० तक माना जाता है। चार चेले इनके प्रसिद्ध हैं—केशवदास, सूफी शाह, शेखन शाह, हस्तमुहम्मद शाह। ये शब्दमार्गी परम्पराके संत थे। इन्होंने कोई नया पन्थ नहीं चलाया। भक्ति और प्रेम इनकी साधनाके मुख्य अंग हैं और इन दोपर ही इन्होंने बहुत जोर दिया है—

दिन दिन प्रीति अधिक मोहिं हरिकी।
काम-क्रोध-जंजाल भसम भयो, बिरह-अगिन लगी धधकी॥
धुधुकि धुधुकि सुलगति अति निर्मल, झिलमिल झिलमिल झलकी।
झरि झरि पर अंगार अधर यारी, चढ़ि अकास आगे सरकी॥

हरिके चरणोंमें प्रीति ज्यों-ज्यों बढ़ती गयी काम-क्रोधका जंजाल जलकर भस्म हो गया और विरहकी अग्नि धधक उठी। विरहकी यह अत्यन्त निर्मल अग्नि धीरे-धीरे सुलगती है और इसकी आभामें प्रियतमकी झिलमिल झलक दीख रही है।

सम्बन्ध हो जानेपर परिचयकी प्रगाढ़-अवस्थामें प्रेमीको सर्वत्र प्रियतमके ही दर्शन होते हैं और घट-घट उसीका प्रकाश, उसीका प्रेम प्राप्त होता है—

हमारे एक अलह पिय प्यारा है।
घट घट नूर महम्मद साहब जाका सकल पसारा है॥

नाम-जपकी साधनामें भी यारी साहबने प्रीतिको ही प्रधान आधार माना है। यह प्रीति प्रभुसे किसी भी भावमें सम्बन्धित होनेपर ही प्राप्त होती है और नामका रस तभी अन्तस्को परिप्लावित कर देता है—उस समय बाहरसे नाम-जप करना नहीं पड़ता, वह अन्तरमें अपने-आप होने लगता है। नारी अपने पतिका नाम नहीं जपती; परन्तु उस नाममें उसकी जो प्रीति है, जो ममता है वह नाम 'रटनेवाले' कितनोंमें है? यारी साहब कहते हैं—

पुरुष-नाम नारी ज्यों जानै, जानि बूझि नहिं भाखै॥

उपनिषदोंमें जिस परम तत्त्वके सम्बन्धमें '**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥** (वहाँ न सूर्यकी पहुँच है, न चन्द्रमा और नक्षत्रोंकी; विद्युत्का प्रकाश भी वहाँ नहीं है, फिर इस अग्निकी क्या कथा? उस 'एक' के प्रकाशसे सब कुछ प्रकाशित है।) उसी ओर यारी साहब अपने 'हंस' को उड़नेका संकेत दे रहे हैं—

उड़ु, उड़ु रे बिहंगम, चढ़ु अकास।
जहँ नहिं चाँद-सूर, निस-बासर, सदा अमरपुर अगम बास॥
देखै उरध अगाधि निरंतर, हरष-शोक नहिं जमकै त्रास।
कह यारी उहँ बधिक-फाँस नहिं, फल पायो जगमग परकास॥

बहुतेरे संतोंने ककहरा या अलिफनामा लिखा है, जिसमें फारसीके प्रत्येक अक्षरपर एक-एक अनुभवपूर्ण सुन्दर सूक्ति रहती है। यारी साहबने दो अलिफनामें लिखे हैं—पहलेमें उनके अनुभव और दूसरेमें उनके उपदेश हैं, जो वास्तवमें साधनपथके पथिकोंके लिये अनमोल हैं। साधनमार्गकी कठिनाइयों और उनपर विजय प्राप्त करनेके तरीकोंपर इन अलिफनामेमें यारी साहबने प्रचुर प्रकाश डाला है।

जड़-चेतन जो कुछ भी हम देख रहे हैं सबमें 'एक' ही रम रहा है, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। मिट्टीके बने हुए खिलौनों तथा सोनेके बने हुए गहनोंके रूप और आकारके भेदसे भिन्न-भिन्न नाम भले ही हों, परन्तु है तो वह मिट्टी और सोना ही। ठीक उसी प्रकार जगत्में जो कुछ भी नाम-रूप है वह मूलमें सब कुछ प्रभुका ही रूप है, प्रभुका ही नाम है—

देखु बिचारि हिये अपने नर, देह धरो तो कहा बिगरो है।
यह मिट्टीको खेल-खिलौना बनो, एक भाजन-नाम अनंत धरो है॥
नेक प्रतीति हिये नहिं आवत, मर्म भुलो नर अवर करो है।
भूषन ताहि गँवाइके देखु, यारी कंचन ऐनको ऐन धरो है॥

यारी साहबकी साखियोंमें उनका अप्रतिम प्रेम और गम्भीर आत्मानुभूतिका रस भरपूर है। वे पढ़नेमें

जितनी सरल हैं उनका भाव उतना ही गूढ़ और हृदयस्पर्शी है—

नैनन आगे देखिये तेज पुंज जगदीस।
बाहर भीतर रमि रह्यो, सो धरि राखो सीस॥
आठ पहर निरखत रहो, सनमुख सदा हजूर।
कह यारी घर हीं मिलै, काहे जाते दूर॥
आतम-नारि सुहागिनी, सुंदर आपु सँवारि।
पिय मिलिबेको उठि चली, चौमुख दियना बारि॥

तेजःपुंजस्वरूप प्रभु आँखोंके सामने खड़ा है। अन्तर-बाहर वही रम रहा है, उसीके चरणोंमें हमें अपने मस्तक—अपने अहंकारकी बलि देनी पड़ेगी। उसे खोजनेके लिये दूर जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। मालिक तो सदा सम्मुख है। उससे तो अपने घरमें ही मिलना होगा। आत्मारूपी सुहागिनी नारी अपने सुन्दर वेशको सँवारकर चारों दिशाओंको प्रकाशित करती हुई अपने परम प्रियतमसे मिलने चली।

मिलनके अनन्तर जो स्थिति हुई, जो रस बरसा उसका वर्णन कोई शब्दोंमें क्या करे, कैसे करे?

—'माधव'

बुल्ला साहब

To what other end was man created, destined, called, invited, drawn, ravished, if not for the conjugal embraces and kisses of God ?

(—Fray Juan De Los Angeles)

मनुष्य संसारमें क्यों आया? भगवान्ने उसे भेजा ही क्यों? इस दुःखमय—जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधिरूप दोषोंसे भरे संसारमें मनुष्यको भगवान्ने किस उद्देश्यसे भेजा? भगवान्से निकला हुआ मनुष्य भगवान्को पाये बिना शान्त कैसे हो सकता है। हम भगवान्से ही निकले हैं और हमारी जीवन-गंगा भगवान्को ही पाकर तृप्त हो सकती है। भगवान्में हम मिलेंगे ही—यह तो ध्रुव सत्य है। आवश्यकता केवल इस बातकी है कि हम जीवनके प्रतिपलमें अपने परम प्रियतम प्रभुके स्पर्श, मिलन, आलिंगनका आनन्द पाते रहें। भगवान्के प्रणय-आलिंगनमें बँध जानेके लिये ही, उसके उन्मद दिव्य चुम्बनको अपने प्राणोंके प्राणमें प्राप्त करनेके लिये ही मनुष्यका संसारमें आना हुआ है। सभी संत बार-बार हमें यही स्मरण कराते हैं।

मिलनके इस आनन्दको, प्रियतमके प्रगाढ़ आलिंगनके रसको प्राप्त करनेका एकमात्र साधन संतोंने जो बतलाया है उसमें मुख्य है हरिस्मरण! एक पल भी प्रभुका विस्मरण न हो। एक क्षणके लिये भी 'वे' न बिसरें। और यह स्मरण जितना ही प्रगाढ़, जितना ही प्रेमपूर्ण और अनन्य होगा, प्रभुका प्रेम उतना ही अधिक हमें प्राप्त होगा। प्रभुका विस्मरण ही मृत्यु है। प्रभुका स्मरण ही जीवन है।

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

'विपत्तियाँ सच्ची विपत्ति नहीं हैं और न सम्पत्ति ही सच्ची सम्पत्ति है। भगवान्का विस्मरण ही विपत्ति है और नारायणकी स्मृति ही सम्पत्ति है।'

संतोंने अपने जीवन और उपदेशके द्वारा हमें बार-बार यही समझाया है। ऐसे संत भगवान्के सन्देशको जगत्के प्राणियोंतक पहुँचानेके लिये समय-समयपर आते हैं। बुल्ला साहब भी ऐसे ही आत्मदर्शी, अनुभवी संतोंमें हैं। इनके जीवन और इनकी वाणीमें भगवान्के प्रेमका आनन्द और तज्जन्य विह्वलताका प्रगाढ़ रस मिलता है।

बुल्ला साहबके जीवनके सम्बन्धमें जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध है उससे इतना ही पता चलता है कि ये यारी साहबके चेले थे। और इस परम्परामें इनके बाद जगजीवन साहब और गुलाल साहब इनके शिष्य हुए। इनका असली नाम बुलाकीराम था। ये जातिके कुनबी थे। गाजीपुर जिलेके भुरकुड़ा गाँवमें इन्होंने अपना सत्संग स्थापित किया। इनकी महासमाधिके अनन्तर गुलाल साहब और भीखा साहब भी वहीं सत्संग कराते रहे। वहाँ इन तीनों महात्माओंकी समाधियाँ अबतक हैं। बुल्ला साहबके जन्मकी निश्चित तिथि नहीं मिलती। अनुमानसे यह कहा जा सकता है कि विक्रमी १८ वीं शताब्दीके अन्तिम भागमें वे हुए।

बुल्ला साहब एक प्रकारसे निरक्षर थे। दरिद्र कुलमें उत्पन्न होनेके कारण और कुछ भी शिक्षा-दीक्षा

न होनेके कारण भी इन्हें शारीरिक परिश्रम करके अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता था। ये गुलाल साहबके यहाँ नौकर थे और हल चलानेका काम करते थे। कभी-कभी ऐसा होता था कि ये बैलोंको हाँककर खेतमें ले जा रहे हैं और बीचमें ही भगवान्‌का स्मरण हो आया। हल आदि रख दिया। बैलोंको छोड़ दिया और भजनमें लग गये। इनके कार्यसे मालिकको सन्तोष नहीं था। कभी-कभी हल चलाते समय भी जब भगवान्‌का प्रगाढ़ स्मरण हो आता तो इनके लिये कार्य करना कठिन हो जाता। ये ध्यानमें बैठ जाते और घंटों इसी दशामें बैठे रहते। अपनी लापरवाहीपर इन्हें मालिककी झिड़कियाँ भी खानी पड़तीं, परन्तु ये विवश थे। सरूर आनेपर अपनेको सँभालना कठिन हो जाता है। जिसे प्रभु अपनी ओर खींच लेना चाहता है उसे संसारके अन्य सभी कार्योंके लिये बेकार कर देता है।

एक दिनकी बात है, बुल्ला साहब हल चलाने गये थे। वहाँ भगवान्‌के स्मरणकी दिव्य धारा उमड़ पड़ी। हलको खेतमें छोड़कर वे मेड़पर बैठकर भगवान्‌का ध्यान करने लगे। ध्यानमें यह अनुभव हो रहा था कि श्रीभगवान् उनके घर पधारे हुए हैं, उनकी पूजा-अर्चा हो रही है। शंख, घड़ियाल, डफ, झाँझ, मृदंग बज रहे हैं। भगवान्‌की आरती की जा रही है। भगवान् मन्द-मन्द मुसका रहे हैं और उनके मस्तकपर हाथ फेर रहे हैं। तदुपरान्त श्रीभगवान्‌के शुभागमनके उपलक्ष्यमें बुल्ला एक बहुत बड़ा भण्डारा करा रहे हैं। भिन्न-भिन्न देशोंसे संत-महात्मा पधारे हुए हैं। ध्यानमें ही बुल्लाने देखा कि छप्पनों प्रकारके व्यंजन परोसे जा चुके हैं। अन्तमें वे हाथमें दही लेकर परोसने चले हैं। यह सब कुछ ध्यानमें ही हो रहा था। इतनेमें गुलाल साहब वहाँ आ पहुँचे और अपने हरवाहेकी नमकहरामी देखकर क्रोधमें आगबबूला हो गये। उन्होंने कसकर बुल्ला साहबको एक लात मारी। बुल्ला साहब एकबारगी चौंक उठे और उनके हाथसे दही छलक पड़ा। अब तो गुलाल साहबके आश्चर्यका कोई ठिकाना नहीं रहा। वे हक्के-बक्के हो गये। उन्होंने बुल्ला साहबके हाथमें पहले दही नहीं देखा था। ध्यान टूट जानेपर बुल्ला साहबने बड़ी दीनताके साथ गुलाल साहबसे निवेदन किया कि 'मेरा अपराध क्षमा करें, मैं साधुओंकी सेवामें लग गया था। और भोजन परोस चुका था, केवल दही बाकी था, उसे परोस ही रहा था कि आपके हिला देनेसे वह गिर गया।' अब गुलाल साहबकी आँखें खुलीं और उन्हें अपनी करनीपर बड़ा पछतावा हुआ। वे बुल्ला साहबके चरणोंमें गिरकर बुक्का फाड़-फाड़कर रोने लगे। उन्होंने अपने 'हरवाहे' को ही अपना गुरुदेव बनाया।

बुल्ला साहब नामस्मरणके बहुत बड़े प्रेमी थे। साईंके नामका आधार लेकर ही साधक प्रभुसे परिचय प्राप्त कर सकता है। नामके बिना प्रभुका दर्शन, स्पर्श और मिलन प्राप्त नहीं हो सकता। नाम ही साधनाका बहुत बड़ा सहारा है। यह नाम हृदय-गुफामें अखण्डरूपसे उच्चरित होता रहता है। आवश्यकता इस बातकी है कि साधक अपनी हृदयगुफामें प्रवेशकर, नामकी धुनमें अपने मन, चित्त, प्राणको लय करे। नामके सिवा साधकके लिये आश्रय ही क्या है?

साईंके नामकी बलि जावँ।
सुमिरत नाम बहुत सुख पायो, अंत कतहुँ नहिं ठाँव।

वह पुरुष धन्य है जिसने प्रियतमका परिचय पा लिया और उसके प्रेमको प्राप्त करनेके लिये जो संसारके सारे सम्बन्ध, सारे राग-अनुरागको तिनकेके समान तोड़कर एकाग्र, एकनिष्ठ भावसे प्रभुके पथमें चल पड़ता है। जिसे रात-दिन प्रियतमसे मिलनेकी ही लौ लगी रहती है और जगत्‌की कोई भी वस्तु मोहमें नहीं फाँस सकती।

धन कुलवती जिन जानल आपन नाह।
जेकरे हेतू ये जग छोड़्यो, सो दहु कैसन बाट।
रैन-दिवस लव लाइ रहो है, हृदय निहारत बाट॥

सच्चे भक्तको संसारके सभी विषयोंके प्रति सर्वथा विरक्त होना पड़ता है। ऐसा हुए बिना मन, वचन और कर्मसे प्रभुकी भक्ति हो नहीं सकती। साधक संसारके लिये लँगड़ा हो जाय, उस ओर कदम बढ़ाये ही नहीं जिधर जगत्‌के विषयोंके बाजार लगे हुए हैं। साधक लुंजा हो जाय—उन विषयोंकी ओर उसके हाथ बढ़े ही नहीं। साधक बहरा हो जाय—संसारके विषयोंकी कोई बात वह सुने ही नहीं। साधक अन्धा हो जाय—जगत्‌के कोई प्रलोभन उसकी आँखोंका विषय बने ही नहीं। भक्तिके खेलमें शरीरका दान देना पड़ता है। सारे

गर्व और गुमानको छोड़कर अपनेको सर्वभावसे प्रभुके चरणोंमें निवेदित कर दे।

साची भगति गुपालकी मेरो मन माना।
मनसा-वाचा-कर्मना सुनु संत सुजाना॥
लँगरा-लुंजा ह्वै रहो, बहिरा अरु काना।
राम नामसे खेल है, दीजै तन दाना॥
भक्ति हेतु गृह छोड़िये, तजि गर्ब-गुमाना।
जन बुल्ला पायो बाक है, सुमिरो भगवाना॥

भगवान्‌के चरणोंमें भक्ति होनेपर हृदयमें सहज ही प्रीति उत्पन्न होती है। यह प्रीति ही साधनाकी आत्मा है। प्रीति उत्पन्न हो जानेपर फिर अन्य किसी साधनका सहारा नहीं लेना पड़ता। प्रीति ही प्रभुका साक्षात्कार कराती है। प्रीतिकी प्रगाढ़ावस्थामें ही साधक प्रभुकी वंशीध्वनि सुनता है और नेत्रोंसे उसके अपरूप रूपका दर्शन करता है। भावके बिना भक्ति हो नहीं सकती। और भावसे ही प्रीतिका उदय होता है। भगवान् जाति-पाँति नहीं पूछते—ऊँच-नीच नहीं देखते। जो भी उनका प्रीतिपूर्वक भजन करता है उसे वे अपना लेते हैं—

हे मन करु गोविंदसे प्रीत।
स्त्रवन सुनि लै नाद प्रभुको, नैन दरसन पेख।
अचल अमर अलेख प्रभुजी, देख ही कोउ भेख॥
भाव सँग तू भक्ति करि लै, प्रेमसे लवलीन।
सुरतिसे तू बेड़ बाँधो, मुलुक तीनों छीन॥
अधम अधीन अजाति बुल्ला, नाममें लवलीन।
अर्थ-धर्म अरु काम-मोछहि आपने पद दीन॥

सभी सच्चे संतोंकी भाँति बुल्ला साहबने भी प्रियमिलनकी शुभ घड़ीको बड़े उल्लासके साथ स्मरण किया है।

आली आजुकी रैन प्रीति मन भावै।
गाय-बजावत, हँसत-हँसावत, सब रस लै जु मनावै॥

जीवनकी सफलता संतोंने इसीमें मानी है कि यहाँ आकर एक पलके लिये भी पियका बिछोह न हो। प्राणोंको प्रियतमका आलिंगन-चुम्बन प्राप्त होता रहे। परम प्रियतमके आलिंगनको जिसने प्राप्त कर लिया वह सदाके लिये निहाल हो गया। यह आध्यात्मिक परिणय ही संत-साधनाका चरम लक्ष्य है और उसीकी ओर संकेत करके बुल्ला साहब कहते हैं—

जिवन हमार सुफल भो हो, सइयाँ सुतल समीप।
एक पलक नहिं बिछुरे हो, साईं मोर जिहीत।
पुलकि-पुलकि रति मानल हो, जानल परतीत॥

'सुरत शब्द' के अभ्यासमें बुल्ला साहबको अद्भुत सफलता प्राप्त हुई थी। उनके उपदेश बड़े ही अनुभवपूर्ण और अनमोल हैं। उनमेंसे कुछ साखियाँ यहाँ दी जाती हैं—

आठ पहर, चौंसठ घरी जन बुल्ला धर ध्यान।
नहिं जानो, कौनी घरी आइ मिलैं भगवान॥
आठ पहर, चौंसठ घरी भरो पियाला प्रेम।
बुल्ला कहै बिचारिकै, इहै हमारो नेम॥
जग आये, जग जागिये, पगिये हरिके नाम।
बुल्ला कहै बिचारिकै, छोड़ि देहु तन-धाम॥
बोलत-डोलत, हँसि-खेलत, आपुहि करत कलोल।
अरज करों, बिन दामहीं बुल्लहिं लीजै मोल॥
ना वह टूटे, ना वह फूटे, ना कबहीं कुम्हिलाय।
सर्ब-कला-गुन-आगरो, मोपै बरनि न जाय॥

—'माधव'

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

यदि ये तीन अवस्थाएँ तुम्हारी न हों तो नरक अवश्यम्भावी है—

(१) जो दिन बीते जा रहे हैं उनके लिये खेद, (२) आजका दिन सर्वश्रेष्ठ गिनकर अपनी-अपनी आत्माके कल्याणार्थ यथाशक्ति कार्य करना और शत्रुओंको भी सन्तुष्ट करना, (३) कल ही तुम्हारी मृत्यु होनेवाली है इसे सदा याद रखना।

सतनामी सम्प्रदायके संस्थापक

[श्रीजगजीवन स्वामीजी साहब]

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपना नाम और रूप खोकर समुद्रमें मिलकर अस्त हो जाती हैं उसी प्रकार विज्ञजन अविद्याकृत नाम और रूपसे विमुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुषको प्राप्त होता है। जगजीवन साहब ऐसे ही भगवत्प्राप्त संत थे। इनके जीवनकालके विषयमें कई प्रकारके मत हैं। सतनामी पन्थवाले इनका जन्म माघ सुदी सप्तमी मंगलवार संवत् १७२७, और मृत्युतिथि वैशाख बदी सप्तमी मंगलवार संवत् १८१७ बतलाते हैं। बाराबंकी (अवध) जिलेके सरहदा गाँवमें इनका जन्म हुआ था। ये चन्देल क्षत्रिय थे। ये जन्मभर गृहस्थ ही रहे। अपने जिलेके कोटवा गाँवमें ये सत्संग करते-कराते रहे। भीखापन्थी इन्हें अपने पन्थका संत मानते हैं, परन्तु सतनामियोंका कथन है कि भीखापन्थसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं था और उनका कहना यह भी है कि इनके गुरु विश्वेश्वरपुरी महाराज थे। इनके अनुयायियोंकी बाहरी पहचान यह है कि वे दाहिनी कलाईपर सफेद और काला धागा बाँधते हैं और महंतगण दोनों हाथोमें धागा बाँधते हैं तथा चन्द्राकार टोपी पहनते हैं और आबनूसकी सुमिरिनी धारण करते हैं। इनके उपदेशोंमें इनका अनुभव कूट-कूटकर भरा है। इनके रचे हुए सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें 'ज्ञानप्रकाश', 'महाप्रलय' और 'प्रथम ग्रन्थ' प्रमुख हैं।

संसार दुःखरूप है। जबतक इसका अनुभव हमें नहीं हो पाता तबतक हम प्रभुके मिलनका आनन्द कैसा होता है, कैसे समझ सकते हैं। संसारमें यावत् जीव जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधिके चक्करमें पड़े हैं और इससे छुटकारा होते नहीं दीखता। कोई भी संसारमें ऐसा नहीं मिला जो दुःखसे मुक्त हो। एक-न-एक दुःख सभीको लगा हुआ है। पुत्र है तो धन नहीं, धन है तो पुत्र नहीं, धन और पुत्र है तो स्वस्थ शरीर नहीं, और यदि तीनों हैं तो धनके नाश, शरीरके क्षीण होने और ढुलक पड़नेका, तथा पुत्रकी बीमारी और मृत्युका भय चारों ओरसे घेरे हुए हैं—इसीलिये जगजीवन साहब कहते हैं—

पपिहा जाइ पुकारेउ, पंछिन आगे रोय।
तीनि लोक फिरि आयेऊँ, बिनु दुख लख्यो न कोय॥

प्रियतमको ढूँढ़नेके लिये जोगिन होकर संसारमें निकला, कानोंमें कुण्डल पहन लिया, जनम सिरा गया परन्तु पियका पता न लगा—

जोगिन ह्वै जग ढूँढेऊँ, पहिर्‌यों कुंडल कान।
पियका अंत न पायेऊँ, खोजत जनम सिरान॥

नैनोंमें प्रभुकी मूरति छायी हुई है। चाँद-सूरज दोनों देख चुका हूँ, परन्तु कोई भी उस अपरूप रूपके समान नहीं ठहरता—

बैठि मैं रहेउँ पिया सँग, नैननि सुरति निहारि।
चाँद सुरज दोउ देखेउँ, नहिं उनकी अनुहारि॥

प्रभुका हाथ भक्तके मस्तकपर सदा है ही। एक क्षण भी प्रभु हमें बिसारता नहीं। एक क्षणके लिये भी वह हमसे अलग नहीं होता—

सदा सहाई दासपर, मनहिं बिसारे नाहिं।
'जगजीवन' साची कहै, कबहू न्यारे नाहिं॥

इसलिये जगजीवन साहबका यह उपदेश चिरस्मरणीय है—

सत समरथतें राखि मन, करिय जगतको काम।
'जगजीवन' यह मंत्र है, सदा सुक्ख-बिसराम॥

प्रभुमें मन रखकर संसारका काम करिये। यही मूलमन्त्र संसारमें सुख और शान्तिसे जीवन व्यतीत करनेके लिये जगजीवन साहब बतलाते हैं।

सतनामी सम्प्रदायमें नित्य सबेरे उठकर नित्यकर्मोंसे निवृत्त होकर पूजा-पाठ और धूप करनेका नियम है। मुख्यरूपसे गुरुमन्त्रका जप तथा बीजमन्त्रका अजपा जाप हर समय करनेका नियम है। सतनामी लोग 'अघविनाश' को वेदके समान पूज्य मानते हैं। इस सम्प्रदायके मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

१-परमात्मा एक है, उसका रूप-रंग-आकार कुछ नहीं है।

२-अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये ईश्वर नाना रूपोंमें अवतार लेता है।

३-भगवत्प्राप्तिका सबसे सरल मार्ग है भक्ति तथा प्रेमसे युक्त होकर ईश्वरका मनसे स्मरण करना।

४-सभी संत-महात्मा—जिन्होंने भगवान्‌को प्राप्त किया—वन्दनीय हैं।

५-सरल रहन-सहन और अजपा जापसे ही ईश्वरका ज्ञान प्राप्त होता है। जगजीवन साहबके शिष्योंमें प्रमुख चार हुए—दूलनदास, गोसाईंदास, देवीदास और खेमदास। ये चार पावाके नामसे प्रसिद्ध हैं। जगजीवन साहबने ८० वर्षकी आयुमें वैशाख सुदी ७ संवत् १८१७ में अपनी इहलीला समाप्त की। —'माधव'

गुलाल साहब

लोक-परलोककी लाज-भयको मिटाकर परमात्मपथमें पागलकी तरह अग्रसर होनेवाले संतोंमें—जिन्होंने प्रभुके दर्शन-स्पर्शन, मिलन-आलिंगनका आनन्द पाया है—गाजीपुरके गुलाल साहबका नाम बहुत आदरसे लिया जाता है। इनकी वाणीमें इनका प्रेमपूरित हृदय उमड़ पड़ा है और स्थान-स्थानपर वह परम गुह्य प्रेम, जिसे संत अपने हृदयके मन्दिरमें बहुत छिपाकर रखते हैं, अनायास प्रकट हो गया है। अनुभव ही संतमार्गका दीप-स्तम्भ है। अपने जीवनको जगत्‌के प्रपंचोंसे हटाकर परमात्माके पथमें प्रवाहित करनेवाले संतोंमें गुलाल साहबका नाम अमर है।

प्राय: सभी संतोंकी भाँति गुलाल साहबने भी अपने जीवनकी कोई भी बात अपने पदों और वाणियोंमें प्रकट नहीं की है। भारतीय संतोंकी यही विशेषता है। वे जीवनकी घटनाओं और क्रम-विकासकी ओर दृष्टि नहीं डालते। इस क्षणभंगुर, नित्य बनने-मिटनेवाले शरीरकी क्या कथा लिखी जाय? इसमें लिखनेयोग्य बात है ही क्या? जन्मा, दु:ख भोगे, अभावकी पीड़ा सही, अपनोंका विछोह झेला और फिर एक दिन सहसा आँखें मुँद गयीं। कायाकी कहानी कौन लिखने बैठे? इसका महत्त्व ही क्या है?

इस तन-धनकी कौन बड़ाई?
देखत नैनों मिट्टीमें मिल जाई॥
अपने खातर महल बनाया।
आपहि जाकर जंगल सोया॥
हाड़ जले जैसे लकड़ीकी मोली।
बाल जले जैसी घासकी पोली॥
कहत कबीर सुनो मेरे गुनिया।
आप मुये पीछे डूब गयी दुनिया॥

गुलाल साहब जातिके क्षत्रिय, बुल्ला साहबके गुरुमुख शिष्य, जगजीवन साहबके गुरुभाई और भीखा साहबके गुरु थे। यह जगजीवन साहबके समकालीन थे और इसी आधारपर इनके जीवनका समय विक्रमी संवत् १७५०—१८०० माना जाता है। ये पढ़े-लिखे तो नहीं थे, परन्तु थे बहुत ही मजी हुई बुद्धिके। किसानीका काम करते थे। अपने घर इन्होंने बुलाकीराम—जो पीछे जाकर बुल्ला साहब कहलाये—को हरवाहा रख छोड़ा था। बुल्ला साहब भजनानन्दी जीव थे। जब उन्हें भजनका ध्यान होता तो कितना भी आवश्यक कार्य कोई क्यों न हो, वे उसे ताकपर रख देते थे। जैसा बुल्ला साहबकी जीवनीमें लिखा जा चुका है, एक दिन वे हल चलाने खेतमें हल-बैल लेकर पहुँचे। वहीं ध्यानमें बैठकर वे साधुओंका भण्डारा कराने लगे। इतनेमें ही इनके मालिक गुलाल साहब पहुँचे, उन्होंने अपने नौकरको 'बेकार' बैठे देख क्रोधसे उसकी पीठपर कसकर लात जमा दी। इतनेमें क्या देखते हैं कि बुलाकीरामके हाथसे दही छलक पड़ा। गुलाल साहब बड़े आश्चर्यमें पड़ गये। अन्तमें जब बुलाकीरामने सारा हाल सुनाया तो वे उनके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगने लगे और उन्हें गुरुरूपमें वरण कर लिया। गाजीपुर जिलेके बसहरि तालुकामें अपने गुरुधाम भुरकुड़ा ग्राममें गुलाल साहब अपने गुरुदेवका सत्संग करते रहे और उनकी महासमाधिके अनन्तर वे और भगवत्प्रेमी भक्तोंको सत्संग कराया करते और उपदेश दिया करते थे।

गुलाल साहबके पदों और साखियोंमें दो बातें बहुत स्पष्टरूपमें आती हैं। प्रभुके प्रति उनका अटूट अनुराग और जगत्‌के झमेलोंसे वैराग्य। वास्तवमें ये एक ही वस्तुके दो नाम हैं। जगत्‌से विरक्ति हुए बिना प्रभुचरणोंमें अनुराग कहाँसे होगा और जिसे उन चरणोंकी चाट लग गयी उसके लिये संसारके सारे रस फीके हो जाते हैं। मनुष्य संसारमें ऐसा रचा-पचा हुआ

है कि उसे एक क्षणका भी अवकाश नहीं मिलता जिसमें वह सोच सके कि वह कहाँसे आया, क्यों आया और यहाँ आकर उसे क्या कर्त्तव्य है। इसीलिये संतोंने मनुष्यको बार-बार चिताया है—

तुम जात न जान गँवारा हो।
को तुम आहु, कहाँ तें आये, झूठो करत पसारा हो॥
माटीके बुँद पिंडकै रचना, तामें प्रान पियारा हो।
लोभ-लहरिमें मोहकी धारा, सिरजनहार बिसारा हो॥

संसारके सारे दुःख, अभाव, कष्ट, विपत्तियोंका एकमात्र कारण नारायणका विस्मरण ही है। मनुष्य अपने बनानेवाले, पोसनेवालेको ही भूल बैठा है। यही सारी विपत्तिका मूल है। इसी हेतु गुलाल साहब अपने मनको समझा रहे हैं कि 'हे मन! संसारमें क्या भूला-भूला फिरता है, अपने जन्मदाता हरिका स्मरण कर। हरि ही हमारी पूँजी है, हरि ही हमारा एकमात्र धन है—हे मन! रात-दिन अपने परमधनके संचयमें लगे रहो। आठों पहर उसे वैसे ही देखते रहो जैसे माँ अपने अबोध शिशुकी सँभाल रखती है—

राम मारे पुँजिया, राम मोर धना। निस-बासर लागल रहु मना॥
आठ पहर तहँ सुरति निहारी। जस बालक पालै महतारी॥

गुलाल साहबने डंकेकी चोट कहा है कि चाहे लाख योग-याग, तप किये जायँ, यदि भगवान्‌का भजन न हुआ तो सब किया-कराया व्यर्थ है।

सुर-नर-नाग-मनुष-औतार, बिनु हरिभजन न पावहिं पार।

भगवान्‌के चरणोंमें प्रीति उत्पन्न होनेकी एकमात्र विधि है उसके सुमधुर नामकी रटन। नामसे भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम उदय होता है और जगत्‌के विषयोंसे विराग होता है। यही नाम-जप श्रीगुरुमुखसे प्राप्त होता है तब इसमें अद्भुत शक्ति, अद्भुत प्रकाश रहता है और वह नाम भक्तके हृदयको प्रकाशसे जगमग कर देता है—

राम राम राम राम जेकरे जिय आवै।
प्रेमपूर्व दृढ़ बिराग सोई यह पावै॥
सतगुरु जब दियो प्रसाद, प्रीत हूँ लगावै।
तन-मन न्योछावरि वारि चरनमें समावै॥

साधनमार्गमें जो दो विकट घाटियाँ हैं और जिनसे बचनेके लिये संतोंने बार-बार हमें चिताया है, वे हैं—कामिनी और कांचन। इसके विषयमें संतोंमें दो मत नहीं हैं। सभीने एक स्वरसे यही कहा है। गुलाल साहबने कितने सुन्दर शब्दोंमें अपने अनुभवका आधार लेकर साधनमार्गकी कठिनाइयाँ और उन्हें हल करनेके उपाय बतलाये हैं—

संतो, नारिसों प्रीति न लावै।
प्रीति जो लावै आपु ठगावै मूल, बहुत को गावै॥
गुरुको बचन हृदयमें लावै, पाँचौ इन्द्री जारै।
मनहिं जीति, माया बस करिकै, काम-क्रोधको मारै॥
लोभ-मोह-ममताको त्यागै, तृस्ना जीभ निवारै।
सील-संतोष सो आसन माड़ै, निसुदिन शब्द बिचारै॥
जीव दया करि आपु सँभारै, साध-सँगति चित लावै।
कह गुलाल सतगुरु बलिहारी बहुरि न भवजल आवै॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, तृष्णा आदिपर विजय प्राप्त करना आरम्भमें कठिन प्रतीत होता है; परन्तु साधक ज्यों-ज्यों अपनेको प्रभुचरणोंमें समर्पित करता जाता है त्यों-त्यों उसकी सारी कठिनाइयाँ दूर होती जाती हैं। भक्तका सारा भार भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं और भक्त सारे दुर्गुणोंसे मुक्त होकर प्रभुचरणोंका एकान्त अनुरागी हो जाता है। वह अब अपने प्रत्येक श्वासमें हरिका ही गीत सुनता है—उसकी आँखें हरिका ही रूप देखती हैं, उसके कान हरिकी ही वाणी सुनते हैं और उसके प्राण हरिके ही रसमें छके रहते हैं—

जीव पीव महँ, पीव जीव महँ, बानी बोलत सोई।
सोइ सभन महँ, हम सबहन महँ, बूझत बिरला कोई॥

प्रभुकी अकारण, अहैतुकी अनुकम्पा और प्यार तथा अपनी विषयासक्ति तथा दुर्बलताओंपर जब साधककी दृष्टि जाती है तो वह कट-सा जाता है। वह अनाथकी तरह प्रभुके चरणोंको पकड़कर रोता है—

हौं अनाथ चरनन लपटानो।
पंथ और दिस सूझत नाहीं, छोड़ो तो फिरौं भुलानो॥
जासु चरन सुर-नर-मुनि सेवहिं, कहा बरनि मुख करौं बयानो।
हौं तो पतित, तुम पतितपावन, गति-औगति एको नहिं जानो॥

भगवान्‌के मार्गमें चलनेवाला कभी निराश होकर लौट नहीं सकता, उसे कभी निराश होना ही नहीं पड़ता। आरम्भमें आशा-निराशाका घोर द्वन्द्व अवश्य चलता है, परन्तु यह तभीतक है जबतक समर्पण पूरा नहीं हुआ। समर्पण हो जानेपर, सर्वांगीण आत्मार्पण हो चुकनेपर साधकका हाथ भगवान्‌के हाथमें होता है। उसे वह पग-पगपर सँभालते रहते हैं और कभी च्युत नहीं होने देते। भगवान्‌का आश्रय, भगवान्‌की भक्ति, भगवान्‌की प्रीतिका प्रसाद पाकर गुलाल साहब गा उठे—

मेरो मन प्रभुसों लागल हो।
जागल प्रेम, मन पागल हो॥
घड़ि-घड़ि पल-पल जोति मिलो रहै,
काम-क्रोध-मद त्यागल हो।
अगम-अगोचर सत्त निरंजन
बाजन अनहद बाजल हो।

एक-एककर अपना सब कुछ हरिचरणोंमें निवेदित करना होगा। मन, चित्त, प्राण, बुद्धि सब कुछ श्रीचरणोंमें समर्पित करना होगा—

प्रभुको तन-मन-धन सब दीजै।
रैन-दिवस चित अनत न जावै, नाम पदारथ पीजै॥
जबतें प्रीत लगी चरनन सों जग-संगत नहिं कीजै।
दीनदयाल कृपाल दयानिधि, जौ आपन करि लीजै॥

यह समर्पण, यह निवेदन, साधकका प्रभुमें लय हो जाना साधनाकी चरम स्थिति है। इसके अनन्तर साधककी स्थितिका वर्णन करना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है।

—'माधव'

महात्मा दूलनदासजी

राम नाम दुइ अच्छरै, रटै निरन्तर कोय।
'दूलन' दीपक बरि उठै, मन प्रतीति जो होय॥

नामके प्रेमी, सरलताकी मूर्त्ति, दया और विनयके स्वरूप महात्मा दूलनदासजी जगजीवन साहबके गुरुमुख चेले थे और भारतीय संत-परम्परामें इनके जीवनका वृत्तान्त भी प्रामणिकरूपमें नहीं मिलता। यह जगजीवन साहबके शिष्य थे। सत्तनामियोंकी मान्यता यह है कि दूलनदासका जन्म वि० सं० १७१७ में हुआ। मिश्रबन्धुओंने तो इनका रचना-काल संवत् १८७० माना है, परन्तु सत्तनामियोंकी मान्यताके अनुसार इनका काल बहुत पहले ठहरता है। पूरी ११८ वर्षकी आयु भोगनेके अनन्तर आश्विन बदी ५ रविवार सं० १८३५ को आपने इहलीला संवरण की।

लखनऊ जिलेके समेसी गाँवमें सोमवंशी क्षत्रियकुलमें एक बहुत सम्पन्न जमींदार रायसिंहके घर दूलनका जन्म हुआ। सरहदा गाँवमें इन्होंने जगजीवन साहबसे उपदेश ग्रहण किया और बहुत समयतक उनके सत्संगमें कोटवामें बने रहे। भ्रमविनाश, शब्दावली, दोहावली, मंगलगीत, शिवजीकी प्रार्थना आदि ग्रन्थ आपने लिखे। अपने जीवनके अन्तिम भागमें ये रायबरेलीमें धर्मे नामक गाँवमें सत्संग-साधन करते रहे। इनके सम्प्रदायका नियम यही है कि गृहस्थधर्ममें ही सदाचार और पवित्रताके साथ जीवन व्यतीत करते हुए चित्तको भगवान्के चरणोंमें अर्पित करना चाहिये। ये लोग बाह्य त्यागको, या 'वेश' को बहुत आवश्यक नहीं मानते। इनके गुरु जगजीवन साहब भी आजीवन गृहस्थ ही रहे। इस सम्बन्धमें दूलनदासकी यह बात स्मरण रखनेयोग्य है—

दया-धरम हिरदेमें राखहु, घरमें रहहु उदासी।
आनकै जिव आपन करि जानहु, तब मिलिहैं अबिनासी॥

दूलनदासकी बानी तथा साखियोंको पूर्ण मनोयोगके साथ पढ़नेसे यह पता चलता है कि वे 'नाम' के बहुत बड़े प्रेमी थे। डंकेकी चोट उन्होंने कहा है कि नामका आश्रय ही निर्द्वन्द्व आश्रय है, और इसके सिवा अन्य सभी मार्ग साधकको उलझानेवाले हैं—

रहु तोइँ राम राम रट लाई।
जाइ रटहु तुम नाम अछर दुइ, जौने बिधि रटि जाई॥
राम-राम तुम रटहु निरंतर, खोजु न जतन उपाई।
जानि परत मोहिं भजन-पंथकी, यहौ अरूझनि भाई॥

उस नाम-जपकी सहज रीति सुनिये—

कोइ बिरला याहि बिधि नाम कहै।
मंत्र अमोल नाम दुइ अच्छर, बिनु रसना रट लागि रहै॥
होठ न डोलै, जीभ न बोलै, सूरत धरनि दिढ़ाइ गहै।
दिन औ रात रहै सुधि लागी, यह माला, यह सुमिरन है॥

नामका महत्त्व बतलाते हुए दूलनदासने बड़े ही भावपूर्ण शब्दोंमें गजके उद्धार, मीराके विषपान तथा द्रौपदीके चीरहरणकी लीलाओंको गाया है। गाते-गाते वे थकते ही नहीं। नाम-ऐसे अमृतको छोड़कर मानव मोह-विषको पी रहा है—

अछत नाम-पियूष पासहिं, मोह-माहुर पिया।

उस 'राम' का परिचय दूलनदासके शब्दोंमें ही सुनिये—

जनम दीन्ह है रामजी, राम करत प्रतिपाल।
राम-राम रट लाव रे, रामहिं दीनदयाल हो॥

मात-पिता-गुरु रामजी, रामहिं जिन बिसराव।
रहो भरोसे रामके, तैं रामहिंसे चितचाव हो॥
घर-बन निसुदिन रामजी, भक्तनके रखवार।
दुखिया दूलनदासको रे राम लगइहैं पार हो॥

दीनता ही संतोंकी सहेली है। वह दीनता जगत्की दीनता नहीं, प्रभुचरणोंकी असीम अनुकम्पा और अपनी अपात्रताको देखते हुए चित्तमें उपजी हुई समर्पणकी भूमिकारूप दीनता है। यह दैन्य ही समर्पणका श्रीगणेश करता है और इसीके सहारे भक्त भगवान्‌के चरणोंमें जुड़ता है। दूलनदासकी दीनता देखिये, उन्होंने इसमें अपना हृदय उँड़ेल दिया है।

अपथ पंथ न सूझ इत-उत, प्रबल पाँचो चोर।
भजन केहि बिधि करौं साईं! चलत नाहीं जोर॥
नात लाइ दुरात काहे, पतित जनकी दौर।
बचन अवधि-अधार मेरे, आसरा नहिं और॥
हेरिये करि कृपा जन तन, ललित लोचन कोर।
दास दूलन सरन आयो, राम बंदीछोर॥

'काम-क्रोधादि पाँचों चोर इतने प्रबल हैं कि मुझे पथभ्रष्ट किये डालते हैं, हे प्रभु! इस दयनीय दशामें तुम्हारा भजन करूँ तो कैसे, मेरा एक भी जोर नहीं चलता। नाता लगाकर फिर दूर क्यों हटा रहे हो? पतितोंके तुम्हीं तो एकमात्र आश्रय हो। तुम्हारी विरद ही मेरा एकमात्र आसरा है। एक बार अपने जनपर कृपादृष्टिसे देखो। मैं तुम्हारी शरण हूँ, तुम्हारे सिवा मेरे बन्धनको कौन काटे?'

नामरसका चसका जिसे एक बार लग जाता है उससे वह कभी छूटता ही नहीं—उसका मन, चित्त, प्राण, आत्मा सभी कुछ प्रियतमके नाममें ही आप्लावित रहता है—

नाम सनेही बावरे, दृग भरि-भरि आवत नीर हो।
रस-मतवाले रसमसे, यहि लागी लगन गँभीर हो॥
सखि इश्क-पियासे आशिकाँ, तजि दौलत-दुनिया-भीर हो।
सखि दूलन कासे कहै, यह अटपति प्रेमकी पीर हो॥

दुनियाके सारे झमेले अपने-आप मिट गये। मैंने समझ-बूझकर फकीरीका रास्ता लिया है। हरिके चरणोंकी रजको नैनोंका अंजन बना लिया; अब तो सारा जगत् राममय हो गया!

दुनियाँ दुचिताई भूलि गई, हम समुझि गरीबी राह लई।
चरना-रज अंजन नैन दई, जन दूलन देखत राममई॥

साईंसे 'परिचय' हो जानेपर, जब मन उनके मिलनके रसमें डूबने लगता है तो संसारकी सारी भूख-प्यास सदाके लिये मिट जाती है। वह रूपरसके सागरमें डुबकी लगाकर नैनोंसे हरिका रस पीने लगता है। साधककी यह मधुर स्थिति कितनी गोपनीय है!

सखिया इक पैठो जल भीतर, रटत पियास-पियास हो।
मुख नहिं पिये, चिरुआ नहिं पीयै, नैनन पियत हुलास हो॥

परम प्रियतम 'राम' की प्रीति प्राप्त करनेके लिये दूलनदासने श्रीहनुमान्‌जीका स्मरण किया है। संत-साधनामें अवश्य ही यह बात अनोखी है!

सुमिरौं मैं रामदूत हनुमान!
समरथ लायक जनसुखदायक, कर मुसकिल आसान॥
रहौं असंक भरोस तुम्हारे, निसुदिन साँझ-बिहान।
दूलनदासके परम हितू तुम, पवनतनय बलवान॥

अपनी अनुभवभरी साखियोंमें दूलनदासने नामकी महिमाको बड़े ही अनुपम ढंगसे गाया है। इन साखियोंका चित्तपर स्थायी प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। वे सभी एक-से-एक अनमोल हैं। विश्वासके साथ, मनको मारकर नामकी साधनामें प्रवृत्त करनेकी प्रेरणा इन साखियोंमें ओत-प्रोत है। उनका उद्देश्य किसी प्रकारका 'उपदेश' नहीं है, वे तो संतहृदयकी मधुर स्निग्ध अनुभूतिमात्र हैं—

सुनत चिकार पिपीलकी, ताहि रटहु मन माहिं।
दुलनदास बिस्वास भजु, साहिब बहिरा नाहिं॥
चितवन नीची, ऊँच मन, नामहिं जिकिर लगाय।
दूलन सूझै परम पद, अंधकार मिटि जाय॥
दूलन केवल नाम लिय, तिन भेंटेउ जगदीस।
तन-मन छाकेउ दरस-रस, थाकेउ पाँच-पचीस॥

जो चींटीकी भी पुकार सुनता है उस प्रभुका विश्वास कर भजन करो। वह तुम्हारी प्रार्थना अवश्यमेव सुनेगा। दृष्टिको नीची करके, मनको ऊँचा करके नाममें लग जाओ। परम पदकी प्राप्ति होगी, अन्धकार सदाके लिये मिट जायगा। जिसने केवल नामका ही आश्रय ले लिया इससे उसे भगवान्‌के दर्शन प्राप्त हो गये। और जब दर्शन-स्पर्शनका रस मिल गया तो वृत्तियाँ अपने-आप स्थिर हो गयीं!

फकीरकी परिभाषा दूलनदासजी यों करते हैं—

दुलन भरोसे नामके, तन तकिया धरि धीर।
रहै गरीब यतीम होइ, तिनका कहो फकीर॥

नामका भरोसा करके, शरीरको दृढ़ताके साथ संयममें रखे। संसारमें अनाथ अनाश्रित यतीम (मातृ-पितृ-विहीन) बालककी तरह रहे—संसारमें किसीका भी आश्रय न ले, किसीका आसरा न करे। फकीर उसीको कहते हैं। दूलनदासजीके उपदेश कितने अनमोल और अनुभवपूर्ण हैं, यह पढ़ते ही झलकने लगता है—

दूलन यह परिवार सब, नदी-नाव-संयोग।
उतरि परै जहँ-तहँ चले, सबै बटाऊ लोग॥
बंधन सकल छुड़ाइ करि, चित चरननतें बाँधु।
दुलनदास बिस्वास करि, साईं काँ औराधु॥
दूलन चरनन लागि रहु, नामकी करत पुकार।
भक्ति-सुधारस पेट भरु, का दहुँ लिखा लिलार॥
जग रहु, जगतें अलग रहु, जोग-जुगतिकी रीति।
दूलन हिरदे नामतें, लाइ रहौ दृढ़ प्रीति॥
साईं तेरी सरन हौं, अबकी मोहिं निवाज।
दूलनके प्रभु राखिये, यहि बानाकी लाज॥

—'माधव'

भीखा साहब

मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः।
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासङ्गमुदितः
सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव॥

—भर्तृहरि

लोक-परलोकके सारे सुख, वैभव, विलास और मोहको ठुकराकर परमार्थपथके पथिक जब अपनी अलमस्तीमें कोई अपने अनुभवकी बात हमें सुनाते हैं तो एक बार हमारे हृदयमें सनसनी पैदा हो जाती है। वे अपने अनुभव कहने बैठते नहीं। आनन्दका ज्वार उमड़कर उन्हें गानेके लिये विवश कर देता है। वे गा उठते हैं, क्योंकि गाये बिना वे रह नहीं सकते। संग्रह और परिग्रहके चक्करमें पड़ा हुआ मनुष्य उनकी अलमस्ती, उनके फक्कड़पनको क्या समझे।

संत तो राजाओंका राजा, बादशाहोंका बादशाह है, शाहंशाह है। दुनियाके शाहंशाह उसके शतरंजकी मुहरें हैं। फक्कड़पन, अलमस्ती, बेहोशी और लापरवाही ही उसकी सम्पत्ति है। पृथ्वी ही उसकी सुन्दर सुकोमल शय्या है। जहाँ जीमें आया, सो रहा। सिरके नीचे अपनी बाँहका कोमल उपधान, मुलायम तकिया लगा लिया। और चँदोवा? चँदोवा भी उसका कितना सुन्दर है—नीला-नीला आकाश, जिसमें नक्षत्रों-तारोंके छोटे-छोटे सुन्दर जगमगाते हुए लट्टू लटक रहे हैं। मन्द-मन्द समीरण पंखा झल रहा है। चन्द्रमा उसके विशाल आँगन—जो सीमाहीन है—जिसके ऊपर आकाश और नीचे पृथ्वी है—में प्रकाशकी स्निग्ध कोमल किरणें बिखेर रहा है। और विरक्ति-वनिता संगमें आनन्दकी नव-नव लहरें उत्पन्न कर रही है। किस अलमस्तीमें संत मस्त सो रहा है—बेचारे बादशाह इस सुखको क्या जानें।

भीखा साहब ऐसे ही अलमस्त फकीरोंमें हैं। लगभग दो सौ पचास वर्ष हुए आजमगढ़ जिलेके खानपुर बोहना नामके गाँवमें भीखाका जन्म हुआ। इनका नाम भीखानन्द था। ये जातिके चौबे ब्राह्मण थे। बहुत बचपनसे ही भीखाका चित्त जगत्के विषयोंसे उचट गया था। उन्हें संसारकी सभी चीजें जन्म-मृत्युके बन्धनमें बँधी हुई, जरा, व्याधि, दुःख और दोषोंसे भरी हुई प्रतीत होने लगीं। गाँवमें जो कोई साधु-संत आ जाता, भीखा उसीके पास लगे रहते थे और बहुत थोड़ी उम्र होते हुए भी भगवान् क्या हैं, कैसे मिलते हैं; संसारमें इतना दुःख क्यों है, इससे छूटनेका क्या उपाय है इत्यादि पूछा करते थे। यह देखकर उनके घरवाले घबड़ाये। परन्तु जिसपर प्रभु अनुग्रह करता है उसके सारे संकटोंको दूर करके, सारी विघ्न-बाधाओंको मिटाकर उसे सदाके लिये 'अपना' कर लेता है। भीखाके साथ भी यही बात हुई। माता-पिता तथा अन्य 'शुभचिन्तक' स्वजन इनके विवाहकी बात सोचने लगे, जिसमें लड़का राहपर आ जाय। परन्तु भीखाके चित्तमें तो कोई और ही समाया हुआ था। पूरे बारह वर्षकी भी अवस्था न होने पायी थी कि भीखा घरसे 'गुरु' की खोजमें निकल पड़े। काशीके विषयमें उन्होंने बहुत कुछ सुन रखा था। वे काशी पहुँचे, परन्तु उन्हें मार्गदर्शक कोई मिला नहीं। निराश होकर वे लौट रहे थे कि रास्तेमें गाजीपुरके गुलालदास बाबाके विषयमें उन्होंने सुना। वे दर्शनोंको गये और प्रथम दर्शनमें ही बहुत अधिक प्रभावित हुए। गुरुकी महिमा गाते हुए

भीखा साहबने इस घटनाका विवरण दिया है—

बीत बारह बरस, उपजी रामनाम सों प्रीति।
निपट लागी चटपटी, मानो चारिउपन गयो बीति॥
नहिं खान-पान सोहात, तेहिं छिन बहुत तन दुर्बल हुआ।
घर-ग्राम लाग्यो बिषम धन, मानो सकल हारो है जुआ॥

× × × ×

इक ध्रुपद बहुत बिचित्र सूनत भोग पूछेउ है कहाँ।
नियरे भुरकुड़ा ग्राम जाके सब्द आये हैं तहाँ॥
चोप लागी बहुत, जायके चरनपर सिर नाइया।
पूछेउ कहा कहि दियो आदरसहित मोहि बैसाइया॥
गुरुभाव बूझि मगन भयो, मानो जन्मकौ फल पाइया।
लखि प्रीति दरद दयाल दरवे आपनो अपनाइया॥

श्रीगुरुचरणोंके आश्रयमें आकर भीखाको बड़ी शान्ति मिली। पन्द्रह-सोलह वर्षतक—जबतक उनके श्रीगुरुदेव गुलाल साहबका शरीर पृथ्वीपर रहा—भीखाने गुरुकी बड़ी सेवा की और उनके सत्संगमें वे बहुत नियमितरूपसे निष्ठा और लगनके साथ उपस्थित रहते थे। गुलाल साहबकी इनपर अपार कृपा थी, उन्होंने संतमार्गकी साधनाका सारा रहस्य इन्हें पूरे विस्तारके साथ बतलाया।

गुलाल साहबकी महासमाधिके अनन्तर भीखा साहब गुरुपरम्पराके अनुसार चौबीस-पचीस वर्षतक सत्संग कराते रहे और लोगोंको परमार्थपथमें प्रेरित करते रहे। जबसे भीखा साहब भुरकुड़ामें आये तबसे कभी वहाँसे बाहर गये ही नहीं। लगभग पचास वर्षकी अवस्थामें विक्रम संवत् १८२० में इन्होंने परम समाधि ली। भुरकुड़ेमें इनकी, इनके गुरु गुलाल साहबकी तथा दादागुरु श्रीबुल्ला साहबकी समाधियाँ अबतक हैं और विजयदशमीपर वहाँ मेला लगता है। गाजीपुर और बलिये जिलेमें अब भी इनके पन्थके लोग हैं तथा इनका नाम बहुत श्रद्धा और आदरसे लेते हैं। इनके ग्रन्थोंमें 'रामजहाज' बहुत प्रसिद्ध है।

भीखा साहबके सम्बन्धमें बहुत-सी अलौकिक और चमत्कारपूर्ण बातें सुननेको मिलती हैं। एक बार काशीके प्रसिद्ध औघड़ बाबा कीनाराम अघोरी इनके स्थानपर गये और पीनेको मदिरा माँगी? वहाँ मदिरा कहाँ मिलती? कीनारामने ऐसा चमत्कार दिखलाया कि भीखा साहबके स्थानपर जहाँ-जहाँ पानी था सब मदिरा हो गया, परन्तु भीखा साहबने अपने प्रभावसे शीघ्र ही पुनः सब मदिराको पानी बना दिया। और भी ऐसी कई प्रचलित दन्तकथाएँ हैं।

मृत्युके मुखमें दौड़ता हुआ मनुष्य गफलतमें जीवन नष्ट कर रहा है, इसे देख संतोंको मार्मिक दुःख होता है और प्रायः सभी संतोंने हमें सावधान किया है—उठो, जागो, अपने लक्ष्यको न भूलो—

या जगमें रहना दिन चारी, तातें हरि-चरनन चित वारी॥
सिरपर काल सदा सर साधे, अवसर परे तुरत ही मारी॥
भीखा केवल नाम भजे बिनु, प्रापति कष्ट नरक भारी॥

सावधानी ही साधना है, संसारमें सारवस्तु केवल हरिस्मरण है और शेष सभी कुछ निःसार है—यही संतोंने बार-बार हमें चिताया है। संसारके खेल-तमाशेमें हम इतने मशगूल हैं कि हमें अपने 'पिता' का ध्यान भी नहीं आता—

हमरी रुचि जग खेल खेलौना, बालक साज सँवारे।
पिता अनादि अनख नहिं मानहिं, राखत रहहिं दुलारे॥

चौरासी लाख योनियोंमें भरमता-भटकता हुआ जीव मनुष्यका शरीर पाकर यदि नहीं सँभला तो फिर इसका आना व्यर्थ गया और फिर यह उसी चौरासीके चक्करमें जा पड़ेगा। रामके चरणोंमें प्रीति न हुई तो जीवन व्यर्थ ही गया। संसारके सारे संग्रह-परिग्रह, कुटुम्ब-कबीला, महल-अटारी आँखें मुँद जानेपर क्या काम आवेंगी? भीखा समझाते हैं—

रामसों करु प्रीति हे मन, रामसों करु प्रीति।
राम बिन कोउ काम न आवै, अंत ढहो जिमि भीति॥
बूझि-बिचारि देखु जिय, अपनो हरि बिन नहिं कोउ हीति।
गुरु गुलालके चरन-कमल रज धरु भीखा! उर चीति॥

साधन-पथमें एकमात्र प्रभुकी अनुकम्पाका आश्रय करके ही साधक आगे बढ़ सकता है। अपनी साधनाका शंबल इस मार्गमें क्या सहायक होगा? साधकका ध्यान सदा—चाहे वह कितनी भी भारी विपत्तिमें क्यों न हो—प्रभुके चरण-कमलोंमें रहना चाहिये। एकान्तनिष्ठा ही इस मार्गकी सारी बाधाओंको दूर करके हमें अग्रसर करती है। साधन-मार्गका यही रहस्य है—सदैव अखण्डरूपसे श्रीहरिचरणोंका आश्रय लिये रहना। सच्ची प्रीतिकी यही रीति है—

प्रीतिकी यह रीति बखानौ।
कितनौ दुख-सुख परै देहपर, चरनकमल कर ध्यानौ॥
हो चैतन्य, बिचारि तजो भ्रम, खाँड़ धूरि जनि सानौ॥

जैस चातक स्वाति-बुंद बिन प्रान-समरपन ठानौ॥
भीखा जेहि तन राम-भजन नहिं, कालरूप तेहि जानौ॥

प्रभुके चरणोंमें अनन्य प्रीति, अव्यभिचारिणी भक्ति होते ही चित्तमें प्रभुका तत्त्व उतरने लगता है और साधक उन चरणोंको बड़े उल्लासके साथ अपने हृदयमें बाँध लेता है। साधनाकी यह बहुत मधुर स्थिति है। इसमें चित्त स्वयं हरिचरणोंमें लुभाया रहता है और एक पलके लिये भी विलग होना नहीं चाहता। काम-क्रोध आदि विकार प्रभुके आगमनकी बात सुनकर भाग जाते हैं और अन्तरमें उनका नामोनिशान भी नहीं मिलता। उस समयका मिलन इतना आकुल, इतना विह्वल होता है कि साधक ही उस आनन्दको समझ सकता है—उसे व्यक्त करनेकी शक्ति शब्दोंमें नहीं है—

पिया मोर बैसल माँझ अटारी, टरै नहिं टारी।
काम-क्रोध-ममता परित्यागल, नहिं उन सहल जगतकै गारी॥
सुखमन-सेज सुंदर बर राजित, मिले हैं गुलाल-भिखारी॥

यहाँ 'गुलाल-भिखारी' का अर्थ है गुलालके चरणसेवक भीखा। भीखा साहबने डंकेकी चोट यह कहा है कि 'नाम' का आधार ही मुख्य है। 'नाम' के बिना यज्ञ, जप, तीर्थाटन, व्रत, पय-आहार, फलाहार, जलशयन, बाँहको उठाकर 'ठढ़ेसरी' होना, मौन, गुहावास, प्राणायाम, होम, दान, स्नान, तप आदि सभी कुल व्यर्थके बखेड़े हैं। —'माधव'

दरिया

(लेखक—श्रीरमाशंकरसिंहजी 'मृदुल', बी० काम०)

आजसे तीन-चार सौ वर्ष पहले भारतवर्षमें दरिया नामके दो संत हो गये हैं। एकका जन्म मारवाड़में हुआ था, दूसरेका बिहारमें। दोनों सूफी सम्प्रदायके सिद्ध साधु थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उनकी पूजा करते थे। जनतामें वे लोग 'दरिया साहब' के नामसे विख्यात थे। यहाँपर 'दरिया साहब मारवाड़ी' और उनकी बानियोंका कुछ परिचय दिया जाता है।

'दरिया साहब मारवाड़ी' का जन्म मुसलमान-समाजकी एक निम्न जातिमें हुआ था। उनके पूर्वज निम्न जातिके हिन्दू थे, जिन्होंने मुसलमानी मजहबको अख्तियार कर लिया था। उस समय इस श्रेणीके आदमियोंको हिन्दू या मुसलमान किसी भी धर्मकी साधनाका मार्ग प्राप्त करनेका अवसर नहीं मिलता था। उन्होंने स्वयं लिखा है—

नाँह था राम-रहीमका, मैं मतिहीन अजान।

प्रारम्भमें वे दोनों समाजोंद्वारा तिरस्कृत थे। उनका जन्म मारवाड़के जयतारन गाँवमें सन् १६७६ ई० में एक नीच धुनियाके घर हुआ था। उनके धुनिया होनेका पता उनकी निम्नांकित रचनासे लगता है—

जो धुनिया तौ भी मैं राम तुम्हारा।
अधम कमीन जाति मतिहीना, तुम तौ हौ सिरताज हमारा॥

सात वर्षकी अवस्थामें वे पितृहीन हो गये। तबसे उनका लालन-पालन अपनी दादी 'कमीरा' के घर होने लगा। कमीरा बड़ी गरीब औरत थी। मेड़ता परगनाके रैन गाँवमें उसका घर था। उसके सभी सम्बन्धी 'निरक्षर' परन्तु भक्तिरसमें सराबोर थे। उनकी दादीके घरमें मीरा-की 'भक्ति' और उनकी गीतोंके प्रति गम्भीर अनुराग था। ऐसे ही वातावरणमें दरियाका लड़कपन बीता।

दरिया बाल्यकालसे ही भक्तिरसके इच्छुक थे। निरक्षर होनेकी वजहसे वे शास्त्रोंकी सहायतासे वंचित रहे। उन्होंने मुसलमान मुल्लाओं और हिन्दू पण्डितोंकी शरण ली, किन्तु किसीने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। दरियाने भी समझा कि उन लोगोंके पास देनेलायक कोई वस्तु है ही नहीं, अतः वे एक 'प्रेमजी' के पास चले गये। प्रेमजीका जन्म हिन्दूकुलमें हुआ था, किन्तु उनकी साधनाके आदिगुरु थे साधकश्रेष्ठ दादू। प्रेमजीके संसर्गसे दरिया दादूके भावोंसे भरपूर हो उठे। कुछ भक्तोंका तो यहाँतक कहना है कि दरिया दादूके ही दूसरे अवतार थे। उन्होंने रैन गाँवमें ही अपनी कुटिया बनायी।

आगे चलकर दरिया साहब बड़े सिद्ध साधु हुए। हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्प्रदायके लोग उनके उपदेशोंद्वारा आकर्षित होकर उनके भक्त हो गये। सन् १७५८ ई० में ८२ वर्षकी अवस्थामें उन्होंने शरीरत्याग किया। उनके पन्थवादी भक्तलोग आजकल भी अगहनकी पूर्णिमाको उनकी मृत्युतिथि मनाते हैं।

दरिया साहबकी बानियोंद्वारा उनके जीवन और उनकी साधनाका इतिहास और क्रमविकास साफ-साफ मालूम हो जाता है। जिस समय वे सत्यकी खोजमें इधर-उधर घूम रहे थे उस समय उन्होंने देखा कि सभी अपने-अपने सम्प्रदायकी संकीर्णताको लेकर व्यस्त हैं। किसीका सत्यके साथ साक्षात्कार नहीं हुआ है। उस समयकी अवस्थाका वर्णन उन्होंने यह कहकर किया है—

दरिया दुखिया जब लगी, पछा पछा बेकाम।

अर्थात् मनुष्य जितने दिनतक साम्प्रदायिकताको लेकर व्यस्त रहता है उतने दिनतकका उसका जीवन व्यर्थ होता है, तबतक वह दुःखसागरमें निमग्न रहता है।

गिरह माँह धंधा घना, भेख माँह हलकान।
जन दरिया कैसे भजूँ, पूरन ब्रह्म निदान॥

घरके झंझटोंमें फँसकर ईश्वर-चिन्तन करना बहुत मुश्किल है और भेख बनाने (संन्यास लेने) में बड़ी अड़चन है। वे बड़ी मुश्किलमें पड़े हैं। उनका अनुभव ऐसा था कि सम्प्रदायवादी तत्त्वकी बातें नहीं जानते—

मतवादी जाने नहीं, ततवादीकी बात।

इसीलिये वे बड़ी करुणाके साथ गाते फिरते थे—

दुनिया भरम भूलि बौराई।
आतमराम सकल घट भीतर, ताकी सूध न पाई॥
मथुरा-काशी जाय द्वारिका, अड़सठ तिरथ नहावे।
सतगुरु बिन सोधा नहिं कोई, फिर फिर गोता खावे॥
चेतन मूरत जड़को सेवै बड़ा थूल मत ह्वैला।
देह अचार किया कहा होई, भीतर ही मन मैला॥
जप-तप-संयम, काया कसना, संख-जोग-ब्रत-दाना।
या तें नहीं ब्रह्मसे मेला, गुन हर करम बँधाना॥
बकता होय तो कथा सुनावे, स्त्रोता सुन घर आवे।
ज्ञान-ध्यानकी समझ न कोई, कह-सुन जनम गँवावे॥
'जन दरिया' यह बड़ा अचंभा, कहे न समझे कोई।
भेड-पूँछ गहि सागर लाँघे, निशचै डूबै सोई॥

वे मतवादियोंके संकीर्ण झगड़ोंसे व्यथित होकर सत्यकी खोजमें अकेले ही निकल पड़ते हैं। वे अपनी आत्मासे कहते हैं कि तू व्यर्थ बाँगर (सूखी जमीन) में क्यों बंद है। भगवान् सागरकी ओर चल..........

चल, चल रे हंसा! राम-सिंध।
बाँगड़में क्यों रह्यो बंध॥
मानसरोवर विमल नीर।
जहँ हंस-समागम तीर-तीर॥
आपा-परकी नहीं छोत।
साधु-समागम सहज होत॥

दरिया 'राम-सिन्ध' पहुँच जाते हैं। वहाँ वे अब रामकी आराधना करते हैं—

नमो राम परब्रह्मजी, सतगुरु संत-अधारि।
जन दरिया बंदन करे, पल पल वारूँ वारि॥
नमो नमो हरि गुरु नमो! नमो नमो सब संत।
जन दरिया बंदन करे, नमो नमो भगवंत॥

इसके बाद सच्चे खोजी दरियापर प्रसन्न होकर राम उसे अपना लेते हैं।

रामसे साक्षात्कार हो जानेपर दरियाके ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं, वे सभी पदार्थोंको अब असली रूपमें देखते हैं। उस ज्ञानचक्षुद्वारा उन्होंने साधु, संसार, स्त्री, शूरवीर, अन्तरात्मा आदि अनेक वस्तुओंका विवेचन किया है। वे शुद्ध अन्तर्धामका परिचय इस प्रकार देते हैं—

धरती-गगन, पवन-नहिं पाती, पावक चंद न सूर।
रात-दिवसका गम नहीं, ब्रह्म रहा भरपूर॥
मन-बुध-चित पहुँचे नहीं, शब्द सके नहिं जाय।
दरिया धन रे साधरा, तहाँ रहे लौ लाय॥
माया तहाँ न संचरे, जहाँ ब्रह्मका खेल।
जन दरिया कैसे बने, रबि-रजनीका मेल॥
एक-एकको ध्याय कर, एक-एक आराध।
एक-एकसे मिलि रहे, जाका नाम सुसाध॥
अनंतहि चंदा ऊगिया, सूरज कोटि परकास।
बिन बादल बरखा घना, छः ऋतु बारह मास॥
घुरे नगारा गगनमें, बाजे अनहद तूर।
जन दरिया जहँ थिति रजा, निसिदिन बरसे नूर॥
बिन पावक पावक जरे, बिन सूरज परकास।
चाँद बिना जहँ चाँदना, जन दरियाका बास॥
नौबत बाजे गगनमें, बिन बादल घन गाज।
महल बिराजें परमगुरु, दरियाके महराज॥
जन दरिया जा गगनमें, किया सुधारस पान।
गंग बहै जहँ अगम का, जाय किया असनान॥
अमी झरत, बिगसत कमल, जोग अमृत-रस पान।
'जन दरिया' उस देशका, भिन-भिन करत बखान॥

और इस प्रकार भवसागरसे पार उतरकर वे अब मत-मतान्तरवादी दुनियासे कहते हैं कि अब तो—

जात हमारी ब्रह्म है, मात-पिता है राम।
गिरह हमारा सत्यमें, अनहदमें बिसराम॥

सच है, आत्मान्वेषी मनुष्य मानवतासे बहुत ऊपर उठ जाता है।

योगिराज श्रीषट्प्रज्ञ स्वामी

(लेखक—श्रीमणिरामजी वैद्य)

सौराष्ट्र देशान्तर्गत सालावाड़ प्रान्तमें दुधरेज (पय:सर) नामक ग्राममें एक बड़ा सुरम्य संत-आश्रम है। इस आश्रमकी स्थापना संवत् १५९५ में योगीन्द्र श्रीनीलकण्ठ स्वामीने की थी। इन्हीं श्रीनीलकण्ठ स्वामीकी शिष्य-परम्परामें षट्प्रज्ञ स्वामी एक बड़े भारी संत हुए हैं। षट्प्रज्ञ स्वामीका जन्म झिंझुवाड़ाके महाराज झाला क्षत्रिय श्रीयोगिराजसिंहजीकी धर्मपत्नी श्रीगंगादेवीके गर्भसे विक्रम संवत् १६६८ की आषाढ़ी पूर्णिमाको हुआ था। इनका नाम सामतसिंह रखा गया। समय पाकर इनकी राजकुमारके योग्य शिक्षा-दीक्षा हुई। एक बार कुमार सामतसिंह झिंझुवाड़ा नगरके समीप ही सरस्वती झीलके तटपर शिकार खेलने गये। वहाँ पासहीमें योगीन्द्र श्रीयादव स्वामीका आश्रम था। कुमार सामतसिंहने आश्रमके समीप ही जल पीते हुए एक मृगको बाणसे मार डाला। श्रीयादव स्वामी मृगको मरा देखकर दयार्द्र होकर उसके पास गये और अमृतसंजीवनी मन्त्रके प्रभावसे उसे जीवित कर दिया। श्रीयादव स्वामीके इस परम प्रतापको देखकर राजकुमार बड़े प्रभावित हुए और पूर्वजन्मका पुण्योदय होनेसे वे अपने इस दुष्कर्मके लिये पश्चात्ताप करते हुए श्रीस्वामीजीके चरणोंमें गिर पड़े और अपराध क्षमा करनेके लिये प्रार्थना करते हुए बोले—'हे भगवन्! आप-जैसे महापुरुषोंकी महिमा न जानते हुए मुझ अपराधीने जो आपके इस अभयप्रद आश्रमके समीप इस निरपराध मृगका वध किया है, इसके लिये मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ; अब मैं आपसे दीक्षा लेकर आपकी ही शरण ग्रहण करना चाहता हूँ।' राजकुमारके ये वचन सुनकर श्रीयादव स्वामीने कहा कि 'राजकुमार! सत्पुरुषोंकी मर्यादाका क्षत्रियलोग तो रक्षण करते हैं और राक्षसलोग नाश करते हैं। तुम तो कुलीन क्षत्रिय हो, तुमने भगवान् नलेश्वरके आश्रममें हमारी कुटियाके पास इस मृगका वध करके यद्यपि महान् पाप किया है, तथापि तुम्हारे पश्चात्तापको देखकर हम तुम्हें क्षमा करते हैं। फिर कभी ऐसा दुष्कर्म न करना। तुमने जो दीक्षाके लिये याचना की है वह ठीक नहीं, क्योंकि अभी तुम्हारा अन्त:करण अनेक प्रकारकी भोगवासनाओंसे मलिन है और इस विषयमें तुम्हारे पिताकी भी सम्मति नहीं होगी। अत: तुम राजधानीमें जाकर अपना कर्तव्य पालन करते रहो।' श्रीयादव स्वामीकी बात सुनकर कुमारने गिड़गिड़ाकर कहा—'हे प्रभो! आपके कृपापूर्ण दृष्टिपातसे अब मैं बिलकुल पवित्र हो गया हूँ। मेरे अन्त:करणमें अब किसी तरहकी सांसारिक वासना नहीं रह गयी है। पिताजी तो मुझे दीक्षाके लिये आज्ञा देंगे ही नहीं, अत: अब मैं आपकी सुखद चरण-शरण छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाऊँगा।' कुमार सामतसिंहकी ऐसी प्रबल उत्कण्ठा देखकर और उन्हें दीक्षाका अधिकारी जानकर श्रीयादव स्वामीने उन्हें दीक्षित करके उनसे कहा कि 'शमदमादि षट्संपत्तियुक्त होनेसे अबसे तुम्हारा नाम षट्प्रज्ञ हुआ और तुम अपने अवशेष जीवनको भगवत्प्रेम और भगवद्भक्तिकी प्राप्तिमें लगा दो।' इसके बाद षट्प्रज्ञ स्वामी श्रीगुरुदेवकी आज्ञासे दुधरेजके पास, जहाँ कि उनके पूर्वजोंद्वारा निर्मित आश्रम था, आकर निवास करने लगे।

श्रीषट्प्रज्ञ स्वामी बड़े दयालु थे। जब भी किसी जीवको दु:खी देखते तो इनका हृदय पिघल जाता और उसके दु:खनाशके लिये अपने इष्टदेव श्रीरामसे प्रार्थना करते। श्रीस्वामीजीने उस स्थानमें श्रीरामका एक सुन्दर मन्दिर बनवाकर पासमें ही एक वटवृक्ष बो दिया। और उस वटवृक्षके कुछ बड़े होनेपर बद्रीनाथ, केदारनाथ आदि भगवान्के अनेक नामोंकी तरह उन्होंने अपने भगवान्का नाम श्रीवटनाथ प्रभु रखा और आजीवन उन्हींकी सेवा-पूजा करते रहे। श्रीषट्प्रज्ञ स्वामी बड़े भारी योगी भी थे। इनमें ऐसी अपूर्वता थी कि जो भी मनुष्य, चाहे वह भक्त हो अथवा अभक्त, इनके पास आकर इनके चरणोंमें प्रणाम करता और जिसकी ओर ये जरा भी कृपापूर्ण दृष्टिसे देख लेते वही श्रीरामका प्रिय भक्त बन जाता था। इस प्रकार प्राणिमात्रको भगवद्भक्ति

प्रदान करते हुए श्रीषट्प्रज्ञ स्वामीने संवत् १७८६ की चैत्र शुक्ला पूर्णिमाको अपनी इहलीला समाप्त की।

इनके अनेकों रामभक्त शिष्य थे। उनमेंसे श्रीलब्धरामजी और श्रीभाणस्वामी नामक दो शिष्य बड़े भारी भक्त हुए। श्रीलब्धरामजी महाराजकी शिष्यपरम्पराके संत अभीतक दुधरेजमें हैं और ये रामकबीरसम्प्रदायके कहे जाते हैं। इस दुधरेज (पय:सर) आश्रममें भगवान् श्रीवटनाथजीका एक बड़ा सुन्दर दिव्य मन्दिर है और मन्दिरके पश्चिम प्रदेशमें एक रमणीय सरोवर है। एक बार षट्प्रज्ञ स्वामीने इसी तालाबके जलको अपने प्रतापसे दो घंटेके लिये दुग्धरूपमें परिवर्तित करके संतोंको क्षीर भोजन कराया था। श्रीषट्प्रज्ञ स्वामी जिस मालासे जप किया करते थे वह माला अब भी श्रीवटनाथ प्रभुके मन्दिरमें रखी हुई है। इस मालाका प्रभाव है कि जिसको किसी पगले कुत्तेने काट खाया हो उसे इस मालासे स्पर्श की हुई छाछ पिलानेसे रोगी स्वस्थ हो जाता है। आजकल भी सैकड़ों मनुष्य प्रतिवर्ष बड़ी दूर-दूरसे आकर पागल कुत्तेके विषके परिहारके लिये छाछ पीते हैं और श्रीवटनाथ प्रभुका दिव्यदर्शन करके कृतार्थ होते हैं। इस मालासे स्पर्श की हुई छाछ पीनेपर यदि कोई जन्मभर मांस-मदिराका सेवन न करे तो उसे आजीवन पागल कुत्तेके विषकी बाधा नहीं होती।

स्वामी श्रीषट्प्रज्ञजीकी निष्ठा श्रीशंकराचार्यके अद्वैत सिद्धान्तमें थी। श्रीरामकबीरजीके प्रिय शिष्य श्रीपद्मनाभ स्वामीके शिष्यपरम्परागत होनेसे आप श्रीरामकबीर-सम्प्रदायके कहे जाते हैं। इस आश्रमके संत उभयनिष्ठ होनेसे रामभक्तों और अद्वैतनिष्ठ महात्माओंमें समान भाव रखते हैं। स्वामी श्रीषट्प्रज्ञजीके द्वितीय शिष्य श्रीभाणस्वामी भी बड़े प्रतापशाली महापुरुष थे। इन्होंने अपने अमृतमय उपदेशोंसे अनेकों जीवोंका उपकार किया। भाणस्वामीका जन्म संवत् १७५४ की चैत्र शुक्ला एकादशीके दिन श्रीकल्याणजी वर्माकी धर्मपत्नीके गर्भसे 'किनखिलोड' नामक ग्राममें हुआ था। इनके प्रिय शिष्य श्रीरविराम महाराजने अपने 'भाणपरचरी' नामक ग्रन्थमें इनका बहुत विस्तृत चरित्र वर्णन किया है।

श्रीषट्प्रज्ञ स्वामीका वटपत्याश्रम दुधरेज नामक ग्राममें है। यह ग्राम बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवेके बढ़वाण स्टेशनसे करीब १॥ मीलकी दूरीपर है। श्रीद्वारकानाथजीकी यात्रा करनेवाले सैकड़ों नर-नारी बढ़वाण जंक्शनपर उतरकर श्रीवटनाथभगवान् और श्रीषट्प्रज्ञ स्वामीकी मालाका दर्शन करके कृतार्थ होते हैं।

महात्मा तैलंग स्वामी

प्राय: पचास वर्ष पूर्व काशीमें तैलंग स्वामी नामक एक बहुत प्रसिद्ध महात्मा हो गये हैं। आप एक परमसिद्ध योगी और जीवन्मुक्त पुरुष थे। सदा दिगम्बरवेशमें रहा करते थे। ये भूत-भविष्य-वर्तमानकी बातें जानते थे और किसीके आनेपर बिना कुछ कहे उसके मनके प्रश्नका उत्तर दे दिया करते थे। जल-थल, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सब आपके लिये समान था। ये सदा परदु:खकातर रहा करते थे। मान, प्रसिद्धि और ख्यातिसे बहुत दूर भागते थे। जलपर पद्मासन लगाना, गंगाजीमें तीन-तीन दिनतक लगातार डूबे रहना, समाधि लगाकर दूरका समाचार जान लेना, आकाशमें निराधार स्थित रहना इत्यादि बातें उनके लिये बहुत साधारण थीं। २८० वर्षकी अवस्थामें आपने महासमाधि ली।

दक्षिण भारतके विजियाना ग्राममें विक्रमीय संवत् १६६४ के पौषमासमें आपका एक सुसम्पन्न ब्राह्मणपरिवारमें जन्म हुआ। नाम रखा गया 'शिवराम'। आप अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि थे। बचपनसे ही संसारके विषयोंके प्रति वैराग्य तथा अध्यात्मकी ओर प्रवृत्ति इनमें देखी गयी। युवावस्था आते-आते इनकी उदासीनता स्पष्ट दिखलायी पड़ने लगी। पिताका देहान्त पहले हो चुका था। माताने इन्हें बहुत लाड़-प्यारसे पाला था और माताके उपदेशोंसे इन्हें अध्यात्ममें बढ़नेका ही बराबर प्रोत्साहन मिलता रहा। पिताके वियोगके बारह वर्ष पश्चात् माताका भी वियोग हो गया। इस समय आपकी उम्र ४८ वर्षकी थी। अब इन्होंने अपनेको सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त पाया। माताकी अन्त्येष्टिक्रिया करके वे घर नहीं लौटे। जिस स्थानपर माताका अग्निसंस्कार हुआ था उसी स्थानपर ये बैठ गये और पीछे वहीं इनके लिये कुटी भी बन गयी।

उस स्थानपर बीस वर्ष आपने कठोर साधना

की। महापुरुषकी खोजमें अब आप वहाँसे बाहर निकले। भाग्यवश भगीरथ स्वामीके दर्शन हुए। पुष्करक्षेत्रमें गुरुसे दीक्षा ली। दो वर्ष बाद गुरु भी इस लोकसे चलते बने। तैलंग स्वामी कई स्थानोंमें घूम-फिरकर अन्तमें रामेश्वरम् पहुँचे। इसके अनन्तर नैपाल, मानसरोवर, नर्मदातीर, प्रयाग आदि स्थानोंमें बहुत दिनोंतक साधना की। ख्याति होते ही एक स्थानसे दूसरे स्थानको चले जाते। अन्तमें काशीधाम पधारे। वहाँ महात्मा तैलंग स्वामीके सम्बन्धमें अनेकों चमत्कारकी बातें प्रचलित हैं। प्रयागमें आपने आदमियोंसे भरी हुई एक नावको आँधी-पानीके कारण डूब जानेपर पुन: बाहर निकाल लिया। काशीमें एक अँगरेज अफसरने नंगा रहनेके कारण इन्हें हवालातमें बंद कर दिया। सबेरे देखा गया तो हवालातका ताला बंद है और स्वामीजी हँसते हुए बाहर टहल रहे हैं। पूछनेपर इन्होंने बतलाया कि 'ताला-चाभी बंद कर देनेसे ही किसीका जीवन बाँधा नहीं जा सकता। यदि ऐसा होनेको होता तो मृत्युकालमें हवालातमें बंद कर देनेसे मनुष्य मौतके मुँहसे ही बच जाता।'

आपका दृढ़ विश्वास था कि भगवान् यह मनुष्य-शरीर बनाकर स्वयं इसमें विराजते हैं। प्रत्येक मनुष्यके अंदर ईश्वरी शक्ति ओत-प्रोत हो रही है। मनुष्य जितना संसारके लिये परिश्रम करता है, उसका शतांश भी यदि भगवान्के लिये प्रयत्न करे तो वह उसे प्राप्त कर सकता है और उस समय संसारमें उसके लिये कुछ भी असम्भव नहीं रहेगा।

उन्हें प्राप्त करनेके लिये साधना करनी चाहिये। उनकी भक्ति करनी चाहिये, गुरूपदिष्ट मार्गका अनुसरण करना चाहिये। इस संसारमें एक भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। भगवान्को प्राप्त करनेका यही सबसे उत्तम मार्ग है।

वि० सं० १९४४ की पौष शुक्ला ११ को आप ब्रह्ममें लीन हो गये। इनकी आज्ञाके अनुसार इनके शवको बक्समें बंद करके गंगाजीकी बीचधारामें छोड़ दिया गया।

—'माधव'

श्रीरामस्नेहीसम्प्रदायके संत

(लेखक—श्रीचौकसरामजी महाराज 'वैद्यकलानिधि')

श्रीहरिरामदासजी महाराज

श्रीरामानन्दी वैष्णवसम्प्रदायान्तर्गत एक रामस्नेही नामकी शाखा मारवाड़ प्रान्तमें प्रसिद्ध है, इसके आद्याचार्य श्रीहरिरामदासजी महाराज हुए। बीकानेरसे नौ कोस पूर्वमें सिंहथल नामक ग्राम है, वहाँ भाग्यचन्दजी जोशी नामक ब्राह्मणके घर आपका प्रादुर्भाव हुआ। विशुद्धबुद्धि होनेसे छोटी अवस्थामें ही ज्योतिष, योग, वेदान्तादि शास्त्रोंमें आप कुशल हो गये। अनन्तर भक्ति, विरक्ति और उपरतिके तीव्र भावोंके कारण आप दुलचासर ग्राममें श्रीरामानन्दी वैष्णव महात्मा श्रीजैमल-दासजी महाराजके शरणागत हुए। आपने संवत् १७०० के आषाढ़ कृष्णा १३ को दीक्षा ली। पश्चात् आप श्रीगुरुदेवका आशीर्वाद प्राप्तकर सिंहथल पधारे। आप प्रतिदिन सन्ध्या होते ही सिंहथलसे सात कोस दुलचासर ग्राममें अपने गुरुदेवके पास चले जाते थे और रातभर सत्संग कर प्रात: सूर्योदयसे पहले वापस सिंहथल लौट आते थे। इस तरह छ: महीने बीत गये। इसके बाद श्रीगुरुदेवकी विशेष आज्ञाके कारण आप प्रतिदिन न जाकर महीनेमें एक बार गुरुदर्शनार्थ पधारते रहे, और कुछ ही दिनोंमें श्रीसद्गुरुकृपासे पूर्ण योगी हो गये। जीवोंके कल्याणार्थ आपने वेद-वेदान्त, उपनिषद् और योगशास्त्रके सिद्धान्तानुसार सारगर्भित अनुभवपूर्ण उपदेश दिये, जो 'वाणी' के रूपमें आज भी प्रचलित हैं। आपके सहस्त्रों शिष्य-प्रशिष्य हुए तथा अनेकों आपके जीवनमें चमत्कार हुए, विस्तारभयसे यहाँ एक-दो ही लिखे जाते हैं—

स्थानीय स्वरूपसिंहजी नामक बारहट दैवयोगसे बहुत ही आर्थिक कष्टमें पड़कर श्रीमहाराजके शरण हुए और आपकी दयासे उस संकटसे मुक्त होनेके साथ ही भक्तिपात्र भी हो गये। इस विषयमें एक दोहा प्रचलित है—

गायो गुण गोविन्दको, पायो द्रव्य अमाप।
आयो साच स्वरूपके, सद्गुरु द्यालप्रताप॥

एक बार प्राय: सब शिष्योंने आपके जीवित

श्रीहरिरामदासजी महाराज, श्रीरामदासजी महाराज, श्रीदयालदासजी महाराज
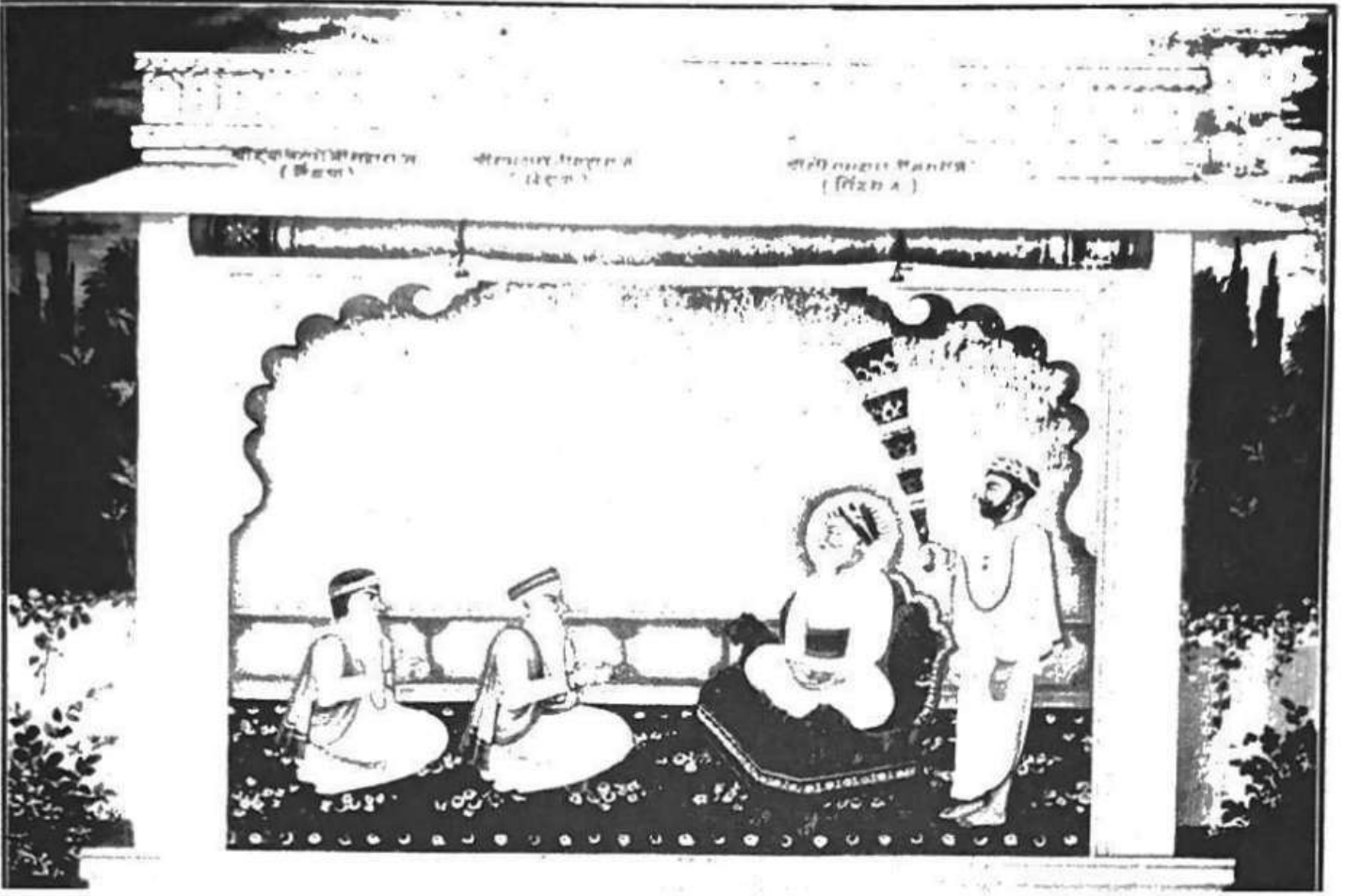
श्रीखैड़ापि देवलोंसे प्राप्त वि. सम्वत् १९८९

स्वामी श्रीअग्रदासजी

स्वामी रामप्रसादजी

श्रीरामचरणदासजी महाराज

भारतीबाबाकी छबी, खवासजीका बाग, जयपुर

स्वामी उत्तमनाथजी

श्रीवृत्तीनारायणजी

महोत्सवके लिये सं० १८३४ चैत्र कृष्ण ७ का दिन निश्चयकर सबको आमन्त्रित कर दिया। उत्सवकी तैयारी होने लगी, परन्तु उक्त निश्चित तिथिसे पन्द्रह दिन पूर्व ही आप अचानक शरीर छोड़कर भगवद्धाम पधार गये। इससे शिष्योंको अत्यन्त दुःख हुआ। शिष्योंके दुःखसे करुणार्द्र होकर आप भगवान्से एक मासकी आज्ञा लेकर पुनः लौट आये। अब शिष्योंके आनन्दका पार नहीं रहा तथा सारे काम फिर धूमधामसे होने लगे। बहुत जनसमुदाय होनेसे, जिन्हें पानीका ठेका दिया था वे पर्याप्त पानी नहीं पहुँचा सके। बीकानेरके गाँवोंमें जलका अभाव प्रसिद्ध है। लोग घबरा गये। तब शिष्योंकी प्रार्थनापर आश्वासन देते हुए आपने कहा कि घबराओ नहीं, ईश्वर सब आवश्यकताओंकी पूर्ति अपने-आप ही करेंगे। इतना कहकर स्वयं अपनी कुटीमें ध्यानस्थ हो गये। एक-ही-दो घड़ीमें प्रभुकृपासे निर्मल आकाशमें मेघोंने आकर गर्जना की और चारों तरफ जल-ही-जल कर दिया। बड़े आनन्दसे महोत्सवकी समाप्ति हुई और लोग अपने-अपने स्थानोंको चले गये। तब आपने पूर्व प्रतिज्ञाको यादकर सं० १८३५ चै० शु० ७ शुक्रवारको तीन पहर पहले ही अन्त्येष्टि-क्रियाकी सब सामग्री मँगवा ली। और निर्दिष्ट समयपर श्रीमहाराजने शरीर छोड़ दिया। अन्तिम संस्कार होनेके बाद शिष्य श्रीनारायणदासजी महाराजकी प्रार्थनानुसार एक श्रीफल, एक गादी और पाँच-सात पटल दर्शनार्थ प्राप्त हुए।

श्रीरामदासजी महाराज

श्रीजीमहाराजके शिष्योंमेंसे श्रीरामदासजी महाराजद्वारा सद्गुरुकी इच्छानुसार साम्प्रदायिक सिद्धान्तका जनसाधारणमें बहुत प्रचार हुआ। सिद्धान्तका दिग्दर्शन लेखके अन्तमें उद्धृत इन महात्माओंकी कुछ अनुभववाणीसे हो सकता है। जोधपुरराज्यमें खेड़ापा नाम प्रसिद्ध स्थान है, वहाँ आपकी गादी है।

संतोंसे सहज वैर रखनेवाले कुछ दुष्टोंके द्वारा भ्रान्त किये जानेपर वहाँके राजाने हुक्म दिया कि जो साधु सनातन वर्णाश्रमधर्मकी अवहेलना कर सभी वर्णोंको हरिभक्तिका समान अधिकारी बताकर रामनामजपका ही प्रधानतासे प्रचारकर मर्यादाको मिटा रहा है, उसे शीघ्र देशसे बाहर कर दो। यह सुनकर श्रीरामदासजी महाराजने कहा कि 'हम अनादि रामके साधु हैं; राजाकी इच्छा है तो देश छोड़ देंगे, देश किसका है? काया-माया झूठ है, सर्वत्र रामका ही राज्य है, जिस मुरारिकी इच्छाको पुरारि महादेवने मस्तकपर धारण किया है, वही हमारे साथ हैं। तुम्हारी सीमा रखो, ईश्वरकी सीमामें 'मैं' और 'मेरी' कहना नहीं बनता। उस गर्वापहारी रामके समान कौन बल-बुद्धि-शक्तिशाली है?' ऐसा कहकर वे राज्यकी सीमासे बाहर हो गये। संतोंके अनादरसे राजाका तेज क्षीण हो गया, अनुचर बदल गये, तब वह घबराकर अपराधको स्मरण करने लगा। और अति दैन्यभावसे अपने कर्मचारियोंद्वारा प्रार्थनाका सन्देश पहुँचाकर क्षमा करवायी और खेड़ापामें संतोंसे पुनः विराजनेकी याचना की। संत दयालु होते ही हैं, वापस लौट आये, जिससे सभीको बड़ा आनन्द हुआ।

श्रीदयालुदासजी महाराज

श्रीरामदासजी महाराजके बावन शिष्य हुए, उनमें श्रीदयालुजी महाराजका नाम विशेष उल्लेखयोग्य है। आपका जीवन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।

एक समय आप पहाड़की गुफामें विराजते हुए भजन कर रहे थे कि एक दिन देवप्रेरित कोई मनोहर स्त्री आपको छलनेके लिये वहाँ आयी। ध्यानस्थ महाराजको विचलित करनेकी इच्छासे उसने अनेकों यत्न किये, पर सब निष्फल हुए। उसने कहा—'महाराज! मैं देवताओंसे विवाद करके आयी हूँ, एक बार नेत्र खोलकर मुझे देख लीजिये।' श्रीदयालुजीने उसकी बातपर कोई ध्यान ही नहीं दिया, तब उसने कुपित होकर कहा—'आप मेरी ओर एक नजर भी नहीं डालते तो इसका फल चखिये। आप अभी असह्य नेत्रवेदनासे व्यथित हो जायँ।' ऐसा कहकर वह चली गयी और उसी क्षण आपके नेत्रोंमें अत्यन्त पीड़ा होने लगी, साथ ही दृष्टि भी जाती रही। तब बहुत दीन होकर आपने करुणासागर नामक ग्रन्थकी रचना की, जिससे आपकी नेत्रव्यथा अनायास शान्त हो गयी और दृष्टिशक्ति भी लौट आयी। इस ग्रन्थके पढ़नेसे भक्तोंका हृदय भगवद्विश्वास तथा कारुण्यभावके उदय होनेसे भगवन्मय हो जाता है।

अब संक्षेपमें इन संतोंकी सिद्धान्त-वाणियाँ लिखी जाती हैं।

हरिया रत्ता तत्तका, मतका रत्ता नाहिं।
मतका रत्ता जो फिरे, तहाँ तत पायो नाहिं॥

दारकमें पावक बसे, यों आतम घट माहिं।
हरिया पयमें घृत्त है, बिन मथिया कछु नाहिं॥
ज्ञान ब्रह्मकी दृष्टि है, क्रिया धियान स्वरूप।
जन हरिया मिल एकठा आतम तत्त्व अनूप॥
हरिया निर्गुण मूल है, सगुणजु साखा-पान।
भक्ति बीज, फल मुक्ति है, और धर्म सब आन॥
राम-नाम तत-सार है, सबहीको आधार।
रामा सुमरो रामको, मेटो विषय-जँजार॥
दुनिया चाहे सुक्खको, सुख सब ही है झूठ।
रामदास जो सुक्ख है, तासों रहिया रूठ॥

जीव-सीव-मेला भया, मिले ओत अरु प्रोत।
रामा साईं एक है, जहाँ ब्रह्म निज जोत॥
हरि वर्षा सरभावमें निजमन सीप सदाय।
गुरुसमाज स्वाती नखत, मुक्ता क्यों नहिं थाय?
श्रद्धा सुमरण राम, मीनमन राम सनेही।
गुणग्राही गुणवंत लाय लेखे हरि देही॥
अमल तमाखू भाँग तजै, आमिष-मदपानं।
जुवा द्यूतका कर्म नारि पर माता जानं॥
साच, शील, क्षमा गहै, राम-राम सुमरण रता।
रामाभक्ति-भाव दृढ़ रामस्नेही ये मता॥

बाबा किनाराम अघोरी

काशीसे कुछ दूर बाणगंगाके दक्षिण तटपर रामगढ़ नामका एक गाँव है। वहीं विक्रम संवत् १६८४ के चैत्रमें रघुवंशी क्षत्रिय अकबरके घरमें बाबा किनारामका जन्म हुआ। ये जन्मसे ही बड़े विरक्त, भगवद्भक्त एवं एकान्तप्रिय थे। पाँच वर्षकी अवस्थामें ही ये कंकर-पत्थर इकट्ठे कर लेते और जल, पुष्प आदि चढ़ाकर उनकी पूजा करते और उनके पास घंटों अकेले बैठे 'हरे राम, सीताराम, राम-राम' आदि मन्त्रोंका कीर्तन करते रहते।

नौ वर्षकी अवस्थामें ही इनका विवाह कर दिया गया। इस बन्धनसे इन्हें बड़ी चिन्ता हुई, परन्तु धैर्य और उत्साहपूर्वक ये अपने साधनको क्रमशः बढ़ाते रहे! अब ये बहुत कम बोलते और प्रायः एकान्तमें ही रहते।

तेरह वर्षकी अवस्थामें इनके गौनेका दिन नियत हुआ। प्रातःकाल ही प्रस्थानका मुहूर्त था। रात्रिको ये सहसा कह उठे कि वह माई तो पिताके पास पहुँच चुकी। सम्बन्धियों तथा माता-पिताको यह बात बहुत बुरी लगी। उन्होंने इन्हें डाँट-डपट बतलायी, ये चुप हो रहे। सुबह लोग ज्यों ही सज-धजकर चलनेकी तैयारीमें ही थे कि इनकी ससुरालका नाई खबर लेकर आया कि 'कन्याका देहान्त हो गया। रथी सैदपुर घाटपर लायी गयी है। मृतकसंस्कारके लिये आप लोग तुरंत चलिये।' 'तेरे मन कछु और है, कर्ताके कछु और।' सबके चेहरोंपर उदासी छा गयी, परन्तु किनाराम अपनेको संसारके बन्धनसे मुक्त समझकर आनन्दसे मुसकरा उठे। अबतक जो लोग इन्हें पागल समझते थे अब वचनसिद्ध संत समझने लगे। कुछ समय बाद इन्होंने वैराग्यके आवेशमें घरसे निकलकर बलियाके कारों नामक गाँवमें बाबा शिवारामजी वैष्णवकी सेवामें जाकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया, और फिर गुरुकी आज्ञासे घर लौट आये और अपना सारा समय ईश्वर-भजनमें बिताने लगे। इनकी यह हालत देखकर इनके माता-पिताने इनका दूसरा विवाह करनेका विचार किया। जब इन्हें इस बातका पता चला तो ये फिर चुपकेसे घरसे निकल पड़े और चारों धामों तथा अयोध्या, मथुरा आदि अनेक तीर्थोंका भ्रमण करके बहुत वर्षों बाद अपने गाँव लौटे। यहाँ आकर वे गाँवके दक्षिण, बाणगंगाके निकट जंगलमें एक वटवृक्षके नीचे अपना डेरा डालकर ईश्वर-भजन करने लगे।

भजनकी वृद्धिके साथ ही इनका तेज भी बढ़ता गया। साथ ही इनमें एक अजीब आकर्षण था, हजारों यात्री दूर-दूरसे इनके दर्शनार्थ आने लगे। यात्रियोंके लिये जलका कष्ट देखकर इन्होंने एक कुआँ बनवा दिया और उसके चारों ओर एक पक्का बरामदा बनवाया। बरामदेकी छतमें न मिहराब रखीं और न कड़ियाँ ही चढ़ायीं, सिर्फ उपलोंसे उसे पटवा दिया। और कहा 'बाबा! तू पक्का हो जा।' इनके कहनेमात्रकी देर थी कि सारी छत पक्की हो गयी। और वह अबतक विद्यमान है। कहा जाता है कि इस कुएँपर मंगलवारको धरना देकर स्नान करने, निर्जल रहने और हवन करनेसे अनेकों तरहके ज्वर छूट जाते हैं। इस कुएँका नाम रामसागर है और इसके पास ही किनेश्वर महादेवका एक मन्दिर है।

अब तीसरी बार ये तीर्थयात्राको निकले। घूमते-

घामते ये जूनागढ़ पहुँचे। वहाँके बादशाहने अपने राज्यके समस्त साधुओंसे कोई चमत्कार दिखानेको कहा— अन्यथा ठगनेके अपराधमें कैद करनेकी धमकी दी। जब कोई भी साधु किसी तरहकी अपनी अलौकिक शक्ति न दिखा सका तो सभीको कैदखानेमें डाल दिया गया। सिपाही किनारामजीको भी पकड़कर ले गये! वहाँ साधुओंको चक्की पीसते देखकर इन्होंने कहा कि 'तुम चक्की क्यों चलाते हो, छोड़ दो। यह माई अपने-आप ही चलेगी!' साधु छोड़कर अलग हो गये और चक्कियाँ पूर्ववत् चलती रहीं। यह खबर पाकर बादशाह किनारामजीके चरणोंपर गिर पड़ा और उनसे क्षमाकी प्रार्थना करने लगा। किनारामजीकी आज्ञासे सब साधु छोड़ दिये गये। बादशाहके बहुत आग्रह करनेपर इन्होंने एक पात्र देकर कहा कि जितने साधु यहाँ आवें, उन सबको यह पात्र भरकर खिचड़ी दी जावे। कहा जाता है, यह सदावर्त अभीतक चालू है। इसके बाद किनारामजी फिर अपनी यात्रापर निकल पड़े।

घूमते-घामते ये गिरनार पहुँचे, वहाँ एक अघोरी सिद्ध महात्माके उपदेश सुनकर बड़े प्रभावित हुए और इन्होंने उनसे अघोरपन्थकी दीक्षा ले ली।

एक सौ अट्ठाईस वर्षकी अवस्थामें संवत् १८१२ में जब ये अपने गाँवको लौटे तो इन्हें अघोरी देखकर पहले तो गाँवके लोगोंने इनसे बड़ी घृणा की, परन्तु इनकी बढ़ी हुई शक्तियोंको देखकर वे इनका पहलेसे भी अधिक सम्मान करने लगे। अघोरपन्थ स्वीकार करनेपर भी ये निरन्तर भगवन्नामोंका कीर्तन करते रहते थे। इनके तपोबलसे प्रभावित होकर उस प्रान्तके ताल्लुकेदार महाराज बलवन्तसिंहजीने इनकी पूजाके खर्चके लिये अपने अधीनस्थ छियानवे परगनोंके प्रत्येक गाँवसे एक-एक रुपया वार्षिक आय बाँध दी, जो किनारामजीके अनुयायी महन्तोंको अब भी दी जाती है।

अघोरमतकी रामशाला काशी प्रान्तके रामगढ़ और टाँडामें है। जौनपुर जिलेमें भी कई जगह रामशालाएँ हैं, परन्तु सबसे प्रधान रामगढ़वाली ही मानी जाती है। इस सम्प्रदायमें अबतक विजाराम, विश्रामराम आदि अनेकों सिद्ध हो चुके हैं।

बाबा किनारामके कई पद्यात्मक ग्रन्थ मिलते हैं। रामरसाल, रामगीता, रामचपेटा, राममंगल आदि ग्रन्थ वैष्णवमतके हैं। अघोरमतके ग्रन्थोंमें केवल 'विवेकसार' नामक ग्रन्थ ही मिल सका है।

इनके जीवनमें बहुत-से अलौकिक चमत्कारोंकी बातें मिलती हैं, जो अनहोनी बात नहीं है। कहते हैं, सं० १८२६ में एक सौ बयालीस वर्षकी अवस्थामें आपने जीवित समाधि ले ली।

पं० केशवरामजी

(लेखक—आचार्य श्रीविश्वनाथजी शास्त्री प्रभाकर)

भक्ति और पाण्डित्यका योग जगत्में दुर्लभ ही है। भक्तिमें श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता है और पाण्डित्यमें तर्ककी। पं० केशवरामजीमें दोनोंका अपूर्व संयोग था।

वि० सं० १८०० में पंजाबके जिला होशियारपुरकी तहसील गढ़शंकरके अन्तर्गत जेजों नगरके समीप मदूद नामक एक साधारण गाँवमें प्रभाकर जातिके सारस्वत ब्राह्मणकुलमें पं० केशवरामजीका जन्म हुआ। आपका गौरवर्ण, सुडौल लंबा कद, बड़ी-बड़ी आँखें, भव्य आकृति देखनेवालोंको सहसा अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहती थी। इसी कुलमें माई जीत्तो एक परम भगवद्भक्ता सती स्त्री थी। इसे भगवान् श्रीरामके साक्षात् दर्शन हुए थे। बालक केशवपर इस वृद्धा माताकी बड़ी प्रीति-दया थी। भगवद्भक्तिकी प्रारम्भिक दीक्षा आपने इसी मातासे ही ली। माई जीत्तोने केशवको यह आशीर्वाद दिया था कि तुम एक विश्वविख्यात विद्वान् तथा परम भगवद्भक्त होओगे।

इसी माताकी आज्ञासे केशवजी ५०० कोस पैदल चलकर काशी आये। यहाँ आपने पं० भवदेवजी मिश्रसे पढ़ना आरम्भ किया। निरन्तर छब्बीस वर्ष काशीमें रहकर पं० केशवरामजी एक धुरंधर विद्वान् और आदर्श भगवद्भक्त बने और उसी समय गुरुपत्नीकी आज्ञासे आपको घर लौटना पड़ा। आपने घरपर संस्कृतपाठशाला स्थापितकर संस्कृत विद्याको, जो वहाँ लुप्त हो रही थी, पुनर्जीवित किया। इस पाठशालासे पढ़कर बहुत बड़े-बड़े विद्वान् निकले।

पण्डितजीके जीवनमें अनेक अद्‌भुत चमत्कारपूर्ण घटनाएँ हैं। आप सांसारिक संगसे सदा दूर रहते थे। निःस्पृहताकी मूर्ति थे। हर तीसरे साल हरिद्वार जाते। श्रीमद्भागवत आपका परमप्रिय ग्रन्थ था। अन्तमें पन्द्रह वर्ष तो दुग्धाहारपर ही रहे। ९० वर्षकी आयुमें वि० सं० १८९० में आपने अपना नश्वर शरीर छोड़ा।

श्रीसोहिरोबा महाराज

श्रीसोहिरोबाके पूर्वज गोमंतकमें रहते थे। इनके पिता व्यवसायके निमित्त सावंतवाडीके बाँदा गाँवमें आकर रहे। यहीं श्रीसोहिरोबाका जन्म संवत् १६९२ में हुआ। ये जब कुछ बड़े हुए तब आस-पासके कई गाँवोंके कुलकर्णी (पटवारी) नियुक्त हुए। यह काम इन्होंने बड़ी सचाई और दक्षताके साथ किया। ३५ वर्षकी वयस्में इन्हें वैराग्य प्राप्त हुआ। इस समय सावंतवाडीमें महाराज खेम सावंतका राज्य था। एक दिन उन्होंने श्रीसोहिरोबाको बुला भेजा। ये बाँदासे सावंतवाडी जानेके लिये निकल पड़े। रास्तेमें भूख लगी तब इन्होंने एक कटहल लिया। एक वृक्षकी छायामें बैठ गये और कटहल दोनों हाथोंसे पटककर तोड़ा, गरा निकालकर मुँहमें डाला ही चाहते थे जब एक आवाज आयी, 'बेटा! हमें कुछ देगा?' ये चौंककर देखने लगे तो सामने एक दिव्य पुरुष खड़े थे। इन्होंने तुरन्त उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और कटहल उनके सामने रखा। वे दिव्य पुरुष समूचा कटहल खा गये, केवल प्रसादके तौरपर उसमेंसे पाँच गरे इनके हाथपर रखे और अपना हाथ इनके मस्तकपर रखा और अन्तर्धान हो गये। श्रीसोहिरोबाने प्रसादके पाँच गरे पाये और तबसे उनकी चित्तवृत्ति बदल गयी। ये महाराज खेम सावंतके पास गये, जो काम उन्हें इनसे कराना था वह कर दिया और तब कुलकर्णीकी लेखनी बड़े प्रेमसे उनके सामने रखकर नौकरीसे इस्तीफा दे दिया। इसके बाद ये संतरूपसे सर्वत्र प्रसिद्ध हुए। ज्ञान, योग और भक्तिके विषयमें इनके अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें अक्षयबोध, महदनुभवेश्वरी, पूर्णाक्षरी, अद्वयानन्द और सिद्धान्त-संहिता विशेष प्रसिद्ध हैं। चिरसुखानन्द नामका इनका एक अप्रकाशित ग्रन्थ है, जिसमें ४००० पद हैं। भारतवर्षके तीर्थोंकी यात्रा इन्होंने की थी। इनके पदोंमें जो नाम और संकेत आते हैं उनसे यह मालूम होता है कि इनके गुरु श्रीगोरखनाथ अथवा श्रीगैनीनाथ थे। संवत् १७७० में ये अपने उज्जैनवाले मठमें थे। एक दिन वहाँसे जो बाहर निकले सो अदृश्य ही हो गये। इस अंकमें इनका जो चित्र दिया गया है वह इनके समकालीन चित्रकार गोपाल बुवाके द्वारा बने हुए इनके चित्रका फोटो है।

—ल० गर्दे

संत प्रह्लाद महाराज

[प्रह्लादमण्डल, पण्ढरपुरसे प्राप्त]

आजसे २५० वर्ष पूर्व पण्ढरपुरके बडवे कुलमें एक परम भक्त संत हो गये हैं जिनका नाम था प्रह्लाद, जिन्होंने श्रीज्ञानेश्वर महाराजके 'अमृतानुभव' ग्रन्थका संस्कृत रूपान्तर किया है। ये संस्कृतके बहुत बड़े विद्वान् थे। मराठीमें भी इनके अनेक पद्य हैं। ये बचपनसे ही श्रीविट्ठलके नामगुणगान और ध्यानमें मग्न रहा करते थे। भक्तिसे भगवान् किस प्रकार भक्तके अधीन हो जाते हैं इसके उदाहरण जैसे मीराबाईके विषप्राशनमें, जनाबाईके चक्की चलानेमें, कबीरके ताँतसे कपड़ा बुननेमें मिलते हैं वैसे ही प्रह्लादके जीवनमें यह बात मिलती है कि श्रीविट्ठलभगवान् रातकी आरती होनेके बाद प्रह्लादके घर दौड़ जाते और उन्हींके साथ सारी रात प्रेमसंवादमें बिताया करते थे। इस बातकी पण्ढरपुरमें इतनी मान्यता थी कि प्रह्लाद बुवाके पश्चात् भी भगवान्‌को प्रह्लादजीके घर जाकर पुकारकर जगाया जाता था और तब मन्दिरमें उनके दर्शन किये जाते थे। श्रीशिवाजी महाराजके पश्चात् औरंगजेबने महाराष्ट्रपर बड़े जोरकी चढ़ाई की थी। उस समय पण्ढरपुरके समीप ब्रह्मपुरीमें ही पाँच वर्षतक औरंगजेबका पड़ाव रहा था। बड़ा भय था कि पण्ढरपुरके मन्दिरपर आक्रमण होकर भगवान्‌पर कहीं

वार न हो। उस समय श्रीविट्ठलमूर्तिकी रक्षाका भार प्रह्लाद बुवापर ही था। उन्होंने श्रीविट्ठलमूर्तिको अपने घर लाकर रखा। जबतक महाराष्ट्र फिरसे देव-देवालय और धर्म-कर्मके लिये सर्वथा सुरक्षित न हो गया तबतक प्रह्लाद बुवाने श्रीविट्ठलको ऐसे ही सँभाला जैसे माता अपने बच्चेको सँभालती है। माता यशोदा जिस प्रकार इस भयसे भीत रहती थीं कि मेरे लालको किसीकी नजर न लगे उसी वात्सल्यभावसे श्रीप्रह्लाद बुवा श्रीविट्ठलको अपने हृदयसे लगाये घरमें छिपाये रहते थे। श्रीराजाराम महाराज और वीर मराठा सरदारोंने जब पुनः महाराष्ट्रके स्वराज्यका पूर्ण जीर्णोद्धार किया तब प्रह्लाद महाराजने श्रीविट्ठलको मन्दिरस्थानापन्न किया, तबतक उनके स्थानमें उनकी पादुका रखी रहती थी। प्रह्लाद महाराज उस समयके सभी भक्तिसम्प्रदायोंके सागर-संगमसे हो रहे थे। श्रीतुकाराम महाराजके पुत्र महादेवसे चैतन्य-सम्प्रदाय, चिदानन्दसे आनन्द-सम्प्रदाय, राघवसे संकीर्तन-सम्प्रदाय आदि सम्प्रदायप्रवाह उनमें आकर मिल गये थे। संवत् १८५३ फाल्गुन कृ० ११ के दिन श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धका पाठ पूर्ण होनेके साथ बड़ी ही अलौकिक रीतिसे प्रह्लाद महाराजने इहलोकसे प्रयाण किया।

श्रीभास्करराय (भासुरानन्दनाथ)

(लेखक—श्री 'मातृशरण')

सत्रहवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें दक्षिणदेशमें एक अद्भुत सिद्धात्मा हो गये हैं जिन्होंने उस समय लुप्तप्राय वैदिक प्रकाश और हिन्दुत्वका पुनरुद्धार कर जातिके नव निर्माणमें भारी सहायता दी। दक्षिणदेश विद्वत्ता और साधनाके लिये प्रसिद्ध है। गम्भीरराय नामक एक विद्वान् भक्त उन दिनों दूर-दूरतक प्रसिद्ध थे। विजयनगर राज्यके एक राजाने महाभारतके पाण्डित्यपूर्ण प्रवचनसे प्रसन्न होकर इनको 'भारती' की उपाधिसे विभूषित किया था। इनकी विदुषी और धर्मात्मा एवं पतिव्रता पत्नीसे अद्भुतकर्मी भास्कररायका शुभजन्म भागामें उच्च ब्राह्मणकुलमें हुआ। योग्य माता-पिताकी सुयोग्य सन्तान। बचपनसे ही भास्करराय अद्भुत प्रतिभाका परिचय देने लगे। पाँच वर्षकी अवस्थामें इनका उपनयन-संस्कार काशीमें किया गया और अपने वेदारम्भगुरु 'श्रीनरसिंहाध्वरि' से इन्होंने बहुत ही कम समय और अवस्थामें १८ विद्याएँ पढ़कर लोगोंको चकित कर दिया। जन्मसे ही धर्म और ईश्वरके अभिमुख होने और फिर अपने पिताद्वारा सरस्वतीपूजामें दीक्षित होनेके कारण श्रीभास्करराय दिनों-दिन भजनभावमें अधिकाधिक समय देकर मस्त रहने लगे। बालक कहीं संन्यासी न हो जाय, इस डरसे माता-पिताने शीघ्र ही इनके विवाहकी ठानी और 'आनन्दी' नामक विदुषी एवं सद्गुणविशिष्टा कन्यासे विवाह कर दिया, जिसके गर्भसे पाण्डुरंग नामक एक चमत्कारी पुत्रका जन्म हुआ। श्रीभास्कररायका प्रतिभाशाली मस्तिष्क नरसिंहाध्वरिसे प्राप्त १८ विद्याओंसे सीमित होनेवाला न था। ये आगे बढ़े और श्रीगंगाधर वाजपेयीसे इन्होंने तर्कशास्त्रपर पूर्ण अधिकार प्राप्त किया, जिसके बलपर इन्हें बड़े-बड़े विद्वानोंपर अद्वितीय विजय हाथ लगी। ये सब विषय इनके भक्तिप्रधान हृदयको नीरस मस्तिष्कके निरर्थक खेल जान पड़े और इसके परिणामस्वरूप श्रीशिवदत्तजी शुक्लद्वारा यह पूर्णाभिषेककी तान्त्रिक दीक्षामें दीक्षित हुए और श्रीविद्या भगवती महात्रिपुरसुन्दरीका रसाप्लुत अनुग्रह प्राप्तकर निज पत्नीको भी अपने ही हाथों श्रीविद्यामें दीक्षित कर दिया। 'आनन्दी' अब 'पद्मावत्यम्बिका' हो गयी, पत्नी नहीं साक्षात् जगन्माता! श्रीनृसिंहानन्दनाथने फिर इनको भासुरानन्दनाथ नामसे परमा दीक्षासे दीक्षित किया।

सब साधनाओंमें सबसे अधिक कठिन श्रीविद्या महात्रिपुरसुन्दरी और उनके स्वरूप 'श्रीचक्र' की साधनामें पूर्ण सिद्ध होनेपर दिव्यालोकसे अधिकारियोंको उपकृत करने और जो भूले-भटके और विकर्मग्रस्त हो गये थे उनको जगाने और सत्पथपर लानेके लिये इन्होंने कई लम्बी-लम्बी यात्राएँ कीं और मार्गमें अनेक प्रसिद्ध महात्माओं और धर्माचार्योंको शास्त्रार्थमें हराया। यह किसीके सिरपर अपने सत्प्रकाश और सिद्धान्तोंको जबरदस्ती लादते न थे बल्कि नम्रता और विनयशीलताके साथ निज अनुभूतियोंको जनताके सामने रख देते थे, कट्टर पन्थाइयोंके विरोधको अपने मधुर भाषणसे सप्रेम जीत लेते थे। इस प्रकार गुजरात प्रदेशमें वल्लभ-सम्प्रदायाचार्यको और माध्व-सम्प्रदायके कई पूजित नेताओंको हराकर काशीमें आकर

इन्होंने सोमयाग किया, जिसके अद्‌भुत प्रभावसे बहुत-से अधिकारीलोग उपकृत होकर इनके सत्प्रकाशमें दीक्षित हो गये। यह जहाँ भी जाते थे श्रीदेवीभागवत, रामायणके अद्‌भुत काण्ड और अथर्ववेदका रहस्य खोलते जाते थे, क्योंकि अथर्ववेदके गुप्त रहस्योंको लोग भूल-भाल रहे थे और मनमाने ढंगसे तामसाचारमें प्रवृत्त हो रहे थे। मानवजातिके वास्तविक कल्याणके लिये श्रीभास्करराय अथर्ववेदको अन्तिम और पूर्ण प्रकाश मानते थे। इन्होंने अथर्ववेदपर एक रहस्यटीका लिखी थी और इन्हींके सत्प्रयत्नोंसे अथर्ववेदके गूढ़ रहस्य फिर जनताके सामने खुल पाये। आवश्यक स्थानोंपर भ्रमण करके अन्तमें ये चोळप्रदेशमें अपने तर्कगुरु श्रीगंगाधर वाजपेयीके निकट ही एक स्थानपर रहने लगे। यह स्थान इनको तंजौरके महाराष्ट्र राजासे दानमें मिला था और इसका नाम भास्कररायपुरम् रखा गया।

चमत्कार

सिद्ध गुरु श्रीभास्कररायके सम्बन्धमें अनेकों चमत्कार प्रसिद्ध हैं। यह श्रीविद्या भगवती महात्रिपुरसुन्दरीके अनन्य भक्त और कृपापात्र थे। कहते हैं, भगवती त्रिपुरसुन्दरीसे यह हर घड़ी युक्त रहते थे और शास्त्रार्थोंमें उद्‌भट विद्वानोंपर विजय प्राप्त करानेमें भगवती ही इनकी सहायता करती थीं। सिद्धि प्राप्त होनेपर यह सब सम्प्रदायोंके इष्टदेवों और आचारविधानोंको सत्य और प्रयोजनीय मानते थे और सबमें एक ही परमतत्त्वका दर्शन करते थे, जिसके कारण सभी मतवादी इनकी पूजा करते थे। फिर भी—अद्वैत सिद्धान्तको परम अनुभूति मानते हुए भी—यह तान्त्रिक शुद्ध प्रक्रियाको अधिक महत्त्व देते थे और जगत्‌को मिथ्या वा झूठा समझनेके स्थानपर विश्वको परमचैतन्यका जाग्रत् एवं सतत विलास मानते थे, निष्क्रिय निर्गुण ब्रह्मके बजाय रसमयी साक्षात् भगवतीकी उपासनाको मुख्य मानते थे और कहते थे कि माता भगवतीकी कृपासे ही अचल ब्रह्मके रहस्य जाने जाते हैं और परमतत्त्वका उद्‌घाटन अपने सत्स्वरूपमें हो सकता है। वह थे सब सम्प्रदायोंके सीमित वादोंसे बहुत ऊपर, किन्तु झगड़ा करनेवाला अपूर्ण मन कब सन्तुष्ट होनेवाला था। लिहाजा शब्दोंका चक्कर काटते रहनेवाले वाचिक ज्ञानियोंने इनको तंग करना आरम्भ किया और वामाचारके तान्त्रिक साधनपर आक्षेप करके इनको गिराना चाहा। काशीकी विद्वन्मण्डली एक तरफ और श्रीभास्करराय अकेले एक तरफ। इन्होंने बड़े प्रेमसे विद्वन्मण्डलीको तान्त्रिक विधानसे किये जानेवाले एक महायागमें निमन्त्रित किया। महायागकी विस्तृत और चमत्कृतिपूर्ण विधि-प्रक्रियाको देखकर विद्वन्मण्डली चकित रह गयी और श्रीभास्कररायके आध्यात्मिक प्रभावसे सब प्रभावित हो गये। किन्तु हिम्मत करके एक विद्वान् मन्त्रशास्त्रसम्बन्धी कुछ प्रश्न करनेके लिये आगे बढ़ा कि अकस्मात् कुंकुमानन्द स्वामी नामके एक परम सिद्ध महात्मा प्रकट हो गये और प्रश्नकर्त्ताको पूर्णरूपसे सन्तुष्ट कर दिया, परमसिद्ध कुंकुमने देवी-अभिषिक्त जलको विद्वानोंकी आँखोंसे छू दिया और उस दिव्य जलके लगते ही सबके नेत्रोंसे तमस् और अज्ञानके आवरण हट गये और सबने साफ-साफ भगवतीको श्रीभास्कररायजीके कन्धोंपर आसीन होकर प्रश्नोत्तर देते हुए देखा। विद्वन्मण्डली लज्जित होकर बिदा हो गयी।

श्रीभास्कररायको न्यासराज 'षोढान्यास' अच्छी तरह सिद्ध था, जिसके फलस्वरूप वह किसीको झुककर नमस्कार न करनेके लिये बाध्य थे; क्योंकि झुककर नमन करनेसे नमनयोग्य वस्तु फटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाती थी। एक समयकी बात है कि श्रीभास्करराय दहलीजमें बैठे हुए शिष्योंको पढ़ा रहे थे कि एक विद्वान् अद्वैतवादी संन्यासी उधरसे होकर पास ही एक मन्दिरमें चले गये। श्रीभास्करराय भी शामको एक कार्यसे उसी मन्दिरमें गये, किन्तु उन्होंने पूज्य संन्यासीको नमस्कार नहीं किया। इसपर संन्यासी बिगड़ गये और इस अशिष्ट व्यवहारका कारण पूछा। श्रीभास्कररायने अत्यन्त विनम्रतासे उत्तर दिया कि रिवाजी नमस्कार करनेसे आपकी बड़ी भारी हानि होती, इस कारण नमन नहीं किया गया। संन्यासीके प्रमाण माँगनेपर उनके कमण्डलु और खड़ाऊँ नमस्कारके लिये मन्दिरके चबूतरेपर रख दिये गये। श्रीभास्करराय दोनों हाथ जोड़कर कुछ झुके ही थे कि दोनों खड़ाऊँ और कमण्डलुके हजारों टुकड़े फटकर इधर-उधर बिखर गये। संन्यासी श्रीभास्कररायके अद्‌भुत प्रभाव और महत्ताके आगे झुक गये।

श्रीभास्कररायकी दिव्य दृष्टिमें भविष्यकाल कुछ दूरका समय न था, होनेवाली घटनाओंको वह बहुत पहले ही अपने अन्तर्ज्ञानमें उतार लेते थे। अपने आगे आनेवाले किसी संन्यासी आदि पूज्य व्यक्तिकी बाबत पहलेसे ही जानकर यह अंदर आँगनमें इस प्रयोजनसे चले जाते थे

कि षोढान्यासके कारण आदरणीय व्यक्तिको नमस्कार न करनेसे प्रत्यक्षरूपसे लोकमें शिष्टाचारकी हानि न होने पाये। इसके अतिरिक्त इन्होंने समय-समयपर बहुत-सी चमत्कारिक बातें कीं जिनमें सबसे अधिक चमत्कार, मेरे विचारसे, प्राचीन साहित्यका पुनरुद्धार और नवीन साहित्यका निर्माण करना है।

साहित्य-प्रकाश

धर्मसम्बन्धी वेद, वेदान्त, स्मृति, व्याकरण आदि किसी एक ही विषयसे आबद्ध न होकर सर्वतोमुखीभावसे साहित्यके सभी अंगोंपर श्रीभास्कररायने एक साथ प्रकाश डाला—वेद, वेदान्त, मीमांसा, व्याकरण, न्याय, छन्द, ज्योतिष, काव्य, स्मृति, स्तोत्र, मन्त्रशास्त्र और सर्वप्रिय तन्त्र। टीका, भाष्य, स्वतन्त्र रचना, कुल मिलाकर पैंतालीस ग्रन्थ इस महापुरुषने निर्माण किये। सभी विषयोंपर और फिर इतनी अधिक संख्यामें अधिकारपूर्वक साहित्यका निर्माण शायद ही किसीने किया होगा। नीचेकी सूचीसे ज्ञात हो जायगा कि श्रीभास्करराय किस गजबके विद्वान्, सिद्ध और अद्भुतकर्मी थे।

वेद—वैदिक कोष।

उपनिषद् (तन्त्र)—भावोपनिषद्भाष्य (सप्रयोग), श्रीसूक्तभाष्य ×, कौलोपनिषद्भाष्य, त्रिपुरोपनिषद्भाष्य। कौलोपनिषद्भाष्यमें कौलाचर तन्त्रमार्गपर होनेवाले निरर्थक आक्षेपोंका खूब ही निरसन किया गया है।

मन्त्रशास्त्र—खद्योत (गणपतिसहस्रनामटीका), चन्द्रलाम्बामाहात्म्यटीका, नाथनवरत्नमालामंजूषा, वरिवस्या-रहस्य (स्वतन्त्र रचना, श्रीचक्र और श्रीविद्याकी आभ्यन्तर पूजा-रहस्यका अद्भुत और अनुभवपूर्ण ग्रन्थ), त्रिपुरसुन्दरी बाह्यवरिवस्या (इष्ट त्रिपुरसुन्दरीकी बाह्य पूजाका सप्रयोग प्रामाणिक अनुभवपूर्ण वैधानिक ग्रन्थ), सौभाग्य-भास्कर (श्रीललितासहस्रनामका चमत्कृत भाष्य, इस ग्रन्थमें श्रीभास्कररायकी प्रतिभा पूरे कमालके साथ चमक उठी है), रत्नालोक× (परशुरामकृत कल्पसूत्रकी टीका), गुप्तवती (चण्डीसप्तशतीकी अनुभवपूर्ण अद्भुत टीका, द्रष्टव्य), मालामन्त्रोद्धार, सेतुबन्ध (वामकेश्वरतन्त्रके उस अंशकी टीका जिसमें श्रीविद्याका वर्णन है), तन्त्रराजटीका×, ललितास्तुतिभाष्य×।

वेदान्त—चण्डभास्कर×, नीलाचलचपेटिका× ('प्रहस्त' का उत्तर)।

मीमांसा—वादकौतूहल, भट्टचन्द्रोदय, मत्वर्थलक्षणा-विचार।

व्याकरण—रसिकरंजनी× (मध्यसिद्धान्तकौमुदीकी टीका), विलास।

न्याय—न्यायमण्डन×।

छन्द—छन्दोभास्कर×, छन्द:कौस्तुभ×, वृत्तचन्द्रोदय, वार्त्तिकराज×, छोतिवृत्ति×।

काव्य—चन्द्रशाला×, मधुराम्ल×, भास्करसुभाषित×।

स्मृति—स्मृतितत्त्व×, सहस्रभोजनखण्डविका× (बौधायनधर्मसूत्रांशकी टीका), शंखचक्रांकनप्रायश्चित्त×, एकादशीनिर्णय, प्रदोषनिर्णय, त्रिचभास्कर×, कुण्डभास्कर।

स्तोत्र—शिवस्तव×, देवीस्तव, शिवदण्डक, शिवाष्टोत्तरशतनामस्तोत्रव्याख्या (स्कन्दपुराणान्तर्गत)।

प्रयोग—शतश्लोकी (दुर्गासप्तशतीका सार)।

उपर्युक्त ग्रन्थोमेंसे उन ग्रन्थोंके खोज करनेकी आवश्यकता है जिनके आगे × ऐसा चिह्न लगा है, क्योंकि वे आजकल नहीं मिलते।

श्रीभास्कररायके शिष्य तो अनेक थे, किन्तु प्रमुख अनन्य भक्त थे श्रीउमानन्दनाथ। इन्होंने अपने गुरुदेवकी प्रामाणिक जीवनी तथा मन्त्र, तन्त्रशास्त्रपर टीका आदि रूपसे सुन्दर ग्रन्थोंकी रचना की है।

तन्त्रशास्त्रके प्रति लोग जो नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं और घृणाका भाव प्रदर्शित करते हैं उसका सयौक्तिक, सन्तोषप्रद समाधान श्रीश्रीभासुरानन्दनाथजीकी तप:साध्य अनुभूतियोंने अच्छी तरह कर दिया है। तन्त्रके माने हैं व्यवस्था, नियम, समग्रता और दृढ़ता। प्रत्येक कार्यमें सफलता प्राप्त करनेके लिये इन बातोंकी अनिवार्यता है ही। देशकी वर्तमान अधोगतिका मुख्य कारण लोगोंका तन्त्रविज्ञानको भूल बैठना है।

काफी आयुका भोग लेकर बड़ी उमरमें उक्त महापुरुषने स्वेच्छासे मध्यार्जुनक्षेत्र (वर्तमान—तिरुवितैमरुतूर) में भौतिक देह त्यागकर नित्यधाममें आरोहण किया। आरोहण करनेसे पहले देशके विभिन्न स्थानोंपर अनेक मन्दिर, पाठशालाएँ, चक्रपूजास्थलोंका जीर्णोद्धार एवं नवनिर्माण किया, जिससे हिन्दूधर्म फिरसे हरा-भरा हो गया। इस कार्यमें इनकी सहधर्मिणीका अपूर्व सहयोग रहा।

पयोहारी स्वामी कृष्णदासजी

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दनारायणजी शर्मा बी० ए०)

जयपुरमें गलता नामका एक प्रसिद्ध स्थान है, जो गालव ऋषिका आश्रम माना जाता है। वहाँके स्वामी कृष्णदासजी प्रसिद्ध संत हो गये हैं। आप स्वामी नाभाजीके पोते चेले (पौत्र-शिष्य) थे। आपने आजन्म पय (दूध)-का ही आहार किया, जिससे आप पयोहारी बाबाके नामसे विख्यात हैं। आपकी जाति दाहिमा (दाधीच) ब्राह्मण थी। आप बालब्रह्मचारी थे। भगवद्भजनमें लवलीन रहना, यही आपका रात-दिनका काम था। आपका संक्षिप्त परिचय 'भक्तमाल' में इस प्रकार दिया गया है—

जाके सिर कर धर्‌यो, तासु कर तर नहिं अड्ड्यो।
अर्प्यो पद निर्बान, सोक निर्भय करि छड्ड्यो॥
तेजपुंज बल भजन, महामुनि ऊरधरेता।
सेवत चरनसरोज, राव-राना भुविजेता॥
दाहिमा वंश दिनकर उदय, संत-कमल हिय सुख दियो।
निर्वेद-अवधि कलि कृष्णदास, अन परहरि पयपान कियो॥

अर्थात् जिस जनके सीसपर करकमल रखा, उसके हाथके नीचे आपने अपना हाथ नहीं ओडा (पसारा) अर्थात् उससे कुछ न लिया। और उस जनको संसारके सब शोकोंसे निर्भय ही करके छोड़ा, तथा अन्तमें मोक्षपद दे दिया। आप तेजके पुंज, श्रीरामभजनके बलसे युक्त, महामुनि और ऊर्ध्वरेता थे। जिनके चरणसरोजकी सेवा पृथ्वीके जीतनेवाले अनेक राजा-राना किया करते थे। 'दाहिवां ब्राह्मणों' के वंशमें सूर्यसम उदित होकर कमलरूपी समस्त संतोंके हृदयको आपने आनन्द दिया और प्रफुल्लित किया। आपने सर्वदा अन्नको त्यागके दूध ही पान किया, अतएव आपकी पयहारी (पयोहारी) संज्ञा प्रसिद्ध हुई।

पयहारीजीने गलता तथा आमेरके कनफटे वैष्णवद्रोही योगियोंको अपनी सिद्धताके बलसे उस मठसे निकाल दिया। रातभर रहनेके लिये उस जगह आप गये थे, परन्तु उन विमुख योगियोंने कहा—'यहाँसे उठ जाओ।' तब आपने अपनी धूनीकी आग कपड़ेमें बाँध ली और दूसरी ठौर जा बैठे, वहीं आग कपड़ेमें-से रख दी। कपड़ेका न जलना देखके योगियोंका महन्त बाघ बनकर आपपर डपटा। आपने कहा 'तू कैसा गधा है!' तुरंत वह गधा हो गया और अपने बलसे मनुष्य न बन सका, और सब योगियोंके कानके मुद्रे कानोंमेंसे निकल-निकलकर आपके पास पहुँचकर ढेर लग गये। आमेरका राजा पृथ्वीराज आपकी सेवामें जाकर बड़ी प्रार्थना करने लगा, तब आपने गधेको फिर आदमी बनाकर आज्ञा दी कि इस जगहको तुम सब छोड़कर अलग रहो और लकड़ियाँ इस धूनीमें पहुँचाया करो। उन सबोंने स्वीकार किया और राजा पृथ्वीराज भी श्रीपयहारीजीका चेला हो गया; तभीसे गलता आपकी प्रसिद्ध गादी हुई।

वनमें गौएँ आप-से-आप दूध श्रीपयहारीजीको देती थीं। आपने आमेरकी एक गणिकाको भी उपदेश दिया था, जिसने परमगति पायी।

(भक्तमाल पृ० ३०८—११)

कहते हैं कि एक समय राजा पृथ्वीराजजीने पयहारीजीसे श्रीद्वारकाधीशके दर्शन करनेके लिये द्वारका चलनेकी प्रार्थना की, तब आपने राजाकी भक्ति देख अपनी योगसिद्धिसे आधी रातके समय राजमहलमें प्रकट हो राजाको श्रीद्वारकाधीशके दर्शन वहीं करा दिये। फिर राजाने द्वारका चलनेको कभी नहीं कहा।

कृष्णदास कलि जीति, न्यौति नाहर पल दीयो।
अतिथिधर्म प्रतिपालि, प्रगट जस जगमें लीयो॥
उदासीनता-अवधि, कनक-कामिनि नहिं रातो।
रामचरणमकरन्द रहत निसिदिन मद-मातो॥
गलतें गलित अमित गुण, सदाचार, सुठि नीति।
दधीचि पाछें दूसरि करी कृष्णदास कलि जीति॥

जैसे दधीचि ऋषिजीने देवताओंके माँगनेसे अपना शरीर दे दिया, ऐसे ही दधीचिगोत्रमें उत्पन्न श्रीस्वामी कृष्णदास पयहारीजीने कलिकालको जीत दधीचिकी नाईं दूसरी बात की। एक समय आपकी गुफाके सामने बाघ आया तो आपने उसको अतिथि जान, नेवता देकर आतिथ्य-धर्मप्रतिपालपूर्वक अपना पल (मांस) काटके दिया। इस प्रकारके प्रसिद्ध यशको आप जगमें प्राप्त हुए। उदासीनता (वैराग्य)-की तो आप मर्यादा ही थे। और इस संसारसागरमें जो कनक-कामिनीरूप दो भँवर सबको डुबा देनेवाले हैं, उन दोनोंके रंगसे आप नहीं रँगे। केवल श्रीरामचरणकमलके अनुरागरूपी मकरन्दसे

भ्रमरकी नाईं मदमत्त—आनन्दित रहते थे। संतोंके अमित दिव्य गुणोंसे गलित अर्थात् परिपक्व, सदाचार एवं सुन्दर नीतियुक्त, 'गलते' गादीमें विराजमान हुए।

एक समय स्वामी श्रीकृष्णदासजी गलताकी गुफामें बैठे थे, देखें तो एक व्याघ्र आकर खड़ा है। आपने विचार किया कि 'यह कभी यहाँ नहीं आया, इससे हमारा अतिथि है; इसको भोजन देना चाहिये।' यह सोचकर अपनी जंघाओंका मांस काटकर उसके आगे डाल दिया और कहा कि 'इसका आहार करो।' देखिये आपकी अपार महिमा, हिंसक अतिथिको भी भोजन देना बताया अर्थात् अपनी करनीसे उपदेश दिया। वह मांस खाकर व्याघ्र चला गया। श्रीकृष्णदासजीकी यह धर्मपालनरूप अतिशय सचाई देख परम धुरन्धर श्रीरामजीसे नहीं रहा गया; कन्दर्पदर्पहर रूपसे आकर दर्शन दिये और मस्तकपर कमलकर धर सब दुःख दूर कर दिये। जंघा भी ज्यों-की-त्यों हो गयी। श्रीश्रीपयहारीजी नयनानन्द पाकर कृतार्थ हुए। देखिये, लोग अतिथिको अन्न-जल देनेमें खीझते हैं। आपके समान कर्म कौन कर सकता है? इस बातको मनमें विचार करनेसे ही जीव घबड़ा जाते हैं, करना तो दूर रहा।

नाथसम्प्रदायके महासिद्ध

बाबा आमनाथजी

(लेखक—स्वामी श्रीगोविन्दनाथजी योगी)

नाथसम्प्रदायमें श्रीआमनाथजी एक सिद्ध महात्मा हो गये हैं। ये बड़े भारी योगी भी थे। इनका पूर्ववृत्तान्त अबतक कुछ भी मालूम नहीं हो सका है। पहले ये गोदावरीके तटपर रहकर योगाभ्यास करते थे। बादमें अपने पाँचों शिष्योंसहित किसी आन्तरिक प्रेरणासे सिरमौर स्टेटके नाहन नामक शहरमें आकर रहने लगे। इनके पाँच शिष्य थे—अँतवारनाथजी, धीरजनाथजी, धरतीनाथजी, ज्ञाननाथजी और शान्तिनाथजी। अँतवारनाथ इन सबमें प्रधान थे।

एक दिन बाबाजीने अपने शिष्य अँतवारनाथसे कहा 'बच्चा! शहरमें जाकर भिक्षा माँग लाओ और राजभण्डारमेंसे आमका अचार जरूर लाना।' शिष्य शहरकी तरफ चल पड़ा। उन दिनों नाहनमें आम होते नहीं थे। बड़ी दूरसे राजा-रईसोंके लिये कभी-कभी आ जाते थे। शिष्यने भिक्षा करके राजभण्डारमें भण्डारीके पास जाकर आमका अचार माँगा। राजाकी आज्ञासे शिष्यको अचार दे दिया गया। इस तरह शिष्य रोज जाकर अचार माँग लाता था। तीन दिनतक तो राजाकी आज्ञासे अचार मिलता रहा। जब चौथे दिन शिष्य अचार माँगने गया तो राजाको बहुत बुरा लगा। उसने शिष्यको बहुत प्रकारसे बुरा-भला कहकर उसके गुरुका नाम पूछा। शिष्यने अपने गुरुका नाम सिद्ध बाबा आमनाथजी बतलाया। 'आमनाथ' शब्द सुनकर राजा बहुत हँसा और बोला 'गुरुजी तो आमनाथजी बने फिरते हैं और चेलाजी आमके लिये तरसते फिरते हैं। जाओ, अचार नहीं मिलता। तुम्हारे गुरुजी अपने घरपर ही आमके पेड़ क्यों नहीं लगा लेते?' राजाकी बात सुनकर शिष्यको बड़ा दुःख हुआ। उसने गुरुजीके पास लौटकर सारी घटना कह सुनायी। शिष्यकी बात सुनकर बाबाजीको जरा भी दुःख नहीं हुआ। वे तो सुख-दुःख, मानापमानसे परे थे। उन्होंने राजाको शिक्षा देनी चाही। रात्रिके समय उन्होंने आरती करके कमण्डलुमें जल भर लिया और मैदानमें जाकर जल छिड़कने लगे। जहाँ भी जलका एक बूँद पड़ गया वहीं आमके फले-फूले वृक्ष तैयार हो गये। जहाँ देखा वहाँ आम-ही-आम दिखायी देने लगे। स्वामीजी अपने डेरेपर आ गये।

सुबह जब राजा घूमने निकला तो आमके सघन कुंजको देखकर आश्चर्यसागरमें गोते खाने लगा। जब उसे पहले दिनवाली बात स्मरण हुई तो उसे महात्माजीके महत्त्वका पता लगा। वह बाबाजीके चरणोंमें गिरकर क्षमा-याचना करने लगा। बाबाजीने राजाको आश्वासन देकर कहा कि ये पेड़ कभी ठेकेपर न दिये जायँ। इसके दूसरे ही दिन इन्होंने अपने पाँचों शिष्योंसहित समाधि ले ली।

महाराज शमशेरप्रकाशके समयसे वे पेड़ ज्यों ही ठेकेपर दिये जाने लगे उनपर आम फलने बंद हो गये।*

* इसी विषयपर एक लेख स्वामी मौक्तिकनाथजीका आया था, स्थानाभावसे नहीं छापा जा सका।

श्रीमद्देवमुरारीजी

(लेखक—महन्त श्रीरघुनाथदासजी महाराज)

दारागंज (प्रयाग) में श्रीमद्देवमुरारी महाराजका स्थान प्रमुख बावनद्वारा गद्दियोंमें एक है। प्रयागमें विष्णु, शिव, ब्रह्मा—इन तीनोंकी पुरियाँ हैं। अरैल यमुनापार जहाँ आदिमाधव भगवान् हैं, वह विष्णुपुरी है। झूसीमें गंगापार ब्रह्मपुरी है। वेणीमाधव—भारद्वाज आश्रम जहाँ है, वह शिवपुरी है। पहले इन पुरियोंमें अनेक सिद्धयोगी औघड़ रहा करते थे। झूसीके समुद्रकूपकी गुफामें सिद्धनाथ आदि औघड़ोंका दल था। इन लोगोंका मुख्य कार्य यही था कि यदि कोई वैष्णव संत-महात्मा प्रयाग आवे तो उसे नाना प्रकारका कष्ट देकर टिकने ही नहीं देना। श्रीमद्देवमुरारीजी महाराज जब प्रयाग आये तो इन औघड़ोंके गिरोहने आपपर आक्रमण किया। ये उन्हें नाना प्रकारसे कष्ट देने लगे। परन्तु श्रीमद्देवमुरारीने अपने साधनबलसे इन सबको परास्त किया तथा वैष्णवोंका मार्ग सुगम किया—

प्रयागकी मकर-संक्रान्तिका एक इतिहास है। श्रीमद्देवमुरारीजी एक बार संगमपर स्नान-सन्ध्या कर रहे थे। सिद्धनाथ नामक औघड़ने मगररूप धरकर जलमें आपके पैरको पकड़ लिया। आप समझ गये बात क्या है। अतएव अपने तपोबलसे उसे अपने पैरोंके नीचे दबा दिया। अब तो औघड़-मण्डलीमें खलबली मच गयी और सभी आकर आपसे क्षमा माँगने लगे। उसी समयसे प्रयागसे औघड़ोंका उन्मूलन हुआ और वैष्णव रहने लगे। मकर-संक्रान्तिके समयमें तभीसे वहाँ वैष्णव जुटने लगे।

जिस समय श्रीमद्देवमुरारीजी प्रयाग आये उसी समय किला बन रहा था। किला बनता था और गंगाजी उसे बहा ले जाती थीं। इसलिये अकबरने मानसिंहको देवमुरारीजीकी सेवामें भेजा। देवमुरारीजीने तुलसीका एक सूखा वृक्ष देकर कहा कि इसे नींवमें देकर किला बनवाओ। इसके बाद किलेको कोई क्षति नहीं पहुँची। इस प्रकारके आपके जीवनमें कई चमत्कार मिलते हैं, जिनसे जनताका अपार कल्याण हुआ। आपकी शिष्य-परम्पराके प्रमुख शिष्योंमें श्रीमलूकदासजी, पूर्णदासजी, मानदासजी, उद्धवदासजी, गोपालदासजी, सीतारामदासजी, भरतदासजी, हरिनारायणदासजी और राजारामदासजीके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इसका सम्बन्ध श्रीतोताद्रिमठसे है। शठकोप, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, रामानन्द स्वामी, अनन्तानन्दजी, अग्रदास, त्यागीजी, तनतुलसीदास, देवमुरारीजी इसी परम्पराके नाम हैं।

खसकुमारी हसीना

(लेखक—पं० श्रीविनायकरावजी भट्ट)

श्रीमद्भागवत द्वितीय स्कन्धमें एक श्लोक है जिसमें कहा गया है कि कैसा ही पापी कोई क्यों न हो, भगवान्‌की शरण आनेपर वह अवश्यमेव शुद्ध हो जाता है—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

(४।१८)

आज ऐसी ही एक महिला-संतका पावन चरित्र कल्याणके प्रेमी पाठकोंकी सेवामें अर्पित करता हूँ। आशा है कि भगवत्-रसिकोंको यह सुखप्रद होगा।

सुदूर अरबदेशमें खस नामक एक कुटुम्ब था। उसका सरदार एक व्यापारचतुर और सर्वनिधिसम्पन्न मनुष्य था जिसके हसीना नामकी एक सुशीला, स्वभावतः मधुरभाषिणी कन्या थी। इस हसीनाकी एक समवयस्का हमीदा नामकी सखी थी जो उसके प्रत्येक रहस्यसे अवगत थी। प्रति सायंकाल ये दोनों समीपवर्ती रम्योद्यानमें जाकर पुष्पचयन करतीं, मीठे-मीठे फल खातीं और बालसुलभ क्रीड़ा किया करती थीं; तत्पश्चात् गृहमें आकर अपने सुयोग्य पिताके मुखसे 'अमरिल कैस' नामक धर्मग्रन्थ प्रेमपूर्वक सुना करती थीं। इस प्रकार इन दोनोंको बाल्यकालसे ही ईश्वरानुराग उत्पन्न होने लगा था। एक समय संसार-भ्रमण करते हुए कोई

हरिचरणानुरागी संत अरब देशमें जा पहुँचे, वहाँ भाग्यवश उनकी भेंट हसीनाके पितासे हुई। उसका आतिथ्य-सत्कार स्वीकार करके सत्संग होने लगा। बात-ही-बातमें उन्होंने परम रमणीय व्रजधामकी महिमाके साथ ही वृन्दावनविहारीके परमोत्कृष्ट देवदुर्लभ रहस्यका वर्णन किया। हसीना भीतर बैठी हुई यह सब सुन रही थी। उसपर इस मधुर चर्चाका बड़ा प्रभाव पड़ा। महात्माजीने अन्यत्र प्रस्थान किया। इधर हसीनाके हृदयसागरमें प्रेम-तरंगें उठने लगीं, वह नन्दनन्दनके सुन्दर दर्शनोंके लिये व्याकुल होने लगी। दिन-रात उन्हींका ध्यान, उन्हींका चिन्तन! पिताने उसकी यह दशा देखकर एक दिन अत्यन्त प्रेमसे पूछा कि 'बेटी! तुझे क्या हो गया है? न तुझे गर्मीकी चिन्ता और न वर्षाका ज्ञान, न भूख और प्यास। तेरा यह शरीर कितना दुर्बल हो गया है! कोई प्रेतबाधा तो नहीं है?' पिताके ये वचन सुनकर हसीनाने केवल इतना ही कहा कि 'जबसे वे रसिकशिरोमणि साधुजी भगवान् श्रीकृष्णके गुणानुवाद कह गये हैं तबसे उन्हीं (श्रीकृष्ण) के दर्शनके लिये यह चित्त व्याकुल हो रहा है, मुझे दिन-रात उन्हींका ध्यान है। अब तो जब उन श्यामसुन्दरके दर्शन होंगे तभी मेरी आत्माको प्रसन्नता होगी। अतएव प्यारे पिताजी! या तो इस शरीरको भारतवर्षान्तर्गत दिव्य श्रीवृन्दावनधाममें पहुँचा दीजिये अन्यथा मेरे प्राण अब शीघ्र ही प्रयाण करना चाहते हैं।'

भाग्यवश उन्हीं दिनों एक काफिला (व्यापारी यात्रियोंका समूह) बगदादको जा रहा था, हसीनाके पिताने सोचा—चलो, यह अच्छा अवसर हाथ आया। हसीनाको उसके भाई अब्दुल्ला और सखी हमीदाके साथ भेजनेकी तैयारियाँ होने लगीं। दोनों कन्याएँ अपने-अपने पिताके चरण स्पर्शकर और उनसे आशीर्वाद प्राप्त कर अत्यन्त हर्षपूर्वक उस काफिलेके साथ चलीं। वहीं रास्तेमें एक नदीतटपर उन लोगोंने डेरा डाला। वे दिन सुन्दर शरद्-ऋतुके थे; परमाह्लादिनी चन्द्रज्योत्स्ना खिल रही थी, अनेक प्रकारके वन्य कुसुमोंके सौरभसे मन प्रसन्न हो रहा था, जहाँ देखिये वहीं आनन्दमय दृश्य दिखलायी देता था। उस समय ये दोनों सखियाँ उस तरंगिणीके तटपर एकान्त स्थानमें प्राकृतिक छटा देखने चली गयीं। एक-एक लता और मनोहर वृक्षोंको देखकर उनको व्रजलताओंका स्मरण हो आया। हसीनाने अपनी प्रिय सहेली हमीदासे कहा कि 'एक बार इस एकान्त स्थलमें, जहाँ चारों ओर शान्तिका साम्राज्य है, कृपाकर उस प्रेमी साधुका वही वृन्दावनसम्बन्धी शोभनीय वर्णन तो करो उसने क्या कहा था? अहा हा! यही वह शरद् थी जब व्रजगोपिकाओंके संग मदनमोहन श्रीकृष्णने रासेश्वरी श्रीराधिकाको साथ लेकर महारास किया था।' उस हमीदाने, जो भावुकताकी मूर्ति ही थी, श्रीकृष्णके अंग-अंगकी छबि और परम गुप्त गोलोककी अनन्त माधुरीका विशद वर्णन जिस समय किया उस समय वे दोनों तन्मयताकी अवस्थाको प्राप्त होकर मानो स्वयं ही उस रासकी नटी हो गयीं। सम्पूर्ण दृश्य उनके नेत्रोंके सम्मुख झूलने लगा। वे देखती क्या हैं कि किरीटमुकुटकुण्डलयुक्त, कटिकाछनीसंयुक्त, वनमाला-विभूषित, अधरपल्लवपर मुरली धारण किये, ललित त्रिभंगी छबिवाले, कामदेवविनिन्दक श्रीकृष्ण ज्योतिर्मयी महाशक्ति राधिकाके साथ उसी सुन्दर माधुरीकुंजमें विराजमान हैं, परम भाग्यवती व्रजवनिताएँ उनकी सेवामें संलग्न उनके योगिदुर्लभ दर्शन कर पवित्र हो रही हैं। ये दोनों प्राण-प्रियतमका मानसिक ध्यान करते-करते तदाकारवृत्तिमें स्थित हो गयीं। उस समय उन्हें बहिर्जगत्का ध्यान ही नहीं रहा।

इधर ये दोनों परमहंसोचित ध्यानमग्ना थीं, उधर काफिलेका समाचार पाकर एक बद्दुओंका दल समस्त अस्त्र-शस्त्र लिये उस काफिलेपर टूट पड़ा। दोनों पक्षोंमें बहुत देरतक युद्ध होता रहा; परन्तु डाकुओंने उन व्यापारियोंका बहुत-सा भाग नष्ट कर दिया और उनका धन छीनकर इधर-उधर छिप रहे, केवल हसीनाका भाई और कुछ स्त्रियाँ ही शेष रहीं। इन लोगोंका क्रन्दन सुनते ही उन दोनोंकी स्वप्ननिद्रा भंग हुई। वे तुरंत ही उस स्थानपर पहुँचीं जहाँकी पृथ्वी इस हत्याकाण्डके हो जानेसे रक्त रंजित हो रही थी। ये सोचने लगीं—हे भगवन्! इतनी ही देरमें यह क्या हो गया; हम लोगोंपर दैवकी यह कैसी अकृपा; परन्तु ईश्वरकी लीला तो विचित्र होती है, इसीमें उनका हित निहित था। उन डाकुओंमें दो-चार वहीं पास ही खड़े थे, इन दोनों सुन्दरियोंको देखकर उनके मुँहमें पानी भर आया। वे परस्पर कहने लगे, 'अहा! सर्वोत्तम धन तो यही है। इन दोनोंको लेकर बगदादमें बेचेंगे, इनकी कीमत भी खूब मिलेगी।' उन्होंने इन दोनों अबलाओंको हठात्

पकड़ लिया और कण्ठी-माला धारणकर हाजियोंका वेष बनाकर इधर-उधर चक्कर लगाने लगे। हसीनाने किसी युक्तिसे एक मालिनके द्वारा अपनी विपद्ग्रस्त अवस्थाका समाचार उस देशके खलीफाको लिख भेजा। खलीफाने वह पत्र पाकर तत्काल उन छद्मवेषधारियोंको पकड़ मँगाया और उन दोनोंका उद्धारकर उन्हें महलमें भेज दिया! बेगमने उनको देखकर अत्यन्त स्नेहसे उनके नेत्र और मुख चूमकर अपने गोदमें बिठालकर पूछा 'बेटियो! तुमपर क्या आपत्ति आयी है? कहाँ जानेका विचार था? यहाँ कैसे आ पहुँची?' उन्होंने अपनी बीती हुई घटना आद्योपान्त कह सुनायी। उस करुणकथाको सुनकर बेगमका हृदय पसीज गया। बेगमने उन दोनों कुमारियोंको युद्धविशारद सिपाहियोंकी रक्षामें व्रजभूमिको पहुँचा दिया। ये दोनों वहाँ पहुँचकर किसी एक मन्दिरके द्वारपर आयीं। उन्होंने उस भूमिको प्रणाम किया, देहलीपर मस्तक रखा और भीतर चौकमें प्रवेश किया। इतनेमें किसी व्यक्तिने पुजारीको समाचार दिया। वह आकर देखता है कि ये दोनों यवनकन्याएँ मन्दिरके प्रांगणमें आ गयी हैं, वह इनकी ओर कोपपूर्ण दृष्टिसे देखता हुआ बोला—'तुम लोग कौन हो? इस मन्दिरमें विधर्मियोंका क्या काम है? तुम लोगोंने यह सारा मन्दिर अपवित्र कर दिया। निकल जाओ बाहर!' ये बेचारी इस अग्निमूर्ति पुजारीको देखकर सहम गयीं। पुजारीसे उन्होंने बहुत कुछ अनुनय-विनय किया, परन्तु जब पुजारीने नहीं माना तब दु:खी होकर वे बेचारी लौट गयीं; परंतु उनका मन तो श्रीकृष्णकी रूपमाधुरीमें लगा था। कालिन्दीके कूलपर पहुँचकर एक कदम्ब वृक्षकी छायामें बैठकर दोनों श्रीकृष्णका चिन्तन करने लगीं। दिन बीत गया, रात हो गयी, सब लोग अपने-अपने घरोंमें जाकर सो गये। आधी रातका समय हो गया। इतनेमें वे देखती हैं कि यमुनाजीमें एक सुन्दर नौका चली आ रही है जिसमें श्रीराधिकासहित श्रीकृष्ण विराजमान हैं। संगमें कुछ सखियाँ चमर-छत्र, मोरछल आदि लिये अपनी-अपनी सेवामें मग्न हैं। नौका आकर किनारे लगी। उसमेंसे एक सखीकी दृष्टि इन दोनों कन्याओंपर पड़ी, उसने नीचे उतरकर हसीनासे पूछा—'अहो! तुम लोग अर्धनिशामें यहाँ बैठी हुई क्या कर रही हो? तुम कौन हो? यह तुम्हारे संग कौन है? किस देशसे आयी हो? तुम्हारा क्या मनोरथ है?' हमीदाने विनम्र प्रणाम करके उस सखीसे कहा कि 'हम दोनों अशेष क्लेश सहन करते हुए अरब देशसे वृन्दावन-माहात्म्य सुनकर भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करने इस व्रजभूमिमें आयी हैं। मेरा नाम हमीदा है, मेरी स्वामिनी यह हसीना है। इनके पिता एक दिन अपने महलमें बैठे हुए थे, वहाँ इस भारतवर्षके कोई महात्मा घूमते हुए जा पहुँचे। उन्होंने त्रिभुवननायक, नटवर नन्दनन्दनकी छबिका वर्णन किया। उसे सुनते ही हमलोगोंकी लालसा बढ़ी और यहाँतक पहुँच गयीं। अब यह तो बतलाइये कि वे दीनानाथ हमलोगोंको दर्शन देकर कब कृतार्थ करेंगे?' तत्काल ही उस सखीने उनकी सरलता और सत्य स्नेहपर मुग्ध होकर उनसे कहा कि 'यह जो मणिसंयुत स्वर्णरचित सिंहासनपर विराजमान हैं यही तो श्यामसुन्दर हैं और इनकी बायीं ओर ये परम सुन्दरी महारानी राधिकाजी हैं। इन दोनोंके चारों ओर ये ललितादिक सखियाँ अपने-अपने कार्यमें संलग्न हैं। ये बड़े दीनदयालु हैं। पहले अपने भक्तोंकी परीक्षा कर लेते हैं, तब समय आनेपर तुरंत स्वयं ही सहायताके लिये दौड़ आते हैं। तुम लोगोंका सम्पूर्ण वृत्तान्त उन्हें ज्ञात है, इसीलिये तुमपर प्रसन्न होकर दर्शन देने आये हैं।' इतना कहकर वह सखी उन दोनोंको श्रीकृष्ण और श्रीराधिकाके चरणकमलोंके समीप ले गयी, दोनों दोनोंके चरणोंपर लोट गयीं। जीवनकी सुख-साध पूरी हुई, जीवन-जन्म सार्थक हो गया। फिर आवागमनसे रहित होकर वे नित्यविहारमें सम्मिलित हुईं।

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

मैं तो प्रभुकी दासी हूँ। दासीको अपनी इच्छा कैसी? मेरी जो इच्छा मेरे प्रभुकी इच्छाके विरुद्ध हो, वह सर्वथा त्याज्य है।

श्रीजाम्भोजी महाराज

श्रीजाम्भोजी महाराजका जन्म संवत् १५०८ में पीपासर (जोधपुर) में राजपूत-घरानेमें हुआ था। ये प्राय: २७ वर्षतक किसीसे कुछ बोले नहीं, बराबर गाय चरानेका काम करते रहे! लोग समझते थे कि ये गूँगे हैं; परतु वास्तवमें ये गूँगे नहीं थे। ये जन्मसे ही योगी थे और अपनी अलौकिक स्थितिमें मस्त रहते थे। गाय चराते समय मेवाड़के महाराणा दूदाजीको, जो राज्यसे निकाल दिये गये थे, एक लकड़ी देते हुए आशीर्वाद दिया कि तुम अपने राज्यमें वापस जाओ, तुम्हारा राज्य वापस मिल जायगा; इस लकड़ीको पवित्र स्थानमें सुरक्षित रखना। कहते हैं, इनकी वाणी सत्य हुई। सं० १५४२ में इनके पिता इसलिये नागोरकी देवीकी पूजा एक ब्राह्मणसे कराने लगे कि जाम्भोजीका गूँगापन दूर हो जाय। ब्राह्मणने १२ दीपक देवीके सामने जलाये। यहींपर जाम्भोजीने पहले-पहल ब्राह्मणको उपदेश दिया और दीपकोंको बुझाकर उनमें बिना बत्तीके जलसे दीपक जला दिया। तबसे ये बराबर लोगोंको उपदेश देते रहे। इन्होंने विशनोई (वैष्णव) सम्प्रदाय चलाया, जिसे माननेवाले आजकल पंजाब, राजपूताने और संयुक्तप्रान्तके कई स्थानोंमें पाये जाते हैं। इन्होंने तालवा (बीकानेर) में समाधि ली थी, जहाँ सालमें दो बार बड़ा भारी मेला लगता है। मेलेके दिन १०० मन घीका हवन होता है।

बाबा धरनीदासजी

(लेखक—पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल-एल० बी०)

बाबा धरनीदासजी एक उच्च कोटिके महात्मा हो गये हैं। इनका आविर्भाव ईसाकी सत्रहवीं शताब्दीमें हुआ था और इनका निवासस्थान सूबा बिहारके सारन जिलेका माँझी नामक गाँव था, जो बलिया जिलेके पूरब घाघरा नदीके उत्तरी किनारेपर अब भी वर्तमान है। इनकी मुख्य-मुख्य गद्दियाँ सूबा बिहार और संयुक्त-प्रदेशके अनेक स्थानोंमें आज भी प्रतिष्ठित हैं और इनकी शिष्यपरम्परामें कई विख्यात संत और सत्पुरुष हो चुके हैं जिनके नाम बड़ी श्रद्धा और प्रतिष्ठाके साथ लिये जाते हैं। इनकी उपलब्ध रचनाओंमेंसे 'प्रेमप्रगास' एवं 'शब्दप्रकाश' नामक दो ग्रन्थोंको मैंने हस्तलिखितरूपमें देखा है और इनकी फुटकर बानियोंका एक संग्रह प्रयागकी 'संतबानी-पुस्तकमाला' में 'धरनीदासजीकी बानी' नामसे प्रकाशित भी हुआ है। तो भी इनके जन्म वा मरणके निश्चित समयका पता नहीं चलता और न इनके जीवनकी विविध घटनाओंका ही कोई प्रामाणिक विवरण मिलता है। उपर्युक्त प्रथम दो पुस्तकोंसे तथा कुछ स्वतन्त्र खोज करनेसे जो सामग्री प्राप्त हुई है उसके आधारपर इस विषयमें संक्षिप्त चर्चा की जाती है।

बाबा धरनीदासजीके समयमें माँझी गाँव तथा उसके आस-पासका भूमिखण्ड 'मध्येम' अथवा 'मध्यदीप' करके प्रसिद्ध था। 'मध्यदीप' के पूरबकी ओर हरिहरक्षेत्र और पश्चिम दिशामें दर्दरक्षेत्र नामक पुण्यक्षेत्र थे और अपने निकटवर्ती ब्रह्मपुरके कारण यह स्वयं भी कभी-कभी ब्रह्मक्षेत्र कहलाता था। माँझी गाँव एक समृद्धिशाली नगर था, जहाँ नवाब जमींदारोंके महल थे; चारों ओर वापी, कूप, तड़ाग, उद्यान और पुष्पवाटिकाएँ थीं; बीच-बीचमें सुन्दर हाट लगते थे और यत्र-तत्र देवस्थान आदिका भी बाहुल्य था, जहाँ निरन्तर हरिचर्चा हुआ करती थी। इसी माँझीके निवासी श्रीवास्तव कायस्थोंके एक वैष्णवकुलमें बाबा धरनीदासजीका जन्म हुआ था। इनके दादा टिकैतदास एक धार्मिक व्यक्ति थे और इनके पिता परसरामदास भी एक बड़े यशस्वी और प्रभावशाली पुरुष थे। कहा जाता है कि टिकैतदास अथवा उस समयके टिकैतराय मुसलमानोंके आक्रमणोंसे भयभीत होकर प्रयागकी ओरसे इधर आये थे। यहाँ परसरामदासको अपनी स्त्री विरमादेवीसे लछिराम, छत्रपति, धरनी, बेनी और कुलमनि नामक पाँच पुत्र हुए, जिनमें धरनी वा धरनीदास कदाचित् सबसे बड़े थे। इन पाँचोंमेंसे धरनीको छोड़कर शेष चारकी वंशपरम्परा 'धरनीश्वरी' नामसे अब भी चल रही है। धरनीकी केवल एक पुत्रीकी सन्तानोंका ही अस्तित्व बतलाया जाता है। 'शब्दप्रकाश' के अनुसार

बालक धरनीके जन्ममुहूर्तादिपर विचार करके अन्य अनेक बातोंके अतिरिक्त पण्डितोंने यह भी बतलाया था कि 'यह भविष्यमें दीर्घायु एवं भक्त होगा।' इनके बाल्यजीवन, शिक्षा, गृहस्थी आदिके विषयमें प्राय: कुछ भी पता नहीं चलता।

जो हो, इनकी रचनाओंसे इतना अवश्य जान पड़ता है कि संवत् १७१३ के आषाढ़मासमें शुक्लपक्षकी प्रतिपदा-को बुधवारके दिन इनके पिता परसरामदासका देहान्त हो गया और इस घटनाने इनके परिवार तथा माँझी नगरतकको बहुत कुछ श्रीहत कर दिया। कहा जाता है कि उस समय बाबा स्थानीय नवाब जमींदारोंके यहाँ दीवानके पदपर नियुक्त थे। पितृनिधनके शोकसे इनका हृदय सहसा क्षुब्ध हो उठा और ये अब सदा अपने कार्यसे उदासीन और खिन्न रहने लगे। फिर तो इनके पूर्वसंस्कार एवं धार्मिक परिवार-सम्बन्धी विविध परिस्थितियोंने भी इनकी विरक्ति और अन्य आध्यात्मिक भावनाओंके क्रमश: और भी दृढ़ होते जानेमें सहायता पहुँचायी और ये भगवच्चिन्तनमें लीन रहनेके अभ्यासी भी हो गये। इनकी मनोवृत्ति इस समय इतनी तीव्र हो गयी थी कि एक दिन बैठे-बैठे जमींदारीके कागजात देखते वक्त इन्होंने उनपर अचानक हुक्के वा लोटेका पानी उडेल दिया, जिससे सभी बही-खाते भीग गये और अपने अप्रसन्न मालिकोंके आग्रह करनेपर बतलाया कि सुदूर पुरीधाममें आरतीके समय जगन्नाथजीके कपड़ोंमें आग लग गयी थी जिसे बुझानेके प्रयत्नमें मैंने ऐसा किया था। पीछे जब दो आदमियोंको भेजकर इसकी जाँच करायी गयी तो पता चला कि वास्तवमें वहाँपर उक्त प्रकारकी घटना घटी थी और बाबा धरनीदासकी ही आकृतिके एक पुरुषने जाकर उसे बुझाया था। तबसे ये नौकरी छोड़कर घरपर ही साधुवेषमें रहने लगे और उपर्युक्त बातोंकी सुध आनेपर कभी-कभी बोल उठते थे कि—

अब मोहि राम-नाम-सुधि आई। लिखनी ना करौं रे भाई॥

परन्तु इनके हृदयमें अभी अविचल शान्ति नहीं आयी थी और आत्मतृप्तिके लिये ये सदा किसी पहुँचे हुए गुरुदेवकी खोजमें रहते थे। आरम्भिक जीवनमें इन्होंने किसी चन्द्रदाससे मन्त्र लिया था और भेष बदलते समय किसी साधु सेवानन्दको भी दीक्षागुरु बनाया था, किन्तु इनका चित्त किसी ऐसे महात्माके लिये व्यग्र था जो इन्हें परमतत्त्वका पूर्ण ज्ञान करा दे। सुनते हैं कि ऐसे ही अवसरपर इन्हें किसीसे जान पड़ा कि पातेपुर (वर्तमान जिला मुजफ्फरपुर) में स्वामी विनोदानन्दजी रहते हैं। अतएव उनके शिष्य होनेकी इच्छासे ये वहाँ गये और परीक्षा लेनेके विचारसे उनकी चौकीके एक पायेमें सर्प बनकर लिपट गये। स्वामीजी उस समय नित्यकी भाँति उसी चौकीपर बैठकर कथा कह रहे थे। कथा समाप्तकर उन्होंने चौकेमें रसोइयेसे एक अतिथिके लिये भी पारस लगानेका आदेश किया और बोले 'आओ भाई भोजन करो, चौकीमें क्यों लिपटे हुए हो।' बाबा धरनीदास यह सुनते ही प्रत्यक्ष होकर उनके चरणोंपर गिर पड़े और शरणापन्न हो गये। इस प्रकारकी कथा इनकी रचनाओंमें नहीं मिलती, किन्तु गुरुदेव विनोदानन्दका उल्लेख इन्होंने सब कहीं बड़ी श्रद्धा और भक्तिके साथ किया है और बतलाया है कि उन्हींकी कृपासे मानो मैं सोतेसे जग गया और सिरपर उनका हाथ पड़ते ही सब कुछ मेरे प्रत्यक्ष अनुभवमें आ गया। बाबा धरनीदासजीने दो पद्योंमें अपनी गुरुप्रणालीकी भी चर्चा की है। एकके द्वारा इन्होंने प्रसिद्ध स्वामी रामानन्दके शिष्य सुरसुरानन्दसे लेकर क्रमश: वेलानन्द, शून्यानन्द, चेतनानन्द, विहारीदास, रामदास और विनोदानन्दतकके नाम लिये हैं और दूसरेमें आदिगुरु नारायणसे लेकर रामानन्दजीके गुरु राघवानन्दतकका भी उल्लेख किया है। स्वामी विनोदानन्दके इहलोक-त्यागका समय इन्होंने संवत् १७३१ श्रावण कृष्ण नवमी और भृगुवार दिया है।

बाबा धरनीदासजीका नित्यनियम उक्त ब्रह्मपुरके निकट गंगास्नान, भगवद्भजन एवं उपदेशदान था। इनका सादा जीवन प्राय: इसी प्रकार वृद्धावस्थातक चलता रहा। अन्तमें एक दिन अपने शिष्योंके साथ ये गंगा-घाघराके संगमपर गये और अपने पूर्व कथनानुसार वहीं जलपर एक चादर बिछाकर बैठ गये। कुछ समयतक तो इन्हें सबने पूरबकी ओर उसी प्रकार बहते जाते देखा, किन्तु दूर चले जानेपर एक ज्वालामात्र दिखलायी पड़ी और फिर वह भी क्षितिजमें लीन हो गयी। बाबाजीकी समाधि लोगोंने माँझी गाँवके ही एक भागमें बना दी है, जहाँ इनकी एक गद्दी भी प्रतिष्ठित है। इनकी कुल गद्दियोंकी संख्या साढ़े बारह बतलायी जाती है और वे भिन्न-भिन्न स्थानोंमें हैं। इनकी रचनाओंमेंसे 'प्रेमप्रगास' के अन्तर्गत एक प्रेमकहानी दी

आचार्य श्रीविद्यारण्य स्वामी

श्रीपानपदासजी

श्रीअभयानन्दजी नैपाली

संत श्रीमाधवदास

श्रीपयहारीजी और महाराजा पृथ्वीराज

श्रीचरणदासजी और जयपुरनरेश

हुई है जो जायसी आदि सूफियोंके ढर्रेपर लिखी जान पड़ती है। 'शब्दप्रकाश' में संत-मतकी प्राय: सभी बातोंका समावेश है। ये परमतत्त्वको 'करताराम' कहते हैं और अपने इष्टदेव बालगोपाल वा 'धरनीश्वर' को उसीका प्रतीक मानते हुए-से जान पड़ते हैं। इन्हें अपने गुरुदेवके प्रति अपार श्रद्धा है और संत-साधुओंकी महिमा गानेसे ये कभी नहीं अघाते। प्रेमको ये बहुत महत्त्व देते हैं और साथ ही योगी संतोंकी परम्पराके अनुसार कायाके भीतरी रहस्योंका भी वर्णन करते हैं। इनका सामाजिक सुधारके प्रति भी कुछ झुकाव है और ये सब प्रकारसे संतसम्प्रदायके अन्तर्गत आते हैं। परन्तु उक्त बातोंके अतिरिक्त इनका विश्वास तुलसीकी माला एवं रामानन्दी छापोंमें भी बहुत जान पड़ता है और यह कदाचित् रामावतसम्प्रदायके सम्बन्धका परिणाम है। बाबाके अनेक पद्य बड़े ही सरस, प्रसादपूर्ण एवं प्रवाहविशिष्ट हैं और इनकी भाषा भी ललित है।

योगी पलटूजी

संत पलटूजीका जन्म फैजाबाद जिलेके नगपुर-जलालपुरमें हुआ था। ये जातिके काँदू बनिया थे। इनके वंशके लोग आज भी उस गाँवमें मौजूद हैं। लोगोंका अनुमान है कि ये आजसे प्राय: डेढ़ सौ वर्ष पहले हुए थे।

पलटू साहब अपने पुरोहित गोविन्दजी महाराजके साथ अपने गाँवमें ही रहते थे। पीछे जगन्नाथपुरीके रास्तेमें गोविन्दजीने भीखा साहबसे दीक्षा ली और वापस आकर पलटू साहबको उपदेश दिया।

पलटू साहब बराबर गृहस्थाश्रममें ही रहे और गुरूपदिष्ट सुरत-शब्दयोगका अभ्यास कर आपने बहुत ही ऊँची स्थिति प्राप्त की। आपने बहुत समयतक अयोध्यामें रहकर अपना सत्संग कराया। कहते हैं, इनकी महिमा और कीर्तिको देखकर वहाँके वैरागियोंके मनमें बड़ा द्वेष उत्पन्न हुआ और उन्होंने इन्हें जीते-जी जला डाला। परन्तु शरीर जलनेसे ही महात्मा नहीं जल जाते। उसके बाद उसी शरीरसे पलटू साहब जगन्नाथपुरीमें प्रकट हुए और फिर तुरंत भगवत्स्वरूपमें लीन हो गये। उनके जीवनके भी बहुत-से चमत्कार प्रसिद्ध हैं। आपके अनुयायी आज भी प्राय: भारतवर्षके प्रत्येक भागमें पाये जाते हैं।

पलटू साहबने अपनी वाणीमें नाम-जपपर बड़ा जोर दिया है। वे नामकी महिमा बताते हुए कहते हैं—

देखौ नाम-प्रतापसे सिला तिरै जल बीच॥
सिला तिरै जल बीच, सेतमें कटक उतारी।
नामहिके परताप बानरन लंका जारी॥
नामहिके परताप जहर मीराने खाई।
नामहिके परताप बाल पहलाद बचाई॥
पलटू हरि-जस ना सुनै, ताको कहिये नीच।
देखौ नाम-प्रतापसे सिला तिरै जल बीच॥

—'माधव'

स्वामी श्रीचरणदासजी महाराज

(लेखक—स्वामी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती)

शुकसम्प्रदायके प्रवर्तक महात्मा चरणदासजीका जन्म १७६० विक्रमीयके भाद्रपदमासकी शुक्ला तृतीया मंगलवारको अलवरराज्यान्तर्गत मेवातप्रान्तके डेहरा ग्राममें एक विशुद्ध (भार्गव) ब्राह्मणकुलमें हुआ।* इनकी माताका नाम कुंजोदेवी और पिताका मुरलीधर था। ये जन्मसे ही विरक्त और एकान्तप्रिय थे। पाँच वर्षकी अवस्थामें ही चरणदासजी महाराजको डेहरे ग्राममें नदीतटपर योगीश्वर शुकने प्रत्यक्ष दर्शन दिया। १९ वर्षकी अवस्थामें फिर फिरोजपुरके सन्निकट शुकतार नामक स्थानपर श्रीशुकदेवजीने इन्हें दूसरी बार दर्शन दिया और विधिवत् दीक्षा देकर अपना शिष्य बना लिया। इसके बाद चरणदासजीने अष्टांग योगकी साधना करके दिल्लीमें १४ वर्षकी समाधि लगायी। इस समय भी दिल्लीमें चरणदासजीका समाधिस्थान मौजूद है, परन्तु उन्हें इस

* कुछ सज्जन इन्हें वैश्य मानते हैं। —सम्पादक

योगसाधनासे शान्ति न मिली। भगवत्प्रेममें व्याकुल भक्तको इन सिद्धियोंसे कोई प्रयोजन नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्णके विरहमें व्याकुल चरणदासजी उनके दर्शनार्थ श्रीवृन्दावनधाममें सेवाकुंजकी ओर चल पड़े। भक्तवत्सल भगवान्ने चरणदासजीको अनन्यप्रेमी तथा निष्कामी भक्त समझकर उनकी निष्ठानुसार युगलरूपसे दर्शन दिया और उन्हें हृदयसे लगाकर तथा उनके मस्तकपर अपना वरद हस्त रखकर सहज साधन प्रेमाभक्तिके प्रचारकी आज्ञा दी और तुरन्त अन्तर्धान हो गये। भगवान्की आज्ञा ही भक्तकी इच्छा हुआ करती है। चरणदासजी भी भगवदाज्ञानुसार दिल्ली आकर प्रेमा-भक्तिका प्रचार करने लगे। ये जिसको जैसा अधिकारी समझते उसे उसी तरह ज्ञान, भक्ति, कर्म या योगका उपदेश दिया करते थे।

इनके विषयमें बहुत-सी घटनाएँ सुनी जाती हैं। दिल्लीके तत्कालीन बादशाह मुहम्मदशाहके पास इन्होंने एक बार लिख भेजा कि छः महीने बाद ईरानका बादशाह राज्यप्राप्तिके लिये तुमपर चढ़ाई करेगा। चरणदासजीके लेखानुसार छः महीने बाद ही नादिरशाहने दिल्लीपर धावा बोल दिया और युद्ध प्रारम्भ हो गया। युद्धके समय मुहम्मदशाहने नादिरशाहको लिख भेजा कि इस युद्धकी सूचना हमारे यहाँके चरणदास नामक एक महात्माने छः महीने पूर्व ही दे दी थी। मुहम्मदशाहका पत्र पढ़कर नादिरशाहको चरणदासजीके दर्शनकी बड़ी उत्कण्ठा हुई। मुहम्मदशाहने उसे चरणदासजीके दर्शन करा दिये। चरणदासजीके उपदेशसे प्रभावित होकर नादिरशाह युद्धकी इच्छा छोड़कर अपना डेरा-डंडा उठाकर ईरानको चला गया। यही तो संतवचनोंकी महिमा है, जो काम एक बड़ी-से-बड़ी राज्यशक्ति न कर सकी उस कामको संतके एक जरा-से उपदेशने कर दिया। मुहम्मदशाहने महात्मा चरणदासजीको अपना गुरु मानकर उन्हें सैकड़ों ग्राम भेंट करने चाहे, परन्तु सर्वस्वत्यागी महात्माको इस उपाधिसे क्या प्रयोजन। उन्होंने साफ इनकार कर दिया। मुहम्मदशाहने वे ग्राम उनके शिष्योंके नाम कर दिये, उनमेंसे बहुत-से अबतक उन्हींके नाम चले आ रहे हैं। चरणदासजीके जीवनसम्बन्धी बहुत-सी घटनाएँ सुनी जाती हैं, परन्तु स्थानाभावके कारण उन सबका यहाँ उल्लेख नहीं किया जा सकता।

श्रीचरणदासजीने प्रेमाभक्तिका खूब प्रचार किया। प्रसिद्ध भक्ता श्रीसहजोबाई और दयाबाई इन्हींकी शिष्या थीं। इसी तरह इनके और भी बहुत-से शिष्य थे। दिल्लीमें इनके स्थानके पास ही इनकी शिष्या सहजोबाई एवं परमशिष्य श्रीरामरूपजीका स्थान अबतक स्थित है। इस प्रकार सांसारिक विषयासक्त पुरुषोंकी हितकामनासे ८० वर्षतक इस भूतलपर लीला करके श्रीचरणदासजीने १८३९ विक्रमीयमें स्वेच्छासे योगबलद्वारा इस पाञ्चभौतिक शरीरका परित्याग करके परमधामको प्रयाण किया।

अब चरणदासजी महाराजके कुछ उपदेश उन्हींके शब्दोंमें लिखे जाते हैं। श्रीचरणदासजी महाराज इन्द्रियविजयीकी प्रशंसामें कहते हैं—

इन्द्रिय जीते सो ब्रह्मज्ञानी। इन्द्रिय जीते सोई ध्यानी॥
इन्द्रिय जीते सो हरिदासा। अमरलोकमें पावे बासा॥
इन्द्रिय जीते सोई शूरा। इन्द्रिय जीते सो जन पूरा॥
इन्द्रिय जीते सो संन्यासी। इन्द्रिय जीते सोइ उदासी॥
इन्द्रिय जीते, ध्यान लगावे। सो निश्चय ईश्वर हो जावे॥
इन्द्रिय जीते, मिले भगवंता। इन्द्रिय जीते जीवन्मुक्ता॥

और इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त पुरुषकी निन्दा करते हुए कहते हैं—

पाँचों इन्द्रिय-स्वादमें भयो निपट आधीन।

मनको वश करनेके अभ्यास, वैराग्य तथा योगसम्बन्धी विविध साधनोंका उपदेश करते हुए श्रीचरणदासजी कहते हैं—

मनको सत्संगतमें ले जावो कानों हरिजस कथा सुनावो।
भाँति-भाँतिके रँग ललचावो तो हरिके रँग क्यों न रँगावो॥
के कीजै हरिजूका ध्यानू रामभक्तिमें याको सानू।
के कीजै याहि जोगी पूरा याहि सुनावो अनहद तूरा॥
जग-रँग उतर ब्रह्म-रँग लागे ताते करम-भरम सब भागे।
के याको ज्ञानी ही कीजै जगत ओर जाने नहिं दीजै॥

इन्द्रियको मन बस करे, मनको बस करे पौन।
अनहद बस करे बायुको, अनहद लेवे तौन॥
याका नाम समाधि है, मन तामें ठहराय।
जन्म-जन्मकी बासना तामें दग्ध कराय॥
पवन रुके तब मन थके, और दृष्टि ठहराय।
ऐसा साधन साधिये गुरु गम भेद मिलाय॥
सूक्ष्म करे आहार, जीति धरणी जब लेई।
नीर जीति तब लेइ, बीर्य जाने नहिं देई॥

मोह-लोभ जब तजे अग्निको जीति मिलावै।
पवन जीत तब लेय, गगनको बाँध चलावै॥
हर्ष-सोक सम करि गने, पाँच जीति एकहि करे।
मन चरणदास साधन करे, होय प्रकास, कारज सरे॥
मन पवना बस कीजिये ज्ञान-युक्तिसों रोक।
सुरति बाँधि भीतर धसे, सूझे काया लोक॥
मन हिरदैमें रहत है, पवन नाभिके माहिं।
इन्द्रिय रोके ये रुकें, और कछू बिधि नाहिं॥
अमरी-बजरी साध बायु सरने नहिं पावै।
द्वादस अंगुल प्राण सुरत दे ताहि घटावै॥
मौन गहै नित, रहे अल्प, सूक्षम सो बोलै।
एक बार आहार, जँभाई कबहुँ न खोलै॥

इस तरह मनको वशमें करनेके अनेक साधन बतलाये हैं।

संतका सबसे बड़ा गुण 'सर्वभूतहितरतता' है। सम्पूर्ण प्राणी सुखी कैसे हों, यही उनका ध्येय रह जाता है। रन्तिदेव, शिबि तथा प्रह्लाद आदि परमभागवत संतोंने भगवान्से यही वर माँगा था कि सब लोकोंके सम्पूर्ण जीव सुखी हो जायँ। अपनी तरफसे कभी किसीको कष्ट न हो और जहाँतक हो सके सबका हितसाधन करता रहे। यही संतोंका स्वभाव और उपदेश है।

सबसों रहो निर्वैर हो, मुखसों मीठा बोल।
तनसों रक्षा जीवकी, चरणदास कहे खोल॥
कड़ुवा बचन न बोलिये, तन सों कष्ट न देय।
अपना-सा सब जानिके बने तो दुख हरि लेय॥
दयाशीलको धारकर करो रामकी सेव।
या सम तीरथ और ना, कहिया गुरु शुकदेव॥
जितने बैरी जीवके तनमें रहे न एक।
चरणदास यों कहत है, दया जो आवै नेक॥

जितने भी प्राणी हैं उनका मन, वचन और कर्मसे कभी भी अहित न होने पावे, साधकको हमेशा यह ध्यान रखना चाहिये। सबको आत्मस्वरूप समझे और भगवान्के नामका जप करता रहे, यही परमपद पानेका एकमात्र सहज उपाय है। सभी संतोंने भगवन्नामजपकी बड़ी महिमा गायी है, क्योंकि कलियुगमें यही एक सर्वसुलभ उत्तम साधन है। श्रीचरणदासजी महाराज कहते हैं—

साँचा हरिका नाम है, झूठा यह संसार।
चरणदास-सों शुक कही सुमिरण करो बिचार॥
श्वासा लेवे नाम बिनु, सो जीवन धिक्कार।
श्वास-श्वासमें नाम जप, यही धारणा स्वार॥
उलट-पुलट जप नामहीं, टेढ़ा-सीधा होय।
याका फल नहिं जायगा, कैसा ही लो कोय॥
खाते-पीते नाम ले, चलते, बैठे, सोय।
सदा पवित्र यह नाम है, करे उजैला तोय॥

भगवान्के नामका जप—खाते, पीते, सोते, उठते, बैठते, चलते, हर समय किसी-न-किसी तरह करता रहे। उलटा-सीधा जिस तरह भी भगवान्का नाम लिया जाय वह तो अपना काम करता ही रहता है।

चरणदासजीने अधिकारिभेदसे सभी साधनोंको मुक्ति-दायक बतलाया है। तत्त्वज्ञानके विषयमें वे कहते हैं—

क्षर परिहरि अक्षर लव लावै, तब निरक्षर पावै।
निराकार तो ब्रह्म है, माया है साकार॥
दोनों पदवीको लिये ऐसा पुरुष निहार।
माया-जीव दोनोंसे न्यारा, सो कहिये निज पीव हमारा॥
मैं-तूँ, यह-वह भूलकर रहे ज्यूँ सहज स्वभाव।
आपा देह उठायकर ज्ञान समाधि लगाय॥
ज्ञेय रहित ज्ञाता रहित रहित ज्ञान ही जान।
लगी कभी छूटै नहीं, यह समाधि बिज्ञान॥

इस तरह ज्ञानसाधनासे भी वही फलप्राप्ति होती है जो भक्ति और कर्म तथा योग आदिसे होती है।

अब चरणदासजी महाराज वास्तविक ब्राह्मणका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

ब्राह्मण सो जो ब्रह्म पिछाने बाहर जाता भीतर आने।
पाँचों बस करि झूठ न भाखे दया-जनेऊ हृदयमें राखे॥
आतमविद्या पढ़े-पढ़ावे परमात्माका ध्यान लगावे।
काम, क्रोध, मद, लोभ न होई चरणदास कहे ब्राह्मण सोई॥

जो काम, क्रोध, मद, लोभ आदि षट् विकारोंसे रहित है तथा एकादश इन्द्रियोंको जिसने वशमें करके भगवान्में तल्लीन कर दिया; जो सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंके हितमें रत है तथा ब्रह्मानन्दमें ही मग्न है एवं जो भगवदाज्ञा समझकर प्रारब्धवेगानुसार जो काम आ पड़ता है उसे शास्त्रमर्यादानुसार करता है; जिसकी चर्मदृष्टि नष्ट होकर सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि हो गयी है तथा जो स्वयं मान नहीं चाहता और दूसरोंको मान देता है और जो प्राणिमात्रको प्रिय है वही सच्चा ब्राह्मण है, जीवन्मुक्त है।

चरणदासजी महाराज अपनी साधनाका क्रम बतलाते हुए कहते हैं—

योगयुक्ति, हरिभक्ति कर, ब्रह्मज्ञान दृढ़ कर गह्यो।
आतम-तत्त्व बिचारिके अजपामें दृढ़ाभ्यास हि रह्यो॥

इस क्रमसे साधन करता हुआ हर एक साधक परमतत्त्वकी प्राप्तिका अधिकारी हो सकता है।

सहजो और दया

सहजो और दया महात्मा चरणदासजीकी शिष्या थीं और लगभग १८०० वि० संवत्में वर्तमान थीं। सहजो और दयाकी जोड़ी संत-संसारमें बेजोड़ है, अद्वितीय है। दोनों बहिनें मेवात (राजपूताना)-की रहनेवाली थीं और जातिकी वैश्य थीं। इसके सिवा इनके सम्बन्धमें और कुछ भी विशेषरूपसे पता नहीं चलता।

सहजोमें प्रेमकी प्रधानता है और दयामें वैराग्यकी। सहजोने प्रेम-विह्वल स्मरणको अपनाया तो दयाने सर्वस्व-समर्पणमय वैराग्यको। यह तो भूलनेकी बात नहीं है कि सहजोके प्रेममें वैराग्यका और दयाके वैराग्यमें प्रेमका आधार है। इन दोनों गुरुबहिनोंने भारतीय संतधारामें एक नवीन जीवन, नवीन ज्योति और नवीन प्राणका दान किया, जिसके कारण संतसाधनाका क्रम बड़े उल्लासपूर्ण वेगसे आगे बढ़ा। दोनों बहिनें 'शब्दमार्गी' थीं। क्रमबद्ध जीवनचरित इनका मिलता नहीं। प्राचीन कालके संत-महात्मा तो अपनी अनमोल वाणियोंद्वारा ही हमारे अंदर नवजीवनका संचार करते हैं और अनन्त कालतक करते रहेंगे। अस्तु।

'स्मरण' के सम्बन्धमें सहजोके कुछ दोहे स्मरण आ रहे हैं—

जागतमें सुमिरन करै, सोवतमें लौ लाय।
सहजो इक रस ही रहै, तार टूट नहिं जाय॥
बैठे-लेटे-चालते, खान-पान-ब्यौहार।
जहाँ-तहाँ सुमिरन करै, सहजो हिये निहार॥
सहजो भज हरिनामकूँ, तजो जगतसूँ नेह।
अपना तो कोइ है नहीं, अपनी सगी न देह॥

सहजोके 'प्रेम-दिवाने' का दर्शन कीजिये—

प्रेम-दिवाने जे भये, मन भयो चकनाचूर।
छके रहैं, घूमत रहैं, सहजो देखि हुजूर॥
प्रेम-दिवाने जे भये, कहैं बहकते बैन।
सहजो मुख हाँसी छुटै, कबहूँ टपकैं नैन॥
प्रेम-दिवाने जे भये, जाति बरन गये दूर।
सहजो जग बौरा कहै, लोग भये सब कूर॥
प्रेम-दिवाने जे भये, नेम धरम गयो खोय।
सहजो नर-नारी हँसैं, वा मन आनँद होय॥
प्रेम-दिवाने जे भये, सहजो डिगमिग देह।
पाँव पड़ै कितको कितै, हरि सँभाल तब लेह॥

दयाबाईमें दैन्य और वैराग्यकी मुख्यता है। वह प्रभुसे पहले प्रार्थना करती हैं—

पैरत थाको हे प्रभू, सूझत वार न पार।
मिहर-मौज जबही करौ, तब पाऊँ दरबार॥
निरपच्छीके पच्छ तुम, निराधारके धार।
मेरे तुम ही नाथ इक, जीवन-प्रान-अधार॥

अपने ऊपर दृष्टि जाते ही 'दया' का हृदय करुणासे उमड़ आता है।

जेते करम हैं पापके, मोसे बचे न एक।
मेरी ओर लखो कहाँ, बिर्द-बानो तन देख॥
नहिं संजम, नहिं साधना, नहिं तीरथ-ब्रत-दान।
मात भरोसे रहत है ज्यों बालक नादान॥

प्रेमोन्मत्त संतका लक्षण 'दया' ने यह बतलाया है—

'दया' प्रेम उन्मत्त जे, तनकी तनि सुधि नाहिं।
झुके रहैं हरिरस-छके, थके नेम-ब्रत नाहिं॥
प्रेम-मगन जे साधवा, बिचरत रहत निसंक।
हरि-रसके माते 'दया' गिनैं राव न रंक॥
हरिरस-माते जे रहैं, तिनको मतो अगाध।
त्रिभुवनकी संपति 'दया' तृन सम जानत साध॥

और अन्तमें प्रभुचरणोमें एकान्तनिष्ठाकी कितनी सुन्दर वाणी है—

सीस नवै तो तुमहिंकूँ, तुमहिंसूँ भाखूँ दीन।
जो झगरूँ तो तुमहिसूँ, तुम चरनन आधीन॥

—'माधव'

संत शाह जलालुद्दीन

(लेखक—श्रीजमुनाप्रसादजी श्रीवास्तव)

जो व्यक्ति जीते-जी परमात्मामें मिल जाता है उसे 'वसाली' कहते हैं। यह शब्द फारसी भाषाका है। इसकी व्याख्या कवि वलीरामजीने अत्यन्त सरल और सरस भाषामें इस प्रकार की है—

डेरा डाल दीजे, उठि राह लीजे,
जिस राहमें पीवको पाइये जू।
'हम-तुम' से न्यारे हो रहिये,
नित हँसिये, खेलिये, गाइये जू॥
मुए मुक्त मीतकी चाह कैसी,
जो पै जीवते पीव न पाइये जू।
वली अन्त समय जहँ जावना है,
तहँ जीवते क्यों नहीं जाइये जू॥

खुरासानके शाह जलालुद्दीन वसाली माधुर्य भावके, 'शृंगार-निष्ठा' के भक्त थे। श्रीरामचन्द्रजीके उपासक होनेके अतिरिक्त वे उनकी अलौकिक मधुर छबिपर मोहित भी थे। उनका विश्वास था कि श्रीरामचन्द्रजी अत्यन्त सुन्दर, स्वरूपवान् और सुकुमार हैं। उनकी भक्ति करने तथा उनका नाम जपनेसे निश्चय ही मुक्ति मिलती है।

महात्मा 'वसाली' भ्रमण करते हुए पंजाबप्रान्तके मुलतान नगरमें जा निकले थे। उसी नगरमें पण्डित टेकचन्दजी कथा-वाचक रहते थे। वे बड़े विद्वान् और सुयोग्य वक्ता थे। प्रतिदिन सन्ध्या समय समई माईके चबूतरेपर रामायणकी कथा बाँचते थे। उनका स्वर अत्यन्त कोमल और मधुर था। श्रोताओंको वह खूब रिझाते थे। पद-पदार्थोंकी व्याख्या सुन्दर, सरल और सरस शब्दोंमें करते थे, जिससे स्त्रियाँ और छोटे-छोटे बच्चे भी आसानीसे समझ लेते थे। जिस रसका वे वर्णन करते उसका तो चित्र ही खींच देते थे। इन सब सामग्रियोंसे उनकी कथा खूब जमती थी। दूर-दूरसे लोग आते और कई सहस्र श्रोता इकट्ठे होकर कथा सुना करते थे।

राजा जनककी फुलवारीका प्रसंग था। मिथिलावासी श्रीरामचन्द्रजीकी अद्‌भुत छबिपर मुग्ध थे। पण्डितजीने उनकी अलौकिक छबिका वर्णन इतनी सुन्दर और सरस भाषामें किया कि श्रोतागण सुनकर गद्‌गद हो गये।

कुछ रात्रि बीते कथा समाप्त हुई। श्रोतागण आरती लेकर अपने-अपने घर जाने लगे। पण्डितजीने अपनी पुस्तक बाँधना आरम्भ किया। इसी बीचमें शाह साहेबने आकर कहा—

'पण्डितजी! आपकी पद-पदार्थकी व्याख्या सुनकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हो गया हूँ। कृपा करके यह बतलाइये कि यह कौन-सी अर्थगौरवान्वित पुस्तक है और इसमें किस यूसफके समान सुन्दर व्यक्तिके सौन्दर्य और लावण्यका वर्णन है।'

'शाह साहेब! हिमालयसे कुछ दूरीपर एक विशाल नगर बसा है। उसका नाम अयोध्या है। वह सूबे अवधकी राजधानी है। वहाँ महाराजा दशरथ राज्य करते थे। वे बड़े प्रतापी और धर्मात्मा थे। महाप्रभु रामचन्द्रजी उन्हींके सुपुत्र थे। वे अत्यन्त सुन्दर, शूरवीर और बुद्धिमान् थे—

गुनसागर नागर बरबीरा। सुन्दर स्यामल गौर सरीरा॥

—यह रामायण है। इसमें उन्हींकी मंगलमय लीलाका वर्णन है। कहिये! आपको उनकी कथा अच्छी तो लगती है?'

'पण्डितजी! मैं कई दिनोंसे यहाँ रोज आकर कथा सुनता हूँ, बड़ा आनन्द आता है। मैं तो शाहजादे अवधका आशिक हो गया हूँ। दीन व दुनियासे मुँह मोड़ उन्हींके कूचेमें मुकीम हूँ।'

'शाह साहेब! आप कथाके बड़े प्रेमी हैं। कृपा करके प्रतिदिन आया कीजिये। मैं अपने पास ही बैठा लिया करूँगा।'

'हाँ! हाँ! मैं तो रोज सबसे पहले आता हूँ और सबसे पीछे जाता हूँ। लेकिन मुझे यहाँ कोई बैठने नहीं देता। खड़े-खड़े सुन लेता हूँ। अच्छा, अब जाता हूँ। कल फिर आऊँगा।'

शाह साहेबकी इस प्रेमवार्ताकी चर्चा मुसलमानोंके कानोंमें पहुँची। वे अत्यन्त क्रोधित हुए। सबने सलाह करके मौलवी अब्दुल्लाके मकानपर मजलिस जोड़ी। सम्पूर्ण मुसलमानोंको बुलाया और शाह साहेबको भी पकड़वा मँगाया। मौलवी साहेबने वाज दी, इस्लाम-धर्मकी व्याख्या तथा तरीकत और शरीयतकी तलकीन

की। सब लोग ध्यान देकर सुनते रहे। शाह साहेब एक किनारे बैठे थे। उन्होंने ध्यानतक नहीं दिया और चुपकेसे उठकर कथामें चले आये।

वाज हो जानेपर शाह साहेबकी खोज हुई; परन्तु वे थे ही नहीं, मिलें तो कैसे मिलें। लोग उन्हें ढूँढ़ते हुए कथामें आये। वहाँ वे पण्डितजीके पास बैठे बड़े प्रेमसे कथा सुन रहे थे। नेत्रोंसे अश्रुपात हो रहा था। तन-मनकी सुधि नहीं थी। उनकी यह दशा देखकर मुसलमानोंको सन्देह हुआ कि हो न हो, पण्डितजीने ही शाह साहेबको गुमराह करके मुसलमानसे काफिर बना लिया है। सब लोग उनके ऊपर बिगड़ पड़े। मौलवी साहेबने धमकाकर कहा—

'पण्डितजी! जो कुछ हुआ सो हुआ। कलसे कथा मत बाँचो। अपना पोथी-पत्रा यहाँसे उठा ले जाओ, वरना.........'

पण्डितजी बेचारे सीधे-सादे थे और मौलवी साहेबको अच्छी तरह जानते थे, बोले—

'अच्छा! कलसे मैं कथा नहीं बाँचूँगा। आप इतमीनान रखें।'

दूसरे दिन कथा बंद हो गयी। बालकाण्ड समाप्त हो चुका था। पण्डितजीने प्रात:काल हवन करके दूसरे शहरका मार्ग पकड़ा। रास्तेमें शाह साहेब मिले, उन्होंने पहचानकर कहा—

'कहाँ चले जा रहे हो? पण्डितजी! जरा उस दिलदारका पता तो देते जाओ।'

पण्डितजीने अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे कहा—

'शाह साहेब! इस समय तो जान लेकर भागा जा रहा हूँ। ठहरनेसे पकड़े जानेका डर है, वरना मैं आपको प्यारे प्रभुका चरित्र अवश्य सुनाता।'

शाह साहेब सिद्ध फकीर थे, उन्होंने कहा—

'पण्डितजी! डरो मत! मैं तुम्हें यह असा (छड़ी) देता हूँ। पृथ्वीपर पटक देनेसे वह अजदहा हो जायगा और सब लोग डरकर भाग जायँगे। धूलमें डाल दोगे तो वह अपनी असली सूरतमें आ जायगा, उसे हाथमें लिये फिरना; तुम तो मेरे दिलदारकी हिकायत सुनाते हो, तुम्हें डर किस बातका है?'

'अच्छा! जरा फिर तो समझा दो कि शाहजादे अवध कैसे हसीन हैं।'

बेचारे पण्डितजी क्या करते। पोथी खोलकर बैठ गये। रघुनाथजीकी अपार शोभाका वर्णन करने लगे। जनकपुरकी स्त्रियाँ किस प्रकार मोहित होकर निछावर हुई थीं और धनुषयज्ञके समय देश-देशके राजा और महाराजा किस प्रकार उनकी अतुलित छबिपर बेदाम बिक गये थे, इन्हीं सब बातोंका सविस्तर वर्णन करते रहे।

शाह साहेब मस्त हो गये, उन्होंने अपनी सिद्धियोंसे प्यारेकी कथा सुनानेवालेकी कुछ सेवा करनी चाही और बोले—'वाह, पण्डितजी! वाह, वाह, खूब सुनाया।'

'अच्छा! माँगो, क्या माँगते हो?'

पण्डितजीने खूब सोच-विचारकर तीन चीजें माँगीं—

(१) मैं पुत्रहीन हूँ, मेरे एक पुत्र हो जाय।

(२) मेरी मृत्यु अनायास हो। और—

(३) श्रीरामजीके चरणोंमें मेरी प्रीति हो।

'अच्छा लो, दो वरदान अभी देता हूँ। तीसरा जब फिर मिलोगे और दिलदारकी बातें सुनाओगे तब दूँगा।'

यही तो असली चीज थी। पण्डितजी अपनी भूलपर पछताते हुए कि मैंने पहले यही क्यों न माँगा, उनसे कहा—'फिर मैं आपको कहाँ पाऊँगा?'

'यारके कूचेमें। मेरा यार तुम्हें खींचकर मेरे पास पहुँचा देगा। अच्छा, अब जाओ।'

पण्डित टेकचन्द बिदा हुए। शाह साहेब झूमते-झामते निम्नलिखित मस्ताना गीत गाते हुए यारके कूचेकी तरफ चले—

दिलदार यार प्यारे! गलियोंमें मेरी आ जा।
आँखें तरस रही हैं, सूरत मुझे दिखा जा॥

पाँचवें महीने शाह साहेब अवध-धाममें पहुँचे और बाबरकी मस्जिदमें उतरे। इतने दिनकी प्रबल उत्कण्ठाके बाद इष्टधाममें पहुँचनेपर उन्हें जो असीम आनन्द प्राप्त हुआ उसका वर्णन कौन कर सकता है। वे उसी अपार आनन्दमें मग्न होकर इष्टदेव प्यारे श्रीरामकी आराधनामें लग गये। इतनेमें एक सज्जन वहाँसे निकले। उन्होंने शाह साहेबको अकेला देखकर कहा—

'शाह साहेब! अकेले कैसे बैठे हो?'

महात्मा वसालीका ध्यान भंग हो गया। उन्होंने किसी प्रकार अपनी विरह-वेदनाको रोक और क्रोधको शान्त कर कहा—

'अभीतक तो अकेला नहीं था, अपने दिलदारके साथ मजे उड़ा रहा था। हाँ, तुम्हारे आ जानेसे अलबत्ता ध्यान टूट गया और मैं अकेला हो गया।'

यह उपदेश-भरे वचन सुनकर वह अत्यन्त लज्जित हुआ। हाथ जोड़कर क्षमा माँगने लगा और प्रणाम कर चला गया।

अनन्तर महात्मा वसालीने इष्टधामकी परिक्रमा करनेका विचार किया। वे आनन्दपूर्वक अयोध्याजीकी गलियोंमें विचरने लगे। उन दिनों अयोध्याजीमें मन्दिर थोड़े ही थे, परन्तु उनके भीतर इनका प्रवेश होना एक असम्भव बात थी। इधर प्रियतमके दीदारकी लालसा, उधर पुजारियोंकी दुत्कार। इन दोनों प्रतिद्वन्द्वी स्थितियोंके संघर्षणमें विरही महात्माजीके हृदयमें दर्शन-लाभकी ज्वाला और भी जोरसे धधक उठी। उन्हें बड़ा दुःख हुआ; परन्तु नियम है, जो जिसकी याद करता है वह भी उसकी याद करता है।

अन्तमें जब उनकी बेचैनी बहुत बढ़ गयी तब यह आकाशवाणी हुई—

'ऐ वसाली, जल्द आ! मैं तुझसे मिलनेके लिये तड़प रहा हूँ।'

इस आकाशवाणीके सुनते ही महात्मा वसालीका शरीर पुलकित हो गया। आनन्दके मारे उनके नेत्रोंसे आँसू छलक पड़े। उनकी जबानसे बरबस निकल पड़ा—

ऐ कि दर हेच जानदारी जा बुल अजब मादअम कि हरजाई॥

सर्बरहित सब उर-पुरबासी॥

अनन्तर महात्मा वसाली श्रीसरयूजीके किनारे गये। *'विमल वर वारि'* को देखकर प्रेमसे परिपूर्ण हो गये। जल और थलकी उन्हें सुधि नहीं रही। गुदड़ी पहने हुए ही बीच-धारामें कूद पड़े। घाटपर लोग स्नान-ध्यान कर रहे थे, यह देख उन्हें आश्चर्य हुआ। सबोंने जाना कि शाह साहेब डूब गये। कई मनुष्य झटपट कूद पड़े। स्वर्गद्वारघाट, लछमनघाट आदि सब छान डाले; परन्तु उनका पता न लगा। आषाढ़का महीना था। सरयूजी बड़े वेगसे बह रही थीं। सब लोग निराश होकर बैठ रहे। अन्तमें एक पहरके पश्चात् वे गुप्तारघाटपर निकले। उनका सम्पूर्ण शरीर भीगा था, परन्तु गुदड़ी सूखी थी—

गर व दरिया रबदव वजदए इश्क
रिश्तए दलकशाँ न गरदद् नम॥

अर्थात्—

प्रेमपगा जो बूड़इ सरिता माहिं।
एकहु ताग गुदड़िको भीजे नाहिं॥

—विनायक

शाह साहेब किनारे खड़े होकर इधर-उधर देखने लगे। उन्होंने उस समयके दृश्यका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। यहाँ हम उसका पद्यानुवाद देते हैं—

गयउँ काल्ह मैं सरिता तीर। देखेउँ सुखद एक मतिधीर॥
चतुर मनोहर वीर निशंक। शशिमुख कोमल साराँग अंक॥
सुघर उठानि, सुवासित गाता। वय किशोर गति गज सुखदाता॥
चितवत चोख भृकुटि बर बाँके। नयन भरित मद मधुरस छाके॥
कबहूँ छबियुत भाव जनावै। कबहुँ कटाक्ष-कला दरसावै॥
प्रेमिन कहँ अस परै लखाई। मुखछबि वैदिक धर्म सुहाई॥
मेचक कच कुंचित घुघुरारे। जनु इसलाम धर्म-द्युति धारे॥
मम दिशि लखि भ्रूबंक सँभारेउ। छबि प्रसाद जनु देन हँकारेउ॥
चकित थकित चित भयउ अचेता। सुध-बुध बिसरी धर्मक खेता॥
नहिं जानो तिहि छिन मोहि जोही। को संदेश जतायउ मोही॥
प्रियतम प्रभु तजि आन, जनि देखिय हियकी चखनि।
जो देखिय मतिमान, तासु प्रकाशहि जानिये॥

महात्मा वसाली कुछ दिन स्वर्गद्वार और मणिपर्वतपर रहे। फिर वे प्रमोदवनको चले आये और वहीं रहने लगे।

पण्डित टेकचन्दजी शाह साहेबको खोजते हुए अयोध्याजीमें आये, परन्तु वे नहीं मिले। तब उन्होंने इस अभिप्रायसे कि ख्याति होते ही जहाँ होंगे, आ जायँगे, रामायणकी कथा बाँचना आरम्भ कर दिया। कथा खूब जमती थी। सहस्रों मनुष्य इकट्ठे होते थे। एक दिन जब कथा-समाप्ति हो चुकी और हवन होनेके उपरान्त पूजा चढ़ चुकी, तब पण्डितजीने उदास होकर कहा—

रंग पीले पड़ गये जिनके लिये।
वे शाहजी आये न दम भरके लिये॥

इसी बीचमें शाह साहेब भी आ पहुँचे। व्यासासन छू जानेके भयसे उन्होंने दूरसे ही पाँच दाने यवके पुस्तकपर फेंक दिये। दाने चमकदार थे। पार्श्ववर्तियोंने बीनकर पण्डितजीको दिये। यथार्थमें वे सोनेके थे। यह देखकर लोग दंग रह गये। पण्डितजीने व्यासासनसे उतरकर अभिवादन किया और अपने आनेका कारण कह सुनाया। शाह साहेबने कहा—

'अच्छा! यहाँसे निपटकर प्रमोदवनमें बेरके वृक्षके

नीचे आओ!'

यह कहकर शाह साहेब चले गये। पण्डितजीने पोथी-पत्रा बाँध, श्रोताओंसे विदा हो प्रमोदवनकी राह ली। कुछ श्रोताओंने पीछा किया; परन्तु उन्होंने यह कहकर कि उनके साथ रहनेसे शाह साहेबके दर्शन नहीं मिलेंगे, उन्हें लौटा दिया। इसपर भी एक व्यक्ति चुपके-चुपके पीछे चला ही गया। पण्डितजीने प्रमोदवनमें पहुँच बेरके वृक्षके नीचे खोज की, परन्तु शाह साहेब नहीं मिले। तब वे वहीं ठहर गये; परन्तु दूसरा व्यक्ति जो पीछे-पीछे आया था, निराश होकर लौट गया। उसके जाते ही शाह साहेब बेरके वृक्षके नीचे प्रकट हो गये। पण्डितजीने हाथ जोड़कर विनती की और कहा—

'शाह साहेब! आपकी कृपासे पुत्ररत्न तो मिल गया, अब मेरा इच्छित तीसरा वरदान दीजिये।'

'अच्छा! जो कुछ कल कथामें पाया है, उसे दान करके रातको इसी स्थानपर आ जाओ; परन्तु आजकी तरह किसी औरको अपने साथमें मत लाना।'

पण्डितजीने उसी दिन सब कुछ दान कर दिया। साँझ होते ही भिखारी बनकर शाह साहेबके आश्रममें पहुँचे और विनती की—

'मैं आपका सेवक हाजिर हूँ।'

महात्मा वसाली उस समय नेत्र मूँदे हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी अनूप रूपराशिका असीम आनन्द लूट रहे थे। उनकी उस समयकी अवस्था वर्णन करते हुए किसी कविने कहा है—

तुझमें फना हूँ और तुझीमें फना रहूँ।
आ जाय तू नजर तो तुझे देखता रहूँ॥

महात्माजीने आँखें मूँदे-ही-मूँदे कहा—

हाँ! आ गये? अच्छा कहो—

मामुकीमाने क्य दिल दारेम।
रुख व दुनिया वर्दी नमी आरेम॥
बुलबुलानेम कज कजा व कदर।
ओफतादा जुदा ज गुलजारेम॥
मुर्ग शाखे दरख्त लाहू तेम।
गोहरे दुर्रे गंज इसरारेम॥

शाह साहेब कहते जाते थे और पण्डितजी दुहराते जाते थे। अन्तमें शाह साहेबने कहा—

'अच्छा! अब वली अल्लाह हो जा।'

पण्डितजीने कहा—

'मैं आपका सेवक टेकचन्द हूँ।'

'हाँ! हाँ! अच्छा, वलीराम हो जा!'

अब पण्डित टेकचन्दजी भी उन्हींकी तरह मस्त हो गये। उनका नाम 'वलीराम' पड़ा। 'मामुकीमा' की तीन शैरें पढ़कर वे फारसी और अरबीके बड़े विद्वान् हो गये। उनका बनाया हुआ 'दीवाने-वलीराम' अब भी आदरकी दृष्टिसे देखा जाता है।

महात्मा वसाली प्रमोदवनमें रहते थे और पण्डित वलीरामजी मणिकूटपर विचरते थे। रात्रिको जब कभी दोनों मिल जाते थे तब 'खूब बन आती है तो मिल बैठते दीवाने दो' वाली कहावत चरितार्थ होती थी।

कुछ दिन पश्चात् महात्मा वसालीने जीवनयात्रा समाप्त कर साकेतवास किया, उनकी समाधि उसी बेरके नीचे अबतक मौजूद है।

'मामुकीमा' नामकी प्रसिद्ध पुस्तिका महात्मा वसालीहीकी निर्माण की हुई है। आधीरातके समय यह कविता अनायास ही उनके मुँहसे निकल गयी थी। दूसरे ही दिन लखनऊके कीलकालकी मजलिसमें पीरजादा नकीशाहने इसे गाकर सुनाया। लोगोंने बहुत पसंद किया। सब जगह प्रचार हो गया, यहाँतक कि वह मकतबोंसे जारी हो गयी और पाठशालाओंमें अब भी पढ़ायी जाती है।

एक दिन मौलाना नजीर शाह साहेबसे मिलने आये। उन्होंने बड़े प्रेमसे वह कविता सुनायी। शाह साहेबने कहा, मैंने तो किसीको इसे लिखायातक नहीं; आपको कैसे प्राप्त हुई? मौलाना साहेबने लखनऊ कीलकालकी मजलिसमें सुनकर याद कर लेनेका सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया, शाह साहेबको बड़ा आश्चर्य हुआ। अपने प्रियतमका रहस्य समझकर वे चुप हो रहे।

एक दिन जनकपुरमें स्वामी जानकीवरशरणजीके मुखसे अनायास ही यह पद निकल गये थे—

चित ले गयो चुराय जुलफोंमें लला।
हम जानी, वे कृपासिन्धु हैं,
तब उनसे भई प्रीति भला॥
विरही जनको दुख उपजावत,
करत नये नये अजब कला॥
प्रीतिलता! प्रीतम बेदरदी
छाँड़ि हमें कित गयो चला॥

उन्होंने यह पद किसीको लिखाया भी नहीं था।

परन्तु जब वे अयोध्याजीमें आये तो वहाँ भी यही पद लोगोंको गाते सुना। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ।

धन्य है महात्मा वसाली, आपको और आपके अलौकिक प्रेमको! उस यवन-कालमें भी आपने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी विमल भक्तिका आस्वादन करके हिन्दुओंकी आँखें खोल दीं।

भक्तवर नागरीदासजी

नागरीदास नामके कई संत-कवि व्रजमें हो गये हैं। यहाँ श्रीवल्लभकुलके शिष्य कृष्णगढ़ाधीश महाराज सावन्तसिंहजीके सम्बन्धमें, जिन्होंने अपना नाम नागरीदास रखा था, कुछ निवेदन किया जायगा। इनका जन्म पौष कृष्ण १२, संवत् १७५६ में हुआ। इनके पिताका नाम महाराज राजसिंह था। महाराज सावन्तसिंह बचपनसे ही शूर, वीर और निर्भय थे। इनका विवाह संवत् १७७७ में भावनगरके राजावत यशवंतसिंहकी कन्यासे हुआ। इनके चार संतति हुईं, दो पुत्र और दो कन्याएँ। संवत् १८०४ में ये दिल्लीके दरबारमें थे। पिताके स्वर्गस्थ हो जानेपर बादशाह अहमदशाहने इन्हें कृष्णगढ़का राजा बनाया परन्तु कृष्णगढ़ पहुँचनेके पहले ही इनके भाई बहादुरसिंह राज्यपर अधिकार कर बैठे। अन्तमें सावन्तसिंहने मरहठोंसे सन्धि कर उनकी सहायतासे बहादुरसिंहको हराया और अपने राज्यपर अधिकार कर लिया। परन्तु कलहके कारण इन्हें राज्य भार-सा प्रतीत होने लगा और इनका चित्त ऊब उठा। वे लिखते हैं—

कहा भयो नृपहू भये, ढोवत जग-बेगार।
लेत न सुख हरिभगतिको, सकल सुखनको सार॥

विरक्ति बढ़ती गयी और संवत् १८१४ में आप राजपाट छोड़कर तीर्थाटनको निकले। और अन्तमें वृन्दावनमें आकर ये 'नागरीदास' बन गये। उसी समयका यह दोहा है—

सुनि व्यौहारिक नाम मो, ठाढ़े दूरि उदास।
दौरि मिले भरि नैन सुनि नाम नागरीदास॥

एक बार आप वृन्दावनके उस पार रातके समय पहुँचे। कोई नाव न मिली। जायँ तो कैसे? परन्तु वृन्दावनका वियोग असह्य था। आप यमुनाजीमें कूद पड़े और तैरकर उसी समय अपने परम प्राणाधार श्रीवृन्दावनविहारीके समीप पहुँच गये। वृन्दावनमें आपके सुखका क्या ठिकाना? आप अपने सुखकी गाथा गाते हैं—

हमारी सबही बात सुधारी।
कृपा करी श्रीकुंजबिहारिनि, अरु श्रीकुंजबिहारी॥
राख्यौ अपने बृंदाबनमें, जिहिको रूप उज्यारा।
नित्य केलि, आनंद अखंडित, रसिक संग सुखकारा॥
कलह-कलेस न ब्यापै इहि ठाँ, ठौर बिश्वतें न्यारी।
नागरिदासहिं जनम जिवायो, बलिहारी, बलिहारी॥

नागरीदासजी वल्लभकुलके गोस्वामी रणछोड़जीके शिष्य थे। यह गद्दी कोटेकी है। नागरीदासजीके सेव्य ठाकुर श्रीकल्याणरायजी थे, परन्तु बाहर साथमें श्रीनृत्यगोपालजीका स्वरूप रखते थे। आज भी कृष्णगढ़में श्रीकल्याणराय और श्रीनृत्यगोपालके स्वरूप विराजमान हैं। सुप्रख्यात प्रेमी कवि आनन्दघनजी आपके गहरे मित्र थे। छोटे-बड़े सब मिलाकर नागरीदासजीने ७५ ग्रन्थ रचे। इनमें ७३ का संग्रह ज्ञानसागर प्रेससे 'नागरसमुच्चय' के नामसे छपा है। श्रीराधाकृष्णकी भक्तिकी इतनी सुन्दर रचनाएँ अन्यत्र अलभ्य हैं। ६४ वर्ष ८ महीनेकी अवस्थामें भक्ताग्रगण्य श्रीनागरीदास व्रजवास करते हुए भाद्र शुक्ल ३, संवत् १८२१ को गोलोक सिधार गये।

इनका यह प्रसिद्ध पद भक्तोंका कण्ठहार है—

हमारो मुरलीवारौ स्याम।
बिनु मुरली बनमाल चंद्रिका, नहिं पहिचानत नाम॥
गोपरूप बृंदाबनचारी ब्रजजन पूरन काम।
याही सों हित चित्त बढ़ौ नित दिन दिन पल छिन जाम॥
नंदीसुर गोबरधन गोकुल बरसानो बिस्राम।
नागरिदास द्वारिका मथुरा, इन सों कैसो काम॥

श्रीकृष्णचरणोंमें प्राणोंकी जो अखण्ड, अनन्य प्रीति है उसका वर्णन कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। स्नेहकी अकथ कथा कही कैसे जाय?

चरचा करी कैसे जाय।
बात जानत कछुक हमसों, कहत जिय थहराय॥
कथा अकथ सनेहकी, उर नाहिं आवत और।
बेद संमृति उपनिषदकों, रही नाँहिन ठौर॥
मनहिमें है कहनि ताकी, सुनत स्त्रोता नैन।
सोऽब नागर लोग बूझत, कहि न आवत बैन॥

—'माधव'

श्रीभगवतरसिक *

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीलोकनाथजी द्विवेदी, सिलाकारी 'साहित्यरत्न')

श्रीभगवतरसिकजीका जन्म संवत् १७९५ में सागर जिलेके गढ़कोटा स्थानमें हुआ था। टट्टीसम्प्रदायके मुख्याचार्योंमें श्रीस्वामी ललितकिशोरीजीके शिष्य श्रीस्वामी ललितमोहिनीदासजीके कृपापात्र शिष्य श्रीभगवतरसिकजी थे। इनकी उपासना श्रीबिहारीजीकी है। ये स्वामी श्रीहरिदासजीकी सम्प्रदायके संत थे।

कहते हैं कि भगवतरसिकजी पहले श्रीगणेशजीके उपासक थे। अपनी अनन्य निष्ठा और एकान्त उपासनासे इन्होंने गणेशजीको प्रत्यक्ष कर लिया था। श्रीगणेशजीने ही पहले इन्हें श्रीकृष्ण भगवान्‌की अनन्य प्रेमलक्षणा भक्ति 'सखीभाव' से करनेका उपदेश दिया और उसकी सिद्धिका वरदान भी दिया। यह बात इनके निम्नलिखित पदसे भी प्रकट होती है—

हमैं बर गुरु गनेस है दीनों।
जल भरि सूँड फिराय सीसपर संसकार सुभ कीनों॥
दै प्रसाद परतीति बढ़ाई, दुख दारिद सब छीनों।
अपने पाँच रूप दरसाये सुख उपजाइ नवीनों॥
ब्यापक पूज्य सखी आचारज अति ऐश्वर्य-प्रबीनों।
लोक-बेद-भय-भर्म भगाये, ताप सिराये तीनों॥
आनँदघनको पद दरसायो, दम्पति-रति-रस भीनों।
भगवतरसिक लड़ैती-लालन ललित भुजन भरि लीनों॥

टट्टीसम्प्रदायके अष्टाचार्योंमें सबसे अन्तिम श्रीललितमोहिनीदासजीके गोलोक सिधारनेपर भक्त महानुभावोंके अत्यन्त आग्रह करनेपर भी श्रीभगवतरसिकजीने गद्दीका अधिकार नहीं लिया और ये जन्मभर निर्लिप्त भावसे श्रीजीकी सेवामें लगे रहे। यथार्थ तो यह है कि ये महात्मा श्रीकृष्णभक्तिमें लीन एक प्रेमयोगी थे। इनके सम्प्रदायके बीसों महात्माओंने इनका विमल चरित्र गाया है। इस सम्प्रदायवाले इनकी रचनाको अत्यन्त पूज्यभावसे देखते हैं और उसे 'वाणी' कहते हैं। उसका नित्य पाठ पाप-तापनिवारण एवं श्रीकृष्णसान्निध्यप्राप्तिका हेतु समझा जाता है। इन्होंने प्रेमतत्त्वका निरूपण अनोखा किया है। इनकी रचनाओंमें एक ओर तो वैराग्यका भाव भरा है और दूसरी ओर अनन्य प्रेमरस छलकता है। श्रीकृष्णभक्तिके सखीसम्प्रदायके भक्त-प्रेमी-भावुक महाकवियोंमें इनका आसन श्रेष्ठ है। इस प्रेमयोगी कविका हृदय प्रेमरससे सराबोर था! इन्होंने स्वयं लिखा है—

'भगवतरसिक रसिककी बातें रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना'

इनके रचे हुए पाँच ग्रन्थ बतलाये जाते हैं—(१) अनन्यनिश्चयात्मक, (२) श्रीनित्यबिहारीयुगलध्यान (३) अनन्यरसिकाभरण (४) निश्चयात्मक ग्रन्थ, उत्तरार्ध (५) निर्बोधमनरंजन। इनकी रचनाओंका एक संग्रह ग्रन्थ 'भगवतरसिककी वाणी' के नामसे वर्तमान महंतने प्रकाशित किया है। श्रीभगवतरसिकजी अपना परिचय इस प्रकार देते हैं—

नहिं हिंदू, नहिं तुरुक हम, नहिं जैनी, अँगरेज।
सुमन सम्हारत रहत नित कुंजबिहारी सेज॥
आचारज ललिता सखी, 'रसिक' हमारी छाप।
नित्यकिसोर-उपासना, जुगल मंत्रको जाप॥

अपने उपास्यके विषयमें लिखते हैं—

नमो नमो बृंदावनचंद।
नित्य अनादि अनंत एकरस, पिय-प्यारी बिहरत स्वच्छंद॥
सत्त-चित्त आनंदरूप घन, खग मृग द्रुम बेली बर बृंद।
भगवतरसिक निरंतर सेवत, मधुप भये पीवत मकरंद॥

श्रीवृन्दावनधामके सम्बन्धमें इनकी आस्था देखिये—

हमारैं श्रीबृंदाबन उर और।
माया, काल तहाँ नहिं ब्यापै, जहाँ रसिकसिरमौर॥
छूट जात सत-असत बासना, मनकी दौरादौर।
भगवतरसिक बतायौ श्रीगुरु अमल अलौकिक ठौर॥

अपनी उपासनापद्धतिके विषयमें लिखते हैं—

कुंजन ते उठि प्रात गात जमुनामें धोवै।
निधिबन करि दंडवत, बिहारीको मुख जोवै॥
करै भावना बैठि स्वच्छ थल रहित उपाधा।
घर-घर लेय प्रसाद, लगै जब भोजन साधा॥

* सम्मान्य श्रीसिलाकारीजीका एक लेख बहुत दिनों पहले आया था। लेख बहुत ही सुन्दर और तथ्यपूर्ण है, यहाँ स्थानाभावसे उसका संक्षेप करके दिया गया है। —सम्पादक

संग करै भगवतरसिक, कर करवा, गूदरि गरे।
बृंदाबन बिहरत फिरै, जुगलरूप नैनन भरे॥

श्रीभगवतरसिकजीके मतानुसार संतका लक्षण इस प्रकार है—

इतने गुन जामें सो संत।
श्रीभागवत मध्य जस गावत श्रीमुख कमलाकंत॥
हरिको भजन, साधुकी सेवा, सर्ब भूतपर दाया।
हिंसा, लोभ, दंभ, छल त्यागै, बिष सम देखै माया॥
सहनसील, आसय उदार अति, धीरजसहित बिबेकी।
सत्य बचन सबको सुखदायक, गहि अनन्यब्रत एकी॥
इंद्रीजित, अभिमान न जाके, करै जगतकों पावन।
'भगवतरसिक' तासुकी संगति तीनहुँ ताप नसावन॥

'रसिक' की परिभाषा कितनी सुन्दर है—

जीव ईस मिलि दोय, नामरूप गुन परिहरै।
रसिक कहावै सोय, ज्यों जल घोरैं सर्करा॥
दिया कहै सब कोय, तेल-तूल-पावक मिलैं।
तमहिं नसावै सोय, वस्तु मिलैं भगवतरसिक॥

इन्होंने नीतिपरक भी बड़े ही सुन्दर तथा भावपूर्ण दोहा-छप्पय रचे हैं—

मायाको सब जग भजै, माधव भजै न कोय।
जो कदापि माधव भजै, माया चेरी होय॥
आये सँग, नहिं सँग गये, मगमें भयो मिलाप।
मोह फाँस जग बँधि रह्यो, बिछुरैं करत बिलाप॥
रुचि लै सुचि सेवा करै, सेवक कहिये सोय।
तन-मन-धन अरपन करै, रहै अपुनपौ खोय॥

प्रेमकी तल्लीनताकी दृष्टिसे इनके अनेक पद उत्कृष्ट हैं—

तुव मुख-कमल नयन अलि मेरे।
पलक न लगत पलकु बिन देखे, अरबरात, अति फिरत न फेरे॥
पान करत मकरंद रूप रस, भूल नहीं फिर इत-उत हेरे।
भगवतरसिक भए मतवारे, घूमत रहत छके मद तेरे॥

श्रीस्वामिनारायण

(लेखक—पं० श्रीनारायणचरणजी तर्कवेदान्ततीर्थ)

ईसाकी सत्रहवीं शताब्दीसे लेकर अठारहवीं शताब्दीका मध्योत्तरकाल भारतके लिये बड़े संकटका था। उस समय भारतवर्ष अराजकताका केन्द्र बना हुआ था और जनताके धार्मिक बन्धन ढीले हो चले थे। सर्वत्र अशान्ति और 'त्राहि त्राहि' की पुकार मची हुई थी। किन्तु सदाकी भाँति उस समय भी भगवान्ने पीड़ित राष्ट्रकी पुकार सुनी। ई० सं० १७८१ की ३ अप्रैल, तदनुसार वि० सं० १८३७ की चैत्र शुक्ला नवमीको अयोध्याके पास 'छपिया' नामक गाँवके एक सरवरिया ब्राह्मणकुलमें भगवान् श्रीस्वामिनारायण अवतरित हुए। पिताका नाम धर्मदेव तथा माताका नाम भक्तिदेवी था। माता-पिताने उस अलौकिक बालकका नाम घनश्याम रखा।

किन्तु बालक घनश्यामका ज्यों ही जन्म हुआ, त्यों ही असुरोंने उत्पात मचाना शुरू कर दिया; इसलिये पण्डित धर्मदेव सपरिवार अयोध्यामें आकर बस गये। वहींपर उन्होंने बालक घनश्यामका यज्ञोपवीतसंस्कार कराया तथा पठन-पाठनकी भी व्यवस्था कर दी। अवतारी पुरुषोंके लिये पढ़ना क्या रहता, पढ़े-पढ़ाये तो वे पहलेसे ही होते हैं। अतः बालक घनश्याम अपनी दैवी प्रतिभासे थोड़ी ही उम्रमें सकलशास्त्रनिष्णात हो गये। किन्तु अभी उनकी अवस्था केवल ग्यारह वर्षकी थी कि कुछ महीनोंके हेर-फेरसे उनके पिता-माताका स्वर्गवास हो गया। माँ-बापकी उस मृत्युका बालक घनश्यामपर बड़ा प्रभाव पड़ा और वे सं० १८४९ की आषाढ़ शुक्ला दशमीके दिन रामप्रताप और इच्छाराम नामके अपने दो बड़े भाइयोंपर घरका सारा भार छोड़कर अचानक घरसे बाहर निकल पड़े। तबसे लगातार सात वर्षतक उन्होंने भारतके विभिन्न तीर्थोंका परिभ्रमण किया, तरह-तरहके अद्‌भुत चमत्कार दिखलाये और अपना नाम बदलकर नीलकण्ठवर्णि रख लिया। इस प्रकार तीर्थाटन करते हुए नीकण्ठवर्णि सं० १८५६ में लोजपुर पधारे, जहाँ समाधिमें श्रीरामानुजाचार्यद्वारा दीक्षा पाये हुए भगवान्के अनन्य भक्त उद्धवावतार श्रीरामानन्द स्वामीका आश्रम था। वहाँ उनके शिष्य मुक्तानन्द स्वामी, सुखानन्द स्वामी आदि रहते थे। उन लोगोंके द्वारा नीलकण्ठवर्णिका आकर्षण श्रीरामानन्द स्वामीकी ओर हुआ तथा एक वर्ष बाद ही उन्होंने सं०

१८५७ की कार्तिक शुक्ला ११ को 'पीपलाणा' नामक स्थानमें उनसे भागवती दीक्षा ले ली। दीक्षा लेनेके उपरान्त उनका नाम नीलकण्ठवर्णिसे बदलकर श्रीनारायणमुनि पड़ गया और वे अल्पकालमें ही अपनी तेजस्विता, तपस्विता आदि गुणोंसे श्रीरामानन्द स्वामीके सभी शिष्योंमें प्रधान हो गये। अत: जब श्रीरामानन्द स्वामी अपना पांचभौतिक शरीर छोड़कर भगवद्धामको जाने लगे, तब अर्थात् सं०१८५८ की कार्तिक शुक्ल ११ को उन्होंने नारायणमुनिको ही जेतपुर नगरकी अपनी धर्मधुरीण गद्दीपर अभिषिक्त किया।

उसके बाद भगवान् स्वामिनारायणने अपना दिव्य प्रकाश फैलाना आरम्भ किया। उन्होंने विशिष्टाद्वैत-स्वामिनारायण-सम्प्रदायकी स्थापना की तथा देशमें घूम-घूमकर उसका प्रचार किया। उससे देशका बड़ा कल्याण हुआ। चारों ओर फैली हुई लूटमार, बर्बरता और अधार्मिकताका अन्त होने लगा। जगह-जगहपर सुविशाल मन्दिर बन गये तथा अगणित नर-नारी भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी उपासना करने लगे। इस प्रकार श्रीस्वामिनारायणने लगभग अट्ठाईस वर्षतक अपने सम्प्रदायका प्रचार किया, धर्मकी स्थापना की और देशका कायापलट करके अन्तमें सं० १८८६ की ज्येष्ठ शुक्ला १०के दिन वे भक्तोंकी स्थूल दृष्टिसे ओझल हो गये—उनकी लीलाका संवरण हो गया। श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें उनके इतने नाम प्रचलित हैं—हरि, कृष्ण, हरिकृष्ण, श्रीहरि, घनश्याम, सरयूदास, नीलकण्ठवर्णि, सहजानन्द स्वामी, श्रीजी महाराज, श्रीस्वामिनारायण, नारायणमुनि।

भगवान् श्रीस्वामिनारायणने जनसमाजके कल्याणार्थ शिक्षापत्री नामका एक ग्रन्थ भी रचा, जिसमें उन्होंने सम्पूर्ण शास्त्रोंका सार सिद्धान्त रख दिया। उसके कुछ श्लोकोंका संक्षिप्त आशयमात्र यहाँ दिया जाता है—'किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिये, अहिंसा महान् धर्म है। सभीको अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मपर आरूढ़ रहना चाहिये। जिन ग्रन्थोंमें ईश्वरके स्वरूपका खण्डन हो, उसे प्रमाण नहीं मानना चाहिये। श्रुति, स्मृति और सदाचारद्वारा ही धर्मके स्वरूपका बोध होता है। परमात्माके माहात्म्यज्ञानद्वारा उनमें जो आत्यन्तिक स्नेह होता है, वही भक्ति है। भगवान्से रहित अन्यान्य पदार्थोंमें जो प्रीतिका अभाव होता है, उसीका नाम वैराग्य है। तथा जीव, ईश्वर और माया इन तीनोंके स्वरूपको जान लेना ही ज्ञान कहलाता है, आदि आदि।' इन उपदेशोंके अतिरिक्त दार्शनिक उपदेशोंका भी 'शिक्षापत्री' में समावेश किया गया है। और भी बहुत-से बहुमूल्य उपदेश हैं जो स्थानाभावके कारण यहाँ नहीं दिये जा सकते। उनके उपदेशोंका संग्रह 'वचनामृत' नामक एक अनमोल ग्रन्थमें भी है। वह मुमुक्षुओंके लिये बड़ा उपयोगी है तथा उसमें सांख्य, योग, वेदान्त इन तीनों शास्त्रोंका समन्वय किया गया है। श्रीस्वामिनारायणके उपदेशोंका सार नीचे दिया जाता है।

हिंसा, मांस, शराब, आत्मघात, विधवास्पर्श, किसीपर कलंक लगाना, व्यभिचार, देवनिन्दा, भगवद्विमुख मनुष्योंसे श्रीकृष्णकथा सुनना, चोरी, जिनका अन्न-जल नहीं खाना चाहिये उनका अन्न-जल ग्रहण—इन ग्यारह दोषोंको त्यागकर भगवान्की शरण होनेसे भगवत्प्राप्ति होती है।

श्रीरामकृष्ण परमहंस

(लेखक—स्वामी श्रीअभेदानन्दजी, पी-एच० डी०)

श्रीरामकृष्ण परमहंस, जिनकी जन्मशताब्दी भारतवर्ष-भरमें तथा यूरोप और अमेरिकाके विभिन्न भागोंमें मनायी गयी है तथा जो एक मतसे आधुनिक भारतके संतशिरोमणि गिने जाते हैं, १७ फरवरी सन् १८३६ को बंगालप्रान्तान्तर्गत हुगली जिलेके 'कामार पुकुर' नामक एक अप्रसिद्ध गाँवमें पैदा हुए थे। इनका घरका नाम गदाधर चट्टोपाध्याय था और इनके माँ-बाप ईश्वरप्रेमी, धार्मिक और उच्च आध्यात्मिक आदर्शोंसे सम्पन्न सनातनी ब्राह्मण थे।

श्रीरामकृष्णका असाधारण घटनाओंसे परिपूर्ण प्रारम्भिक जीवन जन्मस्थानमें ही व्यतीत हुआ। चार सालकी अवस्थामें ही वह पहले-पहल समाधिस्थ हुए और दिनोंदिन उनकी यह प्रवृत्ति बलवती होती गयी। पुस्तकी विद्यासे अरुचि होनेके कारण ग्रामीण प्राइमरी पाठशालासे उनकी शिक्षा समाप्त हो गयी, परन्तु उनके अनुकरणीय चरित्र, कलानिपुणता, मधुर सुरीले स्वर, अपूर्व आनन्दमय अनुभव, अलौकिक व्यक्तित्व,

असाधारण बुद्धि, तथा सभी जातियों और सम्प्रदायोंके लोगोंके निष्काम प्रेमके कारण वे आस-पासके समस्त ग्रामनिवासियोंकी प्रशंसा तथा भक्तिके पात्र हो गये।

सन् १८५३ ई० में श्रीरामकृष्ण अपने सबसे बड़े भाई रामकुमार चटर्जीके साथ कलकत्ते आये और सन् १८५६ ई० में जब रानी रासमणिने इनके बड़े भाईको कलकत्तेके निकटवर्ती दक्षिणेश्वरमन्दिरका प्रधान पुजारी नियुक्त किया तब ये उनके सहायक बन गये। रामकुमारकी मृत्युके बाद ये कई महीने वहीं बड़े भाईके स्थानपर रहे। इसी समय इनकी हिन्दूधर्मके विभिन्न अंगोंकी साधना आरम्भ हुई, जो बारह वर्षतक चलती रही। यहाँपर इन्होंने किस प्रकार तपस्या और त्यागमय जीवन व्यतीत किया, किस प्रकार तोतापुरीसे संन्यास लिया और उन्होंने इनका नाम 'रामकृष्ण परमहंस' रखा और किस प्रकार इन्होंने तान्त्रिक साधना तथा ख्रीष्ट और इस्लाम धर्मके अनुसार उन-उन धर्मोंके अनुयायियोंकी भाँति उपासना की—इन सब बातोंका वर्णन स्थानाभावके कारण नहीं हो सकता।*

बचपनसे ही श्रीरामकृष्ण साम्प्रदायिकता तथा संकुचित भावोंके विरोधी थे; किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि सभी संप्रदाय और मतमतान्तर सच्चे जिज्ञासुओंको समस्त धर्मोंके सर्वसम्मत लक्ष्यतक पहुँचानेके लिये भिन्न-भिन्न रास्ते हैं। संसारके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और मतमतान्तरोंके अनुसार साधना करके उन्होंने प्रत्येक विशिष्ट धर्मके सर्वोच्च ध्येयको प्राप्त किया और साधनाद्वारा प्राप्त अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियोंका पुंज मानवजातिको दिया। उनके प्रत्येक विचार सीधे ईश्वरसे प्राप्त होते थे। उनमें मानवीय बुद्धि, संस्कार अथवा पाण्डित्यकी करामातोंका सम्मिश्रण नहीं था। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त उनका प्रत्येक कार्य असाधारण था। उनके जीवनकी प्रत्येक अवस्था किसी नये शास्त्रका एक-एक अध्याय थी, जिसे मानो पौर्वात्य और पाश्चात्य सभी लोगोंको लाभ पहुँचानेके लिये तथा बीसवीं शताब्दीकी अध्यात्मसम्बन्धी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिये स्वयं भगवान्ने अपने अलक्ष्य हाथोंसे खास तौरपर लिखा था।

उनके चरित्र और उपदेश इतने अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण थे कि उनके १६ अगस्त १८८६ को संसारसे कूच करनेके दस वर्षके भीतर ही भूतपूर्व प्रोफेसर सी० एच० टॉनीने लन्दनके 'इम्पीरियल और क्वार्टर्ली रिव्यू' के सन् १८९६ ई० के जनवरीके अंकमें 'एक आधुनिक हिंदू संत' (श्रीरामकृष्ण) शीर्षक लेख छपवाया था। दिवंगत प्रोफेसर मैक्समूलरने भी सन् १८९६ ई०के 'नाइन्टीन्थ सेंचुरी' (उन्नीसवीं शताब्दी) नामकी अंगरेजी पत्रिकाके अगस्त अंकमें 'A Real Mahatma' (एक वास्तविक महात्मा) इस शीर्षकसे महात्मा रामकृष्णके जीवनका संक्षिप्त परिचय लिखा और बादमें 'Ramkrishna : His life and sayings' (श्रीरामकृष्ण, उनके चरित्र और उपदेश) नामकी पुस्तक लिखी।

सन् १९०३ ई० में न्यूयार्क (अमेरिका) की वेदान्त-सोसायटीने 'Sayings of Ramkrishna' (रामकृष्णके उपदेश) तथा सन् १९०७ ई० में इस लेखककी भूमिकासहित 'Gospel of Ramkrishna' (रामकृष्णका सन्देश) नामक ग्रन्थ प्रकाशित किये। इस 'सन्देश' का बादमें यूरोपकी स्पैनिश, पुर्तगीज, डैनिश, स्कैण्डिनेवियन, और जेकोस्लेवाकी भाषामें अनुवाद हुआ।

श्रीरामकृष्णके अवतारका हेतु

उनके अवतारका हेतु अपने जीवनके द्वारा यह दिखलाना था कि किस प्रकार कोई सच्चा आत्मज्ञानी इन्द्रियके विषयोंसे बहिर्मुख होकर परमानन्दमें लीन रह सकता है। वे यह सिद्ध करनेके लिये आये थे कि प्रत्येक आत्मा अमर है और ब्रह्मत्वको प्राप्त करनेकी सामर्थ्य रखता है। विभिन्न सम्प्रदायोंके अन्तःस्थलमें सैद्धान्तिक एकता दिखाकर उनमें मेल स्थापित करना ही उनके जीवनका उद्देश्य था। पहले-पहल श्रीरामकृष्णने ही यह सिद्ध करके दिखाया कि समस्त धर्म एक नित्य सत्यकी ओर ले जानेवाले विभिन्न मार्ग हैं। परमात्मा एक है, किन्तु उसके अनेक रूप हैं। विभिन्न जातियाँ उसकी पूजा विभिन्न नामों और रूपोंसे करती हैं। वह साकार भी है और निराकार भी और दोनोंसे परे निर्गुण भी है। उसके नाम और रूप होनेपर भी वह बिना नाम और बिना रूपका है।

उनका ध्येय था परमात्माको विश्वका माता-पिता सिद्ध करना, तथा इस प्रकार स्त्रीत्वके आदर्शको जगदम्बाके पदपर प्रतिष्ठित करना। अपनी स्त्रीको वे मानवीरूपमें जगदम्बा ही समझते थे और 'षोडशी देवी' कहकर उसकी पूजा करते थे। इस प्रकार इस विलासिताके

* रामकृष्ण परमहंसका जीवनचरित्र गीताप्रेससे मँगवाकर पढ़ सकते है।

युगमें भी भौतिकेतर—आध्यात्मिक विवाहकी सत्यता उन्होंने प्रमाणित की। उनकी स्त्री भगवती कुमारी शारदादेवीने पवित्रता, सतीत्व और जगन्मातृत्वका आदर्श स्थापित किया और वे भी श्रीरामकृष्णको मानवीरूपमें जगदीश्वर मानकर ही उनकी भक्ति करती थीं। संसारके धार्मिक इतिहासमें इस प्रकारके आध्यात्मिक विवाहका अन्य कोई उदाहरण नहीं मिलता। अपितु, श्रीरामकृष्णने आध्यात्मिक जगत्‌में गुरुको स्त्रीरूपमें मानकर स्त्रीत्वके आदर्शको और भी ऊँचा बना दिया। धार्मिक इतिहासमें स्त्रीत्वको इतना सम्मान देनेवाला अन्य कोई मसीहा अथवा नेता नहीं देखा गया।

श्रीरामकृष्ण स्पर्शमात्रसे ही किसी भी पापीके चरित्रको अपनी दैवी शक्तिद्वारा पलट देते थे और उसे आध्यात्मिक जगत्‌में पहुँचा देते थे। वे दूसरोंके पाप अपने ऊपर ले लिया करते थे और अपनी आत्मिक शक्ति उनमें डालकर तथा उन्हें ईश्वरके दर्शन कराकर उनको पवित्र कर देते थे। ऐसी अलौकिक शक्ति साधारण संतों और महात्माओंमें देखनेको नहीं मिलती।

गुरु बनखण्डी महराज

(लेखक—साधुवेलातीर्थके एक महात्मा)

योगिराज सद्‌गुरु श्रीबनखण्डीजी महाराज एक परम प्रसिद्ध सिद्धेश्वर महात्मा हो गये हैं। आपका परम रमणीय आश्रम सक्खर (सिंध) में विद्यमान है। उदासीन साधुसम्प्रदायके ऋद्धि-सिद्धिसम्पन्न महात्मा गुरु स्वामी मेलारामजीके आशीर्वादसे श्रीबनखण्डीजीका जन्म वि० सं० १८२० की चैत्र शुक्ला सप्तमीको कुरुक्षेत्रमें ब्राह्मण-कुलभूषण रामचन्द्रके घरमें हुआ। जन्मका नाम आपका भालचन्द्र था। पिताने वचन दिया था कि पुत्र होनेपर वे उसे संतोंकी सेवामें अर्पण कर देंगे। दस वर्षकी अवस्थामें ही भालचन्द्रने सद्‌गुरु स्वामी श्रीमेलारामजीके चरणोंमें पहुँचकर दीक्षाकी प्रार्थना की—'**यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्**'। इस प्रकार आपको उदासीन साधु-सम्प्रदायकी दीक्षा मिली। जन्मसे ही आप संसारसे उदासीन थे।

एक बार पटियालाके राजा कर्मसिंह गुरु मेलारामजीके दर्शनार्थ आये। भालचन्द्रकी अद्‌भुत कान्ति और तेजोमय ब्रह्मचर्य देखकर आप चकित हो गये और गुरु मेलारामकी आज्ञासे उन्हें अपने महलकी रानियोंको दर्शन करानेके लिये घर लिवाते गये। रानियाँ इस अपूर्व सुन्दर बालकको मूर्तिमान् वैराग्यके रूपमें देखकर मुग्ध हो गयीं। गुरुके आज्ञानुसार उसी रातको भालचन्द्रको गुरु-आश्रममें लौटना था। परन्तु रानियाँ उन्हें रातको महलोंमें रखकर उनकी सेवा करना चाहती थीं। अस्तु, भालचन्द्र चुपकेसे रातमें अकेले भाग निकले। राजाको बहुत चिन्ता हुई। मसाल लेकर जंगलमें ढुँढ़वाया तो देखते हैं कि जंगलमें आप समाधि लगाये बैठे हैं। तभीसे आपका नाम 'बनखण्डी' पड़ गया।

बीस वर्षकी अवस्थातक गुरुसेवा और योगाभ्यास करके आप श्रीहरिद्वार, मथुरा, अयोध्या, प्रयाग, काशी, नैपाल, बैजनाथ होते हुए गंगासागर स्नानकर आसामकी ओर चल दिये और वहाँ कामाक्षादेवीके दर्शनार्थ पहुँचे। वहाँ माताकी प्रसन्नताके लिये लोग नरबलि चढ़ाते थे। बनखण्डीजीको इसके लिये उपयुक्त समझकर पण्डोंने पकड़ा, परन्तु ये अपने योगबलसे निकल आये। पुजारी डर गये। गुरु बनखण्डीजीने उन्हें अभयदान देते हुए यह आदेश किया कि फिर कभी यहाँ किसी भी मनुष्यकी बलि न चढ़ायी जाय।

वहाँसे आप श्रीजगन्नाथजी आये और फिर श्रीरामेश्वर जाकर दर्शन किये। वहाँ आपके द्वारा स्थापित मठ आज भी है। बंबई, गुजरात, काठियावाड़ होते हुए तथा श्रीद्वारकाधीशजीके दर्शन कर हैदराबाद सिंध आ विराजे। आपकी योगशक्ति, तेज, प्रताप देख लोग चकित हो रहे। इसके बाद आपने अत्यन्त रमणीय सुमनोहर स्थानमें साधुवेलातीर्थकी स्थापना की, जो आजतक अपनी पवित्रता तथा प्रभावके लिये भारतभरमें प्रख्यात है। आपकी कृपा और आशीर्वादसे हजारों व्यक्तियोंका कल्याण हुआ। विद्याप्रचार और अन्नवस्त्रदान आपका मुख्य व्यसन था।

आपने अपने प्रयाणकी बात बहुत पहले कह दी थी। सौ वर्षसे ऊपर संसारमें आप रहे। संवत १९२० वि० आषाढ़ बदी २ को सभी महात्माओंके सामने '**शिवोऽहं**' का उच्चारण करते हुए दशम द्वारसे प्राण भेदनकर आप ब्रह्मलीन हो गये।

क्षमा-याचना

भगवान्‌की तथा भगवान्‌के मूर्तरूप संतोंकी कृपासे संत-अंक प्रकाशित करनेकी प्रेरणा हुई और उन्हींकी शक्तिसे यह जैसा-तैसा संत-अंक प्रकाशित हो रहा है। इसमें जो कुछ भी अच्छापन है, सब भगवान् और संतोंका है, जिनकी कृपा और प्रेरणासे विद्वान् महात्मा लेखकोंने लेख और जीवनियाँ लिखी हैं और निपुण चित्रकारोंने सुन्दर चित्र बनाये हैं। बुराई सारी मेरे प्रमादकी है ही!

इस अंकके लिये जितना मसाला आया है, वह यदि सब छापा जाता तो लगभग २६०० पृष्ठ 'कल्याण' के होते। सालभरमें 'कल्याण' के लगभग १६०० पृष्ठ दिये जाते हैं, ऐसी अवस्थामें बाध्य होकर कुछ लेखोंको बिलकुल न छापने, और अधिकांशका कलेवर बहुत ही घटा देनेकी धृष्टता करनी पड़ी है। सम्मान्य लेखक महोदय स्थितिको देखकर क्षमा करें। कई लेख तो ऐसे थे, जिनकों छोटा करके छापनेसे उनका सौन्दर्य नष्ट होता था, ऐसे लेखोंको इसमें न छापकर, या उनमें उल्लिखित महात्माओंका केवल परिचय-मात्र छापकर आगे छापनेके लिये रख लिया है। वे लेख कल्याणमें अवकाशानुसार धीरे-धीरे छपते रहेंगे।

इस अंकके सम्पादनमें—खास करके प्राचीन-अर्वाचीन संतोंकी जीवनियाँ लिखनेमें, तथा लेखोंके संशोधन और भावोंकी रक्षा करते हुए उनका कलेवर छोटा करनेमें निम्नलिखित मेरे सम्मान्य महानुभावों और बन्धुओंने बड़ी सहायता की है। यों कहना चाहिये कि सारा काम उन्होंने ही किया है। 'काम उनका और नाम मेरा' ऐसा भी कहा जा सकता है, इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ परन्तु उनके साथ इतनी अधिक आत्मीयता हो गयी है कि उनके कामको अपना न मानकर उनका बताना और उसके लिये कृतज्ञता प्रकट करना भी उनके लिये दुःखदायक हो सकता है, और मेरे लिये अपराध! इसलिये विशेष कुछ लिखना भी नहीं बन पड़ता। ऐसे महानुभावोंमें प्रधान हैं—

सम्मान्य श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी, पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे, पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी, पं० श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी एम० ए०, शास्त्री, पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र एम० ए०, पं० श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयी एम० ए०, पं० श्रीदेवधरजी शर्मा और पं० श्रीरामनारायणजी शास्त्री।

इनके अतिरिक्त दो-एक मेरे साथी नवयुवकोंने भी बड़ी सहायता की है, परन्तु वे अपनेको बालक समझते हैं, इसलिये उनका नामोल्लेख नहीं किया गया!

इनके अतिरिक्त लेखोंके और चित्रोंके लिखने और संग्रह करनेमें गोरखपुरसे बाहरके जिन महानुभावोंने कृपापूर्वक सहायता की है, उनमें सम्मान्य पं० गोपीनाथजी कविराज एम० ए०, पुरोहित श्रीहरिनारायणजी बी० ए०, विद्या-भूषण, श्रीक्षितिमोहन सेन एम० ए०, स्वामीजी श्रीशुद्धानन्दजी भारती, दीवान बहादुर के० एस० रामस्वामी शास्त्री, डॉ० जसवन्तसिंह एम० ए०, बी० एस-सी०, श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत, श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी डिप्टी कलेक्टर, महात्मा श्रीबालकरामजी विनायक, पं० नारायण शास्त्रीजी वरखेडकर, पं० काशीनाथजी शास्त्री, स्वामी दण्डपाणिजी, रायसाहेब श्रीकृष्णलालजी बाफणा बी० ए०, श्रीअक्षयवटजी, श्रीकृष्ण जगन्नाथ ठाली, भक्त श्रीरामशरणदासजी, श्रीप्रेमनाथजी बी० ए०, श्रीगिरधरलाल जगजीवनदास, पं० जीवनशंकरजी याज्ञिक एम० ए०, श्रीबदरुद्दीन

राणपुरी, श्रीमातृशरणजी, श्रीविट्ठलनाथजी दीक्षित, श्रीबाँकेविहारीजी, श्रीसोहनलालजी गोयलीय आदिके नाम विशेष उल्लेखयोग्य हैं। इनका और इन-जैसे ही अन्यान्य अनेकों सहायता करनेवाले अज्ञात और ज्ञात महानुभावोंका मैं हृदयसे कृतज्ञ हूँ।

संतोंके विशद चरित्रोंको छोटा करके छापनेमें मैंने जो संतोंका और लेखकोंका अपराध किया है, इसके लिये संत तो अपनी स्वाभाविक कृपावश मुझे क्षमा कर ही चुके हैं। लेखक महोदय भी परिस्थितिको समझकर क्षमा करेंगे, ऐसी उनके चरणोंमें पुन: विनम्र प्रार्थना है। जिन लेखकोंने लेख और जीवनियाँ लिखकर भेजी हैं, उनका हृदयसे कृतज्ञ तो हूँ ही।

इसमें जिन संतोंकी जीवनियाँ छपी हैं, उतने ही संत हैं, ऐसी बात नहीं है। संत अनन्त हैं। सबकी जीवनी संग्रह करने और छापनेकी शक्ति ही नहीं है। अज्ञात संतोंकी तो बात ही अलग है। ज्ञात संतोंमें भी बहुतोंका परिचय इस अंकमें स्थानाभावसे नहीं दिया जा सकता है। पूज्य संतमण्डल और संतोंके भक्तमण्डल इसके लिये क्षमा करेंगे। यह सत्य है कि जिन संतोंकी जीवनियाँ या परिचय इसमें छपे हैं, वे सभी संत सभी लोगोंकी दृष्टिमें संत ही हैं, ऐसी बात नहीं है। परन्तु संतोंकी पहचान कौन करे? मुझ-जैसे अल्पज्ञ मनुष्यकी योग्यता तो यहाँ सर्वथा कुण्ठित है। ऐसा अनुमान हुआ है कि जिन-जिन संतोंकी जीवनियाँ इसमें छापी गयी हैं, वे प्राय: सभी किसी-न-किसी बातमें मुझसे तो श्रेष्ठ ही होंगे, फिर चाहे वे भगवत्प्राप्त महापुरुष हों या भगवत्प्राप्तिके साधक! मेरी समझसे तो जिसमें दैवीसम्पत्तिका एक भी गुण है, वह भी संत ही है, और इसी व्यापक दृष्टिसे संत शब्दको देखकर जीवनियाँ छापी गयी हैं। फिर भी अपनी अल्पज्ञताके दोषसे किसी ऐसे पुरुषका चरित्र इसमें आ गया हो जो लोकदृष्टिमें संत नहीं हैं, या वास्तवमें जिनमें संतके लक्षण नहीं घटते, तो इसके लिये विद्वान्, ज्ञानी महात्मा मुझको अल्पमति बालक समझकर क्षमा करें।

जीवित संतोंकी जीवनियाँ नहीं छापी गयीं। इसका कारण यही है कि जीवित संतोंकी पहचान नहीं हो सकती। जो संसारमें हमारे सामने नहीं हैं, वे यदि नहीं भी हैं तो उनसे जगत्‌की कोई हानि नहीं हो सकती। परन्तु अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी चाहसे संतवेशमें प्रकट जीवित असंतोंसे जगत्‌का बहुत बड़ा अनिष्ट हो सकता है। इसका यह कदापि अर्थ नहीं है, इस समय संत हैं ही नहीं। संत बहुत हैं और उन सभीके चरणोंमें हमारे कोटि-कोटि नमस्कार हैं। उनकी चरणरजसे जगत् पवित्र हो सकता है और उनके अस्तित्वसे ही सचमुच जगत्‌में सत्य टिका हुआ है। उनके लिये यह बात है भी नहीं। परन्तु उन सच्चे संतोंसे असंतोंको छाँटकर अलग करनेका और केवल सच्चे संतोंकी ही जीवनी छापनेका काम असम्भव नहीं है तो बहुत ही कठिन अवश्य है। इसमें रागद्वेषरहित अन्त:करण, अन्तर्दृष्टि, सर्वज्ञता, आकृतिविज्ञान, और सत्-साहसकी बड़ी आवश्यकता है और मैं अपनेमें इन सबका अभाव ही देखता हूँ, इसीलिये जीवित संतोंके चरित्र न छापनेका संचालकोंने नियम बना दिया है, इसके लिये सब लोग क्षमा करें। विशेष वक्तव्य तीसरे खण्डमें लिखनेका विचार है।

विनीत क्षमाप्रार्थी

हनुमानप्रसाद पोद्दार

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
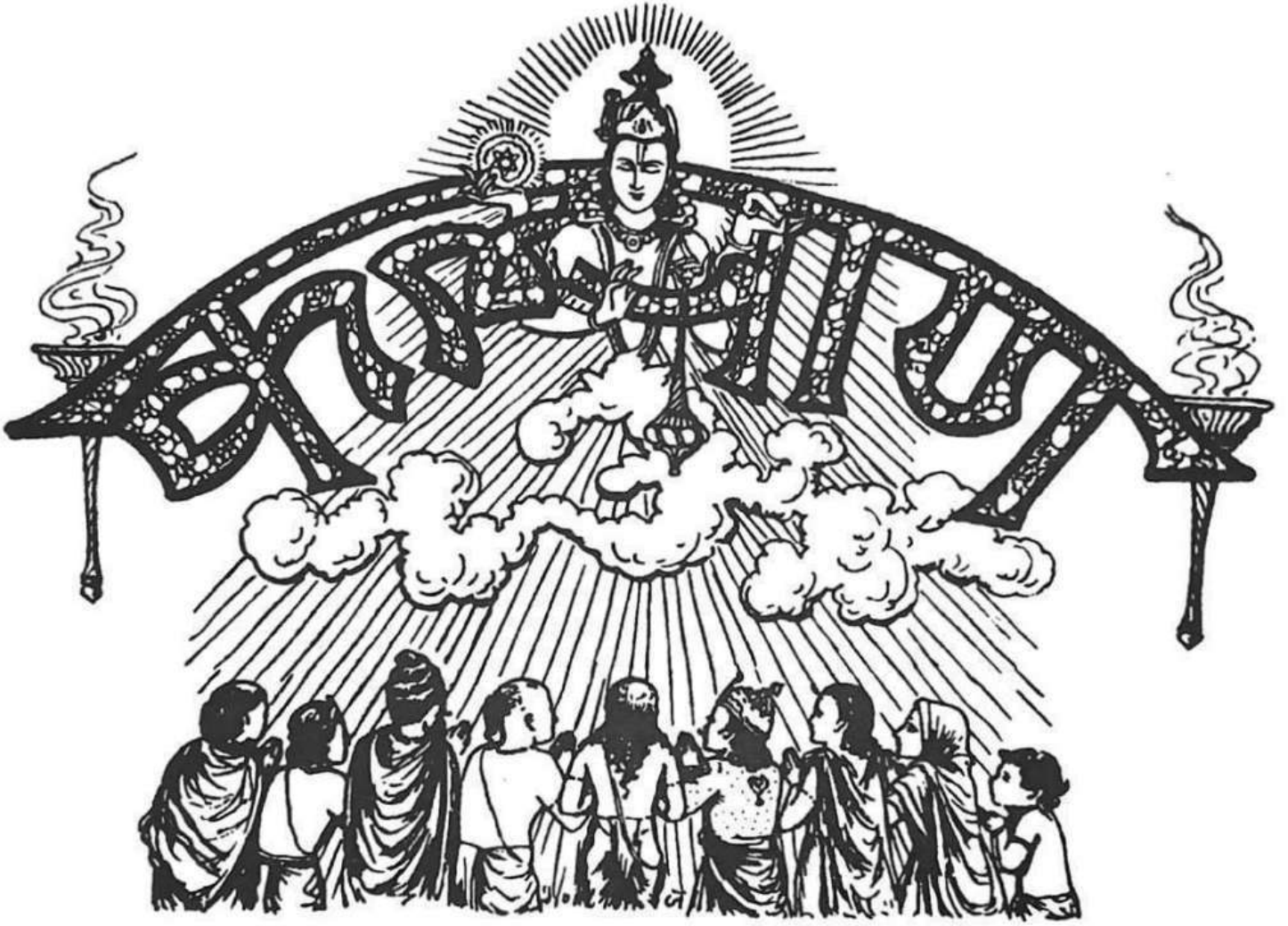
ज्ञानाज्ञानविभिन्नभेदनिचयानुन्मूल्य तत्त्वस्थिताः, श्रीश्रीकृष्णपदारविन्दमकरन्दास्वादनैकव्रताः।
दिव्यैश्वर्यविभूतिमन्त इह ये सर्वात्मना सर्वदा, कल्याणं, कलयन्ति सर्वजगतां तेभ्यो महद्भ्यो नमः॥

वर्ष १२ } गोरखपुर, भाद्रपद १९९४, सितम्बर १९३७ { संख्या २ पूर्ण संख्या १३४

संत-शिरोमणि

सोई संत सिरोमणी, गोबिंद गुण गावै। राम भजै विषया तजै, आपा न जणावै॥
मिथ्या मुख बोलै नहीं, परनिंद्या नाहीं। औगुण छोडै गुण गहै, मन हरिपद माहीं॥
निरबैरी सब आतमा, पर आतम जानै। सुखदाई समता गहै, ममता नहीं आनै॥
आपा पर अंतर नहीं, निरमल निज सारा। सतबादी साची कहै, लैलीन बिचारा॥
निरभै भजै न्यारा रहै, काहू लिपत न होई। दादू सब संसारमें, ऐसा जन कोई॥

(दादूदयालजी)

प्रेम-सर्वस्व

(१)

प्रेम पूर्ण परपुरित प्रेम ही चितमें लावे, प्रेम धरे आधार प्रेमकी रटन लगावे।
प्रेम भरे रहि नेत्र प्रेम ही प्रेम लखावे, प्रेम योग बन अंग समाधी प्रेम जगावे।
प्रेमी हो प्रेमी रहे प्रेम प्रेम 'रज' पास हो, ऐसे प्रेमीका कहो कहाँ कहाँ नहि बास हो?

(२)

प्रेम प्रेमकी कथा श्रवणमें नित्य सुनावे, प्रेम प्रेमका नाम जीभसे रटन रटावे।
प्रेम प्रेमका श्रोत हिये बिच खूब बहावे, प्रेम प्रेमका ध्यान नेत्रमें नित्त जमावे।
प्रेम योग अष्टांग लहि निर्विकल्प रज श्वास हो, ऐसे प्रेमीका कहो कहाँ कहाँ नहि बास हो?

(३)

श्रवन सुने वहि प्रेम कीर्तन प्रेमहि कौ करि, सुमिरनमें वहि प्रेम प्रेमके चरनन हिय धरि।
प्रेम प्रेमसे पूज्य प्रेमके अर्चन तत्पर, लगी प्रेमसो डोर प्रेमकौ बन्धन पियवर।
दास्य सुसेवा प्रेम रज सख्य प्रेम सँग रँग पगे, आत्म-निवेदन है तबै प्रेम प्रेममें जगमगे॥

(४)

भगवत गीता गान रहस कौ प्रेम पयोनिधि, विमल नेहकी लहर उठत तिह माँह विविध विधि।
अवगाहत तिहि मध्य योगि मुनि ऋषिवर संमृधि, लहत प्रेम पद परें परें जो त्रैगुण ऋधि-सिधि।
कृष्णचन्द्रका गीत 'रज' मुरली हो बाजत रहत, समुझें समुझे लोग यह प्रेमयोगमें जे निरत॥

(५)

भक्तियोग है गान नृत्य कर खूब रिझावै, सांख्ययोग है ध्यान धार उत ही रम जावे।
कर्मयोग है जग्त जगत्में फँसे-फँसावे, करें शक्ति हठयोग मंत्र हिय याद दिवावे।
कुंडलियोग विभूति 'रज' राजयोग ऐश्वर्य है, प्रेम प्रेमका हो रहे प्रेमयोग अलगर्ज है॥

(६)

प्रेम प्रेम यम होय प्रेम ही नियम बतावे, आसनसे दृढ़ होय प्राण संयम चित लावे।
प्रेमहि प्रत्याहार धारना प्रेम धरावे, प्रेम हिये बिच राख प्रेमका ध्यान लगावे।
प्रेम प्रेम रज जब बँधे सम्प्रज्ञात समाधि हो, प्रेम होहि लय प्रेम इमि अप्रज्ञात समाधि हो॥

(७)

प्रथम रमें शृंगार द्वितिय करुणा हिय लावे, तृतिय जमें जिय शान्ति भ्रान्ति नहिं पहुँच न पावे।
होवे मन मन मग्न लग्नकौ ज्ञान लखावे, बूझ प्रेमसे प्रेम प्रेमके शरणहि जावे।
नेह पंथके पथिक हो प्रेम पंथहित पग धरे, तब अनन्य 'रज' प्रेमका प्रेम पयोनिधि हिय भरे॥

—दी० ब० कैं० चन्द्रभानुसिंह 'रज'

श्रीमंगलदासजी महाराज

(लेखक—पं० श्रीवैष्णवदासजी त्रिवेदी, न्यायरत्न, वेदान्ततीर्थ)

आचार्य श्रीरामानन्दजी महाराज यतिसार्वभौमकी परम्परामें श्रीआचार्य मंगलदासजी महाराजका जन्म डाकोरके सनाढ्य ब्राह्मणकुलमें हुआ था। समर्थ रामदासजी महाराज तथा छत्रपति शिवाजीके आप समकालीन थे। आपने आगरा प्रान्तके केरावली ग्राममें श्रीसहजराम-दासजी महाराजसे विधिवत् वैष्णवी दीक्षा ली। गुरुके उपदेशके अनुसार श्रीवाल्मीकिरामायणके सुन्दरकाण्डद्वारा श्रीहनुमान्जीका अनुष्ठान करके श्रीहनुमान्जीका साक्षात्कार किया।

आपके आविर्भावकालमें मुसलमानोंद्वारा बहुत अत्याचार हो रहा था। आपने गौ और ब्राह्मणोंकी रक्षाका व्रत लेकर स्थान-स्थानपर श्रीमारुतिरायके मन्दिरोंकी स्थापना की और श्रीसीतारामकी भक्तिकी विजय-वैजयन्ती फहरायी।

श्रीहनुमान्जीकी कृपासे आपको अलौकिक शक्ति प्राप्त थी। इस शक्तिको आपने विधर्मियोंको परास्त करनेमें लगाया। मूर्तियोंकी रक्षा हुई और हिन्दूधर्म मुसलमानोंके उपद्रवसे बचा। आपकी इस विलक्षण शक्तिसे पराभूत होकर औरंगजेबने घुटने टेककर आपके चरणोंमें प्रणाम किया। सुनते हैं कि इस दिनके बाद औरंगजेबने किसी मूर्ति या मन्दिरको नहीं तोड़ा!

आपके द्वारा प्रणीत ग्रन्थोंमें सुरद्रुममंजरी, धर्ममहोदधि, वेदस्तुतिचन्द्रिका, श्रीदिव्यरामस्तवराजभाष्य आदि मुख्य हैं। आपके सात सौ शिष्य थे। डाकोरका आचार्यपीठ आपका ही स्थापित किया हुआ है। सत्संगको ही आप प्रधान साधन मानते थे। बाँसवाड़ामें आपने अपना शरीर छोड़ा। अनन्य चित्तसे श्रीराम-चिन्तन करनेका आपका अन्तिम उपदेश बहुत ही मार्मिक है—

भवदावाग्निसन्तप्तैः कर्मबन्धान्मुमुक्षुभिः।
अनन्यचेतसा सर्वैः कर्तव्यं रामचिन्तनम्॥

मुन्नादास

लगभग दो सौ वर्ष पूर्व खेरी जिलेमें मुन्नादास नामक एक सुनार हुए। 'आपासम्प्रदाय' के आप ही प्रवर्तक हैं। इस सम्प्रदायका मूल मन्त्र है 'प्रेम' और ये भी बाह्य आचारपर विशेष ध्यान नहीं देते। तिलक, कौपीन, माला आदि वेशको भी ये लोग आवश्यक नहीं मानते। मुन्नादासके कोई गुरु नहीं थे और चूँकि वे अपनी साधनाके द्वारा अपने-आप ही गुरु बने, इसीलिये इस सम्प्रदायको 'आपासम्प्रदाय कहते हैं। अवधमें इस सम्प्रदायका केन्द्रस्थान है।

—'माधव'

गोविन्ददास

गोविन्दपन्थके प्रवर्तक बाबा गोविन्ददासने वैष्णवोंकी साधनाके अनुसार ही एक नवीन साधनमार्गकी स्थापना की। फैजाबाद जिलेके अहरौली स्थानमें, जहाँ इनकी समाधि है, प्रतिवर्ष बहुत बड़ा मेला लगता है। —'माधव'

अनुभवकी बात

सुमिरनकी लहरिया, उभरै ना।
जो प्रेमी-योगी जुगवै प्रिय, चाखै तासु बहरिया।
जो घोंटै यह लहर, अमर सो, पागै आठ पहरिया॥
ताके आगे पीछे डोलत, पैहरिया-फलहरिया।
''केशी'' की बातै जो मानै, ता कहँ सुगम डहरिया॥

—श्रीभगवती मंजुकेशी देवी

श्रीगोसाईंदासजी

महात्मा श्रीगोसाईंदासजीका जन्म सं० १७२७ वि० में एक भृगुगोत्रीय सरयूपारीण ब्राह्मणकुलमें हुआ था। आपके पिताका नाम श्रीब्रह्मानन्दजी और माताका श्रीसुमित्रादेवी था। बाल्यावस्थामें ही आपके पिताका देहान्त हो गया था। पिताके देहावसानके बाद आपका पालन-पोषण बाराबंकी जिलेके सरइयाँ ग्राममें हुआ था।

बाल्यकालमें साधारण रीतिसे आपने कुछ पढ़ा-लिखा था। फिर श्रीजगजीवन स्वामीके सत्संगसे प्रभावित होकर आप उन्हींके शिष्य हो गये। ये स्वामीजीके प्रधान शिष्योंमेंसे थे और सिद्ध महात्मा थे। आपने भगवद्भजनके लिये सरइयाँ ग्रामकी अपेक्षा कमोली ग्रामको उपयुक्त समझा और वहीं रहकर भजन-कीर्तन करने लगे। आपके रचे हुए तीन ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं। १—शब्दावली, २—ककहरानामा, ३—दोहावली। ये तीनों ग्रन्थ रामनामकी महिमासे भरे हुए हैं।

आपका देहावसान संवत् १८३३ वि० के चैत्र मासमें हुआ था। आपकी रचनाका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है।

बौरे नामकी धुनि लाउ।

और आसा छाँड़ि इत उत, एक सों चित लाउ॥ १॥ बौरे०।
खात पियत औ बोलत डोलत, सुरति सब्द मिलाउ।
पाँच और पचीस माया, ताहिको बिसराउ॥ २॥ बौरे०।
देहि जो कछु सदा सतगुरु, ताहि भोग लगाउ।
रहनि गहनि जु भगतकी है, ताहि ना बिसराउ॥ ३॥ बौरे०।
मान मन! तैं बात साँचा, भगति भेद लखाउ।
आस गुरुकी सदा निसिदिन, मन न अनत लगाउ॥ ४॥ बौरे०।
जिनके तंबू अलख ठाढ़े, ताहिको गोहराउ।
गोसाईंदास बिस्वासके बस, सदा दरसन पाउ॥ ५॥ बौरे०।

देवीदासजी

महात्मा देवीदासजीका जन्म संवत् १७३५ वि० में बाराबंकी जिलेके लक्ष्मणगढ़ ग्राममें हुआ था। आपके पिताका नाम श्रीभवानीसिंहजी था, ये भारद्वाजगोत्रीय अमेठिया (गौड़) वंशके क्षत्रिय थे। इनकी जमींदारी लक्ष्मणगढ़में थी। बाल्यावस्थामें ही आपके माता-पिताका देहान्त हो गया था अत: आपके चचा आदि कुटुम्बके लोगोंने आपका पालन-पोषण किया और साधारण शिक्षा दिलायी।

आपने १८ वर्षकी अवस्थामें सत्यनामसम्प्रदायके आचार्य श्रीजगजीवन साहबसे मन्त्रोपदेश लिया। थोड़े ही दिनोंमें आपकी ख्याति चारों ओर फैल गयी। आप वास्तविक सिद्ध संत थे। आपकी कविता भी बड़ी सुन्दर है—आपकी भाषा अत्यन्त सरल और प्रसादगुणयुक्त है। आपके द्वारा रचित ११ ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमेंसे कोई-कोई तो तुलसीकृत रामायणके बराबर बड़ा है। उनके नाम ये हैं—(१) सुखसनाथ, (२) भ्रमविनाश, (३) चरनध्यान, (४) गुरुचरन, (५) विनोदमंगल, (६) भ्रमरगीत, (७) ज्ञानऐना, (८) नारदज्ञान, (९) भक्तिमंगल, (१०) वैराग्यखान, (११) शब्दसागर। इनके सिवा आपके बनाये हुए बहुतसे स्फुट पद-लीला, भैंरौप्रार्थना आदि भी पाये जाते हैं। इन ग्रन्थोंमेंसे कुछ तो महन्त श्रीसाहब सहायदासजी वर्तमान महन्त, पुरवा तथा कुछ आपके चचेरे भाई श्रीसाहब दयालजीके पास विद्यमान है।

महात्माजीका देहान्त १३५ वर्षकी अवस्थामें सं० १९७० वि० में हुआ।

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

नरकके बीज बोकर स्वर्गकी आशा रखनेसे अधिक मूर्खता क्या होगी?

पश्चात्तापसे दूर किया हुआ पाप यदि फिर बन पड़े तो वह पहलेसे सौगुना अधिक नुकसान पहुँचाता है।

खेमदासजी

महात्मा श्रीखेमदासजी महाराज बाराबंकी जिलके मधनापुर नामक ग्राममें रहते थे। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। आपके बाल्यकाल एवं माता-पिता आदिका कुछ भी हाल ज्ञात नहीं है। बड़े होनेपर इन्होंने एक ब्रह्मचारीजीसे ज्ञानोपदेश लिया और तपस्या करने लगे। ये ग्रामसे बाहर रहकर गर्मियोंमें पंचाग्नि तपते, वर्षामें खुले मैदानमें निराहार होकर खड़े रहते, जाड़ोंमें कटिपर्यन्त जलमें खड़े रहते और नीमकी पत्ती एवं मिरचाका फलाहार करते। इस प्रकार तपस्या करते-करते इनके बारह वर्ष बीत गये परन्तु ईश्वरसाक्षात्कार नहीं हुआ।

इन्हीं दिनों श्रीजगजीवन साहबकी ख्याति दिग्दिगन्तमें फैल रही थी। इन्होंने भी उनकी सेवामें उपस्थित होकर मन्त्रोपदेश लेनेकी इच्छा प्रकट की। जगजीवन साहबने कहा कि आप 'तपस्वी और ब्राह्मण हैं और मैं गृहस्थ और क्षत्रिय हूँ, आपको मैं मन्त्रोपदेश कैसे दे सकता हूँ?' परन्तु इनके बहुत हठ करनेपर स्वामीजीने प्रसन्न होकर इन्हें मन्त्रोपदेश दिया और अन्नाहार करनेकी आज्ञा दी और कुछ समयतक अपने पास रखकर सत्संगके द्वारा भजनकी युक्ति और ईश्वरसाक्षात्कारका साधन बताया।

तत्पश्चात् इन्होंने हरिसंकरी नामक स्थानमें रहकर अखण्ड हरिभजन किया जिसके प्रभावसे इन्हें भगवत्-साक्षात्कार हो गया। इनके कई शिष्य भी सिद्ध संत हो गये हैं।

इन्होंने ईश्वरभक्ति और प्रेमविषयक तीन बृहद् ग्रन्थ रचे हैं। १—काशीकाण्ड, २—तत्त्वसार दोहावली, ३—शब्दावली। इन तीनों ग्रन्थोंके सिवा इन्होंने बहुत-से स्फुट पद भी रचे। इस प्रकार बहुत समयतक लोकोपकार करते हुए सं० १८३० वि० के लगभग इनका देहावसान हुआ।

इनकी कविताका एक नमूना नीचे दिया जाता है—

पार करै प्रभु नाम तुम्हार॥ टेक॥

गज गनिकाकी सुनी पुकार, नामसे तरे अधम अधिकार॥

नाम बेधिगा मिटा विकार, कितन्यो पतित पतंगी तार॥

हमरी बेर मौन ह्वै बैठ्यो, कबहुँ न काहुक दोष निहार॥

'दास ख्याम' के है अति बार, तरबै प्रभुजीके परे दुवार॥

नेवलदासजी

इनका जन्म सरयूपार (कदाचित् गोंडा जिला) में हुआ था। आपके माता-पिता एवं आपके बाल्यकालका कुछ भी हाल विदित नहीं है। आप संस्कृत और हिन्दीके विद्वान् थे। इससे ज्ञात होता है, आप किसी सम्पन्न घरानेके रहे होंगे। श्रीजगजीवन साहब (कोटवानिवासी) से मन्त्रोपदेश लेनेके बाद आप गोमती नदीके तटपर रेछघाटपर रहकर भजन करने लगे। वहाँ आपको तत्त्वसाक्षात्कार हुआ। तदनन्तर आपने सुल्तानपुर जिलेके धनेसा गाँवमें रहकर 'सुखसागर' का निर्माण किया और आजीवन बाराबंकी जिलेके उमापुर ग्राममें रहे। आप बहुत उच्च कोटिके संत थे।

आप साहित्य एवं संगीतके अच्छे जानकार थे। आपके ग्रन्थोंमें रस, अलंकार, छन्द आदि काव्यके सभी अंगोंका पूर्ण विकास पाया जाता है। आपके द्वारा रचित छः ग्रन्थ इस समय विद्यमान हैं। १—सुखसागर, २—ज्ञानसरोवर, ३—भागवत दशम स्कन्ध, ४—रत्नज्ञान, ५—शब्दसागर, ६—ककहरानामा।

आपका शरीरपात संवत् १८५० वि० में लगभग १०० वर्षकी अवस्थामें हुआ। इस समय आपकी गद्दीपर पाँचवीं पीढ़ीके महन्त श्रीचन्द्रभूषणदासजी हैं। आपके काव्यका एक अवतरण पाठकोंके मनोरंजनार्थ नीचे दिया जाता है—

अपने घर दियना बारु रे।

नामको तेल, प्रेमकी बाती, ब्रह्म-अगिन उदगारु रे॥ १॥

जगमग जोति निहारु मँदिल माँ, तन-मन-धन सब बारु रे॥ २॥

झूँठि ठिनि जानि जगतकै आसा बारहु बार बिसारु रे॥ ३॥

दास नेवल भजु साईं जगजीवन, आपन काज सँवारु रे॥ ४॥

गजाधरदासजी

श्रीगजाधरदासजी महाराजका जन्म बाराबंकी जिलेके झूलामऊ नामक ग्राममें एक सरयूपारीण ब्राह्मण (मड़कड़ाके मिश्र) कुलमें हुआ था। आपके जन्मकालका ठीक-ठीक पता नहीं है, परन्तु उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें आप जीवित थे। बहुत कुछ खोजके बाद पता लगा है कि आपका देहावसान १९१० वि० संवत्के लगभग हुआ।

आप हरचन्दपुर (जिला बाराबंकी) के दूसरे महन्त श्रीरामसेवकदासजीके शिष्य थे। गुरु-शिष्य दोनों ही पूर्ण सिद्ध महात्मा थे। आप भगवन्नामके अनन्य उपासक थे। आपके बनाये हुए अखरावली और शब्दावली ये दो ग्रन्थ और कुछ फुटकर पद्य मिलते हैं, जिनकी कविता बड़ी सुन्दर है। आपने अधिकतर सवैया और गीतिका छन्द लिखे हैं। पुस्तकोंका विषय योगसम्बन्धी है, जिसका आपको क्रियात्मक ज्ञान भी था। भाषा साधारण अवधी है। पुस्तकोंमें ऊँचे दर्जेका ज्ञान भरा हुआ है।

आपकी कविताका एक उदाहरण देखिये—

आदि-अन्तकी बात न कोइ कहै, सब बीच की बात बखानते हैं।
बिच आप बिचै मरि जाय सबै, आदि-अन्तको भेद न जानते हैं॥
बहु भेष अलेख भये जगमें, अपने-अपने मत मानते हैं।
कहै सत्य 'गजाधर' सत्य मता, बिरला कोई संत बखानते हैं॥

सिद्धादासजी

महात्मा श्रीसिद्धादासजीके पिता सुलतानपुर जिलेके पटरवापुर ग्रामसे हरिगाँवमें आकर बसे थे। यहाँपर उनकी ससुराल थी। ये उपमन्युगोत्रीय पाठक-कुलके सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनका वास्तविक नाम कुछ और ही था। परन्तु सिद्ध महात्मा होनेसे इनके गुरुदेव श्रीदूलनदासजीने इन्हें सिद्धादासकी पदवी दी थी।

ये संस्कृतके बड़े भारी विद्वान् थे। बाल्यकालसे ही इनमें भगवत्प्राप्तिके लिये व्याकुलता जाग उठी थी। एक बार ये बहुत बीमार हो गये तो इनके घरवाले इन्हें श्रीजगजीवन साहबके पास ले गये। वहाँपर ये अच्छे हो गये। तब इन्होंने उनसे उपदेश लेना चाहा तो उन्होंने इन्हें श्रीदूलनदासजीके पास भेज दिया और ये उन्हींके शिष्य हो गये।

इनके विषयमें बहुत-सी अलौकिक घटनाएँ सुनी जाती हैं, परन्तु स्थानाभावके कारण उन्हें न लिखकर हम केवल आपके कुछ उपदेश उद्धृत करेंगे। आपकी बनायी हुई कई पुस्तकें हैं। जिनमेंसे (१) साखी, (२) कवित्त, (३) शब्दावली, (४) विरह सत्य, ये चार पुस्तकें विद्यमान हैं। आपकी कविताकी भाषा सरल और सुन्दर है। आपका देहावसान सं०१८४५ वि० में हुआ।

बजै रैन-दिन बाँसुरी, धरै कदम तर ध्यान।
सिद्धा ताको का करै, कर्म कीट-परमान॥
सिद्धा भवजल जगत सर, तामें माया जार।
मीन जीव सब जानिकै, खेलत काल शिकार॥
नाम-भजन ते जीव यह जलस्वरूप ह्वै जाइ।
जाल बीच आवै नहीं, काल देखि पछताइ॥
सिद्धा बचन गरीबका, सुखियन नहीं सोहाय।
ज्यों गुम्मजपर के किये, गुरा नहीं ठहराय॥

—इत्यादि

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

मनुष्यकी भली-बुरी वृत्तियोंपर ही उसकी पारलौकिक भलाई-बुराईका आधार है।

हे मानवो! ईश्वरके मार्गमें न तो आँखोंकी जरूरत है और न जीभकी। जरूरत है पवित्र हृदयकी। ऐसा प्रयत्न करो जिससे वह पवित्रता पाकर तुम्हारा मन जाग जाय।

हरिदासजी

आपका जन्म रायबरेली जिलेकी महाराजगंज तहसीलके पश्चिमकी तरफ स्थित सूरपुर (बबुरिहापुरवा) में सं० १८४९ वि० में श्रीलालसाहिजी आमेठिया क्षत्रियके यहाँ हुआ था।

इन्होंने बाल्यकालमें कोई विशेष विद्याध्ययन नहीं किया था परन्तु बड़े शान्त, उदारचित्त एवं बुद्धिमान् थे। ये हमेशा संसारसे विरक्त रहते थे। इनका विवाह सुलतानपुर जिलेके धम्मौर नामक ग्राममें हुआ था। इनके तीन पुत्र और एक कन्या थी। युवावस्थामें इन्होंने अयोध्यावासी बाबा रामप्रसाददासजीसे मन्त्रोपदेश लिया था, परन्तु रघुनाथदासजी (छावनीवाले)-से भी बहुधा इनका सत्संग होता था। ये भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके अनन्य भक्त थे। सत्संगके प्रभावसे ये बड़े भारी महात्मा और विद्वान् हुए। इन्होंने हिन्दी भाषामें कई ग्रन्थरत्नोंका निर्माण किया—(१) श्रीतुलसीकृत रामायणकी टीका शीलावृत्ति, (२) भक्तिविलास ग्रन्थ, (३) समुझाई, (४) मसलविवेक, (५) भक्तमाला, (६) प्रश्नोत्तरी, (७) चित्रकाव्य, (८) सप्तछन्दी रामायण। कवित्व और भाषाके विचारसे भी ये ग्रन्थ बहुत सुन्दर हैं।

आपका देहावसान सं० १९७४ वि० में १२५ वर्षकी दीर्घायुमें श्रीगंगा मैयाकी सुखद गोदमें हुआ। आपका एक पद नीचे दिया जाता है—

सुरतिया नाम लगी निसिबासर।
छिन-पल कल छूटत नहीं, टूटत ज्यों मकरीको तार॥ १॥
कूरुम-नाग सुरति-मन अंडनि सेवत सब ब्योहार।
मीन पपीलि बिहँग वैमारग उड़ि-उड़ि बैठत डार॥ २॥
नामप्रताप मोहतम नास्यो, ज्ञानभानु उजियार।
इन्द्रिय-चोर भोर लखि भागे, क्रोध, लोभ, मद, मार॥ ३॥
अनहद गान-तान-धुनि सुनि-सुनि, भो तन मन मतवार।
'दास हरी' हरिनाम-आस गहि पतित गये बहु पार॥ ४॥

पहलवानदासजी

महात्मा श्रीपहलवानदासजी भरद्वाजगोत्रीय सरयूपारीण (मलैया पाण्डेय) ब्राह्मण थे, इनके पिताका नाम दुजई पाण्डेय था। इनकी जन्मभूमि सुलतानपुर जिलेमें बल्दू पाण्डेयकी पुरवा थी, परन्तु किसी सम्बन्धके कारण ये रायबरेली जिलके भीरवीपुर ग्राममें रहते थे। इनकी बाल्यावस्थाका कोई हाल विदित नहीं है। युवावस्थामें ये किसी पल्टनमें नौकर थे। इनके शरीरमें असीम बल था, शरीर भी काफी लंबा-चौड़ा था। इनका विवाह जायसके निकट किसी ग्राममें हुआ था, परन्तु इनके कोई सन्तान नहीं थी। इन्होंने श्रीसिद्धादासजी महराजसे मन्त्रोपदेश लिया था और बारह वर्षतक नित्य चार कोस जाकर दिनभर उनकी सेवा करके सायंकालको घर लौट आते थे। इनकी इस तपस्यासे प्रसन्न होकर गुरुदेवने इन्हें भगवत्प्राप्तिका सरल साधन बताया और अपने पास रहकर साधन करनेकी इन्हें आज्ञा दी, जिससे शीघ्र ही इन्हें भगवत्साक्षात्कार हो गया। ये पूरे सिद्ध महात्मा थे। इनमें नाना प्रकारकी यौगिक सिद्धियाँ भी थीं और समय-समयपर प्रकट होती थीं, परन्तु हम स्थानाभावके कारण यहाँ उनका वर्णन नहीं करते। सुनते हैं, ये पढ़े लिखे नहीं थे, अनुभवसे ही कविता करते थे। ये जबानी कविता बोलते जाते थे और विहारीलाल नामके एक कायस्थ सज्जन लिखते जाते थे। इनके बनाये ग्रन्थ ये हैं—(१) उपखानविवेक, (२) विरहसार, (३) मुक्तायन, (४) अरिल्ल, (५) गुरुमाहात्म्य, (६) फुटकर शब्द। इनकी पलकें नीचेतक लटकी रहती थीं।

देहावसानके कुछ दिन पहले ही इन्होंने सबको सूचना दे दी थी और अपने शिष्योंको उपदेश करते हुए प्राणत्याग किया था। इनका देहान्त १२४ वर्षकी अवस्थामें सं० १९०० के लगभग हुआ।

कर्ताभजा सम्प्रदायके प्रवर्तक श्रीआउलचाँद

गौड़ीय वैष्णवसम्प्रदायमें कर्ताभजा नामका एक शाखासम्प्रदाय है। इस सम्प्रदायके आदिप्रवर्तक आउलचाँद हैं। आउलचाँद कौन थे, कहाँसे आये थे और इनकी जन्मभूमि कौन-सी थी, यह सब अज्ञातके गर्भमें निहित है। इनके विषयमें कुछ लोगोंका कथन है कि १६१६ के शकमें नदिया जिलेके अन्तर्गत उला नामक ग्राममें महादेव नामका एक बारुइ (पानकी खेती करनेवाला, जिसे संस्कृतमें वारुजीवी कहते हैं) रहता था। एक दिन उसने अपने खेतपर जाकर देखा कि एक अष्टवर्षीय बालक उसके खेतकी मेंडपर बैठा रो रहा है। महादेवने पास जाकर बालकसे उसका नाम-पता पूछा, परन्तु बालक उसकी किसी भी बातका ठीक-ठीक उत्तर न दे सका। तब दयार्द्र होकर महादेव बालकको अपने घरपर ले आया और पुत्रवत् पालन-पोषण करने लगा। बालक बड़ा सौम्य, सुशील एवं असाधारण सुन्दर था, इसीसे महादेवकी पत्नीने उसका नाम पूर्णचन्द्र रखा। बालक प्रारम्भसे ही भगवद्भक्त था। वह प्रतिदिन अपने पड़ोसी हरिहर वणिक्‌के यहाँ भगवद्गाथाएँ सुनने जाया करता था। हरिहर वणिक् वैष्णव था और उसके घरपर प्रतिदिन सायंकालके समय भगवान्‌की लीला और नामका कीर्तन हुआ करता था। इस प्रकार २० वर्षकी अवस्थापर्यन्त वह महादेवके घरपर रहकर भगवत्प्रेमप्राप्तिकी चेष्टा करता रहा। एक दिन महादेवने उसे हरिहरके घरपर कथा-कीर्तन आदिमें जानेसे मना किया और फिर कभी हरिहरके घरपर पाये जानेपर घरसे बाहर निकाल देनेकी धमकी दी। धमकी सुनकर जन्मसे ही विरक्त बालक पूर्णचन्द्र महादेवके घरसे अपना नाता-रिश्ता तोड़कर निकल पड़ा और कुछ दिन हरिहरके घरपर रहकर शान्तिपुरके सन्निकट फुलिया ग्राममें जाकर वैष्णवचूड़ामणि श्रीबलरामदासजीसे भगवन्नामकी दीक्षा ले ली और कुछ वर्ष उनके साथ रहे। फिर तीर्थयात्राके लिये निकल पड़े। इसी बीच इन्होंने 'कर्ताभजा' सम्प्रदायकी स्थापना की और उसका प्रचार शुरू कर दिया।

२७ वर्षकी अवस्थामें इन्होंने वेजरा ग्राममें आकर होटू घोष और रामशरणपालको अपने सम्प्रदायकी दीक्षा देकर इसके प्रचारका आदेश दिया। रामशरणपालके प्रयत्नसे वेजरा ग्रामके घोषपाड़ामें प्रतिवर्ष एक उत्सव होना प्रारम्भ हो गया है। अब भी होलीके अवसरपर होता है।

ये हिन्दू, मुसलमान सबको अपने सम्प्रदायमें सम्मिलित करते थे। इसीलिये मुसलमानोंने इनका नाम आउलचाँद ('औलिया' से 'आउलिया' बनाकर 'चाँद' शब्द जोड़ दिया गया है) रख दिया।

परमहंसोंकी विचित्र अवस्थाएँ हुआ करती हैं। किसीकी बालक-सी, किसीकी पिशाचकी-सी और किसीकी जडवत् अवस्था होती है। आउलचाँदकी अवस्था भी बालवत् थी। इनकी हर समयकी पोशाक थी—खड़ाऊँ, कौपीन और कन्था। ये हर समय भ्रमण करते रहते और जब कभी इच्छा होती और इमलीका पेड़ मिलता तो उसपर खड़ाऊँ पहने ही जा बैठते और तीन-तीन, चार-चार दिनतक बिना कुछ खाये-पिये बैठे रहते और कभी नदीमें जलपर खड़ाऊँ पहने ही चलने लगते। एक दिनकी बात है कि ये एक इमलीके पेड़पर बैठे हुए थे—इन्होंने देखा कि एक दरिद्र गृहस्थके एकमात्र पुत्रका देहान्त हो गया है और उसकी माँ शवके पीछे-पीछे सिर पीट-पीटकर रोती हुई चली जा रही है। उसे देखकर इनका हृदय दयासे द्रवीभूत हो गया और नीचे उतरकर अपनी दैवी शक्तिसे उसे जीवित कर दिया। इस प्रकार इन्होंने कई मृत पुरुषोंको जिलाया और कई कुष्ठरोगियोंको रोगमुक्त किया।

आउलचाँदके बहुत-से नाम सुने जाते हैं, जैसे—प्रभु, आउलियाचाँद, आउले ब्रह्मचारी, फकीरठाकुर, कंगालीठाकुर, साईं, गोसाईं प्रभृति-प्रभृति। 'कर्ताभजा' सम्प्रदायके अनुयायियोंका कथन है कि नीलाचलधाममें श्रीमन्महाप्रभुके तिरोधान होनेके बाद वे ही आउलचाँदके रूपमें इस धराधामपर अवतीर्ण हुए और 'कर्ताभजा' सम्प्रदायका प्रचार किया।

ईश्वरकी उपासना ही इस सम्प्रदायका प्रधान कर्तव्य है। साथ-ही-साथ इनका कहना है कि—

मेये हिजड़े पुरुष खोजा, तबे होय कर्ताभजा।

अर्थात् स्त्री या पुरुषका स्त्री-पुँस्त्वभाव चले जानेपर ही मनुष्य 'कर्ताभजा' सम्प्रदायका अनुयायी हो सकता है। ये लोग प्रत्येक स्त्री-पुरुषको बहिन-भाईकी तरह मानते थे और इतने संयमी होते थे कि स्त्री-पुरुष

एक साथ एक बिस्तरपर सोनेपर भी इनमें विकार नहीं आता था। अवश्य ही शुद्ध सात्त्विकरूपमें चली हुई यह प्रथा बादमें दुष्ट मनोवृत्तिके कारण व्यभिचारके रूपमें परिणत हो गयी!

आउलचाँदने दस शारीरिक, मानसिक और वाचिक पापोंसे सर्वथा बचे रहनेके लिये विशेष जोर दिया है।

शारीरिक पाप—परस्त्रीगमन, जीवहिंसा, परद्रव्यापहरण।

मानसिक पाप—परस्त्रीगमनका विचार, किसी भी प्राणीके प्राणनाशका संकल्प और परद्रव्यापहरणकी भावना।

वाचिक पाप—अनर्थक बातचीत, प्रलाप, असत्यभाषण एवं कटुभाषण।

आउलचाँदका देहावसान १६९१ शकमें 'बोआलिया' ग्राममें हुआ। उनके शिष्योंने वहीं उनकी कन्थाको समाधिस्थित किया और परारि नामक ग्राममें मृत देहको लाकर समाधिस्थ कर दिया।

तुलसी साहब

तुलसी साहबका जन्म १७६० ई०के लगभग हुआ। ये एक ब्राह्मणके घर उत्पन्न हुए थे और कुछ भक्तोंके कथनानुसार तो ये पेशवा वंशके थे। संसारके सभी प्रकारके सुख-भोग, राज-पाटका लोभ आदिका परित्यागकर ये हाथरसमें आ बसे और इसी कारण हाथरसी तुलसी साहब कहलाये। कुछ लोगोंका ऐसा मानना है कि ये अवापन्थी सम्प्रदायके थे। इनकी स्त्रीका नाम था लक्ष्मीबाई और इनसे इनको एक पुत्र भी हुआ। राज्यसिंहासनका समय जब निकट आया ये सब कुछ छोड़-छाड़कर भाग गये। बाजीराव द्वितीय जो इनसे बहुत छोटे थे और इनके परम प्रियपात्र थे विठूरमें इनसे मिलने आये।

हिन्दू और मुस्लिम साधनाके मूलतत्त्वका तुलसी साहबको सुन्दर ज्ञान था। ये हिन्दू और मुसलमान दोनोंके मिथ्याचारोंका बड़े जोरदार शब्दोंमें खण्डन करते थे।

तुलसी साहबके अगणित भक्त और प्रेमी हुए। उनमें रामकृष्ण गड़ेरिया और सूरस्वामी प्रख्यात हैं। ई० सन् १८४२ के लगभग तुलसी साहबने महासमाधि ली। घटरामायण और रत्नसागर इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। इनकी वाणियोंमें बड़ी सुन्दर-सुन्दर कथाएँ हैं जो जनसाधारण तथा पढ़े-लिखे सभीको बहुत रुचिकर है

'माधव'—

श्रीचैनराम बाबा

(लेखक—पण्डित श्रीतारकेश्वरनाथजी चतुर्वेदी)

बलिया जिलेके सहँतवारके पास 'बधाँव' गाँवमें सरयूपारीण ब्राह्मणकुलमें वि० सं० १७४० में आपका जन्म हुआ था। पिताका नाम था पण्डित रोपन चौबे। तीन भाइयोंमें आप सबसे छोटे थे और थे भी निपट निरक्षर। इसलिये खेतोंकी रखवाली और गौओंको चरानेका काम आपके हिस्से पड़ा। गाय चरानेमें आपको बड़ा आनन्द मिलता था। गाय चराना और जंगली फल खाना, यह आपके आनन्दका मुख्य साधन था।

जेठका महीना था, दोपहरका समय। धरती जल रही थी। आप एक घनी छायामें बैठकर गौओंकी रखवाली कर रहे थे। अचानक एक अर्धनग्न साधु कहींसे आ निकले। बड़े जोरकी प्यास लगी थी। बालकसे उन्होंने पानी लानेके लिये कहा। बालक दौड़ा गया और कमण्डलुमें जल भर लाया और धोतीके छोरमेंसे गुड़ निकालकर देते हुए साधुसे कहा—'यह लीजिये महाराज! पानी।' बालककी सरलतापर साधु मुग्ध हो गये। उन्होंने वहीं अपने पैरके अँगूठेकी धूलि उसके नेत्रोंमें लगा दी। बस उसी क्षण इनकी दिव्य दृष्टि हो गयी और संसारकी ओरसे मन मुड़ गया। आप अब योग-साधनमें प्रवृत्त हुए।

छपरा जिलेमें परसाके पास बाबा धरणीदासजीकी शिष्यपरम्पराके श्रीरामप्रसाददासजी रहते थे। वहीं जाकर इन्होंने दीक्षा ली। ये गुरुजीकी कुटीपर सर्वांगमें विभूति लगाकर पागलके वेशमें रहते थे। आपको बहुत बड़ी-

बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त थीं। मृतकको जिला देना, भविष्यवाणी कहना, दूसरेके मनकी बात कह देना, पुत्र-धन आदि देना आपके लिये बहुत ही आसान बात थी।

चैनराम बाबाने शादी नहीं की। उनकी सगी तीन बहिनें थीं। उनके वंशके लोग अबतक सहँतवारमें हैं। लोगोंका विश्वास है कि श्रीचैनराम बाबा चोला बदल चुकनेपर भी जीवित हैं। समय-समयपर लोगोंको आपके दर्शन भी होते रहे हैं। संवत् १८४५ वि० की चैत्र-रामनवमीको इन्होंने अपनी इहलीला संवरण की। आपके आज्ञानुसार सरयू नदीमें आपका शरीर प्रवाहित कर दिया गया। केवल नख और केशकी समाधि दी गयी। सहँतवारमें आपकी समाधि है और उसकी अबतक पूजा होती है। आपके नामपर चैनपुर गाँव बसा हुआ है, जहाँ आपकी चरणपादुकाकी पूजा होती है। चैनपुरके लोगोंका कहना है कि आपने चैनपुरमें ही समाधि ली।

बाबाके कुछ उपदेश

तीक्ष्ण धारावाली नदियोंमें जिस प्रकार कोई तृण शान्त नहीं रहता, बहकर इधर-उधर हो जाता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचर्यहीन मनुष्यके चंचल हृदयमें कोई साधन-विवेक नहीं टिकता, इधर-उधर बह जाता है।

प्रत्येक मनुष्यको अपने धर्म और विश्वासके अनुसार किसी प्रतीकमें अवश्य ध्यान करना चाहिये। इससे आत्मामें बल और चित्तवृत्तियोंके निरोधमें साहाय्य प्राप्त होता है।

जिस प्रकार अन्नकी भूख और पानीकी प्यास सब मनुष्योंको लगती है उसी प्रकार अध्यात्मकी भी भूख सबको कभी-न-कभी अवश्य लगती ही है। भातकी भूख लगनेपर लकड़ी, हाँडी, चूल्हा आदिका कष्ट न कर आलसी लोग दूकानोंकी बासी चीजें खाकर भूख मिटा डालते हैं, उसी प्रकार संसारी जीव भी अध्यात्मकी भूख लगनेपर यम-नियमादिका कष्ट न कर वासनासे क्षुधा मिटा लेते हैं।

शालग्राम गोल हैं, ब्रह्माण्ड भी गोल है। शालग्रामकी पूजा ब्रह्माण्डकी पूजा है।*

भृगुक्षेत्रके कतिपय संत

(लेखक—प्रो० पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य)

बलियाको प्राचीन कालमें भृगुक्षेत्र या दर्दरक्षेत्र कहते थे। भगवान् विष्णुके वक्ष:स्थलपर पदाघात कर प्रायश्चित्त करनेके विचारसे भृगुजीने अत्यन्त पावन भूमि मानकर इसी स्थानको पसंद किया। भगवती भागीरथी और पुण्यसलिला सरयूकी संगमस्थली होनेसे यह भूमि सदासे पवित्र मानी जाती है। गर्ग, पराशर, परशुराम तथा भृगुशिष्य दर्दर मुनिके यहाँ पधारने और रहनेकी चर्चा पुराणोंमें विशेषरूपसे की गयी है।

इस पवित्र स्थानमें साधु-संत सदा उत्पन्न होते आये हैं और अपनी दिव्य वाणीसे संसारका कल्याण करते आये हैं। गंगा और सरयूके बीचमें स्थित होनेके कारण इस भूमिको 'दुआबा' कहते हैं। यहाँ गुप्तरूपसे या प्रकटरूपसे सदासे महात्माजन निवास करते आये हैं। हमारी दृष्टि ऐसी निर्मल और पैनी नहीं कि इन्हें पहचान सकें। यहाँ गत शताब्दीके अन्तिम भागके ही कतिपय पुण्यजीवन संतोंकी चर्चा संक्षेपमें की जायगी, जिनकी स्मृति आज भी भक्तोंके हृदयमें भगवदनुरागका संचार किया करती है, जिनकी पावन गाथा आज भी इधरके मनुष्योंके आदर और श्रद्धाका विषय है तथा जिनके आश्रम इस गये बीते समयमें भी शुद्धताकी छटा छिटका रहे हैं।

१-महाराज गोसाईं

बाबा श्रीचैनरामजीके शिष्य महाराज गोसाईं पूर्वी बलियाके मिलकी गाँवके रहनेवाले ब्राह्मण थे। १२५ वर्षकी उम्रमें आपका परलोकगमन हुआ था। आप गृहस्थ थे। किसीके यहाँ जाते नहीं थे। घरमें किसी बातका अभाव न था। गाँवके बाहर पेड़ोंके नीचे कुटी बनाकर रहते थे और सदा भगवान्के भजनमें लगे रहते थे। एकदम विरक्त थे। संग्रह-परिग्रहका नाम भी नहीं जानते थे। इनकी कुटी इसी गाँवमें आज भी विद्यमान

* श्रीचैनराम बाबाकी जीवनी बाबा लक्ष्मणदासजीने भी लिखकर भेजी थी, जिसका सार-अंश यथास्थान इस लेखमें सम्मिलित कर लिया गया है। चमत्कारों और विभूतियोंकी बातें और संतोंकी तरह बाबा चैनरामजीके जीवनमें भी बहुत मिलती हैं, परन्तु स्थानाभावसे उन्हें नहीं दिया जा सका।
—सम्पादक

है। इतनी बड़ी कुटी और समाधि लेखकने अबतक देखी नहीं। कम-से-कम दो पुरसा जमीनसे ऊँची होगी। भक्तोंने अपने हाथसे मिट्टी खोद-खोदकर इसे तैयार किया है। एक निलहे साहबने इसे पक्की कर देनेकी प्रार्थना गोसाईंजीसे की तो आपने उसका निषेध करते हुए सरलतासे कहा—'बेटा! तुम्हारे ईंटोंकी कोठी कितने दिन टिकेगी? हमारी माटीकी कुटिया ही अच्छी।' वे बराबर कहा करते कि 'जो कोई इस कुटियाको झाड़े-बुहारेगा, साफ रखेगा, लीपे-पोतेगा उसके पाप धुल जायँगे, देह निर्मल हो जायगी, काया कंचनकी-सी हो जायगी।' बात ऐसी ही है। आज भी कुटी इतनी स्वच्छ बनी रहती है कि मालूम होता है कि सिमेण्टकी गच हो। पास ही निर्मल जलका सोता बहता है। स्थानको देखते ही चित्त आनन्दसे पुलकित हो जाता है, एकाग्रता आप-से-आप चली आती है।

जब गोसाईंजीके संसर्गसे पवित्र की गयी कुटियाका इतना प्रभाव आज भी प्रत्यक्ष दीखता है तो उनकी साक्षात् संगति तथा अमृत-उपदेशका परिणाम कितना होता होगा, यह अनुमानगम्य है।

२-सुदिष्ठ गोसाईं

सुदिष्ठ गोसाईं महाराज गोसाईंके प्रमुख शिष्योंमें थे। आप दुआबाके ही गोन्हिया छपरा गाँवके रहनेवाले राजपूत गृहस्थ थे। ये पढ़े-लिखे तो कम थे, परन्तु महाराजजीके संसर्गसे इनपर भगवद्भक्तिका गहरा रंग चढ़ गया। महाराजजीके सत्संगमें नित्य प्रात: पधारते थे, दिनभर गुरुकी सेवा करते, उपदेश सुनते और रातको घर लौट जाते थे। पीछे इन्होंने गाँवका रहना छोड़ दिया और गाँवसे पश्चिम एक कुटी बनाकर विरक्तभावसे निवास करने और भजन-भावमें ही अपना सब समय बिताने लगे। रामलीलामें आपकी बड़ी श्रद्धा थी। इनके धनुषयज्ञमें हजारों गाँवके लोग आते—कथाएँ होतीं, शास्त्र-चर्चा होती, संतोंका सत्संग होता। उनका चलाया हुआ वह मेला आज भी उसी दिन—अगहन सुदी पंचमीको प्रतिवर्ष लगता है। अब वह संत-समागमके पावनस्वरूपसे गिरकर मेलामात्र, पशुओंकी खरीद-बेंचका स्थानमात्र रह गया है। बाबाजीको चोला छोड़े तीस वर्षसे ऊपर हुए। उनकी समाधि गोन्हियामें बनी हुई है।

सुदिष्ठ गोसाईं बहुत बड़े सिद्ध संत थे। भविष्यवाणी करना, आगेके जीवनकी समग्र घटनाएँ बतला देना, बिना किसी स्थानपर गये वहाँकी स्थितिका याथातथ्य परिचय दे देना आदि-आदि अनेक ऐसी बातें हैं जिनके प्रत्यक्षकर्ता आज भी हमारे यहाँ मौजूद हैं।

हमारे गाँव (सोनबरसा, बलिया) के प्रसिद्ध सत्संगी वयोवृद्ध मुंशी रघुनाथलालजीने मुझसे कई बार कहा है कि एक बार एक मुसलमान फकीरको वे बाबाजीके पास ले गये। फकीर जाकर वहाँ बैठ गये। बस, किसीने भी बातचीत नहीं की। जब मुंशीजीके साथ फकीर चलने लगे तो बाबाजीने पहली बार अपनी मौनमुद्रा तोड़ी। दूसरे दिन मुंशीजी फिर आये और गोसाईंजीसे पूछा कि आपने फकीरसे कुछ भी बातचीत नहीं की। उन्होंने कहा—'बच्चा! साधु लोग बिना जीभ हिलाये भी तो बातचीत कर सकते हैं, हमारी और उन फकीरकी बातचीत ऐसी ही हुई।'*

३-करन गोसाईं

करन गोसाईं बैरियाके एक सद्‌गृहस्थ ब्राह्मण थे। गृहस्थोंमें बैठकर ज्ञानचर्चा—जिसे ये 'ज्ञानगुदरी' कहते थे—करना इनका कार्य था। शास्त्रकी बातें ये बड़े सरल ढंगसे समझाते थे, जिसका लोगोंपर बड़ा प्रभाव पड़ता। ये बहुत अच्छे गृहस्थ थे। संसारमें रहकर संसारसे लिप्त न होना और अपनेको ऊपर उठाना सरल काम नहीं है। परन्तु इन्होंने ऐसा ही किया। सौभाग्यवश इनकी भक्ति फलित हुई इनके पुत्रके रूपमें। ये महात्मा सुदिष्ठ बाबाके सामने ही हुए थे।

४-बाबा कपिलदेव गोसाईं

आप करन गोसाईंजीके पुत्र थे। ये गृहस्थ थे, घरहीपर रहते थे और घरका सब काम-काज देखते थे। पिताके संसर्गमें आनेपर आपके हृदयमें भक्तिका संचार हुआ। परन्तु ये जन्मसे ही संसारकी ओरसे विमुख थे और सम्मुख थे उस भगवान्‌के चरणारविन्दोंकी ओर, जो अनेक जन्मोंके पुण्योंका परिणाम हुआ करता है। ये अपने पिताजीकी कुटियापर ही रहते थे। अन्त समयमें इनके पिताजीने कहा था कि 'तुम्हें कहीं नहीं जाना होगा—न काशी, न प्रयाग। इसी स्थानपर तुम्हें

* श्रीमहाराज गोसाईं और श्रीसुदिष्ठ गोसाईंका सुविस्तृत जीवनचरित्र उस परम्पराके वर्तमान संत बाबा लक्ष्मणदासजीने भी भेजा है। जीवनसम्बन्धी प्राय: सभी बातें यही हैं। हाँ, चमत्कारों तथा अन्य प्रभावोत्पादक घटनाओंका उसमें विशेष वर्णन है जो स्थानाभावके कारण दिया नहीं जा सका। —सम्पादक

परम लाभ होगा।' फिर तो ये डट गये। कुटीके नीचे भी नहीं जाते थे; 'कुटीरसंन्यास' ही ले लिया। और भगवान्‌के चिन्तनमें ही अपनी शेष आयु बिता डाली।

बाबा कपिलदेवजी संस्कृतके भी खासे पण्डित थे। उपदेश करनेकी शैली आपकी अनूठी थी। दृष्टान्त होते थे बड़े घरेलू, परन्तु इतने मार्मिक कि बात हृदयमें चुभे या चोट किये बिना नहीं रहती। बड़े शान्त थे। धीरे-धीरे, छोटे-छोटे वाक्योंमें अपना उपदेश दिया करते थे। इस संसारके जालसे बचनेके लिये भगवान्‌की शरणागतिको सरल तथा श्रेष्ठ उपाय बतलाते समय कहा करते थे कि भाई, मछुआ जब नदीमें जाल डालता है तो सब मछलियाँ उसमें बझ जाती हैं। केवल वे ही बची रहती हैं जो उसके पैरके नीचे तैरा करती हैं। जाल उनका कुछ भी नहीं कर सकता। इसी प्रकार कालने अपना जाल नर-मत्स्योंको पकड़नेके लिये इस भवार्णवमें डाल रखा है। यदि कालसे बचना चाहते हो तो जाल डालनेवालेके चरणोंकी शरणमें जाओ। बच जाओगे, फँसोगे नहीं। दो चक्कियोंमें पड़ा हुआ वही दाना बच सकता है जो कीलसे सटा हुआ होता है। ठीक उसी भाँति मायाकी चक्की मानवोंको पीस रही है। जो कीलरूपी भगवान्‌के आश्रयमें जाते हैं वे तो बिलकुल बच जाते हैं; अन्य सब पिस जाते हैं। सीधी-सादी भाषामें तथ्यकी इन बातोंका कितना अधिक प्रभाव पड़ता है।

एक बार बाबाजी लेटे हुए थे। पासके गाँवके एक सज्जन पैर दबा रहे थे। पैर दबाते-दबाते उन्हें जान पड़ा कि बाबाजीका कोमल शरीर अचानक कड़ा पड़ गया। देहमें तनाव मालूम होने लगा। बेचारे डरे। बाबाजीकी नाड़ीपर अपना हाथ रखा, यह देखनेके लिये कि चलती है या बंद है। तब झट चौंककर बाबाजी कहने लगे कि 'आप अपनी नाड़ीकी भी खोज-खबर रखते हैं? घर जाइये। देर न कीजिये।' बेचारे घर गये, परन्तु घर पहुँचनेके पहले ही नाड़ी छूट गयी। शरीर ढेर हो गया।

निःस्पृहताकी तो आप मूर्त्ति थे। एक बार डुमराँवके राजा घूमते हुए इस ओर आये। कपिलदेवजीकी विशद प्रशंसा सुनकर वे दर्शनके लिये लालायित तो हुए, परन्तु राजाकी मिथ्या प्रतिष्ठा बीचमें आ अड़ी। कुटीके पास ही उनका स्थान भी था। बड़े लोगोंसे आनेके लिये कहलवाया। बाबा वहाँ उनके पास क्यों जाते। तब उन्हें बहुत-सी जमीन देनेका प्रलोभन दिया गया। उन्होंने हँसकर इस प्रस्तावको टालते हुए कहा—'जिसने तुम्हें रजाई दी है, राज्यपदपर बिठाया उसीके दरबारमें जब हम धरना देकर बैठे हुए हैं तो तुम्हारे-जैसे साधारण राजाओंको कौन पूछे।' धन्य है यह निःस्पृहता और धन्य है यह अखण्ड विश्वास! सच तो यह है कि ऐसे संतलोग भगवान्‌की देदीप्यमान दिव्य विभूति हैं।

५-हरेराम ब्रह्मचारी

इन महात्माको चोला बदले कुछ ही साल हुए। ये गंगाके किनारेके एक गाँवमें ब्राह्मणकुलमें पैदा हुए थे। ब्रह्मचर्यका इन्हें नशा-सा चढ़ गया था। नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। आपने ब्रह्मचर्यका व्रत बड़ी बहादुरीसे पालन किया। गंगाजीके ठेठ किनारे फूसका छप्पर पड़ा रहता था। शुरूसे ही विरक्ति तो थी ही। केवल सन्ध्या-वन्दनके लिये ही ये अपनी कुटियासे बाहर निकलते थे। गंगाके भीतर मचान बनी हुई थी, उसीपर ब्राह्ममुहूर्तसे आसन मारकर सूर्याभिमुख होकर बैठते और गायत्री मन्त्रका निरन्तर जाप करते। कुछ फलाहार कर लेते थे।

भीड़-भाड़ बढ़ते देख, मान-प्रतिष्ठा और पूजाका समारोह देखकर ये घबड़ा जाते और गंगातीर छोड़कर सिसवन (छपरा) के पास सरयूजीपर अपनी कुटिया बना लेते। सालोंसे भोजनका त्याग कर बैठे थे। केवल तुलसीकी पत्ती पीसकर पीते थे।

जनसंसद्—लोगोंकी भीड़-भाड़, जुटावसे आप सदा घबड़ाते थे। शुचिताका आपको बहुत अधिक ध्यान था। ब्रह्मतेजके जीते-जागते रूप थे। शरीर तेजसे चमकता था। लोकसेवाको बहुत महत्त्व दिया करते थे। भगवान्‌के सच्चे निःस्पृह भक्त थे। बड़ी सादगी और आस्था थी आपमें। कभी-कभी गालियोंकी बौछार भी सुनाया करते थे। इसलिये कि भीड़ कम हो, परन्तु आर्त तथा जिज्ञासु भक्त जुटे ही रहते थे। कितने निर्धन ब्राह्मणोंको दूसरे लोगोंसे सहायता दिलवायी, इसका ठिकाना नहीं है। इनका नाम और यश उधरके कई जिलोंमें घर-घरमें—स्त्रियों और छोटे बच्चोंतकमें छाया है।

इन महात्माओंका लोकपर कितना बड़ा उपकार है, इनसे संसारका कितना बड़ा कल्याण होता है, होगा, इसका हम अनुमान नहीं लगा सकते।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

श्रीअलबेली अलि

अनन्य साधना और अनुपम प्रीतिके कारण प्रभुके रास-रसका पान करनेवाले कुछ विरले संत-महात्माओंमें श्रीअलबेली अलिका नाम बहुत आदरसे लिया जाता है। भगवान्‌की सेवामें ही अहर्निश लगे रहकर इन्होंने प्रभुको बहुत समीपसे देखा और उनकी लीलाओंका अमृतपान भी किया। श्रीअलबेली अलि महात्मा श्रीवंशी अलिके कृपापात्र शिष्य थे। वंशी अलिके सम्बन्धमें संतोंकी यह मान्यता है कि उन्होंने बरसानेमें श्रीललिताजीकी उपासना करके श्रीप्रियाजीका दर्शन किया और श्रीरासेश्वरीजीके नित्यपरिकर हुए।

श्रीअलबेली अलि विष्णुस्वामिसम्प्रदायमें हुए हैं। अनुमानतः इनका जन्म विक्रमकी अठारहवीं शताब्दीके आदिमें हुआ। भाषाके सुकवि होनेके अतिरिक्त ये संस्कृतके भी अच्छे पण्डित थे। इनका लिखा 'श्रीस्तोत्र' एक सुन्दर काव्यग्रन्थ है। उसका एक-एक श्लोक अत्यन्त मधुर है।

'अष्टयाम' के इनके कुछ पद बड़े ही मनोहर हैं—

नृत्यति नवल नवेली। पिय-अंसनि भुज मेली॥
पिय-अंसनि झुकि चलत मंदगति, लेति सुलय सुखदाई।
कुंतल-हलनि, चलनि कल कुंडल जुग गंडनि छबि छाई॥
अधरनि डुलनि झुलनि नकमोती मनों करत रसकेली।
चंचल चौंप चपल चपला-सी नृत्यति नवल नवेली॥

—'माधव'

श्रीध्रुवदास

निकुंजलीलाके उपासक, महाभावके भावुक संतोंमें श्रीध्रुवदासजी अग्रणी हैं। भगवान्‌की भिन्न-भिन्न मधुर लीलाओंका इन्हें साक्षात्कार हुआ था। श्रीगोस्वामी हित-हरिवंशजीने स्वप्नमें इन्हें दीक्षा-मन्त्र दिया था और ये उन्हींके शिष्यरूपमें गुरुवन्दनामें श्रीहितजीके विषयमें लिखते हैं—

हितहरिबंसहि कहत 'ध्रुव', बाढ़ै आनँद-बेलि।
प्रेमरँगी उर जगमगै जुगुल नवल बर केलि॥
निगम ब्रह्म परसत नहीं, सो रस सबतें दूरि।
कियो प्रगट हरिबंसजू रसिकनि जीवनमूरि॥

ध्रुवदासजी वृन्दावनमें ही अधिक रहे। वृन्दावनसे इनका बड़ा प्रेम था। माधुर्यरसका वर्णन इनका अनूठा है। ये वस्तुतः मधुर रसके रसिक थे और इन्होंने रासलीलाका प्रत्यक्ष दर्शन किया था। इनके लिखे लगभग चालीस ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनमें वृन्दावनसत, सिंगारसत, रहस्यमंजरी, रतिमंजरी, प्रेमलता, भजनसत, जीवदशा, भक्तनामावली प्रसिद्ध हैं। संवत् १६४० में आप गोलोक सिधारे।

ध्रुवदासजीकी एक मधुर विनय सुनिये—

रूपकी रासि किसोर-किसोरी रँगे रसकेलि निकुंज-बिहारा।
माते, अनंग-प्रबीन, सबै अँग फूल सरोरुह ते सुकुमारा॥
बसौ उर-नैननिमें दिन-रैनि, नसौ मनके जिते आहिं बिकारा।
जाँचत बात न और कछू, 'ध्रुव' देहु प्रिये! रसप्रेमकी धारा॥

प्रेमकी तृषा रूपरसके पान करनेसे बढ़ती ही जाती है, इस आध्यात्मिक सत्यको कितने सुन्दर ढंगसे ध्रुवदासजीने एक दोहेमें प्रकट किया है—

प्रेम-तृषाकी ताप 'ध्रुव' कैसेहुँ कही न जात।
रूप-नीर छिरकत रहैं, तऊ न नैन अघात॥

अन्तिम क्षणमें भी जीव हरिकी शरणमें चला जाय तो बेड़ा पार है। भक्तकी शरणमें जाना ही भगवान्‌की शरणमें जाना है—

अजहूँ साचे-बिचारकै, गहि भक्तनि पद-ओट।
हरि कृपालु सब पाछिली छमिहैं तेरी खोट॥

—'माधव'

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

पूरे जागे हुए मनका यही अर्थ है कि ईश्वरके सिवा दूसरी किसी चीजपर चले ही नहीं। जो मन उस परवरदिगारकी खिदमतमें लीन हो सकता है उसे फिर दूसरे किसीकी क्या जरूरत ?

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायके संत

(लेखक--श्रीमद्दार्शनिकपंचानन, षड्दर्शनाचार्य, नव्यन्यायाचार्य, सांख्ययोगवेदान्ततीर्थ पण्डित श्रीकृष्णवल्लभाचार्यजी स्वामिनारायण)

श्रीरामानन्द स्वामी

आप भगवान् श्रीस्वामिनारायणके गुरु थे और उद्धवके अवतार माने जाते हैं। आपका जन्म सं० १७९५ की श्रावण कृष्णा अष्टमीको प्रात:काल अयोध्या नगरीके एक कश्यपगोत्रीय ब्राह्मणकुलमें हुआ था। आपके पिताका नाम पण्डित अजय शर्मा और माताका नाम सुमति देवी था। एक शुभलग्नमें आपका नाम श्रीरामशर्मा रखा गया तथा आठवें वर्ष यज्ञोपवीतसंस्कार हो गया। किन्तु यज्ञोपवीतसंस्कार सम्पन्न होते ही आपको इस संसारसे वैराग्य हो गया और आप ब्रह्मचारीके वेशमें घरसे निकल पड़े तथा सीधे भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनार्थ द्वारकापुरीमें गये। वहाँपर भगवान् श्रीकृष्णने आपको साक्षात् दर्शन दिया और कहा कि 'तुम उद्धवके अवतार हो, मेरे ज्ञान तथा भक्तिका प्रचार करो।' उसके पश्चात् आप रैवताचल (गिरनार पर्वत) पर गये, जहाँ आत्मानन्द नामके एक बड़े अच्छे योगी रहते थे। उनसे प्रभावित होकर आपने दीक्षा ले ली और अपना नाम रामानन्द स्वामी रखा। परन्तु योगी आत्मानन्दजी निराकारवादी थे, भगवान्‌के साकारस्वरूपका खण्डन करते थे, इसलिये सिद्धान्तत: आपको वहाँसे हटना पड़ा। वहाँसे चलकर आप श्रीरंगक्षेत्रमें आये, जहाँपर वैष्णवराज श्रीरामानुजाचार्यजीने आपको अपने दिव्य स्वरूपका दर्शन देकर वैष्णवी महादीक्षा दी।

वहाँसे आप अपने उद्धवीय-सम्प्रदायका प्रचार करते हुए वृन्दावन आये तथा वहीं रहकर भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिमें रम गये। कुछ समय बाद फिर आपको तीर्थाटन करनेकी इच्छा हुई, फलस्वरूप आप प्रयाग आये। वहाँ भी आपने अपने सम्प्रदायका प्रचार किया, तत्पश्चात् आप सौराष्ट्र पहुँचे, जहाँ लाखों मनुष्य आपके भक्त बन गये। अनेकों भक्तोंको आपने भगवान् श्रीकृष्णका साक्षात्कार कराया। उसके बाद लोजपुर स्थानमें आपके द्वारा एक बड़े भारी मठकी स्थापना हुई। और भी कई नगरोंमें आपने मठोंकी स्थापना की तथा विभिन्न प्रकारके चमत्कार दिखलाकर लोगोंको प्रभावित किया। भगवान् श्रीस्वामिनारायणने 'पीपलाणा' नामक स्थानमें आपसे दीक्षा ली और उसके कुछ ही समय बाद आपने उनको जेतपुरकी धर्मधुरी गद्दीपर बैठाया। जब आपने अपनी लीलाके संवरणका अवसर देखा, तब फणेणी नामक स्थानपर जाकर वहीं सं० १८५८ की मार्गशीर्ष शुक्ला त्रयोदशीको अन्तिम समाधि ले ली। आपके उपदेश बड़े कामके हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं—

परब्रह्म साकार है, दिव्य सच्चिदानन्द।
साकार होत साकारसे, भजके रामानन्द॥
उनके सब अवतार हैं, भोग लोक सुखधाम।
विशिष्ट ज्ञान कमायके, होवत पूरन काम॥
निराकारका अर्थ है, मायाकार विहीन।
रामानन्द यह जानके, तू हो मुक्त प्रवीन॥

श्रीगुणातीतानन्द स्वामी

इनके आविर्भावकी कथा इस प्रकार है—काठियावाड़ प्रान्तके मादरा नामक गाँवमें औदीच्य जातिकी यजुर्वेदी माध्यन्दिनी शाखाके एक वशिष्ठ गोत्रज परिवारमें भोलानाथ और साकरबाई नामके दम्पती रहते थे। कई वर्षोंसे उन्हें कोई सन्तान नहीं होती थी। एक बार वे सं० १८३७ के चैत्र मासमें प्रभासतीर्थकी यात्रा करने निकले तो मार्गके मेखाटीबी नामक गाँवमें उन्हें श्रीआत्मानन्दजीद्वारा स्थापित एक भगवान्‌का मन्दिर मिला। वहाँ ठहरकर उस दम्पतीने रामनवमीका विधिसहित व्रत और कथा-कीर्तनपूर्वक रात्रि-जागरण किया। इसपर श्रीआत्मानन्द स्वामी प्रसन्न हो गये और उन्होंने अपने तेजोमय विग्रहसे दम्पतीके सामने प्रकट होकर उनके घर अवतार-पुरुषके प्रकट होनेका आशीर्वाद दिया। यह सुनकर उस दम्पतीको बड़ी प्रसन्नता मिली। वे अपनी यात्रा पूरी करके घर लौटे। कुछ दिनोंके पश्चात् अर्थात् सं० १८४१ की आश्विन शुक्ला पूर्णिमा मंगलवारको साकर देवीके गर्भसे श्रीगुणातीतानन्दजी प्रकट हो गये। संयोगवश श्रीरामानन्द स्वामी उस समय मन्दिरमें ही थे। उन्होंने भोलानाथजीके उस अवतारी पुत्रका नाम मूलजी रखा। मूलजीने शिशु-अवस्थामें ही माता-पिताको अनेकों चमत्कार दिखला-दिखलाकर अपनी अद्भुत शक्तिमत्ताका ज्ञान करा दिया।

सं० १८८६ में मूलजी भगवान् श्रीस्वामिनारायणसे मिले। उन्होंने मूलजीको उनके अवतारी होनेकी याद

दिलायी, अतः मूलजी शीघ्र ही गुजरातके हुमाण नामक स्थानमें चले गये और वहाँ उन्होंने श्रीजी महाराजसे महादीक्षा ले ली। दीक्षाके अनन्तर उनका नाम गुणातीतानन्द स्वामी पड़ा और वे भगवान् श्रीस्वामिनारायणके ही साथ रहकर लोक-कल्याण करने लगे। बादमें पश्चिम सौराष्ट्रके जूनागढ़ नामक स्थानमें एक त्रिशिखरमन्दिरकी स्थापना हुई, और भगवान् श्रीस्वामिनारायणकी आज्ञासे आप वहीं रहने लगे। वहाँ भी आपने बड़े-बड़े अद्भुत और लोक-कल्याणकारक कार्य किये। इस प्रकार लगभग चालीस वर्षोंतक जूनागढ़में रहकर आप गोंडल पधारे और वहींपर आपने सं० १९२३ की आश्विन शुक्ला द्वादशी गुरुवारकी रात्रिमें बारह बजेके लगभग योग-समाधि लगायी। जिस स्थानपर आपने समाधि लगायी थी, उस स्थानपर बना हुआ, त्रिशिखरी मन्दिर अबतक मौजूद है। आपके बहुत थोड़े उपदेश यहाँ दिये जाते हैं—

'करोड़ों कार्य बिगाड़कर भी मोक्ष सुधारो, यदि अन्य कार्य सिद्ध हुए, और मोक्ष बिगड़ा तो समझो कि कुछ नहीं हुआ। संसारमें जितने भी सुख दिखायी देते हैं, वे सब मायामय हैं, उनमें दुःख मिश्रित है। विषय-सुखसे आत्मसुख अत्यधिक ऊँचा है और भगवत्प्राप्तिका सुख तो चिन्तामणिके समान है! भगवान्‌की प्राप्ति संत-समागमसे ही होती है। क्योंकि संतजन ही भगवान्‌में तल्लीन रहते हैं। पुरुषोत्तम भगवान्‌की ऐकान्तिक भक्तिमें निरन्तर लगे रहो, भगवत्प्राप्ति ही मनुष्यका एकमात्र कर्तव्य है।'

योगिराज श्रीगोपालानन्द स्वामी

गुजरात प्रान्तान्तर्गत भीलोटा स्टेटमें पाडाटोडला नामका एक गाँव है। उसमें मोतीराम नामके एक औदीच्य ब्राह्मण निवास करते थे। उनकी स्त्रीका नाम जीवीबादेवी था। सं० १८३७ की माघ शुक्ला अष्टमी सोमवारको जीवीबादेवीके गर्भसे एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ, जिसका नाम खुशाल भट्ट रखा गया। खुशाल भट्ट साधारण पुत्र नहीं थे, जन्मसिद्ध योगी थे और योग-सिद्धियोंद्वारा विश्वका कल्याण करनेके लिये ही इस धराधामपर अवतीर्ण हुए थे। अपनी योग-शक्तिद्वारा उन्होंने बड़े-बड़े चमत्कार दिखलाये। खुशाल भट्टजीकी शिक्षा घरपर ही हुई थी और अल्पकालमें ही उन्होंने सम्पूर्ण शास्त्रोंका प्रकाण्ड ज्ञान प्राप्त कर लिया था। जब उनकी अवस्था दस वर्षकी हुई, तभी उनके माता-पिताने 'कुशलबाई' नाम्नी एक रूपवती कन्यासे उनका पाणिग्रहणसंस्कार करा दिया था। पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें वे एक पाठशालाके अध्यापक बन गये थे और विद्यार्थियोंको योग-समाधि लगाना सिखलाकर उन्हें तरह-तरहके दिव्य दर्शन कराते थे। एक बार तो उन्होंने कई विद्यार्थियोंको समाधिस्थ करके कैलाशपर्वतपर शंकरजी तकसे साक्षात्कार और वार्तालाप कराया था!

कालान्तरमें जब भगवान् श्रीस्वामिनारायण गुजरात प्रान्तके जयतलपुर नामक स्थानमें जाकर यज्ञ कर रहे थे, तब खुशाल भट्टजीने वहाँ पहुँचकर उनसे भागवती दीक्षा ले ली और अपना नाम 'गोपालानन्द स्वामी' रखा। आप सदा ही अष्टांगयोगमें निमग्न रहते थे। अनेकों मनुष्योंको आपने भगवान् श्रीस्वामिनारायणके आश्रममें पहुँचाकर उनका उद्धार किया था। अन्तमें जब आपके कार्यका समाप्तिकाल आया तब आप बड़ताल नगरमें सं० १९०८ की वैशाख शुक्ला ५ को स्वेच्छासे अन्तर्हित हो गये। आपकी रची हुई लगभग १५ पुस्तकें संस्कृत-भाषामें हैं, जिनमें उपनिषदोंका भाष्य, भगवद्गीताभाष्य, ब्रह्मसूत्रदीपिका आदि मुख्य हैं। गुजराती भाषामें भी 'श्रीगोपालानन्द स्वामीकी वार्ताएँ' नामकी एक पुस्तक है।

श्रीनित्यानन्द स्वामी

व्यासावतार श्रीनित्यानन्द स्वामीके पिताका नाम विष्णुशर्मा और माताका नाम विरजादेवी था, जो मध्यभारतके गौड प्रान्तान्तर्गत लखनौ तालुकाके दतिया नामक गाँवमें निवास करते थे। उनका जन्म सं० १८५९ की मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशीके शुभलग्नमें हुआ था और पिता-माताने दिनमणि शर्मा नाम रखा था।

आठवें वर्षमें दिनमणि शर्माका यज्ञोपवीत हुआ और वे तुरन्त विद्योपार्जनके लिये काशी भेज दिये गये। वहाँ उन्होंने थोड़े समयमें ही वेद-वेदांगादिका विधिवत् अध्ययन कर लिया। धुरन्धर विद्वान् बन गये। परन्तु केवल शास्त्रीय ज्ञानसे उन्हें कुछ भी सन्तोष नहीं हुआ, अपितु संतसमागमद्वारा परम प्रभुका प्रकटरूपसे दर्शन प्राप्त करना ही उनकी दृष्टिमें एकमात्र कर्तव्य जँचा। फलतः वे काशीसे ही सीधे बदरिकाश्रमकी ओर चले गये और वहाँसे सत्संग-लाभ करते-करते जगन्नाथपुरी होते हुए सेतुबन्ध रामेश्वर पहुँचे। तत्पश्चात् उन्होंने द्वारकापुरीकी यात्रा की। उसके बीचमें गुजरात प्रान्तका

'विशनगर' नामक एक स्थान मिला। वहाँ भगवान् श्रीस्वामिनारायणके पश्चिम सौराष्ट्रमें विचरनेका पता लगा। इससे पण्डित दिनमणि शर्माको बड़ा भारी उत्साह हुआ, वे जल्दी ही फणेणी नामक स्थानमें संत प्रभुतानन्दजीसे मिले। उन्होंने भी उक्त बातकी पुष्टि की और यह बतलाया कि 'भगवान् श्रीस्वामिनारायण ऊंझा नामक स्थानमें आपको दर्शन देंगे।' यथासमय पण्डित दिनमणि शर्मा ऊंझा गये और वहाँ उन्होंने भगवान् श्रीस्वामिनारायणके दर्शन किये। श्रीभगवान् स्वामिनारायणने भी उनको 'आइये व्यासावतार दिनमणि शर्मा' कहकर बाहुपाशमें कस लिया! दिनमणि शर्माका मनोरथ पूर्ण हो गया!

इसके पश्चात् दिनमणि शर्मा भगवान् श्रीस्वामिनारायणके साथ ही विचरते हुए काठियावाड़ प्रान्तके मेधपुर नामक स्थानमें गये और वहीं भागवती दीक्षासे दीक्षित हो गये। भगवान् श्रीस्वामिनारायणने 'नित्यानन्द स्वामी' नाम रखा और आशीर्वाद दिया कि 'तुम मेरे उद्धवसम्प्रदायका सर्वत्र दिग्विजय करोगे।' अब स्वामी नित्यानन्दजी चमके, अनेक स्थानोंपर जाकर उन्होंने शास्त्रार्थद्वारा बड़े-बड़े पण्डितोंको परास्त किया और उद्धवसम्प्रदायकी ध्वजा फहरायी। इस प्रकार अपनी लीलाका विस्तार करके सं० १९०८ की मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमीको बड़तालमें स्वामी नित्यानन्दजी परमधामको चले गये। भगवान् श्रीस्वामिनारायण उनको अपना दक्षिणभुज मानते थे तथा उन्होंने उनको बड़ताल और अहमदाबादकी दो गद्दियोंका प्रतिनिधि बना दिया था। स्वामी नित्यानन्दजीका बनाया हुआ 'श्रीहरिदिग्विजय' नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है, शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रपर रचित उनकी 'भक्तितत्त्वप्रकाशिका' टीकाका भी काफी आदर है। इनके अतिरिक्त उनके द्वारा निर्मित और भी अवतार-चरित्रादि बारह ग्रन्थ हैं।

श्रीशतानन्द स्वामी

इनका जन्म मिथिलापुरीके एक ब्राह्मणकुलमें हुआ था। पिताका नाम पण्डित विष्णुदत्त था। किशोरावस्थामें जब ये विद्याभ्यास करते थे, तभी इन्हें वैराग्य हो गया और ये तपस्या करनेके लिये बदरिकाश्रम चले गये। वहाँ भगवान् नरनारायणने इनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर इनको दर्शन दिया और कहा कि 'गुजरातमें श्रीस्वामिनारायण विराजमान हैं, उनके पास जाओ, तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी।' यह सुनकर इन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और ये तत्काल ही भगवान् श्रीस्वामिनारायणके दर्शनार्थ गुजरात प्रान्तके उमाण नामक स्थानमें आये। वहाँ भगवान् श्रीस्वामिनारायणने इनको जिस दिव्य रूपका दर्शन दिया, उसी दिव्य रूपका दर्शन ये बदरिकाश्रममें कर चुके थे। अतः इनके आश्चर्यका पारावार न रहा। वहीं आत्मसमर्पण करके इन्होंने भगवान् श्रीस्वामिनारायणसे भागवती दीक्षा ले ली और तबसे उन्हींके श्रीचरणोंमें रहकर भागवतधर्मकी सेवा करने लगे। इन्होंने 'सत्संगिजीवन', 'हरिवाक्यसुधासिन्धु', 'शिक्षापत्री अर्थदीपिका', 'अन्वयदीपिका' आदि ११ अच्छे-अच्छे ग्रन्थोंकी रचना की है।

श्रीनिष्कुलानन्द स्वामी

हालार प्रान्तके शेखपाट नामक गाँवमें विश्वकर्मा (बढ़ई) जातिके रामभाई और अमृतबा नामवाले दम्पती रहते थे, जो श्रीआत्मानन्द स्वामी तथा श्रीरामानन्द स्वामीके शिष्य थे। उनके यहाँ सं० १८२२ में एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम लालजी रखा गया। लालजीके अन्दर बचपनसे ही ज्ञान और वैराग्यका वेग था, परन्तु समय आनेपर पिताकी आज्ञासे उन्हें गार्हस्थ्य-धर्म स्वीकार करना पड़ा। कुछ दिनोंके बाद जब उनके पिता रामभाईका देहावसान हो गया तब वे श्रीरामानन्द स्वामीके पास गये और उनसे उन्होंने परमहंसदीक्षा देनेके लिये प्रार्थना की। किन्तु श्रीरामानन्द स्वामीने समय न देखकर यह कहकर टाल दिया कि 'तुम तो गृहस्थ होनेपर भी परमहंस-जैसे ही हो।' इसपर लालजी फिर घर लौट आये और पिता तथा गुरुकी आज्ञा मानकर संसारसे 'जलकमलवत्' सर्वथा निस्संग रहते हुए गार्हस्थ्य-धर्मका पालन करने लगे।

एक बार लालजीके गाँवमें सं० १८६० में वसन्तपंचमीका उत्सव मनाया जा रहा था और उस शुभावसरपर भगवान् श्रीस्वामिनारायण (श्रीसहजानन्द स्वामी) पधारे थे। जब उत्सवका कार्य समाप्त हो गया तब भगवान् श्रीस्वामिनारायणने लालजीसे एक ऐसा आदमी माँगा जो उनको कच्छ प्रान्तमें पहुँचा दे। इसपर लालजी स्वयं ही मार्गदर्शक बनकर उनके साथ हो लिये। कुछ दूर चलनेपर आधोई नामक गाँवके समीप भगवान् श्रीस्वामिनारायणके पैरमें काँटा गड़ गया और लालजी उसे निकालने लगे। उस समय लालजीने

भगवान् श्रीस्वामिनारायणके चरणोंमें १६ चिह्न देखे और उन्हें भगवान् समझ लिया। तदनन्तर उसी क्षण श्रीस्वामिनारायणने लालजीको यह आज्ञा दी कि 'पासके गाँवमें जाकर भिक्षा लाओ।' परन्तु उस गाँवमें लालजीकी ससुराल पड़ती थी, इसलिये उन्होंने ऐसे जानेमें संकोच प्रकट किया। इसपर भगवान् श्रीस्वामिनारायणने कहा कि 'यदि संकोच होता है तो अपने बाल कटवा डालो और अलफी पहनके जाओ।' लालजी तो इस अवसरके फिराकमें थे ही। उन्होंने भगवान् श्रीस्वामिनारायणके आज्ञानुसार संन्यासीका रूप बना लिया और उनसे त्यागी दीक्षा भी ले ली। फिर अपना नाम 'निष्कुलानन्द' रखकर उस ससुरालवाले गाँवमें गये और भिक्षा ले आये। तबसे उन्होंने उसी दीक्षाके अनुसार अपना वही स्वरूप कायम रखा और भगवान् श्रीस्वामिनारायणकी सेवामें रहकर तत्सम्प्रदायका प्रचार करने लगे। एक बार निष्कुलानन्दजीने बडतालमें बारह द्वारका एक झूला बनवाकर बड़ा भारी उत्सव मनाया था और उस अवसरपर भगवान् श्रीस्वामिनारायणने एक ही समयमें अपने बारह स्वरूप बनाकर उस झूलेमें लाखों मनुष्योंको दर्शन दिया था। अन्तमें स्वामी निष्कुलानन्दजीने लगभग तेईस काव्यग्रन्थोंका प्रणयन, अनेकों देवमन्दिरोंका स्थापन तथा असंख्य मुमुक्षुओंको उपदेशामृतका पान कराकर सं० १९०४ में धोलेरा नामक नगरमें देहत्याग कर दिया। इन्होंने गुजराती पद्योंमें बाईस प्रकरण ग्रन्थ लिखे हैं। इनका 'भक्तचिन्तामणि' ग्रन्थ सबसे बड़ा है, जिसमें स्वामिनारायण श्रीसहजानन्दजीका जीवनचरित है। इसमें लगभग ८००० दोहे-चौपाईमें १६४ प्रकरण लिखे गये हैं। उनकी सभी रचनाएँ वैराग्यभावसे ओतप्रोत हैं। संतमहिमासम्बन्धी उनके दो-तीन हिन्दीके पद्य यहाँ दिये जाते हैं—

संतकृपासे सुख ऊपजै, संतकृपासे सरे काम।
संतकृपासे पाइये, पूरण पुरुषोत्तम धाम॥
संतकृपासे सद्‌गति जागे, संतकृपासे सद्‌गुन।
संतकृपा बिन साधुता, कहिये पाया कौन?॥
कामदुघा अरु कल्पतर, पारस चिंतामणि चार।
संत समान कोई नहीं, मैंने मन किये बिचार॥

श्रीमुक्तानन्द स्वामी

श्रीमुक्तानन्द स्वामीके पूर्वाश्रमका नाम मुकुन्द था। उनका जन्म काठियावाड़ प्रान्तके अमरापुर नामक गाँवमें मार्गीबाबाके घर सं० १८१४ की पौष बदी ६ को हुआ था। उनके पिता-माता दोनों ही भगवद्भक्त थे। माताको तो तुलसीदासकृत रामचरितमानसकी समग्र चौपाइयाँ कण्ठस्थ थीं और वह अपने सुन्दर स्वरसे नित्य ही उनका पाठ किया करती थीं। माताके मुखसे रामायणका पाठ सुन-सुनकर बालक मुकुन्द मुग्ध हो जाया करते थे और इस प्रकार बचपनमें ही उनके हृदयमें माताके द्वारा भगवद्भक्तिका बीज बो दिया गया था। इसके अतिरिक्त उनके भीतर ज्ञान और वैराग्यके पूर्वजन्मार्जित संस्कार भी अपना अड्डा जमाये हुए थे। अतः जब वे कुछ सयाने हुए और माता-पिताने उनके विवाहका प्रबन्ध करना चाहा, तब वे सहसा '**अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्**' इस श्रुति-कथनके अनुसार उन्मत्त बन गये और उसी अवस्थामें घरसे निकल पड़े। इसके बाद मुकुन्दजीने अनेक तीर्थोंमें घूम-घूमकर न जाने कितने साधु-संतोंसे बातचीत की, पर कहीं भी उनका मनोरथ पूरा नहीं हुआ। अन्तमें जब उन्होंने सौराष्ट्र प्रान्तके लोजपुर नामक गाँवमें उद्धवावतार सद्गुरु श्रीरामानन्दजीका दर्शन प्राप्त किया तब उन्हींके चरणोंमें उनका मन रम गया और वहींपर वे उनके शिष्य हो गये। गुरुदेवने भागवती दीक्षा देनेके पश्चात् उनका नाम मुकुन्ददास रखा। फिर जब रामानन्दजीने अपना गुरुपद भगवान् श्रीस्वामिनारायणको सौंप दिया और वे स्वयं भगवद्धामको चले गये, तबसे मुकुन्ददासजी भगवान् श्रीस्वामिनारायणको ही अपना इष्टदेव मानकर उन्हींकी आज्ञामें रहने लगे। भगवान् श्रीस्वामिनारायणने भी मुकुन्ददासजीमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्यका अपूर्व समन्वय देखकर उनका नाम 'मुक्तानन्द' रख दिया और उनको अपना बड़ा गुरुभाई मानकर प्रत्येक कार्यमें उनकी सलाह लेने लगे। फिर तो स्वामिनारायण-सम्प्रदायके प्रचारमें सबसे बड़ा हाथ मुक्तानन्दजीका रहा। सभी लोग उनके तेज और प्रतापके सामने सिर झुकाने लगे। उन्होंने अपनी कवित्व-शक्तिके बलपर अनेकों ग्रन्थोंकी भी रचना की और जब लीलासंवरणका अवसर देखा, तब वे सं० १८८७ की आषाढ़ बदी एकादशीको अपनी भौतिक देहका परित्याग करके भगवद्धाममें चले गये। उनकी केवल एक कविता यहाँ दी जाती है—

नारद मेरे संतसे अधिक न कोई।
मम उर संतरु मैं संतन उर, बास करूँ थिर होई॥ ना०॥
कमला मेरो करत उपासन, मान चपलता दोई।
यद्यपि बास दियो मैंने उरपर, संतन सम नहिं होई॥ ना०॥

भूको भार हरूँ संतनहित, करूँ छाया कर दोई।
जो मेरे संतको रती इक दूषत, तेहि जड़ डारू मैं खोई॥ ना०॥
जिन नरतनु धरि संत न सेवै, तिन निज जननि बिगोई।
'मुक्तानन्द' कहत यूँ मोहन, प्रिय मोहे जन निरमोही॥ ना०॥

श्रीब्रह्मानन्द स्वामी

सं० १८२९ में एक भगवद्भक्त-परिवारमें इनका जन्म हुआ था। पूर्वजन्मके संस्कारवश लड़कपनमें ही ये कविता बनाने लग गये थे। फलस्वरूप जब ये अपने पिताके साथ उदयपुरके राणाके दरबारमें उपस्थित हुए और वहाँ इन्होंने अपनी कविता सुनायी, तब राणा इनपर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने इनको कविता-कलाका अभ्यास करनेके लिये कच्छ प्रान्तमें भेज दिया। वहाँ इन्होंने आठ वर्षोंतक लगातार रहकर काव्यांगोंका अध्ययन किया। फिर तो इनकी कवित्वशक्तिका अत्यधिक विकास हो गया। इनकी कवित्वशक्तिका इसीसे अंदाजा लगाया जा सकता है कि ये अपने दोनों होठोंके बीचमें सुई रखकर ऐसी कविताएँ बना डालते थे, जिनमें दोनों होठोंको संयुक्त करानेवाले अक्षर—जैसे पवर्ग आदि, आते ही नहीं थे। अस्तु, इन्होंने अपनी अद्भुत कवित्वशक्तिके बलपर देशके विभिन्न स्थानोंमें घूमकर अपने कालके प्राय: सभी प्रमुख कवियोंको मात कर दिया। बड़े-बड़े राजदरबारोंमें इनकी धाक जम गयी। बड़ौदाके तत्कालीन महाराजने तो कुछ दिनोंतक इनको अपने यहाँ सम्मानपूर्वक रखकर अपने दरबारकी शोभा भी बढ़ायी, परन्तु लौकिक सम्पत्ति तथा कीर्ति आदिके सम्पादनके लिये तो इनका जीवन था नहीं; इसलिये ये वहाँकी हजारों रुपयेकी वार्षिक आयपर लात मारकर चल दिये।

कुछ समय बाद इनकी भेंट भगवान् श्रीस्वामिनारायणसे हुई। वहीं इनके प्रथम जीवनका पटाक्षेप हो गया। इन्होंने भगवान् श्रीस्वामिनारायणसे दीक्षा ले ली और अपना पहला नाम—लाडू बदलकर रंगदास रखा। उसके अनन्तर जब भगवान् श्रीस्वामिनारायणने इनकी आध्यात्मिक अवस्था कुछ दूसरी देखी, तब इनका नाम 'ब्रह्मानन्द' रख दिया। अब इनका और भी प्रकाश हो गया। इसी नामसे भगवद्भक्तिसम्बन्धिनी कविताएँ रचने लगे। इन्होंने जीवनपर्यन्त अपने सद्गुरु भगवान् श्रीस्वामिनारायणकी सेवा की और अनेकों भगवद्भक्तिविषयक सुन्दर काव्य-ग्रन्थ बनाये। अहमदाबाद, वृत्तालय, मूली आदि स्थानोंमें इनके द्वारा बड़े-बड़े मन्दिरोंका भी निर्माण हुआ। मूलीके त्रिशिखरी मन्दिरमें तो अबतक अनेकों संतजन निवास करते हैं। इनके रचे हुए ब्रह्मानन्दकाव्य, ब्रह्मविलास, छन्दरत्नावली आदि ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध हैं। कविताएँ इनकी बड़ी उच्च कोटिकी हैं। दो-एक यहाँ दी जाती हैं—

(१)

ऐसे संत सचे जगमाँही फिरै, नहीं चाहत लोभ हरामकूँ जी।
सदा सील सँतोष रहे घट भीतर कैद किये क्रोध कामकूँ जी॥
अरु जीभहूँसे कबौं झूठ न भाखत, गाँठ न राखत दामकूँ जी।
'ब्रह्मानन्द' कहे सत्य बारताकूँ ऐसे संत मिलावत रामकूँ जी॥

(२)

निष्काम सदा मन राम रिझावन, दाम रु वामसे दूर हैं जी।
लवलेस नहीं जाके लोभहूँका, नहीं काम न क्रोध न क्रूर हैं जी॥
मन प्रान इन्द्रीनके मामलेसे हटे नाहीं पिछा ऐसे सूर हैं जी।
'ब्रह्मानन्द' कहै सत बारता कूँ ऐसे संतसे स्याम हजूर हैं जी॥

शिवनारायण

गाजीपुर जिलेके चांदबन-भेलसरी ग्राममें शिवनारायणका जन्म एक क्षत्रियवंशमें हुआ। सैन्यशिक्षणमें इन्होंने बड़ी कुशलता प्राप्त की और प्राय: इनके सभी अनुयायी राजपूत सिपाही थे। बड़ी जातियोंमें अब शिवनारायणी नहीं मिलते। चमार और दुसाध तथा अन्य निम्न श्रेणीकी कुछ जातियोंमें शिवनारायणी मतके लोग मिलते हैं। १७३५ ईस्वी सन्‌में जब मोहम्मदशाह गद्दीपर थे शिवनारायणका आविर्भाव हुआ। लवग्रन्थ, शान्तविलास, वजनग्रन्थ, शान्तसुन्दर, गुरुन्यास, शान्ताचारी, शान्तोपदेश, शब्दावली, शान्तपर्वन, शान्तमहिमा, शान्तसागर तथा इसके अतिरिक्त एक और ग्रन्थ जो गुप्त रखा जाता है—इनके रचे हुए हैं। सिक्खोंकी भाँति शिवनारायणी भी ग्रन्थपूजा करते हैं। जब कोई नया व्यक्ति इस मतमें प्रवेश करनेको होता है तो पासके सभी शिवनारायणी एकत्र होते हैं—सभी मौन रखते हैं और गुप्त ग्रन्थमेंसे एक पद गाकर मौनका भंग किया जाता है और दीक्षा-कार्य समाप्त हुआ माना जाता है। शिवनारायणी निराकार ब्रह्मकी उपासना करते हैं। —'माधव'

डेढ़राज

नारनौल जिलेके धारसू गाँवमें सन् १७७१ ईस्वीमें संत डेढ़राजका जन्म हुआ। वे एक उच्च कुलके ब्राह्मण थे। पिताका नाम था पूरन। डेढ़राज तेरह-चौदह वर्षके थे कि बहुत अधिक गरीबीके कारण इन्हें अपना गाँव-घर छोड़कर आगरे भाग जाना पड़ा। उस समय माधवराव सिंधिया शासक थे। आगरेमें माधवरायके दीवान धरमदासके यहाँ डेढ़राजने नौकरी कर ली। यहाँ इन्हें कई हिन्दू और मुसलमान साधकोंसे मिलनेका अवसर मिला। अपने भीतर आध्यात्मिक ज्वालाको पाकर डेढ़राज तैंतीस वर्षकी अवस्थामें अध्यात्मका उपदेश करने लगे। इनके विचार बहुत ही उदार और व्यापक थे। ये अपनी जन्मभूमिको लौटे और अपने मतका प्रचार आरम्भ किया। उस समय नारनौलका शासक झाझरका नवाब नजावतअली था और उसे डेढ़राजके प्रवचनोंमें धर्म-द्रोहकी बातें मालूम हुईं। उसने उन्हें कैद कर लिया। जेलमें डेढ़राजको बहुत कष्ट हुआ, परन्तु इसी बीच झाझरकी दशा बहुत बिगड़ गयी और सभी कैदी रिहा कर दिये गये। रिहाईके बाद डेढ़राज खेतरीके छुरिनामें जा बसे। वहीं इक्यासी वर्षकी अवस्थामें इन्होंने शरीर छोड़ा।

गुड़गाँवा जिलेके भिवानी आदि स्थानोंमें डेढ़राजके सम्प्रदायके आदमी मिलते हैं। डेढ़राजके एक शिष्यका नाम था गंगाराम और उनके पुत्रका नाम था रामचन्द्र। झाझर, नारनौल और गुड़गाँवामें अभी बहुत आदमी इस मतके हैं। ये लोग ईश्वरको एक, निराकार, अद्वितीय, सनातन, सर्वव्यापी मानते हैं।

प्रार्थनाके समय स्त्रियाँ भावभरे भजन गाती हैं और साथ-ही-साथ नाचती हैं। बाउलोंकी तरह इस सम्प्रदायके पुरुष भी प्रेमकी बेहोशी और भक्तिके आवेशमें नाचते देखे जाते हैं। ये लोग हिन्दू और मुसलिम साधनाको समान दृष्टिसे देखते हैं। ये रामायण और महाभारतके उपदेशोंको बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे सुनते हैं। परम पुरुष परमात्माको ये 'राम' 'हरि' शब्दसे सम्बोधित करते हैं। डेढ़राजसम्प्रदायके लोग भी 'नंगा' ही कहे जाते हैं क्योंकि इनकी स्त्रियाँ पर्दा नहीं करतीं। इसी कारण यह सम्प्रदाय 'नंगीपन्थ' कहलाता है। —'माधव'

गोरखपुरके मौनीबाबा

(लेखक—म० श्रीबालकरामजी विनायक)

संवत् १८१२ में पश्चिमसे अथवा उत्तराखण्डसे श्रीअयोध्याजी होते हुए दो सिद्ध पुरुष गोरखपुरमें आये। बेतियाके अहातेमें दोनों महानुभाव ठहरे। उनमेंसे एक मौनी थे और दूसरे परमहंस। कुछ ही दिनोंके बाद परमहंसजी चले गये और बरहजमें पहुँचकर पुण्यसलिला श्रीसरयूतटपर भजन करने लगे।* परन्तु मौनीजी वहीं रह गये। उस समय उनकी अवस्था साठ-पैंसठ वर्षकी रही होगी। डील-डौल बहुत लंबा था। मुखमण्डल ज्योतिर्मय था। केवल एक कौपीन धारण करते थे। मौनी थे ही, किसीसे कुछ बोलते नहीं थे। एक वृक्षके नीचे उनका मृगचर्म बिछा हुआ था, उसीपर वे ध्यानमग्न बैठे रहते। क्या खाते-पीते थे, किसीको मालूम नहीं। बड़े प्रात:काल कहींसे स्नान करके कमण्डलुमें जल लिये हुए बहुधा दिखायी देते थे। कब वे स्नानको गये, कहाँ गये, कोई नहीं जान सका। एक दिन बड़े आश्चर्यसे लोगोंने देखा कि पृथ्वीसे एक हाथ ऊँचा उनका आसन उठा हुआ है और वे अधरमें स्थित हैं। इस दशामें वे ग्यारह दिनतक रहे। दर्शन करनेवालोंकी सदा भीड़ लगी रहती थी।

मौनीजी दर्शकोंकी भीड़से ऊब गये। उस अहातेमें स्थित एक खपरैलके मकानमें घुस गये और पल्ले बंद करके उसीमें रहने लगे। किसी समय भी किसीको दर्शन नहीं होते थे। श्रद्धालु जनताने उस भूमिको परिष्कृत किया। जहाँ मौनीबाबाने ग्यारह दिनोंकी समाधि ली थी वहाँपर बैठनेसे आप-से-आप सबका चित्त शान्त एवं सावधान हो जाता था। लोगोंकी मनोकामनाएँ भी पूर्ण हुआ करती थीं।

काशीजीके स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वतीजीने

* परमहंस श्रीराघवदासजीके गुरु महाराज श्रीस्वामी अनन्तप्रभुजी परमहंस।

मौनीबाबाके पास निजशिष्यद्वारा 'श्रीचक्र' भेजा था। उसपरसे कुछ मातृकाएँ और अंक मिट गये थे। बीज भी लुप्त थे। स्वामीजीने उनके स्पष्टीकरणके हेतुसे भेजा था। मौनीबाबाने उस चक्रको पढ़कर बीज और अंकसहित मन्त्रको शुद्ध लिखवाकर भेज दिया, जिसे पाकर उक्त स्वामीजी बहुत प्रसन्न हुए और कृतज्ञता प्रकट की।

भठवाके तिवारीजी (जिनको एक बार बाबाके दर्शन प्राप्त हो चुके थे) प्रयागजी मकर नहाने गये थे। अत्यन्त प्रात:काल स्नान करते हुए उन्होंने मौनीबाबाको देखा। पहचानकर चरण स्पर्श करनेके लिये ज्यों ही बढ़े कि बाबा अदृश्य हो गये। तब उन्होंने जाना कि बाबा सिद्धिबलसे नित्य त्रिवेणीमें स्नान करते हैं। लौटनेपर उन्होंने यह वृत्तान्त गोरखपुरमें प्रसिद्ध किया।

मौनीबाबा एक असाधारण सिद्ध पुरुष थे और साथ-ही-साथ उच्च कोटिके विद्वान् भी। ये दोनों बातें एकत्र नहीं दिखायी देतीं। बहुत दिनोंतक सबको सुखी देखकर, अतुल उपकार करके सन् १८९३ ई० की २३ जुलाईको बाबा यकायक भौतिक शरीर त्यागकर परमधामको पधार गये। उनकी अरथीके साथ हजारों आदमी थे, स्कूल और पाठशालाओंके छात्रोंकी संख्या भी पर्याप्त थी। राप्तीके किनारे फोटो लिया गया और अन्तिम दर्शनसे जनता कृतार्थ हुई।

परमहंस पानपदासजी

(लेखक—श्रीचन्द्रप्रकाशजी अग्रवाल बी० ए०)

परमहंस पानपदासजीका जन्म बीरबलके वंशमें, जो जातिके ब्रह्मभाट थे, सं० १७७६ में हुआ था। परन्तु पूर्वजोंकी भाँति उनके माता-पिताकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी। यहाँतक कि उनके जन्मके कुछ ही समय पश्चात् उनके माता-पिताको एक दुर्भिक्षका भी सामना करना पड़ा। इसलिये एक दिन जब वे भूखसे पीड़ित हो गये तब इनको गाँवसे बाहर एक पेड़के नीचे सुलाकर कहीं कन्द-मूलकी फिराकमें चले गये। इतनेमें उस पेड़के पाससे कुछ तिरषान गुजरने लगे। उन्होंने देखा कि एक सुन्दर शिशु इस प्रकार अनाथकी तरह पड़ा हुआ है। अत: उनमेंसे एकको दया आयी और वह इनको उठाकर घर ले गया। शायद उस तिरषानको कोई सन्तान नहीं थी, इसके अलावा जबसे शिशु पानपदासजी उसके यहाँ गये, तबसे उसका सब प्रकारसे मंगल होने लगा; इसलिये उसने बड़े प्यारसे इनका पालन-पोषण किया। जब इनकी शिक्षा-दीक्षाका समय आया, तब उसने उसका भी प्रबन्ध कर दिया और ये अपनी प्रखर प्रतिभाके बलपर संस्कृत, फारसी एवं शिल्पविद्यामें पूर्ण पण्डित हो गये!

किन्तु पानपदासजी अपने माता-पिताको सुख देनेके लिये अथवा उस तिरषानके घरकी शोभा बढ़ानेके लिये तो इस पृथ्वीपर आये नहीं थे, इन्हें तो एक संतके रूपमें संसारके मोहग्रस्त मनुष्योंको उपदेश देकर उनका कल्याण करना ही इष्ट था। इसलिये ये सदा ही ऐसे अवसरकी तलाशमें रहते थे तबतक इनसे एक कबीरपन्थी जुलाहेकी मुलाकात हो गयी। उसने इनसे महात्मा मगनीरामका महत्त्वपूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। फिर तो इनके अंदर बचपनसे ही जो परमार्थ-साधनसम्बन्धी भाव थे, वे और भी जग पड़े और इन्होंने जबतक महात्मा मगनीरामका दर्शन प्राप्त नहीं किया तबतक दम नहीं लिया। महात्मा मगनीराम उस समय अलवर राज्यान्तर्गत तिजारेमें थे और जैसा उनका नाम था, उसी प्रकार वे मालिककी यादमें सदा निमग्न रहा करते थे। उन्हें संसारकी मान, मर्यादा और ख्याति विषके समान प्रतीत होती थी और इसी कारण अपने भीतरी स्वरूपको लोगोंकी दृष्टिसे छिपानेके लिये उन्होंने बाहरसे पागलका-सा रूप बना लिया था। इसलिये बहुत थोड़े लोग उनको पहचान पाते थे। परन्तु जब श्रीपानपदासजी उनके पास पहुँचे तब इनसे भी उनका असली स्वरूप छिपा न रहा। इन्होंने उनसे दीक्षाके लिये प्रार्थना की और उन्होंने भी इनमें पात्रता देखकर इनको दीक्षा दे दी।

गुरुमन्त्र पाकर परमहंस पानपदासजी गुरुदेवकी आज्ञाके अनुसार गुप्त रीतिसे अपना जीवन बिताने लगे। एक बार विचरते हुए वे बिजनौर जिलेके धामपुर नामक स्थानमें आये। वहाँपर किसी वैश्यका मकान बन रहा था अत: इन्होंने अच्छा अवसर देखा और उसी मकानके मजदूरोंके साथ चुनाईका काम करने लगे। संयोगसे एक ब्रह्मवेत्ता वहाँ आ गये और उन्होंने इनको पहचान

लिया। जब उनसे इनकी कुछ बातें हो चुकीं तब उन्होंने इनसे कहा कि 'आप इस प्रकार गुप्त न रहकर अपने उपदेशोंसे विश्वका कल्याण कीजिये।' इसपर ये फिर अपने गुरुदेवके पास चले गये और वहाँ इन्होंने कुछ दिनोंतक विधिवत् उनका सत्संगलाभ किया। तत्पश्चात् गुरुदेवकी आज्ञा लेकर ये दिल्ली आये और वहाँ रहकर प्रकटरूपसे लोगोंको उपदेश देने लगे। लोगोंमें इनकी मान्यता बहुत बढ़ गयी और वहाँ सत्संग-भवन भी बन गया जो अबतक मौजूद है तथा जहाँपर इनका चित्र और वाणी-ग्रन्थ भी रखा हुआ है। कुछ कालके अनन्तर देहलीसे चलकर ये फिर धामपुरमें पधार गये परन्तु वहाँके लोगोंने फिर भी इनको पहचाना नहीं। अतः इन्होंने फिर वहींपर गुप्तरूपसे राजका काम करना शुरू कर दिया। मगर दूसरे मजदूरोंने जब इनको आवश्यकतासे अधिक परिश्रम करते देखा तब उन्होंने अपने हकमें खराबी देखी और वे इनसे चिढ़ने लगे। यहाँतक कि मकान-मालिकके यहाँ इनकी शिकायत हो जाय और ये निकाल दिये जायँ, इसके लिये अन्य राजोंने मकानकी दीवाल टेढ़ी करके उसका सारा दोष इनके मत्थे मढ़ दिया। यह देखकर मकान-मालिक इनके ऊपर सचमुच बिगड़ गया। परन्तु इससे परमहंस पानपदासजी जरा भी विचलित नहीं हुए बल्कि इन्होंने धामपुर तथा उसके आसपासके निवासियोंके कल्याणार्थ अपना सच्चा स्वरूप प्रकट कर दिया। इन्होंने उस टेढ़ी दीवालपर हाथ रखा और वह सबके सामने सीधी हो गयी। फिर तो यह करामात देखकर सब लोग इनके चरणोंपर गिर पड़े और मकान-मालिकने तो उस मकानको ही इनकी सेवामें भेंट कर दिया जो अबतक महलके नामसे विद्यमान है।

इस प्रकार परमहंस पानपदासजीने लोगोंकी दी हुई मान-प्रतिष्ठासे बचनेके लिये अपने सच्चे स्वरूपको छिपाते हुए भी, मोहग्रस्त मनुष्योंके कल्याणार्थ जहाँ-जहाँ अवसर देखा, वहाँ-वहाँ अनेकों चमत्कार दिखलाये। और इस कारण इनकी प्रसिद्धि बहुत बढ़ गयी। स्थानाभावके कारण इनके अन्य अनेकों चमत्कार यहाँ नहीं लिखे जाते हैं। संक्षेपमें यही कहना है कि परमहंस पानपदासजी एक उच्च कोटिके आत्मज्ञानी और बहु-शक्ति-सम्पन्न संत थे। मानापमान, निन्दा-स्तुति सब कुछ उनके लिये समान थे। उदारता, दया, क्षमा, सन्तोष आदिके तो वे मूर्तिमान् विग्रह थे। उनके द्वारा अनेकों विषयी जीवोंका परम कल्याण हुआ। उन्होंने अपना अधिक समय धामपुरमें ही बिताया था और वहींपर गुरुदेवके परमधाम पधारनेके कुछ समय बाद सं० १८३० की फाल्गुन कृष्णा सप्तमीको परमपदकी प्राप्ति की थी। उनकी कुछ बानियाँ जो एक-से-एक सुन्दर हैं, यहाँ दी जाती हैं—

कहै पानप नाम प्रचण्ड है, जो कोई हृदय बसावै।
माया मोह जाल नहिं व्यापै, तो हरि घट ही में पावै॥
प्रेम खेलको खेलना, बहु मुश्किलकी बात।
कहै पानप खेले सोई, पहिले सिर ले हाथ॥
रैन बसे थे आय के, उठ चलना परभात।
पानपदास बटेउवा, प्रीति करे किस साथ॥
हम काहूके मीत ना, हमरा मीत ना कोय।
कहे पानप सोइ मित्र हमारा, राम-सनेही होय॥

मेवाड़के कतिपय संत

(लेखक—कविभूषण श्रीजगदीशजी)

(१)

समर्थ सिद्ध हंसदासजी

मेवाड़के कूँण गाँवमें दादूपन्थी गद्दी है। वहींके सिद्ध हंसदासजी अपने योगबल, प्रभाव और निर्मल चरित्रके कारण प्रान्तभरमें प्रसिद्ध हैं। आपके आविर्भावका ठीक-ठीक समय नहीं मिलता। वि० सं० १८६८ में यह भीण्डरमें विद्यमान थे। ये ज्यादातर जंगलमें ही रहते और एकान्तवासका रस लेते थे। इनका लगाया हुआ वटवृक्ष आज भी है। इसे 'रामवट' कहते हैं। भगवन्नाम तथा अहिंसाका प्रचार आपके जीवनका व्यसन था। बड़े-बड़े दुर्भिक्षोंमें भी आपकी कृपासे लोगोंको अन्न-जलका कष्ट नहीं होने पाया। आपके बनवाये हुए तालाबका जल कभी सूखा ही नहीं और कूँणमें आपके आशीर्वादसे कभी भी प्लेग आदि महामारियोंका प्रकोप नहीं हुआ। कूँणमें आपने एक मन्दिर बनवाया जो आजतक मौजूद है। आपके नामसे यहाँ प्रतिवर्ष आश्विन पूर्णिमाको मेला लगता है।

(२)

संत सोमजी

संत सोमजीका जन्म दिगम्बर जैनसम्प्रदायके नरसिंहपुरा जातिमें भीण्डर (मेवाड़) में हुआ था। बचपनमें ही पिताका स्वर्गवास हो चुका था। माँ लालन-पालन करती थी। घरकी अवस्था बहुत साधारण थी। सोमजी नित्य नमक-मिर्च-मसाला आदि पासके गाँवोंमें बेचा करते और किसी प्रकार उदर-पोषण करते थे। ये अविवाहित थे और भीतर मनमें सत्संगकी रुचि भी थी। लगभग बीस-बाईस वर्षकी अवस्था होगी जब आप दादूपन्थी साधुओंकी संगतिमें लग गये।

कहते हैं, एक बार आपको सर्पने डँस लिया। बचनेकी कोई आशा नहीं रही। अतएव इन्होंने संकल्प किया कि यदि अब शरीर रह गया तो आजीवन ईश्वरभक्तिमें ही लगा रहूँगा। उसी समयसे दादूसम्प्रदायमें आप सम्मिलित हो गये।

साधु होनेपर भी आपने गृहस्थीका वेश ही रखा। अपनी सिद्धियोंके कारण आप असाध्य रोगियोंको भी अच्छा कर देते थे। कहते हैं, तत्कालीन उदयपुराधीश श्रीमहाराना शम्भुसिंहजीको, जिससे बचनेकी कोई आशा नहीं थी, ऐसे एक भयानक रोगसे आपने मुक्त कर दिया। वचन-सिद्धिकी विभूति आपको प्राप्त थी। जो कहते वही होता। लोग सहस्रों स्वर्णमुद्राएँ आपके चरणोंमें अर्पित करते परन्तु आपकी निःस्पृहता इतनी प्रबल थी कि उन्हें आप स्पर्शतक नहीं करते थे। आप प्रतिवर्ष अगणित साधु-संन्यासियोंको अपने यहाँ चातुर्मास कराया करते थे। वि० सं० १९३९ में आपने शरीर छोड़ दिया।

(३)

महात्मा पीताम्बरपुरी

उन्नीसवीं सदीके आरम्भमें महात्मा पीताम्बरपुरीजीका इस धराधामपर आना हुआ। श्रीभीण्डर-नरेश महाराज मोखमसिंहजीके शासनकालमें काशीसे महात्मा पीताम्बरपुरीजीके गुरु श्रीचतुर्भुजपुरीजी भीण्डर पधारे थे। महाराजने इनका बड़ा आदर-सत्कार किया तथा राजगुरु मानकर आपके लिये एक मठ बनवा दिया और कुछ जमीन भी अर्पित की। मठका काम तो आधा ही हो पाया था कि कारणवश श्रीचतुर्भुजपुरीजीको काशी चले जाना पड़ा। आपने पीताम्बरपुरीजीको वहाँके लिये अपना प्रतिनिधि बना दिया। ये वि० सं० १९३१ से भीण्डरमें रहने लगे थे।

कहते हैं, पीताम्बरपुरीजी स्नानादिके लिये बाहर निकलते थे तो साथमें लँगोट इत्यादि कुछ नहीं लेते थे। पानीसे बाहर निकलते तो हाथोंपर कौपीन आ गिरता था। आप केवल शौच-स्नानादिके लिये ही बाहर निकलते थे, नहीं तो सदा कुटियामें ध्यानस्थ बैठे रहते थे। शरीरपर कौपीनके सिवा कुछ भी रखते ही नहीं थे। वि० सं० १९२७ में आपने महासमाधि ली।

(४)

भक्त पुराजी

भीण्डर (मेवाड़)-के अन्तर्गत भादसोड़े ग्राममें एक बहुत साधारण बढ़ईके घर पुराजीका जन्म हुआ। किशोरावस्थामें ही आपपर साधु-संगतिका रंग चढ़ गया था। ईश्वर-भक्तिकी ओर आपकी रुचि नित्यप्रति बढ़ती ही गयी। आप नित्य स्नान करके श्रीनृसिंहजी (शालग्राम)-की मूर्तिकी पूजा किया करते थे। आपके घरपर आया हुआ कोई भी संत प्रसाद पाये बिना जाने नहीं पाता था। आप साधु-महात्माओं तथा अतिथि-अभ्यागतोंका यथेष्ट आदर-सत्कार किया करते थे।

एक बारकी बात है कि आपके घर कुछ भी सामान नहीं था और द्वारपर चालीस-पचास संत ठीक प्रसाद पानेके समय आ गये। कर्ज बहुत हो चुका था और महाजन एक पैसा भी देनेको राजी नहीं होता था। उसे भय था कि पुराजी उसके रुपये लौटा नहीं सकेंगे। अतएव आप बड़ी चिन्तामें पड़ गये। एकान्तमें जाकर खूब रो-रोकर प्रार्थना करने लगे—'हे प्रभु! आज द्वारपर आये हुए संत भूखे लौटेंगे! घरमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है कि जिसे गिरवी रखकर इन्हें भोजन कराऊँ। लाज रखना तुम्हारे हाथ है।'

प्रार्थना कर ही रहे थे कि 'पुरा भक्तकी जय हो' की तुमुल जयकार सुनायी पड़ी। पूछनेपर स्त्रीने कहा कि 'आपहीने तो अमुक महाजनके यहाँसे भोजनसामग्री साधुओंको दिलवायी है और उसके यहाँ गिरवी रखी हुई अपनी सारी चीजें आप ही तो छुड़ा लाये हैं। अभी महाजन सब चीजें दे गया है। इस बातको सुनते ही आप महाजनके भाग्यकी सराहना करते हुए उसके घर पहुँचे और वहाँसे लौटकर आपने उसी दिनसे सब धंधे त्याग दिये और आजीवन भक्तिमें ही रमे रहे। आपके

सम्बन्धमें भगवत्साक्षात्कार तथा चमत्कारकी कई बातें प्रसिद्ध हैं। आप सिद्धिप्राप्त पुरुष थे। महाराज साहब हमेरसिंहजीने आपको एक जागीर दे रखी थी जो आज इनके वंशजोंके अधिकारमें है। सं० १९३५ श्रावण कृष्ण ३ गुरुवार प्रात:काल ९ बजे आप चैतन्यरूपको प्राप्त हुए।

(५)

योगिराज गुमानसिंहजी

बाठरड़ेके अधिपति श्रीदलेलसिंहजीके छोटे भाई महाराज गुमानसिंहजी एक बहुत बड़े संत हो गये हैं। गाँवसे दूर जंगलमें आपकी कुटिया थी। बचपनसे ही ईशोपासनाकी धुन थी। काशीमें आपने अपने जीवनका अधिकांश व्यतीत किया। अनुमानत: आपने नर्मदातटके कमलभारतीजीसे दीक्षा ली थी। योगकी साधना और काव्यकी स्फूर्तिका आपमें अद्भुत संयोग था। मोक्षभवन, गुमानपदावलि, पातंजलयोगसूत्रका काव्यानुवाद, गीताकी योगभानु टीका, योगपंचरत्न, प्रश्नोत्तरमालिका—इत्यादि इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं। आपके जन्म तथा मृत्युकी तिथि अविदित ही रह गयी। अनुमानत: संवत् १९७० में आपने महासमाधि ली। आपका एक पद यहाँ दिया जाता है—

बड़ घोर प्रलै भवसिंधु भर्‌यो
जिनमें विचर्‌यो बहुकाल मगी।
यह मोर व तोर य भौंर अगे,
रहगे पद पाँच रु सात अगी॥
चतु आठ दसों लख योजन लौं,
फिरते हुयगो तब बुद्धि भगी।
मन रे मलहा मजबूत रहे,
मत बोरहु नाव किनारे लगी॥

(६)

महाराज चतुरसिंहजी

महाराणा श्रीफतहसिंहजीके जेठे भाई श्रीसूरतसिंहजीके चौथे पुत्र महाराज चतुरसिंहजीका जन्म वि० सं० १९३६ माघ कृष्ण १४ को उदयपुरमें हुआ था। वंशपरम्परागत संस्कारोंके प्रभावसे ज्ञान, भक्ति और उपरामताकी ओर बचपनसे ही आपका झुकाव था। प्रज्ञा आपकी प्रखर थी। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, रामानुजभाष्य, गीता, उपनिषद्, योगवाशिष्ठ, पंचदशी, आत्मपुराण, विचारसागर, श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि ग्रन्थोंका आपने बहुत उत्तम ढंगसे अनुशीलन किया था।

२८ वर्षकी अवस्थामें आपकी धर्मपत्नीका स्वर्गवास हो गया और इसीके बाद आपके चित्तमें इस असार संसारके प्रति वैराग्य जागा। आप गुरुकी खोजमें निकले और नर्मदा-किनारे कमलभारतीजीसे आपका परिचय हुआ। कमलभारतीजीने गुमानसिंहजीका नाम बतलाकर वहीं दीक्षा लेनेका आदेश किया।

आप अपने गुरुदेवकी सेवामें रहने लगे और गाँवके पास ही एक कच्ची कुटी बनाकर भजन-साधनमें लगे रहते थे। कहते हैं इसी पर्णकुटीमें वि० सं० १९७८ पौष शुक्ला ३ रविवारको आपको आत्मसाक्षात्कार हुआ। आप योगविद्यामें बहुत पारंगत थे और किसीके भी मनकी बात अनायास ही जान लेते थे। आपने प्रत्येक धर्मके यथार्थ तत्त्व समझनेके लिये उनके धर्मशास्त्रोंका सम्यक् रीतिसे अध्ययन किया तथा संतोंके सत्संग किये। आपके लिखे १७ ग्रन्थ मिलते हैं! आपके रचित कुछ दोहे यहाँ दिये जा रहे हैं—

यों संसार बिसार चित, ज्यों अबार करतार।
यों करतार सँभार नित, ज्यों अबार संसार॥
राम रावरे नाममें, यही अनोखी बात।
दो सूधे आखर तऊ, आखर याद न आत॥
जो टेरो तैं रामको, तो बेरो भवपार।
नाहिंत फेरो जगतको, परिहैं बारम्बार॥

आपको योगी संतके प्राय: सभी लक्षण प्राप्त थे। संसारके प्रति घोर वैराग्य और भगवान्‌के प्रति अनन्य आत्मसमर्पण! यही आपके संतजीवनका मूलमन्त्र था। वि० सं० १९८६ आषाढ़ कृष्णा ९ प्रात:काल ९ बजे आपने परमधामको प्रयाण किया। इसके कुछ ही पहले आप अपनी अलमस्तीमें यह कह गये—

जगदीश्वर जीवाय दियो थें ही थारो काम कियो।
दरशण योग दिया कर दाया, मृतलोकमें अमर कियो॥
माँगु कई कई अब बाकी, अणमाँग्याँ ही अभय वियो।
आबारा कागद साथे ज्यूँ, आखर पढ़ताँ आय गियो॥
मनख शरीर दियो थें मालक, सागे जनम सुधार दियो।
सोजा रा सोजा मारगने, शहजाहीमें शोध दियो॥
दया दृष्टि आँखाँ देखने सब साधनसुँ दूर दियो।
चातुर चोर चाकरीरो पण आखर थें अपणाय लियो॥

स्वामी श्रीअभयानन्दजी

(लेखक—श्रीनारायणप्रसादजी श्रेष्ठी)

नैपालमें स्वामी अभयानन्दजी महाराज एक बहुत बड़े विरागी संत हो चुके हैं। आपका आविर्भाव गोर्खामें वि० सं० १८२६ में हुआ था। जातिके 'थापा क्षत्रिय' थे। संन्यासके पूर्व आपका नाम रणवीरसिंह था। आपके पिता अम्बरसिंहजी राज्यकी सेनामें उच्च अधिकारी थे। आप दलमुखी सरदार कहलाते थे। रणवीरसिंहका मन संसारके किसी काममें लगता ही न था और यह बात बहुत बचपनसे ही उनमें देखी गयी। तेरह सालकी उम्रमें आप घर-द्वार छोड़कर अपने गुरुदेव शशिधरजीकी सेवामें नैपालसे चौदह मील पश्चिम कृष्णागंडकीके किनारे रहने लगे। वहाँ बारह वर्ष रहकर आपने योगाभ्यास किया।

सत्ताईस वर्षकी अवस्थामें गुरुकी आज्ञासे आप घर लौटे और विवाह किया। आपकी कुशाग्रबुद्धि और तेजस्विताको देखकर आपको नैपाल राज्यमें कमाण्डर कर्नलका पद मिला। १८६६ वि० सं० में राज्यके कार्यसे आपको लासा (तिब्बत) जाना पड़ा और चार वर्ष वहाँ रहनेका अवसर मिला। वहाँ तपस्वी लामाओंके संस्पर्शमें आकर आपने ध्यानयोग, क्रियायोग, ज्ञानयोग, लययोग आदि योगकी विविध क्रियाएँ सीखीं, और इन विषयोंपर आपके लिखे हुए ग्रन्थ भी मिलते हैं। आप कई वर्षों बाद तिब्बतसे नैपाल लौटे और यहाँ आकर आपने ध्यानयोग, मन्त्रयोग, लक्ष्ययोग, वासनायोग नामकी चार योगविषयक पुस्तकें लिखीं। संवत् १८७९ वि० में नौकरी छोड़कर नौलेख गुफा (काठमाण्डूसे दस कोस दूर) में एकान्तवास और तप करने लगे। वह गुफा आज भी मौजूद है जिसे डाँडो (गुफाका पहाड़) कहते हैं। पाँच महीने बाईस दिन आपने वहाँ एक आसनसे तप किया था।

पिताके देहावसानपर आप पुनः घर लौट आये। संवत् १८९० में आपने अपने स्वर्गीय पिताके सम्मानार्थ गरीबोंको चावल, दाल और १ पैसा नित्य बाँटना शुरू किया, जो इनके वंशजोंद्वारा आज भी जारी है। आज भी वहाँ १६० भिक्षुकोंको नित्य भोजन मिलता है। आपने भूटानमें इन्द्रावती नदीके निकट काठमाण्डूसे ३६ मिल उत्तरमें बड़ी सुन्दर धर्मशाला बनवायी जो अबतक भी अपनी सुन्दरता और मजबूतीके लिये मशहूर है। अन्तमें आप पुनः जंगलमें एकान्तवास, तप, स्वाध्यायके लिये निकल गये और वहाँ आपने हठयोग, कर्मयोग और लययोगपर ग्रन्थ लिखे।

अन्तमें आप अपने गुरु शशिधरसे संन्यास लेकर संसारसे पूर्णतः विरक्त रहने लगे और अभय तथा आनन्दमय स्थितिमें विचरने लगे। अब आपका नाम स्वामी अभयानन्द पड़ा। आप अब जंगल-पहाड़में स्वच्छन्द विचरण करते हुए परमहंसस्थितिमें डोलते रहे। चलते-चलते तीन वर्ष सात महीनेमें आप काशी पहुँचे। काशीमें आपने एक बार सभी साधुओं और ब्राह्मणोंको भोजनके लिये आमन्त्रित किया। सामान तो पासमें कुछ था नहीं। हजारोंकी संख्यामें साधु-ब्राह्मण जुटे। आपने सबके सामने पत्तलें डालकर 'नारायण' का उच्चारण करते हुए जल छिड़क दिया। बस, अब क्या था, सभी पत्तलोंमें नाना प्रकारके व्यंजन आ गये और इस कारण लोग आपको सिद्धिप्राप्त संत मानने लगे। आपके शिष्योंकी संख्या भी बहुत अधिक थी। काशीमें ही सं० १९१२ भाद्रपद शुक्ल चतुर्थीको आप ब्रह्मलीन हो गये। आपकी आज्ञानुसार आपका शरीर माँ जाह्नवीमें प्रवाहित कर दिया गया।

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

एकान्तप्रेमी भोगोंसे दूर रहे यही उसके लिये ईश्वरदत्त आहार है। इसी आहारसे श्रद्धावान् साधक आगे बढ़नेकी शक्ति प्राप्त करता है।

विषयी मनुष्योंको पदार्थोंके संग्रहमें जितना प्रेम होता है उतना ही प्रेम उन पदार्थोंके त्यागनेमें जिसके मनमें हो वही सच्चा त्यागी बन सकता है।

महात्मा श्रीसुब्बरायदास स्वामी

(लेखक—श्रीसीतारामदासजी)

मद्रासके अन्तर्गत कडप जिलेमें जम्मुलमडुगु नामका एक गाँव है। ईस्वी सन् १८६२ में इसी गाँवको शेखरने अपने जन्मसे पावन किया। पिताका नाम था बिविलि कोलनु रामचन्द्रराव और माताका नाम कनकमांबा था। लड़कपनसे ही शेखर रामभक्त थे। सर्वदा तन्मय होकर रामनामका संकीर्तन किया करते थे। एफ० ए० तक अंग्रेजीकी शिक्षा पायी थी और सरकारमें आप रेवेन्यू इंस्पेक्टर, तहसीलदार हो गये। कुछ कालके अनन्तर आपको राजयक्ष्माने पकड़ लिया। अब आप सारा काम-धाम छोड़कर रोग-निर्मूलनके लिये योग-साधनमें लगे। इस बीच आपने कई अमूल्य ग्रन्थोंका प्रणयन किया। आपका '**आन्ध्रवाल्मीकिरामायणम्**' बहुत प्रसिद्ध है। उसकी शैली बड़ी ही मधुर एवं प्रभावशाली है।

५२ वर्षकी अवस्थामें आपका पत्नी-विछोह हुआ। अब आप सब कुछ छोड़कर एक पहाड़पर रहने लगे और तीव्र तपश्चर्यामें आपने अपनेको लगा दिया। कुछ वर्षोंकी दृढ़ तपश्चर्याके बाद आपको करुणावरुणालय दयापरवश प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके साक्षात् दर्शन हुए। प्रभुकी आज्ञा हुई कि लोकमें भक्तिका प्रचार करो। अत: मद्रास प्रान्तके गाँव-गाँवमें पैदल घूमना और भगवान्के नामसंकीर्तनका प्रचार करना, आपका एकमात्र कार्य यही रह गया। आपके कई वर्षोंके लगातार परिश्रमसे प्रान्तके कोने-कोनेमें भक्तिकी विजयध्वनि गूँज उठी। इस प्रकार आपने भगवन्नामसंकीर्तनका प्रचार किया, और अन्तमें ओंटिमिट गाँवमें जाकर एक सुन्दर आश्रम स्थापितकर भक्तिशास्त्रके सौसे ऊपर ग्रन्थ लिखे तथा रामायणकी विस्तृत व्याख्या भी लिखी। इस व्याख्याका नाम था '**मेदरमु**'। इस प्रकार अपना उद्देश्य पूराकर आप ईस्वी सन् १९३६ की पहली अगस्तको भौतिक शरीर छोड़कर भगवान् श्रीरामके चरणोंमें लीन हो गये।

महासिद्ध पुरुष श्रीआनन्दाबाबा

(लेखक—पं० श्रीमायारामजी शास्त्री महाराज, वेदान्ततीर्थ)

लगभग १५० वर्ष पूर्व सौराष्ट्रप्रदेशान्तर्गत जामनगर (नूतनपुरी) नामक सुप्रसिद्ध नगरमें श्रीआनन्दाबाबा नामके एक बड़े भारी संत हुए हैं। इनका जन्म 'धोराजी' नामक ग्राममें एक सुवर्णकार वैश्यके घरमें हुआ था। ये जन्मसे ही विरक्त एवं भगवद्भक्तिपरायण और सच्चे साधुसेवक थे। इनके घरपर जब भी कोई साधु-संत पधारते तो ये उनका अन्न-वस्त्रादिसे बड़ा सत्कार किया करते थे। इनका यह व्यवहार इनके माता-पिताको बहुत बुरा लगता था। एक दिन इनके पिताने इनसे कहा कि 'तुम घरकी सब चीजें भिखारियोंको लुटा रहे हो, तुम्हारा यह व्यवहार बहुत खराब है, कुछ रोजगार आदि तो करते नहीं, दिनभर भगवान्की भक्ति करते रहते हो। इस तरह करनेसे हम तुम्हारा विवाह आदि कैसे कर पायँगे और बिना किसी तरहका रोजगार किये कौन तुम्हें सहयोग देगा? अत: यदि तुम हमारे घरमें हमारे कथनानुसार कार्य करते हुए रहना चाहो तो रहो अन्यथा अभी घरसे निकलकर जहाँ इच्छा हो चले जाओ।'

पिताके ये वचन सुनकर बालक आनन्दने बड़े विनीतभावसे माता-पिताके चरणोंमें गिरकर कहा कि 'पिताजी! यद्यपि मेरा कार्य मेरी दृष्टिमें अत्यन्त पवित्र है तथापि आपके मनके अनुकूल न होनेसे भगवद्भक्ति और साधुसेवा छोड़नेके बजाय आपका घर छोड़ देना ही मैं उचित समझता हूँ। आपने बड़ी प्रसन्नताके साथ मुझे घरसे निकल जानेकी आज्ञा दी है, इससे तो मेरा कल्याण ही होगा। आप अब मेरी किसी तरहकी चिन्ता न करें, मेरी फिक्र तो अब वही अनाथनाथ भगवान् करेंगे जिनकी मैं शरणमें हूँ।' इस प्रकार कहकर माता-पिताके चरणोंमें बड़ी श्रद्धासे प्रणाम करके बालक आनन्द घर छोड़कर निकल पड़े। घूमते-घूमते वे जामनगर पहुँचे और वहाँ एक प्रतिष्ठित सुवर्णकार वैश्यके यहाँ कुछ काम करने लगे। वहाँसे प्रतिदिन जो कुछ पाते उसमेंसे एक समयका भोजनखर्च बचाकर बाकी सब भगवत्प्रिय साधु-ब्राह्मणोंकी एवं दीनदुखियोंकी सेवामें लगा देते थे। कभी-कभी तो इन्हें स्वयं भूखे रहकर भी अतिथियोंके

भोजन आदिका प्रबन्ध करना होता था। जिस दिन कुछ कम द्रव्य प्राप्त होता उस दिन स्वयं तो एक-दो पैसेका चना चबाकर ही रह जाते परन्तु साधु, ब्राह्मणों और दीनदुखियोंकी सेवामें किसी तरहकी कमी नहीं आने देते थे। ये भगवान् श्रीरामके अनन्य भक्त थे। काम करते समय भी रामनाम स्मरण करते रहते थे। कभी-कभी तो प्रभुके ध्यानमें इतने मग्न हो जाया करते थे कि आप देहकी सुधि भूल जाया करते थे और आपकी आँखोंसे अजस्र अश्रुधारा प्रवाहित होती रहती थी।

एक दिनकी बात है कि संत आनन्द शामके वक्त अपने नित्य नियमानुसार अतिथियोंको भुने चने बाँटकर बैठे थे। उस दिन उनके पास अपने खानेके लिये कुछ भी नहीं बचा था, परन्तु उन्हें इसकी कोई चिन्ता नहीं थी। इतनेहीमें भगवान् श्रीराम अपने भक्तकी अटूट निष्ठासे प्रसन्न होकर एक योगीके वेशमें आकर पूछने लगे कि 'आनन्दराम किसका नाम है जो सबको चने बाँटता है?' आनन्दने बड़े विनम्र स्वरमें कहा—'भगवन्! लोग सेवकको 'आनन्द' नामसे पुकारते हैं। आज आपने 'आनन्दराम' नामसे पुकारा है तो आनन्दराम तो यही है, कहिये दासको क्या आज्ञा है?' योगीने कहा कि 'मुझे भूँजे चने चाहिये।' यह सुनकर भक्त आनन्द उनके चरणोंमें गिरकर कहने लगे—'महाराज! मेरे पास चने तो अब रहे नहीं, मैं आपको क्या दूँ?' इसपर उन योगीरूपधारी योगेश्वर भगवान्ने कहा कि 'आनन्दराम! देख, तेरा पात्र चनोंसे भरा है।' यह सुनकर जब श्रीआनन्दरामजीने पात्रकी तरफ देखा और उसे चनोंसे पूर्ण पाया तो वे गद्‌गद होकर योगिराजके चरणोंमें गिर पड़े और दीक्षाके लिये याचना करने लगे। उनकी इस सरलता और अनन्य निष्ठासे प्रसन्न होकर उन भगवत्स्वरूप योगीने उनके सिरपर अपना वरदहस्त रखकर उनके कानमें श्रीराममन्त्रका उपदेश दिया और कहा कि 'आजसे तेरा भण्डार अक्षय होगा और तेरे द्वारा संसारके हजारों प्राणियोंका उद्धार होगा।' यह कहकर वे अन्तर्धान हो गये। श्रीआनन्दरामजी उन योगेश्वरके ध्यानमात्रसे ही प्राय: समाधिस्थ हो जाते थे। भगवत्प्रेमकी ऐसी बाढ़ आनेपर भी साधु-संतोंकी सेवामें उनके द्वारा कभी त्रुटि नहीं हुई।

एक समय ये श्रीनागनाथजीके दर्शन करने जा रहे थे। भगवान् नागनाथ भक्तिकी परीक्षा करनेके लिये एक दीनहीन गलित कुष्ठीका रूप धारण करके रास्तेमें पड़ गये और पुकारने लगे कि 'हम बड़े दुःखी हैं, कोई हमारी सहायता करो।' उनका आर्तनाद सुनकर बिना किसी प्रकारकी ग्लानिके वे उनकी उसी प्रकार—जिस प्रकार माता अपने पुत्रकी करती है—सेवा करने लगे। उनकी इस प्रकारकी सेवा देखकर कुष्ठीरूपधारी भगवान्ने पूछा कि 'आप श्रीनागनाथके दर्शन करने जा रहे थे। मुझ नगण्य भिखारी कुष्ठीकी सेवामें क्यों लग गये? जाइये, भगवान्‌के दर्शन कीजिये।' इसपर आनन्दरामजीने कहा कि 'भगवन्! आप नगण्य नहीं हैं, भगवत्स्वरूप हैं, मेरा विश्वास है आपकी सेवासे ही भगवान् नागनाथ मुझपर बहुत ही सन्तुष्ट होंगे।' यह सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और अपना कुष्ठिरूप त्यागकर दिव्यरूपसे दर्शन देकर उनसे कहा कि 'आनन्दराम! तुम सर्वत्र मेरे दर्शन करते हुए अनन्यचेता होकर मेरी सेवा करते हो इससे मैं तुम्हें सर्वदा सर्वत्र सुलभ हूँ।' यह कहकर वे अन्तर्धान हो गये। श्रीआनन्दरामजी गद्‌गद होकर भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहने लगे कि 'हे भगवन्! आपने इस दुःखरूप संसारमें पड़े हुए मुझपर बड़ी कृपा की।' इस प्रकार मार्गमें ही भगवान् नागनाथके दर्शन करके आनन्दजी अपनी कुटियापर आकर पूर्ववत् भजन-पूजनादि करने लगे। कहते हैं कि इनको कई बार भगवान् श्रीरामके प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे। वृद्धावस्थामें साधुसेवा आदिके नियममें कुछ शिथिलता आनेसे जब आप बड़े चिन्तित थे तब भगवान्‌की प्रेरणासे एक परमभक्त मुमुक्षु मूलरामजी इनके शिष्य हो गये और गुरुकी आज्ञानुसार 'आनन्दबाबा सदाव्रत' रूपमें साधुसंतों एवं दुःखी दरिद्रोंकी सेवा करने लगे। जामनगरके महाराज और प्रजा सभी इन्हें आदरकी दृष्टिसे देखते थे। श्रीआनन्दाबाबाका सदाव्रत अब भी चल रहा है।

जामनगरमें ही इनका समाधिस्थान है। उस समाधिके पास प्रणाम करके 'जय आनन्दाबाबा, जय आनन्दाबाबा, जय आनन्दाबाबा' इस प्रकार तीन बार कहकर वहाँके पुजारीद्वारा दिये हुए उनके धागेको बाँध लेनेसे हर तरहकी व्याधि दूर हो जाती है।

श्रीललितकिशोरी और श्रीललितमाधुरी

लखनऊमें उन दिनों नवाबोंका बोलबाला था। वहीं साह गोविन्दलालजीका परिवार जौहरियोंमें मुख्य था। गोविन्दलालकी दूसरी स्त्रीसे साह कुन्दनलाल और साह फुन्दनलाल हुए। दोनों भाइयोंमें प्रगाढ़ प्रेम था। भारतेन्दुजीके शब्दोंमें तो यह 'राम-लखनकी जोड़ी' थी। पारिवारिक कलहके कारण दोनों भाई संवत् १९१३ वि० में लखनऊ छोड़कर वृन्दावन चले गये। वृन्दावन उन दिनों प्रेमी भक्तोंका अखाड़ा हो रहा था। साह कुन्दनलाल 'श्रीललितकिशोरी' की छापसे और साह फुन्दनलालजी 'श्रीललितमाधुरी' के नामसे भगवान्की प्रेम-लीलाओंका गुणगान करने लगे। पद दस हजारसे कम न होंगे। संवत् १९१७ में इन्होंने संगमरमरका एक अति विचित्र मन्दिर बनवाना आरम्भ किया और सं० १९२५ में उस मन्दिरमें श्रीठाकुरजी पधराये गये। इस मन्दिरका नाम 'ललितनिकुंज' रखा गया। श्रीललितकिशोरीजी कार्तिक शुक्ल २, संवत् १९३० को सशरीर श्रीवृन्दावनरजमें लीन हो गये। इन्होंने 'रासविलास', 'अष्टयाम' और समयप्रबन्धसम्बन्धी बड़े ही मधुर और प्रेमपूर्ण पद रचे हैं।

अपने बड़े भाईके गोलोकवासी हो चुकनेपर श्रीललितमाधुरीने जितने पद रचे हैं उन सबमें अपने नामको न रखकर ललितकिशोरीकी ही छाप दी है। इनकी भ्रातृ-भक्ति और हरिभक्ति धन्य है! श्रीललितकिशोरीकी अलमस्तीका मजा भी उनका अपना है—

जमुना-पुलिन कुंज गहवरकी कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पदपंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै मधुरे मधुरे गूँज सुनाऊँ॥
कूकर ह्वै बन बीथिन डोलौं, बचे सीथ रसिकनके खाऊँ।
ललितकिसोरी आस यही मम, ब्रजराज तजि छिन अनत न जाऊँ॥

श्रीललितमाधुरीने वृन्दावनके दिव्य आनन्दको किस उल्लासके साथ गाया है!

देखौ बलि बृंदाबन आनंद।
नवल सरद निसि नव बसंत रितु, नवल सु राका चंद॥
नवल मोर पिक कीर कोकिला कूजत नवल मलिंद।
रटत श्री राधे राधे माधव, मारुत सीतल मंद॥
नवल किसोर उमंगन खेलत, नवल रास रसकंद।
ललितमाधुरी रसिक दोउ बर, निरतत दिय कर फंद॥

नथुनीबाबा और शाहजीका संवाद

(लेखक—पं० श्रीबालचन्दजी शास्त्री)

भक्तजनोंमें एक सखीसम्प्रदाय प्रचलित है। इसमें अपनेको भगवान्की आज्ञाकारिणी सखी मानकर और भगवान् श्रीकृष्णको अपना प्रियतम सखा समझकर उपासना की जाती है। इस सम्प्रदायका विश्वास है कि सखीभावसे उपासना किये बिना किसीको निकुंजसेवाका अधिकार नहीं प्राप्त होता। सखीसम्प्रदायके विषयमें शास्त्रीय वचन भी उपलब्ध होते हैं। सनत्कुमारसंहितामें लिखा है—

आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्।
रूपयौवनसम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥

'अपनेको उन सखियोंमें सबसे अधिक मनोरम, रूप और यौवनसे सम्पन्न तथा किशोर अवस्थाकी वनिताके रूपमें स्मरण करे।'

नरोत्तमने भी कहा है—

सखीनां सङ्गिनीरूपामात्मानं वासनामयीम्।
आज्ञासेवापरां तत्तद्रूपालङ्कारभूषिताम्॥

'समस्त सखियोंमें अपनेको नाना प्रकारके आभूषणोंसे भूषिता भगवान्की संकल्पमयी आज्ञाकारिणी प्रधान सखी समझे।'

भक्तप्रवर साहजी और नथुनीबाबा—ये दोनों सखी-सम्प्रदायमें सर्वमान्य महात्मा हो गये हैं। साहजी वृन्दावनमें ललितनिकुंजके भीतर रहते थे, और आप 'ललितकिशोरी' नामसे प्रसिद्ध थे। साहजीके लिये नवभक्तमालमें यों लिखा है—

छाड़ि बादशाही विभव लक्ष्मणपुर त्यागो।
श्रीवृन्दावनवास दृढ़व्रत अनुरागो॥
ललित निकुंज बनाय राधिका रमन बिराजे।
रास बिलास प्रकास लच्छ पद रचना भ्राजे॥
व्रज-रज-मध्य समाधि लिय जुगल भ्रात निर्भय निपुन।
श्रीललितकिसोरी ललितमाधुरी प्रेममूर्ति वृन्दाविपिन॥

नथुनीबाबा ब्राह्मणकुलभूषण थे। आप परम रसिक, नि:स्पृह, सदा प्रसन्न और भगवान्की रूपरसमाधुरीमें सदा

छके रहनेवाले थे। वृन्दावनमें सखीभावसे आप रहते थे। भगवत्संगी ही आपके प्रिय थे और भगवान् राधारमण ही परमाराध्य देव थे। आप सदा नथ धारण करते थे, इसीसे 'नथुनीबाबा' के नामसे आपकी प्रसिद्धि हो गयी। वृन्दावनमें एक प्राचीन मन्दिरके कुंजमें ही आपका सदा निवास था। छः महीने बीतनेपर एक बार कुंजका द्वार खुलता था, उस समय वृन्दावनके सभी भक्त-महात्मा सखीजीका दर्शन करने जाते और उनके मुखारविन्दसे सुधास्वादोपम माधुर्यरसकी कथा सुनकर कृतकृत्य होते थे। यही तो सत्संगकी महिमा है जिससे भगवान्‌की रसभरी कथा सुननेको प्राप्त होती है। भागवतमें श्रीकपिलदेवजीने कहा है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

'जब प्रेमी संतोंका समागम होता है तो भगवान्‌के रूप और गुणोंकी चर्चा होती है, हृदय और कानोंको आनन्द देनेवाली मधुर रसमयी कथाएँ सुननेको मिलती हैं, उनका सेवन करनेसे बहुत शीघ्र ही मोक्षमार्गमें क्रमशः श्रद्धा, प्रेम एवं भक्ति होने लगती है।'

एक बार नियमित समयपर नथुनीबाबाके कुंजका द्वार खुला, सभी संत-महात्मा सखीजीके दर्शनार्थ पधारे, भक्तोंके हृदयमें प्रेम-प्रवाह बह चला। साहजी भी, जिनका परिचय ऊपर दिया जा चुका है, श्रीराधारमणके प्रसादका पेड़ा लेकर वहाँ पधारे और सखीजीको प्रणाम करके बैठ गये। साहजी और नथुनीबाबा—इन दोनों भक्तोंके समागमसे भक्तमण्डली बहुत ही सन्तुष्ट हुई, सभी शान्त हो गये। ये दोनों ही महात्मा रागानुगा भक्तिमें सदा ही निमग्न रहते थे। साहजीको देखकर नथुनीबाबा नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहाते हुए गद्गद वाणीमें बोले—'दारी* आयी क्या? जीवन सफल करनेमें कोई पास न रखना।' यह सुनकर साहजी भी प्रेम-प्रवाहमें बहते हुए बोले हाँ जी, आपके पास आयी हूँ, अभिलाषा पूरी कीजियो—

कोई दिलवरकी डगर बताय दे रे।
लोचन कंज कुटिल भृकुटी कच कानन कथा सुनाय दे रे॥
ललितकिसोरी मेरी वाकी चितकी साँट मिलाय दे रे।
जाके रंग रँग्यो सब तन-मन ताकी झलक दिखाय दे रे॥

यह गीत गाकर साहजी पुनः बोले—'कभी ललितकुंजमें पधारो।' बाबा बोले—'यदि गोडा छोड़े तो।' तात्पर्य यह कि प्रियतमका आलिंगन सदा होता रहता है, फिर बाहर कैसे जाया जाय! बस इतना सुनकर साहजी गद्गद हो गये और पुनः प्रणाम करके लौट आये। ऐसे-ऐसे महात्मा अब भी वृन्दावनमें विराजते हैं, जिनपर भगवान्‌की कृपा होती है वे ही यह रस लूटते हैं।

परमहंस मामा श्रीप्रयागदासजी

(लेखक—श्रीविन्दु ब्रह्मचारीजी)

गुण-गौरव औ कृति-कीर्ति पराइ बिलोकि हियो बिगसात अहै।
अघ-दोष न देखत काहुक जे जेहि देखत दोष नशात अहै॥
अकलंक मयंक शुभाननतैं बचनामृत 'बिन्दु' चुचात अहै।
तिनकी पग-धूरि सुमंगल-मूरिहि भूरि मेरो प्रणिपात अहै॥ १॥
जिनके शुचि शीतल शीलमैं जायके कोपकी आग बुझात अहै।
लहि बारि प्रशंसाहु मानस जो सकुचानहि मैं बढ़ि जात अहै॥
समशील उदार सबै जगती जेहि राममयी दिखरात अहै।
अस संत अनन्त समान कोऊ बहु 'बिन्दु' तिन्हैं प्रणिपात अहै॥ २॥
आयो धौं यहि काल कस, अति दुकाल हा हन्त।
गयो जु उड़ि केहि व्योम वै, राजहंस अरु सन्त॥

प्राचीन कालमें ऐसे अनेक संत हुए हैं, जिन्होंने अपनी आत्मामें परमार्थको सार्थक और इस प्रकार भक्ति-ज्ञान और वैराग्यको चरितार्थ किया था। वे आत्मदर्शी सिद्ध थे। परमात्मतत्त्व उन्हें सिद्ध था। अतएव, वे आध्यात्मिक महात्मा थे। उनका हृदय आत्मसरोवरका पुण्डरीक था। वे भी उच्च कोटिके भावुक और प्रेमी थे, पर उनका विहारस्थल आत्मा था अथवा वह मन, जो उस आत्म-सरोवरमें निमज्जित होकर चिदाकार हो चुका था। वे आत्माराम और आत्मक्रीड थे। उनकी रति-गति आत्मामें थी। वहीं वे अपने रामसे खेलते और लाड़ लड़ाते थे।

---

* 'दारी' प्रेमकी गाली है, जारपतिसे मिलनेवाली स्त्रीके लिये इस शब्दका प्रयोग होता है। परकीया-प्रेमोपासनाके कारण ऐसा कहा जाता है।

उनके हृदयकी आँखें खुली हुई थीं और वे समदर्शी थे। उनके लिये सम्पूर्ण जगत्, कहीं चित्रकूट, कहीं मिथिला, कहीं वृन्दावन और कहीं अयोध्या हो रहा था।

मधुर-रस-राते मदसे माते।
कबहुँ बिहँसि नयना फरकाते कबहुँ ताल दै गाते।
सहित उछाह प्रिया-प्रियतमपर कल्प सुमन बरसाते॥
चित्रकूट मिथिला वृन्दावन कुंज-कुंज रमि जाते।
'केशी' सुगम ध्यान-धारणा जीवनको फल पाते॥

(भगवती मञ्जुकेशी देवी)

उन्हें सर्वत्र 'सियाराम' ही दिखायी देते थे। उनके लिये परत्व यदि कहीं था, तो केवल अद्वैत परमतत्त्व परं ब्रह्ममें ही। वे क्या करते, उनके रामने तो समस्त दिशाओंको अपना क्रीडास्थल बना लिया था। फिर बेचारा द्वैत अपनी विरोधलीला कहाँ दिखाये? पहले तो उनके रामने उनके सम्पूर्ण हृदयको ही अधिकृत कर लिया, पुनः उनके अखिल वातावरण (दिग्व्योम) को घेरकर उनकी इन्द्रियोंके सब रास्तोंमें अड़ गये। कोई जाय तो कहाँ जाय!

उमा जे रामचरनरत, बिगत-काम-मद-क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, का सन करहिं बिरोध॥

(श्रीमानस)

उस नवल नटनागरके नेपथ्यमें पहुँचकर उन्होंने देखा कि वही राम है, जो साकेतके पूर्णैश्वर्यपीठ सार्वभौमचक्रवर्त्ति-राज्यसिंहासनपर अखिल जगन्नायक होकर सुशोभित है और वही वृन्दावन आदि कुंजोंमें कुंजनायक होकर रमण कर रहा है। उन्हें उसकी क्रीडामें सम्मिलित होना था, अतः जहाँ-जहाँ वह नायक, वहाँ-वहाँ उसके वे सहायक—जहाँ-जहाँ कमल, वहाँ-वहाँ मधुकर, जहाँ-जहाँ शर्करा, वहाँ-वहाँ पिपीलिका। रसको रसिक कैसे छोड़े? रस-रसाकरमें डूबे हुए रस-भोगी भला, तर्कके कटु कर्कश कर्कटसे अपने कोमल अंग क्यों कटाने लगे? उस परम प्रियतमने उन्हें इतना लुभा लिया है, इतना अपना लिया है, उन्हें इस तरह अपनेमें आसक्त कर रखा है कि उसके सौन्दर्य-माधुर्यके आस्वादनसे उन्हें अवकाश ही नहीं। वे तो, उस प्रेयान् रसके ग्रहण करनेके एक करणमात्र होते हैं—उनकी एक ही ब्रह्माकार वृत्ति होती है। रसिकताका यही स्वरूप ही है। यथार्थ वस्तु-ज्ञान या विशेषज्ञता ही मार्मिकता है और मार्मिकता ही रसज्ञता है तथा रसज्ञता ही यथार्थ रसिकता है। यहाँ ज्ञान और रस अथवा प्रेम भिन्न पदार्थ नहीं, किसी चिन्मय और अद्वितीय तत्त्वके वे गुण-धर्म अथवा विशेषणमात्र हैं। सूफियोंका यही लक्ष्यस्थान है—

राम-रहसके ते अधिकारी।
जिनको मन मरि गयो और मिटि गई कलपना सारी॥
चौदह भुवन एकरस दीखै एक पुरुष एक नारी।
'केशी' रामनाम सोइ जानै ध्यावै अवधबिहारी॥

जो भरे-पूरे होते हैं, उन्हींमें रसिकता और क्रीडासक्ति उत्पन्न होती है। उनका जीवन ही सुख-विलासमय होता है। उन्हें अपने प्राणारामसे अवकाश ही इतर भावनाओंके लिये कहाँ? मन, बुद्धि और उनके चित्तको तो उसने अपनेमें लीन कर लिया है। लखनऊके नवाब वाजिदअलीशाहसे मदोन्मत्त मौलवियोंने श्रीअयोध्याजीकी जन्मभूमिपर आक्रमण करनेके लिये बहुत आग्रह किया, तब उनकी दरख्वास्तपर उन्होंने यह शेर लिखकर दस्तखत कर दिये—

हम बन्दए-इश्क हैं, मजहबसे नहीं वाकिफ।
काबा हुआ तो क्या, बुतखाना हुआ तो क्या॥

जब एक रागासक्त प्राकृत रसिकके हृदयमें द्वेष-दुराग्रहके लिये स्थान नहीं रह जाता, तब भगवद्रसिक समता और निर्विरोधताकी किस काष्ठातक पहुँच जायगा, यह सहृदयजन सहज ही अनुमान कर सकते हैं। संतोंकी यह विशेषता है कि वे समशील और उदाराशय होते हैं। समता ही वह भूमिका है, जिसमें उदारता, विश्व-बन्धुता, सर्वात्मीयता और दयालुता आदि दिव्य लताएँ उत्पन्न होती हैं। भगवद्भक्त होनेका यह लक्षण है, भगवच्चरणोंमें चित्ताभोगका यह प्रमाण है कि उसमें भगवदीय दिव्य गुणोंका उद्गम हो। भगवान्के भक्त भगवान्से भी अधिक माने जाते हैं—*'रामते अधिक रामकै दासा।'* उसका हेतु यह कि यदि भक्त न होते तो भगवान्को कौन जानता और जनाता, कौन मानता और मनाता? यदि वेदोंने भगवान्की भावना उत्पन्न की है, तो भक्तों या संतोंने भगवान्को उत्पन्न किया है—'लोग कहते हैं कि दुल्हको माबूदने पैदा

किया। मैं वह ख़ालिक हूँ कि मेरे 'कुन' से खुदा पैदा हुआ॥' भगवान् भक्तोंके हैं और भक्तोंके लिये हैं, इसी प्रकार भक्त या संतजन भगवान्के हैं और भगवान्के लिये हैं—

जद्यपि राम सींव समताके। भरत सनेह-सिन्धु ममताके॥

आज ऐसे ही भगवान्के एक अलबेले भावुक संतकी कुछ चर्चा करके अपनी वाणीको कृतार्थ करनेकी इच्छा है।

जनकपुरमें एक ब्राह्मणी माता रहती थी। उसके पति स्वर्गमें थे और विपत्ति उसके घरमें। उसका एकमात्र पुत्र प्रयागदत्त था। एक दिन उसने अपनी मातासे पूछा—'माँ, क्या मेरे और कोई नहीं है?' माताने बच्चेके सन्तोषार्थ कह दिया—'हाँ, बेटा, तुम्हारे है क्यों नहीं कोई? तुम्हारे बहनोई हैं। वे चक्रवर्त्ती राजाधिराज हैं। अयोध्या उनकी राजधानी है।' मिथिलाकी माताएँ स्वभावतः श्रीजनकनन्दिनीके प्रति पुत्री या भगिनीभाव रखती हैं। बच्चेने कहा—'तो, माँ, मैं उनके पास जाऊँगा।' माता बोली—'अच्छा, कुछ और बड़े हो, तब जाना।' इस प्रकार टाल दिया। लेकिन बालकके हृदयमें बहनोई बस गये। उसकी सुरति बहनोईमें लग गयी। किसी तरह कुछ दिन बीते। फिर एक दिन प्रयागदत्तने मातासे कहा—'माँ, अब तो मैं सयाना हो गया। अब मुझे बहनोईके पास जाने दो।' माताने उत्तर दिया—'अच्छा, ठहरो, मैं तैयारी कर दूँ, बहिनके लिये कुछ लेते जाओ।'

माताने चावलोंके कुछ कण इकट्ठे किये थे। उन्हें पीसकर और मीठा मिलाकर कुछ मोदक बनाये, जिन्हें मिथिलामें 'कसार' कहते हैं। उन कसारोंकी पोटली प्रयागदत्तको देकर विदा किया और कुछ सत्तू उनके खानेके लिये भी दे दिया।

प्रयागदत्त बहिन-बहनोईसे मिलने बड़ी प्रसन्नता और उत्सुकतासे चले। मनमें यही होता कि कैसे जल्द और जल्दसे भी जल्द अयोध्या पहुँच जाऊँ। अगर पर होते तो वे जरूर उड़ जाते। तब भी न आकाशमें सही, पृथ्वीपर तो उड़तेही-से जा रहे हैं। जहाँ कहीं अपने शारीरिक कृत्यके लिये ठहरते हैं, किसी वृक्षकी डालमें वह पोटली टाँग देते हैं। इस प्रकार कुछ दिनोंमें वे अयोध्याजी पहुँच गये।

अयोध्यामें प्रयागदत्त अपने चक्रवर्त्ती बहनोईको खोजने लगे, जिससे पूछते, वह हँस देता। बेचारे बहुत परेशान हुए। बहनोईजी कहीं नहीं मिले। मणिकूटकी ओर गये। वहाँ भी खोजते रहे। फिर तंग आकर एक जगह (जहाँ सीताकुण्डको जानेवाले रास्तेके दक्षिण सघन विटपावलिसे आच्छादित पुरानी मसजिद है, जिसमें पूर्वमें हनुमन्निवास-श्रीअयोध्याके महात्मा बाबा गोमतीदासजी महाराज भजन करते थे) बैठ गये। बहुत थक गये थे। बहनोईजीको रिस्तेसे खूब गालियाँ देने लगे। कहने लगे—'देखो, इतना ढूँढ़ा, हैरान हुआ, कहीं मिलता ही नहीं। न जाने कहाँ रहता है! अब क्या करूँ, कहाँ जाऊँ?' इतनेमें एक श्वेत हाथीपर सोनेकी अम्बारीमें विराजे हुए उनकी बहिनसहित बहनोई साहब आ निकले। हाथी वहीं साले साहबके पास बैठ गया। श्रीकिशोरीजीने पूछा—'भैया, माताने हमारे लिये कुछ दिया है?' भैयाकी तो गति ही अचिन्त्य हो गयी। किसी तरह अपनेको सँभालकर कहा—'हाँ, बहिन, यह है, लो।' पोटली दे दी और बोले—'मैंने तो बहुत खोजा, तुम लोग मिले ही नहीं। न जाने कहाँ रहते हो! कोई बताता ही नहीं।' श्रीकिशोरीजीने पोटली लेते हुए कहा—'हाँ, भैया, तुम्हें कष्ट तो बहुत हुआ। क्या करें, हम लोग ऐसी जगह रहते हैं, जिसे सब लोग नहीं जानते।' जगन्माताने माताकी भेजी हुई और भैयाकी दी हुई उस पोटलीमेंसे दो कसार निकाल लिये और शेष प्रयागदत्तको देते हुए कहा—'भैया, इन्हें तुम खाना। और अब तुम जाओ घर, माता चिन्ता करती होगी। कुछ दिनोंके बाद फिर आ जाना। और मातासे कह देना कि हम लोग बड़े सुखसे हैं। फिर मिलेंगे।' हाथी खड़ा हो गया और कुछ दूर जाकर अदृश्य!

मामाजी अपने बहिन-बहनोईके ध्यानमें विह्वल वहीं पड़े रहे। वाणी रुद्ध और नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह जारी था। दूसरे दिन दिनकर-करों और दक्षिणानिलके स्पर्शसे उनकी चेतना जागृत होने लगी और दशा सँभलने लगी। उधर ही एक संत आ निकले। उन्होंने देखा कि एक सुन्दर-सुगौर कुमार बेतरह पड़ा हुआ है। निकट जाकर उसे ध्यानसे देखा और हाल पूछा। यद्यपि उसने ठिकानेसे

कुछ बताया नहीं, तथापि महात्मा रहस्य ताड़ गये। निकट ही उनकी गुफा थी। प्रयागदत्तको वहीं ले गये। उचित उपचार किया। स्नान-जलपान कराया। जब वे सावधान हुए तब फिर एक बार उन्होंने उनका हाल पूछा। पूछते ही फिर वे रो पड़े। महात्माजी भी आर्द्र हो गये। कुछ देरतक यही दशा रही—

कोउ कछु कहै न कोउ कछु पूछा।
प्रेम-भरा हिय निज गति छूछा॥

अनन्तर प्रकृतिस्थ होनेपर प्रयागदत्तजीने स्वयं महात्माजीसे अपना सब वृत्तान्त कहा। महात्माजीने गद्गद होकर उन्हें छातीसे लगा लिया।

मेरे प्यारेका यह भी प्यारा है।
मेरी आँखोंका भी सितारा है॥

घड़ी रात गये कुछ ग्रामीण माताएँ आयीं और दो भोग-थाल निवेदन करती हुई बोलीं—'आज, हमारे यहाँ भगवान्‌की पूजा और कथा हुई है। यह प्रसाद आपलोगोंके लिये लायी हैं। ले लीजिये। थाल सबेरे चले जायँगे। हमें घर जल्द पहुँचना है। रात हो गयी है।' थाल रखकर यह कहती हुई वे तुरंत उलटे पैर लौट गयीं। थाल न जाने किस खानके अद्भुत सोनेके थे। उनपर पुरैनके पत्ते बिछे थे, जिनपर नाना प्रकारके व्यंजन चुने थे। महात्माजी और मामाजी मन्त्रमुग्धकी तरह देखते रह गये। पीछे जब महात्माजीने पत्ते टालकर थाल देखे, तब हैरान रह गये। रहस्य समझ गये। जगज्जननी बहिनने भाईकी पहुनाई की!

सहृदय महात्माजीने प्रयागदत्तजीको प्रेमसे खिलाया और स्वयं भी पाया। उन लोकोत्तर रसास्वादमय दिव्य भोगोंका सेवन करके वे दोनों महात्मा मस्त हो गये। वे सब पदार्थ भगवद्रस (ब्रह्मानन्द)-से सने हुए थे, स्थूलताका हरण करनेवाले थे और चेतनताका संचार करनेवाले। तत्काल नवीन तेज, नवीन बल और नवीन चेतनतासे शरीर चमक उठे। मामा प्रयागदत्तजीका सारा श्रम और ग्लानि क्षणभरमें कपूरकी तरह उड़ गयी। हृदयकमल आनन्दरस-सरोवरमें लहराने लगा।

प्रात:काल प्रयागदत्तजीको विदा करते हुए महात्माजी वे दोनों स्वर्ण-थाल साफीमें लपेटकर उन्हें देने लगे। क्योंकि उनका कोई लेनेवाला न आया और न आनेवाला था। परन्तु प्रयागदत्तजीने नहीं लिया। बोले कि 'माता रिसायगी, कहेगी कि बहिनकी चीज क्यों लाये? वह कन्याकी वस्तु कैसे लेगी?' अस्तु, बाबाजी उनके साथ गये और रास्तेपर पहुँचाकर जब लौटे, तब थाल ले जाकर गणेशकुण्डमें डाल दिये—

रमा-बिलास राम अनुरागी।
तजत बमन जिमि जन बड़ भागी॥

बहिन-बहनोईकी भावनामें मस्त प्रयागदत्तजी घर पहुँचे। माताने पूछा। सब हाल कह सुनाया। पुत्रका वृत्तान्त सुनकर माता चकित रही और बहुत प्रसन्न हुई। हृदयके तलसे एक प्रबल परन्तु गम्भीर करुणस्रोत फूट निकला और आँखोंमें छलछला उठा।

साल बीतने भी नहीं पाया कि जगन्माताका अंश वह माता पतिलोकको प्रयाण कर गयी। प्रयागदत्तजी अकेले रह गये। घरमें और कोई भी नहीं। माताके देव-पितृकर्मके बाद अकेला पाकर वैराग्य और अनुराग, दोनों उन्हें पूर्णतया अधिकृत करने लगे। इधर पासहीके एक ग्रामके पण्डितजी उन्हें अपना जामातृ बनानेके लिये घेरने लगे। सुसम्पन्न और प्रतिष्ठित ब्राह्मण थे। चाहते थे कि प्रयागदत्तको जमाई बनाकर अपने घर रखें और अपना उत्तराधिकारी बनायें। उनके भी एकमात्र कन्या रह गयी थी। पुत्र स्वर्गगामी हो चुके थे। यद्यपि प्रयागदत्त दीन और दरिद्र थे, पर रूप-शील और कुलसे सम्पन्न थे। उनके पूर्व पुरुषोंमें अनेक यशस्वी विद्वान् हुए हैं। उनके पिता भी सात्त्विक गुणोंसे मण्डित एक प्रतिष्ठित पण्डित थे। जनताकी उनमें बड़ी श्रद्धा थी। बहुत लोग उनके शिष्य थे। अच्छी सम्पत्ति संचित थी। परन्तु काल-चक्रने पलटा खाया। उनके जीवनके अन्तके साथ ही उनकी सम्पत्तिका भी अन्त हो गया। अग्निदेवने दैवात् सर्वस्व स्वाहा कर दिया—जो कुछ घरमें था, घर-सहित जल गया। माता केवल उस अपूर्व धन-रत्न शिशु प्रयागदत्तको दोनों करोंसे समेटकर और अपने अंकोंमें भरपूर भरकर बचा सकी थी। उस समय भाग निकलना ही उसका परम भागधेय था। लोगोंने कहा कि 'लड़का अभागी है, कुलच्छना है। पिताका भी भक्षण किया और धन सम्पत्तिका भी।' पर उसका भाग्य-भानु किस अलौकिक आकाशमें चमकनेवाला है, यह

किसीको क्या मालूम! यद्यपि असमयमें पिताके परलोकगत होनेसे प्रयागदत्तजी लौकिकी-वैदिकी विद्याओंके अधिकारी नहीं हो सके, परन्तु सब विद्याओंकी चरमा चेतना ब्रह्मविद्याका मधुर फल तो उन्हें प्राप्त ही हो गया और साक्षर भी हो ही गये थे। यद्यपि पढ़नेमें उनका मन नहीं लगता था तथापि कुशाग्रबुद्धि होनेसे अल्पकालहीमें उन्होंने सारस्वत, अमरकोश और मुहूर्त्त-चिन्तामणि भी पढ़ ही ली। फिर तो दूसरा ही रंग चढ़ गया। अस्तु, कन्यादानेच्छु पण्डितजीको प्रयागदत्तजीने कोरा जवाब दे दिया। उनके प्रस्तावसे वे घबरा भी उठे और झट अयोध्याको चल पड़े। चाहे वैसे दो दिन बाद ही जाते लेकिन अब वे कहाँ रुकते हैं!

श्रीअयोध्याके पथपर पैर रखते ही प्रयागदत्तजीकी दशा ही निराली हो गयी। ऐसी उतावली हुई कि कैसे वे जल्द-से-जल्द वहाँ पहुँच जायँ।

मानसनन्दिनी (सरयूजी) में स्नान करके परापुरी आनन्दिनी (श्रीअयोध्या) की पावन भूमिकामें प्रयागदत्तजीने प्रवेश किया। उषादेवीने आरती की। दक्षिणानिलने फूल बरसाये। पहले वे मणिकूटके उसी स्थलविशेषपर सीधे पहुँचे जहाँ उनके बहिन-बहनोई मिले थे। कुछ देर वहाँ बैठे। पर उनके मिलनेकी ऐसी धुन उन्हें सवार थी कि विश्राम करनेके लिये भी अवकाश नहीं था। कुंजों और झाड़ियोंमें चारों ओर उन्हें ढूँढ़ते फिरे। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते पूर्वपरिचित बाबाजी श्रीत्रिलोचन स्वामीकी ओर निकल गये। महात्माजीने इन्हें पहचाना और प्रेमपूर्वक स्वागत किया। विश्राम कराया। इनकी विह्वलता शान्त करनेके लिये उन्होंने अनेक भगवद्रहस्यकी बातें कहीं, पर उससे वह और भी तीव्र हो गयी। वियोगमें प्रियके चर्चाचारका यही परिणाम होता है।

धीरे-धीरे स्वामीजीने अपने अपूर्व सत्संगके प्रभावसे उन्हें शान्त और सावधान किया। फिर कुछ भोजन कराया।

दूसरे दिन प्रात:काल प्रयागदत्तजी श्रीत्रिलोचन स्वामीजीके चरणोंमें लोट गये। स्वामीजीने उन्हें वात्सल्यपूर्वक उठाकर बैठाया। महात्माजीमें उनकी श्रद्धा आकर्षित हो चुकी थी—जो प्रिय पथका सहायक होता है वह स्वभावतः श्रद्धेय तथा प्रेय हो जाता है! स्वामीजीसे उन्होंने वैराग्यदीक्षाके लिये प्रार्थना की। सद्गुरुने उमड़ती हुई श्रद्धाके उसी मुहूर्त्तको उपयुक्त समझा और दीक्षा दे दी। लँगोटी-अँचला प्रदान किया। प्रयागदत्तजी अब प्रयागदासजी हो गये। राजकुमार राजवेषमें राजसिंहासनपर बैठ गया। हीरा खरादा जाकर स्वर्णाभूषणमें जटित हो गया। सिद्ध गुरु और सिद्ध शिष्य। मन्त्रराजकी कलाओंसे हृदयकमलकी पंखड़ियाँ खेलने लगीं। रहस्य खिल गया। चक्र संचालित हो गये, ज्योति जगमगा उठी—जैसे शक्तिकेन्द्र (power house) से यकायक बिजलीकी सब बत्तियाँ जल उठती हैं।

कुछ रात गये प्रयागदासजीकी दशा कुछ ऐसी चढ़ी कि वे सोते ही उठ पड़े और वन-बीहड़ोंमें जहाँ-तहाँ घूमने लगे। फिर तो यही रंग-ढंग रहा। जिधर निकल गये उधर ही निकल गये। खड़े हैं तो खड़े ही हैं, चल रहे हैं तो चल ही रहे हैं—न जाने कहाँ जा रहे हैं! न जाने क्या-क्या देखते हैं! न जाने किससे क्या कहते हैं! दिन-दिन और रात-रात इसी दशामें बीत रही है। न खानेकी सुध, न पीनेकी चिन्ता, न सोनेकी परवा। अखण्ड योगनिद्रा और दिव्य स्वप्न। जाग्रत्‌की भूमिका और तुरीयके दृश्य। देह अपने रास्ते और देही अपने। किसीने खिला दिया तो खा लिया और पिला दिया तो (पानी) पी लिया। कोई-कोई प्रेमी उन्हें अपने हाथसे भी खिला दिया करते थे और इसमें वे बड़े सुखका अनुभव करते थे। परमहंस प्रयागदासजी भी बच्चोंकी तरह चुपचाप खा-पी लिया करते। लड़के उन्हें छेड़ा भी करते और न जाने किसने सिखला दिया था कि सब उन्हें 'मामा-मामा' कहने लग गये। केश बिखरे हैं, शरीरपर धूल पड़ी है, और आँखें चढ़ी हुई हैं। लक्ष्मीजीके बन्धु होनेसे आकाशमें चन्द्रमा ही लड़कोंके मामा थे, अब भूनन्दिनीके भ्राता होनेसे ये दूसरे मामा भूतलपर भी हो गये। उनके प्रेमोन्मादके लक्ष्यसे यदि हम उन्हें भारतीय मजनूँ कहें तो कोई अनौचित्य न होगा। भाई मजनूँ यदि लैलाके आशिक थे, तो प्रयागदासजी अवध-छैलाके। दशा एक थी, दिशा भिन्न। एकके प्रेमका आलम्बन प्राकृत था, तो दूसरेका दिव्य। दोनोंकी तन्मयता और एकाग्रता इतनी बढ़-चढ़ गयी थी कि देह और बुद्धि तथा अहंकारको भी पार करके

वृत्ति केवल अपने ध्येय और प्रेममें ही स्थित थी। जैसे सर्वदेवनमस्कार श्रीहरिके प्रति जाता है, वैसे ही सबका सत्य-प्रेम भी परत: रूपसे भगवान्‌हीको पहुँचता है। हृदयदेशवासी वह परम प्रियतम ही प्रेमदेव है। किसीके प्रति भी किया हुआ सत्य एवं शुद्ध प्रेमको वही ग्रहण करता है और तत्तद्भावनानुसार फल देता है। प्रेम कुछ तत्त्व ही ऐसा दिव्य है कि वह जिस हृदयमें विकसित होगा, उसे दिव्य ही बना देगा और दिव्य नायक पुरुषोत्तमकी ओर भी कभी-न-कभी खींच ही ले जायगा। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। प्रेमी-हृदयको भगवान् स्वयं खींच लेते हैं चाहे वह कहीं हो। वे उसके बड़े गाँहक हैं। ऐसे रत्नोंका वे बड़े चावसे संग्रह करते हैं। क्रीडाशील राजकुमार ही ठहरे! अस्तु, परमहंस प्रयागदासजी-जैसे प्रेम-पागल लोकके कौतूहलके विषय बनते ही हैं और लड़के भी मनचले तथा कौतुकप्रिय होते ही हैं। अत: जब कभी वे आबादीकी ओर निकलते थे, तब बालक वृन्द 'मामा-मामा' कहते पीछे पड़ जाते थे। परमहंस मामा तो पूरे परमहंस ही थे, मत्त गजेन्द्रकी तरह झूमते हुए घूमते रहते थे।

क्यों उसे कोई छेंड़ता है, उसका वह दीवाना है।
ढूँढ़ता फिरता उसे, अन्दाज[१] सब शैदाना[२] है॥
है परीशाँ जाँफिशाँ[३] आवारासा नाकारासा,
बेताबसा बेख्वाबसा बेआबसा बेदाना है।
इश्क़का मारा हुआ वह हो गया सौदाई[४] है,
रोता कभी, गाता कभी है और कभी खन्दाना[५] है।
है खुदी[६] अपनी मिटा दी, हस्ती[७] अपनी दी है खो,
उस जमाले-बेमिसाले[८] शमा[९] का परवाना[१०] है।
जानिसारी[११] उसकी, उसकी दिल-फिगारी[१२] देख लो,
हो रहे हैं चश्म[१३] चश्मये-अश्क[१४] दिल दर्दाना है॥
हो रहा है मह्व[१५] कैसा वह तसव्वरे-यारमें[१६],॥
क्या खबर कब शाम होती, कब सहर[१७] नूराना[१८] है!
प्यारेका प्यारा, सितारा आँखोंका उसकी वह है,
मत कोई उसको कहे कुछ अपना वह एगाना[१९] है॥
कहनेकी आदत-सी है कुछ, गरचे कह आता नहीं,
तर्जे खयाले-'बिन्दु' भी कुछ कुदरती[२०] शोराना[२१] है॥

उनकी नशीली-रसीली आँखोंमें एक विलक्षण चमत्कार था। वह असलियतका लक्षण था। सब कुछ कोई कर ले, परन्तु वे आँखें कहाँसे लायेगा! किसी कविने कहा है—

सौवर्णानि सरोजानि निर्मातुं सन्ति शिल्पिनः।
तत्र सौरभनिर्माणे चतुरश्चतुराननः॥

(—चाहे कोई शिल्पी सोनेका कमल बना ले, परन्तु उसमें सौरभ वह कहाँसे लायेगा? उसकी सम्पादन-क्रियामें तो विधाता ही कुशल है।) श्रीमन्मानसकार महाराज कहते हैं—

उघरहिं बिमल बिलोचन हीके।
मिटहिं दोष दुख भव-रजनीके॥
सूझहिं राम-चरित मनि-मानिक।
गुपुत प्रगट जँह जो जेहि खानिक॥

उनकी आँखें वैसी ही थीं। बिना सिद्ध-सद्गुरु-कृपाके ये कहाँ प्राप्त हो सकती हैं? इस सृष्टिके अन्तरमें, जो कोई अद्भुत रचना है, जिसमें उस क्रीडाशील नित्य नवल नायककी चित्र-विचित्र दिव्य लीलाएँ हुआ करती हैं, जिनके प्रभावसे इस जगत्‌में हमें रमणीयताका आभास होता है,* प्रयागदासजीकी आँखें उन्हें देखती रहती थीं। इसीलिये कहते हैं कि उनकी आँखें अनोखी थीं, किसी अपार्थिव रेडियमकी बनी हुई थीं। वैसी आँखें कहाँ होती हैं—

दिलवाले हैं हरचन्द जिगरवाले हैं।
यह सच है, निगाहोंमें असरवाले हैं॥

१-ढंग। २-आसक्त प्रेमियों-सा। ३-विह्वलप्राण। ४-उन्मत्त, पागल। ५-हँसता-सा। ६-अहंकार। ७-अस्तित्व। ८-अनुपमेय-सौन्दर्यशील। ९-दीपक। १०-पतंग। ११-प्राणोत्सर्ग। १२-हृदय-विदीर्णता। १३-नेत्र। १४-अश्रु-स्रोत। १५-तन्मय, सुध-विभोर। १६-प्रिय (सखा) के ध्यानमें। १७-प्रभात। १८-ज्योतिर्मय। १९-आत्मीय, सगा। २०-नैसर्गिक। २१-कविजनोचित।

* रमण-वसन्त रमणीयता-प्रिया-समेत, केलि-कल-कलनिको कियो सुप्रसार है।
चेतन-आनन्द-वन रस ही रसाल जँह, भावन-सुमन विकसितहू उदार है॥
धनुधर धीर रघुवीर 'विन्दु' मनसिज, सीय रति जामैं नित करत बिहार है।
जाकी छाया माया माँहि भाँति-भाँति प्रतिभाति, रमति-रमावतिहुँ होय रागाकार है॥

जो देखनेकी चीज थी, देखी न गई।
यों कहनेको हमलोग नजरवाले हैं॥

परमहंस प्रयागदासजी सूक्ष्मरूपसे उसी निराली दुनियामें विचरते रहते थे और स्थूलरूपसे स्थूल जगत्‌में।

रमते रहते हैं सदा देखते लीला उसकी।
कल कहीं, आज कहीं, प्रात कहीं, रात कहीं॥

जहाँ-तहाँ, उन्हें लीला-विहारीकी अनेक लीलाएँ दिखायी दिया करती थीं। कहीं कोई दृश्य खिंचा हुआ है, कहीं कोई। कभी-कभी किसी चरितके लक्ष्यसे वे कुछ बक भी दिया करते थे। वह वाणी उनकी लोग दुहराया करते। एक बार उन्हें कहीं वन-यात्राकी लीला दृग्गोचर हुई। फिर तो वे अपने बहनोईजीसे नाराज हो गये और यह बकते फिरे—'देखो, अपने आप गया और मेरी सुकुमारी बहिनको भी वन-बीहड़में लेता गया!'

अब वे पैसे बटोरने लगे। यदि कोई पैसा देता, तो अब वे ले लेते और रखते जाते। कुछ दिनोंमें जब काफी पैसे जमा हो गये, तब उन्होंने उनसे तीन जोड़े जूते बनवाये—जितने बढ़िया वे बनवा सकते थे। और तीन सुन्दर सुकोमल तोशक और इतने ही पलंग। तीनों पलंग ऐसे, एकसे छोटा एक बनवाया कि एकके पेटमें एक अँट सके। एकके ऊपर एक करके क्रमशः तीनों पलंग रख लिये। ऊपरवाले पलंगपर तीनों तोशक बिछाये और तीनों जोड़े जूते रखे। उन्हें सिरपर रखकर वे ले चले। मस्तोंकी लीला ही तो है, क्रीडाशीलके प्रेमी ही तो ठहरे! उनसे घटकर क्यों हों! अस्तु, मामाजी पहुँचे जाकर चित्रकूट। जहाँ-जहाँ रास्तेमें कुशा-कण्टक मिले, वहाँ-वहाँ वे बहनोईको कोसते गये। स्फटिकशिलाके परम रम्य प्रदेशमें वे जाकर ठहरे। तीनों पर्यंक सुसज्जित कर दिये। फूल भी तोड़-तोड़कर बिछा दिये। तीनों पर्यंकोंके तले तीनों जोड़े जूते भी रख दिये। कुछ देर इधर-उधर देखते रहे। फिर झाड़ियोंमें घुस-घुसकर खोजने लगे। कहीं भी कुछ आहट मिलती, कुछ खड़खड़ाहट होती, तो उधर ही वे उत्सुकतासे देखने लग जाते। आँखोंमें अश्रु और उभरे हुए रोम-कूपोंमें स्वेद-बिन्दु भरे हुए हैं। विश्रामकी सुध नहीं, रामकी बाट शोध रहे हैं। जब इधर-उधर कहीं पता नहीं चला, तब यह बकते हुए मन्दाकिनीकी ओर लौटने लगे—'देखो, छिप गया न, जान गया कि प्रयागदास आ गया। अच्छा, छिपो……।' यहाँ आकर देखा कि तीनों पर्यंकोंपर तापस-वेशमें त्रिमूर्ति श्रीराम-लक्ष्मण और श्रीजनकनन्दिनी विराजमान हैं। फिर तो आनन्दका समुद्र ही उमड़ पड़ा। विह्वलता-पूर्वक बोल उठे—'तुम लोग कहाँ थे, कब आये? मैं तो तुम्हें खोजता फिरा।' फिर दौड़कर सबके चरणोंमें जूते पहनाये। रामजीसे बोले—'अजी, इस जंगलमें तुम क्यों चले आये? और मेरी सुकुमारी बहिनको भी लेते आये! इस वन-बीहड़में तुम लोग कैसे रहते हो?'

माताने कहा—'भैया, मैं स्वयं चली आयी हूँ, ये तो नहीं लाते थे।'

प्रयागदासजी बोले—'अच्छा, तो हम भी तुम्हारे साथ-साथ रहेंगे और पलंग ले चला करेंगे।'

भक्तभावन भगवान्‌ने कहा—'भाई! हमारी वन-यात्राका ऐसा नियम है कि हम तीन ही साथ रहते हैं। चौथे किसीको साथ नहीं रखते। हम पलंगपर भी नहीं बैठते। यह तो तुम्हारी रुचि रखनेके लिये अभी बैठ गये हैं। अब तुम इन्हें ले जाओ और अपनी सेवामें रखो। इससे हमें अपने उपभोगसे अधिक सन्तोष होगा।'

माता बोली—'भैया! तुम तनिक न चिन्ता करो। हम बड़े सुखसे वनमें रहते हैं। सब वनवासी हमारी सेवा करते रहते हैं। कोई कष्ट नहीं होने पाता। मुझे तो वन बहुत सुहावन लगता है। हम लोग फिर मिलेंगे।'

क्या करते! फिर उसी तरह सिरपर वे ही खाट और उनके सब ठाट रखे चले। एक दिन बेचारे विश्राम भी नहीं करने पाये, उलटे पाँव लौटना पड़ा। लक्ष्मणजी ऐसा सुन्दर अवसर भला क्यों चूकने लगे। उन्होंने साले साहबसे कहा—'प्रयागदासजी, हम भी बैठ लें? हमें भी ले चलोगे?' प्रयागदासजी बड़े प्रसन्न हुए। बोल उठे—'हाँ-हाँ, चलो सब लोग चलो।' सरकारने कहा—'प्रयागदासजी तुम जाओ। ये ऐसे ही कहते हैं।' बेचारे रह गये। बड़बड़ाते हुए चले। अपना रिस्ता उलटकर गाली देते हुए बकने लगे—'देखो चलना-वलना कुछ

नहीं, मुझसे ठट्ठा करता है। किसीने कुछ नहीं किया। ये सब आप ही वनमें आये हैं। सोनेका महल काटता है, वन-बीहड़ अच्छा लगता है! बहिन तो भोली-भाली है, साथ-साथ चली आयी। जो वह कहता है, वही करती है। जंगलमें हरे-भरे पेड़-पल्लव और पंछी-हिरन देखती है, बस, जानती है, वन बड़ा सुहावन। जब देखेगी बाघ तब न जानेगी? देखो न, काँटों-कुशोंमें उसे लिये फिरता है। बड़े नेमी बने हैं, पलंगपर नहीं बैठेंगे! मुझे भी साथ नहीं लिया। जान गया कि इसके साथ रहनेसे इसकी बहिन सचेत हो जायगी। अयोध्या लौटनेको कहेगी। है बड़ा चतुर……। वह छोटा भी बड़ा खोटा है, कहकर नहीं चला।' इत्यादि बकते-झकते प्रयागदासजी जाने लगे। कौतुक-प्रिय कृपालु भगवान् प्रिया-अनुज समेत मुसकराते रहे!

मन्दाकिनी-स्नान करके जैसे प्रयागदासजी अपना बोझ उठाकर चले, वैसे ही वे श्रीअयोध्याजी पहुँच गये। उन्हें उस समय तो यही मालूम हुआ कि वे पैदल चलकर ही आये हैं, पर पीछे जब (अनुभवसे) जान गये, तब कहने लगे—'देखो, रहने भी नहीं दिया और उठाकर फेंक दिया।' कई दिनोंतक यही बका किये। फिर दूसरा दृश्य खींचा और उसकी भावनामें विभोर हो गये। दिन-रात उनका यही हाल था।

श्रीअयोध्याजीमें चित्रकूटजीसे आकर एक नीमके पेड़-तले उन्होंने अपना आसन जमाया। जैसा भगवान्ने कहा था, उन्होंने ठीक वैसा ही किया। खाट बिछायी, उसपर तोशक, उसपर आपरूप आप। अपनी एक वाणीमें उन्होंने इसका वर्णन भी किया है—

नीमके नीचे खाट बिछी है, खाटके नीचे करवा।
प्रागदास अलमस्ता सोवे, राम-ललाको सरवा॥

वह प्रसिद्ध पद्य भी इन्हींका है, जिसका अन्तिम चरण यह है।

प्रागदास प्रहलदवा कारन रघवा ह्वै गयो बघवा॥

इसी तरहकी उनकी मस्तानी अटपटी वाणियाँ होती थीं। प्राचीन अयोध्यावासी सज्जन कभी-कभी कहा करते थे और उनके विचित्र चारु चरित्रोंकी चर्चा किया करते थे।

परमहंस मामा प्रयागदासजीको हुए चार-पाँच पीढ़ियाँ हुई हैं। लगभग डेढ़ या पौने दो सौ वर्ष हुए होंगे।

नारायण स्वामी

श्रीनारायण स्वामीका जन्म सं० १८८५ वि० में रावलपिण्डी जिलेके सारस्वत ब्राह्मणकुलमें हुआ था। तीस-इकतीस वर्षकी अवस्थामें ये वृन्दावन आकर लालाबाबूके मन्दिरमें दफ्तरका काम करने लगे। दिनमें नौकरी, रातमें रास-विलास और सत्संग। प्रेम और वैराग्यका ज्वार जोरसे बढ़ा और आपने सब कुछ त्यागकर संन्यास ग्रहण किया—वह था प्रेममय संन्यास। यमुनाजीके किनारे ये निवास करते थे!

स्वामीजी बड़े ही सरल और उदार स्वभावके थे। कामिनी और कांचनको विषके समान समझते। अपरिग्रहकी तो आप मूर्ति ही थे। मान-बड़ाईसे तंग आकर आप वृन्दावन छोड़कर कुसुमसरोवरपर रहने लगे। प्रेम ही आपकी साधनाका प्राण था। ये श्रीकृष्णको ही ब्रह्मकी प्रतिष्ठा—ब्रह्मका आश्रय—आधार मानते थे। आपका यह पद भक्तोंका हृदयहार है—

जौं लौं तोहि नंदको कुमार नहीं दृष्टि पर्‌यौ,
तौ लौं तू बैठि भले ब्रह्मको बिचार लै।

फाल्गुन कृष्णा ११, संवत् १९२७ में श्रीगोवर्धनके समीप कुसुमसरोवरपर श्रीउद्धवजीके मन्दिरमें स्वामीजीका देहावसान हुआ। इनके शिष्य ठाकुर महान्चन्द्रजीने वहाँपर एक समाधि बनवा दी है।

'ब्रजविहार' नामसे आपके भक्तिरसपूरित भजनोंका संग्रह छपा है। आपके दोहे बहुत ही प्रसिद्ध हैं। आपका प्रेम अपनी अनन्यता और मधुरतामें भक्तोंके लिये ईर्ष्याकी वस्तु है। आपके दो पद यहाँ दिये जाते हैं—

स्याम-दृगनकी चोट बुरी री।
ज्यों-ज्यों नाम लेति तू वाको, मो घायल पै नौन पुरी री॥
ना जानौं अब सुध बुध मेरी, कौन बिपिनमें जाय दुरी री।
नारायन नहिं छूटत सजनी, जाकी जासों प्रीति जुरी री॥

जाहि लगन लगी घनस्यामकी।
धरत कहूँ पग परत कितेहूँ, भूल जाय सुधि धामकी॥
छबि निहारि नहिं रहत सार कछु घरि पल निसि दिन जामकी।
जित मुँह उठै तितेही धावै सुरति न छाया घामकी॥
अस्तुति निंदा करौ भलै ही, मेड़ तजी कुल गामकी।
नारायन बौरी भईं डोलै, रही न काहू कामकी॥

एक बाल संत

(लेखक—श्रीस्वामी विमलानन्द तीर्थ उदयन)

श्रीवृन्दावनधाममें एक वृद्ध संत रहते थे। द्रुम-लता ही उनका आहार था। कुंजवनमें सतत विचरण करना ही उनकी चर्य्या थी। सदा महारसमें प्राप्त रहना, तनकी सुधि विसारे रहना और अश्रुप्रवाहसे कपोलोंको भिगोते रहना उनका स्वभाव था। उनमें बड़ा आकर्षण था। जहाँ वे बैठ जाते वहाँके पशु-पक्षी उन्हें घेर लेते। कभी बाछा उनके चरणोंमें लोटता और कभी पक्षियोंका जोड़ा उनके हाथपर बैठ जाता। वे उन्हें प्यार करते, दुलराते और उनसे बातें करते थे। 'जाव चरो-चुगो, अब मैं जाता हूँ' कहकर उन्हें विदा कर देते और स्वाभाविक मस्तीमें उठकर चल देते। अपने गुरु महाराजकी आज्ञासे वहाँ मैं गया और सेवामें स्वीकार किये जानेकी प्रार्थना की। उस समय महापुरुष एक वृक्षके नीचे टहल रहे थे। वहाँ बड़ी खुशबू फैली हुई थी, हालाँकि वहाँ कोई भी पुष्प-वृक्ष नहीं था। यह चरित देखकर मैं चकित रह गया। महात्माने मेरी प्रार्थनापर ध्यान दिया। कहा—'अच्छे आये! अन्त समयके साथी। रहो, जो सेवा तुमसे हो सके, करो। यहाँ तो अभी कुछ सेवा है ही नहीं। पर चेत रखना वह प्राण-प्यारा भूलने न पावे। रामनामकी ध्वनि जगाते रहना। यही मेरी सेवा है। सुनो! चिड़िया क्या गा रही है?—राम रटो, राम रटो।' इस अमृतबानीको सुनकर मेरा हृदय उछलने लगा। उसी समय कहींसे मुरलीकी तान सुन पड़ी। फिर जो मस्तीका रंग मुझपर चढ़ा, उसका वर्णन करनेकी योग्यता ही मुझमें नहीं रही। मेरा परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान, ध्यान, धारणा सब उस गोपियोंके दुकूल चुरानेवालेने अपहरण कर लिया। मैंने कहा—'सब सम्पत्ति तो ले ही ली, रहा हृदय-उसे भी छबि दिखलाकर हर लेते तो छुट्टी मिलती।' बाबाने कहा—'अरे! उस सुदूर विटपावलीकी ओर देखते क्यों नहीं? वहीं तो वह त्रिभंगी वंशी बजा रहा है। अहा हा! कैसी छटा है? आँखोंमें लावण्य और अधरोंमें मधुरिमा।' मेरी दृष्टि उधर फिरी। दर्शन करते ही मेरा हृदय निकलकर उस छबि-समुद्रमें हिलोरें लेने लगा। मैं अपने अस्तित्वको खो बैठा। फिर क्या हुआ, मैं कुछ नहीं जानता। जब चेतना हुई तब मैंने देखा कि महात्माजी हाथ पकड़कर मुझे उठा रहे हैं और कह रहे हैं—'बच्चा, राम-राम कहो, देर हुई जाती है।' मैंने अपना मत्था बाबाके चरणोंपर रख दिया। मैंने कहा—'लोग कहा करते हैं कि सेवा करनेसे मेवा मिलता है। यहाँ मैंने कुछ भी सेवा नहीं की, केवल सेवा करनेकी लालसा लेकर आया था, किन्तु आपकी कृपासे अनायास भरपेट खानेको मेवा मिला।' बाबाने कहा—'उठो, चलो, यमुना-तटपर चलें। वहाँ तुमसे कड़ी सेवा ली जायगी।' मैं हर्षित हो उठा और बाबाके साथ-साथ यमुनातटपर पहुँचा। वहाँ किनारे बैठकर बाबाने कहा—'देखो, यह शरीर बहुत जीर्ण हो गया। मैं अभी चोला बदलूँगा। तुम घबराना नहीं। जब कपड़ा पुराना हो जाता है तब उसे बदल देना ही उचित है। मैं वैकुण्ठमें नहीं जाऊँगा। फिर जन्म लूँगा। कहाँ जन्म लूँगा? सो तुम्हें बताये देता हूँ। सालभर बाद तुम वहाँ आना। भुजा और नाभिपर जो लाञ्छन है, वह उस शरीरपर रहेगा, देखकर पहचान लेना।' मैं तो इन बातोंको सुनकर सन्न हो गया। बाबाने फिर कहा—'जब तुम मुझे शिशुरूपमें मिलना, तब यह त्रयोदश अक्षरवाला मन्त्र मेरे प्रति उच्चारण करना'—

श्रियं रामं जयं रामं द्विर्जयं राममीरयेत्।
त्रयोदशाक्षरो मन्त्रः सर्वसिद्धिकरः स्मृतः॥

मैंने इस मन्त्रको कण्ठ कर लिया। तब अनायास

बाबाजीने शरीर त्याग कर दिया। भगवत्पार्षदोंके साथ वैकुण्ठमें जानेसे इनकार कर दिया और पितृयानपर चढ़कर चन्द्रलोकको प्रस्थान किया। भगवान्‌के पार्षद यह देखकर चकित रह गये। एकने कहा भी—'संतजी मौज, मुक्ति निरादर भक्ति लुभाने।' 'जब स्वयं वैकुण्ठनाथ उनके पीछे-पीछे डोलते हैं, तब वे वैकुण्ठ लेकर क्या करेंगे'—दूसरे पार्षदने कहा। इस प्रकार बातें करते हुए वे दिव्य विमान लेकर वापस गये। बाबाजीके प्रसादसे यह सब काण्ड होते हुए अपनी आँखों देखा और दिव्य पुरुषोंकी वाणी सुननेका अधिकारी हुआ। अनन्तर मैंने बाबाके बताये हुए मन्त्रको सावधानतापूर्वक कण्ठ करके, बाबाकी अन्त्येष्टि क्रिया करके काशीके लिये प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचकर श्रीगुरु महाराजसे सब वृत्तान्त निवेदन किया। सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए और बहुत-बहुत आशीर्वाद दिया। सालभरके बाद महाराजने फिर आज्ञा दी कि 'बाबाके बताये हुए पतेसे उस ग्राममें जाकर शिशुका वृत्तान्त जान आओ।' मैं भी यही चाहता था। मैं चल पड़ा। उस गाँवमें गया। पता लगा कि अमुक गृहस्थके घर ऐसा सुन्दर और सुशील शिशु पैदा हुआ है कि दूध पीनेके लिये भी नहीं रोता। मैंने अनुमान किया कि ऐसे शिशु महापुरुष ही हो सकते हैं। मैं वहाँ पहुँचा। द्वारपर बैठ गया। भीतरसे एक कन्या भीख लेकर आयी। मैंने कहा कि 'संन्यासी बना-बनाया भोजन करते हैं, अमनियाँ लेकर बनाते-खाते नहीं।' यह सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुई। भीतर गयी। फिर जल लेकर आयी, चरण पखारकर भीतर लिवा ले गयी। सुन्दर आसनपर बैठाकर उसने प्रेमसे मुझे भोजन कराया। भिक्षा करके जब मैं बाहर आया और चौकीपर बैठा तब वही कन्या गोदमें शिशुको लिये हुए आयी। अंगभूत लांछनको देखकर मैं पहचान गया। मन-ही-मन प्रणाम करके मैंने उस शिशुको अपनी गोदमें ले लिया। उस समय बड़ा ही आनन्द प्राप्त हुआ। मैंने त्रयोदशाक्षर मन्त्रका उच्चारण किया। शिशु घूरकर मेरी ओर देखने लगा। इससे मुझे अपूर्व सन्तोष हुआ। कुछ देरतक बच्चेसे लाड़ लड़ाकर मैंने उसे फिर कन्याके गोदमें दे दिया। तबतक वह शिशु बराबर मेरी ओर ताकता ही रहा। उस समयकी अपनी अवस्था क्या कहूँ? न टलते बने, न ठलते बने। जब वह कन्या बच्चेको लेकर भीतर चली गयी, तब मैं वहाँसे उठा और गाँवके बाहर एक पोखरेपर जाकर चलदल वृक्षके नीचे आसन लगाया। दूसरे दिन मैं काशीको लौट गया। श्रीगुरु महाराजसे शिशुवृत्तान्त कह सुनाया और अमोघ आशीर्वाद प्राप्त किया।

चार वर्ष बाद फिर वहाँ जानेकी आज्ञा हुई। मेरे जीमें उत्सुकता थी ही, केवल आज्ञाकी देर थी। मैं तुरन्त चल पड़ा। चलते समय श्रीगुरु महाराजने उपदेश दिया कि 'अबके उस गाँवमें कुटी बनाकर रहना और बाल-संतकी लीला देखना।' इस उपदेशसे मैं बहुत प्रसन्न हुआ। उस ग्राममें पहुँचकर उसी वासुदेव वृक्षके नीचे एक झोंपड़ी डालकर रहने लगा। प्रतिदिन स्नान-ध्यान करके शिशु-द्वारपर पहुँच जाता, बच्चेके साथ खेलता और भिक्षा करके चला आता। एक दिन अपूर्व घटना घटित हुई। शिशुकी दो बहिनें थीं—बेला और चमेली। बेलाने एक तोता पाल रखा था। जाड़ेके दिन थे। महावीरजीके चबूतरेके नीचे बेला शिशुको खेला रही थी। एक पिंजड़ेमें तोता भी वहीं था। मैं वहाँ उसी समय पहुँचा। मन्त्रोच्चारणपूर्वक शिशुका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। गम्भीर बालकने गम्भीर वाणीसे एक तत्त्वगर्भित पद्य कहा। जैसे-जैसे वह उसे सुस्पष्ट शब्दोंमें कहता जाता था तैसे-तैसे तोता, बेला और मैं मन्त्र-मुग्धकी तरह उसे दुहराते जाते थे। वह पद्य इस प्रकार है—

विलसत कमलपर इक प्रान।
कौन सर सों कमल उपजा कहाँ छिति परमान।
कवन भँवरा जलज जोहै परखि लेहु सुजान॥
शेष कार्य अशेष कारण परे आतम आन।
संत सदगुरु दया होतहि सहज प्रगटत ज्ञान॥

अनन्तर सुग्गा पिंजड़ेसे निकलकर बालककी भुजापर बैठ गया। उस अद्‌भुत बालकने उसे पकड़कर अंजलिमें बैठा लिया और उठकर 'श्रीराम जय राम जय-जय राम' गा-गाकर नाचने लगा। पैजनी और

किंकिणी बजकर ठीक-ठीक तालस्वर देने लगीं। बेलाने देखा कि भैया नाचते-नाचते थक गया है, उसे गोदमें उठाकर वह भी वही मन्त्र गाकर नाचने लगी। मुझसे भी नहीं रहा गया। मैंने बालकको उसकी गोदसे लेकर कंधेपर चढ़ा लिया और वही मन्त्र गाकर मैं भी नृत्य करने लगा। उस गान और नृत्यमें जो सुख मिला उसकी कल्पना चक्रवर्ती राजा भी नहीं कर सकते। इतनेमें आस-पासके लोग-लोगाई आकर्षित होकर आ गये। बालक मेरे कंधेपरसे उतर पड़ा। शुकको पिंजड़ेमें पधरा दिया और आप चुपचाप पालथी मारकर बैठ गया। बेला भी शान्त बैठी थी और मैं भी लीलाके रहस्यपर गम्भीरतापूर्वक विचार करता हुआ मौन साधकर बैठ गया। दर्शक बेचारे टुकुर-टुकुर देखते ही रह गये। उस शान्तिके वातावरणमें किसीसे कुछ पूछनेका साहस भी किसीको नहीं हुआ। शनैः-शनैः शान्तिका पाठ पढ़ते हुए वे अपने-अपने धन्धेमें लग गये। मैं अपने मनकी स्थितिको बुद्धिके सहारे सँभालता रहा। सम्पूर्ण घटनाका सिंहावलोकन करनेपर मैंने यही निश्चय किया कि बाल-संतकी चिति-शक्तिके ही प्रभावसे सारी लीला हुई है। रहस्यज्ञ होनेसे मुझे इस अद्‌भुत लीलामें कुछ आश्चर्य नहीं हुआ, परन्तु बेला सन्देहमें पड़ गयी और बहुत डर गयी। उसके मनमें यह बात बैठ गयी कि भैयाके अंगपर कोई देवता सवार हो गया है। उसने मुझसे अपने विचारका समर्थन करानेके लिये कहा—'स्वामीजी देखिये! भैया कितना बडा नादान है, अभी तुतलाकर बोलता है, कुछ पढ़ा-लिखा नहीं, वह एकबारगी पण्डित-पुरुखाकी तरह विष्णुपद गाने लगा। यह कितने बड़े आश्चर्यकी बात है। जो अनुमानसे भी परेकी बात है वही हुई। हो-न-हो, इसके सिरपर थोड़ी देरके लिये किसी पण्डितका भूत सवार हो गया था। उसने हम सबको नचा डाला। अब भूत उतर गया है। देखिये, चुपचाप बैठा हुआ है, मानो कुछ हुआ ही नहीं है।' मैंने उस देवीसे पूछा—'इस नृत्य-गानमें तुमको सुख प्राप्त हुआ है कि दुःख?' उसने कहा—'अपार सुख, जैसा कभी मिल नहीं सकता।' मैंने उससे कहा—'जब तुमको सुख मिला है, तब जान लो कि भूत नहीं सवार हुआ है, भगवान् सवार हुए हैं। क्योंकि भूत दुःख देता है और भगवान् सुख देते हैं। भगवान् तो हमारे-तुम्हारे सबके हृदयमें बैठे हुए हैं, वही सब लीला करते हैं, हम लोग श्रीहरिके हाथकी कठपुतली हैं। वही भगवान् हमारी रक्षा करते हैं। फिर, डर किस बातका!' बेलाकी समझमें यह बात आ गयी, वह प्रसन्न हुई। मैंने उसको चेता दिया कि 'इस घटनाकी चर्चा किसीसे मत करना, मन-ही-मन स्मरण करके उसका आनन्द लेना, इसीमें तुम्हारा कल्याण है।' वह बालकको लेकर घर गयी और मैं भी भिक्षा करके अपनी कुटीपर आ गया।

जैसे भगवान्‌के बालचरित सुखदायी हैं वैसे ही संतोंकी बाललीलाएँ भी कम सुखप्रद नहीं, क्योंकि संत और भगवन्तमें कुछ भी अन्तर मानना भारी भूल है।

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

ईश्वरपर निर्भर रहकर ही दुनियाकी गुलामीसे छूटा जा सकता है। धर्मके अनुष्ठानसे जो फल मिले उसे श्रीप्रभुप्रेमके लिये उत्सर्ग कर दो। ईश्वराज्ञाका पालन करनेपर ही सच्चा आनन्द मिलेगा।

प्रेमनिधि

(लेखक—श्रीअवधकिशोरदासजी)

श्रीप्रेमनिधिजी आगरेके रहनेवाले थे। आपकी आकृति बड़ी सुन्दर, वाणी बड़ी मीठी और व्यवहार बड़ा ही कोमल था। नाभाजीने भक्तमालमें इनका वर्णन किया है। इनका नियम था कि प्रात: काल और लोगोंके आने-जानेसे पहले ही भगवान्के लिये यमुनाजल भर लाते। एक दिन रात बड़ी अँधेरी थी। वर्षाके कारण मार्गमें कीचड़ हो गया था, उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। उँजेला होनेपर औरोंसे छू जानेका भय था। वे घरसे निकल पड़े, अब भला भगवान् कैसे ठहरते? उन्होंने एक बालकका वेश धारण किया और दीपक लेकर उनके पीछे-पीछे चलने लगे। प्रेमनिधिजीने सोचा कि यह अपने कामसे कहीं जाता होगा। परन्तु यह तो इन्हींके कामसे जा रहे थे। यमुनामें साथ ही स्नान किया और फिर इनके पीछे-पीछे घरतक आया। घरमें प्रवेश करते समय जब प्रेमनिधिजीने पीछे घूमकर देखा तो कहीं पता नहीं। अब तो ये फूट-फूटकर रोने लगे। इनका प्रेम और भी बढ़ गया!

एक बार कुछ लोगोंने बादशाहसे इनकी शिकायत की कि ये तो स्त्रियोंको कथा सुनाते हैं और एकान्तमें उनसे न जाने क्या-क्या कहते हैं। बादशाहको बड़ा क्रोध हुआ और उसने इन्हें जेलमें बंद कर दिया। ये भगवान्की सेवा करने और पानी पिलानेके लिये व्याकुल हो गये। स्वप्नमें बादशाहको भगवान्ने बहुत डाँटा और इन्हें छोड़ देनेकी आज्ञा की। ये छूटकर अपने घर आये और आते ही भगवान्ने इनसे कहा—'बड़ी प्यास लगी है जल्दी पानी पिलाओ।' भगवान् प्रकट हुए, इनके हाथों पानी पिया और बहुत-सी प्रेमभरी बातें करके अन्तर्धान हो गये। बस, यही तो मनुष्य-जीवनका एकमात्र परम फल है।

पशुयोनिप्राप्त संत

(श्रीजानकीदासजी)

सुप्रसिद्ध तपस्वी श्रीमहन्त जगन्नाथदासजी डाँड़ियाकी जमातमें एक ऊँट रहता था। रामत्वमें ठाकुरजीका सब सामान बरतन-भाँड़े आदि उसकी पीठपर लाद दिये जाते थे। साधु लोग अपना आसन-डासन भी उसपर रख देते थे। यदि कोई साधु पिछड़ गया और उसकी गठरी नहीं चढ़ायी जा सकी एवं वह पीछेसे दौड़ता हुआ गठरी रखने आया, तो वह ऊँट बिना उज्र तुरन्त बैठ जाता और उसकी गठरी रखवाकर चल देता। इससे उसके शील-गुणका परिचय मिलता है।

उसका नाम 'जानकीदास' था। बड़ी-बड़ी मनियाँकी तुलसीमाला उसके गलेमें पड़ी हुई थी। आरतीके समय सब साधुओंकी तरह वह भी आता, आरती हो जानेतक खड़ा रहता, फिर बैठकर भगवत्-भागवतको नमन करके, एक आचमनी चरणामृत लेकर अपने आसनपर चला जाता। इस स्वभावसे उसकी आस्तिकता, धर्मनिष्ठा एवं सदाचारिता टपकती है। ये भागवतके लक्षण हैं।

एक बार श्रीमहन्तजीने 'जानकीदास' नामधारी किसी दूसरे साधुको पुकारा। वे साधु तो आसनपर थे नहीं, किन्तु ऊँट जानकीदासजी स्वाभाविक अरबी भाषामें प्रसन्नताकी ध्वनि करते हुए पहुँच गये। महन्तजीके सामने खड़े हो गये। इस चरितको देखकर सब लोग हँसने लगे। महन्तजीने अपने गलेका सुन्दर हार पहना दिया। फिर उसी अरबी भाषामें तुमुल हर्ष-ध्वनि करके अपने आसनपर चले गये।

आपका आहार विचित्र था। बड़े प्रात:काल आप सेरभर गाँजेका दम लगाते थे। सुविशाल दीर्घकाय चिलममें एक सेर गाँजा जमा दिया जाता था। मिट्टीके हुक्केपर रख दिया जाता था। लंबी और बहुत ऊँची निगाली लगाकर उसके मुँहमें पकड़ा दी जाती थी। ज्यों ही एक चिनगी आगकी चिलममें डाली जाती थी, त्यों ही आप ऐसा दम खींचते थे कि सब गाँजा एक ही फूँकमें बल उठता था, जल जाता था। देखनेवालोंके लिये अपूर्व दृश्य उपस्थित हो जाता था। दोपहरको भगवत्-प्रसाद, जो कुछ भण्डारमें भोग लगता था, सब

एकमें मिलाकर एक छिछले लंबे-चौड़े मिट्टीके बरतनमें पाँच फिट ऊँचे काष्ठ-मंचपर रख दिया जाता था। आप बड़ी रुचिसे और ऐसी युक्तिसे प्रसाद सेवन करते थे कि एक दाना भी नीचे नहीं गिरता था। बरतनका प्रत्येक कोणतक चाट जाते थे। फिर उसी मंचपर नाद रख दिया जाता था। उसमें ऊँचेपरसे जल छोड़ा जाता था और आप पीते जाते थे। सन्ध्या समय दो पंसेरी नीमकी पत्ती चबा जाते थे।

आप भगवत्कथाके बड़े प्रेमी थे। अपराह्नमें, जब जमातमें कथा होती, तब आप प्रतिदिन व्यासगादीके पीछे कुछ दूरपर बैठकर कथा सुनते थे। जब कोई प्रसंग बहुत हृदयग्राही हुआ, तो अपनी अरबी भाषामें हर्षोत्फुल्ल होकर कुछ कह जाते थे, जिसका तात्पर्य समुपस्थित लोग कुछ भी नहीं समझ सकते थे। बियावरमें पड़ाव पड़ा था। वहाँ अच्छे शिक्षित मुसलमान लोग भी रहते थे। उनमेंसे एक मौलवी जमातमें कथा सुनने आये हुए थे। व्यासजी श्रीभरत-मिलापका प्रसंग बाँच रहे थे। वक्ता और श्रोता—सभीके नेत्रोंसे मोतीके दाने झर रहे थे, सबके अंग पुलकित थे। प्रसंग ही प्रेमका था, तब क्यों न सबकी एक-सी दशा हो? ऊँट बाबा कई बार उठे और बैठे, अश्रुपात हो रहा था। आप अपनी बोलीमें बोल उठे। 'कुलशय फिकाल ताला व तकदुस……।' इसको सुनकर समुपस्थित मौलवी साहब आश्चर्यचकित हो गये। कथासमाप्तिपर उन्होंने श्रीमहन्तजीसे कहा—'आपका ऊँट तो कुरानशरीफकी एक आयत पढ़ रहा था। मालूम होता है कि उसे कुरान हिफ्ज (कण्ठस्थ) है। मैं तो सुनकर हैरान हो गया। यह तो सच्चा और पक्का मुसलमान है। आपने इस बेशकीमत चीजको कहाँसे पाया?' महन्तजीने जानकीदासजीका वृत्तान्त बड़े प्रेमसे सुनाया। किस तरह एक मुगल सिपाहीने फौजकी कमानसे लौटते हुए पेशावरमें दो शाल, ढेरों मेवे, पचीस रु० नकदके साथ इस ऊँटको अर्पण किया था। किस तरह गाँजा पीनेकी इच्छा संकेतद्वारा ऊँटने प्रकट की थी, और पूरा प्रबन्ध किया गया। किस तरह तुलसीमाला गलेमें पहनाने और भगवत्-प्रसाद पानेकी इच्छा मालूम की गयी। किस प्रेम और निष्ठासे वह भगवत्कैंकर्य (भगवत्-भागवतका सामान ढोना) करते हैं, कैसी अच्छी समझदारी है। मुख्य-मुख्य सब बातें बताकर श्रीमहन्तजीने कहा—'यह जीव नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेता है। पुनर्जन्मका चक्र चल रहा है। यह ऊँट पूर्वजन्ममें मनुष्य ही रहा होगा और अरबकी तरफ जन्मधरती होनेके कारण मुसलमान रहा होगा और कुरान शरीफ पढ़ी होगी। इस पशुयोनिमें प्राप्त होनेपर भी पूर्व धार्मिक संस्कार बना हुआ है, धर्माचरणहीमें प्रवृत्ति है, आजतक किसी साधुको इसने रुष्ट नहीं होने दिया। गलेकी मालाकी गुरिया खसका करती है, जिससे विदित होता है कि भगवत्-भजनका सिलसिला बराबर जारी है।'

मौलवीने कहा—'मेरे पिताजी संस्कृत नहीं पढ़े हुए थे, लेकिन गीताके श्लोक उन्हें जबानी याद थे। जब लोग पूछते कि बिना किसीसे पढ़े आपको कैसे हासिल हुआ, तब आप जवाब देते—'इस जन्ममें न सही तो उस जन्मका पढ़ा हुआ है।' पुराने जमानेमें नैशापुरमें एक मुसलिम पाठशाला थी। उसका एक अध्यापक मरकर गदहा हो गया था। एक दिन ईंटोंका बोझ उसपर लादकर जब मकतबके द्वारपर उसे ले गये तब वह अड़ गया। सीढ़ीपर चढ़ता ही नहीं था, कितनी भी क्यों न उसपर मार पड़ती। वहाँ एक व्यक्ति रहता था, जो इस रहस्यको जानता था। उसने गदहेके कानमें वही बात कह दी और गदहा तुरंत सीढ़ीपर चढ़ गया।'

एक बार हरिद्वार-कुम्भपर जमात जा रही थी। मार्गमें वृन्दावनमें पड़ाव पड़ा। फाल्गुन महीना था। होली वृन्दावनकी मनाकर चैत्रमें जमात हरिद्वारके लिये प्रस्थान करनेवाली थी। रंग एकादशी अथवा शृंगारी एकादशीको प्रात:काल ऊँट बाबाने गाँजेकी बडी चिलम, जल पीनेका नाद और मिट्टीकी तस्तरी फोड़ दी। यह असाधारण बात थी। ऐसा कभी नहीं हुआ था। सुनकर महन्तजी आये। उन्होंने फोड़नेका कारण पूछा। इसके उत्तरमें ऊँट बाबाने अगले दो टाँगोंको उठाकर यह सूचित किया कि पर प्रस्थानका समय आ गया। तब महन्तजीने फिर पूछा—'जो तुम्हारी अन्तिम इच्छा हो, उसे प्रकट करो।' इसके उत्तरमें ऊँट बाबा बैठ गये

और दक्षिण कानको ऊपर कर दिया। इसका तात्पर्य महन्तजी तुरन्त समझ गये। जल मँगाया। शुद्धि संस्कार करके तारक मन्त्रका उपदेश दिया। उसी समय उनका सिर फट गया और प्राणकी लौर निकलकर आकाशमें विलीन हो गयी। 'जानकीदासजीने पशु-योनिमें प्राप्त होकर भी योगियोंकी-सी परमगति पायी'—इस विचारसे हर्षित होकर सब लोग जय-जयकार करने लगे।

रघुपति चरन उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते॥
बन्दौ पद-सरोज सब केरे। जे बिनु काम रामके चेरे॥

—बालकराम विनायक

भक्त चाण्डाल

(लेखक—पं० श्रीबालचन्दजी शास्त्री)

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं
यद्देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि।

कुछ समयकी बात है, एक श्रद्धालु ब्राह्मण बरसानेमें श्रीराधाजीको भागवतका पारायण पाठ सुनाने आये थे। उन्होंने बड़े प्रेमसे सप्ताहयज्ञ पूर्ण किया। फिर उनकी यह इच्छा हुई कि एक पाठ नन्दगाँवमें भी सुनाऊँ। इस शुभ संकल्पके मनमें आते ही वे वहाँसे चल दिये। रास्तमें अकेले थे, इसलिये उन्हें बटमारोंका भय हुआ। सोचने लगे, कोई दूसरा भी नन्दगाँवका साथी मिले तो उसीके साथ जाना ठीक होगा, यह विचारकर वे एक स्थानपर ठहर गये और किसी संगीके आनेकी प्रतीक्षा करने लगे। थोड़ी देर बाद एक चाण्डाल उधर आ निकला, उसे भी नन्दगाँव ही जाना था, यह जानकर पण्डितजी बहुत प्रसन्न हुए और सामान सँभालकर उसके साथ हो लिये। नन्दगाँवमें पहुँचकर बस्तीके बाहर ही एक कुएँपर पण्डितजी ठहर गये और झोरीमेंसे लोटा-डोर निकालकर पानी भरा। स्वयं पानी पीकर उन्होंने चाण्डालसे कहा—

अरे श्रमार्तोऽसि कपालखण्डं
समानयाम्बु प्रददामि तेऽपि।
समाप्नुवो ग्राममम्नुं च नान्दं
निपीय पानीयमथ प्रविश्यताम्॥

'अरे! तू भी थक गया है, देख कहीं कोई खपरा पड़ा हो तो ले आ, तुझे भी पानी दे दूँ। अब हमलोग नन्दगाँवमें आ चुके हैं, पानी पीकर गाँवमें प्रवेश करें।'

पण्डितजीकी बात सुनकर चाण्डाल बोला—

अत्रास्मदीया नरपालपुत्री
विवाहिता प्राङ् नृपनन्दजाय।
तेनात्र जातं न पिबामि वारि
श्रुतं च पुत्रीधनमुज्झनीयम्॥

'बाबा' मैं भूलकर भी ऐसी गलती नहीं कर सकता। पूर्वकालमें हमारे बरसानेके मालिक राजा वृषभानुकी पुत्री यहाँके स्वामी नन्दरायजीके बेटेसे ब्याही गयी थीं, इसलिये मैं यहाँका जल नहीं पीता हूँ, मैंने सुना है कि बेटीका धन त्याग देना चाहिये, उसे अपने काममें नही लाना चाहिये।

श्रुत्वा गिरं रज्जुयुतं च पात्रं
तदन्त्यजास्यात् परिहाय भूमौ।
भावप्लुतस्तत्पदयोः पपात
धन्यस्त्वमेवेति सृजन् दृगम्बु॥

उस चाण्डालके मुखसे ऐसा वचन सुनकर पण्डितजीने लोटा और डोर तो जमीनपर फेंक दिये और स्वयं भावावेशमें विभोर होकर उसके चरणोंपर गिर पड़े। वे उस समय आँखोंसे आँसू बहाते हुए कहने लगे—भाई! इस जगत्में एकमात्र तुम्हारा ही जीवन धन्य है! तुम्हीं धन्यवादके पात्र हो, अहो! श्रीराधा और गोविन्दके विषयमें तुम्हारी कितनी उदात्त भावना है! धन्य!! धन्य!!!

व्रजभूमिमें ऐसे अनेकों संतरत्न हो गये हैं और होते रहते हैं।

राजयोगी श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी

(लेखक—पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल)

भारतभूमि सदा ही रत्नप्रसविनी है। प्रतिभाशाली कवि, दार्शनिक और सुलेखकोंकी बात छोड़कर केवल धर्मवीरोंके प्रति दृष्टि डालनेसे भी यह बात सम्पूर्णतया सत्य सिद्ध होती है। इस नितान्त दुरवस्थाके समय—इस घोर कलियुगमें भी अकलंक धर्मवीरोंकी ज्योतिप्रभासे भारतवर्ष निरन्तर प्रकाशित है। भारतवर्षमें जिस समय आपातदृष्टिसे सर्वथा धर्महीन ऐहिकता, विलासिता और आडम्बरप्रियताके घने कुहरेसे धर्मका आकाश सर्वथा अन्धकारमय हो रहा था उस समय भी भारतवर्षमें शान्तिप्रिय, तत्त्वज्ञानी, भगवत्परायण योगियोंका कभी अभाव नहीं हुआ। इनमेंसे किसी-किसीने ही लोकसमाजमें प्रसिद्धि प्राप्त की, अधिकांश महात्मा तो लोगोंकी आँखोंमें बिना ही चढ़े चुपचाप आध्यात्मिक जीवन बिताकर—अपने तपोबलसे सबका कल्याण-साधन कर चले गये, यह कम आश्चर्यका विषय नहीं है। इस दूसरी श्रेणीके महापुरुषोंमें काशीके प्रसिद्ध योगी श्यामाचरण लाहिड़ी महोदयका नाम विशेषरूपसे उल्लेखयोग्य है।

उनके पार्थिव देहका त्याग हुए लगभग ४२ वर्ष बीत चुके हैं। लोकदृष्टिसे परे निर्जन वनमें खिले हुए पुष्पके गन्धको भी जैसे गन्ध वहन करनेवाला पवन तुरन्त ही आसपासके लोगोंके पास पहुँचा देता है वैसे ही वनकुसुम श्रीश्यामाचरणके लोकदृष्टिसे छिपे रहनेपर भी उनके गुणगन्धकी बातें बहुत दूरतक फैलते देर नहीं लगीं। उस समयके बहुत थोड़े ही लोगोंने उनके दर्शन किये थे। बहुतोंने तो उनका नाम भी नहीं सुना होगा परन्तु उनके-जैसे राजयोगी पुरुष सभी युगोंमें दुर्लभ हैं। इस बातको, जो लोग उनके संस्पर्शमें आये हैं, एक वाक्यसे स्वीकार करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें ज्ञानी, योगी और भक्तके जो लक्षण बतलाये गये हैं, योगिराज लाहिड़ी महोदयमें उन लक्षणोंका पूर्ण विकास देखनेमें आता था। उनकी बातचीत, वेश-भूषा अथवा आचार-व्यवहारमें आडम्बरका लेश भी नहीं था। उन्होंने संन्यासतक नहीं लिया था। जैसे साधारण आदमी स्त्री-पुत्र-परिवारके साथ रहते हैं इसी प्रकार वे भी परिवारके साथ ही रहते और जीविकाके लिये कर्म भी करते थे। इतनेपर भी वे इन सब विषयोंसे इतने निर्लिप्त थे मानों संसारका कोई विषय उनको स्पर्श ही नहीं कर सकता था। हृदयदेवताके साथ गूढ़तम मिलनसे प्राप्त अतुल आनन्द उनके मुखमण्डलको सर्वदा मधुर प्रभासे प्रदीप्त किये रखता था। कवि Goldsmith का Eternal sunshine over the mind उन्हींमें चरितार्थ होता था। चारों ओर नाना कर्मोंके भयानक तूफान और बिजलीकी कड़कड़ाहट होनेपर भी उनका हृदय अभ्रभेदी गिरि-शिखरके सदृश ज्ञानकी प्रभा और शान्तिकी स्निग्ध किरणोंसे सदा समुज्ज्वल रहता था। अहंकार और आत्मगौरवका तो उनमें लेश भी नहीं था। सुमधुर और विनयपूर्ण वचनोंसे वे सदा अपनेको इतना ढँके रखते थे कि लोग उनके महत्त्व और अपूर्व योगैश्वर्यका अनुमान भी नहीं कर सकते थे। स्वयं आचरण करके ही दूसरोंको धर्मका उपदेश देना चाहिये। यह बात उनमें पूर्णरूपसे पायी जाती थी। वे किसीको भी यह नहीं जानने देते थे कि उनके पास कितना बड़ा योगैश्वर्य है और इसीके अनुसार अपने शिष्योंको भी वे यही उपेदश दिया करते कि 'अपने को सबसे छोटा समझना।' आप बहुत ही थोड़ा बोलते थे, परन्तु जो दो-चार बातें कहते, उन्हींसे उनके अन्तर्निहित गम्भीर ज्ञानका पता लग जाता था।

अन्यान्य महापुरुषोंकी भाँति वे भी जगत्के कल्याणपर विचार करते थे। परन्तु उनके विचारकी धारा दूसरे ही प्रकारकी थी। जीवका वास्तविक कल्याण किस बातमें है, इसको वे जानते थे और उसी कल्याणमार्गपर उसे अग्रसर करनेके लिये प्रयत्न और व्यवस्था करते थे। इसीसे उन्होंने कबीर, रामानन्द, नानक, दादू आदि महानुभव पुरुषोंकी भाँति योगमार्गके गूढ़ रहस्योंका सबमें प्रचार किया था परन्तु उनके प्रचारका ढंग कुछ निराला था। प्रचारके लिये न तो वे किसीके पास जाते, न देश-देशान्तरमें घूमकर व्याख्यान देते और न अपने कार्यका समाचारपत्रोंमें ही प्रचार करते

थे। वे चुपचाप घरके एक कोनेमें अटल आसनसे स्थिर बैठकर आत्मध्यानमें मग्न रहते। कभी-कभी शास्त्रके और गीताके गूढ़ रहस्योंकी, सुननेकी इच्छावाले भक्तिमान् पुरुषोंके सामने, व्याख्या करते थे। इतना होनेपर भी इन गुप्त महात्माके चरणोंमें न मालूम कितने पथभ्रान्त पथिक, दु:ख-कष्टसे पीड़ित जीव, मुमुक्षु, साधक, गृहस्थ और ज्ञानी आ-आकर बैठते और अपने सन्देहविमूढ़ चित्तके अन्धकार और मलको नष्ट करके प्रसन्नचित्तसे चले जाते थे।

हिन्दूधर्मका अथवा ऋषिप्रोक्त धर्मका समस्त अनुष्ठान योगपर प्रतिष्ठित है। योगाभ्यासके बिना धर्मका गूढ़ रहस्य समझमें नहीं आ सकता। वेद, तन्त्र और पुराणादि शास्त्रोंमें इस बातके स्पष्ट संकेत मिलते हैं। इसीलिये लाहिड़ी महोदय समस्त मानवजातिको मानो न्यूनाधिक रूपसे योगका अभ्यासी बनाना चाहते थे। वे संयमका बहुत ही अधिक आदर करते थे, पर साथ ही उत्कट वैराग्यके भी पक्षपाती नहीं थे। वे कहा करते कि इस युगमें वास्तविक संन्यास सम्भव नहीं है।

विद्या, बुद्धि और धर्मानुशीलनके लिये बंगालमें नदियाकी प्रसिद्धि बहुत अधिक है। उस काल और इस कालके अनेकों पण्डित, साधक, सिद्ध और विद्वानोंके द्वारा यह स्थान अलंकृत हो चुका है। हमारे ये महानुभव ऋषिकल्प पुरुष भी उसी नदिया जिलेकी प्राचीन राजधानी कृष्णनगरके निकट ही 'घरणी' नामक ग्राममें ब्राह्मणकुलमें अवतीर्ण हुए थे। इनके पिता गौरमोहन और माता मुक्तकेशी देवीकी धर्मनिष्ठा प्रसिद्ध थी। इनके जन्म-संवत्का ठीक-ठीक पता न होनेपर भी अनुमानत: ईस्वी सन् १८२५-२६ के लगभग इनका जन्म हुआ था। परन्तु ये अपनी जन्मभूमिमें बहुत दिन नहीं रहे। शायद पाँच-छ: वर्षकी अवस्थामें ही अपने माता-पिताके साथ काशी आकर बस गये थे।

हमने सुना है कि लाहिड़ी महोदयमें अति शिशुकालमें भी बालसुलभ चपलता नहीं थी। ये उस छोटी उम्रमें ही खेलना-कूदना छोड़कर अपने घरके समीप खड़ी नदीके तटपर बालूमें पद्मासन लगाकर बैठ जाते थे। इनका पढ़ना-लिखना काशीमें हुआ। यद्यपि इन्होंने बहुत उच्च शिक्षा नहीं प्राप्त की, तथापि संस्कृत-शास्त्रमें इनकी बहुत अच्छी व्युत्पत्ति थी। ये धर्मके सम्बन्धमें बहुत अधिक कट्टरताके पक्षपाती न होनेपर भी प्राचीन रीति-नीतिकी मर्यादाका पूरा पालन करते थे। अंग्रेजी भाषापर भी इनका अच्छा अधिकार था। छोटी उम्रमें ही आप नौकरी करने लगे थे। बिहार और काशी ही इनकी नौकरीके स्थान थे। ये सरकारी पूर्तविभागमें काम करते थे। कुछ दिनोंके लिये इन्हें सरकारी कामसे दानापुरसे नैनीतालके पास रानीखेत नामक पार्वत्य स्थानमें जाना पड़ा, वहीं इन्हें गुरु प्राप्त हुए। उस समय इनकी उम्र लगभग तीस-पैंतीस वर्षके बीचमें थी। गुरुदेव इनपर अत्यन्त स्नेह करते थे। गृहस्थी होनेपर भी गुरुदेव अपने संन्यासी शिष्योंकी अपेक्षा श्यामाचरणको अधिक मानते थे और उनका आदर करते थे। दीक्षाके बाद भी इन्होंने कई वर्षोतक नौकरी की और इसी समयसे ये गुरुकी आज्ञानुसार लोगोंको दीक्षा देने लगे। लोगोंका कहना है कि दीक्षाके थोड़े ही दिनों बाद इन्होंने साधनमें विशेष उन्नति प्राप्त कर ली थी। किसी-किसीका मत है कि इसी समय इन्हें सिद्धि प्राप्त हो गयी थी। सन् १८८० में आप पेंशन लेकर काशी आ गये और तभीसे चारों ओर इनकी कीर्ति फैल गयी। इसी समय बहुत-से लोगोंने इनका शिष्यत्व स्वीकार किया था। इन्होंने ही बँगलामें पहले गीताका प्रचार किया था, और गीतापर इनकी आध्यात्मिक व्याख्या आज भी ऐसी व्याख्याओंके शीर्षस्थानपर स्थित है। आपने वेदान्त, सांख्य वैशेषिक और योगदर्शनकी, और अनेकों संहिताओंकी व्याख्या भी प्रकाशित की थी। इस तरह बहुत-से शिष्योंकी चित्तकालिमाको धोकर और बहुत-से शास्त्रोंकी आध्यात्मिक व्याख्या कर, गृहस्थ मनुष्य भी योगाभ्यास करता हुआ योगके उच्चातिउच्च शिखरपर आरूढ़ हो सकता है, अपने जीवनसे इस बातको प्रत्यक्ष प्रमाणित कर ईस्वी सन् १८९५ के सितम्बर महीनेमें पूजाकी महाष्टमीके दिन आपने काशीधाममें परमधामको प्रयाण किया। उस समय इनकी उम्र सत्तर वर्षसे अधिक थी। इनके देहावसानके साथ-ही-साथ भारतीय योगसाधनाकी धारा मानो तमसाच्छन्न हो गयी। पता नहीं, इस तमसाच्छन्न स्थितिसे भारतका उद्धार कब होगा।

स्वामी श्रीयुक्तेश्वर गिरि

श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी महाशयके प्रिय शिष्य स्वामी युक्तेश्वर गिरि एक सिद्ध महापुरुष हो गये हैं। संयम और आचारकी आप मूर्ति थे और आपके कठोर अनुशासनके कारण ही बहुत कम शिष्य आपके साथ टिक सके। इन्हें अनेकों सिद्धियाँ प्राप्त थीं। कहते हैं, आपके दर्शनमात्रसे लोगोंका कल्याण हो जाया करता था। ज्योतिषविद्यामें आप बड़े ही निपुण थे। ९ वीं मार्च सन् १९३६ को आप महासमाधिमें प्रवेश कर गये।

जीवन्मुक्त स्वामी निगमानन्द

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीगोपालचैतन्यदेवजी)

जीवन्मुक्त महात्मा निगमानन्दजी परम वन्दनीय आप्तकाम साधुपुरुषोंमें थे। नदिया जिलेके मैहरपुर सब-डिवीजनके अन्तर्गत कुतुबपुर नामक गाँवमें आपका जन्म संवत् १९३५ की श्रावण-झूलन-पूर्णिमाकी रातके दो बजे इस धराधाममें हुआ। पिताका नाम था भुवनमोहन भट्टाचार्य और माताका नाम माणिकसुन्दरी। पिता बड़े ही आस्तिक तथा श्रद्धालु व्यक्ति थे। वे स्वयं एक महान् योगी थे तथा योगी भास्करानन्द महाराजके कृपापात्र शिष्य थे।

स्वामी निगमानन्दजीका बचपनका नाम श्रीनलिनी-कान्त भट्टाचार्य था। ये बचपनमें बड़े नास्तिक थे। जीवनका अन्त मृत्युमें ही मानते थे। परन्तु कालका आघात बड़ा क्रूर होता है। आपकी आँखें खुलीं और धीरे-धीरे परलोक-जैसी कोई वस्तु है ऐसा मानने लगे और फिर पुनर्जन्म और आत्माकी अमरता। इस परिवर्तनमें अन्तर्हित घटना बड़ी मर्मस्पर्शी है। आप एक बार नारायणपुर कैंपमें सेटलमेंटके कामपर नियुक्त थे; अचानक देखा कि टेबुलके पास उनकी मृत स्त्री खड़ी है। बार-बार देखा, गौरसे देखा। मूर्ति अचल खड़ी है। मलिन मुख, विषादपूर्ण आकृति!

अब तो चाट-सी लग गयी। परलोकतत्त्वकी तथा प्रेमतत्त्वके मर्मभरे रहस्योंके जाननेकी उत्कण्ठा जगी। इसीलिये आपने थियासाफिकल सोसायटीमें प्रवेश किया और कुछ ही दिनोंमें प्रेतात्माओंसे बातचीत करने लगे। ये अब मिडियमको हटाकर स्वयं रु-बरु मिलने तथा बात करनेको उत्सुक हुए। इसके लिये आप कलकत्ते लौट आये। यहाँ आपकी मुलाकात स्वामी पूर्णानन्दजीसे हुई। स्वामीजीके दर्शनके बाद आपकी सारी समस्याएँ हल हो गयीं। स्वामीजीने आपको बतलाया, 'तुम अपनी मृता स्त्रीसे मिलना चाहते हो। तुम्हारी स्त्री, प्रत्येक स्त्री उस आद्याशक्ति महामायाकी छायामात्र है। तुम छायाके पीछे जो साधना तथा शक्ति व्यय करोगे उसी साधनासे तुम महामायाको प्राप्त कर सकोगे; तब देखोगे कि संसारमें सभी कुछ तुम्हारे लिये हस्तामलकवत् है।'

अब तो आपकी आन्तरिक आँखें खुलीं और सद्गुरुलाभके लिये वे विशेष उत्कण्ठित हो गये। उत्कण्ठा इतनी बढ़ी कि एक दिन उन्होंने निश्चय कर लिया आज गुरुदेवके दर्शन नहीं हुए तो सूर्योदयके साथ ही अपने जीवनका अन्त कर डालूँगा। उसी रातको एक आश्चर्यजनक घटना हुई। रातमें एक महापुरुष इनकी तन्द्रावस्थामें प्रकट होकर बोले, 'वत्स! अपनी साधनाका मन्त्र लो। मन्त्रप्राप्तिके लिये व्याकुल हो गये हो। इसीसे हम मन्त्र देनेके लिये आये हैं।' आवाज सुनते ही आँख खुल गयी। मन्त्रके लिये हाथ बढ़ाया। उस महापुरुषके शरीरकी ज्योतिसे वह अँधेरा कमरा प्रकाशित हो गया था। महापुरुषने बिल्वपत्रपर लिखा हुआ मन्त्र इन्हें प्रदान किया। दीपक जलाकर देखनेसे मालूम हुआ कि बिल्वपत्रपर रक्तचन्दनसे 'एकाक्षरी' बीजमन्त्र लिखा हुआ है।

अब तो इस मन्त्रकी विधि और रहस्य जाननेकी व्याकुलता बढ़ी। वे वन-वन, पहाड़-पहाड़ और गाँव-गाँव दौड़े। निराश हो अनाहारसे आत्महत्या करनेकी ठानी। रातमें पुनः वही दिव्य मूर्ति प्रकट हुई और आपको यह आदेश मिला कि 'तारापीठके सिद्ध योगी

वामाक्षेपासे दीक्षा ग्रहण करो।' वामाक्षेपा अन्तर्यामी तान्त्रिकमतके कौलसिद्ध महापुरुष थे। उन्होंने स्वामी निगमानन्दको तारा माँका मन्त्र दिया और सर्वार्थसिद्धिका आशीर्वाद देकर कहा कि तुम सफल होओगे। निगमानन्दजी केवल इक्कीस दिन उनके पास रहे। इसी बीचमें तन्त्रोक्त साधनाके लिये वामाक्षेपाने उन्हें शाक्ताभिषेक, पूर्णाभिषेक आदि कठोर साधनाके लिये उपयुक्त बना दिया तथा कृष्णा चतुर्दशी शनिवारके दिन श्मशानमें साधनाके लिये इन्हें बैठाकर माँका दर्शन करा दिया। इन सब साधनाओंकी बातोंका निगमानन्दजीने 'माताकी कृपा' तथा 'तान्त्रिक गुरु' नामक बंगला पुस्तकोंमें सविस्तर वर्णन किया है।

अनन्तर निगमानन्दजी सदा माँका दर्शन पाते रहे तथा उनसे वार्तालाप भी करते रहे। कई महीनेतक ऐसा चला परन्तु फिर भी आपके मनके संकल्प-विकल्प नष्ट नहीं हुए। अतएव आप पुनः श्रीगुरुदेवके चरणोंमें गये। गुरुदेवने संन्यास ग्रहण करनेकी आज्ञा दी। अब निगमानन्दजी संन्यासी गुरुकी खोजमें निकले। लगातार घूमते-घूमते वे पुष्करतीर्थ पहुँचे और वहाँ अकस्मात् एक महात्माके दर्शन हुए जो ठीक वही थे जिन्होंने स्वप्नमें उन्हे मन्त्र दिया था। 'मिल गया, मिल गया' चिल्लाते हुए ये उक्त महात्माके चरणोंमें जा गिरे। उस महात्माने इन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया। निगमानन्दजीने इनके पास तीन वर्ष रहकर कठोर नैष्ठिक ब्रह्मचर्यकी साधना की। गुरुदेवने शास्त्रादिकी शिक्षा दी और तब जाकर संन्यासकी दीक्षा हुई। इन महात्माका नाम स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती परमहंसदेव था।

अब निगमानन्दजीको योग सीखनेकी लालसा हुई और योगी गुरुकी खोजमें निकले। संन्यासी गुरुका आशीर्वाद लेकर आप योगी गुरुकी खोजमें निकले। खोजते-खोजते चीन पहुँचे, जहाँ इन्हें योगी गुरुके दर्शन हुए। इनका नाम था सुमेरदासजी। वहाँसे योगकी शिक्षा प्राप्तकर गुरुके आदेशानुसार आप बंगाल लौट आये। पबना जिलेके हरिपुर गाँवमें शारदा बाबू जमींदारके मन्दिरमें निगमानन्दजी बराबर बारह महीनेतक योगका अभ्यास करते रहे। विघ्न उपस्थित होते देख आप कामाख्या कामरूप पहुँचे और गौहाटीमें श्रीयज्ञेश्वर विश्वास महाशयके आग्रहसे उनके घर एकान्तमें रहकर समाधिका अभ्यास करने लगे। कई दिनोंतक समाधिमें पड़े रहते। एक रात चुपके वे छिपकर कामाख्या पहाड़के श्रीश्रीभुवनेश्वरी देवीके मन्दिरके पीछे एक निर्जन स्थानपर कुल-कुण्डलिनीशक्तिको विधिवत् जगाकर समाधि—निर्विकल्प समाधिमें प्रवेश कर गये। उस समाधिका आपने बहुत सुन्दर वर्णन किया है। आपने भिन्न-भिन्न ज्योतियोंके दर्शनकी बात लिखी है और फिर कहते हैं, 'साथ-ही-साथ अनुभव होने लगा कि एक-एक लोकका दरवाजा खुल रहा है। सब लोकोंको पार करता हुआ अन्तमें एक अखण्ड ज्योतिर्मय मण्डलमें जा पहुँचा। अनन्त ज्योतिमें अहं-भावका प्रसार होनेसे मैं निर्विकल्प समाधिमें पहुँच गया। उस अवस्थाकी बात मैं कह नहीं सकता। उसी अवस्थामें उस प्रकाशके पुंजके भीतर मुझे मेरे' 'मैं' के दर्शन हुए और 'मैं गुरु' यही स्फुरणा हुई। अचानक देखा कि घोर अन्धकारसे गुजर रहा हूँ, निकलनेका पथ नहीं है। धीरे-धीरे निर्गुणसे सगुण अवस्थामें अवतरित हुआ तथा सत्यलोक, तपलोक आदिसे उतरता हुआ अन्तमें भूलोकमें आ पहुँचा। धीरे-धीरे देश, फिर आसाम, फिर कामाख्या, फिर ब्रह्मपुत्र, फिर पहाड़के वनस्पति दीखने लगे। धीरे-धीरे वह भुवनेश्वरी देवीका मन्दिर दीखा। बादमें अपनी स्थूल देहपर दृष्टि पड़ी और उसी समय मैं देहके भीतर घुस पड़ा। 'मैं गुरु हूँ यह ज्ञान लेकर मेरा व्युत्थान हुआ।' अन्तमें ये सर्वत्र सर्वावस्थामें ही अपनेको गुरुरूपसे अनुभव करने लगे तथा आपके मुखमण्डलपर एक अपूर्व ज्योतिका प्रकाश फैल गया।

अन्तमें ये स्वप्नमें मन्त्र देनेवाले गुरु स्वामी सच्चिदानन्द परमहंसदेवके दर्शनके लिये चल दिये। उज्जैनमें गुरुदेवके दर्शन हुए। वहीं आप 'परमहंस' पदको प्राप्त हुए। अब आपको प्रेमसाधनाकी प्राप्ति वांछनीय प्रतीत हुई। इसके लिये आपने हिमालयमें जाकर माता गौरीका दर्शनलाभ किया।

इस प्रकार एक ही जीवनमें तान्त्रिक साधना, मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग, अष्टांगयोग तथा प्रेमयोगकी साधनामें सिद्धि प्राप्तकर परमज्ञानकी परम

सीमापर पहुँचकर निगमानन्दजी सदाके लिये संसारमें अमर हो गये। आपके द्वारा प्रणीत ब्रह्मचर्यसाधन, योगी गुरु, ज्ञानी गुरु आदि ग्रन्थ समादरणीय हैं।

संवत् १९९२ वि० मार्गशीर्ष शुक्ला तृतीया शुक्रवारके दिन १ बजकर १५ मिनटपर कलकत्ता नगरीमें आप ब्रह्मलीन हुए।

सिद्ध योगिराज महात्मा बाबा श्रीगम्भीरनाथजी

बाबा गम्भीरनाथजीकी जन्मभूमि काश्मीर थी। ये जवानीमें ही घर छोड़कर योगी गुरु गोरखनाथजीकी तपोभूमि गोरखपुरमें आ गये और गोरखनाथमन्दिरके तत्कालीन महंत बाबा गोपालनाथसे दीक्षा लेकर योगसाधन करने लगे। ये बहुत बड़े सिद्ध योगी महात्मा पुरुष थे। इनका पवित्र जीवन बड़ा ही आदर्श था। आपकी साधना और सिद्धावस्था दोनों ही बहुत महत्त्वकी थी। सम्मान्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय (एम० ए०) महोदयने आपका बहुत ही सुन्दर जीवनपरिचय लिख भेजा है। स्थानाभावसे इस अंकमें नहीं छापा जा सका। किसी अगले अंकमें उसे छापनेका विचार है।

सिद्धावधूत श्रीदयालदास स्वामी

इन्होंने पंजाबके कपियाल नामक ग्राममें जन्म ग्रहण किया था। इनके पिता बड़े साधुसेवी थे जिसके कारण इन्हें बाल्यकालमें ही साधुसंगति प्राप्त हुई। फलस्वरूप बारह वर्षकी उम्रमें उन्होंने गृहत्याग कर दिया और पटियाला जिलाके बसेरा गाँवमें जाकर परमहंस बाबा ठाकुरदाससे दीक्षा और संन्यास ग्रहण किया। इसके बाद उन्होंने पन्द्रह वर्षतक गुप्त रहकर बड़ी तीव्र साधना की। सद्गुरुकी कृपासे इष्टदेवका अनुग्रह हुआ। जब गुरुदेवकी समाधि हो गयी तब इन्होंने वहाँ एक बहुत बड़ा भण्डारा किया जिसमें दस हजारके लगभग लोगोंने भोजन किया। अब इनकी सिद्धि मशहूर हो चली थी, इसलिये उस स्थानको छोड़कर तीर्थयात्राके लिये निकल पड़े। परन्तु इनका स्वभाव इतना सरल और प्रेमी था कि रास्तेमें अनेकों पन्थके लोग इनके साथ हो जाते और पारस्परिक वैमनस्य छोड़कर इनकी सेवा करने लगते। ये सभीको प्रेमदृष्टिसे देखते, इनके मनमें अपनी प्रधानताका घमण्ड कभी आया ही नहीं। ये स्वतन्त्र आसन या गद्दीपर नहीं बैठते। कुशासन या बालूका आसन ही पसंद करते। राजासे लेकर साधारण पुरुषतक इनकी प्रशंसा करते थे। इनके हजारों साधुओंकी सेवाकी बात उस दिन सन् १९३० प्रयाग कुम्भमेलाके विवरणके स्तम्भमें कलकत्ताके 'संजीवनी' आदि मासिक पत्रोंमें भी प्रकाशित हुई थी। उनकी तीर्थयात्राके अवसरपर मार्गमें अनेकों व्यक्ति आकर दर्शन करते और उनसे सदुपदेश लाभ करते। जब लोग पूछते कि कोई असुविधा तो नहीं है? तब ये बड़े प्रेमसे समझाते कि ठंडके कारण नींद न आनेसे भजनमें बड़ी सुविधा रहती है, सुतरां कोई कष्ट नहीं है। इनके जीवनमें कई अलौकिक घटनाएँ भी घटी हैं।

एक दिन इनके पास एक पाण्डित्याभिमानी ब्राह्मणने आकर पूछा, 'आप कौन स्वामी हैं?' इन्होंने कहा, 'मैं केवल स्वामी ही नहीं हूँ दासस्वामी हूँ।' उन्होंने कहा, 'संन्यासी तो कभी दास नहीं होते, स्वामी ही होते हैं।' इसपर महाराजने कहा कि 'भैया! अपने-अपने शिष्योंके सामने सभी स्वामी होते हैं और गुरुओंके सामने सभी दास होते हैं। अतः संन्यासीमात्र ही स्वामी और दास दोनों होते हैं।' इसपर ब्राह्मणने पूछा, 'आप किस मठके संन्यासी हैं?' इन्होंने कहा, 'मैं गगनमठका संन्यासी हूँ।' उसने कहा, 'गगनमठका नाम तो मैंने कभी नहीं सुना है।' स्वामीजीने पूछा, 'तुमने कितने मठोंका नाम सुना है?' ब्राह्मणने कई मठोंके नाम गिनाये। स्वामीजीने कहा, 'ये मठ सनातनकालसे हैं या किसीने इन्हें बनवाया है?' ब्राह्मणने कहा, 'शंकराचार्यद्वारा इन मठोंका निर्माण हुआ है।' स्वामीजीने कहा कि 'श्रीशंकराचार्य और उनके गुरु श्रीगोविन्दपादस्वामी

किस मठके संन्यासी थे?' ब्राह्मण निरूत्तर हो गया। स्वामीजीने कहा, 'पिता-माता और सब परिचयोंका त्याग करके मान-प्रतिष्ठा और कीर्तिका त्याग करके जिसने संन्यास ग्रहण किया है क्या उसे और परिचय देनेकी आवश्यकता है? जहाँ साम्प्रदायिक परिचय है वहाँ शरीराभिमान भी अवश्य है। शंकराचार्य और उनकी गुरुपरम्परा किसी मठसे सम्बद्ध नहीं है अत: मैं कहता हूँ कि मैं गगनमठका संन्यासी हूँ।' स्वामीजीके इस विचारपूर्ण वार्तालापसे उन ब्राह्मणदेवताका भ्रम दूर हो गया और वे इनके शरणागत हुए।

स्वामीजी महाराज दैवी सम्पत्तिपर बड़ा जोर देते थे। इनका कहना था कि सदाचार ही साधुका जीवन है। इनके पास विजयकृष्ण गोस्वामी आदि बड़े-बड़े महात्मागण आते और इनके दर्शनसे आनन्दलाभ करते।

कुछ लोग प्रश्न किया करते हैं कि बड़े-बड़े मेलोंमें जो लाखों रुपये साधुओंके खिलाने-पिलानेमें खर्च किये जाते हैं इनसे देशका क्या कल्याण होता है। मैं अर्थशास्त्र तो नहीं जानता परन्तु कल्याण शब्दका एक साधारण अर्थ समझता हूँ। जिससे मानव-आत्माका कल्याण होता है अर्थात् हृदयकी गाँठ खुल जाती है उसे ही मैं कल्याण कहता हूँ। यह कल्याण धनके सद्व्यवहारसे भी हो सकता है और उसे धूलकी तरह पानीमें डाल देनेपर भी हो सकता है।

एक बारकी बात है, एक धनी सज्जन बहुत-सा रुपया लेकर बाबा दयालदासके पास आये। उन्होंने कहा, 'स्वामीजी! इन रुपयोंको अपने आश्रमके साधुओंकी सेवामें लगा दो।' स्वामीजीने कहा—'मैं क्या करूँगा भैया! यहाँ आज और रुपयोंकी आवश्यकता नहीं है। आजके खर्चके लिये रुपये आ चुके हैं, अब तुम्हारा लेकर क्या किया जायगा? तुम आज ही किसी दूसरेके पास जाकर इन रुपयोंका सदुपयोग कर डालो।'

इस बातका स्मरण करके मेरे प्राण प्रफुल्लित हो उठते हैं और मैं कल्याणकी ओर अग्रसर हो जाता हूँ। यदि स्वामीजी इन रुपयोंको लेकर किसी सत्कार्यमें खर्च करते तो मुझे इतनी प्रसन्नता होती या नहीं, इसमें सन्देह है। हाँ! इस तरहकी एक नहीं अनेक घटनाएँ स्वामीजीके जीवनमें घटी हैं। स्थानका संकोच उन्हें न देनेके लिये बाध्य कर रहा है। स्वामीजीकी यह पवित्र स्मृति हमारे हृदयमें चिरकालतक बनी रहे यही उनके चरणोंमें प्रार्थना है।

काशी-योगाश्रमकी स्थापना करनेवाले प्रसिद्ध वाग्मी संन्यासी श्रीकृष्णानन्दजी (पूर्वनाम श्रीकृष्णप्रसन्न सेन) इन्हीं महात्माके शिष्य थे।

स्वामी श्रीकृष्णानन्द

भागीरथीके तटपर बंगालमें गुप्तीपाड़ा एक गाँव है। वहीं सन् १८४९ में परिव्राजक श्रीकृष्णानन्द स्वामीका जन्म हुआ था। पूर्वाश्रमका आपका नाम था कुमार श्रीकृष्ण-प्रसन्न सेन। इनके पिता पण्डित ईश्वरचन्द्र सेन कविभूषण संस्कृतके एक धुरंधर पण्डित थे और कलकत्तेमें ओषधि-वितरणका कार्य करते थे। श्रीकृष्णप्रसन्नने बहुत बचपनमें ही स्मृति, पुराण, भारतीय दर्शन तथा उपनिषदोंका अनु-शीलन किया और परमहंस दयालदास स्वामीसे दीक्षा पाकर आपकी सोयी हुई प्रतिभा जग उठी।

सन् १८७९ में हरिद्वारके कुम्भमेलेमें आप गये और वहाँ साधु-महात्माओंके संगमें बहुत कुछ पाया। १८८३ में आप काशी आ गये और स्वामी विशुद्धानन्दजी सरस्वतीकी सेवामें पहुँचे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रसे आपकी यहीं मुलाकात हुई। सीमाप्रान्तसे लेकर बंगाल और आसामतक आपके व्याख्यानोंकी धूम मच गयी। सनातनधर्मकी विजय-वैजयन्ती फहरा उठी। लाखोंकी संख्यामें लोग जुटते और मन्त्रमुग्ध-से आपके उपदेश सुनते। भक्ति और सदाचार आपके उपदेशका प्राण था। आपकी प्रार्थना प्राय: यही रहती थी—

प्रातरुत्थाय सायाह्नं सायाह्नात् प्रातरन्तत:।
यत्करोमि जगन्मात: तदेव तव पूजनम्॥

प्रात:कालसे लेकर सायंकालतक और सायंकालसे प्रात:कालतक हे माँ! जो कुछ भी करूँ सभी तेरी पूजाके रूपमें ही हो।

स्वामी केशवानन्दजी

(लेखक—स्वामी श्रीसुरेश्वरानन्दजी)

स्वामी केशवानन्दजीका पहलेका नाम था विष्णुदत्त। काश्मीरकी सीमापर हरिपुर-हजारामें एक सुसम्पन्न सदाचारी ब्राह्मणवंशमें वि० सं० १९१५ में आपका जन्म हुआ था। पिताका नाम जयराम और माताका नाम निहाल देवी था। बचपनमें ही विष्णुदत्तको गीता और उपनिषदोंसे बड़ी प्रीति थी। सोलह वर्षकी अवस्थामें ही आपने श्रीगौरदेवजीसे औदास्यकी दीक्षा ली और अब आपका नाम केशवानन्द हो गया। काशी आकर आपने सभी शास्त्रोंका विधिवत् अनुशीलन किया। काशीमें आप आठ वर्ष रहे और नित्य नियमपूर्वक गंगा-स्नान करते, भगवान् विश्वनाथके दर्शन करते, तब जल ग्रहण करते। काशीके पण्डितोंमें आपकी विद्याकी बड़ी धाक थी।

भारतके सभी प्रसिद्ध तीर्थोंका भ्रमण कर स्वामीजीने तीन वर्षतक भगवती भागीरथीके तटपर ऋषिकेशमें निवास किया। अद्वैतनिष्ठा ऐसी कि प्रतिपल **'शिवोऽहम्'** की अखण्ड ध्वनि होती रहती। संवत् १९८४ में हरिद्वारके कुम्भके अवसरपर आपने महासमाधिमें प्रवेश किया।

श्रीनागाबाबा

(लेखक—श्रीपलकनिधिजी पथिक)

श्रीनागाबाबाका जन्मस्थान तो पंजाबमें था, परन्तु आप प्रयाग, फतेहपुर, कानपुर, इटावा इत्यादि जिलेमें विचरण करते थे। आप दो सौ वर्षसे भी अधिक धराधामपर रहे। प्रति बारह वर्षपर होनेवाले बारह कुम्भके मेले आपने देखे थे। आपने सारे भारतवर्षमें पैदल ही पर्यटन किया था। आजीवन नग्न और मौन रहे। 'अलख-अलख' कहा करते थे। आपका परमहंसावस्थामें सरल बालकवत् आचरण हो गया था। चित्तसे सारे विकार नष्ट हो गये थे। ये सदैव ब्राह्मी स्थितिमें अलमस्त रहते थे। आपकी परीक्षा लेनेके लिये लोगोंने आपके पीछे वेश्याएँ छोड़ीं परन्तु आपका मातृभाव अक्षुण्ण रहा।

एक बार ये कुछ संतोंके साथ बदरीनारायण जा रहे थे। लछमन-झूलेपर जाकर पुलपरसे आप गंगाजीमें कूद पड़े और फिर गंगाजीमें लापता हो गये। फिर थोड़े दिन बाद हमीरपुर जिलेमें प्रकट हुए। इस प्रकार आपकी अनेकों आश्यर्चजनक लीलाएँ हैं।

आपकी समाधि सदा अखण्ड बनी रहती थी। तितिक्षा और इन्द्रियनिग्रहकी तो आप साक्षात् मूर्त्ति ही थे। गुप्त इतने रहते थे कि कभी आपका किसीको कुछ भेद ही नहीं मिला। इनकी बाल्यचेष्टा सबको धोखा देती रहती थी। अपने शिष्योंको केवल नामजपका ही उपदेश करते थे। आपकी रची हुई 'ब्रह्मवाणी' पुस्तकमें आपके अनमोल अनुभव संग्रहीत हैं। आप अपने सूक्ष्म शरीरसे लोक-लोकान्तरोंमें भ्रमण करते थे, तथा नौ खण्ड पृथ्वी और सब लोक अपने शरीरके भीतर ही देखते थे। जपमें आपका विशेष विश्वास था। आप कहा करते—जपसे ही योग मिलता है, योगसे ही शक्ति बनती है और शक्तिमें ब्रह्म नजर आता है। शिवजीके समान ही आपका दिगम्बर वेश था। कुछ महीने पूर्व कानपुर शहरके पास पाली ग्राममें आप योगस्थ होकर परमधामको सिधार गये।

संत नाग महाशय

डॉक्टर दुर्गाचरण नाग महाशयका जन्म पूर्वबंगालमें नारायणगंजके पास देवभोग नामक एक छोटे-से गाँवमें हुआ था। आपके पिताका नाम दीनदयाल और माताका नाम त्रिपुरासुन्दरी था। नाग महाशयकी माता इनको आठ वर्षका छोड़कर ही मर गयी थीं। तबसे इनकी बुआ भगवतीने इनका पालन-पोषण किया था। नाग महाशयके पिता कलकत्तेमें नमकके व्यापारी श्रीराजकुमार हरिचरण पाल चौधरी महोदयके यहाँ नौकरी करते थे। पिताके साथ नाग महाशय भी कलकत्ते आ गये और कलकत्तेमें इन्होंने लगभग डेढ़ वर्ष 'कैम्बल मेडिकल स्कूल' में डाक्टरी पढ़ी और फिर प्रसिद्ध होमियोपैथिक डॉक्टर भादुरी महाशयसे आपने होमियोपैथीकी शिक्षा ग्रहण की। लड़कपनसे ही नागमहाशयकी वृत्ति वैराग्यकी ओर थी। वे कलकत्तेमें अकेले काशीमित्र श्मशानघाटमें चले जाते और मुर्दोंको जलते देखकर जगत्‌की नश्वरतापर विचार

करते। विभिन्न संन्यासियोंसे मिला करते तथा एकान्तमें ध्यान किया करते थे।

बुआके मरनेपर उनके मनमें बड़ा वैराग्य हुआ और भोगोंसे बड़ी ही निराशा हो गयी। वे रात-दिन विचारमग्न रहने लगे। आखिर पिताके आग्रहसे उन्होंने डाक्टरी शुरूकी और कुछ ही दिनोंमें बहुत अच्छे डॉक्टर हो गये। परन्तु अपने व्यवसायमें उनके बाह्याडम्बर कुछ भी नहीं थे। न वे कोट-पतलून पहनते थे, न गाड़ी-घोड़ेपर ही कहीं जाते थे। दूरसे बुलाहट आनेपर भी पैदल ही जाते। पिताने एक दिन यह समझकर कि डॉक्टरकी-सी पोशाक होनेसे लोगोंका विश्वास अधिक बढ़ेगा, पुत्रके लिये कोट-पतलून इत्यादि बनवाकर ला दिये। नाग महाशयने कहा कि 'पिताजी! मुझे पोशाककी आवश्यकता नहीं है आप व्यर्थ ही ये कपड़े खरीदकर लाये, इन रुपयोंसे किसी गरीबकी सेवा की जाती तो बहुत उत्तम होता।'

इनकी विचित्र हालत थी। मुहल्लेमें कहाँ कौन बीमार है, किसके पास खानेको नहीं है? कौन दुःखी है? नाग महाशय इसीकी खोजमें रहते और अपनी शक्तिके अनुसार सेवा करनेसे कभी न चूकते। गरीबोंसे विजिट तो लेते ही नहीं, दवाईके दाम भी नहीं लेते। पथ्यका खर्च भी अपने पाससे दे आते। रास्तेमें पड़ा कोई निराश्रय रोगी मिल जाता तो उसे अपने घर लाकर उसका इलाज करते।

एक दिन एक गरीब रोगीके घर जाकर आपने देखा कि उसकी सेवा करनेवाला कोई नहीं है, तो स्वयं चार घंटे वहाँ ठहरकर उसको दवा देते रहे और सेवा करते रहे। रातको फिर उसे देखने गये। जाड़ेकी मौसम, टूटी-फूटी झोंपड़ी और रोगीके बदनपर ओढ़नेको एक कपड़ा नहीं, यह देखकर नाग महोदयका हृदय पिघल गया। उन्होंने अपनी भागलपुरी ऊनी चद्दर उतारकर रोगीको उढ़ा दी और धीरेसे निकल चले। सबेरे रोगीने कृतज्ञता प्रकट की, तब बोले 'आपको उस समय मुझसे अधिक जरूरत थी, इसलिये चद्दर आपको उढ़ा दी थी, आप कोई विचार न करें।'

एक दिन एक रोगीके घर जाकर आपने देखा कि वह जमीनपर लेट रहा है। उसी वक्त घरसे अपने शयनकी चौकी मँगाकर उसपर रोगीको सुला दिया। रोगीको इससे आराम मिला। उसे आराम मिला देखकर नाग महाशयको बड़ी प्रसन्नता हुई। ***'परदुख दुखी सुखी परसुखतें'***—यह उनका व्रत था।

एक छोटे बच्चेको हैजा हो गया था। नाग महाशय दिनभर उसकी चिकित्सामें लगे रहे परन्तु बच्चा मर गया। घरवालोंने सोचा था आज दिनभरकी बहुत बड़ी फीस लेकर डॉक्टर साहब घर लौटेंगे। शामको देखा गया आप खाली हाथ रोते हुए घर लौटे और कहने लगे 'बेचारे गृहस्थके एक ही बच्चा था किसी तरह बच नहीं सका। उसका घर सूना हो गया।' उस रातको इन्होंने जलतक ग्रहण नहीं किया।

एक बार अपने पिताके मालिक पाल बाबूके घर किसी स्त्रीको हैजा हो गया और नाग महाशयकी चिकित्सासे वह आश्चर्यजनक रीतिसे शीघ्र ही आरोग्य हो गयी। स्त्रीके घरवालोंपर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा, वे प्रसन्न होकर एक चाँदीके कटोरेमें रुपये भरकर नाग महाशयको देने लगे। नाग महाशय तो पिताके मालिक समझकर इनके घरसे फीस भी नहीं लिया करते थे, उन्होंने आज भी कुछ नहीं लिया। बाबूने समझा कि पुरस्कार थोड़ा है, इसलिये नाग महाशय शायद नहीं लेते, उन्होंने पचास रुपये और रखकर नाग महाशयको देना चाहा। इन्होंने कहा कि 'दवाके दाम और मेरी फीस सब मिलाकर बीस रुपयेसे अधिक नहीं होते। मैं इतना कैसे ले सकता हूँ।' बहुत हठ करनेपर बीस रुपये लेकर चल दिये।

पुत्रकी करतूतोंसे पिता दीनदयाल नाराज तो थे ही इस घटनाको सुनकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने नाग महाशयको बुलाकर बहुत कुछ समझाया-बुझाया। नाग महाशयने कहा, 'पिताजी, आपहीने तो मुझको धर्मपर रहनेका उपदेश दिया था। मैं जान-बूझकर कैसे अधिक रुपये लेता? मैंने जो दवाइयाँ दी हैं उनके दाम अधिक-से-अधिक छः रुपये होंगे। और सात दिनकी फीसके चौदह रुपये हुए, इसीलिये मैं बीस रुपये ले आया। अधिक लेनेसे तो अधर्म ही होता! भगवान् सत्यस्वरूप हैं, मिथ्या व्यवहारसे मनुष्यके लोक

परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं।'

नाग महाशयकी जैसी प्रसिद्धि हो गयी थी, उसमें वे चाहते तो बहुत धन कमा सकते थे, परन्तु उन्होंने इस तरफ ध्यान ही नहीं दिया। किसीसे भी वे फीस चाहते नहीं, जो देता सो ले लेते। कोई उधार माँगने आता तो ना नहीं करते। एक पैसातक पास होता तो वह भी दे डालते। किसी-किसी दिन स्वयं दो-एक पैसेका भूँजा लेकर दिन काटते, घरमें रसोई नहीं बनती परन्तु गरीबको देनेमें अपनी दशाका विचार कभी नहीं करते। कपट, दम्भ, अधर्म और बनावटसे नाग महाशयको बड़ी घृणा थी। सभीमें वे भगवान्‌को देखनेकी चेष्टा करते।

नाग महाशयके घर कोई आ जाता तो उसे बगैर खिलाये नहीं लौटने देते। नारायण मानकर अतिथिसेवा करते। एक दिन नाग महाशयके पेटमें शूलका दर्द हो रहा था। दर्दके मारे बीच-बीचमें वे बेहोश हो जाते थे। घरमें कुछ था नहीं। अकस्मात् आठ-दस अतिथि आ गये। उसी बीमारीमें आप बाजार गये चावल लेने। कुलीके सिरपर सामान रखकर न लानेका आपका नियम था। चावलकी गठरी सिरपर रखकर लाते समय रास्तेमें पेटका दर्द बढ़ गया। आप गिर पड़े और बोले, 'हाय! हाय! यह क्या हुआ? घरमें नारायण उपस्थित हैं, उनकी सेवामें देर हो रही है। धिक्कार है, इस हाड़-मांसके चोलेको, जो आज इससे नारायणकी सेवा नहीं हो रही है।' दर्द कुछ कम होनेपर घर आये और अतिथियोंको प्रणाम कर कहने लगे, 'मैं बड़ा अपराधी हूँ, आज आपके भोजनमें बड़ा विलम्ब हो गया!'

वर्षाकालमें एक दिन नाग महाशयके घर दो अतिथि आ गये। बादल घिरे थे और झड़ी लग रही थी। नाग महाशयके मकानमें एक ही कमरा ऐसा था जिसमें पानी नहीं गिरता था, उसीमें नाग महाशय सोते थे। अतिथियोंको भोजन करानेके बाद आपने अपनी धर्मशीला पत्नीसे कहा—'आज हमलोगोंका परम सौभाग्य है जो साक्षात् नारायण ही अपने घर पधारे हैं, क्या उनके लिये जरा-सा कष्ट नहीं सह लिया जायगा? आओ हमलोग बाहर दीवालके नीचे बैठकर भगवान्‌का नाम लें और इनको अंदर सोने दें।' कहना नहीं होगा कि साध्वी पत्नीने पतिकी बातको प्रसन्नतासे मान लिया और अतिथियोंको यह बात मालूम ही नहीं होने पायी।

नाग महाशय अपने लिये दूसरोंसे काम करवाना नहीं सह सकते थे, इसलिये वे कभी नौकर नहीं रखते थे। अतएव वे जब देशमें घर रहते तब घरकी मरम्मत होना भी मुश्किल होता था। नाग महाशय जब बाहर जाते, तब पीछेसे उनकी पत्नी घरकी मरम्मत करवातीं। एक बार नाग महाशय बहुत दिनोंतक देशमें रहे। घरोंकी मरम्मत न होनेसे सब बेकाम हो गये। उनकी पत्नीने घर छानेके लिये एक थवई (छानेवाला) नियुक्त किया। थवईके घरमें आते ही नाग महाशयको उसकी सेवाकी चिन्ता लगी! उसे आपने चिलम भर दी और हवा करने लगे। किसी तरह इनसे छूटकर वह बेचारा ऊपर चढ़कर छाने लगा। नाग महाशयने बार-बार नीचे उतर आनेकी प्रार्थना की। जब वह नहीं उतरा, तब इनसे नहीं रहा गया और ये रोकर कहने लगे, 'हे भगवन्! मेरे सुखके लिये दूसरे आदमीको इतना कष्ट हो रहा है और मैं खड़ा-खड़ा देख रहा हूँ, मुझको धिक्कार है!' इनकी व्याकुलता देखकर बेचारा थवई नीचे उतर आया। नाग महाशयने प्रसन्न होकर उसके लिये फिर एक चिलम भर दी और हवा करने लगे और थोड़ी देर बाद उसे दिनभरकी मजदूरी देकर बिदा किया।

नाग महाशय कभी नावपर चढ़ते तो केवटको नाव नहीं खेने देते। उसकी लग्गी लेकर स्वयं नाव खेने लगते। मनुष्य तो क्या पशु-पक्षियोंका भी दुःख इनसे नहीं देखा जाता। कई बार इन्होंने मछली बेचनेवालोंसे मछलियाँ खरीदकर तालाबोंमें छुड़वायी थीं। एक दिन नारायणगंजके पाटके कारखानेके कुछ साहब पक्षियोंका शिकार करने देवभोग आये। बंदूककी आवाज सुनते ही नाग महाशय दौड़े और हाथ जोड़कर साहब लोगोंसे विनती करने लगे। साहब लोग इनकी बातको सुनी-अनसुनी करके फिरसे बंदूक चलानेकी तैयारी करने लगे, तब तो नाग महाशयने बड़े जोरसे डाँटकर उनकी बंदूकें छीन लीं। साहबोंने समझा, यह पागल है और वहाँसे लौटकर नाग महाशयपर मुकदमा चलानेका विचार करने लगे। नाग महाशयने घर आकर बंदूकोंको अलग रख दिया और प्राणघातक अस्त्रसे स्पर्श होनेके

कारण हाथोंको अच्छी तरहसे धोया। कुछ देर बाद नाग महाशयने पाटके कारखानेके एक कर्मचारीके द्वारा बंदूकें लौटा दीं। कर्मचारीके मुखसे नाग महाशयके साधु-चरित्रकी प्रशंसा सुनकर साहबोंके मनमें उनके प्रति श्रद्धा हो गयी, और फिर वे शिकार खेलनेके लिये देवभोग कभी नहीं गये।

उनके जीवनमें ऐसी अनेकों घटनाएँ हैं जिनसे उनके साधुस्वभाव, अहिंसा-प्रेम, परदुःखकातरता और अनोखी सहनशीलताका पता लगता है।

नाग महाशय परमहंस रामकृष्णके खास शिष्योंसे थे। और इनपर परमहंसदेवकी बड़ी ही कृपा रहती थी। सभी लोग इनको बड़े आदरकी दृष्टिसे देखते थे। प्रसिद्ध स्वामी विवेकानन्दने तो अमेरिकासे लौटकर यहाँतक कहा था कि 'हमारा जीवन तो तत्त्वकी खोजमें ही व्यर्थ बीत गया। हमलोगोंमें एक नाग महाशय ही ऐसे हैं जो परमहंसदेवकी सफल सन्तान हैं।'

पिताके परलोकगमनके तीन वर्ष बाद तिरपन वर्षकी उम्रमें आपने देहत्याग किया। उस समय स्वामी शारदानन्द आपके पास थे।

संत स्वामी विवेकानन्द

(लेखक—स्वामी श्रीअसंगानन्दजी)

भारतवर्ष धर्मप्राण देश है। धर्म ही उसके वैयक्तिक और सामूहिक जीवनका आधार है और जब-जब इस आधारपर आघात हुए हैं तब-तब इस पुण्यभूमिकी चिरकालीन सभ्यता और संस्कृतिकी रक्षाके हेतु किसी-न-किसी महान् आत्माका जन्म हुआ है। भारतवर्षके राष्ट्रीय इतिहासका बस यही निचोड़ है।

गत शताब्दीमें पाश्चात्य सभ्यताने अपने प्रकाशसे यहाँ चकाचौंध पैदा कर दी और यहाँकी संस्कृति और प्रकृतिके प्रतिकूल एक उलटी धारा बहा दी। पाश्चात्य भावों और आदर्शोंके प्रथम भयंकर आक्रमणका परिणाम यह हुआ कि भारतीयोंका मस्तिष्क चक्कर खा गया और ऐसा प्रतीत होने लगा मानो भारतीय जीवनमें सम्भवतः इस नयी लहरका सामना करनेकी शक्ति नहीं है, नवीन धाराको पलटनेकी तो बात ही दूर रही। इस प्रकारके विचारोंसे अभिभूत होकर वह पाश्चात्य आदर्शोंकी ओर झुकने लगा।

पौर्वात्य और पाश्चात्य आदर्शोंके विकट संघर्षसे राष्ट्रीय जीवनमें जो विस्मयजनक उलझन आ उपस्थित हुई थी उससे मुक्त कराकर देशको संजीवन पथपर लानेके लिये ही मानो श्रीरामकृष्ण परमहंसका अवतार हुआ था। वर्तमानकालमें भारतके व्यक्तित्वकी पूर्ण अभिव्यक्ति आपहीके द्वारा हुई—इसे लोग अब समझने लगे हैं। इन्हींके योग्य शिष्य स्वामी विवेकानन्द थे जिनमें पौर्वात्य और पाश्चात्य संस्कृतिके सभी उत्कृष्ट गुण वर्तमान थे। जहाँ वे एक ओर अन्तर्दृष्टि और आदर्शवादमें अनुपम थे, उसी प्रकार पाश्चात्य व्यावहारिकतामें भी बढ़े-चढ़े थे। गुरुके चरणोंमें बैठकर इन्होंने दिव्य ज्ञानरूपी अमृतका पान किया और अन्य लोगोंको उसी अमृतका रसमय सन्देश सुनानेके लिये वे यूरोप और अमेरिका गये और वहाँसे लौटकर वही सन्देश उन्होंने अपने देशवासियोंको सुनाया।

समझनेकी सरलताकी दृष्टिसे स्वामीजीके जीवनको चार भागोंमें बाँट सकते हैं। इनमेंसे पहला भाग है बाल्यकाल और यौवनकाल। इन कालोंमें इनके विषयमें 'होनहार बिरवानके होत चीकने पात' वाली कहावत पूर्णतया चरितार्थ हो रही थी। प्रत्येक क्रियामें इनकी प्रतिभाके चिह्न मौजूद थे। इनकी एकाग्रताकी दिव्यशक्ति, अविकल स्मरणशक्ति तथा कुशाग्र बुद्धिने स्कूल और कालेजके सहपाठियोंमें इन्हें सर्वप्रिय बना दिया। सबसे बड़ा गुण जो अन्तकालतक इनमें बना रहा, वह था इनकी हास्यप्रियता। इसीसे इन्हें अपने अत्यधिक मानसिक और आध्यात्मिक परिश्रमकी थकान दूर करनेमें सहायता मिलती थी।

इनके जीवनका दूसरा भाग इनका शिष्यत्वकाल है सन् १८८१ ई० से सन् १८८६ ई० तक लगभग पाँच वर्ष स्वामी विवेकानन्द अपने गुरु श्रीरामकृष्णदेवसे

आध्यात्मिक जीवनकी शिक्षा प्राप्त करते रहे। सोलह-सत्रह वर्षकी अवस्थामें ही इनका दक्षिणेश्वरके महात्मासे परिचय हो गया था जो आगे चलकर घनिष्ठताके रूपमें परिणत हो गया और उसीके फलस्वरूप इन्होंने संन्यास ग्रहण किया।

इसी समय इनके पिता इनका विवाह कर देनेके लिये प्रबन्ध कर रहे थे। परन्तु ये अपनी धुनके पक्के थे। इन्होंने एक न सुनी और अपने ध्येयकी प्राप्तिके लिये इन्होंने बड़ी-बड़ी आपत्तियोंका सामना किया। पिताकी मृत्यके पश्चात् इनका सम्पूर्ण परिवार दरिद्रताके भँवरजालमें फँस गया, किन्तु इन्होंने इसकी कुछ भी परवा न की और परिवारके जीवननिर्वाहमात्रका प्रबन्धकर इन्होंने संन्यास ले लिया और ईश्वर तथा मानवजातिकी सेवामें अपनेको समर्पित कर दिया।

संन्यास लेनेके बाद स्वामीजी अनेक साधनाओंमें लग गये किन्तु निर्विकल्प समाधिमें सफलता प्राप्त न कर सकनेतक बड़े बेचैन रहे। जब श्रीरामकृष्णदेव घातक रोगसे आक्रान्त होकर काशीपुरके बगीचेमें ठहरे हुए थे तभी उन्होंने एक दिन अपने इस शिष्यको निर्विकल्प समाधिके सुखका आस्वादन कराया किन्तु गुरुने उन्हें बहुत देर इस दशामें रहने नहीं दिया क्योंकि वे जानते थे कि ऐसा होनेसे उनका शिष्य कदाचित् संसारमें फिर न लौटे और उनके सन्देशका घर-घरमें प्रचार न कर सके। अत: उन्होंने स्वामी विवेकानन्दसे कहा—'निधितुल्य यह अनुभव जिसकी तुमने अभी साधना की है तालेमें बंद रहेगा और उसकी कुंजी मेरे पास रहेगी। तुम्हारे सामने अभी काम है, जब तुम्हारा कार्य समाप्त हो जायगा तब यह पुनः खुलेगा।' तत्पश्चात् गुरुने शिष्यको कार्यके लिये पूर्णतया योग्य जानकर उन्हें बुलाया और उन्हें अपनी समस्त आध्यात्मिक अनुभूतियोंकी निधि प्रदान करके बोले—'अपनी सारी साधनाका फल तुम्हें देकर अब मैं वास्तवमें फकीर हो गया। मुझे विश्वास है तुम इनका सदुपयोग करोगे।' इस घटनाके तीन-चार दिन पश्चात् श्रीरामकृष्णदेवने महासमाधि ले ली।

सन् १८८६ से १८९३ ई० तक स्वामी विवेकानन्दका जीवन भ्रमणमें बीता। यह उनके जीवनका तीसरा काल था। उन्होंने मातृभूमिके अधिकांश भागोंमें भ्रमणकर लोगोंकी रीति-नीति, रहन-सहन और सामाजिक आवश्यकताओं आदिका गहरा अध्ययन किया। पर्यटनने देशकी वास्तविक दशाका दर्शन करा इनके हृदयमें मातृभूमिके प्रति अमिट दर्द पैदा कर दिया और इनकी पर्यवेक्षण तथा विवेचनशक्तियोंको पैनी कर दिया।

यहाँपर इनके भ्रमणके अनुभवोंको लिखनेके लिये स्थान नहीं है किन्तु यह स्मरण रखनेयोग्य बात है कि राजमहलसे लेकर साधारण कुटीतक भारतकी दशाका प्रभूत ज्ञान प्राप्तकर वे यहाँकी अकथनीय दरिद्रता और भयंकर निरक्षरता दूर करनेके लिये सर्वदा चिन्तित रहा करते थे। रोमाँ रोलाँने स्वामी विवेकानन्दकी जीवनीमें लिखा है कि स्वामीजीकी भेंट पाश्चात्य देशोंको जाते समय स्वामी ब्रह्मानन्द और स्वामी तुरीयानन्दसे बम्बईमें हुई, जिनसे उन्होंने विदेश जानेका उद्देश्य भारतीय दरिद्रताका निराकरणके साधनका अन्वेषण बताया।

शिकागोके धर्मसम्मेलनमें विद्वत्तापूर्ण एवं मनमोहक तथा चिरस्मरणीय व्याख्यान देनेके पश्चात् जब आपकी प्रसिद्धि बढ़ गयी तो सभी लोग आपको अपने यहाँ ठहरानेके लिये लालायित रहा करते थे। एक बार एक करोड़पतिने अपने राजसी भवनमें आपको बड़े सम्मानपूर्वक ठहराया, किन्तु आप वहाँ अपने देशकी दरिद्रताको यादकर रातभर आँसू बहाते रहे, आँख-पर-आँख न दी। आपने एक बार अपने मित्रोंसे कहा था कि देशकी शोचनीय दशा उन्हें पाँच मिनटके लिये भी सोने नहीं देती।

स्वामी विवेकानन्दकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। आप प्रतिभावान्, योगी, तत्त्वदर्शी, गुरु, नेता, वास्तविक भक्त, ज्ञानी, धर्मप्रचारक और एक महान् राष्ट्रनिर्माता थे। आपने पाश्चात्य देशोंमें वहाँके निवासियोंके समक्ष भारतीय धर्मका खजाना खोलकर देशका सिर ऊँचा किया। आप कहा करते थे कि प्रत्येक राष्ट्रकी अपनी कोई विशेषता होती है। जिस प्रकार इंगलैंडकी रगोंमें राजनीतिकी प्रधानता है उसी प्रकार भारतकी नसोंमें धर्मकी। इसे छोड़ देनेसे भारत विलुप्त हो जायगा।

स्वामी विवेकानन्दमें स्वामी शंकराचार्यकी महती बौद्धिक शक्ति तथा भगवान् बुद्धके हृदयका विस्मयजनक सम्मिश्रण था। आपमें आश्चर्यजनक तेजस्विता थी। आपने

अपने गुरुकी स्मृतिमें देशके विभिन्न भागोंमें सेवाश्रम स्थापित कर अपने कथन 'प्राणिमात्रकी सेवा करना ही ईश्वरकी सच्ची पूजा है' को चरितार्थ कर दिखाया।

स्वामी विवेकानन्द बहुत बड़े देशभक्त भी थे और उनका महात्मा गान्धी, महामना गोखले और लोकमान्य तिलकसे राष्ट्रनिर्माणके कार्यमें कम हाथ नहीं रहा है। आप ४ जुलाई, १९०२ को नौ बजे रातको बेलूर आश्रममें इस असार संसारसे चल बसे।

प्रभु जगद्बन्धु

जगद्बन्धुका जन्म सन् १८७१ ई० में डाहापाड़ा (मुर्शिदाबाद) नामक गाँवके एक ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। १६-१७ वर्षकी उम्रमें ही इनकी भगवद्भक्ति, वैराग्य और दयाभावका इतना विकास हो गया कि लोग इनकी ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रह सके। सैकड़ों-हजारोंकी संख्यामें लोग इनके कीर्तनमें शामिल होने लगे और इनके अमूल्य उपदेशोंसे लाभ उठाने लगे। ये भी घूम-घूमकर बंगालभरमें हरि-नाम-संकीर्तनका प्रचार करने लगे। कहते हैं, इनके शरीरमें एक प्रकारका दिव्य तेज था, जिसे सब लोग सहन नहीं कर सकते थे। इसीसे ये सर्वदा अपना शरीर ढका रखते थे और यह आदेश कर रक्खा था कि कोई कभी छिपकर भी न देखे। दो-एक आदमियोंने जब इस आज्ञाका उल्लंघन किया तब इनके दर्शनमात्रसे वे बेहोश हो गये।

पिछले दिनों इनका शरीर बड़ा रुग्ण हो गया था; फिर भी उनका तेज ज्यों-का-त्यों था और निरन्तर हरि-नाम-संकीर्तन इनके चारों ओर होता रहता था। इस तरह सारे जीवनभर भक्तिमार्गका स्वयं अनुसरणकर और सर्वसाधारणमें इसका प्रचारकर इन्होंने अपनी कुटी श्रीअंगनमें १७ सितम्बर, सन् १९२१ को महाप्रस्थान किया। इसके ९ दिन बाद उसी स्थानमें इन्हें समाधि दी गयी थी।

इनके शिष्योंको विश्वास है कि इनका अवतार जिस उद्देश्यसे हुआ था, वह अभी पूरा नहीं हुआ; अतएव उनका जो तिरोधान अभी हालमें हुआ है, वह सम्पूर्ण तिरोधान नहीं, अस्थायी समाधि है। इस अवस्थामें वह 'त्रयोदश दशा' का उपभोग कर रहे हैं, वह पुनः इसी देहमें प्रकट होंगे, 'महाप्रकाश' फैलेगा और उनका जो उद्देश्य है, पूरा होगा। इसी विश्वासके आधारपर उनके प्रसिद्ध स्थान 'ग्वालचा मठ श्रीअंगन' (फरीदपुर स्टेशनके पास) में उस स्थानपर, जहाँ जगद्बन्धु सोया करते थे, जमीनके अंदर उनका शरीर सुरक्षित दशामें रख दिया गया है। और 'हरिनामसे देह बनती है—संकीर्तनसे कृष्णकी उत्पत्ति है'—जगद्बन्धुकी इस वाणीके अनुसार उनके परमभक्त श्रीमहेन्द्रजीने १८ अक्तूबर, सन् १९२१ ईस्वीसे लेकर प्रभुके 'महाजागरण' तक निरन्तर उस स्थानपर महानाम-संकीर्तन करनेका व्रत लिया है। वह संकीर्तन दिन-रात चल रहा है। कुछ त्यागी भक्त श्रीमहेन्द्रजीको इस कार्यमें सहयोग दे रहे हैं। ये लोग भिक्षा करके अपना पेट पालते हैं और कीर्तन करते हैं।

अनमोल बोल

(संत-वाणी)

मैं कब सब लोगोंमें प्रभुका भरोसा करनेवाला बन सकूँगा? कब फकीरीका बाना पहनकर सच्चे त्यागियोंकी संगति कर सकूँगा?

बंगालके संत विजयकृष्ण

(लेखक—श्रीमतिलाल राय)

यह जो मुमुक्षापरायण महापुरुषकी शान्त-सौम्य-दिव्य मूर्ति दीख रही है इस उज्जवल प्रकाशमय रूपके प्रत्यक्ष होनेकी बात यदि आज कही जायगी तो सब न सही, कुछ लोग तो अवश्य ही मेरा उपहास करेंगे, यह मैं जानता हूँ; परन्तु सत्यको उच्च कण्ठसे स्वीकार करनेमें मुझे कोई संकोच नहीं होता। गोस्वामी महाशयको समझनेके लिये सचमुच मैंने एक दिन उनके रूपकी आराधना की थी, और पहले आँखोंके सामने शून्यमें नाचते-नाचते इस सिद्ध विशाल विग्रहमें धीरे-धीरे ज्योतिर्मय धूम्रमूर्तिमें प्रकट होकर उन्होंने मुझे पकड़ लिया था। मेरे भीतर-बाहर शक्तिका तूफान खड़ा कर दिया था। यह सिर्फ मेरे अकेलेका ही अनुभव नहीं है, उस समय और भी ऐसे मनुष्य थे; एक नहीं, दो-चार नहीं, प्रकारान्तरसे सभीको दर्शन हुए थे। इस घटनासे यह बात समझमें आ जाती है कि महापुरुषगण स्थूल देहका त्याग करके अपने चिन्मय देहमें सो नहीं जाते, लोकदृष्टिसे परे रहकर वे अपने अपूर्ण कार्यको पूर्ण करनेके लिये सिद्धदेह धारणकर अन्तरिक्षमें भ्रमण करते हैं। गोस्वामी विजयकृष्ण इस देशके आकाशमें अधिकतर शक्ति, प्रभाव और करुणा लेकर आज भी मूर्त हैं, देशकी भविष्यत् सृष्टि विजयकृष्णकी तप:शक्तिसे वंचित नहीं है।

भारतमें सिद्ध पुरुषोंकी संख्या कम नहीं है परन्तु विजयकृष्णकी सिद्ध मूर्ति मोक्षसाधनाका ही विग्रह नहीं है, वह जाति-निर्माणकी तपोमूर्ति है। देशमें काठियाबाबा, दयालदासबाबाजी, भोलागिरिजी आदि अनेकों महापुरुषोंका शुभागमन मैंने प्रत्यक्ष किया है किन्तु जीवन-रहस्यके मूल तत्त्वका आविष्कार कर विजयकृष्ण जाति-संघटनके कार्यमें जिस अमर वीर्यका संचार कर गये हैं, वह और कहीं नहीं दीखता। विजयकृष्णकी तप:शक्ति जातिको समृद्ध करेगी, ज्ञान-वैराग्यके उत्तापसे जाति-जीवन धूम्रमार्गमें छिप नहीं जायगा।

विजयकृष्णके साधन-तत्त्वका मूल मन्त्र था—सत्यरक्षा और वीर्यधारण। सत्यके लिये वे पद-पदपर विपद्ग्रस्त होते, परन्तु जरा भी खयाल नहीं करते थे। हत्याकारीको जानकर भी उन्होंने भक्तिके कृत्रिम आचरणपर सन्देह नहीं किया। उन्होंने उग्र हलाहल मिले हुए मिष्टान्नको खाकर नश्वर देहका त्याग कर दिया परन्तु सब कर्मोंमें ईश्वरके प्रति उनके हृदयमें जो अपूर्व निर्भरताका व्रत था, उसका उनसे कभी भंग नहीं हुआ। इसीलिये वे दिव्य मूर्ति और कान्तिविशिष्ट चिन्मय देहको प्राप्तकर किसी अमानुषिक शक्तिके बलसे आज भी देशके विस्तृत हृदयमें स्थान पा रहे हैं। नवीन जातीयताकी नींवको मजबूत करनेमें उनकी तप:शक्तिकी धारा अनर्गलरूपसे बह रही है।

तन्त्र और सहजिया साधनाके मलिन चक्करमें पड़कर जिस समय देशके प्राण जानेहीको थे, उस समय जिन्होंने भागीरथीके पवित्र तटपर शान्तिपुरमें अद्वैत वेदान्तके परम ज्ञानका प्रचारकर यथाशक्ति उन्मार्गगामी देशवासियोंको शुद्ध ब्रह्मज्ञानका वितरणकर जगा दिया था। फिर, जिन्होंने नवद्वीपचन्द्रके कण्ठसे प्रेम-सुधा झरते देखकर 'नामे रुचि जीवे दया'—इस महान् धर्ममें अपनेको अभिषिक्त करके जो श्रीगौरांगदेवके अन्तरंगस्वरूपमें मतवाले बन गये थे और उसी प्रकार जगत्को मतवाला बनानेके लिये जो नाच उठे थे, उन्हीं ज्ञानी, भक्त और तपस्वी श्रीअद्वैताचार्यके वंशमें गोस्वामी विजयकृष्णका शुभ जन्म हुआ था। इनका ईश्वर विश्वास पूर्वपुरुषोंकी धमनीधारासे आकर इन्हें धन्य कर रहा था। ये लड़कपनमें गृहदेवता गोविन्दको अपने साथ खेलनेके लिये बारंबार बुलाया करते और न आनेपर उनपर क्रुद्ध होकर बुरा-भला कहने लगते। सचमुच ऐसी आस्तिक बुद्धि हुए बिना ईश्वरके दर्शन नहीं हो सकते।

जवानीमें संस्कृत पढ़नेके समय उनका यह स्वभाव कुछ मलिन हो गया था। विजयकृष्णका स्वभाव ही ऐसा था कि वे जिस विषयकी चर्चा करते उसीमें अपनेको डुबोकर उसके गम्भीर रहस्यको उपलब्ध करना चाहते थे। उन्होंने वेदान्तके 'अहं ब्रह्म' की अनुभूति पाकर

नैष्ठिक साधनाका त्याग कर दिया, किन्तु वेदान्तकी इस 'अहं-बुद्धि' का उनके स्वभावके साथ मेल नहीं हो सका। ब्राह्मधर्मके प्रति नाना प्रकारकी कुत्सित बातें फैलाकर लोग उस समय उस नवजात धर्मशिशुको गला दबाकर मार देना चाहते थे। विजयकृष्णकी इस धर्मके प्रति श्रद्धा नहीं रही थी, किन्तु बगुड़ामें किशोरी रायकी ब्रह्मसभामें घटनाचक्रसे उपस्थित होनेपर उनका यह भ्रम दूर हो गया। उपासनापद्धतिमें रुका हुआ भक्तिका झरना फिर फूट निकला। इसके बाद महर्षि देवेन्द्रनाथके कण्ठसे निकले हुए ईश्वरविषयक मधुर उपदेशोंसे इनका हृदय द्रवित हो गया और ये ब्राह्म हो गये।

गोस्वामी महाशयकी विस्तृत जीवनी लिखना यहाँ ठीक नहीं होगा, इसलिये मैं ब्राह्मधर्मकी साधनामें उनके जीवनकी घटनाओंका उल्लेख करके लेखको बढ़ाना नहीं चाहता। आगे चलकर जब ब्राह्मधर्ममें उन्होंने सत्यरक्षाका अभाव देखा, तब उन्हें बड़ी व्यथा हुई। घटनाचक्रसे दक्षिणेश्वरमें—जहाँ प्रेम-भक्तिकी मन्दाकिनीधारा मस्तकपर उठाये शिवकालीकी अनिर्वचनीय लीला चल रही थी—उपस्थित होनेपर विजयकृष्णके परवर्ती जीवनमें उनका सत्यस्वरूप प्रकाशित हो उठा। उन्होंने समझा सर्वेन्द्रिय-चेष्टाकी सर्वथा निवृत्ति हुए बिना सत्य—ईश्वरकी साधना नहीं होती। वे ईश्वरप्रेममें उन्मत्त हो उठे। उनका प्रचार, उपदेश सभी कुछ मोक्षसाधनाके लिये होने लगा। कहीं ईश्वरके सम्बन्धमें उपदेश देते-देते आत्माभिमान, धर्माभिमान न जाग उठे, इसके लिये वे सदा सावधान रहते थे। इसीलिये उनका लोकसंग्रहकी ओर विशेष ध्यान नहीं था। उन्होंने कोई सम्प्रदाय नहीं बनाया। उन्होंने अपने असंख्य शिष्योंमें साधनाका बीज बो दिया था परन्तु अपनेको कहीं जाहिर नहीं किया। उन्होंने देशवासियोंको माधुर्यकी साधना दी थी। वे श्रीचैतन्यके—

व्रजे निज सिद्धदेह करिया स्मरण।
निशिदिन करे राधाकृष्णेर भजन॥

—इस मन्त्रका रूप देना चाहते थे। घर-घरमें देव-देवीकी लीलाका माधुर्य खिल उठे। ऐश्वर्य, वीर्य और सत्यसे भरकर संसार स्वर्ग हो जाय। विजयकृष्णके सिद्धजीवनके प्रत्येक कर्मसे उनकी यह इच्छा प्रकाशित होती थी। गोस्वामीके स्पर्शसे ही बरीसालके अश्विनीकुमार और वाग्मीश्रेष्ठ विपिनचन्द्र हुए। बंगालमें जो एक जातीयताकी बाढ़ बह गयी, वह विवेकानन्दकी भाँति विजयकृष्णकी भी विभूतिलीला है। अब बीजके छिलके उतारकर भविष्यकी जो दिव्य मूर्ति नवीन किसलयोंके रूपमें विकसित हो रही है गोस्वामी महाशयके संशयरहित मुक्त भारतका दिव्य रूप ही इसमें प्रकाशित होगा। हिन्दू-भारत! विजयकृष्णकी तपस्या और साधनाकी आलोचना करो। नवयुगका सन्धान मिलेगा। विजयकृष्ण युगमनुष्य थे, उनका प्रभाव ही जातिकी विजय-वैजयन्ती है।

पागल हरनाथ ठाकुर

महात्मा हरनाथ ठाकुरका जन्म बंगला सन् १२७२ की १८ वीं आषाढ़को बाँकुडा जिलेके सोनामुखी गाँवमें पं० जयराम वन्द्योपाध्यायके औरस और श्रीभगवती-सुन्दरी देवीके गर्भसे हुआ था। जब ये दो वर्षके थे तभी इनके पिताका देहान्त हो गया था, उस समय इनकी बहिनकी उम्र छः वर्षकी और बड़े भाईकी चार वर्षकी थी। ये बड़े ही प्रतिभाशाली पुरुष थे। इनके जीवनमें अनेकों आश्चर्यजनक घटनाएँ हुई हैं। इनके उपदेश बड़े ही सरल और उच्च होते थे। आपके उपदेशका कुछ अंश यह है—

'अत्यन्त मधुर हरिनामको अपना कण्ठहार बना लो। भीतर-बाहर एक रंगका एक चेहरा रक्खो। मुँह और मनमें खूब मेल बनाये रक्खो। मनुष्यकी आँखोंमें धूल झोंकनेके लिये हरिनामका चोला न पहनो। व्याधकी तरह कपटसे पर्णकुटीमें वास मत करो। किसी भी जीवको कष्ट पहुँचानेकी इच्छा मनमें कभी न करो। श्रीकृष्णकी प्राप्तिको ही जीवनका प्रधान उद्देश्य बना लो। साधुसंगके अतिरिक्त बुरे संगकी कभी इच्छा ही न करो। बहुत प्यारसे अनुरोध किये जानेपर भी बुरे स्थानमें और बुरे संगमें मत जाओ।'

प्रेमयोगी संत परमहंस श्रीमाधवदासजी

(लेखक—श्रीयुत गौरांगदासजी)

सन् १८१० ई० के लगभग पूर्व बंगालके एक ऊँचे ब्राह्मणवंशमें इनका जन्म हुआ था। अपने परिश्रमसे ही अध्ययन करके इन्होंने अंग्रेजीमें योग्यता प्राप्त कर ली थी और जंगलविभागके अफसर हो गये थे। माताने विवाह करनेकी चेष्टा की; परन्तु विवाहकी सामग्रीसे उसकी अन्त्येष्टिक्रिया करनी पड़ी। वैराग्य तो पहलेसे ही था, एकमात्र माताका ही बन्धन था। अब निकल पड़े घरसे। नदियामें आकर श्रीभक्तिचरणदासजीको गुरुरूपसे वरण किया। उनके आचरण और उपदेशोंके कारण इनके हृदयमें सेवाभाव, नामरुचि एवं भगवत्प्रेमकी जागृति हुई। शहरके कोलाहलमें अनुकूल न पड़नेके कारण ये गुरुदेवके साथ एक छोटे-से गाँवमें आकर रहने लगे और फिर उनकी आज्ञासे अपने गुरुभाईके साथ हिमालयकी यात्रा की। वहाँ सिद्ध योगीके रूपमें दर्शन देकर भगवान्ने इन्हें महायोगकी दीक्षा दी और ये उनकी कृपासे तीस वर्षतक वहीं साधना करते रहे। भगवदाज्ञा प्राप्त होनेपर लोगोंके कल्याणके लिये नीचे उतरे। फिर तो साधकोंकी भीड़ होने लगी। सबके साथ तीर्थयात्रा की। अनेकों बार इनकी अद्‌भुत सिद्धियोंका दर्शन हुआ। फिर सबको छोड़कर एक कमण्डलु और श्रीगोपीनाथजीकी मूर्ति लेकर निकल पड़े और कनकेश्वर पहाड़पर आपने बड़ी घोर तपस्या की। अपने श्रीगोपीनाथको झूलेपर पधराकर घंटों झुलाते रहते। उनकी धूनी और उनकी वह तपोभूमि उनके प्रिय शिष्य श्रीकुवलयानन्दजीको प्राप्त हुई। फिर सन् १९४६ में आप बड़ोदा राज्यके मालसर नामक स्थानमें आ गये। गुजरातमें बीस वर्षतक आप योग और भक्तिका प्रचार करते रहे। उनके उपदेशोंसे हजारोंने कल्याण प्राप्त किया है। वे भगवान् और भक्तोंकी कथा सुनते एवं नामजपपर बड़ा जोर देते। वे भगवान्के दिव्य प्रेममें विभोर रहते। उनकी मस्ती अवर्णनीय है। संवत् १९७७ पौष कृष्ण ११ को मालसरमें ही इन्होंने अपना शरीर छोड़कर गोलोककी यात्रा की।

बाबा प्रेमानन्द भारती

संवत् १८९३ में बंगालमें इनका जन्म हुआ। ये बड़े प्रेमी और आनन्दी सत्पुरुष थे। सनातन हिन्दू तत्त्वज्ञानकी अत्युच्च शिक्षा इन्होंने प्राप्त की थी। आप श्रीकृष्णके उपासक थे। सनातनधर्मका प्रचार करनेके लिये सन् १९०२ ई० में इन्होंने यूरोपकी पहली यात्रा की। इंग्लैंड और अमेरिकामें इन्होंने दो बार संचार किया। कुछ काल पेरिसमें रहे थे। इनकी अमृतवाणीसे वहाँके बड़े-बड़े लोग इनके शिष्य हो गये थे। सन् १९०४ में बोष्टन नगरमें जो सार्वभौम शान्तिपरिषद् हुई थी उसके ये उपाध्यक्ष चुने गये थे। संवत् १९६७ में इन्होंने अपना शरीर छोड़ा।

स्वामी भास्करानन्दजी

कानपुरके सन्निकट किसी गाँवके कान्यकुब्ज ब्राह्मण-परिवारमें, संवत् १८९० के आश्विन मासमें एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ था। माता-पिताने उस होनहार बालकका नाम मतिराम रक्खा था और यज्ञोपवीत-संस्कार सम्पन्न करानेके पश्चात् बड़ी आशासे बारह वर्षकी छोटी उम्रमें ही उसकी शादी कर दी थी। किन्तु इससे मतिरामजीके हृदयमें जो बचपनसे ही वैराग्य-भावका बीज विद्यमान था, उसपर कोई आघात नहीं पहुँचा, बल्कि उन्होंने विवाहके पाँच वर्ष बाद ज्यों ही सतरह वर्षकी अवस्थामें पदार्पण किया, त्यों ही उनके हृदयका वह वैराग्य-भाव सहसा उद्वेलित हो उठा। मतिरामजीने अपने समस्त प्रियजनोंकी माया-ममताके प्रबल बन्धनको एक झोंकेमें ही छिन्न-भिन्न कर दिया। वे एक दिन सबसे नाता तोड़कर घरसे निकल भागे। उसके अनन्तर अनेक स्थानोंका परिभ्रमण करते हुए वे मालवा पहुँचे, जहाँ उनका मन रम गया और वहींपर

सात वर्षोंतक लगातार रहकर उन्होंने वेदान्त-शास्त्रका अध्ययन किया। किन्तु अध्ययन ही उनके जीवनका इष्ट नहीं था। अतः वे वहाँसे किसी सद्गुरुकी शरणमें पहुँचकर उनके श्रीचरणोंमें अपना समर्पण करनेके लिये चल पड़े। उस समयके प्रसिद्ध महात्मा परमहंस स्वामी श्रीपूर्णानन्दजी सरस्वती उज्जैनमें थे, अतएव मतिरामजी वहीं पहुँच गये। उन्होंने उनसे एक शुभ मुहूर्तमें संन्यास-दीक्षा ले ली और गुरुदेवकी आज्ञासे अपना नाम बदलकर भास्करानन्द रक्खा।

दीक्षा लेनेके बाद भास्करानन्दजी काशी चले आये और वहाँ कुछ समयतक निरन्तर रहकर उन्होंने साधना की। उसके बाद उन्हें फिर तीर्थाटन करनेकी अभिलाषा हुई, अतएव वे काशीसे चलकर भारतके विभिन्न तीर्थोंमें घूमे। इस भ्रमण-कालमें अनेकों बड़े-बड़े साधु-महात्माओंसे उनकी भेंट हुई, जिनकी योग-विद्याओंसे उन्होंने बड़ा लाभ उठाया। योगाभ्यासद्वारा अनेकों योगसिद्धियाँ उन्हें प्राप्त हो गयीं और उन्होंने अनेक स्थानोंपर उनका चमत्कार भी दिखलाया। परन्तु इतना होनेपर भी सांसारिक लाभ या प्रतिष्ठासे वे सर्वदा दूर रहते थे। उपदेश भी वे उन्हींको देते थे, जो श्रद्धालु तथा सरल बनकर उनकी सेवामें स्वयं पहुँचते थे। अनेकों श्रद्धालु साधकोंने उनकी कृपासे कल्याणलाभ किया। जीवनके अन्तिम दिनोमें वे दिगम्बर-वेशमें ही रहते थे। संवत् १९५६ के आषाढ़ मासमें उन्होंने समाधि लेकर इहलौकिक लीला समाप्त की थी!

स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण)

वाराणसीधामके सुप्रसिद्ध दण्डी स्वामी परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमत् स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वतीने सन् १८९८ ई० के वैशाख मासमें अहल्याबाईघाटपर अपने आश्रममें ८२ वर्षकी वयस्में भौतिक देहको परित्यागकर निर्वाण प्राप्त किया था। उनके वेदान्तशास्त्रके अगाध पाण्डित्यकी प्रशंसा आज भी समस्त भारतके विद्वान् करते हैं, उनकी सर्वतोमुखी असाधारण प्रतिभाकी बातें वृद्ध विद्वानोंसे सुनकर शिक्षित युवक विस्मित हो जाते हैं, परन्तु आज इस लेखमें उन सब बातोंकी आलोचना नहीं की जाती। उनके आध्यात्मिक जीवनमें ऐसी अनेकों आश्चर्यघटनाएँ हैं, जिनकी आलोचना करनेसे हिन्दूमात्रके आध्यात्मिक जीवनमें नवीन प्रकाशकी किरणें प्रसारित होंगी और भारतीय प्राचीन साधु-महात्माओंके प्रति श्रद्धाभक्ति बढ़ेगी। आज कल्याणके पाठकोंके सन्तोषार्थ इसी सम्बन्धमें कुछ प्रत्यक्ष की हुई बातें लिखी जाती हैं।

प्राक्तन पुण्यबलसे मुझे लगातार दस वर्षतक उनके चरणोंमें बैठकर पूर्व और उत्तरमीमांसा पढ़नेका दुर्लभ सुयोग प्राप्त हुआ था। अध्ययन आरम्भ करनेके समय मेरी उम्र बीस वर्षकी थी। स्वाध्यायतिथियोंमें प्रतिदिन दो से तीन-साढ़े तीन बजेतक मेरा पाठ चलता। एक दिन वर्षाकालमें श्रावणके अन्तमें लगभग तीन बजे मैं अध्ययन कर रहा था, उस समय बड़े जोरोंसे वर्षा हो रही थी। अहल्याबाईघाटपर स्वामीजीका आश्रम था, उसमें ऊपरके तल्लेमें एक छोटे घरमें स्वामीजी उत्तराभिमुख अपने आसनपर विराजमान थे। मैं पूर्वकी ओर मुँह करके बैठा था। सामने श्रावणकी पूर्णावयवा उत्तरवाहिनी भागीरथी अपनी कलकल ध्वनिसे अविश्रान्त वर्षाध्वनिसे मुखरित दिशाओंको प्रतिध्वनित करती हुई प्रवाहित हो रही थीं। स्वामीजी पद्मासनसे बैठे थे, उनके विशाल प्रशान्त नेत्रोंसे हृदयस्थित ज्योत्स्नाद्वारा स्नात एक अननुभूतपूर्व समुज्जवल अध्यात्मज्योति विकसित हो रही थी, सामने द्रवब्रह्ममयी भागीरथीजी थीं। मेरे हाथमें छान्दोग्योपनिषद्की पुस्तक थी, स्वामीजी महाराज उसीकी व्याख्या कर रहे थे। वह अपूर्व मनोहर दृश्य आज भी मेरे स्मृतिपटपर गाढ़रूपसे अंकित है। छान्दोग्योपनिषद्के छठे अध्यायमें प्रयाणके समय दक्षिणमार्गकी गति उस दिनका पाठ्य-विषय था—

'पुरुषं सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति तस्य यावन्न वांभनसि सम्पद्यते मनः

प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति। अथ यदास्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति।'

(छान्दोग्य० ६।१५)

अर्थात् मनुष्य जब मृत्युशय्यापर पड़ा हुआ सन्तापको प्राप्त होता है, तब उसके घरके लोग उसके समीप आकर व्याकुलतासे पूछते हैं—'मुझको पहचानते हो क्या?' मुझे पहचान गये तो? इत्यादि। उसकी बहिरिन्द्रिय जबतक मनमें नहीं मिल जाती, मन प्राणमें विलीन नहीं हो जाता, प्राण तेजोधातुमें परिणत नहीं हो जाते और तेज भी परदेवतामें प्रवेश नहीं कर जाता, तभीतक वह उन लोगोंको पहचान सकता है। जब बहिरिन्द्रिय मनमें मिल जाती है, मन प्राणोंमें विलीन हो जाता है, प्राण तेजोधातुमें परिणत हो जाते हैं और अन्तमें जब तेज भी परदेवतामें प्रविष्ट हो जाता है, तब वह किसीको भी नहीं पहचान सकता, उसका ज्ञान विलुप्त हो जाता है, यही उसका मरण है।

इस प्रसंगमें स्वामीजी उस दिन देवयान या उत्तरमार्गकी बात चलाकर कहने लगे—'जो योगी है, उसका प्रयाण इस तरह नहीं होता। प्रत्येक मनुष्यके हृदयकमलके ऊपर कुछ सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं, इन नाड़ियोंको सिता कहते हैं, इनमें किसीका वर्ण लाल है, किसीका पीला आदि है। ये नाड़ियाँ अत्यन्त सूक्ष्म हैं, यहाँतक कि केशके सौवें भागके समान इनकी सूक्ष्मता है। इन सूक्ष्म नाड़ियोंमें एकका नाम है सुषुम्ना। यह सुषुम्ना ऊर्ध्वमें ब्रह्मरन्ध्रतक गयी है। इस सुषुम्नामें योगबलसे अपना प्रवेश कराकर जो योगी प्रयाण करता है, वह फिर लौटकर इस संसारमें नहीं आता। ब्रह्मलोकमें उसकी गति होती है और कल्पान्तके समय ब्रह्मलोकके अधिष्ठाता सगुण ब्रह्मके साथ वह निर्वाणको प्राप्त होता है।' सनातनधर्मकी इन आध्यात्मिक बातोंको पूज्यपाद स्वामीजी महाराज उस दिन बड़ी ही स्फूर्तिके साथ—बड़े ही अभिनिवेश और उत्साहके साथ कह रहे थे। किन्तु न मालूम क्यों, मेरे मनमें वे बातें मानो उस दिन गम्भीरताके साथ प्रवेश नहीं कर रहीं थीं, मेरी बेजानकारीमें शायद गुरुदेव स्वामीजी महाराजने मेरे चेहरेको या मेरी अन्य किसी शारीरिक चेष्टाको देखकर मेरी अन्यमनस्कताकी बातको जान लिया और बड़ी रुखाईके साथ जरा उत्तेजित-से होकर मेरी ओर देखकर कम्पित स्वरसे बोले—'प्रमथनाथ! आज यहीं पाठ बंद करो, तुम्हारा चेहरा देखकर मालूम होता है कि मैं तुम्हें जो कुछ कह रहा हूँ वे सब बातें सत्यपर प्रतिष्ठित हैं या नहीं, तुम्हारे मनके इस सन्देहने तुम्हारे चित्तको श्रद्धाहीन कर दिया है। जिसके मनमें श्रद्धा नहीं है, उसके लिये इन बातोंका न सुनना ही अच्छा है और कहनेवालेके लिये भी यह विडम्बनामात्र है।'

पूज्य स्वामीजीके मुखसे ऐसी कड़ी बातें मैंने इससे पहले कभी नहीं सुनी थी। इन बातोंको सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ, मैंने जल्दीसे उठकर उनके चरणोंपर गिरकर भक्तिभावसे अश्रुसिक्त नेत्रोंसे प्रणाम किया और कहा 'गुरुदेव! मैं अज्ञ हूँ, मेरे इस अज्ञानकृत प्रथम अपराधको आप यदि क्षमा नहीं करेंगे तो मेरा जीवित रहना भी विडम्बनामात्र है।' मेरे इन शब्दोंको सुनकर स्वामीजी बहुत देरतक गम्भीरतासे चुपचाप बैठे रहे, फिर बहुत धीरेसे मेरी ओर देखकर कहने लगे—'अच्छी बात है, मैंने क्षमा किया। इस प्रसंगमें मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ, खूब ध्यान देकर सुनो।' स्वामीजीके इन शब्दोंसे आश्वस्त होकर मैं अपनी जगह हाथ जोड़े बैठा हुआ उनके चेहरेकी ओर देखने लगा और बड़े आग्रहके साथ उनकी बातें सुननेके लिये उत्सुकतासे बाट देखने लगा। कुछ देर बाद स्वामीजी कहने लगे—

'आजकल ज्यों-ज्यों पाश्चात्य शिक्षाका प्रभाव बढ़ रहा है, त्यों-ही-त्यों संस्कृतशिक्षापद्धतिका प्रचुर रूपमें ह्रास हो रहा है। अध्यात्मशास्त्रके प्रति लोगोंकी अश्रद्धा होना इसीका परिणाम है। परन्तु यह अश्रद्धा ही हिन्दू-समाजका सर्वनाश कर रही है, इस बातको याद रखना। मैं जो तुम्हें सुषुम्ना नाडीद्वारा उत्क्रमणकी बात कह रहा था, यह कोई कविकल्पना या धर्मोन्मादना नहीं है, ध्रुव सत्य है। इसकी ध्रुव सत्यताका मैंने निजमें अनुभव किया है; और स्वयं जाना है तथा विश्वास किया है, इसीसे तुमसे कह रहा था। तुम दखते हो, मैं

प्रतिदिन प्रात:काल स्नानके बाद आठ बजेके समय इस घरमें प्रवेश करके सब दरवाजोंको बंद करके दुपहरतक बैठता हूँ। इन चार घंटोंमें मुझसे कोई भी मिल नहीं सकता, यहाँतक, इस घरकी तरफ किसीके आनेका भी अधिकार नहीं है, जानते हो उस समय मैं रोज क्या करता हूँ? आज बीस वर्षसे भी अधिक काल हो गया, मैं योगप्रक्रियाके अनुसार सुषुम्नाके द्वारा उत्क्रान्तिके मार्गका अनुसन्धान कर रहा हूँ। सुनो प्रमथनाथ! इतने परिश्रमका मेरा यह अनुसन्धान व्यर्थ नहीं गया। मैंने इस पथको पा लिया है। कल्पनाकी दृष्टिसे नहीं, सचमुच यह मेरे हस्तगत हो गया है। याद रखना, कुछ समय बाद उत्तरायणके वैशाख शुक्लपक्षमें मैं इसी तरह सदाकी भाँति बद्धपद्मासन लगाये द्रवब्रह्ममयी भगवती भागीरथीको देखते-देखते, हँसते-हँसते, प्रशान्तचित्तसे भौतिक देहको त्यागकर अमृतधाममें चला जाऊँगा।'

इतना कहकर स्वामीजी चुप हो गये। कुछ देर बाद फिर बोले—'आज पढ़ाई नहीं होगी, अब तुम घर जाओ। तुम्हारा उपनिषद्-पाठ कुछ समयके लिये बंद रहेगा। कलसे मैं तुम्हें वेदान्तशास्त्रके सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ अद्वैतसिद्धिको पढ़ाऊँगा।' इसके बाद मैं विस्मयाविष्ट चित्तसे काँपते हुए भक्तिभावसे श्रीस्वामीजीके चरणकमलोंमें सिर नवाकर प्रणाम करके घर चला आया।

इस उत्तरमार्गसे प्रयाणके सम्बन्धमें स्वामीजीने और कभी कोई संकेत नहीं किया। दूसरे दिनसे मैं 'अद्वैतसिद्धि' पढ़ने लगा। इस घटनाके पाँच वर्ष बाद मेरी कलकत्तेके गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेजमें धर्मशास्त्रके अध्यापकपदपर नियुक्ति हो गयी, इससे बाध्य होकर मुझे काशीधाम छोड़ना पड़ा। स्वामीजीसे अध्ययन करना भी समाप्त हो गया। सन् १८९७ ई० के नवम्बर महीनेसे मैं संस्कृत कालेजमें अध्यापनकार्य करने लगा। सन् १८९८ के वैशाख महीनेमें स्वामीजीने भौतिक देहका त्याग कर दिया। देहत्यागके दिनसे तीन दिन पहले सन्ध्याको घूमकर आश्रममें आनेपर आपने कहा—'देवीप्रसाद! (ये स्वामीजीके सर्वापेक्षा घनिष्ठ सेवक एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे) मेरा शरीर आज कुछ शिथिल-सा मालूम होता है। तुम लोग घबराना नहीं। परसों मेरे महाप्रस्थानका दिन है; व्यर्थ हो-हल्ला न करना, मुझको तंग न करना, किसी वैद्यको न बुलाना, मुझे स्थिररूपसे बैठे रहने देना, मैं कुछ कहूँ तो वही करना, अपनी इच्छासे कुछ भी करके मेरे चित्तमें विक्षेप न करना।' इतना कहकर स्वामीजी बद्धपद्मासन लगाकर बैठ गये और ध्यानस्थ हो गये। दूसरा दिन भी इसी तरह बीत गया। तीसरे दिन ठीक मध्याह्नकालमें उसी तरह बद्धपद्मासनसे बैठे-बैठे, हँसते-हँसते उत्तरवाहिनी त्रिलोकपावनी भगवती भागीरथीको देखते-देखते सुषुम्नारन्ध्रको भेदकर परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी श्रीविशुद्धानन्द सरस्वतीने उत्तरपथसे पुनरावृत्तिहीन महाप्रयाण किया। उनके महाप्रयाणकी बात तुरंत सारी काशीमें फैल गयी। हजारों नर-नारी आबाल-वृद्ध स्वामीजीके गतप्राण पुण्यदेहका दर्शन करके जीवन धन्य करनेके लिये दौड़ आये। सबने देखा, बद्धपद्मासनसे विराजमान वर्तमान युगके सर्वश्रेष्ठ संन्यासी परम ज्ञानी, परम विरक्त स्वामीजीका वही ललाई लिये सुन्दर गौर विग्रह है, मुखपर वही स्मित ज्योत्स्ना खेल रही है, और नेत्र अर्धनिमीलित हैं। प्राण निकल गये हैं परन्तु दैवी सुषमा अब भी उस सर्वांगसुन्दर देहको त्याग करनेमें मानो संकोच कर रही है। वर्तमान काशिराजके पिता महाराज प्रभुनारायणसिंहजी उस समय जीवित थे, वे स्वामीजीके परम भक्त थे। समाचार सुनते ही वे दौड़े आये थे और उन्होंने उस समयका एक छायाचित्र लिया था। पता लगानेपर काशीकी किसी चित्रशालामें वह चित्र मिल सकता है।

कल्याण-सम्पादकके अनुरोधके अनुसार मैंने अपने गुरुदेव परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमत्स्वामी विशुद्धानन्दजी महाराजके विस्मयजनक महाप्रयाणकी बात लिख दी। उन्होंने मुझे दीर्घकालतक चरणसेवा करनेका अधिकार दया करके दिया था। मैंने अपनी आँखोंसे जो कुछ देखा है और उनके मुँहसे सुना है, उसीको यहाँ लिखा है। मेरा विश्वास है कि जो इसपर ध्यान देंगे वे भारतीय अध्यात्मविज्ञानसम्पन्न साधु-महात्माओंके पुण्य चरित्रके प्रति विशेष श्रद्धासम्पन्न हो सकेंगे और वैराग्यप्रधान सनातनधर्मके प्रति उनकी गाढ़ अनुरक्ति होगी।

स्वामी शिवरामकिंकर योगत्रयानन्दजी

(लेखक—पं० महेन्द्रनाथ भट्टाचार्य)

स्वामीजीके गृहस्थाश्रमका नाम था शशिभूषण सान्याल। जन्मस्थान था हवड़ा जिलेके वराहनगरका गंगातीर। इनके पिताका नाम रामजीवन सान्याल था। लड़कपनसे ही इनकी प्रतिभा और इनमें योगभ्रष्ट पुरुषके लक्षण दीखने लगे थे। चौदह-पन्द्रह वर्षकी उम्रमें इन्होंने बँगला, अँगरेजी और संस्कृत पढ़ ली। और बिना ही गुरुकी सहायताके वेद, वेदान्त, षड्दर्शन, ज्यौतिष और पुराणादि समस्त शास्त्रोंके पण्डित हो गये। पाश्चात्य दर्शन और विज्ञानका सम्यक् अध्ययन करके उनकी भी योग्यता प्राप्त की। फिर साधनमार्गमें प्रवेश करके कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग तीनोंका साथ ही अभ्यास किया। योगाभ्याससे आप समाधिस्थ हो जाते। आश्चर्यकी बात है कि यह गृहस्थमें रहते हुए ही आपने किया। आपके धर्मपत्नी और तीन पुत्र थे। चिकित्साविज्ञानमें आपकी बड़ी पहुँच थी। कलकत्तेके केम्बल मेडिकल स्कूलमें कुछ दिनोंतक पढ़े थे, फिर अपनी प्रतिभासे एलोपैथी, होमियोपैथी, बायोकेमी और आयुर्वेदविज्ञानके पण्डित हो गये। इनकी विशिष्ट प्रतिभाकी बात कहनेपर शायद आजकलके लोग विश्वास नहीं करेंगे परन्तु उनको देहत्याग किये आठ साल बीते हैं। उनको देखनेवाले, उनका संग करनेवाले और उनकी अद्‌भुत शक्तिका प्रत्यक्ष करनेवाले अनेकों महानुभाव आज भी जीवित हैं। इस संक्षिप्त जीवनीका लेखक उनके साथ जागतिक सम्बन्धसे सम्बन्धित है और बड़े सौभाग्यसे बहुत दिनोंतक उनका पवित्र संग करके उनके बतलाये हुए सनातनधर्म, वैदिकधर्मका मार्ग अवलम्बन करके साधनमें लगा है। यह ८० वर्षका वृद्ध ब्राह्मण है। इसने स्वामीजीके जीवनमें अनेकों आश्चर्यमय घटनाएँ देखी हैं। गीताके नवम् अध्यायके—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

इस श्लोकके अर्थका स्वामीजीने अपने जीवनमें किस प्रकार साक्षात्कार किया था, कल्याणके पाठकगण शायद उसको जानते हों।

त्यागी, संन्यासी, संत अनेकों हैं, किन्तु स्त्री-पुत्रादिके साथ गृहस्थाश्रममें रहकर भगवान्‌पर निर्भरशील हो कुछ भी उपार्जन न करते हुए अनन्य शरणागत होनेपर वह अनन्त करुणामय दयासागर भगवान् उस निर्भर भक्तके अभावोंको किस प्रकार दूर करते हैं, स्वामीजीका जीवन इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। चिकित्सामें स्वामीजी बड़े निपुण थे, यहाँतक कि बड़े-बड़े डाक्टर, कविराज जिन रोगियोंको असाध्य बताकर छोड़ चुके थे ऐसे अनेकों रोगी आपने अच्छे कर दिये। शास्त्रानुसार सदाचारका पालन, आहारशुद्धि आदिका परिवारके सभी लोग पालन करते थे। स्वामीजी जिस कोठरीमें साधन-भजन करते, शौचादिको छोड़कर अन्य समय उस कोठरीसे कभी बाहर नहीं निकलते, न किसीसे बातचीत ही अधिक करते। वह कोठरी सदा ही सात्त्विक सुगन्धसे परिपूर्ण रहती। स्वामीजीकी बड़ी ही मनोरम मधुर मूर्ति थी। उन्हें जो कोई भी आसनपर बैठे देख लेता, मुग्ध हो जाता। वहाँसे दृष्टि हटानेकी इच्छा न करता। मुखमण्डलपर कभी किसी चिन्ताकी रेखा नहीं रहती, सर्वदा आनन्दमय हास्यमय!

स्वामीजीकी माताके बीमार होनेपर उन्हें काशी ले जाया गया और उनका काशीवास होनेपर स्वामीजीने लौटकर वराहनगरमें एक छोटे-से मकानमें रहना शुरु किया। अर्थोपार्जनकी चेष्टा छोड़ ब्राह्मणकी अयाचित भिक्षावृत्तिका अवलम्बनकर और पूर्णरूपसे भगवान्‌के चरणोंका आश्रय ग्रहणकर स्वामीजी स्त्री-पुत्रादिसहित आनन्दसे रहने लगे।

वराहनगर कलकत्तेसे उत्तर तीरपर है। स्वामीजीके घरका आँगन सदा सर्द रहता था। स्वामीजी एक कोठरीमें कम्बल बिछाकर बैठे ग्रन्थादि देखा करते, साधन-भजनके समय दरवाजा बंद कर लेते। दोपहरको एक बार दरवाजा खोलते। भोजनके लिये कोई दे जाता तो खा लेते, नहीं तो फिर दरवाजा बंद करके अपने काममें लग जाते।

एक बार घरमें अन्न नहीं रहा। साध्वी स्त्रीने

किसी प्रकार दो-तीन दिन तो काम चलाया पर अन्तमें उसके पास कुछ नहीं रहा। इसी समय शतीशचन्द्र नामक एक युवकने स्वामीजीकी सेवा करनी चाही। शतीशका घर वराहनगरमें ही था। वह शिक्षित युवक था। पूर्वजन्मके संस्कारवश वैराग्यके उदय होनेसे उसने यह ब्राह्मणका सेवाव्रत ग्रहण किया। स्वामीजीके घरमें कुछ भी नहीं था। न एक पैसा था। बच्चे आहारके लिये रो रहे थे। ब्राह्मणीका यह भी साहस नहीं कि वह जाकर स्वामीजीसे कुछ कहती। ऐसी स्थितिमें शतीश आया और उसकी लायी हुई सामग्रीसे रसोई बन गयी। शतीश इसी प्रकार उधार करके दाल-चावल लाने लगा। सन्ध्याके समय दो-चार सज्जन स्वामीजीसे शास्त्रादि सुनने और शंका-समाधान करने आते, उन्होंने स्वामीजीसे कहा कि 'आप चिकित्साके द्वारा कुछ उपार्जन करने लगें तो अच्छा हो।' स्वामीजीने कह दिया कि 'भगवान्की सेवाके सिवा हम कुछ भी नहीं करना चाहते। भगवान् खानेको देंगे तो खायँगे नहीं तो सब लोग उपवास करके रहेंगे।' एक दिन ऐसा हुआ कि घरमें कुछ भी नहीं रहा। रसोई नहीं बनी बच्चे उपवासी रहे। इतनेमें ही कालीकृष्णदत्त नामक एक सज्जन जो वराहनगरमें ही रहते थे और स्वामीजीको अपना गुरु मानते थे, दौड़े हुए आये और स्वामीजीके चरणोंमें दो रुपये रखकर प्रणाम किया। पूछनेपर बोले कि 'मैं अपने आफिसमें काम कर रहा था, दो बजेके लगभग हठात् हवामेंसे मेरे कानमें यह आवाज आयी कि तुम जिनको अपना गुरु मानते हो वे आज सपरिवार भूखे हैं। मैं सहम गया और उसी वक्त मालिकसे छुट्टी लेकर नावसे यहाँ चला आया।' शतीशको रुपये दिये गये। सामग्री आयी और रसोई बनी। इसी प्रकार एक दिन कुछ मजदूर बहुत-सा चावल, दाल, आटा, घी, फल, तरकारी आदि रख गये। कुछ दिनों बाद बालीके जमींदार श्रीराजेन्द्र सान्याल स्वामीजीको सपरिवार कलकत्ते ले गये और आवश्यक खर्च देने लगे। इसके बाद राजेन्द्र बाबूके सहायता बंद कर देनेपर महेन्द्रदास नामक एक कन्ट्राक्टर स्वामीजीकी इच्छानुसार उन्हें काशी ले गये और वहाँ सुनारपुरामें मकान भाड़ेपर लेकर स्वामीजीको टिका दिया। काशीमें प्रसिद्ध दण्डी स्वामी श्रीअनन्ताश्रमजी तथा और भी बहुत-से लोग स्वामीजीके पास आते और वेदान्तकी अद्‌भुत व्याख्या सुनते!

स्वामीजीने १५-१६ वर्षकी उम्रमें ही दण्डी स्वामी श्रीशिवरामानन्दजीसे दीक्षा ली थी इसीलिये उन्होंने गुरुदेवकी आज्ञा लेकर अपना नाम शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द रक्खा। स्वामीजीकी भक्ति, ज्ञान और योगमें समान रति थी। काशीमें बम्बईके अटर्नी श्रीयुत भाईशंकर आये और स्वामीजीके द्वारा अंग्रेजीमें वेदान्त-तत्त्वको सुनकर मुग्ध हो गये। बम्बईमें देहत्यागके समय भाईशंकरजीने अपने वसीयतनामेंमें कई हजार रुपये स्वामीजीको दिये थे। स्वामीजीके पास बम्बईसे रुपये आये और उन्होंने उसी समय किसी ब्राह्मणको कन्यादानके लिये, किसीको ऋणमुक्तिके लिये सब दे डाला। सुनारपुरासे भदैनीमें आकर रहने लगे। वहाँ स्वर्गीय काश्मीरनरेश आये और स्वामीजीको काश्मीर ले जानेके लिये आग्रह करने लगे। काशीके राजा मोतीचंद तो स्वामीजीके भक्त थे ही। 'कल्याण' के लेखक स्व० श्रीयुत नन्दकिशोर मुखोपाध्यायके पिता श्रीयुत कालीपद मुखोपाध्याय रिटायर्ड सबजजने स्वामीजीसे शिष्यत्व ग्रहण किया। कालीपद बाबूने स्वामीजीके लिये राजघाटमें एक मकान बनवा दिया। स्वामीजी उसी मकानमें रहने लगे और खर्चके लिये सौ रुपये मासिक कालीपद बाबू देने लगे। तदनन्तर राधिकाप्रसाद राय इंजिनियर कलकत्तेमें तीन सौ रुपया मासिक भाड़ेपर मकान लेकर स्वामीजीको कलकत्ते ले गये। कलकत्तेमें हल्ला-गुल्ला विशेष होनेके कारण स्वामीजी उत्तरपाड़ा गंगातीरपर चले गये। मुजफ्फरपुरके वकील बाबू नगेन्द्रनाथ चौधरी खर्च देने लगे। इसके बाद यतीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय स्वामीजीकी सेवा करने लगे। कहनेका मतलब यह कि भगवान्ने अपने निर्भर भक्तका योगक्षेम बड़ी खूबीसे चलाया। यद्यपि स्वामीजीको सांसारिक योगक्षेमकी कोई परवा नहीं थी!

स्वामीजी अगाध पण्डित, सिद्ध योगी, महान् ज्ञानी और परम भक्त थे। उनके जीवनकी हजारों घटनाएँ हैं। मैंने संक्षेपमें केवल भगवान्पर निर्भर करनेके कारण उन्हें कोई कष्ट नहीं हुआ, इतनी ही बात दिखलायी है। अधिक लिखनेके लिये स्थान नहीं है!

श्रीअविनाशीजी महाराज

(लेखक—एक सेवक)

ये काशीके वायव्य कोणपर शिवपुरके पास मधईपुर नामके एक छोटे-से गाँवमें संवत् १९४३ में पण्डित मंगल पाण्डेयके पुत्ररुपमें प्रकट हुए थे। उस समय इनका नाम रामप्रताप रक्खा गया था। बचपनमें पढ़ाई-लिखाईमें इनका मन नहीं लगा। इन्हें तो दूसरी ही शिक्षा प्राप्त करनी थी। थोड़े दिनोंके बाद घरसे निकल पड़े और बड़ी व्याकुलताके साथ सद्गुरुका अन्वेषण करने लगे। नासिक पहुँचने पर इनके सामने एक बहुत बड़ा प्रलोभन आया। परन्तु भगवान्ने अपने इस जिज्ञासुकी रक्षा की। एक दिन इन्हें सद्गुरुने अपना ही लिया। ये उनके साथ जाकर पण्डरपुरकी एक गुफामें योगाभ्यास करने लगे और लगातार ग्यारह वर्षतक बड़ी कठोर साधना करके इन्होंने आत्मानुभूति प्राप्त की। जबतक सद्गुरुका शरीर रहा तबतक इन्होंने उनकी सेवा की। जब एक दिन इन्हें आवश्यकता होनेपर दर्शन देनेकी बात कहकर अन्तर्धान हो गये तब ये बहुत व्याकुल हुए और केवल एक लँगोटी लगाकर भ्रमण करने लगे। पाँच वर्षतक काष्ठमौन रहकर अनेक प्रान्तोंका पर्यटन किया। उस समय लँगोटी भी नहीं लगाते थे। मध्यप्रान्तके कटनी, बेलहरी आदिके लोग उन्हें काली लँगोटी लगानेके कारण काली कमलीवाले बाबाके नामसे याद करते थे। फिर भगवत्प्रेरणासे आप अपनी जन्मभूमिके पास ही आकर रहने लगे। आपका स्वभाव बालकों-सा था। दिनमें ग्यारह बजे अपनी कुटीका दरवाजा बंद कर लेते और फिर सुबह छः बजे ही खोलते। इनका भोजन एक छटाकसे अधिक नहीं था। प्रातःकाल छःसे दसतक दर्शनार्थी आते तो उन्हें योग, भक्ति और ज्ञानका यथाधिकार उपदेश करते। अन्तर्मुखतापर बड़ा जोर देते और संकल्प-विकल्पसे शून्य होकर देहाध्यास त्यागकर सन्धिमें ही स्थित होनेको कहते। अभी-अभी गत माघ शुक्ल तेरसको उनका निर्वाण हुआ है। मृत्युके कई दिन पहलेसे वे चलनेकी बात कहा करते थे। शरीर न हिला सकनेपर भी बड़ी प्रसन्नता और गम्भीरताके साथ बात करते थे। हम उनके अन्तिम समयमें उपस्थित थे। हमपर उनकी बड़ी कृपा थी। उनका वात्सल्यस्नेह अनुभव करके हम आज भी गद्गद हो रहे हैं। उनकी पवित्र स्मृति हमारे हृदयमें बनी रहे।

औघड़ बाबा श्रीशंकर स्वामी

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

तीस वर्षसे ऊपरकी बात है। एकसौ चालीस वर्षसे अधिक अवस्थावाला मस्त फकीर काशीमें आ डटा। वह कहाँ पैदा हुआ था, उसका क्या नाम था, उसकी जाति क्या थी—आदि बातोंका तो कुछ पता नहीं। इन बातोंसे होता ही क्या है? संत तो सारे संसारकी सम्पत्ति होते हैं। न तो कोई जाति होती है और न कोई कुल। हमें इन सब व्यर्थ बातोंमें अपना सर खपानेकी कोई जरूरत नहीं। उससे कोई लाभ भी तो नहीं है। हाँ, इतनी बात निर्विवाद है कि वह एक अत्यन्त ही उच्च कोटिका महात्मा था। वह न तो किसीसे कुछ माँगता ही था, न किसीसे कुछ बातचीत ही करता था। दशाश्वमेधपर एक मकानकी बाहरी पटियापर वह सदा पड़ा रहता था। किसीने कुछ मुँहमें ठूँस दिया तो खा लिया, नहीं तो कुछ परवा नहीं। किसीने कोई कपड़ा बदनपर डाल दिया तो डाल दिया, नहीं तो जाड़ा, गर्मी, बरसात सभी यों ही दिगम्बरावस्थामें बीतती थीं। आटा, दाल, चावल, घी, नमक, मिठाई, साग, बेसन—जो भी कुछ आ गया—हंडीमें डालकर आगपर चढ़ा दिया गया। पक गया तब उतारकर खा लिया। मल-मूत्रकी हाजत पड़नेपर सड़कपर खड़े होकर त्याग दिया। इसी प्रकार एक-दो-दिन नहीं लगातार—जबसे वह काशी आया था, तबसे अन्ततक—लोगोंने उसे तपस्या करते देखा।

जिस मकानके पटियापर आप पड़े रहते थे वह

मकान जब गिरा तो आपकी ओर न गिरकर और तीन तरफसे गिरा। उससे अन्य तमाम लोगोंको तो चोट आयी पर आपपर उसकी एक कंकड़ी भी न गिरी। बरसातके दिनोंमें मूसलाधार वर्षा होती रहती थी पर आपकी हंडीके नीचे जलनेवाली आग जलती ही रहा करती थी। आपकी खिचड़ी मैदानमें पकती रहती थी, यह तो तमाम लोगोंकी आँखों देखी बात है। शहरके तथा बाहरके अनेकों बड़े-बड़े व्यक्ति आपकी सेवा करते रहते थे। कहना व्यर्थ है कि आपकी सेवासे अनेकों व्यक्तियोंकी मनोकामनाएँ सफल हुई।

आप गत ३० मार्च १९३७ को चार बजकर पैंतालीस मिनटपर अकस्मात् उठकर बैठ गये और उसी समय आपने बैठे-बैठे ही शरीर त्याग दिया। लोग देखते ही रह गये। घंटी बजते ही खिलाड़ी पर्देसे हट गया।

आप कितने उच्च कोटिके संत थे—इस बातका पता तो लोगोंको आपके भण्डारेके दिन ता० ११। ४। ३७ को तब चला जब कि उन्होंने हजारों व्यक्तियोंकी भीड़में तुलसीघाटके परम पूज्य श्रीहरिहरबाबाको बैठे देखा। श्रीहरिहरबाबा एक अत्यन्त ही उच्च कोटिके महात्मा हैं। आप गंगाजीमें नौकापर ही सदैव दिगम्बर रहा करते हैं, पर उस दिन वे भी नौकासे उतरकर भण्डारेमें आकर सम्मिलित हुए थे। आपने जीवनमें न तो किसीको शिष्य ही बनाया और न किसीको कुछ उपदेश ही दिया। आपके मौन आचरणसे ही हम बहुत कुछ सीख सकते हैं।

भक्तराज पं० श्रीदेवीसहायजी

पण्डित देवीसहायजीका जन्म संवत् १८६८ वि० में फर्रुखाबाद जिलेके अन्तर्गत सरायमीरा नामक ग्राममें हुआ था। ये बड़े शिवभक्त थे। भगवान् शिवपर इनका अटूट विश्वास था। किसी भी आपत्तिके आ पड़नेपर अन्य किसीसे भी सहायताकी याचना न करके भगवान् शंकरपर ही निर्भर रहा करते थे। भगवान् शंकरने इन्हें कई बार प्रत्यक्ष दर्शन भी दिये थे। इनके जीवनकी अनेक अलौकिक घटनाओंसे इनकी आदर्श शिवभक्ति प्रकट होती है। वृद्धावस्थामें तो इनका एकमात्र काम ही था दिनभर शिवमन्त्रका जप, कीर्तन आदि और प्रातः और रात्रिमें स्वरचित सुललित पदोंद्वारा भगवान् शिवके गुणगान करना। इन्होंने संवत् १९४४ वि० में शिवसायुज्य लाभ करके इहलीला संवरण की।

देवीसहायजीके रचे हुए पद अत्यन्त मर्मस्पर्शी एवं हृदयग्राही हैं। इनका सुन्दर पद नीचे दिया जाता है—

दीनबंधु दयाल शंकर, जानि जन अपनाइये।
भवसार पार उतार मोकौं, निज स्वरूप दिखाइये॥
जाने-अजाने पाप मेरे, तिनहिं आप नसाइये।
कर जोरि भोरि निहोरि माँगौं, बेगि दरस दिखाइये॥
'देवीसहाय' सुनाय शिवसों, प्रेमसहित जे गावहीं।
भवबन्धते छुटि जाहिं ते नर, सदा अतिसुख पावहीं॥

परमाचार्य श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराज

(लेखक—श्रीरामलालशरणजी)

संवत् १८७५ कार्तिक शुक्ल ७ को फल्गु नदीके तटवर्ती ईसरामपुर (इस्लामपुर)-के सारस्वत ब्राह्मणवंशमें आपका जन्म हुआ था। उपनयन, विद्याध्ययनके पश्चात् आप विभिन्न भाषाओंका अध्ययन करने लगे। उस समय भी नदीके किनारे किसी झाड़ीमें बैठकर भगवद्भजनमें तल्लीन हो जाते, भूख-प्यास बिसर जाती। बड़े प्रेमसे भगवान् शंकरकी आराधना करते। आप संगीतविद्या एवं मल्लविद्यामें भी बड़े निपुण थे। स्वप्नमें स्वयं भगवान् शंकरने दर्शन देकर षडक्षर मन्त्रराजका उपदेश किया। भक्त श्रीमालीजीकी आज्ञासे आप चिराननिवासी श्रीस्वामी जीवारामजी महाराजसे संस्कार कराकर वैष्णव हुए। तबसे अनेकों स्थानोंमें विभिन्न महापुरुषोंसे सत्संग करते रहे। अनेकों तीर्थोंमें होकर श्रीअवधजी पहुँचे। वर्षों मौन रहकर अनुष्ठान किया। सीतारामके अतिरिक्त पाँचवें

अक्षरका उच्चारण नहीं करते। एक समय जौकी दो रोटी पाकर सरयूजलका पान करते। इनके आशीर्वादसे बहुतोंका सांसारिक कल्याण हुआ। अनेकों मन्दिर बनवाये। सिपाही-विद्रोहके समय इनके स्थानके पास ही छावनी बन गयी थी। आपका सुयश सुनकर फौजके कमाण्डरने गवर्नमेण्टको लिखा और उसके फलस्वरूप निर्मलीकुण्डकी बावन बीघा जमीन सर्वदाके लिये इन्हें माफी दी गयी। रीवाँके दीवानने मन्दिर बनवाये और गाँव लगा दिये। इनके बनाये हुए एक-से-एक बढ़कर ८६ ग्रन्थ हैं। मुमुक्षुजनोंको उनका अध्ययन करना चाहिये। आपके सदुपदेशोंसे बहुतोंका कल्याण हुआ। 'कल्याण' के पाठक आपके उपदेशोंसे बहुत कुछ परिचित हैं।

श्रीजानकीवरशरणजी महाराज

(लेखक—श्रीजानकीशरणजी 'स्नेहलता' रामायणी)

सियवर प्रीतिपयोधि शीलनिधि अति मृदुभाषी।
मानद आपु अमान विषय जग तीव्र उदासी॥
मूरति रस रसराज सबै रस पोषक संता।
मति विराम निर्वैर परम आशिक सियकंता॥
श्रीयुगलानन्यशरणके मुख्य शिष्य जग ख्यात ये।
पंडित श्रीजानकिवरशरण वासी लक्ष्मणकोटिके॥

(नवभक्तमाल)

फैजाबाद जिलेके कलाफरपुर नामक ग्राममें मेहरवान मिश्र नामक एक सरयूपारीय ब्राह्मणके घर इनका जन्म हुआ था। छोटी उम्रमें ही ये संस्कृत और फारसीके उद्भट विद्वान् हो गये। युवावस्थामें माता-पिताने विवाह कर दिया। अनन्य शिवाराधनके फलस्वरूप श्रीयुगला-नन्यशरण स्वामीने प्रसन्न होकर इन्हें 'श्रीसीताराम' इस युगल मन्त्रकी दीक्षा दी। दीक्षाके बाद काशीमें रहकर इन्होंने सांख्यादि षड्दर्शनोंका विशेष अध्ययन किया। उसी समय इनका मन गृहादिसे बिलकुल हट गया। घर छोड़कर अनन्यभावसे भजन करते हुए इन्हें शीघ्र ही भगवत्कृपाकी प्राप्ति हो गयी।

थोड़े दिनों बाद गुरु-आज्ञासे ये चित्रकूट चले गये और वहाँ गुरुसेवा करने लगे। वहाँसे श्रीनीलाचलधाम, कामाक्षा आदि तीर्थस्थानोंमें होते हुए फिर श्रीअयोध्याजी आ गये। फिर काशीमें एक वर्ष रहकर तपस्या की। वहाँसे रीवाँ गये, वहाँके दीवानद्वारा उपस्थित की हुई नाना भोगसामग्रीसे घबड़ाकर भागकर चित्रकूट चले गये। चित्रकूटसे बंगालके रामपुर, चिचुड़ा और मुर्शिदाबाद होते हुए फिर अवधमें आ गये। इनका त्याग तो अद्वितीय था। चिचुड़ाकी ठाकुरवाड़ीके महन्त और मुर्शिदाबादमें गोपालदास महन्तने इन्हें महन्ती देनी चाही परन्तु ये तुरंत वहाँसे चुपके-से खिसक गये।

अवधसे सुलतानपुर जाकर वहाँ कई मास रहे। वहाँसे कहीं जाते समय ये एक भयंकर जंगलमें जा पहुँचे। जंगलमें ही रात्रि हो गयी। ये एक वृक्षके नीचे भूखे ही पड़े रहे। उस समय लीलामयने सुन्दर बालकका रूप धारण करके इन्हें भोजन बनाकर खिलाया और तुरंत अदृश्य हो गये। गुरुआज्ञा पाकर फिर ये काशी, हरिद्वार, गंगोत्तरी, बद्रिकाश्रम आदिकी यात्रा करते हुए अवध आये। इसके बाद तीन बार जनकपुरी गये और वृन्दावन एवं पंजाब प्रान्तकी यात्रा की। जनकपुरीमें इन्हें अतिशय सुखकी प्राप्ति हुई। अतः एक बार फिर बद्रिकाश्रमकी यात्रा करके पुनः मिथिलापुरीमें ही कुटी बनाकर रहने लगे।

श्रीमहाराजजीने अनेक जिज्ञासुओंको साधनमार्गमें अग्रसर किया तथा अनेकोंको भगवद्भजनमें प्रवृत्त किया। करुणा और उदारताके तो ये समुद्र ही थे। भगवान्के प्रायः सभी गुण भक्तमें उतर आये थे।

इस प्रकार अपनी दिव्य लीलाओंसे धरणीतलको पवित्र करते हुए संवत् १९५८ वि० की माघी अमावस्याको श्रीमहाराजजी सरयूतटपर देह त्यागकर श्रीसाकेतधाम पधार गये।*

* अप्रकाशित नवभक्तमालके आधारपर।

स्वामी रामवल्लभाशरणजी

बाराबंकी जिलेके तिलोकपुर गाँवमें वि० सं० १९१५ की फाल्गुन शुक्ल तृतीया सोमवारको स्वामी श्रीरामवल्लभाशरणजीका आविर्भाव हुआ। आपके पिताका नाम था पं० गणेशदत्त। पण्डित गणेशदत्तजी बड़े ही आस्तिक पुरुष थे और श्रीमद्भागवतपर आपकी विशेष ममता थी। रामवल्लभाशरणजीका पहला नाम बलदेव था।

एक बार आप माता-पिताके साथ श्रीअयोध्याजी आये। स्पप्नमें श्रीरघुनाथदासजीके दर्शन हुए और आप खूब जोर-जोरसे रोने लगे। किसी तरह भी चुप नहीं होते। स्वप्नमें ही श्रीरधुनाथदासजीके अनुग्रहसे आपको श्रीसीताराम-लक्ष्मणकी अत्यन्त दिव्य तेजोमय मूर्तिके दर्शन हुए। अब तो आपका जीवन आमूल पलट गया।

पिताकी मृत्युके अनन्तर लोगोंके आग्रहपर आपने गुड़का व्यापार शुरु किया, परन्तु सभी गुड़ साधु-महात्मा, गरीब-अनाथोंमें ही बाँट देते। जिन्हें प्रभु अपनी ओर ले लेना चाहता है उसे संसारके किसी भी व्यापारमें उलझने नहीं देता और इसीलिये उसमें सफलता भी नहीं मिलने देता; नहीं तो सफलतासे ही उत्तरोत्तर आसक्ति बढ़ने लगती है। धन्धा-रोजगार सब छोड़-छाड़कर आप श्रीजगन्नाथधाम दर्शनके लिये चले और बीचमें काशी ठहरे। आपने भगवान् विश्वनाथसे श्रीसीतारामजीके नाम, रूप, लीला, धाममें अनन्य भक्ति-प्रीति माँगी।

श्रीजगन्नाथजी पहुँचकर आपकी स्थिति विचित्र हो गयी। आनन्दातिरेकमें आप तन-मनकी सारी सुध-बुध खो बैठे। वहाँ श्रीहनुमान्‌जीके दर्शनकर आप कृतकृत्य हो गये।

श्रीअयोध्याजीमें आकर आप श्रीहरिभक्तिन माईके स्थानपर ठहरे और अपनी इच्छा माईजीसे कह सुनायी। माईजीने कहा कि श्रीसरयूजीमें स्नान कर आओ तो मैं बतलाऊँ कि क्या करना चाहिये। आपको यह सुनकर अतयन्त उत्कण्ठा हुई। आपने श्रीरामगंगामें स्नानकर श्रीसीतारामके चरणोंमें प्रीति माँगी। स्नानसे लौटनेपर श्रीमाईजीने अनन्त श्रीपण्डितराज श्रीजानकीवरशरणजी महाराजको इनका परिचय देते हुए कहा कि ये गुरुमुख होने आये हैं, ब्राह्मणके लड़के हैं। उस समय आपकी अवस्था २४ या २५ वर्षकी थी।

इन्हें देखकर महाराज श्रीजानकीवरशरणजी बहुत प्रसन्न हुए और पूजाके घरसे श्रीरामरज, आचमनी, गंगाजलीमें श्रीसरयूजल, तुलसीदल, कंठी, माला, पंचमुद्रा और एक छोटी-सी साफी ये चीजें मँगवायीं और विधिवत् आपकी दीक्षा हुई। अब आपका नाम रामवल्लभाशरणजी हुआ। आपको भगवान् श्रीराम, भगवती श्रीसीता तथा श्रीलक्ष्मणजीके कई बार कई स्थलोंपर दर्शन हुए। लीला-स्वरूपोंमें आपकी बड़ी आस्था थी। आपने यावज्जीवन कभी किसीसे कुछ माँगा ही नहीं। आपकी गुरुभक्ति संसारमें सदाके लिये आदर्शरूपमें बनी रहेगी। गुरुआज्ञाके बिना आपने कभी कुछ किया ही नहीं। ***'सरल स्वभाव न मन कुटिलाई'*** की आप सजीव मूर्ति ही थे। सदैव श्रीसीतारामके रसमें डूबे रहते।

संवत् १९८८ की वैशाख शुक्ला नवमी 'जानकीनवमी' कहलाती है। आपने अपने प्रयाणकी बात अपने एक अन्तरंग शिष्यसे कह दी। उसके तीसरे दिन एकादशीकी रात्रिमें तीन बजे महाप्रयाणकी तैयारी आपने की। नामध्वनिके बीच आपने श्रीभगवान्‌की सेवा की। प्रात:काल ६॥ बजे ज्यों ही मन्दिरकी आरतीका घड़ी-घंटा बजा त्यों ही आपने अपनेको भगवान् रामके चरणोंमें निवेदित कर दिया। पूर्ण शृंगारकर सुन्दर सजे विमानपर सवार होकर बड़े धूमधामसे आप चले और श्रीरामघाटपर श्रीसरयूकुंजमें जाकर विश्राम किया।

परमहंस श्रीसीताशरणजी

परम पूज्य वैरागसीन करुणाकर रासी।
संतशिरोमणि धर्मप्रचारक महल निवासी॥
परम रसिक श्रीरामलाल गुणरूप सुजाना।
सीताराम सुनामनिष्ठ गुरुभक्त अमाना॥
श्रीशीलमणि सद्‌गुरुकृपा सख्य सुरसवर रँग रँगे।
श्रीपरमहंस सीताशरण जासु सुजस जग जगमगे॥

(नवभक्तमाल)

इनका जन्म चौबेपुरनिवासी सुखदेव त्रिपाठीके घरमें श्रीगौरादेवीके गर्भसे हुआ था। बाल्यकालसे ही इनमें अलौकिक शक्तियाँ दिखलायी पड़ती थीं। एक बार जब इनके माता-पिता इनके साथ कामदगिरिको मनौतीके लिये जा रहे थे, वहाँपर निरंजनपुर ग्रामके रहनेवाले एक ब्राह्मणने आकर इन्हें अपनी गोदमें ले लिया और पूछनेपर बोले कि आज मेरे समस्त दु:ख दूर हो गये, मैं वर्षोंसे इसीकी खोजमें था। यह कहकर और बालकका मुण्डन-संस्कार करवाके चले गये। आठ वर्षकी अवस्थामें इनके उपनयन-संस्कारके समय उन्हीं द्विजराजने फिर आकर इन्हें उपदेश दिया और आशीर्वाद एवं बद्रिकाश्रमके वनमें फिर मिलनेका आश्वासन देकर चले गये। तभीसे इनका जीवन बदल गया। अब ये निरन्तर भगवन्नामजप, सत्संग और भगवत्पूजन आदिमें ही लगे रहते। हमेशा मौन होकर एकान्तमें बैठे रहते। इनकी यह दशा देखकर माता-पिता इनके विवाहकी तैयारी करने लगे किन्तु विवाहके तिथिके तीन दिन पहले ही आधीरातको चुपकेसे घरसे निकलकर वृन्दावन जा पहुँचे। वहाँसे हरिद्वार और हरिद्वारसे सत्यनारायणधाम पहुँचे। वहाँ मौन छोड़कर एक दादूपन्थी संतसे गीता आदि नाना शास्त्रोंका अध्ययन किया। सात मासतक वहाँ रहकर फिर घूमते-घूमते बद्रिकाश्रम जा पहुँचे और वहीं कुटी बनाकर रहने लगे। एक दिन जब ये स्नान करके सन्ध्याकी तैयारी कर रहे थे तो उन्हीं निरंजनपुरवाले द्विजराजने आकर इन्हें आज्ञा दी कि मेरा ही स्थूल देह इस समय अयोध्याजी में शीलमणिके रूपमें अवस्थित है, तुम जाकर उन्हींसे दीक्षा ले लो। वहाँ जाकर इन्होंने दीक्षा ली और गुरु आज्ञानुसार साधनमें तत्पर रहने लगे। ये प्रमोदवनमें रहकर एक संतसे श्रीमानसके दो-दो पन्ने लाकर प्रतिदिन पढ़ा करते थे। इसी समय भगवान्‌ने इन्हें वैशाख मासमें श्रीमानसके सात पाठ करनेकी स्वप्नमें आज्ञा दी।

बादमें ये अयोध्यासे आठ कोस पश्चिमकी ओर स्थित गुरुपुरधाममें सरयूतटपर एक वटवृक्षके तले कुटी बनाकर नौ वर्षतक रहे। पीछे वहाँ भक्तोंकी अधिक भीड़ हो जानेके कारण वापिस अयोध्याजी लौट आये और श्रीयुगलानन्यशरण स्वामीकी आज्ञासे श्रीलालसाहिबजीकी सेवा करने लगे। लालसाहिबजीकी सेवामें इनकी इतनी निष्ठा थी कि यदि कभी भूलसे कोई सेवामें त्रुटि रह जाती तो भगवान् स्वयं स्वप्नमें दर्शन देकर इन्हें वह भूल समझा दिया करते थे। ये झूला और होली आदि उत्सव प्रतिवर्ष बड़ी धूमधामसे मनाया करते थे। एक बार जब होली-उत्सवके उपरान्त ये रसरंगमणि साधुके साथ बैठे हुए थे तो भगवान्‌ने होलीके रंगमें रँगे हुए तीनों भाइयों एवं सखाओंसहित इन्हें दर्शन दिये।

इनके अमूल्य उपदेशोंसे हजारों जिज्ञासु भक्तोंको आनन्दकी प्राप्ति हुई। इनके हजारों शिष्य हो गये थे। भक्तोंको ये नाम-जप, कीर्तन, सत्संग आदि साधनोंका नियम दिलवाया करते थे। इनके कई शिष्य सिद्ध संत भी हो चुके हैं। इस प्रकार बहुत समयतक लोकोपकार करते हुए अन्तमें संवत् १९६६ वि० की कार्तिक शुक्ला द्वादशी, रविवारको भगवन्नामका उच्चारण करते हुए इस अनित्य देहको त्यागकर साकेतधाम पधार गये।

श्रीहंसकलाजी

(लेखक—श्रीद्वारकाप्रसादसिंहजी बी० ए०)

सारन जिलेमें गंगा और सरयूके संगमके समीप गंगहरा नामका एक गाँव है। संवत् १८८८ में वहीं नागा पाठकका जन्म हुआ। वैराग्य और शान्ति आपके जीवनके चिर सहचर थे। आपने बहुत थोड़ी अवस्थामें घर छोड़कर जंगलका रास्ता लिया। आप श्रीवैद्यनाथधाम पहुँचे। वहाँ भगवान् आशुतोषके दर्शन हुए। पासकी एक झाड़ीमें छिपकर आप निरन्तर साधन करते और नित्य नियमपूर्वक भगवान् शंकरके दर्शनके लिये आया करते थे। भगवान् शंकरने छठे महीने आपको एक यतिके रूपमें दर्शन दिया और आदेश किया कि लक्ष्मीपुरके झारखंडी स्थानके महात्मा रामदासजी, नृत्यकलाजीका दर्शन करो।

आप लक्ष्मीपुर पहुँचे और महात्मा रामदासजीने आपको अच्छी तरह अपना लिया। आपको शरणागतिमन्त्र तथा विरक्त संन्यासीका बाना दिया तथा आपका नाम रामचरणदास हंसकला रक्खा। आपका शील-स्वभाव और वात्सल्यप्रेम संसारके लिये आदर्शस्वरूप था। भगवत्प्रेमकी तो आप मूर्ति ही थे। भगवन्नामस्मरण तथा कीर्तनमें आपकी बड़ी निष्ठा थी।

आश्विन शुक्ला द्वादशी सं० १९६८ को आपने अपना नश्वर शरीर त्याग दिया और श्रीसाकेतधामकी महायात्रा की।

संत श्रीरूपकलाजी

वैष्णवरत्न श्रीरूपकलाजी एक उच्चकोटिके महात्मा थे। आपकी बदौलत हजारों पथभ्रष्ट, भ्रान्त नास्तिकोंने भगवान्‌की सत्तामें विश्वासकर सन्मार्गका अवलम्बन किया—हजारों दुराचारियोंके जीवन सुधर गये। हजारों नर-नारियोंने मांसाहार छोड़ा। आप संतसमाजके एक अमूल्य रत्न तथा महान् गौरवस्वरूप थे।

श्रीरूपकलाजीपर शुरूसे ही भगवत्कृपा रही। जिस आश्रममें रहे, आपने उसके नियमोंको खूबीके साथ पालन किया और उसीमें अपनी उन्नति की। तीस रुपये मासिक वेतनपर सामान्य नौकरी शुरूकर अपनी योग्यता, कार्य-कुशलता तथा बुद्धिमत्तासे तीन सौ तक पहुँचे। पूरे तीस वर्षोंतक बिहारप्रान्तमें शिक्षा-विभागके दायित्वपूर्ण पदोंका भार वहन करते हुए भी आप निरन्तर अपनी आध्यात्मिक उन्नति करते ही गये एवं विभिन्नतामें रहते हुए भी अपनी अनन्यताके भावको आपने दृढ़तर रक्खा।

जितने दिन अध्ययनका अवसर इन्हें मिल सका, उसका खूब सदुपयोग किया एवं तदनन्तर ही इतना ज्ञानार्जन कर लिया कि अपने जीवन-कालमें अनेकों महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिख डालीं जो इन्हें साहित्य-क्षेत्रमें अमर रखनेके लिये पर्याप्त हैं।

भगवद्भक्ति एवं वैराग्यसाधनका क्या कहना? उसके लिये तो मानो आपने जन्म ही ग्रहण किया था। आप उठते-बैठते, चलते-फिरते निरन्तर अपने प्रेममय स्वामीके पादपद्ममें सखीभावसे लव लगाये रहे, इसी अनुरागके कारण इष्टदेवकी भी आपपर विशेष कृपा रही तथा आश्चर्यमयी एवं रहस्यमयी रीतिसे सभी कठिनाइयोंमें आपको सहायता मिलती गयी।

एक बार कर्ज चुकानेके लिये आपको कुछ रुपयोंकी बड़ी आवश्यकता थी। सर्वत्र चेष्टा करके हार गये किन्तु कहीं भी रुपयोंका प्रबन्ध होते नजर नहीं आया। तब आप भगवान्‌पर भरोसाकर बैठ गये। उसी दिन सन्ध्या-समय आपके पास एक अपरिचित व्यक्ति आया और उसने सबके सामने आपके हाथोंमें एक लिफाफा देकर कहा—'आपसे कुछ बातें करनी हैं, इसे अपने पास रखिये, मैं अभी आता हूँ।' लिफाफा कई दिनोंतक यों ही आपके पास पड़ा रहा—वह आदमी फिर लौटकर नहीं आया। अन्तमें जब खोला

गया तो उसमें उतने ही रुपये मिले जितनेकी आपको जरूरत थी।

श्रीरूपकलाजीने जब अपना पदपरित्याग किया, उस समय आपकी अवस्था केवल ५४ वर्षकी थी। सरकारी नियमोंके अनुसार आप कम-से-कम एक वर्ष और नौकरी कर सकते थे किन्तु उसी समय एक ऐसी घटना हुई जिससे आप बिलकुल प्रेमविभोर हो गये तथा आपके लिये अब एक क्षण भी नौकरीमें रहना असम्भव हो उठा।

आप स्कूल-निरीक्षणार्थ बिहटा रेलवे स्टेशनसे कई मील दक्षिण पटना जिलाके एक दिहातमें गये थे। उसी समय तत्कालीन शिक्षा-विभागके डाइरेक्टर मि० क्राफ्ट पटना आये। इन्सपेक्टर मार्टिन साहबने आपके पास पत्र भेजा जिसमें डाइरेक्टर साहबके कलकत्ता लौट जानेके पूर्व किसी एक महत्त्वपूर्ण विषयपर उनकी सम्मति लेनेका आदेश किया गया था। पत्र आपको ऐसे समयमें मिला जब पटनासे डाइरेक्टर साहबकी गाड़ी खुलनेमें केवल १५-२० मिनट बाकी रह गये थे। भला इतने समयमें पटना आना कब सम्भव था? ये बड़े चिन्ताकुल हो गये और मारे फिक्रके इनकी आँखें झिप गयीं। कुछ देर बाद कानमें घण्टाकी आवाज पड़नेसे आप चौंक उठे और अपनेको सारे आवश्यकीय कागजोंके साथ कचहरीके कपड़े पहने पटना-स्टेशनके वेटिंगरूममें पाया। गाड़ी दानापुरसे छूट चुकी थी। आपने प्लेटफार्मपर जाकर डाइरेक्टर साहबसे बातें कीं तथा गाड़ी छूट जानेपर फिर वेटिंगरूममें जाकर इस आश्चर्यमयी घटनापर विचार करने लगे। इसी चिन्तामें आपको फिर नींद आ गयी और उठनेपर आपने अपनेको पुनः बिहटामें पाया। किन्तु डाइरेक्टर साहबके साथ जो बातें हुई थीं वे स्मृतिपटपर पूर्णरूपसे अंकित थीं।

प्रभुका अपने ऊपर अपार अनुग्रह देख आप गद्‌गद हो गये। आप उसी क्षण अपना त्याग-पत्र देकर सीधे श्रीअयोध्याधामको प्रस्थान कर गये।

एक दिन श्रीरूपकलाजी अपने कुछ प्रेमियोंके पास सोये हुए थे, एकाएक आप उठ बैठे तथा औरोंको भी जगाकर प्रार्थना करनेकी आज्ञा दी। कारण पूछनेपर आपने कहा कि—'गुरुदेवका विमान जा रहा है। अन्तिम बिदा लेने आये थे।' प्रात:काल तारद्वारा अनुसन्धान करनेपर ज्ञात हुआ कि भागलपुर गुरहट्टाके महंत श्रीहंसकलाजीका ठीक उसी समय साकेतवास हुआ था। श्रीहंसकलाजीसे ही आपने कान्ता-भावकी दीक्षा ली थी। रामानन्दी सम्प्रदायकी दीक्षा इन्होंने छपरानिवासी स्वामी श्रीरामचरणदासजीसे ली थी। स्वामीजीने ही इनके असल नाम (भगवान्प्रसाद) के आगे 'श्रीसीतारामशरण' जोड़ दिया था। श्रीहंसकलाजीसे दीक्षित होनेके अनन्तर ये 'रूपकला' नामसे विख्यात हुए।

आपको अपने साकेतवासका समय बहुत दिनोंसे विदित था। बीस वर्ष पूर्वकी डायरीमें एक जगह लिखा पाया गया है कि—'अमुक तिथिको श्रीमारुतिजी स्वयं आकर ले जायँगे—यह श्रीवचन है।'

वि० संवत् १९८९ पौष शुक्ला द्वादशीके तीन बजे रात्रिमें आप चालीस वर्षके अखण्ड अवधवासके अनन्तर अपनी अमर कीर्ति, उच्च आदर्श और अमूल्य वचनामृतको इस संसारमें छोड़कर साकेतवास कर गये।

संत स्वामी गोमतीदासजी

आपका शुभ जन्म अबसे प्राय: सौ वर्ष पूर्व पंजाबमें किसी सारस्वत सद्‌ब्राह्मणके घर हुआ था। कहते हैं कि प्रारब्धवश अपनी बाल्यावस्थामें ही आपको गृह-त्याग करना पड़ा था और आप किसी साधुके साथ अमृतसरके दुर्ग्याना नामक गुरुद्वारे या साधुओंके अखाड़ेमें सम्मिलित हो गये थे। आपके दीक्षागुरु श्रीसरयूदासजी थे। इस गुरुद्वारेमें बड़े-बड़े सिद्ध और विरक्त होते आये हैं। एक समय वहाँ आपसे 'मठाधीश' होनेका अनुरोध किया गया, पर आपके हृदयमें तो बाल्यावस्थासे ही वैराग्यका सच्चा भाव पैदा हो गया था। इसलिये आप चुपचाप अपने गुरुद्वारेसे निकल भागे, आप पैदल ही अनेकों तीर्थोंमें घूमते रहे। तीर्थोंमें विचरते हुए आप चित्रकूट

पहुँचे। चित्रकूटमें आपने बारह वर्षतक मौनव्रतका अवलम्बन किया। तदुपरान्त आप मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी जन्मभूमि जननी श्रीअयोध्याकी गोदमें आ विराजे और यहाँ भी मौनव्रतका ही पालन करते हुए बारह वर्षतक मणिपर्वतपर टिके रहे। मौनव्रत समाप्त करनेपर आप ग्वालियरके सेठ प्रह्लाददासके प्रेमपूर्ण अनुरोधसे 'संतनिवास' में रहने लगे। आपने निरन्तर अपनेको छिपाये रखनेकी ही चेष्टा की पर क्या सच्ची विभूति कहीं छिपी रह सकती है? 'लक्ष्मणकोट' के महंत श्रीरामोदारशरणजी आपके इस योगाभ्यास और अनुपम तपोबलपर मुग्ध हो गये और आपको अपने प्रेमपाशसे ही आबद्ध कर लक्ष्मणकिलेमें ले आये। आप जहाँ ठहराये गये, उस स्थानका नाम आपने 'श्रीहनुमन्निवास' रक्खा। आपके इष्टदेव श्रीहनुमान्जी ही थे, यद्यपि आपकी अनन्य उपासना श्रीसीतारामके युगलनामकीर्तनकी ही थी।

कहते हैं कि आपको श्रीहनुमान्जीका प्रत्यक्ष साक्षात्कार भी हुआ करता था और उनसे प्रत्यक्ष आदेश मिलता था।

आपकी उम्र सौसे अधिक हो गयी थी, पर आपकी दिनचर्यामें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ा। आप रात्रिके १२ बजेतक जागते और पहर रात रहते उठकर ३ से ६ तक अपनी श्रीसीताराम-नाम-पाठशालामें सम्मिलित होते और शुद्ध भजनानन्दमें तल्लीन-से हो जाते। सूर्योदय होनेपर दुबारा श्रीसरयूजीमें स्नानकर अपने उपास्य और इष्टदेव श्रीराम तथा रामकिंकर श्रीहनुमान्जीकी पूजामें लग जाते। पूजा समाप्तकर प्रातःकालीन 'हवन' आदि धर्मकृत्य किया करते। मूर्तियोंका शृंगार और सेवा तथा अर्चा भी अपने ही हाथों किया करते। आलस्य तो आपमें आपकी वृद्धावस्थातक भी नहीं फटक पाया था। दस-ग्यारह बजे फिर भी आप अपनी भजनमण्डलीके साथ श्रीसीतारामकी मधुर नामध्वनि करते हुए श्रीसरयूजी स्नान करने जाते और वहीं सरयूतटपर घंटाभर भजन-कीर्तनमें लगे रहते। फिर मध्याह्नकालीन हवन समाप्तकर अपने सामने ही संतोंको भोजन कराते और बड़े ही विलक्षण प्रेमसे भगवत्प्रसाद पवाते। श्रीसीतारामजीकी जयध्वनि या 'रामधुनि' कराते हुए भजनानन्दमें मग्न हो जाते। साधु-संतोंके प्रसाद पा लेनेपर संतोंको अपने हाथसे पान-इलायची देते, अभ्यागतों और दरिद्रनारायणोंको भोजन कराते और तब आप फलाहारमात्र करते। दोपहरसे चार बजेतक आप नित्य अपनी एकान्त कोठरीके किवाड़ बंद कर ध्यानस्थ रहते। एक बार और स्नानार्थ बाहर आते और फिर सन्ध्याप्रवेशतक जपध्यानमें ही लीन रहते। शामको दीया-बत्तीके बाद आँगनमें आसनपर विराजकर भजन करते और संत-समाजमें श्रीरामायणजी आदिकी कथा, श्रीराम-नाम-कीर्तनका आनन्द लूटते। रात्रिके समय ८-८॥ बजे फिर स्नानादि कृत्योंसे निवृत्त हो हनुमान्जीकी सेवा करते और तब श्रीरामायणका गायन हुआ करता।

गौओंको अपने हाथ ही रोटियाँ खिलाते और स्वयं ही उनकी देखभाल किया करते। अपने सेवकों तथा शिष्यवर्गको भी गो-सेवाके लिये सदा उत्साहित किया करते। फिर शयनासनपर विराजमान हो अपनी उपस्थित संतमण्डलीमें 'रामकथा' या विविध रहस्यमय रामचरित्रोंका आस्वादन किया करते। अपनी अन्तिम जीवन-लीला भी आपने अपने श्रीहनुमन्निवासहीमें समाप्त की।

भक्तवर श्रीरामाजी

(लेखक—डॉ० श्रीसत्यनारायण सहायजी)

सारन (छपरा) जिलेके खेढ़ाय गाँवमें श्रीवास्तव कायस्थकुलमें साकेतवासी श्रीरामयादलालजी (श्रीरामप्रियाशरण)—की धर्मपत्नी श्रीलालप्यारी देवीके गर्भसे सं० १९२६ भाद्रपद कृष्णा सप्तमीको श्रीरामाजीका आविर्भाव हुआ। जन्मसे ही आप सरल, विनम्र और भावुक प्रकृतिके थे। बाल्यावस्थामें ही इनके विलक्षण गुणोंको देखकर अनेक साधु-महात्माओंने कहा था कि यह बालक परम भक्त होगा। पठन-पाठनमें इनका मन

लगता ही नहीं। कोई साधु-संत देखते ही सेवामें लग जाते। साधुसेवामें इन्हें बड़ा सुख मिलता था। आपके गुरु पटनाके सुप्रसिद्ध महात्मा श्रीस्वामी भीष्मजी महाराज थे।

स्वभावसे ही विनम्र और साधुसेवी होनेके कारण श्रीरामाजी सभीके श्रद्धापात्र बन गये। *'मैं सेवक सचराचर रूप-स्वामि भगवंत'*—सारा संसार भगवान्का स्वरूप है और मैं हूँ उसका विनम्र सेवक, इसी भावसे आपने समस्त चराचरको प्रभुरूप समझकर उपासना की। आप सदा जमीनपर बैठते। उच्चासनपर कभी नहीं बैठे, न किसी सवारीपर चढ़कर आप गये। अपने विवाहमें लोगोंके बड़ा आग्रह करनेपर एक घंटेके लिये पालकीपर बैठे थे परन्तु परिछनके बाद पैदल ही ससुराल गये। साधु-ब्राह्मणके सामने अथवा अपनेसे बड़ेके सामने उच्चासनपर बैठना अथवा सवारीपर बैठना आप बेअदबी मानते थे और ऐसा समझते थे कि भगवान् इससे असन्तुष्ट होते हैं।

भगवान् रामकी उपासना आपकी थी। रामलीलामें आपकी बड़ी भक्ति थी। भगवान्की वन-यात्राकी झाँकी करुणरससे पूर्ण होनेके कारण पहले आपके हृदयको बहुत आकृष्ट करती थी। आप करुणरसकी मूर्ति ही थे। परन्तु इस झाँकीकी उपासना स्थायी नहीं हुई। आपको एक बार सहसा भगवान्के दूल्हारूपका ध्यान हुआ और वह हृदयमें ऐसा घर कर गया कि आप एक प्रकारसे उस रूपपर बिक गये। फिर एक क्षणके लिये भी उस 'नौशे बबुआ' की छबिसे कभी अलग नहीं हुए।

अपने गाँवके अड़ोस-पड़ोसमें ऊँच-नीच किसी भी जातिमें बालकका जब विवाह होता तो रामाजी दूल्हेको जोड़ा पहिनाते और उसे दूल्हा रामका रूप समझकर आनन्द-पुलकित होते। संसारके सारे झमेलोंसे अलग होकर आप प्रत्येक क्षण भगवत्स्मृतिमें ही मग्न रहते। आपकी शरणागति सच्ची थी। एक क्षणके विस्मरणमें आप परम व्याकुल होकर छटपटाने लगते। *'दूल्हारूप रामकर ध्याना'* में आपकी निष्ठा इतनी दृढ़ थी कि आप किसी भी दूल्हेको जाते देखते तो पालकीके साथ हो लेते और चँवर डुलाने लगते। दूल्हेसे प्रसाद लेकर पाते और उसका चरण चाँपते। इस पद-संवाहनमें आपको स्वयं श्रीभगवान्के पद-संवाहनका आनन्द मिलता।

एक बार आपकी इच्छा 'अर्चाविग्रह' का विवाहोत्सव मनानेकी हुई। श्रीकिशोरीजीकी मूर्त्ति अपने यहाँ थी ही। सभी सामान तो आ गये परन्तु श्रीकिशोरीजीके लिये आभूषणोंका प्रबन्ध नहीं हो सका। मन मारे आप चिन्तामग्न होकर एक वृक्षके नीचे बैठे थे। इतनेमें क्या देखते हैं कि एक सोनार सोनेके अनेक बहुमूल्य गहने लाकर आपसे कहता है, 'इन गहनोंको रख लो। जब दाम हो दे देना।' विवाहके अनन्तर भक्तवर रामाजीने उस 'सोनार' को बहुत खोजा परन्तु इस खोजनेमें ही खो जाना पड़ा।

कुछ दिन बाद अपना गाँव खेढ़ाय छोड़कर सरयाँ गाँवमें अपने प्रेमी बाबू नगनारायणलालके यहाँ वास कर रहे थे। आपको दमाकी शिकायत थी। बहुत दुर्बल हो गये थे। चलने-फिरनेकी भी शक्ति न थी। फिर भी जब कभी कोई बारात देखते या दूल्हेको जाते देखते अथवा कीर्तन या विवाहोत्सवकी बात सुनते तो पागलकी तरह बेतहाशा दौड़ते। स्वास्थ्य क्रमशः गिरता ही गया। अन्तमें संवत् १९८५ के जेठ बदी दूजको भगवान् श्रीरामचन्द्रके चरणोंका ध्यान करते हुए आप साकेतलोकको पधारे।

भक्तवर श्रीरामाजीके वचनामृत

(अच्चू श्रीधर्मनाथसहायजी बी० ए०, बी० एल० द्वारा संकलित)

जीव जब भगवान्के शरणमें जाता है तब उसे छः बातोंकी प्रतिज्ञा करनी पड़ती है—(१) मैं आपके अनुकूल रहूँगा। (२) जो आप मना करेंगे वह न करूँगा। (३) आप ही मेरे रक्षक हैं। (४) आप मेरी

रक्षा अवश्य करेंगे। (५) मैं आपका हूँ दूसरेका नहीं, सब सरकारका है दूसरेका नहीं। (६) आप हमारे हैं।

(२) चार बातें सदा स्मरण रखना चाहिये—(१) मृत्यु अवश्य है, मृत्यु अवश्य है, मृत्यु अवश्य है। (२) मेरा कुछ भी नहीं है, मेरा कुछ भी नहीं है, मेरा कुछ भी नहीं है। (३) केवल पेटभरका ठिकाना है, केवल पेटभरका ठिकाना है। (४) सरकार ही मेरे अपने हैं, सरकार ही मेरे अपने हैं।

(३) सरकार जैसे सच्चे हैं वैसे ही हमलोगोंको भी सच्चा होना चाहिये। यहाँ तो साधु-साधु, भक्त-भक्त, महंत-महंतमें झगड़ा है। जैसे सरकार निश्छली हैं वैसे ही हमलोगोंको भी निश्छली होना चाहिये। यहाँ तो भावना रहती है, किसका गला घोंटें या किसका धन हरण करें।

(४) हमलोग हृदयसे सरकारको अपना नहीं समझते हैं और न हमलोग सरकारको अपना बनाना चाहते हैं। अपने ऊपरी आडम्बरसे हमलोग केवल सरकारके अपने बने हुए हैं। देखिये, यदि किसीका बालक गुम हो जाय तो उससे कितना ही आग्रह क्यों न किया जाय कि कुछ भोजन कर लो तब ढूँढ़ना तो वह क्या यह बात मानेगा? या यदि वह किसी मेलेमें भी जाय तो ऐसी दशामें कोई कहे कि मेला देख लो तब बालकको ढूँढ़ना तो क्या वह मान सकता है? वह मेलेका अवलोकन न करके केवल गुम हुए बालकके ढूँढ़नेकी ही धुनमें रहता है। अथवा कितना भी द्रव्य उसे क्यों न दिया जाय वह बालकका ढूँढ़ना बंद नहीं कर सकता। इसी तरहसे हमलोगोंको भी सरकारकी खोजमें लगना चाहिये। केवल नाममात्रके लिये ही हमलोग कहते हैं कि हम सरकारके हैं। हमलोग सरकारके झूठे अपने बने हुए हैं तब भी सरकार ऐसे झूठे भक्तकी भी मदद करते हैं—

तुलसी झूठे भगतके पत राखत भगवान।

(५) संतसेवा करना, टीका लगाना, पूजा-पाठ करना इत्यादि उत्तम हैं परन्तु यह भक्ति नहीं है। भक्ति बहुत ही कोमल वस्तु है। भक्ति बड़ी ही लम्बी, महीन और दूर है।

साईंका घर दूर है, जैसे पेड़ खजूर।
चढ़े तो चाखे मीठ रस, गिरे तो चकनाचूर॥

—तन, मन, धन, प्राण सब कुछ अर्पण करना पड़ता है तब कहीं भक्ति महारानीकी कृपा होती है। यहाँ तो जब अपने लिये कोई जरूरत होती है तो कहींसे किसी प्रकार अच्छी-अच्छी वस्तुकी तैयारी की जाती है, अपने खानेके लिये अच्छे-अच्छे पदार्थ, भगवान्‌के लिये केवल गुड़का भोग लगाया जाता है। अपने लड़केकी शादी हो तो खूब तैयारी, यहाँतक कि कर्ज लेकर इंतजाम किया जाता है। भगवान्‌के उत्सवके लिये केवल पीतलका बर्तन और कटोरी ले लिया, फूल ले लिया और अमरुदका भोग लगा दिया। भगवान्‌से कपट-धोखा! भगवान् क्या हृदयका भाव नहीं समझते? वे सब समझते हैं। श्रीमुखवचन है ***'मोहिं कपट छल छिद्र न भावा॥'*** भगवान्‌पर तन, मन, धन, प्राण सब कुछ न्योछावर कर देना चाहिये। यही भक्ति है, यही प्रेम है—

मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजतहिं कृपा करत रघुराई॥

(६) संसारका काम करना मना नहीं है। काम छोड़ना नहीं चाहिये। परन्तु यह समझना चाहिये कि सब काम सरकारका ही है। इसे कोई बंद नहीं कर सकता। हमको यह काम सरकारकी ओरसे मिला है यह समझकर सब काम करने चाहियें।

परमहंस रामदासजी

(लेखक—श्रीकेसरीनन्दनप्रसादजी)

परमहंस रामदासजी बाबा रघुनाथदासजीके प्रिय शिष्य थे। आपकी जन्मभूमि छपरा थी और आपने ब्राह्मणकुलको सुशोभित किया था। बहुत छोटी अवस्थामें ही आपको वैराग्य हुआ और आपने चारों धामकी प्रदक्षिणा बारह वर्षोंमें समाप्त की। इसके अनन्तर आप अयोध्या आकर अपने गुरु महाराजकी सेवामें रहने लगे। चित्रकूटके वनमें जाकर एकान्तवासके साथ-साथ आपने योगाभ्यास किया। काशीके स्वामी विशुद्धानन्दजीसे आपको साधनामें बड़ी सहायता मिली। परमहंस लक्ष्मणदासजी, रामकृष्ण परमहंस, श्रीझकझकिया बाबा आदि योगियोंसे आपने भेंट की। इसके बाद आपने अनुसूया-आश्रममें जाकर तपस्या की और तीन महीनेतक आप केवल नीमकी पत्ती खाकर रहे। बारह वर्ष आप केवल फल और दूधपर रहे। परन्तु इतनेसे ही आपको सन्तोष नहीं हुआ। आप वृन्दावन गये। वहाँ तीन वर्ष यमुनाके किनारे बिना कपड़े पहने अवधूतकी तरह नंग-धड़ंग रहे। कोई कुछ खानेको देता, वही पाकर अलमस्त डोलते। क्या जेठकी गर्मी और क्या माघका जाड़ा, आप सदा दिगम्बर ही रहे। तीन वर्षकी इस परमहंसावस्थाका रस लेकर आपने पुनः कण्ठी-तिलक धारण किया।

आपके पास जो कोई भी, जिस किसी भी कामके लिये साधन पूछता आप उसे भगवान्का नाम ही बतलाते। कितने श्रोत्रियोंने इनकी प्रेरणासे कण्ठी-माला ली। आपको नंगे पैर देशाटनका बहुत शौक था। साथमें केवल एक तुमड़ी और कुछ पोथीकी झोली रखते थे। आपने एकान्तवासके हेतु कुछ समय गयामें बिताया। वहाँ इनकी विभूतियोंका दर्शन पहले-पहल हुआ। कितनोंका आपके द्वारा बहुत अधिक कल्याण हुआ। सेमरियाघाटमें आपके योगाश्रमका नाम रामबाग था। योगके साथ-साथ आप अनेक विद्याओंके स्रोत थे। आपने भक्ति, प्रेम, योगसम्बन्धी बहुत सुन्दर पद रचे हैं। आपका जीवन अनेकों विचित्र चमत्कारी घटनाओंसे पूर्ण है। स्थानाभावसे वे सब यहाँ नहीं लिखी जातीं।

चैत्र बदी तीज संवत् १९९२ में आप परमधामको पधार गये। आपके द्वारा असंख्य जीवोंका परमार्थ सुधरा।

श्रीश्यामदासजी महाराज

(लेखक—श्रीजानकीशरणजी 'स्नेहलता' रामायणी)

श्रीमानस अरु भक्तमाल वक्ता अति सुन्दर।
करि उपदेश मगधवासिनहिं किये जन रघुवर॥
भाषा पंडित सुकवि फारसी आदिक ज्ञाता।
घरहीं बसि बल भक्ति भये पूजित विख्याता॥
श्रीढोटनदास सद्गुरुकृपा जगत बचि शुभ यश लिये।
श्रीश्यामदासजी भक्तजन कायथकुलहिं उधार किये॥

(नवभक्तमाल)

श्रीश्यामदासजी महाराजका जन्म-स्थान गया जिलान्तर्गत दौलतपुर नामक ग्राम था। ये बाल्यकालसे ही श्रीसियारामजीके परम अनन्य और सच्चे भक्त थे। भगवान्के सिवा अन्य किसीका स्वप्नमें भी आश्रय स्वीकार नहीं करते थे। भजनके प्रभावसे ये वचनसिद्ध महात्मा हो गये थे। इन्होंने पहले संत रंगाचारीसे दीक्षा लेनेकी इच्छा प्रकट की परन्तु रंगाचारीजीने योगबलसे जानकर कहा कि 'हम दोनों पूर्वजन्मके गुरुभाई रह चुके हैं अतः मैं तुम्हे दीक्षा न देकर श्रीढोटनदासजीसे दीक्षा दिला दूँगा।' थोड़े समय बाद ही श्रीढोटनबाबासे दीक्षा लेकर ये छः वर्षतक निरन्तर गुरुसेवा करते हुए

गुरुके पास ही रहे। फिर गुरुदेवका आशीर्वाद पाकर उनकी आज्ञासे घरपर आये और आठों पहर भगवत्पूजन और नामजप तथा सत्संग, कीर्तनमें ही रत रहने लगे। श्रीगुरुदेवने घरपर स्वयं पधारकर और इनकी श्रद्धा, भक्ति एवं साधनतत्परता देखकर वर माँगनेको कहा। इन्होंने भगवद्दर्शनकी चाह प्रकट की। बस, कहनेभरकी देर थी—भगवद्दर्शनकी इच्छा तुरंत पूर्ण कर दी गयी। धन्य गुरुदेव!

चौथेपनमें भी जब इनके पुत्र नहीं हुआ तो गाँवमें लोग अनेक प्रकारकी चर्चा करने लगे। प्रभुने पुत्र देकर भक्तकी यह चिन्ता भी मिटा दी। परन्तु जब बालक छ: मासका हुआ तो किसी अशुभ ग्रहके कारण उसकी दोनों आँखें जाती रहीं। श्रीमहाराजजीने बालकको मन्दिरमें सुला दिया और दृढ़ विश्वासके साथ भगवान्से प्रार्थना करने लगे। तुरंत ही भगवान्ने बालकको नेत्रदान देकर भक्तकी बात रख ली।

महाराजजीकी बहिन लोहरपुरा नामक ग्राममें विवाही गयी थीं। वहाँ एक ब्रह्मराक्षस उस परिवारसे पूजा करवाया करता था। अनन्य भक्त अपने इष्टदेवको छोड़कर दूसरेको कैसे पूज सकते थे? अपने प्रबल प्रतापसे इन्होंने ब्रह्मराक्षसको बलरहित कर दिया। उसने कई बार इन्हें कष्ट देनेकी चेष्टा की परन्तु उसकी एक न चली।

एक बार ये भ्रमवश अर्धरात्रिके समय ही गंगा-स्नानके लिये चल पड़े। रास्तेमें एक दुष्टोंके समूहने इन्हें घेर लिया। इतनेमें ही श्रीरघुनाथजीने एक वीरका वेष धारण करके दुष्टोंको मार भगाया और इन्हें गंगातटतक पहुँचाकर अदृश्य हो गये।

एक बार इनकी कथामें यह प्रसंग चला कि कथामें श्रीरघुनाथजी स्वयं पधारते हैं। इतनेमें ही एक अविश्वासीने मजाकमें कहा कि 'यदि कथामें रघुनाथजी स्वयं पधारते हैं तो यहाँ कहाँ हैं? दिखलाओ।' इतनेमें ही भगवान् वहाँ परम सुन्दर छोटी अवस्थामें संतका रूप धारण करके पधारे। कथा समाप्त होते ही वे तुरंत अन्तर्धान हो गये। यह अद्भुत लीला देखकर वह अत्यन्त लज्जित हुआ और पैरों पड़कर क्षमायाचना करने लगा। इसी प्रकारकी अनेक लीलाओंसे महाराजजीकी कृपासे हजारों मनुष्य भगवद्भजनमें लग गये।

इन्होंने १९५८ वि० सं० में मुखसे श्रीरामनाम लेते हुए शरीरका त्याग करके साकेतधामको प्रयाण किया।*

बीसवीं शताब्दीके श्रीअवधधामनिष्ठ कुछ महात्मा

(लेखक—श्रीअंजनीनन्दनशरण श्रीशीतलासहायजी)

महात्मा श्रीहरिदासजी (दूसरे)

आप पंजाबके रहनेवाले थे और उसी प्रान्तमें आपका गुरुद्वारा था। बहुत काल वहाँ रहकर आप संवत् १९४१ में श्रीअवध आये। ये श्रीसीतारामनामके उपासक थे। नामको बड़े चावसे ऐसे स्वरसे उच्चारण करते थे कि सुननेवाले मुग्ध हो जाते। आप मधुकरवृत्तिसे रहते थे। श्रीअवधमें जबसे आये फिर गुरुद्वारासे बुलाहट होनेपर भी यहाँसे न गये, दृढ़ अवधवास करके आपने इसी धाममें शरीर छोड़ा।

श्रीभगवानदासजी मधुकरिया

आप चरित और नाम दोनोंमें निष्ठ थे। जबसे अवध आये, धामसे बाहर न गये। कभी किसीको अवध छोड़नेकी आज्ञा न देते। भगवान्ने आपकी निष्ठा निबाह दी। एक बार आप बहुत बीमार हुए छ: मास हो गये शरीर स्वस्थ न हुआ तब बहुत-से प्रेमियोंने आपसे हठ किया कि कुछ दिनके लिये बाहर जाकर जल बदल आवें, पर आप न गये। इसके पीछे कुछ दिनों बाद आप-ही-आप मनमें आया कि अच्छा चलो कुछ दिन बाहर रह आवें पर मनकी किसीसे कहनेमें लज्जा लगती थी, इससे आप चुपचाप स्थानसे चल दिये। रास्तेमें जब मणिपर्वतके समीप पहुँचे तब एक मुसलमान सिपाहीवेषमें आपको मिला, पूछा—किधर जाते हो? आप बड़े संकोचमें पड़ गये, कुछ उत्तर न दिया। सिपाही बोला कि 'हम यहाँसे आगे न जाने देंगे, लौट जाओ।' ये दूसरी तरफ गये उधर भी वह पहुँच गया, जिधर आप जाते उधर ही वह सिपाही आकर आपकी राह छेंक लेता। चारों तरफसे रास्ता बंद। क्या करें? उस दिन लौटे, दूसरे दिन चले, दूसरे दिन भी

* श्रीस्नेहलताजीलिखित अप्रकाशित पद्यमय नवभक्तमालके आधारपर।

वही हाल हुआ। रास्ता बदल-बदलकर चार-पाँच दिनतक आप गये, पर नित्य वही सिपाही आपको जिस तरफसे आप जाते उधर ही आकर रोकता। अन्ततोगत्वा आप फिर स्थानमें लौट आये। इस चरितके बाद तीसरे दिन आपका शरीर श्रीअवधहीमें छूटा। सं० १९४३ के लगभग आपका साकेतवास हुआ।

श्रीबलरामदासजी

आप पवहारीजीके यहाँके साधु थे। आप बड़े ही विज्ञानी और बड़े मन्त्र-जापक थे। उस समय श्रीअवधमें आप बड़े प्रधान गिने जाते थे। आप बहुत ही मधुर और प्रियसम्भाषी थे। आप श्रीअवधमें तीस वर्ष रहे, पहले मणिपर्वतपर श्रीपवहारीजीके यहाँ, फिर श्रीरामाज्ञादासजीके यहाँ आये। यहीं अन्त समयतक रहकर शरीर छोड़ा। आप बड़े ही सरयूनिष्ठ थे, अत्यन्त वृद्ध हो जानेपर भी आपने श्रीसरयूस्नान नहीं छोड़ा। नित्य तीन बजे रात्रिको श्रीसरयूजीके स्नानको जाते, चाहे वर्षा हो चाहे कैसा ही पाला पड़े।

श्रीसीताशरणजी महाराज

आपका बृहत् जीवनचरित्र छप चुका है। आप श्रीस्वामी युगलानन्यशरणजीके समकालीन थे और उनके पीछे भी बहुत दिनोंतक रहे। आप परम् विरक्त और धामनिष्ठ थे। आपके यहाँ सदा अखण्ड कीर्तन होता रहा। बराबर दो-दो ब्राह्मण पारी-पारीसे बैठे श्रीसीतारामनामका कीर्तन करते रहते थे। यदि कोई भी श्रीअवधसे बाहर जानेका नाम लेता तो उसपर बड़े नाराज होते थे।

श्रीरघुनन्दनशरणजी

आप बाबा रघुनाथदासजीके छावनीके चेले थे। लगभग संवत् १९४८ के यहाँ आये। आप बड़े विरक्त और नामजापक थे। रामायणके अर्थ अपूर्व करते थे। बड़े ही सत्संगी थे। संतनिवासमें बहुत दिन रहकर आपने शरीर छोड़ा।

श्रीहरिदासजी

आप यहाँ सं० १९२१ में आये और मणिपर्वतपर मसजिदमें रहते थे। जो कोई आपके पास जाता उसे पत्थर मारते। उनके दर्शनका एक ही उपाय था, वह यह कि उनके समीप बराबर विनयपत्रिकाका पाठ करता जाय और जबतक वहाँ रहे पाठ करता रहे। विनयके पाठ करनेवालेसे न बोलते थे। आप बड़े विरक्त थे। किसीसे न बोलते थे और न किसीको पास आने या बैठने देते। खूब मोटे और परमहंस-समान थे। दिगम्बर थे। कल्लूमलजी आपके लिये रोटी बनवाकर ब्राह्मणके हाथ भेजा करते थे पर उस ब्राह्मणको बराबर विनयका पाठ करते हुए जाना पड़ता था।

श्रीहरिदासजी (तीसरे)

आप मलूकदासजीके घरानेके थे। धाम और कैंकर्यनिष्ठ थे। रसोई बनाना आपका प्रधान कैंकर्य था। मालपूवा बनानेमें आप विख्यात थे। आपका नियम था कि जहाँ रसोई बनाते वहाँ भोजन कदापि न करते थे। निष्काम कैंकर्यहीका उपदेश देते। जो कुछ भी प्रसाद पाते अपने आसनपर ही पाते, कोई मधुकरी ले जाता तो उसीको पा लेते।

श्रीनारायणदासजी

आप श्रीजानकीघाट श्रीअयोध्याजीके चेला थे। सम्भवत: महाराज श्री १०८ रामचरणदास करुणासिन्धुजीके समयमें ही थे। आप धाम और चरित्रनिष्ठ थे, दिन-रात पाठ ही किया करते थे।

श्रीध्यानीजी

आपका नाम ठीक मालूम नहीं, शायद 'गणेशदासजी' था। आप बड़े ही ज्ञानी-ध्यानी थे, ब्रह्मनिरूपणमें एक ही थे। आप संवत् १९१० के पहलेसे श्रीअवधमें थे, जबसे श्रीअवध आये फिर बाहर न गये। आप बड़े ही भजनप्रवीण थे। चित्तको एकाग्र किये दिनभर भजन करते थे, किसीसे बोलते-चालते नहीं थे। श्रीवैष्णवदासजीकी छावनीमें रहते थे।

श्रीवासुदेवदासजी

आप बाबा मणिरामजीके शिष्य श्रीमहाराज वैष्णवदासजीके शिष्य थे। आप श्रीसरयूजीके ऐसे निष्ठ भक्त थे कि कभी उसमें चरण न देते। केवल आचमन करते और जल पीते—यही नियम था। मधुकरवृत्तिसे रहते थे, मधुकरी माँग लाते और वही पाते। सं० १९५३ में श्रीअवध आये तबसे यहीं रहे और यहीं शरीर छोड़ा।

श्रीमुरारिदासजी

आप वात्सल्यरसनिष्ठ थे। सेवकोंसे लाते और मधुकरियोंको पवाते। वात्सल्यभावमें पगे रहते, सबको 'लाला' ही कहते। परम भागवत-निष्ठ थे।

स्वामी श्रीसियारामशरणजी (श्रीरूपलताजी)

(लेखक—श्रीरामगुलामजी नाटाणी)

श्रीअयोध्याजीके प्रसिद्ध महात्मा श्रीरूपलताजी, जो 'पुजारीजी' के नामसे भी प्रसिद्ध रहे हैं, ये सियारामशरणजी थे, जिनका सेवाप्रकार, गहरी भक्ति और उच्च ज्ञानावस्था अनुपम थी। ये बड़े ही सेवा-ध्यान-ज्ञान-निष्ठ थे। इन्होंने श्रीरामघाट अयोध्याजीमें प्रथम-प्रथम बहुत समयतक एकान्तमें बैठकर निरन्तर प्रेममग्न रहकर भजन किया। फिर भगवत्कृपासे भजनशक्ति उत्तरोत्तर इतनी बढ़ी कि भोजनमें एक समय चतुर्थ प्रहरमें एक पसैभर भिगोया चना चबाकर शरीरपोषण कर लेते थे। इतना भी शरीरको भाड़ा देने और क्षुधाकुत्तीको टुकड़ा डालनेके रूपमें ही था। यही समय एक मुहूर्त्तमात्र बातचीत कर लेनेका था। और सब समय दिन-रात भजन और ध्यानमें लगाया जाता था।

इतना हो जानेपर ईश्वरानुग्रहसे आपको श्रीअयोध्याजीके सुप्रसिद्ध कनकभवनमें भगवत्-पूजाका कार्य मिला। इसे आपने बड़े चाव-भाव, तन-मन, पूर्ण तल्लीनता और हार्दिक भक्तिसे किया। तबसे ही 'पुजारीजी' विख्यात हो गये।

श्रीवाल्मीकीय रामायणका नवाह्न पारायण बड़ी उत्तमतासे कर लिया करते थे और अन्य पाठ भी बहुत अच्छे करते थे। आप अच्छे पण्डित और कवि थे। इनकी रची हुई अच्छी-अच्छी पुस्तकें हैं। जिनमें 'विनयचालीसी' और 'अष्टयाम' हमारे संग्रहमें हैं। विनयचालीसीसे पाँच दोहे नीचे देते हैं। ये वे पाँच उत्तम दोहे हैं जिनको छापनेवालोंने छोड़ दिया वा उनको प्राप्त नहीं हुए। परन्तु हमारे पासकी प्राचीन प्रामाणिक हस्तलिखित पुस्तकमें ये दोहे हैं। ये दोहे बहुत अर्थ और सारभरे हैं।

आपके ही सदुद्योग, परिश्रम और साधनसे श्रीअयोध्याजीके श्रीरामकोटमें 'श्रीआनन्दभवन' नामका उत्तम विशाल स्थान बना जिसका अच्छा प्रबन्ध है और वहाँ श्रीजीकी सेवा आदि उत्तमतासे होती है। अन्ततोगत्वा बड़ी अवस्थामें आप संवत् १९५० की वैशाख बदी ११ (एकादशी)-को श्रीसाकेतधाम (परमधाम) पधार गये। आपके कई शिष्य थे। उनमें जयपुरके श्रीसीतारामजीके बड़े मन्दिर (प्रसिद्ध सेठ लूणकरणजी नाटाणीका बनवाया—शिखरबन्ध बाजारकी आमेरकी चौपड़में) के सुविख्यात महन्त भक्तवर श्रीस्वामी रामानुजदासजी थे। जिनका संक्षिप्त वृत्त अन्यत्र दिया गया है। दोहे ये हैं—

चतुरानन गहि कलमको रचे अनेकन छंद।
सियमुख समता ना लही लिखत मिटावत चंद॥ १॥
मायिक तनसे नहिं बनै निरमायिक तसबीर।
कृपा करै सिय लाड़िली पावै दिव्य शरीर॥ २॥
स्वस्वरूपको पाइकै परस्वरूप दरसाय।
तुरिया लखि तुरिया भई आवागमन नसाय॥ ३॥
कौन कहै अब कौ सुनैं छबिमें छबि दरसाय।
भई पूतरी लवणकी रही जु सिंधु समाय॥ ४॥
परा अवस्थामें सदा रहत सदा यह वृत्य।
कृपा लड़ैती लालकी सेवा दीन्हीं नित्य॥ ५॥

'अष्टयाम' की रचनाएँ भी इनकी बहुत सरस और सारभरी हैं, जिनसे भक्तिरस और सेवारहस्यका तत्त्व अच्छा प्राप्त होता है। आपके चित्रसे आपकी आकृति और स्वरूपका ज्ञान होगा।

स्वामी श्रीसियासखीजी

(लेखक—श्रीरामगुलामजी नाटाणी)

सीतारामभक्तिसम्प्रदायमें सखीभावके भावुक महापुरुषोंमें इन भगवत्प्रिय महात्माका नाम 'सियासखी' क्या राजपुतानेमें और क्या अयोध्या आदि स्थानोंमें बहुत लोकप्रिय है। आप बड़े ही भागवत, तपस्वी और ज्ञानी थे। यहाँ थोड़ा-सा हाल आपके जीवनका भक्तोंके आनन्दके लिये दिया जाता है।

'सियासखीजी' का पूर्वनाम गोपालदास था। जन्म जयपुर रियासतके हरसोली ग्राममें खंडेलवाल ब्राह्मणके घर हुआ था। बाल्यावस्थासे ही बहुत होनहार थे। पं० श्रीनिवासाचार्य द्राविड़ महात्मासे संस्कृतभाषा और शास्त्र पूर्णतया आपने पढ़े थे। आपका मन तप और ध्यानमें अधिक था। खंगारोत राजपूत सरदारोंके ग्राम साँखूण

(सालीसाँखूण) में बिना अन्न-जलके श्रीरघुनाथजीके मन्दिरमें स्थानका द्वार बंद करके छः मासतक आपने भजन किया। पश्चात् द्वार खोलकर बाहर आये। घुटनोंमें बादीका दर्द भी हो गया था, जो सेवकोंके औषधोपयोगसे निवृत्त हो गया था। श्रीजाह्नवीतीरपर कुछ समयतक केवल दूबको घोट-घोटकर पीकर ही तप किया। आपके भजनकी ऐसी उग्रता देखकर भक्त और सेवकजनोंकी प्रार्थना हुई कि जयपुरमें (सेठ लूणकरणजी नाटाणीद्वारा स्थापित) प्रसिद्ध श्रीसीतारामजीके शिखरबंध मन्दिरमें निवास और तत्सम्बन्धी कार्य आप ग्रहण करें। प्रार्थना स्वीकार हो गयी। श्रीठाकुरके मन्दिरका कार्य कोई अठारह दिन ही कर सके, फिर भरतपुर पधार गये। भरतपुर महाराजने बड़े आदर-भावसे आपको वहाँ रक्खा और चार रुपये रोजानाकी जीविका भेंट की। परन्तु आपने उस जीविकाको ब्राह्मणोंको बाँटकर वहाँसे भी श्रीगंगाजी रामघाटपर जाकर भजन किया। आपका रीवाँनरेश भक्तवर श्रीविश्वनाथसिंहजीके साथ बहुत प्रेम था। वहाँ पधारते तब बहुत समयतक वहीं विराजते और भजनानन्दमें मग्न रहते। आप श्रीचित्रकूटमें पधारे। वहाँ पहाड़पर श्रीकामतानाथजीके ऊपर जानेका विचार किया, तब सेवकोंने वहाँ जानेके सम्बन्धमें निवेदन किया कि प्रायः वहाँ जाकर पूजन नहीं करते हैं। परन्तु आप आठ-आठ दिनकी अवधि देकर ऊपरका दृढ़ मनोरथ करके पधार ही गये और वहाँ एक मासतक विराजे। पर वहाँसे उतरनेपर आपने मौन धारण कर लिया। फिर मुखसे वाणी उच्चारण न करके आवश्यक बात लिखकर प्रकट कर देते थे। ऐसा नियम सदा ही रक्खा। परन्तु पठन अवश्य करते। श्रीवाल्मीकीय रामायणका पठन इतना शीघ्र कर लेते कि ढाई दिनमें पूरा समाप्त हो जाता था। चित्रकूटमें आपको बहुत प्रेम था। वहाँ बहुत समय पीछे गये। श्रीहनुमान्‌जीका गहरा ध्यानकर दर्शनकी प्रार्थना की तब श्रीमारुतिकुमारने प्रत्यक्ष दर्शन दिये। आपने श्रीमहावीरजीसे प्रार्थना की कि अब संसारयात्रा बहुत हो चुकी अब मुझे श्रीनित्यधामको गमन करनेकी आज्ञा दीजिये। तब आज्ञा हुई कि आगामी फाल्गुन कृष्णा ६ को उस दिव्यधाममें नित्य सेवामें आ जाओगे। यह संकेत आपने अपने सेवक शिष्योंको बतला दिया। और फाल्गुन कृष्ण षष्ठी संवत् १९०२ को, सबको उपदेश प्रदान करते हुए, आप श्रीनित्यधामको पधार गये। श्रीरूपसरसजी, (श्रीस्वामी रामानुजदासजी) स्वामीजीके भतीजे थे। वे छः मासके थे तभी आपसे प्रभावित हुए थे और आपके वरदानहीसे जन्मे थे। चित्रमें आपके सम्मुख निम्नासनपर स्थित आपके शिष्य श्रीचन्द्रअलीजी (बलदेवदासजी) हैं। ये भी अच्छे महात्मा हुए हैं।

बाबा भरतदासजी नींदड़वाले

(लेखक—चतुर्वेदी श्रीसूर्यनारायणजी 'दिवाकर')

नींदड़ गाँव जयपुरनगरसे नौ मील पश्चिमको है। इसके अधीश्वर रावजी नींदड़ 'श्योब्रह्मपोत' कहाते हैं जो कछवाहा राजवंशकी पुरानी कोटड़ी है और इनके पूर्वज बहुत बड़े प्रतापी हुए हैं। नींदड़के गाँव या कस्बेसे उत्तरकी तरफ नींदड़ नाड़के बीचकी पहाड़ीपर, जो 'नींदड़-बैनाड़' नामके स्टेशनसे अनुमानतः डेढ़ मील दूर है, बाबा भरतदासजी तपते थे। भरतदासजी जयपुरके इलाकेमें किसी गाँवमें दाधीच (दाहिमा) ब्राह्मणकुलमें जन्मे थे। माता-पिता तो मर गये थे, भाई-भौजाई थे, उन्हींके पास रहते थे। भाई-भौजाईके कुतर्क और कटु वाक्योंसे पीड़ित होकर पौगंड अवस्थामें ही, वा किसी-किसीके मतानुसार युवावस्थाहीमें, चुपकेसे घर छोड़कर भ्रमण करते-करते किसी संतकी सेवामें जा पहुँचे। संत सेवासे प्रसन्न हुए और भरतदास नाम रखकर ज्ञानोपदेश प्रदानकर शिष्य बना लिया। बहुत वर्षों गुरुकी सेवा करते रहे। गुरुके देहावसान हो जानेपर रमते-रमाते कोई सत्तर-अस्सी वर्षकी आयुमें भरतदासजी इस पहाड़ीपर जा चढ़े और अन्तावस्था तक यहीं रहे, नीचे नहीं उतरे। यहीं कुछ दिन कन्द-मूल, पत्र-पुष्पसे कालक्षेप होता रहा। दैवात् एक गाय नित्य ही इनको पात्रमें दुग्ध दे जाती। ये उसकी सेवा कर देते और कुछ अच्छे पान-पतूरे, घास-फूस खिला देते। दो एक दिन वह गाय घर नहीं गयी, तो उसका मालिक ढूँढ़ता हुआ वहीं आ पहुँचा। वहाँ क्या देखता है कि दिव्यशरीर तपस्वी महात्मा धूनी लगाये विराज रहे हैं। और गाय पासमें छायामें बैठी आनन्दसे जुगाली कर रही है। गौके

मालिकने गायको ले जाना चाहा परन्तु गाय बाबाजीके प्रेमसे वहाँसे नहीं सरकी। बाबाजीने भी गायको लौटानेकी चेष्टा की परन्तु गाय नहीं गयी। अन्तमें किसानने गाय बाबाजीको भेंट कर दी। तबसे उस किसानके घर बड़ी समृद्धि हो गयी। लोगोंको इस चमत्कारसे बाबाजीमें भक्ति होने लग गयी। अनेक पुरुषोंकी कामनाएँ सिद्ध होने लगीं। भक्त सेवकोंने एक छप्पर डलवा दिया और बाबाजीकी सेवामें पहुँचने लगे। उस पहाड़ीकी तलैटीमें एक कुँआ वर्षोंसे सूखा पड़ा था। उसमें अकस्मात् भगवत्कृपासे पानी हो गया। इस चमत्कारसे बाबाजीकी प्रसिद्धि सब पासके गाँवों और नींदड़ तथा शहर जयपुरतक अधिक फैल गयी। अमीर-गरीब, दीन-दुखिया सब वहाँ सहायतार्थ आने लगे। कुछ दिनों पीछे पासके गाँवकी एक कुम्हारके घरकी विवाहिता लड़की अपनी सासके अत्याचारोंसे दुःखी होकर बाबाजीकी शरणमें आ गयी। उसके घरवाले ढूँढ़ते हुए बाबाजीके पास आये। बाबाजीने उस लड़कीकी दीनतापर दयाकर भगवान्से प्रार्थनाकर उसे अभय प्रदान कर दिया और वह स्त्रीसे पुरुष हो गयी! बाबाजीने कहा यह तुम्हारी बहू जानकी नहीं है, यह 'जानकीदास' है—भगवद्भक्त। लोगोंने इस बातका निश्चय किया तो उस लड़कीका तो लड़का बन जाना प्रत्यक्ष प्रमाणित हो गया, परन्तु उन कुम्हारोंमें कुछ धूर्त्त और चालाक लोग थे। उन्होंने कुम्हारसे राज्यमें दावा करा दिया। तहकीकातसे वह जानकी मर्द साबित हो गयी और कुम्हारका दावा खारिज हो गया। इससे बाबाजीकी कीर्ति बहुत अधिक बढ़ गयी। यात्रियोंकी धूम पड़ने लगी। भरतदासजी लोगोंको उत्तम उपदेश करते और भगवान्की भक्ति और भजनकी तरफ उनका चित्त लगाते। उनकी शिक्षासे भक्तिका प्रचार होने लगा और अनेक लोग सदाचारी हो गये। भक्तोंने पहाड़ीपर पक्का मकान भी बनवा दिया। प्रतिवर्ष ग्रीष्म ऋतुमें पंचाग्नि तपते, वैसे अन्य ऋतुओंमें तो सदा धूनी रहा ही करती थी। पंचाग्नि ज्येष्ठ मासमें समाप्त करके ब्राह्मण-भोजन और हवन कराते। इन पंक्तियोंके लेखकको उनके दर्शन बाल्यावस्थाहीसे प्राप्त होते रहे थे। नृसिंहजीका उनके इष्ट था और पूजन भी था। उनके पूजा-पाठके बरतनोंमें एक कलश था, उसको बताकर मुझे कहते कि 'बेटा! यह तुम्हारी परदादीका चढ़ाया हुआ है। इसमें गौका घृत भर करके उसने दिया था।'

सौ वर्षसे भी अधिक आयु पाकर संवत् १९८० में इस अनित्य शरीरको उन्होंने त्यागा था। वहीं दाहक्रिया हुई थी। वहीं समाधि बनी हुई है। वही जानकीदास उनका शिष्य विद्यमान है और स्थानका काम चलाता है। बाबाजीका चित्र इसके साथ है। उनका शरीर स्वर्णकी तरह चमकता था, तपका ऐसा प्रभाव था। आकार सुन्दर, शरीर लंबा था। दाढ़ी-मूँछ भरी हुई और लंबी थी। शरीर कृष्ण था। अन्त समयतक इन्द्रियाँ सब स्वस्थ थीं। वे इस देशके अच्छे नामी सिद्ध हुए।

बाबा साँवलदासजी सड़भावाले

(लेखक—पं० श्रीहरिनारायणजी पुरोहित बी० ए०)

जयपुरमें इन योगी महात्माजीका नाम बहुत ही प्रसिद्ध है। इनकी सिद्धियाँ अधिकतर स्व० महाराज रामसिंहजीके राजत्वकालमें प्रकट हुई थीं। ये जातिके कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। बाल्यावस्थामें ही सत्संग साधु-महात्माओंका रहा। किसी पहुँचे हुए योगीका प्रभाव इनपर ऐसा पड़ा कि ये योगमें शीघ्र-शीघ्र सिद्धियाँ प्राप्त करते गये। ये खाकी साधु योगी थे। जयपुरके उत्तर तरफ मानसागरके दरवाजेसे बाहर श्रीराजराजेश्वरीके मन्दिरके आगे सड़भेकी डुंगरी है। इस पहाड़ीका यह नाम सड़भा ग्रामसे पड़ा है। संत साँवलदासजी (या साँवलादासजी) इसी पहाड़ीपर कुटीमें रहा करते थे। कहते हैं कि ये महात्मा इस स्थानमें महाराजा रामसिंहजीके जन्मसे पूर्व उनके पिता महाराजा जयसिंहजीके राज्यमें या उनके भी पिता जगतसिंहजीके राज्यमें आ बसे थे। तबसे वहीं रहते थे। जब महाराजा रामसिंहजीको धर्म-कर्मका, पण्डितों-योगी-साधुओंका प्रेम हुआ तो वे इन सिद्धिसम्पन्न महात्माके दर्शनके उत्सुक हुए। साँवल-दासजी तो बहुत सीधे स्वभावके पुरुष थे। राजाजीसे बुलानेपर आ मिले। उनकी योग्यता और करामातसे म० रामसिंहजी बहुत सन्तुष्ट हुए और होते-होते उनके बड़े ही भक्त हो गये। योगी तो बड़े त्यागी थे। राजाजीसे इनको क्या लेना था? लेना तो था राजाजीको ही। उन्होंने

राजाजीको अपनी दिव्य-शक्तिसे बता दिया कि 'तुम्हारा राज्य अटल रहेगा परन्तु पुत्रलाभ तुम्हारे भाग्यमें नहीं है। हाँ, ज्ञान और ऐश्वर्य तुम्हारा बहुत बढ़ेगा और संसारमें कीर्ति बहुत फैलेगी।' वैसा ही हुआ। महाराज रामसिंहजी जब चाहते, उनके स्थानपर पधार जाते। परन्तु योगीको उनका आना पहुँचनेसे पूर्व ही ज्ञात हो जाता और वे सारी परिस्थिति कह देते। कभी-कभी बाबाका चिमटा ही महाराजके पास जा मिलता। महाराज बाबाजीको याद करते तब वे तुरन्त ही वहाँ जा विराजते। महाराज जब सफरमें पधारते तो बाबासे मिलकर जाते और कहते 'चलिये, हमारे साथ सैर कर आइये।' तब बाबा कहते कि 'हम वहाँ आ पहुँचेंगे आप आनन्दसे जायँ।' महाराजाके पहुँचनेसे बहुत पहले बाबा उस स्थानपर जा पहुँचते। आगे जानेवाले सेवक और परिजन महाराजसे अर्ज करते कि बाबाजी तो कल या दो दिन पहले ही आ गये थे। हमने उनकी टहल खूब कर दी थी। कोई कहते हैं उनके पास गुटका था, कोई कहते हैं योगकी सिद्धि थी, कोई कहते हैं कि वे खेचरी मुद्रासे चले जाते थे। महात्माओंका पता सहसा नहीं लगता है। बाबाकी आज्ञा महाराज कभी उल्लंघन नहीं करते थे। कुटी या गुफामें लकड़ियोंकी धूनी, मृगछाला, कमंडलु, गिलास, चिमटा, हाथमें रखनेका मोटा सोंटा, एक-दो बरतन, एक-दो कम्बल, ठाकुरसेवा इत्यादिके सिवा अधिक संग्रह नहीं था। बाबा स्वभावके बड़े सरल और दयावान् थे। आये-गयेके साथ अच्छा बर्ताव था। बहुत लोग जाया करते थे। सबसे बड़े प्रेमभावसे बातचीत करते। लोगोंके घरोंपर या उनके विवाहादि कार्योंमें भी चले जाते। बड़ी तेजीसे चलते मानो घोड़ा दौड़ता हो। चलतेमें हाथमें चिमटा रहता, कौपीन और चादर रहती। सूरिवर श्रीवीरेश्वरजी शास्त्री बाबासे दो बार पहाड़ीपर मिले थे। उनका कहना है कि प्रथम संवत् १९४५ में फाल्गुनके महीनेमें मिले। तब बड़े प्रेमसे उनके गलेमें दो मालाएँ फूलोंकी पहनायी और मिठाईका एक बड़ा टोकरा दिया। इस प्रसादीकी प्राप्तिके थोड़े ही दिन पीछे शास्त्रीजी कालेजमें ऊँचे दर्जेके प्रोफेसर हो गये। दूसरी बार फिर कई वर्षों पीछे संवत् १९४९ में गये तब एक ही माला डाली और वार्तालाप कुछ अधिक नहीं किया। कालूराम सुनार (स्वर्णकार)-का पिता बाबाजीका बड़ा भक्त था। उसको बाबाजीके वरदानसे अच्छी सम्पत्ति प्राप्त हुई और अबतक भी उसके घरमें सब प्रकार समृद्धि बर्तती है। इसी प्रकार बहुत लोगोंको बाबासे लाभ हुआ है और लोगोंके संकट निवृत्त हुए हैं। इनका देहावसान महाराजा रामसिंहजीके स्वर्ग पधारनेके पीछे हुआ था। ये बड़े सिद्ध खाकी साधु थे।

स्वामी श्रीमाँगीलालजी महात्मा द्यौसावाले

(लेखक—श्रीत्रिवेणीश्यामजी बी० ए०, एल-एल० बी०)

महात्मा माँगीलालजीका जन्म जयपुर राज्यकी पुरातन राजधानी द्यौसानगरीमें व्यास छीतरमलजीके यहाँ संवत् १९०९ में हुआ था। ये बहुत धनाढ्य थे। जब ये कल्याणी गये तो वहाँ हरिद्वारके एक महात्मा साधुका इनको सत्संग हुआ। कुछ दिनतक तो उन महात्मासे विचार और सिद्धान्तमें विरोध और विवाद रहा। परन्तु शनैः शनैः भ्रम निवारण होते गये और अन्तमें उन महात्माका सच्चा और गहरा उपदेश माँगीलालजीको लग गया। ये उनके शिष्य हो गये। ज्ञान-वैराग्यका उदय हो गया। त्यागका प्राधान्य होने लगा। अभी अवस्था २५ वर्षकी थी। परन्तु ज्ञान-वैराग्यकी गहरी चोट हृदयान्तरमें लग चुकी थी। संसार तुच्छ और विघ्नरूप दीखने लग गया। ये अपने घर द्यौसा आये और सम्पत्तिको अन्यायसे उपार्जित समझकर पशु-पक्षियोंको वितरण कर दिया। सब कुछ लुटा दिया और त्याग दिया। निरन्तर भगवान्‌का भजन, स्मरण-कीर्तन, ध्यान, उपासना, पूजा इत्यादिसे ही काम था। दिन-रात इन्हीं साधनोंमें तल्लीन रहा करते। तन-बदनकी कुछ भी सुध नहीं रहती थी। इनकी अब ऐसी अवस्था हो गयी कि बावन दिनतक निरन्न रहकर, केवल जल ही पीकर बराबर भजन और तप करते रहे। इन्होंने फिर चौदह सालतक एकान्तवास किया और धूनी साधनकर मौन धारण रक्खा और उग्र तपस्या की। कुछ मूर्ख लोग इनको बावला वा सिड़ी भी कहते थे। परन्तु समझदार लोग

इनमें आस्था रखते थे और जो इनके भक्त थे वे सेवा भी करते थे। महात्माजी लोगोंमें उन्हींकी सेवाको अंगीकार करते थे जो सत्पात्र थे और धर्मकी कमाईसे पदार्थ प्राप्त करते थे, अन्य कुपात्रों और दुष्टोंका दानातक ग्रहण न करके लौटा देते थे।

एक समय ऐसा हुआ कि इनके एक प्यारे भक्त सेवकका लड़का रोगग्रस्त होकर मृत्युको प्राप्त हो गया। परन्तु आस्तिक सेवक उस बच्चेके शवको महात्माजीके स्थलमें लाकर उनके सामने डालकर रोने लगा। दयालु स्वामीने ईश्वरसे प्रार्थना की। थोड़ी-ही देरमें उस मुर्देमें जान आ गयी। उसका बाप और देखनेवाले आश्चर्यमें भर गये। तबसे सब लोग महात्माजीके बड़े भक्त और सेवक बन गये और महात्माकी कीर्ति दूरतक फैल गयी। सच है परमात्माका गहरा भजन, तपश्चर्या और सच्चा त्याग ऐसा ही होता है। अब तो माँगीलालजीके जौहरकी चमक उन अभक्त मूर्खोंको भी ज्ञात हो गयी और वे भी अपनी अयोग्यतापर पछताकर महात्माके भक्त बन गये और महात्मा माँगीलालजीके सच्चे भगवद्भक्त और सच्चे संत होनेका सच्चा प्रमाण दुनियाको प्रत्यक्ष मिल जानेसे, मुर्दे भी जिंदा हो गये, ऐसी सिद्धियों और चमत्कारोंसे माँगीलालजी देशके 'महात्माजी' हो गये। ईश्वरकी महिमा, भजनका प्रताप यों लोगोंके सामने आ जानेसे लोग भक्तिमार्गमें प्रवृत्त होने लगे। महात्माजी भक्ष्याभक्ष्य, आचार-विचारका बहुत ध्यान रखते। दयाकी तो आप मूर्ति ही थे। सत्कर्ममें बड़ी भारी आस्था थी। सत्यभाषण, दम, तितिक्षा, शम आदिके पूर्ण अधिकारी थे। भजनीक तो वैसा कोई क्या होगा। आपका वचन सिद्ध था। आप भविष्यकी बात पहले ही प्रायः कह देते थे। इस प्रकार भजन, तप, परोपकार, भक्तिप्रचार करते-कराते स्वामीकी अन्तावस्था निकट आ गयी। वे पहलेसे ही जान चुके थे। अन्ततोगत्वा ज्येष्ठ शुक्ल ६ वि० सं० १९८५ में आपने शरीर त्याग किया। बड़े समारोहसे चलावा और अन्त्येष्टि तथा महोत्सव हुआ। इस देशसे एक उच्च कोटिके संत अपनी शाश्वत कीर्ति पीछे छोड़कर परागतिको प्राप्त हो गये। महात्माजीके पुत्र पं० हरिसहायजीने अपने स्वर्गीय महात्मा पिताके नामपर परोपकारार्थ लालसोटकी सड़कपर एक उत्तम कूप बनवा दिया, जिससे यात्रियों और पशु-पक्षियोंको सुख मिलता है।

महात्माजीके अनेक शिष्य थे। उनमेंसे छाजूरामजी रेला अवंटकके महाजन बड़े भक्त और तपस्वी हुए। और महात्माजीके-से ही गुण उनमें थे। वाणी सिद्ध थी। भविष्यवक्ता थे। अपनी मृत्यु दस दिन पहले ही बता दी थी। स्वामी महात्मा माँगीलालजीका चित्र साथ है। इससे पाठकोंको उनके दर्शन होंगे।

महन्त स्वामी श्रीरामानुजदासजी

(लेखक—श्रीरामगुलामजी नाटाणी)

स्वामी श्रीमहन्त रामानुजदासजी सवाई जयपुर नगरके विशाल मन्दिर श्रीसीतारामजीके प्रसिद्ध सिद्ध महन्त थे। इनका जन्म राज्य जयपुरके हरसोली ग्राममें गौड़ ब्राह्मणकुलमें हुआ था। बाल्यावस्थामें विद्याध्ययन किया। बुद्धि तीव्र थी। सत्संगति और कवि पण्डितोंका प्रेम था। होते-होते साधु-सत्संगका प्रभाव ऐसा पड़ा कि भगवन्निष्ठ हो गये। विवाह हो गया तब भी आपकी सन्निष्ठामें रत्तीमात्र भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ। भजन, ध्यान, स्वाध्याय, श्रीजीकी सेवा, साधुसेवा, सत्संग निरन्तर होते रहे। गृहस्थ होकर त्यागी और संसार-यात्रा करते हुए पारमार्थिक निष्ठामें लीन रहना इनका अद्वितीय चरित्र था। रहनी इनकी बड़ी गुह्य और गहन थी। कविता और सुन्दर रचनामें दक्ष थे। और अनेक हाथकी कारीगरियों और कलाओंमें भी निपुण थे। इनका सारा समय भगवदर्चा, उत्तम कार्य, चातुर्य, कविता आदिमें नियमपूर्वक व्यतीत होता था। ये श्रीसियारामशरणजी (प्रसिद्ध रूपलताजी) के शिष्य थे। इनका सत्संग भरपूर किया था।

इनकी रचनाओंमें इनकी 'श्रीसीतारामरहस्यचन्द्रिका' बहुत उत्तम है। इस ग्रन्थमें श्रीसीतारामजीका षट् ऋतुविहार और अष्टयाम आदिका बहुत सुन्दर और सरस वर्णन है। इनके रचे हुए पद (भजन) भी बहुत भावभरे और भक्तिमय तथा सुन्दर हैं। नीचे एक पद उदाहरणरूपमें दिया जाता है। आप गृहस्थी होकर जलमें पद्मपत्रकी नाईं इस संसारसे पृथक् से ही रहते थे। परन्तु दुःखकी बात है संवत् १९३७ वि०

में मि० माघ कृष्णा तृतीयाको साकेतयात्रा कर गये। जयपुरके एक नामी भक्त और ज्ञानी गृहस्थ संत अपनी सत्कीर्ति छोड़कर परमपदगामी हो गये। इनका चित्र साथमें है।

रावरो बिरद गरीबनिवाज।
सुनि सुनि मुदित होहु मन ही मन बानिक लखि महाराज॥ टेक॥
गुह कपि सिला उधारक रघुबर, एक एक गुन देख।
सो तीनूँ मम हिये भये दृढ़ तेहितैं कछुक विसेख॥ १॥
क्रियाशील हों अति किरात तैं चित्त नैं द्रवै पखाँन।
बंदर ज्यौं चंचल बिषयनमें पशु ज्यौं तृप्ति न माँन॥ २॥
ऐसे सब गुनखानि तदपि कहा ना करिहौ उद्धार।
बहुरि आप नृपमणि दानी अति, मैं नर नरक खुवार॥ ३॥
लख चौरासी साँग बनायेउ, रीझेउ इच्छित देहु।
नाहिंत कहहु छाँड़ि तन-रचना बैठि आपने गेहु॥ ४॥
मैं अति दीन, दीनहित तुम, मैं अज्ञ आप सर्वज्ञ।
मैं अधमी तुम अधमउधारन, मैं परवश तुम तज्ञ॥ ५॥
वेदविदित पन राखि भाषिये, मोर ओर निज हेरी।
'रामानुज' त्यों युगल माधुरी निरखौं निसदिन तेरी॥ ६॥

भक्तप्रवर श्रीराधिकादासजी महाराज

(लेखक—एक भक्त)

महात्मा रामप्रसादजी अथवा श्रीराधिकादासजीने जयपुर राज्यमें चिड़ावा नामक ग्राममें पण्डित लच्छीरामजी मिश्रके घर संवत् १९३३ माघ मासकी कृष्णा अष्टमी रविवारको जन्म ग्रहण किया था।

महात्माजी जब आठ वर्षके थे तभीसे आप चिड़ावाके प्रसिद्ध मन्दिर श्रीकल्याणरायजीके नित्यप्रति दर्शन करनेको जाया करते और भगवान्‌से अनेक प्रार्थनाएँ करते। अन्तमें कहते कि 'हे कृपालु! सारे संसारका भला करके मेरा भी भला करना।'

आप बड़े ही उच्च कोटिके भक्त और श्रीभगवन्नामके बड़े रसिक थे। आपने भगवन्नाम, भगवद्भक्ति, भक्त-महिमा आदि विषयोंपर गंगाशतक, संस्कृत भजनरत्नावली, भाषा-भजन-रत्नावली, वैराग्यसुधाविन्दु, भक्तिसुधाविन्दु, विज्ञानसुधाविन्दु, हरिनामोपदेश, हरिजनमहिमोपदेश, भक्तनामावली, श्रीमत्सद्गुरुजीवनचरित्र, सिद्धान्तसुधाविन्दु, भक्तमन्दाकिनी, श्रीमदाचार्यस्तुति, सिद्धान्तषट्पदी, विनयपद्यावली और श्रीकृष्णपरत्व आदि ग्रन्थोंकी रचना की। इन पुस्तकोंके मनन करनेसे जीवका कल्याण हो सकता है। इन्हींकी कृपासे सेकसरिया संस्कृतपाठशाला चिड़ावामें सन्ध्याको हरिनामसंकीर्तन हुआ करता है।

आप श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायके परम वैष्णव थे। भिन्न-भिन्न मतावलम्बियोंमें प्राय: आपसमें द्वेष रहा करता है, किन्तु आप इस नियमके नितान्त अपवाद थे। आप वैष्णव होते हुए भी किसी अन्य देवके प्रति न तो अश्रद्धा रखते थे, न किसी तरहकी विद्वेष भावना ही आपके मनमें थी। प्रत्युत कहा करते थे कि **'सर्वदेवनमस्कार: केशवं प्रति गच्छति।'** धन्य है, सच्ची महानुभावता इसीका नाम है।

आपकी दिनचर्या बड़ी ही विचित्र थी। आप रात्रिके लगभग तीन बजे, कभी-कभी दो बजे ही उठ जाते थे और लघुशंकादिसे निवृत्त हो हाथ-पैर धोकर भजन करने बैठ जाते थे। बादमें करीब दस बजे भजनसे उठकर शौचादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर फिर भजनमें बैठ जाते थे। इधर एक विद्यार्थी महात्माजीके सब कर्मोंसे निवृत्त होनेके पहले ही लगभग दिनके तीन बजे श्रीगोपालजीका प्रसाद तैयार कर लिया करता था। तब आप अपना मौन तोड़ते थे और प्रसाद पाते थे। भजनसमयमें यदि कोई विशेष कार्य होता तो लिखकर या संस्कृतभाषामें बोलकर सम्पादन करते थे। आप नित्य एक लाख हरिनामके जप करनेका संकल्प करते थे। आपका यह भी एक दृढ़ नियम था कि श्रीभगवान्‌के अर्पण किये बिना जलतक भी ग्रहण नहीं करते थे और प्रसादके नामसे तो विषतकसे भी नहीं हिचकते थे।

आपकी भक्ति बहुत ही ऊँची थी। श्रीराधेकृष्णका नाम लेते ही आपकी आँखोंमें प्रेमाश्रु भर आते थे। दीनताकी तो आप मूर्ति ही थे। भगवान्‌का नाम लेनेवाला प्रत्येक व्यक्ति आपकी दृष्टिमें भक्त था। आप बड़े भारी विद्वान् ओर ब्राह्मण होनेपर भी भक्तमात्रके चरणरजको ग्रहण करना चाहते थे। हृदय ऐसा सरल और शुद्ध था कि आपकी दृष्टिमें शायद ही किसीका दोष दीखता था। आपमें दैवीसम्पत्तिका विशेष विकास था। श्रीराधेश्यामके नाम और लीलापर आप मुग्ध थे। परन्तु भगवान्‌के

किसी भी स्वरूपसे आपको अरुचि नहीं थी। सुना है एक बार कहीं श्रीरामलीला हो रही थी। आप देखने पधारे। भगवान् श्रीराम, श्रीलक्ष्मण तथा माता सीताजीके स्वरूपोंको देखते ही आप प्रेमावेशमें बेसुध हो गये। आपने श्रीरामजीके चरण पकड़ लिये। औरोंकी दृष्टिमें वह रामलीलाके एक बालक थे, परन्तु आपकी दृष्टिमें साक्षात् भगवान् श्रीराम ही थे। आप स्तवन करने लगे। उस दिन रामलीला रुक गयी। परन्तु असली रामलीला तो हो ही गयी। आपकी साधुता, श्रीकृष्णैकपरायणता, नामप्रेम, विनयका बर्ताव बहुत आदर्श था।

वैसे तो श्रीमहाराज प्रतिवर्ष दो बार अर्थात् श्रावण और फाल्गुनमें वृन्दावन अवश्य जाया करते थे, किन्तु श्रीवृन्दावनवाससे पूर्वके पाँच वर्षोंमें तो आपका ध्यान श्रीवृन्दावनकी तरफ विशेष आकर्षित हो गया था। दो वर्षोंमें श्रीमहाराजको अपने शरीरपातकी शंका हो गयी थी। अत: आपने निरन्तर श्रीवृन्दावनमें रहना ही निश्चय कर लिया था। सं० १९८९ के चैत्र मासमें श्रीमहाराज रुग्ण हो गये और साधारण चिकित्सासे कुछ लाभ नहीं हुआ। श्रीमहाराजका मन औषध ग्रहण करनेका कम था, परन्तु सेठोंके विशेष आग्रह तथा भक्तोंके कहनेके अनुसार आपने दवा लेनी आरम्भ की किन्तु ईश्वरेच्छा और ही थी। आपके रुग्ण होनेसे आपकी धर्मपत्नी और पुत्र तथा सेठ गोरखरामजी तथा द्वारकाप्रसादजी आपके पास वृन्दावन चले गये और महात्माजीकी सेवा करने लगे। महात्माजीकी आज्ञानुसार वहाँपर महीनों पहले आठ पहरका हरिकीर्तन होने लगा और कलियुगमें भी सत्ययुगका सा समय आ गया। आपने श्रीवृन्दावनवास होनेके पच्चीस दिन पहलेसे चिरमौनव्रत धारण कर लिया था और श्रीराधेश्याम शब्दके अतिरिक्त अन्य समस्त शब्दोंका उच्चारण करना त्याग दिया था। मौनावस्थामें एक बार आपने स्लेटपर लिखा कि सात दिन रासलीला तथा सात दिन श्रीमद्भागवतकी कथा अच्छे सुयोग्य विद्वानोंसे होनी चाहिये। महात्माजीके कथनानुसार सात दिन रासलीला तथा सात दिन श्रीमद्भागवतका पठन निर्विघ्न हुआ। इस तरह सच्चे योगीका जीवन व्यतीत करते हुए श्रीमहाराजका सं० १९८९ श्रावण शुक्ला तेरसको प्रात:काल नौ बजे श्रीवृन्दावननिकुंजवास हो गया और हमारी दृष्टिमें सदाके लिये एक दुर्लभ महापुरुषका अभाव हो गया!

महात्मा श्रीसरयूदासजी

(लेखक—महंत श्रीदयालदासजी)

संवत् १९३० के लगभग ग्वालियरके तवरघार जिलेके पुरावस ग्राममें एक डंडोतिया (सनाढ्य) ब्राह्मणके घरमें आपका जन्म हुआ था। बचपनमें ही पिता-माताके देहान्तके कारण आपका पालन-पोषण एक पड़ोसीके घर हुआ था। उसकी गौएँ चराने जंगलमें जाते, वे तो लौट आतीं पर ये ध्यान ही करते रह जाते। थोड़े दिनोंके बाद ये सिरोहीके एक महात्माके शिष्य हो गये और बड़े प्रेमसे नाम-जप करने लगे। कुछ दिनों बाद वहाँसे हटकर निर्जन स्थानमें रहने लगे और भगवत्प्रेरणासे ग्वालियरगंजकी शाला राममन्दिरके अधिष्ठाता हो गये। ये बड़े मनमौजी थे। सन् १९१४ के महायुद्धमें दो-तीन बार भिन्न-भिन्न नामोंसे भर्ती होकर वहाँ गये थे। इन्हें उसमें पदक मिले थे। ये रातमें सोते नहीं थे। घूम-घूमकर गाया करते थे—

जा-जा री निंदिया वाही देश, जहाँ नहीं है रामको नाम।

ये विभिन्न पोशाक पहनकर अपना विभिन्न नाम रखते और किसीकी कोई चीज व्यवहारमें लाते। इन्हें कोई भी मना नहीं करता था। बड़े-बड़े सिंह आदि हिंस्र पशु आपको नमस्कार करते। चलनेमें बीसों मीलतक मोटर आदि पीछे रह जाती थी। आपके जीवनमें बड़ी अद्‌भुत घटनाएँ हैं। बहुतोंको आपने पारमार्थिक कल्याणकी ओर अग्रसर किया; बहुतोंको आशीर्वाद देकर धन-जनसे सम्पन्न किया। आप सम्प्रदाय आदिका भेद-भाव नहीं रखते थे। लगभग तीन वर्ष हुए, आप यह पांचभौतिक शरीर छोड़कर नित्यनिकेतन सत्यसच्चिदानन्दस्वरूपमें लीन हो गये।

महात्मा श्रीबालकृष्णजी महाराज

(लेखक—श्रीप्रतापचन्दजी दवे वकील)

आप जोधपुर राज्यान्तर्गत कोरणा ग्राम-निवासी पण्डित श्रीपुरुषोत्तमजी द्विवेदीके छोटे सुपुत्र थे। आपका जन्म सं० १९०८ में वैशाख शु० ३ (अक्षयतृतीया) को हुआ था। जब आप छः मासके हुए, तभी आपकी माताका देहावसान हो गया, अतएव आपके पालन-पोषणका भार आपकी चाचीको सम्हालना पड़ा। उन्होंने आपको अपने बालक हरिरामके समान ही मानकर आपका लालन-पालन किया। यहाँतक कि समवयस्क होनेके कारण आपके और हरिरामजीके विद्यारम्भ, उपनयन, विवाह आदि संस्कार भी साथ-ही-साथ हुए।

प्राक्तन संस्कारोंके कारण यज्ञोपवीतसंस्कार सम्पन्न होते ही आपकी प्रवृत्ति गायत्री-जप और हरिभक्तिकी ओर हो गयी थी, वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी। पीछे चलकर आप श्रीहनुमान्‌जीके उपासक हो गये और उनकी कृपासे हरिभक्तिके साथ-साथ आपको वाक्-सिद्धि भी प्राप्त हो गयी। वाक्-सिद्धिके कारण बड़े-बड़े राजा, पदाधिकारी और सेठ-साहूकार आपका सम्मान करने लगे। जोधपुरके स्वर्गीय महाराजाधिराज श्रीसरदारसिंहजी साहबके महकमे खासमें आपने एक भविष्यवाणी की थी जो सत्य होकर आजतक अमलमें आ रही है। आप परम सत्यवादी, उदार, दयावान् और साधु-ब्राह्मणोंके भक्त थे। आप सभीको संसारके विषयोंसे वैराग्य रखकर भगवन्नामजप करनेके लिये उपदेश दिया करते थे। गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी आप पूर्ण विरक्त रहे। सं० १९६६ की पौष शु० ११ को आपका स्वर्गवास हुआ था।

योगी श्रीवनराजजी

(लेखक—पं० बदरीदासजी पुरोहित 'वेदान्तभूषण')

पूज्यपाद योगी श्री १०८ श्रीवनराजजी महाराजका जन्म वि० सं० १९२२ की पौष कृष्णा अष्टमीको जोधपुरमें हुआ था। आपके पिताका नाम पं० तुलसीदासजी पुरोहित था। ये साधारण स्थितिके व्यक्ति होनेपर भी ब्रह्मतेजसे सुसम्पन्न थे। विद्या और सच्चरित्रताको ही आप अमूल्य धन समझते थे। महाराजश्रीकी जननी भी पूर्ण पतिव्रता थीं, शील और सद्‌गुणोंकी तो वह आकर थीं। योगिराजके बालपनका नाम 'नर और बना' था। उनको बादमें 'शिवनारायणजी' कहते थे। आपने सात वर्षकी आयुमें ही गणित विद्याका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया था। परन्तु व्यावहारिक विद्याके पढ़नेमें आपका चित्त नहीं लगता था। आप तो ब्रह्मतेजकी अवनतिको हटाने और सदाचारपूर्ण धर्म, ज्ञान और योगकी पुष्टि करनेके लिये प्रकट हुए थे। इसपर भी पिताजीके आग्रहसे आपने व्याकरण, न्याय, योग और मीमांसा आदिका अध्ययन किया था। संगीत और स्वरोदयशास्त्रमें तो आप पारंगत थे। ज्योतिष आपके घरकी—वंशपरम्परागत विद्या थी। विद्याध्ययनके पश्चात् आपका विवाह-संस्कार भी माता-पिताने कर दिया था। और माता-पिताका अधिक गृहस्थमें रहकर ही भजन-ध्यान करनेका आग्रह देख आप श्रीमद्भगवद्‌गीताके उपदेशानुसार गृहस्थमें ही अपना जीवन बनानेमें तत्पर रहे।

आप शिवपूजनमें आठ घंटे लगा देते थे। संगीतके धुरन्धर विद्वान् होनेसे अधिकारियोंको संगीतकी शिक्षा देते थे। आपने बड़े-बड़े महानुभावोंको शिष्य बनाया था। 'संगीतपंचरत्न' नामकी पुस्तक भी आपने प्रकाशित की। राग और तालके साथ भक्ति करनेसे आपपर शंकर प्रसन्न हो गये और एक दिन स्वप्नमें दर्शन देकर शिवजीने कहा—'तात! जिस प्रकार तुम मुझे प्रसन्न करते हो वैसे ही भगवान् कृष्णको खुश करो।' भवानीपतिके उपदेशसे ठीक उसी दिनसे महाराजश्री माता, पिता और स्त्रीके रहते हुए ही वासुदेव भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेमाभक्तिमें ऐसे तल्लीन हो गये कि जैसे दूधमें जल!

आप पूरे बीस घंटोंतक निरन्तर प्रेमाश्रुओंके साथ भगवद्‌गुणगान करते हुए विधिवत् आठ वर्षतक श्रीकृष्णपूजन करते रहे। उस समयका आपका एक पद यह है—

जिन्ह कृष्ण चरण रति कीन तिन्हें नहीं जगत सुहावे हो।
जगत सुहावे हो तिन्हें नहीं विषय लुभावे हो; जिन कृष्ण० (टेर)

मात पिता स्त्री सुत तन धन जन, एक न भावे हो।
पल-पल प्रीत करत मनमोहन, क्षण न भुलावे हो॥ ति०न०॥
जिमि निज बत्स धेनु नहीं बिसरे, बनमें जावे हो।
जिमि स्त्री पानी जात बातकर, घट न गिरावे हो॥ ति०न०॥
नट चढ़ वनतरु बाँस गही पुन, मन न डुलावे हो।
जिमि हरिचरण प्रीति अतिशय सो, 'भक्त' कहावे हो॥ ति०न०॥
कह वनराज भक्ति कर ऐसी, जन्म न आवे हो।
कृष्णरूप भज कृष्णरूप हो, निज पद पावे हो॥ ति०न०॥

श्रीमहाराजकी प्रेमपूर्ण भक्तिसे प्रसन्न होकर भक्तिप्रिय भगवान्ने शीघ्र ही अपने अनन्य भक्तको चतुर्भुज स्वरूपमें साक्षात् दर्शन दिये। महाराजश्रीके हृदयमें उस समय जो दिव्य भाव और अलौकिक परमानन्दका अनुभव हुआ था उसको लिखनेकी शक्ति इस लेखनीमें नहीं है।

श्रीवनराजजी महाराज यों तो बालपनसे ही एक प्रकारसे विरक्त थे और दिव्य गन्धर्व होनेसे मस्त थे; परन्तु जिस दिनसे भगवत्साक्षात्कार हुआ उस दिनसे तो आप गृहस्थाश्रमको त्याग देनेपर ही उतारू हो गये। किन्तु 'गीतोपदेश' से आपने माता-पिताकी सेवाकी और धर्मपत्नीको प्रसन्न रखकर कुछ समयतक गृहस्थाश्रममें ही रहे। ऐसा करनेमें महाराजश्रीको किसी प्रकारका क्लेश या मोह नहीं हुआ। माता-पिता और धर्मपत्नीका उत्तम रीतिसे भरण-पोषण करते हुए ही श्रीकृष्णकी प्रेमाश्रुओंसे अहर्निश पूजा करते रहे। क्योंकि आप जान चुके थे कि ये लोग कुछ ही दिनोंके संगाती हैं। कुछ समय बाद माता-पिता और धर्मपत्नीका स्वर्गवास हो गया और श्रीवनराजजी महाराजने उनकी विधिवत् अन्त्येष्टि क्रिया की एवं गया-श्राद्ध कराकर तथा ब्राह्मण-भोजन करवाकर उनकी ओरसे निश्चिन्त हुए।

तदनन्तर वि० सं० १९६२ के कार्तिक मासमें आपने 'सर्वत्याग' किया और जोधपुरके पहाड़ोंमें एक वनमें जा विराजे। श्रीगुरुदेव जिस दिन शहर छोड़कर जंगलमें मंगल करने लगे उसी दिनसे रात-दिन असाधारण तपश्चर्या करने लगे। उस समय वनाश्रममें किसीको आनेकी आज्ञा नहीं थी। तीन वर्षके बाद सं० १९६५ से श्रीगुरु महाराजने सर्वसाधारण जनताको ज्ञान, भक्ति और कर्मयोगका सदुपदेश देना प्रारम्भ कर दिया और पूरे अठारह वर्षतक श्रीवनराजजी महाराजने अनेकों व्यक्तियोंका कल्याण कर उन्हें कृतार्थ कर दिया। अनेकों शिष्योंको भक्ति, ज्ञान और कर्मयोगके रहस्योंको समझाया। स्त्रियाँ और अपढ़ व्यक्तियोंने भी आपकी अद्भुत हरिचर्चा एवं सत्संगका सुख लूटनेका सौभाग्य प्राप्त किया।

श्रीवनराजजी महाराजका मुख्य उपदेश 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर था। आप प्रतिपक्ष एकादशीको श्रीगीताका प्रवचन करते थे। ठीक सबेरे नौ बजे आसनपर विराजमान होते और अठारहों अध्यायोंके सम्पूर्ण उपदेशको सायंकालके सात या आठ बजे समाप्तकर आसनसे उठते थे। बीच-बीचमें श्रोतागणोंको जलपानादि करनेके लिये दस-पाँच मिनटका अवकाश दो बार देते थे; परन्तु स्वयं एकासनसे ही अखण्डरूपसे सम्पूर्ण गीताका प्रवचन हो जानेके बाद उठते थे। हजारों स्त्री-पुरुष गीता सुननेको आते थे। इस प्रकार श्रीगुरुदेवने बारह वर्षतक सार्थ गीतायज्ञका महोत्सव किया था।

श्रीगीताके अतिरिक्त गुरु महाराजने षड्दर्शन, उपनिषद्, इतिहास, रामायण और पुराणादिका भी सदुपदेश देना प्रारम्भ किया था। वनाश्रमका द्वार तीन बजे मध्याह्नोत्तरमें खुलता था और सात बजे सायंकालतक धर्मोपदेश एवं हरिचर्चा सुननेके लिये जो श्रोतागण आते थे उनको आप तृप्त कर देते थे।

सात बजे बाद वनाश्रमका द्वार बंद हो जाता था और श्रीगुरु महाराज समाधिस्थ हो जाते थे; बारह बजे उठकर फिर भगवत्स्मरण, कीर्तन और तत्त्वचिन्तन करते थे। रात्रिमें केवल दो या तीन घंटे सोते थे। एक बार अत्यन्त स्वल्प भोजन करते थे। महाराजश्रीकी दिनचर्या आदर्श थी। वे दिन-रात हरिचर्चा और भजन-ध्यानमें ही रहते थे। आपके आदर्श जीवनसे बहुत-से लोगोंका कल्याण हुआ है।

श्रीवनराजजी महाराजके उपदेशकी खास बात यही थी कि जो जीव इस संसारसागरसे पार होना चाहे वह श्रीकृष्णके रूपका ध्यान करते हुए उनके गुणोंको अहर्निश गाता रहे तथा श्रीगीताके अ० १५ के पाँचवें श्लोकके अनुकूल अपना जीवन बनाकर भगवद्दर्शनोंका अधिकार प्राप्त करें। अधिकारीके बिना भगवान् प्रसन्न नहीं होते।

अन्तमें वि० सं० १९८३ भाद्रपद शुक्ला राधाष्टमीको अपने कलेवरको त्यागकर श्रीवनराजजी महाराजने स्वस्वरूपमें अखण्ड स्थिति प्राप्त कर ली। पूज्यपाद श्रद्धेय श्रीगुरुदेवका चरित्र अपार है परन्तु संक्षेपमें जो कुछ परिचय दिया गया है उसीसे पाठक इस संत-महात्माके गुणगानसे सन्तुष्ट होंगे।

स्वामी श्रीफूलरामजी महाराज

(लेखक—पं० श्रीशम्भूलालजी द्विवेदी)

आप श्रीसमर्थ १०८ स्वामी अचलरामजी महाराजके प्रमुख शिष्य थे। इनका जन्म कहीं मारवाड़में हुआ था। इनके जन्म-कर्मके सम्बन्धमें जब कुछ पूछा जाता तब ये परमार्थका उपदेश करने लगते। बड़े प्रेमसे समझाते कि 'भैया! साधुओंकी जाति एवं बाप-दादेका नाम आदि नहीं पूछना चाहिये! भला, ये सब तो जड शरीरके आश्रित हैं; साधु तो चित्स्वरूप हैं न?' यदि कोई विशेष आग्रह करता तो '**सत्यं माता पिता ज्ञानम्**' वाला श्लोक सुना देते। ये किसी प्रकारका परिग्रह नहीं रखते थे। बड़े नियमपूर्वक एक आसनसे बैठकर घंटों विधिपूर्वक जप करते थे। गीता तो उनकी इष्टदेवी ही थी। इसीका स्वाध्याय और इसीका प्रवचन, बस, यही उनका कार्यक्रम था। रातमें महामन्त्रका कीर्तन करवाते। मृत्युके समय आपने गीतापाठकी आज्ञा की। बीचमें एक श्लोक छूट जानेपर स्वयं उसे बोलने लगे और पाठ समाप्त होनेपर '**शिवोऽहम्**' की ध्वनि करके स्वरूपस्थ हो गये। हमारे बीचसे एक महात्मा उठ गये। यह बात भादों कृष्ण एकादशीकी है। उनके प्रभावसे अनेकोंका कल्याण हुआ। आज भी उनके स्थानपर हरिनाम-संकीर्तन, व्याख्यान आदि हुआ ही करते हैं।

ब्रह्मचारी श्रीविष्णुदासजी

(लेखक—पण्डित श्रीगोविन्दनारायणजी शर्मा, बी० ए०)

राजपूतानामें अजमेरके पास कृष्णगढ़ नामकी एक छोटी रियासत है। उसके बूढ़ादेवल नामक गाँवमें ब्रह्मचारी विष्णुदासजी नामके एक प्रसिद्ध सिद्धपुरुष हुए हैं। आप दधीचिके वंशज थे। आप सद्धर्मके पालक सत्पुरुष थे। आपकी युवावस्थामें ही धर्मपत्नीका देहावसान हो गया, अत: पूर्ण वैराग्यके कारण आपने दूसरा विवाह नहीं किया और अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन किया जिससे आप ब्रह्मचारी कहलाये। आपने गायत्रीके ग्यारह पुरश्चरण किये, जिनमेंसे पहला तो अपनी कुलदेवी श्रीदधिमतीके अर्पण कर दिया, दूसरा अपने लिये रक्खा, तीसरा इस लोकमें भोगके लिये, चौथा परलोकके भोगके लिये, पाँचवाँ और छठा वैराग्य और भक्तिके लिये, सातवाँ ज्ञानके लिये और शेष चार सद्गतिकी प्राप्तिके लिये अर्पण कर दिये। आप भगवतीके परम भक्त थे जिससे विक्रम संवत् १९०४ में मारवाड़के गाँव गोठ-माँगलोदके पास परम पवित्र कुशामय भूमिमें विराजमान अपनी जातिमात्रकी कुलदेवी भगवती श्रीदधिमती माताजीके मन्दिरमें दर्शनार्थ गये। किन्तु गौरीशाह बादशाहकी रक्खी हुई भगवतीकी मूर्तिपर एक विशाल शिला थी जिससे देवीके दर्शन नीचे झुकनेसे बड़ी कठिनतासे होते थे। अत: आपने भगवतीसे इस कष्टके निवारणके लिये प्रार्थना की। भगवतीने अपने भक्तकी भक्ति-भावसे भरी आर्त पुकार स्वीकार की और उसी रात्रिको वह शिला अपने आप टूट गयी। इससे सबको आनन्द हुआ और भगवतीके दर्शन सुलभतासे होने लगे।

इन्हीं ब्रह्मचारीजीने भगवतीके मन्दिरके चारों ओर सालें बनवाकर चार चौक कराये जिसमें अनुमान बीस हजार रुपये लगे। इस कार्यमें मुख्य सहायता उदयपुरके महाराणा स्वरूपसिंहजीकी थी, जो उक्त ब्रह्मचारीजीको अपना गुरु मानते थे।

महात्मा श्रीदोलूरामजी साचीहर

(लेखक—पं० श्रीवृद्धिचन्द्रजी शास्त्री)

मारवाड़के संत श्रीदोलूरामजीका जन्म संवत् १८८५ पौष बदी ३ बुधवारको पंचद्रविड साचोरा (साचीहर) ब्राह्मण श्रीचैनरामजीकी धर्मपत्नी सती मीराबाईके गर्भसे अपने ननिहाल सतलानामें हुआ था। बचपनमें ही आप बड़े शान्त, सत्यप्रिय एवं भगवद्भक्त थे। आठ वर्षकी अवस्थामें यज्ञोपवीतके समय ही आपने वल्लभीय दीक्षा ले ली और '**श्रीकृष्णः शरणं मम**' इस मन्त्रका जप करने लगे। आजीवन ब्रह्मचारी

रहनेका व्रत लेकर उसके नियमोंका पालन करने लगे। एक बार कहीं जंगलमें कुछ कुत्तोंने इन्हें काट खाया था, बदलेमें इन्होंने दस सेर आटाकी रोटियाँ बनवाकर उन्हें खिलायीं। इनके गीतापाठके समय एक सर्प आया करता था। ये अपने माता-पिताके बड़े भक्त थे। उनकी आज्ञा बिना संन्यास लेना अनुचित समझकर घरमें ही रहे। ११ वर्षकी अवस्थामें ही मौन आदिका नियम लेकर दसवें दिन थोड़ा-सा भोजन कर लेते। जप बराबर चलता रहता। कहते हैं एक बार स्वयं तुलसीदासजी इनके पास आये थे। ख्याति अधिक होनेसे जब भीड़ होने लगी तब इन्होंने माता-पितासे प्रार्थना करके गंगोला पहाड़पर कुटिया बनवा ली और वहीं ३५ वर्षकी अवस्थातक मौन रहकर जप करते रहे। छोटी बहिनके विधवा हो जानेपर उसे समझानेके लिये मौन तोड़ा और तबसे उपदेशकी धारा बह चली। बहुतोंने इनकी कृपासे परमार्थ प्राप्त किया। उस समयके मरुसम्राट् श्रीतख्तसिंहजी भी इनके सत्संगमें पधारते थे। संवत् १९२६ वैशाख शुक्ला षष्ठीको इन्होंने अपना शरीर त्यागा। इनके कई शिष्य बड़े महात्मा हो गये हैं।

श्रीरामजी महाराज

(लेखक—पं० श्रीबद्रीदासजी पुरोहित)

आपका जन्म कछवाहा माली जातिमें हुआ था। आप बचपनसे ही बड़े भगवत्प्रेमी थे। जहाँ कथावार्ता होती ये अवश्य पहुँचते। संवत् १९१३ के वैशाखमें श्रीभागवत्‌की कथा सुनते-सुनते ये भगवद्दर्शनके लिये पागल हो उठे। ॐकारस्वरूप भगवान्‌के दर्शनके लिये घर-बार त्यागकर जंगल और पहाड़ोंमें घूमने लगे। स्वयं ब्राह्मणवेश धारण करके भगवान्‌ने इन्हें लौटाना चाहा, परन्तु ये अपने निश्चयके बड़े पक्के थे, डटे रहे। अन्तमें उन्होंने ॐ कारस्वरूपसे दर्शन दिये, तब ये प्रेम-विभोर हो गये। सम्बन्धियोंने ढूँढ़कर इन्हें घर ले आनेकी बड़ी चेष्टा की, परन्तु सफल न हुए। आपने कुटी नहीं बनायी। एक गुदड़ी, एक वस्त्र, एक कमण्डलु बस इतना ही परिग्रह था। भोजनके लिये दो-चार घरोंमें मधुकरी माँगते, कुछ मिल जाता तो मिल जाता नहीं तो भूखे ही रह जाते। आप निरन्तर भगवद्भजनमें मस्त रहते। इनकी स्त्रीका नाम हरकूबाई था जो अपनी कन्या अजनेश्वरजीके साथ सं० १९२० में इन्हींसे दीक्षा लेकर फकीर हो गयीं और भगवद्भक्तिमें चूर होकर विरक्त जीवन व्यतीत किया। इनके पुत्र रामप्रतापकी भी यही दशा हुई। आपकी कन्या अजनेश्वरजीका नाम तो जोधपुरके घर-घरमें प्रसिद्ध है। सं० १९३४ की वैशाख बदी १४ बुधवारको आपने शरीरत्याग किया।

तपस्विनी श्रीअजनेश्वरजी

(लेखक—पं० श्रीबद्रीदासजी पुरोहित)

इनका जन्म जोधपुरकी कछवाहा जातिमें माली श्रीरामजीके घर संवत् १९०८ के आश्विन कृष्णा एकादशीको हुआ था। बचपनमें ही ये अपने पिताके साथ श्रीकुंजविहारीजीके दर्शन करने जाया करती थीं। घरवालोंने विवाह कर दिया। परन्तु स्वाभाविक विरक्तिके कारण आप कभी ससुराल नहीं गयीं। इनके पति श्रीरामबक्सजी (ये प्रसिद्ध संत देवीदासजीके भाई थे) संन्यासी होकर आबूमें तपस्या करने लगे और ये अपनी माताके साथ अपने पितासे दीक्षा लेकर तीर्थयात्राके लिये निकल पड़ीं। लौटनेपर बारह वर्षतक अखण्ड ब्रह्मचर्य एवं मौन धारण करके भगवच्चिन्तनमें लगी रहीं। इनका रहन-सहन बड़ा साधारण था। इनका भोजन जीवनभर टकेभर आटा ही रहा। ये पैसेका स्पर्श नहीं करती थीं। कोई रख जाता तो उस जगहको धुलवातीं। सर्वथा परिग्रहशून्य रहतीं। हजारों स्त्रियाँ इनके उपदेशोंसे कृतकृत्य हुईं। एक बार जब ये बद्रीनारायण गयी हुई थीं स्वयं भगवान्‌ने इन्हें बालक-रूपमें दर्शन दिये।

एक समय स्वभावसे ही कुछ द्वेषी लोगोंके शिकायत करनेपर जोधपुर-सरकारने इन्हें जेलमें बंद कर दिया।

ये एक रात जेलमें रहीं। इसी बीच जनाने महलमें चारों ओर पुरुष-ही-पुरुष दीखने लगे। और स्वयं महाराजा प्रतापसिंहजीके पेटमें इतनी पीड़ा हुई कि अन्ततः इन्हें छोड़ देना पड़ा। ऐसी अनेकों घटनाएँ घटी हैं। इनके लिखे कई ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं। संवत् १९८४ के श्रावण शुक्ला चतुर्दशीको प्रात:काल ये ब्रह्मलीन हुई।

महात्मा देवीदानजी संन्यासी

महात्मा देवीदानजीका जन्म जोधपुरमें ठाकुर जयकृष्णजी सोलंकीके यहाँ संवत् १९१३ वि० भादों बदी अष्टमी (श्रीकृष्णजन्माष्टमी)-को हुआ। चार वर्षकी अवस्थामें ही इनके पिताका स्वर्गवास हो गया था। बहुत छोटी उम्रमें ही इनमें विरक्ति और भक्तिके लक्षण प्रकट होने लगे।

ग्यारह वर्षकी आयुमें आप जोधपुर दरबारके कोठारमें नौकर हुए और थोड़े ही समयमें अपनी योग्यतासे कोठारके नायब दारोगा हो गये। आप गरीब, भूखे, अनाथ और पशु-पक्षी आदि प्राणिमात्रके प्रति बड़े ही दयालु थे। जो कुछ पास होता था, सब इन्हें बाँट देते थे। स्वयं कभी-कभी जंगलके वृक्षोंके पत्ते खाकर रह जाते थे।

माता और दोनों बड़े भाइयोंके आग्रहसे बालसमन्द (मंडोर)-के श्रीहुक्मारामजी कछवाहा नामक एक सुप्रसिद्ध वयोवृद्ध ईश्वरभक्त गृहस्थकी सुशीला कन्यासे संवत् १९२९ वि० में इनका विवाह हो गया। लेकिन दो वर्ष बाद ही स्त्रीका देहान्त हो गया। इसके पश्चात् आप योग और वैद्यकका अभ्यास करने लगे। संवत् १९४२ में अकालके समय अपने उपार्जित धनसे आपने अनाथों, भूखों और पशुओंकी बड़ी सहायता की और इसी साल गृहस्थके कपड़े उतार आप संत-वेषसे तप करने लगे। योगाभ्यास सिद्ध करनेके लिये जोधपुरके अनेक स्थानोंमें रहे। संवत् १९६३ में आप तापड़ियोंके तालाबपर आ रहे। तबसे अन्ततक आप वहीं एक कुटियामें निवास करते थे। आने-जानेवाले यात्रियों और रोगियोंके ठहरनेके लिये भक्तलोगोंने पास ही बागमें 'देवीदान-देवस्थान' नामक आश्रम बनवा दिया था।

इनका मुख्य कार्य प्रजाको सदुपदेश करना तथा ओषधियाँ देना रहता था। कण्ठमाल, जलन्धर, भगन्दर, कुष्ठ आदि जिन भयंकर रोगोंको सिविल-सर्जन डॉक्टर आराम नहीं कर सकते थे उनको आप आराम कर देते थे। इनके उपदेशोंको सुनने और आशीर्वाद लेनेके लिये बड़े-बड़े मुसाहिब और जोधपुर नरेश स्वयं प्रायः आया करते थे। स्वर्गीय जोधपुर नरेश महाराज सर जसवन्तसिंहजी जी. सी. एस. आई., महाराजा सर सरदारसिंहजी जी. सी. एस. आई., महाराजा मेजर सर सुमेरसिंहजी साहिब बहादूर के. बी. ई. और वर्तमान जोधपुर-नरेश तो बड़े चावसे आपके पास आया-जाया करते थे। जोधपुरके भूतपूर्व दीवान रायबहादुर पण्डित सुखदेवप्रसाद बी. ए., सी. आई. ई. भी राजकाजके बाद आत्मशान्तिके लिये वहीं जाया करते थे। किशनगढ़, बूँदी, कोटा, ईडर आदि रियासतोंके राजाओंने भी इन आदर्श महात्माजीके दर्शनसे लाभ उठाया है।

आप दिनमें एक ही बार भोजन किया करते थे, जो बहुत ही सादा होता था। आपके वस्त्रोंमें केवल एक काली कमली थी, जिसे रात-दिन लपेटे रहते थे। योगाभ्यासमें आप बड़े सिद्धहस्त थे। आप कई दिनोंकी समाधि लगाया करते थे और योगका अभ्यास करनेके लिये दूर-दूरसे आपके पास जिज्ञासु शिष्यगण आते थे। संवत् १९८९ वि० में आपका देहावसान हुआ।

स्वामी श्रीमङ्गलनाथजी महाराज

बीकानेर रियासतके एक छोटे-से गाँवमें इनका जन्म हुआ था। उसीके समीप रतनगढ़में इनका गुरुद्वारा अब भी है। बचपनमें ही संसारसे स्वभावतः विरक्त होनेके कारण विद्याध्ययन करके परमहंस विरक्त नाथसम्प्रदायके एक वृद्ध महात्मासे संन्यास-दीक्षा लेकर और उनसे वेदान्त आदिका श्रवण-मनन करके इन्होंने काशीकी यात्रा की। कुछ समय वहाँ रहकर ऋषीकेश गये। वहाँ कैलास-आश्रमके अधिष्ठाता पूज्यपाद श्रीस्वामी धनराजगिरिजीसे इन्होंने दर्शनोंका सांगोपांग अध्ययन किया तथा और शास्त्रोंका अवलोकन किया। इसके

बाद उत्तरकाशी आदि एकान्त स्थानोंमें योगाभ्यास, आत्मचिन्तन आदि करते रहे। इन दिनों ये छिपकर ही रहते थे। अतः कोई अधिक वृत्तान्त नहीं मिलता। कई वर्षोंके बाद ऋषीकेश लौट आये। परन्तु यहाँ भी प्रातःकाल ही जंगलमें चले जाते फिर रात्रिमें लौटते। कई बार तो रात भी जंगलमें ही बीतती। संन्यासियोंके लिये भी आपके दर्शन दुर्लभ होते परन्तु जब इन्होंने लोगोंको मानसिक क्लेशोंसे दुःखी देखा तब अपना दरबार आम कर दिया। अब तो साधारण-से-साधारण कार्य भी उपदेशपूर्ण ही होता। बड़े-बड़े विद्वान्, बड़े-बड़े नेता, जिनमें मालवीयजी भी हैं, बड़े-बड़े राजा-महाराजा आपका दर्शन करते और सत्संगसे लाभ उठाते। लोकोपकारके लिये उन्होंने गोरक्षा आदिको भी प्रोत्साहन दिया था। संवत् १९८५ के श्रावण कृष्णा प्रतिपदाके प्रातःकाल जीवन्मुक्तावस्थाका परित्याग करके ये विदेहमुक्त हो गये। श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके जीवनपर सबसे पहले आपका ही प्रभाव पड़ा था।

महात्मा पं० गणेशजी

सिद्ध परमहंस महात्मा गणेशजीका जन्म जयपुर राज्यके बुगाला ग्राममें खंडेलवाल ब्राह्मण-वंशमें हुआ था। इनके पिता पं० घड़सीरामजी (घनश्यामदासजी) पीछे नवलगढ़ आकर बस गये; अतएव इनकी शिक्षा यहीं पर हुई। मेधावी और परिश्रमी होनेके कारण इन्होंने अल्पकालमें ही व्याकरण, ज्योतिष और वेदोंमें अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। अध्ययनकालमें ही इनका विवाह हो गया था, परन्तु गृहस्थी होनेपर भी सदा विरक्त रहकर अवधूत परमहंसकी अवस्थामें रहते थे। कुछ दिनोंके बाद घर छोड़कर ये चिड़ावा चले आये। आप बराबर नीला वस्त्र धारण करते और एक लाठी तथा हाँडी सर्वदा साथमें रखते थे। आप सिद्ध योगी थे। 'ड' मन्त्रका जप किया करते थे, जो मन्त्रमहोदधिमें शिवजीका बीज माना गया है। प्रसिद्ध बिड़लाबन्धुओंमें श्रीयुत जुगलकिशोरजी बिड़लापर इनका बड़ा स्नेह था और श्रीबिड़लाजीकी भी इनपर बड़ी श्रद्धा-भक्ति थी। श्रीबिड़लाजीने इनकी भविष्यवाणी तथा मनकी बात जाननेकी शक्तिका स्वयं कई बार अनुभव किया था। इन्होंने अपने शरीर छोड़नेकी बात पहले ही बतला दी थी। शरीरत्यागसे कुछ ही समय पूर्व इन्होंने दुर्गा ब्राह्मणसे, जो इनके समीप प्रायः रहा करता था, कुछ लड्डू मँगवाये और उनसे हवन किया। पश्चात् आसन लगाकर शिवालयमें बैठ गये, और सब लोगोंको वहाँ से हटा दिया। उस समय उनका शरीर बिलकुल स्वस्थ था, लोगोंको जरा भी सन्देह नहीं था कि महात्माजी अभी निर्वाणको प्राप्त हो जायँगे; परन्तु कुछ ही समय उपरान्त जब लोगोंने मन्दिरमें जाकर देखा तो आप नश्वर शरीरको त्याग चुके थे और शरीर पूर्ववत् आसनयुक्त अवस्थामें अचल—स्थिर विराजमान था। आपने अपने देहावसानकी सूचना कुछ दिनों पूर्व ही अपने प्रेमियोंको दे दी थी। श्रीरामेश्वरदासजी बिड़लाको पिलानीमें ही संदेशा मिल गया था कि 'अब महात्माजी शीघ्र ही प्रयाण करनेवाले हैं, मिलना हो तो मिल सकते हो।' परन्तु श्रीरामेश्वरदासजी यह अनुमान नहीं कर सके कि इतना शीघ्र आप शरीर छोड़ देंगे, अतएव वे नहीं मिल सके। इस तरह पौष सुदी ९ सं० १९६९ को इन्होंने योगमार्गद्वारा अपने नश्वर शरीरको त्याग दिया। इनकी समाधि चिड़ावेमें गूगाजीके टीबेपर बनी हुई है, जहाँ प्रतिवर्ष इनकी निर्वाण तिथिपर बड़ा मेला लगता है।

बाबा श्रीरामनाथजी

बाबा रामनाथजीका जन्म सं० १९२० में जोधपुर रियासतके डीडवानाके पास एक छोटे-से गाँवमें राजपूतघरानेमें हुआ था। आप छोटी उम्रमें ही साधुओंके सत्संग और सीकरके गुलाबदासजी नामक साधुके उपदेशसे संसारको असार समझकर परमार्थचिन्तनमें लग गये। आप बाल-ब्रह्मचारी थे। आपने पन्द्रह वर्षकी आयुसे ही एकान्तसेवन करते हुए भगवान्का जाप प्रारम्भ कर दिया था। कहते है कि अनेक वर्षोंतक आप

जंगलमें बैठकर रात-दिन नामके ही जापमें लगे रहते। किसीसे किसी प्रकारका वार्तालाप नहीं करते थे। वहीं जो कुछ मिल जाता था, खा लेते थे। लगभग २० वर्षतक ऐसी ही स्थिति बनी रही। पश्चात् एक स्थानसे दूसरे स्थानको आने-जाने लगे। इनकी तपस्या और भजनकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी थी; इसलिये बहुत-से जिज्ञासु, आर्त्त और दुःखी जन इनके पास एकत्र होने लगे। उस समय भी बाबाजीका समय जापमें ही व्यतीत होता था; रातमें भी कभी सोते हुए नहीं देखे गये। रातमें बहुधा बैठे रहते थे; कभी-कभी उठकर टहलने लग जाते थे। इतने जोरसे जाप करते थे कि कभी-कभी तो बहुत दूरसे सुनायी पड़ता था। इतना होनेपर भी आने-जानेवालोंकी बातें थोड़ी देरके लिये सुन लेते थे। बीच-बीचमें कुछ-कुछ उपदेशपूर्ण बातें कह जाते थे। उनकी कही हुई ज्ञानकी वे बातें तत्त्वकी होती थीं।

वे प्रायः स्पष्टरूपसे किसीसे वार्तालाप नहीं करते थे, फिर भी अपने-आप वे जो बातें करते रहते थे, जानेवालोंको उन्हींसे सब पता लग जाता था। धनी-गरीब, नीच-ऊँच और पण्डित-मूर्ख सभी उनके लिये समान थे। आप एक स्थानमें नहीं रहते थे। कभी एक गाँवमें रहते थे, कभी दूसरी जगह चले जाते थे। उनकी कई एक अलौकिक बातें देखने और सुननेमें आती थीं। रामनिवास बागमें ठा० हरिसिंहजीके डेरेके पास एक शेर पिंजड़ेमें बंद था। रातको वह बड़ा शोर मचाता था। एक दिन बाबा रामनाथजी कितने ही मनुष्योंकी उपस्थितिमें पिंजड़ेमें बंद शेरके मुँहपर हाथ फेरते हुए बोले—'इतना शोर मत मचाया करो।' कहते हैं कि सिंहने इसके बाद कभी शोर नहीं मचाया। कुछ वर्षों पहले पिलानीमें भी उनका एक बार शुभागमन हुआ था। उस समय एक सुनारका लड़का—जिसकी उम्र लगभग २० सालकी थी—सख्त बीमार बेहोशीकी दशा (सन्निपात) में पड़ा हुआ था। डॉ० गुलजारीलालजी और दूसरे वैद्योंने उसके बचनेकी आशा बिलकुल छोड़ दी थी। लड़केकी माँ बाबाजीके पास जाकर रोने लगी। उसे बहुत रोते-कलपते देख बाबाजी उसके साथ हो लिये और बीमार लड़केके पास पहुँचकर थोड़ी देरतक जप करते रहे। बादमें बोले कि—'यह तो भूखों मर रहा है। इसे खानेके लिये बाजरेकी रोटी और दाल दो।' उस समय यह देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ कि लड़का होशमें आ गया और खानेके लिये शोर मचाने लगा। यद्यपि डॉक्टरोंने इसके कई दिन पीछेतक उसे खानेको नहीं दिया, फिर भी लड़का भला-चंगा हो गया।

इस सुनारिनकी देखा-देखी एक बनियाइन भी—जिसका लड़का शीतलासे पीड़ित था—बाबाजीके पास पहुँची और पैर पकड़कर रोने लगी। किन्तु बाबाजीने उत्तर दिया—

हानि-लाभ जीवन-मरन जस-अपजस बिधि हाथ॥

तात्पर्य यह कि वह लड़का अच्छा नहीं हुआ। दिल्लीमें एक बार महामना मालवीयजी और पादरी एंड्रूज भी उनके दर्शनोंके लिये गये थे। बाबाजीने पूज्य मालवीयजीके मनकी कई ऐसी बातें कहीं जिन्हें सुनकर वे दंग रह गये।

आपका सं० १९९० में, लगभग ७० वर्षकी अवस्थामें डीडवाना (जोधपुरराज्य)-के पास देहावसान हो गया। अपने प्रयाण-कालकी सूचना उन्होंने कुछ लोगोंको पहले ही दे दी थी।

संत श्रीकुशलानन्दजी

प्रातः स्मरणीय श्रीकुशलानन्दजी मौनीका जन्म बीकानेर स्टेटके रामपुरा नामक क्षुद्र गाँवमें हुआ था। आप बचपनमें गाय-बछड़े चराने जाया करते थे। एक दिन आप रास्ता भूल गये और घूमते-घामते रामपुरासे तीन कोस दूर एक तलैयापर पहुँचे। अकेले भूखे-प्यासे रोने लगे। रोते-रोते नींद आ गयी। आधी रातको आपकी आँखें खुलीं तो देखा कि सभी गौ-बछड़े आपको घेरे बैठे हैं और एक योगिराज आपके सामने विराजमान हैं। योगिराजने इन्हें खानेको आधी रोटी दी और पानी पिलाकर चल दिये। इनके मनमें तभीसे ईश्वरपर विश्वास जग गया और वृत्तियाँ संसारसे हटकर भगवान्‌की ओर झुकने लगीं। बारह-तेरह वर्षकी उम्रमें आपका विवाह कर दिया गया, परन्तु वैराग्यवश आप घरमें नहीं रह सके। एक दिन खेतसे ही चल दिये। चार-पाँच वर्ष बाद पकड़े गये, और माताके बड़े आग्रहसे घरमें रह गये। माताने कहा कि

'एक पुत्र हो जानेपर तुम चले जाना।' इन्होंने कहा— 'मेरे सन्तान या तो होगी नहीं, और होगी तो बचेगी नहीं।' यही हुआ, कुछ दिनों बाद एक पुत्र उत्पन्न हुआ और शीघ्र ही पुत्र अपनी माताको साथ लेकर चल बसा। घरपर केवल माता और बड़े भाईकी एक लड़की रह गयी। लड़कीका विवाह मोरवा नामक ग्राममें कर दिया गया और वृद्धा माताको साथ लेकर आप बदरिकाश्रम चले गये। ब्रह्मकपाली नामक स्थानमें माताजीका शरीरपात हो गया। तब आप घर लौट आये और अपनी सारी जमीन-जायदाद कुटुम्बके दूसरे भाइयोंको सौंपकर पूर्ण विरागी—त्यागी हो गये। कुछ दिनों बाद आपको एक दीर्घायु सद्गुरु योगी मिले। इनका नाम महात्मा बरखंडी था और ये सहारनपुरसे उत्तर शाकम्भरी देवीजीके स्थानमें रहा करते थे। इन्हीं सद्गुरुकी कृपा और उपदेशसे आप सफल हुए। संवत् १९७६ में गुरुजीका समाधिस्थ होना सुनकर आप वहाँ गये और कुछ दिन रहकर लौट आये। संवत् १९९१ में आपने पुनः तीर्थभ्रमण किया।

आपने ७५-७६ वर्षकी आयुमें इस नश्वर शरीरको त्याग देनेका दृढ़ निश्चय कर लिया। बीकानेर स्टेटके राजगढ़ नामक शहरमें चले गये। वहाँ एक दिन शहरसे बाहर छतरियोंमें बैठे हुए थे। आप उपदेश कर रहे थे। अनेकों भक्त श्रोता सुन रहे थे। इन्होंने इस दिन बातों-ही-बातोंमें लोगोंसे कह दिया और लिख भी दिया—'आज तो मैं रामगढ़ जाऊँगा'। राजगढ़से कुछ ही दूरपर जयपुर स्टेटमें रामगढ़ है, लोगोंने समझा कि आप सम्भवतः उसी रामगढ़ जायँगे परन्तु इनका रामगढ़ तो दूसरा ही था। उपदेश करते-करते आप वैद्य पण्डित महादेवप्रसादजी को किसी एक दवाका नुस्खा बताने लगे। इतनेमें ही बड़े जोरका धड़ाका हुआ, लोग सब चौंक गये और सबकी आँखें मुँद गयीं। आँखें खुलनेपर लोगोंने देखा—मौनीजी महाराजका शरीर बेसुध छतरीके चबूतरेपर पड़ा है। आपके भक्त पण्डित बद्रीप्रसादजी पास ही भजनमें मस्त बैठे थे। वे भी शब्द सुनकर दौड़े आये और उन्होंने मौनीजीको उठाया। देखा तो लगभग डेढ़ इंच गोलाकार छेद ठीक ब्रह्माण्डमें हो रहा है। पण्डितजीने समझ लिया कि मौनीजी महाराजने योगबलसे प्राणवायुको एकत्र करके ब्रह्माण्ड भेदकर ब्रह्मलोकको प्रयाण किया है। लोगोंने अब समझा कि उनका 'रामगढ़' यह था।

मौनीजी महाराजका जीवन अत्यन्त सादा और वैराग्यपूर्ण था। आप केवल एक कौपीन रखते थे और लगभग तीस सालसे मौन रहते थे। आपकी अनेकों यौगिक विभूतियाँ भी लोगोंने प्रत्यक्ष देखी थीं।

बालब्रह्मचारिणी श्रीगौराँजी

(लेखक—श्रीरामकुमारजी जालान)

बीकानेर राज्यमें दुलरासर नामका एक छोटा-सा गाँव है। यहीं वि० संवत् १९१० की कार्तिक शुक्ला पूर्णिमाको एक ब्राह्मणकुलमें गौराँबाईका जन्म हुआ। पिताका नाम हनुतराम और माताका नाम पार्वती था। दोनों ही बड़े धर्मपरायण थे। संवत् १९१८ की बात है, योगिराज तारणदासजी घूमते-घामते दुलरासर पहुँचे। आप एक सिद्ध योगी थे। गौराँके पूर्व-संस्कार योगीके दर्शनपर जग उठे और आठ ही वर्षकी अवस्थामें आपने अखण्ड ब्रह्मचर्यका असिधाराव्रत लिया। माता-पिता कब मानते? विवाह ठीक हुआ, बारात भी आ गयी परन्तु गौराँने स्पष्ट कह दिया कि 'मैं जिसको वरना चाहती हूँ उसको अपनी आत्मा अर्पित कर चुकी हूँ। संसारके सभी पुरुष मेरे भाईके समान हैं; मैं अपने भाईको अपना वर कैसे बनाऊँ?' पर किसीने ये पागलपनकी बातें न सुनीं और विवाह-कार्य सम्पन्न हो गया। इस समय गौराँजीकी उम्र तेरह सालकी थी। दो वर्ष बाद ससुरालवाले बलात् इन्हें गोगासर लिवा गये परन्तु आपने वहाँ अनशन शुरु कर दिया। अन्तमें आप मायके लौट आयीं और योगाभ्यास पूर्ववत् चला। ध्यानमें आपको गोपीचन्द भर्तृहरिके साक्षात् दर्शन हुए और उन्होंने आदेश किया कि योगी तारणदासजीसे दीक्षा लेकर अभ्यास करो, सफलता अवश्य मिलेगी। संवत् १९२७ से १९४९ तक निरन्तर बाईस वर्ष आपने एकनिष्ठ होकर हरिके भजनमें व्यतीत किये; तीस दिनोंतक नीमका रसपान किया और बाईस दिनतक जलका एक कण भी नहीं पिया। तदनन्तर आप माता

भागीरथीके दर्शनके लिये हरिद्वार पधारीं और माताकी चरणोंकी वन्दनामें कई बड़े ही भावपूर्ण पद रचे। आपके उपदेशका सारतत्त्व यही था कि ईश्वर जो कुछ करता है सब अच्छा ही करता है। मनुष्यकी दशा तो परिवर्तनशील है, इसलिये हर दशामें परमपिता परमात्माकी कृपा ही देखकर प्रसन्न रहना चाहिये। मनुष्यजन्मकी सार्थकता इसीमें है। संवत् १९९१ की भाद्र कृष्णा चतुर्दशी शुक्रवारके प्रात:काल आपके प्राण दशम द्वारको भेदकर ब्रह्ममें विलीन हो गये। आपके स्मारकस्वरूप दुलरासरके आश्रममें एक छत्री बनी हुई है। वहाँ प्रतिवर्ष भाद्र कृष्णा चतुर्दशीको बड़ा भारी मेला लगता है—भजन, कीर्तन तथा हरिचर्चा होती है।

गौराँजीको ख्यातिसे बड़ी घृणा थी। नि:स्पृहताकी तो आप मूर्त्ति ही थीं। जितेन्द्रियतामें आपके समान इधर कोई देखा-सुना नहीं गया। आप आजीवन अखण्ड ब्रह्मचारिणी रहीं, यह इनके जीवनकी सबसे अनमोल बात है।

बाबा गणेशदासजी

(लेखक—रायसाहब मुंशी राधामोहनलालजी)

बीकानेरके मेड़तिये राजपूतकुलमें बाबा गणेशदासका जन्म हुआ था। १८५७ की गदरमें आप थे। सात-आठ सालकी आयुमें ही आप साधु हो गये। आपके गुरु सन्मानदासजी दादूपन्थी थे और सदा नग्न ही रहा करते थे। संवत् १९९० में आपकी स्वेच्छामृत्यु हुई। भराने पर्वतपर आपका शव रख दिया गया।

आप बड़े भारी त्यागी और भजनानन्दी संत थे। रुपये-पैसेको कभी छुआ ही नहीं। एक रजाई बारहों महीने ओढ़े रहते थे। कभी दवा ली ही नहीं। शुभ विचार, शुद्ध आचरण और भजन—यही आपके उपदेशका तथा जीवनका मूलमन्त्र था।

स्वामी श्रीपरमानन्दजी महाराज

(लेखक—स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती)

पूज्यपाद श्रीस्वामीजीने अपने मुखसे अपने जन्म, तप आदिके सम्बन्धमें कभी कुछ नहीं बताया। परन्तु प्रकरणवश कभी-कभी एक आध बात मुँहसे निकल जाया करती थी। उसीके आधारपर अनुमान होता है कि आपकी जन्मभूमि कहीं व्रजमें रही होगी। बाल्यावस्थामें कौमुदी पढ़नेके समय ब्रह्मन् शब्द आया। अध्यापकके उसका ठीक अर्थ न समझा सकनेपर आप महात्माओंकी संगतिमें गये और यहींसे इनका विरक्त जीवन शुरु हुआ। संसारमें कमलपत्रवत् निर्लेप रहकर इन्होंने संसारका बड़ा कल्याण साधन किया है। इनके पूर्वजीवनकी की हुई घोरतम तपस्याओंका सुफल हमलोगोंने प्रत्यक्ष देखा। परोपकारकी तो ये साक्षात् मूर्ति थे। आपके द्वारा गोरक्षाका महान् प्रचार हुआ। महामना पं० मदनमोहन जी मालवीय एवं श्री वी० जे० पटेल आदि इनके पास आकर शिक्षा ग्रहण करते थे। बड़ौदानरेश आपके प्रति बड़ा सम्मानभाव रखते थे। पता नहीं इनकी अवस्था कितनी थी; परन्तु एक डॉक्टरने सौ वर्षसे अधिककी बतलायी थी। इनका शरीर बड़ा हृष्ट-पुष्ट था। चेहरेपर जरा भी सिकन नहीं थी। हजारों अन्धोंको इन्होंने आँखें दीं। बहुतोंको परमार्थपथपर अग्रसर किया। इनका स्थापित भगवद्भक्ति-आश्रम इनकी अमर कीर्ति है। उसके उद्देश्य बड़े ही सुन्दर एवं लोकोपकारी हैं। शरीरके अन्तिम दिनोंमें एक फोड़ा हो जानेके कारण आपने पच्चीस दिनोंतक उपवास किया। कहा करते थे कि अब मैं जाऊँगा। अन्तमें सन् १९३६ की नौ जुलाईको हमलोगोंके देखते-देखते धौलपुर-नरेशकी शिमलेवाली कोठीमें आप अपना शरीर छोड़कर ब्रह्मलीन हो गये।

भरतपुरके तीन संत

(लेखक—श्रीप्रेमनाथजी बी० ए०)

बाबा श्रीसाँवलदासजी

इनका जन्म भरतपुरराज्यके गामरी गाँवमें गूजर जातिके धाऊ सरदार घरानेमें हुआ था। वैराग्य होनेपर संत श्रीमनोहरदासजीसे दीक्षा ली और आत्मबोध प्राप्त किया। संवत् १९४९ के लगभग भरतपुर छोड़कर गोवर्धन चले आये। वहीं आप संवत् १९५३ में गोलोकवासी हुए। वहाँ आपकी उत्तम समाधि बनी हुई है। वहाँ नित्य आरती-पूजा होती है। भरतपुरके उत्तर तीन मीलपर आपका स्थान साँवलगढ़ी है। इन्हें श्रीलालजीका इष्ट था। उनकी आज्ञा लेकर ही ये सारे कार्य करते थे। इन्होंने या इनके शिष्योंने कभी मादक वस्तुका सेवन नहीं किया। सम्पूर्ण विश्वके भरण-पोषण करनेवाले श्रीनाथजीके सेवक होनेके कारण इन्हें अन्नपूर्णा सिद्ध थीं। तीन मीलसे बत्तीस सेर अन्न अँटने लायक एक पात्र लेकर भिक्षा माँगने शहरमें जाते और रास्तेमें जितने भी साधु मिलते सबको भोजन करनेका निमन्त्रण दे आते। दोपहरतक जो कुछ मिल जाता उसीको लेकर लौट जाते और रोटी बनाते। फिर सब-की-सब साधुओं को खिला देते। यह प्रतिदिनका नियम था। वहाँ आकर कोई भूखा नहीं लौटता। ये हर कुम्भपर गंगा स्नान करने जाते एवं वहाँ भण्डारा करते। ये साधुओंको साक्षात् भगवान् ही समझते। आप गौओंके बड़े भक्त थे। अब भी इनके जीवनका अनुकरण करनेकी चेष्टा की जा रही है।

बाबा श्रीसालिगरामजी

भरतपुरराज्यके अन्तर्गत नगर नामके कसबेमें श्रीकाशीरामजी ब्राह्मणके यहाँ सालगाका जन्म हुआ था। पिताके देहान्तके पश्चात् भाइयोंके वैमनस्यके कारण इनका मन ऊब गया। विरक्त होकर घरसे निकल पड़े। भरतपुरमें सौभाग्यवश श्रीआत्मादासजी सद्गुरु मिल गये, उन्हींसे इन्होंने—

ॐ कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः॥

—इस मन्त्रकी दीक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् इन्होंने इस मन्त्रका जप एवं साष्टांग दण्डवत् करते हुए श्रीजगन्नाथपुरी जानेकी ठानी। दण्डवत् करते हुए चलते-चलते इनका शरीर क्षत-विक्षत हो गया, कीड़े पड़ गये। परन्तु ये लौटे नहीं। भगवान्‌का आदेश भी हुआ परन्तु ये वहाँ गये बिना न रहे। कहते हैं रास्तेमें जो कीड़े इनके शरीरसे गिर पड़ते उन्हें भी ये उठाकर यथास्थान रख लेते। धन्य है! ये पुरीसे सकुशल भरतपुर लौट आये, और वहीं दो मील दूरपर एक वृक्षके नीचे भजन करने लगे। एक बार स्वप्नमें इन्हें आज्ञा हुई कि अमुक स्थानपर जमीनमें श्रीहनुमान्‌जी की मूर्त्ति है। अतः उसे निकलवाकर इन्होंने मन्दिर, तालाब आदि बनवा दिये। भरतपुरके तत्कालीन नरेशने इनके स्थानपर नित्य चालीस साधुओंके भोजनका प्रबन्ध कर दिया जो अबतक चालू है। समय-समयपर अनेकों चमत्कार भी हुए। संत-जीवनमें चमत्कार घटनेपर भी वस्तुतः उनसे संत-जीवनका कोई महत्त्व नहीं बढ़ता। भरतपुर गोवर्धनकी सड़कपर चौबीस मीलतक इन्होंने अपने हाथसे पेड़ लगाये हैं। दो-दो कोसपर प्याऊ बनवायी थीं। ये सब बातें अबतक हैं और उन संतकी याद दिलाती हैं। इनके स्थानपर प्रतिवर्ष चैत्र शुक्ला अमावस्याको मेला लगता है।

संत श्रीअलख-झलकजी

भरतपुरराज्यके अन्तर्गत मथुराके पास सोनई गाँवमें एक धनी जाट घरानेमें संवत् १८९५ में आपका जन्म हुआ था। 'पूतके पैर पालने' की कहावतके अनुसार ये बचपनमें ही बड़े होनहार एवं विचारशील थे। तेरह वर्षकी अवस्थामें ही इन्होंने रामनाम महामन्त्रका बीस करोड़ जप कर लिया था। सतरह वर्षकी अवस्थामें आपके पिताका देहान्त हो गया और सारा भार इनपर आ पड़ा। इस छोटी अवस्थामें घरका सारा भार सम्हालते रहनेपर भी आप बहुत-सा समय ज्ञानचर्चामें ही व्यतीत करते। इनके यहाँ साधुओंकी भीड़ लगी रहती थी। सभी तरहके लोग आते। एक दिन एक ब्राह्मणने आकर पैर पकड़ लिये। वर्णव्यवस्थाकी दृष्टिसे आपने इसे अनुचित बताया। ब्राह्मणने आत्मदृष्टिसे उचित बतलाया। इसपर मर्यादाकी दृष्टिसे आपको बड़ी ग्लानि हुई। घर-द्वार, स्त्री-बच्चोंका प्रबन्ध यथाशक्ति करके और सबको भगवान्‌के भरोसे छोड़कर आप चल दिये और संवत्

१९२५ में जयमहाराज नामक सद्गुरुसे आपने विद्वत्-संन्यास ग्रहण किया। उसी दिनसे आपका नाम 'पूर्णाश्रम' हो गया। आप उन्नीस वर्षतक अलख जगाते रहे। आप भिक्षा माँगनेके समय अलख-झलक कहा करते थे, इसी कारण लोग इन्हें अलख-झलक कहने लगे। सात वर्षतक अजगरवृत्तिसे रहे। फिर अट्ठाईस वर्षतक योगाभ्यास किया। आपका शरीर बड़ा सुडौल, स्वस्थ और गठीला था। आपके उपदेशसे बहुतोंने शान्ति लाभ की।*

महायोगी श्रीअमृतनाथजी महाराज

(लेखक—श्रीदुर्गाप्रसादजी शर्मा 'शंकर')

श्रीअमृतनाथजी महाराजका जन्म सं० १९०९ की चैत्र शु० १ को जयपुर राज्यान्तर्गत पिलाणी नामक स्थानमें श्रीचेतनरामजी जाटके घर हुआ था। जिस समय आप माताके गर्भसे बाहर निकले, उस समय आपका नवजात शरीर छः मासके हृष्ट-पुष्ट बालकके समान बड़ा और अत्यन्त आकर्षक था। पिताने आपका नाम यशराम रक्खा था। जब आपकी अवस्था साढ़े तीन वर्षकी थी, तब आपके पिता पिलाणी छोड़कर वहाँसे बीस कोस दूर अपने प्राचीन निवासस्थान बऊमें चले आये थे और उस समय आपने उस बीस कोसकी मंजिलको पैदल केवल डेढ़ घंटेमें पूरा करके लोगोंको महान् आश्चर्यमें डाल दिया था। उसी समयसे लोग आपको जन्मसिद्ध योगी मानने लगे थे।

उसके बाद आपका शरीर ज्यों-ज्यों बड़ा हुआ, त्यों-त्यों आपने और भी चमत्कार दिखला-दिखलाकर लोगोंको प्रभावित किया। संवत् १९४५ में जब आप पूर्णवयस्क हो गये तब आपकी माताका देहान्त हो गया, जिनके साथ आप जन्मसिद्ध योगी होते हुए भी बड़ा स्नेह-सम्बन्ध रखते थे। फिर तो आपका वैराग्य-भाव एकदम प्रबल हो उठा और आप उसी वर्ष घरसे निकल पड़े। घूमते-घूमते आप चूरू पहुँचे और वहींपर श्री १०८ स्वामी श्रीचम्पानाथजी महाराजने आपको संन्यास-दीक्षा दी तथा आपका पूर्वनाम बदलकर 'अमृतनाथ' नाम रक्खा। तदनन्तर चौबीस वर्षोंतक निर्जन स्थानोंमें, घने जंगलोंमें अथवा पर्वत गुफाओंमें निवास करके, वृक्षोंकी पत्तियाँ चबाकर आपने घोर तपस्या की। इस तपस्याकालमें जब आपको सर्व प्रकारकी सिद्धियाँ सुलभ हो गयीं, तब आप लोककल्याणार्थ संवत् १९६९ के शीतकालमें फतेहपुरमें आ गये और वहाँपर यह कहकर कि 'अब चलने-फिरनेकी आवश्यकता नहीं रही। अब एक ही स्थानपर रहकर निजस्वरूप अवलोकनकी इच्छा है'—आपने मैदानमें मिट्टीके बने हुए एक चबूतरेपर शयन कर लिया। तबसे आप कभी भी खड़े होकर न चले। जब आपकी इस प्रतिज्ञाकी खबर फतेहपुरके निवासियोंको मालूम हुई, तब वे लोग घबराकर आपके पास दौड़े आये और सबने मिलकर आपसे यह प्रार्थना की कि 'एक आश्रम बनवानेकी आज्ञा दी जाय।' बहुत आग्रह करनेपर आपने स्वीकृति दे दी। फिर जल्दी ही खाकीके टीबेपर एक आश्रमका निर्माण हुआ और संवत् १९६९ की माघ शुक्ला ५ सोमवारको आप उसमें पधराये गये। फिर तो आपके दर्शनार्थ लोगोंकी भीड़ लगने लगी। यहाँतक कि आपका प्रताप सुनकर स्वर्गीय सीकर-नरेश रावराजा श्रीमाधवसिंहजी भी आपके चरणोंमें पहुँचे और उन्होंने आपकी सेवामें कुछ मकान तथा एक गाँव भेंट करनेके लिये आपसे स्वीकृति पानेकी प्रार्थना की। किन्तु आपने उनके लाख अनुनय-विनय करनेपर भी स्वीकृति नहीं दी। अन्तमें लाचार होकर राजासाहबने आश्रमके आस-पासकी पन्द्रह बीघा जमीनको ही साधुगणोंकी सेवाके लिये छोड़कर सन्तोष किया और उस जमीनको 'श्रीनाथजीकी बनी' नामसे प्रसिद्ध करा दिया।

योगसिद्धियोंद्वारा आपने कितने चमत्कार दिखलाये, इसकी कोई गणना नहीं है। आपके पास हजारों रोगी, दरिद्र, दुखिया आदि आया करते थे किन्तु आप अतिशय दयालु होनेके कारण किसीको निराश नहीं करते थे। छाछ, दही, दूध, मट्ठा, पानी, मतीरा आदि यही आपकी विशेष ओषधियाँ थीं। इनमेंसे आप जिस ओषधिका पान करनेके लिये बतला देते थे और जो विश्वासपूर्वक

* ये तीनों जीवनियाँ इन महात्माओंके शिष्योंद्वारा प्राप्त हुई हैं, एतदर्थ उन्हें धन्यवाद। —लेखक

उसका सेवन कर लेता था, वह अवश्य ही रोग-मुक्त हो जाता था। आपने इन ओषधियोंके बलपर कई कोढ़ियोंका शरीर अच्छा कर दिया, कितने अन्धोंको आँखवाला बना दिया, और कितने पंगुओंको हाथ पैर दे दिये। इसके अतिरिक्त न जाने कितने कुमार्गगामी आपके सदुपदेशोंसे सन्मार्गगामी बन गये, और न जाने कितने जिज्ञासुओंको आपके द्वारा आत्मसाक्षात्कार हुआ।

तात्पर्य यह है कि आप अखण्ड ब्रह्मचारी, अतीव सरल-हृदय, परमदयालु और हठयोग, राजयोग, लययोग, भक्तियोग आदिके पूर्ण ज्ञाता और अनुभवी महापुरुष थे। अपनी इन विभिन्न शक्तियोंके द्वारा आपने जनताका सब प्रकारसे कल्याण किया। और इस प्रकार विश्वका उपकार कर लेनेके बाद जब आपने लीलावसानका समय देखा, तब संवत् १९७३ की आश्विन शु० १५ बुधवारके मध्याह्नकालमें अपने भक्तोंके बीच भौतिक शरीरका परित्याग कर दिया।

आपके उपदेश प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही पथके पथिक मनुष्योंके कामलायक होते थे। उनमेंसे कुछ यहाँ दिये जाते हैं—

१-खटाई, मिठाई, मसाले-मिर्च आदिको अधिक न खाओ।

२-जिस प्रान्तमें जो अन्न ज्यादा हो, उसीको खाओ।

३-जल्दी सोओ और जल्दी उठो।

४-एकान्तमें रहकर सद्विचारोंका चिन्तन करनेका अभ्यास करो।

५-ब्रह्मचर्यका पालन करो।

६-अतिथि-सत्कारमें मत चूको।

७-किसीसे मोह न करो।

८-काम-क्रोधादि विकारोंसे सतत सावधान रहो।

९-रसीले पदार्थोंका त्याग करो।

१०-गुरुदेवके चरणोंमें दृढ़ प्रेम और विश्वास रक्खो।

११-मौन रहो, व्यर्थ न बोलो।

१२-भगवान्को न भूलो।

महन्त श्रीसीतारामदासजी

(लेखक—शास्त्री श्रीविट्ठलनाथजी दीक्षित)

इनका जन्म विक्रम संवत् १८९० कार्तिक कृष्णा त्रयोदशीको पवित्र साधुकुलमें हुआ था। बचपनमें ही इन्हें इतना वैराग्य था कि दस वर्षके होते-होते ये घरसे सद्गुरुकी खोजमें निकल पड़े और योगिवर श्रीमथुरादासजीकी शरणमें पहुँचकर अनेकों परीक्षाओंमें पास होकर उनसे दीक्षा ग्रहण की। इनके भजन और निरन्तरके नामस्मरणसे प्रसन्न होकर गुरुजीने इन्हें ही अपना उत्तराधिकारी बनाया। इसे भगवत्-सेवाका निमित्त मानकर आपने स्वीकार किया। मेवाड़के बड़े-बड़े सरदार और राजा-महाराजा इनपर बड़ी श्रद्धा रखते थे। इनके सदुपदेशसे बहुतोंका कल्याण हुआ। इन्होंने पैदल ही अनेक तीर्थोंकी यात्रा की। उदारताकी तो ये साकार मूर्ति थे। बारह वर्षतक केवल थोड़ा-सा दूध पीकर ही रहे। आप प्रतिश्वास भगवन्नामका जप करते थे। अखण्ड ब्रह्मचारी थे। इनके साधु-जीवनमें बत्तीस पुरुषोत्तम मास आये थे। प्रत्येक पुरुषोत्तम मासमें इन्होंने सवा लाख तुलसी और सवा लाख कमलके फूल भगवान्को चढ़ाये। सौ वर्षकी वृद्धावस्थामें भी नित्यनियमोंका अक्षुण्ण पालन करते रहे। संवत् १९९२ आश्विन कृष्णा द्वितीयाको सबके देखते-देखते भगवन्नामका ऊँचे स्वरसे उच्चारण करके इन्होंने साकेतगमन किया। श्रीमत् स्वामी अनन्ताचार्यजीने इन्हें 'वैष्णवभूषण' की पदवी दी थी।

श्रीरामनामके आढ़तियाजी

(लेखक—पं० झाबरमल्लजी शर्मा)

आढ़तियाजीका नाम पं० बालूरामजी था। बचपनमें ही उनको रामनामकी लगन लग गयी थी। साधारण पढ़ना-लिखना जानकर भी उन्होंने जो कार्य कर दिखाया, वह बड़े-बड़े ग्रन्थ रटकर विश्वविद्यालयोंकी ऊँची-से-ऊँची डिग्री पानेवालोंके लिये भी सहज साध्य नहीं है। उन्होंने चुपचाप एक महान् संस्थाका काम कर

दिखाया। राजपूताना तो उनका घर ही था; आसाम, बंगाल, बिहार, युक्तप्रान्त, मध्यप्रदेश, दक्षिण, गुजरात आदि भारतके समस्त प्रान्तोंमें भी त्रितापहारी रामनामका प्रचार करके वे धन्य हो गये हैं। उनकी उपदेश-प्रणाली सरल किन्तु हृदयग्राहिणी थी। मामूली समझके लोगोंसे लेकर बड़े-बड़े विद्वान्, वकील, वैरिष्टर, न्यायाधीश, राजा और जमींदार-ताल्लुकेदार आदि उनके उपदेशोंसे प्रभावित होकर रामनामकी माला जपनेका नियम ले चुके हैं। इसका प्रमाण श्रीआढ़तियाजीके वे बड़े-बड़े बहीखाते हैं, जिनमें रामनामकी माला फेरनेकी प्रतिज्ञा करनेवाले ऐसे हजारों नहीं, लाखों मनुष्योंके हस्ताक्षर हैं।

लोगोंको आढ़तियाजीकी सुख-दुःखमें सम-भावनाका पता उस समय लगा, जब सं० १९८१ में उनके नौजवान विवाहित पुत्रकी मृत्यु हो गयी। वह मृत्यु नहीं, वज्रपात था; किन्तु सबने उस दारुण दुःखदायक प्रसंगपर भी भक्तहृदय आढ़तियाजीको रामनाम लेकर नाचते हुए ही देखा था। जो लोग उनकी मस्तीको बनावटी समझकर उनकी हँसी उड़ाया करते थे, वे भी उनकी धीरता, अविचलता देखकर दंग रह गये थे।

आढ़तियाजी परमार्थकामी उदार सज्जनोंकी सहायतासे नासिक, त्र्यम्बकेश्वर, उज्जैन, चित्रकूट, कुरुक्षेत्र, पुष्कर, काशी, प्रयाग, अयोध्या, हरिद्वार, गंगोत्री आदि स्थानोंमें अन्नसत्र और पाठशालाएँ स्थापित करनेमें भी समर्थ हुए थे। लक्ष्मणगढ़ ढानीकी संस्कृत-हिन्दी-पाठशाला भी उन्हींका स्मृतिचिह्न है। और लक्ष्मणगढ़से फतेहपुर जानेवाले मार्गपर प्रायः दो मीलतककी लंबी पंक्तिबद्ध वृक्षावली तो उनकी कीर्तिकथा कहनेके लिये चिरकालतक विद्यमान रहेगी ही। उनके अपने बतलाये हुए आत्मपरिचयका संक्षेपमें यह सार है—

'मेरा जन्म शेखावटी सीकर-राज्यान्तर्गत लक्ष्मणगढ़में सं० १९३३ फाल्गुन शु० ८ को हुआ था। पिताजीका नाम रतीराम था। वे मुझको पढ़नेके लिये गुरुजीके यहाँ भेजते थे, किन्तु मैं अन्तःकरणकी प्रेरणासे पढ़ने न जाकर मन्दिरोंमें चला जाता था। एक जगह मैंने प्रह्लादजीकी कथा सुनी, वह मुझे बड़ी प्यारी लगी और पढ़नेकी ओरसे अभिरुचि हटकर रामनामके माहात्म्यमें ही मेरा ध्यान जम गया। पिताजीने मुझे पढ़ानेकी बड़ी कोशिश की किन्तु साधारण पढ़ने-लिखने और मामूली हिसाब-किताब सीख लेनेके अतिरिक्त मेरी पढ़ाई आगे न बढ़ सकी। पश्चात् पिताजीकी आज्ञासे मैंने कुछ समयतक दूकानदारी की परन्तु उस काममें भी मेरा जी नहीं लगा। अतः उसे भी छोड़ना पड़ा।

सं० १९६८ में मैं नवलगढ़के प्रसिद्ध मानसिंहका घरानेके श्रीयुक्त गणेशदास कन्हैयालाल—फर्ममें तीस रुपये मासिक वेतनमें मुनीम होकर आसामके तेतलिया नामक स्थानमें गया। कुछ समय काम करनेके बाद मुझको कपड़ा खरीदनेके लिये कलकत्ता भेजा गया। वहाँ तेतलियावालोंके निकट-कुटुम्बी श्रीयुक्त सोनीराम हनुमानदासकी मार्फत कपड़ा खरीद लिया गया। उस फर्मके दूकानदार उन दिनों बाबू सालगराम मानसिंहका थे। उन्होंने कपड़ा खरीदनेके दूसरे दिन मुझसे कपड़ेकी गाँठ बँधवानेके लिये कहा। उनकी आज्ञा सुनकर मेरे मनमें सहसा यह विचार उठा कि नौकरी भी की जाय तो श्रीभगवान्‌की ही। भगवान्‌की भक्ति करते हुए दूसरेकी नौकरी करनेसे क्या लाभ है? बस, उसी क्षण मेरे चित्तकी अवस्था बदल गयी। सालगराम बाबूने जब कई बार मुझसे कपड़ेकी गाँठें बँधानेके लिये कहा तब मैंने उनसे साफ-साफ कह दिया कि 'मुझे कपड़ेकी गाँठोंसे मतलब नहीं है। आप ही बँधवाइये और तेतलिया भेज दीजिये।' इसपर जब उन्होंने मुझसे फिर साश्चर्य पूछा कि 'तुम क्या काम करोगे?' तब मैंने कहा कि 'मैं तो राम-नाम जपूँगा, घूमूँगा और मौज करूँगा।'

निदान सालगरामजीने ही कपड़ेकी गाँठ बँधवायी और तेतलिया भेजी। मैं पन्द्रह बीस दिनोंतक कलकत्तेमें ही रहकर रामनामकी माला जपता रहा। तदनन्तर तेतलियासे कन्हैयालालजीकी चिट्ठी मेरे पास आयी, जिसमें उन्होंने बड़े आग्रहसे वहाँ बुलाया था। मैं चिट्ठी पाकर तेतलिया गया परन्तु जब उन्होंने भी मुझे दूकानपर खरीदारोंको कपड़ा दिखाने-देने आदिका काम सौंपना चाहा तब मैंने उनसे भी कह दिया कि 'भैया, कपड़ा लेने-देनेका अपना काम तुम्हीं करो।' किन्तु इस प्रकार मेरेद्वारा इनकार करनेपर भी कन्हैयालालजीने मुझको चौदह महीनोंतक अपने यहाँ रक्खा था, जो उनकी बड़ी भारी सज्जनता और उदारता थी। तेतलियासे ही मैंने लोगोंको चिट्ठियाँ देनी आरम्भ करके राम-नामकी आढ़तका कारोबार जारी कर दिया था। अब मैं प्रायः समस्त भारतको अपना कार्यक्षेत्र बनाकर भ्रमण करता हुआ अपनी रामनामकी आढ़तका विस्तार करता हूँ। करनेवाले तो भगवान् हैं, मैं केवल

निमित्तमात्र हूँ। रामनामके जपद्वारा लोगोंको प्रभुका स्मरण बना रहे—यही मेरा मतलब है।'

उसी गलीमें पूत है, उसी गलीमें मूत।
राम भजे सो पूत है, नहीं मूतका मूत॥

श्रीश्रीरामचरणजी रामसनेही

(लेखक—साधु श्रीनैनूरामजी)

संवत् १७७६ में ढूँढाड़-देशके सोडा नामक ग्राममें श्रीवकतरामजीकी धर्मपत्नीसे आपका जन्म हुआ था। आपका जन्मनाम श्रीरामकृष्णजी था। जब आप इकतीस वर्षके हुए तब सोते समय इनके चरणोंमें वज्रका चिह्न देखकर एक ब्राह्मण आश्चर्यचकित हो गया और सोचने लगा कि ये तो कोई संत हैं। अबतक गुप्त क्यों हैं? भगवान्की ऐसी ही मर्जी थी। उसी समय श्रीरामकृष्णजीको स्वप्न हुआ कि मैं नदीमें बहा जा रहा हूँ और एक पहुँचे हुए महात्मा हाथ पकड़कर मुझे बचा रहे हैं। बस, अब क्या था, उन्हीं स्वप्नमें देखे हुए महात्माको ढूँढ़नेके लिये ये घरसे निकल पड़े। रास्तेमें वैराग्यके बड़े-बड़े विचार मनमें आये। संसारके दुःख और अनित्यताकी छाप इनके दिलपर बैठ गयी। मेवाड़के दाँतड़ा ग्राममें इन्हें वही महात्मा मिल गये और उन्होंने इन्हें योग्य अधिकारी समझकर भगवत्-तत्त्वका उपदेश किया और इनका नाम श्रीरामचरणजी रख दिया। ये सं० १८०८ के भाद्रपदमें गूदड़वेश धारण करके गुफामें घुसे और पच्चीस वर्षतक तपस्या करते रहे। तत्पश्चात् इन्होंने छत्तीस हजार साखियोंकी रचना की। वे अनुभवसे ओत-प्रोत हैं। ये मुमुक्षुजनोंको निर्गुण राम महामन्त्रका उपदेश करते थे। संवत् १८५५ में इन्होंने अपना पांचभौतिक शरीर त्यागा। ये रामसनेहीसम्प्रदायके मूलाचार्य माने जाते हैं।

स्वामीजी श्रीउत्तमनाथजी

महात्मा श्रीउत्तमनाथजी महाराजका जन्म जैसलमेर राज्यके होफले ग्राममें श्रीजेठमलसिंहजी भाटी राजपूतके घरमें हुआ था। इनके पिताजीकी महात्माओंके सत्संगमें बड़ी रुचि थी, जिसका प्रभाव पुत्रके चित्तपर भी पड़ा। जब साधु-संत इनके गाँवकी ओर आते तो ये भी उनके सत्संगमें जाकर पूर्ण लाभ उठाया करते। अन्तमें संसारसे विरक्ति हो जानेके कारण आपने तेईस वर्षकी अवस्थामें श्रीनवलनाथजीसे संवत् १९५३ में संन्यासाश्रमकी दीक्षा ले ली।

स्वामीजी महाराज अधिकतर भ्रमण ही किया करते थे। सर्दीके दिनोमें आप प्रायः ऋषिकेशमें रहा करते थे और गर्मी तथा चातुर्मासमें राजपूतानेके भिन्न-भिन्न भागोंमें भ्रमण करते हुए अद्वैत वेदान्तका उपदेश किया करते थे। आषाढ़ शुक्ला एकादशीसे भाद्रपद शुक्ला एकादशीतक दो मास एक ही स्थानमें विराजते थे, जहाँ आप श्रीमद्भगवद्गीता अथवा योगवाशिष्ठ आदि वेदान्तग्रन्थोंपर प्रवचन किया करते थे। आपकी कथामें जिज्ञासु नर-नारियोंकी बहुसंख्यक उपस्थिति हुआ करती थी। आपके उपदेशोंकी शैली इतनी सरल और प्रभावोत्पादक होती थी कि वेदान्त जैसे सूक्ष्म और गहन विषयको साधारण बुद्धिके लोग भी सहजमें ही समझ सकते थे। कथाओंके साथ इतिहास, दृष्टान्त, कविता और उसी विषयकी 'वाणियों' के गायन इतने हृदयग्राही हुआ करते थे कि श्रोताओंका मन उनको सुनकर कभी तृप्त नहीं हुआ करता—सुननेकी इच्छा बनी ही रहती थी।

जटिल प्रश्नोंको सुलझाने और शंका-समाधान करनेमें चाहे कितना ही समय लग जाय और कितना ही परिश्रम पड़ जाय, पर ये कभी उकताते ही नहीं थे। इनके उपदेशोंमें केवल शुष्क आत्मज्ञानकी चर्चा ही नहीं हुआ करती थी, बल्कि चरित्रसुधार और व्यावहारिक ज्ञानकी भी विशेषता रहती थी। ये जहाँ जाते वहाँ जिज्ञासुओंकी भीड़ लगी ही रहती और सबको यथायोग्य समझानेमें आप कोई बात उठा न रखते थे। इनके सत्संगसे सैकड़ों नर-नारियोंने लाभ उठाया, सैकड़ोंके चरित्र सुधरे और सैकड़ों ही मानसिक व्यथाओंसे मुक्त

हुए। इनसे बड़े-बड़े राजा-महाराजाओंसे लेकर साधारण-से-साधारण व्यक्ति एक समान लाभ उठाया करते थे। अछूत—चाण्डालोंको भी आप अपने सदुपदेशोंसे वंचित नहीं रखते थे।

श्रीबीकानेर-महाराजका आपके प्रति परम पूज्यभाव था। जैसलमेर-नरेश तो श्रद्धापूर्वक इनकी कथाओं और उपदेशोंको सुना करते थे। और इन्हींके उपदेशसे जैसलमेरके राजपूतोंमें अनेक कुरीतियोंके सुधार हुए। बहुत-से राजपूत अपनी कन्याओंको जन्मते ही मार डाला करते थे। यह पापकर्म अब वहाँ बहुत कम हो गया है। पर्वों और त्योहारोंके अवसरपर पशु-बलिका बड़ा जोर रहा करता था, पर आजकल वह निर्दय कर्म भी बहुत अंशोंमें घटकर कम हो गया है। बड़े-बड़े जागीरदारों तथा साधारण राजपूतोंसे आपने उपदेशद्वारा मद्य एवं अफीम आदि मादक पदार्थोंका सेवन छुड़वाया। इनके उपदेशोंके प्रभावसे कई स्थानोंमें पाठशालाएँ एवं विद्यार्थिगृह आदि शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाएँ स्थापित हुईं तथा जहाँ पानीका अभाव था वहाँ कूएँ और तालाब बनवाये गये।

स्वामीजी महाराजका त्याग बड़ी उच्च कोटिका था। आप अपने पास वेदान्तकी दो-तीन पुस्तकोंके सिवा और कुछ भी नहीं रखते थे। वस्त्र जब बहुत जीर्ण होकर फट जाता था तभी दूसरा लेते थे। लोग भेंटमें ढेर-के-ढेर फल लाया करते, पर आप अपने पास कुछ भी न रखकर उपस्थित जनसमूहको बाँट दिया करते थे। शिष्योंका प्राय: आग्रह रहा करता था कि आप सेकण्ड क्लासमें ही बैठें, पर आप विशेष अवसरके सिवा सदा थर्ड क्लासमें ही बैठा करते थे।

व्यक्तिविशेष अथवा स्थानविशेषमें आपकी आसक्ति नहीं थी। अपने शिष्योंमेंसे आप कभी किसीको अपने साथ नही रखते थे। विशेष आग्रह देखकर कभी किसीको कुछ समयके लिये अपने पास रखकर फिर शीघ्र विदा कर दिया करते थे। आपको सादा भोजन (विशेषत: बाजरेकी रोटी, छाछ और राबड़ी) ही पसंद था। शहरोंसे सदा बाहर रहना ही इन्हें अच्छा लगता था। पर सत्संगके लिये आने-जानेवालोंसे कोई परहेज नहीं था। शास्त्र-श्रवणमें आप स्त्रियोंका भी पूरा अधिकार मानते थे। यद्यपि इस तरह उपदेश करनेपर लोग प्राय: कहा करते थे कि अनधिकारियोंको उपदेश नहीं करना चाहिये परन्तु इनका यह सिद्धान्त था कि अधिकारी स्वयं उत्पन्न नहीं होते, बनानेसे ही बनते हैं। इसलिये इनके उपदेशों और कथाओंका द्वार सबके लिये समान भावसे खुला था। अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार सभी लाभ उठाया करते थे। इनका लक्ष्य अपने कल्याणपर उतना न था कि जितना सबके हितपर। इसी उद्देश्यसे वे कभी निकम्मे नहीं बैठा करते थे। जब कोई मनुष्य उनके पास आता तो 'वाणी', आत्मज्ञान अथवा सात्त्विक आचरणकी चर्चा चला दिया करते थे। आपके उपदेशोंके अन्तमें पूज्यपाद गोस्वामीजीकी प्रसिद्ध चौपाई—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

—और 'हरे राम' मन्त्रकी सस्वर आवृत्ति हुआ करती थी।

संवत् १९८६ के आश्विन-मासमें जोधपुरमें आप एक ऊँची छतसे गिर पड़े, जिससे मुँहपर इतनी अधिक चोट लगी कि शरीरके बचनेकी बहुत कम आशा रह गयी। आपको कई मास तत्स्थानीय अस्पतालमें रहना पड़ा एवं आपने क्लोरोफार्मके बिना ही कई आपरेशन करवाये। डॉक्टर लोग आपकी इस सहनशीलताको देखकर दंग रह गये। यद्यपि गिरनेसे लगी हुई चोटें तो समय पाकर ठीक हो गयीं, पर नाकके पास एक नासूर शेष रह गया, जिसका मवाद पेटके अंदर जाता रहा और उसके फलस्वरूप आपकी पाचनशक्ति उत्तरोत्तर कम होती गयी। गिरनेके एक वर्ष बाद जोधपुरमें एक पागल सूअरने जंगल जाते समय स्वामीजीके एक अँगूठे और एक अँगुलीको काट खाया तथा शरीरपर भी आक्रमण किया। उस समय आप अकेले ही थे, तो भी साहसपूर्वक सूअरको दबाकर एवं उसके मुँहको दोनों हाथोंसे पकड़कर बैठ गये। करीब आधे घंटेतक, जबतक दूसरा आदमी न आ पहुँचा, आप उसे दबाये रहे, अन्यथा वह उन्मत्त सूअर उसी समय आपके शरीरको चीरफाड़ डालता। क्षत्रिय-तेज, ब्रह्मचर्य-बल और आत्मशक्तिके प्रभावसे संसारकी कौन-सी शक्ति पराजित नहीं हो सकती? डॉक्टरोंका आग्रह कसौली जाकर इलाज करवानेका रहा, अत: पन्द्रह दिन वहाँ रहकर इलाज करवाया गया जिससे वह विष तो शान्त हो गया, पर पाचनशक्तिका क्रमश: ह्रास ही होता गया। निदान उदरव्याधि होकर आपके शरीरका अन्त संवत् १९८८ मिति माघ शुक्ला एकादशीको अट्ठावन वर्षकी अवस्थामें बीकानेर नगरमें हो गया।

महात्मा श्रीअग्रदासजी

आप श्री १००८ श्रीकृष्णदास पयहारीजी महाराजके शिष्य थे। जिन्होंने जयपुरमें गलता नामक प्रसिद्ध स्थानपर पधारकर तत्कालीन जयपुरनरेशको वैष्णव बनाया और वहींपर पहाड़में धूनी स्थापित की जो अभीतक चालू है। श्रीपयहारीजी महाराजके बड़े शिष्य श्रीकीलदासजी तो गलतामें विराजे थे। और दूसरे श्रीअग्रदासजी महाराजने जयपुरके पासमें करीब तीस मील दूर स्टेशन गोरयाँके निकट रैवासा नामक स्थान स्थापित किया और वहीं विराजे। रैवासाकी गद्दी प्रसिद्ध है। श्रीअग्रस्वामीजीका जन्मोत्सव जयपुरमें फाल्गुन शुक्ला २ को बड़े धूमधामसे मनाया जाता है।

आपके विषयमें यह पद प्रचलित है।

बन्दौ पदकमल अमल अग्रस्वामीजू के
आचारज रसिकशिरोमणि महान हैं।
रस बोध बिपुल आनन्दघन शील, दया,
क्षमा तोष धन जन मानद अमान हैं॥
मेटि रुक्ष ज्ञान महामाधुर्य प्रधान जिन्ह
कीन्हों अग्रसागर सो विदित जहान हैं।
लीनों मथि सार ध्यान मंजरी शृंगार, सबै
भेदी अनभेदी पढ़ै जानत सज्ञान हैं॥

आपकी स्वरचित ७२ कुण्डलियोंमेंसे एक यह है।

सदा न फूले तोरई सदा न साँवन होय।
सदा न साँवन होय, संत जन सदा न आवें॥
सदा न रहे सुबुद्धि सदा गोविन्द यश गावें॥
सदा न पक्षी केलि करैं इह तरुवर ऊपर।
सदा न स्याही रहै सफेदी आवे भूपर॥
अग्र कहै हरि मिलनको तन मन डारो खोय।
सदा न फूलै तोरई सदा न सावन होय॥

ऋषि वृतीनारायणजी

(लेखक—श्रीबद्रीदासजी पुरोहित)

संवत् १८६९ के लगभग पं० खीवराजजी जोशीकी गृहलक्ष्मीसे इनका जन्म हुआ था। कहते हैं कि माताको पीड़ा पहुँचाये बिना ये पाँच वर्षतक पेटमें ही निवास करते रहे। इनका शरीर अद्भुत चिह्नोंसे युक्त था। बचपनसे ही इनमें अद्भुत आकर्षण जान पड़ता था। ये खेलमें भी भगवान्‌की ही लीला करते। इनकी प्रवृत्ति देखकर गृहस्थाश्रममें फँसानेके लिये लोगोंने विवाह कर दिया परन्तु ये फँसे नहीं, इनका अधिकांश समय ध्यान-समाधिमें ही बीतता। एक दिन इनकी भाभीने इनके निकम्मेपनकी भर्त्सना की और कहा कि 'महात्मा बननेसे घरका काम कैसे चलेगा?' इसपर इन्होंने अपने आसनके नीचेसे निकाल-निकालकर रुपयोंकी थैलियाँ फेंकनी शुरू की। आश्चर्यचकित होकर भाभीने क्षमा माँगी। वे रुपये गरीबोंको बाँट दिये गये। अब इनका भजन निर्विघ्न चलने लगा। थोड़े दिनोंके बाद पिताकी मृत्यु हो जानेपर ये एक पहाड़ीपर रहने लगे थे। इनके जीवनमें अनेकों चमत्कारकी बातें देखी गयी हैं। इनके शुभाशीर्वादसे अनेकोंके रोग दूर हुए और बहुत-से परमार्थकी ओर अग्रसर हुए। जोधपुरनरेश स्वर्गीय श्रीयशवंतसिंहजी भी इनके पास आया करते थे। संवत् १९५० के माघ कृष्णा षष्ठीको इन्होंने अपनी इहलौकिक लीला संवरण कर ली।

बाबा भारतीजी सिद्ध महात्मा

(लेखक—पं० श्रीसूर्यनारायणजी चतुर्वेदी 'दिवाकर')

योगिवर भारती बाबा जयपुरमें ही रहते थे। इनके नाम-ग्राम आदिके सम्बन्धमें ठीक-ठीक पता नहीं चलता। इनकी दक्षिणी भाषा और बातचीतसे मालूम हुआ कि वे अक्कल-कोटके निवासी थे। वे सबसे मिलते, सर्वत्र विचरते और सबसे प्रेम करते। उनका साधन दृढ़ नियमित एवं दीर्घकालव्यापी था। वे सौ वर्षके लगभग रहे, परन्तु उनसे किसीको उद्वेग नहीं हुआ। वे मनकी बात जान लेते। सोचे हुए प्रश्नोंका बिना पूछे ही उत्तर

दे देते। बड़े-बड़े विद्वानोंको चकित कर देते और उनकी अलौकिक सिद्धियोंसे बड़े-बड़े राजा-महाराजा स्तम्भित हो जाते। बहुत दिनोंसे जयपुर रहते-रहते उनकी रहन-सहन, बोली-बानी एवं खाना-पीना यहींका-सा हो गया था, फिर भी कभी-कभी दक्षिणी बोल उठते। मेरे घर उनके दिये हुए एक मुट्ठी चने रक्खे हुए हैं जो ५० वर्षके होनेपर भी जैसे-के-तैसे नये हैं। मृत्युका समय निकट आनेपर डेढ़ महीनेतक दूध और जल, फिर २८ दिनतक केवल जल और तत्पश्चात् जल भी त्यागकर केवल वायुके आधारपर ही रहे। पूर्वसूचित तिथिको ठीक समयपर पद्मासनसे बैठकर आप ब्रह्मलीन हो गये। उनकी आज्ञाके विपरीत कुछ लोगोंने कपाल-भेदनक्रिया करनी चाही। पाँच नारियल टूट गये। छठे शंखसे भेदन-क्रिया करनेवाले मथुरानाथजीके सिरमें शंख लौटकर बड़े जोरसे लगा, उन्हें बहुत चोट आयी। बाबाकी सारगर्भित किन्तु तोतली बानी, कोमल स्वभाव, सुगठित शरीरका अब भी स्मरण हो रहा है। उनकी पवित्र स्मृति बनी रहे।

महात्मा श्रीमौजानन्दजी महाराज

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

पूज्यपाद महात्मा मौजानन्दजी एक बड़े उच्च कोटिके संत थे। आपका जन्म भैंसरौली जि० बुलन्दशहरमें हुआ था और आप जातिके चौहान क्षत्रिय थे। आप बालब्रह्मचारी थे तथा घर छोड़नेके बाद गंगाके किनारे ही आपका विचरण होता था। परन्तु आपका अधिकतर निवास अनूपशहर, एटा, अलीगढ़ आदि स्थानोंमें होता था। और कार्तिक मासको तो आप प्रतिवर्ष अनूपशहरमें ही रहकर व्यतीत करते थे, इसलिये वहाँ आपके सत्संगार्थियोंकी भीड़ लग जाती थी। श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसके आप मर्मज्ञ पण्डित तथा भक्त थे। श्रीमद्भगवद्गीताके अठारहों अध्याय आपको कण्ठस्थ थे तथा रामचरितमानसपर भी इसी प्रकार आपका अधिकार था। आप श्रीरघुनाथजीके उपासक थे तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णोंसे ही भिक्षा लेते थे। इनमें भी पात्र-अपात्रका आपको विशेष ध्यान रहता था। आप नित्य-निरन्तर भगवद्भक्तिका तो उपदेश देते ही थे, भक्तोंपर कृपा करके जब-तब तन्त्र-मन्त्र और ओषधियोंका भी प्रयोग करते थे। इस कारण जहाँ आपसे लोगोंको आध्यात्मिक लाभ पहुँचता था, वहीं कितने लोग आपके प्रयोगोंद्वारा स्वास्थ्यादिका भी अद्भुत लाभ उठाते थे। आपका जीवन बड़ा ही सात्त्विक और त्यागमय था। पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज कहा करते हैं कि 'भैया, मौजानन्दजीकी तरहका महात्मा मिलना बड़ा कठिन है।' अतः उनके सम्बन्धमें अब मेरे लिये क्या कहना बाकी रह जाता है। आजसे लगभग छः वर्ष पूर्व उनका शरीरान्त हुआ था, उस समय उनके बड़े-बड़े भक्तगण वहाँ उपस्थित थे। हम लोगोंके लिये तो अलीगढ़ जिलेके सोमना स्टेशनके पास एक शिवालयमें बनी हुई, उनकी समाधि ही अब दर्शनीय रह गयी है। वहाँपर प्रत्येक वर्ष फाल्गुन कृष्ण १४ को एक महोत्सव होता है और अनेकों भक्तगण उपस्थित होते हैं।

श्रीहीरादासजी महाराज

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

आप एक उच्च श्रेणीके महात्मा थे। आपके माता-पिता आपको बाल्यकालमें ही छोड़कर मर गये थे। इसलिये आपका पालन-पोषण एक दूसरे कुटुम्बमें हुआ था। वहाँ आपकों नित्य ऊँट चराना पड़ता था। एक बार दैवयोगसे आपके उस गाँवमें कबीरपन्थी साधुओंकी मण्डली आयी और उन्होंने आप-जैसे होनहार बालकको ऊँट चराते हुए देखकर कृपापूर्वक पूछा कि 'क्या तुम पढ़ना चाहते हो? यदि चाहते हो तो क्या हमलोगोंके साथ चल सकोगे?' आप तो ऐसी सुविधा चाहते ही थे, इसलिये आपने उन्हें स्वीकृति दे दी और चुपकेसे उन साधुओंके साथ हो लिये। साधुओंने आपको मठपर पहुँचाया और आपके पढ़नेका प्रबन्ध कर दिया। वहाँ

आपने धर्मशास्त्र और व्याकरणकी शिक्षा प्राप्त की। परन्तु जब आपकी अवस्था पचीस वर्षकी हुई तो आपका मन उस स्थानसे उचट गया और आप भागकर वृन्दावन पहुँचे। वृन्दावन पहुँचते ही आपका परिचय अच्छे-अच्छे महात्माओंसे हो गया और आपके सद्‌गुणोंके कारण थोड़े ही दिनोंमें आपकी वहाँ प्रसिद्धि हो गयी।

शरीरान्तसे कुछ समय पूर्व एक असाध्य रोगने आपके शरीरपर अपना अधिकार जमा लिया था। परन्तु अन्ततक आपकी अविचल आत्मनिष्ठापर उससे कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा था। हाँ, आपका विचरण अवश्य असम्भव हो गया था और इसलिये आप भगवानपुर (जि० बुलन्दशहर) में रहने लगे थे। कुछ दिनों बाद आपने कुटी छोड़कर गंगामें एक नावपर अपना निवासस्थान बना लिया था। कहते हैं कि एक बार आप गोवर्धन-पर्वतके समीप किसी वनमें कई दिनोंतक बिना अन्न-जलके पड़े रहे थे और भक्त-वत्सल भगवान् श्रीकृष्णने एक सुन्दर गोपबालकके रूपमें दर्शन देकर आपको खानेके लिये मिठाइयाँ दी थीं। आपके संतजीवनका महत्त्व इससे भी जाना जा सकता है कि परम पूज्य श्रीस्वामी उड़ियाबाबाजी महाराज, स्वामी श्रीशास्त्रानन्दजी महाराज, स्वामी श्रीहरिबाबाजी महाराज आदि-जैसे संत-महात्मा प्रायः आपकी सेवामें उपस्थित होकर सत्संग-लाभ किया करते थे।

आपको अपने मृत्युकालका भी पता था, इसलिये जब वह अत्यन्त सन्निकट आ गया तब आपने हरिद्वार जानेकी इच्छा प्रकट की। भक्तोंने आपको वहाँ तुरंत पहुँचा दिया था और वहाँके ब्रह्मकुण्डपर आपने अपना शरीर छोड़ा था। यह घटना आजसे बारह-चौदह वर्ष पूर्वकी है।

बाबा मेहरदासजी

(लेखक—श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव)

इनकी जन्मभूमि पंजाबके बड़े बजाना स्थानमें थी। चार महीनेकी उम्रमें ये आगमें गिर पड़े, जिससे एक हाथ जल गया। बहुत इलाज करनेपर भी जब अच्छा नहीं हुआ तब माता-पिताने इन्हें अयोध्याके एक महात्माको समर्पण कर दिया। बस, ये दो दिनमें ही अच्छे हो गये। वहीं इन्हें वैष्णवदीक्षा प्राप्त हुई। सोलह वर्षकी अवस्थातक गुरुसेवा करके ये तीर्थयात्रा करने लगे जो छप्पन वर्षकी उम्रतक चलती रही। फिर रायपुरमें बारह वर्षतक इन्होंने दूध पीकर बिताया। ये किसीसे कुछ माँगते नहीं थे। मैदानमें छत्ता गाड़कर रहते और श्रीगोपालजी एवं श्रीहनुमान्‌जीके नामोंका जप करते। अब उस स्थानपर मन्दिर बन गया है। ख्यातिके कारण इनके ठाकुरजीके दर्शन करनेके लिये विन्द्रानवागढ़के राजा दोपहरको आये थे। परन्तु उस समय इनके ठाकुरजी सो रहे थे। अतः उनके बहुत आग्रह करनेपर एवं दक्षिणाकी लालच देनेपर भी इन्होंने दर्शन कराना अस्वीकार कर दिया। ये पक्के ब्रह्मचारी थे। इनके मन्दिरमें स्त्रियोंके न जानेका बड़ा कड़ा नियम था। इनके अनेकों चमत्कार देखे गये हैं। इन्होंने अपने देहत्यागकी तिथि पहलेसे ही बता रक्खी थी। संवत् १९६५ की अगहन सुदी १० को इनका शरीरपात हुआ। कहते हैं, उस समय इनकी अवस्था १२८ वर्षकी थी। इनके कई शिष्य बड़े योग्य हो गये हैं।

सन्त सियारामजी महाराज

(लेखक—एक भक्तहृदय)

सन्त सियारामजीका जन्म चित्रकूटके बाँदा जिलामें 'साथी' गाँवमें हुआ था। वे बचपनसे ही संस्कारी जीव थे। संसारके दुःखोंको देखकर करुणार्द्र हो जाना तथा 'कैसे यह दुःखसे मुक्त हो' यह रट लगा-लगाकर रोते रहना उनके बचपनका कार्य था। एक बार किशोरावस्थामें ही वे एक साधु-महात्माके साथ घरसे भाग निकले थे और कुछ समय बाहर रहकर उन्होंने इस शर्तपर घर आना स्वीकार किया था कि या तो उन्हें उच्च विज्ञानकी शिक्षा दिलवायी जाय नहीं तो वह साधु हो जावेंगे। इस प्रकार अपनी ज्ञानपिपासाको शान्त करनेके लिये मैट्रिक पास करके वे आगराके सेण्ट जान्स कालेजमें प्रविष्ट हुए। वहाँपर अपने अध्यापकोंके प्रिय शिष्य रहकर

आपने गणित और विज्ञानमें अपनी रुचिके अनुसार पूर्ण शिक्षा प्राप्त की। एम० ए० की प्रीवियस परीक्षा पास करके फाइनल परीक्षाके प्रश्नपत्रोंकी अशुद्धियाँ निकालनेके कारण अनुत्तीर्ण कर दिये गये। उसके बाद कपूरथला-कालेजमें प्रोफेसरका कार्य करना आरम्भ किया। कुछ दिन वहाँके प्रिंसिपलके छुट्टीपर चले जानेके समय उनके स्थानापन्नके रूपमें कार्य भी किया। एक कमीशनके सदस्योंके पूछनेपर कि 'आप प्रिंसिपल बननेका यत्न क्यों नहीं करते'—यह उत्तर दिया कि 'यहाँ तो पढ़ाना ही बन्धन प्रतीत होता है और झगड़ा कौन बढ़ाये?' इन वैराग्यपूर्ण वाक्योंको सुनकर सभी लोग चकित हो गये। कपूरथलामें ही उनकी धर्मपत्नीका देहान्त हो गया। लोकमर्यादाके अनुसार जब मित्रमण्डली दुःख प्रकाशित करनेके निमित्त आयी तो उनको कह दिया—'यहाँ दुःख तो हुआ नहीं, क्यों व्यर्थ आपलोग अपना समय नष्ट करने आये हैं?' फिर कपूरथलासे काम छोड़ दिया और दो वर्षतक गुरुकुल काँगड़ीमें अध्यापनका कार्य किया। माताकी मृत्यु हो जानेपर गुरुकुलको भी यह कहकर छोड़ दिया कि 'धार्मिक संस्थाओंमें काम करनेका जो शौक था वह पूरा हो गया है।' तबसे लगभग पच्चीस वर्षोंका आपका समय परमहंसवृत्तिमें रहकर लोकोपकारमें ही बीता।

आपने अनेकों गिरे हुओंको उठाया; पतितोंका उद्धार किया; दुखियोंको शान्ति प्रदान की और अंधेरेमें भटकनेवालोंको आँख देकर उनके मार्गको निष्कण्टक बना दिया। ये जहाँ कहीं भी गये इनके पास जिज्ञासुओंका ताँता-सा बँधा रहा। जिनको इच्छा थी उनके लिये तो वे ईश्वर बन गये और जो केवल जाँच करनेके लिये ही उनके पास पहुँचे, वे निराश ही वापिस लौटे।

स्वामी श्रीसियारामजी महाराजने जिज्ञासुजनोंको समय-समयपर जो उपदेश दिये, वह सिवा उनके हृदयोंके और किसी स्थानपर लिखे नहीं गये। जो थोड़ा-बहुत साधन जिससे उनकी शिक्षाओंपर प्रकाश पड़ सकता है वह उनके पत्र ही हैं, जो संग्रह करके और तिथिक्रमसे प्रो० श्रीकृष्णकुमारजीने छापनेका अनुग्रह किया है। कुछ थोड़े-से पत्र ही उनको मिल सके हैं और पता नहीं कितने पत्र उन्होंने लिखे होंगे और कितने उपदेश मौखिक दिये होंगे जो अब अतीतके गर्भमें समा गये हैं। यदि वे सभी मिल सकते और पहले कोई उनको सुरक्षित करनेका यत्न करता तो अब कई भटकते हुए लोगोंको उनसे मार्ग मिलता। नमूनेके तौर आपके कुछ पत्रोंके अंश नीचे दिये जाते हैं।

एक पत्रमें आपने अपने किसी प्रेमीको काम-क्रोधादि वेगोंके रोकनेके उपाय इस प्रकार लिखे हैं—

'काम-क्रोधादिके वेग उदय होंगे, दब जावेंगे, फिर उदय होंगे, फिर दबेंगे। आपका काम है विचारपर खड़े रहनेका। जब मोहका हमला अधिक हो तब मनसे उसके दुःखरूपी परिणामपर खूब गौर करें। बड़े-बड़े लोग जिन्होंने संसारको तुच्छ समझा और जो उसकी तरफसे बेपरवाह हो गये हैं, उनपर दृष्टि दें। लगातार ऐसा अभ्यास जारी रखनेसे उन वेगोंका जोर अपने-आप शिथिल हो जायगा; परन्तु यह काम जल्दीका नहीं है; बड़े धैर्यका है। राजाओंको जीतना आसान है, परन्तु इन वेगोंका जीतना बहुत कठिन है। इसलिये बार-बार परमात्मासे मददके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। नित्यप्रति उनकी शरणमें जाना चाहिये, मदद अवश्य मिलेगी—Knock at the door and it shall be opened unto thee.' कैसी अद्भुत ईश्वर-परायणताका उपदेश है!

सांसारिक विषयभोगकी क्षणिकताको वह भलीभाँति अनुभव किये हुए थे, इसलिये अपने सत्संगियोंको सर्वदा इसकी ओरसे चिताया करते थे। एक पत्रमें कैसी सुन्दर चेतावनी दी है—

'इसी तरह यह भी मद्देनजर रखना चाहिये कि दुनियाके विषय-भोग कभी खतम नहीं होंगे बल्कि भोगनेसे उनकी वासना दिनोंदिन अधिक बढ़ती ही जायगी। और यदि ऐसी वासनाओंके रहते हुए शरीर छूट गया तो अगले जन्ममें यह फिर इसी तरह चक्करमें डालेंगी, और जिन संसारी दुःखोंका सामना अभी पड़ रहा है, यही फिर आयँगे और फिर नाच नचायँगे। इसलिये मुमुक्षुको चाहिये कि इनकी तरफसे एकदमसे मुँह मोड़कर मोक्ष-मार्गपर चले, नहीं तो इस Tug-of-war में जीवन नष्ट हो जायगा।'

यम-नियमके पालन करनेपर वे कितना बल देते थे यह इस पत्रसे स्पष्ट हो जायगा—'भला, आप ऐसे महान् कार्य करनेकी श्रद्धा रखते हैं जिसमें किसीको दुःख न देने, झूठा व्यवहार न करना, दूसरेका हक न लेना, ब्रह्मचर्य रखना, विषयोंसे बचना आदि बातोंपर पूरा ध्यान रखना पड़ता है। फिर इन बातोंको

तोड़नेसे आप कैसे उम्मीद कर सकते हैं कि आपको इस मार्गमें सफलता प्राप्त होगी। ईश्वरके सहारेपर तत्पर हुए लगातार पुरुषार्थमें डटे रहिये, यम-नियमके पालनमें ध्यान खूब रखना चाहिये। परमात्मा आप ही सब ठीक कर देंगे।'

एक सत्संगीको आप लिखते हैं कि—'जो आदमी भेजा उसका व्यवहार अच्छा नहीं। आगेसे ऐसे आदमियोंको मेरे पास मत भेजो। आगे जब कभी मेरे पास भेजना चाहो तो भेजनेके पेशतर यह जरूर देख लो कि उसको (१) सच्चा वैराग्य है या नहीं; (२) जिह्वाके स्वादसे चित्त हटा हुआ है या नहीं; (३) उसकी बातपर विश्वास करना चाहिये या नहीं; (४) पापसे उसको घृणा हो गयी है या नहीं; (५) अपनी सेहतको ठीक रख सकता है या नहीं, कुपथ्य करके बीमार न हो जाय; (६) तन, मन, धन वा समयको किफायतसे खर्च करनेवाला है या नहीं; (७) यदि उसने कोई व्रत लिया तो कठिनाई आ पड़नेपर उसको निभायेगा कि नहीं; (८) कोई काम दिखलावेके साथ न करे; (९) अपने जीवन तथा रहने आदिका प्रबन्ध मेरे ऊपर न डाले; और (१०) इरादेका पक्का हो।'

श्रीबाबा हजारा

(लेखक—श्रीरामनाथजी गोस्वामी)

ये एक बड़े सिद्ध संत थे। इनकी यौगिक शक्तियाँ देखकर सभी दंग रह जाते थे। इनके दोनों तरफ दायें-बाँयें दो शेर बकरी-से बने बैठे रहा करते थे। इनका हृदय दयासे पूर्ण था। ये शहरसे बाहर बहुत दूर सूरजकुण्डपर रहा करते थे इससे उनके दर्शनके लिये आने-जानेवाले भक्तोंको बड़ा कष्ट होता था। इसलिये सिफारिश करनेपर तुरन्त वहाँसे ढाई कोस इधर शहरकी तरफ आ गये। इनका यह स्थान पीरखाँकी गढ़ीके नामसे मशहूर है। जबसे ये सूरजकुण्डसे यहाँ आये तो एक ठेकेदारके बैलोंके बाड़ेमें कुँएपर आसन जमाकर बैठ गये। ये सर्दी-गर्मी हर समय दिन-रात इसी एक आसनपर बैठे रहते थे। इनके पास जो दो शेर रहते थे उनके द्वारा बाड़ेमें रहनेवाले बैलोंको जरा भी खतरा नहीं था।

एक बार अवध जिलेके नवाब शुजाउद्दौला बहादुर सूबेदार इनकी परीक्षाके लिये इनके पास आया, परन्तु इनकी दैवी शक्तिसे प्रभावित होकर वह इनका शिष्य हो गया और बाबाने उसे सदुपदेश देकर कृतार्थ किया।

बाबा हजारा बड़े अपरिग्रही एवं तपस्वी थे। इनके अमूल्य सदुपदेशोंसे हजारों भक्तोंने लाभ उठाया। वहींपर देहान्त होनेपर भक्तोंने बाबाकी समाधि बनवा दी थी जो अबतक मौजूद है और वहाँपर अब भी समय-समयपर पूजापाठ होते रहते हैं।

स्वामी श्रीश्रुतानन्दजी

(लेखक—श्रीहरिशरणजी सराफ)

आपका जन्म सहारनपुरके एक ब्राह्मणपरिवारमें हुआ था। बचपनमें ही पिताके देहान्तके कारण ये असहाय हो गये थे। परन्तु सच्चे सहायक तो भगवान् ही हैं। इन्हें बाल्यावस्थामें ही अपनी ओर खींच लिया। बारह वर्षकी अवस्थामें ही ये सालके आठ महीने ऋषीकेशमें सत्संग करते हुए बिताने लगे। भजन करनेमें इन्हें बड़ा रस आता था। संसारसे वैराग्य होनेके कारण संन्यास लेनेकी इनकी बड़ी इच्छा थी। परन्तु माताके वात्सल्यपूर्ण आग्रहके कारण उनके जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर उनकी सेवामें लगे रहे। जब उनका स्वर्गवास हो गया तब इन्होंने कुरुक्षेत्रके महात्मा श्रीमुनिजीसे, बड़ी कड़ी परीक्षा देकर, तीन वर्षकी सेवाके पश्चात् संन्यास ग्रहण किया। इनकी सेवासे वे इतने प्रसन्न थे कि और शिष्योंके रहते हुए भी अपना उत्तराधिकार, जिसमें बहुत बड़ी सम्पत्ति थी, इन्हींको दिया। परन्तु जिसे एक बार सच्चा वैराग्य हो चुका है, वह भला इन वमन की हुई सांसारिक वस्तुओंको पुनः कभी अपना सकता है? इन्होंने अपने छोटे गुरुभाईको गद्दी देकर भ्रमण प्रारम्भ किया और तबसे किसी भी स्थान, वस्तु अथवा व्यक्तिमें आसक्ति न करके बराबर विचरते रहे। सन् १९२८ ई० में जसीडीह पधारे और

वृद्धावस्थाके कारण अन्ततक यहीं हमारी मोहनकोठीको पवित्र करते रहे। पूर्व सूचनाके अनुसार आपने सन् १९३४ की पाँचवीं मईको यह भौतिक शरीर त्यागकर अपने नित्यस्वरूपमें स्थिति प्राप्त की।

परमहंस अनन्तमहाप्रभुजी महाराज

(लेखक—बाबा श्रीराघवदासजी)

श्रीसाकेतवासी योगिराज परमहंसजी महाराजने कार्तिक कृष्ण २, सं० १९७४ विक्रमीको १३९ वर्षकी आयुमें इस पांचभौतिक शरीरका त्याग किया था। वे योगाभ्यासमें पूर्ण कुशल थे। शिथिलीकरण तथा प्रणवको उन्होंने सिद्ध कर लिया था। अपने शरीरको शिथिल करनेमें उनको इतनी सफलता प्राप्त थी कि वे वर्षों निद्रा लिये बिना भी पूर्ण स्वस्थ बने रहे। मृत्युके बाद भी उनके तेजस्वी शरीरको देखकर यह कोई नहीं कह सकता था कि यह मृत शरीर है। इस शिथिलीकरणके प्राप्त करनेका कारण था उनका निरन्तर ओंकारका निदिध्यास। कोई भी क्षण ऐसा नहीं जिसमें मैंने उनको नामस्मरणसे रहित देखा हो। वे बात करते तब भी उनकी अँगुलियाँ स्मरणका काम एक विशिष्ट प्रकारसे करती रहती थीं। इस सदैव ईश्वर-चिन्तनका परिणाम उनके शरीरपर स्पष्ट दिखायी देता था।

श्रीपरमहंसजी महाराजने अपनी सारी योगशक्तियोंका उपयोग भगवदाराधनमें ही किया था। रातके समय लोगोंने उनको सदैव रोते, हँसते, भजन गाते, डमरू बजाते हुए ही देखा। वे सदा अपनी मस्तीमें रहते थे, फिर भी उन्हें समयका ध्यान सदैव रहता। उनका प्रत्येक कार्य ठीक समयपर होता था। जिस प्रकार उनका भोजन परिमित था, उसी प्रकार उनका लोगोंसे मिलना आदि भी ठीक समयपर होता था। भगवच्चिन्तनसे इनकी वृत्तियाँ बड़ी कोमल हो गयी थीं। बालकके समान उनकी आन्तरिक पवित्रता मुखमण्डलपर स्पष्ट झलकती थी। मुझे तो उनको देखकर बारंबार भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंसका स्मरण हो आया करता था। उनकी नि:स्पृहता भी पराकाष्ठाकी थी। एक बार जब वे अस्वस्थ हुए, तब उन्होंने मुझे बुलाकर कहा कि 'राघवदास! यदि श्रीबेचू साहु (उस बगीचेके मालिक, जिसमें श्रीपरमहंसजी महाराज रहा करते थे और उनके लिये इन्हीं श्रीसाहुजीकी ओरसे गुफा बनवायी गयी थी और दूधका प्रबन्ध था) मेरे बाद गुफामें भूसा भी रखना चाहे तो मना न करना। गुफा तो उनकी है। मैं तो केवल बगीचेका रखवाला हूँ।'

योगाभ्यास और विद्वत्ताके साथ भक्तिका मेल बहुत कम मिलता है, पर श्रीपरमहंसजी इसके अपवादस्वरूप थे। इनमें दोनों बातें थीं। भारतवर्षके सभी प्रान्तोंसे योगाभ्यासी उनके पास आते थे। एक बार एक तेजस्वी साठ वर्षके संन्यासी आये। कहने लगे कि 'मैंने सुना है कि आप कल्प कराते हैं, कृपाकर मुझे इसका रहस्य बतावें, मैं भी इसको करूँ।' इसपर ये मुसकराये और कहने लगे कि 'साँप भी केंचुल बदल देता है, पर इससे वह भगवान्‌का भक्त तो नहीं कहलाता। कल्पसे काम नहीं चलेगा। भगवद्भजनमें ही मन लगाना चाहिये। यही शास्त्रोंका सार है।'

श्रीपरमहंसजी महाराजका हृदय दयासे भरा था, जब कभी वे किसीको दु:खी या चिन्तित देखते थे तो उसके दु:ख दूर करनेका प्रयत्न करते थे। परन्तु मुकद्दमेमें जीत चाहनेवाले तथा पुत्रप्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले स्त्री-पुरुषोंसे वे सदैव दूर रहते थे। श्रीपरमहंसजी महाराज उच्च कोटिके योगी, विद्वान् और भगवद्भक्त थे। काशीके प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय श्रीशिवकुमारजी शास्त्री, प्रो० श्रीराममूर्ति आदि पुरुषोंने उनकी विद्वत्ता तथा शारीरिक स्वास्थ्यकी प्रशंसा की थी। अनेक संतोंने उनकी अनन्य भक्तिको देखकर अपना पूज्यभाव व्यक्त किया था।

सिद्ध ब्रह्मचारी बाबा हैड़ियाखान

(लेखक—श्रीभोलादत्तजी पाण्डे)

आपका आगमन नैपाल-राज्यसे कुमायूँ प्रदेशमें हुआ था। कई प्रमाणोंसे सिद्ध होता था कि वे डेढ़-दो सौ वर्षकी अवस्थाके हैं। कैलाश पर्वतके पास हैड़ियाखान स्थानमें उन्होंने कई अनुष्ठान किये थे और योगशक्ति

दिखायी थी। इससे उसी स्थानके नामसे आपकी प्रसिद्धि हुई। एक क्षणमें ही एक स्थानसे बहुत दूर दूसरे स्थानमें जाना एवं अदृश्य हो जाना आदि-आदि चमत्कार उनके प्रत्यक्ष थे। ये चारों ओरसे आग जलाकर एक भींगा हुआ कपड़ा ओढ़कर बीचमें बैठ जाते और निकलनेपर बालसूर्यकी भाँति प्रकाशित होकर निकलते। उस आगके पच्चीस-तीस फीटकी दूरीतक दूसरे लोग नहीं टिक सकते थे। वे जलहवन करते थे। समतल भूमिपर अग्नि प्रज्वलित करके उसमें अधिक-से-अधिक जलका हवन करते, फिर भी वह बड़े जोरसे जलती रहती। प्रयागके म्यूअर कालेजके संस्कृत प्रोफेसर महामहोपाध्याय पं० श्रीआदित्यराम भट्टाचार्य इनकी प्रशंसा सुनकर नैनीतालसे पच्चीस-तीस मील दूर इनके घोर जंगल देवगुरुमें गये थे। उनसे प्रयाग आनेका आग्रह किया और सन् १९११ में वहाँ महात्माजी पधारे, त्रिवेणीसे स्नान करके आनेपर स्वर्गीय मेजर वासु साहबके आग्रहपर इनके चित्र लिये गये जिसमें ये कंटोप आदि पहने हुए हैं। ठीक उसके दूसरे ही क्षण दूसरा चित्र उतारा गया जिसमें वस्त्र नहीं पहने हुए हैं। इन चित्रोंके विलक्षण भेदको देखकर फोटोग्राफर आश्चर्यचकित हो गया। इनकी योगशक्तिकी सभी प्रशंसा करने लगे। इनके चमत्कारोंका सम्पूर्ण वर्णन नहीं किया जा सकता। एक ही समय कई स्थानोंपर दीखते। दिनोंका मार्ग घंटोंमें तै कर लेते। ये सभीको अपने-अपने धर्ममतपर दृढ़ रहनेका उपदेश करते। आज दस-बारह वर्षसे आप अदृश्य हो गये हैं।

महात्मा श्रीसोमवारी बाबा

(लेखक—श्रीशंकरलाल शाहजी)

आपका जन्म पंजाबके किसी धनी घरानेमें हुआ था। विवाहकी चर्चा छिड़नेपर आप घरसे निकल पड़े एवं आजीवन ब्रह्मचारी रहे। एक अवधूत महात्मासे दीक्षा लेकर आपने भारतके समग्र तीर्थोंकी यात्रा की और काशीमें रहकर योगाभ्यास किया। संवत् १९५० में आपने उत्तराखण्डकी तपोभूमिमें प्रवेश किया। हिमालयके पवित्र स्थानोंके दर्शनके पश्चात् पद्मवोरी (नैनीताल)-को अपने लिये उपयुक्त पाया और वहीं बहुत समयतक रहे। हेमन्त ऋतुमें भी केवल एक कौपीन पहने हुए आप भगवान् शंकरके भजनमें तल्लीन रहा करते थे। आप रात्रिमें अपने पास किसीको नहीं रहने देते। नित्य सत्संग हुआ करता। आप सम्पूर्ण प्राणियोंपर समभाव रखते थे। इनके दर्शनमात्रसे ही लोगोंकी अभिलाषा पूर्ण हो जाती थी। आप निरन्तर भगवद्भजनमें तल्लीन रहते थे। अब बहुत दिनोंसे आप अदृश्य हो गये हैं।

स्वामी श्रीशङ्करराममकृष्णतीर्थजी

(लेखक—पं० श्रीसरयूनारायणजी शुक्ल)

आपका जन्म नारनौलके गौड़वंशमें हुआ था। इक्कीस वर्षकी अवस्थामें ही आप घरसे निकल पड़े और काशीमें आकर आपने वेद-वेदांगोंका सांगोपांग अध्ययन किया। तत्पश्चात् गोवर्धनमठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीमधुसूदनतीर्थजीसे दण्ड ग्रहण किया। ये उनके उत्तराधिकारी भी थे। उनकी आज्ञासे गंगातटपर रहकर योगसाधन करते थे और वहीं सिद्ध भी हुए। भगवन्नाममें इनकी बड़ी रुचि थी। लोगोंको नाम-संकीर्तन करनेका उपदेश करते थे। आप हिन्दीकी बड़ी सुन्दर अपने ढंगकी अनोखी कविता करते थे। अपनी योगसिद्धिके कारण त्राटकसे बड़े-बड़े रोगोंको पाँच मिनटमें अच्छा कर देते थे। इनके दर्शनोंके लिये भीड़ लगी रहती थी जिनमें यूरोपियन एवं मुसलमान भी होते थे। आप कानपुरके पास नजफगढ़में रहते थे। श्रद्धापूर्वक वहाँकी रज धारण करके कई लोग अब भी संकटोंसे छुटकारा पाते हैं।

अवधूत श्रीगुप्तानन्दजी महाराज

(लेखक—श्रीभीमराव एम० जोध)

आपके जन्म-समय, माता-पिता, ग्राम-नाम आदिका कुछ पता नहीं चलता। मध्यप्रदेशमें रहकर आपने बहुतों को कल्याण-मार्गपर अग्रसर किया है। ये बड़े भजनानन्दी थे। इनका रचा हुआ चौदहरत्नगुप्तसागर प्रकाशित हुआ है। संवत् १९७९ में मन्दसौर ग्रामके विष्णुपुरी नामक स्थानमें आप समाधिस्थ हुए।

फलाहारी श्रीगोकुलदासजी

(लेखक—महंत श्रीहरभजनदासजी)

आप संयुक्तप्रान्तके रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। पिता-माता, ग्राम-नाम आदिके सम्बन्धमें कुछ ठीक पता नहीं चलता। काठियावाड़के खाखीजालिया नामक ग्रामके महात्मा श्रीगरीबदासजीसे इन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। ये निरन्तर राम-नामका जप करते रहते थे। ये पचास वर्षतक बड़ी घोर तपस्यामें लगे रहे। बारह वर्षतक मिर्चोंका ही भोजन किया। ये राम-नामका उपदेश करते ओर उसीको सम्पूर्ण शास्त्र और साधनोंका सार बताते। इसके जपनेमें देश, जाति या समयका भेद नहीं मानते थे। पचास वर्षतक नर्मदाके किनारे व्यासक्षेत्रमें एक ही आसनपर बैठकर भजन करते रहे। संवत् १९७० कार्तिक कृष्णपक्षमें भगवन्नामका उच्चारण करते हुए आपने इस नश्वर शरीरका त्याग किया।

स्वामी श्रीदयानन्दजी

(लेखक—स्वामी श्रीविवेकानन्दजी)

श्रीस्वामीजीका नाम सनातनधर्म-जगत्में पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुका है। बंगालके हवड़ा जिलेमें कश्यपगोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मणवंशमें इनका जन्म हुआ था। बचपनमें ही माँका देहान्त हो गया। पिताने दूसरा विवाह कर लिया। बहिनने पालन-पोषण किया था। पढ़ाई शुरू होनेपर दस वर्षकी उम्रसे ही इन्हें छात्रवृत्ति मिलने लगी जो बी० ए० तक मिलती रही। उसीसे घरवालोंकी भी गुजर होती। जब लोगोंने विवाह करनेका हठ किया तब ये स्वाभाविक वैराग्यके कारण भागकर महामण्डलके अधिष्ठाताके पास चले आये और उनकी कई परीक्षाओंमें पास होकर उनकी शिष्यता ग्रहण की। ये बड़े ही सदाचारी, मधुरभाषी तथा लोकसेवा-परायण थे। ये पाश्चात्य और पौरस्त्य दर्शनशास्त्रोंके एवं वेद, इतिहास-पुराणादिके बड़े भारी विद्वान् थे। यह बात इनके बनाये हुए 'धर्मकल्पद्रुम' सरीखे अनेक महान् ग्रन्थोंसे प्रकट होती है। ये जीवनभर श्रीमहामण्डलकी सेवा करते रहे एवं सनातनधर्म कालेज (कानपुर)-की स्थापना आदि बड़े-बड़े कार्य इन्होंने किये। इनका भाषण सुनकर लोग करुणरसमें डूबने उतराने लगते थे। ये अन्तसमयमें अति असमर्थ होनेपर भी श्रीगुरुदेवके चरणोंमें आये और उन्हींके सामने परमधाम सिधारे।

बाबा श्रीहरिहरजी महाराज

बाबा श्रीहरिहरजी महाराजका जन्म कार्तिक कृष्णा १३ सं० १९२२ वि० को अलीगढ़ जिलेके अन्तर्गत अतरौली तहसीलके दितावली गाँवमें हुआ था आपके पिताका नाम अगनलाल था। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे और ज्योतिषके प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होंने इनका नाम उदयराम रक्खा। इनकी हस्तरेखाओंको देख-देखकर वे कहा करते थे कि यह बालक बड़ा भारी भगवद्भक्त और कुलको तारनेवाला होगा। जब ये छः महीनेके थे तभी इनकी माताका देहान्त हो गया और आठ वर्षकी अवस्थामें पिताका भी देहान्त हो गया। इससे इनकी शिक्षा-दीक्षा कुछ भी न हो सकी। अब ये एक प्रकारसे निराश्रय ही हो गये। केवल भगवान्का ही इन्हें सहारा था।

थोड़े दिनों बाद इन्होंने अलीगढ़में रामप्रसाद कानूनगोके यहाँ नौकरी कर ली और यहींपर आपका यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ। आपके रिश्तेदारोंने आपको विवाह करनेके लिये कई बार बाध्य किया परन्तु आप इस सांसारिक बन्धनमें पड़ना नहीं चाहते थे। आप जन्मभर ब्रह्मचारी रहे।

इसके बाद आप १९ जनवरी सन् १९०० ई० को जिला पुलिसमें भर्ती हो गये और फिर २१ अक्टूबर सन् १९०२ ई० को वहाँसे रेलवे पुलिसमें आ गये और ग्वालियर स्टेशनपर तैनात कर दिये गये। ग्वालियरमें रहकर आप साधु-संतोंकी सेवा और उनके उपदेशोंसे लाभ उठाने लगे। इन्होंने यह व्रत ले लिया था कि प्रतिदिन पहले किसी साधुको भोजन कराके फिर बादमें स्वयं भोजन ग्रहण करना। यदि किसी दिन कोई साधु न मिलता तो ये एक हँड़ियामें खिचड़ी पकाकर जंगलमें रख आते जिससे पशु-पक्षियोंकी तृप्ति हो जाय। ग्वालियरमें एक परमहंस विचरा करते थे जिन्हें ये चाचाजी कहा करते थे। इन्होंने उनसे एक दिन कहा कि 'बाबा! मुझे भी अपने-जैसा ही बना लो।' परमहंसजीने जरा मुसकरा दिया।

सन् १९०७ ई० में आपने छ: महीनेकी छुट्टी ली और पहले झाँसीमें एक नदीतटपर पन्द्रह दिनतक गायत्रीका अखण्ड जप किया। फिर आपने सोचा कि किसी तीर्थ-स्थानमें इस गायत्री-मन्त्रका जप करके इष्टदेवका साक्षात् करना चाहिये और ये काशी जा पहुँचे। वहाँ गंगाकिनारे किसी एकान्त स्थानमें एक खुदी हुई गुफामें बैठकर छ: मासतक जप करते रहे। अन्तमें इन्हें अपने इष्टदेवका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ ओर ये वहाँसे आगरा आ गये, जहाँपर इनकी तैनाती हुई थी। इस समय इनका मुखमण्डल परम तेजोमय था। ये हाथमें कमण्डलु लिये और कौपीन धारण किये हुए बड़े सुन्दर मालूम होते थे। अब ये फिर अपनी ड्यूटीपर काम करने लगे। थोड़े दिनों बाद इनकी बदली हरपालपुरको हो गयी ओर यहीं प्राय: इनका बादका सारा समय बीता।

इनके विषयमें अनेक प्रकारके चमत्कार भी सुने जाते हैं। एक दिन हरपालपुरके स्टेशनमास्टरने एक चोरको आपके सुपुर्द किया। चोरने आपसे प्रार्थना की कि 'महाराज! यदि आज्ञा हो तो मैं एक बार अपने बच्चोंको सँभाल आऊँ।' इन्होंने कहा कि यदि गाड़ी आनेतक तुम वापस लौटकर आ सको तो भले ही चले जाओ। चोरकी नीयत खराब थी, वह जंगलकी तरफ भागा। इधर यह बात स्टेशनमास्टरको मालूम हुई तो उसने इनसे कहा कि 'आपने चोरको छोड़ दिया, अब वह वापस क्यों आयेगा। उसकी जगह अब आपको जेलकी हवा खानी पड़ेगी।' इन्होंने बड़ी दृढ़तासे कहा कि गाड़ी आनेके पहले-पहले वह जरूर लौट आयेगा। आखिर हुआ भी ऐसा ही। चोर आ गया, उससे पूछनेपर मालूम हुआ कि यद्यपि उसने भागनेके लिये जंगलका रास्ता लिया था परन्तु उसे यही दिखायी दिया कि हरिहर बाबा डंडा लिये हुए मेरे पीछे ही आ रहे हैं। अब लोगोंको पूरा विश्वास हो गया कि ये पूरे सिद्ध हैं।

एक बार महोबाके सब-ओवरसीयर किसी अपराधपर छ: महीने मुअत्तल रहे। किसीने उन्हें महात्माजीसे प्रार्थना करनेकी सलाह दी। उन्होंने महाराजजीको अपना दुखड़ा गा सुनाया। महाराजजीके आशीर्वादसे एक महीने बाद ही इन्हें छ: महीनोंके वेतनसहित वह पहलेवाली नौकरी मिल गयी। उन बाबूसाहबने अपने छ: महीनोंकी नौकरी बाबाजीके चरणोंमें भेंट कर दी। बाबाजीने उन रुपयोंसे महोबा स्टेशनपर एक कुआँ खुदवा देनेकी उन्हें आज्ञा दी। उन्होंने महोबा स्टेशनपर एक कुआँ खुदवा दिया और बाबाजीने अपने हाथसे वहाँ एक वटवृक्षकी डाल काटकर लगा दी जो आज एक बड़े भारी वृक्षके रूपमें वहीं कुएँके पास स्थित है।

बाबाजी बड़े दयालु और सरल थे। ये बैठे-बैठे ही समाधिमग्न हो जाया करते थे। आप भूत, भविष्य तथा वर्तमानके ज्ञाता, परम योगी एवं तत्त्वदर्शी ज्ञानी भक्त थे। अन्तमें आप अनूपशहरमें गंगा-किनारे आश्रम बनाकर रहने लगे थे और वहींपर आपने मार्गशीर्ष कृष्ण २ बुधवार सं० १९७५ वि० में रात्रिके साढ़े आठ बजे शरीर-त्याग किया।

आपका पवित्र निवासस्थान एक मधूक वृक्षके नीचे अब भी हरपालपुर स्टेशनसे पश्चिमकी ओर एक मीलपर बना हुआ है। वहाँ उनके भक्तगण प्रतिदिन सायं-प्रात: जाकर भगवान्‌के चारु चरित्रोंकी चर्चा किया करते हैं। उसी स्थानके पास एक श्रीहनुमान्‌जीका मन्दिर, एक सरोवर और एक रमणीक उद्यान भी बनवा दिया गया है।*

---

* इनकी जीवनी तीन सज्जनोंने भेजी थी—श्रीविनायकरावजी भट्ट, श्रीमोतीलालजी ओमरे और पं० श्रीवन्दीदीनजी शर्मा। तीनोंका सारांश इस परिचयमें आ गया है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

गोविन्दाङ्घ्रौ निरतमनसः कल्यकल्याणधाम्नि संतन्वन्तः परमकरुणां निर्व्यलीकं जनेषु।
भूता येऽस्मिञ्जगति जयिनो येऽधुना वर्तमानाः सन्तः शान्ता विमलचरिताः सन्ति तेभ्यो नमोऽस्तु॥

वर्ष १२ } गोरखपुर, आश्विन १९९४, अक्टूबर १९३७ { संख्या ३ पूर्ण संख्या १३५

त्रितापहारी संत

इतने गुन जामें सो संत।
श्रीभागवत मध्य जस गावत श्रीमुख कमलाकंत॥
हरिकौ भजन साधुकी सेवा सर्व भूतपर दाया।
हिंसा, लोभ, दंभ, छल त्यागै बिषसम देखै माया॥
सहनसील, आसय उदार अति, धीरजसहित बिबेकी।
सत्य बचन सबकौं सुखदायक गहि अनन्य व्रत एकी॥
इन्द्रीजित अभिमान न जाके, करै जगतको पावन।
भगवतरसिक तासुकी संगति तीनहुँ ताप नसावन॥
(श्रीभगवतरसिकजी)

संत

(सिद्ध) पल्लव नवल पनपाते पुण्यपादपोंमें पात-सम पातक पुरातन दुराते हैं।
विश्वमें दिखाते श्याम-सुन्दर सलोनी छवि कविजन जिसका सुयश सदा गाते हैं॥
ऐसा वातावरण बनाते सुरभित यहाँ पाते जिसे सुमन-सरोज खिल जाते हैं।
लाते हैं दिगन्तमें अनन्त सुख-शान्ति सदा संत इस जगमें वसन्त बन आते हैं॥

(तपस्वी) मंजु मधुमासके विलास यहाँ भाते नहीं जाते हैं झुलस पुष्पवाण वे मदनके।
मूक बन, कोयल सुनाती नहीं कूक-राग आग लगी अंग मानों मलय-पवनके॥
मानसमें रसकी तरंगें उठती हैं नहीं तनको तपाते सदा तापसे तपनके।
सम हैं निदाघ और संत, भेद है तो यही, तापकारी यह, तापहारी वे भुवनके॥

(प्रेमी) राह देखती हैं मूक आह भर आँखें सदा अनिश बरसती करुणरस-धारा है।
प्राण-चातकोंने है लगायी रट पीकी सदा फीकी हुई जिंदगी न दीखता सहारा है॥
पुलक-कदम्ब ये कदम्बसे खिले हैं अंग सुधिमयी पावसका प्रबल पसारा है।
गाढ़ प्रेम-बाढ़में निमग्न बहा जाता मन हा! हा! कहाँ नाविक सुजान प्रानप्यारा है॥

(ज्ञानी) विगत हुई हैं तम-घनकी घटाएँ घोर शोर न सुनाता शान्त क्षितिज-किनारा है।
अन्तर-अकाश बोध-विधुका प्रकाश दिव्य आनँदसुधाकी वसुधापै बही धारा है॥
सोया-सा जगत् कहीं खोया-सा न आता याद एक अद्वितीय सत्य ज्योतिका पसारा है।
शारदीय राका और संत-दृष्टिमें है साम्य, दोनोंका स्वरूप सबको ही सदा प्यारा है॥

(योगी) ध्यान-धारणामें लगे रहते निरन्तर ये अन्तरमें काम क्रोध लोभका अभाव है।
नासिकाके अग्रभागपर ही जमी है दृष्टि सृष्टिके न अन्य विषयोंका अनुभाव है॥
देह हुआ अचल, न रंच हिलता है कभी शीत-वात-व्याधि-सा समाधिका प्रभाव है।
चित्त-वृत्तियोंका है निरोध या जडत्वभाव योग-साधनाका हिम-ऋतु-सा स्वभाव है॥

(यति) नाता नहीं नेक भी निभाता जगतीसे कभी ओले विषयोंकी हरी खेतीपै गिराता है।
देह और गेहसे भी नेह न लगाता भूल सतत ममत्वहीन भाव दिखलाता है॥
वृक्षके समान मानवोंको पत्र-पुष्पके भी त्यागका ही पाठ आठ याम सिखलाता है।
शीत है स्वभाव, पै प्रभाव देख भीत जग, संतका सुभाव ही शिशिर बन जाता है॥

(कर्मयोगी) भूख हरते हैं कर परको पियूखदान पान कर आप विष विषम परम ये।
दक्ष द्वेषियोंका पक्ष प्रबल मिटाते शीघ्र, सफल बनाते सभी धरम करम ये॥
लोकहितहेतु ही क्षमा या क्रोध होतां इन्हें, शान्ति और क्रान्तिकी भी सीमा हैं चरम ये।
संतकी अनन्त महिमाका कौन पाता अन्त माघसे भी नरम निदाघसे गरम ये॥

—रामनारायणदत्त पाण्डेय 'राम'

ब्रह्मचारी रामेश्वरदत्तजी

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीहरिदेवजी शर्मा, तर्क-वेदान्ततीर्थ, नव्यन्यायशास्त्री)

ब्रह्मचारी श्रीरामेश्वरदत्त एक पहुँचे हुए संत हो गये हैं। गंगा-यमुनाके मध्यवर्ती देशमें संवत् १९३५ में एक पवित्र ब्राह्मणकुलमें आपका जन्म हुआ। आपने काशीमें सभी शास्त्रोंका सम्यक् रीतिसे अध्ययन किया तथा वहीं स्वामी रामानन्दजीसे दीक्षा भी ली। आपके बुद्धिकौशल तथा अपूर्व तेजको देखकर भावनगरके दीवान श्रीविट्ठलराय श्रद्धा और आग्रहके साथ भावनगर ले गये। वहाँ आपके प्रवचनसे कई लोगोंको परम कल्याणका लाभ हुआ। इसी बीच आपने श्रीमधुसूदन सरस्वतीप्रणीत 'अद्वैतसिद्धि' नामक ग्रन्थकी 'सरला' नामक हिन्दीभाषामें टीका की।

संस्कृतशिक्षाके प्रचारके साथ ही आचारकी पवित्रतापर आपने विशेष ध्यान दिया। पेटलाद गाँवमें आपने एक आदर्श विद्यालयकी स्थापना की जो धार्मिक शिक्षण तथा सदाचारके लिये विशेषता रखता था। 'आत्म-निरूपण' नामक हिन्दी भाषाका ग्रन्थ आपके विमल यशको अमर बनाये रखनेके लिये पर्याप्त है।

ब्रह्मचारी रामेश्वरदत्त जगदम्बा माताके उपासक थे। आप समयाचार साधनपरम्परामें थे। आपने जगदम्बाकी उग्र उपासनामें ही अपना जीवन खपा दिया। '**देहं पातयामि वा कार्यं साधयामि वा**' की अपूर्व निष्ठाके साथ आप शक्ति-उपासनामें प्रवृत्त हुए और माताका पूर्ण अनुग्रह आपको प्राप्त हुआ। आपको माताका साक्षात्कार हुआ था। बड़ी शान्तिके साथ वे सं० १९९१ में माताकी गोदमें सदाके लिये सो गये।

संत महात्मा श्रीरामचन्द्रजी

आपका जन्म सन् १८७३ ई० में फर्रुखाबाद शहरमें कायस्थवंशोद्भव चौधरी हरबख्शसहायजीकी धर्मपत्नीके गर्भसे वसन्तपंचमीके दिन हुआ था। आपकी माताजी बड़ी भक्त वैष्णव थीं। वे प्रतिदिन श्रीरामचरित-मानसका पाठ करतीं और आप बैठकर बड़े ध्यानपूर्वक सुनते। माताके इस सत्संगसे इनके हृदयमें निहित प्रेम-बीज अंकुरित हो उठा। समयपर आपकी शिक्षा उर्दू भाषामें प्रारम्भ हुई और अंग्रेजी मिडिलतक हुई। इसके अतिरिक्त आपको हिन्दी एवं फारसीका भी अच्छा ज्ञान था।

जब ये अठारह वर्षके थे तब इन्हें एक सद्गुरुकी प्राप्ति हुई। यद्यपि वे इस स्थूल शरीरसे मुसलमान थे परन्तु वे थे पूरे सिद्ध एवं समदर्शी तत्त्वज्ञानी। रामचन्द्रजी अन्य लोगोंकी तरह उनके सत्संगमें जाया करते थे। एक दिन इन्हें ब्रह्मविद्याका अधिकारी जानकर उन महात्माने इन्हें पास बुलाया और ब्रह्मविद्याका तत्त्वोपदेश किया। साधन करते-करते तेईस वर्षकी अवस्थामें इन्होंने दीक्षा ले ली और दीक्षा लेनेके पाँच मास बाद ही इन्हें तत्त्वका साक्षात्कार हो गया। फिर गुरु-आज्ञानुसार आप साधारण जनताके उपयुक्त साधनोंका उपदेश देकर उन्हें सन्मार्गपर लाने लगे।

विद्याध्ययनके समय ही आपका विवाह कर दिया गया था। अत: परिवारकी जीविकाके लिये आपने फतेहगढ़ कलेक्टरीमें दस रुपये मासिक वेतनपर नौकरी कर ली। आपने इतने परिश्रम और सचाईसे काम किया कि आपके ऊपरके पदाधिकारी कभी अप्रसन्न नहीं हुए। अन्तमें आपने सौ रुपये मासिकसे पेंशन ली।

महात्माजीका कहना था कि मनुष्यमात्रका उद्देश्य यही होना चाहिये कि वह परमात्माको प्राप्त कर ले। आपका उपदेश था कि 'साधनचतुष्टयकी पूर्णरूपेण प्राप्ति हुए बिना साधक ज्ञानप्राप्तिका अधिकारी नहीं हो सकता।' इसके लिये प्रारम्भमें भगवन्नामजप, तत्त्वचिन्तन, गुरुसेवा और निष्कामभावसे सबकी सेवाको ही वे प्रधान साधन बतलाते थे। ये किसी भी शिष्यद्वारा अर्पित धन नहीं लेते थे। शिष्योंसे कभी किसी तरहकी सेवा भी नहीं करवाते थे। कई बार तो खुद उनके स्नान आदिके लिये जल खींचकर रख दिया करते थे। प्रेमकी तो आप साक्षात् मूर्ति ही थे। आपके दर्शनसे भी शान्तिकी प्राप्ति होती थी। जबतक भक्तलोग आपके सामने बैठे रहते उन्हें बड़े भारी सुखका अनुभव होता था। आपमें सबके प्रति दयाभाव तो कूट-कूटकर भरा था।

कहते हैं, एक बार सत्संग हो रहा था। आप समाधिस्थ थे। अकस्मात् बोल उठे 'जल लाओ, जल लाओ।' नौकर दौड़कर जल लाया। जलके रखते ही न मालूम कहाँसे एक बकरीका बच्चा आकर जल पीने लगा और पीकर चला गया। आपने कहा कि यदि इसे पाँच मिनट और जल न मिलता तो इसका प्राणान्त हो जाता।

इनके विषयमें कई चमत्कार सुने जाते हैं। परन्तु ये पूर्ण सिद्ध होते हुए भी प्राय: अपनी सिद्धियोंको प्रयोगमें बहुत कम लाते थे। इनका यह उपदेश था कि साधकके लिये चमत्कार पतनके हेतु होते हैं। इन सबसे मुख मोड़कर वैराग्यका सुखद आश्रय लेनेसे ही मनुष्य साधनकी ओर अग्रसर हो सकता है।

इस प्रकार ५९ वर्षतक इस धराधामपर लीला करके महात्माजीने १४ अगस्त सन् १९३१ को महासमाधि ली। आपने दो दिन पहले ही अपनी यात्राकी सूचना देकर शिष्योंको बुला लिया था—आपका समाधिस्थान अब भी फतेहगढ़में बना है। आपकी समाधिके दर्शनार्थ प्रतिवर्ष सैकड़ों शिष्य बाहरसे आते हैं। आपके सत्संगकी शाखाएँ कानपुर, फतेहपुर, जयपुर, शाहजहाँपुर, सिकन्दराबाद, कमालगंज, एटा, उरई, राजगढ़, चाटसू, रावटी आदि स्थानोंमें हैं। फतेहगढ़में आपके सुयोग्य पुत्र श्रीजगमोहन नारायणजी सत्संगका संचालन करते हैं।*

संत श्रीकच्चाबाबा

(लेखक—श्रीगंगाप्रसादजी गौड़ 'नाहर')

कच्चाबाबाका जन्म सरवरिया ब्राह्मणकुलमें गोरखपुर जिलेके गोलागोपालपुरके पास दीपगढ़ गाँवमें हुआ था। इनके पिता बहुत प्रसिद्ध विद्वान् थे, उनका नाम था विश्राम पण्डित। उस समय कच्चाबाबाका नाम शिवरत्न पण्डित था।

लगभग पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें कच्चाबाबाने घर-बार सब त्याग दिया और भ्रमण करते-करते काशी पहुँचे। वहाँ वरुणाके किनारे एक गुफामें रहते थे। वहीं पास ही जानकी पण्डा रहता था। वही नित्य बाबाको दो सेर आटा पहुँचा दिया करता था जिसे बाबा कच्चा ही खा जाते थे। बाबाके आशीर्वादसे उसे तीन पुत्र हुए। दो जीवित हैं।

बाबा बड़े नि:स्पृह थे, उन्होंने अपने लिये कहीं कोई आश्रम नहीं बनवाया। कहते हैं, बाबा आकाशमार्गसे दिव्य मणिजटित सिंहासनपर स्वेच्छा विचरण करते थे। मोतीहारी जिलेके एक आदमीने इसे अपनी आँखों देखा था। बाबाने बहुत मना किया कि किसीसे कहना मत। परन्तु वह बेचारा इस अद्‌भुत घटनाको पचा न सका और परिणामस्वरूप उसे बहुत कष्ट झेलने पड़े।

बाबाको जो कुछ दिया जाता—चावल, दाल, आटा—सभी कच्चे ही खा जाते थे और इसीलिये आप 'कच्चाबाबा' के नामसे प्रसिद्ध हैं। बाबाके सम्बन्धमें चमत्कार तथा प्रभावकी अनेकों घटनाएँ मिलती हैं। स्थानके संकोचसे ये सारी घटनाएँ—बहुत अधिक मनोरंजक होते हुए भी यहाँ दी नहीं जा सकतीं। सबसे अद्‌भुत तो यह बात है कि बाबाजी जब कभी, जिस स्थलपर और जिस घड़ी वर्षा होनेका आदेश करते उसी क्षण अवश्य वर्षा होती ही। यह बात तो कई बार देखी गयी।

'राम-नाम' पर आपका बड़ा विश्वास था। जो कोई आपके दर्शन करने आता उसे आप 'राम-राम' रटते रहनेका आदेश करते। रामलीलाके अवसरोंपर आप रामनगरकी रामलीला देखने जाया करते और उस समयके काशीनरेश आपसे कुछ भी स्वीकार कर लेनेका बहुत आग्रह करते थे, कई गाँव बाबाके नाम लिख देनेको कहते परन्तु बाबाको नाम-गाँवसे क्या करना था? अन्तमें काशीसे तीन कोस पूर्व जालूपुर गाँवमें बाबाकी एक कुटी बनी। आपने वहीं जाकर धूनी रमायी। कभी-कभी इधर-उधर जाते भी तो लौटकर फिर वहीं चले आते। जालूपुरमें बाबाके दर्शनार्थ जगन्नाथपुरी, रामेश्वर, काश्मीर आदि दूर-दूर देशके लोग आते थे। कहते हैं, एक समय स्वर्गीय श्रीपंचम जार्ज भी, जो राजकुमारकी हैसियतसे भारतभ्रमणको आये थे, श्रीकच्चाबाबासे मिले थे। जब वह काशी पहुँचे तो वहाँके कलेक्टरसे पूछा कि यहाँपर सबसे बड़ा महात्मा कौन है? उसने श्रीकच्चाबाबाका नाम बतलाया।

* आपकी जीवनीके सम्बन्धमें तीन लेख आये हैं—श्रीमान सिंहजी गौड़का, साहित्यालंकार पं० रामसिंहजी शर्माका और श्रीउमेशजी कलाविद्‌का। स्थानाभावसे केवल सारांशमात्र दिया गया है।

राजकुमारने बाबासे मिलनेकी इच्छा प्रकट की। बाबाने कुटियाकी विशेष सफाई करायी। थोड़ी देरमें युवराजकी सवारी फौजकी एक टुकड़ीके साथ सामने आती हुई दिखायी दी। युवराज सवारीसे उतर पड़े और सब किसीको बाहर छोड़ केवल सचिव-पुत्रके साथ बाबाके दर्शनार्थ कुटीमें प्रवेश किया। उस समय बाबा केवल एक लँगोटी बाँधे अपने आसनपर विराजमान थे। युवराज और सचिव-पुत्र दोनोंने अपने हैट उतारकर बाबाको प्रणाम किया। बाबाके आग्रह करनेपर भी वे कुर्सीपर नहीं बैठे। बाबासे युवराजने तीन बार कहा—'हम इस मुल्कके राजा हैं, आप कुछ माँगिये।' किन्तु बाबाने तीनों बार अस्वीकार करते हुए कहा—'जो मैं माँगूँगा, वह तुम दे नहीं सकते। किन्तु जो तुम मुझसे माँगोगे मैं उसे सहज ही दे सकता हूँ।' बहुत अधिक आग्रह होते देख बाबाने कहा—'अभी तुम लड़के हो। राज्य करो, मैं तुमसे क्या माँगूँ?' पीछे बाबाने आशीर्वाद दिया, 'जा, अच्छा रहेगा।'

बाबाजीको गोस्वामी तुलसीदासजीके ग्रन्थोंसे विशेष प्रेम था। रामायण, विनयपत्रिका तथा गीताके गूढ़ रहस्योंको आप सत्संगमें सुनाया करते थे। जिसे इनके शिष्य श्रीलखनजी परमहंस कण्ठस्थ करते जाते थे और कदाचित् लिखते भी जाते थे। रामायणसार सटीक, विनयपत्रिकासार सटीक, गीतासार सटीक तथा आत्मबोध नामके ग्रन्थ कच्चाबाबाके समयमें ही उनके शिष्योंने छपवाये थे।

संवत् १९७० की फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा बुधवारको प्रात:काल, काशीके निकट पिसनहरिया बाजारके पास सूरजप्रसादसिंहके गोलामें पालकीमें सिद्धासन लगाये बैठे हुए लगभग चौरासी वर्षकी अवस्थामें श्रीकच्चाबाबाजीने अपनी इहलीला समाप्त कर पूर्णब्रह्ममें अपनेको एक कर दिया।

श्रीस्वामी लखनजी परमहंस

(लेखक—श्रीगंगाप्रसादजी गौड़ 'नाहर')

आपका जन्म आरा जिलाके चिलहरी गाँवमें एक धनी क्षत्रिय-परिवारमें हुआ था। जन्मका नाम था श्रीलखननाथसिंहजी। ये बचपनसे ही बड़े विरक्त थे। जब कभी विचरते हुए श्रीकच्चाबाबाजी इनके गाँवमें आ जाते तो ये उनकी बड़ी सेवा करते, सत्संगका लाभ उठाते। एक दिन बकसरमें गंगास्नान करते समय बड़ी एकाग्रता एवं प्रेमके साथ मानसरामायणकी भरतजीकी की हुई त्रिवेणीप्रार्थना ***'अरथ न धरम न काम रुचि'*** इत्यादि करने लगे। उसी समय इन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि गंगाजी श्रीकच्चाबाबाकी शरणमें रहकर रामनाम जप करनेकी आज्ञा दे रही हैं। वे लौटकर अपने गाँवपर श्रीकच्चाबाबाजीके पास आये। आते ही कन्धेपर हाथ रखकर आँख-से-आँख मिलाकर श्रीकच्चाबाबाजीने ऐसा शक्तिपात किया कि उसी क्षण इन्हें संसारसे पूर्ण वैराग्य एवं तत्त्वबोध हो गया। उनकी आज्ञासे पाँच वर्षतक और घरपर रहे। पश्चात् बाईस वर्षकी अवस्थामें फिर श्रीकच्चा-बाबाजीके आज्ञानुसार तीर्थयात्रा करने निकल पड़े। श्रीवृन्दावनमें जप करते समय ऐसा जान पड़ा कि श्रीमहाराजजी मुझे बुला रहे हैं। वे चल पड़े। बात सच निकली। बाबा उन्हें देखना चाहते थे। ये निरन्तर राम-राम रटते रहते थे। बड़े नि:स्पृह, सदाचारप्रिय एवं दयालु थे। इनके अनेकों चमत्कार प्रसिद्ध हैं। ये रामनामका ही उपदेश करते थे। इन्होंने कई पुस्तकें भी लिखी हैं। एक बार प्रकाशित होनेपर भी अब वे अप्राप्य-सी हो रही हैं। आपने ७० वर्षकी अवस्थामें संवत् १९७७ कार्तिक बदी १३ रविवारको इहलौकिक लीला समाप्त की।

श्रीरामकुमारजी

स्वामी लखनजी परमहंसके शिष्य श्रीरामकुमारजीका जन्म आरा (शाहाबाद)-के छ: मील उत्तर फरना गाँवमें हुआ था। ये भी अपने गुरुदेवके साथ श्रीकच्चाबाबाके दर्शनोंके लिये सालमें दो बार काशी जाया करते थे। स्वामी लखनजी परमहंसने इनको यह सिखलाया था कि जब श्रीकच्चाबाबाके पास जाना तो उनकी दृष्टिकी ओर सदा ध्यान रखना।

एक बार आप कच्चाबाबाके पास बैठे थे। उनका

ध्यानकर आप बोले—

हा जगदीस देव रघुराया। केहिं अपराध बिसारेहु दाया॥
असरनसरन बिरद संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥

इस आतुर विनयसे कच्चाबाबाको इनके हृदयका पता लग गया और इन्हें भी उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टिसे देखकर कृतकृत्य कर दिया। ये अपने दादा-गुरुकी आज्ञा और इच्छासे आजीवन गृहस्थ ही रहे। आप सच्चे साधु थे।

श्रीसंतजी महाराज

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी पाण्डेय)

बिहार प्रान्तके पटना जिलेमें बिहारशरीफके चार कोस पश्चिम एकसारा ग्राम है। संवत् १८८८ की माघ शुक्ला पंचमीको श्रोत्रिय ब्राह्मणकुलमें श्रीशंकर शर्माका आविर्भाव हुआ—जो बादमें संतजी महाराज कहलाये। बचपनमें शंकर बड़े ही हृष्ट-पुष्ट तथा कुशलबुद्धिके थे। गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायणमें आपका विशेष प्रेम था। पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें आपका विवाह हुआ। आपकी धर्मपत्नी भी आपके सर्वथा अनुकूल थीं और परमार्थपथमें सदा सहायक ही रहीं। इन्हें लोग 'दैयाजी' कहते थे।

शंकरके गृहत्यागकी कथा भी बड़ी निराली है। खलिहानमें बैलोंसे दँवरी हो रही थी। अनाजकी रक्षाके लिये बैलोंके मुँह बाँध दिये थे। शंकरने मुँह खोल देनेके लिये अपने पितासे बहुत आग्रह किया परन्तु पिताजी इनके नादानीभरे बचपनपर हँसते रहे। भीतरका सोया हुआ वैराग्य जाग पड़ा और शंकर उसी दिन घर छोड़कर बाहर निकल पड़े—'**यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्**।'

दो दिनोंमें आप पैदल बुद्धगया पहुँचे। हट्टा-कट्टा, तगड़ा दमकता हुआ शरीर और इसपर भी भिक्षान्न स्वीकार करना देखकर लोग हँसे। परन्तु इन्हें चिन्ता क्या थी? '**स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे**'—जिस प्रभुने गर्भमें रक्षा की वही रक्षा करेगा। इस विश्वासके साथ ये आगे बढ़े और संकल्प कर लिया कि श्रीजगन्नाथजीके दर्शन किये बिना अन्न ग्रहण न करूँगा। बिना भोजनके लगातार कई दिन चलते रहनेके कारण आप एक दिन एक जंगलमें बेहोश होकर गिर पड़े। कुछ देर बाद एक 'अपरिचित' व्यक्ति आकर इन्हें कोई रस पिला गया। ये स्वस्थ हो गये। अठारहवें दिन श्रीजगन्नाथजी पहुँचे और तभी श्रीभगवान्का प्रसाद पाया।

श्रीजगन्नाथजीके चरणोंमें कुछ दिन निवासकर आप पुन: अपनी जन्मभूमि लौटे और गाँवके पास कुटी बनाकर साधु-जीवन व्यतीत करने लगे। केवल दुग्धाहारपर रहते थे। जाड़ेमें जलशयन और गर्मियोंमें पंचाग्निसेवनद्वारा इन्होंने अपनेको खूब तपाया। तीर्थभ्रमणका भी आपको विशेष प्रेम था। पैदल, नंगे पैर कई बार चारों धामोंके दर्शन किये। जबसे आप साधु हुए किसीको अपना चरण स्पर्श नहीं करने दिया।

आपको अनेक सिद्धियाँ प्राप्त थीं। आपने कई यज्ञ करवाये जिसमें हजारों ब्राह्मणोंको भोजन कराया तथा पुष्कल दक्षिणा दी। रुपया तो ऐसे यज्ञोंमें मानो बरसता था। कई बार अकाल और अनावृष्टिको आपने अपने योगबलसे रोक दिया। इन्हें अपनी मृत्युकी बात बहुत पहलेसे मालूम थी। एक वर्ष पहले आपने अपने शिष्योंको बतला दिया। निश्चित तिथिके दो दिन पूर्वसे बड़े जोरोंका कीर्तन होने लगा। श्रीठाकुरजीके मन्दिरके सामने आपका आसन लगा दिया गया। आपने अपने शिष्योंसे कहा—आज बड़ी खुशीका दिन है। खूब प्रेमसे भगवान्का भजन-कीर्तन करो। झाँझ-ढोलक लेकर गाँव-गाँवके लोग आने लगे और भगवान्का नाम-कीर्तन होने लगा। संवत् १९८५ के बैशाख कृष्ण अष्टमी शुक्रवारका दिन था। जब दिनमें ढाई बजनेको आया तो आपने अपना सिर उठाकर सूर्यनारायणकी ओर देखा। आपका अन्तिम सन्देशा यह था—

'संसार अनित्य है। धर्म ही नित्य है। विष्णुपद ही निर्भय है, उसीकी शरणमें जाओ। श्रीरामका प्रेम ही निर्भय पद देनेवाला है। अत: सत्य व्यवहार करो; धर्मका सदा आचरण करो। भगवान्की कथाओंमें सदा प्रेम करो। कल्याण होगा।'

इतना उपदेश देकर संत बाबा 'श्रीराम-श्रीराम' कहने लगे। अचानक आवाज हुई, ॐकार ध्वनि हुई और उसी ध्वनिके साथ मिल आपके प्राण साकेतलोकको पयान कर गये। ऐसे संत संसारमें बिरले ही होते हैं!

गोस्वामी श्रीलक्ष्मीपति परमहंस

(लेखक—श्रीरघुनन्दनप्रसादजी वर्मा)

ये भागलपुर जिलेके परसरमा नामक ग्राममें श्रीबच्चा झाजीकी धर्मपत्नीसे प्रकट हुए थे। विवाह होनेके दो ही वर्ष बाद समस्त परिवार तथा अपनी पत्नीसे अनुमति लेकर इन्होंने त्यागका मार्ग ग्रहण किया। नेपालकी तराईमें गुरु गोरखनाथके एक शिष्यका दर्शन प्राप्त करके इन्होंने उन्हींसे दीक्षा ग्रहण की। स्वयं गोरखनाथने भी इन्हें दर्शन दिया था। उनकी आज्ञानुसार ये वहाँसे मिथिलाके रहुवा गाँवमें आ गये और वहीं तीन वर्षतक एक पीपलके पेड़के नीचे घोर तपस्या की; फिर भ्रमण करते हुए लोगोंको उपदेश करने लगे। इनके बनाये हुए बहुत-से ग्रन्थ जल गये। फिर भी पाँच हजारसे कुछ कम पद्य इनके मिलते हैं। बड़े-बड़े राजा-महाराजाओंने इनकी शिष्यता स्वीकार की थी। इन्हें देखते ही सब प्रभावित हो जाते थे। एक अंग्रेजने भी इनसे दीक्षा ली थी। इनके जीवनमें बहुत-से चमत्कार हैं। एक बार कुछ मुसलमानोंने यात्राके समय इनके पूजा करनेमें विघ्न किया था। फलस्वरूप उनके घर सुअरोंसे भर गये। फिर कभी साधुओंसे छेड़खानी न करनेकी प्रतिज्ञापर उपद्रव शान्त हुआ। इन्होंने अनेकों व्यक्तियोंको पारमार्थिक लाभ पहुँचाया। शरीर छोड़नेके कुछ दिन पहले ही अपने शिष्योंको समय सूचित कर दिया था। संवत् १९३९ वि० की मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्थीको ये ब्रह्मलीन हुए। अब भी कई स्थानोंपर इनकी पादुकाएँ पूजी जाती हैं।

योगिराज श्रीरामरूपजी

(लेखक—श्रीहरिहरप्रसादजी गुप्त)

श्रीरामरूपजी अपने समयके पूर्णयोगी, गूढ़ तत्त्वज्ञ एवं सौम्य महात्मा थे। आप आरा शहरके विनटोली महल्लेमें रहते थे। जिन लोगोंको आपके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उनको आपके एक-एक शब्दका मूल्य मालूम है। आप बड़े गम्भीर मुद्रावलम्बी थे, किन्तु अपने प्यारोंको मार्मिक एवं योगसम्बन्धी व्यावहारिक उपदेशोंको हृदयंगम करानेमें जरा भी कुण्ठित नहीं होते थे। आपका कृश एवं धूलिधूसरित शरीर इस बातका प्रमाण था कि पार्थिव कलेवरकी बहुमूल्यता आत्मिक विकाससे है न कि बाह्य आडम्बरोंसे। आप किसीसे कोई भेंट या पैसा लेनेके बहुत विरुद्ध थे। इन पंक्तियोंका लेखक एक बार आराके बाबू रामविलासजीके साथ आपके दर्शनार्थ कुछ फल और मिठाइयोंके साथ पहुँचा और कुछ जलपान करनेका आग्रह किया, किन्तु बहुतोंके बहुत आग्रहपर आपने केवल एक पेड़ा उपर्युक्त बाबूसाहबके प्रेमरक्षार्थ मुँहमें डाल लिया और बचे हुएको लौटाते हुए जो भाव दर्शाया वह आजन्म भूलनेका नहीं। आप विश्वकर्मावंशज थे अत: लोहेका काम कुछ कर लेते थे और उससे जो पैसे मिलते थे उसीसे अपना निर्वाह कर लेते थे। योगके कठिन-से-कठिन विषय आपके लिये आसान थे। हठयोगकी प्राय: सभी क्रियाएँ आप करके शिष्योंको बताते थे। आपने योगदर्शनपर एक बहुमूल्य टीका लिखी है। बड़े-बड़े विद्वान् आपके सदुपदेशोंके लिये लालायित रहते थे। आपकी योगदर्शनकी टीका योग-जिज्ञासुओंके लिये बहुत ही उपादेय बतायी जाती है और वह आपके शिष्य बाबू रामप्रसादजीके पास अप्रकाशित दशामें रक्षित है। आपका शरीरत्याग १९१९ के मई मासमें पैंसठ वर्षकी उम्रमें हुआ।

बाबा रघुपतिदास

(लेखक—बाबा लक्ष्मणदासजी)

बलिया जिलेमें केवरा नामका एक गाँव है। वहाँ रामहित नामके एक कोइरी रहते थे। स्त्रीका नाम था सलहन्ती देवी। इस दम्पतीको एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम रखा गया गोपी। आगे चलकर यही बाबा रघुपतिदास कहलाये। बचपनसे ही इन्हें संसारके विषयोंसे विरक्ति थी। ये कई बार घरसे भाग-भागकर

सुदिष्टबाबाके पास दीक्षाके लिये गये परन्तु घरवालोंका आग्रह और हठ देखकर इन्हें दीक्षा मिली नहीं। अन्तमें वे मिलकीमें सुदिष्टबाबाके गुरु श्रीमहाराज बाबाकी मठियापर पहुँचे और वहीं बच्चूबाबासे दीक्षा ली।

इनका त्याग और वैराग्य उच्च कोटिका था। इनकी नम्रता और भगवत्-निष्ठा अपूर्व थी। सुदिष्टबाबा इनके गुणोंपर हृदयसे मुग्ध रहते थे। आपके छोटे भाई भरतदासको भी संसारसे वैराग्य हो गया और वे भी मिलकीमें चले आये। आगे चलकर वे भी एक बहुत बड़े महात्मा हुए। इधर बाबा रघुपतिदासजीकी अवस्था भिन्न होने लगी। कभी कहकहा मारकर हँसना, कभी विह्वल होकर रोने लगना और कभी जोर-जोरसे गाने लगना। इस तरह मस्तीका रंग उनपर चढ़ने लगा। बड़ी भव्य आपकी मूर्ति थी, उसपर प्रेमोन्माद!

एक दिन बाबा चबूतरेपर स्नान कर रहे थे। पासमें गाँवके कुछ लोग बैठे थे। अचानक बाबा उचककर दौड़े और धड़ामसे नीचे गिर पड़े। फिर नहानेके लिये बैठे परन्तु फिर आतुर होकर उसी प्रकार उठे और गिर गये। यह क्रिया कुछ देरतक जारी रही। पासके लोग तो उन्हें पागल समझकर वहीं छोड़कर भाग ही गये। इस प्रसंगपर पीछे एकान्तमें उन्होंने कहा था कि 'एक बड़ी दिव्य मनोहर मूर्ति दिखायी पड़ती थी जिसे देखकर मैं अपनेको रोक नहीं सकता था।' जब मस्तीका नशा चढ़ता था तो आप बड़े ही सुन्दर-सुन्दर पद बनाते जाते और गाते जाते थे और फिर रोते-रोते सुन-से हो जाते थे। भावावेशमें एक बार ये लगातार छः दिनतक कुटियामें बंद रहे। भक्तोंकी आर्त प्रार्थनापर जब कुटियाका द्वार खुला तो तपाये हुए सोनेकी तरह दमकता हुआ एक अपूर्व तेज धारण किये हुए इनके शरीरको देखकर लोग चकित हो गये।

तीन-चार बार यात्रा करके इन्होंने सब तीर्थोंका भ्रमण किया था। एक बार वृन्दावन गये थे। धर्मशालामें बड़ी भीड़ थी। कड़ाकेका जाड़ा पड़ रहा था। बेचैनी बढ़ रही थी। आपके पास ओढ़नेको कुछ भी नहीं था। किन्तु थोड़ी ही देरमें क्या देखते हैं कि इनके शरीरपर दो ऊनी दुशाले पड़े हैं और ये पसीनेसे भीग रहे हैं। अट्टहास करने लगे और मस्त होकर जोर-जोरसे गाने लगे। आपकी अन्तिम यात्रा चित्रकूटकी थी। वहाँ इनका मन रम गया था। किसी-किसी तरह लौटा लाये गये। लौटनेके दस-बारह दिन बाद छः अगस्त सन् १९३३ को सन्ध्या समय मिलकी स्थानपर ही आपने अपनी इहलौकिक लीला संवरण की।

आप चमत्कारोंसे बहुत भागते थे। यह विशेषता आपकी थी कि उनके पास जानेपर सबका चित्त शान्त हो जाता था और इन्द्रियोंकी चंचलता मिट जाती थी। आर्त होकर कोई आपके सामने गिड़गिड़ाता तो आप अपने गुरुदेवकी समाधि बतलाकर कहते कि उन्हींसे जो माँगना हो माँग लो। वे बराबर अपनेको 'गुरुका टहलुआ' बतलाते थे।

आवश्यकताएँ आपकी बहुत ही कम थीं। वे पानीतक अधिक खर्च नहीं करते थे। रुपया-पैसा तो अलग रहे। मठियामें कभी कोई चीज संग्रह नहीं करने देते थे। आकाशवृत्तिसे जो कुछ आ जाता था उसे तुरंत वितरण कर देते थे। उनके यहाँ जो कोई जाता बिना प्रसाद लिये लौट नहीं सकता था। पढ़े-लिखे तो कुछ भी नहीं थे किन्तु छोटी-छोटी बातोंसे ऐसा आध्यात्मिक रहस्य प्रकट करते थे कि सब लोग मुग्ध हो जाते थे। वर्णाश्रम और मर्यादापालनका आप बड़ा विचार रखते थे। प्रसिद्धिसे कोसों दूर भागते थे। ज्यों ही लोग उन्हें अधिक मानने-जानने लगे, वे इस संसारको छोड़कर चले गये!

गोस्वामी श्रीमाधवलालजी महाराज

(लेखक—पं० श्रीकेशवीदत्तजी दीक्षित आयुर्वेदाचार्य)

आपका जन्म फतेहपुर जिलाके कोड़ाजहानाबादमें गोस्वामी श्रीवासुदेवशरणजीकी ग्यारहवीं पीढ़ीमें संवत् १९२५ पौष शुक्ल ८ को हुआ था। बचपनमें ही इनके पिताका देहान्त हो गया था। इनके एक बड़े भाई भी थे। उस समय इनकी उम्र दो साल और बड़े भाईकी पाँच सालकी थी। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें इनके बड़े भाईको ग्वालियरनरेशने बड़े आग्रहसे बुलवाया। बड़ा सम्मान किया। परन्तु जाते ही उनकी मृत्यु हो गयी। मरनेके समय माता देख भी न सकीं, उन्हें इस बातका बड़ा दुःख था, अब इन्हींको हृदयसे लगाकर अपनेको

शान्त करने लगीं। इनकी शिक्षा-दीक्षाका अच्छा प्रबन्ध था। विवाह भी समयसे हो गया था। आप श्रीबिहारीजीकी सेवामें संलग्न रहते थे। जहानाबादकी स्थिति बिगड़ जाने एवं कानपुरके शिष्योंके आग्रहके कारण तथा श्रीबिहारीजीकी स्वप्नकी आज्ञाके कारण उन्हें कानपुरमें स्थापित किया गया। श्रीबिहारीजीकी इनपर बड़ी कृपा थी। समय-समयपर स्वप्नमें दर्शन देकर इन्हें पुजारीकी त्रुटि बतलाया करते थे। आपका सारा जीवन सद्गुण और सदाचारसे परिपूर्ण था। इनपर भगवान्‌की अपार कृपा थी। संवत् १९९३ आषाढ़ शुक्ला सप्तमीको इहलीला संवरण करके इन्होंने नित्यलीलामें प्रवेश किया।

बाबा माधवरामजी महाराज

(लेखक—श्रीचैतन्यबख्शजी श्रीवास्तव)

पूज्यपाद बाबा माधवरामजी महाराजकी जन्मतिथि आदिका तो पता नहीं है, पर इतना मालूम है कि पूर्वप्रान्तके निवासी किसी सारस्वत ब्राह्मणकुलमें आपका जन्म हुआ था। आपके गुरुदेवका नाम था श्री १०८ बाबा संगतबख्शजी महाराज, जो अयोध्याके पास रानौपाली नामक गाँवमें उदासीन संत-महात्माओंके भजन-विश्रामार्थ एक आश्रमकी स्थापना करके स्वयं भी वहीं निवास करते थे। अपने विशिष्ट त्याग और तितिक्षाके कारण आप गुरुदेवके बड़े कृपापात्र थे, यहाँतक कि उन्होंने अपने परलोक-वासके पूर्व आपको ही अपनी गद्दीका उत्तराधिकारी बनाया था। फिर भी गद्दीसे आपको कोई आसक्ति नहीं थी और आप गुरुमन्त्र लेनेके बाद बराबर तीर्थाटन ही किया करते थे। सन् १८२९ में गुरुदेवने देह त्याग कर दिया। इसके बाद आप आश्रममें आ गये। फिर तो आपके ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदिका ऐसा प्रभाव पड़ा कि थोड़े ही समयमें सर्वत्र आपका यशगान होने लगा और आश्रमकी अवस्था पहलेसे भी अधिक उन्नत हो गयी। गुरुदेवने आश्रमके पास एक कच्चा गुरुसागर बनवाया था, उसको आपने फिरसे पक्का बनवाकर उसमें सभी तीर्थोंका जल छोड़वा दिया और इतना बृहद् भण्डारा किया कि उसमें सभी सम्प्रदायके हजारों साधु-संत सम्मिलित हुए थे। हजारों गृहस्थ अथवा साधु-संत आपके शिष्य बन गये और पारमार्थिक लाभ उठाने लगे। आप अपनी योगशक्तिके बलपर कभी-कभी अदृश्य हो जाया करते थे तथा उन्हींको दर्शन देते थे जिनकी आँखें दिव्य बन गयी रहती थीं। और भी आपने अनेकों चमत्कार दिखलाये थे, जिनका उल्लेख यहाँ स्थानाभावके कारण नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह कि आप एक जीवन्मुक्त महात्मा थे। असंख्य विपथगामी मनुष्य आपके उपदेशोंसे सत्पथपर चले थे। लगभग १०३ वर्षकी अवस्थामें, २० अगस्त सन् १८८७ ई० तदनुसार सं० १९४४ भाद्रपद अमावस्याको जब आप समाधिस्थ हुए थे, समाधिस्थ होनेके पूर्व ही आपने बतला दिया था कि 'आज मैं समाधिस्थ होऊँगा, तुम लोग मेरी कुटीका दरवाजा बंद कर दो।' सो ऐसा ही हुआ, जब दरवाजा खोला गया तो देखा गया कि आपका निष्प्राण शरीर पद्मासनमें स्थित है, हाथमें सुमिरनी लटक रही है तथा मस्तक दो-तीन जगहोंमें फटा हुआ है। परन्तु उसी समय कुछ अधिकारी शिष्योंने क्षणभरके लिये साक्षात् यह भी देखा कि आप गुरुसागरमें स्नान कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त उसी निधनकालमें आपके स्नान करने और पानी पीनेका कुँआ इस प्रकार उबाल खाया कि घंटोंतक उसका पानी बाहर बहता रहा! इन चमत्कारोंको देखकर सब लोग चकित हो गये। ऐसे सिद्ध संतोंकी लीलाओंका रहस्य भला हम लोग कैसे जान सकते हैं।

गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी

गोस्वामी श्रीश्रीविट्ठलनाथजी महाराजका आविर्भाव संवत् १५७२ की पौष कृष्णा नवमीको हुआ था। यज्ञोपवीत हो जानेपर काशीमें श्रीमधुसूदन सरस्वतीसे विधिवत् शास्त्राध्ययन किया और कुछ समय अनन्तर श्रीरुक्मिणीबाईसे आपका पाणिग्रहण हुआ। सतरह वर्षकी अवस्थामें आपको पितृवियोग सहना पड़ा। अब आप अडेलमें आकर रहने लगे। वहाँ रहकर अणुभाष्यके अन्तिम डेढ़ अध्यायपर भाष्य लिखकर उसे पूरा किया।

आपके लिखे अड़तालीस ग्रन्थ हैं और इनके अतिरिक्त श्रीमद्भागवतके श्लोक तथा श्रीसुबोधिनीपर अनेक प्रकीर्ण लेख हैं। यशोदाजीकी गोदमें खेलते हुए श्रीबालकृष्णको आप परम तत्त्व मानते थे। अकबरकी ओरसे आपको बहुत मान मिला हुआ था। भारतके प्राय: सभी प्रमुख स्थानोंमें आपने भ्रमण किया तथा लोगोंको श्रीकृष्णलीलामृतका पान कराया। संवत् १६४२ माघ बदी सप्तमीको आप सदाके लिये श्रीकृष्ण-लीलामें सम्मिलित होनेके हेतु श्रीगिरिराजकी कन्दरामें प्रवेश कर गये।

भारतमार्तण्ड पं० श्रीगट्टूलालजी

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दनारायणजी शर्मा बी० ए०)

संत सदासे भगवान्‌के अनन्य भक्त ही हुआ करते हैं। जो परमात्मासे प्रेम करते हैं, भगवद्भक्तोंसे मित्रता रखते हैं, अज्ञानियोंपर दया दर्शाते हैं, द्वेष करनेवालोंका भी हित-साधन करते हैं, वे ही संतोंकी शुभ उपाधिसे भूषित होनेके योग्य होते हैं। जो हरिभगवान्‌के स्मरण, चिन्तन, आराधना, उपासना, सेवा, पूजा आदि शुभ कार्योंमें निरन्तर दत्तचित्त रहकर उत्तम आदर्श उपस्थित करते हैं, वे ही संत कहलाने योग्य होते हैं। जो प्रतिक्षण पापोंके हरनेवाले हरिभगवान्‌का पवित्र नाम मुखसे रटते हुए सांसारिक व्यवहारमें प्रवृत्त रहते हैं, अर्थात् 'मुखमें राम, हाथमें काम' की उक्तिको चरितार्थ करते हैं, वे ही संत कहानेके योग्य होते हैं। ऐसे संतों (भगवद्भक्तों) में और भगवान्‌में थोड़ा-सा ही भेद होता है।

इस कोटिके अनेक संत-महात्मा भक्त हो चुके हैं, जिनमें गणना करने योग्य भारतमार्तण्ड पण्डित गट्टूलालजी भी एक हुए हैं। आप पंचनदी उपनामक वेल्लनाटीय शाखाके तैलंग भट्ट ब्राह्मण थे। आपके पिता पण्डित घनश्यामजी नाथद्वारासे बम्बई आ गये थे, उनका विवाह जूनांगढ़के गोस्वामी मदनलालजी महाराजकी पुत्री 'लाडू बेटीजी' से हुआ था, जिनकी पवित्र कुक्षिसे विक्रम संवत् १९०२ में पण्डित गोवर्धनलालजी उपनाम गट्टूलालजीका जन्म हुआ। आपके माता-पिता प्रेमवश आपको 'गट्टू-गट्टू' नामसे पुकारते थे जिससे आपका यह नाम पड़ गया और इसी नामसे आप प्रसिद्ध हुए।

पाँचवें वर्षमें ही आपका उपनयन-संस्कार कराकर आपके पिताने विद्यारम्भ करा दिया था। सातवें वर्ष आपको शीतलाका प्रचंड प्रकोप हुआ जिससे आपके दोनों नेत्रोंकी ज्योति जाती रही। भगवान् एक वस्तुकी न्यूनता दूसरी वस्तुकी अधिकतासे पूर्ण कर देता है। इस सिद्धान्तके अनुसार आपकी बहिर्ज्योतिका लोप होनेसे अन्तर्ज्योति जाग उठी और आपकी बुद्धि (धारणाशक्ति) अत्यन्त प्रखर हो गयी। एक बारके श्रवणमात्रसे अनेक श्लोक कण्ठस्थ हो जाते। आपने पुन: अपने पिताके पास पढ़ना प्रारम्भ किया और थोड़े ही समयमें आप प्रकाण्ड विद्वान् हो गये और अनेक अद्भुत चमत्कार दिखाने लगे जिनमें 'शतावधान' प्रसिद्ध है।

वेदान्तविषयका परिपक्व परिज्ञान होनेके कारण आपकी अल्प आयुमें ही 'वेदान्तभट्टाचार्य' की अनुपम पदवीसे आपको सम्मान प्रदान किया गया। भारतधर्म-महामण्डलके देहलीमें होनेवाले प्रथम अधिवेशनमें आपको 'भारतमार्तण्ड' की अनन्य उपाधिसे भूषित किया गया।

आप जन्मसिद्ध कवि थे। अपने बालकपनमें ही घरमें यत्र-तत्र बिखरी हुई वस्तुएँ देखनेसे आपके मुखसे अनायास कविता स्फुरित होती थी।

आप संस्कृत, गुजराती और व्रजभाषामें कविता किया करते थे। जिनमें भी संस्कृतमें आपका घटिकाशत (एक घड़ीमें नवीन सौ श्लोक बनाना) अत्यद्भुत और चमत्कारी कार्य था। इसीसे आपको 'आशुकवीश्वर' की उपाधि मिली।

आप श्रीवल्लभाचार्यजीकी सम्प्रदायमें प्रचलित पुष्टिमार्गीय उपासनापद्धतिके अनुयायी थे। इससे आपका समय सेवा-पूजामें ही अधिक जाता था। उत्सवोंके दिनोंमें विशेष समय लगता था। आप भगवान्‌के अनन्य भक्त थे जिससे आपको जीवन-सिद्धि प्राप्त हो गयी थी। इसके अनेक उदाहरणोंमेंसे केवल दोका नीचे उल्लेख किया जाता है—

१-एक समय आप जूनागढ़ गये थे। पीछे ठाकुरजीकी सेवाका काम मुखियाजीको सौंपा गया था। इसी अवसरमें कोई उत्सव आया जिस दिन ठाकुरजीको एक विशेष आभूषण मोतियोंकी कण्ठी पधराया जाता है। मुखियाजी उस दिन वह कण्ठी पधराना भूल गये जिसका अनुभव आपको जूनागढ़में बैठे-बैठे ही

हो गया। जब आप जूनागढ़से वापस बम्बई आये तो आपने मुखियाजीको उपालम्भ दिया कि 'अमुक उत्सवके दिन अमुक कण्ठी ठाकुरजीको क्यों नहीं पधरायी?' तो मुखियाजीने अपनी भूल स्वीकार कर क्षमा माँगी।

२-एक समय आप मथुरामें विराज रहे थे। वहाँ एक वृद्ध और एक वृद्धाने आकर बड़े करुणभावसे प्रार्थना की कि 'महाराज! हमारे एक ही पुत्र है और वह बी० ए० पास है, किन्तु वह कहीं चला गया जिसको आज सत्ताईस दिन हो गये, कुछ पता नहीं है, सो कृपाकर बतलावें।' इसपर आपको दया आ गयी और कहा कि—'वह विलायत जानेवाला था, किन्तु वह वापस लौट गया है, परसों तुम्हारे घर आ जायगा, धैर्य रखो।' अन्तमें ऐसा ही हुआ। ऐसी ही और भी बहुत-सी घटनाएँ हैं।

आपका जीवन बड़ा ही धर्मपूर्ण और प्रभुसेवा-परायण रहा। आपने जीवनमें अनेकों शुभ कार्य किये और संस्कृतमें वेदान्त-चिन्तामणि, सत्-सिद्धान्तमार्तण्ड, मारुतशक्ति आदि कई ग्रन्थ लिखे।

विक्रम सं० १९५४ में बावन वर्षकी अवस्थामें आपका गोलोकवास हुआ!

भक्तशिरोमणि कवि श्रीदयारामभाई

(लेखक—जोशी श्रीजीवनलाल छगनलालजी)

प्रसिद्ध भक्तरत्न गुजरातके महाकवि श्रीदयाराम-भाईका जन्म संवत् १८३३ के भाद्रपद शुक्ला १२ (वामनद्वादशी) को डभोईमें हुआ था। उनके पिताका नाम प्रभुराम भट्ट और माताका नाम महालक्ष्मी अथवा राजकौर था। माता-पिताके गोलोकवासी हो जानेके कारण दयारामभाई ननिहालमें रहते थे।

दयारामभाईके भावुक हृदयको जागृत करनेवाले भगवद्भक्त श्रीइच्छाराम भट्ट थे। भट्टजीके समागमसे दयारामभाईका आभ्यन्तरिक जीवन आश्चर्यजनक रीतिसे पलट गया। भट्टजीका उपदेश प्राप्तकर दयारामभाईने अपना जीवन श्रीकृष्णके गुणगानमें ही लगा दिया और गोस्वामी श्रीवल्लभलालजी महाराजसे दीक्षा ग्रहण की। विवाहके लिये कहनेपर इन्होंने बिलकुल इनकार कर दिया और कहा कि 'मेरा विवाह तो श्रीकृष्णचन्द्रके साथ हो चुका अब मुझे किसी और विवाहकी आवश्यकता नहीं है।'

एक वर्यो गोपीजनवल्लभ नहिं स्वामी बीजो।
नहिं स्वामी बीजो रे मारे नहिं स्वामी बीजो॥

रसीले दयारामभाई युगलसरकारके दर्शनार्थ वृन्दावन पहुँचे। तीन दिन अनशन करके रहे। चौथे दिन श्रीजीसहित भगवान् श्रीकृष्णने दर्शन देकर कृतार्थ किया और अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति दी। अपने इन अद्भुत अनुभवोंका वर्णन दयारामभाईने 'अद्भुतमञ्जरी' नामक ग्रन्थमें किया है। इस मञ्जरीमें भगवान्‌की विविध लीलाओंके दर्शन होते हैं जिनके पढ़ते-पढ़ते हृदय द्रवित हो जाता है।

दयारामभाईने ग्यारह भाषाओंमें साहित्यिक रचना की परन्तु उनकी समस्त रचनाएँ राधेश्यामके गुणानुवादसे ही भरी हैं।

दयारामभाईकी गरबियोंने गुजरातके घर-घरमें अपना स्थान कर रखा है। जहाँतक गुजरात और गुजराती भाषा तथा गुजराती साहित्यमें गरबी साहित्यको स्थान रहेगा वहाँतक दयारामभाईका नाम अमर रहेगा।

संवत् १९०९ माघ बदी ५ के दिन इस रसिक भक्तशिरोमणिने डभोईमें ही नश्वर शरीरको छोड़कर गोलोकके लिये प्रयाण किया। भगवत्प्राप्तिके समय इनके शिष्यगण इनकी आज्ञानुसार—

मारा अंत समे अलबेला मुजने मूकशो मा।
दरशन दो नी रे दासने मारा गुणनिधि गिरधरलाल॥

—आदि प्रेमभरे पद गा रहे थे!

श्रीमद् स्वामी अनन्ताचार्यजी महाराज

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

जगद्गुरु श्रीमद् अनन्ताचार्यजी स्वामी महाराजका वैकुण्ठवास अभी कुछ ही दिन हुए छपरामें हुआ था। उस समय आपकी अवस्था ६३ वर्षकी थी। आपके देहावसानसे श्रीवैष्णवसमाजमें जो स्थान रिक्त हुआ,

उसकी पूर्ति होना बहुत ही कठिन है। आपका जीवन बड़ा ही आदर्श था।

आपका जन्म सं० १९३० की फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी शनिवारको मद्रास प्रान्तान्तर्गत तिरुपति नामक स्थानमें अपने नानाके यहाँ हुआ था। आपके पूर्वज जिनके कारण आपको 'प्रतिवादिभयंकर' की उपाधि मिली, भगवान् श्रीरामानुजाचार्यके सुपुत्रकी दसवीं पीढ़ीमें थे। शिष्य-परम्पराके हिसाबसे तो आठवीं पीढ़ीमें ही आपका आविर्भाव हुआ था। अतः मूल पुरुषद्वारा स्थापित किये हुए जो ७४ पीठ हैं उनमेंसे आप ३६ पीठोंके अधीश्वर थे। जब आपकी अवस्था पाँच वर्षकी हुई थी तभी आप पाठशालामें प्रविष्ट करा दिये गये थे और आठ वर्षकी अवस्थामें आपका यज्ञोपवीत-संस्कार सम्पन्न हुआ था। यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेके बाद आपने वेदाध्ययन शुरू किया और आप ग्यारह वर्षकी अवस्थातक शठकोप पाठशालामें पढ़ते रहे। तत्पश्चात् उभयवर्धिनी पाठशालामें आपका प्रवेश हुआ। सतरह वर्षकी अवस्थासे लेकर इक्कीस वर्षकी अवस्थातक आपने अपने मामा श्रीरंगाचार्यजीके यहाँ दर्शन, वेदान्त, व्याकरण आदि शास्त्रोंकी पढ़ाई की तथा और भी अनेक भाषाओंका ज्ञान प्राप्त किया। तदनन्तर प्रतिपादनविषयक योग्यता बढ़ानेके लिये आपने गीर्वाणविद्योल्लासिनी नामक सभाकी स्थापना की। वैष्णव-सम्मेलनकी स्थापना भी आपके ही कर-कमलोंद्वारा हुई थी।

आपने सम्पूर्ण भारतमें भ्रमण करके सैकड़ों देव-मन्दिरों और रामानुजकूटोंका निर्माण कराया था। रोल (मारवाड़) के दिव्य देश और बम्बईकी फानुसवाड़ीके श्रीवेंकटेश-मन्दिरके लिये तो आपको अत्यधिक त्याग और कष्ट उठाना पड़ा था। इन दोनों मन्दिरोंमें क्रमशः आपको तीन लाख और आठ लाखकी सम्पत्ति संग्रह करके लगानी पड़ी थी। भीलोंकी अशिक्षा देखकर आपका दयार्द्र हृदय द्रवित हो गया था और आपने उनके प्रान्तोंमें अनेक विद्यालय तथा छात्रावास बनवाये थे। धर्मप्रचारमें भी आपने खूब भाग लिया था। सनातनधर्मसभा और वर्णाश्रमस्वराज्य-संघके कई महाधिवेशनोंमें आप सम्मिलित हुए थे। आपका प्रकाण्ड पाण्डित्य देखकर कलकत्तेके विद्वानोंने आपको 'वेदान्तवारिनिधि' की उपाधि दी थी। उसी प्रकार विद्या-प्रचारके क्षेत्रमें भी आपके द्वारा काफी काम हुआ था। सन् १९१८ में आपने 'सुदर्शनयन्त्रालय' की नींव दी थी, जिसके द्वारा संस्कृत भाषाके अनेकानेक सुन्दर ग्रन्थोंका प्रकाशन हुआ है। संस्कृत भाषाकी कई पत्र-पत्रिकाएँ भी आपके तत्त्वावधानमें निकली थीं। तात्पर्य यह कि आपने लोकहितके लिये विभिन्न क्षेत्रोंमें सफलतापूर्वक कार्य किया था और आप एक प्रचुर साधनसम्पन्न मठाधीश थे, परन्तु फिर भी आपमें अहंभाव प्रायः नहीं था और न जीवनमें कभी संग्रहकी ओर ही आपका ध्यान गया था। बल्कि आपने जो कुछ किया अथवा आपमें जितनी भी शक्तियाँ थीं, वे कीर्ति और यशकी प्राप्तिके लिये नहीं, वरं भगवत्सेवाके लिये थीं। वैयक्तिक जीवन तो आपका इतना अल्प व्ययवाला और सीधा-सादा था कि आपका दर्शन करते ही प्राचीन कालके ऋषि-मुनियोंका स्मरण हो आता था और हृदयमें सात्त्विकता आ जाती थी। जरा भी नहीं मालूम होता था कि आप इतने बड़े गद्दीधर हैं। आप सबसे दिल खोलकर मिलते थे। अन्तिम समयमें आपके उपदेशोंका, जिनको सुननेके लिये सर्वत्रकी जनता समुत्सुक रहा करती थी, एकमात्र विषय भगवच्छरणा-गति रह गया था। संकीर्तन और भगवन्नाम-जपके माहात्म्यपर भी आप खूब बोलते थे। इन सब विषयोंपर भाषण देते समय आपमें जो तन्मयता आ जाती थी, उसे देखते ही बनता था। आज आपके अभावका अनुभव कौन नहीं करता?

स्वामी श्रीलक्ष्मणाचार्यजी

(लेखक—ठाकुर श्रीप्रतापसिंहजी सिसौदिया)

चित्रकूटके पास तरौंहा गाँवमें संवत् १९३४ की वसंतपंचमीके दिन स्वामीजीका जन्म हुआ। आपके पिता शिवसहाय शास्त्री हिन्दी तथा संस्कृतके बड़े अच्छे कवि थे, इससे पैतृक सम्पत्तिके रूपमें आपकी भी कवितामें अच्छी गति थी। एक किसी ज्योतिषीने स्वामीजीको बतलाया कि उन्नीस वर्षकी अवस्थामें तुम्हारी मृत्युका योग है, इसलिये तुम संसारके सारे सम्बन्धोंको छोड़कर भगवान्‌का भजन करो। इस

कथनका आपपर बड़ा प्रभाव पड़ा और पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें ही आप घर-द्वार छोड़कर चुपचाप निकल पड़े। आपने श्रीस्वामी रघुनाथाचार्यजीसे दीक्षा ग्रहण की और ज्योतिषीकी सभी बातें सुनायीं। इसपर महात्माजीने हँसकर कहा कि यह भय हृदयसे सदाके लिये निकाल दो और नारायणपरायण होकर भगवान्‌का भजन करो और भारतवर्षके सभी तीर्थोंमें भ्रमण कर आओ।

आपके रचे कई ग्रन्थ बहुत ही ललित हैं। आप बड़े ही मिलनसार, मितभाषी और सादी रहन-सहनके महात्मा थे। आपका पहला नाम वेणीप्रसाद था। फिर लक्ष्मणदास और अन्तमें लक्ष्मणाचार्य हुआ। संवत् १९९० के आषाढ़में आपको परमपदकी प्राप्ति हुई।

स्वामी श्रीमथुरादासजी महाराज

(लेखक—श्रीरामगोपालदासजी वैष्णव)

आपका जन्म इटावा जिलेके पुरैला नामक ग्राममें एक कान्यकुब्ज ब्राह्मणवंशमें हुआ था। आप बाल्यावस्थासे ही भगवद्‌भक्तिपरायण थे। पिता-माताने विवाह करके इन्हें गृहबन्धनमें बाँधना चाहा पर उसकी बात सुनते ही इनके अत्यन्त दुःखी हो जानेके कारण वे रुक गये और इन्हें घरका मालिक बना दिया। परन्तु भगवान् जिसे अपनाना चाहते हैं उसे कोई रोक नहीं सकता। ये भगवत्प्रेमवश एक दिन घरसे निकल पड़े और श्रीअवधमें जाकर बड़ी छावनीके तत्कालीन स्वामी श्रीईश्वरदासजीके शिष्य हो गये। वहीं भगवत्-कैंकर्यपरायण होकर महात्माओंका सत्संग करते हुए हरिरसपान करने लगे। गरीब, वृद्ध और बीमारोंके साथ आपका बड़ा प्रेम था। इनकी सेवासे प्रसन्न होकर एक वृद्ध महात्माने आशीर्वाद दिया था कि तुम्हें भगवान् रामके दर्शन होंगे। इनके प्रेमोन्माद एवं एकान्तप्रियताको देखकर श्रीगुरुजीने इन्हें मणिपर्वतपर रख दिया। थोड़े दिनोंके बाद तो गुरु-आज्ञासे वहाँका सारा भार आपको ही उठाना पड़ा। ये आने-जानेवालोंको अहिंसा, ब्रह्मचर्य, यम, नियम, अभिमानत्याग एवं भगवद्‌भजनका उपदेश करते थे। इनके जीवनके दो व्रत थे। एक तो नित्य सरयूस्नान, दूसरा सब महात्माओंकी चरण-धूलि सिरपर लगाना। इन दोनोंका आजीवन पालन हुआ। बहुतोंके आग्रह करनेपर भी आप अयोध्यासे बाहर कभी नहीं गये। ये प्रायः अकेलेमें मीठी-मीठी बातें किया करते थे। जब एक दिन मैंने उनसे पूछा कि आप 'एकान्तमें किससे बात करते हैं?' तब उनका शरीर पुलकित हो गया, आँखोंसे आँसू गिरने लगे! उन्होंने इशारा किया 'देखो इन्हीं, श्यामसुन्दरसे!' मेरा शरीर काँप उठा। बिजलीकी-सी चमकसे मेरी आँखें चौंधिया गयीं। इसके बाद कुछ बोलनेका साहस नहीं हुआ। इनका जीवन दुःखी और विद्यार्थियोंकी सहायतामें व्यतीत हुआ। अन्तमें पूर्व सूचनाके अनुसार दुर्भाग्यवश मेरी अनुपस्थितिमें सन् १९३६ बैशाखकी जानकी-नवमीको दस बजेके लगभग महात्माओंकी रामनामकी तुमुल ध्वनिके बीच आपने भगवान्‌की नित्यलीलामें प्रवेश किया।

स्वामी श्रीबदरीप्रपन्नजी त्रिदण्डी

(लेखक—साहित्यरत्न पं० श्रीशिवरत्न शुक्लजी 'सिरस')

रायबरेली जिलेमें बछरावाँके निकट बनाव ग्राममें पं० श्यामलाल पाण्डेयके यहाँ संवत् १९१७ भाद्रपद कृष्णा पंचमीको इनका जन्म हुआ था। इनके पिता बड़े ही विद्वान् एवं सदाचारी थे। उन्हींसे इन्होंने शास्त्रोंका विशेष अध्ययन किया था। तदनन्तर वैराग्य होनेपर बारह वर्ष स्वामी मगनानन्दजीके पास रहकर वेदान्तका खूब अध्ययन किया। इन्हें साम्प्रदायिक मत-मतान्तरोंका बड़ा सुन्दर बोध था। एक बार मैंने इनसे कुछ दार्शनिक प्रश्न किये थे, जिनका इन्होंने बड़ा विद्वत्तापूर्ण उत्तर दिया था। ये कहा करते थे कि 'एकमात्र भगवद्‌भक्ति ही भवसागरसे पार जानेका सरल उपाय है। अतः भगवान्‌की ही शरण ग्रहण करनी चाहिये।' सं० १९९१ अधिक बैशाख मासकी चतुर्दशीको ये अपना पाञ्चभौतिक शरीर त्यागकर भगवान्‌के परमधाममें चले गये।

श्रीसिद्धारूढ स्वामी

(लेखक—ह० भ० प० श्रीलक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर)

श्रीसिद्धारूढ स्वामीका पहला नाम सिद्धाप्पा था। निजामराज्यके विद्रीकोट नामक गाँवमें संवत् १८९३ में चैत्र शुक्ल नवमीको किसी श्रीमान् कुलमें इनका जन्म हुआ। इनके घर नित्य श्रीमद्भागवत और वेदान्तके प्रवचन हुआ करते थे। इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी और बचपनसे ही वैराग्यके लक्षण इनमें दृष्टिगोचर होते थे। ये प्रवचन सुनते थे और फिर एकान्तमें जा बैठते थे, अन्य बालकोंकी तरह खेल-कूदमें इनका मन नहीं लगता था। भोजनके समय इन्हें ढूँढ़कर लाना पड़ता था। इस प्रकार चौदह वर्ष ये अपने घर माता-पिताके पास रहे। फिर एक दिन घरसे जो निकले सो फिर कभी घर लौटे ही नहीं। एक लँगोटी ही पहने, कंधेपर एक चीथड़ा डाले, अगृही होकर जंगलोंमें विचरने लगे। भूख लगनेपर किसी गाँवमें चले जाते और करतल भिक्षा पा लेते थे। रातको किसी मन्दिर या मसजिदमें या वृक्षके नीचे पड़े रहते। इस तरह विचरते हुए औंदिया नागनाथ पहुँचे। वहाँ इन्हें एक सिद्ध पुरुषका सत्संगलाभ हुआ, जिससे ये कृतार्थ हुए। एक तो तप्त भूमि, दूसरे उसमें बीज भी बोया हुआ था ही, अमृतोदकका सिंचन होते ही अंकुर निकल आये। यहाँसे फिर सिद्धाप्पा लौटे और घूमते-घामते बीजापुर पहुँचे। यहाँ भी उनकी चर्या जडान्धबधिरवत् ही रही। दिनमें करतलभिक्षा करते, रातको किलेके श्रीनृसिंहदेवालयमें जाकर सो रहते। एक दिन रातके समय ये अपने शयनके स्थानको जा रहे थे। रास्तेमें किसी साहुकारकी बारात जा रही थी। बारातका एक मजूर अपना बोझ नीचे रखकर निकल भागा था। लोगोंने वह बोझ उठानेके लिये बेगारमें इन्हें पकड़ा। इन्होंने बोझ उठा लिया, बारातको ठिकाने पहुँचा दिया और बोझा उतारकर चल दिये। साहुकार उन्हें कुछ मजूरी या इनाम दिया चाहते थे, पर इनका पता नहीं चला।

इस चर्याके साथ कुछ वर्ष बीजापुरमें रहकर पीछे ये गोकर्ण पहुँचे। रास्तेमें दो-दो दिन बिना कुछ खाये रह जाते, चाहे धूप हो या ठंड कहीं भी पड़े रहते, कभी-कभी केवल दूध ही पी लेते और कभी केवल जलसे ही निर्वाह करते। कभी किसीसे अधिक बोलते नहीं थे। सदा स्वरूपानन्दमें निमग्न रहते और जो कुछ दृष्टिके सामने आता उसे देखते, कुछ भी खाकर पेटकी ज्वालाको शान्त करते, जो फटा-पुराना कपड़ा मिल जाता उसीसे बदनको ढक लेते। गोकर्णमें कुछ दुष्टोंने इनके सर्वांगमें अमंगल पदार्थका लेप करके इन्हें गधेपर बैठाकर इनका जुलूस निकाला। पर इन्होंने चूँ नहीं की, न इन लोगोंकी इच्छाके विरुद्ध कोई जरा-सी भी हरकत ही की। इस सहिष्णुताकी बलिहारी है!

गोकर्णसे ये घूमते-घामते हुबली आये। हुबलीकी पुरानी बस्तीसे डेढ़ मीलपर आमकी एक बगिया है, उसमें एक छोटी-सी तलैया है। चरवाहोंके लड़के यहाँ खेला करते थे। इन लड़कोंके साथ ये भी खेलने लगते थे। यहीं किसी सिद्ध पुरुषकी एक कोठरीनुमा समाधि है। सिद्धाप्पा रातको इसी कोठरीमें सोया करते थे और दिनमें गाँवसे भिक्षा माँग लाते या चरवाहोंके लड़कोंसे ही कुछ लेकर खा लेते थे।

एक बार भिक्षा माँगनेके लिये गाँवके किसी गृहस्थके यहाँ गये। वहाँ उस समय योगविषयक किसी ग्रन्थका निरूपण हो रहा था। ग्रन्थमें एक ऐसी पंक्ति निकली जिसका अर्थ वक्ता-श्रोता किसीकी भी समझमें नहीं आ रहा था, इससे सब लोग चुप बैठे थे। सिद्धाप्पाको बोलनेकी स्फूर्ति हुई और उन्होंने खड़े-खड़े ही वह विषय सुबोध भाषामें समझा दिया। अधिकारी वक्ता-श्रोता थे। उन्होंने जाना कि ये कोई सिद्ध पुरुष हैं और सबने उनके चरणोंपर मस्तक रखा। मकानमालिकने तो उन्हें उस रातको अपने ही घर टिकाया और उनकी बड़ी खातिर की और बार-बार अपने ही यहाँ रह जानेका आग्रह करने लगे। सिद्धाप्पा चुप रहे और बिना किसीसे कुछ कहे रातों-रात वहाँसे निकल भागे। अब जो लोग उनकी वाणी यहाँ सुन चुके थे उन्हें उनकी वाणीका चसका लग गया और वे नित्य उनके खेलनेके स्थानमें जाकर उनकी वाणी श्रवण करने लगे; इन्हें भी भाषणका स्फुरण होने लगा और ये खेल छोड़कर इन श्रद्धालु श्रोताओंके बीचमें बैठकर गूढ़ विषयोंका बड़ा हृदयग्राही निरूपण करने लगे। लोग आनन्दित होने लगे और इनकी भक्ति करने लगे। इनकी ब्रह्मनिष्ठा देखकर

लोग इन्हें सिद्धारूढ कहने लगे। तभीसे ये सिद्धारूढ स्वामीके नामसे प्रसिद्ध हुए।

इनका रहन-सहन बहुत सादा, निःस्पृह और प्रखर वैराग्यका नमूना था। इनका परिग्रह एक लँगोटी, एक धोती और सिरमें लपेटनेका दो हाथ कपड़ा, बस, इतना ही था। देहके विषयमें सदा उदासीन रहते थे, देहमें चाहे जैसी व्याधि या पीड़ा होती तो भी ये कभी ओषधिसेवन नहीं करते थे। अनशन ही इनका औषध था। इनका निरूपण अनुभवयुक्त सरल और मुमुक्षुओंके हृदयोंको बेधनेवाला होता था। इनके शब्दोंमें कुछ ऐसी विलक्षण सामर्थ्य थी कि सुननेवाले तल्लीन हो जाते थे और सबकी शंकाओंका पूर्ण समाधान होता था।

महाराज मराठी, कानड़ी, तामिल, तेलगु, हिन्दी और अरबी भाषाएँ अच्छी तरहसे बोल सकते थे। उनके भाषणोंमें अद्वैतके सिवा और दूसरी बात ही नहीं आती थी। ब्राह्मण, लिंगायत, सुनार, पटेगार, मुसलमान—इन सभी जातियोंके स्त्री-पुरुष इनके पास जाते और इनकी भक्ति करते थे। इनकी वृत्तिमें ऐसी अलौकिक शान्ति थी कि दुष्ट-से-दुष्ट मनुष्य इनके समीप आकर शान्त हो जाता था। स्वयं सब विषयोंसे उदासीन रहते हुए भी समागत भक्तोंका स्वागत करनेमें कोई त्रुटि नहीं होने देते थे। लौकिक बातें इनके मुखसे प्रायः कभी नहीं सुनी गयीं। वे संस्कृत नहीं जानते थे तथापि भाष्यादि ग्रन्थोंके गहन शास्त्रीय विषयोंको इतना विशद करके समझा देते थे कि उनकी बात और इन ग्रन्थोंकी बात बिलकुल मिल जाती थी और कभी-कभी ऐसी बातें भी कहते थे जो ग्रन्थोंमें नहीं मिलतीं। प्रतीतियुक्त वाणी होनेसे उनके भाषणका श्रोताओंपर तुरन्त और उत्तम परिणाम होता था।

स्वरूपसाक्षात्कार होनेके पश्चात् ब्रह्मवेत्ताओंकी वृत्ति बालोन्मत्तपिशाचवत् ही रहती है, यही प्रायः देखनेमें आता है। अक्कलकोटके स्वामी, फलटणके हरि बुवा, वाईके गोपाल बुवा ऐसी ही स्थितिमें थे। ऐसे पुरुषोंसे दर्शन और स्पर्शनका ही लाभ होता है, सम्भाषणका लाभ प्रायः नहीं होता। परन्तु सिद्धारूढ स्वामीकी यह विशेषता थी कि ब्रह्मविद्वरिष्ठकोटिके संत होनेपर भी इनका रहन-सहन किसी सामान्य मनुष्य-जैसा ही था। बड़ी शुद्धतासे रहते थे; सूँघनी या सुपारीका भी इन्हें व्यसन नहीं था। सिला हुआ कपड़ा ये कभी पहनते न थे, पैरोंमें कभी जूता भी न देते थे। और सादगी क्या होगी? ऐसा सादा रहन-सहन होनेके कारण इनसे दर्शन, स्पर्शन और सम्भाषण, यह त्रिविध लाभ सबको होता था।

महाराजके स्वैर आलाप कितने उपदेशमय होते थे, इसका दिग्दर्शन करानेके लिये उनके कुछ सूत्रवाक्य नीचे देते हैं—

१-भीतर बुखार न होना चाहिये, बाहर हो तो हुआ करे।

२-मिताहार ही सात्त्विक आहार है।

३-मनुष्यकी परीक्षा नेत्रोंसे, बातचीतसे और संग-साथसे होती है। उत्तरोत्तर कनिष्ठ परीक्षा जाने।

४-दोषोंको दोष दीखते हैं अर्थात् स्वयं अनुभव किये बिना दोष नहीं दीखते; इसलिये दूसरोंके दोष देखनेकी आदत न डाले; यह आदत बढ़ते-बढ़ते गुरुदोषदर्शनतक पहुँचती है।

५-कनक, कान्ता, पुत्र आदि स्वभावतः ही मोहक होते हैं। अज्ञानी मोहके वश होकर दुःखी होते हैं और ज्ञानी इसे वस्तुस्वभाव जानकर निर्मोह रहते हैं।

६-प्राप्त भोग-मोह, भुक्त भोगस्मरण और अप्राप्त भोगेच्छा, इस त्रयीका त्याग करो तो सुख न चाहोगे तो भी सुख तुम्हारा पीछा न छोड़ेगा।

७-स्त्री-पुत्रादि विषयोंमें जो आसक्ति होती है उसी आसक्तिके त्यागको वैराग्य कहते हैं।

८-जो बात जैसी है उसे वैसा ही जानना ज्ञान कहाता है।

९-प्रतिबन्धके न रहते प्रतिबन्धका होना मानना ही प्रतिबन्ध है।

१०-सुखकी अनुकूलताके बिना मनकी प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये जहाँ-जहाँ मन जाता है वहाँ-वहाँ सुख होता ही है।

११-विषय-भोग सुखके साधन नहीं हैं, यदि होते तो सुषुप्तिमें विषयाभावके होते सुख न होता।

१२-आजकलकी हालतमें योगसाधन करना आँगनके सूर्य-प्रकाशको देखना छोड़ खिड़कियोंके छिद्रोंमेंसे उस प्रकाशको देखना है।

महाराजके भक्तोंने हुबलीकी उसी आमकी बगियामें महाराजके लिये एक मठ बनवा दिया। यह इतना बड़ा है कि इसमें दो-तीन सौ आदमी रह सकते हैं। इस

मठका वातावरण महाराजके कारण अब भी परिशुद्ध, शान्त और दिव्य है। जो कोई वहाँ जाते हैं, उनका मन स्थिर-शान्त होकर वहाँसे हटना नहीं चाहता। मठके सामने एक स्वच्छ सरोवर है। शिवरात्रिके अवसरपर अष्टमीसे चतुर्दशीतक यहाँ बड़ा ही उत्सव होता है, उत्सवमें अखण्ड नामजपका एकमात्र मन्त्र है, '**ॐ नमः शिवाय**'। संवत् १९८६ में भाद्र कृष्ण १ को आपने अन्तिम समाधि ली। (संतचरित्रमालासे)

श्रीवासुदेवानन्द सरस्वती

(लेखक—श्रीगणेश वेंकटेश सातवलेकर)

सावंतवाडी संस्थानके माणगाँवमें संवत् १९११ में महाराजका जन्म हुआ। आपका उपनाम टेंव्ये, गोत्र अत्रि, वर्ण ब्राह्मण (ऋग्वेदी, महाराष्ट्र) और नाम वासुदेव था। आपके पिताका नाम गणेश भट्ट और माताका रमाबाई था। पिता बड़े सीधे-सादे, सात्त्विक, विरक्त पुरुष थे; घरमें बहुत कम रहते, प्रायः ही गाणगापुरमें रहकर श्रीगुरु दत्तात्रेयभगवान्‌की उपासनामें लगे रहते थे। इससे इनके गृह-प्रपंचका भार इनके पिता अर्थात् महाराजके दादा हरभट्टजीपर ही था जो कर्मनिष्ठ वैदिक थे और भिक्षुकी वृत्तिसे कुटुम्ब परिवारका पोषण करते थे। महाराजका लालन-पालन इन्हींके द्वारा हुआ और प्राथमिक शिक्षा भी महाराजको इन्हींसे मिली। महाराजकी बुद्धि बड़ी तीव्र और धारणा बड़ी दृढ़ थी। जो कोई पाठ दो-चार बार सुन लेते थे, वह कण्ठ हो जाता था। इस तरह दादाजीसे इन्होंने लिखना-पढ़ना, शिक्षाचतुष्टय, भगवान्‌के अनेक स्तोत्र, अमरकोश आदि उपनयनके पूर्व ही लीलामात्रसे सीख लिया था। ९ वें वर्ष महाराजका उपनयन हुआ। बचपनसे ही महाराज नियमोंके बड़े पक्के थे। जो कोई नियम इनके लिये बनाया जाता उसका उल्लंघन ये कभी न करते थे। उपनयनके पश्चात् सन्ध्या-वन्दन, औपासन, गुरुचरित्रपाठ, पंचायतनपूजा और पंचमहायज्ञ आदि नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके यथाविधि करनेमें उन्होंने कभी कोई त्रुटि नहीं की। यात्रामें भी सूर्योदय और सूर्यास्तके पूर्व स्नान करके भगवान् सूर्यनारायणको अर्घ्य प्रदान करना इनके सम्पूर्ण जीवनमें एक बार भी नहीं टला। नियमका वे कोई अपवाद नहीं मानते थे और प्रत्येक कर्मको यथासांग करते थे। दूसरोंके लिये भी उनका यही आग्रह था। ये जब ११ वर्षके हुए तब दादा हरभट्टजीका देहान्त हुआ और प्रपंचका सारा भार इनपर पड़ा। घरमें सोलहों दंड एकादशी थी, सिरपर ऋणका बड़ा भारी बोझ था, पैतृक स्वत्व भाई-बन्धु हड़प चुके थे। पर इस अवस्थामें महाराज जरा भी नहीं डिगे, धैर्यके मानो मेरु बन गये। इसी समय इन्होंने वेदमूर्ति विष्णुभट्टजी उकिडवे और वे० भू० भास्करभट्ट ओलकरके समीप जाकर यथाविधि एकान्तमें बैठकर वेदाध्ययन किया। भोजन कभी मामाके घर जाकर कर लेते या गुरुजीके यहाँ ही स्वयं भात बनाकर खा लेते थे। इनकी अलौकिक बुद्धिमत्ता और अद्वितीय धारणाशक्ति और अभ्यासविषयक नियम देखकर गुरुजी (विष्णुभट्टजी) कहा करते थे कि 'वासुदेव देव ही होनेवाला है।' उपनयन हो चुकनेके बादसे वे सदा शौचाचारसे रहे, कभी किसीका दान नहीं लेते थे, परान्न और श्राद्धान्न कभी ग्रहण नहीं करते थे, भोजन बड़ी पवित्रतासे करते थे। एकादशी और सब जयन्तितिथियोंको निराहार रहकर जागरण करते थे, सदा सत्य और मित भाषण करते थे, अखण्ड ब्रह्मचर्य, शान्ति और वैराग्यकी मूर्ति बनकर त्रिमूर्ति भगवान् श्रीदत्तात्रेयकी अनन्य निष्ठासे उपासना करते थे। इस प्रखर तपके कारण उनके सामने सब प्रकारकी सिद्धियाँ सदा हाथ जोड़े खड़ी रहती थीं। पर इनमेंसे किसी भी सिद्धिका उपयोग उन्होंने अपने लिये नहीं किया। किसी-किसी प्रसंगसे कोई-कोई सिद्धि प्रकट हो जाती थी।

एक बार महाराज और उनके सहाध्यायी वैदिक मन्त्रोंकी अद्‌भुत सामर्थ्यकी चर्चा करते हुए भगवान् श्रीगणेशको पुष्पांजलि चढ़ाने जा रहे थे। रास्तेमें एक साँप दीख पड़ा। सहाध्यायियोंने कहा कि यह अच्छा अवसर है, किसी वैदिक मन्त्रकी सामर्थ्य अब प्रकट करके हमें बताइये। महाराजने कहा—'अच्छा', और उस साँपकी चारों ओर थोड़ी मिट्टी डाल दी और एक वैदिक मन्त्र कहा। बस, वह साँप उसी घेरेमें अटक गया। दूसरे दिन महाराज अपने साथियोंको लेकर फिर उसी स्थानमें गये। साँप वहीं अटका पड़ा रहा। महाराजने

जरा-सी मिट्टी हटाकर मिट्टीकी रेखा काट दी। त्यों ही साँपको रास्ता मिला और वह तीर-सा सनसनाता हुआ वहाँसे निकल गया। महाराजकी एक बहिन थी। उसके एक मरकही गाय थी, दूध देती हुई लात झाड़ा करती थी। एक बार उसने महाराजसे कहा—'भैया, इस गायको किसी तरह सीधा कर दो।' महाराजने गायपर स्तम्भन मन्त्र छोड़ा, तबसे वह गाय स्तम्भ-सी खड़ी होकर दूध देती थी। पिशाचोंपर महाराजने मन्त्र-प्रयोग अनेक बार किया। आपकी मन्त्रसिद्धिसे बहुत लोगोंका उपकार हुआ।

महाराज स्वयं तो विवाह करना नहीं चाहते थे पर गुरुद्वयकी आज्ञा शिरोधार्य मानकर उन्होंने विवाह किया। उनकी धर्मपत्नीका नाम अन्नपूर्णाबाई था। विवाह करके इन्होंने स्मार्ताग्नि रखा और दर्शपूर्णमास स्थालीपाकेष्टि आदि सब नियमपूर्वक करते रहे। महाराज बड़े मातृभक्त थे। माताके दर्शन होते ही ये उन्हें प्रणाम करते थे। उनकी आज्ञाका उन्होंने कभी उल्लंघन नहीं किया। एक दिन स्वप्नमें एक ब्राह्मणने आकर इनसे पूछा, 'तुम नरसोबाकी बाड़ी क्यों नहीं आते हो?' इसपर इन्होंने उत्तर दिया, 'माताकी आज्ञा नहीं हैं' ब्राह्मणने कहा, 'यहाँ जो कोई आना चाहता है उसे कोई नहीं रोकता।' बस, स्वप्न भंग हुआ ये जाग उठे। तुरन्त माताके पास आकर इन्होंने स्वप्न सुनाया। माताने बाड़ी जानेकी अनुमति दी और महाराज तुरन्त चल पड़े।

नरसोबाकी बाड़ी पहुँचे, उसी रातमें श्रीदत्तात्रेय-भगवान्‌का साक्षात् दर्शन हुआ। फिर सद्‌गुरु गोविन्द स्वामी भी मिले। कुछ काल वहीं रहकर महाराजने दत्तोपासना की और फिर घर लौटे।

एक बार इन्होंने पूर्वोत्तरांगसहित चान्द्रायण-व्रतका आरम्भ किया, इससे इनके रक्त गिरनेकी बीमारी लग गयी। इस बीमारीसे जब किसी कदर उठे तब दत्तजयन्तीके निमित्त नरसोबाकी बाड़ी गये। उनके साथ माताजी भी थीं। श्रीदत्तने दोनोंको बालूके मैदानमें बालरूपमें दर्शन दिये और बताया कि सात वर्ष और माणगाँवमें रहना होगा। श्रीदत्तकी आज्ञाके अनुसार कागल नामक स्थानसे वराभयकर सिद्धासनस्थ दत्तमूर्ति लाकर उसके लिये एक छोटा-सा मन्दिर बनवाया और संवत् १९४० बैशाख शुक्ल पंचमीके दिन उसकी चलार्चा स्थापित की। तबसे महाराज इसी मन्दिरमें रहने लगे, घर जाना उन्होंने छोड़-सा ही दिया। कच्चा अन्न भिक्षा माँगकर लाते, उसीसे वैश्वदेव करके भगवान्‌को भोग लगाकर प्रसाद पाते थे। सतत सात वर्ष महाराज इसी व्रतसे रहे।

इस प्रकार श्रीदत्तभगवान् जबसे माणगाँवमें आकर रहे तबसे यहाँ बड़े-बडे महोत्सव होने लगे। हजारों यात्री और दर्शनार्थी आने लगे। रात नौ बजेकी निकली हुई पालकीमें भगवान्‌की सवारी तीन परिक्रमा करके भोरमें तीन-चार बजेके लगभग लौटती थी। गुरुद्वादशी-जैसे महोत्सवपर दस-दस हजार आदमी भोजन कर जाते थे। भगवान्‌के सामने फल-फूल, नारियल और मेवे-मिठाइयोंके ढेर लग जाते थे, पर महाराज यह सब नि:शेष बँटवा देते थे। श्रीदत्तभगवान्‌की सेवा और महाराजकी कृपासे कितने लोगोंके मनोरथ पूर्ण हुए उनकी गणना करना असम्भव है। महाराज उपासक थे, ज्यौतिषी थे, धर्मशास्त्रज्ञ थे, सिद्धवैदिक थे और पूर्ण योगाभ्यासी भी थे। योगाभ्यासके लिये गुहामें जा बैठते थे, कभी-कभी गुहाके द्वारपर शेर आकर बैठता था। महाराज जब भगवान्‌को भोग लगाते तब प्राय: भगवान् प्रकट होकर नैवेद्य ग्रहण करते थे। महाराजके श्रीदत्तमन्दिरमें साँप दो-दो महीने पड़े रहते थे, पर कभी किसीको दंश नहीं करते थे।

गोविन्द स्वामी और मौनी स्वामी उस समयके महान् समर्थ सत्पुरुष थे। मौनी स्वामीकी श्रीमहाराजपर बड़ी कृपा थी। महाराज सकुटुम्ब उत्तरकी ओर चले। गंगाखेड़में धर्मपत्नीका देहान्त हुआ। महाराज ऋणत्रयसे मुक्त हो गये। तेरहवें दिन श्रीदत्तने गोविन्द स्वामीके स्वरूपसे महाराजको प्रेषोच्चारपूर्वक संन्यासदीक्षा दी और उनका नाम वासुदेवानन्द सरस्वती रखा और दण्ड लेनेके लिये उज्जैनमें श्रीनारायणानन्द सरस्वतीके पास जानेकी आज्ञा की। महाराजने उज्जैन जाकर दण्ड ग्रहण किया और प्रथम चातुर्मास्य वहीं बिताया। इसके बाद आसेतु-हिमाचल पैदल यात्रा की। कभी छाता, जूता और किसी प्रकारका वाहन नहीं स्वीकार किया। क्षौर-जैसे कर्मके अतिरिक्त कभी अपनेको शूद्रस्पर्श नहीं होने दिया। छाटी, कौपीन, कमंडलुके सिवा और कोई संग्रह नहीं किया। भिक्षाको छोड़ और कोई अन्न ग्रहण नहीं किया, पैसेको तो हाथसे छूआतक नहीं।

इनके जीवनमें अनेक चमत्कार हुए हैं। उदाहरणार्थ एक बार गरमीके दिनोंमें ये चिदंबरम् क्षेत्रमें थे जहाँ

पिनाकिनी नदीका जल इन दिनोंमें सूखकर पाँवबराबर ही रह जाता है। महाराजका यह नियम था कि क्षौर करानेके बाद नदीमें गोता लगाकर ही नहाते थे। यहाँ बड़ी मुश्किल हुई। क्षौर हुआ, पाँवबराबर जलमें महाराज खड़े हैं और सोच रहे हैं कि यहाँ गोता कैसे लगे। इतनेमें अकस्मात् नदीमें बाढ़-सी आयी और जल छाती-बराबर हो गया और गोता लगाकर स्नान करनेके नियमका खूब निर्वाह हुआ। उस समय उनके मुखसे यह श्लोक निकला था—

याधिमासवशाच्चैत्र्यां कृतक्षौरस्य मेलका।
स्नापनाय क्षणाद् वृद्धा साध्वी सेव्या पिनाकिनी॥

सबसे बड़ा और नित्यका चमत्कार तो यह था कि भगवान् श्रीदत्तात्रेयसे ही इनकी रहस्यमय बातचीत हुआ करती थी।

जो कोई इनकी शरणमें आते उन्हें ये कर्म, भक्ति, ज्ञान और योग, इस मार्गचतुष्टयका उपदेश करते थे। हजारों लोग इनके समीप आकर तर गये। संवत् १९७१ में श्रीगरुडेश्वरस्थानमें महाराजने अपना शरीर विसर्जन किया। महाराजद्वारा रचित छोटे-बड़े संस्कृत और मराठीके मिलाकर उनतीस ग्रन्थ हैं जो श्रीदत्तोपासकोंके समान सभीके लिये कल्याणमार्गके उत्तम पथप्रदर्शक हैं।

श्रीमाणिक प्रभु महाराज

निजामराज्यके तालुका कल्याणी केहरकुण्ड ग्राममें मनोहर नायक नामके एक रामोपासक संत रहते थे। आपके ही मझले पुत्रका नाम था श्रीमाणिक प्रभु। इनका जन्म संवत् १८७० में हुआ। इनके बचपनमें इनके पिता स्वर्ग सिधारे और इनका पालन-पोषण इनकी माताने किया। मामाके यहाँ रहने लगे और मामाने एक काम दिलाया, पर उसे ये धर्मानुसार कर नहीं सके। कल्याणीसे पाँच-छ: मीलपर 'अमृतकुण्ड' एक परम रमणीक स्थान है। वहाँ प्रभु नित्य जाया करते और वहाँ गौएँ चरानेवाले ग्वाले इनसे मिला करते। घर छोड़कर आप तीर्थयात्राके लिये निकल पड़े और काशी, प्रयाग, गिरनार, पण्ढरपुर, आलंदी आदि सभी पुण्यक्षेत्रोंमें हो आये। आपका बसाया हुआ 'माणिकनगर' बहुत प्रख्यात है।

माणिकनगरमें प्रभु बड़े-बड़े महोत्सव करते, जिनमें सहस्रों रुपये दान-धर्ममें खर्च होते। आपके सम्प्रदायका मुख्य सिद्धान्त यही है कि संसारके सभी महान् पुरुष ज्ञानी, कर्मी, तपस्वी, योगी एक ही अखण्ड प्रचण्ड शक्तिसे निकला करते हैं, इसलिये ये सभी एक ही भगवत्कार्य करनेके कारण सबके वन्द्य हैं। संसारमें किसीका भी विरोध किये बिना शाश्वत सुख और शान्तिके साथ व्यावहारिक अभ्युदय प्राप्त किया जा सकता है, यह बात प्रभुजीने अपने जीवनमें दिखलायी। आप हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, पारसी, ईसाई सभीके परमप्रिय और परम पूजनीय आत्मीय थे। एक बार 'सर्वतोमुख' यज्ञमें श्रीप्रभुने लाखों रुपये खर्च किये। प्राय: सभी भारतीय भाषाओंमें आपने सुललित पद रचे। आपकी दिनचर्या बड़ी विलक्षण थी। दो-दो, तीन-तीन दिनपर एक बार भोजन करते। ज्वारकी रोटी और कढ़ी आपका प्रिय भोजन था। आपने इष्टसिद्धिके लिये कोई तप नहीं किया। जन्मत: ही आप सिद्ध थे। वे श्रीदत्तात्रेयके चतुर्थ अवतार माने जाते हैं। संवत् १९९२ में संन्यास-दीक्षा होनेपर श्रीप्रभुका महानिर्याण हुआ।

संत श्रीबलभीमजी

(लेखक—श्रीमद् भवानराव पंडित प्रतिनिधि राजेसाहेब औध)

पिछली दो-तीन शताब्दियोंमें रामदास, तुकाराम तथा नामदेव आदि कई लोकोत्तर संतोंद्वारा की गयी धार्मिक और राष्ट्रीय जागृति अपूर्व कही जा सकती है। इतना ही नहीं, उनके इन कार्योंकी याद हिन्दूमात्रके अन्त:करणमें सदा बनी रहेगी, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। सिर्फ धार्मिक बातोंमें नहीं, राजनीति-जैसे कठिन विषयोंपर भी शिवाजी महाराजको समय-समयपर श्रीरामदास स्वामीद्वारा दिये गये उपदेशोंको पढ़नेपर ज्ञात होगा कि मराठा राज्यकी स्थापनाके अति विकट कार्यमें स्वामी रामदास महाराजका कितना हाथ था। पर इधर संतोंके

नामकी आड़में जो ढकोसले चलाये जा रहे हैं उन्हें देखकर साधारण जनसमाजका संतोंके नामसे चौंकना स्वाभाविक ही है। क्योंकि आजकल प्रायः निर्मल अन्तः-करणवाले तथा स्वभावसे ही मधुर वाणी बोलनेवाले सच्चे संतोंका मिलना दुर्लभ-सा हो गया है। परन्तु पहिले ऐसी महान् विभूतियाँ हो गयी हैं। उनके सत्कृत्योंने उनके नामको आज भी अजर-अमर कर रखा है। औंध राज्यके किन्हई नामक गाँवमें बलभीम नामक एक ऐसे ही बड़े भारी संत हो गये हैं। उन्हींके सम्बन्धमें थोड़ा-सा परिचय करानेका हमारा इरादा है।

संत बलभीमका जन्म कहाँ हुआ था और उनके माँ-बाप कौन थे। इसके बारेमें कुछ भी पता नहीं लगता। उनके विषयमें इतना ही पता है कि वे कन्नौजिया ब्राह्मण थे। ई० सन् १८१९ में ये महात्मा औंध राज्यके किन्हई ग्राममें आये। उस समय यह गाँव साताराके महाराजके अधीन था। किन्हई ग्राम सातारासे चौदह मील दूर है। यहाँपर उनकी नारायण स्वामीसे भेंट हुई। वे उनके चेले बन गये। नारायण स्वामीने उन्हें वेदान्त और योगसम्बन्धी कुछ अभ्यास सिखाया। नारायण स्वामीके इहलीला संवरण करनेपर, बलभीम किन्हई ग्रामके नजदीकके एक पहाड़की 'उंदीरबिल' नामक गुफामें जाकर तप करने लगे। रोज सूर्योदयसे तीन घंटे पूर्व नीचे वाँगना नामक नदीपर आते और स्नान करनेके पश्चात् कमरतक पानीमें खड़े रहकर जप करते। अरुणोदय होते ही फिर अपनी उंदीरगुहामें वापस चले जाते। वहाँ जाकर एकान्तमें धारणा, ध्यान, समाधि वगैरह साधनोंमें तमाम दिन व्यतीत करते। इस प्रकार तपश्चर्या करते-करते बहुत दिन व्यतीत हो गये।

बलभीमकी इस सूर्योदयसे पूर्व जलमें खड़े रहकर की जाती हुई तपश्चर्याको एक दिन भीमा नामक एक स्त्रीने देख लिया। वह दिनभर उंदीरबिलके पास जाकर बैठी रही। साधुको नैवेद्य खिलाये बिना मैं अन्न ग्रहण नहीं करूँगी, ऐसा अपना दृढ़ निश्चय उस स्त्रीने बलभीमको सुना दिया। अस्तु, इस प्रकार बलभीमको नित्यप्रति रोटी-दाल देनेका उपक्रम जारी हो गया। कुछ दिनों बाद बलभीमकी तपश्चर्या तथा पुरश्चरण पूर्ण हुए। तब भीमाने बलभीमके लिये नदीके किनारे एक छोटी-सी झोंपड़ी बनवा दी। बलभीम उसीमें रहने लगे। बलभीमके स्नान, संध्या, समाधि आदि शान्त-वृत्तिजन्य कार्योंको देखकर आस-पासके भक्तजन उनके दर्शनार्थ आने लगे।

एक दिनकी बात है कि बलभीमके दर्शन करनेके लिये क्रमशः दस और बारह वर्षकी उम्रके दो लड़के आये। वे साष्टांग प्रणाम करके बैठ गये और रोने लगे। साधुने दयार्द्र होकर उन दोनोंको चुप कराया तथा कुछ फल-फूल देकर शान्त होनेको कहा। उसके बाद उन दोनोंसे पूछा कि तुम कहाँके रहनेवाले हो और कहाँ जा रहे हो? वे दोनों लड़के 'हिवरे' नामक गाँवके हरिपंत पटवारीके लड़के थे। बड़े भाईके कठोर व्यवहारसे तंग आकर विद्याभ्यासके लिये सातारा निकल भागे थे। उन्होंने साधुसे सब वृत्तान्त कह सुनाया। संतने वहीं **'ॐ नमः सिद्धम्'** का प्रथम पाठ उन्हें पढ़ाकर, उनके सिरपर हाथ फेरते हुए आशीर्वाद देकर कहा कि 'तुम सातारा जाओ, तुम्हारा कल्याण होगा। तुम बड़े भाग्यशाली बनोगे।' वहाँसे किसी बड़े आदमीके साथ वे दोनों सातारा आये। और शनिवार-पेठमें दोनों पन्तोजीकी पाठशालामें पढ़ने लगे। इसके पश्चात् कोई दो ही वर्षके अंदर उनमेंसे छोटे लड़केको परशुराम पन्तप्रतिनिधिने गोद ले लिया। और इस प्रकार हमारे पूज्य पिता औंध राज्यके राजा बने। बलभीम संतका आशीर्वचन सफल हुआ।

यह कहना सर्वथा अनावश्यक होगा कि जिस महापुरुषके आशीर्वादसे हमारे पूज्य पिताजीको यह महान् पद प्राप्त हुआ था, उनके लिये हमारे पिताजीके दिलमें अत्यन्त भक्तिभाव था। परन्तु अपने शिष्यके राजा हो जानेपर भी संत तो वैसे ही निरभिलाषी बने रहे। वे कभी शिष्यके महलमें नहीं गये। अपनी एकमात्र लंगोटी तथा एक साधारण-से परिधानवस्त्रके सिवा उन्होंने किसी भी वस्त्रको ग्रहण नहीं किया। और रोटी तथा दालके पानीको छोड़कर अन्य किसी भी पक्वान्नको ग्रहण न करनेका उनका अटल नियम भी वैसा ही जारी रहा।

हमारे भाई जगज्जीवनरायका उस समयकी रिवाजके अनुसार दस वर्षके अंदर ही विवाह करनेका निश्चय होनेपर संतने उनका विवाह चौदह वर्षकी आयु होनेसे पूर्व न करनेके लिये सलाह दी थी। आखिर जगज्जीवनरायका चौदह वर्षके अंदर ही देहान्त हो गया। बलभीम संतको यह बात पहलेसे मालूम हो गयी थी।

श्रीब्रह्मानन्दनाथ, कुंदगोल

श्रीसच्चिदानन्दनाथ, गौरीपुर

· संतवर्य गुरुदास महाराज उर्फ
अनन्तराव मामा माहूर

स्वामी श्रीब्रह्मानन्द सरस्वती

श्रीब्रह्मेन्द्रस्वामी धावडशीकर

श्रीशिवानन्द सद्‌गुरु महाराज

सदानन्द महाराज उर्फ बाबा महाराज उमरीकर
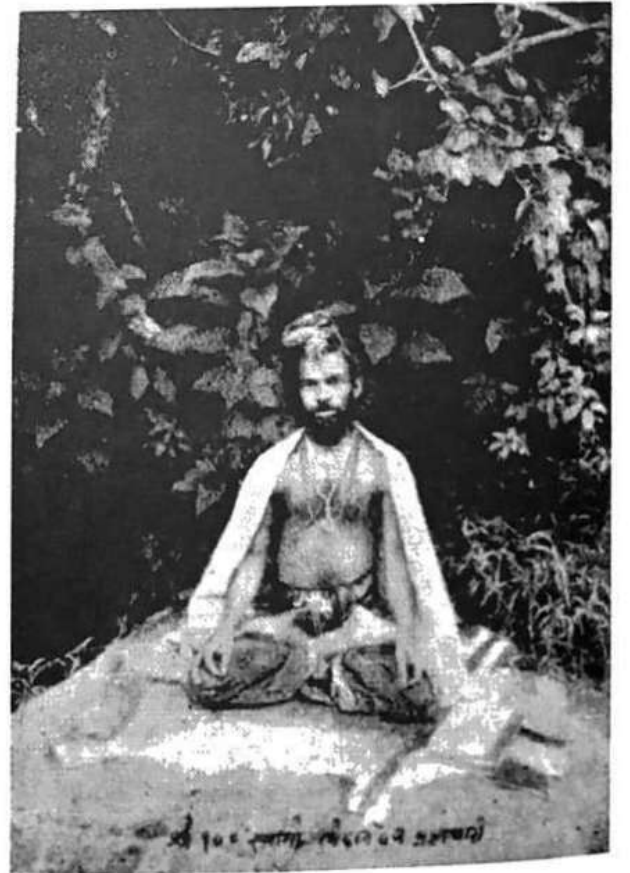
श्रीविट्ठलदेवजी ब्रह्मचारी

संत बलभीमके विषयमें और भी बहुत-सी बातें प्रचलित हैं, जिनको हमने अपनी मातुश्रीके मुखारविन्दसे सुन रखा है। स्थानाभावसे यहाँ उनमेंसे सिर्फ एकाध ही लिखी जाती हैं।

बड़ूथ नवागाँवका एक मनोहर नामका चौदह वर्षका लड़का संतके दर्शन कर उनका कुछ अनुग्रह प्राप्त करनेकी इच्छासे, अपने साथ संतको भेंट करनेके लिये एक धोती, कुछ केले तथा कुछ पैसे लेकर दर्शनार्थ निकला। मार्गमें अचानक उसकी धोती गुम हो गयी। उसने वापिस लौटकर तमाम रास्ता छान डाला पर धोती नहीं मिली। अन्तमें निराश होकर वह दुःखी मनसे वैसे ही दर्शनार्थ आया। उसने आकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे रास्तेकी तमाम घटना निवेदन की। इसपर संतने हँसते हुए अपने आसनके नीचेसे एक धोती निकालकर पूछा—'भैया! तेरी यही धोती है न?' आश्चर्यकी बात तो यह कि वह धोती उसीकी थी। यह घटना स्वयं मनोहर बुवाने हमको सुनायी थी।

हमारी माताजीके पहले तीन पुत्र छोटी अवस्थामें ही स्वर्गवासी हो गये थे, इससे माताजी श्रीबलभीमके पास जाकर रोने लगीं। संतने आशीर्वाद दिया कि जाओ, अब तुम्हारी सन्तति दीर्घायु होगी, और हुआ भी ऐसा ही। यह थी उनकी वाक्सिद्धिकी महिमा! संत लिखना-पढ़ना जानते थे। उन्होंने अपने शिष्यके कल्याणार्थ करीब तीस-पैंतीस वर्ष व्यतीत किये! इतनी बड़ी उम्र होनेपर भी संतकी शरीर-सम्पत्ति तपोबलसे वैसी-की-वैसी ही कायम थी। अन्तमें तारीख १९-१-१८६४ के रोज यह कहते हुए कि 'अब कराल काल आ गया है। अब हमारा न रहना ही अच्छा है' नश्वर देहका परित्याग किया। हमारे पूज्य पिताजीके कानोंमें उपर्युक्त समाचार पहुँचते ही वे किन्हई जा पहुँचे और उनके पहुँचनेपर समाधिका विधिवत् समारम्भ किया गया। अपने गुरुजीके प्राणत्यागसे एकनिष्ठ भक्तको जो दुःख हुआ होगा उसका वर्णन करना असम्भव है।

श्रीसंत बलभीम महाराजकी कैसी योग्यता थी, इसका कुछ अनुमान निम्नलिखित उपदेशोंको, जो उन्होंने हमारे पिताजीको राज्यारोहणके पश्चात् दिया था, पढ़नेसे हो सकेगा। वह उपदेश इस प्रकार था—

'राजा बननेपर बहुत-से लोग हमारे साथ प्रेम करने लग जाते हैं ऐसा खयाल रखना नितान्त भ्रमपूर्ण है। राजाकी ओरसे उनका अपना किसी भी प्रकारसे नुकसान न हो सिर्फ इसी बातको ध्यानमें रखते हुए वे सब लोग 'हाँ जी हाँ' करते रहते हैं। इस फानी दुनियामें वास्तविक सच्चा मित्र ढूँढ़नेसे कोई बिरला ही मिलेगा। लोगोंकी सहायतापर ज्यादा भरोसा न रखना। इस ऐहिक पसारेको व्यर्थ समझते हुए एकाग्रचित्तसे श्रीजगदीश्वरका स्मरण करते रहना चाहिये। 'हे प्रभो! मुझे सद्बुद्धि प्रदान करो। मेरे हाथसे सर्वदा सत्कर्म ही होते रहें ऐसी शक्ति प्रदान करो'। इस प्रकार सर्वदा भगवान्से प्रार्थना करते रहना चाहिये। मैंने संसारमें जन्म लेकर क्या किया और क्या कर रहा हूँ, ऐसा रोज प्रातःकाल और सन्ध्याको अपने हृदयमें सोचना चाहिये।

यह जगत् त्रिविध गुणमय है। मनुष्यकी दृष्टि जितनी दूसरोंके दोष देखनेमें जाती है उतनी गुणोंको देखनेकी ओर नहीं जाती। दुनियासे अपनेको अच्छा कहलवानेके समान कठिन कार्य दूसरा नहीं है। संसारमें जिसकी निन्दा न हुई हो ऐसा एक भी व्यक्ति मिलना कठिन है। इसलिये संसारकी स्तुति-निन्दाकी परवा न करो। प्राण जानेपर भी नीतिच्युत न होनेकी ओर सर्वदा लक्ष्य बनाये रखना चाहिये। अपने सामने किसीकी भी निन्दा हो रही हो तो उसे इस कानसे सुन उस कानसे निकाल देना चाहिये। संसारमें लोकप्रिय होनेकी यही एकमात्र गुरुचाभी है।

राज्यकर्ता पुरुषके लिये सिर्फ वेष-भूषासे अपनी देह सजाना अच्छा नहीं। उसको चाहिये कि वह अपने मनको उत्तम संस्कृत बनावे। पोशाक, श्रेष्ठ भोजन और व्यायाम यथायोग्य रहने चाहिये। स्त्रीके वश होना ठीक नहीं। कामान्ध पुरुष स्त्रियोंके अनादरके पात्र होते हैं।

जो जिस कामके योग्य हो उसे वही कार्य सौंपना चाहिये। क्योंकि उस कार्यकी ओर उसकी रुचि और प्रवृत्ति रहनेसे वह कार्य उसके लिये न सिर्फ सुगम ही होता है अपितु उत्तम रीतिसे सम्पन्न भी होता है। अतः जो जिसके लायक हो उसे वही काम सौंपनेसे कार्यमें सर्वदा सफलता प्राप्त होती है।'

श्रीगुरु बलभीमके उपदेशोंको हमारे पिताजीने अक्षरशः पाला, और उसके परिणामस्वरूप उन्हें राजर्षिकी पदवी प्राप्त हुई। वे जनतामें राजर्षि कहलाने लगे।

श्रीकृष्णजगन्नाथ बांदकर

(लेखक—ह० भ० प० श्रीविट्ठलकृष्णजी कामत, उर्फ दिगम्बरदासजी)

दासबोधमें लिखा है कि जो भगवान्‌को जानता है वही संत कहलाता है। संसारकी जो सबसे बड़ी सेवा हमसे बन सकती है वह यह है कि हम संत बनें। इसलिये इस विश्व-वृक्षका सर्वोत्तम, परिपक्व और मधुरतम फल संत है। और धिक्कार है उस मनुष्यको जो संतकी अवमानना करता है।

श्रीकृष्णभट्टका जन्म संवत् १९०१ में आषाढ़ शुक्ला ११ को हुआ था। बचपनसे इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र और वृत्ति ईश्वरकी ओर झुकी हुई दीख पड़ती थी। बहुत बचपनमें ही ये श्रीमद्भागवतके श्लोकोंका अर्थ लगाने लगे थे। पिता बाल्यावस्थामें इन्हें छोड़ चले थे। वृत्ति थी याजनकी। रोज-रोज लोगोंके घर जाना और उनके मुखापेक्षी होकर प्रतिग्रह लेना इन्हें प्रिय नहीं था। एक बार '**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया**' की व्याख्या सुनकर आपने निश्चय कर लिया कि बिना गुरुकी शरण गये भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। आप विष्णु बोवाकी शरणमें गये और उन्होंने उपदेश देकर इनपर पूर्ण अनुग्रह किया।

गुरु एवं गुरूपदेशके प्राप्त होते ही वृत्ति अन्तर्मुख होकर आत्मारामकें रम गयी। गुरुकी आज्ञासे इन्होंने घरमें राम-मन्दिर निर्माण किया और प्रतिवर्ष बड़े समारोहके साथ श्रीरामजयन्तीका उत्सव होने लगा। श्रीकृष्णभट्टजी डील-डौलमें लंबे-चौड़े जवान थे। रंग गोरा और रूप सुन्दर था। गायन-कला भी अच्छी जानते थे। हरि-कीर्तन करने जब वे खड़े होते तो लोगोंके चित्त हर लेते थे। भट्टजी महाराज बड़े ही गरीब थे परन्तु रुपयोंका लालच इन्हें छूतक नहीं गया था। इन्हींके आशीर्वाद-प्रसादसे किर्लोस्कर प्रमुख नाट्यकार हुए और अपार सम्पत्ति और कीर्ति प्राप्त की।

'स्वात्मतत्त्वामृतशतक' नामसे वेदान्तपरक आपका लिखा एक छोटा-सा ग्रन्थ है। कीर्तनोपयोगी दस-पन्द्रह बहुत ही सुन्दर आख्यान आपने रचे हैं। संवत् १९५९ में इन्होंने 'राम-कृष्ण-हरि' नामके घोषके बीच अपना पुण्य शरीर छोड़ा। ऐसे संतोंके चरणोंमें मेरे अनन्त प्रणाम हैं।

श्रीविष्णुकवि महाराज

(लेखक—पं० श्रीनरहरजी शास्त्री खर्शीकर)

संवत् १९०१ में सातारा नगरके एक भगवद्भक्त ब्राह्मणवंशमें इनका जन्म हुआ। इनका नाम कृष्ण रखा गया था। बचपनसे ही इनकी वृत्तियाँ परमार्थकी ओर थीं, उपनयन-संस्कारके बाद वेदाध्ययन करते समय भी ये दत्तभगवान्‌की उपासना करते रहते। संत, शास्त्र, भगवन्नाम और ब्राह्मणोंपर इनकी अपार श्रद्धा थी। घरके लोगोंने विवाह करके इन्हें घरमें बाँधना चाहा पर दत्तदर्शनकी लालसा इतनी प्रबल हो उठी कि ये श्रीपाण्डुरंग महाराजसे दीक्षा लेकर गुरुसेवामें सारा समय व्यतीत करने लगे।

एक दिन घरसे छिपकर निकल पड़े और हम्पीमें श्रीशंकराचार्यके पास आकर अपना नाम बदलकर विष्णु रख लिया और तीर्थयात्रामें लग गये। भगवान्‌के दर्शनके लिये बड़ी व्याकुलता थी। एक बार जंगलमें रातके समय सरस्वतीदर्शनके लिये जा रहे थे कि सामने एक बड़ा भारी सिंह दीख पड़ा। पहले तो ये बहुत डरे, पीछे सम्हालकर उसे दत्तात्रेय समझकर साष्टांग दण्डवत् करने लगे। बेहोश हो जानेपर सरस्वतीने दर्शन देकर प्रसन्नता प्रकट की और माहुर जानेकी आज्ञा की। होश आनेपर इन्होंने देखा कि सिंह नहीं है, चारों ओर शान्ति विराज रही है। जाकर मन्दिरमें माताके दर्शन किये और स्वरचित आरती गायी। दूसरे दिन माहुर या मातापुर दत्तात्रेयके विश्रामस्थानपर गये। यहाँ रहकर इन्होंने बड़ी तपस्या की। माता सरस्वतीके प्रसादसे अनेकों ग्रन्थ बनाये। सोलह वर्षके बाद इनके घरवालोंको पता चला तब इनकी पत्नी राधाबाई इन्हींके पास आकर रहने लगीं। पन्द्रह वर्षके बाद उनका देहान्त हो गया। फिर उस स्थानको छोड़कर ये वनमें चले गये और जगन्माता श्रीरेणुकाजी तथा श्रीगुरु दत्तात्रेयकी अभिन्नरूपसे उपासना की। ११ वर्ष केवल नीमकी पत्ती खाकर रहे, इसके बाद संन्यास लेकर सतरह वर्षतक जीवित रहे।

सरस्वती और दत्तके इन्हें बारंबार दर्शन होते थे। इन्होंने एक आश्रम भी स्थापित किया है। सं० १९७४ पौष शुक्ल ८ के दिन ब्राह्ममुहूर्तमें उत्तराभिमुख बैठकर 'ॐ' की ध्वनि करते हुए ये केवलस्वरूपमें लीन हुए। आधे घंटेके बाद इनके मस्तकसे शंखध्वनि हुई। इनका समाधिमन्दिर बना हुआ है।

योगिवर्य माडिवालेश्वर स्वामी

(लेखक—श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)

कर्णाटक प्रान्तमें धारवाड़ और बेलगाँवके बीच कित्तूर नामका एक राज्य था। सन् ५७ की गदरमें अंग्रेजी राज्यमें यह मिला लिया गया। यहाँके राजगुरुका मठ 'विरक्तमठ' या 'कल्लमठ' नामसे प्रसिद्ध है। उसी मठमें केलेके पत्तेपर एक बच्चा पाया गया जिसका नाम रखा गया मडिवाल। बालक सयाना होनेपर बड़ा प्रतिभाशाली निकला। गुरुके परलोकवासपर मठके कुचक्रियोंसे खिन्न होकर आप तीर्थयात्राके लिये निकले और हिमालयमें पहुँचे। वहाँ आपको एक योगी मिले और उनके सत्संगसे आप योग और वेदान्तादि शास्त्रोंमें निष्णात हुए और काशी आये। काशीमें दिग्विजयी पण्डित अपने विद्याहंकारके लिये प्रख्यात थे। माडिवालेश्वर स्वामीसे आपका शास्त्रार्थ हुआ और उसमें दिग्विजयीको पराजित होना पड़ा।

काशीसे आप अपने देश लौटे। धारवाड़से दस-बारह मीलपर गरग नामक ग्राममें आकर वे ठहरे। वे अपने योगबल तथा तपःप्रभावसे लोगोंके त्रिविध ताप नष्ट करते और उन्हें सन्मार्गपर लाते थे। एक बार भयंकर अकालमें आपने अकालपीड़ितोंकी अकालके अन्ततक पूरी रक्षा की।

श्रीगुरु-कृपासे आपको मृतसंजीवनी विद्या प्राप्त हुई थी। परन्तु इसे वे बहुत ही गुप्त रखते थे। आजसे ५० वर्ष पूर्व आप इस लोकमें थे। फाल्गुन कृष्ण ३ को वहाँ उत्सव होता है और रथयात्रा भी निकलती है। आपके उपदेशका सारतत्त्व यह है—'कनक और कान्तासे बिलकुल अलग रहो, स्त्रीका चित्र भी मत देखो। इससे सारे जगत्को तुम जीत लोगे।'

स्वामी श्रीआत्मानन्दजी महाराज

(लेखक—पं० श्रीनन्दकिशोरजी पाधा)

ये मद्रासके ताम्रपर्णी नदीके तटवर्ती सशल गाँवमें पण्डित हरीशंकर शास्त्रीके मध्यम पुत्र थे। इनके पिताने शृंगेरी मठके शंकराचार्यसे पुत्रके लिये प्रार्थना की। उन्होंने कहा—'सोमयज्ञ करो। तीन पुत्र होंगे। बिचला संन्यासीके लिये मुझे दे देना।' सोमयज्ञ करनेपर तीन पुत्र हुए। बिचलेका नाम शंकर रखा गया। नव वर्षकी अवस्थामें उन्होंने अपने पुत्रको स्वामीजीकी सेवामें समर्पित किया। सतरह वर्षकी अवस्थातक स्वामीजीने समग्र शास्त्रोंका अध्ययन कराकर अधिकारकी परीक्षा करके इन्हें संन्यास दिया, अब इनका नाम आत्मानन्द हो गया। तभीसे आपने आजीवन फलाहार करनेका व्रत ले लिया और उसका निर्वाह किया। सत्ताईस वर्षकी अवस्थातक इन्होंने मनन, निदिध्यासनकी एकान्तसाधना की, फिर तीर्थाटन करने लगे। यात्रामें स्थान-स्थानपर इनके अनेकों चमत्कार प्रकट हुए। जिससे प्रभावित होकर लोग इनके उपदेशानुसार परमार्थपथपर अग्रसर हुए। इनके स्थापित कई मठ-मन्दिर हैं और इन्होंने कई ग्रन्थ भी रचे हैं। कानपुर जिलेके बिठूर मठमें लगभग १०९ वर्षकी अवस्थामें संवत् १९८३ के आश्विन शुक्ल ६ रविवारको मौनी एवं पद्मासन बाँधकर प्राणोंको ब्रह्माण्डमें ले जाकर इन्होंने गंगातटपर ब्रह्मीभाव प्राप्त किया।

तपस्वी श्रीलछमनदासजी

(लेखक—श्रीगौरहरिदासजी पटनायक)

गंजाम जिलेके ब्रह्मपुर नगरके समीप इच्छापुरमें सन् १८६३ ईस्वीके लगभग एक उच्च कुलके वैदिक ब्राह्मणके घरमें लछमनदासका जन्म हुआ। साधुसेवा आपको बचपनसे ही प्रिय थी। दस वर्षकी अवस्थामें

घर छोड़कर साधुओंके साथ निकल गये और तबसे अपने गाँव लौटे ही नहीं। श्रीजगन्नाथपुरीमें जाकर संस्कृत पढ़ी और श्रीवैष्णवकी दीक्षा ली। तदनन्तर अठारह वर्षतक तीर्थोंमें पैदल भ्रमण किया। इनमें रामेश्वर, द्वारका, पण्ढरपुर, नासिक, पंचवटी, डाकोर, हरिद्वार, ऋषिकेश, बदरीनारायण, केदारनाथ, कुरुक्षेत्र, मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या, काशी, प्रयाग, चित्रकूट, कामाख्या, परशुराम, गंगासागर आदि तीर्थ प्रधान थे।

सन् १९०५ ईस्वीमें आप बस्तर राज्यकी राजधानी जगदलपुर पहुँचे। यहाँ स्व० महाराज रुद्रप्रतापदेवजीसे आपका साक्षात्कार हुआ और वहीं महाराजाके विशेष आग्रहपर आप श्रीकृष्णमन्दिरमें रहने लगे। यहाँ रहकर आपने उग्र तपस्याएँ कीं। तभीसे आप तपस्वीजी महाराज कहलाये। आप सदा हँसमुख ही देखे गये। ज्ञान और योगकी चरम सीमापर आकर आपका स्वभाव बालक-सा हो गया था। कई सिद्धियाँ आपकी मुट्ठीमें थीं। क्रोध तो आपको छूतक नहीं गया था। १९२२ में आपने श्रीजगन्नाथपुरीके लिये प्रस्थान किया; यही आपका महाप्रस्थान था।

आप आजीवन फलाहारी रहे। किसी मतमतान्तरके खण्डन-मण्डनमें नहीं पड़े। सिद्धियोंको आप साधनमार्गके विघ्न मानते थे। चमत्कारोंसे आपको बड़ी चिढ़ थी। ध्यानमें अपने भीतर आराध्यदेवका दर्शन भी आप आत्मसाक्षात्कार या साक्षात् दर्शन ही मानते थे। आप बराबर भक्तिका प्रतिपादन करते रहे और सूखे वेदान्तसे लोगोंको चिताते रहे। नामस्मरण और दानको इस युगका सबसे उत्तम धर्म मानते थे।*

श्रीगुलाबराव महाराज

(प्रेषक—श्रीशंकर जयरामजी सोमवंशी)

'क्या आपने ईश्वरको देखा है, और अगर देखा हो तो क्या आप मुझे भी ईश्वरके दर्शन करा सकते हैं?' किसी नास्तिकके ऐसे प्रश्नका 'हाँ' उत्तर देकर उस नास्तिकको परम आस्तिक भगवद्भक्त बना देनेकी क्षमता रखनेवाले संत-महात्माओंकी अखण्ड परम्परा भारतकी ऐसी विशेषता है, जिसके कारण उसका सिर संसारभरमें सदैव ऊँचा रह सकता है। श्रीगुलाबराव महाराज भी ऐसे ही महात्माओंमेंसे एक थे। श्रीमद् आद्य शंकराचार्यजीकी तरह अत्यन्त अल्प आयुमें मुमुक्षुजनोंके ज्ञानके लिये ज्ञानमार्ग प्रशस्त करनेका श्रेय भी आपको है। अस्तु।

आपका जन्म बरारमें अमरावतीके समीप माधान नामक ग्राममें शाके १८०३ आषाढ़ शुक्ल पक्षमें हुआ। आपके पिताका नाम था गोंदूजी तथा माताका अकोला-बाई। आप करीब नौ मासके थे, तभी आपके नेत्रोंमें विकृति होकर आपकी दृष्टि नष्ट हो गयी और आप अन्धे बन गये।

करीब छ: वर्षकी अवस्थामें एक दिन आप भोजन कर रहे थे। एकाएक आपने हाथमें ग्रास लिये हुए उसे फैलाया, मानो किसीको देना चाहते थे। मातामहीने पूछा, 'बेटा! यह क्या कर रहे हो?' आपने झट उत्तर दिया, 'किरीट, तिलक और कुण्डलधारी एक बालक आया था, बड़ा ही सुन्दर और चार हाथवाला। मैं यह ग्रास उसे दे रहा था।'

अन्धे होते हुए भी महाभारत, भागवत, रामायण, योगवाशिष्ठ आदि संस्कृत, ज्ञानेश्वरी आदि मराठी, तथा श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीके रामचरितमानस आदि ग्रन्थोंका बहुत गहरा ज्ञान आपको हस्तामलकवत् था। शास्त्र-ग्रन्थोंका समन्वय करके जिज्ञासु श्रोताओंका समाधान करना, अधिकारी जनोंको पत्रद्वारा उपदेश देना, यथासांग पूजनादि अर्चा करना यह आपका दैनिक कार्यक्रम था।

आपका ज्ञान अगाध और अद्भुत था, ऐसा कहनेमें जरा भी अतिशयोक्ति न होगी। एक बार किसी विद्वान्‌ने आपसे पूछा 'क्या पश्चिमीय तत्त्वज्ञानमें हमारे अध्यात्मशास्त्रकी तुलनाका कुछ है?' उत्तरमें आपने अफलातून सुकरातसे लेकर कांट, स्पेन्सर, मिल आदि तत्त्ववेत्ताओंके विचारकी आलोचना करके कहा 'वे तो अन्धकारमें टटोलते हैं। प्रकाश भारतीय तत्त्वज्ञान ही दे सकता है।'

शाके १८२४ (सं० १९५८)-में आपको श्रीज्ञानेश्वर महाराजने दर्शन देकर अनुगृहीत किया तथा वैदिक धर्म और कृष्ण-भक्ति (भागवतधर्म)-का प्रसार करनेकी आज्ञा दी, उस दिनसे आप ज्ञानेश्वर-कन्या कहलाते थे। व्रजगोपियोंकी तरह आप कात्यायनीव्रताचरण बहुत

* इस लेखमें पण्डित श्रीगंगाधारजी सामन्तके पत्रमेंसे भी कुछ सामग्री ली गयी है।—सम्पादक

श्रद्धाके साथ किया करते थे। उस पवित्र व्रताचरणके प्रति सम्मानप्रदर्शनार्थ आप गलेमें मंगलसूत्र और वेणी, कुंकुमादि सौभाग्यचिह्न हमेशा धारण किया करते थे।

आपको बार-बार श्रीकृष्ण-दर्शन होते थे। इतना ही नहीं, दूसरे लोगोंको भी रासलीला आदिके दर्शन आपने कराये थे। उनमेंसे कुछ लोग अभीतक जीवित हैं।

सांगोपांग कर्म, ज्ञान और अनन्य भक्ति—इन तीनोंका समन्वय एक जगह प्रायः देखनेमें नहीं आता। परन्तु आपमें तीनोंका साथ निवास था। अर्वाचीन चिकित्सक-दृष्टिकोणको निरुत्तर करनेयोग्य अनेकों गूढ़ रहस्य आपके जीवनमें स्वाभाविक दीख पड़ते थे। आपको एक दिन मौज सूझी। अपने दर्शनार्थ आये हुए लोगोंसे कहा कि 'तुम लोग अपना नाम मत बतलाना। मैं ही सबके नाम बताऊँगा।' फिर आप प्रत्येक व्यक्तिकी नाड़ी देखकर उनके नाम बतलाने लगे। दर्शनार्थियोंमें महाराष्ट्रके प्रसिद्ध ह० भ० परायण श्रीलक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर भी थे। उनको एकान्तमें ले जाकर आपने खास तौरपर उनके अनेकों पूर्वजन्मोंकी बातें बतलायीं और कब उद्धार होगा यह भी बतलाया।

शुद्ध धर्माचरण ही अभ्युदय और निःश्रेयस्का आधार है इसलिये देशके धार्मिक ह्रासपर आपकी बहुत कड़ी निगाह थी। आप धर्मनाशक अनिष्टकर साहित्य और बर्ताव देखते तो उसका बड़ा तीव्र परन्तु साधार खण्डन करते थे।

धार्मिक अधःपात और ढोंगियोंके दुष्कर्म देखकर भविष्यमें उसके दुष्परिणामसे देशको बचानेके लिये आपने बहुत ही श्रेष्ठ साहित्यकी रचना की। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि आपने शुद्ध मराठी भाषामें अनेकों प्रच्छन्न धार्मिक तत्त्वोंपर प्रकाश डालकर चिकित्सककी दृष्टिसे उन तत्त्वोंको सबके समझनेलायक समयानुकूल बना दिया! आप नाथसम्प्रदायी श्रीज्ञानेश्वरजीके भक्त थे और श्रीशंकराचार्यजीके मतके पूर्ण अनुयायी थे। आपको देह त्याग किये २२ वर्ष हो गये हैं। परन्तु आपके उच्चतम अमूल्य साहित्यकी ओर अभीतक पूरा लक्ष्य नहीं दिया गया है। महाराष्ट्रके सद्भाग्यसे इस साहित्यका प्रकाशनकार्य आरम्भ हुआ है और अबतक पाँच-छः भाग प्रकाशित भी हो चुके हैं, परन्तु अभी इससे दूनी सामग्री अप्रकाशित पड़ी है। भक्तोंको इस साहित्यका ग्राहक बनकर इसे आश्रय देना चाहिये। याद रखना चाहिये धर्मसेवा राष्ट्रसेवाका एक महान् अंग है।

तीन विलक्षण संत

(लेखिका—श्रीनलिनीदेवीजी तर्खड)

श्रीसाईंनाथजी महाराज

पूनासे लगभग पचास-साठ मीलकी दूरीपर शिरडी नामका एक छोटा-सा गाँव है। वहींकी एक मसजिदमें श्रीसाईंनाथ महाराज निवास करते थे। उनकी जाति वगैरहका तो किसीको पता नहीं है परन्तु यह सुप्रसिद्ध बात है कि वे एक बड़े ही विशुद्धाचरणवाले मस्त महात्मा थे। कभी उनके मुँहसे 'अल्ला मालिक' की ध्वनि सुनायी पड़ती थी तो कभी वे वेदान्तकी ऐसी सुगूढ़ चर्चाएँ किया करते थे कि जिन्हें सुनकर बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ पण्डित भी स्तब्ध हो जाया करते थे। अनुमानतः पचास वर्षोंसे श्रीसाईंनाथ महाराजने शिरडीको अपना निवासस्थान बनाया था। इतने समयमें उनका स्मरण और दर्शनलाभ करके कितने बीमार और दुःखग्रस्त मनुष्योंने स्वास्थ्य तथा सुखकी प्राप्ति की (जिनमें एक मैं भी हूँ)। एवं उन्होंने और भी कितने अद्भुत चमत्कार दिखलाये, इसकी कोई गणना नहीं है। स्थानाभावके कारण उन सबका वर्णन यहाँ हो भी नहीं सकता। पाठकोंकी जानकारीके लिये उनका केवल एक चमत्कार ही यहाँ लिखा जाता है।

श्रीसाईंनाथ महाराज जिस मसजिदमें निवास करते थे उसके सामने एक वैश्यका घर था, जहाँसे वे नित्य ही तेल माँगकर लाते थे और मसजिदमें रातको कई चिराग जलाया करते थे। कुछ दिनोंतक लगातार तेल देते रहनेके बाद वह वैश्य ऊब गया और एक दिन उसने श्रीसाईंनाथ महाराजसे 'नाहीं' कर दी। वैश्यने अपने मनमें यह भी सोचा कि 'देखें, आज रातको ये महाराज कहाँसे तेल लाकर चिराग जलाते हैं। भला यह भी कोई बात है कि मैं इस प्रकार इन्हें मुफ्त तेल दिया करूँ और ये रोज दीपावली मनाया करें।' निदान श्रीसाईंनाथजी महाराज वैश्यके इनकार करनेपर लौट गये। उन्होंने उस

दिन रातको दीपकोंमें तेलकी जगह पानी भरकर बत्तियोंको जला दिया। सभी चिराग रोजकी तरह ही जल उठे। बल्कि उस रातको उस मसजिदमें इतना प्रकाश हुआ कि वह और भी जगमगा उठी! यह देखकर वैश्यको बड़ा आश्चर्य हुआ और वह दौड़कर श्रीसाईंनाथ महाराजके चरणोंमें गिर पड़ा।

इसी प्रकार श्रीसाईंनाथ महाराजने और भी बहुत-से चमत्कार दिखलाये थे, जिनके कारण उनके नामकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी थी। तथा बड़े-बड़े विद्वान् और धनी-मानी लोग उनके दर्शनार्थ आते थे। शक संवत् १८४० के दक्षिणायाम प्रथम मासके शुक्लपक्षमें श्रीसाईंनाथ महाराजने समाधि ली थी। उस दिन दुर्गापूजाकी समाप्ति तथा बुद्धजयन्ती भी पड़ती थी। अभीतक शिरडीमें वह समाधि मौजूद है तथा जो लोग विश्वास और श्रद्धापूर्वक वहाँ जाते हैं, उनको श्रीसाईंनाथ महाराजकी प्रत्यक्ष अनुभूति भी होती है। गुरुपूर्णिमा, रामनवमी और गोकुल-अष्टमीको वहाँ बड़े-बड़े उत्सव मनाये जाते हैं तथा उनमें श्रीसाईंनाथ महाराजके हजारों भक्त एकत्रित होकर जीवनका फल लूटते हैं।

श्रीकेशवानन्दजी उर्फ धूनीवाले दादाजी

ये जातिके ब्राह्मण थे और हमेशा दिगम्बर रहा करते थे। व्यवहार इनका पागलोंका-सा होता था। कभी किसीको मार बैठते तो कभी किसीको माँकी भाँति प्यार करते थे। परन्तु इनकी मारमें भी कितना प्यार भरा रहता था, इसको वे अनेकों व्याधिग्रस्त मनुष्य ही जान सकते हैं जो केवल एक बारकी मार खाकर ही सदाके लिये व्याधिमुक्त बन गये हैं। जब दादाजी साईंखेड़ासे उज्जैन आये थे, तभी मैंने प्रथम बार उनके दर्शन प्राप्त किये थे। उस समय मुझको रोजाना थोड़ा-थोड़ा बुखार बना रहता था और मैं उससे तबाह हो चुकी थी। परन्तु ज्यों ही दादाजीने मुझको जोर-जोरसे दो-तीन डंडे जमाये कि वह बुखार न जाने कहाँ चला गया, जो फिर आजतक मेरे पास नहीं आया। केवल मेरे ही लिये ऐसी बात हुई हो, सो नहीं; मेरे-जैसे अनेकों रोगियोंको उनकी मारसे स्वास्थ्यलाभ हुआ था।

एक बार तो ऐसा हुआ कि साईंखेड़ाकी एक बाईका लड़का जिसके यहाँ रोज जाकर दादाजी भिक्षा लिया करते थे रातको मर गया, अत: उसके दूसरे दिन सबेरे जब दादाजी वहाँ पहुँचे तब वह बाई जोर-जोरसे चिल्लाकर अपने मृत पुत्रको दिखलाने लगी। इसपर दादाजीने कहा—'अरी पगली, रोती क्यों है, तेरा लड़का मरा थोड़े ही है।' और यह कहकर दादाजीने उस लड़केको एक लात मार दी। लड़का दो-तीन फीट उछल गया और रोने लगा। यह देखकर माताके आनन्दकी सीमा न रही। वह दादाजीके चरणोंसे लिपट गयी और अन्य लोग भी आश्चर्यचकित हो गये।

इतना ही नहीं, दादाजीने और भी अनेकानेक चमत्कार दिखलाकर लोगोंको चमत्कृत कर दिया था। स्थान-संकोचसे उनके अन्य चमत्कारोंका उल्लेख यहाँ नहीं हो सकता। सन् १९३२ में दादाजीने साईंखेड़ेमें समाधि लगायी थी। उनके समाधिस्थानपर स्मारक बना हुआ है तथा बड़े धूम-धामसे उसकी पूजा-अर्चा होती है।

श्रीबाबाजान

पूनामें बाबाजान एक सुप्रसिद्ध स्त्री-संत हो गयी हैं। सन् १९३१ की २७ सितम्बरको लगभग ११० वर्षकी अवस्थामें उन्होंने समाधि ली थी। वे कभी भी स्नान नहीं करती थीं, परन्तु उनके शरीरसे फूलकी-सी गन्ध निकलती थी। लोग कहते हैं कि उनका जन्म पेशावरके किसी सम्पन्न कुलमें हुआ था परन्तु इस बातका कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता है। बहुत दिनोंसे वे पूनामें ही आकर रहने लगी थीं। पहले तो वे एक नीमके वृक्षके नीचे ही धूनी लगाकर बैठी रहती थीं परन्तु जब उनके अनुभवोंके कारण धीरे-धीरे लोगोंमें उनकी मान्यता बढ़ गयी तब उनके लिये छप्परकी एक कुटिया बनवा दी गयी थी और उसीमें उनका निवास होने लगा था।

श्रीबाबाजान नियमितरूपसे हर गुरुवारको मेरे घरपर आया करती थीं। एक दिन अकस्मात् उन्होंने मेरी माँको बहुत पीटा और अपने नाखूनसे उसकी बाँहमें एक चन्द्राकार घाव बनाती हुई उसको गालियाँ देने लगीं। यह देखकर हम लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। किन्तु उस घटनाके सात-आठ रोज बाद फिर जो घटना घटी उसने उस दिनकी सारी लीलाका रहस्य खोल दिया। मेरी माँ श्रीबाबाजानके बैठनेकी जगहको (वे घरके भीतर नहीं आती थीं बाहर ही एक स्थानपर बैठा करती थीं) साफ कर रही थी, तबतक एक साँपने आकर उसकी उँगलीमें डँस दिया। माँने झटपट अपना

वस्त्र फाड़कर उस उँगलीको बाँधा, पर दर्द इतना असह्य हो गया कि पीछे उसने वह बन्धन ढीला कर दिया। बन्धन ढीला होते ही माँके सारे शरीरमें विष व्याप्त हो गया और वह बेहोश हो गयी। हम सब लोग घबरा गये। पर ज्यों ही माँको उठाकर श्रीसाईंनाथ बाबाके फोटोके सामने बैठाया गया और उनकी विभूति कुछ तो उसके मुँहमें डाल दी गयी तथा कुछ शरीरमें मल दी गयी, त्यों ही माँको होश आ गया। उसका सारा-का-सारा विष उसकी बाँहके उसी चन्द्राकार घावतक आकर ठहर गया, जिसको श्रीबाबाजानने उस दिन नाखूनसे बनाया था! इसपर सब लोग हर्षित हो गये और श्रीबाबाजानको बधाई देने लगे। श्रीबाबाजानके समाधिस्थानपर एक सुन्दर स्मारक बना हुआ है, जो उनकी स्मृतिको अक्षुण्ण रखे हुए है।

सद्गुरु श्रीपद्मनाभतीर्थ

(लेखिका—कुमारी कमलिनी मुडभट्कल)

श्रीपद्मनाभतीर्थ सावन्तवाड़ीके पाटगाँवमें पैदा हुए थे। पूरा नाम था सखाराम नारायण पाटकर। जातिके आद्यगौड़ ब्राह्मण थे। एक साधारण-सी मराठी पाठशालामें अध्यापक थे। विरक्ति हुई और पाठशाला छोड़-छाड़कर आप अक्कलकोट पहुँचे और वहाँ कुछ दिन अनुष्ठान किया। पीछे वहीं मौन स्वामीजीके दर्शन हुए। स्वामीजीने पूछा—तुम्हें क्या चाहिये? सखारामजीने उत्तर दिया—मुझे भगवान् चाहिये। स्वामीजीने कहा—तुम यहीं बैठे रहो तो तुम्हें भगवान् मिलेंगे। आप सात दिन एक आसनसे बैठे रहे और समाधि टूटनेपर **'सोऽहम्'** की ध्वनि की।

संन्यासकी आज्ञा लेनेके लिये माताके पास गये। माँ राजी नहीं हुई, तब इन्होंने माँको तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। माँकी इच्छा गंगास्नानकी थी, इसलिये आप माँके साथ पैदल चलकर काशी आये। यहाँ संन्यासके लिये माँने प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दे दी। एक बार आपने हिमालयसे रामेश्वरम्‌तक पैदल यात्रा की और भिन्न-भिन्न स्थानोंमें श्रीदत्तात्रेयकी मूर्तिकी स्थापना की। जो कुछ भी भिक्षा मिलती, बड़े प्रेमसे भगवत्प्रसाद समझकर पाते। इनके छोटे-बड़े तीस ग्रन्थ हैं। ये प्रस्थानत्रय और नैष्कर्म्यसिद्धिपर प्रवचन करते थे। आपके उपास्यदेव श्रीदत्तजी हैं। इस साधनामें गुरुकी उपासना, अजपाजाप, नादानुसन्धान, आत्मानात्मविचार, औपनिषदिक अद्वैतज्ञानका अनुभव और सर्वात्मदृष्टि मुख्य अंग हैं। चालीस वर्षकी अवस्थामें आपने महासमाधि ली।

भक्तराज श्रीपखारामजी

(लेखक—श्रीकृष्णशंकर केशवरामजी रैक्व)

सौराष्ट्र प्रान्तके उखरला गाँवमें पण्डित श्रीरामशंकर पाठककी धर्मपत्नी श्रीमूलीबाकी कोखसे संवत् १८५२ के लगभग इनका जन्म हुआ था। इनके और भी दो भाई थे। पिताकी आर्थिक स्थिति इतनी खराब थी कि नित्यकी भिक्षासे ही निर्वाह करना पड़ता। एक दिन रातको एक रोटीमें ही तीनों बालकोंको गुजर करना पड़ा। प्रात:काल पखारामने हठ किया कि मैं तो दूध-पूरी खाऊँगा। भाइयोंने भी साथ दिया। माँ समझाते-समझाते जब हार गयीं तब उनका भी हृदय द्रवित हो गया। वे रोने लगीं। भिक्षा लेकर पिताजी आये, यह दयनीय दशा देखकर वे भी अपनेको काबूमें नहीं रख सके, उनके आँसू रुकते ही नहीं थे। सबको रोते देखकर बालक पखारामने कहा, 'तुम लोग रोते क्यों हो? देखो! दरवाजेपर बछड़ेके साथ धौरी गौ खड़ी है और छींकेपर पूरियोंसे भरा थाल रखा है।' पहले तो विश्वास न हुआ परन्तु प्रत्यक्ष ही देखकर द्विजदम्पती चकित हो गये। सबने खाया और एक क्षणके बाद ही वह गौ अदृश्य हो गयी। तबसे इनके चमत्कारोंकी प्रसिद्धि हो गयी। थोड़े दिनोंमें इनके भाई, माँ-बाप आदि चल बसे, तब इन्होंने अपने मकानको धर्मशाला बना दिया और एक मन्दिर बनवाया। फिर वहीं रहकर लोगोंको भगवद्भक्तिकी

ओर अग्रसर करने लगे। इनके द्वारा स्थापित सदावर्त अब भी चालू है। इनके द्वारा अनेकों जीवोंका कल्याण हुआ। इनके बनाये भजन लोगोंमें बड़े प्रेमसे गाये जाते हैं।

श्रीऋषिराज महाराज

(लेखक—श्रीदुर्लभराम ज्येष्ठाराम भट्ट)

दयामय प्रभु जगत्‌में धर्मके उत्थानके लिये समय-समयपर स्वयं आते हैं। और समय-समयपर अपना दिव्य सन्देश संत-महापुरुषोंके द्वारा भेजते हैं। गुजरातको ऐसे संतोंके दर्शनका सौभाग्य प्राचीन कालसे होता आया है।

श्रीऋषिराजजी महाराजका जन्म अहमदाबादके बीस कोसपर सावरमती नदीके किनारे वरसोडा नामक गाँवमें हुआ था। पिताका नाम कुबेरजी त्रिपाठी और माताका नाम अम्बा बाई था। माताको पैंतीस वर्षकी अवस्थातक कोई सन्तान नहीं थी। आश्विन शुक्ला १ से नवमीतक आपने अम्बिका माताका नवरात्र-उपवास और अनुष्ठान किया। रातमें स्वप्न हुआ कि तुम्हें एक परम भक्तपुत्र प्राप्त होगा। जगदम्बाके वरदानसे ऋषिराजका आविर्भाव हुआ। बचपनमें आपका नाम हरजीवन था। सयाने होनेपर पासहीके एक गाँवमें सिद्ध वासुदेवानन्द ब्रह्मचारीके दर्शन तथा सत्संगका सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस सत्संगके कारण आपकी हृदय-गुफामें सोया हुआ वैराग्य जाग पड़ा। पूर्वजन्मके शुभ संस्कार थे ही। कवित्वशक्ति भी स्फुरित हुई। तीन रातमें सम्पूर्ण गीता कण्ठस्थ कर ली। आप जीवनभर गीता और विष्णुसहस्रनामका पाठ करते रहे। अन्तमें पचासी वर्षकी अवस्थामें लगभग एक हजार पृष्ठकी भक्तिरसपूर्ण टीका आपने गीतापर लिखी।

सनातनधर्म उनका जीवन था, उपासना ही प्राण थी। शम, दम, तप, त्याग और वैराग्यकी आप सजीव मूर्ति थे। जगत्‌से न्यारे रहकर आप गायत्री-पुरश्चरण करने लगे। सात वर्ष निराहार रहकर दो पुरश्चरण चौबीस लाख गायत्रीका अनुष्ठान किया। फिर सावरमतीके तटपर एक सुन्दर आश्रम और श्रीहनुमान्‌जीका मन्दिर तथा संत-साधुओंके लिये सदावर्त चलानेके हेतु धर्मशाला बनवायी जो आजतक सुरक्षितरूपमें चल रही है। गायत्रीके अनुष्ठानके कारण आपको वाक्-सिद्धि प्राप्त हो गयी। आप भक्तिका उपदेश करने लगे। उपदेशमें नामस्मरणपर विशेष जोर देते थे। आपके हजारों शिष्य हुए और आज भी हैं। गुजरातमें कोई भी ऐसा गाँव नहीं है जहाँ आपके नामकी गूँज न हो।

आप भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य उपासक थे। द्वादशाक्षरी महामन्त्रके जपमें आपकी अद्‌भुत निष्ठा थी। श्रीशालिग्रामजीकी मूर्तिकी पूजा आजीवन करते रहे। बहुत कम बोलते थे। गीताकी दैवीसम्पत्तिपर आपका विशेष आग्रह था। आपसे जो कोई भी उपदेश माँगता आप उसे सदाचारपूर्वक रहनेका ही आदेश करते।

आपको सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत तथा गीतादि पञ्चरत्न कण्ठस्थ थे। श्रुति-स्मृतिके पारदर्शी पण्डित थे। फिर भी वितण्डावादसे विरक्त थे। ये इस बातको बार-बार अपने शिष्योंमें सुनाते कि 'संसारमें तुम रोते हुए आये हो, ऐसा करो कि जाते समय पूर्ण आनन्दके साथ जाओ।' राम, कृष्ण, हरि, गोविन्दकी धुन जब आपको लगती तो ऐसा मालूम होता मानो अमृत बरस रहा है। अतिथि-सत्कारमें आपका चित्त बहुत रमता था। दुःख और सुखमें समानरूपसे प्रभुस्मरणकी शिक्षा आप दिया करते थे। आपके कुछ उपदेश हम यहाँ दे रहे हैं—

किसी जीवकी हिंसा कदापि नहीं करना। किसी प्रकारका नशा नहीं करना। मदिरापान, चोरी, परस्त्रीगमनका बड़ी दृढ़तासे सख्त त्याग करना। वेद, देव, ब्राह्मणकी कभी निन्दा नहीं करना। असत्य वचन कभी नहीं बोलना। बाह्य और आन्तरिक पवित्रतापर विशेष ध्यान रखना। दयासे प्रभु राजी होते हैं। वर्णाश्रम-धर्मकी कभी अवहेलना नहीं करना। श्रीहरिकी नवधा भक्ति जन्म-मरणका नाश करनेवाली है।

आपके लिखे बहुत ही सुन्दर गीत और भजन मिलते हैं जो स्थानके संकोचसे यहाँ दिये नहीं जा सकते।

संवत् १९८१ चैत्र शु० ११ को मध्याह्नके समय आपने पद्मासन लगाकर शरीर छोड़ दिया।

हका भगत

(लेखक—श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

काठियावाड़के मोरवी राज्यान्तर्गत सादुकड़ा ग्राममें सं० १८८४ में हका भगतका जन्म हुआ। पिताका नाम जसराज भाई और माताका नाम अज बाई था। माता-पिता भगवान् श्रीमहादेवजीके परम भक्त थे। हका भगत बचपनमें ही माता-पिताको खो बैठे। आपने बहनोईके पास एक छोटी-सी दूकान कर ली और आपकी जीविका तथा संत-सेवा इसीसे चलने लगे। अखण्ड ब्रह्मचर्यका व्रत लेकर भगवान्की भक्ति करने लगे। संतसमागममें विशेष श्रद्धा थी। युवावस्था थी। ब्रह्मचर्य और भक्तिके प्रतापसे उनके मुखमण्डलपर दिव्य प्रकाश था, नेत्रोंमें शान्तिकी चमक थी। सदा नामस्मरण करते रहते थे। सादे और स्वच्छ वस्त्र पहनते थे। गलेमें रुद्राक्षकी माला थी। महात्मा जीवणदास आपके गुरु थे। रातको अपने सोनेके कमरेमें किसीको सोने नहीं देते थे। कहते हैं, रातको एकान्तमें साक्षात् भगवान्से इनकी बातें होती थीं।

तीन बातोंपर आप बहुत जोर देते थे—(१) मन, वचन, कर्मसे ब्रह्मचर्यपालन, (२) सदा—सदैव हरिनाम-का स्मरण, (३) साधु-सेवा और गरीबोंको अन्न-वस्त्र देना। आपको अनेकों सिद्धियाँ प्राप्त थीं परन्तु आपने कभी उनका प्रदर्शन नहीं किया। आपके विलक्षण कर्मोंकी अनेकों घटनाएँ हैं जो स्थानाभावसे यहाँ दी नहीं जा सकतीं। लगभग अट्ठानवे वर्षकी आयुमें सं० १९८२ के पौष कृष्णा दशमी शनिवारको आपने अपनी आत्मा प्रभुको सौंप दी।

श्रीमद् उपेन्द्राचार्यजी

(लेखक—बड़ोदानिवासी साधकवर्ग)

परम धार्मिक आद्यगुरु श्रीनृसिंहाचार्यजीके यहाँ सं० १९४२ कार्तिक कृष्णा १ मंगलवारको अपने मामाके घर बिसनगरमें इनका जन्म हुआ था। बचपनमें ही ये बड़े प्रतिभासम्पन्न थे। इनके पिता लोगोंको वेदान्तकी बात सुनाते तो ये दूसरे समय उसे दुहरा दिया करते थे। केवल छठें दर्जेतक अंग्रेजी पढ़े होनेपर भी ये संस्कृत और अंग्रेजीका अच्छा ज्ञान रखते थे। बारह वर्षकी अवस्थामें पिताका देहावसान हो जानेपर सद्गुरुका महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व इनके सिर आ पड़ा। उस समय वहाँसे निकलनेवाले 'महाकाल' नामक पत्रके सम्पादक श्रीछोटेलाल जीवनलाल मास्टरने, जो कि इनके पिताके शिष्य थे, सारा भार सँभाल लिया। वयस्क होनेपर इन्होंने अपना काम सँभाला। शास्त्रीय सदाचारके ये बड़े पक्षपाती थे। चरित्रगठनके लिये इन्होंने बड़ोदेमें एक आश्रम खोल रखा है। गुजराती भाषामें इन्होंने अनेकों ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें दैवी सम्पत्ति और दैवी शक्तियोंका विशद प्रकाश हुआ था। ये सर्वदा परोपकारमें लगे रहते थे। सं० १९९३ पौष कृष्ण ६ सोमवारको योगासनसे स्थिर होकर आशीर्वादात्मक मुद्रासे स्वस्वरूपमें लीन हुए।

श्रीमद् राजचन्द्र

(लेखक—पं० श्रीशोभाचन्द्रजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ)

'हमलोग संसारी हैं, श्रीमद् असंसारी थे। हमें अनेक योनियोंमें भटकना पड़ेगा, श्रीमत्को कदाचित् एक जन्म बस होगा। कदाचित् हमलोग मोक्षसे दूर भागते हैं पर श्रीमद् वायुवेगसे मोक्षकी तरफ बढ़ते चले जाते थे।' —महात्मा गाँधी

जैनसमाज जिसे पचीसवाँ तीर्थंकर कहकर सम्मानित करता और पूजता है, समूचे गुजरातमें जिसका नाम भक्ति और विरक्तिका एक अमोघ मन्त्र माना जाता है, बीजकी भाँति आच्छादित रहकर जिसने गाँधी-जैसे मधुर फल उत्पन्न किये हैं, जनताको जिसने एक विशिष्ट और नवीन विचारधारा प्रदान की, उस संतसत्तम श्रीमद् राजचन्द्रको इधर हमलोग कम जानते हैं। श्रीमद् राजचन्द्र आधुनिक कालके एक महान् संत हैं। गुजरातमें उनके नामपर अनेक आश्रम स्थापित किये गये हैं और

वे धर्मके क्षेत्रमें उदारता और साम्यके सुनहरे सिद्धान्तोंका यथाशक्ति प्रचारकर बड़ी भारी आवश्यकताकी पूर्ति कर रहे हैं।

श्रीमत्‌के आदर्श जीवनका परिचय थोड़ी-सी पंक्तियोंमें नहीं दिया जा सकता। अतएव यहाँ उनके जीवनकी थोड़ी-सी बातें बताकर यही कह देना उपयुक्त होगा कि संत, भक्त और मुमुक्षुजन 'श्रीमद् राजचन्द्र' नामक गुजरातीका विशाल ग्रन्थ पढ़ें। लेखकको विश्वास है कि श्रीमत्‌के जीवन-परिचयपाठीको संतापके समय शान्ति प्राप्त होगी, उसकी विरक्ति और आत्मनिष्ठामें चार चाँद लग जायँगे। 'श्रीमद् राजचन्द्र' वास्तवमें अध्यात्मका खजाना है।

श्रीमद् राजचन्द्रका जन्म विक्रम सं० १९२४ में कार्तिक शुक्ला १५ को काठियावाड़के मोरवी राज्यान्तर्गत बवाणिया ग्राममें हुआ था। उनके पिता श्रीरवजी भाई वैष्णव भक्त थे और माता श्रीदेवाबाई जैनधर्मानुयायिनी थीं। अनेक जन्मान्तरोंकी साधनाका फल लेकर वे इस जन्ममें अवतीर्ण हुए थे। सात वर्षकी उम्रमें ही उन्होंने विदेहदशा प्राप्त कर ली थी। बचपनसे ही उनकी स्मरणशक्ति अद्‌भुत थी। नौ-दस सालकी उम्रमें उन्होंने महाभारत और रामायणकी पदोंमें रचना की थी। एक ही दिनमें तीन सौ श्लोक रचे थे परन्तु दुर्भाग्यवश वे सब अलभ्य हैं। चौदह-पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें उन्होंने अष्टावधान किये थे और उन्नीसवें वर्षमें तो वे 'शतावधानी कवि' के असाधारण गौरवको प्राप्त कर चुके थे। एक साथ सौ विषयोंपर लक्ष्य—व्यापार रखना शतावधान कहलाता है। इन विषयोंमें भिन्न-भिन्न भाषाओंके शब्दोंको उलट-पुलटकर कहा जाता है, कविताएँ बोली जाती हैं, घंटेके टंकोरे गिनते-गिनते गणितके कठिन-से-कठिन प्रश्न हल किये जाते हैं, तत्काल बताये हुए विषयपर कविता रचकर सुनानी पड़ती है। ऐसी-ऐसी सौ बातोंपर एक साथ खयाल रखना बड़ा ही कठिन काम है। इसकी दुरूहताको वही लोग कुछ-कुछ समझ सकते हैं जिन्हें अवधान-प्रयोग देखनेका अवसर मिला हो।

पिताके पास दूकानपर बैठकर भी आप अधिक समय शास्त्राध्ययनमें ही बिताया करते थे। वे स्वयं लिखते हैं कि मैंने कभी किसीको कम-ज्यादा भाव नहीं कहा और न किसीको कम तौलकर दिया। पितामहके साथ वे वैष्णव-मन्दिरोंमें जाया करते थे और रसपूर्वक कथा श्रवण किया करते थे। पीछे जब जैनसूत्र पढ़नेका मौका मिला तो उसे भी ध्यानपूर्वक पढ़ने लगे।

सोलह वर्षकी उम्रमें श्रीमत् सुन्दर भावपूर्ण और वैराग्यरसपरिपूर्ण कविता करने लगे थे।

श्रीमद् राजचन्द्र चौंतीस वर्षकी उम्रमें ही स्वर्गवासी हो गये। इतनी अल्प आयुमें उन्होंने जो आध्यात्मिक उन्नति की वह आश्चर्यजनक है। वे अपने अनुभवोंको कुछ-कुछ स्थूल रूप दे गये हैं और उनके द्वारा निर्मित बृहत्काय साहित्य अब भी मौजूद है। गाँधीजीके शब्दोंमें—'श्रीमत्‌के लेखकी असाधारणता यह है कि उन्होंने जो अनुभव किया है वही लिखा है। उसमें कृत्रिमता नहीं है। दूसरोंपर छाप लगानेके लिये एक पंक्ति भी लिखी हो ऐसा मैंने नहीं देखा।'

महात्मा गाँधी जब विलायत गये तो एक बार हिन्दूधर्ममें उन्हें बड़ी शंका उत्पन्न हुई। उनका झुकाव क्रिश्चियन धर्मकी ओर होने लगा। सौभाग्यसे उन्होंने ईसाई बननेसे पहले अपनी आशंकाएँ मुख्यतः श्रीमत्‌के समक्ष रखीं। श्रीमत्‌के समाधानसे गाँधीजीको सन्तोष हो गया। गाँधीजी कहते हैं—'हिन्दूधर्ममें मुझे जो चाहिये सो मिल सकता है, मनमें ऐसा विश्वास हुआ। मुझे शान्ति मिली। इस स्थितिका श्रेय राजचन्द्र भाईको है। उनके प्रति मेरा कितना आदर होना चाहिये!' गाँधीजी श्रीमद् राजचन्द्रके प्रगाढ़ परिचयमें रहे हैं। राजचन्द्रके जीवन-साहित्यके पाठक भलीभाँति समझ सकते हैं कि गाँधीजी आज जिन आध्यात्मिक और राजनीतिक सिद्धान्तोंपर चल रहे हैं उनका मूलरूप श्रीमत्‌से ही ग्रहण किया गया है। गाँधीजीने इसे स्वयं स्वीकार भी किया है।

अनेक साधक जिस साधना और तन्मयताको प्राप्त करनेके लिये जंगलोंकी खाक छानते हैं, वह श्रीमत्‌को जन्मान्तरके संस्कारोंद्वारा स्वतः प्राप्त थी। उनका योग—मानसिक व्यापार—इतनी स्थिरता और दृढ़ता प्राप्त कर सका था कि 'भवने वने वा' निवास उनके लिये भिन्न नहीं रह गया था। खाते-पीते, उठते-बैठते—प्रत्येक क्रिया करते समय वे अन्तर्मुख ही रहते थे। सम्भवतः इसीलिये न तो उन्हें गृह-परित्याग ही अनिवार्य प्रतीत हुआ और न साधुका अमुक वेष ही उन्होंने कभी स्वीकार किया। वे राजा जनककी भाँति

गृही योगी थे।

यद्यपि श्रीमत् जैन थे, जैनधर्मके प्रति उनके हृदयमें विशेष आदर था पर अन्य धर्मोंसे उन्हें जरा भी वैमनस्य न था। आध्यात्मिक ग्रन्थ, चाहे वह वैदिकपरम्पराका हो, जैनपरम्पराका हो या अन्य किसी भी परम्पराका हो, वे बड़ी रुचिसे पढ़ते थे। किसी भी ग्रन्थको एक बार पढ़कर ही वे उसका सार निचोड़कर मस्तिष्कमें रख लेते थे।

श्रीमद् राजचन्द्रके अनुपम उपदेश-पीयूषके कुछ बूँद यह हैं—

(१) विशाल बुद्धि, मध्यस्थता, सरलता और जितेन्द्रियता; ये गुण जिस आत्मामें हों वही 'तत्त्व' को प्राप्त करनेका पात्र है।

(२) भक्ति पूर्णताको तब पहुँचती है जब तिनका-जैसी तुच्छ वस्तुकी भी 'हरि' से याचना न की जाय।

(३) दृष्टिविष दूर हट जानेके पश्चात् कोई भी शास्त्र, कोई भी अक्षर, कोई भी कथन, कोई भी वचन और कोई भी स्थल प्राय: अहितका कारण नहीं हो सकता।

(४) उस एक ही वस्तुका परिचय करना उचित है, जिसके परिचयसे अनन्त प्रकारका परिचय निवृत्त हो जाता है।

(५) मनुष्यको जबतक संतका योग न मिले तबतक उसे मत-मतान्तरमें मध्यस्थ रहना चाहिये।

(६) मैं अपने अनुभवसे यह कहनेके लिये अचल हूँ कि पुनर्जन्म है, अवश्य है।

(७) आत्मज्ञान अथवा मुक्ति न तो किसीके शापसे अप्राप्त होती है, न किसीके आशीर्वादसे प्राप्त होती है। वह तो पुरुषार्थपर निर्भर है।

संत श्रीलघुराजस्वामी

(लेखक—श्रीसोभागचन्द चुन्नीलाल शाह)

गुजरातके भालप्रदेशके वटामण ग्राममें संवत् १९१० वि० की आश्विन कृष्ण १० को श्रीमद् लघुराजस्वामीने जन्म ग्रहण किया। उनके पिता कृष्णदासगोपालजी और माता कुशलादेवी जैनधर्मानुयायी थे। जन्मसे पहले ही पिताका देहावसान हो जानेके कारण ये बड़े लाड़-प्यारसे पाले-पोसे गये। थोड़ा-बहुत लिखना-पढ़ना सीखनेके बाद ही इन्होंने पढ़ाई छोड़ दी और पिताके न होनेसे बचपनमें ही गृहस्थका सारा भार इनपर आ पड़ा। घर धन-सम्पत्तिसे पूर्ण था और स्वभाव भी बड़ा मिलनसार, सरल और उदार था। अत: गाँवके सभी लोग इनसे प्रेम करते थे। विवाह होनेके कुछ ही दिन बाद पत्नीका देहान्त हो गया। दूसरा विवाह किया गया और २७ वर्षकी उम्रतक प्रतिष्ठित और सुखमय जीवन व्यतीत करनेपर ये एक बार बड़े भयानक बीमार पड़े। सब लोगोंने बचनेकी आशा छोड़ दी। पूर्वजन्ममें किये हुए साधुसंगके प्रभावसे इनके अन्त:करणमें यह भाव उदय हुआ—'पूर्वजन्मके अच्छे कर्मोंके फलस्वरूप इस जन्ममें सुख मिला लेकिन इस जन्ममें अभीतक कोई शुभ कर्म नहीं बना; अगर यों ही मर गये तो न मालूम भावी जीवनमें क्या दशा होगी? यदि इस बार इस बीमारीसे छुटकारा पा जाऊँ तो गृहस्थ त्यागकर साधु हो जाऊँगा।' दैवयोगसे थोड़े समयमें ही ये स्वस्थ हो गये और अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार बिना किसीसे कहे-सुने साधु बननेके लिये चल पड़े। खम्भातगच्छके स्थानके निवासी मुनि श्रीहरखचन्दजीके पास जाकर इन्होंने दीक्षाके लिये प्रार्थना की परन्तु बिना माताकी आज्ञाके उन्होंने दीक्षा देना अस्वीकार कर दिया। मुनिजीकी आज्ञासे कुछ दिनके लिये घर चले गये और वहाँपर दो साल बाद संवत् १९४० में उनको पुत्रप्राप्ति हुई। यह समाचार सुनते ही वे मुनिके पास दीक्षाके लिये चल पड़े परन्तु मुनिने फिर वही अनुमतिका प्रश्न उठाया। अन्तमें मुनिके उपदेशसे और पुत्रके वैराग्यको देखकर आखिर माताने आज्ञा दे दी।

संवत् १९४० की ज्येष्ठ कृष्ण ३ को बड़े धूमधामसे महाराज श्रीहरखचन्द्रजीने खम्भातमें उन्हें दीक्षित किया। इस प्रकार ३० वर्षकी अवस्थामें उनके जीवनका पट-परिवर्तन हो गया।

साधु-अवस्थामें इनकी प्रशंसा बढ़ चली। अपने उस गच्छके तेरह-चौदह साधुओंमें ये ही अग्रगण्य थे। अनेक प्रकारके तप, योग एवं ध्यानादिकी क्रियाएँ कीं।

एक दिन भोजन और दूसरे दिन उपवास इस तरह पाँच वर्षतक करते रहे परन्तु जिस शान्तिकी अभिलाषासे घर-बार छोड़ा था वह इन्हें अभीतक प्राप्त नहीं हुई। आत्मज्ञानका उदय नहीं हुआ, मनके विकार और पूजा-सम्मान आदिकी लालसा न मिटी, मनको शान्ति नहीं मिली। इसी बीच महात्मा श्रीमद् राजचन्द्रके खम्भातके अनुयायियोंके संसर्गमें आनेसे श्रीमत्के प्रति श्रद्धा पैदा हो गयी। संवत् १९४६ में श्रीमत्के पहले दर्शनसे ही इनके मुनित्वका सारा अभिमान गलित हो गया। श्रीमद् राजचन्द्रजी अवस्थामें छोटे होनेपर भी इनका उनमें गुरुवत् पूज्यत्वका भाव हो गया। श्रीमत्के बताये हुए रसास्वादत्यागके उपायोंसे इनके मनोविकार शान्त हो गये और अन्त:करणमें निर्मलता आने लगी। संवत् १९४९ में बम्बईमें पुनर्मिलन होनेपर आत्मकल्याणके मार्गका विशेष बोध हुआ। संवत् १९५१ वि० में सूरतमें इनके बहुत अधिक अस्वस्थ हो जानेपर श्रीमत्ने इनकी सान्त्वनाके लिये 'आत्मा है' इस विषयपर विवेचनापूर्ण पत्र लिख भेजा जिसे पढ़कर इनके अन्तर्भाव और भी वृद्धिको प्राप्त हुए। सं० १९५४ वि० में चरोतर वसोक्षेत्रमें एक महीनेके श्रीमत्के समागमसे इनकी साधना सफल हो गयी। आत्माका यथार्थ निश्चय हो गया, आत्मानुभवके आनन्दसे अन्त:-करण आह्लादित हो गया। सं० १९५५-५६ में ईडरके समागममें उस अनुभवकी विशेष दृढ़ता हुई। इनके श्रीमत्के साथ और भी अनेक बार समागम हुए जिससे इन्हें साधनामें अग्रसर होनेमें अधिकाधिक सहायता मिली। संवत् १९५७ में श्रीमत्की निर्वाणप्राप्तिका समाचार सुनकर आपको बड़ा दु:ख हुआ और उस दिन सारे दिन और रात्रिभर उपवास करके भक्तिभाव-पूर्वक जंगलमें पड़े रहे। संवत् १९६८ में खम्भातमें समुद्रतटपर रहकर उन्नीस दिन-राततक बिना निद्रा लिये अखण्ड भक्तिसाधना की। ये खम्भात, नड़ियाद, करमाळा आदि स्थानों एवं गिरनारके भयंकर जंगलोंमें विचरण करते रहते थे। इसीसे लोग इन्हें 'वगडाऊ मुनि' कहने लगे थे। श्रीमत्के वियोगका समय भक्ति-भावको उन्नत करनेवाले स्थानोंमें ही बिताते थे। खाने-पीनेकी कोई परवा न करनेसे शरीर कृश और रोगग्रस्त हो गया। १९७६ वि० में भक्तोंके विशेष आग्रहके कारण चरोतरमें संदेसर ग्रामके समीप आगास स्टेशनपर कुछ कमरे बनवाये गये और ये वहाँ रहने लगे। अब धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते वह एक बड़ा सुरम्य आश्रम बन गया है। इसीके पास देवालय, ज्ञानमन्दिर आदि भजनस्थानोंके अतिरिक्त एक सुन्दर धर्मशाला भी है। आश्रमका नाम गुरुदेवके स्मारकरूपमें 'श्रीमद् राजचन्द्र-आश्रम' रखा गया है। वहाँपर आजकल भी सम्प्रदायका कोई भेद न रखकर वैष्णव, जैन आदि सभी आत्मकल्याणकी ओर बढ़ रहे हैं। स्वामीजीने मारवाड़, सूरत जिला और दक्षिणमें भी भ्रमण किया था। संवत् १९९२ की बैशाख शुक्ल ८ को स्वामीजी समाधिस्थ हुए।

श्रीमद् राजचन्द्र महाराजके मिलनेके बाद स्वामीजीका सारा जीवन उनके आज्ञानुकूल आचरणमें ही बीता। उनके प्रवचनोंमें मुक्तिके सर्वसुलभ साधन सत्संगपर ही विशेष जोर रहता था। उनका खास उपदेश था कि सत्पुरुष ही सत्प्रतीतिका सर्वोत्तम साधन है। उनकी भक्ति ही मुक्तिदायिनी है। उनकी आज्ञाका पालन और उसके अनुसार जीवन बना लेना ही मनुष्यके लिये हितकर है। वे सत्-शास्त्रोंका मनन, इन्द्रियनिग्रह, मिथ्याग्रहका त्याग और शुभ अनुष्ठानकी आवश्यकतापर बराबर जोर देते रहते थे!

स्वामी श्रीमोहनगिरिजी

(लेखक—धांची श्रीचूनीलाल चेलदासजी मोट)

स्वामी मोहनगिरिके पिता श्रीरामेश्वरगिरिने अपने गुरुसे छिपाकर विवाह कर लिया था अतएव गुरुने रुष्ट होकर इन्हें मठसे अलग कर दिया। समय पाकर जब मोहनगिरिका जन्म हुआ तो गुरुने कृपाकर पितासहित इनको मठमें बुलवा लिया। पिता और गुरुके देहान्तके अनन्तर आपपर ही मठका सारा भार आ पड़ा। मठका काम हाथमें लेनेके कुछ ही दिन बाद आप तीर्थयात्राके लिये निकल पड़े। बदरिकाश्रममें किसी सिद्ध योगिराजके उपदेशसे इनके मनमें वैराग्यका पूर्णरूपसे उदय हो गया और इन्हें सत्यासत्यका तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया। संवत्

१९५८ में ये मठमें आकर एकाग्रमनसे, सब कामकाज छोड़कर आत्मचिन्तनमें लग गये। मठमें रखा हुआ एक प्राचीन योगग्रन्थ इन्हें मिल गया, जिसके अनुसार आप अभ्यास करने लगे। समाधि लगने लगी। भजन और योगाभ्यासका प्रभाव जनसाधारणके सामने आया और सहस्रोंकी संख्यामें आपके शिष्य होने लगे। रातमें आप शिष्योंको योगाभ्यास तथा भगवद्भजन कराते।

पन्द्रह-बीस वर्षतक आप जीवन्मुक्तस्थितिमें रहे। हर समय ब्रह्मानन्दमें मग्न रहते। अपनी मृत्युकी भी बात इन्हें बहुत पहले मालूम थी। आपने सेवकोंको समाधि खोदनेकी आज्ञा दी और आप सूक्ष्मशरीरसे हरिद्वार जाकर माँ भागीरथीमें लीन हो गये। बड़ौदा स्टेटके बलोल नामक गाँवमें इनकी समाधिपर सिद्धेश्वर महादेव नामक एक स्मारक मन्दिर बना है।

मस्त माधवदासजी

(लेखक—श्रीमाणिकलाल शंकरदासजी राणा)

इनका जन्म संवत् १६०१ कार्तिक शुक्ल पूर्णिमाको सूरतके सौदागरगंजमें श्रीकरवतसिंहकी धर्मपत्नी हिरलदेवीसे हुआ। ये सिसौदियावंशके सूर्यवंशी राजपूत थे। बचपनमें ये घरकी चीजें चुरा-चुराकर भिखमंगोंको बाँट दिया करते थे। एक महात्माने इनकी मुखाकृति देखकर संत होनेकी बात कही थी। परन्तु इनका पूर्व जीवन अच्छा न रहा। बहुत दिनोंके बाद जब ये घर लौटकर आये तब माता बीमार थी। उसे इस बातका बड़ा दु:ख था कि मेरा पुत्र सदाचारी नहीं हुआ। संयोगवश उसी समय एक मुर्दा जा रहा था। माताने इनको मृत्युकी याद दिलाकर बहुत कुछ समझाया-बुझाया और कहा—'देख! तेरी भी एक दिन यही दशा होगी, क्यों अभिमानमें फूल रहा है, किसलिये मिथ्या गर्व करके विषय-सेवनमें अपना अमूल्य जीवन खो रहा है?' ये रोने लगे। माताकी बात लग गयी। बड़ा पश्चात्ताप हुआ। तुरन्त सद्गुरु समर्थदासकी शरणमें गये। उन्होंने अपने शिष्योंका सिर माँगा। इस परीक्षामें ये सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए। गुरुने पुनः जीवित कर दिया और अपनी शक्तिसे इनका जीवन भजनमय बना दिया, तबसे ये तीर्थयात्रामें ही रहे। इनका जीवन भजन और सिद्धिमय हो गया। इक्यावन वर्ष आठ महीने पन्द्रह दिनकी आयु समाप्त करके संवत् १६५२ आषाढ़ कृष्ण पूर्णिमाको प्रात:काल इन्होंने अपना शरीरत्याग किया। तीन सौ वर्ष बीतनेपर भी घर-घरमें आज इनकी जय बोली जाती है। धन्य है!

श्रीमोटा महाराज

(लेखक—पं० श्रीजगन्नाथजी)

दाजीभाई जानी नामक एक महात्मा बड़ौदाके पास मंजुसर गाँवमें संवत् १८८० के माघ शुक्ल पंचमीके दिन अवतरित हुए थे। वे नांदोरा जातिके ब्राह्मण थे। एक बार ज्ञानेश्वर नामक एक अवधूत इनके गाँवमें आये। सारे गाँवमें घूमनेपर भी उनको कहीं भिक्षा नहीं मिली। वे वापस लौट रहे थे कि जल भरके लौटती हुई मोटा महाराजकी पत्नी उनको मिली और बहुत आग्रह करके उनको भिक्षाके लिये अपने घर लिवा लायी। मोटा महाराजने उनकी बहुत सेवा की। अवधूत महाराज बहुत प्रसन्न हुए और बोले कि 'आप इस ग्राममें सदावर्त शुरू कर दीजिये।' मोटा महाराज बोले—'मैं तो गरीब ब्राह्मण हूँ, सदावर्त कहाँसे चलाऊँ?' अवधूतने कहा—'कोई चिन्ता मत करो, सब चलेगा।' यों कहकर अवधूत गाँवके बाहरके शिवालयमें चले गये। संतकी कृपासे सदावर्त चलने लगा।

होते-होते मोटा महाराज भी सिद्ध महात्मा हो गये। उनमें बहुत-सी सिद्धियाँ प्रकट हो गयीं। अपने पास आनेवाले किसी भी पुरुषके मनके भावको वे जान जाते थे। इनके दौहित्र श्रीमुगटरामपर इनका बड़ा प्रेम था। महाराज कहा करते थे कि मैंने जो कुछ किया इससे बहुत अधिक यह मुगटराम करेगा। अन्तमें संवत् १९५६ के श्रावण शुक्ल सप्तमीको महाराजने मुगटरामको एकान्तमें ले जाकर उसके मस्तकपर हाथ फेरते हुए अपना देहत्याग किया। मंजुसरमें जहाँ उनका अग्निदाह किया गया था वहाँपर समाधि बनी हुई है।

श्रीमुगटराम महाराज

(लेखक—पं० श्रीजगन्नाथजी)

ये मोटा महाराजके दौहित्र थे। इनका जन्म संवत् १९३० में बैशाख सुदी ५ को हुआ था। अपनी जन्मभूमि छोड़कर ये बचपनसे ही मोटा महाराजके पास रहते थे। मोटा महाराजकी आजीविका खेतीसे चलती थी। एक बार उनके खेतका पानी बाहर निकल रहा था तो उन्होंने मुगटरामको आज्ञा की कि जाकर प्रबन्ध करो। मुगटरामके प्रयत्न करनेपर भी जब पानी नहीं रुका तो वे स्वयं लंबे पड़ गये और पानी जाना रोक दिया। ऊपरसे वर्षा हो रही थी। जब रात बीतनेपर भी मुगटराम नहीं लौटे तो मोटा महाराज खोजने निकले और खेतमें पानी निकलनेके स्थानपर उनको पड़ा देखकर उनपर मोटा महाराजने विशेष कृपा की।

यद्यपि मुगटराम महाराज बहुत ही साधारण पढ़े-लिखे थे परन्तु वे सब कुछ जानते थे। वार्तालापमें अनेक शास्त्रोंके अनेक विषयोंमें प्रमाण, अनेक भाषाओंमें बात करना आदि उनके लिये साधारण था। रास्ते चलते-चलते वनस्पतियोंको देखकर उनके गुणोंका वर्णन करने लगते थे। एक बार यह पूछनेपर कि आप यह कैसे जानते हैं, महाराज बोले कि 'रास्ते चलते समय ये वनस्पतियाँ मुझसे कहती हैं कि हममें ये-ये गुण हैं।' कहीं पृथिवीमें धन गड़ा हुआ होता तो महाराज देख लेते। कोई यन्त्र बिगड़ गया हो और इंजीनियरको पता न लगे कि कहाँ बिगड़ा है तो महाराज बता देते। और कहते कि यहाँसे ठीक करो। स्वर्ग, पाताल, पितृलोक इत्यादि लोकान्तरोंको महाराज प्रत्यक्षवत् देखते थे। यह बात उन्होंने स्वयं स्वमुखसे इस लेखकको कही थी।

महाराज अद्भुत सामर्थ्यवान् थे। हजारों प्रसंगोंपर उनके चमत्कार देखे गये थे। ब्राह्मणभोजनके समय वर्षा रोक देना, मोटरमें पेट्रोल कम पड़ जानेपर जलसे उसे चलाना, पुत्रहीनोंको पुत्र देना, असाध्य रोगोंको दूर कर देना, यहाँतक कि आपके मुखसे जो निकल जाता वही सच्चा हो जाता।

इस प्रकार अनेक प्रकारकी लीला करके सं० १९८० के चैत्र शु० १४ को महाराज परलोकवासी हुए। जिस स्थानपर आपका अग्नि-संस्कार हुआ था उसपर समाधि बनी हुई है और अनेक मनुष्य दर्शन करने जाते हैं।

श्रीनारायणदासजी स्वामी

(लेखक—पं० श्रीहरिप्रियदासजी)

इनका जन्म संवत् १९०६ चैत्र शुक्ल दशमीको अमरौल-(काठियावाड़)-के वाक्या ग्राममें हुआ था। इनका नाम अर्जुनेन्द्र रखा गया। इनके माता-पिता बड़े भगवद्भक्त थे। उन्हींके साथ बालक अर्जुनेन्द्र भी भगवान्‌की पूजा-पाठ आदिमें सम्मिलित होते। बचपनमें ही ये बड़े उदार थे। किसीको दु:खी देखना नहीं चाहते थे। सत्संगमें इन्हें बड़ा आनन्द आता। शिक्षा अधिक न होनेपर भी गुजराती, मराठी एवं हिन्दीका अच्छा ज्ञान था। इनकी प्रकृति बदलनेके लिये माँ-बापने विवाह भी कर दिया, पर ये उसके कारण अपने मार्गसे विचलित न हुए। उन्हीं दिनों श्रीगुणातीतानन्दजी तथा श्रीबालमुकुन्ददासजीका सत्संग इन्हें मिल गया। अब ये घर छोड़कर जूनागढ़के रेवताचल पर्वतकी छायामें स्थित श्रीस्वामीनारायण-मन्दिरमें बाबा बालमुकुन्द-दासजीके समीप रहकर भजन करने लगे। इनके हृदयमें सम्पूर्ण शास्त्रोंका रहस्य खुल गया। इन्होंने अपने आचरण एवं उपदेशोंके द्वारा हजारोंका कल्याण किया है। इनकी वाणीमें बड़ा प्रभाव था। ये दूसरोंके मनकी बात जान जाते। इनकी आज्ञासे बहुत-से स्थानोंमें मन्दिर, अन्नक्षेत्र, कुएँ, धर्मशाला आदि बने हैं। ये अपनी पूर्व सूचित तिथि संवत् १९८७ मार्गशीर्ष शुक्ल तृतीया रविवारको अपने शिष्योंके सामने स्वर्णके समान चमकते हुए विमानपर भगवान्‌के साथ बैठकर परमधाम पधारे।

श्रीतेलदासजी महाराज

नवसारीके दुधियातलाबके पास नरसिंहपहाड़ीपर श्रीप्रह्लाददास नामक एक महात्मा रहते थे। तेलदास उन्हींके शिष्य थे। उन गुरु-शिष्यने उस पहाड़ीपर श्रीनरसिंहभगवान्‌का मन्दिर बनवाया, इसीसे उस पहाड़ीको लोग नरसिंहपहाड़ी कहने लगे। तेलदासजीने पृथ्वी-पर्यटन किया। ये नीम खाकर रहते थे। इन्होंने विष्णुयाग, महारुद्रयाग, कोटियज्ञ, अतिरुद्रयज्ञ, संहितास्वाहाकारयज्ञ और महाविष्णुयाग—ये यज्ञ किये। नवसारीकी ओर इनका बड़ा नाम है।

योगिराज श्रीनत्थूरामजी

योगिराज श्रीनत्थूरामजीका जन्म लिम्बड़ीके मोजदड़ नामक ग्राममें शुक्ल-यजुर्वेदीय औदीच्य ब्राह्मणदम्पतीसे सं० १९१४ आश्विन शुक्ला चतुर्थी रविवारको हुआ था। आपने अल्पकालमें ही हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोगका विधिवत् अभ्यास किया और सिद्धि प्राप्त की। ज्ञान आपका अत्यन्त प्रगाढ़ और जीवन तपस्यापूर्ण, साधनामय था। आपके जीवनमें विलक्षण-विलक्षण चमत्कार हुए। आपकी नियमित दिनचर्या मुमुक्षु पुरुषोंके लिये पथ-प्रदर्शक थी। साधन-सम्बन्धी आपके लिखे अनेकों ग्रन्थ हैं। वि० सं० १९८७ आश्विन शुक्ला एकादशी रविवारको प्रात:काल आप नश्वर शरीर छोड़कर परमधाम पधार गये। आप गुजरात काठियावाड़के एक परम आदर्श संत थे।

राजयोगी त्रिकमलालजी

(लेखक—श्रीशिवशंकर नरसिंहरामजी ज्यौतिषशास्त्री)

इनका जन्म गुजरातकी प्राचीन राजधानी पाटणके ब्राह्मण त्रिवेदी नारायण शर्माकी धर्मपत्नी सांकुबाके कोखसे संवत् १९०९ में श्रावण शुक्ला सप्तमीको हुआ था। इनके माता-पिता धनहीन होनेपर भी धर्मके धनी थे। माता रामायणका पाठ करतीं, उसे सुन-सुनकर बचपनमें ही उधर इनकी रुचि हो गयी। इनकी प्रवृत्ति देखकर पिताने इनकी जीविकाके लिये जैन पुस्तक भण्डारमें पुरानी पुस्तकोंके पुन: लिखनेका काम दिला दिया। इन्हें उस काममें बड़ा रस आता। नौकरीके समयके अतिरिक्त भी ये उसी काममें तल्लीन रहते। अत: उसके अधिकारी बहुत प्रसन्न रहते। समयपर विवाह हुआ, पर ये निर्लिप्त ही बने रहे। वहाँ एक दादूपन्थी गोविन्दरामजी नामके भक्त थे, प्राय: ये उनके सत्संगमें जाया करते। कुछ दिनोंके बाद इन्हें तीव्र वैराग्य हो गया और ये तीर्थयात्रा करनेके लिये निकल पड़े। इनका अधिकांश समय पहाड़ोंमें बीतता। एक परमहंसने इन्हें दर्शन देकर कहा कि योगाभ्यास करते-करते तुम्हारे दो जन्म बीत गये हैं अब शोक करनेका समय नहीं, तुम्हें सद्‌गुरु प्राप्त होगा। उन्होंने एक मन्त्र भी बताया। अब बड़ी शान्तिके साथ ये काशी आये और वहाँ ब्रह्मनिष्ठ नित्यानन्द स्वामीने इन्हें भैरवीघाटके निकटकी पवित्र गुफामें रहनेवाले योगिराज श्रीब्रह्मानन्दजीके दर्शन कराये। उनके आदेशानुसार साधन करके इन्होंने आत्मसाक्षात्कार किया। योगके अनुसार भूमाप्रवेश आदि मार्गोंमें विचरण करके गुरुदेवकी आज्ञासे पाटण आ गये। फिर घरके लोगोंसे सम्पर्क न रखकर शहरसे बहुत दूर जंगलमें निवृत्तिमय जीवन बिताने लगे। इनके संग और उपदेशसे बहुतोंने भगवद्भक्ति प्राप्त की। संवत् १९८८ आषाढ़ कृष्ण ५ शुक्रवारको प्रणवका उच्चारण करते हुए ये स्वरूपमें स्थित हुए। इनके स्वरचित पदोंको भक्तोंने प्रकाशित किया है।

संत श्रीउजमसी भक्त

(लेखक—श्रीबदरुद्दीनजी राणपुरी)

भक्तराज श्रीउजमसी जातिके बनिया थे। आपका प्रादुर्भाव काठियावाड़के बोटाद गाँवमें श्रावण शु० ११, सं० १९४७ में हुआ था। बाल्यकालसे ही संस्कारी, शान्तस्वभाव और ईश्वरप्रेमी थे। राणपुरमें आपको एक

महान् तपस्वी योगीके दर्शन हुए। उनके आदेशानुसार गुरुमन्त्र ग्रहणकर केवल अल्प दुग्धाहारपर रहकर आपने योग-साधनामें सफलता प्राप्त की। आप आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहे। स्वादपर तो आपने सर्वथा विजय ही पा ली थी। जीवनभर किसी स्त्रीको आँख-से-आँख मिलाकर देखा ही नहीं। किसी भी धर्मका अनाथ, दु:खी, गरीब और अनाश्रित आपके दरवाजेपर जाकर कभी निराश नहीं लौटता था। दयाकी तो आप साक्षात् मूर्ति ही थे। वाणीसे मानो अमृत बरसता। गर्मीके दिनोंमें प्याऊ बैठाना और गायोंको हरी घास पहुँचाना आपका खास काम था। लोक-सेवा ही आपकी साधना थी।

योगमार्गमें आपकी विशेष गति थी। सत्संग ही आपके जीवनकी एकमात्र साध थी। सदा ध्यानमग्न रहा करते, एकान्तमें हों या जनसमूहमें। आपको अनेकों सिद्धियाँ प्राप्त थीं। मृत्युके एक महीने पूर्व ही आपने संकेत कर दिया था। लौकिक कीर्तिसे आप बहुत भागते थे। राणपुरमें ही सं० १९९१ की कार्तिक कृष्णा पंचमीके दिन ध्यानमग्न अवस्थामें आपका देहावसान हुआ।

अनवर मियाँ

(लेखक—श्रीबदरुद्दीनजी राणपुरी)

अनवर मियाँका जन्म इसी बीसनगरमें सं० १८९९ में बैशाख बदी ७ शुक्रवारको हुआ। इनके पिताका नाम आजा मियाँ था। बचपनमें ही अनवर मियाँको संत-समागम अच्छा लगता था। सैयद हैदरशाह नामक फकीरको अपना गुरु बनाकर ये एकान्तवास करने लगे। वर्षोंतक जंगल और कब्रस्तानमें अकेले रहनेके बाद अपने प्रेमियोंके अधिक आग्रहके कारण गाँवमें रहने लगे और काजीवाड़ेकी पुरानी मस्जिदमें रहकर भजन, ध्यान, प्रार्थना, समाधि आदिमें समय बिताने लगे। आपके पास आबू, गिरनार, गुजरात और काठियावाड़के बहुत-से भक्त और साधु फकीर सत्संगके लिये आते थे जिनको आप योग्यतानुसार उपदेश देते। अनवर मियाँ बड़े ही भगवत्प्रेमी और संत थे। संवत् १९७२ में पौष बदी २ शनिवारके दिन इनका आत्मा देह त्यागकर चला गया।

श्रीगुरु हरिप्रसादजी

(लेखक—एक सिंधी महोदय)

स्वामी हरिप्रसादजी साधुबेला तीर्थ सक्खरके दूसरे गद्दीधर थे। हैदराबाद (सिंध) में संवत् १८६६ में आपका जन्म हुआ। दो सन्तान हो चुकनेपर आपके चित्तमें विरक्ति हुई और साधुबेला आकर श्रीवनखंडीजी महाराजसे आपने विधिवत् दीक्षा ली। संवत् १९२० में आपको साधुबेलाकी गद्दीपर बिठाया गया।

एक बहुत सम्पन्न महन्त और गद्दीधारी होनेपर भी गुरु हरिप्रसादजी विरक्तिकी मूर्ति थे। संग्रह-परिग्रहसे तो आपको बड़ी ही घृणा थी। मठसे जो कुछ भी प्राप्त होता साधुसेवामें लगा देते। आपके यहाँ साधु-ब्राह्मण और पण्डितोंका बहुत मान-सम्मान था। संवत् १९४० के मार्गशीर्ष कृष्ण ९ को आपने दशमद्वारसे अपने प्राणोंको प्रभुमें लय कर दिया।

श्रीस्वामी बालरामजी उदासीन

(लेखक—श्रीमान् महन्त पं० श्रीस्वामी रामस्वरूपजी शास्त्री उदासीन)

निखिल शास्त्रनिष्णात ब्रह्मनिष्ठ श्रीस्वामी बालरामजी उदासीनमें प्राय: वे सब गुण विद्यमान थे जो कि एक अवतारी साधु महापुरुषमें हुआ करते हैं।

आपकी विद्वत्ता एवं तपस्विता विश्वविदित है। आपका शुभ जन्म वि० सं० १९१७ में पंजाब प्रान्तमें हुआ। आपने श्रौत उदासीन चतुर्थाश्रम धारणकर काशीमें व्याकरण, साहित्य, सांख्य, योग, वेदान्त, मीमांसा आदि अनेक शास्त्रके साथ-साथ वेदाध्ययन किया। तत्पश्चात् आपने बारह-तेरह वर्षमें ही पंजाब, सिंध, काठियावाड़, गुजरात एवं बंग प्रभृति प्रान्तोंमें मण्डलीसमेत भ्रमणकर

अपने प्रबल पुरुषार्थसे सनातनधर्मकी विजय-वैजयन्ती फहरा दी थी।

आपसे शिक्षित हजारों व्यक्ति देशसेवा एवं साहित्यसेवामें प्रसिद्ध हो चुके हैं, जिनमें कि 'श्रीयुत स्वर्गीय भूदेव मुखोपाध्याय सी० आई० ई० एवं श्रीयुत रासबिहारी मुखोपाध्याय प्रभृतिका नाम विशेष उल्लेखनीय है।'

स्वर्गीय श्रीस्वामीजीने विद्वद्वर वाचस्पति मिश्र विरचित 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' पर 'विद्वत्तोषिणी' नामकी अमूल्य टीका लिखी है। जिसको देखकर स्वामीजीकी कल्पनाशक्ति एवं प्रौढ़ लेखनकलाका पूर्ण परिचय मिलता है। महाराजश्रीने और भी अनेक ग्रन्थ तथा विविध ग्रन्थोंपर टीकाएँ लिखी हैं, जिनमेंसे योगदर्शन, अमूल्य रत्न, गंगास्थिति, समयमीमांसा, श्रौतसर्वस्व प्रभृति मुद्रित एवं सम्प्रति उपलब्ध हैं।

वि० सं० १९६२ श्रीतीर्थराज प्रयागके कुम्भपर महाराजश्री इस भौतिक प्रपंचको त्याग ब्रह्मलीन हो गये, जिससे सनातनधर्मी जगत्में विशेषतया विद्वन्मण्डलमें जो मर्मन्तुद आघात पहुँचा, वह वर्णनातीत है। प्रभुसे साञ्जलि प्रार्थना है कि वर्तमान समयमें डगमगाती हिन्दूजातिकी नैयाको पार लगानेके लिये श्रीस्वामीजी महाराज-जैसे कर्णधारको पुनः शीघ्र भेजें।

महात्मा श्रीमहताबसिंहजी

(लेखक—श्रीमानसिंहजी शास्त्री)

आपका जन्म पंजाबके लेहल नामक ग्राममें हुआ था। बचपनमें ही घर-द्वार त्यागकर आपने पैदल ही काशीकी यात्रा की और संस्कृतकी सर्वांगपूर्ण शिक्षा प्राप्त की। बहुत दिनोंतक विरक्त होकर तीर्थाटन करते रहे, अन्तमें हृषीकेशमें स्थायीरूपसे रहकर भजनमें संलग्न रहने लगे। इधर पंजाबमें श्रीगुरु गोविन्दसिंहजीके द्वारा स्थापित शिक्षाकेन्द्र अव्यवस्थितसे हो गये थे, उन्हें सुव्यवस्थित करनेके लिये लोगोंने बड़ा आग्रह किया, तब इन्होंने पंजाबमें आकर विद्वानों एवं धनी-मानियोंकी सहायतासे एक संस्थाका संगठन किया। उसका नाम पंचायती अखाड़ा निर्मला प्रसिद्ध है। आप उसके पहले महन्त थे। पंजाबमें इस निर्मलसम्प्रदायका बड़ा विस्तार है। इसमें विरक्त और गृहस्थ दोनों प्रकारके लोग होते हैं। आज भी इसमें अनेकों सच्चे साधु हैं।

स्वामी श्रीआत्मप्रसादजी उदासीन

परमपूज्य श्री १०८ स्वामी श्रीआत्मप्रसादजी महाराज इसी शताब्दीमें एक उच्च कोटिके संत और योगसिद्ध महात्मा हो गये हैं। सिंध प्रान्तके सक्खर नामक नगरमें इनका आश्रम बहुत प्रसिद्ध है।

स्वामीजी महाराजका जन्म संवत् १८९८ की मकरसंक्रान्तिके दिन, पंजाब प्रान्तान्तर्गत होशियारपुर जिलेके अहियापुर नामक नगरमें सारस्वत ब्राह्मण श्रीदुनीचन्दजीके घर हुआ था। बचपनसे ही इन्हें संत-महात्माओंसे प्रेम था। जहाँ किसी संत-महात्माका आगमन सुनते कि झटसे वहाँ पहुँचकर उनकी सेवामें लग जाते थे। सं० १९१८ में पिताने इनका विवाह कर दिया। सं० १९२४ में कुम्भमेलाके अवसरपर वे हरिद्वार गये और वहाँ उनको 'सक्खर—साधुबेलातीर्थ' के द्वितीय गद्दीधर सद्गुरु स्वामी श्रीहरिप्रसादजी महाराजका दर्शन मिला। फिर तो उनके उपदेशोंका इतना प्रभाव पड़ा कि ये उन्हींकी सेवामें रहनेका विचार करने लगे। किन्तु संयोग नहीं बना और किसी कारणसे इन्हें घर लौट आना पड़ा। घर आकर ये गार्हस्थ्य धर्मका पालन करने लगे और थोड़े समयमें ही ये देव, ऋषि और पितृऋणसे मुक्त हो गये। इसके बाद संसार-बन्धनसे विमुक्त होनेके लिये इनके मनमें ऐसी उत्कट अभिलाषा हुई कि ये सदाके लिये पुत्र-कलत्रका मोह त्यागकर फिर उन्हीं गुरुदेवकी सेवामें सक्खर जा पहुँचे। गुरुदेवने इनकी सेवा, सुशीलता आदिसे प्रसन्न होकर संवत् १९३१ में मकर-संक्रान्तिके दिन उदासीन-सम्प्रदायकी विधिके अनुसार इनको दीक्षा दे दी।

दीक्षित हो जानेके पश्चात् स्वामीजी गुरुदेवकी आज्ञा लेकर हृषीकेश पहुँचे और वहाँ उन्होंने कई

वर्षोंतक तितिक्षापूर्वक योगाभ्यास किया। वहाँ आप सिन्धी महात्माके नामसे प्रसिद्ध थे। और गर्मी-जाड़ा सभी मौसमोंमें प्राय: एक चद्दर रखते थे। गुरुजीके परम धाम पधारनेपर आपसे गद्दीपर बैठनेका बड़ा आग्रह किया गया परन्तु चित्त निवृत्तिपरक होनेके कारण इन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। आपने चारों धाम और सातों पुरियोंकी यात्रा की थी। संवत् १९३८ में स्वामीजी फिर सक्खर लौटे और यहाँपर इनके कहनेसे एक धनी सज्जनको पुत्र-लाभ हुआ। इसपर उन्होंने एक लाख रुपये लगाकर एक सुन्दर आश्रम बनवाया और उसमें स्वामीजी महाराजसे निरन्तर निवास करनेके लिये प्रार्थना की। स्वामीजीने पहले तो इनकार कर दिया पर जब और भक्तोंका भी अत्यन्त आग्रह हुआ तब बड़ी ही कठिनतासे उन्होंने स्वीकार किया। इस समय भी वह आश्रम 'स्वामी आत्मप्रसाद आश्रम साधुबेला ब्राज' नामसे प्रसिद्ध है। संवत् १९७४ में स्वामीजी कुम्भके अवसरपर प्रयाग पहुँचे थे और वहींपर उन्होंने अन्तिम समाधि लगाकर '**शिवोऽहम्**' की ध्वनि करते हुए ऐहिक लीला समाप्त की थी।

मुलतानके स्वामी हेमराज चिदाकाशी

(सन् १८५१—१९०३)

(लेखक—प्रोफेसर श्री यू० ए० असरानी, एम्० एस्-सी०)

स्वामी हेमराजका जन्म सन् १८५१ ई० में मुलतान (पंजाब)-के एक अमीर मल्लिक घरानेमें हुआ था। ये अपने माता-पिताकी पहली सन्तान थे, अत: ये बड़े ऐश-आराममें पले थे किन्तु इनके दादाका तथा इनके संस्कृतके अध्यापक पं० भोलानाथका इनके जीवनपर इतना अच्छा प्रभाव पड़ा कि इनके पूर्वजन्मके आध्यात्मिक संस्कार जाग उठे और इन्होंने बहुत छोटी अवस्थामें ही अपने जीवनका आदर्श संसारी न रखकर आध्यात्मिक बना लिया। जब ये स्कूलमें पढ़ते थे उस समय इनके अंदर लोकोत्तर प्रतिभा दिखायी देती थी। इन्होंने कुश्ती तथा अन्य देशी व्यायामोंका अभ्यास करके अपने शरीरको बहुत बलवान् और गठीला बना लिया था, किन्तु इनकी प्रतिभाका सबसे अधिक परिचय आध्यात्मिक क्षेत्रमें मिला। जब ये बीस वर्षके भी नहीं हुए थे उस समय ये गरीबोंसे बहुत स्नेह रखते थे, दार्शनिक तत्त्वोंको खूब समझने लगे थे और मौन होकर कई बार एकान्तमें बैठ जाया करते थे। इन सब लक्षणोंसे यह मालूम होता था कि ये आगे चलकर महात्मा होंगे। किसी ज्योतिषीने, जब ये शैशवावस्थामें ही थे, इनके सम्बन्धमें यह कहा था कि यह बालक आगे चलकर संत होगा, इसी कारण इनके अध्यापक पं० भोलानाथ और इनके दादा दोनों ही इन्हें अपने गुरुके समान मानने लगे थे।

जब ये केवल बारह वर्षके थे और जब इन्हें स्वयं सोचनेका अवसर ही न था, उस समय इनके माता-पिताने इनका विवाह कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि ये उन्नीस वर्षकी अवस्थामें ही एक पुत्रके पिता हो गये और चौबीस वर्षकी अवस्थामें इन्हें एक और पुत्र हुआ। दूसरा पुत्र होनेके एक वर्ष बाद ही इनकी स्त्रीका देहान्त हो गया।

पढ़ाई छोड़नेके बाद उन्नीस वर्षकी अवस्थामें आप मुजफ्फरगढ़में (जो मुलतानसे बीस मील है) अंग्रेजीके मिडिल स्कूलमें हेडमास्टरीका काम करने लगे। इन्होंने उस पदपर रहकर अपनी कठोर नियमानुवर्तिता तथा दीन बच्चोंके साथ प्रेमके कारण बड़ी ख्याति प्राप्त की और इनके सदाचारसम्बन्धी उपदेशोंका भी बालकोंपर बड़ा प्रभाव पड़ता था। इसके पाँच वर्ष बाद ये स्कूलकी नौकरी छोड़कर मुजफ्फरगढ़के जिला-मजिस्ट्रेटकी आफिसमें काम करने लगे और तेरह वर्षसे अधिक वहीं रहे।

जब ये मुजफ्फरगढ़में थे, तब इन्होंने बड़ी कठोर साधनाएँ कीं। इन्होंने जिस धैर्यके साथ अपनी चढ़ती जवानीमें पत्नीके वियोगको सहन किया और जिस दृढ़ताके साथ पुनर्विवाह न करनेका निश्चय किया उसका नगरके लोगोंपर बड़ा प्रभाव पड़ा। इन्होंने उन्हीं दिनों सायंकालके समय नियमितरूपसे आध्यात्मिक उपदेश देना आरम्भ किया और इस नियमको उन्होंने जीवनपर्यन्त अटलरूपमें निभाया। स्वामी हेमराज बड़े प्रभावशाली वक्ता साबित हुए और कुछ लोगोंके

जीवनमें इन्होंने इतना अद्भुत सुधार किया कि उनकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी। इनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी और इनकी मूर्ति बड़ी मधुर और आकर्षक थी। इनकी प्रसिद्धि मुलतान और मान्टगोमरीतक फैल गयी।

सन् १८८९ का साल शुरू होते-होते इन्हें लोग चारों ओरसे सद्गुरुके नामसे पुकारने लगे और शिष्योंको मार्ग दिखाने, उनकी कठिनाइयाँ दूर करने, उनसे पत्र-व्यवहार करने और पुस्तकें लिखनेका काम इतना अधिक बढ़ गया कि इन्हें डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेटके यहाँकी नौकरी छोड़नी पड़ी, तबसे लेकर सन् १९०३ में निर्वाणको प्राप्त होनेतक इन्होंने अपने सारे जीवनको मनुष्यजातिकी आध्यात्मिक सेवामें लगाया।

स्वामी हेमराजकी पहली पुस्तक 'गुल्जारेमुआनी' नामक उर्दूमें प्रकाशित हुई, जिसमें इन्होंने समय-समयपर अपने पिता तथा अन्य लोगोंको जो पत्र लिखे थे वे संगृहीत हैं। उन पत्रोंका लोगोंने इतना आदर किया कि इन्हें उन पत्रोंको पुस्तकके रूपमें संगृहीतकर प्रकाशित करना पड़ा। उनकी इस पुस्तकका सिन्धमें बड़ा आदर हुआ और उन्हें उस प्रान्तमें उपदेश देनेके लिये दो बार जाना पड़ा। इन्होंने उर्दू तथा हिन्दीमें और भी कई पुस्तकें लिखीं जिनमेंसे हिन्दीकी पुस्तकें गुरुमुखी अक्षरोंमें छपी हैं। गुल्जारेमुआनी (आध्यात्मिक वाटिका) के अतिरिक्त इनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तकें 'अद्वैतसिद्धान्त' और 'शान्तिसरोवर' हैं। इन्होंने शिक्षित समाजको ही अपना कार्यक्षेत्र न बनाकर जनसाधारणकी सेवा करना अधिक पसंद किया, इसीलिये इन्होंने अपने पीछेके ग्रन्थोंमें ऐसी शैली बरती है जो जोरदार होनेके साथ-साथ सरल और सुबोध है और इस प्रकार उन लोगोंके अधिक अनुकूल है जिन्हें आध्यात्मिक लाभ पहुँचानेके लिये ये ग्रन्थ लिखे गये थे। इसी बातको लक्ष्यमें रखकर इन्होंने देवनागरीकी अपेक्षा गुरुमुखी लिपिको अधिक पसंद किया, क्योंकि उन दिनों पंजाबमें इसी लिपिका अधिक प्रचार था।

स्वामी हेमराजके ग्रन्थोंमें सिक्खधर्मके ग्रन्थोंका, वेदान्तका तथा सूफीसिद्धान्तोंका प्रभाव स्पष्ट झलकता है। ये मुख्यतया वेदान्तके सिद्धान्तको माननेवाले थे, इन्होंने केवल उसे जनताके सामने सरल ढंगसे रखा जिससे एक गँवार भी उसे समझकर अपनी आत्माके कल्याणका साधन बना सके। उन्होंने जितने ग्रन्थ रचे उन सभीमें प्रधानतया उनके शिष्योंकी शंकाओंका समाधान है, इसीलिये उनमें दार्शनिक तत्त्वोंका अधिक विचार नहीं है किन्तु हमारे दैनिक जीवनमें वेदान्तका कैसा और किस प्रकार उपयोग हो सकता है, इसीकी चर्चा है।

स्वामी हेमराजको देशाटनका बहुत शौक था। इन्होंने सारे भारतवर्षका भ्रमण किया था जिसका वृत्तान्त उन्होंने अपनी 'आईनएहिन्द' (भारतदर्पण) नामक उर्दूकी पुस्तकमें लिखा है।

स्वामी हेमराज एक योग्य व्यवस्थापक थे। इन्होंने अपने शिष्यों और श्रद्धालु भक्तोंको कई केन्द्रोंमें विभक्त किया और ऐसा नियम कर दिया कि प्रत्येक केन्द्रके लोग सायंकालको अपने-अपने केन्द्रमें एकत्रित होकर सत्संग अथवा धर्मकी चर्चा किया करें। स्वामीजीने स्वयं मुजफ्फरगढ़में इस प्रकारका एक केन्द्र स्थापित किया। उनके जीवनकालमें ही पंजाब तथा सिन्ध प्रान्तोंमें इस प्रकारके कई केन्द्र स्थापित हुए। स्वामी हेमराज अपने शिष्योंको प्रायः ज्ञान और कर्मयोगका साधन बताया करते थे, भक्तिका स्थान उनकी बतायी हुई साधनामें केवल गुरुभक्तिके रूपमें ही था। उनके द्वारा स्थापित किये हुए केन्द्रोंका मुख्य कार्य उन-उन केन्द्रोंमें रहनेवाले सत्संगी भाइयोंका आध्यात्मिक विकास और नैतिक सुधार ही था, किन्तु प्रायः प्रत्येक केन्द्रमें समाजसुधार और दीन-दुःखियोंकी सेवाका कार्य भी गौणरूपसे किया जाता था।

स्वामी हेमराज सन् १९०३ के सितम्बर मासमें इस असार संसारसे चल बसे। यों तो स्वामीजीने सारे भारतका भ्रमण किया था परन्तु इनके धार्मिक उपदेश केवल पश्चिमी पंजाब और सिन्ध प्रान्तमें ही होते थे। उक्त प्रान्तोंके लाखों नर-नारियोंको स्वामीजीके वियोगसे बड़ा दुःख हुआ। और अब भी लोग उन्हें बड़े आदर और श्रद्धाके साथ स्मरण करते हैं। इनके द्वारा स्थापित सत्संगका कार्य अब भी चल रहा है।

श्रीबसन्तरामजी महाराज

(लेखक—श्रीमोहनजी)

हैदराबाद (सिन्ध)-के निकट 'अजन' एक गाँव है। यहीं वि० संवत् १९२९ के फाल्गुन शुक्ला एकादशी रविवारके दिन संत बसन्तरामजीका प्रादुर्भाव हुआ। बालक बड़ा ही सुन्दर और मनोहारी था। बचपनसे ही भगवान्‌की लीलाओंमें आपको रस मिलने लगा था और उसकी अनुभूति क्रमशः प्रगाढ़ ही होती गयी। हैदराबादमें शिक्षा पायी और तदनन्तर पुरोहितीका काम करके अपनी आजीविका चलाते रहे। भगवन्नाममें आपकी बड़ी आसक्ति थी। विवाह हुआ और ससुरालमें ही आप बस गये।

चित्तमें विरक्तिका बीज तो था ही, अब वह अंकुरित हो उठा। परिवारवालोंने बड़ी बाधाएँ पहुँचायीं। पत्नीसहित आप वनको निकल पड़े और फुलैलीनदीके तटपर एकान्त स्थान चुनकर निवास करने लगे। क्रमशः हठयोग, लययोग, सहजयोग, राजयोग प्रभृति योगसाधनोंके अभ्यासद्वारा आपने ज्योतिसाक्षात्कार किया। शम-दमादि सर्वांग साधनोंसे स्वरूपानन्दकी प्राप्ति की। मन श्रीभगवन्नाम-संकीर्तन तथा स्मरणमें बसा हुआ था। आपके सत्संगसे असंख्य जीवोंका महान् कल्याण हुआ। पहले श्रीमद्‌भागवतकी कथा होती, फिर संकीर्तन और उसके बाद सत्संग। ख्याति बढ़ी और आपका जी उकताने लगा अतएव आपने पुनः एकान्तवासका निश्चय किया और फुलैलीके तटपर अपनी कुटियामें ही बंद रहने लगे। अब आपका सारा समय ध्यानमें ही बीतता। एक दिन स्वप्नमें आपको आदेश हुआ कि 'श्रीकृष्णयशका विस्तार करो'। शीघ्र ही एक अमानव साधु पुरुष एक क्षणके लिये प्रकट होकर आपसे कह गया कि अपनेको इस कार्यमें असमर्थ मत मानो, यह भगवत्प्रेरणा तुम्हें मिली है। अब आपके आनन्दका क्या कहना था? नित्य निकुंज लीलामें आपका प्रवेश हुआ।

श्रीकृष्णयशपूर्ण 'श्रीकृष्णायन' ग्रन्थ (यह ग्रन्थ अब छप गया है) चैत्र रामनवमी संवत् १९७४ में समाप्त हुआ और चैत्र शुक्ला त्रयोदशीको आप श्रीधाम सिधारे। आपके विरहके पद बड़े ही कसकीले हैं।

महन्त श्रीहरिनामदासजी

(लेखक—पं० श्रीहरिश्चन्द्रजी शर्मा भारद्वाज)

पंजाबके गुरुदासपुर जिलेमें मुण्डीखेलके प्रसिद्ध ब्राह्मण पं० शोभारामकी धर्मपत्नी राधादेवीके गर्भसे संवत् १९१७ में इनका जन्म हुआ था। इनका जन्म-नाम बूयादत्तजी था। अपने धार्मिक विश्वासके कारण माँ-बापने इन्हें पाँच वर्षकी अवस्थामें ही तत्कालीन गुरुदासपुरके दरबार श्रीध्यानपुरके मठाध्यक्ष स्वामी राघवदासजीको समर्पित कर दिया। अतः शिक्षा-दीक्षाका प्रबन्ध उन्हींको करना पड़ा। उन्होंने अपनी जीवित अवस्थामें ही इन्हें महन्त बना दिया। मठका काम इन्होंने सुचारुरूपसे चलाया और सं० १९४० में एक महान् यज्ञ किया जिसमें लाखों रुपये खर्च हुए। आप निरन्तर भगवन्नामस्मरण करते रहते थे। भक्तचरित्र कहते और सुनते समय इनकी आँखोंसे आँसूकी धारा बहती थी। आप वैष्णव होते हुए भी शिव, दुर्गा आदिकी पूजा करते थे। भगवद्गीताके बड़े प्रेमी थे। उपदेशका ढंग इतना सीधा-सादा था कि सुनते ही लोग मुग्ध हो जाते। आप लोगोंके कल्याणके लिये सर्वदा सचेष्ट थे। बहुतोंने आपकी कृपा, सदुपदेश एवं नामनिष्ठाके आदर्शसे भगवत्प्रेम प्राप्त किया है। इनके जीवनमें अनेकों चमत्कार हैं। संवत् १९९२ फाल्गुन कृष्ण ९ शनिवारको आपने इस शरीरको छोड़कर परमधाममें गमन किया।

श्रीटोपणिरामजी महाराज

(लेखक—श्रीमन्शारामजी)

संवत् १९२७ के कार्तिक मासमें सिन्धुनदीके तटपर गिदुबन्दर गाँवमें सारस्वत ब्राह्मण बालिचन्दकी धर्मपत्नीसे इनका जन्म हुआ था। बचपनमें ही माता-पिताके देहान्त हो जानेपर अपने दो भाइयोंके साथ इनका पालन-पोषण

होता रहा। ये बड़े शान्त, एकान्तप्रिय एवं मिताहारी थे। भाइयोंकी आज्ञासे गाँवके एक ब्रह्मचारीके साथ काशी आकर आपने व्याकरण और वेदान्तका अध्ययन किया। इतनेमें एक भाईका देहान्त हो गया था। दूसरेने कई पत्र लिखे, उत्तर न पाकर वह स्वयं काशी आकर बड़े आग्रहसे समझा-बुझाकर इन्हें घर ले गया। वहाँ ये शास्त्र-विचार और भजनमें ही लगे रहते। जब विवाहकी बातचीत होने लगी तब ये घरसे भाग गये और जंगलमें रहने लगे। फिर भाईकी इस प्रतिज्ञापर कि विवाह नहीं करेंगे, घर लौट आये और आजीवन ब्रह्मचारी रहकर भजन करते रहे। इनके सत्संगसे बहुतोंने बड़ा लाभ उठाया। ये भागवतके ग्यारहवें स्कन्धकी कथा सुनाया करते थे। एक बार सप्ताहयज्ञमें इन्होंने एक सूतमें सात गाँठ लगवाकर रख दिया था। प्रतिदिन एक-एक करके सातों गाँठें अपने-आप छूट गयीं! अन्तका जीवन तो इनका सर्वथा एकान्त भजनमें ही व्यतीत हुआ। मृत्युके कुछ पूर्व काशी चले आये और यहीं संन्यास लेकर संवत् १९६४ कार्तिक शुक्ल १४ को शिवलोक पधारे।

स्वामी रामतीर्थ

स्वामी रामतीर्थका जन्म पंजाब प्रान्तके मुरलीवाला गाँवमें एक उत्तम गोस्वामी ब्राह्मणकुलमें सन् १८७३ की दिवालीके दिन हुआ था। जन्मके कुछ ही दिन बाद माँका स्वर्गवास हो गया और आपके पालन-पोषणका सारा भार आपकी बुआपर पड़ा। बुआ परम साध्वी थी और बालक रामको लेकर वह कथा-कीर्तन तथा मन्दिरोंमें जाया करती थी।

गाँवकी पढ़ाई समाप्तकर तीर्थराम गुजरांवाला आये और वहाँ भगत धन्नारामकी देख-रेखमें शिक्षा शुरू हुई। आर्थिक स्थिति शोचनीय थी ही और विद्यार्थी-अवस्थामें आपको अनेकों महान् संकटोंका सामना करना पड़ा। प्राय: ऐसा होता कि भूख लगी है परन्तु पासमें पैसे नहीं हैं कि भोजन मिले। फिर भी बड़े मस्त रहते। पढ़ने-लिखनेमें आपकी विलक्षण बुद्धि और अप्रतिम मेधा देखकर सभी चकित हो जाते। बी० ए० में प्रथम आनेपर आपको साठ रुपये मासिककी छात्रवृत्ति मिलने लगी। गणितमें एम्० ए० करके आप उसी कॉलेजमें गणितके प्रोफेसर हो गये।

श्रीकृष्णप्रेमका नशा छाने लगा। रावी किनारे प्रात:-सायं घंटों प्रेममें छके रहते। होशमें आते तो हा कृष्ण! हा कृष्ण! कहकर रोने-तड़पने लगते! छुट्टियोंमें मथुरा-वृन्दावन पहुँचते और श्रीकृष्ण-भक्तिका अमृत पीते। उपनिषद् और वेदान्तके अन्यान्य ग्रन्थोंके अनुशीलनके साथ-साथ उत्तराखण्डमें जाकर एकान्तसेवनका चसका लगा। दृढ़ वैराग्य और अपार प्रेम! गंगा और यमुनाका अद्भुत मिलन! उस अलमस्तीका क्या कहना? 'मैं सूर्य हूँ, मैं सूर्य हूँ, संसाररूपी बुढ़ियाके नखरे-टखरे और हाव-भाव मुझे मुग्ध नहीं कर सकते।'

सन् १९०० ईस्वीमें नौकरी आदि छोड़कर आप वनको पधारे। तीर्थराम अब स्वामी रामतीर्थ हो गये। राम, राम बादशाह बन गया। अब आप सर्वथा उन्मुक्त होकर ॐ! ॐ! गुनगुनाते फिरते और अपने-आपको प्रभुमें खोये रहते। लोगोंके विशेष आग्रहपर विश्वधर्मपरिषद्में सम्मिलित होनेके लिये आप जापान गये और वहाँसे अमेरिका। जो भी आपकी मस्ती देखता वही मुग्ध हो जाता। अमेरिकाके पत्रोंने आपका परिचय Living christ 'जीवित ईसामसीह' के रूपमें दिया। वहाँ कई लोगोंने आपसे संन्यासकी दीक्षा ली।

ढाई वर्ष विदेशोंमें बिताकर आप पुन: उत्तराखण्ड लौट आये। सन् १९०६ की दिवालीका प्रात:काल था। आज आपकी मस्तीका कुछ और ही अंदाज था। ॐ-ॐ की धुन लग रही थी। गंगामें डुबकी लगाने उतरे। गंगाकी प्रखर धारामें शरीर बह चला। शरीर गंगामें बहा जा रहा है और राम ॐ-ॐ की धुनमें चूर है! दिवालीके ही दिन वह आया था और दिवालीके ही दिन वह लौट गया अपने प्रभुमें!

स्वामी श्रीसंतदासजी

(लेखक—श्रीरामजीदासजी)

पंजाबके झंग जिलेमें काईम गाँवमें इनका जन्म हुआ था। बचपनमें ही ये बड़े भगवद्भक्त एवं साधु-सेवी थे। इनका हृदय बड़ा विशाल था और दानमें बड़ी रुचि थी। अठारह वर्षकी उम्रमें इनके पिताने कुछ रुपये देकर व्यापारके लिये भेजा किन्तु ये उसे इस जीवनके सच्चे व्यापार संतोंकी सेवामें खर्च करके आप त्यागमूर्ति महात्मा ब्रह्मदासजीकी सेवामें लग गये। उन्होंने इनका अधिकार देखकर इन्हें अपनाया और निरन्तर भगवच्चिन्तनकी युक्ति बतायी। ये भिक्षा ले आते और निरन्तर भगवान्‌में चित्त लगाये रखते। थोड़े दिनों बाद आपने भ्रमण प्रारम्भ किया और वह जीवनके अन्तिम भागतक चलता रहा। अनेकों चमत्कार आपके जीवनमें देखे गये। आपने बहुतोंके परलोक सुधारे। हजारोंको भगवान्‌की ओर लगाकर उनका उद्धार किया। ये जीवनपर्यन्त लोक-कल्याणमें ही लगे रहे। इनमें दयावृत्तिकी प्रधानता थी। इनकी कई पुस्तकें प्राप्त होती हैं। सं० १९७५ के आषाढ़में आपने पहलेसे ही सूचना देकर शरीरत्याग किया।

बुल्लाशाह

(लेखक—विद्यालंकार पं० श्रीशिवनारायणजी शर्मा)

पंजाब प्रान्तकी राजधानी लाहौरके पूर्व तीन मीलकी दूरीपर 'मियाँमीर' नामक एक प्रसिद्ध वेदान्ती फकीर रहते थे। अब उसी जगह सरकारी छावनी भी मियाँमीरकी छावनी कही जाती है। लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व उन मियाँमीर साहबके बुल्लाशाह नामक चेले हुए हैं। ये पहले बलख शहरके (जो बुखारासे कुछ दूरपर है) बादशाह थे। एक दिन इनके मनमें विषय-भोगोंकी तरफसे कुछ ग्लानि हुई, तब इन्होंने अपने वजीरोंसे पूछा कि 'आजकल कोई सूफीमतका फकीर भी कहीं है?' मियाँमीरका नाम दूर-दूरके देशोंमें प्रसिद्ध हो गया था, वजीरोंने महात्मा मीरकी बड़ी प्रशंसा की और पता बतलाया। बादशाहने अपने शाहजादेको गद्दीपर बिठाया और वे सौ-पचास आदमी, वजीर और खर्चके लिये खजाना साथ ले लाहौरकी तरफ चल दिये। दो महीनेमें लाहौर पहुँचे और जंगलमें मियाँमीरकी कुटीके बाहर जा पहुँचे। मियाँमीर आप तो कुटीके अंदर रहते थे, कुटीके बाहर और फकीर पड़े रहते थे। जब कोई उनके दर्शनको आता तब पहले फकीर लोग अंदर इत्तिला करते थे, जब अंदरसे मीर साहबका हुक्म होता, तब वह भीतर जाने पाता था। इस हालसे वाकिफ होकर बलखके बादशाहने भी फकीरोंसे अपने आनेकी इत्तिला करायी। फकीरोंने भीतर जाकर मीर साहबसे कहा कि 'बलखके बादशाह आपके दर्शन (दीदार) के लिये आये हैं।' मीर साहबने पूछा कि 'वह किस हालतमें हैं?' फकीरोंने कहा कि 'सौ-पचास आदमी और बहुत-सा सामान घोड़े वगैरह भी उनके साथ हैं यानी वह अपने बादशाही ठाटसे आये हैं।' मीर साहबने फकीरोंसे कहा—'तुम उनसे जाकर कह दो कि अभी तुमको मीर साहबका दर्शन न होगा।' फकीरोंकी यह बात सुनकर बादशाह वहाँसे कुछ दूर चला गया और वजीरसे कहा कि 'आप सब सामान और आदमियोंको लेकर अपने वतन (घर) को जाइये, अब हम नहीं जायँगे।' वजीरने कहा कि 'यह कैसे हो सकता है कि मैं आपको छोड़कर चला जाऊँ। वहाँ शाहजादेको क्या जवाब दूँगा?' बादशाहने कहा—'मैं फिर घरको वापस जानेके लिये यहाँपर नहीं आया हूँ, मैं तो खुदाके साथ मिलनेको आया हूँ, अगर आप मेरा कहना नहीं मानते तो मैं सब सामान लुटा देता हूँ।' वजीरने कहा—'जैसी आपकी मर्जी हो वैसा कीजिये।' बादशाहने सब सामान नौकरोंको लुटा दिया और कहा कि अपने-अपने घर चले जाओ।' सब चले गये। वजीर भी लाचार हो चला गया। बादशाहने एक चद्दरको अपने पास रख लिया और सब कुछ लुटा दिया। अब फिर बादशाह मीर साहबके द्वारपर आये और इत्तिला करायी। मीर साहबने फकीरोंसे पूछा कि 'वह किस हालतमें है?' फकीरोंने कहा, 'उन्होंने सब कुछ लुटा दिया, केवल एक चद्दर

अपने ऊपर ओढ़े हुए हैं।' मीर साहबने कहला भेजा 'अभी तुमको दीदार न होगा, तुम यहाँसे बारह कोसपर रावी नदीके किनारे एक जंगलमें एक फकीर रहता है उसके पास जाकर बारह वर्ष तपस्या करो। जब बारह वर्ष बीत जायँ तब यहाँपर हमारे पास आओ, तब तुम्हें दीदार होगा।' यह उत्तर सुनकर बादशाह रावीके किनारे जंगलमें जो फकीर रहता था, उसके पास चला गया। वहाँ पहुँचते ही उस फकीरने इनसे पूछा कि 'तुम बलखके बादशाह हो?' इन्होंने कहा—'आपने मुझे क्योंकर पहचाना?' फकीरने कहा कि 'एक दिन मीर साहबने हमसे कहा था कि फलाने रोज बलखके बादशाह तुम्हारे पास आवेंगे, तुम उनको अभ्यासकी युक्ति बताना, जिसके करनेसे उनका दिल साफ हो जाय, सो आज वही दिन है जिसे उन्होंने बतलाया था। उनका कथन मिथ्या नहीं होता, मुझे यकीन है कि आप ही बलखके बादशाह हैं।' इन्होंने कहा—'हाँ, मैं ही हूँ और मुझको ही मीर साहबने आपके पास भेजा है। अब आप मुझे मेरा कर्तव्य बतलाइये।' उस फकीरने बादशाहको योगकी युक्ति बतला दी और बादशाह वनके कन्दमूल खाकर योगाभ्यास करने लगे। जब बारह वर्ष बीत गये तब बादशाहका शरीर सूख गया, चेहरेका रंग बदल गया। फकीरने बादशाहसे कहा कि 'अब तुम मीर साहबके पास जाओ, तुमको उनका दीदार होगा।' फिर बादशाह मीर साहबकी कुटियापर हाजिर हुए और इत्तिला करायी, मीर साहबने उनका हाल पूछा। फकीरोंने कहा कि 'उनका चेहरा तो ऐसा सूख गया है कि अब वह पहचाने ही नहीं जाते हैं। सिरके बाल उनके बढ़ गये हैं, नाखून बढ़ गये हैं, सारे बदनमें मिट्टी लगी है।' यह हाल सुनकर उन्हें भीतर बुलवाया। भीतर पहुँचकर मीर साहबको दण्डवत् की और उनके हुक्मको पाकर बैठ गये। मीर साहबने उस समय उनको अद्वैत आत्माका उपदेश दिया और कहा 'अब आजसे तुम्हारा नाम बुल्लाशाह हुआ।' बुल्लाशाह अपनेको कृतकृत्य मानकर गुरुके पास रहने लगे। ये बड़े वेदान्ती और त्यागी हुए हैं, इनकी कविताको पंजाबमें सब लोग प्रामाणिक मानते हैं, उसमें केवल शुद्ध वेदान्तका ही वर्णन है।

बुल्लाशाह एक दिन बाजारमें जाते थे, किसी शरई मुसलमानने पूछा—'बुल्लाशाह! तुम कौन हो?' बुल्लाशाहने जवाब दिया—'मैं खुदा हूँ।' शरावाले इनको पकड़कर बादशाहके पास ले गये और बादशाहसे कहा कि यह फकीर कुफ्र करता है, कहता है मैं खुदा हूँ।' बादशाहने पूछा 'बुल्लाशाह! तुम कौन हो?' बुल्लाशाहने कहा—'मैं बंदा हूँ।' बादशाहने शरावालोंसे कहा—'यह तो कहता है मैं बंदा हूँ, इसे छोड़ दो।' इस तरह तीन-चार बार पकड़े गये और वहाँसे छूट गये। पिछली बार बादशाहने पूछा—'बुल्लाशाह! क्या ये लोग ठीक कहते हैं कि बाहर तुम अपनेको खुदा कहते हो और यहाँ आकर बंदा कहते हो? यह कैसे हो जाता है?' बुल्लाशाहने कहा—'आप खुदा और बंदेके अर्थको सुनिये—जो कि शराकी कैदमें है वह बंदा कहलाता है और जो शराकी कैदमें नहीं है वह खुदा—खुदमुख्तार है। जब मैं बाजारमें शराकी कैदसे रहित होकर फिरता हूँ तब तो मेरे खुदा होनेमें कोई शक नहीं है और जब शरैयोंद्वारा पकड़ा हुआ शराकी कैदमें हो जाता हूँ तब मैं बंदा बन जाता हूँ क्योंकि खुदमुख्तारी उस वक्त नहीं रहती। जैसे खुदापर शराका हुक्म नहीं वैसे ही मुझपर भी नहीं।' बादशाहने कहा—'आप सच कहते हैं।' सलाम करके बादशाहने बुल्लाशाहको छोड़ दिया। फिर एक दिन बाजारमें शरावालोंने बुल्लाशाहसे पूछा—'आप कौन हैं?' बुल्लाशाहने कहा—'मैं बादशाह हूँ।' फिर शरावाले पकड़कर बादशाहके पास ले गये और अर्ज की कि पहले तो यह खुदाईका दावा करता था, अब बादशाहीका दावा करता है। बादशाहने पूछा, 'बुल्लाशाह! तुम कौन हो?' कहा, 'मैं बादशाह हूँ।' बादशाहने कहा कि 'तुम्हारे पास खजाना कहाँ है?' उत्तर दिया कि जिस बादशाहका बहुत-सा खर्च होता है वह खजाना रखता है। हमारा खर्च कुछ भी नहीं, हम क्यों खजाना रखें? फिर पूछा कि 'बादशाहके पास फौज रहती है, बिना फौजके तुम कैसे बादशाह हो सकते हो?' बुल्लाशाहने कहा—'जिसका दूसरा कोई दुश्मन होता है वह फौज रखता है, हमारा तो कोई भी दुश्मन नहीं है, हम क्यों फौज रखें, हमारे बादशाह होनेमें क्या शक है?' बादशाहने कहा कि अब इनको कभी कोई न पकड़े।

बाबा मलूकदासजी

बाबा मलूकदासजीका जन्म इलाहाबाद जिलेके कड़ा नामक ग्राममें वैशाख बदी पंचमी, संवत् १६३१ को लाला सुन्दरदासजी खत्रीके घर हुआ था। इनके जीवन-चरित्रसे ऐसा मालूम होता है कि ये जन्मतः ही परम योगी और भक्त थे। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें भगवान्‌ने इन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिये। ये गृहस्थाश्रममें थे और इनके एक कन्या हुई थी परन्तु पीछे माँ-बेटी दोनों मर गयीं। इनके गुरु द्राविड़ देशके एक सिद्ध संत विट्ठलदासजी थे। इनकी अद्भुत शक्तियोंको देखकर हजारों जिज्ञासु और भक्तजन सत्संग तथा उपदेशकी प्राप्तिके लिये आने लगे। इस प्रकार भगवद्भजन करते हुए और अपने धर्मोपदेशद्वारा संसारका कल्याण करते हुए इन्होंने एक सौ आठ वर्षकी अवस्थामें सं० १७३९ में इस नश्वर शरीरको त्याग दिया।

कहते हैं, मृत्युसे करीब छः मास पूर्व इन्होंने अपने भतीजेको अपनी गद्दीपर बिठाया और अपनी शक्तिसे बिना साधनाके ही उसे आत्मानुभवकी चरम स्थितिपर पहुँचा दिया। मलूकदासजीकी समाधि भी कड़ा गाँवमें बनी है। इनके पन्थकी बहुत-सी गद्दियाँ भारतके विभिन्न स्थानोंमें हैं। इनकी साखियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं। प्रभुको रिझानेका तरीका बतलाते हुए ये कहते हैं—

ना रीझे वह जप-तप कीन्हें, ना आतमको जारे।
ना वह रीझे धोती टाँगे, ना कायाके पखारे॥ १॥
दाया करै धरम मन राखै, घरमें रहै उदासी।
अपना-सा दुख सबका जानै, ताहि मिलै अबिनासी॥ २॥
सहै कुशब्द, बाद हू त्यागै, छाँड़ै गरब गुमाना।
यही रीझ मेरे निरंकारकी, कहत मलूक दिवाना॥ ३॥

श्रीधूनीसाहबजी

(लेखक—एक काश्मीरी)

काश्मीरके पं० मंसारामजी (धूनी साहेब) माता जगदम्बाके अनन्य उपासक थे। माताकी दयासे आपको भगवान् शंकरके दर्शन श्रीअमरनाथजीके रास्तेमें हुए। दर्शनके बाद आपकी स्थिति सदाके लिये पलट गयी और आपकी विरक्ति इतनी बढ़ी कि लोक-परलोककी सारी चिन्ता हट गयी। इस समय भी आपकी धूनी रात-दिन जलती रहती है। आपने अपने तपोबलसे एक डूबते हुए जहाजको अपने संकल्पमात्रसे बचा दिया था। आपके ही आशीर्वादसे गुलाबसिंह एक बहुत साधारण आदमी होते हुए भी काश्मीर रियासतके महाराजा बन गये थे।

श्रीब्रह्मानन्द देवबन्दी

(लेखक—श्रीमातृशरणजी)

तीस वर्ष हुए होंगे, श्रीब्रह्मानन्दगिरि नामके एक परम दिव्य संत देवबन्दमें हो गये हैं। आपका जन्म पंजाबमें हुआ था और जिला करनालकी एक गद्दीके आप मालिक थे। बचपनसे ही इनमें अलौकिक बातें पायी गयीं। इन्हें लोगोंने घरसे निकाल दिया और आपने उसे वरदान समझा। आप इसे सुन्दर अवसर मानकर योगकी ओर प्रवृत्त हुए। तितिक्षा और अपरिग्रहकी तो आप मूर्ति ही थे। संयम और सादगी आपके शुभ्र जीवनकी शोभा थी। फीका दूध और खिचड़ीके सिवा कुछ भी नहीं खाते थे। आप अखण्ड ब्रह्मचारी और पूर्ण सदाचारी थे। ब्रह्मचर्य और सत्यभाषणपर आप विशेष जोर देते थे। दुःखियोंके दुःखको दूर करना आपके जीवनका मुख्य उद्देश्य था। अनेक रोगियोंको अपने योगबलद्वारा आपने रोगमुक्त कर दिया। इन्हें स्वयं एक बार एक घातक कण्ठरोग हो गया था। तबसे यह बराबर हँसते ही पाये गये।

अपने देह-त्यागका पता आपको पहलेसे ही था। आपके आदेशानुसार हरिद्वारमें हरिकी पैड़ीपर ले जाया गया। अशर्फियाँ बाँटी गयी; बहुत बड़ा भण्डारा हुआ। पैड़ीपर गंगाजलमें आपने पलथी मारकर आसन

लगाया और ब्राह्मणोंको बुलाकर वेद-मन्त्र पाठ करनेकी प्रार्थना की। ऐसा ही हुआ। जलके ऊपर आपने पद्मासन लगाया और योगमुद्रासे आगे तैरना आरम्भ किया। गौघाटपर लगते ही पद्मासनस्थ लाश बृहत् कमलके रूपमें तैरने लगी। किसीने उस ज्योतिर्मय दिव्य पुष्पको पकड़नेके लिये हाथ बढ़ाया परन्तु जलराशिसे लेकर ऊपर आकाशतक एक ज्योतिवृत्तके सिवा वहाँ और कुछ न था।

भगवती रूपभवानी

काश्मीरमें श्रीमाधव दर एक बहुत ऊँचे ब्राह्मण हो गये हैं। आपको माता जगदम्बाका इष्ट था। आपने मातासे वरदानमें यही माँगा था कि बाबा नन्द और मैया यशोदाकी तरह मेरे घरमें आपका अवतार हो। कुछ समय बाद आपके यहाँ कन्या पैदा हुई। कुछ ही सयानी होनेपर आपने चान्द्रायणव्रत किया। कन्याने पिताको व्रत करते देखकर कहा—'चान्द्रायणव्रत इस तरह नहीं होता। उसकी विधि मैं बताऊँगी।' पिताने कन्याके बतलानेके अनुसार प्रतिपदाके दिन एक मिट्टीके सकोरेको अपने सिरपर रखा और एक सकोरेको पैरोंके तले। चन्द्रमाकी घटती हुई कलाके साथ-साथ रूपभवानीका शरीर भी घटता चला गया। अमावस्याकी रात्रिको उनके पिताजीने देखा कि पाँवोंके सकोरेपर ठीक संपुटकी तरह दूसरा सकोरा जम गया है और रूपभवानी अन्तर्धान हो गयी है। धड़कते हुए दिल और काँपते हुए हाथोंसे ऊपरका सकोरा हटाया तो मालूम हुआ कि निचले सकोरेमें पारेका एक झलकता हुआ बिन्दु पड़ा है आपने उसे पुनः ढक दिया और शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी बढ़ती हुई कलाओंके साथ-साथ रूपभवानीका शरीर भी बिन्दुसे बढ़ने लगा और पूर्णिमाकी रातको आप पूरी तरह पूर्ण हो गयीं। यह चान्द्रायण व्रतकी विधि इन्होंने पिताको बतलायी।

आप अधिक दिनोंतक गृह-जंजालमें नहीं रह सकीं। वनमें जाकर एकान्त तपस्या करने लगीं। पिताको अपनी प्यारी कन्याका वियोग बहुत खला। आप परिवारसहित जंगलको गये और अपनी कन्याको लौटा लाये। इसके बाद अलक्ष स्वामीके नामसे आप प्रसिद्ध हुईं और एक बार अचानक ही आप अन्तर्धान होकर पता नहीं कहाँ जाकर सदाके लिये छिप गयीं। आपका जीवन अत्यन्त रहस्यपूर्ण था।

सद्गुरु श्रीरामसिंहजी

(लेखक—श्रीगुरांदित्ताजी खन्ना)

पंजाबके लुधियाना जिला राइयाँ नामक छोटे-से गाँवमें संवत् १८७२ माघ शुक्ल ५ को एक भाग्यशाली बढ़ईके घर आपका जन्म हुआ था। बड़े होनेपर आप खालसा फौजमें भरती हुए। परन्तु भगवन्नामप्रेम, स्वातन्त्र्यप्रेम एवं स्वदेशप्रेमके कारण फौजकी नौकरी छोड़कर आप लुधियाना जिलेके गाँवोंमें रहने लगे। इनके रोएँ-रोएँसे भगवान्‌के नाम निकलते थे। झुण्ड-के-झुण्ड लोग इनके पास आते और नामपरायण हो जाते। कई दुष्ट दुराचारी इनकी दृष्टि पड़नेमात्रसे धार्मिक एवं सदाचारी बन गये। ये भगवान्‌के नामके साथ-साथ बहुत-से राष्ट्रहितकर उपदेश भी दिया करते थे। स्कूल-कालेजोंकी क्लर्क बनानेवाली मनोवृत्तिकी घोर भर्त्सना करते एवं अपने धर्म, देश आदिके लिये प्राणोंका बलिदान देना सिखाते। लोगोंको मुकदमेबाजीसे रोकते एवं विदेशीके स्थानपर स्वदेशी वस्तुओंके उपयोगकी क्रियात्मक महिमा बतलाते। सब बातोंके साथ-साथ भगवान्‌के नामघोषपर बड़ा जोर देते। घटनाक्रमसे उनपर कई अभियोग लगाकर इन्हें निर्वासनका दण्ड दिया गया। सरकार कहती है कि उनका देहान्त हो गया। चाहे जो हो वे हमारी दृष्टिमें दसवें गुरु श्रीगुरु गोविन्दसिंहके साक्षात् अवतार थे ऐसा हमारा और हमारे-जैसे अनेकों सिक्खोंका विश्वास है। बहुत-से लोग यह बात नहीं भी मानते; परन्तु उनके अलौकिक प्रभाव एवं सचाईपर तो सभी विश्वास करते हैं। सबकी दृष्टिमें वे एक पहुँचे हुए महापुरुष थे।

तिब्बतीबाबा

तिब्बतीबाबाका जन्म बंगालके सिलहट जिलेके अन्तर्गत नछीननगर थानेके पास किसी गाँवमें हुआ था। इनके पिताका नाम पण्डित रामचन्द्र चक्रवर्ती और माताका नाम नित्यसुन्दरीदेवी था। दोनों बड़े ही धार्मिक, सदाचारी और भगवद्भक्त थे। इनके पाँच पुत्रोंमें तिब्बतीबाबा बिचले थे। इनका पूर्वनाम श्रीनवीनचन्द्र चक्रवर्ती था। सोलह वर्षकी अवस्थामें ये संन्यासी हो गये थे। इन्होंने सारे भारतवर्षमें भ्रमण किया था। बत्तीस वर्ष लगातार तिब्बतमें रहे इसीसे इनका नाम तिब्बतीबाबा पड़ गया। यों तो ये अनेकों नामोंसे विख्यात थे। चीन और श्यामसे लौटकर ३० वर्ष बर्मामें रहे, वहाँ इनका नाम था 'कुईंबाबा'। बारह-तेरह वर्ष मद्रासमें रहे और वहाँ अनुभूत ओषधियोंके द्वारा लोगोंको बड़ा लाभ पहुँचाया इससे वहाँ नाम पड़ गया 'हकीम साहेब'। कोई इन्हें परमहंस और कोई-कोई पागल परमहंस कहा करते थे। ये महान् तपस्वी और सिद्ध योगी थे। कहा जाता है इस शरीरसे पूर्वके शरीरमें ही इन्होंने सिद्धि प्राप्त कर ली थी और १५० वर्ष पहले शरीरमें रहकर सन् १७३० ई० के लगभग इस शरीरको धारण किया था और २०० वर्षसे कुछ अधिक इस शरीरमें रहकर सन् १९३० में आपने शरीरको छोड़ा। शरीरत्यागकी बात एक महीने पहले ही कह दी थी। भारतवर्षके विरले संतोंमेंसे यह एक थे।

श्रीरामदास काठियाबाबाजी

(लेखक—स्वामी श्रीपरमानन्ददासजी)

'महाराज! तुमको इतना बड़ा बनानेवाली वह कौन-सी चीज है, जिससे खिंचे हुए रोज चारों ओरसे इतने नर-नारी आ-आकर भक्तिपूर्वक तुम्हारे चरणोंमें प्रणाम करते हैं?'

'वत्स! वह वस्तु श्रीरामनाम है। रामनामने ही मुझको इतना बड़ा बनाया है।'

'मैं रामनाम लूँ तो क्या मैं भी इतना बड़ा बन सकता हूँ?'

'हाँ बाबा! रामनाम लोगे तो तुम भी इतने ही बड़े हो जाओगे।'

प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पूर्व अमृतसर जिलेके लोनाचमारी गाँवसे कुछ दूरपर पेड़तले बैठे हुए एक परमहंसके साथ चार सालके एक छोटे-से ब्राह्मण-बालकसे उपर्युक्त बातचीत हुई थी। इसी समयसे बालक मन-ही-मन रामनामका जप करने लगा था। यही बालक आगे चलकर प्रसिद्ध महात्मा रामदासजी काठियाबाबा हुए।

काठियाबाबाके पिता निष्ठावान् ब्राह्मण थे। बालकका यथासमय उपनयन-संस्कार हुआ और फिर उसे पढ़नेके लिये दूसरे गाँव गुरुके यहाँ भेज दिया। तीक्ष्णबुद्धि बालक बहुत थोड़े समयमें पाठ याद कर लेता, फिर एकान्तमें बैठकर रामनामका जप किया करता। सतरह-अठारह वर्षकी उम्रमें पढ़-लिखकर बालक अपने घर लौट आया। आनेके बाद और सब पुस्तकें तो बाँधकर रख दीं एक गीताको हृदयसे लगाकर रखा।

तदनन्तर गायत्रीमन्त्र सिद्ध करनेके लिये आप यथाविधि मन्त्रजप करने लगे। प्रायः एक लाख मन्त्रजप हो जानेपर एक दिन गायत्रीदेवीने आकाशमण्डलमें आविर्भूत होकर आदेश दिया—'वत्स! तुम अब बाकीका जप श्रीज्वालामुखीमें जाकर पूरा करो और वर ग्रहण करो।' रामदासने कहा—'मातः! सन्तानपर तुम्हारी कृपा प्रतिक्षण बनी रहे, यही प्रार्थना है।' भगवती गायत्री 'एवमस्तु' कहकर अन्तर्धान हो गयी।

इस घटनाके बाद ज्वालामुखी जानेके समय रास्तेमें एक दिव्यकान्ति ज्योतिर्मय पुरुष मिले और रामदासजी उनके शरण हो गये। इन महात्माने कृपापूर्वक रामदासको शिष्यरूपमें ग्रहण कर लिया। इनका नाम था स्वामी देवदासजी। ये निम्बार्कसम्प्रदायके एक पूर्वाचार्य थे। पुत्रके संन्यासकी खबर पाकर पिता आये और उनके गुरुदेवसे अनुनय-विनय करके कुछ दिनोंके लिये रामदासजीको घर ले गये। अत्यधिक स्नेहवश माता सदा रोती रहती, इससे साधनमें विघ्न होता देखकर ये घरसे निकल गये और फिर कभी जीवनभर अपने गाँवमें गये ही नहीं।

इस समयसे ये गुरुदेवकी सेवामें रहकर उनकी आज्ञानुसार साधन करने लगे। गुरुदेवने समय-समयपर इनकी बड़ी कठिन परीक्षा ली। एक बार घूमते-घूमते गुरु-शिष्य हिमालयमें जा पहुँचे और वहाँ गुरुदेव एक कुटियामें रहने लगे और रामदासजी बाहर खुली जगहमें आसन जमाकर भजन-साधन करने लगे। शामसे सुबह-तक बर्फ पड़ती। इससे सामने आग जलाकर रातभर ये गुरुकी आज्ञानुसार भजन करते। इन्हें रातको अपने आसनसे उठनेकी आज्ञा नहीं थी। एक दिन रातको थोड़ी देरके लिये कुछ आलस्य आ गया, बर्फ गिरनेसे आग बुझ गयी और जाड़ेके मारे रामदासजी काँपने लगे। सोचा, धूनी चेतन किये बिना तो जाड़ेसे ठिठुरकर मरना ही पड़ेगा। शरीर क्रमशः ठिठुरा जा रहा था। मनमें गुरुजीका डर था कि वे क्या कहेंगे। आखिर साहस करके गये और चुपचाप कुटियाके बाहर खड़े हो गये। भीतरसे गुरुदेवने कहा—'बाहर कौन है?' शिष्यने कहा—'महाराज, सेवक रामदास।' पश्चात् गुरुके पूछनेपर सब बातें बतला दीं। गुरुदेवने धमकाकर कहा—'बेटा! क्या सोनेके लिये ही माँ-बापको रुलाकर घर छोड़कर यहाँ आये हो? आज तो आग ले जाओ, पर सावधान, आगे कभी ऐसा न हो।' इतना कहकर गुरुदेवने एक जलती हुई लकड़ी बाहर फेंक दी। रामदासजी उसे ले आये और उससे धूनी जगाकर भजन करने लगे।

एक बार गुरुदेवने इन्हें पहाड़से कूद जानेको कहा, ये तैयार हो गये। एक बार इन्हें बहुत मारा था। एक बार कहा कि मैं जबतक न लौटूँ तबतक इसी आसनपर बैठे रहना, और आप लौटकर आये नवें दिन। रामदासजी आठ दिन आठ रात एक आसनपर बैठे रहे। इस तरह बड़ी कड़ी-कड़ी परीक्षाएँ लेकर अन्तमें प्रसन्न होकर कहा—'वत्स! तुम्हारी परीक्षाएँ शेष हो गयी हैं। तुम इस शरीरसे भगवत्स्वरूपत्वको प्राप्त होओगे। ऋद्धि-सिद्धि तुम्हारे चरणोंमें लोटेंगी।'

गुरुदेवके अन्तर्धानके बाद आपने आठ बार पैदल चलकर भारतके सब तीर्थोंमें भ्रमण किया। अन्तमें भरतपुरके सैलानीकुण्डपर आपको भगवान्‌का साक्षात्कार हुआ। इसके सम्बन्धमें वे कहा करते—

रामदासको राम मिले हैं सैलानीके कुंडा।
संत सदा यह सच्ची मानें झूठी मानें गुंडा॥

अन्तिम जीवन आपका वृन्दावनमें बीता। काठकी लंगोटी लगानेसे आपका नाम काठियाबाबा पड़ा। यहीं साधु-महात्मा आपके प्रभावको देखकर आपको 'व्रजविदेही' कहने लगे। एक दिन शेषरात्रिके समय योगासनसे बैठकर आपने नश्वर देहका त्यागकर परमधामको प्रयाण किया।

श्रीसन्तदास बाबाजी

श्रीसन्तदास बाबाजी महात्मा रामदासजी काठिया-बाबाके शिष्य थे। आपका जन्म बंगला सन् १२६६ के २८ ज्येष्ठके दिन सिलहट जिलेके बासी गाँवमें एक ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था। आपका गृहस्थाश्रमका नाम था—श्रीताराकिशोर चौधरी। ये बड़े अच्छे वकील थे। आखिर काठियाबाबाके प्रभावसे इन्होंने वृन्दावनमें उनसे दीक्षा ले ली। तब इनका नाम बाबा सन्तदासजी हुआ। ये बहुत बड़े विद्वान्, साधुस्वभाव, तत्त्वज्ञ तथा महान् भक्त संत थे। दो साल पहले इनका देहान्त हो गया।

स्वामी पूर्णानन्दगिरिजी

स्वामी पूर्णानन्दजीका जन्म बंगाल बरिसाल जिलेके गुठिया नामक ग्राममें हुआ था। इन्होंने पढ़-लिखकर पहले वकालत की और फिर कानूनके पेशेको घृणित समझकर चटगाँवमें अध्यापकी करने लगे। कुछ समय बाद आप घर छोड़कर हृषीकेश स्वर्गाश्रममें जाकर रहने लगे। कठोर वैराग्य और अविराम तपश्चर्याके फलस्वरूप छः ही महीनेमें आपको सिद्धि प्राप्त हुई। वहाँ बेलके वनमें स्वामीजीको भगवान् आशुतोष महादेवके दर्शन हुए। स्वामीजी फिर तपस्यामें लग गये और कुछ समय बाद निर्विकल्प समाधिकी अवस्थाको प्राप्त हुए। सन् १९२० में आपने संन्यास ग्रहण किया। शिष्योंने हृषीकेशके श्मशानघाटमें आपके लिये एक

कुटिया बनवा दी। उसी कुटियाके स्थानमें इस समय विशाल शिवालय आश्रम बना है। स्वामीजी बड़े त्यागी महात्मा थे। सन् १९३६ की १३ नवम्बरको आपने निर्वाण प्राप्त किया।

वासुदेव महाराज

(लेखक—श्रीयुत बसंतकुमार चट्टोपाध्याय एम० ए०)

वासुदेव महाराज श्रीजगन्नाथपुरीमें समाधिमठ नामक मठमें रहा करते थे जो श्रीजगदीशके मन्दिर और स्वर्गद्वार नामक समुद्रतटवर्ती स्थानके बीचवाली सड़कपर स्थित है। ये मठमें केवल सोते भर थे, बाकी समय प्राय: सारा-का-सारा श्रीजगदीशके मन्दिरमें ही बीतता था। श्रीजगदीशके मन्दिरके दक्षिण द्वारके पश्चिमके तरफकी कई कोठरियाँ इनके अधिकारमें रहती थीं। इनमेंसे एक कोठरीमें ये स्वयं बैठा करते थे। श्रीमद्भागवतकी पुस्तक सदा इनके पास रहती थी। इन कोठरियोंके उत्तरकी ओर एक बड़ा-सा दालान था। दर्शक लोग वहाँ जाकर बैठ जाया करते थे। मन्दिरमें जितनी बार भोग लगता था उतनी ही बार ये मन्दिरके भीतर जाकर चँवर लेकर भगवान्‌को डुलाया करते थे। ये नित्य नियमपूर्वक बहुतसे वैष्णव ब्राह्मणों, अनाथ बेवाओं और कंगालोंको भोजन कराया करते थे। उनके कई धनी शिष्योंने ऐसा प्रबन्ध कर रखा था कि इन्हें प्रतिदिन निश्चित समयपर मन्दिरसे महाप्रसाद मिल जाया करे, जिससे ये उन लोगोंको भोजन करा सकें। ये बड़े सबेरे मन्दिरमें पहुँच जाया करते थे और सायंकालको बड़ी देरके बाद अपने मठको लौटा करते थे। बारहों महीने इनका यही नियम चलता था। ये पुरी छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाते थे, केवल स्नानयात्रा और रथयात्राके बीचमें जब एक पखवाड़ेतक भगवान्‌के विग्रहका किसीको दर्शन नहीं होता, ये तीर्थयात्राके लिये बाहर जाया करते थे। श्रीचैतन्य महाप्रभु भी इन दिनों पुरीसे कुछ दूर अलालनाथ नामक स्थानपर चले जाया करते थे। इस प्रकार वासुदेव महाराज भारतके प्रधान-प्रधान सभी क्षेत्रोंकी यात्रा कर चुके थे। ये तीर्थयात्रा समाप्तकर इन्हीं दिनों दो-तीन दिनके लिये कलकत्ते भी आया करते थे। कलकत्तेमें ये बहुधा बड़ा-बाजारमें (टक्सालके समीप) श्रीबलरामजीके मन्दिरमें ठहरा करते थे।

वासुदेव महाराजके जीवनका प्रत्येक क्षण भगवान्‌के पूजनमें, नामजपमें, स्वाध्यायमें अथवा साधु-संतों और दीन-दु:खियोंको भोजन करानेमें व्यतीत होता था। ये रोज एक लाख नामका जप किया करते थे। ये श्रीरामानुजाचार्यद्वारा प्रतिपादित श्रीवैष्णवसम्प्रदायके अनुयायी थे और मस्तकपर उसी सम्प्रदायके चिह्नोंको धारण करते थे। इनकी अलौकिक शक्तिके सम्बन्धमें कई बातें सुनी जाती हैं। इनसे कई बार प्रार्थना की गयी कि आप अपने जीवनकी मुख्य-मुख्य घटनाओंको बतलानेकी कृपा करें, परन्तु इन्होंने बराबर 'प्रतिष्ठा शूकरीविष्ठा' (अर्थात् प्रतिष्ठा शूकरकी विष्ठाके समान है) कहकर इस प्रस्तावका विरोध किया। इनके जीवन-सम्बन्धी केवल निम्नलिखित बातोंका बड़ी कठिनतासे पता लग सका। इनका जन्म संयुक्तप्रान्तमें श्रीअयोध्याजीके निकट हुआ था। अठारह वर्षकी अवस्थामें ये अपनी विधवा माताको लेकर भारतके भिन्न-भिन्न तीर्थोंकी यात्राके लिये निकले। पुरीमें इनकी माताका देहान्त हो गया। बस, फिर क्या था? इन्होंने अपना शेष जीवन पुरीमें ही बितानेका निश्चय कर लिया। इनका दर्शन करनेके लिये छोटा-बड़ा कोई भी जाता तो ये बड़ी मधुर मुसकानके साथ उसका स्वागत करते। ये सबको यही उपदेश देते कि 'भैया! शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार धार्मिक जीवन व्यतीत करो, आर्ष ग्रन्थोंका, मुख्यतया श्रीमद्भागवतका अध्ययन करो, विष्णुसहस्रनामका पाठ करो और इस संसारकी असार वस्तुओंका मोह छोड़ दो।'

इनके वैकुण्ठवासके पश्चात् भी इनकी इच्छाके अनुसार साधु-संतों और दीन-दु:खियोंको नित्य भोजन करानेका कार्य इनके शिष्योंने चालू कर रखा है। उन लोगोंने श्रीजगदीशके मन्दिरसे स्वर्गद्वारको जानेवाली सड़कपर एक मन्दिर भी बनवाया है जिसमें वासुदेव महाराजकी मूर्ति स्थापित की गयी है और वहाँ उनकी नित्य पूजा होती है।

वासुदेव महाराजको उनकी साधुताके कारण लोग सचल (चलते-फिरते) जगन्नाथ कहा करते थे। उन्होंने सन् १९३४ ई० में इस असार संसारको छोड़ दिया। मृत्युके समय उनकी क्या अवस्था थी इसका ठीक पता किसीको नहीं है। उस समय वे कम-से-कम अस्सी वर्षके अवश्य रहे होंगे।

महन्त श्रीजगन्नाथदासजी

(लेखक—श्री 'त्यागी' जी)

श्रीजगन्नाथपुरी तथा साक्षीगोपालके पास श्रीरामचन्द्रपुर ब्राह्मणोंकी एक पुरानी बस्ती है। वहीं श्रीजगन्नाथदासजीका जन्म हुआ है। बचपनमें आपका नाम यदुनाथ था। पीछे वैष्णवधर्ममें जगद्गुरु श्रीरामानन्दजीके द्वारा दीक्षित होनेपर आपका नाम जगन्नाथदास पड़ा।

बाल्यावस्थासे आपकी प्रतिभा तथा सुसंस्कारके लक्षण स्पष्ट दीखने लगे। आठ-नौ वर्षकी अवस्थामें ही आप वैराग्यकी ओर मुड़े। संस्कृत, हिन्दी और उड़िया पढ़ी। आप संस्कृतमें अध्यात्मविषयोंपर धारा-प्रवाह बोल सकते थे। आपमें अपूर्व शक्ति थी। भगवान् श्रीरामचन्द्रके आप अनन्य उपासक थे। आप अपने समयमें संतशिरोमणि माने जाते थे। कहते हैं, आपको लक्ष्मीकी सिद्धि थी। वि० संवत् १९८० फाल्गुन कृष्णा चतुर्थीके दिन आप इस धराधामको छोड़कर आत्मस्थ हो गये। पुरी (उड़ीसा)-में आज भी आपका 'पापड़ियामठ' प्रसिद्ध है।

श्रीमन्नारायणतीर्थ स्वामी

(लेखक—पं० श्रीधर मजूमदार एम० ए०)

इनका जन्म फरीदपुर जिलेके एक छोटे-से गाँवमें हुआ था। बचपनमें ही ये चुपकेसे घरसे निकल जाते और घंटों आत्मतत्त्वका विचार करते रहते। घरके लोगोंको भोजनादि करनेके लिये उनकी समाधि तोड़कर बुलानेमें बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता था। यही कारण है कि हम लोग जिसे शिक्षा कहते हैं वह इन्हें बहुत कम प्राप्त हुई थी। फिर भी बड़े-बड़े प्रोफेसर इनके चरणोंमें रहकर ब्रह्मका बोध प्राप्त करते थे। ये महान् योगी थे और इनमें योगसिद्धियोंका चरम विकास हुआ था। इनका निश्चय था कि केवल आत्मज्ञानके द्वारा ही जीवोंका परम कल्याण हो सकता है। ये सिद्धमहायोगका अभ्यास करते एवं उसीकी शिक्षा देते थे। इस प्रणालीमें सम्पूर्ण योगोंका समन्वय हो जाता था।

ये शास्त्रानुकूल आचरणपर बड़ा जोर देते थे। वे कहते थे कि जिससे स्वरूपसाक्षात्कार हो गया है उसका आचरण आर्षग्रन्थोंके विपरीत हो ही नहीं सकता। श्रीस्वामीजीके उपदेश एवं आचरणका अनुकरण करके बहुतोंने अपने जीवनको सफल किया है। ७ जून सन् १९३५ ई० को **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** का उच्चारण करते हुए इन्होंने शरीरत्याग किया।

श्रीपूर्णानन्द ब्रह्मचारी

(लेखक—पं० श्रीबनवारीलालजी शर्मा)

बंगाल प्रान्तमें फरीदपुर जिलेमें माईसार नामका एक गाँव है, वहीं एक पवित्र शाण्डिल्य ब्राह्मणकुलमें वि० सं० १९०३ के भाद्रमासमें श्रीपूर्णानन्दजीका जन्म हुआ था। आपका बचपनका नाम रजनीकान्त था। आपके पिताका नाम कालीचरण चक्रवर्ती था, ये जमींदार घरानेके प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। माताका नाम उमातारादेवी था। बीस वर्षकी अवस्थामें विवाह हुआ। सौभाग्यसे इनकी धर्मपत्नी भी इनके सर्वथा अनुकूल थी।

अध्ययनके समय ही आपको कर्नल ऑलकॉट (थियोसाफिकल सोसायटीके आदि प्रवर्त्तक)-से मुलाकात हुई और उनसे मिलकर आप बहुत प्रभावित हुए। ऑलकॉटने अपने आध्यात्मिक अनुभव आपको सुनाये तथा उनके सत्संगमें आपको अद्भुत चमत्कारोंका परिचय मिला। चमत्कारद्वारा आप हिमालय पहुँच गये और वहाँ आपको एक दिव्य पुरुषने कुछ पेय वस्तु पिलायी जिसे पीकर आप अलमस्त हो गये। उसी महातेजोमय दिव्य पुरुषने आपको हरिनाम प्रचार करनेकी आज्ञा दी। इस मिलनका आपने बड़ा ही सुन्दर और आकर्षक वर्णन किया है।

अब आपका चित्त श्रीभगवन्नाम-संकीर्तनमें लगा। आपके हृदयमें भक्ति-प्रीतिका बीज पनप उठा और आप भक्तिप्रचारमें लगे। भगवत्प्रेरणासे आपकी

पत्नीने आपके पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रतके पालनमें सहयोग देनेका व्रत कर लिया। उसी दिन इन्होंने अपनी स्त्रीको माँ कहकर पुकारा और जीवनभर मातृरूपमें ही देखते आये। बाबा लोकनाथजी ब्रह्मचारी आपके ही गुरु थे। आपका गुरुनिष्ठाका व्रत अनन्य था। हृदयके बड़े ही उदार और सरल थे। पीछे ढाकामें आश्रम बनाकर रहने लगे थे। पचहत्तर वर्षकी अवस्थामें भी ये तेजस्वी नवयुवककी तरह लगते थे। योगासनमें बैठकर पवित्र मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए आप निर्वाणको प्राप्त हुए।

स्वामी श्रीदयानन्दजी

(लेखक—श्रीलक्ष्मणराम काशीरामजी)

गुजरातके प्राचीन तीर्थ हाटकेश्वर महादेवके शुभधाम बड़नगर (आनन्दपुर)-में संवत् १८९७ कार्तिक शुक्ला १३ मंगलवारको मोढ़पिड़ोजा ब्राह्मणवंशमें इनका जन्म हुआ था। तिरसठ वर्षकी अवस्थामें संन्यास ग्रहण किया। इन्होंने भजनका एक बहुत बड़ा ग्रन्थ बनाया है। इनके भजन बड़े लोकप्रिय हैं। संवत् १९६८ में इनका देहान्त हुआ। इनकी जीवन-चर्चा स्थानसंकोचके कारण विशेषरूपसे नहीं की जा सकती।

बाबा लादूरामजी

(लेखक—श्रीबालारामजी मास्टर)

मारवाड़में 'रीवाँ' बड़ी आबाद बस्ती है। वहाँ श्रीकृष्णप्रेमकी धारा बहुत प्राचीन कालसे अखण्ड रूपमें बहती आयी है। प्राकृतिक सौन्दर्य तो यहाँका देखने ही योग्य है। महात्मा भावुकनाथ और उम्मनाथ आदि अति प्राचीन कालके संत यहीं हुए थे। संवत् १९०९ में यहीं महात्मा लादूरामजीका जन्म हुआ। अबसे बीस वर्ष पूर्व आपका महाप्रयाण हुआ परन्तु अबतक भी वहाँके रहनेवालोंके लिये आप वर्तमान ही हैं।

सदाचार और विश्वासकी तो आप मूर्ति ही थे। आप बराबर कहा करते थे—

मोर दास कहाय नर आसा। करै तो कहहु कहा बिसवासा॥

जीवन-निर्वाहके लिये भिक्षाकी अपेक्षा परिश्रम करना आपको अधिक उत्तम जँचता था और उसमें आपका सूत्र था—

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। यथा लाभ संतोष सदाई॥

सत्यमें आपकी अद्भुत निष्ठा थी। देखनेमें चाहे जितनी क्षति आपकी हो जाय पर सत्यसे डिगते नहीं थे। गरीबोंके लिये आपका हृदय बहुत ही उदार और दयापूर्ण था। अनाथों और विधवाओंके आप बहुत बड़े आश्रय थे। परोपकार, परदुःखकातरता, दया, दीनवत्सलता, सेवा और निःस्पृहता—ये सब गुण जो संतोंमें पाये जाते हैं, आपमें थे। आपने अन्तिम क्षणमें जब शिष्योंने आपसे उपदेशके लिये प्रार्थना की तो आपने दो बातें कहीं—

१-हरिका स्मरण करना।

२-सदा सत्य बोलना।

यही कहते आपके प्राण प्रभुमें लीन हो गये।

रामभक्त पूलीबाई

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीविश्वेश्वरनाथजी रेउ)

पूलीबाई राजपूतानेके संतोंकी मुकुटमणि हैं। आपके जीवनके सम्बन्धमें कुछ भी निश्चितरूपमें प्राप्त नहीं होता। 'पूली-जसवन्त-संवाद' एक छोटी-सी पुस्तक मिली है। इसमें लगभग ६४ दोहे, साखी और चौपाइयाँ हैं। शायद महाराज जसवन्तसिंहने आपसे विवाह करनेका प्रस्ताव किया था परन्तु इन्होंने उसे साफ इन्कार कर दिया। जसवन्तसिंहजीका समय वि० संवत् १६९५ से १७३५ तक था। इसलिये पूलीबाईका समय भी इसीके आसपास होगा।

पूलीबाई रामनामकी उपासिका थीं। बड़ी अनन्य निष्ठा थी। 'पूली-जसवन्त-संवाद' से पूलीबाईके कुछ वचन हम यहाँ उद्धृत करते हैं जिससे पूलीका भगवत्प्रेम

प्रकट होता है। विस्तारभयसे हम पूरा-पूरा उसे नहीं दे पाये।

जबलग साँस सरीरमें, तबलग नाम अनेक।
घर फूटे सायर मिले, पूली पूरण एक॥
राम नाम सत जानै भाई। या बिन जगमें झूठ सगाई॥
पूली परमानन्द जे परसे। अरस परस कहुँ दूज न दरसे॥
पतसूँ कारज सब सरे, पतसूँ उतरो पार।
पूलीके पत बाहरो, सब झूठो सिंणगार॥
राम बिना के कामको, सांख जोग अभ्यास।
पूली परमानन्द बिन, कुण पुरवै मन आस॥
जबलग पेट पीठ नहिं लागे। तबलग बिरह अगिन नहिं जागे॥
जबलग गाँठ इक्कीस न छूटै। जोग कहंता हिवड़ो फूटै॥
पूली पन व्रत रामको, सतगुरु दीनों जोड़।
अब परतक छाड़ूँ नहीं, कला दिखावै कोड़॥

श्रीस्वामी मंगलवनजी

(लेखक—पं० श्रीहरिनारायणजी पुरोहित बी० ए, विद्याभूषण)

स्वामी मंगलवनजी बड़े तपस्वी योगी महात्मा थे। ये संन्यासियोंके वन नाम (उपाधि)-के थोकमें थे। जयपुरकी पुरानी राजधानी आँबेरके पहाड़के पीछे प्रसिद्ध शिवस्थान 'भूतेश्वर महादेवजी'-के मन्दिरके स्थानमें विराजते थे। बड़े ध्यानी, ज्ञानी और सिद्ध थे। काम-क्रोधादिपर विजय पाये हुए थे। इनका वचन सिद्ध था। बहुत थोड़ा बोलते थे, परन्तु जो भी वचन निकलता, तुला हुआ, यथार्थ और ज्ञानभरा होता था। शरीरसे स्वस्थ हृष्ट-पुष्ट थे। निःस्पृह और पूर्ण सन्तोषी थे। बहुत लोग ज्ञानोपार्जनके लिये इनके पास जाया करते। ये बहुत बड़ी आयुके थे। वे आप भी कहा करते और पुराने-पुराने वयोवृद्ध और बूढ़े-बूढ़े कृषक या मीणे आदि भी कहा करते कि 'बाबाजीको हम ऐसा-का-ऐसा ही सदासे देखते हैं।' वे कहते कि 'भाई! मैंने यहाँके सात या आठ राजा देखे हैं, मैं राजा ईश्वरीसिंह (सवाई जयसिंहजीके बड़े पुत्र और उत्तराधिकारी) के राज्यमें कोई दस-बारह वर्षका था, फिर माधवसिंह, उसके पीछे पृथ्वीसिंह, उसके पीछे प्रतापसिंह, उसके पीछे जगतसिंह, उसके पीछे जयसिंह (तीसरे), उसके पीछे रामसिंह (दूसरे), उसके यह माधवसिंह (दूसरे) हैं।' ये महात्मा संवत् १९४८ में (जो सन् १८९१ के अनुसार है) शरीरत्यागी हुए। योगीके योग्य मृत्यु पायी। कुछ रोगग्रस्त तो हुए थे, परन्तु अन्त समाधिस्थ अवस्थामें हुआ। भूतेश्वर महादेवके पास ही इनकी समाधि है। संयम और योगसाधनका यह प्रभाव रहा कि अन्तावस्थातक सब इन्द्रियाँ यथावत् काम देती थीं—देखते थे, सुनते थे, सचेष्ट और बहुत चमत्कार चैतन्यमें रहते थे, अच्छी आवाजके साथ गम्भीर शब्द बोलते थे। ये इस रियासतमें एक नामी योगी संत हो गये। (वयोवृद्ध लाला श्रीछोगालालजीसे यह वृत्त संक्षेपमें ज्ञात हुआ। लाला साहिब स्वामीजीके बड़े भक्त और सेवक रहे।)

ऐसा (नाँगलके वृद्ध पुरुषोंसे) ज्ञात हुआ है कि सुप्रसिद्ध धनकुबेर नाँगलके 'जैसाजी' बोहराको इन्हींके वरदानसे लक्ष्मीजी सिद्ध हुई थीं। जैसा बोहरा नित्य दूधका एक बरतन भरकर इन साधुजीको दे आता था जब वह अपने तीनों भाइयोंके साथ आँबेर नगरमें अपनी गाय-भैंसोंका दूध बेचनेको जाया करता। यह कभी-कभी भूतेश्वर महादेवके स्थानमें रसोई या गोठ भी कर दिया करता था। इस प्रकारकी एक दिन रसोईके लिये सामान उक्त देवस्थानमें एकत्र कर रसोई करायी। इसके तीनों भाई रसोईमें लग गये। रसोई हो चुकनेपर जैसा बोहरा तो बाहर जंगल-फरागतको निबटने चला गया। उसको वहाँ बहुत देर लग गयी। इसके भाई भूखसे व्याकुल हो रहे थे। इतनेमें एक साधुने आकर भिक्षा माँगी। इन तीनोंने उसके सवालपर कुछ ध्यान नहीं दिया और बहुत तकाजा करनेपर कहा कि 'जैसा आवेगा तब वह भिक्षा देगा, क्योंकि साधु-संतोंमें वही धन लुटाया करता है।' जब जैसा न आया तो भूखसे आतुर होकर इन तीनोंने परोसे बाँटकर जैसाका विभाग ढककर पृथक् रख दिया और अपने विभागोंको पा लिया। साधुको जो बाहर था, कुछ नहीं दिया। इन तीनोंके भोजन कर लेनेपर जैसा भी आ पहुँचा। साधुने जैसाको भिक्षाके लिये कहा। उसने भक्तिभावसे भिक्षा देनेको कहा। अंदर जाकर देखा तो भाइयोंने भोजन पा लिया था, केवल उसका ही विभाग

रखा पड़ा था। जैसाने तुरंत साधुको अपना विभाग दे दिया। परन्तु देनेसे पूर्व साधुने अपनी साफी (रूमाल सफेद) जैसाको देकर कहा—इससे भोजनको ढक दो। उसने वैसा ही किया और साफीके नीचेसे साधुको भोजन दे दिया। साधुने कहा—तुम भी प्रसाद पाओ। जैसाने फिर साफीके नीचे हाथ चलाया तो उतना ही पदार्थ और पाया, निकालकर पत्तलमें परोसगारी कर ली और साधुने कहा कि इन अपने भाइयोंको और जिमाओ। जैसाने फिर साफीके नीचे हाथ चलाया तो वैसे ही और पदार्थ वहाँसे निकलते गये और वह अपने भाइयोंको देता गया। इतनेमें कुछ साधु और आदमी वहाँ और आ गये। साधुने कहा इनको भी दो। जैसाने फिर साफीके तलेसे पदार्थ निकाल-निकालकर उन आगत पुरुषोंको भी परोस दिया। अब सब जीमने लग गये। अब तो साफीके नीचेसे निकाल बायें हाथसे जैसाने सबको परोसा। परन्तु पदार्थका अन्त नहीं आया। जैसा मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुआ और उसके तीनों भाई लज्जित। जैसाने समझ लिया यह महात्मा करामाती हैं जिन्हें मैं नित्य दूध दे आया करता हूँ। निदान, इनकी ही सिद्धिसे जैसाको लक्ष्मी प्रत्यक्ष हुई और वह उस युगमें अद्वितीय धनशाली पुरुष हुआ जिसने करोड़ों रुपये आँबेरके राजाओं और दिल्लीके बादशाहतकको उधार दिये और बोहरा कहलाया। नाँगल गाँवके विशाल भवनों और मन्दिरादिके देखने और जैसाकी कीर्तिमय कथाको सुननेसे जैसा बोहराकी महिमा ज्ञात होती है। और उन सिद्ध साधुजीकी अलौकिक योगशक्तिका माहात्म्य भी जाना जाता है।

स्वामी श्रीबुधगीरजी

महात्मा श्रीबुधगीरजीका जन्म सं० १८२७ में राजपुतानाके शेखावाटी प्रान्तके किसी गाँवमें हुआ था। छोटी अवस्थामें ही आपके हृदयमें वैराग्यका उदय हो गया था, अतः अब आप कुछ वयस्क हो गये तब जयपुर जिलेके 'नुँवा' नामक गाँवमें आये और वहाँपर महात्मा श्रीलक्ष्मणगीरके शिष्य बन गये। शिष्य बननेके कुछ समय पश्चात् आपके गुरुदेवने आपको हिंगलाज दुर्गाके दर्शनार्थ जानेकी आज्ञा दी और मार्गमें अपने गुरुभाई श्रीघोरीबाबासे मिलनेके लिये कहा। आज्ञानुसार आप चल पड़े और घोरीबाबाके यहाँ पहुँचे। घोरीबाबाने अपने योगबलसे अपने स्थानपर ही आपको हिंगलाज देवीके दर्शन करा दिये और यह आज्ञा दी कि आप हिंगलाज दुर्गाका और भी दर्शन पानेके लिये फतेहपुरसे डेढ़ मील दक्षिणकी ओर बीहड़में एक ऊँचे टीलेपर जाकर तपस्या करें। आपने वहाँ जाकर तपस्या की और हिंगलाज दुर्गाने मूर्तिरूपमें जमीनसे निकलकर आपको दर्शन दिया। उसके बाद आपकी प्रसिद्धि फैल गयी। एक बार महाराव राजा लक्ष्मणसिंहने आपसे कुछ गाँव ले लेनेके लिये हठ किया परन्तु आपने कुछ नहीं लिया। राजाके बहुत हठ करनेपर उनसे दो-तीन मकान और कुछ जमीन फतेहपुरके ब्राह्मणोंको दिलवा दी। तत्पश्चात् जब आपकी अवस्था ३५ वर्षकी हुई तब आपने अपनी लीलासंवरणका अवसर देखा और उस छोटी-सी अवस्थामें ही फाल्गुन कृष्ण १३ (शिवरात्रि) सं० १८६२ को जीवित समाधि लगा ली। महाराव राजा लक्ष्मणसिंहने आपके समाधिस्थानपर एक बड़ा-सा मन्दिर बनवा दिया और उसमें शिवलिंगकी स्थापना करवा दी। कहते हैं कि समाधिस्थ होनेके बाद भी आपने अपने भक्तोंको दर्शन दिया था। आपकी केवल एक कविता नीचे लिखी जाती है—

लट्टू मर गयी पट्टू सुमरण सेल लाग्या सट्टरी।
चोपड़ मँडी चोहट्टे आवो खेलो सट्टरी॥
पासा ढाल्या प्रेमका तरबिणीरे तट्टरी।
ज्ञान घोड़ा जीन माँड्या आवो चढ़ो झट्टरी॥
देहीमें दातार दरसे खोज अपने घट्टरी।
घोड़ा जैसे फेरण लाग्या बाँस फेरे नट्टरी॥
शीशमें जगदीश दरसे अशर मारे शट्टरी।
आठ नो पैड़ी चढ्या चार चढ्या खट्टरी॥
जमाके सिर जूत मारे खोस नाखै जट्टरी।
साध बुधगीर बोलिया म्हार सोहं 'शिखर' घर मट्टरी॥ १॥

महात्मा श्रीलक्ष्मीसखीजी

(लेखक—बा० श्रीचण्डीप्रसादजी श्रीवास्तव)

श्रीमहात्मा लक्ष्मीसखीजी एक बड़े ही तत्त्वदर्शी सिद्ध महात्मा थे। आपका जन्म-काल सन् १८४० ई० के लगभग बताया जाता है। आपने सन् १९१४ ई० के बैशाखमें अपना कलेवर बदल दिया। इस हिसाबसे आपने अपने जीवनकालमें ही विश्वका विशेष कल्याण कर तिहत्तर वर्षकी अवस्थामें इस असार संसारको त्याग दिया। आपने बिहारप्रान्तके अमनौर सुल्तान ग्राम जिला सारनके एक कायस्थकुलमें जन्म लिया था। ये बाल्यावस्थासे ही उदासी थे और सांसारिक माया-मोहसे विरक्त रहा करते थे। उसी समयसे आपका साधुसंगमें अटल प्रेम था। आपने करीब पचीस वर्षकी अवस्थामें बालब्रह्मचारी रहते हुए संसारी विषयोंसे मन मोड़कर साधुका भेष धारण कर लिया। आप जिला सारनके टेरुआ ग्राममें—जो राजापट्टी रेलवे स्टेशन (बी०एन०डबलू०) के समीप है—एक कुटी बनाकर रहने लगे। तत्पश्चात् आप इतने विरक्त हुए कि सन् १९०५ ई० में साधुजमातसे भी अलग होकर अकेले अपनी कुटीमें बंद रहने लगे। फिर तो आपकी समाधि इतनी प्रौढ़ हुई कि कभी-कभी छः-छः महीनेकी समाधि लगाकर द्वार बंद रखते थे और सन् १९०८ ई० से जीवनपर्यन्त कुटीसे बाहर नहीं निकले।

आप भगवान्‌की उपासना पतिरूपमें करते थे और अपनेको स्त्री, दासी एवं पत्नी समझते थे। उनका कहना था कि भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरा कोई पुरुष नहीं है। इसके अतिरिक्त पति-पत्नीभावसे उपासना करनेका एक भाव यह भी था कि संसारके सभी भावोंमें यानी पिता और पुत्र, स्वामी और सेवक आदिमें कुछ-न-कुछ पर्दा अवश्य रहता है; किन्तु एक पति-पत्नीका सम्बन्ध ही ऐसा है जिसमें परस्पर किसी प्रकारका भी कोई पर्दा नहीं रहता और तीसरा हेतु यह भी था कि आप बालब्रह्मचारी थे और वीर्यरक्षा ही आपकी साधना और उपासनाका एक परम अंग था। सम्यक्‌रूपेण वीर्यरक्षा नारीभावमें ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। इन्हीं सब तात्त्विक विचारोंसे आपने अपना नाम 'लक्ष्मीसखी' रख लिया।

एक दिन जब इनको अपने परम प्यारेसे मिलनेकी अनुभूति हुई उस समय यह अपनी ठेठ बिहारी भोजपुरी 'अइली-गइली' की भाषामें गा उठे—

'आजुवे वा शुभ घड़ी दीन ए ननदिया मोर।'

स्वामी श्रीरामशरणजी महाराज

(लेखक—श्रीरामप्रियाशरणजी)

तिलोई रियासतके पण्डितपुरवा गाँवमें पं० रामस्वरूप मिश्रकी धर्मपत्नीसे संवत् १८६४ आषाढ़ शुक्ल द्वितीयाको इनका जन्म हुआ था। ज्योतिषी पिताने जन्मपत्र देखते ही इनके भावी जीवनको जान लिया; अतः इनकी प्रवृत्तिमें कोई बाधा नहीं डाली गयी। उपनयनके समय पुरुषसूक्तके स्थानपर इन्होंने '**रामात्मकमिदं विश्वं न किंचित् रामात्परम्**' का अतर्कित उच्चारण किया। बिना पढ़े ही सारे शास्त्र इनके कण्ठस्थ हो गये। थोड़े दिनोंके बाद तीर्थयात्रा करते हुए ये प्रयाग पहुँचे और वहीं श्रीगरीबदासजीसे वैष्णवी दीक्षा ग्रहण की। फिर श्रीअवधमें श्रीजनकललीजीके कृपापात्र हुए और उन्होंने इन्हें अपनी अन्तरंग लीलामें सम्मिलित किया। इन्हें कई बार भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हुए थे। संवत् १९८३ बैशाख कृष्णमें आपने युगलसरकारके सामने परमधामगमन किया। उस समय जय-जय एवं दिव्य वाद्योंकी ध्वनिसे आकाशमण्डल मुखरित हो रहा था। उपस्थित लोगोंने यह बात साक्षात् देखी थी।

संत श्रीरघुनाथदासजी

(लेखक—श्रीमाखनदासजी श्रीवैष्णव)

आजसे लगभग दो सौ वर्ष पूर्व उत्तर भारतके एक प्रसिद्ध संत तापीदासजी महाराज दक्षिण भारतमें भ्रमणके लिये पधारे और श्रीरामेश्वरम्‌के रास्तेमें अहमदनगरमें एक रातके लिये ठहरे। वहीं रातमें आपको स्वप्नमें

आदेश हुआ कि मैं यहाँ एक घरमें गड़ा हुआ हूँ, मुझे निकालकर स्थापित करो। मूर्ति निकाली गयी और तापीदासने रघुनाथदासजीको भगवत्-अर्चाका काम सौंप दिया।

रघुनाथदासको बारह वर्षकी अवस्थामें ही घरसे विरक्ति हो गयी थी। गोदावरीके तटपर रहकर आपने सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका अनुशीलन किया। आपको पूरी भागवत कण्ठस्थ थी। आप बड़े ही एकान्तप्रिय भजनानन्दी संत थे। वि० सं० १८२१ की बैशाख कृष्णा सप्तमीको आपका परलोकगमन हुआ। आजतक आपकी प्रयाणतिथिका वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधामसे मनाया जाता है।

जीवन्मुक्त पं० अनन्तरामजी मिश्र

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीसत्यव्रतजी शर्मा 'सुजन' बी० ए०)

बिहारप्रान्तान्तर्गत पटना जिलेके राघवपुर नामक ग्राममें पं० श्रीगणेशानन्दजी मिश्रके यहाँ संवत् १८९५ चैत्र कृष्ण षष्ठी बुधवारको आपका जन्म हुआ था। इनके पिता बड़े विरक्त, विद्वान्, योगी एवं सदाचारी थे। वे संस्कृत ही बोलते थे। ऐसे योग्य विद्वान्के पुत्र विश्वविख्यात स्वामी श्रीभास्करानन्दजीके विद्यागुरु हों तो आश्चर्यकी कौन-सी बात है? महामहोपाध्याय पं० शिवकुमार शास्त्रीजीने स्वलिखित **'यतीन्द्रजीवनचरितम्'** में इस बातका उल्लेख किया है। आपने थोड़े ही दिनोंमें घर और काशी मिलाकर सम्पूर्ण शास्त्रोंका सांगोपांग अध्ययन कर लिया। श्रीभवानीसहायजीकी प्रेरणासे केवल चार ही दिनमें सम्पूर्ण योगभाष्यका अध्ययन कर लिया था। आपका विवाह छोटी ही अवस्थामें हो गया था। आपने अनेक राजदरबारोंमें सम्मान पाया। बीच-बीचमें सूकरक्षेत्र आदिमें संन्यासियोंका सत्संग, श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि करते रहे। निःस्वार्थ-भावसे कई लोगोंको वेदान्तका अध्ययन कराया। कई बार परमहंसोंके साथ पुरी, मथुरा आदिकी यात्रा की। बादमें पत्नीका देहान्त होनेपर काशीमें ही रहने लगे। इन्होंने स्वामी भास्करानन्दजीके पास दस उपनिषदों एवं स्वराज्यसिद्धिपर टीका लिखी थी। धनकुबेर श्रीहरिवंशजीको भागवत सुनानेके पश्चात् आप मथुरासे घर चले आये और मृत्यु निकट जानकर ब्राह्मण एवं गरीबोंको सब दान कर दिया। बड़े-बड़े यज्ञ हुए। इसके पश्चात् काशी जाकर एक और यज्ञ किया। फिर तो संसारसे निश्चिन्त होकर ब्रह्माकारवृत्तिसे ही रहने लगे और संवत् १९७६ श्रावण कृष्ण द्वादशीको शरीर त्यागकर मुक्तिपदपर आरूढ़ हुए।

महाराज श्रीजयगोविन्दजी

(लेखक—आयुर्वेदाचार्य पं० श्रीगिरिजाशंकरजी अवस्थी शास्त्री)

आपका जन्म संवत् १९१४ माघ शुक्ल द्वितीया पाटन जिला उन्नावमें कान्यकुब्ज ब्राह्मण पं० श्रीविश्वनाथजी त्रिपाठीके घर हुआ था। विद्याध्ययनके पश्चात् विवाह होनेपर भी आप भगवद्भजनमें बड़ी रुचि रखते और एक संत सद्गुरुकी प्रतीक्षा किया करते। इन्होंने बहुतोंसे बाबा श्रीरघुनाथदासजीकी प्रशंसा सुनी और फिर श्रीअवधमें जाकर उन्हींसे दीक्षा ग्रहण की। बाबाजी इनपर बड़ा ही वात्सल्य स्नेह रखते थे। ये निरन्तर भगवत्पूजामें लगे रहते। प्रतिदिन सत्संग होता। आपने बहुत-से ग्रन्थ लिखे हैं। और वे सभी भगवद्-भक्ति एवं वैराग्यसे परिपूर्ण हैं। इनके पद बड़े सुन्दर हैं। परन्तु स्थानाभावके कारण उद्धृत नहीं किये जा सकते। इनके द्वारा लोगोंका महान् कल्याणसाधन हुआ है। संवत् १९७२ चैत्रकी अमावस्याको भगवान्के गुणोंका गायन करते हुए पाञ्चभौतिक शरीरका त्याग करके भगवान्के परमधाममें गये।

स्वामी श्रीरामराजाजी महाराज

(लेखक—आयुर्वेदाचार्य पं० श्रीगिरिजाशंकरजी अवस्थी शास्त्री)

आपका जन्म संवत् १९३२ पाटन जिला उन्नावमें कान्यकुब्ज ब्राह्मणोंके अवस्थीपरिवारमें हुआ था। आप अपने पिताके एकमात्र पुत्र थे। उनतीस वर्षकी अवस्थामें जब कि आप बम्बईमें थे, आपके हृदयकी विरक्ति बाहर आ गयी और आप सारा काम-काज छोड़कर निकल पड़े। तीर्थाटन एवं महात्माओंका सत्संग करते हुए बदरिकाश्रममें पहुँचे और वहीं संन्यासधर्मकी दीक्षा ग्रहण की। बहुत दिनोंतक वहाँ रहकर नीचे उतरे और फतेहपुर जिलेके मालवा ग्राममें आकर बारह वर्ष मौन रहनेका व्रत लिया। आपका संन्यासी नाम श्रीपरिव्राजकानन्द था। बारह वर्षका मौनव्रत पूर्ण होनेपर आपके पास बहुत लोग आने लगे और सत्संगका लाभ उठाने लगे। एक बार अवर्षण होनेपर इनके गाँवके लोग बड़ा हठ करके इन्हें वहाँ ले गये। इनके जाते ही वहाँ वर्षा हुई। कई बीमार इनकी कृपासे रोगमुक्त हो गये। बड़े-बड़े अंग्रेजीशिक्षित भी इनके उपदेश ग्रहण करनेके लिये आया करते थे। आपके सम्पर्कमें जानेसे अनेकोंका उद्धार हुआ है। आपकी वैराग्य-नीति-दर्पण नामकी एक पुस्तक है। आप वेदान्त और भक्ति दोनोंका समानरूपसे उपदेश करते थे। संवत् १९७९ फाल्गुन शुक्ल नवमीको आपने निर्वाणपद प्राप्त किया।

परमहंस श्रीत्रिपुरलिंग स्वामीजी

आपकी जन्मभूमि लखनऊ थी, आप कनौजिया तिवारी ब्राह्मण थे। आपने प्रसिद्ध संत परमहंस श्रीतैलंग स्वामीसे दीक्षा ली थी। पूर्व बंगालके ढाका शहरमें बहुत दिन रहे। आपके उपदेशोंको सुनने बहुत अच्छे-अच्छे शिक्षित लोग आया करते थे। आप बड़े ही दयालु थे और पहुँचे हुए संत थे। श्रीस्वामी शंकरानन्दजी सरस्वतीने आपकी जीवनी लिख भेजी है, परन्तु स्थानाभावसे हम उसे छाप नहीं सके।

स्वामी शिवराम गिरि

(कुदरेके महात्मा)

(लेखक—पं० श्रीसंकर्षणजी त्रिपाठी)

ईस्ट इण्डियन रेलवेके कुदरा स्टेशनके पास जहानाबाद नामक एक छोटा-सा ग्राम है। वहाँ सिद्ध महात्माओंका पीठस्थान है। वहीं स्वामी अनगढ़नाथबाबा-जैसे सिद्धोंका निवासस्थान था। स्वामी अनगढ़नाथजीके शिष्य थे स्वामी निर्मल गिरिजी और स्वामी निर्मल गिरिजीके शिष्य हुए स्वामी बुद्ध गिरि और स्वामी बुद्ध गिरिके शिष्य थे स्वामी शिवराम गिरि। जिनका संक्षिप्त जीवनचरित्र यहाँ दिया जा रहा है।

स्वयं श्रीस्वामी शिवराम गिरिजी तथा इनके प्रिय शिष्य स्वामी गोपाल गिरिजीसे ही स्वामीजीके जीवनके थोड़े-से वृत्तान्त प्राप्त हैं। स्वामी श्रीशिवराम गिरिका जन्म दक्षिण भारतमें कृष्णानदीके तटपर किसी ग्राममें हुआ था। एक बहुत ही सम्पन्न और प्रतिष्ठित ब्राह्मणपरिवारको आपने अपने आविर्भावसे अलंकृत किया।

अंग्रेजीमें एफ० ए० तक आपकी शिक्षा हुई थी। अचानक एक दिन एक साधुके उपदेशसे आपके जीवनने पलटा खाया। हृदयमें सोया हुआ वैराग्य जाग पड़ा और करोड़ोंकी सम्पत्तिको लात मारकर आप भगवान्‌के दर्शनोंके लिये घरसे निकल पड़े। जाते-जाते ये आसाम पहुँचे और वहाँ लगभग तीस वर्ष योगसाधन और तपश्चर्या की। वहीं आपको अनेकों विभूतियाँ प्राप्त हुईं।

घूमते-फिरते ये जहानाबाद आये। वहाँ सिद्ध महात्मा स्वामी अनगढ़नाथजी बाबासे साक्षात्कार हुआ और कुछ दिनोंके सत्संगसे स्वामी शिवराम गिरि बहुत प्रभावित हुए। ये अपनी विभूतियोंको बहुत छिपाकर रखते थे। परन्तु सुगन्धि छिपानेकी वस्तु है नहीं; उसके पास तो भँवरे अपने-आप मँडराने लगते हैं।

आपमें बहुत बड़ी-बड़ी विभूतियोंकी बातें देखी और सुनी गयी हैं जिन्हें स्थानके संकोचसे यहाँ देना सम्भव नहीं। संक्षेपमें कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि आप बड़े ही उदार और आप्तकाम सिद्ध महात्मा थे और जनतापर आपके अनेकों उपकार हैं। कुदरामें आस-पासके आदमी आपकी स्मृतिको बड़े आदर और भक्तिके साथ हृदयमें लाते हैं और अपनेको धन्य मानते हैं।

महात्मा श्रीहरिसेवकलालजी

(लेखक—बाबू श्रीचण्डीप्रसादजी)

यहाँ हम एक गृहस्थ तपस्वीका जिक्र करना चाहते हैं, जिनकी अनमोल वाणीने इधर बड़ा काम किया है। भारतवर्षमें अभाग्यसे कहें या प्रथा न रहनेके कारण, महापुरुषोंकी जीवनी लिखनेका रिवाज नहीं था। बहुत-से संत-महात्मा ऐसे मिलते हैं जिनका नाम तो हम सुनते हैं, और उनकी प्रतिभाका प्रमाण भी मिलता है, परन्तु उनके सम्बन्धमें अधिक हाल नहीं मालूम होता।

महात्मा हरिसेवकलालजी मौजा वजीरापुर जिला बलियाके रहनेवाले थे। आप कायस्थ थे। आपके पिता मुंशी गुरुदयाललाल एक अच्छे जमींदार थे। आपके जन्मकी तिथि तो ज्ञात नहीं, परन्तु कहा जाता है कि आप लगभग सन् १८२२ ई० में पैदा हुए। आप जीवनभर गृहस्थ ही रहे। कभी साधुवेश धारण नहीं किया। आपकी शिक्षा प्राचीन कायस्थ-पद्धतिके अनुसार, प्रथम फारसीमें हुई थी, बादमें आपने हिन्दी भाषामें भी काफी योग्यता प्राप्त कर ली थी।

आप बचपनसे ही साधु-सेवामें बड़ा प्रेम रखते थे। आपका मौजा गंगातटपर होनेसे वहाँ साधु-महात्मा अकसर विचरते हुए आ जाया करते थे। हरिसेवकलालजी उनको ढूँढ़कर अपने यहाँ लिवा जाते और उनका यथोचित सत्कार करते थे। आप श्रीलालसाहब मौजा लखौलियाके शिष्य थे; जो एक बड़े सिद्ध योगी हो चुके हैं। आप सुरत-शब्दमार्गी थे, जिसमें इनकी सिद्धता प्रसिद्ध थी। आपने कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'सेवकतरंग' और 'सेवकबहार' का पता चलता है। आपकी पद्धति और आपकी भाषा कबीरसाहबके समान है।

आप ८० वर्षकी आयु भोगकर इस संसारसे कूच कर गये। आपके देहत्यागका समय सन् १९०२ बताया जाता है। खेद है कि ऐसे महापुरुषकी जीवनीके सम्बन्धमें बहुत ही कम ज्ञात है!

श्रीअच्युतमुनिजी

श्रीअच्युतमुनिजीका पंजाबी शरीर था। आप संस्कृतके उद्भट विद्वान् थे और पहले लाहौरमें अध्यापन-कार्य करते थे। आपने शास्त्रोंका बड़ा गहरा अध्ययन किया था। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थ तो आपको कण्ठस्थ हो गये थे। स्वभावसे ही आपके अंदर वैराग्यकी भावना वर्तमान थी। अध्यापन कार्य करते समय भी आप प्राय: संसारसे निर्लिप्त रहा करते थे। आपका अधिकांश समय एकान्तमें, विशेषत: रावी नदीके तटपर बीता करता था। नामजपपर आपकी बड़ी श्रद्धा थी। आपने स्वयं एक बार कहा था कि *'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'* इस तारकमन्त्रका पाँच करोड़ जप मैंने उन्हीं दिनों किया था। आखिर आप सब कुछ छोड़-छाड़कर संन्यासी हो गये। बहुत दिनोंतक अनूपशहरके पास श्रीभृगुक्षेत्रमें रहे। वहाँ आप श्रीगंगाजीके बीच एक नावपर रहा करते। आपकी प्रकृति अत्यन्त सरल और स्वभाव बालकके समान था। आपका प्रेमभरा मृदु भाषण सुनकर कोई भी आदमी आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता था। आपकी विद्वत्तासे आकर्षित होकर बहुत-से लोग आपके पास सत्संग और शास्त्रचर्चाके लिये आया करते थे। आप वेदान्तादि अत्यन्त गूढ़ विषयोंका विवेचन बड़ी गम्भीरता तथा सरलताके साथ किया करते थे। आपके द्वारा शिक्षाप्राप्त कितने ही महानुभाव आज सन्मार्गपर चलकर आपका गौरव बढ़ा रहे हैं।

आप इधर कुछ समयसे काशीके समीप रामेश्वर नामक स्थानमें रहा करते थे और समय-समयपर अपने उपदेशोंसे लोगोंका कल्याण-साधन किया करते थे। गत १२ दिसम्बर सन् १९३५ को काशीधाममें भगवान् श्रीविश्वनाथके मन्दिरके सामने श्रीगौरीशंकरजी गोयनकाके मकानमें आपने इहलीला समाप्त की।

श्रीमस्तरामजी

(लेखक—डॉ० श्रीमोहनजी)

अनूपशहरमें अस्सी वर्ष पूर्व महात्मा मस्तरामजी बड़ी ऊँची कोटिके परमहंस संत हो गये हैं। वह जब कभी बाजारको आ जाते तो बालकोंकी भीड़ इनके पीछे लग जाती। कभी-कभी स्वामीजी किसी हलवाईकी दूकानसे मिठाई उठाकर बच्चोंमें लुटा देते और कभी सराफोंकी दूकानसे पैसोंकी ढेरसे मुट्ठियाँ भरकर लुटा देते थे। जिसकी दूकानका सामान आप लुटाते वही अपनेको बड़भागी मानता था।

आप एक ही दिन, एक ही समय अनूपशहर और कलकत्तेमें देखे गये थे। आप कुछ बोलते ही नहीं थे, यदि कुछ बोल दिया तो वह अटल ही होता था। अनूपशहरके निकट ही हरचनौरी नामक स्थानपर आप घूम रहे थे कि एक भेड़िया आया और उसने आपकी जाँघमें मुँह मारा। आप वहींपर बैठ गये और बोले कि 'बेटा! आज पेट भरकर खा ले; आजसे पीछे फिर यहाँ मनुष्यका मांस खानेको नहीं मिलेगा।' आपका घाव तो अगले ही दिन अच्छा हो गया परन्तु उस क्षेत्रमें आजतक भी भेड़िया छोटे बालक तकको नहीं काटता। भूँसता तो है लेकिन काटनेके लिये उसका जबड़ा ही नहीं खुलता।

एक दिन आप पालथी मारकर बैठ गये और लोगोंसे कहा कि 'हमारे ऊपर ईंट चुनवाकर समाधि बनवा दो।' उनकी आज्ञानुसार वैसा ही किया गया। सुना जाता है आप अब भी रातको कभी-कभी लोगोंको दर्शन देते हैं। श्रीमस्तरामजीकी समाधि गंगाकिनारे बड़े रमणीय स्थानपर बनी हुई है। यहाँपर सदा उच्च कोटिके विरक्त संत ठहरा करते हैं। इस स्थानको संत सिद्धभूमि बताया करते हैं।

दण्डीस्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराज

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी पिलखुवा)

पूज्यपाद श्रीस्वामीजीकी जन्मभूमि पंजाबमें थी। आपका पितृदत्त नाम था पं० श्रीरामफलजी शास्त्री। आपने घरपर एवं काशीमें श्रीराम शास्त्री एवं पं० श्रीलक्ष्मण शास्त्री-जैसे दिग्गज विद्वानोंसे अध्ययन करके शास्त्रोंमें पारदर्शिता प्राप्त की थी। अनेकों स्थानमें अध्यापन किया था। पत्नीके देहान्तके अनन्तर अनाश्रमी रहना अनुचित समझकर आपने एक बड़े अच्छे दण्डी संन्यासीको गुरु बनाकर संन्यास ग्रहण किया। तत्पश्चात् अनेकों स्थानोंपर भ्रमण करते हुए अधिकारियोंको वेदान्तादि शास्त्रोंका रहस्य बतलाते रहे। बड़े-बड़े महात्मा जैसे श्रीअच्युतमुनिजी, श्रीउड़ियाबाबाजी आदि इन्हें बड़ी श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते एवं सम्मान करते थे। बालब्रह्मचारी विद्वान् पं० श्रीजीवनदत्तजी शास्त्रीके प्रेम तथा आग्रहसे और गंगातटपर रहनेकी स्वाभाविक रुचि होनेके कारण आप नरवरविद्यालयमें चले आये थे और अन्ततक वहीं रहे। गंगास्नान, नित्यकर्म, जप, पाठ और ध्यान करनेके पश्चात् आपका प्राय: सब समय अधिकारी विद्यार्थियोंके अध्यापनमें ही व्यतीत होता था। आपके शिष्योंमें महात्मा करपात्रीजी-जैसे विरक्त एवं विद्वान् आदर्श पुरुष विद्यमान हैं। शास्त्रीय सदाचारपर आपका बड़ा जोर था। ये सन्ध्यादिका परित्याग करके कीर्तन करना अच्छा नहीं समझते थे। द्विजातियोंके लिये सन्ध्याको अनिवार्य बतलाते थे। वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हुए नामकीर्तनकी महिमा बराबर गाया करते थे। सं० १९९३ मार्गशीर्ष कृष्णा अष्टमीको आपने ६० वर्षकी अवस्थामें अपना पाञ्चभौतिक शरीर त्यागा है। वास्तवमें आपके उठ जानेसे सनातनधर्मकी महती क्षति हुई है। हम इनके चरणोंमें अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करते हैं।

परमहंस स्वामी श्रीयोगानन्दजी

(आलूवाले बाबा)

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीविष्णुजी)

संवत् १९२६ में सूरत शहरके वैश्य श्रीउत्तमरामजी सुतरियाके यहाँ इनका जन्म हुआ था। इनका घरका नाम नन्दलाल था। ये सिद्धान्तके बड़े पक्के थे। इनकी समझमें जो बात आती उसपर अड़ जाते, जिद्द कर बैठते। चाहे जैसी कठिनाईका सामना करना पड़े टस-से-मस नहीं होते। इसके कारण इन्हें बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। नौकरी की नहीं, कविता लोगोंने पसंद नहीं की, वैद्यकसे आमदनी नहीं हुई। इससे बड़ा वैराग्य हुआ। एक महात्माकी शरण लेकर आप योगाभ्यास करने लगे। परन्तु अभी घरकी चिन्ता लगी थी; अत: अभ्यास पूरा नहीं हो पाता था। अन्तमें भगवान्ने कृपा करके सम्पूर्ण परिवारवालोंको अपने पास बुला लिया। तब ये संन्यास लेकर भ्रमण करने लगे। जिस समय ये आगरेमें आये, आपकी बड़ी ख्याति हुई। आपकी साधना उच्च कोटिकी थी। ज्ञाननिष्ठा अद्‌भुत थी। दूर-दूरसे लोग आने लगे। सत्संग जम गया। रोज-रोज मर्मकी बातें होने लगीं। 'वेदान्त-केशरी' नामका मासिक पत्र निकाला गया। उस समयके इनके भक्तोंमें पण्डित श्रीशंकरलालजी कौशल्य (वर्तमान श्रीभोलेबाबाजी) प्रधान थे। ये प्राय: फलाहार ही करते और उसमें आलूका भोजन मुख्य था। इनके द्वारा वेदान्त साहित्यका बड़ा विस्तार हुआ है। ये बड़े मिलनसार थे। इनके चेहरेपर अद्‌भुत शान्ति और प्रसन्नता विराजती रहती थी। अन्तकालतक इनका उत्साह अक्षुण्ण बना रहा। संवत् १९९१ में इन्होंने अपनी इहलीला संवरण करके विदेहमुक्ति प्राप्त की। मुझपर श्रीस्वामीजीकी अपार कृपा थी। मैं हृदयसे उन्हें श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ।

श्रीचमेलीपुरीजी उर्फ झूलाबाबा

(लेखक—श्रीगणपति भारतीजी)

आपका देहान्त लगभग एक सौ पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें सन् १९२० के जुलाई महीनेमें काशीमें हुआ था। आप स्वयं कहा करते थे कि सन् १८५७ के सिपाही-विद्रोहके समयमें मैं पूरा जवान था। कुरुक्षेत्रके थेली नामक स्थानके एक मठमें महात्मा श्रीशीतलपुरीजी उर्फ दरबारपुरीजीसे आपने बचपनमें ही संन्यास-दीक्षा ले ली थी। उसके बाद आप कहाँ-कहाँ विचरे, इसका कोई पता नहीं है। आजसे लगभग सत्तर वर्ष पूर्व आप काशी आये थे। काशी आनेपर पहले तो आपका निवासस्थान शिवालयघाटके श्रीनिर्वाणी अखाड़ेमें बहुत दिनोंतक रहा, उसके अनन्तर आप खोजवा मुहल्लेके शंखधारा नामक बगीचेमें रहने लगे थे और वहींपर लगभग पचास वर्षोंतक लगातार निवास करनेके पश्चात् आपने शरीर छोड़ा था। उस बगीचेमें एक झूला था, उसीपर आप सदा दिखायी देते थे, अत: लोगोंने आपको झूला बाबाके नामसे प्रसिद्ध कर रखा था।

आप एक विलक्षण त्यागी महात्मा थे। सदा नग्न ही रहा करते थे, वस्त्रोंसे आपका कोई वास्ता ही नहीं रहता था। भक्तजन जब कभी आपके सामने रुपये-पैसोंकी भेंट चढ़ा जाते थे तो उनमें कभी आप हाथ भी नहीं लगाते थे। फलत: अवसर पाकर उन्हें कोई दूसरे ही उठा ले जाते थे, जिसे देख-देखकर आप बहुत प्रसन्न होते थे। भोजन बिना माँगे जो कुछ मिल जाता था, उसीका प्रीतिपूर्वक भोग लगाकर आप सदा सन्तुष्ट रहा करते थे। प्रति शुक्रवारको आप खोजवाके बाजारमें चनोंकी भीख माँगने अवश्य जाया करते थे, परन्तु अपने लिये नहीं, उन्हें भिगोकर लड़कोंको बाँटनेके लिये। आपकी मिलनसारिता और समदर्शिता तो देखते ही बनती थी। आपके यहाँ सबका समानरूपसे आदर होता था। आपकी चेष्टाओंको देखकर तो यही प्रतीत होता था मानो आप चार वर्षके बालक हों। इन्हीं सब सद्‌गुणोंके प्रभावसे गृहस्थोंसे लेकर अच्छे-अच्छे साधु-संन्यासीतक आपके शिष्य हो गये थे। आपके भक्तोंने कई बार आपका फोटो उतरवानेकी चेष्टा की, परन्तु आपने कभी भी ऐसा करने नहीं दिया। अत: शायद ही कहीं आपकी कोई तसवीर मिल सकेगी।

आप अन्तर्यामी थे। भक्तोंके मनकी बातें बात-की-बातमें जान लेते थे; यह बात कई बारके प्रसंगोंसे प्रत्यक्ष प्रमाणित हो चुकी है। कई बार कठिन-से-कठिन रोगी आपके पास आये परन्तु आपने सबको एक-एक फूँकमात्रसे ही चंगा कर दिया। विषधर सर्पोंके दंशनसे मरे हुए भी कई व्यक्ति आपकी फूँक पाकर जीवित हो उठे थे।

इस तरहके आपके और भी अनेकों चमत्कार देखे गये थे। आप महानिर्वाण अखाड़ेके एक प्रसिद्ध महात्मा थे, जिसके मठ भारतके कई बड़े-बड़े नगरोंमें हैं।

संत प्रेमदासजी

(लेखक—आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी)

गोपालकी प्यारी लीलाभूमि वृन्दावनके संत प्रेमदासजी प्रेमकी सजीव प्रतिमा थे। आप सदा छिपे ही रहे। सदा यमुना-किनारे बैठकर प्रेममग्न होकर कुछ-कुछ गुनगुनाया करते। कभी हँसते, कभी जोर-जोरसे चिल्लाते। सर्वत्र श्रीकृष्णके ही दर्शनमें छके रहते, अणु-अणु, परमाणु-परमाणु आपके लिये श्रीकृष्णमय था। आप कहते—केवल श्रीकृष्ण और उनकी कृपा—इन्हीं दो बातोंको सोचो, सुनो, विचारो। यह कहते-कहते आपके नेत्रोंसे झर-झर अश्रुवृष्टि होने लगती। चार वर्ष हुए आपको निकुंजभावकी अमर प्राप्ति हो गयी।

परमहंस स्वामी श्रीब्रह्मानन्दजी

(लेखक—पं० श्रीलालारामजी शुक्ल)

इटावा जिलेके भुजपुरा गाँवमें वि० सं० १९४१ चैत्र शुक्ला २ को ब्राह्मणवंशमें स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराजका जन्म हुआ था। आपके पूर्व आश्रमका नाम था प्यारेलाल। आपकी माताजी जिनकी अवस्था ७५ सालके लगभग है, जीवित हैं।

बालक प्यारेलालजी बड़े ही सुन्दर थे। स्वभाव भी आपका मनोहर था। सभी लोग आपको गोदमें लेकर खिलाते थे। बचपनमें आपको कुश्तीका शौक था। महावीरजीकी पूजा करते थे। १८ वर्षकी अवस्थामें विवाह हुआ और आप पत्नीके साथ मैनपुरीमें रहकर व्यवसायमें लगे।

परन्तु यकायक जीवनने पलटा खाया। एक बार एक महात्मा आपकी दूकानपर आये। उनसे आप बहुत प्रभावित हुए और लगातार कई दिनतक उनका सत्संग होता रहा। इसी अवसरपर पत्नीका भी देहान्त हो गया। अब क्या था? वैराग्यकी लहर उमड़ आयी। इसपर एक और करारी चोट पड़ी। आपका इकलौता लाड़ला पुत्र भी जाता रहा। सारे बन्धन एक साथ छिन्न-भिन्न हो गये। प्रभुकी कृपा होती है तो ऐसे होती है।

आपने अब रामायणकी शरण ली। खूब पाठ चला। गरीबोंकी सेवा और रामायणका पाठ—यही कार्य रहा। परन्तु प्रभु तो आपको परमपदके लिये तैयार कर रहे थे, अस्तु। आपने नारायण स्वामीसे विधिवत् संन्यास लिया। अब आपका चित्त गंगातटपर विशेष रमने लगा। मधुकरी वृत्तिसे एकान्तवासमें कई वर्ष बीते।

भोलेपुर रेलवे फाटकके पास लाइन पार करते समय रेलके इंजिनके नीचे आपका शरीर आ गया। आपके दोनों पैर कट गये परन्तु आपको जरा भी खेद नहीं था। इस प्रकार घोर शारीरिक कष्ट पानेपर भी आपने बड़ी शान्ति और आनन्दमें इहलीला संवरण की।

ईसाई संत

(लेखक—श्रीसम्पूर्णानन्दजी)

मैं नहीं जानता कि इस अंकमें दूसरे लेखकोंने संत शब्दकी क्या व्याख्या की है, मुझे ठीक-ठीक यह भी पता नहीं है कि सम्पादकजीने संत शब्दके किस अर्थको ध्यानमें रखकर इस अंकका संचयन किया है। पर मैं तो इस शब्दको 'योगी' के अर्थमें ही लेता हूँ। मैं इस बातको भूलता नहीं कि स्वयं पतंजलिने

'**ईश्वरप्रणिधानाद्वा**' और '**यथाभिमतध्यानाद्वा**' सूत्रोंमें कपाट बहुत चौड़े खोल दिये हैं। फिर भी प्राचीन परम्पराको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि कोई व्यक्ति संत कहलानेका अधिकारी तब ही होगा जब उसके लिये—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

यह उपनिषद्वाक्य सार्थक हो चुका हो। इसके पहले वह कितना बड़ा भी भक्त या उपासक क्यों न हो, विद्वान्, महात्मा या साधु या सज्जन या और चाहे जो कहलाये पर संत नहीं कहला सकता। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि केवल योगकी दीक्षा लेनेसे ही कोई संत नहीं हो जाता पर गीताके शब्दोंमें '**जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते**'।

हमारे देशमें बहुत-से लोग तो स्यात् यह माननेको भी तैयार न होंगे कि योगी तो दूर रहे ईसाइयोंमें बड़े-बड़े भक्त हो गये हैं। इसे न माननेका कारण दुराग्रह नहीं, अज्ञान है। वस्तुतः ईसाई सम्प्रदायमें, विशेषतः कैथलिक उपसम्प्रदायमें कई बड़े आदर्श भक्त हो गये हैं। उन्होंने ईश्वरकी भक्तिके अनेक मार्ग निकाले हैं जो हमारे भक्तोंके मार्गोंसे मिलते-जुलते हैं। यह कहना भूल है कि एकने दूसरेसे चोरी की है, बात यह है कि एक ही परिस्थितिमें विकासका क्रम एक ही हो गया। उनमेंसे किसी-किसीने ईसाके बालरूपकी उपासना करके मातृवत् उनको अपनाया है, किसीके लिये ईसा उनके प्रियतम, नायक, पति रहे हैं। और किसीमें प्रौढ़ ईसाको सदैव स्वामी और प्रभु माना है। ईसाके स्वरूपके साथ ध्यानद्वारा तन्मयता प्राप्त करनेकी पराकाष्ठामें स्टिग्मेटाइजेशन (Stigmatisation) तक हो जाता था। यह एक असाधारण अनुभव था जिसकी सत्ता आज अनीश्वरवादी मनोवैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। जब ईसाके हत्यारोंने उनको सलेबपर चढ़ाया तो उनकी दोनों हथेलियोंमें कीलें ठोंक दीं और मस्तकपर काँटोंका एक भारी मुकुट पहना दिया। उनकी इस करुण मूर्तिका ध्यान करते-करते किसी-किसी भक्तके माथेपर कण्टकमय मुकुटके बैठनेकी जगह गहरे लाल रंगका घेरा ललाटपर पड़ जाता था और कीलोंकी जगह दोनों हथेलियोंमें गहरे लाल रंगके दाग पड़ जाते थे वरं खूनतक चुहचुहा आता था। इन्हीं दागोंको स्टिग्मेटा कहते हैं।

जिस प्रकार हमारे यहाँ कुछ भक्त ईश्वरको देवीरूपमें देखते हैं उसी प्रकार वहाँ भी एक बड़ा सम्प्रदाय था जो ईश्वरकी उपासना ईसाकी माता 'कुमारी मेरी' के रूपमें ही करता था।

अस्तु, इन भक्तोंके अतिरिक्त कई शुद्ध योगी हो गये हैं। सेण्ट फ्रान्सिस, सेण्ट कैथरिन, सेण्ट टेरीसा, सेण्ट जॉन ऑव दि क्रॉस आदि कई ऐसे महात्मा हो गये हैं। पहले योगियोंके कई सम्प्रदाय भी थे, जो अब लुप्तप्राय हैं। एक बात ध्यान रखनेकी है, जिस प्रकार मुसलमान सूफियोंने 'शराब' शब्दका बहुत प्रयोग किया है और हमारे किसी-किसी भक्तकी भाँति स्त्री-पुरुषके संयोगसे ली हुई उपमाओंसे बहुत काम लिया है, इसी प्रकार इन ईसाई संतोंने भी किया है। इनके कई पारिभाषिक शब्द भी ऐसे हैं। इस शब्दावलीके पीछे जाकर ही तत्त्वका पता चलता है 'आत्माकी अंधेरी रात,' 'बंदद्वार', 'कुमारीका द्वारपर थपकी देना और वरका भीतरसे न खोलना', 'नायिका' का अभिसार', 'पलँग' 'दुलहिनका चुम्बन', 'दूल्हेसे गले मिलना' आदि वाक्य पदे-पदे मिलते हैं। इनके कई तो पारिभाषिक शब्दतक ऐसे द्व्यर्थक हैं।

ईसाईधर्मकी मूल पुस्तक तो बाइबल है, अतः उसमें भी योगकी ओर संकेत है। यह संकेत पूर्व भागमें भी है और उत्तर भागमें भी। उत्तर भागमें विशेषरूपसे ऐसी बातें उन अध्यायोंमें पायी जाती हैं जो ईसाके शिष्य जॉनके द्वारा संकलित हुए हैं। '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' और '**अहं ब्रह्मास्मि**' की ध्वनि इन वाक्योंसे निकलती है; ईश्वर कहता है 'मैं ही आल्फा और ओमेगा (आदि और अन्त) हूँ' और ईसा कहते हैं 'मैं और मेरे पिता (जीव और ब्रह्म) एक हैं।' हमारे यहाँ प्राण आदि शब्द प्रणव, ॐकारसे ही सृष्टिका विकास माना गया है। ॐकार ईश्वरसे अभिन्न है। शब्दके बाद तब तेजका आविर्भाव होता है। बाइबलमें जॉन कहते हैं—

'आरम्भमें शब्द था और शब्द ईश्वरके साथ था और शब्द ही ईश्वर था।

आरम्भमें शब्द था और शब्द ही सब कुछ हो गया। शब्दसे प्रकाश उत्पन्न हुआ और यही प्रकाश सबको भीतरसे प्रकाशित कर रहा है।'

ऐसे ही और बहुत-से वाक्य मिलेंगे। पर जिस प्रकार उपनिषदोंमें योगसम्बन्धी संकेतमात्र हैं, पीछेके

ग्रन्थोंमें विस्तार मिलता है उसी प्रकार बाइबलमें यत्र-तत्र संकेतमात्र है, विस्तारकी बातें उत्तरकालकी पुस्तकोंमें मिलती हैं। ये पुस्तकें भी कई प्रकारकी हैं। जैसे उदाहरणके लिये बनियनने 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' में उस जीवकी मानस अवस्थाका बड़ा रोचक चित्र रूपकोंमें खींचा है जो संसारसे पराङ्मुख होकर अन्तर्जगत्में प्रवेश करता है। 'हाइड्रिओटेफआ' में इशारे-इशारेमें बहुत-से पारिभाषिक शब्द भी दे दिये गये हैं और कई प्रकारके अनुभवोंकी ओर भी संकेत है। और इनके अतिरिक्त स्वयं इन संतोंकी वाणियाँ हैं। मैं इस लेखमें इन वाणियोंसे ही प्रायः काम लूँगा।

'इमिटेशिओ क्रिस्टी' में जिज्ञासु और अभ्यासीके लिये बड़े सुन्दर व्यावहारिक उपदेश हैं।

योगका मार्ग बड़ा ही कण्टकाकीर्ण है। पदे-पदे जिज्ञासुको अत्यन्त परिश्रम करनेपर भी सफलतासे भेंट नहीं होती, ऐसा प्रतीत होता है कि वियोगकी रात्रिका कभी अन्त होगा ही नहीं। जैसा कि गुरु नानकने कहा है—

हँस-हँस कंत न पाइयाँ, जिन पाया तिन रोय।
हाँसे खेले पिउ मिलै, तो कौन दुहागिन होय॥

यही बात सूसो कहते हैं। 'तड़पना प्रेमका पुराना विधान है; बिना पीड़ाके खोज होती ही नहीं। जो शहीद नहीं है वह प्रेमी नहीं है।'*

इस मार्गमें वैराग्यकी सबसे बड़ी आवश्यकता है। सभी संत-महात्माओंने एक स्वरसे वैराग्यकी प्रशंसा की है। यह भी स्पष्ट है कि वस्तुओंके अभावका नाम वैराग्य नहीं है वरं तृष्णाके तिरोहित होनेका। पतंजलि कहते हैं कि द्रष्टानुश्रविक विषयोंके प्रति वितृष्णाकी वशीकार संज्ञा अर्थात् पराकाष्ठाका नाम वैराग्य है। केवल विषयोंकी अनुपस्थितिसे काम नहीं चलता। जैसा कि गीतामें कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं ... ...॥

आहारके अभावसे इन्द्रियोंका विषयोंसे तो वियोग हो जाता है पर रस बना रहता है। इसी बातको सेण्ट जॉन ऑव दि क्रॉस यों कहते हैं—'मैं यहाँ वस्तुओंके अभावकी बात नहीं कर रहा हूँ, क्योंकि यदि इच्छा रह गयी तो अभावसे वैराग्य नहीं होता वरं उस वैराग्यका जिक्र कर रहा हूँ जो इच्छाओंका शमन करने और सुखोंसे दूर रहनेसे उत्पन्न होता है।'† रामस आ केम्पिस भी कहते हैं, 'तेरे हृदयकी अदान्त आकांक्षाओंके बराबर तेरा बाधक कौन है?'‡

वैराग्यके बाद, वरं साथ-साथ, अभ्यास आता है क्योंकि अभ्यास और वैराग्यके द्वारा ही चित्तवृत्तियोंका निरोध होता है जो योगका लक्षण है '**अभ्यास-वैराग्याभ्यान्तन्निरोधः**' ऐसा पतंजलिका वाक्य है।

अभ्यासकी अवस्थामें योगीको भाँति-भाँतिके अनुभव होते हैं। वह दिव्य लोकोंमें सैर करता है, दिव्य गन्धोंको सूँघता है और सर्वोपरि दिव्य ज्योतियोंको देखता और दिव्य अनाहत नादको सुनता है। प्रकाश और शब्दके वर्णनसे योगके ग्रन्थ भरे पड़े हैं। कबीर इत्यादिकी वाणियोंका आधेसे अधिक भाग इन्हीं अनुभवोंका वर्णन है। ज्यों-ज्यों योगीका प्राण सुषुम्ना नाड़ीका आरोहण करता है त्यों-त्यों उसके अनुभव सूक्ष्म होते हैं, यहाँतक कि वह षट्चक्रके पार होकर ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा शून्यमें विहार करने लगता है। ईसाई योगियोंके यहाँ भी चक्रोंका वर्णन मिलता है पर लेडबीटरके अनुसार एक अन्तर पड़ता है। वह लोग मणिपूर और अनाहत अर्थात् तीसरे और चौथे चक्रोंके बीचके एक नाड़िकन्दुकको, जो हमारे योगियोंके हिसाबसे उपचक्र होगा, महत्त्व देते हैं।

उनमेंसे कुछने अपने अनुभव यों बयान किये हैं—'वह अनुभव ऐसा प्रतीत होता है जिसमें सब इन्द्रियाँ मिलकर एक इन्द्रियमें मिल जाती हैं।'

(एडवर्ड कार्पेण्टर)

'मैंने फूलोंको शब्दायमान होते सुना और रागिनियोंको चमकते देखा।'

(सेण्ट मार्टिन)

'आह असीमित कृपा! जिसके द्वारा मैंने साहस करके शाश्वत प्रकाशपर अपनी दृष्टि इतनी देरतक स्थिर की कि आँख जलने लगी।'

(डायोनीसियस दि आर्योपेजाइट)

* Suffering is the ancient law of love; there is no quest without pain, there is no lover who is not also a martyr.

† I am not speaking here of the absence of things, for absence is not detachment if the desire remains—but of that detachment which consists in suppressing desires and avoiding pleasures.

‡ Who hinders thee more than the immortified affections of thy own heart.

'वस्तुस्थिति एक दिव्य संगीत है, जिसका माधुर्य अतुलनीय है।'

(सेण्ट फ्रांसिस)

'उस दिन रातमें मैंने अनन्तको देखा। वह शुद्ध और असीम ज्योतिके घेरेके समान था और उतना ही शान्त था जितना कि प्रकाशमय था'।

(वॉन दि सिल्युरिस्ट)

['**कोटिभास्करसंकाशं शीतलं कोटिचन्द्रवत्**' से तुलना कीजिये।]

'समाधि यकायक आती है, इतनी जल्दी कि व्यक्ति अपनेको सँभाल नहीं सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई बादल या बड़ा गरुड़ ऊपरकी ओर उठाये लिये जा रहा है।.....मैं कहती हूँ कि जब पहली बार मुझको यह अनुभव हुआ और मैंने अपने शरीरको पृथ्वीसे उठते देखा तो मुझे भय लगा। पर मैं कर ही क्या सकती थी?' (सेण्ट टेरीसा)

पर योगीके मार्गमें बहुत-सी बाधाएँ भी हैं। योगदर्शनमें लिखा है कि स्थानी अर्थात् देवगण प्रलोभन देते हैं। ऋद्धि-सिद्धि भुलाती हैं, वह छोटे दर्जेके लोकोंके प्रकाश आदिकी सैर करके नीचे ही रह जाता है। इससे उसे बचना चाहिये। इसका बड़ा रोचक, स्पष्ट और व्यावहारिक वर्णन हिल्टनने किया है—'यदि तुझे अपनी चर्मचक्षुओंसे या कल्पनामें कोई ऐसा प्रकाश देख पड़े जो और लोगोंको नहीं देख पड़ता या कानमें कोई सुन्दर राग सुन पड़े या मुँहमें यकायक किसी ऐसे मधुर रसका आस्वाद हो जिसको तू जानता है कि प्राकृतिक नहीं है या तेरे शरीरके किसी भागमें किसी विशेष प्रकारका आनन्द प्रतीत हो या कोई दिव्य पुरुष शरीर धारण करके तुझे सान्त्वना या उपदेश देने आ जाय—तो अपने हृदयकी अवस्थापर बुद्धिमानीसे विचारकर और सावधान हो जा, क्योंकि यदि इस दृश्य और भावनामें आनन्द मिलनेके कारण तेरा चित्त ब्रह्मजिज्ञासासे पराङ्मुख हो गया और तू इसी भावना या इसी दृश्यमें रस लेने लगा तो ऐसी आशंका होती है कि यह भावना या दृश्य शत्रुकी भेजी हुई है। फिर चाहे यह कितनी ही रोचक हो। इससे मुँह मोड़ और स्वीकार मत कर।'

योगियोंको अभ्यास करते-करते बहुत-सी विभूतियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं। इन संतोंके जीवनोंमें भी इसके उदाहरण बराबर मिलते हैं। '**अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः**' के सेण्ट फ्रांसिस मूर्तिमान् उदाहरण थे। एक भेड़िया उनके साथ-साथ लगा घूमता था और जहाँ-जहाँ चलते थे भाँति-भाँतिकी चिड़ियाँ उनके साथ हो जाती थीं। कोई कन्धेपर बैठ जाती, कोई सिरपर मँडराती रहती, सभी अपनी-अपनी बोलीमें चहकती रहतीं और वह भी उनसे बोलते और गाते रहते। चिड़ियों और पेड़-पत्तियों, तारोंको सम्बोधित करके उन्होंने कई बड़े सुन्दर पद्योंकी रचना की है।

आत्माकी यात्राका रूपकमय भाषामें सेण्ट जॉन ऑव दि क्रॉसने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

'एक अँधेरी रातमें प्रेमकी चिन्तासे आक्रान्त होकर मैं अपने मकानसे, जहाँ पूरा सन्नाटा था, बाहर निकली। किसीने मुझे देखा नहीं, न देख सकता था।

मैं रातमें छिपकर एक गुप्त सीढ़ीसे ऊपर चढ़ी।

क्या पवित्र रात थी। मुझे कोई नहीं देख सकता था। मैं भी कुछ देख नहीं सकती थी पर मेरे हृदयमें एक दीपक जल रहा था वही मुझे रास्ता दिखला रहा था। उसका प्रकाश दोपहरके सूर्यके प्रकाशसे अधिक स्थिर था। वह प्रकाश मुझे वहाँ ले गया जहाँ मैं जानती थी कि वह एक मेरे आनेकी प्रतीक्षा कर रहा है।

आह! वह रात प्रभातसे भी अधिक सुहावनी थी।

उस रातने प्रेमीको प्रेमीके दर्शन कराये, प्रेमी और प्रियतमका आनन्दमय विवाह कराया।

अपने पुष्पित वक्षपर जहाँ सिवा उसके और किसीके लिये स्थान नहीं है।

मैंने अपने प्रियतमको सुलाया।'

अस्तु! इस अभ्यासकी चरमावस्था क्या है? रेसेजाक कहते हैं—'यह ऐक्यभाव जो योगकी क्रियाकी अन्तिम अवस्था है, बहुत महत्त्व रखता है। आरम्भमें योगीके अन्तःकरणको जीवात्मा और परमात्माके भेदका अनुभव होता है पर ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता है यह भेद दूर होता जाता है।' माइस्टर एकहार्ट इसी बातको दूसरे शब्दोंमें यों कहते हैं—'जब मैं अपनी वृत्तियोंको शून्य

नोट—मैंने इन संतोंके वाक्योंके अनुवाद अंग्रेजीसे किये हैं, यद्यपि मूल अंग्रेजी, लैटिन, जर्मन आदि कई भाषाओंमें हैं।—लेखक

करके ईश्वरकी संकल्प-धारामें इस प्रकार स्थित होता हूँ कि ईश्वरके संकल्प और समस्त सृष्टि और स्वयं ईश्वरसे भी शून्य हो जाता हूँ तो उस समय मैं सब प्राणियोंसे ऊपर उठ जाता हूँ और न ईश्वर रह जाता हूँ न जीव, वरं वही रह जाता हूँ जो मैं था और सदैव रहूँगा।' यही 'नेति, नेति' की अवस्था है।

इस छोटे-से लेखमें इस गम्भीर विषयकी उपयुक्त आलोचना नहीं हो सकती पर इतना तो अवश्य प्रतीत हो गया होगा कि ईसाई योगियोंके अनुभव योगके साहित्यमें बड़ा ऊँचा स्थान रखते हैं और सचमुच ईसाई योगी उसी घरका सन्देश सुनाते हैं जहाँ जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, देश और कालका कोई भेद नहीं है।

असीसीके संत फ्रान्सिस

(लेखक—रेवरेण्ड आर्थर ई० मैसी)

असीसीके संत फ्रान्सिस ईसाईसमाजके एक सच्चे और आदर्श संत माने जा सकते हैं। इनका जन्म सन् ११८१ ईस्वीके लगभग हुआ था। इनका जन्म होनेसे कुछ ही पूर्व एक दिव्य आत्माने एक यात्रीके वेषमें पीट्रो बर्नार्डोने (Pietro Bernardone) नामक धनी व्यवसायीके द्वारपर आकर भिक्षाके लिये टेर लगायी। पीट्रोकी स्त्री रुग्णावस्थामें थी और डॉक्टरोंने यह कह दिया था कि वह बच न सकेगी। और कोई होता तो उसे ऐसी अवस्थामें किसी अतिथिका द्वार खटखटाना सुहाता नहीं परन्तु पीट्रोने उसे कुछ धन और अन्न देकर बिदा किया। यात्री पीट्रोके इस व्यवहारसे बड़ा सन्तुष्ट हुआ और वह कृतज्ञताके भावसे उसे आशीर्वाद देने लगा। उसने कहा कि इस प्रासादकी मालकिनको एक पुत्ररत्न उत्पन्न होगा। उसने यह भी कहा कि रोगीकी चारपाई वहाँसे हटाकर घुड़सालमें रखवा देनी चाहिये। इतिहास कहता है कि उस यात्रीके आदेशका अक्षरशः पालन किया गया। फ्रान्सिसका जन्म वहीं अस्तबलमें हुआ। यात्रीने यह भी कहा था कि बालक बड़ा होनहार, असामान्य प्रतिभासे सम्पन्न मनुष्योंका एक बड़ा नेता होगा।

कहा जाता है कि छोटी उम्रमें फ्रान्सिस कुछ उद्धत स्वभावके, शौकीन तथा विलासी पुरुष थे इसीसे इन्हें पिताकी सम्पत्ति नहीं मिली थी। जब युवक फ्रान्सिस अपने राग-रंगमें मस्त थे तो उन्हें एक बार जोरोंसे ज्वर आया। क्रमशः उसने ऐसा भयंकर रूप धारण किया कि फ्रान्सिस जीवन और मृत्युके बीचमें झूलने लगे। इस अवस्थामें फ्रान्सिसकी बुद्धिने पलटा खाया। उन्हें अपने पहलेके आचरणपर बड़ी घृणा हुई और उन्होंने अब शुद्ध सात्त्विक जीवन व्यतीत करनेका संकल्प किया। इस बीमारीको उन्होंने ईश्वरकी कृपा समझा क्योंकि इसीके कारण उनकी बुद्धि शुद्ध हुई। और अब उन्हें दरिद्रता ईश्वरकी देन प्रतीत होने लगी और उन्होंने अपने शरीरको तप करके सुखानेका निश्चय किया।

ज्यों ही इन्होंने चारपाई छोड़ी ये चुपचाप घरसे निकल पड़े। रास्तेमें इन्हें भिखमंगोंकी एक जमात मिली। इन्होंने उन्हें अपनी बढ़िया पोशाक देकर बदलेमें उनके फटे-चिथड़े लेकर अपने शरीरपर धारण कर लिये। फ्रान्सिसने भोजनका भी त्याग कर दिया जिससे उनका शरीर बहुत क्षीण हो गया और उसपर बहुत-सा मैल जम गया। इस प्रकार असीसीके समीपवर्ती प्रदेशमें वे विचरने लगे, इससे उनके मित्रोंने यह समझा कि बीमारीके कारण उनका मस्तिष्क विकृत हो गया है। इन्होंने अपना रुपया-पैसा कंगालोंको लुटा दिया। उनके इस व्यवहारसे मित्रोंको इतना दुःख और क्षोभ हुआ कि उन्होंने इस पच्चीस वर्षके नौजवानकी बुद्धि ठिकाने लानेके लिये उसे बड़ी निर्दयतासे मारा और साँकलोंसे बाँधकर एक कोठरीमें बंद कर दिया। परन्तु फ्रान्सिस अपनी धुनके पक्के थे, उन्होंने अपने हठको नहीं छोड़ा। इस व्यवहारका उनपर कुछ भी असर नहीं हुआ। अब फ्रान्सिसको पादरीके सामने पेश किया गया। उन्होंने पादरीके सामने भी निर्भीकतापूर्वक यही कहा कि 'मेरा अब इसी प्रकार दीन-हीन होकर जीवन बितानेका विचार है। मैं अपने पिताकी सम्पत्तिसे भी कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहता।' उन्हें चिथड़ोंके बदले जो इज्जतके कपड़े पहनाये गये थे उन्हें इन्होंने फेंक दिया। उनके हृदयमें ईश्वरप्रेमकी ज्वाला जग उठी थी, अतः उन्होंने पहलेकी भाँति फिर घूमना प्रारम्भ कर

दिया। जब वे एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाते तो उनके पीछे बालकोंका झुण्ड लग जाता जो इन्हें चिढ़ाते और इनपर तरह-तरहकी आवाजें कसते। थोड़े ही दिनोंमें उनकी-सी ही वृत्तिके और भी कई लोग उनके पास जुट गये और धीरे-धीरे उनके इस धार्मिक जोशका असर दूसरोंपर भी पड़ने लगा। सैकड़ों सर्वस्व त्यागकर इनके पीछे हो लिये। सात शिष्योंको लेकर इन्होंने पैदल रोमकी यात्रा की। इनका विचार था कि वे पोपसे मिलकर उनके सामने परिव्राजक साधुओंका एक नवीन दल बनानेका प्रस्ताव रखें।

जिस समय यह अनोखा दल फ्रान्सिसके नेतृत्वमें पोपके महलोंके सामने पहुँचा उस समय पोप इनोसेण्ट तृतीय (Innocent III) महलमें टहलते हुए नये-नये देशोंको जीतकर अपने पदको और भी सुदृढ़ बनानेका स्वप्न देख रहे थे। इनोसेण्ट तृतीय भिखारी फ्रान्सिसका अद्भुत रूप और वेश देखकर मन-ही-मन हँसे। उनका शरीर अत्यन्त कृश था, आँखें चढ़ी हुई थीं, शरीरपर चिथड़े लपेटे हुए थे और नंगे पैर इतनी दूरकी यात्रा करके आये थे। महलके राजसी ठाट-बाटमें वे अनोखे ही जँचते थे। परन्तु फ्रान्सिस उनसे बात करनेपर तुले हुए थे, इसलिये पोपके मनमें भी यह जाननेकी उत्सुकता हुई कि यह क्या कहना चाहता है। उन्होंने फ्रान्सिसको अपनी बात कहनेकी आज्ञा दे दी और फ्रान्सिसने जल्दीसे अपना मन्तव्य उनके सामने रख दिया। पोपको फ्रान्सिसकी बात सुनकर उनके प्रति कुछ सहानुभूति अवश्य हुई, किन्तु ज्यों ही उन्होंने अपना वक्तव्य समाप्त किया, पोपने उन्हें बाहर चले जानेकी आज्ञा दी। भिक्षुक फ्रान्सिस अपनी जमातके साथ निराश होकर वहाँसे लौट आये।

किन्तु पोपके चित्तपर फ्रान्सिसका प्रभाव अवश्य पड़ा। उसी रातको उसे एक स्वप्न हुआ जिसमें उसने उसी क्षीणकाय मनुष्यको ईसाई धर्मके एक महान् प्रचारकके रूपमें देखा। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो उसके बगीचेका एक ताड़का वृक्ष उस दीन-हीन भिखारीके पक्षको लेकर पोपसे कुछ विनती कर रहा है और फ्रान्सिस अपने हाथ फैलाकर लैटरन (Lateran) नामक पोपके सभामण्डलकी गिरती हुई दीवालोंको थाम रहा है। पोपकी ज्यों ही नींद टूटी उन्होंने अम्ब्रियाके उस भिखारीको अपने सामने पेश करनेकी आज्ञा दी। फ्रान्सिस आये और कार्डिनलोंकी* पूरी जमातके सामने पोपने उनसे भेंट की। इस बार फ्रान्सिसने विस्तारसे अपना मन्तव्य पोपके सामने रखा। पोपने भी अबकी बार उसे अधिक पसंद किया और पहलेकी अपेक्षा उसे वह अधिक कामका प्रतीत हुआ। कार्डिनलोंने भी बड़े उत्साहके साथ उसका अभिनन्दन किया। इस प्रकार इस चिथड़े लपेटे हुए भिखमंगेको पोपने नवीन परिव्राजकोंका दल बनानेका आज्ञापत्र दे दिया।

फ्रान्सिसने अपना प्रचारका कार्य आरम्भ कर दिया। उनका उत्साह दूसरोंमें भी उत्साह भर देता था। लोग उनके अनुयायी बननेके लिये दर्जनोंकी संख्यामें आते थे और वे क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सैकड़ों और हजारों हो गये!

संत फ्रान्सिसने पूर्वीय देशोंकी भी यात्रा की, किन्तु उन्हें अरबके लोगोंने पकड़कर कैद कर लिया। वहाँ उनकी अरबके सुलतानसे भेंट हुई। फ्रान्सिसने आगके ऊपर चलनेका स्वाँग रचा। उन्होंने सुलतानके सामने यह शर्त रखी कि यदि आग मुझे जला दे तो समझना मेरे पापोंका प्रायश्चित्त हो गया और यदि मैं आगमेंसे जीता निकल आऊँ तो तुम्हें ईसाई धर्म स्वीकार करना पड़ेगा। सुलतानने फ्रान्सिसकी यह होड़ स्वीकार नहीं की परन्तु बड़े आदर-सत्कारके साथ उन्हें डेमियट्टा (Damietta) में ईसाइयोंके डेरेपर पहुँचा दिया। इतिहास यह कहता है, फ्रान्सिसके जीवनकी सबसे बड़ी करामात माउण्ट अलवरनो Mount Alverno) नामक स्थानमें लोगोंको देखनेको मिली। माईकेल (Michael) स्वर्गके प्रधान फरिश्तेकी स्मृतिमें उपवास करते हुए उन्होंने छः पंखोंवाले एक दिव्य पुरुषको देखा और उन पंखोंके बीचमें महात्मा ईसाको शूलीपर लटकते हुए देखा। ज्यों ही यह दृश्य धीरे-धीरे उनके सामनेसे हटा, उन्होंने देखा कि उनके हाथों और पैरोंपर कील ठोकनेके निशान हैं। पोप अलेक्जेण्डर चतुर्थ (Alexander IV) ने स्वयं कहा कि उसने ये निशान अपनी आँखोंसे देखे थे।

संत फ्रान्सिस मनुष्यजीवनके चरम लक्ष्यको प्राप्त करना चाहते थे और हमारी समझसे वे इस कार्यमें सफल हुए। उन्होंने दरिद्रताका इसलिये वरण किया कि

* पोपके सहायक पदाधिकारी, जिन्हें पोपको चुननेका अधिकार होता है।

वे इस सिद्धान्तको माननेवाले थे कि 'मनुष्य संसारमें रहे अवश्य, परन्तु संसारका होकर नहीं।'

सेंट फ्रान्सिसके धर्मका मूलमन्त्र प्रेम था, जिस प्रेमके अंदर ईश्वरप्रेम, मनुष्यजातिका प्रेम और पशु-पक्षियोंका प्रेम, सभीका समावेश हो जाता है। यह प्रेम उनके प्रत्येक विचार, प्रत्येक शब्द और प्रत्येक कार्यमें झलकता था। संत बोनावेन्तारा (St. Bonaventara) ने स्वरचित संत फ्रान्सिसकी जीवनीमें लिखा है कि एक दिन संत फ्रान्सिसको पोर्तिउन्कोला (Portiuncola) नामक प्रान्तके सेंट मेरी नामक स्थानमें किसीने एक मेमना दिया जिसे संत फ्रान्सिसने हार्दिक प्रसन्नतासे स्वीकार किया। उन्होंने उस मेमनेको प्रार्थनामें शामिल होना सिखलाया, और उसका व्यवहार किसी भी साधुके लिये उद्वेगजनक नहीं होता था। जब गिरजाघरमें लोग सामूहिक प्रार्थना करते, यह भी दौड़कर उनके पास चला जाता और स्वाभाविक ही उसके घुटने भगवान्‌के सामने झुक जाया करते थे। उसकी सरलता और निर्दोष व्यवहारके कारण संत फ्रान्सिस उसे बहुत प्यार करते थे।

फ्रान्सिसके अनुयायियोंका दल सारे संसारमें फैल गया। इंगलैंडमें उसका प्रवेश सन् १२२० ईस्वीमें हुआ। सोलहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें जब प्रोटेस्टेंट सम्प्रदायका प्रादुर्भाव हुआ उस समय इंगलैंडमें उनके अनुयायियोंके ६५ मठ थे। क्रॉमबेलके जमानेमें जब पार्लियामेण्ट तोड़ी गयी उस समय इस संघको शासककी ओरसे दबा दिया गया था, किन्तु उसके बाद इसमें पुनः प्राण आ गया।

४ अक्टूबर सन् १२२६ ईस्वीको फ्रान्सिसने खुली जमीनपर प्राण त्याग दिये। जब उनकी मृत्युका समय निकट आया उन्होंने अपने हकीम अरैज्जो (Arezzo) से पूछा—'कहिये हकीमजी, मेरे इस रोगके सम्बन्धमें आपकी क्या धारणा है?' इसपर हकीमने जवाब दिया—'भगवान्‌की दयासे सब ठीक होगा।' फ्रान्सिसने हकीमसे फिर पूछा 'सच-सच बताओ, तुम्हें क्या मालूम होता है? भगवान्‌की दयासे मैं मृत्युके भयसे सर्वथा मुक्त हो गया हूँ, इसलिये तुम्हें सच्ची बात कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं करना चाहिये। भगवान्‌के साथ मेरी इतनी एकता हो गयी है कि मुझे मरनेमें उतनी ही प्रसन्नता होगी जितनी जीनेमें है।' इसपर हकीमने उन्हें स्पष्ट कह दिया कि 'तुम्हारी मृत्युकी घड़ी निकट है।' इस बातको सुनकर संत फ्रान्सिस बड़ी श्रद्धा और भक्तिके साथ लेट गये और भगवान्‌की ओर हाथ पसारकर बड़ी प्रसन्नता और उल्लासके साथ कहने लगे—'आओ, प्यारी मौत! मैं तुम्हारा आलिंगन करनेको तैयार हूँ!'

कुछ ईसाई संत

(लेखक—पं० श्रीनन्ददुलारेजी बाजपेयी, एम्० ए०)

संत पॉल

महात्मा ईसाके जीवनकालके पश्चात् ईसाई धर्मप्रचारके आरम्भिक दिनोंमें, जिन्होंने यह नवीन धर्म धारणकर दूर देशोंमें फैलाया, उनमें संत पॉलका विशिष्ट स्थान है। ईसाकी प्रथम शताब्दीमें संत पॉलने ईसाई धर्मकी दीक्षा ली थी और इसके प्रचारमें तत्पर हुए थे। एक कट्टर यहूदीपरिवारमें उत्पन्न होनेके कारण आरम्भमें ये अपनी वंशमर्यादाके बड़े पक्षपाती थे तथा इन्होंने नवागत ख्रीष्टीय धर्मके विरुद्ध जोर-शोरकी आवाज उठायी थी।

किन्तु इस आरम्भिक विश्वासको छोड़कर उसने किस प्रकार नया मजहब स्वीकार किया इस सम्बन्धमें कई परस्परविरोधी बातें कही जाती हैं। बाइबलमें इस विषयके कई विवरण मिलते हैं। कहते हैं, संत पॉलको दैवी साक्षात्कार हुए और उन्हें यह आभास मिला कि भगवान् स्वयं अपनी इच्छासे अपने पुत्र (ईसू ख्रीष्ट) का वास्तविक परिचय उन्हें करा रहे हैं। केवल गलीली देशके एक धर्मप्रचारक या अद्‌भुतकर्मीके रूपमें ही नहीं, साक्षात् भगवान्‌के पुत्रके रूपमें, उन्हींके स्वभावानुरूप उन्हींका संदेश संसारको सुनानेके लिये, प्रभु ईसाका आविर्भाव हुआ है—यह दिव्य आदेश पॉलको प्राप्त हुआ और साथ ही सारी ऊँची-नीची जातियोंमें ईश्वर-पुत्रके इस स्वरूपको पहुँचा देनेका भार भी उन्हें दिया गया। पॉलको ईसाकी वह मूर्ति दिखायी दी जो उनके (ख्रीष्टके) कतिपय शिष्योंको उनके (ख्रीष्टके) शूलीपर चढ़नेके पश्चात् कुछ दिनोंमें पुनः जी उठनेपर दिखायी दी थी।

ईसाके मुखमण्डलपर उन्होंने भगवान्‌की दिव्य ज्योतिका दर्शन किया। यह दर्शन पाकर पॉलमें सहसा पूर्ण परिवर्तन हो गया और वे प्रभु ईसामसीहके अनुयायी बन गये। इस दर्शनके पश्चात् उन्होंने सारा जीवन अपने नये विश्वासोंके प्रचारमें लगा दिया। विद्वानोंका कहना है कि पॉलकी सारी शिक्षाएँ, जो 'एपिस्ल' नामक बाइबलके अंशविशेषमें अंकित हैं और जिनका महत्त्व धार्मिक दृष्टिसे बहुत अधिक है, इस दर्शनके आधारपर ही स्थित हैं।

ख्रीष्टको उन्होंने एक स्वर्गीय पुरुषके रूपमें देखा केवल यहूदियोंके उद्धारकके रूपमें नहीं। दिव्य आभासे आभासित, सर्वशक्तिमान् और अन्तर्यामी प्रभुके उन्होंने दर्शन किये किसी साधारण धर्म-शिक्षकके नहीं।

ईश्वरके पुत्र (ख्रीष्ट)-का दर्शन प्राप्त कर लेनेके पश्चात् महात्मा पॉलने अपना यह कर्तव्य समझा कि वह अपनी ऊँची यहूदी जातिमें ही नहीं वरं नीची और गिरी हुई समझी जानेवाली जातियोंमें भी उनके संदेशको पहुँचा दें। उन्होंने उन इतर जातियोंमें, ईसाको ईश्वरका पुत्र कहकर सम्बोधित किया और उन्हें ईसाई मत ग्रहण करनेकी मन्त्रणा दी। पॉलने उन्हें कहा कि तुम उस दिव्य पुरुषपर विश्वास करो जिसने तुम्हारे लिये—तुम्हारी रक्षाके लिये—अपने प्राण दिये हैं! जिसने अपनी स्वर्गीय उच्चताको छोड़कर इस दुःखी दुनियामें पदार्पण किया है; जो अपने पिताका आनन्दधाम त्यागकर तुम्हारे कष्ट बँटाने, अपने ऊपर झेलकर तुम्हें विपत्तियोंसे छुड़ाने और मुक्त करने आया है।

पॉलकी शिक्षाका प्रधान अंश यही है और यह स्पष्टतः उनके उस दिव्य दर्शनके फलस्वरूप ही प्राप्त हुई थी जिसका ऊपर उल्लेख किया गया। इसके अतिरिक्त उनकी अन्य शिक्षाएँ भी हैं जिनपर अन्य प्रभाव भी लक्षित होते हैं किन्तु ख्रीष्टके व्यक्तित्व और जीवोंके दुःख दूर करनेके हेतु उनके अवतारकी शिक्षा तो पॉलको उक्त दिव्य संदेशसे ही प्राप्त हुई थी। इसके पश्चात् पॉलने अपना समस्त जीवन प्रधानतः इसी दिव्य संदेशके प्रचार और प्रसारमें व्यतीत किया। विशेषतः उनका प्रचारक्षेत्र निम्न तथा विदेशी जातियोंमें था और उनकी शिक्षाका मुख्य विषय प्रभु ईसाके शूलीपर चढ़नेके पश्चात् जीवित हो उठनेका तत्त्व प्रकट करना था। उनके सारे धार्मिक उद्योगोंमें, जो बड़े विस्तृत क्षेत्रमें बहुत वर्षोंतक जारी रहे, इन्हीं दोकी प्रधानता थी।

संत अगस्तीन

ईसाई धार्मिक इतिहासमें संत अगस्तीनकी गणना इने-गिने महान् नेताओंमें की जाती है। इन्होंने अपनी उज्ज्वल प्रतिभा और व्यक्तित्वके बलसे प्रचलित ईसाई मतकी काया पलट दी थी और उसमें नयी शक्ति और जीवनका प्रवाह भर दिया था। इनका जन्म ईसाकी चौथी शताब्दीमें हुआ था किन्तु इनके विचारोंमें नवीन युगका आभास भर हुआ है और ये आधुनिक ख्रीष्टीय धर्मप्रवर्तकोंके अग्रदूत भी कहे जाते हैं। इतने पुराने समयमें उत्पन्न होकर नये युगके जीवन-प्रवाहकी कल्पना करना, कल्पना ही नहीं उसके उद्‌गमका पथ प्रशस्त करना, अगस्तीन-जैसे दिव्यदृष्टि महात्माका ही कार्य था। दो युगोंकी संस्कृतियोंका संगम—प्राचीनका पर्यवसान और नवीनका निर्माण—जिस अबाध और निर्विघ्नरूपसे इन्होंने कराया, इतिहासमें ऐसे बहुत कम निदर्शन मिलते हैं। ऐसे संक्रमणकालमें जैसे शान्त किन्तु तेजस्वी, गम्भीर किन्तु क्रियाशील व्यक्तिके नेतृत्वकी आवश्यकता होती है, महात्मा अगस्तीन ठीक वैसे ही थे। प्रसिद्ध प्राचीन संत पॉल और नवयुगके नेता महात्मा लूथरके जीवनकालमें जिन अनेक शताब्दियोंका अन्तर है उनमें संत अगस्तीनका व्यक्तित्व धार्मिक इतिहासकी दृष्टिसे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। इतनेसे ही समझा जा सकता है कि उनकी कितनी विशाल मर्यादा है।

इस विद्वान् महापुरुषने अपने ही जीवनकालमें ख्रीष्टीय कैथलिक मतकी दीक्षा ली थी। यह दीक्षा लेनेके पूर्व वे उन समस्त मतोंका अध्ययन कर चुके थे जो उस समय ज्ञात हो सके थे। किन्तु उनसे उनकी तृप्ति नहीं हुई, सन्तोष न हुआ। अपने नये मजहबको उन्होंने पूरे उत्साह और आदरके साथ ग्रहण किया और कुछ समयतक उसी (ख्रीष्टीय धर्मकी प्राचीन) कैथलिक शाखासे ही सम्बद्ध बने रहे। किन्तु महात्मा अगस्तीनका व्यक्तिगत अनुभव बहुत विशाल था, वे दुनियाँ देख चुके थे, क्रिश्चियनधर्मेतर अनेक सिद्धान्तोंका अध्ययन कर चुके थे। दर्शनशास्त्रोंके धुरीण विद्वान् थे। इन सबका सन्निवेश उनके व्यक्तित्वमें था और इन सबसे ऊपर था स्वतः उनका व्यक्तित्व। उनका व्यक्तित्व उत्कृष्ट कोटिकी प्रतिभासे पूर्ण, बौद्धिक उत्कर्ष तथा

उससे भी अधिक प्रशान्त धार्मिक उत्कर्षसे उद्दीप्त था। ऐसा संयोग पाकर उस समयका प्राचीन धर्म नयी ही ज्योतिसे जगमगा उठा।

ख्रीष्टीय धर्मकी वह शाखा जो रोमन कैथलिक नामसे प्रसिद्ध है, महात्मा अगस्तीनका ही बीजमन्त्र पाकर विकसित हुई थी। जितने जन-मत तथा आन्तरिक अनुभूतिसे ओत-प्रोत रहस्य-मत उस समयके उपरान्त आविर्भूत हुए, संत अगस्तीनकी मूल प्रेरणा उन सबमें मिलती है। क्रिश्चियन धर्मसंस्थाकी यूरोपके पश्चिमी प्रदेशोंमें जो कुछ प्रगति हुई उसमें उनका प्रधान हाथ माना जाता है। उन्हींकी शिक्षा थी जो अनेक स्रोतोंसे होती हुई बढ़ी और अन्तमें सोलहवीं सदीके उस क्रान्तिकारी प्लावनके रूपमें प्रकट हुई जिसने प्रोटेस्टेंट मतके नामसे आगे आकर सारे पुराने बाँध तोड़ दिये। सारा ख्रीष्टीय धर्मक्षेत्र नयी उर्बरतासे लहलहा उठा। इस क्रान्तिका मूलमन्त्र अगस्तीनकी ही शिक्षामें मिलता है।

अगस्तीनने एक नया और दिव्य दर्शन ही अपने ईसाई समाजको नहीं दिया, उन्होंने उसके आचारोंको भी आमूल शुद्ध करनेकी सफल चेष्टा की। उनका लक्ष्य था शिथिल और निराशापूर्ण आचारपद्धतिके स्थानपर शुद्ध और जागृत जीवनकी प्रतिष्ठा करना। उन्होंने इस नयी चेतनाका प्रसारकर समस्त ख्रीष्टधर्मानुयायी प्रदेशोंको ख्रीष्टकी आचारपद्धतिसे परिपूर्ण कर दिया।

किन्तु इन सब महत्त्वपूर्ण और युगान्तरकारी कार्योंसे भी अधिक महात्मा अगस्तीनने ईसाई धर्मको एक दिव्य सन्देश दिया जो उनकी अमर कीर्तिका सबसे बड़ा कारण सिद्ध हुआ। वह सन्देश है भगवान्‌की दयाका सन्देश। इसके पूर्व, अधिकांशमें, कर्मकाण्डकी तथा अपनी सत्ताको ही प्रधानता देनेकी शिक्षा ईसाई धर्ममें फैली हुई थी। अगस्तीनने ईश्वरकी दया और उसके कर्तृत्वकी वह आशापूर्ण और स्फूर्तिदायक झलक दिखायी जो आगे चलकर धर्मकी एक दृढ़ भित्ति बनी और 'इवैंजीलिकल' मतका तो एकमात्र आधार ही बन गयी।

यह विश्वासपूर्ण आस्तिक मत ईसाइयोंमें संत अगस्तीनका ही चलाया हुआ है। ईश-दया-सिद्धान्त (Doctrine of grace) की सृष्टि करके उन्होंने उसे खूब प्रचलित किया। बड़ी ही दृढ़ और संयत शैलीसे उन्होंने ईश-दयाको सिद्ध किया और इसपर लोगोंकी आस्था उत्पन्न की। ईश्वरको मानते हुए भी अलगसे आचारके नियम आदि बनाना एक प्रकारकी अधूरी आस्तिकता है। पूर्ण आस्तिकता तो ईश्वरके शुद्ध और उदात्त स्वरूपमें पूर्णत: आत्मसमर्पण कर देना ही है। इस भागवतधर्मका प्रतिपादन कर संत अगस्तीनने ईसाई मजहबमें अपने लिये स्थायी स्थान बना लिया है। ऐसी ओजस्विनी और अकाट्य शैलीका उन्होंने प्रयोग किया है कि उसका प्रभाव बिना पड़े नहीं रहता। भक्ति और दर्शनकी जो एकत्र निधि यह संत छोड़ गया है उसकी तुलना सम्पूर्ण ईसाई-साहित्यमें मुश्किलसे की जा सकती है।

संत लुई

मध्यकालीन ईसाई संतोंमें फ्रान्सके राज्याधिकारी सम्राट् लुई नवमकी गणना बड़े आदरके साथ की जाती है। इन्होंने सुदूर एशियामें होनेवाले धार्मिक युद्धोंमें प्रमुख भाग लिया था और दृढ़ विचारसे ख्रीष्टीय धर्मकी रक्षामें कटिबद्ध हुए थे। इन धार्मिक युद्धों और क्रुसेडोंका वृत्तान्त लिखना यहाँ अनावश्यक है। किन्तु उनमें लुईने बड़ी तत्परताके साथ भाग लिया और वर्षोंतक सन्नद्ध रहकर अन्तमें वहीं उनकी (सन् १२७०) मृत्यु भी हुई।

लुई केवल एक वीर धार्मिक योद्धा ही नहीं थे, अपने समयके कला-कौशलके बहुत बड़े उन्नायक भी थे। उन्हींके राज्य-कालमें गोथिक स्थापत्यशैली अपनी पराकाष्ठापर पहुँची थी। लुईके समयमें बनी हुई गोथिक शैलीकी, फ्रान्सके गिरिजाघरोंकी इमारतें, सारे क्रिश्चियन स्थापत्यमें अप्रतिम हैं। आज उन कलापूर्ण आगारोंको देखकर हम उनकी उस शोभाकी धारणा नहीं कर सकते जो उस समय उन्हें स्वर्ण तथा अन्य सुवर्ण वस्तुओंसे सज्जित होनेपर प्राप्त हुई होगी। तो भी उनकी मोहकताका अनुमान हम कर सकते हैं। शुद्ध कला या प्राकृतिक सौन्दर्यकी झलक मूल स्थापत्यमें तथा उसके अंगभूत प्रस्तरों और काष्ठ-खण्डोंकी कारीगरीमें सर्वत्र दिखायी देती है। खिड़कियोंके सौन्दर्यका तो कहना ही क्या है, स्वर्गकी झलक उन्हींके भीतरसे देखी जा सकती है। बनावट या व्यक्तिगत प्रयासका तो इनमें कहीं नाम नहीं है। शुद्ध दृष्टिकी सारी शोभा और सौन्दर्य इनमें निहित है। इन्हें बनानेवाले अत्यन्त सूक्ष्म, सहज और शुद्ध प्राकृतिक भावसे प्रेरित होकर, जिसमें पूर्ण विश्वासकी दृढ़ता भी सम्मिलित हुई, इस कार्यमें लगे और इसे सम्पन्न किया। और इस सारी कला-सम्पत्तिके प्राण थे संत लुई।

संत लुईके हृदयका आश्रय पाकर ही तत्कालीन सारी धर्मभावनाका संघटन हुआ और वही भावना उन मन्दिरोंके निर्माण-कार्यमें लगी। इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि उनका हृदय कैसा था। संत लुईके व्यक्तित्वमें मध्यकालीन धर्मने नया ही रूप धारण किया था। उनका हृदय संकीर्ण साम्प्रदायिक धर्मसंघके निवासी-जैसा नहीं था, जैसे उस समयके अधिकांश धार्मिक व्यक्तियोंके हृदय हो गये थे। वह तो जीवनके वास्तविक श्रीशोभासे आच्छादित और उसके प्रति शिशुकी-सी निर्लेप श्रद्धासे आपूर्ण हृदय था। यही कारण है कि ख्रीष्टकी, मरियमकी, ख्रीष्ट-शिष्यों, महात्माओं, संतों और देवदूतोंकी मूर्तियाँ जो उन देवालयोंकी ड्योढ़ियोंपर बनी हुई हैं, इतनी सजीव, सहज, शोभायुक्त, शुद्धभावोद्भाविनी और मनोरम हुई हैं। ख्रीष्टद्वारा उपदिष्ट सहज बन्धुत्वकी ही ये प्रतिमाएँ हैं और इन प्रतिमाओंके प्राण जो ऊपरसे दिखायी नहीं देते पर सदैव इनमें भरे हुए हैं और भरे रहेंगे, संत लुईका हृदय ही है।

महात्मा टाल्सटाय

विगत शताब्दीके महापुरुषोंमें महात्मा टाल्सटायका स्थान बहुत ऊँचा है। महात्मा गाँधीजीके ऊपर उनकी शिक्षाओंका बहुत प्रभाव पड़ा है इस कारण भारतवर्षमें भी उनकी बड़ी प्रख्याति है। उनका जन्म रूस देशके एक अमीर खानदानमें सन् १८२८ ईस्वीमें मास्कोके निकट एक ग्राममें हुआ था। वे जिस समय स्कूल और कालिजमें अध्ययन करते थे उस समय उनकी असाधारण प्रतिभाका कुछ भी परिचय नहीं मिला। कालिजमें सर्वप्रथम उन्होंने पूर्वीय साहित्यका अध्ययन किया, तदुपरान्त कानूनका, किन्तु इनमें किसीमें भी सफल न हुए।

उनके स्वभावमें लड़कपनसे ही शक्ति, उत्सुकता तथा भावुकता मिली थी। अपनी इस तुनुक भावुकताके कारण उनको प्राय: शोचनीय परिस्थितिमें फँस जाना पड़ता था। विश्वविद्यालयका परित्याग करनेपर वे काकेशस प्रान्तमें फौजमें अफसर नियुक्त होकर चले गये। वहाँके प्रकृति-सौन्दर्यका उनके कोमल हृदयपर गहरा प्रभाव पड़ा। गरीबों, स्त्रियों, बच्चों तथा किसानोंकी हत्यासे उनका चित्त विचलित हो उठता था, किन्तु नौकरीके कारण इन सब बातोंको उन्हें सहना पड़ता था। वहाँ ये कुसंगमें भी पड़ गये थे। किन्तु इस प्रकारके जीवनमें उनकी आत्माको अत्यधिक कष्ट होता था। अत: दस वर्षके पश्चात् सेनाका परित्याग कर वे सेंटपीटर्सबर्ग लौट आये।

पीटर्सबर्ग लौट आनेपर वे वहाँके सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनोंका अध्ययन करने लगे। किन्तु चूँकि टाल्सटायका हृदय पूर्वीय विचारोंसे भरा हुआ था, अत: उनको इन आन्दोलनोंकी नीतिसे अर्थात् पश्चिमीय साधनोंसे घृणा उत्पन्न हो गयी। फलत: वे यूरोपकी यात्राको निकल पड़े, किन्तु यूरोपमें भी सभी स्थानोंपर जडवाद और युद्धवादकी प्रधानता देखी। निराश होकर कुछ ही सप्ताहोंमें लौट आये और तीन वर्षतक मास्कोमें बिना किसी विशेष कार्यके पड़े रहे, किन्तु इन तीन वर्षोंमें उन्हें रूसी किसानोंके जीवनके अध्ययन करनेका अच्छा अवसर मिला। इसके बाद यूरोपके अन्य देशीय किसानोंकी अवस्था जाननेके लिये उन्होंने यात्राकी। वहाँसे लौटनेपर उन्हें एक सरकारी पद मिला जिससे साधारण जनताकी सच्ची अवस्थाको वे अच्छी तरहसे जान सके।

३४ वर्षकी अवस्थामें सन् १८६२ में उन्होंने सोनिया नामक महिलासे विवाह किया। १५ वर्षतक उनका पारिवारिक जीवन बड़े आनन्दसे व्यतीत हुआ। इन्हीं दिनों 'युद्ध और शान्ति' और 'अन्ना करेन्ना' नामक दो विश्वविख्यात उपन्यासोंकी उन्होंने रचना की। इन रचनाओंका यह फल हुआ कि वे रूसके सर्वश्रेष्ठ लेखक माने जाने लगे।

५० वर्षकी अवस्थामें उनके जीवनमें महान् परिवर्तन उपस्थित हुआ। उन्होंने देखा कि मानवसमाज पाप, कष्ट और भेद-भावकी ज्वालासे विनाशकी ओर जा रहा है। इन समस्याओंकी सन्तोषप्रद मीमांसा करनेके लिये उनका चित्त उद्विग्न हो उठा। उन्होंने संसारके भिन्न-भिन्न धर्मोंके साहित्यका गम्भीर अध्ययन किया। इस अध्ययनके फलस्वरूप वे इस परिणामपर पहुँचे कि 'अहिंसा'—पूर्ण अहिंसा ही सच्चा धर्म है और प्रभु ईसाने इसी धर्मका प्रतिपादन किया है। सभी प्रकारकी हिंसा ही पाप है और इसका त्याग करना चाहिये। इस

सिद्धान्तके अनुसार उन्होंने रूसके बादशाहके द्वारा की जानेवाली हिंसाओंका बड़ा प्रतिरोध किया जिसके कारण उनको बहुत कष्ट भी सहने पड़े। अहिंसाके सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिये उन्होंने पुस्तकें लिखीं तथा अन्य धार्मिक पुस्तक भी लिखीं। इस समयकी उनकी पुस्तकोंमें 'मेरा धर्म', 'भगवान्का राज्य तुम्हारे अंदर है' 'तब हमलोग क्या करें?' और 'धार्मिक कहानियाँ' बहुत प्रसिद्ध हैं।

वे केवल पुस्तकें लिखकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए वरं अपने धार्मिक सिद्धान्तोंको व्यावहारिक जीवनमें भी लानेका प्रयोग करने लगे। इसके कारण उनमें और उनकी स्त्री तथा अन्य सम्बन्धियोंमें बड़ा मतभेद उपस्थित हुआ। इन लोगोंने टाल्सटायको इन सिद्धान्तोंको केवल पुस्तकोंतक ही सीमित रखनेके लिये कहा; किन्तु टाल्सटायने इन लोगोंकी बातोंपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया।

इनकी मुख्य शिक्षाएँ संक्षेपमें निम्नलिखित हैं—

(१) मनुष्यजीवनका उद्देश्य भगवान्को प्राप्त करना है जो कि प्रेमस्वरूप हैं। भगवदिच्छाके अनुकूल अपने सारे कर्मोंको बनाकर मनुष्य भगवान्को प्राप्त कर सकता है।

(२) तर्कके द्वारा मनुष्यको भगवान्की उपलब्धि नहीं हो सकती। प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें भगवान् विद्यमान हैं। जीवनमें प्रेमका व्यवहार करनेसे भगवान्की सत्ताका अनुभव होता है।

(३) किसी कारणसे किसी रूपमें भी हिंसा करना धर्मके विरुद्ध है। इसके अनुसार किसी प्रकारका बलप्रयोग धर्मके विरुद्ध है। फलस्वरूप फौज, पुलिस, अदालत, जेल, टैक्स इत्यादि सभी बातोंका त्याग करना चाहिये।

सन् १८९१ में उन्होंने यह घोषित किया कि उनकी पुस्तकोंका प्रकाशन कोई भी व्यक्ति कर सकता है। १९१० में स्त्री और अन्य सम्बन्धियोंके अत्याचारसे तंग आकर ८२ वर्षकी अवस्थामें, जब कि वह बहुत दुर्बल और वृद्ध हो गये थे, घर छोड़कर चल दिये। घर छोड़नेके कुछ ही दिनोंके बाद बीमार पड़ गये और प्राण त्याग दिया।

—कृ० श० प्रसाद

श्रीसीताराम महाराज

श्रीसीताराम महाराज वृत्तिशून्य योगेश्वर थे। आपने कहीं मठ-स्थापन नहीं किया, न कोई आपका स्मारक ही रहने दिया। ये अपनेको पागल सीताराम कहा करते थे। इन्होंने न तो विद्या अर्जन की, न धन उपार्जन किया, न नाम कमाया, न स्त्री-पुत्र-परिवार ही लेकर बैठे। ये सदा ब्रह्मानन्दमें ही मग्न रहते थे। देहमें रहते हुए भी आप विदेही थे। पूर्णानन्दके ये समुद्र ही मालूम होते थे। इनके दर्शनमात्रसे अपार सुख, शान्ति, तृप्ति प्राप्त होती थी।

आपके पिताका नाम बापूराव विनायक था। वे सातारामें नौकर थे। सौतेली मातासे तंग आकर बारह वर्षकी अवस्थामें एक दिन ये लँगोटी पहने घरसे निकल पड़े। अक्कलकोटके स्वामीके समीप पहुँचे। आपको देखते ही स्वामीने पहचान लिया और इनके मस्तकका आघ्राण किया। आप वहाँ छ: वर्ष रहे। क्षुधा, तृषा, निद्रा, सभी देहधर्म, प्राणधर्म, मनोधर्म जहाँ-के-तहाँ लीन हो गये। अठारह वर्षकी अवस्थामें सीताराम कृतार्थ हुए। स्वामी महाराजने आशीर्वाद दिया और कहा कि 'जहाँसे आया वहीं चला जा।'

सीताराम मंगलवेढ़ामें आकर निजस्वरूपमें आसन लगाकर बैठ गये। वहाँ चालीस वर्ष रहे। मध्याह्नमें किसीके घर घुसकर कहते 'माँ रोटी दे!' खड़े-खड़े आधी रोटी खाकर पानी पीकर श्मशानमें जाकर बैठ जाते। महाराजने कभी किसीको उपदेश नहीं किया। कभी-कभी अलमस्तीमें इतना कह देते थे कि 'राम-राम कहा करो, रामनाम जपा करो। व्युत्पत्तिके पीछे मत पड़ो। वह केवल ढोंग है। प्राणिमात्रमें श्रीहरिको देखो।' आपको नामरूपकी पहचान ही नहीं थी। बालभावका बड़ा ही रमणीय आनन्द इनके मुखपर झलकता था। संवत् १९६० में इनका देहावसान हुआ। पन्द्रह दिन पहले इन्होंने कह रखा था कि अब 'सीताराम जायगा।' पण्ढरपुरसे दक्षिण ओर नौ मीलपर खर्डी नामक स्थानमें इनकी समाधि है।

(प्रेषक—श्रीह० पं० बहिरट, पण्ढरपुर)

संत तुकाराम येहलेकर

(लेखक—श्रीभैरवशंकरजी शर्मा)

संत तुकाराम येहलेकरका जन्म निजामराज्यके सुकली नामक ग्राममें हुआ। ये यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। इनके बचपनमें इनकी माताका देहान्त हुआ। बचपनसे ही इनमें सत्संग, एकान्त सेवन और भगवन्नामजपकी अभिरुचि बढ़ने लगी थी। एक दिन एक नदीके किनारे अन्य बालकोंके साथ ये खेल रहे थे। सबने इन्हें एक गड़हेमें बैठा दिया और ऊपर मिट्टी तोप दी। ये वहीं बैठे रहे। इतनेमें नदीमें बड़े जोरकी बाढ़ आयी, सब लड़के इन्हें जहाँ-का-तहाँ छोड़कर भाग गये। इनके ऊपरसे बाढ़का पानी बहने लगा। इनके पिता इन्हें ढूँढ़ने लगे, बच्चा बाढ़में बह गया होगा, जानकर रोने लगे और व्याकुल होकर बच्चेका नाम ले-लेकर पुकारने लगे। तुकारामने पिताकी आवाज सुनी और 'मैं आया, पिताजी!' कहकर पानीके ऊपर निकलकर किनारे आ गये। तभीसे इनकी प्रसिद्धि हो गयी। श्रीचिन्मयानन्द स्वामी नामक किसी महात्माका इनपर अनुग्रह था। उन्हींके सत्संगसे इन्हें बचपनमें ही आत्मानन्दकी प्राप्ति हो गयी थी। इनके जीवनकी अनेक आश्चर्यकारक घटनाएँ हैं। एक बारकी घटना है कि हरिपंत नामके कोई सरकारी अधिकारी इनके पास आये और कहने लगे कि 'आप यदि ब्रह्मनिष्ठ हैं तो मुझे ब्रह्म दिखा दीजिये, नहीं तो यह सारा आपका ढोंग है और इसकी सजा भी मेरे पास है।' महात्माने कहा कि 'पहले अपना अधिकार बता दो, क्या सजा तुम इस ढोंगकी दे सकते हो सो दिखा दो तो मैं ब्रह्म भी दिखा दूँगा।' हरिपंतने सिपाहीसे कहकर महात्माकी पीठपर कोड़े लगवाये। पर चमत्कार यह हुआ कि कोड़े पड़ते थे महात्माकी पीठपर और हर कोड़ेके साथ 'हाय रे दैया' की आवाज निकलती थी हरिपंतके मुँहसे! सिपाही मारते थे महात्माको पर मार पड़ती थी हरिपंतकी पीठपर! हरिपंतने सिपाहीसे कहा, 'ठहरो, मेरी जान न लो, ये महात्मा ही ब्रह्म हैं। मैं इनकी शरणमें हूँ।' यह कहकर वे उनके चरणोंपर लोट गये। संत तुकाराम येहलेकरने हरिपंतके सिरपर अपना वरद हस्त रखा और उपदेश देकर कृतार्थ किया। महाराजने संवत् १८४४ में येहले गाँवमें ही अपना शरीर छोड़ा। श्रीब्रह्मचैतन्य गोंदवलेकर महाराज इन्हींके शिष्य थे।

श्रीदक्षिणीस्वामीजी महाराज

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

आप दक्षिणप्रदेशके पंचद्रविड़ ब्राह्मण थे, इस कारण आपको लोग दक्षिणीस्वामीजी नामसे पुकारा करते थे। असली नाम आपका क्या था, इसका पता नहीं है। आप बहुत बड़े विद्वान् और शाक्तमतावलम्बी महात्मा थे। अच्छे-अच्छे लोगोंका कहना है कि आपको भगवती श्रीदुर्गाका साक्षात्कार था। भगवतीकी कृपाके बलपर आप जहाँ भी निवास करते थे, वहीं भौतिक सुख-सामग्रियोंका ढेर लग जाता था तथा आपके आश्चर्यजनक कार्योंद्वारा आपका प्रभाव साधारण श्रेणीके मनुष्योंसे लेकर बड़े-बड़े राजा-रईसों और शासकोंतकपर हो गया था। परन्तु आप स्वयं उन भोग-पदार्थों और मान-सम्मानादिके भावोंसे सर्वथा निर्लिप्त रहते थे। आपके सिद्ध-जीवनकी सैकड़ों अद्भुत घटनाएँ हैं, परन्तु स्थानाभावके कारण उनका यहाँ उल्लेख नहीं हो सकता। संक्षेपमें इतना ही कहना है कि आपका सत्संग प्राप्त करके बहुतोंने विभिन्न प्रकारके लाभ उठाये थे। आपका ज्यादातर निवास तो कर्णवास, अनूपशहर, भगवानपुर इन तीन स्थानोंमें ही होता था परन्तु आप यदा-कदा अन्य स्थानोंमें भी जाया करते थे। आजसे १५-१६ वर्ष पूर्व लगभग ६० वर्षकी अवस्थामें भगवानपुरमें गंगाके किनारे आपका शरीर-त्याग हुआ था। वहाँ आपके निवासस्थानपर आजकल एक पक्की कुटिया बन गयी है तथा एक पाठशालाका भी स्थापन हो गया है। आपके भक्तगण सालभरमें दो बार वहाँ एकत्रित होकर भण्डारा भी किया करते हैं।

जीवन्मुक्त पं० श्रीभवानीशंकरजी

(लेखक—एक दीन-हीन)

इनका जन्म दक्षिण भारतके एक ऊँचे ब्राह्मणवंशमें सन् १८५९ ई० के अगस्तमें हुआ था। आप बड़े विद्याव्यसनी सर्वभूतहितरत एवं जीवन्मुक्त महापुरुष थे। बचपनमें ही आपकी प्रवृत्ति भगवान्की ओर थी। बीस वर्षकी आयुमें मायाका बन्धन तोड़ एवं गृह त्यागकर थियासोफिकल सोसाइटीकी संस्थापिका जगद्विख्यात मैडेम एच० पी० ब्लेवेत्सकीके संरक्षणमें साधनामें लग गये। उनकी कठोरतम परीक्षाओंमें उत्तीर्ण होकर इन्होंने अपनेको योग्यतम अधिकारी सिद्ध किया और उनके अन्तरंग हो गये। उनके भारतसे चले जानेपर प्रसिद्ध राजयोगी श्री टी० सुब्बारावसे इन्होंने दीक्षा ली। ये गीतासे बड़ा प्रेम रखते थे। इन्होंने गुरुतत्त्वका रहस्य उद्घाटन किया। अत्यन्त प्राचीन ऋषि-मुनियोंका अस्तित्व न केवल इन्होंने अनुभव किया बल्कि औरोंको भी प्रत्यक्ष दर्शन कराया, बातचीत करायी। प्राचीन संत-मण्डलीके सम्बन्धमें इनका ज्ञान बड़ा ही अद्भुत था। ये बराबर उनसे मिलते-जुलते रहते थे। इतनी ऊँची गति होनेपर भी आपमें अहंकार, मान, प्रतिष्ठा आदिकी जरा भी गन्ध नहीं थी। वृद्धावस्थाके कारण इनका शरीर रुग्ण हो गया था। अन्तमें सन् १९३६ ई० के आषाढ़की पूर्णिमाको इस मृत्युमय संसारको छोड़कर आप संत-लोकमें पधार गये।

महात्मा श्रीसिद्धेश्वरजी महाराज

(लेखक—श्रीआसाराम गुलाबदासजी गुप्त)

निजाम स्टेटके औरंगाबाद जिलेमें धोत्रा नामका एक गाँव है। लगभग पचहत्तर वर्षके पूर्व अकस्मात् एक वटवृक्षके नीचे लगभग बीस-बाईस वर्षकी अवस्थामें श्रीसिद्धेश्वरजी महाराजने वहाँ आकर लोगोंको दर्शन दिया था और तबसे अन्ततक वे उसी गाँवकी शोभा बढ़ाते रहे। उसके पहले वे कहाँके निवासी थे, उनके माता-पिता कौन थे इत्यादि बातोंका कोई पता नहीं है। वे आजीवन मौनव्रती रहे। कभी-कभी वे लहरमें आकर हिन्दीके कुछ पदोंको अवश्य गुनगुनाया करते थे। उनके उच्चारणसे मालूम पड़ता था कि शायद वे उत्तर भारतके किसी प्रान्तके जैसे यू० पी० या बिहारके निवासी होंगे। जिस समय उस वटवृक्षके नीचे बैठे हुए श्रीसिद्धेश्वरजी महाराजका प्रसन्न मुखमण्डल तथा उसपर झलकता हुआ तप और तेज लोगोंको दिखायी पड़ा, उस समय सारे गाँवमें खबर फैल गयी और सब लोग उनके समीप आये। लोगोंने उनसे तरह-तरहके प्रश्न पूछे परन्तु मधुर मुसकराहटके अतिरिक्त किसीको कोई उत्तर नहीं मिला। पहले-पहल उस गाँवके एक नाईके मनमें यह बात आयी कि 'शायद महाराज भूखे हों, इसलिये उन्हें कुछ खिलाना चाहिये।' और यह सोचकर वह अपने घरसे ज्वारकी कुछ रोटियाँ तथा साग लाकर महाराजके सामने उपस्थित हुआ। श्रीसिद्धेश्वर महाराज उस नाईके भक्तिभावको देखकर प्रसन्न हो गये और उन्होंने बड़ी खुशीके साथ उसके दिये हुए प्रसादका भोग लगा लिया। फिर तो उस दिनके बादसे लेकर अन्त समयतक भी श्रीसिद्धेश्वर महाराजने उसी नाईके घरकी रोटियाँ खायीं। बड़े-बड़े धनी-मानी और सेठ-साहूकार तरह-तरहके पकवान अथवा मिष्ठान लेकर उपस्थित होते थे परन्तु श्रीसिद्धेश्वर महाराज उनकी ओर ताकते भी नहीं थे।

थोड़े ही समयमें श्रीसिद्धेश्वरजी महाराजका माहात्म्य चारों ओर फैल गया। दूर-दूरके लोग उनके दर्शनार्थ आने लगे। सोमवारके दिन तो महाराजके दर्शनार्थी इतने इकट्ठे हो जाते थे कि वहाँपर एक मेला-सा लग जाता था। भजन, ध्यान, कीर्तन, सत्संग आदिकी तो निरन्तर समा बँधी रहती थी। श्रीसिद्धेश्वरजी महाराज बहुत दिनोंतक उसी वटवृक्षके नीचे पड़े रहे। पीछे चलकर जब भक्तोंने बड़े आग्रह और अनुनय-विनयके साथ उनसे स्वीकृति लेकर एक कुटिया बनवा दी, तब वे उसीमें निवास करने लगे।

श्रीसिद्धेश्वरजी महाराजके जीवनमें अनेकों आश्चर्यजनक घटनाएँ हुईं, यहाँ उनके वर्णनका स्थान नहीं है। अन्तमें श्रीसिद्धेश्वर महाराजने शालिवाहन सं० १८३६ में वैकुण्ठचतुर्दशीको अपने भौतिक शरीरका

त्याग कर दिया। लेखकने बहुत छोटी उम्रमें पूज्यपाद श्रीसिद्धेश्वरजी महाराजके शान्त और तेजपुंज श्रीविग्रहका दर्शन किया था, परन्तु आज भी उसकी स्मृति वैसी-की-वैसी ही बनी है।

श्रीतपकीरीबाबा

ये पंढरपुरके अधिवासी थे। गृहस्थाश्रमी थे, घरमें अनेक गायें थीं। एक दिन एक ब्राह्मणने इनसे ये सब गायें माँगीं। इन्होंने सब गायें ब्राह्मणको दे दीं। इनके बड़े भाई जो इस समय कहीं बाहर चले गये थे, घर आये और सब गायोंके दानकी बात जानकर इनपर बड़े क्रुद्ध हुए। पीछे उस ब्राह्मणको बुलाकर प्रति गाय दस-दस रुपया देकर सब गायें लौटा लीं! दिया दान इस तरह वापस लिया देखकर इन्हें बड़ा दुःख हुआ और ये घरसे निकल गये। दो-तीन वर्ष इधर-उधर घूमते रहे, पीछे पंढरपुर आये। पंढरपुरमें चन्द्रभागाके किनारे उस बालूके मैदानमें दिनकी झल्लाती धूपमें भी बैठा करते थे। इन्हें सुँघनी सूँघनेकी आदत थी, इसलिये इन्हें लोग तपकीरी (सुँघनी) बाबा कहा करते थे। ये बड़े आदर्श महात्मा थे।

श्रीबालकृष्ण महाराज चातुर्मास्ये

(लेखक—श्रीभाऊराव तोंडापुरकर)

पंढरपुर संस्थान आनवेमें श्रीबालकृष्ण महाराज चातुर्मास्ये नामक एक महाभागवत संत हो गये हैं। इनके पूर्वज दादा महाराज पंढरीके बड़े निष्ठावन्त वारकरी थे। बारह वर्ष बराबर इनका यह क्रम था कि आनवेसे दो सौ मील पैदल चलकर प्रति शुक्ल एकादशीको पंढरपुर पहुँचते थे। उनकी इस सेवासे प्रसन्न होकर श्रीविट्ठल भगवान्ने उन्हें अपने सगुण साकार स्वरूपका दर्शन कराया और गुरुमन्त्र देकर वारी करना बंद करनेकी आज्ञा की और कहा कि चातुर्मास यहाँ रहकर कीर्तन और भक्तिज्ञानोपदेश किया करो। तबसे इन्हें 'चातुर्मास्ये' उपनाम प्राप्त हुआ। इन्हींके वंशमें संवत् १९१४ में श्रीबालकृष्ण भाऊ नामके एक पुरुष उत्पन्न हुए। ये बचपनसे ही सदा भगवच्चिन्तन करते थे। श्रीगुरुमें इनकी अद्वितीय निष्ठा थी। ये भगवान्के नामको साधन और साध्य भी मानते थे। स्वयं विशुद्ध परा भक्तिका आचरणकर जगत्को प्रेमभरी वाणीसे उपदेश करते थे। इन्होंने अपने जीवनमें सदनुग्रहके द्वारा बहुतोंको नामनिष्ठ किया और नामसंकीर्तन सप्ताह कराकर नाममहिमाका खूब प्रचार किया। चालीस वर्ष लगातार पूर्व परम्परागत चातुर्मास्यव्रतका भी निर्वाह किया, चारों धामकी यात्रा की और जहाँ-तहाँ भगवन्नामका प्रचार किया। संवत् १९७७ में पंढरपुरमें इनका देहावसान हुआ।

संत अप्पय्याजी नाडधर

(लेखक—कु० श्रीकमला नारायण मुडभट्कल)

संत अप्पय्याजीका जन्मकाल निश्चय न हो पाया है। सतरहवीं शताब्दीके अन्तमें आपका जन्म अनुमानतः माना जाता है। पिताका नाम था रामराव नाडधर। अप्पय्याजी बचपनसे ही चतुर, विनोदप्रिय और बुद्धिमान् थे। कनाडी भाषाके ज्ञाता थे। बाँसुरी, तबला, वीणा बजाना और गाना आपको खूब आता था। पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें ये जप-तपके अनुष्ठान, सन्ध्यावन्दन, पंचयज्ञ आदिकी ओर प्रवृत्त हुए और मुक्तिके उपाय सोचने लगे। जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयपर विचार करने लगे। पिताने लड़केको राहपर लानेके लिये विवाहके बन्धनमें डाल दिया पर इनका मन उधर मुड़ा नहीं।

भटकल गाँवके देवता श्रीमारुति हैं। अप्पय्याजी प्रतिदिन वहाँ दर्शनके लिये जाया करते थे। वहीं साधु-संतोंमें बैठकर ईश्वर-चर्चा करते। वहीं एक यतिके दर्शन हुए जिनके अलौकिक आकर्षण और तेजसे आप बहुत अधिक प्रभावित हुए। साधुने अप्पय्याको अपनी गोदमें बिठाकर सिरपर हाथ रखा और शिवपंचाक्षरी

मन्त्रका उपदेश किया और यह बतलाया कि पास ही बैलूरमें जीवन्मुक्त स्वामी विमलानन्द हैं वे ही मैं हूँ, वे ही तेरे गुरु हैं। यह सब अप्पय्याको सपनेके समान प्रतीत हुआ।

दूसरे दिन प्रात:काल आप बैलूर पहुँचे और स्वामी विमलानन्दजीकी शरणमें अपनेको निवेदित कर दिया। स्वामीजीने इन्हें अधिकारी समझकर ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया। माताके आग्रहपर आपको एक बार अपनी जन्मभूमिपर आना पड़ा था। अप्पय्याजीने भक्ति, ज्ञान और वैराग्यपर सहस्त्रों बड़े ही ललित पद लिखे हैं। गुरुभक्ति तो आपकी सर्वथा अनोखी थी। इन्हें श्रीदत्तजीका साक्षात्कार था। आप जीवन्मुक्त थे। मृत्युके समय आप यकायक अन्तर्धान हो गये। उस स्थानपर आपकी समाधि तथा श्रीदत्तजीका मन्दिर है।

संत शान्तिबाई

(लेखक—कु० कमला मुडभट्कल)

मैसूरके शिवभोगा जिलेमें सागर नामका एक गाँव है। सन् १८६० में वहीं शान्तिबाईका जन्म हुआ। पिताका नाम था वेंकटेशय्या और माताका नाम था तिम्मव्वा। शान्ति बचपनसे ही विलक्षण बुद्धिवाली थी। कनाडी और मराठीका अच्छा अभ्यास कुछ ही दिनमें हो गया। समय पाकर विवाह हुआ। पहली सन्तान दैवयोगसे जाती रही जिसकी बड़ी चोट शान्तिको लगी और चित्त-शान्तिके लिये भागवत, अध्यात्मरामायण आदि ग्रन्थोंको पढ़ना शुरू किया। कुछ दिनोंके बाद पतिदेव भी चल बसे। अब तो विपत्तिकी हद हो गयी!

इनके पिता बड़े ही सत्पुरुष थे। उन्होंने अपनी प्यारी पुत्री शान्तिको नारायण-अष्टाक्षरी मन्त्रका उपदेश किया। शान्तिको अब सर्वत्र श्रीरामचन्द्रजी दीखने लगे। पीछे 'तत्त्वमसि' का उपदेश किया। इससे शान्तिबाईकी स्थिति बहुत ऊँची हो गयी और वे अन्तसमयतक इसी स्थितिमें रहीं। आपने प्रयाग, काशी, गया, पंढरपुर आदि तीर्थोंमें भ्रमण किया। तीर्थसे लौटते समय सूपामें आपकी लड़कीने नामस्मरण करते हुए शरीर छोड़ दिया। आपने पाण्डुरंगजीका भजन करना शुरू किया और आपको ध्यानमें भगवान्‌के दर्शन हुए तथा अभंग लिखनेका आदेश मिला। उसी दिनसे आपको कवित्वकी स्फूर्ति हुई और आप अभंग रचने लगीं। आपके जीवनमें अनेक अलौकिक घटनाएँ हुईं जिनसे इनपर प्रभुकी विशेष अनुकम्पा तथा आत्मीयता झलकती है। सन् १९१० में सोमवारके प्रदोषके दिन आपकी स्वेच्छामृत्यु हुई। मरते समय आपका मुखमण्डल आनन्दसे जगमगा रहा था और नामस्मरणकी अखण्ड धारा चल रही थी।

श्रीमोरोपंत

संवत् १७७० में महाराष्ट्रके एक ब्राह्मणकुलमें इनका जन्म हुआ। विद्यार्थिदशामें इन्होंने सभी काव्य ग्रन्थ, षट्दर्शन, पुराण और उपनिषदोंका पूर्ण अध्ययन किया था। अध्ययन करते हुए इन्होंने कई छोटे-बड़े ग्रन्थोंकी अपने हाथसे प्रतिलिपि की। उन्चास ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियाँ आज भी इनके घर सुरक्षित हैं। इन्होंने जैन और बौद्धग्रन्थोंका भी अध्ययन किया था और साधु-संतोंके चरित्रोंका खूब मनन किया था। बचपनसे ही इनमें कवित्वस्फूर्ति हो गयी थी। आर्यावृत्तमें इन्होंने महाभारत, रामायण (एक सौ आठ प्रकार), हरिवंश, कृष्णविनय, मन्त्रभागवत और ब्रह्मोत्तर खण्डकी रचना की है। इनके सिवा अनेक फुटकर पद हैं। इनका केकावली ग्रन्थ (पृथ्वीछन्दमें) भगवान्से भगवद्-भक्तिकी याचनाके लिये लिखा गया है। इस ग्रन्थको पढ़ते हुए स्व० जस्टिस रानाडेके नेत्रोंसे अश्रुधाराएँ बहती थीं। इनका महाभारत अत्यन्त लोकप्रिय है। वृद्धावस्थामें इन्होंने काशीकी यात्रा की। तीन महीने काशीमें थे, तब नित्य श्रीमद्भगवद्गीताका एक अध्याय लिखकर श्रीकाशीविश्वनाथको अर्पण करते थे। गीतापर आर्याछन्दमें इनकी एक टीका भी है। संवत् १८५१ में इनका देहावसान हुआ। ये आदर्श विद्यार्थी, आदर्श गृहस्थ, महाकवि और महान् भगवद्भक्त थे।

श्रीकेशवबाबा उर्फ माधवनाथ

(लेखक—रा० ब० श्रीवासुदेव अनन्त बांबर्डेकर)

दक्षिण कोंकणके कुडार-महापण गाँवमें सन् १७८० ई० में श्रीकेशवबाबाका जन्म हुआ था। ये गौड़ ब्राह्मण थे। इनके पिता विष्णु पंत और माता सावित्रीबाई दोनों ही बड़े धर्मनिष्ठ थे। ये बचपनसे ही सदाचारसम्पन्न और प्रखर विरागी थे। ये पलटनमें हवलदार थे। पहरेका काम था। इसी समय पूनेमें गोपालसखा नामक कोई सत्पुरुष पधारे थे और उनके नित्य कीर्तन होते थे। केशव पहरा छोड़कर कीर्तनमें पहुँच जाते थे। साहबने जाँच की तो पता चला कि ये किसी दिन भी पहरेपरसे गैरहाजिर नहीं थे। परन्तु केशवबाबाने स्वयं अपना अपराध स्वीकार कर लिया। साहब बड़े असमंजसमें पड़े। इस घटनासे केशव भगवान्‌की सत्तामें अनुरक्त हो गये, उनकी भीतरी आँखें खुल गयीं। नौकरीसे इस्तीफा दिया और महाराज गोपालसखाके पास आये। गोपालसखाने उनका नाम माधवनाथ रखा। अब आप हरिकीर्तन और पुराण-प्रवचन करने लगे। माताके बहुत आग्रह करनेपर आपने विवाह किया। अपने गाँवमें श्रीरुक्मिणी-विट्ठलका और पासके गाँवमें मुरलीधर श्रीकृष्णका एक-एक मन्दिर बनवाया। चारों धामकी यात्रा की। संन्यास ग्रहणकर माधवनाथने संवत् १९२९ में देहत्याग किया।

श्रीकाशीनाथबाबा पाध्ये

संवत् १८०४ में पंढरपुरमें इनका जन्म हुआ। एक वर्ष बाद ही इनके पिता श्रीअनन्त पाध्ये स्वर्ग सिधारे। इनकी माता अन्नपूर्णाबाई उनके साथ सती हो गयीं। श्रीकाशीनाथबाबा अयाचित वृत्तिसे रहते थे, एक सप्ताहसे अधिकका सीधा अपने घरमें नहीं रखते थे। ग्वालियरके महाराज दौलतराव शिन्दे इनके घरपर आये, ये पूजा कर रहे थे, दो घंटे महाराज दौलतराव हाथ जोड़े खड़े थे। पूजा हो जानेपर महाराजने श्रीकाशीनाथबाबाको कुछ ग्राम जागीर देनेकी इच्छा प्रकट की। बाबाने कहा, 'मैं जागीर लेकर क्या करूँगा? आप जागीर ही देना चाहते हों तो पंढरपुरके श्रीविट्ठल भगवान्‌को दें, वहाँ उनका भोग लग जायगा।' पंढरपुरमें बाबाकी इतनी धाक थी कि जब ये भगवान्‌की पूजा करने गर्भमन्दिरमें जाते तब सब लोग, पुजारी भी, वहाँसे हट जाते थे। कहते हैं, एकान्तमें श्रीभगवान् बाबासे बात करते थे। ये श्रीमद्भागवतके ४० अध्याय नित्य पाठ करके तब भोजन करते थे। सुप्रसिद्ध 'धर्म-सिन्धु' ग्रन्थ इन्हीं काशीनाथबाबाका है। यह ग्रन्थ जब लिखा जा चुका तब इसे बाबाने अपने अनुज श्रीविट्ठल पाध्येके हाथों काशीके विद्वानोंके पास परीक्षणार्थ भेजा था। काशीके विद्वानोंने इस ग्रन्थकी सवारी निकाली और देशभरमें इसकी मान्यता हुई। संवत् १८६२ में इन्होंने संन्यास ग्रहणकर कुछ काल बाद शरीर छोड़ा।

श्रीमच्चिदानन्द स्वामी

(लेखक—रा० ब० श्रीवासुदेव अनन्त बांबर्डेकर)

दक्षिण कोंकणके वेंगुर्ले स्थानसे तीन कोस उत्तर 'व्याघ्रवन' नामका एक बड़ा ही रमणीक स्थान है। यहाँ श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमच्चिदानन्द स्वामी महाराजका मठ है और उसके गर्भागारमें महाराजकी समाधि है। महाराजको समाधिस्थ हुए लगभग १७५ वर्ष हुए। आजगाँवमें आपका जन्म हुआ। पूर्वाश्रमका आपका नाम रुद्रप्रभु था। आपके गुरुदेव थे दाभोली मठके संस्थापक श्रीमद्विद्यापूर्णानन्द स्वामी। गुरुकी सेवामें रहकर आपने ब्रह्मविद्या प्राप्त की। इसके बाद चालीस वर्षकी अवस्थामें गुरुकी आज्ञासे चिदानन्दजीने गृहस्थाश्रम स्वीकार किया। धर्मपत्नीका नाम था पार्वतीदेवी। फिर आपको संन्यासकी दीक्षा मिली। उत्तरोत्तर एकान्तवासका चसका लगा और व्याघ्रवनमें आपने एक कुटिया बनवा ली। वहाँ रहते हुए आपने स्वानन्दलहरी, योगरहस्य, देवीभागवत, ब्रह्मसूत्रावली रचे और चार-पाँच वर्ष बाद चिदानन्द स्वामीने जीवित समाधि ली।

संत श्रीविठोबा अण्णा आजरेकर

(लेखक—श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)

श्रीविठोबा अण्णा महाराष्ट्रके इचलकरंजी राज्यमें आजरें नामक एक ग्राममें रहते थे। पंढरपुरकी वारकरिन दुर्गा आक्का नामक एक भगवत्परायण वृद्धा स्त्रीके आँचलमें ये बचपनमें डाल दिये गये थे। पीछे आप गाँव-गाँव घूमकर द्वादशीके दिन पंढरपुरमें वारकरियोंको भोजन कराने लगे। एक बार प्रभु पाण्डुरंगने साधुसेवामें लिये हुए आपके ऋणको चुका दिया पर इस चमत्कारसे उन्हें हृद्रोग-सा हो गया। श्रीपाण्डुरंगको मैंने कष्ट दिया यह सोच-सोचकर वे दुःख करने लगे।

एक बार जब आप श्रीपाण्डुरंगके चरणोंपर मस्तक रखकर लीन हो रहे थे तब उनकी पीठकर एक जोड़ी धोती कहींसे आ गिरी। उसमें बड़ी सुगन्धि थी। आपने बहुत पता लगाया कि यह किसकी है पर पता चला ही नहीं। अन्तमें सबको यह निश्चय हुआ कि यह श्रीपाण्डुरंगका प्रसाद है। यह महाप्रासादिक धोती आजकल पंढरिनाथ बुवाकी ज्ञानेश्वरीपर है।

सन् १८९२ में आप परलोक सिधारे। उस समय आपकी वयस् लगभग ८० वर्षकी होगी।

श्रीनागईबाबा

(लेखक—श्री 'मातृशरण')

परमहंस श्रीश्रीरामकृष्णदेवके समकालीन श्रीनागई-बाबाका जन्म तैंजोर जिलेके इदैपुर नामक ग्राममें २८ सितम्बर १८२९ को उच्च ब्राह्मणवंशमें हुआ था। भगवद्भक्ति और एकान्तवासकी ओर आपकी प्रवृत्ति बचपनसे ही थी। लोग हँसीसे इन्हें 'नृसिंहावतार' कहा करते थे। ये बड़े ही सुन्दर और आकर्षक थे। उन्नत ललाट, विशाल नेत्र, शंखके समान ग्रीवा, हृष्ट-पुष्ट शरीर और ओजपूर्ण मुखमण्डल। जैसे कोई अवतार हो।

इनकी विरक्तिसे माता-पिताको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा—लड़केको विवाहकी साँकलमें बाँध दिया जाय। परन्तु इनकी ओजपूर्ण कान्ति और प्रभावशाली आँखोंने इनके माता-पिताको भी बहुत अधिक प्रभावित किया और वे समझ गये कि बालक हमारे वशका नहीं है। घरवालोंका मोह-जाल जल्दी टूटता नहीं; इसीलिये नरसिंह घर-द्वार छोड़-छाड़कर एक घने वनमें जाकर कठोर तपस्या करने लगे। तपस्याके द्वारा ज्ञानका प्रकाश मिला और आपको प्रकाश वितरण करनेका संकेत भी मिला। हजारोंकी संख्यामें शिष्य बने और आस्तिकताकी ध्वजा फहरायी गयी। विशेष पढ़े-लिखे तो नहीं थे परन्तु वेद, उपनिषद्, पुराणका सार-तत्त्व आपको प्राप्त था।

त्रिगुणातीत परमहंसस्थितिमें आरूढ़ हो जानेपर भी लोकसंग्रहकी दृष्टिसे आपने अन्तिम समयतक त्रिकाल स्नान, सन्ध्या और गायत्रीजप नहीं छोड़ा। साधनाहीन केवल वाचक वेदान्तियोंके **'अहं ब्रह्मास्मि', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** की मौखिक घोषणाको आप तमोभूत प्रलापमात्र समझते थे। सभी धर्म, सम्प्रदाय, परम्परा तथा आचार-विचारमें आपकी दृष्टि समन्वयकी थी। आप नियमितरूपसे नित्यके आचार धर्म और अपने-अपने वर्ण तथा आश्रमके अनुकूल आचरण करनेपर अधिक जोर देते थे। फिर चाहे शैव हो या वैष्णव एक ही बात है। उनके संघमें सभी जातियोंके लोग थे। कोई भेदभाव था ही नहीं।

हिन्दूधर्मोद्धारक यह महान् विभूति ई० सं० १८५२ की छठी अप्रैलको इहलीला संवरण करके परमधामको लौट गयी।

अवधूत श्रीनागलिंगाप्पा

(लेखक—श्री 'कृष्णशरण')

हुबलीके श्रीसिद्धारूढ़ स्वामी जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिका निरूपण करते हुए जिन दो महात्माओंकी बातें कहा करते थे वे हैं नागलिंगाप्पा और दूसरे मडिवा-लाप्पा। नागलिंगाप्पाका जन्म निजामराज्यमें जावलगेरी

गाँवमें संवत् १८६० में हुआ था। इनके पिताका नाम मानाप्पा और माताका नाम नागम्मा था। बालवयस्में ही आपको वैराग्य हुआ। आप तीर्थयात्रा करते हुए हिमालय पहुँचे। वहाँ इन्हें एक योगी मिले जिन्होंने इन्हें 'लंबिका योग' सिखलाया। इसके द्वारा सिद्धियाँ इनके पीछे पड़ीं। नागलिंगाप्पा योगियोंकी तीन अवस्थाओंमें पिशाच-अवस्थामें रहते थे। आपको अनेकों विलक्षण सिद्धियाँ प्राप्त थीं। संवत् १९४० में आप समाधिस्थ हुए।

स्वामी श्रीअचलानन्द गिरि

(लेखक—श्रीरामनाथलालजी)

भाद्र शुक्ला चतुर्दशी संवत् १८९२ वि० में स्वामी श्रीअचलानन्द गिरिका जन्म दक्षिण भारतके एक उच्च ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। ईश्वरस्मरण तथा भगवत्-चिन्तनकी चाट आपको बचपनसे ही थी। संतोंके संगमें आपने देशके भिन्न-भिन्न तीर्थोंमें भ्रमण किया और उसी समय आप काशी आकर काशीसे पन्द्रह मील उत्तर घुड़दौर गाँवमें रहने लगे। आपके दिव्य प्रेममें विलक्षण आकर्षण था। हिंसक जीव भी आपसे बहुत प्रेमपूर्वक हिलते-मिलते और आपके चरण चाटते। समय-समयपर भगवान्का आदेश आपको स्पष्टरूपमें प्राप्त होता।

आप स्वयं तो थे अद्वैतवादी परन्तु वर्णाश्रम, मूर्तिपूजा, अवतारवाद आदिका ही जनतामें उपदेश करते थे। आपके सत्संगमात्रसे घोर पापीका हृदय भी पलट जाता। आपके ओठ 'राम-राम' में सदा अखण्डरूपसे हिलते रहते थे। बड़े-बड़े प्रलोभन दिये गये परन्तु आपके वैराग्यके सामने किसीकी एक न चली। आपने श्रीवाराह भगवान्की प्रशंसामें 'श्रीवाराहस्तुति' लिखी थी जो अब छप गयी है। श्रावण शुक्ल ३ संवत् १९७६ में आपने इहलीला संवरण की।

गोस्वामी गोपालबोधजी

(लेखक—रा० ब० श्रीवासुदेव अनन्त बांबर्डेकर)

रत्नागिरि जिलेके परुवे गाँवके सामन्त गौड ब्राह्मणकुलमें सन् १६६० ई० में संत गोपालबोध स्वामीका जन्म हुआ। इस कुलके उपास्यदेव श्रीआदिनारायण हैं। सोलह वर्षकी अवस्थामें ही इन्हें सद्गुरुकी प्राप्ति हुई। कार्तिकी एकादशीके लिये आप अपनी माताके साथ पंढरपुर आये और वहाँ श्रीबोधले बुवाका कीर्तन सुनकर आप उनके चरणोंमें अनुरक्त हो गये। श्रीबोधले बुवा इन्हें अपने साथ धामणगाँव ले गये। बारह वर्ष ये श्रीगुरु-सेवामें रहे। इनकी अनन्य निष्ठासे श्रीगुरुदेवने इनपर अनुग्रह किया। अनुग्रहके इस दिव्य क्रमको आपने 'प्रकाशबोध' ग्रन्थमें बड़े ही मार्मिक ढंगसे किया है। गोपालबोधके जीवनकी अनेक लोकोत्तर घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। गुरुकी आज्ञासे आपने पुनः गृहस्थाश्रम स्वीकार किया। एक बार अजगाँवमें आप रातभर कीर्तन करते रहे और स्वयं दीपदानने उठकर श्रीभगवान्की आरती उतारी। आपके अमृतभरे उपदेशों तथा निर्मल आचरणसे सहस्रों जीव भक्तिमार्गमें प्रवृत्त हुए। अस्सी वर्षकी अवस्थामें मलगाँवमें आपने शरीर छोड़ा। वहाँ उनका समाधिमन्दिर बना हुआ है। श्रीपाण्डुरंगमाहात्म्य तथा प्रकाशबोध ये दो ग्रन्थ और कुछ पद आपके प्रसिद्ध हैं।

श्रीगोविन्द भट्ट

(लेखक—श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)

श्रीगोविन्द भट्ट अवधूतवृत्तिके संत थे। ललिता-सहस्रनामके भाष्यकार भास्कररायकी परम्परामें ये हुए। इनकी रहन-सहन '**निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः**' जैसा था। इसीलिये कुटुम्बवालोंने इन्हें निकाल दिया। आपको बहुत विलक्षण सिद्धियाँ प्राप्त थीं। जिनके द्वारा आपने अभिमानियोंका अभिमान चूर किया और भक्तोंका कल्याण किया। आपके प्रमुख शिष्य शरीफ साहब हुए। शरीफ साहबका रचा हुआ 'सरस्वतीदण्डक' बहुत प्रसिद्ध है। आजसे पैंतीस ही वर्ष पूर्व श्रीगोविन्द भट्टका परलोकगमन हुआ था।

शरीफ साहब

(लेखक—श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)

आजसे अस्सी वर्ष पूर्व धारवाड़के शिसनाल गाँवमें एक गरीब मुसलमान-कुलमें शरीफका जन्म हुआ। ये बड़े सात्त्विक वृत्तिके पुरुष थे। भगवतीके उपासक थे। श्रीगोविन्द भट्टके परमप्रिय शिष्य थे। गुरुकृपासे शरीफने दस हजार पद रचे। प्रत्येक पद भक्ति, ज्ञान, वैराग्यसे ओतप्रोत है।

शरीफ साहब एक बार श्रीहनुमान्‌जीके दर्शन करने गये। पुजारियोंने एक यवनको देख गर्भमन्दिरके कपाट बंद कर दिये। शरीफ साहबने बाहर खड़े-खड़े 'मारुतिदण्डक' का पाठ करना शुरू किया। दरवाजेकी सीकड़ी टूटी और पट खुला। शिसनालमें इनकी समाधि है। तीस वर्ष पूर्व ये इस लोकमें थे।

श्रीकोलबाजी

(लेखक—श्री द० डोणगाँवकर)

मध्यप्रदेशके वर्धा जिलेके वेता ग्राममें देवाजी नामक एक कोष्ठी (जुलाहा) अपनी धर्मपत्नी देवकीके साथ रहते थे। ताँतसे कपड़े बुनकर ये अपनी जीविका चलाते और बाकी समय भगवद्भजनमें बिताते थे। कोलबाजी इन्हींके पुत्र थे। बारह वर्षकी अवस्थामें इनका विवाह हुआ। बचपनसे ही ये कुछ विरक्त-से थे। इनके चार पुत्र हुए। पुत्र जब कुछ बड़े हुए और कमाने-खाने लगे, तब ये घर-द्वार छोड़कर धर्मनगरी (वर्तमान धापेवाडा) में आये। यहाँ श्रीमच्छंकराचार्यजीकी परम्पराके एक महात्मा रहते थे जिनका नाम धर्मसेटी था। इन्हींसे कोलबाजीने गुरुदीक्षा ली और भगवद्‌भजन करने लगे। इनकी भक्तिसे भगवान् श्रीविष्णुने प्रसन्न होकर इन्हें दर्शन दिये और वर माँगनेको कहा। इन्होंने भगवान्‌से यही वर माँगा कि 'आपकी मूर्ति मेरे नेत्रोंमें अचल रहे।' धापेवाडामें इनकी गद्दी है। आषाढ़ी एकादशीके दिन श्रीकोलबाजीकी समाधि और श्रीविट्ठल-रखुमाई मन्दिरकी बड़ी यात्रा लगती है।

श्रीविष्णु बुवा करमेलकर

(लेखक—श्रीकमलाकान्तजी और श्रीबंडो पंत वैद्य)

श्रीविष्णु बुवा कोल्हापुर-कापशीके एक सुप्रसिद्ध वैद्य थे। इन्होंने अपने पिता श्रीरामचन्द्र पंत करमेलकरसे आयुर्वेद पढ़ा और शिवोपासनकी दीक्षा ली। ये गृहस्थाश्रमी थे। इनके पुत्र जब बड़े हुए और पिताकी मृत्यु हुई तब इन्होंने वैद्यकसे द्रव्यार्जन करना छोड़ दिया। तब इनके पास जो रोगी आते उन्हें ये अतिथि मानकर उनकी सेवा करते थे। इनका अधिकांश समय स्वाध्याय और नामजपमें व्यतीत होता था और बाकी समय अतिथियोंकी सेवामें। सन् १९३३ में इनका देहावसान हुआ। ये अपने संतपनको सदा छिपाये रहते थे, केवल योग्य अधिकारीके सामने ही अपने वास्तविक रूपको प्रकट करते थे। पूछनेपर ये नाममन्त्रका ही उपदेश करते थे। इनकी धर्मपत्नी भी पतिके समान ही निरन्तर भगवच्चिन्तन करनेवाली थीं।

स्वामी विट्ठलदेवजी

(लेखक—श्रीठाकुरदासजी वर्मा)

सागर (सी० पी०)-के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण-कुलमें संवत् १९४९ के मार्गशीर्षके महीनेमें स्वामी श्रीविट्ठलदेवजीका जन्म हुआ। बचपनसे ही आपकी मनोवृत्ति निवृत्तिपरक थी। सन्ध्या-पूजन और पाठ-ध्यानके अतिरिक्त जो समय मिलता आप दासबोध, भक्तमाल आदि ग्रन्थोंका स्वाध्याय करते।

माताको बालककी इस मनोदशासे बड़ी चिन्ता और ग्लानि हुई और बच्चेको विवाहके मोहक जालमें फँसा लेना चाहा; परन्तु विट्ठलका जन्म संसारके तुच्छ भोग-विषयोंके लिये नहीं हुआ था। आप किसी प्रकार माताकी आज्ञा ले घरसे चल निकले और संवत् १९७९ में व्यासतपोभूमि कालपीमें पहुँचे। वहाँ बटाऊके मन्दिरमें आप ठहरना चाहते थे परन्तु लोगोंने बहुत मना किया कि यहाँके श्रीहनुमान्जी बड़े विकट हैं किसीको ठहरने नहीं देते। परन्तु विट्ठलके मनमें यह बात बसी हुई थी कि प्रभु अपने भक्तका कदापि अनिष्ट नहीं कर सकते। आधीरातको एक बड़े जोरका धड़ाका हुआ। कोई स्पष्ट मूर्ति तो नहीं दिखी परन्तु वाणी स्पष्ट सुन पड़ी कि जिस प्रकार संतलोग रहते हैं उसी प्रकार रहो। अब तो श्रद्धा और विश्वास बेहद बढ़ा, यह देखकर कि 'देवता' को हमारी साधना स्वीकृत है।

आप कुण्डलिनीजागरणकी साधना करते थे। एक बार क्रियामें कुछ व्यतिक्रम हुआ और आप बीमार पड़ गये। सर्वथा नि:शक्त हो गये। पानीके लिये आँखें खोलीं परन्तु पानी लाता कौन? सुतरा आपने सोच लिया कि अब अन्तिम समय है, भगवान्का स्मरणकर प्राणोंको विसर्जित करना चाहिये। परन्तु थोड़ी ही देरमें देखते क्या हैं कि एक सुन्दर सुमनोहर युवक आपके सिरको अपनी गोदीमें रखकर धीरे-धीरे जल पिला रहा है और मन्द-मन्द मुसका रहा है। इस समय आपके हृदयमें जो गुदगुदी हुई होगी उसकी कल्पना भी हम कैसे कर पावें?

इस घटनाके बाद आपकी स्थिति एकदम पलट गयी। आप विक्षिप्त-से अलमस्त नर्मदाके किनारे डोलते-फिरते, कुछ हँसते, कुछ रोते, कभी गाते, कभी नाचते। संवत् १९९१ में आप अपने प्रभुमें सदाके लिये लीन हो गये।

श्रीशंकर महाराज टक्की

गोमंतकमें संवत् १८८७ में इनका जन्म हुआ। बम्बईके पुराने एल्फिन्स्टन इंस्टीच्यूटमें इन्होंने शिक्षा पायी। पीछे एकाउंटेंटके दफ्तरमें नौकर हुए। कुछ काल बाद खान-देशमें कलेक्टरके आफिसमें हेड एकाउंटेंट हुए। यहीं नौकरी पूरी करके इन्होंने पेंशन ली। तत्त्वज्ञानकी इन्हें बचपनसे ही बड़ी रुचि थी और वेदान्त-ग्रन्थोंका इन्होंने पूर्ण अध्ययन किया। श्रीराधाकृष्ण महाराज तोरणे इनके सद्गुरु थे। संवत् १९५९ में इनका देहावसान हुआ।

श्रीरामचन्द्र महाराज टाकी

बम्बईके एल्फिन्स्टन कालेजसे बी० ए० की परीक्षा पास करनेपर ये एक हाई स्कूलमें शिक्षक नियुक्त हुए, पीछे बढ़ते-बढ़ते ये डिपटी एजुकेशनल इंस्पेक्टर हुए। सन् १९११ ई० में इन्होंने नौकरी पूरी करके पेंशन ली। इसके बाद तीन वर्ष तीर्थयात्रा करते रहे। प्राचीन-अर्वाचीन तत्त्वज्ञानका इन्होंने पूर्ण अध्ययन किया था और सदा संतोंकी बानियोंमें रमते थे। इनके पिता ही इनके सद्गुरु थे और इनका सम्पूर्ण जीवन निष्कलंक और परमार्थपरिपूर्ण था। टाकी महाराजने सन् १९३५ में ७८ वर्षकी अवस्थामें शरीर छोड़ा। आपकी विद्वत्ता अगाध थी। आपने कई ग्रन्थ लिखे हैं। आपकी स्थापित की हुई 'सद्भक्तिप्रसारक मण्डली' से बड़ा कार्य हो रहा है।

श्रीगजानन महाराज

(लेखक—श्री आर० के० सोनोने)

ता० २३ फरवरी सन् १८७८ ई० को बरारके शेगाँव (शिवगाँव) में सुविख्यात साधु श्रीनानासाहबके मठके बाहर एक तेज:पुंजशरीरधारी पुरुष उच्छिष्ट पत्तलोंमेंसे चावल बीनकर खाते हुए देख पड़े। इसके बाद गाय-बैलोंके पीनेके लिये रखे हुए पानीके हौदमेंसे उन्होंने पानी पीया और चल दिये। इसके चार दिन बाद अर्थात् ता० २७ फरवरी सन् १८७८ ई० को शेगाँवके शिवालयमें जब बार्शी-टाफलीके ब्रह्मनिष्ठ साधु श्रीगोविन्द महाराज अपनी भगवत्कथाके द्वारा हजारों श्रोताओंको मुग्ध कर रहे थे तब वे ही तेज:पुंजशरीरधारी पुरुष महाराजके

उद्दण्ड घोड़ेके चारों पैरोंके बीच धरतीपर पड़े नादब्रह्ममें लीन हो निजानन्द ले रहे थे। घोड़ा अपनी उद्दण्डता भूला हुआ चित्रवत् निश्चल खड़ा था। कुछ देर बाद श्रीगोविन्द महाराजके कानोंमें इस पुरुषके गुनगुनानेकी आवाज पहुँची। उस आवाजने उनके हृदयको ऐसा बेधा कि वे मन्दिरके बाहर निकल आये और देखा एक आजानुबाहु, उन्नतललाट, तेज:पुंज पुरुष घोड़ेके पैरोंके बीच पड़ा है और उसके मुखसे 'गण, गण' ध्वनि निकल रही है। श्रीगोविन्द महाराज लपककर उस विभूतिके समीप गये, उसे उन्होंने छातीसे लगा लिया और उसकी षोडशोपचार पूजा की। बस, यही इन दिव्य विभूतिका प्रथम परिचय है जो शेगाँववालोंको प्राप्त हुआ। इसके बाद शेगाँव-निवासी आबाल-वृद्ध सभी लोग उनके भक्त हो गये और महाराज श्रीगजानन महाराजके नामसे सर्वत्र प्रसिद्ध हुए। उनकी जाति, कुल, वर्ण आदिका कभी किसीको कोई पता ही न चला। वे विधि-निषेधातीत सिद्धावस्थामें ही सदा रहते थे। चाहे जो चीज खा लेते। एक बार एक स्त्रीने आध सेर मिर्चा पीसकर उन्हें परोस दिया, उसे वे वैसे ही खा गये जैसे कोई पेड़ा या बर्फी खा ले। भक्तलोग उन्हें बहुमूल्य वस्त्र भेंट करते थे पर वे दिगम्बर ही बने रहते थे। महाराज चाहे मखमलके गद्दपर बैठे हों या धरतीपर ही बैठे हों, जहाँ बैठे रहते वहीं मलमूत्रत्याग कर देते थे। वे प्राय: किसीसे स्पष्ट शब्दोंमें नहीं बोलते थे पर उनके सामीप्यमात्रसे आर्त जीवोंको सुख और शान्ति मिलती थी। उनके स्पष्ट शब्दोंसे जिज्ञासुओंके मनोगत प्रश्नोंके उत्तर मिल जाते थे। ता० ८-९-१९१० को प्रात:काल ८ बजे नामसंकीर्तनके प्रचण्ड निनादमें महाराज परमधामको सिधारे। मि० ए० सी० करीद्वारा प्रदत्त स्थानमें श्रीहरिकुकाजी पाटिल आदि लोगोंके द्वारा उनका स्मारक-मन्दिर बना। इस संस्थापनाकी देखभाल करनेवाली एक कमिटी है और रावसाहेब रामचन्द्रकृष्णाजी पाटिल आ० मैं० इसके व्यवस्थापक हैं।

श्रीशाण्डिल्य महाराज

कुछ वर्ष पूर्व बम्बईमें सदाशिव नामके एक विद्यार्थी अंगरेजी स्कूलमें पढ़ते थे। मैट्रिककी परीक्षामें फेल होनेसे उन्हें वैराग्य हो आया और घर-बार छोड़कर पर्यटनको निकल गये। भारतवर्षके सब तीर्थोंमें भ्रमण करके २७ वर्षकी अवस्थामें श्रीगोकर्णक्षेत्रमें आये। इनका शरीर और मुखमण्डल बड़ा तेजस्वी था। दर्शनमात्रसे किसीका भी सिर इनके सामने झुक जाता था। इनका प्रसन्न और स्मित वदन देखकर सबको बड़ा आनन्द होता था। सदा एकान्तमें ही रहते या अकेले ही पहाड़ों या जंगलोंमें रमते थे। लोगोंकी बस्तीमें कभी आ भी जाते तो ऐसे ही समयमें आते जैसे आधीरातके अँधेरेमें या मध्याह्नकी झल्लती धूपमें या कभी ब्राह्ममुहूर्तमें। ये अपने सर्वांगमें भस्म लगाये रहते थे। पहने रहते थे केवल एक लँगोटी। और कुछ भी पास न रखते थे। ये अग्निके उपासक थे, इनके स्थानमें अग्नि सदा प्रज्वलित रहती थी। अग्निमें आहुति देते हुए ये शाण्डिल्यगोत्रका उच्चार करते थे। कोई इन्हें प्रणाम करता तो ये '**शिवोऽहम्**' कहा करते थे। इन्होंने समुद्र-किनारेके इस पार्वत्य प्रदेशमें अनेक प्राचीन मन्दिरोंका जीर्णोद्धार किया, कई भग्न मूर्तियोंको हटाकर नयी मूर्तियाँ स्थापित कीं और कई नये मन्दिर बनवाये और इन सब देवस्थानोंको जागरित करके यहाँ सतत पूजा-अर्चाका स्थायी प्रबन्ध कर दिया। ता० १३-७-३० को इनकी इहलोकयात्रा समाप्त हुई। इसके एक वर्ष बाद इनके भक्तोंने इनकी समाधिपर शिवलिंगकी स्थापना की जिसे 'शाण्डिल्येश्वर' कहते हैं। श्रीगोकर्णक्षेत्रमें समुद्रके किनारे रामतीर्थके समीप श्रीसदाशिव शाण्डिल्य महाराजने राममन्दिरकी नींव दी थी। उसीके समीप उनकी समाधि है और उसपर श्रीशाण्डिल्येश्वर स्थापित हैं। इस शिवलिंगके अग्रभागमें एक चक्र है जिसमें ॐका दर्शन होता है। समाधिकी दाहिनी ओर पहाड़के ऊपर शाण्डिल्यतीर्थ है।

श्रीवाग्देव महाराज

(लेखक—श्रीयुत कृष्ण जगन्नाथ थली)

गोदावरीके उत्तर तटपर हिंवरें नामक ग्रामके एक गडेरियाकुलमें वाग्देवका जन्म हुआ। ये जब कुछ बड़े हुए तब इनके माता-पिता इन्हें लेकर वाठार नामक ग्राममें जा बसे। जेजुरीके श्रीखण्डोबा इनके कुलदेव थे। वाग्देवने इन्हींकी उपासना की। इनमें जन्मसे सिद्धोंके सब लक्षण देख पड़ते थे। बम्बईमें साठ-पैंसठ वर्ष बराबर इनका आना-जाना लगा रहा। इस परिचयलेखकको बड़ी दु:स्थितिसे उन्होंने स्वयं ही कृपा करके उबारा। देवासराज्यके स्व० राजा श्रीमल्हारराव महाराज पवार, भोरराज्यके श्रीयुवराज महाराज पंतसचिव, बम्बई और अन्य स्थानोंके बड़े-बड़े विद्वान् और व्यापारी और सामान्यजन इनके भक्त थे और इनके दर्शन, स्पर्शन ओर उपदेशसे लाभ उठाते थे। संवत् १९९३ पौष शु० १२ के दिन अपने वाठारस्थ मठमें इन्होंने नब्बे वर्षकी अवस्थामें अपना शरीर छोड़ा। शरीर छोड़नेके पूर्व उन्होंने भोरके श्रीयुवराजको दर्शन दिये थे और उन्हें आलिंगन करके उनसे दक्षिणा भी माँग ली थी। पर शरीर छोड़नेके समय किसीको भी समीप नहीं रहने दिया था।

श्रीकोतनीस महाराज

संवत् १९२१ में इनका जन्म हुआ। ये ऋग्वेदी देशस्थ वैष्णव ब्राह्मण थे। सांगलीके प्रसिद्ध वकीलोंमेंसे थे। चिमड़के श्रीरामचन्द्रराव महाराज यरगट्टीकरसे इन्होंने मन्त्रदीक्षा ली थी। वकालतका धन्धा इन्होंने बड़ी ईमानदारीसे किया। इनका समस्त जीवन हरिभक्ति और कीर्तनमें व्यतीत हुआ। बहुत लोगोंको इन्होंने भक्तिमार्ग दिखा दिया और बहुतोंका बहुत उपकार किया। श्रीसद्गुरुस्थान चिमड़क्षेत्र इनकी बनवायी एक धर्मशाला है। परमार्थपरक इनके कुछ पद्य भी हैं जो 'कैवल्यकुसुम' के नामसे प्रकाशित हुए हैं। संवत् १९८० में इनका देहावसान हुआ। इनके पुत्र श्रीरघुनाथजी भी भगवद्भक्त हैं।

श्रीशांताप्पा नागरकट्टी

ये मल्लापुरमें रहते थे, गृहस्थाश्रमी थे। बड़े प्रेमी और भगवान् दत्तात्रेयके अनन्य उपासक थे। इन्होंने गाणगापुरमें बड़ा तप किया और श्रीगुरुचरित्रके अनेक पारायण किये। मल्लापुरमें इन्होंने एक मन्दिर बनवाकर श्रीदत्तमूर्ति स्थापित की है। वृद्धावस्थामें इसी मन्दिरमें रहते हुए भजन-पूजनादिमें इन्होंने अपना जीवन बिताया। भजन करते हुए उन्हें देहकी सुध नहीं रहती थी। बड़े मस्त भक्त थे। संवत् १९८३ में इन्होंने परलोकगमन किया। भक्ति, ज्ञान, वैराग्यके विषयमें इनकी अनेक कविताएँ हैं।

श्रीहरि महाराज चांफेकर

ये श्रीपाण्डुरंगके अनन्य उपासक थे। बम्बईमें रहते थे, जहाँ इनकी बड़ी प्रसिद्धि है। रामवाड़ीके श्रीविट्ठलमन्दिरमें इनके कीर्तन हुआ करते थे। कीर्तन करते-करते ये बेसुध हो जाते थे। श्रोतृसमुदाय भी गद्गद हो जाता था। कीर्तनमें चढ़नेवाली भेंट ये कभी ग्रहण नहीं करते थे। इन्हींके तीन पुत्रोंको पूनेके एक राजनीतिक हत्यापराधमें फाँसीकी सजा हुई थी। परंतु इनका चित्त पुत्रमोहसे जरा भी विचलित नहीं हुआ। इनकी पुण्यतिथि बम्बईमें इनके भक्तोंद्वारा भजनानन्द-महोत्सवके साथ मनायी जाती है।

श्रीमायबाई

मध्यप्रदेशके आर्वी स्थानमें सती श्रीमायबाई रहा करती थीं। चाँदाके श्रीनिकालस महाराज उर्फ 'चेडके बुवा' इनके गुरु थे और भगवान् श्रीगोपालकृष्ण इनके उपास्य। इनकी ओर सामान्य दृष्टिसे देखनेपर ये पगली जान पड़ती थीं। ये जिस झूलेपर बैठा करती थीं वह झूला, कहते हैं कि, बिना झुलाये झूला करता था। प्रपंचमें रहते हुए परमार्थसाधनका मार्ग इन्होंने अपने जीवनमें बहुतोंको दिखा दिया। संवत् १९७१ में इनका परलोकवास हुआ।

श्रीदत्तंभट

भोरराज्यके श्रीमुरलीधरके मन्दिरमें श्रीदत्तंभट नामके एक महात्मा रहते थे जो संवत् १९६९ में, लगभग अस्सी वर्षकी अवस्थामें, इस लोकसे चल बसे। इनके पूर्ववृत्तका कुछ पता नहीं चलता। मुरलीधरजीके मन्दिरमें इनके दर्शनोंके लिये दूर-दूरसे लोग आया करते थे। इनके लिये ग्रीष्म और वर्षा दोनों ऋतु समान थे। ये बड़े ही अपरिग्रही थे। एक बार महाडकर श्रीडिंगणकरजीके यहाँ महाराज पधारे थे, तब प्रश्नोंसे यह जाना गया कि इनका उपनाम पिंगे था, ये कसूर गाँवके रहनेवाले थे, इनके घरका कोई नहीं था, मामाके घरके लोग थे, इनका गोत्र भारद्वाज था जिसके वंशमें महाराजने तुकाराम महाराजके शब्दोंमें कहा— 'कुलधर्म रामसेवा है।'

श्रीवामन बुवा

इनके कोई पूर्व पुरुष नारायण नामसे प्रसिद्ध हुए। उनके पुत्र त्र्यम्बक थे जो ब्रह्मज्ञानी हुए। ये वामोरी स्थानमें रहते थे। त्र्यम्बकके पुत्र ज्योतिष और वैद्यकके जाननेवाले बड़े विवेकी, सन्तोषी और पुण्यात्मा थे। उनका नाम विट्ठल था। विट्ठलके पुत्र रावजी भट्ट थे जो तीर्थयात्री, वेदोक्त कर्ममार्गी और परम भक्त थे। उन्हींके पुत्र श्रीवामन बुवा थे। श्रीअक्कलकोटके स्वामी महाराजसे इन्होंने अनुग्रह प्राप्त किया। संवत् १९५८ में इनका देहावसान हुआ। इनका 'श्रीगुरुलीलामृत' ग्रन्थ है।

अक्कलकोटके स्वामी महाराज

इनके जन्मस्थान, माता-पिता, कुल आदिका कोई पता नहीं है। ये पहले मंगलवेढामें प्रकट हुए, वहाँसे सोलापुर और सोलापुरसे अक्कलकोटमें आकर ठहरे। इन्हें लोग श्रीगुरुदत्तात्रेयका अवतार मानते थे। इनका प्रत्येक शब्द और प्रत्येक कार्य चमत्कारमय होता था। इनका धीरे-धीरे चलना इतना वेगयुक्त होता था कि औरोंको उनके साथ चलनेके लिये दौड़ना पड़ता था। अक्कलकोटके राजासाहब एक बार हाथीपर सवार होकर इनसे मिलनेको आये। जब राजासाहब सामने उपस्थित हुए तब उनके मुँहमें एक थप्पड़ मारा और कहा, 'ऐसे शतरंजके राजा मैं चाहे जितने पैदा कर सकता हूँ।' तबसे राजासाहब सवारी दूर ही छोड़कर जूते उतारकर नंगे पैर ही महाराजके सामने आते थे। महाराजके दर्शनोंके लिये सिद्ध-साधक, राजा-रंक सभी प्रकारके लोग बराबर आया ही करते थे। सब प्रकारकी सिद्धियाँ इनके चरणोंमें लोटा करती थीं। सहस्रों जीवोंका अशेष कल्याणकर संवत् १९३५ में ये परमधामको सिधारे।

श्रीशान्तानारायण उभयकर

बंगलोरके मल्लापुर स्थानमें ये रहते थे। बड़े सरल-स्वभाव और भगवद्भक्त थे। उत्तर कर्णाटकमें ये कई बरस सरकारी नौकर रहे। सन् १८८१ ई० में इन्होंने पेंशन ली। ३१ वर्ष पेंशन लेते रहे। ९२ वर्षकी अवस्थामें इनका देहावसान हुआ।

श्रीसच्चिदानन्द महाराज

(लेखक—श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)

सच्चिदानन्द महाराजका पहला नाम तम्मण शास्त्री पुराणिक था। ये धारवाड़ जिलेमें नवलगुन्दके रहनेवाले थे। पिताका नाम शंकरभट्ट और माताका नाम अम्बाबाई था। आप जब सात-आठ वर्षके हुए तो बालोन्मत्तपिशाचवत् रहनेवाले नागलिंगाप्पा नामक संतकी इनपर दृष्टि पड़ी और उन्होंने इन्हें 'योगचिन्तामणि' नामक कन्नड भाषाकी एक पुस्तक दी और कहा—'बेटा, तू अब चला जा, तू बड़ा महात्मा होगा।' तम्मणने कुछ ही दिनमें सभी शास्त्रोंका अनुशीलन कर लिया। सिद्धारूढ़ स्वामीको आप अपना गुरु मानते थे। श्रीब्रह्मचैतन्य महाराजने इनकी सेवासे प्रसन्न होकर संवत् १९०५ में इनपर अनुग्रह किया और इन्हें एक कफनी, टोपी और योगदण्ड देकर इनका नाम 'सच्चिदानन्द' रखा। आप २४ वर्षतक लगातार दासनवमीका उत्सव कराते और दस-बारह हजार आदमियोंको भोजन कराते। इसके सिवा तेरह करोड़ रामत्रयोदशाक्षर मन्त्रका जाप भी करा लेते थे। सन् १९३३ में आपने देहविसर्जन किया।

श्रीभाऊ महाराज

श्रीभाऊ महाराजके पूर्वज गोवामें रहते थे। वहाँके पुर्तगीजशासनके अत्याचारोंसे पीड़ित होकर उन्हें वहाँसे अपना डेरा-डंडा उठाना पड़ा। वे भ्रमण करते हुए ग्वालियर पहुँचे। वहाँ उनकी बड़ी खातिर हुई और एक अच्छे पदपर उनकी नियुक्ति हुई। श्रीभाऊ महाराजका जन्म संवत् १८८४ में हुआ। ये बचपनसे ही विरक्त और भगवद्भक्त थे। ग्वालियरमें इनके अनेक चमत्कार प्रसिद्ध हैं। कई चमत्कारोंके साक्षी तो स्वयं ग्वालियर-नरेश श्रीमन्त जयाजीराव महाराज ही थे। श्रीजयाजीराव महाराजके पुत्र श्रीमन्त माधवराव महाराज हुए। श्रीजयाजीराव महाराजका यह निश्चय था कि माधवराव महाराज इन्हीं श्रीभाऊ महाराजकी कृपाका प्रसाद हैं। संवत् १९५४ में श्रीभाऊ महाराज समाधिस्थ हुए।

श्रीमहादेव प्रभु महाराज

श्रीमहादेव प्रभु सातारा जिलेके गाँवमें रहते थे। सन् १८२४ ई० में इनका जन्म हुआ। ये गृहस्थ और राजयोगी वेदान्ती थे, बारह वर्ष इन्होंने तीर्थोंमें भ्रमण किया था। बड़े ही शान्त थे। वेदान्तविषयमें इनके अनेक पद्य हैं। सोलापुरके धनी-मानी इन्हें बहुत मानते और इनकी भक्ति करते थे। लिंगायतोंमें इनके अनेक शिष्य हैं। सन् १८६८ में ये परलोक सिधारे। देऊर (सातारा)-के भाऊ नागप्पा वाणीने इनका जीवनचरित्र और पद्यसंग्रह प्रकाशित किया है।

श्रीअनन्तनाथ महाराज

श्रीअनन्तनाथ महाराज उर्फ चित्तारी बुवा श्रीएकनाथ महाराजकी परम्परामेंसे थे। कुलाबा जिलेके नातें गाँवमें ये रहते थे। असली रहनेवाले ये कहाँके थे, इसका पता नहीं है। बड़े विरक्त, प्रेमी और सदानन्दी थे। चित्र खींचनेका इन्हें बड़ा शौक था। दीवारों और परदोंपर देवी-देवताओंके बड़े मनोहर चित्र बनाया करते थे। नातें गाँवमें इनके हाथके चित्र मिलते हैं। ये उत्तम कवि भी थे। नाथलीला, हितसार, निजभक्ति, नवविधा भक्ति, सुदामाचरित्र, ध्रुवचरित्र, करुणबत्तीसी आदि कई इनके रचित ग्रन्थ हैं। इनकी कविता प्रासादिक और भक्ति-ज्ञान-वैराग्यसे ओतप्रोत है। सन् १८९९ में ये समाधिस्थ हुए। नातें और महाडके इनके सुशिक्षित शिष्य इनका प्रातिवार्षिक समाधि-उत्सव मनाया करते हैं।

श्रीहरिभाऊ महाराज

श्रीहरिभाऊ महाराजका कब और कहाँ जन्म हुआ, इसका पता नहीं। पीछे ये फलटणमें आकर रहे। वहाँके रघुनाथ शास्त्रीजीने जीवन-चरित्र लिखा है जिसमें इनके जीवनके अनेक चमत्कारोंका वर्णन है। फलटणके चीफ श्रीमन्त मुधोजीराव निंबालकर इनके बड़े भक्त थे। श्रीहरिभाऊ महाराजने इनकी बड़ी कठिन परीक्षाएँ कीं और इन्होंने भी सब कष्ट स्वीकार करके श्रीगुरुको प्रसन्न रखा। सन् १८९९ ई० में ये इस लोकसे चले गये।

श्रीभानुदास महाराज

नगर जिलेके बेलापुर ग्राममें श्रीभानुदास महाराज प्रसिद्ध हो गये हैं। ये प्रति मासकी शुक्ला एकादशीको पंढरपुरकी, फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीको ज्योतिर्लिंगकी और मार्गशीर्ष कृष्ण अष्टमीको आलंदीकी यात्रा करते थे, फिर चैत्र कृष्ण षष्ठीको श्रीएकनाथ महाराजके उत्सवके लिये पैठणमें उपस्थित होते और चैत्र कृष्ण एकादशीको नेवासेमें श्रीज्ञानेश्वरखंभकी यात्रा करके अमलनेरमें अपने सद्गुरु-स्थानकी यात्रा करते थे। श्रीभानुदास महाराजका सिद्धस्वरूप और विभूतिमत्त्व समय-समयपर उनके भक्तोंको अनुभूत हुआ है। संवत् १९५५ की पंढरीकी वारी करनेके बाद उन्होंने अपना निर्याणकाल समीप जान अपने पुत्र भागवत बुवाको पास बुलाकर अनुग्रह दिया और संवत् १९५६ में श्रीरामनवमीका उत्सव समाप्तकर अपनी इहलोकयात्रा भी समाप्त की।

श्रीशेषनाथ महाराज

श्रीशेषनाथ महाराज अकोला जिलेके वाशिम स्थानमें रहते थे। इन्हें लोग नंगे महाराज भी कहते थे। साक्षात्कारी पुरुष थे। कारंजाके श्रीनारायणदेव इन्हींके शिष्य हैं। इन्होंने द्राविड भाषामें अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जो वाशिममें खोज करनेसे मिल सकते हैं। संवत् १९६० में इनका शरीर छूटा। इनके अनेक भक्तसमुदाय हैं।

श्रीदादा पराडकर

श्रीदादा पराडकर गृहस्थाश्रमी थे। इनका शरीर नासिकमें संवत् १९६१ में छूटा। इसके तीन-चार वर्ष पहलेसे ये बहुत प्रसिद्ध हो रहे थे। गिरनार पर्वतपर गये थे, वहाँ एक गुहामें इन्हें श्रीगैबीनाथ, श्रीसोहिरोबानाथ आदि सिद्धोंके दर्शन प्राप्त हुए। रत्नागिरी जिलेके पराडी स्थानमें जहाँ इनका निवास था, इन्होंने एक देवालय बनवाया है। नासिक और बम्बईमें ऐसे बहुत लोग हैं जो अपने अनुभवसे यह बतलाते हैं कि इनके दोनों कानोंसे 'दत्त और राम' ये नाम सदा निकला करते थे।

श्रीखुशीराम महाराज

श्रीखुशीराम उज्जैनके रहनेवाले थे। पीछे बम्बई जाकर रहे। ये पिशाचवृत्तिसे रहते थे। कभी-कभी श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवतके श्लोक कहा करते थे। तीर्थाटन इन्होंने बहुत किया था। समुद्रस्नान दिनमें ये दो बार करते थे। शरीर छूटनेतक इनका यह नियम जारी था। संवत् १९६५ में बम्बईमें इन्होंने अपना पुण्य शरीर विसर्जन किया। उस समय इनकी उम्र ५५ वर्ष रही होगी।

श्रीमाधवेन्द्र स्वामी

रत्नागिरी जिलेके मालवण तालुकेमें वेदगंगाके तटकिलेसि गाँवमें संवत् १९०८ में इनका जन्म हुआ। बचपनसे ही ये ईश्वरभक्त थे। विवाहके पश्चात् १० वर्षतक इन्होंने कऱ्हाडकी कचहरीमें नौकरी की। इनके तीन पुत्र हुए, जब ये सातारा जिलेके कोरे गाँवकी मामलेदार कचहरीमें नौकर थे। यहाँ उन्हें श्रीदत्तभगवान्का साक्षात्कार हुआ और तब इन्होंने नौकरी छोड़ी। अनेक तीर्थोंमें भ्रमण करके पीछे निगड़ीमें आकर दत्तसम्प्रदायकी दीक्षा ली। गाणगापुरमें तीन सप्ताह पारायण किये तब दृष्टान्त हुआ कि 'जन्म-मरणसे छुड़ानेवाले श्रीसद्गुरु तुम्हें शीघ्र ही मिलेंगे।' ये घूमते-घामते कोल्हापुर पहुँचे, वहाँ श्रीत्रिकूटवासी रामनाथ महाराजके दर्शन हुए। उन्होंने इन्हें बोधामृत पान कराकर इनका मनोरथ पूर्ण किया। इन्होंने १२ वर्ष श्रीसद्गुरु-सेवा लगातार की थी।

श्रीमौनी स्वामी महाराज

इनका पहला नाम नारायण था। नासिकके सिन्नर नामक स्थानमें पारखी उपनाम कुलमें सन् १७८२ ई० में इनका जन्म हुआ। इनकी माता सत्यभामा बाई और पिता भिकाराम उद्धवने इनका उत्तम पालन-पोषण किया और उस समयके अनुकूल उत्तम शिक्षा दिलायी। अन्तिम बाजीराव पेशवाके समयमें ये दफ्तरदार थे। जब पेशवाओंका राज्य अंग्रेजोंके हाथमें चला गया तब अंग्रेज सरकारने इन्हें जामनेरमें एक उच्च पदपर नियुक्त किया। एक दिन रातको स्वप्नमें यतिवेशधारी श्रीसद्गुरुने दर्शन दिये तब इन्होंने नौकरीसे इस्तीफा दे दिया और नासिक जाकर श्रीरघुनाथ भट्टजी महाराजसे दीक्षा ली। कुछ काल बाद ये मौन रहने लगे और तबसे इनका नाम मौनी स्वामी ही पड़ गया। पीछे ये बम्बई गये। वहीं संन्यास लिया। बम्बईके ठाकुरद्वारामें इनके शिष्योंने एक श्रीराममन्दिर बनवाकर वहीं इनके लिये

समाधिस्थान भी निर्माण करा दिया। इसी स्थानमें सन् १८७६ में इन्होंने देहत्याग किया।

श्रीसच्चिदानन्द ब्रह्मचारी महाराज

खेड़ा डुंडियाके एक कान्यकुब्जकुलमें संवत् १८७३ में इनका जन्म हुआ। इनकी बालवयस्में ही इनके माता-पिता परलोक सिधारे। तब ये काशी गये, वहाँ इन्होंने व्याकरण, ज्योतिष, मन्त्र-तन्त्र आदि अनेक विषयोंका अध्ययन किया और अध्ययन करते हुए लगातार ३२ वर्षतक श्रीकाशी विश्वनाथका दरबार सेवन किया। संवत् १९१८ से इन्होंने अन्नका त्याग कर दिया और ५६ वर्षतक बिल्वफल और दूधपर रहे। हरद्वार, काश्मीर, अमरनाथ, नर्वदातटके ओंकारेश्वर आदि स्थानोंके योगी-महात्माओंसे इन्होंने योगविद्या और मन्त्रबल प्राप्त कर लिया था। इसके पश्चात् ये मध्यभारत महू छाबनीके समीप क्षिप्रानदीके तटपर उरच गाँवमें आकर रहे। तब इन्दौर सरकार स्वामी श्रीतुकोजीराव होलकर महाराज इन्हें बड़ी श्रद्धाके साथ आग्रह करके अपनी राजधानीमें लिवा लाये। तबसे श्रीसच्चिदानन्द ब्रह्मचारी महाराज इन्दौर सरकारके लालबागके काँचमहलमें रहने लगे। यहीं उनके लिये सरकारकी तरफसे एक शिवालय बनवा दिया गया था। स्व० सर शिवाजीराव होलकर महाराज और उनकी महारानियाँ इन्हें बहुत मानती थीं। श्रीमन्त सवाई तुकोजीराव होलकर महाराज और सीनियर देवासके महाराज श्रीमन्त तुकोजीराव पवार भी इनके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। संवत् १९७५ में ये इस लोकसे सिधारे।

श्रीशिवाभिनव नृसिंह भारती स्वामी

संवत् १९१४ में इनका जन्म हुआ। ये जब ३ वर्षके थे तब इनके पिताका देहान्त हुआ। ये जब ९ वर्षके हुए तब श्रीशृंगेरीमठके उस समयके श्रीशंकराचार्यने इन्हें अपना उत्तराधिकारी बनानेका संकल्प करके इन्हें अपना शिष्य बनाया। ये जब २१ वर्षके हुए तब शृंगेरीमठके अधिपति हुए। ये महान् योगी और पण्डित थे। आदिशंकराचार्यकी जन्मभूमिके समीप इन्होंने सन् १९१० ई० में दो बड़े-बड़े देवालय बनवाये और सन् १९११ ई० में भारतीय संस्कृत विद्यालयके लिये एक बहुत बड़ा भवन बंगलूरमें बनवाया। ये धर्मोपदेश करते हुए सर्वत्र संचार करते थे। संवत् १९६८ में ये समाधिस्थ हुए।

श्रीसच्चिदाश्रम

सावन्तवाडीके समीप आरोसी ग्राममें ये रहते थे। अच्छे लिखे-पढ़े विद्वान् थे। इनके एक पैरके अँगूठेमें अंकुर निकला और उससे बड़ी पीड़ा होने लगी। इससे ये संसारसे दु:खी होकर काशी-यात्राके लिये चल पड़े। रास्तेमें लोणार स्थानमें लोगोंने वहाँकी भोगावती नदीका माहात्म्य बताया। उसे सुनकर ये वहाँ एक महीना रहे। यहाँ नित्य नियमपूर्वक त्रिकाल तीर्थस्नान किया करते थे। इससे अँगूठेका अंकुर नष्ट हो गया और इनकी पीड़ा दूर हुई। तबसे भोगावती-तीर्थपर इनकी ऐसी श्रद्धा जमी कि ये वहीं रह गये। और भगवान्में चित्त लगाकर मस्त हो गये। संवत् १९६१ में इनका देहावसान हुआ।

श्रीसच्चिदानन्द सरस्वती

(भावनगर)

श्रीसच्चिदानन्द सरस्वती पूर्वाश्रममें भावनगर राज्यके प्रधान मन्त्री थे। पूर्वाश्रममें इनका नाम गौरीशंकर उदय-शंकर सी० एस० आई० था। सांसारिक कर्मोंसे निवृत्त होकर इन्होंने संन्यासाश्रम ग्रहण किया। ये बड़े उदार पुरुष थे। सदा दान किया करते थे।

श्रीसंतराम दादा

अक्कलकोटके श्रीसंतराम दादा श्रीमाणिक प्रभु महाराजके शिष्य थे। संवत् १८७८ में इनका जन्म हुआ। गृहस्थाश्रममें रहते हुए ही इन्होंने परमार्थमें महदधिकार प्राप्त किया था। इनकी वृत्तिमें पराशान्ति स्थिर हो चुकी थी और इन्हें आत्मसाक्षात्कार हुआ था। सन् १९०८ में ये जब बम्बई आये थे तब बाँद्राके स्व० तुकाराम तात्याके यहाँ ठहरे थे। श्रीसंतराम दादाकी इच्छाके अनुसार श्रीवाग्देव महाराजने उन्हें उनके स्थानमें जाकर दर्शन दिये और इनके मस्तकपर अपना वरद हस्त रखा। संवत् १९६७ में नवासी वर्षकी अवस्थामें ये परलोक सिधारे।

श्रीहुर्गित महाराज

मालवण स्थानमें एक पीपलके वृक्षके नीचे ये महात्मा बैठा करते थे। जब इच्छा होती, शहरमें चले जाते और जो कुछ मिल जाता सब एक बर्तनमें डालकर

इकट्ठा ही पका लेते और बच्चे, कुत्ते और मुर्गे-मुर्गियोंको इकट्ठा करके और उन्हींके बीच आप बैठकर सबको परोस-परोसकर खिलाते थे और इच्छा होती तो कुछ आप भी खा लेते थे। कुछ कालतक बाबाजी श्रीवझे वकील, बाबा डांगी और श्रीसामन्त इन लोगोंके आग्रहसे बारी-बारीसे इन लोगोंके घर भी रहे थे। यहाँ भी अनेक बालोचित लीलाएँ करते थे। संवत् १९६८ में इन्होंने शरीर छोड़ा।

श्रीढाकूबाबा

रत्नागिरीकी ओर किसी गाँवके रहनेवाले थे। बम्बईमें रास्तेपर कंकड़ बिछाकर कूटनेका काम करनेवाले मजदूरोंके सरदार थे। बड़े कर्तव्यदक्ष थे। इनकी सुन्दरी स्त्री और माल-मत्ता कोई उड़ा ले गया, तबसे ये संसारसे विरक्त हो गये और इन्होंने नौकरी छोड़ दी। तबसे बम्बईके ठाकुरद्वारमें भाण्डारेके मुरलीधर-रामेश्वर देवालयमें रहने लगे। मन्दिरके एक कोनेमें पड़े रहते थे। नित्य सभामण्डप झाड़-बुहारकर साफ रखते और इस रूपसे भगवान्‌की सेवा करते थे। कुछ काल बाद श्रीरामेश्वर भगवान्‌का इन्हें साक्षात्कार हुआ। पीछे इनकी वृत्ति बालोन्मत्त पिशाचवत् हो गयी थी। अन्तरमें ब्रह्मस्वरूप थे पर बाह्यवेशसे पागल ही मालूम होते थे। लोग उन्हें पागलराम कहकर पुकारते थे और उनसे अपना चाहे जो काम भी करा लेते थे, ये भी बड़ी खुशीसे चाहे जिसका चाहे जो काम कर देते थे। श्रीवाग्देव महाराजका इनसे बड़ा स्नेह था। प्राय: इन्हें मेवा-मिठाई खिलाया करते थे और अपने शिष्योंसे इनकी सेवा कराया करते थे। पीछे श्रीवाग्देव महाराजकी आज्ञासे ही अन्नपूर्णाबाई नामकी एक ब्राह्मण स्त्री इन्हें अपने घर ले गयी और इनकी सेवा करने लगी। इनके सिरकी जूँ बाईने निकालनी चाहीं पर इन्होंने मना कर दिया, कहा कि इन सबको जरा भी मत छेड़ो, इस बातके तीसरे ही दिन मस्तकसे सब जूँ न जाने कैसे साफ हो गयीं, एक भी न रही। इनके पास रहनेवाले भक्त इनके जीवनमें अनेक प्रकारके चमत्कार देखा करते थे। संवत् १९८१ में इन्हीं अन्नपूर्णाबाईके घर रहते हुए इनका देहावसान हुआ।

श्रीमोहन स्वामी महाराज

कुम्भकोणम्‌में एक जगह ये दिगम्बर महात्मा अजगरवृत्तिसे पड़े थे। गौर वर्ण था, युवा अवस्था थी। एक दिन एक वेश्याने इन्हें देखा। वह इन्हें अपने घर ले गयी। इन्हें नहलाना, कपड़े पहनाना, खिलाना इत्यादि प्रकारसे वह इनकी सेवा करने लगी। पर इन्हें कभी अपनी देहका भान नहीं हुआ, उसी अजगरवृत्तिसे ही पड़े रहते थे। झुण्ड-के-झुण्ड लोग इनके दर्शनोंके लिये उस वेश्याके घर पहुँचने लगे, एक बार इन्होंने एक आदमीकी ओर एकाग्र दृष्टिसे देखा और उसने भी इनकी ओर एकाग्र दृष्टिसे देखा; बस, उसी क्षण उस आदमीकी वृत्ति पलट गयी और वह दिगम्बर बन गया। मोहन स्वामी तो अब इस लोकमें नही हैं पर उनके ये दृष्टिमात्र दीक्षासे बने हुए दिगम्बर शिष्य उनके स्मारक-स्वरूप हैं। कुम्भकोणम्‌में इनकी बड़ी प्रसिद्धि है।

—के० भ० चुडेकर

श्रीसीताराम महाराज

श्रीसीताराम महाराज सुप्रसिद्ध श्रीवासुदेवानन्द सरस्वती महाराजके कनिष्ठ बन्धु थे। बालब्रह्मचारी और अधिकारी सत्पुरुष थे। वेदान्त और भक्ति-विषयमें इनके अनेक काव्य हैं। हुशंगाबादमें नर्मदा नदीके खरा घाटपर इन्होंने अपना शरीर विसर्जन किया। वहीं इनकी समाधि बनी है।

श्रीकृष्ण कदम

इनके पिताके जो प्रथम पुत्र हुआ उसे उन्होंने किसीके गोद दे दिया। पीछे उन्हें इसका बड़ा पश्चात्ताप हुआ। एक दिन भगवान् श्रीरामचन्द्रने स्वप्नमें इन्हें दर्शन देकर इनके हाथपर एक पेड़ा रक्खा। ये जब जागे तब इनके हाथपर वह पेड़ा मौजूद था। उसी श्रीरामप्रसादसे संवत् १८९७ में श्रीकृष्ण कदमका जन्म हुआ। बचपनसे भगवान्‌के चरणोंमें इनकी बड़ी प्रीति थी। औंधके चीफके यहाँ ये २५ वर्ष नौकर रहे, महाराज इन्हें पुत्रवत् प्यार करते थे। इनके दो पुत्र और चार कन्याएँ हुईं। एक बार श्रीएकनाथ महाराजने स्वप्नमें इन्हें बालरूपमें दर्शन दिया और इनसे कविता करनेको कहा। तबसे ये कविता करने लगे। इनकी कविता बड़ी प्रासादिक होती थी। इनके रचित छोटे-बड़े १९ वेदान्तग्रन्थ हैं। इनके गुरु श्रीजंगली बुवा थे जिनकी समाधि पूनेके समीप बांबुर्डे स्थानमें है।

श्रीविष्णु महाराज सोमण

श्रीविष्णु महाराज सोमण वेंगुर्ला स्थानके वासी थे। गोमंतकके सुप्रसिद्ध महात्मा श्रीकृष्ण महाराज बांदकर इन्हींके शिष्य थे। श्रीसोमण महाराज परम

श्रीमारूतिभक्त थे। वेंगुर्लामें इनका बनवाया श्रीहनुमान्‌जी का मन्दिर है जहाँ ये श्रीहनुमज्जयन्ती आदि उत्सव किया करते थे। उनके भक्त आज भी उन उत्सवोंको करते हैं। इनका 'लघु आत्ममथन' नामक वेदान्तविषयक अत्युत्तम ग्रन्थ है पर वह अभी अप्रकाशित है। ये प्राय: गोमंतक-डोमरीमें आकर अपने शिष्य श्रीबांदकर महाराजके यहाँ रहते थे और उनका घर झाड़-बुहारकर साफ रखते और मिट्टीसे दीवार भी लीपा करते थे। किसीके कुछ कहनेपर कहते कि यह रामचन्द्रजीका स्थान है, यह अयोध्या बनकर संतोंका निवासस्थान बननेवाला है। संवत् १९२८ में श्रीसोमण महाराज इस लोकसे विदा हुए।

पुनः क्षमाप्रार्थना

संत-अंकका तीसरा खण्ड समाप्त होनेपर भी संतोंके चुने हुए और बहुत छोटे किये हुए कुछ जीवनपरिचय तथा कुछ लेख बच गये। इसलिये उन्हें प्रथम खण्डके साथ—तृतीय खण्डके बादकी पृष्ठ-संख्या देकर प्रकाशित किया जा रहा है। ऐसा करनेपर अब कुल मिलाकर ८७२ पृष्ठ हो गये हैं, जो पहलेके अनुमानसे कहीं अधिक हैं। ऐसा करनेमें कागज, छपाईके अतिरिक्त डाकखर्च भी दो पैसे प्रति अंक बढ़ गया है। इतना करनेपर भी अनेकों लेख और अनेकों जीवनियाँ आयी हुई रह गयी हैं, और अनेकों प्रसिद्ध महात्मा-संतोंका परिचय जो इस अंकमें मैं देना चाहता था, नहीं आ सका है, और जिनके परिचय छपे हैं, उनमेंसे भी कई संत ऐसे हैं जिनका जीवनपरिचय विस्तारसे छापनेकी इच्छा थी परन्तु जो बहुत ही संक्षेपमें छपे हैं। मुझे इस बातका बड़ा खेद है परन्तु परिस्थिति समझकर, आशा है, सहृदय सज्जन कृपापूर्वक क्षमा करेंगे।

अपनी समझसे, जहाँतक हो सका है, सावधानी रखी गयी है कि किसी भी महात्माके नाम, ग्राम, गुरु, सम्प्रदाय, जन्म या निधनतिथिमें भूल न हो, परन्तु मेरा अनुमान है कि लेखकोंकी, हमारे सम्पादकीय स्टाफकी और छपाई-विभागकी गलतीसे ऐसी भूलें जरूर रही होंगी। जहाँ कहीं ऐसी भूल हो, उसके लिये यही समझना चाहिये कि भूल भूलसे ही हुई है, और कोई भी कारण नहीं है। दूसरा संस्करण यदि प्रकाशित हुआ तो, लिखनेपर, उसमें भूल सुधारी जा सकती है। जो महाशय कृपा करके ऐसी भूलोंके लिये लिखेंगे, उनका मैं कृतज्ञ होऊँगा। अनजानमें हुई ऐसी भूलोंके लिये सब महानुभाव क्षमा तो करेंगे ही!

'संत' शब्दसे लोग प्राय: गृहत्यागी संन्यासी ही समझते हैं, इसलिये अधिकांश जीवन परिचय गृहत्यागी पुरुषोंके ही आये हैं। गृहस्थ संतोंके बहुत ही कम आये हैं। परन्तु संत तो संन्यासी और गृहस्थ दोनोंमें ही हुए हैं और हो सकते हैं। वस्तुत: संतपन तो हृदयमें है, न कि बाहरी वेश या उपदेशमें। जिस उपदेशके पीछे वैसी ही क्रिया होती है, वही उपदेश सार्थक है, बल्कि संत-साधनामें तो करनीपर ही जोर है, कोरी कथनीकी तो वहाँ कोई कथा ही नहीं। जहाँ कुछ कथनी है, वहाँ वैसी करनी पहले है। नहीं तो वह संत ही नहीं है और ऐसे सच्चे संत सभी वर्णोंमें और सभी आश्रमोंमें होते आये हैं। अवश्य ही उनकी संख्या थोड़ी ही होती है।

कुछ सज्जनोंका ऐसा अनुरोध था कि इस अंकमें हिन्दू-सनातनधर्मावलम्बी केवल भारतीय संतोंका ही परिचय रहे, भिन्नदेशीय और भिन्नधर्मी किसीका नहीं। और कुछ महानुभाव चाहते थे कि भारतीय संतोंका परिचय तो बहुत जगह छपता ही है, इस अंकमें उदारताके साथ केवल अन्यदेशीय और अन्यधर्मी संतोंको ही विशेष स्थान दिया जाय। मेरी समझसे संत किसीभी देश और मतसे बँधे नहीं होते। वे परमात्मधर्मी होते हैं। परमात्माका धर्म ही सनातनधर्म है। वस्तुत: वह धर्म सनातन एक ही है, और सब तो मत हैं जो समयानुसार उस एक ही महान् अनादि सनातनधर्मरूपी महान् अमर वृक्षकी ऊँची-नीची, परस्पर सुलझी हुई और उलझी हुई शाखाएँ हैं। इनमें जो शाखा इस सनातन वृक्षके मूलरूपको बनाये रखनेमें सहायक होती है उसकी रक्षा होती है और जो मूलरूपकी रक्षामें बाधक होती है, वह नहीं रहने दी जाती। इसीलिये भगवान्‌का अवतार और भगवत्-प्रेरणानुसार संतोंके कार्य और आदेश होते हैं। सनातनधर्म सदासे है, सदा रहेगा; इसीलिये तो इसका नाम सनातन है। मूलमें इसका कोई विरोधी नहीं है क्योंकि वहाँ यह एक ही है। इस एक अनादि अनन्त सनातनधर्मकी रक्षाके और सेवाके हेतु जो भगवान्‌के प्रेमीजन संसारमें अवतीर्ण होकर भगवत्प्रेरणानुसार नाना प्रकारके कार्य (परस्परविरोधी दीखनेवाले-से भी)

करते हैं, वे ही संत हैं। ये अलग-अलग-से दीखनेपर भी सब एकहीके आदेशका पालन करने-करानेके लिये चेष्टा करते हैं। इसलिये किसी भी मतविशेषको लेकर संतोंका निर्वाचन करना उचित नहीं। समस्त जगत्को आत्मा या परमात्मा माननेवाला हिन्दू-धर्म—जिसके सिद्धान्त अनादि सनातनधर्मके ही हैं—तो ऐसी महान् विभूतियोंका भण्डार ही है। इस मनोहर बगीचेमें ऐसे-ऐसे अलौकिक और सुन्दर फूल खिले हैं जिनकी अमर-मधुर सुगन्ध सारे विश्वके मन:प्राणको प्रफुल्लित और आत्माको पवित्र कर चुकी है और करती रहेगी। उनके प्रत्यक्ष परिचयकी बात तो अलग रही, उनके नाम-स्मरणसे ही हमारे पाप काँप उठते हैं। और हम अपने अंदर एक विचित्र अपूर्व पवित्रताका अनुभव करते हैं। परन्तु उनके साथ ही संतदृष्टिसे यदि उन्हींके सजातीय और सधर्मीय अन्यमतावलम्बी संतोंका वर्णन कुछ भी नहीं किया जाय, तो सम्भव है ऐसा करना सभी संतोंका अपमान करना होगा। इसी दृष्टिसे सभी जातियों और सभी मतोंके संतोंका कुछ-कुछ वर्णन इसमें आया है। मतलब संतसे है, वह किस देश और किस मतका है, और उस देश और मतसे इस समय हमारा क्या सम्बन्ध है, यह जाननेकी आवश्यकता नहीं है। देश और धर्मके नाते, परमात्माकी सेवाके या धर्मकी सेवाके भावसे, इस समयकी परिस्थितिमें हमारा परस्पर विरोध भी हो सकता है, परन्तु उस विरोधके प्रदर्शनका क्षेत्र दूसरा है, संतगुणगानका क्षेत्र तो सभीके गुण-प्रदर्शनका ही क्षेत्र है। इस परिस्थितिको समझकर, हमने अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार जो कुछ किया है, उसकी त्रुटियोंकी ओर खयाल न करके सभी विचारोंके महानुभाव हमें क्षमा करें और ऐसा आशीर्वाद दें, जिसमें आइन्दे हमलोगोंसे त्रुटियाँ कम हों। हमें अपनी त्रुटियोंका भान तो है ही, हजारों त्रुटियाँ हैं। जो महानुभाव और बतावेंगे, उनकी बड़ी कृपा होगी।

मेरी दृष्टि तो इस अंकके सम्पादनमें विशेषरूपसे एक ही बातकी ओर रही है, वह यह कि किसी भी संतका तिरस्कार मुझसे न हो जाय। इसीलिये थोड़ा-थोड़ा करके अधिक-से-अधिक संतोंकी सेवा करनेका प्रयत्न किया गया है। सम्भव है ऐसी सेवा करनेके प्रयत्नमें मैंने प्रमादवश विशेष सत्कारके योग्य महापुरुषका महत्त्व कहीं घटा दिया हो। पर यदि ऐसा कहीं हुआ है तो वह भूलसे ही हुआ है। इससे आशा है, क्षमाशील संत तो क्षमा करते ही हैं, संतोंके भक्त और अनुयायी महानुभाव भी क्षमा करेंगे।

बहुत-से संतों और भक्तोंकी जीवनियाँ, जो कल्याणके पिछले अंकोंमें आयी हैं, इस अंकमें बिलकुल ही नहीं दी गयी हैं, और कुछकी बहुत संक्षेप दी है। इसी उद्देश्यसे ऐसा किया है कि नये संतोंकी जीवनियाँ पाठकोंको अधिक पढ़नेको मिलें। दूसरा कोई भी हेतु नहीं है, महानुभाव क्षमा करें।

इसी प्रकार चित्रोंके छापनेमें भी स्थानके खयालसे कई महात्माओंके चित्र एक ही कागजपर छापे गये हैं। इसमें भी आगे-पीछे और ऊपर-नीचेकी दृष्टि नहीं करनी चाहिये और मुझपर क्षमा करनी चाहिये।

इस अंकके सम्पादनमें जिन अनेकों महानुभावोंसे मुझे सहायता मिली है, उन सबका नाम न छापनेपर भी मैं उन सबका हृदयसे कृतज्ञ हूँ। संतोंके जीवनपरिचयोंका और चित्रोंका संकलन करनेमें हमने अनेकों ग्रन्थोंसे प्रचुररूपमें सहायता ली है, उन सभी ग्रन्थकारोंके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं।

इन संतोंकी जीवनियोंमें प्रसंगवश अन्यान्य भी सैकड़ों संत-महात्माओंके नाम आ गये हैं। यह बड़ी अच्छी बात हुई है।

अंकके गुण-दोष तो आप जानें। मेरा तो इतना ही सौभाग्य है कि इस अंकके सम्पादनमें हजारों संतोंके नाम और गुणोंको पढ़ने-सुननेका सुअवसर मुझे मिला है और उनकी तथा उनके प्यारे भगवान्‌की चर्चामें बहुत-सा समय बीता है। संतोंके इस महान् सत्संगसे मेरा तो कल्याण होगा ही।

इसमें जो अच्छापन है वह भगवान्‌की कृपा और संतकृपाका, और इस भगवत्कृपा और संतकृपासे ही प्राप्त आदरणीय लेखकों, हितचिन्तकों, सम्पादकीय स्टाफके मेरे सम्मान्य मित्रों, तथा प्रेसके कर्तव्यशील कर्मचारियोंकी कृपाका फल है। और बुराई तथा त्रुटियोंका जिम्मेवार तो सर्वथा मैं अकेला ही हूँ। आप सब महानुभाव मुझे कृपा करके ऐसा आशीर्वाद दें जिसमें मेरा चित्त श्रीभगवान्‌में लगे और सच्चे संतोंकी चरणरजका मैं अधिकारी बनूँ।

सब मिलि कृपा करहु इहि भाँती।
सब तजि भजौं राम दिन राती॥

(संतोंका दास, हनुमानप्रसाद पोद्दार)

संत देवजान सकलवी

(प्रे०—साहित्यालंकार श्रीनागेन्द्रनाथजी शर्मा)

सिकन्दरके जमानेमें यूनान देशमें देवजान सकलवी नामक एक हकीम हुए हैं, ये बड़े विरक्त और वैराग्यवान् थे, ये जन्मभर ब्रह्मचारी रहे। इन्होंने अपने रहनेके लिये कोई मकानतक नहीं बनवाया था; ये हमेशा एक जगह नहीं रहते थे। कभी जंगलमें, कभी मैदानमें, कभी नदी-किनारे, कभी दरख्तके नीचे! और बिना अपने मतलबके किसीसे बोलते-चालते भी न थे। जब इनको भूख लगती थी तब किसी-न-किसीसे माँगकर खा लेते थे। अमीरके उत्तम भोजन और गरीबकी सूखी रोटीको बराबर ही समझते थे, सिर्फ पेट भरनेसे इनका मतलब था। स्वादसे इन्हें कुछ काम न था, हमेशा नग्न रहते थे, लंगोटीतक नहीं बाँधते थे। किसीने इनसे कहा, 'तुम कपड़ा पहनकर अपने धर्मको क्यों नहीं ढाँपते हो?' इन्होंने कहा 'जिसमें कोई ऐब होता है वह अपने ऐबको छिपाता है, जिसमें ऐब न हो वह क्या छिपावे?' वह आदमी इस जवाबको सुनकर चला गया। यह हकीम रोज एक नानबाई (तंदूरवाले)-की दूकानपर रोटी माँगकर खाते थे, उस नानबाईके यहाँ रोटी खाते जब कई दिन गुजर गये तब एक दिन उसने इनसे कहा—'तुम रोज ही रोटी खानेको आ जाते हो?' इन्होंने कहा—'तू रोज ही रोटी पकाता है और हमको रोज ही भूख लगती है, तब खायें नहीं तो क्या करें?' नानबाई हँस पड़ा परन्तु उसी दिनसे इन्होंने उसकी दूकानपर जाना छोड़ दिया। इधर-उधरसे माँगकर पेट भर लेते। नानबाईने फिर इनकी बहुत खुशामद की, पर ये उसकी दूकानपर नहीं गये। एक दिन एक आदमीने इनसे कहा—'तुम अपना घर क्यों नहीं बनाते?' इन्होंने कहा—'घरको वह बनावे जिसका घर गिरा हो, या जिसका अपना घर न हो, परलोककी तरफसे सच्चे घर लोगोंके गिरे हुए हैं, इसलिये वह झूठे घरोंको बनाते हैं, हमारा घर ऐसा है जो कभी भी गिरनेवाला नहीं है, फिर हम बने हुएको क्या बनावें, दूसरे हमारा घर तमाम दुनिया है जिसमें आकर करोड़ों आदमी आराम पाते हैं। जब हमारा इतना बड़ा घर है तब हम और घर क्या बनावें। हमारा घर इतना बड़ा है कि तमाम जमीन जिसका आँगन-सहन है, आसमान जिसकी छत है, ऐसा कभी भी आदमीसे नहीं बन सकता है।' एक दिन किसीने इनसे पूछा, 'तुम्हारा मजहब क्या है?' इन्होंने कहा—'खुदाका जो मजहब है वही हमारा भी है।' उसने कहा 'खुदा तो लामजहब हैं।' इन्होंने कहा 'तो हम भी लामजहब हैं।' उसने कहा 'क्या तुम खुदाके शरीर हो?' इन्होंने कहा 'शरीर नहीं हैं बल्कि खुद ही खुदा हैं।'

एक दिन एक जंगलमें ये लंबे पड़े थे कि इतनेमें सिकन्दरने आकर इनको लात मारकर कहा 'उठो जल्दी, हमने एक मुल्क फतह किया है।' तब लंबे पड़े-पड़े ही इन्होंने कहा—'मुल्कका फतह करना तो बादशाहोंका काम ही है, मगर लात मारना गधोंका काम है।' यह सुनकर सिकन्दरने कहा कि 'इतनी बेपरवाही तुमको कहाँ मिली?' कहा—'सब्र करने और ख्वाहिशोंके छोड़नेसे।' एक दिन किसी आदमीने पूछा कि — 'दुनियामें कोई तुम्हारा सम्बन्धी भी है कि नहीं?' इन्होंने कहा—'तमाम दुनियाके लोग अपने मतलबके सम्बन्धी हैं, इसलिये मैं किसीको अपना सम्बन्धी नहीं बनाता हूँ।' तब उसने कहा—'जब तुम मरोगे तब तुमको दफन कौन करेगा?' इन्होंने कहा—'जिसको हमारे मुर्देकी सड़ी गन्ध आवेगी वही दफन करेगा, इसका हमको क्या फिकर है।' एकने पूछा कि 'आपको लोग कलबी क्यों कहते हैं? तब कहा—'कुत्ता जब दोस्तको देखता है तब उसकी कदमबोसी करता है और जब अपने दुश्मनको देखता है तब उसको तंग करता है, सो मुझमें कुत्तेकी आदतें हैं इसलिये लोगोंने मेरा नाम कलबी रक्खा है।' किसीने पूछा 'कैदखाना क्या है?' कहा—'बदनकी बीमारी, गम (शोक) और गुस्सा रूह (आत्मा)-का कैदखाना है।' इस तरह त्याग-वैराग्यके इनके अनेक उपदेश थे। ७० वर्षकी अवस्थामें इन्होंने इस संसारका त्याग किया था।

राजा राममोहनराय

बंगालके कृष्णनगरके समीप राधानगरमें वहाँके सुप्रसिद्ध रायवंशमें राजा राममोहनरायका जन्म ईस्वी सन् १७७४ में हुआ। आपके पिता रामकान्तराय एक सुप्रतिष्ठित कुलीन ब्राह्मण थे। राजा राममोहनरायकी माता तारणी देवी ऐसी धर्मात्मा, दयालु स्वभाव, कोमलचित्त, सुशीला और मृदुभाषिणी थीं कि सभी लोग उन्हें फूलठकुरानी कहकर पुकारते थे। राजाजीके माता-पिता वैष्णवसम्प्रदायके अनुयायी थे। अपने गृहदेवता श्रीराधा-गोविन्दके आप बड़े भक्त थे। आप मूर्तिमान् सौन्दर्य थे। डील-डौल अच्छा और मुखमण्डल तेजोमय था।

आरम्भमें अरबी-फारसीकी शिक्षाके लिये आप पटनेमें तीन वर्ष रहे। फारसीमें सूफी कवियोंकी कविताएँ आपको विशेष पसंद आयीं। हाफिज मौलाना रूमकी बहुत-सी कविताएँ बचपनमें ही आपने कण्ठस्थ कर लीं। इसके अनन्तर संस्कृतकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये आप काशी भेजे गये। वहाँ चार वर्षतक बड़े ही मनोयोगसे आपने संस्कृतका अनुशीलन किया और आपकी विशेष प्रवृत्ति उपनिषदोंकी ओर हुई। 'एक ब्रह्म' की उपासना आपके चित्तमें बैठ गयी।

अब मन वैष्णवसम्प्रदायकी ओरसे फिर गया। माता-पिताके लिये यह बात असह्य थी। अतएव घरसे निकलकर आपने भारतके भिन्न-भिन्न प्रदेशोंमें भ्रमण किया और आप बौद्धधर्मका तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये तिब्बत गये। वहाँके लोग आपके घोर विरोधी बन बैठे परन्तु स्त्रियोंने आपके मतका समर्थन तथा प्रचार किया। फलस्वरूप आप मृत्युपर्यन्त स्त्री-जातिके सच्चे हितैषी बने रहे।

स्नेहकातर पितासे पुत्रका यह प्रवास सहा नहीं गया। वे इन्हें तिब्बतसे लौटा लाये। परन्तु राजाजीकी विचारशैलीमें इस व्यवहारसे कोई अन्तर नहीं पड़ा। स्वतन्त्र जीवनयापनके विचारसे आपने कचहरीमें नौकरी कर ली परन्तु वहाँ भी आपका चित्त नहीं लगा और त्यागपत्र देना पड़ा। न वह दुःख-कष्टोंसे डरे न विरोधसे घबड़ाये। ब्रह्मज्ञानके प्रचारके लिये आपने बंगला भाषामें वेदान्तसूत्रकी व्याख्या लिखकर छपायी। बड़े उत्साहसे अपने सिद्धान्तोंका आप प्रचार करते रहे। आपने अपने विचारोंके प्रचारके लिये कलकत्तेमें आत्मीय सभा स्थापित की। इसके बाद 'ईसाके आदेश' एक छोटी-सी पुस्तक रची। इससे ईसाई समाजमें खलबली-सी मच गयी। सन् १८२८ के अगस्तमें राजाजीने ब्राह्मसमाजकी स्थापना की।

ब्राह्मसमाजकी स्थापनाका मुख्य उद्देश्य एक अद्वितीय ब्रह्मकी उपासनाका प्रचार करना था। स्त्री-शिक्षाके प्रचारका आन्दोलन भी आपने बड़े ढंगसे किया। इसके अतिरिक्त आपने कन्याविक्रय, कन्याहत्या तथा बालविवाहकी निन्दनीय प्रथाओंका घोर विरोध किया। संक्षेपमें राजाजीने जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सुधारका बीज बोया और बड़े उत्साह, धैर्य और अध्यवसायके साथ उसे आगे बढ़ाया।

आप राजदूत होकर इंगलैण्ड गये। आपकी असाधारण योग्यता, अद्वितीय प्रतिभा, प्रगाढ़ पाण्डित्य, कार्य करनेकी निःसीम शक्ति, उदारता, शुद्धाचरण, वाक्पटुता, रचनाचातुर्य तथा युक्तिकौशल देखकर लोग दंग रह गये। वहीं सत्ताईस सितम्बर १८३३ ई० को आपने नश्वर देहका त्याग कर दिया।

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर

(लेखक—श्रीरघुनाथजी गुप्त)

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुरका जन्म कलकत्तेमें बंगालके सुप्रसिद्ध ठाकुरपरिवारमें सन् १८१७ ई० में हुआ। आपके पिताका नाम था द्वारकानाथ ठाकुर। देवेन्द्रका लालन-पालन बड़े ही आमोद-प्रमोदमें हुआ। राजा राममोहनरायका प्रभाव उन दिनों बंगालमें बढ़ रहा था और बालक देवेन्द्रको भी उपनिषद्की चाट लगी।

आपका चित्त वन-पर्वतोंमें ही विशेष रमने लगा और वहाँकी शोभा और श्रीने आपके हृदयमें घर कर लिया। उत्तराखण्डकी विशाल पर्वतमाला तथा वनराशि आपके जीवनकी संगिनी बनी रही। वहाँ आपको बड़ी शान्ति, आनन्द, तृप्ति और सुख मिला। जब अवसर मिलता आप पहाड़ोंमें निकल जाते और अपना अधिक-से-अधिक समय वहीं व्यतीत करते। वे कभी-कभी रवि बाबूको भी इन यात्राओंमें साथ ले जाते थे। इनका समग्र जीवन प्रभुकी दिव्य सत्तासे ओत-प्रोत होने लगा और ये अपने भीतर प्रभुके आवाहनको बराबर सुना करते। वृत्तियाँ भगवदुन्मुखी तो थीं ही, साथ ही परम प्यारी दादीकी मृत्युसे आपका चित्त सर्वथा पलट गया। धनके प्रति मनमें एक गहरी घृणा उत्पन्न हुई, जगत्के

वैभवोंसे आँखें फिर गयीं। जगत्‌का सब कुछ निस्सार प्रतीत होने लगा। सांसारिक सुखोंकी इच्छा छोड़कर केवल ईश्वर-अनुसंधानमें आप लगे। आपकी एकमात्र प्रार्थना थी—'**तमसो मा ज्योतिर्गमय**'। गंगाकिनारेके अपने बगीचेमें एकान्तवास करते और प्रभुकी पुकारमें ही एक-एक श्वास लगाते। पुष्पोंसे प्रीति जोड़ी और तितलियोंसे यारी! आपको प्रतिपल भगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त होता रहा और जीवनमें वास्तविक आनन्दकी सच्ची अनुभूति हुई। आप सच्चे रहस्यवादी संत थे।

अपनी स्त्री, पुत्र और पुत्रीकी मृत्युको इन्होंने प्रभुके वरदानरूपमें स्वीकार किया। अपना सारा जीवन श्रीप्रभुके चरणोंमें आपने पूर्णतः निवेदित कर दिया और आप स्वयं प्रभुमय हो गये। गायत्री-जपका आपका बहुत ही सुन्दर अभ्यास था। कहते हैं, गायत्री जप करते ही आपने प्रभुचरणोंमें अपने प्राणोंको विसर्जित किया।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

१८२० ई० के आश्विन कृष्ण मंगलवारके दिन मेदनीपुर जिलेके वीरसिंह नामक ग्राममें दयामूर्ति ईश्वरचन्द्रका जन्म हुआ। इनके पिताका नाम था ठाकुरदास वन्द्योपाध्याय। थोड़े ही दिनमें ईश्वरचन्द्रने व्याकरण, साहित्य, वेदान्त, स्मृति और न्यायका विधिवत् सम्यक् रूपसे अनुशीलन किया और संस्कृत कालेजसे इन्हें 'विद्यासागर' की उपाधि मिली। आपकी ख्याति क्रमशः बढ़ने लगी और सन् १८५० में इन्हें संस्कृत कालेजके साहित्याध्यापकका पद मिला और दूसरे ही वर्ष आप उसके प्रिंसपल हो गये। पीछे आप स्कूल-इंस्पेक्टर हो गये और आपने स्त्री-शिक्षामें विशेष अभिरुचि दिखलायी। पचास-साठ बालिका-विद्यालय खोल दिये और बड़े उत्साहसे चलाया। विद्यादान और दीन-सेवा आपके जीवनकी मुख्य वासना थी।

विद्यासागरकी परोपकारिता और दानशीलता इनके अमर यशकी स्तम्भशिला है। १८६५ के दारुण दुर्भिक्षमें आपने महीनों हजारों दरिद्र नर-नारियोंको अन्न और वस्त्र दिया। यह दानशीलता और परदुःखकातरता आपने अपनी मातासे सीखी थी। दीनकी दरिद्रता और विधवाका दुःख इनके लिये सर्वथा असह्य था। आप अमीर-गरीब सभीके भाई थे। गर्मियोंके दिनमें आप वैद्यनाथधामके पास कर्माटांडमें आकर रहते थे। वहाँके संथाल आपके उपकारोंके कारण आपको देवतासमान पूजते थे।

विद्यासागरका हृदय भक्तिमय था। माता-पिताको आप ईश्वरके समान मानते थे। माता-पिता ही इनके आराध्यदेव थे। माताके चरणोंमें आपकी अपार भक्ति थी। १९११ ई० की जुलाईमें आपका परलोकगमन हुआ।

केशवचन्द्र सेन

१८३८ ई० की १९ वीं नवम्बरको महामना केशवचन्द्रने कलकत्तेमें जन्म लिया। आपके पिताका नाम प्यारीमोहन था। आप बहुत सुश्री, प्रियदर्शन और प्रियंवद थे। बचपनसे धार्मिक मनोवृत्ति थी। निर्जनमें बैठकर धर्मचिन्तन किया करते थे। लगभग १८ वर्षकी अवस्थामें आपका विवाह तो हो गया परन्तु आपकी विरक्ति और धर्मजिज्ञासा प्रतिदिन बढ़ती ही गयी। पहले ईसाईधर्मकी ओर आप आकृष्ट हुए परन्तु उन्हें इससे समाधान नहीं हुआ। सन् १८५७ में आपने ब्राह्मधर्मकी दीक्षा ली और कुछ काल अनन्तर आप ब्राह्मसमाजके आचार्य बनाये गये तथा 'ब्रह्मानन्द' की उपाधि आपको मिली। ब्राह्मधर्मप्रचारके लिये आपने देश-विदेशमें खूब भ्रमण किया। आप जहाँ जाते, वहीं लोग आपकी वक्तृता सुनकर चकित हो जाते। आपनें इस कार्यमें कई पत्रोंकी प्रतिष्ठा की। आगे चलकर इन्होंने अपने धर्मका नाम 'नवविधान' रखा। विलायतसे लौटनेपर आप जितने दिन जिये, धर्मप्रचारका ही कार्य करते रहे। परमहंस रामकृष्णके प्रति आपकी बड़ी श्रद्धा थी। ये सभी धर्मोंका आदर करते थे। और सभीके सार-तत्त्वका अपने धर्ममें सन्निवेश करना चाहते थे। आप एक असाधारण पुरुष थे। ४६ वर्षकी अवस्थामें आपने अपनी मानव-लीला संवरण की।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

गुजरात प्रान्तके मोरवी राज्यके अन्तर्गत टंकारा नामक स्थानमें स्वामी दयानन्दका जन्म संवत् १८८१ वि० में हुआ था। बचपनमें आपका नाम मूलशंकर था। आपकी उपरतवृत्तिको देखकर पिता-माता बहुत खिन्न हुए और उन्होंने निश्चय कर लिया कि उनका विवाह करके गृहस्थाश्रमकी बेड़ियोंमें जकड़ देना उचित होगा। यह देख-सुनकर आप घरसे निकल भागे। अब

आप नैष्ठिक ब्रह्मचारी बन गये और नाम रखा गया शुद्ध चैतन्य। वहाँ भी पिताजीने पीछा किया परन्तु अवसर मिलते ही मूलशंकर संसारके सारे प्रलोभनोंपर लात मारकर परमात्माकी खोजमें निकल चले। कहीं दिन कटा, कहीं रात कटी। संसारके समस्त जंजालको परास्त करनेके लिये आपने संन्यासकी दीक्षा ली। अब आपका नाम 'शुद्ध चैतन्य' से 'स्वामी दयानन्द' हुआ।

संन्यासीका वेश लेकर सच्चे गुरुकी खोजमें आप भ्रमण करने लगे। हजारों कोस नंगे पाँव पर्वत, जंगल, खोह, खाईमें घूमते रहे। नंगा शरीर लहूलुहान हो गया। भयानक कष्टों और कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा। पता चला कि मथुरामें स्वामी विरजानन्दजी एक प्रज्ञाचक्षु संन्यासी हैं जो वेदोंके अद्वितीय ज्ञाता हैं। वहाँ पहुँचे। आज्ञा मिली कि जो पुस्तकें तुम्हारे पास हों उन्हें यमुनामें बहा दो। गुरुकी अत्यन्त निष्ठापूर्वक सेवामें आपने अपने शरीरको लगा दिया। प्राय: ढाई वर्ष गुरु विरजानन्दजीकी सेवामें आप रहे। वेदोंका प्रचार करनेकी प्रतिज्ञाकर आप कार्यक्षेत्रमें उतरे। उस समय आपकी आयु ३९ वर्षकी थी। हरिद्वारका प्रसिद्ध कुम्भमेला, जिनमें लाखोंकी भीड़ होती है, उसी समय था। बड़े-बड़े पण्डितोंसे आपका शास्त्रार्थ हुआ। वहाँसे आप काशी आये और वहाँ पण्डितोंको शास्त्रार्थके लिये चुनौती दी। काशीमें आपपर लोगोंने पत्थर बरसाये, गालियाँ दीं, क्या-क्या नहीं किया। परन्तु आप दृढ़ रहे। आपको धर्मभ्रष्ट करनेके लिये मथुरामें आपके पास वेश्या भेजी गयी, वह स्वामीजीको देखते ही भयसे काँपने लगी।

उन्हीं दिनों बंगालमें महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा केशवचन्द्र सेनसे आपकी भेंट हुई। वे लोग आपसे बहुत अधिक प्रभावित हुए। बंगालका दौरा समाप्तकर आप बम्बई आये और वहाँ आर्यसमाजकी स्थापना की। अब पंजाबकी बारी आयी। अमृतसरमें आपका व्याख्यान हो रहा था। क्षुब्ध लोगोंने आपपर ईंट-पत्थर फेंके। इसपर आपने कहा—जो लोग आज मुझपर पत्थर बरसा रहे हैं वे ही एक दिन मुझपर पुष्पोंकी वृष्टि करेंगे।

स्वामी दयानन्दके हृदयमें स्त्रीजातिके प्रति बड़ा ही आदर तथा श्रद्धाका भाव था। आप मातृशक्तिके बहुत बड़े उपासक थे। आपकी निर्भयता देखकर लोग दंग रह जाते थे। जो कुछ मनमें होता बेधड़क कह डालते। इनके विरोधियोंने, कहते हैं कि एक दिन इनके रसोइये जगन्नाथको फुसलाकर इन्हें विष दिला दिया। स्वामीजीको सब हाल मालूम हो गया। उसके प्राणरक्षार्थ रुपये देकर आपने उसे नैपाल भाग जानेको कहा। उसके प्रति आपके मनमें कोई द्वेष नहीं हुआ। तीव्र वेदना और असह्य कष्ट भोगनेके बाद ३० अक्टूबर १८८३ को दिवालीकी रात स्वामी दयानन्दजी परमात्माकी गोदमें चले गये। उनके अन्तिम वचन ये थे—हे दयामय! हे सर्वशक्तिमान्! तेरी यही इच्छा है! तेरी यह इच्छा पूर्ण हो। आह! तूने अच्छी लीला की। ओ३म्!!!

आपके कुछ उपदेश

१-ईश्वरको वही प्रिय है जिसको सत्य प्रिय है, जो सत्यका आचरण करता है। सत्य ही ज्ञानका सबसे बड़ा दर्जा है।

२-न्यायप्रियताको कभी हाथसे न जाने दो। किसीका अनुचित पक्षपात मत करो और न धर्मान्धताको अपने हृदयमें स्थान दो।

३-मनुष्यमात्रसे प्रेम करना चाहिये। प्रेम मनुष्यका जन्मसिद्ध धर्म है।

४-प्राणिमात्रपर दया दिखानी चाहिये।

५-स्त्रीजातिका आदर करना उचित है।

६-गौकी रक्षा और सेवा करनी चाहिये।

७-किसीका मन दु:खाना संसारमें सबसे महान् पाप है।

८-आत्मा नित्य और अविनाशी है। इसको कोई नहीं मार सकता।

९-अनाथों, विधवाओं तथा दीन-दु:खीजनोंकी सहायता और सामाजिक सुधार करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

१०-भारतवासियोंके लिये एक भाषा, एक ही वेष तथा एक ही प्रकारके भाव होने चाहिये।

११-आर्यभाषा (हिन्दी) ही भारतकी राष्ट्र भाषा है।

राधास्वामीमत और उसके आचार्य

(लेखक—पं० रमाकान्तजी मिश्र एम्० ए०)

इस मतके आचार्योंका उपदेश है कि जिज्ञासुओंको सर्वप्रथम एक ऐसे गुरुको ढूँढ़ना चाहिये जो आध्यात्मिक क्षेत्रमें सर्वोच्च गतिको प्राप्त कर चुके हों। यदि जिज्ञासु ऐसे महात्माओंके सत्संग एवं दीक्षाके बिना ही आध्यात्मिक मार्गपर चलता है तो उसे सफलता प्राप्त

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

केशवचन्द्र सेन

राजा राममोहन राय
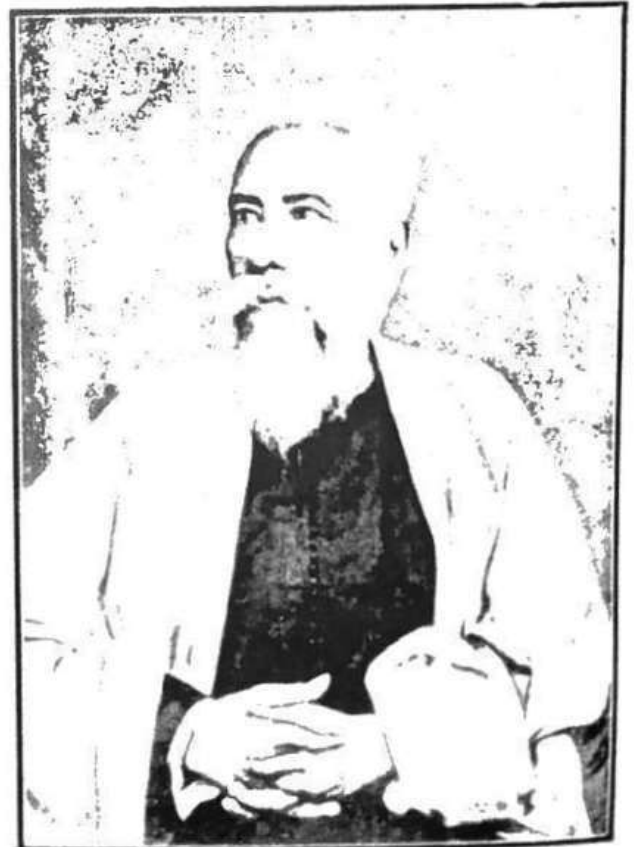
महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर

स्वामी श्रीदयानन्दजी सरस्वती

श्रीस्वामीजी महाराज

श्रीशालिग्रामजी साहेब

बुआजी साहिबा

नहीं हो सकती। न तो उसे वास्तविक मार्गका ही पता चलेगा और न वह मायाके बन्धनोंको काटनेमें ही समर्थ हो सकेगा। गुरुकी मुख्यताके कारण ही इस मतको गुरुमत भी कहते हैं। इस मतके अनुयायियोंको सुरत-शब्दयोगके अभ्यासका उपदेश दिया जाता है। सुरत-शब्दयोगको थोड़ेमें हम अन्तर्नाद-श्रवणयोग कह सकते हैं। इस योगका साधन एक विशेष आसनमें बैठकर किया जाता है। इसकी युक्ति जिज्ञासुओंको दीक्षाकालमें ही बतायी जाती है। इस मतमें प्राणायाम तथा हठयोगको स्थान नहीं दिया गया है। इस धर्मके आचार्योंका मूलमन्त्र 'राधसोआमी' है। इसीको आपलोगोंने आदिनाद बतलाया है। इस मतके अभ्यासीको मार्गमें ये सब शब्द सुनायी पड़ते हैं। निर्गुण सम्प्रदायके नामसे प्रसिद्ध होनेपर भी इस मतमें वर्तमान सद्गुरुके स्वरूपकी पूजा तथा उन्हींके स्वरूपका ध्यान किया जाता है। वस्तुतः यह मत न निर्गुणकी और न सगुणकी ही उपासना करता है। अपितु निर्गुण और सगुण दोनोंके परेकी ही उपासना करता है। संत अथवा राधास्वामीमतके प्रायः सभी संतोंने इस बातपर विशेष जोर दिया है।

इस मतमें चार मुख्य बातें हैं जिनको समझनेसे थोड़ेमें इस मतके सिद्धान्तका परिचय मिल जाता है। १—सतगुरु, २—सतनाम, ३—सतसंग और ४—अनुराग। १-सतगुरुसे अभिप्राय राधास्वामी दयालसे है। इस मतके आचार्य राधास्वामी दयालके अवतार माने जाते हैं। २—सतनाम राधास्वामी नामको कहते हैं। इसीको आदिनाद तथा रचनाकी जान माना जाता है। शब्द (अन्तर्नाद)-की महिमा इस मतमें अधिक-से-अधिक है। इसी दृष्टिसे इस मतको शब्दमार्ग भी कहा जाता है। यह मत सृष्टिकी उत्पत्ति शब्दसे ही मानता है। इसी हेतु ये लोग शब्दकी शक्तिसे बढ़कर सृष्टिमें अन्य शक्ति नहीं मानते और शब्दमार्गके अतिरिक्त मुक्ति प्राप्त करानेका अन्य साधन भी नहीं मानते। ३—सतसंग दो प्रकारका होता है—एक अन्तरी सतसंग और दूसरा बाहरी सतसंग। अन्तरी सतसंगमें 'सुमिरन', 'ध्यान' और 'भजन' (योगाभ्यास)-का अभ्यास किया जाता है तथा बाहरी सतसंगमें धार्मिक ग्रन्थोंका पाठ, उनका श्रवण, वर्तमान सतगुरुकी सेवा तथा सतसंगकी सेवा की जाती है। ४-अनुराग ही इस मतका प्राण है। अनुरागको प्रेम अथवा भक्ति भी कह सकते हैं। भक्तिके बारेमें इस मतके आदि आचार्यका कथन है—

भक्ति, इश्क, प्रेम ये तीनों,
नाम भेद है रूप समान।
भक्ति और भगवंत एक हैं,
प्रेमरूप तू सतगुरु जान॥

भक्तिकी कमाई अनुराग बिना असम्भव है; इसी हेतु अनुरागका इस मतमें इतना ऊँचा स्थान है। इस मतके आचार्योंका उपदेश किसी जाति, पन्थ अथवा देशविशेषके लिये ही नहीं है, किन्तु मनुष्यमात्रके लिये है और इस मतके संयमोंका पालन करते हुए कोई भी इस मतका दीक्षित अनुयायी बन सकता है।

अब संक्षेपमें इस मतके आचार्योंका परिचय दिया जाता है।

लाला शिवदयालसिंहजी साहेब
(स्वामीजी महाराज)

इस मतके आदि आचार्यका नाम लाला श्रीशिवदयालसिंह साहेब था। आपके अनुयायी आपको परम गुरु स्वामीजी महाराज कहकर सम्बोधित करते हैं। आपका जन्म आगरा शहरके पन्नीगली मुहल्लेमें भाद्र कृष्ण अष्टमी संवत् १८७५ वि० में रात्रिकाल साढ़े बारह बजे एक उच्च खत्रीकुलमें हुआ था। आपके जन्म धारण करनेके अवसरपर आपके घर हाथरसवाले सुप्रसिद्ध महात्मा संत तुलसी साहेब भी आ उपस्थित हो गये थे तथा आपने इस नवजात शिशुकी चरम आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्नता तथा उच्च गतिका संकेत भी किया था। आपने स्वामीजी महाराजकी मातासे कहा था, 'महारानीजी! तुम इनको पुत्रभाव करके मत समझना, यह कोई परम संतने तुम्हारे यहाँ आनकर अवतार लिया है।' आपके पिताका नाम लाला श्रीदिलवालीसिंह साहेब था जो नानकपन्थी थे। अपनी बाल्यावस्थामें ही स्वामीजी महाराजने उर्दू और फारसीकी अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। संस्कृतका भी आपको साधारण ज्ञान था। छः-सात वर्षकी अवस्थासे ही आप मुख्य-मुख्य लोगोंको उच्च कोटिके परमार्थकी शिक्षा देने लगे थे। आध्यात्मिक क्षेत्रमें आपका कोई गुरु नहीं था और न तो आपने किसीसे दीक्षा ही ली थी, अपितु स्वयं ही अपने माता-पिता तथा अन्य आगन्तुक साधु एवं जिज्ञासुओं को आप पारमार्थिक उपदेश दिया करते थे। लगभग पन्द्रह वर्षकी अवस्थातक आप अपने मकानके एक प्रकोष्ठमें,

जो एक दूसरे प्रकोष्ठके भीतर था, बैठकर सुरत-शब्दयोगका अभ्यास करते रहे और इस बीच बहुधा दो-दो, तीन-तीन दिनोंतक आप उसके बाहर भी नहीं निकलते थे और न इस अवकाशमें आपको अपने मल-मूत्र त्यागकी आवश्यकता ही पड़ती थी। आपने अपने जीवननिर्वाहके निमित्त अध्यापनका ही कार्य किया। आपका सम्पूर्ण जीवन आगरामें ही व्यतीत हुआ। आप गृहस्थाश्रममें थे। आपकी धर्मपत्नीको आपके अनुयायी 'राधाजी' कहकर सम्बोधित करते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्रमें आपकी भी गति बहुत ऊँची थी। स्वामीजी महाराजके कोई सन्तान नहीं थी। सं० १९१७ वि० की वसन्तपंचमीसे आपने प्रकट रूपसे सतसंगका कार्य आरम्भ किया। और अपने घरपर ही जिज्ञासुओंसे धर्मचर्चा तथा उन्हें उपदेश देने लगे। आपका सतसंग सतरह वर्षोंतक निरन्तर दिन और रात चलता रहा और इस कालमें भिन्न-भिन्न जातिके लगभग तीन हजार व्यक्तियोंने आपकी शरण स्वीकार की। क्रमशः आपकी महिमा और अलौकिकताकी बात दूर-दूरतक फैल चली और आपकी आध्यात्मिक शक्तिकी परख भी लोगोंको आने लगी। आपसे शास्त्रार्थ करनेके लिये अनेक लोग दूर-दूरसे आते, किन्तु सन्तोषजनक उत्तर पाने तथा स्वयं निरुत्तर हो जानेपर वापस चले जाते थे।

आपके घरमें आपके पिताके समयसे महाजनीका काम होता था। परन्तु जब आपके भाईकी नौकरी लग गयी उस समय आपने उनसे कहा, 'ऐ अजीज चूँकि कादिर-हकीकीने अब रिजककी सूरत दूसरी निकाल दी है, तो अब लेन-देन करना और सूदके रुपयेसे खर्च अयालदारीका चलाना नामुनासिब मालूम होता है। लिहाजा तुम सब कर्जदारोंके कागजात इस्टाम्प वगैरहको निकाल लो और उन सब लोगोंको बुलाकर यह बयान कर दो कि स्वामीजी महाराजने फरमाया है कि अगर तुमको हमारा रुपया देना मंजूर है और अपना ईमान सलामत रखना चाहते हो तो हमारा रुपया एक हफ्तेके अर्सेमें अदा कर दो, वर्ना तुम्हारे दस्तावेजात सब चाक करके फेंक दिये जावेंगे।' एक सप्ताहके बाद आपके छोटे भाई लाला प्रतापसिंहने ऐसा ही किया। वे नित्य चार-पाँच कर्जदारोंको बुलाते और यदि वे उस समय रुपया देनेमें असमर्थ रहते तो उनके सम्मुख ही उनके दस्तावेजात फाड़ दिये जाते। इस भाँति आपने सूदकी आमदनीका अन्त कर दिया। आगे चलकर स्वामीजी महाराजने अध्यापनका कार्य भी त्याग दिया और केवल परमार्थमें ही लग गये। उपर्युक्त घटनासे हमलोग आपके त्यागकी कुछ कल्पना कर सकते हैं। इसी प्रकार एक बार आपने कई तोड़े रुपये सड़कपर लुटा दिया था।

स्वामीजी महाराज अन्य पूर्व संतोंकी भाँति 'सत्यनाम' का ही उपदेश दिया करते थे। राधास्वामी नामको आपने अपने पूरे गुरुमुख (उत्तराधिकारी) परमगुरु हुजूर साहेब (राय सालिगराम साहेब बहादुर) द्वारा प्रकट कराया और तबसे राधास्वामी नामका ही उपदेश दिया जाने लगा।

आपका निधन आषाढ़ कृष्ण प्रतिपदा शनिवार सं० १९३५ वि० को लगभग पौने दो बजे अपराह्णकालमें हुआ। अन्तर्धान होनेके पूर्व ही आपने उपस्थित सतसंगियोंको बुलाकर उन्हें आश्वासन दिया तथा सतसंगका पूर्ण प्रबन्ध किया।

आपने 'सारवचन नजम' (पद्य) तथा 'सारवचन नसर' (गद्य) नामकी दो पुस्तकें लिखी हैं जो राधास्वामीमतकी मुख्य एवं प्रामाणिक पुस्तकें मानी जाती हैं। आपकी समाधि स्वामीबाग आगरामें है जो शहरके बाहर है। यहीं आपका वार्षिक भण्डारा आपके निधनके दिन मनाया जाता है। इस अवसरपर दूर-दूरसे सतसंगी लोग अधिक संख्यामें आते हैं। आपका समाधि-मन्दिर अभीतक बन ही रहा है। इसमें कई लाख रुपया व्यय किया जा चुका। यह एकदम संगमरमरका ही बन रहा है। आशा की जाती है कि सम्पूर्ण संसारमें यह एक अद्वितीय स्मारक तथा आपके प्रति आपके अनुयायियोंका एक अपूर्व प्रेम-प्रतीक होगा। आपका चित्र इसी अंकमें दिया गया है।

राय सालिगरामजी साहेब बहादुर

(हुजूर महाराज)

राधास्वामीमतके प्रथम आचार्यके निधनके बाद आपके प्रमुख शिष्य (पूरे गुरुमुख) राय सालिगराम साहेब बहादुरने सतसंगका भार लिया। आपको इस मतके अनुयायी परमगुरु हुजूर साहेब कहकर सम्बोधित करते हैं। आपका जन्म फाल्गुन शुक्ल अष्टमी सं० १८८५ वि० में आगराके एक माथुर कायस्थकुलमें ब्राह्ममुहूर्तमें साढ़े चार बजे हुआ था। आपके बारेमें कहा

जाता है कि आपने १८ मासतक गर्भवास किया था। आपकी अंग्रेजीकी शिक्षा उस समयकी सीनियर श्रेणीतक हुई थी जो आजकलके बी०ए० के बराबर समझी जाती है। बाल्यावस्थामें ही आपने अनेक अलौकिक चमत्कार दिखाये थे। शिक्षा प्राप्त कर लेनेके उपरान्त आपने डाकविभागमें काम किया और इस विभागके पोस्टमास्टर जेनरलके पदपर पहुँचकर आप नौकरीसे पृथक् हुए। भारतीयोंमें आप ही ऐसे व्यक्ति हैं जो इस पदपर सर्वप्रथम पहुँचे थे। आप युक्तप्रान्तके पोस्टमास्टर-जेनरल थे।

आपकी भक्ति बहुत ही उच्च एवं आदर्श कोटिकी थी। पेंशन लेनेके बाद तथा नौकरीकालमें भी आप अधिक-से-अधिक समय अपने प्रीतम हुजूर राधास्वामी दयालकी भक्तिमें ही व्यतीत करते थे। आपने सब मिलाकर ग्यारह पुस्तकें लिखी हैं। इनमेंसे "Radhasoami Mat Prakash" (राधास्वामी मत प्रकाश) अंग्रेजीमें और शेष दस पुस्तकें हिन्दी भाषामें लिखी गयी हैं। इनमेंसे 'प्रेमबानी' पद्यमें लिखी गयी है और अन्य नौ गद्यमें हैं। इनका नाम यों है—

१-प्रेमबानी ४ भाग (पद्य)।
२-प्रेमपत्र ६ भाग (गद्य)।
३-सार उपदेश ,, ।
४-निज उपदेश ,, ।
५-प्रेम उपदेश ,, ।
६-राधास्वामीमतसन्देश ,, ।
७-राधास्वामीमत उपदेश ,, ।
८-प्रश्नोत्तर संतमत ,, ।
९-वचन महात्माओंके ,, ।
१०-जुगतप्रकाश ,, ।
११-Radhasoami Mat Prakash.

हुजूर साहेबने लगभग बीस वर्षोंतक सतसंगका भार वहन किया। इस अवकाशमें इस मतके अनुयायियोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी। आपमें दया और शीलकी मात्रा बहुत अधिक थी तथा आप बहुत ही उदारचेता थे। आपमें एक विचित्र आकर्षण था। ता० ६ दिसम्बर सन् १८९८ ई० को सायंकाल ६ बजकर ४५ मिनटपर आपने अत्यन्त धैर्य एवं शान्तिपूर्वक इस नश्वर शरीरका त्याग किया। इस समय आपकी आयु लगभग ७० वर्षकी थी। अपने मकानके पास 'प्रेमविलास' नामक मकानमें ही आपकी समाधि बनी है; इसी मकानमें आपने चोलात्याग भी किया था। यहाँपर प्रति २७ दिसम्बरको आपका वार्षिक भण्डारा हुआ करता है। आपके नामका एक बाग भी आगरामें ही है जिसे लोग 'हुजूरीबाग' कहते हैं।

इस मतकी एक यह भी विशेषता है कि इस मतके आचार्यके पुत्र, स्त्री अथवा प्रथम शिष्य आदिके नाते कोई गद्दीका अधिकारी नहीं माना जाता। जब कोई आचार्य अपना शरीर त्याग करता है उस समय अथवा उसके पूर्व ही वह अपने उत्तराधिकारीके सम्बन्धमें संकेत कर जाता है। यदि उसके शिष्यसमुदायमें कोई इस योग्य नहीं रहता जो आचार्य हो सके तो वह इस बातका भी संकेत कर जाते हैं कि अब स्वतः संत सतगुरुका अवतार होगा अर्थात् उनकी गद्दी समाप्त हो जायगी और नयी गद्दी स्थापित होगी। हुजूर साहेबने पं० ब्रह्मशंकर मिश्रजीको, जिन्हें इस मतके अनुयायी परमगुरु 'महाराज साहेब' कहकर सम्बोधित करते हैं, अपना उत्तराधिकारी अथवा पूरा गुरुमुख होनेके सम्बन्धमें अनेक बार आम सतसंगमें ही स्पष्टरूपसे कह दिया था।

पं० ब्रह्मशंकरजी मिश्र (महाराज साहेब)

पं० ब्रह्मशंकर मिश्रजी (महाराज साहेब) का जन्म काशीके एक सुप्रसिद्ध ब्राह्मणकुलमें २८ मार्च सन् १८६१ ई० में हुआ था। आपके पिताका नाम पं० रामयत्न मिश्र था जो संस्कृतके एक सुप्रसिद्ध विद्वान् थे। आप भी अपने गुरुकी भाँति गृहस्थाश्रमी थे। आपकी धर्मपत्नीका नाम श्रीमती नेइयाँजी साहिबा है जो अपने पुत्रादिके साथ स्वामीबाग बनारसमें रहती हैं। महाराज साहेबने अंग्रेजीकी एम्० ए० तक शिक्षा प्राप्त करनेके बाद नवम्बर सन् १८८५ ई० में परमगुरु हुजूर साहेबकी शरण स्वीकार की तथा सन् १९०१ ई० से लेकर १९०७ ई० तक आपने सतसंगका भार वहन किया। आप इलाहाबादमें एकाउण्टेण्ट जेनरल्स आफिसमें काम करते थे और वहींपर सतसंग भी करते-कराते थे। अपने निधनसे लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व ही आप बनारस चले आये और यहींपर आश्विन शुक्ल पंचमी सं० १९६४ वि० में आप परमधाम सिधारे। बनारसमें कबीरचौरा मुहल्लामें आपका समाधिमन्दिर है जो 'स्वामीबाग' के नामसे प्रसिद्ध है। यहाँ प्रतिवर्ष आश्विन

शुक्ल पंचमी तथा नवमीको आपका वार्षिक भण्डारा हुआ करता है। इस अवसरपर दूर-दूरसे सतसंगी अधिक संख्यामें यहाँ उपस्थित होते हैं।

आपने अंग्रेजीमें एक पुस्तक 'Discourses on Radhasoami faith' (डिस्कोर्सेज ऑन राधास्वामी फेथ) नामकी लिखी है।

आपके निधनके बाद इस मतकी चतुर्थ आचार्या आपकी बड़ी बहिन हुईं जिनका नाम श्रीमती माहेश्वरीजी था और जिन्हें इस मतके अनुयायी महारानी बूआजी साहिबा कहकर सम्बोधित करते हैं।

आप महाराज साहेबकी बहिन थीं और अवस्थामें आपसे लगभग चार वर्ष बड़ी थीं। आपका पीहर और ससुराल दोनों काशीमें मुहल्ला बड़ी पियरीमें ही था। आप गृहस्थाश्रममें थीं। गृहस्थाश्रममें रहकर भी आप राधास्वामीमतके अनुसार परम संत सतगुरु हुजूर साहेब तथा महाराज साहेबकी भक्ति तन, मन, धन तथा सुरतसे सदैव करती रहीं और जो कोई आपके पास आता उसको भी इस परम आध्यात्मिक मत तथा सुरत-शब्दयोगकी अपार महिमा सुनाया करतीं। आपके अनुयायी बड़े-बड़े साधक तथा विद्वान् लोग थे। आप सदैव काशीमें ही रहीं। आपने स्वाध्यायसे ही हिन्दीकी बहुत अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी और संस्कृतका भी कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया था। आप अत्यन्त दयालु, शीलवती और सन्तोषसम्पन्ना थीं। आपके मुखमण्डलसे आध्यात्मिकताका आभास स्पष्टरूपसे झलकता था। आपकी अन्तर्यामिता एवं उच्च कोटिकी आध्यात्मिकताके अनेक दृष्टान्त हैं किन्तु स्थानाभावके कारण उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया जाता। हुजूर साहेबने अपनी 'प्रेमबानी' भाग १ पृष्ठ २३७ शब्द ९ में जो 'आरती' लिखी है उससे आपकी उच्चतम आध्यात्मिक अवस्था एवं सुरतवंत होनेका पता चलता है।

सं० १९६९ वि० की वैशाखी पूर्णिमाको रात्रिकाल साढ़े बारह बजे लगभग ५६ वर्षकी अवस्थामें आपका निधन हुआ। आपका पवित्र रज (फूल) अभीतक रखा हुआ है। आपकी समाधि अभीतक नहीं बन सकी—न मालूम क्यों? आपका वार्षिक भण्डारा प्रति वैशाखी पूर्णिमाको आपके घरपर होता है।*

महात्मा कन्फ्यूशस

(लेखक—कुँवर श्रीमोहनसिंहजी सेंगर)

महात्मा कन्फ्यूशस चीनके एक परम महान् संत हो गये हैं। आपका आविर्भाव ईसासे पूर्व छठीं शताब्दीमें हुआ था। जिस समय आपका जन्म हुआ, चीनकी स्थिति बड़ी ही दारुण हो रही थी। सर्वत्र विप्लवके दृश्य दिखायी पड़ते थे। सम्राट् निकम्मे तथा भोग-विलासी और दुराचारी हो गये थे। उस समय एक ऐसे संतकी आवश्यकता थी जो देशके प्राणको अपनी साधना और तपसे अनुप्राणित कर उन्नतिके मार्गपर ले जा सके। ठीक ऐसे अवसरपर महात्मा कन्फ्यूशसका जन्म हुआ।

कन्फ्यूशसके जीवनको आमूल पलट देनेवाली सबसे महत्त्वपूर्ण घटना उनकी माताके देहान्तकी थी। तीन वर्षतक शोकमें आपको एकान्तवास करना पड़ा और इस एकान्तवासमें आत्मचिन्तनकी सहज सुविधा प्राप्त होनेके कारण अध्यात्मका रस मिला। अब तो आपको चसका लग गया। धर्मशास्त्र, दर्शन, न्यायशास्त्र तथा इतिहासका आपने अनुशीलन किया। आप अपनी विलक्षण प्रतिभाके कारण राज्यके न्यायाधीश बन गये और आपकी न्यायप्रियताने प्रजाके हृदयको मुग्ध कर लिया। परन्तु राजाकी विलासप्रियतासे खिन्न होकर आप राज्यसे अलग हो गये।

राज्यकी नौकरी छोड़कर आप चौदह वर्षतक समूचे देशमें घूम-घूमकर लोगोंको उपदेश करते रहे। हजारों शिष्य आपके हुए। ७१ वर्षकी अवस्थामें आप परमधामको सिधारे।

'आत्मानुशासन'—आपके उपदेशका सार-तत्त्व है। दया और प्रेमकी तो आप मूर्ति ही थे। परोपकार और निष्काम सेवा आपके जीवनका मुख्य लक्ष्य था। व्यक्तिगत कल्याणके साथ ही सामाजिक कल्याणकी दृष्टि आपकी सदा थी ही। आपके कुछ स्फुट उपदेश

* मालूम हुआ है कि, इस गुरुपरम्परामें आपसमें मतभेद है। हमारे पास यह एक ही पक्षका लेख आया था, हमने इसमेंसे कुछ अंश निकालकर छाप दिया है। हमारा अपना मत इसमें कुछ भी नहीं है। —सम्पादक

यहाँ दिये जाते हैं—सुनिश्चित ध्येयको लेकर चलनेवाला कभी पथभ्रष्ट नहीं होता। सज्जन वही है जो बोलनेमें धीमा और मीठा और काम करनेमें तेज पर सतर्क हो। सज्जन सत्यको और दुर्जन धनको सर्वोत्तम वस्तु समझता है। संसारके सारे ज्ञानका मूलमन्त्र है—'कभी बुरी बात न सोचो।' साधु वही है जो भोजनके लिये व्याकुल नहीं होता, जो चिन्ताओंसे मुक्त है, और जो अपना अन्त आता देखकर डरता नहीं। धन पाकर गर्व न करना आसान है पर निर्धन होकर निश्चिन्त होना कठिन है।*

भारतके पारसी संत

(लेखक—श्रीयुत अर्देशिर एन० बिलीमोरिया)

ईरानके हजरत जरथुस्त्रके निर्वाणके बाद जब पारसीधर्मका ह्रास होने लगा तब इसका दो बार पुनर्जीवन हुआ। एक बार दस्तूर अर्दा-ए-विराफने और दूसरी बार दस्तूर अदेरबाद मारेस्पदने इसे पुनर्जीवन दिया। ये दोनों महापुरुष थे और पारसीधर्म इनका अबतक इसी रूपमें आदर करता है।

पारसी जातिके भारतमें आनेके बाद भी उसके अंदर कई महापुरुषोंने जन्म लिया है, जिन्होंने अपने पवित्र जीवनके द्वारा कई अद्भुत कार्य कर दिखाये हैं।

दस्तूर हजरत आजर कैवान

भारतवर्षमें जितने पारसी संत हुए उनमें दस्तूर दाराब, दस्तूर नैर्य्योसंग धवल, दस्तूर मेहरजी राना—ये तीन संत सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए। परन्तु सन् १७६० ई० के आस-पास दस्तूर हजरत आजर कैवान नामके एक महान् योगी ईरान देशसे आकर पटनामें बस गये। इनका जन्म ईरान देशमें सन् १७२६ ई० के आस-पास हुआ था। इनके पूर्वजन्मके संस्कार इतने प्रबल थे कि इन्होंने पाँच वर्षकी अवस्थामें ही भोजनकी मात्रा बहुत कम कर दी। ये रातों जागकर भगवान्‌का नामस्मरण किया करते थे। इस प्रकार इन्होंने अट्ठाईस वर्ष कठोर तपस्यामें बिताये। इन दिनों इनकी ज्ञानकी स्थिति बहुत ऊँची हो गयी थी। इनकी भारत, ईरान और यूनान देशके प्राचीन योगियोंसे भेंट हुई और उनसे इन्होंने बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया। इनका ज्ञान इतना अगाध था कि इन्हें लोग 'जुल-उलूम' (ज्ञानका स्वामी) कहने लगे।

कहते हैं, ईरानके दो मुसलमान सूफी एक बार इनसे मिलनेके लिये आये, किन्तु इनके ज्ञानको भलीभाँति समझ नहीं सके। इसीलिये वे इनकी निन्दा और तौहीनी करने लगे। इन सूफियोंके गुरु भी मुसलमान थे, वे एक दिन रातके समय ध्यान करते-करते बाह्यज्ञानशून्य हो गये। इस अवस्थामें उन्हें हजरत मुहम्मद साहबने पुकारा और कहा कि—'तुम्हारे दो शिष्य हजरत आजर कैवानकी निन्दा कर रहे हैं उन्हें मना करो। कैवान ज्ञानकी बहुत ऊँची अवस्थाको पहुँचे हुए पुरुष हैं, वे एक सिद्ध पुरुष हैं। इसलिये अपने शिष्योंसे कहो कि तुम लोग अपनी जबानपर लगाम देकर उस महात्माका सम्मान करो और उसकी सेवा करो। और तुम भी जाओ और आदरपूर्वक उसकी सेवामें लगा आओ।'

जब उनके गुरुको पुनः बाह्य चेतना हुई तब वे कैवानकी तलाशमें निकले। रास्तेमें उन्हें कैवानके शिष्य फरहादने आवाज दी और कहा कि 'हमारे गुरुदेवने आपको अपने डेरेपर लिवा लानेके लिये हमें आपके पास भेजा है।' इस संवादको सुनकर गुरुदेव बड़े प्रसन्न हुए और वे फरहादके पीछे-पीछे हो लिये। जब वे कैवानके स्थानपर पहुँचे तो उस महात्माने इनको प्रणाम किया और इन्हें इनके ध्यान तथा हजरत मुहम्मदने इन्हें जो सन्देश कहा था, उसकी बात कही। गुरु इस बातको सुनकर आश्चर्यचकित हो गये और मूकवत् खड़े रहे। उन्होंने कुछ दिनोंतक कैवानका संग किया, उनके उपदेशोंको सुना और फिर अपने डेरेको चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने अपने शिष्योंको बुलाया और उन्हें डाँट-डपटकर कहा कि 'तुम्हें कैवानकी इज्जत करनी चाहिये, उनकी तौहीनी नहीं करनी चाहिये।'

कैवान अपने शिष्योंसे ही मिला करते थे जिनमें पारसी, हिन्दू, मुसलमान और एक पोर्तगीज भी थे। वे

* इसी विषयपर एक और लेख पं० श्रीदेवदत्तजी द्विवेदी बी० ए०, विशारदका प्राप्त हुआ था जिसका सार अंश इसमें आ गया है। —सम्पादक

सदा एकान्तवास किया करते थे। वे जब चाहते तभी समाधिमें स्थित होकर शरीरसे अलग हो सकते थे। उनकी 'मकाशेफाते कैवानी' नामक पुस्तकमें उनके योगसम्बन्धी अनुभवोंका वर्णन है। मूलग्रन्थ फारसी नजम (पद्य) में लिखा गया था और उसका अनुवाद सन् १८४८ ई० में सर जमशेदजी जीजीभाई (प्रथम) की आज्ञासे मीर अशरफअली मुंशीने किया था। इसे किसी पारसी पुस्तक-प्रकाशकने सन् १८९५ ई० में पुनः मुद्रित किया था, परन्तु आजकल यह पुस्तक अप्राप्य हो गयी है।

कैवानके शिष्योंमें खुर्राद, फर्जाने-खुशी, अर्देशिर, फर्शिदवर्द, बेहमन, रुस्तम, फरजाने-बेहराम, मुबेद होशियार, मुबेद हूश, मुबेद सरोश, मुबेद यजदान, सिताई, मुबेद खुदाजुई, मुबेद परस्तार, मुबेद पिश्कर, मुहम्मदअली शीराजी आदि मुख्य थे। इनके सभी शिष्योंको बड़ी-बड़ी योगसिद्धियाँ प्राप्त थीं। इनकी आध्यात्मिक शक्तियों और उपदेशोंका वर्णन दबिस्तान नामक ग्रन्थमें मिल सकता है, जिसका डेविड शी (David Shea) और एनथनी ट्रॉयर (Anthony Troyer) ने तीन खण्डोंमें अनुवाद किया है।

कहते हैं, दस्तूर हजरत आजर कैवानका जन्म सन् १७२६ ई० के आस-पास हुआ था और उन्होंने सन् १८११ ई० के आस-पास ८५ वर्षकी अवस्थामें शरीर छोड़ दिया। पटनामें उनका मजार बतलाया जाता है।

उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भसे ही पारसी जातिने मालूम होता है योगाभ्यासका आदर करना छोड़ दिया और इन्हीं हजरत कैवानके शिष्योंका देहान्त हो जानेके बाद योगाभ्यासियोंकी परम्परा एक प्रकारसे टूट ही गयी हुई मालूम होती है। भारतमें थियॉसफी मतका प्रचार होनेके बादसे पारसी भाई फिरसे योगाभ्यासकी ओर झुकने लगे हैं और आशा है कि बहुत शीघ्र वे अपनी इस खोयी हुई सम्पत्तिके फिरसे अधिकारी बन जायँगे।

महात्मा शम्सतवरेज

(लेखक—श्रीयमुनाप्रसादजी श्रीवास्तव)

महात्मा शम्सतवरेज गजनीके रहनेवाले हमः ओस्तके उपासक—अर्थात् अद्वैतवादी फकीर थे। उनकी दृष्टिमें समस्त जगत् परमात्मासे परिपूर्ण था। वास्तवमें उनका सिद्धान्त यह था—

तू पस्तीमें, बालामें, और रूबरू है।
बना तू हर एक फूलमें रंग ओ बू है॥
जो आईना देखा तो तू रूबरू है।
निगह जिस तरफ उठ गई तू ही तू है॥
मगर राज इक और, अब यह खुला है।
कि मैं तुझमें, और मुझमें तू , बस रहा है॥

महात्मा शम्सतवरेज अपने पीरमुरशद कामिल अर्थात् गुरुजीकी आज्ञासे देशाटन करते हुए पंजाब प्रान्तके मुलतान शहरमें आ निकले थे। उन दिनों मुलतान चार चीजोंके लिये प्रसिद्ध था।

चार चीज-अस्त तोहफये मुलतान।
गर्द, गरमा, गदा ओ गोरस्तान॥

ढेरों फकीर और औलिया वहाँ मौजूद थे। उन सबोंमें भगवद्भक्त वहाबुलहक बहुत प्रसिद्ध थे। वे 'खुदादोस्त' कहलाते थे। महात्मा शम्सतवरेजके पहुँचते ही उन्होंने एक प्यालेमें मुँहतक दूध भरकर यह कहनेकी गरजसे कि यहाँ अब और अधिक फकीरोंकी गुंजायश नहीं है, आप दूसरा शहर देखें—महात्मा शम्सतवरेजके पास भेज दिया। महात्मा शम्सतवरेज भी पक्के फकीर थे, देखते ही खुदादोस्त वहाबुलहकका मतलब समझ गये और यह कहनेकी इच्छासे कि—

जिस तरह यह समाये हैं पत्ते गुलाबके।
या जलमें समाये हैं छाले हुबाबके॥
इसी तरह कुलमें जुजोंसे समा जायँगे जनाब।
इस वज्म आशकीमें समा जायँगे जनाब॥

गुलाबकी कुछ पंखड़ियाँ दूधपर डालकर प्यालेको ज्यों-का-त्यों वापस कर दिया। कुछ दिनोंतक तो खुदादोस्त वहाबुलहकने कुछ नहीं कहा, परन्तु जब महात्मा शम्सतवरेजका अद्वैतवादी सिद्धान्त उनकी समझमें नहीं आया तब वे बिगड़ खड़े हुए और महात्मा शम्सतवरेजके काफिर होनेका फतवा सादर कर दिया।

उस समय मुलतान शहरमें खुदादोस्त वहाबुलहककी तूती बोलती थी, सारे शहरमें उन्हींका दबदबा था। फतवेके सादर होते ही शहरमें जोश फैल गया। धर्मान्ध

मुलतान-निवासी उन्हें ईर्ष्या और द्वेषकी दृष्टिसे देखने लगे—यहाँतक कि उन सबोंने मिलकर उन्हें खाना देना भी बंद कर दिया।

जोशमें मजहबके,
इन्सां भी कमीना हो गया।
तंगदिलीसे उन सबोंका,
तारीक सीना हो गया॥
इस तअसुबके इवजमें,
खो दिया ईमानको।
एक टुकड़ेके लिये भी,
तरसाया किया इन्सानको॥

एक टुकड़ेके लिये—जिसे लोग कुत्तोंके आगे यों ही डाल देते हैं—महात्मा शम्सतवरेज तरसने लगे।

शम्सतवरेजने इसकी कोई परवा नहीं की, परम विश्वासी भक्तका काम भगवान्‌की दयासे चलने लगा। इसके पश्चात् अपना अद्वैतवादी झंडा खड़ा कर दिया। फल यह हुआ कि सारे मुलताननिवासी उनके झंडेके नीचे आ गये और उनके शिष्य होकर उनके अद्वैतवादी उपदेशोंसे लाभ उठाने लगे।

महात्मा शम्सतवरेज बड़े मौजी थे। आत्मानन्दमें निमग्न होकर वे गा उठते—

चे नादां बूद आं मजनूं,
कि आशिक गश्त वर लैली।
चौ लैली रत्फ अज दस्तश,
परेशां मांद दर खैली॥
अजब मन शम्सतवरेजम!
कि आशिक गश्ता अम बर खुद।
चो खुद दर खुद नजर करदम,
न दीदम जुज खुदा दर खुद॥

मजनूँ कैसा मूर्ख था जो लैलीपर आसक्त हो गया और जब लैली हाथसे निकल गयी तब व्याकुल होकर इधर-उधर फिरता रहा। परन्तु वाह रे मैं! कैसा विचित्र प्रकारका शम्सतवरेज हूँ जो अपने ऊपर आप ही आसक्त हूँ और जहाँ देखता हूँ वहीं स्वात्माके सिवा और कुछ नहीं दीखता। अर्थात्—

जिधर देखता हूँ, जहाँ देखता हूँ।
मैं अपनी ही ताब और शाँ देखता हूँ॥

वास्तवमें ऐसे ही संतजनोंको 'ब्रह्म' कहते हैं।

'तुलसी ऐसे संतजन पृथ्वी ब्रह्म समान।'

प्रेमी संत सरमद

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

हमारे संत सरमद भी एक मस्ताने प्रेमी थे। आपका बयान आपकी ही जबानी सुनने लायक है। आप फरमा रहे हैं कि—

सरमद कि बकूए इश्क बदनाम शुदी,
अज दीने यहूद सूए इस्लाम शुदी,
मालूम न शुद कि अज खुदा वो अहमद,
बरगश्ता, बसूए लछमनो राम शुदी।

सरमद कूचए-इश्कमें पड़कर बदनाम हो गया। यहूदी-दीन छोड़कर वह इस्लामकी शरणमें आया और फिर इस्लामके खुदा या रसूलसे मुँह मोड़कर राम-लक्ष्मणके भक्तोंमें जा मिला।

सरमदका सिर्फ इतना-सा ही परिचय मिलता है और कुछ नहीं। जो हो, हमें अधिक परिचयसे करना क्या है।

इतना अवश्य कहा जाता है कि वह व्यापार करनेके लिये भारतवर्षमें आया था। पर यहाँ आनेपर तो उसका पासा ही पलट गया। उसपर प्रेमकी बिजली गिरी। वही हाल हुआ कि—

सौदेके लिये बरसरे बाजार हुए हम,
हाथ उसके बिके जिसके खरीदार हुए हम!

कैसा अच्छा सौदा रहा! बेचारा सरमद अपना सब कुछ लुटाकर दिगम्बर अवधूत बन बैठा। यह बिजली है ही ऐसी चीज, किया क्या जाय?

प्रेम-नशेकी खुमारीमें चूर बने हुए सरमद दिल्ली पहुँचे। उस समय शाहजहाँ बादशाहके शासनके अन्तिम दिन थे। शाहजादा दारा सूफी संतोंका बड़ा भक्त था। वह उनकी बड़ी सेवा-शुश्रूषा किया करता था। सरमदका तो वह अनन्य भक्त बन बैठा। वह जी-जानसे उसपर न्योछावर हो गया। धीरे-धीरे सरमदके भक्तोंकी संख्या बहुत बढ़ने लगी। और प्रायः सारा-

का-सारा शहर ही उसका उपासक बन गया। दाराके पक्षपातियोंकी इस बढ़ती हुई संख्याको देखकर उसके भाई औरंगजेबका माथा ठनका। उसका कुचक्र चल ही रहा था, उसने शाहजहाँको पकड़कर जेलमें डाल दिया। भाइयोंको तलवारके घाट उतार दिया और स्वयं राजगद्दीपर बैठ गया। दाराका गुरु होनेसे सरमद उसकी आँखोंमें बहुत खटकने लगा। उसे भय था कि कहीं सरमद और उसके भक्त दाराके पक्षपाती होनेके नाते उसके राज्यमें विद्रोह न फैला दें। वह तथा उसके अनुयायी सरमदको किसी-न-किसी भाँति अपराधी प्रमाणित करनेके प्रयत्नमें जुट गये। किसी जुर्मका दोष लगाकर उसे कत्लका फतवा देकर दुनियासे जल्दी-से-जल्दी उठा देना ही उनका एकमात्र उद्देश्य बन गया। पर सरमद तो ठहरा पहुँचा हुआ फकीर, अद्वितीय विद्वान्, कवि और तार्किक! उसको वाद-विवादमें परास्त करना साधारण बात न थी। कठमुल्ले बेचारे बड़े परेशान थे, उनकी सरमदके सामने कुछ भी दाल न गलने पाती थी।

एक दिन सरमद दिगम्बर अवस्थामें बाजारमें घूम रहा था। कठमुल्लोंको क्या? फौरन् नंगे फिरनेके अपराधमें उसे कैद कर डाला और ले जाकर बादशाहके सामने पेश किया। बादशाहने पूछा—'सरमद, तू नंगा क्यों रहता है? कपड़े क्यों नहीं पहनता?' तो सरमद साहब फरमाते हैं—

आँकस कि तुरा ताजे जहाँबानी दाद।
मारा हमा असबाबे परेशानी दाद॥
पोशाँद लिबास हरकेरा ऐबे दीद।
बे ऐबाँरा लिबासे उरियानी दाद॥

जिसने कि तुझे यह बादशाहीका ताज अता किया है उसीने मुझे यह परेशानीका सामान दिया है। उसने जिसको दोषोंवाला देखा, ऐबोंवाला पाया, उनको लिबास पहिनाकर उसके ऐबोंको ढक दिया और जिसे उसने बेऐब देखा—निर्दोष पाया उसे बिना लिबास पहनाये ही दिगम्बर अवस्थामें रहने दिया! उसे उरियानीका लिबास दे डाला!

इस मुँहतोड़ उत्तरने औरंगजेबको निरुत्तर कर दिया। मुल्लाओंने उसे बहुत उभाड़ा कि नंगे रहना कत्लकी सजा देनेके लिये काफी बड़ा जुर्म है, पर औरंगजेबकी ऐसी हिम्मत न पड़ी। वह जानता था कि इस छोटे-से जुर्मसे वह इतना बड़ा पाप किसी तरह न ढक सकेगा और यदि सरमदके भक्त बिगड़ पड़े तो राज्यमें विद्रोह फैल जाना असम्भव नहीं है। लाचार उसे सरमदको छोड़ देना पड़ा!

× × × ×

सरमद प्रभुप्रेम-मदिरामें सदैव छका फिरता रहता था। प्रभुके साथ एकत्वकी दिव्य अनुभूतिमें सदैव मस्त बना रहता था। इसी मस्तीमें कभी-कभी वह कुछ गा भी उठता था। उसकी थोड़ी-सी बानगी देखिये—

हरचंद कि सद दोस्त बमन दुश्मन शुद।
अजे दोस्तीये यके दिलम् एमन शुद॥
वहदत बगजी दे मोज कसरत रस्तेम।
आखिर मन अजो शुदमोऊ अजमन शुद॥

सैकड़ों दोस्त थे जो मेरे दुश्मन हो गये—पर उस एक—प्रभु—की दोस्तीके भरोसे मैं संतुष्ट और सुखी हूँ। अनेकताको छोड़कर मैंने एकताको अपनाया है। उसका नतीजा यह निकला कि वह 'मैं' हो गया और मैं 'वह' हो गया। सारा भेद-भाव जाता रहा, दुईका पर्दा उठ गया, हम दोनों एक हो गये। यह प्रार्थना सार्थक हो गयी कि—

मुझमें समा जा इस तरह तन प्राणका जो तौर है।
जिसमें न कोई कह सके 'मैं' और हूँ 'तू' और है॥

× × × ×

शाहे शाहानेम् जाहिद! चूँ तो उरियाँ नेस्तम्।
शौको-जौके शोरशम् लेकिन परीशाँ नेस्तम्॥
बुत-परस्तम् काफिरम् अज अहले-ईमाँ नेस्तम्।
सूए मस्जिद मीरवम् अम्माँ मुसलमाँ नेस्तम्॥

ऐ जाहिद! मैं बादशाहोंका बादशाह हूँ—तेरी तरह नंगा कंजूस नहीं हूँ, मूर्तिपूजक और काफिर हूँ, ईमानवाले मुसलमानोंसे मैं अलग हूँ, यों मैं कभी-कभी मस्जिदकी ओर भी जा निकलता हूँ पर—मुसलमान नहीं हूँ।

सच है ऐसे दीवानोंका कोई दीन ही नहीं रहता। वे साफ कहते हैं कि—

आता है वज्द मुझको हर दीनकी अदापर,
मसजिदमें नाचता हूँ नाकूसकी सदापर।

वे तो जहाँपर भी अपने प्रेमास्पदका चरणचिह्न देखते वहींपर सर रख दिया करते हैं।

× × × ×

कठमुल्ले बुरी तरहसे सरमदके पीछे पड़े थे। वे बार-बार कोई-न-कोई बहाना ढूँढ़कर उससे उलझते थे पर उसके मुँहतोड़ उत्तरको सुनकर चुप रह जाते थे। आखिर कोशिश करते-करते उन्होंने दो-एक जुर्म ढूँढ़ ही निकाले। सरमदकी एक रुबाईहीको उन्होंने निशाना बनाया—

आँकस कि सिर्रे हकीकतश् बावरशुद।
खुद पहनतर अज सिपहर-पहनावरशुद॥
मुल्ला गोयद् कि बर फलक शुद अहमद।
सरमद गोयद फलक ब अहमद दरशुद॥

जिस व्यक्तिको ईश्वरकी सत्ता और महत्तापर विश्वास हो गया—जो उसके स्वरूपको समझ गया वह स्वयं आकाशसे भी महान् हो गया। मुल्लाका तो यह कहना है कि मुहम्मद आसमानपर खुदासे मिलने गये, पर सरमदका कहना यह है कि—आसमान मुहम्मदमें समा गया!

वेदान्तसे भरी हुई इस रुबाईका मुल्लाओंने यह अर्थ निकाला कि सरमद मुहम्मदके सशरीर आकाशगमन (मेराजे जिस्मानी) के मोज्जिजेसे इनकार करता है—जो कि इस्लामकी रूहसे सरासर कुफ्र है। इसलिये सरमद काफिर है और इस कुफ्रकी सजा मौत है। हालाँकि सूफियोंके यहाँ इस प्रकारकी तमाम रुबाइयाँ भरी पड़ी हैं, पर उन्हें तो किसी-न-किसी तरह दाराके साथी सरमदका नाम-निशान मिटाना था, सिर्फ बहानेभरकी कसर थी। बस, इसीपर उसको क़त्लका फ़तवा दे दिया गया।

उन लोगोंने इसके अलावा एक और कारण ढूँढ़ निकाला। मुसलमानोंका पूरा कलमा है—

'ला इलाह-इल्-अल्लाह मुहम्मदर्रसूल अल्लाह।'

(नहीं है कोई पूज्य सिवा—अल्लाह व अल्लाहके रसूल मुहम्मदके।) सूफी लोग केवल इसका आधा पढ़ा करते हैं। वे मुहम्मदको अपने कलमेमें शामिल नहीं करते। वे केवल 'ला इलाह-इल्-अल्लाह' (नहीं है कोई—पूज्य, अल्लाहको छोड़कर)—इतना ही कलमा पढ़ा करते हैं। पर सरमद तो इनसे भी दो कदम आगे था। वह सिर्फ इतना ही कलमा पढ़ा करता था—'ला इलाह' अर्थात् नहीं है कोई प्रेमास्पद या पूज्य!—इससे नास्तिकताकी ध्वनि निकलती जान पड़ती है। औरंगजेबके दर्बारमें उससे कलमा पढ़नेको कहा गया। वह 'ला इलाह' पढ़कर चुप हो रहा! इतना सुनना था कि मौलवियोंने खूब चिल्लाना शुरू किया। सरमदसे जब इसका सबब पूछा गया तो उसने कहा कि—'मैं अभीतक तो अभावके समुद्रमें ही गोते लगा रहा हूँ। अभी तो मैं साक्षात्कारकी सीमा (मर्तबए-अस्बात) तक पहुँचा ही नहीं। ऐसी हालतमें अगर मैं 'ला इलाह-इल्-अल्लाह' कहूँ तो वह सरासर झूठ होगा। जो बात दिलहीमें नहीं है, उसे जबानपर लायी ही कैसे जा सकती है?' सच है—

जाहिरो बातिनकी इकरंगी कमाले इश्क है,
नाम उसीका लब पै है जिसकी मुहब्बत दिलमें है!

मौलवियोंने कहा—'यह तो सरासर कुफ्र है, अगर सरमद इसके लिये तोबा न करे तो जिबे कत्ल है।'

मुल्लाकी दौड़ मसजिदतक—बेचारे और कह ही क्या सकते थे! वे भला क्या जानें कि सरमद उनकी कल्पनाके दायरेसे कितना ऊपर है, उनके कल्पित घेरेसे वह कितनी दूर है। वे बेचारे क्या सोच सकें कि सरमद कितनी ऊँची सीढ़ीतक पहुँच गया है। धर्मके नामपर उन्होंने उसे दोषी करार दे दिया और इसलिये उसे कत्लकी सजा सुना दी गयी।

पर इन मस्तानोंको मौतसे डर ही क्या? वे तो साफ कहते हैं कि—

मौत यह मेरी नहीं, मेरी कजाकी मौत है,
क्यों डरूँ इससे कि फिर मरकर नहीं मरना मुझे!

दिल्ली जामा मसजिदपर बैठे हुए सरखुश (पानीपती) ने तथा उनके साथ नासिरअली सरहिन्दी व अब्दुल कादिर 'बेदिल' ने मौतके एक दिन पहिले सरमदको यह शेर पढ़कर हँसते हुए देखा कि—

देर अस्त कि अफसानए मंसूर कुहन शुद,
अकनूँ सरे नौ जलवा दिहम दारो रसन रा!

—बहुत दिन हो जानेसे मंसूरका किस्सा पुराना पड़ गया है। मैं सूलीपर चढ़कर उसे फिर ताजा कर रहा हूँ। दार और रसनका जलवा फिर चमकाकर दिखाता हूँ।

सरमदकी यह घोषणा सुनकर सभी लोग आश्चर्यान्वित हो गये। दूसरे दिन सचमुच वही हुआ भी। लोगोंने यह सुनकर आपसे कुछ और कहनेका अनुरोध किया तो आप फरमाने लगे—

सर जुदा कर्द अज तनम शोखे किबा मायार बूद,
किस्सा कोतह कर्द बर्ना दर्देसर बिसयार बूद।

—उस शोखने जो कि मेरा प्रियतम था—यह बड़ा अच्छा किया कि मेरा सर मेरे शरीरसे जुदा कर दिया, सारा किस्सा खतम हो गया, सारा दर्देसर मिट गया। यदि वह ऐसा न करता तो मुझे दर्देसरके मारे बड़ी परेशानी थी! सचमुच—

मौत आए तो मिल जाय रिहाई 'बिस्मिल',
कुछ दिनके लिए हम हैं गुलामे हस्ती!

× × × ×

किसी शाहजादेकी बारातमें ऐसी भीड़ क्या रही होगी जैसी भीड़ उस दिन देखनेमें आयी जब सरमदको वधस्थलपर ले जाया जा रहा था! भीड़का कोई ओर-छोर न था। सरमद साहब उस समय अपने प्रेमास्पदसे निवेदन कर रहे थे—

बजुर्मे इश्के तो अम् मीकुशन्द गौगाएस्त,
तो नीज बरसरे बाम आकि खुश तमाशा एस्त।

—मुझको तेरे इश्कके जुर्ममें मारा जा रहा है, जरा तूँ भी तो अटारीपर चढ़कर देख—कितना मजेदार तमाशा है!

जल्लाद जिस समय सामने तलवार चमकाता हुआ आया तो आपने उससे नजर मिलाकर मुस्कुरा दिया और बोले—

फिदाये तो शबम् बिया बिया
कि तो बहर सूरते कि मी आई,
मन तुरा खूब मीशनासम्!

आ, आ, मेरे प्यारे, मैं कुर्बान जाऊँ तुझपर, तू चाहे जिस सूरतमें आये—मैं तुझे खूब अच्छी तरह पहचानता हूँ।

किसीने कहा है कि—

तनहा न उसे अपने दिले तंगमें पहचान।
हर बागमें, हर दस्तमें, हर संगमें पहचान॥
बेरंगमें, बारंगमें, नैरंगमें पहचान।
मंजिलमें मुकामातमें कर संगमें पहचान॥
हर राहमें, हर साथमें, हर संगमें पहचान।
हर अज्म इरादेमें हर आहंगमें पहचान॥
हर आनमें, हर बानमें, हर ढंगमें पहचान।
आशिक है तो—दिलवरको हर रंगमें पहचान॥

इस दृष्टिकोणवाले सच्चे प्रेमी संत सरमदका भी यही हाल था। जल्लादकी लपलपाती तलवारमें उन्हें अपने दिलवरकी मनमोहिनी झाँकी दीख पड़ रही थी। धन्य हैं ऐसे सौभाग्यशाली!

सरमदने अपने सारे जीवनमें 'ला इलाह' से अधिक कलमा नहीं पढ़ा, पर जब उसका सर जुदा किया गया, तो लोगोंने उसके सरसे उठता हुआ 'ला इलाह-इल्-इल्लाह' का घोष तीन बार सुना! इससे प्रकट होता है कि उसे प्रभुकी सत्ताका भी साक्षात्कार उसी समय हुआ, जब उसकी सत्ताका अस्तित्व लोप हो गया। सरमद इस प्रकार सदैवके लिये अनन्त समाधिमें निमग्न हो गया।

× × × ×

जामा मसजिदके पूर्वकी ओर सरमदकी समाधि अभीतक बनी हुई है। जामा मसजिदके यात्री उसपर भी अपनी श्रद्धाके सुमन चढ़ाया करते हैं।

श्रीगजानन महाराज दांडेकर

राजापुरके समीप एक गाँवमें ये रहते थे। बड़े उद्भट विद्वान् और पूर्ण वेदान्ती थे। इनकी दिनचर्या बड़ी विचित्र थी। ये जब सोते थे तो कई दिन सोये ही रहते थे। बड़े-बड़े विद्वान् इनके दर्शन करने जाया करते थे। कभी-कभी किसी-किसी दर्शनार्थीको एकाध पैसा दे दिया करते थे। जिसे यह पैसा मिलता वह निहाल हो जाता, उसे कभी पैसेके लिये किसीका मोहताज न होना पड़ता। एक बार काशीके दिग्विजयी विद्वान् गागाभट्टजी इनसे मिलने आये और उन्होंने महाराजसे शास्त्रार्थ करनेकी इच्छा प्रकट की। महाराज पहले तो कुछ बोले नहीं पर जब उन्होंने देखा कि भट्टजीको शास्त्रार्थ किये बिना सन्तोष न होगा, तब बोलना आरम्भ किया। दो दिनतक बराबर शास्त्रार्थ होता रहा। आखिर गागाभट्टजी निरुत्तर हुए और यह कहकर कि 'आप साक्षात् ईश्वर हैं, मैं पामर आपसे क्या शास्त्रार्थ कर सकता हूँ!' उनके चरणोंपर गिर गये।

—के० म० आठल्ये

श्रीलक्ष्मण महाराज

ये धारके अधिवासी थे। पीछे इन्दौरमें आठवें बाजारके श्रीकृष्ण-मन्दिरमें आकर रहने लगे थे। श्रीनारायण महाराज जालवणकरके शिष्य थे। ये पूर्ण वेदान्ती और अधिकारी सत्पुरुष थे।

श्रीबालमुकुन्दबाबा

निजाम राज्यके देगलूर स्थानके श्रीविट्ठल-उपासक श्रीगुंडोजी महाराजके चक्री भजनपन्थके ये अनुयायी थे। इनका मठ बम्बईकी मुगभटलेनमें श्रीजीवनजी महाराजकी वाड़ीमें था, अब वहाँ इनकी समाधि है। वे बड़े प्रेमी भक्त थे। सालमें कई बार श्रीविट्ठलदर्शनके लिये पंढरपुर जाया करते थे। भगवान्‌के सामने बड़े प्रेमसे स्वयं नृत्य करते और शिष्योंसे कराया करते थे। संवत् १९४० में नब्बे वर्षकी अवस्थामें इनका देहान्त हुआ।

श्रीनरसिंह महाराज

आकोटमें ये बड़े प्रसिद्ध सिद्ध पुरुष हो गये हैं। श्रीदास गणू महाराजने अपने 'संतकथामृत' में इनके विषयमें अनेक आख्यायिकाएँ लिखी हैं। आकोटमें मारुतिगणोबा आसरकर नामके एक किसान थे। एक बार पाला गिरनेसे इनके खेतोंकी सारी फसल बरबाद हो गयी। इससे बड़े निराश होकर ये श्रीनरसिंह महाराजके समीप आकर बैठे। महाराजने कहा कि 'ऐसे उदास क्या बैठे हो? जाओ, अपने खेत जरा जाकर देख आओ।' मारुतिगणोबा महाराजकी यह वाणी सुनकर खेतोंपर गये और देखते हैं कि सब खेत हरे-भरे हैं।

श्रीविनायकबाबा महाराज

आकोट तालुकामें ये एक पटवारी थे। सदा संतसमागममें रहा करते थे। आकोटके श्रीनरसिंह महाराजका इनपर बड़ा स्नेह था। इन्हें भजनमें बड़ी रुचि थी। भजनानन्दमें तल्लीन होकर आत्मस्फूर्तिसे कविता भी करते थे। इन्होंने अपने अभंगोंमें अपना नाम न देकर जहाँ-तहाँ तुकाराम महाराजकी तरह अपना नाम 'तुका' ही दिया है। दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह मीलका दौरा करके भी रातको लौटकर ये भजन किया करते थे। चैत्र कृ० २ को ये तुकाराम महाराजका पुण्यमहोत्सव किया करते थे। संवत् १९६७ में ६५ वर्षकी अवस्थामें इनका देहावसान हुआ। इन्हें अपने देहावसानका समय पहलेसे मालूम था।

—डा० मराठे

श्रीराधाकृष्ण तोरणे

संवत् १८८३ में इनका जन्म हुआ। बम्बईके सेक्रटेरियटमें ये नौकर थे। गृहस्थाश्रममें रहते हुए इन्होंने परमार्थसाधन किया। सुप्रसिद्ध संत श्रीनारायण महाराज जालवणकरके ये प्रशिष्य थे। रत्नागिरीके नारायण बुवा इनके गुरु थे। श्रीवामन पण्डितके ग्रन्थोंका इन्होंने बड़े प्रेमसे पूर्ण अध्ययन किया था और उसीके द्वारा इन्होंने भक्ति और ज्ञानका प्रचार किया। संवत् १९३८ में इनका देहावसान हुआ।

श्रीछुलानेवाले बाबा

ये बाबाजी इटावेके पास अंदाया गाँवमें रहते थे। संवत् १९४० के लगभग अटेर नामक ग्राममें चमल नदीके किनारे जो ऊजड़ किला है उसमें पाँचवीं मंजिलपर रहते थे। दिगम्बर वेश था, दाढ़ी और जटा बढ़ी हुई थी। जाड़ेके दिनोंमें भी दिगम्बर ही रहते थे। किलेसे नीचे उतरकर भगवान् श्रीकृष्णका एक मन्दिर है। एक बारकी घटना है कि यहाँ जन्माष्टमीका उत्सव हुआ। उत्सव समाप्त होनेपर कुछ लोग ऊपर किलेमें बाबाजीके पास गये। बाबाजीके दर्शन करके जब ये लोग बैठ गये तब बाबाजी बोले—'तुमलोग यहाँ मत रहो, यहाँसे चले जाओ।' इन लोगोंने इसपर यह उत्तर दिया कि—'आज जन्माष्टमी है, हमलोग यहीं आपके सामने भगवान्‌का भजन करना चाहते हैं।' बाबाजीने कहा—'अच्छा!' थोड़ी ही देर बाद आकाशमें बड़े-बड़े भुजंग दिखायी देने लगे। तब ये लोग घबराये और कहने लगे—'बाबाजी बचाइये, अब हमलोग जाना चाहते हैं।' तब बाबाजीने उन भुजंगोंकी ओर देखकर कहा—'ठहरो, इन लोगोंको जाने दो, पीछे आना।' भुजंग लौट पड़े और ये लोग अपने-अपने घर चले गये।

श्रीकालूराम महाराज

ग्वालियर राज्यके कोतवाल नामक स्थानमें इनका जन्म हुआ। तहसीली कचहरीमें ये एक चपरासी थे। पीछे इन्हें वैराग्य हो आया और ये भगवान् श्रीरामचन्द्रके अनन्य उपासक और साक्षात्कारी महात्मा हुए। इनका शिष्य-समुदाय बहुत बड़ा है।

श्रीबलभीम बोवा

सोलापुर जिलेके साड़ा स्थानमें श्रीबलभीम बोवा रहते थे। गृहस्थ थे, भगवान् रामचन्द्रके उपासक थे। ये बड़े अच्छे कीर्तनकार थे। बहुत लोगोंको इन्होंने सन्मार्ग

श्रीगजानन दाण्डेकर

श्रीलक्ष्मणजी
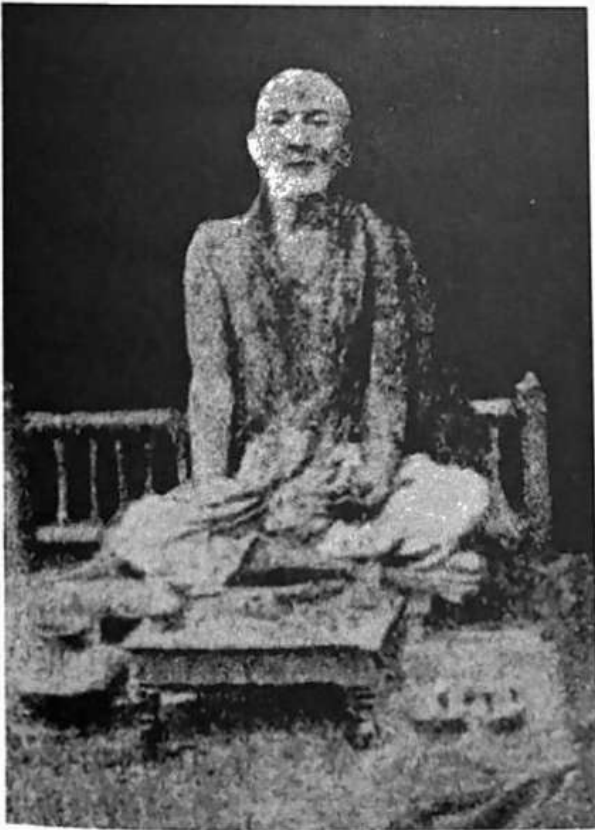
श्रीबालमुकुन्द बुवा

श्रीनरसिंह महाराज

श्रीविनायक बाबाजी

श्रीराधाकृष्ण महाराज तोरगे
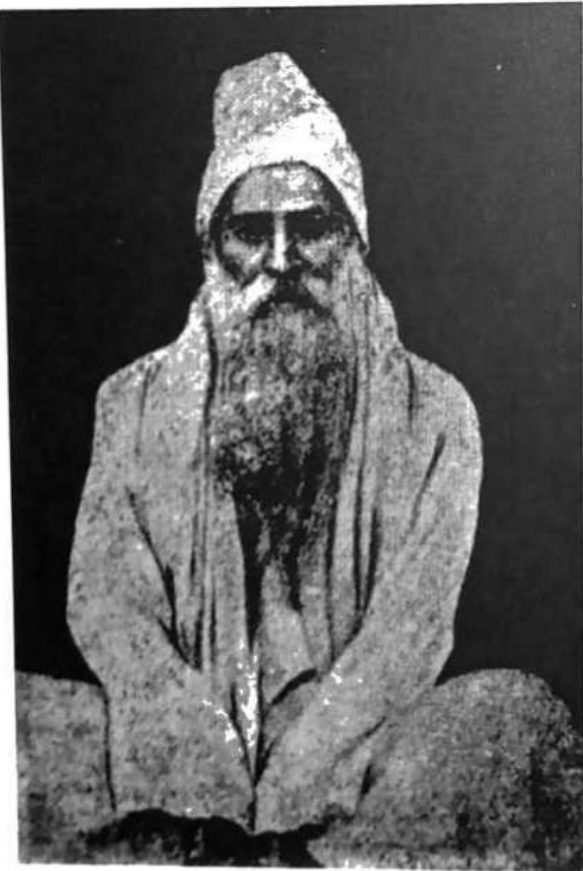
श्रीछुलानेवाले बाबाजी
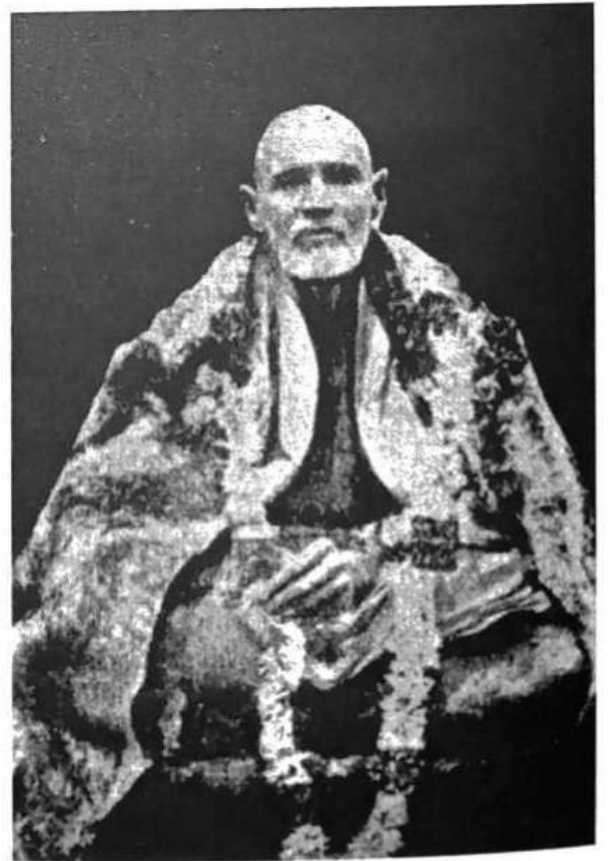
श्रीकालूरामजी

दिखाकर उद्धार किया। संवत् १९१० में इनका जन्म हुआ और संवत् १९६६ में ये इस लोकसे सिधारे। इन्होंने स्वेच्छासे नरसिंहगढ़ जाकर वहाँ अपना शरीर छोड़ा। वहाँ इनकी समाधि बनी है।

श्रीमार्तण्ड महाराज

ग्वालियरके श्रीमार्तण्ड महाराज गृहस्थाश्रमी और अनन्य रामभक्त थे। ग्वालियरके श्रीगंगाधर महाराज नगरकर इनके गुरु थे। उत्तम कीर्तनकार और कवि थे। मिनिस्टर श्रीमन्त बलवन्तराव भैयासाहब शिंदे इन्हें बहुत मानते थे। ग्वालियर-नरेश श्रीमाधवराय महाराज शिंदे श्रीगणेशोत्सवमें इन्हें पाँच सौ रुपया भेंट चढ़ाते थे। श्रीमार्तण्ड महाराजके 'श्रीभक्तमाला' और 'भक्तिप्रेमामृत' ये दो ओवीबद्ध ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

श्रीसीताराम महाराज

श्रीसीताराम महाराज रामदासी सम्प्रदायके थे। ग्वालियरमें शिरगाँवकरके रामदासी मठके ये महन्त थे। संवत् १९६८ में ६७ वर्षकी अवस्थामें इन्होंने अपना शरीर छोड़ा। इन्दौर, उज्जैन और साजापुरमें इनके अनेक भक्त हैं।

श्रीकाशीनाथ महाराज

रत्नागिरि—संगमेश्वरके बुरवाड स्थानवासी श्रीकाशीनाथ बुवा श्रीगुरु दत्तात्रेय भगवान्के उपासक थे। उन्होंने बुरवाडमें श्रीदत्तात्रेयका एक मन्दिर बनवाया है। ये बालब्रह्मचारी थे। संवत् १९६८ में ९० वर्षकी अवस्थामें इन्होंने अपना शरीर छोड़ा। बम्बई, सातारा आदि स्थानोंमें इनके अनेक भक्तसमुदाय हैं।

श्रीरामानन्द स्वामी

श्रीरामानन्द स्वामी मध्यप्रदेशके छत्तीसगढ़के चन्द्रमुखी स्थानके अधिवासी थे, पर अपना स्थान छोड़कर ये भण्डारामें आकर बराबर २८ वर्ष रहे। पर इन्होंने अपने किसी भी लक्षणसे यह नहीं जाहिर होने दिया कि इनमें कोई विशेषता या अलौकिकता है। मोहगाँवके श्रीकेशवदास महाराज भण्डारामें आये तब उन्होंने इनको पहचाना और लोगोंको इनकी महत्ताका परिचय दिया। दोनोंके मिलनमें अनेक अद्भुत चमत्कार लोगोंने देखे। संवत् १९६८ में श्रीरामानन्द स्वामी समाधिस्थ हुए।

श्रीकेशवदास महाराज

छिन्दवाडा जिलेके मोहगाँव स्थानमें रहनेवाले श्रीकेशवदास महाराज गृहस्थाश्रमी थे, बहुत बड़े विद्वान् और वेदान्तवेत्ता थे। उत्तम कवि थे। संस्कृत, मराठी और हिन्दीमें उनकी अनेक कविताएँ हैं, जो नागपुरकी ओर गायी जाती हैं। बड़े गम्भीर और शान्त पुरुष थे और उनके हरिकीर्तन बड़े ही प्रभावोत्पादक होते थे। परमहंस श्रीरामानन्द स्वामीको इन्होंने ही पहचानकर प्रकट किया। संवत् १९७० में श्रीकेशवदास महाराज समाधिस्थ हुए।

श्रीशंकर महाराज

अमरावती जिलेके सूरजी अंजन गाँवके श्रीसखाराम महाराजके मठमें ये पहले रहते थे। वहाँसे उठकर ये एलिचपुर पहुँचे। ये कूड़ाखाने-जैसी जगहोंमें पड़े रहते थे। पीछे धीरे-धीरे लोग इन्हें समझने लगे और इनकी सेवा करने लगे। इन्होंने लोगोंके द्वारा बहुत दान, धर्म कराया। संवत् १९७० में इन्होंने महाप्रयाण किया।

श्रीगौरीनाथ महाराज

बेलापुरके श्रीविद्यानन्द महाराजके गुरु श्रीगजानन महाराज थे और श्रीगजानन महाराजके गुरु गाणगापुरके श्रीगौरीनाथ महाराज थे। श्रीगाणगापुरमें सर्वत्र ही यह बात प्रसिद्ध है कि श्रीगौरीनाथ महाराज अवतारी पुरुष थे। इनके भजनोंमें 'गौरि गजानन विद्यानन्द नारायण या परमानन्द' ये नाम आते थे।

श्रीकेजाजी महाराज

श्रीकेजाजी महाराज वर्धाके शेलु धोराड स्थानमें रहते थे। गृहस्थाश्रमी थे और सदा ईश्वर-भजनमें मगन रहते थे। पंढरीके वारकरी थे। चांदुर-दस्तगीरके श्रीगणपति बुवा इनके शिष्य हैं। नागपुरकी ओर लोग इन्हें श्रीतुकाराम महाराजका अवतार मानते हैं।

श्रीगंगागिरिजी महाराज

(लेखक—स्वामी श्रीसहजानन्दजी भारती)

श्रीस्वामीजीका जन्म नर्मदातटपर श्रीक्षेत्र पुण्यस्तम्भ (पुणताम्बा)-के पास शाके १७३९ के लगभग हुआ था। इनके गाँवका नाम कापुस बड़गाँव था। बचपनमें ही

पिताकी मृत्यु हो जानेके कारण माताने भिक्षाके द्वारा इनका पालन-पोषण किया था। अतः पढ़नेका अवसर तो मिला नहीं। ये मल्लविद्यामें बड़े निपुण हो गये। उन दिनों इनके गाँवके पास ही मातुल ठाण ग्राममें एक बड़े विरक्त संत श्रीलक्ष्मणगिरिजी रहा करते थे। ये उनके पास जाते, बड़े प्रेमसे उनकी सेवा करते और अपनी बीती कह सुनाते। एक दिन इन्होंने एक बड़े पहलवानको पछाड़ा। जब स्वामीजीके पास गये तब बड़े गौरव एवं गर्वके साथ अपनी विजयवार्ता कही। तब स्वामीजीने कहा—'अबोध बालक! आदमीको पछाड़नेमें क्या रखा हैं? वीरता तो कालको पछाड़नेमें है।' बस, इसी वाक्यने उनके जीवनको पलट दिया। उन्हींसे दीक्षा लेकर अभ्यास करने लगे एवं थोड़े ही दिनोंमें मराठी भाषाका ज्ञान सम्पादन करके आपने वारकरी सम्प्रदायके तुकाराम, ज्ञानेश्वर, एकनाथ आदि रचित ग्रन्थोंका गम्भीर अध्ययन किया। श्रीक्षेत्र आलन्दीमें, जहाँ श्रीज्ञानेश्वर महाराजका समाधिस्थान है, रहकर अनुष्ठान करने लगे। फिर श्रीज्ञानेश्वर महाराजके अनुग्रहसे कृतार्थ होकर लोकसंग्रहमें लग गये। इनके द्वारा बहुतोंका कल्याणसम्पादन हुआ है। ब्राह्मणसे लेकर मुसलमानतक भगवन्नाम-स्मरणमें लगाये गये। आज भी यहाँके लोग बड़े सम्मानके साथ उनके जय-जयकारका नारा लगाते हैं। ये आषाढ़ी और कार्तिकीपर नियमसे पण्ढरपुरकी यात्रा करते थे। ये अपने अन्तिम जीवनमें गोदावरीके एक बड़े मनोरम टापूमें रहते थे। वहीं पचासी वर्षकी अवस्थामें शाके १८२४ के श्रावणमें आपने नित्यधाममें प्रवेश किया।

श्रीविठोबा अण्णा दफ्तरदार

जिला साताराके कऱ्हाड स्थानवासी श्रविठोबा अण्णा दफ्तरदारका जन्म संवत् १८७० में हुआ। जब ये कुछ बड़े हुए तब इन्होंने शास्त्रोंको पढ़ा और यश उपार्जन किया। ये उत्तम कीर्तनकार और शीघ्र कवि थे। ये जब अट्ठाईस वर्षके हुए तब इनके पिताका देहान्त हुआ। तीस वर्षके हुए तब पत्नी चल बसीं। इनके दो पुत्र और एक पुत्री थी। पीछे इन्हें लकवा मार गया और पचीस वर्ष वे इसी हालतमें रहे। पर इनका नियम और उपासना कभी जरा भी नहीं छूटा। श्रीरामचन्द्रजीके महान् भक्त थे। संवत् १९३० में प्रयाणकाल समीप आया जानकर स्नान-सन्ध्यादि करके ये तैयार हो गये, सबसे कह दिया और श्रीरामनवमीका उत्सव करके शरीर छोड़ दिया। इनके गजेन्द्रचंपु, सुश्लोकराघव, हेतु रामायण, विवाहतत्त्व, साधुपार्षदलाघव, प्रबोधोत्सवलाघव, नित्यक्रमलाघव आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

श्रीयशवन्तराव महाराज

श्रीयशवन्तराव महाराज काश्यपगोत्री ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। इनका अपना घर पंढरपुर जिलेके भोसे गाँवमें था और ननिहाल पूनेमें। इनका जन्म ननिहालमें संवत् १८७२ में हुआ। इनके कुलदेव श्रीनृसिंह थे। इनका चरित्रग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसे पढ़नेसे मालूम होता है कि जगदुद्धारके लिये भगवान् ही इनके रूपमें प्रकट हुए थे। दयाकी ये मूर्ति थे। इनके द्वारा सहस्रों मनुष्योंका कल्याण हुआ। इन्हें लोग 'देव मामलेदार' कहकर अपना आदरभाव व्यक्त करते थे। संवत् १९४४ में श्रीहरिस्मरण करते हुए इन्होंने अपना शरीर छोड़ा। उस समय इनकी वयस् बहत्तर वर्ष थी।

श्रीब्रह्मानन्द महाराज

श्रीब्रह्मानन्द महाराज कुरुक्षेत्रके अधिवासी थे। महाराजा रणजीतसिंहने जब अफगानिस्तानपर चढ़ाई की तब उस चढ़ाईमें ये उनके साथ थे। उस समय इनकी उम्र पचीस वर्ष थी। पीछे ये नर्मदा नदीके तटपर आकर रहे, उस समय ये बहुत वृद्ध थे, फिर भी यहाँ साठ वर्ष रहे। बम्बईमें ये प्रायः जाया करते थे। इन्होंने जब देह त्याग किया तब इनकी उम्र दो सौ वर्षकी हो चुकी थी।

श्रीसायबा महाराज

श्रीसायबा महाराज ग्वालियरनरेश श्रीजयाजीराव महाराज शिंदेके राजमहलके सामने कई वर्षतक नग्न स्थितिमें रहे थे। ग्वालियरके बड़े-बड़े अधिकारी और स्वयं महाराज श्रीजयाजीराव इन्हें बहुत मानते थे। जब कभी इनकी तबीयत होती थी तब ये राजमहलमें भी जाते थे। प्रायः मौन रहते थे, पर चाहे जब बोलते भी थे और इनका बोलना लोगोंको गाली-सा लगता था, पर अनुभवी भक्त उसे आशीर्वाद समझते थे।

श्रीविष्णु बोवा ब्रह्मचारी

ये वेदान्तके बड़े भारी पण्डित थे। बम्बईमें ईसाईमत उन दिनों बहुत प्रबल हो उठा था। इन्होंने समय-समय व्याख्यान देकर ईसाईमतका बड़े जोरसे खण्डन करना आरम्भ किया। इससे इनका बड़ा यश

श्रीबलभीम बोवा

श्रीमार्तण्डजी

श्रीसीतारामजी, इन्दौर
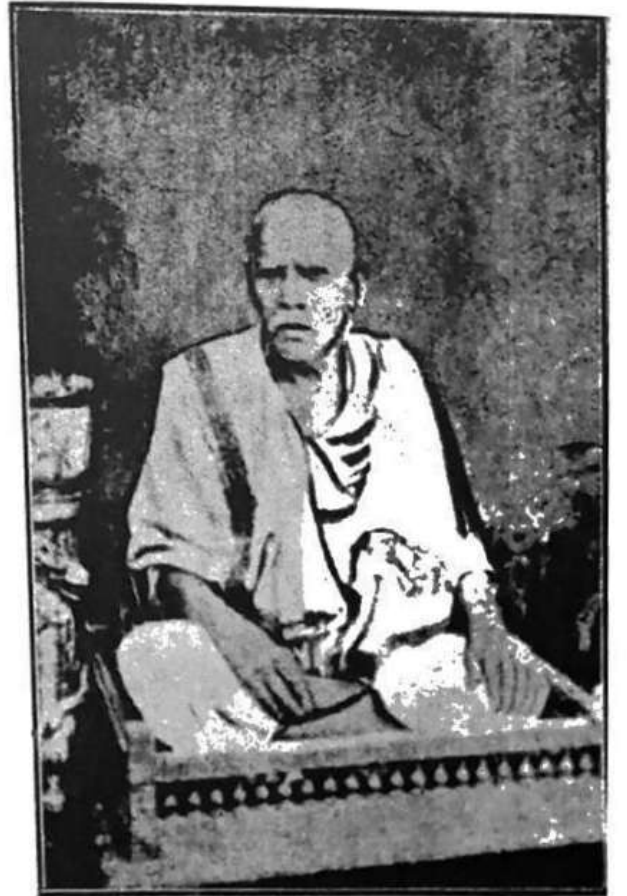
श्रीकाशीनाथजी

श्रीरामानन्दजी

श्रीकेशवदासजी

श्रीशंकरजी

श्रीगौरीनाथजी

श्रीकेजाजी
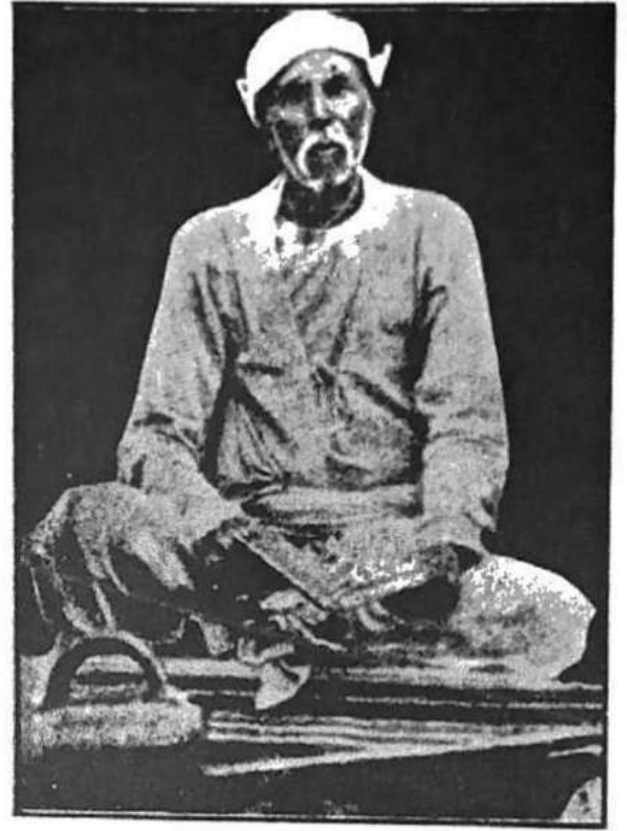
श्रीगंगागिरिजी

श्रीविठोबा आण्णा दफ्तरदार

श्रीयशवन्तरावजी
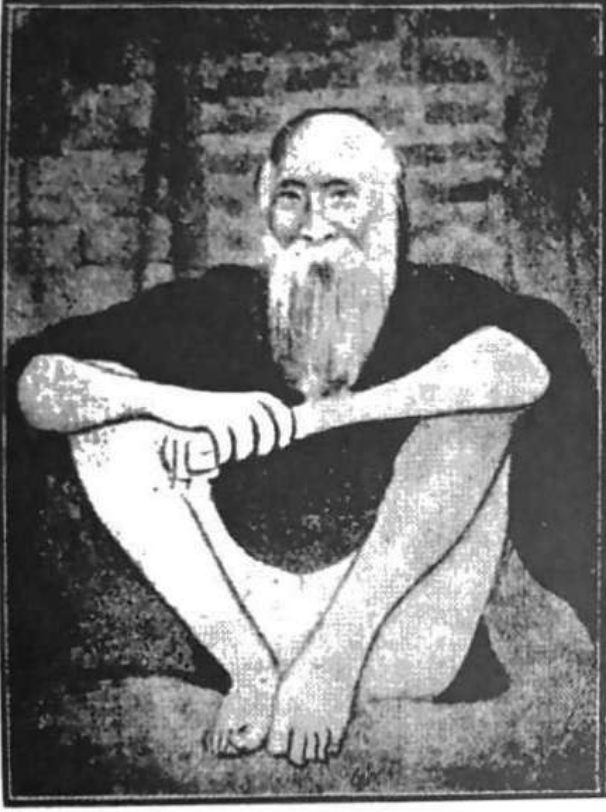
श्रीब्रह्मानन्दजी

श्रीसायबाजी

श्रीविष्णुबोवा ब्रह्मचारीजी

श्रीरामचन्द्रजी

फैला और लोग इन्हें बहुत मानने लगे। 'भावार्थसिन्धु' नामक वेदान्तविषयक एक छोटा-सा पर बहुत ही अच्छा ग्रन्थ इन्होंने लिखा है। वेदोक्तधर्मप्रकाश, सेतुबन्धिनी टीका आदि ग्रन्थ भी इनके लिखे हुए हैं। कसाईखानोंमें जा-जाकर इन्होंने कत्ल किये जानेवाले प्राणियोंको दिखा-दिखाकर व्याख्यान दिये जिससे कसाइयोंके अन्त:करण भी पसीजे। इन्होंने अपने जीवनमें कई स्थानोंमें गोहत्या बंद करायी। बड़े भारी परोपकारी होनेके साथ ही बड़े ज्ञानी थे और योगी भी।

श्रीरामचन्द्र महाराज

जिजापुर—तिकोटेके श्रीरामचन्द्र महाराज गृहस्थाश्रमी थे और राजयोगी थे। कुरुन्दवाडके चीफ श्रीमन्त दादासाहब पटवर्धनने इनसे दीक्षा ली थी। ये बड़े अधिकारी पुरुष थे। गीतामृत शतपदी, गीता पंचदशी आदि वेदान्तग्रन्थोंके कर्ता ह० भ० प० श्रीबाबा गर्दे और आलन्दीके श्रीमत्परमहंस माधवेन्द्र स्वामी इन्हींके शिष्य थे। बम्बईमें और आसपास इनका बहुत शिष्यसमुदाय है। इनकी समाधि विजापुरमे है।

श्रीरामजी महाराज

इनके जन्मस्थानादिका कुछ पता नहीं है। मोर्शी गाँवमें ये कई वर्ष रहे। इनका शरीर सदा एक-सा ही रहा, उसमें कभी कोई घट-बढ़ नहीं देखनेमें आयी। ये विदेहस्थितिमें थे, किसीसे कुछ बोलते-चालते नहीं थे। कभी-कभी मन-ही-मन बोला करते थे, पर उसका कुछ मतलब समझमें न आता था। खानेको कोई कुछ ला देता था तो खा लेते थे, नहीं तो कोई जरूरत नहीं रखते थे। लोगोंने इन्हें न जानकर इनसे कई बार बेगारी ली, पर जब उन्हें इनकी अलौकिकताका अनुभव होने लगा तब पछताये और इनके भक्त हो गये।

श्रीविश्वनाथ दादा पाटकर

संवत् १८५८ में इनका वाईमें जन्म हुआ। इन्हें मराठीमें केवल प्राथमिक शिक्षा प्राप्त हुई। इनका विवाह होनेके पश्चात् इनके पिता स्वर्गवासी हुए। तब वैराग्य होनेपर ये वाटेगाँवके वासुदेव स्वामीके पास चले गये। तीस वर्ष गुरुकी सेवा की और भवसागरको पार कर गये। संवत् १९४० में इनका देहावसान हुआ।

श्रीचिन्तामणि महाराज

बेलगाँव तालुकाके घडूर गाँवमें आपका जन्म हुआ। पूर्वाश्रमका आपका नाम भीमदास धर्माधिकारी था। ये नाथसम्प्रदायके अनुयायी थे और अवधूतकी उपासना करते थे। अवधूतगीताका बार-बार अनुशीलन करनेसे इनके चित्तमें वैराग्य उदय हुआ। बीस वर्षतक ये तीर्थाटन करते रहे। श्रीबद्रिकाश्रम, श्रीरामेश्वरम्, श्रीजगन्नाथ, श्रीद्वारका आप गये और देवताके दर्शन किये। बालकों और गौओंसे आपकी बड़ी प्रीति थी। वह 'चिन्तामणि' मन्त्रका अहर्निश उच्चारण करते थे। यही उनके गुरुदेवका नाम था। गोसेवा आपके जीवनकी मुख्य वासना थी।

श्रीगोपाल महाराज

काशीमें श्रीसदाशिव उर्फ नाना महाराजके नामसे श्रीमद्भागवतके बड़े प्रसिद्ध वक्ता हो गये हैं। इनके वक्तृत्वसे स्वयं व्यासदेवने प्रसन्न होकर उन्हें व्यासकी पदवी दी। उन्हींके वंशमें श्रीगोपाल महाराज हुए जिनका जन्म संवत् १९४७ में हुआ। ये श्रीमद्भागवतके बड़े प्रसिद्ध वक्ता और भगवान्के परम भक्त हुए।

श्रीपाटिल बुवा

बेलगाँव जिलेमें नरसोबाकी वाड़ीसे दो-तीन कोसपर दत्तपाड़ नामक स्थानमें इनका जन्म हुआ। बचपनमें इनके मुखसे जो भी बात निकलती वह सच ही होकर रहती थी। इनका रहन-सहन और मुखाकृति देखकर लोग इन्हें पागल समझते थे। बारह वर्षतक ये गाँवसे अदृश्य हो गये थे। इन्होंने किसी स्कूल या पाठशालामें कभी कोई शिक्षा नहीं पायी। फिर भी वेदान्तका बड़ा ही मार्मिक और यथाशास्त्र निरूपण करते थे। सांगली, बेलगाँव, धारवाड़ आदि स्थानोंमें इनके अनेक शिष्य हैं। इनका देहावसान हुए अभी थोड़े ही वर्ष बीते हैं। स्व० किर्लोसकर रघुनाथ गोपाल इनके शिष्य थे जिन्होंने 'सद्बोधपदरत्नाहार' ग्रन्थ लिखकर श्रीगुरुस्तवन किया है। उनका 'भगवद्गीतासार' ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है।

श्रीहरि महाराज

शेलु धोराड़के सुप्रसिद्ध संत श्रीकेजाजी महाराजके ये सद्गुरु थे। आत्मसाक्षात्कारसम्पन्न थे, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं।

श्रीवाटोपंत महाराज

कऱ्हाड (जि० सातारा)-से सात कोसपर वाटेगाँव नामक स्थानके सुप्रसिद्ध संत श्रीवासुदेव स्वामी, उनके शिष्य श्रीविश्वनाथ दादा पाटकर और श्रीविश्वनाथ दादाके शिष्य श्रीवाटोपंत थे। इन्हें अपने श्रीगुरुसे भागवत-दीक्षा मिली। ये हरिकीर्तन किया करते थे, सब श्रोता चित्रवत् मुग्ध हो जाते थे।

श्रीबालाप्पा महाराज

धारवाड़ जिलेके हावेरी स्थानमें श्रीबालाप्पा रहते थे। गृहस्थ थे, सराफीका धन्धा करते थे। पुत्र-पुत्रीके विवाह हो चुकनेपर सद्गुरु ढूँढ़ने निकले। अक्कलकोटके स्वामी महाराजके दर्शन होनेपर वहीं ठहर गये। श्रीबालाप्पाने गुरुकी खूब सेवा की। जीवनके शेष भागमें इन्होंने संन्यास लिया था और संवत् १९६६ में ये समाधिस्थ हुए।

श्रीसहजानन्द महाराज

श्रीसहजानन्द दक्षिण कानडामें प्रसिद्ध संत हुए हैं। ये ब्रह्मावरमें रहते थे। संवत् १९०७ में इनका जन्म हुआ और संवत् १९६८ में देहविसर्जन। इन्होंने पण्ढरीकी लगातार चालीस वारियाँ की और इनके सिवा और भी अनेक तीर्थोंकी यात्राएँ की। कर्णाटकमें इनके भक्त बहुत हैं। ये बड़े प्रेमी थे।

श्रीसोरकय्या स्वामी

सन् १८१५ ई० में ये पहले-पहल मद्रासके नारायणवरम् नगरमें प्रकट हुए। इससे पहलेका हाल किसीको मालूम नहीं। नारायणवरम्में ये ऐसे रहते थे जैसे कोई कंगाल और पागल-सा आदमी हो। सिरपर बेढंगे तौरपर एक पगड़ी बँधी रहती थी, मैले कपड़े पहने और ओढ़े रहते थे। पर इनके भाषणमें बड़ा आकर्षण था और लोग बड़ी नम्रतासे उनकी बातें सुनने लगे। इनका उपदेश बस यही होता था कि प्राणिमात्रपर दया करो और पीड़ितोंको आश्रय दो। प्राणिमात्रमें इनकी समबुद्धि थी। ये बड़े चपल, चतुर और त्रिकालज्ञ थे। चाहे जितना भी चलते, पर कभी थकते नहीं थे। ये कभी-कभी भिक्षा माँगते। इनके हाथमें भिक्षा और जलका पात्र (सोरकायी) होता था। इसीसे लोग इन्हें सोरकय्या स्वामी कहते थे। इनके मुखसे जो बात निकलती थी वह सच होकर ही रहती थी। संवत् १९५७ में ये समाधिस्थ हुए। इन्होंने अपने भक्तोंको अनेक चमत्कार दिखाये।

श्रीवसाप्पा स्वामी

धारवाड़ जिलेके तिमापुर स्थानमें इनका जन्म हुआ, बचपनमें १५ वर्षतक ये पिताकी आज्ञा और सेवामें रहे। पन्द्रहवें वर्ष इन्होंने प्रपंचका त्याग किया और संत गगनाचार्यसे दीक्षा ली। बीस वर्ष उनके साथ रहकर योगाभ्यास किया। ये लिखे-पढ़े नहीं थे, पर वेदान्त और पुराण-श्रवणमें इनकी बड़ी रुचि थी। हिन्दी, मराठी और कानडी भाषा जानते थे और इन भाषाओंमें इन्होंने पंचदशी, योगवासिष्ठ, आत्मपुराण, भगवद्गीता आदि ग्रन्थ अनेक बार श्रवण किये थे। बीस वर्ष गुरुसेवामें रहनेके पश्चात् इन्होंने तीर्थयात्रा आरम्भ की। काशीमें पन्द्रह वर्ष रहकर उत्तर भारतके सब तीर्थोंमें हो आये; फिर वक्कुन्द स्थानमें पचीस वर्ष रहे; पश्चात् पाँच वर्ष दक्षिणके तीर्थोंमें भ्रमण किया; पुनः वक्कुन्दमें आकर चार वर्ष रहे। संवत् १९७४ में ये समाधिस्थ हुए।

श्रीमदुर महादेव शास्त्री

संवत् १८८८ में इनका जन्म हुआ। ये जब पाठशालामें पढ़ते थे तब इनके पढ़नेका ढंग देखकर शिक्षक चकित हुआ करते थे। इन्होंने अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करके वेदाध्ययन और योगविद्यामें पूर्णता लाभ की थी। माता-पिताके बहुत आग्रह करनेपर इन्होंने विवाह किया। जब इनके पुत्र हुआ तब इन्होंने गृहिणीसे कहा कि, 'इस बच्चेको सम्हालो,' यह तुम्हारा सहारा है।' यह कहकर वे घरसे निकल गये। ये बहुत बड़े चमत्कारी पुरुष थे। शरीर छूटनेके समय (संवत् १९७१ में) इनकी उम्र ८३ वर्ष थी।

श्रीलवन्दे महाराज

संवत् १८८८ में सात महीनेके गर्भसे ही इनका जन्म हुआ। बचपनमें ये बड़े खिलाड़ी थे। दो बार इन्हें नाग देवताओंने आकर दर्शन दिये और फन डुलाते हुए इनके सामने स्थिर रहे। इन्हें स्वप्नमें ही वैद्यकज्ञान प्राप्त हुआ और ये सर्वमान्य सद्वैद्य हुए। कितने ही मरणासन्न

श्रीरामजी
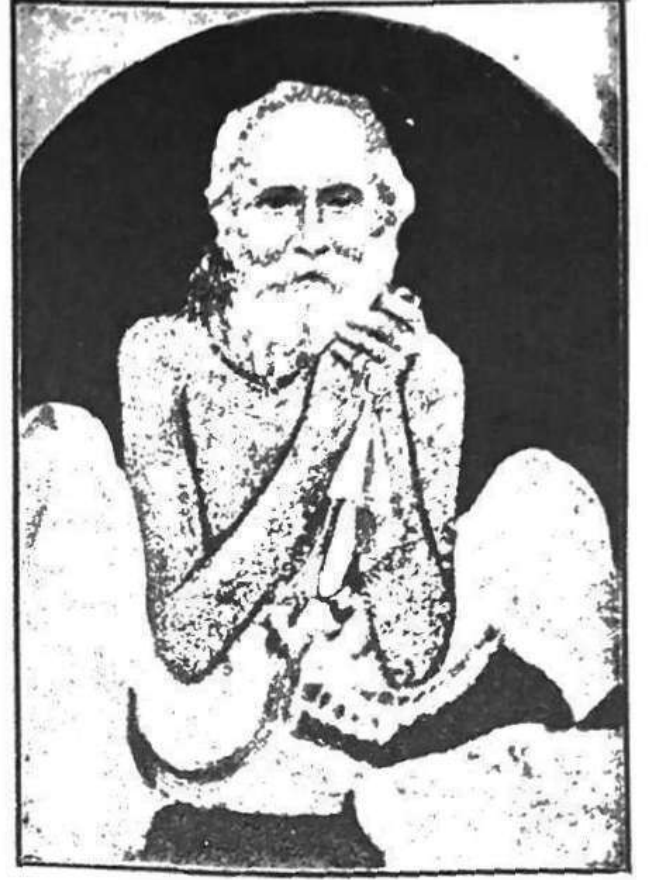
श्रीचिंतामणीजी

श्रीविश्वनाथजी

श्रीगोपालजी

श्रीबाबा महाराज उर्फ श्रीपाटील बुवा

श्रीहरीमहाराज
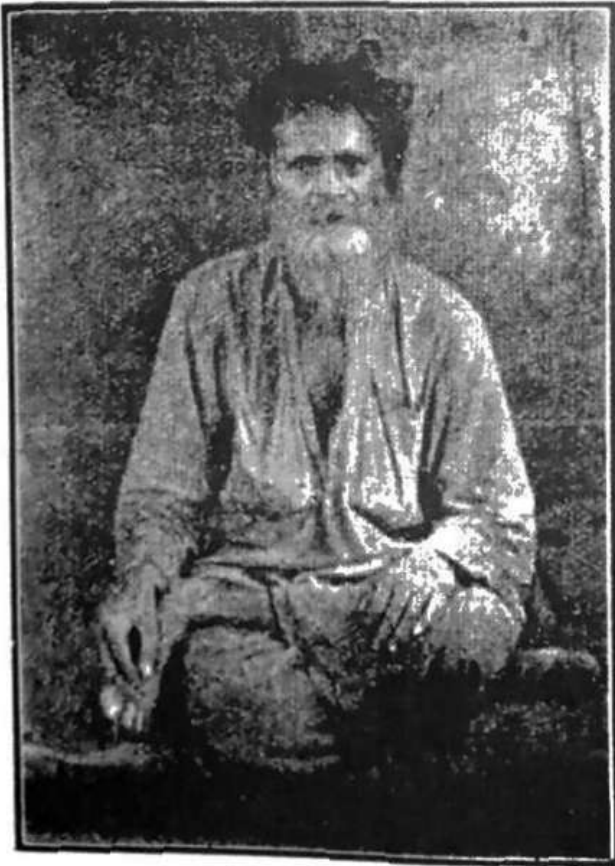
श्रीसीतारामजी

श्रीबाटोपन्त

श्रीबालप्पा स्वामी

श्रीसहजानन्दजी

श्रीसोरकय्यास्वामी

श्रीबसप्पा स्वामी

सिद्ध बबा सुन्दरनाथजी
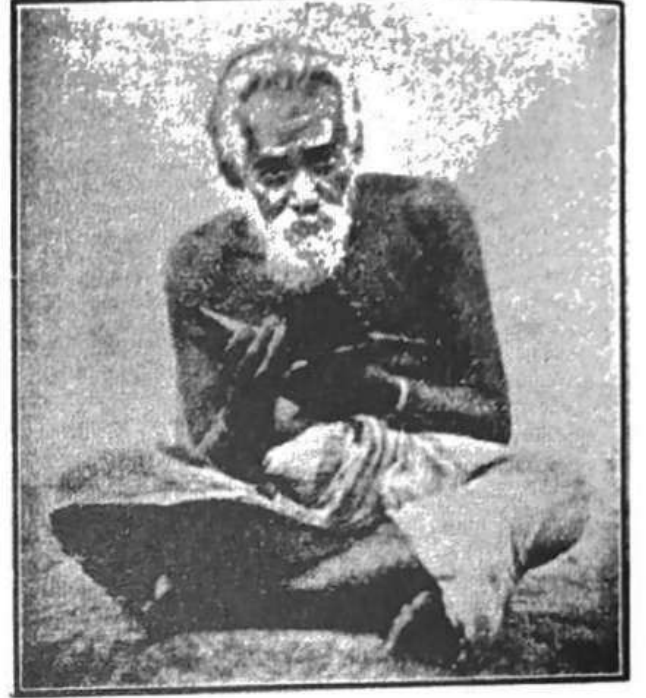
श्रीमदुर महादेव शास्त्री

श्रीलवंदे महाराज
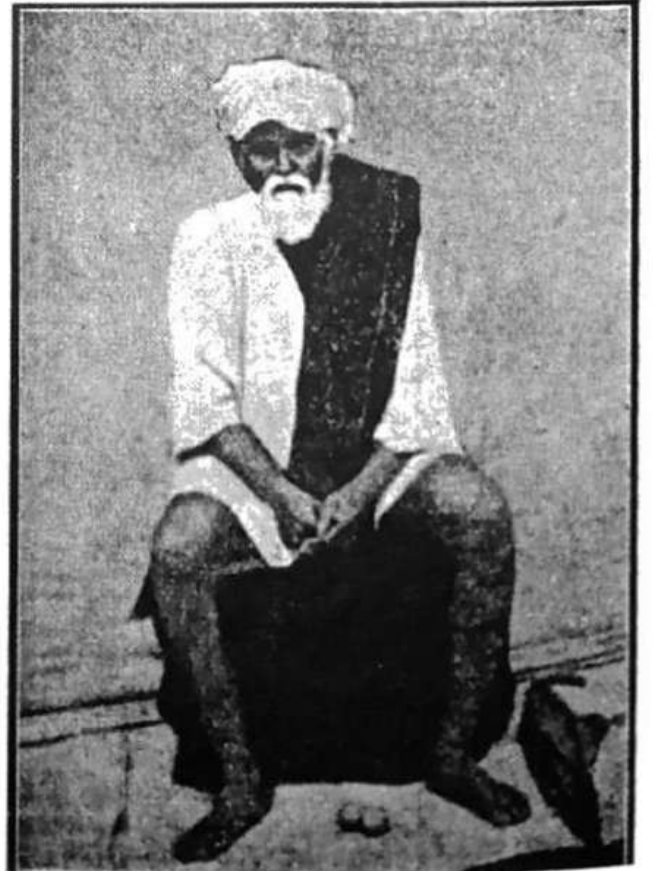
श्रीचिपचिप महाराज

रोगियोंको इन्होंने अच्छा किया। ये बड़े कर्मनिष्ठ और भगवद्भक्त थे। इनकी साधारण बातचीतसे वेदार्थ प्रकट होते थे। बड़े नि:स्पृह और सत्यनिष्ठ थे। लोकोपकार करनेमें ये अद्वितीय ही थे। मृत्युसमयमें इनकी उम्र ८६ वर्ष थी। अपनी मृत्युका दिन इन्होंने पहलेसे बता रखा था।

श्रीबाबा सुन्दरनाथजी

(लेखक—श्रीरामलाल शाहजी)

आप उत्तराखण्डके पुनीत तीर्थ श्रीबद्रीनारायणजीमें रहते थे। निरन्तर आसन बाँधे बैठे रहते, न कभी भोजनकी इच्छा प्रकट की और न तो तृप्तिकी ही। सैकड़ों यात्री आते, अपने हाथों मेवा-मिष्टान्न आदि खिलाते, पर पता नहीं वे चीजें कैसे पच जाती थीं। इनके सामने चढ़ावेमें आयी हुई चीजें दूसरे उठा ले जाते। इन्होंने कभी स्पर्श नहीं किया। इन्हें कभी किसीने शौच आदिके लिये भी आसनसे उठते नहीं देखा। एक बार किसीने आपकी जंघापर जलती हुई लकड़ी रख दी। परिणामत: छ: इंच जाँघ जल गयी पर आपको किंचित् कष्ट नहीं हुआ। यथास्थान विराजमान रहे। सब ऋतुओंमें आप वहीं नग्नवेषमें उसी स्थितिमें पाये गये हैं। दस वर्षसे उनके दर्शन नहीं हुए। परन्तु उस हिमाच्छादित प्रदेशमें जहाँ कोई उतना ऊँचा वृक्ष न है, न हो सकता है, ठीक उनके बैठनेके स्थानपर एक वृक्ष उत्पन्न हो गया है। हमारा ऐसा निश्चय है कि यह वृक्ष उन्हीं महात्माका चमत्कार है।

श्रीमौलाना साहेब

मौलाना साहेब काबुलकी तरफसे आकर बम्बईमें ठहर गये थे। कुछ दिन खुले मैदानमें रहते थे, पीछे बांद्राकी मसजिदमें रहने लगे। सन् १९०९ ई० में ये इस लोकसे चले गये। एक बार एक सुशिक्षित गौड़ सारस्वत ब्राह्मण, जिनका एक अंगरेजी दवाखाना था, इनके पास गये; दर्शन करके लौटने लगे, तब मौलानाने एक जगहकी ओर संकेत करके बैठनेको कहा। ब्राह्मण वहाँ ऐसे बैठ गये कि कहते हैं कि ५ वर्षतक उठे ही नहीं; वहाँ उनकी काया बदल गयी और उसी स्थानमें उनका देहान्त हुआ। बांद्रामें प्रतिवर्ष मौलानाकी स्मृतिमें उत्सव होता है।

श्रीबापूशाह जिंदेवली

अहमदनगरमें श्रीबापूशाह जिंदेवली बड़े प्रसिद्ध औलिया हो गये। अहमदनगर और आसपासके स्थानमें इनकी बड़ी कीर्ति है। ये अन्त:साक्षी-साक्षात्कारी सत्पुरुष थे।

श्रीतरटी महाराज

(लेखक—श्रीयुत ए० वी० तालचेरकर)

इन्दौर-छावनीमें नदीकिनारे बुलेसाहबके पुलके नीचे एक सिद्ध पुरुष तीस-चालीस वर्षतक थे। इनके पास टाटके दो टुकड़े रहते थे, एक बिछाते थे और एक ओढ़ते थे, इसीसे लोग इन्हें 'तरटी बुवा' कहा करते थे। ये किसी घर या झोंपड़ीमें नहीं रहते थे, गरमी, सरदी, वर्षा सब ऋतुओंमें नदीकिनारे किसी वृक्षके नीचे पड़े रहते। कहते हैं कि ये उज्जैनसे इन्दौरमें आये थे। प्राणिमात्रमें तरटी महाराजकी समबुद्धि थी, यहाँतक कि इनके पैरमें एक बार घाव हो गया और उसमें कीड़े पड़ गये। घावको धोकर साफ करके मरहम-पट्टी करनेके लिये डाक्टर आये और कीड़े निकालने लगे। इन्होंने उन्हें रोक दिया, कहा 'इन जीवोंको क्यों कष्ट देते हो?'

तरटी महाराज बच्चोंको बहुत प्यार करते थे, अपने हाथों उन्हें नहलाते थे, उनके साथ नदीमें कूदते और खेलते थे। इन्दौरकी दोनों महारानी साहिबा श्रीतरटी महाराजके दर्शनोंके लिये जाया करती थीं। देवासके महाराज मह्लारराव पवार भी बारंबार इनके दर्शनार्थ इन्दौर जाया करते थे। एक मुसलमान स्त्री तरटी महाराजकी सेवा किया करती थी। वह अभी जीवित है, उसे इन्दौर-सरकारसे नौ रुपये मासिक वृत्ति मिलती है। संवत् १९७६ में महाराजका निर्याण हुआ। उस समय इनकी जो रथी निकली उसकी यात्रामें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्मिलित थे और उनके साथ रेसिडेन्सीके यूरोपियन सुपरिनटेंडेंट भी नंगे सिर चल रहे थे। महाराज जीवितकालमें जिस जगह बैठते थे उसीके पिछवाड़े उन्हें समाधि दी गयी।

श्रीसफीकअली शाह

कुछ वर्ष पहले बम्बईमें ये महात्मा थे। इनकी कोई खास जगह नहीं थी। जिन लोगोंसे इनका प्रेम हो

श्रीमौलाना

श्रीबापूशाह जिन्देवली
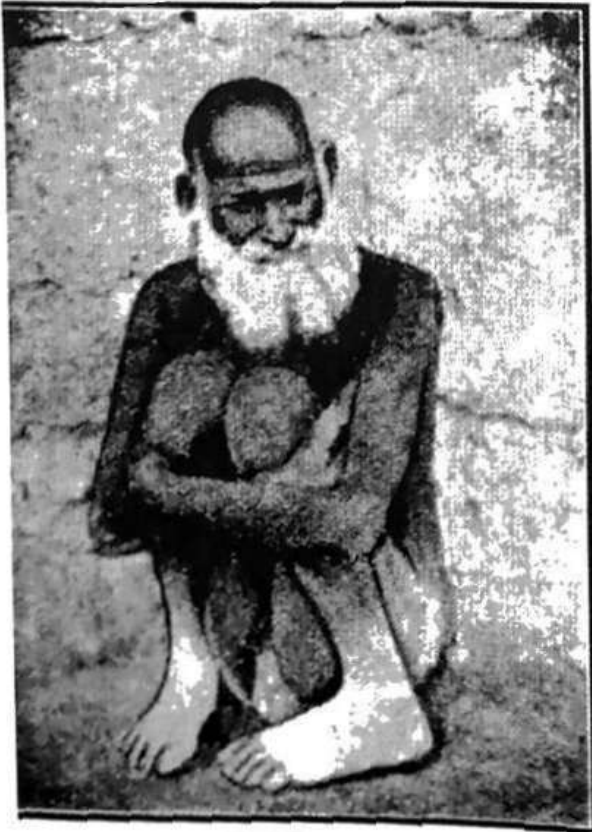
श्रीबनेमिया

श्रीतरटी
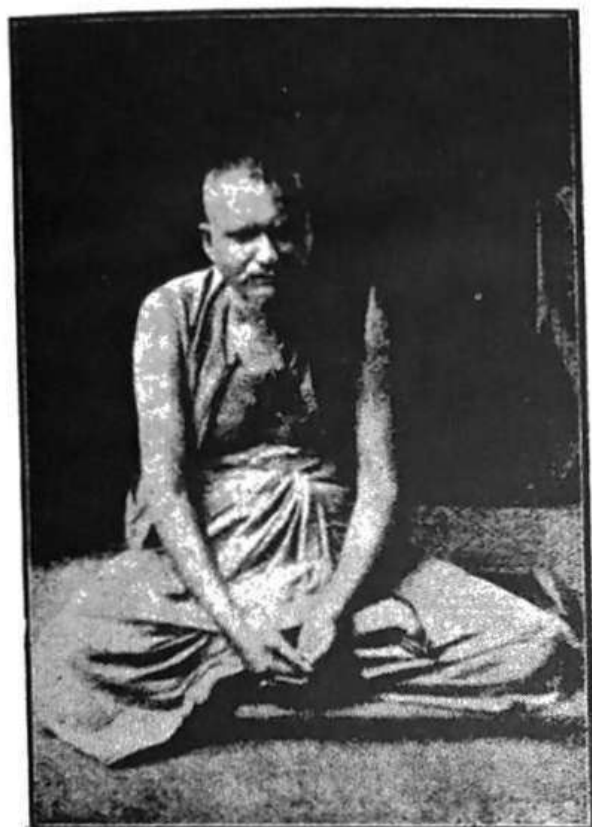
श्रीशफीकअली शाह

श्रीसाईंजी

श्रीमिस्किन शाह

मौलवी हमाल

जाता उनके पास ये आप ही चले जाते और उनसे मिल आते थे। इनके चेहरेपर कभी किसीने क्रोध, विषाद, क्षोभ या चिन्ताकी रेखा नहीं देखी। सदा शान्त और प्रसन्न रहते थे, इनके दर्शनमात्रसे आनन्द होता था। श्रीवाग्देव महाराज इन्हें बहुत प्यार करते थे।

श्रीसाईं महाराज

बम्बईकी लोहारचालमें ये महात्मा मुग्धावस्थामें रहते थे। हिन्दू, मुसलमान, पारसी सबकी ओर प्रेमभरी समदृष्टिसे देखते थे। चाहे जिसकी दूकानसे चाहे जो चीज ये उठा लेते और देखकर जहाँ-की-तहाँ रख देते थे। लोग इनके सामने फल-फूल, मेवा-मिठाई जो कुछ लाकर रख देते उसमेंसे कुछ ग्रहण करके हँसकर चल देते थे। बड़े-बड़े धनी मुसलमान इनके अनन्यभक्त थे। इनके बदनपर कभी-कभी मूल्यवान् रत्नोंके आभूषण देख पड़ते और कभी लोहेके आभूषण भी। एक बार (सन् १९१० ई० में) इनकी इच्छाके अनुसार लोग इन्हें अस्पताल ले गये। अस्पताल पहुँचकर वहीं इन्होंने अपनी पवित्र काया धरतीपर रख दी और आप अदृश्य हो गये।

श्रीमिस्किन शाह

ये भोपालसे बम्बईमें आये। पहले वरली स्थानमें रहते थे, पीछे एक धनी हिन्दूकी वाड़ीमें रहने लगे। बड़े दिव्य भव्य पुरुष थे, दर्शनमात्रसे बड़ी शान्ति और प्रसन्नता प्राप्त होती थी। ७० वर्षकी अवस्थामें इनका देहावसान हुआ। परेल-भोईवाडाके कब्रिस्तानमें इनकी समाधि है।

श्रीमौलवी हमाल

निजाम हैदराबादके नाँदेड़ नामक गाँवमें एक मुसलमान जुलाहे-कुलमें इनका जन्म हुआ। ये बचपनसे ही औलिया थे। बड़े प्रसन्नमुख और तेजपुंज थे। इनके शरीर और मुखाकृतिमें कभी किसीने कई फर्क नहीं देखा। लिखे-पढ़े आदमी नहीं थे। कातना-बुनना भी नहीं जानते थे। धन्धा इनका कुलीगिरी था। चाहे जितना बड़ा बोझ ये उठा लेते और ठिकानेपर पहुँचा देते। इसीकी कमाई खाते थे। लोग इनके दर्शनोंकी प्रतीक्षा किया करते थे, पर ये दर्शन देना पसंद नहीं करते थे। अथवा कभी-कभी अनपेक्षित रीतिसे लोगोंके सामने आ जाते। ८२ वर्षकी अवस्थामें संवत् १९७३ में इन्होंने अपना शरीर छोड़ा। इनका गुणगान करनेवाले इनके अनेक भक्त हैं।

संत विष्णुपुरी और उनकी भक्तिरत्नावली

(लेखक—श्री एम० आर० मजूमदार, एम० ए०, एल-एल० बी०)

अपने विषयमें विष्णुपुरीने भक्तिरत्नावलीमें केवल इतना ही लिखा है कि वे परमहंसकोटिके संन्यासी थे और तिरहुतके रहनेवाले थे। नाभाजीने अपने भक्तमालमें इनका उल्लेख किया है। नाभाजी सत्रहवीं शताब्दीमें हुए थे, अतः विष्णुपुरी अवश्य ही उनके पूर्ववर्ती होने चाहिये। उनकी भक्तिरत्नावलीका पन्द्रहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें कृष्णदास लौरीयके द्वारा बंगलामें अनुवाद हुआ था जिससे यह अनुमान होता है कि विष्णुपुरी चौदहवीं शताब्दीके अन्तमें विद्यमान रहे होंगे। हिन्दी विश्वकोषमें लिखा है कि विष्णुपुरीका दूसरा नाम वैकुण्ठपुरी था और ये मदनगोपालके शिष्य थे। इन्होंने भगवद्भक्तिरत्नावली, भागवतामृत, हरिभक्तिकल्पलता और वाक्यविवरण ये चार ग्रन्थ लिखे थे।* इन्होंने भक्तिरत्नावली किस प्रकार लिखी इस सम्बन्धमें तीन आख्यायिकाएँ प्रचलित हैं। पहली आख्यायिका जो विश्वकोषमें दी गयी है और भक्तमालके आधारपर लिखी हुई बतायी जाती है इस प्रकार है—

(१) विश्वकोषमें लिखा है कि विष्णुपुरी अधिकतर काशीमें रहते थे। कहते हैं एक बार पुरुषोत्तमक्षेत्रसे भगवान् श्रीनीलाचलनाथने विष्णुपुरीके नाम निम्नलिखित सन्देश भेजा 'पुरी! मैं जानता हूँ कि तुम भुक्ति, मुक्ति दोनों प्राप्त करनेके लिये काशीमें बस गये हो और मैं ठहरा वनवासी—मैं तुम्हें न भुक्ति दे सकता हूँ न मुक्ति। इसीलिये कदाचित् तुम यहाँ आना पसन्द नहीं करते। फिर भी मैं तो यही आशा करता हूँ कि तुम्हारे दर्शन मुझे अवश्य होंगे।'

* रूपगोस्वामीकी पद्यावलीमें विष्णुपुरीके कुछ श्लोक तैरभुक्त कवि विष्णुपुरीपादके नामसे उद्‌धृत किये गये हैं, किन्तु यह निश्चयरूपसे नहीं कहा जा सकता कि ये विष्णुपुरी कौन थे?

भगवान् श्रीनीलाचलनाथके इस प्रेम, वात्सल्य एवं व्यंगभरे वचनोंको सुनकर विष्णुपुरी गद्गद हो गये और उन्होंने उसके उत्तरमें निम्नलिखित सन्देश भगवान्के पास भिजवाया—

'प्रभो! मैं न तो भुक्ति जानता हूँ न मुक्ति, न मुझे गयाका पता है न काशीका और न मुझे मथुरा, वृन्दावन तथा न किसी अन्य स्थानका ही पता है। न मैं आपको जानता हूँ न आपकी महिमाको। मैं तो केवल इतना ही जानता हूँ कि जबसे आपके पावन नामने मेरे श्रवणरन्ध्रोंमें प्रवेश किया है तबसे मैं बराबर अपने हृदयमें उस नामकी माला निरन्तर धारण किये रहता हूँ। अब जब आपने ही कृपा करके मुझे अपने चरणोंमें बुलाया है तो अवश्य मैं आपके चरणोंमें उपस्थित होऊँगा।'

इस घटनाके कुछ समय बाद विष्णुपुरी अपनी विष्णुभक्तिरत्नावली नामक पुस्तको बगलमें लेकर पुरुषोत्तमक्षेत्र गये और भगवान् जगदीशका दर्शनकर उनके चरणोंमें समर्पित कर दिया। इससे विष्णुपुरीका वैष्णवसमाजमें बड़ा आदर होने लगा।

दूसरा इतिहास जो वैष्णवोंमें प्रसिद्ध है, यह है कि नदियाके महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव और विष्णुपुरी एक बार काशीमें मिले थे, जब चैतन्य महाप्रभु वृन्दावनसे पुरीको जा रहे थे। उस समय दोनों ही एक दूसरेके प्रति बड़े आकर्षित हुए। एक बार विष्णुपुरीके एक शिष्य काशीसे जगन्नाथपुरी गये और वहाँ चैतन्यमहाप्रभुसे मिलकर पूछा कि आपको विष्णुपुरीके लिये कोई सन्देश भेजना हो अथवा उनसे कोई प्रार्थना करनी हो तो कृपाकर बताइये। तब श्रीचैतन्यदेवने सभी वैष्णवोंके सामने उस शिष्यके द्वारा विष्णुपुरीको यह कहला भेजा कि आप हमारे लिये एक सुन्दर रत्नावली भेजिये।

श्रीचैतन्य महाप्रभु-जैसे महान् त्यागीके मुँहसे इस प्रकारके शब्द सुनकर उनके साथियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ, परन्तु उन्हें डरके मारे कुछ कहनेका साहस नहीं हुआ। कुछ दिन बीत जानेपर विष्णुपुरीका वही शिष्य फिर जगन्नाथपुरी आया और महाप्रभुके हाथमें एक पुस्तक देकर बोला कि गुरुदेवने आपके आदेशानुसार यह रत्नावली आपकी सेवामें भेजी है। यह सुनकर महाप्रभुके साथियोंको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने महाप्रभुके आशयको न समझ सकनेपर बड़ा पश्चात्ताप किया। श्रीचैतन्य महाप्रभुने उस रत्नावलीको भगवान् श्रीनीलाचलनाथके चरणोंमें रख दिया।

तीसरी कथा यह है कि संत विष्णुपुरीके एक मित्र थे माधवदास। उन्होंने एक बार विष्णुपुरीसे एक अनोखे ढंगकी रत्नावली माँगी जिसको धारण करनेसे सुख मिले। अपने उन्हीं मित्रके अनुरोधसे विष्णुपुरीने कुछ चुने हुए रत्नोंको संगृहीतकर उन्हें पुरुषोत्तमक्षेत्र भेज दिया जहाँ उनके मित्र रहते थे।

भक्तिरत्नावलीमें भागवतमेंसे नवधा भक्तिविषयक कई सुन्दर वाक्य संगृहीत किये गये हैं और उन्हें विषयके अनुसार तेरह भागोंमें विभक्त किया गया है। प्रत्येक भागका नाम 'विरचन' रखा गया है। जो लोग पूरी भागवत नहीं पढ़ सकते उनके लिये यह ग्रन्थ बड़े कामका है। अपने ग्रन्थके सम्बन्धमें वे स्वयं लिखते हैं कि मैं चाहे कितना भी अज्ञ एवं अल्पबुद्धि होऊँ, मेरे इस प्रयासका भक्त लोग अवश्य आद करेंगे। मधुमक्खीमें कितनी बुद्धि है और क्या-क्या गुण हैं इस बातको कोई नहीं पूछता, किन्तु उसके द्वारा संचित मधुका सभी बड़े चावसे आस्वादन करते हैं।

भक्तिरत्नावलीपर कई टीकाएँ मिलती हैं। इनमेंसे पहली टीका श्रीधरद्वारा संस्कृतमें लिखी गयी है, इसका नाम है कान्तिमाला। दूसरी टीका हिन्दी गद्यमें लिखी गयी है। तीसरी टीका हिन्दीके दोहे, चौपाइयोंमें लिखी गयी है उसका नाम है भक्तिप्रकाशिका। इसके अतिरिक्त भक्तिरत्नावलीपर दो टीकाएँ गुजरातीमें भी मिलती हैं। भक्तिप्रकाशिकाके अनुसार भक्तिरत्नावली विरचनोंमें निम्नलिखित विषयोंका वर्णन हुआ है। पहले विरचनमें भक्तिकी महिमाका वर्णन हुआ है, दूसरेमें महत्पुरुषोंके तथा उनके संगके प्रभावका वर्णन है। तीसरे विरचनमें भक्तिके कई भेद बताये गये हैं। चौथेसे लेकर बारहवें विरचनतक नवधा भक्तिका अलग-अलग वर्णन है और तेरहवें विरचनमें शरणागतिका वर्णन है।

स्वामी श्रीविशुद्धानन्दजी

काशीके सुविख्यात महात्मा श्रीविशुद्धानन्दजी महाराजका नाम आज कौन नहीं जानता? आप 'गन्धबाबा' के नामसे प्रख्यात थे। आपके शरीरसे सदा एक अपूर्व दिव्य गन्ध निकलती रहती थी। सारे आश्रममें इनके शरीरकी सुवास फैली रहती थी। अभी हालहीमें लगभग ८५ वर्षकी अवस्थामें आपने कलकत्तेमें अपनी

योगलीला संवरण की।

बर्दवान जिलेके बंडूल नामक गाँवमें आपका जन्म हुआ था। पिताका नाम अखिलचन्द्र चट्टोपाध्याय और माताका नाम राजराजेश्वरीदेवी था। चरित्रबल, धैर्य, अध्यवसाय, मानसिक संयम एवं भगवान्पर निर्भरता आपके जन्मजात गुण थे। निर्जन एकान्त स्थानमें ध्यान लगाना ही आपका मुख्य व्यसन था। शिशुपनसे ही ये असाधारण मातृभक्त थे। एक बार माताको आपने प्रार्थनाके बलपर मरनेसे बचा लिया। एक बार इन्हें एक पागल कुत्तेने काट खाया और जलातंकसे ये मृत्युकी बाट देख रहे थे कि श्रीश्रीनिगमानन्द परमहंसके अनायास दर्शन हुए और उन्होंने इन्हें योगबलके द्वारा आसन्नमृत्युसे बचा लिया। कुछ दिनोंके बाद ये ही महात्मा इन्हें अलौकिक उपायोंसे अपने साथ आकाशमार्गद्वारा बंगालसे बहुत दूर हिमालयमें ले गये और मानसरोवरके समीप अपने गुरुदेवके चरणोंमें उपस्थित कर दिया। मानसरोवरके समीप निवास करनेवाले श्रीनिगमानन्दजीके गुरु हजारसे भी अधिक वर्षोंकी उम्र होनेपर भी आजतक स्थूल शरीरसे विद्यमान हैं। इन्होंने बालकको यथाविधि शक्तिसंचारपूर्वक दीक्षा देकर योगशिक्षा और ब्रह्मचर्यव्रत-पालनके लिये ज्ञानगंज-आश्रममें भेज दिया। बाबाजीने महायोगी श्रीभृगुराम परमहंसदेवसे योगके समस्त अंगोंका तथा श्रीश्यामानन्द परमहंससे प्राकृतिक विज्ञानका रहस्य प्राप्तकर यथासमय ब्रह्मचर्यव्रतका उद्यापन किया। सभी व्रतोंका सम्यक् विधिसे पालनकर गुरुदेवकी आज्ञासे आपने पुनः लोकालयमें लौटकर जीवोंके कल्याण-साधनका व्रत लिया और भारतके सभी तीर्थोंमें भ्रमण किया और अनेक स्थानोंमें योग-साधनाके आश्रम स्थापित किये।

ऊपर कहा जा चुका है, आपके शरीरसे दिव्य पद्मगन्ध बराबर निकला करती थी। उसीसे कभी चन्दन, कभी खस, कभी गुलाब और कभी अन्य किसी प्रकारकी दिव्य गन्धका आविर्भाव हो जाया करता था। इनकी विभूतियाँ देखकर नास्तिकहृदयको भी भगवान्की मंगलमयी, अहैतुकी अपार करुणापर विश्वास हुए बिना नहीं रह सकता। आप अपने मस्तकके भीतर शालग्राम और शिवलिंगको धारण किये रहते थे। साथ ही वहाँ १०८ स्फटिक मणियोंकी एक माला भी थी। पूजाके समय उक्त शालग्राम और शिवलिंगको बाहर निकालकर यथाविधि पूजन कर चुकनेपर पुनः यथास्थान उन्हें रख देते थे।

आपके शरीरमें बहुत-से स्फटिक गोलक थे। कभी-कभी ये उन स्फटिकोंको निकालकर दिखा भी देते थे। एक बार आपका शरीर नवजात शिशुके आकारमें बदल गया था। आपके नाभिप्रदेशसे एक अति सुन्दर कमलनालका आविर्भाव हुआ और उसके ऊपर अत्यन्त लावण्ययुक्त दिव्य कमल दिखलायी पड़ा। गन्धसे सारा घर-आँगन भर गया। कुछ देर बाद वह संकुचित होकर नाभिमें समा गया। आपने कई बार अपने भक्तोंको अपनी रक्षा-शक्तिद्वारा भयानक कष्टोंसे बचा लिया।

आपमें ऐश्वर्य और माधुर्यका अत्यन्त अपूर्व सम्मिश्रण था। ज्ञानकी चरम सीमापर जाकर करुणा, स्नेह, वात्सल्य आदि दिव्य गुणोंकी स्फूर्ति आपमें हो आयी थी। परमहंसजीका प्रधान उपदेश यही था कि प्रेमके बिना भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती; शुद्धा भक्तिकी परिणतिसे ही प्रेमका उदय होता है।

ज्ञानके उदय होनेपर यह बात समझमें आ जाती है कि समस्त विश्व ही प्रभुकी लीला है और सब कुछ उनकी इच्छाशक्तिका खेल है। जीव केवल इस अभिनयका एक निष्क्रिय द्रष्टामात्र है।

एक संसारी संत

[पंडित पुरुषोत्तमजी चतुर्वेदी]

(लेखक—पं० वटुकनाथजी उपाध्याय एम० ए०)

जिनके सम्बन्धमें यहाँ कुछ लिखनेका हम प्रयत्न कर रहे हैं, उनका निर्देश हम 'संसारी संत' कहके ही करना समुचित समझते हैं, उन्होंने कभी भी अपनेको साधारण मनुष्यसे भिन्न न समझा। उनका वेष तथा आचरण भी ऐसा न था कि दूसरे लोग उनको साधु या महात्मा समझते। वे सभी कार्योंमें ऐसे दक्ष थे, इतने व्यवहारचतुर थे कि स्थूलबुद्धि जनोंके हृदयमें विपरीत ही भावना होती थी। मेरा अपना अनुभव तो यह है कि जो जैसा होता वह उनको अपनेसे आगे पाता। धूर्तलोग उनसे सर्वदा डरा करते थे और उनको हृदयमें धूर्तराज समझा करते थे। योगाभ्यासी जिज्ञासु लोग उनको हृदयसे मानते और दूर-दूरसे खोजते चले आते। ऐसा शायद कभी ही हुआ हो कि उनके यहाँ दो-चार ऐसे साधुलोग उनके आतिथ्यको ग्रहण करते न रहे हों। वह

वास्तविक कार्यपर दत्तचित्त रहा करते थे, आडम्बरको भूलकर भी पास फटकने न देते। अपने कृपापात्रोंमें यदि किसीका झुकाव उधर देखते तो बस, उसे ऐसा 'बनाना' आरम्भ करते कि वह शीघ्र ही ठीक हो जाता। इस उपनिषद्वाक्यको वे सर्वदा सुना दिया करते—

न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा।
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः॥

इन 'संसारी संत' महोदयका जन्म ब्राह्मणकुलमें काशीपुरीमें वैक्रमीय संवत् १९१४ में हुआ था। इनका नाम था पण्डित पुरुषोत्तम चतुर्वेदी, पर साधारणतया वे 'चौबेजी' के नामसे प्रसिद्ध थे। बाल्यकाल इनका बड़े कष्टमें बीता। पिता दीर्घरोगी होकर कितने साल पड़े रहे। उनका स्वभाव चिर-रोगी होनेसे बहुत ही उग्र हो गया था। व्यय बहुत, आयका कोई ठिकाना नहीं। तिसपर गृहकलह। यही कारण था कि इनका विद्यायोग अधिक समयतक न रह सका। चौदह वर्षकी अवस्थासे जीवन-संग्राममें उतरना पड़ा।

उनके जीवनकी कुछ बातें

बीसवें वर्ष इनके पिताकी मृत्यु हुई। न जाने क्या दैवयोग था कि उनके मरते ही इनका भाग्य चमक उठा। लक्ष्मी इनके पीछे दौड़ने लगीं। वही मनुष्य जो पैसे-पैसेके लिये तरसता था, अब लाखोंकी बातें करने लगा। मैं कुछ समयतक उनका खर्चा लिखा करता था। इनका मासिक खर्च बहुत ज्यादा था पर अपने लिये ये बहुत ही कम खर्च करते थे। शायद ही दो-चारसे अधिक उनके पास अच्छे कपड़े रहे हों। यहाँतक कि बहुत ही स्वल्प भोजन करते। मुझसे कभी-कभी कहते—'देखते रहना, एक पैसा कहीं अपव्ययमें जाता हो तो मुझसे कहना। कमाना बहुत लोग जानते हैं, पर खर्च करना बहुत कम।' बहुत वर्षों पूर्व ही उन्होंने कह दिया था कि पचासवें वर्ष मैं सब कारबार छोड़ दूँगा। वही किया। उसके अनन्तर अनेक प्रलोभन आये! लाखों रुपये मिलनेका अवसर आया पर वह टस-से-मस न हुए। वै० संवत् १९७९ में उन्होंने शरीर छोड़ दिया। महीनों पहिले मुझसे कह दिया था कि अब हमारा सब काम हो चुका है, कुछ भी करना बाकी नहीं है, अब जाना ही ठीक है। देहावसानके एक दिन पूर्व उन्होंने संन्यास लिया। मैं इसके कुछ प्रतिकूल था। इसीलिये यह टलता गया। अन्तमें मुझे उनकी आज्ञा माननी ही पड़ी। मध्याह्नका समय था। उन्होंने वैदिकोंको बुलाया। मुझसे कहा—'उस थालमें रुपये रक्खे हैं, जाओ, प्रत्येकको आदरपूर्वक एक-एक रुपया दो।' मैं देकर आया। उन्होंने पद्मासन बाँधा, सीधे बैठे। फिर न जाने क्या मनमें आया। कहने लगे—'मैं क्यों हठ करूँ, क्यों जिम्मेदारी लूँ।' फिर लेट गये। तीन बार बहुत खींचकर 'राम' कहा और बस शरीरसे अलग। कई घंटे बीतनेपर भी न उनके मुखपर कोई विकृति आयी, न अंग कड़े हुए। गंगामें प्रवाह करनेके पहिले टाँकेमें बैठानेके लिये पद्मासनमें बैठाये गये, पैर झट ठीक स्थानपर आ गया। वही परिचित कोमल स्पर्श। कुछ भी अन्तर नहीं।

लेखकको उनके रूपका परिचय।

मेरा उनका निकटका सम्बन्ध था। इसलिये बाल्य-कालहीसे उनके सम्पर्कमें आनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समयकी एक बात अभीतक स्मरण है। हमलोग छोटे बच्चे यह समझते थे कि वे जहाँ आँख बंद करके बैठे, इनको बस बातें मालूम पड़ी। उनसे कोई बात छिपाना असम्भव था। किसी तरह भी हो उनमें यह विलक्षण शक्ति थी कि वह सत्य-असत्य बहुत ही शीघ्र समझ जाते थे। बड़े होनेपर एक बार मैंने यह बात उनसे पूछी थी। उन्होंने कहा—इसमें कौन बड़ी बात है। जरा-सी बुद्धिका काम है। तार बोला, राग बूझा। किसीने कुछ कहा, कहते ही मालूम पड़ जाता है कि इसमें कितना सत्य और कितना असत्य है। अस्तु।

सन् १९११ में मुझे अकस्मात् प्लेग हो गया। किसी तरह प्राण बच गये किन्तु उसके अनन्तर क्षीणता अत्यन्त आ गयी। वह दिन-पर-दिन बढ़ती ही चली। 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की' यह कहावत अक्षरशः चरितार्थ हो रही थी। एक बार ऐसा अवसर आया कि उनसे मुझसे बिलकुल एकान्तमें भेंट हुई। उन्होंने कहा—'देखो तुम इस तरह कभी अच्छे नहीं हो सकते। तुम्हारा रोग ओषधियोंके प्रभावके कहीं आगे जा पहुँचा है।' मैंने कहा—'तब अब दूसरा कौन उपाय है?' उन्होंने वह उपाय बताया और ईश्वरके अनुग्रहसे अभीतक जीवनयात्रा अच्छी ही तरह चली जा रही है। उसी समयसे मैंने उनको चीन्हा।

स्वामी श्रीविशुद्धानन्दजी परमहंस

श्रीसाहेबजी महाराज

श्रीलक्ष्मीनारायणजी मुरोदिया

श्रीबलदेवदासजी दूधवेवाला

संत पुरुषोत्तमदासजी

श्रीयादवजी महाराज

पुरुषोत्तमदास सेवकराम भट्ट

स्वामी जानकीदासजी
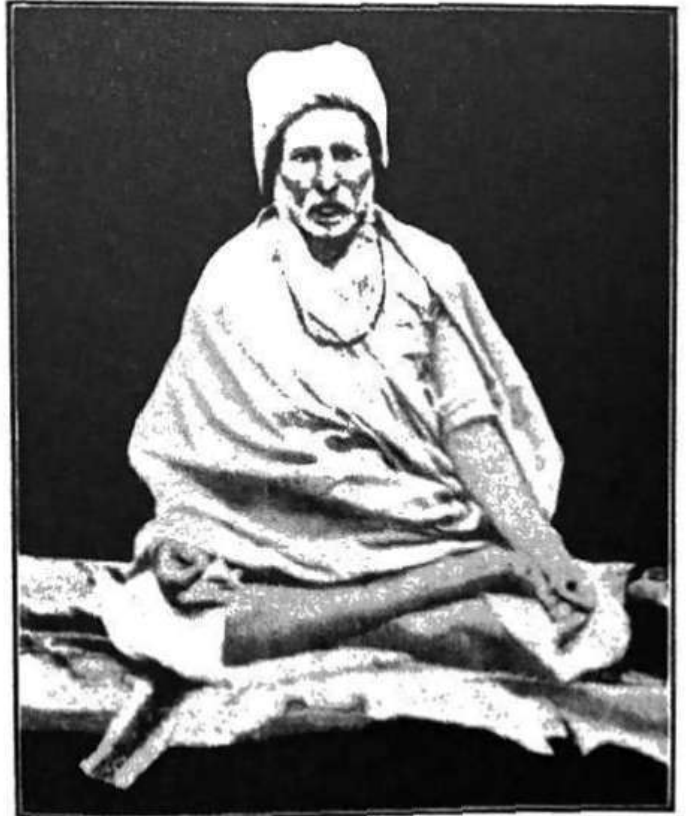
उनके आध्यात्मिक प्रवृत्ति तथा शक्तिका विकास।

उनके पूर्वजन्मके संस्कार बहुत ही प्रबल थे क्योंकि बहुत-से साधन तथा मार्ग उनको आप-से-आप ही सूझ गये। लड़कपनमें उनको एक प्रकारकी भूतबाधा लग गयी थी। सोते ही मालूम पड़ता था कि कोई छातीपर चढ़ बैठा और गला दबा रहा है। रात-रातभर नींद नहीं आती थी। अकस्मात् उनके मनमें आया कि विष्णुसहस्रनामका पाठ करना चाहिये। एक ही दो दिनमें वह सब बाधाएँ दूर हो गयीं। उसके अनन्तर अन्तसमयतक बराबर विष्णुसहस्रनामका पाठ किया करते थे। इसी तरह एक बार अकस्मात् उनके मनमें आया कि प्राणायाम करना चाहिये और बिना किसीके बताये ही उन्होंने उसका अभ्यास आरम्भ कर दिया। इस घटनाके कुछ ही दिनों बाद उनको एक सद्गुरु मिल गये। यह मैथिल ब्राह्मण गृहस्थ थे। और उनके उपदेशानुसार इन्होंने इतने उत्साह और अध्यवसायसे योगाभ्यास आरम्भ किया कि गुरुजी महाराज भी घबड़ा गये। किन्तु चौबेजीका तो यह नियम था '**कार्यं साधयेद्वा शरीरं पातयेद्वा**'। इस अभ्यासका एक प्रत्यक्ष फल हुआ कि इनके शरीरका रंग ही बदल गया। सहस्रों मनुष्योंके बीचमें वे पृथक्-से मालूम पड़ते थे। इस समय इनका ध्यान अधिक हठयोगकी ओर ही था। किन्तु उसकी एक सीमा प्राप्त कर लेनेपर वे राजयोगकी ओर झुके। यह अभ्यास बराबर चलता रहा। पचास वर्षकी अवस्थामें उन्होंने संसारके सब कार्य छोड़ दिये थे। इस समयका अभ्यास हठयोग-राजयोगके विलक्षण समन्वयको दिखा रहा था। एक ओर आसनोत्थान होता था दूसरी ओर ध्यानकी नयी-नयी भूमिकाओंको बराबर प्राप्त करते जाते थे। इस बारका अभ्यास उनके पचासवें वर्षसे जो आरम्भ हुआ वह उनके अन्तसमयतक लगातार चलता रहा। संसारके सब कार्य उन्होंने पहिले ही छोड़ दिये थे। धीरे-धीरे उन्होंने बाहर निकलना तथा लोगोंसे मिलना भी छोड़ दिया।

उनकी कुछ विशेषताएँ

सबसे प्रथम उनकी सत्यनिष्ठाका उल्लेख करना चाहिये। उनके मतसे असत्यसे बढ़कर कोई दूसरा पातक न था—

नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरिसम होहिं कि कोटिक गुंजा॥

—यह चौपाई सदा सुनाया करते थे। उनका कहना था कि असत्य दुर्बल चित्तशक्तिका द्योतक है। जिसको और कोई उपाय नहीं सूझता वह असत्यका आश्रय लेता है। उनकी कोई कितनी भी हानि भले कर दे वह क्रुद्ध नहीं होते थे। किन्तु उनके सामने एक बार भी यदि उनका कोई आत्मीय असत्य बोलता तो फिर वह उसका मुख नहीं देखते थे। उनकी यह कठोर दृढ़ता कई बार देखनेमें आयी।

उनका हृदय बड़ा ही दयालु था। किसीका भी कष्ट वे देख न सकते थे। किसीने यदि कहा 'हम भूखे हैं' उनका हृदय हिल उठता था। वह गुप्तरूपसे बराबर पता लगाते रहते थे कि उनके आसपासमें रहनेवाले गृहस्थोंका खर्च कैसे चलता है। उनको पता लगते ही कि अमुक व्यक्ति वास्तविक कष्टमें है वह कुछ-न-कुछ उसके लिये चुपचाप कर ही देते। पर इसके साथ ही वह इतने चतुर थे कि उनसे कोई भी ठगकर एक पैसा भी न ले सकता था। उनकी दृढ़ता और दयालुताको देखकर—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति॥

—ये भवभूतिके वचन अवश्य स्मृत्यारूढ़ हो जाते थे।

ये वेदान्तके बड़े भक्त थे और विशेषकरके श्रीमद्भगवद्गीताके। समय मिलते ही भगवद्गीताके गूढ़ विषयोंपर मनन करने लगते। उनमें एक बड़ी विलक्षण बात थी। पढ़े-लिखे तो साधारण ही थे किन्तु उनकी बुद्धि ऐसी शुद्ध हो गयी थी कि सभी विषयोंके अन्तस्तलतक पहुँच जाती। फलित ज्योतिषका फल ऐसा सटीक कहते थे कि ऐसा और कहीं सुननेमें न आता। आयुर्वेदमें भी वैसे ही गति थी। उनके ऐसा नाड़ी देखनेवाला मुझे तो अभीतक दूसरा दिखायी न पड़ा। वेदान्तकी बात तो ऊपर ही कह चुके हैं। योग उनका अपना ही विषय था। भागवत आदि ग्रन्थोंकी व्याख्या बड़ी मार्मिकतासे करते थे। ऐसी बहुज्ञता मैंने पण्डित रामावतारजीमें भी देखी है। किन्तु उनको यह सिद्धि पूरे पण्डित होनेपर प्राप्त हुई थी। चौबेजीको बिना

पाण्डित्यके ही अनायास सिद्ध थी।

सबसे बड़ी बात उनमें यह थी कि बड़े भारी योगी होनेपर भी भक्तिभाव उनके हृदयमें उछला पड़ता था। योगाभ्यासमें एक बड़ा दोष है वह बहुधा अभिमानको पुष्ट करता है। चौबेजी बड़े भारी रामभक्त थे। रामायणकी चौपाई उनके कानमें पड़ी कि बस आँखोंसे अश्रुधारा बह चली। इतने बड़े रामभक्त होनेपर भी वे बड़े शिवभक्त थे। वे कहा करते थे।

बिनु छल बिस्वनाथपद नेहू। राम-भक्तकर लच्छन एहू॥

जो रामभक्त होकर शिवजीकी निन्दा करते हैं उनका वे मुख भी देखना नहीं चाहते थे। योगाभ्यासके साथ ऐसे गम्भीर भक्तिभाव बड़े ही दुर्लभ हैं। वे योगचतुष्टय और भक्तिका सुमधुर सामंजस्य भी अच्छी तरह सिद्ध कर सके थे। योगको सर्वप्रधान माननेपर भी भक्तिका साधन ही समझते थे। मृत्युके समय ब्रह्मरन्ध्र भेदकर न जानेमें तथा 'राम' कहकर प्राण छोड़नेमें भी शायद ऐसा ही कोई अभिप्राय रहा हो।

उनके जीवनके पर्यालोचनसे एक बात स्पष्ट मालूम पड़ती है। वह यह है कि मनुष्य घरमें रहकर भी आध्यात्मिक उन्नति अच्छी तरह कर सकता है। अपने कर्तव्योंकी उपेक्षा कर, बिलखते हुए कुटुम्बके लोगोंको छोड़कर जंगलोंमें जानेसे ही राम मिलेंगे, यह कोई आवश्यक बात नहीं। इस समय तो परिस्थिति भी ऐसी हो गयी है कि सच्चे साधकको घरमें रहकर जैसी सुविधा प्राप्त होगी वह अन्यत्र रहकर विलक्षण भेष धारण करनेसे नहीं हो सकती। वास्तवमें बात चित्तवृत्तिकी है। वह सर्वत्र साधक या बाधक हो सकती है। जिसने चित्तको वशमें कर लिया उसके लिये सब स्थान एक-से हैं।

एक सेवाव्रती गृहस्थ संत

मारवाड़ीसमाजके नररत्न सेठ लक्ष्मीनारायणजी मुरोदिया पिलानी (जयपुर)-के निवासी थे। आपका जन्म विक्रमी सं० १९१७ में हुआ था। कलकत्तेमें इनका कारोबार था। ये बड़े ही कोमलहृदय, परदुःखकातर, परोपकाररत, दीनवत्सल, निःस्पृह, सहनशील और सेवाव्रती पुरुष थे। किस तरह दूसरोंका दुःख दूर हो, किस तरह किसका हित हो जाय, किस प्रकार किसको सुख पहुँचे, प्रायः इसी चिन्तामें ये रहते थे। जहाँतक बनता शरीर और धनसे सबकी सहायताको तैयार रहते थे। किसी भी दुःखी मनुष्यको देखकर उसका दुःख दूर करनेकी चेष्टा किये बिना इनसे रहा नहीं जाता था। और ये सब तरहसे इसी चेष्टामें लग जाते थे।

ये नवयुवकोंमें नौजवान, वृद्धोंमें वृद्ध, भजन करनेवालोंमें भजनानन्दी और विनोदप्रिय पुरुषोंमें विनोदी बन जाते थे। परन्तु इनमें जो कुछ था स्वाभाविक था।

दो मनुष्य आपसमें लड़ते, ये उनके पास जाकर खड़े हो जाते, मौका देखकर समझानेकी कोशिश करते। लड़नेवाले इनसे भिड़ जाते और इन्हें खोटी-खरी सुनाने लगते, ये चुपचाप सुनते, फिर समझाते। आखिर उनकी लड़ाई मिटाकर छोड़ते। किन्हीं भाइयोंमें या हिस्सेदारोंमें किसी चीजको लेकर झगड़ा होता तो बिना बनाये पंच बन जाते और अपने रुपयोंसे वैसी चीज बनवाकर उसे चाहनेवालेको दे देते और यह बात दोनों पक्षोंसे ही छिपाकर रखते। उनका झगड़ा मिटा देते।

बीमारोंकी सेवामें स्वयं लगे रहते। कोई मर जाता और यदि उठानेवालोंकी कमी होती तो आप जाकर जुड़ जाते, इनके पीछे और लोग भी चले जाते, और घाटपर ले जाकर मुर्देको जला देते।

किसी भी छोटे-बड़े कामसे घृणा नहीं थी, बस, सेवा होनी चाहिये। स्वयं सेवा करते, दूसरोंको प्रेरणा करते और सेवा करनेवालोंको प्रोत्साहन देते। सेवा भी इस ढंगसे करते कि जिससे सेवा करानेवालेको संकोच न हो।

किसी भी शुभकार्यका प्रस्ताव सामने आनेपर आप उसका समर्थन ही नहीं करते, रुपये देते और स्वयं उसमें लगकर उसे पूरा करवा देते। कलकत्तेकी तथा अन्य स्थलोंकी अनेकों बड़ी-बड़ी संस्थाएँ इनके ही उत्साह, अध्यवसाय और परिश्रमका फल हैं।

शुद्धान्तःकरण, भगवान्के भजनमें प्रीति, सेवामें प्रसन्नता ये बातें तो इनमें प्रायः स्वाभाविक थीं।

इन पंक्तियोंका लेखक तो जब-जब इनके पुण्य-जीवनका स्मरण करता है तब-ही-तब अपने हृदयमें विशेष पवित्रताका अनुभव करता है। सं० १९८४ में कलकत्तेमें आपने देहत्याग किया था।

—ह० पोद्दार

एक व्यापारी साधु

(लेखक—सेठ रामकृष्णदासजी डालमिया)

मैं जिस साधुके जीवनकी घटनाओंसे सिर्फ उनके पारमार्थिक भावोंका थोड़ा-सा दिग्दर्शन करा रहा हूँ वे महात्मा श्रीबलदेवदास दूधवेवाला कलकत्तेके बिना पढ़े-लिखे पर सुप्रसिद्ध सफल व्यापारी थे, जो साधारण पचीस रुपये मासिक नौकरी करके अपनी व्यापारकुशलता और ईश्वरपर विश्वासके कारण सिर्फ करोड़पति ही नहीं बन गये थे पर मारवाड़ीसमाजके प्रमुख व्यापारी और दानशिरोमणियोंमेंसे एक थे। जब-जब मैं उनके विषयमें बातें करता हूँ या ईश्वरकृपासे मुझे वे याद आ जाते हैं तो मुझे पूर्वस्मृतियोंकी झलक, उनके सहयोग और उनकी एक धुँधली-सी तसवीर दिखायी देकर हृदयमें प्रेम, सात्त्विकता और शान्तिकी गंगा-सी बहने लगती है। उनके संगसे मुझे क्या लाभ हुआ, व्यापारकी कितनी अनमोल बातें मैंने उस अनपढ़ व्यापारीसे सीखीं और मुझे कितना पारमार्थिक लाभ हुआ, इसे निर्जीव लेखनी व्यक्त नहीं कर सकती। वह अमर आत्मा उस शरीरसे इस संसारमें नहीं है। वह अमरलोककी वस्तु थी। किसी चूकके कारण ही उसका कुछ समयके लिये इस मर्त्यलोकमें आना हुआ था। अपनी तपस्या पूरी करके पुनः वह अमरलोकको प्रस्थान कर गयी। न वे बड़े भारी नेता या तपस्वी थे, न उनमें प्रबल योगसाधना थी, न वे कोई प्रसिद्ध भक्त ही थे, किन्तु यदि मैं यह कहूँ तो अनुचित न होगा कि कई गुण उनमें ऐसे थे जिन्हें मैंने ग्रन्थोंमें तो देखा है पर वैसे गुणोंवाले किसी अन्य व्यक्तिको अपनी आँखोंसे नहीं देखा है। सांसारिक होते हुए भी वे जीवनभर असांसारिककी भाँति बने रहे। गीताके सुख-दुःख और लाभ-हानिमें समान रहनेका गुण उनमें बहुत अंशमें घटता था। क्रोधका ज्वालामुखी उनसे कोसों दूर था। परोपकारिता, दया और क्षमाशीलताकी त्रिवेणी उनके हृदयमें नित्यप्रति लहराती रहती थी। अवगुणोंमें भी गुणोंको देखना, झूठमें भी सत्यकी झाँकी करना उनका एक स्वाभाविक गुण था। उनके प्रसन्नमुखकी मुस्कुराहट कितने व्यग्र और दुःखी जीवोंको नित्य शान्त किया करती थी। उनके जीवनकी सारी बातें मुझे मालूम न होते हुए भी जो कुछ मैंने उनके मुँहसे उनके विषयमें सुना था या उनके साथ कुछ वर्षों रहकर देखा था, वे सब बातें लिखनेपर उनके जीवनकी कहानीका स्वतन्त्र ग्रन्थ बन सकता है पर तो भी मुझसे इतना कहे बिना न रहा जायगा कि मेरे जीवनके व्यापारिक और पारमार्थिक क्षेत्रमें वे मेरे गुरु और पथप्रदर्शक थे। हमलोग थोड़ा-सा भी धन पाकर—जिसके अभिमानसे शायद ही कोई भाग्यशाली पुरुष बचा है—अपने परलोक और इहलोकको बिगाड़ डालते हैं। पर उनमें अभिमान छू तक नहीं गया था। उन्हें जो नहीं जानते थे वे कहा करते थे कि बलदेवदासजी इतनी वृद्ध अवस्थामें भी परमार्थको छोड़कर व्यापारमें इतने संलग्न हैं और रुपया बनानेकी टकसाल हैं। यह बात सही है कि उन्होंने अपने जीवनका प्रायः सारा हिस्सा व्यापारमें ही बिताया था, पर उनके अन्तःकरणरूपी अन्तर्भूमिमें बराबर दूसरे ही नाटक खेले जाते थे। इसको थोड़े ही व्यक्ति जानते थे। पर तो भी इस बातको प्रायः सभी जानते थे कि वे सहृदय, सत्यवक्ता और दूसरोंके दुःखोंमें कष्ट सहकर आप अपना बहुत बड़ा त्याग करनेवालोंमेंसे एक थे। यों तो जो भी उनसे मिलता वह यही समझा करता था कि मेरे प्रति इनकी दया है पर उनमें यह विशेषता थी कि सबके प्रति सहृदयताके कारण जो उनसे एक बार मिल गया वह समझता था कि इनकी दया सिर्फ मुझपर ही है।

कलकत्तेमें किसी जमानेमें शेअरबाजार आजकी तरह नहीं था। दलाललोग गलियोंमें एकत्रित हो शेअरोंका व्यापार किया करते थे। उन्हीं दिनों किसी चौबेने शेअरोंका बाजार तेज होनेपर अपने नुकसानका कारण उस महान् आत्माको समझकर सबके सामने जूता निकालकर इनके तीन दफा मारा। लोगोंने उसे पकड़कर पुलिसमें देना चाहा, पर उस क्षमामूर्तिने बिना क्षुब्ध हुए उसे छुड़ाकर यह कहा कि 'यदि मेरे कारण इसकी आत्माको कष्ट हुआ यह समझता है तो इसने कोई अनुचित नहीं किया और बड़े आदमियोंके सिर किसीके सामने झुकते नहीं, इसलिये भी उन्हें यह शिक्षा मिलनी उचित ही है।'